प्राक्कथन

श्री कैलास आश्रम शताब्दी समारोह महासमिति की ओर से प्रकाशित बृहदारण्यकोपनिषत् का द्वितीयभाग वेदान्त जिज्ञासुओं के समक्ष प्रस्तुत करते हुए हमें गौरव अनुभव हो रहा है। इससे पूर्व के प्रथम भाग में बृहदारण्यकोपनिषत् के प्रथम दो अध्याय हो रखे गए थे। मधुकाण्ड में वर्णित दुरूह विषयों को टिप्पणी, क्रोडपत्र, 'मिताक्षरा' एवं "कुमुदतोषिणी" टीका के माध्यम से समझाकर जहाँ हम अपनी संस्कृति के प्रामाणिक स्रोतभूत ग्रन्थों की सुरक्षा कर पाये हैं, वहाँ पाठकों को भी इससे पर्याप्त सन्तुष्टि हुई है। द्वितीय भाग के लिए हमारे पास बहुत से पाठकों की माँग आती रही। भगवान् विश्वनाथ की अहैतुकी कृपा से सब कठिनाइयों को पार कर अब यह भाग भी प्रकाशित हो पाठकों के समक्ष प्रस्तुत है।

इस द्वितीय भाग में बृहदारण्यकोपनिषत् के तृतीय, चतुर्थ, पञ्चम एवं षष्ठ अध्याय इन चार अध्यायों का समावेश किया गया है। तृतीय एवं चतुर्थ अध्याय का नाम याज्ञवल्कीय काण्ड है तथा पञ्चम एवं षष्ठ अध्याय का नाम खिलकाण्ड भी है। यद्यपि प्रथम एवं द्वितीय अध्याय अर्थात् मधुकाण्ड आगम प्रधान है तो भी यहाँ दुन्दुभ्यादि दृष्टान्त द्वारा यत्र-तत्र उपपत्ति मार्ग से तत्त्वनिर्णय किया है, जबकि याज्ञवल्कीय काण्ड उपपत्ति प्रधान है। जल्पकथारूप तृतीय अध्याय में प्रथम से नवम ब्राह्मण पर्यन्त अधिकारी भेद से सगुण एवं निर्गुणब्रह्म का निरूपण किया गया है। आदिशङ्कराचार्य सोपाधिक ब्रह्म निरूपण प्रसङ्ग में भी बीच-बीच में मुख्य मोक्ष के लिए उद्बोध कराते रहते हैं किन्तु स्वमर्यशुद्धि के लिए उसके विधान का भी अपना महत्त्व है। क्योंकि मुनिकाण्ड में प्रमाणानुग्राहक तर्कपूर्ण युक्तियों द्वारा सिद्धान्त पक्ष को बारम्बार स्थापित करता है, इसलिए भगवान् शङ्कराचार्य उस समय के बहुचर्चित मत मतान्तरों को प्रस्तुत मार्मिक युक्तियों द्वारा उसका निराकरण कर स्वपक्ष स्थापन करते हैं। मोक्षविषयक चर्चा में उन्हें अशास्त्रीय बात बिल्कुल पसन्द नहीं है। एक स्थल पर वे लिखते हैं—

"सर्वमेतदेवमबार्हदारण्यकम्। ननु सर्वैकत्व मोक्ष "तस्मात्तत्सर्वमभवत्" इति श्रुतेः। बाढ भवत्येतदपि, न तु "ग्रामकामो यजेत पशुकामो यजेत" इत्यादिश्रुतीनां तादर्थ्यम्। यदि ह्येतादर्थ्य-मेवाऽऽसां ग्रामपशुस्वर्गाद्यर्थत्व नास्तीति ग्रामपशुस्वर्गादयो न गृह्येरन्गृह्यन्ते तु कर्मफलवैचित्र्यविशेषा। यदि च वैदिकाना कर्मणां तादर्थ्यमेव ससार एव नाभविष्यत्"।

(बृ उ शा भा ३।२।१ पृ १०८)

टिप्पणकार एवं क्रोडपत्रपरिष्कर्ता स्वामी विष्णुदेवानन्द जी महाराज ने अधिकांश प्रकरणों का ब्रह्मसूत्र वार्तिक एवं अन्य उपनिषदादि ग्रन्थों का उद्धरण देकर विशदता से समझाने का विद्वत्तापूर्ण प्रयास किया है। इनके अर्थों का मनन करने से एक अलौकिक आनन्दानुभूति होती है एवं ग्रन्थ ग्रन्थि-भेदन सहज होता चला जाता है।

चतुर्थ ब्राह्मण में उषस्त चाक्रायण मुनि याज्ञवल्क्य को कहते हैं कि आप ब्रह्म के प्रत्यक्ष दर्शन कराने की कृपा कीजिए। उत्तर में याज्ञवल्क्य ने कहा—तुम अन्तःकरणादि की वृत्तिरूप दृष्टि के द्रष्टा को घटादि के समान नहीं देख सकते। शङ्कराचार्य इस प्रसङ्ग में द्विविध दृष्टियों की कल्पना करते हैं, लौकिकी एवं पारमार्थिकी। लौकिकी दृष्टि बनाई जाती है, इसलिए उसकी उत्पत्ति एवं विनष्टि

होती रहती है, स्वरूपभूता दृष्टि पारमार्थिकी है। लौकिक दृष्टि अपने को प्रकाशित करने वाले प्रत्यगात्मा को प्रकाशित नही कर सकती। इसलिए उस दृष्टि के प्रकाशयिता प्रत्यगात्मा को तुम नही देख सकते। दृष्ट्यादिसाक्षी स्वभाव होने के कारण उसे गो आदि के समान प्रत्यक्ष नही दिखलाया नही जा सकता। इसका वार्तिककार ने बाइस वार्तिकों द्वारा विशद विवेचन किया है (पृ. ७८३-७८६)।

पञ्चम ब्राह्मण में याज्ञवल्क्य कुषीतक के पुत्र कहोल के प्रति ब्रह्मतत्त्व की मीमासा करते हैं। यह आत्मा क्षुधा-पिपासा, शोक-मोह, जरा और मरण से रहित है। उस आत्मा को अपरोक्ष रूप से जानकर ब्राह्मण लोग एषणात्रय को त्यागकर भिक्षाचर्या करते हैं। इस प्रकरण में शङ्कराचार्य जी ने भर्तृप्रपञ्च व मीमासको के दुराग्रहों को प्रस्तुत कर शास्त्रीय समन्वयात्मक दृष्टि इस प्रकार प्रतिपादित की है—

"न च विद्याविद्ये एकस्य पुरुषस्य सह भवतो विरोधात्तमःप्रकाशाविव। तस्मादात्मविदोऽविद्याविषयोऽधिकारो न द्रष्टव्यः क्रियाकारकफलभेदरूपः। 'मृत्योः स मृत्युमाप्नोति' इत्यादि निन्दितत्वात्।...यानि पारिव्राज्येऽभिहितानि वचनानि यज्ञोपवीत्येवाधीयीतेत्यादीनि तान्यविद्वत्पारिव्राज्यमात्रविषयाणीति परिहृतानि"।

(बृ. उ. शा. भा. ३-५-१)

अष्टम ब्राह्मण मे अक्षरतत्त्व की मीमासा की गई है। इसमें परिमाण, महाभूत, प्राण, नाम, अन्वय कारकादि का निषेध कर ब्रह्म की पूर्णता एव कृत्स्नता प्रदर्शित की है। श्रुति से सिद्ध होने पर भी अनुमान प्रमाण द्वारा इसे निरूपित किया जाता है। शङ्कराचार्य जी के शब्दो में—

"यथा राज्ञः प्रशासने राज्यमस्फुटितं नियतं वर्तत एवमेतस्याक्षरस्य प्रशासने हे गार्गि... सूर्याचन्द्रमसावहोरात्रयोर्लोकप्रदीपौ तावर्थेन प्रशासित्रा ताभ्यां निर्वर्त्यमानलोकप्रयोजनविज्ञानवता निर्मितौ विधृतौ च स्याता साधारणसर्वप्राणिप्रकाशोपकारकत्वाल्लौकिकप्रदीपवत्"।

(बृ. उ. शा. भा. ३-८-९ पृ० ८६४)

तृतीय अध्याय के अन्त मे "विज्ञानमानन्द ब्रह्म" श्रुति की व्याख्या करते हुए 'आनन्द' शब्द पर विस्तृत विचार किया गया है। देह और इन्द्रियो का अभाव होने पर (आगन्तुक ज्ञान के अयोग के कारण विज्ञान की उत्पत्ति नही हो सकती। यदि कहो कि नित्य, अविलुप्त स्वरूप होने के कारण परब्रह्म अपने आनन्दात्मक स्वरूप को सभी अवस्थाओ मे जानता रहता है; तो ऐसा कहना नही बनता क्योंकि ससारी जीव भी ससार से विनिर्मुक्त होकर ब्रह्मभाव को प्राप्त हो जाता है। इसलिए "विज्ञानमानन्दम्" यह श्रुतिवाक्य यथास्थित वस्तु के स्वरूपबोधन मे तत्पर है, आत्मानन्द का सवेद्यत्व बतलाने में इसका तात्पर्य नहीं है।

चतुर्थ अध्याय मे छ ब्राह्मण हैं। प्रथम ब्राह्मण क्रममुक्ति, द्वितीय ब्राह्मण जाग्रदादि युक्ति द्वारा प्रत्यगात्मनिर्णय, तृतीय ब्राह्मण परलोक एव मोक्ष का निदर्शन, चतुर्थ ब्राह्मण दार्ष्टान्तिक वस्तु प्रतिपादन, पञ्चम ब्राह्मण बोध के साधन, षष्ठ ब्राह्मण वंश निरूपण विषय को प्रद्योतित करता है। यह अध्याय राजा जनक एवं मुनि याज्ञवल्क्य के सवाद से प्रारम्भ होता है। इसी प्रकरण मे षडाचार्य-प्रोक्त वागादि के उपासना ज्ञान के साधन के रूप मे वर्णित है।

तृतीय ब्राह्मण मे एक स्थल पर जनक याज्ञवल्क्य से पूछते हैं—वाणी शान्त होने पर कौन सी ज्योति रहती है। याज्ञवल्क्य ने उत्तर दिया—आत्मा ही रहता है। वह ज्योति कार्य और कारण से व्यतिरिक्त है, वह आत्मज्योति आदित्यादि ज्योति की तरह चक्षुरादि इन्द्रियो से ग्रहण नही की जा सकती। इसी ब्राह्मण मे प्रसङ्गवश भर्तृप्रपञ्च मत, बाह्यार्थवाद, क्षणभङ्गवाद, विज्ञानवाद आदि मतों का युक्ति-उपयुक्तियो द्वारा खण्डन किया गया है। इसमे टिप्पणकार एव क्रोडपत्र परिष्कर्ता

स्वामी जी महाराज की व्याख्या विशेषरूप से मनन करने योग्य है भाष्य के जिन स्थलों को आनन्दगिरि टीका सविस्तर नहीं कह पाती, उसे यहाँ स्पष्ट करने का प्रयास किया गया है।

चतुर्थाध्याय के चतुर्थ ब्राह्मण में मरणासन्न जीव की दशा बतलाकर शरीरान्तर गमन को दृष्टान्तों के द्वारा समझाते हुए 'तत्त्वज्ञानी का उत्क्रमण नहीं होता'—यह स्पष्ट किया गया है। इस ब्राह्मण में सुरेश्वराचार्य जी के वार्तिकों का पर्याप्त उपयोग किया है साथ में टिप्पणकार ने शास्त्र-प्रकाशिका टीका को भी लेकर वेदान्त तत्त्व के जिज्ञासुओं एवं शोधकर्ताओं के लिए महान् उपकार किया है। प्रथम अध्याय के चतुर्थ ब्राह्मण की तरह चतुर्थाध्याय का चतुर्थ ब्राह्मण भी सम्पूर्ण बृहदारण्यकोपनिषत् का प्राण है। इसमें शङ्कराचार्य जी ने अद्वैत वेदान्त के ज्वलन्त विषयों को, जिन पर अन्य द्वैतमतावलम्बी सदा प्रहार करते रहे हैं, शास्त्र एवं तर्क द्वारा सूक्ष्मेक्षिकया सविस्तर विशद विवेचन किया है। एक स्थल पर अद्वैत के प्रति सुदृढ निष्ठा की अभिव्यक्ति करते हुए भाष्यकार लिखते हैं—

"यस्मात्कामयमान एवैवं संसरत्यथ तस्मादकामयमानो न क्वचित्संसरति। ....यस्य सर्वमात्मैवाभूत्तत्केन कं पश्येच्छृणुयान्मन्वीत विजानीयाद्वा विजानन्कं कामयेत। ज्ञायमानो ह्यन्यत्वेन पदार्थः कामयितव्यो भवति। न चासावन्यो ब्रह्मविद आप्तकामस्यास्ति।......न हि यस्याऽऽत्मैव सर्वं भवति तस्यानात्मा कामयितव्योऽस्ति। अनात्मा चान्य कामयितव्य. सर्वं चाऽऽत्मैवाभूदिति विप्रतिषिद्धम्। सर्वात्मदर्शिनः कामयितव्याभावात्कर्मानुपपत्ति"।

(बृ. उ शा भा ४-४-६ पृ १२१३-१५)

'द्वैतदर्शी की स्थिति कल्याणकारक नहीं' इस प्रसङ्ग मे शङ्कराचार्य जी दृढतापूर्वक कहते हैं कि अविद्याजनित अध्यारोप से भिन्न परमार्थत द्वैत नहीं है, क्योंकि ब्रह्म मे द्रष्टृद्रष्टव्यादि भाव से नानात्व भेद नहीं है—

"तत्र च दर्शनविषये ब्रह्मणि नेह नानास्ति किंचन किंचिदपि। असति नानात्वे नानात्वमध्यारोपयत्यविद्यया। स मृत्योर्मरणान्मृत्युं मरणमाप्नोति। कोऽसौ। य इह नानेव पश्यति। अविद्याध्यारोपणव्यतिरेकेण नास्ति परमार्थतो द्वैतमित्यर्थः"।

(बृ उ ४।४।१९ पृ १२६१-६२)

प्रकरणवशात् शङ्कराचार्य जी एक स्थल पर आग्रहपूर्वक स्पष्ट करते हैं कि सोपाधिक ब्रह्म ध्यान से मात्र अभ्युदय प्राप्ति होती है, कैवल्य पद तो निरुपाधिक ब्रह्मज्ञान से ही मिलता है। वह ब्रह्म महान् अजन्मा है, जीर्णता या विपरिणाम को नहीं प्राप्त होता है जन्मादि विकारों से वर्जित है, सब ओर व्याप्त है एवं अभयस्वरूप है।

बृहदारण्यक उपनिषत् के पञ्चम एवं षष्ठाध्याय को खिलकाण्ड की सञ्ज्ञा दी गई है। पूर्व अनुक्त परिशिष्ट खिलशब्दवाच्य है, वस्तुत निरुपाधिक किन्तु अविद्या द्वारा सोपाधिक आत्मा की उन (त्रिविध) उपासनाओं, का जो पहले वर्णन नहीं की गई है जो कर्म की समृद्धि के लिए है, प्रकृष्ट अभ्युदय को साधन तथा क्रम मुक्ति की प्रापिका हैं, उनका इसमें वर्णन है। क्योंकि प्राणी की द्वैत मे प्रारम्भ से ही मिथ्यात्व बुद्धि नहीं होती, इसलिए ऐसे पुरुष को शास्त्र पहले कर्मकाण्ड रूप साधन का उपदेश करता है। उसके पश्चात् कैवल्य स्थिति के इच्छुक मुमुक्षु के लिए श्रुति ब्रह्मविद्या का उपदेश करती है। दान्त, निर्लोभी और दयालु होने पर ही साधक का सब उपासनाओं में अधिकार होता है। सोपाधिक ब्रह्म की उपासनाएँ अभ्युदयफलक हैं।

षष्ठाध्याय प्रथम ब्राह्मण मे प्राणविषयक उपासना का वर्णन है। वागादिको से प्राण ज्येष्ठ एवं श्रेष्ठ है, इसे एक रोचक आख्यायिका द्वारा सुन्दर ढग से समझाया गया है।

बृहदारण्यकोपनिषत् षष्ठाध्याय के द्वितीय ब्राह्मण मे पञ्चाग्निविद्या का निरूपण है। पञ्चाग्नि नवम मन्त्र मे इस प्रकार वर्णित है—

"असौ वै लोकोऽग्निर्गौतम तस्याऽऽदित्य एव समिद्रश्मयो धूमोऽहरर्चिर्दिशोऽङ्गारा अवान्तरदिशो विस्फुलिङ्गास्तस्मिन्नेतस्मिन्नग्नौ देवाः श्रद्धां जुह्वति तस्या आहुत्यै सोमो राजा संभवति"।

सर्ग के प्रारम्भ मे प्रलयावस्था मे भी अत्यन्त सूक्ष्मरूप से अग्नि अग्नित्व रूप से, समिध् समित्त्व रूप से, धूम धूमत्व रूप मे, अङ्गार अङ्गारत्व रूप से, विस्फुलिङ्ग विस्फुलिङ्गत्व रूप से, आहुतिद्रव्य आहुतिद्रव्यत्व रूप से स्थित रहते है। शङ्कराचार्य जी के अनुसार—

"एवमग्निहोत्राहुत्यपूर्वविपरिणामात्मकं जगत्सर्वम्...इह तु कर्तुः कर्मविपाकविवक्षायां द्युलोकाऽग्न्याद्यारभ्य पञ्चाग्निदर्शनमुत्तरमार्गप्रतिपत्तिसाधनं विशिष्टकर्मफलोपभोगाय विधित्सितम्"।

पञ्चाग्निविद्या मे यजमान के शरीरवर्ती जो वागादि प्राण हैं, जाग्रदवस्था मे अग्निहोत्र के ऋत्विक्स्थानीय होते हैं, वही आध्यात्मिक रूप से परिणत होकर इन्द्रादि होते हैं, वे ही द्युलोकाग्नि मे हवन करने वाले हैं। अग्निहोत्र क्रिया का आश्रयभूत दुग्धरूपद्रव्य अपूर्व सूक्ष्म रूप में परिणत हो धूमादिक्रम से उस अन्तरिक्षलोक मे और फिर द्युलोक मे प्रवेश करता है। श्रद्धा शब्द वाच्य 'आप' (जल) द्युलोक मे प्रविष्ट होकर सोम मण्डल मे कर्ता का शरीर आरम्भ करते है। जो इस पञ्चाग्निविद्या को जानता है, वह अतिशय दीप्ति युक्त होता है। इसी पञ्चाग्निविद्या का वर्णन छान्दोग्य उपनिषत् के पञ्चमाध्यायस्य चतुर्थ, पञ्चम एव अष्टम ब्राह्मण में किया गया है।

बृहदारण्यकोपनिषत् के षष्ठाध्यायस्य तृतीय एव चतुर्थ ब्राह्मण मे वित्तमन्थ एव पुनमन्थविद्या का वर्णन है। लौकिक अभ्युदय के लिए इन शास्त्रीय प्रयोगो का सावधानीपूर्वक अनुष्ठान करने से अभीष्ट मनोकामना की पूर्ति हो जाती है, इसमे सन्देह नही। इनकी एव पञ्चाग्निविद्या की समुचित जानकारी के लिए ब्राह्मण ग्रन्थो एव गृह्यसूत्रो का अवलोकन करना आवश्यक है। इस पर स्वतन्त्र रूप से शोध निबन्ध लिखे जाने की उपयोगिता को नकारा नही जा सकता।

इस ग्रन्थ के प्रकाशन का श्रेय श्री कैलास आश्रम शताब्दी समारोह महासमिति के अध्यक्ष एव कैलासपीठाधीश्वर आचार्य महामण्डलेश्वर अनन्त श्री विभूषित स्वामी विद्यानन्द गिरि जी महाराज को है, जिनके सत्यसङ्कल्प मे एव प्रकाशन कार्य को सर्वोच्च वरीयता देने के कारण ही यह दुर्लभ ग्रन्थ प्रकाश मे लाया जा सका। इस ग्रन्थ के सम्पादन मे एक वर्ष का समय लगा। इतने *अल्प समय में इस बृहत् कार्य की पूर्ति भगवती भक्तवत्सला की कृपा एवं गुरुजनो के आशीर्वाद से* संभव हो पाई। जिन महापुरुषो, विद्वानो ने अपने अमूल्य समय मे से कुछ समय निकालकर इस ग्रन्थ के लिए शुभाशसा सम्मतियाँ आदि लेख लिखे हैं, श्री कैलास आश्रम शताब्दी समारोह महासमिति उनके लिए हृदय से आभार अभिव्यक्त करती है।

मुझे पूर्ण विश्वास है कि प्रस्तुत ग्रन्थ के अध्ययन एवं मनन से वेदान्तप्रेमियो को तत्त्वावबोध एव ब्रह्मात्मैक्यदर्शन की दिशा मे समुचित प्रेरणा मिलेगी। इससे निश्चित ही अद्वैत गरिमा की रक्षा होगी एव इसका उत्तरोत्तर विकास होगा। ॐ शम्। श्रीकृष्णार्पणमस्तु।

श्रीसद्गुरुधाम
चाँदनी जालौन (उ० प्र०)
२७-१२-१६७६

भगवदीय
डॉ० उमेशानन्द शास्त्री

श्रीमत्परमहंस परिव्राजकाचार्य श्रोत्रिय ब्रह्मनिष्ठ निरञ्जनपीठाधीश्वर आचार्य महामण्डलेश्वर अनन्तश्री स्वामी महेशानन्द गिरि जी महाराज की शुभाशंसा

भारतीय संस्कृति का उद्गम वेदो से है एव दर्शन भाग का उद्गम वेदो के उपनिषद् भाग से है। उपनिषद् को ही ज्ञानकाण्ड कहा जाता है। यद्यपि उपनिषदो की संख्या अनिर्णीत है परन्तु ब्रह्मसूत्र के अन्दर भगवान् वेदव्यास ने जिन उपनिषदो का विचार किया, है उनकी संख्या पन्द्रह या सोलह है। अत दार्शनिक दृष्टि मे यही प्रामाणिक उपनिषद स्वीकार की जाती है। दूसरे शब्दो मे इनको श्रौत-प्रस्थान कहा जाता है जबकि अन्य उपनिषदो को स्मार्त-प्रस्थान के अन्तर्गत माना जाता है। उपनिषदो मे न केवल शब्दश वरन् अर्थगाम्भीर्य की दृष्टि से भी बृहदारण्यक उपनिषद् सबसे बडी है। इसके प्रधान वक्ता याज्ञवल्क्य हैं। भगवान् सुरेश्वराचार्य के शब्दो मे यह उपनिषद् "सकलाम्नायार्थसशोधनीय" है। अर्थात् इसमे सारे ही वेदो के तात्पर्य का सम्यक् रूपेण निरूपण किया गया है। इसीलिये इस उपनिषद् का अत्यधिक माहात्म्य है।

प्रस्तुत सस्करण मे उपादेय स्थलो पर तत्तद् वार्तिकों का सग्रह करके पाठक को अत्यन्त सहूलियत कर दी गई है कि वह भाष्य के उन अशो को भली प्रकार वार्तिक के प्रकाश मे अवगत कर सके। कई स्थलो पर व्याकरण इत्यादि की दृष्टि से भी टिप्पणी मे सहायक सकेत मिलते है जिनसे दुर्गम वाक्य की रचना भी सुस्पष्ट हो जाती है। कई स्थलो मे टिप्पणी मे अति आवश्यक और अन्यत्र सुविधा से अनुपलब्ध सकेत भी इस का वैशिष्ट्य है।

हमारे परम प्रिय महामण्डलेश्वर श्री १००८ स्वामी विद्यानन्द गिरि जी ने इस प्रकाशन कार्य को हाथ मे लेकर अद्वैत वेदान्त के ऊपर अत्यन्त कृपा की है। तथा हमे आशा है कि वह, अन्य जितने ग्रथ है, उनकी भी श्री १००८ महामण्डलेश्वर स्वामी विष्णुदेवानन्द गिरि जी महाराज द्वारा लिखित टिप्पणियो का प्रकाशन करके इस कार्य को पूरा करेंगे। भगवान् विश्वनाथ से प्रार्थना है कि वह इन उद्भट विद्वान् की प्रतिभा का अतिदीर्घ काल तक आस्तिक समाज को लाभ देते रहे।

हरिद्वारस्थगुरुमण्डलपीठाधीश्वर श्रीमत्परमहंस परिव्राजकाचार्य श्रोत्रिय ब्रह्मनिष्ठ महामण्डलेश्वर श्री १०८ श्री स्वामी रामस्वरूप जी महाराज वेदान्ताचार्य की शुभाशंसा

बृहदारण्यकगेयात्मा दण्डकारण्यचारिता प्राप्य बृन्दाटवी रेमे स्तुम आरण्यकी श्रियम् ॥
कैलाशक्रोडसम्भूता क्रोडपत्रसुरापगा। विष्णुदेवकृपापूर्णा तूर्णमभ्यर्णतामियात् ॥
परा विद्या परे क्षत्रे कैलाशाधित्यकामये। विद्यानन्दमयानन्दममन्द विन्दते जगत् ॥

क्रियाप्रधान यजुर्वेद के काण्वशाखा शतपथ ब्राह्मण के परिशिष्ट षडध्यायी स्वरूप बृहदारण्यक उपनिषत् (जो ऋषीकेशस्थ कैलाश आश्रम से प्रकाशित है) मेरे सम्मुख है।

विद्वद्धौरेय कैलाश के वर्तमान पीठाधीश्वर एव उन से पूर्व विद्वद्वर पुण्यश्लोक महाराज श्री विष्णुदेवानन्द जी की वेदान्तनिष्ठा तथा नित्य स्वाध्यायाध्यापन प्रणाली का स्मरण कर हृदय-गद्गद हो जाता है। "नवेद्वदान्तचिन्तया' का अक्षरश पालन इस पुनीत प्रतिष्ठान का कीर्तिध्वज है।

कर्म, उपासना, ज्ञान के वृहद् वन में भ्रान्त एवं क्लान्त पथिक को सानुवाद एवं सटिप्पण वृहदारण्यकोपनिषत् की उपलब्धि ऋषि गोमुख से गङ्गा की उपलब्धि उसके पुरातन पुण्य की परिचायिका है।

"महायज्ञैश्च यज्ञैश्च ब्राह्मीय क्रियते तनु" इस प्राक्तन वचनानुसार अश्वमेधादि कर्मानुष्ठान परिनिष्ठित विचारवान् व्यक्ति "आत्मन्यग्नीन् समारोप्य" के क्रमानुसार उच्च मनोभूमिका में आध्यात्मिक अश्वमेधानुष्ठान द्वारा ब्राह्मी भाव को अधिगत करता है। ऋषिकाण्ड में पवित्र वक्ता के रूप में आचार पूत याज्ञवल्क्य महर्षि की भूमिका एवं श्रोता के रूप में ज्ञात ज्ञेय विदेह जनक की भूमिका अद्वैतोपलब्धि में "आश्चर्योऽस्य वक्ता कुशलोऽस्य लब्धा" का सिंहावलोकन कराती है।

कैलाश कीर्तिध्वज ब्रह्माण्डच्छत्रदण्डस्वरूप विद्वन्मूर्धन्य महामण्डलेश्वर श्री स्वामी विद्यानन्द जी महाराज द्वारा कैलाश शताब्दी महोत्सव के दिव्य प्रसाद रूप इस ग्रन्थरत्न का हिन्दी संस्करण सहित प्रकाशन वास्तव में स्तुत्य एवं श्लाघनीय है। सुन्दरे किं न सुन्दरम्।



सम्मतिवचांसि

तत्राखिलानर्थमूलमूलाविद्याविनिवर्तकाखण्डब्रह्मसाक्षात्कारसाक्षात्कारणोपनिषद्रूपप्रमाणमिति समामनन्ति मनीषिणः। किन्तु तादृशीनामप्युपनिषदामतिगभीराणामापाततोऽन्यथार्थग्रहणेनानर्थं नाप्नुयाल्लोकः श्रेयसश्च न प्रतिहन्येतेति धिया व्यासशङ्करमण्डनमिश्रवाचस्पतिमिश्रकल्पतरुतत्परिमल-कृच्छ्रीमधुसूदनसरस्वतीश्रीब्रह्मानन्दस्वामिचरणप्रभृतिभिराचार्यैरुपनिषदां परमतात्पर्यमाविष्कृतम्। 'यावन्नोपपन्नं तावत्सर्वं कल्प्यमिति" न्यायमाश्रित्य तात्पर्यानवबोधविजृम्भितानामवबोधेऽपि "वादी भद्रं न पश्यतीति" न्यायेन वा परप्रदत्तदोषाणां निराकरणपूर्वकपरमतात्पर्यप्रकाशनतात्पर्येणोत्तरोत्तराचार्यैः परिष्काराविष्कारैर्वेदान्तशास्त्रस्य परमं प्रामाण्यं प्रतिष्ठापितम्।

तस्यामेव परम्परायां महामण्डलेश्वरा विद्यावाचस्पतयः श्रीमन्तो विष्णुदेवानन्दगिरिमहाराजा वेदान्तसिद्धान्तप्रचारका उपदेशका अध्यापनचणाश्चासन्निति जानन्ति विज्ञाः। पूर्वं मया तेषां परिष्काराः क्रोडपत्रापराभिधेया आसन् माण्डूक्योपनिषदि दृष्टाः। तत्र च मया कानिचिद्वचांसि सम्मतिरूपेण प्रदाय पावितानि। साम्प्रतं बृहदारण्यकोपनिषदुपरि तेषां परिष्कारानवेक्ष्य नितरां मोदते मनः। श्रीमद्भगवत्पादीयं भाष्यं तदुपरि वार्तिकं भाष्यभावाभिप्रायप्रकाशकमानन्दगिरिव्याख्यानञ्चेति सर्वमतिगम्भीरमित्यत्र न संशयः। तेषु सर्वेषु व्याख्यानेषु सत्स्वपि परिष्कारा न वैयर्थ्यसरणिमाश्रयन्ते, यतो हि 'सतां प्रज्ञोन्मेषः पुनरयमसीमा विजयते" इति न्यायेन तत्र तत्र जायमानानां शङ्कानां समाधानाय परिष्काराश्रयणमन्तरा कोऽपि नावेक्ष्यतेऽपर उपायः। अतो निनरामपेक्षितानां समाधानानामाधानाय श्रीमद्भिः श्रोत्रियब्रह्मनिष्ठैर्विष्णुदेवानन्दगिरिमहाराजैर्महानुपकारो विहितः परिष्कारान् विलिख्य।

वेदान्तसर्वदर्शनाचार्ययतीन्द्रकुलतिलकश्रीकैलासपीठाधीश्वरमहामण्डलेश्वरस्वामिविद्यानन्दगिरि-महाराजैः कृता "विद्यानन्दीमिताक्षरा" यथानामगुणा कस्य न मोदमाधत्ते तत्रैव डॉ० उमेशानन्द-शास्त्रिणा कृता "कुमुदतोषिणी" कथञ्चित्तोपमासादयति।

डॉ० देवस्वरूपमिश्रः
आचार्य एवं अध्यक्ष
वेदान्त विभाग

वाराणसी-२
१३-११-७९

❀ कृष्णं वन्दे जगद्गुरुम् ❀

विश्वविश्रुत नैयायिकवर्य पण्डितराज श्रीराजेश्वर शास्त्रीजी द्रविड के वरिष्ठ शिष्य नैयायिकप्रवर श्री हेब्बार शास्त्रीजी की विलक्षण दृष्टि पूर्ण

❀ शुभ सम्मति ❀

बृहदारण्यकोपनिषत् एक बहुत ही विस्तृत उपनिषद् है। उसमे कौन सा विषय आलोचित नही है, केवल आधिदैविक आध्यात्मिक ही नही, आधिभौतिक का भी सम्यगालोचन है। भाष्यकार लिखते है कि —'एतेनाशास्त्रीयप्रज्ञातपोभ्या स्वाभाविकाभ्या जगत्स्रष्टृत्वमुक्तमेव भवति। स्थावरान्तस्य चानिष्टफलस्य कर्मविज्ञाननिमित्तत्वात्'' (पृ० ३३१)। इससे आधुनिक सृष्ट वैज्ञानिक जगत् का स्थान और मूल्य स्पष्ट हो जाता है कैसे ? देखें—

यह भाग "सप्तान्नब्राह्मण" नाम से प्रसिद्ध है। इसमे जिस प्रकार सूत्रात्मा "यत्सप्तान्नानि मेधया तपसाऽजनयत्पिता" कहा गया है। उसी प्रकार प्रत्येक जीवात्मा भी पूर्वकल्पीय (किसी न किसी पूर्वजन्मीय विहित-प्रतिषिद्ध ज्ञानकर्मानुष्ठान के द्वारा सर्व जन्तु अपने-अपने उत्तर-जन्म के ससार के लिये पिता ही होता है—कहा है। अर्थात् उसी के कर्मविज्ञान से तदनुरूप उसका ससार सृष्ट होता है। यही बात "यथा च स्वकर्मभिरेकैकेन सर्वभूतैरसौ लोको भोज्यत्वेन सृष्ट एवमसावपि जुहोत्यादिपाङ्क्तकर्मभि सर्वाणि भूतानि सर्व च जगदात्मभोज्यत्वेनासृजत। एवमेकैक स्वकर्म-विद्यानुरूप्येण सर्वस्य जगतो भोक्ता भोज्य च सर्वस्य सर्व. कर्ता कार्य चेत्यर्थ" पृ० ३३३ मे निरूपित है।

मैं विज्ञान शब्द से यहाँ भ्रान्ति प्रतिपादन नही कर रहा हूँ। अन्यत्र 'धी विज्ञान शिल्प-शास्त्रयो" कोशानुसार ही कर रहा हूँ। इस पर यदि प्रश्न हो कि वेद को आधुनिक वैज्ञानिक जगत् की सृष्टि मालूम कहाँ थी ? यदि थी तो क्यो नही सृष्टि कर दिखलाई ? तो यही बात यहाँ पर समझायी गयी है कि 'एवमसावपि" इत्यादि। अर्थात् सूत्रात्मा प्रजापति (उसका भी स्रष्टा सर्वेश्वर) सदा सृष्टि, स्थिति, लयकर्ता पिता सबका ही है। उनके सृजन से ही प्रत्येक जीवात्मा अपने-अपने हिसाब से अपने अपने ससार की सृष्टि और भोग पुन-पुन करता जन्मता-मरता है। इस प्रकार सर्व सृष्टिकर्ता को सब कर्मविज्ञान सिद्ध कहा है सदा उसका सृष्टि, स्थिति सहार चक्र चलाता रहता है। यही बात यहाँ पर कही गयी है। उस सृष्टिकर्ता परमेश्वर का ज्ञान ही वेद है। 'यो ब्रह्माण विदधाति पूर्वं यो वै वेदाश्च प्रहिणोति यस्मै। त ह देवमात्मबुद्धिप्रकाश मुमुक्षुर्वै शरणमह प्रपद्ये" अन्यत्र वेद कहता है। "शब्द इति चेन्नात प्रभवात् प्रत्यक्षानुमानाभ्याम्" ब्रह्मसूत्र देवताधिकरण मे भी यह बात आलोचित है। प्रजापति या परमेश्वर सब सृष्टि का प्रति क्षण कर्ता पिता है। "सर्वेषा तु स नामानि कर्माणि च पृथक् पृथक्। वेदशब्देभ्य एवादौ पृथक् सस्थाश्च निर्ममे"—मनु कहते हैं। यदि पूछो कैसे, तो यह ब्रह्माण्ड और पिण्डाण्ड सर्व वैज्ञानिक सृष्टि का प्रत्यक्ष उदाहरण है। कौन वैज्ञानिक यन्त्र उसमे कार्य कर नही रहा है। उसको थोडा बहुत अपने सस्कारानुरूप निरीक्षण अवलोकन कर कोई कुछ कर पाता है। इतने से क्या वह असिद्ध हो जायगा। इस प्रकार सृष्टिकर्ता को प्रत्यक्ष सृष्टि होते हुये भी तुम को नही दीखती हो तो कहना पडता है कि "नैष स्थाणोरपराधो यदेनमन्धो न पश्यति, पुरुषापराध स भवति"।

विज्ञान-विज्ञान कहकर विभीषिका क्या है। कार्य-कारणभाव के ज्ञान ही को विज्ञान कहते हैं। वे भिन्न-भिन्न स्तर के भिन्न-भिन्न हैं, सात्त्विक, राजस, तामस। उदाहरणतया बछडे के द्वारा पेन्हाकर दूध दुहा जाता है। वह दुहने का सात्त्विक विज्ञान है। वही कन्हैया को तथा वेद का प्रिय मान्य है। स्नेह और स्तन को कुछ लगाकर यो हाथ से मलते-मलते पेन्हाना राजस है। जुलाब की दवा की तरह दूध के जुलाब की सुई टोचकर, या बछडे के चमडे मे भूसा-घास आदि भरकर पेन्हाना तामस विज्ञान है। तीनो मे दुग्ध के गुणो मे महदन्तर है। इसलिये इष्टानिष्ट फलस्वरूप राजस तामस है। वेद और वैदिक कर्मों मे सात्त्विक विज्ञान ही देव मान्य है। यद्यपि उनमे भी तारतम्य भाव है। आध्यात्मिक विज्ञान ही शुद्ध सात्त्विक है जो प्रकृत उपनिषत् मे प्रस्तुत है। इस प्रकार वेद सर्व कर्म-विज्ञान का भी आलोचक है, जगली गीत नही है। शास्त्रीय अशास्त्रीय इष्टफल अनिष्टफल सब का आलोचक प्रधान सृष्टिकर्ता का ज्ञान ही वेद विषय करता है, अधूरा वैज्ञानिक जगत् चालक नही है।

बहुत क्यो ? मन्वादिको ने भी अशास्त्रीय कर्मविज्ञान के सबन्ध में निषेध कर हानिकरत्व बतलाया है। अत एव "महायन्त्रप्रवतन, सर्वाकरेष्वधीकार, असच्छास्त्राधिगमनम्," इत्यादि को पातको मे गिनाया है। यदि पूछो कि मन्वादिको ने आधुनिक कर्मविज्ञान को भी जानते हुए निषेध किया है तो कर दिखायें क्यो नही, कर दिखलाना चाहिये था। तो जड सृष्टि और स्थावरान्त सृष्टि कर ही रहे हैं, अलग करने की क्या आवश्यकता है। उसी स्तर के जीवो को दीखता ही है। टीपात्र से बाष्प यन्त्र की ओर फल गिरने से न्यूटन की दृष्टि बनी, इत्यादि इतिहास ही है। अनेक अद्भुत यन्त्र रचना ब्रह्माण्डादि-रचना एव शरीर-रचनाओ मे गर्भित दृश्य हैं। बायोनिक्स जो आधुनिक विज्ञान की एक (राडार आदि अविष्कारक) शाखा है वह पशु आदि स्थावरान्त के निरीक्षण मे ही सिद्ध होती है। इन्ही लोकव्यवहारो के निरीक्षण से दत्तात्रेय ने चौबीस गुरुओ के नाम से इन्ही व्यवहारो से अध्यात्मक क्षेत्र के विज्ञानसबन्धी शिक्षा ली कही है। जो जीव जैसे कर्मविज्ञान सस्कारो से वासित है, उसको वही दीखता सूझता है। तिस पर भी सर्वब्रह्माण्ड, पिण्डाण्ड कर्ता के अतिरिक्त मन्वादिको को भी कर दिखलाना चाहिये तो क्या निषेध करने वाले को कर दिखलाना चाहिये, चोरी मत करो, डकैती मत करो, व्यभिचार मत करो, किसी की वृथा हिंसा मत करो, पर पीडा न करो इत्यादि कहा तो क्या उसे कर दिखाना चाहिये, नही तो अज्ञान है, यही आप का विज्ञान है ! इसीलिये ही क्या सारे ससार में स्वीकृति से आधुनिक वैज्ञानिक सृष्टि के द्वारा अनर्थ और अशान्ति फैला रहे हैं ! मैं पूछता हूँ कि तुम को क्या मालूम कि मन्वादिको ने कर नही देखा। तुम को कर दिखाकर तुम्हारा सर्टिफिकेट लेने के लिये तुम कौन होते हो। धारेश्वर राजा भोज अपने समराङ्गणसूत्रधार के यन्त्राध्याय मे कहते हैं—

'यन्त्राणा घटना नोक्ता गुप्त्यर्थं नाज्ञतावशात्।
तत्र हेतुरय ज्ञेयो व्यक्ता नैते फलप्रदा ॥
यन्त्राणि यानि दृष्टानि कीर्तितान्यत्र तान्यपि।
एतस्स्वबुद्ध्यवास्माभि समग्रमपि कल्पितम् ॥
अग्रतश्च पुनर्ब्रूम कथित यत्पुरातनै ' ॥

इत्यादि न्याय से मन्वादिकों ने करके भी दोष देखकर वेदोक्त निषेध का अनुस्मरण किया न होगा तुम कैसे कहते हो ? उन वैदिकों को "जन्मौषधिमन्त्रतप समाधिजा. सिद्धय" इत्यादि स्वल्पसाधन-साध्य निरुपद्रव देवानुग्रहानुकूल विज्ञान ही मान्य था, उसी मे वे तत्पर थे। कभी सुरो ने असुरो के साथ अमृतार्थ समुद्रमथन कार्य किया, जब उनके कर्मविज्ञान से हालाहल विष सारे जगत् में फैलने लगा, तब उन लोगो ने भगवान् शङ्कर के अनुग्रह को प्राप्त कर निवारण कर लिया। "देवान्भावयतानेन ते देवा भावयन्तु व । परस्पर भावयन्त श्रेय. परमवाप्स्यथ"— गीता मे कहा है। ऐसा कोई प्रकार आधुनिक वैज्ञानिको के सृजन मे नही है। आज कल सुनते है कि कुछ नव्य शिक्षित व उनके गुरु पाश्चात्यो को सिखला रहे हैं कि घी जलाने से पर्यावरणदूषण शुद्ध हो जाता है। कितनी हँसी की बात है ! कितनी हीन-दीन उस नव्य शिक्षित बुद्धि की दशा है। श्रद्धा भक्तिभाव से ही देवतानुग्रह तथा ईश्वरानुग्रह से होता है कि बस घी जलाने मात्र से ! तब सुरासुर शङ्करजी की शरण मे क्यों जाते !

मन्वादिको को शास्त्रीय विज्ञान मान्य था। उसी मे निरातङ्क तथा अल्पायास साध्यता होने से वे लगे रहते थे। देवतानुग्रह तथा ईश्वरानुग्रह उनके साधनो मे प्राण था। उनके शास्त्रीय विज्ञान का यो दिग्दर्शन है—"जन्मौषधिमन्त्रतप समाधिजा सिद्धय" नाना विहितकर्मानुष्ठान, नानाविध तत्तच्छास्त्रोक्त प्रयोग, योगविभूति, प्रयोग, व्रत, नियम और सिद्धियाँ हैं। जैसे—

"अणिमा लघिमा प्राप्ति प्राकाम्य महिमा तथा।
ईशित्व च वशित्व च तथा कामावसायिता॥
दूरश्रवणमेवेति परकायप्रवेशनम्।
मनोयायित्वमेवेति सर्वज्ञत्वमभीप्सितम्॥
वह्निस्तम्भ क्षुत्पिपासानिद्रास्तम्भनमेव च।
कायव्यूह च वाक्सिद्धि मृतानयनमीप्सितम्॥
सृष्टीना करण चैव प्राणावर्पणमेव च।
प्राणाना च प्रदान च लोभादीना च स्तम्भनम्।
इन्द्रियाणा स्तम्भन च बुद्धिस्तम्भनमेव च"॥

(—ब्रह्मवैवर्ते भागवतादौ च)

एव नाना विद्यायें भी हैं—

"एव शपति देवर्षौ विद्यामास्थाय फाल्गुन।
ययौ सयमिनीमाशु यत्रास्ते भगवान् यम॥
विप्रापत्यमचक्षाणस्तत ऐन्द्रीमगात्पुरीम्।
आग्नेयी नैर्ऋती सौम्या वायव्या वारुणीमथ॥
रसातल नाकपृष्ठ धिष्ण्यान्यन्यान्युदायुध.।
ततोऽलब्धद्विजसुतो ह्यनिस्तीर्णप्रतिश्रुत."॥ इत्यादि।

(—भागवते।)

इस प्रकार शास्त्रीय एव देवतानुग्रह तथा ईश्वरानुग्रह से प्राप्य निरुपद्रव विज्ञान अल्पश्रम-साध्य मे वे लगे रहने वाले मन्वादिक देवताओ के व्यवहार मे स्थित विज्ञान को छोडकर स्थावरान्ता-शास्त्रीय शोध वाले आधुनिक विज्ञान मे क्यो लगेंगे ?

कुछ भी हो, प्रकृत में इसी शास्त्रीय कर्मविज्ञान की ही निन्दा में वेद का तात्पर्य है। भाष्यटीकाकार लिखते हैं कि "विवक्षितन्त्विति। शास्त्रपरवशस्य शास्त्रवशादेव साध्यसाधनभावाद-शास्त्रीयाद्वैमुख्यसंभवान्न तस्यात्र विवक्षितत्वमित्यर्थः"। अर्थात् शास्त्र ने स्वाभाविक साध्यसाधनभाव वैमुख्य उत्पन्न कर शास्त्रपरवश बनाया। तब उक्त शास्त्रीय षाड्‌क्तकर्म में स्थापन किया। अब उससे शुद्ध-चित्त हुए को आगे ब्रह्मविद्या में अधिकारी देखकर उस शास्त्रीय साध्यसाधनभाव से वैमुख्य उत्पन्न कर ब्रह्मविद्या के क्षेत्र में प्रेरणा की जाती है, न कि पूर्व में त्यक्त का अथवा त्याजित का पुनरुपादान कराने के लिये यह वैमुख्य है। इस विवेक को आधुनिक कर्मविज्ञान की सृष्टि में मग्न देश-विदेश के नव्यशिक्षित वर्ग कोई भी परवाह नहीं करता। तदनुसार सारा संसार अनर्थ अशान्ति में कष्ट भोग रहा है। जैसे करें वैसे भरें। कौन क्या करें।

प्रसङ्ग से भाष्यकार लिखते हैं—"ब्रह्मविद्याविषये च सर्वैकत्वात् कामानुपपत्ते" अर्थात् शास्त्रीय हो चाहे अशास्त्रीय सारे संसार में काम व्याप्त है। ब्रह्मविद्या में सर्वैकात्मदर्शन होने से काम की उपपत्ति नहीं रहती। इस पर आनन्दगिरि लिखते हैं—"तस्या (ब्रह्मविद्याया) विषयो मोक्ष। तस्मिन्नद्वितीयत्वाद्रागादिपरिपन्थिनि कामापरपर्यायो रागो नावकल्पते। न हि मिथ्याज्ञाननिदानो राग सम्यग्ज्ञानाधिगम्ये मोक्षे संभवति। श्रद्धा तु तत्र भवति तत्त्वबोधाधीनतया संसारविरोधिनी, तत्र संसारानुपपत्तिर्मुक्तावित्यर्थः" इस टीका पर क्रोडपत्रकार प्रश्न करते हैं कि मोक्षेच्छा तो है। (इच्छा राग न्यायशास्त्र में व्याख्यात है) उनकी पङ्‌क्ति है—"नन्वेव मुमुक्षाया प्रभावेनाधिकार्य-भावान्मोक्षसाधने ज्ञानेऽधिकारिण प्रवर्तकस्य तद्विज्ञानार्थं स गुरुमेवाऽभिगच्छेदित्यादिशास्त्रस्या-ऽनर्थक्य स्यादित्याशङ्क्याऽऽह—श्रद्धा त्विति तुशब्दो। यथोक्तचोद्यव्यावृत्त्यर्थ। मुमुक्षास्यानीया श्रद्धेत्यर्थ। अस्मिन्मते विवेकादीनि नोण्येवाधिकारिविशेषणानि इति न किञ्चिदवद्यमिति भाव। ननु कामवत् श्रद्धापि तत्र संसार जनयेदेव श्रद्धाकामयोर्मन परिणामत्वाविशेषादित्याशङ्क्याऽऽह—तत्त्व-बोधेति। अविद्यासंसारविरोधितत्त्वज्ञानानुकूलतया संसारविरोधिनीत्यर्थ। तयोर्मन परिणामत्वा-विशेषेऽपि यथोक्तश्रद्धाया सात्त्विकपरिणामत्वात्संसारविरोधित्वमिति भाव'। इसीलिये प्रह्लाद ने भागवत में कहा है कि "वैशारदीधी श्रद्धात स्त्रीबालाना च मे यथा'।

यद्यपि शङ्का कुशङ्का की धारा और भी साधक की शिथिलावस्था में हो सकती है, तथापि इस पक्ष का अन्तिम परिष्कार भाष्यकार ने "तत्तु समन्वयात्' के भाष्य में स्वयं बतलाया है—'तस्मान्नावगतब्रह्मात्मभावस्य यथापूर्वं संसारित्वं यस्य तु यथापूर्वं संसारित्वं नासाववगतब्रह्मात्म-भाव इत्यनवद्यम्'।

इस प्रकार बड़ी जवाबदारी के विचार स्थल-स्थल पर क्रोडपत्र में पूर्वाचार्यों का अनुसरण करते हुए क्रोडपत्रकार ने विवेकपूर्वक लिखा है। इससे तत्त्वनिर्णय में बहुत ही उपकार होगा। इतिशम्।

———

विषयानुक्रमणिका

चतुर्थोऽध्याय

अथ तृतीयोऽध्यायः।

जनको ह वैदेह इत्यादि 'याज्ञवल्कीयं काण्डमारभ्यते। उपपत्तिप्रधानत्वादतिक्रान्तेन 'मधुकाण्डेन समानार्थत्वेऽपि सति न पुनरुक्तता। मधुकाण्डं 'ह्यागमप्रधानम्। 'आगमोपपत्ती ह्यात्मैकत्वप्रकाशनाय प्रवृत्ते शक्नुतः करतलगतबिल्वमिव दर्शयितुम्'। श्रोतव्यो मन्तव्य इति ह्युक्तम्'। 'तस्मादागमार्थस्यैव 'परीक्षापूर्वकं निर्धारणाय याज्ञ-

---

मधुकाण्डे त्वाष्ट्रं कक्ष्यं चेति मधुद्वयं व्याख्यात सम्प्रति काण्डान्तरारम्भं प्रतिजानीते—जनक इति। ननु पूर्वस्मिन्नध्यायद्वये व्याख्यातमेव तत्त्वमुत्तरत्रापि वक्ष्यते 'तथा च पुनरुक्तेरलं मुनिकाण्डेनेति तत्राऽऽह—उपपत्तीति। तुल्यमुपपत्तिप्रधानत्वं मधुकाण्डस्यापीति चेन्नेत्याह—मधुकाण्ड हीति। ननु "प्रमाणादागमादेव तत्त्वज्ञानमुत्पत्स्यते किमुपपत्त्या तत्प्रधानेन काण्डेन चेति तत्राऽऽह—आगमेति। "करणत्वेनाऽऽगमस्तत्त्वज्ञानहेतुरुक्षुपपत्तिरुपकरणतया" पदार्थपरिशोधनद्वारा तद्धेतुरित्यत्र गमकमाह—श्रोतव्य इति। करणोपकरणयोरागमोपपत्त्योस्तत्त्वज्ञानहेतुत्वे सिद्धे फलितमुपसंहरति—

(उपदेशप्रधान मधुकाण्ड की समाप्ति के पश्चात्) अब "जनको ह वैदेह" इत्यादि श्रुतिमन्त्र से (उपपत्तिप्रधान) याज्ञवल्ककाण्ड का आरम्भ किया जाता है। पूर्वोक्त मधुकाण्ड से (याज्ञवल्ककाण्ड की) समानार्थकता होने पर भी उपपत्तिप्रधान होते हुए भी इसमें पुनरुक्ति दोष नहीं है क्योंकि (प्रधान-उपपादक भेद से पुनरुक्ति प्रसिद्ध न होने से) मधुकाण्ड आगमशास्त्रप्रधान है। यदि युक्ति और शास्त्र दोनों ही आत्मैकत्व प्रकाशित करने के लिए प्रवृत्त हो जाएँ तो आत्मैकत्व को करतलगत बिल्वफल के समान दिखा सकते हैं। श्रुति पहले ही ऐसा कह चुकी है कि 'श्रवण करना चाहिये, मनन करना

---

१ याज्ञवल्कीयमिति। "समाप्तो मधुकाण्डोऽयमुपदेशप्रधानकः। उपपत्तिप्रधानोऽथ याज्ञवल्काख्य उच्यते॥ पदार्थविषया युक्तिर्वाक्यार्थे तूपदेशगी। अतो न पुनरुक्तत्वं काण्डयोः शेषशेषिणोः॥ काण्डोऽयं याज्ञवल्काख्यः स्यादध्यायद्वयात्मकः। जल्पवादकथाभेदादध्यायावौ व्यवस्थितौ॥ तत्र जल्पकथारूपिण्यध्याये पञ्चमे नव। ब्राह्मणान्यर्थ एतेषां क्रमेणेहोपवर्ण्यते॥ आद्ये मृत्योरतिक्रान्तिर्द्वितीये मृत्युनिर्णयः। तृतीये समृतिव्याप्तिस्तुर्ये प्रत्यग्विनिर्णयः॥ पञ्चमे ब्रह्मता तस्य षष्ठे तु ब्रह्मकारणी। सप्तमे कारणावस्था ब्रह्मतत्त्वमथाष्टमे॥ नवमे देवविस्तारः सक्षेपद्वारतः पुनः। सगुणं निर्गुणं चोक्तं ब्रह्म सवाविवारिणामिति'॥ उच्यत इति। प्रमाणोत्पन्नान्तरभाविनी हि तदनुग्राहकतर्कोक्तिस्तद्युक्तमागमयुक्तिप्रधानयोरनयोः पौर्वापर्यमिति। मुनिकाण्डस्य पाश्चात्ये हेतुमाह—उपदेशेति। आगमप्रधान इत्यर्थः। अत्र याज्ञवल्क, याज्ञवल्कीयमित्युभयत्रापि 'आपत्यस्य च तद्धितेऽनाति" इति सूत्रेण यलोपः। २ मुनिकाण्डस्य। ३ प्रधानोपपादकभेदात्पौनरुक्त्यं प्रसिद्धमिति हि। ४ आगमेति। तथा च वार्तिके—"युक्त्यागमौ हि संभूय करस्थामलकादिवत्। सुसूक्ष्ममपि सद्वस्तु शक्तौ ज्ञापयितुं यतः"॥ १४॥ आगमिकेऽर्थे विपरीतभावनादिभञ्जकत्वेन युक्तीनामुपयोगाद्युक्ता तत्सङ्गतिरित्युभयत्र (भा० वा०) हिशब्दार्थः। ५ आत्मैकत्वमिति शेषः। ६ बृ० उ० २।४।५। ७ अवतरणात्तार्थम्। ८ उद्भावितदोषापाकरणपुरःसरम्। [illegible] काण्डयोः समानार्थत्वे च। १० प्रमाणभूतादागमादेवेत्यर्थः। ११ प्रमाणत्वेन। १२ करणसहकारितया प्रमाणानुग्राहकत्वेनेति यावत्। उपपत्तिर्हि तर्कः स च प्रमाणानुग्राहकः।

---

‡उपपत्तिरुपकरणतयेत्यादि। अत्राहुर्वार्तिकाचार्याः—'न चाऽऽगमस्य स्वातन्त्र्यं युक्त्युक्तरपनुद्यते। अर्थान्तर-

वल्कीयं काण्डमुपपत्तिप्रधानमारभ्यते । आख्यायिका तु विज्ञानस्तुत्यर्थोपाय¹विधिपरा वा । प्रसिद्धो ह्यु²पायो³ विद्वद्भिः शास्त्रेषु च दृष्टो दानम् । दानेन ह्यु⁴पनमन्ते प्राणिनः ।

तस्मादिति । यथोक्तरीत्या काण्डारम्भेऽपि किमित्याख्यायिका प्रणीयते तत्राऽऽह—आख्यायिका त्विति । विज्ञानवतां 'पूजा'ऽत्र प्रयुज्यमाना दृश्यते । तया च विज्ञानं महाभागधेयमिति स्तुतिरत्र विवक्षितेत्यर्थः । विद्याग्रहणे दानाख्यपायप्रकारज्ञापनपरा वाऽऽख्यायिकेत्यर्थान्तरमाह—उपायेति । कथं पुनर्दानस्य विद्याग्रहणोपायत्वं तत्राऽऽह—प्रसिद्धो हीति ।

"गुरुशुश्रूषया विद्या पुष्कलेन धनेन वा"

इत्यादौ' दानाख्यो विद्याग्रहणोपायो यस्मात्प्रसिद्धस्तस्मात्तस्य तदुपायत्वे नास्ति वक्तव्यमित्यर्थः । 'दाने सर्वं प्रतिष्ठितम्' इत्यादिश्रुतिषु विद्वद्भिरेव विद्याग्रहणोपायो दृष्टस्तस्मान्न तस्योपायत्वे विवदितव्यमित्याह—विद्वद्भिरिति । 'उपपन्नं च दानस्य विद्याग्रहणोपायत्वमित्याह—दानेनेति । भवतु

चाहिये" । इसलिए शास्त्रतात्पर्य को ही (उद्भावित दोषों का परिहार करते हुए) परीक्षापूर्वक निर्धारण के लिए उपपत्तिप्रधान याज्ञवल्ककाण्ड का प्रारम्भ किया जाता है। यहाँ जो आख्यायिका है, वह विज्ञान की स्तुति के लिए उपायप्रकार ज्ञापनपरक है। लोक में दान प्रसिद्ध उपाय है और विद्वानो

१ प्रकारेति यावत् । २ लोके । ३. आर्जवं यन्ति । ४. नमो वय ब्रह्मिष्ठाय कुर्म इत्यादिरूपा (उत्कर्षविशेष) । ५. अध्याये, ब्राह्मणे, आख्यायिकाया वा पूजा (बृ० उ० ३।१।२ । ६. "अथवा विद्यया विद्या चतुर्थं नैव कारणमिति" पद्यार्द्धम् । ७ लोके । ८ बृहदारण्यकोपनिषदि कं० ७६ । ६. युक्त चेत्यर्थ ।

स्वाद्युक्तीना प्रमाणेभ्यो यतस्ततः ॥ सर्वप्रमाणशेषत्वं युक्तीनामुपवर्णितम् । शास्त्रान्तरेष्वपि तथा नातः स्वातन्त्र्यखण्डनम् ॥ पदार्थविषया चेय युक्तिस्तर्कोऽभिधीयते । वाक्यार्थस्त्वागमादेव निरपेक्षमतो वच. ॥ पौरुषेयवच स्वेव युक्ते प्राधान्यमिष्यते । अनरोक्तौ तु तात्पर्यं युक्तेरर्थो न युक्तितः ॥ प्रत्यक्षाद्यतिवर्तित्वाद्युक्त्यपक्षा न विद्यते । आगमार्थे यथैव स्याद्युक्त्यर्थे नाऽऽगमेक्षणम् ॥ पुस्वभावानुरोधेन युक्तिर्वेदेऽभिधीयते । आगमस्य प्रवृत्तिस्तु मेयवृत्त्यपेक्षया ॥ ननूक्ता मधुकाण्डेऽपि दुन्दुभ्याद्युपपत्तय । आगमैकप्रधानत्व कथ तस्येति भण्यते ॥ नैष दोषो यतस्तत्र युक्तीनामप्रधानता । प्राधान्य याज्ञवल्कीये युक्तीनामभिधीयते ॥ युक्त्यागमौ हि सभूय करस्थामलकादिवत् । सुसूक्ष्ममपि सद्वस्तु शक्तौ ज्ञापयितु यत ॥ युक्त्योऽतोऽभिधीयन्ते पूर्वपक्षादिसश्रया । याज्ञवल्कीय एतस्मिन्काण्डे जल्पोक्तिवर्त्मना ॥ उद्गीथप्रमुखा येऽर्था मधुकाण्डे पुरोदिता' । तेषामेव विशुद्धयर्थं विचार. क्रियतेऽधुना ॥ दर्शनस्यास्य तेनात एकवाक्यत्वमिष्यते । तथैवान्यपदार्थेषु तदद्वयोरपि काण्डयो." ॥६-१७॥ इति । ननु युक्त्यपेक्षत्वादागमस्यानपेक्षत्वलक्षणप्रामाण्यक्षतिस्तत्राऽऽह—न चेति । यतस्ततो निरुच्यमानयुक्तीनाममानत्वादागमस्य तदपेक्षत्वेऽपि न स्वातन्त्र्यहानिरित्यर्थ. ॥ कथ तासाममानत्वमत आह—सर्वेति । उक्त हि—अविज्ञाततत्त्वेऽर्थे कारणोपपत्तितस्तत्त्वज्ञानार्थमूहस्तर्क इति । न्यायभाष्यकारोऽप्याह—तत्त्वविषयाभ्यनुज्ञालक्षणादूहाद्भाविताप्रसन्नादनन्तर प्रमाणसामर्थ्यात्तत्त्वज्ञानमुपपद्यत इति । तद्वार्तिककारश्च प्रमाणानि पुनः प्रवर्तमानानि तर्कविविक्तमर्थं यथाभूतमधिगमयन्तीति । अन्योऽप्याह—तथा प्रमाणोपपत्त्येतिकर्तव्यतया प्रमाणविषयमभ्यनुजानन्त्या विशोधिते विषये प्रमाणमप्रत्यूह प्रवर्तत इति । युक्तीना प्रमाणशेषत्वे तदपेक्षागमस्य न स्वातन्त्र्यहानिरिति फलितमाह—तथेति । अतः सापेक्षत्वादित्येतत् ॥ अस्तु वाऽनुमानान्तर्भावेन युक्तिर्मान

प्रभूतं हिरण्यं गोसहस्रदानं [1]चेहोपलभ्यते। [2]तस्मादन्यपरेणापि शास्त्रेण विद्याप्राप्त्युपाय-दानप्रदर्शनार्थाऽऽख्यायिकाऽऽरब्धा। अपि च तद्विद्यसंयोगस्तैश्च सह वादकरणं विद्याप्रा-

दानं विद्याग्रहणोपायस्तथाऽपीयमाख्यायिका कथं तत्प्रदर्शनपरेत्याशङ्क्याऽऽह—प्रभूतमिति। ननु समुदितेषु ब्राह्मणेषु ब्रह्मिष्ठतमं निर्धारयितुं राजा प्रवृत्तस्तत्कथमन्यपरेण ग्रन्थेन विद्याग्रहणोपायविधानायाऽऽख्यायिकाऽऽरभ्यते तत्राऽऽह—तस्मादिति। उपलम्भो यथोक्तस्तच्छब्दार्थः। इतश्चाऽऽख्यायिका विद्याप्राप्त्युपायप्रदर्शनपरेत्याह—अपि चेति। तस्मिन्वेद्येऽर्थे [3]विद्या येषां ते तद्विद्यास्तैः सह संबन्धश्च

द्वारा एवं शास्त्रों में भी इसे देखा गया है। दान से प्राणी विनम्र हो जाते हैं। इस आख्यायिका में बहुत सा सोना और हजारों गौओं का दान पाया जाता है। इसलिए शास्त्र का प्रतिपाद्य विषय अन्य होने पर भी यह आख्यायिका विद्याप्राप्ति के उपायप्रकार दान को प्रदर्शित करने के लिए प्रारम्भ की जाती है। इसके अतिरिक्त वेद्य अर्थ का जिन्हें विज्ञान है, ऐसे पुरुषों का सत्सङ्ग, उनके साथ तत्त्वनिर्णय फल वाला सभाषण करना; विद्याप्राप्ति का उपाय न्यायशास्त्र में देखा गया है, उसका इस

१. आख्यायिकायाम्। २. निरुक्तदानोपलम्भात्। ३. विज्ञानम्।

तथाऽपि नाऽऽगमस्य स्वातन्त्र्यभङ्गो विषयभेदादित्याह—पदार्थेति॥ वेदवाक्यस्य स्वातन्त्र्ये हेत्वन्तरमाह—पौरुषेयेति। लौकिकवाक्येष्वाप्तानाप्तोक्तत्वादिसंशयनिरासित्वेन युक्तिं प्रधानीकृत्य प्रामाण्यं वेदवाक्येषु तु युक्त्या तात्पर्यनिश्चये तदनपेक्षमेवात. श्रुतिलिङ्गादियुक्त्यवगततात्पर्यस्य प्रत्यक्षादिविरोधनिरासद्वारा दृढीकरणं वाधारूभणत्वादियुक्तिकृतमिति नाऽऽगमार्थे युक्तं स्वतन्त्रतेत्यर्थ॥ किं च विमतं न युक्त्यपेक्षं प्रत्यक्षाद्ययोग्य-त्वाद्धर्मवदित्यनुमानादेश्चागमस्यानपेक्षतेत्याह—प्रत्यक्षादीति। स्वविषये युक्तेरागमापेक्षावत्तस्यापि स्वविषये युक्त्यपेक्षत्वं किं न स्यात्तत्राऽऽह—यथेति। न हि लोकसिद्धेऽर्थे वेदापेक्षेति भाव॥ वेदः स्वार्थे युक्त्यनपेक्षश्चेत्तर्हि तत्र सोच्यते तत्राऽऽह—पुरुषभावेति। अयं हि पुरुषभावो यद्ब्रह्मात्मन्युक्तेऽप्यमभावनादिद्वाराऽऽरोपितकर्तृ-त्वाद्यभिमानित्वं तद्विरासानुसारेण वेदे युक्तिरिष्टेत्यर्थः। ननु वदस्यापि पुरुषयुक्त्यनुरोधेन प्रवृत्तेस्तर्कादविशेष-स्तत्राऽऽह—आगमस्येति। न हि वस्तु पुरुषोत्प्रेक्षामनुसरति क्षणिकत्वादेरपि वस्तुत्वप्रसङ्गादतः सिद्धमर्थमागमः स्वतोऽवगमयेदध्यक्षादिवदित्यर्थः॥ आगमप्रधानं मधुकाण्डमिदं तु युक्तिप्रधानमिति व्यवस्थया पुनरुक्तिसमाधिरुक्तः संप्रति व्यवस्थामाक्षिपन्पौनरुक्त्यतादवस्थ्यं शङ्कते—नन्विति। पूर्वत्राऽऽगमप्राधान्याद्युक्तेर्गुणत्वादत्र च वैपरीत्यादुभयत्रोभयसत्त्वेऽपि न पौनरुक्त्यमित्याह—नेत्यादिना॥ नन्वेवं पुनरुक्तिपरिहारेऽपि विमागमगम्येऽर्थे युक्त्युपन्यासेन न हि तामनुसृत्याऽऽगमः स्वार्थं प्रमापयेदत आह—युक्तीति। आगमिकेऽर्थे विपरीतभावनादिमन्द-कर्त्वेन युक्तीनामुपयोगाद्युक्ता सत्सङ्गतिरिति हिशब्दार्थः॥ काण्डारम्भमुपसंहरति—युक्तय इति। द्विविधा कथा जल्पो वादश्च तत्र जल्पद्वारा युक्तीरुक्त्वा तदनुसारेण तत्त्वं निर्णीयते पञ्चमेनेत्यध्यायार्थमाह—जल्पेति॥ काण्डाध्यायारम्भमुक्त्वा भाष्योक्तमाख्यायिकासंबन्धं सिद्धवत्कृत्य ब्राह्मणस्य सङ्गतिमाह—उद्गीथेति॥ उद्गीथब्राह्मणोक्तप्राणादिस्वरूपनिरूपणार्थत्वादस्य ब्राह्मणस्यान्तरदर्शनस्य तत्रत्योपासितदोषवादनयोर्ब्राह्मणयो-रेकवाक्यतेति फलितमाह—दर्शनस्येति। न केवलमाद्यब्राह्मणस्यैव पूर्वसङ्गतिरपि त्वन्येषामपीत्याह—तथैवेति। अन्यैर्ब्राह्मणैरुक्तार्थेषु तर्करूपेषु मधुकाण्डोक्ततत्त्वमात्रार्थनिर्णयदृष्टेर्युक्तं तेषां पूर्वेणैकवाक्यत्वमित्यर्थः। काण्डयो-र्द्वयोरेकवाक्यत्वं निगमयति—तदिति। तदा परामृष्टमेकवाक्यत्वम्॥

प्त्युपायो न्यायविद्यायां दृष्टः । तच्चास्मिन्नध्याये प्राबल्येन प्रदर्श्यंते । प्रत्यक्षा च विद्वत्संयोगे प्रज्ञावृद्धिः । ¹तस्माद्विद्याप्राप्त्युपायप्रदर्शनार्थैवाऽऽख्यायिका ।

तरेव प्रश्नप्रतिवचनद्वारा 'वादकरणं च विद्याप्राप्तावुपाय इत्यत्र गमकमाह—न्यायविद्यायामिति ।*तत्त्वनिर्णयफलां हि 'वीतरागकथामिच्छन्ति । तद्विद्यसंयोगादेर्विद्याप्राप्त्युपायत्वेऽपि कथं प्रकृते 'तत्प्रदर्शनपरत्वमत आह—तच्चेति । तद्विद्यसंयोगादीति यावत् । न केवलं 'तर्कशास्त्रवशादेव तद्विद्यसयोगे प्रज्ञावृद्धिः किंतु स्वानुभववशादपीत्याह—प्रत्यक्षा चेति । आख्यायिकातात्पर्यमुपसहरति—तस्मादिति ।

अध्याय मे दृढतापूर्वक प्रतिपादन किया गया है । विद्वानो के सम्पर्क मे प्रज्ञावृद्धि अनुभवसिद्ध है । इसलिए यह आख्यायिका विद्याप्राप्ति का उपाय प्रदर्शित करने के लिए ही है ।

---

१. उक्तयुक्तिकलापात् । २ तत्त्वनिर्णयफलक सभाषणम् । ३ वीतरागेति—वीतो रागो जयादिविषयो येषा तेषा कथा वादाख्या तत्त्वनिर्णयफलमिच्छन्ति मन्यन्ते इत्यर्थ. । तदिदमुक्त तार्किकरक्षायाम्—"तत्र प्रमाणतर्काभ्या साधनाक्षेपसयुता । वीतरागकथावादस्तत्फल तत्त्वनिर्णय इति" ॥ ७७ ॥ ४. तस्य तत्प्राप्त्युपायत्वप्रदर्शनपरत्वमिति भाव । ५ तर्कशास्त्रोक्ते ।

---

*तत्त्वनिर्णयफला हि वीतरागकथामिच्छन्तीति । तत्त्वनिर्णयफलमित्युक्त्या तद्विद्यसयोगादेर्विद्याप्राप्त्युपायत्व ध्वनित तत्त्वनिश्चयस्यैव विद्यास्वादस्यैव तद्धेतुत्वात्तस्य च तद्विद्यसयोगमन्तराऽयोगात् । वीता विनिवृत्तो रागो जयादिविषयोऽभिलाषो येषा शिष्याचार्यसब्रह्मचारिणा स तथा तदीया कथा विचारगोचरार्थविषयो नानावक्तृको वाक्यविस्तर कथति लक्षणलक्षिता तामिच्छन्ति वादलक्षणत्वेनाभ्युपयन्तीत्यर्थ । तथा चोक्त श्रीवरदगुरुविरचिततार्किकरक्षाया वादनिरूपणे—"तत्र प्रमाणतर्काभ्या साधनाक्षेपसयुता । वीतरागकथावादस्तत्फल तत्त्वनिर्णये" ॥ ७७ ॥ इति । प्रमाणतर्काभ्यामेव स्वपक्षसाधनपरपक्षोपालम्भौ करणीयावित्यभिमानमात्रमत्र विवक्षित न तु वस्तुत उभयोरपि तथा कर्तुमशक्यत्वात् । यथाहु—प्रामाणिकवचनमात्राभिप्रायपूर्विका कथा वाद इति तत्त्वाध्यवसायफलत्वादस्या वीतरागाणामेव शिष्याचार्यसब्रह्मचारिणामधिकार न तु विजिगीषूणामिति उक्त वीतरागकथेति । तदुक्त ■ शिष्यगुरुसब्रह्मचारिविशिष्टश्रेयोऽर्थिभिरनसूयुभिरभ्युपेयादिति । अज्ञातज्ञापन ज्ञानस्य स्थिरीकरण सशयनिवर्तनमिति त्रिविधस्तत्त्वनिर्णय । तदुक्त प्रमाणतर्कसाधनोपालम्भ सिद्धान्ताविरुद्ध पञ्चावयवोपपन्न. पक्षप्रतिपक्षपरिग्रहो वाद इति । तत्रैवोक्त कथालक्षणम्—"विचारविषयो नानावक्तृको वाक्यविस्तर. । कथा तस्या षडङ्गानि प्राहुश्चत्वारि केचन" ॥७६॥ विचारगोचरार्थविषयो नानावक्तृका वाक्यविस्तर. कथा । तस्या कथाया निरूप्यनिरूपकनियम , कथाविशेषव्यवस्था वादिप्रतिवादिनियम , सदस्यानुविधेयसवरणम्, निग्रहस्थानसामस्त्यासामस्त्योद्भावनप्रतिज्ञानम्, कथापर्यवसानसवित्तिरिति षडङ्गानि । अपरे तु चत्वारि प्राहु वादिप्रतिवादिनियमौ सदस्यानुविधेयसवरणे च । वादजल्पवितण्डासु मध्ये वादस्य लक्षण फल च दर्शयति—तत्रेति । ननु जल्पवितण्डयोरपि प्रमाणतर्कसभवाल्लक्षणमतिव्याप्तमित्याशङ्क्यावधारणस्य विवक्षितत्वान्नाय दोष इति व्याचष्टे—प्रमाणतर्काभ्यामेवेति । तन च्छलादिनिवृत्तिस्तथा च ताभ्यामेव स्वपक्षसाधनपरपक्षोपालम्भवती कथा वाद इति लक्षण द्रष्टव्यम् । ननु पक्षद्वयेऽपि कथ प्रमाणतर्कसभव इत्यत उक्तमभिमानमात्रमिति । अवास्तवत्वे हेतुमाह—उभयोरपीति । वस्तुनो द्वैरूप्यासभवादिति भाव । प्रामाणिकमात्र प्रामाणिकमेवेद वचनमित्यभिप्रायोऽभिमान पूर्वो यस्या सेत्यर्थ. । नन्वेव लक्षणे वीतरागपद वृथेत्याशङ्क्य सत्य किंत्वधिकारिनिरूपणार्थमिह तत्त्वाध्यवसायेति वादस्य वीतरागमात्राधिकारित्वे सूत्रसमतिमाह—तदुक्तमिति । ■ वादमित्यर्थ. । अत्राधिकारि-

ॐ जनको ह वैदेहो बहुदक्षिणेन यज्ञेनेजे तत्र ह कुरुपञ्चालानां ब्राह्मणा अभिसमेता बभूवुस्तस्य ह जनकस्य वैदेहस्य विजिज्ञासा बभूव कःस्विदेषां

विदेहदेश मे रहने वाले राजा जनक ने एक बहुत बडी दक्षिणा वाले यज्ञ से यजन किया, उस यज्ञ मे निमन्त्रित हो या स्वेच्छा से कुरु और पञ्चाल देशो के विद्वान् ब्राह्मण एकत्रित हुए। उस विदेहराज यजमान जनक को यह जिज्ञासा हुई कि इन ब्राह्मणो मे प्रवचन करने मे सबसे बढ-चढकर प्रवक्ता

जनको नाम ह फिल [1]सम्राड्राजा बभूव विदेहानां तत्र भवो [2]वैदेहः। स च बहुदक्षिणेन [3]यज्ञेन शाखान्तरप्रसिद्धो वा बहुदक्षिणो नाम यज्ञोऽश्वमेधो वा दक्षिणा-

---

[4]राजसूयाभिषिक्तः सार्वभौमो राजा सम्राडित्युच्यते। बहुदक्षिणेन यज्ञेनायजतेति संबन्धः। अश्वमेधे दक्षिणाबाहुल्यमश्वमेधप्रकरणे [5]स्थितम्। ब्राह्मणा अभिसंगता बभूवुरिति संबन्धः। कुरुपञ्चा-

---

जनक नाम का सम्राट् (जिसकी आज्ञा मे अन्य राजा रहते थे) विदेह देश का राजा था; अथवा विदेह देश मे होने के कारण उसका वैदेह नाम पडा। उसने बहुदक्षिणा वाले किसी एक यज्ञ से "एजे" यानी यजन किया। अथवा शाखान्तर मे प्रसिद्ध बहुदक्षिणा नाम वाला यज्ञ यहाँ विवक्षित है,

---

१. सम्राडिति। "येनेष्टं राजसूयेन मण्डलस्येश्वरश्च यः। शास्ति यश्चाज्ञया राज्ञः स सम्राडित्यमरः॥" २. वा। ३. येन केनचित्। ४. राजसूयकाले कृताभिषेकः। ५ निश्चितम्।

त्रैविध्यात्फलत्रैविध्यमाह—अज्ञातेत्यादिना। गुरुशिष्यवादेऽज्ञातज्ञापनं फलं सब्रह्मचारिवादे ज्ञातस्थिरीकरणम् शिष्टमुमुक्षुवादे संशयनिवर्तनमिति यथासंख्यं द्रष्टव्यम्। एवं वादस्य लक्षणाधिकारिणौ निरूप्य वादलक्षणे सूत्रसंमतिमाह—तदुक्तमिति। प्रमाणतर्काभ्यामेव साधनोपलम्भौ यस्मिन्स पक्षप्रतिपक्षपरिग्रहो वाद इति लक्षणम् सिद्धान्ताविरुद्ध इति अनेन तद्विरोधेऽपसिद्धान्तेन निग्राह्य इति सूचितम्। स्वपक्षस्थापनं, तत्समर्थनं, परपक्षदूषणं, तत्समर्थनं शब्ददोषवर्जनं चेति पञ्चावयवास्तदुपपादका अन्यथा अङ्गवैकल्यात्तदाभासत्वप्रसङ्ग इति भाव.। ननु विचारो विमर्शस्तद्विषयस्य कथाया न संभवतीत्यसंभविलक्षणमित्याशङ्क्य श्लोके विचार-शब्दस्य विचार्यत इति कर्मसाधनव्युत्पत्त्या विचार्यार्थपरत्वाश्रयान्न दोष इति व्याचष्टे—विचारगोचरार्थेति। क्रमात्पदत्रयेण कलहवाक्यपञ्चावयवप्रयोगकथावाक्यस्थपदानां व्युदासः तत्राङ्गानि दर्शयति—निरूप्येत्यादिना। निरूप्य प्रतिपाद्यमात्मतत्त्वादिकं निरूपकं तत्प्रतिपादकं प्रमाणमनुमानादि तयोर्नियमोऽनेनेदं साधयामीति प्रतिज्ञानम्। कथा विशेषो वादादिस्तस्य व्यवस्थाऽनेन कथयिष्यामीति नियमकरणम्। तथाऽनयोरयं वादी प्रतिवाद्ययमिति नियमनं नियमः॥ अनुपश्चाद्विधेयं निष्पन्नकथाफलप्रतिपादनरूपमस्यास्तीत्यनुविधेयः सभापति-स्तस्य सभ्यानां च संवरणमेते सभ्या अयमनुविधेय इति सपरिग्रहं निग्रहमात्रस्य जल्पवितण्डयोर्वादे त्वसामस्त्यमिति स्फुटमेतन्निग्रहान्ते भविष्यति। कथापर्यवसानस्य कथासमाप्ते सर्वितं पक्षादौ क्वचिदेवात्र समाप्तिरिति समयबन्धः। अथ चतुरङ्गानि दर्शयति—वादीति। वादिनियमः प्रतिवादिनियमः सभ्यसंवरणमनु-विधेयसंवरणं चेति चत्वार्यङ्गानि तदन्यत्सर्वं तदन्तरीयकत्वान्न पृथग्वाच्यमिति भाव.।

ब्राह्मणानामनूचानतम इति स ह गवाꣳ सहस्रमवरुरोध
दश दश पादा एकैकस्याः शृङ्गयोराबद्धा बभूवुः ॥१॥

कौन है ? इसलिए उसने एक हजार गौएँ गोशाला में रुकवा दी। उन रोकी हुई गौम्रो में प्रत्येक के सींगों मे दश-दश पाद सुवर्ण बँधा हुम्रा था अर्थात् एक-एक सींग में पांच-पांच पाद (पल के चतुर्थ भाग) सुवर्ण बँधा था ॥१॥

बाहुल्याद्बहुदक्षिण इहोच्यते तेनेजेऽयजत्। तत्र तस्मिन्यज्ञे [1]निमन्त्रिता दर्शनकामा [2]वा कुरूणां देशानां पञ्चालानां च ब्राह्मणास्तेषु हि विदुषां बाहुल्यं प्रसिद्धमभिसमेता अभिसंगता बभूवुः। तत्र महान्तं विद्वत्समुदायं दृष्ट्वा तस्य ह किल जनकस्य वैदेहस्य यजमानस्य को न खल्वत्र ब्रह्मिष्ठ इति विशेषेण ज्ञातुमिच्छा विजिज्ञासा बभूव। कथं, कःस्वित्को नु खल्वेषां ब्राह्मणानामनूचानतमः सर्व इमे[3]ऽनूचानाः कः स्विदेषामतिशये-नानूचान इति। स ह्यनूचानतमविषयोत्पन्नजिज्ञासः संस्तद्विज्ञानोपायार्थं गवां सहस्रं प्रथम-वयसामवरुरोध गोष्ठे[4]ऽवरोधं कारयामास। किंविशिष्टास्ता गावोऽवरुद्धा इत्युच्यते।

लानामिति कुतो विशेषणं तत्राऽऽह—तेषु हीति। तत्र यज्ञशालायामिति यावत्। विजिज्ञासामेवा-ऽऽकाङ्क्षापूर्विकां व्युत्पादयति—कथमित्यादिना। अनूचानत्वम[5]नुवचनसमर्थत्वम्। एषां [6]मध्येऽतिशये-नानूचानोऽनूचानतमः स कः स्यादिति योजना। एकस्य पलस्य चत्वारो भागा[7]स्तेषामेको भागः पाद

या अधिक दक्षिणा दी जाने के कारण अश्वमेध यज्ञ को यहाँ बहुदक्षिण यज्ञ कहा जाता है। "तत्र" अर्थात् उस यज्ञ मे कुछ निमन्त्रित और कुछ दर्शन के लिए आए हुए कुरु और पञ्चाल देशो के ब्राह्मण "अभिसमेताः" अर्थात् एकत्रित हुए। उन (कुरुपञ्चाल देश के ब्राह्मणा) मे विद्वान् अधिक प्रसिद्ध हैं। उस यज्ञ मे विद्वानो का महान् समुदाय देख कर उस विदेहराज यजमान जनक की "विजि-ज्ञासा" यानी विशेषरूप से जानने की इच्छा हुई कि इस विद्वत्समुदाय मे कौन ब्रह्मिष्ठ है। कैसी इच्छा हुई ? इन ब्राह्मणो मे साङ्गवेद का प्रवचन करने में सबसे विचक्षण कौन है ? ये सभी तो अङ्गो सहित वेदों का प्रवचन करते ही है परन्तु इनमें अतिशय प्रवचन की सामर्थ्य वाला कौन है ? "स." अर्थात् साङ्गवेद प्रवचन करने मे सबसे विचक्षण कौन है, ऐसी उत्पन्न हुई जिज्ञासा वाले वैदेह ने उस विज्ञान के उपाय के लिए नयी अवस्था की एक हजार गौए "अवरुरोध" अर्थात् गोशाला में रुकवा ली। किस प्रकार की गौओं को रुकवा लिया—इस पर कहा जाता है। कर्ष भर सुवर्ण का नाम पाद है,

---

१. केचन निमन्त्रिताः केचिच्च दर्शनार्थमागताः। २. चार्थो वाशब्द। ३. अनूचाना इति। "अनूचानः प्रवचने (वेदे) साङ्गेऽधीतीति। अनूचानो विनीत स्यात् साङ्गवेदविचक्षणे" इत्यमरविश्वौ। ४. वत-प्रचारतः। ५. प्रवचनसमर्थत्वमिति यावत्। ६. मध्ये।

तान्होवाच ब्राह्मणा भगवन्तो यो वो ब्रह्मिष्ठः स एता गा उदजतामिति । ते ह ब्राह्मणा न दधृषुरथ ह याज्ञवल्क्यः स्वमेव ब्रह्मचारिणमुवाचैताः सोम्योदज सामश्रवा३ इति ता होदाचकार ते ह ब्राह्मणाश्चुक्रुधुः कथं नो ब्रह्मिष्ठो ब्रुवीतेत्यथ ह जनकस्य वैदेहस्य

राजा जनक ने उन ब्राह्मणो से कहा—हे पूज्य ब्राह्मणगण ! आप मे से जो सर्वश्रेष्ठ ब्रह्मवेत्ता हो, वह उन गौओ को ले जाय, किन्तु उन ब्राह्मणो मे से किसी का साहस न हुआ । ब्राह्मणों को साहस-हीन देखकर याज्ञवल्क्य ने अपने ब्रह्मचारी से कहा—हे सोम्य सामश्रवा ! तू इन गौओ को हमारे घर ले जा । तब वह उन गौओ को ले चला, इससे वे ब्राह्मण क्रुद्ध हो गये कि यह याज्ञवल्क्य हममें से अपने आपको ही ब्रह्मनिष्ठ कैसे कहता है ? अत. उन क्रुद्ध ब्राह्मणो मे से विदेहराज जनक का होता अश्वल

---

[1]पलचतुर्थभागः पादः सुवर्णस्य । दश दश पादा एकैकस्या गोः शृङ्गयोराबद्धा बभूवुः । पञ्च पञ्च पादा एकैकस्मिञ्शृङ्गे ॥१॥

गा एवमवरुध्य ब्राह्मणांस्तान्होवाच । हे ब्राह्मणा [2]भगवन्त इत्यामन्त्र्य यो वो युष्माकं ब्रह्मिष्ठः सर्वे यूयं [3]ब्रह्मणोऽतिशयेन युष्माकं ब्रह्मा यः स एता गा उदजताम्[4]उत्का-लयतु स्वगृहं प्रति । ते ह ब्राह्मणा न दधृषुः । ते ह किलैवमुक्ता ब्राह्मणा ब्रह्मिष्ठता-

---

इत्युच्यते । प्रत्येकं शृङ्गयोर्दश दश पादाः संबध्येरन्निति शङ्कां निराकर्तुं विभजते—पञ्चेति । एकैक-स्मिञ्शृङ्ग आबद्धा बभूवुरिति पूर्वेण संबन्धः ॥१॥

ब्रह्माणो वेदाध्ययनसंपन्नास्तदर्थनिष्ठा इति यावत् । उत्कालयतूद्गमयतु । यतो याज्ञवल्क्याद्य-

---

ऐसे सुवर्ण के दश-दश पाद एक-एक गौ के सींगो मे बधे हुए थे अर्थात् एक-एक सींग मे पाच-पाच पाद सोना था ॥१॥

गौओ को इस प्रकार रुकवा कर 'तान्' अर्थात् उन ब्राह्मणो को जनक "होवाच" इस प्रकार आमन्त्रित करते हुए बोले—हे पूज्य ब्राह्मणो ! "यो वो ब्रह्मिष्ठ" अर्थात् तुम सब मे जिसकी वेदाध्ययन मे अधिक निष्ठा हो, अङ्गसहित वेदो का प्रवचन करने वाले आप सब मे जो सर्वश्रेष्ठ अनूचान हो;- वह इन (सुवर्ण से विभूषित) सभी गौओ को "उदजताम्" अर्थात् अपने घर ले जाय । "ते ह ब्राह्मणा न दधृषु" अर्थात् इस प्रकार पूर्वोक्त चेतावनी दिए जाने पर उन ब्राह्मणों को अपनी ब्रह्मिष्ठता के विषय मे प्रतिज्ञा करने की सामर्थ्य नही हुई । उन ब्राह्मणो को असमर्थ पाने के

---

१. पलेति । "गुञ्जाः पञ्चाद्यमाषकस्ते षोडशाक्षः कर्षोऽस्त्री पलं कर्षचतुष्टयम्" इत्यमरः ॥ आद्यश्चासौ माषक इति शास्त्रीयो माषो नत्वधुनातनो लौकिको ग्राह्यः । पलं तु सौवर्णिकमाने. सार्धरक्ति द्विमाषयम् तोलकत्रितय ग्राह्य ज्योतिर्ज्ञैः स्मृतिसम्मतमित्यपि कश्चित् । २. पूजार्हाः । ३. ब्राह्मणा अनूचाना इत्यर्थः । ४. नयतु ।

होताऽश्वलो बभूव स हैनं पप्रच्छ त्वं नु खलु नो याज्ञवल्क्य ब्रह्मिष्ठोऽसी३ इति स होवाच नमो वयं ब्रह्मिष्ठाय कुर्मो गोकामा एव वयᳪ स्म इति तᳪ ह तत एव प्रष्टुं दध्रे होताऽश्वलः ॥ २ ॥

था। उसने याज्ञवल्क्य से पूछा—हे याज्ञवल्क्य ! क्या यह सत्य है कि हममें से तुम्हीं सर्वश्रेष्ठ ब्रह्मवेत्ता हो ? याज्ञवल्क्य ने कहा—ब्रह्मनिष्ठ को तो हम नमस्कार करते हैं, इस समय तो हम गौओं की इच्छा वाले है। इस प्रकार ब्रह्मनिष्ठ की प्रतिज्ञा वाले उस याज्ञवल्क्य से होता अश्वल ने मन ही मन प्रश्न करने का निश्चय किया ॥२॥

मात्मनः प्रतिज्ञातुं न दधृषुर्न प्रगल्भा: संवृत्ताः। अप्रगल्भभूतेषु ब्राह्मणेष्वथ ह याज्ञवल्क्यः स्वमात्मीयमेव ब्रह्मचारिणमन्तेवासिनमुवाचैता गा हे सोम्योदजोद्गमयास्मद्गृहान्प्रति हे सामश्रवः सामविधि हि शृणोतीत्यतोऽर्थाच्चतुर्वेदो याज्ञवल्क्यः। ता गा होवाचकारोत्कालितवानाचार्यगृहं प्रति। याज्ञवल्क्येन ब्रह्मिष्ठपणस्वीकरणेनाऽऽत्मनो ब्रह्मिष्ठता प्रतिज्ञातेति ते ह चुक्रुधुः क्रुद्धवन्तो ब्राह्मणाः। तेषां क्रोधाभिप्रायमाचष्टे। कथं नोऽस्माकमेकैकप्रधानानां ब्रह्मिष्ठोऽस्मीति ब्रुवीतेति। अथ हैवं क्रुद्धेषु ब्राह्मणेषु जनकस्य

जुर्वेदविद सकाशाद्ब्रह्मचारी सामविधिं शृणोति 'ऋक्षु चाध्यारूढं "साम गीयते त्रिष्वेव च वेदेष्वन्तर्भूतोऽथर्ववेदस्तस्मादर्थाद्यजुर्वेदिनो मुने शिष्यस्य सामवेदाध्ययनानुपपत्तेर्वेदचतुष्टयविशिष्टो मुनिरित्याह—अत इति। "निमित्तनिवेदनपूर्वकं ब्राह्मणानां सम्यानां क्रोधप्राप्तिं दर्शयति—याज्ञवल्क्येनेति। क्रोधानन्तर्यमथशब्दार्थं कथयति—क्रुद्धेष्विति। अश्वलप्रश्नस्य प्राथम्ये हेतुः—राजेति।

पश्चात् याज्ञवल्क्य ने 'स्वमेव' अपने ही "ब्रह्मचारिणम्" यानी अन्तेवासी को कहा—हे सोम्य ! "उदज" इन गौओं को हमारे घर ले जाओ। 'सामश्रवा" पद सबोधन है, सामविधि को श्रवण करने से "सामश्रवा" नाम पडा। इससे याज्ञवल्क्य का वेदचतुष्टय का ज्ञाता होना सिद्ध होता है। "ता होदाचकार" अर्थात तब वह शिष्य उन गौओं को अपने आचार्य याज्ञवल्क्य के घर की ओर ले गया। याज्ञवल्क्य ने ब्रह्मिष्ठ होने की शर्त का धन स्वीकार कर अपने को ब्रह्मिष्ठ माना है, इससे वे ब्राह्मण 'चुक्रुधु' अर्थात क्रोधित हो गये। उनके क्रोध का अभिप्राय कहा जाता है। "कथं न" यानी किसलिए यह

---

१ शक्ता। २ अनन्तरम्। ३ नीतवान्। ४ धनस्वीकरणनेति भाव। ५ इतीति—ब्रह्मिष्ठाय निर्दिष्टानां गवामपहरणाद्याज्ञवल्क्ये न स्वात्मनो ब्रह्मिष्ठत्वस्वीकरणादस्माकमब्रह्मिष्ठता प्रतिज्ञाता यत इति मन्वाना इति यावत्। ६ अयम्। ७ अर्थे। ८ अभिप्राय। ९ ऋग्वेदीयमन्त्रे समेत्येति यावत्। १० तेन मन्त्रजातम्। ११ क्रोधप्राप्तिनिमित्तमिति यावत्।

याज्ञवल्क्येति होवाच यदिदꣳ सर्वं मृत्युनाऽऽप्तꣳ सर्वं मृत्युनाऽभिपन्नं केन यजमानो मृत्योराप्तिमतिमुच्यत इति होत्रर्त्विजाऽग्निना वाचा वाग्वै यज्ञस्य

हे याज्ञवल्क्य ! ऐसा अश्वल ने कहा—यह सब जो मृत्यु के वश मे किया हुआ है और मृत्यु से व्याप्त है, उस मृत्यु की व्याप्ति को यजमान किन साधनो के द्वारा पार करता है ? (इस पर याज्ञवल्क्य ने कहा—) *वह यजमान होता ऋत्विक्रूप अग्नि से और वाक् से उसे पार कर सकता है। वाक् ही यज्ञ*

यजमानस्य होतर्त्विगश्वलो नाम बभूवाऽऽसीत् । स एनं याज्ञवल्क्यं ब्रह्मिष्ठाभिमानी राजाश्रयत्वाच्च धृष्टो याज्ञवल्क्यं पप्रच्छ पृष्टवान् । कथं, त्वं नु खलु नो याज्ञवल्क्य ब्रह्मिष्ठोऽसी३ इति प्लुतिर्भर्त्सनार्था । स होवाच याज्ञवल्क्यो नमस्कुर्मो वयं ब्रह्मिष्ठाय । इदानीं गोकामाः स्मो वयमिति तं ब्रह्मिष्ठप्रतिज्ञं सन्तं तत एव ब्रह्मिष्ठपणस्वीकरणात्प्रष्टुं दध्रे धृतवान्मनो होताऽश्वल. ॥ २ ॥

याज्ञवल्क्येति होवाच तत्र मधुकाण्डे पाङ्क्तेन कर्मणा दर्शनसमुच्चितेन यजमानस्य

याज्ञवल्क्यमित्यनुवादोऽन्वयप्रदर्शनार्थः । प्रश्नमेव प्रश्नपूर्वकं विशदयति—कथमित्यादिना । अनौद्धत्यं ब्रह्मविदो लिङ्गमिति सूचयति—स हेति । किमिति तर्हि स्वगृहं प्रति गावो ब्रह्मिष्ठपणभूता नीतास्तत्राऽऽह—इदानीमिति । न तस्य तादृशी प्रतिज्ञा प्रतिभातीत्याशङ्क्याऽऽह—तत एवेति ॥२॥

तत्र प्रथमं मुनेराभिमुख्यमापादयितुं संबोधयति—याज्ञवल्क्येति । उक्तरीत्याऽश्वलप्रश्ने प्रस्तुते तस्योद्गीथाधिकारेण संगतिमाह—तत्रेति । मधुकाण्डे पूर्वत्र व्याख्याते यदुद्गीथप्रकरणं

याज्ञवल्क्य हम सभी प्रधान ब्रह्मिष्ठो के सामने "मैं ब्रह्मिष्ठ हूँ" ऐसा अपने को कहता है ? इस प्रकार क्रुद्ध हुए ब्राह्मणो मे यजमान राजा जनक का "होता" यानी ऋत्विक् अश्वल नाम का ब्राह्मण 'बभूव' अर्थात् था। ब्रह्मिष्ठाभिमानी और राजाश्रय होते से धृष्ट उस अश्वल ने एनम् अर्थात् याज्ञवल्क्य को 'पप्रच्छ' यानी पूछा। हे याज्ञवल्क्य ! हम लोगो के उपस्थित रहते हुए तुम किस प्रकार बड़े ब्रह्मिष्ठ हो गये हो। 'ब्रह्मिष्ठोऽसी३' यहाँ प्लुतप्रयोग भर्त्सनासूचक है। वह याज्ञवल्क्य बोला—हम ब्रह्मिष्ठों को नमस्कार करते है। वास्तव मे अभी तो हम गौओ की इच्छा वाले है। इसी से अपने का ब्रह्मिष्ठ मानने वाले और ब्रह्मिष्ठ होने की शर्त वाला गोधन स्वीकार करने वाले याज्ञवल्क्य से होता अश्वल ने उसकी ब्रह्मिष्ठता पर सन्देह कर "प्रष्टुं दध्रे, अर्थात् पूछने का निश्चय किया ॥२॥

'हे याज्ञवल्क्य' ऐसा उसने सम्बोधन करके कहा। वहाँ मधुकाण्ड मे पाङ्क्तकर्म के द्वारा दर्शनसमुच्चित यजमान की मृत्यु का नाश होता है, यह उद्गीथप्रकरण मे संक्षेप मे व्याख्यान कर दिया

---

१ अस्माकमग्रे । २ वयमिति—वयं गोकामा एव स्मः सो गाग्रहणं कृतवन्त इत्युक्तवन्तमित्यर्थः । ३ अवतरणोक्तार्थम् । ४. सूचयतीति—सूचयन्ती श्रुतिर्याज्ञवल्क्यकृतमुत्तरं दर्शयतीत्यर्थः । ५ ब्रह्मिष्ठस्य नमस्कार्यत्वे । ६. प्रस्थापिता । ७ प्रष्टव्ये मनसि धृते सति । ८ अश्वलप्रश्नस्य । ९ बृ० उ० १।३।१ ।

होता तद्येयं वाक्सोऽयमग्निः स होता स मुक्तिः साऽतिमुक्तिः ॥ ३ ॥

का होता है, यह जो वाणी है; वही यही प्रसिद्ध अधिदैव अग्नि है। वह होतारूप अग्नि मुक्ति है अर्थात् होता को अग्निरूप देखना ही उस मृत्यु से छूटना है। इसीलिये वही अतिमुक्ति है ॥३॥

मृत्योरत्ययो व्याख्यात उद्गीथप्रकरणे संक्षेपतस्तस्यैव परीक्षाविषयोऽयमिति तद्गतदर्शनविशेषार्थोऽयं विस्तर आरभ्यते। यदिदं साधनजातमस्य[२] कर्मण ऋत्विगग्न्यादि *मृत्युना [३]कर्मलक्षणेन [४]स्वाभाविकासङ्गसहितेनाऽऽप्तं [५]व्याप्तं न केवलं व्याप्तमभिपन्नं च मृत्युना

तस्मिन्नासङ्गपाप्मनो मृत्योरत्ययः [६]समुच्चितेन कर्मणा संक्षेपतो व्याख्यात इति संबन्धः। तस्यैवोद्गीथदर्शनस्येति यावत्। परीक्षाविषयो विचारभूमिरयं प्रश्नप्रतिवचनरूपो ग्रन्थ इत्यर्थः। तच्छब्दः समनन्तर[८]निर्दिष्टग्रन्थविषयः। दर्शनमुद्गीथोपासनं तस्य विशेषो वागादेरग्न्याद्यात्मत्वविज्ञानं तत्सिद्ध्यर्थोऽयं प्रक्रमः। एवमवान्तरसंगतिमुक्त्वा प्रश्नाक्षराणि व्याचष्टे—यदिदमिति। मृत्युनाऽऽप्तमित्यनेन मृत्युनाऽभिपन्नमित्यस्य गतार्थत्वमाशङ्क्याऽऽह—न केवलमिति। [९]कर्मणो मृत्युत्वात्तेन मृत्योरत्यया-

---

गया। उसी प्राणोपासनरूप उद्गीथदर्शन की यह विचारभूमि है, इससे उस मधुकाण्ड में आये हुए दर्शन विशेष अर्थ का यहाँ विस्तार से आरम्भ किया जाता है। 'यदिदम्' अर्थात् इस पाङ्क्तकर्म का ऋत्विक् और अग्न्यादि जो साधनसमूह है, वह स्वाभाविक आसक्तिसहित (ज्ञानहीन केवल) कर्मलक्षण मृत्यु से "आप्तम्" अर्थात् संसृष्ट है। केवल संसृष्ट ही नहीं है, बल्कि मृत्यु के द्वारा "अभिपन्नम्"

---

१. नाशः। २. पाङ्क्तस्य। ३. कर्मेति—ज्ञानहीनेन केवलेन पापमिश्रितेन वा पुण्येनेत्यर्थः। ४. स्वाभाविकेति—अविद्याजनितफलासक्तिप्रयुक्तेनेत्यर्थः। ५. संसृष्टम्। ६. मुख्यप्राणदर्शनसहितेन। ७. प्राणोपासनस्य। ८. मधुकाण्डग्रन्थविषयः। ९. यदि कर्मणैवात्येति मृत्युमिति यदि याज्ञवल्क्यो ब्रूयात्तत्राह—कर्मण इति।

---

*मृत्युना कर्मलक्षणेनेति। अत्राहुर्वार्तिकाचार्यास्तथाहि—"परिच्छेदकृदज्ञानं सासङ्गं मृत्युसंज्ञितम्। केनाऽयं यजमानोऽसौ मृत्योराप्तेर्विमुच्यते॥ यन्मर्त्यसाधनं साध्यं मर्त्यं तदपि जायते। साधनानुमितं साध्यं मुक्तिः केनात उच्यते॥ होत्रर्त्विजाग्निना वाचा मृत्योराप्तेर्विमुच्यते। इति प्रश्नप्रतिवचो याज्ञवल्क्योऽभ्युवाच तम्॥ प्रवक्ता याज्ञवल्क्योऽत्र तं पृच्छन्त्यश्वलादयः। सराजके समाजेऽस्य विचारः क्रियते महान्॥ यजमानस्य येयं वाग्घोता चैतद्द्वयं यदा। अधिदैवात्मना वेत्ति स होतैवंविधो भवेत्॥ अनन्तविग्रहः सोऽग्निर्होता मृत्योर्यथोदितात्। यजमानस्य मुक्तिः स्यादतिमुक्तिस्तथैव च॥ आसुरात्साधनाद्दैवप्राप्तिर्मुक्तिरिहोच्यते। साध्यादप्यासुराद्दैवसाध्याप्तिरतिमुक्तता" ॥ १९-२५ ॥ इति। को मृत्युर्येन ससाधनं कर्म संसृष्टं वशीकृतं च यस्य चाऽऽप्तेर्मुमुक्षेरयत आह—परिच्छेदेति। ब्रह्मक्षत्रादिभेदकारणं भ्रान्तिज्ञानं रागादिसहितं मृत्युरित्यर्थः। केनेत्यादिवाक्यमादत्ते—केनेति। यथोक्तमृत्युनाऽऽप्तं ससाधनं सर्वमेव कर्म त्यक्तं स्याच्च ध्यानतिशयपुमर्थहेतुकर्मत्यागो युक्तस्ततो नाय

वशीकृतं च । केन दर्शनलक्षणेन साधनेन 'यजमानो मृत्योराप्तिमतीत्य मृत्युगोचरत्वमतिक्रम्य मुच्यते स्वतन्त्रो मृत्योरवशो भवतीत्यर्थः । नन्वुद्गीथ' एवाभिहितं येनातिमुच्यते 'मुख्यप्राणात्मदर्शनेनेति । बाढमुक्त योऽनुक्तो विशेषस्तत्र' तदर्थोऽयमारम्भ इत्यदोषः ।

योगात्तदत्ययसाधनं किंचिद्दर्शनमेव वाच्यमित्याशयेन पृच्छति—केनेति । दर्शनविषयं प्रश्नमाक्षिपति—नन्विति । येन मुख्यप्राणात्मदर्शनेनातिमुच्यते तदुद्गीथप्रक्रियायामेवोक्तं 'तथाच मृत्योरत्ययोपायस्य विज्ञानस्य निर्ज्ञातत्वात्केनेतिप्रश्नानुपपत्तिरिति योजना । तत्रैव परीक्षाविषयोऽयमित्यादावुक्तमादाय परिहरति—बाढमिति । उद्गीथप्रकरणे वागादेरग्न्याद्यात्मत्वदर्शनरूपो यो विशेषो वक्तव्योऽपि नोक्तस्तद्वक्तव्यर्थोऽयं प्रश्नप्रतिवचनरूपो ग्रन्थ 'इति कृत्वा केनेत्यादिप्रश्नोपपत्तिरित्यर्थः ।

यानी वश में किया गया है । "केन" यानी किस दर्शनलक्षण साधन से (साधनसहित कर्म का कर्ता) यजमान "मृत्योराप्तिमतिमुच्यते" अर्थात् मृत्युगोचरता का अतिक्रमण करके स्वतन्त्र यानी मृत्यु के अधीन नहीं रहता । (इस पर पूर्ववादी दर्शनविषयक आक्षेप करता है—) किन्तु जिस मुख्यप्राणोपासन से मुक्त हो जाता है, उसका व्याख्यान तो उद्गीथब्राह्मण में ही कर दिया गया है । (शङ्का का समाधान किया जाता है—) ठीक ही है । वहाँ वर्णन तो अवश्य है, किन्तु जिस विशेष का वहाँ वर्णन नहीं किया, उसके लिए इस ग्रन्थ का प्रारम्भ हो जाने में कोई दोष नहीं है ।

---

१ ससाधनस्य कर्मणः कर्ता । २ ब्राह्मणे । ३ तन्मुख्यप्राणोपासनमिति इतिशब्दार्थः । ४ उद्गीथब्राह्मणे । ५ उक्तत्वे च । ६ इति मनसि निधायेत्यर्थः ।

प्रश्नो युज्यत तत्राऽऽह—यन्मर्त्येति । हेतोर्नाशित्वेऽपि फलस्यानाशित्वं मोक्षवदित्याशङ्क्याऽऽह—साधनेति । कारणानुसारित्वात्कार्यस्य मुक्तेश्चाकार्यत्वान्नाशित्वं साध्यस्यावश्यभावीति भाव । सहेतुफलस्य कर्मणो नाशित्वेन त्याज्यत्वात्तद्व्यापकस्य मृत्योरत्ययोपायो वाच्य इति प्रश्नं निगमयति—मुक्तिरिति ॥ परिहारमवतारयति—होत्रेति । तमित्यश्वलस्य निर्देश ॥ अथाश्वलो याज्ञवल्क्य जेतु जल्पेन प्रवृत्तस्तत्र तेनापि तत्रैव कहोलादि प्रयोक्तु युक्तमद्वयवाचामहृदया एव प्रतिवादी भवन्तीति न्यायादतो मयातस्य प्रतिवचनमनुचितं जल्पस्य तत्त्वनिर्णयफलत्वानुपपत्तेस्तत्राऽऽह—प्रवक्तेति । अत्रेति जल्पकथोक्ति । विचारस्य महत्त्व तत्त्वनिर्णयफलत्वम् । ज्ञानवतामेवाश्वलादीनां जयादिविवक्षया प्रश्नदर्शनादुत्तरत्र निग्रहाङ्कावनाश्च भवत्यथा जल्पकथा साऽपि कदाचिन्महाजनपरिगृहीता तत्त्वनिर्णय फलति । उक्तं हि—तत्त्वाध्यवसायसंरक्षणार्थं जल्पवितण्डे बीजप्ररोहसंरक्षणार्थं कण्टकशाखावरणवदिति । वात्स्यायनश्चाऽऽह—तानि हि प्रयुज्यमानानि परपक्षविघातेन स्वपक्षं रक्षन्तीति । अन्योऽप्याह—तत्त्वसंरक्षणार्थत्वाद्यासदाचार इति । अतो वादवज्जल्पोऽपि कदाचित्तत्त्वनिर्णायक इति भाव ॥ वागेवं यज्ञस्येत्यादेरर्थमाह—यजमानस्येति । अध्यात्मं यजमानस्य वागधियज्ञं होता चेति द्वयमग्निरूपं यदा होता ध्यायति तदा स यजमानस्याऽऽत्मश्च मृत्युनाशे हेतु स्यादित्यर्थं ॥ स मुक्तिरित्याद्यवतारयति—अनन्तेति ॥ मुक्तिपदार्थमाह—आसुरादिति । ज्ञानहीनात्केवलात्पापमिश्रिताद्वा पुण्यात्कर्मणः सूत्राद्याप्तिहेतोः समुच्चयस्याऽऽप्तिरत्र मुक्तिरित्यर्थ । अतिमुक्तिशब्दार्थमाह—साध्यादिति । आसुरसाधनफलात्स्वर्गादेर्दैवसाधनफलस्य सूत्रादेराप्तिरत्रातिमुक्तिरित्यर्थ ॥

होत्रर्त्विजाऽग्निना वाचेत्याह याज्ञवल्क्यः। 'एतस्यार्थं व्याचष्टे। कः पुनर्होता येन मृत्युमतिक्रामतीति। उच्यते—वाग्वै यज्ञस्य यजमानस्य "यज्ञो वै यजमानः" इति श्रुतेः। यज्ञस्य यजमानस्य याऽध्यात्मं वाक्सैव होताऽधियज्ञे। कथं 'तत्तत्र येयं वाग्यज्ञस्य यजमानस्य सोऽयं प्रसिद्धोऽग्निरधिदैवतम्। 'तदेत'त्त्र्यन्नप्रकरणे व्याख्यातम्'। 'स चाग्निर्होता "अग्निर्वै होता" इति श्रुतेः। यदेतद्यज्ञस्य साधनद्वयंहोता चर्त्विगधियज्ञमध्यात्मं च वागेतदुभयं साधनद्वयं परिच्छिन्नं मृत्युनाऽऽप्तं 'स्वाभाविकाज्ञानासङ्गप्रयुक्तेन कर्मणा मृत्युना प्रतिक्षणमन्यथात्वमापाद्यमानं वशीकृतम्। 'तदनेनाधिदैवतरूपेणाग्निना "दृश्यमानं यजमानस्य यज्ञस्य मृत्योरतिमुक्तये भवति। "तदेतदाह—स मुक्तिः स";होताऽग्निर्मुक्ति-

कीदृक्पुनर्दर्शनं मृत्युजयसाधनं होत्रे"त्यादावुक्तमित्याशङ्क्याऽऽह—एतस्येति। व्याचष्टे वाग्वै यज्ञस्येत्यादिनेति शेषः। व्याख्यानमेव विशदयितुं पृच्छति—कः पुनरिति। "दर्शनविषयं दर्शयन्नुत्तरमाह—उच्यत इति। यज्ञशब्दस्य यजमाने यूढप्रयोगो नास्तीत्याशङ्क्याऽऽह—यज्ञ इति। यजमानस्य या वागध्यात्मं सैवाधियज्ञे होताऽस्तु "तयाऽपि कथं तयो"र्देवतात्मना दर्शनमित्याह—कथमिति। तयोरग्न्यात्मना दर्शनमुत्तरवाक्यावष्टम्भेन व्याचष्टे—तत्त्रेति। कथं पुनर्वागग्न्योरेकत्वं तदाह—तदेतदिति। तयोरेकत्वेऽपि कुतो होतु"स्तदैक्यमित्याशङ्क्याऽऽह—स चेति। स मुक्तिरित्येतदवतारयितुं भूमिकां करोति—यदेतदिति। न केवलमेतदुभयं मृत्युना संस्पृष्टमेव किंतु तेन वशीकृत चेत्याह—स्वाभाविकेति। मृत्युनाऽऽप्तं मृत्युनाऽभिपन्नमित्यनयोरर्थमनूद्य होत्रेत्यादेरर्थमनुवदति—तदनेनेति। साधनद्वयं तच्छब्दार्थः। यजमानग्रहणं होतुरुपलक्षणम्। "उक्तेऽर्थे समनन्तरवाक्यमवतार्य" व्याकरोति

याज्ञवल्क्य बोला—होता ऋत्विक्रूप अग्नि और वाक् से उसका अतिक्रमण किया जा सकता है। इसी वाक्य का अर्थ स्पष्ट किया जाता है—परन्तु वह होता कौन है, जिसके द्वारा मृत्यु का अतिक्रमण करता है? इस पर श्रुति कहती है—वाक् ही "यज्ञस्य" अर्थात् यजमान की होता है। "यज्ञ ही यजमान है" ऐसी श्रुति भी (यज्ञके यजमानार्थक होने मे) प्रमाण है। यज्ञ अथवा यजमान की जो वाणी होती है, वही यज्ञ के समीप होती है। ऐसा कैसे कहते हो? (वाक् और होता के एकरूप होने पर) वहाँ जो यह यज्ञ अथवा यजमान की वाणी है, वही प्रसिद्ध अधिदैव अग्नि है। वह (वाक् और अग्नि का एकत्व) त्र्यन्नप्रकरण मे पहले ही प्रतिपादित किया जा चुका है। वाक् से एकता को प्राप्त वह अग्नि ही होता है, "अग्नि ही होता है" इत्यादि श्रुतिवाक्य इसमे प्रमाण है। इस प्रकार यज्ञ के जो दो साधन हैं, होता और ऋत्विक; अधियज्ञ एव अधिदैवत वाक् है; ये दोनो साधनपरिच्छिन्न, मृत्यु से व्याप्त एव अनादि

१. वाक्यस्य। २. यज्ञे इति अधियज्ञ तस्मिन् यज्ञे इत्यर्थ.। ३. वाग्घोत्रोरेकत्वे सति। ४. वागग्न्योरेकत्वम्। ५. बृ० उ० १।५।३। ६. बृ० उ० १।५।१०। ७ वागैक्यमापन्न.। ८. अनाद्यज्ञानजन्यफलासक्तिप्रयुक्तेनेत्यर्थ। ९. अध्यात्माधियज्ञीयवाग्घोतृलक्षण साधनद्वयम्। १०. अध्यात्ममनोपास्यमानम्। ११. भूमिकोक्तमर्थजातम्। १२. स होताऽग्निरिति—स होताऽग्निरूपेण दृष्टो मुक्तिः। १३. वाग्ये। १४. उपास्तेर्विषयम्। १५. वाग्घोत्रोरेकत्वेऽपि। १६. अग्निरूपेण। १७. अग्न्यैक्यम्। १८. भूमिकोक्तेऽर्थे। १९. सयोज्य।

ऽग्निस्वरूपदर्शनमेव मुक्तिः। यदैव साधनद्वयमग्निरूपेण पश्यति तदानीमेव हि स्वाभाविकादासङ्गान्मृत्योर्विमुच्यत आध्यात्मिकात्परिच्छिन्नरूपादाधिभौतिकाच्च। 'तस्मात्स होताऽग्निरूपेण दृष्टो मुक्तिर्मुक्तिसाधनं यजमानस्य।

साऽतिमुक्तिः। 'यैव च मुक्तिः साऽतिमुक्तिर'तिमुक्तिसाधनमित्यर्थः। 'साधनद्वयस्य परिच्छिन्नस्य याऽधिदेवतारूपेणापरिच्छिन्नेनाग्निरूपेण दृष्टिः सा मुक्तिः। याऽसौ मुक्तिरधिदेवतादृष्टिः सैवाध्यात्माधिभूतं परिच्छेदविषयासङ्गास्पदं मृत्युमतिक्रम्याधिदेवतात्वस्या'ग्निभावस्य प्राप्तिर्या फलभूता साऽतिमुक्तिरित्युच्यते। "तस्या अतिमुक्तेर्मुक्तिरेव

—तदेतदाहेति। मुक्तिशब्दस्तत्साधनविषयः। पदार्थमुक्त्वा वाक्यार्थमाह—अग्निस्वरूपेति। वाचो होतुश्चाग्निस्वरूपेण दर्शनमेव मुक्तिहेतुरिति यावत्। "उक्तमर्थं प्रपञ्चयति—यदैवेति। स मुक्तिरित्यस्यार्थमुपसंहरति—तस्मादिति।

वाक्यान्तरं समुत्थाप्य व्याचष्टे—साऽतिमुक्तिरिति। मुक्त्यतिमुक्त्योर्"सकीर्णत्वं दर्शयति—साधनद्वयस्येति। प्राप्तिरतिमुक्तिरिति संबन्धः। तामेव संगृह्णाति—या फलभूतेति। फलभूतायामग्न्याधिदेवताप्राप्तौ कथमतिमुक्तिशब्दोपपत्तिरित्याशङ्क्याऽऽह—तस्या इति। ननु, वागादीनामग्न्यादि-

---

अज्ञानजन्य फलासक्ति से प्रेरित कर्मरूप मृत्यु से प्रतिक्षण अन्यभात्व को प्राप्त हो वशीकृत हो रहे हैं। वे साधनद्वय (अग्न्यात्मकरूप से) उपासित होने पर होता यजमान के यज्ञ के इस अधिदैवतरूप अग्नि के द्वारा मृत्यु का अतिक्रमण करने के लिए होते है। इसी प्रसग म श्रुति कहती है—"स मुक्ति" अर्थात् वह मुक्ति है। वह होतारूप अग्नि मुक्ति है अर्थात होता की अग्निरूप स उपासना करना ही मुक्ति है। जिस समय भी यजमान साधनद्वय की अग्निरूप से उपासना करता है उसी समय ही वह स्वाभाविक आसक्तिरूप मृत्यु स आध्यात्मिक और आधिभौतिक परिच्छिन्नरूप से मुक्त हो जाता है। इसलिए अग्निरूप से उपासित हुआ वह होता यजमान की 'मुक्ति' अर्थात मुक्ति का साधन है।

जो मुक्ति है, वही अतिमुक्ति है, उक्तरूपा मुक्ति ही (वागादिफलरूपा अग्न्यादिभावापत्तिरूपा) अतिमुक्ति का साधन है। वाक और होतृलक्षण साधनद्वय परिच्छिन्न की अधिदैवरूप अपरिच्छिन्न अग्निरूप से जो दृष्टि है वही मुक्ति है। यह जो अधिदेवता दृष्टिरूपा मुक्ति है, वही अध्यात्म व अधिभूत परिच्छिन्नविषयासङ्गरूप मृत्यु को अतिक्रमण करके फलभूता अधिदेवतात्व (देवान्तर उपलक्षण वाले वागादिको) की अग्निभावप्राप्ति है, वही अतिमुक्ति कही जाती है। उस (फलभूता) अतिमुक्ति का साधन मुक्ति ही है, ऐसी व्युत्पत्ति से वह अतिमुक्ति है—ऐसा कहा गया है।

---

१ मृत्योरतिक्रमणरूपमुक्तेः साधनमित्यभिप्रेत्याह—अग्निस्वरूपेति। २ होता। ३ तस्मादिति—स मुक्तिरिति वाक्ये सशब्दस्याग्निरूपेण दृष्टहोतृविषयत्वात्। मुक्तिशब्दस्य च तत्साधनविषयत्वाच्चेत्यर्थः। ४ सैवेत्यन्वयः। ५ उक्तरूपा मुक्तिरेव। ६ अतीति—वागादीनां फलरूपाग्न्यादिभावापत्तिरूपातिमुक्तेः साधनमित्यर्थः। ७ वाग्घोतृलक्षणस्य। ८ परिच्छिन्नविषयासङ्गरूपमित्यर्थः। ९ देवान्तरोपलक्षणमिदम्। १० वागादीनाम्। ११ फलभूतायाः। १२ स मुक्तिरित्येतस्यार्थम्। १३ विभक्तत्वम्।

याज्ञवल्क्येति होवाच यदिदꣳ सर्वमहोरात्राभ्या-
[1]माप्तꣳ सर्वमहोरात्राभ्याम[2]भिपन्नं [3]केन यज-
मानो[4]ऽहोरात्रयो[5]राप्तिमतिमुच्यत इत्य[6]ध्वयु[7]र्णर्त्विजा

हे याज्ञवल्क्य ! ऐसा अश्वल ने कहा यह जो कुछ दृश्यमान जगत् है, सभी दिन और रात्रि से व्याप्त है। अतएव सभी दिन और रात्रि के अधीन है, ऐसी दशा में किस साधन से यजमान अहोरात्र के परिच्छेद को पार कर सकता है। इस पर याज्ञवल्क्य ने कहा—अध्वर्यु, ऋत्विक् और नेत्ररूप आदित्य

साधनमिति[8] कृत्वा साऽतिमुक्तिरित्याह। [9]यजमानस्य ह्यतिमुक्तिर्वागादीनामग्न्यादिभाव इत्युद्गीथप्रकरणे[10] व्याख्यातम्। [11]तत्र [12]सामान्येन मुख्यप्राणदर्शनमात्रं मुक्तिसाधनमुक्तं न [13]तद्विशेषो, [14]वागादीनामग्न्यादिदर्शनमिह तद्विशेषो वर्ण्यते। मृत्युप्राप्त्यतिमुक्तिस्तु सैव फलभूता योद्गीथब्राह्मणेन व्याख्याता मृत्युमतिक्रान्तो दीप्यत[15] इत्याद्या ॥३॥

याज्ञवल्क्येति होवाच। [16]स्वाभाविकाद[17]ज्ञानासङ्गप्रयुक्तात्कर्मलक्षणान्मृत्योरति-

---

भावोऽत्र श्रूयते यजमानस्य तु न किंचिदुच्यते तत्राऽऽह—यजमानस्येति। तर्हि तेनैव गतार्थत्वादनर्थकमिदं ब्राह्मणमित्याशङ्क्य [18]बाढमित्यादिनोक्तं स्मारयति—तत्रेति। दर्शनवत्फलेऽपि विशेषः स्यादित्याशङ्क्याऽऽह—मृत्युप्राप्तीति ॥३॥

प्रश्नान्तरमवतार्य तात्पर्यमाह—याज्ञवल्क्येति। आश्रयभूतानि कानि तानीत्याशङ्क्याऽऽह—

"वागादि का अग्न्यादिभाव यजमान की अतिमुक्ति है"—इसका व्याख्यान पहले ही उद्गीथप्रकरण में

---

१. व्याप्तम्। २. न केवलमाप्तमपितु वशीकृतम्। ३. दर्शनात्मकसाधनेन। ४. अहोरात्ररूपमृत्योः। ५. आप्तिमिति—प्राप्तिमतीत्य उक्तमृत्युगोचरतामतिक्रम्य मुच्यते स्वतन्त्रो भवतीत्यर्थं। ६. यजमानचक्षुरध्वर्योरादित्यात्मनाऽध्वर्युकर्तृक ध्यान मृत्यतिक्रमसाधनमित्युत्तरमाह—अध्वर्युणेति। यजमानस्याध्यात्मचक्षुरधियज्ञमध्वर्युश्चेत्युभयमनवच्छिन्नस्सवितैवेति साक्षाद्ध्यायन्नध्वर्युः स्वयमहोरात्राख्यान्मृत्योर्मुच्यते यजमानं च मोचयतीत्युत्तरवाक्यार्थं श्रुति. स्वयमेव व्याचष्टे—चक्षुर्वा इत्यादिना। यज्ञस्य यजमानस्य यदध्यात्म चक्षुस्तदेवाधियज्ञेऽध्वर्युः। तत् तत्रैवं सति यदिदं यजमानस्य चक्षुः स प्रसिद्धोऽसावधिदैवतरूप आदित्य। स एव चक्षुरैक्यमापन्न आदित्योऽध्वर्युः सोऽध्वर्युरादित्यरूपेण दृष्टो मुक्तिमृत्योरतिक्रमणरूपमुक्तेः साधनम्। सोक्तरूपा मुक्तिरतिमुक्तिफलरूपादित्यादिभावापत्तिरूपातिमुक्तेः साधनमित्यर्थं। ७. मुक्तेरधिकेति व्युत्पत्त्या फलं हि साधनतो ज्यायः। ८. यजमानस्येति—तथा चाध्यात्माधियज्ञीयसाधनद्वयस्य वाग्घोतृलक्षणस्य परिच्छिन्नस्यापरिच्छिन्नाधिदैवताग्निरूपेण, अहमपरिच्छिन्नाग्न्यात्मकयजमानवाग्रूपोऽग्निरित्येतादृशी यज्ञसमये होत्रा क्रियमाणा दृष्टिर्यजमानस्याध्यात्मपरिच्छेदरूपमृत्युमतिक्रम्य फलभूताग्न्यादिभावापत्तिरूपातिमुक्तिसाधनमित्यर्थः सम्पन्न.। ९. बृ० उ० १।३।१६। १०. उद्गीथब्राह्मणे। ११. वागादेरग्न्याद्यात्मत्वदर्शनराहित्येन। १२. तस्य प्राणदर्शनस्य विशेष इति भाव। १३. विशेषमेवाह—वागादीनामिति। १४ बृ० उ० १।३।१२। १५. अनाद्यविद्याजनितात्। १६. अज्ञानप्रयुक्तो य आसङ्ग फलाभिलाषस्तत्प्रयुक्तादिति। १७. बृ० उ० ३।१।३।

चक्षुषाऽऽदित्येन चक्षुर्वै यज्ञस्याध्वर्युस्तद्यदिदं चक्षुः सोऽसावादित्यः सोऽध्वर्युः स मुक्तिः साऽतिमुक्तिः ॥ ४ ॥

के द्वारा अधिभूत परिच्छेद को पार कर सकता है। नेत्र ही यज्ञ का अध्वर्यु है। अतः यह जो नेत्र है, वह यह आदित्य है तथा वह अध्वर्यु है, वह मुक्ति है अर्थात् आदित्य रूप से देखा हुआ वह अध्वर्यु मुक्ति है और वही अतिमुक्ति भी है ॥४॥

मुक्तिर्व्याख्याता। तस्य कर्मणः सासङ्गस्य मृत्योराश्रयभूताना दर्शपूर्णमासादि[1]कर्मसाधनानां यो विपरिणामहेतुः कालस्तस्मात्काला[2]त्पृथगतिमुक्तिर्वक्तव्येतीदमारभ्यते। [3]क्रियानुष्ठानव्यतिरेकेणापि प्रागूर्ध्वं च क्रियायाः साधनविपरिणामहेतुत्वेन व्यापारदर्शनात्कालस्य। [4]तस्मात्पृथक्कालादतिमुक्तिर्वक्तव्येत्यत आह—यदिदं सर्वमहोरात्राभ्यामाप्तं स च कालो

दर्शपूर्णमासादीति। प्रतिक्षणमन्यथात्वं विपरिणामः। अग्न्यादिसाधनान्याश्रित्य काम्यं कर्म मृत्युशब्दितमुत्पद्यते तेषां साधनानां विपरिणामहेतुत्वात्कालो मृत्युस्ततोऽतिमुक्तिर्वक्तव्येत्युत्तरग्रन्थारम्भ इत्यर्थः। कर्मणो मुक्तिरुक्ता चेत्कालादपि सोक्तैव [5]तस्य [6]कर्मान्तर्भावेन मृत्युत्वादित्याशङ्क्याऽऽह—पृथगिति। कर्मनिरपेक्षतया कालस्य मृत्युत्वं व्युत्पादयति—क्रियेति। कालस्य पृथङ्मृत्युत्वे सिद्धे

हो चुका है। वहाँ मुख्य प्राणदर्शनमात्र को ही (वागादि के अग्न्याद्यात्मत्व दर्शनराहित्य) सामान्य से मुक्ति का साधन कहा गया है, उस प्राणदर्शन का विशेष नहीं है। वागादि का अग्न्यादिदर्शन करना ही यहाँ विशेष का लक्षण किया गया है। किन्तु उसकी फलभूता मृत्युप्राप्ति से जो अतिमुक्ति है, वह वही है, जिसकी उद्गीथब्राह्मण के द्वारा "वह यह अग्नि परिच्छिन्न मृत्यु से परे परिच्छिन्नत्व मृत्यु को पार कर देदीप्यमान है" इस प्रकार व्याख्या की गई है ॥३॥

हे याज्ञवल्क्य!' ऐसा अश्वल ने कहा। अनादि अविद्याजनित फलाभिलाषा से प्रेरित कर्मरूप मृत्यु से अतिमुक्ति की व्याख्या कर दी गई। उस फलाभिलाषा सहित कर्मरूप मृत्यु के आश्रयभूत दर्श और पूर्णमास आदि कर्मों के साधनों के प्रतिक्षण अन्यथाभाव का जो हेतु काल है, उस काल से कर्मनिरपेक्ष अतिमुक्ति कहनी चाहिये, इसलिए आगे का ग्रन्थ आरम्भ किया जाता है। कर्मानुष्ठान के अभाव होने पर भी कर्म के पूर्व-पश्चात् उसके साधनों के प्रतिक्षण अन्यथाभाव के हेतुरूप से काल का व्यापार देखा जाता है। इसलिये काल से पृथक अतिमुक्ति का वर्णन करना आवश्यक है। इसपर श्रुति

१ कर्मेति। कर्मणः साधनानि—यष्टिहविरग्न्यादिकारकाणि तेषां यो विपरिणाम प्रतिक्षणमन्यथाभावस्तद्धेतुरित्यर्थः। २ कर्मनैरपेक्ष्येण। ३ क्रियेति—कर्मानुष्ठानाभावेऽपि तदनुष्ठानाभावसमयेऽपीति यावत्। तदेव विशदयति— प्रागित्यादिना। तदनुष्ठानसमय दृष्टान्तयितुमपिशब्द। प्रागूर्ध्वं चेति चकारोऽपि तत्समुच्चयार्थं। ४. तस्मादिति—कालस्य सर्वकर्मसाधनक्षपयितृत्वेन कर्मनिरपेक्षमृत्युत्वादित्यर्थः। ५ कालाम्मृत्यो। ६. कालस्य। ७ कर्मद्वारा।

द्विरूपोऽहोरात्रादिलक्षणस्तिथ्यादिलक्षणश्च । तत्राहोरात्रादिलक्षणात्तावदतिमुक्तिमाह— अहोरात्राभ्यां हि सर्वं जायते वर्धते विनश्यति च । तथा यज्ञसाधनं च । यज्ञस्य यजमानस्य चक्षुरध्वर्युश्च शिष्टान्यक्षराणि पूर्ववन्नेयानि । यजमानस्य चक्षुरध्वर्युश्च साधनद्वयमध्यात्माधिभूतपरिच्छेदं हित्वाऽधिदैवतात्मना दृष्टं यत्स मुक्तिः सोऽध्वर्युरादित्यभावेन दृष्टो मुक्तिः सैव मुक्तिरेवातिमुक्तिरिति पूर्ववदादित्यात्मभावमापन्नस्य हि नाहोरात्रे संभवतः ॥४॥

फलितमाह—तस्मादिति । 'उत्तरग्रन्थस्यप्रश्नयोर्विषयं भेत्तुं काल भिनत्ति—स चेति । आदित्यश्चन्द्रश्चेति कर्तृभेदाद्द्वैविध्यमुन्नेयम्" । कालस्य द्वैरूप्ये सत्याद्यकण्डिकाविषयमाह—तत्रेति । अहोरात्रयोर्मृत्युत्वे सिद्धे ताभ्यामतिमुक्तिर्वक्तव्या "तदेव कथमित्याशङ्क्याऽऽह—अहोरात्राभ्यामिति । यज्ञसाधन च तथा ताभ्या जायते वर्धते नश्यति चेति संबन्ध. । "प्रतिवचनव्याख्याने यज्ञशब्दार्थमाह—यजमानस्येति । स मुक्तिरित्यस्य तात्पर्यार्थमाह—यजमानस्येत्यादिना । "तस्यैवाक्षरार्थं कथयति—सोऽध्वर्युरिति । यथोक्त"रीत्याऽऽदित्या"त्मत्वेऽपि कथमहोरात्रलक्षणान्मृत्योरतिमुक्तिरत आह—आदित्येति । 'नोदेता "नास्तमेता' इत्यादिश्रुतेरादित्ये वस्तुतो नाहोरात्रे स्त· । तथा च" तदात्मनि विदुष्यपि न ते संभवत इत्यर्थः ॥ ४ ॥

कहती है—"यह जो कुछ दृश्यमान जगत् है, सभी कुछ दिन और रात्रि से व्याप्त है" । उस काल के दो रूप हैं, अहोरात्रादिसंज्ञक और तिथ्यादिसंज्ञक । उन दोनो मे अहोरात्रादिसंज्ञक (कालरूप मृत्यु) से अतिमुक्ति बतलायी जाती है—अहोरात्र से यज्ञादिकर्म की उत्पत्ति, वृद्धि और विनाश होता है । उसी प्रकार यज्ञ के साधन भी अहोरात्र से उत्पत्ति एव वृद्धि को प्राप्त होते हैं तथा विनष्ट हो जाते हैं । चक्षु यज्ञ अथवा यजमान के अध्वर्यु है, शेष अक्षरो की पूर्ववत् योजना कर लेनी चाहिये । यजमान के नेत्र और अध्वर्यु ये दोनो साधन अध्यात्म और अधिभूत परिच्छिन्न को त्याग कर अधिदैव (आदित्य) रूप मे अध्वर्यु के द्वारा देखे जाते हैं, वह मुक्ति है । आदित्यभाव से देखा गया वह अध्वर्यु मुक्ति ही है । पूर्वमन्त्र के समान वह मुक्ति ही अतिमुक्ति है, क्योकि आदित्यभाव को प्राप्त हुए पुरुष के लिए अहोरात्र सम्भव नही है ॥४॥

१ द्वयोर्मध्ये । २ कालरूपमृत्यो । ३ यज्ञादिकर्म । ४ विनश्यतीति वार्तिके स्पष्टम्—"उपस्थापयत कर्म तथा क्षपयतो यत । अहोरात्रे ततो मृत्युस्ताभ्या मुक्ति कुता भवदिति' ॥ ३२ ॥ ५ पूर्ववदिति—ममाध्वर्यो सम्बन्धी योऽयमात्मा यजमानस्तदवयवश्चक्षुरहं चाध्वर्युरित्युभयमशुमानेवेति साक्षाद्ध्यान कृत्वा यदाऽध्वर्युस्तिष्ठति तदा यजमानोऽध्वर्युश्चाहोरात्राख्यमृत्योर्मुच्यत इति योज्यानीत्यर्थं । वार्तिके यथा—"आत्माऽवयव एवास्य सूर्यश्चक्षुममाशुमान् । अध्वर्युरहमेवेति साक्षात्कृत्वा विमुच्यत" ॥ ३४ ॥ इति । ६ आदित्यरूपेण । ७. अध्वर्युणा । ८ उत्तरग्रन्थेति—चतुर्थपञ्चमकण्डिकारूपोत्तरग्रन्थेत्यर्थं । ९ भेत्तु कण्डिकाद्वयमादत्त इति पाठान्तरम् । १० आरोपित ज्ञेयम् । ११ तदेवेति—अहोरात्रयोर्मृत्युत्वमेवेत्यर्थं । १२ प्रतिवचनेति—श्रुतो यद् अध्वर्युणर्त्याद याज्ञवल्कीयोत्तरवाक्य तद्व्याख्यानरूप यज्ञचक्षुर्वा इत्यादिवाक्य तत्स्थयज्ञशब्देत्यर्थं । १३. स मुक्तिरिति वाक्यस्य । १४ उपास्त्या । १५ विदुष । १६ छा० उ० ३।११।१ । १७ आदित्ये तयोर्वस्तुतोऽभावे च ।

याज्ञवल्क्येति होवाच यदिदꣳ सर्वं पूर्वपक्षापरपक्षाभ्यामाप्तꣳ सर्वं पूर्वपक्षापरपक्षाभ्यामभिपन्नं केन

हे याज्ञवल्क्य ! ऐसा अश्वल ने कहा—यह जो कुछ जगत् है, सब चन्द्र के पूर्वपक्ष और अपरपक्ष से व्याप्त है । सब पूर्वपक्ष तथा अपरपक्ष के वश मे किया हुआ है । इस पूर्वपक्ष और अपरपक्ष की व्याप्ति को

इदानीं तिथ्यादि[1]लक्षणादतिमुक्तिरुच्यते—यदिदं सर्वमहोरात्रयोरविशिष्टयोरादित्यः कर्ता न प्रतिपदादीनां तिथीनाम् । तासां तु वृद्धिक्षयो[2]पगमनेन प्रतिपत्प्रभृतीनां [3]चन्द्रमाः [4]कर्ता । [5]अतस्तदापत्त्या पूर्वपक्षापरपक्षात्यय आदित्यापत्त्याऽहोरात्रात्ययवत् । [6]तत्र यजमानस्य प्राणो वायुः । [7]स एवोद्गातेत्यु[8]द्गीथब्राह्मणे[9]ऽवगतं [10]वाचा च [11]ह्येव

कण्डिकान्तरस्य तात्पर्यमाह—इदानीमिति । नन्वहोरात्रादिलक्षणे काले तिथ्यादिलक्षणस्य कालस्यान्तर्भावात्तनोऽतिमुक्तावुक्तायां तिथ्यादिलक्षणादपि कालादसावुक्तैवेति कृतं पृथगारम्भेणेति तत्राऽऽह—अहोरात्रयोरिति । अविशिष्टयो[12]र्वृद्धिक्षयशून्ययोरिति यावत् । कथं [13]तर्हि तिथ्यादिलक्षणात्कालादतिमुक्तिरत आह—अतस्तदापत्त्येति । चन्द्रप्राप्त्या [14]तिथ्याद्यत्ययो माध्यंदिनश्रुत्योच्यते काण्वश्रुत्या तु वायुभावापत्त्या तदत्यय उक्त । [15]तथाच श्रुत्योर्विरोधे कः समाधिरित्याशङ्क्याऽऽह—तत्रेति । काण्वश्रुताविति यावत् । उद्गातुरपि प्राणात्मकवायुरूपत्वं [16]श्रुतिद्वयानुसारेण दर्शयति—स एवेति । न केवलमुद्गातुः प्राणत्वं प्रतिज्ञामात्रेण प्रतिपन्नं किंतु विचार्य निर्धारितं चेत्याह—

अब तिथ्यादिसंज्ञक काल से (मृत्यु की) अतिमुक्ति का वर्णन श्रुति करती है—यह जो कुछ दृश्यमान जगत है, ये जो वृद्धि और क्षयशून्य अविशिष्ट अहोरात्र है, उन सब का कर्ता आदित्य है, प्रतिपदादि तिथियो का कर्ता नही है । उनके वृद्धि व क्षय होने मे प्रतिपदादि तिथियो का कर्ता चन्द्रमा है । इसलिए आदित्यभाव की प्राप्ति से जैसे अहोरात्र का अतिक्रमण हो जाता है, उसी प्रकार चन्द्रभाव की प्राप्ति से पूर्वपक्ष और अपरपक्ष का अतिक्रमण हो जाता है । वहां यजमान की वायु प्राण है ।

---

१ कालान्मृत्यो । २ सत्त्वेन । ३ चन्द्रमसि वृद्धिह्रासयो र्भावात्तिथीनामपि तयो सत्त्वात् माहस्यास्त तत्कर्तेत्याह—चन्द्रमा इति । ४ वृद्धिह्रासभावत्वसादृश्यादिति भाव । ५ यदिदं सर्वं पूर्वपक्षेत्यादिप्रश्ने ब्रह्मर्त्विजा मनसा चन्द्रेणेति माध्यंदिनश्रुत्या तावदुत्तरमाह—अतस्तदापत्त्येति । चन्द्रात्मना ब्रह्मणा मनसश्च ध्यानात्तिथ्यात्मकपक्षद्वयरूपमृत्योर्यजमानो ब्रह्मा च मुच्यत इत्यर्थं । अत तिथीनां चन्द्रकर्तृकत्वात् । तदापत्त्या—चन्द्रप्राप्त्या । ६ तत्रेति—उद्गात्रर्त्विजा वायुना प्राणेनेति प्रकृतकाण्वश्रुतौ । वायुशब्देन यजमानस्य प्राण उच्यत इत्यर्थ इत्याहु । वस्तुतस्तु यजमानप्राणो वाय्वभिन्नो विवक्षित इत्यर्थो भाति । ७ वाय्वात्मक प्राण एव । ८ बृ० उ० १।३।७ । ९ अवगतमिति—तेभ्य एष प्राण उदगायदिति श्रुतेरिति शेष । श्रुतमित्येवम् बृ० उ० १।३।७ । १०, वाचा चेति—स उद्गाता अथास्योपासनया तद्रूपभूता वाचा प्राणप्रधानया प्राणेन च स्वात्मभूतेन ह्येवोदगायदित्यर्थ । ११ बृ० उ० १।३।२४ । १२ तिथीनां चन्द्रकर्तृकत्वेऽपि । १३ तिथ्याद्यत्ययो माध्यंदिनश्रुत्येति—तत्र यजमानप्राणोद्गात्रोर्वायुरूपत्वाऽनन्तरकण्डिकाप्रस्तावतश्च ब्रह्मलोकप्राप्तेरभिहितत्वादिति भाव । १४ उक्तरीत्या । १५ तम्य एष इत्यादि, वाचत्यायुद्गीथीयश्रुतिद्वयानुसारेणेति ।

यजमानः पूर्वपक्षापरपक्षयोराप्तिमतिमुच्यत इत्युद्गा-त्र्त्विजा वायुना प्राणेन प्राणो वै यज्ञस्योद्गाता तद्योऽयं प्राणः स वायुः स उद्गाता स मुक्तिः, साऽति-मुक्तिः ॥ ५ ॥

यजमान किस साधन से पारकर मुक्त होता है ? इस पर याज्ञवल्क्य ने कहा—उद्गाता, ऋत्विक् से और वायुरूप प्राण से उसका अतिक्रमण होता है क्योंकि निश्चित ही उद्गाता यज्ञ का प्राण है और यह जो प्राण है, वही वायु है, वही उद्गाता है, वही मुक्ति और वही अतिमुक्ति भी है ॥५॥

स प्राणेन चोदगायदिति च निर्धारितम् । 'अथैतस्य प्राणस्याऽऽपः शरीरं ज्योतीरूपमसौ चन्द्र 'इति च । प्राणवायुचन्द्रमसामेकत्वाच्चन्द्रमसा 'वायुना चोपसंहारे' न कश्चिद्विशेष 'एवंमन्यमाना श्रुतिर्वायुनाऽधिदैवतरूपेणोपसंहरति' । अपि च वायुनिमित्तौ हि वृद्धिक्षयौ

वाचेति । प्राणचन्द्रमसोश्चैकत्वं सप्तान्नाधिकारे निर्धारितमित्याह— अथेति । उक्तया रीत्या प्राणादीनामेकत्वे श्रुत्योरविरोधं फलितमाह—प्राणेति । मनोब्रह्मणोश्चन्द्रमसा प्राणोद्गात्रोश्च वायुनोपास्यत्वेनोपसंग्रहे मृत्युतरणे विशेषो नास्तीति श्रुत्योर्विकल्पेनोपपत्तिरित्यर्थः । उपसंहरति प्राणमुद्गातारं च 'तद्रूपेणोपास्यतया संगृह्णाति काण्वश्रुतिरित्यर्थं । इतश्च काण्वश्रुतिरुपपन्नेत्याह—अपि चेति । "वायुः सूत्रात्मा तन्निमित्तौ "स्वावयवस्य चन्द्रमसो वृद्धिह्रासौ । सूत्राधीना हि चन्द्रादेर्जं-

---

वाग्वात्मक प्राण ही उद्गाता है, यह उद्गीथब्राह्मण में अवगत करा दिया गया। "अतः उस ब्रह्मदत्त ने प्राण और वाक् के ही द्वारा उद्गान किया था, यही अर्थ इस शपथ से निश्चित होता है" यह निर्णय भी किया गया। "और इस प्राण का जल शरीर (आधार) है, वह चन्द्रमा ज्योतिरूप है" ऐसी भी इसमें श्रुति है। वायु, प्राण और चन्द्रमा की एकता होने के कारण माध्यदिन श्रुति द्वारा चन्द्रमा से और काण्व श्रुति द्वारा वायु से संग्रह करने में कोई विशिष्टता नहीं है। उक्त रीति से विशिष्टता का अभाव मानकर ही श्रुति अधिदैव वायुरूप से उद्गाता प्राण का संग्रह करती है। इसके अतिरिक्त चन्द्रमा की वृद्धि-क्षय भी वायु के कारण हैं। इसलिए वायु तिथ्यादिरूप काल के कर्ता का

---

१. अथेति—आधिदैविकयोर्वाङ्मनसयोर्विभूतिनिर्देशानन्तरम्, एतस्य—अन्नत्वेन प्रकृतस्य प्राणस्य आप, शरीरम् आधार, ज्योतीरूप—प्रकाशात्मक करणभूतमाधेयरूपमसौ चन्द्र इत्यर्थ । २ बृ० उ० १।५।१३ । ३. माध्यदिनश्रुत्या । ४. काण्वश्रुत्या । ५ संग्रहे । ६ उक्तरीत्या विशेषाभाव मन्यमानेति भाव । ७. प्राणमुद्गातार च । ८ शाखाभेदेनोदितानुदितहोमवद्विकल्पेन । ९. वायुनाऽधिदैवतरूपेण । १०. "ह्रासवृद्ध्योर्यत कर्ता वायुश्चन्द्रमसस्तत । वायुनैवोपसहार प्राणोद्गात्रोरय कृत" ॥ ३६ ॥ इति वार्तिकमभिप्रेत्याह—वायुरिति । सूत्रात्मा वायु स्वावयवस्य चन्द्रमसो वृद्ध्यादौ कारयिता तद्यजमानप्राणस्योद्गातुश्च वाग्वात्मनैवोपसंग्रह काण्वश्रुतौ कृतोऽतो वाग्वात्मनैवोद्गात्रादेर्ध्यानात्पक्षद्वयात्मकमृत्योरुद्गाता यजमानश्च मुच्यत इति वार्तिकार्थ । ११. स्व सूत्रम् ।

याज्ञवल्क्येति, होवाच यदिदमन्तरिक्षमनारम्बणमिव, केनाऽऽक्रमेण यजमानः स्वर्गं लोकमाक्रमत इति ब्रह्मणर्त्विजा मनसा चन्द्रेण [1]मनो वै यज्ञस्य ब्रह्मा

हे याज्ञवल्क्य! ऐसा अश्वल ने कहा—यह जो प्रसिद्ध आकाश है वह निरालम्ब सा है। फिर भला यजमान किस आलम्बन से स्वर्गलोक मे जायगा। इस पर याज्ञवल्क्य ने कहा—ब्रह्मा ऋत्विक् के द्वारा और मनरूप चन्द्रमा के द्वारा स्वर्गलोक में आरूढ होता है। मन ही यज्ञ का ब्रह्मा है तथा यह जो

चन्द्रमस। [2]तेन तिथ्यादिलक्षणस्य कालस्य कर्तुरपि कारयिता वायु। [3]अतो [4]वायुरूपापन्नस्तिथ्यादिकालादतीतो भवतीत्युपपन्नतर भवति। [5]तेन श्रुत्यन्तरे [6]चन्द्ररूपेण दृष्टिर्मुक्तिरतिमुक्तिश्च। इह तु काण्वानां [7]साधनद्वयस्य [8]तत्कारणरूपेण वाय्वात्मना दृष्टिर्मुक्तिरतिमुक्तिश्चेति न श्रुत्योर्विरोध ॥५॥

मृत्यो [9]कालादतिमुक्तिर्व्याख्याता यजमानस्य। सो[10]ऽतिमुच्यमान. [11]केनावष्टम्भेन

गतश्चेष्टेत्यथ। वृद्ध्यादिहेतुत्वे[12] फलितमाह—तेनेति। कर्तुश्चन्द्रस्येत्यर्थं। वायोश्चन्द्रमसि कारयितृत्वेऽपि प्रकृते किमायात तदाह—अत इति। उदितानुदितहोमवद्विकल्पमुपेत्याविरोधमुपसहरति—तेनेति। श्रुत्यन्तर माध्यन्दिनश्रुति। साधनद्वयस्येत्युभयत्र[13] सबध्यते। "तत्राऽऽदौ"[14] मनसो ब्रह्मणश्चेत्यर्थ। "उत्तरत्र[15] प्राणस्योद्गातुश्चेत्यर्थं। तच्छब्दश्चन्द्रविषय ॥५॥

यदिदमन्तरिक्षमित्यादि प्रश्नान्तर वृत्तानुवादपूर्वकमुपादत्ते—मृत्योरिति। व्याख्यानव्याख्येय

कारयिता है। इसलिए वायुरूप को प्राप्त हुआ पुरुष तिथ्यादिरूप काल का अतिक्रमण कर जाता है—यह कथन ज्यादा उपयुक्त लगता है। विकल्प के सभव होने पर अन्य श्रुति में चन्द्ररूप से जो दृष्टि है वह मुक्ति है, वही अतिमुक्ति है। यहा काण्व श्रुति में प्राण और उदगातारूप साधनद्वय के चन्द्रकारणभूत वायुभाव से जो दृष्टि है वही मुक्ति है और वही अतिमुक्ति है इस प्रकार श्रुतियो में कोई विरोध नही है ॥ ५ ॥

---

१ मनो वा इति। यज्ञस्य—यजमानस्य यदध्यात्म मनस्तदेवाधियज्ञ ब्रह्मार्त्विक तत् तथैव सति यदिद याजमानिक मन स प्रसिद्धोऽसावधिदैवतरूपश्चन्द्र स एव मनसैक्यमापन्नश्चन्द्रो ब्रह्मा स ब्रह्मा चन्द्ररूपेण दृष्टो मुक्ति साऽतिमुक्ति याजमानिकमनोब्रह्मणाश्चन्द्रात्मना ब्रह्मर्त्विक्त्वेन मध्यध्यानमवलम्ब्य तेनावष्टम्भेन यजमानो ब्रह्मा च ब्रह्मलोक (स्वर्गम्) प्राप्नोतीति भाव। २ वायोश्चन्द्रवृद्धिह्रासहेतुत्वेन। ३ सूत्रात्मवायोश्चन्द्रवृद्ध्यादिहेतुत्वादिति। ४ वायुरूपेति—वाय्वात्मनैव स्वस्य ध्यानादुद्गाता यजमानश्च वायुरूपापन्न पश्चाद्यात्मस्वमृत्योर्मुच्यत इत्यर्थ। ५ विकल्पस्य सभवेन। ६ चन्द्ररूपेणेति—उत्तरत्र निर्दिष्ट साधनद्वयस्येति पदमत्रापकृष्यत तथा च मनसो ब्रह्मणश्च चन्द्ररूपेणेति योज्यम्। ७ प्राणस्योद्गातुश्च। ८ चन्द्रकारणरूपेण। ९ कर्मणश्चेत्यपि द्रष्टव्यम्। १० कालादित। ११ आश्रयण साधनेनेति यावत्। १२ वायो। १३ माध्यन्दिनश्रुतौ काण्वश्रुतौ च। १४ द्वयो। १५ माध्यन्दिनश्रुतौ। १६ काण्वश्रुतौ।

तद्यदिदं मनः सोऽसौ चन्द्रः स ब्रह्मा स मुक्तिः
साऽतिमुक्तिरित्यतिमोक्षा अथ संपदः ॥ ६ ॥

मन है, वही यह चन्द्रमा है, वही चन्द्रमा ऋत्विक् ब्रह्मा है, वह मुक्ति है एव वही अतिमुक्ति है। इस प्रकार परिच्छेद से अतिमुक्तियो का उपायसहित वर्णन किया। अब सपदो का वर्णन प्रारभ किया जाता है (भावना द्वारा अन्य वस्तु मे अन्यदृष्टि के आरोप को सपद् कहते हैं। उस द्रव्यसाध्य राजसूयादि यज्ञ का फल धनहीन व्यक्ति भी सपद् द्वारा प्राप्त कर सकता है। अत. सपदो का वर्णन आवश्यक है) ॥६॥

'परिच्छेदविषयं मृत्युमतीत्य 'फलं प्राप्नोत्यतिमुच्यत' इत्युच्यते। यदिदं प्रसिद्धमन्तरिक्षमाकाशोऽनारम्बणमनालम्बनमि'वशब्दादस्त्येव तत्राऽऽलम्बनं तत्तु न ज्ञायत इत्यभिप्रायः। यत्तु न ज्ञायमानमालम्बनं तत्सर्वनाम्ना केनेति पृच्छ्यते। अन्यथा फलप्राप्तेरसंभवात्। येना'वष्टम्भेनाऽऽक्रमेण यजमानः 'कर्मफल प्रतिपद्यमानोऽतिमुच्यते किं तदिति प्रश्नविषयः। केना'ऽऽक्रमेण यजमानः स्वर्गं लोकमाक्रमत इति स्वर्गं लोकं फलं प्राप्नोत्यतिमुच्यत इत्यर्थः। 'ब्रह्मणर्त्विजा मनसा चन्द्रेणेत्यक्षरन्यासः पूर्ववत्।

भावेन "क्रियापदे नेतव्ये। इत्येतत्प्रश्नरूपमुच्यते समनन्तरवाक्येने(णे)ति यावत्। तद्व्याचष्टे—यदिदमिति। केनेतिप्रश्नस्य विषयमाह—यत्त्विति। प्रश्नविषय प्रपञ्चयति—अन्यथेति। आलम्बनमन्तरेणेति यावत्। प्रश्नार्थं सक्षिप्योपसहरति—केनेति। अक्षरन्यासोऽक्षराणामर्थेषु वृत्तिरिति यावत्।

मृत्युरूप काल (और कर्म) से यजमान की अतिमुक्ति का व्याख्यान हो चुका। वह कालादि से अतिमुक्ति हुआ किस साधन से परिच्छिन्न पदार्थरूप मृत्यु का अतिक्रमण कर इस व्याख्यानफल को प्राप्त होता है (और) अतिमुक्त होता है (यह व्याख्येय है)। इस पर श्रुति कहती है—यह जो प्रसिद्ध "अन्तरिक्ष" यानी आकाश है, वह "अनारम्वणम्" अर्थात् प्राय आलम्बनरहित है। (तन्त्रोच्चरित) 'इव' शब्द से यह तात्पय है कि इसमे आलम्बन तो है ही, पर उसका प्रत्यक्षज्ञान नही होता। जो ज्ञात न होने वाला आलम्बन है, वही (श्रुतिमन्त्र मे) 'केन' इस सर्वनाम के द्वारा पूछा जाता है, अन्यथा फल की प्राप्ति होना सभव नही है। जिस साधन के द्वारा यजमान कमफल स्वर्ग को प्राप्त कर अतिमुक्ति हो जाता है, वह क्या है, यहां प्रश्न का विषय यह है। "केन" यानी किस आश्रय से यजमान "स्वर्गं लोकमाक्रमत" अर्थात् स्वर्गलोक के फल को प्राप्त करता है अथवा अतिमुक्त हो जाता

---

१ परिच्छिन्नपदार्थरूपम्। २ इद व्याख्यानम्। ३ इद व्याख्येयम्। ४. नि श्रेणीस्थानीयारोहसाधनरहितमिव भाति। ५ इवशब्दस्त न्त्रोच्चरित। ६ साधनेन। ७ स्वर्गम्। ८ आश्रयण। ९ यदध्यात्म यजमानस्य मन। तदधियज्ञमृत्विग्ब्रह्मा व स चाधिदैवञ्चन्द्राऽश्च चात्मना दृष्टेन मनसा ब्रह्मणाऽवष्टम्भेन ब्रह्मलोक यजमानो ब्रह्मा च प्राप्स्यतीत्युत्तरमाह—ब्रह्मणर्त्विजेति। १०. प्राप्तिमुक्ती।

तत्राध्यात्मं यज्ञस्य यजमानस्य यदिदं प्रसिद्धं मनः सोऽसौ चन्द्रोऽधिदैवम्। मनोऽध्यात्मं चन्द्रमा अधिदैवतमिति हि प्रसिद्धम्। स एव चन्द्रमा ब्रह्मर्त्वि[3]क्तेना[4]धिभूतं ब्रह्मणः परिच्छिन्न रूपमध्यात्म च मनस एतद्द्वयमपरिच्छिन्नेन चन्द्रमसो रूपेण पश्यति। तेन चन्द्रमसा मनसाऽवलम्बनेन कर्मफल स्वर्गं लोक प्राप्नोत्यतिमुच्यत इत्यभिप्रायः। [5]इतीत्युपसंहारार्थं वचनम्। [6]इत्येवप्रकारा मृत्योरतिमोक्षा। [7]सर्वाणि हि दर्शनप्रकाराणि [8]यज्ञाङ्गविषयाण्यस्मिन्नवसर उक्तानीति [9]कृत्वोपसहार इत्यतिमोक्षा। [10]एवप्रकारा [11]अतिमोक्षा इत्यर्थं।

मनो वै यज्ञस्येत्यादेरर्थमाह—तत्रेति। व्यवहारभूमि सप्तम्यर्थ। वाक्यार्थमाह—तेनेति। [12]तृतीया तृतीयाभ्यां सवध्यते। दर्शनफलमाह—तेनेति। [13]वागादीनामग्न्यादिभावेन दर्शनमुक्त स्वगादीनां तु वाय्वादिभावेन दर्शन वक्तव्य तत्कथ वक्तव्यशेषे सत्युपसहारोपपत्तिरित्याशङ्क्याऽऽह—सर्वाणीति। [14]वागादावुक्तन्यायस्य त्वगादावतिदेशोऽत्र विवक्षित इत्याह—एवप्रकारा इति।

है। ब्रह्मारूप ऋत्विक् से एव मनरूप चन्द्रमा से—इस प्रकार मन्त्र के अक्षरो की पूर्वमन्त्रो के समान योजना कर लेनी चाहिए। यहा 'यज्ञस्य" अर्थात् यजमान का यदिद यानी जो यह प्रसिद्ध अध्यात्म मन है, वही यह अधिदैव चन्द्रमा है। मन का अध्यात्म और चन्द्रमा का अधिदैवत होना प्रसिद्ध ही है। वही चन्द्रमा ब्रह्मा ऋत्विक है इसी (शास्त्र प्रसिद्ध) ऋत्विक से अधिभूत ब्रह्मा एव अध्यात्म मन के जो परिच्छिन्न रूप है—इन दोनो को (ब्रह्मर्त्विक) चन्द्रमा क अपरिच्छिन्नरूप से देखता है। उस चन्द्रात्मक दृष्ट मन के द्वारा ब्रह्मा को आश्रय करके कमफलरूप स्वगलाक का प्राप्त कर लेता है अर्थात अतिमुक्त हो जाता है। मन्त्रस्थ 'इत्यतिमाक्षा" म इति' पद उपसहार अर्थ के लिए प्रयुक्त है। इस प्रकार के हेतुओ से मृत्यु के अतिमोक्ष है। यागाङ्गभूत त्वगादिके विषय इस अवसर पर सभी दशनो का वणन कर दिया है—ऐसा मन म विचार कर यह उपसहार किया है, "इत्यतिमोक्षा' यानी इतने प्रकार के अतिमोक्ष है।

अथ सपद यानी अब सपदो का वणन प्रारम्भ किया जाता है। किसी भी सादृश्य से

---

१ शास्त्रप्रसिद्धन। २ अधियज्ञमित्यथ तथैव वा पाठयम्। ३ ब्रह्मर्त्विक। ४ चन्द्रात्मना दृष्टेन मनसा ब्रह्मणावष्टम्भेनेत्यथ। ५ उत्तरवाक्यस्थेतिशब्दाथमाह—इतीति। भाष्यसमाप्त्यथ इतिशब्द इत्यर्थ। ६ शब्दार्थमुक्त्वा विवक्षितमतिदेशाख्यमथमभिप्रत्यातिदशप्रकारमाह—इत्यवमिति। ७ सर्वाणीत्यादि। वागादेरग्न्यादिरूपेण दशनोपन्यासससमय त्वगादर्वाय्वादिरूपेण दशनप्रकाराणि (प्रकारा) सर्वाण्यवोक्तानीति हृदि निधायत्यथ। उक्तदशनस्यानुक्तदशनोपलक्षणत्वादिति भाव। ८ यज्ञाङ्गति—यागाङ्गभूतानि यानि यजमान त्वगादीनि तद्विषयाणि, यद्वा यज्ञा यजमान एव। ९ मनसि निधाय। १० एवप्रकारा इति—यथा वागादयोऽग्न्याद्यात्मना दृष्टा मृत्यारति मोक्षहतवस्तथाऽनुक्तास्त्वगादयोऽपि वाय्वाद्यात्मना दृष्टास्तद्वतवो द्रष्टव्या इत्यथ। ११ अतिमोक्षा इति—अतिमोक्षा विद्यत आसामित्यतिमोक्षा दृष्टय। वागादिष्वग्न्यादिदृष्टीनां मृत्युमतीत्य माक्षहतुत्वादित्यथ। १२ तृतीयात्रय समानाधिकरणमित्यथ। १३ आद्यपक्षमादाय शङ्कते—वागिति। १४ अभिप्रतद्वितीय पक्ष स्फुटयितु तद्विषय भाष्यमवतारयति—वागादाविति।

अथ संपदः । अथाधुना संपद उच्यन्ते । संपन्नाम केनचित्सामान्येनाग्निहोत्रादीनां कर्मणां फलवतां तत्फलाय संपादनं संपत्फलस्यैव वा सर्वोत्साहेन फलसाधनानुष्ठाने प्रयततां केनचिद्वैगुण्येनासंभवः । तदिदानीमाहिताग्निः सन्यत्किंचित्कर्माग्निहोत्रादीनां यथासंभवमादायाऽऽलम्बनीकृत्य कर्मफलविद्वत्तायां सत्यां यत्कर्मफलकामो भवति तदेव संपादयति । अन्यथा राजसूयाश्वमेधपुरुषमेधसर्वमेधलक्षणानामधिकृतानां त्रैवर्णिकानाम-

---

अथशब्दो दर्शनप्रभेदकथनानन्तर्यार्थः । केयं संपन्नामेति पृच्छति—संपन्नामेति । उत्तरमाह—केनचिदिति । महतां फलवतामश्वमेधादिकर्मणां कर्मत्वादिना सामान्येनाल्पीयस्सु कर्मसु विवक्षितफलसिद्ध्यर्थं संपत्तिः संपदुच्यते । यथाशक्त्यग्निहोत्रादिनिर्वर्तनेनाश्वमेधादि मया निर्वर्त्यत इति ध्यानं संपदित्यर्थः । यद्वा फलस्यैव देवलोकादेरुज्ज्वलत्वादिसामान्येनाऽऽज्याद्याहुतिषु संपादनं संपदित्याह—फलस्येति । संपदनुष्ठानावसरमादर्शयति—सर्वोत्साहेनेति । असंभवोऽनुष्ठानस्य यदेति शेषः । कर्मिणामेव संपदनुष्ठानेऽधिकार इति दर्शयितुमाहिताग्निः सन्नित्युक्तम् । अग्निहोत्रादीनामिति निर्धारणे षष्ठी । यथासंभवं वर्णाश्रमानुरूपमिति यावत् । आदायेत्यस्य व्याख्यानमालम्बनीकृत्येति । न केवलं कर्मित्वमेव संपदनुष्ठातुरपेक्ष्यते किंतु तत्फलविद्यावत्त्वमपीत्याह—कर्मेति । तदेव कर्मफलमेवेत्यर्थः । कर्माण्येव फलवन्ति न संपदस्तत्कथं तासां कार्यतेत्याशङ्क्याऽऽह—अन्यथेति । विहिताध्ययनस्यार्थज्ञानानुष्ठानादिपरम्परया फलवत्त्वमिष्टम् । न चाश्वमेधादिषु सर्वेषामनुष्ठानसंभवः कर्मस्वधिकृतानामपि त्रैवर्णिकानां केषांचिदनुष्ठानासंभवादस्तेषां तदध्ययनार्थवत्त्वानुपपत्त्या

अग्निहोत्रादि महान् फलयुक्त कर्मों का अग्निहोत्रादि कर्मफल की सिद्धि के लिए संपादन करने का अथवा सपद् के फल का ही नाम सपद है, जो पूर्णोत्साह से किसी फल के साधन के अनुष्ठानार्थ प्रयत्न करते हैं, उन कर्मकाण्डियो को किसी भी विघ्न के कारण अनुष्ठान असम्भव हो जाता है। इसीलिए पूर्वोक्त अवसर मे आहिताग्नि होकर अग्निहोत्रादि कर्मों के मध्य जिस कर्म का अनुष्ठान करना सम्भव हो, उसी कर्म को करके, उसके आलम्बन से, कर्मफल का ज्ञान होने पर जिस कर्मफल की कामना

---

१. सादृश्येन । २ महताम् । ३. फलवतामिति—अल्पीय सुपूर्त्तादिकर्मस्विति शेषः । ४. तत्फलाय—अग्निहोत्रादिकर्मफलसिद्धये । ५ संपादनम्—अधिकारिकर्तृकम् । संपन्नाम कर्मोच्यत इत्यर्थः । ६. फलस्यैवेति—यथाशक्त्याज्याद्याहुतिनिर्वर्तनेन देवलोकादि मया निर्वर्त्यत इति ध्यानं फलं संपदित्यर्थः । ७. पूर्णोत्साहेन । ८. कर्मिणाम् । ९. त्रुट्या विघ्नेनेति वा । १०. पूर्वोक्तेऽवसरे । ११. मध्ये । १२. संपदैव साधयति । १३. संपदा फलवत्त्वानभ्युपगमे । १४. लक्षण रूपम् कर्मणामनुष्ठानस्येति शेष. । १५. यागादीनामग्न्यादिभावेनोपासनविशेष । १६. अभिमताश्वमेधादीयफलेत्यर्थः । १७. संपदिति—'गया-भूर्ब्राह्मणो विष्णुरन्नं ब्रह्मेति संपदा । श्राद्धे फलस्य बाहुल्यं मत्वा संपादयन्ति हि" ॥ इत्येवं श्राद्धादावपि प्रसिद्धा संपत् । गयाभू—गयाक्षेत्रोद्भवः । १८. न तूपासित्रादीनामित्येवकारार्थः । १९. ज्ञानवत्त्वमिति भाव. । २० स्वाध्यायोऽध्येतव्य इति विहितस्येति भाव । २१. वेदाध्ययनस्य । २२. आदिनाऽनुष्ठानावान्तरभेद. । २३. तत्तदात्मकदृष्टफलवत्त्वम् । २४. इष्ट सिद्धान्ते । २५. अधिकृतानधिकृतानाम् । २६. तत्र वैमुख्यगमं हेतुमाह—कर्मस्विति । २७. मध्ये । २८. निर्धनादीनाम् । २९. त्रैवर्णिकानाम् । ३०. अध्ययनस्य । ३१. साफल्यानुपपत्त्या ।

याज्ञवल्क्येति होवाच कतिभिरयमद्यर्ग्भिर्होताऽस्मिन्यज्ञे करिष्यतीति तिसृभिरिति कतमास्तास्तिस्र इति

हे याज्ञवल्क्य ! ऐसा अश्वल ने कहा—आज कितनी ऋचाओं द्वारा इस यज्ञ में होता शंसन करेगा ? (इस पर याज्ञवल्क्य ने कहा—) तीन ऋक् जातियों द्वारा । फिर अश्वल ने पूछा—वे तीन

ध्य[1]संभवस्तेषां तत्पाठः स्वाध्यायार्थं एव केवलः स्यात् ।[2] यदि तत्फलप्राप्त्युपायः कश्चन न स्यात् । [3]तस्मात्तेषां [4]संपदैव [5]तत्फलप्राप्ति[6]स्तस्मात्संपदामपि फलवत्त्वमतः[7] संपद आरभ्यन्ते ॥६॥

[8]याज्ञवल्क्येति होवाचाभिमुखीकरणाय । कतिभिरयमद्यर्ग्भिर्होताऽस्मिन्यज्ञे कतिभिः

संपदामपि फलवत्त्वमेष्टव्यमित्यर्थः । महतोऽश्वमेधादिफलस्य[9] कथमल्पीयस्या संपदा प्राप्तिरित्याशङ्क्य [10]शास्त्रप्रामाण्यादित्यभिप्रेत्याऽऽह—यदीति । तदा तत्पाठः स्वाध्यायार्थं एवेति पूर्वेण संबन्धः । अध्ययनस्य फलवत्त्वे वक्तव्ये फलितमाह—तस्मादिति । तेषां राजसूयादीनामिति यावत् । ब्राह्मणादीनां राजसूयाद्यध्ययन[11]सामर्थ्यात्तेषां संपदैव तत्फलप्राप्तावपि किं सिध्यति तदाह—तस्मात्संपदामिति । कर्मणामिवेतिदृष्टान्तार्थोऽपिशब्दः । तासां फलवत्त्वे फलितमाह—अत इति ॥ ६ ॥

संपदामारम्भमुपपाद्य[12] प्रश्नवाक्यमुत्थापयति—याज्ञवल्क्येतीति । प्रतीकमादाय व्याचष्टे—

वाला होता है, उसी को संपद् से सिद्ध करता है । अन्यथा (सपदो की फलवत्ता स्वीकार न करने पर) राजसूय, अश्वमेध, पुरुषमेध, सर्वमेधरूप कर्मों के अनुष्ठान से अधिकृत त्रैवर्णिकों को भी उनका फल मिलना असम्भव है । यदि उन राजसूयादि कर्मों के फल की प्राप्ति का कोई उपाय नहीं होगा तो उन अधिकृत त्रैवर्णिको के लिए राजसूयादि यागों का अध्ययन केवल जपार्थ के लिए ही हो जायगा । इसलिए उन्हें उनकी सपद् से ही राजसूयादि कर्मफल की प्राप्ति हो जायगी । अतः संपदों के फलयुक्त होने से उन का वर्णन आरम्भ किया जाता है ॥ ६ ॥

अश्वल ने मुनि याज्ञवल्क्य का आभिमुख्य सम्पादन के लिए "हे याज्ञवल्क्य !" ऐसा संबोधन

---

१. असभव इत्यनन्तरमत इत्यध्याहृत्य योज्यम् । तेषाम् अधिकृतत्रैवर्णिकानाम्, तत्पाठ तेषा राजसूयादीनां पाठः पठनमध्ययनमिति यावत् । स्वाध्यायार्थो जपार्थः पारायणार्थोऽदृष्टफलक एवेति यावत् । एवेति निपातद्योत्यं दृष्टफलत्वाभावं स्फुटयितु केवल इति । २. राजसूयादिकर्मफलेति यावत् । ३. अध्ययनस्य फलवत्त्वात् । ४. तेषां राजसूयादीना संपदा सपत्तिकरणेनेति यावत् । ५. राजसूयादिकर्मफलेति भावः । ६. प्राप्त्यन्तावतरणोक्तार्थनम् । ७. तासा फलवत्त्वात् । ८. मुनेराभिमुख्यं सपादयितु भो याज्ञवल्क्येति संबोध्योवाचेत्यर्थः । ९. ब्रह्मलोकादिरूपस्य । १०. शास्त्रेति । अत्र वार्तिकम्—"नातिभारोऽस्ति नो बुद्धेः शास्त्रं चेत्तत्परं भवेत् । विदुषां श्रेयसेऽतोऽध्वा न क्वचित्प्रतिहन्यते" ॥५०॥ इति संपच्छास्त्रं संपदाऽप्यश्वमेधादिफलप्राप्तिरित्यत्र तात्पर्यवच्चेत्तदा प्रतिपत्तॄणां शास्त्रार्थप्रतिपत्तौ न मनःखेदो युक्तः शास्त्रस्यानतिशङ्कापरत्वादित्यर्थः । अनुष्ठानसंपदोऽपि फलवत्त्वे फलितमाह—विदुषामिति । क्वचिदिति—ब्राह्मणादीनामश्वमेधादिपाठो विवक्षितः । अनतिशङ्कापरत्वं तु पुरुषमत्युत्थनिर्मूलाप्रतिष्ठिततर्कानास्पदत्वमिति ॥ ११. सामर्थ्यम्—अन्यथाऽनुपपत्तिः । १२. संपदाख्यकर्म प्रकटयितुमश्वलेति मध्ये शेषनिवेशः ।

पुरोनुवाक्या च याज्या च शस्यैव तृतीया किं ताभिर्जयतीति यत्किंचेदं प्राणभृदिति ॥ ७ ॥

कौन-सी हैं ? (याज्ञवल्क्य ने कहा—याग से पहले प्रयुक्त होने वाली ऋचाएँ) पुरोनुवाक्या हैं, (याग के समय प्रयुक्त हुई ऋचाएँ) याज्या है और (जो ऋचाएँ शसन के लिये प्रयुक्त होती है वह) तीसरी शस्या कही जाती हैं। (इस पर अश्वल ने पूछा—) इन ऋचाओं से, यजमान किसको जीतता है ? (याज्ञवल्क्य ने उत्तर दिया)—जितना भी प्राणी समुदाय है (उस सभी की सख्यादि में समानता होने कारण) वह समस्त फल समूह का सपादन कर लेता है ॥७॥

कतिसंख्याभिर्ऋग्भिर्ऋग्जातिभिरयं होतर्त्विगस्मिन्यज्ञे 'करिष्यति' 'शस्त्रं शंसत्याहेतरस्तिसृभिर्ऋग्जातिभिरित्युक्तवन्तं प्रत्याहेतरः कतमास्तास्तिस्र इति । 'संख्येयविषयोऽयं प्रश्नः पूर्वस्तु संख्याविषयः । पुरोनुवाक्या च प्राग्यागकालाद्याः प्रयुज्यन्त ऋचः सर्ग्जातिः पुरोनुवाक्येत्युच्यते । यागार्थं याः प्रयुज्यन्त ऋचः सर्ग्जातिर्याज्या । 'शस्त्रार्थं याः प्रयुज्यन्त ऋचः सर्ग्जातिः शस्या । 'सर्वास्तु याः काश्चनर्चस्ताः स्तोत्रिया वा अन्या वा सर्वा एता-

कतिभिरित्यादिना । कतिभिः कतमा इति प्रश्नयोर्विषयभेदं दर्शयति—सख्येयेति । स्तोत्रिया नामान्याऽपि काचिदृग्जातिरस्तीत्याशङ्क्याऽऽह—सर्वास्स्विति । अन्या वेति 'शस्त्रजातिग्रहः । 'विधेयभेदात्सर्वशब्दापुनरुक्तिः । अतश्च 'संपत्तिकरणादित्यर्थं । संख्यासामान्यात्त्रित्वाविशेषादिति

करके कहा—आज कितनी ऋचाओं द्वारा होता इस यज्ञ मे शमन करेगा, "कतिभि" अर्थात् कितनी सख्या वाले "ऋग्भि" अर्थात् ऋग्जातीय मन्त्रो से यह "होता" अर्थात् ऋत्विक् इस यज्ञ मे "करिष्यति" यानी स्तवन करेगा ? इस पर याज्ञवल्क्य ने कहा—"तिसृभि" अर्थात् तीन ऋग्जाति विशिष्ट मन्त्रो से स्तवन करेगा। ऐसा कहने पर फिर अश्वल ने पूछा—वह तीन ऋचाएँ कौन सी है ? पहला प्रश्न सख्याविषयक था, दूसरा प्रश्न सख्येय के स्वरूप के विषय पर पूछा गया है। होता द्वारा याग से पहले प्रयुक्त होने वाली ऋग्जातिविशिष्ट ऋचाएँ 'पुरोनुवाक्या' कही जाती है। याग के लिए जो ऋग्जातिविशिष्ट ऋचाएँ प्रयोग मे लाई जाती हैं, वह 'याज्या' कहलाती हैं। स्तवन के लिए जो ऋग्जातिविशिष्ट ऋचाएँ प्रयोग मे आती है, उन्हे 'शस्या' नाम की ऋचाएँ कहा जाता है। इसके अतिरिक्त और भी जो ऋचाएँ 'स्तोत्रिया' नाम वाला हो अथवा अन्य नामो से भी विख्यात हो, वह

१ करिष्यतीति—शासनमित्यादि । तस्यैव व्याख्यान शस्त्र शसतीति । अप्रगीतमन्त्रसाध्यगुणिनिष्ठगुणाभिधान शस्त्रम् । प्रगीतमन्त्रसाध्य तु तत् स्तोत्रमिति याज्ञिकाना व्यवहार । २ करोति । ३ स्तवन करोति । ४ स्वरूपविषय इति यावत् । ५ होत्रेति शेष । ६ स्तवनार्थम् । ७ अत्र शस्त्रादीति युक्त प्रतिभाति । ८ विधेयति—विधीयत बोध्यत इति बोध्याऽर्थे तथा च ऋक्पदवाच्यभेदादित्यर्थ इत्याहु । वस्तुतस्तु विधेययोर्दृश्यसङ्ग्राहाद्भेदादित्यर्थं । तथा च प्रथमस्योद्देश्यत्वादित्वादितरस्य च विधेयकोटिगत्वादुद्देश्यविधेयभावेन भेदान्न पौनरुक्त्यम् । यथा ये सर्वे साधनसम्पन्नास्ते सर्वे विचाराधिकारिण इत्यत्र तद्वदिति ध्येयम् । ९ सख्या साम्याल्लोकत्रयस्य पुरोऽनुवाक्यादौ सपादनात् ।

[1]याज्ञवल्क्येति होवाच कत्ययमद्याध्वर्युरस्मिन्यज्ञ आहुतीर्होष्यतीति तिस्र इति कतमास्तास्तिस्र इति या हुता उज्ज्वलन्ति या हुता अतिनेदन्ते या हुता अधिशेरते किं ताभिर्जयतीति या हुता उज्ज्वलन्ति देवलोकमेव

हे याज्ञवल्क्य ! ऐसा अश्वल ने कहा—इस यज्ञ मे यह अध्वर्यु आज कितनी आहुतियो का हवन करेगा ? याज्ञवल्क्य ने कहा—तीन आहुतिया। (अश्वल ने पूछा—) वे तीन कौन कौन सी हैं ? (याज्ञवल्क्य ने कहा—) जो घृत और समिधा की आहुतियाँ होम की जाने पर प्रज्वलित होती है जो पूर्वोक्त होम की जाने पर अत्यन्त शब्द करती है और जो होम के बाद पृथिवी पर जाकर लीन हो जाती है।

स्वेव तिसृषु ऋग्जातिष्वन्तर्भवन्ति। किं ताभिर्जयतीति यत्किंचेदं प्राणभृदिति। [2]अतश्च सख्यासामान्याद्यत्किंचित्प्राणभृज्जात तत्सर्वं जयति तत्सर्वं [3]फलजात सपादयति सख्या[4]विसामान्येन ॥७॥

याज्ञवल्क्येति होवाचेति [5]पूर्ववत्। कत्ययमद्याध्वर्युरस्मिन्यज्ञ आहुतीर्होष्यतीति [7]कत्याहुतिप्रकारास्तिस्र इति कतमास्तास्तिस्र इति पूर्ववत्। इतर आह या हुता उज्ज्व-

---

यावत्। प्राणभृज्जात लोकत्रय [8]विवक्षितम् ॥७॥

प्रथम सख्याविषयो द्वितीयस्तु सख्येयविषय प्रश्न इति विभाग [9]लक्षयति—पूर्ववदिति।

सभी उक्त तीन ऋग्जातिविशिष्ट ऋचाओ के ही अन्तर्गत आ जाती है। (इस पर अश्वल ने पूछा—) इन ऋचाओ से यजमान किसको जीतता है ? (याज्ञवल्क्य ने उत्तर दिया—) सभी प्राणियो को जीत लेता है। सख्यादि म समानता होने के कारण सख्यासामान्य से तीनो लोको म जितने भी प्राणी हैं उन सब को जीत लेता है अर्थात पुरोनुवाक्यादि साधन म लगाता है ॥ ७ ॥

हे याज्ञवल्क्य ! ऐसा अश्वल ने कहा 'इस श्रुतिवाक्य का अर्थ पूर्वमन्त्र की तरह करना चाहिये। इस यज्ञ म यह अध्वर्यु आज कितनी आहुतियों का हवन करेगा अर्थात् कितनी आहुतिविशेष हैं ? (याज्ञवल्क्य ने कहा—) तीन आहुतियाँ। (अश्वल ने पूछा—) वे तीन आहुतियाँ कौन-कौन सी हैं ? इत्यादि प्रश्न पूर्वमन्त्र के समान है। इस प्रकार याज्ञवल्क्य कहता है—जो घृत और समिधा की आहुतियाँ

---

१ अथाध्वर्युकृताहुतिषु फलसपादनजिज्ञासया पृच्छति—याज्ञवल्क्येति। २ अतश्चेत्यादि। अयमाशय, भूरादिलोकत्रयेऽस्ति सार्वत्रित्वसख्या पुरोऽनुवाक्यादौ चाप्यस्ति सा। अतो लोकत्रयस्य तस्य च सख्या साम्यात् पुरोऽनुवाक्यादौ लोकत्रय सम्पाद्य सर्वं प्राणिजात जयतीति। ३ लोकत्रयात्मकम्। ४ पुरोऽनुवाक्यादौ साधन। ५ आदिनाऽधऊर्ध्वमध्यत्वग्रह। ६ आभिमुख्यायेत्यर्थ। ७ कत्याहुतिप्रकारा इति—किं सख्याका आहुतिविशेषा इत्यर्थ। प्रकारो भेदसादृश्ये प्रकारस्तुल्यभेदयोरित्यमरभेदिन्यौ। भेदश्च विशेष, यथा पलाण्डुभेदा गृञ्जनादय। सादृश्य यथा मर्कटप्रकार करोति—मर्कटसादृश्य करोतीत्यर्थ इति। ८ फलस्योपास्त्यनुसारित्वादिति भाव। ९ बोधयति।

ताभिर्जयति दीप्यत इव हि देवलोको या हुता अतिनेदन्ते पितृलोकमेव ताभिर्जयत्यतीव हि पितृलोको या हुता अधिशेरते मनुष्यलोकमेव ताभिर्जयत्यध इव हि मनुष्यलोकः ॥ ८ ॥

वे आहुतियाँ उक्त तीन संख्या वाली हैं। (फिर अश्वल ने पूछा—) इन आहुतियों से यजमान किसको जीतता है? (याज्ञवल्क्य ने कहा—) जो होम की जाने पर घृत और समिधा की आहुतियाँ प्रज्वलित होती हैं, उनसे यजमान देवलोक को ही जीतता है क्योकि देवलोक देदीप्यमान-सा हो रहा है और जो आहुतियाँ होम की जाने पर अत्यन्त शब्द करती हैं, उनसे वह यजमान पितृलोक को ही प्राप्त करता है, क्योकि पितृलोकसम्बन्धी सयमनीपुरी मे (यमराज के द्वारा यातना भोगते समय जीवो का हाय रे! मरे! छोड दो, छोड दो! ऐसा भयानक) अत्यन्त कोलाहलपूर्ण शब्द सा होता है। जो दुग्ध और सोम की आहुतियाँ होम के बाद पृथिवी पर लीन हो जाती हैं, उनसे यजमान मनुष्यलोक को ही जीतता है क्योकि मनुष्यलोक अधोवर्ती सा है ॥८॥

लन्ति समिदाज्याहुतयः। या हुता अतिनेदन्तेऽतीव शब्दं कुर्वन्ति मासाद्याहुतयः। या हुता अधिशेरतेऽप्यधो गत्वा भूमेरधः शेरते पयःसोमाहुतयः। किं ताभिर्जयतीति ताभिरेवं निर्वर्तिताभिराहुतिभिः किं जयतीति। या आहुतयो हुता उज्ज्वलन्त्युज्ज्वलनयुक्ता आहुतयो निर्वर्तिताः फलं च देवलोकाख्यमुज्ज्वलमेव तेन सामान्येन या मयैता उज्ज्वलन्त्य आहुतयो निर्वर्त्यमानास्ता एताः साक्षाद्देवलोकस्य कर्मफलस्य रूपं देवलोकाख्यं फलमेव मया निर्वर्त्यत इत्येवं संपादयति। या हुता अतिनेदन्त आहुतयः पितृलोकमेव ताभिर्जयति

तेन सामान्येनोज्ज्वलत्वेनेति यावत्। उक्तमर्थं संक्षिप्याऽऽह—देवलोकाख्यमिति। कथं मासाद्याहुतीना

होम की जाने पर प्रज्वलित होती हैं। "या" अर्थात् जो मासादि की आहुतियाँ होम की जाने पर "अतिनेन्दन्ते" अर्थात् बहुत जोर से शब्द करती हैं। एवं "या" अर्थात् जो दूध और सोमादि की आहुतियाँ होम की जाने पर "अधिशेरते" अर्थात पृथ्वी के नीचे नीचे जाकर विलीन हो जाती हैं। (फिर अश्वल ने पूछा—) इससे यजमान किसको जीतता है? "ताभिः" अर्थात् इस प्रकार सम्पादित आहुतियो के द्वारा किसको जीतता है? (याज्ञवल्क्य ने कहा—) जो "हुता" अर्थात् होम की जाने पर घृत और समिधा की आहुतियाँ "उज्ज्वलन्ति" अर्थात् प्रज्वलित होती हैं, उनका देवलोकसंज्ञक फल भी उज्ज्वल है। उनम समानता होने के कारण यजमान इस प्रकार भावना करता है कि मेरे द्वारा जो यह प्रज्वलनशील आहुतियाँ सम्पादित की जा रही हैं, वे साक्षात् इस कर्मफल के स्वरूप देवलोक का रूप है, अत इन आहुतियों के द्वारा मैं देवलोकसंज्ञक फल को प्राप्त कर रहा हूँ। जो आहु-

---

१ अतीव—अतिकुत्सितशब्दयानिव। २ हि—यस्मात्। ३ या आहुतयो हुता इति—या आहुतयो हुता निर्वर्तिता सत्य उज्ज्वलनयुक्ता भवन्ति ताभिराहुतिभिर्देवलोकमेव जयतीत्यर्थः। ४ भवन्ति।

याज्ञवल्क्येति होवाच कतिभिरयमद्य ब्रह्मा यज्ञं दक्षिणतो देवताभिर्गोपायतीत्येकयेति कतमा सैकेति

हे याज्ञवल्क्य ! ऐसा अश्वल ने कहा—यह ब्रह्मा नामक ऋत्विक् दक्षिण की ओर निश्चित आसन पर बैठकर आज कितने देवताओं द्वारा यज्ञ की रक्षा करता है ? याज्ञवल्क्य ने कहा—एक ही

कुत्सितशब्दकर्तृत्वसामान्येन । पितृलोकसंबद्धायां हि संयमन्यां पुर्या वैवस्वतेन यात्यमानानां हा हताः स्मो मुञ्च मुञ्चेति शब्दो भवति । तथाऽवदानाहुतयस्तेन पितृलोकसामान्यात्पितृलोक एव मया निर्वर्त्यत इति संपादयति । या हुता अधिशेरते मनुष्यलोकमेव ताभिर्जयति भूम्युपरिसंबन्धसामान्यादध इव ह्यध एव हि मनुष्यलोक उपरितनान्साध्याँल्लोकानपेक्ष्याथवाऽधोगमनमपेक्ष्यातो मनुष्यलोक एव मया निर्वर्त्यत इति संपादयति पयःसोमाहुतिनिर्वर्तनकाले ॥८॥

याज्ञवल्क्येति होवाचेति पूर्ववत् । अयमृत्विग्ब्रह्मा दक्षिणतो ब्रह्मासने स्थित्वा

पितृलोकेन सह यथोक्तं सामान्यमत आह—पितृलोकेति । अधोगमनमपेक्ष्येति । अस्ति हि सोमाद्याहुतीनामधस्ताद्गमनमस्ति च मनुष्यलोकस्य पापप्रचुरस्य ताद्गमनं तदपेक्ष्येत्यर्थः । अतः सामान्यादिति यावत् ॥८॥

दक्षिणत आहवनीयस्येति शेषः । प्रासङ्गिकं बहुवचनमित्युक्तं प्रकटयति—एकया हीति ।

तियाँ होम की जाने पर अतिशय शब्द करती है, उनसे यजमान पितृलोक को ही प्राप्त करता है क्योंकि कुत्सितशब्दकर्तृक होने से दोनो की समानता है । इसका यह भी कारण है कि पितृलोकसम्बन्धी संयमनीपुरी में यम के द्वारा यातना भोगते समय जीवो का 'हाय रे ! मरे ! छोड दो ! छोड़ दो' ऐसा (भयानक अत्यन्त कोलाहलपूर्ण) शब्द होता है । इस प्रकार मामादि की आहुतियाँ भी शब्द करने वाली हैं । अत. पितृलोक से समानता होने के कारण, "इन से मेरे द्वारा पितृलोक की प्राप्ति की जाती है" ऐसी भावना करता है । जो दुग्ध और सोम की आहुतियाँ होम के बाद पृथिवी मे लीन हो जाती हैं, उनसे यजमान मनुष्यलोक को ही प्राप्त करता है क्योंकि पृथिवी के ऊपर के भाग से सम्बन्ध होने से दोनो की समानता है । "अध इव" अर्थात् मनुष्यलोक अन्तरिक्षादि ऊपरी साध्यलोको की अपेक्षा नीचे ही स्थिर है अथवा अधोगमन की अपेक्षा से वह मनुष्यलोक को प्राप्त करता है । इसलिए दूध या सोम की आहुति देते समय यजमान ऐसी भावना करता है कि इससे द्वारा मैं मनुष्यलोक की प्राप्ति करूँगा ॥८॥

अश्वल ने मुनि के आभिमुख्य-सम्पादन के लिए पूर्ववत् "हे याज्ञवल्क्य !" ऐसा सम्बोधन कर कहा—"अयं ब्रह्मा" अर्थात् यह ब्रह्मा नामक ऋत्विक् "दक्षिणतो" अर्थात् दक्षिण की ओर निश्चित

---

१ यमेन । २ मासाद्याहुतय । ३ अन्तरिक्षादीन् । ४. अभिमुखयितुमित्यर्थ । ५. मनुष्यलोकस्यस्य जन्तो । ६. तिर्यगाद्यधोयोनिगमनम् ।

मन एवेत्यनन्तं वै मनोऽनन्ता विश्वे देवा अनन्तमेव स तेन लोकं जयति ॥ ६ ॥

देवता से। (अश्वल ने कहा—) वह एक देवता कौन है ? (याज्ञवल्क्य ने उत्तर दिया—) वह देवता मन ही है। (वृत्ति के भेद से) मन अनन्त है और विश्वदेव भी अनन्त लोक को जीत लेता है क्योंकि साध्य-साधन में सख्या की समानता है ॥६॥

यज्ञं गोपायति। कतिभिर्देवताभिर्गोपायतीति प्रासङ्गिकमेतद्बहुवचनम्। एकया हि देवतया गोपायत्यसौ। एवं ज्ञाते बहुवचनेन प्रश्नो नोपपद्यते[1] स्वयं जानतस्तस्मात्पूर्वयोः कण्डिकयोः प्रश्नप्रतिवचनेषु कतिभिः कति तिसृभिस्तिस्र इति प्रसङ्गं[2] दृष्ट्वेहापि बहुवचनेनैव प्रश्नोपक्रमः क्रियते। अथवा प्रतिवादिव्यामोहार्थं बहुवचनम्। इतर आहैकयेत्येका सा देवता यया दक्षिणतः स्थित्वा ब्रह्माऽऽसने यज्ञं गोपायति। कतमा सैकेति। मन एवेति मनः सा देवता। मनसा[3] हि ब्रह्मा व्याप्रियते[4] ध्यानेनैव। "[5]तस्य यज्ञस्य मनश्च वाक्च

---

[6]जल्पकथा प्रस्तुतेति हृदि निधाय बहुदतेर्गत्यन्तरमाह—अथवेति। मनसो देवतात्वं साधयति—मनसेति।

आसन पर बैठ कर यज्ञ की रक्षा करता है। कितने देवताओ द्वारा यज्ञ की रक्षा करता है ? यहाँ श्रुतिवाक्य मे देवताशब्द म प्रासङ्गिक बहुवचन का प्रयाग है। (याज्ञवल्क्य ने कहा—) वह ब्रह्मा एक ही देवता से यज्ञ की रक्षा करता है। ऐसा निश्चय होने पर स्वय जानते हुए भी इस प्रकार बहुवचन से प्रश्न करना उचित नही है। इसलिए पूर्व के दो मन्त्रो म प्रश्न और उत्तर प्रतिपादकवाक्यो मे "कतिभि" "कति" "तिसृभि" "तिस्र" इत्यादि बहुवचनप्रवाह को देखकर यहाँ भी बहुवचनान्त विभक्ति से प्रश्न का प्रारम्भ किया जाता है। अथवा प्रतिवादी को मोह मे डालने क लिए बहुवचनान्त प्रयोग है। याज्ञवल्क्य ने कहा—'एकया इति" अर्थात् वह एक ही देवता है, जिसक द्वारा दक्षिण की ओर ब्रह्मा के आसन पर बैठकर यज्ञ की रक्षा करता है। (अश्वल ने कहा—) वह एक देवता कौन है ? "मन एवेति" अर्थात् वह देवता मन ही है। मन के द्वारा ध्यान करके ही ब्रह्मा अपने कार्य मे प्रवृत्त होता है। "(यज्ञ क मन्त्रोच्चारण करने मे प्रवृत्त) वाणी और (यथार्थ वस्तु के ज्ञान मे प्रवृत्त) मन, ये दोनो मार्ग हैं। उन दोनो मार्गों मे से एक मार्ग का ब्रह्मा नामक ऋत्विक विवेकयुक्त मन से सस्कार

---

१ अनुपपन्नत्वात्। २ बहुवचनप्रवाहम्। ३ मनसैव करणेन। ४ ध्यानाभिन्नव्यापारवान् भवतीत्यर्थः। ५ ब्रह्मण उक्तव्यापारवत्त्वे श्रुतिं प्रमाणयति—तस्येति। तस्य उक्तविशेषणकस्य यज्ञस्य। मनश्च यथाभूतार्थज्ञान व्यापृतम्। वाक् च मन्त्रोच्चारण व्यापृता। वर्तनी मार्गौ (छा० उ० ४।१६।१। ६ जल्पकथेति—जल्पस्यापि क्वचित्तत्त्वनिर्णयफलकत्वादिति भाव। तथा चोक्त गौतमसूत्रे—'तत्त्वाध्यवसायसरक्षणार्थं जल्पवितण्डे बीजप्ररोहसरक्षणार्थं कण्टकशाखावरणवदिति" (४।२।४७)। वात्स्यायनश्चाह—"तानि हि प्रयुज्यमानानि परपक्षविघातेन स्वपक्ष रक्षन्तीति"। अन्योऽप्याह—"तत्त्वसरक्षणार्थत्वात्प्रासदाचार" इति। अतो वादवज्जल्पोऽपि क्वचित्तत्त्वनिर्णायक इति।

याज्ञवल्क्येति होवाच कत्ययमद्योद्गाताऽस्मिन्यज्ञे स्तोत्रियाः स्तोष्यतीति तिस्र इति कतमास्तास्तिस्र इति पुरोनुवाक्या च याज्या च शस्यैव तृतीया कतमास्ता

हे याज्ञवल्क्य ! ऐसा अश्वल ने कहा, इस यज्ञ मे उद्गाता आज कितनी स्तोत्रिया ऋचाओं का स्तवन करेगा (प्रगीत ऋचाएँ स्तोत्रशब्द से और अप्रगीत ऋचाएँ शस्त्रशब्द से कही जाती हैं। इनमें स्तोत्र को स्तोत्रिया और शस्त्र को शस्या भी कहते है, याज्ञवल्क्य ने कहा–) तीन ऋचाओं का। (अश्वल ने पूछा—) वे तीन कौन-कौन सी है ? याज्ञवल्क्य ने कहा—पुरोनुवाक्या, याज्या और तीसरी शस्या।

वर्तनी तयोरन्यतरां मनसा संस्करोति ब्रह्मा" इति श्रुत्यन्तरात्। तेन मन एव देवता तया मनसा हि गोपायति ब्रह्मा यज्ञम्। तच्च मनो वृत्तिभेदेनानन्तम्। वैशब्दः प्रसिद्धावद्योतनार्थः। प्रसिद्धं मनस आनन्त्यम्। तदानन्त्याभिमानिनो देवाः। अनन्ता वै विश्वे देवाः। 'सर्वे देवा यत्रैकं भवन्तीत्यादिश्रुत्यन्तरात्। तेनाऽऽनन्त्यसामान्यादनन्तमेव स तेन लोकं जयति ॥९॥

याज्ञवल्क्येति होवाचेति पूर्ववत्। कति स्तोत्रियाः स्तोष्यतीत्ययमुद्गाता।

वर्तनी वर्त्मनी तयोर्वाङ्मनसयोर्वर्त्मनोरन्यतरां वाचं मनसा मौनेन ब्रह्मा संस्करोति वाग्विसर्गे प्रायश्चित्तविधानादिति श्रुत्यन्तरस्यार्थः। "तथाऽपि कथं संपदः सिद्धिस्तत्राऽऽह—तच्चेति। देवाः सर्वे यस्मिन्मनस्येकं भवन्त्यभिन्नत्वं प्रतिपद्यन्ते तस्मिन्विश्वदेवदृष्ट्या भवत्यनन्तलोकप्राप्तिरिति श्रुत्यन्तरस्यार्थः। अनन्तमेवेत्यादि व्याचष्टे—तेनेति। उक्तेन प्रकारेणेति यावत्। तेन मनसि विश्वदेवदृष्ट्युपासेनेत्यर्थः। ॥ इत्युपासकोक्तिः ॥९॥

पूर्ववदित्यभिमुखीकरणायेत्यर्थः। प्रतिवचनमुपादत्ते—स्तोत्रिया वेति। प्रगीतमृग्जातं

करता है" ऐसी अन्य श्रुति भी प्रमाण है। अतः मन ही देवता है। उस मन के द्वारा ब्रह्मा यज्ञ की रक्षा करता है। इसके अतिरिक्त वह मन वृत्तिभेद से अनन्त है। मन्त्र मे वैशब्द प्रसिद्धार्थ का द्योतन करने के लिए है। मन का आनन्त्य तो प्रसिद्ध ही है। उस अनन्त मन के अधिष्ठातृदेवता भी अनन्त हैं। वे विश्वेदेव अनन्त है (इस वाक्य से भी ऐसे ही कहे जाते है)। अन्य श्रुति भी इसका समर्थन करती है, जैसे कि "जिस मे सब देवता एक हो जाते है"। इस प्रकार अनन्तता मे समानता होने के कारण वह उसके द्वारा अनन्तलोक को प्राप्त कर लेता है ॥९॥

अश्वल ने 'हे याज्ञवल्क्य !' इस प्रकार अभिमुख करने के लिए सम्बोधन कर कहा—इत्यादि

---

१. छा० उ० ४।१६।२। २. तेन—उद्देश्यतया देवताया यज्ञसंपादकत्ववत् वर्त्मतया मनसो यज्ञसंपादकत्वेन। ३. वृत्तिभेदे शब्दादिविषयभेदो हेतु। ४. अनन्तमनोऽधिष्ठातारः। ५. इति वाक्येनोच्यन्त इति शेषः। ६. तेषामानन्त्यं श्रुत्यन्तर संवादयति—सर्व इति। ७. फलम्। ८. स्तोतीत्यर्थः। ९. मध्ये। १०. तथापि—मनसा देवेन ब्रह्मणो यज्ञरक्षकत्वेऽपि।

या अध्यात्ममिति प्राण एव पुरोनुवाक्याऽपानो याज्या व्यानः शस्या किं ताभिर्जयतीति पृथिवीलोकमेव पुरोनुवाक्यया जयत्यन्तरिक्षलोकं याज्यया द्युलोकं

अश्वल ने कहा—इनमें से जो शरीरान्तवर्ती हैं, वे कौन सी हैं ? याज्ञवल्क्य ने कहा—(प्रकार एवं प्रथमत्व की समानता से) प्राण ही पुरोनुवाक्या है। (द्वितीयत्व की समानता से) अपान याज्या है और (ऊर्ध्वत्व की समानता से) व्यान शस्या है। (अश्वल ने कहा—) इनसे यजमान किन लोकों को जीतता है ? (याज्ञवल्क्य ने कहा—) प्रथमत्व की समानता से पुरोनुवाक्या द्वारा पृथिवीलोक को ही जीतता है।

स्तोत्रिया नाम 'ऋक्सामसमुदायः कतिपयानामृचाम्। स्तोत्रिया वा शस्या वा या याः काश्चन ऋचस्ताः सर्वास्तिस्र एवेत्याह'। ताश्च व्याख्याताः पुरोनुवाक्या च याज्या च शस्यैव तृतीयेति। 'तत्र 'पूर्वमुक्तं यत्किंचेदं प्राणभृत्सर्वं जयतीति 'तत्केन 'सामान्येनेत्यु'च्यते कतमास्तास्तिस्र ऋचो 'या अध्यात्मं भवन्तीति। 'प्राण एव पुरोनुवाक्या। पशब्द-

---

"स्तोत्रमप्रगीतं शस्त्रम्। कतमास्तास्तिस्र इत्यादेस्तात्पर्यमाह—ताश्चेति। प्रश्नान्तरं वृत्तमनूद्योपादत्ते—तत्रेति। यज्ञाधिकारं समर्थ्य। पुरोनुवाक्याविना लोकत्रयजयलक्षणं फलं केन सामान्येनेत्य-पेक्षायां "सख्याविशेषेणेत्युक्तं स्मारयति—तदिति। अधियज्ञं "प्रयमुक्तं स्मारयित्वाऽध्यात्मविशेषं दर्शयितुमुत्तरो ग्रन्थ इत्याह—उच्यत इति। प्राणादौ पुरोनुवाक्यादौ च पृथिव्यादिलोकदृष्टिरिति प्रश्न-

---

अर्थ पूर्वग्रन्थ के समान समझ लेना चाहिए। यह उद्गाता कितनी स्तोत्रिया ऋचाओं से स्तुति करता है ? गीतिविशिष्ट अनिर्धारित संख्या वाली ऋचाओं का नाम स्तोत्रिया है। स्तोत्रिया हो अथवा शस्या, जो कुछ भी ऋचाएँ हैं वे सभी तीन प्रकार की ही हैं—ऐसा याज्ञवल्क्य ने कहा। उन तीनों की व्याख्या पहले की जा चुकी है। वे हैं—पुरोनुवाक्या याज्या और शस्या। इस यज्ञ प्रकरण में पहले कह दिया है कि यह जो कुछ भी दृश्यमान जगत है, उस सभी को वह प्राप्त कर लेता है। वह किससे प्राप्त कर लेता है ? सामान्य से प्राप्त कर लेता है, ऐसा कहा जाता है। वह कौन सी तीन ऋचाएँ हैं जो

---

१ एवं प्राणादिषु पुरोऽनुवाक्यादिदृष्टिकरणस्य तत्र च (प्राणाद्यभिन्नपुरोऽनुवाक्यादौ) भूरादिलोकदृष्टेश्च फलं पृच्छति—किं ताभिरिति। त्रित्वसाम्यादादित्वमध्यत्वान्त्यत्वसाम्येश्च भूरादीन्पुरोऽनुवाक्यादौ संपाद्य तया संपदा भूरादिलोकजयं इत्यभिप्रेत्याह—पृथिवीति। २ साममुदाय इत्यादि। कतिपयानाम् अनिर्धारित-संख्याकानामृचाम् साममुदाय गीतिविशिष्ट समुदाय इत्यर्थः। गीतिविशिष्टा पूर्वोक्ता एवर्ग्जातय इति यावत्। तथा च वार्तिके—'तिस्रः पुरोऽनुवाक्याद्या ऋचः पूर्वमुदीरिताः। यास्ता एवात्र विज्ञेयाः स्तोत्रिया अपि नापराः ॥ ५७ ॥ इति। ३ याज्ञवल्क्य। ४ अस्मिन्यज्ञप्रकरणे। ५ पूर्वम्—सप्तमकण्डिकायाम्। ६ प्रश्न। ७ उत्तर। ८ उच्यत इति—अध्यात्म विशेष उच्यते उत्तरेण ग्रन्थेनेत्यर्थः। ९ या इति—पूर्वोक्ता पुरोऽनुवाक्यादयो गीतरूपेण वर्तमाना अधियज्ञसंज्ञिका इति पूर्वमवगतं परन्तु केन रूपेणैता पुनरध्यात्मं भवन्तीत्यर्थः। १० या अध्यात्मं स्तोत्रियास्तिस्र ऋचः कास्ता इति पृष्टे उत्तरमाह—प्राण इति। ११ स्तोत्रियास्तोत्रयोरभेदाभिप्रायेणेदम्। १२ त्रित्वसंख्यासादृश्येन। १३ गीतिविशिष्ट पुरोऽनुवाक्यादिकं सप्तमकण्डिकायामुक्तम्।

शस्यैवा ततो ह होताऽश्वल उपरराम ॥ १० ॥

इति बृहदारण्यकोपनिषदि तृतीयाध्यायस्य प्रथमं ब्राह्मणम् ॥ १ ॥

मध्यमत्व की समानता से याज्या द्वारा अन्तरिक्षलोक को और ऊर्ध्वत्व की समानता से शस्या द्वारा द्युलोक पर विजय प्राप्त करता है। इसके बाद याज्ञवल्क्य हमारे काबू मे नही आयेगा, ऐसा समझ कर होता अश्वल चुप हो गया ॥१०॥

॥ इति प्रथम ब्राह्मणम् ॥

सामान्यात्। अपानो याज्या। 'आनन्तर्यात्। अपानेन हि प्रत्तं हविर्देवता ग्रसन्ति। यागश्च प्रदानम्। व्यानः शस्या "अप्राणन्ननपानन्नृचमभिव्याहरति" इति श्रुत्यन्तरात्। किं ताभिर्जयतीति 'व्याख्यातम्। 'तत्र विशेषसंबन्धसामान्यमनुक्तमिहोच्यते सर्वमन्यद्व्या-

---

पूर्वकमाह—कतमा इति। अपाने याज्यादृष्टो हेत्यन्तरमाह—अपानेन हीति। 'हस्ताद्यादानव्यापारेणेति यावत्। 'प्राणापानव्यापार'व्यतिरेकेण 'शस्त्रप्रयोगस्य श्रुत्यन्तरे सिद्धत्वाद्व्याने शस्या दृष्टिरित्याह—अप्राणन्निति। तत्र पुरोनुवाक्याविषु चेति यावत्। इहेत्यनन्तरवाक्योक्तिः। सर्वमन्यदिति, संख्या-

---

अध्यात्मविशिष्ट है? (इसका उत्तर दिया जाता है—) प्राण ही पुरोवाक्या है क्योकि दोनो मे पकार की समानता है। अपान याज्या है क्योकि अपान और याज्या की प्राण और पुरोवाक्या के अनन्तर होना रूप साम्यता है। इसके अतिरिक्त देवता अपान से ही दी गई आहुतियो को ग्रहण करते है। याग प्रदान है। व्यान शस्या है। "(पुरुष जो मुख और नासिका द्वारा वायु का बहिर्गमन करता है; वह प्राण है, जो मुख एव नासिका द्वारा ही वायु को भीतर खीचता है, वह अपान है तथा प्राणायाम की जो सन्धि है; वह व्यान है, जो व्यान है, वही वाक है) अतएव पुरुष प्राण और अपान की क्रियाएँ न करता हुआ ही बोलता है" ऐसा अन्य श्रुति मे भी कहा गया है। उनसे क्या जीतता है" इसकी व्याख्या हो चुकी। वहाँ जो इनका विशेष सम्बन्धसामान्य नही कहा गया, उसे यहाँ कहा जाता है। अन्य सब सख्या सामान्यादि का तो पहले ही निरूपण कर दिया गया है। (याज्ञवल्क्य ने कहा—)

---

१ आनन्तर्यादिति—उभयो प्राणपुरोऽनुवाक्याभ्यामानन्तर्यसामान्यादित्यर्थ। २ प्राणापानव्यापारमकुर्वन् (छा० उ० १।३।३)। ३ एतत्तु यत्किचेद प्राणभृदिति सामान्येनोक्तस्यैव विशेषत कथनमित्यभिप्रेत्याऽऽह—व्याख्यातमिति। ४ व्याख्यात चेत् किमिति पुनरुच्यते तत्राऽऽह—तत्रेति। ५ हस्तादीति। हस्तादीनामादानादिरूपव्यापारेणेत्यर्थ (आदानादावपानचेष्टामभिप्रेत्यदम्)। तथा च यागप्रयोजकत्व याज्यापानयो सादृश्यमिति भाव। ६ प्राणेत्यादि—तथा च प्राणापानव्यापारनिरपेक्षत्व शस्याव्यानयो सामान्यमित्यभिप्राय। ७ नैरपेक्ष्येण। ८ अप्रगीतमन्त्रसाध्यस्तुतिप्रयोगस्येति यावत्।

ख्यातम् । लोकसंबन्धसामान्येन पृथिवीलोकमेव पुरोनुवाक्यया जयत्यन्तरिक्षलोकं याज्यया मध्यमत्वसामान्यात् । द्युलोकं शस्ययोर्ध्वत्वसामान्यात् । ततो ह तस्मादात्मनः प्रश्ननिर्णयादसौ होताऽश्वल उपरराम नायमस्मद्गोचर इति ॥१०॥

इति बृहदारण्यकोपनिषद्भाष्ये तृतीयाध्यायस्य प्रथममश्वलब्राह्मणम् ॥१॥

अथ तृतीयध्यायस्य द्वितीयं ब्राह्मणम् ।

[1]आख्यायिकासंबन्धः प्रसिद्ध एव । [2]मृत्योरतिमुक्तिर्व्याख्याता कालक्षणा-

---

सामान्योक्तिः । किं तद्विशेषसंबन्धसामान्यं तदाह—लोकेति । पृथिवीलक्षणेन लोकेन सह [4]प्रथमत्वेन [5]संबन्धसामान्यं पुरोनुवाक्यायामस्ति [6]तेन तया पृथिवीलोकमेव प्राप्नोतीत्यर्थः । अश्वलस्य तूष्णींभावं भजतोऽभिप्रायमाह—नायमिति ॥ १० ॥

इति बृहदारण्यकोपनिषद्भाष्यटीकायां तृतीयाध्यायस्य प्रथममश्वलब्राह्मणम् ॥ १ ॥

ब्राह्मणान्तरमवतारयन्नाख्यायिका किमर्थेति शङ्कमानं प्रत्याह—आख्यायिकेति । याज्ञवल्क्यो हि विद्याप्रकर्षवशादत्र[8] पूजाभागी [9]लक्ष्यते नाऽऽसंभागस्तथा विद्यामान्द्यादतो विद्यास्तुत्यर्थेयमाख्यायिकेत्यर्थः । इदानीं ब्राह्मणार्थं वक्तुं वृत्तं कीर्तयति—मृत्योरिति । मृत्युस्वरूपं पृच्छति—कः पुनर-

---

प्रथमत्व लोकसम्बन्धी समानता से पुरोनुवाक्या द्वारा पृथिवीलोक को ही जीतता है, मध्यमत्व की समानता से याज्या द्वारा अन्तरिक्षलोक को जीतता है और ऊर्ध्वत्व की समानता से शस्या द्वारा द्युलोक पर विजय प्राप्त करता है । "ततो ह" अर्थात् उसके पश्चात् होता अश्वल याज्ञवल्क्य से अपने प्रश्नों के निश्चित उत्तर सुनकर "यह हमारे द्वारा जीता नहीं जा सकता" ऐसा विचार कर चुप हो गया ॥१०॥

इस प्रकार बृहदारण्यकोपनिषत् तृतीय अध्याय के प्रथम अश्वल ब्राह्मण में
शाङ्करभाष्य का हिन्दीभाषानुवाद पूर्ण हुआ ॥१॥

आख्यायिका का प्रयोजन तो प्रसिद्ध ही है। काल और कर्मसंज्ञक मृत्यु से अतिमुक्ति की व्याख्या हो गयी । किन्तु जिससे अतिमुक्ति की व्याख्या की गयी है, वह मृत्यु क्या है । वह मृत्यु

---

१. अथ याज्ञवल्क्यः गोचरो जय्य इति यावत् । २. आख्यायिकाप्रयोजनमिति यावत् । ३ मृत्योरित्यादि—ब्रह्म वस्त्वादिपरिच्छेदहेतो रागादिसहितान्मिथ्याज्ञानात् कर्म, तस्मादुपायोपेतात् (यजमानादिसाधनसहितात् कर्मणः) कालाच्च मृत्योर्मुक्ति व्याकुर्वता स्वमर्यशुद्धिर्विहितेति भावः । ४. प्रथमत्वेनेत्यादि—प्रथमत्वेन सह योऽस्ति सबन्धस्तद्रूप सामान्य प्रथमत्वप्रतियोगिकसबन्धरूप सामान्यमित्यर्थः । यद्वा पृथिवीलोकेन सह तादात्म्यसबन्धप्रयोजकं प्रथमत्वरूप सामान्यमिति । ५. प्रथमत्वेन सबन्धसामान्यमिति—प्रथमत्वेनेति षष्ठ्यर्थे तृतीया । तथा च पृथिवीलक्षणेन लोकेन सह प्रथमत्वस्य यः सबन्धः प्रथमत्वप्रतियोगिक आधेयताख्यः तद्रूपं सामान्य साधारणधर्मरूप यत्तदस्ति पुरोऽनुवाक्यायामित्यर्थः । प्रतियोगित्व स्वार्थिकम् तृतीया तु कर्तरि द्रष्टव्येति । ६. तेन तयेति—उक्तसामान्येन पुरोऽनुवाक्यायां भूर्लोकं संपाद्य तया जयेदित्यर्थः । ७ व्याख्यात् पुरस्कुर्वन् । ८. ब्राह्मणे आख्यायिकायां वा । ९. प्रतीयते ।

'त्कर्मलक्षणाच्च । कः पुनरसौ मृत्युर्यस्मादतिमुक्तिर्व्याख्याता । स च स्वाभाविकाज्ञाना-सङ्गास्पदोऽध्यात्माधिभूतविषयपरिच्छिन्नो 'ग्रहातिग्रहलक्षणो मृत्युः । 'तस्मात्परिच्छिन्न-रूपान्मृत्योरतिमुक्तस्य रूपाण्यग्न्यादित्यादीन्युद्गीथप्रकरणे व्याख्यातानि । अश्वलप्रश्ने च तद्गतो विशेषः कश्चित् । 'तच्चैतत्कर्मणां ज्ञानसहितानां फलम् । 'एतस्मात्साध्यसाधन-रूपात्संसारान्मोक्षः कर्तव्य' इत्यतो बन्धनरूपस्य मृत्योः स्वरूपमुच्यते । बद्धस्य हि मोक्षः कर्तव्यः ।

साधिति । तत्स्वरूपनिर्धारणार्थं ब्राह्मणमुत्थापयति—स चेति । मृत्युरिति संबन्ध । स्वाभाविकं नैसर्गिकमनादिसिद्धमज्ञानं 'तस्मादा'सङ्ग स "आस्पदमिवाऽऽस्पद यस्य स तथेति विग्रह । "तस्य "विषयमुक्त्वा "व्याप्तिमाह—अध्यात्मेति । तस्य स्वरूपमाह—ग्रहेति । यथोक्तमृत्युव्याप्ति"मग्न्यादीनां कथयति—तस्मादिति । तान्यपि ग्रहातिग्रहगृहीतान्येवार्थेन्द्रियसंसर्गित्वादित्यर्थः । तद्गतो विशेषो-ऽग्न्यादिगतो दृष्टिभेद इति यावत् । कश्चिद्व्याख्यात इति संबन्ध. । सूत्रस्यापि मृत्युग्रस्तत्वमभिप्रेत्याऽऽह—तच्चेति । अग्न्यादित्याद्यात्मकं सौत्र पदमिति यावत् । फलं यथोक्तमृत्युग्रस्तमिति शेष । किमिति मृत्यो' बंन्धनरूपस्य स्वरूपमुच्यते तत्राऽऽह—एतस्मादिति । ननु मोक्षे कर्तव्ये बन्धरूपोपवर्णनमनुप-युक्तमित्याशङ्क्याऽऽह—बद्धस्य हीति ।

अनादि अविद्याजनित आसक्ति का स्थान, अध्यात्म और अधिभूत विषय से परिच्छिन्न, इन्द्रिय विषयरूप है । अब उस (आसङ्ग-पापरूप परिच्छेदाभिमान) से परिच्छिन्नरूप मृत्यु से अतिमुक्त हुए पुरुष के अग्नि-आदित्यादि रूपो की व्याख्या उद्गीथप्रकरण मे की जा चुकी है । अश्वल के प्रश्न मे अग्न्यादि-गत दृष्टिभेद है । वह यह अग्न्यादित्यात्मक विशेष उपासनासहित कर्मो का फल है । मुमुक्षु का इस साध्यसाधनरूप ससार से मोक्ष करना है इसलिए यहाँ से बन्धनरूप मृत्यु का स्वरूप वर्णन किया जाता है क्योकि बन्धनयुक्त पुरुष की मुक्ति करनी चाहिए ।

इस के अतिरिक्त 'अतिमुक्त' का जो स्वरूप बतलाया गया है, वहाँ भी वह (स्वरूप मे स्थित मृत्यु से मुक्त विद्वान्) मृत्युरूप ग्रह और अतिग्रह से पूर्णत मुक्ति नही पाता । इसका श्रुति समर्थन

---

१ कर्मेति—यजमानमन्त्रर्त्विगग्न्यादिसाधनोपेतादिति ध्येयम् । २ अध्यात्मेत्यादि—अधिदैवाधियज्ञयोरप्यु-पलक्षणम् । तत्तु विषयेषु व्याप्तस्तैं परिच्छिन्न इति । ३ इन्द्रियविषयरूप इत्यर्थ । ४ उक्तमृत्युग्रहग्रस्तत्व प्रागेव देवताप्राप्तेरित्याशङ्क्याग्न्यादीनामुत्पत्त्यादिमत्त्वादुक्तमृत्युग्रस्ततास्तीति मत्वोक्त स्मारयति —तस्मादिति । आसङ्गपाप्मरूपात्परिच्छेदाभिमानादित्यर्थ । ५ आग्न्यादिभावस्य मृत्युग्रस्तत्वेऽपि समुच्चयफलस्य सूत्रस्य तदग्रस्तत्वात्तत्प्राप्तिरेव मुक्तिरिति व्यर्थं सम्यग्ज्ञानार्थं श्रम इत्याशङ्क्याऽऽह—तच्चेति । यदि समुच्चयफलमिष्ट-मेतच्च घटादिवदनित्य जन्मादिमत्त्वात्तस्मान्न सूत्रप्राप्तिर्मुक्तिरिति भाव । ६ एतस्मादिति—अग्न्यादेस्तदा-त्मकसूत्रस्य च जगदात्मनो जन्माद्यन्वयान्मृत्युग्रस्तत्वे ज्ञानादज्ञाननिरासेन ततो मुक्ति कार्या इत्यतदर्थमिद ब्राह्मणमिति भाव । ७ मुमुक्षो । ८ तन्निमित्त । ९ रागादि । १० आस्पदम् आश्रय प्रयोजक इति यावत् । तस्य इन्द्रियविषयरूपग्रहातिग्रहलक्षणस्येत्यर्थ । इन्द्रियादौ ग्रहत्वादे रागादिप्रयोज्यत्वेन तद्द्वारा तयोरपि तत्प्रयोज्यत्वादिति भाव । ११ मृत्यो । १२ रागादिरूपमास्पद प्रयोजकम् । १३ व्याप्तिम् अनुगतिम् । सम्बन्धसीमानमिति यावत् । १४ अग्न्यादिदेवेषु । १५ ब्रह्मादिरूपस्य

यदप्यतिमुक्तस्य स्वरूपमुक्तं 'तत्रापि ग्रहातिग्रहाभ्यामविनिर्मुक्त एव मृत्युरूपाभ्याम् । तथाचोक्तमशनाया हि मृत्युरेष एव मृत्युरिति' । आदित्यस्य 'पुरुषमङ्गीकृत्याऽऽहैको' मृत्युर्बहवा इति च । 'तदात्मभावापन्नो हि मृत्योराप्तिमतिमुच्यत इत्युच्यते । न च 'तत्र ग्रहातिग्रहो मृत्युरूपौ न स्त । 'अथैतस्य मनसो द्यौ शरीर "ज्योतीरूपमसावादित्य । मनश्च ग्रह. स "कामेना"तिग्राहेण "गृहीत इति "वक्ष्यति 'प्राणो वै ग्रह सो"ऽपाने-

अग्न्यादीना यथोक्तमृत्युव्याप्तिमुक्तां व्यक्ती करोति—यदपीति । अविनिर्मुक्त एवातिमुक्तोऽपीति शेष । "तथाऽपि कथ सूत्रस्य यथोक्तमृत्युव्याप्तिस्तत्राऽऽह—तथा चेति । "तथाऽपि कथमग्न्यादीनां मृत्युव्याप्तिर्न हि तत्र प्रमाणमस्ति तत्राऽऽह—एक इति । बहवा इति च्छान्दसम् । "तथाऽपि विदुषो मृत्योरतिमुक्तस्य न "तदाप्तिरित्याशङ्क्याऽऽह—तदात्मेति । सौत्रे पदे मृत्युव्याप्ति प्रकारान्तरेण प्रकटयति —न चेति । मनसि कार्यकरणरूपेण दिवश्चाऽऽदित्यस्य चैक्यमस्तु "तथाऽपि कथ ग्रहातिग्रहगृहीतत्व सूत्रस्येत्याशङ्क्याऽऽह—मनश्चेति । वागादेर्व्यक्त्यादेश्च ग्रहत्वेऽतिग्रहत्वे च हिरण्यगर्भे किमायातमित्या-

करते हुए कहती है—"अशनाया ही मृत्यु है, यही मृत्यु है' इत्यादि । आदित्य म विद्यमान सूत्रात्मा पुरुष को स्वीकृत कर श्रुति कहती है—'सूत्रात्मा एक ही है, मृत्यु बहुरूपा है" । फलभूता अग्न्यादिरूपत्व को प्राप्त हुआ मनुष्य मृत्यु की प्राप्ति से अतिमुक्त हो जाता है—ऐसा कहा जाता है । किन्तु वहाँ (सौत्रपद म) ग्रह और अतिग्रह मृत्युरूप न हो, ऐसा कहना उचित नही है । तथा प्राजापत्य अन्नरूप से कहे हुए इस मन का द्युलोक शरीर आधार है ज्योतिरूप वह आदित्य है", "मन ही ग्रह है, वह कामरूप अतिग्रह से गृहीत है', "वायुसहित घ्राण ही ग्रह है वह गन्धरूप अतिग्रह से गृहीत है, (अपान गध का साथी है, इसीलिये यहा पर अपानशब्द से गन्ध को कहा गया है)", वाक् ही ग्रह है, वह नामरूप अतिग्रह से गृहीत है, (क्योकि प्राणी वाक् स ही नाम का उच्चारण करता है)" ऐसा श्रुतिमन्त्रो द्वारा आगे प्रतिपादित किया जायगा। इसके अतिरिक्त अन्नप्रकरण म हमारे द्वारा व्याख्या की जा चुकी है । वहा यह अच्छी तरह विचार किया जा चुका है कि जो ससारबन्ध म प्रवृत्ति का प्रयोजक है, वही उस बन्ध की निवृत्ति का प्रयोजक नही हो सकता ।

१ अतिमुक्तस्यत्यादिपरिच्छेदाभिमानादासङ्गपाप्मरूपा मृत्योरतिमुक्तस्य पुस स्वरूपमग्न्यादिरूपमुद्गीथब्राह्मणे उक्तम् । २ तत्रापि—उक्तस्वरूपे स्थित उक्तरूपा मृत्योर्मुक्तोऽपि विद्वान् मृत्युरूपाभ्या ग्रहातिग्रहाभ्यामविनिर्मुक्त एवेत्यर्थ । ३ बृ० उ० १।२।१ । ४ वचनान्तरमपि । ५ सूत्रात्मानम् । ६ सूत्रात्मैव बहुरूप । ७ तदात्मेति—फलभूताग्न्यादिरूपत्वमापन्नो हि मृत्यो प्राप्तिमतीत्य मृत्युगोचरतामतिक्रम्य मुच्यते स्वतन्त्रो मृत्यारवश्यो भवतीत्युच्यत इत्यर्थ । यदा त्वग्न्यादीनामपि मृत्युपारवश्य तदा तत्प्राप्ताना तदधीनत्वमिति किमु वक्तव्यम् । न चातिमुच्यत इत्युक्तिविरोध मृत्युरूपाभ्यां ग्रहातिग्रहाभ्याममुक्तत्वेऽपि परिच्छेदाभिमानादासङ्गपाप्म-मृत्योर्मुक्तत्वादिति । ८ सौत्र पदे । ९ अथेति—आधिदैविकवाग्विभूतिव्याख्यानानन्तरम् । एतस्य—प्रजापतिरसत्वन प्रकृतस्य आधिदैविकस्य मनसो द्यौ द्युलोक शरीर कार्यमाधार । ज्योतिरूप प्रकाशात्मकम् करणरूपमाधेयभूतमसावादित्य इत्यर्थ । १० बृ० उ० १।५।१२ । ११ काम्यमानविषयेण । १२ अतिग्रहसज्ञकेन । १३ ग्रस्त । १४ बृ० उ० ३।२।७ । १५ वायुसहित घ्राण । १६ गन्धेन । १७ अग्न्यादौ मृत्युव्याप्तौ । १८ सूत्र मृत्युव्याप्तौ । १९ सूत्राग्न्यादीना मृत्युव्याप्तौ । २० मृत्यु-व्याप्तौ । २१ तत्र तेन तयोरैक्येऽपि ।

नातिग्राहेणेति वाग्वै ग्रहः स 'नाम्नाऽतिग्राहेणेति च। तथा 'व्यन्नविभागे' व्याख्यातम'-स्माभिः। सुविचारितं चैतद्यदेव प्रवृत्तिकारणं तदेव निवृत्तिकारणं न भवतीति।

केचित्तु सर्वमेव निवृत्तिकारणं मन्यन्ते। 'अत. कारणात्पूर्वस्मात्पूर्वस्मा'न्मृत्योर्मु-च्यत उत्तरमुत्तर' प्रतिपद्यमानो 'व्यावृत्त्यर्थमेव प्रतिपद्यते न तु 'तादर्थ्यमित्यत आ द्वैतक्षयात्सर्वं मृत्युर्द्वैतक्षये तु परमार्थतो मृत्योराप्तिमतिमुच्यते। "अतश्चाऽऽपेक्षिकी गौणी मुक्तिरन्तराले।

शङ्कयाऽऽह—तयेति। कर्मफलस्य ससारत्वाच्च "तत्फल सौत्र पद मृत्युग्रस्तमेवेत्याह—सुविचारित चेति। यदेव कर्म "बन्धप्रवृत्तिप्रयोजकं तदेव बन्धनिवृत्तेर्न कारणमत कर्मफलं हैरण्यगर्भं पद बन्धनमेवेत्यर्थं।

"स्वमतमुक्त्वा मतान्तरमाह—केचित्त्विति। सर्वमेव कर्मेति शेष। स्वर्गकर्मवाक्ये "देहात्म त्वनिवृत्तिर्गोदोहनवाक्ये "स्वतन्त्राधिकारनिवृत्तिर्नित्यनैमित्तिक"विधिष्वर्थान्तरोपदेशेन स्वाभाविक प्रवृत्तिनिरोधो निषेधेषु "साक्षादेव नैसर्गिकप्रवृत्तयो निरुध्यन्ते तदेव सर्वमेव कर्मकाण्ड निवृत्तिद्वारेण मोक्षपरमित्यर्थं। ननु शास्त्रीयात्कर्मणो" हेतोरुत्तरमुत्तर कार्यकरणसघातम"तिशयवत्तमा"ऽप्रजात्प्र-तिपद्यमान सघातात्पूर्वस्मान्मुच्यते "तत्कुतो निवृत्तिपरत्व कर्मकाण्डस्येत्याशङ्कयाऽऽह—अत कारणादिति। यद्यपीदमुत्तरमुत्तर सातिशय फल प्राजापत्य पद तदपि प्रासादा"रोहणक्रमेण व्यावृत्तिद्वारा मोक्षम"वतारयितुमेव न तु तत्रैव प्राजापत्ये पदे श्रुतेस्तात्पर्यं तस्यापि निरतिशयफलस्वाभावादित्यर्थं। फलितमाह—इत्यत इति। यस्मात्पूर्वं पूर्वं परित्यज्योत्तरमुत्तर प्रतिपद्यमानस्तत्तन्निवृत्तिद्वारा

कुछ दार्शनिक तो ऐसा मानते है कि सभी कर्म निवृत्ति के प्रयोजक हैं। इसी से उत्तरोत्तर कार्यकरणसघात को प्राप्त होने वाला पूर्व-पूर्व कार्यकरणसघातरूप कर्म मृत्यु से मुक्त हो जाता है, निवृत्ति के लिए ही प्राप्त हो जाता है, उस-उस पद को प्राप्त करने के लिए नही होता। इस प्रकार द्वैत के क्षय होने तक सब मृत्यु ही है, एव द्वैत के क्षय होने पर तो वह परमार्थत मृत्यु की प्राप्ति से अतिमुक्त हो जाता है। द्वैतक्षय के बिना मुख्य मोक्ष असभव होने के कारण मध्य मे आपेक्षिकी गौणी मुक्ति बतलायी जाती है।

इस प्रकार यह सब कुछ कहना बृहदारण्यक मे अप्रतिपाद्य होने से बाह्य है। (इस पर पूर्ववादी

---

१ वक्तव्येन विषयेण। २ अन्नेति। सविषयाणा वाड्मन प्राणाना सूत्रात्मनि सत्त्वेन ग्रहादिरूपबन्धन तस्य बद्धत्वमिति व्याख्यातमित्यर्थ। तथा चोक्त वार्तिके—'वाड्मन प्राणरूपाणा अन्नात्मन्यपि सभवात्। ग्रहाति-ग्रहरूपाणा नातो मुक्त प्रजापतिरिति' ॥ ८॥ ३ प्रकरण। ४ बृ० उ० १।५।१८ भाष्ये। ५ यतो निवृत्तिपर कर्म। ६ कार्यकरणसघातरूपम्। ७ कार्यकरणसघातम्। ८ निवृत्त्यर्थमेव। ९ तत्त-त्पदप्राप्त्यर्थम्। १० द्वैतक्षय विना मुख्यमोक्षस्यासभवात्। ११ समुच्चितकर्मफलम्। १२ बन्धस्य ससारस्य प्रवृत्ति जनन तत्प्रयोजकमित्यर्थ। १३ कर्म बन्धनिवृत्त्यप्रयोजकमिति स्वमतम्। १४ न हि देह स्वर्गगामीति। १५ पश्वभिलाष विना। १६ स्वाभाविकप्रवृत्तितो भिन्नार्थेति यावत्। १७ शब्दत। १८ कर्मरूपहेतोरिति। १९ जात्याद्युत्कर्षवन्तम्। २० सूत्रपर्यन्तम्। २१ उत्तरोत्तरो-त्कर्षप्राप्तिफलकतया प्रवृत्तिकरत्वादिति भाव। २२ सोपानक्रमेण। २३ प्रापयितुम्।

सर्वमेतदेवमबाहृदारण्यकम् । ननु सर्वैकत्वं मोक्षः "तस्मात्तत्सर्वमभवत्" इति श्रुतेः । बाढं भवत्येतदपि, न तु "ग्रामकामो यजेत पशुकामो यजेत" इत्यादिश्रुतीनां तादर्थ्यम् । यदि ह्यद्वैतार्थत्वमेवाऽऽसां ग्रामपशुस्वर्गाद्यर्थत्वं नास्तीति ग्रामपशुस्वर्गादयो न गृह्येरन्गृह्यन्ते तु कर्मफलवैचित्र्यविशेषाः । यदि च वैदिकानां कर्मणां तादर्थ्यमेव संसार एव नाभविष्यत् ।

मुक्त्यर्थमेव तत्तत्प्रतिपद्यते न तु तत्तत्पदप्राप्त्यर्थमेव वाक्यं पर्यवसितं तस्यान्तवत्त्वेना फलत्वात् । तस्माद्द्वैतक्षयपर्यन्तं सर्वोऽपि फलविशेषो मृत्युग्रस्तत्वात्प्रासादा रोहणन्यायेन मोक्षार्थोऽवतिष्ठते हिरण्यगर्भपदप्राप्त्या द्वैतक्षये तु वस्तुतो मृत्योराप्तिमतीत्य परमात्मस्वरूपेण स्थितो मुक्तो भवति । तथा च मनुष्यभावादूर्ध्वमर्वाक्च परमात्मभावान्मध्ये या तत्तत्पदप्राप्तिः सा तत्त्वापेक्षिकी सती गौणी मुक्तिर्मुख्या तु पूर्वोक्तैवेत्यर्थः ।

सर्वमेतदुत्प्रेक्षामात्रेणाऽऽरचित न तु बृहदारण्यकस्य श्रुत्यन्तरस्य वाऽर्थ इति दूषयति—सर्वमेतदिति । सर्वैकत्वलक्षणो मोक्षो बृहदारण्यकार्थं एवास्माभिरुच्यते तत्कथमस्मदुक्तमबाहृदारण्यकमिति शङ्कते—नन्विति । अङ्गी करोति—बाढमिति । अङ्गीकृतमंशं विशदयति—भवतीति । एतत्सर्वैकत्वमारण्यकार्थो भवत्यपीति योजना । कथं तर्हि सर्वमेतदबाहृदारण्यकमित्युक्तं तत्राऽऽह—न त्विति । त्वदुक्तया रीत्या कर्मश्रुतीनां यथोक्तमोक्षार्थत्वं न घटते तेन सर्वमेतदौत्प्रेक्षिकं न श्रौतमित्युक्तमित्यर्थ । कर्मश्रुतीनां मोक्षार्थत्वाभावं समर्थयते—यदि हीति । तस्मात्तासां न मोक्षार्थतेति शेष । किंच संसारस्तावद्धर्माधर्महेतुस्तौ च विधिनिषेधाधीनौ तयोश्चेत्त्वदुक्तरीत्या मोक्षार्थत्वं तदा हेत्वभावात्संसार एव न स्यादित्याह—यदि चेति ।

शङ्का करता है—) किन्तु सब की एकता होना मोक्ष है, क्योंकि 'वह सर्वरूप हो गया"—ऐसी श्रुति भी है । (इस पर सिद्धान्ती पूर्णत सहमत न होते हुए भी कहता है—) हाँ ठीक तो है कि यह बृहदारण्यक का विषय है, किन्तु "ग्राम की कामना वाला याग करे, पशु की कामना वाला याग करे" इत्यादि श्रुतियाँ उन-उन विषयों की प्राप्ति के लिए हैं, मोक्षप्राप्ति के लिए नहीं । यदि इन का प्रयोजन भी अद्वैत में हो तो इनका ग्राम, पशु अथवा स्वर्गादि फल के लिए होना सम्भव नहीं है । इसलिए ग्राम, पशु और स्वर्गादि फल को भी श्रुति में ग्रहण नहीं कहना चाहिये, परन्तु कर्मफल वैचित्र्यरूप विशेषों का ग्रहण किया जाता ही है । एवं यदि वेदप्रतिपादित कर्म मोक्ष के लिए होते, तो (कर्म ही संसार का हेतु होने से) संसार ही न होता ।

१ त्वदुक्तम् । २ बृहदारण्यके अप्रतिपाद्यत्वेन तद्बाह्यम् । ३ तस्मात्—'अहं ब्रह्मास्मि' इति ज्ञानात् मत्प्रमात्रादिमाक्षितया स्वपदलक्ष्यम् । सर्वम्—अब्रह्मत्वाध्यारोपणाऽविद्यापगमात् तत्कार्यस्यासर्वत्वस्य निवृत्तो स्वाभाविकसर्वत्वमभवत्प्राप्तवत् । ४ बृ० उ० १।४।१० । ५ तत्फलकत्वम् । ६ तर्हि । ७ श्रूतावुच्येरन् । ८ मोक्षार्थत्वम् । ९ विधिवाक्यमिति यावत् । १० सात्पयवत् । ११ तत्तत्पदस्य । १२ नश्वरत्वेन । १३ सोपानन्यायेन । १४ मोक्षफलक । १५ भवति । १६. श्रुत्यननुसारिकल्पनामात्रेणेति । १७ सर्वात्मत्वलक्षणेत्यर्थः । १८. कर्ममोक्षार्थत्वमिति । १९. संभवति । २०. तासां तदर्थत्वाभावेन । २१ धर्माधर्मौ । २२ विधिनिषेधयो । २३ कर्मैव हि संसारहेतु ।

अथ तादर्थ्येऽप्यनुनिष्पादितपदार्थस्वभावः संसार इति चेत् । यथा च रूपदर्शनार्थ आलोके[1] सर्वोऽपि [2]तत्रस्थः प्रकाश्यत एव । न प्रमाणा[3]नुपपत्तेः । [4]अद्वैतार्थत्वे वैदिकानां कर्मणा विद्यासहितानाम[5]न्यस्यानुनिष्पादितत्वे प्रमाणानुपपत्तिः[6] । न प्रत्यक्षं नानुमानमत एव च नाऽऽगमः । उभयमेकेन वाक्येन प्रदर्श्यत इति चेत्कुल्याप्रणयनालोकादिवत् । तन्नैवं[7] वाक्यधर्मानुपपत्तेः । न चैकवाक्यगतस्यार्थस्य[8] प्रवृत्तिनिवृत्तिसाधनत्वमवगन्तुं

विधिनिषेधयोर्निवृत्तिद्वारा मुक्त्यर्थत्वेऽपि [9]विद्यादिज्ञानादनुनिष्पादितो यः कर्मपदार्थस्तस्यायं स्वभावो यदुत कर्तारमनर्थेन संयुनक्तीति चोदयति—अथेति । मोक्षार्थमपि कर्मकाण्ड संसारार्थं भवतीति सदृष्टान्तमाह—यथेति । प्रमाणाभावेन परिहरति—नेति । तदेव व्यनक्ति—अद्वैतार्थत्व इति । अन्यस्य [10]बन्धस्येति यावत् । अनुपपत्ति स्फोरयति—न प्रत्यक्षमिति । कर्मश्रुतिवाक्यस्यावान्तरतात्पर्यं यथाश्रुतेऽर्थे गृह्यते निवृत्तिद्वारा मुक्तौ तु महातात्पर्यमित्यङ्गीकृत्य शङ्कते—उभयमिति । कृत्रिमाः क्षुद्राः सरित कुल्यास्तासा प्रणयनं शाल्यर्थं पानीयार्थमाचमनीयाद्यर्थं च प्रदीपश्च प्रासादशोभार्थं कृतो गमनादिहेतुरपि भवति वृक्षमूले च सेचनम[11]नेकार्थं तथा कर्मकाण्डमनेकार्थमित्युपपादयति—कुल्येति । एकस्य वाक्यस्य यथाश्रुतेनार्थेनार्थवत्त्वे संभवति नान्यत्र तात्पर्यं कल्प्यं [12]कल्पकाभावान्न च त्वदुक्तया रीत्या[13]ऽनेकार्थत्वलक्षणो धर्मो वाक्यस्यैकस्योपपद्यते[14]ऽर्थैकत्वादेक वाक्यमिति न्यायादिति परिहरति—तन्नैवमिति । वाक्यस्यानेकार्थत्वाभावेऽपि [15]तदर्थस्य कर्मणो बन्धमोक्षाख्यानेकार्थत्वं स्यादित्या-

---

(इस पर पूर्ववादी कहता है—) यद्यपि वेदोक्त कर्म मोक्षार्थक है, तथापि इष्टसाधनत्वादि ज्ञान का अनन्तर सम्पादित होना ही ससार का धर्म है। जिस तरह प्रकाश रूपदर्शन के लिए प्रयोजक होने पर प्रकाश मे स्थित सभी वस्तु प्रकाशित हो जाती है। (सिद्धान्ती आक्षेप परिहार करता है—) ऐसा कहना ठीक नही है क्योकि इसमे प्रमाण का अभाव है। यदि विद्यासहित वैदिक कर्मो को मुक्तिरूप महातात्पर्य वाला माना जाय तो उन से किसी अन्यपदार्थ के अवान्तर तात्पर्यविषयत्व होने मे प्रमाण का ही अभाव है। इसमे न तो प्रत्यक्ष प्रमाण है, न अनुमान है और इसीलिए आगम प्रमाण भी नही हो सकता। (इस पर पूर्ववादी कहता है—) नहर निकालने एव प्रकाश करने के समान एक ही वाक्य से दोनो का प्रदर्शन हो जाता है। (नहरो से आचमन और सिंचन, प्रकाश से उजाला और घर की शोभा दो-दो कार्यो का होना प्रसिद्ध है) ऐसा कहना भी उचित नही है। ऐसे मे तो वाक्य का एकार्थबोधकत्व धर्म ही विनष्ट हो जायगा। एक ही वाक्य मे आए हुए कर्म का प्रवृत्ति और निवृत्ति दोनो मे साधन होना समझना सभव नही है। नहर निकालने और प्रकाश करने आदि मे कार्य की

---

१ सति। २ आलोकस्य। ३ अभावात्। ४ निवृत्तिद्वारा मुक्तौ महातात्पर्यवत्त्वे। ५ अवान्तरतात्पर्यविषयत्व। ६ अभाव। ७ एवमिति—कुल्याप्रणयनादि त्वदुक्तरीत्या वाक्यस्यैकस्यानेकार्थत्वे। वाक्यस्यैकस्य धर्म एकार्थबोधकत्व तदनुपपत्तेरित्यर्थ। ८ कर्मण। ९ इष्टसाधनत्वादिज्ञानानन्तर सपादितो यो धर्मादिस्तस्य। १० ससारस्य। ११ अनेकार्थमिति—मूले सिक्तमपि फलपत्राद्यर्थमपि भवतीति। यद्वा-आलवालस्थत्वेन पक्ष्यादिपानायाऽपि भवतीत्यर्थ। १२ प्रमाणाभावात्। १३ अनेकार्थजनकत्वाख्यो धर्म। १४ अर्थेति—अर्थैकत्वादेक वाक्य साकाङ्क्ष चेद्विभागे स्यादिति जै० सू० २।१।४६। अर्थैकत्वादिति—एकवाक्यत्वस्य अर्थैक्यप्रयुक्तत्वादनेकार्थत्वे वाक्यभेदापत्तिरिति भाव। विस्तरस्तु ५११पृष्ठ टिप्पणतो द्रष्टव्य। १५ वाक्यार्थस्य।

शक्यते । कुल्याप्रणयनालोकादावर्थस्य प्रत्यक्षत्वाद॑दोषः ।

यदप्युच्यते मन्त्रा अस्मिन्नर्थे दृष्टा इति । ॑अयमेव तु तावदर्थः प्रमाणगम्यः । मन्त्राः पुन॰ किमस्मिन्नर्थ आहोस्विदन्यस्मिन्नर्थ इति मृग्यमेतत् । ॑तस्माद्ग्रहातिग्रहलक्षणो मृत्युर्बन्ध॑स्तस्मान्मोक्षो वक्तव्य इत्यत॑ ॑इदमारभ्यते ।

न च जानीमो विषयसधाविवान्तरालेऽवस्थानमर्थजरतीयं कौशलम् । यत्तु मृत्यो-रतिमुच्यत इत्युक्त्वा ग्रहातिग्रहावुच्यते　तत्त्वर्थसबन्धात्सर्वोऽयं साध्यसाधनलक्षणो

शङ्कयाऽऽह—न चेति । परोक्त दृष्टान्त विघटयति—कुल्येति ।

विद्या चाविद्या चेत्याद्यो मन्त्रा समुच्चयपरा दृष्टा समुच्चयश्च कर्मकाण्डस्य निवृत्तिद्वारा मोक्षार्थत्वमित्यस्मिन्नर्थे" सिध्यतीति शङ्कते—यदपीति । कर्मकाण्डस्योक्तरीत्या मोक्षार्थत्वे नास्ति प्रमाणमिति परिहरति—अयमवेति । मन्त्राणां समुच्चयपरत्वात्तस्य च यथोक्तार्थाक्षेपकत्वात्कुतोऽस्यार्थस्य प्रमाणागम्यतेत्याशङ्कयाऽऽह—मन्त्रा पुनरिति । तेषा न समुच्चयपरतेत्यग्रे॑ व्यक्ती भविष्यतीत्यर्थं । ॑परमतासभवे स्वमतमुपसहरति—तस्मादिति । बन्धनिरूपणमनुपयोगीत्याशङ्कयाऽऽह—तस्मान्मोक्ष इति ।

यत्तु कर्मकाण्ड बन्धाय मुक्तये वा न भवति किन्त्वन्तरावस्थानकारणमिति तद्दूषयति—न चेति । यथा न जागर्ति न स्वपितीति "विषयग्रहणच्छिद्रेऽन्तरालेऽवस्थानं दुर्घट यथा चार्धं कुक्कुट्या पाकार्थमर्धं च प्रसवायेति कौशल नोपलभ्यते तथा कर्मकाण्ड न बन्धाय नापि साक्षान्मोक्षायेति व्याख्यान कर्तुं न जानीम इत्यर्थं । यत्तु "श्रुतिरेवोत्तरोत्तरपदप्राप्त्यभिधानव्याजेन मोक्षे पुरुष"मवतारयतीति तत्राऽऽह—यत्त्विति । मृत्योरतिमतीत्य मुच्यत इत्युक्त्वा यदेतद्ग्रहातिग्रहवचन "तदय सर्वं "साध्यसाधनलक्षणो बन्ध इत्यनेनाभिप्रायेणोच्यते "तस्यार्थेन मृत्युपदार्थेना"न्वयदर्शनादिति योजना

द्विरूपता स्पष्ट देखी जाती है । (वह विषम दृष्टान्त है) इसलिए इसमे कोई दोष नही है ।

एव जो ऐसा कहा जाता है कि इस अर्थ म मन्त्रो का साक्षात्कार हुआ है । सो कर्मकाण्ड से मोक्षार्थत्वरूप प्रयोजन किसी भी प्रमाण से सिद्ध होने वाला नहीं हैं । फिर क्या मन्त्र इसी अर्थ मे है, अथवा किसी दूसरे अर्थ मे हैं ? यह बात शोध करने योग्य है । परमत के असम्भव होने से ग्रहातिग्रहरूप मृत्यु बन्धन है, इसलिये मोक्ष का प्रतिपादन करना चाहिये (क्योकि बद्ध ही मुक्त होता है) अत इस ब्राह्मण का आरम्भ किया जाता है ।

जिस प्रकार (जाग्रत् और स्वप्नरूप) दो विषयो की सधि मे स्थित होना नही देखा जाता,

---

१ अदोष इति—न हि दृष्टेऽनुपपन्न नामेति न्यायात् । तथा च विषमोऽय दृष्टान्त इति भाव । २ कर्मकाण्डस्य मोक्षार्थत्वरूप । ३ परमतासभवात् । ४ उपरोक्तलक्षणमृग्यात् । ५ अत इति—बद्धो हि मुच्यत इति न्यायात् । ६ इदमिति—ग्रहातिग्रहलक्षणव धरूपस्य मृत्यो । स्वरूपनिरूपणायेद ब्राह्मणमारभ्यत इत्यर्थं । ७ स्वीकृते सति । ८ बृ॰ उ॰ ४।४।६ टीकायाम् । ९ सर्वं कर्मनिवृत्तिपरमिति परमतम् । १०, ग्रहणाग्रहणेति पाठ । ११ ग्रहातिग्रहप्रतिपादिका प्रवृत्ता श्रुति । १२ सनिधापयति मोक्षनिकट करोतीति यावत् । १३ वचनम् । १४ ग्रहादिरूप । १५ उच्यमानसाध्यसाधनलक्षणस्य । १६ मृत्युमस्तत्वादिति यावत् ।

अथ हैनं जारत्कारव आर्तभागः पप्रच्छ याज्ञवल्क्येति होवाच कति ग्रहाः कत्यतिग्रहा इति । अष्टौ ग्रहा अष्टावतिग्रहा इति ये तेऽष्टौ ग्रहा अष्टावतिग्रहाः कतमे त इति ॥ १ ॥

तदनन्तर उस याज्ञवल्क्य से जरत्कारु गोत्र वाले ऋतभाग के पुत्र ने पूछा । हे याज्ञवल्क्य ! ऐसा आर्तभाग ने कहा —ग्रह कितने हैं और अतिग्रह कितने हैं ? (याज्ञवल्क्य ने कहा—) आठ ग्रह है और आठ अतिग्रह हैं । (आर्तभाग ने कहा—) वे जो आठ ग्रह तथा आठ अतिग्रह हैं, वे कौन से है ? (पहले 'अतिमुच्यते' कहा गया है, अतःगृहीत से ही मुक्ति और अतिमुक्ति हुआ करती है । अतएव ग्रह तथा अतिग्रह की प्राप्ति सामान्य रीति से होती है । इसीलिए उनकी सख्या के विषय मे प्रश्न भी बनता है और सख्येय के विषय मे विशेष जिज्ञासा भी सभव है) ॥ १ ॥

---

[1]ग्रहातिग्रहाविनिर्मोकात् । निगडे हि निज्ञाते [2]निगडितस्य मोक्षाय यत्नः कर्तव्यो भवति । [3]तस्मा[4]त्तादर्थ्येना[5]ऽऽरम्भः ।

अथ हैनं हशब्द [6]ऐतिह्यार्थः । अथानन्तरमश्वल उपरते प्रकृतं याज्ञवल्क्यं जरत्कारुगोत्रो जारत्कारव ऋतभागस्यापत्यमार्तभागः पप्रच्छ याज्ञवल्क्येति होवाचेत्यभिमुखी-

---

अर्धसबन्धादियुक्त स्फुटयति—ग्रहातिग्रहाविनिर्मोकादिति । [8]एवा हि श्रुतिर्बन्धमेव प्रतिपादयति न तु मोक्षे पुरुषमवतारयतीति भाव. । ननु पुरुषस्यापेक्षितो मोक्ष प्रतिपाद्यता किमित्यनर्थात्मा बन्धः प्रतिपाद्यते तत्राऽऽह—निगडे हीति । बन्धज्ञान विना [9]ततो [9]विश्लेषायोगान्मुमुक्षो. [10]सप्रयोजकबन्धज्ञानार्थत्वेनानन्तरब्राह्मणप्रवृत्तिरित्युपसहरति—तस्मादिति ।

उसी प्रकार (वैदिक कर्मों से बन्ध-मोक्ष कुछ भी न होकर कोई मध्यम वस्तु प्राप्त होती है) यह अर्धजरतीय व्याख्यानकौशल ठीक नही है । तथा जो "मृत्यु से अतिमुक्त हो जाता है" ऐसा कहकर ग्रह और अतिग्रह का वर्णन किया जाता है, वह तो अर्थ के प्रयोजन से है । यह सब साध्य-साधनरूप बन्धन है क्योकि निरुक्त ससार का ग्रह और अतिग्रह से सम्बद्ध होने के कारण बन्धत्व है । बन्ध का ज्ञान होने पर बद्ध पुरुष के मोक्ष के लिए प्रयत्न करना आवश्यक हो जाता है । इसलिए बन्ध का स्वरूप जानने के लिए इसका आरम्भ किया जाता है ।

"अथ हैन" इत्यादि मन्त्र मे 'ह' शब्द परम्परागत उपदेशार्थक है । "अथ" यानी अश्वल के

---

१ ग्रहातीति—निरुक्तससारस्य ग्रहादिसबद्धत्वात् बन्धत्वमित्यर्थ । २ बद्धस्य । ३ बन्धज्ञानस्य तन्निवृत्तिप्रयोजकत्वात् । ४ बन्ध ज्ञातुम्—ज्ञापयितुम् । ५ तादर्थ्येनारम्भ इति । "बन्धाख्यमृत्युस्तन्मृत्युर्विदुषोऽनुक्रमस्तथा । प्रयोजकलयो मृत्यो प्रेरकश्चात्र पृच्छयत" ॥ १ ॥ इति वार्तिकसारे समाहितम् । अत्र—ब्राह्मणे । मृत्युप्रयोजक—विहितनिषिद्धकम् । प्रेरक प्रयोजकम् । ६ ऐतिह्येति—ऐतिह्य परम्परागतोपदेश । इयमाख्यायिका आचार्यपरम्परया श्रूयत इति यावत् । परम्परोपदेशे स्यादैतिह्यमिति हाव्ययमित्यमर । ७ समनन्तरयावद्ब्राह्मणरूपा । ८ बन्धात् । ९ मोक्षासभवात् । १० सप्रयोजकेति—प्रयोजकम् विहितप्रतिषिद्धम् । बन्ध यथोक्तग्रहातिग्रहलक्षणो मृत्यु ।

करणाय। पूर्ववत्प्रश्नः कति ग्रहाः कत्यतिग्रहा इति। इतिशब्दो [1]वाक्यपरिसमाप्त्यर्थः। [2]तत्र निर्ज्ञातेषु वा ग्रहातिग्रहेषु प्रश्नः स्यादनिर्ज्ञातेषु वा। यदि तावद्ग्रहा अतिग्रहाश्च निर्ज्ञातास्तदा तद्गतस्यापि गुणस्य संख्याया निर्ज्ञातत्वात्कति ग्रहाः कत्यतिग्रहा इति संख्याविषयः प्रश्नो नोपपद्यते। अथानिर्ज्ञातास्तदा संख्येयविषयः प्रश्न[3] इति के ग्रहाः केऽतिग्रहा इति प्रष्टव्यं न तु कति ग्रहाः कत्यतिग्रहा इति प्रश्नः[4]। अपि च निर्ज्ञातसामा[5]न्यकेषु विशेषविज्ञानाय प्रश्नो भवति यथा कतमेऽत्र कठाः कतमेऽत्र कालापा इति। न चात्र[6] ग्रहातिग्रहा नाम पदार्थाः केचन लोके प्रसिद्धाः। [7]येन विशेषार्थः प्रश्नः स्यात्। ननु चातिमुच्यत [8]इत्युक्तं ग्रहगृहीतस्य हि मोक्षः स मुक्तिः साऽतिमुक्तिरिति हि [9]द्विरुक्तम्।

कति ग्रहा इत्यादिः प्रथमः संख्याविषयः प्रश्नः कतमे त इति द्वितीयः संख्येयविषय इत्याह—पूर्ववदिति। [10]संप्रति प्रश्नमाक्षिपति—तत्रेत्यादिना। आद्यं प्रश्नमाक्षिप्य द्वितीयमाक्षिपति—अपि चेति। विशेषतश्चाज्ञातेष्विति चशब्दार्थः। मुक्त्यतिमुक्तिपदार्थद्वयप्रतियोगिनौ बन्धनाख्यौ ग्रहातिग्रहौ सामान्येन प्राप्तौ प्रश्नस्तु विशेषबुभुत्सायामिति प्रष्टा चोदयति—ननु चेति। [11]तथाऽपि [12]प्रश्नद्वयमनुप-

---

उपराम हो जाने पर उस प्रकरणस्थ याज्ञवल्क्य से "जारत्कारव" अर्थात् जरत्कारु गोत्र में उत्पन्न "आर्तभाग." ऋतभाग के पुत्र आर्तभाग ने पूछा। अभिमुख सम्पादन के लिए "हे याज्ञवल्क्य" इस सम्बोधन से (पुकार कर) कहा। कितने ग्रह हैं और कितने अतिग्रह हैं—ये प्रश्न पूर्वमन्त्र के समान ही किये गये हैं। "इति" शब्द प्रश्नवाक्य की परिसमाप्ति के लिए है। उन दोनो प्रश्नो मे क्या यह प्रश्न सम्यक्‌ज्ञात ग्रह और अतिग्रह के विषय मे है अथवा अनिर्ज्ञात ग्रह और अतिग्रह के विषय मे है? यह ग्रह और अतिग्रह सम्यक्‌रूप से ज्ञात हो, तो उनमे रहने वाली गुणरूप संख्या भी ज्ञात हो जाने से कितने ग्रह हैं और कितने अतिग्रह हैं, इस प्रकार संख्याविषयक प्रश्न नही बनता। तथा यदि उन्हें अनिर्ज्ञात माना जाय तो संख्येयविषयक प्रश्न करना आवश्यक हो जाता है। ऐसे मे ग्रह कौन से है और अतिग्रह कौन से है—यह पूछना चाहिये। कितने ग्रह हैं और कितने अतिग्रह हैं—यह प्रश्न पूछना संभव नही है। इसके अतिरिक्त सामान्यस्वरूप के निर्ज्ञात होने पर विशेषस्वरूप ज्ञान के लिए प्रश्न हुआ करता है, जैसे सामान्य पाठको मे कौन से कठशाखा के हैं एवं कौन से कलापशाखा के हैं। परन्तु यहाँ लोक मे ग्रह और अतिग्रह वाले कोई पदार्थ प्रसिद्ध नही हैं; जिनमे (कौन से ग्रह है, कौन से अतिग्रह हैं) विशेष अर्थ के लिए प्रश्न पूछा जाय। किन्तु पूर्वब्राह्मण मे तो कहा गया है "वह अतिमुक्त हो जाता है और ग्रहगृहीत ही मोक्ष है। वह मुक्ति है, वह अतिमुक्ति है; इस प्रकार मोक्ष को दो प्रकार से कहा है। इससे ग्रह और अतिग्रह दोनों ही की प्राप्ति हो जाती है। (पूर्ववादी शङ्का करता है—) किन्तु यहाँ तो

---

१. प्रश्नवाक्येत्यर्थः। २ तत्र ग्रहातिग्रहेष्विति सबन्ध. यद्वा प्रश्नद्वयमध्ये। ३. कर्तव्यो भवति। ४. सभवति। ५. अध्येतॄणां मध्ये, अध्येतृसामान्य इति यावत्। ६. अत्र लोक इत्यन्वयः। ७ येनेति—ग्रहातिग्रहत्वरूपसामान्यतः प्रसिद्धत्वेनेत्यर्थ.। विशेषार्थ. प्रश्न —ग्रहातिग्रहत्वेन प्रसिद्धानां मध्ये कतमे ग्रहाः कतमे चातिग्रहा इति प्रश्न इत्यर्थ.। ८ बृ० उ० ३।१।३-६। ९. मोक्षस्य द्विधोक्तमित्यर्थः। १०. अस्याः कथाया वादेकरूपत्वेनाज्ञाजानान एव संदिग्धार्थं निर्णेतुं पृच्छतीत्याशयेनाह—संप्रतीति। ११ तेषां सामान्यतः प्राप्तत्वेऽपि। १२. संख्याविषय प्रश्न यद्वा संख्यासंख्येयविषय प्रश्नमिति।

'तस्मात्प्राप्ता ग्रहा अतिग्रहाश्च। ननु तत्रापि चत्वारो ग्रहा अतिग्रहाश्च 'निर्ज्ञाता वाक्चक्षुः-प्राणमनांसि 'तत्र कतीति प्रश्नो नोपपद्यते निर्ज्ञातत्वात्। न, 'अनवधारणार्थत्वात्। न हि चतुष्ट्वं तत्र विवक्षितमिह' तु 'ग्रहातिग्रहदर्शनेऽष्टत्व'गुणविवक्षया कतीति प्रश्न उपपद्यत एव। तस्मात्सा मुक्तिः साऽतिमुक्तिरिति 'मुक्त्यतिमुक्ती द्विरुक्ते ग्रहातिग्रहा अपि ''सिद्धाः। ''अतः कतिसंख्याका ग्रहाः कति चाऽतिग्रहा इति पृच्छति। इतर आह—अष्टौ ग्रहा अष्टावतिग्रहा इति। ''ये तेऽष्टौ ग्रहा अभिहिताः कतमे ते ''नियमेन ग्रहीतव्या इति ॥ १ ॥

प्रश्नमित्याक्षेप्ता ब्रूते—ननु तत्रेति। वाग्वै यज्ञस्य होते''त्यादाविति यावत्। निर्ज्ञातत्वाद्विशेषस्येति शेषः। ''अतिमोक्षातिदेशेन त्वगादेरपि सूचितत्वा''त्तेषु चतुष्ट्वस्या''निर्धारणादविशेषेण प्रतिप्रपन्नेषु वागादिषु विशेषबुभुत्सायां संख्यादिविषयत्वेन प्रश्नस्यो''पपन्नार्थत्वान्नाऽऽक्षेपोपपत्तिरिति समाधत्ते—नानावधारणार्थत्वादिति। तदेव स्पष्टयति—न हीति। तत्र पूर्वब्राह्मणे वागादिष्विति यावत्। ''फलितां प्रथमप्रश्नोपपत्तिं कथयति—इह त्विति। ननु ग्रहाणामेव ''पूर्वत्रोपदेशातिदेशाभ्यां ''प्रतिपन्नत्वात्तेषु विशेषबुभुत्सायां कति ग्रहा इति प्रश्नेऽप्यतिग्रहाणामप्रतिपन्नत्वात्कथं कत्यतिग्रहा इति प्रश्नः स्यादत आह—तस्मादिति। पूर्वस्माद्ब्राह्मणादिति यावत्। वागादयो ''वक्तव्यादयश्च चत्वारो ग्रहाश्चातिग्रहाश्च यद्यपि ''विशेषतो निर्ज्ञातास्तथाऽप्यतिदेशप्राप्ता''श्चत्वारो विशेषतो न ज्ञायन्ते तेन तेषु विशेषतो ज्ञानसिद्धये प्रश्न इत्यभिप्रेत्य विशिनष्टि—नियमेनेति।

वाक्, चक्षु, प्राण और मन इन चार ग्रहो और (नाम, रूप, गन्ध काम) अतिग्रहों का ज्ञान होता ही है। निर्ज्ञात ग्रहों और अतिग्रहो मे "वे कितने हैं" ऐसा प्रश्न नही बनता। (सिद्धान्ती समाधान देता है—) ऐसा कहना ठीक नही क्योंकि वहाँ अवधारणार्थ का अभाव है अर्थात् वहाँ यह बतलाना इष्ट नही है कि वे चार ही है। इस ब्राह्मण मे ग्रह-अतिग्रह दर्शन मे (पूर्वब्राह्मण से) अष्टसंख्या विवक्षा द्वारा वे कितने है—ऐसा प्रश्न पूछा ही जा सकता है। इसलिए "वह मुक्ति है, वह अतिमुक्ति है" इस प्रकार मुक्ति और अतिमुक्ति के दो बार कहे जाने पर ग्रह और अतिग्रह की भी सिद्धि की जा

---

१. मुक्तेः प्रतियोगिनिरूप्यत्वात्। २. निर्ज्ञाता इति—"वाग्वै यज्ञस्य होते'त्यादिना वाक्चक्षुर्घ्राणमनसां ग्रहाणाम् नामरूपगन्धकामानां चातिग्रहाणां तद्गतचतुष्ट्वस्य च प्रागेव प्राप्तेः कति ग्रहाः कत्यतिग्रहा इतिप्रश्नद्वयानुपपत्तिरिति भावः। ३. निर्ज्ञातग्रहातिग्रहेषु। ४. अनवधारणेति—पूर्वब्राह्मणस्थवागादिषु चतुष्ट्वस्याविवक्षितत्वेनावधारणार्थत्वाभावादित्यर्थः। ५. ब्राह्मणे। ६. ग्रहेति—ग्रहादिप्रतिपत्तौ सत्यां तत्राष्टत्वगुण(संख्या)विवक्षयेति। यद्वा विषयसप्तमी। ७. पूर्वब्राह्मणत। ८. संख्याविवक्षया। ९. मुक्त्यतिमुक्ती इति—अत्र मुक्त्यतिमुक्तिद्विरुक्तेरिति पुस्तकान्तरपाठः। १०. सिद्धाः मुक्त्यतिमुक्तिप्रतियोगित्वेनेति शेष। ११. तयोर्निःशेषं सिद्धत्वात्। १२. संख्येयान्पृच्छति—ये त इति। १३. नियमेन—निश्चितस्वरूपत्वेन। १४. इत्यादौ निर्ज्ञाता इत्यर्थः। १५. अतिमोक्षातिदेशेनेति—बृ० उ० ३।१।६। इत्यतिमोक्षा इति वागादावुक्तन्यायस्य त्वगादावतिदेशेन तेषु चतुष्ट्वस्याविवक्षितत्वादित्यर्थः। १६. वागादिषु। १७. अनिश्चितसंख्याकत्वेन। १८. संभावितविषयत्वात्। १९. सिद्धाम्। २०. चक्षुरादिचतुष्टयस्योपदेशः त्वगादि चातिदेशः। २१. ज्ञातत्वात्। २२. पूर्वत्र ब्राह्मणनिर्दिष्टाः। २३. निर्धारितरूपतया। २४. त्वगादयः स्पर्शादयश्च।

प्राणो वै ग्रहः सोऽपानेनातिग्राहेण[1] गृहीतोऽपानेन हि गन्धाञ्जिघ्रति ॥ २ ॥

घ्राण ही ग्रह है, वह गन्धरूप अतिग्रह से गृहीत है (अपान गंध का साथी है, इसीलिये यहाँ पर अपानशब्द से गन्ध को कहा गया है) क्योंकि अपान द्वारा लाये गये गन्धों को ही सम्पूर्ण लोक सूँघता है ॥२॥

तत्राऽऽह[2] । प्राणो वै ग्रहः प्राण इति घ्राणमुच्यते । प्रकरणात् । [3]वायुसहितः सः । अपानेनेति गन्धेनेत्येतत् । [5]अपानसचिवत्वादपानो गन्ध उच्यते । अपानोपहृतं हि गन्धं घ्राणेन सर्वो लोको जिघ्रति । [6]तदेतदुच्यतेऽपानेन हि गन्धाञ्जिघ्रतीति ॥२॥

[8]द्वितीये प्रश्ने परिहारमुत्थापयति—'तत्राऽऽहेति । प्राणशब्दस्य घ्राणविषयत्वे पूर्वोत्तरग्रन्थयोर्वागादीनां प्रकृतत्वं हेतुमाह—प्रकरणादिति । [9]तस्य गन्धेन गृहीतत्वसिद्ध्यर्थं विशिनष्टि—वायुसहित इति । अपानशब्दस्य गन्धविषयत्वे गन्धस्यापानेना[10]विनाभावं हेतुमाह—अपानेति । [11]तत्रैव हेत्वन्तरमाह—अपानोपहृत हीति । [12]अपश्वासोऽत्रापानशब्दार्थः । उक्तेऽर्थे वाक्यं [13]पातयति—तदेतदिति ॥२॥

सकती है । इसलिए कितने ग्रह हैं और कितने अतिग्रह है—ऐसा प्रश्न पूछा जाता है । इस पर याज्ञवल्क्य कहते हैं—आठ ग्रह हैं और आठ ही अतिग्रह है ।(आर्तभाग पूछता है–) वे जो सख्येय आठ ग्रह बतलाये गये, उनमे निश्चितस्वरूप से किन-किन को ग्रहण करना चाहिये ॥१॥

याज्ञवल्क्य इसका समाधान देते हैं । प्राण ही ग्रह है । प्राणशब्द से यहाँ घ्राणेन्द्रिय को लिया गया है क्योंकि उसी का प्रकरण भी चल रहा है । (अजहल्लक्षणा से) वह वायु के सहित है । "अपानेन" अर्थात् गन्ध से क्योंकि अपान का सहायक होने से अपान को गन्ध कहा जाता है । यह सारा ससार अपान से लाये गये गन्ध को ही घ्राणेन्द्रिय के द्वारा सूँघता है । इसी अर्थ को लेकर कहा है कि वह अपान से गन्ध को सूंघता है ॥२॥

१. अपानेनातिग्राहेणेति । इन्द्रियाणा ग्रहत्व तु गृह्णन्तीति व्युत्पत्त्या विषयाणामतिग्रहत्वमुक्त वार्तिके । तथाहि—"गन्धादिविषया धीस्थाः कर्मसबोधिता यतः । प्रयुज्यते हि घ्राणादीस्ततस्ते स्युरतिग्रहाः" ॥ १२ ॥ इति । बुद्धौ खल्वनादिवासनारूढा विषया. शुभाशुभेन कर्मणा प्रेरिताः स्वाकारधीसमुल्लासार्थं प्रेरयन्ति तथा च ते ग्रहानतिक्रम्य स्ववशमानयन्तीत्यतिग्रहा इति तदर्थ. । विषयाणामिन्द्रियप्रेरकत्वमनुभवसिद्धमिति हिशब्दार्थः । २. अतिग्राहेणेति—दैर्घ्यं छान्दसम् । ३. समाधानमिति शेषः । ४. अजहल्लक्षणाभिप्रायकमिदम् । ५. अपानसहायकत्वात् । ६. उक्तमर्थजातम् । ७. सख्येयविषये । ८. द्वितीये प्रश्ने । ९. घ्राणस्य । १०. अविनाभावमिति—नित्यसबद्धत्वमित्यर्थः । मिथो बद्धत्वमिति यावत् । ग्रहीतुरप्युपलक्षणमेतत् । तदुक्त वार्तिके—"ग्रहैर्गन्धादयो ग्रस्ता ग्रहाश्चाऽऽत्मा च गोचरैः." ॥ १० ॥ इति । ११. अपानशब्दस्य गन्धविषयत्व एव । १२. अपश्वासः अन्तर्मुखश्वासः । १३. योजयति ।

वाग्वै ग्रहः स नाम्नाऽतिग्राहेण गृहीतो वाचा हि नामान्यभिवदति ॥ ३ ॥
जिह्वा वै ग्रहः स रसेनातिग्राहेण गृहीतो जिह्वया हि रसान्विजानाति ॥ ४ ॥
चक्षुर्वै ग्रहः स रूपेणातिग्राहेण गृहीतश्चक्षुषा हि रूपाणि पश्यति ॥ ५ ॥
श्रोत्रं वै ग्रहः स शब्देनातिग्राहेण गृहीतः श्रोत्रेण हि शब्दाञ्शृणोति ॥ ६ ॥

वाक् ही ग्रह है, वह नामरूप अतिग्रह से गृहीत है क्योंकि प्राणी वाक् से ही नामो का उच्चारण करता है ॥३॥

जिह्वा ही ग्रह है, वह रसरूप अतिग्रह से गृहीत है क्योकि प्राणी जिह्वा से ही रसो का पृथक्-पृथक् विशेषरूप से जानता है ॥४॥

नेत्र ही ग्रह है, वह रूप अतिग्रह से गृहीत है क्योकि चक्षु से ही रूपो को देखता है ॥५॥

श्रोत्र ही ग्रह है, वह शब्दरूप अतिग्रह से पकडा हुआ है क्योकि प्राणी श्रोत्र से ही शब्दो को सुनता है ॥ ६ ॥

वाग्वै ग्रहः । वाचा ह्यध्यात्मपरिच्छिन्नयाऽऽसङ्गविषयास्पदयाऽसत्यानृतासभ्यबीभत्सादिवचनेषु व्यापृतया गृहीतो लोकोऽपहृतस्तेन वाग्ग्रहः स नाम्नाऽतिग्राहेण गृहीतः स वागाख्यो ग्रहो नाम्ना वक्तव्येन विषयेणातिग्रहेणातिग्राहेणेति दैर्घ्यं छान्दसं

वाचो ग्रहत्वमुपपादयति—वाचा हीति । आसङ्गस्य विषय शब्दादिरेवाऽऽस्पद यस्या वाचस्तयेति विग्रह । तत्सिद्धयर्थमध्यात्मपरिच्छिन्नयेति विशेषणम् । असत्य परपीडाकर मिथ्यावचन तदेव स्वदृष्टमात्रविरोध्यनृत विपरीतं वा । आदिपदेनेष्टानिष्टोक्तिग्रह । वाचि प्रकृतायां नाम्नेति कथमुच्यते तत्राऽऽह—स वागाख्य इति । वक्तव्येन वाचो वशीकृतत्व साधयति—वक्त-

---

वाक् ही ग्रह है । असत्य, अनृत, सभा के अयोग्य, घृणास्पद वचनो मे लगी हुई आसक्ति विषय की स्थानभूता शरीर के एक देश मे रहने वाली वाक् से ही ससार आकर्षित होता है । इसलिए (लोक को आकर्षित कर लेने से) वाक् ग्रह है । वह नामरूप अतिग्रह से आकर्षित होता है । वह वाक् नामक ग्रह "नाम्ना" अर्थात वक्तव्य विषयरूप अतिग्रह से गृहीत है । "अतिग्राहेण" मे दीर्घ आकार का प्रयोग

---

१ वक्तव्येन विषयेण । २ हि यस्माल्लोको नामव्याप्तविषयावच्छिन्नया वाचा शब्दानुच्चारयति । ३ शरीरैकदेशवर्तिन्या । ४ सभानर्हं । ५ घृणाकर । ६ आकर्षित । ७ लोकाकर्षकत्वेन । ८ विषय । ९ आसङ्गविषयास्पदत्वसिद्धयर्थम् । १० मात्रेति—परपीडाव्यावृत्ता । ११ परेत्याद्युक्तमनृतम् स्वेत्याद्युक्तमसत्यमित्यर्थ । १२ पुस्त्वेनेति शेष ।

मनो वै ग्रहः स कामेनातिग्राहेण गृहीतो मनसा हि कामान्कामयते ॥ ७ ॥
हस्तौ वै ग्रहः स कर्मणाऽतिग्राहेण गृहीतो हस्ताभ्या७ हि कर्म करोति ॥ ८ ॥
त्वग्वै ग्रहः स स्पर्शेनातिग्राहेण गृहीतस्त्वचा हि स्पर्शान्वेदयत इत्येतेऽष्टौ ग्रहा अष्टावतिग्रहाः ॥ ९ ॥

मन ही ग्रह है, वह कामरूप अतिग्रह से गृहीत है क्योंकि प्राणी मन से ही भोगों की कामना करता है ॥ ७ ॥

हस्त ही ग्रह है, वह कर्मरूप अतिग्रह से गृहीत है क्योंकि हाथों से ही प्राणी कर्म करता है ॥८॥

त्वचा ही ग्रह है, वह स्पर्शरूप अतिग्रह से गृहीत है क्योंकि त्वचा से ही स्पर्शों को प्राणी जानता है। इस प्रकार त्वक्पर्यन्त ये आठ ग्रह हैं और स्पर्शपर्यन्त ये आठ अतिग्रह हैं। उक्त मन्त्रों में "अतिग्राहेण" यहाँ पर छान्दस दीर्घ समझना चाहिये ॥ ९ ॥

'वक्तव्यार्था 'हि वाक्तेन वक्तव्येनार्थेन तादर्थ्येन प्रयुक्ता वाक्तेन वशीकृता तेन तत्कार्यम-कृत्वा नैव तस्या मोक्षः। 'अतो नाम्नाऽतिग्राहेण गृहीता वागित्युच्यते। वक्तव्यासङ्गेन हि प्रवृत्ता सर्वानर्थैर्युज्यते। समानमन्यत्। इत्येते त्वक्पर्यन्ता अष्टौ ग्रहाः स्पर्शपर्यन्ताश्चैते-

---

व्यार्थेति। तादर्थ्येन वचनकरणत्वेनेति यावत्। वचनार्थं वाचो वक्तव्येन वशीकृतत्वे फलितमाह—तेनेति। तत्कार्यं वचनं मोक्षश्चा'साधारणे 'देवतात्मनि पर्यवसानम्। वक्तव्यार्थोक्तिं विना वाचोऽपर्यवसाने सिद्धमर्थमाह—अत इति। वाचोऽतिग्रहगृहीतत्वमनुभवेन साधयति--वक्तव्येति। वाचा हीत्यादेरपानेन हीत्यादिना तुल्यार्थत्वाद्व्याख्येयत्वमाह—समानमिति। प्राणो वाग्जिह्वा चक्षुः श्रोत्रं मनो हस्तौ त्वगित्युक्तान्ग्रहाांनिगमयति—इत्येत इति। गन्धो नाम रसो रूपं शब्दः कामः कर्म स्पर्शं

छान्दस है। क्योंकि वाक् वक्तव्य विषय के लिए होती है; इसलिये उस वक्तव्य अर्थ से उसी के लिए प्रयुक्त की जाने वाली वाक् उसी के वशीभूत है, इसलिये उस कार्य को किये बिना उसका मोक्ष सम्भव नहीं है। इसी से श्रुति कहती है-वाक् नामरूप अतिग्रह से गृहीत है। वक्तव्य की आसक्ति से प्रयुक्त होने पर ही वह समस्त अनर्थों से युक्त होती है। यहाँ से आगे के नवम मन्त्र तक का अर्थ इसी प्रकार है।

---

१. वक्तव्यार्थेति—वक्तव्याय वाच्यार्थायेयमिति विग्रहः। यद्वा वक्तव्यो वचनार्होऽर्थो विषयो यस्याः सा। वक्तव्येन विषयेण अर्थ्यते करणविषयाऽपेक्ष्यत इति वा। २. यत। ३ अत—तत्कार्यकरणमन्तरा मोक्षासम्भवात्। ४. असाधारण इत्यादि—अध्यात्मपरिच्छेदपरित्यागपुरःसरं स्वीयाऽध्यात्मकाधिदैवस्वरूपे तादात्म्यमित्यर्थः। ५. देवतात्मनि पर्यवसानमिति—तथा च देवतात्मनि पर्यवसितापि करोत्येव वचनमेव च देवतात्मनोऽपि न ग्रहातिग्रहमुक्तत्वमिति भावः।

याज्ञवल्क्येति होवाच यदिदꣳ सर्वं मृत्योरन्नं का स्वित्सा देवता यस्या मृत्युरन्नमित्यग्निर्वै मृत्युः सोऽपामन्नमप पुनर्मृत्युं जयति ॥ १० ॥

हे याज्ञवल्क्य ! ऐसा आर्तभाग ने कहा—यह जो कुछ भी व्याकृत जगत् है, वह सब मृत्यु का अन्न है।पर जिसका अन्न मृत्यु भी है, ऐसा देवता कौन है? (याज्ञवल्क्य ने कहा—) अग्नि ही मृत्यु है, वह अग्निरूप मृत्यु जल का खाद्य है (वह जल मृत्यु का भी मृत्यु है, इस प्रकार के ज्ञान से) पुरुष पुनर्मृत्यु को जीत लेता है ॥१०॥

ऽष्टावतिग्रहा इति ॥ ३ ॥ ४ ॥ ५ ॥ ६ ॥ ७ ॥ ८ ॥ ९ ॥

'उपसंहृतेषु ग्रहातिग्रहेष्वाह पुनः—याज्ञवल्क्येति होवाच । यदिदं सर्वं मृत्योरन्नं यदिदं 'व्याकृतं सर्वं मृत्योरन्नं सर्वं जायते विपद्यते च ग्रहातिग्रहलक्षणेन मृत्युना ग्रस्तम्'। का स्वित्का नु 'स्यात्सा देवता यस्या देवताया मृत्युरप्यन्नं भवेत् "मृत्युर्यस्योपसेचनम्" इति श्रुत्यन्तरात् । अयमभिप्रायः प्रष्टुर्यदि मृत्योर्मृत्युं वक्ष्यत्यनवस्था स्यात् । अथ न वक्ष्यत्यस्माद्ग्रहातिग्रहलक्षणान्मृत्योर्मोक्षो नोपपद्यते । ग्रहातिग्रहमृत्युविनाशे हि मोक्षः

इत्यतिग्रहानपि निगमयति—स्पर्शपर्यन्ताश्चेति ॥ ३ ॥ ४ ॥ ५ ॥ ६ ॥ ७ ॥ ८ ॥ ९ ॥

प्रतीकमादाय व्याचष्टे—यदिदमिति । यदिदं व्याकृत जगत्सर्वं मृत्योरन्नमिति योजना । तस्य तदन्नत्वं साधयति—सर्वमिति । मृत्योरन्नत्वसंभावनाया श्रुत्यन्तरं सवादयति—मृत्युरिति । मृत्योर्मृत्यु'मधिकृत्य प्रश्नस्य कण्टदन्तनिरूपणवदप्रयोजनत्वमाशङ्क्याऽऽह—अयमिति । सत्येव ग्रहातिग्रहलक्षणे मृत्यौ मोक्षो भविष्यतीति चेन्नेत्याह—ग्रहेति । अस्तु तर्हि ग्रहातिग्रहनाशे मुक्तिरित्यत आह

इस प्रकार से त्वक्पर्यन्त आठ ग्रह है और स्पर्शपर्यन्त आठ अतिग्रह है ॥३॥४॥५॥६॥७॥८॥९॥

ग्रह और अतिग्रहो का निष्कर्ष हो जाने पर आर्तभाग ने फिर पूछा। "हे याज्ञवल्क्य" इस प्रकार सम्बोधन कर कहा—"यदिद सर्वं मृत्योरन्न" यह जो कुछ भी दृश्यमान कार्यात्मक जगत् है, सभी मृत्यु का भोजन है क्योकि ग्रह-अतिग्रहरूप मृत्यु से ग्रस्त होकर उत्पत्ति और नाश को प्राप्त होता रहता है। वह देवता कौन है, जिस देवता का मृत्यु भी भोजन है? "(जिस आत्मा को ब्राह्मण और क्षत्रिय, ये दोनो भात है) तथा मृत्यु जिसके शाकादि है, (वह जहाँ है, उसे कौन इस प्रकार जान सकता है) ऐसा कठश्रुति मे भी प्रतिपादित किया गया है। पूछने वाले का अभिप्राय यह है—यदि मृत्यु का भी मृत्यु बतलाते हो तो फिर अनवस्था दोष हो जायगा और यदि ऐसा नही बतलाओगे तो ग्रहाति-

---

१. एव ग्रहातिग्रहान् मुक्त्यतिमुक्तिप्रतियोगिभूतान् बन्धनाख्यानभिधायदानीमतिमुक्तित्वे नोक्तस्य ज्ञानकर्मफलभूतस्यापि सूत्रपदस्य पूर्वोक्तरीत्या वागाद्यात्मकाग्न्याद्यभिन्नत्वेन ग्रहातिग्रहरूपमृत्य्वात्मकत्वात्ततोऽप्यतिमुक्त्यर्थं तन्मारक मृत्य्वन्तर पृच्छतीत्यभिप्रायेणाह—उपसहृतेष्विति । २ कार्यम् । ३ स्यादिति—अत्र वार्तिकम्—"योऽस्य मृत्युरिह प्रोक्तो मृत्युस्तस्यापि चापर । अस्ति नास्तीति वा ब्रूहि याज्ञवल्क्य यथातथम्" ॥ १३ ॥ इति । ४. निरूपणीयत्वेनोद्दिश्य ।

स्यात् । 'स यदि मृत्योरपि मृत्युः स्या'द्भवेद्ग्रहातिग्रहलक्षणस्य मृत्योर्विनाशः । अतो 'दुर्वचनं प्रश्नं मन्वानः पृच्छति का स्वित्सा देवतेति । अस्ति तावन्मृत्योर्मृत्युः । नन्वनवस्था स्यात्तस्याप्यन्यो मृत्युरिति । नानवस्था । सर्वमृत्योर्मृत्यवन्तरानुपपत्तेः । कथं पुनरवगम्यतेऽस्ति मृत्योर्मृत्युरिति । दृष्टत्वात् । अग्निस्तावत्सर्वस्य दृष्टो मृत्युर्विनाशकत्वात् । सोऽद्भिर्भक्ष्यते *'सोऽग्निरपामन्नम् । गृहाण तर्ह्यस्ति मृत्योर्मृत्युरिति । तेन सर्वं

'—स यदीति । न च मृत्योर्मृत्युरस्त्यनवस्थानादित्युक्तमिति भावः । पक्षेऽनवस्थानात्पक्षे चामुक्तेरित्यतःशब्दार्थः । अस्तिपक्षं परिगृह्णाति—अस्ति तावदिति । मृत्योर्मृत्युर्ब्रह्मात्मसाक्षात्कारो विवक्षितस्तस्याप्यन्यो मृत्युरस्ति चेदनवस्था नास्ति चेत्तद्वत्वज्ञानस्यापि स्थितेरमुक्तिरिति शङ्कते—नन्विति । तत्रास्तिपक्षं परिगृह्य परिहरति—नानवस्थेति । 'यथोक्तस्य मृत्योः 'स्वपरविरोधित्वान्न किंचिदवद्यमित्यर्थः । 'उक्तं पक्षं प्रश्नद्वारा प्रमाणारूढं करोति—कथमिति । दृष्टत्व स्पष्टयति—अग्निस्तावदिति । दृष्टत्वफलमाचष्टे—गृहाणेति । "तस्य कार्यं कथयति—तेनेति । अप पुनर्मृत्युं जयतीत्यस्य पातनिका

ग्रहलक्षण मृत्यु से मुक्ति होनी सभव नही होगी । ग्रह और अतिग्रहरूप मृत्यु का नाश होने पर ही तो मोक्ष होगा । उस लोकप्रसिद्ध मृत्यु की भी यदि मृत्यु होगी तो ग्रहातिग्रहरूप मृत्यु का भी विनाश होगा, इसलिए इसका उत्तर मिलना कठिन समझ कर आर्तभाग प्रश्न पूछता है कि वह देवता कौन है । तो ऐसा मान लें कि मृत्यु का मृत्यु है । (पूर्ववादी आक्षेप करता है—) किन्तु ऐसा मानने पर फिर 'उस मृत्यु का भी मृत्यु होगा, इस प्रकार अनवस्था दोष हो जायगा । (सिद्धान्ती समाधान करता है—) अनवस्था दोष होना सभव नही है क्योंकि जो सब का मृत्यु है, उसके लिए किसी दूसरी मृत्यु का होना सभव नही है । (इस पर पूर्ववादी कहता है—) तो फिर यह कैसे समझते हो कि मृत्यु का मृत्यु भी

१. प्रसिद्ध. कश्चित् । २. तर्हि । ३. दुष्प्रतिवचनम् । ४. सोऽग्निरपामन्नमिति । यद्वा अग्निर्हिरण्यगर्भः आपस्तु तत्कारणमव्याकृतम् । अग्निर्वा सर्वा देवता, आपो वा इदम् (अग्रे) आसन्निति च श्रुतेः एवं मृत्योरपि मृत्युर्दृष्टः । तद्वत्सर्वमृत्यु ब्रह्मसाक्षात्कारश्चरमान्तःकरणवृत्तिरूपः कतकरेणुवत् स्वपरविरोधिभूतो वर्ततेऽतो नानवस्थेति भाव. । ५. नाशकत्वसाम्यात् । ६. परम्परया । ७. साक्षात्कारलक्षणस्य । ८. स्वपरविरोधित्वादिति—उक्तसाक्षात्कारः सर्वं द्वैतजातं दग्ध्वा निरिन्धनाग्निवत् स्वयमेव दाहकान्तरनिरपेक्षः शाम्यतीति नानवस्थेति भावः । ९. अस्तिपक्षम् । १०. साक्षात्कारलक्षणस्य मृत्यो. ।

*सोऽग्निरपामन्नमिति । अस्य वाक्यस्यार्थमित्थमाहुर्वार्तिकाचार्याः—"अग्निर्हिरण्यगर्भो वा ह्यापस्तत्कारणं मताः । कार्याणां मारणान्मृत्युः कारणं प्रथितं भुवि ॥ प्रत्यग्याथात्म्यविज्ञानं मृत्युरज्ञानरूपिणः । संसारहेतोर्मृत्योः स्यात्तत्रापीहास्त्यनवस्थितिः ॥ निरुणद्धि यथा जन्म तन्नाशमपि तत्तथा । प्रत्यग्याथात्म्यविज्ञाने नानवस्थाऽप्यतो भवेत् ॥ अन्येऽस्तो मृत्यवो गौणास्तैर्मृतौ स्यात्पुनर्जनिः । प्राक्तनान्यपि जन्मानि सम्यग्ज्ञानं तु हन्ति नः ॥ यथोक्त एव व्याख्याने युक्तेयं स्यात्फलश्रुतिः । न तु निःशेषसंसारविध्वंसिन्यात्मबोधने" ॥ १८-२२ ॥ इति । अपां हिरण्यगर्भं प्रति कारणत्वमप एव ससर्जाऽऽदौ तासु वीर्यमवासृजदित्यादौ प्रसिद्धमिति हिशब्दार्थः । सूत्राव्याकृतयोर्मृत्युत्वे हेतुमाह—कार्याणामिति । यद्वा भवत्वव्याकृताख्यानामपां सूत्राख्यहिरण्यगर्भं प्रति कारणत्व तथाऽपि कथ तन्मृत्युत्वमित्याशङ्क्याऽऽह—कार्याणामिति ॥ अव्याकृतस्य मृत्युरस्ति चेदनवस्था नास्ति चेद-

याज्ञवल्क्येति होवाच यत्रायं पुरुषो म्रियत उदस्मा-

हे याज्ञवल्क्य ! ऐसा आर्तभाग ने कहा— जब वह मनुष्य मरता है, तब उस ब्रह्मवेत्ता के

ग्रहातिग्रहजातं भक्ष्यते मृत्योर्मृत्युना । [1]तस्मिन्बन्धने नाशिते मृत्युना भक्षिते संसारान्मोक्ष उपपन्नो भवति । बन्धनं हि ग्रहातिग्रहलक्षणमुक्तं तस्मात्त्र मोक्ष उपपद्यत इत्येतत्प्रसाधितम् । [2]अतो बन्धमोक्षाय पुरुषप्रयासः सफलो भवत्यतो[3]ऽपजयति पुनर्मृत्युम् ॥ १० ॥

[4]परेण मृत्युना [5]मृत्यौ भक्षिते परमात्मदर्शनेन योऽसौ मुक्तो विद्वान्सोऽयं पुरुषो

करोति—तस्मिन्निति । उक्तमेव व्यक्ती करोति—बन्धन हीति । प्रसाधितं मृत्योरपि मृत्युरस्तीति प्रदर्शनेनेति शेषः । मोक्षोपपत्तौ फलितमाह—अत इति । पुरुषप्रयासः शमादिपूर्वकश्रवणादिः । तत्फलस्य ज्ञानस्य फलं दर्शयन्वाक्यं योजयति—अत इति । ज्ञानं पञ्चम्यर्थः ॥१०॥

सम्यग्ज्ञानस्यापि पुनर्मृत्युं जयतीत्युक्तं फलं विशदीकर्तुं प्रश्नान्तरमुत्थापयति—परेणेति ।

है । (उक्त आक्षेप का परिहार किया जाता है—)क्योंकि ऐसे देखा जाता है । विनाशकारी स्वभाव वाला होने के कारण अग्नि को सबका मृत्युरूप देखा जाता है । उस अग्नि को जल खा जाता है, इसलिए वह अग्नि जल का खाद्य है । इसलिए स्वीकार कर लो कि मृत्यु का भी मृत्यु है । इसलिए मृत्यु के मृत्यु द्वारा यह सभी ग्रहातिग्रहसमूह भक्षण कर लिया जाता है । उस ग्रहातिग्रहलक्षण बन्धन के नाश होने पर, मृत्यु द्वारा उसको भक्षण कर लिए जाने पर संसार से मोक्ष सिद्ध हो जाता है । बन्धन तो ग्रहातिग्रहसंज्ञक कहा गया है, उससे मोक्ष होना सम्भव है; इस बात की निष्पत्ति हो गयी है । इसलिए (मोक्ष के सम्भव होने से) उस बन्धन की मुक्ति के लिए पुरुष का प्रयास सफल होता है । अतः वह मरण को निरस्कृत कर देता है (उसके लिए पुनः उत्पत्ति नहीं होता) ॥१०॥

परमात्मदर्शन से मुख्य मृत्यु द्वारा ग्रहातिग्रहरूप बन्ध के नष्ट हो जाने पर जो "अयं पुरुषः"

१. ग्रहातिग्रहलक्षणे । २. मोक्षस्य सम्भवात् । ३. अपजयतीति— ब्रह्मसाक्षात्कारेण मृत्युना ग्रहादिविलाससहितानाद्यज्ञानमृत्यौ विनाशिते सति विद्वान् पुनर्मृत्युं मरणमपजयति तिरस्करोति तदर्थं पुनर्नैवोत्पद्यत इत्यर्थः । ४. मुख्येन । ५. ग्रहातिग्रहलक्षणे बन्धे विनाशित सति ।

निर्मुक्तिरितिचोद्यतादवस्थ्यमाशङ्क्याऽऽह—प्रत्यगिति । यद्यपि ज्ञानमज्ञानं तत्कार्यं स्वात्मानं च निवर्तयति तथाऽपि निवृत्तेरात्मनोऽर्थान्तरत्वान्निवर्तकान्तरापेक्षेति तदवस्थाऽनवस्थेत्याशङ्क्याऽऽह—निरुणद्धीति । तद्विज्ञानं सर्वजन्मनाशादि सनिदानं बन्धनमात्मतया निवर्तयन्निवृत्तिमपि तन्मात्रमापादयतीति नानवस्थेत्यर्थः ॥ सूत्रमव्याकृतं तत्त्वधीर्यमादयश्चेति मृत्यूनां भेदादेकस्य शब्दस्यानेकार्थत्वमन्याय्यमित्याशङ्क्याऽऽह—अन्य इति । तेषां गौणमृत्युत्वे हेतुमाह—तैरिति । सम्यग्धियो मुख्यमृत्युत्वे युक्तिमाह—प्राक्तनानीति । कालत्रयवर्तिनामपि जन्मनां तन्निदाननिरासेन निरासाद्युक्तं सम्यग्धियो मुख्यमृत्युत्वमित्यर्थः ॥ ज्ञानपदमध्याहृत्य कुतो व्याख्यायतेऽध्याहारप्रापकाभावादित्याशङ्क्याऽऽह पुनरित्यादिफलश्रुतिस्तत्प्रापिकेत्याह—यथेति । ज्ञानपदमध्याहृत्य व्याख्यायामेव सा युक्तेत्यत्र हेतुमाह—न त्विति । एवंविधात्मबोधे सति यतो नास्ति मृत्युरतो युक्ता फलश्रुतिरित्यर्थः । यद्वा यथाश्रुतव्याख्याने ज्ञानपदाभावादयुक्तैव फलश्रुतिः स्यादिति पूर्वार्धार्थः । त्वत्पक्षे वा कथं तदुपपत्तिरित्याशङ्क्याऽऽह—न त्विति । उक्तात्मबोधेऽध्याहृते फलश्रुतिर्नायुक्ता सति तस्मिन्मृत्य्वन्तराभावादित्यर्थः ॥

त्प्राणाः क्रामन्त्याहो३ नेति नेति होवाच याज्ञवल्क्यो-ऽत्रैव समवनीयन्ते स उच्छ्वयत्याध्मायत्याध्मातो मृतः शेते ॥ ११ ॥

वागादि प्राणों का उत्क्रमण होता है या नहीं ? याज्ञवल्क्य ने कहा नहीं, ऐसा सर्वथा नहीं होता। तत्त्वज्ञानी के प्राण इस परमात्मा में ही एकीभाव को प्राप्त हो जाते हैं। जैसे—समुद्र में तरगें, (सर्व साधारण प्राणी के समान वह भी मरता तो है किन्तु उसका पुनर्जन्म नहीं होता है। अतएव सर्व-सामान्य मृत प्राणी के समान) वह फूल जाता है, धौंकनी के समान अर्थात् वायु को भीतर खीचता है और वायु से पूर्ण हुआ ही मरकर पड़ा रहता है ॥११॥

यत्र [1]यस्मिन्काले म्रियत उदूर्ध्वमस्माद्ब्रह्मविदो म्रियमाणात्प्राणा वागादयो ग्रहा नामादयश्चातिग्रहा वासनारूपा अन्तस्था: [2]प्रयोजकाः क्रामन्त्यूर्ध्वमुत्क्रामन्त्या[3]होस्विन्नेति। नेति होवाच याज्ञवल्क्यो [4]नोत्क्रामन्त्यत्रैवास्मिन्नेव परेणाऽऽत्मना[5]ऽविभागं [6]गच्छन्ति विदुषि कार्याणि करणानि च स्वयोनौ परब्रह्म[7]सतत्त्वे समवनीयन्त एकीभावेन समव-

परेण मृत्युना परमात्मदर्शनेनेति संबन्धः। ग्रहातिग्रहलक्षणो बन्धः सप्तम्यर्थः। ग्रहशब्देन [8]प्रयोज्य-राशिर्गृहीतः। नामादीनां स्थूलानां बहिष्ठत्वेन [9]स्वरसतस्त्यक्तत्वात्कथं तदुत्क्रान्तिः पृच्छ्यते तत्राऽऽह—वासनारूपा इति। तेषामनुत्क्रान्तौ मुक्त्यसंभवं सूचयति—प्रयोजका इति। "उत्क्रान्तिपक्षे ध्रुवं जन्म मृतस्य चेति न्यायात्पुनरुत्पत्तिः स्यादनुत्क्रान्तिपक्षे मरणप्रसिद्धिर्विरुध्येतेति" भावः। द्वितीयं पक्षं[10] परिहरति—नेति होवाचेत्यादिना। कार्याणि करणानि च सर्वाणि परेणाऽऽत्मना सहाविभागं गच्छन्ति सन्त्यस्मिन्नेव विदुषि समवनीयन्त इति संबन्धः। तेषां विदुषि विलये हेतुमाह—स्वयोना-

अर्थात् यह मुक्त हुआ विद्वान् है, वह "यत्र" अर्थात् प्रारब्धकर्म के अवसान होने के अवसर पर जब मरता है; उस समय "अस्मात्" इस म्रियमाण ब्रह्मवेत्ता के 'प्राणाः" अर्थात् वागादि ग्रह और नामादि अतिग्रह वासनारूप अन्त स्थित इन्द्रियों के प्रेरयिता प्राण "उत् क्रामन्ति" अर्थात् ऊर्ध्व उत्क्रमण करते

१. प्रारब्धकर्मावसानावसरे। २. प्रयोजका इति—इन्द्रियाणां प्रेरयितार इत्यर्थः। प्रयोजकं सद्भावे प्रयो-ज्योत्क्रमासंभवात् (तत्संभवेऽपि) अतिग्रहाणां सत्त्वाच्च मुक्त्यसंभव इति भाव.। ३. आहो३स्विन्नेति। 'विचार्यमाणानाम्' पा० अ० ८।२।९७ वाक्यानां टेः प्लुत इति प्लुत इति प्लुतिर्द्रष्टव्या। ४. नोत्क्रामन्तीति—याज्ञवल्क्य उवाचेति संबन्धः। ५. अभेदम्। ६. सन्ति। ७. स्वरूपे। ८. प्रयोज्येति—विषयैः प्रयोज्यः प्रेर्यमाणो नियोज्य इति यावत् तादृशो यः करणराशिरित्यर्थः। ९. स्वभावतः। १०. प्रष्टुराश-यमाह—उदिति। ११. इति भाव इति। अत्र वार्तिके यथा—"उत्क्रान्तौ स्यादनिर्मोक्षो जन्मार्थं मरणं यतः। अमृतिश्चाप्यनुत्क्रान्तौ सत्सु प्राणेषु का मृतिरिति" ॥२५॥ उत्क्रान्ताविति—जातस्य हीत्यादिस्मृतेरिति भावः। द्वितीये मृतिप्रतीतिविरोधमाह—अमृतिश्चेति ॥ "दुःशकोत्तरमित्येव प्रश्नं मत्वाऽन्वपृच्छत। आर्तभागो मुनि-विद्वान्स च नेति तमब्रवीत्" ॥२६॥ अल्पवृत्ति सूचयितुं विद्वानिति प्रष्टुर्विशेषणम्। प्रतिवचनमवतारयति—स चेति ॥ १२. परिगृह्य।

सृज्यन्ते प्रलीयन्त इत्यर्थः । ऊर्मय इव समुद्रे । तथा च श्रुत्यन्तरं कलाशब्दवाच्यानां प्राणानां परस्मिन्नात्मनि प्रलयं दर्शयति—'एवमेवास्य परिद्रष्टुरिमाः षोडश कलाः 'पुरुषायणाः पुरुषं प्राप्यास्तं गच्छन्तीति । 'इति परेणाऽऽत्मनाऽविभागं गच्छन्तीति 'दर्शितम् । 'न तर्हि मृतो 'नहि मृतश्चायं' यस्मात्स' उच्छ्वयत्युच्छूनतां प्रतिपद्यत आध्मायति बाह्येन वायुना पूर्यते दृतिवदाध्मातो 'मृतः शेते निश्चेष्टः । "बन्धननाशे "मुक्तस्य न क्वचिद्गमनमिति वाक्यार्थः ॥ ११ ॥

विति । विद्वानेव हि "पूर्वमविद्यया तेषां योनिरासीत्तस्मिन्विद्यावदशायां तद्ध्वस्ताविद्यायामपनीतायां परिपूर्णे तत्त्वे तेषां "पर्यवसानं संभवतीत्यर्थः । कारणे कार्याणां प्रविलये दृष्टान्तमाह—ऊर्मय इति । प्राणादीनां "कारणसंसर्गाद्वयो लयश्चेत्पुनरुत्पत्तिः स्यादित्याशङ्क्य ज्ञाने सत्यज्ञानध्वंसान्नैवमित्यभिप्रेत्याऽऽह—तथा चेति । सविषयाण्येकादशेन्द्रियाणि धात्वश्च पञ्चेति षोडश कलास्तासां "स्वातन्त्र्यमाश्रयान्तरं च वारयति—पुरुषायणा इति । तासां निवृत्तिश्च पुरुषव्यतिरेकेण नास्तीति सूचयति—पुरुषं प्राप्येति । प्राणाश्चेन्नोत्क्रामन्ति तर्हि मृतो न भवतीति" "प्रतीतिविरोधं शङ्कित्वा "परिहरति—न तर्हीत्यादिना । दृतिशब्दो भस्त्राविषयः । प्रकृतं वाक्यं प्रत्यक्षसिद्धदेहमरणानुवादकमित्यभिप्रेत्याऽऽह—बन्धनेति ॥११॥

है अथवा नहीं । इस पर याज्ञवल्क्य ने कहा—(उस विद्वान् के प्राण) उत्क्रमण नहीं करते । "अत्रैव" अर्थात् कार्य और करण सभी परब्रह्म से अभेद को प्राप्त हो जाते हैं एवं इसी विद्वान् की स्वप्रकृति परब्रह्मस्वरूप में "समवनीयन्ते" एकीभाव से समर्पित या प्रलीन हो जाते हैं; जिस प्रकार समुद्र में तरङ्गें उठकर उसी में लीन हो जाती हैं । तथा अन्य श्रुति भी कलाशब्दवाच्य प्राणों का परब्रह्मस्वरूप में लय होना प्रदर्शित करती है—"(जैसे समुद्र की ओर प्रवाहित होने वाली ये नदियाँ समुद्र में पहुँचकर लीन हो जाती हैं अर्थात् उनके नाम-रूप नष्ट हो जाते हैं और वे "समुद्र" ऐसा कहकर पुकारी जाती है) इसी प्रकार इस सर्वद्रष्टा की, पुरुष के आश्रित रहने वाली एकादशेन्द्रिय एवं मनसहित ये सोलह कलाएँ उस पुरुष को प्राप्त कर विलीन हो जाती हैं" । इस प्रकार प्राण परब्रह्म से अभेद को प्राप्त हो जाते हैं—ऐसा कहा गया । विद्वान् के प्राणों के उत्क्रमण न होने से वह मरता ही न हो—ऐसी बात नहीं है । यह शरीर प्राणसंसर्गशून्य होता है क्योंकि वह मुक्तदेह "उच्छ्वयति", अर्थात् फूल जाता है, "आध्मायति" अर्थात् वह धौंकनी के समान शरीर को बाहरी वायु से आपूरित करता है, प्राण संसर्गशून्य होकर यह शरीर निश्चेष्ट सो जाता है (इससे देह का ही मरण सिद्ध होता है) । करणसंघात लिङ्ग के नाश होने पर करणसंघातशून्य मुक्त पुरुष का कहीं गमन बनता नहीं—यही इस श्रुतिवाक्य का अर्थ है ॥११॥

---

१. प्रलयमेव । २. पुरुषाधिष्ठानकाः । ३. इति प्रलयदर्शनाद्धेतो । ४. उक्तम् । ५. न तर्हि मृत इति शङ्कां परिहरति । ६. नहि इति यदुक्तं तन्नेत्यर्थः । ७. देहः । ८. मुक्तदेहः । ९. मृतः प्राणसंसर्गशून्यः अतएव निश्चेष्टः शेते अतो देहस्यैव मरणमित्यर्थः । १०. करणसंघातलिङ्गनाशे । ११. करणसंघातशून्यस्य । १२. विद्यातः । १३. प्रलयः । १४. कारणे सत्कारात्मनाऽवस्थानरूपः । १५. आश्रयनिरपेक्षत्वम् । १६. इति मरणाभावात् । १७. मरणप्रतीतिरिति यावत् । १८. मरणप्रतीतेर्देहविषयत्वेन ।

तदा पुरुषो भवतीत्याहर सोम्य हस्तमार्तभागाऽऽवामे-
वैतस्य वेदिष्यावो न नावेतत्सजन इति। तौ होत्क्रम्य
मन्त्रयांचक्राते तौ ह यदूचतुः कर्म हैव तदूचतुरथ

शुक्र-शोणित जल में स्थित हो जाते हैं, तब वह पुरुष कहाँ रहता है ? याज्ञवल्क्य ने कहा—हे प्रिय-दर्शन आर्तभाग ! तुम मुझे अपना हाथ पकडाओ, हम दोनों ही इस प्रश्न का उत्तर समझेंगे । यह प्रश्न जनसमुदाय मे निर्णय करने योग्य नही है। उसके बाद उन दोनों ने उठकर एकान्त में

मृत्युरूपं तस्य यत्प्रयोजकं¹ तत्स्वरूपनिर्धारणार्थमिदमारभ्यते । याज्ञवल्क्येति होवाच । अत्र केचिद्वर्णयन्ति ग्रहातिग्रहस्य सप्रयोजकस्य² विनाशेऽपि किल न मुच्यते³ । नामाव-शिष्टोऽविद्यो⁴परस्थानीयया स्वात्मप्रभवया परमात्मनः⁶ परिच्छिन्नो भोज्याच्च जगतो व्यावृत्त⁸ उच्छिन्नकामकर्मान्तराले व्यवतिष्ठते⁵ । तस्य⁹ परमात्मैकत्वदर्शनेन द्वैतदर्शनमपने-

---

वाक्यस्य स्वव्याख्यामुक्त्वा यत्रेत्यादेस्तात्पर्यं चोक्तम् । इदानीं भर्तृप्रपञ्च¹¹प्रस्थानमुत्थापयति—अत्रेति । किमेनमित्यावाविति यावत् । समुच्चयानुष्ठानाद्¹²देहयोः सप्रयोजकयोर्नाशेऽपि पुंसो मुक्तिर्न चेत्तर्हि तस्य ¹³बद्धत्वायोगात्कामसौ दशामवलम्बतामित्याशङ्क्याऽऽह—नामावशिष्ट इति । क्षितेरुपर-वदवस्थितात्माविद्यया परस्मात्परिच्छिन्नश्चेदात्मा तर्हि ¹⁴बन्धपक्षस्यैव स्यान्नतु भोज्याज्जगतो व्या-वृत्तिरित्याशङ्क्याऽऽह—उच्छिन्नेति । सर्वस्य कर्मादिफलस्य ¹⁵सूत्रात्मनः समुच्चयासादितस्य भोगाद-प्राप्तार्थाभावात्कामासिद्धया ¹⁶कर्माभावात्प्रयोजकराशेरुच्छित्तिरित्यर्थः । किमेनमित्यादा¹⁷वन्तराला-वस्थस्य ¹⁸विद्याधिकारिणो निर्धारणात्तदपेक्षितविद्याशेषत्वेनोपस्तप्रश्नादेरारम्भं संभावयति—¹⁹तस्येति ।

ग्रहातिग्रहरूप बन्धनों की यही जीव दशा मे ही प्रलीन होने का नाम है। वह जो ग्रहातिग्रहसंज्ञक मृत्युरूप बन्धन है, उसके प्रापक का स्वरूप निश्चय करने के लिए यह अग्रिम मन्त्र "याज्ञवल्क्य होवाच" प्रारम्भ किया जाता है। यहाँ (ज्ञानकर्मसमुच्चयवादी भर्तृप्रपञ्च आदि) कुछ दार्शनिक इस प्रकार भी कहते है कि अविद्याकामकर्मादि प्रयोजको सहित ग्रहातिग्रहरूप बन्धन का नाश हो जाने पर भी विद्वान् की ससार से मुक्ति नही होती। आत्मोत्पन्न ऊषरस्थानीया अविद्या के द्वारा परमात्मा से परिच्छिन्न और भोज्य जगत् से रहित नाममात्र अवशिष्ट वह विद्वान् अविद्या काम-कर्मों के नाश हो जाने पर अन्तराल अवस्था में ही रहता है। उस विद्याधिकारी की द्वैत बुद्धि को ब्रह्मात्मैकत्वदर्शन से दूर करना

---

१. प्रापकम् । २. कामकर्मादिसहितस्य । ३. विद्वान् ससारादिति शेषः । ४. नामविशिष्टोऽन्तराले । ५. व्यवतिष्ठत इति सम्बन्धः । अन्तरालावस्था स्पष्टयति । ६. अविद्ययेति (आत्मोत्पन्नयेति यावत्) । अत्रत्यं रहस्यम् ५५५पृष्ठे द्रष्टव्यम् । ७. सकाशात् । ८. व्यावृत्तः पृथक्कृतः । ९. रहित इति यावत् । १०. विद्याधिकारिणः । ११. मत व्याख्यानमिति यावत् । १२. स्थूलसूक्ष्मदेहयोः । १३. बन्धप्रयोजक-देहादिनाशादिति भावः । १४. बन्धाश्रयसमुदायान्तर्गतः बद्ध इति यावत् । १५. सूत्रपदस्येति यावत् । १६. कर्म—उपासना पूर्वप्रज्ञा (वासना) चेति प्रयोजकराशिः । १७. वाक्ये । १८. ब्रह्मविद्येति भावः । १९. अन्तरालावस्थस्य ।

यत्प्रशशꣳसतुः कर्म हैव तत्प्रशशꣳसतुः पुण्यो वै पुण्येन कर्मणा भवति पापः पापेनेति ततो ह जारत्कारव आर्तभाग उपरराम ॥१३॥

इति बृहदारण्यकोपनिषदि तृतीयाध्याये द्वितीयं ब्राह्मणम् ॥२॥

विचार किया। उन्होने निर्णय में जो कुछ भी कहा; वह सबका तात्पर्यरूप कर्म को ही कहा तथा (काल, कर्म, दैवादि हेतुओ मे भी) जिसकी प्रशसा की है, वह वस्तुतः कर्म की ही प्रशसा की। वह यह है कि पुरुष पुण्यकर्म से धर्मात्मा होता है और पापकर्म से पापात्मा होता है। इस प्रकार अपने प्रश्न के उत्तर हो जाने पर जारत्कारव आर्तभाग चुप हो गया ॥ १३ ॥

तव्यमित्यतः परं परमात्मदर्शनमारब्धव्यमित्येवमपवर्गाख्यामन्तरालावस्थां परिकल्प्योत्तरग्रन्थसंबन्धं कुर्वन्ति।

तत्र वक्तव्यं विशीर्णेषु करणेषु विदेहस्य परमात्मदर्शनश्रवणमननिदिध्यासनानि कथमिति। समवनीतप्राणस्य हि नाममात्रावशिष्टस्येति तैरुच्यते। मृतः शेत इति

इतिशब्दो वर्णयन्तीत्यनेन संबध्यते। तर्हि यत्रो'पस्तप्रश्नादौ ब्रह्मविद्योच्यते तस्यैवाऽऽरम्भो युक्तो यत्रास्येत्या''दिस्तु वृथेत्याशङ्क्य फलवद्विद्याप्राप्तिशेषत्वेन निवर्त्यमृत्युप्रयोजकनिर्धारणार्थो यत्रेत्या''दिरित्यभिप्रेत्याऽऽह—एवमिति।

हिरण्यगर्भादन्योऽन्यो वा विद्याधिकारी प्रथमेऽपि मृतस्य जीवतो वा विद्याधिकारो विवक्षितस्त्वयेति पृच्छति—तत्रेति। तत्राऽऽद्यमाक्षिपति—विशीर्णेष्विति। आक्षेपं स्फुटयितुं तदीयामुक्तिमनुवदति—समवनीतेति। नाममात्रावशिष्टस्याधिकारो विद्यायामिति शेषः। समवनीतप्राणस्येत्यत्र श्रुति

है। इसलिए अग्रिमग्रन्थ से ब्रह्मात्मदर्शन का प्रतिपादन करना चाहिये। इस प्रकार वे अपवर्गसंज्ञक अन्तराल अवस्था की कल्पना करके पूर्वग्रन्थ की उत्तर ग्रन्थ से सङ्गति प्रदर्शित करते हैं।

भर्तृप्रपञ्च के प्रस्थान मे यह विवेचना करनी है कि इन्द्रियो के विलीन होने पर मृत पुरुष को ब्रह्मात्मसाक्षात्कार, तथा श्रवण-मनन-निदिध्यासन किस प्रकार हो सकते हैं। उनके द्वारा युक्ति प्रस्तुत की जाती है कि उपसहृत प्राण वाले एव नाममात्र अवशिष्ट पुरुष का ही विद्या मे अधिकार है। इसी को

---

१. पूर्वग्रन्थेनोत्तरग्रन्थस्य सङ्गतिं दर्शयन्तीत्यर्थः। २. भर्तृप्रपञ्चप्रस्थाने। ३. विवेक्तव्यम्। ४. विलीनेषु सत्सु। ५. मृतस्य। ६. उपसहृतप्राणस्य। ७. अविकार्यपेक्षितपरविद्याशेषत्वेनोत्तरग्रन्थस्यारब्धव्यत्वे। ८. बृ. उ. ३।४।३। ९. ग्रन्थस्य। १०. ग्रन्थ.। ११. ग्रन्थः।

ह्युक्तम् । न मनोरथेनाप्येतदुपपादयितुं शक्यते । अथ जीवन्नेवाविद्यामात्रावशिष्टो भोज्यादपावृत्त इति परिकल्प्यते तत्तु किंनिमित्तमिति वक्तव्यम् । समस्तद्वैतैकत्वात्मप्राप्तिनिमित्तमिति यद्युच्येत तत्पूर्वमेव निराकृतम् । कर्मसहितेन द्वैतैकत्वात्मदर्शनेन संपन्नो विद्वान्मृतः समवनीतप्राणो जगदात्मत्वं हिरण्यगर्भस्वरूपं वा प्राप्नुयादसमवनीतप्राणो भोज्याज्जीवन्नेव व्यावृत्तो विरक्तः परमात्मदर्शनाभिमुखः स्यात् ।

न चोभयमेकप्रयत्ननिष्पाद्येन साधनेन लभ्यम् । हिरण्यगर्भप्राप्तिसाधनं चेन्न ततो व्यावृत्तिसाधनम् । परमात्माभिमुखीकरणस्य भोज्याद्व्यावृत्तेः साधनं चेन्न हिरण्यगर्भ-

---

संवादयति—मृत इति । कथमेतावता यथोक्ताक्षेपसिद्धिस्तत्राऽऽह—न मनोरथेनेति । उपसंहृतप्राणस्य श्रवणाद्यधिकारित्वमेतच्छब्दार्थः । द्वितीयं शङ्कते—अथेति । अपावृत्तो विद्याधिकारीति शेषः । जीवतो भोज्याद्व्यावर्तनं सम्यग्धियं विना दुःशकमिति मत्वा पृच्छति—तत्त्विति । अप्राप्ते कामो भवति प्राप्ते निवर्तत इति प्रसिद्धेरपरविद्यया कर्मसमुच्चितया हैरण्यगर्भपदप्राप्तिरेव तन्निवृत्तिकारणमिति शङ्कते—समस्तेति । अपरविद्यासमुच्चितं कर्म हैरण्यगर्भभोगप्रापकं न भोग्यान्निवृत्तिसाधनमिति तृतीये व्युत्पादितमिति परिहरति—तत्पूर्वमेवेति । उक्तमेव व्यक्तीकुर्वन्विभजते—कर्मसहितेनेति ।

अथैकमेव समुच्चितं कर्मोभयार्थं किं न स्यादत आह—न चेति । उभयार्थत्वाभावं समर्थयते—

श्रुति में भी कहा गया है—"वह मृतक होकर पडा रहता है"। किन्तु मनोरथमात्र से भी इस बात को सिद्ध नही किया जा सकता । एवं यदि ऐसी कल्पना की जाय कि विषयानुभवरहित अविद्यामात्र अवशिष्ट जीवितपुरुष ही इस विद्या का अधिकारी है, तो फिर विषयानुभवरहित किस कारण से होता है, यह बतलाना चाहिये । यदि कहो कि समस्त द्वैत हिरण्यगर्भ की उपासना से एकत्वरूप आत्मसाक्षात्कार प्राप्ति ही इसका निमित्त है तो इसका निराकरण पहले ही किया जा चुका है । कर्मसहित द्वैतैकत्वरूप हिरण्यगर्भ की उपासना से आत्मसाक्षात्कारयुक्त विद्वान् मरने पर, प्राणों के प्रलीन होने पर या तो जगदात्मभाव को प्राप्त होगा अथवा हिरण्यगर्भ के स्वरूप को प्राप्त होगा, अप्रलीन प्राण वाला जीवित रहता हुआ विषयानुभव से रहित, विरक्त रहकर परमात्मसाक्षात्कार के अभिमुख होगा ।

दोनो फल एक ही प्रयत्न से निष्पन्न होने वाले साधन से प्राप्त नही हो सकते । यदि विद्यासमुच्चित कर्म हिरण्यगर्भप्राप्ति का साधन होगा; तब उससे रहित होने का साधन नही हो सकता और यदि वह परमात्मा के अभिमुखीकरण विषयानुभवराहित्य का साधन होगा, तो हिरण्यगर्भप्राप्ति का

---

१. विषयीकर्तुमिति यावत् । २. विषयानुभवरहितः । ३. भोज्याद्व्यावर्तनम् । ४. समस्तेत्यादि—समस्तद्वैतेनैकत्वं तादात्म्यं यस्यात्मनो हिरण्यगर्भस्य तस्य प्राप्तिस्तद्रूपापत्तिस्तन्निमित्तमित्यर्थः । ५. हिरण्यगर्भोपासनेन । ६. विद्यासमुच्चित कर्म । ७. समानाधिकरणे वृद्धयो । ८. तदीयोक्तिप्रदर्शनमात्रेण । ९. भोज्यनिवृत्तिरिति भावः । १०. अपरेत्यादि—हिरण्यगर्भपदप्राप्तिः स्वविषयककामं निवर्तयतु नाम स्वोत्तरकालीनभोगकामं तु निवर्तयितुं सा नालं तस्यास्तद्विषयत्वाभावादतोऽपरविद्यासमुच्चितं कर्मैव तन्निवर्तकं वाच्यमिति समाधानभाष्यतात्पर्यमाविष्कुर्वन्नवतारयति—अपरेति । ११. प्रथमे । १२. तृतीये व्युत्पादितमेव ।

प्राप्तिसाधनम् । न हि यद्गतिसाधनं तद्गतिनिवृत्तेरपि । अथ मृत्वा हिरण्यगर्भं प्राप्य ततः समवनीतप्राणो नामावशिष्टः परमात्मज्ञानेऽधिक्रियते । ततोऽस्मदाद्यर्थं परमात्मज्ञानोपदेशोऽनर्थकः स्यात् । सर्वेषा हि ब्रह्मविद्या पुरुषार्थायोपदिश्यते "तद्यो यो देवानाम्" इत्याद्यया श्रुत्या । तस्मादत्यन्तनिकृष्टा शास्त्रबाह्यैवेय कल्पना । प्रकृत तु वर्तयिष्यामः ।

तत्र केन प्रयुक्त ग्रहातिग्रहलक्षण बन्धनमित्येतन्निर्दिधारयिषयाऽऽह—यत्रास्य

हिरण्यगर्भमित्यादिना । समुच्चित कर्म नोभयायमित्यत्र दृष्टान्तमाह—न हीति । हिरण्यगर्भो विद्याधिकारीति पक्ष निक्षिपति—अथेति । दूषयति—तत इति । ननु महानुभावानाम"स्मद्विशिष्टानामेव ब्रह्मविद्योपदिश्यमाना मोक्ष फलयति नास्माकमित्याशङ्क्याऽऽह—सर्वेषामिति । न च त्वन्मतेऽपि "यद्द्वारा श्रवणादि कृत्वा विद्योदयस्तद्द्वारैव चिदात्मनो मुक्तिसिद्धौ कृतमितरत्र श्रवणादिनेति वाच्यम् । द्वारभेदस्या"नुष्ठातृविभागाधीनप्रवृत्तिप्रयुक्तप्रयोजनवद्विद्योदयस्य च काल्पनिकत्वेन "यथाप्रतीति व्यवस्थोपपत्ते । वस्तुतो निर्विशेषे चिन्मात्रे नाविद्याविद्ये बन्धमुक्ती चेत्यभिप्रेत्य परपक्षनिराकरणमुपसहृत्य श्रुतिव्याख्यान प्रस्तौति—तस्मादिति ।

कर्तव्ये श्रुतिव्याख्याने यत्रेत्याद्याकाङ्क्षापूर्वकमवतारयति—तत्रेति । "तत्र पुरुषशब्देन विद्वानु-

---

साधन नही हो सकता । क्योकि जो गति का साधन होता है वह गतिनिवृत्ति का भी साधन होता हो, ऐसा नहीं होता । यदि कहो कि विदेह हाकर हिरण्यगर्भप्राप्ति करने के पश्चात लीन प्राण और नाममात्र अवशिष्ट रहकर परमात्मज्ञान का अधिकारी हाता ह । हिरण्यगभ का ही विद्याधिकारी स्वीकार करने पर हम जैसे लोगों के लिए परमात्मज्ञान का उपदेश अनर्थक होगा । उसे देवताओं मे से जिस-जिस ने जाना वही तद्रूप हो गया" इत्यादि श्रुतिवाक्य से ब्रह्मविद्या सभी की मुक्ति के लिए होती है ऐसा उपदेश किया जाता है । अत यह कल्पना (किसी भी तरह सिद्ध न हो सकने क कारण) अत्यन्त निकृष्ट और शास्त्रविरुद्ध है । इसलिए हम इस श्रुति का व्याख्यान करेगे ।

यह ग्रहातिग्रहरूपबन्धन किसकी प्ररणा से प्राप्त हुआ है, यहा यह निणय करने की इच्छा से

---

१ हिरण्यगर्भस्यैव विद्याधिकारित्वस्वीकारात् । २ मुक्तय भवतीति श्रुत्योपदिश्यत इति सबन्ध । ३ बृ० उ० १।४।१० । ४ उक्तकल्पनाया, कथमप्युपपन्नत्वासभवात् । ५ श्रुतिव्याख्यानम् । ६ करिष्याम । ७ टीकोक्तायम् । ८ प्रापितम् । ९ काले । १० अस्मदादिभ्य उत्कृष्टानाम । ११ यद्द्वारेति—त्वन्मते सवत्र (देहे) आत्मन एकत्वात् कुत्रचिच्छरीरे श्रवणादिना विद्योदय तयव तस्यैवस्यात्मनो मुक्तिसिद्धावात्मान्तरस्य बद्धस्याभावाद्देहान्तरे श्रवणादिना विद्योदयस्य वैयर्थ्य न चैकशरीरावच्छेदनैव विद्योदयस्यष्टत्वान्न वैयर्थ्यशङ्कावकाश इति वाच्यम् । विद्योदयाना यो यो देवानामिति श्रुतौ बहुषु श्रवणादिति भाव । १२ अनुष्ठात्रिति—यथा कर्मानुष्ठातणा काल्पनिकभदा नैकप्रवत्याऽपरप्रवृत्तवैयर्थ्यम् । नापि चैकप्रयोजनेन सर्वेषा प्रयोजनवत्त्वम् । तथा नैकत्र श्रवणादिनाऽपरत्र तथा वैयर्थ्यमित्यथ । १३ यथाप्रतीतीति—देवादिदेहोपाधिभदेनोपहिताना भेदप्रतीतस्तेषा च तत्र तत्रोपन्नविद्यया मोक्षप्रतीतश्च नोक्तवैयर्थ्यशङ्कावसर इति भाव । १४ प्रकृतवाक्य ।

पुरुषस्यासम्यग्दर्शिनः शिरःपाण्यादिमतो मृतस्य 'वागग्निमप्येति वातं' 'प्राणोऽप्येति चक्षुरादित्यमप्येतीति सर्वत्र संबध्यते। मनश्चन्द्रं दिशः श्रोत्रं पृथिवीं शरीरमाकाशमा- त्मेत्य'त्राऽऽत्मा'धिष्ठानं हृदयाकाशमुच्यते । स 'आकाशमप्येति । ओषधीरपियन्ति लोमानि । वनस्पतीनपियन्ति केशाः। अप्सु लोहितं च रेतश्च निधीयत इति पुनरादा- नलिङ्गम् । सर्वत्र हि वागादिशब्देन 'देवताः परिगृह्यन्ते न तु करणान्येवा'पक्रामन्ति

श्रतोऽनन्तरवाक्ये तत्संनिधेरित्याशङ्क्य वक्ष्यमाणकर्माश्रयत्वलिङ्गेन बाध्यः संनिधिरित्यभिप्रेत्याऽऽह असम्यग्दर्शिन इति । संनिधिबाधे लिङ्गान्तरमाह—निधीयत इति । 'तस्य हि पुनरादानयोग्यद्रव्य- 'निधाने प्रयोगदर्शनादि"हापि पुनरादानं लोहितादेराभास्यतः प्रसिद्धसंसारिगोचर एवायं प्रश्न इत्यर्थः। अविदुषो वागादिलयाभावा"द्वाङ्मनसि दर्शनादिति न्यायात्तस्य" चात्र श्रुतेर्विद्वानेव पुरुषस्तदीयकला- विलयस्य "श्रुतिप्रसिद्धत्वादित्याशङ्क्याह—सर्वत्र हीति । अग्न्याद्यंशानां वागादिशब्दितानामप-

श्रुति कहती है—जिस समय इस सम्यक्दर्शनशून्य शिर एवं हाथ आदि अवयवों वाले मृतक के वाक् का अधिष्ठातृदेवता अग्नि में लीन हो जाता है, प्राण का अधिष्ठातृदेवता वायु में लीन हो जाता है और चक्षु का अधिष्ठातृदेवता आदित्य में लीन हो जाता है—इस तरह "लीन हो जाता है" इस क्रिया-

१. अधिष्ठातृदेवता । २. घ्राणः । ३. आकाशमात्मेति प्रतीकमादायाऽऽत्मशब्दार्थमाह—अत्रेति । तथा च वार्तिके—"हृदाकाश इहाऽऽत्मेति स्यादाकाशाप्ययत्वतः। प्रश्नस्य विषयत्वेन विज्ञानात्मोपयोगतः" ॥ १२८ ॥ इति ॥ मुख्यमात्मानं हित्वाऽऽत्मशब्देन हार्दाकाशग्रहे हेतुमाह—आकाशेति । आत्मनो भूताकाशे लयश्रुतेर्मुख्यस्य चात्मप्रकृतित्वेन तदयोगादित्यर्थः। किंच क्वायमिति प्रश्नविषयत्वेनात्मन उपयोगाच्च तस्यात्माऽऽत्मशब्दतेत्याह— प्रश्नस्येति । ४. अधिष्ठानमिति, आत्माभिव्यक्तिस्थानमित्यर्थः । ५. महाकाशम् । ६. देवता इति । तथा च वार्तिके—"अग्न्यादिदेवतांशा ये भोगार्थं कर्मणाऽर्जिताः । वागादिशब्दैरुच्यन्ते त एवात्र न पौरुषाः" ॥ १२५ ॥ इति । पुरुषेण भोक्त्राऽधिष्ठिताः करणात्मानो भावा वागादिशब्दिता न भवन्तीत्येवकारार्थमाह— नेति । नन्वग्न्याद्यंशा वागादिशब्दैरुच्यन्तां तेषामपि भोगार्थं कर्मार्जितानां तदर्थे कर्मणि सति कथमप्ययः को वा तदप्ययकर्ता कर्माशानामध्यभिज्ञानामप्यय इत्याशङ्क्य वार्तिके समाहितम्—"पुंसः कर्मक्षये स्वांशान्संहरन्ति यथायथम् । अग्न्यादिदेवताः सोऽयमुपसंहार उच्यते" ॥ १२६ ॥ वर्तमानदेहपाते देवतांशानामुपसंहारश्चेद्देहा- न्तरग्रहे करणान्यधिष्ठातृदेवताशून्यानि भोगस्य धनानि न स्युरित्याशङ्क्य वार्तिके समाहितम्—"पुंसो देहग्रहे भूयो देहस्थानेषु देवताः । अंशं निदधति स्वं स्वं कर्मभोगप्रसिद्धये" ॥ १२७ ॥ इति । ७. विलीयन्ते । ८. निपूर्वस्य धाञः। ९. स्थापने । १०. प्रकृतवाक्येऽपि । ११. "वाङ्मनसि दर्शनाच्छब्दाच्चेति" ब्र० सू० ४।२।१ । "अस्य सोम्य पुरुषस्य प्रयतो वाङ्मनसि संपद्यते मनः प्राणे प्राणस्तेजसि तेजः परस्यां देवतायामिति" छा० उ० ६।८।६ । अत्र संशयः किं वृत्तिमत्या वाच एव मनसि लयात्मकसंपत्तिरुच्यते उत वाग्वृत्ते(वचनाभिम- कायाः)रेवेति । तत्र श्रुतिबलाद्वाच एव मनसि लय इति प्राप्ते ब्रूमः, उक्तिर्वागिति भावव्युत्पत्त्या वाक्छब्देन वाग्वृत्तिरुच्यते मनो वृत्तौ सत्यामेव लोके वाग्वृत्तिलयस्य दर्शनात् । तर्हि वाङ्मनसीति श्रुतेः का गतिरित्यत आह—शब्दाच्च स्वोपादाने स्वस्य लय इत्यबाधितन्यायानुसारेण वाक्छब्दो वृत्तिवृत्तिमतोरभेदोपचारेण भावव्युत्पत्त्या वा नेयः। नन्वनुपादाने वृत्तिलयोऽपि कथमिति चेन्न, अग्निवृत्तिलयस्यानुपादानेऽप्यप्सु दर्शनादिति । १२. वागादिलयस्य । १३. "गताः कलाः पञ्चदश प्रतिष्ठा"इत्यादि श्रुतिरिति भावः।

प्राङ्मोक्षात्[1]। तत्र देवताभिरनधिष्ठितानि करणानि न्यस्तदात्राद्युपमानानि[2] विदेहश्च कर्ता पुरुषोऽस्वतन्त्रः किमाश्रितो भवतीति पृच्छ्यते—क्वायं तदा पुरुषो भवतीति। किमाश्रितस्तदा पुरुषो भवतीति। [3]यमाश्रयमाश्रित्य पुनः कार्यकरणसंघातमुपादत्ते येन ग्रहातिग्रहलक्षणं बन्धनं प्रयुज्यते तत्किमिति प्रश्नः।

[4]क्रमशोऽपि करणानां [5]तदभावे [6]तदधिष्ठानस्य देहस्यापि भावेन भोगसंभवाच्च [7]प्रश्नानवकाशोऽस्तीत्याशङ्क्याऽऽह—तत्रेति। देवताभिरनधिष्ठितत्वे सत्यर्थक्रियाऽक्षमत्वं फलतीत्याह—न्यस्तेति। करणानामधिष्ठातृहीनानां भोगहेतुत्वाभावेऽपि कथमाश्रयप्रश्नो भोक्तुः स्यादि[12]त्याशङ्क्याह—विदेहश्चेति। प्रश्नं विवृणोति—यमाश्रयमिति।

पद का प्रत्येक के साथ सम्बन्ध है। इसी प्रकार मन चन्द्रमा मे श्रोत्र दिशा मे, शरीर पृथिवी मे, आत्मा आकाश मे लीन हो जाता है। "आत्मा" शब्द से यहाँ आत्माभिव्यक्ति का स्थान हृदयाकाश कहा जाता है। वह महाकाश मे लीन हो जाता है। लोम औषधि मे लीन हो जाते है, केश वनस्पति मे लीन होते हैं। रक्त तथा वीर्य जल में प्रविष्ट हो जाते हैं। 'निधीयते' यह शब्द रक्त और वीर्य के पुनर्ग्रहण को सूचित करता है। यहाँ वागादि शब्दों से सभी जगह देवताओ का ग्रहण होता है। मोक्ष होने से पूर्व इन्द्रियो का विलय नही होता। उस समय देवताओ से अनधिष्ठित इन्द्रियाँ कर्ता के हाथ से छूटे हुए दंरात आदि औजारो के समान हो जाती है। अतः अस्वतन्त्र कर्ता पुरुष विदेह होने पर किसके आश्रित रहता है—यह पूछा जाता है। 'उस समय वह पुरुष कहाँ रहता है और किसके आश्रित होकर रहता है, जिसे आश्रित करके यह पुनः कार्य-करण-संघात को ग्रहण करता है, जिससे ग्रहातिग्रहरूप बन्धन प्राप्त होता है, वह क्या है—ऐसा प्रश्न है।

१ भवन्तीति शेष। २ विदेहश्चेति—ननु स्थूलदेहविगमेऽपि साक्षाद्वागीजीवस्य लिङ्गाश्रयत्वात्कथायमिति-प्रश्नानुपपत्तिरिति चेत्सत्यम्। यद्यपि जीवो लिङ्गमाश्रितस्तथापि स्थूलदेहाभावेऽधिष्ठातृहीन तत्र भोगप्रदमिति मतोऽपि तस्यासत्समत्वाद्भोगहेत्वाश्रयप्रश्नो युक्त एव। तथा च वार्तिके—"अधिष्ठातृवियुक्तानि न्यस्तदात्रोपमानि हि। वागादिकरणानीति नाल पुम्भोगसिद्धये" ॥ १२६ ॥ इति। चेतनस्याधिष्ठातु सत्त्वेऽपि स्थूलदेह विना लिङ्गस्य भोगोपयिकत्वं नास्तीति हिशब्दार्थः। ३. यमाश्रयमिति—"किं कारणात्मतामेति किंवा केन-चिदात्मना। अवतिष्ठत एवाय किंवा कर्मैव संश्रितः॥ गुणान्वा यदि वेशान काल वा दैवमेव वा। यदृच्छा सन्तति शून्य विनाश वेति भण्यतामिति" ॥१३१-१३२॥ वार्तिकद्वयमत्र द्रष्टव्यम्। स्थूलदेह हित्वा स्थितो जीव. साभासप्रत्यगविद्यालक्षणकारणरूपतामेतीति जीवस्यापि कार्यत्वमिच्छन्त स्वयूथ्या वदन्ति त्यक्ते स्थूले देहे प्रतिबन्धकाभावादसाधारणेन स्वेन रूपेणैव स तिष्ठतीत्येक एष सम्प्रसादोऽस्माच्छरीरादित्यादिच्छान्दोग्यश्रुत-रित्यर्थः। मीमासकसाङ्ख्यतार्किकमतान्याह—किं वेति। ज्योतिर्विदा प्रक्रियामाह—काल वेति। देवताकाण्डाभि-प्रायमाह—दैवमिति। लोकायतयोगाचारमाध्यमिकमतान्याह—यदृच्छामित्यादिना। प्रावसतो जीवस्य ध्वसो विनाशस्त [illegible] यातीति जीवकार्यत्ववादिनो मतान्तरमाह—विनाशमिति। उक्ताधिकरणेषु विवक्षित वाच्यमिति प्रश्न निगमयति—इति भण्यतामिति। ४ प्राप्यते। ५ लयेऽपि। ६ लयाभावे। ७. करणा-श्रयस्य। ८. क्वाय तदा पुरुषो भवतीति प्रश्नः। ९ देहे एव समवादिति भाव.। १०. करणानाम्। ११. देवताभि.। १२. भोक्तुराश्रयस्य देहस्य विद्यमानत्वादिति शेष।

'अत्रोच्यते'—'स्वभावयदृच्छाकालकर्मदैवविज्ञानमात्रशून्यानि वादिभिः परिकल्पितानि । 'अतोऽनेकविप्रतिपत्तिस्थानत्वान्नैव जल्पन्यायेन वस्तुनिर्णयः। अत्र वस्तुनिर्णयं चेदिच्छसि 'स्याहर' सोम्य हस्तमार्तभाग हे *आवामेवैतस्य त्वत्पृष्टस्य वेदितव्यं

आहरेत्यादिपरिहारमवतारयति—अत्रेति । 'मीमांसका लोकायता ज्योतिर्विदो 'वैदिका "दैवताकाण्डीया विज्ञानवादिनो माध्यमिकाश्चेत्यनेके विप्रतिपत्तार' । जल्पन्यायेन "परस्परप्रचलित मात्रपर्यन्तेन विचारेणेति यावत् । अत्रेति प्रश्नोक्ति ।

इस प्रश्न के उत्तर में कहा जाता है । इस विषय में यह कहा जाता है कि वादियों ने स्वभाव, यदृच्छा, काल, कर्म, दैव, विज्ञानमात्र और शून्य ऐसे अनेक आश्रयस्थाना की कल्पना की है। इसलिए अनेक विरोधा का स्थान होने से केवल जल्पन्याय से वस्तु का निर्णय नहीं हो सकता । इसलिए यदि तुम वस्तु का निर्णय सुनना चाहते हो—तो हे सोम्य आर्तभाग ! (दूसरो से असाधारण प्रश्न पूछने के कारण तुमने मुझे वश में कर लिया है, मैं तुमसे प्रसन्न हूँ इसलिए) हाथ मिलाओ। तुम्हारे प्रश्न का जो वेदितव्य

१ प्रश्ने । २ प्रतिवचनम् । ३ स्वेति—अत्र स्वभावयदृच्छाशब्दौ पर्यायौ । तदुक्त वार्तिके—"हठो यदृच्छा नियति कारणत्वेन नाऽऽश्रिता" ॥ १५० ॥ इति । एत शब्दा स्वभाववाचिन स च (स्वभाव) न प्रवर्तको नियतहेतूपादानानपेक्षत्वादिति तदर्थ । ४ अत इत्यादे —वादिविप्रतिपत्तेर्जीवाश्रयस्थानेव विप्रतिपत्तिविषयत्वादित्यर्थ । ५ तर्हि । ६ आहरेति । अत्र वार्तिकम्—"प्रश्नेन भावितस्तुष्ट पाणिमस्याग्रहीदपि । अन्यासाधारण प्रश्नमप्राक्षीदिति विस्मित" ॥१३३॥ भावितो वशीकृत । तुष्टश्च पाणिग्रहणं हेतुमुक्त्वा हेत्वन्तरमाह—अन्येति । ७ एकान्ते गत्वेति शेष । ८ तत्त्वम् । ९ भूतानि मीमांसन्त इति मीमांसका लोकायतविशेषणम् । १० कर्मकाण्डीया । ११ देवतोपासका । १२ परस्पर प्रचलितमात्र पर्यन्त समाप्तिर्यस्य वस्तुनिर्णयपर्यन्तत्व व्यवच्छेत्तु मात्रेति ।

*आवामेवैतस्येति । अत्राहुर्वार्तिकाचार्या तथाहि—'असाधारण्यसिद्ध्यर्थमावामेवेत्यतोऽवदत् । विद्यागुप्तिश्च बहुश श्रुतावपि समीक्ष्यत ॥ आवयोरेव विज्ञान यथावत् प्रागभूदित । आवामेव तथैवोर्ध्व वदिष्यावो यथोदितम् ॥ सजने प्रश्न एतस्मिन्स्थाप्यमाने त्वयोदित । न सिध्यदावयोरुक्त प्रयोजनमिद ध्रुवम् ॥ त्वयोक्तिपरित्रासा-द्याज्ञवल्क्योऽब्रवीदिदम् । जल्पे वाद्यतिरेकेण नान्यो वक्ति यतस्तत ॥ परिशिष्टानपि प्रश्नानुत्क्रम्य व्याकरोदसौ । सजनादिति नात स्यादन्योक्तिभयकारणम् ॥ साध्वेतदिति सभाव्य सजनादुत्ससृपतु । याज्ञवल्क्यार्तभागौ तावुत्क्रम्य च अजल्पतु ॥ सजनात्तावथोत्क्रम्य मिथस्तत्र तदूचतु । तस्सच श्रुतिराचख्यावस्मत्प्रियचिकीर्षया ॥ १३४ १४० ॥ इति । आवामित्यादस्तात्पर्यमाह—असाधारण्येति । प्रश्नप्रत्युक्त्यर्थज्ञानस्य प्रष्टृप्रतिवक्तृमात्रनिष्ठत्वार्थमिति यावत् । अत पाणिग्रहानन्तरमित्यर्थ । किमर्थं ज्ञानस्यासाधारण्य न हि तद्गोप्य मानाभावादत आह—विद्येति । विद्या ह वै ब्राह्मणमाजगाम तवाहमस्मि त्व मां पालयस्व नहत मानिने नैव माऽदा । गोपाय मा श्रेयसी तऽहमस्मि विद्यया सार्ध म्रियत न विद्यामूषरे वपेत । ब्रह्मचारी धनदायी मेधावी श्रोत्रिय प्रियो विद्यया वा विद्या य प्राह तानि तीर्थानि षण्मम इति श्रुति । 'आचार्यपुत्र शुश्रूषुर्ज्ञानदो धार्मिक शुचि । शक्तोऽर्थदोऽर्थी स्व साधुरध्याप्यादेशधर्मत ॥ विद्ययैव सम काम मर्तव्य ब्रह्मवादिना । आपद्यपि च घोरायां न त्वेनामीरिणे वपेत् ॥ विद्या ब्राह्मणमेत्याऽऽह शेवधिस्तेऽभिरक्ष माम् । असूयकाय मा मा दास्तथा स्या वीर्यवत्तमा ॥' इति स्मृतिरप्यत्र ॥ आवामित्यादिवाक्याक्षराणि योजयति—आवयोरिति । इद विज्ञानमिति

यत्तद्वेदिष्यावो निरूपयिष्यावः । कस्मात् । न नावावयोरेतद्वस्तु सजने जनसमुदाये निर्णेतुं शक्यते । अत एकान्तं गमिष्यावो विचारणाय ।

तौ हेत्यादि श्रुतिवचनम् । तौ याज्ञवल्क्यार्तभागावेकान्तं गत्वा किं चक्रतुरित्युच्यते—तौ होत्क्रम्य सजनाद्देशान्मन्त्रयांचक्राते । आदौ लौकिकवादिपक्षाणामेकैकं परिगृह्य विचारितवन्तौ । तौ ह विचार्य यदूचतुरपोह्य* पूर्वपक्षान्सर्वानेव तच्छृणु ।

ननु प्रष्टाऽऽर्तभागो याज्ञवल्क्यश्च प्रतिवक्तेति द्वाविहोपलभ्येते । तथाच तौ हेत्यादि वचनमयुक्तं तृतीयस्याभावादत आह—तौ हेत्यादीति । तत्रेत्येकान्ते स्थित्वा विचारावस्थायामिति यावत् । न केवलं

तत्त्व है, उसे हम दोनो एकान्त मे जाकर 'वेदिष्याव' अर्थात् निरूपण करेंगे। ऐसा क्यो ? क्योकि तुम्हारे द्वारा पूछी हुई वस्तु का हम दोनो 'सजने' अर्थात् जनसमुदाय मे निर्णय नही कर सकते। अत विचार के लिए एकान्त मे (इस भीड से) निकल चलें (यही ठीक है)।

'तौ ह' इत्यादि श्रुतिवाक्य है। उन याज्ञवल्क्य और आर्तभाग दोनो ने एकान्त मे जाकर क्या किया—इस पर श्रुति कहती है। उन्होने भीड वाले स्थान से निकल कर आपस मे विचार किया। प्रारम्भ मे लौकिक वादियो के पक्षो मे से एक-एक को लेकर व्याख्या की। दोनो ने इस प्रकार विचार कर सभी पूर्वपक्षो का निराकरण कर जो कुछ कहा, उसे सुनो। वहाँ उन्होने कर्म को ही बार-बार भोक्ता

---

१ गमनकारणाक्ताकाङ्क्षामुत्थापयति—कस्मादिति । २ यत । ३ त्वत्पृष्टम् । ४ साध्वेतदिति सम्भाव्य सजनादुत्सर्पतुरिति शेष । ५ निर्गत्य । ६ प्रश्नप्रतिवचनयो । ७ किंकर्तृकमिति यावत् ।

प्रयोजकगोचरमुच्यत । एतस्य प्रयोजकविज्ञानस्य यथोदित स्वरूपमित्यर्थ ॥ न नावित्यादेस्तात्पर्यमाह—सजन इति । नानाजनसमूहसहितेऽस्मिन्देशे त्वत्प्रश्ने व्याख्यायमाने बन्धनिबन्धन ज्ञान ताऽऽवयोरसाधारण स्यादिति सजनाभिगन्तव्यमित्यर्थ ॥ प्रयोजकज्ञानस्यासाधारण्यार्थं न ततो निर्गमन किंत्वन्येऽपि मध्ये प्रश्नयन्ति तथाचाशक्यो निर्णय स्यादिति भयादित्याशङ्क्याऽऽह—न त्विति । इदमिति प्रकृतवाक्योक्ति । अन्यप्रश्नप्रयुक्तभासाभावे हेतुमाह—जल्प इति । विजिगीषुरतत्राधिक्रियते । यथाऽऽह—विजिगीषुणा सह जल्पवितण्डे इति । तथाच तदीयशक्तिनिर्णयपर्यन्त नान्यप्रवृत्तिरित्यर्थ ॥ सजनाभिगमन नान्याक्तिभयादित्यत्र हेत्वन्तरमाह—परिशिष्टानिति । सजनाद्देशादुत्क्रम्य निर्गत्याऽऽर्तभागप्रश्न व्याकरोद्यदि इति यत्तत्रान्योक्तिभयकारण यतस्तमेव देशमेत्य शिष्टान्भुज्युप्रभृतिप्रश्नानस्मै व्याकृतवानतो भयाद्बहिर्गत प्रयोजकज्ञानासाधारण्यायमेव गमनमिष्टमन्यथा तस्माद्देशादुत्क्रम्य परिशिष्टानपि प्रश्नान्व्याकरिष्यत्स चैव व्याकरोति च तस्मान्नान्योक्तिभयकृत गमनमित्यर्थ ॥ तौ हेत्यादेरर्थमाह—साध्विति ॥ तौ ह यदित्यादेरर्थमाह—सजनादिति । श्रोतॄणामनुजिघृक्षानन्तर्यमथशब्दार्थ । तत्रेत्येकान्तदेशोक्ति । न हि तौ होत्क्रम्येत्यादि प्रष्टुर्वक्तुर्वा वाक्य किंतु श्रुते श्रोत्रनुग्रहार्थमित्यर्थ ॥

*अपोह्य पूर्वपक्षान्सर्वानेवेति । एतद्भाष्यार्थाविष्कारकानि वार्तिकानि प्राहु—"कर्मादिपरतन्त्रत्वात्स्वाश्रयो नायमिष्यते । ससारभूमिवर्तित्वान्न चाऽऽत्मा कारणाश्रय ॥ अचित्कत्वात्प्रधानादि पुसो न स्थानमिष्यते । न कर्म तत्फल वेत्ति न च वर्ण्यति सगतिम् ॥ न चेश्वर स्थितिस्तस्य शास्त्रानारम्भसक्तित । कृतनाशाकृतप्राप्ती प्राप्नुतो नुस्तथा सति ॥ दैवाधिष्ठित एवाय कर्मकालवशानुग । प्रवर्तता चेत्पुरुषो नैवमप्युपपद्यते ॥ जडत्वादिति पूर्वोक्तो दोषोऽत्रापि च विद्यत । सदेवताक पूर्वोक्त समञ्जमिति चेन्मतम् ॥ प्रवृत्तिरप्रवृत्तिर्वा देवतेश्वर्यत

कर्म हैवाऽऽश्रयं पुनः पुनः कार्यकरणोपादानहेतुं तत्तत्रोचतुरुक्तवन्तौ । न केवलं

कर्म कारणमूचतुः किंतु 'तदेव कालादिषु हेतुष्वभ्युपगतेषु सत्सु प्रशशंसतुः । 'अतः प्रशंसावचनात्कर्मणः प्राधान्यं गम्यते न तु कालादीनामहेतुत्वं तेषां कर्मस्वरूपनिष्पत्तौ कारकतया गुणभावदर्शनात्फलका-

---

का आश्रय एव कार्यकरण का उपादानहेतु बतलाया। उन्होंने कथनमात्र ही नहीं किया; बल्कि स्वीकृत किये हुए काल, कर्म, दैव और ईश्वर आदि हेतुओं की भी जो प्रशंसा की; वह कर्म की ही (अपरो-

---

१. भोक्तु । २. उक्तवन्तावपि तु । ३. कर्मैव । ४. अत.—अस्मात् प्रशंसावचनादिति समानाधिकरणे पञ्चमी ।

सदा । नियमे हेत्वसद्भावात्स्यान्नैयमिकी स्थितिः ॥ न चापि केवलं कर्म पुंसः स्यादाश्रयो यतः । अचेतनत्वनित्यत्वदोषदुष्टं पुरोदितम् ॥ मयाऽयमनुयातव्यः कर्ता चायं ममाश्रयः । कालादिविषयं ज्ञानं क्वसिनः कर्मणः कुतः ॥ यत एवमतः सर्वे कालदैवेश्वरादयः । कर्मप्रधानाः पुंसः स्यादाश्रयोऽयमनुत्तमः ॥ हठो यदृच्छा नियतिः कारणत्वेन नाऽऽश्रिता । सततो चानवस्थानाचाऽऽश्रयत्वं प्रमाणतः ॥ न कर्म पूर्वस्कन्धेषु नष्टत्वादु-पपद्यते । न चेह परिणामः स्यादुत्तरस्कन्धसंगतौ ॥ अनिष्ठितं न कर्मापि फलायालं भवेत्क्वचित् । न चैकत्रैकदा स्यातां विरोधाज्जन्मनाशयोः ॥ न च स्कन्धातिरेकेण स्थिरः कश्चिदपीष्यते । भोगमोक्षाभिसंबन्धी य प्रत्येत-त्प्रवर्तते ॥ अनारम्भाच्च शून्येऽपि यथाऽयमुपलभ्यते । मितेश्चासंभवाच्छून्यं सर्वथा नोपपद्यते ॥ यत एवमतो न्याय्यं कर्मैवास्य समाश्रयः । संसारभूमौ पुंसः स्यात्कालादेस्तत्प्रधानतः ॥ कर्मप्राधान्यमेवातः स्वयमेवाब्रवीच्छ्रुतिः । कालदैवेश्वरादिभ्यः कालादेस्तत्प्रयुक्तितः ॥ सति कर्मणि वैचित्र्यं भूतानामुपपद्यते । कर्मशब्देन विद्या च भावना कर्म चोच्यते ॥ देहारम्भे न शुद्धस्य कर्मणः शक्तिरिष्यते । तस्मात्त्रितयमप्येतत्कर्मशब्देन भण्यते ॥ एवं तौ संप्रधार्यैतदुक्तदोषानभिप्लुतम् । यियासोः परलोकाय कर्मैवाऽऽश्रयमूचतुः ॥ कारणानां यथोक्तानां यच्च तौ प्रशशंसतुः । कर्मैवोक्तेषु सर्वेषु प्रशशंसतुरादरात् ॥ कारणत्वाविशेषेऽपि किं प्रधानमितीक्षणे । कर्मणः स्यात्प्रशंसैव तत्प्राधान्योपपत्तितः ॥ वशीकृत्येश्वरादीनि कारणानि स्वतन्त्रवत् । कर्म सिध्यत्यतो दृष्टं प्रधानं कर्म तेन तत् ॥ क्रिया प्रत्यग्गुणीभूतं नेश्वराद्यपि सिध्यति । कर्मातस्तेषु सर्वेषु प्रधानमिति भण्यते ॥ यस्मादेवमतः प्रेतो दैवताविरहेऽपि ना । देहादस्मात्परिभ्रष्टः कर्मप्राधान्यसंश्रयात् ॥ पुण्यः पुण्येन भवति पापः पापेन कर्मणा । इति श्रौतं वचो ज्ञेयमागमैकप्रमाणतः" ॥ १४१-१६५ ॥ इति । स्वमतशुद्ध्यर्थं केनचिदात्मनत्यादिपक्षं दूषयति —कर्मादीति । यत्तु कारणात्मतामितीति तत्राऽऽह—संसारेति । भोगभूमिष्ठत्वेन भोक्तृत्वादित्यर्थः ॥ यत्तु गुणान्वा कालं वा दैवमेव वेति तत्राऽऽह—अचित्कत्वादिति । न हि जडं स्वातन्त्र्येण भोक्तुर्भोगायतनमित्यर्थः । यदपि कर्मैव संश्रितं इति तत्राऽऽह—न कर्मेति । किंच कस्येदं फलमिति फलफलिसंबन्धमपि कर्म न बुध्यतेऽतो न तदाश्रयो भोक्तुरित्याह—न चेति । यद्वा कर्मफलवेत्ता हिरण्यगर्भो भोक्तुराश्रय इत्याशङ्क्याऽऽह—न चेति । विदेहदेवतो जीवः सूक्ष्ममाश्रित्य देहान्तरमाप्नोतीत्यत्र मानाभावादिति भावः ॥ यत्तु यदि वशानमिति तत्राऽऽह —न चेति । ईशस्य बन्धप्रयोजकत्वे स्वर्गापवर्गयोस्तदधीनत्वात्तस्य च स्वातन्त्र्यादनुपयोगिशास्त्रमनारम्भ्यं स्यादित्यर्थः । तत्रैव दोषान्तरमाह—कृतेति । भोक्तुरीश्वराश्रयत्वे सति तद्वशादेव भोगसिद्धेर्दोषद्वयं दुर्वार-मित्यर्थः ॥ ईशाधिष्ठितो भोक्ता कालकर्माश्रयः संसरत्यतो न कृतहानादीति शङ्कते—दैवेति । केवलयोर्वा सदैवयोस्तयोराश्रयत्वमीशप्रधानयोर्वेति विकल्प्याऽऽद्यं दूषयति—नैवमिति । अग्न्यादिदेवतानां चैतन्येऽपि स्वातन्त्र्याभावात्तद्युक्तस्य कालादेर्न भोक्त्राश्रयत्वमित्यर्थः ॥ द्वितीयमनुभाषते—सदैवताकमिति । काल-

कालकर्मदैवेश्वरेष्वभ्युपगतेषु हेतुषु यत्प्रशशंसतुस्तौ कर्म हैव तत्प्रशशंसतुः । यस्मान्निर्धारितमेतत्कर्मप्रयुक्तं ग्रहातिग्रहादिकार्यकरणोपादानं पुनः पुनस्तस्मात्पुण्यो[1] वै शास्त्रविहितेन

लेऽपि [2]तत्प्राधान्येनैव तद्धेतुत्वसंभवादित्याह—न केवलमिति । पुण्यो वै पुण्येनेत्यादि व्याचष्टे—यस्मादित्यादिना ॥ १३ ॥

इति बृहदारण्यकोपनिषद्भाष्यटीकायां तृतीयाध्याये द्वितीयमार्तभागब्राह्मणम् ॥२॥

सतया) प्रशंसा थी क्योंकि बार-बार यही निर्णय लिया गया है कि ग्रहातिग्रहादिरूप कार्यकरणसंघात की कर्म से प्राप्ति होती है, इसलिए पुरुष "पुण्येन कर्मणा" अर्थात् शास्त्रविहित पुण्यकर्म के करने से

१. देवेषु जायमानः पुण्यात्मैव भवति । २. कर्मप्राधान्येनैव कालादीनां फलहेतुत्वसम्भवादित्यर्थः ।

कर्माख्यद्वयमग्न्यादिदेवतासहितमीशप्रधान पुरुप्रवृत्तौ शक्तमित्यर्थः ॥ अतिप्रसक्त्योत्तरमाह—प्रवृत्तिरिति । ईशो देवताशब्दार्थः । कदाचित्प्रवृत्तिः कदाचिन्निवृत्तिरिति व्यवस्था तत्स्वातन्त्र्येऽपि किं न स्यादत आह—नियम इति ॥ मा भूदीशप्रधान कर्मादि प्रयोजक केवल तु स्यादित्याशङ्क्य न कर्मेत्यत्रोक्तं स्मारयति—न चेति ॥ न च कस्येत्यादिनोक्त हेत्वन्तर स्फोरयति—मयेति ॥ एकैकस्य समुदितस्य च प्रयोजकत्वायोगे कथं तन्निर्धारणमित्याशङ्क्य स्वमतमाह—यत इति । यदृच्छासत्तातिशून्यपक्षेष्वदूषितेषु कथ स्वपक्षसिद्धिरित्याशङ्क्य यदृच्छापक्ष प्रत्याह—हठ इति । एते शब्दा. स्वभाववाचिन स च न प्रवर्तको नियतहेतूपादानानर्थक्यादित्यर्थः । योगाचार प्रत्याह—सतती चेति । न हि ज्ञानसतानो बन्धप्रयोजको मानाभावात्तस्यावस्तुत्वेन च स्थिरत्वयोगादित्यर्थ. ॥ सतानोऽपि ज्ञानस्कन्धो वस्तुत्वात्कर्मद्वारा प्रयोजक स्यादिति चेत्तत्र कर्म साश्रय निराश्रय वा प्रथमेऽपि क्षणिकस्कन्धाश्रय तदितरस्थिराश्रय वाऽऽद्ये पूर्वोत्तरत्वेन वर्तमानस्कन्धमध्ये पूर्वस्कन्धेषु कर्मोत्तरस्कन्धेषु वेति विकल्प्याऽऽद्य दूषयति—न कर्मेति । न हि वर्तमान कर्म देहस्यागात्पूर्वभाविषु स्कन्धेषु सिध्यतीति तेषा नष्टत्वादाश्रयत्वायोगादित्यर्थ. । द्वितीय प्रत्याह—न चेति । उत्तरस्कन्धेष्वाश्रितत्वेन कर्मण सगतौ वर्तमानक्षणे तस्य नोत्पत्ति स्यान्निराश्रयकर्मोत्पत्त्ययोगात्तदैवाऽऽश्रयसत्त्वे च क्षणिकताक्षतिरित्यर्थ ॥ निराश्रयत्वपक्ष निराह—अनिष्ठितमिति । क्वचिदनाश्रित कर्मैव न सिध्यति नित्यपारतन्त्र्यस्वाभाव्यात्सिध्यदपि न फलवत्स्यादित्यर्थः । विज्ञानस्कन्धाना क्षणिकत्वमाश्रित्य कर्माश्रयत्वायोगमुक्त्वा क्षणिकत्वमेवायुक्तमित्याह—न चेति । तथा च क्षणभेदेन जन्मनाशयोरेकत्रावस्थानावश्यभावात्तदाश्रयस्य क्षणद्वयसम्बन्धात् विवक्षितक्षणिकत्वसिद्धिरित्यर्थ ॥ क्षणिकस्कन्धाश्रयमनाश्रय वा कर्मेति पक्षौ प्रतिक्षिप्य पक्षान्तर प्रत्याह—न चेति । ग्तदिति कर्मोक्ति क्षणभङ्गभङ्गेनापराद्धान्तादिति भाव ॥ शून्यनाशपक्षौ दूषयति—अनारम्भश्चेति । शून्ये नाशे वा प्रयोजके शास्त्रारम्भो न युक्त कृत्याभावादित्यर्थ । दोषान्तरमाह—यथेति । यथाऽय प्रपञ्चो दृश्यते न तथा शून्य जीवनाशश्च न चोभयत्र मानान्तरमस्तीति जीवनाशधीस्त्वौपाधिकी व्याख्याता तत्र शून्यनाशौ प्रयोजकाविस्यर्थं । शून्यग्रहणं जीवनाशोपलक्षणम् । सर्वथा प्रमाणतो युक्तितश्चेत्यर्थ ॥ बाह्यपक्षान्प्रतिक्षिप्य स्वपक्षमुपसहरति—यत इति । क्रियापदादुपरिष्टादितिशब्दमध्याहृत्यान्वयो द्रष्टव्य । कालादेरपि सत्त्वादवधारणायोगमाशङ्क्याऽऽह—कालादेरिति ॥ उक्तऽर्थे तौ हत्यादिश्रुतिमवतारयति—कर्मेति । अत शब्दार्थं स्पष्टयति—कालादेरिति ॥ कर्मप्रयुक्तत्वे कालादेर्युक्तिमाह—सतीति । कालादीना प्रवर्तकत्वादिवैचित्र्य विचित्रे कर्मणि सत्येव प्रयोजके युक्तमन्यथा प्रवृत्तिरप्रवृत्तिर्वेत्युक्ताऽव्यवस्था स्यादित्यर्थः । कर्म हैवेत्यत्र कर्मशब्दार्थमाह—कर्मेति ॥ केवलमेव

तत्रा[1]पुण्येन स्थावरजङ्गमेषु स्वभावदुःखबहुलेषु नरकतिर्यक्प्रेतादिषु च दुःखमनुभवति पुनः पुनर्जायमानो म्रियमाणश्चेत्येतद्राजवर्त्मवत्सर्वलोकप्रसिद्धम्[2]। यत्तु शास्त्रीयः पुण्यो वै पुण्येन कर्मणा भवति' तत्रैवाऽऽदरः क्रियत इह श्रुत्या। पुण्यमेव च कर्म

पुण्यपापयोरुभयोरपि संसारफलत्वाविशेषात्पुण्यफलवत्पापफलमप्यत्र' वक्तव्यमन्यथा ततो विरागायोगादित्याशङ्क्य 'वक्ष्यमाणस्य तात्पर्यं वक्तुं भूमिकां करोति—तत्रेति। पुण्येष्वपुण्येषु च निर्धारणार्था सप्तमी। स्वभावदुःखबहुलेष्वित्युभयत' संबध्यते। 'तर्हि पुण्यफलमपि सर्वलोकप्रसिद्धत्वान्नात्र वक्तव्यमित्याशङ्क्याऽऽह—यत्त्विति। शास्त्रीय. सुखानुभव इति शेषः। इहेति ब्राह्मणोक्तिः। ※शास्त्रीय कर्म सर्वमपि संसारफलमेवेति वक्तु 'ब्राह्मणमित्युक्त्वा शङ्कोत्तरत्वेनापि 'तद-

उनमे पापकर्म से स्वाभाविक दुख बहुल नरक, तियक् और प्रेतादि स्थावर और जगम योनियो मे पुन -पुन जन्म और मरण को प्राप्त हुआ दु ख अनुभव करता है—यह बात लोकव्यवहार मे राजपथ के समान प्रसिद्ध है। एव जो शास्त्रीय सुख का अनुभव है, उसका "पुण्यकर्म करने से पुण्यात्मा होता है" इस प्रकार श्रुति निरूपण करती है। उसी का श्रुति द्वारा यहाँ आदर किया जाता है। 'पुण्य कर्म

१ पापेन कर्मणा। २ सर्वलोकप्रसिद्धमिति—पश्वादिषु प्रेतादिषु च मानादु खानुभवाख्यपापफलस्य लोकप्रसिद्धत्वेनापूर्वत्वाभावान्न तन्निरूपणमित्यर्थः। पुरुषार्थ श्रुत्या आद्रियते पापफलस्य चाधिकानर्थत्वान्न तत्राऽऽदर श्रुतेरिति भाव। अधर्मोऽपि जिज्ञास्य परिहारायेति न्यायादनर्थस्यापि तस्य जिहासया निरूपणमुचितमित्याशङ्क्याऽऽह—"स्वतश्च तज्जिहासाया सिद्धत्वान्नह कीर्त्यते" ॥ वा० ६ ॥ इति। तर्हि कर्मफलत्वाविशेषादश्वमेधफलेऽप्यनादर श्रुतेरुचितो नेत्याह—"परमोदारफलता त्वश्वमेधाख्यकर्मण " ॥ वा० ६ ॥ इति। अश्वमेधादेरतिशयफलत्वात्तत स्वतोवैराग्यायोगात्तदर्थं तस्य ससारत्वेनानर्थकोटिप्रविष्टत्व प्रकटनीयमिति भाव। ३ इतिश्रुत्योक्त इति शेष। ४ प्रस्तुतब्राह्मणे। ५ ब्राह्मणस्येति। ६ प्रसिद्धत्वेन पापफलस्यावक्तव्यत्व। ७ ब्राह्मणतात्पर्यमुक्तवत्यर्थं। ८ ब्राह्मणम्।

※शास्त्रीय कर्म सर्वमपि ससारफलमेवति वक्तु ब्राह्मणमिति। ननु वैदिककर्मफल ससाराख्य प्रागेवोक्त तत्किमनेन ब्राह्मणेनेत्याशङ्क्यास्यापुनरुक्त विषय वक्तु कर्मफलभेदमाहुर्वार्तिकाचार्या —साधारण्यविशेषाभ्या कर्मणश्च व्यवस्थिति। विशेषावस्था प्रागुक्ता सामान्य त्वधुनोच्यते ॥ ससारे कियती व्याप्तिरभिव्यक्तस्य कर्मण। सामान्यात्मविशेषाभ्यामित्येतदधुनोच्यत ॥ प्रत्यग्याथात्म्यमाहत्य कार्यंयत्तेह भण्यते। एतस्या सम्यगुक्ताया नानुक्तमवशिष्यत ॥ भ्रूणहत्याश्वमेधाभ्या न पर पापपुण्ययो। इत्यत्र धर्मकाराणामपि वाक्यानि कोटिश ॥ ४-७ ॥ इति। कर्मण समष्टिरूपेण व्यष्टिरूपेण च द्विधा फलस्थितिरित्यर्थ। व्यष्टिरूपेण तत्फलस्थितिरुद्गीथब्राह्मणे सोऽग्निरभवदित्यादिनोक्तेति परिशेषार्थं स्मारयति—विशेषेति। अथास्यापुनरुक्त विषयमाह—सामान्य त्विति। कर्मफल समष्टिरूप मोत्र निरूपयितुमनादित्यर्थ ॥ ननु वैदिककर्मफल सौत्र ससाररूपमिहोच्यत तच्च समष्टिव्यष्ट्यात्मकमिति नोक्ता व्यवस्था युक्ता न च व्यष्ट्यशमुपदिश्य समष्ट्यशमुपदेष्टुमिदमिति श्लिष्ट तस्यापि मृत्युरस्याऽऽत्मा भवतीत्युक्तत्वादत आह—ससार इति। द्वयोरवस्थयोरुक्तत्वेऽप्यारब्धकर्मण समष्टिव्यष्टिरूपेण कियती फलव्याप्तिरित्याशङ्कायां तत्परिमाण ससारेऽन्तर्भूततया तन्मात्रमेवेत्यतदनेन मृत्युब्राह्मणेनोच्यते तदर्थविशेषसिद्धिरित्यर्थ ॥ ननु पूर्वमपि ससारात्मकमेव कर्मफलमुक्त तस्य सूत्रस्य मृत्योरशनायादिमत्त्वश्रुतेरित्याशङ्क्य विवक्षितमर्थविशेषमाह—प्रत्यगिति। ।साध्य सर्व त्वाविद्योत्थमेवेत्यस्मिन्ब्राह्मणे कथ्यतऽतोऽर्थभेदाद-

'सर्वपुरुषार्थसाधनमिति सर्वे श्रुतिस्मृतिवादाः' । मोक्षस्यापि पुरुषार्थत्वात्तत्साध्यता प्राप्ता । यावद्यावत्पुण्योत्कर्षस्तावत्तावत्फलोत्कर्षप्राप्तिः । तस्मादुत्तमेन पुण्योत्कर्षेण मोक्षो भविष्यतीत्याशङ्का स्यात् । सा निवर्तयितव्या । ज्ञानसहितस्य च प्रकृष्टस्य कर्मण एतावती गतिः । व्याकृतनामरूपास्पदत्वात्कर्मणस्तत्फलस्य च । न त्वकार्ये नित्येऽव्याकृतधर्मिण्यनामरूपात्मके क्रियाकारकफलस्वभाववर्जिते कर्मणो व्यापारोऽस्ति । यत्र च

अवतारयति—पुण्यमेवेत्यादिना । मोक्षस्य पुण्यसाध्यत्वं विधान्तरेण साधयति—यावद्यावदिति । कथं तस्या निवर्तनमित्याशङ्क्याऽऽह—ज्ञानसहितस्येति । समुच्चितमपि कर्म संसारफलमेवेत्यत्र हेतुमाह—व्याकृतेति । मोक्षेऽपि स्वर्गादाविव पुरुषार्थत्वाविशेषात्कर्मणो व्यापारः स्यादित्याशङ्क्याऽऽह—न त्विति । अकार्यत्वमुत्पत्तिहीनत्वम् । नित्यत्वं नाशशून्यत्वम् । अव्याकृतधर्मित्वं व्याकृतनामरूपराहित्यम् । 'अशब्दमस्पर्शम्' इत्यादिश्रुतिमाश्रित्याऽऽह—अनामेति । 'निष्कलं निष्क्रियम्' इत्यादिश्रुतिमाश्रित्याऽऽह—क्रियेति । चतुर्विधक्रियाफलविलक्षणे मोक्षे कर्मणो व्यापारो न संभवतीति भावः । नन्वा स्थाणोरा च प्रजापतेः सर्वत्रः कर्मव्यापारात्कथं मोक्षे प्रजापतिभावलक्षणे तद्व्यापारो नास्ति

ही धर्म-अर्थ आदि सभी पुरुषार्थों का साधन है" इसमें श्रुति, स्मृति और उक्तियाँ प्रमाण हैं । अत. पुरुषार्थ होने के कारण मोक्ष का भी कर्मसाध्य होना प्राप्त है । जितना-जितना पुण्य अधिक होता है, उतनी-उतनी ही फल की उत्कृष्टता प्राप्त होती है । इसलिए उत्तम पुण्योत्कर्ष से मोक्ष प्राप्त होगा,

१ धर्मार्थादिपुरुषार्थसाधनमिति । २ "स्वर्गकामो यजेत, विविदिषन्ति यज्ञेन" इत्येवंविधा. श्रुतयः, "धर्मात्सुखं च ज्ञानं च" "कर्मणैव हि संसिद्धिम्" "कर्मयोगो विशिष्यते" इत्याद्याश्च स्मृतय. । ३. उक्तय । ४. कर्म । ५ पुण्यस्याखिलपुमर्थसाधनताया श्रुत्याद्यवधृतत्वात् । ६ उपासनसहितस्य । ७ अश्वमेधाख्यस्य । ८ एतावती—एतत्परिमाणा हिरण्यगर्भावसानेति यावत् । गतिश्चाप्ति फलपरिणतिरिति यावत् । तत्राहुर्वार्तिकाचार्या —"ज्ञानोपबृंहितस्यापि क्रतुराजस्य कर्मण. । संसारविषयैवाप्तिर्मुक्तौ सा न मनागपि ॥ प्रत्यग्याथात्म्यसंमोह क्रियाकारकरूपवान् । प्रयतेऽपास्तनिःशेषक्रियाकारकवस्तुनि" ॥१२-१३॥ इति । सा यथोक्ता व्याप्तिः । ज्ञानसहितमपि कर्मसंसारफलकमेवेत्यस्मिन्ब्राह्मणे व्यक्ती भविष्यति ॥ अस्याविद्यसंसारस्तत्र तत्रोच्यते स चेदत्र कर्मफलत्वेन उच्यत इति कथं पूर्वापरविरोधो न स्यादत आह—प्रत्यगिति । निर्विशेषे चिदात्मनि सद्विद्या कर्माद्यात्मना विजृम्भते तथाच बन्धस्य कर्मजत्वेऽपि नाविद्याजत्वहानिरित्यर्थः । ९. आश्रयत्वात् । १० सामर्थ्यम् । ११ उत्पत्तिराप्ति. विकृति संस्कृतिरिति चतस्रो विधा. ।

गतार्थतेत्यर्थः । मोहकार्ये यत्नोक्तिफलमाह—एतस्यामिति । अनुवर्त इतान्तं पातीति शेषः ॥ वैदिककर्मफलस्याविद्योत्थबन्धमध्यपातित्वमेवेति वक्तुमेतद्ब्राह्मणमित्युक्तं कथं सर्वमपि कर्मफलं संसारत्वेनात्र विवक्षितमित्याशङ्क्याऽऽह—भ्रूणेति । भवता पापाना पुण्याना च मध्ये ब्रह्मवधोऽश्वमेधश्च महान्तौ तथाऽपि कथं सर्वं कर्मफलं संसारस्तत्राऽऽह—इत्येवमिति । इतिशब्देनोक्तब्रह्मवधादिपरामर्शः । एवंशब्देन तत्सदृशपुण्यापुण्यप्रकारोक्ति । तथाच ब्रह्मवधेन तत्सदृशैश्च पापैरश्वमेधेन तत्तुल्यपुण्यैश्च संसार क्रियते । यथाऽऽहु—'श्वसूकरखरोष्ट्राणां गोजाविमृगपक्षिणाम् । चण्डालपुल्कसानां च ब्रह्महा योनिमृच्छति' इति । 'धर्मरज्ज्वा व्रजेदूर्ध्वं पापरज्ज्वा व्रजेदध.' इति च । अपिना तद्य इह रमणीयचरणा इत्यादिश्रुतीनामपीत्यर्थ. ।

[1]व्यापारः [2]स संसार एवेत्यस्यार्थस्य प्रदर्शनाय ब्राह्मणमारभ्यते ।
[3]यत्तु कैश्चिदुच्यते [4]विद्यासहितं कर्म [5]निरभिसंधि मन्त्रशर्करादियुक्तविषदध्यादिव-
त्कार्यान्तरमारभत इति । तन्न । [6]अनारभ्यत्वान्मोक्षस्य । बन्धननाश एव हि मोक्षो न

तत्राऽऽह—यत्र चेति । कर्मफलस्य सर्वस्य संसारत्वमेवेति कुत. सिध्यति तत्राऽऽह—इत्यस्येति ।
[3]विद्यासहितमपि कर्म संसारफल विद्यैव मोक्षार्थेतिस्वपक्षशुद्धयर्थं विचारयन्पूर्वपक्षयति—
यत्त्विति । यथा केवल विषदध्यादि मरणज्वरादिकरमपि मन्त्रशर्करादियुक्तं जीवनपुष्ट्याद्यारभते तथा
स्वतो बन्धफलमपि कर्म फलाभिलाषमन्तरेणानुष्ठितं विद्यासमुच्चितं मोक्षाय क्षममित्यर्थ. । मुक्ते
साध्यत्वाङ्गीकारे समुच्चितकर्मसाध्यत्वं स्यान्न तु तस्याः साध्यत्वं ॐ धीमात्रायत्तत्वादित्युत्तरमाह-तन्नेति ।

ऐसी आशङ्का हो सकती है। उस की निवृत्ति करनी चाहिये। उपासनासहित अश्वमेधसञ्ज्ञक कर्म की
हिरण्यगर्भ में अवसानरूप फलपरिणति है क्योंकि कर्म और उसके फल व्याकृत नाम और रूप के आश्रित
रहते हैं। अकार्य, नित्य अव्याकृतधर्मी, नामरूपात्मकविहीन, क्रियाकारकफलस्वभाववर्जित मोक्ष में
कर्म का कोई व्यापार नही हो सकता। जहाँ कर्म का व्यापार है, वह संसार ही है। इसी अर्थ का
निरूपण करने के लिए इस तृतीय ब्राह्मण का प्रारम्भ किया जाता है।
किन्ही याथात्म्यविज्ञान न मानने वालो का मत है कि तत्त्वज्ञानसहित निष्कामकर्म विष और
दधि आदि के समान कार्यान्तर-का आरम्भ करता है, ऐसा कहना ठीक नही है क्योंकि मोक्ष का अका-
र्यत्व होना प्रसिद्ध ही है। बन्धन का नाश होना ही तो मोक्ष है, वह किसी का कार्य नही है एवं बन्धन

१ कर्मण । २ स संसार एवेति—तथा च प्रजापतिभावस्य मुख्यमोक्षपदार्थत्वाभावान्न तत्र कर्मव्यापार
इति भाव । ३ यत्त्विति—उक्तरीत्या ब्राह्मणारम्भे स्थिते सति कैश्चिदनिर्ज्ञातात्मयाथात्म्यैर्यदुच्यत
तद्धारयाम इत्यर्थं । ४ तत्त्वज्ञानसहितम् । ५ निष्कामम् । ६ अकार्यत्वात् । ७ प्रत्यग्याथात्म्यज्ञानमत्र विद्या ।
८ ज्ञानमात्राधीनत्वात् ।

ॐ धीमात्रायत्तत्वादिति । ननु धीसाध्यत्ववत्क्रियासाध्यत्वमपि स्यादित्याशङ्क्याहुर्वार्तिकाचार्या —"ब्रह्म वा
इदमित्युक्ते प्रागपि ज्ञानजन्मत । जगद्ब्रह्मात्मससिद्धेर्नातो मुक्ति क्रियोद्भवा ॥ यदि वस्तु स्वतो मुक्त परतो
बद्धमिष्यते । मोक्षाय यत्न फलवांस्तदा स्यान्न विपर्यये ॥ विद्याऽभिव्यञ्जिकैवेय स्वत सिद्धस्य वस्तुन ।
आरम्भकत्व जगति तस्या नैवोपपद्यते ॥ अज्ञानमात्रव्यवधौ वस्तुनि व्यापृतिर्मिते । आरभ्यश्चेऽफल ज्ञान
व्यञ्जकत्वात्प्रदीपवत् ॥ न चाविद्यातिरेकेण मुक्तर्बन्धोऽन्य इष्यते । निवृत्ति श्रियत यस्य विद्यतेनेह कर्मणा ॥
अविद्यानाशमात्रस्य मोक्ष आत्मन इष्यते । यतस्ततोऽतिरेकेण मोक्षोऽनित्यो भवद्ध्रुवम् ॥ सम्यग्ज्ञानातिरेकेण
न चान्येनास्ति निह्नुति । प्रत्यङ्मोहस्य नात स्याज्ज्ञानकर्मसमुच्चय " ॥ १८-२४ ॥ इति । ज्ञानोत्पत्तेः
प्रागपि जगत ससारिणो ब्रह्मत्व सिद्ध ब्रह्म वा इदमग्र आसीदित्यादि श्रुतेरतो न ज्ञानसाध्या मुक्तिस्तद्दृष्टा-
न्ताभावान्न क्रियासाध्याऽपीत्यर्थ ॥ किंच मुक्तिरसाध्या तथाहि किं प्रत्यग्वस्तु स्वतो मुक्त परतो बद्ध किंवा
स्वतो बद्ध परतो मुक्त तत्राऽऽद्यमनुवदति—यदीति । तत्र बन्धहेतो परस्यावस्तुत्व वस्तुत्व वा प्रथम
प्रत्याह—मोक्षायेति । बन्धहेतोरवस्तुत्वे सहेतुबन्धध्वस्ते सुकरत्वादनायाससिद्धा मुक्तिर्न कर्मापेक्षेत्यर्थ ।
बन्धहेतोर्वस्तुत्व प्रतीच स्वतोबद्धत्वे च मोक्षायप्रवृत्तरफलतेति कल्पद्वय दूषयति—नेति ॥ मुक्तेर्विद्यासाध्य-
त्वाभाव इत्युत्तरमाह—विद्येति । किमिति व्यञ्जकत्व तस्या नियम्यते तत्राऽऽह—आरम्भकत्वमिति ।
कारकत्वे न प्रमाणत्वं मृदादिवदित्यर्थं ॥ स्वत सिद्धेव्यञ्जकत्वमप्ययुक्त व्यक्त सहजत्वादित्याशङ्क्याऽऽह

कार्यभूतः । बन्धनं चाविद्येत्यवोचाम । अविद्यायाश्च न कर्मणा नाश उपपद्यते । दृष्टविषयत्वाच्च कर्मसामर्थ्यस्य । उत्पत्त्याप्तिविकारसंस्कारा हि कर्मसामर्थ्यस्य विषयाः । उत्पादयितुं प्रापयितुं विकर्तुं संस्कर्तुं च सामर्थ्यं कर्मणो नातो व्यतिरिक्तविषयोऽस्ति कर्मसामर्थ्यस्य लोकेऽप्रसिद्धत्वात् । न च मोक्ष एषां पदार्थानामन्यतमः । अविद्यामात्रव्यवहित इत्यवोचाम ।

बाढम् । भवतु केवलस्यैव कर्मण एवंस्वभावता । विद्यासंयुक्तस्य तु निरभिसं-

---

हेतुमेव साधयति—बन्धनेति । किं तद्बन्धनं तदाह—बन्धनं चेति । अविद्यानाशोऽपि कर्मारभ्यो भविष्यतीति चेन्नेत्याह—अविद्यायाश्चेति । मोक्षो न कर्मसाध्योऽविद्यास्तमयत्वाद्रज्ज्वविद्यास्तमयवदित्यर्थः । तत्रैव हेत्वन्तरमाह—दृष्टविषयत्वाच्चेति । न कर्मसाध्या मुक्तिरिति शेषः । तदेव स्पष्टयति—उत्पत्तीति । उक्तमेव कर्मसामर्थ्यविषयमन्वयव्यतिरेकाभ्यां साधयति—उत्पादयितुमिति । अप्रसिद्धत्वादिति च्छेदः । उत्पत्त्यादीनामन्यतमत्वान्मोक्षस्यापि कर्मसामर्थ्यविषयता स्यादिति चेन्नेत्याह—न चेति । नित्यत्वादात्मत्वात्कूटस्थत्वान्नित्यशुद्धत्वान्निर्गुणत्वाच्चेत्यर्थः । आत्मभूतो यथोक्तो मोक्षस्तर्हि किमिति सर्वेषां न प्रयत इत्याशङ्क्याऽऽह—अविद्येति ।

उक्तं कर्मसामर्थ्यं पूर्ववाद्यङ्गी करोति—बाढमिति । अङ्गीकारमेव स्फोरयति—भवत्विति । एवंस्वभावतेत्यावनादौ समर्थता । का तर्हि विप्रतिपत्तिस्तत्राऽऽह—विद्यासयुक्तस्येति । अन्यथा स्वभा-

---

अविद्या है— ऐसा हम पहले ही कह आये है । तथा अविद्या का कर्म से नाश होना सभव नही है क्योकि जिनमे कर्म की सामर्थ्य है, वे कार्य अथवा उसके विषय परिगणित ही है । उत्पत्ति, प्राप्ति, विकार और संस्कार ये कर्म की सामर्थ्य के विषय देखे गये है । उत्पन्न करना, प्राप्त करना, विकारापन्न करना एव सस्कारयुक्त करना ही कर्म की सामर्थ्य है, उत्पत्ति आदि से भिन्न कोई कार्य कर्मसामर्थ्य से होता हो, ऐसा लोक मे प्रसिद्ध नही ही है । इनमे स कोई भी पदार्थ मोक्ष नही है, वह तो केवल अविद्यामात्र से आवृत है—ऐसा हम कह आये है ।

(पूर्ववादी शङ्का करता है—) ठीक है । केवल कर्म का ऐसा स्वभाव भले ही हो किन्तु निरु-

---

१ कार्यं यद्वा तद्विषया दृष्टा एव परिगणिता इति यावत् । २ उत्पत्त्यादित । ३ सङ्क्षेपतश्चोद्यसमाधान कृत्वा विस्तरेण तत्कर्तुं तावच्चोद्य विवृणोति—विद्येति । ४ अविद्यानिवृत्तिरूपत्वात् । ५ मोक्षस्य कर्मासाध्यत्वे । ६ मुक्तिन कर्मसाध्या अकार्यत्वादीश्वरादिवदिति विवक्षितम् । ७ कर्मसामर्थ्यस्य दृष्टविषयत्वम् । ८ उत्पाद्यादीनाम् । ९ मदुक्तकर्मसामर्थ्याङ्गीकारदशायामावयो को विवाद ।

—अज्ञानेति । व्यक्ति स्वत सिद्धाऽपि इत्यर्थं । मोक्षस्यासाध्यत्वे हेत्वन्तरमाह—आरम्य इति । मोक्षलक्षणे फले साध्ये स्वीकृते तत्र ज्ञानस्याप्रवेशात्तदनर्थक स्यात्तस्य हि दीपवद्व्यञ्जकत्वाद्व्यङ्ग्ये प्रवेशो न साध्ये तस्मात्तत्फलवस्त्वानुपपत्त्याऽपि न मुक्ते साध्यतेत्यर्थं ॥ मा भूदीसाध्या सा तत्सहितकर्मसाध्या तु स्यादज्ञानान्यतद्व्यवधानस्य समुच्चयापास्यत्वादित्याशङ्क्याऽऽह—न चेति । बन्ध प्रतिबन्धो व्यवधिरिति यावत् । विद्येतन विद्यासहितनेत्यर्थं । इहेति प्रत्यगर्थोक्ति । मुक्तेः समुच्चयासाध्यत्वे युक्त्यन्तरमाह—अविद्येति । अविद्यानाशातिरेकेण मोक्ष साधनाधीनो भवन्ध्रुवमनित्यो भवत्यत प्रतीचि स्वाविद्याध्वस्तिरेव मुक्तिरिति न समुच्चयावकाश इत्यर्थं ॥ सैव समुच्चयसाध्येत्याशङ्क्याऽऽह—सम्यगिति ॥

धेर्भवत्यन्यथा स्वभावः । दृष्टं ह्यन्यशक्तित्वेन निर्ज्ञातानामपि पदार्थानां [1]विषदध्यादीनां विद्यामन्त्रशर्करादिसंयुक्तानामन्यविषये सामर्थ्यम् । तथा कर्मणोऽप्यस्त्विति चेत् । न । [2]प्रमाणाभावात् । [3]तत्र हि कर्मण उक्तविषयव्यतिरेकेण विषयान्तरे सामर्थ्यास्तित्वे प्रमाणं

वश्रुतुविषयक्रियाफलविलक्षणेऽपि मोक्षे समर्थेति यावत् । उत्पत्त्यादौ समर्थस्य कर्मणो विद्यासंयुक्तस्य तद्विलक्षणेऽपि मोक्षे सामर्थ्यमस्तीत्यत्र दृष्टान्तमाह—दृष्टं हीति । उक्तदृष्टान्तवशात्कर्मणोऽपि केवलस्य संसारफलस्य विद्यासंयोगान्मुक्तिफलत्वमपि स्यादित्याह—तथेति । समाधत्ते—नेत्यादिना ।

द्दैश्य विद्यासहित कर्म का उससे विलक्षण ही स्वभाव होता है । ऐसा देखा जाता है कि केवल अन्यशक्तिक जाने गये विष और दधि आदि पदार्थों का विद्या, मन्त्र एव शक्कर आदि से युक्त होने पर अन्य विषय मे सामर्थ्य हो जाता है। इसी प्रकार विद्या से युक्त कर्म का भी दूसरा स्वभाव हो सकता है । (इस पर सिद्धान्ती कहता है—) ऐसा कहना ठीक नही क्योकि इसमें कोई प्रमाण नही है । प्रमाणो मे कर्मों के

१ केवलानाम् । २ विषदध्यादीनामिति । ननु कथमपा व्यवस्थेति चेच्छृणु वार्तिके—"पूर्वशक्तिनिरासेन शक्त्यन्तरसमुद्भव । वस्त्वन्तरसमायोगाद्विषादेर्दृश्यते यत " ॥३०॥ इति । अत कर्मणोऽपि विद्यासम्बन्धात्पूर्वशक्तिनिरासेन शक्त्यन्तरस्योद्भव स्यादिति ॥ ३. प्रमाणाभावादिति—विषदध्यादेस्तु कार्यान्तरोत्पत्तौ सामर्थ्यास्तित्वे कार्यमेव मान दृष्टत्वादिति भाव । ४ प्रमाणाना मध्ये । ५ उत्पत्त्यादिरूपविषयेति बोध्यम् ।

[6]तत्र हीत्यादि न शब्दोऽस्तीत्यन्तभाष्य आहुर्वार्तिकास्तथाहि—"साध्यावृत्त्यात्मक ज्ञान कर्मैवावस्तुतन्त्रत । ज्ञान हि वस्तुतन्त्र स्यान्न तु तत्कारकाश्रितम्" ॥ ३४ ॥ उपास्त्या ज्ञानेन वा कर्मसमुच्चयस्तत्राऽऽद्ये ज्ञानकर्मसमुच्चयाभाव वक्तुमुपास्तेर्ज्ञानत्वाभावमाह—साध्येति । साध्य ध्येय वस्तु तत्र प्रत्ययावृत्तिरूपोपास्तिरवस्तुतन्त्रत्वात्कर्मैवेत्यर्थ । वस्तुतन्त्रत्वाभावेऽपि ज्ञानस्य शङ्कित्वाऽऽह—ज्ञान हीति । मानवस्तुतन्त्र हि ज्ञान न कर्तृतन्त्रमुपास्तिस्तु कर्तृतन्त्रा तन्न ज्ञानमित्यर्थ ॥ "कर्मेत कर्म तेनेहाग्विधेत न कथचन । क्रियासमुच्चयोऽत्रोऽस्य न तु विद्यासमुच्चय" ॥ ३५ ॥ तस्या ज्ञानत्वाभावे फलितमाह—कर्मेति । ईदृगित्युपास्तियुक्त कर्मोच्यते । उक्तमेव फलित स्फुटयति—क्रियेति । अत शब्देनोपास्तर्मानसक्रियात्वमाह—न त्विति । "साध्यसाधनसबन्ध आगमैकप्रमाणक । मुक्तेश्च साधनत्वेन कर्म नैव श्रुत श्रुतौ" ॥ ३६ ॥ किंच समुच्चितमसमुच्चित वा कर्म मुक्तिहेतुरित्यत्राध्यक्षादि मानमागमो वा प्रथम प्रत्याह—साध्येति । पारलौकिक इति शेष । द्वितीय दूषयति—मुक्तश्चेति । अपाम सोममित्यादि तु कर्मस्तावकत्वान्न स्वार्थे मान मानान्तरविरोधादिति भाव ॥ "अज्ञानहान वा मुक्तिस्तस्या कर्म न साधनम् । न हि कर्म तमो हन्ति तमसीवोत्थित तम" ॥ ३७ ॥ मुक्तरकर्मसाध्यत्वे हेत्वन्तरमाह—अज्ञानेति । किमिति कर्माज्ञानहानेर्न हेतुरित्याशङ्क्य सम्यग्ज्ञानातिरेकेणत्यत्रोक्त दृष्टान्तेन स्पष्टयति—न हीति । तमसि रज्ज्वज्ञाने समुत्पन्न तम भुजगादिज्ञानमिति यावत् ॥ "अविद्यैकोद्भवत्व स्याद्यद्यपि ज्ञानकर्मणो । मैवंकात्म्यानुरोधित्व तथाऽप्यनिशया धिय" ॥ ३८ ॥ कर्म नाज्ञान निवर्तयत्यज्ञानजत्वाद्रज्जुसर्पधीवदित्ययुक्त ज्ञानेऽपीत्थमनुमानसभवादित्याशङ्क्य वस्त्वननुसारित्वमुपाधिरित्याह—अविद्येति ॥ "नाऽऽत्माविद्यामतिक्रम्य कर्मवात्म्यानुरोधि हि । तमसामात्माभिजनतो मातोऽविद्या निहन्ति तत्" ॥ ३९ ॥ उपाधेरसभवमाशङ्क्याऽऽह—नाऽऽत्मेति । हिशब्दोपात्त हेतुमाह—तमोमात्रेति । न हि कर्तृस्वार्थाभिमान विना कर्म ज्ञान पुनस्तदुपमर्दीति विशेषसिद्धिरित्यर्थः । कर्मणा वस्त्वननुसारित्व फलितमाह—नात इति ॥

न प्रत्यक्षं नानुमानं नोपमानं नार्थापत्तिर्न शब्दोऽस्ति ।

उक्त उत्पत्त्यादिरूप विषय से भिन्न किसी दूसरे विषय में सामर्थ्य होने का न प्रत्यक्ष प्रमाण है, न अनुमान है, न उपमान प्रमाण है, न ही अर्थापत्ति और शब्द प्रमाण है।

"स्वत सिद्धात्मवस्त्वैकमात्रोत्पादनकारणात् । ज्ञान हन्ति तमोऽप्येव न तु कर्म तमोऽन्वयात्" ॥ ४० ॥ उपाधेः साधनव्याप्तिमाशङ्क्याऽऽह—स्वत इति । स्वप्रकाशसच्चिदानन्दात्मावाराद्यन्तैकरसवस्त्वाकारेण वाक्याज्ज्ञानमुत्पद्यते तदेव तमो निवर्तयतीत्यर्थः । उपाधिफल निगमयति—न त्विति । तमोऽनुसारित्वाद्वस्त्वननुसारित्वाच्च कर्म तमोऽन्वयीति यावत् ॥ "अज्ञानादिवत्र प्रत्यगात्मा यद्यपीष्यते । ज्ञानवज्ज्ञानसंभूतेर्नैव प्रागभ्युपेयते" ॥४१॥ ननु वस्त्वननुसारि तदज्ञानध्वंसीति न व्यतिरेकोऽज्ञानादौ व्यभिचारात्ततो व्यतिरेकाद्धेतोरुपाधिरत आह—अज्ञानादीति । अज्ञान मिथ्याज्ञान संशयज्ञानमिति त्रय ज्ञानवच्चैतन्यानुविद्धमपि प्रागज्ञानोत्पत्तेः सहेतुकमप्यमहेतुमेष्यते तस्य चैतन्याकारमात्रेऽपि विपरीतप्रत्याहतुत्वेन वस्त्वननुसारित्वाभावादतो न व्यतिरेकासिद्धिर्विमतमज्ञानध्वंसि वस्त्वनुसारित्वाद्रज्जुज्ञानवदित्यनुमानादित्यर्थः ॥ "कर्माणि कारणं मुक्तेर्न कथञ्चन युज्यते । साक्षादविद्याप्रध्वस्तौ पारम्पर्यात्तु युज्यते" ॥ ४२ ॥ उक्तोपाधिसम्भवात्प्रत्यनुमानायोगात्पूर्वोक्तानुमानं स्थितमिति फलितमाह—कर्माणीति । कर्मणां साक्षान्मोक्षानुपयोगे कथं विविदिषावाक्यादि निर्वहतीत्याशङ्क्याऽऽह—साक्षादिति ॥ "मुक्तौ च कर्मणाम्प्राप्तौ विकल्पैकं विमुक्तिदम् । किं वा सम्भूय सर्वाणि कर्माणि घ्नन्ति संसृतिम्" ॥ ४३ ॥ प्रत्यनुमानाभावेऽप्ययमज्ञानकार्यध्वंसहेतुर्ज्ञानं व्यभिचरतीति । चेन्नैवमप्रत्याशस्त्वस्य हेतुत्वमेवादित्यभिप्रेत्य कर्मणां मुक्तिहेतुत्व विकल्पयति—मुक्तौ चेति ॥ 'सकृदभूय प्रयोगाद्वा यावज्जीवप्रयोगतः । एकादिदक्षिणात्वेन विकल्पस्तुल्य इष्यते" ॥ ४४ ॥ पक्षद्वयेऽप्यनुष्ठाने विकल्पत्रयमाह—सकृदिति । मुक्तिरिति शेषः । अनुष्ठानवद्दक्षिणामपि विकल्पयति—एकादीति । एकस्य वा बहूनां वा सर्वस्य वा गवादेर्दक्षिणायां मुक्तिरिति विकल्पार्थः ॥ "काम्यैर्वा यदि वा नित्यैः सर्वैर्वा मुक्तिरिष्यते । श्रौतैर्वा यदि वा स्मार्तैर्यदि वोभयकर्मभिः" ॥ ४५ ॥ अनुष्ठीयमानकर्मस्वेव विकल्पान्तराणि करोति—काम्यैरिति ॥ 'तथा च ज्ञानसंयोगे प्रधानगुणभेदतः । त्रिधा विकल्पो विज्ञेयो विमुक्तिफलसिद्धये" ॥ ४६ ॥ केवलानि कर्माणि विकल्प्य समुच्चितानि विकल्पयति—तथा चेति । मोक्षार्थं कर्मणा ज्ञानसमुच्चये सत्युभयो: समप्रधानत्वेन गुणप्रधानत्वेन च भेदाद्विकल्पत्रय ते हि समप्रधाने वा कर्मप्रधान तद्गुणो ज्ञानमिति वा वैपरीत्य वेत्यर्थः ॥ "एकैकं मुक्तिकृच्चेत्स्याद्यववीह्यादिहोमवत् । एकेनैव कृतार्थत्वान्नानुतिष्ठेत्ततोऽपरम्" ॥ ४७ ॥ एकैकं कर्म मुक्तिदमित्याद्यनुवदति—एकैकमिति । यथैवैको व्रीहियवादिहोमोऽपूर्वहेतुस्तथाऽग्निहोत्रादिकर्मैकं विकल्पेन मुक्तिहेतुरित्यर्थः । तत्र कर्मान्तरवैयर्थ्यमिति दूषयति—एकेनेति । न च व्रीह्यादिवद्विकल्पेनार्थवत्त्व मोक्षमुद्दिश्य कर्मसु तदश्रुतेरगत्या च तदाश्रयणादिति भावः ॥ "प्रयोगे दक्षिणायां च समानोऽयं परिश्रमः । अथ सम्भूय सर्वाणि मुक्तिं कर्माणि कुर्वते ॥ ऐककर्म्यं ध्रुवं प्राप्तसर्वेषामपि कर्मणाम् । दर्शादिवत्फलैकत्वात्तच्चानिष्टं प्रसज्यते" ॥ ४८-४९ ॥ सकृत्प्रयोगादेकदक्षिणायां च मुक्तिरिति पक्षयोरुक्त दोषमतिदिशति—प्रयोग इति । न हि तत्र प्रयोगान्तर दक्षिणान्तर वा सार्थकमित्यर्थः । कल्पान्तरमनूद्य दूषयति—अथेति । ऐककर्म्ये हेतुमाह—फलैकत्वादिति । दृष्टान्तस्तु प्रागेव विवृतः । ऐककर्म्ये का हानिस्तत्राऽऽह—तच्चेति । न हि बृहस्पतिसवराजसूयादीनां भिन्नाधिकारिणामेककर्म्यमिति भावः । असकृद्वा यावज्जीव वा प्रयोगाद्बहूनां वा गवादीनां सर्वस्य वा दक्षिणाया मोक्षो न सेत्स्यत्येकस्यैवासकृद्यावज्जीवं वा प्रयोगे मुक्तिश्चेत्प्रयोगान्तरप्रयोगवैयर्थ्यात्सर्वकर्मप्रयोगस्त्वेकस्याशक्यो न च बहूनां सर्वस्य वा दक्षिणा मोक्षहेतुरिति मानमस्ति न च हिरण्यदा अमृतत्व भजन्त इति श्रुतिर्मानं दानप्रशंसापरत्वादन्यथा निषेधश्रुतिविरोधादिति

ननु [1]फलान्तराभावे [2]चोदना[3]न्यथानुपपत्तिः प्रमाणमिति । न हि नित्यानां कर्मणां

[4]अतीन्द्रियत्वात्कर्मणो मुक्तिसाधनत्वे प्रत्यक्षाद्यसंभवेऽप्यर्थापत्तिरस्तीति शङ्कते—नन्विति । नित्येषु कर्मसु मोक्षातिरिक्तस्य फलस्य श्रुतस्याभावे सति [5]तदुपलभ्यमान[6]चोदनाया मोक्षफलत्वं विनाऽनुपपत्तिस्तेषां तत्साधनत्वे मानमित्यर्थः । ननु विश्वजिता यजेतेत्यत्र यागकर्तव्यताल्पो [7]नियोगोऽवगम्यते तस्य [8]नियोज्यसापेक्षत्वात्स [9]स्वर्गः स्यात्सर्वान्प्रत्यविशिष्टत्वादिति न्यायेन स्वर्गकामो नियोज्योऽङ्गीकृतस्तथा नित्येष्वपि कर्मसु भविष्यति स्वर्गो नियोज्यविशेषणमत आह—न हीति । [11]जीवञ्ज-

(पुनः पूर्ववादी शङ्का करता है—) परन्तु मोक्ष के अतिरिक्त फल के अभाव होने पर नित्य

१. मोक्षातिरिक्तफलाभावे । २. चोदनेति—न च नित्यकर्मविधिरुत्पत्त्यादिमदन्यतमफलत्वेनापि स्यादित्यन्यथोपपत्तिरिति वाच्यम् नित्यचोदनायामुत्पत्त्यादिमत्फलस्याश्रवणात् कर्मणा पितृलोक इति फलश्रुतिस्तु न नित्यकर्मप्रकरणस्थेति भावः । ३. नित्यकर्मविधेरनुपपत्तिः । ४ साध्यसाधनयोर्मुक्तिकर्मणो.। ५. तत्र नित्यकर्मणि उपलभ्यमानेत्यर्थः । ६. तदुपलभ्येति—यावज्जीवादिश्रुतो नित्य कर्म विधीयते न चान्तरेण फल तद्विधिर्नहि महायासेऽफले कर्मणि प्रेक्षावत्प्रवृत्तिः । अतो नित्यचोदनाऽनुपपत्तिर्नित्यकर्मणो मोक्षार्थत्वे प्रमाणमिति भावः । ७ विधि.। ८. अधिकारीति यावत् । ९. जै० सू० ४।३।१५ । १०. स प्रसिद्ध. स्वर्गो विश्वजित्फल स्यात् सर्वैरभिलष्यमाणत्वादिति सूत्रार्थः । ११ यथा विश्वजिति स्वर्गोद्भूतो सामर्थ्यमिति स्वर्गकामो नियोज्यो नैवं नित्यकर्मसूत्पत्त्यादिमत्फलोत्पत्तावोपदपि सामर्थ्यमिति न स नियोज्य इत्यभिप्रेत्याह—जीवन्निति । यावज्जीवमग्निहोत्रमित्यर्थः ।

चार्यः ॥ "अन्यद्धि मुक्तिफलत काम्याना श्रूयते फलम् । तेषा मुक्तिफलत्व तु न श्रुतेर्नापि चान्यत" ॥ ५० ॥ काम्यैर्वेति पक्षं प्रत्याह—अन्यदिति । काम्यानां स्वर्गादिफलत्वे श्रुतेऽपि मोक्षफलत्व न विरुध्यते दध्यादेर्नित्यार्थे काम्यार्थे च श्रवणादित्याशङ्क्याऽऽह—तेषामिति । अश्रुतमपि स्मृतेर्न्यायाद्वेष्यतामित्याशङ्क्याऽऽह—नापीति । "सर्वं चाप्यप्रमाण स्याद्यदुक्त भेदलक्षणम् । मुक्ति सर्वाणि कर्माणि यदि सभूय कुर्वते" ॥ ५२ ॥ यदि वा नित्यैरिति पक्षमग्रे दूषयिष्यति सप्रति सर्वैर्वेत्यादिपक्षचतुष्टय निराचष्टे—सर्वं चेति । अस्यार्थ —नित्यानां काम्याना श्रौताना स्मार्ताना सर्वेषा वा कर्मणा मोक्षफलत्वे प्राच्यां मीमांसाया शब्दान्तराभ्यासप्रक्रियानामधेयादिभेदक यदुक्तं सर्वं तदप्रमाण स्यात्फलैकत्वे कर्मभेदानुपपत्तेरतो मोक्षफलत्वे सर्वकर्मणामैककर्म्याद्भेदलक्षणविरोध. स्यादिति ॥ "साध्यसाधनबुद्धिर्नो वचनात्पारलौकिकी । न चाप्येव श्रुतेर्वाक्यात्कर्म मोक्षफल क्वचित्" ॥ ५३ ॥ एकैक कर्म मोक्षदमित्यादिसर्वपक्षेषु साधारण दोषमाह—साध्येति ॥ "न तत्र दक्षिणा यन्ति विद्ययैव तदाप्यते । वेदाहमिति मन्त्रश्च ज्ञानान्मार्गान्तरापनुत्" ॥ ५४ ॥ मानाभाव स्मारयित्वा केवलकर्मणो मोक्षहेतुत्वे मानविरोधमाह—न तत्रेति । सप्तम्या प्रथमया च कैवल्य परामृश्यते । मन्त्रे तु तमेव विद्वानिति शेषोऽनुमधेय ॥ "न कर्मणा कनीयस्त्वा वृद्धिर्वा नान्तरात्मन । नित्योऽस्य महिमेत्येवमुदर्केऽपि प्रवक्ष्यते" ॥ ५५ ॥ वाक्यशेषादपि तदसाध्या मुक्तिरित्याह—नित्योऽस्येति ॥ प्रत्यग्भूते मोक्षे कर्मणोऽनिष्टानाधायकत्वाच्च तदसाध्येत्याह—न कर्मणेति । "क्षयी कर्मार्जितो लोको नित्यो ज्ञानार्जितस्तु य । इति स्पष्ट श्रुतेर्वाक्यं कस्मात्तत्त्वयाऽऽद्रियते स्वया" ॥५६॥ अतश्च नित्या सा न साध्येत्याह—क्षयीति ॥ "समुच्चयश्चाप्यसकृत्पुरैव सुनिराकृत । भूयोऽपीह प्रवक्ष्याम प्रसङ्गाग्निविस्तरात्" ॥ ५७ ॥ केवलकर्मणो मोक्षहेतुत्व निरस्य तेषां च ज्ञानसमयोग इत्यत्रोक्त त्रेधासमुच्चय निरस्यति—समुच्चयश्चेति । पुरेति सबन्धोक्ति । उत्तरत्रापि प्रसङ्गात्तन्निराकरण

विश्वजिन्न्यायेन फलं कल्प्यते । नापि श्रुतं फलमस्ति । चोद्यन्ते च तानि । पारिशेष्या-

द्दयादिति जीवनविशिष्टस्य नियोज्यस्य लाभात् नित्येषु स्वर्गो नियोज्यविशेषणमित्यर्थः । ननु जीवन-विशिष्टोऽपि फलाभावे न नियोज्यः स्यात्तया च कर्मणा पितृलोक इति श्रुतं फलं तेषु कल्पयिष्यते नेत्याह—नापीति । नित्यविधिप्रकरणे पितृलोकवाक्यस्याश्रवणादित्यर्थः । तर्हि फलाभावाच्चोदनैव मा भूदिति चेन्नेत्याह—चोद्यन्ते चेति । तथाऽपि फलान्तरं कल्प्यतामित्याशङ्क्य कल्पकाभावान्मैव-

कर्मविधि की अनुपपत्ति में अर्थापत्ति प्रमाण है । नित्यकर्मों का विश्वजित न्याय से तो कोई फल कल्पित नहीं किया जाता, न ही उनका कोई श्रुतफल है तथा न ही उनका विधान किया जाता है । अन्ततोगत्वा

१ फलं विना नियोज्यत्वासंभवे च । २ नित्येषु । ३ नित्यप्रकरणे फलानुक्तौ । ४ फलं विना चोदनाया अनुपपन्नत्वेऽपि । ५ मोक्षेतरफलस्य ।

वक्ष्यामः । इहापि नातिविस्तरात्तन्निराकरणं संक्षेपतस्तु ब्रूम इति योजना ॥ "संनिपत्य न च ज्ञानं कर्माज्ञानं निरस्यति । साध्यसाधनभावत्वादेककालानवस्थितः" ॥ ५८ ॥ अत्रापि समुच्चयं निरस्यामो नातिविस्तरा-दित्युक्तमेव दर्शयन् प्रमाणज्ञानस्य कर्मणश्चाङ्गाङ्गित्वेन समुच्चयं निरस्यति—संनिपत्येति । कर्मणोऽङ्गत्वेन संनिपत्यज्ञानं माविद्यां निरस्यति तत्र हेतुमाह—साध्येति । शुद्धिद्वारा कर्म साधनं ज्ञानं साध्यं तथाच पूर्वोत्तर-कालयोरेककालास्थितत्वान्नाङ्गाङ्गित्वं न च तत्साध्यस्य तदङ्गत्वमेकप्रयोगानारूढत्वात्क्रमान्तरीयस्यापि कर्मणो ज्ञानोपायत्वाङ्गीकाराच्चेति भावः ॥ "बाध्यबाधकभावाच्च पञ्चास्योरणयोरिव । एकदेशानवस्थानान्न समुच्चयता तयोः" ॥ ५९ ॥ समप्रधानतया समुच्चयं प्रत्याह—बाध्येति । पञ्चास्यः सिंहः । उरणो मेषः । एकदेशानवस्थानादेकस्मिन्नाश्रये सहास्थितेरित्यर्थः ॥ 'बाध्यबाधकभावेन काममस्तु समुच्चितिः । स्वदाहस्यलप-हारेण दाह्यदाहकयोरिव ॥ ६० ॥ ननु ज्ञानकर्मणोः सम्बन्धोऽस्ति न वाऽन्ये समुच्चयसिद्धिर्द्वितीये बाध्यबा-धकत्वासिद्धिस्तत्राऽऽह—बाध्येति । ज्ञानगतबाधकत्वदर्शने कर्मगतबाध्यत्वशक्तश्चान्यत्वागेन तयोर्बाध्यबाधकत्वेन संगतं समुच्चितिरित्यर्थः बाह्यदाह्ययोरिवेष्टैवेत्यर्थः ॥ "अयथावस्त्वविद्या स्याद्विद्यैतस्या विरोधिनी । समुच्चय-स्तयोरेव रविशर्वर्योरिव' ॥ ६१ ॥ उक्तं समुच्चयं सोपपत्तिकमुदाहरणान्तरेण दर्शयति—अयथेति ॥ "वस्त्वधीना भवेद्विद्या कर्त्रधीना क्रिया तथा । कर्त्रादि चाऽऽत्ममोहात्थं स्वबोधे त्वकर्तताऽऽत्मनः' ॥ ६२ ॥ समुच्चयाभावं हेत्वन्तरमाह—वस्त्विति । कथमेतावता तदभावस्तत्राऽऽह—कर्त्रादीति । आत्मनः कौटस्थ्येन कर्तृत्वादरविद्यत्वात्तज्ज्ञाने सत्ययोगात्र समुच्चय इत्यर्थः ॥ "बृहस्पतिसवं यद्वत्क्षत्रियो न प्रवर्तते । ब्राह्मण-त्वाभिमानी विप्रो वा क्षत्रकर्मणि" ॥ ६३ ॥ किंच ज्ञानिनो न नियोगस्तदभिमानशून्यत्वात्कुतः समुच्चय इति वक्तुं दृष्टान्तमाह—बृहस्पतीति । क्षत्रियत्वाभिमानिनः वक्तुं वाशब्दः ॥ विदेहो वीतसंदेहो नेति नेत्येव बाधितं । देहाद्यनात्मदृत्तवृत्तान्निया वीक्षतेऽपि न' ॥ ६४ ॥ दार्ष्टान्तिकमाह—विदेह इति । स्थूलदेहाभिमानहीनो विदेहः सदाद्यादिधर्मकसूक्ष्मदेहाभिमानशून्यश्च वीतसंदेहस्तत्र हेतु—नेतीति ॥ "मृत्स्नेभकं यथाभर्त्व शिशुरध्यस्य वल्गति । अध्यस्याऽऽत्मनि देहादीन्मूढस्तद्वद्धि चेष्टते" ॥ ६५ ॥ देहादौ मिथ्याभिमानवत एव कर्मसु प्रवृत्तिर्न तद्धीनस्यातिः कुतः समुच्चय इत्येतमर्थं दृष्टान्ता-न्तरेणाऽऽह—मृत्स्नेति । संस्कृतमृन्निर्मिते हस्तिनीति यावत् । वल्गति चेष्टते ॥ "स्थाणुं चोरधियाऽऽलाय भीतो यद्वत्पलायते । बुद्ध्यादिभिस्तथाऽऽत्मानं भ्रान्तोऽध्यारोप्य चेष्टते" ॥ ६६ ॥ कथं संनिपत्येत्यादिना समुच्चयो निरस्यते यदेव विद्यया करोति ज्ञात्वा कर्माणि कुर्वीतेत्यादिना विरोधादित्याशङ्क्य यत्र निमित्तनैमित्तिक-भावस्तत्र वा समुच्चयः सर्वत्र वेति विकल्प्याऽऽद्यं दृष्टान्तद्वारा स्वीकरोति—स्थाणुमिति । आलायऽऽदाय

-न्मोक्षस्तेषां फलमिति गम्यते । [1]अन्यथा हि पुरुषा [*][2]न प्रवर्तेरन् ।

मित्यभिप्रेत्याऽऽह—पारिशेष्यादिति । मुक्तेर्यत्कल्पकं तदेव फलान्तरस्यापि किं न स्यादित्याशङ्क्य [3]तस्य [4]निरतिशयफलविषयत्वान्मुक्तिकल्पकत्वमेवेत्यभिप्रेत्याऽऽह—अन्यथेति ।

मोक्ष ही उनका फल है—ऐसा जाना जाता है; अन्यथा मुक्ति के नित्यकर्मफलत्वाभाव होने पर पुरुषों की इसमें प्रवृत्ति ही नहीं होगी ।

---

१. मुक्तेर्नित्यकर्मफलत्वाभावे । २ न प्रवर्तेरन्निति—ननु नित्यानां श्रुतं फलं नास्ति चेदफलान्येव तानि स्युर्विहितत्वाच्चानुष्ठीयेरन्नित्याशङ्क्याऽऽह—"पुरुषार्थेऽसति फले विधानं नोपपद्यते । नित्यानां कर्मणां तस्मिन्सत्येव घटते यतः ॥ दुःखात्मकेषु नित्येषु समीक्षापूर्वकारिणः । पुरुषा न प्रवर्तेरन्न चेत्तेभ्यः फलं भवेत्" ॥ वा० ७७-७८ ॥ फलं विना विध्यसंभवे हेतुमाह—तस्मिन्निति ॥ फले सत्येव कथं विधेर्घटमानत्वं तत्राऽऽह—दुःखेति । प्रवृत्तिफलो विधिर्न च विना फलं प्रवृत्तिर्न च नित्येषु फलान्तरमतो मुक्तिस्तत्फलमित्यर्थः ॥ ३. कल्पकस्य । ४. संभवति महति फले निकृष्टकल्पनाया अन्याय्यत्वादिति भावः ।

गृहीत्वा ॥ "स्थाणोः सतत्त्वविज्ञानं यथा नाङ्गं पलायने । आत्मनस्तत्त्वविज्ञानं तद्वन्नाङ्गं क्रियाविधौ" ॥६७॥ कल्पान्तरं दृष्टान्तेन निराचष्टे—स्थाणोरिति ॥ "यद्धि यस्याविरोधेन स्वभावमनुवर्तते । तत्तस्य गुणभूतं स्यान्न प्रधानाद्गुणो यतः" ॥ ६८ ॥ प्रधानत्वेनेष्टकर्मध्वंसित्वादपि न ज्ञानं तदङ्गतया समुच्चीयत इत्याह—यद्धीति । प्रधानमस्तीति प्रधानाद्यत्प्रधानविरोधि न तत्तदङ्गमतो ज्ञानमपि कर्मविरोधित्वान्न तदङ्गमित्यर्थः ॥ "अज्ञानमनिराकुर्वज्ज्ञानमेव न सिध्यति । विपन्नकारकग्रामं ज्ञानं कर्म न ढौकते" ॥ ६९ ॥ समुच्चयमिच्छताऽपि ज्ञानस्य प्रमाणत्वात्स्वार्थाज्ञानध्वंसित्वमेष्टव्यं तत्कुतः समुच्चय इत्याह—अज्ञानमिति । तथाऽपि समुच्चये किमायातं तदाह—विपन्नेति । यस्य कर्मणो विपत्तिमापादितो ज्ञानेन कारकसमुदायस्तन्न ज्ञानं स्पृशति कारकाभावेऽभावात्तद्धि तन्निरपेक्षा क्रियाऽऽत्मानं बिभर्तीत्यर्थः ॥ "हेतुस्वरूपकार्याणां प्रकाशतमसोरिव । मिथो विरोधतो नातः संगतिर्ज्ञानकर्मणोः" ॥ ७० ॥ क्रियासमुच्चयाभावे युक्त्यन्तरमाह—हेत्विति । ज्ञानस्य मानं हेतुः स्वरूपं वस्तुप्रकाशकत्वं कार्यमविद्याध्वस्तिः कर्मणो हेतुरविद्यारागादि स्वरूपप्रकाशकत्वं कार्यमुत्पत्त्यादि तेषां मिथो विरोधात्तम प्रकाशवज्ज्ञानयोः संगतिरित्यर्थः ॥ "सकृत्प्रवृत्त्या मृद्नाति क्रियाकारकरूपभृत् । अज्ञानमागमज्ञानं सांगत्यं नास्त्यतोऽनयोः" ॥ ७१ ॥ ज्ञानस्य स्वोत्पत्तिमात्रेणाज्ञानध्वंसित्वात्कर्मभिरसमुच्चय इत्ययुक्तं वाक्योत्थज्ञानोत्तरभाविभावनोत्कर्षजन्यसाक्षात्काराख्यज्ञानान्तरेणाज्ञानध्वस्तेरभ्यासावस्थायां समुच्चयसिद्धेरित्याशङ्क्याऽऽह—सकृदिति । भावनायाश्चित्तैकाग्र्यहेतुतया विक्षेपध्वंसेन ज्ञानोत्पत्तावुपक्षयाज्ज्ञानमात्रमागमिकं ज्ञानं सकार्यमज्ञानं निवर्तयतीति नावसरः समुच्चयस्येत्यर्थः ॥ "सर्वथा नैव घटते ज्ञानकर्मसमुच्चयः । विद्ययैव समोहानादकार्यं कर्म किं फलम्" ॥ ७२ ॥ तदसंभवमुपसंहरति—सर्वथेति । त्रेधाऽपीत्यर्थः । किंच ज्ञानोत्पत्तौ वा समुच्चयस्तत्फले वा नाऽऽद्योऽङ्गीकाराद्द्वितीयेऽप्यविद्याध्वस्तौ स्वरूपस्थितौ वा नाऽऽद्य इत्याह—विद्ययेति । न द्वितीय इत्याह—अकार्यं इति । "न मानं किंचिदप्यस्ति ज्ञानकर्मसमुच्चिते । प्रत्यक्कैवल्यसंसिद्धौ ज्ञानादेव तमोहते" ॥ ७३ ॥ समुच्चयाभावमुपसंहृत्य मानाभावमुपसंहरति—न मानमिति । प्रतीचो मुक्तिप्राप्तौ हेतुत्वेनेष्टसमुच्चितेर्मानमपि न किंचिदस्तीति योजना । अज्ञाननिवृत्त्यन्यथानुपपत्तिरत्र मानमित्याशङ्क्यान्यथोपपत्तिमाह—ज्ञानादिति ॥ "उत्पत्त्याद्यतिरेकेण संसारविनिवृत्तये । कर्मणोऽपि तथा मानं न किंचिदुपपद्यते" ॥ ७४ ॥ यदि वा नित्यैरित्येतदतिरिक्तानां पक्षाणां मुखतो निरासादवशिष्टं पक्षं मुखतो निराचष्टे—उत्पत्त्यादीति ॥

*नन्वित्यादि न प्रवर्तेरन्नित्यन्तभाष्योक्तचोद्यमुद्भाव्यैव निराचष्टे वार्तिकाचार्याः । "नैवं वाक्यात्फलं यस्मान्न

[1]ननु विश्वजिन्न्याय एवाऽऽयातो [2]मोक्षस्य कल्पितत्वात् । मोक्षे [3]वाऽन्यस्मिन्वा फलेऽकल्पिते पुरुषा न प्रवर्तेरन्निति मोक्षः फलं कल्प्यते श्रुतार्थापत्त्या यथा विश्वजिति । [4]नन्वेवं सति कथमुच्यते विश्वजिन्न्यायो न भवतीति । फलं च कल्प्यते विश्वजिन्न्यायश्च

अनुपपत्त्या चेन्नियोज्यलाभाय नित्येषु फलं कल्प्यते कथं [1]तर्हि विश्वजिन्न्यायो न प्राप्नोतीति सिद्धान्ती प्रत्याह——नन्विति । [2]उक्तमेव विवृणोति—मोक्षे वेति । अकल्पिते सतीति च्छेदः । श्रुतार्थापत्त्या विधे. श्रुतस्य प्रवर्तकत्वानुपपत्त्येति यावत् । विश्वजितीव नित्येषु मोक्षे फले कल्प्यमाने सति फलितमाह—नन्वेवमिति । कथमित्युक्तामनुपपत्तिमेव स्फुटयति—फलं चेति । [5]फलकल्पनायां

तब तो यहाँ भी विश्वजित् न्याय ही न चाहते हुए भी मानना पडता है क्योंकि नित्यकर्मों से मोक्षरूप फल की कल्पना की गई है । मोक्ष अथवा अन्य किसी फल की कल्पना न करते पर पुरुषों की प्रवृत्ति ही नही होगी, इसी लिये विश्वजित् यज्ञ के समान श्रुतार्थापत्ति से मोक्षरूप फल की कल्पना की जाती है । ऐसा होने पर यह कैसे कहा जाता है कि यहाँ विश्वजित् न्याय नही है । फल की कल्पना भी की जाती है और विश्वजित् न्याय भी यहाँ नही है, यह भी परस्पर विरुद्ध बात कही जाती है । मोक्ष किसी का फल ही नही है—ऐसा कथन उचित नही क्योंकि इससे प्रतिज्ञाभङ्ग होती है । विष और दधि आदि के समान कर्म कार्यान्तर का प्रारम्भ करता है, इस दृष्टान्त से मुक्ति को आरभ्यमाण प्रति-

१ आक्षेपे ननुर्मेवमित्यर्थः । २ अनिच्छतोऽपि गले पतित । ३ नित्यकर्मणाम् । ४. ननुरयं वाक्यासङ्कृतिरेव । ५ नियोज्यलाभाय फलकल्पनाया आवश्यकत्वे सतीत्यर्थः । ६ दूषणमित्यर्थः । ७. नित्येषु ।

किंचिदपि लभ्यते । तत्सामर्थ्यश्रवाभावात्फले नातो मितिश्च न ॥ प्रमाणबलत प्राप्तमपि भूरि न वार्यते । अणुमात्र न तद्ग्राह्य वस्तु यन्निष्प्रमाणकम् ॥ पुमाशयवशाच्चेय फलक्लृप्तिस्त्वयोच्यत । अन्यानपेक्ष तन्मात प्रमेयार्थसमर्पणम् ॥ प्रत्यवायाद्यभावश्च फलं नित्यस्य कर्मणः । क्लृप्त तत्कल्प्यते कस्माद्विमुक्तिर्नित्यकर्मणः ॥ तावतैव कृतार्थत्वाद्विधेर्नित्यस्य कर्मणः । विमुक्तिफलसम्बन्धे न मानं विद्यते तत " ॥ ७९-८३ ॥ इति । यावज्जीवादिवाक्यवशाद्वा तदर्थसामर्थ्याद्वा नित्यानां मुक्तिफलतेति विकल्प्याऽऽद्य दूषयति—नैवमिति । न हि यावज्जीवादिश्रुतिसामर्थ्यान्मोक्षोऽवद्वा नित्यकर्मफलं लभ्यत तत्फलसंबन्धबोधसामर्थ्यवत पदस्याश्रुतेरर्थानुपपत्तिश्च निरसिष्यते तन्नित्यानां मोक्षलक्षणे फले न मानमस्ति तस्य स्वरूपत्वेन स्वतःसिद्धस्तद्व्यवधायकज्ञानध्वस्तेश्च धीमात्राधीनत्वादित्यर्थः ॥ नित्यानां मुक्तिफलत्वस्याप्रमाणत्वे फलितमाह—प्रमाणेति ॥ अथ काम्यनिषिद्धवर्जनादुत्तमाधमयोरप्राप्तेर्नित्यनैमित्तिकानुष्ठानात्प्रत्यवायहतेर्वर्तमानदेहपाते मुमुक्षोर्देहान्तरग्रहे हेत्वभावादनायाससिद्धा मुक्तिरत आह—पुमाशयेति । मानाभावान्नेय कल्पना ग्राह्येत्यर्थः । अस्मदुत्प्रेक्षामपेक्ष्य यावज्जीवादिवाक्यमेतमर्थमर्पयति तत्कुतो मानराहित्यमित्याशङ्क्याऽऽह—अन्येति । उत्प्रेक्षानपेक्षमेव तन्नित्यकर्मणो नित्यकर्तव्यत्वं बोधयत्योक्तकल्पनायां मानमित्यर्थः ॥ नित्यकर्मफलं मुक्तिरित्यत्र वाक्याप्रामाण्यामुक्त्वा तदर्थानुपपत्तिं प्रत्याचष्टे—प्रत्यवायादीति । आदिपदं तत्फलार्थं न चोत्पत्त्यादिमत्किंचिदित्याद्येतेन प्रत्युक्तम् ॥ क्लृप्तकल्प्यमानयोः क्लृप्तं बलवदितिन्यायविरोधमर्थापत्तेरुक्त्वाऽन्यथैवोपपत्तिमाह—तावतेति । प्रत्यवायध्वस्त्यादिफलेनेति यावद् । तत इति—न नित्यकर्मफलं मुक्तिरिति शेषः ॥

न भवतीति विप्रतिषिद्धम¹भिधीयते । ²मोक्षः फलमेव न भवतीति चेत् । न³। प्रतिज्ञाहानात् । कर्म कार्यान्तरं विपदध्यादिवदारभत ⁴इति हि प्रतिज्ञातम् । ⁵स चेन्मोक्षः कर्मणः कार्यं फलमेव न भवतीति⁶ सा प्रतिज्ञा ⁷हीयते । कर्मकार्यत्वे च मोक्षस्य स्वर्गादिफलेभ्यो विशेषो ⁸वक्तव्यः ।

अथ कर्मकार्यं न भवति नित्यानां कर्मणां फलं मोक्ष इत्यस्या ⁹वचनव्यक्तेः ¹⁰कोऽर्थं इति वक्तव्यम् । न च कार्यफलशब्दभेदमात्रेण विशेषः शक्यः कल्पयितुम् । अफलं च मोक्षो

विश्वजिन्न्यायोऽवतरति मोक्षस्तु स्वरूपस्थितत्वेनानुत्पाद्यत्वादफलमेव न भवतीति शङ्कते—मोक्ष इति । ¹¹निग्रहमुद्भावयन्नुत्तरमाह—नेति । प्रतिज्ञाहानिं प्रकटयति—कर्मेत्यादिना । कर्मकार्यत्वं मुक्तेरपेष्योक्तं¹² ¹³तदेवायुक्तमित्याह—कर्मकार्यत्वे चेति ।

फलत्वेऽपि कर्मकार्यत्वं न मुक्तेरस्तीत्युक्तं ¹⁴दोषं परिहर्तुं चोदयति—अथेति । प्रतिज्ञाविरोधेन ¹⁵प्रतिविधत्ते—नित्यानामिति । फलत्वमङ्गीकृत्य कार्यत्वेऽनङ्गीकृते कथं व्याघात इत्याशङ्क्याऽऽह—न चेति । विशेषोऽयंगत इति शेषः । फलत्वमङ्गीकृत्य कार्यत्वानङ्गीकारे व्याघातमुक्त्वा ¹⁶वैपरीत्येऽपि तं

पादित किया था । यदि वह मोक्ष कर्म का कार्य यानी फल ही नहीं है, ऐसा कहते हो तो प्रतिज्ञा की हानि होती है । यदि मोक्ष कर्म का कार्य है तो उसकी स्वर्गादिफलों से विशिष्टता बतलायी चाहिये ।

एवं यदि वह कर्म का कार्य नहीं है तो "मोक्ष नित्यकर्मों का फल है" इस वाक्य के स्वरूप का अर्थ ही क्या होगा, वह बतलाना चाहिये । "कार्य" और 'फल' शब्दों के भेदमात्र से ही किसी भेद की

१ अभिधीयत इति—यत्तु जीवञ्जुहुयादिति जीवनविशिष्टस्य नियोज्यस्य लाभान्न नित्यानां कर्मणां विश्वजिन्न्यायेन स्वर्गः फलं कल्प्यत इति तन्न तेषां फलवत्त्वमङ्गीकृत्य न्यायाभावस्तदनङ्गीकृत्य चोच्यते माऽभून्नित्यकाम्यवैधर्म्यासिद्धेरित्याह वार्तिके—'काम्याग्निहोत्रवन्नित्यं काम्यं चापि प्रसज्यते । फलेनास्याभिसंबन्धान्निष्कामं नित्यमुच्यते' ॥ ८५ ॥ इति । ननु फलसंबन्धेऽपि नित्यानित्यफलभेदान्नित्यकाम्यवैधर्म्यं किं न स्यादित्याशङ्क्य कामप्रयुक्तत्वेऽपि चित्राज्योतिष्टोमवत्काम्यविशेषत्वापत्तेर्नित्यत्वानुपपत्तिरित्याह—निष्काममिति । नित्येषु फलकल्पनायां विश्वजिन्न्यायोऽवतरति ॥ २ न च तथा तत्कल्प्यते मोक्षस्य स्वरूपस्थितत्वेनाप्यनुत्पाद्यस्याफलत्वादिति द्वितीयं शङ्कते—मोक्ष इति । इति वार्तिकीयः पन्थाः । ३ इति हि प्रतिज्ञातमिति—इति दृष्टान्तेन मुक्तेरारभ्यमाणत्वं प्रतिज्ञातमित्यर्थः । ४ सत्यं मुक्तेरारभ्यमाणता प्रतिज्ञाता न तु सा हीयते तस्याः फलत्वस्यैव निरासादत आह—स चेदिति । ५ उच्यत । ६ हीयत इति—कर्मारभ्यं हि तत्फलं तस्मान्मोक्षस्य कर्मफलत्वे निषिद्धे तदारभ्यतैव निषिद्धा इति प्रतिज्ञाहानिः स्फुटैवेत्यर्थः । ७ वक्तव्य इति—कर्मकार्यत्वे मुक्ते स्वर्गादिभ्यो यतो विशेषो वक्तुं न शक्यातस्तद्वदत्रापि नाशापकर्षादौ प्राप्ते संसारवत्तत्र मुक्त नेति न ते मुमुक्षा स्यादिति भावः । ८ वाक्यस्वरूपस्य । ९ कोऽर्थं इति—किं क्षेपे, न कोऽपीत्यर्थः । तथा च फलस्य कार्यत्वाविशेषात् फलं च कार्यं नेति । व्याहतमभिधानमिति भावः । १०. निग्रहस्थानं वादिपरिभवप्रयोजकं प्रतिज्ञाहानिरूपं दोषमिति यावत् । ११ प्रतिज्ञाहानिरूपं दूषणमुक्तम् । १२ तदेव मुक्तेः कर्मकार्यत्वमेव । १३ स्वर्गाद्यविशेषरूपम् । १४ निरस्यति । १५ कार्यत्वमङ्गीकृत्यफलत्वानङ्गीकारेऽपि ।

नित्यैश्च कर्मभि क्रियते नित्यानां कर्मणां फलं न कार्यमिति चैषोऽर्थो विप्रतिषिद्धोऽभिधीयते यथाऽग्निः शीत इति ।

ज्ञानवदिति चेत् । यथा ज्ञानस्य [1]कार्यं मोक्षो ज्ञानेना[2]क्रियमाणोऽप्युच्यते तद्व[3]त्कर्मकार्यत्वमिति चेत् । न । अज्ञाननिवर्तकत्वाज्ज्ञानस्य । अज्ञानव्यवधाननिवर्तकत्वाज्ज्ञानस्य मोक्षो ज्ञान[4]कार्यमित्यु[5]पचर्यते । न तु कर्मणा [6]निवर्तयितव्यमज्ञानम् । न चाज्ञानव्यतिरेकेण मोक्षस्य व्यवधानान्तरं कल्पयितुं शक्यम् । नित्यत्वान्मोक्षस्य [7]साधकस्वरूपाव्यतिरेकाच्च । यत्कर्मणा निवर्त्येत ।

अज्ञानमेव [8]निवर्तयतीति चेत् । न । विलक्षणत्वात् । [9]अनभिव्यक्तिरज्ञानमभिव्य-

---

प्युत्पादयति—अफलं चेति । आद्य व्याघातं दृष्टान्तेन स्पष्टयति—नित्यानामिति ।

दृष्टान्तेन व्याघातं परिहरन्नाशङ्कते—ज्ञानवदिति चेदिति । [10]तदेव स्फुटयति—यथेति । [11]दृष्टान्तं विघटयति—नेति । ज्ञानस्य मोक्षव्यवधिभूताज्ञाननिवर्तकत्वान्मोक्षस्तेनाक्रियमाणोऽपि [12]तत्कार्यमिति व्यपदेशभाग्भवतीत्यर्थः । तदेव स्फुटयति—अज्ञानेति । [13]दार्ष्टान्तिकं निराचष्टे—न त्विति । यत्कर्मणा निवर्त्येत तन्मोक्षस्य व्यवधानान्तरं कल्पयितुं न तु शक्यमिति सम्बन्धः । व्यवधानध्वंसे कर्मणोऽप्रवेशेऽपि मुक्तावेव [14]तत्प्रवेशः स्यादिति चेन्नेत्याह—नित्यत्वादिति ।

नित्यकर्मनिवर्त्यं व्यवधानान्तरं मा भूदज्ञानमेव तन्निवर्त्यं भविष्यति [15]तथा च मोक्षस्य कर्मकार्यत्वं शक्य[16]मुपचरितुमिति शङ्कते—अज्ञानमेवेति । कर्मणो ज्ञानाद्विलक्षणत्वान्नाज्ञाननिवर्तकत्वमित्युत्तरमाह—न विलक्षणत्वादिति । वैलक्षण्यमेव प्रकटयति—अनभिव्यक्तिरिति । [17]इतश्च ज्ञाननिवर्त्यं

कल्पना नहीं की जा सकती । मोक्ष किसी का फल नहीं है और वह नित्यकर्मों से होता है । वह नित्य कर्मों का फल है और कार्य नहीं है—यह सब बातें तो उसी प्रकार परस्पर विरुद्ध ही कही जाती है, जैसे कोई कहे अग्नि शीतल है ।

यदि कहो कि वह ज्ञान के समान है, जिस प्रकार ज्ञान का फल मोक्ष है ज्ञान द्वारा अनारभ्यमाण होता हुआ भी मोक्ष ज्ञान का फल कहा जाता है उसी प्रकार वह कर्मफलत्व मोक्ष का भी हो सकता है, ऐसा कहना भी ठीक नहीं है क्योंकि ज्ञान तो अज्ञान की निवृत्ति करता है । अज्ञानरूपी व्यवधान का निवर्तन होने से मोक्ष को ज्ञान का फल कहा जाता है । कर्म के द्वारा तो अज्ञान की निवृत्ति करना सम्भव नहीं है । जिसकी कर्म से निवृत्ति हो ऐसे अज्ञान को छोड़कर कोई दूसरा व्यवधान भी मोक्ष में हो सकता है—ऐसी कल्पना करनी असम्भव है क्योंकि मोक्ष नित्य है और

---

१ फलम् । २ अनारभ्यमाण अकार्य इति यावत् । ३ कर्मफलत्वं मोक्षस्य । ४ फलम् । ५ उच्यते । ६ निवर्तयितुं शक्यम् । ७ साधकेति—अविद्यारहितस्वरूपाव्यतिरेकात् कर्मणः प्रागेव सिद्धत्वेन सिद्धं तस्य नित्यत्वमिति भावः । ८ नित्यं कर्म । ९ अप्रकाशरूपम् । १० दृष्टान्तमेवेति यावत् । ११ दृष्टान्तस्य दार्ष्टान्तिकानुगुण्यं निरस्यति । १२ फलम् । १३ कर्मणाऽपि व्यवधिनिरासित्वान्मुक्तिस्तत्कार्यत्वेनोपचर्यतामित्याशङ्कामवतारयति—दार्ष्टान्तिकमिति । १४ तस्य कर्मणः प्रवेशो जनकत्वम् । १५ नित्यकर्मणामज्ञाननिवर्तकत्वं च । १६ कल्पयितुम् । १७ ज्ञानाज्ञानयोर्विरोधादेव ।

क्ति'लक्षणेन ज्ञानेन विरुध्यते । कर्म तु नाज्ञानेन विरुध्यते 'तेन ज्ञानविलक्षणं कर्म । यदि ज्ञानाभावो यदि संशयज्ञानं यदि विपरीतज्ञान वोच्यतेऽज्ञानमिति सर्वं हि तज्ज्ञानेनैव निवर्त्यते । न तु कर्मणाऽन्यतमेनापि विरोधाभावात् ।

अथादृष्टमपि कर्मणामज्ञाननिवर्तकत्वं कल्प्यमिति चेत् । न । ज्ञानेनाज्ञाननिवृत्तौ 'गम्यमानायामदृष्टनिवृत्तिकल्पनानुपपत्तेः । यथाऽवघातेन व्रीहीणां तुषनिवृत्तौ गम्यमानायामग्निहोत्रादि'नित्यकर्मकार्याऽदृष्टा न कल्प्यते तुषनिवृत्तिः । तद्वदज्ञाननिवृत्तिरपि नित्यकर्मकार्याऽदृष्टा न कल्प्यते । ज्ञानेन विरुद्धत्वं चासकृत्कर्मणामवोचाम । 'यदविरुद्ध

मेवाज्ञानमित्याह—यदीति । अन्यतमेन नित्यादिना 'व्यस्तेन 'समस्तेन वा श्रौतेन स्मार्तेन वेत्यर्थः । कर्माज्ञानयोरविरोधो हेत्वर्थः ।

अज्ञाननिवर्तकत्वं कर्मणो नान्वयव्यतिरेकसिद्धं किंत्वदृष्टमेव कल्प्यमिति शङ्कते—अथेति । 'दृष्टे सत्यदृष्टकल्पना न न्याय्येति परिहरति—न ज्ञानेनेति । उक्तमर्थं दृष्टान्तेन बुद्धावारोहयति—यथेत्यादिना । अदृष्टेति च्छेदः । अस्तु ज्ञानादज्ञानध्वस्ति' किंतु कर्मसमुच्चितादित्याशङ्क्याऽऽह—ज्ञानेनेति । ननु कर्मभिरविरुद्धमपि हिरण्यगर्भादिविज्ञानमस्ति 'तथा च समुच्चितं ज्ञानमज्ञानध्वस्ति भविष्यति नेत्याह —यदविरुद्धमिति ।

साधक के स्वरूप से अभिन्न होने के कारण कर्म से पूर्व ही सिद्ध है ।

यदि कहो कि नित्यकर्म भी अज्ञान की निवृत्ति करता है तो ऐसा कहना ठीक नहीं, क्योंकि कर्म ज्ञान से विलक्षण है । (क्या विलक्षणता है, इस पर कहते हैं—) अप्रकाशरूप अज्ञान का प्रकाशरूप ज्ञान से विरोध है । कर्म का अज्ञान से कोई विरोध नहीं है, इसलिए कर्म ज्ञान से विलक्षण है । यदि ज्ञान के अभाव, संशययुक्तज्ञान अथवा विपरीतज्ञान को अज्ञान कहा जाय, तो इन सभी की निवृत्ति ज्ञान से ही हो सकती है । किसी भी अन्य कर्म से नहीं हो सकती क्योंकि उसका इन तीनों प्रकार के अज्ञानों के साथ विरोध नहीं है ।

यदि कहो, अदृष्ट कर्मों का भी अज्ञाननिवर्तकत्व होना सिद्ध है, तो ऐसी कल्पना करना उचित नहीं है । ज्ञान से अज्ञाननिवृत्ति प्रत्यक्षसिद्ध होने पर निवृत्ति के लिये परोक्ष कल्पना करना युक्त नहीं है । जिस प्रकार मूसल से कूटने पर धान से तुषनिवृत्ति प्रत्यक्षसिद्ध होने पर अग्निहोत्रादि नित्यकर्म सामर्थ्य से जन्य तुषनिवृत्ति होती है—ऐसी परोक्ष कल्पना करना असंगत है, उसी प्रकार अज्ञाननिवृत्ति भी नित्यकर्म सामर्थ्य जन्या है, ऐसी परोक्ष कल्पना करना उचित नहीं है । कर्मों का ज्ञान से विरोध होने के कारण उनका परस्पर समुच्चय नहीं हो सकता—ऐसा हम कई

१ प्रकाशरूपेण । २ कर्मणोऽज्ञानविरोधाभावेनेत्यर्थः । ३ प्रत्यक्षसिद्धायामित्यर्थः । ४ नित्यकर्मसामर्थ्यजन्या । ५ तथा च न समुच्चय इति भावः । ६ यदविरुद्धमिति—देवतादिज्ञानस्य कर्माविरोधित्वाद्युक्तः समुच्चयः । सत्त्वमस्यादिवाक्योत्थविज्ञानस्य तु कर्मविरोधित्वान्न समुच्चयोऽतस्तत्केवलमेवाज्ञानध्वंसीत्यर्थः ।

७. असमुच्चितम् । ८ समुच्चितेन । ९ ज्ञानरूपे निवर्तके । १० उक्तज्ञानकर्मणोरविरोधे च ।

ज्ञानं कर्मभिस्तद्देवलोकप्राप्तिनिमित्तमित्युक्तम् "विद्यया देवलोकः" इति श्रुतेः।

किंचान्यत्कल्प्ये च फले नित्यानां कर्मणां श्रुतानां यत्कर्मभिर्विरुध्यते द्रव्यगुणकर्मणां कार्यमेव न भवति किं तत्कल्प्यताम्। यस्मिन्कर्मणः सामर्थ्यमेव न दृष्टम्। किं वा यस्मिन्दृष्टं सामर्थ्यं यच्च कर्मणां फलमविरुद्धं तत्कल्प्यतामिति। पुरुषप्रवृत्तिजननायावश्यं चेत्कर्मफलं कल्पयितव्यम्। कर्माविरुद्धविषय एव श्रुतार्थापत्तेः क्षीणत्वान्नित्यो मोक्षः फलं कल्पयितुं न शक्यस्तद्व्यवधानाज्ञाननिवृत्तिर्वा। अविरुद्धत्वाद्दृष्टसामर्थ्यविष-

नित्यानां कर्मणां समुच्चितानामसमुच्चितानां च स्वरूपस्थितौ मोक्षे तत्प्रतिबन्धकाज्ञानध्वस्तौ वा नादृष्टं सामर्थ्यं कल्प्यमित्युक्तमिदानीं तत्कल्पनामङ्गीकृत्यापि दूषयति—किंचेति। कर्मणां नास्ति मोक्षे सामर्थ्यमित्येतदुक्तादेव कारणान्न भवति किंत्वन्यच्च" कारणं "तत्रास्तीत्यर्थः। "तदेव दर्शयितुं विचारयति—कल्प्ये चेति। विरोधमभिनयति—द्रव्येति। "कार्यत्वाभावं" समर्थयते—यस्मिन्निति। पक्षान्तरमाह—किं वेति। सामर्थ्यविषयं विशदयति—यच्चेति। कथमिह" निर्णय"स्तत्राऽऽह—पुरुषेति। कल्पयितव्यं फलमिति "संबन्धः। उत्पत्त्यादीनामन्यतमो हि कर्मभिरविरुद्धो "विषयः। तत्रैव नित्यकर्मचोदनानुपपत्तेरुपक्षीणत्वान्नित्यकर्मफलत्वेन मोक्षस्तद्व्यवधानाज्ञाननिवृत्तिर्वा न शक्यते कल्पयितुम्। कर्माज्ञानयोर्विरोधाभावाद्दृष्टं सामर्थ्यं यस्मिन्नुत्पत्त्यादौ तद्विषयत्वाच्च कर्मण"स्तद्विलक्षणे मोक्षे न

बार पहले ही कह आये हैं। एवं जो देवतादिज्ञान कर्म से अविरुद्ध है; उसे तो "ज्ञान से देवलोक की प्राप्ति होती है" इस बृहदारण्यकश्रुति में देवलोकप्राप्ति का कारण बतलाया गया है।

इसके अतिरिक्त श्रुतिसम्मत नित्यकर्मों का फल अन्यकल्प्य होने पर (उत्पत्त्यादिवर्जित जो कार्यकरणरूप विलक्षण फल है) उसकी विरुद्धता हो जाती है। द्रव्य, गुण और कर्मों का कार्य नहीं होता, जिस मोक्षाख्य फल में कर्म का सामर्थ्य ही नहीं देखा जाता, क्या उसकी कल्पना करनी चाहिये; अथवा जिस उत्पत्त्यादि वाले फल में कर्मों का सामर्थ्य देखा जाता है तथा जो कर्मों का अविरुद्ध फल है, क्या उसकी कल्पना करनी चाहिये। यदि पुरुषों की प्रवृत्ति कराने के लिये कर्मफल की कल्पना करनी आवश्यक हो, तो कर्मफल की कल्पना करनी चाहिये। तब तो श्रुतार्थापत्ति का पर्यवसान कर्म के विरोधी उत्पत्त्यादि वाले विषयों में ही होने के कारण मोक्षफल की नित्यता की कल्पना अथवा मोक्ष के व्यवधानस्वरूप अज्ञान की निवृत्ति की कल्पना करनी संभव नहीं है क्योंकि कर्म और अज्ञान का

१. बृ० उ० १।५।१६। २. सति। ३. श्रुताना यत्कर्मभिर्न विरुध्यते तत्कल्प्यतां न मोक्षफलं तन्मोक्षफलं विरुध्यते द्रव्येति पाठान्तरम्। ४. यत्फलमुत्पत्त्यादिवर्जितं कार्यकारणविलक्षणम्। ५. द्रव्येति—यद्द्रव्यादिविलक्षणत्वात्तज्जन्यत्वाभावाच्चाकार्यकारणमुत्पत्त्यादिचतुष्टयातिरिक्तं कर्मविरुद्धं मोक्षाख्यं फलं किं तत्कल्प्यतामाहो इतरदिति। ६. मोक्षाख्ये फले। ७. उत्पत्त्यादिमति फले। ८. कर्मणाम्। ९. तर्हि। १०. उत्पत्त्यादिमति। ११. अन्यदपि। १२. कर्मणा मोक्षे सामर्थ्याभावे। १३. कारणान्तरम्। १४. द्रव्यादि। १५. मोक्षे। १६. अस्मिन् विचारे। १७. विचारे न्यायानुसारिणं निर्णयमाहेत्यर्थः। १८. एतदपेक्षया भाष्ये कर्मफलमित्यधिकमिति भाति। १९. फलरूपः। २०. तद्विलक्षण इति—द्रव्यादिविलक्षणे तदजन्ये अकार्यकारणे उत्पत्त्यादिचतुष्टयातिरिक्ते इत्यर्थः।

यत्वाच्चेति ।

पारिशेष्यन्यायान्मोक्ष एव कल्पयितव्य इति चेत् । सर्वेषां हि कर्मणां सर्वं फलम् । न चान्यदितरकर्मफलव्यतिरेकेण फलं कल्पनायोग्यमस्ति । परिशिष्टश्च मोक्षः । स चेष्टो वेदविदां फलम् । तस्मात्स एव कल्पयितव्य इति चेत् । न । कर्मफलव्यक्तीनामानन्त्यादपारिशेष्यन्यायानुपपत्तेः ।

न हि पुरुषेच्छाविषयाणां कर्मफलानामेतावत्त्वं नाम केनचिदसर्वज्ञेनावधृतं तत्सा-

---

व्यापारः । तथा च नित्यकर्मविधिवशात्पुरुषप्रवृत्तिसंपादनाय फलं चेत्कल्पयितव्यं तर्हि तदुत्पत्त्यादीनामन्यतममेव तदविरुद्धं कल्प्यमित्यर्थः । इतिशब्दः श्रुतार्थापत्तिपरिहारसमाप्त्यर्थः ।

मोक्ष एव नित्यानां कर्मणां फलत्वेन कल्पयितव्यः पारिशेष्यन्यायादिति शङ्कते—पारिशेष्येति । पारिशेष्यन्यायमेव विशदयति—सर्वेषामिति । सर्वं स्वर्गपशुपुत्रादीति यावत् । तथाऽपि मोक्षादन्यदेव नित्यकर्मफलं किं न स्यात्तत्राऽऽह—न चेति । मोक्षस्यापीतरकर्मफलनिवेशमाशङ्क्याऽऽह—परिशिष्टश्चेति । तस्य फलत्वमेव कथं सिद्धं तत्राऽऽह—स चेति । परिशेषायातमर्थं निगमयति—तस्मादिति । पारिशेष्यासिद्ध्या दूषयति—नेति ।

कर्मफलव्यक्त्यानन्त्यमुक्तं व्यनक्ति—न हीति । फलवत्फलसाधनानां फलविषयेच्छानां चाऽऽन-

---

अविरोध है और जिनमें उनका सामर्थ्य देखा जाता है, वे ही उन्हीं का विषय हैं ।

(इस पर पूर्ववादी शङ्का करता है—) पारिशेष्यन्याय से मोक्ष ही नित्यकर्मों का फल है—ऐसी कल्पना कर ली जाय तो । नित्यातिरिक्त सभी कर्मों का स्वर्ग पशु पुत्रादि सभी फल है । नित्यकर्मों के सान्निध्य में जो दूसरे कर्म हैं, उनके फल से भिन्न मोक्ष से अन्य, फल की कल्पना करना संभव नहीं है । ऐसे में तो फिर मोक्ष ही अवशिष्ट रहता है । मोक्ष का वही फल वेदार्थज्ञाताओं को अभीष्ट है । मोक्ष के फलस्वरूप एवं परिशेष्य होने से उसकी ही कल्पना करनी चाहिये । (सिद्धान्ती उक्त आक्षेप का परिहार करता है—) ऐसा कहना ठीक नहीं है क्योंकि कर्मफल की अभिव्यक्तियाँ तो अनन्त हैं इससे उनमें पारिशेष्यन्याय का प्रयोग करना असंभव है ।

---

१ सर्वेषामिति—नित्यातिरिक्तानामिति शेषः । तदुक्तं वार्तिके—'मोक्षात्फलान्तरैर्योगे काम्यानां स्याच्छ्रुतत्वतः । नित्यकर्माभिसंबन्धो मुक्तेः स्यात्पारिशेष्यतः' ॥ १०८ ॥ इति । विध्युद्देशेफलाश्रुतेरफलस्य च विधेरयोगादिति हेतुमाह—पारिशेष्यत इति । २ न चान्यदिति—नित्यकर्मणः सकाशादितरद्यत्कर्म तत्फलाद्भिन्नं मोक्षाच्चान्यत्फलं कल्पनायोग्यं न चास्तीत्यर्थः । ३ तस्मात्—मोक्षस्य फलत्वात्पारिशेष्याच्च । ४ असंभवात् । ५ इयत्ता । ६ फलसाधनानामित्यर्थः । ७ निरस्तमोक्षे कर्मव्यापाराभावे च । ८ फलम् । ९ कर्माविरुद्धम् । १० मोक्ष इति—यद्यपि केवला नित्यकर्मचोदनाऽनुपपत्तिर्नित्यकर्मणां मुक्तिफलं न कल्पयति तथापि पारिशेष्यसहिता कल्पयिष्यतीति तदाशयः । ११ सर्वकर्मणां सर्वफलत्वेऽपि । १२ नित्येतरकर्मेति यावत् । १३ परिशिष्टश्चेति—मोक्षस्येतरकर्मफलनिवेशस्तु कल्पयितुमशक्यस्तत्कल्पकाभावादितरकर्मविध्युद्देशे मोक्षतरत्तत्फलश्रुते काम्यकर्मचोदनाया अनुपपत्त्यभावात् । तदुक्तं—"मोक्षात्फलान्तरैर्योगे काम्यानां स्याच्छ्रुतत्वतः इति श्लोको द्रष्टव्यः । १४ मोक्षस्य । १५ मुक्तेः कर्मफलत्वपूर्वपक्षं परिहरतीति यावत् । १६ पारिशेष्यासंभवार्थम् ।

घनानां वा पुरुषेच्छाना वाऽनियतदेशकालनिमित्तत्वात्पुरुषेच्छा विषयसाधनानां च पुरुषेष्टफलप्रयुक्तत्वात् । प्रतिप्राणि चेच्छा वैचित्र्यात्फलाना तत्साधनानां चाऽऽनन्त्यसिद्धिः । तदानन्त्याच्चाशक्यमेतावत्त्व पुरुषैर्ज्ञातुम् । अज्ञाते च साधनफलैतावत्त्वे कथ मोक्षस्य परिशेषसिद्धिरिति ।

कर्मफलजातिपारिशेष्यमिति चेत् । सत्यपीच्छाविषयाणा तत्साधनाना चाऽऽनन्त्ये कर्मफलजातित्व नाम सर्वेषा तुल्यम् । मोक्षस्त्वकर्मफलत्वात्परिशिष्टः स्यात् । तस्मात्परि-

न्स्य कथयति—तत्साधनानामिति । तदानन्त्ये हेतुमाह—अनियतेति । इच्छाद्यानन्त्ये हेत्वन्तरमाह—पुरुषेति । एतावत्त्व नाम नास्तीत्युभयत्र सबन्ध । पुरुषस्येष्ट फल शोभनाध्यासविषयभूत तत्र विचित्रेण शोभनाध्यासेन प्रयुक्तत्वादिति हेत्वर्थ । इच्छाद्यानन्त्यं प्राणिभेदेषु दर्शयित्वा तदानन्त्यमेकैकस्मिन्नपि प्राणिनि दर्शयति—प्रतिप्राणि चेति । इच्छाद्यानन्त्ये फलितमाह—तदानन्त्याच्चेति । साधनादिष्वेतावत्त्वाज्ञानेऽपि किं स्यात्तदाह—अज्ञाते चेति । इतिशब्द पारिशेष्यानुपपत्तिसमाप्त्यर्थः ।

प्रकारान्तरेण पारिशेष्य शङ्कते—कर्मेति । तामेध शङ्का विशदयति—सत्यपीति । तथाऽपि कथ मोक्षस्य परिशिष्टत्वं तदाह—मोक्षस्त्विति । परिशेषफलमाह—तस्मादिति । शङ्कित परिशेषं

पुरुष की इच्छा के विषयभूत कर्मफलो की इयत्ता का किसी भी असर्वज्ञ जीव ने निर्धारण नही किया क्योंकि उनके फल के साधन अथवा पुरुष की इच्छाओ के देश, काल और निमित्त अनियत हैं, पुरुष की इच्छा, फल और उनके साधनो को उस (पुरुष) के इष्टफलो द्वारा प्रेरणा मिलती रहती है। अत, प्रत्येक प्राणी की इच्छाओ मे विचित्र शोभनाध्यास रहने के कारण फल और उनके साधनो की आनन्त्यसिद्धि होती है। इच्छादि आनन्त्य से पुरुषो को उनके साधन, फल और इच्छा की इयत्ता का ज्ञान होना सम्भव नही है, तथा साधन और फलो की इयत्ता का ज्ञान न होने पर मोक्ष की परिशेषता कैसे सिद्ध हो सकती है।

(इस पर पूर्ववादी कहता है—) कर्मफलो की जाति की परिशेषता तो सिद्ध हो ही सकती है। इच्छा, फल और उनके साधनो का आनन्त्य सिद्ध होने पर भी उन सब म कर्मफलत्वरूप धर्म तो समान ही है। किन्तु मोक्ष मे तो कर्मफल का अभाव ही है, इसलिये वही परिशिष्ट होना चाहिये। इसलिये परिशेषत उसी को ही नित्यकर्मों का फल कल्पना करना उचित ही है। (इस पर सिद्धान्ती

१ फलमिति यावत् । २ विचित्रशोभनाध्यासहेतुकतया । ३ इच्छादि । ४ साधनफलयो इच्छायाश्च । ५ कर्मफलत्वरूपो धर्म । ६ मुक्ते कर्मफलत्वाभावात् । ७ फलादि । ८ शोभनमिदमित्यध्यासविषयभूतमिति बोध्यम् । ९ यथोक्तेष्टफले । १० कामिनाम् । ११ प्रवर्तितत्वात् । १२ हेत्वर्थ इति—प्रवृत्तिप्रयोजकानामिच्छाहेतूना शोभनाध्यासानामानन्त्यात्तत्कार्येच्छानामानन्त्य तदानन्त्यात्तद्विषयाणा फलानामानन्त्य तदानन्त्यात्तत्साधनानामानन्त्यमिति भाव । १३ भिन्नभिन्नेषु प्राणिष्विति यावत् । १४ सर्वप्राणिषु देशादिवशादिच्छादीना वैचित्र्यादानन्त्येऽपि प्रकृतपारिशेष्ययाथानुपपत्तौ किं लब्धमित्यर्थ । १५ पारिशेष्यान्तरविषयाम् । १६ सर्वेषा फलाना कर्मफलत्वेन तुल्यत्वेऽपि । १७ मोक्षस्य कर्मफलत्वाभावात् ।

शेषात्स एव युक्तः कल्पयितुमिति चेत् । न । [1]तस्यापि नित्यकर्मफलत्वाभ्युपगमे कर्मफलसमानजातीयत्वोपपत्तेः परिशेषानुपपत्तिः । [2]तस्मादन्यथाऽप्युपपत्तेः [3]क्षीणा श्रुतार्थापत्तिः । उत्पत्त्याप्तिविकारसंस्काराणामन्यतममपि नित्यानां कर्मणां फलमुपपद्यत इति [4]क्षीणा श्रुतार्थापत्तिः ।

चतुर्णामन्यतम एव मोक्ष इति चेत् । न तावदुत्पाद्यो [5]नित्यत्वात् । अत एवाविकार्योऽसंस्कार्यश्चात एवासाधनद्रव्यात्मकत्वाच्च । साधनात्मकं हि द्रव्यं संस्क्रियते । यथा पात्राज्यावि[6] प्रोक्षणे[7]क्षणादिना । न च संस्क्रियमाणः संस्कारनिर्वर्त्यो वा यूपा[8]दिवत् ।

दूषयति—नेत्यादिना । अर्थापत्तिपरिशेषौ पराकृत्यार्थापत्तिपराकरणं प्रपञ्चयितुं प्रस्तौति—तस्मादिति अन्यथाऽप्युपपत्तिं प्रकटयति—उत्पत्तीति ।

[9]नित्यानामुत्पत्त्यादिफलत्वेऽपि मोक्षस्य तत्फलत्वं सिध्यतीति शङ्कते—चतुर्णामिति । [10]तत्र मोक्षस्योत्पाद्यत्वं दूषयति—न तावदिति । उभयत्रात शब्दो नित्यत्वपरामर्शी । [11]असंस्कार्यत्वे हेत्वन्तरमाह—असाधनेति । [12]तदेव व्यतिरेकमुखेन(ण) विवृणोति—साधनात्मक हीति । इतश्च मोक्षस्यासंस्क्रियमाणत्वमित्याह—न चेति । यथा यूपस्तक्षणाष्टास्त्रीकरणाभ्यञ्जनादिना[13] संस्क्रियते यथा चाऽऽहवनीयः [14]संस्कारेण निष्पाद्यते न तथा मोक्षो नित्यशुद्धत्वान्निर्गुणत्वाच्चेत्यर्थः । [14]पक्षान्तरमनुभाष्य दूष-

---

कहता है—) ऐसा मानना ठीक नहीं है क्योंकि यदि उसे भी नित्यकर्मों का फल माना जायगा, तो उसमें भी कर्मफल की समानजातीयता की उपपत्ति होने से परिशेष की उपपत्ति का अभाव रहेगा। इससे भिन्न प्रकार से भी नित्यकर्मों के फल की उपपत्ति हो सकती है, इसलिये श्रुतार्थापत्ति निरस्त हो जाती है। भावार्थ यह है कि उत्पत्ति, आप्ति, विकार और संस्कार इन चारों से भिन्न कोई भी नित्य कर्मों का फल हो सकता है, इसलिये श्रुतार्थापत्ति निरस्त हो जाती है।

(इस पर पूर्ववादी आक्षेप करता है—) तो यदि इन चारों में से किसी एक को ही मोक्ष कहा जाय, (सिद्धान्ती उक्त आक्षेप का परिहार करते हुए कहता है—) ऐसा कहना ठीक नहीं। नित्य होने से मोक्ष उत्पाद्य नहीं है (उत्पाद्यत्व और नित्यत्व में विरोध तो स्फुट ही है। इसी कारण से अविकार्य है तथा असंस्कार्य है क्योंकि मोक्ष साधनात्मक द्रव्य नहीं है। साधनात्मक द्रव्य का ही संस्कार

---

१. ननु मोक्षादन्यत्र काम्यकर्मफलत्वस्य सत्त्वान्मोक्षे तदभावात्पारिशेष्यमित्याशङ्क्याऽऽह—तस्यापीति । मोक्षस्यापीत्यर्थः । तदुक्तं वार्तिके—'नित्यकर्मफलत्वं चेन्मुक्तेरप्यभ्युपेयते । कर्मकार्यसजातित्वात्पारिशेष्यनयः कुतः" ॥ ११५ ॥ इति । २ तस्मादिति—पारिशेष्यासम्भवे तत्सहकृता, नित्यकर्मचोदनानुपपत्तिर्नित्यकर्मणो मुक्तिफलत्वं कल्पयतीति पक्षस्य निरस्तत्वादित्यर्थः । ३ निरस्ता । ४ क्षीणेति—उत्पत्त्यादीनां चतुर्णामन्यतमफलत्वेनापि नित्यचोदनोपपत्तेर्न मुक्तेस्तत्फलत्वसाधिकाऽर्थापत्तिरिति भावः । ५ उत्पाद्यत्वनित्यत्वयोश्च विरोधः स्फुट एव । ६ आदिना व्रीहिः । ७ पत्न्यवेक्षितमाज्यं भवति । ८ आदिना आहवनीयादि । ९ नित्यानामित्यादिस्थाने सत्यं नित्यानामुत्पत्त्याद्यन्यतमफलत्वं किं तु मोक्षोऽपि तेषामन्यतम इति शङ्कत इति पाठान्तरम् । १० तत्र उत्पत्त्यादिचतुर्णां मध्ये । ११ असंस्कार्यत्वमेव । १२ आदिना प्रोक्षणम् । १३ संस्कारविशिष्ट उत्पाद्यते । १४ अवशिष्टमाप्यत्वपक्षम् ।

[1]पारिशेष्यादाप्यः स्यात् । नाऽप्याप्योऽप्यात्मस्वभावत्वादेकत्वाच्च ।

[2]इतरैः कर्मभिर्वैलक्षण्यान्नित्यानां कर्मणां [3]तत्फलेनापि विलक्षणेन भवितव्यमिति चेत् । [4]न । कर्मत्वसालक्षण्यात्सलक्षणं कस्मात्फलं[5] न भवतीतरकर्मफलैः । निमित्तवैलक्षण्यादिति चेत् । [6]न । क्षामवत्यादिभिः समानत्वात् ।

यथा हि गृहदाहादौ निमित्ते क्षामवत्याद्येष्टिर्यथा भिन्ने जुहोति स्कन्ने जुहोतीत्ये-

यति—पारिशेष्यादित्यादिना ।

एकत्वं पूर्णत्वम् । साधनवैलक्षण्यं फलवैलक्षण्यं कल्पयतीति शङ्कते—इतरैरिति । हेतुवैलक्षण्यासिद्धौ कल्पकाभावात्फलवैलक्षण्यासिद्धिरिति दूषयति—न कर्मत्वेति । 'निमित्त'कृतहेतुवैलक्षण्यवशात्फलवैलक्षण्यसिद्धिरिति शङ्कते—निमित्तेति । "निमित्तवैलक्षण्य फलवैलक्षण्यस्यानिमित्तमिति परिहरति—न क्षामवत्यादिभिरिति ।

"तदेव प्रपञ्चयति—यथा हीति । "यस्याऽऽहिताग्नेरग्निर्गृहान्दहेदग्नये क्षामवते पुरोडाशमष्टाक-

किया जाता है । जिस प्रकार पात्र, आज्य, व्रीहि का प्रोक्षण और ईक्षणादि से सस्कार किया जाता है । मोक्ष न तो सस्कृत किया जाने वाला है और न यूपादि के समान सस्कार द्वारा निष्पन्न होने वाला है । परिशेषत मोक्ष को प्राप्य ही माना जा सकता है, किन्तु आत्मस्वभाव एवं एकरूप होने से प्राप्य भी नहीं हो सकता ।

(इस पर पूर्ववादी आक्षेप करता है—) किन्तु नित्यकर्म अन्य काम्यकर्मों से विलक्षण हैं इसलिये उनका फल भी विलक्षण होना चाहिये । (सिद्धान्ती उक्त आक्षेप का परिहार करता है—) ऐसा कहना ठीक नहीं है क्योंकि कर्मत्व मे समान लक्षण वाले होने के कारण नित्यकर्म के फल का अन्य काम्यकर्मफलो के समान लक्षण वाला होना सिद्ध नहीं होगा । यदि कहो निमित्त मे विलक्षणता होने

१. उत्पत्त्यादित्रयाणामसंभवेन परिशेषात् । २ अग्निहोत्रादिनित्यकर्मणां नित्यत्वसमाख्यया कर्मान्तरवैलक्षण्यात् तत्फलेऽपि नित्यतेति सम्भावनेन शङ्कते—इतरैरिति । काम्यादिभिरित्यर्थः । ३ नित्यकर्मफलेनापीत्यर्थः । ४. समाख्यान्तरेण(कर्मेति समाख्यया)समाधत्ते—नेति । ५ नित्यकर्मफलम् । ६. काम्यकर्मफलैः । ७ नेति—न नित्यानां मोक्षफलत्वं तथा नैमित्तिकैः क्षामवत्यादिभिरिष्टिभिस्तुल्यफलत्वादित्यर्थः । ८. विधीयते । ९ निमित्तेति—यावज्जीवमित्यादि जीवनादिनिमित्तप्रयुक्तसाधनवैलक्षण्यवशादित्यर्थः । १० नाग्निहोत्रादिषु नित्यत्वसमाख्यया वैलक्षण्य यन कर्मत्वसमाख्यान्तरेण तेषु फलसालक्षण्यमुच्येत किन्तु जीवनादिनिमित्तवशादित्याशयेनावतारयति—निमित्तकृतेति । ११. सत्यपि निमित्तकृते वैलक्षण्ये न नित्यानां मोक्षफलता नैमित्तिकैस्तुल्यफलत्वेनातत्फलत्वादित्यभिप्रायेण परिहारमवतारयति—निमित्तेति । १२ नित्यकर्मणां नैमित्तिकैस्तुल्यत्वम् । १३ यस्याहिताग्नेरित्यादि—अत्र क्षामवते कृशाय इति न्यायप्र० टि० न्यायप्रकाशे च पापक्षयरूपमस्या फलमुक्तम् । शेषजातिमरणनिवृत्त्यर्थं गृहदाहनिवृत्तये चेयमिष्टिरिति श्रौतपदार्थनिर्वचनेऽप्याह । शब्दकल्पद्रुमे च क्षामवती इत्युट्टङ्कय क्षाम दोषक्षय. साध्यतयाऽस्त्यस्या मतुप् यागविशेष । यथा भविष्ये—"क्षामवत्यादिना यद्वत् कर्मणा पृतनापते । दैवदोषादवरणे जाते दोषकदम्बके ॥ होमेनैकेन दोषाणां सर्वेषां क्षयमादिशेत्" ॥ एव च एकप्रायश्चित्तेन अनेकदोषक्षयाय क्षामवतीष्टि. सर्वत्र दृष्टान्त इति प्रायश्चित्ततत्त्वमित्युक्तम् ।

यमादौ नैमित्तिकेषु कर्मसु न मोक्षः फलं कल्प्यते । तैश्चा विशेषान्नैमित्तिकत्वेन जीवना-
दिनिमित्ते च श्रवणात् । तथा नित्यानामपि न मोक्षः फलम् ।

आलोकस्य 'सर्वेषां रूपदर्शनसाधनत्व' उलूकादय आलोकेन रूपं न पश्यन्तीत्युलू-

पालं निर्वपेदित्यत्र 'दहेदिति विधिविभक्त्या प्रमिद्धार्थयच्छब्दोपहितया गृहदाहाख्यनिमित्तपरामर्शेना-
ग्नये क्षामवते पुरोडाशमित्याविना 'क्षामवती विधीयते । 'यस्योभयं हविरार्तिमार्छेत ऐन्द्रं पञ्चशरा-
वमोदनं निर्वपेदित्यत्र चाऽऽर्छेदिति विधिविभक्त्या निर्वपेदिति विधास्यमाननिर्वापनिमित्तं हविरार्तिम-
नूद्य निर्वापो विधीयते । "भिन्ने जुहोति स्कन्ने जुहोत्यथ "यस्य "पुरोडाशौ क्षायतस्तं यज्ञं वरुणो गृह्णाति
यदा तद्धविः संतिष्ठेताथ तदेव हविर्निर्वपेद्यज्ञो हि यज्ञस्य प्रायश्चित्तमिति च भेदनादिनिमित्तं प्रायश्चि-
त्तमुक्तं न च तन्मुक्तिफलं तथा" निमित्तभेदेऽपि न नित्यं कर्म मुक्तिफलमित्यर्थः । क्षामवत्यादितुल्यत्वं
नित्यकर्मणो कुतो लब्धमित्याशङ्क्याऽऽह—तैश्चेति । क्षामवत्यादिभिरिति यावत् । प्रविशेषे हेतुर्नैमित्ति-
कत्वेनेति । "तदेव कथमिति चेत्तत्राऽऽह—जीवनादीति । दार्ष्टान्तिकं स्पष्टयति—तथेति ।

नित्यं कर्म "कर्मान्तराद्विलक्षणमपि न मोक्षफलमित्यत्र दृष्टान्तमाह—आलोकस्येति । चक्षुरन्त-

के कारण फल मे विलक्षणता होनी ही चाहिये तो ऐसा कहना भी ठीक नही क्योंकि क्षामवत्यादि
इष्टियो से इसकी समानता है ।

जिस प्रकार गृहदाहादि निमित्त होने पर क्षामवत्यादि इष्टियो का विधान किया जाता है, जिस
प्रकार "कुम्भ्यादि पात्रभेद से हवन करे ", "आज्यादि स्कन्दन को निमित्त कर के हवन करे" इत्यादि
विधियो मे भेदन और स्कन्दन के प्रायश्चित्तरूप से किये गये नैमित्तिककर्मों का फल मोक्ष नही हो
सकता । नित्यकर्मों से विलक्षण न होने के कारण ये नैमित्तिककर्म भी उनके समान ही हैं क्योंकि
अग्निहोत्रादि कर्मों को श्रुति जीवनादिनिमित्तक के रूप मे वर्णन करती है । इसी प्रकार क्षामवत्यादि
इष्टियो के समान नित्यकर्मों का फल भी मोक्ष नही हो सकता ।

उलूकादि से इतर सभी प्राणियो के लिए प्रकाश रूपदर्शन का साधन होने पर भी उलूकादि
प्रकाश से रूपादि की उपलब्धि नही कर पाते । इस प्रकार उल्लू के चक्षुओ की दूसरे लोगो के

१ नित्यकर्मणामवैलक्षण्यात् । २ सति अग्निहोत्रादिनित्यकर्मणाम् । ३ क्षामवत्यादिवत् । ४. नित्या-
नामपीत्यपिना निमित्तभेदेऽपीति सूच्यते । ५ उलूकादिभ्य इतरेषाम् । ६ सत्यपि । ७ दहेदित्येत-
त्पदघटकलिङभिन्नप्रत्ययरूपविभक्तिश्रुत्येत्यर्थ । ८. इष्टि । ९. यस्याभयमित्यादि—दर्शपूर्णमासयोर्दोहो
प्रकृत्येदमाम्नातम् । तथा च उभयम्—सायप्रातिकम् हविर्दोहरूपम् । आर्ति विनाशम । आर्छेदगच्छेदित्यर्थ ।
१० भिन्ने जुहोति स्कन्ने जुहातीति—दर्शपूर्णमासयो कुम्भ्यादिपात्रभेदमाज्यादिस्कन्दन च निमित्तीकृत्य
होमावाम्नातो । कुम्भ्यादीत्यत्र आदिना कपालादि ग्राह्यम । ११ यज्ञस्य । १२ अथ यस्य पुरोडाशौ
क्षायत इत्यादेरयमर्थ । यस्य यज्ञस्य पुरोडाशावाग्नेयाग्नीषोमीयौ क्षायतोऽत्यन्तदाहेन भस्मीभवत त यज्ञ
वरुणो गृह्णाति नत्वय यज्ञो यजमानस्य फल प्रयच्छति । यदि तादृशहविष्को यज्ञ आसमाप्तेरनुष्ठीयेत तदा
तत्प्रत्यवायपरिहाराय पुनस्तदेव हविर्निरूप्य यजमानो यज्ञमनुतिष्ठेदिति जै० अधिकरणन्यायमालायाम् । १३.
जीवनादि । १४ नित्यकर्मणो नैमित्तिकत्वमेव । १५ काम्यादित. ।

कादिचक्षुषो वैलक्षण्यादितरलोकचक्षुर्भिन्नं रसादिविषयत्वं परिकल्प्यते । रसादिविषये सामर्थ्यस्यादृष्टत्वात् । सुदूरमपि गत्वा यद्विषये दृष्टं सामर्थ्यं तत्रैव कश्चिद्विशेषः कल्पयितव्यः ।

यत्पुनरुक्तं विद्यामन्त्रशर्करादिसंयुक्तविषदध्यादिवन्नित्यानि कर्माणि कार्यान्तरमारभन्त इति । आरभ्यतां विशिष्टं कार्यं तदिष्टत्वादविरोधः । निरभिसंधेः कर्मणो विद्यासंयुक्तस्य विशिष्टकार्यान्तरारम्भे न कश्चिद्विरोधः । देवयाज्यात्मयाजिनो रात्मयाजिनो

रैवलूकादिचक्षुषो वैलक्षण्येऽपि न रसादिविषयत्वमित्यत्र हेतुमाह—रसादीति । वैलक्षण्यं तर्हि कुत्रोपयुज्यते तत्राऽऽह—सुदूरमपीति । मनुष्यान्विहायोलूकादौ गत्वाऽपीति यावत् । यद्विषये रूपादावित्यर्थः । विशेषो दूरसूक्ष्मादिरतिशयः ।

दार्ष्टान्तिकं पूर्ववादानुवादपूर्वकमाचष्टे—यत्पुनरित्यादिना । तत्रैति यावत् । तदेव विवृणोति—निरभिसंधेरिति । विद्यासंयुक्तं कर्म विशिष्टकार्यकरमित्यत्र शतपथश्रुतिं प्रमाणयति—देवयाजीति । तदाहुरित्युपक्रम्य" देवयाजिनः श्रेयानित्यादौ काम्यकर्तुर्देवयाजिन सकाशादात्मशुद्ध्यर्थं कर्म कुर्वन्नात्मयाजी श्रेयानित्यात्मयाजिनो विशेषश्रवणात्सर्वक्रतुयाजिनामात्मयाजी विशिष्यत इति स्मृतेश्च "विशिष्टस्य कर्मणो" विशिष्टकार्यारम्भकत्वमविरुद्धमित्यर्थः । छान्दोग्येऽपि विद्यासंयुक्तस्य कर्मणो विशिष्ट

चक्षुओ से विलक्षणता होने पर भी उस चक्षु का (रूपादि को छोडकर) रसादि विषय कल्पना नही किया जा सकता क्योकि रसादि विषय को ग्रहण करने की शक्ति चक्षु मे नही देखी जाती । (मनुष्यो को छोडकर उलूकादि मे) सुदूर जाकर भी जिस विषय मे जिसकी ग्रहण करने की शक्ति देखी जाती है, उसी मे कुछ विशेष योजना की कल्पना करनी चाहिये ।

एव जो पहले ऐसा कहा था कि विद्या, मन्त्र, शर्करादियुक्त विष और दधि आदि के समान नित्यकर्म किसी कार्यान्तर का प्रारम्भ करते हैं, सो वे भले ही (सत्त्वशुद्धि की एकाग्रतारूप) किसी विशिष्ट कार्य का प्रारम्भ करते रहे, इष्ट होने के कारण उससे हमारा कोई विरोध नही है । निष्काम विद्यायुक्त कर्म का विशिष्ट कार्यान्तर के आरम्भ मे कोई विरोध नही है । देवयाजी से आत्मयाजी श्रेष्ठ है", "जो भी विद्या, श्रद्धा, उपनिषत् से करता है, वही अधिक वीर्यवान् होता है" इत्यादि

१. अदृष्टत्वादिति—"रसादिग्रहणे शक्तिर्लोके दृष्टा न चक्षुषः । सामर्थ्यस्याग्रहात्तस्मान्न विरुद्धा प्रकल्प्यते" ॥ वा० १२३ ॥ इति । विरुद्धा रसादिविषया शक्तिरिति शेष । २ यदिति—यस्य चक्षुरादेर्यद्विषये स्वगोचरे रूपादौ सामर्थ्यं दृष्टं तस्य तत्रैवेति योज्यम् । ३ आलोकादिनिरपेक्षमुलूकादिचक्षुरस्मदादिचक्षुर्वत् कथं कार्यं कुर्यादित आह—तत्रैवेति । आलोकानपेक्षस्याप्युलूकादिचक्षुषः स्वगोचररूपादावेव शक्त्यतिशयो न रसादावित्यर्थ । ४ विशिष्टमिति—सत्त्वशुद्धिस्तदेकाग्रताख्यमिति सिद्धान्त्यभिप्रेतम् । आलोकानपेक्षोलूकादिचक्षुर्वज्ज्ञानसंयुक्तमपि कर्म स्वगोचरचतुर्णामन्यतमस्यैवारम्भकमिति भाव । ५ निष्कामस्य । ६. मध्ये । ७ समुच्चित कर्म । ८ पूर्वपक्षानुवादेति बोध्यम् । ९ विशिष्टकार्यान्तरारम्भे । १०. संयुक्तवाक्यम् । ११. शतपथे । १२ विशिष्टस्य विद्यासहितस्य निरभिसन्धेरित्यर्थ । १३ सत्त्वशुद्ध्यादिरूप. ।

विशेषश्रवणाद्देवयाजिनः श्रेयानात्मयाजीत्यादौ यदेव विद्यया 'करोतीत्यादौ च ।

यस्तु परमात्मदर्शनविषये 'मनुनोक्त आत्मयाजिशब्दः समं पश्यन्नात्मयाजीत्यत्र समं

पश्यन्नात्मयाजी भवतीत्यर्थः । अथवा भूतपूर्वगत्या ।

'आत्मयाज्यात्मसंस्कारार्थं नित्यानि कर्माणि करोति "इदं मेऽनेनाङ्गं संस्क्रियते"

कार्यारम्भकत्वं दृष्टमित्याह—यदेवेति ।

नन्वात्मयाजिशब्दो नित्यकर्मानुष्ठायिविषयो न भवति।

'सर्वभूतेषु चाऽऽत्मानं सर्वभूतानि चाऽऽत्मनि' ।

समपश्यन्नात्मयाजी वै स्वाराज्यमधिगच्छति" ॥

इत्यत्र परमात्मदर्शनविषये तस्य 'प्रयुक्तत्वादत आह—यस्त्विति । यदि समं पश्य"न्भवेत्तदा

परेणाऽऽत्मनैकीभूत स्वराड्भवतीत्यात्मज्ञानस्तुतिरत्र विवक्षिता । "महती हीयं ब्रह्मविद्या यद्ब्रह्मवि-

देवा"ऽऽत्मयाजी भवति । नहि तस्य "तदनुष्ठानं पृथगपेक्षते । ब्रह्मवित्पुण्यकृदिति" च वक्ष्यतीत्यर्थः ।

"परदर्शनवदात्मयाजिशब्दस्य गत्यन्तरमाह—अथ वेति । भूता या "पूर्वस्थितिस्तामपेक्ष्याऽऽत्मयाजि-

शब्दो विदुषीत्यर्थः ।

"तदेव प्रपञ्चयति—आत्मेति । तेषां तत्संस्कारार्थत्वे प्रमाणमाह—इदमिति । तत्रैव स्मृति

श्रुतियों द्वारा देवयाजी और आत्मयाजी में आत्मयाजी की विशेषता सम्पादित की गयी है ।

"आत्मयाजी सर्वभूतप्राणियों में एक सा देखता हुआ स्वाराज्य को प्राप्त करता है" इत्यादि वाक्य

से जो मनुजी ने आत्मयाजी शब्द का परमात्मदर्शन के विषय में प्रयोग किया है, उसका भावार्थ यह

है कि सब भूतप्राणियों में समदृष्टि से देखने वाला आत्मयाजी है अथवा यहाँ भूतपूर्व गति से इसका

प्रयोग होता है ।

"मेरा यह अङ्ग अन्तःकरण इस नित्यकर्म के द्वारा सस्कारयुक्त किया जाता है" इस श्रुतिवाक्य

के प्रमाण से आत्मयाजी अन्तःकरणशुद्धि के लिए नित्यकर्मों को करता है । "गर्भशुद्धि के लिए किए

गये होमों से (बीजगत पाप निवृत्त हो जाते हैं)' इत्यादि प्रकरण में मनु नित्यकर्मों का प्रयोजन

देहेन्द्रियसंघात का संस्कार दिखलाता है । जो आत्मयाजी उन कर्मों से सस्कारयुक्त हो गया है, वह

---

१. श्रद्धयोपनिषदा तदेव वीर्यवत्तरं भवतीति श्रुतिशेष । छा० उ० १।१।१० । २ मनुनेति । "निःश्रेयसकरं कर्म विप्रस्येदं निबोधत' । (१२ ८२) इत्यारभ्य "वेदाभ्यासस्तपो ज्ञानमिन्द्रियाणां च संयम । अहिंसा गुरुसेवा च निःश्रेयसकरं परम्" ॥ १२-८३ ॥ इत्यादिना कर्मविशेषानुक्त्वा "श्रेयस्करतरं ज्ञेयं सर्वदा कर्म वैदिकम्" ॥ १२-८६ ॥ इति चादिश्य सर्वभूतेषु चात्मानमित्यादिवदतीति शेष । ३ आत्मयाजीति—नित्यकर्मानुष्ठायीत्यर्थं । विद्याफले सर्वफलान्तर्भावात्तथैव नित्यकर्मानुष्ठाताय सम्पन्नो न पृथक्कर्मानुष्ठानापेक्षाविद इति स्तुति । ४ आत्मयाजीति—आत्मसंस्कारार्थं यो नित्यानि कर्माणि करोति स समं पश्यन्नात्मयाजीति वाक्ये मनुना आत्मयाजीत्युक्त इत्यर्थः । ५ अन्तःकरणशुद्ध्यर्थम् । ६ अन्तःकरणम् । ७ नित्यकर्मणा । ८ मस्मृ० १२।९१ । ९ प्रयुक्तत्वादिति—तथा च मनूक्तौ विद्यासमुच्चितस्य कर्मणो मुक्तिफलत्वमिष्टमिति शेष । १० यदि आत्मयाजित्वम् । अधिकारी । ११ तां दर्शयति—महतीति । १२ नित्यकर्मानुष्ठायी । १३ यदि आत्मयाजित्वम् । १४ बृ० उ० ४।४।६ । १५ परमात्मविदि । १६ नित्यकर्मानुष्ठायित्वरूपा १७. भूतपूर्वगतित्वमेव ।

इति श्रुतेः । तथा 'गार्भैर्होमैरित्यादिप्रकरणे कार्यकरणसंस्कारार्थत्वं नित्यानां कर्मणां 'दर्शयति । संस्कृतश्च स आत्मयाजी तैः कर्मभिः' समं द्रष्टुं समर्थो भवति । तस्येह वा जन्मान्तरे वा 'सममात्मदर्शनमुत्पद्यते । समं पश्यन्स्वाराज्यमधिगच्छतीत्येषोऽर्थः' । आत्मयाजिशब्दस्तु भूतपूर्वगत्या प्रयुज्यते । 'ज्ञानयुक्तानां नित्यानां कर्मणां ज्ञानोत्पत्तिसाधनत्व-

---

प्रमाणयति—तथेति । गर्भसंबन्धिभिर्होमैर्मौञ्जीनिबन्धनादिभिश्च वैदिकमेवैन.' शमयतीत्यस्मि'न्प्रकरणे नित्यकर्मणां संस्कारार्थत्वं निश्चितमित्यर्थः । संस्कारोऽपि कुत्रोपयुज्यते तत्राऽऽह—संस्कृतश्चेति । यो हि नित्यकर्मानुष्ठायी स तदनुष्ठानजनितापूर्ववशात्परिशुद्धबुद्धि. सम्यग्धीयोग्यो भवति ।

" "महायज्ञैश्च यज्ञैश्च ब्राह्मीयं क्रियते तनु." '

इति स्मृतेरित्यर्थः । कदा पुनरेषा सम्यग्धीरुत्पद्यते तत्राऽऽह—तस्येति । उत्पन्नस्य सम्यग्ज्ञानस्य फलमाह—सममिति । कथं पुन." सम्यग्ज्ञानवत्यात्मयाजिशब्द" इत्याशङ्क्य पूर्वोक्तं स्मारयति—आत्मेति । किमीतीह" भूतपूर्वगतिराश्रितेति तत्राऽऽह—ज्ञानयुक्तानामिति । ऐहिकैरामुष्मिकैर्वा

सब जीवो मे समानरूप से एक ही तत्त्व देखने के लिए समर्थ हो जाता है । उसे ही इस जन्म या जन्मान्तर मे समानरूप से सर्वत्र विद्यमान आत्मा का दर्शन होता है । भावार्थ यह है कि समदर्शन करने वाला पुरुष सब प्राणियो मे स्वाराज्य प्राप्त कर लेता है। यहाँ 'आत्मयाजी' शब्द का प्रयोग भूतपूर्व

---

१ "गार्भैर्होमैर्जातकर्मचूडामौञ्जीनिबन्धनै । बैजिक गार्भिक चैनो द्विजानामपमृज्यते" ॥ म० स्मृ० २।२७ ॥ गर्भसम्बन्धाद्बीजसम्बन्धाच्च सभावित पापम् पुसवनादिकर्मभिर्निवर्तते त्रैवर्णिकानामित्यर्थ । चौडेति पाठान्तरम् । २ गार्भैर्होमैरित्यत्र श्लोके कुल्लूकभट्टास्तु—ये सस्कारा गर्भशुद्धये क्रियन्ते ते गार्भा होमग्रहण सस्कारोपलक्षण गर्भाधानादे सस्कारस्याहोमत्वात् । जातस्य यत्कर्म मन्त्रवत् सर्पि प्राशनादिरूप तज्जातकर्म चौड चूडाकरणकर्म मौञ्जीबन्धनमुपनयनम् । एतैर्बैजिक प्रतिषिद्धमैथुनसङ्कल्पादिना पैतृकरेतोदोषाद्यदपापम् । गार्भिक च अशुचिमातृगर्भवासज तद्द्विजातीनामपमृज्यत इत्याहु । ३ मनु । ४ सस्कृत इत्यन्वय । ५ प्रत्यक्त्वेन ब्रह्मविषयम् । ६ सर्वभूतेष्वित्यादिमनूक्त । ७ उपासनयुक्तानामिति भाव । ८ कर्म पापम् । ९ प्रकरणे इति—"वैदिकै कर्मभि पुण्यैर्निषेकादिर्द्विजन्मनाम् । कार्य शरीरसस्कार. पावन प्रेत्य चेह च' ॥ २।२६ ॥ इति मानवे प्रकरणे । वैदिकै वेदमूलै , पुण्यै शुभै कर्मभिर्द्विजातीना पावन पापक्षयप्रयोजको गर्भाधानादिसस्कार कर्तव्य , प्रेत्य सस्कृतस्य परलोके यज्ञादिफलसम्बन्धात् अत्र वेदाध्ययनाद्यधिकारात् । १० "स्वाध्यायेन व्रतैर्होमैस्त्रैविद्येनेज्यया सुतै' रिति पूर्वार्धम् । ११ महेति । महायज्ञास्तु—"ब्रह्मदेवमनुष्याणा पितृणा भूतसगिनाम् । यज्ञा सन्ति जपो होमो दान च तर्पण बलि ॥ अध्यापन ब्रह्मयज्ञ पितृयज्ञस्तु तर्पणम् । होमो दैवो बलिर्भौतो नृयज्ञोऽतिथिपूजनमिति" ॥ अत्र स्वाध्यायो ब्रह्मयज्ञश्चेत्यपि क्वचित्पाठ यज्ञै दर्शादिभि ब्राह्मी ब्रह्मसाक्षात्कारयोग्या, स्वाध्यायेन वेदाध्ययनेन, व्रतै मधुमासवर्जनादिरूपैनियमै , होमै सावित्रचरुहोमादिभि सायप्रातर्होमैश्च, त्रैविद्येन तदाख्यव्रतेन अप्राधान्यादस्य पृथगुपन्यास , इज्यया ब्रह्मचर्यावस्थाया देवर्षिपितृतर्पणरूपया गृहस्थावस्थाया पुत्रोत्पादनेन । महायज्ञै पञ्चभिर्ब्रह्मयज्ञादिभि' यज्ञै ज्योतिष्टोमादिभि ब्राह्मी ब्रह्मप्राप्तियोग्या इय तनु तदवच्छिन्न आत्मा क्रियते इति कुल्लूकभट्ट । १२. म० स्मृ० २।२८ । १३ नित्यकर्मानुष्ठायिविषयत्वेन निर्णीत । १४. अयुक्त इति शेष । १५. सम्यग्ज्ञानवति ।

प्रदर्शनार्थम् ।

किं चान्यत् ।

"ब्रह्मा विश्वसृजो धर्मो महानव्यक्तमेव च ।
उत्तमां सात्त्विकीमेतां गतिमाहुर्मनीषिणः" ॥

इति च देवसार्ष्टिव्यतिरेकेण भूताप्ययं दर्शयति । भूतान्यप्येति पञ्च वै । भूतान्य-

---

[1]कर्मभिः शुद्धबुद्धेः श्रवणादिवशादैक्यज्ञानं मुक्तिफलमुदेति । [2]कर्म तु विद्यासंयुक्तमपि संसारफलमेवेति भावः ।

[3]तत्रैव हेत्वन्तरमाह—किंचेति । विद्यायुक्तमपि कर्म बन्धार्थमेवेत्यत्र न केवलमुक्तमेव [4]कारणं किंत्वन्यच्च तदुपपादकमस्तीत्यर्थः । [5]तदेव दर्शयति—ब्रह्मेति । सात्त्विकीं सत्त्वगुणप्रसूतज्ञानसमुच्चितकर्मफलभूतामिति यावत् । [6]अत्र हि विद्यायुक्तमपि कर्म संसारफलमेवेति सूच्यते ।

[7]"एष सर्वः समुद्दिष्ट[8]स्त्रिप्रकारस्य कर्मणः ।
त्रिविधस्त्रिविधः [9]कर्मसंसारः सार्वभौतिकः[10] ॥"

इत्युपसंहारादिति चकारार्थः । किंच—

[11]"प्रवृत्तं कर्म संसेव्य देवानामेति [12]साष्टिताम्"

इति कर्मफलभूतदेवतासदृशैश्वर्यप्राप्तिमुक्त्वा [13]तदतिरेकेण—

"निवृत्तं सेवमानस्तु भूतान्यप्येति पञ्च वै"

इति [14]भूतेष्वप्ययवचनाच्च समुच्चयस्य मुक्तिफलतेत्याह— देवसार्ष्टीति ।

गति से होता है क्योंकि उपासनायुक्त नित्यकर्म ज्ञानोत्पत्ति की साधना प्रदर्शित करने के लिए हैं ।

इसके अलावा—"चतुर्मुख ब्रह्मा, मरीचि आदि सप्तर्षि, धर्म, महान् अव्यक्त, इन चारों गतियों को विचारवान् पुरुष उत्तम सात्त्विकी गति बतलाते हैं" । तथा "पाँच भूतों में लीन हो जाता है" यह स्मृति देवसार्ष्टि से भूतों में लय को पृथक् दिखलाती है । जो यहाँ "भूतान्यप्येति" के स्थान

---

१ ब्रह्मा चतुर्वदनः, विश्वसृजो मरीच्यादिसप्तर्षयः, धर्मो यमः, महानव्यक्तमिति सांख्यप्रसिद्धतत्त्वद्वयस्याधिष्ठातृदेवताद्वयमचेतनगुणत्रयमात्रतत्त्वद्वयस्योत्तमसात्त्विकगतित्वानुपपत्तेः । गता ब्रह्माद्याभिरेताम् । २ म० स्मृ० १२।५० । ३ निरभिसन्धिभिः । ४ साभिसन्धिः । ५ यथोक्तकर्मणः संसारफलत्वं नव । ६ ७४० पृष्ठभाष्ये न प्रमाणाभावादित्यादिनोक्तमेव युक्तिजातम् । ७ उपपादकम् । ८ उपपादकान्तरमेव । ९ ब्रह्मेत्याद्युक्तस्मृतौ । १० एष मनो वाक्कायरूपसाधनभेदेन त्रिप्रकारस्य कर्मणः सत्त्वादिभेदेन त्रिविधः । ११ पुनः प्रथममध्यमोत्तमभेदेन त्रिविधः सर्वप्राणिगतः समग्रो गतिविशेषः कार्त्स्न्येनोक्त इत्यर्थः । १२ कृत्स्नः संसार इति पाठान्तरम् । १३ म०स्मृ० १२।५१ । १४ "प्रवृत्तं च निवृत्तं च द्विविधं कर्म वैदिकम् । इह चामुत्र वा काम्यं प्रवृत्तं कर्म कीर्त्यते । निष्कामं ज्ञानपूर्वं तु निवृत्तमुपदिश्यते" ॥ १२।८९ ॥ इह काम्यं कर्म कारीर्यादि, अमुत्र तद् ज्योतिष्टोमादि, यत्कामनया क्रियते तत्संसारप्रवृत्तिहेतुत्वात् प्रवृत्तमित्युच्यते इतरदुपासनायुक्तं निष्कामं संसारनिवृत्तिहेतुत्वान्निवृत्तम् । १५ साम्यम् । १६ तदतिरेकेण निरुक्तैश्वर्यप्राप्त्यभावेन । १७ म०स्मृ० १२।९० । १८ भूतेषु व्यक्ताव्यक्तेषु पञ्चसु समुच्चयानुष्ठायिनोऽप्ययकथनात् ।

त्येतीति पाठं ये कुर्वन्ति तेषां वेदविषये परिच्छिन्नबुद्धित्वाददोषः।

[2]न चार्थवादत्वमध्यायस्य ब्रह्मान्तकर्मविपाकार्थस्य [3]तद्व्यतिरिक्तात्मज्ञानार्थस्य च कर्मकाण्डोपनिषद्भ्यां तुल्यार्थत्वदर्शनात्। विहिताकरणप्रतिषिद्धकर्मणां च स्थावरश्वसूक-

---

'निवृत्त सेवमानस्तु भूतान्यत्येति पञ्च वै'

इति पाठान्मुक्तिरेव समुच्चयानुष्ठानाद्विवक्षितेति चेन्नेत्याह—भूतानीति। ज्ञानमेव मुक्तिहेतुरिति प्रतिपादकोपनिषद्विरोधान्नायं पाठ. साधीयानित्यर्थं।

ननु विग्रहवती देवतैव नास्ति मन्त्रमयी हि सा देवता शब्दप्रत्ययालम्बनमतो[4] ब्रह्मा विश्वसृज इत्यादेरर्थवादत्वान्न तद्बलेन नित्यकर्मणां मुक्तिसाधनत्व निराकर्तुं शक्यमत आह—न चेति। ज्ञानार्थस्य सपश्यन्नात्मयाजीत्यादेरिति शेषः। किंच—

"अकुर्वन्विहितं कर्म निन्दितं च समाचरन्।
प्रसज्जंश्चेन्द्रियार्थेषु नर. [5]पतनमृच्छति ॥[6]
[7]शरीरजै कर्मदोषैर्याति स्थावरता नर॰।
वाचिकै॰ पक्षिमृगतां मानसैरन्त्यजातिताम् ॥[8]
श्वसूकरखरोष्ट्राणा गोजाविमृगपक्षिणाम्।
चण्डाल[9]पुल्कसानां च ब्रह्महा योनिमृच्छति" ॥[10]

इत्या[11]दिवाक्यै प्रतिपादितफलानां प्रत्यक्षेणा''पि दर्शनाद्यथा "तत्र नाभूतार्थवादित्वं तथा "यथोक्ताध्यायस्यापि नाभूतार्थवादतेत्याह—विहितेति। किंच यज्ञाविदेशे "छर्दिताद्याश्रिप्रेताना प्रत्यक्ष-

---

पर "भूतान्यत्येति" ऐसा पाठ करते हैं, उनके पक्ष मे उनकी बुद्धि ही वेद के विषय मे सकुचित है, ऐसा कहने मे कोई दोष नही है।

ब्रह्मलोकपर्यन्त कर्मविपाक जिसका विषय है, उस कर्मफल से भिन्न आत्मज्ञान प्रयोजन वाले इस अध्याय को अर्थवाद नही कहा जा सकता। क्योकि कर्मकाण्ड और उपनिषत् से इसकी तुल्यार्थता

---

१ "नान्य पन्था विद्यते अयनाय" इत्यादि श्रुत्यपरिज्ञान सूचयति—परिच्छिन्नेति। निखिलवेदार्थमवगन्तुमपर्याप्तधीरत्वादित्यर्थं। किंच न कर्मणा भूतात्ययस्तदविरोधित्वादतो ज्ञानादेव तत्सिद्ध समुच्चयायोगादुक्तपाठ एव युक्त इति। २ मनूक्तद्वादशाध्यायस्य, षष्ठचर्यो घटकत्वम् ब्रह्मेत्यादिवाक्यस्य हिरण्यगर्भान्तो य कर्मविपाक (फलम्) तदर्थकस्य। ३ तद्व्यतिरिक्तेति—कर्मफलव्यतिरिक्तेत्यर्थं। ४ देवताविग्रहाभावात्। ५ पापम्। ६ म॰ स्मृ॰ ११।४४। ७ शरीरजै कर्मदोषैरिति—शरीरकर्मजपापैरित्यर्थं। ८ म॰स्मृ॰ १२।६। ९ ब्राह्मणाच्छूद्रकन्यायामूढाया निषाद उत्पद्यत य सज्ञान्तरेण पारशव इत्युच्यते निषादाच्छूद्राया जात पुल्कसो भवति। १० म॰ स्मृ॰ १२।५५। ११ शास्त्रवदित्यपेरर्थ। १२ अकुर्वन्नित्यादिवाक्येषु नाविद्यमानार्थप्रतिपादकत्वम्। १३ उक्तद्वादशाध्यायघटकब्रह्मेत्यादिवाक्यस्यापि। १४ छर्दिताश्यादीति—छर्दित वान्त तद्भोजी। आदिना यूकापूयशवपुरीषाशिनो गृह्यन्त। तथा च मनु—'वान्ताश्युल्कामुख प्रेतो विप्रो धर्मात्स्वकाच्च्युत। अमेध्यकुणपाशी च क्षत्रिय कटपूतन ॥ मैत्राक्षज्योतिक प्रेतो वैश्यो भवति पूयभुक्। चैलाशकश्च भवति शूद्रो धर्मात्स्वकाच्च्युत" ॥ १२।७१-७२ ॥ इति। अत्रोल्कामुखकटपूतनचैलाशकास्तत्तज्जातीयप्रेताना सज्ञा।

रादिफल'दर्शनात् । वान्ताश्यादिप्रेतदर्शनाच्च ।

न च श्रुतिस्मृतिविहितप्रतिषिद्धव्यतिरेकेण विहितानि वा प्रतिषिद्धानि वा कर्माणि 'केनचिदवगन्तुं शक्यन्ते । 'येषामकरणादनुष्ठानाच्च प्रेतश्वसूकरस्थावरादीनि कर्मफलानि प्रत्यक्षानुमानाभ्यामुपलभ्यन्ते । न चैषामकर्मफलत्वं केनचिदभ्युपगम्यते । तस्माद्विहिताकरणप्रतिषिद्धसेविना यथैते कर्मविपाकाः प्रेततिर्यक्स्थावरादयस्तथोत्कृष्टेष्वपि ब्रह्मान्तेषु कर्मविपाकत्वं वेदितव्यम् । तस्मात्स आत्मनो वपामुदखिदत्सोऽरोदीदित्यादिव-

---

स्त्वाद'ध्ययनरहितानामपि स्त्रीशूद्रादीनां वेदोच्चारणदर्शनेन 'ब्रह्मग्रहसद्भावावगमाच्च न ब्रह्मादिवाक्यस्यार्थवादतेत्याह—वान्तेति ।

ननु स्थावरादीनां श्रौतस्मार्तकर्मफलत्वाभावान्न तद्दर्शनेन 'वचनाना 'भूतार्थत्व शक्यं कल्पयितुमत आह—न चेति । सेवाविहष्टकारण'साम्येऽपि "फलवैषम्योपलम्भादवश्यमतीन्द्रिय "कारणं वाच्यम् । न च "तत्र श्रुतिस्मृती विहायान्यन्मानमस्ति । "तथा च श्रौतस्मार्तकर्मकृतान्येव "स्थावरादीनि फलानीत्यर्थं । सन्निहितासंनिहितेषु स्थावरादिषु "प्रत्यक्षानुमानयोर्यथायोग प्रवृत्तिरुन्नेया । स्थावराणां जीवशून्यत्वावकर्मफलत्वमिति केचित्तान्प्रत्याह—न चैषामिति । अस्मदादिवदेव वृक्षादीनां वृद्धयादिदर्शनात्सजीवत्वप्रसिद्धेस्तस्मात्पश्यन्ति पादपा इत्यादिप्रयोगाच्च" तेषां कर्मफलत्व"सिद्धिरित्यर्थः । स्थावरादीनां कर्मफलत्वे सिद्धे फलितमाह—तस्मादिति । ब्रह्मादीनां पुण्यकर्मफलत्वेऽपि "प्रकृते किं स्यात्तदाह—तस्मादिति ।

देखी जाती है । तथा शास्त्रविहित कर्मों के न करने और प्रतिषिद्ध कर्मों के करने से स्थावर, कुत्ता-सूकरादि योनियों की प्राप्ति प्रत्यक्षसिद्ध है । वमनभक्षण करने वाले को प्रेत की योनि प्राप्त करते देखा जाता है ।

इसके अतिरिक्त श्रुति स्मृति द्वारा जो विहित एवं प्रतिषिद्ध कर्म हैं, उनसे भिन्न दूसरे विहित अथवा प्रतिषिद्ध कर्मों का किसी मनुष्य को भी ज्ञान नहीं हो सकता (जिनके अनुष्ठान न करने एवं करने से प्रत्यक्ष एवं अनुमान द्वारा प्रेत, कुत्ता, सूकर और स्थावरादि कर्मफल प्राप्त होते हैं । उनके कर्मफलों को कोई मनुष्य मान लेता हो—ऐसी बात नहीं है । अतः शास्त्रविहित कर्मों के न करने एवं प्रतिषिद्ध कर्मों का सेवन करने में ये प्रेत तिर्यक एवं स्थावरादि योनियाँ कर्मफल है, उसी प्रकार ब्रह्मापर्यन्त उत्कृष्ट पदों को भी कर्मफल ही समझना चाहिये । इसलिये "उसने अपना वीर्यपात किया",

---

१ दर्शनादिति—स्थावरादियोनीनां प्रत्यक्षसिद्धत्वादित्यर्थं । २ पुंसा । ३. श्रुतिस्मृत्यतिरिक्तमानसिद्धानाम् । ४ फलानि । ५ अनधीतवेदानाम् । ६ ब्रह्मग्रहेति—ब्रह्मराक्षसादिप्रेतावेशेत्यर्थ । ७ यथार्थानां मानवानाम् । ८ विद्यमानार्थप्रतिपादकत्वम् । ९ फलानुगुण्यऽपीत्यर्थं । १० फलवैगुण्येति यावत् । ११ अदृष्टरूपम् । १२ उक्तानीन्द्रियकारणे । १३ श्रुत्याद्यतिरिक्तमानाभावे च । १४ तत्र तेषामननुष्ठानद्वारा प्रयोजकत्वात् निषिद्धानां च हानार्थं श्रुत्याद्युक्ततया श्रौतत्वादिकम् । १५ प्रत्यक्षानुमानयोरिति—इद स्रवङ्गादिफल सकारणकम् फलत्वात् सम्प्रतिपन्नवदित्याद्यनुमानमसन्निहितस्थावरादिविषयमुन्नेयम् । १६ महाभारत । १७ सिद्धिरिति—वृक्षादीनि कर्मफलानि सजीवत्वादुक्तप्रयोगाच्चेत्याद्यनुमानेनेत्यर्थं । अस्मदादिवदिति निदर्शनम् १८ प्रकृत मनूक्तद्वादशाध्यायस्य शाङ्कते अर्थवादत्व ।

ऽभूतार्थवादत्वम्।

'तत्राप्यभूतार्थवादत्वं मा भूदिति चेत्। भवत्वेवम्। न चैतावताऽस्य न्यायस्य बाधो भवति। न चास्मत्पक्षो वा दुष्यति। न च ब्रह्मा विश्वसृज इत्यादीनां काम्यकर्मफलत्वं शक्यं वक्तुम्। तेषां देवसार्ष्टितायाः फलस्योक्तत्वात्। तस्मात्साभिसंधीनां नित्यानां कर्मणां सर्वमेधाश्वमेधादीनां च ब्रह्मत्वादीनि फलानि।

येषां पुनर्नित्यानि निरभिसंधीन्यात्मसंस्कारार्थानि तेषां ज्ञानोत्पत्त्यर्थानि तानि।

'कर्मविपाकप्रकरणस्याभूतार्थवादत्वाभावे दृष्टान्तेऽपि तन्न स्यादिति शङ्कते—तत्रापीति। अङ्गी करोति—भवत्विति। कथं तर्हि वैधर्म्यदृष्टान्तसिद्धिरत आह—न चेति। वैधर्म्यदृष्टान्ताभावमात्रेण कर्मविपाकाध्यायस्य नाभूतार्थवादतेत्यस्य न्यायस्य नैव बाध. साधर्म्यदृष्टान्तादेपि तत्सिद्धेरित्यर्थः। ननु 'प्रजापतिरात्मनो वपामुदखिदत्' इत्यादीनामभूतार्थवादत्वाभावे कथमर्थवादाधिकरणं घटिष्यते तत्राऽऽह—न चेति। तदघटनायामपि नास्मत्पक्षक्षतिस्तथैव तदभूतार्थवादत्वं त्यजतस्तद्विरोधादित्यर्थः। ननु कर्मविपाकप्रकरणस्यार्थवादत्वाभावेऽपि ब्रह्मादीनां काम्यकर्मफलत्वान्न ज्ञानसंयुक्तनित्यकर्मफलत्वं 'ततो मोक्ष एव तत्फलमित्यत आह—न चेति। तेषां काम्यानां कर्मणामिति यावत्। देवसार्ष्टिताया देवैरिन्द्रादिभिः समानैश्वर्यप्राप्तेरित्यर्थः। उक्तत्वात् 'प्रवृत्तं कर्म संसेव्य देवानामेति सार्ष्टिताम्' इत्यत्रेति शेषः। ननु विद्यासंयुक्तानां नित्यानां कर्मणां फलं ब्रह्मादिभावश्चेत्कथं तानि ज्ञानोत्पत्त्यर्थान्यास्थीयन्ते तत्राऽऽह—तस्मादिति। कर्मणां मुक्तिफलत्वाभावस्तच्छब्दार्थः। साभिसंधीनां देवताभावे फलेऽनुरागवतामिति यावत्।

नित्यानि कर्माणि श्रौतानि स्मार्तानि चाग्निहोत्रसंध्योपासनप्रभृतीनि निरभिसंधीनि फलाभिलाषविकलानि परमेश्वरार्पणबुद्धया क्रियमाणानि। आत्मशब्दो मनोविषय। कर्मणां चित्त-

---

"बहु दाया" इत्यादि प्रकरणो के समान इस अध्याय का अभूतार्थवादत्व नही है।

यदि कहो, वहाँ (प्रजापति ने वीर्यपात किया इत्यादि दृष्टान्तवाक्य में) भी अभूतार्थवादत्व नही मानना चाहिये। तो ऐसा ही होने दो, किन्तु इतने कहने मात्र से ही इस न्याय का बाध नही होता और न ही हमारे पक्ष में कोई दोष आता है। "ब्रह्मा विश्वसृज' इत्यादि को काम्यकर्मों का फल भी नही बतलाया जा सकता क्योकि उन काम्यकर्मों का फल देवसार्ष्टिता बतलाया गया है। इसलिये (कर्मों के मुक्तिरूप फल के अभाव में) ये ब्रह्मत्वादि, सकाम नित्यकर्मों और सर्वमेध अश्वमेध आदि यज्ञो के फल हैं।

किन्तु जिनके निष्काम नित्यकर्म मन की शुद्धि के लिये होते है, उनके लिए वे ज्ञान उत्पत्ति के निमित्तक होते हैं। जैसे शास्त्र का वचन है कि "यह शरीर ब्रह्मभाव की प्राप्ति के योग्य बनाया जाता

---

१. प्रजापतिरात्मनो वपामित्यादिदृष्टान्तवाक्येऽपि। २ संस्कार शुद्धि। ३ द्वादशाध्यायस्य मनुस्मृत। ४ दृष्टान्तेऽपि तदभ्युपगमे। ५ युक्ते। ६. अर्थवादाधिकरणमिति—"आम्नायस्य क्रियार्थत्वादानर्थक्यमतदर्थानां तस्मादनित्यमुच्यते" जै० सू० १।२।७। इत्याद्यधिकरणमित्यर्थ। ७ सगत भविष्यति। ८. तथा समुच्चितनित्यकर्मफलत्वाभावात्। ९. अधिकारिणामित्यर्थ। तयाच कर्तरि षष्ठी।

"ब्राह्मीयं क्रियते तनुः" इति स्मरणात्। तेषामा[1]रादुपकारकत्वान्मोक्षसाधनान्यपि कर्माणि भवन्तीति न विरुध्यते। यथा चायमर्थः षष्ठे जनकाख्यायिकासमाप्तौ [2]वक्ष्यामः। यत्तु विषदध्यादिवदित्युक्तं [3]तत्र प्रत्यक्षा[4]नुमानविषयत्वादविरोधः। यस्त्व[5]त्यन्तशब्दगम्यो[6]ऽर्थस्तत्र वाक्यस्याभावे तदर्थप्रतिपादकस्य न शक्यं कल्पयितुं विषदध्यादिसाधर्म्यम्।

न च प्रमाणान्तरविरुद्धार्थविषये श्रुतेः प्रामाण्यं कल्प्यते यथा शीतोऽग्निः क्लेदयतीति। श्रुते तु तादर्थ्ये वाक्यस्य प्रमाणान्तरस्याऽऽभासत्वम्। यथा खद्योतोऽग्निरिति

शुद्धिद्वारा ज्ञानोत्पत्त्यर्थत्वे प्रमाणमाह—ब्राह्मीति। कथं [1]तर्हि कर्मणां मोक्षसाधनत्वं केचिदाचक्षते तत्राऽऽह—तेषामिति। संस्कृतबुद्धीनामिति यावत्। कर्मणां परम्परया मोक्षसाधनत्वं कथं [2]सिद्धवदुच्यते तत्राऽऽह—यथा चेति। [3]अयमर्थस्तथेति शेषः। [4]निरस्तमप्यधिकविवक्षया पुनरनुवदति—यत्त्विति। विषादेर्मन्त्रादिसहितस्य जीवनादिहेतुत्वं प्रत्यक्षादिसिद्धमतो [5]दृष्टान्ते कार्यारम्भकत्वे विरोधो नास्तीत्याह —तत्रेति। कर्मणो विद्यासंयुक्तस्य कार्यान्तरारम्भकत्वलक्षणोऽर्थः शब्देनैव गम्यते। [6]न च [7]तत्र [8]मानान्तरमस्ति। न च समुच्चितस्य कर्मणो मोक्षारम्भकत्वप्रतिपादकं वाक्यमुपलभ्यते तदभावे कर्मणि विद्यायुक्तेऽपि विषदध्यादिसाधर्म्यं कल्पयितुं न शक्यमित्याह—यस्त्विति। कर्मसाध्यत्वे च मोक्षस्यानित्यता स्यादिति भावः।

[9]"अपाम सोमममृता अभूम' इत्यादिश्रुतेर्मोक्षस्य कर्मसाध्यस्यापि नित्यत्वमिति चेन्नेत्याह— न चेति। यत्कृतकं तदनित्यमित्यनुमानानुगृहीतं [10]तद्यथेहेत्यादिवाक्यं तद्विरोधेनार्थवादश्रुतेः स्वार्थेऽप्रामाण्यमित्यर्थः। प्रमाणान्तरविरुद्धेऽर्थे प्रामाण्यं श्रुतेर्नोच्यते चेदद्वैतश्रुतेरपि कथं प्रत्यक्षादिविरुद्धे स्वार्थे प्रामाण्यमित्याशङ्क्याऽऽह—श्रुते त्विति। तत्त्वमस्यादिवाक्यस्य षड्विधतात्पर्यलिङ्गैः [11]सदद्वैतपरत्वे निर्धारिते [12]सद्भेदविषयस्य प्रत्यक्षादेरा[13]भासत्वं भवतीत्यर्थः। तदेव दृष्टान्तेन साधयति—यथेत्यादिना। यदविवेकिनां यथोक्तं प्रत्यक्षं तद्यपि [14]प्रथमभावित्वेन प्रबलं निश्चितार्थं

है"। परम्परा से मोक्षप्रयोजक होने मे वे कर्म मोक्ष के भी साधन होते हैं, इसलिये इसमे कोई असङ्गति नही है। जिससे यह मोक्ष मे प्रयोजक है, उसे हम छठे अध्याय (उपनिषत् के चौथे अध्याय) की जनक आख्यायिका के अन्त मे कहेंगे। एव जो दृष्टान्त में विष-दधि आदि के समान ऐसा कहा गया है, वहाँ प्रत्यक्ष और अनुमान का विषय होने के कारण विरोध नही है। तथा जो

---

१. आरादुपेति—कर्मणा पारम्पर्येण मोक्षप्रयोजकत्वादित्यर्थः। २. वक्ष्याम इति—बृ० उ० ४।४।२२ "तमेतं वेदानुवचनेने"त्यादिवाक्यव्याख्यानावसरे तद्भाष्य इति द्रष्टव्यम्। ३. दृष्टान्ते। ४. अनुमानेति। स्वद्रूषितमिद विषदध्यादि त्वज्जीवनपुष्ट्यादिप्रयोजक मन्त्रशर्करादिमस्कृतत्वान्मद्रूषितविषदध्यादिवदिति परार्थानुमान द्रष्टव्यम्। ५ मानान्तरागम्यत्वमत्यन्तत्वम्। ६. समुच्चितस्य कर्मणो मोक्षारम्भकत्वरूपोऽर्थ.। ७. सर्वथैव मोक्षस्य कर्मासाध्यत्वे। ८. उपपादनमन्तरेणेत्यर्थ.। ९. कर्मणा पारम्पर्येण मोक्षसाधनत्वरूपोऽर्थ.। १०. समुच्चितस्य कर्मणो मोक्षफलकत्वम्। ११. विषादौ। १२. शब्देनैवेत्येवकारव्यावर्त्यं दर्शयति—न चेति। १३. उक्तेऽर्थे। १४. प्रत्यक्षादि। १५. पास्यामः। १६. "तद्यथेह कर्मचितो लोकः क्षीयत एवमेवात्र पुण्यचितो लोकः क्षीयत" इति वाक्यमित्यर्थ.। १७. परमार्थाद्वैतपरत्वे। १८. पारमार्थिकभेदविषयस्येति बोध्यम्। १९. मिथ्यात्वम्। २०. प्रथमप्रवृत्ततयाऽजातविरोधित्वेन।

तलमलिनमन्तरिक्षमिति वा बालानां यत्प्रत्यक्षमपि तद्विषयप्रमाणान्तरस्य यथार्थत्वे निश्चिता निश्चितार्थमपि बालप्रत्यक्षमाभासो भवति।

[1]तस्माद्वेदप्रामाण्यस्याव्यभिचारात्तादर्थ्ये सति वाक्यस्य तथात्वं स्यात्। [2]न तु पुरुषमतिकौशलम्। न हि पुरुषमतिकौशलात्सविता रूपं न प्रकाशयति। तथा वेदवाक्यान्यपि नान्यार्थानि भवन्ति[3]। तस्मान्न मोक्षार्थानि कर्माणीति सिद्धम्। [4]अतः कर्मफलानां संसार-

च तथाऽपि तस्मिन्नेवाऽऽकाशादौ विषये प्रवृत्तस्याऽऽप्तवाक्यादेर्मानान्तरस्य यथार्थत्वे सति तद्विरुद्धं पूर्वोक्तमविवेकिप्रत्यक्षमप्याभासो भवति तथेदं द्वैतविषयं प्रत्यक्षाद्यद्वैतागमविरोधे भवत्याभास इत्यर्थः।

ननु तात्पर्यं नाम पुरुषस्य मनोधर्मस्तद्वशाच्चेदद्वैतस्य तथार्थत्वं तर्हि प्रतिपुरुषमन्यथैव तात्पर्यदर्शनात्तद्वशादन्यथैव श्रुत्यर्थः स्यादित्याशङ्क्य दार्ष्टान्तिकं निगमयन्नुत्तरमाह—तस्मादित्यादिना। तात्पर्यमर्थपरत्वं तथात्वं याथार्थ्यं शब्दधर्मस्तात्पर्यं तच्च षड्विधलिङ्गगम्यं [5]तथा च शब्दस्य पुरुषाभिप्रायवशात्नान्यथार्थत्वमित्यर्थः। [6]उक्तमर्थं दृष्टान्तेन स्पष्टयति—न हीति। [7]विचारार्थमुपसंहरति—तस्मादिति। विद्यासंयुक्तस्यापि कर्मणो मोक्षारम्भकत्वासंभवस्तच्छब्दार्थः। मा भूत्कर्मणां मोक्षार्थत्वं [8]किं तावतेत्याशङ्क्य [9]ब्राह्मणारम्भं निगमयति—अत इति।

मानान्तरगम्यस्य कर्मसमुच्चित मोक्षारम्भकत्वरूप अर्थ है, उसके विषय में, उसके अर्थप्रतिपादक वाक्य के अभाव में, उसका विष और दधि आदि से साधर्म्य कल्पित नहीं किया जा सकता।

एवं जो विषय प्रमाणान्तर से विरुद्ध है, उसमें श्रुति के प्रामाण्य की कल्पना भी नहीं की जा सकती, जैसे कोई प्रमाण से विरुद्ध बात कहे कि अग्नि शीतल होती है और भिगो देती है। वाक्य का वैसा अर्थ यदि श्रुतिसम्मत हो, तो अन्य प्रमाण प्रमाणाभास हो जाते है। जैसे मूर्खों को यह प्रत्यक्ष होता है कि खद्योत अग्नि है, अन्तरिक्ष का तल मलिन होता है, तथापि उनके विषय में यथार्थता का प्रमाणान्तर से निश्चय हो जाने पर वह मूर्खों के द्वारा प्रत्यक्ष किया हुआ अर्थ भी मिथ्या हो जाता है।

अत वेद के प्रामाण्य का सर्वदा अव्यभिचार होने से उसका वैसा तात्पर्य होने पर ही वाक्य की यथार्थता होती है। पुरुषबुद्धि का धर्मरूप तात्पर्य वाक्य की यथार्थता में प्रयोजक नहीं है। पुरुषबुद्धिधर्मरूप तात्पर्य से यह निश्चय नहीं किया जा सकता कि सविता रूप को प्रकाशित नहीं करता। पुरुषबुद्धिधर्मरूप तात्पर्य के कारण इसी प्रकार वेदवाक्य भी भिन्न अर्थ के बोधक नहीं हो सकते। इसलिये कर्मों का फल मोक्ष नहीं है, ऐसा सिद्ध हुआ। अत (कर्मों के मोक्षार्थत्व अभाव

१ निर्धारिततात्पर्यकवाक्यविरुद्धस्याभासत्वादित्यर्थः। २ नत्विति—पुरुषबुद्धिधर्मरूपं तात्पर्यं नैववाक्ययाथार्थ्यप्रयोजकमित्यर्थः। ३ पुरुषमतिधर्मरूपतात्पर्यवशात्। ४ अत—कर्मणां मोक्षार्थत्वाभावात्। ५. तथा चेति—षड्विधलिङ्गगम्यतात्पर्यस्य शब्दधर्मत्वे सतीत्यर्थः। ६ उक्तमर्थम्—पुरुषाभिप्रायवशाद्वस्तुधर्मस्यान्यथार्थत्वाभावरूपमर्थम्। ७ अर्थ प्रयोजन फलम्। ८ किं तावता—तथा तदर्थत्वाभावमात्रोपपादनेन किमायातम्। ९ सर्वस्य कर्मफलस्य संसारत्वप्रदर्शनायास्य ब्राह्मणस्यारम्भ इति प्रतिज्ञातं ब्राह्मणारम्भमुपसंहरतीत्यर्थः।

अथ हैनं भुज्युर्लाह्यायनिः पप्रच्छ याज्ञवल्क्येति होवाच । मद्रेषु चरकाः पर्यव्रजाम ते पतञ्चलस्य काप्यस्य गृहानैम तस्याऽऽसीद्दुहिता गन्धर्वगृहीता तमपृच्छाम कोऽसीति सोऽब्रवीत्सुधन्वाऽऽङ्गिरस इति यदा लोकानामन्तानपृच्छामाथैनमब्रूम क्व पारिक्षिता अभवन्निति क्व पारिक्षिता अभवन्स त्वा पृच्छामि याज्ञवल्क्य क्व पारिक्षिता अभवन्निति ॥१॥

उसके बाद याज्ञवल्क्य से लह्य के पुत्र भुज्यु ने पूछा—(हे याज्ञवल्क्य !) ऐसा उसने कहा। हम अध्ययन के लिए व्रताचरण करते हुए मद्रदेश में विचर रहे थे कि कपि गोत्रोत्पन्न पतञ्चल नामक पुरुष के घर घूमते घूमते पहुँच गये। उसकी पुत्री किसी गन्धर्व से आविष्ट थी। हमने उससे पूछा—तू कौन है ? अर्थात् तुम्हारा क्या काम और क्या स्वरूप है ? उसने कहा—मैं गोत्र से आङ्गिरस और नाम से सुधन्वा हूँ। जब हमने उससे भुवनकोशों के अन्त के विषय में पूछा और हमने अपनी प्रशंसा करते हुए उससे यह भी पूछा –परीक्षित कहाँ रहे ? (तब उस गन्धर्व ने हम सभी बात बता दी। तात्पर्य यह कि हमने दिव्य प्राणी से ज्ञान प्राप्त किया है) वही हम तुमसे पूछते हैं कि परीक्षित कहाँ रहे ॥१॥

त्वप्रदर्शनायैव ब्राह्मणमारभ्यते ।

अथानन्तरमुपरते जारत्कारवे भुज्युरिति नामतो लह्यस्यापत्यं लाह्यस्तदपत्यं लाह्यायनिः पप्रच्छ याज्ञवल्क्येति होवाच । आदावुक्तमश्वमेधदर्शनं समष्टिव्यष्टिफलश्चाश्व-

---

ब्राह्मणारम्भमेव प्रतिपाद्य 'तदक्षराणि व्याकरोति—अथेति । याज्ञवल्क्यमभिमुखीकृत्य भुज्युः स्वस्य पूर्वनिर्वृत्तां कथामकथयत् 'तामवतारयितुमश्वमेधस्वरूपं तत्फलं च विभज्य दर्शयति—

होने से) कर्मफलों को संसारित्व प्रदर्शित करने के लिए यह ब्राह्मण आरम्भ किया जाता है।

'अथ' यानी जारत्कारव आर्तभाग के चुप हो जाने पर भुज्यु लाह्यायनि ने पूछा। लह्य की सन्तान लाह्य कही जाती है, उसकी सन्तान का 'लाह्यायनि' नाम पड़ा। उसने 'हे याज्ञवल्क्य' ऐसा सम्बोधन करके पूछा। आरम्भ में (अश्वमेधब्राह्मण में) अश्वमेधदर्शन को (उषा वा अश्वस्य शिरः इस ग्रन्थ से) प्रतिपादन किया गया है। अश्वमेध क्रतु समष्टि और व्यष्टि फल प्रदान करने वाला है। चाहे केवल ज्ञानसंपादित हो अथवा ज्ञानसमुच्चित हो, सब कर्मों का उत्कृष्ट विश्रान्तिस्थान है। बढ़कर कोई पाप नहीं है, और अश्वमेध से श्रेष्ठ कोई पुण्य नहीं है—ऐसी स्मृति भी है।

१ तृतीय ब्राह्मणे पुण्यफलावधिरुदीयते । अश्वमेधः परं पुण्यं ब्रह्मलोकः फलावधिः" ॥ इति वार्तिकसारे ३।३।१ । २ 'उषा वा अश्वस्य' त्यादावश्वमेधब्राह्मणे । ३ ब्राह्मणेति बोध्यम् । ४ कथाम् ।

मेधक्रतुः । ज्ञानसमुच्चितो वा केवलज्ञानसंपादितो वा सर्वकर्मणां परा काष्ठा । भ्रूणहत्याश्वमेधाभ्यां न परं पुण्यपापयोरिति हि स्मरन्ति । तेन हि समष्टिं व्यष्टीश्च प्राप्नोति । तत्र व्यष्टयो निर्धाता अण्डान्तरविषया अश्वमेधयागफलभूताः । मृत्यु रस्याऽऽत्मा भवत्येतासां देवतानामेको भवतीत्युक्तम् ।

मृत्युश्चाशनायालक्षणो बुद्धयात्मा समष्टिः प्रथमजो वायुः सूत्रं सत्यं हिरण्यगर्भः ।

प्रादाविति । क्रतुरुक्त इति पूर्वेण संबन्धः । क्रतोर्द्वैविध्यमाह—ज्ञानेति । अश्वमेधस्य द्विधा विभक्तस्य सर्वकर्मोत्कर्षमुद्गिरति—सर्वकर्मणामिति । तस्य पुण्यश्रेष्ठत्वे मानमाह—भ्रूणहत्येति । समष्टिव्यष्टिफलश्चेत्युक्तं स्पष्टयति—तेनेति । अश्वमेधेन सहकारिकामनाभेदेन समष्टिं समनुगतरूपां व्यष्टीश्च व्यावृत्तरूपा देवताः प्राप्नोतीत्यर्थः । काः पुनर्व्यष्टयो विवक्ष्यन्ते तत्राऽऽह—तत्रेति । अग्निरादित्यो वायुरित्याद्या व्यष्टयो देवताः सोऽग्निरभवदित्यादावण्डान्तर्वर्तिन्योऽश्वमेधफलभूता दर्शिता इत्यर्थः । का तर्हि समष्टिर्देवतेत्युच्यते तत्रैवोक्तं स्मारयति—मृत्युरिति ।

तामेव समष्टिरूपां देवतां प्रपञ्चयितुमिदं ब्राह्मणमिति वक्तुं पातनिकां करोति—मृत्युश्चेति । प्राणात्मकबुद्धिधर्मोऽशनाया कथं मृत्योर्लक्षणं तत्राऽऽह—बुद्धयात्मेति । तर्हि बुद्धेर्व्यष्टित्वान्मृत्योरपि तथा स्यादित्याशङ्क्याऽऽह—समष्टिरिति । प्रागेव व्यष्टयुत्पत्तेरुत्पन्नत्वेन समष्टित्वं साधयति—प्रथमज इति । सर्वाश्रयत्वं दर्शयति—सूत्रमिति । तत्र वायुर्वै गौतमेत्यादि वाक्यं प्रमाणमिति सूचयति—वायुरिति । तथाऽपि कथं प्रथमजत्वं भूतानां प्रथममुत्पत्तेरित्याशङ्क्याऽऽह—सत्यमिति । हिरण्यगर्भस्योक्तलक्षणत्वेऽपि किमायातं मृत्योरित्याशङ्क्याऽऽह—हिरण्यगर्भ इति । जगदेव समष्टि-

---

इसलिये उस अश्वमेध के द्वारा ही पुरुष समष्टि देवता और व्यष्टि देवता को प्राप्त करता है। व्यष्टि और समष्टि के मध्य अश्वमेध याग के फलभूत अण्ड के मध्य जिन देवताओं का आश्रय है; वे व्यष्टिरूप से प्रदर्शित किये गये हैं। 'इसे मृत्यु प्राप्त नहीं करता, मृत्यु तो उसका आत्मा हो जाता है तथा वह इन देवताओं में से ही कोई एक हो जाता है (उस उपासक को यही फल प्राप्त हो जाता है)'—ऐसा कहा है।

---

१. उपासनासमुच्चित इति भावः। २. उत्कृष्टा विश्रान्तिभूः । ३ श्रेष्ठब्रह्महत्या। ४. देवताम् । ५ देवताः । ६ व्यष्टिसमष्टिमध्ये । ७. प्रदर्शिता । ८ अण्डान्तरेति—अण्डस्यान्तरं मध्यं विषय आश्रयो यासां नत्वण्डाद्बहिरपीति परिच्छिन्नत्वमुक्तमासां हिरण्यगर्भापेक्षया तस्याण्डाद्बहिरपि व्याप्तत्वादिति ध्येयम् । ९. हिरण्यगर्भं । १०. उपासितु । ११. बृ० उ० १।२।७ । १२. सम्यग् अण्डाद्बहिरन्तश्च अष्टि-व्याप्तिर्यस्येति समष्टिः । १३. सत्यमिति—सच्च त्यच्च सत्यम् तथा च न भूतसूत्रयोर्भेद इति भाव.। १४. नन्वेकेनाश्वमेधाख्यसाधनेन कथं फलद्वयं साध्यते इत्याशङ्क्याऽऽह—सहकारीति । कामनाभेदस्य चाश्वमेधसहकारित्व तदनुष्ठातृसमवेतत्वमिति द्रष्टव्यम् । १५ हिरण्यगर्भरूपाम् । १६. अग्न्यादीन् । १७ बृ० उ० १।३।१२ । १८. व्यष्टीनां प्रदर्शितत्वेऽपि । १९. प्रथमाध्यायेऽग्निब्राह्मणे । २० प्राणे सत्येव शरीरे बुद्धे. सत्त्वदर्शनाद् "यो वै प्राणः सा प्रज्ञा या वै प्रज्ञा स प्राण" इति कौषीतकिश्रुतेश्च तयोरभेदाध्यवसायेनाह—प्राणेति । २१. बुभुक्षा । २२ स्वरूपम् । २३. तर्हि—मृत्योर्बुद्ध्यात्मकत्वे । २४. व्यष्टिना तु व्यष्टिभि सहैवोत्पत्तव्यमिति भाव. । २५. सूत्रत्वे । २६. बृ० उ० ३।७।२ । २७ सर्वाश्रयत्वेऽपि । २८. सूत्रापेक्षया ।

[1]तस्य व्याकृतो विषयो यदात्मकं सर्वं द्वैतैकत्वं यः सर्वभूतान्तरात्मा लिङ्गममूर्तरसो यदाश्रितानि सर्वभूतकर्माणि यः कर्मणां कर्मसंबद्धानां च [2]विज्ञानानां परा गतिः [3]परं फलम्। [4]तस्य कियान्गोचरः कियती व्याप्तिः सर्वतः परिमण्डलीभूता सा वक्तव्या। तस्यामुक्तायां सर्वः संसारो बन्धगोचर[5] उक्तो भवति। तस्य च समष्टिव्यष्ट्यात्मदर्शनस्या[6]लौकिकत्वप्रदर्शनार्थमाख्यायिकामात्मनो वृत्तां [7]प्रकुरुते। [8]तेन च प्रतिवादिबुद्धिं [9]व्यामोहयिष्यामीति मन्यते।

[10]द्वैतं व्यष्टिरूपमेकत्वं समष्टिरूपं [11]तत्सर्वं व्यष्टिरूपं न सूत्रमित्याशङ्क्याऽऽह—यदात्मकमिति। [12]तस्योक्तप्रमाणत्वं प्रकटयति—य. सर्वेति। [13]विज्ञानात्मानं व्यावर्तयति—लिङ्गमिति। ['']स्यस्य ह्येष रसः' इति श्रुतिमनुसृत्याऽऽह—अमूर्तेति। [14]तस्य साधनाश्रयत्वं दर्शयति—यदाश्रितानीति। तस्यैव फलाश्रयत्वमाह—यः कर्मणामिति। परा गतिरित्यस्यैव व्याख्यानं परं फलमिति। एवं भूमिकामारचय्यानन्तरब्राह्मणमवतारयति—तस्येति। प्रश्नमेव प्रकटयति—कियतीति। [15]सर्वतः परितो [16]मण्डलभावमासाद्य स्थितेति यावत्। ननु किमिति सा वक्तव्या तस्यामुक्तायामपि वक्तव्यससाराविशेषादाकाङ्क्षाविश्रान्त्यभावादत आह—तस्यामिति। इयान्बन्धो नाधिको न्यूनो [17]वेत्य[18]व्यवच्छेदेन बन्धपरिमाण[19]परिच्छेदार्थं कर्मफलव्याप्ति[20]रत्रोच्यते [21]तत्परिच्छेदश्च मुक्तिहेतुरिति भावः। ब्राह्मणस्यैवं प्रवृत्तावपि किमिति भुज्युः स्वस्य पूर्ववृत्तां कथामाहेत्याशङ्क्याऽऽह—तस्य चेति। समष्टिव्यष्ट्यात्मदर्शनस्यालौकिकत्वप्रदर्शनेन वा कि[''] स्यात्तदाह—तेन चेति। इति मन्यते भुज्युरिति शेषः। जल्पे परपराजयेनाऽऽत्मजयस्येष्टत्वादित्यर्थः।

[1]वह मृत्यु क्षुधारूप बुद्धयात्मा और समष्टि है, वह प्रथम उत्पन्न वायु सूत्रात्मा सत् और त्यत् हिरण्यगर्भ है। जितना भी व्यष्टि और समष्टिरूप यह जगत् है, व्याकृत प्रपञ्च उसका कार्य है। जो समस्त भूतों का अन्तरात्मा है, (विज्ञानात्मा का व्यावर्तक) लिङ्ग और अमूर्तरस है, सम्पूर्ण भूत जिसके आश्रित हैं, जो कर्मों एवं उनसे सम्बद्ध विविध उपासनाओं की परागति या पराकाष्ठा है। उस (केवल विद्यासयुक्त कर्म के फलभूत समष्टि-व्यष्टिरूप हिरण्यगर्भ) का कितना कार्य है, सब ओर मण्डलाकार फैली हुई कितनी व्याप्ति है, उसे बतलाना चाहिये। उसके प्रतिपादित कर दिये जाने पर समस्त ससार ही बन्धनरूप प्रतिपादित हो जाता है। उस समष्टि-व्यष्टिरूप दर्शन का अलौकिकत्व

१ तस्येति—सूत्रस्य। व्याकृतो नामाधारमनाऽभिव्यक्त प्रपञ्च। विषय कार्यमित्यर्थ। २ उपासनानाम्। ३. पर फलमिति—तथा च समष्टिफलरूपत्वादस्य व्यष्टिफलानामाश्रयत्वमिति ध्येयम्। ४. तस्येति—केवलस्य विद्यासयुक्तस्य च कर्मण फलभूतस्य हिरण्यगर्भस्य समष्टिव्यष्टिरूपिण इत्यर्थ। ५ रूप। ६ अलौकिकत्वप्रदर्शनार्थमिति—स्वविद्याया गुरूपदेशपूर्वकत्व ज्ञापयितु चेत्यपि बोध्यम्। ७ उपादत्ते। ८ तेन—तस्यालौकिकत्वप्रदर्शनेन। ९ दिव्यज्ञानविषयोऽयं प्रश्न कथमुत्तरिष्यामीति व्यामोहो बोध्य। १० जगत्। ११ तस्योक्तप्रमाणत्वमिति—सूत्रस्य वायुर्वै गौतम तत्सूत्रमित्युक्तशास्त्रीयत्वमित्यर्थ.। १२ प्रपञ्चम्। १३ वाय्वाकाशयो बृ० उ० ३।३।२। १४ सूत्रस्येति बोध्यम्। १५ सर्वत—सर्वा परित—अण्डादर्वाक्सर्वत्रेति यावत्। १६ चक्राकारताम्। १७ न्यूनाधिक्यपरिहारेण। १८. परिज्ञानार्थम्। १९. भुज्युप्रश्ने। २० बन्धपरिमाणपरिज्ञानञ्च। २१ फलम्।

मद्रेषु मद्रा नाम [1]जनपदास्तेषु चरका [2]अध्ययनार्थं [3]व्रतचरणा[4]श्चरका [5]अध्वर्यवो वा पर्यव्रजाम पर्यटितवन्तस्ते पतञ्चलस्य ते वयं पर्यटन्तः पतञ्चलस्य नामतः काप्यस्य कपिगोत्रस्य गृहानैम गतवन्तः । तस्याऽऽसीद्दुहिता गन्धर्वगृहीता गन्धर्वेणा[6]ऽमानुषेण सत्त्वेन केनचिदाविष्टा गन्धर्वो वा [7]धिष्ण्योऽग्निऋत्विग्देवता विशिष्टविज्ञानत्वादवसीयते । न हि [8]सत्त्वमात्रस्येदृशं विज्ञानमुपपद्यते । [9]तं सर्वे वयं परिवारिताः सन्तोऽपृच्छाम कोऽसीति कस्त्वमसि किंनामा [10]किंसतत्त्वः । सोऽब्रवीद्गन्धर्वः सुधन्वा नामत [11]आङ्गिरसो [12]गोत्रतः । तं यदा यस्मिन्काले [13]लोकानामन्तान्पर्यवसानान्यपृच्छामाथैनं गन्धर्वमब्रूम [14]भुवनकोशपरिमाणज्ञानाय प्रवृत्तेषु सर्वेष्वात्मानं [15]श्लाघयन्तः पृष्टवन्तो वयं कथं [16]क्व

धिष्ण्यस्त्वमग्नेरुपास्यस्त्वम् । 'अग्निर्वै देवानां होता' इति श्रुतिमाश्रित्याऽऽह—[17]ऋत्विगिति । यथोक्तगन्धर्वशब्दार्थसंग्रहे [18]लिङ्गमाह—विशिष्टेति । [19]तस्यान्यथासिद्धिं दूषयति—न हीति । अथैनमित्यादेरर्थं विवृणोति—भुवनेति । भवत्वेवं गन्धर्वं प्रति [20]भवतः [21]प्रश्नस्तथाऽपि [22]किमायातं तवाह—

प्रदर्शन करने के लिए भुज्यु आपबीती आख्यायिका का उपादान करता है और सोचता है कि इससे मैं अपने प्रतिवादी की बुद्धि को व्यामोह में डाल दूँगा।

"मद्रेषु" अर्थात् मद्र नाम वाले देश में "चरकाः" अर्थात् वेद अध्ययन के लिए, ब्रह्मचर्यव्रत धारण करने वाले अध्वर्यु छात्र "पर्यव्रजाम" विचर रहे थे, "ते पतञ्चलस्य काप्यस्य" अर्थात् विचरते-विचरते कपिगोत्रीय पतञ्चल नामक पुरुष के घर "एम" अर्थात् पहुँचे। उसकी पुत्री "गन्धर्वगृहीता" अर्थात् गन्धर्वरूपी किसी अमानवीय जीव से आविष्ट थी। गन्धर्वशब्द से उपास्य अग्नि ऋत्विग्देवता का ग्रहण होता है क्योंकि केवल किसी प्राकृत प्राणीमात्र का ऐसा ज्ञान होना संभव नहीं है। हम सब ने चारों ओर से घेर कर "तमपृच्छाम" अर्थात् उस पतञ्चलदुहिता में आविष्ट गन्धर्व को पूछा—"कोऽसीति" अर्थात् तुम कौन हो, तुम्हारा नाम क्या है और तुम्हारा स्वरूप क्या है? वह बोला—मैं सुधन्वा नाम का गन्धर्व हूँ और आङ्गिरस गोत्र में उत्पन्न हुआ हूँ। उसे "यदा" यानी जिस समय,

१. देशविशेषा.। २. वेदाध्ययनार्थम् । ३. ब्रह्मचर्यव्रतेति बोध्यम्। ४. छात्राः। ५. अध्वर्यव इति—यजुःशाखाध्यायिन ऋत्विज इत्यर्थ.। ६. अमानुषेणेति—पिशाचादिरूपेणेति यावत्। न तु गन्धर्वजातिदेवैनेत्यभिप्रायः। ७. उपास्यः। ८. प्राकृतस्य प्राणिमात्रस्य। ९. पतञ्चलदुहित्राविष्टं गन्धर्वम्। १०. किंस्वरूपः। ११. अनेन ब्रह्मराक्षसोऽहमित्यसूचि । १२. गोत्रेण। १३. भूरादीनाम्। १४. भुवनकोशो ब्रह्माण्डम् । १५. श्लाघयन्त इति—"अहमेतद्वेद्म्यहमेतद्वेद्मीति प्रत्येकमात्मश्लाघा धन्या वयं यद्भुवनकोशपरिमाणं ज्ञातुमवसरमलप्स्महि इति वा श्लाघा समुन्नेया। १६. क्व पारिक्षिता अभवन्निति। वार्तिके यथा—"अप्रसिद्धाभिधानोक्त्या वादिव्यामोहसिद्धये । अश्वमेधकृतो वक्ति भुज्युः पारिक्षिता इति" ॥१४०॥ इति । परितः क्षीयते सर्वं ब्रह्महत्यादिदुरितमनेनेति परिक्षिदश्वमेधस्तद्याजिन. पारिक्षिता इति द्रष्टव्यम् ॥ १७. ऋत्विगिति—तथा च ऋत्विक् चासौ देवता ऋत्विजां देवता, देवतानां वा ऋत्विगिति विग्राह्यम्। १८. हेतुम् । १९. तस्यान्यथासिद्धिमिति—विशिष्टविज्ञान(त्व)स्य यथोक्तगन्धर्वशब्दार्थमन्तरेण सिद्धिमित्यर्थः। २०. भुज्योः। २१. तव प्रश्ने सत्यपि। २२. किमायातमिति—पृष्टेऽपि त्वया न किमप्युत्तरितं चेत्तेन किं तर्हि ते फल लब्धमित्यर्थः।

स होवाचोवाच वै सोऽगच्छन्वै ते तद्यत्राश्वमेधयाजिनो गच्छन्तीति क्व न्वश्वमेधयाजिनो गच्छन्तीति द्वात्रिꣳ शतं वै देवरथाह्न्यान्ययं लोकस्तꣳ समन्तं पृथिवी द्विस्तावत्पर्येति ताꣳ समन्तं पृथिवीं

उस याज्ञवल्क्य ने कहा, नि सदेह उस गन्धर्व ने यही कहा था कि वे परीक्षित वहाँ चले गये, जहाँ अश्वमेधयाजी जाते हैं। भुज्यु ने कहा—फिर अश्वमेधयाजी कहाँ जाते हैं? (इस प्रश्न के उत्तर मे याज्ञवल्क्य ने भुवनकोश का वर्णन किया) यह लोक वत्तीस देवरथाह्न्य है, (आदित्य रथ की गति से

पारिक्षिता अभवन्निति। स च गन्धर्वः सर्वमस्मभ्यमब्रवीत्। तेन दिव्येभ्यो मया लब्ध ज्ञानं तत्तव नास्त्यतो निगृहीतोऽसीत्यभिप्रायः। सोऽहं विद्यासंपन्नो लब्धागमो गन्धर्वात्त्वा त्वा पृच्छामि, याज्ञवल्क्य क्व पारिक्षिता अभवंस्तत्त्वं किं जानासि हे याज्ञवल्क्य कथय पृच्छामि क्व पारिक्षिता अभवन्निति ॥ १ ॥

स होवाच याज्ञवल्क्य उवाच वै सः। वैशब्दः स्मरणार्थः। उवाच वै स गन्धर्व-

---

स चेति। तेन गन्धर्ववचनेनेति यावत्। दिव्येभ्यो गन्धर्वेभ्य सकाशादित्येतत्। एतज्ज्ञानाभावे स्वज्ञानमप्रतिभा अदिप्युत्थप्रतिज्ञाहानिश्चेत्याह—अत इति। प्रष्टुरभिप्रायमुक्त्वा प्रश्नाक्षराणि व्याचष्टे—सोऽहमिति। प्रथमा तावत्क्व पारिक्षिता अभवन्नित्युक्तिर्गन्धर्वप्रश्नार्था। द्वितीया तदनुरूपप्रतिवचनार्था। यो हि क्व पारिक्षिता अभवन्निति प्रश्नो गन्धर्वं प्रति कृतस्तस्य प्रत्युक्ति सर्वो सोऽस्मभ्यमब्रवीदिति तत्र विवक्ष्यते। तृतीया तु मुनिं प्रति प्रश्नार्थेति विभाग ॥ १ ॥

अज्ञानादिनिग्रह परिहरन्नुत्तरमाह—स होवाचेति। स्मरणार्थो गन्धर्वाल्लब्धस्य ज्ञानस्येति

लोको का "अन्तानपृच्छाम" यानी पर्यवसानविषयक प्रश्न किया, फिर ब्रह्माण्ड का परिमाण जानने के लिए प्रवृत्त होने पर हम सबने अपने ज्ञान की प्रशसा करते हुए उस गन्धर्व से पूछा। किस प्रकार पूछा, यह कि पारिक्षित कहाँ रहे। उस गन्धर्व ने हम सब कुछ बता दिया। इस प्रकार मैने दिव्य जीवो से ज्ञान प्राप्त किया है, वह तुम्हे प्राप्त नही है उक्त ज्ञानाभाव के कारण तुम हरा दिये गये हो। गन्धर्व द्वारा विद्यासम्पन्न कर वेदार्थज्ञाता हो वही मै तुमसे पूछता हूँ कि हे याज्ञवल्क्य! क्या तुम जानते हो कि वह गन्धर्वोक्त पारिक्षित कहाँ रहे। बताओ मैं तुम्ही से पूछता हूँ कि वह पारिक्षित कहाँ रहे ॥१॥

---

१ ते—इदानीन्तना। २ प्राक्तना। ३ लोक ससागरः, लोक्यते सूर्यादिभि प्रकाश्यत इति लोक। ४ द्विस्तावत्—लोकापेक्षया द्विगुणपरिमाणा। ५ पर्येति—परितो व्याप्य तिष्ठति। ६ इत्यश्वमेधयाजिनो गतिं पृष्टवन्त इत्यर्थः। ७ उक्तज्ञानाभावात्। ८ सब्रवेद। ९ तत्—गन्धर्वोक्तम्। १० गन्धर्वे। ११ हेतौ तृतीया। १२ इति निग्रहस्थानत्रयमित्यर्थ। १३ क्व पारिक्षिता अभवन्निति निरुक्तिरनर्थिका पुनरुक्तरित्याशङ्क्याऽऽह—प्रथमा तावदिति। १४ गन्धर्वं प्रति प्रश्नार्थेति पाठः। १५ इति विभाग इति। कश्चित्तु विस्कन्धगंनिमेवमाहुस्तथाहि— 'त्रियाज्ञवल्क्यमुद्दिश्य प्रश्नोक्तिस्त्रासजन्मने। अत्रस्तोऽस्त्रीन्द्रियज्ञान दर्शयन्निदमुक्तवानिति" ॥ वा० सा० २८। १६ आदिना अप्रतिभाप्रतिज्ञाहानी। १७ भुज्युना।

द्विस्तावत्समुद्रः पर्येति तद्यावती क्षुरस्य धारा यावद्वा मक्षिकायाः पत्रं तावानन्तरेणाऽऽकाशस्तानिन्द्रः सुपर्णो भूत्वा वायवे प्रायच्छत्तान्वायुरात्मनि धित्वा तत्रागमयद्यत्राश्वमेधयाजिनोऽभवन्नित्येवमिव वै स वायुमेव

एक दिन मे ससार के जितने भाग को मापा जाता है, उसे देवरथाह्लय कहते हैं) उसे चारो ग्रोर से द्विगुणी पृथिवी ने घेर रक्खा है । पुन. उस पृथिवी को द्विगुण समुद्र ने घर रक्खा है । ग्रत जितनी पतली छुरे की धार होती है या जितना छोटा मक्खी का पङ्ख होता है, बस उतना ही ग्रण्डकपालों के मध्य मे ग्राकाशछिद्र है । परमेश्वर ने पङ्ख ग्रौर पूंछ वाला पक्षी होकर उन परीक्षितो को वायु को दे दिया । उन्हे वायु ने ग्रपना स्वरूपभूत बनाकर वहां पहुँचा दिया, जहां ग्रश्वमेध यज्ञ करने वाले रहते हैं ।

स्तुन्यम् । ग्रगच्छन्वै ते पारिक्षितास्तत्तत्र क्व यत्र यस्मिन्नश्वमेधयाजिनो गच्छन्तीति निर्णीते प्रश्न ग्राह—क्व नु कस्मिन्नश्वमेधयाजिनो गच्छन्तीति । तेषां गतिविवक्षया भुवनकोशपरिमाणमाह—द्वात्रिंशतं वै द्वे अधिके त्रिंशद्द्वात्रिंशतं वै देवरथाह्न्यानि

शेषः । किमुवाचेत्यपेक्षायामाह—ग्रगच्छन्निति । अहोरात्रमादित्यरथगत्या यावान्पन्था मितस्तावान्देशो द्वात्रिंशद्गुणितस्तरिकरणव्याप्तः । स च चन्द्ररश्मिव्याप्तेन देशेन सार्कं पृथिवीत्युच्यते ।

'रविचन्द्रमसोर्यावान्मयूखैरवभास्यते ।
ससमुद्रसरिच्छैला तावती पृथिवी स्मृता" ॥

इति स्मृतेरित्याह—द्वात्रिंशतमित्यादिना । ग्रयं लोक इत्यस्यार्थमाह—तावदिति । "तत्र

उस याज्ञवल्क्य ने कहा—नि सन्देह उस गन्धर्व ने यही कहा था कि वे पारिक्षित कहाँ चले गये । मन्त्र मे "वै" शब्द स्मरण के लिये है । उस गन्धर्व ने निश्चय ही तुम से यह कहा था कि वे पारिक्षित "तत्" यानी वहाँ कहाँ चले गये । कहाँ ? "यत्र" यानी जहाँ ग्रश्वमेधयाजी जाते है । इस प्रकार प्रश्न का निर्णय होने पर श्रुति कहती है—"क्व नु" ग्रर्थात् किस लोक मे, ग्रश्वमेध यज्ञ करने वाले जाते हैं । उन ग्रश्वमेधयाजियो का मार्ग बतलाने की इच्छा से ब्रह्माण्ड का परिमाण बतलाया जाता है । "द्वात्रिंशत वै देवरथाह्न्यानि" ग्रर्थात् यह ब्रह्माण्ड बत्तीस देवरथाह्न्य है । देव ग्रादित्य का नाम है, उसके

---

१. आख्यायिकया निर्णीतमर्थं मुनिरुपसहरत्यवमिति । हे भुज्यो सगन्धर्वस्तुभ्य पारिक्षितगतिस्थान सूत्रमेव प्रकथयामासेति समाप्त मुनिवाक्यम । यद्वाऽभवन्नित्यत्रत्येतिशब्द आख्यायिकासमाप्त्यर्थ । ते पूर्वेऽपि क्वेत्यादि प्रकृतप्रश्नस्यैव शेषभूत श्रुतिरेव स्वमुखेनाह—एवमिति । एवमेव स गन्धर्वो वायुमेव क्रियाशक्तिप्रधान सूत्रमेव प्रशशास प्रशस्तमाचचक्षे अस्मिन् चराचरे जगत्यस्यैव सामान्यविशेषरूपेणान्तर्बहिश्च व्याप्यावस्थानात् देवतान्तराणा त्वण्डाद्बहिर्निर्गमनाशक्तेरिति । २ इदानीतना । ३ प्राच्या । ४ स्थाने । ५ अयाजिनाम् । ६ अध्वविवक्षयेति भाव । ७ भुवनकोशेति—ब्रह्माण्डेत्यर्थं । तत्परिमाणोक्तिस्त्वश्वमेधयाजिनामध्वोक्तावुपयोगितया भुवनात्मसूत्रध्यायिना ध्यानविवक्षया वेति ध्येयम् । ८ अनन सूर्यापेक्षया चन्द्रप्रकाशव्याप्तिरधिकेति प्रतिभाति । ९. म० स्मृ० ३-४ । १०. लोकालोकयोर्मध्ये ।

प्रशशꣳस तस्माद्वायुरेव व्यष्टिर्वायुः समष्टिरप पुनर्मृत्युं जयति य एव वेद ततो ह भुज्युर्लाह्यायनिरुपरराम ॥२॥

इति बृहदारण्यकोपनिषदि तृतीयाध्यायस्य तृतीय ब्राह्मणम् ॥ ३ ॥

इस प्रकार उस गन्धर्व ने परीक्षिता की गतिरूप वायु की ही प्रशसा की थी। अत अध्यात्मादि भाव से तीन प्रकार की वायु ही व्यष्टि है और सूत्र (हिरण्यगर्भ) रूप से वायु ही समष्टि है। ऐसा जो जानता है, वह पुनर्मृत्यु को जीत लेता है अर्थात् एक बार मर कर फिर नही मरता। तब अपने प्रश्न का उत्तर सुन कर लाह्यायनि भुज्यु चुप हो गया ॥ २ ॥

॥ इति तृतीय ब्राह्मणम ॥

देव आदित्यस्तस्य रथो देवरथस्तस्य रथस्य गत्याऽह्ना[1] यावत्परिच्छिद्यते देशपरिमाण तद्देवरथाह्न्य[2] तद्द्वात्रिशद्गुणित देवरथाह्न्यानि तावत्परिमाणोऽय लोको लोकालोकगिरिणा परिक्षिप्त[3]। यत्र वैराज शरीर[4] यत्र च कर्मफलोपभोग प्राणिना स एप लोक एतावाँल्लोकोऽत[5] परमलोकस्त लोक समन्त समन्ततो लोकविस्ताराद्द्विगुणपरिमाण-

---

लोकभाग विभजते—यत्रेति। उक्त लोकमनूद्यावशिष्टस्यालोकत्वमाह—एतावानिति। तमिति प्रतीकमादाय व्याचष्टे—लोकमित्यादिना। अन्वय दर्शयितु त लोकमिति पुनरुक्ति। 'तत्र पौराणिकसमति

रथ को देवरथ कहते हैं। देवरथ की गति से एक दिन रात म ससार का जितना भाग मापा जाता है, उतना एक देवरथाह्न्य कहलाता है, उसको बत्तीस से गुणा कर दिये जाने पर बत्तीस देवरथाह्न्य हो जाते हैं। लोकालोक पर्वत से चारो ओर घिरा हुआ सागरसहित यह लोक इतने परिमाण वाला है। यह जो वैराजलोक शरीर है और जिसम प्राणियो के कर्मफल का उपभोग होता है, वह यही लोक है। इतना मात्र ही लोक है, इससे परे समस्त प्राणियो से शून्य निरालोक है। त समन्त" यानी उस लोक

---

१ अह्न इत्युपलक्षणम्। अहोरात्रगत्येत्यर्थ। २ एकम्। ३ देवरथा इति बोध्यम्। ४ परितो व्याप्त। ५ यत्र वैराजमिति—सप्तम्यर्थोऽविवक्षित। यल्लोकशब्दित वैराज शरीरमित्यर्थ। वार्तिके यथा—'शरीरमेतद्वैराज देवताकरण महदिति ॥ १४४ ॥ अग्निमूर्धेत्यादिश्रुतिमाश्रित्य विनिर्दिष्ट—देवतेति। महत्त्व स्थूलसमष्टित्वम्। ६ तस्यैव भोगभूमित्व दर्शयति—यत्र चेति। वार्तिके हि—'इयानेव तु देशोऽस्य प्राणिना भोगसिद्धिकृत। अग्न्यादिदेवताना च व्याप्तिरेतावती मता ॥ १४५ ॥ इति। प्राणिनामिति विशेषणात्ततोऽन्यत्रापि देवताव्याप्तिरित्याशङ्कोत्कमर्यादाति। अयमेव भाष्यस्यचार्थ। ७ अत परम् —प्रदर्शितलोकात्परमलोक निरालोक। तदुक्त वार्तिके— लोकात्पर निरालोक सर्वप्राणिविवर्जित ॥ १४६ ॥ इति। तस्य भोगभूमित्व व्यावर्तयति—सर्वेति। ८ तत्रेति—ता पृथिवी समन्त द्विस्तावत्समुद्र पर्येतीति श्रोतव्यम्।

विस्तारेण परिमाणेन तं लोकं [1]परिक्षिप्ता पर्येति [2]पृथिवी । तां पृथिवीं [3]तथैव समन्तं द्विस्तावद्द्विगुणेन परिमाणेन समुद्रः [3]पर्येति यं घनोदमाचक्षते पौराणिकाः । ※तत्राण्डकपालयोर्विवरपरिमाणमुच्यते । येन विवरेण मार्गेण [4]वहिर्[5]निर्गच्छन्तो

माह—य घनोदमिति । उक्तं हि—

'अण्डस्यास्य समन्तात्तु संनिविष्टोऽम्बुनोदधिः ।
समन्ताद्घनतोयेन [6]धार्यमाणः [7]स तिष्ठति' इति ॥

तद्वायस्तोत्यावेस्तात्पर्यमाह—तत्रेति । लोकादिपरिमाणे यथोक्तरीत्या स्थिते सतीति यावत् । कपालविवरस्यानुपयुक्तत्वात्किं तत्परिमाणचिन्तयेत्याशङ्क्याऽऽह—येनेति । व्यवहारभूमिः सप्तम्यर्थः ।

को चारो ओर से लोकविस्तार से द्विगुण परिमाण विस्तार से पृथिवी "पर्येति" व्याप्त किये हुए है। इसी प्रकार (पृथ्वीलोक की तरह ही) द्विगुण परिमाण से पृथिवी को समुद्र घेरे हुए है, जिसे पौराणिक 'घनोद' कहते हैं।

अब अण्डकपालों के छिद्रों का परिमाण बताया जाता है, जिस छिद्ररूपी मार्ग से

---

१ परितो व्याप्ता भवति । २ लोक पृथ्वीव । ३ परितो व्याप्य तिष्ठति । ४ वहिर्व्याप्नुवन्तीत्यन्वय । ५ वहिरिति—प्रस्तुत समुद्रमतिक्रम्य लोकादरन्यत अण्डादवहि स्थित यद्गन्तव्य तद्व्याप्नुवन्तीत्यर्थ । तथा च गन्तव्यप्राप्त्युपयुक्ताण्डकपालसन्धिच्छिद्रस्योपमानमनेन वाक्यनाभ्यमान नानुपयुक्तमिति । ६ पूर्ण । ७ अम्बुनोदधि ।

※तत्राण्डकपालयोरित्यादश्वमेधयाजिनोऽभवन्नित्यन्त भाष्य वार्तिककाचार्या आहु तद्यथा—"त समुद्र समुत्तीर्य यदन्यस्परतस्तत । गन्तव्यमुपमानोक्तिः क्रियत तस्य साम्प्रतम् ॥ कपालसधिग व्योम सामर्थ्यात्परिमाणत । यावतीत्युपमोक्तेह श्रुत्याऽभिधिक्रियतेऽनया ॥ तत्र पारिक्षितान्रवेन चित्यात्मत्वमुपागतान् । अन्त सस्थाप्य नयति समष्टिव्यष्टितामगु ॥ चित्यात्माऽत्र सुपर्ण स्यादादित्यात्माऽथवोच्यते । इम देश यत प्राप्तानादित्याद्युक्तव-र्त्मना ॥ एव पारिक्षितान्सर्वानग्निरिन्द्रो वियत्पथा । निर्गमय्याण्डत प्रादाद्वायवे सूक्ष्मरूपिणे ॥ अश्वमेधमखापूर्व देवताऽग्निरिहोच्यते । वायुर्वेष्टनमेतच्च यदपूर्वमिहोदितम् ॥ वायुरेव ततोऽपूर्वमभिव्यक्ततनुमत । अनन्तरमपूर्वस्य कार्य निर्दिश्यतेऽधुना । पारिक्षितानथाऽऽदाय वायु स्वात्मसमाश्रयात् । आपाद्य गमयामास तत्र प्राणैकरूपिण ॥ अश्वमेधकृतो यत्र पूर्वे तद्धुरितो गता । वाय्वात्मा गमयामास समष्टिव्यष्टिताप्तये' ॥ १५४-१६२ ॥ तद्यावती क्षुरस्येत्याद्यवतारयति—तमिति । प्रस्तुत समुद्रमतिक्रम्य लोकादेरन्यदण्डाद्वहि स्थित यद्गन्तव्य तद्गत्युपयु-क्ताण्डकपालसधिच्छिद्रस्योपमानमनेनोच्यत इत्यर्थ । ननु तावानित्याकाशान्तरमेवाच्यत न कपालच्छिद्र नियामकाभावादतो न तस्येयमुपमेत्याशङ्क्याऽऽह—कपालेति । समुद्रात्परस्तादण्डकपालच्छिद्रातिरेकेणाति-सूक्ष्मार्थानुपपत्तेरण्डकपालसधिस्थमेव व्योमतावानित्यादिनाच्यतऽत्र सधिस्थमव नभो दृष्टान्तश्रुत्या परिमाणवि-शिष्टतया स्फुटयते नाऽऽकाशान्तरमर्थापत्तिविरोधादित्यर्थ ॥ तानिन्द्र इत्यस्य विवक्षितमाह—तत्रेति ॥ सुपर्णशब्दार्थमाह—चित्येति । अस्मिन्वाक्ये विराट्सूत्र वा सुपर्ण स्यादित्यत्र हनुमाह—इममिति । अचिरा-द्युक्तमार्गेण ब्रह्मलोक प्राप्याण्डकपालसमीपदेश प्राप्तानश्वमेधवता वहिर्नेतु शक्यित सूत्रविराजोरन्यतस्तयोरन्य-तरस्यैव सुपर्णतत्यर्थ ॥ सूत्रस्यान्तरिव वहिरपि व्याप्तेर्वहिर्नयनसामर्थ्येऽपि विराजोऽन्तरेव सत्त्वात्कथ तच्छक्तिरित्याशङ्क्येन्द्रशब्दार्थं वदन्वायवे प्रायच्छदित्यस्यार्थमाह—एवमिति । इन्द्रस्य चित्यात्मनो विराट्सूत्र-

ह्याप्नुवन्त्यश्वमेधयाजिनः । तत्तत्र यावती यावत्परिमाणा क्षुरस्य धाराऽग्रं यावद्वा सौक्ष्म्येण युक्तं मक्षिकायाः पत्रं तावांस्तावत्परिमाणोऽन्तरेण मध्येऽण्डकपालयोराकाश-'श्छिद्रं तेनाऽऽकाशेने'त्येतत् । तान्पारिक्षितानश्वमेधयाजिनः 'प्राप्तानिन्द्रः परमेश्वरो योऽश्वमेधे'ऽग्निश्चितः' सुपर्णो यद्विषयं दर्शनमुक्त 'तस्य प्राची दिक्शिर इत्यादिना सुपर्णः पक्षी भूत्वा पक्षपुच्छाद्यात्मकः सुपर्णो भूत्वा वायवे प्रायच्छ'न्मूर्तत्वान्नास्त्यात्मनो गति-स्तत्रेति । तान्पारिक्षितान्वायुरात्मनि धित्वा स्थापयित्वा स्वात्मभूतान्कृत्वा तत्र

परमात्मानं ध्यावर्तयति—योऽश्वमेध इति । सुपर्णशब्दस्य श्येनसादृश्यमाश्रित्य 'चित्येऽग्नौ प्रवृत्ति दर्शयति—यद्विषयमिति । उक्तार्थं "पदमनुवदति—सुपर्ण इति । मूत्वेत्यस्यार्थमाह—पक्षेति । ननु चित्योऽग्निरण्डाद्बहिरश्वमेधयाजिनो गृहीत्वा स्वयमेव गच्छतु किमिति तान्वायवे प्रयच्छति तत्राऽऽह —मूर्तत्वादिति । आत्मनश्चित्यस्याग्नेरिति यावत् । तत्रेत्यण्डाद्बाह्यदेशोक्ति । इति युक्तं वायवे

निकलने वाले अश्वमेधयाजी बाहर व्याप्त होते हैं। वहाँ "यावती" अर्थात् जितने परिमाण वाला छुरे की "धारा" यानी अग्रभाग होता है "यावद्वा मक्षिकाया पत्रम्" अर्थात् जितने सूक्ष्म मक्खी के पङ्ख होते हैं, "तावानन्तरेण" उतने परिमाण वाले अण्डकपालो के मध्य से आकाश का अवकाश होता है। उस आकाश से वे जाते हैं। 'तान्' अर्थात् उन प्राप्त हुए पारिक्षित अश्वमेधयाजियो को 'इन्द्र' यानी परमेश्वर जो अश्वमेधयाग मे उपासित विराट् अग्नि ही है, "सुपर्ण" जिसके विषय मे "उसकी प्राची दिशा शिर है" इत्यादि श्रुति प्रमाण है—'सुपर्णो भूत्वा" पक्ष पुच्छादिरूप सुपर्ण पक्षी होकर वायु को दे दिया क्योंकि स्थूल होने क कारण उसकी वहाँ अपनी गति नही होती, वायु ने उन पारिक्षितो को अपने मे 'धित्वा' यानी स्थापित कर अथवा उन्हे स्वात्मभूत करके "तत्र" यानी वहाँ पर पहुँचा

---

१ अवकाश । २ इत्यतत्—इति शेष इति यावत् । ३ यदर्थमिद सर्वमुक्त तदिदानी प्रदर्शयति—तानिति । तनाकाशद्वारेण । इन्द्रो विराडात्मभूताश्वमेध श्येनाकारेण चित (उपासित) अग्नि सुपर्ण पक्षपुच्छाद्यात्मक । ४ स्वसमीपम् । ५ विराट् । ६ उपासित । ७. बृ० उ० १।२।३ । ८ स्थूलत्वात् । ९ उपास्य विराडग्नौ । १० सुपर्णपदम् ।

रूपस्य बहिर्गमयितृत्वयोगाद्वायवे न तानदादित्यर्थ । ननु सूत्रस्य वायोरेव वायुर्वै गौतम तत्सूत्रमित्यैक्यश्रुते सूत्रात्मा कुतो बहिरण्डतो निर्गमय्य तान्वायव प्रादादिति तत्राऽऽह—सूक्ष्मेति । ज्ञानशक्तिमत सूत्रस्य क्रियाशक्तिमन्त स्वात्मानमेव वायु प्रति क्रियाज्ञानवता नयनमुचितमिति भाव ॥ अथेन्द्रस्य यथोक्तस्यापि कथमश्वमेधयाजिषु फलदातृतेत्याशङ्क्य प्रकृतमग्निशब्दार्थं विशदयति—अश्वमेधेति । इहेति प्रकृतवाक्योक्ति । अग्निरूपा दवता चेदश्वमेधजन्यापूर्वत्वनाच्यत तर्हि तदेव धर्मं जैमिनिरिति न्यायेन फलदमस्तु कृत वायुनेत्याशङ्क्याऽऽह—वायुवेष्टनमिति । यदत्रापूर्वं तद्वायुशरीरमेवेति यावत् ॥ वायु शरीरी शरीरमपूर्वमिति भेदादेकस्यैव फलदत्वमभवे किं द्वाभ्यामित्याशङ्क्याऽऽह—वायुरिति । अश्वमेधाभिवृत्तमपूर्वं फलदानायमभिव्यक्तप्रभावो वायुरेवति नानयोर्भेद इत्यथ । तानित्यादेस्तात्पर्यमाह—अनन्तरमिति । अश्वमेधकृतां वायवे प्रदानादिति शेष । कार्यं फलम् ॥ अक्षराणि व्याचष्टे—पारिक्षितानिति । विराजा सूत्रेण वा प्रदानानन्तर्यमथशब्दार्थ । कुत्र गमितवानित्यपेक्षायामाह—तत्रेति । प्राणैकरूपिण इत्युपास्त्या देवभावमापन्नत्व देवो भूत्वेत्यादिश्रुतिर्दर्शयति । तत्र गतिमनूद्य तत्फलमाह—वाय्वात्मेति ॥

तस्मिन्नगमयत् । क्व । यत्र पूर्वेऽतिक्रान्ताः पारिक्षिता अश्वमेधयाजिनोऽभवन्निति । एवमिव वा एवमेव स गन्धर्वो वायुमेव प्रशशंस पारिक्षितानां गतिम् ।

समाप्ताऽऽख्यायिका । आख्यायिकानिर्वृत्तं त्वर्थमाख्यायिकातोऽपसृत्य श्रुतिः स्वमुखेनैवाऽऽचष्टेऽस्मभ्यम् । यस्माद्वायुः स्थावरजङ्गमानां [1]भूतानामन्तरात्मा बहिश्च[2] स एव तस्मादध्यात्माधिभूताधिदैव[3]भावेन विविधा याऽष्टिर्व्याप्तिः स वायुरेव । तथा [4]समष्टिः

प्रवानमिति ज्ञेयः । आख्यायिकासमाप्तार्थाविति शब्दः । परितो दुरितं क्षीयते येन स परिक्षिदश्वमेधस्तद्याजिनः पारिक्षितास्तेषां [5]गतिं वायुमिति संबन्धः ।

मुनिवचने वर्तमाने कथमाख्यायिकासमाप्तिस्तत्राऽऽह—समाप्तेति । [6]वायुप्रशंसायां हेतुमाह—

दिया। कहाँ पर पहुंचा दिया ? "यत्र" अर्थात् जहाँ पहले अतिक्रमित पारिक्षित रहे। इस प्रकार "सः" अर्थात् उस गन्धर्व ने, पारिक्षितों की 'वायुमेव' अर्थात् गतिरूप वायु की ही प्रशंसा की ।

यहाँ आख्यायिका का व्याख्यान तो पूर्ण हुआ। आख्यायिका से निकलने वाला जो अर्थ है, उसे आख्यायिका से निकाल कर श्रुति स्वमुख से ही प्रतिपादित करती है क्योंकि वायु ही स्थावर जङ्गम प्राणियों की आत्मा है, वह आत्मा बाहर भी है, अतः अध्यात्म, अधिभूत और अधिदैवभाव से व्यावृत रूप के द्वारा जो भी "व्यष्टिः" यानी विविधा अष्टि या व्याप्ति है, वह वायुरूप गति ही । तथा "समष्टिः" यानी अनुगतरूप से व्याप्ति केवल सूत्रात्मा से वायुरूप गति ही है। "एव" यानी इस प्रकार जो

---

१. भूतानामिति—इदमुपलक्षणमण्डस्यापि । तदुक्तं वार्तिके—"वायुं मुक्त्वा बहिर्यस्मान्नान्यस्या विद्यतेऽवहिः । देवताया गतिस्तस्माद्वायुर्व्यायानिहैकलः ॥ यत एवमतो ज्ञेयो वायुरेव न चापरः । व्यष्टिः समष्टिरित्येवमण्डादन्तर्बहिश्च सः ॥ व्याप्तिविशेषरूपेण व्यष्टिरित्यभिधीयते । सामान्येन समष्टिश्च वायुरेव द्विधा स्थितः ॥ वस्तु यल्लक्ष्यतं किञ्चिज्जगत्यस्मिञ्चराचरे । सामान्येन विशेषेण वायुरेव तदीक्ष्यताम् ॥ न सामान्यविशेषाभ्यां वायोरन्यस्य वस्तुनः । सबन्धो वायुरेवेति सावधारणवाक्यतः ॥ अन्ययोगव्यवच्छेदे प्रशंसेयमसौ भवेत् । न त्वयोगव्यवच्छेद उत्कर्षस्तादृगिष्यते ॥ अश्वमेधक्रतोरेव समष्टिव्यष्टिलक्षण. । महिमाऽऽविष्कृत. श्रुत्या विद्यायुक्तस्य सभ्रमादिति" ॥ १६६-१७२ ॥ अण्डाद्बहिरबहिश्च वायुवद्देवतान्तरस्य यतो न गतिः किन्त्वण्डान्तरेवातो देवाना मध्ये वायुरेव महानिति तत्प्रशंसेत्यर्थः ॥ तस्मादित्यादेरर्थमाह—यत इति । वायोर्ज्यायस्त्वेन प्रशस्यमानत्वादसावेव बहिर्व्याप्त्या समष्टिरन्तर्व्याप्त्या व्यष्टिश्चेत्यर्थः । अण्डादन्तर्बहिश्चेति व्यष्टिसमष्टिपदयोर्व्याख्यानम् ॥ वायुरेवेत्यादेरर्थमाह—व्याप्तिरिति । सामान्येन व्याप्तिरिति पूर्वेण सबन्धः । पदार्थमुक्त्वा वाक्यार्थमाह—वायुरेवेति ॥ अन्यस्याप्युभयात्मन संभवात्कुतोऽवधारणमित्यत आह—वस्त्विति ॥ कथमेतदर्थसिद्धिरित्याशङ्क्यावधारणवशादित्याह—नेति ॥ अयोगव्यवच्छेदेनापि तद्घटिष्यते नेत्याह—अन्येति । तादृगिति अन्ययोगव्यवच्छेदकृतोत्कर्षवदित्यर्थः ॥ वायोरुभयरूपत्वनिरूपणं प्रकृतप्रश्नप्रत्युक्त्यनुपयुक्तं तेन तत्प्रशंसाऽपि वृथेत्याशङ्क्य विशिष्टाश्वमेधफलस्यैव श्रुत्योच्यमानत्वान्मैवमित्याह—अश्वेति । आख्यायिकातोऽपसृत्य स्वेनाऽऽत्मना श्रुतिर्यथोक्तमहिमानमाहेति तस्यास्तत्र तात्पर्यं सूचयति—सभ्रमादिति ॥ २. आत्मा । ३. भावेनेति—व्यावृत्तरूपतयेति शेष. । ४. अनुगततया व्याप्तिः । ५. गन्तव्यम् । ६. वायुप्रशंसायामिति—अग्न्यादिष्वपि विद्यमानेषु कुतो वायोरेव प्रशंसेत्याशङ्क्येत्यादि. ।

केवलेन सूत्रात्मना वायुरेव । एवं वायुमात्मानं समष्टिव्यष्टिरूपात्मकत्वेनोपगच्छति य एवं वेद । तस्य किं फलमित्याह—अप पुनर्मृत्युं जयति सकृन्मृत्वा पुनर्न म्रियते । तत आत्मनः प्रश्ननिर्णयाद्भुज्युर्लाह्यायनिरुपरराम ॥ २ ॥

इति बृहदारण्यकोपनिषद्भाष्ये तृतीयाध्यायस्य तृतीयं ब्राह्मणम् ॥ ३ ॥

अथ तृतीयाध्यायस्य चतुर्थं ब्राह्मणम् ।

अथ हैनमुषस्तश्चाक्रायणः पप्रच्छ । पुण्यपापप्रयुक्तैर्ग्रहातिग्रहैर्गृहीतः पुनः पुनर्ग्रहातिग्रहांस्त्यजन्नुपाददत्संसरतीत्युक्तम् । पुण्यस्य च पर उत्कर्षो व्याख्यातो व्याकृतविषयः समष्टिव्यष्टिरूपो द्वैतैकत्वात्मप्राप्तिः । ॐ यस्तु ग्रहातिग्रहैर्ग्रस्तः संसरति सोऽस्ति वा

यस्मादिति । किं पुनर्यथोक्तवायुतत्त्वविज्ञानफलं तदाह—एवमिति ॥ २ ॥

इति बृहदारण्यकोपनिषद्भाष्यटीकायां तृतीयाध्यायस्य तृतीयं भुज्युब्राह्मणम् ॥ ३ ॥

ब्राह्मणान्तरमवतारयति—अथेति । तस्यापुनरुक्तमर्थं वक्तुमार्तभागप्रश्ने वृत्तं कीर्तयति—पुण्येति । भुज्युप्रश्नान्ते सिद्धमर्थमनुद्रवति—पुण्यस्य चेति । नामरूपाभ्यां व्याकृतं जगद्धिरण्यगर्भात्मकं तद्विषयमुत्कर्षं विशिनष्टि—समष्टीति । कथं यथोक्तोत्कर्षस्य पुण्यकर्मफलत्वं तत्राऽऽह—द्वैतेति ।

समष्टिव्यष्टिरूप से स्वरूपभूत वायु को जानता है, वह वायु की उपासना करता है। उसका फल क्या है ? इस पर श्रुति कहती है "पुनर्मृत्यु" यानी अपमृत्यु पर विजय प्राप्त करता है, एक बार मर कर फिर नहीं मरता (सापेक्ष अमृतत्व को प्राप्त करता है)। इसके पश्चात् अपने प्रश्न का समीचीन निर्णय सुनकर लाह्य का पुत्र भुज्यु चुप हो गया ॥२॥

इस प्रकार बृहदारण्यकोपनिषत् शाङ्करभाष्य में तृतीय अध्याय के तृतीय ब्राह्मण का हिन्दीभाषानुवाद पूर्ण हुआ ॥ ३ ॥

फिर उस याज्ञवल्क्य से चक्र के पुत्र उषस्त ने पूछा। पुण्य-पाप से प्रेरित ग्रह-अतिग्रहों से गृहीत हुआ पुरुष पुनः पुनः ग्रह और अतिग्रहों को त्यागता और ग्रहण करता हुआ समरण करता है, ऐसा आर्तभाग ब्राह्मण में कहा जा चुका है। इसके अतिरिक्त अश्वमेध पुण्य के चरमोत्कर्ष का भी वर्णन कर दिया गया कि वह व्याकृतविषयक समष्टिव्यष्टिरूप द्वैत की समष्टिव्यष्टिरूपा प्राप्ति

१ उपास्ते । २ यावत्तत्रावस्थानमिति सापेक्षममृतत्वमधिगच्छति । ३ उपररामेति—ततश्च स एवाप्रतिभारूपं निग्रहं प्राप्त इत्यर्थः । ४ आर्तभागब्राह्मणे । ५ अश्वमेधस्य । ६ समष्टिव्यष्टिरूपाप्तिः । ७ अधिकारी । ८ उषस्तब्राह्मणस्य । ९ द्वितीयब्राह्मणे । १० तृतीयब्राह्मणान्ते । ११ तदाश्रितम् ।

ॐ यस्त्वित्यादि आरभ्यत इत्यन्तभाष्यतात्पर्याविष्कराणि सार्धसप्तवार्तिकानि प्रदर्श्यन्ते तथाहि—"मुमुक्षुरस्ति नास्तीति परो ग्रन्थोऽवतार्यते ॥ देहेन्द्रियमनोबुद्धिवेदनाव्यतिरेकतः । अस्तित्वे तस्य संसिद्धे तन्मुक्त्यै यत्यते यतः ॥ भविष्यल्लाभसबन्धी यथागमतो मतः । न साम्प्रति समारम्भः सिद्ध एव हि साम्प्रतं ॥ कर्त्रात्मन

नास्त्यस्तित्वे च किंलक्षण इत्यात्मन एव[2] विवेकाधिगमायोपस्तप्रश्न आरभ्यते । [3]तस्य च निरुपाधिस्वरूपस्य क्रियाकारकविनिर्मुक्तस्वभावस्याधिगमा[4]द्यथोक्ताद्बन्धनाद्विमुच्यते

[5]संप्रत्यनन्तरब्राह्मणस्य विषय दर्शयति—यस्त्विति । माध्यमिकानामन्येषा चा[6]ऽऽद्यो [6]विवादः किंलक्षणो देहादीनामन्यतमस्तेभ्यो विलक्षणो वेति यावत् । इत्येव विमृश्याऽऽत्मनो देहादिभ्यो विवेकेनाधिगमायेदं ब्राह्मणमित्याह—इत्यात्मन इति । विवेकाधिगमस्य भेदज्ञानत्वेनानर्थकरत्वमाशङ्क्य [7]कहोलप्रश्न-

करना है । जो अधिकारी ग्रहो और अतिग्रहो से ग्रस्त होकर ससरण करता है, उसका अस्तित्व है अथवा नही और यदि है सो किस लक्षण वाला है, इस प्रकार आत्मा का ही अनात्मदेहादि से विवेक प्राप्त करने के लिए उपस्त का प्रश्न आरम्भ किया जाता है । उस निरुपाधिकस्वरूप, क्रियाकारक-

१. अनात्मदेहादित । २. आत्मन । ३ ग्रहातिग्रहरूपात् । ४. वृत्तमनूद्येत्यर्थ । ५ प्राचीनतम इति यावत् । ६ यद्वा आद्यो विवाद भाष्यनिर्दिष्टप्रथमो विवाद । नैरात्म्यवादिनो माध्यमिका नास्तीति वदन्त्यन्ये त्वात्मवादिनोऽस्तीतीति तेषां परस्परमस्ति नास्तीति भाष्योक्तप्रथमो विवाद इत्यर्थ । अस्तित्वे च किंलक्षण इति द्वितीयस्तु माध्यमिकातिरिक्तानामिति ध्येयम् । ७ वक्ष्यमाणपञ्चमब्राह्मणेत्यथ ।

पुरा सिद्धेर्बुद्ध्याद्यव्यतिरेकत । कश्चिदिह साक्ष्यात्मा दृष्टेद्रष्टोच्यतेऽधुना ॥ विषयो ब्रह्मविद्याया योग्य क इति चिन्त्यते । विषयश्चमृते यस्मादुपदेशोऽर्थवान्भवेत् ॥ ब्रह्मणो वोपदेश स्यादथवाऽब्रह्मणो भवेत् । ब्रह्मत्वस्य स्वत सिद्धेर्ब्रह्मणि स्यादनर्थक ॥ उपदेशशतेनापि ब्रह्मत्व न कथचन स्वतोऽब्रह्मत्वतस्तस्य नातोऽब्रह्मण इष्यते ॥ सर्वस्यैकात्म्ययाथात्म्यात्र चाब्रह्मेह लभ्यते । क्षत्रज्ञेश्वरसभेदशङ्कानुत्त्यथमुच्यते" ॥ ३-१० ॥ इति । प्रमातृसाक्षी प्रमातृद्वारा स्वात्मन्यध्यस्तससारी मुमुक्षुस्त्वमर्थोऽत्र निर्धार्यत इत्यर्थ ॥ मुमुक्षोरपेक्षितो मोक्षो वक्तव्यस्तदस्तित्व-निर्धारण त्वनिबन्धनमत आह—देहेति । वेदना दुःखाद्यात्मिका धीवृत्तय । साक्ष्यातिरेकेण साक्षिण सत्त्वे निश्चिते तस्य तस्मान्मुक्त्यर्थं यत्नसभवात्तदस्तित्व वाच्यमित्यर्थ ॥ कस्य तर्हि देहातिरिक्तत्वमस्तित्व चोच्यते मातुरन्यस्य वा नाऽऽद्यस्तस्य कर्मकाण्डप्रामाण्यादेव सिद्धेर्नेतरस्तस्याप्रसिद्धस्य बुद्धिमनारोहतोऽशक्यप्रतिपादन-त्वादित्याशङ्क्याऽऽद्य दोषमङ्गी करोति—भविष्यदिति । स्थूलदेहाद्यतिरिक्त परलोकी कर्मकाण्डवशादेव येषा सिद्धो न तान्प्रति प्रमातृसाधनार्थमिद ब्राह्मण तस्य तान्प्रति सिद्धत्वादित्यर्थ ॥ द्वितीय दोष निरस्यति—कर्त्रिति । बुद्ध्यादिवैशिष्ट्येन कर्मकाण्डे मातु सिद्धेस्तत्साक्षी समनन्तरब्राह्मणे विद्याधिकारित्वेन निरूप्यते न च तस्याप्रसिद्धत्वादशक्यप्रतिपाद्यत्व आत्मादिशब्दाभावसाधकत्वेन सामान्यतो धर्मत्वप्रसिद्धस्य विशेषाकारेण प्रतिपादनाविरोधादिति भाव ॥ आब्रह्मस्तम्बपर्यन्तैरित्यादि वदद्भिराचार्यै मुक्तभोऽधिकारी दर्शितस्तथाच न्यायवार्तिक समाम्नाय शास्त्र जगतो जगादेति तत्र किमधिकारिचिन्तयेत्याशङ्क्याऽऽह—विषय इति । आब्रह्मे-त्यादावधिकारिसत्त्वमात्र विवक्षित न सर्वाधिकारित्व न हि किमपि शास्त्र सर्वाधिकारमतो ब्रह्मविद्याया योग्यमधिकारिण निरूपयितु ब्राह्मणमिति भाव । विद्योपदेशे स्वयमेव श्रद्धावा प्रवर्तिष्यते किमधिकारिचिन्तये-त्याशङ्क्याऽऽह—विषय इति । अधिकारिण प्रत्येव तद्योगाद्यत्र तद्वैफल्यात्तच्चिन्ताऽर्थवतीत्यर्थ ॥ कस्तर्हीह योग्योऽधिकारीति विकल्पयति—ब्रह्मणो वेति । आद्य वैयर्थ्यमुपदेशस्येत्याह—ब्रह्मत्वस्येति ॥ द्वितीय प्रत्याह—उपदेशेति ॥ पक्ष एवायमनुपपन्न इत्याह—सर्वस्येति । शास्त्र सप्तम्यर्थ । तत्राधिकारिण निरूपयितु ब्राह्मणमारभ्यमिति प्राप्त तत्राऽऽह—क्षेत्रज्ञेति । प्रत्यग्ब्रह्मणोर्वास्तवभेदशङ्कानिरासेन ब्रह्मैवाविद्याव्यवहित विद्यायाग्यमिति निश्चेतु ब्राह्मण न च ब्रह्मकण्डिकया यताथत्वमस्य तद्विवरणत्वादित्यर्थ ॥

[1]अथ हैनमुषस्तश्चाक्रायणः पप्रच्छ याज्ञवल्क्येति होवाच यत्साक्षादपरोक्षाद्ब्रह्म य आत्मा सर्वान्तरस्तं मे व्याचक्ष्वेत्येष त आत्मा सर्वान्तरः कतमो याज्ञवल्क्य सर्वान्तरो [2]यः प्राणेन प्राणिति स त आत्मा सर्वान्तरो योऽपानेनापानीति स त आत्मा सर्वान्तरो यो व्यानेन

फिर उस याज्ञवल्क्य से चक्र के पुत्र उपस्त ने पूछा। हे याज्ञवल्क्य ! ऐसा उपस्त ने कहा। जो ब्रह्म साक्षात् अपरोक्ष है और जो सबका अन्तरात्मा है, उसकी व्याख्या तुम मेरे प्रति करो। याज्ञवल्क्य ने कहा—यह कार्यकरणसंघात के भीतर तेरा आत्मा ही सबका अन्तर्वर्ती ब्रह्मस्वरूप है। उपस्त ने कहा—हे याज्ञवल्क्य ! वह सर्वान्तर कौन सा है अर्थात् कार्यकरणसंघात में से किसे सर्वान्तर आत्मा कहना चाहते हो ? याज्ञवल्क्य ने कहा—जो मुख नासिका द्वारा संचरण करने वाले प्राण से प्राणनक्रिया करता है, वह विज्ञानमय ही तेरा आत्मा सर्वान्तर्वर्ती है। जो अपान से अपानक्रिया करता

[3]सप्रयो जकात्। आख्यायिका[4]संबन्धस्तु प्रसिद्धः।

अथ हैनं प्रकृतं याज्ञवल्क्यमुपस्तो नामतश्चक्रस्यापत्यं चाक्रायणः पप्रच्छ। [5]यद्ब्रह्म

तात्पर्यं संगृह्णाति—तस्य चेति। ब्राह्मण'संबन्धमुक्त्वाऽऽख्यायिकासंबन्धमाह—आख्यायिकेति। विद्यास्तुत्यर्था सुखावबोधार्था चाऽऽख्यायिकेत्यर्थः। भुज्युप्रश्ननिर्णयानन्तर्यमथशब्दार्थः। संबोधनमभि-

विनिर्मुक्त-स्वभाव आत्मा का ज्ञान होने पर यथोक्त ग्रहातिग्रहरूप बन्धन से कर्मों के सहित विमुक्ति हो जाती है, आख्यायिका का प्रयोजन तो प्रसिद्ध ही है।

"अथ हैनम्" अर्थात् इसके अनन्तर इस प्रकरणस्थ याज्ञवल्क्य से "चाक्रायणः" यानी चक्र के पुत्र उपस्त नाम वाले ब्रह्मिष्ठ ने कहा। "यद्" अर्थात् जो ब्रह्म "साक्षात्" अर्थात् किसी भिन्न वस्तु से

१. "ऐकात्म्यानवबोधस्य कार्यमुक्तमशेषतः। तन्मूलध्वस्तयेऽथोर्ध्वं परो ग्रन्थोऽवतार्यते" ॥ वा० १ ॥ "चतुर्थ-ब्राह्मणे मोहयोग्यः कर्तृत्ववर्जितः। विधया ब्रह्मविद्याया अस्यात्मेति निरूप्यते" ॥ ब्राह्मणतात्पर्यं संक्षिप्यानुवदति—ऐकात्म्येति। अनर्थमूलाज्ञानध्वंसिज्ञानार्थत्वेनोत्तरब्राह्मणषट्कारम्भं प्रतिजानीते—तन्मूलेति। उक्तेऽनर्थे सहेतुतद्ध्वंसिहेत्वपेक्षाऽस्तीत्यथशब्दार्थः। ऊर्ध्वमित्यनन्तरब्राह्मणमात्रग्रहणव्यावृत्तिः ॥ २ यः प्राणेनेति—साक्षादित्यादिविशेषणकमात्मानं साक्षाद्बोधयितव्यमुपेक्ष्य किमिति लिङ्गेन बोधयितुं प्रवर्तते सत्यम्; अनुमानेन त्वमर्थं परिशोध्य तस्योक्तविशेषणब्रह्मत्वं वाक्येन विशदयिष्यामीति मन्वानो यः प्राणेनेत्युक्तवान् इति। ननु पदार्थशुद्धिवद्वाक्यार्थधीरपि लिङ्गादेवास्तु न वाक्यैकगम्यत्वात्तस्या इति। ३ प्रयोजक कर्म तत्सहितात्। ४ संबन्धस्तु प्रसिद्ध इति—संबन्धः प्रयोजनम्। ५ यदिति परमात्मतत्त्वं विशेष्य तस्यापरोक्षादित्यन्तं (ब्रह्मान्तं वा) विशेषणं परोक्षत्वादिभ्रमव्युदासार्थम्। तथा च यद्ब्रह्म बृहत्तमं साक्षात् स्वरूपत एवापरोक्षम् न तु घटादिवद्वृत्तिव्याप्यत्वेनेत्यभिप्रेत्याह—यद्ब्रह्मेति। यद्ब्रह्म द्रष्टुः साक्षादपरोक्षादित्यन्वयः। ६. उत्पाद्योत्पादकस्वरूपम्।

व्यानीति स त आत्मा सर्वान्तरो य उदानेनोदानिति स त आत्मा सर्वान्तर एष त आत्मा सर्वान्तरः ॥ १ ॥

है, वही विज्ञानमय तेरा आत्मा सर्वान्तिर्वर्ती है। जो व्यान से व्याननक्रिया करता है, वही विज्ञानमय आत्मा तेरा सर्वान्तिर्वर्ती है। जो उदान से उदाननक्रिया करता है, वही विज्ञानमय तेरा आत्मा कार्य-करणसंघात से विलक्षण सर्वान्तिर्वर्ती है।।१।।

---

[1]साक्षादव्यवहितं केनचिद्[2]द्रष्टुर[3]परोक्षाद[4]गौणम्। न श्रोत्रब्रह्मादिवत्। किं तत्। [5]य आत्मा। आत्मशब्देन प्रत्यगात्मोच्यते। [6]तत्राऽऽत्मशब्दस्य प्रसिद्धत्वात्[7]। सर्वस्याभ्यन्तरः सर्वान्तरः। यद्यच्छब्दाभ्यां प्रसिद्ध आत्मा ब्रह्मेति। [8]तमात्मानं मे ब्रह्म[9] व्याचक्ष्वेति विस्पष्टं शृङ्गे[10] गृहीत्वा यथा गां दर्शयति तथाऽऽचक्ष्व सोऽयमित्येव [11]कथयस्वेत्यर्थः।

मुखीकरणार्थम्। द्रष्टुरव्यवहितमित्युक्ते घटादिवदव्यवधानं गौणमिति शङ्क्येत तन्निराकर्तुमपरोक्षा-दित्युक्तम्। मुख्यमेव द्रष्टुरव्यवहितं स्वरूपं ब्रह्म। तथा च द्रष्टृयोनसिद्धिस्वाभावात्स्वतोऽपरोक्षमित्यर्थः। श्रोत्रं ब्रह्म मनो ब्रह्मेत्यादि यथा गौणं न तथा गौणं द्रष्टुरव्यवहितं ब्रह्म"द्वितीयस्वार्थित्याह—न श्रोत्रेति। उक्तमव्यवधानमाकाङ्क्षाद्वाराऽनन्तरवाक्येन(ए) साधयति—किं तदित्यादिना। तस्य परिच्छिन्नत्वशङ्कां वारयति—सर्वस्येति। "सर्वनामभ्यां प्रत्यग्ब्रह्मविशेष्यं समर्प्यंते "इतरैस्तु शब्दै-र्विशेषणानीति" विभागमभिप्रेत्याऽऽह—यद्यच्छब्दाभ्यामिति। इति यच्यत इत्यनेन संबध्यते। इतिशब्दो द्वितीयः प्रश्नसमाप्त्यर्थः। तमेव प्रश्नं विवृणोति—विस्पष्टमिति।

व्यवधान को न प्राप्त हुआ, द्रष्टा से "अपरोक्षात्" यानी अपरोक्ष या अगौण है। ("श्रोत्र ही ब्रह्म है" इस श्रुति से) श्रोत्र ब्रह्मादि के समान नहीं है। वह क्या है? "य आत्मा" इस श्रुतिवाक्य में आत्मा-शब्द प्रत्यगात्मा का वाचक है क्योंकि इसी अर्थ में आत्मा की प्रसिद्धि है। जो "सर्वान्तर" अर्थात् सब के अन्दर है। श्रुति में "यत्" और "य" इन शब्दों से यह प्रदर्शित किया जाता है कि यह प्रसिद्ध आत्मा ब्रह्म है। उस ब्रह्म से अभिन्न आत्मा का "मे" अर्थात् मेरे प्रति 'व्याचक्ष्व' यानी व्याख्यान

---

१ साक्षात्पदार्थमाह—अव्यवहित केनचिदिति कनचिद्वृत्तिविशेषण व्यवधानेन सहित द्रष्टुन भवतीत्यर्थ। २ अपरोक्षम्। ३ यद्वा साक्षादगौणम् न तु मनो ब्रह्मेत्यादिवद्गौणमित्याशयेनाह—अगौणमिति। ४ उक्तविशेषण ब्रह्मप्रत्यगभिन्न तद्भिन्न वत्यर्थ। ५ अभिन्नमेवेत्युत्तरमाह—य इति। अत्र य इति जीवात्मा विशेष्यस्तस्य सर्वान्तर इति विशेषण परिच्छिन्नत्वादिभ्रमव्यावृत्त्यर्थं तथा चाक्तविशेषणं शोधितयोस्तत्त्वपदार्थ-योर्यद्य इति शब्दाभ्या सामानाधिकरण्यादनुगनचिद्धातुप्रत्यगात्मत्व जीवस्य स्वाभाविक स्वरूप पृष्टमिति ज्ञेयम्। ६ प्रतीचि। ७ यच्चाप्नोतीत्यादिस्मृतश्चेत्यपि द्रष्टव्यम्। ८ ब्रह्माभिन्नमात्मानम्। ९ ब्रह्मात्मान प्रत्यक्ष दर्शयति यावत्। १० द्रष्टुरभिन्नत्वात्। ११ सर्वनामभ्यामिति—तथा च ब्रह्मात्मेति-शब्दावपि विशेषणार्थावेवेति भाव। १२ साक्षादित्यादिभि। १३ समर्प्यन्त।

एवमुक्तः प्रत्याह याज्ञवल्क्यः—एष ते तवाऽऽत्मा सर्वान्तरः सर्वस्याभ्यन्तरः। सर्वविशेषणोपलक्षणार्थं सर्वान्तरग्रहणम्। यत्साक्षादव्यवहितमपरोक्षादगौणं ब्रह्म बृहत्तममात्मा सर्वस्याभ्यन्तर एतैर्गुणैः समस्तैरुक्त। एषः कोऽसौ, तवाऽऽत्मा। योऽयं कार्यकरणसंघातस्तव येनाऽऽत्मनाऽऽत्मवान्स एष तवाऽऽत्मा। तव कार्यकरणसंघातस्येत्यर्थः। तत्र पिण्डस्तस्याभ्यन्तरे लिङ्गात्मा करणसंघातस्तृतीयो यश्च संदिह्यमानस्तेषु कतमो ममाऽऽत्मा सर्वान्तरस्त्वया विवक्षित इत्युक्त इतर आह—यः प्राणेनमुखनासिकासंचारिणा प्राणिति प्राणचेष्टां करोति येन प्राणः प्रणीयत इत्यर्थः। स ते तव कार्यकरणसंघा-

---

त्वमर्थं "वाक्यार्थान्वययोग्ये पृष्टे तत्प्रदर्शनार्थं प्रत्युक्तिमवतारयति—एवमुक्त इति। सर्वान्तर इति "विशेषोक्त्या प्रश्नस्य विशेषणान्तराणाम"नास्थामाशङ्क्याऽऽह—सर्वविशेषणेति। एष सर्वान्तर इति भागस्यार्थं विवृणोति—यत्साक्षादिति। एषशब्दार्थं प्रश्नपूर्वकमाह—कोऽसाविति। आत्मशब्दार्थं विवृणोति—योऽयमिति। येनेत्यत्र" सशब्दो द्रष्टव्य। षष्ठ्यर्थं स्पष्टयति—तवेति। प्रश्नान्तरमुत्थाप्य प्रतिवक्ति—तत्रेत्यादिना। सर्वान्तरस्तवाऽऽत्मेत्युक्ते सतीति यावत्। तृतीयो मातृन्साक्षी प्रणीयते

करो। जिस प्रकार सीधे ही सीगों को पकड़कर गौ दिखलाते हैं, उसी प्रकार स्पष्ट दिखलाओ कि 'यह आत्मा है' अर्थात् इस प्रकार ब्रह्मात्मा को प्रत्यक्ष दिखलाओ।

इस प्रकार कहे जाने पर याज्ञवल्क्य ने उत्तर दिया—यह "ते" यानी तुम्हारे संघात का आत्मा "सर्वान्तर" अर्थात् सब के भीतर है। 'सर्वान्तर' शब्द का ग्रहण सर्व विशेषण के उपलक्षण के लिए है जो साक्षात् अव्यवहित और अपरोक्ष अगौण ब्रह्म यानी बृहत्तम आत्मा सबके भीतर है, यह इन समस्त विशेषणों से युक्त है। वह कौन है? वह तुम्हारा स्वरूप ही है। यह जो तुम्हारा प्रत्यक्ष कार्यकरण-संघात है, वह जिस आत्मा के द्वारा लब्ध स्वरूप है, वह (प्रमातादि के आगम और अपाय का साक्षी) तुम्हारा आत्मा ही है यानी तुम्हारे कार्यकरणसंघात का आत्मा है। भुज्यु के यह कहने पर कि पहला तो पिण्ड है, दूसरा पिण्ड के भीतर इन्द्रियसंघातरूप लिङ्गदेह है और तीसरा जिसके विषय में सन्देह है। (इस प्रकार अनेक आत्मा होने से) इनमें से किसे मेरा सर्वान्तर आत्मा बतलाना चाहते हो? ऐसा पूछने पर याज्ञवल्क्य ने कहा—जो स्वयं अप्राण होकर मुख नासिका द्वारा संचरण करने वाले प्राण से

---

१ संघातस्य। २ विशेषणं। ३ स्वरूपम्। ४ प्रत्यक्ष। ५ आत्मा—आत्मत्वनाभिमत। ६ लब्धस्वरूप। ७ प्रमात्रादितदागमापाय साक्षी अत्रात्मशब्दार्थं। ८ तत्र पिण्ड इति। अत्र वार्तिके—"पिण्डान्तस्तावदात्मैको लिङ्गात्मस्तु तथा पर। बुद्धिसाक्षी तृतीय स्याद्योऽय संदिह्यते तथा"॥ ६३॥ पिण्डान्त पिण्डपर्यन्त पिण्डरूप इति यावत्। एव लिङ्गान्त। स्थूलसूक्ष्मदेहसाक्षिभेदेनानेक आत्मान इत्यर्थ। ९ कतम इति—यस्मादनेकात्मसंभवस्तस्मात्तेषां मध्ये कतम साक्षादित्यादिविशेषणस्त्वया विवक्षितस्तमन्यतो निष्कृष्य गवादिवत्प्रत्यक्षतया वदेत्यर्थ। १० स्वयमप्राण प्राणभिन्न इत्यर्थ। ११ अध्यासात्स्वयमपि प्राणनादिक्रियावानिव भवति। १२ अखण्डवाक्यार्थान बोध्यम्। १३ विशेषणविशेषोक्त्या। १४ अनादरम्—अविवक्षितत्वम्। १५ इत्यत प्राणिति यावत्।

स होवाचोषस्तश्चाक्रायणो यथा विब्रूयादसौ गौरसा-
वश्व इत्येवमेवैतद्व्यपदिष्टं भवति यदेव साक्षादपरो-

तब उस उपस्त चाक्रायण ने कहा (अन्य प्रकार से प्रतिज्ञा कर फिर विपरीत भाषण करना अच्छा नही) जैसे कोई (चलनादि लिङ्ग से) कहे कि यह चलने वाला बैल है और दौडने वाला घोडा

तस्याऽऽत्मा विज्ञानमयः । समानमन्यत् । योऽपानेनापानीति यो व्यानेन व्यानीतीति च्छान्दसं दैर्घ्यम् । सर्वाः कार्यकरणसंघातगताः प्राणनादिचेष्टा दारुयन्त्रस्येव येन क्रियन्ते । न हि चेतनावदनधिष्ठितस्य दारुयन्त्रस्येव प्राणनादिचेष्टा विद्यन्ते । तस्माद्विज्ञानमयेनाधिष्ठितं विलक्षणेन दारुयन्त्रवत्प्राणनादिचेष्टां प्रतिपद्यते । तस्मात्सोऽस्ति कार्यकरणसंघातविलक्षणो यश्चेष्टयति ॥१॥

स होवाचोषस्तश्चाक्रायणो यथा कश्चिदन्यथा प्रतिज्ञाय पूर्वं पुनर्विप्रतिपन्नो

प्राणनविशिष्टः क्रियत इति यावत् । कथमेतावता संदेहोऽपाकृत इत्याशङ्क्य विवक्षितमनुमानं वक्तुं व्याप्तिमाह—सर्वा इति । या खल्वचेतनप्रवृत्तिः सा चेतनाधिष्ठानपूर्विका यथा रथादिप्रवृत्तिरित्यर्थः । येन क्रियन्ते सोऽस्तीति संबन्धः । दृष्टान्तस्य साध्यवैकल्यं परिहरति—न हीति । सम्प्रत्यनुमानमारचयति—तस्मादिति । विमता चेष्टा चेतनाधिष्ठानपूर्विकाऽचेतनप्रवृत्तित्वाद्रथादिचेष्टावदित्यर्थः । प्रतिपद्यते प्राणादीति शेषः । अनुमानफलमाह—तस्मात्सोऽस्तीति । चेष्टयति कार्यकरणसंघातमिति शेषः ॥१॥

प्रश्नप्रतिवचनयोरननुरूपत्वमाशङ्कते—स होवाचेति । दृष्टान्तमेव स्पष्टयति—असावित्यादिना ।

"प्राणिति" यानी प्राणचेष्टा किया करता है अर्थात् जिससे प्राणनादि क्रियावान् होता है। वह तुम्हारा कार्यकरणसघात आत्मा बुद्धयुपाधिक है, मन्त्र मे अवशिष्ट वाक्य का अर्थ पूर्वोक्त के समान है। "योऽपानेनापानीति", "यो व्यानेन व्यानीति" अर्थात इस उक्त श्रुति वाक्य मे "अपानीति, व्यानीति" इन पदो मे दीर्घ प्रयोग छान्दस है। अर्थात् काष्ठयन्त्र के समान देहेन्द्रियसघात मे होने वाली सभी प्राणनादि क्रियाएं जिसके द्वारा की जाती है (वही तेरा आत्मा सर्वान्तर है) जैसे किसी चेतन अधिष्ठाता की प्रेरणा के बिना लकडी का यन्त्र सचालित नही हो सकता। उसी प्रकार इस स्थूल की प्राणनादि क्रियाएँ भी चेतन आत्मा के बिना नही हो सकती। इसलिए यह प्राणादि स भिन्न विज्ञानमय आत्मा से अधिष्ठित होकर काष्ठ के यन्त्र के समान प्राणनादि क्रिया करता है। इसलिए जो इससे चेष्टा करता है; वह कार्यकरणसघात से विलक्षण सर्वान्तर आत्मा है ॥ १ ॥

उस चाक्रायण उपस्त ने कहा—जैसे पहले कोई अन्य प्रतिज्ञा कर के फिर उसके विपरीत

---

१ बुद्धयुपाधिक । २ चेष्टा उक्तसघातस्येति शेष । ३ प्राणादित । ४ विप्रतिपन्न इति—प्रतिज्ञातार्थे प्रतिपत्तिविकल प्रतिज्ञापरिपालनाशक्त इति यावत् । ५ सघातचेष्टाप्रयोजकोक्तिमात्रेण । ६. परिहरतीति—परिहरन् पक्षे साध्य पर्यवसाययतीत्यर्थ । ७ तस्मादिति—अचेतनप्रवृत्तश्चेतनाधिष्ठानपूर्वकत्वनियमादित्यर्थ । ८ प्राणादिजडसघातप्रवृत्ति. । ९ तस्मादिति—कार्यकरणसघातस्य चेष्टावत्त्वोपलम्भादित्यर्थ. ।

एवमुक्तः प्रत्याह याज्ञवल्क्यः—एष ते तवाऽऽत्मा सर्वान्तरः सर्वस्याभ्यन्तरः। सर्वविशेषणोपलक्षणार्थं सर्वान्तरग्रहणम्। यत्साक्षादव्यवहितमपरोक्षादगौणं ब्रह्म बृहत्तममात्मा सर्वस्याभ्यन्तर एतैर्गुणैः समस्तैर्युक्तः। एषः कोऽसौ, तवाऽऽत्मा। योऽयं कार्यकरणसंघातस्तव येनाऽऽत्मनाऽऽत्मवान्स एष तवाऽऽत्मा। तव कार्यकरणसंघातस्येत्यर्थः। तत्र पिण्डस्तस्याभ्यन्तरे लिङ्गात्मा करणसंघातस्तृतीयो यश्च संदिह्यमानस्तेषु कतमो ममाऽऽत्मा सर्वान्तरस्त्वया विवक्षित इत्युक्त इतर आह—यः प्राणेनमुखनासिकासंचारिणा प्राणिति प्राणचेष्टां करोति येन प्राणः प्रणीयत इत्यर्थः। स ते तव कार्यकरणसंघा-

त्वमर्थं वाक्यार्थान्वययोग्यं पृष्टे तत्प्रदर्शनार्थं प्रत्युक्तिमवतारयति—एवमुक्त इति। सर्वान्तर इति विशेषोक्त्या प्रश्नस्य विशेषणान्तराणामनास्थामाशङ्क्याऽऽह—सर्वविशेषणेति। एष सर्वान्तर इति भागस्यार्थं विवृणोति—यत्साक्षादिति। एषशब्दार्थं प्रश्नपूर्वकमाह—कोऽसाविति। आत्मशब्दार्थं विवृणोति—योऽयमिति। येनेत्यत्र सशब्दो द्रष्टव्यः। षष्ठ्यर्थं स्पष्टयति—तवेति। प्रश्नान्तरमुत्थाप्य प्रतिवक्ति—तत्रेत्यादिना। सर्वान्तरस्तवाऽऽत्मेत्युक्ते सतीति यावत्। तृतीयो मातृसाक्षी प्रणीयते

करो। जिस प्रकार सींग ही सींगों को पकड़कर गौ दिखलाते हैं, उसी प्रकार स्पष्ट दिखलाओ कि यह आत्मा है, अर्थात् इस प्रकार ब्रह्मात्मा का प्रत्यक्ष दिखलाओ।

इस प्रकार कहे जाने पर याज्ञवल्क्य ने उत्तर दिया—"यह ते" यानी तुम्हारे संघात का आत्मा "सर्वान्तर" अर्थात् सब के भीतर है। 'सर्वान्तर' शब्द का ग्रहण सब विशेषण के उपलक्षण के लिए है जो साक्षात् अव्यवहित और अपरोक्ष अगौण ब्रह्म यानी बृहत्तम आत्मा सबके भीतर है,-यह इन समस्त विशेषणों से युक्त है। वह कौन है? वह तुम्हारा स्वरूप ही है। यह जो तुम्हारा प्रत्यक्ष कार्यकरण-संघात है वह जिस आत्मा के द्वारा लब्ध स्वरूप है, वह (प्रमातादि के आगम और अपाय का साक्षी) तुम्हारा आत्मा ही है यानी तुम्हारे कार्यकरणसंघात का आत्मा है। भुज्यु के यह कहने पर कि पहला तो पिण्ड है, दूसरा पिण्ड के भीतर इन्द्रियसंघातरूप लिङ्गदेह है और तीसरा जिसके विषय में सन्देह है। (इस प्रकार अनेक आत्मा होने से) इनमें से किसे मेरा सर्वान्तर आत्मा बतलाना चाहते हो? ऐसा पूछने पर याज्ञवल्क्य ने कहा—जो स्वयं अप्राण होकर मुख नासिका द्वारा संचरण करने वाले प्राण से

१ संघातस्य। २ विशेषणैः। ३ स्वरूपम्। ४ प्रत्यक्षः। ५ आत्मा—आत्मत्वेनाभिमतः। ६ लब्धस्वरूपः। ७ प्रमात्रादितदागमापायसाक्षी अत्राऽऽत्मशब्दार्थः। ८ तत्र पिण्ड इति। अत्र वार्तिके— "पिण्डान्तस्तावदात्मैको लिङ्गान्तस्तु तथा परः। बुद्धिसाक्षी तृतीयः स्यात्सोऽप्य संदिह्यते तथा" ॥ ६२ ॥ स्थूलसूक्ष्मदेहसाक्षिभेदेनानेक आत्मान इत्यर्थः पिण्डान्तः पिण्डपर्यन्तः पिण्डरूप इति यावत्। एवं लिङ्गान्तः। ९ कतम इति—यस्मादनेकात्मसंभवस्तस्मात्तेषां मध्ये कतमः साक्षादित्यादिविशेषणस्त्वया विवक्षितस्तमन्यतो निष्कृष्य गवादिवत्प्रत्यक्षतया वदेत्यर्थः। १० स्वयमप्राणः प्राणभिन्न इत्यर्थः। ११ अध्यासात्स्वयमपि प्राणनादिक्रियावानिव भवति। १२ अखण्डवाक्यमिति बोध्यम्। १३ विशेषणविशेषोक्त्या। १४ अनादरम्—अविवक्षितत्वम्। १५ इत्यत आरभ्य प्राणितीति यावत्।

स होवाचोषस्तश्चाक्रायणो यथा विब्रूयादसौ गौरसा-
वश्व इत्येवमेवैतद्व्यपदिष्टं भवति यदेव साक्षादपरो-

तब उस उषस्त चाक्रायण ने कहा (अन्य प्रकार से प्रतिज्ञा कर फिर विपरीत भाषण करना अच्छा नहीं) जैसे कोई (चलनादि लिङ्ग से) कहे कि यह चलने वाला बैल है और दौडने वाला घोडा

तस्याऽऽत्मा विज्ञानमय । समानमन्यत् । योऽपानेनापानीति यो व्यानेन व्यानीतीति च्छान्दसं दैर्घ्यम् । सर्वा कार्यकरणसंघातगता प्राणनादिचेष्टा दारुयन्त्रस्येव येन क्रियन्ते । न हि चेतनावदनधिष्ठितस्य दारुयन्त्रस्येव प्राणनादिचेष्टाविद्यन्ते । तस्माद्विज्ञानमयेनाधिष्ठितं विलक्षणेन दारुयन्त्रवत्प्राणनादिचेष्टा प्रतिपद्यते । तस्मात्सोऽस्ति कार्यकरणसंघातविलक्षणो यश्चेष्टयति ॥१॥

स होवाचोषस्तश्चाक्रायणो यथा कश्चिदन्यथा प्रतिज्ञाय पूर्वं पुनर्विप्रतिपन्नो

प्राणनविशिष्ट क्रियत इति यावत् । कथमेतावता सर्वेहोऽपाकृत इत्याशङ्क्य विवक्षितमनुमानं वक्तुं व्याप्तिमाह—सर्वा इति । या खल्वचेतनप्रवृत्तिः सा चेतनाधिष्ठानपूर्विका यथा रथादिप्रवृत्तिरित्यर्थः । येन क्रियन्ते सोऽस्तीति सम्बन्धः । दृष्टान्तस्य साध्यवैकल्यं परिहरति—न हीति । सम्प्रत्यनुमानमारचयति—तस्मादिति । विमता चेष्टा चेतनाधिष्ठानपूर्विकाऽचेतनप्रवृत्तित्वाद्रथादिचेष्टावदित्यर्थः । प्रतिपद्यते प्राणादीति शेषः । अनुमानफलमाह—तस्मात्सोऽस्तीति । चेष्टयति कार्यकरणसंघातमिति शेषः ॥१॥

प्रश्नप्रतिवचनयोरननुरूपत्वमाशङ्कते—स होवाचेति । दृष्टान्तमेव स्पष्टयति—असाविस्यादिना ।

'प्राणिति' यानी प्राणचेष्टा किया करता है अर्थात् जिसमें प्राणनादि क्रियावान् होता है। वह तुम्हारा कार्यकरणसंघात आत्मा बुद्ध्युपाधिक है मन्त्र में अवशिष्ट वाक्य का अर्थ पूर्वोक्त के समान है। "योऽपानेनापानीति", 'यो व्यानेन व्यानीति' अर्थात् इस उक्त श्रुति वाक्य में 'अपानीति' 'व्यानीति' इन पदों में दीर्घ प्रयोग छान्दस है। अर्थात् काष्ठयन्त्र के समान देहेन्द्रियसंघात में होने वाली सभी प्राणनादि क्रियाएँ जिसके द्वारा की जाती हैं (वही तेरा आत्मा सर्वान्तर है) जैसे किसी चेतन अधिष्ठाता की प्रेरणा के बिना लकडी का यन्त्र संचालित नहीं हो सकता। उसी प्रकार इस स्थूल की प्राणनादि क्रियाएँ भी चेतन आत्मा के बिना नहीं हो सकती। इसलिए यह प्राणादि से भिन्न विज्ञानमय आत्मा से अधिष्ठित होकर काष्ठ के यन्त्र के समान प्राणनादि क्रिया करता है। इसलिए जो इससे चेष्टा करता है, वह कार्यकरणसंघात से विलक्षण सर्वान्तर आत्मा है ॥ १ ॥

उस चाक्रायण उषस्त ने कहा—जैसे पहले कोई अन्य प्रतिज्ञा कर के फिर उसके विपरीत

---

१ बुद्ध्युपाधिक । २ चेष्टा उक्तसंघातस्येति शेषः । ३ प्राणादित । ४ विप्रतिपन्न इति—प्रतिज्ञातेऽर्थे प्रतिपत्तिविकल प्रतिज्ञापरिपालनाशक्त इति यावत् । ५ संघातचेष्टाप्रयोजकोक्तिमात्रेण । ६ परिहरतीति—परिहरन् पक्षे साध्यं व्यवसाययतीत्यर्थः । ७ तस्मादिति—अचेतनप्रवृत्तेश्चेतनाधिष्ठानपूर्वकत्वनियमादित्यर्थः । ८ प्राणादिजडसंघातप्रवृत्तिः । ९ तस्मादिति—कार्यकरणसंघातस्य चेष्टावत्त्वोपलम्भादित्यर्थः ।

क्षाद्ब्रह्म य आत्मा सर्वान्तरस्तं मे व्याचक्ष्वेत्येष त
आत्मा सर्वान्तरः कतमो याज्ञवल्क्य सर्वान्तरः। न
दृष्टेर्द्रष्टारं पश्येर्न श्रुतेः श्रोतारं शृणुया न
मतेर्मन्तारं मन्वीथा न विज्ञातेर्विज्ञातारं विजानीयाः।

है, ऐसे ही यह तुम्हारा भी प्राणनादि लिङ्गों द्वारा ब्रह्म का व्यपदेश है। (अत गौओं के लोभ से ब्रह्मवेत्ता होने के दावे को छोडकर) जो भी साक्षात् अपरोक्ष ब्रह्म है और जो सर्वान्तर आत्मा है, उसे मेरे प्रति स्पष्ट रूप से बतलाओ। याज्ञवल्क्य ने कहा—यह तेरा आत्मा ही सर्वान्तर्वर्ती साक्षात् अपरोक्ष ब्रह्म है। उषस्त ने कहा—हे याज्ञवल्क्य! वह सर्वान्तर कौन सा है अर्थात् घटादि के समान आत्मा को

ब्रूयादन्यथाऽसौ गौरसावश्वो यश्चलति धावतीति वा पूर्वं प्रत्यक्षं दर्शयामीति प्रतिज्ञाय [1]पश्चाच्चलनादिलिङ्गैर्व्यपदिशत्येवमेवैतद्ब्रह्म प्राणनादिलिङ्गैर्व्यपदिष्टं भवति त्वया। किं बहुना त्यक्त्वा गोतृष्णानिमित्तं [1]व्याजं यदेव साक्षादपरोक्षाद्ब्रह्म य आत्मा सर्वान्तरस्तं मे व्याचक्ष्वेति। इतर आह—यथा प्रथमं प्रतिज्ञातस्तथाऽऽत्मै[2]वलक्षण इति [3]तां प्रतिज्ञाम[4]नुवर्त एव। [5]तत्तथैव यथोक्तं मया।

प्रत्यक्षं गामश्वं वा दर्शयामीति पूर्वं प्रतिज्ञाय पश्चाद्यश्चलत्यसौ गौर्यो वा धावति सोऽश्व इति चलनादिलिङ्गैर्यथा गवादि व्यपदिशत्येवमेव ब्रह्म प्रत्यक्षं दर्शयामीति [6]मत्प्रश्नानुसारेण प्रतिज्ञाय प्राणनादिलिङ्गैस्तद्व्यपदिशतस्ते प्रतिज्ञाहानिर[7]नवधेयवचनता च स्यादित्यर्थः। प्रतिज्ञाप्रश्नाद्यनुसर्तव्यौ बुद्धिपूर्वकारिणेति फलितमाह—किं बहुनेति। प्रत्युक्तितात्पर्यमाह—यथेति। प्रतिज्ञानुवर्तनमेवा[8]भिनयति—तत्तथेति।

भाषण करे। तुम्हे प्रत्यक्ष दिखलाऊँगा—ऐसी प्रतिज्ञा करके फिर 'जो चलती है, वह गौ है, जो दौडता है, वह अश्व है' इस प्रकार चलनादि लिङ्गों से कहे—ऐसे ही इस ब्रह्म का तुम प्राणनादि लिङ्गों द्वारा व्यपदेश कर रहे हो। अधिक क्या कहा जाय, तुम गौओं की तृष्णा के कारण ब्रह्मवेत्ता होने के छल को छोडकर जो साक्षात अपरोक्ष ब्रह्म है, जो आत्मा सबके भीतर है, उसका उपदेश करो। याज्ञवल्क्य ने कहा—जिस प्रकार मैंने पहले ही प्रतिज्ञा की थी कि तुम्हारा आत्मा ऐसे लक्षणो वाला है, उस आत्मविषयक प्रतिज्ञा का मैं अभी भी कह रहा हूँ। जिस प्रकार आत्मतत्त्व मैंने पहले कहा था उसको उसी प्रकार जानना चाहिये, अन्यथाभाव से नही।

---

१ गोतृष्णानिमित्तकं छलवादमित्यर्थः। २ एवंलक्षण इति—अविषयतयैव ज्ञातुं शक्यो नान्यथेत्येवमेष आत्मा यः प्राणनेत्यादिना प्रथमं प्रतिज्ञात इत्यर्थः। ३ तां प्रतिज्ञाम्—आत्मविषयाम्। ४ अनुवर्ते—इदानीमप्यमुकद्ब्रवीमीत्यर्थः। ५ यथा मयाऽऽत्मतत्त्वं प्रथममुक्तं तत्तथैव ज्ञातव्यं नान्यथेति ब्रूते—तत्तथैवेति। ६ ननु न तथा स्वमुखेन मया प्रतिज्ञातमित्याशङ्क्याऽऽह—मत्प्रश्नानुसारेणेति। मत्प्रश्नानुरूपोत्तरप्रदानप्रवर्तनेनेति यावत् (प्रवर्तनम्—प्रवृत्ति)। ७ अश्रद्धेयवचनता। ८ व्यनक्ति।

एष त आत्मा सर्वान्तरोऽतोऽन्यदार्तं ततो होषस्तश्चाक्रायण उपरराम ॥२॥

इति बृहदारण्यकोपनिषदि तृतीयाध्यायस्य चतुर्थं ब्राह्मणम् ॥४॥

भी स्पष्ट रूप से विषय करा दो। याज्ञवल्क्य ने कहा—तुम अन्तःकरणादि के वृत्तिरूप दृष्टि के द्रष्टा को घटादि के समान नहीं देख सकते हो। वैसे ही श्रुति के श्रोता को नहीं सुन सकते। मति के मन्ता का मनन नहीं कर सकते। बुद्धिवृत्तिरूप विज्ञाति के विज्ञाता को नहीं जान सकते। तेरा यह आत्मा ही सर्वान्तर है। इससे भिन्न कार्य-करण देह नश्वर है। इसके बाद उषस्त चाक्रायण चुप हो गया॥ २॥

॥ इति चतुर्थं ब्राह्मणम् ॥

यत्पुनरुक्तं त्वमात्मानं घटादिव[1]द्विषयी कुर्विति [2]तदशक्यत्वान्न क्रियते। कस्मात्पुनस्तदशक्यमिति। आह। वस्तुस्वाभाव्यात्। किं पुन[3]स्तद्वस्तुस्वाभाव्यम्। [4]दृष्ट्यादिद्रष्टृत्वम्। [5]दृष्टेर्द्रष्टा [6]ह्यात्मा[7]। दृष्टिरिति द्विविधा भवति लौकिकी पारमार्थिकी चेति।

कतमो याज्ञवल्क्येत्यादिप्रश्नस्य [1]तात्पर्यमाह—यत्पुनरिति। न दृष्टेरित्यादिवाक्यस्य तात्पर्यं यदनुत्तरमाह—[2]तदशक्यत्वादिति। आत्मनो वस्तुत्वाद्घटादिवद्विषयीकरणं नाशक्यमिति शङ्कते—कस्मादिति। वस्तुस्वरूपमनुसृत्य परिहरति—आहेति। घटादेरपि [3]तर्हि वस्तुस्वाभाव्यात्मा मूद्विषयीकरणमिति मन्वानः शङ्कते—किं पुनरिति। दृष्ट्यादिसाक्षित्वं वस्तुस्वाभाव्यं [4]ततश्चाविषयत्वं न चैवं वस्तुस्वाभाव्यं घटादेरस्तीत्युत्तरमाह—दृष्ट्यादीति। दृष्ट्यादिसाक्षिणोऽपि दृष्टिविषयत्वं किं न स्यादित्याशङ्क्याऽऽह—दृष्टेरिति। यथा प्रदीपो [5]लौकिकज्ञानेन प्रकाश्यो न स्वप्रकाशकं ज्ञानं प्रकाशयति तथा दृष्टिसाक्षी दृष्ट्या न प्रकाश्यत इत्यर्थः। दृष्टेर्द्रष्टैव नास्तीति सौगतास्तान्प्रत्याह—

जो यह कहा कि इस आत्मा का घटादि के समान प्रत्यक्ष दर्शन करा दो। ऐसा असम्भव होने के कारण नहीं कराया जा सकता। ऐसा होना असम्भव क्यों है—इस पर कहते हैं। वस्तु का स्वभाव ही ऐसा होने के कारण वह असम्भव है। उस वस्तु का घटादि से विलक्षण क्या स्वभाव है? वह दृष्ट्यादि का साक्षी है क्योंकि दृष्टि का द्रष्टा होने के कारण स्वभाव का विपरिलोप सम्भव नहीं है।

---

१. प्रत्यक्षेण दर्शयेत्यर्थः। २. तदात्मतत्त्वं न प्रत्यक्षेण प्रदर्श्यते तथा निर्देष्टुमशक्यत्वादित्याह—तदशक्यत्वादिति। तदुक्तं वार्तिके—"उक्तवर्त्मातिरेकेण नाऽऽत्मवस्तुघटादिवत्। शक्यते प्रतिनिर्देष्टुं प्रमाणागोचरत्वतः" ॥ ७६ ॥ इति। उक्तं वर्त्म आत्मनः प्रत्यक्त्वेनाविषयतया ज्ञानं तदतिरेकेणाऽऽत्मवस्तुविषयतया वक्तुमशक्यमित्यत्र हेतुमाह—प्रमाणेति। ३. घटादितो वैलक्षण्यमिति यावत्। ४. दृष्ट्यादिद्रष्टृत्वमिति। आदिना द्रष्टृदृश्ययोर्ग्रहः। तदुक्तं वार्तिके—"द्रष्टृदर्शनदृश्यानां सहतानां परस्परम्। साक्षित्वमात्मनो नित्यं वस्तुस्वाभाव्यमुच्यते" ॥ ८३ ॥ इति। ५. साक्षित्वम्। ६. स्वभावविपरिलोपासम्भवो हिशब्दार्थः। ७. प्रश्नस्याप्येवमेव पूर्वमुक्तत्वादिति भावः। ८. तत्—आत्मनो विषयतया प्रदर्शनम्। ९. वस्तुस्वरूपाश्रमणे न विषयत्वाभावे। १०. आत्मनो दृष्ट्यादिसाक्षित्वादेव। ११. चाक्षुषेणेति यावत्।

तत्र लौकिकी [1]चक्षुःसंयुक्तान्तःकरणवृत्तिः। [2]सा क्रियत इति जायते विनश्यति च। या त्वात्मनो [3]दृष्टिरग्न्युष्णप्रकाशादिवत्सा च द्रष्टुः स्वरूपत्वान्न जायते न विनश्यति च। [4]सा [5]क्रियमाणयोपाधिभूतया संसृष्टेवेति व्यपदिश्यते द्रष्टेति। [6]भेदवच्च द्रष्टा दृष्टिरिति च। याऽसौ लौकिकी दृष्टिश्चक्षुर्द्वारा रूपोपरक्ता जायमानैव नित्ययाऽऽत्मदृष्ट्या संसृष्टेव [7]तत्प्रतिच्छाया तया व्याप्तेव जायते तथा विनश्यति च [8]तेनोपचर्यते द्रष्टा सदा पश्यन्नपि, पश्यति न पश्यति चेति। न तु पुनर्द्रष्टुर्दृष्टे कदाचिदप्य[9]न्यथात्वम्। तथा च वक्ष्यति षष्ठे—[10]"ध्यायतीव लेलायतीव। [11]"न हि द्रष्टुर्दृष्टेर्विपरिलोपो विद्यत इति च।

दृष्टिरितीति। लौकिकीं व्याचष्टे—तत्रेति। पारमार्थिकीं दृष्टिं व्याकरोति—या त्विति। नन्वात्मा नित्यदृष्टिस्वभावश्चेत्कथं द्रष्टेत्याविष्यपदेश सिध्यति तत्राऽऽह—सा क्रियमाणयेति। साक्षबुद्धितद्वृत्तिगतं "कर्तृत्वं "क्रियात्वं चाऽऽध्यामिकं नित्यदृष्टूपे व्यवह्रियत इत्यर्थः। आत्मनो नित्यदृष्टिस्वभावत्वे कथं पश्यति न पश्यति चेति कादाचित्को व्यवहार इत्याशङ्क्याऽऽह—याऽसाविति। या बहुविशेषणा लौकिकी दृष्टिरसौ तत्प्रतिच्छायेति सबन्ध। तया च सा तत्प्रति"च्छाया तया व्याप्तेवेति यावत्। किमित्यौपचारिको व्यपदेशो मुख्यस्तु किं न स्यादित्याशङ्क्याऽऽह—न त्विति। द्रष्टेर्वस्तुतो न विक्रियावत्त्वमित्यत्र वाक्यशेषमनुकूलयति—तथा चेति।

दृष्टि दो प्रकार की होती है, लौकिक और पारमार्थिकी। चक्षु आदि इन्द्रिय में रूपादि विषयाकार साभास बुद्धि परिणाम ही उनमें लौकिकी दृष्टि है। विक्रियमाण स्वभाव होने के कारण उसकी जन्म और नाश से अभिसङ्गति होती है। एवं आत्मा की स्वरूपभूता दृष्टि है वह अग्नि के उष्णत्व और प्रकाशादि के समान द्रष्टा का स्वरूप होने के कारण जन्म और नाश की अभिसङ्गति से रहित है। वह स्वरूप दृष्टि जन्या उपाधिभूत दृष्टि के द्वारा संसृष्ट ही है, इसलिए द्रष्टा कहलाता है। तथा द्रष्टा और दृष्टि ऐसा भिन्नत्वरूप से व्यवहार होता है। एवं जो लौकिक दृष्टि है वह चक्षु के द्वारा रूप से संश्लिष्ट के समान उत्पन्न होकर ही नित्या आत्मदृष्टि के द्वारा उसकी दृक्प्रतिबिम्बा संसृष्टा है, उससे व्याप्त होकर उत्पत्ति और विनाश को प्राप्त होती है। स्वोपाधिभूत अनित्य दृष्टि योग के वियोग से ऐसा उपचार होता है कि द्रष्टा सदा देखते हुए भी नहीं देखता और देखता भी है। किन्तु द्रष्टा की दृष्टि में कभी विकृति नहीं होती। ऐसा छठे (उपनिषत् के चौथे) अध्याय में भी कहेंगे। "वही बुद्धिवृत्ति के अनुसार चिन्तन करता हुआ सा और प्राणवृत्ति के अनुसार चेष्टा करता हुआ सा जान पड़ता है", (वह जो सुषुप्ति में नहीं देखता है निःसन्देह उस अवस्था में देखता हुआ भी नहीं देखता है) क्योंकि द्रष्टा की दृष्टि कभी लोप नहीं होती।"

१ साभासबुद्धिपरिणामश्चक्षुरादिकरणको रूपादिविषयो लौकिकी दृष्टिः। २ तस्याश्च क्रियमाणत्वाज्जन्मनाशाभिसङ्गतिरित्यर्थः। ३ स्वरूपभूता। ४ स्वरूपदृष्टिः। ५ जन्यया। ६ दृष्ट्या। ७ भिन्नत्वेनेति यावत्। ८ दृक्प्रतिबिम्बा बहुव्रीहिः। ९ स्वोपाधिभूतानित्यदृष्टियोगवियोगेनेति यावत्। १० विक्रियावत्त्वम्। ११ बृ० उ० ४।३।७। १२ बृ० उ० ४।३।२३। १३ द्रष्टृत्वादि। १४ दृष्टित्वादि। १५ तत्पुरुष।

[1]तमिममर्थमाह—लौकिक्या [2]दृष्टेः [3]कर्मभूताया द्रष्टारं [4]स्वकीयया नित्यया दृष्ट्या [5]व्याप्तारं न [6]पश्येः । याऽसौ लौकिकी दृष्टिः कर्मभूता सा रूपोपरक्ता रूपाभिव्यञ्जिका नाऽऽत्मानं स्वात्मनो व्याप्तारं प्रत्यञ्च [7]व्याप्नोति । तस्मात्तं प्रत्यगात्मानं दृष्टेर्द्रष्टारं न न पश्येः । तथा [8]श्रुतेः श्रोतार न शृणुयाः । तथा मतेर्मनोवृत्तेः केवलाया व्याप्तारं न मन्वीयाः । तथा विज्ञातेः केवलाया बुद्धिवृत्तेर्व्याप्तारं न विजानीयाः । [9]एष वस्तुनः स्वभावोऽतो[10] नैव दर्शयितुं शक्यते गवादिवत् ।

न दृष्टेर्द्रष्टारमित्य[11]त्राक्षराण्यन्यथा व्याचक्षते केचित् । ❀न दृष्टेर्द्रष्टारं दृष्टेः

[1]उक्तेऽर्थे न दृष्टेरित्यादिश्रुतिमवतार्य व्याचष्टे—तमिममित्यादिना । [2]उक्तमेव प्रपञ्चयति—याऽसाविति । न दृष्टेरित्यादिवाक्यार्थं निगमयति—[3]तस्मादिति । उक्तन्यायमुत्तरवाक्येष्वतिदिशति—तथेति । उक्त वस्तुस्वाभाव्यमुपसंहृत्य फलितमाह—एष इति ।

न दृष्टेरित्यत्र स्वपक्षमुक्त्वा भर्तृप्रपञ्चपक्षमाह—न दृष्टेरिति । कथमक्षराणामन्यथा

इस प्रकार उपपादित इस सनिकृष्ट अर्थ को याज्ञवल्क्य कहता है । "दृष्टे " यानी विषयभूता अनित्या लौकिकी दर्शनवृत्ति के "द्रष्टारम्" यानी स्वरूपभूत नित्य दृष्टि के द्वारा प्रकाशयिता को तुम देख नही सकते । यह जो उसकी विषयभूता लौकिक दृष्टि है, वह रूप से सश्लिष्ट एव रूप की अभिव्यञ्जिका है, वह अपने को प्रकाशित करने वाले प्रत्यगात्मा को प्रकाशित नही कर सकती । इसलिये उस दृष्टि के प्रकाशयिता प्रत्यगात्मा को तुम नही देख सकते । इसी श्रोत्रसयुक्त अन्त करणवृत्ति के श्रोता को तुम नही सुन सकते एव "मते " यानी केवल मनोवृत्ति को प्रकाशित करने वाले का मनन नही कर सकते । एव "विज्ञाते " अर्थात् केवल बुद्धिवृत्ति के व्याप्त करने वाले विज्ञाता को नहीं जान सकते । यह वस्तु का दृष्ट्यादिसाक्षिस्वरूप स्वभाव प्रदर्शित किया गया । उक्त स्वभाव होने के कारण उसे गौ आदि के समान प्रत्यक्ष दिखाया नही जा सकता ।

"द्रष्टा की दृष्टि का कभी लोप नही होता' इस श्रुतिवाक्य मे श्रुतिमन्त्र के अक्षरो की कुछ

१ उपपादित सनिकृष्टमर्थम् । २ अनित्याया दर्शनवृत्ते । ३ विषयभूताया । ४ स्वरूपभूतया । ५ प्रकाशयितारम् । ६ विषयीकुर्याः । ७ प्रकाशयतीति यावत् । ८ श्रोत्रसयुक्तान्त करणवृत्ते । ९ प्रदर्शितो दृष्ट्यादिसाक्षिस्वरूप । १० उक्तस्वाभाव्यात् । ११ वाक्ये । १२ दृष्ट्यादिद्रष्टृत्वमित्यादिना भाष्येणोक्तेऽर्थे । १३ अथम् । १४ आत्मनो निरुक्तदृष्टिविषयत्वाभावात् ।

❀न दृष्टेर्द्रष्टारमित्यारभ्यात्मस्वरूपनिर्धारणायेत्यन्तभाष्यतात्पर्याविष्करणपराणि वार्तिकान्युपन्यस्यन्ते । तथाहि—'दृष्टिभेदमकृत्वैव दृष्टेरित्यादिका श्रुतिम् । केचिद्व्याचक्षते धीरा प्रसादाज्जातवेदस " ॥ १६७ ॥ न दृष्टेरित्यादि भाष्यानुसारेण व्याख्याय भर्तृप्रपञ्चव्याख्यामनुवदति—दृष्टीति ॥ "दृष्टे कर्तारमात्मान न पश्ये क्रियमाणया । दृष्ट्या रूपानुपातिन्या न क्रिया कर्तृकर्मिका ' ॥ १६८ ॥ कथ तद्व्याख्येत्याशङ्क्य नेत्यादिश्रुत्यक्षरार्थं तदिष्टमाह—दृष्टेरिति । दृष्टिर्हि चक्षुर्द्वारा जाता धीवृत्ती रूप गोचरयति तया दृष्ट्या न शक्यो विषयीकर्तुमिति हेतुमाह—रूपेति । किच न सा त विषयी करोति तत्क्रियात्वाद्गतिरिव गन्तारमित्याह—नेति ॥ "दृष्टेरिति च षष्ठीय क्रियमाणत्वहेतुत । कर्मण्येव तु विज्ञेया नासावर्थान्तरे मत " ॥ १६९ ॥ एव व्याकुर्व-

कर्तारं दृष्टिभेदमकृत्वा 'दृष्टिमात्रस्य कर्तारं 'न पश्येरिति। दृष्टेरिति कर्मणि षष्ठी। सा दृष्टिः 'क्रियमाणा घटवत्कर्म भवति। द्रष्टारमिति तृजन्तेन द्रष्टुर्दृष्टिकर्तृत्वमाचष्टे। 'तेनासौ दृष्टेर्द्रष्टा दृष्टेः कर्तेति व्याख्यातॄणामभिप्रायः।

व्याख्येत्याशङ्क्य तदिष्टमक्षरार्थमाह—दृष्टेरिति। इतिशब्दो व्याचक्षत इत्यनेन सबध्यते। एवं व्याकुर्वतामभिप्रायमाह—दृष्टेरितीति। कर्मणि षष्ठीमेव स्फुटयति—सा दृष्टिरिति। षष्ठीं व्याख्याय 'द्वितीयां व्याचष्टे—द्रष्टारमितीति। पदार्थमुक्त्वा वाक्यार्थमाह—तेनेति।

दार्शनिक दूसरी प्रकार से व्याख्या करते हैं। "दृष्टेर्द्रष्टारम्" अर्थात दृष्टि के कर्ता आत्मा को नहीं देख सकते अर्थात बिना दृष्टिभेद किये दर्शनक्रियामात्र के कर्ता को तुम नहीं देख सकते। मन्त्र के "दृष्टे" पद मे कर्म मे षष्ठी प्रयुक्त की गयी है। वह दृष्टि क्रियमाणत्व हेतु से घट के समान कर्म है और "द्रष्टारम्" इस पद के 'तृच्' प्रत्ययान्त होने से द्रष्टा का दृष्टिकर्तृत्व होना बतलाया गया है। उक्त व्यवस्था के करने से दृष्टि का द्रष्टा यह, दृष्टि का कर्ता है—ऐसा उन व्याख्याकार दार्शनिको का अभिप्राय है।

१ लौकिकत्वादिना दर्शनक्रियाया। २ न पश्येरिति—"दृष्टे कर्तारमात्मान पश्ये क्रियमाणया। दृष्ट्या रूपानुपातिन्या न क्रिया कर्तृकर्मिका" ॥ १६८ ॥ इति वार्तिकोक्त। दृष्टिर्हि चक्षुर्द्वारा जाता धीवृत्ती रूप गोचरयति तया दृष्ट्या द्रष्टा न शक्यो विषयीकर्तुमिति हेतुमाह—रूपति। किं च न सा [illegible] विषयी करोति तत् क्रियात्वाद्गतिरिव गन्तारमित्याह—नेति। ३ क्रियमाणेति—'दृष्टेरिति च षष्ठीय क्रियमाणत्वहेतुत। कर्मण्येव तु विज्ञेया नासावर्थान्तरे यत" ॥ १६९ ॥ इति वार्तिकात्क्ते। कर्मण्यव षष्ठीत्यत्र दृष्टेरात्मना निष्पाद्यत्व हेतुमाह—क्रियमाणत्वनि। सकर्मिकायां क्रियाया कर्मणोऽन्तरङ्गत्व गमयितु तुशब्द। एवकारार्थमाह—नासाविति। क्रियमाणाया दृष्टे शेषरूपस्यार्थान्तरस्य बहिरङ्गत्वादित्याह—यत इति। ४ तेन—उक्तव्यवस्थाकरणेन असावात्मा। ५ द्वितीयान्तम्।

सामभिप्रायमाह—दृष्टेरिति चेति। कर्मण्येव षष्ठीत्यत्र दृष्टेरात्मना निष्पाद्यत्व हेतुमाह—क्रियमाणत्वेति। सकर्मिकाया क्रियाया कर्मणोऽन्तरङ्गत्व गमयितु तुशब्द। एवकारार्थमाह—नेति। क्रियमाणया दृष्टे शेषरूपस्यार्थान्तरस्य बहिरङ्गत्वादित्याह—यत इति ॥ "दृष्टिकर्तृत्वमाचष्टे तृजन्तेन तथाऽऽत्मन। यतोऽत्र कर्मदृष्ट्या [illegible] द्रष्टार नानुपश्यति" ॥ १७० ॥ षष्ठीं व्याख्याय द्वितीयां व्याचष्टे—दृष्टीति। उक्त षष्ठ्यर्थं दृष्टान्तयितु तथेत्युक्तम्। अस्तु कर्मदृष्टिद्रष्टा च कर्ता किं तता जात तदाह—यत इति ॥ "कर्मेप्सिततम रूप दृष्टे कार्यत्वहेतुत। चक्षुर्मनो वा बुद्धिर्वा कर्तु करणमिष्यत ॥ १७१ ॥ कर्मत्व दृष्टे स्पष्टयति—कर्मेति। यथाऽऽहुर्दृष्टि क्रिया तस्या यद्रूप तत्कर्म तदीप्सिततममिति। आत्मन सा कर्म चेत्कि करणमित्युक्ते चक्षुर्मनो बुद्धिरिति करणानीति तद्भाष्यमनुसृत्याऽऽह—चक्षुरिति ॥ 'विज्ञानात्मा [illegible] कर्ताऽत्र स्वात स्यात्सर्वकर्मसु। फल रूपोपलब्धिश्च कर्तुर्दृष्ट्यवमानजम्' ॥ १७२ ॥ जीव परो वा द्रष्टेति सदिहान प्रत्याह—विज्ञानेति। दृष्टि सप्तम्यर्थं। तत्र हेतु—स्वातन्त्र्यादिति। कारकान्तराप्रयोज्यस्य तत्प्रयोक्तृत्व स्वातन्त्र्य तदस्ति जीवस्य सर्वासु क्रियास्विति युक्ता दृष्टिकर्तृतेत्यर्थं। विज्ञानात्मनिर्वृत्ताया दृष्टिक्रियाया फल रूपोपलब्धिरिति तदुक्त्या तद्दृष्टिफलमाह—फलमिति ॥ 'साधनत्वेन कर्ताऽत्र दृष्टावर्वमिति गत। क्रियासिद्ध्युत्तरे काल फल कस्यापि चेष्यते" ॥ १७३ ॥ इत्थं व्यवस्थाया द्रष्टुर्दृग्विषयत्व स्पष्टीकर्तु कर्तृतया गुणत्वन दृष्टो पर्यवसानमाचष्टे—साधनत्वेनेति। उक्त हि क्रियासाधनत्वेन विनियुक्त इति। क्रियायां कर्तृत्वेन गुणत्वमुक्त्वा फलित्वेन

[1]तत्र दृष्टेरिति षष्ठ्यन्तेन दृष्टिग्रहणं निरर्थकमिति दोषं न पश्यन्ति । पश्यतां वा पुनरुक्तमसारं प्रमादपाठ इति वा नाऽऽदरः[2] । कथं पुनराधिक्यं[3] तृजन्तेनैव दृष्टिकर्तृ-

उक्तां परकीयव्याख्यां दूषयति—तत्रेति । दृष्टिकर्तृत्वविवक्षायां [4]तृजन्तेनैव तत्सिद्धेः [5]षष्ठी निरर्थिकेत्यर्थः । कथं पुनर्व्याख्यातारो यथोक्तं दोषं न पश्यन्ति तत्राऽऽह—पश्यतां वेति । षष्ठ्यानैरर्थक्यं प्रागुक्तमाकाङ्क्षाद्वारा समर्थयते—कथमित्यादिना । [6]क्रियत्तर्हीहार्थवदित्याशङ्क्याऽऽह—तदेति ।

अपनी व्याख्या इस प्रकार करने मे "दृष्टे" इस पद मे षष्ठ्यन्त दृष्टिग्रहण निरर्थक हो जाता है, वे ऐसा दोष नही देखते है । यदि देखते भी होंगे तो यह पुनरुक्ति है, निरर्थक है, प्रमाद से ऐसा पाठ है—इस प्रकार मानकर उक्त दोषदर्शन का आदर नही करते । "दृष्टे" मे षष्ठी फिर क्यो

१. स्वकीयव्याख्यायाम् । २ उक्तदोषावज्ञणे । ३ दृष्टेरिति षष्ठ्या । ४ द्रष्टारमित्यनेन । ५ दृष्टेरिति । ६ पदम् ।

प्राधान्यमाह—क्रियेति । उक्तं हि—क्रियासिद्ध्युत्तरकालं फलं कस्यापि भविष्यतीति ॥ "स्वामिनो यदि वाऽन्यस्य कर्म प्रत्येव च क्रिया । कर्म दर्शयितव्यं स्याद्दृष्ट्या द्रष्टा न दृश्यते" ॥ १७४ ॥ किंशब्दार्थं प्रकटयति—स्वामिन इति । स्वामी जीवोऽन्यस्तदुपाधिर्माता भाभासबुद्ध्याख्यस्तयोरन्यतरस्य रूपाद्युपलब्धिः फलमित्यर्थः । फलवत्क्रियाऽपि रूपस्याऽऽत्मनो वेति विकल्प्यतामित्याशङ्क्याऽऽह—कर्मेति । क्रिया हीप्सिततमं कर्म प्रत्यभिमुखीभूतेत्युक्तत्वाज्ज्ञानं संवेदनफलकं क्रिया सा रूपादिविषया नाऽऽत्मविषयेत्यर्थः । तदेव स्फोरयति—कर्मेति । यथाऽऽहुस्तद्दर्शयितव्यं न करोतीति ॥ "तत्रैव सति तं दृष्टेर्द्रष्टारं कर्मभूतया । दृष्ट्या पश्येः स्वमात्मानं न कथंचन कर्तृं त" ॥ १७५ ॥ उक्तरीत्या स्थिते विभागे फलितमुपसंहरति—तत्रेति ॥ "व्याख्यानमेतन्महतां न साधु प्रतिभाति न । न्यायाक्षरानुपात्तत्वाद्यथा तदभिधीयते" ॥ १७६ ॥ उक्तां परव्याख्यां प्रत्याख्यातुं प्रक्रमते—व्याख्यानमिति ॥ "यथाप्रश्नमिव तावत्प्रयुक्तिर्नोपपद्यते । यतो द्रष्टर्यसंभाव्यं कृत्स्नं प्रश्नविशेषणम्" ॥ १७७ ॥ तत्र श्रुत्यक्षरानुपात्तत्वमुपपादयति—यथेति । दृष्टिकर्तारमधिकृत्य प्रवृत्ता न दृष्टेरित्यादिप्रयुक्तिर्यत्साक्षादित्यादिप्रश्नानुसारिणी नेत्यत्र हेतुमाह—यत इति ॥ "साक्षादित्यादिकं यस्मान्न मनागपि युज्यते । विशेषणं यथोक्तं तत्कारके दृष्टिकारिणी ॥ १७८ ॥ प्रश्नवाक्यस्थविशेषणजातस्य दृष्टिकर्तरि कथमसंभवस्तत्राऽऽह—साक्षादित्यादिकमिति । यथोक्तं सर्वान्तरत्वं तस्मान्न प्रश्नानुसारि परमते प्रतिवचनमिति शेषः ॥ "क्षेत्रज्ञपरमात्मानौ नापि प्रश्ने विवक्षितौ । एकार्थयोगाद्वाक्यस्य नैकोक्तौ स्याद्द्वयार्थता" ॥ १७९ ॥ ननु प्रश्ने परापरौ विवक्षितौ तत्र यथायोगं विशेषणोपपत्तिस्तत्राऽऽह—क्षेत्रज्ञेति । तत्र हेतुः—एकार्थेति । अर्थैकत्वादेकं वाक्यमिति न्यायादित्यर्थः ॥ 'न चेप्सिततमत्वं स्याद्द्रष्टुर्दृष्टेरसंभवात् । द्रष्टव्यं तस्य द्रष्टुश्च न च द्रष्ट्रन्तरं तथा" ॥ १८० ॥ यत्तु दृष्टेरिति षष्ठी कर्मणीत्यङ्गीकृत्य क्रियमाणत्वेन कर्मत्वं दृष्टेरादिष्टं तन्निराकुर्वन्परव्याख्याया न्यायानुपात्तत्वमाह—न चेति । द्रष्टुरिव दृष्टेरपि न कर्मत्वं दृष्टिविषयदृष्टेरसंभवादित्यर्थः । दृष्टान्तं साधयति—द्रष्टुश्चेति । तथेति दार्ष्टान्तिकोक्तिः ॥ "तदभ्युपगमे च स्यादनवस्थाऽनिवारणा । दृष्ट्यन्तरेण सव्याप्तिर्नातो दृष्टेः कथंचन" ॥ १८१ ॥ उभयत्र दृष्टिद्रष्ट्रन्तराभ्युपगमे को दोषस्तत्राऽऽह—तदिति । तस्या मूलक्षयकरीत्वेन दूषणत्वं प्रकटयितुमनिवारणेति विशेषणं तत्फलमाह—दृष्ट्यन्तरेणेति । द्रष्ट्रन्तरेणेत्यपि द्रष्टव्यं दृष्टेरित्यपि द्रष्टुरुपलक्षणम् ॥ "तथा द्रष्टृगृहीत्यैव कामिताथसमाप्तितः । निरर्थकमिदं च स्याद्दृष्टेरिति यदुच्यते" ॥ १८२ ॥ यत्तु दृष्टिकर्तृत्वमित्यादि तन्निगाह—तथेति । यथा दृष्टेरिति षष्ठी न कर्मणीत्युक्तं तथा द्रष्टर्यपि कर्तरि न संभव-

ह्यात्मनो नित्यत्वमुपपद्यते विक्रियाभावे विक्रियावन्न नित्यमिति च विप्रतिषिद्धम् । "ध्यायतीव लेलायतीव" "न हि द्रष्टुर्दृष्टेर्विपरिलोपो विद्यते" "एष नित्यो महिमा ब्राह्मणस्य" इति च श्रुत्यक्षराण्यन्यथा न गच्छन्ति ।

ननु द्रष्टा श्रोता मन्ता विज्ञातेत्येवमादीन्यप्यक्षराण्यात्मनोऽविक्रियत्वे न गच्छन्तीति । न । यथाप्राप्तलौकिकवाक्यानुवादित्वात्तेषाम् । नाऽऽत्मतत्त्वनिर्धारणार्थानि तानि । न दृष्टेर्द्रष्टारमित्येवमादीनामन्यार्थासंभवाद्यथोक्तार्थपरत्वमवगम्यते । तस्मादनबोधादेव हि विशेषणं परित्यक्तं दृष्टेरिति । एष ते तवाऽऽत्मा सर्वरुक्तैर्विशेषणैर्विशिष्टः ।

वच्चेति । इतश्चाऽऽत्मनो नास्ति विक्रियावत्त्वमित्याह—ध्यायतीवेति । अन्यथा विक्रियावत्त्वे सतीति यावत् ।

अविक्रियत्वेऽपि" श्रुत्यक्षराण्यनुपपन्नानीति शङ्कते—नन्विति । न "तेषां विरोधो "दृष्टदृष्ट्यादिकर्तृत्वमनुसृत्य प्रवृत्ते लौकिके वाक्ये तदर्थानुवादित्वादुक्तश्रुत्यक्षराणां स्वार्थे प्रामाण्याभावाविति परिहरति—नेत्यादिना । न दृष्टेरित्यादीन्यपि "तर्हि श्रुत्यक्षराणि न स्वार्थे प्रमाणानीत्याशङ्क्याऽऽह—न दृष्टेरिति । अन्योऽर्थो दृष्ट्यादिकर्ता । यथोक्तोऽर्थो दृष्ट्यादिसाक्षी । द्रष्टृपदस्य साक्षिविषयत्वे सिद्धे दृष्टेरिति साक्ष्यसमर्पणा"त्तदर्थवत्त्वोपपत्तिरित्युपसंहरति—तस्मादिति । पक्षान्तरं निराकृत्य स्वपक्षमुपपाद्यानन्तर वाक्यं विभजते—एष इति । अन्यदार्तमिति विशेषण"सामर्थ्य-

---

विक्रियारहित आत्मा की सिद्धि हो जाती है और विकारशील वस्तु नित्य हो—ऐसा होना परस्पर विप्रतिषिद्ध है । वही बुद्धिवृत्ति के अनुसार चिन्तन करता हुआ सा और प्राणवृत्ति के अनुसार चेष्टा करता हुआ सा जान पडता है" , "(वह जो सुषुप्ति मे नही देखता है, निःसन्देह उस अवस्था मे देखता हुआ भी नही देखता है) क्योकि द्रष्टा की दृष्टि का कभी लोप नही होता", "नेति नेति" इत्यादि श्रुतिवाक्य द्वारा लक्षित यह ब्रह्मदर्शी की नित्य महिमा है" इस प्रकार श्रुति के अक्षर स्वार्थ मे प्रामाण्य नही प्राप्त करते ।

यदि कहो कि आत्मा के विकाररहित होने पर तो द्रष्टा श्रोता, मन्ता, विज्ञाता इत्यादि शब्दो की कोई उपपत्ति नही हो सकती, तो ऐसा कहना ठीक नही है क्योकि वे तो यथाप्राप्त लौकिक वाक्यो का अनुवाद करने वाले हैं, वे आत्मतत्त्व का निर्धारण के लिए नही हैं । "न दृष्टेर्द्रष्टार पश्येः" (तुम दृष्टि के द्रष्टा को नहीं देख सकते) इत्यादि श्रुतियो का अन्य अर्थ संभव न होने के कारण उनका पूर्वोक्त अर्थ मे ही तात्पर्यबोध होता है । इसलिए (उक्तरीति से "दृष्टेः" इस पद के सार्थक सिद्ध होने से) अन्य व्याख्याता दार्शनिको ने बिना सोचे समझे ही "दृष्टेः" इस पद का परित्याग किया है। तुम्हारा यह सघात आत्मा पूर्वोक्त सर्वान्तर आदि सभी विशेषणो से विशिष्ट है । इसलिए इस आत्मा

---

१ बृ० उ० ४।३।७। २ बृ० उ० ४।३।२३। ३. बृ० उ० ४।४।२३। ४. स्वार्थे प्रामाण्य न लभन्त इत्यर्थः। ५ नोपपद्यन्त । ६. तस्मात्—उक्तरीत्या दृष्टेरितिपदस्यार्थवत्त्वोपपादनात् । ७. सघातस्य । ८ सर्वविशेषणोपलक्षणार्थं सर्वान्तरग्रहणमित्यभिप्रेत्याह—सर्वैरिति । ९. श्रुत्यन्तरानुपपत्तेश्च । १०. आत्मन । ११ श्रुत्यक्षराणाम् । १२. अविचारितसमिद्धम् । १३. तेषां स्वार्थे प्रामाण्याभावे । १४ दृष्टेरितिपदस्य । १५. सामर्थ्यमनुपपत्ति ।

अत एतस्मादात्मनोऽन्यदार्तं कार्यं वा शरीरं करणात्मकं वा लिङ्गम्। 'एतदेवैकमनार्तम-विनाशि कूटस्थम्। 'ततो होपस्तश्चाक्रायण 'उपरराम ॥ २ ॥

इति बृहदारण्यकोपनिषद्भाष्ये तृतीयाध्याये
चतुर्थं ब्राह्मणम् ॥ ४ ॥

अथ तृतीयाध्यायस्य पञ्चमं ब्राह्मणम्।

'बन्धनं सप्रयोजकमुक्तम्। 'यश्च बद्धस्तस्याप्यस्तित्वमधिगतं व्यतिरिक्तत्वं च। 'तस्येदानीं बन्धमोक्षसाधनं ससंन्यासमात्मज्ञानं वक्तव्यमिति 'कहोलप्रश्न 'आरभ्यते—

सिद्धमर्थमाह—एतदेवेति ॥२॥

इति बृहदारण्यकोपनिषद्भाष्यटीकायां तृतीयाध्याये
चतुर्थमुषस्तब्राह्मणम् ॥४॥

ब्राह्मणत्रयार्थं संगतिं वक्तु''मनुवदति—बन्धनमिति। चतुर्थब्राह्मणार्थं संक्षिपति—यश्चेति। ''उत्तरब्राह्मणतात्पर्यमाह—तस्येति। उपस्तप्रश्नानन्तर्यमथशब्दार्थः। पूर्ववदित्यभिमुखीकरणार्थं सबो-

से भिन्न विनाशी कार्य शरीर अथवा करणात्मक लिङ्गदेह है। यह आत्मतत्त्व ही एक, विनाशरहित स्वभाव वाला, अविनाशी एवं कूटस्थ है। अपने प्रश्न के निर्णय से चाक्रायण उषस्त चुप हो गया ॥२॥

इस प्रकार बृहदारण्यकोपनिषत् शाङ्करभाष्य मे तृतीयाध्याय चतुर्थ
ब्राह्मण का हिन्दीभाषानुवाद पूर्ण हुआ ॥ ४ ॥

प्रयोजनसहित बन्धन का निरूपण कर दिया गया। जो बद्ध है, उसका अस्तित्व तथा भिन्नत्व भी अवगत हो गया। अब उस मुमुक्षु के बन्धन से मुक्त होने के साधनस्वरूप सन्याससहित आत्मज्ञान का प्रतिपादन करना है, इसलिये (पञ्चम ब्राह्मण मे कहोल का प्रश्न आरम्भ किया जाता है।

१ विनाशि। २ आत्मतत्त्वम्। ३ स्वीयप्रश्ननिर्णयात्। ४ मनसाप्यचिन्तनीयपराजयोऽयमित्यभि-प्रायेणेति द्रष्टव्यम्। ५ बन्धनत्रयेण कर्मादिरूपप्रयोजकसहित ससार उक्त इत्यथ। ६ यश्चेति—चतुर्थब्राह्मणेन कूटस्थबोध प्रत्यगात्मा मुमुक्षुर्निश्चित इत्यर्थ। ७ मुमुक्षो। ८ सहेतुबन्धध्वसि ससन्यास सम्यग्ज्ञान वक्तु पञ्चम ब्राह्मणमित्यर्थ। ९ आरभ्यत इति। ननु सम्यग्ज्ञानमेव वाच्य तस्याज्ञानध्वसित्वान्न सन्यासस्तस्य ज्ञानात्प्रागूर्ध्वं चानुपयोगादित्याशङ्क्य समाहित वार्तिके तथाहि—"उत्पन्नसम्यग्ज्ञानस्य सन्यासो लक्षण मत। साधन च तदुत्पत्तौ सन्यासोऽत्रोऽत्र भण्यते ॥ प्रवृत्तिलक्षणो योगो ज्ञान सन्यासलक्षणम्। तस्मा-ज्ज्ञान पुरस्कृत्य सन्यसेदिह बुद्धिमान्" ॥ ३-४ ॥ इति। साधन चेति जिज्ञासोरित्ति ज्ञेय। अत्र प्रकृतज्ञान-प्रकरणे ॥ तस्य तत्साधनत्वे मानमाह—प्रवृत्तीति ॥ १० एतदध्यायस्यादितो ब्राह्मणत्रयस्य सहास्य ब्राह्मणस्य सगति वक्तु तदर्थमनुवदति। ११ प्रकृतपञ्चमब्राह्मणतात्पर्यमिति भाव।

अथ हैनं कहोलः कौषीतकेयः पप्रच्छ याज्ञवल्क्येति होवाच यदेव साक्षादपरोक्षाद्ब्रह्म य आत्मा सर्वान्तरस्तं मे व्याचक्ष्वेत्येष त आत्मा सर्वान्तरः । कतमो याज्ञवल्क्य सर्वान्तरो योऽशनायापिपासे शोकं मोहं जरां मृत्युमत्येति ।*एतं वै तमात्मानं विदित्वा ब्राह्मणाः पुत्रैषणायाश्च वित्तैषणायाश्च लोकैषणा-

फिर उस याज्ञवल्क्य से कुषीतक के पुत्र कहोल ने पूछा—'हे याज्ञवल्क्य' ऐसा उसने संबोधन किया। जो भी साक्षात् अपरोक्ष ब्रह्म है और जो सर्वान्तर आत्मा है तुम मेरे प्रति उसकी व्याख्या करो। याज्ञवल्क्य ने कहा—यह तुम्हारा आत्मा ही सर्वान्तवर्ती ब्रह्म है (यहाँ पर आत्मा के विषय मे विशेष विवक्षा होने पर कहोल ने प्रश्न किया है, अतः कौषीतकेय और कहोल के प्रश्न को अभिन्न मानकर पुनरुक्ति की आशंका नही करनी चाहिये)। कहोल ने कहा—हे याज्ञवल्क्य ! वह सर्वान्तर कौन-सा है ? याज्ञवल्क्य ने कहा—जो क्षुधा, पिपासा, शोक, मोह जरा और मरण को पार किय हुए

अथ हैनं कहोलो नामतः कुषीतकस्यापत्यं कौषीतकेयः पप्रच्छ याज्ञवल्क्येति होवाचेति पूर्ववत् । यदेव साक्षादपरोक्षाद्ब्रह्म य आत्मा सर्वान्तरस्तं मे व्याचक्ष्वेति ।

धितवानित्यर्थः । बन्धध्वंसिज्ञानप्रश्नो नात्र प्रतिभाति किन्त्वनुवादमात्रमित्याशङ्क्याह—य विदि-

---

फिर उस याज्ञवल्क्य से "कौषीतकेयः कहोल" अर्थात् कुषीतक के पुत्र कहोल नामक ब्रह्मिष्ठ ने पूछा। 'हे याज्ञवल्क्य' इस प्रकार सम्बोधन अभिमुख करने के लिये किया ऐसा अर्थ पूर्ववत् समझना चाहिये। जो भी साक्षात् अपरोक्ष ब्रह्म है और सर्वान्तर आत्मा है, उसकी तुम मुझे व्याख्या करो,

---

१ अथेति—"पञ्चमब्राह्मणे ब्रह्मबोधससिद्धिसाधनम् । समुत्पन्न तत्त्वबोधे मुक्तलक्ष्म च वर्ण्यते" ॥वा सा १॥ २ यदेवेति । "उपस्तपृष्टाद्यत्त्व निवर्तयितुमात्मन । यदेव साक्षादित्युक्तावेवकार प्रयुज्यते ॥ उपदेशान्य विषयस्त्वमर्थं शोधित पुरा । न ब्रह्मत्व सम्यगुक्तमिति पृच्छति तत्पुन ॥ अशनायादिरहित ब्रह्मतायां अभाषणे । न स्यात्सर्वान्तरत्वादि चिद्घने प्रत्यगात्मनि ॥ इत्यभिप्रेत्य तनोक्त साक्षादित्यादिक पुन । अनूद्य सर्वं पप्रच्छ कहोलो ब्रह्मरूपतामिति" ॥ वा सा ६-१२ ॥ ३ यदेवेत्यवकारप्रक्षेपस्तु य एवात्मोपस्तेन पृष्टस्तमेवाह पृच्छामीति विद्यैकत्वद्योतनार्थं इति वृत्ति । ४ ब्राह्मणे । ५ उपस्तोक्तम्य ।

---

*एत वैतमात्मान विदित्वा ब्राह्मणा —"ब्रह्मप्रश्नेन पृष्टे त तद्बोधफलसाधन । इति मत्वोत्तरत्वेन व्युत्थानद्वय-मुच्यते ॥ पूर्वं विदित्वा पश्चात्तु व्युत्थायत्यन्वयाच्छ्रुतात । विद्वत्सन्यास आभाति ब्रह्मबोधफलात्मक ॥ आरब्ध-क्षपणायैव तस्य देह प्रवतते । फलात्मकोऽप्य सन्यासस्तत्त्वविद्यापुरःसर ॥ व्युत्थायाऽथ विदित्वेति व्यत्ययेना-ऽर्थवान्वयात् । सिद्धो विविदिषाख्याण स्पष्ट श्रुत्यन्तरेऽप्यसौ" ॥ "एतमेव प्रव्राजिनो लोकमिच्छन्त प्रव्रजन्ति"

याश्च व्युत्थायाथ भिक्षाचर्यं चरन्ति या ह्येव पुत्रैषणा सा वित्तैषणा या वित्तैषणा सा लोकैषणोभे ह्येते एषणे एव भवतः। [१]तस्माद्ब्राह्मणः पाण्डित्यं निर्विद्य बाल्येन तिष्ठासेत्। बाल्यं च पाण्डित्यं च निर्विद्याथ मुनिरमौनं च मौनं च निर्विद्याथ ब्राह्मणः स ब्राह्मणः

है। इसी उस आत्मा को अपरोक्षरूप से जान कर ब्राह्मण लोग [*]पुत्रैषणा, वित्तैषणा और लोकैषणा से दूर हटकर भिक्षाचर्या किया करते हैं। जो भी पुत्रैषणा है, वही वित्तैषणा है, और जो वित्तैषणा है, वह लोकैषणा है क्योंकि साध्य-साधन भेद स ये दानो एषणाएँ ही हैं। अत ब्राह्मण पूर्णरूप से आत्मज्ञान का सपादन कर आत्मज्ञानरूप बल से स्थिर रहने [१]की इच्छा करे। पुन बाल्य और पाण्डित्य को पूर्णरूप से प्राप्त कर वह मुनि होता है तथा अमौन एव मौन का पूर्ण रूप से सपादन करके ब्राह्मणत्व

[२]य विदित्वा बन्धनात्प्रमुच्यते। याज्ञवल्क्य आह—एष ते त्वाऽऽत्मा।

किमुषस्तकहोलाभ्यामेक आत्मा पृष्टः किं वा भिन्नावात्मानो [३]तुल्यलक्षणाविति।

[४]त्वेति। त व्याचक्ष्वेति पूर्वेण सबन्ध।

[५]प्रश्नयोरवान्तरविशेषप्रदर्शनार्थं [५]परामृशति—किमुपस्तेति। [६]तत्र [७]पूर्वपक्ष गृह्णाति—

जिस आत्मा को जानकर बन्धनमुक्त हो जाता है। याज्ञवल्क्य ने कहा—"यह तुम्हारा आत्मा है"

क्या उषस्त और कहोल ने एक ही आत्मा के विषय में पूछा अथवा समानस्वभाव वाली

१ तस्मादित्यादि। यस्मात्पूर्वे ब्राह्मणा क्रमेण तमेतमात्मान विदित्वा व्युत्थानादि चक्रुस्तस्मादद्यतनोऽपि ब्राह्मण—आपातदर्शी एषणाभ्यो व्युत्थाय पाण्डित्यम्—शास्त्रोत्था बुद्धि पण्डा तद्वान् पण्डितस्तस्य कर्म वेदान्तवाक्य-विचारलक्षण श्रवणापरपर्याय पाण्डित्य निर्विद्य—नि शेष कृत्वा अन तर बाल्येन श्रवणज्ञानोत्पन्नाशेषानात्म-दृष्टितिरस्करण बल तस्य भावो बाल्य तेन ज्ञानबलभावेन विषयानाकृष्टचित्त सन् तिष्ठासेत् स्थातुमिच्छेत्। बाल्यशब्दाभिधेय मनन कुर्यादिति यावत्। बाल्य च पाण्डित्य निर्विद्य नि शेष कृत्वा, अथान तर मुनि मौनवान् धारावाहिकात्मप्रत्ययप्रवाहवान् तिष्ठासेदित्यनुषज्यते निदिध्यासन कुर्यादिति यावत्। एवममौन च उक्ताथ-पाण्डित्यबाल्यशब्दाभिधेय श्रवणमननाख्य मौन चोक्तार्थमुनिशब्दवाच्य निदिध्यासनाख्य निर्विद्याथान तर ब्राह्मणो निरुपचरितब्राह्मण्यवान्—साक्षाद्ब्रह्मैव स्यात् कृतकृत्यो भवेदिति यावत्। २ आत्मानम्। ३ सर्वान्तर-त्वस्वप्रकाशत्वाशनायाद्यतीतत्वादिधर्मै समानस्वभावावित्यर्थ। ४ उषस्तकहोलकर्तृकयो। ५ विचार-यति। ६ पूर्वोत्तरपक्षयो। ७ सिद्धान्तविरुद्धम्।

* बृ० उ० ४।४।२२। "त्वात्मलोक स्वमिच्छन्त प्रव्रजन्तीति वक्ष्यति। त्यागेनैके चामृतत्व प्राप्ता इत्यपरा श्रुति॥ ब्राह्मणग्रहणश्रुत्या ब्राह्मणानामेव भाष्यकृत्। सन्यासेऽधिकृति प्राह चतुर्थाश्रमरूप्यसौ॥ विद्याङ्गतत्फलात्मान गार्गीविदुरयोरपि। स्त्रीशूद्रयोर्भाष्यकार सन्यासमनुमन्यत॥३२ ३८॥ इति वार्तिकसारोक्तिरत्यत्रोपयोगिनी।

केन स्याद्येन स्यात्तेनेदृश एवातोऽन्यदार्तं ततो ह
कहोलः कौषीतकेय उपरराम ॥ १ ॥

इति बृहदारण्यकोपनिषदि तृतीयाध्यायस्य पञ्चमं कहोलब्राह्मणम् ॥ ५ ॥

को प्राप्त कर कृतकृत्य हो जाता है। वह किस आचरण से ब्राह्मण होता है ? जिस आचरण से भी हो, वह ऐसे ही लक्षण वाला ब्राह्मण होता है। इससे भिन्न सब नश्वर है (स्वप्न, माया, मरुमरीचिका के समान असार है। केवल एक आत्मा ही नित्य मुक्त है)। इस पर कहोल चुप हो गया ॥१॥

॥ इति पञ्चम ब्राह्मणम ॥

---

* भिन्नाविति युक्तं प्रश्नयोरपुनरुक्तत्वोपपत्तेः। यदि ह्येक आत्मोषस्तकहोलप्रश्नयो-र्विवक्षितः[१] स्तत्रैकेनैव प्रश्नेनाधिगतत्वात्तद्विषयो द्वितीयः प्रश्नोऽनर्थकः स्यात्। न [२]चार्थ-

---

भिन्नावितीति[३]। [४]उक्तमर्थं व्यतिरेकद्वारा विवृणोति—यदि हीत्यादिना। अर्थकं वाक्यं [५]वस्तुपर [६]तस्यार्थवादो द्वितीयं वाक्यं नेत्याह—न चेति। द्वयोर्विषयो[६]स्तुल्यलक्षणत्वे फलितमाह—

विभिन्न आत्माओं के विषय में। (इस पर कहते हैं—) विभिन्न आत्माओं के विषय में ही मानना अच्छा है क्योंकि प्रश्नों में पुनरुक्ति दोष न आना ही युक्तिसंगत है। यदि उषस्त और कहोल दोनों के प्रश्नों से एक ही आत्मा बतलाना अभीष्ट होता, तब तो एक ही प्रश्न से अवगत हो जाने से उसके

---

१ तथा सति। २ स्तुतिरूपत्वम्। ३ भेदपक्षम्। ४ आत्मवस्तुपरम्। ५ वस्तुन। ६ तुल्यलक्षणत्वे—एकात्मविषयत्वेन समानरूपत्व।

---

*भिन्नाविति युक्तमित्यादि केचिद्व्याचक्षत इत्यन्तभाष्य प्रकारान्तरेण विवृण्वन्ति वार्तिकाचार्यास्तथाहि—"उषस्तप्रश्न एवायं कहोलेनापि पृच्छ्यत। तत्किमर्थं पुन प्रश्न स एव कृतनिर्णय ॥ प्रष्टृभेदाददोषश्चेन्मैव प्रत्युक्तिभेदत। एकार्थप्रश्नवाक्यस्य ह्येका प्रत्युक्तिरिष्यते ॥ पुनरुक्त न च न्याय्यमेकप्रवचने क्वचित्। न चेह लौकिको जल्प प्रष्टृभेदो यतो भवेत् ॥ समानशब्दौ तन्मौ स्यातां भिन्नार्थवाचकौ। कहोलोषस्तयप्रोक्तौ प्रश्नाविति विनिर्णय ॥ क्षेत्रज्ञमात्मानमप्राक्षीदुषस्तो न पर पदम्। अप्राक्षीत्परमात्मान कहोलोऽपि न दु खिनम् ॥ एकदेश उपन्यासादैकार्थ्यमवसीयते। मिथ सकीर्णधर्मोक्तौ यथायोग व्यवस्थिति ॥ यदन्तरतमत्व प्रागुक्त तत्परमात्मनि। तदेकदेशाभिहितैर्विज्ञानात्मानमेष्यति ॥ शोकमोहाद्यतीतत्व प्रकाशात्मकता तथा। विज्ञानात्मनि प्रोक्तापि परमात्मानमेष्यति ॥ पञ्चमाध्यायशेषेण परमात्मविनिर्णय। षष्ठे [illegible] वक्ष्यतेऽध्याये विज्ञानात्मविनिर्णय ॥ उपन्यासो द्वयोरत्र विज्ञानात्मपरात्मनो। व्यज्ञाप्यपुनरुक्तत्व न्यायमार्गसमाश्रयात् ॥ इति व्याचक्षते केचित् प्रश्नावेतौ यथोदितौ। न सम्यगेतद्व्याख्यान यथा तदभिधीयते" ॥ ५-१५ ॥ इति। स्वाभिप्रेता संगतिमुक्त्वा भर्तृप्रपञ्चाभिप्रेता वक्तु पूर्वपक्षयति—उषस्तेति। वस्तुतापभेदाभावे सतीति यावत् ॥

वादरूपत्वं वाक्यस्य । तस्माद्भिन्नावेतावात्मानौ क्षेत्रज्ञपरमात्माख्याविति केचिद्व्याचक्षते ।

तस्मादिति । तत्राऽऽद्यं वाक्यं क्षेत्रज्ञमधिकरोति द्वितीयं परमात्मानमित्यभिप्रेत्याऽऽह—क्षेत्रज्ञेति ।

विषय मे दूसरा प्रश्न पूछना निरर्थक हो जाता है। तथा इस वाक्य का स्तुतिरूपत्व होना नहीं माना जा सकता। इसलिए यह क्षेत्रज्ञ और परमात्मसंज्ञक भिन्न भिन्न आत्मा है—ऐसा कोई-कोई (भर्तृप्रपञ्च के अनुयायी) दार्शनिक मानते हैं।

ऐसा कहना ठीक नहीं है क्योंकि मन्त्र में 'तुम्हारा (यह आत्मा है)' ऐसी प्रतिज्ञा की गई है। "यह तुम्हारा आत्मा है' (उनकी एकरूपता होने पर भिन्नार्थक वचन प्रयुक्त हो जाने से) इस प्रकार

---

१ तस्मात्—प्रश्नयोरेकार्थत्वे पुनरुक्त्यापातात् । २ भर्तृप्रपञ्चानुयायिनः । ३ स्वमर्थम् । ४ तदर्थम् ।

पुनरुक्तिपरिहारं शङ्कते—प्रष्टृभेदादिति । दूषयति—मैवमिति । एकार्थस्य प्रश्नस्य भिन्नकर्तृकस्यापि प्रतिवचनमेकमेव युक्तं प्रतिवक्तृभेदाभावादिह तु न दृष्टेर्योऽशनायेत्यादिप्रत्युक्तिभेदोऽस्त्यतो न प्रष्टृभेदः पुनरुक्तिं परिहरेदित्यर्थः ॥ अस्तु तर्हि पुनरुक्तिरेव दृश्यते हि शाखाभेदे पुनर्वचनं नेत्याह—पुनरुक्तमिति । प्रवचनमध्ययनं शाखाविषयं । प्रष्टृभेदात्पुनरुक्तिपरिहारो नेत्यत्र हेत्वन्तरमाह—न चेति । न हि श्रुतौ लोकप्रसिद्धो जल्पोऽस्ति येन प्रष्टृभेदः पुनरुक्तिपरिहाराय स्यादपौरुषेयायां श्रुतौ वास्तवस्य प्रष्टृभेदस्यानिष्टत्वात्कल्पितस्याकल्पितपुनरुक्तिपरिहारानुपयोगित्वादित्यर्थः ॥ सिद्धान्तयति—समानेति । एकार्थत्वे पुनरुक्तिस्तच्छब्दार्थः ॥ कथं तयोर्भिन्नार्थत्वं तत्राऽऽह—क्षेत्रज्ञेति । यथाऽऽहुः पूर्वः प्रश्नः परमात्मविषयोऽन्यो विज्ञानात्मविषय इति । माध्यंदिनशाखया भाष्ये पौर्वापर्यमुन्नेयम् ॥ अस्य हि विज्ञानात्मनः परमात्मन्यप्ययो वक्तव्य इति वदद्भिस्तयोरैक्यमिष्टं तत्र प्रश्नयोर्भिन्नार्थत्वे युक्तमित्याशङ्क्याऽऽह—एकेति । एकस्मिन्प्रकरणे द्वयोरुक्तयोः प्राकरणिकत्वैक्यं तत्रोषस्तप्रकरणे वाक्यार्थविषयो विज्ञानात्मा निरूप्यते कहोलप्रकरणे तु तद्भागः परस्तयोः समानवेद्योपन्यासात्समानकार्यतेत्युक्तत्वादित्यर्थः । वाक्यार्थभागौ जीवपरौ प्रश्नविषयावित्युक्त्वा प्रश्नयोर्धर्मव्यत्यासादेकार्थत्वदृष्टेरित्याशङ्क्याऽऽह—मिथ इति ॥ यद्यपि जीवपरधर्मौ परस्परसंकीर्णावुच्येते तथाऽपि यथासंभवं व्यवस्थितत्वेनैष्टव्यावित्येतदेव दर्शयति—यदिति । कहोलवाक्यं परमात्मधर्मत्वेनोक्तं सर्वान्तरत्वं विज्ञानात्मधर्मत्वात्तमेवोषस्तपृष्टगतं गमिष्यत्येकस्मिन्प्रकरणे द्वयोरुक्तत्वात्सर्वान्तरत्वं परमात्मन्युच्यमानं विज्ञानात्मनि सिद्धं भविष्यतीति तदुक्तेरित्यर्थः ॥ परमात्मधर्मे दर्शितं प्रकारं विज्ञानात्मधर्मेऽपि योजयति—शोकेति । यद्यपि शोकाद्यतीतत्वं स्वप्रकाशत्वं च ज्योतिर्ब्राह्मणे जीवमुक्तं तथाऽपि तत्पाञ्चमिकं परं गमिष्यति तस्य तद्धर्मतया तत्रैव संबन्धाच्छोकमोहाद्यतीतता प्रकाशमात्ररूपता च विज्ञानात्मन्युच्यमाना परमात्मनि सिद्धा भविष्यतीति तदुक्तेरित्यर्थः ॥ प्रश्नयोर्विषयभेदमुक्त्वा पञ्चमशेषस्य कहोलप्रकरणेनैकवाक्यतामाह—पञ्चमेति । उक्तं हि पञ्चमाध्यायशेषेण परमात्मनो निर्णयो वक्ष्यमाण इति । ज्योतिर्ब्राह्मणादेरुषस्तप्रकरणेनैकवाक्यतामाह—षष्ठे त्विति । यथाऽऽहुः—षष्ठेन विज्ञानात्मन इति ॥ प्रश्नयोर्भिन्नार्थत्वे गमकमाह—उपन्यास इति । तदुक्तमपुनरुक्तेन हि द्वितीयेन प्रश्नेन भवितव्यमिति ॥ परपक्षमुपसंहरति—इति व्याचक्षत इति । ब्राह्मणद्वयेनात्मद्वयं विवक्षितमित्येतदयुक्तमित्याह—न सम्यगिति ॥

[1]तन्न। त इति प्रतिज्ञानात्। एष त आत्मेति [2]हि प्रतिवचने प्रतिज्ञातम्। न चैकस्य कार्यकरणसंघातस्य द्वावात्मानावु[3]पपद्येते। एको हि कार्यकरणसंघात एकेनाऽऽत्मनाऽऽत्मवान्। न चोषस्तस्यान्यः कहोलस्यान्यो [4]जातितो भिन्न आत्मा भवति। द्वयोरगौणत्वात्मत्वसर्वान्तरत्वानुपपत्तेः। यद्येकमगौणं ब्रह्म द्वयोरितरेणावश्यं गौणेन भवितव्यं तथाऽऽत्मत्वं सर्वान्तरत्वं च। [5]विरुद्धत्वात्पदार्थानाम्। यद्येकं सर्वान्तरं ब्रह्माऽऽत्मा मुख्य

ब्राह्मणद्वयेनार्थद्वयं विवक्षितमिति मतं प्रपञ्चप्रस्थानं प्रत्याह—तन्नेति। प्रश्नप्रतिवचनयोरेकरूपत्वान्नार्थभेदोऽस्तीत्युक्तमुपपादयति—एष त इति। [6]तथाऽप्यर्थभेदे काऽनुपपत्तिस्तत्राऽऽह—न चेति। [7]तदेवोपपादयति—एको हीति। कार्यकरणसंघातभेदादात्मभेदमाशङ्क्याऽऽह—न चेति। जातितः स्वभावतो[8]ऽहमहमित्येकाकारस्फुरणादित्यर्थः। इतश्च न तत्त्वभेद इत्याह—द्वयोरिति। [9]तदेव स्फुटयति—यदीति। द्वयोर्मध्ये यद्येकं ब्रह्मागौणं तदेतरेण गौणेनावश्यं भवितव्यं तथाऽऽत्मत्वादि यद्येकस्येष्टं तदेतरस्यानात्मत्वादीति कुतः स्यादिति चेत्तत्राऽऽह—विरुद्धत्वादिति। [10]उक्तोपपादनपूर्वकं [11]द्विःश्रवणस्याभिप्रायमाह—यदीत्यादिना। अनेकमुख्यत्वासंभवाद्वस्तुतः [12]परिच्छिन्नस्य घटवदब्रह्मत्वादनात्मत्वाच्चैकमेव‌‌* मुख्यं प्रत्यग्भूतं ब्रह्मेत्यर्थः। यदि जीवेश्वरभेदाभावात्प्रश्नयोर्नार्थभेदस्तर्हि पुन-

उत्तर मे प्रतिज्ञा की गयी है। एक कार्यकरणसघात के दो आत्मा होने सभव नही हैं क्योंकि एक कार्यकरणसघात एक ही आत्मा से आत्मवान् हुआ करता है। उपस्त का आत्मा जातितत्त्वरूप से अन्य हो, कहोल का जातितत्त्वरूप से अन्य हो; ऐसा होना सभव नही क्योंकि दोनो को अगौणत्व, आत्मत्व, सर्वान्तरत्व नही कहा जा सकता। यदि दो मे एक अगौण ब्रह्म है तो दूसरे को निश्चितरूप से गौण होना ही चाहिये; इसी प्रकार उनका आत्मत्व और सर्वान्तरत्व भी सभव नही है क्योकि उन अनेकत्व और मुख्यत्वादि पदार्थों मे विरोध है। यदि एक सर्वान्तर ब्रह्म आत्मा अगौण होगा तो दूसरे

१ तन्नेति। तत्रात्मशब्देन क्षेत्रज्ञपरमात्मानौ विवक्षितौ उभयोरपि प्रश्नयो प्रयुक्तौ "एष त आत्मा सर्वान्तर" इति प्रतिज्ञानादित्यर्थः। २ हीति अनेकरूप्यसमुच्चयार्थो हिशब्द तयारेकरूपत्वे भिन्नार्थे वचसी इति कथनमयुक्तमिति भाव। ३ समाध्यत। ४. अन्यत्वमेव विवृणोति—जातित इति। ५ अनेकत्वमुख्यत्वादीनाम्। ६. तथापि—प्रश्नप्रतिवचनयोरेकरूपत्वेऽपीत्यर्थः। ७ अनुपपन्नत्वमेव। ८. आत्मेतिप्रत्ययस्तावदेकविषयस्तस्य वस्तुतो भिन्नविषयत्व मानाभावात् इत्यभिप्रेत्याह—अहमहमिति। "एको देव सर्वभूतेषु", "एक एव हि भूतात्मा" इत्यादिश्रुतिस्मृतिविरोधाच्च वस्तुतो नात्मभेद इत्यपि ध्येयम्। ९. द्वयोस्तदनुपपन्नत्वमेव। १० पदार्थविरोधापपादनपूर्वकमिति बोध्यम्। ११ प्रश्नपुनरुक्ते। १२ वस्तुपरिच्छेदविशिष्टस्य।

‌*एकमेवेति प्रश्नार्थात्मभेद दाषान्तरमाहुर्वार्तिकाचार्यास्तथाहि—"अथोपनिषदार्थ यदि भेदो भवेत्तयो। अनिर्मोक्षप्रसक्तिश्च क्षेत्रज्ञपरमात्मना॥ अकृत्स्नदृष्टिविषयो निषेधोऽपि न युज्यते। प्रविष्टस्य न चेत्स्यात्स्यं विज्ञानात्मन इष्यत॥ वस्तुवृत्तानुरोधेन नातो भेदोऽस्ति कुत्रचित्। वस्तुवृत्तानभिज्ञानादभेद स्वप्नेन्द्रजालवत्॥ एक एव तत प्रश्ना न प्रश्नद्वयमिष्यत"॥ २२-२५॥ ब्रह्मात्मैक्य ज्ञानमुपनिषदारम्भो वस्तुतस्तदभेदे न साऽऽरम्भा भिन्नयारैक्यज्ञानयोगात्कल्पितभेद प्रश्नयोर्न भिन्नार्थतत्यथ। किंच जीवेश्वरयोर्वस्तुतो भेदे जीवस्य ब्रह्मत्वाप्त्या भावो न स्यान्न चाविद्याक्षयस्तस्यापि स्वत्पक्षे हत्वभावादेवायोगादतोऽफल शास्त्रमनारम्भमित्याह—

इतरेणासर्वान्तरेणानात्मनाऽमुख्येनावश्यं भवितव्यम्। [1]तस्मादेकस्यैव [2]द्विः श्रवणं[3]विशेषविवक्षया।

यत्तु [4]पूर्वोक्तेन [5]समानं द्वितीये [6]प्रश्नान्तर उक्तं [7]तावन्मात्रं पूर्वस्यैवानुवाद[8]स्तस्यैवानुक्तः कश्चिद्विशेषो वक्तव्य [9]इति। कः पुनरसौ विशेष इति। उच्यते—पूर्वस्मिन्प्रश्नेऽस्ति [10]व्यतिरिक्त आत्मा यस्यायं [11]सप्रयोजको बन्ध उक्त [12]इति। द्वितीये तु तस्यैवाऽऽत्मनोऽशनायादिसंसारधर्मातीतत्वं विशेष उच्यते। यद्विशेषपरिज्ञानात्संन्यासस‍हि-

दक्तिरर्नाषिकेत्याशङ्क्याऽऽह—तस्मादिति।

[13]तर्हि ▮ एव विशेषो दर्शयितव्यो येन पुनरुक्तिरर्थवतीत्याशङ्क्याऽऽह—यत्त्विति। अनुक्तविशेषकथनार्थं[14]मुक्तपरिमाणं निर्णेतुमुक्तानुवादश्चेदनुक्तो विशेषस्तर्हि प्रदर्श्यतामिति पृच्छति—कः पुनरिति। बुभुत्सितं विशेषं दर्शयति—उच्यत इति। इतिशब्दः [15]क्रियापदेन संबध्यते। किमित्येष विशेषो निर्दिश्यते तत्राऽऽह—यद्विशेषेति। [16]अयंभेदासंभवे फलितमाह—तस्मादिति। योऽशनायेत्यादिना[17] तु विवक्षितविशेषोक्तिरिति शेषः।

को निश्चितरूप से असर्वान्तर, अनात्म और गौण होना चाहिये। इसलिये एक का ही अनुक्त विशेष कथन की इच्छा से पुनर्वचन दिया गया है।

इसके अतिरिक्त जो बात उपस्तब्राह्मणोक्त प्रश्नोत्तर के तुल्य द्वितीय कहोलब्राह्मणस्थ प्रश्नोत्तर मे कही गयी है, उक्त प्रश्न का परिमाण पूर्वप्रश्न का ही अनुवाद है, उसी अनूदित आत्मा का ही विशेष कथन की इच्छा से कुछ कहना चाहिये। वह विशेष क्या है? इस पर कहा जाता है—पूर्वप्रश्न में यह बतलाया गया है कि प्रमाता आदि से भिन्न उसका साक्षी आत्मा है, जिसका कर्मादि प्रयोजक बन्ध है। दूसरे प्रश्न मे उसी आत्मा का क्षुधापिपासादि सांसारिक धर्मों से अतीत होना रूप विशेष कथन प्रतिपादित किया गया है। जिस विशेष के सन्यासपूर्वक ज्ञान हो जाने से पुरुष पूर्वोक्त बन्धन से मुक्त हो जाता है। इसलिये "यह तुम्हारा आत्मा है" इस श्रुतिवाक्य तक प्रश्न एवं उत्तर दोनो की तुल्यार्थता ही है।

१. तस्मात्—आत्मपरयोर्भेदाभावेन प्रश्नयोरर्थभेदाभावात्। २ पुनर्वचनम्। ३ विशेषविवक्षया—अनुक्तविशेषकथनेच्छया। तदुक्तं वार्तिके—"कश्चिद्विशेषमापक्ष्य पृष्टा भूयोऽपि पृच्छ्यते" इति॥ २५॥ आत्मेति शेष.। ४. उपस्तब्राह्मणोक्तेन प्रश्नोत्तरेण। ५ तुल्य कहोलब्राह्मणस्थप्रश्नोत्तरे उक्तम्। ६. प्रश्नान्तर इत्यस्य स्थाने प्रश्नोत्तर इति पाठः। ७ उक्तप्रश्नपरिमाणम्। ८ अनूदितस्यात्मन। ९. इति विशेषविवक्षयेति पूर्वत्रान्वय। १०. प्रमात्रादिव्यतिरिक्तस्तत्साक्षी। ११ कर्मादिप्रयोजकम्। १२. इति पूर्वस्मिन्प्रश्ने उच्यत इत्यन्वय.। १३ विशेषविवक्षापुनरुक्तिश्चेत्। १४. उक्तपरिमाणक प्रश्नम्। १५. उच्यत इत्यनेन। १६ प्रश्नयो। १७ ग्रन्थेन।

अनिर्मोक्षेति॥ वास्तवात्मभेदाभाव हेत्वन्तरमाह—अकृत्स्नेति। स योऽत एकैकमुपास्ते न स वेदाकृत्स्नो ह्येष इत्यादि निषेध॥ आत्मभेदं निरस्य प्रसङ्गादनात्मभेदमपनुदति—वस्त्विति। आत्मापरिच्छिन्नत्वमतःशब्दार्थः। वस्तु चेदपरिच्छिन्नं कथ परिच्छेदमान तत्राऽऽह—वस्त्विति॥ आत्माभेदे प्रश्नैक्य फलमाह—एक इति।

तात्पूर्वोक्ताद्बन्धनाद्विमुच्यते । 'तस्मात्प्रश्नप्रतिवचनयोरेव न आत्मेत्येवमन्तयोस्तुल्यार्थतैव ।
नन्वु 'कथमेकस्यैवाऽऽत्मनोऽशनायाद्यतीत्वं तद्वत्वं चेति विरुद्धधर्मसमवायित्वमिति ।
न । परिहृतत्वात् । नामरूपविकारकार्यकरणलक्षणसंघातोपाधिभेदसंपर्कजनितभ्रान्तिमात्रं
हि संसारित्वमित्यसकृदवोचाम । विरुद्धश्रुतिव्याख्यानप्रसङ्गेन च । यथा रज्जुशुक्तिका-
गगनादयः सर्परजतमलिना भवन्ति पराध्यारोपितधर्मविशिष्टाः स्वतश्च केवला एव

एकमेवाऽऽत्मतत्त्वमधिकृत्य प्रश्नावित्यत्र चोदयति—नन्विति । विरुद्धधर्मवत्त्वान्मिथो भिन्नौ
'प्रश्नार्थावित्येतद्दूषयति—नेति । परिहृतत्वमेव प्रकटयति—नामरूपेति । 'तयोर्विकार कार्यकरण-
लक्षणः संघातः स एवोपाधिभेदस्तेन संपर्कस्तस्मिन्नहंममाध्यासस्तेन जनिता भ्रान्तिरहं कर्तेत्याद्या
तावन्मात्रं संसारित्वमित्यनेकशो व्युत्पादितं तस्मान्नास्ति 'वस्तुतो विरुद्धधर्मवत्त्वमित्यर्थः । किंच
सविशेषत्वनिर्विशेषत्वश्रुत्योर्विषयविभागोक्तिप्रसङ्गेन संसारित्वस्य मिथ्यात्व 'मधुब्राह्मणान्तेऽवोचा-
मेत्याह—विरुद्धेति । कथं तर्हि विरुद्धधर्मवत्त्वप्रतीतिरित्याशङ्क्याऽऽह—यथेति । परेण पुरुषेणाज्ञानेन
वाऽध्यारोपितैः सर्पत्वादिभिर्धर्मैर्विशिष्टा इति यावत् । स्वतश्चाध्यारोपेण विनेत्यर्थः । 'प्रतिभासतो

(यहाँ पूर्ववादी शङ्का करता है—) किन्तु एक ही आत्मा का क्षुधापिपासादि से अतीत और
उससे युक्त होना (अन्धकार और प्रकाश के एकत्र सम्भव न होने के समान) यह विरुद्धधर्मसमवायित्व
कैसे सम्भव है ? (इस आक्षेप का परिहार सिद्धान्ती करता है—) ऐसा कहना ठीक नहीं है क्योंकि उक्त
शङ्का की निवृत्ति कर दी गई है । नाम-रूप का विकार जो कार्यकरणसंघात है, उस उपाधिभेद में
अहं-ममादि अध्यास से जनित 'मैं कर्ता हूँ" इत्यादि रूप भ्रान्तिमात्र ही संसारित्व है—ऐसा हम
अनेक बार कह चुके हैं तथा विरुद्धार्थवाची श्रुतियों के प्रसंग में भी यही बात कही जा चुकी है ।
जिस प्रकार रस्सी, सीप और आकाशादि दूसरों के आरोपित किये हुए धर्मों से युक्त होकर सर्प
रजत और मलिनता को प्राप्त होते हैं वस्तुतः वे स्वयं केवल रस्सी, सीप एवं आकाश ही हैं । इस प्रकार

१ तस्मादिति—उषस्तकहोलप्रश्नोत्तरयोरर्थभेदाभावादित्यर्थः । विशेषजिज्ञासया प्रश्नान्तरप्रवृत्तिमुक्त्वा प्रकारान्तरेणापि तत्प्रवृत्तिमाहुर्वार्तिके तथाहि— यथाप्रश्नं प्रतिवचो न सम्यगुदितं पुरा । इति मत्वाऽपवाऽप्रा- दीत्पृष्टमर्थं पुनरृषिम् ॥ साक्षादित्यादिना पृष्टं साक्षादित्यादिलक्षणम् । यथा सभाष्यते नेदकप्रत्युक्तौ किंचिदीक्ष्यत ॥ अमतोपात्कहोलोऽत्र उषस्तप्रश्नमेव तु । भूयोऽप्राक्षीन्मुनिं विद्वान्याथात्म्यावबुद्धये ॥ एष आत्मेति प्रत्युक्तिर्यं प्राणेनेति चापरा । तावन्मात्रोक्तितो नाभौ प्रश्नार्थोऽत्रधृतो भवदिति" ॥ २६-३२ ॥ कथं यथाप्रश्नं प्रतिवचो नोक्तं तत्राऽऽह—साक्षादिति ॥ अमतोपहेतुमुक्त्वा तत्फलमाह—असमोप'दिति । यथाप्रश्नं प्रतिवचो नोक्तं चदुषस्तनव प्रष्टव्य कथमन्य पृच्छति तत्राऽऽह—विद्वानिति । कहोलप्रश्नस्य प्रयो- जनमाह—याथात्म्येति ॥ असकृत्प्रत्युक्त्यापन्तप्रश्नस्य निर्णीतत्वान्नासनायहेतुरस्तीत्याशङ्क्याऽऽह—एष इति । तथा च—पृष्टस्यार्थस्य सम्यगनिर्धारितत्वात्तन्निर्धारविषया भूयस्तत्रैव प्रश्नोपपत्तिरिति शेषः ॥ २ कथमिति —तमःप्रकाशवदत्र न संभावितमिति यावत् । ३ प्रश्नार्थाविति—तमःप्रकाशवदिति दृष्टान्तोऽनुसंधेयः । ४ नामरूपयोः । ५ काल्पनिकं तु तत्र विरुद्धमिति भावः । ६ ६४६पृष्ठभाष्ये । ७ प्रतिभासतो विरुद्धधर्मवत्त्वेऽपीति—प्रातिभासिकविरुद्धधर्मविशिष्टयाऽप्यपीति यावत् ।

रज्जुशुक्तिकागगनादयः। न चैवं विरुद्धधर्मसमवायित्वे पदार्थानां कश्चन विरोधः।

नामरूपोपाध्यस्तित्वे "एकमेवाद्वितीयम्" "नेह नानाऽस्ति किंचन" इति श्रुतयो विरुध्येरन्निति चेत्। न। सलिलफेनदृष्टान्तेन परिहृतत्वान्मृदादिदृष्टान्तैश्च। यदा तु परमार्थदृष्ट्या परमात्मतत्त्वाच्छ्रुत्यनुसारिभिरन्यत्वेन निरूप्यमाणे नामरूपे मृदादिविकारवद्वस्त्वन्तरे तत्त्वतो न स्त. सलिलफेनघटादिविकारवदेव तदा तदपेक्ष्यैकमेवाद्वितीयं नेह नानाऽस्ति किंचनेत्यादिपरमार्थदर्शनगोचरत्वं प्रतिपद्यते।

विरुद्धधर्मवत्त्वेऽपि क्षेत्रज्ञेश्वरयोर्भिन्नत्वाद्दृष्टान्तविरुद्ध प्रश्नाविति चेन्नेत्याह—न चैवमिति।

निरुपाधिकरूपेणाससारित्व सोपाधिकरूपेण ससारित्वमित्यविरोध उक्त। इदानीमुपाध्यभ्युपगमे सद्वयत्वं 'सतश्चैव घटादेरुपाधित्वदृष्टेरिति शङ्कते—नामेति। सलिलातिरेकेण न सन्ति फेनादयो विकारा नापि मृदाद्यतिरेकेण तद्विकारा शरावादय. सन्तीतिदृष्टान्तादयुक्तिबलादाविद्यनामरूपरचितकार्यकरणसंघातस्याविद्यामात्रत्वात्तस्याश्च विद्यया निरासान्नैवमिति परिहरति—नेत्यादिना। कार्यसत्त्वमभ्युपगम्योक्तमिदानीं तदपि निरूप्यमाणे नास्तीत्याह—यदा त्विति। नेह नानाऽस्ति किंचनेत्यादिश्रुत्यनुसारिभिर्वस्तुदृष्ट्या निरूप्यमाणे नामरूपे परमात्मतत्त्वादन्यत्वेनानन्यत्वेन वा निरूप्यमाणे तत्त्वतो वस्त्वन्तरे यदा तु न स्त इति संबन्ध। मृदादिविकारवदित्युक्त प्रकटयति—सलिलेति। तदा तत्परमात्मतत्त्वमपेक्ष्येति योजनीयम्।

प्रातिभासिक विरुद्धधर्मसम्बन्धी होने पर भी पदार्थों के विरुद्धधर्मसमवायी होने मे कोई विरोध नही है।

"(इस पर पूर्ववादी शङ्का करता है—) नाम और रूप की उपाधि सत्ता स्वीकार करने पर तो " (उत्पत्ति से पूर्व यह दीखने वाला नामरूपात्मक जगत्) सजातीय-विजातीय-स्वगतभेदशून्य एकमात्र अद्वितीय सत ही था ", "उस ब्रह्म मे नाना कुछ भी नही है" इन श्रुतियो से विरोध होने लगेगा। (समाधान मे सिद्धान्ती कहता है—) ऐसा कहना उचित नही है। उक्त शङ्का का समाधान जल और फेन के दृष्टान्त से तथा मृत्तिकादि के दृष्टान्त से किया जा सकता है, जिस समय श्रुति मे आस्था रखने वाले पुरुषो के द्वारा अन्यरूप से निरूप्यमाण नाम और रूप पारमार्थिक दृष्टि से मृत्तिका के विकार तथा जल, फेन और घटादि के विकार के समान परमात्मतत्त्व से वस्तुत कोई भिन्न पदार्थ नही होते, तब परमात्मतत्त्व की अपेक्षा से ही "सजातीय-विजातीय स्वगतभेदशून्य एकमात्र अद्वितीय सत् ही था", "उस ब्रह्म मे नाना कुछ भी नही है" इस (नामरूपादि कार्यजात) परमार्थदृष्टि का बोध होता है।

---

१ न चैवमित्यादि प्रातिभासिकविरुद्धधर्मसबन्धित्वे इत्यर्थ। प्रातिभासिकविरुद्धधर्मत्वहेतुसाध्यो भेद कल्पितोऽकल्पितो वा नाद्य सिद्धसाध्यत्वात् द्वितीय रज्ज्वादावनैकान्त्यमिति भाव। तदुक्त वार्तिके—'रज्जुत्वाहित्वयोर्यद्वदेकस्मिन्नपि वस्तुनि। स्वतस्तन्मोहतश्चैव सभवस्तद्वदात्मनि॥ मुक्तत्व च सितत्व च परस्परविरुद्धयो। धर्मयो समवाय स्यान्न तु नीलोत्पलादिवदिति"॥३६-३७॥ सितत्व चेत्यस्मादनन्तरम् इति-शब्दाध्याहार मुक्तत्वबद्धत्वयोरेवात्र वस्तुतो नाऽऽवशोऽस्तीत्यत्र वैधर्म्यदृष्टान्तमाह—न त्विति। २. नामरूपादिकार्यजातमिति शेष। ३ सत्यस्य। ४ सद्वयत्वचोद्यसमाधानमुक्तमित्यर्थ। ५ कार्यसत्त्वमपि।

यदा तु स्वाभाविक्याऽविद्यया ब्रह्मस्वरूपं रज्जुशुक्तिकागगनस्वरूपवदेव स्वेन रूपेण वर्तमानं केनचिदस्पृष्टस्वभावमपि सन्नामरूपकृतकार्यकरणोपाधिभ्यो विवेकेन नावधार्यते नामरूपोपाधिदृष्टिरेव च भवति स्वाभाविकी तदा सर्वोऽयं वस्त्वन्तरास्तित्वव्यवहारः। अस्ति चायं भेदकृतो मिथ्याव्यवहारो येषां ब्रह्मतत्त्वादन्यत्वेन वस्तु विद्यते येषां च नास्ति।

परमार्थवादिभिस्तु श्रुत्यनुसारेण निरूप्यमाणे वस्तुनि किं तत्त्वतोऽस्ति वस्तु किं वा नास्तीति ब्रह्मैकमेवाद्वितीयं सर्वसंव्यवहारशून्यमिति निर्धार्यते तेन न कश्चिद्विरोधः। न हि परमार्थावधारणनिष्ठायां वस्त्वन्तरास्तित्वं प्रतिपद्यामहे "एकमेवाद्वितीयम्"

कदा तर्हि लौकिको व्यवहारस्तत्राऽऽह— यदा त्विति। अविद्यया स्वाभाविक्या ब्रह्म यदोपाधिभ्यो विवेकेन नावधार्यते तदा लौकिको व्यवहारश्चेत्तर्हि विवेकिना नासौ स्यादित्याशङ्क्याह— अस्ति चेति। भेदभानप्रयुक्तो व्यवहारो विवेकिनामविवेकिनां च तुल्य एवायं वस्त्वन्तरास्तित्वाभिनिवेशस्तु विवेकिनां नास्तीति विशेषः।

ननु यथाप्रतिभासं वस्त्वन्तरं पारमार्थिकमेव किं न स्यात्तत्राऽऽह—परमार्थेति। किं द्वितीयं वस्तु तत्त्वतोऽस्ति किं वा नास्तीति वस्तुनि निरूप्यमाणे सति श्रुत्यनुसारेण तत्त्ववादिभिरेकमेवाद्वितीयं ब्रह्माव्यवहार्यमिति निर्धार्यते तेन व्यवहारदृष्ट्याश्रयणेन भेदकृतो मिथ्याव्यवहारस्तत्त्वदृष्ट्याश्रयणेन च तदभावविषयः शास्त्रीयो व्यवहार इत्युभयविधव्यवहारसिद्धिरित्यर्थः। तत्र शास्त्रीयव्यवहारोपपत्तिं प्रपञ्चयति—न हीति। तथा च विद्यावस्थायां शास्त्रीयोऽभेदव्यवहारस्तदितर-

---

परन्तु जिस समय रज्जु, शुक्ति और गगन के स्वरूप के समान किसी से भी अस्पृष्ट स्वभाव वाला न होकर अपने निजरूप से विद्यमान रहते हुए भी ब्रह्म के स्वरूप का स्वाभाविकी अविद्या के कारण नामरूपजनित कार्यकरणरूप उपाधि से भिन्नरूप से निश्चित नहीं किया जा सकता और शास्त्रानाधेय नाम रूप उपाधि की ही दृष्टि रहती है, उसी समय यह ब्रह्म से भिन्न वस्तु की सत्ता का व्यवहार होता है। इसके अतिरिक्त यह भेदबुद्धि वाला व्यवहार तो उन दोनों को ही होता है, जिनको ब्रह्म से भिन्न वस्तु की सत्ता स्वीकार है अथवा जिन्हे ऐसा स्वीकृत करना अभीष्ट नहीं भी है।

तथा परमार्थवादियों की दृष्टि में श्रुति समर्थित निरूप्यमाण वस्तु में कौन सी वस्तु तत्त्वतः द्वैतरूप है और कौन सी नहीं—इस प्रकार ही निश्चय होता है कि "ब्रह्म सर्वव्यवहार से अतीत, सजातीय विजातीय-स्वगतभेदशून्य एकमात्र अद्वितीय सत् ही था" इसलिये उनका कोई विरोध नहीं है। परमार्थनिश्चय की निष्ठा में हम किसी अन्य वस्तु की सत्ता स्वीकार नहीं करते। "वह एकमात्र अद्वितीय सत् ही था", "वह भीतर बाहररूप उपाधिभेद से शून्य है" इत्यादि श्रुति इसमें प्रमाण है।

---

१ शास्त्रानापेया। २ द्वैतरूपम्। ३ अवगच्छाम। ४ सर्वमिदमहं च ब्रह्मैवेति शास्त्रीयो व्यवहारः परमात्मतत्त्वापेक्षयैवेत्तर्हीत्यर्थः। ५ प्रतीत्यनुरोधादित्यर्थः। ६ मिथ्याव्यहाराभावविषयकः। ७ उभयविधव्यवहारमध्ये। ८ परमार्थनिश्चयस्थित्यवस्थायां वस्त्वन्तरसत्त्वस्याप्रतिपन्नत्वे च।

"अनन्तरमबाह्यम्" इति श्रुतेः । न च नामरूपव्यवहारकाले त्वविवेकिनां क्रियाकारकफलादिसंव्यवहारः नास्तीति प्रतिषिध्यते । [1]तस्माज्ज्ञानाज्ञाने अपेक्ष्य सर्वः संव्यवहारः शास्त्रीयो लौकिकश्च । [2]अतो न काचन विरोधशङ्का । सर्ववादिनामप्यपरिहार्यः [3]परमार्थसंव्यवहारकृतो [4]व्यवहारः ।

तत्र परमार्थात्मस्वरूपमपेक्ष्य प्रश्नः पुनः कतमो याज्ञवल्क्य सर्वान्तर इति । [5]प्रत्याहेतरो योऽशनायापिपासे । अशितुमिच्छाऽशनाया । पातुमिच्छा पिपासा । ते अशनायापिपासे योऽत्येतीति वक्ष्यमाणेन संबन्धः । अविवेकिभिस्तलमलवदिव गगनं

व्यवहारस्तत्राभासमात्रमिति शेषः । अविद्यावस्थाया लौकिकव्यवहारोपपत्तिं विवृणोति—न च नामेति । उभयविधव्यवहारोपपत्तिमुपसंहरति—तस्मादिति । उक्तरीत्या व्यवहारद्वयोपपत्तौ फलितमाह—अत इति । प्रत्यक्षादिषु वेदान्तेषु चेति शेष. । ज्ञानाज्ञाने पुरस्कृत्य व्यवहार· शास्त्रीयो लौकिकश्चेति नास्माभिरेवोच्यते किंतु सर्वेषामपि [6]परीक्षकाणामेतरसंमतं ससारदशाया क्रियाकारकव्यवहारस्य मोक्षावस्थायां च तदभावस्येष्टत्वादित्याह—सर्ववादिनामिति ।

निरुपाधिके परस्मिन्नात्मनि चिद्धातावनाद्यविद्याकल्पितोपाधिकृतमशनायादिमत्त्वं वस्तुतस्तु तद्राहित्यमित्युपपाद्यानन्तरप्रश्नमुत्थाप्य [7]प्रतिवक्ति—तत्रेत्यादिना । कल्पिताकल्पितयोरात्मरूपयोर्निर्धारणार्था सप्तमी । [8]योऽत्येतीति स सर्वान्तरत्वादिविशेषणस्तवाऽऽत्मेति शेष. । ननु परो नाशनायादिमानप्रसिद्धेर्नापि जीवस्तथा तस्य परस्मादव्यतिरेकात्[9] आह—अविवेकिभिरिति । परमार्थत

एव नाम-रूप व्यवहार काल मे तो अविवेकियो की दृष्टि मे क्रिया, कारक और फलादि का सव्यवहार नही होता—ऐसा प्रतिषेध भी नही किया जा सकता । इसलिये (दृष्टिद्वयप्रयुक्त व्यवहारद्वय की सिद्धि हो जाने पर) शास्त्रीय और लौकिक समस्त व्यवहार ज्ञान और अज्ञान की अपेक्षा से ही होता है । अतः (ज्ञान और अज्ञान मे द्विविध व्यवहारसिद्धि से) यहाँ किसी विरोध की शङ्का नही की जा सकती । इसलिए ज्ञान और अज्ञानप्रयुक्त शास्त्रीय और लौकिक व्यवहार सभी वादियो के लिए अपरिहार्य है ।

अब परमार्थत आत्मस्वरूप की अपेक्षा से ही पुन प्रश्न किया जाता है—हे याज्ञवल्क्य ! वह सर्वान्तर आत्मा कौन सा है । इस प्रकार वशिष्ठ कहोल द्वारा पूछे जाने पर याज्ञवल्क्य उत्तर देता है—जो अशनाया-पिपासा से रहित है । भोजन करने की इच्छा का नाम 'अशनाया' है । पीने की इच्छा का नाम 'पिपासा' है । उस भूख और प्यास को जो पार कर चुका है—इस प्रकार इसका आगे

---

१ दृष्टिद्वयप्रयुक्तव्यवहारद्वयोपपत्तौ । २ ज्ञानाज्ञानाभ्यां द्विविधव्यवहारस्य । ३ ज्ञानाज्ञानप्रयुक्त । ४. शास्त्रीयो लौकिकश्च व्यवहार । ५ प्रत्याहेतर इति—हे याज्ञवल्क्य ! स्थूलसूक्ष्मदेहबुद्धिसाक्षिषु (मध्ये) क सर्वान्तरत्वादि विशेषतस्तवाभिमत इति कहोलेन पृष्टो याज्ञवल्क्यो यद्विशेषकथनायायमनुवादस्त पूर्वानुक्त विशेष वदन् प्रत्युत्तर वक्तीत्यर्थ । ६ परीक्षकाणाम्—प्रमाणैरर्थनिश्चायकानाम् । ७ प्रत्युत्तरति । ८ य इति । अशनायापिपासाशोकमोहजरामृत्यु इत्यूर्मिषट्कस्यासङ्गत्वाविक्रियत्वादिस्वरूपेण (स्वरूपभूतधर्मेण) विरोधात् तेनैव स्वाभाव्येन तद्—ऊर्मिषट्कमतिक्रम्य य स्वरूपेण स्थित सकारणससाररहित इत्यर्थ । ६. तथा चाप्रसक्तप्रतिषेध इति भाव ।

गम्यमानमेव तलमले अत्येति परमार्थतस्ताभ्यामसंसृष्टस्वभावत्वात् । तथा मूढैरशनायापिपासादिमद्ब्रह्म गम्यमानमपि क्षुधितोऽहं पिपासितोऽहमिति ते अत्येत्येव परमार्थतस्ताभ्यामसंसृष्टस्वभावत्वात् । "न लिप्यते लोकदुःखेन बाह्यः" इति श्रुतेः । अविद्वल्लोकाध्यारोपितदुःखेनेत्यर्थः । प्राणैकधर्मत्वात्समासकरणमशनायापिपासयोः ।

शोकं मोहं शोक इति कामः । इष्टं वस्तूद्दिश्य चिन्तयतो यदरमणं तत्तृष्णा-

---

इत्युभयत सबध्यते । ब्रह्म वाखण्ड सच्चिदानन्दमनाद्यविद्यातत्कार्यबुद्ध्यादिसबद्धमाभासद्वारा स्वानुभवादशनायादिमद्गम्यते तस्य वस्तुतोऽविद्यासबन्धादशनायाद्यतीत नित्यमुक्त तिष्ठतीत्यर्थ । अशनायापिपासादिमद्ब्रह्म गम्यमानमिति वदन्नाचार्यो नानाजीववादस्यानिष्टत्व सूचयति । परमार्थतो ब्रह्मण्यशनायाद्यसबन्धे मानमाह—न लिप्यत इति । बाह्यत्वमसङ्गत्वम् । लोकदु खेनेत्ययुक्त लोकस्यानात्मनो दु खसबन्धानभ्युपगमादित्याशङ्क्याऽऽह—अविद्वदिति । अशनायापिपासयो "समस्यो पादाने हेतुमाह—प्राणेति ।

"अरतिवाची शोकशब्दो न "कामविषय इत्याशङ्क्याऽऽह—इष्टमिति । कामबीजत्वमरतेरनुभवेनाभिव्यनक्ति—तेन हीति । कामस्य "शोको बीजमिति ॥ कामतया व्याख्यात " । अनित्याशुचिदु खानात्मसु नित्यशुचिसुखात्मख्यातिर्विपरीतप्रत्ययस्तस्मान्मनसि प्रभवति कर्तव्याकर्तव्याविवेक स

कहे जाने वाले वाक्य से सबन्ध है । अल्पज्ञ जीव आकाश मे तलमलिनता देखते हैं । वस्तुत आकाश तो तलमलिनतादि से रहित है क्योंकि उसके स्वभाव से इसका मेल नहीं बैठता । उक्त दृष्टान्त के समान विवेकशून्य मूढ लोगों के द्वारा ही ऐसा मान लिया जाता है कि मैं भूखा हूँ मैं प्यासा हूँ यह ब्रह्म भी क्षुधा पिपासा से युक्त है , परमार्थत तो अशनाया और पिपासा का अतिक्रमण हो जाता है क्योंकि इन धर्मों से आत्मा का तालमेल नहीं बैठता । इसमे श्रुति भी प्रमाण है— सम्पूर्ण भूतों का अन्तरात्मा एक ही (भ्रमजन्य) ससार के दु ख से लिप्त नहीं होता बल्कि (रज्जु आदि के समान भ्रमबुद्धिजन्य अध्यास से) बाहर ही रहता है । भावार्थ यह है कि वह अल्पज्ञो द्वारा अध्यारोपित दु ख से लिपायमान नहीं होता । एक प्राण के ही धर्म होने से (प्राणोपादानक होने से) अशनाया और पिपासा म समस्त पद का प्रयोग मन्त्र म किया गया है ।

मन्त्र मे 'शोकम्' और मोहम् पद है इनम शोक यह काम है । इष्ट वस्तु के लिए चिन्तन करते

---

१ उक्तदृष्टान्तवत् । २ अशनायापिपास । ३ प्राणकर्ति—शोकमूलकत्वाच्चेरयवशब्दाय । तदुक्त वार्तिके— शाकादासङ्गबीजाद्धि जज्ञात त यथोदित । इच्छाविशेषास्ताभ्या च जज्ञिरेऽन्ये सहस्रश ॥ ५७ ॥ इति । सङ्गात्सजायते काम इति स्मृतरासङ्गकार्याच्छोकादिनाऽब्दतात्कामादशनायापिपासे जायत इति योजना । (अत्रासङ्ग शोभनाध्यास) यथोक्तस्मृतिद्योती हिशब्द । तत्रापादान प्राणकामा निमित्तामेति विवेक । ४ प्राणोपादानकत्वात् । ५ अरमण चित्तानवस्थिति । ६ तयो काय प्रसङ्गादाह—इच्छेति । ७ प्रमाणोक्तिरियम् । ८ तच्चेति पाठ । ९ भाष्यस्थ । १० लेपाभावे अध्यासतयोरित्यथ । ११ सघातस्य । १२ अविद्वदितीति—तथा च लोकशब्दोऽविद्वज्जीव पर इति भाव । १३ हतुरयम् । १४ अरतिश्चित्तानवस्थिति । १५ कामपर्याय । १६ अरतिपर्याय । १७ समास कृत्वाभिधाने । १८ अरतिश्चित्तानवस्थिति । समास कृत्वाभिधाने । अनवस्य जन्ये लक्षणयेति भाव ।

मिभूतस्य कामबीज तेन हि कामो दीप्यते। मोहस्तु विपरीतप्रत्ययप्रसवोऽविवेको भ्रमः। स चाविद्या[1] सर्वस्यानर्थस्य [2]प्रसवबीजम्। भिन्नकार्यत्वात्तयोः शोकमोहयोरसमासकरणम्। तौ [3]मनोधिकरणौ। तथा शरीराधिकरणौ जरा मृत्युं चात्येति। जरेति कार्यकरणसंघातविपरिणामो वलीपलितादिलिङ्गः। मृत्युरिति [4]तद्विच्छेदो [5]विपरिणामावसानः। तौ जरामृत्यू शरीराधिकरणावत्येति।

ये तेऽशनायादयः प्राणमनःशरीराधिकरणाः प्राणिष्वनवरत वर्तमाना अहोरात्रादिवत्समुद्रोर्मिवच्च प्राणिषु ससार इत्युच्यते। योऽसौ दृष्टेर्द्रष्टेत्यादिलक्षणः साक्षादव्यवहि-

'लौकिक सम्यग्ज्ञानविरोधाद्भ्रमोऽविवेकोऽयुच्यते। तस्या सर्वानर्थोत्पत्तौ निमित्तत्व मूलाविद्यायास्तूपादानत्व तदेतदाह—मोहस्त्विति। कामस्य 'शोको मोहो तु तस्य हेतुरिति भिन्नकार्यत्व तद्विच्छेद इत्यत्र कार्यकरणसघातस्तच्छब्दार्थं।

ससाराद्विरक्तस्य पारिव्राज्य वक्तुमुत्तर वाक्यमित्यभिप्रेत्य सक्षेपत संसारस्वरूपमाह—ये त इत्यादिना। तेषामात्मधर्मत्वं व्यावर्तयितु विशिनष्टि—प्राणेति। तेषा 'स्वरसतो विच्छेदशङ्का 'वारयति—प्राणिष्विति। प्रवाहरूपेण नैरन्तर्यं दृष्टान्तमाह—अहोरात्रादिवदिति। तेषामतिचपलत्वे दृष्टान्त'—समुद्रोर्मिवदिति। तेषा "हेयत्व द्योतयति—प्राणिष्विति। ये यथोक्ता प्राणिष्वशनायादयस्ते तेषु ससार इत्युच्यत इति योजना। एत वं तमित्यत्र तच्छब्दार्थमुपस्तप्रश्नोक्त त्वपदार्थं कथयति

हुए चित्त स्थिर नही हुआ करता वही तृष्णाभिभूत पुरुष के काम का बीज होता है। विपरीतप्रतीति से होने वाला अविवेकरूप भ्रम ही मोह है। वह कार्याविद्या सभी अनर्थों की उत्पत्ति कारण है। शोक और मोह इन दोनो पदो मे समास इसलिए नही किया क्योंकि उनके कार्य पृथक् पृथक् है। उन दोनो का अधिकरण मन है। इसी प्रकार शरीराधिकरण वाले जरा और मृत्यु का भी अतिक्रमण कर लेता है। यह जरा कार्यकरणसघात का विपरिणाम है, झुर्रियां पडना, बाल पकना, इसके चिह्न हैं। यह 'मृत्यु' स्थूलसूक्ष्म कार्यकरण का परस्पर वियोग है, स्थूलदेह विनाशपर्यन्त उसका विपरिणाम है। उन शरीररूप अधिकरण वाले जरा-मृत्यु का वह अतिक्रमण कर लेता है।

ये जो अशनाया और पिपासादि है, वे प्राण, मन और शरीररूप अधिकरण वाले तथा प्राणियो मे दिन रात्रि के सदृश समुद्र की तरङ्गो के सदृश निरन्तर रहने वाले है, उसे ही लोकव्यवहार

[1] कार्याविद्या। [2] उत्पत्तिकारणम्। [3] मनोधिकरणाविति वार्तिक— प्राणाधिकरण पूर्वं शोकमोहौ मनोगतौ। जरामृत्यू तु देहस्य धर्माविति विनिश्चय ॥ अशनायादिसबन्धो नाऽऽत्मना वास्तवो मत। अनिर्मोक्षप्रसक्ति स्यात्तस्य चासङ्गरूपत ॥ यत एवमत प्रत्यग्याथात्म्यानवबोधत। अशनायादिसबन्ध सम्यग्बोधादतो हृति" ॥६६ ६८॥ इति। ननु तेषामात्मधर्मत्वान्न धीप्राणादिधर्मत्व न हि त चेतनादन्यत्र भाव्यत आह—अशनायादीति। विपक्षे दोषमाह—अनिर्मोक्षेति। इतश्चाऽऽत्मन्यशनायादिसबन्धो न वास्तवोऽस्तीत्याह—तस्य चेति ॥ त्वन्मतेऽपि कथ मुक्तिस्तत्राऽऽह—यत इति। आत्मनि वस्तुतोऽशनायाद्यभावात्तस्य मोहजत्वात्तन्निवृत्तौ मुक्ति सुकरेत्यथ ॥ [4] तद्विच्छेद इति—तथा कार्यकरणयो स्थूलसूक्ष्मयो विच्छेद परस्परवियोग इत्यर्थ। [5] स्थूलदेहविनाशपर्यन्त। [6] लोकप्रसिद्ध। [7] अरति। [8] स्वत इति यावत्। [9] अनवरतमित्युक्त्या। [10] ससारो हि हेयो भवति।

गवादेरुपादानमनेन कर्म कृत्वा पितृलोकं जेष्यामीति विद्यासंयुक्तेन वा देवलोकं केवलया वा हिरण्यगर्भविद्यया दैवेन वित्तेन देवलोकम्।

दैवाद्वित्ताद्व्युत्थानमेव नास्तीति केचित्। यस्मात्तद्बलेन हि किल व्युत्थानमिति। तदसत्। एतावान्वै काम इति पठितत्वादेषणामध्ये दैवस्य वित्तस्य। हिरण्यगर्भादिदेवताविषयैव विद्या वित्तमित्युच्यते। देवलोकहेतुत्वात्। न हि निरुपाधिकप्रज्ञानघनविषया ब्रह्मविद्या देवलोकप्राप्तिहेतुः। "तस्मात्तत्सर्वमभवत्" "आत्मा ह्येषां स भवति"

मानुषं गवादि तस्य कर्मसाधनस्योपादानमुपार्जनं तेन कर्म कृत्वा केवलेन कर्मणा पितृलोकं जेष्यामि। दैवं वित्तं विद्या तत्संयुक्तेन कर्मणा देवलोकं केवलया च विद्यया तमेव जेष्यामीतीच्छा वित्तैषणा ततश्च व्युत्थानं कर्तव्यमिति व्याचष्टे—कर्मसाधनस्येति। एतेन लोकैषणायाश्च व्युत्थानमुक्तं वेदितव्यम्।

दैवाद्वित्ताद्व्युत्थानमाक्षिपति—दैवादिति। तस्यापि कामत्वात्ततो व्युत्थातव्यमिति परिहरति—तदसदिति। तर्हि ब्रह्मविद्यायाः सकाशादपि व्युत्थानात्तन्मूलध्वंसे तद्व्याघातः स्याद्विद्यायाः शङ्कायाऽऽह—हिरण्यगर्भादीनि। देवतोपासनाया वित्तशब्दितविद्यात्वे हेतुमाह—देवलोकेति। तत्प्राप्तिहेतुत्वं ब्रह्मविद्यायामपि तुल्यमिति चेन्नेत्याह—न हीति। तत्र फलान्तरश्रवणं हेतू करोति—

निर्व्यापार द्वारा प्रव्रज्यान करके, भिक्षाचर्या किया करते हैं। कहाँ से प्रव्रज्यिति करते हैं—इस पर श्रुति कहती है। "पुत्रैषणाया" अर्थात् पुत्रविषयिणी इच्छा से यानी मैं पुत्रोत्पत्ति कर यह लोक जीतूँगा, इसलिये लोकजय के साधनभूत पुत्र की इच्छा के लिए विवाह होता है, उस पत्नीप्राप्तिरूप विवाह का परित्याग करके भिक्षाचर्या करते हैं। इसी प्रकार "वित्तैषणायाश्च" में वित्तपद कर्म के साधन गवादि का उपादान है, कर्म के साधन इस गवादिवित्त से कर्म करके मैं पितृलोक पर विजय प्राप्त करूँगा इस बुद्धि से उनका उपादान करना अथवा विद्यासंयुक्त कर्म से देवलोक यानी केवल हिरण्यगर्भ विद्यारूप देववित्त से देवलोक प्राप्त करूँगा, इसी का नाम वित्तैषणा है।

भर्तृप्रपञ्चादि किन्हीं दार्शनिकों का मत है कि दैववित्त से विपरीत प्रव्रज्यिति तो होती ही नहीं क्योंकि उसी की शक्ति से तो व्युत्थान होता है। ऐसा कहना ठीक नहीं है—क्योंकि "बस इतने विषय से परिच्छिन्न ही काम है" इस श्रुति में दैववित्त को भी एषणा के अन्तर्गत ही लिया गया है। तथा हिरण्यगर्भादि देवताविषयिणी विद्या को दैववित्त कहा गया है क्योंकि वह देवलोकप्राप्ति की हेतु है। निरुपाधिक प्रज्ञानघनविषयिणी ब्रह्मविद्या देवलोकप्राप्ति की हेतु नहीं हो सकती। " (उत्पत्ति से

१ कर्मसाधनगवादिवित्ते। २ इति धिया उपादानमिति पूर्वत्रान्वयः। ३. भर्तृप्रपञ्चमतानुयायिनः। ४. बृ० उ० १।४।१७। ५ बृ० उ० १।४।१०। ६. एतेनेति—साधनैषणातो व्युत्थाननिरूपणेन फलैषणातो व्युत्थानं निरूपितमेव वेदितव्यमित्यर्थः॥ लोकैषणाशब्दार्थमाहुर्वार्तिके—"लोकानुद्दिश्य यः कामस्तत्साधनसमाश्रयः। लोकैषणेति तामाहुः काम्यकर्मार्थमुद्यमम्" ॥ ११७॥ इति। फलेच्छया तद्धेतुविषयो यः कामः स लोकैषणेत्युच्यते तां च काम्यकर्मार्थमारम्भमाहुरिति योजना॥ ७ तर्हीति—विद्यात्मकदैववित्ताद्व्युत्थानाभ्युपगम इत्यर्थः। विद्यात्वाविशेषादिति शेषः। ८ सन्यासात्मकव्युत्थानमूलविद्याध्वंसे व्युत्थानव्याघात इत्यर्थः। ९. देवलोकप्राप्तिहेतुत्वम्। १०. ब्रह्मविद्याया देवलोकप्राप्तिहेतुत्वाभावे।

इति श्रुतेः। तद्बलेन हि व्युत्थानम् "एत वै तमात्मानं विदित्वा" इति विशेषवचनात्। तस्मात्त्रिभ्योऽप्येतेभ्योऽनात्मलोकप्राप्तिसाधनेभ्य एषणाविषयेभ्यो व्युत्थाय। एषणा कामः "एतावान्वै काम." इति श्रुते.। एतस्मिंस्त्रिविधेऽनात्मलोकप्राप्तिसाधने तृष्णामकृत्वेत्यर्थः।

सर्वा हि साधनेच्छा फलेच्छैव। अतो व्याचष्टे श्रुतिरेकैवैषणेति। कथम्। या ह्येव पुत्रैषणा सा वित्तैषणा। दृष्टफलसाधनत्वतुल्यत्वात्। या वित्तैषणा सा लोकै-

---

तस्मादिति। इतश्च ब्रह्मविद्या देवादिभ्यो बहिरेवेत्याह—तद्बलेनेति। प्रागेव वेदन सिद्ध चेत्किं पुनर्व्युत्थानेनेत्याशङ्क्य 'प्रयोजकज्ञान-'तत्प्रयोजकमुद्देश्य" तु तत्त्वसाक्षात्करणमिति विवक्षित्वाऽऽह—तस्मादिति। प्रयोजकज्ञान "पञ्चम्यर्थ.। व्युत्थाय भिक्षाचर्यं चरन्तीति सबन्ध। व्युत्थानस्वरूपप्रदर्शनार्थमेषणास्वरूपमाह—एषणति। "किमेतावतेत्याशङ्क्य व्युत्थानस्वरूपमाह—एतस्मिन्निति। "सबन्धस्तु पूर्ववत्।

या ह्येवेत्यादि श्रुतेस्तात्पर्यमाह—सर्वा हीति। फल नेच्छति साधन च चिकीर्षतीति व्याघातात्फलेच्छान्तर्भूतैव साधनेच्छा तद्युक्तमेषणैक्यमित्यर्थः। श्रुतेरुक्तैक्यमुत्पादकत्व प्रश्नपूर्वक

पूर्व यह नाम-रूपात्मक जगत् ब्रह्मस्वरूप ही था, उसने अपने को ही जाना कि मैं ब्रह्म हूँ) इसी विज्ञान से वह सर्वरूप हो गया", "क्योकि वह तत्त्वज्ञानी इन देवताओ का भी आत्मा ही हो जाता है" ऐसा श्रुति भी समर्थन करती है। आत्मबुद्धि के बल से ही व्युत्थान होता है। इसी से प्रकरणस्थ मन्त्र मे "उस इस आत्मा को (मैं नित्यमुक्त नित्यतृप्त परब्रह्म हूँ, ऐसा) जानकर (भिक्षाटन करते हैं)"—ऐसा विशेष वचन है। इसलिए एषणा के विषयभूत अनात्मलोक के प्राप्ति कराने वाले इन तीनो ही साधनो से विपरीत व्यवस्थिति करके भिक्षावृत्ति का आश्रय लेते है। "इतना ही काम है" इस श्रुतिवाक्य के अनुसार एषणा ही काम्य है। अर्थात् अनात्मलोकप्राप्ति के इन तीनो साधनो मे तृष्णा न करके भिक्षाटन करते है।

साधन की इच्छा चाहे किसी भी प्रकार की हो, सभी फल की इच्छा ही है। इसलिए (साधनेच्छा फलेच्छारूप होने से) श्रुति कहती है—एक ही एषणा है। ऐसा क्यो कहते हो? क्योकि जो पुत्रैषणा है, वही वित्तैषणा है क्योकि उनका दृष्ट फल म साधन होना समान है, (पुत्रैषणा से

---

१ आत्मधीबलेन। २ काम्य। ३ बृ० उ० १।४।१७। ४ साधनेच्छाया फलेच्छारूपत्वात्। ५ या ह्येवेत्यादि मूलवाक्यमित्य योज्यम् तथाहि—फलेच्छासाधनमुपसक्रामतीति न्यायाल्लोकैषणैवैकत्याह—या हीति। हि प्रसिद्धा या पुत्रैषणा सैव वित्तैषणा दृष्टफलसाधनत्वादिसामान्यात् या पुत्रैषणया एकत्वमापन्ना वित्तैषणा सा लोकैषणैव साध्यलोकैषणाप्रयुक्तत्वात् (प्रयोज्यप्रयोजकैक्याभिप्रायात्) साधनैषणाया एवमेकत्वेऽपि लोकैषणाया साधनमन्तरेणासिद्धे साध्यसाधनभेदेन द्वैविध्यमाह—उभे इति। हि यस्मादुभे एते साध्यसाधनरूपे एषणे एव भवत इति। ६ दृष्टेत्यादि—पुत्रवित्तैषणयोर्मिथो हेतुहेतुमद्भावाच्चेत्यपि द्रष्टव्यम्। विस्तरस्तु वार्तिके। ७ पुत्रैषणयैक्यमापन्ना। ८ आपातज्ञान परोक्षज्ञान वा। ९ व्युत्थानेति यावत्। १० व्युत्थानोद्देश्यम्। ११ तथा च प्रयोजकज्ञानबलादित्यर्थ। १२ एषणास्वरूपप्रदर्शनमात्रेण किमायातम्। १३ तृष्णामकृत्वा भिक्षाचर्य चरन्तीति सबन्ध इत्यर्थ।

षणा । फलार्थैव सा । सर्वः फलार्थप्रयुक्त एव हि सर्वं साधनमुपादत्ते । अत एकैवैषणा या लोकैषणा सा साधनमन्तरेण संपादयितुं न शक्यत इति । साध्यसाधनभेदेनोभे हि यस्मादेते एषणे एव भवतः । तस्माद्ब्रह्मविदो नास्ति कर्म कर्मसाधनं वा ।

अतो येऽतिक्रान्ता ब्राह्मणाः सर्वं कर्म कर्मसाधनं च सर्वं देवपितृमानुषनिमित्तं यज्ञोपवीतादि । तेन हि दैवं पित्र्यं मानुषं च कर्म क्रियते । "निवीतं मनुष्याणाम्"

व्युत्पादयति—कथमित्यादिना । फलैषणान्तर्भावं साधनैषणायाः समर्थयते—सर्व इति । उभे हीत्यादि-श्रुतिमवतार्य व्याचष्टे—या लोकैषणेति ।

प्रयोजकज्ञानवशः साध्यसाधनरूपात्संसाराद्विरक्तस्य कर्मतत्साधनयोरसंभवे साक्षात्कारमुद्दिश्य फलितं संन्यासं दर्शयति—अत इति । अतिक्रान्ता ब्राह्मणाः कि प्रजयेत्यादिप्रकाशितास्तेषां कर्म कर्मसाधनं च यज्ञोपवीतादि नास्तीति पूर्वेण संबन्धः । देवपितृमानुषनिमित्तमिति विशेषणं विशदयति—तेन हीति । प्राचीनावीतं पितॄणामुपवीतं देवानामित्यादिशब्दार्थः । यस्मात्पूर्वे विचारप्रयोजक-

---

अभिज्ञता को प्राप्त हुई) जो वित्तैषणा है, वही लोकैषणा है क्योंकि वह पुत्रवित्तादिरूप साधनैषणा फल के लिए ही है। लोकव्यवहार में फलरूप प्रयोजन से प्रेरित होकर ही सारे साधन सम्पादित किये जाते हैं। इसलिए एषणा एक ही है, और वह है— लोकैषणा। उसका साधन के बिना सम्पादन करना असम्भव है। क्योंकि साध्य और साधनभेद से ये दोनों ही एषणाएँ ही हैं, इसलिये ब्रह्मनिष्ठ विद्वान् के लिए कर्म अथवा कर्म के साधन का विधान नहीं है।

अत (विद्वान के लिए कर्म का विधान सम्भव न होने के कारण) जो पूर्ववर्ती ब्राह्मण थे, वे सम्पूर्ण कर्म तथा देव, पितृ और मनुष्य लोक के निमित्त यज्ञोपवीत-शिखादि सम्पूर्ण साधनों की विपरीत अवस्थिति कर भिक्षावृत्ति स्वीकार करते थे क्योंकि यज्ञोपवीत-शिखादि से ही देव, पितृ और मनुष्य लोक प्राप्ति के लिए कर्म किए जाते हैं। जैसे श्रुति भी कहती है कि "मनुष्यलोक प्राप्ति के लिए दान-सम्बन्धी कर्मों में यज्ञोपवीत को माला की भाँति गले में धारण करे"। इसलिए पहले ब्रह्मवेत्ता ब्राह्मण

---

१ पुत्रवित्तादिरूपसाधनैषणा । २ अत इति—सर्वस्यापि फलार्थित्वेनैव साधनोपादानदर्शनादित्यर्थः । वार्तिके यथा—"साध्यैषणाप्रयुक्तत्वात्पुत्रवित्तैषणात्मन । एका लोकैषणैवेयं द्विधात्तो व्यपदिश्यते" ॥१३५॥ इति । या पुत्रैषणेत्यादिना त्रिधोक्ता सेयमेकैव लोकैषणेतरस्यास्तत्प्रयुक्तत्वादिति योजना । ३ इतीति—न हि साध्यस्य साधनं विना स्वभावादुत्पत्तिः स्वभाववादनिरासादत साध्यानुसारि साधनमेष्टव्यमित्यभिप्रायकमुभे हीत्यादि वाक्यमिति भाव । ४ विदुषा कर्मासम्भवात् । ५ आदिना शिखा ग्राह्या । ६ तेन हीत्यादि—यज्ञोपवीतादिना हि दैवं कर्म होमादि, पित्र्यं श्राद्धादि, मानुषं च दानादीति विवेक । ७ निवीतं मनुष्याणामिति—मनुष्योद्देश्यकदानादिकर्मसर्वा च ब्रह्मसूत्र (यज्ञसूत्र) निवीतं कुर्यादित्यर्थः । एवमुत्तरत्राप्यर्थोऽनुसंधेय ॥ अत्रामरः—"उपवीतं ब्रह्मसूत्रं प्रोद्धृते दक्षिणे करे । प्राचीनावीतमन्यस्मिन् निवीतं कण्ठलम्बितमिति" ॥ दक्षिणे करे प्रोद्धृते बहिष्कृते सति यद्ब्रह्मसूत्रं तदुपवीतमित्युच्यते वामस्कन्धार्पितमिति यावत् । वामकरे । समानमन्यत् । कण्ठलम्बितमिति करद्वये बहिष्कृते कण्ठे मालेव ऋजुभावेनार्पितमित्यर्थः । ८ बृ० उ० ४।४।२२ ।

इत्यादिश्रुतेः । तस्मात्पूर्वे ब्राह्मणा ब्रह्मविदो व्युत्थाय कर्मभ्यः कर्मसाधनेभ्यश्च यज्ञोपवीतादिभ्यः परमहंसपारिव्राज्यं प्रतिपद्य [1]भिक्षाचर्यं चरन्ति भिक्षार्थं चरणं भिक्षाचर्यं [2]चरन्ति त्यक्त्वा [3]स्मार्तं लिङ्गं केवलमाश्रममात्रशरणानां जीवनसाधनं पारिव्राज्यव्यञ्जकम् । विद्वांल्लिङ्गवर्जितः । "तस्मादलिङ्गो धर्मज्ञोऽव्यक्तलिङ्गोऽव्यक्ताचारः" इत्यादिस्मृतिभ्यः । "अथ परिव्राड्[4]विवर्णवासा मुण्डोऽपरिग्रहः" इत्यादिश्रुतेः । सशिखान्केशान्निकृत्य विसृज्य यज्ञोपवीतमिति च[5] ।

ननु व्युत्थायाथ भिक्षाचर्यं चरन्तीति[6] वर्तमानापदेशादर्थवादोऽयं न विधायकः

ज्ञानवन्तो ब्राह्मणा विरक्ताः संन्यस्य [7]तत्प्रयुक्तं [8]धर्ममन्वतिष्ठंस्तस्मादधुनातनोऽपि प्रयोजकज्ञानी विरक्तो ब्राह्मणस्तथा कुर्यादित्याह—तस्मादिति । 'त्रिदण्डेन यतिश्चैव' इत्यादिस्मृतेर्नं परमहंसपारिव्राज्यमत्र विवक्षित[9]मित्याशङ्क्याऽऽह—त्यक्त्वेति । [10]तस्य दृष्टार्थत्वान्मुमुक्षुभिस्त्याज्यत्वं सूचयति—केवलमिति । अमुख्यत्वाच्च तस्य त्याज्यतेत्याह—पारिव्राज्येति । [11]तथाऽपि त्वविदुः [12]संन्यासो न स्मृतिकारैर्निबद्ध इति चेन्नेत्याह—विद्वानिति । [13]प्रत्यक्षश्रुतिविरोधाच्च स्मार्तसंन्यासो मुख्यो न भवतीत्याह—अथेति ।

एतं वै तमित्यादिवाक्यस्य विधायकत्व[14]मुपेत्य सर्वकर्मतत्साधनपरित्यागपरत्वमुक्तमाक्षिपति

कर्म और उसके साधन यज्ञोपवीत-शिखा का परित्याग करके परमहंस परिव्राजक भाव को प्राप्त कर श्रवणादि से अवशिष्ट समय मे देहस्थिति के लिए भिक्षाचरण करते हैं। भिक्षा के लिए जाने का नाम भिक्षाचर्या है। स्मृतिप्रोक्त त्रिदण्डादिरूप लिङ्ग को छोड़कर केवल पारिव्राज्य आश्रममात्र मे शरणापन्न हुए देहयात्रा को चलाना सन्यास का अभिव्यञ्जक है। विद्वान् एव बाह्य चिह्नों से वर्जित (भिक्षा करते हैं)", "इसलिए सन्यासी लिङ्गरहित, धर्मज्ञ और अव्यक्तलिङ्ग एव अव्यक्त आचार वाला होकर रहे" इत्यादि स्मृति प्रमाण है। श्रुति भी कहती है—"सन्यासी परिव्राट्, विना श्वेत वस्त्र यानी कापायवस्त्रधारी मुण्डी और परिग्रहरहित होकर रहे", "शिखासहित केशों का मुण्डन करके, यज्ञोपवीत को त्याग कर भिक्षाचर्या करते हैं।"

मन्त्र मे "व्युत्थायाथ भिक्षाचर्यं चरन्तीति" इस वाक्य मे वर्तमान काल का प्रयोग होने से

१ श्रवणादिशेषकाले देहस्थित्यर्थम् । २ कुर्वन्ति । ३ स्मृत्युक्त त्रिदण्डादिरूपम् । ४. विगतश्वेतवर्णं काषायमित्यर्थं । ५ श्रुतेः । ६. भूतार्थवाद । ७ सन्यासप्रयुक्तम् । ८. श्रवणादिरूप भिक्षादिरूप च । ९ इत्याशङ्क्येति—आश्रमान्तराणि लक्षयित्वा त्रिदण्डेन यतिश्चैवेति मोक्षाश्रम लक्षयता दक्षेण शिखायज्ञोपवीतादिपरित्यागरूप पारिव्राज्य निराकृतमत शिखादिशालिनस्त्रिदण्डिन. सर्वस्मृतिप्रसिद्धाः सन्यासिनस्तेषामेव व्युत्थायेत्यादि वाक्ये ग्रहणमिति शङ्कितुराशय । आहेति—स्मार्तसन्यासस्य श्रुतिविरोधेन सत्त्वमेव नास्तीत्याशयन ब्रूत इत्यर्थः । उक्त हि वार्तिके—"मुण्डोऽपरिग्रहश्चेति प्रत्यक्षश्रुतिवाक्यतः । तद्विरुद्धं स्मृतेर्वाक्य नापेक्ष्य दुर्बलत्वत " ॥ १५८ ॥ इति । १०. स्मार्तलिङ्गस्य । ११. तथाऽपीति—श्रौतवक्ष्यमाणसन्यासापेक्षया स्मार्तसन्यासस्य दुर्बलत्वेनामुख्यत्वात्त्याज्यत्वेऽपीत्यर्थ. । १२. पारमहंस्याख्यः । १३. प्रत्यक्षश्रुतीति—स्मृत्या तन्मूलश्रुत्यनुमानेऽपि प्रत्यक्षापेक्षया दुर्बलत्वमेवानुमेयस्येत्यभिप्रायः । १४. उपेत्येति—व्युत्थायेत्यशस्य सन्यासविधायकत्व भिक्षाचर्यं चरन्तीत्यशस्य तद्धर्मविधायकत्व च प्रौढ्या स्वीकृत्येत्यर्थः ।

प्रत्ययः कश्चिच्छ्रूयते लिङ्लोट्तव्यानामन्यतमोऽपि । तस्मादर्थवादमात्रेण श्रुतिस्मृतिविहितानां यज्ञोपवीतादीनां साधनानां न शक्यते परित्यागः कारयितुम् । यज्ञोपवीत्येवाधीयीत याजयेद्यजेत वा । पारिव्राज्ये तावदध्ययनं विहितम्—

"वेदसंन्यसनाच्छूद्रस्तस्माद्वेदं न सन्यसेत्" इति ।

"स्वाध्याय एवोत्सृज्यमानो वाचम्" इति चाऽऽपस्तम्बः ।

"ब्रह्मोज्भं वेदनिन्दा च कौटसाक्ष्यं सुहृद्वधः ।

गर्हितान्नाद्ययोर्जग्धिः सुरापानसमानि षट्"

इति वेदपरित्यागे दोषश्रवणात् । उपासने गुरूणां वृद्धानामतिथीनां होमे जप्यकर्मणि भोजन आचमने स्वाध्याये च यज्ञोपवीती स्यादिति पारिव्राजकधर्मेषु च

—नन्विति । इतश्च यज्ञोपवीतमपरित्याज्यमित्याह—यज्ञोपवीत्येवेति । याजनादिसमभिव्याहारादसंन्यासिविषयमेतदित्याशङ्क्याऽऽह—पारिव्राज्ये तावदिति । वेदत्यागे दोषश्रुतेस्तत्त्यागेऽपि कथं पारिव्राज्ये यज्ञोपवीतित्वमित्याशङ्क्याऽऽह—उपासन इति । इत्यनेन वाक्येन गुर्वाद्युपासनाङ्गत्वेन यज्ञोपवीतस्य विहितत्वात्परिव्राजकधर्मेषु गुरूपासनादीनां कर्तव्यतया श्रुतिस्मृतिषु चोदितत्वाद्यज्ञोपवीतपरित्यागोऽवगन्तुं नैव शक्यत इत्यन्वयः । संप्रति प्रौढिमारूढो व्युत्थाने विधिमङ्गीकृत्यापि

यह भूतार्थवाद ही है । विधानप्रतिपादक लिङ्, लोट् और तव्य प्रत्ययों में से यहाँ एक का भी श्रवण नहीं होता है । विधानप्रतिपादक प्रत्यय के अभाव में भूतार्थवाद से श्रुतिस्मृतिविहित यज्ञोपवीतादि साधनों में से किसी का भी परित्याग नहीं कराया जा सकता । यज्ञोपवीतधारी वेदों का अध्ययन करे, यज्ञ करे अथवा कराए । सन्यास में तो अध्ययन का विधान है ही ।

"वेदों के त्याग करने से शूद्र हो जाता है—इसलिये वेदों का त्याग न करे" ।

"वेदों का त्याग करने वाले को भी स्वाध्याय के लिए उचित समय निकालना चाहिये" ऐसा आपस्तम्ब मुनि का मत है ।

"पढ़े हुए वेद को अनभ्यासवशात् भूल जाना, वेद की निन्दा करना, कूटसाक्ष्य, मित्र का वध, गर्हित अन्न और पूर्व न खाने का सकल्प कर पुन उसी को खा लेना ये छ सुरापान के समान पापकर्म हैं" । इस प्रकार वेद त्याग में दोष सुना गया है । "गुरु, वृद्ध और अतिथियों की उपासना, होम, जपकर्म, भोजन, आचमन और स्वाध्याय में यज्ञोपवीत धारण किये होना चाहिये" इस प्रकार श्रुति

१ विधायकाभावात् । २ वेदान् । ३ स्वाध्याय एवेत्यादि—अत्र स्वाध्यायोऽध्ययनोचितसमय तत्रापि वेदाध्ययन सन्यसन् शूद्रो भवतीत्यर्थः । ४ त्यजन् । ५ वेदम् । ६ ब्रह्मोज्भमिति—अत्र ब्रह्मोज्झिता वेदनिन्देति चकाररहित पाठम् । अधीतवेदस्यानभ्यासेन विस्मरण ब्रह्मोज्झिता । असच्छास्त्रश्रवणेन वेदकुत्सन वेदनिन्दा । साक्ष्ये मृषाभिधान कौटसाक्ष्यम् । अब्राह्मणस्य मित्रस्य वध सुहृद्वध । गर्हित निषिद्ध लशुनादि । अनाद्य पुरीषादि । मेधातिथिस्तु न भोज्य मया तदिति सकल्प्य यदभुज्यत तदनाद्यमिति व्याचष्टे—तयोर्जग्धिर्भक्षणम् इति मनुवचनार्थः । ७ म० स्मृ० ११।५७ । ८ यज्ञोपवीतिकर्तृकाध्ययनबोधिवाक्यम् । ९ पूर्वपक्षी ।

दार्ढ्योपपत्तिस्तथा भिक्षाचर्यस्य च। यत्पुनरुक्तं वर्तमानापदेशादर्थवादमात्रमिति। न। औदुम्बरयूपादिविधिसमानत्वाददोषः।

व्युत्थाय भिक्षाचर्यं चरन्तीत्यनेन पारिव्राज्यं विधीयते। पारिव्राज्याश्रमे च यज्ञोपवीतादिसाधनानि विहितानि लिङ्गं च श्रुतिभिः स्मृतिभिश्च। अतस्तद्वर्जयित्वाऽन्यस्माद्व्युत्थानमेषणात्वेऽपीति चेत्। न। विज्ञानसमानकर्तृकात्पारिव्राज्यादेषणाव्युत्थानलक्षणात्पारिव्राज्यान्तरोपपत्तेः। यद्धि तदेषणाभ्यो व्युत्थानलक्षणं पारिव्राज्यं तदात्मज्ञानाङ्गम्। आत्मज्ञानविरोध्येषणापरित्यागरूपत्वात्। अविद्याविषयत्वाच्चैषणायाः। तद्व्यतिरेकेण चास्त्याश्रमरूपं पारिव्राज्यं ब्रह्मलोकादिफलप्राप्तिसाधनं यद्विषयं

स्यार्थवादत्वमुक्तमनूद्य दूषयति—यत्पुनरित्यादिना। औदुम्बरो यूपो भवतीत्यादौ सेद्परिग्रहेण विधिस्वीकारवदत्रापि पञ्चमलकारेण विधिसिद्धेर्नार्थवादत्वशङ्केत्यर्थः।

संप्रति प्रकृते वाक्ये पारिव्राज्यविधिमङ्गीकृत्य स्वयूथ्यः शङ्कते—व्युत्थायेति। का तर्हि विप्रतिपत्तिस्तत्राऽऽह—पारिव्राज्येति। लिङ्गं त्रिदण्डत्वादि। 'पुराणे यज्ञोपवीते विसृज्य नवमुपादायाऽऽश्रमं प्रविशेत्' 'त्रिदण्डी कमण्डलुमान्' इत्याद्याः श्रुतयः स्मृतयश्च। एषणात्वाद्यज्ञोपवीतादीनामपि त्याज्यत्वमुक्तमित्याशङ्क्य श्रुतिस्मृतिवशाद्व्युत्थाने संकोचमभिप्रेत्याह—अत इति। उदाहृतश्रुतिस्मृतीनां विषयान्तरं दर्शयन्नुत्तरमाह—नेत्यादिना। तदेव विवृणोति—यद्धीत्यादिना। तस्याऽऽत्मज्ञानाङ्गत्वे हेतुमाह—आत्मज्ञानेति। एषणायास्तद्विरोधित्वमेव कुतः सिद्धं तत्राऽऽह—अविद्येति। तर्हि यथोक्तानां श्रुतिस्मृतीनां किमालम्बनं तदाह—तद्व्यतिरेकेणेति। आश्रमत्वेन रूप्यते वस्तुतस्तु

भी उचित नहीं। औदुम्बर-यूपादि विधान के समान होने से यह भी निर्दोष है।

"एषणात्रय से व्युत्थान करके भिक्षाटन करते हैं" इस श्रुतिवाक्य से सन्यास का ही विधान किया जाता है। पारिव्राज्य आश्रम मे श्रुति-स्मृतियो द्वारा यज्ञोपवीतादि साधन एव लिङ्ग का विधान किया गया है। इसलिए यज्ञोपवीतादि के एषणात्मक होने पर भी उन्हे छोड कर अन्य एषणाओ से व्युत्थान करना चाहिये। (इस पर सिद्धान्ती कहता है)—ऐसा कहना ठीक नही। क्योकि विज्ञानकर्तृक सन्यास और एषणात्रयव्युत्थानरूप सन्यास मे अन्तर प्रसिद्ध ही है। पुत्रादि एषणाओ से व्युत्थानरूप जो सन्यास है, वह आत्मज्ञान का अङ्ग है क्योकि उक्त सन्यास आत्मज्ञानविरोधी एषणापरित्यागरूप है। एषणाएँ अविद्या से उत्पन्न होती है। आत्मज्ञान के अङ्गरूप सन्यास से व्यतिरिक्त आश्रमरूप सन्यास ब्रह्मलोकादि फलप्राप्ति का साधन है, जिसके विषय मे यज्ञोपवीतादि साधन एव लिङ्ग का विधान किया

१ व्युत्थानादिवाक्यम्। २ अत इति—यज्ञोपवीतादेरेषणात्वेऽपि श्रुत्याद्यनुरोधाद्यज्ञोपवीताद्यतिरिक्तैषणापदवाच्याद्व्युत्थानानभ्युपेयमित्यर्थः। ३ तद्—पुत्रादि। ४ उक्तपारिव्राज्यस्य। ५ जन्यत्वात्। ६ तद्व्यतिरेकेण—निरुक्तात्मज्ञानाङ्गपारिव्राज्यव्यतिरिक्तमित्यर्थः। ७ स्वस्यैकदेशी। ८ तर्हीति—प्रकृतवाक्ये पारिव्राज्यविध्यङ्गीकारे सतीत्यर्थः। का विप्रतिपत्ति—आवयोर्विवाद एव क। ९ तद्विरोधात्। १० सग्रहवाक्यमेव। ११ उक्तपारिव्राज्यस्य। १२ आत्मज्ञानविरोधित्वमेव। १३. तर्हि—उक्तपारिव्राज्यस्यात्मज्ञानाङ्गत्वे।

यज्ञोपवीतादिसाधनविधानं लिङ्गविधानं च ।

न चैषणारूपसाधनोपादानस्याऽऽश्रमधर्ममात्रेण पारिव्राज्यान्तरे विषये संभवति सति सर्वोपनिषद्विहितस्याऽऽत्मज्ञानस्य बाधनं युक्तम् । यज्ञोपवीताद्यविद्याविषयैषणारूपसाधनोपादित्सायां चावश्यं साध्यसाधनफलरूपस्याशनायादिसंसारधर्मवर्जितस्याहं ब्रह्मास्मीति विज्ञानं बाध्यते । न च तद्बाधनं युक्तम् । सर्वोपनिषदां तदर्थपरत्वात् ।

भिक्षाचर्यं चरन्तीत्येषणा ग्राहयन्ती श्रुतिः स्वयमेव बाधत इति चेत् । अथाप्येषणाभ्यो व्युत्थानं विधाय पुनरेषणैकदेशं भिक्षाचर्यं ग्राहयन्ती तत्संबद्धमन्यदपि

नाऽऽश्रमस्तत्त्वाभास इति यावत् । तस्याऽऽत्मज्ञानाङ्गत्वं वारयति—ब्रह्मेति ।

अथ व्युत्थानवाक्योक्तमुख्यपारिव्राज्यविषयत्वमेव लिङ्गादिविधानस्य किं न स्यात्तत्राऽऽह—न चेति । एषणारूपाणि साधनानि यज्ञोपवीतादीनि तेषामुपादानमनुष्ठानं तस्याऽऽश्रमधर्ममात्रेणोक्तस्य यथोक्ते संन्यासाभासे विषये सति प्रधानबाधेन मुख्यपारिव्राज्यविषयत्वमयुक्तमित्यर्थः । कथं पुनर्मुख्यपारिव्राज्यविषयत्वे यज्ञोपवीतादेरिष्टे प्रधानबाधनं तदाह—यज्ञोपवीतादीति । साध्यसाधनयोरासङ्गे तद्विलक्षणस्याऽऽत्मनो ज्ञानं बाध्यते चेत्का नो हानिरित्याशङ्क्याऽऽह—न चेति ।

भिक्षाचर्यं तावद्विहितं विहितानुष्ठानं च यज्ञोपवीतादि विना न संभवतीति श्रुत्यैवाऽऽत्मज्ञानं यज्ञोपवीतादिविरोधि बाधितमिति शङ्कते—भिक्षाचर्यमिति । शङ्कामेव विशदयति—अथापीत्यादिना ।

गया है ।

इसके अतिरिक्त अन्यविध संन्यास में आश्रमधर्ममात्र से एषणात्रयरूप साधनों का ग्रहण संभव होने से समस्त उपनिषदों के तात्पर्यविषय आत्मज्ञान का बाध होना उचित है । यज्ञोपवीतादि अविद्याजन्य एषणारूप साधनों को उपादान करने की इच्छा होने पर तो साध्यसाधनविलक्षण फलरूप एवं क्षुधादि सांसारिक धर्मों से रहित आत्मा के 'मैं ब्रह्म हूँ' इस विज्ञान का अवश्य बाध हो जाता है । और उसका बाध होना उचित नहीं है क्योंकि सभी उपनिषद् आत्मज्ञानरूप अर्थ में तात्पर्य वाली हैं ।

(इस पर पूर्वपक्षी शङ्का करता है)—"एषणात्रय से ऊपर उठकर भिक्षाटन करते हैं' इस श्रुति से एषणा को ग्रहण कराने वाली श्रुति का स्वयमेव बाध हो जाता है । यदि इस प्रकार मान भी लिया जाय तो भी एषणाओं से व्युत्थान का विधान करके पुनः एषणा के ही एकदेश भिक्षाटन का ग्रहण कराने के कारण भिक्षाचरण से आक्षिप्त अन्य यज्ञोपवीतादि का भी ग्रहण कराती है । (इस पर सिद्धान्ती

१ तात्पर्यविषयस्य । २ सत्याम् । ३ अवश्यमिति बाध्येतेत्यन्वय । बाधनेच्छाऽविषयभूतमपि बाध्येतैवेत्यर्थ । यज्ञोपवीती स्यामहं ब्रह्मास्मीति चानयोर्ज्ञानयोर्विरोधादिति भाव । ४ असाधनेति—साध्यसाधनविलक्षणस्येत्यर्थ । ५ वर्जितस्येति—आत्मन इति शेष । ६ तदर्थेति—आत्मज्ञानरूपेऽर्थे तात्पर्यवत्त्वादित्यर्थ । ७ इति श्रुतिरित्यन्वय । ८ बाधत—आत्मज्ञानमिति शेष । ९ तत्सम्बद्ध भिक्षाचरणाऽऽक्षिप्तम् । १० अन्यत्—यज्ञोपवीतादि । ११ प्रधानेति—सर्वोपनिषत्तात्पर्यविषयत्वेन प्रधानमात्मज्ञानं तद्बाधनेत्यर्थ । १२ आसङ्गे—आसक्तौ सत्याम् । १३ तद्विलक्षणस्य—साध्यसाधनविलक्षणस्य । १४ समुद्दीतशङ्काम् ।

ग्राहयतीति चेत्। न। भिक्षाचर्यस्याप्रयोजकत्वाद्धुत्वोत्तरकालभक्षणवत्। शेषप्रतिपत्तिकर्मत्वादप्रयोजकं हि तत् असंस्कारकत्वाच्च। भक्षणं पुरुषसंस्कारकमपि स्यान्न तु भिक्षाचर्यम्। नियमादृष्टस्यापि ब्रह्मविदोऽनिष्टत्वात्।

नियमादृष्टस्यानिष्टत्वे किं भिक्षाचर्येणेति चेत्। न। अन्यसाधनाद्व्युत्थानस्य

यथा हुतशेषस्य भक्षणं विहितमपि न द्रव्याक्षेपकं परिशिष्टद्रव्योपादानेन प्रवृत्तेस्तथा सर्वस्वत्यागे विहिते परिशिष्टभिक्षोपादानेन विहितमपि भिक्षाचरणमुपवीताद्यनाक्षेपकमित्युत्तरमाह—नेत्यादिना। दृष्टान्तमेव स्पष्टयति—शेषेति। तद्भक्षणमिति संबन्धः। अप्रयोजकं द्रव्यविशेषस्यानाक्षेपकमिति यावत्। यद्वा दार्ष्टान्तिकमेव स्फुटयति—शेषेति। सर्वस्वत्यागे विहिते शेषस्य कालस्य शरीरपातान्तस्य प्रतिपत्तिकर्ममात्रं भिक्षाचर्यमतो न तदुपवीतादिप्रापकमित्यर्थः। किंच भिक्षाचर्यस्य शरीरस्थित्यर्थत्वात्ऽक्षिप्तत्वान्न तत्रापि विधिर्दूरे तद्वशादुपवीतादिसिद्धिरित्याह—असंस्कारकत्वाच्चेति। तदेव स्फुटयते—भक्षणमिति। 'एककालं चरेद्भैक्षम्' इत्यादि नियमवशादहृष्टं सिध्येदुपवीतादिकमप्याक्षिपतीति चेन्नेत्याह—नियमेति। विविदिषोरिष्टमपि नोपवीताद्याक्षेपकं ज्ञानोत्पादकश्रवणाद्युपयोगि देहस्थित्यर्थत्वेनैव चरितार्थत्वादिति भावः।

तर्हि यथाकथंचिदुपनतेनान्नेन शरीरस्थितिसंभवाद्भिक्षाचर्यं चरन्तीति वाक्यं व्यर्थमिति शङ्कते—नियमादृष्टस्येति। भिक्षाचर्यानुवादेन प्रतिग्रहाद्विनिवृत्त्युपदेशार्थत्वाद्वाक्यस्य नाऽनर्थक्यमित्युत्तर-

---

कहता है—) ऐसा कहना ठीक नहीं है क्योंकि हवन करने के बाद हुतशेष भक्षण करने के समान भिक्षाचर्या उपवीतादि की अनाक्षेपक है। हवन के पश्चात् हुतशेष भोजन करना भी शेषप्रतिपत्तिक कर्म होने के कारण किसी फल का प्रयोजक नहीं है। इसके अतिरिक्त संस्कार न करने वाला होने से भी भिक्षाचरण प्रयोजक नहीं है। हुतशेष का भक्षण तो पुरुष के संस्कार का हेतु भी होता है, किन्तु भिक्षाचरण तो वैसा भी नहीं है क्योंकि नियमविधानजनित अदृष्ट भी ब्रह्मवेत्ता को अनीप्सित है।

(इस पर पूर्वपक्षी शङ्का करता है—) यदि उसे नियमविधिजनित अदृष्ट इष्ट नहीं है, तो फिर

---

१. अप्रयोजकत्वात्—उपवीताद्यनाक्षेपकत्वात्। २. शेषेत्यादि—शेषस्य परिशिष्टस्य वस्तुनो यत्प्रतिपत्तिकर्म तत्त्वात्। अर्थप्राप्तस्य वस्तुनस्त्यागे शास्त्रानुमतपात्रे समर्पणस्य च प्रतिपत्तिकर्मत्वम्। ३. भक्षणमिति—अभिघुत्य हुत्वा भक्षयन्तीति विहितं हुतशेषस्य भक्षणमित्यर्थः। तस्य च दुरितशोधकत्वात्पुरुषसंस्कारकत्वमिति ध्येयम्। ४. अनिष्टत्वात्—अनीप्सितत्वात्। ५. भिक्षाचर्यवाक्येनेत्यर्थः। ६. अन्येति—भिक्षाचर्यवाक्येन भिक्षाचर्यातिरिक्तशरीरस्थितिसाधनाभिवृत्तेरुपदिष्टत्वादित्यर्थः। ७. अभिघुत्य हुत्वा भक्षयन्तीति वाक्यविहितम्। ८. हवनपरिशिष्टद्रव्योपादानेन। ९. जीवनान्यथानुपपत्त्या परिशिष्टेत्यर्थः। १०. व्युत्थानवाक्येन। ११. प्रतिपत्तिं निर्वाहं करोतीति प्रतिपत्तिकर्म तन्मात्रम् अनायासेन कालक्षेपप्रयोजकमिति यावत्। १२. भिक्षाचर्यम्। १३. भिक्षाचर्येऽपि। १४. तद्वशादिति—भिक्षाचर्यविधिवशादित्यर्थः। विहितानुष्ठाने हि उपवीताद्यपेक्ष्य इति भाव.। १५. असंस्कारकत्वमेव। १६. नियमविधिवशात्। १७. आक्षिपतीति—अदृष्टजनकविहितानुष्ठानस्योपवीताद्यन्तरानुपपत्तेरिति भावः। १८. नियमादृष्टम्। १९. अपेक्षितेत्यर्थः। २०. देहस्थितीति—निरुपद्रव (निर्विक्षिप्त) देहस्थितीत्यर्थः। नियमादृष्टं हि श्रवणादिविघातकज्वराद्युपद्रवास्तिरयतीति भावः। २१. सफलत्वात्। २२. नियमादृष्टस्यानिष्टत्वे। २३. आदिना कृषिवाणिज्यादि ग्राह्यम्।

विहितत्वात् । 'तथाऽपि किं तेनेति चेत् । यदि स्याद्बाढमभ्युपगम्यते हि तत् । यानि पारिव्राज्येऽभिहितानि वचनानि यज्ञोपवीत्येवाधीयीतेत्यादीनि तान्यविद्वत्पारिव्राज्यमात्र-विषयाणीति 'परिहृतानि । 'इतरथाऽऽत्मज्ञानबाधः स्यादिति ह्युक्तम् ।

"निराशिषमनारम्भं निर्नमस्कारमस्तुतिम् ।
अक्षीणं क्षीणकर्माणं तं देवा 'ब्राह्मणं विदुः" ॥

माह—नान्येति । निवृत्त्युपदेशेन वाक्यस्यार्थवत्त्वेऽपि 'तदुपदेशस्य नार्थवत्त्वं कूटस्थात्मज्ञानेनैव 'सर्वनिवृत्ते सिद्धेरिति शङ्कते—तथाऽपीति । यदि निष्क्रियात्मज्ञानादशेषनिवृत्तिः स्यात्तर्हि 'तदस्माभिरपि स्वी क्रियते सत्यमित्यङ्गी करोति—यदीति । यदि तु श्रद्धाविदोषप्राबल्यादात्मानं निष्क्रियमपि विस्मृत्य "प्रार्थनादिपरो भवति तदा निवृत्त्युपदेशोऽपि भवत्यर्थवानिति भावः । "प्रागुक्तवाक्यविरोधान्निवृत्त्युपदेशोऽशक्य इति चेत्तत्राऽऽह—यानीति । "मुख्यपरिव्राड्विषयत्व उक्तं दोषं स्मारयति—इतरथेति । निवृत्त्युपदेशानुग्राहकत्वेन स्मृतीरुदाहरति—निराशिषमित्यादिना । अमुख्यसंन्यासिविषय-

भिक्षाचरणादि श्रुतिवाक्य का क्या प्रयोजन है । (सिद्धान्ती समाधान करता है—) ऐसा कहना ठीक नहीं है । भिक्षाचरण से अतिरिक्त शरीरस्थिति साधन से निवृत्ति उपदिष्ट होने के कारण व्युत्थान करने का विधान किया गया है । इस पर भी यदि तुम उपदेश करो कि निवृत्ति का उपदेश क्यों करते हो । यदि आत्मज्ञान से अशेषता निवृत्ति होती है, तो उसे हम भी स्वीकार ही करते हैं । "यज्ञोपवीती होकर अध्ययन करे" इस प्रकार सन्यास में जो विहित वाक्य हैं, वे केवल अविद्वत्संन्यासमात्र से सबन्ध रखने वाले हैं, ऐसा कहकर उनका उत्तर दे दिया गया है । यह भी पहले कहा जा चुका है कि ऐसा न मानने से आत्मज्ञान का बाध हो जायगा ।

"जो आशीर्वाद देने से विमुख है, आरम्भ, नमस्कार और स्तुति करने आदि लोकपरम्पराओं से परे है । जो अदीन है, जिसके कर्म क्षीण हो चुके हैं, उसको देवता ब्रह्मज्ञानी कहते हैं" इस प्रकार

१. तथाऽपीत्यादि—निवृत्त्युपदेशेन वाक्यस्य सफलत्वेऽपि कूटस्थात्मज्ञानेनैव तत्सिद्धे किं निवृत्त्युपदेशेनेत्यर्थं । २ दत्तोत्तराणि । ३ टीकोक्तार्थम् । ४ ८१४पृष्ठभाष्ये । ५ निराशिषमिति । "प्रणमता नराणां शिष्टैराशीर्वाद प्रयुज्यते" । यस्य यदपेक्षित त प्रति तदभिवृद्धिप्रार्थनमाशी । तथा च नराणां भिन्नरुचित्वात्तदभिमतान्वेषणे व्यग्रचित्तस्य लोकवासना वर्धते स च ज्ञानविरोधिनी लोकवासनया जन्तो शास्त्रवासनयापि च, देहवासनया ज्ञानं यथा वनैव जायत इति स्मरणात् एतच्चारम्भनमस्कारादिष्वपि द्रष्टव्यम् । आरम्भ स्वार्थं परोपकारार्थं वा गृहक्षेत्रादिसपादनयत्न तावेतावाशीर्वादारम्भौ विदुषा त्याज्यौ । न चाशीर्वादाभावे प्रणमतां नराणां खेद शङ्कनीय खेदलोकवासनयो परिहाराय निखिलाशीर्वादप्रतिनिधित्वे न नारायणशब्दप्रयोगात् स्तुतिनमस्कारौ मनुष्यविषयावेव प्रतिषिध्यत न त्वीश्वरविषयौ तयोरेव विक्षेपहेतुत्वादित्यन्यत्र विस्तर । अक्षीणत्वमदीनत्वम् । "अलब्ध्वा न विषीदेत काले कालेऽशन क्वचित् । लब्ध्वा न हृष्येद्धृतिमान् उभय दैवतन्त्रित"मिति स्मृत । क्षीणकर्मत्व विधिनिषेधानधीनत्वम् । निस्त्रैगुण्ये पथि विचरतामित्यादिस्मृते ॥ ६ ब्रह्मविदम् । ७ निवृत्त्युपदेशस्य । ८ प्रतिग्रहादिनिवृत्ते. । ९ अशेषतो निवर्तनम् । १०. याचनादिपर. । ११ यज्ञोपवीत्येवाधीयीतेत्यादिवाक्येति भाव । १२. उक्तवाक्यानाम् ।

गुरूपासनस्वाध्यायभोजनाचमनादीनां कर्मणां श्रुतिस्मृतिषु कर्तव्यता चोदितत्वाद्गुर्वा-द्युपासनाङ्गत्वेन यज्ञोपवीतस्य विहितत्वात्तत्परित्यागो नैवावगन्तुं शक्यते। यद्यप्येष-णाभ्यो व्युत्थानं विधीयत एव तथाऽपि पुत्राद्येषणाभ्यस्तिसृभ्य एव व्युत्थानं न तु सर्वस्मात्कर्मणः कर्मसाधनाच्च व्युत्थानम्। सर्वपरित्यागे चाश्रुतं कृतं स्याच्छ्रुतं च यज्ञोपवीतादि हापितं स्यात्। तथाच महानपराधो विहिताकरणप्रतिषिद्धाचरण-निमित्तः कृतः स्यात्। तस्माद्यज्ञोपवीतादिलिङ्गपरित्यागोऽन्धपरम्परैव।

न। "यज्ञोपवीतं वेदांश्च सर्वं तद्वर्जयेद्यतिः" इति श्रुतेः। अपि चाऽऽत्मज्ञानपर-त्वात्सर्वस्या उपनिषदः। आत्मा द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्य इति हि प्रस्तुतं स चाऽऽत्मैव

दूषयति—यद्यपीत्यादिना। एषणाभ्यो व्युत्थाने सत्येषणात्वाविशेषात्कर्मणस्तत्साधनाच्च व्युत्थानं सेत्स्यतीत्याशङ्क्य यज्ञोपवीतादेरेषणात्वमसिद्धमित्याशयेनाऽऽह—सर्वेति। अश्रुतकरणे श्रुतत्यागे च 'अकुर्वन्विहितं कर्म' इत्यादिस्मृतिमाश्रित्य दूषणमाह—तथा चेति। ननु दृश्यते यज्ञोपवीतादिलिङ्ग-त्यागः स कस्मान्निराक्रियते तत्राऽऽह—तस्मादिति।

नेयमन्धपरम्परेति परिहरति—नेत्यादिना। ब्रह्मचर्यादेव 'प्रव्रजेदित्यादिविध्युपलम्भेऽपि "प्रौढवादेनाऽऽत्मज्ञान"विधिबलादेव संन्यासं साधयितुमा"त्मज्ञानपरत्वं तावदुपनिषदामुपन्यस्यति—अपि चेति। "इतश्चास्ति संन्यासे विधिरिति यावत्। "तद्विधिबलादेव सन्याससिद्धिरिति शेषः। कथं सर्वोपनिषदात्मज्ञानपरेष्यते कर्तृस्तुतिद्वारा कर्मविधिशेषत्वेनार्थवादत्वादित्याशङ्क्याऽऽह—

और स्मृतियों में परिव्राजकों के धर्मों में भी गुरु उपासना, भोजन और आचमनादि कर्मों का कर्तव्य-रूप से प्रतिपादित किये जाने के कारण गुरु आदि की उपासना के अङ्गरूप से यज्ञोपवीत का विधान किया गया है, इसलिये उसका परित्याग उचित ठहराया नहीं जा सकता। यद्यपि एषणाओं से ऊपर उठने का विधान है ही, तथापि पुत्रादि तीन एषणाओं से ही व्युत्थान करना चाहिये, समस्त कर्म और कर्मसाधनों से व्युत्थान करने की आवश्यकता नहीं। सब का परित्याग करने पर अविहित यज्ञोपवीतादि परित्याग की कल्पना हो जायगी और विहित यज्ञोपवीतादि का अग्रहण हो जायगा। ऐसे में विहितकर्मों के आचरण न करने से एवं प्रतिषिद्धकर्मों के आचरण करने से महान् दोष हो जायगा। इसलिए यज्ञोपवीतादि लिङ्गों को त्याग करना अन्धपरम्परा ही है।

(इस पर सिद्धान्ती कहता है—) ऐसा कहना ठीक नहीं है। "सन्यासी यज्ञोपवीत और वेद सभी को छोड़ दे" ऐसा श्रुतिप्रमाण है। इसके अतिरिक्त सभी उपनिषदों का आत्मज्ञान विधिपरक

---

१ अश्रुतम्—यज्ञोपवीतादे परित्यजनम्। २ कृतम्—कल्पितम्। ३ तस्मात्—सर्वथा यज्ञोपवीतादेः परित्यागायोगात्। ४ आत्मज्ञानविधिपरत्वात्। ५ बृ० उ० २।४।५। ६ दूषयतीति—यज्ञोपवीतादेः परित्यागं दूषयतीत्यर्थ। ७ सन्यासिनाम्। ८ प्रव्रजेदिति—गृहाद्वा वनाद्वेति श्रुतिशेष। ९. उपलम्भेऽपीति—सन्यासविधायकयथोक्तादिवाक्यान्तरसत्त्वेऽपीत्यर्थ। १० प्रौढवादेनेति—तथा च वस्तुतो व्युत्थायेति न सन्यासविधायकं प्रौढ्यैव तस्य विधिपरत्वं साध्यत इति भाव। स्पष्टं चैतद्वार्तिके। ११ विध्यन्यथानुपपत्ते। १२ आत्मज्ञानविधिपरत्वम्। १३ अपि चेत्यस्यार्थमाह—इतश्चेति। १४. आत्मज्ञान-विधिबलादेव।

साक्षादपरोक्षात्सर्वान्तरोऽशनायादिससारधर्मवर्जित इत्येवं विज्ञेय इति तावत्प्रसिद्धम् । सर्वा हीयमुपनिषदेवंपरेति विध्यन्तरशेषत्व तावन्नास्त्यतो नार्थवादः । आत्मज्ञानस्य कर्तव्यत्वात् । आत्मा चाशनायादिधर्मवान्न भवतीति साधनफलविलक्षणो ज्ञातव्यः । अतोऽव्यतिरेकेणाऽऽत्मनो ज्ञानमविद्या । "अन्योऽसावन्योऽहमस्मीति" "न स वेद" "मृत्योः स मृत्युमाप्नोति" "य इह नानेव पश्यति" "एकधैवानुद्रष्टव्यम्" "एकमेवाद्वितीयम्" "तत्त्वमसि" इत्यादिश्रुतिभ्य । क्रियाफलं साधनं चाशनायादिसंसारधर्मातीतादात्मनोऽन्य-दविद्या विषयम् । "यत्र हि द्वैतमिव भवति" "अन्योऽसावन्योऽहमस्मीति" "न स वेद" "अथ येऽन्यथाऽतो विदु" इत्यादिवाक्यशतेभ्य. ।

आत्मेत्यादिना । अस्तु यथोक्त वस्तु विज्ञेयं तथाऽपि 'प्रस्तुते किं जातं तदाह—सर्वा हीति । ननु तस्य कर्तव्यत्वेऽपि कथं कर्मतत्साधनत्यागसिद्धिरत आह—आत्मा चेति । 'विपक्षे दोषमाह—अत इति । क्रियाकारकफल-साधनफलान्तर्भूतत्वेनाऽऽत्मनो ज्ञानमविद्येत्यत्र प्रमाणमाह—अन्योऽसावित्यादिना । क्रियाकारकफल-विलक्षणस्याऽऽत्मनो ज्ञानं कर्तव्य "तत्सामर्थ्या मार्थसाधनत्याग सिध्यतीत्युक्त संप्रत्यविद्याविषयत्वाच्च साध्यसाधनयोर्विद्यावता त्याज्यतेत्याह—क्रियेति । "तस्याविद्याविषयत्वे श्रुतीरुदाहरति—यत्रेति ।

दोनों प्रसिद्ध ही हैं । और "आत्मा साक्षात्कार करने योग्य, श्रवण करने योग्य और मनन करने योग्य है" इस प्रकार आत्मस्वरूप प्रस्तुत किया गया है । उस आत्मा को ही साक्षात् अपरोक्ष, सर्वान्तर, क्षुधा-पिपासादि ससारी धर्मों से वर्जित जानना चाहिये—ऐसा प्रसिद्ध ही है । यह सम्पूर्ण बृहदारण्यक उपनिषत् भी आत्मज्ञानविधिपरक है यह किसी दूसरी विधि का शेषभूत नहीं है इससे अर्थवाद नहीं है क्योंकि यह आत्मज्ञान का सम्पादन करता है । आत्मा क्षुधा पिपासादि धर्मों वाला नहीं है, इसलिये उसे साधन और फल से विलक्षण ही समझना चाहिये । आत्मा का साधन फल के अभेदरूप से जानना ही अविद्या है । यह आराध्यदेव भिन्न है और मैं उससे भिन्न हूँ इस प्रकार जो अपने से भिन्न देवता की उपासना करता है, वह अज्ञानी परमार्थतत्त्व को नहीं जानता", फिर भी जो इसमें नाना के समान देखता है वह मरण से मरण को प्राप्त करता है अर्थात् अज्ञान के कारण ही उसे बार-बार मरना पड़ता है", आचार्योपदेश के बाद उस ब्रह्म को (आकाश के समान अन्तर-बाह्यशून्य) एकमात्र (विज्ञानघनरूप से ही) देखना चाहिये", '(सजातीय विजातीय स्वगतभेदशून्य) एकमात्र अद्वितीय सत् ही था", "(वह सत्य है, वही आत्मा है और हे श्वेतकेतो !) वही तू है' इत्यादि श्रुतियाँ इसमें प्रमाण हैं । कर्मफल और उसके साधन तो क्षुधा पिपासादि सासारिक धर्मों से अतीत आत्मा से भिन्न अविद्या के कार्य हैं । 'जिस अविद्यावस्था में (परमार्थतः अद्वैत ब्रह्म में) द्वैत सा प्रतीत होता है", वह आराध्यदेव भिन्न है और मैं उससे भिन्न हूँ, इस प्रकार जो अपने से भिन्न देवता की उपासना करता है वह अज्ञानी

---

१ प्रसिद्धमिति—आत्मनो वा अरे दर्शनेन श्रवणेन मत्या विज्ञानेनेद सर्वं विदितमिति वाक्यशेष प्रसिद्धमित्यर्थः । २ आत्मज्ञानविधिपरा । ३ मपादकत्वात् । ४ साधनफलतोऽभेदेनत्यर्थ । ५ बृ० उ० १।४।१० । ६ कायम् । ७ बृ० उ० २।४।१४ । ८ सर्वोपनिषदात्मज्ञानपरेत्यत्र किमायातम् । ९ विपक्ष—साधनफलान्तर्भूतत्वे नात्मनो ज्ञाने । १० तत्सामर्थ्यात्—आत्मज्ञानविधिबलात् । ११ तस्य—आत्मनो भिन्नस्य साध्यसाधनात्मकस्य वस्तुन इत्यर्थ ।

न च विद्याविद्ये एकस्य पुरुषस्य सह भवतो विरोधात्तमःप्रकाशाविव । तस्मादात्मविदोऽविद्याविषयो ऽधिकारो न द्रष्टव्यः क्रियाकारकफलभेदरूपः । "मृत्योः स मृत्युमाप्नोति" इत्यादि निन्दितत्वात् । सर्वक्रियासाधनफलानां चाविद्याविषयाणां तद्विपरीतात्मविद्यया हातव्यत्वेनेष्टत्वात् । यज्ञोपवीतादिसाधनानां च तद्विषयत्वात् । तस्मादसाधनफलस्वभावादात्मनोऽन्यविषया विलक्षणैषणा । उभे ह्येते साधनफले एषणे एव भवतः । यज्ञोपवीतादेस्तत्साध्यकर्मणां च साधनत्वात् । उभे ह्येते एषणे एवेति हेतुवचनेनावधारणात् । यज्ञोपवीतादिसाधनात्तत्साध्येभ्यश्च कर्मभ्योऽविद्याविषयत्वादेषणारूपत्वाच्च जिहासितव्यरूपत्वाच्च व्युत्थानं विधित्सितमेव ।

अविद्याविषयत्वेऽपि साधनादि विद्यावत एव भविष्यति विद्याविद्ययोरसमवायिषु साहित्योपलम्भादित्याशङ्क्याऽऽह—न चेति । विद्याविद्ययोः साहित्यासंभवे फलितमाह—तस्मादिति । इतश्च प्रयोजकज्ञानवता साध्यसाधनभेदो न द्रष्टव्यो विवक्षिततत्त्वसाक्षात्कारविरोधित्वादित्याह—सर्वेति । भवत्वविद्याविषयाणां विद्यावतस्त्यागस्तथाऽपि कुतो यज्ञोपवीतादीनां त्यागस्तत्राऽऽह—यज्ञोपवीतादीति । तद्विषयत्वादित्यत्र तच्छब्दोऽविद्याविषयः । एषणात्वाच्च यज्ञोपवीतादीनां त्याज्यतेत्याह—तस्मादिति । ज्ञेयत्वेन प्रस्तुतादिति यावत् । साध्यसाधनविषया तदात्मिकैषणा त्याज्येत्यत्र हेतुमाह—विलक्षणेति । पुरुषार्थरूपाद्विलक्षणा सा हेयेत्यर्थः । साध्यसाधनयोरेषणात्वं साधयति—उभे हीति । तथाऽपि यज्ञोपवीतादीनां कर्मणां च कथमेषणात्वमित्याशङ्क्य साधनान्तर्भावादित्याह—यज्ञोपवीतादेरिति । तयोरेषणात्वं कथं प्रतिज्ञामात्रेण सेत्स्यतीत्याशङ्क्याऽऽह—उभे हीति । तयोरेषणात्वे सिद्धे फलितमाह—यज्ञोपवीतादिति ।

परमार्थतत्त्व को नहीं जानता", "पर जो इस प्रकार से नहीं जानते, वे अन्य शासकों के अधीन होने से अन्यराट् होते हैं" इत्यादि सैकड़ों श्रुतिवाक्य इसमें प्रमाण हैं ।

इसके अतिरिक्त एक ही पुरुष में विद्या और अविद्या दोनों नहीं रह सकती क्योंकि अन्धकार और प्रकाश के समान उन दोनों में परस्पर विरोध है । विद्या और अविद्या का एकसाथ रहना असंभव होने से आत्मवेत्ता में क्रिया, कारक और फल का भेदरूप अविद्याविषयक फलाधिपत्याख्य अधिकार नहीं देखना चाहिये क्योंकि "वह मृत्यु से मृत्यु को प्राप्त होता है" इस श्रुति से उसकी निन्दा की गई है । तथा अविद्या के विषयभूत सम्पूर्ण क्रिया, साधन और फल उससे विपरीत आत्मविद्या द्वारा परित्याज्यरूप से अभीष्ट है । एवं यज्ञोपवीतादि साधन भी उसके विषय है । इसलिए जो साधन-फल स्वभावरहित है, उस आत्मा से एषणा भिन्नविषयिणी एवं विलक्षण है । ये साधन और फल दोनों एषणाएँ ही हैं । यज्ञोपवीतादि और उनसे साध्य कर्म भी साधन ही हैं । "ये दोनों साध्य और साधन एषणाएँ ही हैं" इस हेतुसूचक वाक्य से यही निश्चित होता है । इसलिये यज्ञोपवीतादि साधन और

---

१. विद्याविद्ययो साहित्यासंभवात् । २. फलाधिपत्याख्यः । ३. तद्विपरीतेति—क्रियाकारकफलादिविपरीतो य आत्मा तद्विपरीतेति यावत् । ४. हेतुवचनेनेति—ब्रह्मविदो नास्ति कर्म तत्साधनमित्यत्र हेतुप्रदर्शकेन उभे हीति वाक्येनेत्यर्थः । ५. कर्मभ्यो व्युत्थानमित्यन्वयः । ६. विद्वन्निष्ठमेव । ७. अभिमतेति भावः । ८. साध्यसाधनात्मिका । ९. आत्मनः । १०. साध्यसाधनयोः ।

ननूपनिषद आत्मज्ञानपरत्वाद्व्युत्थानश्रुतिस्तत्स्तुत्यर्था न विधिः । न । विधित्सितविज्ञानेन समानकर्तृकत्वश्रवणात् । न ह्यकर्तव्येन कर्तव्यस्य समानकर्तृकत्वेन वेदे कदाचिदपि श्रवणं संभवति । कर्तव्यानामेव ह्यभिषवहोमभक्षणानां यथा श्रवणमभिषुत्य हुत्वा भक्षयन्तीति तद्वदात्मज्ञानैषणाव्युत्थानभिक्षाचर्याणां कर्तव्यानामेव समानकर्तृकत्वश्रवणं भवेत् ।

अविद्याविषयत्वादेषणात्वाच्चार्थप्राप्त आत्मज्ञानविधेरेव यज्ञोपवीतादिपरित्यागो न तु विधातव्य इति चेन्न । सुतरामात्मज्ञानविधिनैव विहितस्य समानकर्तृकत्वश्रवणेन

'आत्मज्ञानविधिरेव सन्यासविधिरि'त्युक्तत्वाद्व्युत्थानादेरस्य नास्ति विधित्वमिति शङ्कते—नन्विति । व्युत्थाय विदित्वेति पाठक्रममतिक्रम्य व्याख्याने भवत्येवाय विविदिषोर्विधिरिति परिहरति —न विधित्सितेति । पाठक्रमेऽपि प्रयोजकज्ञानवतो विरक्तस्य भवत्येवाय विधिरित्यभिप्रेत्याह—न हीति । 'उक्तमेवान्वयमुखेनोदाहरणद्वारा विवृणोति—कर्तव्यानामिति । अभिषुत्य सोमस्य कण्डनं कृत्वा रसमादायेत्यर्थः ।

पाठक्रममेवाऽऽश्रित्य शङ्कते—अविद्येति । प्रयोजकज्ञानवतो विरक्तस्याऽऽत्मज्ञानविधिसामर्थ्यलब्धस्य यज्ञोपवीतादित्यागस्य कर्तव्यात्मज्ञानेन समानकर्तृकत्वश्रवणादतिशयेनाऽऽवश्यकत्वसिद्धिरित्युत्तरमाह—न सुतरामिति । व्युत्थाने दर्शितं न्याय भिक्षाचर्येऽप्यतिदिशति—तथेति । व्युत्थानादिवाक्यभिक्षाचर्यस्य चाऽऽत्मज्ञानविधिनैकवाक्यस्य तथैव दार्ढ्योपपत्तिरिति सबन्ध ।

उससे प्राप्य कर्मों से व्युत्थान का विधान करना इष्ट ही है क्योकि वे अविद्या के विषय एव एषणारूप हैं और इनका त्याग करना ही अभीष्ट है ।

(इस पर पूर्वपक्षी कहता है—) किन्तु उपनिषद्वाक्य तो आत्मज्ञान का विधान करने वाले हैं, इसलिये व्युत्थान-श्रुतिवाक्य स्तुति के लिये है, विधान के लिए नही हैं । (इस पर सिद्धान्ती कहता है—) विधान करने की इच्छा वाले विज्ञान का एक ही कर्ता है—ऐसा श्रुति मे श्रवण होता है । वेद मे अकर्तव्य के साथ कर्तव्य का समानकर्तृत्व श्रवण होना किसी तरह भी सभव नही है । अभिषव हुतशेष भक्षण कर्तव्यो का आत्मज्ञान, एषणाव्युत्थान व भिक्षाटनरूप कर्तव्यो की तरह ही समानकर्तृत्व श्रवण होगा, जैसे अभिषव कर हुतशेष भक्षण करते हैं ।

यदि कहो कि अविद्या का विषय और एषणास्वरूप होने से यज्ञोपवीतादि का परित्याग तो आत्मज्ञान की विधि से अर्थत ही प्राप्त है, उसके लिए विधान करने की आवश्यकता नही है—ऐसा कहना ठीक नही है क्योकि आत्मज्ञानविधि से ही प्राप्त समानकर्तृकत्व श्रवण से यज्ञोपवीतादि त्याग की जिस प्रकार दृढतापूर्वक पुष्टि हो जाती है उसी प्रकार भिक्षाटन की भी पुष्टि हो जाती है । तथा जो ऐसा कहा कि वर्तमानकालिक प्रयोग होने से व्युत्थानादिवाक्य अर्थवाद मात्र ही है, ऐसा कहना

१. आत्मज्ञानविधायकत्वात् । २ भक्षयन्ति हुतशेषमिति भाव । ३. लब्धस्य । ४. यज्ञोपवीतादित्यागस्य । ५ आत्मज्ञानविध्यन्यथानुपपत्त्येति यावत् । ६ अपि चर्यादिभाष्येण । ७ इति व्याख्याने इत्यन्वय । ८ उक्तमेवेति—वेदे कर्तव्याकर्तव्ययो समानकर्तृकत्वेन श्रवणाभावमेवेत्यर्थ. ।

इति सर्वकर्माभावं दर्शयति स्मृतिर्विदुषः । विद्वाँल्लिङ्गवर्जितस्तस्मादलिङ्गो धर्मज्ञ इति च । तस्मात्परमहंसपारिव्राज्यमेव व्युत्थानलक्षणं प्रतिपद्येताऽऽत्मवित्सर्वकर्मसाधनपरित्यागरूपमिति ।

यस्मात्पूर्वे ब्राह्मणा एतमात्मानमसाधनफलस्वभावं विदित्वा सर्वस्मात्साधनफलस्वरूपादेषणालक्षणाद्व्युत्थाय भिक्षाचर्यं चरन्ति स्म । दृष्टादृष्टार्थं कर्म तत्साधनं च हित्वा । तस्माद्द्यत्वेऽपि ब्राह्मणो ब्रह्मवित्पाण्डित्यं पण्डितभावमेतदात्मविज्ञानं पाण्डित्यं निर्विद्य निःशेषं विदित्वाऽऽत्मविज्ञानं निरवशेषं कृत्वेत्यर्थः । आचार्यत आग-

---

व्यासभवान्मुख्यपरिव्राड्विषय "व्युत्थानवाक्यमित्युपसंहरति—तस्मादिति । इतिशब्दो व्युत्थानवाक्यव्याख्यानसमाप्त्यर्थः ।

तस्मादित्यादिवाक्यमवतार्य व्याचष्टे—यस्मादित्यादिना । उक्तमेव व्युत्थानं स्पष्टयति—दृष्टेति । विवेकवैराग्याभ्यामेषणाभ्यो व्युत्थाय श्रुत्याचार्याभ्यां "कर्तव्यं ज्ञानं निःशेषं कृत्वा बाल्येन

स्मृति विद्वान् के लिए सभी कर्मों का अभाव दिखलाती है। इसी प्रकार "विद्वान् लिङ्गवर्जित होता है", "इसलिए वह लिङ्ग से रहित एवं धर्मज्ञ होता है" इत्यादि वचन भी यही प्रदर्शित करते हैं। इसलिए ब्रह्मवित् को सम्पूर्ण कर्मसाधनों के परित्यागरूप व्युत्थानलक्षण परमहंस पारिव्राज्य धर्म का ही आश्रय लेना चाहिये।

क्योंकि पूर्ववर्ती ब्रह्मज्ञानी इस साध्य-साधनविलक्षणस्वरूप आत्मा को जानकर एषणात्रयलक्षण साधन और फलरूप समस्त विषयों से व्युत्थान करके अर्थात् दृष्ट और अदृष्ट यानी ऐहलौकिक और पारलौकिक फल वाले समस्त कर्मों और उनके साधनों को छोड़कर भिक्षाचरण करते थे। इसलिए

---

१ टीकोक्तार्थम् । २ साध्यसाधनविलक्षणस्वरूपम् । ३ कुर्वन्ति । ४ दृष्टेत्यादि—ऐहलौकिकपारलौकिकफलकमित्यर्थः । ५ वर्तमानकालेऽपि । ६ आपातब्रह्मदर्शी । ७ एतदात्मविज्ञानमिति—एतस्य समीपतरवर्तिनः प्रतीचो विशिष्टं ज्ञानमित्यर्थः । अधीतसाङ्गस्वाध्यायस्य तत्त्वमादिपदश्रवणे तच्छक्तिग्रहे प्रथमं पदार्थज्ञानं ततः समानाधिकृतपदार्थाध्याधानां विशेषणविशेष्यत्वेन संबन्धस्ततो विरोधस्फूर्तौ विरुद्धांशस्य कर्तृत्वादेर्व्यस्तिरित्थं पदसामर्थ्यादर्थत्रयज्ञानानन्तरं वाक्यस्य स्वार्थभावनं तात्पर्यनिर्धारणमिति ब्रह्मात्मनि वेदान्तानां शक्तितात्पर्यनिश्चयरूपं चतुर्विधं ज्ञानं श्रवणाख्यं पाण्डित्यमिति यावत् । तदुक्तं वार्तिके—'पदार्थाधिगतिः पूर्वं ततस्तद्विसंगतिः । विरुद्धार्थहृतिः पश्चात्ततो वाक्यार्थबोधनमिति" ॥ १६९ ॥ कथं चतुर्विधं ज्ञानं पाण्डित्यमप्रसिद्धेरित्याशङ्क्य पाण्डित्यशब्दस्य प्रकृतिप्रत्ययभेदेनार्थश्चोक्तस्तथाहि वार्तिके—"पण्डेति बुद्धिनामैतस्या जाता यस्य मानतः । स पण्डितमिति प्राहुः साऽत्र श्रुत्या नियुज्यते । यत्पण्डितस्य कर्म स्यात् तत्पाण्डित्यं प्रचक्षते' ॥ १७३-७४ ॥ इति । अधीतवेदान्तस्य मुमुक्षोस्तस्मादुत्पन्नं विचारप्रयोजकं ज्ञानं पण्डा साऽस्य जातेति पण्डितस्तस्य कर्म पाण्डित्यं यथोक्तं चतुर्विधं ज्ञानं तत्र प्रयोजकज्ञानी तस्मादितिश्रुत्या नियुज्यते । अस्यैत्यस्यार्थमाह—यदिति । ८ यथोक्तं चतुर्विधज्ञानम् । ९ निरवशेषमिति वार्तिके—"एकैकश्यन नीत्वाऽस्य निष्ठां पाण्डित्यलक्षणामिति" ॥ १७० ॥ चतुर्विधज्ञानरूपां निश्चयेन स्थितिं क्रमेण कृत्वा स्थितस्याधिकारिणोऽनन्तरं बाल्यं कर्तुं सामर्थ्यं भवतीति तदर्थः । १० प्रकृतव्युत्थानवाक्यमिति भावः । ११ कर्तव्यं ज्ञानम्—उक्तं चतुर्विधं ज्ञानं श्रवणाख्यम् ।

मतश्चैषणाभ्यो व्युत्थाय । एषणाव्युत्थानावसानमेव हि तत्पाण्डित्यम् । एषणातिरस्कारोद्भवत्वादेषणाविरुद्धत्वात् । एषणामतिरस्कृत्य न ह्यात्मविषयस्य पाण्डित्यस्योद्भव इत्यात्मज्ञानेनैव विहितमेषणाव्युत्थानम् । आत्मज्ञानसमानकर्तृकत्वाप्रत्ययोपादानलिङ्गश्रुत्या दृढीकृतम् ।

तस्मादेषणाभ्यो व्युत्थाय ज्ञानबलभावेन बाल्येन तिष्ठासेत्स्थातुमिच्छेत् ।

तिष्ठासेदिति व्यवहितेन संबन्धः । पाण्डित्यं निर्विद्येत्यनेनैव व्युत्थानं विहितमित्याह—एषणेति । तद्धि पाण्डित्यमेषणाभ्यो व्युत्थानस्यावसाने संभवति "तदत्र" व्युत्थानविधिरित्यर्थः । "तदेव स्फुटयति—एषणेत्यादिना । "तासां तिरस्कारेण पाण्डित्यमुद्भवति "तस्यैषणाभ्यो विरुद्धत्वात्तथा" च पाण्डित्यं निर्विद्येत्यत्र" "ताभ्यो व्युत्थानविधानमुचितमित्यर्थः । विनाऽपि व्युत्थानं पाण्डित्यमुद्भविष्यतीति चेन्नेत्याह—न हीति । पाण्डित्यं निर्विद्येत्यत्र व्युत्थानविधिमुक्तमुपसंहरति—इत्यात्मज्ञानेति । "तर्हि किमिति विविदिषा व्युत्थायेत्यत्र व्युत्थाने विधिरभ्युपगतस्तत्राऽऽह—आत्मज्ञानेति । "तेन व्युत्थानस्य समानकर्तृकत्वे क्त्वाप्रत्ययस्योपादानमेव "लिङ्गभूता "श्रुतिस्तया दृढीकृतं नियमेन प्रापितं व्युत्थानमित्यर्थः ।

बाल्येनेत्यादि वाक्यमुत्थाप्य व्याकरोति—तस्मादिति । "विवेकादिवशादेषणाभ्यो व्युत्थाय पाण्डित्यं संपाद्य तस्मा"त्पाण्डित्याज्ज्ञानबलभावेन स्थातुमिच्छेदिति योजना । केयं ज्ञानबलभावेन

वर्तमानकाल मे भी "ब्राह्मण." अर्थात् आपात् ब्रह्मज्ञानी, "पाण्डित्य" यानी पण्डितभाव को "यह आत्मज्ञान ही पाण्डित्य है" इसे 'निर्विद्य' यानी निर्विशेषरूप मे जानकर चतुर्विध आत्मज्ञान को निश्चयपूर्वक स्थिर करके आचार्य और शास्त्र से पूर्णतया आत्मज्ञान सम्पादन करके एषणाओ से व्युत्थान कर, क्योकि यथोक्त पाण्डित्य एषणाव्युत्थान के अनन्तर ही सभव है । वह एषणाओ के तिरस्कार से उत्पन्न होता है और एषणा के विरुद्ध भी है। एषणाओ का तिरस्कार किये बिना आत्मविषयक पाण्डित्य का उदय ही नही हो सकता । इसलिये उक्त चतुर्विध आत्मज्ञान से ही एषणात्रय का व्युत्थान सभव है । आत्मज्ञान और व्युत्थान का एक ही कर्ता है—यह "व्युत्थाय" पद मे "क्त्वा" प्रत्यय के प्रयोग से लिङ्गभूता श्रुति से दृढ कर दिया है ।

इसलिये विवेकादि के वश से एषणाओ का उत्थान करके श्रवणाख्यजन्य मननबलरूप

---

१. एषणाव्युत्थानानन्तरभाव्येव । २ यथोक्तम् । ३ अत्र टीकानुरोधात् ह्येषणामित्यादि पाठ उचितो भाति । ४ पाण्डित्यशब्दिनोक्तचतुर्विधात्मज्ञानेनाऽपीत्यर्थं । ५. विवेकादिवशात् । ६ ज्ञानबलभावेनेति—यथोक्तपदार्थादिविषय ज्ञान श्रवणाख्य तज्जन्यबलेन मननेनेति यावत् । ७ अपि सन्यासः । ८. निरुक्त चतुर्विधज्ञानरूप श्रवणाख्यम् । ९ समाप्तौ पूर्तौ परकाष्ठाप्राप्तौ । १०. तस्मात् । ११. वाक्ये । १२ उक्तव्युत्थानविधानमेव । १३. एषणानाम् । १४. पाण्डित्यस्य । १५ तस्य ततो विरुद्धत्वे च । १६ वाक्य । १७ एषणाभ्य । १८. यथाश्रुतमेवकारार्थमादाय शङ्कते—तर्हीति । पाण्डित्य निर्विद्येत्यत्र व्युत्थानविधानाभ्युपगम इत्यर्थ । १९. तत—पाण्डित्यशब्दितेन निरुक्तचतुर्विधात्मज्ञानेन । २०. ज्ञापकरूपा । २१. क्त्वाप्रत्ययरूपा श्रुति । २२. विवेकादिसाधनचतुष्टयबलात् । २३. यथोक्तपाण्डित्यसपत्तेरनन्तरम् ।

[1]साधनफलाश्रयणं हि बलमितरेषामनात्मविदाम्। तद्बलं हित्वा विद्वानसाधनफलस्वरूपात्मविज्ञानमेव बलं तद्भावमेव केवलमाश्रयेत्। तदाश्रयणे हि करणान्येषणा[2]विषय [3]एनं हृत्वा स्थापयितुं नोत्सहन्ते। ज्ञानबलहीनं हि [4]मूढं दृष्टादृष्टविषयायामेषणायामेवैनं करणानि नियोजयन्ति। बल नामाऽऽत्मविद्ययाऽशेषविषयदृष्टितिरस्करणम्। [5]अतस्तद्भावेन बाल्येन तिष्ठासेत्। तथा "आत्मना विन्दते वीर्यम्" इति श्रुत्यन्तरात्। "नायमात्मा बलहीनेन लभ्यः" इति च।

स्थितिरित्याशङ्क्य तां व्युत्पादयति—साधनेत्यादिना। [6]विद्वानिति विवेकित्वोक्तिः। यथोक्तबलभावावष्टम्भे करणानां विषयपारवश्यनिवृत्त्या पुरुषस्यापि तत्पारवश्यनिवृत्तिः फलतीत्याह—तदाश्रयणे हीति। [7]उक्तमेवार्थं व्यतिरेकमुखेन(ण) विशदयति—ज्ञानबलेति। मन्वद्यापि ज्ञानस्य बलं कीदृगिति न ज्ञायते तत्राऽऽह—बल नामेति। बाल्यवाक्यार्थमुपसंहरति—अत इति। यथा ज्ञानबलेन विषयाभिमुखी दृष्टिस्तिरस्क्रियते तथेति यावत्। आत्मना तद्विज्ञानातिशयेनेत्यर्थः। वीर्यं विषयदृष्टितिरस्करणसामर्थ्यमित्येतत्। बलहीनेन विषयदृष्टितिरस्करणसामर्थ्यरहितेनायमात्मा न लभ्यो न शक्यः साक्षात्कर्तुमित्यर्थः।

बाल्य से "तिष्ठासेत्" अर्थात् स्थित रहने की इच्छा करे। दूसरे जो अनात्मज्ञ हैं, उन का बल तो कर्मादि साधन से पुत्र-स्वर्गादि फलों का आश्रयण करना ही है। उस बल को त्याग कर विद्वान् को जो असाधनफलस्वरूप आत्मविज्ञान ही बल है, उस बलभाव का ही केवल आश्रय लेना चाहिये। उसके आश्रयण से इन्द्रियाँ इस पुरुष को मोहित करके एषणाओं के विषय में झुकाने का उत्साह नहीं कर सकती। जो ज्ञानबल से युक्त नहीं है, उस अविवेकी को ही इन्द्रियाँ दृष्ट और अदृष्ट विषयों की एषणा में लगा देती हैं। ब्रह्मात्मैक्यविज्ञान द्वारा समस्त विषयदृष्टि का तिरस्कार कर देना ही बल है। इसलिये (बल के उत्कृष्टरूप वाला होने से) पदार्थादिज्ञान बलभाव से बाल्यरूप में अवस्थित रहने की इच्छा करे। "(अमरत्व नित्य आत्मस्वरूप से ही प्राप्त होता है) ब्रह्माकार वृत्तिरूप से तो आवरण निवृत्त करने का सामर्थ्यमात्र मिलता है" ऐसा केनोपनिषत् में कहा है। इसी प्रकार मुण्डकश्रुति

---

१ साधनफलाश्रयणमिति—साधन कर्मादि फल पुत्रस्वर्गादि तदाश्रयणमित्यर्थ। २ विषय इति सप्तम्यन्तम्। ३ पुरुषम्। ४ अविवेकिनम्। ५ अत इति—बलस्योत्कृष्टरूपत्वात्। तद्भावेन उत्तपदार्थादिज्ञानबलभावेनेत्यर्थ। ननु बाल्य हि बालस्य कर्म तिष्ठन्मूत्रत्वादि तत्कथ पदार्थादिज्ञानबलभावे बाल्यपद प्रयुक्तमित्याशङ्क्य समाहित वार्तिके—"... कृत्स्नाऽनात्मधियो हृ ति ॥ बाल्यशब्दाभिधेया स्यात्"...॥१७५-७६॥" भवति हि बालस्य कर्म सर्वानात्मधीवैधुर्यमप्ररूढेन्द्रिय हि बालमाहुरनाविष्कुर्वन्नन्वयादिति न्यायात्। भवति च पदार्थादिज्ञानबलभावो बाल्यमतो यथोक्तज्ञानबलरूपा सर्वानात्मधीध्वस्तिर्युक्त्यधीना बाल्यमुच्यत इत्यर्थ। आविष्कुर्वन्निति—यथा बालोऽप्ररूढेन्द्रियतया न परेभ्यात्मानमाविष्कर्तुमीहत तथा ज्ञानध्यानाध्ययनाध्यापनधार्मिकत्वादिभिरात्मानमविख्यापयन् दम्भदर्पादिरहित स्थातुमिच्छेदिति बाल्यन तिष्ठासेदित्यस्यार्थ.। कुतोऽन्वयात् अस्य वाक्यस्य विद्याङ्गान्वयस्यैव सम्भवादित्यर्थ। ६. ब्रह्मवित्त्वोक्तिभ्रान्तिमपनुदति—विद्वानितीति। ७ ज्ञानबलाश्रितस्य करणानियोज्यत्वरूपमर्थम्।

बाल्यं च पाण्डित्यं च निर्विद्य निःशेषं कृत्वाऽथ मननान्मुनिर्योगी भवति। एतावद्धि ब्राह्मणेन कर्तव्यं यदुत सर्वानात्मप्रत्ययतिरस्करणमेतत्कृत्वा कृतकृत्यो योगी भवति। अमौनं चाऽऽत्मज्ञानानात्मप्रत्ययतिरस्कारौ पाण्डित्यबाल्यसंज्ञकौ निःशेषं कृत्वा मौनं नामानात्मप्रत्ययतिरस्करणस्य पर्यवसानं फलं तच्च निर्विद्याथ ब्राह्मणः कृतकृत्यो भवति। ब्रह्मैव सर्वमिति प्रत्यय उपजायते। स ब्राह्मणः कृतकृत्योऽतो ब्राह्मणः।

बाल्य चेत्यादि वाक्यमादाय व्याचष्टे—बाल्य चेति। [9]पूर्वोक्तयोरुत्तरत्र हेतुत्वद्योतनार्थोऽथशब्द[10]। तदेवोपपादयति—एतावद्धीति। वाक्यान्तरमुत्थाप्य व्याकरोति—अमौन चेत्यादिना। [11]मौनामौनयोर्ब्राह्मण्य प्रति सामग्रीत्वद्योतकोऽथशब्द। ब्राह्मण्यमुपपादयति—ब्रह्मैवेति। आचार्यपरिचर्यापूर्वकं वेदान्तानां तात्पर्यावधारणं पाण्डित्यम्। युक्तितोऽनात्मदृष्टितिरस्कारो बाल्यम्। 'अहमात्मा परं ब्रह्म न मत्तोऽन्यदस्ति किंचन' इति मनसंधानुसधानं मौनम्। [12]महावाक्यार्थविगलितब्राह्मण्यमिति विभाग।

प्रतिपादन करती है 'यह आत्मा आत्मनिष्ठाजनित शक्ति से हीन पुरुष द्वारा प्राप्त होने योग्य नहीं है" इत्यादि।

इस प्रकार बाल्य और पाण्डित्य को "निर्विद्य" अर्थात् पूर्णरूप से प्राप्त कर के पुनः मनन करने से वह "मुनि" अर्थात् योगी होता है। सर्व अनात्मप्रत्ययों की उपेक्षा करना ही ब्रह्मज्ञानी का कर्तव्य है। ऐसा करके योगी कृतार्थ हो जाता है। "अमौनम्" अर्थात् श्रवणमननरूप आत्मज्ञान और अनात्मप्रत्ययपरित्याग जिनकी पाण्डित्य और बाल्य संज्ञा है, उसको पूर्णरूप से प्राप्त करके "मौनम्" अर्थात् अनात्मप्रत्ययों की उपेक्षा का पर्यवसान जो फल है, उसको प्राप्त करके फिर वह ब्रह्मवेत्ता कृतार्थ हो जाता है। "ब्रह्म ही यह सब कुछ है" ऐसा निश्चय जिसको हो जाता है, वही ब्राह्मण कृतकृत्य होता है, इसलिए वह ब्रह्मवेत्ता है।

---

१ निदिध्यासनशील। २ मननम्। ३ श्रवणमनने इत्यर्थ। ४ मननस्य। ५ निर्वर्त्यं। ६ अथ ब्राह्मण इत्यादिवाक्यस्य तात्पर्यमाहुर्वार्तिके—'अथ ब्राह्मण इत्युक्त्या फलावस्थाऽस्य भण्यते। भेदसंसर्गहीनोऽयं स्वमहिम्नि व्यवस्थित॥ साक्षादित्यादिरूपोऽयं ब्रह्म ब्राह्मण उच्यते। इमामवस्था संप्राप्य सर्वो ब्राह्मण उच्यते॥ ब्राह्मण्यं गौणमन्यत्र पूर्वभूमिषु नाञ्जसा"॥१६०-६१॥ इति। अस्य विदुष। काऽसौ फलावस्था तामाह—भेदेति। तत्त्वसाक्षात्कारानन्तर्यं फलावस्थाया वक्तुमथशब्द। जातिविषयो ब्राह्मणशब्द.। कथमस्यां फलावस्थायां प्रयुज्यतऽस्ति हि क्षत्रियादेरपि ज्ञानिनो यथोक्ता फलावस्था तत्राऽऽह—इमामिति। ज्ञानवति मुक्ते तद्रहिते च बद्धे कथमेको ब्राह्मणशब्द सत्या गतावेकस्यानेकार्थत्वायोगादित्याशङ्क्याऽऽह—ब्राह्मण्यमिति। ज्ञानहीनेषु ब्रह्मचार्यादिषु स्थित ब्राह्मणत्व गौणं ब्राह्मणशब्द परमहंसपरिव्राजके ज्ञानिनि मुक्ते मुख्योऽतो नैकस्यानेकार्थता शक्तिभेदाभावादित्यर्थ। ७ यस्य। ८ अत इति—ब्राह्मण्यस्योक्तप्रत्ययरूपत्वात् तादृग् ब्राह्मण कृतकृत्यो भवतीति योजना। ९ पूर्वोक्तयो—पाण्डित्यबाल्ययो। उत्तरत्र—मौने। १०. हेतुत्वमेव। ११ मौन निदिध्यासनम्। अमौन श्रवणमनने। १२ अखण्डब्रह्मसाक्षात्कारेण तदात्मनाऽवस्थिति।

निरुपचरित हि तदा तस्य ब्राह्मण्यं प्राप्तमत आह— *स ब्राह्मणः केन स्यात्केन चरणेन भवेद्येन स्याद्येन चरणेन भवेत्तेनेदृश एवायम् । येन केनचिच्चरणेन स्यात्तेनेदृश

'प्रागपि प्रसिद्ध ब्राह्मण्यमिति चेत्तत्राऽऽह—निरुपचरितमिति । ब्रह्मविद समाचार पृच्छति —स इति । अनियत तस्य चरणमित्युत्तरमाह—येनेति । उक्तलक्षणत्व कृतकृत्यत्वम् । अव्यवस्थित

वह विद्वान् फलावस्था म निरुपचरित ब्राह्मणत्व की प्राप्ति करता है । इसीलिए कहा जाता है—"स ब्राह्मण केन स्यात्" अर्थात वह ब्राह्मण किस आचरण से युक्त होकर ब्राह्मण हो सकता है । "येन" अर्थात् जिस आचरण से भी युक्त हो, "तेनेदृश एव" अर्थात् वह इस प्रकार ही होगा । तात्पर्य

---

१ फलावस्थायाम् । २ विदुष । ३ आहरयस्य अय ब्राह्मण इति पूर्वेण सबन्ध । ४ केन चरणेन भवेदिति—केन आचरणेन युक्त स ज्ञातो भवेदित्यर्थ । यस्मिन्सति ब्राह्मणे यस्मिश्चासति न तादृक्तस्य लक्षण किमिति भाव । ५ युक्त । ६ ब्राह्मणव्यक्तावुक्तावगतित प्रागपीत्यर्थ । ७ आचारात्मकलक्षणम् ।

---

*अत्राहुर्वार्तिकाचार्यास्तथाहि—'केनाथ ब्राह्मण स स्यादिति प्रश्नमपृच्छत । उक्तोपायातिरेकेण पृच्छ्यते साधनान्तरम् ।। यज्ञादिलक्षण तावत्पारपर्येण साधनम् । निर्ज्ञातमागमात्तस्मात्पृच्छ्यते साधनान्तरम् ।। चतुर्णा कतमेनेति न तु प्रश्नोऽत्र युज्यते ।। कैवल्याश्रममादाय ब्राह्मणस्य समाप्तित ।। न चाऽऽश्रमान्तर युक्त मुनेर्व्युत्थायिन सत । कृतार्थस्याकृतार्थस्य तस्य नैवाऽऽश्रमान्तरम् ।। प्रश्नोऽय साधनप्रप्त्यै ब्राह्मणस्येह पृच्छ्यते । किंसाधनो ब्राह्मण स्यादिति साधनमुच्यताम् ।। प्रश्नप्रतिवचस्तेन ब्राह्मण स्याद्यथोदित । येनानवाप्तज्ञानोऽपि भवेदीदृश एव ना ।। उक्तब्राह्मणसादृश्य सर्वकर्मनिरासत । नैष्कर्म्यसाधनेनैव ब्राह्मण स्याद्यथोदित ।। इत्येषोऽर्थो विधेयोऽत्र यनेति वचसा श्रुते । स्मृतयोऽपीममेवार्थं तत्र तत्र प्रचक्षते ।। लोकेऽस्मिन्द्विविधा निष्ठा पुरा प्रोक्ता मयाऽनघ । ज्ञानयोगेन साख्याना कर्मयोगेन योगिनाम् ।। इमौ द्वावेव पन्थानौ कर्मतत्त्यागलक्षणौ ।। सजातीयाद्विनिष्क्रान्तावनुक्रान्ततराविमौ ।। सन्यासा एव ताभ्या च विशेषेणातिवर्तते । तथा किं प्रजयेत्यादि पन्था कामत्यजा श्रुत ।। ब्रह्मचर्याश्रमादेव प्रव्रजेदिति भूरिश । सन्यासमेव ब्रुवत मुक्तये सर्वकर्मणाम् ।। श्रुतय स्मृतयश्चोच्चै शुद्धयायसमाश्रयात । सर्वकर्मनिरासेन ब्राह्मण्य लभत तत ।। केनेति यदि वाऽऽक्षेप उत्पत्त्यादेर-सभवात । साधनानामिहैकात्म्य तथाथ प्राणवादिपम् ।। साधनेनैतदैकात्म्य यत्न येन चिकीर्ष्यते । तेन तनेदृगेवाऽऽत्मा नातिशीतिर्मनागपि ।। अथवा लक्षणोक्ति स्याद्यथोक्तब्रह्मवेदिन । यदृगेव चिह्नं न ब्राह्मणस्तेन लक्ष्यताम् ।। देहेन्द्रियमनोबुद्धिधर्मनिषोऽत्यवतत । प्रत्यगैकात्म्यसबोधात्तद्धर्मैर्लक्ष्यते कथम् ।। सर्वससारभावोऽस्य न यथा लक्षण तथा । सर्वाभावोऽपि नैव स्याल्लक्षण ब्रह्मवेदिन ।। वेद्यानुरोधतो यस्मात्तद्विदो न्यायलक्षणम् । भावाभावद्वयध्वसि ब्रह्म वेद्य च तद्विद ।। येनेदृगेव तेनेति तस्मादाह श्रुति स्फुटम् । मुमुक्षोर्लक्षण तादृक्श्रद्दधाना यदब्रुवन् ।। सुषुप्तेऽप्यतिमूढस्य सर्वससारनिह्नुति । गम्यते लक्षण तादृड्न चासौ ब्रह्मविन्मत ।। आत्मनो ब्रह्मतोक्ता न त्वनात्मन ईरिता । यथोक्तज्ञानतो ध्वस्तिरातश्रुत्याऽत उच्यते ।। अतो ब्राह्मण्यतोऽप्यद्यत्क्रिया-कारकलक्षणम् । आर्तं विनाशि तज्ज्ञेय ब्रह्मानार्तं यतस्तत ' ।। १६२-२१४ ।। इति । स ब्राह्मण केन स्यादिति वाक्य प्रश्नपरत्वेनावतारयति—केनेति । ज्ञानस्य ब्राह्मण्य प्रति साधनत्वस्य सिद्धत्वात्तद्विषयप्रश्नायोगादित्या-शङ्क्याऽऽह—उक्तेति ।। अस्तु तर्हि यज्ञादि प्रश्नगोचरस्तत्राऽऽह—यज्ञादीति । आयमाद्विविदिपावाक्यादिति यावत् । साधन मुक्तेरिति शेप । अग्निहोत्रादि तु तत्कार्यविवेत्यादि यायादित्यर्थ ।। आश्रमस्तर्हि मुक्ति प्रत्युपा-यतया पृच्छ्यते नेत्याह—चतुर्णामिति । मुक्ति सप्तम्यर्थ । कुतो विशेषणमाश्रमान्तरेणापि मुक्तिसिद्धेरित्या-

एवोक्तलक्षण एव ब्राह्मणो भवति। येन केनचिच्चरणेनेति स्तुत्यर्थं[1] येयं ब्राह्मण्यावस्था सेयं स्तूयते न तु चरणे[2]ऽनादरः[3]। अत एतस्माद्ब्राह्मण्यावस्थानादशनायाद्यतीतात्मस्व-

---

चरणमिच्छतो[4] ब्रह्मविदो यथेष्टचेष्टाऽभीष्टा[5] स्यात्तया च 'यद्यदाचरति श्रेष्ठ' इति स्मृतेरितरेषाम[6]प्याचारेऽनादरः स्यादित्याशङ्क्याऽऽह—येन केनचिदिति। 'विहितमाचरतो निषिद्धं च त्यजत[7] शुद्धबुद्धेः श्रुताद्वाक्यात्सम्यग्धीरुत्पद्यते तस्य च वासनावशादुक्तवदस्थितैव चेष्टा नाव्यवस्थितेति[8] न यथेष्टाचरणप्रयुक्तो दोष इत्यर्थः[9]। अतोऽन्यदित्यादि व्याकरोति—अत इति। स्वप्नेत्यादि बहुदृष्टान्तोपादान

यह है कि जिस किसी भी आचरण से युक्त हो, ऐसा उक्त लक्षण वाला ही ब्राह्मण होता है। "जिस किसी भी आचार से युक्त हो" ऐसा प्रतिपादन स्तुति के लिए है। भावाशय यह है कि जो यह ब्राह्मी स्थिति है, उसकी स्तुति की जाती है, न कि श्रुति में शिष्टाचार के प्रति अनादर है। इसलिए इस क्षुधा-पिपासादिरहित आत्मस्वरूप नित्यतृप्त ब्राह्मी अवस्था में स्थिति होने से जो अविद्या की विषय-

---

१ स्तुत्यर्थत्वमेव विशदयति—ययमिति। २ शिष्टाचार। ३ श्रुत। ४ तव। ५ तस्य तस्या अभीष्टत्व। ६ अज्ञानाम्। ७ साधनावस्थायाम्। ८ मुमुक्षो। ९ पूर्वसंस्कारबलाद्विहिताचार एव नियतो भवतीत्यर्थः। १० अज्ञानामाचारेऽनादरप्रसक्तिरूप पूर्वोक्त।

शङ्क्याऽऽह—न चेति। कृतार्थं साक्षात्कृतब्रह्मा मुनिस्तस्य त्यक्तैषणस्य नाऽऽश्रमान्तरं मोक्षोपायो न खल्वेषणाभ्यो व्युत्थितेनाऽऽश्रमान्तरमाश्रयितुं शक्यम्। अकृतार्थस्तु प्रयोजकज्ञानी तस्यापि नाऽऽश्रमान्तरं मुक्तिहेतुरन्यत्र श्रवणादिद्वारा ज्ञानयोगाद्भाविरक्ताय संसारादित्यादिन्यायादित्यर्थः॥ तर्हि विषयाभावात्प्रश्नो मा भूदाक्षेपस्तु स्यान्नेत्याह—प्रश्नोऽयमिति। इहेति वाक्योक्ति। नाय क्षेपो हेत्वभावादिति मत्वा प्रश्नप्रकारमभिनयति—किमिति॥ सम्यग्ज्ञानाद्यज्ञादेराश्रमान्तराच्चातिरिक्ते मुक्तिहेतौ पृष्टे येनेत्याद्युत्तरमाह—प्रश्नेति। अनुत्पन्नज्ञानोऽपि पुरुषो येन साधनेन निर्व्यापारो भवति तेन मुख्य ब्राह्मण्य लभ्यत इत्यर्थः॥ किं तदिति तदाह—उक्तेति। सर्वव्यापारोपरमात्मकनैष्कर्म्यं पारमहंस्य ज्ञानादन्यत्तेनैव मुख्यो ब्राह्मणो भवति तच्च साधनं सर्वकर्मत्यागतो लभ्यते तस्य ब्राह्मण्यं प्रति साधनत्वं तेन साम्यत्वादुभयोरपि निर्व्यापारत्वाविशेषाद्धेतुफलयोरैकरूप्यस्य न्याय्यत्वादित्यर्थः॥ क्व नैष्कर्म्यमधिगतं तदाह—इत्येव इति। अत्रत्युद्देश्यमोक्षोक्तिः। परमहंसाश्रमो नैष्कर्म्यं तस्य धीसमुच्चितस्य मोक्षोपायत्वे मानमाह—स्मृतयोऽपीति। अपिशब्दः श्रुतिसंग्रहार्थः॥ तत्राऽऽदौ स्मृतीरुदाहरन्भगवद्वाक्यमाह—लोकेऽस्मिन्निति। प्राणिनिकायो लोकः। पुरेति द्वितीयाध्यायोक्तिः सर्गादिकालो वा पुरेत्युक्तिः। ये द्वे निष्ठे तत्राऽऽह—ज्ञानेति। सांख्याः सम्यग्धीप्रधानास्तेषां परमहंसानां ज्ञानयोगो निर्व्यापाररूपं नैष्कर्म्यं तेनैव निष्ठा कर्मिणो योगिनस्तेषां कर्मयोगस्तदनुष्ठानं तेनैव निष्ठेति यदन्भगवान्नैष्कर्म्यस्य ज्ञानोपेतस्य मुक्तिसाधनत्वमभिप्रेतवानित्यर्थः॥ तत्रैव व्यासवाक्यमाह—द्वाविति। अन्ययोगव्यवच्छेदेनोक्तौ पृथग्मार्गौ विनिर्दिष्ट—कर्मेति। तयोर्मिथो वैजात्यमाह—सजातीयादिति। श्रुतिषु तयोरसकृदुक्तत्वेन प्रामाणिकत्वमाह—अनुक्रान्तेति॥ समभिव्याहारात्तयोरैकरूप्यमाशङ्क्याऽऽह—सन्यास इति। संन्यासिनां स्मृताविव श्रुतावपि नैष्कर्म्यमार्गो दृष्ट इत्याह—तथेति॥ ननु क्रमेण संन्यस्यतो यथोक्तो मार्गोऽत्र विवक्षितः प्रथमाश्रमे तु संन्यासमेव न मुख्यामस्तत्राऽऽह—ब्रह्मचर्येति। इतिशब्दः पन्थाः श्रुत श्रुताविस्यनेन संबध्यते। 'त्यागेनैके अमृतत्वमानशुरिति' श्रुतं कस्यचित्कर्म कस्यचित्त्यागो मुक्तिहेतुरिति विकल्पमाशङ्क्याऽऽह—

रूपाश्रित्यतद्भावादन्यदविद्याविषयमेषणालक्षणं वस्त्वन्तरमार्तं विनाश्यार्तिपरिगृहीतं स्वप्नमायामरीच्युदकसममसारमात्मैवैकः केवलो नित्यमुक्त इति । ततो ह कहोलः कौषीतकेय उपरराम ॥ १ ॥

इति बृहदारण्यकोपनिषद्भाष्ये तृतीयाध्यायस्य पञ्चमं ब्राह्मणम् ॥ ५ ॥

दार्ष्टान्तिकस्य बहुरूपत्वद्योतनार्थम् । अथोऽन्यदिति कुतो विशेषणमित्याशङ्क्याऽऽह—आत्मैवेति ॥१॥

इति बृहदारण्यकोपनिषद्भाष्यटीकायां तृतीयाध्यायस्य पञ्चमं कहोलब्राह्मणम् ॥५॥

भूत एषणारूप अन्य वस्तुएँ हैं, वे "आर्तम्" अर्थात् विनाशी आर्ति से परिगृहीत हैं, स्वप्न माया एवं मरुमरीचिका के जल के समान असार हैं, आत्मा ही एक, केवल व नित्यमुक्त है। इस प्रकार (अपने प्रश्न के निर्णय से) कौषीतकेय कहोल चुप हो गया ॥१॥

इस प्रकार बृहदारण्यकोपनिषत् शाङ्करभाष्य में तृतीय अध्याय के पञ्चम कहोल-ब्राह्मण का हिन्दीभाषानुवाद पूर्ण हुआ ॥ ५ ॥

---

१. स्वीयप्रश्ननिर्णयात् । २. मनसाऽप्यचिन्त्यपराजयोऽयमित्यभिप्रायेणोपररामेत्यर्थः ।

संन्यासमिति । उच्चैरित्युक्तताप्पर्यद्योतनार्थमभ्यासाख्यं लिङ्गं दर्शयति—भूरिश इति ॥ न च तासामन्यार्थत्वमबाधितन्यायानुग्रहादित्याऽऽह—शुद्धेति । आत्मस्वरूपभूतमुक्तेरसाध्यत्वादि न्यायः । ज्ञानातिरिक्त नैष्कर्म्याख्य मुक्तिहेतुमुपपाद्य येनेत्यादेरर्थमुपसंहरति—सर्वेति ॥ स इत्यादेरर्थान्तरमाह—येनेति । आक्षेपं स्फोरयति—उत्पत्त्यादेरिति । मोक्षे ज्ञानातिरिक्तकर्मादिहेतुना येनेत्याक्षेपस्तस्य चतुर्विधकर्मकार्यत्वायोगात्सद-योगश्च सम्बन्धादावुक्त इत्यर्थः ॥ ज्ञानेतरसर्वहेत्वाक्षेपमुपेत्य येनेत्यादेरर्थमाह—साधनेनेति । अग्निहोत्रानुष्ठाना-द्यागूर्ध्वं च मुक्तेराकाशवदेकरूप्यादज्ञानध्वस्तेश्च ज्ञानमात्रायत्तत्वान्नैष्कर्म्यस्य च ज्ञानाद्वा तत्फलाद्वा तद्धेतोर्वाऽनतिरेकान्न मुक्त्यर्थं हेत्वन्तर मृग्यमित्यर्थः ॥ स इत्यादेर्विधान्तरेण प्रश्नरूपमर्थमाह—अथवेति । उक्तिशब्द प्रश्नवचन । येनेत्यादेरर्थमाह—येनेति । मुक्तस्य विदुषो मुक्तस्य लक्षण केनेति पृच्छ्यत इत्यर्थः । ननु पृथिव्यादेर्गन्धवत्त्वादि स्वातिरिक्त लक्षण तद्वत् मुक्तस्य स्वरूपमेव लक्षण न लक्षणान्तरमस्तीत्यर्थः ॥ ननु पृथिव्यादेर्गन्धवत्त्वादि स्वातिरिक्त लक्षण तद्वत् मुक्तस्य न लक्षणान्तर तत्र किं शमादिर्वा संसाराभावो वा तस्य लक्षणान्तरमिति विकल्प्याऽऽद्य प्रत्याह—देहेति । देहादेस्तद्धर्माच्च तत्त्वज्ञानेनातीतो मुक्तो नास्य बुद्ध्यादिधर्मः शमादिलक्षणं वैयधिकरण्यादित्यर्थः ॥ द्वितीयं दूषयति—सर्वेति ॥ तत्र हेतुः—येनेति ॥ अथ तद्यथाऽहिनिर्ल्वयनी सचक्षुरचक्षुरिवेत्यादिश्रुतेः स्थितप्रज्ञगुणा-तीतलक्षणस्मृतश्च विदुषो मुक्तस्य लक्षणमुक्त तत्कुतो न लक्षणान्तर तत्राऽऽह—येनेति । प्रतिबन्धो हि लक्षणान्तराभावादेव प्रवृत्त श्रुतिस्मृती तु विदुषो व्यवहारदृष्ट्या लक्षणमाचक्षाते न वस्तुतो वस्तुतस्तद्राहित्यमिह विवक्षितमिति भावः । ननु शमादिर्ज्ञानात्पूर्वं साधनमूर्ध्वं ज्ञानिलक्षणमिति संप्रदायविदो न तदन्यथयितु युक्तमत आह—मुमुक्षोरिति । सांप्रदायिका यदास्तिकाः सन्तः शमादिलक्षणमाचचक्षिरे तत्सर्वं व्यवहारावस्थस्यैव न तदतीतस्येत्यर्थः ॥ संसाराभावस्य मुक्तलक्षणत्वाभावे हेत्वन्तरमाह—सुषुप्तेऽपीति । अब्रह्मविदोऽपि संसारा-भावानुभवाच्च तन्मुक्तलक्षणं न चाज्ञानाभावस्तल्लक्षण तस्य स्वरूपत्वे लक्षणान्तरत्वायोगादस्वरूपत्वे संसाराभावा-दविशेषादिति, भावः ॥ मुक्तस्य लक्षणान्तराभावेऽपि कथमतोऽन्यदार्तमित्युक्त मुक्तादन्यस्यैवाप्रस्त्वेन वाक्यस्य निर्विषयत्वादित्याशङ्क्याऽऽह—आत्मन इति । पाण्डित्यादिवाक्यमिहेति परामृष्टम् ॥ अतोऽन्यदित्यादिश्रुतेरर्था-न्तरमाह—अत इति । अन्यस्य नाशित्वे हेतुमाह—अह्नेति । यद्वा यतोऽन्यदार्तमतो ब्रह्मैवानार्तमिति फलोक्तिः ॥

अथ तृतीयाध्यायस्य षष्ठं ब्राह्मणम् ।

[1]अथ हैनं गार्गी वाचक्नवी पप्रच्छ याज्ञवल्क्येति होवाच यदिदꣳ सर्वमप्स्वोतं च प्रोतं च कस्मिन्नु खल्वाप ओताश्च प्रोताश्चेति वायौ गार्गीति कस्मिन्नु खलु

फिर उस याज्ञवल्क्य से वचक्नु की पुत्री गार्गी ने पूछा—हे याज्ञवल्क्य ! ऐसा उसने कहा। यह जो कुछ (पार्थिव धातुसमुदाय) है सब जल में ओत-प्रोत है अर्थात् वस्त्र में तन्तु के आतान-वितान के समान ओत-प्रोत है। याज्ञवल्क्य ने कहा—हे गार्गी ! वायु में (जलीय या पार्थिव धातु के आश्रय

यत्साक्षादपरोक्षाद्ब्रह्म य आत्मा सर्वान्तर इत्युक्तं तस्य [2]सर्वान्तरस्य स्वरूपा-

---

[3]पूर्वब्राह्मणयोरात्मनः सर्वान्तरत्वमुक्तं तन्निर्णयार्थमुत्तरं [4]ब्राह्मणत्रयमिति [5]संगतिमाह—

जो साक्षात् अपरोक्ष ब्रह्म सर्वान्तर आत्मा है—ऐसा पूर्वश्रुति में प्रतिपादित किया गया, उस

---

१. अथेति—"षष्ठेऽस्मिन् ब्राह्मणे सर्वं ब्रह्मकार्यं विविच्यते। सर्वान्तरत्वं निर्णेयं ब्रह्मणः सर्वनिर्णयादिति" ॥ वार्तिकसारे ३।६।१ ॥ २ सर्वान्तरस्येति। अत्र वार्तिके—"विशेषणस्य सर्वस्य साक्षादित्यादिकस्य च। सर्वान्तरविनिर्णीतौ निर्णयः स्यात्कथं न्विति ॥ अशनायाद्यतिक्रान्त्या प्रश्नार्थाविष्कृतिः कृता। न सम्यगिति मन्वाना गार्ग्यपृच्छदतः पुनः ॥ क्षित्यादेर्वियदन्तस्य यावन्नैकात्म्यमुच्यते। निर्णीतार्थो न तावत्स्यात्प्रश्नः साक्षादितीरितः ॥ बुभुक्षाद्येकदेहस्थनिषेधादनिषेधतः। क्षित्यादेर्वियदन्तस्य नातः प्रश्नार्थनिर्णयः ॥ न एवं पार्थिवा भावा लोष्टकुम्भादयो मता। तेषामन्तर्बहिर्व्याप्तिः पृथिव्यैवेह लक्ष्यते ॥ यथैव पार्थिवा भावाः पृथिव्यैव धरित्र्यपि। अद्भिरन्तर्बहिश्चैव व्याप्तैवेह समीक्ष्यते ॥ एवं दृष्टं यतस्तस्माद्गार्गी पप्रच्छ लिङ्गतः। प्रश्नं यदिदमित्येव याज्ञवल्क्य महाधियमिति" ॥२-८॥ ननु विशेषणान्तराण्यपि प्रकृतानि तानि विहाय किमिति सर्वान्तरत्वं निर्णीयते तत्राऽऽह—विशेषणस्येति। आत्मनः सर्वान्तरत्वनिर्णये साक्षात्त्वादि यतो निर्णीतमेव भवत्यतस्तस्य कथं सर्वान्तरत्वमिति विशेषतो निरूप्यत इत्यर्थः ॥ तन्निर्णयात्तदविनाभूतसाक्षात्त्वादि निर्णयेऽपि योऽशनायेत्यादिना सर्वान्तरत्वादेर्निर्णीतत्वात्किं पुनरारम्भेणेत्याशङ्क्याशनायेत्यादिप्रश्नं प्रस्तौति—अशनायादीति ॥ यत्साक्षादित्यादिप्रश्नार्थस्य योऽशनायेत्यादिना कृताऽऽविष्कृतिः कथं न सम्यगिति तत्राऽऽह—क्षित्यादेरिति ॥ अशनायादिनिषेधेनैव भूतपञ्चकमपि प्रतिषिध्य प्रत्यङ्मात्रस्य निर्णीतत्वात्कथं न प्रश्नार्थे निर्णयस्तत्राऽऽह—बुभुक्षादीति। प्रश्नस्य सम्यगनिर्णीतत्वबुद्ध्या गार्गी पृच्छतु तत्पृच्छा तु किंमूलेत्याशङ्क्य व्याप्तिमूलेति वक्तुं लोकप्रसिद्धां व्याप्तिमाह—य एत इति ॥ ननु पृथिव्या व्यापकत्वेऽपि। कीदृशी व्याप्तिस्त(स्त्व)दिष्टा तत्राऽऽह—यथैवेति ॥ यदनात्मत्वे सति व्यापकं तदन्यव्याप्यं यथा पृथिवीति व्याप्तिमुक्त्वा तन्मूलं प्रश्नं दर्शयति—एवमिति ॥ ३. उपस्तकहोलप्रश्नयोः। ४. ब्राह्मणत्रयमिति—शाकल्यब्राह्मणात्प्राक्तनं गार्ग्यन्तर्याम्यक्षराख्यं ब्राह्मणत्रयमित्यर्थः। ५. संगतिम्—उपस्तकहोलब्राह्मणयोरुत्तरब्राह्मणत्रयस्य च मिथो निर्णयनिर्णायकभावसंबन्धमित्यर्थः।

वायुरोतश्च प्रोतश्चेत्यन्तरिक्षलोकेषु गार्गीति कस्मिन्नु खल्वन्तरिक्षलोका ओताश्च प्रोताश्चेति गन्धर्वलोकेषु गार्गीति कस्मिन्नु खलु गन्धर्वलोका ओताश्च प्रोताश्चेत्यादित्यलोकेषु गार्गीति कस्मिन्नु खल्वादित्यलोका ओताश्च प्रोताश्चेति चन्द्रलोकेषु गार्गीति कस्मिन्नु खलु चन्द्रलोका ओताश्च प्रोताश्चेति नक्षत्र-

लिये बिना अग्नि का स्वरूप सिद्ध नहीं होता। इसलिये अग्नि का ओत-प्रोत भाव सिद्ध नहीं होता। गार्गी ने कहा—) वायु किसमें ओत-प्रोत है? (याज्ञवल्क्य ने उत्तर दिया—) हे गार्गि! अन्तरिक्ष-लोक में। गार्गी बोली—अन्तरिक्षलोक किसमें ओत-प्रोत है? याज्ञवल्क्य ने कहा—हे गार्गि! वह गन्धर्वलोक में ओत-प्रोत है। गार्गी बोली—गन्धर्वलोक किसमें ओत-प्रोत है? याज्ञवल्क्य ने कहा—हे गार्गि! आदित्यलोक में। गार्गी ने कहा—आदित्यलोक किसमें ओत प्रोत है? याज्ञवल्क्य ने कहा—हे गार्गि! चन्द्रलोक में। गार्गी बोली—चन्द्रलोक किसमें ओत-प्रोत है? याज्ञवल्क्य ने कहा—हे गार्गि!

धिगमायाऽऽ[1]शाकल्यब्राह्मणादूग्रन्थ आरभ्यते। पृथिव्यादीनि ह्याकाशान्तानि भूतान्यन्त-र्बहिर्भावेन व्यवस्थितानि तेषां यद्बाह्यं [2]बाह्यमधिगम्याधिगम्य [3]निराकुर्वन्द्रष्टुः [4]साक्षात्सर्वान्तरोऽगौण आत्मा सर्वसंसारधर्मविनिर्मुक्तो दर्शयितव्य इत्यारम्भः—अथ हैनं गार्गी नामतो वाचक्नवी वचक्नोर्दुहिता पप्रच्छ याज्ञवल्क्येति होवाच। यदिदं सर्वं

यत्साक्षादिति। उक्तमेव संबन्धं विवृणोति—पृथिव्यादीनीति। अन्तर्बहिर्भावेन सूक्ष्मस्थूलतारतम्य-क्रमेणेत्यर्थः। बाह्यं बाह्यमिति वीप्सोपरिष्टात्तच्छब्दो द्रष्टव्यो यत्तदोर्नित्यसंबन्धात्। निराकुर्वन्यया मुमुक्षुः सर्वान्तरमात्मानं प्रतिपद्यते तथा स यथोक्तविशेषणो दर्शयितव्य इत्युत्तर-ग्रन्थारम्भ इति योजना। कहोलप्रश्ननिर्णयानन्तर्यमथशब्दार्थः। यत्पार्थिवं धातुजातं तदिदं सर्वम-

---

सर्वान्तर आत्मा के स्वरूप का ज्ञान प्राप्त करने के लिए शाकल्यब्राह्मणपर्यन्त आगे का ग्रन्थ प्रारम्भ किया जाता है। पृथिवी से लेकर आकाशपर्यन्त सम्पूर्ण महाभूत अन्तर्बहिर्भाव से व्यवस्थित है। उनमें से जो स्थूल-स्थूल भूत हैं, उनका ज्ञानपूर्वक निरास करते हुए, जो समस्त सांसारिक धर्मों से रहित द्रष्टा से व्यवहित, सर्वान्तर मुख्य आत्मा है, उसका दर्शन कराना है, इसलिए यह ग्रन्थ आरम्भ किया जाता है। फिर उस याज्ञवल्क्य से 'वाचक्नवी' अर्थात् वचक्नु की गार्गीनामा पुत्री ने पूछा। उसने मुनि का आभिमुख्य प्राप्त करने के लिए 'हे याज्ञवल्क्य' इस प्रकार सम्बोधित करके कहा। यह जो भी सब

---

१ शाकल्यब्राह्मणात्प्राक्तनो ग्रन्थ। २ स्थूलम्। ३ स्थूल भूतम्। ४ तदधिगमपूर्वकमित्यर्थ। ५. अपोहयन्। ६ द्रष्टृव्यवहित इत्युभयोरर्थ। ७ मुनेराभिमुख्यमापादयितुं भो याज्ञवल्क्येति संबोध्योक्तवतीत्यर्थः। ८ निराकुर्वन्निति—परित्यजन्नित्यर्थ। उत्तरोत्तरस्य पूर्वपूर्वत्रान्तर्भावयन् उत्तरोत्तरापेक्षया पूर्वपूर्वत्राऽऽन्तरत्वं विभावयन्निति यावत्।

तत्र भूतानि पञ्च संहतान्येवोत्तरमुत्तरं सूक्ष्मभावेन व्यापकेन कारणरूपेण च व्यवतिष्ठन्ते । न च परमात्मनोऽर्वाक्तद्व्यतिरेकेण वस्त्वन्तरमस्ति "सत्यस्य सत्यम्"

ननु 'तथाऽपि भूतपञ्चकव्यतिरिक्तानां गन्धर्वलोकादीनामप्यान्तरत्वेनोपदेशात्कथं भूतपञ्चकव्युदासेन 'सर्वान्तरप्रतिपत्तिविवक्षितेति तत्राऽऽह—तत्रेति । उक्तनीत्या प्रश्नार्थे स्थिते सतीति यावत् । 'भूतात्मस्थितिनिर्धारणे वा सप्तमी । 'अथ परमात्मभूतानन्तर्हितत्वात्पृथगेव गन्धर्व-

---

वहाँ पाँच भूत है जो परस्पर संहत होकर ही उत्तरोत्तर व्यापक सूक्ष्मभाव से और (गन्धर्वलोकादि) कारणरूप से विद्यमान रहते हैं। परमात्मा से परे उससे भिन्न कोई वस्तु नहीं है—इसमें

---

१ गन्धर्वादिलोकानामात्मनेत्यर्थः । २ भूतपञ्चकम् । ३ बृ० उ० २।१।२० । ४ आत्मनः सर्वान्तरत्वस्य विशेषतो निरूपणविवक्षया प्रश्नप्रवृत्त्यभ्युपगमेऽपि । ५ यथोक्तलोकानामप्यान्तरत्वोक्त्या तदव्युदासे आत्मनः सर्वान्तरत्वासिद्धेरिति भावः । ६ भूतात्मस्थितिनिर्धारणे वा सप्तमीति । तथा च भाष्यगततत्रेतिपदस्य परिणाम्यपरिणामिभूतात्मस्थित्योर्मध्ये इत्यर्थः । भाष्ये च भूतान्येवत्येवकारस्य भिन्नक्रमेणान्वयः तथा चापरिणामस्थितिरात्मैवकारव्यवच्छेद्यः यद्वा भूतान्यत्वमेव लोकेषु तेन व्यवच्छेद्यम् । अयमाशयः—भूतराशिरेकः, अपरश्चात्मराशिः, नैतावुभयाभ्यामन्यस्तृतीयः, तत्राऽऽद्यः परिणामिनित्यः कूटस्थनित्यश्च द्वितीयः तत्राऽऽद्यराशेः परिणामभूतानि गन्धर्वलोकादीनि अतस्तत्रैवान्तर्भवन्ति इतो भूतपञ्चकव्युदासेन सर्वान्तरप्रतिपत्तिर्विवक्षितेति । ७ उक्ताभिप्रायमजानतो यथाश्रुतग्राहिणः पृथगेव गन्धर्वलोकादीनामुत्थापयति—अर्थेति । संहतपञ्चभूतानामेवोत्तरोत्तरं सूक्ष्मादिरूपेणावस्थानेऽपीत्यर्थः ।

सामेतामनतिप्रश्न्यामतिप्रश्नेन साहसात् । पृच्छन्त्या मूर्धपातस्ते स्यादेव स्वापराधतः ॥ स्थूलान्यनुमया युक्तं प्रष्टुं तत्त्वानि कामतः । इयं तु न तथा स्थूला यां त्वं पृच्छसि देवताम् ॥ अचिन्त्या चाप्रतर्क्या च प्राणभावेन च स्थिता । नान्येनैव प्रमाणेन प्रष्टव्या देवताऽऽगमात् ॥ एतस्मादेव हेतोस्ता सकलास्त्रेषु न क्रिया । नैवानुमिन्वते भासात्पृथिव्यादीन्यथा तथा ॥ प्राणोऽयमनिरुक्तो हि वक्तुं निर्वक्तुमर्हति । मानान्तरेणाऽऽगमतो मा प्राक्षीरियतो बच ॥ १६ २६ ॥ इति । प्रश्नान्तरार्थं भूमिकामाह—तदेतदिति । पृथिव्यादीनामन्तर्बहिर्व्याप्ततया यदेतदवस्थानं पृष्टं तदुक्तप्रकारेण ब्रह्मलोकान्त स्फुटीकृतं न चाण्डादुपरिष्टादनुमानेन प्रष्टव्यमित्यर्थः ॥ उक्ताभिप्रायाज्ञानकृतप्रश्नविषयमाह—समष्टीति । पुनरिति भुज्युप्रश्नोक्तिः ॥ सूत्रविषयत्वं प्रश्नस्योक्त्वा तदक्षराणि व्याकरोति—ओतः इति । प्रत्युक्तिमादत्ते—इति पृष्टः इति ॥ तां व्याचष्टे—माऽतीत्यति । आनुमानिकप्रश्नविषयमित्यादिवमतिक्रम्य सूत्रमपि पृच्छन्त्यामनुमानेन तथैव प्रश्नं मा कार्षीरित्यर्थः । मा ते मूर्धा व्यपप्तदित्यस्य तात्पर्यमाह—मा न इति । व्यपप्तदिति व्यपप्तदित्यस्याभ्यासिमाङ्योगादटो लोपेऽपि तदभावश्छान्दसः ॥ अनतिप्रश्न्यामित्यन्देरर्थं अननुमतिप्रश्नशब्दार्थमाह—उचितः इति । सूत्रस्याऽऽगमैकगम्यत्वात्तत्र प्रश्नो योग्यस्तमतिक्रान्तोऽतिप्रश्नोऽनुमेयत्वं ॥ प्रश्नार्थमाह—या त्वमिति । अण्डान्तर्वर्तिनो देवताऽतिप्रश्न्यत्वार्थं । सातिप्रश्न्येत्यनतिप्रश्न्या सूत्रदेवता केवलागमगम्यत्वादित्याह—तदन्यत्वादिति ॥ अतस्त्वनतिप्रश्न्या सूत्रदेवता किं तावत्तेत्याशङ्क्य वाक्यार्थमाह—त्वमिति ॥ इन्द्रादिवदनुमानेन सूत्रप्रश्ने कोऽपराधो देवतात्वाविशेषादित्याशङ्क्याऽऽह—स्थूलानीति । प्राणोऽयमित्यादिनिगमनस्य तात्पर्यमाह—अचिन्त्येति । तदभावनाद्धां धारयति—प्राणेति । अप्रश्नवर्थत्वं समर्थयते—एतस्मादिति । आसां मूर्धपातभयादिति यावत् ॥ प्राणस्य सूत्रात्मनः श्रुतिव्यतिरेकेण प्रसिद्धेश्च नानुमेयत्वेत्याह—प्राणोऽयमिति । निगमनवाक्यार्थमुपसंहरति—मानान्तरेणेति ॥

इति श्रुतेः। सत्यं च भूतपञ्चकं सत्यस्य सत्यं च पर आत्मा। कस्मिन्नु खल्वाप ओताश्च प्रोताश्चेति। तासामपि कार्यत्वात्स्थूलत्वात्परिच्छिन्नत्वाच्च क्वचिद्ध्योतप्रोतभावेन भवितव्यम्। क्व तासामोतप्रोतभाव इत्येवमुत्तरोत्तरप्रश्नप्रसङ्गो योजयितव्यः। वायौ गार्गीति। नन्वग्नाविति वक्तव्यम्। नैष दोषः। अग्नेः पार्थिवं वाऽऽप्यं वा धातुमनाश्रित्येतरभूतवत्स्वातन्त्र्येणाऽऽत्मलाभो नास्तीति तस्मिन्नोतप्रोतभावो नोपदिश्यते।

कस्मिन्नु खलु वायुरोतश्च प्रोतश्चेत्यन्तरिक्षलोकेषु गार्गीति। तान्येव भूतानि संहतान्यन्तरिक्षलोकास्तान्यपि गन्धर्वलोकेषु गन्धर्वलोका आदित्यलोकेष्वादित्यलोकाश्चन्द्रलोकेषु चन्द्रलोका नक्षत्रलोकेषु नक्षत्रलोका देवलोकेषु देवलोका इन्द्रलोकेष्विन्द्र-

लोकादीनि वस्त्वन्तराणि भविष्यन्ति नेत्याह—न चेति। गन्धर्वलोकादीन्यपि भूतानामेवावस्थाविशेषास्तत [इत्यर्थः]। सत्यं भूतपञ्चकं तस्य सत्यं परं ब्रह्म नान्यदन्तराले प्रतिपत्तव्यमित्यन्यप्रतिषेधार्थौ चशब्दौ। तात्पर्यमुक्त्वा प्रश्नमुत्थाप्य तदक्षराणि व्याकरोति—कस्मिन्नित्यादिना। कस्मिन्नु खलु वायुरित्यादावुक्तन्यायमतिदिशति—एवमिति। वायावित्ययुक्ता प्रत्युक्तिरपामग्निकार्यत्वादग्नाविति वक्तव्यत्वादिति शङ्कते—नन्विति। अग्नेरुदकव्यापकत्वेऽपि काष्ठविद्युदादिपारतन्त्र्यात्स्वतन्त्रेण केनचिदपां व्याप्तिर्वक्तव्येत्यग्निं हित्वा तत्कारणे वायावित्युक्तं वायोश्च स्वकारणसम्बन्धेऽपि नोदकतन्त्रतेति तद्व्यापकत्वसिद्धिरित्युत्तरमाह—नैष दोष इत्यादिना।

अन्तरिक्षलोकशब्दार्थमाह—तान्येवेति। प्रजापतिलोकशब्दार्थं कथयति—विराडिति। अन्त-

"वह सत्य का सत्य है' यह श्रुति प्रमाण है। सत्य तो भूतपञ्चक है, और परमात्मा "सत्य का सत्य" है। (इसी से प्रश्न होता है—) वह किसमे ओत प्रोत है। कार्यरूप स्थूल एवं परिच्छिन्नरूप होने से जल को भी किसी में ओत प्रोत भाव से रहना चाहिये। उसका ओतप्रोतभाव कहाँ है—इसी प्रकार उत्तरोत्तर प्रश्नों के प्रसंग को लगा लेना चाहिये। 'हे गार्गी! वायु में ओतप्रोत है'। (इस पर शङ्का होती है—) यहाँ तो याज्ञवल्क्य को 'अग्नि में ओत प्रोत है'—ऐसा कहना चाहिये था। (इस का परिहार करते हैं —) ऐसा कहने में कोई दोष नहीं है क्योंकि अन्य भूतों के समान अग्नि की स्वरूपसिद्धि (काष्ठादि) पार्थिव अथवा विद्युदादि जलीय वस्तु का आश्रय लिए बिना नहीं होती, इसलिये उसमें ओतप्रोतभाव का उपदेश नहीं किया जाता।

(गार्गी पूछती है—) वायु किसमे ओत-प्रोत है? (याज्ञवल्क्य कहते हैं—) हे गार्गी! अन्तरिक्षलोकों में वायु ओत प्रोत है। परस्पर संघातरूप में प्रतिष्ठित ये भूत ही अन्तरिक्षलोक हैं। अन्तरिक्षलोक में अवस्थित वे भूत भी गन्धर्वलोकों मे, गन्धर्वलोक आदित्यलोकों में आदित्यलोक चन्द्रलोकों मे, चन्द्रलोक नक्षत्रलोकों में, नक्षत्रलोक देवलोकों में, देवलोक इन्द्रलोकों में, इन्द्रलोक विराट् शरीर के आरम्भकभूतरूप प्रजापतिलोकों में, प्रजापतिलोक ब्रह्मलोकों में ओत-प्रोत हैं।

१ अपाम्। २ काष्ठादि। ३ विद्युदादि। ४ अन्तरिक्षलोकात्मनाऽवस्थितभूतानि। ५ तेषां तदवस्थाविशेषत्वात्। ६ प्रश्नस्य। ७ उदकव्यापकत्वसिद्धि यावत्।

सोऽब्रवीत्पतञ्चलं काप्यं याज्ञिकाꣳश्च वेत्थ नु त्वं काप्य तत्सूत्रं येनायं च लोकः परश्च लोकः सर्वाणि च भूतानि संदृब्धानि भवन्तीति सोऽब्रवीत्पतञ्चलः काप्यो नाहं तद्भगवन्वेदेति सोऽब्रवीत्पतञ्चलं काप्यं याज्ञिकाꣳश्च वेत्थ नु त्वं काप्य [1]तमन्तर्यामिणं य इमं च लोकं परं च लोकꣳ सर्वाणि च भूतानि योऽन्तरो यमयतीति सोऽब्रवीत्पतञ्चलः काप्यो नाहं

काप्य ! क्या तुम उस सूत्र को जानते हो, जिसके द्वारा यह जन्म, परजन्म और ब्रह्मा से लेकर स्तम्ब-पर्यन्त सम्पूर्ण भूत गुथे हुए हैं। उस पर उस काप्य पतञ्चल ने कहा—भगवन् ! मैं उस सूत्रात्मा को नहीं जानता। फिर उस गन्धर्व ने उस काप्य पतञ्चल से पूछा—हे काप्य ! क्या उस अन्तर्यामी को जानते हो, जो इस लोक, परलोक और समस्त भूतों को काष्ठ यन्त्र के समान भीतर रह कर उचित व्यापार कराता है ? इस पर पतञ्चल काप्य ने कहा—हे भगवन् ! मैं नहीं जानता। उस गन्धर्व ने पतञ्चल काप्य और उसके याज्ञिकों से पूछा—तुममें से जो कोई भी उस सूत्र और अन्तर्यामी को उक्त

प्रष्टव्यमितीतिहासेनाऽऽगमोपन्यासः क्रियते—अथ हैनमुद्दालको नामतोऽरुणस्यापत्यमारुणिः [3]पप्रच्छ याज्ञवल्क्येति होवाच । मद्रेषु देशेष्ववसामोषितवन्तः पतञ्चलस्य पतञ्चलो नामतस्तस्यैव कपिगोत्रस्य काप्यस्य गृहेषु यज्ञमधीयाना यज्ञशास्त्राध्ययनं कुर्वाणाः ।

तच्चाऽऽगमेनैवेति । आचार्योपदेशोऽत्राऽऽगमशब्दार्थः । गार्ग्या मूर्धपातभयादुपरतेरनन्तरमित्यथ-शब्दार्थः ।

के प्रदर्शन के लिए इस ब्राह्मण का आरम्भ किया जाता है। उसे तो आगम प्रमाण के द्वारा ही पूछा जाना चाहिये इसलिए आख्यायिका के द्वारा श्रुति को प्रस्तुत किया जाता है। फिर उस याज्ञवल्क्य से "आरुणि" अर्थात् अरुण के पुत्र उद्दालक ने पूछा। वह बोला—हे याज्ञवल्क्य ! मद्रदेश में "पतञ्चलस्य काप्यस्य" अर्थात् कपिगोत्रीय पतञ्चल नामक ऋषि के घर "यज्ञमधीयाना" अर्थात् यज्ञशास्त्र का अध्ययन करते हुए छात्र रहते थे। उस पतञ्चल की पत्नी अमानुषसत्त्वविशेष गन्धर्व से

---

१ तमन्तर्यामिणं य इममित्यादि—अत्र प्रथमयच्छब्दस्तमित्यनुवादार्थ इति वृत्तिः । तथा च योऽन्तर्याम्यस्ति स वेत्थ न्विति प्रथमान्वयः । कोऽसाविति जिज्ञासायां तु योऽन्तरः सन्निमं च लोकं यमयति परं चेत्येव द्वितीयान्वय इति तदाशयः । द्वितीयान्वय इति तथा च द्वितीयो विशेषणप्रदर्शनार्थ इति भावः । २ आख्यायिकाद्वारेत्यर्थः । ३ पप्रच्छेति—ननु ज्ञाताज्ञातं वार्येन प्रश्नो वैयर्थ्यादिशक्यत्वाच्चेति चेन्न आद्यं परीक्षायं तदुपपत्तेरिति । ४. आभिमुख्याय सबोध्योक्तवान् । ५. छात्रा वासम् ।

तं भगवन्वेदेति सोऽब्रवीत्पतञ्चलं काप्यं याज्ञिका॑ँश्च यो वै तत्काप्य सूत्रं विद्यात्तं चान्तर्यामिणमिति स ब्रह्मवित्स लोकवित्स देववित्स वेदवित्स भूतवित्स आत्मवित्स सर्वविदिति तेभ्योऽब्रवीत्तदहं वेद [1]तच्चेत्त्वं याज्ञवल्क्य सूत्रम[2]विद्वा॑ँस्तं चान्तर्यामिणं ब्रह्मगवी-रुदजसे मूर्धा ते विपतिष्यतीति वेद वा अहं गौतम तत्सूत्रं तं चान्तर्यामिणमिति [3]यो वा इदं कश्चिद्-ब्रूयाद्वेद वेदेति यथा वेत्थ तथा ब्रूहीति ॥१॥

रीति से जानता है, वही परमात्मा को जानने वाला है और वही भूरादि लोको को जानता है, एव वही वेदवेत्ता है, वह भूतवेत्ता है, वह आत्मवेत्ता है, वह सर्ववेत्ता है। तत्पश्चात् गन्धर्व ने उन काप्य आदि से सूत्र और अन्तर्यामी को बतलाया। इस प्रकार गन्धर्व से उपदेश प्राप्त कर मैं उसे जानता हूँ। अत हे याज्ञवल्क्य! यदि उस सूत्र और अन्तर्यामी को न जानकर ब्रह्मज्ञानियो की सम्पत्ति गौओ को अन्याय से ले जाओगे, तो मेरे शाप से तुम्हारा मस्तक गिर जायगा। याज्ञवल्क्य ने कहा—हे गौतम! मैं उस सूत्र और अन्यर्यामी को जानता हूँ। उद्दालक ने कहा—अपनी प्रशसा के लिये ऐसा तो कोई साधारण पुरुष भी कह सकता है कि मैं उसे जानता हूँ, वास्तव मे यदि तुम्हे उसका ज्ञान है तो जैसा जानते हो, वैसे तुम कहो॥ १॥

[4]तस्याऽऽसीद्भार्या [5]गन्धर्वगृहीता तमपृच्छाम[6] कोऽसीति। [7]सोऽब्रवीत्कबन्धो नामतोऽथ-र्वणोऽपत्यमाथर्वण इति।

सोऽब्रवीद्गन्धर्वः पतञ्चलं काप्यंया ज्ञिकांश्च तच्छिष्यानस्मान्वेत्थ नु त्वं हे काप्य जानीषे तत्सूत्रम्। कि तत्। येन सूत्रेणाय च लोक [8]इद च [9]जन्म परश्च

सोऽब्रवीदिति प्रतीकोपादानं [10]तस्य तात्पर्यमाह—सूत्रेति।

आविष्ट थी। उससे हमने पूछा कि तू कौन है? वह गन्धर्व बोला—मेरा नाम कबन्ध है, मैं "आथर्वण," अर्थात् अथर्वण का पुत्र हूँ।

उस (मे आविष्ट) गन्धर्व ने कपिगोत्रीय पतञ्चल और उसके याज्ञिक शिष्यो से पूछा—हे काप्य! क्या तुम उस सूत्र को जानते हो? वह कौन सा सूत्र? जिस सूत्र से यह लोक और वर्तमान

१. उक्तविशेषणक सूत्रमित्यन्वय। २ तथा चाब्रह्मवित्सन्नित्यभिप्राय। ३. य कश्चिद्वेदाह वेदाह-मितीद ब्रूयादिति योजना। ४ पतञ्चलस्य। ५ अमानुषसत्त्वविशेषेणाविष्टा। ६ पतञ्चलसहिता वयम्। ७ गन्धर्व। ८. वर्तमानम्। ९ शरीरम्। १०. गन्धर्ववचनस्य।

लोकः परं च प्रतिपत्तव्यं जन्म सर्वाणि च भूतानि ब्रह्मादिस्तम्बपर्यन्तानि संदृब्धानि संग्रथितानि स्रगिव सूत्रेण विष्टब्धानि भवन्ति येन तत्किं सूत्रं वेत्थ । सोऽब्रवीदेवं पृष्टः काप्यो नाहं तद्भगवन्वेदेति तत्सूत्रं नाहं जाने हे भगवन्निति संपूजयन्नाह । सोऽब्रवीत्पुनर्गन्धर्व उपाध्यायमस्मांश्च वेत्थ नु त्वं काप्य तमन्तर्यामिणमन्तर्यामीति विशेष्यते— य इमं च लोकं परं च लोकं सर्वाणि च भूतानि योऽन्तरोऽभ्यन्तरः संयमयति नियमयति दारुयन्त्रमिव भ्रामयति स्वं स्वमुचितव्यापारं कारयतीति । सोऽब्रवीदेवमुक्तः पतञ्चलः काप्यो नाहं तं जाने भगवन्निति संपूजयन्नाह ।

सोऽब्रवीत्पुनर्गन्धर्वः सूत्रतदन्तर्गतान्तर्यामिणोर्विज्ञानं स्तूयते । यः कश्चिद्वै तत्सूत्रं हे काप्य विद्याद्विजानीयात्तं चान्तर्यामिणं सूत्रान्तर्गतं तस्यैव सूत्रस्य नियन्तारं विद्याद्य इत्येवमुक्तेन प्रकारेण स हि ब्रह्मवित्परमात्मवित्स लोकांश्च भूरादीनन्तर्यामिणा नियम्यमानाँल्लोकान्वेत्ति स देवांश्चाग्न्यादीँल्लोकिनो जानाति वेदांश्च सर्वप्रमाणभूतान्वेत्ति

इतिशब्दार्थमाह—एवमिति । येनायं चेत्यादिरुक्तः प्रकारः स सर्वलोकांश्च वेत्तीति संबन्धः । स ब्रह्मविदित्यादिनोक्तं संक्षिपति—सर्वं विशेषणोक्तिपूर्वकं तानेव लोकाननुवदति—भूरादीनिति ।

शरीर, परलोक और आगे प्राप्त होने वाला शरीर ब्रह्मा से स्तम्बपर्यन्त समस्त प्राणीसमुदाय 'संदृब्धानि' अर्थात् सग्रथित यानी सूत्र से माला के समान अच्छी प्रकार से प्रतिबद्ध हुए हैं, क्या-तुम उस सूत्र को जानते हो ? इस प्रकार पूछे जाने पर उस पतञ्चल काप्य ने कहा—हे भगवन् ! उसे तो मैं नहीं जानता। उसने आदर पूर्वक कहा—हे भगवन्, उसे मैं नहीं जानता हूँ । इस पर वह गन्धर्व उपाध्याय और हम लोगो से फिर बोला—हे पतञ्चल काप्य ! क्या तुम उस अन्तर्यामी को जानते हो ? सूत्र के अन्तर्गत होने से अन्तर्यामी विशेषण किया जाता है, जो इस लोक व परलोक के समस्त भूतप्राणियों के अन्दर रहकर "यमयति" अर्थात् नियमन करता है, दारुयोषित की तरह घुमाता है, अपना-अपना उचित व्यापार करवाता है । इस प्रकार कहे जाने पर (विनीत हुए) उस पतञ्चल काप्य ने "भगवन्" इस प्रकार सत्कार करते हुए कहा — उसे तो मैं नहीं जानता ।

वह गन्धर्व पुनः बोला—अब सूत्र और उसके अन्तर्गत अन्तर्यामी के विज्ञान की स्तुति की जाती है । हे पतञ्चल काप्य ! जो कोई भी उस सूत्र को "विद्यात्" अर्थात् विस्पष्टरूप से जान लेता है । उस सूत्र के अन्तर्गत अन्तर्यामी एवं उसी सूत्र के नियन्ता को उक्त प्रकार से जान लेता है, वही "ब्रह्मवित्" अर्थात् परमात्मतत्त्व का ज्ञाता है, वही अन्तर्यामी से नियम्यमान, भूरादि सभी लोकों को जानता है, सभी आस्तिकों के प्रमाणभूत वेदों को जानता है तथा सूत्र से धारण किये हुए और उसके अन्तर्गत अन्तर्यामी से नियमित होते हुए ब्रह्मादि भूतों को जानता है । वह उस अन्तर्यामी से नियमित

१. अग्रे प्राप्यम् । २. शरीरम् । ३. प्रतिबद्धानि । ४. पतञ्चल. । ५. सूत्रस्याप्यन्तर्गतम् । ६. अन्तर्यामीति विशेष्यते इति—एभिरव्यवहितानन्तरप्रदर्श्यमानविशेषणैर्विशिष्टतया प्रदर्श्यत इत्यर्थः । ७. विनीत सन् । ८. विनय दृष्ट्वा स्वस्याचार्यत्वकामः फलेन प्रलोभयितुम् । ९. सर्वलोकान् । १०. सर्वेषामास्तिकानां प्रमाणभूतान् ।

भूतानि च ब्रह्मादीनि सूत्रेण ध्रियमाणानि तदन्तर्गतेनान्तर्यामिणा नियम्यमानानि वेत्ति स 'आत्मानं च कर्तृत्वभोक्तृत्वविशिष्टं तेनैवान्तर्यामिणा नियम्यमानं वेत्ति 'सर्वं च जगत्तथाभूतं वेत्तीत्येवं स्तुते सूत्रान्तर्यामिविज्ञाने प्रलुब्धः काप्योऽभिमुखीभूतो वयं च, तेभ्यश्चास्मभ्यमभिमुखीभूतेभ्योऽब्रवीद्गन्धर्वः सूत्रमन्तर्यामिणं च । तदहं सूत्रान्तर्यामिविज्ञानं वेद गन्धर्वाल्लब्धागमः सन् । तच्चेद्याज्ञवल्क्य सूत्रं तं चान्तर्यामिणमविद्वांश्चेद-ब्रह्मवित्सन्यदि ब्रह्मगवीरुदजसे ब्रह्मविदां स्वभूता गा उदजसे 'उन्नयसि त्वमन्यायेन ततो मच्छापदग्धस्य मूर्धा शिरस्ते तव विस्पष्टं पतिष्यति । एवमुक्तो याज्ञवल्क्य आह—वेद जानाम्यहं हे गौतमेति 'गोत्रतस्तत्सूत्रं यद्गन्धर्वस्तुभ्यमुक्तवान्यं गन्धर्वाद्विदितवन्तो यूयं तं चान्तर्यामिणं वेदाहमित्येवमुक्ते प्रत्याह गौतमो यः कश्चित्प्राकृत इदं यत्त्वयोक्तं ब्रूयात्कथं वेद वेदेत्यात्मानं श्लाघयन्किं तेन गर्जितेन कार्येण दर्शय यथा वेत्थ तथा ब्रूहीति ॥१॥

चेति । तथाभूतं सूत्रेण विधृतमन्तर्यामिणा च नियम्यमानमिति यावत् । प्रस्तुतस्तुतिप्रयोजनमाह—इत्येवमिति । भवत्वेवं तव सूत्रादिविज्ञानं मम किमायातमित्याशङ्क्याऽऽह—तच्चेदिति । किं तेनेत्यत्र सत्येत्यध्याहारः । कार्येण दर्शयेत्युक्तं विवृणोति—यथेति ॥१॥

होते हुए कर्तृत्व-भोक्तृत्वविशिष्ट जीवात्मा को जानता है और सम्पूर्ण जगत् को ऐसा ही जानता है। सूत्र और अन्तर्यामी विज्ञान की इस प्रकार स्तुति होने पर अत्यन्त प्रलुब्ध हुए पतञ्चल काप्य और हम उसके अभिमुख हुए। इस प्रकार अपने अभिमुख हुए हम लोगों के प्रति उस गन्धर्व ने सूत्र और अन्तर्यामी का वर्णन किया। इस प्रकार मैं गन्धर्व से उपदेश प्राप्त करके उस सूत्र और अन्तर्यामी के विज्ञान को जानता हूँ। अतः हे याज्ञवल्क्य ! यदि उस सूत्र और अन्तर्यामी को 'अविद्वान्' यानी अब्रह्मवित् होकर यदि 'ब्रह्मगवीरुदजसे' अर्थात् ब्रह्मवेत्ताओं की स्वभूता गौओं का अन्याय से अपने घर ले जाओगे, तो मेरे शाप से दग्ध तुम्हारा मूर्धा बिल्कुल गिर जायगा। इस प्रकार कहे जाने पर याज्ञवल्क्य ने 'हे गौतम' इस प्रकार गोत्र से सम्बोधन करते हुए कहा, "तुम्हारे प्रति गन्धर्व ने जिस सूत्र का वर्णन किया है, उसे मैं जानता हूँ तथा तुम लोगों ने जिस अन्तर्यामी को गन्धर्व से जाना है, उस अन्तर्यामी को भी मैं जानता हूँ। इस प्रकार कहे जाने पर गौतम ने उत्तर दिया—'जो कोई भी सामान्य आदमी तुम्हारे द्वारा प्रतिपादित उक्त तत्त्व को कहता है"—किस प्रकार कहता है, "मैं जानता हूँ, मैं जानता हूँ" इस प्रकार अपनी श्लाघा करते हुए कहता है। परन्तु उसके गर्जने से क्या होता है, कार्य के द्वारा उसे दिखाओ अर्थात् जैसा जानते हो, वैसा कहो ॥ १ ॥

१. जीवम् । २ सर्वं च जगदिति । तदुक्तं वार्तिके—"सूत्रान्तर्यामिरूपेण यो वेदैतान्पुरोदितान् । स एव ब्रह्मलोकान्तान्वेदेत्यपोऽस्यसग्रह" ॥ ७ ॥ इति । सूत्रेण विधृतानन्तर्यामिणा च नियमितान्पूर्वब्राह्मणोक्तान्ब्रह्मलोकान्तान्पृथिव्यादीन्यो वेद स एवोक्तं सर्वं ब्रह्मादि वेदेत्यर्थोऽस्य स ब्रह्मविदित्यादे सदर्थस्य सक्षेप सर्वविदित्युच्यत इति तदर्थः ॥ ३ स्वगृहान् प्रापयसि । ४ गौतम इति गोत्रं यस्य । ५ तथा च तस्य गर्जितुः प्राकृतस्य तेन गर्जितेन किं फलं स्यादिति योजना ।

स होवाच 'वायुर्वै गौतम तत्सूत्रं वायुना वै गौतम सूत्रेणायं च लोकः परश्च लोकः सर्वाणि च भूतानि

उस याज्ञवल्क्य ने कहा—हे गौतम ! वह सूत्र वायु ही है और कुछ नहीं है । हे गौतम ! वायु-रूप सूत्र के द्वारा ही यह लोक, परलोक और सम्पूर्ण भूत जुडे हुए हैं । हे गौतम ! इसी से मृत पुरुष के

स होवाच याज्ञवल्क्यः । ब्रह्मलोका यस्मिन्नोताश्च प्रोताश्च वर्तमाने काले यथा पृथिव्यप्सु तत्सूत्रमागमगम्यं वक्तव्यमिति 'तदर्थं प्रश्नान्तरमुत्थापितमिति 'तन्निर्णयायाऽऽह—'वायुर्वै गौतम तत्सूत्रं नान्यद्वायुरिति सूक्ष्ममाकाशवद्विष्टम्भकं पृथिव्यादीनां यदात्मकं

याज्ञवल्क्योक्तेस्तात्पर्यमाह—ब्रह्मलोका इति । इयमीप्सुमागमविदामित्यध्याहृत्या'ऽऽयस्येति-शब्दस्य योजना । प्रश्नान्तरं सूत्रविषयं गौतमवाक्यम् । वैशब्दार्थमाह—नान्यदिति । सूक्ष्मत्वे दृष्टान्त-माह—आकाशवदिति । वायुमेव विशिनष्टि—यदात्मकमिति । पञ्च भूतानि दश बाह्यानीन्द्रियाणि

वह याज्ञवल्क्य बोले । जिस प्रकार जल मे पृथिवी ओत-प्रोत है, उसी प्रकार अभी जिसमे ब्रह्मलोक ओत-प्रोत हैं, शास्त्र द्वारा जानने योग्य उस सूत्र का व्याख्यान करना है, इसलिये दूसरा प्रश्न उठाया गया, उसका निर्णय करने के लिए याज्ञवल्क्य बोले—हे गौतम ! (समष्टि-व्यष्टिरूप से सामान्यविशेषात्मक सर्वकर्माश्रित होने से) वायु ही वह सूत्र है, और कुछ नहीं । यहाँ यह वायु आकाश के समान सूक्ष्मतत्त्व है और पृथिवी आदि भूतों का विधारक है। प्राणियों का यह

---

१ वायुर्वा इति । अत्र वार्तिके—"सर्वसाधारणं कर्म यदभिव्यक्तमिष्यते । वाय्वात्मना परिच्छिन्नं तदास्ते कारणात्मनि ॥ नाऽऽत्मानं लभते कर्म यतोऽसंश्रित्य साधनम् । वाय्वाश्रितमतः कर्म स्वरूपं प्रतिपद्यते ॥ साधारणस्य यो वायुर्विशिष्टस्य च धारकः । समष्टिव्यष्टिभावेन कर्मणः सर्वदेष्यते ॥ तं वायुं तच्च कर्मेह य उपेत्य व्यव-स्थितः । वायुकर्माभिमानी सन्पुमान्वायुः स उच्यते" ॥ ९-१२ ॥ इति । वायुर्वै गौतमेत्यत्र वायुशब्दार्थं वक्तुं स्थलशुद्धिं करोति—सर्वेति । यदि सर्वप्राणिसाधारणं सूत्रेण यजमानावस्थायां निर्वर्तितं सामान्यविशेषात्मकं कर्मापूर्वं यजमानदेहान्ते फलदानार्थमभिव्यक्तं तत्प्रलयकाले सूत्रात्मना परिच्छिन्नं (परिणतं) तद्रूपेण स्थितं मूलकारणे तिष्ठतीत्यर्थः ॥ किमिति प्रलये वाय्वात्मना परिच्छिन्नं कर्मेति विशेष्यते तत्राऽऽह—नात्मानमिति । कर्म हि कारकमनाश्रित्य स्वातन्त्र्येण नाऽऽत्मानं धारयति—साध्यमानरूपत्वादतो वायोस्तत्कारणत्वात्तदाश्रितं तदात्मानं लभते ॥ न हि स्पन्दस्यासाधारणं प्राणादृते कारणमस्ति तद् विशेषणमर्थवदित्यर्थः ॥ अस्त्वेवं प्रकृते किमायातं तदाह—साधारणस्येति । यो वायुः सामान्यविशेषात्मकस्य कर्मणस्तद्भावेनाऽऽश्रयः सदा मानादवगतो न हि क्रियाशक्तिमन्तं वायुमतिक्रम्यान्यत्र क्रिया युक्ता ॥ तं कर्माश्रयं वायुं तच्चाऽऽश्रितं कर्म सर्वात्मत्वेन प्राप्य पुंसां मध्ये यः स्थितः ॥ तयोरात्मीयाभिमानी जीवोऽत्र फलरूपो वायुरित्यर्थः ॥ २ तदर्थमिति—आगमिक-सूत्रपरिज्ञानार्थमिति भावः । ३ आगमिकसूत्रनिर्धारणाय । ४ वायुर्वा इति—समष्टिव्यष्टिरूपेण सामान्यविशेषात्मकसर्वकर्माश्रयत्वाद्वायोरात्मीयाभिमानी लिङ्गतादात्म्यापन्नो जीवोऽत्र फलरूपो वायुरुच्यते न तु वायुमात्रं तस्य विधारणेऽस्वातन्त्र्यादिति बोध्यम् । ५ विधारकम् । ६ आद्यस्यति—तथा च द्वितीयो हेत्वर्थकः । सूत्रात्मन्यागमगम्यत्वस्यागमविदभीष्टत्वादिति तदर्थं इत्यभिप्रायः ।

संदृब्धानि भवन्ति तस्माद्वै गौतम पुरुषं प्रेतमाहु-
र्व्यस्र्ँसिषतास्याङ्गानीति वायुना हि गौतम सूत्रेण
संदृब्धानि भवन्तीत्येवमेवैतद्याज्ञवल्क्यान्तर्यामिणं
ब्रूहीति ॥२॥

विषय में ऐसा कहते हैं कि इसके अंग बिखर गये हैं, क्योंकि हे गौतम ! वायुरूप सूत्र से ही भली प्रकार गुँथे हुए हैं। उद्दालक ने कहा—हे याज्ञवल्क्य ! यह ठीक ऐसा ही है। अब तुम उसके अन्तर्वर्ती और अन्तर्यामी नियामक को बतलाओ ॥ २ ॥

सप्तदशविधं लिङ्गं कर्मवासनासमवायि प्राणिनां यत्तत्समष्टिव्यष्ट्यात्मकं यस्य बाह्या भेदाः सप्तसप्त मरुद्गणाः समुद्रस्येवोर्मयस्तदेतद्वायव्यं तत्त्वं सूत्रमित्यभिधीयते । वायुना वै गौतम सूत्रेणायं च लोकः परश्च लोकः सर्वाणि च भूतानि संदृब्धानि भवन्ति संग्रथितानि भवन्तीति प्रसिद्धमेतत् । अस्ति च लोके [1]प्रसिद्धिः । कथं, यस्माद्वायुः सूत्रं वायुना विधृतं सर्वं तस्माद्वै गौतम [2]पुरुषं [3]प्रेतमाहुः [4]कथयन्ति व्यस्रंसिषत [5]विस्रस्तान्यस्य पुरुषस्याङ्गानीति । सूत्रापगमे हि मण्यादीनां प्रोतानामवस्रंसनं दृष्टमेवं वायुः सूत्रं तस्मिन्मणिवत्प्रोतानि यद्य[6]स्याङ्गानि स्युस्ततो युक्तमेतद्वाय्वपगमेऽवस्रंसनमङ्गानाम् । [7]अतो वायुना

पञ्चवृत्तिः प्राणश्चतुर्विधमन्तःकरणमिति सप्तदशविधत्वम् । कर्मणां वासनानां चोत्तरसृष्टिहेतूनां प्राणैरर्जितानामाश्रयत्वादपेक्षितमेव लिङ्गमित्याह—कर्मेति । तस्यैव सामान्यविशेषात्मना बहुरूपत्वमाह—यत्तदिति । तस्यैव लोकपरीक्षकप्रसिद्धत्वमाह—यस्येति । तस्य सूत्रत्वं साधयति—वायुनेति । प्रसिद्धमेतत्सूत्रविदामिति शेषः । लौकिकीं प्रसिद्धिमेव प्रश्नपूर्वकमनन्तरश्रुत्यवष्टम्भेन स्पष्टयति—कथमित्यादिना । उक्तमेव दृष्टान्तेन व्यनक्ति—सूत्रेत्यादिना । वायोः सूत्रत्वे सिद्धे फलितमाह —अत इति ॥२॥

कर्मवासनासमवायी सत्रह अवयवों वाला लिङ्गदेह जिससे उत्पन्न हुआ है, जो समष्टिव्यष्ट्यात्मक रूप है तथा समुद्र की लहरों के समान उनचास मरुद्गण जिसके बाह्यभेद हैं, वह यह वायुतत्त्व सूत्र कहा जाता है। हे गौतम ! वायुरूप सूत्र के द्वारा ही यह लोक, परलोक और समस्त भूतप्राणी "संदृब्धानि भवन्ति" अर्थात् संग्रथित है—ऐसा प्रसिद्ध है। लोक में वायु की सूत्रत्व प्रसिद्धि है। कैसे है ? क्योंकि वायु सूत्र है, इसलिए वायु सब का विधारक है। इसी से हे गौतम। (मृतलक्षण के जानने वाले) मृतशरीर के विषय में कहते है—"व्यस्रंसिषत" अर्थात् उस शरीर के अङ्ग विशीर्ण हो जाते हैं। जिस प्रकार धागे के न रहने पर उसमें संग्रथित मणि आदि बिखर जाती है, उसी प्रकार वायु सूत्र है और उस

१. वायोः सूत्रत्वप्रसिद्धिः । २ शरीरम् । ३ मृतम् । ४ मृतलक्षणज्ञाः । ५ विशीर्णान्यभवन् । ६. शरीरस्य । ७ वायोः सर्वाधारत्वेन सूत्रत्वात् । ८ वायोः । ९ वायो । १० वायोः ।

[1]यः पृथिव्यां तिष्ठन्पृथिव्या अन्तरो यं पृथिवी न वेद यस्य पृथिवी शरीरं [2]यः पृथिवीमन्तरो यमयत्येष त आत्माऽन्तर्याम्यमृतः ॥३॥

जो पृथिवी में रहने वाला है, पृथिवी के भीतर है, जिसे पृथिवी नहीं जानती, जिसका शरीर पृथिवी है और जो भीतर रहकर पृथिवी को नियमन करता है, वही तुम्हारा आत्मा अन्तर्यामी अमृत है ॥ ३ ॥

हि गौतम सूत्रेण संदृब्धानि भवन्तीति निगमयति । एवमेवैतद्याज्ञवल्क्य सम्यगुक्तं सूत्रं तदन्तर्गतं त्विदानीं तस्यैव सूत्रस्य नियन्तारमन्तर्यामिणं ब्रूहीत्युक्त आह ॥२॥

यः पृथिव्यां [3]तिष्ठन्भवति सोऽन्तर्यामी । [4]सर्वः पृथिव्यां तिष्ठतीति सर्वत्र [5]प्रसङ्गो

में उस शरीर के अङ्ग मणियों के समान पिरोये हुए हैं। इस प्रकार वायु के निकल जाने पर इसके अङ्गों का विशीर्ण होना ठीक ही कहा है। इसी से (वायु के सर्वाधाररूप सूत्र होने से) याज्ञवल्क्य निष्कर्ष निकालते हैं—हे गौतम ! ये वायुरूप सूत्र से सग्रथित है। (आरुणि ने कहा—) 'हे याज्ञवल्क्य ! यह ठीक ऐसा ही है, तुमने सूत्र का यथार्थ प्रतिपादन किया है। उसके अन्तर्गत एवं सूत्र के ही नियन्ता अन्तर्यामी का वर्णन करो—ऐसा गौतम के कहने पर याज्ञवल्क्य बोले ॥ २ ॥

जो पृथिवी में वर्तमान रहता है, वह अन्तर्यामी है। समस्त प्राणीसमूह पृथिवी में रहता है। इससे सर्वत्र अन्तर्यामित्व का प्रसङ्ग न हो जाय, इसलिये उसका विशेषण बतलाते हैं। पृथिवी के

---

१ य पृथिव्यामित्यादि सदमस्य तात्पर्यमाहुर्वार्तिके तथाहि—"सूत्रादप्यन्तरतमस्त्वन्तर्याम्यधुनोच्यते । कार्यकारणभावोऽस्य यस्मिन्नुक्ते समाप्यते" ॥ २१ ॥ इति । तस्मिन्नुक्तेऽपि वक्तव्यशेषमाशङ्क्याऽऽह—कार्येति । सोऽयमुच्यत इति पूर्वेण सबन्ध ॥ २ य पृथिवीमिति—अत्र वार्तिके—"स्वकार्यभूता तामेव पृथिवी मोहवर्त्मना । तत्र लब्धविशेष सत्तामेवाय नियच्छति ॥ अदाहकाऽपि वह्नि सन्दाह्यद्रव्यसमाश्रयात् । तत्र लब्धात्मकस्तस्य दग्धा दाह्यस्य न स्वत ॥ यथा ज्ञातैवमेवाऽऽत्मा देवताद्यात्मकार्यग ॥ देवतादिशरीराद्यैर्देवतादीन्नियच्छति ॥ स्वतस्त्वकरणोऽदेहो निर्गुणेऽभेद एव च । चिदाभासस्वमोहोत्थकार्यैस्तद्वान्निवेक्ष्यते" ॥ ३४-३७ ॥ इति । परो हि पृथिवी स्वमोहद्वारैव करोति कृत्वा च तामेव प्रविश्य तत्र प्राप्तकार्यकरण. सन्नियच्छतीति योजना ॥ ननु परस्य स्वतो नियन्तृत्व न वाऽऽद्ये नियम्यकार्यकरणापेक्षाऽनुपपत्तिर्द्वितीये तदपेक्षयाऽपि तदसिद्धिरित्याशङ्क्य दृष्टान्तमाह—अदाहकोऽपीति । तत्र काष्ठादौ । लब्धात्मक जाज्वल्यमान ॥ दार्ष्टान्तिकमाह—ज्ञातेति । उक्तदृष्टान्तानुसारेण चिद्धातुर्नियन्तव्यदेवताभूतादिस्वमोहकृतकार्यगतो देवतादीन् तदीयकार्यकरणैरेव नियच्छतीति योजना ॥ स्वकीयकरणादिभिर्नियन्तृत्वसभव किं परापेक्षयेत्याशङ्क्याऽऽह—स्वतस्त्विति । स्वत कार्यादिहीनश्चेत् कथ तद्वत्त्वमीक्ष्यते तत्राऽऽह—चिदिति ॥ ३ वर्तमान । ४ प्राणिसमूह. । ५ अन्तर्यामित्वप्रसङ्ग ।

मा भूदिति विशिनष्टि—[1]पृथिव्या अन्तरोऽभ्यन्तरः । [2]तत्रैतत्स्यात्पृथिवी देवतैवान्तर्यामीत्यत आह—यमन्तर्यामिणं पृथिवी [3]देवताऽपि न वेद मय्यन्यः कश्चिद्वर्तत इति । यस्य पृथिवी शरीरं यस्य च पृथिव्येव शरीरं नान्यत्पृथिवीदेवताया यच्छरीरं तदेव शरीरं यस्य । शरीरग्रहणं चोपलक्षणार्थं करणं च पृथिव्यास्तस्य । स्वकर्मप्रयुक्तं हि कार्यं करणं च पृथिवीदेवतायाः । तदस्य [4]स्वकर्माभावादन्तर्यामिणो [5]नित्यमुक्तत्वात् । [6]परार्थकर्तव्यतास्वभावत्वात्परस्य यत्कार्यं करणं च तदेवास्य न [7]स्वतस्तदाह—यस्य पृथिवी शरीरमिति । देवताकार्यकरणस्ये[8]श्वरसाक्षिमात्रसांनिध्येन हि नियमेन प्रवृत्तिनिवृत्ती

नियन्तुरीश्वरस्य लौकिकनियन्तृव[9]त्कार्यकरणवत्त्वमाशङ्क्याऽऽह—यस्य चेति । [10]पृथिव्याः [11]शरीरत्वमेव न तु शरीरवत्त्वमित्याशङ्क्याऽऽह—पृथिवीति । पृथिव्या यत्करणं तदेव तस्य करणं चेति योजना । कथं पृथिव्याः [12]शरीरेन्द्रियवत्त्वं तदाह—स्वकर्मेति । अन्तर्यामिणोऽपि तथा किं न स्यात्तत्राऽऽह—तदस्येति । अस्यान्तर्यामिणस्त[13]देव कार्यं करणं च नान्यदित्यत्र हेतुमाह—स्वकर्मेति । [14]तदेव हेत्वन्तरेण स्फोरयति—परार्थेति । यः पृथिवीमित्यादिवाक्यस्य तात्पर्यमाह—देवतेति । "तत्र

"अन्तरः" अर्थात् (अचेतन होने से नियन्ता की अपेक्षा होने से) भीतर है। पृथिवी के अन्तरत्व कहने पर भी पृथिवी देवता ही अन्तर्यामी है। ऐसी शङ्का होने पर कहते हैं—जिस अन्तर्यामी देवता को पृथिवी भी नहीं जानती कि मेरे भीतर और भी कोई दूसरा रहता है। "यस्य पृथिवी शरीरम्" अर्थात् पृथिवी ही जिसका शरीर है, दूसरा नहीं यानी जो पृथिवी देवता का शरीर है, वही उसका शरीर है। यहाँ शरीरशब्द उपलक्षणार्थ है, पृथिवी देवता और उसका करण एक ही है क्योंकि पृथिवी देवता का कार्य और करण स्वकर्म से प्रेरित है। वे ही इस अन्तर्यामी के हैं क्योंकि नित्यमुक्त होने के कारण अन्तर्यामी में स्वकर्म का अभाव है। परप्रयोजन वाली कर्तव्यता के संपादकस्वरूप होने से जो दूसरे के कार्य और करण है, वही इस के हैं; स्वतः इसके कोई कार्य और करण विद्यमान नहीं हैं, इसी से यह कहते हैं—जिसका पृथिवी शरीर है। देवता के कार्य और करण की प्रवृत्ति-निवृत्ति ईश्वररूप साक्षी मात्र के सांनिध्य से नियमानुसार हुआ करती है। जो ऐसा नारायणसंज्ञक ईश्वर

१. तस्या अचेतनत्वेन नियन्त्रपेक्षत्वात् । २. तथाप्येतादृशपृथिव्यभिमानिदेवतायामतिप्रसङ्गस्तस्याश्च नियम्यमानसूत्रात्मकत्वान्नान्तर्यामित्वमित्याह—तत्रैतदिति । क्षितेरान्तरत्वे उक्तेऽपीत्यर्थः । ३. अहमेव पृथिव्यधिष्ठात्री (धिष्ठिता) सर्वं जगद्बिभर्मीत्यभिमाना । ४. स्वकर्माभावे इद हेतुः । ५. परार्थेत्यादि । परप्रयोजनस्य या कर्तव्यता तत्संपादकस्वरूपत्वादित्यर्थः । तथा च परार्थकर्तुः कुतः स्वकर्म । अपि च स्वरूपत एव परार्थसंपादनसमर्थस्य काऽपेक्षा कार्यकरणस्य यस्य त्वर्थः साध्यस्तस्य तदपेक्षित तत्सानिध्य च सानिध्यमात्रादेव च तदस्येत्युच्यते न तु तत्राभिमानादिति विभावनीयम् । ६. "न तस्य कार्यं करणं च विद्यते" इति मन्त्रवर्णात् । ७ तदाहेति—उक्तं सर्वमभिप्रेत्य श्रुतिराहेत्यर्थः । ८. ईश्वररूपसाक्षिमात्रेति भावः । ९. कार्येति—तद्वत्त्वे त्वस्मदादिवदनीश्वरत्वमिति भावः । १०. देवतायाः । ११. पृथिव्याः शरीरित्वमेव न तु शरीरत्वमिति लिखितपुस्तकपाठः । १२. कार्यकरणवत्त्वम् । १३. स्वीयकार्यकरणराहित्यमेव । १४. निरुक्ततात्पर्येऽर्थे ।

योऽप्सु तिष्ठन्नद्भ्योऽन्तरो यमापो न विदुर्यस्याऽऽपः शरीरं योऽपोऽन्तरो यमयत्येष त आत्माऽन्तर्याम्यमृतः ॥४॥

योऽग्नौ तिष्ठन्नग्नेरन्तरो यमग्निर्न वेद यस्याग्निः शरीरं योऽग्निमन्तरो यमयत्येष त आत्माऽन्तर्याम्यमृतः ॥५॥

योऽन्तरिक्षे तिष्ठन्नन्तरिक्षादन्तरो यमन्तरिक्षं न वेद

जो जल मे रहने वाला जल के भीतर है, जिसे जल नही जानता, जल जिसका शरीर है और जो जल के भीतर रहकर लज का नियमन करता है, वह तेरा आत्मा अन्तर्यामी अमृत है ॥ ४ ॥

जो अग्नि मे रहने वाला अग्नि के भीतर है, जिसे अग्नि जानता नही, जिनका शरीर अग्नि है और जो अग्नि के भीतर रहकर उसका नियन्त्रण करता है, वह तेरा आत्मा अन्तर्यामी अमृत है ॥ ५ ॥

जो अन्तरिक्ष मे रहने वाला है, अन्तरिक्ष के भीतर है जिसे अन्तरिक्ष जानता नही, जिसका

स्याताम् । [1]य ईदृगीश्वरो नारायणाख्यः पृथिवीं पृथिवीदेवतां यमयति [2]नियमयति स्वव्यापारेऽन्तरोऽभ्यन्तरस्तिष्ठन्नेष त आत्मा ते [3]तव मम च सर्वभूतानां चेत्युपलक्षणार्थमेतदन्तर्यामी यस्त्वया पृष्टोऽमृतः सर्वसंसारधर्मवर्जित इत्येतत् ॥३॥

समानमन्यत् । योऽप्सु तिष्ठन्नग्नावन्तरिक्षे वायौ दिव्यादित्ये दिक्षु चन्द्रतारक

वाक्यमवतार्य व्याचष्टे—य ईदृगिति । नियम्यपृथिवीदेवताकार्यकरणाभ्यामेव कार्यकरणवत्त्वमीश्वरस्य ॥३॥

"पृथिवीम्" अर्थात् पृथिवीदेवता को "यमयति" यानी नियम मे प्रवृत्त करता है, स्वव्यापार मे "अन्तरः" अर्थात् भीतर रहकर "एष त आत्मा" अर्थात् संघातसहित तुम्हारा, मेरा और सर्वभूतप्राणियों का आत्मा होकर नियमन करता है। "ते" यह कथन उपलक्षणार्थक है । यही अन्तर्यामी है, जिसके विषय मे तुमने पूछा है, यह "अमृत" सम्पूर्ण संसारधर्मों से वर्जित है ॥ ३ ॥

(चतुर्थमन्त्र से चतुर्दशमन्त्र पर्यन्त) शेष व्याख्यान तृतीय मन्त्र के समान ही है। जो जल,

---

१ नन्वेतादृशोऽन्तर्यामी नास्त्येव तत्सत्तायां प्रमाणाभावादित्याशङ्क्य "भीषाऽस्माद्वातः पवते", "एतस्य वा अक्षरस्य प्रशासने गार्गि द्यावापृथिव्यौ विधृते तिष्ठतः" इत्यादिश्रुतिप्रमाणमभिप्रेत्याह—य इति । २. नियमेन प्रवर्तयति । ३ संघातसहितस्य ।

यस्यान्तरिक्षꣳ शरीरं योऽन्तरिक्षमन्तरो यमयत्येष त आत्माऽन्तर्याम्यमृतः ॥६॥
यो वायौ तिष्ठन्वायोरन्तरो यं वायुर्न वेद यस्य वायुः शरीरं यो वायुमन्तरो यमयत्येष त आत्माऽन्तर्याम्यमृतः ॥७॥
यो दिवि तिष्ठन्दिवोऽन्तरो यं द्यौर्न वेद यस्य द्यौः शरीरं यो दिवमन्तरो यमयत्येष त आत्माऽन्तर्याम्यमृतः ॥८॥
य आदित्ये तिष्ठन्नादित्यादन्तरो यमादित्यो न वेद

शरीर अन्तरिक्ष है और जो उसके भीतर रहकर अन्तरिक्ष का नियमन करता है, वह तेरा आत्मा अन्तर्यामी अमृत है ॥ ६ ॥

जो वायु मे रहने वाला है, वायु के भीतर है, जिसे वायु जानता नही, जिसका शरीर वायु है और जो वायु के भीतर रहकर वायु का नियन्त्रण करता है, वही तेरा आत्मा अन्तर्यामी अमृत है ॥ ७ ॥

जो द्यु लोक मे रहने वाला है, द्यु लोक के भीतर है, जिसे द्यु लोक नही जानता, जिसका शरीर द्यु लोक है और जो द्यु लोक के भीतर रहकर द्यु लोक का नियन्त्रण करता है, वही तेरा आत्मा अन्तर्यामी अमृत है ॥ ८ ॥

जो आदित्य मे रहने वाला है एव आदित्य के भीतर है, जिसे आदित्य जानता नही, आदित्य

आकाशे यस्तमस्यावरणात्मके बाह्ये [1]तमसि तेजसि तद्विपरीते प्रकाशसामान्य इत्येव-

---

पृथिवीपर्याये दर्शित न्यायं पर्यायान्तरेष्वतिदिशति—समानमिति ॥ ४ ॥ ५ ॥ ६ ॥ ७ ॥ ८ ॥ ॥ ९ ॥ १० ॥ ११ ॥ १२ ॥ १३ ॥ १४ ॥

अग्नि, अन्तरिक्ष, वायु द्यु लोक सूर्य, दिशा, चन्द्रमा, तारागण और आकाश मे रहने वाला है। जो "तम" यानी आवरणात्मक बाह्य तम मे, "तेजसि" अर्थात् तम से भिन्न सामान्य प्रकाश मे रहने

---

१ तमसि तेजसीति । अत्र वार्तिकम्—"तेज सामान्यमात्र स्यात्तदधिष्ठातृदेवता। एव तमस्यपि ज्ञेय क्षेत्रज्ञश्चाऽऽत्मसज्ञित" ॥ ४६ ॥ इति । यस्तेजसीत्यत्र तेज शब्दस्य प्रकाशसामान्यविषयत्वमाह—तेज इति । यस्तमसीत्यत्र तमःशब्देन तेजोविपरीतमप्रकाशमात्र गृह्यते । यं यत्तेजो न वेदेत्यत्र विवक्षितमाह—तदिति । यं तमो न वेदेति च तदधिष्ठातृदेवतेत्यभिप्रेत्याह—एवमिति । य आत्मनि तिष्ठन्निति माध्यदिनास्तत्राऽऽत्मशब्दार्थमाह—क्षेत्रज्ञश्चेति । जीव इत्यर्थ ।

यस्याऽऽदित्यः शरीरं य आदित्यमन्तरो यमयत्येष त आत्माऽन्तर्याम्यमृतः ॥९॥

यो दिक्षु तिष्ठन्दिग्भ्योऽन्तरो यं दिशो न विदुर्यस्य दिशः शरीरं यो दिशोऽन्तरो यमयत्येष त आत्माऽन्तर्याम्यमृतः ॥१०॥

यश्चन्द्रतारके तिष्ठꣳश्चन्द्रतारकान्तरो यं चन्द्रतारकं न वेद यस्य चन्द्रतारकꣳ शरीरं यश्चन्द्रतारकमन्तरो यमयत्येष त आत्माऽन्तर्याम्यमृतः ॥११॥

य आकाशे तिष्ठन्नाकाशादन्तरो यमाकाशो न वेद यस्याऽऽकाशः शरीरं य आकाशमन्तरो यमयत्येष त आत्माऽन्तर्याम्यमृतः ॥१२॥

यस्तमसि तिष्ठꣳस्तमसोऽन्तरो यं तमो न वेद यस्य

जिसका शरीर है, जो आदित्य के भीतर रहकर आदित्य का नियन्त्रण करता है, वह तेरा आत्मा अन्तर्यामी अमृत है ॥ ९ ॥

जो दिशाओं में रहने वाला है, एवं दिशाओं के भीतर है, जिसे दिशाएँ जानती नहीं, जिसका शरीर दिशाएँ है, जो दिशाओं के भीतर रहकर दिशाओं का नियन्त्रण करता है, वह तेरा आत्मा अन्तर्यामी अमृत है ॥ १० ॥

जो चन्द्रमा तथा तारों के भीतर है, जिसे चन्द्रमा और ताराएँ जानती नहीं, जिसका शरीर चन्द्रमा और ताराएँ है। जो चन्द्रमा और ताराओं के भीतर रहकर चन्द्रमा और ताराओं का नियन्त्रण करता है, वह तेरा आत्मा अन्तर्यामी अमृत है ॥ ११॥

-जो आकाश में रहने वाला है, एवं आकाश के भीतर है, जिसे आकाश जानता नहीं, जिसका शरीर आकाश है, जो आकाश के भीतर रहकर आकाश का नियन्त्रण करता है, वह तेरा आत्माअन्तर्यामी अमृत है ॥ १२ ॥

जो अंधेरे में रहने वाला है एवं अंधेरे के भीतर है, जिसे अंधेरा जानता नहीं, जिसका शरीर

मधिदैवतमन्तर्यामिविषयं [1]दर्शनं देवतासु । अथाधिभूतं भूतेषु ब्रह्मादिस्तम्बपर्यन्तेष्व-

---

वाला है । इस प्रकार यह अन्तर्यामीविषयक अधिदैवत देवतान्तर्गत विज्ञान कहा गया । इसके बाद अधिभूत विज्ञान कहा जाता है, ब्रह्मा से लेकर स्तम्बपर्यन्त सभी भूतों में जो अन्तर्यामी दर्शन

१ दर्शनम्—विज्ञानमुक्तमिति शेषः ।

तमः शरीरं यस्तमोऽन्तरो यमयत्येष त आत्माऽन्तर्या-
म्यमृतः ॥१३॥

यस्तेजसि तिष्ठँस्तेजसोऽन्तरो यं तेजो न वेद यस्य
तेजः शरीरं यस्तेजोऽन्तरो यमयत्येष त आत्माऽन्तर्या-
म्यमृत इत्यधिदैवतमथाधिभूतम् ॥१४॥

यः सर्वेषु भूतेषु तिष्ठन्सर्वेभ्यो भूतेभ्योऽन्तरो यँ
सर्वाणि भूतानि न विदुर्यस्य सर्वाणि भूतानि शरीरं यः
सर्वाणि भूतान्यन्तरो यमयत्येष त आत्माऽन्तर्याम्यमृत
इत्यधिभूतमथाध्यात्मम् ॥१५॥

अधेरा है, जो अधेरे के भीतर रहकर अधेरे का नियन्त्रण करता है, वह तेरा आत्मा अन्तर्यामी अमृत है ॥ १३ ॥

जो प्रकाश मे रहने वाला है, एव प्रकाश के भीतर है, प्रकाश जिसे जानता नही, जिसका शरीर प्रकाश है, जो प्रकाश के भीतर रहकर प्रकाश का नियन्त्रण करता है, वह तेरा आत्मा अन्तर्यामी अमृत है। इस प्रकार यह अन्तर्यामीविषयक देवताओ के अन्तर्गत दर्शन कहा गया। अब ब्रह्मादिस्तम्ब-पर्यन्त सम्पूर्ण भूतो में अन्तर्यामीविषयक दर्शन कहा जाता है ॥ १४ ॥

जो सम्पूर्ण भूतो मे रहने वाला है एव सम्पूर्ण भूता के भीतर है, जिसे सम्पूर्ण भूत जानते नही है, जिसके सम्पूर्ण भूत शरीर है और जो भीतर रहकर सभी भूतो का नियन्त्रण करता है, वह तेरा आत्मा अन्तर्यामी अमृत है। यह अधिभूत दर्शन है। अब आगे अध्यात्म दर्शन कहा जाता है ॥ १५ ॥

न्तर्यामि[१]दर्शनमधिभूतम् ॥ ४ ॥ ५ ॥ ६ ॥ ७ ॥ ८ ॥ ९ ॥ १० ॥ ११ ॥ १२ ॥ १३ ॥ १४ ॥

[२]अथाध्यात्मं यः प्राणे प्राणवायुसहिते [३]घ्राणे यो वाचि चक्षुषि श्रोत्रे मनसि त्वचि

सर्वत्र प्राणादौ तिष्ठन्नन्तर्यामी तवाऽऽत्मेति सबन्ध । वाक्यान्तर प्रश्नपूर्वकमुत्थाप्य व्याचष्टे

है—वही अधिभूतविज्ञान है ॥ ४-१४ ॥

अब अध्यात्मविज्ञान कहा जाता है। जो "प्राणे" प्राणवायुसहित घ्राणेन्द्रिय मे, वाणी, नेत्र,

---

१ दर्शनमुच्यत इति शेष । २ अथेति—अनन्तर शरीरमधिकृत्य वर्तमानप्राणादिष्वन्तर्यामिदर्शनमुच्यत-इत्यर्थ । ३ घ्राण इति—प्राणशब्देन करणवद्देवतास्थानयोरपि ग्रहण द्रष्टव्यम् । तदुक्त वार्तिके—"देवता-स्थानकरणत्रय प्राणगिरोच्यते। नियच्छति यतो यन्ध्रे त्रयमप्येतदीश्वर" ॥४७॥ इति। देवता इन्द्रियाभिमानवती। स्थान गोलकम्। करणमिन्द्रियम्। नियच्छति नियुङ्क्ते। एतेन यो वाचीत्यादि व्याख्यातम्।

यः प्राणे तिष्ठन्प्राणादन्तरो यं प्राणो न वेद यस्य प्राणः शरीरं यः प्राणमन्तरो यमयत्येष त आत्माऽन्तर्याम्यमृतः ॥१६॥

यो वाचि तिष्ठन्वाचोऽन्तरो यं वाङ्न वेद यस्य वाक्शरीरं यो वाचमन्तरो यमयत्येष त आत्माऽन्तर्याम्यमृतः ॥१७॥

यश्चक्षुषि तिष्ठꣳश्चक्षुषोऽन्तरो यं चक्षुर्न वेद यस्य चक्षुः शरीरं यश्चक्षुरन्तरो यमयत्येष त आत्माऽन्तर्याम्यमृतः ॥१८॥

यः श्रोत्रे तिष्ठञ्छ्रोत्रादन्तरो यꣳ श्रोत्रं न वेद यस्य श्रोत्रꣳ शरीरं यः श्रोत्रमन्तरो यमयत्येष त आत्माऽन्तर्याम्यमृतः ॥१९॥

जो प्राण में स्थित है एवं प्राण के भीतर है। जिसे प्राण जानता नहीं, जिसका शरीर प्राण है और जो भीतर रहकर प्राण का नियन्त्रण करता है, यह तेरा आत्मा अन्तर्यामी अमृत है ॥ १६ ॥

जो वाणी में स्थित है, और वाणी के भीतर है, जिसे वाणी जानती नहीं, वाणी जिसका शरीर है और जो वाणी के भीतर रहकर वाणी का नियन्त्रण करता है, यह तेरा आत्मा अन्तर्यामी अमरणधर्मा है ॥ १७ ॥

जो नेत्र में स्थित है और नेत्र के भीतर है, जिसे नेत्र जानता नहीं, नेत्र जिसका शरीर है, और जो नेत्र के भीतर रहकर नेत्र का नियमन करता है, यह तेरा आत्मा अन्तर्यामी अमरणधर्मा है ॥ १८ ॥

जो श्रोत्र के भीतर श्रोत्र में रहने वाला है, जिसे श्रोत्र जानता नहीं, श्रोत्र जिसका शरीर है और जो श्रोत्र के भीतर रहकर श्रोत्र का नियमन करता है, यह तेरा आत्मा अन्तर्यामी अमृत है ॥ १९ ॥

विज्ञाने बुद्धौ रेतसि प्रजनने । [1]कस्मात्पुनः कारणात्पृथिव्यादिदेवता [2]महाभागाः सत्यो

—कस्मादित्यादिना । यथा मनसि तथा बुद्धावपि सन्निधानाज्ज्ञातृतेति यावत् । तत्रेति पूर्वसंदर्भोक्तिः ।

श्रोत्र, मन, त्वचा, विज्ञान, बुद्धि, वीर्य, जननेन्द्रिय में रहने वाला है। तो फिर किसलिए पृथिवी आदि देवता निरङ्कुश ज्ञान-ऐश्वर्य-शक्ति वाले होने पर भी मनुष्यादि के समान भीतर रहने वाले अपनी

---

१. कस्मादिति—य पृथिवी न वेदेत्यादिना पृथिव्यादिक्षेत्रज्ञो नान्तर्यामिणं जानातीत्युक्तमित्यादि । २. महाभागा निरङ्कुशज्ञानैश्वर्यशक्तिमन्तः ।

यो मनसि तिष्ठन्मनसोऽन्तरो यं मनो न वेद यस्य मनः शरीरं यो मनोऽन्तरो यमयत्येष त आत्माऽन्तर्याम्यमृतः ॥२०॥

यस्त्वचि तिष्ठꣳस्त्वचोऽन्तरो यं त्वङ्न वेद यस्य त्वक्शरीरं यस्त्वचमन्तरो यमयत्येष त आत्माऽन्तर्याम्यमृतः ॥२१॥

यो विज्ञाने तिष्ठन्विज्ञानादन्तरो यं विज्ञानं न वेद यस्य विज्ञानꣳ शरीरं यो विज्ञानमन्तरो यमयत्येष त आत्माऽन्तर्याम्यमृतः ॥२२॥

जो मन के भीतर मन मे स्थित है, जिसे मन जानता नही, जिसका शरीर मन है, जो मन के भीतर रहकर मन का नियमन करता है यह तेरा आत्मा अन्तर्यामी अमृत है ॥ २० ॥

जो त्वचा के भीतर त्वचा मे रहने वाला है, जिसे त्वचा नहीं जानती, जिसका शरीर त्वचा है, जो त्वचा के भीतर रहकर त्वचा का नियमन करता है, यह तेरा आत्मा अन्तर्यामी अमृत है ॥ २१ ॥

जो बुद्धि में रहने वाला बुद्धि के भीतर है, बुद्धि जिसे जानती नही, जिसका शरीर बुद्धि है, जो बुद्धि के भीतर रहकर बुद्धि का नियमन करता है, यह तेरा आत्मा अन्तर्यामी अमृत है ॥ २२ ॥

मनुष्यादिवदात्मनि तिष्ठन्तमात्मनो[1] नियन्तारमन्तर्यामिणं न विदुरित्यत*आह[2]—अदृष्टो न दृष्टो न विषयीभूत[3]श्चक्षुर्दर्शनस्य[4] कस्यचित्स्वयं[5] तु चक्षुषि संनिहितत्वाद्[6]दृशिस्वरूप

आत्मा के नियन्ता अन्तर्यामी को नही जानते। इस पर कहा जाता है—"अदृष्टः" अर्थात् वह दिखायी नही देता यानी चक्षुवृत्ति दर्शन का विषयभूत नही है, तो भी स्वय मनुष्य के चक्षु मे साक्षीरूप से

---

१. स्वस्य । २ आहेति—तस्य विषयत्वमनन्तरश्रुतिर्ब्रूते विनापि विषयत्व तत्स्वरूप ज्ञातु शक्यमिति ज्ञापयितुमित्यर्थः । ३. विषयत्वमनापन्न. । ४. चाक्षुषवृत्ते । ५. पुम. । ६. साक्षितया स्थितत्वात् ।

---

*आहेत्यादि—नन्वस्मदादिवदन्तर्यामी कुतो न विषय इत्याशङ्क्य समाहित वार्तिके। तद्यथा—"द्रष्टृदर्शनदृश्यानां प्रत्यग्दृष्टिसमीक्षणे । जाड्यपारार्थ्यहेतुभ्या शक्तिर्नास्ति मनागपि ॥ न द्रष्टोर्दृश्ययोर्नापि तथा दर्शनयोर्मिथः । ग्राह्यग्राहकसबन्धस्तत्साक्षी न च वीक्ष्यते ॥ रूपादिदर्शनान्तस्य आगमापायसाक्ष्यसौ । नित्यात्मदृष्टिश्चिन्मात्रः पश्येत्त पृथिवी कथम् ॥ मागोचरातिवर्तित्वादसाधारणदृष्टितः । द्रष्टुरन्यस्य चाभावांश्च त पश्यन्ति देवता." ॥४६-५२॥ इति । किंच द्रष्टादेरन्योन्याग्राह्यत्वेनान्तर्यामिग्राह्यत्वाश्च तस्य संग्राह्यतेत्याह—नेत्यादिना । द्रष्टोर्वा दृश्ययोर्वा दर्शनयोर्वा न मिथो ग्राह्यग्राहकत्व समत्वात्तेषा द्रष्टादीना साक्ष्यन्तर्यामी तैश्च विषयैर्न दृश्यत इत्यर्थ. ॥ तत्रैव हेत्वन्तरमाह—रूपादीति । स्वीयरूपादिज्ञानसाक्षित्वात्तदागमापायसाक्षित्वादान्तरत्वाच्चिन्मात्रतया

यो रेतसि तिष्ठन्रेतसोऽन्तरो यꣳरेतो न वेद यस्य रेतः शरीर यो रेतोऽन्तरो यमयत्येष त आत्मा-ऽन्तर्याम्यमृतोऽदृष्टो द्रष्टाऽश्रुतः श्रोताऽमतो मन्ता-ऽविज्ञातो विज्ञाता नान्योऽतोऽस्ति द्रष्टा नान्योऽतोऽस्ति

जो प्रजनन इन्द्रिय मे रहने वाला प्रजनन के भीतर रहता है, जिसे वीर्य जानता नही, वीर्य जिसका शरीर है जो वीर्य के भीतर रहकर वीर्य का नियमन करता है, वह तेरा आत्मा अन्तर्यामी अमृत है। वह दिखायी नही देता, किन्तु देखता है। सुनायी नही देता, किन्तु सुनता है। मनन का विषय नही होता, किन्तु मनन करने वाला है। जो विशेषरूप से ज्ञात नही होता, किन्तु विशेषरूप से जानता

इति द्रष्टा। तथाऽश्रुतः श्रोत्रगोचरत्वमनापन्नः कस्यचित्स्वयं त्वलुप्तश्रवणशक्तिः सर्वश्रोत्रेषु संनिहितत्वाच्छ्रोता। तथाऽमतो मनःसंकल्पविषयतामनापन्नः। दृष्टश्रुते एव हि सर्वः संकल्पयत्यदृष्टत्वादश्रुतत्वादेवामतोऽलुप्तमननशक्तित्वात्सर्वमनःसु संनिहितत्वाच्च मन्ता। तथाऽविज्ञातो निश्चयगोचरतामनापन्नो रूपादिवत्सुखादिवद्वा स्वयं त्वलुप्तविज्ञानशक्तित्वात्तत्संनिधानाच्च विज्ञाता। तत्र यं पृथिवी न वेद य सर्वाणि भूतानि न विदुरिति

विराजमान होकर दर्शनरूप होने के कारण द्रष्टा अर्थात् देखता है। इसी प्रकार वह "अश्रुत" अर्थात् किसी के श्रोत्र की विषयता को अप्राप्त है किन्तु स्वय जिसकी श्रवणशक्ति लुप्त नही होती, समस्त श्रोत्रो मे साक्षीरूप मे स्थित होने के कारण जो सुनता है। ऐसे ही जो "अमृत" यानी मन के सकल्पविषय को अप्राप्त है। क्योकि सब देखे और सुने गये पदार्थों का सकल्प करते है, अत अदृष्ट और अश्रुत होने के कारण ही वह मनन का विषय नही होता। तथा मननशक्ति अलुप्त होने से सभी मनो मे साक्षीरूप से विद्यमान रहने के कारण वह मन्ता है। इसी प्रकार "अविज्ञात" अर्थात् रूपादि या सुखादि के समान निश्चयगोचरता को अप्राप्त है, किन्तु स्वय जिसकी विज्ञानशक्ति अलुप्त होने के कारण साक्षीरूप से स्थित होने के कारण विज्ञाता है। यहाँ "जिसे पृथिवी नही जानती, जिसे समस्त भूत प्राणी नही जानते" इस उक्ति से पृथिवी क्षेत्रज्ञ आदि नियन्तव्य अन्य हैं और विज्ञाता अन्य हैं। नियन्ता अन्तर्यामी

---

१ हेतो। २ अनयोक्त्या।

नित्यापरमदृष्टित्वाच्चान्तर्यामिण पृथिव्यादिक्षेत्रज्ञो न क्षमो वीक्षितुमित्यर्थं ॥ इतश्चास्याविषयतेत्याह—भागोचरेति। शब्दादिहीनत्वात्स्वप्रकाशत्वाद्द्रष्ट्रन्तराभावाच्च न साक्षिणो ग्राह्यतेत्यर्थं ॥ अत्र टीकायां स्वीयरूपादित्यादि। स्व देवतास्तन्निष्ठरूपादिज्ञानानामपि साक्षित्वाद्यावेक्षितु शक्यते साक्षी देवताभिरपीत्यर्थं। अयमाशय —अस्मदादिभिस्तावत्साक्षी नावेद्यते तत्कस्य हेतो, अस्मज्ज्ञानाना साक्ष्यवेद्यत्वात्। स हि ज्ञानेनावेक्षणीय, ज्ञान च तेनैव पुरस्तादवलोकितमिति न समवलोकयेज्ज्ञान स्वभासकाऽभासकत्वाद् भास्यस्य। न हि भानुभासो घटो भानु भासयति। [illegible] च जाड्यादिना घटज्ञानयोर्वैजात्यम्। एव च देवतानामपि ज्ञान साक्षिणाऽवेक्षित सत्र समवलोकयितुमीष्ट इति। देवतानामप्यस्मदादिवद्रूपादिविषयगोचरमेव ज्ञानमित्यावेदयितुमुक्त रूपादीति।

श्रोता नान्योऽतोऽस्ति मन्ता नान्योऽतोऽस्ति विज्ञातैष त आत्माऽन्तर्याम्यमृतोऽतोऽन्यदार्तं ततो होद्दालक आरुणिरुपरराम ॥२३॥

इति बृहदारण्यकोपनिषदि तृतीयाध्यायस्य सप्तमं ब्राह्मणम् ॥७॥

है, यह तेरा आत्मा अन्तर्यामी अमृत है। इससे भिन्न सभी नश्वर है। इसके बाद आरुणि उद्दालक चुप हो गया ॥ २३ ॥

॥ इति सप्तम ब्राह्मणम ॥

वान्ये[1] नियन्तव्या विज्ञातारोऽन्यो नियन्ताऽन्तर्यामीति[2] प्राप्त तदन्यत्वाशङ्कानिवृत्त्यर्थमुच्यते—[3]नान्योऽतो नान्यः । अतोऽस्मादन्तर्यामिणो नान्योऽस्ति द्रष्टा तथा नान्योऽतोऽस्ति श्रोता नान्योऽतोऽस्ति मन्ता नान्योऽतोऽस्ति विज्ञाता । यस्मात्परो नास्ति द्रष्टा श्रोता मन्ता विज्ञाता योऽदृष्टो द्रष्टाऽश्रुत श्रोताऽमतो मन्ताऽविज्ञातो विज्ञाताऽमृत सर्वसंसारधर्मवर्जितः सर्वसंसारिणां कर्मफलविभागकर्तैष त आत्माऽन्तर्याम्यमृतोऽस्मादीश्वरादात्मनो[4]ऽन्यदार्तं ततो होद्दालक आरुणिरुपरराम ॥ १५ ॥ १६ ॥ १७ ॥ १८ ॥ १९ ॥ २० ॥ २१ ॥ ॥ २२ ॥ २३ ॥

इति बृहदारण्यकोपनिषद्भाष्ये तृतीयाध्यायस्य सप्तमं ब्राह्मणम् ॥ ७ ॥

अन्वयमुपलक्षयितुमतो नान्य इत्युक्तम् । पदार्थान्व्याकरोति—अत इति । अन्यो द्रष्टा नास्तीति सम्बन्ध । एष त इत्यादिवाक्यस्यार्थमाह—यस्मादित्यादिना ॥ १५ ॥ १६ ॥ १७ ॥ १८ ॥ १९ ॥ २० ॥ २१ ॥ २२ ॥ २३ ॥

इति बृहदारण्यकोपनिषद्भाष्यटीकायां तृतीयाध्यायस्य सप्तममन्तर्यामिब्राह्मणम् ॥७॥

न सब से भिन्न है। ऐसा सिद्ध होने पर उनमे अन्यत्वशङ्का की निवृत्ति के लिए यह कहा जाता है। नान्योऽत" यह प्रतीक है। "अत" अर्थात् इस अन्तर्यामी से भिन्न कोई और द्रष्टा नहीं है। इसी कार इससे भिन्न कोई और श्रोता नहीं है, इससे भिन्न कोई और मन्ता नहीं है इससे भिन्न कोई और ज्ञाता नहीं है। जिससे परे कोई द्रष्टा, श्रोता, मन्ता और विज्ञाता नहीं है, जो दिखायी न देने वाला न्तु देखने वाला है, जो सुनायी नहीं देता किन्तु सुनता है। मनन का विषय नहीं होता किन्तु मनन रने वाला है। जो विशेषरूप से ज्ञात नहीं होता, किन्तु विशेषरूप से जानता है "अमृत" यानी सम्पूर्ण

१ पृथिवीश्वरज्ञादय । २ इत्रि प्राप्त तदन्यत्वेत्यादि । यत्प्राप्त सैवान्यत्वाशङ्का तन्निवृत्त्यर्थम् । अनुस्वाररहितो वा पाठ प्राप्त तदन्यत्वेति तत्र इति—उक्तविषया प्राप्तायां तयोर्विज्ञात्रन्तर्यामिणोर्नियम्यनियामकयो मिथोभिन्नत्वाशङ्का तन्निवृत्त्यर्थमिति विग्रह । ३ प्रतीकोऽयम् । ४ अन्यदार्तम्—आत्मनोऽन्यद्वस्त्वन्तर विनाशग्रस्त स्वप्नमायामरीच्युदकादिवदसारमित्यर्थ । ५ स्वप्रकाशनिर्णयात् । ६ नान्य इत्यस्य अत इत्यनेनान्वय प्रदर्शयितुम् ।

अथ तृतीयाध्यायस्याष्टमं ब्राह्मणम् ।

[1]अथ ह वाचक्नव्युवाच ब्राह्मणा भगवन्तो [2]हन्ताहमिमं द्वौ प्रश्नौ प्रक्ष्यामि तौ चेन्मे[3] वक्ष्यति न वै जातु युष्माकमिमं कश्चिद्ब्रह्मोद्यं जेतेति पृच्छ गार्गीति ॥१॥

तत्पश्चात् वचक्नु की पुत्री गार्गी ने कहा—हे पूज्य ब्राह्मणगण ! यदि आप लोगों की अनुमति हो तो मैं इन याज्ञवल्क्य से दो प्रश्न पूछूंगी, मेरे उन प्रश्नों का उत्तर यदि याज्ञवल्क्य ने दे दिया तो आप में से कोई इन्हें ब्रह्मसम्बन्धी वाद विवाद में नहीं जीत सकते । इस पर ब्राह्मणों ने अनुमति ददी । हे गार्गि ! पूछ ॥ १ ॥

---

[4]अतः परमशनायादिविनिर्मुक्तं निरुपाधिकं साक्षादपरोक्षात्सर्वान्तरं ब्रह्म वक्तव्यमित्यत आरम्भ —

अथ ह वाचक्नव्युवाच पूर्वं याज्ञवल्क्येन निषिद्धा मूर्धपातभयादुपरता सती पुनः

पूर्वस्मिन्ब्राह्मणे सूत्रान्तर्यामिणौ प्रश्नप्रत्युक्तिभ्यां [5]निर्धारितौ सप्रत्युत्तरब्राह्मणतात्पर्यमाह—अत परमिति । सोपाधिकवस्तुनिर्धारणानन्तर्यमथशब्दार्थं । ननु यस्माद्भयाद्गार्गी पूर्वमुपरता [6]तस्य [7]तदवस्थत्वात्कथ पुन सा प्रष्टु प्रवर्तते तत्राऽऽह—पूर्वमिति । हन्तेत्यस्यार्थमाह—'यदीति[8]। न वै

सासारिक धर्मों से रहित एव समस्त ससारी मनुष्यों के कर्मफलों का विभाग करने वाला है," यह तुम्हारा आत्मा अन्तर्यामी अमृत है, इस ईश्वर आत्मा से अन्य है और सब विनाशग्रस्त (स्वप्न, मृगतृष्णा के समान ससार) है । इस प्रकार अपने प्रश्न के निर्णय से आरुणि उद्दालक चुप हो गया ॥

इस प्रकार बृहदारण्यकोपनिषत शाङ्करभाष्य मे तृतीय अध्याय के सप्तमब्राह्मण का हिन्दीभाषानुवाद पूर्ण हुआ ॥ ७ ॥

(सोपाधिकब्रह्म के स्वरूप को निरूपण कर) अब क्षुधादिरहित निरुपाधिक साक्षात् अपरोक्ष सर्वान्तर ब्रह्म का व्याख्यान करना है, इसलिए आगे का ग्रन्थ आरम्भ किया जाता है ।

---

१ अथेति—'अष्टमब्राह्मण ब्रह्मतत्त्व सम्यङ्निरूप्यते । सूत्रत्वमन्तर्यामित्व यत्रौतप्रोतता व्रजेत् ॥ गौतमेन पुरा पृष्टे सूत्रान्तर्यामिवस्तुनी । ओतप्रोतात्मता गार्गी तयोरवान्वपृच्छत" ॥ १ २ ॥—इति वार्तिकसारे । तथा च सूत्रादिस्वरूपमेव प्राङ्निर्णीत न तत्र व्याप्यव्यापकभाव उक्त सम्प्रति सूत्रस्याव्याकृतम् । तदन्तस्य चाक्षर व्यापकमिति निर्णीयत इति न पूर्वेणोत्तरस्य गतार्थत्वमिति द्रष्टव्यम् ॥ २ हन्तेति निपातोऽनुमतौ । ३ मे—मह्यम् । ४ अत परमिति—सोपाधिकब्रह्मस्वरूपनिर्धारणानन्तर्यमित्यथ । सोपाधिकत्वेनान्तर्यामिरूपस्य हेयत्वात्तज्ज्ञानात्पुमर्थासमाप्तेर्निरुपाध्यक्षरज्ञानादेव तत्समाप्तेरप्रपञ्चमक्षर साक्षात्त्वादिविशेषण वाक्यार्थरूप वाच्यमित्यक्षरब्राह्मणोत्थानमिति । ५ निर्धारिताविति—तदुभयमप्यात्मन सोपाधिक रूपमिति शेष । ६ भयस्य । ७ तथैव विद्यमानत्वात् । ८ तथा च हन्तेति निपातोऽनुमतौ ।

सा होवाचाहं वै त्वा याज्ञवल्क्य यथा काश्यो वा

गार्गी ने कहा—हे याज्ञवल्क्य ! जैसे लोक मे काशी या विदेहदेश का रहने वाला राजा वीरवश

प्रष्टुं ब्राह्मणानुज्ञां प्रार्थयते । हे ब्राह्मणा भगवन्तः पूजावन्तः शृणुत मम वचो हन्ताहमिमं याज्ञवल्क्यं पुनर्द्वौ प्रश्नौ प्रक्ष्यामि यद्यनुमतिर्भवतामस्ति । तौ प्रश्नौ चेद्यदि वक्ष्यति कथयिष्यति मे कथंचिन्न वै जातु कदाचिद्युष्माकं मध्य इमं याज्ञवल्क्यं कश्चिद्ब्रह्मोद्यं ब्रह्मवदनं प्रति जेता न वै कश्चिद्भवेदित्येवमुक्ता ब्राह्मणा अनुज्ञां प्रददुः पृच्छ गार्गीति ॥ १ ॥

लब्धानुज्ञा ह याज्ञवल्क्यं सा होवाचाहं वै त्वा त्वां द्वौ प्रश्नौ प्रक्ष्यामीत्यनुषज्यते ।

जात्विति प्रतीकमादाय व्याचष्टे—कदाचिदित्यादिना । अन्वयं दर्शयितुं कश्चिदिति पुनरुक्तिः ॥१॥

"अथ ह वाचक्नव्युवाच" अर्थात् पहले याज्ञवल्क्य से रोकी गई हुई शिर गिरने के भय से चुप हुई वाचक्नवी पुनः प्रश्न करने के लिए ब्राह्मणो से प्रार्थना करती है। 'भगवन्त' यानी हे पूज्य ब्राह्मणो ! मेरी बात सुनिये। (कही मेरा मूर्धपात न हो) इसलिए यदि आप की आज्ञा हो तो मैं इन याज्ञवल्क्यजी से दो प्रश्न पूछना चाहती हूँ। "तो चेन्मे वक्ष्यति" यदि मेरे इन दोनो प्रश्नो का उत्तर दे देंगे, तो आप मे से कोई भी इन याज्ञवल्क्य को "ब्रह्मोद्यम्" अर्थात् ब्रह्मवाद मे "जातु" यानी कभी किसी प्रकार भी जीतने वाला नही हो सकेगा। इस प्रकार वाचक्नवी द्वारा कहे जाने पर ब्राह्मणो ने "भय मत करो, हे गार्गी। प्रश्न पूछो" ऐसी आज्ञा दे दी।

आज्ञा प्राप्त कर लेने पर उसने याज्ञवल्क्य से कहा—मैं "त्वा" अर्थात् तुम्हे दो प्रश्न

---

१ प्रष्टुमिच्छामीति यावत् । २ भवदनुमत्या हि मे मूर्धपातो न भवेदिति भाव । ३ मह्यम् । ४. न जेतेत्यन्वय । ५ ब्रह्मोद्येति—भावक्यबन्तम् 'भुवो भाव" इत्यतो भावे इत्यपकृष्य "वद सुपि क्यप् च" इत्यनेन सुप्युपपदे वदेर्भाव क्यब्विधानादित्यभिप्रेत्य व्याचष्टे—ब्रह्मवदनमिति । द्वितीयामुपपादयितु प्रतीत्यध्याहृत तथा च ब्रह्मवादे नैन कश्चन जेतेत्यर्थं । जेतेति तु तृन्नन्तम् । अतएव "न लोकेति" निषेधात्कर्मणि द्वितीया अन्यथा (तस्य तृजन्तत्व) 'कर्तृकर्मणो कृतीति" षष्ठ्यापत्तेरिति । तथ्था—जेतेत्यस्य तिङन्तत्व तु न सभाव्य तथा सति भवदिति भाष्य पीड्यत । परन्तु तस्य तिङन्तत्वाभ्युपगमेऽप्यनुपपत्त्यभावाद्भवेदित्यध्याहारभाष्य चिन्त्यप्रयोजनम् अथवा तिङन्तत्वे तस्यानद्यतनभविष्यदर्थकत्वन श्व प्रभृति नैन कश्चिज्जेष्यतीति स्यात्तथा चाद्यतनजयस्यानुमतत्व भवत्त्न्मा भूदिति । तथा कृतमिति समाधेयम् । यद्यपि जातुपदेन सार्वदिकजय' प्रतिषिध्यते तथापि जेतेत्यस्य तिङन्तत्वाभ्युगमे तदनुरोधाज्जातुपदमप्यद्यतनातिरिक्तकाले सकुचेदित्यभिप्राय । न तु जातुपद वा सकुचतु तदनुरोधाज्जेतेत्यव वा विकसत्वित्यत्र विनिगमनाविरह इति चेद् अतएव चिन्त्यप्रयोजनत्वमुक्तम् । अथवा अव्ययाना तावदनेकार्थत्व प्रसिद्धतरमिति तत्रैव सकोचविकासावहतो न तु तदनुरोधिन नियत प्रत्ययार्थ तावित्येपैव विनिगमना । ननु वसन्ददर्श इत्यादौ कथ तत्रोभयोरपि प्रत्ययार्थत्वेन समबलत्वाद्व्याकर्त्रैव तथाभ्युपगमात् तदुक्त—'धातुसबन्धे प्रत्यया" इतीति ध्येयम् । ६ मा ते मूर्धपातभयमित्यभिप्राया । ७ मा भयो कुरु प्रश्नम् ।

वैदेहो वोग्रपुत्र उज्ज्यं धनुरधिज्यं कृत्वा द्वौ बाणवन्तौ सपत्नातिव्याधिनौ हस्ते कृत्वोपोत्तिष्ठेदेवमेवाहं त्वा द्वाभ्यां प्रश्नाभ्यामुपोदस्थां तौ मे ब्रूहीति पृच्छ गार्गीति ॥२॥

मे उत्पन्न प्रत्यञ्चारहित धनुष पर पुन प्रत्यञ्चा चढाकर शत्रुओ को अत्यन्त पीडित करने वाले दो बाणो से युक्त शर हाथ मे लेकर उपस्थित हो, वैसे ही दो प्रश्न लेकर मैं तुम्हारे सामने उपस्थित होती हूँ। (यदि तुम ब्रह्मज्ञानी हो तो) मुझे उनका उत्तर दो। तब याज्ञवल्क्य ने कहा—हे गार्गि! पूछ ॥ २ ॥

कौ ताविति जिज्ञासाया तयोर्दुरुत्तरत्व द्योतयितु दृष्टान्तपूर्वकं तावाह—हे याज्ञवल्क्य यथा लोके काश्यः काशीषु भवः काश्यः प्रसिद्ध शौर्यं काश्ये वैदेहो वा विदेहाना वा राजोग्रपुत्रः शूरान्वय इत्यर्थः। उज्ज्यमवतारितज्याकं धनु. पुनरधिज्यमारोपितज्याक कृत्वा द्वौ बाणवन्तौ बाणशब्देन शराग्रे यो वंशखण्डः सधीयते। तेन विनाऽपि शरो भवतीत्यतो विशिनष्टि बाणवन्ताविति। द्वौ बाणवन्तौ शरौ तयोरेव विशेषणं सपत्नातिव्याधिनौ शत्रोः पीडाकरावतिशयेन हस्ते कृत्वोपोत्तिष्ठेत्समीपत आत्मानं दर्शयेदेवमेवाहं त्वा त्वा शरस्थानीयाभ्या प्रश्नाभ्या द्वाभ्यामुपोदस्थामुत्थितवत्यस्मि त्वत्समीपे। तौ मे ब्रूहीति ब्रह्मविच्चेत्। आहेतरः पृच्छ गार्गीति ॥ २ ॥

संधीयते स उच्यत इति शेष। प्रश्नयोरवश्यप्रत्युत्तरणीयत्वे ब्रह्मिष्ठत्वाङ्गीकारो हेतुरित्याह—ब्रह्मविच्चेदिति ॥२॥

पूछूँगी—इस प्रकार सगति हो जाती है। वह दो प्रश्न कौन से है—ऐसी जिज्ञासा होने पर उनका दुरुत्तरत्व प्रदर्शित करने के लिए गार्गी दृष्टान्त देकर बतलाती है। जिस प्रकार लोक मे "काश्य" अर्थात् काशी प्रान्त मे उत्पन्न होने वालो की वीरता प्रसिद्ध है अथवा 'वैदेह' यानी विदेह देश का राजा "उग्रपुत्र" यानी वीरवश मे उत्पन्न हुआ है। "उज्ज्यम्" अर्थात् जिसकी डोरी उतार ली गई है, ऐसे धनुष को "अधिज्यम्" अर्थात् पुन डोरी चढाकर दो बाणो से युक्त हो "सपत्नातिव्याधिनौ" अर्थात् शत्रु को पीडित करने वाले शर हाथ म लेकर उपस्थित हो। यहाँ बाणशब्द से शर के अगले हिस्से म लगे बाँस के टुकडे से तात्पर्य है। बाण के विना भी शर होता है इसी से "बाणवाला" यह विशेषण दिया गया है। इसी प्रकार मैं 'त्वा उपोदस्थाम" अर्थात् शरस्थानीय दो प्रश्नो को लेकर तुम्हारे सामने उपस्थित होती हूँ। यदि तुम ब्रह्मवेत्ता हो तो इनका मुझ उत्तर दो। इस पर याज्ञवल्क्य ने कहा—हे गार्गी! पूछ ॥ २ ॥

१ उज्ज्य धनुरधिज्य कृत्वेति—पूर्वं प्रष्टुकामापि मूर्धपातभयादुपरताऽऽसीदित्युज्ज्यत्वसाम्य लब्धानुज्ञा तु पुन प्रष्टुमुद्यतेत्यधिज्यत्वतौल्यमिति विभावनीयम्। अथवा प्रश्नयोरत्यर्थं दुरुत्तरत्व द्योतयितु तथा दृष्टान्तोक्तिः उज्ज्यस्याधिज्यीकरणे हि कोपोज्ज्वलनमेव हेतुर्भवति प्रोज्ज्वलितकोपश्चातीव दु सह युध्येतेति भावः। २ बाणेन। ३ तौ—तयोरुत्तरमित्यर्थं। ४ मह्यम्।

सा होवाच यदूर्ध्वं[1] याज्ञवल्क्य [1]दिवो [2]यदवाक्पृथिव्या[3] [4]यदन्तरा [5]द्यावापृथिवी इमे यद्भूतं च भवच्च भविष्यच्चेत्याचक्षते[6] *कस्मिꣳस्तदोतं च प्रोतं चेति ॥३॥

गार्गी ने कहा—हे याज्ञवल्क्य ! जो द्युलोक से ऊपर है, जो पृथिवी से नीचे है, जो द्यावापृथिवीरूप इन अण्डकपालो के बीच मे है और स्वय भी जो ये द्युलोक और पृथिवी हैं, एव जिन्हे भूत, वर्तमान और भविष्यत् ऐसा कहते है, वे सम्पूर्ण द्वैतवर्ग किसमे ओत-प्रोत है ॥ ६ ॥

सा होवाच यदूर्ध्वमुपरि दिवोऽण्डकपालाद्यच्चावागधः पृथिव्या अधोऽण्डकपालाद्यच्चान्तरा मध्ये द्यावापृथिवी द्यावापृथिव्योरण्डकपालयोरिमे च द्यावापृथिवी यद्भूतं यच्चातीतं भवच्च वर्तमानं स्वव्यापारस्थं भविष्यच्च वर्तमानादूर्ध्वकालभाविलिङ्गगम्यं

वह बोली "यदूर्ध्वम्" अर्थात् जो द्युलोकरूप उपरितन अण्डकपाल से ऊपर है, जो "पृथिव्या" यानी अधस्तन अण्डकपाल से नीचे है तथा जो "द्यावापृथिवी" अर्थात् द्युलोक और पृथिवीलोक के अण्डकपालो के मध्य मे है। एव ये प्रसिद्ध द्युलोक और पृथिवीलोक है तथा जो "भूतम्" यानी अतीत "भवच्च" यानी अपने व्यापार मे अवस्थित वर्तमान, "भविष्यच्च" अर्थात् वर्तमान के परवर्ती समय मे

---

१ दिव·—उपरितनादण्डकपालाद्यद्वस्तूर्ध्वमुपर्यस्तीत्यन्वय । द्वे तावद्ब्रह्माण्डस्य कपाले भवतस्तत्र दिव इत्यनेन उपरितन कपालमुच्यते पृथिवीशब्देन चाधस्तनमिति । २ अध । ३ अधस्तनाण्डकपालात् । ४ यच्च उपरितनाधस्तनयोर्मध्ये । ५ ये चेमे द्यावापृथिव्यौ । ६ आगमविद । ७ उक्तद्वैतजातारमसूत्रम् । ८ उपरितनाण्डकपालात् । ९ प्रसिद्धे ।

---

*कस्मिंस्तदोत च प्रोत चेति अत्राहुर्वार्तिकाचार्यास्तथाहि—"सूत्रे तावदिद सर्वमोत च प्रोतमेव च । वर्तमाने जगत्काल इति तावत्सुनिश्चितम् ॥ जगच्चाप्यनभिव्यक्तमाविर्भवति साप्रतम् । व्यक्तिश्चेय सतो युक्ता नासतो घटते यत. ॥ अभिव्यक्त च सदिद पुनरव्यक्ततामिताम् । वायुना विधृत तस्य रूप यद्वार्तमानिकम् ॥ अतीतानागतयोस्तु कालयोर्जगदात्मन । सत्ता यनाऽऽत्मना कस्मिन्नोता प्रोतेति भण्यताम्" ॥ ९-१२ ॥ इति । ससूत्रस्य जगतोऽत्राऽऽश्रय पृच्छ्यते स च प्रश्नो वर्तमानकाले वाऽतीतानागतयोर्वेति सशये द्वितीयमादातुमाद्य दूषयति —सूत्र इति । प्राणाख्यसूत्रस्य देहादपसर्पणे देहाङ्गाना विस्र सनदृष्टेरन्वयव्यतिरेकाभ्या ततोऽर्वाक्तनस्य तदाश्रयत्व तस्य च सदाश्रयत्व वर्तमानकाले तावन्निश्चित वायौ सद्बुद्धिदर्शनादतो नाऽऽद्यकल्पोपपत्तिरित्यर्थ । प्रतिज्ञाद्योती द्वितीयस्तावच्छब्द ॥ कालान्तरेऽपि जगदाश्रयो न प्रष्टव्यो नाशादूर्ध्वं प्रागुत्पत्तेश्च तस्यासत्त्वादित्याशङ्क्याऽऽह —जगच्चेति । प्रागुत्पत्ते सदपि जगदव्यक्त जन्मकाले नामरूपाभ्या व्यज्यतऽतो न भूतकाले तदसत्तेत्यर्थ । प्रागुत्पत्तेरत्यन्तासत्त्वाशङ्का जगतो निरस्य नाशादूर्ध्वमपि असदेव व्यज्यतामिति चेन्नेत्याह—व्यक्तिश्चेति ॥ तां निरस्यति—अभिव्यक्त चेति । अतीतानागतकालयोर्जगत सत्त्वमुक्त्वा फलित प्रश्न वक्तु पूर्वोक्तमनुवदति—वायुनेति ॥ कालद्वयेऽपि जगदाश्रयप्रश्न परिशिष्टमाचष्टे—अतीतेति । वर्तमानकाले जगत सत्ता येन सूत्रात्मना विहिता सा तेन सहावर्तमानकाले कस्मिन्नोतप्रोतत्वेन स्थितेति प्रश्नार्थ ॥

'स होवाच यदूर्ध्वं गार्गि दिवो यदवाक्पृथिव्या यदन्तरा द्यावापृथिवी इमे यद्भूतं च भवच्च भविष्य-च्चेत्याचक्षत आकाशे तदोतं च प्रोतं चेति ।४।

उस याज्ञवल्क्य ने कहा—हे गार्गि ! जो द्युलोक से ऊपर, पृथिवी से नीचे और जो द्युलोक पृथिवी के बीच में है एवं स्वयं भी जो ये द्युलोक और पृथिवी हैं तथा जिन्हें भूत, भविष्य, वर्तमान ऐसा कहते हैं, वे सभी अव्याकृत आकाश में ओत-प्रोत हैं ॥ ४ ॥

'यत्सर्वमेतदाचक्षते कथयन्त्यागमतः'स्तत्सर्वं द्वैतजातं यस्मिन्नेकी भवतीत्यर्थः । तत्सूत्रसंज्ञं पूर्वोक्तं कस्मिन्नोतं च प्रोतं च पृथिवीधातुरिवाप्सु ॥ ३ ॥

स होवाचेतरो हे गार्गि यत्त्वयोक्तमूर्ध्वं दिव इत्यादि 'तत्सर्वं यत्सूत्रमाचक्षते तत्सूत्रमाकाशे तदोतं च प्रोतं च *यदेतद्व्याकृतं सूत्रात्मकं जगदव्याकृताकाशेऽध्येव

सूत्रस्यास्याऽऽधारे प्रष्टव्ये किमिति सर्वं जगदनूद्यते तत्राऽऽह—तत्सर्वमिति । पूर्वोक्तं सर्व-जगदात्मकमिति यावत् ॥३॥

यथाप्रश्नमनूद्य प्रत्युक्तिमादत्ते—स होवाचेति । तां व्याचष्टे—यदेतदिति । यज्जगद्व्याकृतं

होने वाला अनुमानगम्य भविष्यत् को जब आगमवेत्ता सूत्रात्मक कहते हैं—वह सम्पूर्ण द्वैत जगत् जिसमे एक हो जाता है । उक्त द्वैतजातात्मक जल मे पृथिवी के समान किसमे ओत और प्रोत है ॥ ३ ॥

उस याज्ञवल्क्य ने कहा—हे गार्गी ! तूने जिसे 'द्युलोक से भी ऊपर' इत्यादि कहकर बतलाया है, वह सब द्वैतजात जिसे आगमवेत्ता सूत्रात्मा कहते हैं, वह आकाश में ओत और प्रोत है।

---

१ स होवाचेत्यादि । यत्त्वयोक्तं दिव ऊर्ध्वादि तत्सूत्रं व्याकृततदात्मकं आकाशे अव्याकृते अविद्याशबलितेऽन्त-र्यामिणीश्वरे नारायणाख्ये त्रिष्वपि कालेष्वोतं प्रोतं चेत्यर्थः । अत्र वार्तिकम्—"यावद्धि जनिमत्किंचित्सामादि-प्रविभागवत् । आकाशस्तस्य सर्वस्य तत्त्वमत्र विवक्षितमिति" ॥ १५ ॥ नामरूपकर्मात्मनो जनिमतो जगतोऽतिरिक्तं कार्यमप्रसिद्धमिति हिशब्दार्थः । अज्ञातं ब्रह्मैव जगतस्तत्त्वं कल्पितस्याधिष्ठानानतिरेकादित्यर्थः । २ यत्सर्वमेतदाचक्षते इति—एतत्सर्वं यदाचक्षते (यत्सूत्रात्मकमाचक्षते) इत्यन्वयः । तदेतद्व्याख्याति तत्सर्वं द्वैतेत्यादिना । एवं च मूलस्था यच्छब्दा यदात्मकमित्यर्थका आचक्षते इत्यनेनानुयन्तीति सूचितम् । ३ आग-मैकगम्यस्य सूत्रस्यानुमेयत्वं प्रजापतिलोकादिवदयुक्तमिति शङ्कितदोषनिरासायमाह—आगमत इति आचार्यो-पदेशादित्यर्थः । ४ आगमविदः । ५ श्रुत्युक्तं दिव ऊर्ध्वादिरूपं यद्द्वैतजातं तेन तदाश्रयं सूत्रमेव विवक्षितमित्यभिप्रायेणाह—तत्सर्वमित्यादि । एकीभवतीत्यनेन सूत्रे द्वैतस्यान्तर्भावोक्त्या द्वैतं दर्शयन्त्या श्रुत्या सूत्रं विवक्षितमिति सूचयति । ६ द्वैतजातम् । ७ यत् सूत्रात्मकं कथयन्त्यागमविद इत्यर्थः । ८ अनूद्येति—अनुवादाभावे निग्रहप्रसक्तेस्तदावश्यकत्वम् ।

---

*यदेतद्व्याकृतमित्यादि ग्रन्थं इत्यन्तभाष्यतात्पर्यमाहुर्वार्तिकाचार्यास्तथाहि—"क्ष्माद्यतत्सूत्रपर्यन्तं नाशादूर्ध्वं जने पुरा । आकाशे तदविज्ञातं सत्तामात्रेण विद्यते ॥ यावद्धि जनिमत्किंचित्सामादिप्रविभागवत् । आकाशस्तस्य सर्वस्य तत्त्वमत्र विवक्षितम् ॥ व्यतिरेकं सतो नेदं लभतेऽनात्मकत्वतः । नाप्यन्वयं तदव्याप्तेर्नाप्यभावः सतीष्यते ॥

पृथिवीधातुस्त्रिष्वपि कालेषु वर्तत उत्पत्तौ स्थितौ लये च ॥ ४ ॥

सूत्रात्मकमे'तदव्याकृताकाशे वर्तत इति संबन्धः । त्रिष्वपि कालेष्विति यदुक्तं तद्व्यनक्ति—उत्पत्ताविति ॥४॥

यह जो सूत्रात्मक व्याकृत जगत् है, वह जल में पृथिवी तत्त्व के समान उत्पत्ति, स्थिति और लयरूप तीनों कालों में अव्याकृत आकाश में विद्यमान है ॥ ४ ॥

१ एतच्छब्दस्तच्छब्दार्थकोऽत्र ।

सदता अनिमतस्य सपाद रचना यथा । सतत्व्यतिरेकेण नान्या जनिमतो गति ॥ सदेवदमत सर्वमुद्भूति-स्थितिहानिषु । सदेवेति तथा स्पष्ट छान्दोग्योपनिषद्वच ॥ अवशिष्टाक्षराज्ज्ञेया सत्तैव जगतो निधि । कार्यकारणनिर्मुक्तमक्षर यदयत यत ॥ सर्वशक्तिरिय शक्तिर्या सन्निरर्थभिधीयते । न च सत्तेति सामान्य प्रत्ययार्थासमीक्षणात् ॥ न सतो व्यतिरेकेण सतोऽन्या भाव ईप्यते । अप्यभावो न लभत किमु भावोऽतिरेकताम् ॥ सदन्यबुद्धिगम्यस्य श्रुतिस्तस्मादनेकधा । अवबोधभ्रान्तिमात्रत्व मृत्तिकादिनिदर्शनै ॥ आकाशवचसाऽऽत्मैव ज्ञेयो नान्योऽत्र कश्चन । सर्वान्तरत्व नान्यस्य युज्यतेऽन्तरात्मना यत ॥ आकाशो वा इति तथा बह्वृच श्रुतिर-ब्रवीत । कारण चाऽऽत्मनो नान्यात्त्वयमन्त्यपूपलभ्यते ॥ जगज्जनिस्थितिध्वस्तिनियमाद्यपकार्यपि । नाऽऽत्मन कारणादन्य कश्चिदसमाप्यते श्रुते ॥ एषोऽन्तर्याम्येष योनि सर्वस्य प्रभवाप्ययौ । माण्डूक्यश्रुतिवच इति स्पष्टमधीयते ॥ नातोऽन्तर्यामिण कल्प्यमन्यदव्याकृत बुधै । अक्षरान्तषु तत्त्वेषु नाव्याकृतवचो यत ॥ तद्धेदमिति चात्रापि जगदेवाभिधीयते । अव्याकृतगिरा तस्य व्याकृताव्याकृतत्वत ॥ सर्वस्यैव शरीरत्वयुक्तया यतस्तस्यैव वेद्यताम् । यत्तत्त्वमाह श्रुतिस्तस्माद्यन्ताऽव्याकृतमुच्यत" ॥ १४-२६ ॥ मुन्युक्ति विवृणोति—इत्यादीति । तस्या विवक्षितमर्थमाह—यावद्धीति । नामरूपकर्मात्मनो जनिमतो जगतोऽतिरिक्त कार्यमप्रसिद्ध-मिति हिशब्दार्थ ॥ अज्ञातब्रह्मैव जगतस्तत्त्वमित्येतदुपपादयितु कल्पितस्य तस्य साधयति—व्यतिरेकमिति । अनात्मकत्वतो निःस्वरूपप्रसङ्गादिति यावत् । तदव्याप्तजडस्याजडेन तादात्म्यायोगान्मिथो विरोधादित्यर्थ । अनुच्छत्वे इत्यत्र हेतु ॥ अन्वयव्यतिरेकाभावपरिहारेण सदेव जगतस्तत्त्वमिति फलितमाह—सदिति । अत शब्दार्थ स्पष्टयति—सतत्त्वेति ॥ स्थितिकाले जगत सद्रूपत्वेऽपि कालान्तरे नैवमित्याशङ्क्याऽऽह—सदेवेति । गत्यन्तराभावोऽत्र शब्दार्थ. । कालत्रयेऽपि जगत सदेव तत्त्वमित्यत्र मानमाह—सदिति ॥ अज्ञात सदेव जगतस्तत्त्व चेत्तस्मात्पर तत्त्व नास्तीत्याशङ्क्याऽऽह—अवशिष्टेति । निधिर्निदानम् ॥ न सत्ता जगतो निधिस्त-स्यास्तद्धेतुत्वे मानाभावादित्याशङ्क्याऽऽह—सर्वशक्तिरिति । सदव साम्यत्वारभ्य या शक्ति सच्छब्दवाच्या तजोबन्नानामीक्षणपूर्वं स्रष्टृत्व नोच्यत सा सर्वस्य जगत शक्तिरुपादानमागमप्रामाण्यादित्यर्थ । सतो भाव सत्तेति व्युत्पत्तेः सत्ताया सामान्यात्मत्वेनोपादानत्वायोगादागमस्यान्यपरतयाशङ्क्याऽऽह—न चेति ॥ प्रत्ययार्थो भावस्तस्य सदतिरिक्तस्यासमीक्षण कथमिति तत्राऽऽह—नेति । सदन्यभावाभावेऽनुभवाभाव हेतुमुक्त्वा युक्तिमाह—अप्यभाव इति ॥ तदनुग्राह्य मान सूचयति—सदिति । घटादिषु दाद्यतिरेकेणाभाववज्जगतो मूलकारणाद्भेदे-नाभाव वदन्ती वाचारम्भणश्रुतिर्भावाभावात्मकस्य सदतिरेकाद्यसम्भवाद्भ्रान्तिमात्रत्वमाहेत्यर्थ ॥ आकाशे तदोत चेत्यत्राऽऽकाशशब्देनाज्ञात ब्रह्म विवक्षितमित्युक्तमन्य त्वाकाशशब्देनाव्याकृतमादाय ततोऽप्यन्तरमन्तर्यामिण कल्पयन्तस्तान्प्रत्यन्यत्तत्त्वान्तरं परमात्मानमाहुस्तान्प्रत्याह—आकाशेति । जगत ससूत्रस्याऽऽन्तरत्वेन श्रुतमाकाश नाज्ञाताद्ब्रह्मणोऽर्थान्तर सर्वान्तरत्वस्यान्यत्रायोगादित्यर्थ ॥ अथ भूताकाशरूढाकाशश्रुत्या सर्वान्तरत्वलिङ्ग बाधित्वा तस्यैवेह ग्रहो युक्तस्तत्राऽऽह—आकाश इति । आकाशो वै नाम नामरूपयोर्निर्वहितेत्यत्रापि भूता-

[1]सा होवाच नमस्तेऽस्तु याज्ञवल्क्य [2]यो [3]म [4]एतं [5]व्यवोचोऽपरस्मै धारयस्वेति पृच्छ गार्गीति ॥५॥

उस गार्गी ने फिर कहा—हे याज्ञवल्क्य ! आपको नमस्कार है जो कि आपने मेरे इस प्रश्न का उत्तर दे दिया। अब आप दूसरे प्रश्न के लिये तैयार हो जावें। याज्ञवल्क्य ने कहा—हे गार्गि ! पूछ ॥ ५ ॥

पुनः सा होवाच नमस्तेऽस्त्वित्यादि प्रश्नस्य [6]दुर्वचत्वप्रदर्शनार्थम्। यो मे ममैतं प्रश्नं व्यवोचो विशेषेण [7]ाकृतवानसि। एतस्य दुर्वचत्वे कारणं सूत्रमेव तावद [8]गम्यमितरैर्दुर्वाच्यं [9]किमुत [10]तद्यस्मिन्नोतं च प्रोतं चेत्यतो नमोऽस्तु ते तुभ्यमपरस्मै द्वितीयाय

उसने पुन कहा—'आपको नमस्कार है (जिन्होने मुझे इस प्रश्न का उत्तर दे दिया)' इत्यादि मन्त्र यह प्रदर्शित करने के लिए है कि प्रश्न का उत्तर देना अत्यन्त कठिन था। जिन्होने मेरे प्रश्न का "व्यवोच" यानी विशेषरूप से उत्तर दिया है। प्रथम तो प्रश्न की कठिनता का कारण यह है कि सूत्रात्मा ही आगमातिरिक्त प्रमाण से अगोचर है इसलिए (याज्ञवल्क्यादि मन्त्रद्रष्टा ऋषियो के अतिरिक्त) दूसरो से इसका उत्तर नही दिया जा सकता फिर जिस (अन्तर्यामी आकाश) मे वह ओत

१. एवमुत्तरितप्रथमप्रश्ना गार्गी। २ यस्त्वम्। ३ मम। ४ दुर्वचं प्रश्नम्। ५ विशेषेणोक्तवानसि अतस्ते नमोऽस्त्वित्यन्वय। ६ दुरुत्तरमुत्तरन् हि नमस्कार्यो भवति। ७ उत्तरितवानसि। ८. आगमातिरिक्तप्रमाणागोचरमत एव याज्ञवल्क्यातिरिक्तैर्दुरुत्तरम्। ९ अन्तर्यामिण्याकाशे। १० यथोक्तप्रश्नसमाधानात्।

काशविषयत्वमाकाशशब्दस्य किं न स्यादित्याशङ्क्याऽऽह—कारणं चेति। अत्र हि कारणत्वमाकाशस्योच्यत आरम्भणाधिकरणे आकाशस्तल्लिङ्गादिति च वेदान्तस्थितिस्तथा च सर्वकारणत्वनामरूपास्पृष्टत्वलिङ्गाभ्यां तद्ब्रह्मेति श्रुतेश्चाऽऽकाशशब्दस्य श्रुत्यन्तरे ब्रह्मविषयत्वम्याऽऽकाशोऽर्थान्तरत्वादिव्यपदेशादित्यत्रोक्तत्वात्प्रकृतेऽपि तद्विषयता न हि सति संभवे सर्वान्तरत्व बाधितुमुचितमाकाशशब्दस्तु प्रयोगबाहुल्याद्ब्रह्मण्यपि संभवतीति दहराधिकरणे चिन्तितमाकाशस्तल्लिङ्गादिति चात्तमिति भाव ॥ आकाशशब्दोऽज्ञानब्रह्मविषयोऽपि नान्तर्यामिविषयस्तस्य ततोऽन्यत्वादित्याशङ्क्याऽऽह—अन्तरिति ॥ कारणान्तर्यामिणोर्भेदे मानाभावमुक्त्वा तदभेदे श्रुति प्रमाणयति —एष इति ॥ एष सर्वेश्वर एष सर्वज्ञ एषोऽन्तर्याम्येष योनि सर्वस्य प्रभवाप्ययौ हि भूतानामिति श्रुतिप्रसिद्धफलमाह—तत इति। भेदे मानाभावादभेदे तद्भावाच्चेत्यत शब्दार्थ। अन्तर्यामिणोऽन्यथाव्याकृतमित्यत्र युक्त्यन्तरमाह—अक्षरान्तरेति। ब्राह्मणत्रयेऽपि पृथिव्याद्यक्षरान्तेष्वव्याकृतशब्दाश्रवणात्ससूत्रजगदधिष्ठानत्वेनाऽऽकाश निर्दिष्ट नान्तर्यामिणोऽर्थान्तरमव्याकृतमिति शक्य कल्पयितुमित्यर्थ ॥ अत्राव्याकृतशब्दाभावेऽपि तद्वेदमित्यत्र श्रुतमव्याकृतमिहाकाशशब्देनाऽऽकृष्यान्तर्याम्यव्याकृतादारभेदसिद्धिरित्याशङ्क्याऽऽह—तद्धेति। न त्वदिष्टमन्तर्याम्यव्याकृतनिर्दिष्ट तत्त्वमित्यर्थो जगतो व्यक्तस्य व्याकृतशब्दत्वमेव माव्याकृतशब्दत्वमित्याशङ्क्याऽऽह—तस्येति ॥ तद्धेदमव्याकृतशब्देन कारणावस्थं जगदुक्त चेदत्रापि तदेवाऽऽकाशशब्देनोक्त्वा तत्र कार्यावस्थं जगदोत प्रोत चास्तु तथाऽपि ततोऽर्थान्तरमन्तर्यामीत्याशङ्क्याऽऽह—सर्वस्येति। सर्वस्य वशी सर्वस्येशान स न साधुनेत्यादिना नियन्तारमुक्त्वा तस्यैव विविदिषावाक्यन वेद्यत्वं श्रूयते न च तदज्ञातस्य विना युक्तमज्ञातमव्याकृतमिति च पर्यायोऽन्तर्याम्यव्याकृतमित्यर्थ ॥

'सा होवाच यदूर्ध्वं याज्ञवल्क्य दिवो यदवाक्पृथिव्या यदन्तरा द्यावापृथिवी इमे यद्भूतं च भवच्च भविष्यच्चेत्याचक्षते कस्मिꣳस्तदोतं च प्रोतं चेति ॥६॥

उसने कहा—हे याज्ञवल्क्य ! जो द्युलोक से ऊपर, पृथिवी से नीचे, तथा द्युलोक और पृथिवी के बीच में है, एवं जो यह स्वयं द्युलोक और पृथिवी लोक है जिन्हें 'भूत, वर्तमान तथा भविष्यत्' ऐसे शब्दों से कहते हैं, वे सब किसमें ओत-प्रोत हैं ॥ ६ ॥

प्रश्नाय धारयस्व दृढो कुर्वात्मानमित्यर्थः । पृच्छ गार्गीतीतर' आह ॥ ५ ॥

व्याख्यातमन्यत् । सा होवाच यदूर्ध्वं याज्ञवल्क्येत्यादिप्रश्नः प्रतिवचनं चो'क्तस्यै-वार्थस्यावधारणार्थं पुनरुच्यते । 'न किंचिदपूर्वमर्थान्तरमुच्यते ॥ ६ ॥

'वक्ष्यमाणं वाक्यमन्यदित्युच्यते । 'तदेव प्रश्नप्रतिवचनरूपमनुवदति—सा हेति । पुनरुक्तेर-'किंचित्करत्वं व्यावर्तयति—उक्तस्यैवेति ॥६॥

और प्रोत है, उसका तो कहना ही क्या है इसलिए (यथोक्त प्रश्न के समाधान हो जाने से) आपको नमस्कार है । अब "अपरस्मै" अर्थात् द्वितीय प्रश्न के लिए "धारयस्वेति" अर्थात् अपने को तैयार कर लीजिए । इस पर याज्ञवल्क्य ने कहा—हे गार्गी ! पूछ लो ॥ ५ ॥

('सा होवाच' से 'ओत च प्रोत चेति' में) इसकी व्याख्या पहले ही कर दी गई है । मन्त्र में "यदूर्ध्वं याज्ञवल्क्य" इत्यादि प्रश्न और इसका उत्तर पहले ही कहा जा चुका है । उक्तार्थ का पुनः निश्चय करने के लिए यह कहा जाता है । यहाँ कोई अपूर्व अन्य अर्थ नहीं कहा गया ॥ ६ ॥

---

१. एवमुक्तस्यैवार्थस्यावधारणार्थं पूर्वोक्त एव प्रश्नस्तदनुवादपूर्वकमुक्तमेव प्रतिवचनं चोभाभ्यां क्रमेणानूद्यते सा होवाचेत्यारभ्य कस्मिन्नु खल्वित्यत. प्राक्तनेन प्रबन्धेन । २ याज्ञवल्क्य । ३ उक्तस्यैवार्थस्यावधारणार्थमिति—मो प्रत्युत्तरित एवार्थं याज्ञवल्क्यस्यापि निश्चयोऽस्ति न वेत्यत्र तदीयनिश्चयं निश्चेतुमित्यर्थ । न हि सकृदुक्तिमात्रेण तदर्थे तन्निश्चयोऽवगन्तुं शक्यते यतोऽविद्वानपि भूतप्रेताद्यावेशवशात्सकृच्छास्त्रं वक्ति न च तावन्मात्रेण तदर्थे तन्निश्चयं शक्यो निश्चेतुम् । तदुक्तं वार्तिके—"पृष्टं भूयोऽपि चापृच्छदुक्तधीदृढनिश्चितौ । परायत्तप्रबोधोऽपि शक्तो वक्तुं यतस्तत." ॥ ४५ ॥ इति । परायत्तेति—भूताद्यावेशाधीनशास्त्रादिबोधोऽपि यतो वक्तुं शक्त सकृद्वचनं तत्संपादकस्तत पृष्टमेवोक्तार्थे दृढनिश्चयनिश्चयायापृच्छदित्यर्थ. । याज्ञवल्क्योऽपि उक्त एवार्थे स्वनिश्चयं निश्नाययितुमुक्तमेव प्रतिवचनमेवकारघटितं पुनरुक्तवान् आकाश एव तदोतं च प्रोतं चेति । अथवा पृथिव्यादयोऽप्यबादिद्वाराऽऽकाश एव लीयन्त यथा तद्वत्सूत्रमपि परम्परयैव तत्र लीयत उत साक्षादिति प्रष्टुमुक्तस्यैव प्रश्नस्य पुनर्वचनम् । साक्षादेवेत्युत्तरितुमुक्तस्यैवोत्तरस्य एवकारघटितत्वेन पुनरुक्ति' । अत्र पक्षे एवकारः साक्षादर्थक. । तथा च पूर्वप्रश्नप्रतिवचनयोरेवैतच्छेषभूतमिति न त्रित्वप्रसक्तिरिति ध्येयम् । स्पष्टं चैतद्वार्तिके । ४. न किंचिदपूर्वमिति । एतेन यदूर्ध्वमित्यादि द्वितीय वाक्य प्रश्नान्तरमित्यपास्तं द्वौ प्रश्नौ प्रक्ष्यामि द्वाभ्यां प्रश्नाभ्यामुपोदस्थामित्युपक्रमादिति ध्येयम् । ५. सा होवाचेत्यारभ्य कस्मिन्नित्यत. प्राक्तनम् । ६. उक्तमेव—वक्ष्यमाणवाक्यमेव । ७. अप्रयोजकत्वं निरर्थकत्वमिति यावत् ।

स होवाच यदूर्ध्वं गार्गि दिवो यदवाक्पृथिव्या यदन्तरा द्यावापृथिवी इमे यद्भूतं च भवच्च भविष्यच्चेत्याचक्षत आकाश एव तदोतं च प्रोतं चेति कस्मिन्नु खल्वाकाश ओतश्च प्रोतश्चेति ।७॥

तब उस याज्ञवल्क्य ने कहा—हे गार्गि ! जो द्युलोक से ऊपर, पृथिवी से नीचे और द्युलोक तथा पृथिवी के बीच में हैं एवं जो स्वयं द्युलोक तथा पृथिवी हैं तथा जिन्हें भूत, भविष्यत् और वर्तमान ऐसे शब्दों से कहते हैं, वे सब आकाश में ही ओत प्रोत हैं (पूर्वोक्तवाक्य से प्रथम प्रश्नोत्तर को ही पुष्ट किया गया है, जिसे अग्रिम प्रश्न के उपक्रमरूप से गार्गी ने कहा है)। किन्तु आकाश किसमें ओत-प्रोत है ? (गार्गी समझती है जब आकाशतत्त्व का बतलाना कठिन है, फिर भला आकाश के ओत-प्रोत के स्थान को बतलाना कठिन होगा। अतः प्रश्न के उत्तर न आने पर याज्ञवल्क्य स्वयं ही निगृहीत हो जायगा) ॥७॥

सर्वं यथोक्त गार्ग्या प्रत्युच्चार्यं तमेव पूर्वोक्तमर्थमवधारितवानाकाश एवेति याज्ञवल्क्यः । [1]गार्ग्याह—कस्मिन्नु खल्वाकाश ओतश्च प्रोतश्चेति । [2]आकाशमेव तावत्कालत्रयातीतत्वाद्दुर्वाच्यम् । ततोऽपि कष्टतरमक्षरं यस्मिन्नाकाशमोतं च प्रोतं चातोऽवाच्यमिति कृत्वा न प्रतिपद्यत सा[3]ऽप्रतिपत्तिर्नाम निग्रहस्थानं तार्किकसमये । अथावाच्यमपि वक्ष्यति तथाऽपि विप्रतिपत्तिर्नाम निग्रहस्थानं विरुद्धा प्रतिपत्तिर्हि सा

---

[5]प्रतिवचनानुवादतात्पर्यमाह—[6]गार्ग्येति । प्रश्नाभिप्राय प्रकटयति—आकाशमेवेति ॥७॥

गार्गी के पूर्वोक्त मन्त्र को पुनः उच्चारण कर याज्ञवल्क्य ने "आकाश एव" ऐसा कहकर पूर्वोक्तार्थ का ही निश्चय किया है। (अब) गार्गी द्वितीय प्रश्न करती है—किन्तु वह आकाश किसमें ओत-प्रोत है ? कालत्रय से असंस्पृष्ट न होने के कारण दुर्बोधता से पहले तो आकाश का ही प्रतिपादन करना कठिन है। अक्षर तो उसमें भी क्लिष्ट है जिसमें कि आकाश ओत-प्रोत है, अतः यह अनिर्देश्य है, ऐसा मन में सोचते हुए उसे कोई नहीं प्राप्त कर सकता। एवं वक्तव्य की अस्फूर्ति को नैयायिकों के मत में निग्रहस्थान माना जाता है। तथा यदि याज्ञवल्क्य ने इस अनिर्देश्य तत्त्व का निर्देश किया तो यह विप्रतिपत्तिरूप निग्रहस्थान होगा क्योंकि अनिर्देश्य को कहना यह विरुद्ध प्रतिपत्ति ही है,

---

१ गार्गी द्वितीय प्रश्नं करोति । २ आकाशमेवेत्यादि—अन्तर्याम्यपरपर्यायमव्याकृतमेव तावत् कालत्रयासंस्पृष्टत्वाद्दुर्ज्ञानत्वेन वक्तुमशक्यम् उक्ताकाशादप्यक्षरमतिदुर्वाच्यम् । ३ अत —अमेयत्वैकत्वप्रत्यक्चिदात्मकत्वाव्यावृत्तानुगतत्वज्ञाताज्ञातभिन्नत्वादिहेतुनोऽनिर्देश्यमिति मनसि निधाय अक्षरविषयां प्रतिपत्तिं न लभतेऽस्य याज्ञवल्क्य । ४ वक्तव्यास्फूर्तिरिति यावत् । ५ प्रतिवचनस्य योऽनुवादस्तत्तात्पर्यम् । ६ गार्ग्यायोक्तं सर्वमित्यवयाभिप्रायेण प्रतीकमादत्ते—गार्ग्येति ।

स होवाचैतद्वै तदक्षरं गार्गि ब्राह्मणा अभिवदन्त्य-
***स्थूलमनण्वह्रस्वमदीर्घमलोहितमस्नेहमच्छायमतमो-**

उस याज्ञवल्क्य ने कहा—हे गार्गि ! आकाश के ओत-प्रोत स्थानरूप उस इस तत्त्व को तो ब्रह्मवेत्ता पुरुष 'अक्षर' कहते हैं। वह अक्षर न स्थूल है, न सूक्ष्म है, न छोटा है, न बड़ा है, न लाल है, न जल का गुण द्रवरूप है, न छाया है, न अन्धेरा है, न वायु है, न आकाश है, न लाक्षादि के समान संगवाला है,

---

यदवाच्यस्य वदनमतो[1] दुर्वचनं प्रश्नं मन्यते गार्गी ॥ ७ ॥

तद्दोषद्वयमपि परिजिहीर्षन्नाह—स होवाच याज्ञवल्क्य 'एतद्वै[2] तद्यत्पृष्टवत्यसि कस्मिन्नु खल्वाकाश ओतश्च प्रोतश्चेति । किं तदक्षरं यन्न क्षीयते न क्षरतीति । [3]वाऽक्षरं

अप्रतिपत्तिविप्रतिपत्तिश्चेति दोषद्वयं [4]सामान्येनोक्तं विशेषतो ज्ञातुं पृच्छति—किं तदिति ।

इसलिए (बोलने से विप्रतिपत्ति एवं न बोलने से पराजय के कारण दोनों ओर मुसीबत दीखने से) गार्गी इस प्रश्न को दुर्बोध मान रही है ॥ ७ ॥

उक्त दोषद्वय की निवृत्ति करने की इच्छा से याज्ञवल्क्य कहते हैं। उस याज्ञवल्क्य ने कहा—(उपस्त एवं कहोल द्वारा प्रोक्त) तूने जिसके विषय में पूछा था, "कि वह आकाश किसमें ओत-प्रोत है" वह यही है। वह क्या है ? "अक्षरम्" यानी क्षीण और क्षरित न होने वाला अक्षर है। हे गार्गि !

---

१ अत इति—वदने विप्रतिपत्तिरवदने पराजय इत्युभयत पाशदर्शनादित्यर्थः । २ एतद्वै तदित्यत्र—उपस्तप्रश्नोक्त साक्षिचैतन्यरूपं पदद्वयमेतत्पदेन विवक्षितम् । कहोलप्रश्नोक्त तत्पदार्थोऽस्य तच्छब्दार्थः । कार्य-कारणविनिर्मुक्तमद्वय स्वप्रकाशमसङ्ग वस्तु द्योतयितु वैशब्द इति वदन्ति । ३ प्रत्यगभिन्न ब्रह्मैव तदक्षरमिति ब्राह्मणा अभिवदन्ति । ४ एतद्वै तदित्येव सामान्येनोक्तम् ।

---

*अस्थूलमनण्वह्रस्वमदीर्घमित्यादि । अत्राहुर्वार्तिकाचार्यास्तथाहि—"परिमाणमहाभूतप्राणनामान्वयादय । कार-णाद्या निषिध्यन्ते क्रमेण प्राप्त्यपेक्षया ॥ प्रसज्यपर्युदासाभ्या नञर्थं कोऽत्र गृह्यते । स्थूलापह्नुतिरेकत्र पर्युदासे तदन्यता ॥ स्थूलापह्नुतिरत्र स्याद्वस्तु यत्पारमार्थिकम् । नाभावनिष्ठोऽन्यत्रापि निषेध किमुताक्षरे ॥ पर्युदासेऽपि क्लृप्ताना न पृथक्त्वेन सस्थिति । रज्जुसर्पादिवत्तस्मान्नोभयत्रापि दोषता ॥ दृष्टोऽपवादो लोकेऽस्मिन्नुत्सर्गविषये सति । स्थूलादेरपवादोऽस्य निर्द्वये घटते कथम् ॥ उत्सर्गस्यास्ति विषयो योऽनिर्ज्ञातात्मतत्त्वक । अपवादस्य विषयो ज्ञातात्मैकसतत्त्वक ॥ अध्यस्तदिङ्निषेधश्च व्योम्न्येकस्मिन्यथा तथा । उत्सर्गापवादविधिनिषेधा एकलात्मनि ॥ यदि याऽक्षरयाथात्म्य स्थूलादेरिह भण्यते । सम्याथात्म्यमहेयं द्वत्तथाऽस्याक्षरमात्रत । स्थूलादि-हेतोर्दाहो वा ध्वान्तस्य प्रत्यगात्मनि । अस्थूलोक्तिसमुत्थात्मयाथात्म्यज्ञानवह्निना ॥ क्षित्यादौ वियदन्तेऽस्मिन्स्थूलादे सभवो ननु । तदोतप्रोतवाक्येन तच्च सर्वं निराकृतम् ॥ तस्याक्षरे क प्रसङ्गो यतस्तत्प्रतिषिध्यते । अपि खे तदसभाव्य किमु तत्प्रत्यगात्मनि ॥ समस्तव्यस्तता केचिद्ब्रह्मण प्रतिजानते । यतोऽतस्तान्निषेधार्थं निषिद्ध सन्निषिध्यते ॥ व्यक्तावस्थाऽथवैतेषा निषिद्धा कारणात्मनि । शक्त्यवस्थानिषेधोऽस्य क्रियते त्वक्षरात्मनि ॥ एव च सति तत्पूर्णं ब्रह्म कृत्स्न च युज्यते । अन्यथाऽकृत्स्नमेव स्यादनिर्मोक्षश्च सज्यते ॥ न वा निषेध स्थूलादेस्तस्य प्रागेव सिद्धित । तन्निषेधानुवादेन प्रतीचि ब्रह्म बोध्यते ॥ स्थूलादिमेयमामातृनिषेधफलम स्वयम् । विद्धि

**स्वाय्वनाकाशमसङ्गमरसमगन्धमचक्षुष्कमश्रोत्रमवाग-
मनोऽतेजस्कमप्राणममुखममात्रमनन्तरमबाह्यं न तद-
श्नाति किंचन न तदश्नाति कश्चन ॥८॥**

न रस है, न गन्ध है, न नेत्रवाला है, न श्रोत्रवाला है, न मनवाला है, न तेजवाला है, न प्राणवाला है, न मुखवाला है, न मापवाला है, उसमें न अन्दर है, न बाहर है, किंबहुना न वह स्वयं कुछ खाता है, न उसे कोई खाता है (तात्पर्य यह है कि न वह विशेषणरूप है और न विशेषणवाला है। वह तो समस्त विशेषणों से रहित, एक अद्वितीय तत्त्व है) ॥ ८ ॥

तदक्षरं हे. गार्गि ब्राह्मणा ब्रह्मविदोऽभिवदन्ति । ब्राह्मणाभिवदनकथनेन नाहमवाच्यं वक्ष्यामि न च न प्रतिपद्येयमित्येवं दोषद्वयं परिहरति । एवमपाकृते प्रश्ने पुनर्गार्ग्याः प्रतिवचनं द्रष्टव्यं ब्रूहि किं तदक्षरं यद्ब्राह्मणा अभिवदन्तीत्युक्त आह—अस्थूलं तत्स्थू-

---

अस्थूलादिवाक्यमवतार्य व्याकरोति—एवमित्यादिना । 'यदग्ने रोहितं रूपम्' इत्यादिश्रुतिमाश्रि-

---

"ब्राह्मणाः" अर्थात् ब्रह्मवेत्ता उसे (प्रत्यगभिन्न ब्रह्म को ही) अक्षर कहते हैं। ब्रह्मवेत्तोक्ति कथन से "मैं अनिर्देश्य का वर्णन नहीं करूँगा, न ही मैं अक्षरविषयिणी प्रतिपत्ति से रहित हूँ" इस प्रकार दो दोषों का परिहार करते हैं। इस प्रकार प्रश्न का निराकरण हो जाने पर पुनः गार्गी के इस प्रतिवचन का स्वरूप समझना चाहिये। वह अक्षर बताइये, जिसे ब्रह्मवेत्ता कहा करते हैं—ऐसा कहे जाने पर याज्ञ-

---

१. न चाक्षरविषयप्रतिपत्तिविधुरोऽहम् । २ प्रतिवचनस्वरूपमाह—ब्रूहीत्यादि । ३. स्थूलादन्यदिति—तथा चास्थूलत्वान्न तच्छब्द घटादिवन्निर्देष्टुमिति भाव । ४. अस्थूलेति—ब्राह्मणाना चेत्तत्स्वसंवेद्य तर्हि घटादिवन्निर्देश्य स्यादित्याशङ्क्येत्यादि ।

सर्वान्तर ब्रह्म साक्षादित्यादिलक्षणम् ॥ सर्वेषामपि चोद्यानामेव सति न सभव । नेति नेतीतिवद्व्याख्या सर्वाऽपीह समीक्ष्यताम्" ॥ ७२-८८ ॥ अहृस्वमित्यादीना तात्पर्यं सगृह्णाति—परिमाणेति । आद्येनाऽऽदिपदेन रसादिग्रहो द्वितीयेन तेजोमुखाद्युक्ति. । क्रमेण निषेधे हेतुमाह—प्राप्तीति । सर्वेषु विशेषणेषु पूर्ववादी नञर्थं विकल्पयति—प्रसज्येति । प्रसज्यप्रतिषेधपक्षे वाक्यस्याभावनिष्ठत्वमाह—स्थूलेति । द्वितीये स्वद्वैतहानिः स्थूलादीनामक्षरादन्यत्वादित्याह—पर्युदास इति ॥ सिद्धान्ती प्रथमपक्ष समाधत्ते—स्थूलेति । सप्तम्यर्थं स्फुटयति —वस्त्विति । तर्हि वाक्यस्याभावनिष्टत्व नेत्याह—नाभावेति ॥ द्वितीये समाधिमाह—पर्युदास इति । वाक्यस्याभावनिष्ठत्वमद्वैतहानिर्वा नेति नियमयति—तस्मादिति ॥ प्रथमपक्षमाक्षिपति—दृष्ट इति । न हिंस्यादित्युत्सर्गविषये सत्यग्नीषोमीय पशुमालभेतेत्यपवादो दृष्टो न च तद्विषयभेदोऽद्वयेऽस्त्यतः स्थूलादेर्नापवाद इत्यर्थं ॥ वस्तुनोऽद्वयत्वेऽपि तत्रोत्सर्गापवादव्यवस्था युक्तेति परिहरति—उत्सर्गस्येति । प्रतीच्यज्ञाते प्राप्तं स्थूलादि तस्मिन्नेव ज्ञात निषिध्यत इत्यत च रज्ज्वामज्ञातायां प्राप्तस्य सर्पादेस्तस्यां ज्ञातायां निषेधस्तत्प्रसज्य-प्रतिषेध. साधीयानित्यर्थं ॥ एकस्मिन्नेवाऽऽत्मनि प्राप्तिप्रतिषेधौ स्थूलादेरित्येतद्दृष्टान्तेन स्पष्टयति—अध्यस्तेति ॥ प्रसज्यप्रतिषेधानुरोधेनास्थूलादिवाक्यस्यार्थमुक्त्वा पर्युदासमनुसृत्यार्थान्तरमाह—यदि चेति । तदेव दृष्टान्तेनाऽऽह—स्रगिति । स्थूलादिजगतोऽद्वयत्वावेदनपर वाक्य न निषेधपरमित्यर्थः ॥ प्रतीचि स्थूलादिद्वैतबोधस्य वाक्योत्थबोधेन

लादन्यत् । एवं तर्ह्यणु नानणु । अस्तु तर्हि ह्रस्वमह्रस्वम् । एवं तर्हि दीर्घं नापि दीर्घमदीर्घम् । एवमेतैश्चतुर्भिः परिणामप्रतिषेधैर्द्रव्यधर्मः प्रतिषिद्धो न द्रव्यं तदक्षर-मित्यर्थः । अस्तु तर्हि लोहितो गुणस्ततोऽप्यन्यद लोहितम् । आग्नेयो गुणो लोहितः । भवतु तर्ह्यपां स्नेहनं नास्नेहम् । अस्तु तर्हि च्छाया सर्वथाऽप्यनिर्देश्यत्वाच्छायाया

त्याऽऽह—आग्नेय इति । अवायुविशेषणेनाप्राणविशेषणस्य पुनरुक्तिमाशङ्क्याह—आध्यात्मिक इति ।

वल्क्य कहते हैं—"अस्थूलम्" स्थूल से भिन्न है (क्योंकि अस्थूल होने से घटादि के समान निर्देश्य नहीं है) । तो फिर क्या अणु है, नहीं; अणु से भिन्न है । तो फिर उसे ह्रस्व कह लें, नहीं, ह्रस्व भी नहीं है । तो उसे फिर दीर्घ कह लीजिए, नहीं; वह "अदीर्घम्" यानी दीर्घ भी नहीं है । इस प्रकार विशेषण-चतुष्टय द्वारा परिमाण का प्रतिषेध करने वाले इन चार पदों के द्वारा द्रव्यधर्म का निषेध किया गया है । अतः अक्षर में परिमाण का निषेध हो जाने पर (नैयायिकों को अभीष्ट) अक्षर द्रव्य नहीं है । तो फिर वह लोहित गुण वाला हो सकता है । नहीं, नहीं; वह उससे भी भिन्न अलोहित है (लोहित सभी रूपों का उपलक्षण है, अतः सर्वरूपविवर्जित है) । लोहित अग्नि का गुण है । तो फिर उसे जल का गुण स्नेहन मान लो, ऐसा भी नहीं कह सकते क्योंकि वह अस्नेह (मूर्तद्रव्यभिन्न) है । तो उसे छायारूप

१. विशेषणचतुष्टयस्य तात्पर्यमाह—एवमिति । २. न द्रव्यमिति—अत्र वार्तिके—"स्थूलादिपरिमाणं हि द्रव्यमात्रव्यपाश्रयम् । तस्माद्द्रव्यनिषेधोऽस्य परिमाणनिषेधतः ॥ सर्वथाऽपि तु यत्किंचिद्वाचो गोचरतां गतम् । प्रमाणस्य च तत्सर्वमक्षरे प्रतिषिध्यते" ॥ ८९-९० ॥ इति । सर्वथाऽपीति—उक्तविशेषनिषेधोऽनुक्तविशेष-निषेधोपलक्षणमिति भावः । ३ अलोहितमिति—उपलक्षणविधया सर्वरूपवर्जितमिति यावत् । ४. स्नेहशब्देन रागविशेषं वारयति—अपामिति । ५ अलोहितमस्नेहमिति मूर्तद्रव्यत्वनिषेधः । ६. छायादि-रूपेणापि वक्तुमशक्यत्वात् ।

बाधपरं वा वाक्यमित्याद्यमेव कल्पमाश्रित्यार्थान्तरमाह—स्थूलादीति ॥ निषेधपक्षे पुनरर्थान्तरं वक्तुं पूर्वपक्षयति —क्षित्यादावित्ति । अस्तु तर्हि पृथिव्यादावव्याकृतान्ते स्थूलादिनिषेधो नेत्याह—तदिति । यदिदं सर्वमप्स्वित्या-दिना पृथिव्याद्यव्याकृतान्तमक्षरातिरेकेण नेत्यवधारणान्न तत्र स्थूलादिनिषेधो धर्म्यभावादित्यर्थः ॥ अक्षरे तर्हि तन्निषेध्यतामुक्तदोषाभावादित्याशङ्क्य प्राप्त्यभावान्मैवमित्याह—तस्येति । प्राप्त्यभावं कैमुतिकन्यायेनाऽऽह—अपीति । खमव्याकृतम् ॥ एवमाक्षेपे स्वयूथ्यमतनिरासपरत्वेन वाक्यस्यार्थवत्त्वमाह—समस्तेति ॥ कारण-निषेधफलीकरणार्थं स्थूलादिहेतावदोहो वस्तुक्तमनुवदति—व्यक्तेति । यदिदं सर्वमित्यादिना व्यक्तावस्था स्थूलादीनां निरस्ता तदथमस्थूलादिवाक्यमित्यर्थः ॥ कारणे निरस्ता तेषामेव शक्त्यवस्था कार्यकारणविलक्षणेऽक्षरे निरस्ता ॥ कारण-कारणे निरस्ता तेषामेव शक्त्यवस्था कार्यकारणविलक्षणेऽक्षरे निरस्ता तदर्थमस्थूलादिवाक्यमित्यर्थः ॥ कारण-निषेधे किं फलति तदाह—एवं चेति । कार्यकारणनिषेधे सति प्रतीचि श्रुतं ब्रह्मादिपदं मुख्यार्थं स्यात्तदनिषेधे वस्तुपरिच्छेदाद्गौणार्थमेवाखण्डवस्त्वात्मनाऽवस्थानाख्यो मोक्षश्च न सिध्येत्ततो मोक्षशास्त्रबाधः स्यादित्यर्थः ॥ ओतप्रोतवाक्येन तत्त्वमादिवद्विधिमुखेन बोधकमस्थूलादिवाक्यमित्यर्थान्तरं वदन्निषेधपरत्वं त्यजति—न चेति । तन्निषेधेति ॥ स्थूलादि-स्थूलादिनिषेधस्य सिद्धत्वादिति हेत्वर्थः । निषेधपरत्वाभावे किंपरं वाक्यं तदाह—तन्निषेधेति ॥ स्थूलादि-निषेधमनूद्य तत्साक्षिणि त्वमर्थे ब्रह्मत्वबाधनप्रकारमभिनयति—स्थूलादीति । न हि त्रेधा स्थितस्तन्निषेधस्य फलं स्फुरणं तदात्मना गम्यमानं स्वप्रकाशं त्वंपदलक्ष्यमात्मानमुक्तविशेषणं ब्रह्म विद्धीति योजना ॥ विधिमुखेन बोधकत्वे वाक्यस्याभावनिष्ठत्वमक्षरस्य सद्वयत्वमित्यादि चोद्यमनवकाशमिति लाभं दर्शयति—सर्वेषामिति । कथं नञ्वति वाक्यं विधिमुखेन बाधकत्वं तत्राऽऽह—नेत्यादिना ॥

अप्यन्यद[1]च्छायम् । अस्तु तर्हि तमोऽतमः । भवतु वायुस्तर्ह्य[2]वायुः । भवेत्तर्ह्याकाशमनाकाशम् । भवतु तर्हि [3]सङ्गात्मकं जतुवद[4]सङ्गम् । रसोऽस्तु तर्ह्य[5]रसम् । तथा गन्धोऽस्त्वगन्धम् । अस्तु तर्हि [6]चक्षुरचक्षुष्कं[7] न हि चक्षुरस्य करणं विद्यतेऽतोऽचक्षुष्कम् । "पश्यत्यचक्षुः" इति मन्त्रवर्णात्[8] । तथाऽश्रोत्रं स शृणोत्यकर्ण इति । भवतु तर्हि वागवाक् । तथाऽमनः । तथा[9]ऽतेजस्कमविद्यमानं तेजोऽस्य तदतेजस्कम् । न हि तेजोऽग्न्यादित्यादि[10]प्रकाशवदस्य विद्यते । अप्राणमाध्यात्मिको वायुः प्रतिषिध्यतेऽप्राणमिति । मुखं तर्हि [11]द्वारं तदमुखम् । अमात्र मीयते येन तन्मात्रममात्रं

अमात्रमिति [12]मानमेयान्वयो निराक्रियते । तस्मैरत्यात्मोक्तिः । [13]सपिण्डितमर्थमाह—सर्वेति । [14]तदुप-

कहो, नहीं उसका छायारूप कथन सर्वथा अशक्य होने के कारण वह छायारहित है । अच्छा तो उसे अन्धकाररूप द्रव्य मान लीजिए, नहीं, वह तमोभिन्न है । तो वायुरूप मान लो, नहीं; वह वायु भी नहीं है । तो फिर आकाश मान ले, नहीं, वह आकाशभिन्न है । (सूक्ष्म राग तो आत्मा में देखा जाता है, इसलिए) उसे फिर लाक्षा के समान सङ्गात्मक मान लें, नहीं, वह असङ्ग है (क्योंकि असङ्ग आत्मा किसी में नहीं मिलता) । तो आत्मा रसस्वरूप कह लीजिये, नहीं, वह अरस है । उसे गन्धस्वरूप मानना भी नहीं बनता क्योंकि वह अगन्ध है । तो फिर वह नेत्रस्वरूप होगा, नहीं, वह अचक्षुष्क है । इसके नेत्रेन्द्रिय नहीं है, इसलिए अचक्षुष्क है । श्रुति भी कहती है—"वह चक्षुरिन्द्रिय के बिना भी देखता है" । इस प्रकार वह अश्रोत्र है । श्रुति भी कहती है—"वह कर्णेन्द्रिय के बिना भी सुनता है" । अच्छा तो उसे वाक्स्वरूप मान लो, नहीं, वह वाग् से भिन्न है । इसी प्रकार वह मन से परे है । इसी प्रकार वह "अतेजस्कम्" अर्थात् तेजवृत्तिरूप विज्ञान से परे है क्योंकि अग्न्यादि प्रकाश के समान प्रकाशकवृत्तिरूप तेज उसमें विद्यमान नहीं है । "अप्राणम्" अर्थात् आध्यात्मिक वायु का उसमें प्रति-

१ अच्छायमिति । छायाऽदीप्तिस्तमोध्वान्त तदुभयभिन्नमिति चिदतिरिक्तत्वशङ्कानिराकृतेति वृत्तिकृत् । भौतिकदीप्तीनामुपलक्षणतया विशेषणान्तरैर्व्युदस्तत्वेनाग्राह्यतया चिद्दीप्तिरूपमित्यर्थकमच्छायमित्युक्तम् । तथापि भावात्मकतया तम एवाभावात्मकाऽदीप्तितो भिन्न भवितुमर्हतीति मा स्म शङ्कीत्यतम इति । इत्थ चानेकविशेषणाना सर्वनिषेधे तात्पर्येण शून्यपर्यवसायितया चित्स्वमपिनिषिद्धमेव श्रुत्येत्याशङ्काऽपनीता भवतीत्यभिप्रायेणाह—इति चिदतिरिक्तत्वशङ्का निराकृतेति । इति—आभ्या विशेषणाभ्याम् । शङ्का—उक्तोत्थाना । निराकृता—उक्तविधया निरस्तेत्यर्थ । २ वाय्वाकाशनिषेधाभ्या भूतत्व निषिद्धम् । ३. सूक्ष्मरागादेरात्मनि दृष्टेरिदमापादनम् । ४ "असङ्गो न हि सज्जते" इति श्रुते । ५ रसगन्धनिषेधाभ्या भूतगुणनिषधोऽभिप्रेत । ६. अचक्षुष्कमिति—अत्र समासद्वयेनेन्द्रियसबन्धस्तत्तादात्म्य च प्रतिषिध्यते तदुक्त वार्तिके—"नेन्द्रियाण्यस्य विद्यन्त नापि तस्स्वयमिन्द्रियमिति" ॥ ९८ ॥ ७ अचक्षुष्कमित्यारभ्य मन इत्यन्त सर्वेन्द्रियनिषेधोपलक्षणम् । ८ मन्त्रवर्णादित्यनुषङ्ग । ९ अतजस्कमिति—तेजोऽत्र वृत्तिरूपविज्ञानमिति वृत्ति । १० अग्न्यादिप्रकाशवत्प्रकाशक वृत्तिरूप तेज । ११ द्वारमिति । अत्र वार्तिके—"द्वार मुख प्रतीक वा यदि वा लिङ्गमुच्यते । निषेधोऽमुर्मास्येव त्रयस्याप्यभिधीयते" ॥ १०५ ॥ इति । छिद्रालम्बनचिह्नेषु मुखशब्दप्रयोगदर्शनादित्यर्थ । १२ अन्वय सबन्ध मानत्व मेयत्व चेति यावत् । १३ निष्कृष्टमिति यावत् । १४ सर्वविशेषणराहित्यम् ।

[1]एतस्य वा अक्षरस्य [2]प्रशासने गार्गि सूर्याचन्द्रमसौ [3]विधृतौ [4]तिष्ठत एतस्य वा अक्षरस्य प्रशासने गार्गि द्यावापृथिव्यौ विधृते तिष्ठत एतस्य वा अक्षरस्य

हे गार्गि ! इसी अक्षर के प्रशासन मे सूर्य-चन्द्र विशेषरूप से धारण किये हुए स्थिर हैं। हे गार्गि ! इस अक्षर के ही प्रशासन मे निमेष, मुहूर्त, दिन, रात, पक्ष, मास, ऋतु और संवत्सर विशेषरूप

मात्रारूपं तन्न भवति न तेन किंचिन्मीयते । अस्तु तर्हि [5]छिद्रवदनन्तरं नास्यान्तरमस्ति । भवेत्तर्हि बहिस्तस्याबाह्यम् । अस्तु तर्हि भक्षयितृ तन्न [6]तदश्नाति किंचन । भवेत्तर्हि भक्ष्यं कस्यचिन्न तदश्नाति कश्चन । सर्वविशेषणरहितमित्यर्थः । एकमेवाद्वितीय हि तत्केन किं विशिष्यते ॥ ८ ॥

❀ अनेकविशेषणप्रतिषेधप्रयासादस्तित्वं तावदक्षरस्यो[7]पगमितं श्रुत्या तथाऽपि

पादयति—एकमिति ॥८॥

[8]अथ यथोक्तया नीत्या श्रुत्यैवाक्षरास्तित्वे ज्ञापिते वक्तव्याभावात्किमुत्तरेण ग्रन्थेनेति तत्राऽऽह

षेध हो जाने से वह अप्राण है। मुख शब्द का प्रयोग छिद्रालम्बन चिह्न मे देखने से वह मुखस्वरूप है,
नही, वह अमुख है। 'अमात्रम्' यानी जिससे मापा जाता है उसे मात्रा कहते हैं। वह मात्रारूप नही
है क्योकि उससे कुछ भी नही मापा जाता। तो फिर उसे अन्तरालयुक्त कहो, नही, क्योकि इसमे छिद्र
न होने से यह अनन्तर है। तो उसमे बाह्य की संभावना तो हो सकती है, नही, वह अबाह्य है।
अच्छा तो उसे भक्षण करने वाला कह लीजिए, नही, क्योकि वह तो कभी कुछ नही खाता। वह भक्ष्य
भी नही हो सकता है, क्योकि उसे कोई भी नही खाता। भावाशय यह है कि वह सर्व विशेषणो से
रहित है। जब वह अद्वितीय अकेला ही है तो फिर किससे, किसको विशेषणयुक्त कहा जाय ॥ ८ ॥

श्रुति ने अनेक विशेषणो की अनुपपत्तिरूप प्रयास द्वारा अक्षर का अस्तित्व यहाँ तक ज्ञापित

---

१ उक्तरूपस्य । २ आज्ञायाम् । ३ नियमितौ । ४ वर्तेते । ५ छिद्रम् । ६ अनात्मव्यक्तीनामानन्त्येन प्रत्येकं निषेधाशक्तेर्भोक्तृभोग्यात्मनैकीकृत्य निषेधति—न तदिति । तदक्षरं किंचिदपि विषयं न भुङ्क्ते कोऽपि लोकस्तदक्षरं नाश्नातीत्यर्थः । वार्तिके तु व्याप्त्यर्थकमश्धातुमभ्युपगम्योक्तम्— व्याप्यव्यापकसंबन्धो न व्याप्यक्षरवस्तुनि । न तदश्नातिवाक्येन यतस्तद्वार्यते द्वयमिति" ॥ १०८ ॥ तथाचाऽऽद्यवाक्येन व्यापकत्वस्य निषेधो द्वितीयेन व्याप्यत्वस्येति विवेकः । ७ प्रयासादिति—अनुपपत्तेरित्यर्थः । तथा च वार्तिके—"स्थूलाद्यनेकधर्माणां निषेधायासकारणात् । अस्तित्वमक्षरस्येह सिद्धं तावद्दृगात्मनः" ॥ ११४ ॥ इति । निषेध्यकल्पनाऽनुपपत्त्या निषेधाऽनुपपत्त्या चाधिष्ठानत्वेनावधित्वेन च स्वप्रकाशमक्षरं सिद्धमित्यर्थः ॥ अत्र भावाधिकरणमधिष्ठानमभावाधिकरणं (भावकल्पनाधिकरणम्) चावधिरित्युच्यत इति विवेकः । ८ ज्ञापितम् ।

९. ननुशब्दप्रतिनिधिरत्रायमथशब्दः । प्रश्नार्थ आक्षेपार्थो वा ।

❀अनेकविशेषणप्रतिषेधप्रयासादस्तित्वं तावदक्षरस्योपगमितं श्रुत्येति । अत्राहुर्वार्तिकाचार्यास्तथाहि—"निषिद्धमखिलं वस्तु यत्किंचिज्जगतीक्ष्यते । अवशिष्टं च यत्तच्च न प्रमाणोपपादितम् ॥ एवं चेदक्षरं तादृक्कथमस्तीति गम्यते । न हि प्रमाणविरहादस्ति वस्त्विति वीक्ष्यते ॥ सिद्धसाध्यत्वतो नैवं तथाचोक्तोत्तरत्वतः । भावा-

प्रशासने गार्गि निमेषा मुहूर्ता अहोरात्राण्यर्धमासा मासा ऋतवः संवत्सरा इति विधृतास्तिष्ठन्त्येतस्य वा अक्षरस्य प्रशासने गार्गि प्राच्योऽन्या नद्यः स्यन्दन्ते

से धारण किये हुए नियन्त्रित होकर स्थित हैं। हे गार्गि! इस अक्षर के ही प्रशासन में पूर्वदिशा की ओर बहने वाली नदियाँ एवं अन्य नदियाँ श्वेत (हिमालय) पर्वतों से बहती हैं। तथा पश्चिम की ओर बहने वाली नदियाँ जिस-जिस दिशा की ओर अनुप्रवृत्त कर दी गयी हैं, उस दिशा का अनुसरण

लोकबुद्धिमपेक्ष्याऽऽशङ्क्यते यतोऽतोऽस्तित्वायानुमानं प्रमाणमुपन्यस्यति—एतस्य वा

—अनेकेति। 'यदस्ति तत्सविशेषणमेवेति लौकिकी बुद्धिः। आशङ्क्यते नास्त्यक्षरं निर्विशेषणमितीति

कर दिया है तब भी क्योंकि लोकबुद्धि की अपेक्षा से उसके अस्तित्व की शङ्का होती है, इसलिए (अक्षरप्रतियोगिक कल्पितभेदधर्मी अन्तर्यामी का) अस्तित्व सिद्ध करने के लिए 'एतस्य वा प्रश-

---

१ अस्तित्वायेति—अक्षरप्रतियोगिककल्पितभेदधर्म्यन्तर्याम्यस्तित्वसिद्धय इत्यर्थः। २ यदस्तीत्यादि—तथा चाक्षरं नास्त्येव निष्प्रकारकत्वाद्व्यतिरेकेण घटादिवदिति भावः।

भावातिरिक्तत्वादभ्युपेत त्वयोच्यते ॥ मानाभावे च तन्नेति व्यतिरेकः कुतोऽन्वयम्। मानाभावः किमज्ञाभी-र्यैनैवमभिधीयते ॥ सर्वं हि मानं लोकेऽस्मिन्वस्त्वभिव्यक्तिसाधनम्। तदभावेऽनभिव्यक्तं वस्तु नास्तीति दुर्वचः ॥ स्थूलाद्यनेकधर्माणां निषेधायासकारणात्। अस्तित्वमक्षरस्येह सिद्धं तावद्दृगात्मनः ॥ स्वमहिम्ना स्वभावोऽपि सेद्धुं नैवाऽऽत्मवत्क्षमः। तत्पाराध्यजडत्वाभ्यां मित्यभावस्तथा समः ॥ मामेयमात्रमद्भावात्तेभ्योऽप्यन्निवृत्तितः। स्वमहिम्ना प्रसिद्धश्च कुतोऽभावस्य संभवः ॥ स्वतो माफलरूपत्वान्न साकार्यं प्रमाणतः। नास्तीति तु विना मानं न सिध्यत्कुम्भवत्स्वतः ॥ कुम्भ आरोप्यते यद्वत्प्रकाशो भानुसंगते। भानुप्रकाशसंबन्धे भानानान्यदपेक्षते ॥ स्वतोऽवगतिमद्बन्धात्तथाऽभावोऽवगम्यते। तथाऽवगतिसंबन्धे नापेक्षाऽवगतेः स्वतः ॥ अतोऽवगत्यभावोऽपि न स्वतोऽवगतिं विना। सिध्यतीह ततोऽस्तित्वं स्वत एवाक्षरात्मनः ॥ उक्तो निरन्वयोऽभावो न बौद्धादिसमाश्रयात्। तत्त्वमस्यादिवाक्योत्थविज्ञानविग्रहात्ववित् ॥ नान्यदज्ञानतोऽस्तित्वं द्वितीयस्याऽऽत्मनो यथा। निवृत्तिस्तद्वदेवास्य नावगत्यात्मनोऽपरा ॥ अकार्यकारणं साक्षाच्छ्रियादिगुणलक्षणम्। कूटस्थमक्षरं ध्वान्तध्वस्तौ स्यान्नो निरन्वयम् ॥ नास्यास्तित्वं यथा मानमेनत्वादक्षरात्मनः। तथाऽस्तित्वमपि च तथा तयोस्तस्मात्प्रसिद्धितः ॥ सत्त्वं वा यदि वाऽसत्त्वं कार्यकारणवस्तुनः। अनद्वद्बोध एवैनत्सिध्यतीव न तु स्वतः ॥ यत एवमतो नेह कश्चिद्विप्रतिपद्यते। अक्षरात्मनि नास्तित्वं तस्मात्तदुक्तिरिष्यते ॥ यतो विप्रतिपद्यन्ते त्वन्तर्यामिणि वादिनः। तत्सिद्धयेऽनुमायत्नः क्रियतेऽत्र परोक्तिभिः ॥ ईशितव्यायसंबन्धादन्यायाम्यतदक्षरम्। चैतन्याभासमोहाख्यवत्मनैव न ▒ स्वतः ॥ अनुमानश्रुतिस्तस्मादागात्तस्यैव सिद्धये। कारणात्मनि संसिद्धे सर्वं सिद्धं भवेदतः" ॥ १०६-१२६ ॥ इति। उक्त निर्विशेषत्वे शून्यत्वापत्तिं शङ्कते—निषिद्धमिति। अक्षरस्य शिष्टत्वान्न शून्यतेति चेन्नेत्याह—अवशिष्टं चेति ॥ कुड्यादिव्यवहितघटादिवदप्रमितमपि तदस्तीत्याशङ्क्याऽऽह—एवं चेदिति। सर्वथैवाप्रमितस्यावस्तुत्वे हेतुमाह—न हीति। किमक्षरस्यामेयत्वमेव साध्यते किंवा नास्तित्वमपीति विकल्प्याऽऽद्यमङ्गीकृत्य सिद्धान्तयति—सिद्धेति। द्वितीयं दूषयति—तथाचेति। अप्रमेयत्वेऽपि नाक्षरस्यासत्त्वं स्वप्रकाशतया सिद्धत्वस्य सकृदुक्तेरित्यर्थः। सिद्धसाध्यत्वं

श्वेतेभ्यः पर्वतेभ्यः प्रतीच्योऽन्या यां यां च दिशमन्वे-
तस्य वा अक्षरस्य प्रशासने गार्गि ददतो मनुष्याः
प्रशꣳसन्ति यजमानं देवा दर्वी पितरोऽन्वायत्ताः ॥९॥

आज भी करती रहती हैं। हे गार्गि ! इसी अक्षर के प्रशासन में सुवर्णादि दान लेने वाले प्रमाणज्ञ मनुष्य दाता को प्रशंसा करते हैं तथा देवगण यजमान का और पितृगण दर्वी होम का अनुवर्तन करते हैं (उक्त सभी लिङ्गों से उस अक्षरतत्त्व का अनुमान किया जाता है) ॥ ९ ॥

अक्षरस्य। 'यदेतदधिगतमक्षरं सर्वान्तरं साक्षादपरोक्षाद्ब्रह्म य आत्माऽशनायादिधर्मातीत

शेषः। 'अन्तर्यामिणि जगत्कारणे परस्मिन्ननुमानसिद्धे विवक्षितं निरुपाध्यक्षरं सेत्स्यति जगत्कारणत्व-
स्योपलक्षणतया जन्मादिसूत्रे स्थितत्वादु'पलक्षणद्वारा ब्रह्मणि स्वरूपलक्षणप्रवृत्तेरन्तर्यामिण्यनुमा
'प्रकृतोपयुक्तेति भावः। अनुमानश्रुत्यक्षराणि व्याकरोति—यदेतदिति। प्रशासने सूर्याचन्द्रमसौ

रस्य" इस मन्त्र से अनुमान प्रमाण का उपक्रम किया जाता है। (कहोलब्राह्मणोक्त तत्पदार्थरूप) जो (उपस्तब्राह्मणोक्त त्वपदार्थरूप) यह (अस्थूलत्वादि) श्रुतिवाक्य से जाना गया है, वह सर्वान्तर,

---

१ यदेतदिति। यत्—कहोलब्राह्मणोक्तम् तत्पदार्थरूपम्। एतत्—उपस्तब्राह्मणोक्त त्वपदार्थात्मकम्। अधि-
गतम्—अस्थूलादिवाक्येनावगमितमिति यावत्। २ नन्वक्षरास्तित्वस्य साध्यत्वे किमित्यन्तर्याम्यस्तित्व-
साधनायानुमानमुपन्यस्यते नन्वन्तर्यामिण्यनुमानसिद्धेऽक्षरमपि सेत्स्यतीति चेत् तत्कथमित्याशङ्क्याऽऽह—
अन्तर्यामिणीति। ३ तटस्थलक्षणद्वारा। ४ अक्षरसाधिका।

मानाभावादक्षराभावोक्तिरयुक्तेत्याह—मानेति। आक्षेपं विशदयति—मानाभाव-
साधयति—भावेति॥ इतश्च मानाभावादक्षराभावोक्तिरयुक्तेत्याह—मानेति। आक्षेपं विशदयति—मानाभाव-
मिति। स हि दृष्टोऽदृष्टो वा नाऽऽद्येऽक्षराभावो भावाभावसाधकस्यैव तत्त्वाद्द्वितीयेऽपि न तदभावस्तत्साधक-
मानाभावस्यादृष्टत्वादिति भावः॥ मानाभावे मेयाभावमुपेत्योक्त्वापेत्यवादं त्यजति—सर्वं हीति। न हि
दीपाभावे तदभिव्यङ्ग्यं घटादि तमसाऽऽवृतं नास्तीति सुवचनमिति हिशब्दार्थः॥ अथ तदस्तीत्यपि दुर्वचं
निश्चायकाभावादत आह—स्थूलादीति। निषेध्यकल्पनानुपपत्त्या तन्निषेधानुपपत्त्या चाधिष्ठानत्वेनावधित्वेन च
स्वप्रकाशमक्षरं सिद्धमित्यर्थः॥ अक्षरस्य स्वप्रकाशत्ववन्मानमेयाभावयोरपि तयोर्यान्मानाभावे चेत्याद्ययुक्तमिति
चेत्तत्राऽऽह—स्वमहिम्नेति। अभावो मेयस्येति शेषः। तथेति पाराम्पर्यानुक्रमः। समो मेयाभावेनेत्यर्थः॥
अक्षरसाम्यं मानाद्यभावस्य जाड्यादिनाऽऽद्योद्याक्षरस्यासत्त्वाभावे युक्त्यन्तरमाह—मामेयेति। असङ्गोदासीनतया
मात्रादिभ्योऽतिशयेन निवृत्तत्वादक्षरे तेषामप्राप्तेस्तस्य स्वप्रकाशत्वाच्च नायस्त्वाशङ्क्येत्यर्थः॥ विमतं मेयं
वस्तुत्वाद्घटवदित्याशङ्क्य जडत्वोपाधिना निरस्यति—स्वत इति। संविद्रूपत्वादात्मनो मानेन संविदन्तरं तत्र
कार्यमिति न मानतः शक्यं वक्तुमित्यर्थः। अक्षराभावोऽपि न मानाधीनप्रकाशोऽक्षरतदभावयोरन्यतरत्वादक्षर-
वदित्याशङ्क्याऽऽह—नेत्यादिना। विमतं मेयं जडत्वाद्घटवदन्यथा स्वरूपहानिरिति भावः॥ अक्षरास्तित्वं स्वतः
सिद्धं तदभावस्तु नैवमित्यत्र दृष्टान्तमाह—कुम्भ इति। कुम्भे हि भानुसंबन्धात्प्रकाशतेऽसावित्यारोप्यते प्रकाशो
नैव भानोरेष प्रकाशत इति स्वप्रकाशसंबन्धे कुम्भाद्यपेक्षते यथेत्यर्थः॥ दार्ष्टान्तिकमाह—स्वत इति। उक्त-

एतस्य वा अक्षरस्य प्रशासने । यथा राज्ञः प्रशासने राज्यमस्फुटितं नियतं वर्तत एवमेतस्याक्षरस्य प्रशासने हे गार्गि सूर्याचन्द्रमसौ सूर्यश्च चन्द्रमाश्च सूर्याचन्द्रमसावहोरात्रयोर्लोकप्रदीपौ तादर्थ्येन प्रशासित्रा ताभ्यां निर्वर्त्यमानलोकप्रयोजनविज्ञानवता

विधृतौ स्यातामिति संबन्धः । उक्तमर्थं दृष्टान्तेन स्फोरयति—यथेति । अत्रापि पूर्ववदन्वयः । जगद्व्यवस्था प्रशासितृपूर्विका व्यवस्थात्वाद्राज्यव्यवस्थादित्यर्थः । सूर्याचन्द्रमसावित्यादौ । विवक्षितमनुमानमाह—सूर्यश्चेत्यादिना । तादर्थ्येन लोकप्रकाशार्थत्वेन । प्रशासित्रा निर्मिताविति संबन्धः । निर्मातुर्विशिष्टविज्ञानवत्त्वमाचष्टे—ताभ्यां निर्वर्त्यमानेति । सूर्याचन्द्रमसौ तच्छब्दवाच्यौ ।

साक्षात्, अपरोक्ष ब्रह्मरूप अक्षर है । जो अशनायादि धर्मों से अतीत आत्मा है; हे गार्गी ! इसी के प्रशासन मे सूर्य और चन्द्रमा उसी प्रकार स्थित रहते हैं; जिस प्रकार राजा के प्रशासन मे राज्य अभिन्न मर्यादा वाला एवं नियम मे रहता है । सूर्य और चन्द्रमा दिन और रात के समय लोक के दीपक हैं और जिन्हें उनके द्वारा सिद्ध होने वाले लोक के प्रयोजन के विज्ञाता प्रशासक ने उस उद्देश्य की पूर्ति

---

१ अस्फुटितम्—अभिन्नमर्यादम् । २. अहोरात्राधिकरणौ । ३. प्रशासने इत्यत्र विवक्षितमनुमानमाह—जगद्व्यवस्थेति । ४. सर्वज्ञत्वमिति यावत् ।

दृष्टान्तादभावो भावस्यावगतियोग्यादवगम्यत न स्वतोऽवगतेस्त्ववगन्तव्यवदवगतिसबन्धे नान्यापेक्षा किंतु स्वत एवावगतिरित्यर्थः । उत्तरार्धे स्थित नञ्पद पूर्वार्धेऽपि सबध्यते ॥ अथयते. स्वतस्त्वे तदभावोऽपि स्वत. स्यात्-द्भावाभावयोरन्यतरत्वात्तद्भाववदित्याशङ्क्योपजीव्यभावविरोधान्नेत्याह—अत इति । विपक्षे स्ववगत्यभावाज्जगदान्ध्यप्रसक्तिरित्याह—अवगतिमिति । फलित निगमयति—तत इति ॥ अक्षरस्य स्वतः सिद्धेस्तदभावस्य दुर्वचनत्वान्न स्थूलादिनिषेधेऽपि शून्यतेत्यापाद्य तत्रैव हेत्वन्तरमाह—उक्त इति । वाक्यीयवस्त्वाकार ज्ञान विना न क्वचिदपि स्थूलादावारयन्तिकोऽभावो बाह्यवदस्माभिरुच्यते तत्र शून्यतेत्यर्थः ॥ स्थूलाद्यभावस्याऽऽत्मत्वे सैवशून्यताऽन्नात्मत्वे स्वद्वैतहानिरित्याशङ्क्याऽऽह—नान्यदिति ॥ अज्ञानस्याऽप्रमानतिरेके तस्याजाड्यमतिरेके तेनैव सद्वयतेत्याशङ्क्याऽऽह—अकार्येति । सम्यग्ज्ञानाग्नि दीपतयाऽज्ञाननिवृत्तावद्वयमेव वस्तु स्यादित्यर्थः ॥ तस्य मानानतिरेके मेयसबन्धादसङ्गताहतिरतिरेके च सैवाद्वैतहानिरित्याशङ्क्याऽऽह—नास्येति । अक्षरस्य सत्त्वेऽसत्त्वे वा न मानमस्ति सर्वत्र सत्त्वासत्त्वयोरक्षरादेव सिद्धेर्न च तस्य प्रकाशत्वेऽपि दीपवन्मानापेक्षा सविदेकरसत्वादज्ञानध्वसित्वेनापेक्षितमपि न द्वैतमावहति मृतमारणाल्लज्जन्ती सा भावमपि निर्दहेदिति न्यायादित्यर्थः ॥ सर्वं स्यानात्मनोऽकार्यंकारणे प्रतीचि चिद्धातौ कल्पितत्वाच्च नाद्वैतहानिरित्याह—सत्त्व चेति ॥ उक्तरीत्या प्रत्यगक्षरस्य यतोऽस्तित्व सिद्धमतोऽस्मिन्वादिनामविवादात्तदस्तित्वे वक्ष्यमाणहेतूक्तिर्नेष्यते तथाचानुमानोपन्यासपरोऽनन्तरसदर्भो वृथेति शङ्कते—यत इति । निरुपाध्यक्षरविषयत्वनानुभोक्तिवैयर्थ्येऽपि सोपाधिकतद्विषयतया तदर्थवत्तेति समाधत्ते—यत इत्यादिना ॥ अक्षरमेवान्तर्यामीत्युक्तत्वात्तयोरनुमाविषयत्व तदविषयत्व वा तुल्य व्यवस्थायां भेदात्पूर्वापरविरोध इत्याशङ्क्याऽऽह—ईशितव्येति ॥ काल्पनिको भेदो वस्तुतश्चाभेद इति स्थिते कल्पितभेदमन्तर्यामिणमधिकृत्यानुमानप्रवृत्तिरिति फलितमाह—अनुमानेति । अन्तर्यामिण्यनुमानसिद्धेऽपि कथमनुमानादक्षरसिद्धिस्तत्राऽऽह—कारणेति । जगत्कारणस्योपलक्षणताया जन्मादिसूत्रे स्थितत्वात्तत्सिद्धौ सर्वं पूर्णमनौपाधिकमक्षर सिध्यतीति तटस्थलक्षणद्वारा ब्रह्मणि स्वरूपलक्षणसिद्धेरतोऽन्तर्यामिण्यनुमा प्रकृतोपयोगिनीत्यर्थः ॥

निर्मितौ, विधृतौ च स्यातां साधारणसर्वप्राणिप्रकाशोपकारकत्वाल्लौकिकप्रदीपवत्।

तस्मादस्ति तद्येन विधृतावीश्वरौ स्वतन्त्रौ सन्तौ निर्मितौ तिष्ठतो नियतदेशकालनिमित्तोदयास्तमयवृद्धिक्षयाभ्यां च वर्तेते। तदस्त्येवमेतयोः प्रशासित्रक्षरं प्रदीपकर्तृविधारयितृवत्। एतस्य वा अक्षरस्य प्रशासने गार्गि द्यावापृथिव्यौ द्यौश्च पृथिवी च सावयवत्वात्स्फुटनस्वभावे अपि सत्यौ गुरुत्वात्पतनस्वभावे संयुक्तत्वाद्वियोगस्वभावे

विमतौ विशिष्टविज्ञानवता निर्मितौ प्रकाशत्वात्प्रदीपवदित्यर्थः। विमतौ नियन्तृपूर्वकौ विशिष्टचेष्टावत्त्वाद्भृत्यादिवदित्यभिप्रेत्याऽऽह—विधृताविति। प्रकाशोपकारकत्वं तज्जनकत्वं निर्मातुर्विशिष्टविज्ञानसंभावनार्थं साधारणेति विशेषणं साधारणः सर्वेषां प्राणिनां यः प्रकाशस्तस्य जनकत्वादिति यावत्। दृष्टान्ते लौकिकविशेषणं प्रासादादिविशिष्टदेशनिविष्टत्वसिद्ध्यर्थम्।

अनुमानफलमुपसंहरति—तस्मादिति। विशिष्टचेष्टावत्त्वादित्युपदिष्टं हेतुं स्पष्टयति—नियतेति। नियतौ देशकालौ नियतं च निमित्तं प्राण्यदृष्टं तद्वन्तौ सूर्याचन्द्रमसावुदयन्तावस्तं यन्तौ च येन विधृतावुदयास्तमयाभ्यां वृद्धिक्षयाभ्यां च वर्तेते। उदयश्चास्तमयश्चोदयास्तमयं वृद्धिश्च क्षयश्च वृद्धिक्षयमिति द्वंद्वं गृहीत्वा द्विवचनम्। एवं कर्तृत्वेन विधारयितृत्वेन चेत्यर्थः। विमते प्रयत्नवता विधृते सावयवत्वेऽप्यस्फुटितत्वाद्गुरुत्वेऽप्यपतितत्वात्संयुक्तत्वेऽप्यवियुक्तत्वाच्चेतनावत्त्वेऽप्यस्वतन्त्रत्वाच्च हस्तन्यस्तपाषाणादिवदिति द्वितीयपर्यायस्य तात्पर्यमाह—सावयवत्वादित्यादिना।

के लिए रचा है, सामान्यरूप से सभी प्राणियो का प्रकाशरूप उपकारक होने से लोकव्यवहारसिद्ध दीपक के समान धारण किए हुए स्थित है।

उक्त कारण से जिसके द्वारा ये दोनों स्वतन्त्र और चेतनावत्त्व होने से निर्मित और विधृत होकर नियत देश, काल और निमित्त से युक्त उदय-अस्त एव वृद्धि-क्षय को प्राप्त हुए रहते हैं, वह अक्षर है तथा इस प्रकार वह अक्षर प्रदीप के कर्ता एवं विधारक के समान दोनो का प्रशासक है। हे गार्गी! उस अक्षर के प्रशासन मे "द्यावापृथिव्यौ" यानी द्युलोक और पृथिवी सावयव होने से स्फुटनस्वभाव वाले, गुरुत्व होने से पतनस्वभाव वाले, संयुक्त होने से (सयोग का वियोग में अवसान होने से)

१. तस्मात्—साधारणसर्वप्रकाशजनकत्वरूपाव्यभिचारिलिङ्गात्। २. अक्षरम्। ३. ईश्वरौ—चेतनौ देवतात्वाच्चेतनावत्त्वं स्वातन्त्र्यं च तयोरस्तीत्यर्थः। ४. नियतदेशकालनिमित्ताविति—न्याय्यष्टीकानुरोधात् स च पाठो लेखकप्रमादात्परिभ्रष्ट इति प्रतिभाति। ५. वियोगस्वभाव अपि सत्याविति—संयोगस्य वियोमावसानत्वेऽपि द्यावापृथिव्यो संयुक्तयोर्वियोगादर्शनं नियन्तारं विनाऽनुपपद्यमानं तत्कल्पकमित्यर्थः। ६. सूर्याचन्द्रमसौ। ७. सूर्याचन्द्रमसौ। ८. सर्वांशप्रत्युत्कर्षापकर्षरहितः। ९. प्रासादादीति। एवं च चिद्रूपदीपकव्यच्छेद इति भावः इति वदन्ति। लोकप्रसिद्धत्व लौकिकत्वमित्यभिप्रेत्याह—प्रासादादीति। प्रासादाद्युच्चप्रदेशस्थितो हि सर्वप्रकाशको भवति नान्तर्गृहकोणादिस्थः। तथा च दृष्टान्ते हेत्वसिद्धिवारणाय लौकिकविशेषणमिति भावः। १०. नियमितौ। ११. वृद्धिक्षयाभ्यामिति—एतच्च चन्द्रमात्रान्वयि दक्षिणोत्तरदिग्गतापकर्षोत्कर्षौ तदयनतया सूर्ये समारोप्य तद्रूपवृद्धिक्षयौ सूर्येऽपि वा सम्भवत इति ध्येयम्। १२. द्वन्द्वमिति—उक्तरीत्या समाहारद्वन्द्वम् अथवा समाहारद्वन्द्वेन निष्पन्नं युगलमित्यर्थः। १३. द्यावापृथिव्यौ। १४. संयुक्तत्वेऽपीति संयुक्तत्वं स्वाधारदेशसश्लिष्टत्वम् प्रयत्नवताऽविधृतो हि पाषाणादिर्यत्र गिरिशिखरादौ स्थितस्ततः कालान्तरे विचलन् वियुज्य एव नेमे तथेति भावः।

चेतनावदभिमानिदेवताधिष्ठितत्वात्स्वतन्त्रे अप्येतस्याक्षरस्य प्रशासने वर्तेते विधृते तिष्ठतः।

एतद्ध्यक्षरं 'सर्वव्यवस्थासेतुः सर्वमर्यादा विधरणमतो' नास्याक्षरस्य प्रशासनं द्यावापृथिव्यावतिक्रामतः स्तस्मात्सिद्धमस्यास्तित्वमक्षरस्य। अव्यभिचारि हि तल्लिङ्गं यद्द्यावापृथिव्यौ नियते वर्तेते। चेतनावन्तं प्रशासितारमसंसारिणमन्तरेण नैतद्युक्तम्। "येन द्यौरुग्रा पृथिवी च दृढा" इति मन्त्रवर्णात्।

एतस्य वा अक्षरस्य प्रशासने गार्गि निमेषा मुहूर्ता इत्येते कालावयवाः सर्वस्यातीतानागतवर्तमानस्य जनिमतः कलयितारः। यथा लोके प्रभुणा नियतो गणकः सर्वमाय

'किमित्येतस्य प्रशासने द्यावापृथिव्यौ वर्तेते तत्राऽऽह—एतद्धीति। पृथिव्यादिव्यवस्था नियन्तारं विनाऽनुपपन्ना तत्कल्पिकेत्यर्थः। 'तथाऽपि किमित्येतेन विधृते द्यावापृथिव्याविति तत्राऽऽह—सर्वमर्यादेति। 'एष सेतुर्विधरण' इति श्रुत्यन्तरमाश्रित्य फलितमाह—अतो नास्येति। द्वितीयपर्यायार्थमुपसंहरति—तस्मादिति। तच्छब्दोपात्तमर्थं स्फोरयति—अव्यभिचारीति। अव्यभिचारित्वं प्रकटयति—चेतनावन्तमिति। पृथिव्यादेर्नियतत्वमेतच्छब्दार्थः। नियन्तृसिद्धावपि कथमीश्वरसिद्धिरित्याशङ्क्याऽऽह—येनेति। उग्रत्वं पृथिव्यादेश्चेतनावदभिमानिदेवतावत्त्वेन स्वातन्त्र्यम्। 'येन 'स्वस्तभित येन नाको यो अन्तरिक्षे' "रजसो "विमानः "कस्मै देवाय हविषा "विधेम' इत्यत्र "हिरण्यगर्भाधिष्ठातेश्वरः पृथिव्यादेर्नियन्तोच्यते। न हिरण्यगर्भमात्रस्यास्मिन्प्रकरणे पूर्वापरग्रन्थयोरुच्यमानं निरङ्कुशं सर्वनियन्तृत्वं सम्भवतीति भावः।

एते कालावयवा विधृतास्तिष्ठन्तीति सम्बन्धः। "तत्रानुमानं वक्तुं हेतुमाह—सर्वस्येति। य

वियुक्तस्वभाव वाले और चेतनावत्त्व अभिमानी देवता से अधिष्ठित होने के कारण स्वतन्त्र होने पर भी इस अक्षर के प्रशासन मे नियमित होकर स्थित हैं।

यह अक्षर ही सेतु के समान सर्वविध व्यवस्था का हेतु है, समस्त मर्यादाओं का विधारक है, इसलिए द्युलोक और पृथिवी इसके प्रशासन का उल्लंघन नही करते। इसलिए (उक्त अव्यभिचारी हेतु मे) इस अक्षर का अस्तित्व सिद्ध होता है। द्युलोक और पृथिवी जिसकी सत्ता से नियमित हो कर विद्यमान हैं, वह अव्यभिचारी लिङ्ग है। क्योंकि किसी चेतनावान् असंसारी के बिना ऐसा होना सिद्ध नही होता। श्रुति भी इसी का समर्थन करती है—"जिसके द्वारा द्युलोक उग्र और पृथिवी दृढ की गयी है"।

हे गार्गी! इसी अक्षर के प्रशासन मे निमेष, मुहूर्त इत्यादि काल के अवयव समस्त अतीत, अनागत और वर्तमान उत्पन्न पदार्थों को (देवता होने के कारण) गणना करते हैं। जिस प्रकार लोक-

---

१ सेतुरिव व्यवस्थाहेतुरित्यर्थः। २ विधारकम्। ३ सर्वमर्यादाविधारकत्वात्। ४ उक्ताव्यभिचारिहेतुजातात्। ५ देवतात्वाद्गणयितारः। ६ किमितीति—इति किमर्थं कल्प्यत इत्यर्थः। ७ अर्थापत्त्यानियन्तृसिद्धावपि। ८ स्वस्तम्भितमिति पाठान्तरम्। ९ वर्तमानस्य। १०. लोकस्य। ११ विधारयिता। १२. ब्रह्मणे। १३ परिचरेम। १४. हिरण्यगर्भस्याप्यधिष्ठातेश्वरः। १५ तृतीयपर्यायविवक्षितम्।

व्ययं चाप्रमत्तो गणयति तथा प्रभुस्थानीय एषा कालावयवानां नियन्ता। तथा प्राच्यः प्रागञ्चनाः पूर्वदिग्गमना नद्यः स्यन्दन्ते स्रवन्ति श्वेतेभ्यो हिमवदादिभ्यः पर्वतेभ्यो गिरिभ्यो गङ्गाद्या नद्यस्ताश्च यथा प्रवर्तिता एव नियताः प्रवर्तन्तेऽन्यथाऽपि प्रवर्तितुमुत्सहन्त्यस्तदेतलिङ्गं प्रशास्तुः। प्रतीच्योऽन्याः प्रतीचीं दिशमञ्चन्ति सिन्ध्वाद्या नद्यः। अन्याश्च यां यां दिशमनुप्रवृत्तास्तां तां न व्यभिचरन्ति तच्च लिङ्गम्।

किंच ददतो हिरण्यादीन्प्रयच्छत आत्मपीडां कुर्वतोऽपि प्रमाणज्ञा अपि मनुष्याः प्रशंसन्ति। तत्र यच्च दीयते ये च ददति ये च प्रतिगृह्णन्ति तेषामिहैव समागमो

कलयिता स नियन्तृपूर्वक इति व्याप्तिर्भूमिमाह—यथेति। दार्ष्टान्तिकं दर्शयन्ननुमानमाह—तथेति। निमेषादयो नियन्तृपूर्वकाः कलयितृत्वात्सप्रतिपन्नवदित्यर्थः। कास्ता नद्य इत्यपेक्षायामाह—गङ्गाद्या इति। अन्यथा प्रवर्तितुमुत्सहमानत्वं तत्तद्देवतानां चेतनत्वेन स्वातन्त्र्यम्। 'विमता नियन्तृपूर्विका नियतप्रवृत्तित्वाद्भृत्याविप्रवृत्तिवदिति चतुर्थपर्यायार्थः। नियतप्रवृत्तिमत्त्वं तदेतदित्युच्यते। तच्चेत्यव्यभिचारित्वोक्तिः।

'विमतं विशिष्टज्ञानवद्दातृकं कर्मफलत्वात्सेवाफलवदित्यभिप्रेत्य पञ्चमं पर्यायमुत्थापयति—किंचेति। दाता प्रतिग्रहीता दानं देयं वा फलं दास्यति किमीश्वरेणेत्याशङ्क्याऽऽह—तत्रेति'। अदृष्टदात्रादीनामिहैव प्रत्यक्षो नाशो दृश्यते तेन तत्प्रयुक्तो दृष्टः पुरुषार्थो न कश्चिदस्तीत्यर्थः। अदृष्ट

व्यवहार मे स्वामी के द्वारा नियुक्त किया हुआ लेखाकार प्रमादशून्य होकर समस्त आय-व्यय का हिसाब रखता है, उसी प्रकार इन कालावयवों का नियन्ता भी प्रभुस्थानीय है। जिस प्रकार 'श्वेतेभ्य पर्वतेभ्य'' यानी हिमालय आदि पर्वतों से "प्राच्य" अर्थात् पूर्व दिशा की ओर गमन करने वाली अर्थात् बहने वाली गङ्गादि नदियों की, अन्य दिशा में प्रवृत्त होने की सामर्थ्य होने पर भी जिस ओर नियमित कर दी जाती हैं, उसी ओर बहती रहती है, यह भी उस प्रशासक की सत्ता का ज्ञापक है। तथा अन्य पश्चिम दिशा की ओर बहने वाली सिन्धु आदि नदियाँ है। अन्य नदियाँ भी जिस-जिस दिशा की ओर बहने के लिए प्रवृत्त कर दी जाती है, उसी दिशा की ओर ही बहती है। यह भी उस अक्षर प्रशासक के अस्तित्व का ज्ञापक है।

इसके अतिरिक्त (दुःख से उपार्जित किये हुए) सुवर्णादि का, मन खेद होने पर भी दान करने वाले पुरुष की श्रुतिप्रमाणज्ञ जन प्रशंसा करते है। उक्त प्रशंसा में स्थित होने पर जो कुछ द्रव्यादि

---

१ प्रशास्तुरिति—प्रशास्तृशब्दोऽयम् 'तृन्तृचौ शंसिक्षदादिभ्यः संज्ञायां चानिटौ' उ० २।२५९ इत्युणादिसूत्रविहिततृज्ञ्यतरान्त अनिटत्वमप्यत्रैवोच्यते चानिटाविति। अत्र च शास्ते साक्षादश्रवणेऽपि क्षदादीत्यादिसूत्रविहिततृज्ञ्यतरान्त अनिटत्वमप्यत्रैवोच्यते "ण्वुल्तृचाविति तृज्युत्पन्ना इति शब्दग्राह्यत्वं व्याख्यातृभिस्तत्तम्। अत्रैव भाष्ये पूर्वमनेकश सेटप्रयोगास्तु "हिरण्यदा अमृतत्वं भजन्त' इति व्ययम्। २ पुरुषान्। ३ दुःखोपार्जितस्य दाने मनःखेदः प्रसिद्धः। ४ हिरण्यदा अमृतत्वं भजन्त' इति श्रुतिप्रमाणज्ञा। ५ प्रशंसन्तीति—तथा चैतस्य प्रशासनस्य फलसम्बन्धपूर्वकत्वेन तत्कृत्क्षरं सिद्धम्। तदुक्तं—"दुःखार्जितधनत्यागिनुतिश्च जगतीक्ष्यते। न च युक्ताऽप्रसिद्धेशे तत्कर्मफलदायिनि ॥ वा० १४२॥ इति। ६ तत्र यथोक्तप्रशासने स्थिते सति। ७ यत्—द्रव्यादि। ८ नदीनां प्रवृत्तयः। ९ कर्मफलम्।

सेव्यात्फलप्राप्तिर्दृष्टा न त्वपूर्वात् चापूर्वं दृष्टम्। तत्रापूर्वमदृष्टं कल्पयितव्यं तस्य च फलदातृत्वे सामर्थ्यं सामर्थ्ये च सति दानं चाभ्यधिकमिति। इह त्वीश्वरस्य सेव्यस्य सद्भावमात्रं कल्प्यं नतु फलदानसामर्थ्यं दातृत्वं च। सेव्यात्फलप्राप्तिदर्शनात्। अनुमानं च दर्शितं द्यावापृथिव्यौ विधृते तिष्ठत इत्यादि।

तथा च यजमानं देवा ईश्वराः सन्तो जीवनार्थेऽनुगता अरपुरोडाशाद्युपजीवनप्रयोजनेनान्यथाऽपि जीवितुमुत्सहन्तः कृपणां हीना वृत्तिमाश्रित्य स्थितास्तच्च प्रशास्तुः

मूमिकां कृत्वा कल्पनाधिक्यं स्फुटयति—तत्रेत्यादिना। "अपूर्वस्यादृष्टत्वे सतीति यावत्। इति कल्पनाधिक्यमिति शेषः। त्वन्मतेऽपि तुल्या कल्पनेत्याशङ्क्याऽऽह—इह त्विति। स्वपक्षे धर्मिमात्रं कल्प्यं परपक्षे धर्मी धर्मश्चेत्याधिक्य "तस्मा"त्फलमत उपपत्तेरिति" न्यायेन "परस्यैव फलदातृतेति भावः। धर्मिणोऽपि प्रामाणिकत्वान्न कल्प्यत्वमित्यभिप्रेत्याह—अनुमानं चेति।

ईश्वरास्तित्वे हेत्वन्तरमाह—तथा चेति। देवा यजमानमन्वायत्ता इति संबन्धः। जीवनार्थं जीवनं निमित्तीकृत्येति यावत्। देवानामीश्वराणामपि हव्यार्थित्वेन मनुष्याधीनत्वाद्यहीनवृत्तिभाक्त्वं

द्वारा ईश्वर की कल्पना करनी उचित है अथवा अपूर्व की। किन्तु लोकव्यवहार में तो सेव्य द्वारा फलप्राप्ति होना क्रिया का स्वभाव देखा गया है। अपूर्व से तो फलप्राप्ति होते नहीं दीखती और अपूर्व लोक-वेद में प्रामाण्य भी नहीं है। इसलिए अपूर्व की कल्पना निष्प्रमाणिक है और उसमें फल प्रदान करने की सामर्थ्य भी निष्प्रमाणिक है। इस प्रकार सामर्थ्य स्वीकार करने पर दान की अधिक कल्पना की जाती है। हमारे पक्ष में तो केवल सेव्य ईश्वर के अस्तित्वमात्र की कल्पना की जाती है, उसके फलप्रदान के सामर्थ्य और दातृत्व की नहीं, क्योंकि सेव्य से फलप्राप्ति होते देखी जाती है। "इसके प्रशासन में द्युलोक और पृथिवी धारण किये हुए स्थित हैं" इत्यादि रूप से अनुमान भी दिखाया गया है।

ईश्वर का अस्तित्व सिद्ध होने पर भी देवता समर्थ होते हुए भी जो जीवनधारण के लिए चरु-पुरोडाशादि के आश्रय मानी भक्षणरूप प्रयोजन से यजमान के अनुगत रहते हैं, अर्थात् अन्य प्रकार से जीवित रहने में समर्थ होते हुए भी वे जो इस कृपण निकृष्ट वृत्ति को आश्रित करके स्थित रहते हैं,

१ अपूर्वमपि लोके वेदे प्रामाणिकं न दृष्टमिति कल्प्यमेव तदित्यर्थः। २ निष्प्रमाणमिति यावत्। ३ दातृत्वम्। ४ अभ्यधिकम्—सामर्थ्यं दानं चेति। धर्मद्वयकल्पनमधिकं धर्मिकल्पनायाः सिद्धान्तेऽपि समत्वात्। ५ अस्मत्पक्षे। ६ ननु न वैदिकक्रियाफलदातेश्वरः ईश्वरत्वाल्लौकिकेश्वरवदिति चेन्न "यतः प्रवृत्तिर्भूतानां येन सर्वमिदं ततम्। स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः" इति स्मृतिविरोधादित्यभिप्रेत्याह—इत्यादीति। ७ तथा च—तथैव ईश्वरास्तित्वे सत्यवेत्यर्थः। ८ जीवनार्थेऽनुगता इत्येतदेव विशदयति—चर्वित्यादिना। ९ उपजीवनमाश्रयणं भक्षणमिति यावत् तदात्मकप्रयोजनेन—तत्प्रयुक्ता इति यावत्। १० अन्यथापि—प्रकारान्तरेणापि मनुष्याधीनतां विनाऽपीत्यर्थः। ११ निकृष्टाम्। १२ देवतानामेतादृगधीनवृत्त्याश्रयणमपरास्तित्वे लिङ्गमित्यभिप्रेत्याह—तच्चेति। १३ लोकादावदर्शनादक्लृप्तत्वे। १४ कल्पनाधिक्यात्। १५ फलमत इति—अतः परमात्मनः सकाशात् सर्वस्य लोकस्य फलं भवितुमर्हति। न तु कर्मणस्तस्य क्षणिकत्वात् फलदातृत्वासंभवेन ईश्वरस्यैव फलदातृत्वोपपत्तेरिति सूत्रार्थः। १६ ३।२।३८। १७ परमात्मनः।

'यो वा एतदक्षरं गार्ग्य 'विदित्वाऽस्मिं ल्लोके 'जुहोति '
'यजते 'तप'स्तप्यते बहूनि वर्षसहस्राण्य'न्तवदेवास्य'
''तद्भवति यो वा एतदक्षरं गार्ग्य'विदित्वाऽ'स्माल्लो-
का''त्प्रैति ''स ''कृपणोऽथ'' य एतदक्षरं गार्गि ''विदित्वा-
''ऽस्माल्लोकात्प्रैति स ''ब्राह्मणः ॥१०॥

हे गार्गि ! इसलोक में जो कोई इस अक्षर को जाने बिना हवन करता है, यज्ञ करता है और अनेक महस्र वर्ष पर्यन्त तप भी करता है उसका वह सभी कर्म नाशवान ही होता है, क्योंकि भोग के पीछे उसका नाश होना अनिवार्य है। अत जो कोई भी उस अक्षर को जाने बिना ही इस लोक से मर कर प्रयाण करता है, वह दीन और कृपण है। अर्थात् वह मर कर पुन संसारबन्धन को प्राप्त हो जाता है। वह देवादिलोक में जाने पर भी पैसे से खरीदे हुए दास के समान ही रहता है। पर हे गार्गि ! जो इस अक्षर को जानकर इस लोक से मरकर जाता है, वह संसारबन्धन से मुक्त हुआ पुरुष ब्राह्मण है ॥ १० ॥

प्रशासनात्स्यात् । तथा पितरोऽपि तदर्थं दर्वीं दर्वीहोममन्वायत्ता अनुगता इत्यर्थः । समानं सर्वम''न्यत् ॥ ६ ॥

इतश्चास्ति तदक्षरं यस्मा''त्तदज्ञाने नियता ''संसारो''पपत्तिर्भवितव्यं तु तेन

नियन्तृकल्पकमित्यर्थः । यो न ''कस्यचित्प्रकृतित्वेन विकृतित्वेन वा वर्तते ॥ दर्वीहोम ॥६॥

ईश्वरास्तित्वे हेत्वन्तरमाह—इतश्चेति । मोक्षहेतुज्ञानविषयत्वेनापि ''तदस्तीत्याह—भवितव्य-

---

वह भी प्रशासक ईश्वर के प्रशासन का ज्ञापक है। इसी प्रकार पितृगण भी जीवनधारण के लिए "दर्वीम्" अर्थात् पितृ-उद्देश्यक किये जाने वाले दर्वी होम के 'अन्वायत्ता' यानी अनुगत है। (पितरों का भी हीनवृत्ति आश्रयण करना ईश्वर के प्रशासन का ज्ञापक है इसलिए) शेष सब इसी के समान कल्पना कर लेनी चाहिए ॥ ६ ॥

इसके अतिरिक्त इस अक्षर की सत्ता इसलिए भी है क्योंकि इसके अज्ञान से तीव्र अनर्थ

---

१ पुमान् । २ आत्मतया अविज्ञाय । ३ कर्मभूमौ । ४ देवतोद्देशेन सङ्कल्पितं द्रव्यमग्नौ प्रक्षिपति । ५ देवतोद्देशेन द्रव्यं सङ्कल्पयति । ६ चान्द्रायणादि । ७ आचरति । ८ तथाप्य'न्तवत्फलकमेव भवति न नित्यमोक्षफलकम् । ९ कर्तुः । १० साङ्गमपि क्रियमाणं कर्म । ११ अहं ब्रह्मास्मीत्येवम् । १२ कर्मलोकात् । १३ म्रियते । १४ कर्मी । १५ दीनः पणीकृतदासवत् स्वकृतकर्मफलस्यैव भोक्ता न मोक्षस्य । १६ अथ य —यस्तु । १७ श्रुत्याचार्योपदेशेनाहं ब्रह्मे'त्येवम् । १८ शरीरात् । १९ ब्रह्मीभूतो मुक्त इत्यर्थः । २० पितॄणामीश्वराणामपि कव्यार्थित्वेन दर्वीहोमादिकतृ मनुष्याधीनत्वाख्यहीनवृत्तिभाक्त्व नियन्तृकल्पकमित्यभिप्रेत्याह—अन्यदिति । २१ अक्षराज्ञान इति भावः । २२ तीव्रानर्थपरम्पराप्राप्तिः । २३ नियता संसारोपपत्तिरिति—तथा च संसारोपपत्तिर्नैयत्यान्यथानुपपत्त्या तद्बीजाज्ञानविषयेणाक्षरेण भाव्यमिति भावः । २४ यागस्य । २५ अक्षरम् ।

यद्विज्ञानात्तद्विच्छेदो न्यायोपपत्तेः । ननु क्रियात एव तद्विच्छित्तिः स्यादिति चेन्न । यो वा एतदक्षरं हे गार्ग्यविदित्वाऽविज्ञायास्मिँल्लोके जुहोति यजते तपस्तप्यते यद्यपि बहूनि वर्षसहस्राण्यन्तवदेवास्य तत्फलं भवति तत्फलोपभोगान्ते क्षीयन्त एवास्य कर्माणि । अपि च यद्विज्ञानात्कार्पण्यात्ययः संसारविच्छेदो यद्विज्ञानाभावाच्च कर्मकृत्कृपणः कृतफलस्यैवोपभोक्ता जननमरणप्रबन्धारूढः संसरति । तदस्त्यक्षरं प्रशासितृ तदेतदुच्यते यो वा एतदक्षरं गार्ग्यविदित्वाऽस्माल्लोकात्प्रैति स कृपणः पणक्रीत इव दासादिः । अथ य एतदक्षरं गार्गि विदित्वाऽस्माल्लोकात्प्रैति स ब्राह्मणः ॥१०॥

मिति । 'यदज्ञानात्प्रवृत्तिर्या तज्ज्ञानात्सा निवर्तते' इति न्याय । कर्मवशादेव मोक्षसिद्धेस्तद्धेतुज्ञानविषयत्वेनाक्षरं नाभ्युपेयमिति शङ्कते—नन्विति । उत्तरवाक्येनो(णो)त्तरमाह—नेत्यादिना । यस्याज्ञानादसकृदनुष्ठितानि विशिष्टफलान्यपि सर्वाणि कर्माणि संसारमेव फलयन्ति तदज्ञातमक्षरं नास्तीत्ययुक्तं संसाराभावप्रसङ्गादिति भाव । अक्षरास्तित्वे हेत्वन्तरमाह—अपि चेति । पूर्ववाक्यं जीवदवस्थपुरुषविषयमिदं तु परलोकविषयमिति विशेषं मत्वोत्तरवाक्यमवतार्य व्याचष्टे—तदेतदित्यादिना ॥ १० ॥

परम्पराप्राप्ति नियत है । जिसके जानने से संसार का विच्छेद हो सकता है, उसका होना युक्तिसंगत भी है । यदि कहो, उसका विच्छेद तो कर्म से हो जायगा तो ऐसा कहना उचित नहीं है । हे गार्गी ! जो भी कोई पुरुष इस लोक में इस अक्षर को "अविदित्वा" यानी आत्मतया न जानकर हवन, यज्ञ और अनेक सहस्रवर्षपर्यन्त तप भी करता है, उसके उस कर्मानुष्ठान का फल क्षयिष्णु ही होता है, उस फलभोग के पश्चात् इसके कर्म क्षीण हो ही जाते हैं । इसके अतिरिक्त जिसके जान लेने से कृपणता यानी अनात्म अध्यास का ध्वंस और संसार का विच्छेद होता है तथा जिसके न जानने से कर्मकाण्डी कृपण, किए हुए कर्म के फल का उपभोक्ता और जन्म-मृत्यु की परम्परा में आरूढ होकर संसार-बन्धन को प्राप्त होता है, वह अक्षर ही प्रशासक है । इसीलिये यह कहा जाता है—हे गार्गी ! जो कोई भी इस

१ संसारविच्छेद । २ युक्तिसद्भावात् । ३ कर्मत । ४ संसारविच्छित्ति । ५ क्षयिष्णु । ६ कर्मानुष्ठात् । ७ कर्मफलम् । ८ नश्यन्ति । ९ कार्पण्यात्यय इति—य स्वल्पामपि वित्तक्षतिं न क्षमते स कृपण इति लोके प्रसिद्ध । तद्विधत्वादखिलोऽप्यनात्मविदप्राप्तपुरुषार्थतया कृपणो भवति तस्य भाव कार्पण्यम् अनात्माध्यासवत्त्वम् तस्यात्ययो ध्वस इत्यर्थ ॥ १० एतदेव विवृणोति—संसारविच्छेद इति । ११ स्वकृतकर्मफलस्येति । १२ तदेतदिति । तत्—अक्षराज्ञान कार्पण्यप्रयोजकम् । एतत्—अक्षरज्ञानकार्पण्योच्छेदकम् । १३ कृपण पणक्रीत इति । तथा चामर:—"कदर्यं कृपणक्षुद्रकिंपचानमितंपचा" इति । १४ मूल्यक्रीत । १५ देहात् । १६ स ब्राह्मण इति । न वक्षरविदो युक्तमकार्पण्यं कार्पण्यहत्वज्ञानस्याक्षरज्ञानेनापनयात् ब्राह्मण्य त्वन्यस्यापि तुल्यमिति कथ तत्फलत्वेनोक्तमित्याशङ्क्य समाहित वार्तिके—'यस्त्वक्षरपरिज्ञानान्मृत्युमृत्यु प्रमीयते । स एव ब्राह्मणो नान्यो जगत्यध्यवसीयताम् ॥ सर्वज्ञ सर्वकृच्चासौ निरस्ताशेषसंसृति । प्राप्ताशेषपुमर्थश्च ब्राह्मणोऽत्राभिधीयते" ॥ १६९-७० ॥ इति । तस्य मुख्य ब्राह्मण्य प्रकटयति—सर्वज्ञ इति । १७ कर्माख्यसाधनादेव । १८ अनन्तरवाक्येन । १९ समाधानम् । २० ब्रह्मलोकान्तफलकानि । २१ पूर्ववाक्यम्—यो वा इत्यारभ्य तद्भवतिपर्यन्तम् । २२ इदम्—यो वा इत्यारभ्य ब्राह्मण इत्यन्तम् ।

तद्वा एतदक्षरं गार्ग्यदृष्टं द्रष्टृश्रुतꣳ श्रोत्रमतं मन्त्र-
विज्ञातं विज्ञातृ नान्यदतोऽस्ति द्रष्टृ नान्यदतोऽस्ति
श्रोतृ नान्यदतोऽस्ति मन्तृ नान्यदतोऽस्ति विज्ञात्रे-
तस्मिन्नु खल्वक्षरं गार्ग्याकाश ओतश्च प्रोतश्चेति ॥११॥

हे गार्गि ! यह अक्षर किसी की दृष्टि का विषय नही होता, किन्तु स्वय दृष्टिस्वरूप होने के कारण द्रष्टा है। वैसे ही श्रोत्र का विषय नही है, किन्तु स्वय श्रुतिरूप होने से श्रोता है। मनन का विषय नही, किन्तु मतिरूप होने से मन्ता है। बुद्धि का अविषय होने से स्वय अविज्ञाता होता हुआ भी विज्ञातस्वरूप होने से दूसरो का विज्ञाता है। इससे भिन्न कोई द्रष्टा नही, इससे भिन्न कोई श्रोता नही, इससे भिन्न कोई मननकर्ता नही, और न इससे भिन्न कोई विज्ञाता ही है। अत हे गार्गि ! नि सन्देह इस अक्षर मे ही आकाश ओत-प्रोत है ॥ ११ ॥

अग्नेर्दहनप्रकाशकत्ववत्स्वाभाविकमस्य प्रशास्तृत्वमचेतनस्यैवेत्यत आह—
तद्वा एतदक्षरं गार्ग्यदृष्टं न केनचिद्दृष्टमविषयत्वात्स्वय तु द्रष्टृ दृष्टिस्वरूप-

---

'प्रधानवादिनः शङ्कामनूद्योत्तरवाक्येन(ण)निराकरोति—अग्नेरित्यादिना । इतश्चाक्षरस्य

अक्षर को आत्मतया न जानकर इस कर्मलोक से जाता है वह कर्मी उसी प्रकार दीन है, जैसे धन देकर खरीदा हुआ कोई दास होता है। तथा हे गार्गी ! जो कोई इस अक्षर को आत्मतया जानकर इस देह को छोड जाता है, वह ब्राह्मण है ॥ १० ॥

(साख्यदर्शन के मत मे) अग्नि के दहन और प्रकाशकत्व के समान यह प्रधान अचेतन ही स्वाभाविक शासन करने वाला है, इसी से याज्ञवल्क्य कहते है—

हे गार्गी ! (अस्थूलादिवाक्य से अधिगमित) वह यह अक्षर अदृष्ट है, दृष्टि का विषय न होने के कारण वह किसी के द्वारा देखा नही गया है, किन्तु स्वय दृष्टिस्वरूप होने के कारण द्रष्टा है। उसी

---

१. तद्वा इत्यादि वाक्य वार्तिककारास्तावत्प्रकारान्तरेणावतारयन्ति तथाहि—"नेमसिद्धये प्राह यथोक्तेश्वर-वर्त्मना । अक्षरस्य श्रुति साक्षात्तद्वा इत्येवमादिना ॥ एतदस्य प्रशास्तृत्व स्वमोहाभासहेतुकम् । नेति नेत्यादिवाक्येभ्यो दृष्टिमात्रात्मवस्तुन ॥ इत्येतत्प्रतिपत्त्यर्थं तद्वा एतदिति श्रुति" ॥ १७१-७३ ॥ इति । सोपाधिकस्य सर्वज्ञत्वादिमतोऽक्षरस्य ज्ञानान्मुक्तिश्चेन्निरुपाध्यक्षर नास्त्येवेत्याशङ्क्यानन्तरवाक्यमादत्ते—ज्ञेयत्वेति । अकार्यकारणप्रत्यगक्षरस्य स्वस्मिन्नारोपितेश्वरत्वादिनिरासद्वारेणापरोक्षतया प्रतिपत्त्यर्थं तद्वा इत्यादिवाक्येन श्रुतिरनौपाधिक तदाहेत्यर्थ ॥ अग्नेरिव प्रकाशकत्व स्वाभाविकमक्षरस्येश्वरत्व तत्कथ तन्निरास-द्वारा निरुपाध्यक्षरसिद्धिस्तत्राऽऽह—एतदिति । ईश्वरत्वादेरारोपितत्वे गमकमाह—नेतीति ॥ तस्याध्यस्तत्वे सिद्धे तन्निरासेन निरुपाध्यक्षरदृष्ट्यर्थमनन्तरश्रुतिर्युक्तत्याह—इत्येतदिति । २ अस्येति—न क्षरतीति व्युत्पत्त्या अक्षराभिधस्यास्य प्रधानस्येत्यर्थ । ३ अस्थूलादिवाक्याधिगमितम् । ४ अविषयत्वात्—मा-गोचरातिवर्तित्वाददृष्ट स्यात्तदक्षरम् । ५ अदृष्टमित्यमेयत्वादसत्त्वे प्राप्ते दृष्टपदमादत्ते—स्वयमिति । ६ साङ्ख्यस्य ।

त्वात् । तथाऽश्रुतं श्रोत्राविषयत्वात्स्वयं श्रोतृ श्रुतिस्वरूपत्वात् । तथाऽमतं मनसोऽविषयत्वात् । स्वयं मन्तृ मतिस्वरूपत्वात् । तथाऽविज्ञातं बुद्धेरविषयत्वात्स्वयं विज्ञातृ विज्ञानस्वरूपत्वात् । किं च नान्यदतो ऽस्मादक्षरादस्ति नास्ति किंचिद्द्रष्टृ दर्शनक्रियाकर्तृ । एतदेवाक्षरं दर्शनक्रियाकर्तृ सर्वत्र । तथा नान्यदतोऽस्ति श्रोतृ । तदेवाक्षरं श्रोतृ सर्वत्र । नान्यदतोऽस्ति मन्तृ तदेवाक्षरं मन्तृ सर्वत्र सर्वमनोद्वारेण । नान्यदतोऽस्ति विज्ञातृ विज्ञानक्रियाकर्तृ तदेवाक्षरं सर्वबुद्धिद्वारेण विज्ञानक्रियाकर्तृ नाचेतनं प्रधानमन्यद्वा । एतस्मिन्नु खल्वक्षरे गार्ग्याकाश ओतश्च प्रोतश्चेति । यदेव साक्षादपरोक्षाद्ब्रह्म य आत्मा सर्वान्तरोऽशनायादिसंसारधर्मातीतो यस्मिन्नाकाश ओतश्च प्रोतश्चैषा परा काष्ठैषा परा गतिरेतत्परं

नाचेतनत्वमित्याह—किंचेति । नास्तीत्यन्वयप्रदर्शनम् । अतोऽन्यदितिविशेषणसिद्धमर्थमाह—एतदिति । अन्यद्वा 'पूर्वोक्तमव्याकृतादिपृथिव्यन्तं निगमनवाक्यमुदाहृत्य तस्य तात्पर्यमाह—एतस्मिन्निति । परा काष्ठा परं पर्यवसानं नास्मादुपरिष्टादधिष्ठानं किंचिदस्तीत्यर्थः । तस्यैव परमपुरुषार्थत्वमाह—एषेति । 'पुरुषान्न परं किंचित्सा काष्ठा सा परा गतिः' इति हि श्रुत्यन्तरम् । ब्रह्मास्मादक्षरादन्यदस्तीति चेन्नेत्याह—एतदिति । ननु चतुर्थे सत्यस्य सत्यं ब्रह्म व्याख्यातमक्षरं तु नैवमिति चेत्तत्राऽऽह—एतत्पृथिव्यादेरिति ॥ ११ ॥

प्रकार वह श्रोत्र का विषय न होने के कारण सुना नही गया है किन्तु स्वय श्रुतिरूप होने से श्रोता है। इसी प्रकार मन का अविषय होने के कारण यह मनन का विषय नहीं होता किन्तु स्वयं मतिरूप होने मन्ता है। इसी प्रकार बुद्धि का अविषय होने से स्वय अविज्ञात होता हुआ भी विज्ञानस्वरूप होने से दूसरो का विज्ञाता है। इसके अतिरिक्त इस प्रकृत अक्षर से भिन्न "द्रष्टृ" अर्थात् कोई दर्शनक्रिया का कर्ता नही है। यह अक्षर ही सर्वचक्षुओ द्वारा दर्शनक्रिया का कर्ता है; इसी प्रकार इससे भिन्न कोई श्रोता नही ; यह अक्षर ही सर्वश्रोत्रो के द्वारा श्रोता है। इससे भिन्न कोई मन्ता भी नहीं है, सर्वमनो के द्वारा वह अक्षर ही मनन करने वाला है। और इससे भिन्न कोई "विज्ञातृ" यानी विज्ञानक्रिया का कर्ता नही है, सर्वबुद्धियो के द्वारा वह अक्षर ही विज्ञानक्रिया का कर्ता है। अचेतन प्रधान अथवा अन्य कोई नही है। हे गार्गी ! निश्चय ही इस अक्षर मे ही आकाश ओत-प्रोत है। जो कि साक्षात् अपरोक्ष ब्रह्म है, क्षुधादि सासारिक धर्मों से अतीत सर्वान्तर आत्मा है, जिसमे आकाश ओत-प्रोत

---

१. प्रकृतात् । २. सर्वत्रेति—सर्वचक्षुर्द्वारेति यावत् । ३. नान्यदतोऽस्तीत्यादि वाक्यस्य तात्पर्यमाह—अन्यद्वेति । तदुक्तं वार्तिके—"बहुद्रष्टृनिषेधार्थं नान्यदित्याद्युदीरणम् । सजातीयविजातीयवस्त्वन्तरनिषेधतः ॥ कूटस्थमेकं चैतन्यं सिद्धं श्रुत्यनुसारतः" ॥ १७६ ॥ इति । प्रकरणार्थमुपसंहरति—सजातीयेति । ओतप्रोतवाक्येन प्रत्यगतिरिक्तं जडं निरस्तं नान्यदित्यादिना चाजडं तस्मादखण्डं वस्तु श्रुतितात्पर्यगम्यं सिद्धमित्यर्थः । ४. एषा अव्याकृताकाशाधिष्ठानभूता प्रत्यक्चितिः । परा—उत्कृष्टा निरतिशया । काष्ठा—कार्यकारणात्मकस्य जगतः पर्यवसानभूमिः । एषा—उत्कार्यम् । परा गतिः—सोऽध्वनः पारमाप्नोति तद्विष्णोः परमं पदमिति श्रुतिप्रदर्शिता परा निरवधिका । गतिः गन्तव्यफलभूता । ५. यथोक्तमक्षरम् । ६. नञोऽस्ति पदेनान्वयप्रदर्शनार्थं नास्तीत्युक्तमित्यर्थः । ७ अक्षरातिरिक्तस्य द्रष्टुरभावमनुभावयितुमतोऽन्यदित्येतद्द्रष्टृविशेषणमित्याशयस्याह—अतोऽन्यदितीति । ८. पूर्वोक्तम्—गार्ग्यक्षरब्राह्मणोक्तम् । ९. अक्षरस्यैव ।

[1]सा होवाच ब्राह्मणा भगवन्तस्तदेव बहु मन्येध्वं यदस्मान्नमस्कारेण मुच्येध्वं न वै जातु युष्माकमिमं कश्चिद्ब्रह्मोद्यं जेतेति ततो ह वाचक्नव्युपरराम ॥१२॥

इति बृहदारण्यकोपनिषदि तृतीयाध्यायस्याष्टमं ब्राह्मणम् ॥८॥

उस गार्गी ने कहा—हे पूजनीय ब्राह्मणो ! आप लोग इसी को बहुत समझो, जो इनसे नमस्कार के द्वारा छुटकारा पा जाओ । आप मे से कोई भी इन याज्ञवल्क्य को ब्रह्मवाद मे जीत नही सकता, (क्योंकि पहले ही मैंने ऐसी प्रतिज्ञा की थी । आज भी मेरा यही निश्चय है कि ब्रह्मवाद मे याज्ञवल्क्य के समान दूसरा कोई नही है) इसके बाद वचक्नु की पुत्री गार्गी चुप हो गयी ॥ १२ ॥

॥ इत्यष्टम ब्राह्मणम् ॥

ब्रह्म तत्पृथिव्यादेराकाशान्तस्य सत्यस्य सत्यम् ॥११॥

सा होवाच हे ब्राह्मणा भगवन्त शृणुत मदीय वचस्तदेव बहु मन्येध्वम् मन्यध्वम् । किं तद्यदस्माद्याज्ञवल्क्यान्नमस्कारेण मुच्येध्व मुच्यध्वमस्मै नमस्कार कृत्वा तदेव बहु

किं तद्वचनं तदाह—तदेवेति । बहुमानविषयभूत वस्तु पृच्छति—किं तदिति । यद्वादौ मदीय वचनं तदेव बहुमानयोग्यमित्याह—यदिति । तद्व्याकरोति—अस्मा इति । नमस्कारं कृत्वाऽस्मादनुज्ञा प्राप्येति शेष । तदेवेति प्राथमिकवचनोक्ति । किमिति त्वदीय पूर्वं वचो बहु मन्यामहे जेतु पुनरिम-माशास्महे नेत्याह—जयस्त्विति । [2]तत्र प्रश्नपूर्वक पूर्वोक्तमेव बहुमानविषयभूत वाक्यमवतार्य व्याचष्टे

है, यह अक्षर ही परा काष्ठा (कार्यकारणात्मक जगत् की उत्कृष्टा पर्यवसान भूमि) है, यह परा गति (निरवधिक गन्तव्यफलभूता) है, यह अक्षर ही परब्रह्म है और यही पृथिवी से लेकर आकाश तक सभी सत्य का सत्य है ॥११॥

गार्गी बोली—हे पूज्य ब्राह्मणो ! मेरी बात सुनो और इसी को बहुत समझो । वह क्या है ? यह कि तुम इन याज्ञवल्क्य से नमस्कार के द्वारा ही मुक्त हो जाओ अर्थात् यदि इन्हें नमस्कार करके ही मुक्ति पा जाओ तो इसी को बहुत मानो । इनको जीतने की तो मन से भी आशा नही करनी

---

१ सा—स्वीयप्रश्नद्वयनिर्णयश्रोत्री गार्गी । तदेव—प्रश्नौ चेन्मह्य वक्ष्यति तदा न वै जातु युष्माकमिम कश्चिद्ब्रह्मोद्य जेतेति युष्मान्प्रति पूर्वोक्त यन्मम वचन तदेव वचन बहुमन्येध्व बहुमानविषय कुरुध्व प्रमाणीकुरु-ध्वमिति यावत् । यद्यस्माद्दुर्वचौ प्रश्नावनेनोत्तरितौ तस्मादस्माद्याज्ञवल्क्यान्नमस्कारेण मुच्येध्वम् अस्मै नमस्कार कृत्वाऽनुज्ञा प्राप्य यूय मुच्यध्वम् । अस्य पराजयो मनसाऽपि न शङ्कनीय इत्यर्थ । २ अस्मादित्यादि—यद्यपि नैतत्पूर्वमुक्त न वै जात्वित्याद्येवोक्तचर तथापि पूर्वोक्तस्य तात्पर्यगत्याऽत्रैव पर्यवसानादिदमपि पूर्वोक्तमेवेति मन्यते श्रुतिरिति मन्तव्यम् । ३ उक्तेऽर्थे ।

मन्यध्वमित्यर्थः। जयस्त्वस्य मनसापि नाऽऽशंसनीयः किमुत कार्यतः। कस्मान्न वै युष्माकं मध्ये जातु कदाचिदपीमं याज्ञवल्क्यं ब्रह्मोद्यं प्रति जेता। प्रश्नौ चेन्मह्यं वक्ष्यति न वै जेता भवितेति पूर्वमेव मया प्रतिज्ञातमद्यापि ममायमेव निश्चयो ब्रह्मोद्यं प्रत्येतत्तुल्यो न कश्चिद्विद्यत इति। ततो ह वाचक्नव्युपरराम।

अत्रान्तर्यामिब्राह्मण एतदुक्तम्। यं पृथिवी न वेद यं सर्वाणि भूतानि न विदुरिति च। यमन्तर्यामिणं न विदुर्ये च न विदुर्यच्च तदक्षरं दर्शनादिक्रियाकर्तृत्वेन सर्वेषां चेतनाधातुरित्युक्तम्। कस्त्वेषां विशेषः किं वा सामान्यमिति।

तत्र केचिदाचक्षते। परस्य महासमुद्रस्थानीयस्य ब्रह्मणोऽक्षरस्याप्रचलितस्वरूपस्येषत्प्रचलितावस्थाऽन्तर्यामी। अत्यन्तप्रचलितावस्था क्षेत्रज्ञो यस्तं न वेदान्तर्यामिणम्।

कस्मादित्यादिना। पराजिताया गार्ग्या वचो नोपादेयमित्याशङ्क्याऽऽह—प्रश्नौ चेदिति। ततः स्वप्रश्ननिर्णयाद्याज्ञवल्क्यस्याप्रकम्प्यत्वं प्रतिपद्य ब्राह्मणान्प्रति हितं चोक्त्वेत्यर्थः।

अन्तर्यामी क्षेत्रज्ञोऽक्षरमित्येतेषामवान्तरविशेषप्रदर्शनार्थं प्रकृतत्वं दर्शयति—अत्रान्तर्यामीति। तत्रान्तर्यामिणः प्रकृतत्वं प्रकटयति—यमिति। क्षेत्रज्ञस्य प्रकृतत्वं स्फुटयति—ये चेति। अक्षरस्य प्रस्तुतत्वं प्रत्याययति—यच्चेति। सर्वेषां विषयाणां दर्शनश्रवणादिक्रियाकर्तृत्वेन चेतनाधातुरिति यत्तदक्षरमुक्तमित्यन्वयः। तेषु विचारमवतारयति—कस्त्विति।

तस्मिन्विचारे स्वयूथ्यमतमुत्थापयति—तत्रेति। क्षेत्रज्ञस्याप्रस्तुतत्वशङ्कां वारयति—यस्त-

---

चाहिये, फिर वाणी से तो जीतने की बात संभव ही नही है क्योकि आपमे से कोई भी कभी इन याज्ञवल्क्य जी से ब्रह्मसम्बन्धी वाद मे विजयी होने वाला नही है। मैने तो पहले ही प्रतिज्ञा की है कि यदि ये मेरे दो प्रश्नो का उत्तर दे देंगे तो आप मे से कोई भी विजेता नही होगा। आज भी मेरा तो यही निश्चय है कि ब्रह्मवाद मे इनके समान कोई नही है। इतना कहकर वचक्नु की पुत्री गार्गी चुप हो गयी।

यहाँ बुद्धयारूढ अन्तर्यामी ब्राह्मण मे यह कहा गया था—"जिसे पृथिवी नही जानती, तथा जिसे सम्पूर्ण प्राणी नही जानते"—इत्यादि। इस प्रकार "जिस अन्तर्यामी को नही जानते, जो नही जानते और जो वह अक्षर है, जिसको सभी विषयो की दर्शनादिक्रियाओ के कर्तारूप से चैतन्य धातु का अधिष्ठान कहा गया है" इन सब मे क्या विलक्षणता है और क्या साम्य है?

प्रस्तुत विचार मे कुछ दार्शनिक कहते है—महासमुद्रस्थानीय निश्चलरूप अक्षर परब्रह्म की किञ्चित् विकृत अवस्था का नाम अन्तर्यामी है और उसकी अत्यन्त विकृत अवस्था क्षेत्रज्ञ है, जो कि अन्तर्यामी को नही जानता, इसके अतिरिक्त वे उसकी पिण्ड, जाति, विराट्, सूत्र और दैव—इन अन्य

---

१ वाक्त इति, यावत्। २ ब्रह्मोद्यं प्रति—ब्रह्मवादं प्रति ब्रह्मवादे इति यावत्। ३ बुद्धयारूढे यद्वा प्रस्तुतेऽध्याये सदर्भे वा। प्रथमेऽर्थे समानाधिकरणे सप्तम्यौ। ४ चैतन्यं धातुरधिष्ठानम्। ५. वैलक्षण्यम्। ६. किं च साम्यमित्यर्थः। ७ प्रस्तुतविचारे। ८ विकृतेति यावत्। ९. भेदप्रदर्शनार्थमिति। १०. उक्तत्रयाणामपि प्रकृतत्वम्। ११. उक्तत्रयाणां मध्ये। १२. अन्तर्यामिक्षेत्रज्ञाक्षरेषु। १३. वेदान्त्येकदेशिमतम्।

तथाऽन्या पञ्चावस्था परिकल्पयन्ति । तथाऽष्टावस्था ब्रह्मणो भवन्तीति वदन्ति । अन्येऽक्षरस्य शक्तय एता इति वदन्त्यनन्तशक्तिमदक्षरमिति च । अन्ये त्वक्षरस्य विकारा इति वदन्ति ।

अवस्थाशक्तित्वे तावन्नोपपद्येते । अक्षरस्याशनायादिससारधर्मातीतत्वश्रुते । न ह्यशनायाद्यतीतत्वमशनायादिधर्मवदवस्थावत्त्व चैकस्य युगपदुपपद्यते । तथा शक्तिमत्त्वं च । विकारावयवत्वे च दोषा प्रदर्शिता चतुर्थे । तस्मादेता असत्या सर्वा कल्पना ।

मिति । यथा परस्याऽऽत्मनोऽन्तर्यामी जीवश्चेत्यवस्थे द्वे कल्प्येते तथा तस्यैवान्या पञ्चावस्था 'पिण्डो जातिर्विराट सूत्र दैवमि'त्येवलक्षणा 'महाभूतसस्थान'भेदेन कल्पयन्तीत्याह—तथेति । 'उक्तरीत्या कल्पनाया पिण्डो जातिर्विराट सूत्र दैवमव्याकृत साक्षी क्षत्रज्ञश्चेत्यष्टावस्था ब्रह्मणो भवन्तीति वदन्त परिकल्पयन्तीति सबन्ध । अवस्थापक्षमुक्त्वा शक्तिपक्षमाह—अन्य इति । तुशब्देनावयवपक्ष दर्शयन्विकारपक्ष निक्षिपति—अन्ये त्विति ।

तत्र पक्षद्वय प्रत्याह—अवस्थेति । अन्तर्यामिप्रभृतीनामिति शेष । तस्य सासारिकधर्मातीतत्वश्रुतावपि कथमवस्थावत्त्व शक्तिमत्त्व वा न सिध्यतीत्याशङ्क्याऽऽह—न हीति । अवशिष्टपक्षद्वयनिराकरण प्रागेव प्रवृत्त स्मारयति—विकारेति । परपक्षनिराकरणमुपसहरति—तस्मादिति ।

पाँच अवस्थाओ की भी कल्पना करते हैं । तथा ब्रह्म की आठ अवस्थाएँ होती है—ऐसा वे कहते है । दूसरे विचारक कहते हैं कि ये आठ अवस्थाएँ अक्षर की शक्तियाँ है और वह अक्षर अनन्तशक्तिसम्पन्न है । इसके अतिरिक्त दूसरे विचारक ऐसे भी कहते है कि ये अक्षर के विकार है ।

(उपरोक्त चारो पक्षो मे पक्षद्वय कहते हैं—) अक्षर की अवस्था या शक्ति होना युक्तिसंगत नही है क्योकि क्षुधा पिपासादि सासारिक धर्मों से वह परे है—ऐसा श्रुति कहती है । एक ही वस्तु का एक साथ क्षुधादिधर्मों से अतीत होना और अशनायादिधर्मविशिष्ट अन्तर्यामी आदि रूप अवस्थाओ से युक्त होना सभव नही है । इसी प्रकार अक्षर का शक्तिमान होना भी सम्भव नही है । उसके विकार या अवयव मानने मे जो दोष हैं वे चतुर्थ ब्राह्मण म प्रदर्शित किये जा चुके है । इसलिए (उक्त चारो पक्षो में दूषण होने से) ये सभी कल्पनाएँ असत्य है ।

१ निरुक्ता अष्टावस्था । २ अशनायादिधर्मविशिष्टान्तर्याम्यादिरूपावस्थावत्त्वम् । ३ उपनिषत्क्रमेण द्वितीये । ४ उक्तपक्षचतुष्टयस्यापि दुष्टत्वात् । ५ परस्य आत्मन । ६ पिण्ड इत्यादि—सर्वापेक्षया बाह्यो व्यष्टिस्थूलदेह पिण्ड । जाति—तदभ्यन्तरब्राह्मण्यादिरूपा । विराट—ततोऽप्यान्तर समष्टिस्थूलदेह । सूत्रम्—विराज प्रत्यग्भूत समष्टिसूक्ष्मशरीरम् । दैवम्—ईश्वरतत्त्वमिति द्रष्टव्यम् । ७ इत्यवलक्षणा—इत्यत्र इत्येवलक्षणेति पाठान्तरम् । ८ महाभूतेति—महाभूतशब्देन स्थूलसूक्ष्मभूतानि तत्कारणमव्याकृत च विवक्षितम् । इत्थभूतलक्षण तृतीया । तथा च ता अवस्था महाभूतसस्थानविशेषा एवत्यर्थ । तत्र सूत्रान्तानां चतुर्णां तत्सस्थानविशेषत्व व्यक्तमेव ईश्वरस्याप्यव्याकृतप्रयुक्तत्वात्तत्त्व द्रष्टव्यम् । ९ भेदेनेति—वस्तुतस्तु प्रयुक्तत्व तृतीयार्थ तद्भेदप्रयुक्ता उक्तकल्पनेत्यर्थ । १० भाष्यस्थद्वितीयतथाशब्दस्यायमाह—उक्तरीत्येति । ११ ईश्वरतत्त्वस्य कारणम् । १२ अन्तर्यामी । १३ भाष्यस्थवदन्तीत्यस्य परिणामोऽयम् । १४ तुशब्देनेत्यादि । तुशब्दविकारशब्दाभ्यामवयवविकारपक्षौ दर्शयतीत्यर्थ । १५ चतुर्षु पक्षेषु । १६ अक्षरस्य । १७ ४६२ तमपृष्ठभाष्ये तत्रत्यादिना प्रकरण वृत्त प्रवृत्तम् ।

कस्तर्हि भेद एषाम्। उपाधिकृत इति ब्रूमो न स्वत एषां भेदाऽभेदो वा सैन्धवघनवत्प्रज्ञानघनैकरसस्वाभाव्यात्। "अपूर्वमनपरमनन्तरमबाह्यम्" "अयमात्मा ब्रह्म" इति च श्रुतेः। "सबाह्याभ्यन्तरो ह्यजः" इति चाऽऽथर्वणे। तस्मान्निरुपाधिकस्याऽऽत्मनो निरुपाख्यत्वान्निर्विशेषत्वादेकत्वाच्च नेति नेतीति व्यपदेशो भवति। अविद्याकामकर्मविशिष्टकार्यकरणोपाधिरात्मा संसारी जीव उच्यते। नित्यनिरतिशयज्ञानशक्त्युपाधिरात्माऽन्तर्यामीश्वर उच्यते।

स एव निरुपाधिः केवलः शुद्धः स्वेन स्वभावेनाक्षरं पर उच्यते। तथा हिरण्य-

---

परकीयकल्पनाऽसंभवे पृच्छति—कस्तर्हीति। उत्तरमाह—उपाधीति। आत्मनि स्वतो विशेषाभावे हेतुमाह—सैन्धवेति। तत्रैव हेत्वन्तरमाह—अपूर्वमिति। बाह्यं कार्यमभ्यन्तरं कारणं ताभ्यां कल्पिताभ्यां सहाधिष्ठानत्वेन सत्तास्फूर्तिप्रदतया वर्तते ब्रह्म स्वभावतस्तु जन्मादिसर्वविक्रियाशून्यं कूटस्थं तदित्याथर्वणश्रुतेरर्थः। आत्मनि स्वतो विशेषानवगमे फलितमाह—तस्मादिति। निरुपाख्यत्वं वाचां मनसां चागोचरत्वम्। तत्र निर्विशेषत्वमेकत्वं च हेतुः। निरुपाधिकस्येति निर्विशेषत्वं साधयितुमुक्तम्। तत्र च वीप्सावाक्यं प्रमाणं कृतम्। कथं पुनरेवंविधस्य वस्तुनः संसारित्वं तदाह—अविद्येति। तद्विशिष्टं यत्कार्यकरणं तेनोपाधिनोपहितः परमात्मा जीवः संसारीति च व्यपदेशभाग्भवतीत्यर्थः। तथाऽपि कथं तस्यान्तर्यामित्वं तदाह—नित्येति। नित्यं निरतिशयं सर्वत्राप्रतिबद्धं ज्ञानं "तस्मिन्सत्त्वपरिणामे सत्त्वप्रधाना मायाशक्तिरु"पाधिस्तेन विशिष्टः सन्परमेश्वरोऽन्तर्यामीति चोच्यत इत्यर्थः।

कथं तर्हि तस्मिन्नक्षरशब्दप्रवृत्तिस्तत्राऽऽह—स एवेति। निरुपाधित्वं शुद्धत्वे हेतुः। केवलत्वमद्वितीयत्वम्। तथाऽपि कथं तत्र हिरण्यगर्भादिशब्दप्रत्ययावित्याशङ्क्याऽऽह—तथेति। यथैकस्मि-

---

तो फिर इनका भेद किसलिए प्रयुक्त किया गया है? हमारे विचार से इनका भेद उपाधिकृत है, स्वय मे इनका न भेद है; न ही अभेद, क्योंकि आत्मा सैन्धवघन के समान एकमात्र प्रज्ञानघन रसस्वरूप है। श्रुति भी कहती है—"वह कारण और कार्य से भिन्न, अन्तररहित और अबाह्य है", "यह आत्मा ब्रह्म है"। मुण्डकोपनिषत् भी कहती है—"(वह अक्षरब्रह्म स्वयंप्रकाश होने के कारण निश्चय ही दिव्य आकाररहित, पुरुष) बाहर-भीतर सर्वत्र वर्तमान, अजन्मा (प्राणरहित, मनोरहित, परिशुद्ध एवं श्रेष्ठ अक्षर से उत्कृष्ट) है"। अत. निरुपाधिक अनिर्वचनीय, निर्विशेष और एक होने के कारण उस आत्मा का नेति-नेति इस प्रकार व्यपदेश किया जाता है। अविद्या, काम और कर्मविशिष्ट देह एव इन्द्रियरूप उपाधि वाला आत्मा ससारी जीव कहलाता है। नित्य निरतिशय ज्ञान शक्तिरूप उपाधिवाला आत्मा अन्तर्यामी ईश्वर कहा जाता है।

वह परब्रह्म ही निरुपाधिक केवल, शुद्ध अपने रूप से अक्षर कहा जाता है। तथा हिरण्य-

---

१. किंप्रयुक्तः। २. अवतरणोक्तार्थम्। ३. आत्मनः। ४. मुण्डके। ५. आत्मन स्वतो विशेषायोगात्। ६. स एव पर इत्यन्वयो वा। ७. रूपेण। ८. निरुपाख्यत्वे। ९. निरुपाधिकत्वे। १०. नेति नेतीति वाक्यम्। ११. निर्विशेषस्य। १२. उक्तोपाधिना जीवत्वादिव्यवहारभाक्त्वेऽपि। १३. तद्वत्त्वसम्पादन इति यावत्। १४. कारणम्। १५. उक्तोपाधिना तत्रेश्वरत्वादिव्यवहारे सत्यपि। १६. स्वेन रूपेणात्मनोऽक्षरत्वेऽपि।

गर्भ[1]व्याकृतदेवता[2]जातिपिण्डमनुष्यतिर्यक्प्रेतादिकार्यकरणोपाधिभिर्विशिष्ट[3]स्तदाख्यस्तद्रूपो भवति । तथा तदेजति तन्नैजतीति [4]व्याख्यातम् । तथा "एष त आत्मा" "एष सर्वभूतान्तरात्मा" "एष सर्वेषु भूतेषु गूढः" "तत्त्वमसि" "अहमेवेदं सर्वम्" "आत्मैवेदं सर्वम्" "नान्योऽतोऽस्ति द्रष्टा" इत्यादिश्रुतयो न विरुध्यन्ते । कल्पनान्तरेष्वेताः श्रुतयो [5]न गच्छन्ति । [6]तस्मादुपाधिभेदेनैवेषां भेदो नान्यथैकमेवाद्वितीयमित्यवधारणात्सर्वोपनिषत्सु ॥ १२ ॥

इति बृहदारण्यकोपनिषद्भाष्ये तृतीयाध्यायस्याष्टमं ब्राह्मणम् ॥ ८ ॥

अथ तृतीयाध्यायस्य नवमं ब्राह्मणम् ।

अथ हैनं विदग्धः शाकल्यः पप्रच्छ । पृथिव्यादीनां सूक्ष्मतारतम्यक्रमेण, [7]पूर्वस्य

न्नेव परस्मिन्नात्मनि कल्पितोपाधिप्रयुक्तं नानात्वं तथा तदेजति तन्नैजतीत्यादि वाक्यमाश्रित्य प्रागेवोक्तमित्याह—तथेति । कल्पनया परस्य नानात्वं वस्तुतस्त्वेकरस्यमित्यत्र श्रुतीरुदाहरति—तथेत्यादिना । अवस्थाशक्तिविकारावयवपक्षेष्वपि यथोक्तश्रुतीनामुपपत्तिमाशङ्क्याऽऽह—कल्पनान्तरेष्विति । औपाधिकोऽन्तर्याम्यादिभेदो न स्वाभाविक इत्युपसंहरति—तस्मादिति । स्वतो वस्तुनि नास्ति भेदः किन्त्वेकरस्यमेवेत्यत्र हेतुमाह—एकमिति ॥ १२ ॥

इति बृहदारण्यकोपनिषद्भाष्यटीकायां तृतीयाध्यायस्याष्टमं ब्राह्मणम् ॥ ८ ॥

ब्राह्मणान्तरमुत्थापयति—अथेति । गार्गिप्रश्ने निर्णीते तया ब्रह्मवदनं प्रत्येतत्तुल्यो नास्तीति सर्वान्प्रति कथनानन्तर्यमथशब्दार्थः । संगतिं वक्तुं वृत्तं कीर्तयति—पृथिव्यादीनामिति । [8]यत्साक्षादित्यादि प्रस्तुत्य सर्वान्तरत्वनिरूपणद्वारा साक्षात्त्वादिकमाधिकं [9]ब्राह्मणत्रये निर्धारितमित्यर्थः ।

गर्भ, व्याकृत विराट्, इन्द्रादि देवता, ब्राह्मण्यादि जाति, शरीर पिण्ड, मनुष्य, तिर्यक्, प्रेत एवं शरीर और इन्द्रियरूप उपाधियो से विशिष्ट होकर वह उन्ही नाम और रूपो वाला होता है । ईशोपनिषत् मे "वह चलता है और नही भी चलता" इस प्रकार व्याख्या की गयी है। तथा "यह तेरा आत्मा (अन्तर्यामी और अमृत) है", "वही देव सम्पूर्ण भूतो का अन्तरात्मा है", "यह समस्त भूतो मे अन्तर्निहित है", "वह तू है", "मैं ही यह सब कुछ हूँ", "यह सब आत्मा ही है", "इससे भिन्न कोई द्रष्टा नही है" इत्यादि श्रुतियो से कोई विरोध नही रहता। दूसरी कल्पनाओ के करने मे श्रुतियाँ अपने स्वार्थ को प्राप्त नही करती। अतः (स्वभाव से ही एकरस होने के कारण) उपाधि के भेद से ही इनमे भेद है; अन्यथा नही क्योकि "वह ब्रह्म एक ही अद्वितीय है" इस प्रकार श्रुतियो ने निर्णय किया है ॥१२॥

इस प्रकार बृहदारण्यकोपनिषत् शाङ्करभाष्य मे तृतीयाध्याय के अष्टम ब्राह्मण का हिन्दीभाषानुवाद पूर्ण हुआ ॥ ८ ॥

"इसके बाद उस याज्ञवल्क्य से शकल के पुत्र विदग्ध ने पूछा"— । पृथिव्यादि के सूक्ष्म

---

१. व्याकृत विराट् इन्द्रादिदेवतेत्यर्थः । २. ब्राह्मण्यादिशरीरेति बोध्यम् । ३. तन्नामा । ४. बृ० उ० २।२। १ । उपक्रमभाष्ये २।३।१२ भाष्ये च । ५. नोपपद्यन्ते स्वार्थं न लभन्त इति यावत् । ६. स्वत ऐकरस्यात् । ७. पृथिव्यादेः । ८. अविरोधम् । ९. बृ० उ० ३।४।१ । १०. मार्थ्यन्तर्याम्यक्षराख्ये ।

[1]अथ हैनं विदग्धः शाकल्यः पप्रच्छ कति देवा याज्ञ-
वल्क्येति स हैतयैव निविदा प्रतिपेदे यावन्तो वैश्व-

इसके बाद इस याज्ञवल्क्य से शाकल के पुत्र विदग्ध ने पूछा—हे याज्ञवल्क्य ! देवता कितने है ? इस पर याज्ञवल्क्य ने कहा—इस (आगे बतलाया जाने वाली निविद) देव संख्या सम्बन्धी मन्त्र पद से ही उन देवताओं की संख्या निविद में बतलायी गयी है। वे सभी तीन और तीन एव तीन सौ और तीन

पूर्वस्योत्तरस्मिन्नुत्तरस्मिन्नोतप्रोतभावं कथयन्सर्वान्तरं ब्रह्म प्रकाशितवान् । तस्य च ब्रह्मणो व्याकृतविषये सूत्रभेदेषु नियन्तृत्वमुक्तम् । व्याकृतविषये व्यक्ततरं लिङ्गमिति । तस्यैव ब्रह्मणः साक्षादपरोक्षत्वे नियन्तव्यदेवताभेदसंकोचविकासद्वारेणाधिगन्तव्ये इति तदर्थं शाकल्यब्राह्मणमारभ्यते ।

अथ हैनं विदग्ध इति नामतः शकलस्यापत्यं शाकल्यः पप्रच्छ कतिसंख्याका देवा

[2]अन्तर्यामिब्राह्मणे मुखतो निर्दिष्टमर्थम[6]नुवदति—तस्य चेति । नामरूपाभ्यां व्याकृतो विषयो द्वैतप्रपञ्च-स्तत्र [7]सूत्रस्य [8]भेदा ये पृथिव्यादयस्तेषु नियम्येषु नियन्तृत्वं तस्योक्तमिति योजना । किमिति व्याकृत-विषये नियन्तृत्वमुक्तमिति तत्राऽऽह—व्याकृतेति । [9]तत्र हि परतन्त्रस्य पृथिव्यादे[10]र्ग्रहणं नियम्यत्वे स्पष्टतरं लिङ्गमिति तत्रैव नियन्तृत्वमुक्तमित्यर्थः । वृत्तमनूद्योत्तरस्य ब्राह्मणस्य तात्पर्यमाह—तस्यैवेति । नियन्तव्यानां देवताभेदानां [11]प्राणान्तः संकोचो [12]विकासश्चाऽऽनन्त्यपर्यन्तस्तद्द्वारा प्रकृतस्यैव ब्रह्मणः [13]साक्षात्त्वापरोक्षत्वे [14]स एव नेति नेत्यात्मेत्यादिना[15]ऽधिगन्तव्ये इति [16]कृत्वा प्रथमं देवतासंकोचविकासो-क्तिरनन्तरं वस्तु निर्देश इत्येतदर्थमेतद्ब्राह्मणमित्यर्थः ।

ब्राह्मणारम्भमेवमुक्त्वा तदक्षराणि व्याकरोति—अथेत्यादिना । निविदि श्रूयन्ते तावन्तो देवा

तारतम्यक्रम से पूर्व-पूर्व पृथिव्यादि पदार्थ का उत्तर-उत्तर अबादि पदार्थ मे ओत-प्रोत भाव बतलाते हुए याज्ञवल्क्य ने सर्वान्तर ब्रह्म को प्रकाशित किया है। उस अक्षरब्रह्म का नामरूपात्मक द्वैतप्रपञ्च मे पृथिव्यादि सूत्रभेदो मे नियन्तृत्व बतलाया है। व्याकृत विषयो मे ब्रह्म के नियन्ता होने मे स्पष्टतर लिङ्ग है। उसी अक्षरात्मा ब्रह्म का नियन्तव्य देवताभेद के सकोच और विकास द्वारा साक्षात् एव अपरोक्ष ज्ञान प्राप्त करना है, इसलिए शाकल्यब्राह्मण का आरम्भ किया जाता है।

इसके बाद इस याज्ञवल्क्य से विदग्ध नाम वाले "शाकल्य" यानी शकल के पुत्र ने पूछा—हे

१. अथेति—"नवमब्राह्मणे देवनिर्णयस्तदुपासनम् । अष्टधा पञ्चधा चोपनिषदश्चोच्यते क्रमात्" ॥वा सा ३.९.१॥ २. अबादौ । ३. याज्ञवल्क्यो वेदो वा । ४. अक्षराभिधस्य । ५. प्रकृताक्षरात्मन. । ६. अनुवदती-त्यर्थः । ७. हिरण्यगर्भस्य । ८. अवयवविशेषा. । ९ व्याकृतविषये । १०. कथनम् अन्तर्भाव इति यावत् । ११. प्राण एव सर्वे देवा इति प्राणत्वेन सक्षेप । १२. तत्तद्यक्तिभिस्त्वनन्तास्त इति विकासो विस्तारः । १३. बृ० उ० ३।९।२६ । १४. प्रतिपादनीये इति यावत् । १५. मनसिकृत्य । १६. साक्षात्त्वादिरूपब्रह्मतत्त्वोपन्यासः स एव नेतीत्यादिना ।

देवस्य निविद्युच्यन्ते त्रयश्च त्री च शता त्रयश्च त्री च सहस्रेत्योमिति होवाच कत्येव देवा याज्ञवल्क्येति त्रयस्त्रिꣳशदित्योमिति होवाच कत्येव देवा याज्ञवल्क्येति षडित्योमिति होवाच कत्येव देवा याज्ञव-

हजार हैं, अर्थात् तीन हजार तीन सौ छः । तब शाकल्य ने कहा—ठीक है । उसने फिर पूछा—हे याज्ञवल्क्य ! देवता कितने हैं ? याज्ञवल्क्य ने कहा—तैंतीस । (देवताओं के संकोचविषयक देवसंख्या को सुनकर शाकल्य ने कहा—) ठीक है और फिर पूछा—याज्ञवल्क्य ! कितने देव हैं ? याज्ञवल्क्य ने कहा—

हे याज्ञवल्क्येति । स याज्ञवल्क्यो ह किलैतयैव वक्ष्यमाणया निविदा प्रतिपेदे संख्यां या संख्या पृष्टवाञ्शाकल्यो यावन्तो यावत्संख्याका देवा वैश्वदेवस्य शस्त्रस्य निविदि । निविन्नाम देवतासंख्यावाचकानि मन्त्रपदानि कानिचिद्वैश्वदेवे शस्त्रे शस्यन्ते तानि निवित्संज्ञकानि । तस्यां निविदि यावन्तो देवाः श्रूयन्ते तावन्तो देवा इति । का पुनः

इत्युत्तरत्र संबन्धः । केयं निविदिति पृच्छति—निविन्नामेति । उत्तरमाह—देवतेति । पदार्थमुक्त्वा वाक्यार्थं कथयति—तस्यामिति । यद्यपि भाष्ये निविद्व्याख्याता तथाऽपि प्रश्नद्वारा श्रुत्या तां व्याख्याति—का पुनरित्यादिना । अनुज्ञावाक्यं व्याकरोति—एवमिति । मध्यमा संख्या षडधिक-

---

याज्ञवल्क्य ! देवता कितने हैं ? इस प्रकार पूछे जाने पर शाकल्य से पूछी जाने वाली संख्या को आगे बतलायी जाने वाली निविद् से जानकर कहा—'यावन्त' अर्थात् जितनी संख्या वाले देवता वैश्वदेवाख्य स्तोत्र के निविद् में बतलाये गये हैं । निविद् नाम देवता संख्यावाचक मन्त्रघटक पदों का है, कुछ वैश्वदेवस्तोत्र में भी पठित हैं, वे निविद्संज्ञक हैं । उस (देवतासंख्याज्ञापक मन्त्रपदरूप

---

१ त्रयश्च देवा त्री च शता—त्रीणि च शतानि । पुनस्त्रयश्च त्री च सहस्रा त्रीणि च सहस्राणीत्यर्थः । इयं मध्यमा संख्या बहुवचनादुत्तमाऽनन्तसंख्याऽप्युक्ता वेदितव्या । अनन्ता वै विश्वेदेवा इति श्रुतेः । उक्तसंख्यां (षडधिकत्रिशताधिकत्रिसहस्रात्मिकां) शाकल्योऽप्यङ्गीकरोतीत्याह—ओमिति होवाचेति । पुनस्तेषामेव देवानां सङ्कोचविषयां संख्यां पृच्छति कत्येव देवा याज्ञवल्क्येति षट्प्रश्नान् प्रति क्रमेण त्रयस्त्रिंशत् षट् त्रयो द्वावध्यर्ध एक इति प्रतिवचने उक्ते सत्योमित्यङ्गीकारोक्तिरित्यर्थः । षडधिकत्रिशताधिकत्रिसहस्रसंख्याकानां देवानां त्रयस्त्रिंशद्देवेषु (तानारभ्य) तेषां षट्सु तेषां त्रिषु तयोर्द्वयोः, तयोरध्यर्धे तस्यैकस्मिन् प्राणे पाठक्रमेणोपसंहारः । तद्विपरीतक्रमेण (प्राणादारभ्य) विस्तारोऽनन्तदेवपर्यन्त इति भावः । २ एवंपृष्टः । ३ ज्ञातवान् ज्ञात्वा चोत्तरितवानिति यावत् । ४ वैश्वदेवाख्यस्तोत्रस्य । ५ मन्त्रघटकानि तद्रूपाण्येव वा पदानि । ६ पठ्यन्त इति यावत् । ७ देवतासंख्याज्ञापिकायां मन्त्रपदरूपायां वाचि । ८. भाष्यकृदिति शेषः । ९ ओमिति शाकल्यस्य स्वीकारवाक्यम् । १०. अनन्तसंख्यापेक्षयाऽस्य मध्यमत्वम् ।

वल्क्येति त्रय इत्योमिति होवाच कत्येव देवा याज्ञव-
वल्क्येति द्वावित्योमिति होवाच कत्येव देवा याज्ञव-
ल्क्येत्यध्यर्ध इत्योमिति होवाच कत्येव देवा याज्ञव-
ल्क्येत्येक इत्योमिति होवाच कतमे ते त्रयश्च त्री
च शता त्रयश्च त्री च सहस्रेति ॥१॥

॥। शाकल्य ने 'ठीक है' ऐसा कहकर पुन प्रश्न किया, हे याज्ञवल्क्य ! कितने देव हैं ? याज्ञवल्क्य ने कहा—तीन। शाकल्य ने कहा—'ठीक है' और ऐसा कहकर फिर पूछा—हे याज्ञवल्क्य ! कितने देव हैं ? याज्ञवल्क्य ने कहा—दो। शाकल्य ने 'ठीक है' ऐसा कहकर पुन पूछा—हे याज्ञवल्क्य ! कितने देव हैं ? याज्ञवल्क्य ने कहा—डढ। शाकल्य ने ठीक है' ऐसा कहकर पुन पूछा—हे याज्ञवल्क्य ! कितने देव है ? याज्ञवल्क्य ने कहा—एक। शाकल्य ने 'ठीक है' ऐसा कहकर सख्येय के विषय मे पूछा—वे तीन हजार तीन सौ छ देव कौन से है ? ॥ १ ॥

सा निविदिति। तानि निवित्पदानि प्रदर्श्यन्ते—त्रयश्च त्री च शता त्रयश्च देवा देवाना त्री च त्रीणि च शतानि पुनरप्येव त्रयश्च त्री च सहस्रा सहस्राण्येतावन्तो देवा इति। शाकल्योऽप्योमिति होवाच। 'एवमेषा' मध्यमा सख्या सम्यक्तया ज्ञाता। पुनस्तेषामेव देवाना सकोचविषया सख्या पृच्छति। कत्येव देवा याज्ञवल्क्येति त्रयस्त्रिंशत्षट्त्रयो द्वावध्यर्ध एक इति। देवतासकोचविकासविषया सख्या पृष्ट्वा पुन सख्येयस्वरूप पृच्छति—कतमे ते त्रयश्च त्री च शता त्रयश्च त्री च सहस्रेति ॥ १ ॥

त्रिशताधिकत्रिसहस्रलक्षणा। कत्येवेत्यादि'प्रश्नाना पूर्वप्रश्नेन पौनरुक्त्यमाशङ्क्य परिहरति—पुनरित्यादिना। कतमे ते त्रयश्चेत्यादिप्रश्नस्य विषय'भेद दर्शयति—देवतेति ॥ १ ॥

स्तोत्र) निविद् म जितने देवता सुने जाते हैं, उतने ही देवता हैं। किन्तु फिर वह निविद् क्या है ? वे निविद् के पद दिखलाये जाते हैं। 'त्रयश्च त्री च शता' यानी देवगण तीन और तीन सौ हैं। तथा इसी प्रकार वे तीन और तीन सहस्र है। अर्थात् इतने ही सभी देवता है इस पर शाकल्य ने भी कहा—'ठीक है"। उक्त रीति से इन देवताओ की मध्यमा सख्या का ठीक-ठीक ज्ञान हो गया। पुन उन्ही देवताओ की सकोचविषयिणी सख्या शाकल्य पूछता है। हे याज्ञवल्क्य ! देवता कितने हैं ? इस पर याज्ञवल्क्य क्रम से 'तैंतीस, छ तीन दो, डढ और एक' ऐसा कहते है। देवताओ की सकोच और विकासविषयक सख्या पूछकर पुन सख्येय के स्वरूप के विषय म पूछता है—'वे तीन सौ तीन और तीन सहस्र तीन देवता कौन से है' ॥ १ ॥

१ उत्तरीत्या। २ देवानाम्। ३ षण्णाम्। ४ विशेषम्।

स होवाच महिमान एवैषामेते त्रयस्त्रिँशत्त्वेव देवा इति कतमे ते त्रयस्त्रिँशदित्यष्टौ वसव एकादश रुद्रा द्वादशाऽऽदित्यास्त एकत्रिँशदिन्द्रश्चैव प्रजापतिश्च त्रयस्त्रिँशाविति ॥२॥

कतमे वसव इत्यग्निश्च पृथिवी च वायुश्चान्तरिक्षं चाऽऽदित्यश्च द्यौश्च चन्द्रमाश्च नक्षत्राणि चैते वसव

इस पर याज्ञवल्क्य ने कहा—(३६०६) इतनी सख्या तो इनकी महिमाएँ हैं, वस्तुतः देवगण तो तैंतीस ही है। शाकल्य ने कहा—वे तैंतीस देव कौन से हैं? याज्ञवल्क्य ने कहा—आठ वसु, एकादश रुद्र और द्वादश आदित्य, ये इकतीस देवगण हैं तथा इन्द्र एव प्रजापति इनके सहित तैंतीस हो जाते हैं ॥ २ ॥

शाकल्य ने पूछा—आठ वसु कौन हैं? याज्ञवल्क्य ने कहा—अग्नि, पृथिवी, वायु, अन्तरिक्ष, आदित्य, द्युलोक, चन्द्रमा तथा नक्षत्र ये आठ वसु हैं (क्योकि प्राणियों के कर्मफल के आश्रय बनकर देहादिसघातरूप से परिणत होकर सम्पूर्ण जगत् को बसा रहे है और स्वय भी बसते हैं)। इन्ही मे

स होवाचेतरो[1] महिमानो विभूतय एषां [2]त्रयस्त्रिंशतां देवानामेते त्रयश्च त्री च शतेत्यादयः। परमार्थतस्तु त्रयस्त्रिंशत्त्वेव देवा इति। कतमे ते त्रयस्त्रिंशदित्युच्यते। अष्टौ वसव एकादश रुद्रा द्वादशाऽऽदित्यास्त एकत्रिंशदिन्द्रश्चैव प्रजापतिश्च त्रयस्त्रिंशतां पूरणौ ॥ २ ॥

कतमे वसव इति तेषां स्वरूपं प्रत्येकं पृच्छ्यते। अग्निश्च पृथिवी चेत्यग्न्याद्या

कति [3]र्हि देवा निर्विदि भवन्ति तत्राऽऽह—परमार्थतस्त्विति। त्रयस्त्रिंशतो देवानां स्वरूपं प्रश्नद्वारा निर्धारयति—कतमे त इति ॥ २ ॥

उत्तरप्रश्नपञ्चकप्रतीकं[4] गृहीत्वा [4]तस्य तात्पर्यमाह—कतम इति। तेषां वस्वादीनां प्रत्येकं वस्वादि[5]त्रये प्रतिगणमिन्द्रे प्रजापतौ चैकैकस्येत्यर्थः। [6]तेषां वसुत्वमेतेषु हीत्यादिवाक्यावष्टम्भेन

वह याज्ञवल्क्य बोले—ये तीन सौ तीन आदि देवगण इन तैंतीसो देवताओ की "महिमानः" अर्थात् विभूति ही हैं। परमार्थतः तो तैंतीस ही देवता हैं, वे तैंतीस देवगण कौन से है? उसे कहते है—आठ वसु, ग्यारह रुद्र और बारह आदित्य ये इकतीस तथा इन्द्र और प्रजापति मिलकर तैंतीस की पूर्ति करते हैं ॥ २ ॥

वसु कौन से हैं? इस प्रकार सब मे से प्रत्येक का स्वरूप पूछा जाता है—अग्नि-पृथिव्यादि

---

१. याज्ञवल्क्य. । २. बहुवचनमिदमुद्भूताऽवयवभेदविवक्षयेति ध्येयम् । ३. षडधिकत्रिशताधिकत्रिसहस्र-सख्याकाना देवाना त्रयस्त्रिंशद्विभूतित्वे निर्विदि कति देवा निश्चिता भवन्तीत्यर्थः. । ४. उत्तरत्रत्यप्रश्नपञ्चकस्य । ५. आदिना रुद्रादित्यौ । ६. अग्न्यादीनाम् ।

'एतेषु हीदं वसु सर्वं७ हितमिति तस्माद्वसव इति ॥३॥
कतमे रुद्रा इति दशेमे[२] पुरुषे[३] प्राणा आत्मैकादशस्ते
यदाऽस्माच्छरीरान्मर्त्यादुत्क्रामन्त्यथ रोदयन्ति तद्यद्रो-
दयन्ति तस्माद्रुद्रा इति ॥४॥

यह सब जगत् निहित है, इसीलिये ये वसु हैं ॥ ३ ॥

शाकल्य ने कहा—रुद्र कौन है? याज्ञवल्क्य ने उत्तर दिया—इस पुरुष में कर्मेन्द्रियाँ और ज्ञानेन्द्रियाँ ये दश प्राण और ग्यारहवाँ मन है। जिस समय प्राणियों के प्रारब्धकर्म समाप्त हो जाते हैं, उस समय यही एकादश रुद्र मरणशील शरीर से उत्क्रमण करते हैं, तब ये उसके सम्बन्धियों को रुलाते हैं। इसलिए उत्क्रमणकाल में अपने सम्बन्धियों को रुलाते हैं। इसी रोदन के निमित्त होने से ये रुद्र कहे जाते हैं ॥४॥

नक्षत्रान्ता 'एते वसवः। प्राणिनां कर्मफलाश्रयत्वेन कार्यकरणसंघातरूपेण तन्निवासत्वेन च विपरिणमन्तो जगदिदं सर्वं वासयन्ति वसन्ति च। ते यस्माद्वासयन्ति तस्माद्वसव इति ॥३॥

कतमे रुद्रा इति दशेमे पुरुषे कर्मबुद्धीन्द्रियाणि प्राणा आत्मा मन एकादश एकादशानां पूरणस्त एते प्राणा यदाऽस्माच्छरीरान्मर्त्यात्प्राणिनां कर्मफलोपभोगक्षय उत्क्रा-

---

स्पष्टयति—प्राणिनामिति। 'तेषां कर्मणस्तत्फलस्य चाऽऽश्रयत्वेन तेषामेव निवासत्वेन च शरीरेन्द्रियसमुदायाकारेण विपरिणमन्तोऽग्न्यादयो जगदेतद्वासयन्ति स्वयं च तत्र वसन्ति तस्माद्युक्तं तेषां वसुत्वमित्यर्थः। वसुत्वं निगमयति—ते यस्मादिति ॥ ३ ॥

प्राणशब्दार्थमाह—कर्मेति। ते यदाऽस्मादित्यादि वाक्यमनुसृत्य तेषां रुद्रत्वमुपपादयति—त एते प्राणा इति। मरणकालः 'सप्तम्यर्थः ॥४॥

से लेकर नक्षत्रपर्यन्त नाम आठों वसुओं के हैं। प्राणियों के कर्मफल के आश्रय होकर उनके निवासस्थान देहेन्द्रियसंघातरूप से विपरिणति को प्राप्त हुए इस सम्पूर्ण संसार को बसाते हैं और स्वयं भी रहते हैं। क्योंकि वे बसाते हैं और बसते हैं, इसलिए वसु हैं ॥ ३ ॥

रुद्र कौन से हैं? इस पुरुषाकार देह में कर्मेन्द्रियाँ और ज्ञानेन्द्रियाँ ये दश प्राण और ग्यारहवाँ "आत्मा" यानी मन; ये ग्यारह संख्या की पूर्ति करने वाले अर्थात् ग्यारह रुद्र हैं। वे ये प्राण जिस समय म्रियमाण शरीर से उत्क्रमण करते हैं, उस समय ये उसके सम्बन्धियों को रुलाते हैं। क्योंकि उस समय

---

१ एतेष्विति—हि यस्मादेतेष्वग्न्यादिषु कर्मफलसाधनात्मकं सर्वं वसु हितं स्थितं तस्मात्ते वसव इत्यर्थः। तदुक्तं वार्तिके—"वसु कर्मफलं चाऽऽहुः कर्मणः साधनं वसु। यस्मात्तदेषु निहितं तस्मात्ते वसवः स्मृताः।" ॥ १३ ॥ इति। एतेषु हीत्यादौ वसुशब्दार्थमाह—वस्विति। तस्मादित्यादि व्याचष्टे—यस्मादिति। तदधीनत्वात्कर्मादेरित्यर्थः। २ इमे—प्रसिद्धाः। ३ पुरुषे—तदाकारदेहे। ४ एतन्नामानः। ५. वसन्ति चेत्यपि द्रष्टव्यम्। ६. म्रियमाणात्। ७ प्राणिनाम्। ८ प्राणिनामेव। ९. तत्रेति सप्तमी।

कतम आदित्या इति द्वादश वै मासाः संवत्सरस्यैत आदित्या एते हीदꣳ सर्वमाददाना यन्ति ते यदिदꣳ सर्वमाददाना यन्ति तस्मादादित्या इति ।५॥

कतम इन्द्रः कतमः प्रजापतिरिति स्तनयित्नुरेवेन्द्रो

शाकल्य ने कहा—आदित्य कौन है ? याज्ञवल्क्य ने उत्तर दिया—जो बारह मास संवत्सररूप काल के अवयव प्रसिद्ध हैं, यही आदित्य है। क्योंकि पुनः पुनः बदलते हुए इन सब प्राणियों की आयु एवं कर्मफल का ग्रहण करते हुए चलते हैं, इसीलिये ये आदित्य कहे जाते हैं ॥५॥

शाकल्य ने कहा—इन्द्र कौन है और प्रजापति कौन है ? याज्ञवल्क्य ने उत्तर दिया—विद्युत् ही इन्द्र है और यज्ञ ही प्रजापति है। शाकल्य ने पूछा—विद्युत् कौन है ? "अशनि" जो प्राणियों की

मन्ति । अथ तदा रोदयन्ति तत्संबन्धिनः । तत्र यस्माद्रोदयन्ति ते तत्संबन्धिनस्तस्माद्रुद्रा इति ॥ ४ ॥

कतम आदित्या इति वै द्वादश मासाः संवत्सरस्य कालस्यावयवाः प्रसिद्धा एत आदित्याः । कथम् । एते हि यस्मात्पुनः परिवर्तमानाः प्राणिनामायूंषि कर्मफलं चाऽऽददाना गृह्णन्त उपाददतो यन्ति गच्छन्ति ते यद्यस्मादेवमिदं सर्वमाददाना यन्ति तस्मादादित्या इति ॥ ५ ॥

कतम इन्द्रः कतमः प्रजापतिरिति स्तनयित्नुरेवेन्द्रो यज्ञः प्रजापतिरिति कतमः

तेषामादित्यत्वमप्रसिद्धमिति शङ्कते—कथमिति । एते हीत्यादिवाक्येनोत्तरमाह—एते हीति ॥ ५ ॥

संबन्धियों को रुलाते हैं, इसलिए वे उस रोदन में निमित्त होने के कारण रुद्र कहलाते हैं ॥ ४ ॥

आदित्य कौन से हैं ? संवत्सरात्मक काल के अवयव तदभिमानी देवता बारह मास प्रसिद्ध हैं, वे ही आदित्य हैं। यह कैसे कहते हो ? क्योंकि ये मासाभिमानी देवता ही पुनः-पुनः परिवर्तित होते हुए प्राणियों की आयु और कर्मफल को "आददाना" अर्थात् ग्रहण या उपादान करते हुए चलते हैं। क्योंकि वे सब कुछ का इस प्रकार आदान करते हुए चलते हैं, इसलिए उनका आदित्य नाम पड़ गया ॥ ५ ॥

इन्द्र और प्रजापति कौन से हैं ? मेघनादाभिमानी देवता ही इन्द्र है और यज्ञ प्रजापति है।

---

१. रोदयन्तीति—उपलक्षणमेतद्रुदन्ति चेत्यस्य । तदुक्तं वार्तिके—"रोदयन्तो द्रवन्त्येते रुदन्ति च यतस्ततः । रुद्रा इत्यभिधीयन्ते प्राणा एकादशोदिताः" ॥ १५ ॥ इति ॥ २. तदभिमानिदेवाः । ३ संवत्सरात्मकस्य । ४. मूलस्थवंशब्दार्थोऽयम् । ५ मासाभिमानिनः । ६. कर्मफलमिति—"आयुर्वीर्यं स्मृतिं प्रज्ञां सौकुमार्यं वपुः श्रियम्" ॥ १७ ॥ इत्येवमादिवार्तिकोक्तम् । ७. स्तनयित्नुरेवेन्द्र इति—स्तनयित्नुर्मेघनादाभिमानिनी देवतैवेन्द्र इत्यर्थः ।

यज्ञः प्रजापतिरिति कतमः स्तनयित्नुरित्यशनिरिति
कतमो यज्ञ इति पशव इति ॥६॥
कतमे षडित्यग्निश्च च वायुश्चान्तरिक्ष चाऽऽदित्यश्च
द्यौश्चैते षडेते हीद७ सर्व७ षडिति ॥७॥

हिंसा करता है (यह इन्द्र का ही क्रूर कर्म है)। शाकल्य ने पूछा—यज्ञ कौन है ? याज्ञवल्क्य ने उत्तर दिया—यज्ञ के साधन होने से पशुगण यज्ञ है (क्योंकि यज्ञ का स्वय अपना रूप नहीं है)॥६॥

शाकल्य ने पूछा—छ देवगण कौन से हैं ? याज्ञवल्क्य ने कहा—अग्नि, पृथिवी, वायु, अन्तरिक्ष, आदित्य तथा द्यु लोक बस यही छ देवगण हैं (पहले बतलाए गये वसुओं मे से चन्द्रमा और नक्षत्र को छोड देने पर शेष देवता षटसख्याविशिष्ट होते हैं), क्योंकि ये वसु आदि तैंतीस देवताओं के रूप मे अग्नि आदि छ देवगण ही है। इन्हीं छ के विस्तार अन्य सभी देव हैं॥७॥

स्तनयित्नुरित्यशनिरिति। 'अशनिर्वज्र' वीर्यं बल यत्प्राणिन' 'प्रमापयति स इन्द्र.। इन्द्रस्य हि 'तत्कर्म। कतमो यज्ञ इति पशव इति। यज्ञस्य हि साधनानि पशव.। यज्ञस्यारूपत्वात्पशुसाधनाश्रयत्वाच्च पशवो यज्ञ इत्युच्यते ॥ ६ ॥

कतमे षडिति। त एवाग्न्यादयो वसुत्वेन पठिताश्चन्द्रमसं नक्षत्राणि च वर्जयित्वा षड्भवन्ति षट्संख्याविशिष्टा.। एते हि यस्मात्त्रयस्त्रिंशदादि यदुक्तमिद सर्वमेत

प्रसिद्ध वज्र' व्यावर्तयति—वीर्यमिति। तदेव संघातनिष्ठत्वेन स्फुटयति—बलमिति। किं तद्बलमिति चेत्तत्राऽऽह—यत्प्राणिन इति। प्रमापणं हिंसनम्। कथ तस्येन्द्रत्वमुपचारादित्याह—इन्द्रस्य हीति। पशूनां यज्ञत्वमप्रसिद्धमित्याशङ्क्याऽऽह—यज्ञस्य हीति। 'कारणे 'कार्योपचारं साधयति—यज्ञस्येति। 'अमूर्तत्वात्साधनव्यतिरिक्तरूपाभावाद्यज्ञस्य पश्वाश्रयत्वाच्च पशवो यज्ञ इत्युच्यत इत्यर्थः ॥ ६ ॥

एते हीति प्रतीकमादाय व्याचष्टे—यस्मादिति। यत्त्रयस्त्रिंशदाद्युक्त' तत्सर्वमेत एव

इस पर पूछते हैं—स्तनयित्नु कौन है ? अशनि है। अशनि वज्र का अपर पर्याय है, (उसका बल मेघनादाभिमानी इन्द्र मे होने के कारण इन्द्र का इन्द्रत्व है) जो प्राणियो मे अभिमान उत्पन्न करा कर युद्धादि मे प्रवृत्त कर हिंसा करता है, वह इन्द्र है, इन्द्र का ही वह कर्म है। यज्ञ कौन सा है ? पशुगण ही यज्ञ है क्योंकि यज्ञ के साधन पशु हैं। यज्ञ के रूपरहित एव पशुरूप साधन के आश्रित होने पशु यज्ञ हैं—ऐसा कहा जाता है ॥ ६ ॥

वे छ देवता कौन से हैं ? वे अष्टवसुरूप से पूर्वमन्त्र मे पठित चन्द्रमा और नक्षत्रो को छोडकर अग्नि आदि ही षट्सख्याविशिष्ट होते है क्योंकि ये तैंतीस आदि जो कहे गये है, वे सभी

---

१ अशनिरिति—अशनिवज्रापरपर्याय बल तस्य मेघनादाभिमानीन्द्रनिष्ठत्वादिन्द्रत्वमिति भाव। २ प्रमापयति—अभिमानमुत्पाद्य युद्धादौ प्रवर्त्य हिनस्तीत्यर्थ। ३ प्रमापणम्। ४ आरोपात्। ५ पशौ। ६ यज्ञारोपम्। ७ निरवयवत्वात्। ८ देवजातम्।

कतमे ते त्रयो देवा इतीम[1] एव त्रयो लोका एषु हीमे सर्वे देवा इति कतमौ द्वौ देवावित्यन्नं चैव प्राणश्चेति कतमोऽध्यर्ध इति ❀योऽयं पवत इति ॥८॥

शाकल्य ने पूछा—वे तीन देव कौन हैं? याज्ञवल्क्य ने कहा—ये तीन लोक ही तीन देव हैं अर्थात् पृथिवी और अग्नि मिलाकर एक देव, अन्तरिक्ष और वायु मिलाकर दूसरे देव, एवं द्युलोक और आदित्य मिलाकर तीसरे देव हैं। इन्हीं में ये सब देवगण अन्तर्भूत हैं। शाकल्य ने पूछा—वे दो देव कौन हैं? याज्ञवल्क्य ने कहा—अन्न और प्राण (इन्हीं में पूर्वोक्त सभी देवताओं का अन्तर्भाव हो जाता है)। शाकल्य ने पूछा—डेढ देव कौन है? याज्ञवल्क्य ने कहा—जो यह बहता है, वह वायु ही डेढ देव है॥ ८॥

एव षड्भवन्ति । सर्वो हि वस्वादिविस्तार एतेष्वेव [2]षट्स्वन्तर्भवतीत्यर्थः ॥ ७ ॥

कतमे ते त्रयो देवा इति । इम एव [3]त्रयो लोका इति । [4]पृथिवीमग्निं चैकीकृत्यैको

यस्मात्तस्मादेते षड्भवन्तीति योजना । अक्षरार्थमुक्त्वा वाक्यार्थमाह—सर्वो हीति ॥ ७ ॥

देवगण ये ■ होते हैं। भावाशय यह है कि वसु, रुद्र एवं आदित्यादिरूप से सम्पूर्ण देवताओं का विस्तार इन अग्न्यादि छः में ही अन्तर्भूत हो जाता है॥ ७॥

---

१ इमे—प्रसिद्धा । २ षट्स्विति—'अग्न्यादिषु यत षट्सु यथोक्ता सर्वदेवता । षट्संख्यामेव सयान्ति षडग्न्याद्यास्तत स्मृता" ॥ वा० २० ॥ इति षट्सु अन्तर्भता सत्य इति शेष । ३ पृथिवी, अन्तरिक्ष, द्यौरिति । ४ अत्र केषाचिद्देवनिर्वचनकर्तृणा मत दर्शयति—पृथिवीमित्यादिना ।

❀योऽय पवन इत्यादि तेनाध्यर्ध इतीत्यन्तग्रन्थे षड्वार्तिकानि प्रदर्श्यन्ते ॥ "योऽय पवत इत्युक्तिरध्यर्धस्य विनिर्णये । एकत्वात्त्वमानस्य तदाहुरिति चोदना ॥ एकसस्यैव नान्योऽस्ति द्विसख्याया यतस्तत । पृष्टोऽध्यर्ध इति प्राह सोपहासमृपि सुधी ॥ वायुर्वा देवता कृत्स्ना तदन्यस्य तदात्मन । अधत्व स्यात्कनीयस्त्वाद्व्याप्य-स्याग्न्यादिरूपिण ॥ ऋद्धि प्रापद्यत सर्व वायौ सति चराचरम् । तस्मादध्यध इत्येव वायुमाचक्षते बुधा ॥ अन्नाशितृत्वसिद्धयर्थं सख्याप्राधान्यमध्यर्धे विदग्धेन विवक्षितम् । सर्वमृध्नोति यत्प्राण तेनेति श्रुतिहृद्गतम् ॥ अन्नाशितृत्वसिद्धयर्थं सख्याप्राधान्यमध्यर्धे" ॥ २३-२८ ॥ इति । योऽयमित्यादि व्याचष्टे—यथा व्युत्पत्तिरुच्यते । अन्नेनाश्नुत इत्यवमध्यर्धस्यापि योजना" ॥ २३-२८ ॥ इति । योऽयमित्यादि व्याचष्टे—यथा व्युत्पत्तिरुच्यते । द्वितीयसख्याया योऽयमिति । तदित्यादेस्तात्पर्यमाह—एकत्वादिति ॥ यदित्यादिप्रत्युक्तिमवतारयति—एकेति । द्वितीयसख्याया सकाशादर्वागेकत्वसख्यैवास्ति न च सख्यान्तरमतोऽध्यर्धशब्दस्य सख्याविषयत्वायोगेऽपि तद्विषयत्वमुपेत्य कथमयमेक सन्नध्यर्ध स्यादिति पृष्ट एष मुनिरयोग्यविषयत्व प्रश्नस्य पश्यन्नुपहासपूर्वक यदस्मिन्नित्याद्युक्तवानित्यर्थ ॥ यदस्मिन्नित्यादि श्रुत्यक्षराणि व्याचष्टे अध्यर्धशब्दस्य सख्याविषयत्वमुपेत्य श्रुतेर्वंहि समाधिमाह—वायुर्वेति ॥ यदस्मिन्नित्यादि श्रुत्यक्षराणि व्याचष्टे अध्यर्धशब्दस्य सख्याविषयत्वमुपेत्य श्रुतेर्वंहि समाधिमाह—सख्येति । कथ तर्हि यौगिका-—ऋद्धिमिति ॥ प्रकरणादध्यर्धशब्दस्य सख्याविषयत्व कथमुपहासोक्तिरत आह—सख्येति । कथ तर्हि यौगिकार्थोक्तिस्तत्राऽऽह—सर्वमिति । शाकल्यस्य मिथ्यावादिनो मतमपास्य सम्यग्ज्ञानिना मुनेर्मतमुपास्यमित्यर्थ । प्राणे सति सर्व जगदृद्धि यस्मादाप्नोति तेनाध्यर्ध । स इति श्रुतमतमिति योजना ॥ अध्यर्धशब्दस्य यौगिकत्व दृष्टान्तेनाऽऽह—अन्नेति । ऐतरेयके प्राणस्यान्नाशितृत्वमुक्त तत्सिद्धयर्थमन्नेन हीद सर्वमश्नुते प्राण इत्येवप्रकारेण व्युत्पत्तिर्यथोच्यते तथाऽध्यर्धशब्दस्यापि व्युत्पत्तिरित्यर्थ ॥

तदाहुर्यदयमेक इवैव पवतेऽथ कथमध्यर्ध इति यद-
स्मिन्निद॰ सर्वमध्यार्ध्नोत्तेनाध्यर्ध इति कतम एको

इस विषय मे ऐसा कहते हैं, यह जो वायु है, यह एक ही-सा बहता है, फिर यह अध्यर्ध यानी डेढ कैसे कहा जाता है। इसका उत्तर यह है क्योंकि इसी मे यह सब जगत् अधि-ऋद्धि को प्राप्त होता है, इसीलिये यह वायु अध्यर्ध है यानी डेढ है। शाकल्य ने कहा—एक देव

देवोऽन्तरिक्षं वायुं चैकीकृत्य द्वितीयो दिवमादित्यं चैकीकृत्य तृतीयस्त एव त्रयो देवा इति। एषु हि यस्मात्त्रिषु देवेषु सर्वे देवा अन्तर्भवन्ति तेनैत एव देवास्त्रय इत्येषनैरुक्तानां केषांचित्पक्षः। कतमौ तौ द्वौ देवाविति। अन्नं चैव प्राणश्चैतौ द्वौ देवावनयोः सर्वेषामुक्तानामन्तर्भावः। कतमोऽध्यर्ध इति। योऽयं पवते वायुः ॥ ८ ॥

तत्तत्राऽऽहुश्चोदयन्ति यदयं वायुरेक इवैवैक एव पवते। अथ कथमध्यर्ध इति। यदस्मिन्निदं सर्वमध्यार्ध्नोदस्मिन्वायौ सतीदं सर्वमध्यार्ध्नोदधि ऋद्धिं प्राप्नोति तेना-

---

प्रतिज्ञासमाप्ताविति शब्दः। तत्र हेतुः—एषु हीति। वेदलक्षणकृतां केषांचिदेष पक्षो दर्शितो-ऽन्येषां तु त्रयो लोका इत्यस्य यथाश्रुतोऽर्थ इत्याह—इत्येष इति ॥ ८ ॥

एकस्याध्यर्धत्वमाक्षिपति—तत्तत्रेति। इवशब्दस्तु कथमित्यत्र संबध्यते। परिहरति—यद-

---

वे तीन देवता कौन से हैं? (इस पर याज्ञवल्क्य कहते हैं—) वे तीन लोक (पृथिवी, अन्तरिक्ष और द्युलोक) ही तीन देवता हैं। पृथिवी और अग्नि मिलाकर एक देव हैं, अन्तरिक्ष और वायु को मिलाकर दूसरे देवता हो जाते हैं, तथा द्युलोक और आदित्य को मिलाकर तीसरे देवता हो जाते हैं। ये तीन देवता हैं क्योंकि इन तीन देवताओं मे सभी देवता अन्तर्भूत हैं। इसलिए ये ही तीन देवता हैं—ऐसा किन्ही निरुक्तिकारों का मत है। (अच्छा तो) वे दो देवता कौन से मानते हो? अन्न और प्राण दो देवता हैं। इन्ही में पूर्वोक्त सभी देवता अन्तर्भूत हैं। डेढ़ देवता कौन से हैं? जो यह बहता है, वह (बाह्य) वायु ही डेढ देवता हैं ॥ ८ ॥

अध्यर्धशब्द के वायु विषय मे कहे जाने पर शाकल्य आदि वादी कहते हैं—यह जो वायु है

---

१. कथमेतावेव द्वौ देवाविति तत्राऽऽह—अनयोरिति। "एतावन्मात्रयाथात्म्य सर्वस्य जगतस्ततः" ॥ २२ ॥ इति वार्तिके। भोक्तृभोग्यात्मकमेव सर्वं जगदित्यभिप्रेत्याह—एतावदिति। तत इति—द्वावेवैतौ देवाविति शेषः। २. वाति। ३. बाह्यो वायुः। ४. तत्तत्रेति—अध्यर्धशब्दस्य वायुविषयत्वे उक्ते सति शाकल्यादयो वादिन आहुश्चोदयन्ति यद्यतोऽयं वायुरेक एव पवते वाति। ५. अथ—अतः कथमिव अध्यर्ध इति शङ्किते योगमाश्रित्य परिहरति—यदिति। ६. यस्मादस्मिन्वायौ सति इदं सर्वं चराचरात्मकं जगद् अधि—अधिकम् आर्ध्नोद् वृद्धिं प्रापत् तेन हेतुनाऽध्यर्धो वायुरित्यर्थः ॥ ७. वेदलक्षणकृतामिति पाठः। ८. यथाश्रुतोऽर्थ इति भूर्भुवः स्वरिति त्रयो लोका एव त्रयो देवा इति यथाश्रुतोऽर्थः इत्यर्थः। ९. तथा च वाक्यालङ्कारार्थं एव स इति भाव.।

इति प्राण इति स ब्रह्म त्यदित्याचक्षते ॥९॥

कौन है ? याज्ञवल्क्य ने कहा—"प्राण" है, वह प्राण ब्रह्मस्वरूप है। उस ब्रह्म को ही परोक्षवाचक "त्यत्" इस शब्द से भी कहते है ॥ ९ ॥

ध्यर्ध इति । कतम एको देव इति प्राण इति । स प्राणो[1] ब्रह्म सर्वदेवात्मकत्वान्महद्ब्रह्म तेन, स ब्रह्म त्यदित्याचक्षते त्यदिति तद्ब्रह्माऽऽचक्षते[2] परोक्षाभिधायकेन शब्देन । देवानामेतदेकत्वं नानात्वं च[3] । अनन्तानां देवानां निविरसंख्याविशिष्टेष्वन्तर्भावः। तेषामपि त्रयस्त्रिंशदादिषूत्तरोत्तरेषु यावदेकस्मिन्प्राणे प्राणस्यैव चैकस्य सर्वोऽनन्त-

---

स्मिन्निति । प्राणस्य ब्रह्मत्वं साधयति—सर्वेति । तेन महत्त्वेनेति यावत् । तस्य परोक्षत्व[11]प्रतिपत्तौ [11]प्रयत्नगौरवार्थं कथयति—त्यदितीति । [12]उक्तमर्थं प्रतिपत्तिसौकर्यार्थं [13]संगृह्णाति—देवानामिति । एकत्वं प्राणे पर्यवसानम् । नानात्वमानन्त्यम् । षडधिकत्रिशताधिकत्रिसहस्रसंख्याकानामेव देवानामत्रोक्तत्वात्कथं तदानन्त्यमित्याशङ्क्य शतसहस्र[14]शब्दाभ्यामनन्तताऽप्युक्तैवेत्याशयेनाऽऽह—अनन्तानामिति । एकस्मिन्प्राणे पर्यवसानं यावद्भवति तावत्पर्यन्तमुत्तरोत्तरेषु त्रयस्त्रिंशदादिषु [15]तेषामप्यन्तर्भाव इत्याह—तेषामपीति । प्राणस्य कस्मिन्नन्तर्भावस्तत्राऽऽह—प्राणस्यैवेति । संगृहीतमर्थमुपसं-

---

वह "एक इवैव" एक ही तरह चलता है। तो फिर इसे डेढ क्यों कहते हो ? क्योंकि इसी मे यह सब "अध्याध्नोंत्" अर्थात् अधिकऋद्धि को प्राप्त होता है यानी वायु के रहते हुए ही जगत् अधिक वृद्धि को प्राप्त होता है, इसलिए अध्यर्ध है। वह एक देव कौन सा है ? (इस पर याज्ञवल्क्य कहते हैं—) वह एक देवता प्राण है। वह प्राण ब्रह्म है, सर्वदेवरूप होने के कारण वह महद्ब्रह्म है। इसलिए प्राणशब्द से कहा हुआ वह ब्रह्म त्यत् है—ऐसा कहते हैं अर्थात् उस ब्रह्म को 'त्यत्' इस परोक्षवाचकशब्द से कहते हैं। इस प्रकार देवताओं का एकत्व और नानात्व कहा गया। अनन्त देवताओं का निविरसंख्याविशिष्ट देवों मे अन्तर्भाव है और उनका तैतीस आदि उत्तरोत्तर देवताओं में एक प्राण ही अन्तर्भूत है । एक प्राण का ही यह सब अनन्त संख्या के रूप मे विस्तार

---

१. कोऽसावित्यपेक्षायामाह—स इति । स प्राणो ब्रह्म सूत्रात्मरूपेण सर्वकार्याणां भरणात् कारणभूतो ब्रह्मेति भण्यते तं प्राण ब्रह्म त्यदिति परोक्षाभिधायकेन शब्देनाचक्षते प्राणविदः साक्षान्निर्देष्टुमशक्यत्वादित्यर्थः । तथाच वार्तिके—"साक्षान्निर्देशनुत्त्यर्थं कारणत्वावबुद्धये। प्राण ब्रह्म त्यदित्याहु पारोक्ष्येण महाधियः" ॥ ३१ ॥ इति । २. प्राण इति । "जनिमत्त्वमभूताना प्राणऽन्तर्भावहेतुतः । प्राणो देवोऽत एवैकस्तस्यैव महिमाऽपर" ॥ वा. २९॥ इति । अपरो देवगण इत्यर्थः । ३. तेन महत्त्वेन ब्रह्मेत्यन्वयः । ४. प्राणशब्दोदितम् । ५. प्राणशब्दाभिधेयम् । ६. तद्विदः । ७ उक्तमिति शेषः । ८. निविदिति—षडधिकत्रिशताधिकत्रिसहस्रसंख्याकेष्वित्यर्थः । ९. प्राणे इति अन्तर्भाव इति पूर्वत्र संबन्धः। तथाहि—निविरसंख्याविशिष्टाना देवानां त्रयस्त्रिंशद्देवेषु तेषां षट्सु तेषा त्रिषु तेषा द्वयोः तयोरध्यर्धे तस्य प्राणे इति । १०. तदवमतौ । ११. प्रयत्नाधिक्यार्थम् । १२. उक्तमर्थमिति—बृ० उ० ३।९।१ उपक्रमभाष्ये ब्राह्मण इत्यादि ग्रन्थेनोक्तमित्यर्थः । १३. संक्षिपति । १४. शब्दाभ्यामिति—बहुवचनान्ताभ्यामिति शेषः । आनन्त्यस्याविवक्षितत्वे त्रयश्च त्री च शतं त्रयश्च त्री च सहस्रमित्येवमेव ब्रूयादिति भावः । १५. निविरसंख्याविशिष्टानाम् ।

पृथिव्येव यस्याऽऽयतनमग्निर्लोको मनोज्योतिर्यो वै तं पुरुषं विद्यात्सर्वस्याऽऽत्मनः परायणꣳ स वै वेदिता स्यात् याज्ञवल्क्य वेद वा अहं तं पुरुषꣳ सर्वस्या-

शाकल्य ने पूछा—पृथिवी ही जिस देव का आश्रय है, अग्नि जिसका लोक (देखने का साधन) है और मन जिसकी ज्योति (सङ्कल्प विकल्प की साधन) है, जो भी उस पुरुष को सम्पूर्ण आध्यात्मिक कार्यकरणसंघात का परम आश्रय जानता है, वही पंडित है (हे याज्ञवल्क्य ! तुम तो उसे जाने बिना ही पंडित होने का दम्भ कर रहे हो)। याज्ञवल्क्य ने कहा—जिसे तुम सम्पूर्ण आध्यात्मिक कार्यकरणसंघात का परम आश्रय कहते हो उसे मैं जानता हूँ। यह जो भी शारीर पुरुष है, वही यह देव

---

[1]संख्यातो विस्तारः। [2]एवमेकश्चानन्तश्चा[3]वान्तरसंख्याविशिष्टश्च प्राण एव। तत्र च [4]देवस्यैकस्य नामरूपकर्मगुणशक्तिभेदोऽधिकारभेदात् ॥ ९ ॥

इदानीं [5]तस्यैव प्राणस्य ब्रह्मणः पुनरष्टधा भेद उपदिश्यते—

पृथिव्येव यस्य [6]देवस्याऽऽयतनमा[7]श्रयो[8]ऽग्निर्लोको यस्य लोकयत्यनेनेति [9]लोक

हरति—एवमिति। एकस्यानेकधाभावे किं निमित्तमित्याशङ्क्याऽऽह—तत्रेति। उक्तरीत्या प्राणस्वरूपे स्थिते सतीति यावत्। देवस्यैकस्य प्रकृतस्य प्राणस्यैवेत्यर्थः। प्राणिनां [10]ज्ञाने कर्मणि चाधिकारस्य [11]स्वामित्वस्य भेदोऽधिकारभेदस्तन्निमित्तत्वेन [12]देवस्या[13]नेकसंस्थानपरिणामसिद्धिः। प्राणिनो हि [14]ज्ञानं कर्म चानुष्ठाय सूत्राग्न्यादिरूपमापद्यन्ते तद्युक्तो यथोक्तो भेद इत्यर्थः ॥ ९ ॥

सङ्कोचविकासाभ्यां [15]प्राणस्वरूपोक्त्यनन्तरमवसरप्राप्तिरि[16]दानीमित्युच्यते। उपदिश्यते [17]ध्यानार्थमिति शेषः। अवयवशो वाक्यं योजयति—पृथिवीति। संपिण्डितं वाक्यत्रयार्थं कथयति—पृथिवी-

---

हुआ है। उक्त रीति से एक अनन्त और अन्यान्य (निर्दिष्ट मध्यम) संख्या से विशिष्ट एक प्राण ही है। वहाँ अधिकारभेद से एक ही प्राणदेवता के नाम, रूप, कर्म, गुण और शक्ति का भेद है ॥ ९ ॥

अब उसी (अनन्त भेदभिन्न सर्वदेवतात्मक) प्राण ब्रह्म के आठ प्रकार के भेद बतलाये जाते हैं।

---

१ संख्यात इति पाठो लेखकप्रमादागत इति भाति। संख्यातः संख्यावानित्यर्थो वा पाठो न्याय्यः प्रतिभाति यथाश्रुतपाठे तु तृतीयान्तात्तसिस्तथा च तत्संख्याप्रयुक्त इत्यर्थः। यद्वा आनन्त्येन सम्यक् ख्यात इत्यर्थः। २ उक्तरीत्या। ३ निर्दिष्टमध्यमसंख्या। ४ प्राणस्य। ५ अनन्तभेदभिन्नस्य सर्वदेवतात्मकस्य। ६ पृथिव्यभिमानिनोऽग्निरूपस्य। ७ शरीरमिति यावत्। ८ भूमिष्ठ काष्ठाद्यारूढतया रूढोऽग्निः। ९ चक्षुः। १० उपास्ती। ११ फलस्वामित्वस्येति बोध्यम्। १२ प्राणस्य। १३ अग्न्याद्यनेकव्यक्त्या स्वस्वपरिणामनिष्पत्तिरिति यावत्। १४ उपासनम्। १५ प्राणस्य स्वरूपमेकमनन्तं च तत्कथनानन्तरम्। १६ तथा चावसरप्राप्तौ सत्यामित्यर्थः। अवसरे सतीति यावत्। १७ नन्वनन्तभेदे प्राणे व्याख्याते तस्याष्टधा भेदोऽप्युक्त एवेति किं पुनरुक्त्या तत्राऽऽह—ध्यानार्थमिति। ध्यानसौकर्यार्थं संक्षेपतः पुनरुक्तिरिति भावः।

ऽऽत्मनः परायणं यमात्थ य एवायꣳ शारीरः पुरुषः स एष [1]वदैव शाकल्य [2]तस्य का देवतेत्यमृतमिति होवाच ॥ १० ॥

है। हे शाकल्य ! इस सवन्ध मे फिर से पूछो। शाकल्य ने कहा—उस शारीर पुरुष का देवता कौन है ? याज्ञवल्क्य ने कहा—वह अमृत है (शुक्र-शोणित से निष्पन्न पार्थिव शरीर को "शारीर पुरुष" शब्द से कहा गया है, जो अन्न के रस से निष्पन्न होता है) ॥ १० ॥

---

[3]पश्यतीत्यग्निना पश्यतीत्यर्थः। मनोज्योति[4]र्मनसा ज्योतिषा संकल्पविकल्पादिकार्यं करोति यः सोऽयं मनोज्योतिः। पृथिवीशरीरो[5]ऽग्निदर्शनो मनसा [4]संकल्पयिता पृथिव्य-भिमानी कार्यकरणसंघातवान्देव इत्यर्थः। य [6]एवंविशिष्टं वै [7]तं पुरुषं विद्याद्विजानी-या[8]त्सर्वस्याऽऽत्मन [9]आध्यात्मिकस्य कार्यकरणसंघातस्या[10]ऽऽत्मनः परमयनं पर आश्रयस्तं परायणम्। मातृजेन त्वङ्मांसरुधिररूपेण क्षेत्रस्थानीयेन बीजस्थानीयस्य पितृ-

---

त्यादिना। वैशब्दोऽवधारणार्थः। तं परायणं य एव विजानीयात्स एव वेदिता स्यादिति संबन्ध.। अथ केन रूपेण पृथिवीदेवस्य कार्यकरणसंघातं प्रत्याश्रयत्वं तदाह—मातृजनेति। पृथिव्या [11]मातृशब्दवा-च्यत्वाद्य एव देवोऽहं पृथिव्यस्मीति मन्यते स एव शरीरारम्भकमातृजकोशत्रयाभिमानितया वर्तते [12]तथा च [13]तस्य [14]तेन रूपेण पितृजत्रितयं कार्यं लिङ्गं च करणं प्रत्याश्रयत्वं संभवतीत्यर्थः। पृथिवी-

---

जिस देवता का पृथिवी ही "आयतनम्" अर्थात शरीर है, अग्नि जिसका लोक है, जिससे देखा जाता है; उसे लोक यानी चक्षु कहते हैं। "देखता है" ऐसी व्युत्पत्ति करने से अग्नि के द्वारा देखता है, ऐसा अर्थ हो जाता है। मन ज्योति है क्योकि मनरूप ज्योति से जो सकल्प-विकल्पादि कार्य करता है, वह यह मनोज्योति है। भावाशय यह है कि यह पृथिवी का अभिमानी कार्यकरण-सघातवान् देवता पृथिवीरूप शरीर वाला, अग्निरूप नयन वाला और मन से सकल्प करने वाला है। जो उक्त प्रदर्शित विशेषण वाले पृथिव्यभिमानी पुरुष को निखिल "आत्मनः" आत्मा मे अध्यारोपित

---

१. एतावता समाप्त दर्शनमिति मन्यमान तूष्णीं(भूतं)स्थित शाकल्य प्रति मुनिराह—वदैवेति। पृच्छ यदत्र प्रष्टव्य विशेषणान्तर आसीत्यर्थ.। २. तस्येति—मातृजकोशत्रयात्मकशारीरस्य का देवता किमुत्पत्तिकारणम्। अत्र प्रकरणे देवताशब्देन सर्वत्रोत्पत्तिकारणस्यैव विवक्षितत्वादित्यर्थः। ३. लोकयतीत्यस्य व्याख्यान पश्यतीति। इतिशब्दो लोक इत्यन्तर व्युत्पत्तिसमाप्त्यर्थकः। ४. मनसेति—तथा च मनोज्योतिः सकल्पादि साधन यस्येति विग्रहो द्रष्टव्यः। ५. अग्निनयनः। ६. प्रदर्शितविशेषणकम्। ७. पृथिव्यभिमानिनम्। ८. निखिलस्य। ९. आत्मन्यध्यारोपितस्य। १०. अत एवाऽऽत्मन —आत्मत्वेनाभिमतस्येत्यर्थ.। ११. मातृशब्देति। तथा च कोश—"माता गौर्दुर्गाजननीमहीति" हैमः। "माता गौर्यादिजननीगोब्रह्माण्यादिभूमिष्विति" विश्वः। १२. सत्ताभिमानित्वे च। १३. देवस्य। १४. उक्तत्रयत्वेन तदभिमानित्वेन वा।

अस्यास्थिमज्जाशुक्ररूपस्य परमयनं करणात्मनश्च स वै वेदिता स्याद्य एतदेवं वेत्ति स वै वेदिता पण्डितः स्यादित्यभिप्रायः। याज्ञवल्क्य त्वं तमजानन्नेव पण्डिताभिमानीत्यभिप्रायः।

यदि तद्विज्ञानेन पाण्डित्यं लभ्यते वेद वा अहं तं पुरुषं सर्वस्याऽऽत्मनः परायणं यमात्थ यं कथयसि तमहं वेद तत्र शाकल्यस्य वचनं द्रष्टव्यम्। यदि त्वं वेत्थ तं पुरुषं ब्रूहि किंविशेषणोऽसौ। शृणु यद्विशेषणः सः। य एवायं शारीरः पार्थिवांशे शरीरे भवः शारीरो मातृजकोशत्रयरूप इत्यर्थः। स एष देवो यस्त्वया पृष्टो हे शाकल्य। किंत्वस्ति तत्र वक्तव्यं विशेषणान्तरं तद्वदैव पृच्छ्वेत्यर्थो हे शाकल्य। स एवं प्रक्षो-

---

देवस्य परायणत्वमुपपाद्यानन्तरवाक्यमुत्थाप्य व्याचष्टे—स वै वेदितेति। तथाऽपि मम किमायातमित्याशङ्क्याऽऽह—याज्ञवल्क्येति।

स पुरुषो येन विशेषणेन विशिष्टस्तद्विशेषणमुच्यमानं शृण्वित्युक्त्वा तदेवाऽऽह—य एवेति। शरीरं हि पञ्चभूतात्मकं तत्र पार्थिवांशे जनकत्वेन स्थितः शारीर इति यावत्। तस्य जीवत्वं वारयति—मातृजेति। पृथिवीदेवस्य निर्णीतत्वशङ्कां वारयति—किंत्विति। याज्ञवल्क्यो वक्ता सम्प्रष्टारं शाकल्यं प्रति कथं वदेवेति कथयति तत्राऽऽह—पृच्छेति। क्षोभितस्यामर्षवशगत्वे दृष्टान्तः—

कार्यकरणसंघातरूप आत्मा का "परायणम्" यानी परम अयन या परम आश्रय जानता है। अर्थात् मातृज क्षत्रस्थानीय त्वचा मांस और रुधिररूप से पितृज बीजस्थानीय अस्थि-मज्जा, और वीर्यरूप कार्य का तथा सूक्ष्म शरीर का वह परम आश्रय है, उक्त रीति से जो जानता है, वही यथार्थ में जानता है। भावार्थ यह है कि जो इस उक्त विधि से जानता है वही "वेदिता" अर्थात् पण्डित है। हे याज्ञवल्क्य! तुम तो पण्डितम्मन्य हो, उसे जानते नहीं हो। ऐसा इसका अभिप्राय है।

यदि उसके विज्ञान से ही पाण्डित्यप्राप्ति होती है, तो मैं उस पुरुष को तो जानता हूँ, जिसे तुम निखिल आत्मा के आश्रित बतलाते हो। 'य एवाय" यहाँ यह वाक्य शाकल्य का प्रश्न समझना चाहिये। यदि तुम उस पुरुष को जानते हो, तो मुझे बताओ कि वह किस विशेषण वाला है। इस पर याज्ञवल्क्य कहते हैं—वह जिन विशेषणों वाला है, उसे सुनो। शारीरः" अर्थात् पार्थिवांश शरीर में होने वाला अर्थात् जो मातृज कोशत्रय रूप है, हे शाकल्य! वही देव है, जिसके विषय में

---

१ कार्यस्येति क्वच.। २ सूक्ष्मशरीरस्य च। ३ एतदेवमिति—उक्तं प्रदर्शितं पुरुषवस्तु। एवम् उक्तविषया। एत देवमिति पाठान्तरम्। ४ तर्हि। ५ तत्रेति—य एवायमिति वाक्यात्पूर्वत्रेत्यर्थं इत्याहु। याज्ञवल्क्यस्य वर्णोक्त सतीति वाच। ६ प्रश्न.। ७. तदीय वचन दर्शयति—यदीति। ८ अत्रेति शब्दो योज्य। ९ याज्ञवल्क्य आह—शृण्विति। १० भर्तान्वृत्तिपार्थिवांश। ११. यस्त्वया पृष्ट इति—तथा च पृथिव्येव यस्यायतनमित्यादिना या भामान्यपेक्षिता शाकल्यपृष्टा पृथिव्यभिमानिनी देवता सैव मातृजकोशत्रयात्मनाऽवस्थिता इति मुनिना विशेषाश्रितोक्ताऽतो न प्रश्नप्रतिवचनयोर्वैयधिकरण्यम्। १२. पृथिवीदेवे। १३ शाकल्य। १४ वदेवेत्यवम्। १५ तथाऽपीति—उक्तविशेषणकपृथिव्यभिमानिपुरुषवेदितु सत्यपि पाण्डित्य इत्यर्थं। १६ विशेषणमेव। १७ [illegible]न्यस्य। १८. पार्थिवांशे—मातृजे मांसादित्रितय। स्थित.—तन्मय सन्वर्तमान.। १९. उक्तदेवस्य। २०. उपास्यस्य।

काम एव यस्याऽऽयतनꣳ हृदयं लोको मनोज्योतिर्यो वै तं पुरुषं विद्यात्सर्वस्याऽऽत्मनः परायणꣳ स वै

शाकल्य ने पूछा—जिसका आश्रय दाम्पत्य सुखाभिलाषारूप काम ही है, हृदयस्थ बुद्धि लोक है और मन ज्योति है, उस पुरुष को जो भी कोई सम्पूर्ण आध्यात्मिक कार्यकरणसंघात का आश्रय

मितोऽमर्षवशग आह—तोत्रार्दित इव गजस्तस्य देवस्य शारीरस्य का देवता यस्मान्निष्पद्यते यः स तस्य देवतेत्यस्मिन्प्रकरणे विवक्षितम्। अमृतमिति होवाचामृतमिति यो भुक्तस्यान्नस्य रसो मातृजस्य लोहितस्य निष्पत्तिहेतुस्तस्माद्ध्यन्नरसाल्लोहितं निष्पद्यते स्त्रिया श्रितं ततश्च लोहितमयं शरीरं बीजाश्रयम्। समानमन्यत् ॥१०॥

काम एव यस्याऽऽयतनम्। स्त्रीव्यतिकराभिलाषः कामः कामशरीर इत्यर्थः।

तार्दिते। प्राकरणिक देवताशब्दार्थमाह—यस्मादिति। पुरुषो निष्पत्तिकर्ता यच्छब्दोच्यते। लोहितनिष्पत्तिहेतुत्वममन्नरसस्यानुभवेन साधयति—तस्माद्धीति। तस्य कार्यमाह—ततश्चेति। लोहिताद् द्वितीयपदार्थनिष्ठात्तत्कार्यं त्वङ्मांसरुधिरस्य बीजस्यास्थिमज्जाशुक्रात्मकस्याऽऽश्रयभूतं भवतीत्यर्थः। पर्यायनवकमाद्यपर्यायेण तुल्यार्थत्वान्न पृथग्व्याख्यानापेक्षमित्याह—समानमिति ॥ १० ॥

उत्तरपर्यायेषु येषां पदानामर्थभेदस्तेषां तत्कथनार्थं प्रतीकं गृह्णाति—काम इति। वाक्या-

---

तुमने पूछा है किन्तु पृथिवीदेवता के सम्बन्ध में और भी एक विशेषण बतलाया जाना चाहिये, इसलिए हे शाकल्य! वहदेव यानी उसी के विषय में मुझसे पूछो। शाकल्य का इस प्रकार क्षुभित किये जाने पर उसने अंकुश से प्रताडित हाथी के समान असहनशीलता के वशीभूत हो पूछा— उस पार्थिवांश शारीरदेव का देवता कौन सा है? जिस कारण से जो विकार निष्पन्न होता है, वह उसका देवता है—वह इस प्रकरण में बताना इष्ट है। इस पर याज्ञवल्क्य ने कहा— वह अमृत है। स्त्री द्वारा खाये हुए अन्न का जो रस मातृजलोहित की निष्पत्ति का कारण होता है, वही अमृत है। उस अन्न के रस से ही स्त्रियों में लोहित की उत्पत्ति होती है, उक्त लोहित से बीज का आश्रयभूत लोहितमय शरीर होता है। अन्य अर्थ भी इसी के समान कर लेना चाहिये ॥ १० ॥

काममयदेव का काम ही शरीर है, स्त्रीव्यवाय की इच्छा का नाम काम है अर्थात् जो

---

१ अत्रापि यस्यत्यनुषज्यते। २ अङ्कुशताडित। ३ कारणात्। ४ विकारः। ५ योषिज्जग्धस्य। ६ उक्तलोहितात्। ७ विकारे सप्तमी। ८ शरीरमिति—ननु अन्नमुक्तामृतस्य शरीरहेतुत्वेऽपि कथमिदममृतं शरीरस्य हेतुरित्याशङ्क्य समाहितं वाक्यम्— मातृजाच्छोणितान्निष्पत्ति शोणितात् बीजसंश्रयात्। शरीरं जायते साक्षादतः शारीर उच्यते ॥ ४६ ॥ इति। साक्षादिति प्रत्यक्षयोग्यत्वमुच्यते। यत्र क्षीरस्तादात्म्यमेति यावत्। ९ भवति। १० काममयस्य देवस्य। ११ आश्रयः शरीरम्। १२ अत्र प्रकरणे विवक्षितम्। १३ निष्पद्यमान। १४ लोहितस्य। १५ द्वितीयपदार्थनिष्ठादिति—शुक्रस्यात् तन्मिश्रितादिति यावत्। तत्कार्यमिति—उक्तलोहितकार्यमित्यर्थः। एतेन लोहितमयमिति पदं व्याख्यातम्। शरीरमिति पदं व्याख्याति—त्वगिति। बीजाश्रयमित्येतद्व्याचष्टे—बीजस्येति। १६ पूर्वपर्यायस्थपदार्थापेक्षया। १७ अर्थभेदकथनफलकं प्रतीकग्रहणमित्यर्थः।

वेदिता स्यात् याज्ञवल्क्य वेद वा अहं तं पुरुषꣳ सर्वस्याऽऽत्मनः परायणं यमात्थ य एवायं काममयः पुरुषः स एष वदैव शाकल्य तस्य का देवतेति स्त्रिय इति होवाच ॥ ११ ॥

[1]रूपाण्येव यस्याऽऽयतनं चक्षुर्लोको मनोज्योतिर्यो वै तं

जानता है; वही ज्ञाता है (हे याज्ञवल्क्य ! तुम तो उसे जाने विना ही पंडित होने का दावा करते हो)। याज्ञवल्क्य ने कहा—जिसे तुम सम्पूर्ण आध्यात्मिक कार्यकरणसंघात का परम आश्रय कहते हो, उसे मैं जानता हूँ। जो भी यह काममय पुरुष है; वही यह देव है। हे शाकल्य ! इस विषय में और भी पूछो। शाकल्य ने कहा—उसका देवता कौन है ? तब याज्ञवल्क्य ने कहा—स्त्रियाँ हैं (क्योंकि स्त्री से ही उक्त काम का उद्दीपन होता है) ॥ ११ ॥

शाकल्य ने पूछा—शुक्लादिरूप ही जिसका आयतन है, नेत्र लोक है और मन ज्योति है,

---

[2]हृदयं [3]लोको हृदयेन बुद्ध्या पश्यति। [4]य एवायं काममयः पुरुषोऽध्यात्ममपि [5]काममय एव तस्य का [6]देवतेति स्त्रिय इति होवाच। स्त्रीतो हि कामस्य दीप्तिर्जायते ॥ ११ ॥

रूपाण्येव [7]यस्या[8]ऽऽयतनम्। [9]रूपाणि शुक्लकृष्णादीनि। य एवासावादित्ये

---

[10]ऽमाह—कामशरीर इत्यर्थ इति। [11]स च हृदयदर्शनो मनसा संकल्पयितेति पूर्ववत्। तस्य विशेषणं दर्शयति—य एवेति। आध्यात्मिकस्य काममयस्य पुरुषस्य [12]कारणं पृच्छति—तस्येति। [13]तस्यास्तत्कारणत्वमनुभवेन व्यनक्ति—स्त्रीतो हीति ॥ ११ ॥

रूपशरीरस्य चक्षुर्दर्शनस्य मनसा संकल्पयितुर्देवस्य कथमादित्ये" पुरुषो विशेषणमित्याशङ्क्या-

---

कामरूप शरीर वाला है। हृदयदेशस्था बुद्धि चक्षु है क्योंकि हृदय यानी बुद्धि से देखता है। जो भी यह काममय पुरुष है अर्थात् वह कामवासनाख्य विशेषायतनवान् ही है। (इस पर शाकल्य पूछता है—) इसका देवता (उत्पत्तिकारण) कौन है। स्त्रियाँ ही इसकी देवता हैं क्योंकि स्त्री से ही कामोद्दीपन होता है ॥ ११ ॥

---

१. रूपाणि शुक्लादीन्यभास्वराणि तै. स्वप्रकाशनाय आदित्ये रविमण्डले पुरुषो विशेषायतन आरब्धः तस्य सत्यशब्दितमध्यात्म चक्षुरुत्पादकम् चक्षो सूर्योऽजायतेति श्रुतेः सामान्यायतनत्वेन विशेषायतनत्वेन कारणत्वेन चायमेव देवो रूपादिषु व्यवस्थित इति मुख्यर्थः। यथा पूर्वपर्यायेषु सामान्यायतनत्वादिना देवास्त्रिधोक्तस्तथाऽकामादिपर्यायेष्वपि सामान्यायतनो विशेषायतनः कारणं चेति त्रिधा। स द्रष्टव्य इति। २. लक्षणया हृदयदेशस्था बुद्धिः। ३ लोकनसाधनं चक्षुरित्यर्थः। ४. य एवेति—यस्त्वया कामायतनो देव पृष्टः स कामवासनाख्यविशेषायतनवानेव एवेत्यर्थः। तदुक्त वार्तिके—"स च काममयो देव कामभावनयाऽर्ज्जित." ॥ ५० ॥ इति। ५. काममय एवेति—कामायतन एवेत्यर्थः। अवच्छेदा(च्छेदका)न्तराभावादिति। ६. उत्पत्तिकारणम्। ७. आदित्यदेवस्य। ८. आश्रय. शरीरम्। ९. अभास्वराणि। १०. काममयो देव। ११. उत्पत्तिकारणम्। १२. स्त्रियाः। १३. आदित्यमण्डलस्य इत्यर्थ.।

पुरुषं विद्यात्सर्वस्याऽऽत्मनः परायणꣳ स वै वेदिता स्यात् याज्ञवल्क्य वेद वा अहं तं पुरुषꣳ सर्वस्याऽऽत्मनः परायणं यमात्थ य एवासावादित्ये पुरुषः स एष वदैव शाकल्य तस्य का देवतेति सत्यमिति होवाच ॥ १२ ॥

आकाश एव यस्याऽऽयतनꣳ श्रोत्रं लोको मनोज्यो-

जो भी उस पुरुष को सम्पूर्ण आध्यात्मिक कार्यकरणसघात का परम आश्रय जानता है, वही पडित है (हे याज्ञवल्क्य ! तुम तो उसे जाने बिना ही पडित होने का मिथ्याभिमान कर रहे हो)। याज्ञवल्क्य ने कहा—तुम जिसे समस्त आध्यात्मिक कार्यकरणसघात का परम आश्रय कह रहे हो, उसे मैं जानता हूँ। जो भी यह आदित्य म पुरुष है, वही यह है। हे शाकल्य ! इस सबन्ध म और भी पूछो। शाकल्य न कहा—उसका देवता कौन है ? तब याज्ञवल्क्य ने कहा—सत्य है (क्योंकि अध्यात्म चक्षु से ही अधिदैविक आदित्य की निष्पत्ति होती है) ॥ १२ ॥

शाकल्य ने पूछा—आकाश ही जिसका आयतन है, श्रोत्र लोक है, और मन ज्योति है, जो भी

पुरुषः सर्वेषां हि रूपाणां [1]विशिष्ट कार्यमादित्ये पुरुषस्तस्य का [2]देवतेति । सत्यमिति होवाच । सत्यमिति चक्षुरुच्यते। चक्षुषो ह्यध्यात्मत[3] आदित्यस्याधिदैवतस्य निष्पत्तिः ॥ १२ ॥

आकाश एव [4]यस्याऽऽयतनम् । य एवाय श्रोत्रे भव[5]: श्रौत्रस्तत्रापि [6]प्रतिश्रवण-

---

ऽऽह—सर्वेषा हीति । [7]रूपमात्राभिमानिनो देवस्याऽऽदित्ये पुरुषो [8]विशेषावच्छेद । [9]स च सर्वरूपप्रकाशकत्वात्सर्वं रूपं स्वप्रकाशनायाऽऽरब्ध । तस्माद्युक्त यथोक्त विशेषणमित्यर्थ । कथं चक्षुष सकाशादादित्यस्योत्पत्तिरित्याशङ्क्य [10]"चक्षो सूर्यो अजायत" इति श्रुतिमाश्रित्याऽऽह—चक्षुषो हीति ॥ १२ ॥

तत्रापीति श्रोत्रोक्ति । प्रतिश्रवण [11]"सवाद" प्रतिविषय श्रवण वा सर्वाणि श्रवणानि वा तद्-

---

जिस आदित्यदेवता के रूप ही शरीर है। (अभास्वर) रूप शुक्ल कृष्ण आदि है। 'य एवासावादित्ये पुरुष" यानी सम्पूर्ण रूपो का जो विलक्षण कार्य है वही आदित्य मे पुरुष है, उसका देवता

---

१ विलक्षणम् । २ उत्पत्तिकारणम् । ३ कार्यकरणस्यानिति । ४ लिङ्गदेवस्य। ५ आश्रय —शरीरम्। ६ प्रतिश्रवणवलाया विशेषता भवतीति—आकाशायतनदेवस्य प्रतिश्रवणयुक्त श्रोत्र विशेषायतनमिति भाव । ७ रूपमात्रमायति भाव । ८ विशेषावच्छेद इति—विशेषाकार इत्यर्थ । विशेषस्वरूप इति यावत् । साधारणरूपायतनो (रूपमात्राश्रयो) देवो रविमण्डलरूपविशेषायतनवानिति तत्त्वम् । ९ आदित्यपुरुष । १० विराट्चक्षुष । ११ सवाद इति—प्रश्नोत्तरात्मक सवाद इत्यर्थ । प्रतिविषय श्रवणमिति—तच्च शतावधानादिसमय क्रियमाण शतशो विभिन्नविभिन्नविषया प्रतिश्रवणमित्यर्थ । सर्वाणि श्रवणानि यावच्छ्रवणानीत्यर्थ ।

तिर्यो वै तं पुरुषं विद्यात्सर्वस्याऽऽत्मनः परायणꣳ स वै वेदिता स्यात् याज्ञवल्क्य वेद वा अहं तं पुरुषꣳ सर्वस्याऽऽत्मनः परायणं यमात्थ य एवायꣳ [1]श्रोत्रः प्रातिश्रुत्कः पुरुषः स एष वदैव शाकल्य तस्य का देवतेति दिश इति होवाच ॥ १३ ॥

तम एव यस्याऽऽयतनꣳ हृदयं लोको मनोज्योतिर्यो वै

उस पुरुष को समस्त आध्यात्मिक कार्यकरणसंघात का परम आश्रय जानना है, वही पण्डित है (हे याज्ञवल्क्य ! तुम उसे न जानते हुए भी पंडित होने का मिथ्याभिमान कर रहे हो)। याज्ञवल्क्य ने कहा—तुम जिसे समस्त आध्यात्मिक कार्यकरणसंघात का परम आश्रय कहते हो, उस पुरुष को तो मैं जानता हूँ। जो भी यह श्रोत्र में रहने वाला प्रातिश्रुत्क (प्रतिश्रवण के समय विशेषरूप से रहने वाला) पुरुष है; वही वह है। हे शाकल्य ! इस विषय में और पूछो ! शाकल्य ने कहा—उसका देवता कौन है ? तब याज्ञवल्क्य ने कहा—दिशाएँ हैं (क्योंकि दिशाओं से यह आध्यात्मिक पुरुष निष्पन्न होता है) ॥ १३ ॥

शाकल्य ने कहा—अंधकार ही जिसका आश्रय है, हृदय लोक है, मन ज्योति है, जो भी कोई

वेलायां विशेषतो भवतीति प्रातिश्रुत्कस्तस्य का देवतेति। दिश इति होवाच। दिग्भ्यो ह्यसावाध्यात्मिको निष्पद्यते ॥ १३ ॥

तम एव [2]यस्याऽऽयतनम्। तम इति शार्वरा[3]द्यन्धकारः परिगृह्यते। [4]अध्यात्मं

छायामिति यावत्। [5]दिशस्तत्राधिदैवतमिति श्रुतिमाश्रित्याऽऽह—दिग्भ्यो हीति ॥ १३ ॥

(उत्पत्तिकारण) कौन है। सत्य ही है—ऐसा याज्ञवल्क्य ने कहा। सत्य को ही चक्षु कहा जाता है क्योंकि कार्यकरणस्थ चक्षु से ही अधिदैवत आदित्य की निष्पत्ति होती है ॥ १२ ॥

आकाश ही दिक् देवता का शरीर है। यह श्रोत्र में होने वाला 'श्रोत्र' है और उसमें जो भी (प्रश्नोत्तरसंवादरूप) प्रतिश्रवण के समय विशेषरूप से रहता है, वह 'प्रातिश्रुत्क' है। उसका देवता कौन है ? दिशाएँ ही उसकी देवता हैं क्योंकि दिशाओं से ही यह आध्यात्मिक पुरुष निष्पन्न होता है ॥ १३ ॥

अज्ञानमय नाम देव का तम ही आश्रय है। तमशब्द से रात्रि-ग्रहादिनिष्ठ अन्धकार का ग्रहण

---

१. श्रोत्रः प्रातिश्रुत्क इति। तथा चाकाशायतनस्य श्रोत्रदर्शनस्य मनसा सङ्कल्पयितुर्देवस्य प्रतिश्रवणयुक्तं (प्रतिश्रवणकालीन) श्रोत्र विशेषायतनमिति भाव.। २. अज्ञानमयाख्यदेवस्य। ३. आदिना गुहादिनिष्ठान्धकारग्रह.। ४ य एवायं छायामय इत्यादेरर्थमाह—अध्यात्ममिति। तथा च शार्वराद्यन्धकारायतनस्य हृदयदर्शनस्य मनसा सङ्कल्पयितुर्देवस्य विशेषायतन छायाख्यमज्ञानमित्यर्थः। ५. दिशस्तत्राधिदैवतमिति—सिद्धान्ते तावद्दिशामाकाशेऽप्यस्तत्वाभ्युपगमादाकाशानतिरेकादाकाशाच्छ्रोत्रोत्पत्तिप्रसिद्धयापि न विरोध इति ध्येयम्।

तं पुरुषं विद्यात्सर्वस्याऽऽत्मनः परायणꣳ स वै वेदिता स्यात् याज्ञवल्क्य वेद वा अहं तं पुरुषꣳ सर्वस्याऽऽत्मनः परायणं यमात्थ य एवायं छायामयः पुरुषः स एष वदैव शाकल्य तस्य का देवतेति मृत्युरिति होवाच ॥ १४ ॥

रूपाण्येव यस्याऽऽयतनं चक्षुर्लोको मनोज्योतिर्यो वै तं पुरुषं विद्यात्सर्वस्याऽऽत्मनः परायणꣳ स वै वेदिता

उस पुरुष को समस्त आध्यात्मिक कार्यकरणसघात का परम आश्रय जानता है। हे याज्ञवल्क्य ! वही पंडित है (तुम तो उसे जाने बिना ही पंडित होने का मिथ्याभिमान कर रहे हो)। याज्ञवल्क्य ने कहा—तुम जिसे सम्पूर्ण आध्यात्मिक कार्यकरणसघात का परम आश्रय कहते हो, उस पुरुष को मैं जानता हूँ। जो भी यह छायामय पुरुष है, वही यह है। हे शाकल्य ! इस विषय में और भी पूछो। शाकल्य ने कहा—उसका देवता कौन है ? तब याज्ञवल्क्य ने कहा—अव्याकृत ईश्वररूप मृत्यु ही उसका देवता है ॥ १४ ॥

शाकल्य ने पूछा—प्रकाशक रूप ही जिसका आश्रय है, नेत्र लोक है, तथा मन ज्योति है, उस पुरुष को जो कोई भी समस्त आध्यात्मिक कार्यकरणसघात का परम आश्रय जानता है, हे याज्ञवल्क्य !

छायामयोऽज्ञानमयः पुरुषस्तस्य का देवतेति। मृत्युरिति होवाच। मृत्युरधिदैवतं तस्य निष्पत्तिकारणम् ॥१४॥

रूपाण्येव [1]यस्याऽऽयतनम्। [2]पूर्वं [3]साधारणानि रूपाण्युक्तानीह तु [4]प्रकाशकानि

अधिदैवतं मृत्युरीश्वरो [5]मृत्युनैवेदमावृतमासीदिति श्रुतेः। [6]न च तस्याज्ञानमयस्याऽऽध्यात्मिकस्य पुरुषस्योत्पत्तिकारणमविवेकिप्रवृत्तरीश्वराधीनत्वादीश्वरप्रेरितो गच्छेत्स्वर्गं वा [7]श्वभ्रमेव वेति हि पठन्ति तथाह—मृत्युरिति ॥ १४ ॥

पुनरुक्ति प्रत्याह—पूर्वमिति। आधारशब्दो भावप्रधानस्तथा च प्रतिबिम्बस्याऽऽधारत्वं यत्र

होता है। अध्यात्मपक्ष में 'छायामय' अर्थात् अज्ञानमय पुरुष ही तम है। उसका देवता कौन है ? इस पर याज्ञवल्क्य ने कहा—मृत्यु उसका देवता है। अधिदैवत मृत्यु ही उसकी निष्पत्ति का कारण है ॥ १४ ॥

रूप ही प्रतिबिम्बाख्य देव का आश्रय है। इस से पूर्व अभास्वर रूप के बारे में कहा गया था, यहाँ पूर्वोक्त विलक्षण भास्वररूपों का ग्रहण किया जाता है। भास्वररूपात्मक सामान्याश्रय देव

---

१ प्रतिबिम्बाख्यदेवस्य। २ तृतीयपर्याये। ३ अभास्वराणि। ४ भास्वराणि। ५ बृ० उ० १।२।१। ६ मृत्युशब्दवाच्य ईश्वर। ७ नरकम्।

स्यात् याज्ञवल्क्य वेद वा अहं तं पुरुषँ सर्वस्या-
ऽऽत्मनः परायणं यमात्थ एवायमादर्शे पुरुषः स एष
वदैव शाकल्य तस्य का देवतेत्यसुरिति होवाच ॥१५॥
आप एव यस्याऽऽयतनँ हृदयं लोको मनो ज्योतिर्यो

वही पंडित है (तुम तो उसे न जानकर ही पंडित होने का दम्भ कर रहे हो)। याज्ञवल्क्य ने कहा—तुम जिसे समस्त आध्यात्मिक कार्यकरणसंघात का परम आश्रय कहते हो, उस पुरुष को मैं जानता हूँ। जो भी यह प्रतिबिम्ब के आश्रयभूत दर्पण में पुरुष है, वही यह है। हे शाकल्य ! इस विषय में और भी पूछो। शाकल्य ने कहा—उसका देवता कौन है ? इस पर याज्ञवल्क्य ने कहा—प्राण ही उसका देवता है (क्योंकि उस प्रतिबिम्ब नामक पुरुष की निष्पत्ति प्राण द्वारा दर्पण के घर्षण करने पर ही होती है) ॥ १५ ॥

शाकल्य ने कहा—सर्वसाधारण जल ही जिसका आश्रय है, हृदय लोक है, तथा मन ज्योति है,

---

[1]विशिष्टानि रूपाणि गृह्यन्ते । [2]रूपायतनस्य देवस्य विशेषायतनं प्रतिबिम्बाधारमादर्शादि तस्य का देवतेत्यसुरिति होवाच तस्य प्रतिबिम्बाख्यस्य पुरुषस्य निष्पत्तिरसोः प्राणात् ॥ १५ ॥

आप एव [3]यस्याऽऽयतनम् । [4]साधारणाः सर्वा आप आयतनं वापीकूपतडागाद्याश्रया-

---

स्त्वित्युक्तं भवति । आदिशब्देन स्वच्छस्वभावं खड्गादि गृह्यते । [5]प्राणेन हि निघृष्यमाणे दर्पणादौ प्रतिबिम्बाभि[6]व्यक्तियोग्ये रूपविशेषो निष्पद्यते । [7]ततो युक्तं प्राणस्य प्रतिबिम्बकारणत्वमित्यभिप्रेत्याऽऽह—तस्येति ॥१५ ॥

आप एव यस्याऽऽयतनं य एवायमप्सु पुरुष इत्युभयत्र सामान्यविशेषभावो न प्रतिभातीति

के प्रतिबिम्बोदय आश्रयभूत आदर्शादि उसके विशेष आयतन हैं। उसका देवता कौन है ? इस पर याज्ञवल्क्य बोले—प्राण ही उसका देवता है क्योंकि उस प्रतिबिम्बसंज्ञक पुरुष की निष्पत्ति प्राण से होती है ॥ १५ ॥

जिस जलाभिमानी देवता का जल ही शरीर है। समस्त साधारण जल जिसका आयतन है,

---

१ पूर्वोक्तविलक्षणानि । २ रूपायतनस्येति—भास्वररूपात्मकसामान्याश्रयस्य (न्यायतनस्य) चक्षुर्दर्शनस्य मनसा सङ्कल्पयितुर्देवस्य प्रतिबिम्बोदयाश्रयभूतमादर्शादि विशेषायतनमित्यर्थः । ३ अबभिमानिदेवस्य। ४ साधारणा इति—जलमात्रायतनस्य हृदयदर्शनस्य मनसा सङ्कल्पयितुर्देवस्य वाप्यादिनिष्ठा आपो विशेषाऽऽयतनानीति भावः । ५ प्राणेन—बलापरपर्यायेण । ६ योग्य इत्यादि—सप्तम्यन्तपाठे निघर्षणेन उक्तयोग्ये दर्पणादौ रूपविशेषः प्रतिबिम्ब इत्यर्थः । प्रथमान्तपाठे तु यथोक्तदर्पणादौ उक्तयोग्य औज्ज्वल्याद्यतिशयविशेष इत्यर्थः । ७ तत इति—यथोक्तप्राणस्य यथोक्तरूपविशेषनिष्पत्तिकारणत्वादित्यर्थः । तद्द्वारेति च शेषः ।

वै तं पुरुषं विद्यात्सर्वस्याऽऽत्मनः परायणꣳ स वै
वेदिता स्यात् याज्ञवल्क्य वेद वा अहं तं पुरुषꣳ
सर्वस्याऽऽत्मनः परायणं यमात्थ य एवायमप्सु पुरुषः
स एष वदैव शाकल्य तस्य का देवतेति वरुण इति
होवाच ॥ १६ ॥
रेत एव यस्याऽऽयतनꣳ हृदयं लोको मनोज्योतिर्यो वै

उस पुरुष को जो भी कोई समस्त आध्यात्मिक कार्यकरणसंघात का परम आश्रय जानता है, हे याज्ञवल्क्य ! वही विद्वान् है (तुम तो उसे जाने बिना ही विद्वान् होने का दावा कर रहे हो)। याज्ञवल्क्य ने कहा—जिसे तुम समस्त कार्यकरणसंघात का परम आश्रय कहते हो, उस पुरुष को मैं जानता हूँ। जो भी यह तडागादि स्थित जल में विशेषरूप से पुरुष विद्यमान है; वही यह है। हे शाकल्य ! इस विषय में और भी पूछो। शाकल्य ने कहा—उसका देवता कौन है ? तब याज्ञवल्क्य ने कहा—वरुण उसका देवता है (क्योंकि वरुण के द्वारा संघातकर्ता आध्यात्मिक जल ही स्थूल जल की निष्पत्ति का कारण है) ॥ १६ ॥

शाकल्य ने कहा—वीर्य ही जिसका आश्रय है, हृदय लोक है, और मन ज्योति है, जो भी कोई

स्वप्सु विशेषायस्थानम्। तस्य का [1]देवतेति [2]वरुण इति। [3]वरुणात्संघातकर्त्र्योऽध्यात्ममाप एव वाप्याद्यपां निष्पत्तिकारणम् ॥ १६ ॥

रेत एव [4]यस्याऽऽयतनं य एवाय पुत्रमयो विशेषायतनं [5]रेत आयतनस्य[6] पुत्रमय

शङ्कमानं प्रत्याह—साधारणा इति। कथं पुनर्वापीकूपादिविशेषा[7]यतनस्य वरुणो [8]देवता न हि देवतात्मनो वरुणस्य [9]तदधिष्ठातृ[10]स्तत्कारणत्वं तत्राऽऽह—वरुणादिति। आपो वापीकूपाद्या पीताः सत्योऽध्यात्मं शरीरे मूत्रा[11]दिसंघातं कुर्वन्ति। [12]ताश्च वरुणाद्भवन्ति। वरुणशब्देनाऽऽप एव रश्मिद्वारा भूमिं पतन्त्योऽभिधीयन्ते। [13]तथा च [14]ता एव वरुणात्मिका वाप्याद्यपां पीयमानानामुत्पत्तिकारणमिति युक्तं वरुणस्य वापीतडागाद्यायतनं पुरुषं प्रति कारणत्वमित्यर्थः ॥ १६ ॥

[15]वाक्यद्वयं गृहीत्वा तात्पर्यमाह—विशेषेति। पुत्रमयशब्दार्थं व्याचष्टे—पुत्रमय इति ॥ १७ ॥

वापी, कूप-तडागादि में रहने वाले जल में जिसकी विशेष अवस्थिति है। उसका देवता (उत्पत्ति-कारण) कौन सा है ? वह वरुण ही है क्योंकि वरुण के द्वारा संघात करने वाला अध्यात्म जल ही

---

१ उत्पत्तिकारणम्। २ वरुण इति—आयतनद्वयवतस्तस्य वरुणशब्दितमुदकं कारणमित्यर्थः। ३ वरुणादुत्पद्यमाना अध्यात्मं संघातकर्त्र्य आप एवेति सम्बन्धः। ४ पुत्रमयस्य देवस्य। ५ रेतः सामान्यायतनस्य विशेषायतनं पुत्रस्तस्य च कारणं प्रजापतिरित्याह—रेत आयतनस्येति। ६ देवस्य। ७ पुरुषस्य। ८ कारणम्। ९ उक्तपुरुषाधिष्ठातुरिति भावः। १० उक्तपुरुषकारणत्वमिति बोध्यम्। ११. आदिना लोहितादिग्रहः। १२ संघातकर्त्र्य आपः। १३ तथा चेति—उक्तानामपामेव वरुणशब्दाभिधेयत्वे च। १४. ता एव—रश्मिद्वारा भूमिप्राप्ता एव। १५. वाक्यद्वयमिति—सामान्यायतनविशेषायतनप्रतिपादकं वाक्यद्वयमित्यर्थः।

तं पुरुषं विद्यात्सर्वस्याऽऽत्मनः परायण^ꣳ स वै वेदिता स्यात् याज्ञवल्क्य वेद वा अहं तं पुरुष^ꣳ सर्वस्याऽऽत्मनः परायणं यमात्थ य एवायं पुत्रमयः पुरुषः स एव वदैव शाकल्य तस्य का देवतेति प्रजापतिरिति होवाच ॥ १७ ॥

'शाकल्येति होवाच याज्ञवल्क्यस्त्वा^ꣳ स्विदिमे ब्राह्मणा

उस पुरुष को सभी आध्यात्मिक कार्यकरणसघात का परम आश्रय जानता है, हे याज्ञवल्क्य ! वही पडित है (तुम तो उसे जाने बिना ही पडित होने का दावा कर रहे हो)। याज्ञवल्क्य ने कहा—जिसे तुम सभी आध्यात्मिक कार्यकरणसघात का परम आश्रय कहते हो, उस पुरुष को मैं जानता हूँ। जो भी वह पुत्ररूप पुरुष है, वही यह है। हे शाकल्य ! इस विषय मे और भी पूछो। शाकल्य ने कहा—उसका देवता कौन है ? इस पर याज्ञवल्क्य ने कहा—प्रजापति देवता है (क्योंकि पितारूप प्रजापति से ही पुत्र की उत्पत्ति होती है) ॥ १७ ॥

हे शाकल्य ! ऐसा याज्ञवल्क्य ने कहा—नि सन्देह इन ब्राह्मणो ने तुम्हे अगारे निकालने के

इति चास्थिमज्जाशुक्राणि पितुर्जातानि। तस्य का देवतेति। प्रजापतिरिति होवाच। 'प्रजापति. पितोच्यते। 'पितृतो हि पुत्रस्योत्पत्ति' ॥ १७ ॥

'अष्टधा देवलोकपुरुषभेदेन त्रिधा त्रिधाऽऽत्मान प्रविभज्यावस्थित एकैको देव.

शाकल्येति होवाचेत्यादिग्रन्थस्य तात्पर्यं वक्तुं वृत्तं कीर्तयति—अष्टधेति। लोक 'सामान्या

बावडी आदि के जल की निष्पत्ति का कारण है ॥ १६ ॥

जिस पुत्रमय देवता का रेतस् ही आश्रय है। जो भी यह पुत्ररूप आयतन वाले पुरुष का पुत्ररूप विशेष आयतन है, पुत्रमय का अर्थ है—पिता से उत्पन्न हुए अस्थि, मज्जा और शुक्र। फिर उसका देवता कौन है ? प्रजापति है—ऐसा याज्ञवल्क्य बोले। प्रजापति को पिता कहा जाता है क्योंकि पिता से पुत्र की उत्पत्ति होती है ॥ १७ ॥

एक-एक देवता का देवलोक और पुरुषभेद से तीन-तीन भागो मे विभक्त करके आठ प्रकार से

---

१. शाकल्येत्यादेस्तात्पर्यं वक्तु भूमिकामाहुर्वार्तिके—'यावत्किञ्चिद्विजानासि शाकल्य सर्वमेव तत्। पर्यपृच्छद्यथाशक्ति मुक्त्वा दिग्ज्ञानमात्रकम्" ॥ ५८ ॥ भूमिकामुक्त्वा तस्य तात्पर्यमाह—"अवशिष्ट यदप्यस्य तन्मां पृच्छतु कामत। इति चेतसि सधाय याज्ञवल्क्योऽभ्यभाषत" ॥ ५९ ॥ तात्पर्यान्तरमाह—'अतिनिर्बन्धतो वाऽपि निषेध्योऽयं प्रमादवान्। इत्येतद्धृदये कृत्वा कारुण्यात्तमथाऽब्रवीदिति' ॥ ६० ॥ २ प्रजापति पितेति। अत्र वार्तिके—"पुत्रस्यास्थिमज्जानो भवन्ति पितृतो यत। प्रजापतित्व पितरि तस्मादेतदिहोच्यत" ॥ ५७ ॥ इति। इह रेत पर्याय। ३ तस्य तत्कारणत्वमनुभवेन व्यनक्ति—पितृत इति। ४ अष्टधा व्यपदिष्ट इत्यन्वय। ५. पृथिव्यादिरूप।

अङ्गारावक्षयणमक्रता३ इति ॥ १८ ॥

लिए चिमटा बना रक्खा है (क्योंकि मेरे द्वारा तुम्हारा दाह तो हो रहा है, फिर भी तुम्हे इसका पता नही) ॥ १८ ॥

प्राणभेद एवोपासनार्थं व्यपदिष्टः । अधुना दिग्विभागेन पञ्चधा प्रविभक्तस्याऽऽत्मन्युपसंहारार्थमाह । तूष्णींभूतं शाकल्यं याज्ञवल्क्यो ग्रहेणेवाऽऽवेशयन्नाह । शाकल्येति होवाच याज्ञवल्क्यस्त्वां स्विदिति वितर्के । इमे नूनं ब्राह्मणा अङ्गारावक्षयणमङ्गारा "अवक्षीयन्ते यस्मिन्संदंशादौ तदङ्गारावक्षयण तन्नूनं त्वामक्रत कृतवन्तो ब्राह्मणा"स्त्व तु तन्न बुध्यस आत्मानं "मया दह्यमानमित्यभिप्रायः ॥१८॥

कारः पुरुषो "विशेषावच्छेदो देव"स्तत्कारणमनेन प्रकारेण त्रिधा त्रिधाऽऽत्मानं प्रविभज्य स्थितो य एकैको "देव उक्त" स प्राण एव सूत्रात्मा "तद्भेदत्वात्पूर्वोक्तस्य" सर्वस्य "स चोपासनार्थम"ष्टधोपदिष्टो"ऽधस्तादित्यर्थः । "उत्तरस्य तात्पर्यं दर्शयति—अधुनेति । प्रविभक्तस्य जगतः सर्वस्येति शेषः । आत्मशब्दो हृदयविषयः । याज्ञवल्क्यवाक्यस्य शाकल्ये प्रष्टर्यबुद्धिपूर्वकारित्वापादकत्व दर्शयति—ग्रहेणेति ॥१८॥

उपदेश किया है, प्राण भेद ही वह देव है उपासना के लिए उसका विभागपूर्वक उपदेश किया गया है। अब सूत्रात्मा प्राणदेवता का पाच प्रकार का पचदिशा विभाग प्रविभक्त समस्त जगत् का हृदयरूप आत्मा मे उपसहार करने के लिए श्रुति कहती है। चुप हुए शाकल्य को ग्रहाविष्ट सा करते हुए याज्ञवल्क्य ने कहा। 'हे शाकल्य' ऐसा सम्बोधन करते हुए याज्ञवल्क्य ने कहा। "त्वाꣳस्विद्" इस पद मे 'विद्' यह निपात वितर्क अर्थ मे है। 'इमे ब्राह्मणा अङ्गारावक्षयणमक्रता ३' इस मन्त्रवाक्य मे जिस चिमटे आदि मे अङ्गारे निरुद्ध होते है, उसे अङ्गारावक्षयण' कहते है। इसलिए निश्चय ही इन ब्राह्मणो ने तुम्हे अङ्गारे निरुद्ध करने वाला चिमटा बना रखा हैं क्योकि अङ्गारस्थानीय मेरे द्वारा तुम्हारा दाह तो हो रहा है, फिर भी तुम्हे इसका पता नही है—यह इसका भाव है ॥ १८ ॥

---

१ प्लुतिविचारार्थः । २ उपदिष्ट । ३ अधुनेति—यद्वा तस्यैव सूत्रात्मन प्राणदेवस्य पचदिग्विभागेन ध्यान वक्तव्यमित्येतदर्थं श्रुति प्रवर्तत इति श्रौती सङ्गतिरिति । ४ सर्वस्य जगत । ५ हृदये । ६ श्रुति । ७ ग्रहाविष्टमिव कुर्वन् । ८ आहेति—अवशिष्ट यदप्यस्य तन्मा पृच्छत्विरयाशयन यद्वा अतिप्रसन्नादनर्थं करुणया मुनिराहेत्यर्थ । ९ इति सबोधयन् । १० निरुध्यन्त । ११ त्व तु तन्न बुध्यस इति वार्तिके—"मय्यग्नौ शिशुन्मोहात्प्रविशन्त न कश्चन । त्वा वारयति यत्नेन साधुब्राह्मणसंसदि ॥ सर्वेषामपि नून त्व हन्तव्यत्वेन समत । अक्रत त्वा यता विप्रा सदश मयि पावके ॥ तस्मादबुध्यस्व शाकल्य महद्भयमुपस्थितम् । अतिनिर्मथनादग्निश्चन्दनादपि जायत ॥ विषायतऽमृतमपि यथा पथ्य मुमूर्षत । तथैव नाग्रहीत्सूक्त शाकल्य कालचादित" ॥ ६१-६४ ॥ इत्यभिप्राय । १२ अङ्गारस्थानीयन । १३ विशेषाकार शारीरादिरूप । १४ सामान्यविशेषाकारकारणभूतादिरूपम् । १५ शारीरपुरुषादिरूप । १६ प्राणभेदत्वादित्यथ । १७ शारीरादिदेवस्य । १८ उक्तप्राण । १९ शारीरपुरुषादिप्रकारेण । २० दशमत आरभ्य । २१. शाकल्यत्यादे ।

[1]याज्ञवल्क्येति होवाच शाकल्यो यदिदं कुरुपञ्चालानां ब्राह्मणानत्यवादीः किं ब्रह्म विद्वानिति[2] दिशो वेद सदेवाः सप्रतिष्ठा इति यद्दिशो वेत्थ सदेवाः सप्रतिष्ठाः ॥ १९ ॥

हे याज्ञवल्क्य ! ऐसा शाकल्य ने कहा—जो यह तुमने कुरुपाञ्चालदेशीय ब्राह्मणों का आक्षेप द्वारा तिरस्कार किया है, वह क्या तुम वस्तुतः ब्रह्मज्ञानी हो अर्थात् ऐसा समझ कर तिरस्कार करते हो ? याज्ञवल्क्य ने कहा—मेरा ब्रह्मज्ञान यह है कि मैं देवता तथा आश्रय के सहित दिशाओं को जानता हूँ। शाकल्य ने कहा—यदि तुम देवता और आश्रय के सहित दिशाओं को जानते हो (अर्थात् फल-सहित विज्ञान की प्रतिज्ञा की है) तो ॥ १९ ॥

याज्ञवल्क्येति[3] होवाच शाकल्य[4] । यदिदं कुरुपञ्चालानां ब्राह्मणानत्यवादी[5]रित्युक्तवानसि स्वयं भीतास्त्वामङ्गारावक्षयणं कृतवन्त इति[6] । किं ब्रह्म विद्वान्सन्नेव[7]मधिक्षिपसि ब्राह्मणान्[8] । याज्ञवल्क्य[9] आह ब्रह्मविज्ञानं तावदिदं मम[10] । किं तद्दिशो[11] वेद दिग्विषयं विज्ञानं जाने । तच्च न केवलं दिश[12] एव सदेवा देवैः सह दिगधिष्ठातृभिः ।

सर्वेषामिति ब्राह्मणानां प्रायेण हन्तव्यत्वेन संमतो भवानिति मुनेर[13]भिसंहितं शाकल्यस्तु कालचोदितत्वा[14]त्तदनुरोधिनीम[15]न्यथाप्रतिपत्तिमेवाऽऽदाय चोदयतीत्याह—यदिदमिति । दिग्विषयं विज्ञानं जाने तन्ममास्तीत्यर्थः । [16]तच्च विज्ञानं केवलं दिङ्मात्रस्य न भवति किंतु देवैः प्रतिष्ठाभिश्च

शाकल्य ने 'हे याज्ञवल्क्य' ऐसा सम्बोधन करते हुए कहा—यदि तुम (अत्यन्त कल्याणरूप) कुरुपाञ्चालदेशीय ब्राह्मणों को "अत्यवादी" यानी धिक्कारते हो अर्थात् यह कहते हो कि 'ये स्वयं भययुक्त होने के कारण तुम्हें अङ्गारे निकालने का चिमटा बनाये हुए हैं" तो क्या तुम ब्रह्मज्ञानी होने के कारण उन ब्राह्मणों का तिरस्कार करते हो ? इस पर याज्ञवल्क्य ने कहा—मेरा ब्रह्मज्ञान तो इतना मात्र है। शाकल्य ने पूछा—वह क्या है ? "दिशो वेद" यानी मैं दिशासम्बन्धी विज्ञान को जानता हूँ। इसमें भी केवल दिशाज्ञान ही नहीं, बल्कि "सदेवा" अर्थात् दिगधिष्ठातृ

१ याज्ञवल्क्येत्यादेस्तात्पर्यमुक्तं वार्तिके—'ब्राह्मणैर्घातयिष्यामि मा जिघांसन्तमाश्विमम् । इत्ययं कोपकृद्वाक्यं शाकल्यो मुनिरब्रवीदिति" ॥ ६५ ॥ इति । जिघांसन्तं जिघांसीयान्न तेन पापकृद्भवेदिति न्यायं सूचयति—जिघांसन्तमिति । आशु—न्यायदानात् प्रागेवेत्यर्थः । कोपकृद्याज्ञवल्क्यस्य ब्राह्मणानां चेति शेषः । ब्राह्मणद्वारा अहं घातयिष्यामि । ब्राह्मणैः सह मां शापेन जिघांसन्तमिति वा योजना । २ शाकल्यो होवाचेत्यन्वयः । ३ सम्बोधयन् । ४ अत्यन्तश्रेयोरूपान् । ५ अधिक्षिप्तवानसि धिक्कृतवानसि । ६ उक्त्या । ७. तत् । ८ तिरस्कुरुषे । ९ इति शाकल्य उवाच । १० आहेति—एवं तेनोक्तो याज्ञवल्क्यो मम दिग्विषयं ब्रह्मज्ञानमस्तीत्याहेत्यर्थः । ११ किं तदिति शाकल्योक्तिः । १२ अपितु । १३ अभिप्रेतम् । १४ कालानुरोधिनीम् । १५ याज्ञवल्कीयहितोपदेश विपरीतार्थं बुद्ध्वेति यावत् । १६ दिग्विषयम् ।

किंदेवतोऽस्यां प्राच्यां दिश्यसीत्यादित्यदेवत इति स आदित्यः कस्मिन्प्रतिष्ठित इति चक्षुषीति कस्मिन्नु चक्षु प्रतिष्ठितमिति रूपेष्विति 'चक्षुषा

इस पूर्वदिशा मे तुम किस देवता से युक्त होकर स्थित हो ? याज्ञवल्क्य ने कहा—वहां पर मैं सूर्य देवता से युक्त हूं। शाकल्य ने कहा—वह सूर्य किसमे प्रतिष्ठित है ? याज्ञवल्क्य ने कहा—नेत्र मे। शाकल्य ने पूछा—नेत्र किसमे प्रतिष्ठित है ? याज्ञवल्क्य ने कहा—रूपो मे, क्योंकि नेत्र से ही

किंच सप्रतिष्ठाः प्रतिष्ठाभिश्च सह। 'इतर आह। यद्यदि दिशो वेत्थ सदेवाः सप्रतिष्ठा इति। सफलं यदि विज्ञानं त्वया प्रतिज्ञातम्' ॥ १६ ॥

'किंदेवतः का देवताऽस्य तव दिग्भूतस्य'। 'असौ हि याज्ञवल्क्यो हृदयमात्मानं दिक्षु पञ्चधा विभक्तं दिगात्मभूतं 'तद्द्वारेण सर्वं जगदात्मत्वेनोपगम्याहमस्मि दिगात्मेति

सहिता दिशो वेदेत्याह—तच्चेति। प्रवतारितस्य वाक्यस्यार्थं संक्षिपति—सफलमिति ॥ १६ ॥

प्राच्यां दिशि का देवतेति वक्तव्ये कथमन्यथा पृच्छ्यते तत्राऽऽह—असौ हीति। आत्मानमात्मीयमिति यावत्। "यथोक्त हृदयमात्मत्वेनोपगम्येति सबन्ध। "तथाऽपि प्रथम प्राचीं दिशमधिकृत्य

देवताओ एव 'सप्रतिष्ठा" प्रतिष्ठासहित दिशाओ का ज्ञान है। इस पर याज्ञवल्क्य ने कहा यदि तुम देवताओ और प्रतिष्ठासहित दिशाओ को जानते हो, यदि तुमने फलसहित दिक्-विज्ञान की प्रतिज्ञा की है (तो पूर्वदिशा मे तुम किस दिशा से युक्त होकर स्थित हो—ऐसा अगले मन्त्र से सबन्ध है) ॥ १६ ॥

किस अधिष्ठातृदेवता के द्वारा तुम पूर्वदिक्रूप से सम्पन्न हो ? इसका देवता कौन है ?

---

१ चक्षुषा हि रूपाणि पश्यतीति—अतो रूपारब्ध चक्षुर्व्यञ्जकस्य व्यङ्ग्यसजातीयत्वादिति भाव। अत्र वार्तिके—"रूपारब्धमिद चक्षु रूपाणामेव तद्ग्रहात्। अभिव्यङ्ग्यसजातीयो व्यञ्जको रूपदीपवत् ॥ अशेषविषयारम्भत्व मनोबुद्ध्योर्विनिर्दिशेत्। सर्वगोचरभासित्वात्तादात्म्य तत्र युज्यते" ॥ ७३ ७४ ॥ चक्षू रूपारब्ध रूपग्राहकत्वादित्यत्र व्याप्तिमाह—अभिव्यङ्ग्येति। व्याप्तिस्थल दर्शयति—रूपेति ॥ रूपादिग्राहित्वेऽपि मनो बुद्ध्योस्तदारब्धत्वाभावाद्व्यभिचार इति चेन्नेत्याह—अशेषेति। रूपदीपयो साजात्यऽप्यारम्भकारम्भ्यत्वाभावात्साध्यविकलतेति नेत्याह—तादात्म्य इति। विषयविषयिणो साजात्य तादात्म्य सत्येव स्याद्विधान्तरेण तस्य दुर्वचत्वादित्यर्थ। तर्हि तादात्म्य चारम्यारम्भकयोरेवेति भाव। २ मुन्युक्त शाकल्योऽनूद्य पृच्छतीत्याहेतर इति। ३ कयाधिष्ठातृदेवतया त्व प्राचीदिग्रूपेण सम्पन्न इति यावत्। ५ असौ किंदेवत इत्याद्यग्रिमेणान्वय। ६ प्राच्या दिश का देवतेति प्रष्टव्येऽन्यथाप्रश्नकरण तु मुनेर्दिगुपासनया तत्तादात्म्यापत्तिरिहैव जातेति बोधयितुमित्याह—असौ हीति। ७ यथोक्तहृदयद्वारेण। ८ च। ९ अन्यथेति—प्राच्यां दिशि किंदेवतोऽसीति मुनिविशेषणत्वेन देवता वय पृच्छ्यत इत्यर्थ। १० दिगात्मभूतम्। ११ तथाऽपीति—सदेवा सप्रतिष्ठाश्च दिशोऽहमेवेति वादिन प्रति प्राच्यां किंदेवतोऽसीति प्रश्न स्थितोऽपीत्यर्थ।

हि रूपाणि पश्यति कस्मिन्नु रूपाणि प्रतिष्ठितानीति हृदय इति होवाच हृदयेन हि रूपाणि जानाति हृदये ह्येव रूपाणि प्रतिष्ठितानि भवन्तीत्येवमेवैतद्याज्ञवल्क्य ॥२०॥

पुरुष नीलादिरूपों को देखता है। शाकल्य ने कहा—रूप किसमें प्रतिष्ठित है? याज्ञवल्क्य ने कहा—हृदय में, क्योंकि पुरुष वासनात्मक रूपों का हृदय में ही स्मरण करता है। अतः हृदय में ही रूप प्रतिष्ठित है। शाकल्य ने कहा—हे याज्ञवल्क्य! ठीक है ॥ २० ॥

व्यवस्थितः। पूर्वाभिमुखः सप्रतिष्ठावचनाद्यथा याज्ञवल्क्यस्य प्रतिज्ञा तथैव पृच्छति। किंदेवतस्त्वमस्यां दिश्यसीति। सर्वत्र हि वेदे यां यां देवतामुपास्त इहैव तद्भूतस्तां तां प्रतिपद्यत इति। तथा च वक्ष्यति—देवो भूत्वा देवानप्येतीति। अस्यां प्राच्यां का देवता दिगात्मनस्तवाधिष्ठात्री कया देवतया त्वं प्राचीदिग्रूपेण संपन्न इत्यर्थः। इतर आहाऽऽदित्यदेवत इति। प्राच्यां दिशि ममाऽऽदित्यो देवता सोऽहमादित्यदेवतः। सदेवा इत्येतदुक्तम्। सप्रतिष्ठा इति तु वक्तव्यमित्याह। स आदित्यः कस्मिन्प्रतिष्ठित इति।

प्रश्ने को हेतुरिति चेत्तत्राऽऽह—पूर्वाभिमुख इति। यद्यपि दिगात्माऽहमस्मीति स्थितस्तथाऽपि कथं सर्वं जगदात्मत्वेनोपगम्य तिष्ठतीत्यवगम्यते तत्राऽऽह—सप्रतिष्ठेति। सप्रतिष्ठा दिशो वेदेति वचनात्सर्वमपि हृदयद्वारा जगदात्मत्वेनोपगम्य स्थितो मुनिरिति प्रतिभातीत्यर्थः। प्रतिज्ञानुसारित्वाच्चायं प्रश्नो युक्तिमानित्याह—यथेति। अहमस्मि दिगात्मेतिप्रतिज्ञानुसारिण्यपि प्रश्ने देहपातोत्तरभावी देवताभावः पृच्छ्यते सति देहे ध्यातुस्तद्भावायोगादित्याशङ्क्याऽऽह—सर्वत्र हीति। इति न भाविदेवताभावः प्रश्नगोचर इति शेषः। उक्तेऽर्थे वाक्यशेषमनुकूलयति—तथा चेति। प्रश्नार्थमुपसंहरति—अस्यामिति।

यह प्रश्न इसलिए किया जाता है कि वे याज्ञवल्क्य दिशाओं में पाँच प्रकार से विभक्त अपने हृदयात्मा को दिगात्मभूत मानकर यथोक्त हृदयद्वार से सम्पूर्ण कार्यकारणजगत् को आत्मभाव से जानकर 'मैं दिगात्मा हूँ' ऐसा निश्चय करते हैं। पूर्वाभिमुख एवं प्रतिष्ठासहित दिशाओं के ज्ञान होने की जैसी याज्ञवल्क्य की प्रतिज्ञा थी, वैसा ही प्रश्न शाकल्य पूछता है—तुम इस पूर्वदिशा में कौन से देवता वाले हो? वेद में सभी जगह आता है कि पुरुष जिस-जिस देवता की उपासना करता है इस लोक में जीवदशा में तद्रूप हुआ ही वह उस-उस देवता को प्राप्त करता है। ऐसा ही श्रुति आगे कहेगी। "जीवदशा में देवता होकर देवतादात्म्य को प्राप्त होता है"। अतः दिगात्मरूप से स्थित तुम्हारा इस पूर्वदिशा में अधिष्ठातृदेवता कौन है? किस देवता के साथ तुम पूर्वदिशा के रूप में सम्पन्न हुए हो? (इस पर) याज्ञवल्क्य ने कहा—पूर्वदिशा में आदित्य मेरा देवता है, इसलिए मैं आदित्य देवता वाला

---

१ निश्चित। २ अहमस्मि दिगात्मेत्येवरूपा। ३ जीवद्दशायामेव। ४ प्रोद्घुष्यत इति शेषः। ५ बृ० उ० ४।१।२। ६ जीवद्दशायामेव देवतातादात्म्यमापद्य। ७ तृतीयेयमुपलक्षणे साहित्ये वा। ८. शाकल्येन। ९. उपासितु। १० देवनेति भाव।

'चक्षुषीति । 'अध्यात्मतश्चक्षुष आदित्यो निष्पन्न इति हि मन्त्रब्राह्मणवादाः "चक्षोः सूर्यो अजायत" "चक्षुष आदित्य" इत्यादयः। कार्यं हि कारणे प्रतिष्ठितं भवति। 'कस्मिन्नु चक्षुः प्रतिष्ठितमिति । रूपेष्विति । 'रूपग्रहणाय हि रूपात्मकं चक्षू रूपेण 'प्रयुक्तम् । यैर्हि रूपैः प्रयुक्तं तैरात्मग्रहणाया' ऽऽरब्धं चक्षुस्तस्मात्सादित्यं चक्षुः सह प्राच्या दिशा सह तत्स्थैः 'सर्वं रूपेषु प्रतिष्ठितम् । चक्षुषा सह प्राची दिक्सर्वा रूपभूता तानि च कस्मिन्नु रूपाणि प्रतिष्ठितानीति हृदय इति होवाच । 'हृदयारब्धानि रूपाणि रूपाकारेण हि हृदयं परिणतम् । यस्माद्धृदयेन हि रूपाणि सर्वो लोको जानाति । हृदयमिति बुद्धि-मनसी एकीकृत्य निर्देशः । "तस्माद्धृदये ह्येव रूपाणि प्रतिष्ठितानि । हृदयेन हि स्मरणं

आदित्यस्य चक्षुषि प्रतिष्ठितत्वं प्रकटयितुं कार्यकरणभावं तयोरादर्शयति—अध्यात्मतश्चक्षुष इति। 'चक्षोः सूर्यो अजायत' इत्यादयो मन्त्रवादास्तदनुसारिणश्च ब्राह्मणवादाः। भवतु कार्यकारणभावस्तथाऽपि कथं चक्षुष्यादित्यस्य प्रतिष्ठितत्वं तत्राऽऽह—कार्यं हीति। कथ चक्षुषो रूपेषु प्रतिष्ठितत्वं तत्राऽऽह—रूपग्रहणायेति। "तथाऽपि कथं यथोक्तमाधाराधेयत्वमत आह—यैर्हीति। चक्षुषो रूपारब्धत्वे फलितमाह—तस्मादिति । उपसंहृतमर्थं "संगृह्णाति—चक्षुषेति । हृदयारब्धत्वं रूपाणां स्फुटयति—रूपाकारेणेति। हृदये रूपाणां प्रतिष्ठितत्वे हेत्वन्तरमाह—यस्मादिति। हृदयशब्दस्य मांसखण्डविषयत्वं व्यावर्तयति—हृदयमिति । कथं पुन"र्बहिर्मुखानि(णि) रूपाण्यन्तर्हृदये स्थातुं पारयन्ति तत्राऽऽह—

हैं। इस प्रकार देवतासहित पूर्वदिशा कह दी, अब सप्रतिष्ठा को बताना है। इस पर शाकल्य पूछता है—वह आदित्य किसमे प्रतिष्ठित है? याज्ञवल्क्य उत्तर देता है—चक्षु मे प्रतिष्ठित है। शरीरस्थ चक्षु से आदित्य निष्पन्न हुआ है । इसी को मन्त्र और ब्राह्मणग्रन्थ भी कहते है—"चक्षु से सूर्य उत्पन्न हुआ", "चक्षु से आदित्य हुआ" इत्यादि। कार्य कारण मे प्रतिष्ठित होता है। (चक्षु का उत्पादक कौन है, इसलिए शाकल्य पूछता है) चक्षु किसमे प्रतिष्ठित है? रूपो मे, (ऐसा याज्ञवल्क्य कहता है—) क्योंकि अपने रूप को ग्रहण करने के लिए रूपात्मक चक्षुरूप से नियुक्त होता है। क्योंकि जिन रूपो के द्वारा वह नियुक्त होता है, उन्होने अपने को ग्रहण करने के लिए चक्षु को (आधाराधेय भाव से) उत्पन्न किया है। अत आदित्य के सहित चक्षु प्राचीदिशा और उस दिशा मे स्थित समस्त प्राणी आदि के सहित रूपो मे प्रतिष्ठित है। (शाकल्य ने पूछा—) चक्षुसहित सम्पूर्ण पूर्व-दिशा रूपमात्र है, किन्तु वे रूप किसमे प्रतिष्ठित है? (याज्ञवल्क्य ने कहा—)हृदय मे प्रतिष्ठित हैं। रूप बुद्धि से आरम्भ होने वाले है, बुद्धि ही रूपाकार मे परिणत होती है क्योंकि सभी लोग हृदय यानी बुद्धि से ही रूप को जानते है। "हृदयम्" ऐसा निर्देश मन और बुद्धि को एक करके किया गया है। रूपो के हृदयग्राह्य होने से हृदय मे ही रूप प्रतिष्ठित है। वासनामय रूपो का हृदय मे स्मरण

---

१. स्वोत्पत्तिकारण एव प्रतिष्ठितत्वमाह—चक्षुषीति। २ शरीरस्थात् । ३ चक्षुष उत्पादक पृच्छति—कस्मिन्न्विति। ४. स्वग्रहणायेत्यर्थः। ५ नियुक्तम् । ६ आरब्धमिति—आरब्धारम्भकयोर्घटमृदो-राधाराधेयत्वस्य दृष्टत्वात्सिद्ध तयोराधाराधेयत्वमिति भाव । ७ चक्षुषो रूपारब्धत्वात् । ८ प्राणि-प्रभृतिभि । ९ बुद्धिरिति यावत् । १० रूपाणा हृदयग्राह्यत्वात् । ११ चक्षुषो रूपप्रयुक्तत्वेऽपि । १२. सक्षेपत. कथयति। १३. बहि स्थितानि।

किंदेवतोऽस्यां दक्षिणायां दिश्यसीति यमदेवत इति स यमः कस्मिन्प्रतिष्ठित इति यज्ञ इति कस्मिन्नु यज्ञः प्रतिष्ठित इति दक्षिणायामिति कस्मिन्नु दक्षिणा प्रतिष्ठितेति श्रद्धायामिति यदा ह्येव श्रद्धत्तेऽथ दक्षिणां

इस दक्षिणादिशा में तुम किस देवता से युक्त होकर स्थित हो ? याज्ञवल्क्य ने कहा—यम देवता से युक्त हूँ। शाकल्य ने पूछा—वह यम देवता किसमें प्रतिष्ठित है ?, याज्ञवल्क्य ने कहा—यज्ञ में। शाकल्य ने पूछा—यज्ञ किसमें प्रतिष्ठित है ? याज्ञवल्क्य ने कहा—दक्षिणा में, क्योंकि यज्ञकर्ता ऋत्विज् दक्षिणा से खरीदे हुए होते हैं। शाकल्य ने कहा—दक्षिणा किसमें प्रतिष्ठित है ? याज्ञवल्क्य

भवति रूपाणां वासनात्मना तस्माद्धृदये रूपाणि प्रतिष्ठितानीत्यर्थः। एवमेवैतद्याज्ञवल्क्य ॥ २० ॥

किंदेवतोऽस्यां दक्षिणायां दिश्यसीति पूर्ववत्। दक्षिणायां दिशि का देवता तव। यमदेवत इति। यमो देवता मम दक्षिणादिग्भूतस्य। यमः कस्मिन्प्रतिष्ठित इति। यज्ञ इति। यज्ञे कारणे प्रतिष्ठितो यमः सह दिशा। कथं पुनर्यज्ञस्य कार्यं यम इत्युच्यते ऋत्विग्भिर्निष्पादितो यज्ञो दक्षिणया यजमानस्तेभ्यो यज्ञं निष्क्रीय तेन यज्ञेन दक्षिणां दिशं सह यमेनाभिजयति। तेन यज्ञे यमः कार्यत्वात्प्रतिष्ठितः सह दक्षिणया दिशा।

हृदयेन हीति। तथाऽपि कथं तेषां हृदयप्रतिष्ठितत्व तत्राऽऽह—वासनात्मनामिति ॥ २० ॥

पूर्ववदित्युक्तमेव व्यनक्ति—दक्षिणायामिति। यमस्य यज्ञकार्यत्वमप्रसिद्धमिति शङ्कित्वा व्युत्पादयति—कथमित्यादिना। तस्य यज्ञकार्यत्वे फलितमाह—तेनेति। यज्ञस्य दक्षिणायां प्रतिष्ठितत्वं

होता है। इसलिए (मनोमात्रकल्पितरूपों के हृदयाधीन होने से) हृदय में ही रूप प्रतिष्ठित हैं। शाकल्य कहता है—हे याज्ञवल्क्य ! मुझे भी ऐसा ही लगता है ॥ २० ॥

"इस दक्षिणदिशा में तुम किस देवता वाले हो" इस प्रकार मन्त्र का पूर्ववत् अर्थ करना चाहिए। दक्षिणदिशा में तुम्हारा कौन सा देवता है ? (याज्ञवल्क्य बोले—) धर्मराज देवता है। अर्थात् दक्षिणदिगात्मस्वरूप मेरा देवता धर्मराज है। वह यम किसमें प्रतिष्ठित है ? (याज्ञवल्क्य बोले—) यज्ञ में प्रतिष्ठित है। "यज्ञे" अर्थात् दिशासहित यम अपने कारणभूत यज्ञ में प्रतिष्ठित है। परन्तु यम यज्ञ का कार्य क्यों कहा जाता है—इस पर कहते हैं। ऋत्विजों द्वारा सम्पादित यज्ञ को दक्षिणा द्वारा यजमान ऋत्विजों से यज्ञ खरीदकर उस के द्वारा यमसहित दक्षिणदिशा को जीत

---

१ यमो धर्मराज। २ वासनात्मनामिति—अत्र वासनात्मनेति तृतीयान्तपाठः साधीयान्प्रतिभाति। ३ तथा मनसाऽऽत्मना तात्स्थ्यम्। ४. तस्मादिति—मनोमात्रकल्पितरूपाणां हृदयाधीनस्मरणात्। ५ ममाऽप्येवमेव भाति इति शाकल्योऽङ्गी करोति—एवमेवेति। ६. ऋत्विग्भ्यः। ७ तेन—उक्तविधया यमस्य यज्ञकार्यत्वेन। ८ तत्स्मरणस्य हृदयमात्राधीनत्वेऽपि। ९. व्युत्पापयतीति—अत्र व्युत्पादयतीति पाठान्तरं तदेव च सम्यक्। १० यमस्य।

ददाति श्रद्धायाᳬ ह्येव दक्षिणा प्रतिष्ठितेति कस्मिन्नु श्रद्धा प्रतिष्ठितेति हृदय इति होवाच हृदयेन हि श्रद्धां जानाति हृदये ह्येव श्रद्धा प्रतिष्ठिता भवतीत्येवमेवैतद्याज्ञवल्क्य ॥२१॥

ने कहा—भक्तिसहित आस्तिक्यबुद्धिरूप श्रद्धा में, क्योंकि जब पुरुष श्रद्धा करता है; तभी दक्षिणा देता है। अतः श्रद्धा में ही दक्षिणा प्रतिष्ठित है। शाकल्य ने पूछा—श्रद्धा किसमें प्रतिष्ठित है? याज्ञवल्क्य ने कहा—हृदय में, क्योंकि हृदय में ही पुरुष श्रद्धा को जानता है। अतः हृदय में ही श्रद्धा प्रतिष्ठित है। शाकल्य ने कहा—हे याज्ञवल्क्य! यह बात भी ऐसी ही है॥ २१॥

कस्मिन्नु यज्ञः प्रतिष्ठित इति। दक्षिणायामिति। दक्षिणया स निष्क्रीयते। तेन दक्षिणाकार्यं यज्ञः। कस्मिन्नु दक्षिणा प्रतिष्ठितेति। श्रद्धायामिति। श्रद्धा नाम दित्सुत्वमास्तिक्यबुद्धिर्भक्तिसहिता। कथं तस्यां प्रतिष्ठिता दक्षिणा। यस्माद्यदा ह्येव श्रद्धत्तेऽथ दक्षिणां ददाति नाश्रद्दधद्दक्षिणां ददाति। तस्माच्छ्रद्धायां ह्येव दक्षिणा प्रतिष्ठितेति। कस्मिन्नु श्रद्धा प्रतिष्ठितेति। हृदय इति होवाच। हृदयस्य हि वृत्तिः श्रद्धा यस्माद्धृदयेन हि श्रद्धां जानाति। वृत्तिश्च वृत्तिमति प्रतिष्ठिता भवति। तस्मा-

---

साधयति—दक्षिणयेति। कार्यं च कारणे प्रतिष्ठितमिति शेषः। दक्षिणायाः श्रद्धायां प्रतिष्ठितत्वं प्रकटयति—यस्मादिति। हृदये सा प्रतिष्ठितेत्यत्र हेतुमाह—हृदयस्येति। हृदय स्याप्यत्वाद्य श्रद्धायास्तत्प्रतिष्ठितत्वमित्याह—हृदयेन हीति। हृदयस्य श्रद्धा वृत्तिरस्तु तथाऽपि प्रकृते किमायातं तत्राह—वृत्तिश्चेति॥ २१॥

लेता है। इसलिए (यज्ञ को दक्षिणा द्वारा खरीद लिये जाने से) कार्य होने के कारण दक्षिणदिशा के सहित यम यज्ञ में प्रतिष्ठित है। यज्ञ किसमें प्रतिष्ठित है? दक्षिणा में (—ऐसा याज्ञवल्क्य ने कहा)। क्योंकि यज्ञ दक्षिणा के द्वारा खरीद लिया जाता है, इसलिये यज्ञ दक्षिणा का कार्य है। दक्षिणा किसमें प्रतिष्ठित है? दक्षिणा श्रद्धा में प्रतिष्ठित है। दाता में भक्तिसहित आस्तिक्यबुद्धि का नाम ही श्रद्धा है। उसमें दक्षिणा किस तरह प्रतिष्ठित है? जब इसे श्रद्धा होती है, तभी पुरुष दान करता है, बिना श्रद्धा के दक्षिणा नहीं देता है। इसलिए श्रद्धा में ही दक्षिणा प्रतिष्ठित है। श्रद्धा किसमें प्रतिष्ठित है? इस पर याज्ञवल्क्य ने कहा—श्रद्धा हृदय में प्रतिष्ठित है। हृदय की वृत्ति श्रद्धा है क्योंकि हृदय से ही श्रद्धा जानी जाती है और वृत्ति वृत्तिमान् में प्रतिष्ठित रहा करती है। इसलिए हृदय

---

१ यज्ञ.। २ तेन—यज्ञस्य दक्षिणया निष्क्रयेण। ३. तदा। ४. श्रद्धा। ५. ज्ञाप्यत्वादिति यावत्। तथैव वा पाठ प्रमादाद्विपर्यस्त.। ६. प्रतिष्ठितत्व।

किंदेवतोऽस्यां प्रतीच्यां दिश्यसीति वरुणदेवत इति स वरुणः कस्मिन्प्रतिष्ठित इत्यप्स्विति कस्मिन्न्वापः प्रतिष्ठिता इति रेतसीति कस्मिन्नु रेतः प्रतिष्ठितमिति हृदय इति तस्मादपि प्रतिरूप जातमाहुर्हृदयादिव

हे याज्ञवल्क्य ! इस पश्चिमदिशा मे तुम किस देवता के सहित स्थित हो ? याज्ञवल्क्य ने कहा—वरुण देवता से । शाकल्य ने कहा—वह वरुण किसमे प्रतिष्ठित है ? याज्ञवल्क्य ने कहा—जल मे । शाकल्य ने पूछा—वह जल किसमे प्रतिष्ठित है ? याज्ञवल्क्य ने कहा—वीर्य मे, क्योंकि वीर्य से ही जल की रचना हुई है । शाकल्य ने कहा—वीर्य किसमे प्रतिष्ठित है ? याज्ञवल्क्य ने कहा—हृदय

सृप्तो हृदये ह्येव श्रद्धा प्रतिष्ठिता भवतीत्येवमेवैतद्याज्ञवल्क्य ॥ २१ ॥

किंदेवतोऽस्यां प्रतीच्यां दिश्यसीति । तस्यां वरुणोऽधिदेवता मम । स वरुणः कस्मिन्प्रतिष्ठित इत्यप्स्विति । अपां हि वरुणः [1]कार्यम् । "श्रद्धा वा आपः" "श्रद्धातो वरुणमसृजत" इति श्रुतेः । कस्मिन्न्वापः प्रतिष्ठिता इति । [2]रेतसीति । "रेतसो ह्यापः सृष्टाः" इति श्रुतेः । कस्मिन्नु रेतः प्रतिष्ठितमिति । हृदय इति । यस्माद्धृदयस्य कार्यं रेतः । कामो हृदयस्य वृत्तिः । कामिनो हि [3]हृदयाद्रेतोऽधिस्कन्दति । [4]तस्मादपि

रेतसो हृदयकार्यत्वं साधयति—काम इति । [5]तथाऽपि कथं रेतो हृदयस्येति । तदाह—कामिनो हीति । [6]तत्रैव लोकप्रसिद्धिं प्रमाणयति—तस्मादिति । अपिशब्द सभावनार्थोऽवधारणार्थो

मे ही श्रद्धा प्रतिष्ठित है । (इस पर शाकल्य बोला—) हे याज्ञवल्क्य ! मुझे भी ऐसा ही लगता है ॥ २१ ॥

इस पश्चिमदिशा मे तुम किस देवता वाले हो ? पश्चिमदिशा मे मेरा अधिष्ठातृदेवता वरुण है । वह वरुण किसमे प्रतिष्ठित है ? (याज्ञवल्क्य ने कहा—) वह जल मे प्रतिष्ठित है क्योंकि वरुण जल का कार्य है । श्रुति भी कहती है- "श्रद्धा ही जल है", 'श्रद्धा से वरुण को उत्पन्न किया" । जल किसमे प्रतिष्ठित है ? प्रजापति के वीर्य मे । श्रुति कहती है— वीर्य से जल की उत्पत्ति हुई" । वीर्य किसमे प्रतिष्ठित है ? हृदय मे, क्योंकि वीर्य हृदय का ही कार्य है । काम हृदय की वृत्ति है क्योंकि कामी हृदय से वीर्य स्खलित होता है । इसी कारण पिता के 'प्रतिरूप' यानी अनुरूप उत्पन्न हुए पुत्र

१ कारणे च कार्यं प्रतिष्ठितं भवतीति भाव । २ अपां हि निर्मलानां दर्शनेन स्नानाचमनादिश्रद्धा जागर्तीति श्रद्धाहेतुत्वादाप श्रद्धाशब्दवाच्या इत्यर्थः । ३ श्रद्धाशब्दवाच्याभ्योऽद्भ्य । ४ प्रजापतिरेतसि । ५ वृत्तिश्च वृत्तिमति तिष्ठत्येव । ६ कामिनो हृदयादिति पञ्चम्यौ समानाधिकरणे । ७ रेतसो हृदयकार्यत्वसंभवात्तत्कार्यत्वादेवेति वाच्य । ८ कामस्य हृदयवृत्तित्वेऽपि । [illegible] रेतसो हृदयकार्यत्वे ।

सृप्तो हृदयादिव निर्मित इति हृदये ह्येव रेतः प्रतिष्ठितं भवतीत्येवमेवैतद्याज्ञवल्क्य ॥ २२ ॥

किंदेवतोऽस्यामुदीच्यां दिश्यसीति सोमदेवत इति स सोमः कस्मिन्प्रतिष्ठित इति दीक्षायामिति कस्मिन्नु दीक्षा प्रतिष्ठितेति सत्य इति तस्मादपि दीक्षितमाहुः

मे । अतएव पिता के अनुरूप उत्पन्न हुए पुत्र को 'लोक' कहते है । यह मानो पिता के हृदय से ही निकला है क्योंकि हृदय मे ही वीर्य स्थित होता है । शाकल्य ने कहा—हे याज्ञवल्क्य ! यह बात भी ऐसी ही है ॥ २२ ॥

इस उत्तरदिशा मे तुम किस देवता मे युक्त हो ? याज्ञवल्क्य ने कहा—सोमदेवता से (सोम शब्द से सोमलता और सामदेवता दोनो का वर्णन किया गया है) । शाकल्य ने पूछा—वह सोमदेवता किसमे प्रतिष्ठित है ? याज्ञवल्क्य ने कहा —दीक्षा मे (क्योंकि दीक्षित यजमान ही सोम को खरीदकर सोम से यजन करके सोम से अधिष्ठित तत्सम्बन्धी उत्तरदिशा को प्राप्त होता है) शाकल्य ने

प्रतिरूपमनुरूपं पुत्रं जातमाहुर्लौकिकाः । अस्य पितुर्हृदयादिवायं पुत्रः सृप्तो विनिःसृतो हृदयादिव निर्मितो यथा सुवर्णेन निर्मितः कुण्डलः[1] । तस्माद्धृदये ह्येव रेतः प्रतिष्ठितं भवतीत्येवमेवैतद्याज्ञवल्क्य ॥ २२ ॥

किंदेवतोऽस्यामुदीच्यां दिश्यसीति । सोमदेवत इति । सोम इति लतां सोमदेवतां चैकीकृत्य निर्देशः । स सोमः कस्मिन्प्रतिष्ठित इति । दीक्षायामिति । दीक्षितो हि यजमानः सोमं क्रीणाति । क्रीतेन सोमेनेष्ट्वा ज्ञानवानुत्तरां दिशं प्रतिपद्यते सोमदेवता-

---

वा ॥ २२ ।

दीक्षायां सोमस्य प्रतिष्ठितत्वं साधयति—दीक्षितो हीत्यादिना । दीक्षाया सत्ये प्रतिष्ठित-

---

के विषय मे लोकव्यवहार मे ऐसा कहा जाता है कि यह पुत्र माना अपने पिता के हृदय से ही निकला हुआ है । स्वर्ण से बने हुए कुण्डल के समान मानो यह उसके हृदय से ही बना है, इसलिए हृदय मे ही वीर्य प्रतिष्ठित है । शाकल्य बोला—हे याज्ञवल्क्य ! मुझे भी ऐसा ही प्रतीत होता है ॥ २२ ॥

"इस उत्तरदिशा मे तुम किस देवता वाले हो ?" उत्तरदिशा मे सोमदेवता वाला हूँ । सोमलता और सोमदेवता को एक मानकर सोम' इस शब्द से प्रतिपादन किया गया है । वह सोम किसमे प्रतिष्ठित है ? सोम दीक्षा मे प्रतिष्ठित है क्योंकि दीक्षित यजमान ही सोम को खरीदता है । खरीदे हुए सोम से याग करके वह उपासक सोमदेवता से अधिष्ठित सोमसबन्धी उत्तरदिशा को

---

१ कुण्डल इति—कुण्डल कर्णवेष्टनमित्यमर. । अर्धर्चादित्वात्पुंस्त्वमपि । २. तयो. कार्यकारणभावस्योपपन्नत्वात् । ३ उपासक ।

सत्यं वदेति सत्ये ह्येव दीक्षा प्रतिष्ठितेति कस्मिन्नु सत्यं प्रतिष्ठितमिति हृदय इति होवाच हृदयेन हि सत्यं जानाति हृदये ह्येव सत्यं प्रतिष्ठितं भवतीत्येवमेवैतद्याज्ञवल्क्य ॥२३॥

किंदेवतोऽस्यां ध्रुवायां दिश्यसीत्यग्निदेवत इति सोऽग्निः कस्मिन्प्रतिष्ठित इति वाचीति कस्मिन्नु

पूछा—दीक्षा किसमे प्रतिष्ठित है ? याज्ञवल्क्य ने कहा—सत्य मे । इसलिये दीक्षित पुरुष से कहते हैं कि 'सत्य बोलो', क्योंकि सत्य मे ही दीक्षा प्रतिष्ठित है (अन्यथा कारण के नाश होने से दीक्षारूप कार्य का नाश होना सभव है)। शाकल्य ने पूछा—सत्य किसमे प्रतिष्ठित है ? याज्ञवल्क्य ने कहा—हृदय मे, क्योंकि हृदय से ही पुरुष सत्य को जानता है । अतः हृदय मे ही सत्य प्रतिष्ठित है। शाकल्य ने कहा—हे याज्ञवल्क्य ! यह बात ऐसी ही है ॥ २३ ॥

शाकल्य ने पूछा—ध्रुवा (ऊर्ध्व) दिशा में तुम किस देवता वाले हो ? याज्ञवल्क्य ने कहा—मैं अग्नि देवता वाला हूँ, क्योंकि ऊर्ध्व दिशा में प्रकाश बहुत है और प्रकाश ही अग्नि है। शाकल्य ने

धिष्ठितां सौम्याम् । कस्मिन्नु दीक्षा प्रतिष्ठितेति । सत्य इति । कथम् । यस्मात्सत्ये दीक्षा प्रतिष्ठिता तस्मादपि दीक्षितमाहुः' सत्य वदेति कारणभ्रेषे कार्यभ्रेषो मा भूदिति । सत्ये ह्येव दीक्षा प्रतिष्ठितेति । कस्मिन्नु सत्यं प्रतिष्ठितमिति । हृदय इति होवाच । हृदयेन हि सत्य जानाति । तस्माद्धृदये ह्येव सत्यं प्रतिष्ठित भवतीत्येवमेवैतद्याज्ञवल्क्य ॥२३॥

किंदेवतोऽस्या ध्रुवायां दिश्यसीति । मेरोः समन्ततो वसतामव्यभिचारादूर्ध्वा

स्वमप्रसिद्धमिति शङ्कित्वा समाधत्ते—कथमित्यादिना । अपिशब्दोऽवधारणार्थः । सत्यं वदेति वदतामभिप्रायमाह—कारणेति । भ्रेषो भ्रंशो नाश । इति तेषामभिप्राय इति शेषः । प्रकृतोपसंहार.—सत्ये हीति ॥२३॥

कथं पुनरूर्ध्वा दिगवस्थिता ध्रुवेत्युच्यते तत्राऽऽह—मेरोरिति । 'तत्राग्नेर्देवतात्वं प्रकटयति

प्राप्त करता है । वह दीक्षा किसमें प्रतिष्ठित है ? दीक्षा सत्य मे प्रतिष्ठित है । यह कैसे कहते हो ? क्योंकि दीक्षा सत्य मे प्रतिष्ठित है । तभी दीक्षित हुए को पडित कहते हैं कि "सत्य बोलो" जिससे कि कारण का नाश न होने से कार्य का नाश न हो । इसलिए सत्य मे ही दीक्षा प्रतिष्ठित है, तो फिर सत्य किसमे प्रतिष्ठित है ? याज्ञवल्क्य बोले—सत्य हृदय मे प्रतिष्ठित है । शाकल्य बोला—हे याज्ञवल्क्य ! मुझे भी ऐस[illegible] ता है ॥ २३ ॥

इस ध्रुवादिश[illegible] वाले हो ? मे[illegible] ओर रहने वाले समस्त प्राणियो

वाक्प्रतिष्ठितेति [1]हृदय इति कस्मिन्नु हृदयं प्रतिष्ठित-मिति ॥२४॥

पूछा —वह अग्नि किसमे प्रतिष्ठित है ? याज्ञवल्क्य ने कहा—वाक् मे । शाकल्य ने पूछा— वाक् किसमे प्रतिष्ठित है ? याज्ञवल्क्य ने कहा—हृदय में (उस समय सम्पूर्ण दिशाओ मे फैले हुए हृदय के द्वारा याज्ञवल्क्य उन्हे आत्मभाव से प्राप्त था) । शाकल्य ने पूछा —हृदय किसमे प्रतिष्ठित है ? (इस वाक्य से शाकल्य ने सर्वात्मक हृदय की प्रतिष्ठा के विषय मे प्रश्न किया) ॥ २४ ॥

दिग्ध्रु वेत्युच्यते । अग्निदेवत इति । ऊर्ध्वायां हि प्रकाशभूयस्त्वं प्रकाशश्चाग्निः । सोऽग्निः कस्मिन्प्रतिष्ठित इति [2]वाचीति । कस्मिन्नु वाक्प्रतिष्ठितेति । [3]हृदय इति । तत्र याज्ञवल्क्यः [4]सर्वासु दिक्षु विप्रसृतेन हृदयेन[5] सर्वा दिश [6]आत्मत्वेनाभिसंपन्नः । सदेवाः [7]सप्रतिष्ठा दिश आत्मभूतास्तस्य नामरूप[8]कर्मात्मभूतस्य याज्ञवल्क्यस्य । यद्रूपं तत्प्राच्या दिशा सह हृदयभूतं याज्ञवल्क्यस्य । यत्केवलं कर्म पुत्रोत्पादनलक्षणं च ज्ञानसहितं च सह फलेनाधि-

---

—ऊर्ध्वाया हीति । 'दिशो वेद' इत्यादिश्रुत्या[9] "जगतो विभागेन" पञ्चधात्वं ध्यानार्थमुक्तमिदानी-मुक्तविभागवादिन्याः श्रुतेरभिप्रायमाह—तत्रेति । यथोक्ते विभागे सतीति यावत् । उक्तमर्थं संक्षिपति —सदेवा इति । "तत्रावान्तरविभागमाह—यद्रूपमिति । "आद्ये पर्याये हृदये रूपप्रपञ्चोपसंहारो दर्शितः "'हृदये ह्येव रूपाणि' इति श्रुतेरित्यर्थः । दक्षिणायामित्यादिपर्याय"त्रयेण तत्रैव" कर्मोपसंहार उक्त इत्याह—यत्केवलमिति । यद्धि "केवलं कर्म तत्फलादिभिः सह दक्षिणादिगात्मकं हृद्युपसंह्रियते यज्ञस्य दक्षिणा"द्विद्वारा हृदये प्रतिष्ठितत्वोक्ते"र्दक्षिणस्या दिशस्तत्फलत्वात्पुत्रजन्माख्यं च कर्म प्रतीच्यात्मकं "तत्रैवोपसंहृतम् । '"हृदये ह्येव रेत प्रतिष्ठितम्' इति श्रुते । पुत्रजन्मनश्च "तत्कार्यत्वाज्ज्ञानसहितमपि

की दृष्टि में ऊर्ध्वदिशा का कभी व्यभिचार नही होता, इसलिए वह ध्रुवादिशा कही जाती है । (याज्ञवल्क्य बोले—) ऊर्ध्व दिशा में मैं अग्निदेवता वाला हूँ क्योकि ऊर्ध्वदिशा मे प्रकाशबाहुल्य है और प्रकाश ही अग्नि है । वह अग्नि किसमे प्रतिष्ठित है ? अग्नि वाक् मे प्रतिष्ठित है । और वाक् किसमे प्रतिष्ठित है ? वाक् हृदय मे प्रतिष्ठित है । उस समय सभी पांचो दिशाओ मे फैले हुए हृदय के द्वारा याज्ञवल्क्य सभी दिशाओं मे स्वस्वरूप से प्राप्त था अर्थात् नाम रूप और कर्म के जगदात्मभूत

वाचाऽग्निरजायतेति श्रुतस्तस्य स्वकारणे एव तस्य प्रतिष्ठितत्वमाह—वाचीतीति ।

१. हृदय बुद्धि । २ स्वकारणे एव तस्य प्रतिष्ठितत्वमाह—वाचीतीति । वाचाऽग्निरजायतेति श्रुतस्तस्य तत्कार्यत्वमिति भाव । ३. हृदय इतीति—अत्रापि हृदयेन हि वाच जानातीति हेतुवाक्यमूह्यम् । ४ पञ्चसु । ५. द्वारा । ६ स्वस्वरूपत्वेन प्राप्त । ७ सकारणा । ८ जगदात्मन । ९ बृ० उ० ३।६।१९ । हृदय इत्यन्तया । १० जगदात्मकदेवस्य दिग्भेदेन । ११ श्रुत्या दिग्विभागेन पञ्चधात्व ध्यानार्थं देवस्योक्तमिति पाठान्तरम् । १२. तत्रेति—नामरूपकर्मात्मकस्य सर्वस्य जगता हृद्युपसंहारे सामान्येनोक्ते सतीत्यर्थ । १३ बृ० उ० ३।६।२० । १४ बृ० उ० ३।६।२० । १५ बृ० उ० ३।६।२१-२३ । १६ हृदये एव । १७ उपास्तिशून्य वैदिकम् । १८. आदिना श्रद्धा । १९. केवलस्य कर्मणो दक्षिणदिगात्मत्वमुक्त तत्र हेतुमाह— दक्षिणस्या इति । २० हृदये एव । २१ बृ० उ० ३।६।२२ । २२. रेतः ।

अहल्लिकेति होवाच याज्ञवल्क्यो यत्रैतदन्यत्रास्मन्म-

हे प्रेत ! ऐसे शब्द से संबोधित करते हुए याज्ञवल्क्य ने कहा—जिस समय तुम इस देह को हृदयरूप हमसे पृथक् मानते हो, यदि उस समय सचमुच में यह शरीर हमसे पृथक् हो जाय, तो इसे

प्राचीभिश्च देवताभिर्दक्षिणाप्रतीच्युदीच्यः कर्मफलात्मिका हृदयमेवाऽऽपन्नास्तस्य । ध्रुवया दिशा सह नाम सर्वं वाग्द्वारेण हृदयमेवाऽऽपन्नम् । एतावद्धीदं सर्वं यद्युत रूपं वा कर्म वा नाम वेति तत्सर्वं हृदयमेव तत्सर्वात्मकं हृदयं पृच्छ्यते कस्मिन्नु हृदयं प्रतिष्ठितमिति ॥ २४ ॥

'अहल्लिकेति होवाच याज्ञवल्क्यो 'नामान्तरेण संबोधनं कृतवान् । यत्र यस्मिन्काल

कर्म फलप्रतिष्ठादेवताभिः सहोदीच्यात्मकं तत्रैवोपसंहृतं सोमदेवताया दीक्षा'दिद्वारा 'तत्प्रतिष्ठत्वश्रुतेरेव ''दिक्त्रये सर्वं कर्म हृदि संहृतमित्यर्थः । पञ्चमपर्यायस्य तात्पर्यमाह—ध्रुवयेति । नामरूपकर्मसूपसंहृतेष्वपि किंचिदुपसंहर्तव्यान्तरमवशिष्टमस्तीत्याशङ्क्य निराकरोति—एतावद्धीति । प्रश्नान्तरमुत्थापयति—तत्सर्वात्मकमिति ॥ २४ ॥

हृदयपदेन नामाद्याधारवदहल्लिकशब्देनापि हृदयाधिकरणं विवक्ष्यते ''वाक्यच्छायासाम्या-

उस याज्ञवल्क्य की देवता और प्रतिष्ठा के सहित सभी दिशाएँ स्वस्वरूपभूत थी । जो रूप था, वह पूर्वदिशा के सहित याज्ञवल्क्य का हृदयस्वरूप हो गया । इसी प्रकार जो केवल कर्म, पुत्रोत्पादनरूप कर्म और ज्ञानपूर्वक कर्म थे, वे अपने फल और अधिष्ठातृ देवताओं के साथ कर्मफलात्मिका दक्षिण, पश्चिम और उत्तर दिशाओं के साथ उस याज्ञवल्क्य का हृदय हो गये । तथा ध्रुवादिशा के सहित वाक् के द्वारा सम्पूर्ण नाम भी याज्ञवल्क्य के हृदय को प्राप्त हो गये । यह जो कुछ रूप, कर्म अथवा नाम है वह सब इतना ही है और (नाम-रूप कर्मात्मक सर्वजगत् मन का विलास होने से मन द्वारा हृदय में पर्यवसित होने से) वह सब हृदय ही है, उस सर्वात्मक हृदय के विषय में प्रश्न किया जाता है कि "हृदय किसमें प्रतिष्ठित है" ॥ २४ ॥

१ दिश । २ याज्ञवल्क्यस्य । ३ याज्ञवल्क्यस्य । ४ आपन्नमिति—अग्निप्रतिष्ठाया वाचो हृदये प्रतिष्ठितत्वोक्तेरिति शेषः । एवं नामरूपकर्मात्मकस्य सर्वस्य जगतो हृदये संहृति प्रस्तुतश्रुत्योक्तेति भावः । ५ हृदिति—नामरूपकर्मात्मकं सर्वं जगन्मनोविलासरूपत्वादर्थान्मनोद्वारा हृद्येवोपसंहृतमित्यर्थः । एतेन सर्वं जगदुपसंहृतं हृदीत्ययुक्तमत्र प्रकरणे मनसो हृद्युपसंहाराश्रुतेरित्यपास्तं वार्तिके । तथाहि—"सामर्थ्याच्च मनोऽप्यत्र विज्ञेयमुपसंहृतम् । रूपादिपञ्चकं यस्मात्तद्द्वारेणाऽऽश्रितं हृदीति" ॥ ७६ ॥ रूपरसादिपञ्चकं मनोविलासितं तद्द्वारा हृदि संहृतं न हि मनसस्तत्र संहारं विना तद्विकल्पितस्य ॥ युक्तोऽतो मनोऽपि हृदि संहृतमित्यर्थः । ६ ब्रह्मादिस्तम्बान्तं सर्वं जगत्त्वय्यस्मिन् संहृत्य व्यवस्थितं हृदयं कस्मिन्प्रतिष्ठितमिति पृष्टो मुनिरहल्लिकेति संबोध्योत्तरमाहेत्याह—अहल्लिकेति । अहनि लीयत इति विग्रहे 'क्विप् चे'ति क्विपि 'संज्ञायां कनि'ति कनि 'केऽण' इति ह्रस्वत्वम् । ७ शाकल्यस्य विदग्धत्वादिदमपि नामान्तरमित्यर्थः । पिशाचवदसौ वल्गतीति येनचिद्विदुषाऽस्य तादृशं नामकृतमिति ज्ञेयम् । ८ आदिना सत्यम् । ९ हृदयप्रतिष्ठत्वश्रुतेरिति यावत् १० दिक्त्रयात्मने । ११ प्रश्नवाक्यस्वरूपसादृश्यात् ।

न्यासै यद्धयेतदन्यत्रास्मत्स्याच्छ्वानो वैनदद्यु र्वयाꣳसि
वैनद्विमथ्नीरन्निति ॥२५॥
कस्मिन्नु त्वं चाऽऽत्मा च प्रतिष्ठितौ स्थ इति प्राण इति

कुत्ते खा जायँ, या पक्षी इसे चोंच मारकर मथ डालें अर्थात् शरीर, नाम, रूप वह कर्ममय होने के कारण हृदयरूप आत्मा मे ही प्रतिष्ठित है ॥ २५ ॥

तुम और तुम्हारा आत्मा (हृदय) किसमे प्रतिष्ठित है ? याज्ञवल्क्य ने कहा—देह और आत्मा

एतद्धृदयमात्मास्य शरीरस्यान्यत्र क्वचिद्देशान्तरेऽस्मदस्मत्तो वर्तत इति मन्यासै मन्यसे। यद्धि यदि ह्येतद्धृदयमन्यत्रास्मत्स्याद्भवेच्छ्वानो वैनच्छरीरं तदाऽद्यु र्वयासि वा पक्षिणो वैनद्विमथ्नीरन्विलोडयेयुर्विकर्षेरन्निति तस्मान्मयि शरीरे हृदयं प्रतिष्ठितमित्यर्थं। शरीरस्यापि नामरूपकर्मात्मकत्वाद्धृदये प्रतिष्ठितत्वम् ॥२५॥

हृदयशरीरयोरेवमन्योन्यप्रतिष्ठोक्ता कार्यकरणयोरं तस्त्वा पृच्छामि। कस्मिन्नु

विरयाशङ्क्याऽऽह—नामान्तरेणेति। अहनि लीयत इति विगृह्य प्रेतवाचिनेति शेष। देहे हृदय प्रतिष्ठितमिति व्युत्पादयति—यत्रेत्यादिना। तस्मिन्काले शरीरं शरीरं मृतं स्यादिति शेष। शरीरस्य हृदयाश्रयत्व विशदयति—यद्धीत्यादिना। देहादन्यत्र हृदयस्यावस्थाने यथोक्त दोषमिति शब्देन परामृश्य फलितमाह—इतीत्यादिना। देहस्तर्हि कुत्र प्रतिष्ठित इत्यत आह—शरीरस्येति ॥२५॥

वृत्तमनूद्य प्रश्नान्तरमुपादत्ते—हृदयेति। प्राणशब्दस्य सूत्रविषयत्व व्यवच्छेत्तु वृत्ति-

---

याज्ञवल्क्य ने 'अहल्लिक' ऐसा सम्बोधन करके कहा। शाकल्य को अन्य नाम से सम्बोधन किया। 'यत्र' अर्थात जिस समय 'एतद' अर्थात यह हृदय यानी आत्मभूत शरीर हमारे स्वरूपभूत शरीर से किसी अन्य देश मे रहता है' इति मन्यासै ऐसा मानते हो, 'यद्धि' यानी उस समय यदि इस शरीर से यह आत्मभूत हृदय अन्यत्र चला जाय तो इस शरीर को या तो कुत्ते खा जायँ या (गृध्रादि) पक्षी 'वैनद्विमथ्नीरन्' इसे नोच नोच कर खा जायँ। इसलिये (उक्त दोष से) हृदय मुझ शरीर में प्रतिष्ठित है। शरीर भी नाम रूप एव कर्ममय होने के कारण हृदय मे प्रतिष्ठित है ॥ २५ ॥

---

१ आत्मभूतम्। २ अस्मत्स्वरूपशरीरात्। ३ गृध्रादय पक्षिण। ४ यथोक्तदोषात्। ५ अन्योन्यति। अत्र वार्तिके— वर्नासहृवदेवैतद्द्वयमन्योन्यसंश्रयम् ॥ नर्ते लिङ्ग शरीरस्य स्थिति काचिदिहेष्यते। न शरीर विना लिङ्ग कस्मैचित्कमण क्षमम् ॥ न ह्यन्योऽन्यातिरकेण संहताना क्वचित्स्थिति। संहत च प्रतीचोऽन्यज्जगदेतच्चराचरमिति ॥ ८६ ८८ ॥ ननु स्थूलस्य सूक्ष्मदेहमुपेक्ष्य स्थित्यभावेऽपि स्थूल विना यावन्मोक्षमेतत् (सूक्ष्म)स्थास्यति इति नान्योऽन्याश्रयतेति तत्राऽऽह—न शरीरमिति ॥ किंच हृदयदेहावन्योन्यप्रतिष्ठितौ संहतत्वात्प्रासादादिवदित्याह—न हीति। हेत्वसिद्धि धुनीते—संहत चेति ॥ ६ हृदयशरीरयोरित्यन्वय। ७ कार्यत्वेन तयो स्वातन्त्र्याभावात्। ८ मृत स्यादिति—एतेन शरीरस्य हृदयाश्रयत्वमर्थादुक्तमिति ध्येयम्। ९ मरणात्मकम्।

'नियतं यस्मिन्प्रतिष्ठितमाकाशान्तमोतं च प्रोतं च तस्य निरुपाधिकस्य साक्षादपरोक्षाद्ब्रह्मणो निर्देशः कर्तव्य इत्ययमारम्भः ।

स एषः । स यो नेति नेतीति निर्दिष्टो मधुकाण्ड एष स । 'सोऽयमात्माऽगृह्यो न गृह्यः । कथम् । यस्मात्सर्वकार्यधर्मातीतस्तस्मादगृह्यः । कुतो यस्मान्न हि गृह्यते । यद्धि करणगोचरं 'व्याकृतं वस्तु तद्ग्रहणगोचरमिदं तु तद्विपरीतमात्मतत्त्वम् । तथाऽशीर्यो यद्धि 'मूर्तं संहतं शरीरादि तच्छीर्यतेऽयं तु 'तद्विपरीतोऽतो न हि शीर्यते । तथाऽसङ्गो मूर्तो मूर्तान्तरेण संबध्यमानः 'सज्यतेऽयं च 'तद्विपरीतोऽतो न हि सज्यते । तथाऽसितोऽबद्धो यद्धि मूर्तं तद्बध्यतेऽयं तु तद्विपरीतत्वादसितोऽबद्धत्वान्न व्यथतेऽतो न

यस्य कूटस्थदृष्टि''मात्रस्यान्तर्यामित्वकल्पनाधिष्ठानस्याज्ञानदशात्प्रशासने द्यावापृथिव्यादि स्थितं स परमात्मैव प्रत्यगात्मैवेतिपदयोरर्थं विवक्षित्वाऽऽह—स एष इति । निषेधद्वय मूर्तामूर्तब्राह्मणे ''व्याख्यातमित्याह—स यो नेति । यो मधुकाण्डे चतुर्थे नेति नेतीति निषेधमुखेन निर्दिष्टः स एष पूर्वब्राह्मणे'' तन्मुखेनैव वक्ष्यत इति योजना । निषेधद्वारा निर्दिष्टमेव स्पष्टयति—सोऽयमिति । कार्यधर्माः शब्दादयोऽशनायादयश्च । श्रुत्युक्तं हेतुमवतार्य व्याचष्टे—कुत इत्यादिना । तद्विपरीतत्वं करणागोचरत्वं ''न चक्षुषेत्यादिश्रुतेः । तद्विपरीतत्वादमूर्तत्वादिति यावत् । पूर्वत्राप्युभयत्र तद्वैपरीत्यमेतदेव । अत

ऐसा कहा जाता है—शरीर हृदय और प्राण—ये परस्पर प्रतिष्ठित हैं और विज्ञानमय के लिए नियुक्त होकर सहतरूप से नियमित रहते हैं। ये सब जिसके द्वारा नियम में बँधे रहते हैं, जिसमें प्रतिष्ठित हैं और जिसमें आकाशपर्यन्त ओत प्रोत हैं उस निरुपाधिक साक्षात् अपरोक्ष ब्रह्म का व्याख्यान करना चाहिये, इसलिए आगे का ('स एष' यह) ग्रन्थ आरम्भ किया जाता है।

"स एष" अर्थात् जिसका मधुकाण्ड में 'नेति नेति' इस प्रकार निर्देश किया गया है, वह यह है। (प्रकरणस्थ वह अक्षरब्रह्मरूप) आत्मा अगृह्य" ग्राह्य नहीं है। किस प्रकार ग्राह्य नहीं है? क्योंकि यह समस्त कार्यधर्मों से अतीत है, इसलिए इन्द्रिय से अगोचर है। यह अग्राह्य क्यों है? क्योंकि यह ग्रहण नहीं किया जा सकता। जो कार्य वस्तु इन्द्रियगोचर होती है, वही ग्रहण की जा सकती है किन्तु यह आत्मतत्त्व तो (इन्द्रिय से अगोचर होने के कारण) उससे विपरीत है। तथा यह आत्मतत्त्व अपक्षय से रहित है क्योंकि जो सावयव संहत शरीरादि हैं, वही अपक्षय (शैथिल्य) को प्राप्त होता है, आत्मतत्त्व (अमूर्त होने से) उससे विपरीत होने के कारण अपक्षय को प्राप्त नहीं होता। तथा यह सङ्गत्वधर्मशून्य है। सावयव पदार्थ ही किसी दूसरे सावयव पदार्थ से सम्बद्ध होने के कारण संश्लिष्ट होता है।

---

१ नियमितम् । २ सोऽयमात्मेति—प्राकरणिकस्याक्षरस्य ब्रह्मण आत्मशब्देनानुवादं कुर्वाणा तयोरभेदं मन्यते श्रुतिरिति विभावनीयम् । ३ करणागोचरं । ४ कार्यम् । ५ विशरणं शैथिल्यमपक्षयस्तद्रहित इत्यर्थः । ६ सावयवम् । ७ अमूर्त इत्यर्थः । ८ सङ्गित्वधर्मशून्यः । ९ संश्लिष्यते । १० मूर्तविपरीतः । ११ बाह्याभ्यन्तरशून्य इति यावत् । १२ अक्षरस्य । १३ बृ० उ० २।३।४-६ । १४ बृ० उ० ४।२।४ । १५ 'न चक्षुषा गृह्यते नापि वाचा नान्यैर्देवैस्तपसा कर्मणा वा ।

रिष्यति । ग्रहणविशरणसङ्गबन्धकार्यधर्मरहितत्वान्न रिष्यति न हिंसामापद्यते न विनश्यतीत्यर्थः ।

[1]क्रममतिक्रम्यौपनिषदस्य पुरुषस्याऽऽख्यायिकातोऽपसृत्य श्रुत्या [2]स्वेन रूपेण त्वरया निर्देशः कृतः । *[3]ततः [4]पुनराख्यायिकामेवाऽऽश्रित्याऽऽह । एतानि यान्युक्तान्यष्टावायत-

शब्दार्थं स्फुटयन्नुक्तमुपपादयति—ग्रहणेति । कार्यधर्माः शब्दादयोऽशनायादयश्च प्रागुक्ताः ।

ननु शाकल्ययाज्ञवल्क्ययोः संवादात्मिकेयमाख्यायिका तत्र कथं शाकल्येनापृष्टमात्मानं याज्ञवल्क्यो व्याचष्टे तत्राऽऽह—क्रममिति । विज्ञानादिवाक्ये वक्ष्यमाणत्वात्किमित्यत्र तन्निर्देश इत्याशङ्क्याऽऽह—ततः पुनरिति । निश्चयेन मर्मास्त्वेत्येतदेव स्पष्टयति—अष्टेति । प्रत्युह्योपसंहृत्येति

मूर्त से विपरीत होने के कारण यह सश्लिष्ट नहीं होता है । तथा यह "असितः" अर्थात् अबद्ध (बाह्याभ्यन्तर शून्य) है क्योंकि जो पदार्थ मूर्त (सावयव) होता है, वही बंधता है, यह उससे विपरीत असित या अबद्ध होने के कारण 'न व्यथते' यानी विनाश को प्राप्त नहीं होता । ग्रहण, विशरण, सङ्ग, बन्धरूप कार्यधर्मों से रहित होने के कारण "न रिष्यति" अर्थात् हिंसा यानी विनाश को नहीं प्राप्त होता ।

यहाँ श्रुति ने शीघ्रता से क्रम का अतिक्रमण कर आख्यायिका से हटकर अपने मुख से औपनिषद पुरुष का निर्देश कर दिया है । श्रुति अब आख्यायिका का आश्रय लेकर पुन कहती है । ये

१. क्रममिति—तावच्छाकल्यप्रश्नस्ततो मुनिकृतप्रतिवचनमित्येव तत्प्रश्नप्रतिवचनात्मकक्रममित्यर्थः । २. स्वमुखेनेति यावत् । ३ तत इति—समाम इति एतानि इत्यनयोराख्यायिकावाक्ययोर्मध्ये औपनिषदपुरुषनिर्देशानन्तरमित्यर्थ । अथवा शाकल्यप्रश्ननिर्णयानन्तरमित्यर्थः । ४ पुनरित्यादि—पूर्वमिवाख्यायिकामनुसृत्य, अथ प्रेतीभूतोऽब्रह्मविस्सन्नव मां पृच्छतीति तस्य सापराधत्वं ज्ञापयितुं मुनिः पृच्छतीत्यर्थः । एतेन स एष इत्यादिश्रौतं वाक्यम्, एतानीत्यादि तु याज्ञवल्कीयप्रश्नवाक्यमिति विभाग उक्त इति ध्येयम् । ५ पृथिवीकामरूपाकाशतमोरूपोदकरेतांसि । ६ तस्यामाख्यायिकाम् । ७ बृ० उ० ३।९।२८ ।

*ततः पुनराख्यायिकामेवाश्रित्याहेति । अत्राहुर्वार्तिकाचार्यास्तथाहि—"श्रुतिः स्वेनैव वचसा साक्षादित्यादिलक्षणम् । समापय्याऽऽत्मविज्ञानं भूयोऽप्याख्यानरूपकम् ॥ गृहीत्वा परिपप्रच्छ शाकल्यमभिमानिनम् । याज्ञवल्क्योऽधार्मिका भूत्वा ह्यतिनिबन्धकारिणम् ॥ धन निसृष्ट राजन् ब्रह्मिष्ठोद्धृतो यत । प्रष्टुं नैवाधिकारोऽस्तोऽब्रह्मिष्ठस्येह विद्यते ॥ अब्रह्मिष्ठत्वसिद्ध्यर्थमतोऽप्राक्षीद्गुणान्वित । याज्ञवल्क्य शाकल्य सापराधत्वसिद्धये ॥ स एष नेति नेत्याद्य प्रश्नो वाऽस्य समीक्ष्यताम् । मध्य वाक्याच्छेदोऽभावादितिशब्दस्य पूर्ववत् ॥ समासव्यासरूपेण शाकल्यो यदपृच्छत ॥ तत. परस्ताच्छाकल्य याज्ञवल्क्योऽप्यपृच्छत ॥ ऐकात्म्ये सर्वमवद कार्यकारणलक्षणम् । समापनीय नि शेषं समासव्यासवर्जितं ॥ अपि शास्त्रार्थसंबन्ध उत्तरस्या श्रुतेरयम् । तदनुक्तौ यतः पूर्वं सर्वं स्यात्तुपकण्ठनम्" ॥ १००-१०७ ॥ इति । एतानष्टावित्यादिवाक्यस्य पूर्वेणासंगतिमाशङ्क्य परिहरति—श्रुतिरिति ॥ विद्याभिमानित्वादतिनिबन्धकारित्वाच्च शाकल्य प्रति प्रष्टुं युक्तमिति वक्तुं हिशब्द. ॥ शाकल्योऽत्र प्रष्टा कथं त प्रति प्रश्नोऽप्यस्येत्याशङ्क्य शाकल्यस्य प्रश्नाधिकार निराचष्टे—धनमिति । इहेति बहुदक्षिणयज्ञोक्ति. । अब्रह्मिष्ठस्येति च्छेद । द्वितीयस्त्विहशब्दो ब्रह्मवित्सभाविषय ॥ कथं शाकल्यस्याब्रह्मिष्ठत्वं तत्राऽऽह—अब्रह्मिष्ठत्वेति । अब्रह्मिष्ठस्य प्रश्नानधिकारोऽत्र शब्दार्थं । प्रश्नानधिकारिणोऽपि शाकल्यस्य प्रश्ने

संवादो निर्वृत्तः । तत्र याज्ञवल्क्येन शापो दत्तः । पुरेऽतिथ्ये मरिष्यसि न तेऽस्थीनि चन गृहान्प्राप्स्यन्तीति स ह तथैव ममार । तस्य ह्यप्यन्यन्मन्यमानाः परिमोषिणोऽस्थीन्यपजह्रुः । तस्मान्नोपवादी स्यादुत ह्येवंवित्परो भवतीति । सैषाऽऽख्यायिकाऽऽचारार्थं सूचिता विद्यास्तुतये चेह ॥२६॥

'यस्य नेति नेती'त्यन्यप्रतिषेधद्वारेण ब्रह्मणो निर्देशः कृतस्तस्य विधिमुखेन कथं निर्देशः कर्तव्य इति पुनराख्यायिकामेवाऽऽश्रित्याऽऽह मूलं च जगतो वक्तव्यमिति । 'आख्यायिकासंबन्धस्त्वब्रह्मविदो ब्राह्मणाञ्जित्वा गोधनं हर्तव्यमिति । न्यायं मत्वाऽऽह—

ऽऽख्यायिकामनुक्रामति—अष्टाध्याय्यामिति । अष्टाध्यायी बृहदारण्यकात्प्राचीना कर्मविषया । पुरे पुण्यक्षेत्रातिरिक्ते देशे । अतिथ्ये पुण्यतिथिशून्ये काले । अस्थीनिचनेत्यत्र चनशब्दोऽप्यर्थः । उपवादी परिभवकर्ता । तच्छब्दार्थमाह—उत हीति । किमितीयमाख्यायिकाऽत्र विद्याप्रकरणे सूचितेत्याशङ्क्याऽऽह—सैषेति । ब्रह्मविदि विनीतेन भवितव्यमित्याचारः महती हीयं ब्रह्मविद्या यत्तन्निष्ठावज्ञायामैहिकामुष्मिकविरोधः स्यादिति विद्यास्तुतिः ॥२६॥

अथ हेत्याद्युत्तरग्रन्थमवतारयति—यस्येत्यादिना । जगतो मूलं च वक्तव्यमित्याख्यायिकामेवाऽऽश्रित्याऽऽहेति संबन्धः । आख्यायिका किमर्थेत्यत आह—आख्यायिकेति । इतिशब्दः "संबन्धसमाप्त्यर्थः । ननु ब्राह्मणेषु तूष्णींभूतेषु प्रतिषेद्धुरभावाद्गोधनं हर्तव्यं किमिति तान्प्रति याज्ञवल्क्यो वदतीत्यत आह—न्याय मत्वेति । "ब्रह्मस्वं हि ब्राह्मणानुमतिमनापाद्य नीयमानमनर्थाय स्यादिति न्यायः । संबोध्योवाचेति

अष्टाध्यायीनाम कर्मविषयक ग्रन्थ मे शाकल्य से याज्ञवल्क्य का समानान्त वार्तालाप हुआ है । वहाँ अष्टाध्यायीस्थ सवाद मे याज्ञवल्क्य ने शाकल्य को शाप दिया कि तुम पुण्यक्षेत्रभिन्न देश और पुण्यतिथिशून्य काल मे मरोगे और तुम्हारी अस्थियाँ (सस्कार के लिए) घर तक भी नही पहुँचेंगी, इसलिये वह उसी प्रकार मर गया । तस्कर उसकी अस्थियों को दूसरे का धन समझकर ले गये । इसलिये परिभवकर्ता नही होना चाहिये क्योकि ब्रह्मज्ञानी श्रेष्ठ होता है । यह आख्यायिका आचारार्थ और विद्या की स्तुति के लिए यहाँ सूचित की गई है ॥ २६ ॥

जिस ब्रह्म का 'नेति नेति' इस प्रकार अनात्मपदार्थों के निषेध के द्वारा निर्देश किया गया है, उसका विधिमुख से किस प्रकार निर्देश करना चाहिये—ऐसी जिज्ञासा होने पर जगत का मूलकारण बतलाने के लिए श्रुति पुन. आख्यायिका का आश्रय लेकर कहती है । आख्यायिका का प्रयोजन यह है कि अब्रह्मवित् ब्राह्मणो को जीतकर गोधन ले जाना चाहिये । इस न्याय को स्वीकार कर याज्ञवल्क्य कहते हैं ।

१. तत्रस्थ(अष्टाध्यायीस्थ)सवादे । २ उत हीत्यादि । यस्मादेवंविदपि ब्रह्मज्ञोऽपि । उपवादात् परः शत्रुर्भवति तस्मान्नापवादी स्यादित्यथ । ३ यस्य ब्रह्मण इत्यन्वय । ४. अनात्मप्रतिषेधद्वारेण । ५. जिज्ञासायाम् । ६ श्रुति । ७ हेतो. । ८. आख्यायिकाप्रयोजनमिति यावत् । ९ विघातः । १०. आख्यायिकाप्रयोजनबोधकवाक्यसमाप्त्यर्थ इति यावत् । ११. ब्रह्मविद्ब्राह्मणधनम् ।

अथ होवाच ब्राह्मणा भगवन्तो यो वः कामयते स मा पृच्छतु सर्वे वा मा पृच्छत यो वः कामयते तं वः पृच्छामि सर्वान्वा वः पृच्छामीति ते ह ब्राह्मणा न दधृषुः ॥ २७ ॥

तान्हैतैः श्लोकैः पप्रच्छ—

यथा वृक्षो वनस्पतिस्तथैव [1]पुरुषोऽमृषा ॥ तस्य

इसके बाद ब्राह्मणों के मौन हो जाने पर याज्ञवल्क्य ने कहा—पूज्य ब्राह्मणगण! आपमें से जिसकी इच्छा हो कि मैं याज्ञवल्क्य से प्रश्न करूँ, वह क्रमशः मुझसे पूछ सकता है अथवा आप सभी मिलकर मुझसे पूछ सकते हैं। ऐसे ही आपमें से जिसकी इच्छा हो कि याज्ञवल्क्य मुझसे प्रश्न करे तो उससे मैं पूछता हूँ या आप सभी से मैं पूछता हूँ। पर यह चुनौती सामना करने का साहस उन ब्राह्मणों को नहीं हुआ ॥ २७ ॥

याज्ञवल्क्य ने उन ब्राह्मणों से इन आगे कहे जाने वाले श्लोकों द्वारा पूछा—वनस्पति आदि गुणों से युक्त वृक्ष जिन धर्मों से युक्त होता है जीव का शरीररूप पुरुष भी वैसा ही होता है, यह

अथ होवाच। [2]अथानन्तरं तूष्णींभूतेषु ब्राह्मणेषु होवाच हे ब्राह्मणा भगवन्त इत्येव संबोध्य। यो वो युष्माकं मध्ये कामयत इच्छति याज्ञवल्क्यं पृच्छामीति स मा मामागत्य पृच्छतु। सर्वे वा मा पृच्छत। सर्वे वा यूयं मा मा पृच्छत। यो वः कामयते याज्ञवल्क्यो मां पृच्छत्विति त वः पृच्छामि सर्वान्वा वो युष्मानह पृच्छामि। ते ह ब्राह्मणा न दधृषुस्ते ब्राह्मणा एवमुक्ता अपि न [3]प्रगल्भाः संवृत्ताः किंचिदपि प्रत्युत्तरं वक्तुम् ॥२७॥

सबन्ध.। यो व इति प्रतीकमादाय व्याचष्टे—युष्माकमिति। व्याख्यातं [4]भागमनूद्य व्याख्येयमादाय व्याकरोति—यो व इत्यादिना। यथोक्तप्रश्नानन्तरं ब्राह्मणानाम[5]प्रतिभां दर्शयति—ते हेति ॥ २७ ॥

"अथ होवाच" अर्थात् शाकल्य का शिर पात देखकर ब्राह्मणों के चुप हो जाने के पश्चात् याज्ञवल्क्य उन ब्राह्मणों से 'हे आदरणीय ब्राह्मणो" इस प्रकार सम्बोधन करके बोले—"यो वो" अर्थात् तुम में से जो भी "कामयत" यानी चाहे कि मैं याज्ञवल्क्य से आकर प्रश्न करूँ, वह 'मा' यानी मेरे पास आकर प्रश्न पूछ सकता है। 'सर्वे वा' अर्थात् अथवा तुम सब 'मा' यानी मुझसे पूछ सकते हो। और आप में से यदि किसी की इच्छा हो कि याज्ञवल्क्य मुझसे प्रश्न करे, तो मैं उससे या सभी से प्रश्न पूछता हूँ। "ते ह ब्राह्मणा न दधृषु" अर्थात् ऐसा कहे जाने पर भी वे ब्राह्मण कुछ भी प्रत्युत्तर कहने में समर्थ नहीं हुए ॥ २७ ॥

---

१ पुरुषो शरीरम्। २ शाकल्यशिर पात दृष्ट्वा ब्राह्मणाना तूष्णीभावानन्तरमित्यर्थः। ३ समर्था इति यावत्। ४ "यो व कामयत" इत्येतावन्तम्। ५ अनुत्तरताम्।

लोमानि पर्णानि त्वगस्योत्पाटिका बहिः ॥१॥

त्वच एवास्य रुधिरं प्रस्यन्दि त्वच उत्पटः ॥ तस्मात्-

दातृण्णात्प्रैति रसो वृक्षादिवाऽऽहतात् ॥२॥

सर्वथा सत्य है। वृक्ष के पत्ते होते हैं और उस पुरुष के शरीर मे रोएँ होते हैं। वृक्ष मे बाहरी भाग मे छाल होती है और पुरुष के शरीर मे त्वचा ॥ १ ॥

इस पुरुष की त्वचा से ही रक्त चूता है और वृक्ष की छाल से गोन्द निकलता है, इस प्रकार वृक्ष और पुरुष की समानता है। इस समानता के कारण ही जैसे चोट खाये हुए वृक्ष से रस चूता है, वैसे ही चोट खाये हुए पुरुष के शरीर से रक्त निकलता है ॥ २ ॥

तेष्वप्रगल्भभूतेषु ब्राह्मणेषु तान्हैतैर्वक्ष्यमाणैः श्लोकैः पप्रच्छ पृष्टवान्। [1]यथा लोके वृक्षो वनस्पतिः। वृक्षस्य विशेषणं वनस्पतिरिति। तथैव पुरुषोऽमृषा। अमृषा सत्यमेतत्। तस्य लोमानि। तस्य पुरुषस्य लोमानीतरस्य वनस्पतेः [2]पर्णानि। त्वगस्योत्पाटिका बहिस्त्वगस्य पुरुषस्येतरस्योत्पाटिका वनस्पतेः ॥१॥

त्वच एव सकाशादस्य पुरुषस्य रुधिरं [3]प्रस्यन्दि वनस्पतेस्त्वच उत्पटस्त्वच एवोत्स्फुटति [4]यस्मादेव सर्वं समानमेव वनस्पतेः पुरुषस्य च तस्मादातृण्णाद्धिंसिता[5]त्प्रैति तद्रुधिरं

स्वकीयज्ञानप्रकटनार्थमेव प्रश्नान्तरमवतारयति—तेष्विति। वृक्षो वनस्पतिरिति पर्यायत्वात्पुनरुक्तिरित्याशङ्क्याऽऽह—वृक्षस्येति। [6]तच्च [7]तस्य महत्त्वमाहेत्यपुनरुक्तिः। पुरुषस्य वृक्षसाधर्म्यमेतदित्युच्यते। साधर्म्यमेव स्पष्टयति—तस्येत्यादिना। नीरसा त्वगुत्पाटिकेत्युच्यते ॥१॥

उत्पटो वृक्षनिर्यास ॥२॥

बोलने मे असमर्थ उन ब्राह्मणो से याज्ञवल्क्य ने आगे कहे जाने वाले श्लोको से पूछा। लोकव्यवहार मे जिस प्रकार वनस्पति वृक्ष जैसी होती है। वृक्ष का विशेषण वनस्पति है। उसी प्रकार पुरुष भी है। यह बात "अमृषा" यानी सत्य ही है। "तस्य लोमानि" यानी उस पुरुष के लोम हैं, उसी प्रकार उस वनस्पति के भी लोमस्थानीय पत्ते हैं। "त्वगस्योत्पाटिका" यानी इस पुरुष के शरीर मे जो त्वचा है, इसी प्रकार इस वनस्पति वृक्ष के बाहरी भाग मे छाल है ॥ १ ॥

त्वचा के सम्पर्क से ही इस पुरुष का रुधिर निःसरणशील है, और वनस्पति की छाल से भी गोद निकलता है क्योंकि वह छाल से फूट कर बहता है। इस प्रकार सादृश्य होने से पुरुष और

---

१ जगत कारण प्रष्टु पुरुषवृक्षयोस्तावच्छ्लोकत्रयेण साधर्म्यं दर्शयति—यथेति। वार्तिके यथा—"साधर्म्ये सति वैधर्म्यं शक्यं प्रष्टुं यतस्ततः। साधर्म्यमुच्यते श्रुत्या तद्वनस्पतिमर्त्ययोः" ॥ १३४ ॥ इति। अन्वयसापेक्षत्वाद्व्यतिरेकस्याऽऽदौ साधर्म्यवचनमुचितमित्यर्थः। २ लोमस्थानीयानि। ३ निःसरणशीलम्। ४ एवमुक्तं सादृश्यमनुभवेन नियमयति—यस्मादेवमिति। ५ पुरुषात्। ६ विशेषणम्। ७ वृक्षस्य।

मा॑ᳪसान्यस्य शकराणि कीनाट॑ᳪ स्नाव तत्स्थिरम् ॥

अस्थीन्यन्तरतो दारूणि मज्जा मज्जोपमा कृता ॥३॥

पुरुष के शरीर मे मांस होता है और वृक्ष के शकर (छाल के भीतर के अंश) होते हैं, पुरुष की नसें होती हैं और वृक्ष मे किनाट (नस के समान भीतरी अंश) होते है। वह किनाट नसो की भांति स्थिर होती है। पुरुष के स्नायुजाल के भीतर हड्डियां होती है वैसे ही वृक्ष के भीतर काष्ठ होता है। पुरुष की मज्जा तो वृक्ष के समान ही निश्चित की गई है ॥ ३ ॥

निर्गच्छति वृक्षादिवाऽऽहताच्छिन्ना द्रसः ॥२॥

एवं मांसान्यस्य पुरुषस्य वनस्पतेस्तानि शकराणि शकलानीत्यर्थः। किनाटं वृक्षस्य किनाटं नाम शकलेभ्योऽभ्यन्तरं वल्कलरूप काष्ठसंलग्नं तत्स्नाव पुरुषस्य तत्स्थिरं तच्च किनाटं स्नाववद्दृढं हि तत्। अस्थीनि पुरुषस्य स्नाव्नोऽन्तरतोऽस्थीनि भवन्ति। तथा किनाटस्याभ्यन्तरतो दारूणि काष्ठानि। मज्जा मज्जैव वनस्पतेः पुरुषस्य च मज्जोपमा कृता मज्जाया उपमा मज्जोपमा नान्यो विशेषोऽस्तीत्यर्थः। यथा वनस्पतेर्मज्जा तथा पुरुषस्य यथा पुरुषस्य तथा वनस्पतेः ॥३॥

विशेषाभावमेवाभिनयति—यथेति ॥३॥

वनस्पति मे सब कुछ समान ही है। इसीलिए "आहतात्" यानी कटे हुए वृक्ष से निकले हुए रस की भांति 'आतृण्णात्" यानी चोट लगे हुए पुरुष से रुधिर बहता है।

इसी प्रकार इस पुरुष के शरीर मे मांस हैं और वनस्पति के तत्स्थानीय 'शकराणि' यानी शकल हैं। वृक्ष मे किनाट होता है। शकलो के भीतर काष्ठ से लगी हुई छाल को किनाट कहते हैं। तत्स्थानीय पुरुष की शिराएं हैं। 'तत्स्थिर' यानी वह किनाट शिराओ के समान दृढ हैं। "अस्थीनि पुरुषस्य" यानी पुरुष की शिराओ के भीतर अस्थियां होती हैं। उसी प्रकार किनाट के भीतर "दारूणि" यानी काष्ठ होता है। "मज्जा मज्जोपमा कृता" यानी वनस्पति और पुरुष की मज्जा के उपमान मे कोई विशेष अन्तर नही है। जिस प्रकार वनस्पति की मज्जा होती है, उसी प्रकार पुरुष की मज्जा होती है। जैसे पुरुष की मज्जा होती है, वैसी ही मज्जा वनस्पति की होती है ॥ ३ ॥

---

१ स्नाव पुरुषस्यास्थिसलग्नो धातुविशेष । २ मज्जाशब्देनोभयत्रास्थिकाष्ठमतस्नेह उच्यते। ३ निर्यास। ४ तत्स्थानीयानि। ५ तस्माऽन्तस्त्वचत्र शकलशब्दवाच्या 'शकल त्वचि खण्डे च रागवस्तुनि वल्कले" इति विश्व । ६ तत्स्थानीयम् । ७ स्नावम्य इति पाठान्तरम्। ८ तत्स्थानीयानि । ९ उपमानम् ।

यद्वृक्षो वृक्णो रोहति मूलान्नवतरः पुनः ॥ मर्त्यः
स्विन्मृत्युना वृक्णः कस्मान्मूलात्प्ररोहति ॥४॥
रेतस इति मा वोचत जीवतस्तत्प्रजायते । धानारुह

वृक्ष को यदि काट लिया जाता है, तो वह पुन-पुन अपनी जड से पूर्व की अपेक्षा नूतनतर होकर प्रकट होता है। वैसे ही यदि मृत्यु मनुष्य को काट डाले, तो वह किस मूल से उत्पन्न होगा अर्थात् मृत पुरुष की उत्पत्ति कहाँ से होगी ? ॥ ४ ॥

यदि तुम कहो कि वह वीर्य से उत्पन्न होता है, तो ऐसा कहना उचित नहीं है, क्योंकि वीर्य

यद्यदि वृक्षो वृक्णश्छिन्नो रोहति पुनः प्ररोहति प्रादुर्भवति मूलात्पुनर्नवतरः पूर्वस्मादभिनवतरः। यदेतस्माद्विशेषणात्प्राग्वनस्पतेः पुरुषस्य च सर्वं सामान्यमवगतम्। अयं तु वनस्पतौ विशेषो दृश्यते यच्छिन्नस्य प्ररोहणम्। न तु पुरुषस्य मृत्युना वृक्णस्य वृक्षस्येव पुनः प्ररोहणं दृश्यते। भवितव्यं च कुतश्चित्प्ररोहणेन। तस्मादः पृच्छामि मर्त्यो मनुष्यः स्विन्मृत्युना वृक्णः कस्मान्मूलात्प्ररोहति मृतस्य पुरुषस्य कुतः प्ररोहणमित्यर्थः ॥४॥

यदि चेदेवं वदथ रेतसः प्ररोहतीति मा वोचत मैवं वक्तुमर्हथ। कस्मात्।

साधर्म्ये सति वैधर्म्यं वक्तुमशक्यमित्याशयेनाऽऽह—यद्यदीति। 'इदमपि साधर्म्यमेव किं न स्यादित्याशङ्क्याऽऽह—यदेतस्मादिति। एतस्माद्विशेषणात्प्राग्विशेषणमुक्तं तत्सर्वमुभयोः 'सामान्यम्'वगतमिति सम्बन्धः। वृक्णस्याङ्कुरस्येति "शेषः। मा भूत्तस्य प्ररोहणमिति चेन्नेत्याह—भवितव्यं चेति। 'ध्रुवं जन्म मृतस्य च' इति स्मृतेरित्यर्थः ॥४॥

"यद्" अर्थात् यदि वृक्ष को "वृक्ण" यानी काट दिया जाय तो वह 'पुनः रोहति" अर्थात् पुनः निकल जाता है, 'मूलान्नवतर" अर्थात् जड में पहले से भी नवीनतर होकर निकलता है। इस विशेषण से पूर्व वनस्पति और पुरुष के विशेषणों में समानता ज्ञात हुई थी किन्तु वनस्पति में यह विशेषता देखी जाती है कि यह कट जाने पर भी पुनः निकल जाती है। किन्तु मृत्यु द्वारा छिन्न हो जाने पर पुरुष-शरीर (उपलक्षित जगत्) का पुनः प्रस्फुटित होना नहीं दिखाई देता। किन्तु वह किसी से प्रस्फुटित तो होना ही चाहिये। इसलिये मैं आप से पूछता हूँ कि यम से विनाश किया (मरा हुआ) मनुष्य किस कारण से उत्पन्न होता है यानी मरा हुआ पुरुष कहाँ से उत्पन्न होता है ? ॥ ४ ॥

---

१ अथ तयोर्वैधर्म्यकथनपुरःसरं जगत्कारणं पृच्छति—यदिति। २ शरीरे तदुपलक्षिते जगतीत्यर्थः। ३ पुनः। ४ यमेन। ५ विनाशितः। ६ कारणात्। ७ पुरुषः। ८ पुनः प्ररोहणमपि। ९ समानो धर्मः। १० निश्चितम्। ११ शेष इति। अथ शेषः न तु पुरुषे इत्यादि भाष्यीयाथ प्रदर्शितः पष्ठीघटितपाठान्तराभिप्रायकः। तत्र पुरुषस्य जीवस्य अङ्गस्य शरीरस्य व्यधिकरणषष्ठ्यौ चैते इति ज्ञेयम्। अथवा यथाश्रुतभाष्यस्थसप्तमीघटितपाठेऽपि पुरुषे मृत्युना वृक्णे सति वृक्णस्याङ्गस्य शरीरस्य पुनः प्ररोहणं न दृश्यते इत्येवं टीकोक्तपदद्वयमपि शेषात्मकमेव।

इव वै वृक्षोऽञ्जसा प्रेत्य संभवः ॥५॥
यत्समूलमावृहेयुर्वृक्षं न पुनराभवेत् । मर्त्यः स्विन्मृत्युना वृक्णः कस्मान्मूलात्प्ररोहति ॥६॥

जीवित पुरुष से ही उत्पन्न होता है; मृत से नहीं । वृक्ष भी केवल तने मे नही निकलता, किन्तु बीज से भी उत्पन्न होता है । पर बीज से उत्पन्न होने वाला वृक्ष कट जाने के बाद अंकुरित होता हुआ प्रत्यक्ष देखा गया है ॥ ५ ॥

यदि वृक्ष को मूल से उखाड़ दिया जाय तो वह फिर कहीं से आकर उत्पन्न नहीं होगा । वैसे ही यदि मृत्यु मनुष्य का छेदन कर डाले तो वह किस मूल से उत्पन्न होगा ? ॥ ६ ॥

यस्माज्जीवतः पुरुषात्त्रेतः प्रजायते न मृतात् । अपि च धानारुहो धाना बीज बीजरुहोऽपि वृक्षो भवति न केवलं काण्डरुह एव । इवशब्दोऽनर्थकः । वै वृक्षोऽञ्जसा साक्षात्प्रेत्य मृत्वा संभवो धानातोऽपि प्रेत्य संभवो भवेदञ्जसा पुनर्वनस्पतेः ॥५॥

यद्यदि सह मूलेन धानया वाऽऽवृहेयुरुद्यच्छेयुरुत्पाटयेयुर्वृक्षं न पुनराभवेत्पुनरागत्य

जीवतो हि रेतो जायते स एव कुतो भवतीति विचार्यते न चासिद्धेनासिद्धस्य साधनं न च पुरुषान्तरादिति वाच्यमेकासिद्धावन्तरप्रयोगानुपपत्तेरिति मन्वानो हेतुमाह—यस्मादिति । वैधर्म्यान्तरमाह—अपि चेति । काण्डरुहोऽपीत्यपेरर्थः । वैशब्दः प्रसिद्धिद्योतक इत्यभिप्रेत्याऽऽह—वै वृक्ष इति । अञ्जसेत्यादेरर्थमुक्त्वा वाक्यार्थमाह—धानातोऽपीति ॥५॥

तथाऽपि कथं वैधर्म्यमित्याशङ्क्याऽऽह—यद्यदीति । पुरुषस्यापि पुनरुत्पत्तिर्मा भूदित्याशङ्क्य

यदि तुम कहो कि वीर्य से वह पुरुष पुन. उत्पन्न होता है तो ऐसा "मा वोचत" कहना उचित नही है । क्यो उचित नहीं है ? क्योकि वीर्य तो जीते हुए पुरुष मे होता है, मृतक (प्रलीन) शरीर मे तो सभव नही । इसके अतिरिक्त "धानारुहो" वृक्ष बीज से उत्पन्न होने वाला भी होता है, केवल तने से ही उत्पन्न नही होता । 'इव' शब्द सादृश्यार्थक न होने से वैधर्म्य दृष्टान्त के लिए है । यह प्रसिद्ध है कि वृक्ष "प्रेत्य" यानी मरकर "अञ्जसा" साक्षात् उत्पन्न हो जाता है । बीज से उत्पन्न वनस्पति कटने के बाद पुनः हो जाती है ॥ ५ ॥

---

१ संभवतीति सभव । २ न मृतादिति—जीवस्तु कोऽपि नास्ति मृतशब्देन प्रलीनसर्वशरीरादिजगज्जातस्यैवोच्यमानत्वात् तस्माद्रेतोऽभावात्र तत्कारणमिति भाव. । ३. अनर्थक इति—साहश्यार्थो न भवति अपितु वैधर्म्यदृष्टान्तार्थ इति भाव । ४. अव्यवधानत । ५ धानातोऽपीति—धाना बीज तस्याः सकाशादपिशब्देन काण्डादपि वनस्पतेः प्रेत्य पुनरञ्जसाऽव्यवधानत. सभवो दृष्ट तथा च यथा वृक्ष प्रेत्य मृत्वा काण्डरुहो धानारुहश्चाञ्जसा भवतीति प्रसिद्धं न तथा मृतस्य पुरुषस्य पुनरुत्पत्तौ किंचिदपि कारण दृश्यत भवितव्य च तेनेत्यर्थ । ६ जीवन्नुमानेव । ७ रेतसा । ८ पुरुषस्य । ९ एकासिद्धाविति—सवप्रलयादूर्ध्वमधुना जायमानस्यैकस्याप्यसिद्धौ पुरुषान्तरादित्यन्तरशब्दप्रयोगो नतरा सभवतीत्यर्थ । १० ननु सकारणकनष्टवृक्षवज्जगतोऽपि तथा नाशात्पुनरनुत्पत्तेर्न वैधर्म्यदृष्टान्त सभवतीति कृत तत्कारणचिन्तयेत्याशयेन वाक्यान्तरमवतारयति—तथाऽपीति । जगतः कारणाभावेऽपीत्यर्थ ।

जात एव न जायते को न्वेनं जनयेत्पुनः । विज्ञानमानन्दं ब्रह्म रातिर्दातुः परायणं तिष्ठमानस्य तद्विद इति ॥ ७ ॥ २८ ।

इति बृहदारण्यकोपनिषदि तृतीयाध्यायस्य नवमं ब्राह्मणम् ॥ ९ ॥

इति बृहदारण्यकोपनिषदि तृतीयोऽध्यायः ॥ ३ ॥

बृहदारण्यकक्रमेण पञ्चमोऽध्यायः ॥ ५ ॥

पुरुष तो उत्पन्न हो ही गया है, फिर वह उत्पन्न नही होता (तो ऐसा कहना ठीक नहीं, क्योंकि मरकर पुनर्जन्म होता ही है) ऐसी स्थिति में मृत्यु के बाद पुनर्जन्म किससे होगा ? (इन प्रश्नों का उत्तर ब्राह्मणों से न दिये जाने पर श्रुति स्वयं देती है) विज्ञान आनन्दस्वरूप ब्रह्म है, वह स्वयं धन का देने वाला है, कर्म कर्ता यजमान की परम गति है और ब्रह्मज्ञानी का परम आश्रय है ॥ ७ ॥ २८ ॥

॥ इति नवम ब्राह्मणम् ॥

---

[1]न भवेद् । [2]तस्माद्वः पृच्छामि सर्वस्यैव जगतो मूलं मर्त्यः स्विन्मृत्युना वृक्णः कस्मान्मूलात्प्ररोहति ॥६॥

[3]जात एवेति [4]मन्यध्वं [5]यदि [6]किमत्र प्रष्टव्यमिति । जनिष्यमाणस्य हि [7]संभवः

पूर्वोक्तं निगमयति—तस्मादिति ॥६॥

[8]स्वभाववादमुत्थापयति—जात इति । इतिशब्द[9]श्चोद्य[10]समाप्त्यर्थः । [11]तदेव स्फुटयति—

"यद्" अर्थात् यदि वृक्ष को मूलसहित यानी बीजसहित "आवृहेयु." यानी खीच लें अथवा उखाड लें, तो वृक्ष "न पुनराभवेत्" पुन आकर उत्पन्न नही होगा । इसलिये (जगत् के अबाधित हो जाने से) मैं तुमसे समस्त ससार के मूल हेतु के संबन्ध में पूछ रहा हूँ कि यदि मृत्यु मनुष्य का विनाश कर दे तो वह किस मूल से पैदा होगा ? ॥ ६ ॥

यदि तुम पुरुष को उत्पन्न हुआ ही मानते हो तो उत्पन्न हुए पुरुष के विषय मे क्या पूछना है ?

---

१. न भवेदिति—एव जगदपि यदि सकारण सम्यग्बोधबाधित न तर्हि भूयो भवति यदा त्वबाधितं तदा कारणमस्यावश्यमित्यर्थः । २ जगतोऽबाधितत्वात् । ३ जात एवेति—अस्तु मृत: स पुनर्नैव जायते जातत्वादेव जनिष्यमाणस्य हि कारणचिन्ता न जातस्यातोऽत्र प्रश्न एवाऽनुपपन्न इति स्वभाववादिवाक्यार्थः । ४. यूयम् । ५. तर्हि । ६. जाते पुंसि । ७. संभव —संभवत्यस्मादिति व्युत्पत्त्या कारणम् । ८. पूर्वेति—चतुर्थमन्त्रोत्तरार्द्धेत्यर्थः । ९. स्वभावादेव सकृदुत्पन्न न पुनर्जायते इति स्वभाववाद । १०. स्वभाववादिशङ्कासमाप्त्यर्थः । ११. कारणप्रश्ननिराकरणमेव ।

प्रष्टव्यो न जातस्यायं तु जात एवातोऽस्मिन्विषये प्रश्न एव नोपपद्यत इति चेत् । न । किं तर्हि मृतः पुनरपि जायत एवान्यथाऽकृताभ्यागमकृतनाशप्रसङ्गात् । अतो वः पृच्छामि को न्वेनं मृतं पुनर्जनयेत् । तन्न विजज्ञुर्ब्राह्मणा यतो मृतः पुनः प्ररोहति जगतो मूलं न विज्ञातं ब्राह्मणैः । अतो ब्रह्मिष्ठत्वाद्धृता गावो याज्ञवल्क्येन जिता ब्राह्मणाः । समाप्ताऽऽख्यायिका । यज्जगतो मूलं येन च शब्देन साक्षाद्व्यपदिश्यते ब्रह्म यद्याज्ञवल्क्यो ब्राह्मणान्पृष्टवांस्तत्स्वेन रूपेण श्रुतिरस्मभ्यमाह—विज्ञानं विज्ञप्तिर्विज्ञानं तच्चाऽऽनन्दं न विषयविज्ञानवद्दुःखानुविद्धं किं तर्हि प्रसन्नं शिवमतुलमनायासं

जनिष्यमाणस्य हीति । न जायत इति भोगेनोत्तरमाह—नेत्यादिना । स्वभाववादे दोषमाह—अन्यथेति । स्वभाववादासंभवे फलितमाह—अत इति । उक्तमेव स्फुटयति—जगत इति । ब्रह्मविदां श्रेष्ठत्वे याज्ञवल्क्यस्य सिद्धे फलितमाह—अत इति । समाप्ताऽऽख्यायिकेति । ब्राह्मणाश्च सर्वे यथायथं जग्मुरित्यर्थः । विज्ञानादिवाक्यमुत्थापयति—यज्जगत इत्यादिना । विज्ञानशब्दस्य करणादिविषयत्वं वारयति—विज्ञप्तिरिति । आनन्दविशेषणस्य कृत्यं दर्शयति—नेत्यादिना । प्रसन्नं दुःखहेतुना काम-

---

क्योंकि उत्पन्न होने वाले का कारण पूछा जाना चाहिये, उत्पन्न हुए पुरुष का नही,। यह पुरुष तो उत्पन्न हुआ है, इसलिए उत्पन्न जगत् के विषय मे (स्वभाववादियों के मत में) प्रश्न करना ही युक्तिसंगत नही है। इस पर कहते हैं—ऐसा कहना ठीक नही। तो क्या कहना चाहिये? मरने पर भी तो यह पुनः उत्पन्न होता है; नही तो बिना कर्म के फलप्राप्ति और किये हुए कर्म के फलनाश का प्रसङ्ग आ जायगा। (स्वभाववाद के मत मे दोष होने से) इसलिए मैं तुमसे पूछता हूँ कि मरने पर इस मृत पुरुष को पुनः कौन उत्पन्न करेगा। (जो मैंने पूछा) उसका ब्राह्मणो को विशेष ज्ञान नही था। जहाँ से मरने पर पुरुष पुनः उत्पन्न होता है, उस जगत् के मूलकारण का ज्ञान ब्राह्मणों को नही था। इसलिए ब्रह्मिष्ठ होने के कारण याज्ञवल्क्य ने उन गायों को प्राप्त कर लिया, (अज्ञ होने के कारण) वे ब्राह्मण जीत लिये गये। इस प्रकार यह आख्यायिका पूर्ण हुई। जो जगत् का मूल है और जिस

---

१ पुमांस्तु । २. जातत्वादेव । ३ जातजगद्विषये । ४. जायत एवेति—"ध्रुवं जन्म मृतस्य च"ति स्मृतेरिति भावः। तथापि कारणमन्तरेव जन्मनाशौ स्यातामिति चेन्न "सदेव सोम्येति" श्रुतेः "असदेवेद-मि"त्यादिश्रुतेश्चानभिव्यक्तनामरूपकारणविषयत्वात् । अकारणयोश्च जन्मनाशयोरव्यवस्थितेर्न स्वभाववादो युक्त इत्यर्थः । ५. अन्यथेति—स्वभाववादे जगतो निष्कारणतया मृतस्य पुनर्जन्मानभ्युपगम इत्यर्थः । ६. अतः—स्वभाववादस्य (दुष्टत्वात्) असंभवात् । ७ पुरुषम् । ८ तन्नेति । "तत्पृष्टं जगतो मूलं न विदुर्ब्राह्मणा यतः । अतो जिता हृता गावो याताः सर्वे यथायथम्" ॥ वा० १४७ ॥ ९ अतः—ब्राह्मणानाम-ज्ञत्वात् । १०. येन च शब्देन—विधिमुखव्यपदेशकशब्देन । ११. विधिमुखेन । १२. ब्रह्म । १३. स्वमुखेन । १४. विज्ञानम् । १५. आनन्दरूपम् । १६. न विषयेत्यादि—लौकिकसुखविलक्षणमित्यर्थः । १७. अतुलमिति—निरुपमम् अपरिमितं चेत्यर्थः । तुला सादृश्यमानयोरिति विश्वः । १८. अनायासमिति —असाधनसाध्यं परिनिष्ठितरूपमिति यावत् । १९. ब्राह्मणानां जगन्मूलाज्ञानमेव । २०. विज्ञानमानन्दं ब्रह्मेत्यादिवाक्यम् । २१. करणादीति—आदिना कर्मादिर्गृह्यते । तदुक्तं वार्तिके—"विज्ञानमिति चैतन्यं कूटस्थमभिधीयते । न कारकं न धात्वर्थो नापि यत्स्यात्क्रियाफलमिति" ॥ १२१ ॥

[1]नित्यतृप्तमेकरसमित्यर्थः । किं तद्ब्रह्मोभयविशेषणवद्राती रातेः [2]षष्ठ्यर्थे प्रथमा धनस्येत्यर्थः । [3]धनस्य दातुः कर्मकृतो यजमानस्य परायणं परा गतिः कर्मफलस्य [4]प्रदातृ । किंच व्युत्थायैषणाभ्यस्तस्मिन्नेव ब्रह्मणि तिष्ठत्यकर्मकृत्तद्ब्रह्म वेत्तीति तद्विच्च [5]तस्य तिष्ठमानस्य च तद्विदो ब्रह्मविद इत्यर्थः । [6]परायणमिति ।

[7]अत्रेदं विचार्यते । आनन्दशब्दो लोके सुखवाची प्रसिद्धः । [8]अत्र च ब्रह्मणो

क्रोधादिना संबन्धरहितम् । शिवं कामादिकारणेनाज्ञानेनापि संबन्धशून्यम् । सातिशयत्वप्रयुक्तदुःख-राहित्यमाह—अतुलमिति । साधनसाध्यत्वाधीनदुःखवैधुर्यमाह—अनायासमिति । [9]दुःखनिवृत्तिमात्रं सुखमिति पक्षं प्रतिक्षिपति—नित्यतृप्तमिति । आनन्दो ज्ञानमिति ब्रह्मण्या[10]कारभेदमाशङ्क्याऽऽह—एकरसमिति । "फलमत उपपत्तेरि"ति न्यायेन ब्रह्मणो जगन्मूलत्वमाह—रातिरित्यादिना । [11]"ब्रह्म-संस्थोऽमृतत्वमेति' इति श्रुत्यन्तरमाश्रित्य "तस्यैव मुक्तोपसृप्यत्वमुपदिशति—विं चेति । [12]"अक्षरव्या-ख्यानसमाप्ताविति शब्दः ।

सच्चिदानन्दात्मकं ब्रह्म विद्याविद्याभ्यां बन्धमोक्षास्पदमित्युक्तमिदानीं ब्रह्मानन्दे विचारमव-तारयन्"विगीतमर्थमाह—अत्रेति । [13]तथाऽपि प्रकृते वाक्ये किमायातमिति तदाह—अत्र चेति । न

विधिमुखव्यपदेशक शब्द से ब्रह्म का साक्षात् कथन होता है और जिसके विषय में याज्ञवल्क्य ने ब्राह्मणो को पूछा था, उसे श्रुति स्वमुख से हमारे लिए स्वयं बतलाती है । 'विज्ञानम्'' अर्थात् विज्ञप्ति का नाम विज्ञान है, वही आनन्दरूप भी है, विषयविज्ञान के समान दुःख से अनुविद्ध नहीं है । तो फिर उसका स्वरूप कैसा है ? वह प्रसन्न, कल्याणस्वरूप, अपरिमित, असाधनसाध्य, सदैव अपने से इतर सुख की अनपेक्षा वाला और एकरस है—यह इसका भाव है । वह उभय विशेषणो वाला ब्रह्म क्या है ? "राति'' यह षष्ठी के अर्थ मे प्रयुक्त प्रथमा विभक्ति है अर्थात धन के "दातु.'' यानी देने वाले कर्मकाण्डी यजमान का "परायणम्'' अर्थात परा गति या कर्मफलप्रदान करने वाला है । इसी प्रकार इच्छाओ से ऊपर उठकर जो उस ब्रह्म मे परिनिष्ठित है, सन्यासी है, उस ब्रह्म को जानता है, "तद्विद.''

---

१. नित्यतृप्तम—सदैव स्वेतरसुखानपेक्षम् । २ षष्ठ्यर्थे इति—यथाश्रुतपाठे रातिर्वेन्धुरित्यर्थो द्रष्टव्य । ३. धनस्य दातुरित्यादि । तदुक्तं वार्तिके—"अदृष्टफलसंप्रेप्सोर्दृष्टकर्मफलत्यज. । रातेर्धनस्य दातुस्तद्ब्रह्म च स्यात्परायणमिति" ॥ ११८ ॥ ४ प्रदातृिति—जगत उपादान चेत्यपि द्रष्टव्यम् । तदुक्तं वार्तिके—"एवं ससरतस्तावत्परं ब्रह्म परायणम् । जगतश्चाप्युपादानं स्यात्माऽविद्यासमन्वयात्'' ॥ १६० ॥ इति । ५. परिव्राड । ६ परायणमिति—परा गति परिसमाप्तिर्नदीनामिव समुद्र इत्यर्थः । तदिद ब्रह्म कर्मिणा भेदेन परायण तद्विदा त्वभेदेनेति स्पष्टं वार्तिक इति ध्येयम् । ७ अत्र—विज्ञानवाक्ये । इदम्—आनन्द-पदवाच्य वस्तु । ८ विज्ञानवाक्ये । ९ दुःखनिवृत्तीति । दुःखाभाव एव सुखमिति साङ्ख्यादिमतमित्यर्थः । १०. स्वरूपभेदम् । ११ फलमित्यादि—अत परमात्मन सकाशात्सर्वस्य लोकस्य फल भवितुमर्हति न तु कर्मण तस्य क्षणिकत्वात्फलदातृत्वासंभवेनेश्वरस्यैव तद्दातृत्वोपपत्तेरित्यर्थः । १२. ब्र० सू० ३।२।३८ । १३. ब्रह्मेति—छा० उ० २।२३।१ । ब्रह्मणि सस्याऽभेदेन निष्ठा यस्य स परिव्राडित्यर्थः । १४ ब्रह्मण । १५ श्रुत्यक्षरेत्यर्थः । १६ सोऽक्रमनमित्यर्थः । १७ तस्य तथात्वेऽपि ।

विशेषणत्वेनाऽऽनन्दशब्दः श्रूयत आनन्दं ब्रह्मेति । श्रुत्यन्तरे च । "आनन्दो ब्रह्मेति व्यजानात्" "आनन्दं ब्रह्मणो विद्वान्" "यदेष आकाश आनन्दो न स्यात्" "यो वै भूमा तत्सुखम्" इति च । "एष परम आनन्दः" इत्येवमाद्याः । संवेद्ये च सुखे आनन्दशब्दः प्रसिद्धः । ब्रह्मानन्दश्च यदि संवेद्यः स्याद्युक्ता एते ब्रह्मण्यानन्दशब्दाः । ननु च श्रुतिप्रामाण्यात्संवेद्यानन्दस्वरूपमेव ब्रह्म किं तत्र विचार्यमिति । न । विरुद्धश्रुतिवाक्यदर्शनात् ।

च केवलमत्रैवाऽऽनन्दशब्दो ब्रह्मविशेषणार्थकत्वेन श्रुतः किंतु तैत्तिरीयकादावपीत्याह—श्रुत्यन्तरे चेति । ब्रह्मणो विशेषणत्वेनाऽऽनन्दशब्दः श्रूयत इति संबन्धः । अन्याः श्रुतीरेवोदाहरति—आनन्द इत्यादिना । एवमाद्याः श्रुतय इति शेषः । तथाऽपि कथं विचारसिद्धिस्तत्राऽऽह—संवेद्य इति । लोकप्रसिद्धे रद्वैतश्रुतेश्च ब्रह्मण्यानन्दः संवेद्योऽसंवेद्यो वेति विचारः कर्तव्य इत्यर्थः । उभयत्र फलं दर्शयति—ब्रह्मानन्दश्चेति । अन्यथा लोकवेदयोः शब्दार्थभेदाद् "विशिष्टस्तु वाक्यार्थः" इतिन्यायविरोधोऽसंवेद्यत्वे पुनरद्वैतश्रुतिरविरुद्धेति भावः । विचारमाक्षिपति—नन्विति । विरुद्धश्रुत्यर्थनिर्णयार्थं विचारकर्तव्यतां दर्शयति—नेति । संग्रहवाक्यं विवृणोति—सत्यमित्यादिना । एकत्वे

अर्थात् उस ब्रह्मवेत्ता का भी परायण है।

यहाँ यह विचारा जाता है। लोकव्यवहार में आनन्दशब्द सुखवाची प्रसिद्ध है। यहाँ विज्ञानवाक्य में आनन्दशब्द ब्रह्म के विशेषण के रूप में प्रयुक्त है, "आनन्द ब्रह्म है"। अन्यान्य श्रुतियों में भी ऐसे ही प्रयुक्त हुआ है। जैसे—"आनन्द ब्रह्म है—ऐसा जाना", "उस ब्रह्म के आनन्द को जानने वाला विद्वान् पुरुष (कभी नहीं डरता)", "यदि हृदयाकाश में स्थित यह आनन्दस्वरूप परमात्मा न होता (तो भला कौन व्यक्ति अपान वायु के द्वारा प्राणन करता)", "(सनत्कुमार ने कहा—) निश्चय ही जो महान् है, वही सुखरूप है", "यही परम उत्कृष्ट आनन्द है (जो पाप तथा कामना से शून्य श्रोत्रिय विद्वान् का आनन्द है)" इत्यादि। अनुभूयमान सुख में आनन्दशब्द प्रसिद्ध है। यदि ब्रह्मानन्द भी अनुभूयमान हो, तभी ब्रह्म में 'आनन्द' शब्द का प्रयोग करना उचित है। (इस पर पूर्वपक्षी कहता है—) किन्तु ब्रह्म संवेद्य आनन्दस्वरूप है, ऐसा श्रुति कहती है, फिर उस आनन्द के विषय में क्या विचार करना है। (सिद्धान्ती उत्तर देता है—) ऐसा कहना ठीक नहीं है क्योंकि इस विषय में श्रुतिवाक्यों का विरोध देखा जाता है। आनन्दशब्द ब्रह्म के लिए प्रयुक्त होता है, यह ठीक है, किन्तु एक होने

---

१. तै० उ० ३-६ । २ तै० उ० २-४ । ३. तै० उ० २-७ । ४ छा० उ० ७-२४-१ । ५ बृ० उ० ४-३-३२ । ६ एष इति—अस्येति श्रुतिशेषः । तथा च अस्य सुषुप्तस्य पुंस एष स्वरूपभूतः परमः साधनाऽसाध्यो निरतिशय आनन्द इत्यर्थः । ७. नन्वानन्दशब्दे ब्रह्मणि प्रयुक्ते ब्रह्मणो विवक्षितमानन्दरूपत्वं सिध्यत्येवेति किं विचारेणेति चेन्न तस्य वेद्यविषयत्वाद्ब्रह्मणश्चावेद्यत्वादित्याह— संवेद्य चेति । तदुक्तं—"संवेद्ये च सुखे लोक आनन्दाख्या प्रयुज्यते" ॥१६६॥ इति । ८. आनन्दे । ९. विशेषणार्थकेति पाठान्तरम् । १०. तथाऽपीति—प्रकृतवाक्ये वाक्यान्तरे च ब्रह्मविशेषणत्वेनानन्दशब्दश्रवणेऽपीत्यर्थः । ११. वेद्यत्वस्य वेदितृसापेक्षत्वान्नाद्वैते ब्रह्मणि वेद्यानन्दत्वं संभवतीति भावः । १२. संवेद्यासंवेद्यपक्षयोः । १३ ब्रह्मानन्दस्यासंवेद्यत्वस्वीकारे । १४. "अविशिष्टस्तु वाक्यार्थः" इति । जै० सू० १।२।४० । लोके यानि पदानि ये च तेषामर्थास्तेभ्योऽविशिष्टोऽविलक्षणो वेदे पदसंहितोऽयं इत्यर्थः ॥ १५. ब्रह्मणोऽद्वयत्वे ।

सत्यमानन्दशब्दो ब्रह्मणि श्रूयते विज्ञानप्रतिषेध[1]श्चैकत्वे। "[2]यत्र त्वस्य[3] सर्वमात्मैवा-भूत्तत्केन कं पश्येत्तत्केन कं विजानीयाद्यत्र[4] नान्यत्पश्यति नान्यच्छृणोति नान्यद्विजानाति स भूमा[5]" "प्राज्ञेनाऽऽत्मना[7] संपरिष्वक्तो न बाह्यं किंचन वेद[8]" "इत्यादि[10]। "विरुद्धश्रुति-वाक्यदर्शना[11]त्तेन[12] कर्तव्यो विचारः। "तस्माद्युक्तं वेदवाक्यार्थनिर्णयाय विचारयितुम्।

मोक्षवादिविप्रतिपत्तेश्च। "[14]सांख्या वैशेषिकाश्च मोक्षवादिनो नास्ति मोक्षे सुखं, संवेद्यमित्येवं विप्रतिपन्नाः। अन्ये निरतिशयं सुखं स्वसंवेद्यमिति प्रतिपन्नाः। किं तावद्यु-

सति विज्ञानप्रतिषेधश्रुतिमेवोदाहरति—यत्रेत्यादिना। इत्यादि श्रवणमिति शेषः। फलितमाह—विरुद्धश्रुतीति। "श्रुतिविप्रतिपत्तेर्विचारकर्तव्यतामुपसंहरति—तस्मादिति।

"तत्रैव हेत्वन्तरमाह—मोक्षेति। तामेव विप्रतिपत्तिं विवृणोति—सांख्या इति। "विमर्शपूर्वकं पूर्वपक्षं गृह्णाति—किं तावदित्यादिना। आनन्दादिश्रवणाद्विज्ञानमानन्दं ब्रह्मेति श्रुतेर्मोक्षे

के कारण उसके विज्ञान का प्रतिषेध भी श्रुत होता है। जैसे "जहाँ इस ब्रह्मात्मवित् के लिए सब आत्मा ही हो गया है, उस विद्यावस्था में किसके द्वारा किसको देखे, किसके द्वारा किसको जाने", "जिस भूमा तत्त्व में अन्य कुछ नहीं देखता, अन्य कुछ नहीं सुनता और अन्य कुछ नहीं जानता; वह भूमा तत्त्व है", "यह पुरुष प्रज्ञात्मा से अत्यन्त एकीभूत परमार्थदर्शनकाल में न कुछ बाह्य विषय को जानता है (और न आभ्यन्तर को ही)" इत्यादि। इस प्रकार उससे विरुद्ध श्रुतिवाक्य देखे जाते हैं, इसलिये विचार करना आवश्यक है। इसलिए वेद के वाक्यों का अर्थ निर्णय करने के लिए विचार करना उचित ही है।

विचारकर्तव्यता में यह भी हेतु है कि मोक्षवादियों में परस्पर मतभेद है। मोक्षवादी सांख्य और वैशेषिकों का ऐसा विपरीत विचार है कि मोक्ष में अनुभूयमान सुख है ही नहीं, किन्तु दूसरे मोक्षवादियों का मत है कि मोक्ष में निरतिशय स्वसंवेद्य सुख है। (इस पर पूर्वपक्षी कहता है—) आनन्दादि का श्रवण होने के कारण इनमें कौन सी बात ठीक है? "विषयों का सेवन करता हुआ, पितादि के साथ खेलता हुआ, स्त्री आदि के साथ रमण करता हुआ (सभी ओर घूमता रहता है)",

१ चैकत्व इति। चोऽप्यर्थे। एकत्वे विज्ञानप्रतिषेधोऽपि श्रूयत इति योजना। २. विद्यावस्थायाम्। ३. विदुषः। ४ बृ० उ० ४-२-१५। ५ भूमनि तत्त्वे। ६ छां० उ० ७-२४-१। ७. स्वाभाविके-नात्मना। ८ अत्यन्तमेकीभूत। ९. बृ० उ० ४-३-२१। १०. इत्यादीत्यादिना "न द्रष्टेर्द्रष्टारं पश्येः" "अन्यदेव तद्विदिता"दित्यादिवाक्यं ग्राह्यम्। ११. विरुद्धेति—अविषयत्वद्योतिना वेद्यत्वद्योतिना च वचसा ब्रह्मणि प्रयोगादागमविप्रतिपत्तेर्विचारः कार्यं इत्यर्थः। न चोदितानुदितहोमवद्विकल्पोपपत्तेरलं विचारेणेति वाच्यम्, "क्रियायां स्याद्विकल्पाख्य न तु वस्तुन्यसंभवात्" ॥१७२॥ इति वार्तिकोक्तः। असंभवो वस्तुनो व्यवस्थितत्वेन (परिनिष्ठितत्वेन) विकल्पाऽयोग्यत्वम्। १२. तेनेति—विरुद्धश्रुतिवाक्यार्थनिर्णयोद्देशेनेत्यर्थः। १३. अवतरणोक्तार्थम्। १४ सांख्या इत्यादि—अत्र नास्ति पक्षः सांख्यानाम्। संवेद्यमिति वैशेषिकाणामित्याहुः। अत्रेदं बोध्यम्—विप्रतिपत्तिस्तावद्द्वेधा। अस्ति नास्तीत्येका तत्र नास्तीति सांख्यवैशेषिकोभयेषां पक्षोऽस्तीति सिद्धान्तः संवेद्यमसंवेद्यमिति द्वितीयाऽत्र चरमः सिद्धान्तः प्रथमेऽपि संवेद्यमात्रं स्वसंवेद्यं वेति द्वैविध्यमिति। १५. श्रुतीनां परस्परं विरोधात्। १६. विचारस्य कर्तव्यत्वे एव। १७. विमर्शेति—सप्रयोजकं विचारं कार्यमुक्त्वेत्यादि।

त्कमानन्दादिश्रवणात् । "जक्षत्क्रीडन्रममाणः" "स यदि पितृलोककामो भवति" "यः सर्वज्ञः सर्ववित्" "सर्वान्कामान्समश्नुते" इत्यादिश्रुतिभ्यो मोक्षे सुख संवेद्यमिति । नन्वेकत्वे कारकविभागाभावाद्विज्ञानानुपपत्तिः । क्रियायाश्चानेककारकसाध्यत्वाद्विज्ञानस्य च क्रियात्वात् । नैष दोषः । शब्दप्रामाण्याद्भवेद्विज्ञानमानन्दविषये । विज्ञानमानन्दमित्यादीन्यानन्दस्वरूपस्यासंवेद्यत्वेऽनुपपन्नानि वचनानीत्यवोचाम ।

ननु वचनेनाप्यग्नेः शैत्यमुदकस्य चौष्ण्य न क्रियत एव ज्ञापकत्वाद्वचनानाम् । न च

सुख संवेद्यमिति युक्तमिति संबन्ध । तत्रैव वाक्यान्तराण्युदाहरति—जक्षदित्यादिना । पूर्वपक्षमाक्षिपति—नन्विति । मोक्षे चेदिष्यते सुखज्ञानं तर्हि तदनेककारकसाध्य वाच्य क्रियात्वात्पाकादिवत्सर्वैकत्वे च मोक्षे कारकविभागाभावान्न सुखसवेदन सभवतीत्यर्थ । जन्यस्य कारकापेक्षायामपि सुखज्ञानस्याजन्यत्वान्न तदपेक्षेत्याशङ्क्याऽऽह—क्रियायाश्चेति । या क्रिया साऽनेककारकसाध्येति व्याप्तेर्गमनादाववगतत्वाज्ज्ञानस्यापि धात्वर्थत्वेन क्रियात्वादनेककारकसाध्यता सिद्धेत्यर्थ । श्रुतिप्रामाण्यमाश्रित्य पूर्ववादी परिहरति—नैष दोष इति । तदेव स्फुटयति—विज्ञानमिति ।

अद्वये ब्रह्मणि श्रुतिप्रामाण्यादानन्दज्ञानमुक्तमाक्षिपति—नन्विति । अद्वैतश्रुतिविरोधाद्ब्रह्मणि विज्ञानक्रियाकारकविभागापेक्षा नोपपद्यते । न हि विज्ञानमानन्दमित्यादिवचनानि मानान्तरविरोधेन विज्ञानक्रियां ब्रह्मण्युत्पादयन्ति तेषां ज्ञापकत्वाज्ज्ञापकस्य चाविरोधापेक्षत्वादन्यथाऽति-

---

'यदि वह पितृलोक की कामना वाला हो", "जो सर्वज्ञ और सर्ववेत्ता है', "समस्त कामो को प्राप्त करता है" इत्यादि श्रुतियों के अनुसार मोक्ष मे अनुभूयमान सुख है । (इस पर सिद्धान्ती कहता है—) किन्तु उस समय ब्रह्म के अद्वय होने के कारण कर्त्रादिविभाग का अभाव होने से विज्ञान होना सभव नही है क्योंकि क्रिया अनेक कारको द्वारा साध्य होती है, और विज्ञान भी तो एक क्रिया ही है। (पूर्वपक्षी फिर कहता है—) इसमे कोई दोष नही । शब्दप्रामाण्य होने के कारण उस समय आनन्द के सबन्ध मे विज्ञान रहना चाहिये । यदि ब्रह्म का आनन्दस्वरूप असवेद्य होगा तो 'विज्ञानमानन्दम्" इत्यादि श्रुतिवाक्य असिद्ध हो जाएँगे—ऐसा हम पहले ही कह चुके हैं।

(पूर्वोक्त पूर्ववादी के मत मे सिद्धान्ती आक्षेप करता है—) किन्तु अग्नि की शीतलता और

---

१ जक्षदिति—"एवमेवैष संप्रसादोऽस्माच्छरीरात्समुत्थाय पर ज्योतिरुपसपद्य स्वेन रूपेणाभिनिष्पद्यते स उत्तमपुरुष स तत्र पर्येति जक्षत्क्रीडन्रममाण स्त्रीभिर्वा यानैर्वा ज्ञातिभिर्वा नोपजन स्मरन्निद शरीर स यथा प्रयोग्य आचरणे युक्त एवमेवायमस्मिञ्छरीरे प्राणो युक्त" छा० उ० ८।१२।३ । २ विषयान् भक्षयन्हसन्वा । ३ पित्रादिभि । ४ स्त्र्यादिभि । ५ छा० उ० ८।२।१ । ६ भवतीति—"सकल्पादेवास्य पितर समुत्तिष्ठन्ति तेन पितृलोकेन सपन्नो महीयते' इति श्रुतिशेष । ७ ब्रह्मणोऽद्वयत्वे । ८ कर्त्रादिकारकेति यावत् । ९ क्रियात्वादिति । तथा च वार्तिके—'नात सवेद्य आनन्दो ब्रह्मणीह्योपपद्यते" ॥१८०॥ इति ध्येयम् । १० आनन्दस्य वेद्यत्वे एव । ११ अद्वयत्वे । १२ तदेवेति—सग्रहेणोक्तमानन्दविषयक विज्ञानमेवेत्यर्थ । १३ आनन्दविषयकम् । १४ पूर्ववादिना । १५ सिद्धान्ती । १६ अन्यथेति—ज्ञापकस्याविरोधापेक्षत्वे इत्यर्थ । अतिप्रसङ्गादिति—अग्ने शैत्यमुदकस्यौष्ण्यमित्यादिवाक्यानामपि स्वार्थे प्रामाण्य स्यादित्यर्थ ।

देशान्तरेऽग्निः शीत इति शक्यते ज्ञापयितुमगम्ये वा देशान्तर उष्णमुदकमिति । न, प्रत्यगात्मन्यानन्दविज्ञान[1]दर्शनात् । न विज्ञानमानन्दमित्येवमादीनां वचनानां शीतोऽग्निरित्यादिवाक्यवत्प्रत्यक्षादिविरुद्धार्थप्रतिपादकत्वम् ।

अनुभूयते त्वविरुद्धार्थता । सुख्यहमिति सुखात्मकमात्मानं स्वयमेव [2]वेदयते । तस्मात्सुतरां प्रत्यक्षाऽविरुद्धार्थता । [3]तस्मादानन्दं ब्रह्मविज्ञानात्मकं सत्स्वयमेव [4]वेदयते । [5]तयाऽऽनन्दप्रतिपादिकाः श्रुतयः समञ्जसाः स्युर्जक्षत्क्रीडन्रममाण इत्येवमाद्याः पूर्वोक्ताः ।

प्रसङ्गादित्यर्थः । लौकिकज्ञानस्य क्रियात्वेऽपि मोक्षे सुखज्ञानं क्रियैव न भवति [6]तन्न विज्ञानादिवाक्यस्याद्वैतश्रुतिविरोधोऽस्तीत्याशङ्क्याऽऽह—न चेति । पय.पावकयोः सर्वप्रकरूप्यवद्विज्ञानस्यापि लोकवेदयोरेक[7]रूपत्वमेवेति भावः । मानान्तरविरोधादात्मन्यानन्दज्ञानस्य सत्त्वमेव वा निषिध्यते तस्य क्रियात्वं वा निराक्रियते तत्राऽऽद्यं दूषयति—नेत्यादिना । [8]तदेव स्पष्टयति—न विज्ञानमिति ।

सुखज्ञानस्य गुणत्वाङ्गीकारात्क्रियात्वनिराकरणमिष्टमेवेति मत्वाऽऽह—अनुभूयते त्विति । अनुभवमेवाभिनयति—सुख्यहमिति । [9]तथाऽपि [10]श्रुतिविरोधः स्यादित्याशङ्क्य [11]प्रत्यक्षानुसारेण [12]साऽपि नेतव्येत्याशयेनाऽऽह—तस्मादिति । आत्मन्यानन्दज्ञानस्य क्रियात्वानङ्गीकारात्कारकभेदापेक्षाभावादित्यर्थः । [13]गुणत्वपक्षे च [14]प्रत्यक्षस्यानुगुणत्वादा[15]गमस्य विरोधिन[16]स्तदनुसारेण नेयत्वाद[17]विरुद्धागमस्य भूयस्त्वादित्यतिशयः । अविरुद्धार्थता विज्ञानादिश्रुतेरिति शेषः । गुणगुणिभावेऽपि नाद्वैतश्रुतिः शक्या [18]नेतुमित्याशङ्क्य स्ववेद्यत्वपक्षमाश्रित्याऽऽह—तस्मादानन्दमिति । [19]यथाकथंचिद्ब्रह्मण्यानन्दस्य वेद्यत्वे श्रुतीनामानुगुण्यमस्तीत्याह—तयेति ।

जल की उष्णता तो वाणी द्वारा भी नहीं कही जा सकती क्योंकि वचन ज्ञापक ही हैं। ऐसी बात भी नहीं बतलायी जा सकती कि किसी दूसरे देश में अग्नि शीतल है और किसी अगम्य देशान्तर में जल उष्ण है। (इस पर पूर्ववादी कहता है—) ऐसा कहना ठीक नहीं है क्योंकि प्रत्यगात्मा में आनन्द का विज्ञान प्रत्यक्ष ही है। "विज्ञानमानन्दं ब्रह्म" इत्यादि श्रुतिवाक्य 'अग्नि शीतल है' इत्यादि (लौकिक) वाक्यों के समान प्रत्यक्षादि प्रमाणों से विरुद्ध अर्थ का प्रतिपादन करने वाले नहीं हैं।

इनकी अविरुद्धार्थता का तो अनुभव होता है। "मैं सुखी हूँ" इस प्रकार सुखस्वरूप आत्मा को

१. प्रत्यक्षत्वात् । २ वेदयत इति—अनुभवतीत्यर्थ. । यथा च आनन्दस्य वेद्यतायाः स्वानुभवसिद्धेस्तद्वेद्यताया नाध्यक्षादिविरोध शङ्कनीय । न हि स्वानुभवविरोधे मानान्तरमुद्भवतीति भाव. । ३ तस्मादिति—गुणगुणिपक्षेऽद्वैतश्रुतिविरोधादिति यावत् । ४ वेदयत—अनुभवति । ५ तयेति—ब्रह्मानन्दस्य वेद्यत्वे सतीत्यर्थ । ६ तन्नेति—तत् तस्मात् यथोक्तज्ञानस्य क्रियात्वानङ्गीकारेण ब्रह्मणि कारकभेदानपेक्षणादित्यर्थ. । ७. क्रियात्वम् । ८. दर्शनमेव । ९ तथाऽपीति—अध्यक्षादिविरोधाभावेऽपीत्यर्थः । १०. श्रुतिविरोधः—निर्गुण निष्क्रियमस्थूलमनण्वित्यादिश्रुतिविरोध । ११. प्रत्यक्षानुसारेणेति—प्रत्यक्षसिद्धरूपादिगुणप्रतिषेधपरत्वेनेति यावत् । १२. साऽपि—उक्तश्रुतिरपि । १३. गुणत्वपक्षे—आत्मन्यानन्दज्ञानस्य गुणत्वाङ्गीकारे । १४. प्रत्यक्षस्येति—सुख्यहमिति प्रत्यक्षस्येत्यर्थः इत्याहुः । १५. आगमस्य निर्गुणमित्यादेः । १६. तदनुसारेण—प्रत्यक्षानुसारेण । १७. अविरुद्धागमस्य—य. सर्वज्ञ इत्यादेः । १८. नेतुमिति—स्वार्थं योजयितुमित्यर्थ. । १९. यथाकथंचिदिति—स्वेन परेण वेति यावत् ।

न । [1]कार्यंकरणाभावेऽनुपपत्तेर्विज्ञानस्य । [2]शरीरवियोगो हि मोक्ष आत्यन्तिकः । [3]शरीराभावे च [4]करणानुपपत्तिराश्रयाभावात् । ततश्च विज्ञानानुपपत्ति [5]रकार्यकरणत्वात् । देहाद्यभावे च विज्ञानोत्पत्तौ [6]सर्वेषां कार्यकरणोपादानानर्थक्यप्रसङ्गः । एकत्वविरोधाच्च ।

परं चेद्ब्रह्माऽऽनन्दात्मकमात्मानं [7]नित्यविज्ञानत्वा[8]न्नित्यमेव विजानीयात् । तत्र

आनन्दो वेद्यो ब्रह्मणीति चोदिते सिद्धान्तमाह—नेति । [9]आगन्तुकम[10]नागन्तुकं वा ज्ञानं मुक्तावानन्दं गोचरयति नाऽऽद्य इत्याह—कार्येति । अनुपपत्तिमेव स्फोरयति—शरीरेति । कार्यंकरणयोरभावेऽपि मोक्षे ब्रह्मानन्दज्ञानं जनिष्यते संसारे हि हेत्वपेक्षेत्याशङ्क्याऽऽह—देहादीति । द्वितीयं दूषयति—एकत्वेति । न हि ब्रह्म स्वरूपज्ञानेनैव वेद्यानन्दरूपं भवितुम[11]र्हसहते विषयविषयिणोरेकत्वविरोधा[12]त्तत[13]श्चानागन्तुकमपि ज्ञानं मुक्तौ नाऽऽनन्दम[14]धिकरोतीत्यर्थः ।

किंच ब्रह्म वा मुक्तो वा संसारी वा ब्रह्मानन्दं गोचरयेत्तत्राऽऽद्यमनुवदति—परं चेदिति । तस्मिन्पक्षे न ब्रह्म स्वरूपानन्दं वेत्ति [14]तेनैक्यादेकत्र विषयविषयित्वानुपपत्तेरुक्तत्वादिति दूषयति—तन्नेति । नापि संसारी ब्रह्मानन्दं गोचरयति स खल्वनिवृत्ते संसारे संसारिणमात्मानमभिमन्यमानो न ब्रह्मानन्दमाकलयितुमलं संसारे निवृत्ते तु [15]ततो विनिर्मुक्तो ब्रह्मस्वाभाव्यं प्रतिपद्यमान[16]स्तदानन्दं

पुरुष स्वयं अनुभव करता है । इसलिए इनकी अविरुद्धार्थता सुतरां प्रत्यक्ष है । ब्रह्मानन्द के वेद्य होने पर आनन्द का प्रतिपादन करने वाली पूर्वोक्त "जक्षत् क्रीडन्नरममाणः" इत्यादि श्रुतियों का सामञ्जस्य हो सकता है ।

(इस पर सिद्धान्ती कहता है—) ऐसा कहना उचित नहीं क्योंकि देह और इन्द्रिय का अभाव होने पर (आगन्तुक ज्ञान के अयोग के कारण) विज्ञान की उत्पत्ति नहीं हो सकती । स्थूलदेह वियोग ही आत्यन्तिक मोक्ष है । स्थूलशरीर के न रहने पर आश्रय का अभाव हो जाने से सूक्ष्मशरीर का रहना भी सम्भव नहीं है । अतः स्थूल और सूक्ष्मशरीर का अभाव हो जाने से फिर विज्ञान नहीं हो सकता । यदि देहादि के अभाव में भी विज्ञान की उत्पत्ति मान ली जाय तो समस्त प्राणियों के स्थूल और सूक्ष्मशरीर को ग्रहण करने की व्यर्थता का प्रसङ्ग आ जायगा । इसके सिवा एकत्व से विरोध होने के कारण भी विज्ञान होना असम्भव है ।

(ब्रह्म, मुक्त अथवा संसारी इन तीनों में ब्रह्मानन्द को कौन अनुभव करता है—) यदि कहो कि नित्य अविलुप्त दृग्रूप होने के कारण परब्रह्म अपने आनन्दात्मक स्वरूप को सभी अवस्थाओं में

---

१ कार्येत्यादि—मोक्षे कार्यंकरणयोः स्थूलसूक्ष्मशरीरयोरभाव आगन्तुकज्ञानस्यायोगादित्यर्थः । २. शरीरवियोगः—स्थूलदेहवियोगः । अस्यैव विशेषणम् आत्यन्तिक इति । ३. स्थूलशरीराभावे । ४ सूक्ष्मशरीरानुपपत्तिरिति बोध्यम् । ५ ततश्चेत्युक्तमेव हेतुं स्पष्टयति—अकार्यकरणत्वादिति । कार्यंकरणयोरभावादित्यर्थः । अतो हेत्वभावान्मोक्षे कादाचित्कज्ञानाऽसिद्धिरिति भावः । ६ सर्वेषाम्—प्राणिनामित्यर्थः । प्राणिजातस्य हि कार्यकरणोपादानं सुखदुःखान्यतरविज्ञानात्मकभोगार्थमेव स च यद्यन्तरेणापि सङ्घातोपादानं सम्भवेत् कृतं तर्हि तद्ग्रहणेनेति । ७ अविलुप्तदृग्रूपत्वात् । ८. सर्वास्ववस्थासु । ९ आगन्तुकं जन्यं कादाचित्कं वृत्तिरूपम् । १०. नित्यम् । ११. अर्हति । १२. विषयविषयिणोर्भेदादेव । १३ विषयीकरोति । १४. तेन—स्वरूपानन्देन ब्रह्मणाऽभेदादित्यर्थः । १५. संसारात् । १६ ब्रह्मानन्दम् ।

संसार्यपि संसारविनिर्मुक्तः स्वाभाव्यं प्रतिपद्येत । जलाशय इवोदकाञ्जलिः प्रक्षिप्तो न पृथक्त्वेन व्यवतिष्ठत आनन्दात्मकब्रह्मविज्ञानाय । 'तदा मुक्त आनन्दात्मकमात्मानं वेदयत इत्येतदनर्थकं' वाक्यम् ।

अथ ब्रह्मानन्दमन्यः सन्मुक्तो 'वेदयते प्रत्यगात्मानमहमस्म्यानन्दस्वरूप इति । तदैकत्वविरोधः । तथा च सति सर्वश्रुतिविरोधः । तृतीया च कल्पना नोपपद्यते । किंचान्यद्ब्रह्मणश्च - निरन्तरात्मानन्दविज्ञाने 'विज्ञानाविज्ञानकल्पनानर्थक्यम् । निरन्तरं चेदात्मानन्दविषयं ब्रह्मणो 'विज्ञानं तदेव तस्य स्वभाव इत्यात्मानन्दं विजानातीति कल्पना'ऽनुपपन्ना । 'अतद्विज्ञानप्रसङ्गे हि कल्पनाया अर्थवत्त्वं यथाऽऽत्मानं परं च वेत्तीति ।

'तद्वदेव विषयीकर्तुं नार्हतीति तृतीये प्रत्याह—समार्यपीति । मुक्तोऽपि ब्रह्मणोऽभिन्नो वेति विकल्प्याभेदपक्षमनुभाषते—जलेति । ब्रह्माभिन्नस्य मुक्तस्य "तदानन्दविषयीकरणमु"क्तन्यायेन निरस्यति—तदेति ।

भेदपक्षमनुवदति—अथेति । ब्रह्मानन्दं प्रत्यगात्मानमिति संबन्धः । वेदनप्रकारमभिनयति—अहमिति । तत्त्वमस्यादिश्रुतिविरोधेन निराकरोति—तदेति । मुक्तो ब्रह्मणः सकाशाद्भिन्नोऽभिन्नो वा मा भूद्भिन्नाभिन्नस्तु स्यादित्याशङ्क्याऽऽह—तृतीयेति । सर्वत्र भेदाभेदवादस्य दूषितत्वादित्यर्थः । "ब्रह्मण स्वानन्दस्यावेद्यत्वे हेत्वन्तरमाह—किंचान्यदिति । "तदेवोपपादयति—निरन्तर चेदिति । आख्यातप्रयोगस्य "तर्हि कुत्रार्थवत्त्वं तत्राऽऽह—अतद्विज्ञानेति । देवदत्तो हि "बुद्धिपूर्वकारित्वावस्थायां

जानता रहता है; तो ऐसा कहना भी नहीं बनता, क्योंकि संसारी जीव भी संसार से विनिर्मुक्त होकर ब्रह्मभाव को प्राप्त हो जाता है । जलाशय में फेंकी हुई जल की अञ्जलि के समान वह भी आनन्दात्मक ब्रह्मविज्ञान के लिए पृथक्रूप से स्थित नहीं हो सकता । मोक्षावस्था में मुक्त (विद्वान्) आनन्दात्मक आत्मा को जानता है—ऐसा कहना भ्रान्तिमूलक है ।

और यदि ऐसा कहो कि मुक्त (विद्वान्) पुरुष ब्रह्म से अलग रहकर ब्रह्मानन्द को और "मैं आनन्दस्वरूप हूँ" इस प्रकार प्रत्यगात्मा को जानता है, ऐसा मानने पर ब्रह्म के अद्वयत्व में विरोध

---

१ मोक्षकाले । २ विद्वान् । ३ मृषात्मकं भ्रान्तिमूलकमिति यावत् । ४ जानाति । ५ विषयिविषयकल्पनेत्यर्थः । अथवा जानातीति प्रयोगकाले विज्ञानमन्यदात्मविज्ञानमिति । ६ आनन्दविज्ञानमेव ब्रह्मणः । ७ अनुपपन्नेति—ज्ञानानन्दयोः सामानाधिकरण्यानुरोधेन ब्रह्माभेदान्मिथोऽपि तयोर्भेदायोगादानन्दं ब्रह्म जानातीत्यानन्दज्ञानयोर्विषयविषयित्वकल्पना न युक्ता न चान्यत्र कर्तृकर्मविरोधेऽपि सर्वज्ञे ब्रह्मणि तदभावान्नास्ति दोषस्पर्शमिति वाच्यम् । न हि क्वचिद्विरोधोऽन्यथाविरोधो भवति न हि सर्वज्ञ ब्रह्मासन्नं सन्तं करोतीति भाव । ८ अतद्विज्ञानप्रसङ्ग इति—अज्ञानान्यार्थविज्ञानप्रसक्तावेवेत्यर्थः । तदुक्तं वार्तिके—"अज्ञानान्यार्थविज्ञानप्रसक्तावेव युज्यते । वेत्ति ब्रह्मसुखमिति न तु ज्ञानघनात्मनि" ॥१६७॥ ९ ब्रह्मवदेव । १० ब्रह्मानन्देत्यर्थः । ११ उक्तेति—न ब्रह्म स्वरूपानन्दं वेत्ति तदैक्यादेकत्र विषयविषयित्वानुपपत्तेरित्युक्तो न्यायः । १२ कर्तृकर्मणोः षष्ठ्यौ । १३ उक्तानर्थक्यमेव । १४ तर्हीति—स्वात्मानन्दं ब्रह्म जानातीति प्रयोगे आख्यातप्रयोगस्यानर्थकत्वमपीत्यर्थः । १५ समीक्ष्यकारित्वदशायाम् ।

न ह्येष्वाद्यासक्तमनसो नैरन्तर्येणेषुज्ञानाज्ञानकल्पनाया अर्थवत्त्वम्।

अथ विच्छिन्नमात्मानन्दं विजानाति। 'विज्ञानस्याऽऽत्मविज्ञानच्छिद्रेऽन्यविषयत्वप्रसङ्गः। आत्मतश्च विक्रियावत्त्वं ततश्चानित्यत्वप्रसङ्गः। तस्माद्विज्ञानमानन्दमिति स्वरूपान्वाख्यानपरैव श्रुतिर्नाऽऽत्मानन्दसंवेद्यत्वार्था। जक्षत्क्रीडन्नित्यादिश्रुतिवि-

---

स्वात्मानमन्यं च विविच्य जानाति नान्यदेषु भयथात्वदर्शना तत्राऽऽख्यातप्रयोगो युज्यते नैवं ब्रह्मण्यज्ञानप्रसङ्गोऽस्ति नित्यज्ञानस्वभावत्वात्तथा च तत्राऽऽख्यातप्रयोगो नार्थवानित्यर्थः। ब्रह्मण्याख्यातप्रयोगानर्थक्यं दृष्टान्तेन स्पष्टयति—न हीति।

प्रत्यगात्मनि नित्यज्ञानत्वासिद्धिं शङ्कते—अथेति। विच्छिन्नमिति क्रियाविशेषणम्। परिहरति—विज्ञानस्येति। आत्मनो विज्ञानस्य च्छिद्रमन्तरालमसत्त्वावस्था तदाऽपि विज्ञानमस्ति चेत्तस्यान्यविषयत्वप्रसङ्गस्तथा च "यत्रान्यत्पश्यति" इत्यादिश्रुतेरात्मनो मर्त्यत्वापत्तिर्न चेत्तदा विज्ञानं तदा पाषाणवदचेतनत्वं विज्ञप्तिरूपत्वानङ्गीकारादित्यर्थः। आत्मनोऽनित्यज्ञानवत्त्वे दोषान्तरमाह—आत्मनश्चेति। आनन्दज्ञाने ब्रह्मणि विषयविषयित्वायोगश्चेत्कथं विज्ञानाविवाक्यमित्याशङ्क्योपसंहरति—तस्मादिति। ब्रह्मण्यानन्दस्यावेद्यत्वे श्रुतिविरोधमुक्तं स्मारयति—जक्षदिति। सर्वत्राऽऽत्मनो मुक्तस्ये-

---

आता है। ऐसा हो जाने से सभी श्रुतियों में विरोध हो जाता है। उक्त दो पक्षों के अतिरिक्त तृतीय पक्ष की कल्पना करनी असंभव है। एक पक्ष यह भी है कि ब्रह्म को आत्मानन्द का निरन्तरविज्ञान मानने पर उसके विज्ञान और अविज्ञान अर्थात् विषयी-विषय कल्पना करनी भी व्यर्थ हो जाती है। यदि ब्रह्म को आत्मानन्दविषयक विज्ञान निरन्तर रहता है तो आनन्दविज्ञान ही उस ब्रह्म का स्वभाव समझना चाहिये, इसलिए वह आत्मानन्द को जानता है—यह कल्पना करनी असंभव है। इस कल्पना की अर्थवत्ता तो अज्ञान का अन्यार्थविज्ञान प्रसङ्ग होने पर ही हो सकती है, जैसे वह अपने को तथा अन्य को जानता है; जिसका मन निरन्तर बाण में आसक्त है, उसके संबन्ध में बाण के ज्ञान और अज्ञान की कल्पना सार्थक नहीं हो सकती।

और यदि वह पृथक्रूप से आत्मानन्द को जानता है, तो आत्मविज्ञान की असत्त्वावस्था में विज्ञानघन ब्रह्म का अन्यविषयक विज्ञान प्रसङ्ग होगा। इससे आत्मा में विकारित्वभाव आ जायगा तथा इससे आत्मा में अनित्यत्व प्रसङ्ग आ जायगा। इसलिए "विज्ञानमानन्दम्" यह श्रुतिवाक्य यथास्थित वस्तु के स्वरूपबोधन में तत्पर है, आत्मानन्द का संवेद्यत्व बतलाने में इसका तात्पर्य नहीं है। (इस पर पूर्ववादी कहता है—) किन्तु आत्मानन्द को असंवेद्य मानने पर "जक्षत् क्रीडन्" इत्यादि श्रुतिवाक्यों से

---

१. इषुकारस्य। २. विज्ञानघनस्य ब्रह्मण। ३. टीकोक्तार्थम्। ४. यथास्थितवस्तुस्वरूपबोधनपरैव। ५. ज्ञानस्य विषयित्वमानन्दस्य विषयत्वं ब्रह्मणो गुणित्वमितरयोर्गुणत्वमित्यादेर्न बोधिकेत्येवकारव्यावर्त्यमाह—नाऽऽत्मानन्देति। ६. ज्ञानाज्ञानवत्त्वदर्शनात्। ७. देवदत्तादौ। ८. प्रज्ञानघनात्मके। ९. ब्रह्मणि। १०. अन्यविषयत्वप्रसक्तौ च। ११. छां० उ० ७-२४-१। १२. "तदल्पं तन्मर्त्यमि"ति शेषः। १३. कादाचित्कज्ञानाधिकरणत्वाभ्युपगमादित्यर्थः। १४. आनन्दज्ञानात्मके। १५. योग्यादिषु।

रोधोऽसंवेद्यत्व इति चेन्न । सर्वात्मैकत्वे यथाप्राप्तानुवादित्वात् । मुक्तस्य सर्वात्मभावे सति यत्र क्वचिद्योगिषु देवेषु वा जक्षणादि प्राप्तं तद्यथाप्राप्तमेवानूद्यते । 'तत्तस्यैव सर्वात्मभावादिति सर्वात्मभावमोक्षस्तुतये ।

यथाप्राप्तानुवादित्वे दुःखित्वमपीति चेत् । योग्यादिषु यथाप्राप्तजक्षणादिवत्स्थावरादिषु यथाप्राप्तदुःखित्वमपीति चेत् । न । नामरूपकृतकार्यकरणोपाधिसंपर्कजनितभ्रान्त्यध्यारोपितत्वात्सुखित्वदुःखित्वादिविशेषस्येति परिहृतमेतत्सर्वम् । विरुद्धश्रुतीनां च

क्ये सति योग्यादिषु यथा जक्षणादि प्राप्तं तथैव तदनुवादित्वादस्याः श्रुतेर्न विरोधोऽस्तीति परिहरति—नेत्यादिना । 'तदेव प्रपञ्चयति—मुक्तस्येति । किमनुवादे फलमिति चेत्तदाह—तत्तस्येति । मुक्तस्य योग्यादिषु सर्वत्राऽऽत्मभावादेव तत्र प्राप्तं जक्षणाद्यत्र मुक्तिस्तुतयेऽनूद्यते तस्मानुवादवैयर्थ्यमित्यर्थः ।

विदुषः सार्वात्म्येन योग्यादिषु प्राप्तजक्षणाद्यनुवादे स्यादतिप्रसक्तिरिति शङ्कते—यथाप्राप्तेति । अतिप्रसङ्गमेव प्रकटयति—योग्यादिष्विति । अविद्यात्मकनामरूपविरचितोपाधिद्वयसम्बन्धनिबन्धनमिथ्याज्ञानाधीनत्वादात्मनि दुःखित्वादिप्रतीतेर्न तत्र वस्तुतो दुःखित्वं न च जक्षणाद्यपि वास्तवमा विद्यस्यैव मुक्तिस्तुतयेऽनुवादाद्दुःखित्वस्य हि नानुवादोऽतिहीनत्वप्राप्तेरिति परिहरति—नेत्यादिना । यत्तु विरुद्धश्रुतिदर्शनाऽऽगमार्थो निर्णीतो भवतीति तत्राऽऽह—विरुद्धेति । वेद्यत्वावेद्यत्वादिश्रुतीना

विरोध होगा । (सिद्धान्ती कहता है—) ऐसा कहना ठीक नहीं क्योंकि यह सर्वात्मैकत्व की अनुभूति होने पर यथाप्राप्त भक्षणादि का अनुवाद करने वाली है । मुक्त (विद्वान) पुरुष का सर्वात्मैकत्व की अनुभूति होने पर यत्र-तत्र योगियों और देवताओं में भक्षणादि की प्राप्ति होती है, इसलिए श्रुति द्वारा यथाप्राप्त का अनुवाद किया गया है । तात्पर्य यह है कि सर्वात्मभाव होने के कारण योगी आदि में भक्षणादि उस मुक्त विद्वान् पुरुष का ही है । इस प्रकार यह सर्वात्मभाव मोक्ष की स्तुति के लिए है ।

(इस पर पूर्वपक्षी शङ्का करता है—) यदि यह श्रुति यथाप्राप्त भक्षणादि का अनुवाद करने वाली है तब तो उसका दुःखित्व होना भी प्राप्त होगा । योगी आदिकों में यथाप्राप्त भक्षण (विषय-सेवन) आदि के समान उस स्थावरादि जीवों में यथाप्राप्त दुःखित्व की भी प्राप्ति होगी । (इस पर सिद्धान्ती कहता है—) ऐसा कहना ठीक नहीं है क्योंकि सुखित्व दुःखित्व आदि विशेषधर्म नामरूपजनित स्थूल और सूक्ष्मशरीररूप उपाधि के तादात्म्यसम्बन्ध से होने वाली भ्रान्ति से आरोपित हैं—इन शङ्काओं का पहले ही निरास किया जा चुका है । विरुद्ध श्रुतियों का विषय भी हम पहले (मधुकाण्ड में) कह

---

१ अनूद्यत इति—यथा 'सर्वतः पाणिपादं तत्सर्वतोऽक्षिशिरोमुखम्' इति सर्वात्मताच्यते । तथाऽत्रापि विदुषः सर्वात्मताया विवक्षितत्वाद्यानन्दादावद्यत्वमविरुद्धमिति भावः । २ श्रुत्या । ३ तत्तस्यैवेति । तत्—योग्यादिषु प्राप्तं जक्षणादि । तस्य—मुक्तस्य विदुषः । ४ आदिना नारकिणो जीवा गृह्यन्ते । ५ तादात्म्याध्याससम्बन्धेति यावत् । ६ यथाप्राप्तानुवादित्वमेव । ७ मुक्त विदुषि । ८ स्थूलसूक्ष्मशरीरात्मकेति भावः । ९ भ्रान्तिज्ञानाधीनत्वादिति बोध्यम् । १० मुक्तस्य । ११ आनन्दस्य [illegible]

विषयमवोचाम। तस्मादेषोऽस्य परम आनन्द इतिवत्सर्वाण्यानन्दवाक्यानि द्रष्टव्यानि ॥७॥२८॥

इति बृहदारण्यकोपनिषद्भाष्ये तृतीयाध्यायस्य
नवमं ब्राह्मणम् ॥९॥

इति श्रीगोविन्दभगवत्पूज्यपादशिष्यस्य परमहंसपरिव्राजकाचार्यस्य
श्रीमच्छंकरभगवतः कृतौ बृहदारण्यकोपनिषद्भाष्ये
तृतीयोऽध्यायः ॥३॥

सोपाधिकनिरुपाधिकविषयत्वेन मधुकाण्डे व्यवस्थोक्तेत्यर्थः। ब्राह्मणार्थमुपसंहरति—तस्मादिति। ब्रह्मण्यानन्दस्य वेद्यताया दुर्निरूपत्वं तच्छब्दार्थः। यथैषोऽस्येत्यत्र भेदो न विवक्षितः सर्वात्मभावस्य प्रकृतत्वात्तथा विज्ञानादिवाक्येऽप्यानन्दस्य वेद्यता न विवक्षिता। उक्तरीत्या तद्वेद्यताया दुष्प्रतिपादत्वात्तस्मादनतिशयानन्दं चिदेकतानं वस्तु सिद्धमित्यर्थः ॥७॥ २८॥

इति बृहदारण्यकोपनिषद्भाष्यटीकायां तृतीयाध्यायस्य
नवमं ब्राह्मणम् ॥ ९ ॥

इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यश्रीमच्छुद्धानन्दपूज्यपादशिष्यश्रीमदानन्द-
ज्ञानविरचितायां बृहदारण्यकोपनिषद्भाष्यटीकायां
तृतीयोऽध्यायः ॥ ३ ॥

चुके हैं। इसलिए आनन्दपदघटित सभी वैदिक वाक्यों को "स्वरूपानुभवलक्षण सुषुप्त पुरुष का यह (साधनासाध्यत्वरूप से) निरतिशय आनन्द है" इस श्रुतिवाक्यके समान समझना चाहिये ॥७॥२८॥

इस प्रकार बृहदारण्यकोपनिषत् शाङ्करभाष्य मे तृतीयाध्याय नवम ब्राह्मण का
हिन्दीभाषानुवाद पूर्ण हुआ ॥ ३ ॥

---

१. स्वरूपानुभवलक्षणः। २. सौषुप्तस्य पुंसः। ३. साधनासाध्यत्वेन निरतिशयः। ४. आनन्दपदघटितानि वैदिकवाक्यानि। ५. भेद इति षष्ठ्याः सत्त्वेऽपीत्यादिः। ६. चिदेकरसं चिदेकविस्तारम्।



अथ चतुर्थाध्यायस्य प्रथमं ब्राह्मणम् ।

जनको ह वैदेह आसाञ्चक्रे । अस्य[1] संबन्धः[2] । शारीराद्यानष्टौ[3] पुरुषान्[4] निरुह्य[5] प्रत्युह्य पुनर्हृदये दिग्भेदेन च पुनः पञ्चधा व्यूह्य[6] हृदये प्रत्युह्य हृदयं शरीरं च पुनरन्योन्यप्रतिष्ठं प्राणादिपञ्चवृत्त्यात्मके समानाख्ये जगदात्मनि सूत्र उपसंहृत्य जगदात्मान

पूर्वस्मिन्नध्याये जल्पन्यायेन[7] सच्चिदानन्दं ब्रह्म निर्धारितम् । इदानीं वादन्यायेन[8] तदेव निर्धारयितुम्[9] अध्यायान्तरमवतारयति—जनक इति । तत्र[10] ब्राह्मणद्वयस्यावान्तरसंबन्धं प्रतिजानीते—अस्येति । तमेव[11] वक्तुं वृत्तं कीर्तयति—शारीराद्यानिति । निरुह्य प्रत्युह्येति विस्तार्य[12] व्यवहारमापाद्येत्यर्थः[13] । प्रत्युह्य हृदये पुनरुपसंहृत्येति यावत् । जगदात्मनीत्य[14]व्याकृतोक्तिः । सूत्रशब्देन[15] तत्कारण

"जनको ह वैदेह आसाञ्चक्रे" इन वक्ष्यमाण ब्राह्मणद्वय का इस प्रकार सम्बन्ध है । शारीरादि आठ पुरुषों का निरूपण करके पुनः दिग्भेद से हृदय में पञ्चविध कल्पना करके पुनः उसका हृदय में उपसंहार कर तथा अन्योन्य प्रतिष्ठित हृदय और शरीर का प्राणादि पाँच वृत्तियों वाले समानाख्य जगदात्मक सूत्रात्मा में उपसंहार करके जो "नेति नेति" इस प्रकार बतलाया हुआ औपनिषद पुरुष

---

१ अस्य—वक्ष्यमाणब्राह्मणद्वयस्य । २ संबन्धः—वृत्ताध्यायेन साकमुपायोपेयभावात्मक उच्यत इति शेष इत्याह । वस्तुतः कार्यैक्यमेव सः । अध्यायापेक्षया ब्राह्मणद्वयसंबन्धेऽवान्तरत्वोक्तिस्तु वागाद्यधिष्ठात्रन्तर्भावेनेति स्पष्टं टीकायामिति ध्येयम् । ३ शारीराद्यानिति । अत्रादिशब्देन काममयादित्यपुरुषौ श्रोत्रं प्राणिमुखक छायामयो दर्पणादिस्थप्रतिबिम्बो वापीकूपाद्यभिमानी पुत्रमयश्चेत्यत्रशिष्टाः सप्नोक्ताः । ४ पुरुषानिति । पुरुषशब्दस्य पृथिव्याद्यायतनानाम्यादिलोकामृतादिदेवतोपलक्षणत्वाच्चतुरोऽप्यष्टकानित्यर्थः । ५ निरुह्य पुनः प्रत्युह्य दिग्भेदेन च हृदयं पञ्चधा व्यूह्य पुनर्हृदये प्रत्युह्येत्यन्वयः । अथवा निरुह्य प्रत्युह्य हृदयं च पुनः दिग्भेदेन पञ्चधा व्यूह्य पुनर्हृदये प्रत्युह्येत्येवम् । ६ कल्पयित्वा । ७ जल्पेति—चतुरङ्गनिर्वर्त्यजयपराजयप्रधानन्यायेनेति यावत् । वादिनियमः प्रतिवादिनियमः सभ्यमवरणं सभापतिसंवरणं चेति चत्वार्यङ्गानि कथायाः । विशेषतो जल्पवितण्डयोरेवेति तार्किकरक्षायां कथाजल्पवितण्डानिरूपणप्रकरणे विस्तरः । ८ शिष्याचार्यक्रमेण तत्त्वनिर्णयप्रधानन्यायेन । ९ वागाद्यधिष्ठात्र्यग्न्यादिदेवतासु ब्रह्मदृष्टिद्वारेति शेषः । १० कार्यैक्यमध्याययोः सङ्गतिमुक्त्वा वक्ष्यमाणब्राह्मणद्वयस्य वृत्ताध्यायेन कार्यैकत्वस्यैवोपायविशेषघटिततयाऽवान्तरसङ्गतित्वमभिप्रेत्याह—तत्रेति । अनन्तराध्याय इत्यर्थः । षष्ठस्य सप्तम्यर्थः ब्राह्मणद्वयान्वयी । ११ संबन्धमेव । १२ विस्तार्येति—अविद्याभूमौ स्थापयित्वेत्यादि । १३ व्यवहारमापाद्येति—व्यवहारविषयीकृत्य लोकस्थितिहेतुतामापाद्येत्यर्थः । १४ अन्तर्यामीश्वरोक्तिः । १५ सूत्रस्य कारणम् ।

ॐ 'जनको ह वैदेह आसांचक्रेऽथ ह याज्ञवल्क्य आवव्राज । तꣳ होवाच याज्ञवल्क्य किमर्थमचारीः

जब प्रसिद्ध विद्वान् विदेहाधिपति राजा जनक (स्वस्थचित हो अपने) राजसिंहासन पर आसीन थे, तब महर्षि याज्ञवल्क्य उनके पास आये। याज्ञवल्क्य से जनक ने कहा—हे याज्ञवल्क्य !

शरीरहृदयसूत्रस्थमतिक्रान्तवान्य औपनिषदः पुरुषो 'नेति नेतीति व्यपदिष्टः स 'साक्षाद्[3]उपादानकारणस्वरूपेण च निर्दिष्टो विज्ञानमानन्दं ब्रह्मे'ति । [5]तस्यैव वागादिदेवताद्वारेण पुनरधिगमः कर्तव्य इत्यधिगमोपायान्तरार्थोऽयमारम्भो ब्राह्मणद्वयस्य । आख्यायिका स्वाचारप्रदर्शनार्था—

जनको ह वैदेह आसांचक्र आसनं कृतवाना[6]स्थायिकां दत्तवानित्यर्थः । दर्शनकामेभ्यो राज्ञः । अथ ह तस्मि[7]न्नवसरे याज्ञवल्क्य आवव्राजाऽऽगतवानात्मनो *योगक्षेमार्थं

गृह्यते । अतिक्रमणं तद्गुणदोषासंस्पृष्टत्वम् । अनन्तरब्राह्मणद्वयतात्पर्यमाह—तस्यैवेति । वागाद्यधिष्ठात्र्योऽग्न्यादिदेवतासु 'ब्रह्मदृष्टिद्वारेत्यर्थः । पूर्वोक्ता'न्वयव्यतिरेका"दिसाधनापेक्षयाऽन्तरशब्दः । आचार्यवता श्रद्धादिसंपन्नेन" विद्या लब्धव्येत्याचारः । अप्राप्तप्राप्तिर्योगः, प्राप्तस्य रक्षणं क्षेम इति

शरीर, हृदय और सूत्र में स्थित जगदात्मा को अतिक्रान्त किये हुए है, उसी का "वह ब्रह्म विज्ञान और आनन्द स्वरूप है" इस प्रकार साक्षात् और उपादान कारणरूप से निर्देश किया गया है। उसी औपनिषद पुरुष का वागादिदेवता द्वार से पुनः बोध कराना है। इसलिए बोध और उपायान्तर के लिए इस ब्राह्मणद्वय को प्रारम्भ किया जाता है। यहाँ यह आख्यायिका आचार प्रदर्शन करने के लिए है।

विदेह देश का राजा जनक "आसांचक्रे" अर्थात् दर्शनयोग्य (स्थानस्थिति सूचक) आसन पर स्थित था यानी राजदर्शनार्थियों के लिए ऐसा समय दे रखा था। "अथ ह" अर्थात्

१. जनको हेत्यादि । "कथित पञ्चमे अल्प षष्ठे वाद उदीयत । वादिनामपि शिष्याणां बुद्ध्यारोहो द्विधोक्तित." ॥ अविस्चार्य ॥ "षड् ब्राह्मणानि तेष्वाद्य उपास्ति क्रमभुक्तये । द्वितीये जाग्रदाद्युस्थ्या प्रत्यगात्मविनिर्णय." ॥ षड्ब्राह्मणानीति । अस्मिन्नध्याय इत्यादि । "तृतीय परलोकस्य मोक्षस्यापि निदर्शनम् । दार्ष्टिकान्त चतुर्थे तु पञ्चमे बोधसाधनम् ॥ षष्ठे वंश इति प्रोक्ता ब्राह्मणार्था अथोच्यते । प्रथमब्राह्मणे प्रोक्त वतुष्पात्वेन चिन्तनमिति" ॥ वा० भा० १-४ ॥ २. नेति नेतीत्यादि । नेति नेतीत्येव सकलोपाधिनिषेधेन मूर्तामूर्तब्राह्मणे निर्दिष्ट इत्यर्थ. । ३ साक्षादिति । "विज्ञानमानन्दमि'ति स्वरूपप्रतिपादकेनेत्यर्थ । ४. "रातिर्दातुः परायणमि"त्युपादानस्वरूपेणेत्यर्थ । ५ तस्य—औपनिषदस्य पुरुषस्य । ६ आस्थायिकाम्—दर्शनयोग्यस्थानस्थितिसूचनामित्यर्थ । ७ राजदर्शनयोग्यावसरे । ८. ब्रह्मोपासनद्वारा । ९ अन्वयेति । आयतनलोकदेवपुरुषाणां चतुर्णामष्टकानामुत्पत्त्यादिमत्त्वेन व्यभिचारित्व व्यतिरेकस्तेन तेषामनात्मत्वम् । औपनिषदब्रह्मणस्तु तद्राहित्यमन्वयस्तेनात्मत्वम् । १० आदिना वाक्यतात्पर्यालोचन साधनविशेषानुसन्धान फलविशेषानुचिन्तन च गृह्यते । ११. अधिकारिणा ।

*योगक्षेमार्थं राज्ञो वा विविदिषा दृष्ट्वाऽनुग्रहार्थमिति । अत्र वार्तिकचतुष्टय वर्तते । तथाहि—"धनार्थं

पशूनिच्छन्नण्वन्तानिति । उभयमेव सम्राडिति होवाच ॥ १ ॥

आप किस प्रयोजन को लेकर यहाँ आये हैं ? क्या पशुरूपी धन की इच्छा से या सूक्ष्मातिसूक्ष्म अत्यन्त गोपनीय पदार्थ के प्रश्नों को सुनने के लिये आये हैं ? (अर्थात् विभिन्न आचार्यों से श्रवण किये हुए हमारे ज्ञान को प्रमाणित करने के लिए आये हैं ?) इस पर याज्ञवल्क्य ने कहा—हे सम्राट् ! मैं उक्त दोनों ही कार्यों के लिये आया हूँ ॥ १ ॥

राज्ञो वा विविदिषां दृष्ट्वाऽनुग्रहार्थम् । तमागतं याज्ञवल्क्यं यथावत्पूजां कृत्वोवाच होक्तवाञ्जनको हे याज्ञवल्क्य किमर्थमचारीरागतोऽसि किं पशूनिच्छन्पुनरप्याहोस्विदण्वन्तान्सूक्ष्मान्तान्सूक्ष्मवस्तुनिर्णयान्तान्प्रश्नान्मत्तः श्रोतुमिच्छन्निति । उभयमेव पशून्प्रश्नांश्च

राजदर्शनयोग्य समय में याज्ञवल्क्य "आवव्राज" अर्थात् आए। राजा के योगक्षेम के लिए अथवा उसकी विविदिषा देखकर उसके कल्याण के लिए आये। आए हुए याज्ञवल्क्य जी की विधिपूर्वक पूजा करके जनक 'होवाच' यानी बोले—हे याज्ञवल्क्य ! किसलिए आप "अचारीः" अर्थात् आए हो ? पुनः क्या पशुओं की इच्छा से आये हो अथवा मुझसे "अण्वन्तान्" यानी सूक्ष्म वस्तु के निर्णय में पर्यवसान होने वाले प्रश्नों को सुनकर उनका उत्तर देने के लिए आये हो ? (याज्ञवल्क्य बोले—) हे सम्राट् ! मैं पशु और प्रश्न दोनों के लिए आया हूँ। "सम्राट्" यह पद वाजपेय यज्ञ करने वाले

---

१. निर्णयपर्यन्तान् निर्णयफलकानिति यावत् सूक्ष्म वस्तु ब्रह्म । २. श्रुत्वा तदुत्तरं वक्तुमिति यावत् ।

ब्राह्मणा यान्ति राजानमिति श्रूयते । न स्वनावपि विद्यार्थं त यान्तीद द्विजोत्तमाः ॥ नान्यत्र क्षत्रियाद्विद्या यत्र सम्भाव्यते क्वचित् । उपसीदन्ति तत्रैव ब्राह्मणाः क्षत्रियान्मुदा ॥ याज्ञवल्क्यस्य शिष्यत्वे ग्रन्थच्छायाऽपि नेष्यते । जनकस्यैव शिष्यत्वे ग्रन्थच्छायोपलक्ष्यते ॥ अण्वन्तानिति शब्दोऽत्र न स्यात्पशुविशेषणम् । उभयं स्विदयतः शेषाद्द्वय पृष्टमतो भवेत्" ॥ ५-८ ॥ इति । केचिद्याज्ञवल्क्यस्य योगक्षेमार्थं विद्यार्थं च राजगमनमिच्छन्तः सूक्ष्मार्थनिर्णयान्तान्प्रश्नान्कृत्वा मत्तो निर्धारयितुं वा स्वदागमनमित्येवमण्वन्तानित्यस्यार्थमाहुस्तान्प्रत्याह—यनार्थमिति । उपेयादीश्वरं चैव योगक्षेमार्थसिद्धय इति स्मृतेरित्यर्थः । ननु गार्ग्यप्रभृतयो ब्राह्मणा राजानमपि विद्यार्थं गच्छन्तो दृश्यन्ते नेत्याह—न त्विति । इह शास्त्रीयव्यवहारभूमौ ॥ अनापदीतिविशेषतात्पर्यमाह—नाग्यत्रेति । यत्र क्षत्रियादन्यत्र क्वचिदपि विद्या सदैव न सम्भाव्यते तत्र ब्राह्मणा विद्यार्थिनः सन्तो विदुषः क्षत्रियानुपसीदन्तीति योजना ॥ अथात्र कस्मिंश्चिदंशे गुरुरपि मुनिर्जनकस्य शिष्यो भविष्यति । उक्तं चाऽऽचार्यत्व हित्वेति, नेत्याह—याज्ञवल्क्यस्येति । न च तस्य शिष्यत्वे योग्यत्वं सर्वज्ञत्वादित्यपेरर्थः । तच्छृणवामेति श्रुतेस्तस्य शिष्यत्व भातीत्याशङ्क्याऽऽह—जनकस्येति । एकवचनबहूक्तिभ्यां राज्ञो मुनेश्च शिष्याचार्यत्व भासेत सम्भवति चाऽऽचार्यस्यापि शिष्यबुद्धिशोधनार्थं त प्रति प्रश्नवाक्यमिति भावः ॥ पशूनण्वन्तानिति सामानाधिकरण्यादण्वन्तपदस्य पशुविशेषणार्थत्वात्र विकल्पधीरित्याशङ्क्याऽऽह—अण्वन्तानिति । तत्र वाक्यशेषं हेतुमाह—उभयमिति । राजवाक्ये विकल्पद्योतिवाशब्दाभावेऽपि शेषान्मुनिवचनादत्र विकल्पदृष्टिः सन्दिग्धस्योपक्रमे शेषान्निर्णयप्रसिद्धेरित्यर्थः । अण्वन्तशब्दस्य पशुविशेषणानर्थकत्वे फलितमाह—द्वयमिति ॥

यत्ते कश्चिदब्रवीत्तच्छृणवामेत्यब्रवीन्मे जित्वा शैलि-
निर्वाग्वै ब्रह्मेति यथा मातृमान्पितृमानाचार्यवान्ब्रू-
यात्तथा तच्छैलिनिरब्रवीद्वाग्वै ब्रह्मेत्यवदतो हि किं
स्यादित्यब्रवीत्तु ते तस्याऽऽयतनं प्रतिष्ठां न मेऽब्रवी-
दित्येकपाद्वा एतत्सम्राडिति स वै नो ब्रूहि याज्ञ-

(याज्ञवल्क्य ने जनक से कहा—हे राजन्!) जो कुछ किसी आचार्य ने आप से कहा है, उसे मैं सुनना चाहता हूँ। तब जनक ने कहा कि शिलिन ऋषि के पुत्र जित्वा ने मुझसे कहा था कि निःसन्देह वाणी देवता ही ब्रह्म है। याज्ञवल्क्य ने कहा—शैलिनि ने बहुत ठीक कहा है, जैसे माता, पिता आचार्य द्वारा अच्छी प्रकार सुशिक्षित पुरुष शिष्य को उपदेश करें, वैसे ही शैलिनी ने आप से कहा है, निःसन्देह वाणी ही ब्रह्म है क्योंकि न बोलने वाले या गूँगे से लोगों का कोई प्रयोजन सिद्ध नहीं होता।

हे सम्राट्। सम्राडिति वाजपेययाजिनो लिङ्गं यश्चाऽऽज्ञया राज्ञः प्रशास्ति स सम्राट् तस्याऽऽमन्त्रणं हे सम्राडिति समस्तस्य वा भारतस्य वर्षस्य राजा ॥१॥

किं तु यत्ते तुभ्यं कश्चिदब्रवीदाचार्योऽनेकाचार्यसेवी हि भवांस्तच्छृणवामेति। इतर आह—अब्रवीदुक्तवान्मे ममाऽऽचार्यो जित्वा नामतः शिलिनस्यापत्यं शैलिनिर्वाग्वै

विभागः। भारतस्य वर्षस्य हिमवत्सेतुपर्यन्तस्य देशस्येति यावत् ॥१॥

तत्र राजानं प्रति प्रश्नमुत्थापयति—किंचिदिति। कश्चिदिति विशेषणस्य तात्पर्यमाह—

का सूचक है। जो सब नृपतियों को अपनी आज्ञा द्वारा शासित करता है, वह सम्राट् है। "हे सम्राट्" यह उसी का संबोधन है। अथवा सम्पूर्ण भारतवर्ष के राजा को सम्राट् कहा जाता है॥ १॥

किन्तु तुमसे जो किसी आचार्य ने कहा है, उस उपदेश को सत्-असत् परीक्षण करने के लिए हम सुनें क्योंकि तुम अनेक आचार्यों की सेवा करने वाले हो। इस पर जनक ने कहा—मुझसे "शैलिनिः" अर्थात् शिलिन के अपत्य जित्वा नाम के आचार्य ने कहा था कि "वाग्वै ब्रह्म" अर्थात्

---

१. वाग्देवस्य ब्रह्मणः। २. यश्चाज्ञयेति। "येनेष्टं राजसूयेन मण्डलस्येश्वरश्च यः। शास्ति यश्चाज्ञया राज्ञः स सम्राडि"त्यमरः। एक सार्वभौमविशेषस्य तत्र विशेषणत्रयं मिलित्वा सम्राट्त्वप्रयोजकं प्रत्येकं वेति मतभेदः। मण्डल—द्वादशराजानः। राज्ञः सर्वनृपतीनित्याहुः। राजसूयेनेति वाजपेयस्याप्युपलक्षणमिति भाष्याविरोधः। ३. द्वितीयान्तम्। ४. शृणवामेति। उपदेशस्य सदसत्परीक्षणायेति भावः। ५. हिमवदित्यादि। तदुक्तं—"उत्तरं यत्समुद्रस्य हिमाद्रेश्चैव दक्षिणम्। वर्षं तद्भारतं नाम भारती यत्र संततिरि"ति। "वर्षं स्थानं विदुः प्राज्ञाः। वर्षोऽस्त्री भारताब्दौ च जम्बूद्वीपाब्दवृष्टिषु" इति मेदिनी। ६. तत्र—उत्क्रामन्त्रणादौ वृत्ते सति। उत्थापयति—भाष्यकृत्। प्रश्नम्—अजातार्थमुपदिदिक्षुणा मुनिना कृतमिति शेषः।

वल्क्य । वागेवाऽऽयतनमाकाशः प्रतिष्ठा प्रज्ञेत्येनदु-
पासीत । का प्रज्ञता याज्ञवल्क्य । वागेव सम्राडिति
होवाच । वाचा वै सम्राड्बन्धुः प्रज्ञायत [1]ऋग्वेदो
यजुर्वेदः सामवेदोऽथर्वाङ्गिरस इतिहासः पुराणं विद्या
उपनिषदः श्लोकाः सूत्राण्यनुव्याख्यानानि व्याख्या-
नानीष्टं हुतमाशितं पायितमयं च लोकः परश्च

पर यह तो बतलाइये कि उसने उसके आयतन एवं प्रतिष्ठा को भी आपसे कहा या नहीं। जनक ने कहा—नहीं। इस पर याज्ञवल्क्य ने कहा—हे राजन्! तब तो ब्रह्म के एक पाद का ही यह उपदेश उसने किया। जनक ने कहा—हे याज्ञवल्क्य! कृपया उस अवशिष्ट तत्त्व को आप बतलावें। याज्ञवल्क्य ने कहा—वाणी ही उस वाग्रूप ब्रह्म का आयतन है और अव्याकृत आकाश प्रतिष्ठा है। इसकी उपासना प्रज्ञारूप से करनी चाहिये क्योंकि प्रज्ञा उस ब्रह्म का चतुर्थ पाद है। इस पर जनक ने पूछा—प्रज्ञता क्या है अर्थात् आयतन और प्रतिष्ठा के समान क्या उससे भिन्न है? याज्ञवल्क्य ने कहा—हे

ब्रह्मेति [2]वाग्देवता ब्रह्मेति। आहेतरो [3]यथा [4]मातृमान्माता यस्य विद्यते पुत्रस्य सम्य-गनुशास्त्र्यनुशासनकर्त्री स मातृमान्। [5]अत ऊर्ध्वं पिता यस्या[6]नुशास्ता स पितृमान्। उपनयनादूर्ध्वमा समावर्तनादाचार्यो यस्यानुशास्ता आचार्यवान्। एवं [7]शुद्धित्रयहेतुसंयुक्तः स [8]साक्षादाचार्यः स्वयं न कदाचिदपि प्रामाण्याद्व्यभिचरति। स यथा बृबाच्छिद्धयाय

अनेकेति। प्रामाण्यमा[9]प्तत्वम्। यथोक्तार्थानुमोदने युक्तिमाह—न हीति।

वाग् का अधिष्ठातृ देवता (अग्नि) ब्रह्म है। इस पर याज्ञवल्क्य जी बोले—जिस प्रकार "मातृमान्" यानी जिस पुत्र का ठीक प्रकार से अनुशासन करने वाली माता विद्यमान् है, वह मातृमान् है। माता के अनुशासन के अनन्तर पिता जिसका अनुशासक है, वह पितृमान् कहा जाता है। इसी प्रकार उपनयन से समावर्तन संस्कारपर्यन्त आचार्य जिसका अनुशासक है, उसे आचार्यवान् कहा जाता है। इस प्रकार जो तीन प्रकार की शुद्धि के हेतुओं से संयुक्त है, वह साक्षादाचार्य कभी भी प्रमाण से

१. ऋग्वेद इत्यादि व्याख्यानानीत्यन्तं पूर्वं मैत्रेयीब्राह्मणे बृ० उ० २।४।१० भाष्ये प्रोक्तार्थम्। २. वागधिष्ठात्राग्नि। ३. शैलिनिनोपदिष्टमर्थं स्तोतुकामो मुनिस्तस्याप्तत्वप्रयोजकीभूतं शुद्धित्रयमाह—यथेति। ४. मातृमानिति। "मातृमानिति हेतूक्तिः सम्यग्वक्तृत्वसिद्धये" ॥ १३ ॥ इति वार्तिके। ५. मात्रनुशासनादनन्तरम्। ६. अनुशास्तेति। शास्ते "तृन्तृचौ शंसिक्षदादिभ्यः संज्ञायां चानिटौ" ॥२-६४॥ इत्युणादिसूत्रस्थादिशब्दपरिगृहीतात्तृन्तृज्वा। ननु संज्ञायामिति। सत्यम्। कथं तर्हि। बहुलमन्यत्रेत्युत्तरसूत्रे बाहुलकात्। "शास्ता समन्तभद्रेनाशासके पुनरन्यवदिति" च कोशः। ७. शुद्धित्रयहेत्विति। मात्राद्याप्तत्वं यच्छुद्धित्रयं तदेवाप्तत्वे हेतुरित्याहुः। वस्तुतोऽत्र शुद्धित्रयं तद्धेतुर्मात्रादित्रयमिति युक्तमुत्पश्यामः। ८. य उक्तसंयुक्तः स साक्षादाचार्यः। ९. आप्तत्वम्—यथार्थवक्तृत्वम्।

लोकः सर्वाणि च भूतानि वाचैव सम्राट्प्रज्ञायन्ते [1]वाग्वै सम्राट्परमं ब्रह्म *नैनं [2]वाग्जहाति सर्वाण्येनं भूतान्य-[3]भिक्षरन्ति [4]देवो भूत्वा देवान[5]प्येति य एवं विद्वानेतदुपास्ते । हस्त्यृषभं सहस्रं ददामीति होवाच जनको वैदेहः । स होवाच याज्ञवल्क्यः पिता मेऽमन्यत नाननुशिष्य हरेतेति ॥२॥

महाराज ! वाणी ही प्रज्ञा है । हे सम्राट् ! वाणी से ही ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद, अथर्वाङ्गिरसवेद, इतिहास, पुराण, विद्या, उपनिषत्, श्लोक, सूत्र, अनुव्याख्यान, व्याख्यान, इष्ट, हुत, आशित, पायित, यह लोक, परलोक, एवं सम्पूर्ण प्राणी जाने जाते हैं । अतः हे सम्राट् ! वाणी ही परब्रह्म है । जो पुरुष इस प्रकार जानकर इसकी उपासना करता है, उस उपासक को वाणी नहीं छोड़ती, सभी भूत भेंट लेकर उसका अनुसरण करते हैं । वह देव होकर देवों को प्राप्त करता है । इस पर विदेहराज ने कहा कि मैं इसके बदले आपको हाथी के समान बछड़ों को जन्म देने वाली एक हजार गौएँ देता हूँ । उस याज्ञवल्क्य ने उत्तर दिया—हे राजन् ! मेरे पिता यह मानते और कहते थे कि शिष्य को उपदेश से कृतार्थ किये बिना, उसकी दी हुई दक्षिणा नहीं लेनी चाहिये ॥ २ ॥

तथाऽसौ जित्वा शैलिनिरुक्तवान्वाग्वै ब्रह्मेति । [6]अवदतो हि किं स्यादिति । न हि मूकस्येहार्थममुत्रार्थं [7]वा [8]किंचन स्यात् ।

किंत्वब्रवीदुक्तवांस्ते तुभ्यं तस्य ब्रह्मण आयतनं प्रतिष्ठा च । आयतनं नाम

यथोक्तब्रह्मविद्यया कृतकृत्यत्वं मन्वानं राजानं प्रत्याह—किंत्विति । आयतनप्रतिष्ठयोरेकत्वा-

व्यभिचरित नहीं होता । वह जिस प्रकार अपने शिष्य को उपदेश करे, उसी प्रकार इस शिलिन के पुत्र जित्वा ने तुम्हें यह बतलाया है कि वाक् ही ब्रह्म है । वाक् के ब्रह्म न कहने में क्या होगा क्योंकि मूक को इहामुत्र फलक कोई साधन नहीं हो सकता ।

किन्तु क्या उन्होंने तुम्हें उस ब्रह्म के आयतन और प्रतिष्ठा भी बतलायी थी । आयतन

१ वाग्वा इत्यादि । अत्र षट्सु पर्यायेषु वागेवायतनमित्यादिना करणस्य स्वाधारेण देहेन सह परिग्रहाद्विराडात्मा विवक्ष्यते । स हि स्थूलकार्यकरणात्मकः । वाग्वै ब्रह्मेत्यादिना सूत्रात्मोच्यते । स हि सूक्ष्मोपाधिरग्न्यादिदेवतारूपः । आकाशः प्रतिष्ठेत्यन्तर्यामिग्रहः । इत्थं चाग्न्यादिदेवतासु ब्रह्मदृष्ट्या सर्वं जगदुपास्यत्वेनात्र प्रकरणे विवक्षितं सर्वस्य देवतात्वे नोच्यमानत्वात्कार्यकरणादेर्जगत इति स्पष्टं वार्तिके । २ कर्हिचिदपि वाग्विकलो न भवति । ३ वर्धन्ति । ४ उपास्त्यैवाविर्भूतदेवभावः सन् । ५ शरीरपातादूर्ध्वं देवान् गच्छति । ६ वाचो ब्रह्मत्वे मुनिरत्र स्वयं हेतुमाह—अवदत इति । ७ इहामुत्रफलकम् । ८ साधनम् ।

*नैनं वाग्जहाति सर्वाण्येनं भूतान्यभिक्षरन्ति देवो भूत्वा देवानित्यादि । अत्राहुर्वार्तिकाचार्यास्तथाहि—"एन

शरीरम् । प्रतिष्ठा त्रिष्वपि कालेषु य आश्रयः । आहेतरो न मेऽब्रवीदिति । इतर आह—यद्येवमेकपाद्वा एतदेकः पादो यस्य ब्रह्मणस्तदिदमेकपाद्ब्रह्म त्रिभिः पादैः शून्यमुपास्यमानमपि न फलाय भवतीत्यर्थः । यद्येवं स त्वं विद्वान्सन्नोऽस्मभ्यं ब्रूहि

त्पुनरुक्तिमाशङ्क्य विभजते—आयतनं नामेति । एकपादत्वेऽपि ब्रह्मणस्तदुपासनादिष्टसिद्धिरिति चेन्नेत्याह—त्रिभिरिति । ब्रूहि प्रतिष्ठामायतनं चेति शेषः ।

शरीर का पर्याय है । जो तीनों कालों में आश्रय हो, वह प्रतिष्ठा है । जनक ने कहा—यह तो मुझे नहीं बतलाया । याज्ञवल्क्य बोले—यदि ऐसा है, (तो सुनो) वह "एकपाद्" यानी एक पाद वाला ब्रह्म है । भाव यह है कि वह तीन पादों से शून्य ब्रह्म उपासना किये जाने पर फलदायक नहीं होता । (जनक बोले—) यदि ऐसा है, हे याज्ञवल्क्यजी ! चतुष्पाद ब्रह्म को आप जानते हैं तो कृपया इसका

---

१ आयतनप्रतिष्ठे तेन नोक्ते चेत्तर्हि । २. तथा फलद नो चेत्तर्हि । ३. अनुग्रहशीलः । ४ चतुष्पाद्ब्रह्म जानन् ।

भूतानि सर्वाणीत्युपासनफलाभिधा ।। देवो भूत्वेति देवान्हि प्रधानफलकीर्तनम् । विद्वांश्च एवमित्युक्त्या साध्यसाधनसंगतिः ।। देवो भूत्वेति जीवन्सम्भावनोपचयाश्रयः । वैलक्षण्यमुपास्तीनां भण्यते ब्रह्मबोधतः ।। तथैव वचसोक्तिः स्याद्देवो भूत्वेति सम्भवात् । प्रतिवाक्यं बहूक्तिश्च पण्णामेकत्वसिद्धये ।। प्रागपि ब्रह्मविज्ञानाद्ब्रह्मैवा-भूद्यथा तथा । देवोपासनतः पूर्वं नाभूद्देव उपासकः ।। भावनोपचयाद्देवो भूत्वा विद्वानिहैव तु । देवानप्येति सोऽन्यादीञ्छरीरत्यागतः परम् ।। उत्पत्त्याद्यात्मकं कार्यं साध्यं सर्वस्य कर्मणः । उपासनं च कर्मैव युक्तमुक्तमिदं ततः ।। ब्रह्म वा इदमित्येव तथा ब्रह्मैव सन्निति । प्रागपि ब्रह्मविज्ञानात्सिद्धं तादात्म्यमुच्यते" ।। २२-२९ ।। इति । सर्वाणीत्यादेरर्थमाह—एनमिति ।। उपासनस्य द्विविधं फलं दृष्टमदृष्टं च दृष्टमुक्त्वाऽदृष्टं व्याचष्टे—देव इति । भावनोपचयस्य देवताभावसंपादनसामर्थ्यद्योतनार्थो हिशब्दः । य एवमित्यादेस्तात्पर्यमाह—विद्वानिति । ज्ञानफलयोरुच्यत इति शेषः ।। देवो भूत्वेत्यादेस्तात्पर्यान्तरं वक्तुमक्षरार्थमनुवदति—देव इति । विवक्षितं तात्पर्यमाह—वैलक्षण्यमिति । ब्रह्मधीवदुपास्तिरनभ्यस्ता न फलवतीत्यर्थः ।। अत्र श्रुत्यक्षरानुगुण्यमाह—तथेति । उक्ततात्पर्यानुसारेण देवो भूत्वेति वचसा देवभावफलस्योक्तिर्युक्ता तस्य साध्यत्वसंभवादित्यर्थः । कथं प्रतिपर्यायं देवानिति बहूक्तिरभ्यासादेकैकस्यैवोपास्यत्वदृष्टेरित्याशङ्क्याऽऽह—प्रतिवाक्यमिति । पर्यायषट्कसंबद्धोपास्तेरैक्यद्योतनार्थं सर्वत्र बहुवचनं प्रतिपर्यायमुपास्तिभेदे देवमप्येतीति स्यादेकैकोपास्तेरनेकदेवताप्त्ययोगादतः सर्वत्र देवानिति श्रुतरेकपर्यायस्योपास्तिरन्यपर्यायस्योपास्त्यभिन्नेत्यर्थः ।। सर्वपर्यायपूपास्त्यैक्येऽपि किमिति सा ब्रह्मधीवन्न फलदेत्याशङ्क्य तयोरधिकारिद्वारा वैलक्षण्यमाह—प्रागपीति । मुमुक्षुर्ज्ञानात्पूर्वमपि ब्रह्मैवाज्ञानं तु व्यवधानमुपासकस्तु प्रागुपास्तेर्देवो नाभूत्तद्भावस्य साध्यत्वादित्यर्थः ।। फलद्वाराऽपि वैधर्म्यमाह—भावनेति । जीवदवस्थायां देवभावस्तत्तादात्म्यसाक्षात्करणं मृतस्त्वं तदप्ययस्तदैक्यमिति विवेक्तव्यम् । व्यवहितफलोपास्तिरा-प्रायणादावृत्त्यपेक्षत्वादब्रह्मधीर्नैव ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवतीति ज्ञानफलयोर्नैरन्तर्यादिति भावः ।। इतश्च फलवैधर्म्यं तयोरित्याह—उत्पत्तीति । कर्मणो हि फलमुत्पत्त्याद्यन्यतमं साध्यं च ज्ञानस्य तद्विलक्षणं नित्यसिद्धमित्यर्थः । स्वरूपतोऽपि वैधर्म्यमाह—उपासनं चेति । मानसी क्रियोपास्तिर्नैव धीरपुरुषतन्त्रत्वादित्यर्थः । भिन्नार्थविषयोपास्तिरेकरसविषया धीस्तद्विषयद्वाराऽपि वैधर्म्यमिति सत्योक्तं वैधर्म्यं निगमयति—युक्तमिति ।। ज्ञानात्प्रागपि मुमुक्षुर्ब्रह्मैव चेत्किं तादात्म्योक्त्येत्याशङ्क्याऽऽह—ब्रह्मेति । अतो ज्ञानादज्ञाननिवृत्तिः फलतीति शेषः ।।

हे याज्ञवल्क्येति। स चाऽऽह—वागेवाऽऽयतनं वाग्देवस्य ब्रह्मणो वागेव करणमायतनं शरीरमाकाशोऽव्याकृताख्यः प्रतिष्ठाऽऽश्रय उत्पत्तिस्थितिलयकालेषु। प्रज्ञेत्येनदुपासीत प्रज्ञेतीयमुपनिषद्ब्रह्मणश्चतुर्थः पादः प्रज्ञेति कृत्वैनद्ब्रह्मोपासीत।

का प्रज्ञता याज्ञवल्क्य किं स्वयमेव प्रज्ञेत प्रज्ञानिमित्ता। यथाऽऽयतनप्रतिष्ठे ब्रह्मणो व्यतिरिच्यते तद्वत्किम्। न, कथं तर्हि, वागेव सम्राडिति होवाच वागेव प्रज्ञेति होवाचोक्तश्चान्न व्यतिरिक्ता प्रज्ञेति। कथं पुनर्वागेव प्रज्ञेति, उच्यते—वाचा वै सम्राड्बन्धुः प्रज्ञायतेऽस्माकं बन्धुरित्युक्ते प्रज्ञायते बन्धुस्तथर्ग्वेदादि। इष्टं यागनिमित्तं धर्मजातं हुतं होमनिमित्तं च। आशितमन्नदाननिमित्तं पायितं पानदाननिमित्तमयं च लोक इदं च जन्म परश्च लोकः प्रतिपत्तव्यं च जन्म सर्वाणि च भूतानि वाचैव सम्राट्प्रज्ञायन्तेऽतो वाग्वै सम्राट्परमं ब्रह्म नैनं यथोक्तब्रह्मविदं वाग्जहाति। सर्वाण्येनं भूतान्यभिक्षरन्ति बलिदानादिभिरिह देवो भूत्वा पुनः शरीरपातोत्तरकालं

प्रश्नमेव विवृणोति—किं स्वयमेवेति। प्रज्ञा निमित्तं यस्या वाचः सा तथा। द्वितीयपक्षं विशदयति—यथेति। व्यतिरेकपक्षं निषेधति—नेति। आकाङ्क्षापूर्वकं पक्षान्तरं गृह्णाति—कथं तर्हीति। बलिदानमुपहारसमर्पणम्। आदिशब्देन स्रक्चन्दनवस्त्रालंकारादिग्रहः। विद्यानिष्क्रया-

स्वरूप मुझे बतलाइये। वह (याज्ञवल्क्य) बोले—"वागेवाऽऽयतनम्" यानी वाग्देवतारूप ब्रह्म का वाक् ही करण यानी शरीर है तथा उसकी उत्पत्ति, स्थिति और लय के समय (अन्तर्यामी) अव्याकृतसञ्ज्ञक आकाश ही उसकी प्रतिष्ठा है। "प्रज्ञेत्येनदुपासीत" अर्थात् प्रज्ञा यह नाम मन में धारण करके वाग्ब्रह्म की उपासना करे क्योंकि प्रज्ञा नाम की उपनिषत् उस ब्रह्म का चतुर्थपाद है।

हे याज्ञवल्क्यजी! प्रज्ञता क्या है? क्या वाग्ब्रह्म स्वयं ही प्रज्ञा है अथवा उसमें भेद है? जिस प्रकार आयतन और प्रतिष्ठा ब्रह्म से व्यतिरिक्त है, उसी प्रकार क्या प्रज्ञा भी व्यतिरिक्त है? नहीं। ऐसा क्यों? "वागेव सम्राडिति होवाच" यानी याज्ञवल्क्य बोले—हे सम्राट्! वह वाक् ही प्रज्ञा है, प्रज्ञा उससे पृथक् नहीं है। वाक् ही प्रज्ञा किसलिये है? इस पर कहा जाता है—हे सम्राट्! वाणी से "बन्धुः प्रज्ञायते" यानी किसी के द्वारा "यह हमारा बन्धु है" ऐसा कहने पर बन्धु का ज्ञान होता है। इसी प्रकार ऋग्वेदादि वाक् से जाने जाते हैं। हे सम्राट्! "इष्टम्" यानी यागनिमित्तक धर्म "हुतम्" यानी होमनिमित्तक धर्म, "आशितम्" यानी अन्नदाननिमित्तक धर्म, "पायितम्" पेयदाननिमित्तक धर्म, यह लोक, वर्तमान देह और परलोक, आगे प्राप्तव्य जन्म और ब्रह्मादि समस्त

१ अन्तर्यामी। २. इदंनामधेयम्। ३. एतन्नाम मनसिकृत्वाऽनेन नाम्ना वाग्ब्रह्मोपासीतेत्यर्थः। ४. विभिति—वाग्ब्रह्मेति शेषः। ब्रह्मप्रज्ञयोर्भेदोऽभेदो वेति भावः। ५. व्यतिरिक्ता। ६. वैनविदयम्। ७. धर्मजातमित्यनुवर्तते सर्वत्र। ८. पेयदानेति भावः। ९. वर्तमानो देहः। १०. ब्रह्मादीनि। ११. वाग्देवब्रह्मणैव। १२. अतः—चन्द्रादिविषयकप्रकृष्टज्ञानहेतुत्वात्। वाग्वै—वाग्देवतैव परमं ब्रह्मेति चिन्तयेदिति शेषः। १३. सभोजयन्ति। १४. उपास्त्यतिशयेनात्मन्याविर्भूतदेवत्वाभिमानो भूत्वा। १५. अव्यतिरेकपक्षम्।

यदेव ते [1]कश्चिदब्रवीत्त[2]च्छृणवामेत्यब्रवीन्म उदङ्कः शौल्बायनः [3]प्राणो वै ब्रह्मेति यथा मातृमान्पितृमानाचार्यवान्ब्रूयात्तथा तच्छौल्बायनोऽब्रवीत्प्राणो वै ब्रह्मेत्यप्राणतो हि किᳰ स्यादित्यब्रवीत्तु ते तस्या-

(फिर याज्ञवल्क्य ने जनक से कहा—हे राजन् !) जो भी आप से किसी ने कहा है; उसे मैं सुनना चाहता हूँ। जनक ने उत्तर दिया—हे याज्ञवल्क्य ! शुल्व ऋषि के पुत्र उदङ्क ने मुझसे कहा था कि प्राण ही ब्रह्म है। इस पर याज्ञवल्क्य ने कहा—शौल्वायन ने बहुत ठीक कहा है। जैसे माता, पिता और आचार्य द्वारा पूर्ण शिक्षित पुरुष अपने शिष्य को शिक्षा देवे, वैसे ही शौल्वायन ने आप से कहा

देवानप्येत्यपिगच्छति य एव विद्वानेतदुपास्ते । ❀विद्यानिष्क्रयार्थं हस्तितुल्य ऋषभो हस्त्यृषभो यस्मिन्गोसहस्रे तद्धस्त्यृषभं सहस्रं ददामीति होवाच जनको वैदेहः । [6]स होवाच याज्ञवल्क्यः । [4]अननुशिष्य [5]शिष्यं कृतार्थमकृत्वा शिष्याद्धनं न हरेतेति मे मम पिताऽमन्यत ममाप्ययमेवाभिप्रायः ॥ २ ॥

यदेव ते कश्चिदब्रवीदुदङ्को नामतः शुल्बस्यापत्यं शौल्बायनोऽब्रवीत्प्राणो वै

धंमुवाचेति संबन्ध । पितुरेतन्मतमस्तु तव किमायात तदाह—ममापीति ॥२॥

प्राणी वाग्देवतारूप ब्रह्म से ही जाने जाते हैं। इसलिए हे सम्राट् ! वाग्देवता को ही परम ब्रह्म समझना चाहिये। पूर्वोक्तरूप से इस ब्रह्म को जानने वाले का वाक् त्याग नहीं करती। सभी प्राणी इस पर बलिदानादि की वर्षा करते हैं। जो विद्वान् इसकी इस प्रकार उपासना करता है, वह देवाभिमानी होकर पुन शरीर के विनष्ट हो जाने पर देवताओं को ही "अप्येति" यानी प्राप्त होता है। तब विदेहराज जनक ने कहा—इस ब्रह्मविद्या के बदले "हस्त्यृषभ सहस्रम्" आपको हाथी के समान बछड़ों को जन्म देने वाली एक हजार गौएँ देता हूँ। (जनक द्वारा ऐसा कहे जाने पर) वे याज्ञवल्क्य बोले—मेरे पिताजी कहा करते थे कि "अननुशिष्य" यानी शिष्य को बिना शिक्षा दिये अथवा बिना कृतार्थ किये शिष्य से धन नहीं लेना चाहिए। मेरा भी ऐसा ही निश्चय है ॥ २ ॥

"यदेव त कश्चिदब्रवीत्" जो किसी आचार्य ने तुम्हे कहा है, (वह सुनें) शुल्व की सन्तान

१ आचार्य । २ उपदेशस्य सदसत्परीक्षार्थम् । ३ वायुदेवतैव । ४ जनकेनैवमुक्त । ५ शिक्षामकृत्वा । ६ फलितमाह—शिष्यमिति ।

❀विद्यानिष्क्रयार्थमिति । अत्राहुर्वार्तिकाचार्यास्तथाहि—"हस्त्यृषभमिति चोक्त्या भण्यते गुरुदक्षिणा । स च तां नाग्रहीद्दत्तां पिता मे इति हेतुतो ॥ नन्वनुशिष्ट एवाय पूर्वोक्तैरनुशासनै । पितृव्रतोपरोधोऽत्र नात· कश्चन विद्यते ।। नाऽऽत्मविद्यातिरेकेण पितुर्वस्त्वन्तरे मत । असमाप्ते पुमर्थस्य मत नात्यानुशासनम् ॥ यस्मिञ्ज्ञातेऽखिल ज्ञात कृतमाप्त च कामितम् । तिरस्कृत च सत्यवत पितुस्तदनुशासनम् ॥ यतो वस्त्वन्तरं नान्यदात्मनो विद्यते परम् । सम्यक्ज्ञानमेवातस्तदन्यत्र मृषा मति ॥ आत्मज्ञानोदयायैव याज्ञवल्क्योऽप्यतोऽवदत् ।

[1]ऽऽयतनं [2]प्रतिष्ठां न मेऽब्रवीदित्येकपाद्वा एतत्सम्राडिति [3]स वै नो ब्रूहि याज्ञवल्क्य [4]प्राण एवाऽऽयतनमाकाशः प्रतिष्ठा प्रियमि[5]त्येनदुपासीत [6]का प्रियता याज्ञवल्क्य [7]प्राण एव सम्राडिति होवाच प्राणस्य वै सम्राट्कामायायाज्यं याजयत्यप्रतिगृह्यस्य प्रतिगृह्णात्यपि तत्र वधाशङ्कं भवति यां दिशमेति प्राणस्यैव

है। निःसन्देह प्राण ही ब्रह्म है, क्योंकि प्राणरहित पुरुष से लोक का क्या हित हो सकता है? पर क्या उस शौल्बायन ने प्राणरूप ब्रह्म के आयतन और प्रतिष्ठा को बतलाया? जनक ने कहा—नहीं। इस पर याज्ञवल्क्य ने कहा—हे राजन्! तब तो एक पाद ब्रह्म का ही यह उपदेश है। जनक ने कहा—हे याज्ञवल्क्य! कृपया उस अवशिष्ट तत्त्व को आप ही मुझे बतलावें कि प्राणब्रह्म का आयतन और प्रतिष्ठा क्या है? याज्ञवल्क्य ने कहा—प्राण ही उसका आयतन है और आकाश प्रतिष्ठा है (आयतन बतलाते समय प्राणादि शब्द करण अर्थ में प्रयोग किये गये हैं)। इसकी उपासना प्रियरूप से करनी चाहिये क्योंकि "प्रिय" यह उसका चतुर्थ पाद है। तब जनक ने पूछा—हे याज्ञवल्क्य! प्रियता क्या

ब्रह्मेति प्राणो वायुर्देवता पूर्ववत्। प्राण एवाऽऽयतनमाकाशः प्रतिष्ठोपनिषत्प्रियमि-

---

यथा वागग्निर्देवता तद्वदित्याह—पूर्ववदिति। प्राण एवाऽऽयतनमित्यत्र प्राणशब्दः करणविषयः।

शौल्बायन उदङ्क नाम आचार्य ने कहा है कि प्राण ही ब्रह्म है। प्राण वायु देवता है ऐसा पूर्वमन्त्र की तरह समझना चाहिये। प्राण ही आयतन है और आकाश प्रतिष्ठा है। इसकी 'प्रिय" इस रूप से

---

१ शरीरम्। २ त्रिष्वपि कालेष्वाश्रयम्। ३ चतुष्पाद्ब्रह्म जानस्त्वम्। ४ अध्यात्म प्राण—वायुसहित प्राणेन्द्रियम्। ५ अव्याकृताख्योऽन्तर्यामी। ६ अनयोपनिषदा नाम्ना। ७ आयतनप्रतिष्ठावदुपनिषद्भिःप्रोताभिरुपास्यादिति प्रश्न। ८ अभिप्रासेत्युत्तरम्। ९ वायुवृत्तिविशिष्टप्राणेन्द्रियपर।

उपासनान्यशेषाणि तथा कर्माण्यशेषतः" ॥ ३०-३५ ॥ इति। हस्तीत्यादि व्याचष्टे—हस्तीति। शिष्य कृतार्थमकृत्वा ततो दक्षिणा न ग्राह्येति पितुर्मम चाभिप्रायो न च त्वमद्यापि कृतार्थ परोक्षविरहादतस्त्वत्तो दक्षिणा न ग्राह्येत्याह—पितेति ॥ राजदत्तगोधनादानेऽपि पितृव्रतभङ्गो नास्तीति शङ्कते—नन्विति ॥ तत्त्वज्ञानादन्यत्र पुमर्थासमाप्तस्तस्मादेव मुक्तिलाभात्तदनुशासन पितुर्विवक्षित तथोक्तानुशासनात्ते कृतार्थतेति परिहरति—नाऽऽत्मेति ॥ पितुरिष्टमनुशासनमेव स्पष्टयति—यस्मिन्निति ॥ न केवल पितुरेवैतन्मत किंतु ममापीत्याह—यत इति। आत्मनोऽन्यद्वस्तु स्वतन्त्र परमपर वा यतो नास्त्यतस्तद्धीरेव सम्यग्धीस्तदन्यत्र दृष्टिर्मिथ्या धीरिति ममापि मतमतस्तवाऽऽत्मज्ञानवैकल्यान्न कृतार्थतेत्यर्थ ॥ तर्हि तदेवोपदेष्टव्य किमित्युपासनानि मुनिरनुमोदते तत्राऽऽह—आत्मज्ञानेति। यथा सर्वाणि कर्माणि विविदिषाश्रुतेर्ज्ञानोदयार्थानि तथैवैतान्यप्युपासनान्यतस्तान्यनुमोदितवानित्यर्थः ॥

सम्राट्कामाय प्राणो वै सम्राट्परमं ब्रह्म नैनं प्राणो जहाति सर्वाण्येन भूतान्यभिक्षरन्ति देवो भूत्वा देवानप्येति य एवं विद्वानेतदुपास्ते हस्त्यृषभꣳ सहस्रं ददामीति होवाच जनको वैदेहः स होवाच याज्ञवल्क्यः पिता मेऽमन्यत नाननुशिष्य हरेतेति ॥३॥

है ? याज्ञवल्क्य ने उत्तर दिया—प्राण ही प्रियता है क्योंकि हे राजन् ! प्राण के लिये अयाज्य (याग के अनधिकारी) पुरुष से भी यज्ञ कराते हैं तथा प्रतिग्रह के अयोग्य पुरुष से भी दान लेते हैं और जिस देश मे जाते हैं, वहां पर चोरादि से वध की आशङ्का करते हैं। हे सम्राट् ! निःसन्देह यह सब प्राण के लिये ही होता है। अतः हे राजन् यह प्राण परब्रह्मरूप है। जो इस प्रकार जान कर उपासना करता है, उसे प्राण नही छोडता। सभी भूत उसका अनुसरण करते हैं। वह उपासक देव होकर देवो को प्राप्त होता है। इस पर जनक ने कहा—हे याज्ञवल्क्य ! इस उपदेश के बदले हाथी के समान बछडे जनने वाली एक हजार गौएं देता हूँ। याज्ञवल्क्य ने कहा—मेरे पिता की यह मान्यता रही है कि शिष्य को उपदेश से कृतार्थ किये बिना उसकी भेंट को स्वीकार नही करना चाहिये ॥ ३ ॥

त्येनदुपासीत। कथं पुनः प्रियत्वं, प्राणस्य वै हे सम्राट्कामाय प्राणस्या[१]र्थाया[२]याज्यं याजयति [३]पतितादिकमप्यप्रतिगृह्यस्याप्युग्रादेः प्रतिगृह्णात्यपि तत्र तस्यां दिशि वधनिमित्तमाशङ्का वधाशङ्के[४]त्यर्थो यां दिशमेति तस्कराद्याकीर्णां च तस्यां दिशि वधाशङ्का तच्चैत[५]त्सर्वं प्राणस्य प्रियत्वे भवति प्राणस्यैव सम्राट्कामाय। तस्मात्प्राणो वै सम्राट्परमं ब्रह्म नैनं प्राणो जहाति। समानमन्यत् ॥ ३ ॥

पतितादिकमित्यादिपदमकुलीनप्रहार्थम्। उग्रो [६]जातिविशेषः। आदिशब्देन म्लेच्छगणो गृह्यते ॥३॥

उपासना करे। किन्तु इसका "प्रियत्व" किस प्रकार है ? हे सम्राट् ! 'प्राणस्य कामाय" यानी प्राण-रक्षा के लिए 'अयाज्यम्" यानी पतितादिको से भी याग कराते हैं, 'अप्रतिगृह्यस्य" यानी उग्रादि जाति से भी प्रतिग्रह लेते हैं। इसके सिवा जिस दिशा मे जाते है, "वधाशङ्कम्" मारे जाने की आशङ्का रखते हैं क्योंकि चोर और लुटेरो से आक्रान्त उस दिशा मे वध की आशङ्का है। यह सब (अयाज्य याजनादि) प्राण की प्रियता के कारण ही हुआ करता है, प्राण की रक्षा के लिए ही होता है। इसलिए हे सम्राट् ! प्राण ही परम ब्रह्म है। (पूर्वोक्त रीति मे जानने वाले) उस (विद्वान्) को प्राण नही छोडता। शेष अर्थ पिछले मन्त्र के समान ही है ॥ ३ ॥

---

१ रक्षणाय। २ पतितादिकमित्यन्वयः। ३ महापातकिनम्। ४ अयाज्ययाजनादिकम्। ५ दोषकुलम्। ६ जातिविशेष इति। क्षत्रियाच्छूद्रकन्यायां जातः क्रूरचेष्टः क्रूरकर्मरतिश्च क्षत्रशूद्रस्वभाव-पुमानुग्र इत्यर्थः।

यदेव ते कश्चिदब्रवीत्तच्छृणवामेत्यब्रवीन्मे वर्कुर्वार्ष्णश्चक्षुर्वै ब्रह्मेति यथा मातृमान्पितृमानाचार्यवान्ब्रूयात्तथा तद्वार्ष्णोऽब्रवीच्चक्षुर्वै ब्रह्मेत्यपश्यतो हि किᳪ स्यादित्यब्रवीत्तु ते तस्याऽऽयतनं प्रतिष्ठां न मेऽब्रवीदित्येकपाद्वा एतत्सम्राडिति स वै नो ब्रूहि याज्ञवल्क्य चक्षुरेवाऽऽयतनमाकाशः प्रतिष्ठा सत्यमित्येनदुपासीत का सत्यता याज्ञवल्क्य चक्षुरेव सम्राडिति होवाच चक्षुषा वै सम्राट्पश्यन्तमाहुरद्राक्षीरिति स आहाद्राक्षमिति तत्सत्यं भवति चक्षुर्वै सम्राट्परमं ब्रह्म नैनं

(फिर याज्ञवल्क्य ने राजा से कहा—हे राजन्!) जो कुछ आप से किसी आचार्य ने कहा है, उसे मैं सुनना चाहता हूँ। जनक ने उत्तर दिया—हे याज्ञवल्क्य! वृष्ण ऋषि के पुत्र वर्कु ने मुझसे कहा था कि नेत्र ही ब्रह्म है। याज्ञवल्क्य ने कहा— वृष्णपुत्र ने बहुत ठीक कहा है। जैसे माता, पिता और आचार्य के द्वारा शिक्षित पुरुष अपने शिष्य को शिक्षा देवे, वैसे ही उस वार्ष्ण ने आप से कहा है। निःसन्देह नेत्र ही ब्रह्म है, क्योंकि न देखने वाले या नेत्रहीन पुरुष से क्या लाभ हो सकता है। पर यह तो बतलावें, क्या उसने उस नेत्रब्रह्म के आयतन और प्रतिष्ठा को भी बतलाया है? जनक ने कहा—नहीं। इस पर याज्ञवल्क्य! तो कृपया आप ही उस अवशिष्ट तत्त्व को बतलावें। नेत्र ही आयतन है और आकाश प्रतिष्ठा है। इसकी उपासना सत्यरूप से करनी चाहिये क्योंकि सत्य उसका चतुर्थ पाद है। जनक ने कहा—हे याज्ञवल्क्य! सत्यता क्या है? याज्ञवल्क्य ने उत्तर दिया—नेत्र ही सत्यता है

यदेव ते कश्चिद्वर्कुरिति नामतो वृष्णस्यापत्यं वार्ष्णश्चक्षुर्वै ब्रह्मेत्यादित्यो [1] देवता [2] चक्षुष्यु[3]पनिषत्सत्यम्। यस्माच्छ्रोत्रेण श्रुतमनृतमपि स्यान्न तु चक्षुषा [4] दृष्टम्। तस्माद्वै सम्राट्पश्यन्तमाहुर्लोका अद्राक्षीस्त्वं हस्तिनमिति स चेदद्राक्षमित्याह तत्सत्यमेव

चक्षुर्ब्रह्मणः सत्यत्वं साधयति—यस्मादिति। उक्तमेवोपपादयति—यस्त्विति॥४॥

तुमसे किसी आचार्य ने जो भी कहा है (वह हम सुनें)। वृष्ण के पुत्र वार्ष्णवर्कु नाम वाले आचार्य ने मुझसे कहा है कि आदित्य ही ब्रह्म है। चक्षु अधिकरण में अधिष्ठातृ देवता आदित्य है; आदित्य ब्रह्म की 'सत्य' यह उपनिषत् है क्योंकि कर्णेन्द्रिय से सुना हुआ मिथ्या हो सकता है, किन्तु आँखों से देखा हुआ मिथ्या नहीं हो सकता है। इसलिए हे सम्राट्! देखने वाले से कहते हैं—क्या तुमने

---

१. चक्षुरधिकरणे तदधिष्ठातृदेवताऽऽदित्यः। २ आदित्यब्रह्मणः सत्यमित्युपनिषत्। ३. अनृत स्यादित्यनुषङ्गः। ४ दृष्टस्य सत्यत्वमेव।

चक्षुर्जहाति सर्वाण्येनं भूतान्यभिक्षरन्ति देवो भूत्वा देवानप्येति य एवं विद्वानेतदुपास्ते हस्त्यृषभꣳ सहस्रं ददामीति होवाच जनको वैदेहः स होवाच याज्ञवल्क्यः पिता मेऽमन्यत नाननुशिष्य हरेतेति ॥ ४ ॥
यदेव ते कश्चिदब्रवीत्तच्छृणवामेत्यब्रवीन्मे गर्दभीविपीतो भारद्वाजः श्रोत्रं वै ब्रह्मेति यथा मातृमान्पितृमानाचार्यवान्ब्रूयात्तथा तद्भारद्वाजोऽब्रवीच्छ्रोत्रं वै ब्रह्मेत्यशृण्वतो हि किꣳ स्यादित्यब्रवीत्तु ते तस्याऽऽयतनं प्रतिष्ठां न मेऽब्रवीदित्येकपाद्वा एतत्सम्राडिति

क्योंकि हे राजन् ! नेत्र से देखने वाले को जब पूछते हैं क्या तुमने देखा है, तब यदि वह कहे कि हाँ मैंने देखा है तो वह बात सत्य मानी जाती है। हे सम्राट् ! नेत्र ही परब्रह्म है। जो इसे इस प्रकार जानकर इसकी उपासना करता है उसे नेत्र त्यागता नहीं। सभी प्राणी उसका अनुसरण करते हैं और वह देव होकर देवों को प्राप्त करता है। इस पर जनक ने कहा—हे याज्ञवल्क्य ! इसके बदले मैं आपको हाथी के समान बछडो को उत्पन्न करने वाली एक सहस्र गौएँ देता हूँ। याज्ञवल्क्य ने कहा—मेरे पिता का यह सिद्धान्त रहा है कि शिष्य को कृतार्थ किये बिना उसका धन नहीं लेना चाहिये ॥ ४ ॥

(तत्पश्चात् पुनः याज्ञवल्क्य ने जनक से कहा—हे राजन् !) आपसे जो कुछ किसी आचार्य ने कहा है, उसे मैं सुनना चाहता हूँ। जनक ने कहा—हे याज्ञवल्क्य ! भारद्वाज गोत्र में उत्पन्न गर्दभीविपीत ने मुझसे कहा था कि श्रोत्र ही ब्रह्म है। इस पर याज्ञवल्क्य ने कहा—उसने बहुत ठीक कहा है। जैसे माता, पिता और आचार्य से पूर्ण शिक्षित पुरुष अपने शिष्य को बतलावे, वैसे ही गर्दभीविपीत ने आप से कहा है। निःसन्देह श्रोत्र ही ब्रह्म है क्योंकि न सुनने वाले या बधिर पुरुष से लोक का क्या हित हो सकता है। पर यह तो बतलावें कि उससे उस 'श्रोत्र' ब्रह्म के आयतन

भवति। यस्त्वन्यो ब्रूयादहमश्रौषमिति। तद्व्यभिचरति। यत्तु चक्षुषा दृष्टं तदव्यभिचारित्वात्सत्यमेव भवति ॥ ४ ॥

यदेव ते गर्दभीविपीत इति नामतो भारद्वाजो गोत्रतः श्रोत्रं वै ब्रह्मेति। 'श्रोत्रे

हाथी देखा है ? यदि इस पर वह कहे कि देखा है, तो वह सत्य होता है। यदि द्रष्टा से भिन्न कोई कहे—मैंने सुना है तो उसमें व्यभिचार आ सकता है। किन्तु चक्षु द्वारा देखा हुआ अव्यभिचरित होने के कारण वह सत्य ही होता है ॥ ४ ॥

१ द्रष्टृभिन्न। २ यात्राधिकरणे सदभिमानिनी दिग्देवताश्रोत्रमित्युच्यते।

स वै नो ब्रूहि याज्ञवल्क्य श्रोत्रमेवाऽऽयतनमाकाशः प्रतिष्ठाऽनन्त इत्येनदुपासीत काऽनन्तता याज्ञवल्क्य दिश एव सम्राडिति होवाच तस्माद्वै सम्राडपि यां कां च दिशं गच्छति नैवास्या अन्तं गच्छत्यनन्ता हि दिशो दिशो वै सम्राट्श्रोत्रꣳ श्रोत्रं वै सम्राट्परमं ब्रह्म नैनꣳ श्रोत्रं जहाति सर्वाण्येनं भूतान्यभिक्षरन्ति देवो भूत्वा देवानप्येति य एवं विद्वानेतदुपास्ते हस्त्यृषभꣳ सहस्रं ददामीति होवाच जनको वैदेहः स होवाच याज्ञवल्क्यः पिता मेऽमन्यत नाननुशिष्य हरेतेति ॥५॥

और प्रतिष्ठा को बतलाया है। जनक ने कहा—नहीं। याज्ञवल्क्य ने कहा—हे महाराज ! यह उपदेश तो एक पाद ब्रह्म का है। इस पर जनक ने कहा—हे याज्ञवल्क्य ! तब तो एक पाद ब्रह्म का है। इस पर जनक ने कहा—हे याज्ञवल्क्य ! तब तो अवशिष्ट तत्त्व का उपदेश आप ही मुझे करें। याज्ञवल्क्य ने कहा—श्रोत्र ही इसका आयतन है, आकाश ही इसकी प्रतिष्ठा है। इस श्रोत्र ब्रह्म की अनन्तरूप से उपासना करनी चाहिये क्योंकि "अनन्त" यह उसका चतुर्थ पाद है। जनक ने पूछा—हे याज्ञवल्क्य ! अनन्तता क्या है ? याज्ञवल्क्य ने उत्तर दिया—हे राजन् ! दिशाएँ ही अनन्तता हैं। हे राजन् ! इसलिए कोई भी जिस किसी दिशा में जाता है तो वह उसका अन्त नहीं पाता क्योंकि दिशाएँ ही अनन्त हैं। हे राजन् ! दिशाएँ ही श्रोत्र हैं और हे सम्राट् ! श्रोत्र ही परब्रह्म है जो इस प्रकार इसकी उपासना करता है, उसे श्रोत्र कभी नहीं छोड़ता। सभी भूत भेंट आदि लेकर उसका अनुसरण करते हैं तथा वह देव होकर देवों का अनुसरण करता है। इस रहस्यमय बात को सुनकर जनक ने कहा—हे याज्ञवल्क्य ! मैं इसके बदले में आपको हाथी के समान बछड़े जनने वाली एक सहस्र गौएँ देता हूँ। उस याज्ञवल्क्य ने कहा—मेरे पिता का यह सिद्धान्त था कि शिष्य के उपदेश द्वारा कृतार्थ किये बिना उसका धन न लेवे ॥ ५ ॥

दिग्देवताऽनन्त इत्येनदुपासीत। काऽनन्तता श्रोत्रस्य। दिश एव श्रोत्रस्याऽऽनन्त्यं यस्मात्तस्माद्वै सम्राट्प्राचीमुदीचीं वा यां कांचिदपि दिशं गच्छति नैवास्या अन्तं

तुमसे किसी आचार्य ने जो भी कहा है (वह हम सुनें)। (जनक बोले—) गोत्र से भारद्वाज, गर्दभीविपीतनाम के आचार्य ने मुझे बतलाया है—'श्रोत्र ही ब्रह्म है। श्रोत्राधिकरण में श्रोत्राभिमानी दिग्देवता है, उसकी 'अनन्त' इस रूप से उपासना करनी चाहिये। श्रोत्र की अनन्तता क्या है ? हे सम्राट् ! क्योंकि दिशाएँ ही श्रोत्र की अनन्तता हैं, इसलिए पूर्व या उत्तर किसी भी दिशा की ओर

---

१. पूर्ववद्भेदाभेदाभिप्रायः प्रश्नः ।

यदेव ते कश्चिदब्रवीत्तच्छृणवामेत्यब्रवीन्मे सत्यकामो जाबालो मनो वै ब्रह्मेति यथा मातृमान्पितृमानाचार्यवान्ब्रूयात्तथा तज्जाबालोऽब्रवीन्मनो वै ब्रह्मेत्यमनसो हि किꣳ स्यादित्यब्रवीत्तु ते तस्याऽऽयतनं प्रतिष्ठां न मेऽब्रवीदित्येकपाद्वा एतत्सम्राडिति स वै नो ब्रूहि याज्ञवल्क्य मन एवाऽऽयतनमाकाशः प्रतिष्ठाऽऽनन्द इत्येनदुपासीत काऽऽनन्दता याज्ञवल्क्य मन एव सम्राडिति होवाच मनसा वै सम्राट्स्त्रियमभिहार्यते तस्यां प्रतिरूपः पुत्रो जायते स आनन्दो मनो वै सम्राट्परमं

(फिर याज्ञवल्क्य ने जनक से कहा—हे राजन्!) जो कुछ भी आपसे किसी आचार्य ने कहा है, उसे मैं सुनना चाहता हूँ। जनक ने कहा—हे याज्ञवल्क्य! जबाला के पुत्र सत्यकाम ने मुझसे कहा था कि मन ही ब्रह्म है। याज्ञवल्क्य ने कहा—उसने उचित कहा है। जैसे माता, पिता और आचार्य के द्वारा पूर्ण शिक्षा प्राप्त पुरुष अपने शिष्य से कहे, वैसे ही सत्यकाम ने आपसे कहा है। निःसंदेह मन ही ब्रह्म है, क्योंकि मन के बिना कोई प्रयोजन सिद्ध नहीं होता। पर यह तो बतलावें, उस सत्यकाम ने क्या उस मनोब्रह्म के आयतन और प्रतिष्ठा को भी बतलाया है? जनक ने कहा—नहीं। याज्ञवल्क्य ने कहा—हे महाराज! तब तो यह उपदेश एक पाद ब्रह्म का ही है। इस पर जनक ने प्रार्थना की—हे याज्ञवल्क्य! उस अवशिष्ट तत्त्व का उपदेश आप ही करें! इस पर याज्ञवल्क्य ने कहा—हे सम्राट! मन ही आयतन है और आकाश प्रतिष्ठा है। यह मनोब्रह्म की उपासना आनन्दरूप

गच्छति कश्चिदपि। अतोऽनन्ता हि दिशः। [1]दिशो वै सम्राट्श्रोत्रम्। [2]तस्माद्दिगानन्त्यमेव श्रोत्रस्याऽऽनन्त्यम् ॥ ५ ॥

सत्यकाम इति नामतो जबालाया अपत्यं जाबालः। चन्द्रमा [3]मनसि देवता।

दिशामानन्त्येऽपि श्रोत्रस्य किमायातं तदाह—दिशो वा इति ॥५॥

जाते हुए उसका अन्त नहीं है। अतः दिशाओं की अनन्तता सिद्ध हो जाती है। हे सम्राट्! दिशाएँ ही श्रोत्र है, अतः दिशाओं का आनन्त्य ही श्रोत्र का आनन्त्य है ॥ ५ ॥

जबाला के पुत्र जाबाल सत्यकाम नामक आचार्य थे। (उन्होंने मुझे बताया) मन में चन्द्रमा

---

१ दिशो वा इति—कथमेतत्। शृणु आकाशमेव तत्तत्प्रदेशसम्बद्धं सत् तत्तद्दिगाख्यां लभते तदतिरिक्तदिक्सद्भावे प्रमाणाभावादतो न काचिदनुपपत्तिरित्यर्थः। २ तस्मात्—दिशामेव श्रोत्रत्वात्। ३, मनस्यधिकरणे तदभिमानि चन्द्रदेवताऽत्र मनोब्रह्म।

ब्रह्म नैनं मनो जहाति सर्वाण्येनं भूतान्यभिक्षरन्ति देवो भूत्वा देवानप्येति य एवं विद्वानेतदुपास्ते हस्त्यृषभꣳ सहस्रं ददामीति होवाच जनको वैदेहः स होवाच याज्ञवल्क्यः पिता मेऽमन्यत नाननुशिष्य हरेतेति ॥ ६ ॥

यदेव ते कश्चिदब्रवीत्तच्छृणवामेत्यब्रवीन्मे विदग्धः शाकल्यो हृदयं वै ब्रह्मेति यथा मातृमान्पितृमाना-

से करनी चाहिये, क्योंकि 'आनन्द' यह उसका चतुर्थ पाद है। जनक ने कहा—हे याज्ञवल्क्य ! आनन्दता क्या है ? याज्ञवल्क्य ने उत्तर दिया—हे राजन् ! मन ही आनन्दता है क्योंकि पुरुष मन से ही स्त्री को चाहता है और उसमें अपने अनुरूप पुत्र उत्पन्न करता है। वह आनन्दप्रद है। अतः हे सम्राट् ! नि.सदेह मन ही परब्रह्म है। जो पुरुष ऐसा जानकर उस मनाब्रह्म की उपासना करता है, उसे मन कभी नहीं छोड़ता। सभी प्राणी उसका अनुसरण करते है और वह देव होकर देवो को प्राप्त करता है। जनक ने कहा—हे याज्ञवल्क्य ! मैं इसके बदले हाथी के समान बछड़ा को जन्म देने वाली एक सहस्र गौएँ देता हूँ। याज्ञवल्क्य ने कहा—मेरे पिता का यह मत रहा है कि शिष्य को उपदेश द्वारा कृतार्थ किये बिना उसको भेंट न लेवे ॥ ६ ॥

(फिर याज्ञवल्क्य ने जनक से कहा—हे राजन् !) जो कुछ भी किसी आचार्य ने आप से कहा है—उसे मैं सुनना चाहता हूँ। जनक ने उत्तर दिया—हे याज्ञवल्क्य ! शाकलपुत्र विदग्ध ने मुझसे

आनन्द इत्युपनिषत्[१]। यस्मान्मन एवाऽऽनन्दस्तस्मान्मनसा वै सम्राट्स्त्रियमभिकामयमानोऽभिहार्यते [२]प्रार्थयत इत्यर्थः। तस्माद्यां स्त्रियमभिकामयमानोऽभिहार्यते तस्यां प्रतिरूपोऽनुरूपः पुत्रो जायते स [३]आनन्दहेतुः पुत्रः स येन मनसा [४]निर्वर्त्यते तन्मन आनन्दः ॥ ६ ॥

विदग्धः शाकल्यो [५]हृदयं वै ब्रह्मेति। [६]हृदयं वै सम्राट्सर्वेषां भूतानामायतनम्।

---

[७]तथाऽपि कथमानन्दत्वं मनसः संभवति तत्राऽऽह—स येनेति ॥६॥

देवता है। मानो ब्रह्म की 'आनन्द' यह उपनिषत् है। क्योंकि मन ही आनन्द है, इसलिए हे सम्राट् ! मन से स्त्री की कामना करते हुए 'अभिहार्यते' यानी उसकी प्राप्ति करता है। अतः जिस स्त्री की इच्छा करते हुए प्राप्ति करता है, उसीमे "प्रतिरूपः" यानी अनुरूप पुत्र उत्पन्न करता है। पुत्र आनन्द का हेतु है। वह जिस मन के द्वारा निष्पादित होता है; वह मन आनन्द है ॥ ६ ॥

---

१. मनोब्रह्मण। २. प्रार्थयत इति—अस्य स्थाने प्राप्यत इति पाठः साधीयान् प्रतिभाति। ३. आनन्दहेतुरिति—आनन्दहेतुत्वाच्छ्रुतावानन्द इत्युक्त इति भाव.। ४. निष्पाद्यते। ५ हृदयाभिमानि प्रजापतिदेवता हृदयम्। ६. हृदयस्य स्थितता साधयति—हृदयमिति। ७.उक्तविधया पुत्रस्यानन्दत्वेऽपि।

चार्यवान्ब्रूयात्तथा तच्छाकल्योऽब्रवीद्धृदयं वै ब्रह्मेत्यहृ-
दयस्य हि कि्ँ स्यादित्यब्रवीत्तु ते तस्याऽऽयतन
प्रतिष्ठां न मेऽब्रवीदित्येकपाद्वा एतत्सम्राडिति स वै
नो ब्रूहि याज्ञवल्क्य [1]हृदयमेवाऽऽयतनमाकाशः
प्रतिष्ठा स्थितिरित्येनदुपासीत का स्थितता याज्ञव-
ल्क्य हृदयमेव सम्राडिति होवाच हृदयं वै सम्राट्सर्वेषां
भूतानामायतन्ँ हृदयं वै सम्राट्सर्वेषां भूतानां
प्रतिष्ठा हृदये ह्येव सम्राट्सर्वाणि भूतानि प्रतिष्ठितानि
भवन्ति हृदयं वै सम्राट्परमं ब्रह्म नैनँ हृदयं जहाति

कहा था, हृदय ही ब्रह्म है। याज्ञवल्क्य ने कहा—शाकल्य का कहा हुआ ठीक ही है। जैसे माता, पिता और आचार्य से पूर्ण शिक्षित पुरुष अपने शिष्य को उपदेश करे, वैसे ही शाकल्य ने किया है। निःसन्देह हृदय ही ब्रह्म है क्योंकि हृदयशून्य पुरुष को क्या लाभ हो सकता है। पर आप यह बतलावें कि उस शाकल्य ने हृदयब्रह्म के आयतन और प्रतिष्ठा भी बतलाए हैं? जनक ने कहा—नहीं। याज्ञवल्क्य ने कहा—हे महाराज! यह उपदेश एक पाद ब्रह्म का ही है। इस पर जनक ने कहा—हे याज्ञवल्क्य! तब तो उस अवशिष्ट तत्त्व को आप ही बतलावें। याज्ञवल्क्य ने कहा—हृदय ही आयतन है, और आकाश प्रतिष्ठा है। इसकी उपासना स्थितिरूप से करनी चाहिये। जनक ने पूछा—स्थितता क्या है? याज्ञवल्क्य ने उत्तर दिया—हे राजन्! हृदय ही स्थितता है। हे सम्राट्! हृदय ही सम्पूर्ण भूतों का आयतन है और हृदय ही सबका आश्रय है क्योंकि सभी भूत हृदय में ही

नामरूपकर्मात्मकानि हि भूतानि हृदयाश्रयाणीत्यवोचाम शाकल्यब्राह्मणे हृदयप्रतिष्ठानि चेति। [2]तस्माद्धृदये ह्येव सम्राट्सर्वाणि भूतानि प्रतिष्ठितानि भवन्ति। [3]तस्माद्धृदयं

कथं हृदयस्य सर्वभूतायतनत्वं तत्प्रतिष्ठात्वं च तदाह—नामरूपेति। तस्मादिति शाकल्यन्यायपरामर्शः। भूतानां हृदयप्रतिष्ठत्वे फलितमाह—तस्माद्धृदयमिति ॥७॥

इति बृहदारण्यकोपनिषद्भाष्यटीकायां चतुर्थाध्यायस्य
प्रथमं ब्राह्मणम् ॥१॥

विदग्धशाकल्य ने "हृदय ही ब्रह्म है" ऐसा मुझे उपदेश किया है। हे सम्राट्! सभी भूत प्राणियों का आयतन हृदय है। नाम, रूप और कर्मात्मक भूत प्राणी हृदय के आश्रित रहते हैं। और हृदय में प्रतिष्ठित हैं—ऐसा शाकल्यब्राह्मण में प्रतिपादन किया जा चुका है। इसलिए हे—

---

१. हृदयम् आध्यात्मिकमन्तःकरणम् तदाश्रयो वपुरवयवः पलमित्यप्याहुः। २. शाकल्यब्राह्मणोक्तयुक्तेः। ३. अवतरणोक्तार्थम्।

सर्वाण्येनं भूतान्यभिक्षरन्ति देवो भूत्वा देवानप्येति य एवं विद्वानेतदुपास्ते हस्त्यृषभꣳ सहस्रं ददामीति होवाच जनको वैदेहः स होवाच याज्ञवल्क्यः पिता मेऽमन्यत नाननुशिष्य हरेतेति ॥७॥

इति बृहदारण्यकोपनिषदि चतुर्थाध्यायस्य प्रथमं ब्राह्मणम् ॥ १ ॥

(अथ चतुर्थाध्यायस्य द्वितीय ब्राह्मणम्)

[1]जनको ह वैदेहः कूर्चादुपावसर्पन्नुवाच नमस्तेऽस्तु

स्थित हैं । हे महाराज ! हृदय ही परब्रह्म है । इस प्रकार जानता हुआ जो कोई इस हृदयब्रह्म की उपासना करता है, उस पुरुष को हृदयब्रह्म कभी छोड़ता नही और सभी प्राणी उसी के पास जाते हैं । वह देव होकर देवो को प्राप्त होता है । तब जनक ने कहा—हे याज्ञवल्क्य ! मैं आपको हाथी के समान बछडे जनने वाली एक हजार गौएँ देता हूँ । याज्ञवल्क्य ने कहा—मेरे पिता का यह सिद्धान्त था, कि शिष्य को उपदेश द्वारा कृतार्थ किये बिना उसके धन को स्वीकार करना उचित नही है ॥ ७ ॥

॥ इति प्रथमं ब्राह्मणम् ॥

विदेहराज जनक ने राजसिंहासन से उठ याज्ञवल्क्य के समीप जाकर कहा—हे याज्ञवल्क्य !

स्थितिरित्युपासीत हृदये च [2]प्रजापतिर्देवता ॥७॥

इति बृहदारण्यकोपनिषद्भाष्ये चतुर्थाध्यायस्य प्रथमं ब्राह्मणम् ॥१॥

जनको ह वैदेहः । यस्मा[3]त्सविशेषणानि सर्वाणि [4]ब्रह्माणि जानाति याज्ञवल्क्य-

---

[5]पूर्वस्मिन्ब्राह्मणे [6]कानिचिदुपासनानि ज्ञानसाधनान्युक्तानि । इदानीं ब्रह्मणस्तेषामस्य जागरा-

---

सम्राट् ! हृदय मे भी सभी प्राणी प्रतिष्ठित रहते हैं । इसलिए हृदय की "स्थिति" इस रूप से उपासना करे । हृदयाधिकरण मे हृदयाभिमानी प्रजापति देवता है ॥ ७ ॥

इस प्रकार बृहदारण्यकोपनिषत् चतुर्थाध्याय मे प्रथम ब्राह्मण के शाङ्करभाष्य का हिन्दीभाषानुवाद पूर्ण हुआ ॥ १ ॥

---

१. जनको हेति । "द्वितीये ब्राह्मणे जाग्रत्स्वप्नसुप्तिमुखाभिजम् । आत्मानं शास्स्यतो राजा यथाविध्युपसन्नवान्" ॥ वा० सा० १ ॥ इति । "उपासनानां सर्वेषामैकात्म्यज्ञाननिष्ठता । ब्रह्मविद्याधिकारत्वादित्येतदधुनोच्यते" ॥ वा० ३ ॥ ब्रह्मविद्याप्रकरणस्योपास्तीनां तद्द्वारा (ब्रह्मविद्याद्वारा) मुक्तिफलत्वं वक्तुमिदं ब्राह्मणमित्यर्थः ॥
२. हृदयाधिकरणे तदभिमानिप्रजापतिदेवता ब्रह्मत्वेन चिन्तनीया । ३. सविशेषणानि—आयतनादिविशेषणसहितानि । ४. ब्रह्माणि—वाक्प्राणचक्षुःश्रोत्रमनोहृदयाख्यानि । ५. पराचार्यब्राह्मणे । ६. षट् ।

याज्ञवल्क्यानु मा शाधीति स होवाच यथा वै सम्राण्महान्तमध्वानमेष्यन्रथं वा नावं वा समाददीतैवमेवैताभिरुपनिषद्भिः समाहितात्माऽस्येवं* वृन्दारक आढ्यः

आपको नमस्कार है, आप मुझे उपदेश करें। (ज्ञानित्वाभिमान त्यागकर शिष्यभाव से आये हुए जनक के प्रति) याज्ञवल्क्य ने कहा—हे राजन्! जैसे लम्बे मार्ग से चलने वाला पुरुष रथ या नौका का आश्रय ले, वैसे ही पूर्वोक्त उपासनाओं (के अनुष्ठान) से तुम अत्यन्त समाहित चित्त हो गये हो,

---

स्तस्मादाचार्यकत्वं[1] हित्वा जनकः कूर्चादासनविशेषादु[2]त्थायोपसमीपमपसर्प्य पादयोर्निपत[3]न्नित्यर्थः। उवाचोक्तवान्नमस्ते तुभ्यमस्तु हे याज्ञवल्क्यानु मा शाध्य[4]नुशाधि मामित्यर्थः।

विद्वारा ज्ञानार्थं ब्राह्मणान्तरमवतारयति—जनको हेति। राज्ञो ज्ञानित्वाभिमाने शिष्यत्वविरोधित्व[5]पनीते मुनिं प्रति 'तस्य शिष्यत्वेनोपसत्तिं दर्शयति—यस्मादिति। नमस्कारोक्तेरिदं[6] हेत्वमुपन्यस्यति—अनु मेति। 'अभीष्टमनुशासनं कर्तुं [7]प्राचीनज्ञानस्य [8]फलाभासहेतुत्वोक्तिद्वारा परमफलहेतुरात्मज्ञान-

---

"जनको ह वैदेहः" (इस मन्त्र का व्याख्यान आरम्भ किया जाता है)। क्योंकि याज्ञवल्क्य आयतनादि विशेषणों के सहित (वाक्-प्राण-चक्षु-श्रोत्र मन हृदयास्वरूप) ब्रह्म को जानता है, इसलिए कुत्सित ज्ञानित्वाभिमान को छोड़कर जनक "कूर्चादुपावसर्पन्" यानी कूर्चासनविशेष से उठकर याज्ञवल्क्य के समीप जा चरणों में गिरकर "उवाच" अर्थात् बोले—हे याज्ञवल्क्यजी! आपको नमस्कार हो। "अनु मा शाधि" अर्थात् मुझे शिक्षा यानी उपदेश दीजिए। "शाधीति" इसमें

---

१ आचार्यकत्व—कुत्सित ज्ञानित्वाभिमानित्वम्। २ कूर्चादित्येषा ल्यब्लोपे पञ्चमीति सूचयति—उत्थायेति। समाश्रितोपदेशलाभायमिति शेषः। ३ पादयोर्निपतन्निति। जिज्ञासुभिर्मंदमानादि त्यक्त्वाऽऽचार्यसेवा कार्या। "आचार्यवान् पुरुषो वेद", "आचार्योपासनं शौचमि"त्यादि श्रुतिस्मृतिभ्य आचार्योपासनस्य ज्ञानार्थत्वस्य सुप्रसिद्धत्वादित्यनेन सूचितम्। ४. अनुशाधीति—शिक्षय येन विनाऽहमकृतार्थं इत्युक्त त्वया तत्तत्त्वज्ञानमुपदिशेति यावत्। ५ अपनीत इति—नाऽननुशिष्य हरेतेत्युक्तत्वेत्यादि। तदुक्तं वार्तिके—"अनुशिष्यापि न नृप यदा नैच्छद्धनं नृपात्। अननुशिष्टहेतुत्वया मती राज्ञस्तदाऽभवत् ॥ यथोक्ता मानुशिष्टिश्चेत्कीदृक्तदनुशासनम्। संभावितानुशिष्टयर्थं स राजोपससाद ह" ॥ १-२ ॥ इति। मतिमेवानुवदति—यथोक्तेति। तथाविधमतिश्चानन्तरं राजा किं कृतवानिति वीक्षायामाह—समाश्रितेति। ६. राज्ञः। ७ प्रयोजनम्। ८. याज्ञवल्क्यः स्वाभीष्टमुपदेशम्। ९ पूर्वोक्तोपासनस्य। १०. उपासनफलस्य नश्वरतया फलाभासत्वोक्तिः।

---

*एवं वृन्दारक इत्यादि। अत्र दशवार्तिकानि वर्तन्ते—"एवं वृन्दारकः पूज्यः आढ्यो मानुषवित्तवान् ॥ तथैवाधीतवेदश्च युक्तः साधनसंपदा। गतिसाधनवत्त्वाच्च गन्तव्यमनुमीयते ॥ अध्यात्मादिव्यवच्छेदान्मुच्यमान उपासनैः। आर्चिरिर्च्चादितो भूप यास्यसि क्वेति भण्यताम् ॥ पप्रच्छ याज्ञवल्क्योऽत इतस्त्वं क्व गमिष्यसि। सर्वस्यैवाऽऽत्मभूतत्वाद्गन्तव्यं न प्रपश्यति ॥ ननूक्तोपनिषद्भिर्हि गन्तव्यं प्रावबोधितम्। देवो भूत्वेति वचसा तत्कस्मादिह पृच्छ्यते ॥ नाहं वेदेति च नृपो आनम्यप्यब्रवीत्कथम्। नैष दोषो यतोऽप्राक्षीद्याज्ञवल्क्यो नराधिपम्।

सन्नधीतवेद उक्तोपनिषत्क इतो विमुच्यमानः क्व गमिष्यसीति नाहं तद्भगवन्वेद यत्र गमिष्यामीत्यथ वै तेऽहं तद्वक्ष्यामि यत्र गमिष्यसीति ब्रवीतु मे भगवानिति ॥१॥

साथ ही पूज्य, धनवान्, अधीतवेद तथा उक्त उपासना से युक्त भी हो। यह सब होने पर भी यह बतलाओ तो सही कि इतने साधनसम्पन्न हो, तुम इस देह से छूटकर कहाँ जाओगे ? जनक ने कहा—हे भगवन् ! जहाँ जाऊँगा, उसे मैं जानता नहीं। तब याज्ञवल्क्य ने कहा—अब मैं उस तत्त्व को तुम्हें अवश्य बतलाऊँगा, जहाँ तुम जाओगे। जनक ने कहा—भगवन् यदि मुझपर आप प्रसन्न हैं, तो उसे अवश्य बतलावें ॥ १ ॥

इतिशब्दो वाक्यपरिसमाप्त्यर्थः । 'स होवाच याज्ञवल्क्यो यथा 'वै लोके हे सम्राड्महान्तं दीर्घमध्वानमेष्यन्गमिष्यन्रथं वा स्थलेन गमिष्यन्नावं वा जलेन गमिष्यन्समाददीत।

मेवेति विवक्षित्वा 'तत्र राज्ञो जिज्ञासामापादयति—स हेत्यादिना । यथोक्तगुणसंपन्नश्चेदहं तर्हि

'इति' पद वाक्यपरिसमाप्ति के लिए है। उस याज्ञवल्क्य ने कहा—हे सम्राट् ! लोकव्यवहार में जिस प्रकार 'महान्त' यानी लम्बे मार्ग को जाने वाला पुरुष स्थल मार्ग से जाने पर रथ और जलमार्ग से

---

१. मुमुक्षवे इष वाच्य ज्ञान तत्साधन च । तत्र ज्ञानसाधन राज्ञोऽस्तीति दृष्टान्तपूर्वक कथयतीत्याह—स होवाचेति । २. वै—प्रसिद्ध कथन । ३ अभिप्रेत्य आरमतानं ।

पूर्वंभूमेर्मुच्यमान उत्तरा का गमिष्यामि। दवतोपासनाद्यतज्ज्ञानोत्पत्त्यै विवक्षितम् ।। उपासनानि सर्वाणि परविद्याधिकारत. । क्रममुक्तिफलानीति क्व गमिष्यसिगीरत ॥ राजस्तु तदविज्ञानात्माह वेदेति पृच्छते" ॥६-१४॥ इति । एवमित्यादेरर्थमाह—एवमिति ॥ उक्तोपनिषत्क इत्यस्यार्थमाह—युक्त इति । आचार्यैरुक्तास्तुभ्यमुपनिषदोऽतो मुक्तिफलज्ञानसामग्र्या युक्तत्वात्त्व साधनमधिकृत्य प्रष्टव्योऽसीत्यर्थ । अस्तु तर्हि साध्यमधिकृत्य प्रश्नस्तत्रापि न तन्मात्रे सोऽस्तीत्याह—गतीति ॥ पारिशेष्येण साध्यविशेषे प्रश्नं वदन्निन इत्यादेरर्थमाह—अध्यात्मेति ॥ स्वय जानन्मुनी राजानमत्र किमिति पृच्छति तत्राऽऽह—पप्रच्छेति । गन्तव्य राजा न जानाति चैत प्रति तद्व्याख्यातव्यमित्यभिप्रायोऽत्र शब्दार्थः । नाहमित्यादेस्तात्पर्यमाह—सर्वस्येति । उक्तोपास्तिफलस्याग्न्यादिभावस्य स्वरूपत्वादन्यस्य चाज्ञानादित्यर्थ. ॥ गन्तव्यप्रश्नमाक्षिपति—नन्विति । गतिहेतुना गन्तव्यमन्तरेणापर्यवसानद्योतनार्थो हिशब्द ॥ न जानामीति प्रत्युक्तिरपि न युक्तेत्याह—नाहमिति । प्रश्नप्रत्युक्त्याराक्षेप परिहरति—नैष इति । आक्षेपाभावे वक्ष्यमाण हेतुमाह—यत इति । तत्र प्रश्नाक्षेप परिहर्तुं प्रश्नस्वरूपमनुवदति—अप्राक्षीदिति । उपास्तीना देवभावः साक्षात्फल तत्पूर्वमेवोक्तं ज्ञान च न च तत्र प्रश्नप्रत्युक्ती ज्ञानद्वारा ब्रह्मभावोऽपि तासां फल तदिदानी पृच्छ्यते मुनिनेत्यर्थ. ॥ कथं तासा धीद्वारा मुक्तिफलत्वं तदाह—देवतेति । आदिपदेन शुद्धिद्वारा धीसाधनं कर्म गृह्यते ॥ प्रश्नोपपत्ति निगमयति—उपासनानीति ॥ प्रतिवचनोपपत्तिमाह—राजस्त्विति । तदविज्ञानाद्ब्रह्मभावफलाज्ञानादित्यर्थः । इत इत्यादेरर्थं स्वपक्षे दर्शयित्वा भर्तृप्रपञ्चमतमाह—"अन्ये गतिविवक्षार्थं मुनेः प्रश्न प्रचक्षते ॥ साक्षाद्ब्रह्मविदप्येष नाऽऽत्माप्तौ गतिविन्नृपः । परमात्मैव गन्तव्यः परमात्मविदा ननु । अथ कः संशयो येन स तेनैव नियुज्यते ॥ गतिर्न विदिता तस्य तां स

एवमेवैतानि ब्रह्माण्येताभिरुपनिषद्भिर्युक्तान्युपासीनः समाहितात्माऽस्यत्यन्तमेताभिरुपनिषद्भिः संयुक्तात्माऽसि । न केवलमुपनिषत्समाहित एवं वृन्दारकः पूज्यश्चाऽऽढ्यश्चेश्वरो न दरिद्र इत्यर्थः । अधीतवेदोऽधीतो वेदो येन स त्वमधीतवेद उक्ताश्चोपनिषद आचार्यैस्तुभ्यं स त्वमुक्तोपनिषत्क एवं सर्वविभूतिसंपन्नोऽपि सन्भयमध्यस्थ एव परमा-

कृतार्थत्वान्न मे कर्तव्यमस्तीत्याशङ्क्याऽऽह—एवमिति । याज्ञवल्क्यो राज्ञो जिज्ञासामापाद्य पृच्छति—

जाने पर नौका का आश्रय ले, उसी प्रकार तुम भी "एताभिरुपनिषद्भिः" इन उपासनाओं से युक्त इन ब्रह्मों की उपासना करके "समाहितात्मा" यानी अत्यन्त सयुक्तचित्त हो गया है, केवल उपासनाओं से सयुक्त नहीं है। इसी प्रकार 'वृन्दारक" यानी पूज्य, "आढ्य" यानी लौकिकधनसम्पन्न है अर्थात् दरिद्र नहीं है। तुम "अधीतवेद" वेद अध्ययन किये हुए हो, और "उक्तोपनिषत्कः" यानी छः आचार्यों से उपनिषत् की शिक्षा प्राप्त किये हुए हो। इस प्रकार सम्पूर्ण विभूतियों से सम्पन्न होने पर

१ उपनिषद्भिः प्रज्ञाप्रियसत्यानन्त्यानन्दस्थितिनामभिः । २ एवमिति—समाहितत्ववदित्यर्थं इत्याह । वस्तुनो वर्तमानावस्थाभिनायकोऽयमेवकारः । ३ लौकिकधनसंपन्न । ४ षड्भिः । ५ उक्तोपनिषत्क इति । अनेन दैर्वावित्तवित्तनोक्ता । तथा च मुक्तिफलकज्ञानसामग्र्या युक्तत्वात्त्वं साधनमधिकृत्य (साधनविषये) प्रष्टव्योऽपीति भावः । ६ भयमध्यस्थ—अविज्ञातस्वकार्यनिमग्न । ७ पृच्छतीति—ज्ञानसामग्र्यां सत्यामपि प्रतिबन्धावशात्प्राप्तो ज्ञानं चेन्न भविष्यति तर्हि तद्वक्ष्यामीत्याशयवान् मुनिस्तदस्ति न वेति बोद्धुं ज्ञानसाध्यां प्रनाद्यपासनफलभूतां मुक्तिं पृच्छतीत्यर्थः ।

तस्मै विवक्षति । एवमर्थमुपोद्घातमेव स कृतवान्मुनिः ॥ श्रुतौ यद्यपि नैतस्यां श्रूयते गतिचोदना । तथाऽपि गतिरेवेयमुत्तरत्र स्फुटं हि तत् ॥ गतिविज्ञानवैकल्यात्परमात्मविदप्यसौ । न जाने क्व गमिष्यामि कथं वेत्य-वदीन्नृपः ॥ इति व्याचक्षते केचिदन्यथैव महाधियः । श्रुत्यक्षरानुसारेण नायमर्थोऽत्र लभ्यते ॥ ब्रह्मविस्त्वे तु राजोऽस्य किंचिन्नोपलभामहे । अन्ये नानन्तरे यस्मादात्मज्ञानं समीरितम् ॥ यत्यर्थो नापि च प्रश्नः क्व गमिष्यसिलक्षणः । गन्तव्यं पृच्छ्यते यस्मान्न विपृच्छिषिता गतिः ॥ यत्साक्षादित्युपक्रम्य य आत्मेत्युपसंहृतः । तदन्यस्य तदात्मत्वाद्ब्रह्मणि स्यात्कथं गतिः ॥ गतिगन्तव्यगन्त्रादेरोतप्रोतात्मवस्तुना । ब्रह्मात्मनि समाप्तत्वाद्गतिः का परमात्मनि ॥ अब्देशा पृथिवी कृत्स्ना तेजोदेशा तथा जलम् । वायुदेशं तथा तेजो वियद्देशोऽनिलोऽखिलः ॥ स्वार्थदेशः परार्थोऽर्थः स्वप्नदर्शनवत्तत । आत्मनामैकधाम्यात्म्यान्न मुक्तो स्याद्गतिस्ततः ब्रह्मैव सन्नब्रह्माप्नोति ब्रह्मोऽसि वचनं स्फुटम् । गन्तृगन्तव्ययोर्भेदे विरुध्येत न संशयः ॥ क्रियाकारकभेदे हि यतिः सर्वत्र दृश्यते । गन्तव्य आत्मनि कुतः क्रियाकारकसंभवः ॥ नैवात्र गतिरस्तीति स्पष्टमागमशासनम् । सर्वमात्मैव ब्रह्मैव तथाच श्रुतिशासनम् ॥ तमोमात्रातिरेकेण व्यवधानान्तरं न च । यस्मादस्ति ततो मुक्तो नाऽऽत्मनो गतिरिष्यते ॥ अध्यात्मादिपरिच्छेदाद्यथोक्तोपासनाश्रयात् । विमुच्यमानः क्वेतस्त्वं गमिष्यसि वदाऽऽशु मे ॥ नाहं तद्भगवन्वेद यत्र भास्याम्यत परम् । देवतात्मना नाहं गन्तव्यं वेद्मि किंचन ॥ देवताप्राप्तिमात्रं हि त्वत्तः प्राप्तश्रुतवानहम् । उक्तोपासाफलं नातो गन्तव्यं वेद्मि किंचन" ॥ १४-३२ ॥ इति । गतिविवक्षार्थं जनकं प्रति ब्रह्मप्राप्तिमार्गं वक्तुम् ॥ किमिति तं प्रति गतिर्वक्तव्या तस्य ब्रह्मविस्त्वात्तत्प्राप्तिमार्गाविषयतेरपि समवादित्याशङ्क्याऽऽह—साक्षादिति । परोक्तं प्रश्नाक्षेपमुत्थापयति—परमात्मैवेति । अथेत्यय सर्वोत्यर्थे । सशब्दो राजविषयः । तेनेति मुनिनेत्यर्थः ॥ तदीयं परिहारमाह—गतिरिति । उक्तं हि भगवता वेद सत्यं न तत्प्रतिपत्तौ मार्गं स तु

त्मज्ञानेन विनाऽकृतार्थ एव तावदित्यर्थः। यावत्परं ब्रह्म न वेत्सि। इतोऽस्माद्देहाद्विमुच्यमान एताभिर्नौरथस्थानीयाभिः समाहितः क्व कस्मिन्गमिष्यसि किं वस्तु [1]प्राप्स्यसीति। [2]नाहं तद्वस्तु भगवन्पूजावन्वेद जाने [3]यत्र [4]गमिष्यामीति। अथ यद्येवं न जानीषे [5]यत्र

इत इति। परवस्तुविषये गतेरयोगात्प्रश्नविषयं [6]विवक्षितं संक्षिपति—किं वस्त्विति। राज्ञा स्वकीयमज्ञत्वमुपेत्य शिष्यत्वे स्वीकृते प्रत्युक्तिमवतारयति—अथेति। [7]तत्रापेक्षितमयशब्दसूचितं पूरयति—

भी परमात्मज्ञान के बिना तुम अविद्या और उसके कार्य में निमग्न हो अर्थात् तब तक तुम अकृतार्थ ही हो, जब तक परब्रह्म के स्वरूप को नहीं जानते हो। तुम "इतः" अर्थात् इस देह से छूट कर इन

१. प्राप्स्यसीति। नित्यप्राप्तस्य ब्रह्मणः प्राप्तिस्त्वविद्याव्यवधानविगमेनोपचर्यते। औषधेन ज्वरादिविगमे स्वरूपभूतस्यास्य्यप्राप्तिवदिति ध्येयम्। २. नाहमिति—उक्तोपास्तिफलस्याग्न्यादिभावस्य स्वरूपतया (संपन्नतया) प्राप्यत्वाभावादन्यस्य (फलस्य) चाज्ञानादिति भावः। ३. यत्र गतः कृतार्थः। ४. स्यामित्यर्थः। ५. यत्रेत्यादि—यत्र गमिष्यामीति वक्ष्यमाणस्यैव विवरणमिदम्। ६. अभिप्रेतम्। ७. प्रतिवचनवाक्ये।

तद्दर्शनेन परिशोध्य इति गतिर्विवक्षिता चेत्सैवोच्यतां किं प्रश्नेनेत्याशङ्क्याऽऽह—एवमिति। गतिकथनार्थं क्व गमिष्यसीत्येवं पृष्टवानित्यर्थः। मार्गं वक्तुमुपोद्घातः प्रश्न इत्ययुक्तमिन्धो हेत्यादि प्रतिवचने गत्यनिर्देशादित्याशङ्क्याऽऽह—श्रुतावित्ति। सैव पृच्छ्यमानेत्यत्र हेतुमाह—उत्तरत्रेति। यैषा हृदयादूर्ध्वा नाड्युच्चरतीत्यत्र गतिवचनस्य स्पष्टत्वादित्यर्थः॥ नाहमित्यादिवाक्यस्य परोक्तमर्थमाह—गतीति। यथाऽऽहुर्जानन्नपि परमात्मानं दर्शनमार्गस्य परोक्षत्वादाहेति॥ परपक्षमुपसंहरति—इति व्याचक्षत इति। श्रुतेरनुपपत्तेर्वा गतिप्रश्नकल्पनाऽऽद्य इत्याह—श्रुनीति। क्व गमिष्यसीत्यत्रेति परामृश्यते॥ ब्रह्मविद्गन्तव्यं ब्रह्म राजा जानात्यतस्तत्प्रदानानुपपत्तेर्गतिप्रश्न इति द्वितीयमाशङ्क्याऽऽह—ब्रह्मेति। पूर्वब्राह्मणमेवात्र प्रमाणमित्याशङ्क्याऽऽह—अन्य इति॥ कथं श्रुत्यक्षरानुरोधेन गतिप्रश्नासिद्धिर्वाक्यशेषात्तदुपपत्तेरुक्तत्वादित्याशङ्क्याऽऽह—गत्यर्थ इति। अपिचशब्दावधारणे। उक्तमर्थमक्षरानुसारेण स्फोरयति—गन्तव्यमिति॥ ब्रह्मात्मनोरैक्यं श्रुतं तद्विरोधात्तद्विषयगत्यनुपपत्तेश्च न गतिप्रश्नोपपत्तिरित्याह—यदिति॥ ब्रह्मणोऽन्यच्चेदस्ति तस्य तर्हि तादात्म्यं विरुद्धं स्थितस्य नष्टस्य वाऽन्यस्यान्यत्वायोगात्तत्कथं ब्रह्मणि गत्यनुपपत्तिस्तत्राऽऽह—गतीति॥ ओतप्रोतरूपेण ब्रह्मणि सर्वस्य समाप्तिं यदिदं सर्वमप्स्वित्यादिनोक्तां स्मारयति—अन्देशेति॥ भूतानामोतप्रोतभावेन नभसि पर्यवसानेऽपि कथं ब्रह्मणि गत्यभावस्तत्राऽऽह—स्वार्वेति। स्वप्नाख्ये दर्शने दृश्यस्य द्रष्टुरविद्योत्थस्य तदतिरेकेणाभाववदनात्मा प्रतीचि कल्पितोऽनोऽधिष्ठानात्ममात्रस्यैव तद्रूपत्वाच्च नित्यमुक्ते परस्मिन्गतिर्युक्तेत्यर्थः॥ श्रुतिविरोधाच्च तस्मिन्न गतिरित्याह—ब्रह्मं वेति॥ प्रत्यग्ब्रह्मणि गत्ययोगे हेत्वन्तरमाह—क्रियेति। दृष्टेरविगानद्योतनार्थो हिशब्दः॥ न तस्येत्यादिना गतिनिषेधाच्च न तस्मिन्गतिरित्याह—नैवेति। इदं सर्वं यदयमात्मा ब्रह्म वेदं सर्वमित्यादिश्रुतिविरोधाच्च न ब्रह्मात्मनि गतिरित्याह—सर्वमिति॥ किंच ब्रह्मात्मनोरज्ञानमेव व्यवधानं तच्च ज्ञानादपनीयते तत्कुतोऽत्र गतिरित्याह—तमोमात्रेति॥ अतः प्रपञ्चपक्षं निराकृत्य स्वपक्षमनुवर्तयन्नित इत्यादिवाक्यार्थमुक्तमनुवदति—अध्यात्मादीति। निःसंदिग्धमुत्तरं श्रोतुः सुखकरमिति दर्शयितुमाशुशब्दः॥ प्रत्युक्तिमादत्ते—नाहमिति। तां व्याचष्टे—देवतेति। तदुपास्तिद्वारेत्यर्थः॥ तदुक्तमपि कस्मान्न बुध्यसे तत्राऽऽह—देवताप्तीति। भवता तावन्मात्रस्योक्तत्वादिति हिशब्दार्थः। तदतिरिक्तमपि परंपरयोपास्तिफलं ब्रह्मत्वाख्यं मया विवक्षितमित्याशङ्क्याऽऽह—नात इति। अभिप्रायमात्रेण विनोक्तिमतिगम्भीरं वस्तु दुर्ज्ञानमिति भावः॥

[1]इन्धो ह वै नामैष [2]योऽयं दक्षिणेऽक्षन्पुरुषस्तं वा एतमिन्धꣳ सन्तमिन्द्र इत्याचक्षते परोक्षेणे[3]व परोक्षप्रिया[4] इव हि देवाः प्रत्यक्षद्विषः ॥२॥

इसके बाद याज्ञवल्क्य ने कहा—यह जो दाहिनी आंख मे पुरुष है । नि सन्देह यह इन्ध नाम वाला है, उसी प्रसिद्ध इस इन्धनामा सत्य पुरुष को "इन्द्र" ऐसे परोक्ष नाम से कहते हैं क्योंकि देवगण प्रायः परोक्षप्रिय होते हैं और प्रत्यक्ष वस्तु स द्वेष करते हैं ॥ २ ॥

गतः कृतार्थः स्या अहं वै ते तुभ्यं तद्वक्ष्यामि यत्र गमिष्यसीति । ब्रवीतु मे भगवानिति, यदि प्रसन्नो मां प्रति । शृणु ॥१॥

इन्धो ह वै नाम । इन्ध इत्येवंनामा । [5]यश्चक्षुर्वै ब्रह्मे॑ति पुरोक्त आदित्यान्तर्गतः पुरुषः स एष योऽयं दक्षिणेऽक्षन्नक्षणि [6]विशेषेण व्यवस्थितः । स च सत्यनामा । तं वा

यच्चेवमिति । [7]आज्ञापनमनुचितमिति शङ्कां वारयति—यदीति । प्रसादाभिमुख्यमात्मनः सूचयति[8]—शृण्विति ॥ १ ॥

[9]विश्वतैजसप्राज्ञानुवादेन तुरीयं ब्रह्म दर्शयितुमादौ विश्वमनुवदति—इन्ध इति । कोऽसाविन्धनामेति चेत्तमाह—यश्चक्षुरिति । अधिदैवतं पुरुषमुक्त्वाऽध्यात्मं तं दर्शयति—योऽयमिति । [10]तस्य [11]पूर्वस्मिन्नपि ब्राह्मणे प्रस्तुतत्वमाह—स चेति । प्रकृते पुरुषे विदुषा संगतिमाह—तं वा एतमिति ।

नौका और रथस्थानीय उपासनाओं से सयुक्तचित्त होकर "क्व गमिष्यसि" यानी किस वस्तु की प्राप्ति करोगे ? (इस पर जनक बोले—) 'भगवन्' यानी हे पूज्य ! मैं उस वस्तु को नही जानता, जहाँ जाकर कृतार्थ हो जाऊँगा । (याज्ञवल्क्य बोले—) यदि तुम ऐसी वस्तु को नही जानते, जहाँ जाकर कृतार्थता लाभ करोगे, तो मैं "ते" यानी तुम्हे बतलाता हूँ, जहाँ जाओगे । (जनक बोले—) हे भगवन् ! यदि मुझ पर आप प्रसन्न हैं, तो मुझे उपदेश कीजिए । (याज्ञवल्क्य जनक से बोले—) सुनो ॥ १ ॥

---

१ इन्धे दीप्यते स्थूलाद्यभोक्तृत्वेन जाग्रदे सदा स्फुरणादिनीन्धो ह वै नाम प्रसिद्धः । एष आदित्यान्तर्गतः चक्षुर्वै ब्रह्मेत्यादावुक्त इत्यर्थः । २ इति तदर्थमाकृष्याय तस्य स्वमपरत्वविवक्षयाऽऽह—योऽयमिति । ३. इव शब्दोऽवधारणे । ४. अत्रोभयत्र शिष्टो लोको दृष्टान्तः । ५ बृ० उ० ४।१।४ । ६ विशेषेणेति । तथा चाक्त वार्तिके—"श्रुत्यह दृष्टोऽतिशय कश्चिदस्याहृक्षिणेऽक्षणि । अङ्गं वा वीर्यवद्दृष्टं पुंसा प्रायेण दक्षिणम् ॥ दक्षिणाक्षिग्रहस्तस्माद्भोक्तृत्वप्रतिपत्तये" ॥ ३७-३८ ॥ इति । विश्वस्य पुरस्वामिनो भोक्तृत्वं भोऽश्वस्वामिवत् कर्वचिद्वयक्तस्य वक्तव्य दक्षिणे चक्षुषि तदभिव्यक्ति श्रुत्यनुभवसिद्धा तेन तद्भोक्तृत्वसिद्धये विशेषोक्तिरिति फलितमाह—भोक्तृत्वेति ॥ ७ ब्रवीत्विति प्रार्थनायामधीष्टे वा लोण्न तु विधावित्याह—आज्ञापनमिति । शिष्यस्य गुरु प्रतीत्यादि । ८ मुनि । ९. विश्वेति—विश्वाद्यनुवादेन वक्तव्यतया प्रतिज्ञातं तुरीयं ब्रह्म प्रतिपादयितुमादौ वैश्वानराभिन्नं विश्वं जाग्रदभिमानिन दर्शयतीत्यर्थः । अथेत्यादिना मन्तव्योक्ति प्रतिज्ञाय तां विना किमिति जागरितावृत्तिरित्याशङ्क्य तादर्थ्येनेति मत्वा जाग्रदभिमानिन विश्वं दर्शयति—इन्ध इतीति पाठान्तरम् । १० विश्वस्य । ११. सत्यमित्येनदुपासीतेत्यत्र बृ० उ० ४।१।४ ।

'अथैतद्वामेऽक्षणि पुरुषरूपमेषाऽस्य पत्नी विराट्तयोरेष संस्तावो य एषोऽन्तर्हृदय आकाशोऽथैनयोरेतदन्नं य

इसके बाद याज्ञवल्क्य ने कहा—यह जो बायें नेत्र में पुरुषाकार पुरुष है, यह पूर्वोक्त पुरुष की विराट्नामा स्त्री है। जो यह हृदय में आकाश है, उन दोनों पति-पत्नी के मिलने का स्थान है।

एत पुरुष दीप्तिगुणत्वात्प्रत्यक्ष नामास्येन्ध इति तमिन्ध सन्तमिन्द्र इत्या चक्षते परोक्षेण। यस्मात्परोक्षप्रिया इव हि देवा. प्रत्यक्षद्विषः प्रत्यक्षनामग्रहण द्विषन्ति। 'एष त्वं वैश्वानरमात्मानं संपन्नोऽसि' ॥२॥

अथैतद्वामेऽक्षणि पुरुषरूपमेषाऽस्य पत्नी यं त्वं वैश्वानरमात्मान संपन्नोऽसि तस्यास्येन्द्रस्य भोक्तुर्भोग्यैषा पत्नी विराडन्न भोग्यत्वादेव। तदेतदन्न चात्ता चैकं मिथुनं स्वप्ने। कथम्। तयोरेष इन्द्राण्या इन्द्रस्य चैष संस्तावः सम्भूय यत्र संस्तवं कुर्वाते

इन्ध इ साधयति—दीप्तीति। 'प्रत्यक्षस्य परोक्षेणाऽऽख्याने हेतुमाह—यस्मादिति ॥ २ ॥

'एकस्यैव वैश्वानरस्योपासनार्थं "प्रासङ्गिकमिन्द्रश्चेन्द्राणी चेति मिथुनं कल्पयति—अथेत्यादिना। प्रासङ्गिकत्वपत्नाधिकारार्थोऽथशब्दः। यदेतन्मिथुनं जागरिते विश्वशब्दितं तदेवैक स्वप्ने तैजसशब्दवाच्यमित्याह—तदेतदिति। "तच्छब्दितं तैजसमधिकृत्य पृच्छति—कथमिति। किं तस्य स्थान पृच्छ्यतेऽन्नं वा प्रावरणं वा मार्गो वेति विकल्प्याऽऽद्यं प्रत्याह—तयोरिति। संस्तवं संगतिमिति

"इन्धो ह वै नाम" अर्थात् वह 'इन्ध' इस प्रकार नाम वाला है। "चक्षु ही ब्रह्म है" इस प्रकार जिस आदित्यान्तर्गत पुरुष का पूर्वोक्त प्रथम ब्राह्मण के चतुर्थ मन्त्र में वर्णन किया था, वह यही है, जो दक्षिण नेत्र में विशिष्टरूप से स्थित है। वह सत्य नाम वाला है। दीप्ति गुण वाला होने से इसका प्रत्यक्ष नाम 'इन्ध' है। उस इस पुरुष को इन्ध होते हुए भी विद्वान् लोग 'इन्द्र' इस परोक्ष नाम से कहते हैं क्योंकि देवतागण प्राय परोक्षप्रिय हैं, "प्रत्यक्षद्विष" यानी प्रत्यक्ष से द्वेष करते हैं। हे सम्राट्! यानी विश्वात्मा तुम वैश्वानर आत्मा को प्राप्त हो गये हो ॥ ३ ॥

एव जो यह वाम नेत्र में पुरुष रूप है, यह इसकी पत्नी है, जिस वैश्वानर आत्मा से तुम युक्त हो, उस इस भोक्ता इन्द्र की यह भोग्या पत्नी है, भोग्य होने के कारण विराट् अन्न है, स्वप्न में वह यह अन्न और अत्ता एक मिथुन होते हैं। किस प्रकार? उन इन्द्राणी और इन्द्र का यह संस्ताव है।

१ अथैतदिति। एतद् दक्षिणेऽक्षण्युक्त पुरुषरूपमेव वामेऽक्षणि वर्तमान मद् अन्योक्तस्येन्द्रस्य भोक्तुर्वैश्वानरस्य एषा पत्नी विराड् भोग्यम्। २ विद्वास। ३ नाम्ना। ४ परोक्षप्रियर इति। देवाना परोक्षनामप्रियत्वे प्रत्यक्षनामद्विट्त्वे च हेतुर्वार्तिके व्यक्तः। तथाहि—"मा ज्ञासिष्ट कथ नाम नामतत्त्वं बहिर्जन। परोक्षनामग्रहण तेन देवस्य रोचते" ॥ ४२ ॥ इति। बहिर्जनोऽशिष्टजन तेन नामतत्त्वे (प्रत्यक्षनामनि) ज्ञाते सति सतेनैव व्यवहरेदिति भाव। ५ विश्वात्मा। ६ हे सम्राट। ७ विराट्-पदस्य विवक्षितमर्थमाह—अन्नमिति। भोग्यमित्यर्थ। ८ नाम्न। ९ एकस्यैवेति। वार्तिके यथा—"एकस्यैव हि देवस्य विभाग स्थानभेदत। अग्नीषोमात्मना भूत्वा ध्यानार्थमिह भण्यते" ॥ ४५ ॥ इति। स्थानमवस्थाद्वय चक्षुर्द्वयं च। विभागोक्तिफलमाह—अग्नीति। १० इन्द्रशब्दप्रसङ्गादागतमिति वदन्ति। ११ मिथुनशब्दितम्।

एषोऽन्तर्हृदये लोहितपिण्डोऽथैनयोरेतत्प्रावरणं यदेत-
दन्तर्हृदये जालकमिवाथैनयोरेषा सृतिः संचरणी
यैषा हृदयादूर्ध्वा नाड्युच्चरति यथा केशः सहस्रधा

जो यह हृदय के भीतर लालरंग का माँसपिण्ड है, यही इन दोनों का अन्न है और जो यह हृदय जाल के समान है, यही इन दोनों का आच्छादन (चादर) है एवं जो यह हृदय से ऊपर की ओर नाड़ी जाती है, यह इन दोनों (इन्द्र इन्द्राणी) के प्रस्थान का मार्ग है। जैसे सहस्र भागों में विभक्त हुआ

अन्योन्य स एव संस्ताव.। कोऽसौ। य एषोऽन्तर्हृदय आकाशोऽन्तर्हृदये हृदयस्य मांसपिण्डस्य मध्ये। अथैनयोरेतद्वक्ष्यमाणमन्नं भोज्यं स्थितिहेतुः। किं तत्। य एषोऽन्तर्हृदये लोहितपिण्डो [1]लोहित एव पिण्डाकारापन्नो लोहितपिण्डः। अन्नं जग्धं द्वेधा परिणमते यत्स्थूलं तदधो गच्छति। यदन्यत्तत्पुनरग्निना पच्यमानं द्वेधा परिणमते। यो मध्यमो रस. स लोहितादिक्रमेण पाञ्चभौतिकं पिण्डं शरीरमुपचिनोति। योऽणिष्ठो रसः स एष लोहितपिण्ड इन्द्रस्य [2]लिङ्गात्मनो हृदये मिथुनीभूतस्य। [3]यं तैजसमाचक्षते [4]स तयोरिन्द्रेन्द्राण्योर्हृदये मिथुनीभूतयोः सूक्ष्मासु नाडीष्वनुप्रविष्टः स्थितिहेतुर्भवति। [5]तदेत-

---

यावत्। द्वितीय प्रत्याह—अथेति। अन्नातिरेकेण स्थितेरसंभवात्तस्य वक्तव्यत्वादित्यथशब्दार्थः। लोहितपिण्डं सूक्ष्मान्नरसं व्याख्यातुं भक्षितस्यान्नस्य तावद्विभागमाह—अन्नमिति। यदन्यत्पुनरिति योजनीयम्। तत्रेत्यध्याहृत्य यो मध्यम इत्यादिग्रन्थो योज्यः। [6]उपाध्युपहितयोरेकत्वमाश्रित्याऽऽह—य तैजसमिति। [7]तस्यान्नत्वमुपपादयति—स तयोरिति। व्याख्यातेऽर्थे [8]वाक्यस्यान्विताक्षरत्वमाह—

जहाँ दोनो मिलकर एक दूसरे की स्तुति करते हैं, उसे संस्ताव कहते हैं। वह संस्ताव क्या है? "एषो अन्तर्हृदय" अर्थात् जो यह अन्तर्हृदय यानी मांसपिण्डरूप हृदय के भीतर है। 'अथैनयोरेतदन्नम्' अर्थात् इन दोनों का यह वक्ष्यमाण भोज्य स्थिति का हेतु है। वह क्या है? जो कि यह मांस पिण्डरूप हृदय के भीतर "लोहितपिण्ड" यानी रक्त वर्ण ही पिण्डाकार से युक्त है। खाया हुआ अन्न दो प्रकार से विकारभाव को प्राप्त होता है। जो स्थूल है, वह नीचे जाता है। अग्नि से पचाया जाकर दूसरा अन्न पुनः द्विप्रकारक है। जो मध्यम रस है, वह रक्तादिक्रम से पाञ्चभौतिक पिण्डरूप शरीर को विकसित करता है और जो अणुतम रस होता है, वह हृदय में मिथुनीभाव को प्राप्त हुए लिङ्गशरीराभिमानी इन्द्र का लोहितपिण्ड है। जिसे तैजस कहते हैं, वह लोहितपिण्ड सूक्ष्म नाड़ियों में अनुप्रविष्ट होकर हृदय में मिथुनभाव को प्राप्त हुए उन इन्द्र और इन्द्राणी की स्थिति का कारण बनता है। उक्त अर्थ का ही श्रुति 'अथैनयोरेतदन्नम्" इस मन्त्र से कहती है। इसके अतिरिक्त दूसरा प्रावरण कहा

---

१ रक्तवर्ण एव। २ लिङ्गशरीराभिमानिन.। ३ यमिति। अवतरणं उपाधिपदेन लोहितपिण्डं विवक्षित्वा लोहितपिण्डमित्यन्न इत्याह। लिङ्गात्मपरामर्शकत्वमपि यच्छब्दस्य संभवति शुद्धात्मनस्तु न तैजसत्वमित्यभिप्राय. अवतरणमिति पश्याम। ४ लोहितपिण्ड। ५ उक्तमर्थजातं श्रुत्या। ६ रसत्वेनास्यान्नत्वमिति यावत्। ७ उपाधिर्लोहितपिण्डरूप इत्याह। ८ लोहितपिण्डस्य। ९. व्याख्यातेऽर्थे वाक्यस्यावयवा अन्विता इति यावत्। उक्तोऽर्थोऽक्षराविरुद्ध इति यावत्।

भिन्न एवम[1]स्यैता हिता नाम नाड्योऽन्तर्हृदये प्रतिष्ठिता भवन्त्येताभिर्वा एतदास्रवदास्रवति *तस्मादेष[2] प्रविविक्ताहारतर [3]इवैव भवत्यस्माच्छारीरादात्मनः ॥ ३ ॥

केश अत्यन्त सूक्ष्म होता है, वैसे ही हिता नाम की ये नाड़ियाँ हृदय देश में अत्यन्त सूक्ष्मरूप से स्थित हैं। इन्हीं नाड़ियों के द्वारा यह अन्न रसमय जाता हुआ शरीर में सब जगह पहुँचता है। इसीलिये इस स्थूल शरीराभिमानी वैश्वानर आत्मा से यह सूक्ष्म शरीराभिमानी तैजस आत्मा अत्यन्त सूक्ष्म आहार ग्रहण करने वाले के समान ही होता है॥ ३॥

हुच्यतेऽस्यैनयोरेतदन्नमित्यादि। किंचान्यत्[4]। अथैनयोरेत[5]त्प्रावरणम्। भुक्तवतोः स्वपतोश्च प्रावरणं भवति लोके [6]तत्सामान्यं हि कल्पयति श्रुतिः। किं तदिह प्रावरणम्। यदेतद-

---

तवेतदिति। यदि प्रावरणं पृच्छ्यते तत्राऽऽह—किंचान्यदिति। [7]भोगस्थापानन्तर्यमथशब्दार्थः। प्रावरणप्रदर्शनस्य प्रयोजनमाह—भुक्तवतोरिति। इहेति भोक्तृभोग्ययोरिन्द्रेन्द्राण्योरुक्तिः हृदयजालक-

---

जाता है। यही इन इन्द्र और इन्द्राणी दोनों का परिधान है। लोकव्यवहार में भोजन करने वाले और सोने वाले का परिधान होता है। क्योंकि श्रुति लोकसामान्य की कल्पना करती है। यहाँ वह प्रावरण

---

१. अस्यैता हिता नामेति। अत्र सवरणीत्वेन यैवेत्येकया नाड्योपक्रम्यार्थं भूयसीनामभिधानं तु भोक्तुर्वक्ष्यमाणप्रविविक्ताहारतरत्वोपपादकत्वयेति ध्येयम्। वार्तिके पुनः श्रोत्रादीन्प्रतिशब्दादयन्नं वाहयन्ति नाड्य इति प्रसङ्गादावेदयितु बहूक्तिरिति व्यक्थि। अस्य—पुरुषस्य देहसंबन्धिन्य एता नाड्यः। २. तैजस। ३ इवैवेति। इमावुभावपि शब्दावुपमार्थौ। तथाहि—यथा प्रविविक्ताहारो विश्वस्तथायं तैजसो न प्रविविक्ताहार एव किंतु प्रविविक्ताहारतर इव यथा च कारणात्मा प्राज्ञः प्रविविक्ताहारतर एव न तथा तैजसात्मा किंतु प्रविविक्ताहारतर इवेति। ननु प्राज्ञात्मवत्तैजसस्य प्रविविक्ताहारतरत्वमेव किं न स्यात्- ब्राह्वार्तिके—"लिङ्गाहारादप्यणीयान्यतः प्राज्ञात्मनस्ततः। उपमार्थमिवेत्येतत्पदमत्र प्रयुज्यत इति" ॥ १६ ॥ प्राज्ञात्मन इति आहार इति शेषः। ४. अन्यत्प्रावरणमुच्यते। ५. पूर्वोक्तयोरिन्द्रेन्द्राण्योर्वक्ष्यमाणं परिधानम्। ६. लोकसामान्यम्। ७ भोगस्थापेति—अन्नस्यानाम्यामानन्तर्यमित्यर्थः।

---

*तस्मादित्यादि भवतीत्यन्तमातृतीयकण्डिकासमाप्तेः। अत्राहुर्वार्तिकाचार्यास्तथाहि—"प्रविविक्ततरोऽस्मात्स्तर्पयन्प्राणदेवताः। प्राप्नोति लिङ्गमाहारं स तस्येत्यभिधीयते ॥ पीयमानादितो देहाद्रसाद्यन्नेन भौतिकात्। प्रविविक्ततराहारो लिङ्गात्माऽस्य पुरोदितात् ॥ रसादिः प्रविविक्तः स्यात्पुरीषादिव्यपेक्षया। रसादेरपि सूक्ष्मोऽयमाहारो लिङ्गतृप्तिकृत् ॥ यत एवमतः प्राह तल्लिङ्गं स्थूलदेहतः। प्रविविक्ततराहारं श्रुतिः सूक्ष्माश्रयस्थितेः ॥ यतोऽतिसूक्ष्मो लिङ्गात्मा नातोऽस्य स्थूलदेहवत्। देहाद्देहान्तरं यच्छन्केनचित्प्रतिहन्यते ॥ इवशब्दमनर्थकं केचिदेवार्थेन विरोधतः। एवार्थस्योपमास्य इवार्थं चावधारणम् ॥ लिङ्गाहारादप्यणीयान्यतः प्राज्ञात्मनस्ततः। उपमार्थमिवेत्येतत्पदमत्र प्रयुज्यते। कदम्बपुष्पवत्संस्था देवता हृदयाश्रया। बहिर्गतासु नाडीषु विषक्ता हृदयादधि ॥

न्तर्हृदये 'जालकमिवानेकनाडीछिद्रबहुलत्वाज्जालकमिव ।
अथैनयोरेषा सृतिर्मार्गः संचरतोऽनयेति संचरणी स्वप्नाज्जागरितदेशागमनमार्गः ।

योराधाराधेयत्वमविवक्षितं 'तस्यैव तद्भावात् ।
मार्गश्चेत्पृच्छ्यते तत्राऽऽह—अथेति । नाडीभिः शरीरं व्याप्तस्याप्यस्य प्रयोजनमाह—

क्या है ? यह जो हृदय के भीतर 'जालकमिव'' अर्थात् अनेक नाडीछिद्रों की बहुलता के कारण जाल के समान है।
तथा यह इन दम्पतियों की 'सृति'' यानी मार्ग है। 'संचरणी'' अर्थात् इससे संचार करते

---

१ जालकमिवेति—वातायनमिवेत्यर्थः । हृदयस्य जालकवद्भाने हेतुमाह—अनेकेति । अनेकाश्च ता नाड्योऽनेकनाड्यः । छिद्राणि बहुलानि यस्मिंस्तच्छिद्रबहुलम् । अनेकनाडीभिर्युक्तमनेकनाडीयुक्तम् । तच्च तच्छिद्रबहुलं च तद्धृदयं तस्य भावस्तत्त्वं तस्मात् जालकमिव भासमानं हृदयमित्यर्थः । २ दम्पत्योः । ३. हृदयस्यैव जालकत्वादित्यर्थः ।

। यथैव देवताः सर्वास्तथाऽन्या अपि देवताः ॥ साधारणत्वात्मवामा कायस्य करणस्य च ॥ तत्रैकस्या यदा कार्यं दृष्ट्यादि स्यादुपस्थितम् । गुणभावं तदा यान्ति सर्वास्ता प्रति देवताः ॥ नाड्यन्तरेष्वपि तथा सर्वासां सहतत्त्वतः । एष एव क्रमो ज्ञेयः प्राधान्यगुणभावयोः ॥ एवं च सति यावन्त्यो नाड्यो हृदयबन्धनाः । संवत्सराश्च तावन्तस्ते प्रजापतयोऽनन्ताः ॥ प्रतिभागं समाप्तत्वात्पूर्वोक्तस्येह वस्तुनः । देवताऽसौ यथाऽध्यात्ममधिभूतं तथैव [illegible] ॥ अधिदैवं च विम्बीयं द्वैतैकत्वेन विष्ठिता । यथाऽस्य नाड्यः पुंसः स्युरध्यात्मं सर्वतो गताः ॥ अधिभूतं तथाऽस्यैव वायुमध्यं समन्ततः । एतस्मादेव निःसृत्य शरीरात्सर्वतो गताः ॥ अधिभूतात्मनैवाय नाडीलक्षणवर्त्मना । आपूर्येदं जगत्सर्वं स्थितः आध्यात्मिकः पुमान् ॥ नाड्य आध्यात्मिकस्यैव ह्यधिदैवात्मनस्तथा । विराजो रश्मयो ज्ञेयाः प्रत्यगावसितास्तथा ॥ आध्यात्मिकस्यैव पुंसः कृत्स्नाऽध्यात्माधिभूतयोः । अनन्तभिन्नकार्येषु समाप्तिर्देवतात्मनः ॥ आध्यात्मिकं परिच्छेदमुक्तदर्शनवमना । देवतासूपसंहृत्य विराज्यपि च देवताः ॥ विराजं चापसंहृत्य प्राणविज्ञानविग्रहे । हिरण्यगर्भे तं चापि सर्वकारण आत्मनि ॥ अध्यात्मदेवताः सर्वा हृदि नीत्वाऽऽत्मनस्ततः । हृदयादुक्तनाडीभिः सदध्यात्मसूर्यरश्मिभिः ॥ रविहृन्मण्डलं यायात्ततो रश्मिभिरावृतः । हिरण्यगर्भमात्मानं ततस्तत्कारणं बुधः ॥ वैश्वानरात्तदात्मानं प्राप्तश्च हृदि तैजसम् । हिरण्यगर्भं तं चापि प्राणात्मन्युपसंहरेत् ॥ प्राणशब्देन चाप्यत्र कारणात्माऽभिधीयते । बीजं कार्यस्य सर्वस्य प्राज्ञश्चेति निरुच्यते ॥ कार्याणां कारणं मुक्त्वा नान्यत्रास्त्यप्ययो यतः । तस्मात्कारणसंप्राप्त्या यायान्नेतीत्यकारणम् ॥ साक्षये करणैर्हीनो प्रत्ताध्यात्माधिदैवतः । प्राणात्मा एक एवाऽऽस्ते प्रज्ञानघनविग्रहः'' ॥ ६० ९१ ॥ इति । अस्मादित्यादेरर्थमाह—प्रविविक्तेति । यो यथोक्तात्मा स प्राणदेवता करणान्यन्तःकरणं च लिङ्गाख्यं यस्मात्क्षीणयति तस्मादस्य प्रविविक्ततरो भवत्याहारः स लिङ्गात्मा तैजसस्तथेति बहुव्रीहिणा लिङ्गस्याऽऽहारः स इति गम्यत इत्यर्थः ॥ अस्मादित्यादेरर्थमाह—चीयमानादिति । रसाद्यनेन तद्धेतुना तेनेति यावत् ॥ कथमस्य प्रविविक्तत्वं तदाह—रसादेरिति । तथाऽपि कथं प्रविविक्ततरत्वं तदाह—रसादेरिति ॥ तस्य प्रविविक्ततरत्वे फलितमाह—अत इति । अत शब्दार्थं स्फुटयति—सूक्ष्मेति ॥ लिङ्गस्यापि स्थूलवद्दृष्टत्वाच्च सूक्ष्मता तत्कुतोऽस्य प्रविविक्ताहारतरतेत्याशङ्क्य तत्सौक्ष्म्ये गमकमाह—यत इति ॥ प्रकृतवाक्यस्थमिवशब्दं व्याख्यातुं पूर्वपक्षमाह—इवत्यनर्थकमिति । तत्र भर्तृप्रपञ्चोक्तं सिद्धान्तमाह—एवापरयति । लिङ्गात्मा प्रविविक्ताहारतर एवेत्यवधार्यते तस्योपमामिवशब्दार्थमाहुरिति योजना । उक्तं हि—यथा खलु बाह्यस्य पिण्डस्योपचयार्थमाहारस्तथा तस्यापीत्यतस्मात्सामान्या-

का सा सृतिः । [1]यथा हृदयाद्धृदयदेशादूर्ध्वाऽभिमुखी सत्युच्चरति [2]नाडी । [3]तस्याः परिमाणमिदमुच्यते । [4]यथा लोके [5]केशः सहस्रधा भिन्नोऽत्यन्तसूक्ष्मो भवत्येवं सूक्ष्मा अस्य देहस्य संबन्धिन्यो हिता नाम हिता इत्येवं ख्याता नाड्यस्ताश्चान्तर्हृदये मांसपिण्डे प्रतिष्ठिता भवन्ति हृदयाद्वि[6]प्ररूढास्ताः [7]सर्वत्र कदम्बकेसरवद्[8]देताभिर्नाडीभिरत्यन्तसूक्ष्माभिरेतदन्नमास्रवद्गच्छदास्रवति गच्छति । [9]तदेतद्देवताशरीरमनेनान्नेन [10]"दामभूतेनोपचीय-

तदेतदिति । तस्मादित्यादिवाक्यमादाय व्याचष्टे—यस्मादिति । "तथाऽपि प्रविविक्ताहार इत्येव वक्तव्ये

हैं, इसलिए यह स्वप्न से जागरित देश में आने का मार्ग है । यह 'सृति' क्या है ? जो यह "हृदयात्" अर्थात् हृदयदेश से 'ऊर्ध्वा' यानी अभिमुखी होकर सुषुम्नाख्या नाडी ऊपर जाती है । यह उसका परिणाम कहा जाता है । जिस प्रकार लोकव्यवहार में एक ही केश सहस्र भागों में बँटा हुआ अत्यन्त सूक्ष्म हो जाता है, इसी प्रकार इस देह से सम्बन्ध रखने वाली 'हिता नाम' यानी हिता नाम से विख्यात नाड़ियाँ सूक्ष्म होती हैं । तथा ये मांसपिण्डरूप हृदय के भीतर प्रतिष्ठित हैं; कदम्ब पुष्प की केसर के समान ये हृदय से देह में सब ओर फैली हुई हैं । इन सूक्ष्मतम नाड़ियों से जाता हुआ यह सूक्ष्मतम अन्न स्थूलदेह को व्याप्त करता हुआ लिङ्गशरीर को व्याप्त करता है । इसलिये यह लिङ्गाख्य

१. उद्गच्छति । २ सुषुम्णाख्या । ३. तस्या इति—जातावेकवचनं सर्वासां नाडीनां परिमाणं दृष्टान्तपूर्वकमुच्यत इत्यर्थः । ४ यथेति—विश्वतैजसयोरप्रविवेको भोक्तुः सूक्ष्मता चेत्येतदुक्त्यर्थं सदृष्टान्तं नाडीपरिमाणं यथेत्यादिश्रुतिः प्रदर्शयतीति भावः । अत्र च केशस्य सहस्रधा भेदस्यासंभवेऽप्यभूतोपमैवेयम् । तथाविधस्य दृष्टान्तान्तरस्यासत्त्वादिति ध्येयम् । ५. एकः । ६. विप्ररूढाः प्ररूढा विप्रसृता इत्यर्थः । ७ देहे । ८. नाडीनामुपयोगकथनपूर्वकं सूक्ष्मतमत्वकथनप्रयोजनमाह—एताभिरिति । एतत् पूर्वोक्तं सूक्ष्मतममन्नम् । आस्रवद् गच्छत् स्थूलदेहं व्याप्नुवत् । आस्रवति गच्छति लिङ्गशरीरं व्याप्नोतीत्यर्थः । ९ तदेतदिति—यथोक्तान्नव्याप्त्याश्रयः प्रत्यक्समीपतरवर्ति अध्यात्मदेवतानां वागादिकरणानां शरीरं लिङ्गाख्यमित्यर्थः । १०. इन्द्रेन्द्राण्योरग्नीषोमयोर्विश्वतैजसयोरन्नं शिशुब्राह्मणेऽप्युक्तमिति सूचयति—दामभूतेनेति । "अन्नं दामेति यत्पूर्वं व्याख्यातं शिशुबन्धनमिति" ॥ वा० ४४ ॥ ११. लिङ्गस्य सूक्ष्मान्नोपचितत्वेऽपि ।

प्रविविक्ताहारतर इवैवेति । इवैव भवतीत्यस्य स्वाभिप्रेतमर्थमाह—इवार्थं चेति । एवेत्यवधारणमिवेत्यस्मिन्नर्थे द्रष्टव्यम् । तथा च यथा प्रविविक्ताहारो विश्वस्तथाऽयमपि तैजसो न प्रविविक्ताहार एव किंतु प्रविविक्ताहारतर इव यथा च कारणात्मा प्रविविक्ताहारतर एव न तथा लिङ्गात्मा किंतु प्रविविक्ताहारतर इवेति द्वयोरिवैवशब्दयोरर्थः ॥ किमिति कारणात्मवत्तैजसस्य न प्रविविक्ताहारतरत्वमेव तत्राऽऽह—लिङ्गेति । प्राज्ञात्मन आहार इति शेषः । ततो न लिङ्गस्य प्रविविक्ताहारतरत्वमेवेत्यर्थः । इवशब्दार्थवत्त्वं निगमयति—उपमार्थमिति ॥ उक्तसूत्रस्य सर्वजगद्व्याप्तिं भर्तृप्रपञ्चप्रक्रिययाऽऽचक्षाणः सैषा सूक्ष्मा देवताऽन्तर्हृदये कदम्बगोलकवद्धृदयान्नाडीषु समन्तान्निसृतासु विषक्तेति तद्भाष्यं विभजते—कदम्बेति ॥ एवमेकैका देवतेति भाष्यार्थमाह—यथेति । यथा हृदयादारभ्य बहिर्विप्रसृतासु नाडीषु सूत्राख्यदेवता विषक्तोक्ता तथा सर्वा अप्यन्या देवतास्तासु विषक्ता भवन्तीत्यर्थः । सर्वेषां कार्यकरणस्य साधारणत्वादितिहेतुभाष्यार्थमाह—साधारणत्वादिति । करणशब्देन गोलकादिस्थानं देवताशब्देनेन्द्रियाण्युक्तानि ॥ सर्वेन्द्रियाणां सर्वदेहव्यापित्वे रूपादिज्ञानं संकीर्णं स्यादित्याशङ्क्य यस्या देवताया यदा यद्दर्शनादि कार्यं तदा सर्वासामितरासां तदङ्गत्वमिति भाष्यं व्याचष्टे—तत्रेति ॥ नाड्य-

मानं तिष्ठति । तस्माद्यस्मात्स्थूलेनान्नेनोपचितः पिण्ड इदं तु [१]देवताशरीरं लिङ्गं [२]सूक्ष्मेणान्नेनोपचितं तिष्ठति । पिण्डोपचयकरमप्यन्नं प्रविविक्तमेव मूत्रपुरीषादिस्थूलमपेक्ष्य लिङ्गस्थितिकरं त्वन्नं ततोऽपि सूक्ष्मतरम् । [४]अतः प्रविविक्ताहारः पिण्डः । [५]तस्मा-

प्रविविक्ताहारतर इति कस्मादुच्यते तत्राऽऽह—पिण्डेति । यस्मादित्यस्यापेक्षितं कथयति—अत इति ।

देवताशरीर इस रज्जुस्वरूप अन्न से विकास को प्राप्त होता हुआ रहता है । "तस्मात्" अर्थात् क्योंकि पिण्ड भुक्त अन्न के मध्यम रस से विकसित होता है, यह (देवता) करणसमुदायरूप शरीरात्मक लिङ्गदेह अन्न के अणुतम रस से पुष्ट होता हुआ स्थिर रहता है । मलमूत्रादि स्थूल भाग की अपेक्षा तो पिण्ड की पुष्टि करने वाला अन्न अत्यन्त सूक्ष्म है । अतः पिण्ड सूक्ष्माहारी है; इसलिए उस शरीर

१. भुक्तान्नस्य मध्यमेन रसेन । २ देवता करणानि तत्समुदाय एव तच्छरीरम् । ३. अणिष्ठेन रसेन । ४. भुक्तान्नस्य मध्यमरसेन मूत्राद्यपेक्षया प्रविविक्तेन पिण्डस्योपचितत्वात् । ५. शरीरादित्यन्वयः । ६. पूर्वं भाष्योक्तस्य ।

न्तरेऽपि या यदा देवताऽपेक्ष्यते सा तदा कृत्स्नदेवताविग्रहमङ्गीकृत्यावतिष्ठत इति भाष्यार्थमाह—नाड्यन्तरेष्विति । अनुक्तनिद्रियेष्विति यावत् ॥ अध्यात्मनाडीद्वारा देवताव्याप्तिमुक्त्वा हृदयबन्धनतया नाडीप्रसङ्गेन प्रदेशान्तरस्थामुपास्तिं स्मारयति—एष चेति । हृदयबन्धनत्वेन नाडीप्रसङ्गे तास्वहारात्मना दृष्टासु प्रजापतिरूपाग्निशब्दितेष्टकादृष्टिः कार्या यावन्तो नाडीभेदास्तावन्त्य इष्टका, अक्षरा प्रजापतयोऽग्नय इत्युक्तेरित्यर्थः ॥ प्रासङ्गिकीमुपास्तिं ब्रह्मविद्यायै त्याजयित्वा पूर्वोक्तामध्यात्मदेवताव्याप्तिं दृष्टान्तीकृत्याधिभूताधिदैवयोरपि तद्व्याप्तिमाह—प्रतिभागमिति । अस्तुत सूत्रस्येति शेषः ॥ उक्तां देवताव्याप्तिं निगमयति—विश्वीति । यथाऽऽह—प्रत्यवयवं कृत्स्नस्य परिसमाप्तत्वात्तस्य यथाऽध्यात्ममेवमधिभूतमधिदैवं चेत्यादि । तदेव देवताया सर्वव्याप्तिमुक्त्वा नाडीनामध्यात्ममुक्तव्याप्तिदृष्टान्तेनाधिभूतादावपि व्याप्तिमाह—यथेति । उक्तं हि—यथाऽध्यात्मं नाड्यः समन्ताच्छरीरव्याप्तिः एवमस्यैव पुरुषस्याऽऽध्यात्मिकस्याधिदैवात्मना वक्ष्यमाणस्य प्राणनाड्या वायुमय्य इति ॥ उत्तरार्धं प्रपञ्चयति—एतस्मादिति । उक्तं च एतस्मादेव शरीरादभिनिःसृत्य सर्वं जगदापूर्यावस्थिता इति ॥ नाडीनां देहाद्बहिर्व्याप्तिं किमर्थेत्याशङ्क्य तद्द्वारा क्षेत्रज्ञस्य व्याप्त्यर्थमित्याह—अधिभूतेति ॥ आध्यात्मिकस्य पुंसो नाडीवदाधिदैविकस्यापि नाडीस्थानीयरश्मीनां व्याप्तिमाह—नाड्य इति । मुक्ता च विराजो रश्मीनां सर्वतो व्याप्तिस्तद्वदादित्यरश्मीनां व्याप्तिदर्शनादिति हिशब्दार्थः । प्रत्येकं सर्वासु व्यष्टीषु वैराजरश्मीनां समाप्तिरपि ज्ञेयेत्याह—प्रत्यवेति ॥ आध्यात्मिकस्य पुंसो नाडीद्वारा सर्वव्याप्तिवदाधिदैविकस्यापि सा रश्मिद्वारेत्युपसंहरति—आध्यात्मिकस्येति । यथाऽऽह—यथैवाऽऽध्यात्मिकस्य प्रत्यवयवं कार्त्स्न्येन समाप्तिरेवं वैराजस्याप्यात्मनः प्रत्यवयवमाध्यात्मिकाधिभूताधिदैविकेष्विति ॥ परप्रक्रियामादेयामुक्त्वा स्वमतं विश्वाद्युक्तेर्ज्ञानहेतुतात्मनः दर्शयति—आध्यात्मिकमिति । उक्तव्याप्तिद्वारा शारीरपरिच्छेदमग्न्यादिदेवतासु ताश्च विराजि स च सूत्रे तच्च कारणे तदप्यद्वये प्रतीच्युपसंहृत्य पूर्णात्मना तिष्ठेदित्यर्थः ॥ उक्तमेव प्रपञ्चयन्निश्वस्य वैश्वानरादिशब्दितस्य विराजस्तैजसे सूत्रात्मन्युपसंहारक्रममाह—अध्यात्मेति । चक्षुरादिमहिताग्नित्यादिदेवता हृदये प्रजापतिरूपे संहृत्य ततो निर्गतनाडीभी रश्मिभिश्चान्योन्यात्मभूतं करणं रविस्य हृदयस्य च लिङ्गस्यैकत्वेनानुसन्धानात्ततस्तात्पर्यं चानुक्तनाडीरश्मिद्वारा विवेकबुद्ध्या मण्डलहृदयस्थं सूत्रमात्मानं गच्छतीत्यर्थः । आत्मनो हृदयादिति सम्बन्धः ॥ विश्वस्य तैजसमात्रत्वानुसन्धानानन्तरं तत्कारणमव्याकृतादिशब्दं विवकी गच्छतीति तैजसस्य प्राज्ञे लयमाह—अत इति ॥ उक्तं क्रमं बुद्धिशोकर्यार्थं संक्षिपति—

***तस्य प्राची दिक्प्राञ्चः प्राणा दक्षिणा दिग्दक्षिणे प्राणाः प्रतीची दिक्प्रत्यञ्चः प्राणा उदीची दिगुदञ्चः प्राणा ऊर्ध्वा दिगूर्ध्वाः प्राणा अवाची दिगवाञ्चः**

उस विद्वान् के पूर्वदिशागत प्राण पूर्व प्राण हैं, दक्षिण दिशा दक्षिण प्राण हैं, पश्चिम दिशा पश्चिम प्राण हैं, उत्तर दिशा उत्तर प्राण हैं, ऊर्ध्व दिशा ऊर्ध्व प्राण हैं, अधोदिशा नीचे के प्राण हैं।

त्प्रविविक्ताहारादपि प्रविविक्ताहारतर एव लिङ्गात्मेवैव भवत्यस्माच्छरीराच्छरीरमेव शारीरं तस्माच्छारीरात्। आत्मनो वैश्वानरात्तैजसः सूक्ष्मान्नोपचितो भवति ॥३॥

स एष 'हृदयभूतस्तैजसः' सूक्ष्मभूतेन 'प्राणेन विध्रियमाणः 'प्राण एव भवति।

शारीरादिति श्रूयते कथं शरीरादित्युच्यते तत्राऽऽह—शरीरमेवेति। उक्तमर्थं संक्षिप्योपसंहरति—आत्मन इति ॥ ३ ॥

तस्य प्राची दिगित्याद्यवतारयितुं भूमिकां करोति—स एष इति। प्राणशब्देना'ज्ञातः प्रत्य-

---

से सूक्ष्माहारी भी यह लिङ्गात्मा सूक्ष्मतर आहार करने वाला है। "अस्माच्छारीरात्" यानी इस शरीर से अर्थात् वैश्वानर आत्मा से तैजस सूक्ष्म अन्न द्वारा विकसित होता है ॥ ३ ॥

वह यह हृदयतादात्म्यापन्न तैजस अपनी अपेक्षा सूक्ष्मभूत स्वकारण प्राज्ञ प्राण से धारण किया हुआ होकर प्राज्ञ ही हो जाता है। क्रमशः (विश्वाभिन्न) वैश्वानर से (सूत्राभिन्न) तैजस को

---

१. हृदयातादात्म्यापन्न। २. स्वापेक्षया। ३ स्वकारणेन प्राज्ञेन। ४. प्राज्ञ.। ५ अज्ञानावृतः।

वैश्वानरादिति। तच्छब्दो वैश्वानरवाची। प्राप्तस्याध्यात्मादिपरिच्छेदो निवर्तत मुमुक्षोरिति शेषः। स च सूत्रस्य कारणे संहृतो द्रष्टव्यः ॥ प्राणात्मन्युपसंहारोऽत्र सूत्रस्योच्यते न कारणात्मनीत्याशङ्क्य प्राणशब्दार्थमाह—प्राणशब्देनेति। तैजसस्य प्राज्ञे लयाङ्गीकारात्कथं कारणे तल्लयस्तत्राऽऽह—बीजमिति ॥ तुरीयस्य सुवर्णघनवद्विज्ञानघनस्याऽऽप्तेरिष्टत्वात्तदेवोच्यतां कुत स्थूलसूक्ष्मजगद्रूपविश्वतैजसयो प्राज्ञे लयोक्तिरित्याशङ्क्याऽऽह—कार्याणामिति ॥ अकार्यकारणं तुरीयं प्राप्तस्य विदुष. स्वरूपं प्रपञ्चयति—साधयैरिति। प्राणस्य कारणस्याऽऽत्मा सत्तास्फूर्तिद इति यावत्। छान्दसास्तु विसर्गमपि क्वचिदिच्छन्ति ॥

*तस्य प्राची दिगित्यादि। अत्राहुर्वार्तिककाचार्याः—"निर्विभागात्मनस्तस्य प्राञ्चः प्राणाः पुराऽस्य हि। प्राची दिगेव सवृत्तास्तदवच्छेदहानतः ॥ दक्षिणा दक्षिणे प्राणाः प्रत्यञ्चश्चापि पश्चिमाः। उदीची दिगुदञ्चश्च सर्वे सर्वा दिशस्तथा ॥ यत्साक्षिकी तम सिद्धिस्तत्कार्यस्य च लक्ष्यते। तद्भावाभावयोरात्मा न कार्यं नापि कारणम् ॥ तेनैव आत्मनाऽद्वैत उद्भ्रान्तं ध्वान्तजं तथा। जाघ्वा नित्यात्मना विद्वान्पूर्णदृष्ट्याऽवशिष्यते ॥ एष मार्ग उपन्यस्त ऐकात्म्यज्ञानजन्मने। न क्वचिरादिवत्तस्य प्राप्तये गतिकल्पना ॥ आत्मत्वादाप्ततत्त्वोऽयं न देशाद्यन्तरायवान्। ज्ञानं मुक्त्वा ततः प्राप्तौ नान्यत्किंचिदपेक्षते" ॥ ८९-९१ ॥ इति। विश्वतैजसप्राज्ञतुरीयाण्युक्तानि तत्राऽऽद्यावेव मृत्युक्तौ न प्राज्ञादीत्याशङ्क्य तस्य प्राचीत्याद्यवतार्य व्याकरोति—निर्विभागेति। अध्यात्मादिपरिच्छिन्नाः प्राणाः सर्वासु दिक्षु स्थिताः प्राणशब्दाः। विदुषो हि कारणरूपस्य परिच्छेदनाशात्तत्प्राणरूपं सर्वदिङ्मात्रं संवृत्तं

प्राणाः सर्वा दिशः [1]सर्वे प्राणाः स एष नेति नेत्यात्मा-
ऽगृह्यो न हि गृह्यतेऽशीर्यो न हि शीर्यतेऽसङ्गो
न हि सज्यतेऽसितो न व्यथते न रिष्यत्यभयं[2]
वै जनक [3]प्राप्तोऽसीति होवाच याज्ञवल्क्यः ।

किंबहुना, समस्त दिशाएं उसके समस्त प्राण हैं। वह यह "नेति नेति" शब्द से बतलाया गया आत्मा अग्राह्य है, क्योंकि वह ग्रहण नहीं किया जाता। वह अशीर्य है क्योंकि उसका नाश नहीं होता। असंग है क्योंकि वह कहीं सक्त नहीं होता। बन्धनरहित है क्योंकि वह पीडित तथा हिंसित नहीं किया जा सकता। याज्ञवल्क्य ने कहा—हे जनक! तुम निःसन्देह अभय पद को प्राप्त कर चुके हो।

---

[1]तस्यास्य विदुषः क्रमेण [2]वैश्वानरात्तैजसं प्राप्तस्य हृदयात्मानमापन्नस्य हृदयात्मनश्च [7]प्राणात्मानमापन्नस्य प्राची दिक्प्राञ्चः प्राग्गताः प्राणाः। तथा दक्षिणा दिग्दक्षिणे

गात्मा प्राज्ञो गृह्यते। एवं भूमिकां कृत्वा वाक्यमादाय व्याकरोति—तस्येत्यादिना। तैजसं

उससे हृदयात्मा को और हृदयात्मा से प्राणात्मभाव को प्राप्त हुए इस प्रकृत विद्वान् के प्राची दिशा

---

१. सर्वे प्राणा इति—यथा चोपाधिभूतानां प्राणानां कारणे लयं दर्शयन्ती श्रुतिरुपहितस्यापि सूत्राभिन्नस्य तैजसस्य प्राज्ञाभिन्नकारणात्मनीश्वरे उपसंहारोऽर्थादुक्त एवेति मत्वा तस्येश्वरात्मभूतस्योपासितुरीश्वरस्योपाधिनिर्मुक्तं स्वरूपमाह—स एष इत्यादिना रिष्यतीत्यन्तेनोक्तार्थेन। २. एवं ब्राह्मणाभ्यामुक्तोपासनवशात् उत्पन्नं स्वात्मज्ञानफलं मुनिरुक्तवानित्याह—अभयमिति। संसारनिर्मुक्तं वस्तु प्राप्यते संसारात्मिका गवाश्वादिरूपा दक्षिणा न स्यादित्येतल्लक्ष्य राजाऽपि मुनयेऽभयदक्षिणामेव प्रादादिति ध्येयम्। यद्यपि मुनिः पुरस्तादेव प्राप्ताभयस्तथापि पूर्वोक्तं ब्रह्मात्मनि समानुभवान्तं ज्ञानमत्रनिष्ठेति ज्ञापनार्थं राजाऽभयं मुनये प्रोवाचेति बोध्यम्। ३. प्राप्तोऽसीति निर्देशस्य तात्पर्यमाह वार्तिके—"प्राप्तोऽसीति निर्देशाज्ज्ञानमेवाऽऽत्मनो गतिः। ज्ञानादन्यद्गतिश्चेत्स्यात्प्राप्स्यसीत्येव स वदेत्" ॥ ९५ ॥ इति। अचिरादिमतिपक्षेऽप्येव निर्देशः स्यादिति चेत्तत्राऽऽह—ज्ञानादिति। ४. प्रकृतस्य। ५. विश्वाभिन्नात्। ६. सूत्राभिन्नम्। ७. प्राणात्मानमिति—तस्य विदुषः प्राञ्चः प्राणाः प्राग्दिशं गच्छन्तीति प्राञ्चः प्राणा नामा द्वाराऽपन्नः सन्तस्तः प्राची दिगेव सर्वत्र कारणात्मन्येव लीना इति यावत्। विदुषो हि कारणरूपस्य परिच्छेदनाशात् तत्तत्प्राणरूप तत्तद्दिङ्मात्रं सर्वत्र ताश्च चरमपर्यायोक्तप्राणे मूलकारणे प्राज्ञे लीयन्ते कारणे तुरीये प्रतीचीति भावः। सर्वा दिशः सर्वे प्राणा इति चरमपर्याय।

ताश्च चरमपर्यायोक्तप्राणे मूलकारणे प्राज्ञे लीयन्ते कारणे तुरीये प्रतीचीत्यर्थः ॥ कारणस्य न प्रतीचि लयस्तस्यैव कारणत्वात्तस्मिन्नेव स्वलयायोगादित्याशङ्क्याऽऽह—यदिति ॥ अज्ञानतज्जयोस्तद्भावाभावयोश्च यतः सिद्धिस्तस्य प्रतीचस्तद्वैलक्षण्ये सिद्धे फलितमाह—तेनैवेति। एतेन स एष नेति नेत्यादि व्याख्यातम्। विद्याद्युक्तिफलमुपसंहरति—एष इति। तद्द्वारा मोक्षायेत्यर्थः। मुख्यमार्गं व्यावर्तयति—न त्विति ॥ परविदोऽपि गतिरर्चिरादा वाच्येति वैचित्र्यात्तदनुगुणा नाडी स्यादित्याशङ्क्याऽऽह—आत्मरत्नादिति। विद्वानत्र विशेष्यते। तर्हि ज्ञानमपि नानैकान्तिकमित्याशङ्क्य व्यवधानभङ्गार्थं तदपेक्षेति विवक्षित्वाऽऽह—ज्ञानमिति ॥

[1]स होवाच जनको वैदेहोऽभयं त्वा गच्छताद्याज्ञ-
वल्क्य यो नो भगवन्नभयं वेदयसे नमस्तेऽस्त्विमे
विदेहा अयमहमस्मि ॥ ४ ॥

इति बृहदारण्यकोपनिषदि चतुर्थाध्यायस्य
द्वितीयं ब्राह्मणम् ॥ २ ॥

तब विदेहराज जनक ने कहा— हे भगवन् ! जो आपने मुझे अभय पद का बोध कराया है, उन आप सद्गुरुदेव को अभय पद प्राप्त हो (क्योंकि इस अमूल्य उपदेश के बदले अन्य कुछ भी नही है)। अतः आपको नमस्कार है। यह विदेह देश एवं हम सब आपके अधीन हैं, कृपया इन सभी को यथायोग्य उपदेश करें॥ ४॥

॥ इति द्वितीयं ब्राह्मणम् ॥

प्राणाः। तथा प्रतीची दिक्प्रत्यञ्चः प्राणाः। उदीची दिगुदञ्चः प्राणाः। ऊर्ध्वा दिगूर्ध्वाः प्राणाः। अवाची दिगवाञ्चः प्राणाः। सर्वा दिशः सर्वे प्राणाः। [3]एवं विद्वान्क्रमेण सर्वात्मकं [4]प्राणमात्मत्वेनोपगतो भवति। [5]तं सर्वात्मानं प्रत्यगात्मन्युपसंहृत्य [6]द्रष्टुर्हि द्रष्टृभावं

प्राप्तस्येदृशस्य व्याख्यानं हृदयात्मानमापन्नस्येति। उक्तमर्थं संक्षिप्याऽऽह—एवं विद्वानिति। विश्वस्य जागरिताभिमानिनस्तैजसे तस्य च स्वप्नाभिमानिनः सुषुप्त्यभिमानिनि प्राज्ञे क्रमेणान्तर्भावं जानन्नित्यर्थः। स एव नेति नेत्यात्मेत्यादेर्भूमिकां करोति—तं सर्वात्मानमिति। [7]तत्र वाक्यमवतार्य

पूर्वगत प्राण हैं, तथा दक्षिण दिशा दक्षिण प्राण हैं, उत्तर दिशा उत्तर प्राण हैं, ऊर्ध्व दिशा ऊर्ध्व प्राण हैं, नीचे की दिशा नीचे के प्राण हैं और सम्पूर्ण देवता सम्पूर्ण प्राण हैं। इस प्रकार विद्वान् क्रमशः सर्वात्मक प्राज्ञभिन्न ईश्वराख्य प्राण को आत्मभाव से प्राप्त हो जाता है। उस सर्वात्मा प्राणाख्य प्राण को प्रत्यगात्मा में उपसंहार कर प्रमाता के साक्षिभूत 'नेति नेति' इस प्रकार निखिलनिषेधावधिभूत तुरीय आत्मा को प्राप्त हो जाता है। इस क्रम से यह विद्वान् जिसे प्राप्त होता है; वह यह 'नेति नेति'

---

१. एतावता अभयं तद् वक्ष्यामीति प्रतिज्ञातज्ञानसिद्धिर्मयि जातेति बोधयन् पूर्वदक्षिणाया ज्ञानानुरूपत्वेन दक्षिणान्तरं प्रतिजज्ञे इत्याह—स होवाचेति। २. इमे विदेहा इति। "भवानप्यहमेवेति यदा साक्षाद्विनिश्चयः। विदेहादि तदा विश्वं स्वतः कस्येति भण्यताम् ॥ ममैव भवतोऽपीदं न च किंचिदमन्यथा" ॥ वा. १११-११२॥ स्वतोऽन्यस्येति शेष.॥ दक्षिणाप्रदानं तावदुपचारदृष्ट्या वस्तुतस्तु—"अभावाच्च त्वदन्यस्य सर्वमात्मेति शासनात्। अहं ममेत्यविद्यायी. सहेतुर्नाशिता यदा। पूर्णात्मनि तदा दृष्टे क. कस्मै किं प्रदित्सति" ॥वा. ११३॥ इति। ३. एवं क्रमेणेत्यन्वयः। ४. प्राज्ञाभिन्नमव्याकृतम्। ५ प्राणाख्यं प्राणम्। ६. प्रमातुरपि साक्षिभूतम्। ७. निषेधेऽर्थे।

नेति 'नेतीत्यात्मानं तुरीयं प्रतिपद्यते । यमेष' विद्वाननेन' क्रमेण प्रतिपद्यते स एष नेति नेत्यात्मेत्यादि न रिष्यतीत्यन्तं 'व्याख्यातमेतत् । अभयं वै 'जन्ममरणादिनिमित्तभयशून्यं हे जनक प्राप्तोऽसीति हैव किलोवाचोक्तवान्याज्ञवल्क्यः । तदेत'दुक्तमथ वै तेऽहं तद्वक्ष्यामि यत्र गमिष्यसीति' । स होवाच जनको वैदेहो*ऽभयमेव त्वा त्वामपि गच्छतात्गच्छतु यस्त्वं

'पूर्वोक्त व्याख्यानं स्मारयति—यमेष इति । तुरीयादपि प्राप्तव्यमन्यदभयमस्तीत्याशङ्क्याऽऽह—अभयमिति । गन्तव्यं वक्ष्यामीत्युपक्रम्यावस्थात्रयातीतं तुरीयमुपदिशन्नाऽऽम्नातुं 'कोविदारानाचष्ट इति-न्यायविषयता "नातिवर्ततेत्याशङ्क्याऽऽह—तदेतदिति । विद्याया दक्षिणान्तराभावमभिप्रेत्याऽऽह—स

इस प्रकार निखिलनिषेधावधिभूत आत्मा है। 'नेति नेति' से लेकर "रिष्यति" तक की व्याख्या (बृ उ ३ ६ २६ मे) पहले की जा चुकी है। हे जनक ! तुम "अभयम्" अर्थात जन्म मरणादिनिमित्तक भय यानी अज्ञान से शून्य ब्रह्म को प्राप्त हो चुके हो। इस प्रकार निश्चयपूर्वक याज्ञवल्क्य "उवाच" यानी बोले। इस प्रकार इसका उपपादन कर दिया। अब तुझे (जो प्रतिज्ञा की थी) उस बतलाऊँगा कि तुझे कहाँ जाना है। उस वैदेह जनक ने कहा—हे पूज्य याज्ञवल्क्यजी ! आप जो हमें ब्रह्मज्ञान करा रहे हैं अर्थात् उपाधिकृत अज्ञान के व्यवधान का अपनोदन कर रहे हैं, इसके लिए "त्वा गच्छतात्"

१ निखिलनिषेधावधिभूतम् । २ एष प्रकृत । विद्वान् विश्वादेस्तैजसादावन्तर्भाव जानन् । ३ प्रदर्शितेन । ४ बृ० उ० ३।६।२६ । ५ अभ्येति—जन्मादिनिमित्त भयम् अज्ञान तद्रहित ब्रह्मैव प्राप्तोऽसीत्यर्थं । ६. उपपादितम् । ७ यत्प्रतिज्ञातमासीत् । ८ बृ० उ० ३।६।२६ । ९ कचनाल इति ख्यातान् । १०. मुनि ।

*अभय त्वा गच्छतादित्यादि । 'अभयस्य प्रदातृत्वात्सम्यवाप्ताभयो गुरु । अभय त्वामिति कथ राज्ञाऽऽस्यीस्त प्रतीयते ॥ इत्यस्य परिहारोक्ति केचिदाचक्षते मुधा । शब्दादवाप्तमभय न तु साक्षाच्चकार तत् ॥ साक्षात्करण-सिद्धयर्थमतो राजाऽब्रवीन्मुनिम् । अभय त्वामिति वदन्तदभस्याप्राप्तमुच्यत ॥ यदि वा द्विविधो मोक्षो जीवतयेव शरीरके । एक साक्षात्कृतब्रह्मा मृतेरूर्ध्व च तल्लय ॥ एव परिजिहीर्षन्ति न तु व्याख्येतिरीदृशी । प्राप्तोऽसीति मुनेरुक्त परिहारो न युज्यते ॥ तज्ज्ञानमात्रमेवोक्त्वा प्राप्तोऽसीति यतोऽवदत् । तत्साक्षात्करणादन्यस्तल्लयो वाञ्छ इष्यते ॥ शाब्दविज्ञानमात्रेण नाऽऽचार्यत्वे नियुज्यते । श्रोत्रिय ब्रह्मनिष्ठ च गुरु यायादिति श्रुते ॥ अभय वेदयसीत्येतच्च साक्षात्कृते परे । शाब्दमात्रपरिज्ञाने राज्ञो युक्त प्रभाषितुम् ॥ असाधारणधर्मोत्थ विज्ञान वस्तुनि प्रमा । शब्दमात्रप्रमोत्थ तु न मान वस्त्ववभासयात् ॥ साक्षात्कृतैकतत्त्वस्याप्यैकात्म्यप्रचय प्रति । किं समाशङ्क्यते येन सदाशी सप्रयुज्यते ॥ ज्ञानानुरूपामेवाता दक्षिणा दित्सुरब्रवीत् । अभय त्वामिति नृपो यथोक्तज्ञानलिङ्गनम्" ॥ ९९-१०१ ॥ इति । राज्ञा प्रयुक्तामाशिषमाक्षिपति,—अभयस्येति ॥ भर्तृप्रपञ्चोक्त परिहारमाह—इत्यस्येति । तामेव व्यनक्ति—शब्दादिति ॥ परोक्षज्ञानित्वे गुरो राजाशी सफलेति फलितमाह—साक्षादिति । यदपि तेन प्राप्तमेवाऽऽचार्यत्वात् "उपदेक्ष्यन्ति ते ज्ञान ज्ञानिनस्तत्त्वदर्शिन" इति स्मृतेरित्याशङ्क्याऽऽह—सद्वीति । नास्याभय साक्षादाप्तम यथा मुक्तस्यानुशासनायोगात् । उक्त हि—प्राप्तमभय याज्ञवल्क्येन नाप्राप्त न तु साक्षात्कृतमिति । अतो राजाशीरुचितेत्यर्थ ॥ तैरेवोक्त परिहारान्तरमाह—यदि वेति । यथाऽऽहुर्द्विविधो मोक्षोऽस्मिन्नेव शरीरे साक्षात्कृतब्रह्मा मुक्त इत्युच्यते न ब्रह्मणि लीनस्तस्य शरीरपातोत्तरकाल ब्रह्मणि लयो

नोऽस्मान्हे याज्ञवल्क्य भगवन्यो नोऽभयं ब्रह्म 'वेदयसे ज्ञापयसि प्रापितवानुपाधिभूताज्ञानव्यवधानापनयनेनेत्यर्थः। किमन्यदहं विद्यानिष्क्रयार्थं प्रयच्छामि साक्षादात्मानमेव दत्तवते'। 'अतो नमस्तेऽस्त्विमे विदेहास्तव यथेष्टं भुज्यन्तामयं चाहमस्मि दासभावे

होवाचेति। कथं पुनरन्यस्य स्थितस्य नष्टस्य वाऽन्यप्रापणमित्याशङ्क्याऽऽह—उपाधीति'। पश्चादिकं दक्षिणान्तरं संभवतीत्याशङ्क्य तस्योक्तविद्यानुरूपत्वं नास्तीत्याह—किमन्यदिति। वस्तुतो दक्षिणान्तराभावमुक्त्वा 'प्रतीतिमाश्रित्याऽऽह—अत इति। अक्षरार्थमुक्त्वा वाक्यार्थमाह—यथेष्टमिति॥२॥

इति बृहदारण्यकोपनिषद्भाष्यटीकायां चतुर्थाध्यायस्य द्वितीयं ब्राह्मणम्॥ २॥

अर्थात् आप भी अभय को प्राप्त करें। साक्षात् आत्मा का दान करने वाले आप गुरुजी को मैं इस विद्या के बदले क्या दूं? इसलिये (अन्य किसी योग्य दक्षिणा के अभाव में) आपको नमस्कार है। यह विदेह

१ वेदयस इति। वार्तिके यथा—"यच्चाभयं वेदयस इति प्रयुक्तवान्नृप.। तत्समोऽस्त्वितरः कार्यं नान्यदस्तीति लिङ्ग्यते" ॥ ६८ ॥ इति। ज्ञानस्याज्ञाननिवृत्त्यतिरेकिफलं देशान्तरप्राप्त्याद्यस्ति नास्ति ततो न गतिरिति वर्तमानव्यपदेशात्सिद्धमिति वार्तिकार्थः। २. तुभ्यं गुरवे इति शेषः। ३ अतः—योग्यदक्षिणान्तराभावात्। ४ तथा चाभ्यस्त्वमेव नासीदिति भावः। ५. उक्तविद्यानुरूपत्वं नास्तीति। "ज्ञानतुल्याममन्वानो दक्षिणा गुरवे नृपः। अभयं त्वामिति प्राह याज्ञवल्क्यं स पार्थिवः" ॥ ६९ ॥ इति वार्तिकोक्ते.। ६. व्यवहारदृष्टिम्।

द्वितीयो मोक्षः स त्वाशासितव्य इति। आत्यन्तिके मोक्षे साधनान्तरेणाऽऽशीर्वादादिना साध्यमिति मत्वा परोक्तं परिहारमुपसंहरति—एवमिति। निराकरोति—न तिवति। कथं न्यायबाह्या द्विधापरिहारोक्तिस्तत्राऽऽह—प्राप्तोऽसीति॥ तथाऽपि कथं परिहारयोरन्याय्यत्वं तत्राऽऽह—तज्ज्ञानेति। प्रतीचो ब्रह्मत्वस्य स्वतः सिद्धेस्तज्ज्ञानादज्ञानहानिव्यतिरेकेण ब्रह्मसाक्षात्कारस्तल्लयो वा न संभवत्यतो नाऽऽशीर्वादाद्युपायान्तरापेक्षा मोक्षस्यास्तीत्यर्थः॥ यत्तु मुनिना शब्दात्प्राप्तमेव पारोक्ष्येणाभयं ब्रह्म न साक्षात्कृतमिति तत्राऽऽह—शाब्देति। परोक्षज्ञानमात्रेणाऽऽचार्यत्वाभावे श्रुतिं प्रमाणयति—श्रोत्रियमिति॥ इतश्च मुनिः साक्षात्कृतब्रह्मेत्याह—अभयमिति। ब्रह्म वेदयसीत्युक्ते राज्ञस्तावत्साक्षात्कारोऽवगम्यते वेदनस्यानुभवत्वात्तेनैव गुरोरपि सोऽनुमीयते भगवता तस्य तत्त्वदर्शित्वविशेषणादित्यर्थः॥ वेदयसीति शाब्दं परोक्षज्ञानमेव ब्रह्मविषयं किं नोच्यते तत्राऽऽह—असाधारणेति। एवमुत्सर्गेऽपि प्रस्तुते किं जातं तदाह—शब्देति। न हि परोक्षं ज्ञानं वस्त्वनुसरति तस्य साक्षात्परोक्षादित्यादिलक्षणत्वादित्यर्थः॥ यत्तु देहपातोत्तरकालं ब्रह्मणि लयो द्वितीयो मोक्षः स चाऽऽशासितव्य इति तत्राऽऽह—साक्षादिति। तदाशीर्ब्रह्मणि लयं प्रत्याशीरिति यावत्॥ परपक्षासंभवमुक्त्वा स्वपक्षमाह—ज्ञानेति। प्राप्ताभये मुनौ किमित्येवं राजोक्तवान्दक्षिणान्तरं तु देयं तदभावे मौनमुचितमित्याशङ्क्याऽऽह—यथोक्तेति। पूर्वोक्ते ब्रह्मात्मनि ममानुभवान्तं ज्ञानं जातमिति ज्ञापनार्थमेवमुक्तवानित्यर्थः॥

अभयं त्वा गच्छतादित्यादि। अत्र वार्तिककारस्त्वथाहि—"ज्ञानेन सदृशीमन्यामपश्यन्गुरुदक्षिणाम्। अभयं त्वेति वचसा दक्षिणामाशिषं ददौ॥ वेत्ति ब्रह्म मुनिः शब्दान्न तु साक्षाच्चकार तत्। साक्षात्त्वं च एवाशीरित्येवं केचिदूचिरे॥ साक्षात्कृतब्रह्मतत्त्वो जीवन्मुक्तो मुनिः स्थितः। आशीर्विदेहमोक्षायेत्याहुरन्ये द्वयं न तत्॥ शाब्दविज्ञानमात्रेण नाचार्यत्वे नियुज्यते। श्रोत्रियं ब्रह्मनिष्ठं च गुरुं यायादिति श्रुतेः॥ जीवन्मुक्तस्य पतिते देहे मुक्तिः सुनिश्चिता। तत्राप्याशीरतो मा भूद्दक्षिणार्थैव सा ततः॥ उत्तमा दक्षिणैवाशीर्मध्यमा तु नमस्क्रिया। स्वभूमिवपुषोर्दानं वित्तशाठ्यनिवृत्तये॥ दक्षिणा त्रिविधाप्येषा व्यावहारिकदृष्टितः। वस्तुदृष्ट्या तु नैवास्ति दक्षिणा न प्रतिग्रहः" ॥ इति।

स्थितो यथेष्टं मां राज्यं च [1]प्रतिपद्यस्वेत्यर्थः ॥ ४ ॥

इति बृहदारण्यकोपनिषद्भाष्ये चतुर्थाध्यायस्य
द्वितीयं ब्राह्मणम् ॥२॥

अथ चतुर्थाध्यायस्य तृतीयं ब्राह्मणम् ।

जनकं ह वैदेहं याज्ञवल्क्यो जगामेत्यस्या[2]भिसंबन्धः । विज्ञानमय आत्मा साक्षा[3]दपरोक्षाद्ब्रह्म सर्वान्तरः पर एव । नान्यो[4]ऽतोऽस्ति द्रष्टा नान्य[5]दतोऽस्ति द्रष्टृ[6]इत्यादिश्रुतिभ्यः । स एष इह प्रविष्टो वदनादिलिङ्गोऽस्ति [7]व्यतिरिक्त इति मधुकाण्डेऽजातशत्रुसंवादे प्राणादिकर्तृत्वभोक्तृत्वप्रत्याख्यानेनाधिगतोऽपि सन्पुनः प्राणनादिलिङ्गमुपन्यस्यौषस्ते प्रश्ने प्राणनादिलिङ्गो यः सामान्येनाधिगतः प्राणेन प्राणितीत्यादिना दृष्टेर्द्रष्टे-

---

पूर्वस्मिन्ब्राह्मणे जागरादिद्वारा [8]तत्त्वं निर्धारितं संप्रति ब्राह्मणान्तरमवतार्य तस्य पूर्वेण संबन्धं प्रतिजानीते—जनकमिति । तमेव संबन्धं वक्तुं [9]तृतीये वृत्तं कीर्तयति—विज्ञानमय इति । यद्ब्रह्म साक्षादपरोक्षात्सर्वान्तर आत्मा स [10]पर एव [11]विज्ञानमय आत्मेत्यत्र हेतुमाह—नान्य इति । विज्ञानमय परत्वेऽत्र वाक्यान्तरं पठति— स एष इति । [12]वदन्वागित्यादावुक्तमनुवदति—वदनादीति । तार्तीयमर्थमनूद्य [13]चातुर्थिकमर्थमनुवदति—अस्तीति । यदि मधुकाण्डे गार्ग्यकाश्यसंवादे प्राणादीनां कर्तृत्वादिनिराकरणेन तेभ्यो व्यतिरिक्तोऽस्ति विज्ञानात्मेति [14]सोऽधिगतस्तर्हि किमिति [15]पञ्चमे [16]तस्सद्भावो व्युत्पाद्यते तत्राऽऽह—पुनरिति । यद्यपि विज्ञानमयसद्भावश्चतुर्थे स्थितस्तथाऽपि पुनरौषस्ते प्रश्ने यः

राज्य आपका ही है, इसे यथेष्ट उपभोग करें; अर्थात् भोग्यस्वरूप से राज्य को एवं दास्यभाव से मुझ को स्वीकार करें ॥ ४ ॥

इस प्रकार बृहदारण्यकोपनिषत् चतुर्थाध्याय द्वितीय ब्राह्मण के शाङ्करभाष्य
का हिन्दीभाषानुवाद सम्पन्न हुआ ॥ २ ॥

"जनक ह वैदेहं याज्ञवल्क्यो जगाम" इस श्रुति का अतिक्रान्त ब्राह्मण से संबन्ध है। विज्ञानमय आत्मा साक्षात् अपरोक्ष सर्वान्तर परब्रह्म ही है। "इस त्वंपदार्थ से भिन्न कोई द्रष्टा नहीं है, और इस तत्पदार्थ से भिन्न कोई द्रष्टृ नहीं है" इत्यादि श्रुतियाँ इसमें प्रमाण है। "वह यह व्याकर्ता पुरुष इस वर्तमान देह में (नख से शिखापर्यन्त) प्रवेश किये हुए है, वदनादिलिङ्ग वाला है, प्राणादि से व्यतिरिक्त है", इस प्रकार प्राणादि के कर्तृत्वभोक्तृत्व के निराकरण द्वारा मधुकाण्ड अजातशत्रुसंवाद में ज्ञात होने पर भी पुनः उषस्त के प्रश्न में 'जो प्राण से प्राणन करता है' इत्यादि श्रुतिवाक्य द्वारा प्राणनादि लिङ्ग को प्रस्तुत करके सामान्य रूप से प्राणनादि लिङ्ग वाला जाना गया है।

---

१. प्रतिपद्यस्व—स्वीकुरु राज्यं भोग्यत्वेन मां च दास्यत्वेनेत्यर्थः । २ अतिक्रान्तेन ब्राह्मणेन । ३. अपरोक्षम् । ४. इतः त्वंपदार्थादन्यभिन्नद्रष्टा नास्तीत्यर्थः । ५ इतः तत्पदार्थादन्याभिन्नद्रष्टा नास्तीत्यर्थः । ६ बृ० उ० ३।४।७ । ७ प्राणादिभ्यो व्यतिरिक्तः । ८ तुरीयं वस्तु । ९ उपनिषत्क्रमेण तृतीयाध्याये । १० तत्पदार्थ एव । ११. त्वंपदार्थः । १२ बृ० उ० २।१।१७ । १३ बृहदारण्यकक्रमेण । १४ विज्ञानात्मा । १५. तस्याभिमतत्वे । १६. उपनिषत्क्रमेण तृतीये । १७ विज्ञानात्मा ।

त्यादिनाऽलुप्तशक्तिस्वभावोऽधिगतः ।

तस्य च परोपाधिनिमित्तः संसारो यथा रज्जूषरशुक्तिकागगनादिषु सर्पोदकरजततलमलिनत्वादि पराध्यारोपणनिमित्तमेव न स्वतस्तथा निरुपाधिको निरुपाख्यो नेति नेतीति व्यपदेश्यः साक्षादपरोक्षात्सर्वान्तर आत्मा ब्रह्माक्षरमन्तर्यामी प्रशास्तौपनिषदः पुरुषो विज्ञानमानन्दं ब्रह्मेत्यधिगतम् ।

तदेव पुनरिन्धसंज्ञः प्रविविक्ताहारस्ततोऽन्तर्हृदये लिङ्गात्मा प्रविविक्ताहारतर

'प्राणेन प्राणितीत्यादिना प्राणनादिलिङ्गमुपन्यस्य तल्लिङ्गगम्यः सामान्येनाधिगतः स दृष्टेर्द्रष्टेत्यादिना 'कूटस्थदृष्टिस्वभावो विशेषतो निश्चितस्तथा' च पञ्चमेऽपि तद्व्युत्पादनमुचितमित्यर्थः ।

आत्मा कूटस्थदृष्टिस्वभावश्चेत्कथं तस्य संसारस्तत्राऽऽह—तस्य चेति । अज्ञानं तत्कार्यं चान्तःकरणादि परोपाधिशब्दार्थः । संसारस्याऽऽत्मन्यौपाधिकत्वे दृष्टान्तमाह—यथेति । दार्ष्टान्तिकस्यानेकरूपत्वादनेकदृष्टान्तोपादानमित्यभिप्रेत्य दार्ष्टान्तिकमाह—तथेति । यथोक्तदृष्टान्तानुसारेणाऽऽत्मन्यपि परोपाधिः संसार इति यावत् । सोपाधिकस्याऽऽत्मनः संसारित्वमुक्त्वा निरुपाधिकस्य नित्यमुक्तत्वमाह—निरुपाधिक इति । निरुपाख्यत्व वाचां मनसां चागोचरत्वम् । कथं तर्हि तत्राऽऽगमप्रामाण्यं तत्राऽऽह—नेति नेतीति व्यपदेश्य इति । कहोलप्रश्नोक्तमनुवदति—साक्षादिति । अक्षरब्राह्मणोक्तं स्मारयति—अक्षरमिति । अन्तर्यामिब्राह्मणोक्तं स्मारयति—अन्तर्यामीति । शाकल्यब्राह्मणोक्तमनुसंदधाति—औपनिषद इति ।

पाञ्चमिकमर्थमित्थमनूद्यातीते ब्राह्मणद्वये वृत्तमनुभाषते—तदेवेति । यत्साक्षादपरोक्षात्सर्वान्तरं ब्रह्म तदेवाधिगमनोपायविशेषोपदर्शनपुरःसरं पुनरधिगतमिति संबन्धः । षष्ठाचार्यब्राह्मणार्थं संक्षिप्य कूर्चब्राह्मणार्थं संक्षिपति—इन्ध इत्यादिना । इन्धस्य विशेषणं प्रविविक्ताहार इति । हृदयेऽन्तर्यो लिङ्गात्मा स ततो वैश्वानरादिन्धात्प्रविविक्ताहारतर इति योजना । विश्वतैजसावुक्तौ

"वही दृष्टि का द्रष्टा है" इत्यादि वाक्य से अलुप्त दृष्टि स्वभाव वाला जाना गया है।

उसे अज्ञान और उसके कार्य अन्तःकरणादिरूप परोपाधि के कारण संसार प्राप्त होता है, जिस प्रकार रज्जु, ऊसर, शुक्ति और आकाशादि में सर्प, जल, रजत और तलमलिनता आदि की प्रतीति अज्ञानप्रयुक्त अध्यारोप के कारण होती है, स्वतः नहीं, इसी प्रकार निरुपाधिक, निरुपाख्य, 'नेति नेति' इस श्रुतिवाक्य से निर्दिष्ट, साक्षात्, अपरोक्ष, सर्वान्तर, आत्मा ब्रह्म, अक्षर, अन्तर्यामी, प्रशास्ता, औपनिषद पुरुष, विज्ञान आनन्दरूप ब्रह्म है—ऐसा जान लिया गया।

वही फिर सूक्ष्म आहार करने वाला इन्धसञ्ज्ञक वैश्वानर, फिर उससे भी सूक्ष्मतर आहार

१. दृष्टिरित्यर्थः । २. अज्ञानप्रयुक्ताध्यारोपण निमित्तमेव । ३ प्राणोऽपि येन सचेष्टः । ४. प्राणनादिप्रयोजकतया चेतनत्वेनेति यावत् । ५. निर्विकारज्ञानस्वरूपः । ६. पञ्चमस्य तस्मिन् विशेषतो निश्चायकत्वे । ७. ज्ञानस्वरूपो ह्यात्मा तस्माच्च पर भिन्नमज्ञानमेव भवतीत्यभिप्रेत्य परशब्दार्थमाह—अज्ञानमिति । ८. संसारस्य । ९. तस्य निरुपाख्यत्वे । १०. तथा च निषेधमुखेनैव तमागमा वदन्ति न विधिनेत्यदोष इति भावः । ११. प्रकृताध्यायगते षष्ठाचार्यकूर्चसंज्ञके । १२. उपायविशेषो वागादिदेवतासु ब्रह्मदृष्ट्युपास्यः । १३. संजयः ।

स्ततः परेण जगदात्मा प्राणोपाधिस्ततोऽपि प्रविलाप्य जगदात्मानमुपाधिभूतं रज्ज्वादाविव सर्पादिकं विद्यया स एष नेति नेतीति साक्षात्सर्वान्तरं ब्रह्माधिगतम्। एवमभयं परिप्रापितो जनको याज्ञवल्क्येनाऽऽगमतः संक्षेपतः। अत्र च जाग्रत्स्वप्नसुषुप्ततुरीयाण्युपन्यस्तान्यन्यप्रसङ्गेनेन्ध प्रविविक्ताहारतरः सर्वे प्राणाः स एष नेति नेतीति।

इदानीं जाग्रत्स्वप्नादिद्वारेणैव महता तर्केण विस्तरतोऽधिगमः कर्तव्यः। अभयं

प्राज्ञतुरीये प्रदर्शयति—ततः परेणेति। ततस्तस्माद्विश्वात्तैजसाच्च परेण व्यवस्थितो यो जगदात्मा प्राणोपाधिरव्याकृताख्यः प्राज्ञस्ततोऽपि तमप्युपाधिभूतं जगदात्मानं केवले प्रतीचि विद्यया प्रविलाप्य स एष नेति नेतीति यत्तुरीयं ब्रह्म तदधिगतमिति सम्बन्धः। विद्ययोपाधिविलापने दृष्टान्तमाह—रज्ज्वादाविति। अभयं वै जनकेत्यादावुक्तमनुवदति—एवमिति। कूर्चब्राह्मणोक्तमर्थमनुभाषितं संक्षिप्याऽऽह—अत्र चेति। अन्यप्रसङ्गेनोपासनानां क्रममुक्तिफलत्वप्रदर्शनप्रसङ्गेनेति यावत्। तेषामुपन्यासमेवाभिनयति—इन्ध इत्यादिना।

वृत्तमनूद्योत्तरब्राह्मणस्य तात्पर्यमाह—इदानीमिति। आदिशब्दः सुषुप्तितुरीयसंग्रहार्थः। तर्कस्य महत्त्वं चतुर्विधदोषराहित्येनाबाधितत्वम्। अधिगमस्तस्यैव प्रस्तुतस्य ब्रह्मण इति शेषः। कर्तव्य इतीदमिदानीमारभ्यत इति सम्बन्धः। किमिदं ब्रह्मणोऽधिगमस्य कर्तव्यत्वं नाम तदाह—

करने वाला हृदयस्थ लिङ्गात्मा और पुनः उससे भी सूक्ष्म प्राणोपाधिक जगदात्मा जाना गया। फिर रज्जु आदि में सर्पादि के समान उपाधिभूत जगदात्मा का भी ज्ञान द्वारा लय करके 'स एष नेति नेति' इस श्रुतिवाक्य द्वारा साक्षात् सर्वान्तर ब्रह्म जाना गया। इस प्रकार संक्षेपतः शास्त्र द्वारा याज्ञवल्क्य से जनक अज्ञानरहित ब्रह्म को प्राप्त कराया गया है, तर्क के द्वारा नहीं। यहाँ अन्य प्रसङ्ग से इन्ध, विश्व प्रविविक्ताहारतर से तैजस "सर्वे प्राणाः" से प्राज्ञ, "स एष नेति नेति" से तुरीय इत्यादि रूप से जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति और तुरीय का व्याख्यान किया गया है।

अब जाग्रत स्वप्नादि के द्वारा ही महान तर्क से उसका विस्तारपूर्वक निश्चय कराना है।

---

१ ननु युक्तिनः। २ टीकोक्तार्थम्। ३ विश्वतैजसप्राज्ञतुरीयाणि। ४ इन्धो विश्वः। ५ प्रविविक्ताहारतरस्तैजसः। ६ सर्वे प्राणाः प्राज्ञः। ७ स एष नेति नेतीति तुरीयः। ८ निश्चयः। ९ अभयम्—भयहेतुविकाररहितं ब्रह्म। १० विश्वस्त्वन। ११ प्राणोपाधिरिति—प्राणश्चासावुपाधिश्चेति स तथा प्राणकारणत्वात्प्राणः प्रतीचश्चोपाधिरव्याकृताख्यः आनन्दमयनामधेय इत्यर्थः। १२ ततः इत्येतत्सार्वविभक्तिकतसन्तमित्यभिप्रेत्य तदर्थमाह—तमिति। १३ विश्वादिप्राप्तिक्रमेण। १४ स्पष्टयति। १५ चतुर्विधदोषेत्यादि। व्यभिचाराऽसाधारण्याऽसिद्धिबाधानामभावेनाबाधितत्वमदुष्टत्वमित्यर्थं इत्याहुः। वस्तुतस्तु हेत्वाभासचतुष्टयराहित्येन बाधाख्यपञ्चमेनापि तेन राहित्यमित्ययः।

---

*व्याप्यारोपेण व्यापकारोपस्तर्कः। यथा यदि धूमो वह्निव्यभिचारी स्यात्तर्हि वह्निजन्यो न स्यादिति। चतुर्विधदोषरहितो हि तर्कः साधुर्भवति। ते च दोषाः प्रदर्श्यन्ते—आपादकसत्त्वग्रहः, आपाद्यसत्त्वग्रहः, आपाद्यापादकयोर्व्यभिचारः अप्रयोजकत्वं चेति। तत्र च कार्यकारणभावादिमूलकत्वाभावः। प्रकृते च तर्केनास्त्यपतमोऽपि दोषस्तथाहि आपादकस्य वह्निव्यभिचारित्वस्य धूमे सत्त्वग्रहाभावादापाद्यस्य वह्निजन्यत्वाभावस्य सत्त्वनिश्चयाभावादापाद्यापादकयोर्वह्निव्यभिचारित्ववह्निजन्यत्वाभावयोर्व्यभिचाराभावाद्वह्निधूमयोः कार्यकारण-

प्रापयितव्यम् । सद्भावश्चाऽऽत्मनो विप्रतिपत्त्याशङ्कानिराकरणद्वारेण । व्यतिरिक्तत्वं शुद्धत्व स्वयंज्योतिष्ट्वमलुप्तशक्तिस्वरूपत्व निरतिशयानन्दस्वाभाव्यमद्वैतत्वं चाधिगन्तव्यमितीदमारभ्यते ।

आख्यायिका तु विद्यासम्प्रदानग्रहणविधिप्रकाशनार्था । विद्यास्तुतये च 'विशेषतः 'वरदानादिसूचनात् ।

अभयमिति । अधिगन्तव्यमर्थान्तरमाह -सद्भावश्चेति । "प्रागपि सद्भावस्तस्याधिगतस्तत्किमर्थं पुन'स्तादर्थ्येन प्रयत्यते तत्राऽऽह—विप्रतिपत्त्याति । 'बाह्यानां 'विप्रतिपत्त्या 'नास्तित्वशङ्काया तन्निरासद्वाराऽऽत्मन सद्भावोऽधिगन्तव्य इत्यर्थं । आत्मनोऽस्तित्वेऽपि केचिद्देहादौ तदन्तर्भावमभ्युपयन्ति तान्प्रत्याह—व्यतिरिक्त त्वमिति । देहादिव्यतिरिक्तोऽप्यात्मा कर्ता भोक्ता चेत्येके' भोक्तैव केवलमित्यपरे" तान्प्रत्युक्तम्—शुद्धत्वमिति । "तस्य जडत्वपक्ष प्रत्याचष्टे—स्वयज्योतिष्ट्वमिति । "तत्र कूटस्थदृष्टिस्वभावत्व हेतुमाह—अलुप्तेति । "एतेन विज्ञानस्य गुणत्वपक्षोऽपि प्रत्युक्तो वेदितव्य । ये त्वानन्दमात्मगुणमाहुस्तान्प्रत्याह—निरतिशयेनि । आत्मन सप्रपञ्चत्वपक्ष प्रत्याचिशति—अद्वैतत्व चेति ।

ब्राह्मणतात्पर्यमभिधायाऽऽख्यायिकातात्पर्यमाह—आख्यायिका त्विति । विद्याया सप्रदानं शिष्यस्तस्य" ग्रहणविधि श्रद्धादि"प्रकारस्तस्य प्रकाशनार्थमाख्यायिकेति यावत् । प्रयोजनान्तर तस्या दर्शयति—विद्ये ति । कथ कर्मभ्यो विशेषतो विद्याया स्तुतिरत्र लक्ष्यते तत्राऽऽह—वरेति । कामप्रश्नाख्यस्य वरस्य याज्ञवल्क्येन राज्ञे "दत्तत्वात्तेन "चावसरे ब्रह्मज्ञानस्यैव पृष्टत्वादनेन "विधिना विद्यास्तुते

अभय (भयहेतुक अविद्यारहित ब्रह्म) पद की प्राप्ति कराना है। तथा विपरीत ज्ञान की शङ्का को निराकरण द्वारा आत्मा के अस्तित्व को जानना चाहिये। देहादि से व्यतिरिक्तत्व, शुद्धत्व, स्वयप्रकाशत्व, अलुप्तदृष्टिस्वरूपत्व, निरतिशयानन्दस्वाभाव्य और अद्वैतत्व का भी बोध कराना है, इसलिए अग्रिम ज्योतिर्ब्राह्मण ग्रन्थ का प्रारम्भ किया जाता है।

आख्यायिका तो विद्या के दान और ग्रहण की विधि प्रकाशित करने के लिए तथा कर्मों से श्रेष्ठ होने के कारण विद्या की प्रशसा करने के लिए है। विद्यादान का आदि कारण वरदान होने की सूचना से यही बात पुष्ट होता है।

---

१ ज्योतिर्ब्राह्मणम् । २ विशेषत —कर्मभ्योऽधिकमिति यावत् । ३ वरदानादीति—आदिना विद्याप्रदान प्राह्मस्ताभ्यां विद्यास्तुते सूचनादित्यर्थं । अथवा वरदानम् आदि कारण यस्य विद्याप्रदानस्य तनेति पूर्ववत् । ४ तृतीयचतुर्थपञ्चमेषु । ५ आत्मसद्भावाधिगमार्थमिति यावत् । ६ वेदनास्तिकानाम् । ७ विवादेन । ८ आत्मन । [illegible] काणादादय । १० सांख्यादय । ११ आत्मन । १२ स्वयज्योतिष्ट्वे । १३ नित्यज्ञानस्वरूपत्वकथनेन । १४ तत्कर्तृकग्रहणेत्यर्थं । १५ आदिना समादि । १६ पुराऽग्निहोत्रसवादे । १७ इदानीम् । १८ प्रकारेण ।

भावमूलकत्वेनोक्ता प्रयाजकत्वस्याभावाच्चेति । एतद्घटो यदि वह्निव्यभिचारी स्यात्तर्हि वह्निसमानाधिकरणो न स्यादत्र चतुर्णामपि दोषाणां सत्त्वान्न सत्तर्कत्व तथाहि आपादकस्य वह्निव्यभिचारित्वस्यैतद्घटे सत्त्वनिश्चयादापाद्यस्य वह्निसामानाधिकरण्याभावस्याव्यभिचाराद्वह्न्येतद्घटयो कार्यकारणभावाद्यभावेनोक्तप्रयोजकत्वस्य सत्त्वाच्चेति ।

'जनकꣳ ह वैदेहं याज्ञवल्क्यो जगाम 'स मेने न वदिष्य इत्यथ' ह यज्जनकश्च वैदेहो याज्ञवल्क्यश्चाग्निहोत्रे समूदाते तस्मै ह याज्ञवल्क्यो वरं ददौ स ह कामप्रश्नमेव वव्रे तꣳ हास्मै ददौ तꣳ ह सम्राडेव पूर्वं पप्रच्छ ॥ १ ॥

एक बार याज्ञवल्क्य विदेहाधिपति जनक के पास गये। उन्होंने ऐसा निश्चय किया था कि आज मैं कुछ भी नहीं बोलूंगा। पर पहले ही कभी विदेहराज जनक और याज्ञवल्क्य ने अग्निहोत्र के विषय में संवाद किया था। उसी समय याज्ञवल्क्य ने जनक को वरदान दिया था और जनक की इच्छानुसार प्रश्न करना ही उस वरदान के रूप में मांगा था। यह वरदान याज्ञवल्क्य ने उसे दे भी दिया था। अतएव याज्ञवल्क्य से जनक ने आज्ञा लेने के पूर्व ही प्रश्न करना प्रारंभ कर दिया ॥ १ ॥

जनकं ह वैदेहं याज्ञवल्क्यो जगाम। स च गच्छन्नेवं मेने चिन्तितवान्न वदिष्ये किंचिदपि राज्ञे। गमनप्रयोजनं 'तु योगक्षेमार्थम्। न वदिष्य इत्येवंसंकल्पोऽपि याज्ञवल्क्यो यद्यज्जनकः पृष्टवांस्तत्त'त्प्रतिपेदे तत्र को हेतुः 'संकल्पितस्यान्यथाकरण 'सूचनात्साऽप्यत्र' विवक्षितेत्यर्थः।

'तात्पर्यमेवमुक्त्वा व्याख्यामक्षराणामारभते—जनकमित्यादिना। संवादं न करोमीति व्रतं चेत्किमिति गच्छतीत्याशङ्कते—गमनेति। उत्तरमाह—योगेति। अथ हेत्याद्यवतारयति—नेत्यादिना।

वैदेह जनक के पास याज्ञवल्क्य गये। उन्होंने जाते हुए ऐसा "मेने" अर्थात् सोचा कि मैं राजा को कुछ शिक्षा नहीं दूंगा। जनक के पास जाने का प्रयोजन तो योगक्षेम के लिए था। "शिक्षा नहीं दूंगा" ऐसा संकल्प करने पर भी जनक ने जो-जो पूछा, उसे याज्ञवल्क्य ने बतलाया, मन में प्रतिज्ञात से अन्य करने में यहां हेतु क्या था, इस विषय में श्रुति आख्यायिका बतलाती है। इससे पहले कभी

---

१ जनक हेति—"तृतीये ब्राह्मणे स्वप्नसुषुप्त्योरतिविस्तृतिः। क्रियते सौ हि दृष्टान्तौ परलोकविमोक्षयोः॥ देहादिव्यतिरिक्तत्वं स्वप्रभत्वमसङ्गता। स्वप्नप्रसङ्गतस्त्वेतन्त्रयमत्र प्रपञ्च्यते॥ अद्वैतत्वं दृष्टयलोप आनन्दैकस्वभावता। इदं त्रयं सुषुप्तस्य प्रसङ्गेनोपपाद्यते" ॥ इति वा० सा० ॥ २ स मेने न वदिष्य इति—एतेन राज्ञा सहाहं संवदिष्ये इत्याशयवान्याज्ञवल्क्यो वैदेहं जनकं जगामेति वार्तिकोक्तं व्याख्यान्तरम्। ३. नवदिष्ये राज्ञेति संकल्प्य स गतवानित्यत्र वरदानमेव हेतुरित्याशयेन कर्मकाण्डवृत्तामाख्यायिकां स्मारयति—यद्ध यदित्यादिना। ४. तु शङ्कायां किमित्यर्थकः। ५ उक्तवान्। ६ मनसि प्रतिज्ञातस्य। ७. सूचनादिति—विद्यायाः कर्माद्यपेक्षया श्रेष्ठ्याभावे कर्मादिविषयमेव प्रश्नं कुर्यादिति भावः। ८ आख्यायिकायाम्। ९. प्रस्तुतब्राह्मणस्य।

इत्यत्राऽऽख्यायिकामाचष्टे। पूर्वत्र किल जनकयाज्ञवल्क्ययोः संवाद आसीदग्निहोत्रे निमित्ते तत्र जनकस्याग्निहोत्रविषयं विज्ञानमुपलभ्य परितुष्टो याज्ञवल्क्यस्तस्मै जनकाय ह किल वरं ददौ। स च जनको ह कामप्रश्नमेव वरं वव्रे वृतवांस्तं च वरं हास्मै ददौ याज्ञवल्क्यः। तेन वरप्रदानसामर्थ्येनाव्याचिख्यासुमपि याज्ञवल्क्यं तूष्णीं स्थितमपि सम्राडेव जनकः पूर्वं पप्रच्छ। तत्रैवानुक्तिर्ब्रह्मविद्यायाः कर्मणा विरुद्धत्वात्। विद्यायाश्च स्वातन्त्र्यात्। स्वतन्त्रा हि ब्रह्मविद्या सहकारिसाधनान्तरनिरपेक्षा पुरुषार्थ-

---

प्रश्नोत्तरत्वेनेति शेषः। पूर्वत्रेति कर्मकाण्डोक्तिः। नन्वग्निहोत्रप्रकरणे कामप्रश्नो वरो दत्तश्चेत्किमिति तत्रैवाऽऽत्मयाथात्म्यप्रश्नप्रतिवचने नासूचितात तत्राऽऽह—तत्रैवेति। कर्मनिरपेक्षाया ब्रह्मविद्याया मोक्षहेतुत्वादपि कर्मप्रकरणे तदनुक्तिरित्याह—विद्यायाश्चेति। सर्वापेक्षाधिकरणन्यायाच्च तस्याः स्वातन्त्र्यमित्याशङ्क्याऽऽह—स्वतन्त्रा हीति। सा हि स्वोत्पत्तौ "स्वफले वा कर्माण्यपेक्षते। नाऽऽद्योऽभ्युपगमात्। न द्वितीयः। "अत एव चाग्नीन्धनाद्यनपेक्षे"तिन्यायविरोधादित्यभिप्रेत्याऽऽह

जनक और याज्ञवल्क्य में अग्निहोत्रविषयक संवाद हुआ था, तब अग्निहोत्र के विषय में जनक का ज्ञान अधिक देखकर प्रसन्न याज्ञवल्क्य ने उस जनक को वर दिया था। उस समय जनक ने याज्ञवल्क्य से वर माँगा था कि "मैं जो चाहूँ, वही प्रश्न आप से करूँ।" याज्ञवल्क्य ने उसे यही वर दे दिया। उसी वरप्रदान के सामर्थ्य से कुछ कहने की इच्छा न होने पर भी एवं चुपचाप बैठे रहने पर भी पहले राजा जनक ने ही प्रश्न किया। ब्रह्मविद्या का कर्म से विरोध होने के कारण उसका कर्मकाण्ड प्रसङ्ग में वर्णन नहीं किया क्योंकि ब्रह्मविद्या स्वतन्त्र है। सहकारी साधननिरपेक्ष होने के कारण स्वतन्त्र ब्रह्मविद्या

---

१ आख्यायिकामाचष्ट इति—वरदानमेव तत्र हेतुरित्यभिधातुमिति भावः। २ तद्विषयं—तद्विषयक इति यावत्। ३ विज्ञानातिशयम्। ४ कामप्रश्नमिति—यदिष्टमहं भवते प्रश्नं करवाणीत्येवंविधं वरमित्यर्थः। ५ सामर्थ्येनेति—तथाच कामप्रश्नाख्यं वरं प्राप्य पृष्टवति राजनि दत्तवरस्य मुनेस्तूष्णीं भावो नार्हति मिथ्यावादित्वापत्तेरतोऽयं संकल्पितस्यान्यथाकरणमपि न गणयति सत्यसंरक्षणायम् ऋतायमिति श्रुतेरिति भावः। प्रतिज्ञातं सत्यं परिपालयितुमिच्छामीति। मिदितश्रुतिशब्दार्थः। अत्र च वार्तिकोक्तव्याख्यैवादर्तव्या। तदुक्तम्—"राजैव पूर्वं पप्रच्छेत्येतस्माद्गम्यते शुभा। लिङ्गाद्व्याख्योत्तरा पूर्वा न साध्वीत्यप्रमाणतः॥ न वदिष्येऽहमित्यत्र न हेतुर्न वीक्ष्यते। यतोऽसत्योपतस्तस्मात्कृता व्याख्योत्तरा शुभा" ॥ १३ १४ ॥ इति। लिङ्गादिति। अनेन कामप्रश्नवरलाभो विज्ञायत इति भावः। उत्तरा—वार्तिकोक्ता। पूर्वा—भाष्योक्ता। प्रमाणाभावं साधयति—नेति। न हि राज्ञि कामप्रश्नं दत्तवती न वदिष्य तनेति संकल्पोऽवकल्पतेऽनाप्तत्वापत्तेरिति भावः। ६ उक्तनिरपेक्षा सती पुरुषार्थस्य प्रत्यगात्मतमोध्वंसने (मोक्षस्य) साधना—साधिकेत्यर्थः। ७ समाधानतया। ८ अग्निहोत्रप्रकरणे एव। ९ न्यायादिति—युक्तेरित्यर्थः। तथाहि—"सर्वापेक्षा च यज्ञादिश्रुतेरश्ववत्" ३।४।२६। विद्याया स्वोत्पत्तौ सर्वेषामाश्रमकर्मणामपेक्षाऽस्ति कुतः यज्ञादिश्रुतः। "विविदिषन्ति यज्ञेन दानेने"त्यादिना यज्ञादिकर्मणां विविदिषाद्वारा ज्ञानसाधनत्वश्रवणादित्यर्थः। ननु परम्परया ज्ञानोत्पत्तौ कर्मापेक्षावन्मोक्षेऽप्यस्तु तदपेक्षेति तत्राऽऽह—अश्ववदिति। यथाऽश्वो योग्यताबलाद्रथचर्यायां विनियुज्यते न लाङ्गलाकर्षणे तथा कर्मणा मोक्षयोग्यताभावान्नापेक्ष्यत इत्यर्थः। १० अविद्याध्वस्तौ। ११ अत एवेत्यादि ब्र० सू० ३।४।२५। स्वतन्त्रपुरुषार्थत्वादेव ब्रह्मविद्याया न अग्नीन्धनाद्यपेक्षास्ति। अत्राग्नीन्धनशब्देन स्वस्वाश्रमविहितानि कर्माणि लक्ष्यन्ते तथा च विद्याफले मोक्षे नास्ति कर्मापेक्षा रजतादिभ्रमनिवृत्तौ शुक्तिकादिज्ञानस्येवेत्यर्थः।

याज्ञवल्क्य 'किंज्योतिरयं पुरुष इति । आदित्य-ज्योतिः सम्राडिति होवाचाऽऽदित्येनैवायं ज्योतिषाऽऽस्ते पल्ययते कर्म कुरुते विपल्येतीत्येवमेवैतद्या-ज्ञवल्क्य ॥ २ ॥

हे याज्ञवल्क्य ! यह पुरुष किस ज्योति वाला है ? याज्ञवल्क्य ने कहा—हे सम्राट् ! यह पुरुष आदित्य ज्योति वाला है क्योंकि यह आदित्यरूप ज्योति से बैठता है, सभी ओर जाता है, कर्म करता है और कर्म करके नियत स्थान पर लौट आता है। जनक ने कहा—हे याज्ञवल्क्य ! यह ऐसा ही है ॥२॥

साधनेति च ॥ १ ॥

हे याज्ञवल्क्येत्येव संबोध्याभिमुखीकरणाय किंज्योतिरयं पुरुष इति किमस्य पुरुषस्य ज्योतिर्येन ज्योतिषा[1] व्यवहरति सोऽयं किंज्योतिरयं प्राकृतः कार्यकरणसंघात-रूपः शिरःपाण्यादिमान्पुरुषः पृच्छ्यते । किमयं[4] स्वावयवसंघातबाह्येन ज्योतिरन्तरेण व्यवहरत्याहोस्वित्स्वावयवसंघातमध्यपातिना ज्योतिषा ज्योतिष्कार्यमयं पुरुषो निर्वर्त-यतीत्येतदभिप्रेत्य पृच्छति । किंचातो[5] यदि व्यतिरिक्तेन यदि वाऽव्यतिरिक्तेन ज्योतिषा

—सहकारीति । 'इत्यस्माद्धेतोस्तथैवानुक्तिरिति सबन्ध ॥ १ ॥

याज्ञवल्क्यव्रतभङ्गं हेतूकृत्वा जनकस्य प्रश्नमुत्थापयति—हे याज्ञवल्क्येति । अक्षरार्थमुक्त्वा प्रश्नवाक्ये विवक्षितमर्थमाह—किमयमित्यादिना । स्वशब्दो यथोक्तपुरुषविषय । ज्योतिष्कार्यमित्या-सनादिव्यवहारोक्ति । इत्येतदिति कल्पद्वय परामृश्यते । पक्षद्वयेऽपि फल पृच्छति—किंचात इति ।

मोक्षरूप पुरुषार्थ की साधिका है ॥ १ ॥

जनक द्वारा 'हे याज्ञवल्क्य' यह सबोधन अभिमुख करने के लिए है । 'किंज्योतिरय पुरुष' अर्थात् यह पुरुष किस ज्योति वाला है, जिससे अनुगृहीत आसनादि व्यवहार करता है । यह प्राकृत स्थूलसूक्ष्मशरीरसंघातरूप शिर और हाथ आदि अवयवों वाला पुरुष किस ज्योतिवाला है—ऐसे पूछा जाता है । क्या यह कार्यकरणसघात अपने अवयवों से बाहर रहने वाली किसी अन्य ज्योति से व्यवहार करता है अथवा कार्यकरणसघात अपने अवयवों के बीच में रहने वाली ज्योति से ज्योति का कार्य पूरा करता है । इस आशय ही से जनक पूछता है । इन पक्षद्वय मे बाहर रहने वाली अथवा भीतर रहने वाली किसी भी ज्योति से ज्योति का कार्य निष्पन्न होता है, इसका क्या कारण है ? इसमे जो कारण है उसे सुनो । यदि बाहर रहने वाली व्यतिरिक्त ज्योति से ज्योति का कार्य निष्पन्न

---

१ किंज्योतिरिति । देह स्वतो न व्यवहारक्षमोऽचेतनत्वान्मृत्पिण्डवत् । किं चाय पराधीनव्यवहारवान् जडत्वाद्रथादिवदिति भाव । २ अनुगृहीत । ३ आसनादिव्यवहार करोति । ४ स्वेति । कार्यकरण-सघातात् । तदवयवभ्य तेषा समुदायाच्च बाह्य तं रस स्पृष्टमसहित तनत्यर्थं इत्याह । ५ अत — अथ पक्षद्वय विकल्पमित्यर्थं । ६ स्वातन्त्र्यात्मकात् । ७ 'राजा न वदिष्य' इति व्रतभङ्गे । ८. काम-प्रश्नवरदानात्मकम् ।

ज्योतिष्कार्यं निर्वर्तयति । शृणु तत्र कारणम् । यदि व्यतिरिक्तेनैव ज्योतिषा ज्योतिष्कार्यनिर्वर्तकत्वमस्य स्वभावो निर्धारितो भवति ततोऽदृष्टज्योतिःकार्यविषयेऽप्यनुमास्यामहे व्यतिरिक्तज्योतिर्निमित्तमेवेदं कार्यमिति ।

अथाव्यतिरिक्तेनैव स्वात्मना ज्योतिषा व्यवहरति ततोऽप्रत्यक्षेऽपि ज्योतिषि ज्योतिष्कार्यदर्शनेऽव्यतिरिक्तमेव ज्योतिरनुमेयम् । अथानियम एव व्यतिरिक्तमव्यतिरिक्तं वा ज्योतिः पुरुषस्य व्यवहारहेतुस्ततोऽनध्यवसाय एव ज्योतिर्विषय इत्येवं मन्वानः

सप्तम्यर्थे तसिः । उत्तरमाह—शृण्विति । तत्रेति पक्षद्वयोक्तिः । कारणं फलमिति यावत् । प्रथमपक्षमनूद्य स्वपक्षसिद्धिफलमाह—यदीत्यादिना । षष्ठी पुरुषमधिकरोति । यत्र कारणभूतं ज्योतिर्न दृश्यते तत्कार्यं स्वासनाद्युपलभ्यते तत्रापि विषये स्वप्नादाविति यावत् । अनुमानमेवाभिनयति—व्यतिरिक्तेति । विमतमतिरिक्तज्योतिरधीनं व्यवहारत्वात्संमतवदित्यर्थः ।

पक्षान्तरमनूद्य लोकायतपक्षसिद्धिफलमाह—अथेत्यादिना । अप्रत्यक्षेऽपीत्यव्यतिरिक्तमिति च्छेदः । कल्पान्तरमाह—अथेति । अनियमं व्याकरोति—व्यतिरिक्तमिति । तस्मिन्पक्षे व्यवहारहेतौ ज्योतिष्यनिश्चयात्तद्विकारो व्यवहारोऽपि न स्थैर्यमासम्बेतेत्याह—तत इति । व्याख्यातं प्रश्नमुप-

---

होना इसका स्वभाव व्याप्तिग्रह के समय में निश्चित किया जाय तो जहाँ कारणभूत ज्योति नहीं देखी जाती, उस कार्य के विषय में भी हम अनुमान करेंगे कि यह कार्य किसी व्यतिरिक्त ज्योति से सम्पन्न हुआ है (इसलिए सिद्धान्त की सिद्धि हो जाती है)।

और यदि यह अपने से अद्वितीय ज्योति द्वारा ही व्यवहार करता है, तो ज्योति का प्रत्यक्ष न होने पर भी ज्योति का कार्य देखने पर अव्यतिरिक्त ज्योति का ही अनुमान करना होगा। यदि कहो कि पुरुष के व्यवहार के लिए बाह्य और मध्यस्थ ज्योति है तो इसका नियम ही नहीं है, इससे तो

---

१. शीलम् । २. व्याप्तिग्रहसमय निश्चित. । ३ उक्तनिर्धारणात् । ४ अदृष्टेत्यादि । अदृष्ट कारणभूत ज्योतिर्यस्य तथाभूत कार्यं यस्मिस्तत्र विषय इति विग्रह । न च "वसुना. सामर्थ्ये" इति पदस्य शङ्कयं तत्र व्यपेक्षारूपसामर्थ्यस्यैव व्याख्यातत्वात्रापि "नित्य समासेऽनुत्तरपदस्यस्य"ति षत्व प्राप्नोत्युत्तरपदस्थत्वादुक्तं हि—अनुत्तरपदस्थस्येति किम् । परमसर्पि.कुण्डिकेति इति ध्येयम् । ५. अतो राद्धान्तसिद्धिरिति शेषः । ६. अथेति । व्याप्तिग्रहकाले व्यवहर्तुरव्यतिरिक्तेनैव ज्योतिषाऽनुग्रहो गृह्यते चेत्तदा स्वप्नादौ व्यवहारलिङ्गेनाव्यतिरिक्तमेव ज्योतिरनुमेयं ततः सिद्धान्तक्षतिर्देहादेरवात्मत्वप्राप्तेरित्यर्थः । ७ व्यवहर्तुः स्वरूपेण । ८. निरुक्तव्यवहारात् । ९. अवतरणवाक्यम् । १०. अनध्यवसाय इति बहुव्रीहिः । ११. ज्योतिर्विषय इति च षष्ठीतत्पुरुषः प्रथमान्तं पदम् । अथवा ज्योतिषो विषये व्यवहारेऽनध्यवसायोऽध्यवसायाभाव इत्येव वरम् । १२. अस्येति षष्ठी । १३. विमतमिति—आप्तत्वाभीनातिरिक्तमासनादिकार्यमित्यर्थः । स्वप्नादिकालीन तदिति यावत् । १४. सिद्धिरूपं फलम् । १५. तृतीयम् । १६. अनिश्चितज्योतिःसाध्यः । १७. न स्थैर्यमासम्बेतेति—व्यतिरिक्तज्योतिःसाध्योऽयं व्यवहारोऽव्यतिरिक्तज्योतिःसाध्यो वाऽयमित्यन्यतरनिश्चयो न स्यात्तथा च सत्यवश्यनिर्वर्त्येऽपि कर्माणि निषादनमे तमसि प्रवृत्तिर्न स्यादनिश्चयाद्वा कदाचिद्बाह्यं ज्योतिरनुपादायैव प्रवर्तमाना वाह्येतैव गर्तादौ निपतन् कण्टकादौ क्लिश्यतिति व्यवहारो विप्लवेतेत्यर्थः ।

पृच्छति जनको याज्ञवल्क्यं किंज्योतिरयं पुरुष इति ।

नन्वेवमनुमानकौशले जनकस्य किं प्रश्नेन स्वयमेव कस्मान्न प्रतिपद्यत इति । सत्यमेतत् । तथाऽपि लिङ्गलिङ्गिसंबन्धविशेषाणामत्यन्तसौक्ष्म्याद्दुरवबोध्यतां मन्यते बहूनामपि पण्डितानां किमुतैकस्य । अत एव हि सूक्ष्मधर्मनिर्णये परिषद्व्यापार इष्यते । पुरुषविशेषश्चापेक्ष्यते । दशावरा परिषत्त्र्यो वैको वेति ।

संहरति—इत्येवमिति ।

प्रश्नमाक्षिपति—नन्विति । व्यतिरिक्तज्योतिर्बुभुत्सया प्रश्नो भविष्यतीति चेत्तत्राऽऽह—स्वयमेवेति । राज्ञोऽनुमानकौशलमङ्गी करोति—सत्यमिति । किमिति तर्हि पृच्छतीत्याशङ्क्याऽऽह—तथाऽपीति । व्याप्यव्यापकयोस्तत्संबन्धस्य चातिसूक्ष्मत्वादेकेन दुर्ज्ञानत्वात्तज्ज्ञाने याज्ञवल्क्योऽप्यपेक्षित इत्यर्थः । कथं तेषामतिसूक्ष्मत्वं तत्राऽऽह—बहूनामपीति । लिङ्गादिष्वनेकेषामपि विवेकिनां दुर्बोधताऽस्ति किमुतैकस्य तेषु दुर्बोधता वाच्येत्यर्थः । तेषामत्यन्तसौक्ष्म्ये मानवीं स्मृतिं प्रमाणयति—अत एवेति । कुशलस्यापि सूक्ष्मार्थनिर्णये पुरुषान्तरापेक्षाया सत्त्वादेवेति यावत् । पुरुषविशेषो वेदविदध्यात्मविदित्यादिः । तत्र स्मृत्यर्थं संक्षिपति—दशेति । उक्तं हि—

"धर्मेणाधिगतो यैस्तु वेदः सपरिबृंहणः ।
ते शिष्टा ब्राह्मणा ज्ञेयाः श्रुतिप्रत्यक्षहेतवः ॥

ज्योति के विषय में कोई निश्चय ही नहीं होगा । ऐसी मन में चिन्ता करता हुआ जनक याज्ञवल्क्य से पूछता है—वह पुरुष किस ज्योति वाला है ।

(इस पर शङ्का होती है—) किन्तु अनुमानकुशल राजा जनक को प्रश्न करना क्यों अनिवार्य था, उन्होंने स्वयं ही क्यों नहीं इसे जान लिया । (समाधान में कहते हैं—) यह ठीक है, तो भी हेतु साध्य-सबन्धविशेषों की अत्यन्त सूक्ष्मता के कारण राजा उन्हें बहुत से विद्वान् पण्डितों के लिए अगम्य मानता है, एक पण्डित की तो बात ही क्या है । इसी से धर्म जैसे सूक्ष्म तत्त्व के निर्णय के लिए सगोष्ठी आयोजन की आवश्यकता होती है तथा अध्यात्मतत्त्ववेत्ता विशिष्ट पुरुष की भी आवश्यकता होती है । (वेद के जानने वाले) दस पुरुषों, (आचारनिष्ठ) तीन पुरुषों अथवा (तत्त्वनिष्ठ) एक पुरुष की परिषद् होना भी सम्भव है ।

---

१. हेतुसाध्यव्याप्तीनामित्यर्थः । २ राजा । ३ व्याप्ते । ४. अतिसूक्ष्मत्वादिति—पक्षतादिविचाराणां गहनत्वादिति भावः । ५ जनकस्य । ६ कुशलस्यापि तत्र तत्सत्त्वे । ७ मनु० १२।१०९ । ८ धर्मेणेत्यादि । धर्मो ब्रह्मचर्यादि । षडङ्गमीमांसा धर्मशास्त्रपुराणाद्युपबृंहणम् । श्रुतिप्रत्यक्षहेतव इति कि-विधास्ते स्वयं श्रुतितदर्थप्रत्यक्षीकरणे समर्थाः श्रुतिं पठित्वा तदर्थमुपदिशन्ति चान्येभ्य इत्यर्थः । दशावरेति—यदि बहवः मन्वोद्र्वाहिता न संभवन्ति तदा दश अवरा न्यूना वक्ष्यमाणलक्षणा यस्यां सा परिषत् सभा तदभावे त्र्यवरा वा सदाचारा यं धर्मं निश्चिनुयात्तं धर्मत्वेन स्वीकुर्यान्न विसंवददित्यर्थः ॥ त्रैविद्य इति । वेदत्रयसबन्धि-शाखात्रयाध्येतारस्त्रयः । हैतुकः श्रुतिस्मृत्यविरुद्धन्यायशास्त्रज्ञः । तर्की मीमांसात्मकतर्कवित् । नैरुक्तो निरुक्ता-ख्यवेदाङ्गज्ञः । धर्मपाठकः मानवादिधर्मशास्त्रवेत्ता । त्रयश्चेति ब्रह्मचारी गृहस्थो वानप्रस्थश्चेत्येषा दशावरा परिषत्स्यादित्यर्थः ।

तस्माद्यद्यप्यनुमानकौशलं राज्ञस्तथाऽपि तु युक्तो याज्ञवल्क्यः प्रष्टुम् । विज्ञान-कौशलतारतम्योपपत्तेः पुरुषाणाम् । अथवा श्रुतिः स्वयमेवाऽऽख्यायिकव्याजेनानुमान-मार्गमुपन्यस्यास्मान्बोधयति पुरुषमतिमनुसरन्ती ।

याज्ञवल्क्योऽपि जनकाभिप्रायाभिज्ञतया व्यतिरिक्तमात्मज्योतिर्बोधयिष्यञ्जनकं व्यतिरिक्तप्रतिपादकमेव लिङ्गं प्रतिपेदे यथा प्रसिद्धमादित्यज्योतिः सम्राडिति होवाच ।

दशावरा वा परिषद्यं धर्मं परिकल्पयेत् ।
त्र्यवरा वाऽपि वृत्तस्था तं धर्मं न विचारयेत् ।।
त्रैविद्यो हैतुकस्तर्की नैरुक्तो धर्मपाठकः ।
त्रयश्चाऽऽश्रमिणः पूर्वे पर्षदेषा दशावरा ।।
ऋग्वेदविद्यजुर्विच्च सामवेदविदेव च ।
त्र्यवरा परिषज्ज्ञेया धर्मसंशयनिर्णये' इति ।।

'एको वेत्यध्यात्मविदुच्यते ।

कुशलस्यापि राज्ञो याज्ञवल्क्यं प्रति प्रश्नोपपत्तिमुपसंहरति—तस्मादिति । सूक्ष्मार्थनिर्णये पुरुषान्तरापेक्षायाः 'वृद्धसमतत्वादिति यावत् । 'तत्रैव हेत्वन्तरमाह—विज्ञानेति । राज्ञो याज्ञवल्क्या-पेक्षामुपपाद्य पक्षान्तरमाह—अथवेति । 'तथा चात्र राज्ञो मुनेर्वा विवक्षितत्वाभावात्किमिति राजा मुनिमनुसरतीति चोद्यं निरवकाशमिति शेषः ।

प्रश्नोपपत्तौ प्रतिवचनमुपपन्नमेवेति मन्वान"स्तदुत्थापयति—याज्ञवल्क्योऽपीति । व्यतिरिक्ते ज्योतिषि पृष्टे राज्ञोऽभिप्रायस्तदभिज्ञतया तथाविधं ज्योती राजानं बोधयिष्यन्यथाऽतिरिक्तज्योतिरा-वेदकं वक्ष्यमाणं लिङ्गं गृहीतव्याप्तिकं प्रसिद्धं भवति तथा "तद्व्याप्तिग्रहणस्थलमादित्यज्योतिरित्यादिना

इसलिए राजा यद्यपि अनुमान करने में कुशल है, तो भी याज्ञवल्क्य से पूछना उचित ही है क्योंकि पुरुषों के विज्ञान और कौशल का तारतम्य होना सम्भव है । अथवा पुरुष की बुद्धि का अनुसरण करने वाली श्रुति स्वयं आख्यायिका द्वारा याज्ञवल्क्य के बहाने अनुमानमार्ग को प्रस्तुत करके हमें ज्योतिपदार्थ का बोध करा रही है ।

जनक के अभिप्राय को जान लेने पर याज्ञवल्क्य ने भी संघात से व्यतिरिक्त आत्मज्योति का बोध कराने के लिए जनक को व्यतिरिक्त ज्योति का प्रतिपादक लिङ्ग ही बतलाया । यथा—हे

---

१ याज्ञवल्क्यादिरूपेणेति यावत् । २ ज्योतिःपदार्थम् । ३ पुरुषमतिमनुसरन्तीति—पुरुषमतिर्हि संदिग्धार्थं बाधकमेव संगृह्णातीत्यभिसन्धानेत्यर्थः । ४ संघातेति यावत् । ५ ऋग्वेदविदिति—ऋग्यजुःसामवेद-शाखानां येऽध्येतारस्तदर्थज्ञाश्च त्रयः सा धर्मसंदेहनिरासार्थं त्र्यवरा परिषद्बोध्येत्यर्थः । ६ एको वेति । तदुक्तं—"एकोऽपि वेदविद्धर्मं यं व्यवस्येद् द्विजोत्तमः । स विज्ञेयः परो धर्मो नाज्ञानामुदितोऽयुतैरिति ॥ मनु० १२।११३ । तदभावे एकोऽप्यध्यात्मविद्यं धर्मं निश्चिनुयात् स प्रकृष्टो धर्मो विज्ञेयो न वेदरहस्यानभिज्ञानां दशभिः सहस्रैरप्युक्त इत्यर्थः । ७ मन्वादिसमतत्वादिति । ८ कुशलस्यापि राज्ञो मुनिं प्रतिप्रश्ने । ९ तथा च—श्रुतिकर्तृकस्वयंज्योतिष्ट्वबोधनस्य प्रकृतवाक्ये विवक्षितत्वे च । १० प्रतिवचनम् । ११ व्यतिरिक्तज्योतिर्व्यवहारयोर्व्याप्तिग्रहभूमिम् ।

कथम्, आदित्येनैव *[1]स्वावयवसंघातव्यतिरिक्तेन चक्षुषोऽनुग्राहकेण ज्योतिषाऽयं प्राकृतः पुरुष आस्ते उपविशति पल्ययते [2]पर्येति क्षेत्रमरण्यं वा तत्र गत्वा कर्म कुरुते विपल्येति

मुनिरपि 'प्रतिपन्नवानित्यर्थः । व्याप्तिं बुभुत्समानः 'पृच्छति—कथमिति । 'यो व्यवहारः सोऽतिरिक्तज्योतिरधीनो यथा सवित्रधीनो जाग्रद्व्यवहार इति व्याप्तिं व्याकरोति—आदित्येनेति । एवकारं व्याचष्टे—स्वावयवेति । आदित्यापेक्षामन्तरेण चक्षुर्वशादेवायं व्यवहारः सेत्स्यतीत्याशङ्क्याऽऽह—चक्षुष इति । आसनाद्यन्यतमव्यापार'व्यपदेशो व्याप्तिसिद्धेर्मुधा विशेषणबहुत्वमित्याशङ्क्याऽऽह—

सम्राट् ! वह प्रसिद्ध आदित्य ज्योति वाला है—ऐसा उन्होंने कहा । ऐसा किस प्रकार है ? यह प्राकृत पुरुष आदित्य से ही अपने देहावयवसंघात से भिन्न नेत्रेन्द्रिय के अनुग्राहक ज्योति के द्वारा 'आस्ते' यानी बैठता है, 'पल्ययते' अर्थात् क्षेत्र या अरण्य में पर्यटन करता है, वहाँ जाकर कर्म

१ स्व देह । २ पर्यटति । ३. उक्तवान् । ४. राजा । ५. यो व्यवहार इति—जाग्रद्व्यवहारातिरिक्तव्यवहारो व्यवहारकर्त्रतिरिक्तज्योतिःसाध्यो व्यवहारत्वाज्जाग्रद्व्यवहारवदित्युक्तमनुमानमनुसन्धेयम् । ६. आसनादिः । ७ व्यपदेश उपन्यासः ।

*स्वावयवसंघातव्यतिरिक्तेनेति । अत्राहुर्वार्तिककाचार्यास्तथाहि—"देहस्वावयवसंघातजातिसंस्थानतत्क्रिया-देशाद्यन्तर्धिसंतद्भिन्नलक्षणभास्वर-स्वप्रतिष्ठैकभात्वाप्यज्योतिषैव पुमानयम् । आस्ते पल्ययते कर्म कृत्वा भूयो निवर्तते" ॥३४ ३५॥ देहस्य तदवयवानां तेषां संघातस्य देहगता जातिश्च स्थानं च तस्यैव क्रिया च देशकालौ च तेभ्योऽप्यनभिन्नं तद्विलक्षणं प्रभूतप्रकाशमपरतन्त्रं प्रकाशान्तरानपेक्षं यद्भानुलक्षणं ज्योतिस्तेनैवेति योजना ॥ चैतन्यस्य बिम्बं प्रतिबिम्बं तदस्यास्ति इति स तथा चैतन्याभाससमन्वित इत्यर्थः । 'बिम्बं तु प्रतिबिम्बे स्यात् मण्डले बिम्बिकाफले' इति हैमः । "मध्ये जडस्वभावोऽयं ज्योतिषोर्वर्तते पुमान् । बुद्ध्यादिविषयान्तो हि प्रत्यक्चैतन्यबिम्बितः" ॥ ३६ ॥ यथोक्तादित्यज्योतिर्वशादेव देहादिव्यवहारादलमात्मज्योतिषेत्याशङ्क्याऽऽह—मध्य इति । जडस्वभावं पुमांसं जडाजडज्योतिर्द्वयमध्यस्थं विशिनष्टि—बुद्ध्यादीति । चैतन्याभासानुरञ्जनं विना बुद्ध्यादिसिद्ध्यनुपपत्तिद्योतको हिशब्दः ॥ "प्रत्यगेकस्वयंज्योतिः स्थिरमहतनिष्क्रियं-तद्विरुद्धरवीन्द्वादिज्योतिषोर्मोहहेतुकः ॥ मातृमानप्रमेयात्मा कर्तृसाधनकार्यवान् । अज्ञानाद्यादिसंसारधर्मोपायागमात्मकः" ॥३७ ३८॥ के ते ज्योतिषी तत्राऽऽह—प्रत्यगिति । सर्वान्तरस्य सर्वभेदरहितस्य चिदेकतानस्यासङ्गोदासीनस्य प्रतीचः स्थिरस्य कौटस्थ्यं तत्र हेतुर्निष्क्रियेति तद्विरुद्धं ततो यथोक्तज्योतिषो विपरीतं पराग्भूतमनेकं पराधीनप्रकाशं प्रकाश्यसंसृष्टं परिणामीत्यर्थः । मध्ये वर्तते इति पूर्वेण सम्बन्धः । पुरुषशब्दितबुद्ध्यादेरादित्यादिज्योतिर्व्यतिरिक्तज्योतिरपेक्षत्वे को हेतुरित्याशङ्क्य इत्यपेक्षायामुक्तं पुरुषं विशिनष्टि—मोहेति । आत्माज्ञानजो बुद्ध्यादिर्मातृमानमेयकर्तृकर्मकार्यभोक्तृभोगभोग्यात्मा अज्ञानाद्यवानजडज्योतिरपेक्षते स्वतोभानायोगादित्यर्थः ॥ "तद्विरुद्धात्मकेनैव ज्योतिषोद्दीपितेक्षणः । आदित्येन सदैवाऽऽस्ते यात्यायाति करोति च" ॥३९॥ अजडज्योतिषैव तर्हि बुद्ध्यादिव्यवहारसिद्धेरलमितरेणेत्याशङ्क्य दृष्टत्वान्मैवमित्याह—तद्विरुद्धेति । बुद्ध्यादिसंघाताद्व्यवहर्तुर्विपरीतं सदादित्याख्यं ज्योतिस्तेनोत्पादितपरिणामविशेषो बुद्ध्यादिर्व्यवहरतीत्यर्थः ॥ "आदित्यात्परमेतत्ति नाऽऽदित्यस्यावधारणे । पिण्डप्राणादिधर्मेभ्यो वैधर्म्यावधृतो यतः" ॥ ४० ॥ आदित्येनैवायमित्यादित्यात्परस्तादेवकारश्रुतेरासनादिहेतुत्वं तस्याकथायेन तथाऽऽदित्यज्योतिर्व्यतिरिक्तानुग्राहकज्योतिःसिद्धिरित्याशङ्क्याऽऽह—आदित्यादिति ॥ तर्हि किमेवकारेण क्रियते तदाह—पिण्डेति । अनुग्राह्यादनुग्राहकं ज्योतिरतिविलक्षणमिति

अस्तमिति आदित्ये याज्ञवल्क्य किंज्योतिरेवायं पुरुष

हे याज्ञवल्क्य ! पर यह तो बतलावें कि सूर्य अस्त हो जाने पर वह पुरुष किस ज्योति वाला

विपर्येति च यथागतम् । अत्यन्तव्यतिरिक्तज्योतिष्ट्वप्रसिद्धताप्रदर्शनार्थमनेकविशेषणम् । बाह्यानेकज्योतिःप्रदर्शनं च लिङ्गस्याव्यभिचारित्वप्रदर्शनार्थम् । एवमेवैतद्याज्ञवल्क्य ॥२॥

अत्यन्तेति । आसनादीनामेकैकव्यभिचारे देहस्यान्यथाभावेऽपि नानुग्राहकं ज्योतिरन्यथा भवति । अतस्तदनुग्राह्याद्त्यन्तविलक्षणमिति विवक्षित्वा व्यापारचतुष्टयमुपदिष्टमित्यर्थः । तथाऽपि किमर्थमाविर्याद्यनेकपर्यायोपादानमेकेनैव व्याप्तिग्रहसंभवादित्याशङ्क्याऽऽह—बाह्येति । देहेन्द्रियमनोव्यापाररूपं कर्म लिङ्गं तस्य व्यतिरिक्तज्योतिरव्यभिचारसाधनार्थमनेकपर्यायोपन्यासो बहवो हि दृष्टान्ता व्याप्तिं द्रढयन्तीत्यर्थः ॥ २ ॥

करता है, "विपल्येति" अर्थात् पृथिवी में जैसे गया था, वैसे ही वापिस आ जाता है। पुरुष अत्यन्त व्यतिरिक्त ज्योतिष्ट्व की प्रसिद्धि द्योतन के लिए यहाँ अनेक विशेषण दिए हैं। और संघात से बाह्य अनेक ज्योतियों का प्रदर्शन लिङ्ग का अव्यभिचारित्व प्रदर्शित करने के लिए है। जनक बोले—याज्ञवल्क्य ! (देहादि से व्यतिरिक्त ज्योति) यह ऐसी ही है ॥ २ ॥

तथा हे याज्ञवल्क्य ! आदित्य के अस्त होने पर यह पुरुष किस ज्योति वाला होता है।

---

१. भूयस्ततो निवर्तते । २. संघाताद् । ३. उक्तं देहादिव्यतिरिक्तं ज्योतिरङ्गी करोति—एवमेवेति । ४. एकैकेति—एकैकस्यान्यतमस्याभावे सतीत्यर्थः । ५ अन्यथाभावेऽपि—विशिष्टस्य विशेषणाभावादभावेऽपि । तत्तद्विशेषणवतो विलक्षणत्वेऽपीति यावत् । ६. अन्यथा भवति—विलक्षणं भवति । ७. अतः—ज्योतिषोऽनन्यथाभावात् । ८. ज्योतिः । ९. उक्तविषया व्यापारचतुष्टयोपदेशस्य सार्थक्येऽपि । १०. क्रिया । ११ ज्योतिषा सह व्यभिचाराभावः ।

निर्धारयितुमेवकारो नाऽऽदित्यमवधारयितुमित्यर्थः ॥ "आदित्यावधृतिश्चेत्स्यान्नेन्द्रादेः स्यादनुग्रहः । तस्मात्पिण्डादिवैधर्म्यमेवेतीहावधार्यते" ॥ ४१ ॥ विपक्षे दोषमाह—आदित्येति । विवक्षितमेवकारार्थं निगमयति—तस्मादिति ॥ "नृपस्त्वेवेति संश्लेषादादित्यस्यावधारणम् । मत्वाऽस्तमित इत्येवं मुहुर्विभ्रमचूचुदत्" ॥ ४२ ॥ न चेदादित्यमवधारयितुमेवकारस्तर्हि तस्मिन्नुपरतेऽपि ज्योतिरन्तरेणाऽऽसनादिसिद्धेरुत्तरप्रश्नानुपपत्तिरित्याशङ्क्याऽऽह—नृपस्त्विति ॥ भ्रान्तिप्रयुक्ता समनन्तरप्रश्नप्रवृत्तिरिति भावः ॥ "आत्मैव ज्योतिरथवा रविसोमाग्न्युपाधिगम् । अवध्रियत एवेति तमेव इति च श्रुतेः" ॥ ४३ ॥ एवकारस्य पर्यायचतुष्टयनिविष्टस्यार्थान्तरमाह—आत्मैवेति । आत्मज्योतिषः सर्वावभासकत्वात्तदेवाऽऽदित्यादिरूपेणापि भासत नान्यदित्यत्र 'तमेव भान्तमनुभाति सर्वमिति' श्रुतिं संवादयति—तमिति ॥ "रवीन्द्वादिपदार्थेभ्यो ह्यनुमानैकवर्त्मना । स्वार्थं विज्ञापयिष्यामि विभज्यातः परा श्रुतिः" ॥ ४४ ॥ आदित्याद्यात्मनाऽऽत्मज्योतिरेव सर्वावभासकं चेत्पूर्वपर्यायैरेव प्रत्यग्ज्योतिः सिद्धेरात्मैवास्येत्यादिश्रुतिरनर्थिकेत्याशङ्क्याऽऽह—रवीति । आदित्यादिभ्यो विभज्य स्वतन्त्रमात्मज्योतिर्ज्ञापयिष्यामीति मुनिर्मन्यतेऽतः श्रुतिरात्मेत्याद्या परा प्रवृत्तेति योजना ॥

इति चन्द्रमा एवास्य ज्योतिर्भवतीति चन्द्रमसैवायं ज्योतिषाऽऽस्ते पल्ययते कर्म कुरुते विपल्येतीत्येवमेवैतद्याज्ञवल्क्य ॥३॥

अस्तमित आदित्ये याज्ञवल्क्य चन्द्रमस्यस्तमिते किंज्योतिरेवायं पुरुष इत्यग्निरेवास्य ज्योतिर्भवतीत्यग्निनैवायं ज्योतिषाऽऽस्ते पल्ययते कर्म कुरुते विपल्येतीत्येवमेवैतद्याज्ञवल्क्य ॥४॥

अस्तमित आदित्ये याज्ञवल्क्य चन्द्रमस्यस्तमिते शान्तेऽग्नौ किंज्योतिरेवायं पुरुष इति वागेवास्य ज्योतिर्भ-

है अर्थात् किस ज्योति से उक्त व्यवहार करता है ? याज्ञवल्क्य ने कहा—हे सम्राट ! उस समय यह पुरुष चन्द्ररूप ज्योति वाला होता है क्योंकि वह चन्द्र ज्योति से बैठता है, सभी ओर जाता है, कर्म करता है एवं कर्म करके नियत स्थान पर लौट आता है। इस पर जनक ने कहा—हे याज्ञवल्क्य ! यह ऐसा ही है ॥ ३ ॥

हे याज्ञवल्क्य ! सूर्य के अस्त हो जाने पर तथा चन्द्रमा के अस्त हो जाने पर यह पुरुष किस ज्योति वाला होता है ? याज्ञवल्क्य ने कहा—हे सम्राट् ! उस समय यह पुरुष अग्निरूप ज्योति वाला हो पूर्वोक्त व्यवहार करता है क्योंकि वह अग्निरूप ज्योति से बैठता है, सभी ओर जाता है, कर्म करता है और कर्म करके फिर नियत स्थान पर लौट आता है। इस पर जनक ने कहा—हे याज्ञवल्क्य ! यह ऐसा ही है ॥ ४ ॥

हे याज्ञवल्क्य ! सूर्य के अस्त हो जाने पर, चन्द्रमा के अस्त हो जाने पर तथा अग्नि के भी शान्त हो जाने पर यह पुरुष किस ज्योति वाला हो उक्त व्यवहार करता है ? याज्ञवल्क्य ने कहा—

तथाऽस्तमित आदित्ये याज्ञवल्क्य किंज्योतिरेवायं पुरुष इति चन्द्रमा एवास्य ज्योतिः ॥ ३ ॥

अस्तमित आदित्ये चन्द्रमस्यस्तमितेऽग्निर्ज्योतिः ॥ ४ ॥

शान्तेऽग्नौ वाग्ज्योतिः । वागिति शब्दः परिगृह्यते । शब्देन विषयेण श्रोत्र-

---

इन्द्रियं व्यावर्तयति—वागितीति । शब्दस्य ज्योतिष्ट्वं स्पष्टयितुं पातनिकां करोति—

(याज्ञवल्क्य बोले—) चन्द्रमा ही इसकी ज्योति होता है ॥३॥

आदित्य के अस्त होने पर और चन्द्रमा के अस्त होने पर अग्नि ज्योति वाला होता है ॥ ४ ॥

शान्त अग्नि में वाक् ज्योति है। "वाक्" इस पद से वाक् शब्द का परिग्रहण होता है। शब्दरूप विषय से श्रोत्र इन्द्रिय में संस्कार होता है। श्रोत्रेन्द्रिय के सन्निकृष्ट होने पर मन में विषयाकार से

---

१ अग्निरिति —आदित्यादित्र प्रभावन्मण्यादीनामप्युपलक्षणं तथोऽपि पुरुषवृत्तिदर्शनादिति ध्येयम् ।

वतीति वाचैवायं ज्योतिषाऽऽस्ते पल्ययते कर्म कुरुते विपल्येतीति तस्माद्वै सम्राडपि यत्र स्वः पाणिर्न विनिर्ज्ञायतेऽथ यत्र वागुच्चरत्युपैव तत्र न्येतीत्येवमेवैतद्याज्ञवल्क्य ॥५॥

हे सम्राट् ! यह पुरुष वाणीरूप ज्योति वाला है क्योंकि (वर्षाकालीन निविड अन्धकारयुक्त रात्रि मे भ्रान्त पुरुष वाणीरूप ज्योति से बैठता है, सभी ओर जाता है तथा कर्म करके पुन नियत स्थान पर लौट आता है। अत हे सम्राट् ! जहाँ पर अपना हाथ भी नही दीखता किन्तु वाणी उच्चारण की जाती है, वहाँ अंधेरे मे भी पुरुष उस वाणी के सहारे चला जाता है। इस पर राजा ने कहा—हे याज्ञवल्क्य ! यह ऐसा ही है ॥ ५ ॥

मिन्द्रियं [1]दीप्यते। श्रोत्रेन्द्रिये [2]संप्रदीप्ते मनसि [3]विवेक उपजायते। [4]तेन मनसा [5]बाह्यां चेष्टा [6]प्रतिपद्यते। [7]मनसा ह्येव पश्यति मनसा शृणोतीति ब्राह्मणम्। कथं पुनर्वाग्ज्योतिरिति वाचो ज्योतिष्ट्वमप्रसिद्धमित्यत आह—तस्माद्वै सम्राडयस्माद्वाचा[8] ज्योतिषाऽनुगृहीतोऽयं पुरुषो व्यवहरति तस्मा[9]त्प्रसिद्धमेतद्वाचो ज्योतिष्ट्वम्। कथमपि यत्र यस्मिन्काले [10]*प्रावृषि प्रायेण मेघान्धकारे सर्वज्योतिःप्रत्यस्तमये* [11]*स्वोऽपि पाणिर्हस्तो न विस्पष्टं*

शब्देनेति। [12]तद्दीपनकार्यमाह—श्रोत्रेति। मनसि विषयाकारपरिणामे सति किं[13] स्यात्तदाह—तेनेति। [14]तत्र प्रमाणमाह—मनसा हीति। एव पातनिका कृत्वा वाचो ज्योतिष्ट्वसाधनार्थं पृच्छति—कथमिति। का पुनरत्रा[15]नुपपत्तिस्तत्राऽऽह—वाच इति। [16]तत्रानन्तरवाक्यमुत्तरत्वेनोत्थाप्य व्याकरोति—अत आहेत्यादिना। प्रसिद्धिमेवाऽऽकाङ्क्षापूर्वकं स्फुटयति—कथमित्यादिना। उपैतेत्यादि व्याचष्टे—

परिणाम पैदा होता है, विषयाकारपरिणत मन से बाह्य शब्दादिविषया श्रवणादिलक्षणा चेष्टा होती है। प्रथम अध्याय के पञ्चम ब्राह्मण मे कहा है—'मन से देखता है, मन से सुनता है" तो फिर वाक् ज्योति किस प्रकार है ? वाक् का ज्योतिष्ट्व होना प्रसिद्ध नही है—इसलिये श्रुति कहती है। हे सम्राट् ! क्योकि यह पुरुष शब्दात्मिका वाणीरूप ज्योति मे अनुगृहीत होकर व्यवहार करता है, इसलिये इस वाणी का ज्योतिष्ट्व होना सर्वानुभवसिद्ध है। वह कैसे ? "यत्र" अर्थात् जिस समय वर्षाकालीन रात्रियो मे मेघ के अन्धकार मे प्राय. समस्त ज्योतियो के अस्त होने पर अपना हाथ भी स्पष्टतया

---

१ दीप्यते—सत्क्रियते सन्निकृष्यत इति यावत्। २ संप्रदीप्ते—सन्निकृष्टे। ३ विवेकः विषयाकारेण परिणाम। ४ विषयाकारपरिणतेन। ५ बाह्यशब्दादिविषयाम्। ६ श्रवणादिमदार्णां करोति। ७ बृ० उ० १।५।३। ८ शब्दात्मिकया। ९. सर्वानुभवसिद्धम्। १० प्रावृड्रात्र्यादौ। ११ स्वकीय.। १२ विषयप्रयुक्तेन्द्रियदीपनकार्यमिति यावत्। १३. फलम्। १४. उक्तचेष्टायामुक्तमनस· प्रयोजकत्वे। १५ वाचो ज्योतिष्ट्वे। १६ उक्ता प्रसिद्धिबोधे।

'अस्तमित आदित्ये याज्ञवल्क्य चन्द्रमस्यस्तमिते शान्तेऽग्नौ शान्तायां वाचि किंज्योतिरेवायं पुरुष इत्यात्मै-

हे याज्ञवल्क्य ! सूर्य के अस्त हो जाने पर, चन्द्रमा के अस्त हो जाने पर, अग्नि के बुझ जाने पर और वाणी के भी शान्त हो जाने पर यह पुरुष किस ज्योति वाला हो उठ व्यवहार करता है ?

निर्ज्ञायते । अथ तस्मिन्काले सर्वचेष्टानिरोधे प्राप्ते बाह्यज्योतिषोऽभावाद्यत्र वागुच्चरति श्वा वा भषति गर्दभो वा रौत्युपैव तत्र न्येति तेन शब्देन ज्योतिषा श्रोत्रमनसोर्नैरन्तर्यं भवति तेन ज्योतिष्कार्यत्वं वाचःप्रतिपद्यते तेन वाचा ज्योतिषोपन्येत्येवोपगच्छत्येव तत्र संनिहितो भवतीत्यर्थः । तत्र च कर्म कुरुते विपल्येति । तत्र वाग्ज्योतिषो ग्रहणं गन्धादीनामुपलक्षणार्थम् । गन्धादिभिरपि हि घ्राणादिष्वनुगृहीतेषु प्रवृत्तिनिवृत्त्यादयो भवन्ति । तेन तैरप्यनुग्रहो भवति कार्यकरणसंघातस्य । एवमेवैतद्याज्ञवल्क्य ॥५॥

तेन शब्देनेति । ज्योतिष्कार्यत्वं तज्जन्यव्यवहारहेतुकार्यवत्त्वमिति यावत् । तत्र वाग्ज्योतिष इत्यत्र चतुर्थ्यर्थः सप्तम्यर्थः । किमिति गन्धादयः शब्देनोपलक्ष्यन्ते तत्राऽऽह—गन्धादिभिरिति । प्रश्नान्तरमुत्थापयति—एवमेवेति । तथाऽपि स्वप्नादौ तस्य प्रवृत्तिदर्शनात्तत्कारणीभूतं ज्योतिर्वक्तव्यमिति शेषः ॥५॥

दृष्टिगोचर नहीं होता । उस समय समस्त चेष्टाओं का निरोध प्राप्त होने पर बाह्य ज्योतियों के अभाव होने पर जहाँ वाक् का उच्चारण होता है (जिस प्रदेश में पशु आदि में वाक् उत्पन्न होती है) कुत्ता भौंकता है अथवा गधा रेंकता है, उसी प्रदेश मार्ग गृह को चला जाता है; श्वानादि की उस शब्दात्मिका ज्योति से श्रोत्र और मन का निरन्तर सन्निकर्ष होता है, इससे ज्योतिष्कार्यत्व को वाक् प्राप्त हो जाती है । भावार्थ यह है कि उस वाणीरूप ज्योति से पुरुष समीप चला जाता है, उस प्रदेश में मार्ग या घर के निकटवर्ती हो जाता है । वहाँ वह कर्म करता है और पुन लौट जाता है । वहाँ गन्ध आदि के उपलक्षण के लिए वाक्रूप ज्योति का ग्रहण है । गन्ध (स्पर्श) आदि के द्वारा घ्राणादि के अनुगृहीत होने पर प्रवृत्ति और निवृत्ति आदि होते हैं । इसलिए उनसे भी स्थूलसूक्ष्मशरीर संघात का अनुग्रह होता है, (जनक ने कहा—) हे याज्ञवल्क्य ! यह बात ऐसी ही है ॥५॥

---

१. एतावता यो व्यवहारः स व्यवहर्तृदेहेन्द्रियाद्यतिरिक्तज्योतिःसाध्यो यथाऽऽदित्यादिसाध्यो व्यवहारस्तद्वदिति व्याप्तौ सिद्धायां स्वप्नादावपि बन्धुसमागमनादिकार्यदर्शनाद्भवितव्य तथाप्यतिरिक्तेन केनचिज्ज्योतिषेत्यनुमानतो ज्योतिर्मात्रेऽवबुद्धेऽपि उपन्यस्तानां तत्रानुपलब्धिनाधितत्वात् किं तदिति विशेषं पृच्छति—अस्तमित इति । २. यस्मिन्प्रदेशे पश्वादेर्वागुद्भवति तदाह—श्वेति । ३. श्वादेः । ४. ध्रह । ५ सन्निकर्षः । ६. शुनो गर्दभस्य वा । ७. तस्मिन्प्रदेशे । ८. मार्गं गृहं वा प्रतिपद्यते । ९. आदिना स्पर्शादिः । १०. गन्धादीनामपि प्रवृत्त्यादिप्रयोजकत्वेन । ११. उक्तं देहाद्यतिरिक्तं ज्योतिरङ्गीकरोत्येवमिति । १२. तद—ज्योतिः । १३. तथाऽपि—देहादिव्यतिरिक्ते ज्योतिषि सिद्धेऽपि । १४. स्वप्नादाविति—आदिना ध्यानस्मृत्यवस्थादयो गृह्यन्ते । १५. तस्य—कार्यकरणसंघातस्य । १६. प्रवृत्तिः ।

**वास्य ज्योतिर्भवतीत्यात्मनैवायं ज्योतिषाऽऽस्ते पल्य-
यते कर्म कुरुते विपल्येतीति ॥६॥**

याज्ञवल्क्य ने उत्तर दिया—हे सम्राट् ! उस समय इस पुरुष की ज्योति आत्मा ही रहता है, क्योंकि यह आत्मा ज्योति से बैठता है और सभी ओर जाता है, कर्म करता है तथा कर्म करके नियत स्थान पर लौट आता है ॥ ६ ॥

शान्तायां पुनर्वाचि गन्धादिष्वपि च शान्तेषु बाह्येष्वनुग्राहकेषु[1] *सर्वप्रवृत्ति-निरोधः प्राप्तोऽस्य पुरुषस्य । एतदुक्तं भवति । जाग्रद्विषये[2] हि बहिर्मुखानि[3] करणानि चक्षुरादीन्यादित्यादिज्योतिर्भिरनुगृह्यमाणानि[4] यदा तदा स्फुटतरः संव्यवहारोऽस्य

'कथं पुन'रत्र पृच्छ्यते ज्योतिरन्तरमित्याशङ्क्य प्रष्टुरभिप्रायमाह—एतदुक्तं भवतीति ।

वाणी के शान्त हो जाने पर तथा गन्धादि बाह्य अनुग्राहकों के भी निवृत्त हो जाने पर इस पुरुष की सम्पूर्ण प्रवृत्तियों का निरोध होता है । यहाँ श्रुति यह कहती है । जिस समय जाग्रत्कालीन घटादि विषय में आदित्यादि ज्योतियों अनुगृहीत होने वाली चक्षु आदि इन्द्रियाँ बाह्यार्थप्रवण होती हैं, उस

---

१. किंज्योतिरेवायं पुरुष इति सम्बन्धः । २ जाग्रत्कालीनघटादिविषये । ३. बाह्यार्थप्रवणानि । ४. भवन्ति । ५ केनाभिप्रायेण । ६ पृच्छ्यमानयति ।

---

*सर्वप्रवृत्तिनिरोधः प्राप्तोऽस्य पुरुषस्येति । अत्राहुर्वार्तिककारार्यास्तथाहि—"सर्वचेष्टानिरोधोऽस्य पुंसः प्राप्तस्तदाऽसति । यथोक्तज्योतिषि ततो न स्युश्चेष्टा यथोदिताः" ॥ १४ ॥ प्रसिद्धज्योतिरुपरमे किमिति ज्योतिरन्तरं पृच्छ्यते चेष्टा तु पुनः स्वतो भविष्यति नेत्याह—सर्वेति । जाग्रदवस्थायामसत्यसंहते ज्योतिष्यासनाद्यभाव पुंसः सिद्धस्तत स्वप्नादावादित्यादि ज्योतिरुपरतौ प्रत्यग्ज्योतिष्यसति यथोक्तासनादिचेष्टायोगात् हेतुत्वेन प्रष्टव्यं प्रत्यग्ज्योतिरित्यर्थः ॥ "स्मृतिस्वप्नसमाधाने पुरुषस्य समीक्ष्यते । चेष्टाऽतः पूर्ववत्तस्य ज्योतिस्तत्रानुमीयते" ॥ १५ ॥ प्रसिद्धज्योतिरभावे प्रवृत्तिरेव नास्ति ततस्तद्धेतुत्वेन ज्योतिरन्तर प्रश्नमहतीत्याशङ्क्याऽऽह—स्मृतीति । चेष्टादृष्टिपरामर्शार्थोऽतःशब्दः । पूर्ववज्जागरादिवत् । स्वप्नादौ प्रसिद्धज्योतिरभावेऽपि पुरुषचेष्टाया दृष्टत्वात्तद्धेतुत्वेन ज्योतिरनुमाय पृच्छ्यत इत्याशङ्क्याऽऽह—तस्येति ॥ "बोद्धुः कर्तुश्च पुंसोऽस्य प्रवृत्तिर्नेह काचन । यथोक्तज्योतिर्विरहे नासौ दृष्टा कदाचन" ॥१६॥ अनुमानमूलां व्याप्तिमाह—बोद्धुरिति । यो व्यवहारः सोऽसहतज्योतिर्निमित्तो यथाऽऽदित्याद्यधीनदर्शनादिव्यवहार इत्यर्थः ॥ "भान्वाद्युद्दीपिताक्ष सत्प्रमात्रादिः प्रसिध्यति । तत कर्त्रादिसंसिद्धिः प्रमाकर्मफल तत" ॥१७॥ व्याप्तिभूमिं प्रपञ्चयति—भान्वादीति । आदित्याद्यनुगृहीतेन्द्रियस्तदधिष्ठातृमनोवच्छिन्नः सत्प्रमाता ततश्च कारकप्रयोजकत्वे सति तत्प्रयोक्तृतया कर्ता प्रमातृसिद्धौ प्रमाणफलयोः कर्तृसिद्धौ क्रियातत्फलयोश्च सिद्धिरतो मैत्रस्य ज्ञानगत्यादिव्यवहारोऽसंहितज्योतिर्निमित्त इत्यर्थः । प्रमेत्यादिरादिशब्दयोरर्थः ॥ "कूटस्थानित्ययोर्भासोर्मध्यवर्ती पुमानयम् । वाङ्मनःकायकर्माणि सर्वदैव प्रपद्यते" ॥ १८ ॥ या प्रवृत्तिः सा बाह्यज्योतिर्निमित्ता यथा जाग्रत्प्रवृत्तिरिति विपरीतव्याप्तिमाशङ्क्य किं सा तन्निमित्तैव किं वा तन्निमित्ताऽपीति विकल्प्याऽऽद्ये व्याप्त्यैकल्पमाह—कूटस्थेति । द्वितीये व्यभिचारः स्वप्नादिव्यवहारे तददृष्टेरिति द्रष्टव्यम् ॥ "ज्ञानादिविषयानोऽर्थो व्यवधाऽऽत्मसिद्धिदः । आत्मज्योतिरभावेऽतो नामापि विन्दति" ॥ १९ ॥ किञ्च भावाभावव्यवहारानुपपत्त्या प्रत्यग्ज्योतिः सिद्धेरर्थापत्तिविरोध

पुरुषस्य भवतीति । एवं तावज्जागरिते स्वावयवसंघातव्यतिरिक्तेनैव ज्योतिषा ज्योतिष्कार्यसिद्धिरस्य पुरुषस्य दृष्टा । 'तस्मात्[1] वयं मन्यामहे सर्वबाह्यज्योतिःप्रत्यस्तमयेऽपि स्वप्नसुषुप्तकाले जागरिते च तादृगवस्थायां स्वावयवसंघातव्यतिरिक्तेनैव ज्योतिषा

यो व्यवहारः सोऽतिरिक्तज्योतिर्निमित्तो यथाऽऽदित्यादिनिमित्तो जाग्रद्व्यवहार इति व्याप्तिमुक्त्वा निगमयति—एवं तावदिति । व्याप्तिज्ञानकार्यमनुमानमाह—तस्मादिति । तादृगवस्थायां सर्वज्योतिःप्रत्यस्तमयदशायामिति यावत् । 'विमतो व्यवहारोऽतिरिक्तज्योतिरधीनो व्यवहारत्वा'त्संप्रतिपन्नव-

समय इस पुरुष का व्यवहार स्पष्टतर होता है इस प्रकार जाग्रत् अवस्था में तो इस पुरुष के अपने देहावयवसंघात से व्यतिरिक्त ज्योति के द्वारा ही देखी गयी है, उक्त व्याप्तिग्रह के बल से व्याप्तिज्ञान वाले हम यह समझते हैं कि स्वप्न और सुषुप्तिकाल में सम्पूर्ण बाह्य ज्योतियों के अस्त हो जाने पर तथा जाग्रत्काल में भी ऐसी अवस्था आने पर अपने देहावयवसंघात व्यतिरिक्त ज्योति के द्वारा इस पुरुष

१. उक्तव्याप्तिग्रहबलात् । २ व्याप्तिज्ञानवन्तः । ३. विमत —जाग्रद्व्यवहारातिरिक्तः स्वाप्नसौषुप्तसामयिक इत्यर्थः । ४ जाग्रद्व्यवहारेत्यर्थः ।

इत्याद्यं दोषान्तरमाह—स्वाप्नादीति । अतो जडत्वादिति सबन्धः । कैमुतिकन्यायार्थोऽपिशब्दः ॥ "आगमापायिज्योतिर्भिर्धर्माधर्मनिबन्धना । संगतिः पुरुषस्यास्य मिहेतु प्रत्ययात्मना" ॥ ६० ॥ नन्वादित्यादिज्योतिषां पुरुषप्रवृत्तिहेतुत्वमुक्तं प्रवर्त्यसम्बन्धाभावाऽऽत्मज्योतिषस्तदभावात्तत्राऽऽह—आगमेति ॥ 'कुम्भस्य वियता यद्वन्मिहेतु संगतिः सदा । विनश्वरी सहेतुश्च जलक्षीरादिभिर्मतिः" ॥ ६१ ॥ बुद्ध्यादेरजडप्रकाशसंगतिः स्वाभाविकीत्यत्र दृष्टान्तमाह—कुम्भस्येति । तस्य जडप्रकाशसम्बन्धः सहेतुरित्यत्र दृष्टान्तो विनश्वरीति ॥ "यथेद्धासहतान्येव भाभ्यादीनि प्रकुर्वते । अनुग्राह्येण पुंसेह सदाऽनुग्रहं मुहुः" ॥ ६२ ॥ विवक्षितज्योतिषः स्वाभाविके कार्यकारणसम्बन्धे तद्धर्मता स्यात्सद्गतरूपादिवदित्याशङ्क्याऽऽह—यथेति । इहेति व्यवहारभूमिरुक्ता । इह प्रवर्त्ये पुंसीत्यर्थः । असंहतानि प्रवर्त्यधर्मत्वरहितानीत्यर्थः । मुहुरिति क्रियापदेन सर्वदेत्यसहतानीत्यनेन सबध्यते । तद्वदजडं ज्योतिरपीति शेषः । विमतो नानुग्राह्यधर्मश्चक्षुराद्यतिरिक्तत्वे सत्यनुग्राहकत्वादादित्यादिवच्च स्वाभाविके तस्य संघातसम्बन्धेऽप्यङ्गताहतिरविद्यया तदङ्गीकारादिति भावः ॥ 'अकारकात्मकान्येव पुंसः कारकरूपिणः । नाकृत्वा तानि कुर्वन्ति प्रकाशं यतिवच्च तत्" ॥ ६३ ॥ प्रत्यग्ज्योतिरननुग्राहकं सक्रियत्वापत्तेरिति विशेष्यासिद्धिमाशङ्क्याऽऽह—अकारकेति । व्यञ्जकान्येवाऽऽदित्यादीन्यकृत्वा क्रियामप्राप्य पुरुषस्य प्रकाश्यमनुग्रहं कुर्वन्ति न तु तिष्ठन्तो विकारद्वारा यतिवदेतान्यनुग्राहकाण्यतो विवक्षितज्योतिष्यनुग्राहकत्वेऽपि न सक्रियतेत्यर्थः ॥ "व्यञ्जकाना हि सर्वेषां न स्वरूपातिरेकतः । व्यङ्ग्येष्वतिशयो दृष्टस्तिष्ठतो नु गतिर्यथा" ॥ ६४ ॥ वैधर्म्यदृष्टान्तं स्पष्टयन्नुक्तं प्रपञ्चयति—व्यञ्जकानामिति । तिष्ठतो हि जन्तोः स्वरूपातिरेकेणातिशयमपेक्ष्य गतिर्दृष्टा नैवमभिव्यङ्ग्येष्वभिव्यक्तिरभिव्यञ्जकसंनिधानातिरिक्तं विकारमपेक्षते तत्संनिधिसत्तामात्रेण तदभिव्यक्तिदर्शनादित्यर्थः ॥ "आत्मज्योतिस्तथैवेदं सदाऽनस्तमितादितम् । भान्वादिष्वपि सर्वेषु तदेव प्राग्विवक्षितम्" ॥ ६५ ॥ दार्ष्टान्तिकं निगमयति—आत्मेति । किञ्चाऽऽदित्यादिवदात्मज्योतिषः सक्रियत्वं तथापि तदसिद्धेरात्मैव ज्योतिरप्यत्र तेष्वपि प्रत्यग्ज्योतिष एव भासकत्वेनावस्थानोक्तेरित्याह—भान्वादिष्विति ॥ "पुंप्रवृत्तिरियं लिङ्गं यथोक्तज्योतिषो भवेत् । सर्वत्राव्यभिचारित्वात्तथा स्वप्नादिभूमिषु" ॥ ६६ ॥ पुंव्यापारस्यातिरिक्तज्योतिषा व्याप्तिं विपरीतव्याप्तिनिरासेनोक्त्वा व्याप्तिफलमाह—पुंप्रवृत्तिरिति । सर्वत्र देशे

ज्योतिष्कार्यसिद्धिरस्येति । दृश्यते च स्वप्ने ज्योतिष्कार्यसिद्धिर्बन्धुसङ्गमनवियोगदर्शनं देशान्तरगमनादि च । सुषुप्ताच्चोत्थानं [2]सुखमहमस्वाप्सं न किंचिदवेदिषमिति । [3]तस्मादस्ति व्यतिरिक्तं किमपि ज्योतिः । [4]किं पुनस्तच्छान्तायां वाचि ज्योतिर्भवतीति ।

दित्यधस्तादेवानुमानमावेदितमिति भावः । हेतोरा[4]श्रयासिद्धिमाशङ्क्य परिहरति—दृश्यते चेति । आदिशब्देन देशान्तरादौ कर्मकरणं गृह्यते । [5]आश्रयैकदेशासिद्धिमाशङ्क्याऽऽह—सुषुप्ताच्चेति । ध्यान-दशायामिष्टदेवतादर्शनं चकारार्थः । अनुमानफलं निगमयति—तस्मादिति । यथोक्तानुमाना[6]ज्ज्योतिः सिद्धं चेत्किं प्रश्नेनेत्याशङ्क्याऽऽह—किं पुनरिति । [7]सर्वज्योतिरुपशमे दृश्यमानस्य व्यवहारस्य कारणतयाऽनुमानतो ज्योतिर्मात्रसिद्धावपि तद्विशेषबुभुत्सायां प्रश्नोपपत्तिरित्यर्थः ।

के ज्योतिसम्बन्धी कार्य की सिद्धि होती है, स्वप्न में बन्धुओं के संयोग-वियोग दिखायी देने और देशान्तर में जाने आदि ज्योति के कार्यों की सिद्धि देखी ही जाती है, इसी प्रकार सुषुप्ति से उठना और "मैं सुख से सोया, उस समय कुछ भी नहीं जाना।" (व्याप्त के हेतु का पक्षधर्मता बल से) इसलिये इससे व्यतिरिक्त कोई ज्योति है। किन्तु उस वाणी के शान्त होने पर कौन ज्योति होती है।

---

१. उत्थानमिति— सुषुप्तिकालीन (उत्थानप्राक्क्षणावच्छिन्न) उत्थानानुकूलप्रयत्नाख्यो व्यापार इत्यर्थः । २. सुखमित्यादि—एतत्स्मरणमूलभूत सौषुप्तोऽनुभव इति भावः । ३ तस्मात्—व्याप्तस्य हेतोः पक्षधर्मताबलात् । ४. पक्षासिद्धिम् । ५ आश्रयस्य स्वाप्नसौषुप्तसाधारणव्यवहारस्य पक्षीभूतस्यैकदेशः सौषुप्ताभिज्ञारूपो व्यवहारः—तत्कालीना सत्त्वप्रधाना सुखाकारा वृत्तिरिति यावत्तस्यासिद्धिमित्यर्थः । ६. व्यवहृतम् । ७. आदित्यादारभ्य वाक्पर्यन्तज्योति ।

काले पुंसि चेत्यर्थः । व्याप्तस्य लिङ्गस्य पक्षधर्मतामाह—तथेति । पुम्प्रवृत्तिर्दृष्टेति शेषः ।। "जाग्रत्काले नरस्यास्य भान्वादिज्योतिषा यदा । चक्षुराद्यनुगृह्येत स्फुटा व्यवहृतिस्तदा" ।। ६७ ।। उक्ता व्याप्तिं जाग्रद्विषये हीत्यादिभाष्यार्थतया स्फुटयति—जाग्रदिति ।। "एवं जागरिते तावदादित्याद्युक्तलक्षणम् । विभिन्नासहृतज्योति-र्मुख्यपुरःसरः । पुम्व्यापार सदक्षोत्थप्रमाणप्रमित स्फुट" ।। ६८ ।। व्याप्तिमुपसंहरति—एवमिति । उक्तलक्षण-त्वमेव स्फुटयति—विभिन्नेत्यादिना । सदक्षेति निर्दुष्टकरणजन्यतया यत्प्रमाख्यं ज्ञानं तेन प्रमितत्वादतिस्फुटो-ऽयमुक्तरूपो व्यापार इत्यर्थः ।।

[4]किं पुनस्तच्छान्तायां वाचि ज्योतिर्भवतीति । अत्राहुर्वार्तिककारास्तथाहि—"सर्वज्योतिरुपरतौ भूरिव्या-पारकारणम् । स्वयंज्योतिष्कमपि तं राजा पप्रच्छ मोहतः" ।। ७३ ।। आत्मनः स्वप्रकाशत्वेन स्वतः स्फुरणात्र तस्मिन्प्रश्नो न हि स ज्ञाते युक्तस्तदविश्रान्तेरित्याशङ्क्याऽऽह—सर्वेति ।। "यत्प्रसादादविद्यादि सिध्यतीव दिवानिशम् । तमप्यपह्नुतेऽविद्या साज्ञानस्यास्ति दुष्करम्" ।। ७४ ।। अज्ञानादपि स्वप्रकाशे न प्रश्नस्तस्यैव स्वसाधके प्रतीच्यसिद्धेरित्याशङ्क्याऽऽह—यत्प्रसादादिति । 'कुर्यान्मेरावणुधियमणौ मेरुधियं तथा । सर्वत्राप्रति-घात्येव प्रत्यगज्ञो महेश्वरः' ।। १ ३ ३१३ ।। इत्यादौ चाज्ञानस्य निरङ्कुशत्वमादर्शितमिति भावः ।। कुर्यादिति अघटमानघटनपटीयस्त्वेन प्रसिद्ध मायादिशब्दितमज्ञानं तस्य साभासस्य न क्वचिदपि प्रतिहतिरित्यर्थः । प्रत्यगज्ञो महेश्वर इति निर्देशस्त्वज्ञानमुपसर्जनीकृत्य चिदात्मप्राधान्येन निर्देशस्तदस्वातन्त्र्यज्ञापनार्थमित्यर्थः ।। "स्वतो बुद्ध स्वतः शुद्ध स्वतो मुक्त निरात्मिका । अविचारितसंसिद्धिरविद्या लिङ्क्ते कथम्" ।। ७५ ।। तस्य दुष्करं नास्ति चेत्प्रतीचि स्वसंबन्धमपि वास्तवं प्रापयेदित्याशङ्क्याऽऽह—स्वत इति ।। "निःसङ्गस्य ससङ्गेन कूटस्थस्य

उच्यते—[1]'आत्मैवास्य ज्योतिर्भवतीति । [2]'आत्मेति [3]'कार्यकरणस्वावयवसंघातव्यतिरिक्तं कार्यकरणावभासकमादित्यादिबाह्यज्योतिर्वत्स्वयमन्येनानवभास्यमानमभिधीयते ज्योतिरन्तःस्थं [4]च तत्पारिशेष्यात् । कार्यकरणव्यतिरिक्तं [5]तदिति तावत्सिद्धम् । यच्च कार्यकरणव्यतिरिक्तं कार्यकरणसंघातानुग्राहकं च [6]ज्योतिस्तद्बाह्यं चक्षुरादिकरणैरुपलभ्यमानं दृष्टं न तु तथा [7]तच्चक्षुरादिभिरुपलभ्यत आदित्यादिज्योतिःषूपरतेषु । [8]कार्यं तु ज्योतिषो दृश्यते यस्मात्तस्मादात्मनैवायं [9]ज्योतिषाऽऽस्ते पल्ययते कर्म कुरुते विपल्येतीति । [10]तस्मान्नूनमन्तःस्थं ज्योतिरित्यवगम्यते । किंचाऽऽदित्यादिज्योतिर्विलक्षणं [11]तदभौतिकं च

प्रतिवचनमवतार्य व्याकरोति—उच्यत इत्यादिना । अवभासकत्वे दृष्टान्तमाह—आदित्यादीति । [12]तत्र व्यतिरिक्तत्वं साधयति—कार्येति । अनुग्राहकत्वादादित्यादिवदिति शेषः । तच्चान्तःस्थं पारिशेष्यादित्युक्तमुपपादयति—यच्चेति । उपरतेष्वात्मज्योतिरिति शेषः । [13]तदेव [14]तर्हि मा भूदिति चेन्नेत्याह—कार्यं त्विति । स्वप्नादौ दृश्यमानं व्यवहारं हेतूकृत्य फलितमाह—यस्मादित्यादिना । विमतमन्तःस्थमतीन्द्रियत्वादादित्यादिवदिति व्यतिरेकीत्यर्थः । व्यतिरेकान्तरमाह— किंचेति ।

इस पर श्रुति कहती है—वह आत्मा ही इसकी ज्योति होती है, आत्मा का शब्दार्थ यह है कि यह स्थूल सूक्ष्म शरीररूप अपने अवयवसंघात से व्यतिरिक्त स्थूल और सूक्ष्म शरीर का अवभासक तथा आदित्य आदि बाह्य ज्योतियों के समान स्वयं किसी अन्य से न भासित होने वाली ज्योति कहा जाता है । परिशेषतः वह ज्योति अन्तःस्थ है, कार्य और करण से व्यतिरिक्त वह आत्मज्योति है, ऐसा तो वैसे सिद्ध हो चुका है, और जो आदित्यरूप ज्योति स्थूल और सूक्ष्म शरीर से व्यतिरिक्त तथा स्थूल और सूक्ष्म शरीर संघात की उपकारक होती है, वह चक्षु आदि बाह्य इन्द्रियों से उपलब्ध होते हुए देखी जाती है किन्तु आदित्यादि ज्योतियों के निवृत्त हो जाने पर यह आत्मज्योति उनकी तरह चक्षु आदि से उपलब्ध नहीं होती । किन्तु तब भी क्योंकि ज्योति का स्वाप्न व्यवहारात्मक कार्य देखा जाता है, इसलिए यह संघात आत्मज्योति से ही बैठता, इधर-उधर जाता कर्म करता और फिर वापिस आ जाता है । इसलिए (सफल होने और अतीन्द्रिय होने से) निश्चय ही यह आत्मज्योति अन्तःस्थ है, ऐसा जाना जाता है । इसके अतिरिक्त वह आदित्यादिरूप ज्योति से विलक्षण और (अतीन्द्रिय होने

---

१ आत्मैवास्येति—स्वप्नादौ वासनारूपा धीरात्मज्योतिषा दीपिता इव व्यापारं करोतीति भावः । कोऽसौ व्यापारो बुद्धेरित्याशङ्क्य स्वप्नादिशरीरेऽपि ह्यमुं जोऽन्यादिवृत्तयः सर्वा इत्यादिना समाहितं वार्तिके । २ आत्मशब्दार्थमाह—आत्मेति । अस्य ज्योतिरभिधीयत इत्यनेन संबन्धः । ३ ज्योतिर्विशिनष्टि—कार्यकरणेति । ४ तच्चेत्यन्वयः । ५ आत्मज्योतिः । ६ आदित्यादिरूपम् । ७ आत्मज्योतिः । ८ स्वाप्नव्यवहारात्मकम् । ९ संघातः । १० सफलत्वे सत्यतीन्द्रियत्वात् । ११ तदभौतिकं चेति । आत्मज्योतिरभौतिकम् अतीन्द्रियत्वादादित्यादिवदिति व्यतिरेक्यनुमानान्तरम् । आदित्यादिज्योतिर्विलक्षणमित्यभौतिकत्वस्यान्वाख्यानम् अभौतिकं चेति चकारो निरुक्तव्यतिरेकसमुच्चयार्थः । १२ तत्रेति—व्यतिरिक्तत्वान्तःस्थत्वयोर्मध्य इत्यर्थ इत्याह । आत्मज्योतिषीत्यर्थो वा । १३ तदेव—आत्मज्योतिरेव । १४ तर्हि—नैवोपलभ्यते चेदित्यर्थः ।

विकारिणा । पूर्णस्यानात्मना योगो वास्तवो नोपपद्यते' ॥ ७६ ॥ अविद्यात्मनोर्वास्तवासंबन्धे पूर्वोक्तां युक्तिं स्मारयति—नि सङ्गस्येति ॥

स एव हेतुर्यच्चक्षुराद्यग्राह्यत्वमादित्यादिवत् ।

[1]न, [2]समानजातीयेनैवोपकारदर्शनात् । यदादित्यादिविलक्षणं ज्योतिरान्तरं सिद्धमित्येतद[2]सत् । कस्मात् । उपक्रियमाणसमानजातीयेनैवाऽऽदित्यादिज्योतिषा कार्यकरणसंघातस्य भौतिकस्य भौतिकेनैवोपकारः क्रियमाणो दृश्यते । यथादृष्ट[3]'चेवमनुमेयम् । यदि नाम कार्यकरणादर्थान्तरं [4]तदुपकारकमादित्यादिव[5]ज्ज्योतिस्तथाऽपि कार्यकरणसंघातसमानजातीयमेवा[6]नुमेयं कार्यकरणसंघातो[7]पकारकत्वादादित्यादिज्योतिर्वत् । [8]यत्पुनरन्तःस्थत्वादप्रत्यक्षत्वाच्च वैलक्षण्यमुच्यते [9]तच्चक्षुरादिज्योतिभिरनैकान्तिकम् ।

---

[10]तत्र प्रति [11]लोकायतश्चोदयति—नेत्यादिना । [12]तत्र नञर्थं व्याचष्टे—यदिति । [13]उक्तं हेतुं प्रश्नपूर्वकं विभजते—कस्मादित्यादिना । यद्यपि देहादेरुपकारकं ज्योतिरादित्यादिवत्सजातीयं दृष्टं तथाऽपि नाऽऽत्मज्योतिरवकार्यसजातीयादनुमेयमित्याशङ्क्याऽऽह—यथादृष्टं चेति । [14]तदेव स्पष्टयति—यदि नामेति । विमतमन्तःस्थमतिरिक्तं चातीन्द्रियत्वादादित्यवदिति [15]परोक्तं व्यतिरेक्यनुमानमनूद्य

मे) अभौतिक भी है, यही कारण है कि वह आत्मज्योति आदित्यादिज्योति की तरह चक्षुरादि इन्द्रियों से ग्रहण नहीं की जा सकती।

इस पर पूर्ववादी कहता है—ऐसा कहना ठीक नहीं है क्योंकि लोकव्यवहार में उपकार तो समानजाति वाले से ही देखा जाता है। आदित्यादि से विलक्षण जो अन्तःज्योति सिद्ध की गयी है, वह मिथ्या है । क्यों मिथ्या है ? क्योंकि उपक्रियमाण भौतिक स्थूलसूक्ष्मशरीरसंघात का अपने समानजाति वाले भौतिक आदित्यादि ज्योति से ही उपकार होते देखा जाता है। एवं जैसा देखा गया है, वैसा ही आत्मज्योति का अनुमान भी करना चाहिये । यदि कार्यकरणसंघात की उपकारक ज्योति आदित्यादि के समान उनसे कोई भिन्न है, तो भी उसे कार्यकरणसंघात (स्थूल-सूक्ष्मशरीरसंघात) के समानजाति वाली ही अनुमान करना चाहिये, क्योंकि आदित्यादि ज्योतियों के समान वह कार्यकरणसंघात का उपकार करने वाली है। इसके अतिरिक्त अन्तःस्थ और अतीन्द्रिय होने के कारण जो उसकी (देहादि से) विलक्षणता बतलायी जाती है। वह विरुद्ध होने से नेत्रादि

---

१ मतं—आत्मज्योतिरन्तःस्थमतिरिक्तमभौतिकं च न भवितुमर्हतीत्यर्थः । तत्र हेतुमाह—समानेति । २ मिथ्या । ३ आत्मज्योतिः । ४ संघातोपकारकम् । ५ ज्योतिरिति । विमतो व्यवहारोऽतिरिक्तज्योतिरधीनो व्यवहारत्वाज्जाग्रत्कालीनव्यवहारवदिति पूर्वोक्तानुमानेन सिद्धमिति शेषः । ६. अनुमेयमिति—आत्मज्योतिर्देहादिसजातीयं तदुपकारकत्वादादित्यादिज्योतिर्वदिति फलितम् । ७ उपकारकत्वादिति । यदुपकारकं तदुपकार्यसजातीयमित्यन्वयमुक्त्वा व्यतिरेकमाहुर्वार्तिके—"शब्दादिभिर्हि घ्राणादेर्नोपकारः समीक्ष्यते । विजातीयैरतो ज्योतिर्भूतजातीयमिष्यतामिति" ॥ ११८ ॥ ८. यत्पुनरिति । अतीन्द्रियत्वलिङ्गेनात्मज्योतिष्यन्तःस्थत्वं प्रसाध्य तमपि हेतुं कृत्वा विमतं देहादिविलक्षणमन्तःस्थत्वादतीन्द्रियत्वाच्च व्यतिरेकेणादित्यवदिति यत्तस्य देहादिवैलक्षण्यमुच्यते इत्यर्थः । ९ विरुद्धतया हेतुद्वयं निरस्यति—तदिति । हेतुद्वयं साध्याभाववद्वृत्तित्वेन साधारणानैकान्तिकमित्यर्थः । १०. अप्रतीति—आत्मैवास्य ज्योतिर्भवतीत्यत्रात्मा देहाद्यतिरिक्तः स्वयंज्योतिरशेषवस्तु[?]त्वादिशून्यो ब्रह्मैवेत्युक्ते इत्यादिः । ११. देहात्मवादी । १२ प्रतिज्ञाहेत्वोर्मध्ये । १३. समानेत्यादिनोक्तम् । १४. दृष्टानुरोध्यनुमानमेव । १५. सिद्धान्त्युक्तम् ।

यतो[1]ऽप्रत्यक्षाण्यन्तःस्थानि च चक्षुरादिज्योतींषि [2]भौतिकान्येव । [3]तस्मात्तव मनोरथमात्रं विलक्षणमात्मज्योतिः सिद्धमिति ।

कार्यकरणसंघातभावभावित्वाच्च संघातधर्मत्वमनुमीयते ज्योतिषः । [4]सामान्यतो दृष्टस्य चानुमानस्य व्यभिचारित्वादप्रामाण्यम् । सामान्यतो दृष्टबलेन हि भवानादित्यादिवद्व्यतिरिक्तं ज्योतिः साधयति कार्यकरणेभ्यः । न च प्रत्यक्षमनुमानेन बाधितुं शक्यते ।

दूषयति—यत्पुनरित्यादिना । अनैकान्तिकत्वं व्यनक्ति—यत इति । [5]अन्तःस्थान्यव्यतिरिक्तानि च संघातादिति द्रष्टव्यम् । व्यभिचारफलमाह—तस्मादिति । विलक्षणमन्तःस्थं चेति [6]मन्तव्यम् ।

किञ्च चैतन्यं शरीरधर्मस्तद्भावभावित्वाद्रूपादिवदित्याह—कार्यकरणेति । विमतं संघाताद्भिन्नं तद्भासकत्वादादित्यवदित्यनुमानाच्च संघातधर्मत्वं चैतन्यस्येत्याशङ्क्याऽऽह—सामान्यतो दृष्टस्येति । लोकायतस्य हि देहावभासकमपि चक्षुस्ततो न भिद्यते [7]तथा च व्यभिचाराच्च त्वदनुमानप्रामाण्यमित्यर्थः । मनुष्योऽहं जानामीति प्रत्यक्षविरोधाच्च त्वदनुमानममानमित्याह—सामान्यतो दृष्टेति । ननु [8]तेन प्रत्यक्षं[9] स्वार्थं तामिति चेन्नेत्याह—न चेति । इतश्च देहस्यैव चैतन्यमित्याह—अयमेवेति ।

ज्योतियों के द्वारा व्यभिचरित है क्योंकि (गोलक से विलक्षण होने के कारण) अतीन्द्रिय और अन्तःस्थ होने पर भी नेत्रादि ज्योतियाँ देह सजातीय (भौतिक) ही हैं। अतः (उसके साधक हेतु के अनैकान्तिक होने के कारण) "आत्मज्योति इनसे विलक्षण है" ऐसा कहना तुम्हारा मनोरथमात्र है ।

इसके अतिरिक्त देहेन्द्रियसंघात होने पर ही रहती है, इसलिये यह चैतन्यज्योति संघातधर्मरूप है—ऐसा अनुमान किया जाता है। (नित्य अतीन्द्रिय अर्थानुमापकरूप) सामान्यरूप से दृष्टप्रकारक अनुमान भी व्यभिचारी होने से अप्रामाण्य है। सामान्यतः दृष्ट अनुमान के बल से आप आदित्यादि के समान ज्योति को स्थूल और सूक्ष्म शरीरों से भिन्न सिद्ध करते हैं। किन्तु अनुमान के द्वारा प्रत्यक्ष का बाध नहीं हो सकता, यह कार्यकरणसंघात ही तो प्रत्यक्ष देखता, सुनता और मनन

---

१ गोलकवैलक्षण्योपगमात्तेषाम् । आत्मवदिति दृष्टान्तोऽत्र द्रष्टव्यः । २. देहसजातीयान्येव । ३. तस्मात्त्वद्धेतोरनैकान्तिकत्वात् । ४ सामान्यतो दृष्टस्येति । विशेषतो दृष्टं सामान्यतो दृष्टमिति च द्विविधमनुमानं भवति । तत्र प्रत्यक्षयोग्यार्थानुमापकं विशेषतो दृष्टं यथा धूमादिरिति । नित्यातीन्द्रियार्थानुमापकं सामान्यतो दृष्टं यथा चक्षुराद्यनुमापकं रूपादिज्ञानमिति तदुक्तमाचार्यवरदराजप्रणीतायां तार्किकरक्षायाम् । दृष्टं सामान्यतो दृष्टमिति चास्य विधाद्वयम् । पूर्वं प्रत्यक्षयोग्यार्थं तदयोग्यार्थमुत्तरमिति । सामान्यतो दृष्टं कार्यकारणभिन्नलिङ्गकं यथा पृथिवीत्वेन द्रव्यत्वानुमानमिति केचित् । सामान्यतो दृष्टमन्वयव्यतिरेकि यथा वह्निमान् धूमादित्यादीत्यपरे । ५. विमतमन्तःस्थमित्यादिटीकोक्तानुमानेऽन्तःस्थत्वं कार्यकरणसंघाताधिष्ठानत्वरूपं विवक्षितं भाष्ये त्वन्तःस्थत्वसामान्यमेव हेतूकृत्य तत्र चेन्द्रियाणां करणतया तदन्तर्गतत्वरूपमेवान्तःस्थत्वमादाय व्यभिचारप्रदर्शनम् । टीकोक्तानुमाने त्विन्द्रियाणामधिष्ठानत्वाभावादेव स्फुटो व्यभिचार इत्यभिप्रेत्याह—अन्तःस्थान्यव्यतिरिक्तानि चेति । अव्यतिरिक्तानि अविलक्षणानीत्यर्थः । ६. मन्तव्यमिति । विमतं देहादिसजातीयं व्यञ्जकत्वात्प्रदीपवत् अन्तःस्थत्वादतीन्द्रियत्वाच्च चक्षुरादिवदिति प्रत्यनुमानं च द्रष्टव्यम् । ७. तथा चेति । देहावभासकस्यापि चक्षुषो देहप्रतियोगिकभेदराहित्ये चेत्यर्थः । ८ निरुक्तानुमानेन । ९. बाध्यताम् ।

[1]अयमेव तु कार्यकरणसंघातः [2]प्रत्यक्षं पश्यति शृणोति मनुते विजानाति च । यदि नाम ज्योतिरन्तरमस्योपकारकं स्यादादित्यादिवन्न तदाऽऽत्मा स्याज्ज्योतिरन्तरमादित्यादिवदेव । य एव तु प्रत्यक्षं दर्शनादिक्रियां करोति स एवाऽऽत्मा स्यात्कार्यकरणसंघातो नान्यः । प्रत्यक्षविरोधेऽनुमानस्याप्रामाण्यात् ।

नन्वयमेव चेद्दर्शनादिक्रियाकर्ताऽऽत्मा संघातः कथमविकलस्यैवास्य दर्शनादिक्रियाकर्तृत्वं कदाचिद्भवति [3]कदाचिन्नेति । नैष दोषो [4]दृष्टत्वात् । [5]न हि दृष्टेऽनुपपन्नं नाम । न हि खद्योते[6] प्रकाशाप्रकाशत्वेन दृश्यमाने [7]कारणान्तरमनुमेयम् । अनुमेयत्वे च [8]केन-

ज्योतिषो देहव्यतिरेकमङ्गीकृत्यापि दूषयति—यदि नामेति । विमतं ज्योतिरनात्मा देहोपकारकत्वादादित्यवदित्यर्थः । आत्मत्वं तर्हि कस्येत्याशङ्क्याऽऽह—य एव त्विति । अनुमानादात्मनो देहव्यतिरिक्तत्वमुक्तमित्याशङ्क्याऽऽह—प्रत्यक्षेति । नान्य आत्मेति पूर्वेण संबन्धः ।

देहस्याऽऽत्मत्वे कादाचित्कं द्रष्टृत्वश्रोतृत्वाद्ययुक्तमिति शङ्कते—नन्विति । "स्वभाववादी परिहरति—नैष दोष इति । कादाचित्के दर्शनादर्शने संभवतो देहस्वाभाव्यादित्यत्र दृष्टान्तमाह—न हीति । "विमतं कारणान्तरपूर्वकं कादाचित्कत्वाद्घटवदित्यनुमानं दृष्टान्ते भविष्यतीत्याशङ्क्याग्निरुष्ण "इतिवदुष्णमुदकमित्यपि द्रव्यत्वादिनाऽनुमीयेतेत्यतिप्रसङ्गमाह—अनुमेयत्वे चेति । ननु "यद्भवति

करता और जानता है । यदि आदित्यादि के समान इसका उपकार करने वाली कोई अन्य ज्योति होगी, तो वह आत्मज्योति नहीं हो सकती, अपितु आदित्यादि के समान ही कोई अन्य ज्योति होगी । जो भी प्रत्यक्ष दर्शनादि कर्म करता है, वही आत्मा स्थूलसूक्ष्मशरीरसंघातरूप होना चाहिये, दूसरा नहीं क्योंकि प्रत्यक्ष प्रमाण के विरोध होने पर अनुमान प्रमाण की प्रामाणिकता नहीं हो सकती ।

(इस पर सिद्धान्ती कहता है—)किन्तु यदि यह संघात ही दर्शनादि क्रियाओं का करने वाला आत्मा है, तो यह क्यों होता है कि विक्रियारहित इसमें कभी तो दर्शनादिक्रिया का कर्तृत्व रहता है और कभी नहीं रहता । (इस पर पूर्ववादी कहता है—) इसमें प्रत्यक्ष होने से कोई दोष नहीं है, क्योंकि कादाचित्कदर्शन और अदर्शन की देह में प्रत्यक्ष प्रमा होता है । जुगनू को कालभेद में प्रकाशक और अप्रकाशकरूप से देखने के लिए किसी कारणान्तर का अनुमान नहीं करना चाहिये । किसी से समानता होने के कारण स्वभावातिरिक्त हेतु में अनुमेय होने पर तो सब जगह सभी विषयों

१ यत्तु देहो नात्मा भौतिकत्वात्कुम्भवत् तथा देहः स्वव्यतिरिक्तद्रष्टृको दृश्यत्वाद्घटवदिति तत्राऽऽह—अयमिति । २. प्रत्यक्षमिति—तथा चाप्यनुष्णताऽनुमानवत्प्रत्यक्षविरोधाद्देहाऽनात्मत्वानुमानाऽनुत्थानमिति भावः । ३ कदाचिन्नेति—स्वापमूर्च्छाद्यवस्थास्वित्यर्थः । तथा च देहो नात्मा चैतन्यव्यभिचारित्वाद्घटवदिति भावः । ४ दृष्टत्वादिति । कादाचित्कदर्शनादर्शनयोर्देहे प्रत्यक्षप्रमितत्वादित्यर्थः । ५. दृष्टमपि स्वाभाविकं स्यादन्यनिमित्तं वेत्याशङ्क्याऽऽह—न हीति । न हि दृष्टं समुल्लङ्घ्य ततोऽन्यद्बलवन्मतमित्यर्थः । ६. कालभेदेन । ७. कारणान्तरमनुमेयमिति । खद्योतस्यापि भासुरत्वादिहेत्वन्तरकृतं कादाचित्कत्वाद्घटवदित्यपि न सम्यक् प्रत्यक्षविरोधादेवेति भावः । ८. केनचित्सामान्यादिति । कादाचित्कत्वेन साधर्म्यात् स्वभावातिरिक्ते हेतावनुमेये सतीत्यर्थः । ९ ज्योतिषोऽनात्मत्वे । १०. लोकायतैकदेशी । ११. खद्योतभासुरत्वादिकम् । १२. अग्निवदित्यर्थः । १३ कार्यमुपपद्यते ।

चित्सामान्यात्सर्वं सर्वत्रानुमेयं स्यात्। तच्चानिष्टम्। न च पदार्थस्वभावो नास्ति न ह्यग्नेरुष्णस्वाभाव्यमन्यनिमित्तमुदकस्य वा शैत्यम्। प्राणिधर्माधर्माद्यपेक्षमिति चेत्। धर्माधर्मादेर्निमित्तान्तरापेक्षस्वभावत्वप्रसङ्गः। अस्त्विति चेन्न तदनवस्थाप्रसङ्गः। स चानिष्टः।

न। स्वप्नस्मृत्योर्दृष्टस्यैव दर्शनात्। यदुक्तं स्वभाववादिना देहस्यैव दर्शनादिक्रिया न व्यतिरिक्तस्येति तन्न। यदि हि देहस्यैव दर्शनादिक्रिया स्वप्ने दृष्टस्यैव दर्शनं न

तत्सनिमित्तमेव न स्वभावाद्भवेत्किंचिदस्माकं प्रसिद्धं तत्राऽऽह—न चेति। अग्नेरौष्ण्यमुदकस्य शैत्यमित्याद्यपि न निर्निमित्तं किंतु प्राण्यदृष्टापेक्षमिति शङ्कते—प्राणीति। आदिशब्देनेश्वरादि गृह्यते। गूढाभिसंधिः स्वभाववाद्याह—धर्मेति। प्रसङ्गस्येष्टत्वं शङ्कित्वा स्वाभिप्रायमाह—अस्त्वित्यादिना।

सिद्धान्ती स्वप्नादिसिद्ध्यनुपपत्त्या देहातिरिक्तमात्मानमभ्युपगमयन्नुत्तरमाह—नेत्यादिना। तत्र नञर्थं विभजते—यदुक्तमिति। स्वप्ने दृष्टस्यैव दर्शनादिति हेतुभागं व्यतिरेकद्वारा विवृणोति—यदि हीति। जाग्रद्देहस्य द्रष्टुः स्वप्ने नष्टत्वादतीन्द्रियस्य संस्कारस्य चानिष्टत्वाददृष्टे चान्यस्य स्वप्नायोगाच्च स्वप्ने दृष्टस्यैव दर्शनं देहात्मवादे संभवतीत्यर्थः। मा भूद्दृष्टस्यैव स्वप्ने दृष्टिरन्यस्यापि स्वप्नदृष्टेरित्याशङ्क्याऽऽह—अन्य इति। अपिशब्दोऽध्याहर्तव्यः। पूर्वदृष्टस्यैव स्वप्ने दृष्टत्वेऽपि कुतो

के लिए अनुमान ही करना होगा, ऐसा हमें इष्ट नहीं है क्योंकि पदार्थ का कुछ अपना स्वभाव होता ही है; अग्नि का उष्ण स्वभाव तथा जल का शीत स्वभाव होना किसी अन्य कारण से नहीं है। यदि कहो कि यह स्वभाव प्राणियों के धर्माधर्म सापेक्ष है, तो धर्माधर्मादि का भी अन्य निमित्त की अपेक्षा रखने वाला स्वभाव मानने का प्रसङ्ग आ जायेगा। यदि कहो उसमें कोई हानि नहीं है तो ऐसा कहना ठीक नहीं है। इससे अनवस्था दोष का प्रसङ्ग आ जायगा और ऐसा मानना हमें इष्ट नहीं है।

१. सर्वं सर्वत्रेति। वह्निरनुष्णो वस्तुत्वाज्जलवदित्यपि स्यात्प्रत्यक्षविरोधस्य तुल्यत्वादित्यतिप्रसङ्गो दोषान्तरमिति भावः। २ न च वह्नेरनुष्णत्व युक्तं नियतपदार्थव्यवस्था दौःस्थ्यप्रसङ्गादित्याह—तच्चेति। ३. धर्मादेरौष्ण्यादि हेतुत्व स्वभावो न वा स्वभावश्चेदग्न्यादेरेव सोऽस्तु लाघवात् अस्वभावश्चेत्तत्राऽऽह—धर्मेति। धर्मादावपि धर्मान्तरसापेक्षत्वप्रसक्तेर्दुर्वारत्वादयुक्तोऽस्वभाववाद इत्यर्थः। ४. धर्मादेरग्न्यादिष्वौष्ण्यादिसम्पादनद्वारा फलदातृत्वे धर्मान्तरापेक्षत्वेऽपि न क्षतिरिति शङ्कते—अस्त्विति। तत्र दोषमाह—तदिति। तत्र धर्मादेर्धर्मान्तरापेक्षत्वेऽनवस्थेति धर्मान्तरेऽपि प्रथमधर्मादाविव सापेक्षत्वसाम्यात् सत्यां चानवस्थायां त्वदभिमतस्याग्न्यौष्ण्यादिद्वारा सुखादेर्धर्मादिकृतत्वस्यासिद्धिरिति किंच न हि धर्मादिप्रत्यक्षं त्वयानभ्युपगमात् नापि प्रमाणान्तरगम्यमस्मन्मते तदभावात्। अतो धर्मस्यैवाभावे धर्मान्तरापेक्षत्वं दूरनिरस्तमिति गूढाभिसन्धिः। ५. नेति प्रतिज्ञा शिष्टो हेतुः। ६. देहात्मवादिना। ७ स्यात्तर्हि। ८. न स्यादिति। भवति तु तत्र दृष्टस्यैव दर्शनम्। तथा च वार्तिकम्—"बाह्यादित्यादिविरहे करणव्यापृतिं विना। जाग्रद्वीक्षते स्वप्ने दृष्टपूर्वं यतो नरः" ॥ २६४ ॥ इति। स्वप्ने दृष्टयनुपपत्तिर्देहव्यतिरिक्तस्य द्रष्टृत्वादि कल्पयतीति भावः। ९. प्रसिद्धमिति —तथा च पदार्थानां स्वभावो नाम नास्ति तत्कथं कादाचित्कदर्शनादेः स्वभावतेति भावः। १०. आदिना स्मृतिः। ११. प्रतिज्ञाहेत्वोर्मध्ये। १२. समानाधिकरणे षष्ठी। १३. अतीन्द्रियस्य—अप्रत्यक्षस्य। १४. प्रत्यक्षैकशरणस्य देहात्मवादिनः।

स्यात् । अन्धः स्वप्नं पश्यन्दृष्टपूर्वमेव पश्यति न शाकद्वीपादिगतमदृष्टपूर्वम् । तितश्चैतत्सिद्धं भवति यः स्वप्ने पश्यति दृष्टपूर्वं वस्तु स एव पूर्वं विद्यमाने चक्षुष्यद्राक्षीन्न देह इति । देहश्चेद्द्रष्टा स येनाद्राक्षीत्तस्मिन्नुद्धृते चक्षुषि स्वप्ने तदेव दृष्टपूर्वं न पश्येत् । अस्ति च लोके प्रसिद्धिः पूर्वं दृष्टं मया हिमवतः शृङ्गमद्याहं स्वप्नेऽद्राक्षमित्युद्धृतचक्षुषामन्धानामपि । तस्मादनुद्धृतेऽपि चक्षुषि यः स्वप्नदृक्स एव द्रष्टा न देह इत्यवगम्यते ।

तथा स्मृतौ द्रष्टृस्मर्त्रोरेकत्वे सति य एव द्रष्टा स एव स्मर्ता । यदा चैवं तदा निमीलिताक्षोऽपि स्मरन्दृष्टपूर्वं यद्रूपं तद्दृष्टवदेव पश्यतीति । तस्माद्यन्निमीलितं तत्र द्रष्टृ

देहव्यतिरिक्तो द्रष्टा सिध्यतीत्याशङ्क्याऽऽह—ततश्चेति । यथोभयत्र देहस्यैव द्रष्टृत्वे का हानिरिति चेदत आह—देहश्चेदिति । १०तत्र सहकारिचक्षुरभावाच्चक्षुरन्तरस्य चोत्पत्तौ देहान्तरस्यापि समुत्पत्तिसंभवादन्यदृष्टेऽन्यस्य न स्वप्नः स्यादित्यर्थः । मा भूत्पूर्वदृष्टे स्वप्नो हेत्वभावादित्याशङ्क्याऽऽह—अस्ति चेति । कथं ते जात्यन्धानामोहग्दर्शनमिति चेज्जन्मान्तरानुभववशादिति ब्रूमः । अन्धस्य देहस्याद्रष्टृत्वेऽपि चक्षुष्मतस्तस्य स्यादेव द्रष्टृत्वमित्याशङ्क्याऽऽह—तस्मादिति ।

स्वप्ने दृष्टस्यैव दर्शनादिति हेतुं व्याख्याय स्मृतौ दृष्टस्यैव दर्शनादिति हेतुं व्याचष्टे—तथेति । द्रष्टृस्मर्त्रोरेकत्वेऽपि कुतो देहातिरिक्तो द्रष्टेत्याशङ्क्याऽऽह-यदा चेति । देहातिरिक्तस्य स्मर्तृत्वेऽपि कुतो द्रष्टृत्वमित्याशङ्क्याऽऽह—तस्मादिति । द्रष्टृस्मर्त्रोरेकत्वस्योक्तत्वाद्देहातिरिक्तः स्मर्ता चेद्द्रष्टाऽपि

(इस पर सिद्धान्ती कहता है—)यह प्रतिज्ञा शिष्टसम्मत नही है क्योकि स्वप्न और स्मृति में देखे हुए का ही दर्शन होता है। देहात्मवादी द्वारा जो यह कहा गया है कि दर्शनादिक्रिया देह की होती है, उससे भिन्न किसी की नही होती; ऐसा कहना भी नही बनता। यदि देह की ही दर्शनक्रिया हो, तो स्वप्न मे देखे हुए का दर्शन ही नही होता। नेत्रविहीन व्यक्ति भी स्वप्न देखने के समय पूर्वदृष्ट पदार्थों को ही देखता है, शाकद्वीप आदि पूर्व अदृष्ट पदार्थों को नही देखता। इससे यह सिद्ध होता है, जो स्वप्न में पूर्वदृष्ट वस्तु देखता है उसीने जागरित मे उन पदार्थों को चक्षु के विद्यमान रहते हुए देखा था; देह ने नही। यदि देह को द्रष्टा मानो, तो जिन नेत्रो से उसने पहले था, उन नेत्रों के नष्ट हो जाने पर उसी पूर्वदृष्ट को स्वप्न मे कभी न देखता। चक्षुविहीन अन्धो के विषय में भी लोक प्रसिद्ध है कि "आज स्वप्न मे मैंने पूर्वदृष्ट हिमालय का शिखर देखा"। इसलिए स्वप्नद्रष्टा नेत्रो के विनष्ट न होने पर भी द्रष्टा है, देह द्रष्टा नही है, ऐसा जाना जाता है।

इसी प्रकार स्मृति में भी समझना चाहिये। द्रष्टा और स्मर्ता की एकता होने पर जो द्रष्टा होता है; वही स्मर्ता होता है। जब इस प्रकार स्वीकार कर लिया जाता है, तभी तो आँख मूंद कर स्मरण करने वाला भी पूर्वदृष्ट रूप को उसी प्रकार देखे हुए के समान स्मरण करता है। अतः जिन्हें

१. स्वप्ने दृष्टस्यैव दर्शनादेव। २ जागरिते । ३ स्यात्। ४. नष्टे। ५. प्रसिद्धिः—स्वप्ने दृष्टस्यैव दर्शनमिति प्रसिद्धिः। ६. तस्मादिति—उद्धृते चक्षुषि देहादिरिक्तस्य द्रष्टृत्वानुगमात् अन्धस्य देहस्य तदननुगमाद्देहस्यर्थः। ७. एवं द्रष्टृस्मर्त्रोरेकत्वं यदाऽभ्युपेयते तदा। ८. स्मरति। ९. जाग्रत्स्वप्नावस्थयोः। १०. स्वप्ने द्रष्टुः सहकारि।

'यन्निमीलिते चक्षुषि स्मरद्रूपं पश्यति तदेवानिमीलितेऽपि चक्षुषि द्रष्टासीदित्यवगम्यते। 'मृते च देहे'ऽविकलस्यैव च रूपादिदर्शनाभावात्। देहस्यैव द्रष्टृत्वे मृतेऽपि दर्शनादिक्रिया स्यात्। 'तस्माद्यदपाये देहे दर्शनं न भवति यद्भावे च भवति तद्दर्शनादिक्रियाकर्तृ न देह इत्यवगम्यते।

चक्षुरादीन्येव दर्शनादिक्रियाकर्तॄणीति चेत्। न। यदहमद्राक्षं तत्स्पृशामीति भिन्नकर्तृकत्वे प्रतिसंधानानुपपत्तेः। मनस्तर्हीति चेत्। न। मनसोऽपि 'विषयत्वाद्रूपादि-

---

वत्। सिध्यतीति भावः। देहस्याद्रष्टृत्वे हेत्वन्तरमाह—मृते चेति। न तस्य द्रष्टृतेति शेषः। 'तदेवोपपादयति—देहस्यैवेति। देहव्यतिरिक्तमात्मानमुपपादितमुपसंहरति—तस्मादिति। चैतन्यं यत्तदोरर्थः।

मा भूद्देहस्याऽऽत्मत्वमिन्द्रियाणां तु स्यादिति शङ्कते—चक्षुरादीनीति। अन्यदृष्टस्येतरेणाप्रत्यभिज्ञानादिति' न्यायेन परिहरति—नेत्यादिना। 'आत्मप्रतिपत्तिहेतूनां मनसि संभवादिति न्यायेन शङ्कते—मन इति। "ज्ञातुर्ज्ञानसाधनोपपत्तेः संज्ञाभेदमात्रमिति न्यायेन परिहरति—न मनसोऽपीति।

मूँद रखा है। वह नेत्र द्रष्टा नहीं है, जो चैतन्य नेत्रों के मूँद लेने पर भी स्मरण किये जाने वाले रूप को देखता है, वही नेत्रों के न मूँदने पर भी द्रष्टा था, ऐसा जान पड़ता है। प्राणशून्य शरीर में देह के अविकृत होने पर भी रूपादि के दर्शन का अभाव हो जाता है। यदि देह ही द्रष्टा होता तो प्राणशून्य होने पर उसमें दर्शनादिक्रिया होती। इसलिए जिसके देह से चले जाने पर दर्शन नहीं होता, जिसके रहने से होता है, वही दर्शनादिक्रिया का कर्ता है, देह ऐसी सामर्थ्य वाला नहीं है—ऐसा सिद्ध हो जाता है।

यदि कहो, नेत्रादि इन्द्रियाँ ही दर्शनादिक्रिया की कर्ता हैं, तो ऐसा कहना भी नहीं बनता।

---

१. चैतन्यम्। २ प्राणशून्ये। ३ अविकृतस्यैव देहस्य। ४ मृतदेहस्य दर्शनादिक्रियाऽभावात्। ५. तर्हि—आत्मेति शेषः। ६ ज्ञातुरित्यादिसूत्रस्य ज्ञातुर्ज्ञानसाधनान्युपपद्यन्ते चक्षुषा पश्यति घ्राणेन जिघ्रति त्वचा स्पृशति एवं मन्तुः सर्वविषयस्य मतिसाधनमन्तःकरणभूतं सर्वविषयं विद्यते येनाऽयं मन्यत इत्येवं सति ज्ञातरि आत्मसंज्ञा न मृष्यते त्वया मनःसंज्ञाऽभ्यनुज्ञायते मनसि च मनःसंज्ञा नाभ्युपगम्यते मतिसाधनं त्वभ्यनुज्ञायते (स्वीक्रियते) तदिदं संज्ञाभेदमात्रं नार्थे विवाद इत्येतमर्थमभिप्रेत्याह—विषयत्वादिति। कथं तत्राहुर्वार्तिके—"शब्दादिसविषयत्वात् साक्षात्स्मृतिस्वप्नमतं मनः। कुम्भवद्दीप्यते यस्मात्तस्मान्नात्मा मनोऽपि न" ॥ २७१ ॥ इति। ७ देहस्याद्रष्टृत्वमेव। ८. इति न्यायेनेति। न्यायसूत्रम्—"सव्यदृष्टस्येतरेण प्रत्यभिज्ञानादिति" न्यायदर्शने ३।१।७ सूत्रमत्र बोद्धव्यम्। तत्सूत्रभाष्यं यथा—सव्येन खलु चक्षुषा दृष्टमर्थमितरेणापि चक्षुषा दृष्ट्वा प्रत्यभिजानाति यमद्राक्षं तमेवैतर्हि पश्यामि इति। इन्द्रियचैतन्ये च नान्यदृष्टमन्यः प्रत्यभिजानातीति प्रत्यभिज्ञानुपपत्तिरिति। अन्यदृष्टस्येत्यादिस्थाने सव्यदृष्टस्येत्यादिनिरुक्तसूत्रमेव टीकास्थमित्यपि वदन्ति। ९ "नात्मप्रतिपत्तिहेतूनां मनसि संभवादिति" न्यायदर्शने ३-१-१६ नञ्वर्जं पठति आत्मेति। न देहादिव्यतिरिक्त आत्मा कुत आत्मेति। दर्शनस्पर्शनाभ्यामेकार्थग्रहणा(द्रष्टृत्वस्प्रष्टृत्वयोरेकाधिकरणत्वनिश्चया)दित्येवमादीनामात्मप्रतिपादकानां हेतूनां मनसि संभवात्। मनस एकत्वात्पूर्वानुभवोत्थसंस्कारात्प्रत्यभिज्ञोपपत्तेश्चेति तत्सूत्रार्थः। १०. न्याय० सू० ३।१।१७।

वद्द्रष्टृत्वाद्यनुपपत्तिः। [1]तस्मादन्तःस्थं व्यतिरिक्तमादित्यादिवदिति सिद्धम्।

[2]यदुक्तं कार्यकरणसंघातसमानजातीयमेव ज्योतिरन्तरमनुमेयम्। आदित्यादिभि[3]स्तत्समानजातीयैरेवोपक्रियमाणत्वादिति। तदसत्। उपकार्योपकारकभावस्यानियमदर्शनात्। कथं, पार्थिवैरिन्धनैः पार्थिवत्वसमानजातीयैस्तृणोलपादिभि[4]रग्नेः प्रज्वलनोपकारः क्रियमाणो दृश्यते। न च तावता तत्समानजातीयैरेवाग्नेः प्रज्वलनोपकारः सर्वत्रानुमेयः स्यात्। [5]येनोदकेनापि प्रज्वलनोपकारो [6]भिन्नजातीयेन वैद्युतस्याग्नेर्जाठरस्य च क्रियमाणो दृश्यते।

[7]तस्मादुपकार्योपकारकभावे समानजातीयासमानजातीयनियमो नास्ति। कदा-

---

देहादेरनात्मत्वे फलितमाह—तस्मादिति। आत्मज्योतिः संघातादिति शेषः।

परोक्तमनुवदति—यदुक्तमिति। अनुग्राह्यसजातीयमनुग्राहकमित्यत्र हेतुमाह—आदित्यादिभिरिति। उपकार्योपकारकत्व[8]साजात्यनियमं दूषयति—तदसदिति। अनियमदर्शनमाकाङ्क्षापूर्वकमुदाहरति—कथं पार्थिवैरिति। उलपं बालतृणम्। पार्थिवस्यैवाग्नि प्रत्युपकारकत्वनियमं वारयति—न चेति। तावता पार्थिवेनाग्नेरुपक्रियमाणत्वदर्शनेनेति यावत्। तत्समानजातीयैरिति तच्छब्दः पार्थिवत्वविषयः। तत्र हेतुमाह—येनेति।

[8]दर्शनफलं निगमयति—तस्मादिति। उपकार्योपकारकभावे साजात्यनियमवदपकार्यपकारक-

---

क्योकि दर्शन और स्पर्श भिन्नकर्तृक होने के कारण "जिसे मैंने देखा था, उसका स्पर्श करता हूँ" ऐसा अनुभव होना असम्भव हो जाता। यदि कहो मन ही द्रष्टा है तो ऐसा कहना भी ठीक नही क्योकि रूपादि की तरह विषय होने के कारण मन का द्रष्टा होना भी सिद्ध नही होता। इसलिये यह सिद्ध हुआ कि चैतन्यज्योति अन्तःस्थ है, आदित्यादि के समान देह से पृथक् है।

जो यह कहा गया कि शरीरेन्द्रियसंघात की समानजातीय ही किसी अन्य ज्योति का स्मरण करना चाहिये क्योकि आदित्यादि एव उससे अनुग्राह्य समानजातीय ज्योतियो से ही संघात का उपकार होता है। ऐसा कहना मिथ्या है क्योकि उपकार्य-उपकारकभाव का कोई (सार्वत्रिक) नियम हो—ऐसा नही देखा जाता। ऐसा किस प्रकार कहते हो? (इसे स्पष्ट करते हैं—) पार्थिव इन्धन एव पार्थिवत्व समानजातीय तृण और घास आदि से पार्थिव अग्नि का प्रज्वलनरूप उपकार होते देखा जाता है। किन्तु यह सार्वत्रिक अनुमान नही समझ लेना चाहिये कि समानजातीय पदार्थों से ही अग्नि का प्रज्वलनात्मक उपकार होगा, क्योकि भिन्नजातीय जल से भी विद्युत्रूप अग्नि का तथा उदरस्थ अग्नि का प्रज्वलनरूप उपकार होते देखा गया है।

इसलिए उपकार्य-उपकारकभाव मे समानजातीय अथवा असमानजातीय होने का नियम

---

१. देहादेरनात्मत्वात। २. ६६१पृष्ठभाष्ये। ३. अनुग्राह्यैरिति भावः। ४. भौमस्याग्नेः। ५. पार्थिवापेक्षया भिन्नेत्यर्थः। ६. भौमस्य जाठरस्य दिव्यस्यैव पावकस्य काष्ठैरद्भिश्चोपकारदर्शनात्। ७. उपकारकोपकार्यत्वयोः साजात्यव्याप्तत्वम्। ८. अनियमदर्शना।

चित्समानजातीया मनुष्या मनुष्यैरेवोपक्रियन्ते कदाचित्स्थावरपश्वादिभिश्च भिन्नजातीयैः । तस्मादहेतुः कार्यकरणसंघातसमानजातीयैरेवाऽऽदित्यादिज्योतिर्भिरुपक्रियमाणत्वादिति ।

यत्पुनरात्थ चक्षुरादिभिरादित्यादिज्योतिवदंदृश्यत्वादित्ययं हेतुर्ज्योतिरन्तरस्यान्तःस्थत्वं वैलक्षण्यं च न साधयति *चक्षुरादिभिरनैकान्तिकत्वादिति । तदसत् ।

भावेऽपि वैजात्यनियमो नास्तीत्यर्थः । तत्रोपकार्योपकारकत्वे साजात्यनियमाभावमुदाहरणान्तरेण दर्शयति—कदाचिदिति । अम्भसाऽग्निना वाऽग्नेरुपशान्त्युपलम्भादुपकार्योपकारकत्वे वैजात्यनियमोऽपि नास्तीति मत्वोपसंहरति—तस्मादिति । उक्तानियमदर्शनं तच्छब्दार्थः । अहेतुरात्मज्योतिषः संघातेन समानजातीयतायामिति शेषः ।

अनुग्राहकमनुग्राह्यसजातीयमनुग्राहकत्वादादित्यवदित्यपास्तम् । संप्रत्यतीन्द्रियत्वहेतोरनैकान्त्यं परोक्तमनुभाष्य दूषयति—यत्पुनरित्यादिना । विमतं ज्योतिः संघातधर्मस्तद्भावभावित्वाद्रूपावि-

---

नही है । कभी समानजातीय मनुष्य मनुष्यो से उपकृत होते हैं; कभी भिन्नजातीय स्थावर एवं पशु आदि से उपकृत होते हैं । अतः देहेन्द्रियसघात के समानजातीय आदित्यादि ज्योतियों से उपकृत होने के कारण ही आत्मज्योति सघात के समानजातीय ही होनी चाहिये—ऐसा कोई नियम नहीं है ।

और जो तुम (पूर्ववादी) ने कहा था कि आदित्यादि ज्योति के समान चक्षुरादि इन्द्रियो से आत्मज्योति अदृश्य होने के कारण (व्यतिरेकी दृष्टान्त है) यह हेतु तो चक्षु आदि मे व्यभिचरित होने के कारण उस आत्मज्योति का अन्तःस्थ और विलक्षण होना सिद्ध नही करता । यह कहना भी

---

१ ६६१ पृष्ठभाष्ये । २. व्यतिरेकिदृष्टान्तः । ३ आत्मज्योतिषः । ४ आत्मरूपस्य । ५. वैजात्यनियमो नास्तीति । वैद्युतोऽग्निर्भौमाग्निसंपर्कादुपशाम्यतीति प्रसिद्धम् । भौमश्चाग्निरर्कांशुरुपशाम्यन्नुपलभ्यते । तथा च वार्तिके—"अग्न्यम्बुभिश्च शमनं तथाऽग्नेरेव दृश्यत इति" । ६ उपकार्योपकार्यादी साजात्यवैजात्यनियमाभावयो । ७ भौमाग्नेरम्भसा । ८. दिव्याग्नेर्भौमाग्निना । ९ आत्मा ।

---

*चक्षुरादिभिरनैकान्तिकत्वादिति । अत्राहुर्वार्तिकाचार्यास्तथाहि—"यच्चाप्यक्षैरनैकान्त्यं हेतोरभिहितं पुरा । तच्चाप्यसदवयाऽभाणि धर्मित्वेन परिग्रहात् ॥ सेन्द्रियस्यास्य देहस्य पुरुषोक्त्या परिग्रहात् । न [illegible]देश साध्यस्य दृष्टान्तत्वाय कल्प्यते" । २३७ २३८ ॥ इति । आत्मज्योतिरनुग्राह्यसजातीयमिति निरस्तमिदानीमतीन्द्रियत्वादन्तस्थत्वमुत वाऽभौतिकत्वे हेतुद्वयमन्तःस्थत्वातीन्द्रियत्वाभ्यामात्मज्योतिषो विवक्षितं चक्षुरादिभिरनैकान्तमित्युक्तमनुवदति—यच्चेति । न तावदन्तस्थत्वे साध्ये चक्षुरादिभिरतीन्द्रियत्वमनैकान्तं किंज्योतिरयं पुरुष इत्यत्र पुरुषशब्देन कार्यकरणसंघातं गृहीत्वाऽऽत्मज्योतिषस्तदन्तःस्थत्वोक्तौ सेन्द्रियस्य देहस्य धर्मित्वेन तदन्तःस्थत्वरूपविशिष्टसाध्यकोटिनिविष्टत्वेनेष्टत्वादित्याह—तच्चेति । साध्यकोटिनिविष्टोऽपि साध्यवत्त्वं विना हेतुसत्त्वे कथं न विरुद्धतेत्याशङ्क्याऽऽह—न हीति । साध्यैकदेशो न व्यभिचारोदाहरणं तस्य पक्षनिक्षिप्तस्य विपक्षत्वानुपपत्तेर्न चातीन्द्रिये परमाण्वादावनन्तःस्थे विरुद्धतातादवस्थ्यं ज्योतिष्ट्वेन हेतोर्विशेषणादित्यर्थः । यद्वाऽऽत्मज्योतिषोऽन्तःस्थत्वातीन्द्रियत्वहेतुभ्यामभौतिकत्वे साध्ये चक्षुरादिष्वनैकान्त्यमिति तत्रापि नान्तःस्थत्वमनैकान्तमित्याह—तच्चेति । अनुग्राह्यान्तःस्थत्वं हि हेतुस्तथा च चक्षुरादेरनुग्राह्यत्वधर्मित्वेन स्वीकारात्ततोऽन्तःस्थत्वाभावान्न तत्र व्यभिचार इत्याह—धर्मित्वेनेति । कथमनुग्राह्यत्वधर्मित्वेन चक्षुरादेर्ग्रहणं पुरुषस्यैव संघातत्वश्रुतेरित्याशङ्क्याऽऽह

चक्षुरादिकरणेभ्योऽन्यत्वे सतीति हेतोर्विशेषणत्वोपपत्तेः । कार्यकरणसंघातधर्मत्वं ज्योतिष इति 'यदुक्त तन्न । अनुमानविरोधात्' । आदित्यादिज्योतिर्वत्कार्यकरणसंघातादर्थान्तरं ज्योतिरिति 'ह्य'नुमानमुक्तं तेन विरुध्यत इय प्रतिज्ञा कार्यकरणसंघातधर्मत्वं ज्योतिष इति । 'तद्भावभावित्व त्वसिद्धं मृते देहे ज्योतिषोऽदर्शनात् ।

'सामान्यतो दृष्टस्यानुमानस्याप्रामाण्ये सति 'पानभोजनादिसर्वव्यवहारलोपप्रसङ्गः ।

यदित्युक्तमनूद्य निराकरोति—कार्येति । अनुमानविरोधमेव साधयति—आदित्यादीति । काला'स्यया-पदेशमुक्त्वा हेत्वर्सिद्धि दोषान्तरमाह—तद्भावेति । अदर्शनादिति च्छेदः ।

*यत्पुनर्विशेषेऽनुगमाभाव. सामान्ये सिद्धसाध्यतेत्यनुमानदूषणमभिप्रेत्य सामान्यतो दृष्टस्य चेत्याद्युक्तं ' तद्दूषयति—सामान्यतो दृष्टस्येति । "विशेषतो दृष्टस्येत्यपि "द्रष्टव्यम् । "किमित्यनुमाना-

---

मिथ्या है । 'चक्षुरादि इन्द्रियों से भिन्न होते हुए" ऐसा विशेषण लगा देने पर वह सिद्ध हो जाता है। इसके अतिरिक्त जो उस ज्योति को देहेन्द्रियसघातधर्मी बतलाया, वह भी कहना ठीक नहीं है क्योंकि हमारे अनुमान से उसमे विरोध आ जाता है। आदित्यादि ज्योति की भाँति यह ज्योति देहेन्द्रियसघात से व्यतिरिक्त पदार्थ है—ऐसा अनुमान पहले कहा जा चुका है। उस अनुमान से "यह

---

१. ६६२ पृष्ठभाष्ये । २ अस्मदनुमानेन तदनुमानबाधादिति यावत् । ३. तत्रैव टीकायाम् । ४. अनुमानमुक्तमिति । विमत सघाताद्भिन्न तद्भासकत्वादादित्यादिवदित्यनुमानमुक्तमित्यर्थः । तथा च तेन बाधितोऽयं हेतुरिति भाव. । ५ तद्भावेत्यादि । यद्यपि कार्यकरणसघातभावभावित्व नासिद्ध मृते करणविगमात्तथापि देहात्मवादे करणविगमात्मवाभावासाधकत्वमिति ध्येयम् । ६ सामान्यतो दृष्टस्य—नित्यातीन्द्रियार्थानुमापकस्य रूपादिज्ञानस्येत्यर्थः । ७ विशेषतो दृष्टस्यानुमानस्याप्रामाण्ये दोषमाह—पानभोजनेति । यद्वा अन्वयव्यति-रेक्यनुमानमपि सामान्यतो दृष्टमित्यभ्युपगम्यते तथा च तदप्रामाण्ये दोष वदति—पानेति । ८. भाष्यम् । ९. अनुमानभङ्गपङ्केऽस्मिन्निमग्नावादिदन्तिन इत्युत्तरार्धम् । विशेषेऽनुगमेति पर्वतीयादिवह्निविशेषे साध्ये महानसे तदभावाद्दृष्टान्ते साध्यविकलता वह्निमात्रे (सामान्ये) साध्ये तस्य क्वापि सिद्धतया सिद्धसाध्यता (तथा चाश्रयासिद्धि) इत्यर्थ. । तथा च नानुमान मानमिति भावः । १०. ६६२ पृष्ठभाष्ये । ११. विशेषतो दृष्टस्य—प्रत्यक्षयोग्यार्थानुमापकस्य धूमादेः द्विविधस्यापि तस्याप्रामाण्ये सतीत्यर्थ. । १२. द्रष्टव्यमिति भाष्योक्तसामान्यतो दृष्टस्य इत्यस्योपलक्षणत्वादिति भावः । १३. कथम् ।

—सेन्द्रियस्येति । विशिष्टातीन्द्रियत्वहेतोर्व्यभिचार परिहरति—न हीति । कार्यकरणसघाताद्वैलक्षण्ये साध्ये तदेकदेशश्चक्षुरादिर्न व्यभिचारोदाहरण न हि पक्षस्य विपक्षतेत्युक्त न च सघातैकदेशस्य तदन्तस्थत्वमास्थायाशक्यमतीन्द्रियत्वेन चाग्राह्यत्वस्य विवक्षितत्वान्न विरुद्धतेति भावः । यद्वा नान्तस्थत्वे साध्येऽतीन्द्रियत्वमक्षेष्वनैकान्तं तेषां ग्राह्यत्वधर्मित्वेनेष्टत्वादग्राह्यत्वस्य चातीन्द्रियत्वादित्याह—धर्मिभेनेति । कुतस्तेषां ग्राह्यत्वमत आह—सेन्द्रियस्येति । पुरुषो हि प्रकाश्यत्वेन प्रकृतस्तदन्तर्भूतान्यक्षादीन्यपि तथा तन्न तेषु विरुद्धतेत्यर्थः । एतेना-भौतिकत्वे साध्येऽप्यतीन्द्रियत्वस्य विरुद्धतोद्धृता यत्तु तस्मिन्साध्येऽन्तस्थत्वं विरुद्धमिति तत्राऽऽह—न हीति । प्रत्यग्ज्योतिरभौतिकमिति पक्ष साध्यशब्दार्थः । तस्यान्तस्थत्वमेकदेशस्तद्धि कार्यकरणसाक्षित्वेन तत्प्रत्यक्त्वं न च तादृशो हेतुरक्षेषु व्यभिचारोदाहरणत्वाय योग्यस्तेषां तत्साक्षित्वाभावादित्यर्थः ॥

---

*यत्पुनर्विशेषेऽनुगमाभाव इत्यादि । "विशेषेऽनुगमाभावः सामान्ये सिद्धसाध्यता । इत्यादिदोषदुष्टत्वान्न च

स चानिष्टः । पानभोजनादिषु हि क्षुत्पिपासादिनिवृत्तिमुपलब्धवतस्तत्सामान्यात्पान-भोजनाद्युपादानं दृश्यमानं लोके न [1]प्राप्नोति । दृश्यन्ते ह्युपलब्धपानभोजनाः सामान्यतः पुनः पानभोजनान्तरैः क्षुत्पिपासादिनिवृत्तिम[2]नुमिन्वन्तस्तादर्थ्येन प्रवर्तमानाः ।

[3]यदुक्तमयमेव तु देहो दर्शनादिक्रियाकर्तेति तत्प्रथममेव [4]परिहृतं स्वप्नस्मृत्योर्देहादर्थान्तरभूतो द्रष्टेति । अनेनैव ज्योतिरन्तरस्यानात्मत्वमपि प्रत्युक्तम् । यत्पुनः खद्योतादेः कादाचित्क प्रकाशाप्रकाशात्मकत्वं तदसत् । [5]पक्षाद्यवयवसंकोचविकासनिमित्त-

प्रामाण्ये सर्वव्यवहारहानिरित्याशङ्क्याऽऽह—पानेति । तत्सामान्यात्पानत्वभोजनत्वादिसादृश्यादिति यावत् । पानभोजनाद्युपादानं दृश्यमानमित्युक्तं विशदयति—दृश्यन्ते हीति । तादर्थ्येन क्षुत्पिपासादि-निवृत्त्युपायभोजनपानाद्यर्थत्वेनेति यावत् ।

देहस्यैव द्रष्टृत्वमित्युक्तमनूद्य पूर्वोक्तं परिहारं स्मारयति—यदुक्तमित्यादिना । ज्योतिरन्तर-भावित्यादिवचनात्मेत्युक्तं प्रत्याह—अनेनेति । संघातादेर्द्रष्टृत्वनिराकरणेनेति यावत् । 'देहस्य कादाचित्कं दर्शनादिमत्त्वं 'स्वाभाविकमित्यत्र 'परोक्तं दृष्टान्तमनुभाष्य निराचष्टे—यत्पुनरित्यादिना ।

ज्योति देहेन्द्रियसंघातधर्मी है" इस प्रतिज्ञा का विरोध आ जाता है। 'देह के रहने पर चैतन्यज्योति रहती है' यह हेतु तो असिद्ध है क्योंकि मृत देह में उस ज्योति का दर्शन नहीं होता।

सामान्यतः दृष्टप्रकारक अनुमान की अप्रामाणिकता मानने पर तो भोजन और जलपानादि सभी व्यवहारों का लोप प्रसङ्ग आ जायगा और वह हमें इष्ट नहीं है। क्योंकि ऐसा होने पर तो जलपान और भोजनादि करने से भूख और प्यास की निवृत्ति होने पर क्षुधा-पिपासानिवृत्ति देखने वाले को उस की समानता से लोकव्यवहार में जलपान और भोजन ग्रहण करते दिखाई देना नहीं बनता, किन्तु जलपान भोजन किए हुए लोग फिर भी जलपान भोजन करने से क्षुधा-पिपासादि की निवृत्ति का अनुमान करके उसके लिये प्रवृत्त होते दिखाई देते हैं।

और जो यह कहा था कि देह दर्शनादिक्रिया का कर्ता है, उसका तो स्वप्न और स्मृति का देह से व्यतिरिक्त द्रष्टा है' ऐसा कहकर पहले ही परिहार किया जा चुका है। इसी से उस दूसरी

१. घटते । २ अनुमिन्वन्त इति । इमे पानभोजने दृष्टक्षुन्निवर्तके पानभोजनत्वात्पानभोजनवदित्यनु-मिन्वानाः । ३ ९९३पृष्ठभाष्ये । ४. ९९४पृष्ठभाष्ये । ५ पक्षादीनि । खद्योतादेः पक्षिणः ये पक्षाद्यवयवाः तेषां संकोचविकासौ, तथा च तत्प्रकाशाप्रकाशयोरपि नैमित्तिकत्वेन स्वाभाविकत्वाभावान्न दृष्टा-न्तेति भावः । ६ ९९३पृष्ठटीकायाम् । ७ देहस्यति—अनुमानप्रामाण्य प्रसाध्य तद्बलादात्मज्योतिषो देहाद्यतिरेक उक्तः संप्रतीत्यादिः । ८. अतिरिक्तचैतन्याऽनधीनम् । ९. ९९३ पृष्ठटीकायाम् ।

नोऽनुमिति प्रमा" ॥ १४४ ॥ किंचानुमानप्रामाण्यमुपेत्योक्त वस्तुतस्तु न तन्मानमित्याह—विशेष इति । पर्वतनितम्बवर्तिनि वह्निविशेषे साध्ये महानसे तदभावाद्दृष्टान्तस्य साध्यविकलता वह्निमात्रे साध्ये तस्य पूर्वत्रापि सिद्धतया सिद्धसाध्यत्वादाश्रयासिद्धिर्धूमविशेषे च हेतौ साधनवैकल्यमसिद्धिर्वेति दोषदुष्टत्वान्नानुमानमानमित्यर्थः । अव्यक्तयोर्वा व्याप्तिर्जात्योर्वा तदाक्रान्तविशेषयोर्वा धूमवत्त्ववह्निमत्त्वयोर्वा नाऽऽद्य सर्वोपसंहाराऽसिद्धेर्न द्वितीयस्तयोः स्वरूपभेदाद्धर्मिभेदाच्च न तृतीय उक्तदोषान्न चतुर्थं औपाधिकधर्मस्य स्वरूपातिरिक्तस्यानिरूपणादि-त्यादिशब्दार्थः ॥

कतम आत्मेति योऽयं विज्ञानमयः प्राणेषु हृद्यन्त-र्ज्योतिः पुरुषः [1]स समानः सन्नुभौ लोकावनुसंचरति

जनक ने पूछा—आत्मा कौन है ? याज्ञवल्क्य ने कहा—जो प्राणों में बुद्धिवृत्तियों के भीतर स्थित विज्ञानमय ज्योतिस्वरूप पुरुष है (वही आत्मा है)। वह बुद्धिवृत्तियों के समान होता हुआ इस

स्वातप्रकाशाप्रकाशकत्वस्य । यत्पुनरुक्तं धर्माधर्मयो[2]रवश्य फलदातृत्वं स्वभावोऽभ्युपगन्तव्य इति । [3]तदभ्युपगमे [4]भवतः सिद्धान्तहानात् । एतेनानवस्थादोषः प्रत्युक्तः । [5]तस्मादस्ति व्यतिरिक्तं चान्तःस्थं ज्योतिरात्मेति ॥ ६ ॥

यद्यपि व्यतिरिक्तत्वादि [6]सिद्धं तथाऽपि समानजातीयानुग्राहकत्वदर्शननिमित्त-

---

सिद्धान्तिनाऽपि स्वभाववादस्य क्वाचत्केष्टव्यत्वमुपदिष्टमनूद्य दूषयति—यत्पुनरिति । धर्मादेर्यदि हेत्वन्तराधीनं फलदातृत्वं तदा हेत्वन्तरस्यापि हेत्वन्तराधीनं फलदातृत्वमित्यनवस्थेत्युक्तं प्रत्याह—एतेनेति । सिद्धान्तविरोधप्रसञ्जनेनेति । लोकायतमतासंभवे स्वपक्षमुपसंहरति—तस्मादिति ॥६॥

नन्वात्मज्योतिः संघाताद्व्यतिरिक्तमन्तःस्थं चेति साधितं तथा च कथं कतम आत्मेति पृच्छ्यते तत्राऽऽह—यद्यपीति । अनुग्राह्येण देहादिना [7]समानजातीयस्याऽऽदित्यादेरनुग्राहकत्वदर्शनान्निमित्ता-दनुग्राहकत्वाविशेषादात्मज्योतिरपि समानजातीयं देहादिनेति भ्रान्तिर्भवति तयेति यावत् । अविवेकतो

ज्योति के अनात्मत्व का भी खण्डन कर दिया गया है। इसी प्रकार जुगनु का जो कभी प्रकाशकत्व और कभी अप्रकाशकत्व बतलाया, वह भी मिथ्या है क्योंकि वे प्रकाशकत्व और अप्रकाशकत्व तो पंख आदि अवयवों के संकोच और विकास के कारण हैं। इसके अतिरिक्त जो यह (पूर्ववादी ने) कहा कि धर्म और अधर्म का अवश्यफलदातृत्व स्वभाव ही स्वीकार कर लेना चाहिये—सो ऐसा मान लेने पर आप देहात्मवादी के सिद्धान्त में विरोध आएगा। इसी से तुम्हारे द्वारा पूर्वचर्चित अनवस्था दोष का भी खण्डन कर दिया गया। इसलिये (अतीन्द्रिय होने से) संघात से पृथक् और अपने भीतर सुव्यवस्थित आत्मज्योति है—यह सिद्ध हुआ ॥६॥

यद्यपि आत्मा का देहादि से व्यतिरिक्त होना अनुमानादि द्वारा निर्णीत हो चुका है तथापि

---

१. पूर्वोक्तरीत्या देहाद्यतिरिक्तस्य नित्यमुक्तस्यात्मनोऽविद्यया बुद्ध्यध्यासादेव संसारित्वमिति प्रदर्शयितुमाह—स समान इति । स हृद्यन्तर्ज्योतिरात्मा समानः सन् बुद्ध्या सदृशः सन्नन्योन्यधर्माध्यासे सति तद्भावमिव तत्तादात्म्यापन्नः सन्नेव उभौ लोकौ प्रतिपन्नप्रतिपत्तव्याविहलोकपरलोकावनुक्रमेणोपात्तदेहं परित्यजन् अन्यादन्याचापाददत् संसरतीत्यर्थः । २. अवश्यमिति । न च स्तुत्यादिक्रियैव सुखादिफलदाने धर्मादिनाऽपेक्ष्यते विनापि दर्शनात् । न च धर्मादन्तरमपेक्ष्यमनवस्थानात्तथा च धर्मादेः फलदानवच्चैतन्यं देहस्वभाव इति भावः । ३. तदभ्युपगमे—धर्माद्यभ्युपगमे । न च सिद्धान्तयुक्त्याऽभ्युपगम इति वाच्यं सत्यं तु तद्देवेतराभ्युपगमापातादिति भावः । ४. देहात्मवादिनः । ५. तस्मात्—पूर्वोक्तरीत्याऽनुमानमानस्य सिद्धत्वेनातीन्द्रियत्वादिहेतोः सुगमत्वात् । हेतुश्च आत्मज्योतिः संघातातिरिक्तमनुग्राहकत्वात् सूर्यवत् । उक्तं ज्योतिरन्तःस्थमतीन्द्रियत्वाद्व्यतिरेके सद्वादिस्यापुक्त एव । ६. अनुमानैर्निर्णीतम् । ७. भौतिकत्व साधारण्यम् ।

ध्यायतीव लेलायतीव [1]स हि स्वप्नो भूत्वेमं लोक-

मतिक्रामति मृत्यो रूपाणि ॥ ७ ॥

लोक परलोक दोनों में सचरण करता है। वही बुद्धिवृत्ति के अनुसार चिन्तन करता हुआ सा और प्राणवृत्ति के अनुसार चेष्टा करता हुआ सा जान पड़ता है। वही स्वप्न होकर देहेन्द्रियसघातरूप इस लोक का लघन कर जाता है एवं देहेन्द्रियरूप मृत्यु के रूपों को भी पार कर जाता है ॥७॥

भ्रान्त्या करणानामेवान्यतमो व्यतिरिक्तो वेत्य*विवेकतः पृच्छति—कतम इति। न्यायसूक्ष्मताया दुर्विज्ञेयत्वादुपपद्यते भ्रान्तिः। अथवा शरीरव्यतिरिक्ते [2]सिद्धेऽपि

निकृष्टदृष्टप्रभावादित्यर्थः। व्यतिरेकसाधकस्य न्यायस्य दर्शितत्वात्कुतो भ्रान्तिरित्याशङ्क्याऽऽह—न्यायेति। भ्रान्तिनिमित्ताविवेककृतं प्रश्नमुक्त्वा प्रकारान्तरेण प्रश्नमुत्थापयति—अथवेति। प्रश्नाक्षराणि

आदित्यादि समानजातीय पदार्थों का ही अनुग्राहकत्व देखने के कारण उत्पन्न भ्रान्ति से "आत्मा इन्द्रियों में से ही कोई एक है अथवा उनसे भिन्न है" इसका ज्ञान न होने से विदेहराज जनक 'कतमो' इस मन्त्र से पूछता है। तत्त्व के सूक्ष्म होने से दुर्विज्ञेय होने के कारण उसमें भ्रान्ति होनी सभव है। अथवा आत्मज्योति शरीर से व्यतिरिक्त सिद्ध होने पर भी इन्द्रियाँ चेतनस्वभाव वाली जान पड़ती हैं,

---

१ आत्मनि ध्यानलेलायनादिकं बुद्ध्युपाधिकं न स्वाभाविकमित्यत्र हेतुमाह—स हीति। हि यस्मात् स आत्मा स्वप्नो भूत्वा स्वप्नाकारपरिणतबुद्धिवृत्त्यवभासकत्वेन तदाकारो भूत्वेमं लोकं कार्यकरणसंघातलक्षणम् अतिक्रामति तदभिमानं त्यजतीति यावत्। तथा मृत्यो रूपाणि चातिक्रामति मृत्युरज्ञानं रूप्यते निरूप्यते यैरहंकारादिभिर्ज्ञाप्यते तानि मृत्यो रूपाणि। अतः सञ्चारादिकं नात्मनः स्वाभाविकं स्वभावस्य यावद्द्रव्यभावित्वस्य स्वसद्भावे त्वत्यतिक्रमायोगादित्यर्थः। २. आत्मज्योतिषि। ३ तथाऽप्यनिरेव दृष्टिरिति यावत्।

---

*अविवेकतः पृच्छति कतम इति। अत्र वार्तिके प्रकारान्तरेण प्रश्नवाक्योत्थापनं तथाहि—"आत्मैवास्येत्युपश्रुत्य पूर्वोत्तरविरुद्धताम्। आशङ्क्य जनकोऽप्राक्षीदाश्रमाश्य कतमो न्विति ॥ देहादिसंहतत्वस्यात्मात्मेति ह्यभिधाविधौ। सुप्रसिद्धे जगत्यस्मिन्नायोपिद्बालपण्डितम् ॥ पुम्बापारस्य सबन्धो देहादिव्यतिरेकिणा। ज्योतिषाऽनात्मना पूर्वं लिङ्गेन प्रतिपादितः ॥ आत्मैवास्येति वचनात्पूर्वोत्तरविरोधतः। सजातसशयो राजा याज्ञवल्क्यमपृच्छत ॥ अर्थान्तरं चेद्देहादेरात्मज्योतिर्विवक्षितम्। पूर्वोत्तरविरोधोऽयं तथा नैवेह दोक्ते ॥ आत्मशब्दश्च लोकेऽस्मिन्प्रसिद्धोऽनेकवस्तुषु। साक्षिबुद्धिशरीरान्तेष्वात्मबुद्धिसमन्वयात् ॥ कतमच्छ्रयस्तस्माद्वक्तव्यं स्यात्र भवात्। कतमो भवनाऽऽत्मेति ज्योतिष्ट्वेन विवक्षितः ॥ इति पृष्टोऽनुमानेनाविरुद्धं प्रत्यपीपदत्। आत्मज्योतिः सुविस्पष्टं राजानं बोध्यमित्यतः" ॥ २७६-२८३ ॥ इति। प्रकृतं दर्शयन्प्रश्नमुत्थापयति—आत्मेति। कथं पूर्वोत्तरविरुद्धत्वाशङ्का यन्मूला प्रश्नप्रवृत्तिरित्याशङ्क्य तदर्थं प्रथमं प्रसिद्धिं दर्शयति—देहादीति। उक्तप्रसिद्धेरविगीतत्वार्थो हिशब्दः ॥ तथाऽपि कथं पूर्वोत्तरविरुद्धतेत्याशङ्क्य पूर्वोक्तमनुद्रवति—पुम्बापारस्येति ॥ अथ विरोधमुद्भाव्य प्रश्नोत्पत्तिमाह—आत्मेति। आत्मत्वेन प्रसिद्धं देहं हित्वाऽनात्मना ज्योतिरन्तरेण पुम्बापारः स्यादित्यादित्यज्योतिः प्रभृतिष्वादौ सबन्ध उक्तः। सम्प्रत्यात्मैवास्य ज्योतिरित्याश्रुत्याऽऽत्मना तस्य सबन्धं वक्ष्यते ततः पूर्वोत्तरवाक्य-

करणानि सर्वाणि 'विज्ञानवन्तीव' विवेकत आत्मनोऽनुपलब्धत्वात् । अतोऽहं पृच्छामि कतम आत्मेति । कतमोऽसौ देहेन्द्रियप्राणमनःसु यस्त्वयोक्त आत्मा । येन ज्योतिषाऽऽस्ते इत्युक्तम् ।

अथवा योऽयमात्मा त्वयाऽभिप्रेतो विज्ञानमयः । सर्व इमे प्राणा विज्ञानमया इवैषु प्राणेषु कतमः । यथा समुदितेषु ब्राह्मणेषु सर्व इमे तेजस्विनः कतम एषु षडङ्ग-विदिति । पूर्वस्मिन्व्याख्याने कतम आत्मेत्येतावदेव प्रश्नवाक्यं योऽयं विज्ञानमय इति प्रतिवचनम् । द्वितीये तु व्याख्याने प्राणेष्वित्येवमन्त प्रश्नवाक्यम् । अथवा सर्वमेव प्रश्न-वाक्यं विज्ञानमयो हृद्यन्तर्ज्योतिः पुरुषः कतम इत्येतदन्तम् । योऽयं विज्ञानमय इत्येतस्य

व्याचष्टे—कतमोऽसाविति । ननु ज्योतिर्निमित्तो व्यवहारो यथोक्तो न स्यात्मेत्याशङ्क्याऽऽह—येनेति । आत्मनैवायं ज्योतिषेत्युक्तत्वाद्वासनादिनिमित्तं ज्योतिरात्मेत्यर्थः ।

प्रकारान्तरेण प्रश्नं व्याकरोति—अथवेति । तमेवार्थं कथयति—सर्व इति । योऽयं त्वयाऽ-भिप्रेतो विज्ञानमयः स प्राणेषु मध्ये कतमः स्यात्तेऽपि हि 'विज्ञानमया इव भान्तीति योजना । उक्त-मर्थं दृष्टान्तेन बुद्धावारोपयति—यथेति । व्याख्यानयोरवान्तरविभागमाह—पूर्वस्मिन्नित्यादिना । हृदीत्यादि प्रतिवचनमिति शेषः । पक्षान्तरमाह—अथवेति । सर्वस्य प्रश्नत्वे वाक्यं योजयति —विज्ञानेति

क्योंकि उनसे पृथक् आत्मा की प्राप्ति नहीं होती । इसलिये मैं पूछता हूँ—वह आत्मा कौन सा है । जिसका प्रतिपादन आपने किया है, वह आत्मा शरीर, इन्द्रिय, प्राण और मन इनमें से कौन सा है, जिस ज्योति के द्वारा पुरुष बैठता है—ऐसा कहा गया है ।

अथवा जो यह आत्मा आपको विज्ञानमयरूप से अभीष्ट है, सो ये चक्षुरादि सभी प्राण विज्ञान-मय के समान हैं, इन प्राणों में वह कौनसा है ? जिस प्रकार सघोभूत ब्राह्मणों में ये सभी तेजस्वी हैं; वेदों के छः अङ्गों को जानने वाला कौन है (ऐसा प्रश्न किया जाय) । पूर्व व्याख्यान में "कौनसा आत्मा है" इतना ही प्रश्नवाक्य है, "जो विज्ञानमय है" यह इसका उत्तर है । दूसरे व्याख्यान में 'प्राणेषु' से "हृद्यन्तर्ज्योति" यहाँ तक प्रश्नवाक्य है । अथवा "विज्ञानमय हृदयस्थ ज्योति वाला पुरुष कौनसा है" यहाँ तक ही प्रश्नवाक्य है । "जो यह विज्ञानमय है" इस शब्द का निश्चितात्मक तात्पर्य तथा 'वह

---

१. चेतनानीव । २ भान्तीति योजना । ३ चक्षुरादय. । ४ सघीभूतेषु । ५ विशालरूपाः ।

योऽविरोधादात्मन्युपप्रश्नश्रयो राजा तन्निर्दिधारयिषया पृच्छतीत्यर्थः ॥ विरोधशङ्कया संशयात्प्रश्नमुक्तमाक्षिपति —अर्थान्तरमिति । आत्मैवास्येत्यादावात्मशब्देन देहग्रहे पूर्वोत्तरविरोधः शङ्कनीयो देहातिरिक्तज्योतिषा पूर्वं पुष्यापारस्याधुना च देहेन सव-धोक्तेरात्मशब्देनार्थान्तरग्रहे स्वविरोधस्तस्माद्विरोधशङ्काधीनसंशयमूलप्रश्न-सिद्धिरित्यर्थः ॥ समाधत्ते—आत्मशब्दस्चेति । प्रश्नानुत्थानशङ्काव्यवच्छेदार्थश्चकारः । प्रसिद्धिं स्फुटयति—साक्षीति । तस्मादात्मशब्देऽनेकार्थसंभवस्तस्माद्बहूनामेकस्य निर्धारणेऽपेक्षिते कतम इति डतमच्प्रयोग इत्युक्तेऽर्थे लिङ्गमाह —डतमजिति । आत्मशब्दस्यानेकेषु प्रयोगं दृष्ट्वा मयपान पृच्छतीति फलितमाह—कतम इति । यो भवता ज्योतिष्ट्वेनाऽऽत्मा विवक्षितः स कतम इति योजना ॥ उत्तरमाह—इति पृष्ट इति । पूर्वोक्तानुमानाविरुद्ध-मात्मज्योतिर्योऽयमित्यादिना मुनी राजानं प्रति स्पष्टमुक्तवानिति योजना ॥

शब्दस्य [1]निर्धारितार्थविशेषविषयत्वं कतम आत्मेति चेतिशब्दस्य प्रश्नवाक्यपरिसमाप्त्यर्थत्वं [2]व्यवहितसंबन्धमन्तरेण युक्तमिति कृत्वा कतम आत्मेत्येवमन्तमेव प्रश्नवाक्यं योऽयमित्यादि परं सर्वमेव प्रतिवचनमिति निश्चीयते ।

योऽयमित्यात्मनः प्रत्यक्षत्वान्निर्देशः । विज्ञानमयो [3]विज्ञानप्रायो [4]बुद्धिविज्ञानोपाधिसंपर्काविवेकाद्विज्ञानमय इत्युच्यते । [5]बुद्धिविज्ञानसंपृक्त एव हि यस्मादुपलभ्यते राहुरिव चन्द्रादित्यसंपृक्तः । बुद्धिर्हि [6]सर्वार्थकरण तमसीव प्रदीपः पुरोऽवस्थितः । मनसा ह्येव पश्यति मनसा शृणोतीति [7]ह्युक्तम् । बुद्धिविज्ञानालोकविशिष्टमेव हि सर्वं विषयजातमुपलभ्यते पुरोऽवस्थितप्रदीपालोकविशिष्टमिव तमसि । द्वारमात्राणि त्वन्यानि

स समान. सन्नित्यादि प्रतिवचनमिति शेषः ।

द्वितीयतृतीयपक्षयोरर्थं सूचयन्नाद्यं पक्षमङ्गो करोति—योऽयमिति । [8]यस्त्वया पृष्टः सोऽयमित्यात्मनश्चिद्रूपत्वेन प्रत्यक्षत्वादयमिति निर्देश इति पदद्वयस्यार्थः । देहव्यवच्छेदार्थं विशिनष्टि—विज्ञानमय इति । विज्ञानशब्दार्थमाचक्षाणस्तत्प्रायत्वं प्रकटयति—बुद्धीति । बुद्धिरेव विज्ञानं विज्ञायतेऽनेनेति व्युत्पत्तेस्तेनोपाधिना संपर्क एवाविवेकस्तस्मादिति यावत् । तत्संपर्के [9]प्रमाणमाह—बुद्धिविज्ञानेति । तस्माद्विज्ञानमय इति शेषः । [10]ननु चक्षुर्मयः श्रोत्रमय इत्यादि हित्वा विज्ञानमय इत्येव कस्मादुपदिश्यते तत्राऽऽह—बुद्धिर्हीति । [11]तस्याः साधारणकरणत्वे प्रमाणमाह—मनसा हीति । मनसः सर्वार्थत्वं समर्थयते—बुद्धीति । किमर्थानि तर्हि चक्षुरादीनि करणानीत्याशङ्क्याऽऽह—द्वारमा-

आत्मा कौन सा है" इसमें इतिशब्द का प्रश्नवाक्य परिसमाप्ति के लिये होना किसी भिन्नक्रम के बिना ही होना सम्भव है । ऐसा जान कर "वह आत्मा कौनसा है" इसके इतिशब्दपर्यन्त ही प्रश्नवाक्य है; ('योऽयम्') "यह वह है" इत्यादि आगे का सारा वाक्य उत्तरवाक्य है, ऐसा निश्चय होता है ।

आत्मा के प्रत्यक्ष होने के कारण "जो यह विज्ञानमय है" ऐसा निर्देश किया गया है । "विज्ञानमयः" अर्थात् बुद्धिसदृश बुद्ध्युपहित बुद्धिरूप विज्ञान उपाधि के सम्पर्क का विवेक न होने के कारण विज्ञानमय कहा जाता है । बुद्धिरूप विज्ञान के सम्पर्क से है क्योंकि तन्मयता उपलब्ध होती है, राहु चन्द्र और सूर्य के सम्पर्क में आकर ही उपलब्ध होता है । बुद्धि सर्व विषयों के प्रति साधारण होकर अनुभव प्रकाश में आती है, जिस प्रकार अन्धकार में सामने रखे हुए दीपक से विषयोपलब्धि होती है । "मन ही से देखता है, मन ही से सुनता है" ऐसा श्रुति बतला चुकी है । जिस प्रकार अन्धकार में समस्त पदार्थ सम्मुखस्थित दीपक के प्रकाश से युक्त होकर उपलब्ध होते हैं, उसी प्रकार सारे पदार्थ धीरूप

१ निश्चितात्मरूपार्थपरत्वं यच्छब्देदशब्दघटितत्वादिति भावः । २ भिन्नक्रमत्वमन्तरेण । ३ बुद्धिसदृशो बुद्ध्युपहित इति यावत् । ४. धीरूपविज्ञानोपाधिरिति यावत् । ५ बुद्धिविज्ञानसंपृक्त इति । असङ्गोदासीनस्य प्रतीचो वस्तुतस्तदसंबन्धोऽपि सविकल्प(कर्तृत्वादि)प्रतीतिस्तत्संपर्कादेवेति तन्मयताऽतो यथोक्तस्य तस्य बुद्ध्यसंबन्धात् विज्ञानमयनेत्युक्तमपास्तम् । ६ सर्वेति—सर्वविषयं प्रति साधारणमित्यर्थः । ७. बृ० उ० १।५।३ । ८. योऽयमित्यात्मन इत्यादिभाष्यपङ्क्तेरर्थमाह—यस्त्वयेति । ९. तादात्म्यम् । १०. अर्थापत्तिरूपम् । ११. नन्विति—आत्मनो बुद्ध्येव चक्षुरादिभिरपि संपृक्तत्वाऽविशेषादिति भावः । १२. बुद्धेः ।

करणानि [1]बुद्धेः । [2]तस्मात्तेनैव विशेष्यते विज्ञानमय इति ।

येषां [3]परमात्मविज्ञप्तिविकार इति व्याख्यानं [4]तेषां विज्ञानमयो मनोमय इत्यादौ विज्ञानमयशब्दस्या[5]न्यार्थदर्शनात्[6]श्रौतार्थताऽवसीयते । संदिग्धश्च पदार्थोऽन्यत्र निश्चितप्रयोगदर्शनान्निर्धारयितुं शक्यो वाक्यशेषात् । [7]निश्चितन्यायबलाद्वा । [8]सधीरिति चोत्तरत्र

प्राणोति । बुद्धेः सति प्राधान्ये फलितमाह—तस्मादिति ।

विज्ञानं परं ब्रह्म तत्प्रकृतिको जीवो विज्ञानमय इति भर्तृप्रपञ्चैरुक्तमनुवदति—येषामिति । विज्ञानमयादिष्वन्ये मयटो न विकारार्थतेति तैरेवोच्यते तत्र मनःसमभिव्याहाराद्विज्ञानं बुद्धिर्न चाऽऽत्मा तद्विकारस्तस्मादस्मिन्प्रयोगे मयटो विकारार्थत्वं वदतां स्वोक्तिविरोधः स्यादिति दूषयति—तेषामिति । कथं विज्ञानमयपदार्थनिर्णयार्थं प्रयोगान्तरमनुश्रीयते तत्राऽऽह—संदिग्धश्चेति । यथा पुरोडाशं चतुर्धा कृत्वा [9]बर्हिषद करोतीति पुरोडाशमात्रचतुर्धाकरणवाक्य[10]मेकार्थसंबन्धिना शाखान्तरीयेणाऽऽग्नेयं चतुर्धा करोतीत्यनेन विशेषविषयतया निश्चितार्थेना[11]ऽऽग्नेय एव पुरोडाशे व्यवस्थाप्यते यथा चाक्ताः शर्करा उपदधातीत्यत्र केनाक्ततेत्यपेक्षायां तेजो वै घृतमिति वाक्यशेषान्निर्णयस्तथेहापीत्यर्थः । आत्मनो विकारत्वे [12]मोक्षानुपपत्त्याद्यबाधितन्यायाद्वा विज्ञानमयपदार्थनिश्चय इत्याह—निश्चितेति । उक्तं निर्णयो वाक्यशेषादिति तदेव व्यनक्ति—सधीरिति चेति ।

विज्ञान के आलोक से विशिष्ट होकर उपलब्ध होते हैं। अन्य इन्द्रियाँ बुद्धिवृत्ति की द्वारमात्र हैं। इसलिये (इन्द्रियों में बुद्धि की प्रधानता होने के कारण) बुद्धि के द्वारा ही आत्मा को विज्ञानमय विशेषण से युक्त किया जाता है।

जिन (भर्तृप्रपञ्च आदि) के मत में 'परमात्मरूप विज्ञान का कार्य है' ऐसा व्याख्यान किया जाता है, इनका यह अर्थ "विज्ञानमय है, मनोमय है" इत्यादि तैत्तिरीय उपनिषत् में विज्ञानमय शब्द का 'प्राय.' अर्थ देखे जाने के कारण श्रुतिविरुद्ध सिद्ध होता है। जहाँ किसी पदार्थ के बारे में संदेह हो, वहाँ अन्यत्र निश्चित प्रयोग देखकर उसके अनुसार ही निश्चय किया जाता है। इसके अतिरिक्त वाक्यशेष अथवा निश्चितन्याय के बल से भी अर्थनिर्धारण किया जा सकता है। इसके सिवा मन्त्र में आगे "स हि" (वह आत्मा स्वप्न होकर इस लोक को अतिक्रमण करता है) ऐसा पाठ है। 'हृद्यन्तः'

---

१. धीवृत्तेः । २ तस्मात्—करणेषु बुद्धेः प्राधान्यात् । ३ परमात्मरूपविज्ञानस्य विकारः कार्यम् । ४. प्रायार्थदर्शनादिति भावः । ५. तेषां तद्व्याख्यानस्य वा । ६ न्यायेति । तदुक्तं प्रमाणलक्षणे—"अर्थाद्वा कल्पनैकदेशत्वादिति" मी० सू० । स्रुवेणावद्यति स्वधितिना (कुठारेण) अवद्यति हस्तेनावद्यतीत्यत्र स्रुवादीनां सर्वावदानेषु विनियोगादनियमो वा सामर्थ्यालोचनया स्रुवस्वधितिहस्तानां यथाक्रमं द्रवमांसमगतद्रव्यावदानेषु नियमो वेति संदेहे विनियोगाविशेषाद् नियमे प्राप्ते विनियोगस्यानुष्ठानार्थत्वात्तस्य च सामर्थ्याधीनत्वात्तदनुरोधेन व्यवस्थायाः (यां) शास्त्रप्रामाण्यमिति स्थितम् सूत्रे वा शब्दोऽनियमव्यासेधार्थः । अर्थात्—सामर्थ्यात्—योग्यतावशाद् एकैकस्य स्रुवादेः एकैकस्मिन्नवदाने देशे सम्बन्धार्हत्वात् नियम इत्यक्षरार्थः । तथेहाप्यनात्मनो ब्रह्मविकारत्वमात्मनस्तु तन्मात्रत्वं शास्त्रप्रामाण्यादिति व्यवस्थेति भावः । ७. माध्यंदिनशाखीयोऽयं पाठः । अत्र तु सहीत्यादिर्वर्ण्यते । ८. बृ० उ० ४।४।५ । ९. बर्हिषि स्थितम् । १०. पुरोडाशात्मकैकार्थप्रतिपादिना । ११. अग्निदेवताके । १२. देवतासंनिधौ सत्पात्रे स्थापयतीति भावः । १३. विकारस्य विनाशित्वादिति भावः ।

पाठात्। हृद्यन्तरिति च वचनाद्युक्तं विज्ञानप्रायत्वमेव।

प्राणेष्विति [1]व्यतिरेकप्रदर्शनार्था सप्तमी। यथा वृक्षेषु [2]पाषाण इति सामीप्य-लक्षणा[3]। प्राणेषु हि व्यतिरेकाव्यतिरेकता संदिह्यत आत्मनः। प्राणेषु प्राणेभ्यो [4]व्यतिरिक्त इत्यर्थः। यो हि येषु भवति स तद्व्यतिरिक्तो भवत्येव यथा पाषाणेषु वृक्षः।

हृदि [5]तत्रैतस्या[6]त्प्राणेषु प्राणजातीयैव बुद्धिः स्यादित्यत आह—हृद्यन्तरिति। हृच्छब्देन पुण्डरीकाकारो मांसपिण्डस्तात्स्थ्याद्बुद्धिर्हृत्तस्यां हृदि बुद्धौ[8]। अन्तरिति बुद्धिवृत्ति[9]व्यतिरेकप्रदर्शनार्थम्। *ज्योतिर[10]वभासात्मकत्वादात्मोच्यते। तेन ह्यवभास-

आधाराद्यर्था सप्तमी दृष्टा सा कथं व्यतिरेकप्रदर्शनार्थेत्याशङ्क्याऽऽह—यथेति। भवत्वत्रापि सामीप्यलक्षणा सप्तमी तथाऽपि [11]कथं व्यतिरेकप्रदर्शनमित्याशङ्क्याऽऽह—प्राणेषु हीति। फलितं सप्तम्य-र्थमभिनयति—प्राणेष्विति। [12]तेषु समीपस्थोऽपि कथं तेभ्यो व्यतिरिच्यते तत्राऽऽह—यो हीति।

विशेषणान्तरमादाय व्यावर्त्यां शङ्कामुक्त्वा पुनरवतार्य व्याकरोति—हृदादिना। विशेष-णान्तरस्य तात्पर्यमाह—अन्तरितीति। ज्योतिःशब्दार्थमाह—ज्योतिरिति। [13]तस्य ज्योतिष्ट्वं

वचन भी उसकी बुद्धि सदृश बुद्ध्युपहितत्व सिद्धि होती है।

मन्त्र मे "प्राणों में" यह सप्तमी भिन्नत्वप्रदर्शन करने के लिए है। जिस प्रकार (वृक्षेषु पाषाण) वृक्ष के समीप पत्थर है, यहाँ सप्तमी सामीप्य अर्थ की द्योतिका है। प्राणो में ही आत्मा की भिन्नता या अभिन्नता के विषय मे सन्देह होता है। "प्राणेषु" अर्थात् प्राणों मे भिन्न है। जो जिनमे होता है, वह उनसे भिन्न ही होता है, जिस प्रकार पत्थरों म होने वाला वृक्ष पत्थर म भिन्न होता है।

"हृदि" अर्थात् वहाँ हृदय के समीप मे यह रहता है। (प्राणसमीपस्था बुद्धि ही आत्मा है) प्राणो में प्राणजातीया ही बुद्धि रहेगी, इसलिये श्रुति कहती है—हृदयस्थ (ज्योति) है। 'हृदय' शब्द से कमल के आकार वाला मांसपिण्ड उसमे रहने से बुद्धि ही हृत् है, उस हृदय में बुद्धि अनुगत प्रतीत होती है। "अन्तर" यह शब्द बुद्धिवृत्ति से उसकी भिन्नताप्रदर्शन करने के लिए है। प्रकाशकत्व होने के कारण

१ विज्ञानमयपद व्यावर्त्य प्राणेष्वित्यस्य विवक्षितमर्थमाह—व्यतिरेकेति। तदुक्तं वार्तिके—"देहादिर्वर्जिते-ष्वोऽपि व्युत्पादन (विवक्षया) चिकीर्षया। प्राणेष्विति श्रुतिर्वक्ति प्राणा पञ्चवदीरिता"॥ ३२४॥ इति। २ वटे गाव शेरत इत्यादावपि। ३ सप्तमी। ४ व्यतिरिक्त इति—प्राणेषु तत्साक्षित्वेन योऽर्थोऽनुगत-स आत्मेति यावत्। ॥ हि दीपवत्करणेष्वात्मत्वसंभावनेति भाव। ५ तत्समीप। ६ तत्रेति। प्राणेष्विति सामीप्यलक्षणाभ्युपगमे। एतत्—वक्ष्यमाणं स्यादाशङ्कितमित्यर्थः। ७ प्राणेषु—प्राणसमीपस्था बुद्धिरेवात्मा स्यादित्यर्थः। ८ अनुगतो भातीति विशेष। ९ व्यतिरेकेति। अत्र वार्तिके यथा—"हृदीत्याधारनिर्देशा-द्धीस्था आत्मेति शङ्क्यते। वृत्त्योऽसो निवृत्त्यर्थमन्तरित्युपदिश्यते"॥ ३२६॥ परार्थानुसारिण्यो यतो धीवृत्तयस्ततः। विशेषणादन्तरिति व्याव(र्त्य)न्ते पराक्त्वत"॥ ३३४॥ इति। पराक्त्वत प्रतीच इति शेष। १० प्रकाशकत्वात्। ११ किमर्थमिति यावत्। १२ तत्समीपस्थोऽपि। १३ आत्मन।

*ज्योतिरवभासात्मकत्वादात्मोच्यते। तत्रानुवार्तिककारीयस्तथाहि—"कारणं तर्हि बुद्ध्यादेरात्मेत्यत्र प्रभण्यते। कार्यस्यान्तर्गतो दृष्ट सर्वत्रैव च कारणम्॥ आहुश्च साऽऽत्मन इच्छन्ति प्रणमुद्भूतजीविन। तेषां विप्रतिषेधार्थं ज्योतिरित्यभिधीयते॥ योऽयमित्यादिना यद्वा यथोक्तस्याऽऽत्मवस्तुन। प्रकृतज्योति सबन्धो ज्योतिरित्य-

केनाऽऽत्मना ज्योतिषाऽऽस्ते पल्ययते कर्म कुरुते चेतनावानिव[1] ह्ययं कार्यकरणपिण्डो यथाऽऽदित्यप्रकाशस्थो घटो यथा वा मरकतादिर्मणिः क्षीरादिद्रव्ये प्रक्षिप्तः परीक्षणाया-ऽऽत्मच्छायमेव[2] तत्क्षीरादिद्रव्यं करोति[3] तादृगेतदात्मज्योतिर्बुद्धेरपि[4] हृदयात्सूक्ष्मत्वाद्धृ-

स्पष्टयति—तेनेति । आत्मज्योतिषा व्याप्तस्य कार्यकरणसंघातस्य व्यवहारक्षमत्वे दृष्टान्तमाह—यथेति । चेतनावानिवेत्युक्तं दृष्टान्तेनोपपादयति—यथा वेति । हृदयं बुद्धिस्ततोऽपि सूक्ष्मत्वादात्मज्योतिस्त-द्वत्स्वयमपि हृदयादिकं संघातं च सर्वमेकीकृत्य स्वच्छायं करोतीति कृत्वा यथोक्तमणिसादृश्यमुचित-

ज्योति ही आत्मा कहा गया है। उस प्रकाशक आत्मज्योति से चैतन्यवान सा प्रतीत होता है। यह देहेन्द्रियसंघ न सूर्य के प्रकाश में स्थित घट की तरह रहता है, इधर-उधर जाता है और कर्म करता है। अथवा जिस प्रकार परीक्षण के लिए दुग्धादि द्रव्य में डाली हुई मरकतादि मणि उस दुग्धादि द्रव्य को स्वाभास की तरह कर देती है, उसी प्रकार (मरकत मणि के सदृश) यह आत्मज्योति हृदयशब्दवाच्य

१. प्रतीयते । २ आत्मनश्छाया यत्रेति स्वाभासमित्यर्थः । ३ मरकतसदृक् । ४. हृदयशब्दवाच्याया बुद्धेरिति सामानाधिकरण्यम् । ५ स्वाभासयुक्तम् ।

मिधीयते ।। उपादानं हि बुद्ध्यादेरात्माविद्येति भण्यते । तद्बुद्धिभावि चिन्मात्रं ज्योतिरित्युपदिश्यते ।। वस्तुवृत्तेन प्रध्वस्तानि ऐप्याज्ञानमात्मनः । ज्योती रूपमिदं भास्वत्प्रत्यङ्मात्रसतत्त्वकम् ।। ज्योतिः संविच्चितिः प्रत्यङ्ङात्मेति व्यपदिश्यते । स्वार्थं यत्प्रत्यये नित्यं जाग्रत्स्वप्नसुषुप्तिषु ।। बुद्ध्यादिषु परार्थेषु ह्यागमापायिवस्तुषु । स्वेन रूपेण यो भाति स्वार्थं स भण्यते ।। ज्योतिरित्यस्य बुद्ध्यादेरागमापायसिद्धिदः । स्वयमातृक एवायमात्मत्वादेव कारणात् ।। अनेनैव यथोक्तेन ज्योतिषा सकलं जगत् । षड्भावविक्रियामेति निर्विकारेण भास्वता ।। अचेतनोऽपि बुद्ध्यादिश्चेतनावानिवेक्ष्यते । देहेन्द्रियमनोबुद्धिसंघातो वायुभिः सह ।। यथा प्रकाशयत्येकः कृत्स्नं लोकमिमं रविः । क्षेत्रं क्षेत्री तथा कृत्स्नं व्यनक्तीति स्मृतावपि ।। आत्मच्छायं पयोऽशेषं यथा मारकतो मणिः । परीक्षणाय प्रक्षिप्तः कुर्यादात्मा तथैव च ।। बुद्ध्यादिदेहपर्यन्तं प्रत्यग्ज्ञानहेतुकम् । जडस्वभावकं नित्यमवभासयति स्वयम् ।। बुद्ध्यादिष्वपि सूक्ष्मेषु यत्सूक्ष्मतममुच्यते । बुद्ध्यादिकारणं नित्यमात्माविद्येति भण्यते ।। अपि कूटस्थवपुषः प्रतीचः सङ्क्रामरूपम् । तत्त्वमस्यादिवाक्योत्थज्ञानबाध्यं च यद्धि तु ।। यन्निमित्तं च साक्षित्वं कारणत्वं तथा-ऽऽत्मनः । सर्वकार्यविनाशेऽपि यद्बीजमवशिष्यते ।। तदात्मज्योतिषा बद्धं संस्थितमेवावतिष्ठते । उत्पत्तिस्थिति-भङ्गानां न वेत्तीति च गदितम् ।। कूटस्थ एव भावत्र स्वमोहाभासहेतुतः । अविचारितसंसिद्धि तमोऽनुभव-संश्रयात् ।। नि माणिभे न वेत्तीति ■ कथंचित्प्रसिध्यति । तथा कूटस्थसंविस्ते नितरां नैतदिष्यते ।। ऐश्वर्यं कारणत्वं च साक्षित्वमपि चाऽऽत्मनः । सदेक्षितव्यकार्यार्थसाक्ष्यार्थेनास्य संगतम् ।। आत्माज्ञानमतः प्रत्यक्चैतन्या-भासवत्सदा । आत्मनः कारणत्वादेः प्रयोजकमिहेष्यते ।। चैतन्याभासवत्प्रत्यङ्मोहान्तात्प्रत्ययात्मनः । बुद्ध्यादे-र्विषयात्मत्वसिद्धिः स्यात्साक्षिणस्ततः" ।। १३२ ३२९ ।। इति ज्योतिर्विशेषणव्यावर्त्यमाह—कारणमिति । अत्र सर्वत्रेति संबन्धः ।। बुद्ध्यादेर्जाड्यात्जडमेव किंचित्कारणं युक्तं कथमात्मा तथेत्याशङ्क्याऽऽह—जाड्य चेति । विशेषणमवतारयति—तेषामिति ।। ननु प्रागेव निर्णयं व्याकुर्वता जाड्यस्याऽऽत्मनो व्यावर्तितत्वात्किंच-नित्यमर्थं तज्ज्योतिर्विशेषणमित्याशङ्क्य तस्य तात्पर्यान्तरमाह—योऽयमित्यादिनेति । प्रस्तुतवाक्योक्तात्मवस्तुनः प्रकृतेनाऽऽत्मनैवायं ज्योतिषेत्यादावुक्तेन ज्योतिषा सर्वथा साम्यस्तेन विशेषणमित्यर्थः ।। यत्तु बुद्ध्यादिकारणं जडमात्मवदित्यस्य तन्निषेधार्थं विशेषणमिति तद्व्यक्त्यर्थं बुद्ध्यादिकारणस्वरूपमाह—उपादानमिति । बुद्ध्यादेरा

छन्नःस्यमपि हृदयादिकं कार्यकरणसंघातं चैकीकृत्याऽऽत्मज्योतिश्छायं करोति । पारम्पर्येण सूक्ष्मस्थूलतारतम्यात्सर्वान्तिरतमत्वात् ।

मिति दार्ष्टान्तिके योजना । कथमिदमात्मज्योतिः सर्वमात्मच्छायं करोति तत्राऽऽह—पारम्पर्येणेति । [1]विषयादिषु प्रत्यगात्मान्तेषूत्तरोत्तरं सूक्ष्मतातारतम्यात्तेष्वेवाऽऽत्मादिविषयान्तेषु स्थूलतातारतम्याच्च प्रतीचः सर्वस्मादन्तरतमत्वात्तत्र [2]तत्र स्वाकारहेतुत्वमस्तीत्यर्थः ।

बुद्धि से सूक्ष्म होने के कारण हृदयपिण्ड में स्थित हृदयादिक और देहेन्द्रियसंघात को भी एक करके आत्मज्योति की कान्ति से युक्त कर देता है क्योंकि परम्परा से सूक्ष्मस्थूलतारतम्य से यह सबकी अपेक्षा अन्तरतम है ।

---

१ "इन्द्रियेभ्यः परा ह्यर्थाः" इति श्रुत्यनुसन्धानेनाह—विषयादिष्विति । २ विषयादिषु ।

विज्ञानात्मन एव जडत्वेन साक्ष्यादुक्तिमनुपपादनोपादेयत्वमितिसूचनार्थो हिशब्दः । तत्र विद्वत्प्रसिद्धिं प्रमाणयति—इति कथ्यत इति । आत्मनि प्रयुक्तज्योतिःशब्दार्थे सद्व्यावर्तनसामर्थ्यमाह—सद्विति ॥ अतोऽहमिति ज्ञायमानस्य प्रतीचो यथोपदिष्टज्योतिष्ट्वमश्लिष्टमिति चेत्तत्राऽऽह—वस्तुवृत्तेनेति । आत्मनो सर्वमित्युक्ते भेदमाशङ्क्याऽऽह—भास्वदिति ॥ ज्योतिःशब्दस्यान्यत्र रूढेर्नाऽऽत्मविषयत्वमित्याशङ्क्य ज्योतिरिदंसंज्ञकमिति । श्रुत्यैवाऽऽह—ज्योतिरिति । पुरुषशब्दस्यानुगृहीतप्रकरणात्प्रकृतज्योतिषोऽन्यत्वाऽऽत्मत्वेन नाऽन्यो नियम्यत इति भावः । आत्मनो ज्योतिष्ट्वे युक्त्यन्तरमाह—स्वार्थमिति । अवस्थात्रयेऽपि सर्वत्र जडं जगन्नाम यदपेक्ष्य सदा भाति तज्ज्योतिरित्यर्थः ॥ आत्मत्वादेवाऽऽत्मज्योतिषः स्वार्थत्वमनात्मनश्चानात्मत्वादेव परार्थत्वमिति वक्तुं हिशब्दः । कथं पुनरपर्यन्तदृष्टेरात्मनः स्वार्थत्वं तत्राऽऽह—स्वयमिति । स्वयं ज्योतिरिति शब्दात् यः स्वरूपेण भाति स स्यादसौ स्वार्थश्चेति योजना । विशिष्टस्य परार्थत्वं नान्यस्येति भावः ॥ तस्य स्वप्रकाशत्वं साधयति—अस्येति ॥ आद्यं पक्षमुपपाद्य द्वितीयं समर्थयते—अनेनेति ॥ आत्मज्योतिर्भास्यं सर्वमित्यत्र गमकमाह—अचेतनोऽपीति । बुद्ध्यादिशब्दार्थं विशदयति—देहेति । अनेनैव ज्योतिषेत्यत इति पूर्वेण सम्बन्धः ॥ आत्मज्योतिषः सर्वावभासकत्वे भगवद्वाक्यं प्रमाणयति—यथेति ॥ तस्य सर्वावभासकत्वं दृष्टान्तेन स्पष्टयति—आत्मच्छायामिति ॥ बुद्ध्यादेर्भासकापेक्षत्वे हेतुमाह—जडेति ॥ जडत्वार्थं प्रत्यग्ज्ञानहेतुकमित्युक्तं किं तत्प्रत्यग्ज्ञानमित्युक्ते तस्य विशेषकरूपमाह—बुद्ध्यादिष्विति । आत्मज्योतिर्व्यावृत्त्यर्थं विशिनष्टि—बुद्ध्यादीति । कारणत्वसिद्ध्यर्थं तन्नित्यमित्यादित्यमुक्तम् ॥ तस्यैवाऽऽच्छादकं रूपमाह—अपीति । तमःस्वरूपे तस्मिन्नावरणीयज्ञानस्य सत्त्वानुपपत्तिं प्रमाणयति—तत्त्वमिति ॥ आत्मनः साक्षित्वाद्यनुपपत्तिरपि तदाक्षेपिकेत्याह—अविभक्तमिति । प्रलयादौ लीनस्य कार्यस्य पुनरुत्पत्त्यनुपपत्तिरपि तत्कल्पिकेत्याह—सर्वेति । यद्बीजमुत्पत्तिस्थितिभङ्गानामिति सम्बन्धः ॥ तस्य स्वातन्त्र्यं व्यावर्तयति—तदात्मेति । अनुभवसिद्धत्वान्न साधकान्तरापेक्षेत्याह—नेति । साक्षिणः स्वानुभवाद्भातीति शेषः ॥ साक्षित्वस्य वस्तुस्वाभाविकमिति च साक्षित्वमिति कथमुक्तं तत्राऽऽह—कूटस्थ इति । यद्वा परिणामिनः साक्षित्वात्स तत्राज्ञानापेक्षेत्याशङ्क्याऽऽह—कूटस्थ इति । अत्र परिणामिबुद्ध्यादाविति यावत् । तस्य साक्षित्वे हेतुमाह—स्वमोहेति । मोहस्य वस्तुत्वात्तत्कृतमपि तथेत्याशङ्क्याऽऽह—अविचारितेति । प्रामाणिकस्य कुतोऽविचारितत्वं तत्राऽऽह—अनुभवेति ॥ अनुभवादेव तमःसिद्धिं साधयति—निःसाक्षिक इति । तमपि साक्ष्यनपेक्षं न वेद्मीति न शङ्क्यं न हि मानादेर्मानं तस्य स्वनिवर्त्यसाधकत्वादित्यर्थः । आत्मा चेदज्ञानसाक्षी तर्हि यथा स्वरूपेण स तत्साक्षी तथाऽन्यत्रापि स्यादित्याशङ्क्याऽऽह—तथेति । यथा साक्षिणोऽभावे तमसोऽसिद्धि-

ॐ बुद्धिस्तावत्स्वच्छत्वादानन्तर्याच्चाऽऽत्मचैतन्यज्योतिः प्रतिच्छाया भवति । तेन हि विवेकिनामपि तत्राऽऽत्माभिमानबुद्धिः प्रथमा । ततोऽप्यानन्तर्यान्मनसि चैतन्यावभासता बुद्धिसंपर्कात् । ततः इन्द्रियेषु । मनःसंयोगात् । ततोऽनन्तरं शरीरे । इन्द्रियसंपर्कात् एव पारम्पर्येण कृत्स्नं कार्यकरणसंघातमात्मा चैतन्यस्वरूपज्योतिषाऽव-

---

बुद्धेरात्मच्छायत्वं समर्थयते—बुद्धिस्तावदिति । लौकिकपरीक्षकाणां बुद्धावात्माभिमानभ्रान्तिमुपपत्त्यर्थं प्रमाणयति—तेन हीति । बुद्धेः पश्चान्मनस्यपि चिच्छायेत्यत्र हेतुमाह—बुद्धीति । आत्मनः सर्वावभासकत्वमुक्तमुपसंहरति—एवमिति । आत्मनः सर्वावभासकत्वे किमिति "कस्यचि"त्स्व-

---

बुद्धि प्रथम तो स्वच्छ एवं आनन्तर्य होने से आत्मचैतन्यज्योति की अवभासक होती है । इसलिये (बुद्धि के चिदाभासकत्व होने से) विद्वान् और अविद्वान् को भी बुद्धि में प्रथम आत्माभिमानी बुद्धि हो जाती है । पुनः बुद्धि के पाश्चात्य होने से बुद्धि द्वारा आत्मा-मन के सबन्ध से मन में चैतन्यावभास होता है । मन का सम्पर्क होने के कारण मन से इन्द्रियों में, फिर इन्द्रियों का शरीर से सबन्ध होने के कारण उनसे शरीर में चैतन्यावभास होता है, इस प्रकार परम्परा से समग्र कार्यकरणसघात को

---

१. प्रथमम् । २ आनन्तर्यादिति—(स्वकारणाज्ञानमात्रव्यवहितत्वेऽपि) इन्द्रियाद्यपेक्षया बुद्धेरात्माऽऽन्तर्याभिप्रायं । ३ आत्मचैतन्याभासवती । ४ तेन—बुद्धेश्चिदाभासवत्त्वेन । तादृगभिमाने सर्वाविसंवादद्योतनाय हिशब्द । अविद्वत्सग्रहार्थोऽपिशब्दः । ५ बुद्धौ । ६ बुद्धेः । ७ पाश्चात्यात् । ८. बुद्धिसंपर्कात्—बुद्धिद्वाराऽऽत्मनो मनसा सबन्धात् । ९ शास्त्रासंस्कृतधियो लौकिकाः । १०. प्रमाणैरर्थविचारका परीक्षकाः । ११ बुद्धेश्चिदाभासत्वरूपेऽर्थे । १२ न तु सर्वस्य पुंस । १३ इन्द्रियाद्यन्यतमे एव ।

रूपे निर्विकारचिद्रूपे तमोनपेक्षे साक्षिणि सुतरामेतमो न सिध्यति । 'स्वय सेद्धुमसामर्थ्यात्साधनान्तरस्थानतः । बाधकस्य च सद्भावात्तमसा साक्षिता चितेः' ॥ स्वपरनिर्वाहकत्वं च तस्योक्तमिति भावः ॥ साक्षित्वादेराविद्यत्वमुपसंहरति—ऐश्वर्यमिति । न हि सापेक्षं स्वरूपं स्वाभाविकमस्वाभाविकं चाऽविद्य रजतवदित्यर्थ । ये तु केचिदैश्वर्यमनारोपितमाश्रयन्ते ते पुनरैश्वर्यं कारणत्वं चेत्यादिवार्तिकार्थं नाऽऽलोचयन्त ॥ स्वाज्ञानं साक्षित्वादिनिर्वाहकमनुवदति—आत्मेति । आत्मनोऽसङ्गत्वादिरत्र शब्दार्थ । इहेति वार्तायुक्ति ॥ साक्षित्वमाविद्यमुक्त्वा तत सर्वबुद्ध्यादिसिद्धिरित्युक्तं नियमयति—चैतन्येति । यच्चैतन्याभासवान्प्रत्यङ्मोहस्तदन्तः साक्षी तस्माच्च प्रतीचो बुद्ध्यादेः सिद्धिरिति यावत् ।

ॐबुद्धिस्तावदित्यादि मन्त्रवर्णं इत्यन्तभाष्ये वार्तिकास्त्वयाहि—"स्वकारणाभिसबन्धाच्चैतन्याभासता धियः । जायतेऽतोऽभिमानोऽस्यां जायते महतामपि ॥ कारणानन्तरत्वाच्च तथा स्वच्छस्वभावत. । चैतन्याभासवत्येषा धी पूर्वमभिजायते ॥ तस्मादात्माभिमानो हि बुद्धौ जनिमतां सदा । जायते सर्वभूतानामपि सद्विदामिह ॥ चिदाभासोऽथ मनसि बुद्ध्यानन्तर्यकारणात् । मन सबन्धतश्चैवमिन्द्रियेष्वभिजायते ॥ मन करणसबन्धाद्देहेऽप्यस्योपजायते । एवमाभासयत्यात्मा कृत्स्नं कार्यं सकारणम् ॥ सोऽयमस्य तारतम्येन स्थितस्य विषयावधि । आत्माभिमानधीः पुसां जायते निवसा तत. ॥ नित्योऽनित्यानामिति च येन सूर्यस्तपति पर । न तत्र सूर्यो भातीतिमन्त्राम्नायो ह्यनेकश " ॥ १५७-१६३ ॥ आत्मज्योतिरधीनं सर्वं सिध्यति चेत्तत्सबन्धाविशेषात्किमित्यादौ सर्वथा बुद्धावेवाऽऽत्मधीरित्याशङ्क्याऽऽह—स्वकारणेति । धीहेतावज्ञाने चैतन्याभाससबन्धादनन्तरमव्यवधानेन तस्यां चैतन्याभासता जायते तदस्यामात्माभिमानधीः । उक्तं हि—अहमिति तावदयमोऽध्यास इति । तत्र

भासयति । तेन हि सर्वस्य लोकस्य कार्यकरणसंघाते [1]तद्वृत्तिषु चानियतात्माभिमानबुद्धिर्यथा[2]विवेकं जायते । तथा च भगवतोक्तं गीतासु—

"यथा प्रकाशयत्येकः कृत्स्नं लोकमिमं रविः ।
क्षेत्रं क्षेत्री तथा कृत्स्नं प्रकाशयति भारत" ॥

[3]"यदादित्यगतं तेजः" इत्यादि च ।

"नित्योऽनित्यानां चेतनश्चेतनानाम्" इति च काठके । "तमेव भान्तमनुभाति

चिदेवाऽऽत्मधीरित्याशङ्क्याऽऽह—तेन हीति । बुद्ध्यादेरुक्तक्रमेणाऽऽत्मच्छायत्वं तच्छब्दार्थः । आत्मज्योतिषः सर्वावभासकत्वे लोकप्रसिद्धिरेव न प्रमाणं किंतु भगवद्वाक्यमपीत्याह—तथा चेति । नाशिनामयमनाशी चेतनाश्चेतयितारो ब्रह्मादयस्तेषामयमेव चेतनो यथोदकादीनामनग्नीनामग्निनिमित्तं दाहकत्वं तथाऽऽत्मचैतन्यनिमित्तमेव चेतयितृत्वमन्येषामित्याह—नित्य इति । [4]अनुगमनवदनुमानं स्वगतया भासा स्यादिति शङ्कां प्रत्याह—तस्येति । येनेति । [5]तत्र नावेदविन्मनुते तं बृहन्तमित्युत्तरत्र

चैतन्यस्वरूप ज्योति से प्रकाशित कर देता है । इसलिये सभी लोगों की कार्यकरणसंघात और इन्द्रियाद्यन्यतम वृत्तियों में अपने-अपने विवेक (या अविवेक) के अनुसार अनियत आत्माभिमान बुद्धि उत्पन्न हो जाती है । इसी को भगवान् श्रीकृष्ण श्रीमद्भगवद्गीता में कहते हैं—

'हे भरतकुलोत्पन्न अर्जुन ! जिस प्रकार एक सूर्य इस सम्पूर्ण संसार को प्रकाशित करता है, उसी प्रकार क्षेत्रज्ञ सम्पूर्ण क्षेत्र को प्रकाशित करता है" ।

और भी कहते हैं—"जो आदित्य में तेज है; वह मेरा रूप है (इससे सिद्ध है, सूर्य में प्रकाशनसामर्थ्य नहीं है)" इत्यादि ।

कठोपनिषद् में कहा है—"जो अनित्य पदार्थों में नित्य, ब्रह्मादि चेतन प्राणियों का भी चेतन

१. इन्द्रियाद्यन्यतमे इति यावत् । २. अविवेकमित्यपि च्छिन्दन्ति । ३ न तर्हि रविः प्रकाशयति नेत्याह—यदादित्येति । ४ अनुगमनवदनुभानमिति । यथा गच्छन्तमनुगच्छतीत्यत्रानुगच्छतोऽपि गतिस्तादृश्येव तथैव एव भान्तमनुभातीत्यत्राप्यनुभानं स्वगतयैव भासा भवेदित्यर्थः । ५ मन्त्रे ।

विद्वद्भ्रान्तिरपि साधनमित्यर्थः ॥ उक्तेऽर्थे बुद्धिस्तावदित्यादित्यादिभाष्यं व्याचष्टे—कारणेति ॥ तस्याश्चिदाभासत्वे भ्रान्तिं प्रमाणयति—तस्मादिति । तादृगभिमाने सर्वाविसंवादद्योतनार्थो हिशब्दः ॥ अविदुषामीदृगभिमानो न विदुषामित्याशङ्क्याऽऽह—चिदिति । तत्र हेतुः—बुद्धीति । इन्द्रियेषु कथं तद्धीरित्यत्राऽऽह—मन इति । एवं चैतन्याभासद्वारेणाहंधीरित्यर्थः ॥ देहे तद्धियमुपपादयति—मनःकरणेति । मनसा करणैश्च तन्वादस्याऽऽत्मनः स्थूले देहे चिदाभासात्तद्धीरित्यर्थः । उक्तं निगमयति—एवमिति ॥ तत्र हेतुः—सोऽन्यस्येति । बुद्ध्यादेर्विषयान्ततश्च स्थितस्य यस्सोऽन्य तस्य तरतमस्वहेतुर्नेति यावत् । ततो बुद्ध्यादिषु पूर्वोक्तात्क्रमादित्येतत् ॥ आत्मज्योतिषः सर्वावभासकत्वे कठश्रुतिं प्रमाणयति—नित्य इति । नाशिनामयमनाशी चेतनाश्चेतयितारो ब्रह्मादयस्तेषामयमेव चेतनो यथोदकादीनामनग्नीनामग्निनिमित्तं दाहकत्वं तथा चैतन्यनिमित्तमेव चेतयितृत्वमन्येषामित्यर्थः । तत्रैव येन सूर्यस्तपति तेजसेद्ध इत्यादिमन्त्रं पठति—येनेति । नावेदविन्मनुते तं बृहन्तमित्युत्तरत्र सम्बन्धः । तत्रैव श्रुत्यन्तरमाह—न तत्रेति । तत्रेति विषयसप्तमी प्रकृतं ज्योतिषां ज्योतिर्ब्रह्माधिकरोति । आत्मज्योतिषः सर्वावभासकत्वे यथा प्रकाशयतीत्याद्या स्मृतिरुपरस्तादेव दर्शितेति हिशब्दार्थः ॥

सर्वं तस्य भासा सर्वमिदं विभाति" इति च। "येन सूर्यस्तपति तेजसेद्धः" इति च मन्त्रवर्णः। तेनायं हृद्यन्तर्ज्योतिः।

❀पुरुष आकाशवत्सर्वगतत्वात्पूर्ण इति पुरुषः। निरतिशयं चास्य स्वयंज्योतिष्ट्वं सर्वावभासकत्वात्स्वयमन्यानवभास्यत्वाच्च। स एष पुरुषः स्वयमेव ज्योतिःस्वभावो यं त्वं पृच्छसि कतम आत्मेति। बाह्यानां ज्योतिषां सर्वकरणानुग्राहकाणां प्रत्यस्तमयेऽन्तः-करणद्वारेण हृद्यन्तर्ज्योतिः पुरुष आत्माऽनुग्राहकः करणानामित्युक्तम्।

संबन्धः। ज्योतिःशब्दव्याख्यानमुपसंहरति—तेनेति।

हृद्यन्तःस्थितोऽयमात्मा 'सर्वावभासकत्वेन ज्योतिर्भवतीति योजना। पदान्तरमादाय व्याचष्टे—पुरुष इति। आदित्यादिज्योतिषः सकाशादात्मज्योतिषि विशेषमाह—निरतिशय चेति॥ प्रतिवचनवाक्यार्थमुपसंहरति—स एष इति। स समानः सन्नित्यादावक्तारयितुं 'वृत्तं कीर्तयति—बाह्यानामिति।

है"। "उसके प्रकाशित होने पर ही सब कुछ प्रकाशित होता है तथा उसके प्रकाश से ही सब भासता है" इत्यादि। मन्त्र भी है—"जिसके तेज से दीप्त होकर सूर्य तपता है (उस महान् ब्रह्म को वेदों को न जानने वाला नही समझ सकता)"। इसलिये यह आत्मा हृदयान्तर्गत ज्योति है।

"पुरुषः" अर्थात् आकाश के समान सर्वत्र होने से पूर्ण होने से यह पुरुष है। सबका प्रकाशक एवं स्वयं दूसरो से अप्रकाश्य होने के कारण इसकी स्वयप्रकाशता निरतिशय है। जिसको तुम 'वह आत्मा कौन सा है" ऐसा पूछ रहे हो, वह यह पुरुष स्वय ही ज्योतिस्वभाव है। समस्त इन्द्रियो की अनुग्राहक आदित्यादि बाह्य ज्योतियो के अस्त होने पर हृदय के भीतर अन्तःज्योति स्वरूप पुरुष आत्मा अन्तःकरण द्वारा इन्द्रियों का अनुग्राहक है—ऐसा कहा जा चुका है।

---

१. येन तेजसा इद्धः सूर्यस्तपतीत्यन्वयः। अस्यैव शेषष्टीकायां वावेदविदिति। २ आदित्यादीनाम्। ३. भाष्यस्यतेनैत्यस्यायमर्थः। ४. उक्तमात्मज्योतिरनुग्रहम्।

❀पुरुष आकाशवत्सर्वगतत्वात्पूर्ण इति पुरुषः। अत्र वार्तिककाराः—"आत्मन्येवं प्रबुद्धेऽस्मिञ्ज्योतिषि स्वान्तनामतः। सर्वस्यं वाऽऽत्मयाथात्म्यादात्मा पुरुष उच्यते॥ आत्माज्ञानसमुच्छित्तौ तज्जस्य न हि वस्तुनः। प्रत्यग्रूपात्पृथग्रूपं सभाव्यं केनचित्सर्वथा॥ सगज्ञानसमुच्छित्तौ न तज्जस्यान्यतः सज। रूप समाप्यतेऽहादेरेव-मात्मस्वरूपतः॥ न कार्यं कारणे वाऽपि तदभावेऽथवाऽन्यतः। प्रत्यङ्मात्रैक्ययाथात्म्याद्रूपं सभाव्यतेऽण्वपि॥ अव्यावृत्ताननुगतप्रत्यङ्मात्रावशेषतः। पूर्णत्वात्पुरुषो ज्योतिरात्मैवैकोऽभिधीयते" ॥ ३६४-३६८॥ इति। ज्योतिःशब्दं व्याख्याय पुरुषशब्दार्थमाह—आत्मनोति। एवमुक्तश्रुतिस्मृतिन्यायैरिति यावत्॥ ज्ञानादज्ञानध्वंसेऽपि जगतोऽवस्तेनं पूर्णत्वेन पुरुषतेत्याशङ्क्याऽऽह—आत्मेति॥ तद्दृष्टान्तेन स्पष्टयति—स्रमिति। आत्मस्वरूपतो-ऽन्यतः इति सबन्ध॥ ततोऽन्यनाणुमात्रस्यापि कार्यादिरूपस्यासभवे हेतुमाह—प्रत्यगिति॥ पुरुषशब्दार्थमुप-संहरति—अव्यावृत्तेति। तथाविधज्योतिरिति सबन्धः। तस्य पुरुषत्वे हेतुः—प्रत्यङ्मात्रेति। ज्योतिषो यथोक्तरूपत्वेऽपि किमात्मनः स्यात्तदाह—आत्मेति॥

यदाऽपि बाह्यकरणानुग्राहकाणामादित्यादिज्योतिषां [1]सद्भावस्तदाऽप्यादित्यादिज्योतिषां [2]परार्थत्वात्कार्यकरणसंघातस्याचैतन्येन [3]स्वार्थानुपपत्तेः [4]स्वार्थज्योतिष आत्मनोऽनुग्रहाभावेऽयं कार्यकरणसंघातो न व्यवहाराय कल्पते । आत्मज्योतिरनुग्रहेणैव हि सर्वदा सर्वः सव्यवहारः । "[5]यदेतद्धृदयं मनश्चैतत्संज्ञानम्" इत्यादिश्रुत्यन्तरात् । साभिमानो हि सर्वः प्राणिसंव्यवहारः । [6]अभिमानहेतुं च मरकतमणिदृष्टान्तेनावोचाम ।

[7]यद्यप्येवमेतत्तथाऽपि जाग्रद्विषये सर्वकरणागोचरत्वादात्मज्योतिषो [8]बुद्ध्यादि-

---

[9]तर्हि बाह्यज्योतिःसद्भावावस्थायामकिंचित्करमात्मज्योतिरित्याशङ्क्याऽऽह—यदाऽपीति । व्यतिरेकमुखेनो(णो)क्तमर्थमन्वयमुखेन कथयति—आत्मज्योतिरिति । आत्मज्योतिषः सर्वानुग्राहकत्वे [10]प्रमाणमाह—यदेतदिति । सर्वम[11]न्तःकरणादि [12]प्रज्ञानेत्रमित्यैतरेयके श्रवणाद्युक्तमात्मज्योतिषः सर्वानुग्राहकत्वमित्यर्थः । किंचाचेतनानां कार्यकरणानां चेतनत्वप्रसिद्ध्यनुपपत्त्या सदा चिदात्मव्याप्तिरेष्टव्येत्याह—साभिमानो हीति । कथमसङ्गस्य प्रतीचः सर्वत्र बुद्ध्यादावहमान इत्याशङ्क्याऽऽह—अभिमानेति ।

वृत्तमनूद्योत्तरवाक्यमवतारयति—यद्यपीति । [13]यथोक्तमपि प्रत्यग्ज्योतिर्जागरिते दर्शयितुमशक्यमिति श्रुतिः स्वप्नं प्रस्तौतीत्यर्थः । अशक्यत्वे हेतुद्वयमाह—सर्वेति । स्वप्ने [14]निरकृष्टं ज्योतिरिति

जिस समय बाह्य इन्द्रियो की अनुग्राहक आदित्यादि ज्योतियो का सद्भाव रहता है, उस समय भी आदित्यादि ज्योतियाँ अन्यशेषत्व और कार्यकारणसंघात अचेतन से भावप्रधान स्वार्थ असंभव होने से अनन्यशेष स्वार्थज्योति आत्मा के अनुग्रह के बिना यह कार्यकरणसंघात व्यवहार प्रवृत्ति के लिये समर्थ नहीं होता क्योंकि समस्त सव्यवहार सर्वदा आत्मज्योति के अनुग्रह से ही होता है। "जो यह प्रसिद्ध निश्चयात्मिका बुद्धि और संकल्पात्मक मन है; वह अन्तःकरण वृत्तिविशेष संज्ञान है" ऐसा अन्य श्रुति मे भी प्रतिपादित किया है । प्राणियो का यह सब व्यवहार अभिमानपूर्वक होता है। मरकतमणि के दृष्टान्त से हम कह आये हैं कि आत्मा का चिदाभासत्व सर्वत्र अभिमान का हेतु है ।

यद्यपि प्रत्यक्ज्योति सर्वावभासकरूप से व्याख्यात है; तथापि जाग्रदवस्था मे आत्मज्योति समस्त इन्द्रियो की अविषय तथा बुद्धि आदि बाह्य और आभ्यन्तर शरीर एवं इन्द्रिय के व्यापार

---

१. सद्भाव इति आयरे आन्वाद सत्त्वेऽपि आत्मादमज्योतिरभावे स्वसत्त्वायापि तत्काल दूरे प्रकाशयितुमिति भावः । २. अन्यशेषत्वात् । ३ भावप्रधान । ४ अनन्यशेषेति यावत् । ५ यदेतदिति । यदेतत्प्रसिद्धं हृदयं निश्चयात्मिका बुद्धिः मनश्च संकल्पात्मकं तदुभयमन्तःकरणं तस्य वृत्तिविशेषाः संज्ञानादयः । एतदुक्तलक्षणमन्तःकरणं वृत्तिरूपेण परिणतं सत् संज्ञानविज्ञानमित्यादिव्यवह्रियत इत्यर्थः । ६ अभिमानहेतुम्—आत्मनश्चिदाभासं सर्वत्राभिमानहेतुम् । ७ एवमेतदिति । एतत्प्रत्यक्ज्योतिः । एवम्—सर्वावभासकत्वेन प्रख्यातम् । श्रुतिस्मृतिप्रमितमिति यावत् । ८ बुद्ध्यादीति—आदिना शरीरमनश्चक्षुरादयो विषया लोकाश्च गृह्यन्ते तद्व्यापारव्याप्तत्वादित्यर्थः । ९. बाह्यज्योतिषां प्रमस्तमये आत्मज्योतिष करणानुग्राहकत्वाऽभ्युपगमे । १० श्रुत्यन्तरसंवादम् । ११ अन्तःकरणादि—आदिना तत्रोक्त हिरण्यगर्भादि स्थावरान्त अपञ्चास गृह्यते । १२ प्रज्ञा ब्रह्म नेत्र सत्ताप्रापकं यस्य तदित्यर्थः । १३ सर्वावभासकमपि । १४. बुद्ध्याद्यसंकीर्णम् ।

बाह्याभ्यन्तरकार्यकरणव्यापारसंनिपातव्याकुलत्वान्न शक्यते तज्ज्योतिरात्माख्यं मुञ्जेषीकावन्निष्कृष्य दर्शयितुमित्यतः स्वप्ने दिदर्शयिषुः प्रक्रमते—स समानः सन्नुभौ लोकावनुसंचरति । यः पुरुषः स्वयमेव ज्योतिरात्मा स समानः सदृशः सन् । केन । [1]प्रकृतत्वात्संनिहितत्वाच्च हृदयेन । हृदीति हृच्छब्दवाच्या बुद्धिः प्रकृता संनिहिता च । [2]तस्मात्तयैव सामान्यम् ।

⁂किं पुनः सामान्यम्[3]?अश्वमहिषवद्विवेकतो[4]ऽनुपलब्धिः । अवभास्या बुद्धिरवभासकं

शेषः । मद्दशः सन्ननुसंचरतीति संबन्धः । सादृश्यस्य प्रतियोगिसापेक्षत्वमपेक्ष्य पृच्छति—केनेति । उत्तरम्—प्रकृतत्वादिति । प्राणानामपि तुल्यं [5]तदिति चेत्तत्राऽऽह—संनिहितत्वाच्चेति । हेतुद्वयं साधयति—हृदीत्यादिना । प्रकृतत्वादिफलमाह—तस्मादिति ।

सामान्यं प्रश्नपूर्वकं विशदयति—किं पुनरित्यादिना । विवेकतोऽनुपलब्धि व्यक्ती कर्तुं

समूह से व्याकुल होने के कारण वह आत्मसंज्ञकज्योति मूंज से सीक के समान निकालकर पृथक् नहीं की जा सकती । इसलिये उसे स्वप्न मे दिखाने की इच्छा से श्रुति कहती है—वह पुरुष समान रूप से दोनो लोको मे संचार करता है अर्थात् वह पुरुष स्वयज्योतिस्वरूप आत्मा है, वह "समानः" अर्थात् सदृश रहकर संचरण करता है । किसके साथ रहकर ? प्रकरणस्थ समीपवर्ती होने के कारण हृदय के सदृश रहकर । 'हृदि" इस शब्द से 'हृदय' शब्दवाच्य बुद्धि ही प्रकरणस्थ है, वही समीप में रहती है । अतः उक्त हेतुद्वय से उसका बुद्धि से सादृश्य है ।

वह सादृश्य किस प्रकार का है ? अश्व और भैंसे के समान उनका अलग-अलग अनुभव न होना

१. प्रकरणं प्रमाणयति—प्रेति । संनिधिं दर्शयति—समिति । सधीरितिश्रुतिं समुच्चेतुं चः । २. तस्माद्धेतुद्वयात् । तया बुद्ध्या । सामान्यं—सादृश्यम् । ३. उत्तरमाह—अश्वेति । ४. अननुभवः भाविदं तादात्म्यमिति यावत् । ५ तत्—प्रकृतत्वम् ।

⁂किं पुनरित्यादि सर्वंमय इति यात एव बृहदारण्यकभाष्ये वार्तिककारास्तथाहि—"किं पुनः स्यात्समानत्वमात्मबुद्ध्यादिवस्तुनोः । विवेकतोऽननुभवो वराहोरगवत्तयोः ॥ अतस्तयोः समानत्वं रज्जुसर्पादिवन्मतम् । आत्माविद्यैव सम्बन्धस्तस्मादात्मन इष्यते ॥ अकारकस्वभावस्य परमार्थात्मवस्तुनः । अविद्याकल्पितैव स्यात्ससर्गातिरेकेऽसितादिवत् ॥ कूटस्थात्मचिदाभेऽस्य प्रत्यग्ध्वान्ते हि तद्भुवः । विषयान्तःसंवेद्भ्रान्तिः सामानाधिकरण्यतः ॥ विकारिण' प्रकाशस्य नीलरक्तादिसंगतेः । नीलादिविक्रिया युक्ता परिणामस्य न स्वतो ॥ परिणामो हि मोहादेश्चिदाभासः सदेष्यते । परिणामान्तरप्राप्तिस्तस्यापीति न युज्यते ॥ सुखिदुःखित्वधर्मित्वं तु स्थितं स्यात्तथा सति । सुखाद्यनुगमात्तस्य व्यतिरेकः सुदुर्लभः ॥ नर्ते स्याद्विक्रियां दुःखी साक्षिता का विकारिणः । धीविक्रियासहस्राणां साक्षतोऽहमविक्रियः ॥ परिणाम्यात्मनोऽप्येव कूटस्थावगतेरिव । न युक्तः परिणामोऽयं लौकिकस्यापि नेष्यते ॥ धीस्थान्तेन्द्रियसंघाते चिदाभासैकवर्त्मना । सर्वात्मकत्व सयात आत्माऽविद्यावशादतः" ॥ ३८६-३९८ ॥ इति । कार्यकारणाभ्यामैक्यमात्मनः समानतेत्ययुक्तं तयोस्तस्य च जाड्याजाड्याभ्यां विरोधादिति मत्वाऽऽह—किमिति ॥ अश्वमहिषवदित्यादिभाष्येणोत्तरमाह—विवेकत इति ॥ उक्तसमानत्वस्य मिथ्यात्वमाह—अत इति । मिथ्यात्वे फलितमाह—आत्मेति । अनात्मनेति शेषः ॥ कल्पिता तयोः संगतिरित्येतद्दृष्टान्तेन साधयति—अकारकेति ॥ तस्यास्तथात्वेऽपि प्रतीचो बुद्ध्यादिसमानत्वं कथं कल्पितं तत्राऽऽह

तदात्मज्योतिरालोकवत् । अवभास्यावभासकयोरविवेकतोऽनुपलब्धिः प्रसिद्धा । विशुद्धत्वाद्ध्यालोकोऽवभास्येन सदृशो भवति । यथा रक्तमवभासयन्रक्तसदृशो रक्ताकारो भवति । यथा हरितं नीलं लोहितं चावभासयन्नालोकस्तत्समानो भवति । तथा बुद्धिमवभासयन्बुद्धिद्वारेण कृत्स्नं क्षेत्रमवभासयतीत्युक्तं मरकतमणिनिदर्शनेन । तेन सर्वेण समानो बुद्धिसामान्यद्वारेण । सर्वमय इति चात एव वक्ष्यति ।

बुद्धिज्योतिषो स्वरूपमाह—अवभास्येति । अवभासकत्वे दृष्टान्तमाह—आलोकवदिति । तयोऽपि कथं विवेकतोऽनुपलब्धिस्तत्राऽऽह—अवभास्येति । प्रसिद्धिमेव प्रकटयति—विशुद्धत्वाद्धीति । उक्तमर्थं दृष्टान्तेन बुद्धावारोपयति—यथेत्यादिना । दृष्टान्तगतमर्थं दार्ष्टान्तिके योजयति—तथेति । पुनरुक्तिं परिहरति—इत्युक्तमिति । सर्वावभासकत्वे कथं बुद्ध्यैव साम्यमित्याशङ्क्याऽऽह—तेनेति । सर्वावभासकत्वं तच्छब्दार्थः । किमर्थं तर्हि बुद्ध्या सामान्यमुक्तमित्याशङ्क्य द्वारत्वेनेत्याह—बुद्धीति । आत्मनः सर्वेण समानत्वे वाक्यशेषमनुकूलयति—सर्वमय इति चेति ।

बुद्धिप्रकाश्य है और प्रकाश के समान आत्मज्योति प्रकाशक है, प्रकाश्य और प्रकाशक का अलग अलग अनुभव न होना प्रसिद्ध ही है, विशुद्ध होने के कारण क्योंकि आलोक प्रकाश्य के समान हो जाता है, जिस प्रकार रक्त वस्तु को प्रकाशित करते समय वह रक्तवर्ण के समान रक्ताकार हो जाता है। एवं हरे, नीले और लोहित पदार्थों को प्रकाशित करते समय वह आलोक उन्हीं रंगों के समान हो जाता है। इसी प्रकार बुद्धि को प्रकाशित करते समय वह बुद्धि के द्वारा सम्पूर्ण क्षेत्र को प्रकाशित करता है; ऐसा

---

१. हरितमित्यादि । चकारः समुच्चये । तथा च नियतमवभासयन्युगपन्नियताकारो भवतीति न लोहितम् पुनरुक्तिः । २ उक्तस्मारणे न पुनरुक्तिरिति भावः । ३ सादृश्यद्वारेणेति भावः । ४ सर्वसमत्वादेव । ५ बृ० उ० ४।४।५ । ६ तयोरवभास्यावभासकयोरपि । ७ आलोकस्यावभास्यसादृश्यम् । ८ तर्हि—सर्वावभासकत्वेन [illegible]समत्वे ।

—कूटस्थेति । स्वाप्ने साभासे निमित्त प्रतीचस्तत्कार्यमनुष्योऽहमित्यादिसामानाधिकरण्यात्तादात्म्यभ्रान्तिस्तद्युक्ता समानत्वस्य मिथ्यात्वम् ॥ आदित्याद्यालोकस्य नीलादियोगे तत्तदाकारविकारवदात्मज्योतिषोऽपि बुद्ध्यादियोगे विकारित्वं ज्योतिष्ट्वाविशेषादित्याशङ्क्याऽऽह—विकारिण इति ॥ कथमपरिणामत्वमात्मनो बुद्ध्याद्यभिन्नस्योच्यते तत्राऽऽह—परिणामी हीति । अविद्याया बुद्ध्यादेश्च परिणामस्य सदा चिदात्मप्रकाश्यत्वात्तस्य परिणामविशेषप्राप्तिरयुक्ता साक्षिणः साक्ष्यत्वानुपपत्तेस्तदसौ कूटस्थ एवेत्यर्थः ॥ रूपप्रकाशकस्यापि सवितुः रूपित्ववत्परिणामसाक्षिणोऽपि परिणामित्वमित्याशङ्क्याऽऽह—सतीति । दौरथ्ये हेतुः—तथेति । दुःखित्वादौ सति तत्साक्षित्वादात्मनः साक्ष्याद्दुःखादेर्भेदो दुर्ज्ञानो न चैकत्वे तद्भावो विरोधाद्दृष्टान्तस्तु प्रत्यक्षत्वाद्विरुद्धो न चात्र विक्रियावत्त्वे मानं तद्युक्तमविक्रियत्वमित्यर्थः ॥ अविक्रियत्वेऽपि कुतो न दुःखादिमत्त्वं तत्राऽऽह—नेति । विक्रियावत्त्वे दोषमाह—साक्षितेति । साक्षी चेतेत्यादि श्रुतिमाश्रित्य फलितमाह—धीविक्रियेति ॥ मातृवदात्मनः सक्रियत्वमाशङ्क्याऽऽह—परिणामीति । द्रव्यत्वात्पयोवन्माता परिणामीत्यनुमानात्कुतः साध्यवैकल्यं तत्राऽऽह—लौकिकस्येति । न हि तथाभूतस्य परिणामस्तथाभावविरोधादन्यथाभूतस्यानवस्थितेस्तथा च क्षीरादिपरिणामोऽपि प्रामाणिको न भवतीति भावः ॥ समानत्वं नियमयति—धीस्थेति । वस्तुतः समानत्वायोगोऽत्र शब्दार्थः ॥

तेनासौ कुतश्चित्प्रविभज्य मुञ्जेषीकावत्स्वेन ज्योतीरूपेण दर्शयितुं न शक्यत इति सर्वव्यापारं तत्राध्यारोप्य नामरूपगतं ज्योतिर्धर्मं च नामरूपयोर्नामरूपे चाऽऽत्मज्योतिषि सर्वो लोको मोमुह्यतेऽयमात्मा नायमात्मैवंधर्मा नैवंधर्मा कर्ताऽकर्ता शुद्धोऽशुद्धो बद्धो मुक्तः स्थितो गत आगतोऽस्ति नास्तीत्यादिविकल्पैः । अतः समानः सन्नुभौ लोकौ प्रतिपन्नप्रतिपत्तव्यौ इहलोकपरलोकावुपात्तदेहेन्द्रियादिसंघातत्यागान्योपादानसंतानप्रबन्धशतसंनिपातैरनुक्रमेण संचरति । धीसादृश्यमेवोभयलोकसंचरणहेतुर्न स्वत इति ।

*तत्र नामरूपोपाधिसादृश्यं भ्रान्तिनिमित्तं यत्तदेव "हेतुर्न स्वत" इत्ये"तदुच्यते ।

वाक्यशेषमिद्धेऽर्थे लोकभ्रान्तेर्गमकत्वमाह—तेनेति । सर्वमयत्वेनेति यावत् । आत्मानात्मनोविवेकदर्शनस्याशक्यत्वे" परस्पराध्यासस्तद्धर्माध्यासश्च स्या"त्तश्च लोकानां मोहो भवेदित्याह—इति सर्वेति । धर्मिविषयं "मोहमभिनयति—अयमिति । धर्मविषयं मोहं दर्शयति—एवंधर्मेति । "तदेव स्फुटयति—कर्तेत्यादिना । विकल्पैः सर्वो लोको मोमुह्यत इति संबन्धः । स समानः सन्नित्यस्यार्थमुक्त्वाऽवशिष्टं भाग व्याकरोति—अत इत्यादिना ।

आत्मनः स्वाभाविकमुभयलोकसंचरणमित्याशङ्क्यानन्तरवाक्यमादत्ते—तत्रेति । आत्मा

मरकत मणि के दृष्टान्त द्वारा पहले ही कह चुके हैं । इसलिए बुद्धि के सादृश्य के द्वारा वह सबके समान हो जाता है । सर्वसादृश्य होने से वह सर्वमय हो जाता है—ऐसा श्रुति आगे कहेगी ।

इसलिये आत्मा को मूंज से सींक के समान बुद्धि आदि किसी भी अनात्मवस्तु से अलग करके अपने ज्योतिःस्वरूप से नहीं दिखलाया जा सकता । इस कारण से नामरूप के सारे व्यापारों का; नामरूपगत ज्योतिधर्म का तथा आत्मज्योति में नामरूप का अध्यास करके सम्पूर्ण लोक "यह आत्मा है, यह आत्मा नहीं है; आत्मा ऐसे धर्म वाला है, आत्मा ऐसे धर्म वाला नहीं है; कर्ता है, अकर्ता है; शुद्ध है, अशुद्ध है; बद्ध है, मुक्त है; स्थित है, गत है, आगत है, सत् है और असद्रूप है" इत्यादि विकल्पों से पुनः पुनः अतिशय मोहित हो रहा है । इसलिये (अविद्याजनित भ्रान्ति से) यह समान रहकर प्राप्त इहलोक और अप्राप्त परलोक, इन दोनों लोकों में (संनिपात और पतन द्वारा) प्राप्त देहेन्द्रियसंघात के ग्रहण की परम्परा से निरन्तर सैकड़ों संनिपातों के क्रम से संचरण करता रहता है । आभास द्वारा बुद्धितादात्म्य ही उसके दोनों लोकों में संचरण का हेतु है, संचरण के प्रति स्वयं हेतु नहीं है ।

यहां जो भ्रान्तिजनित नामरूपोपाधि की सदृशता है, वही संचरण में हेतु है, स्वतः संचरण नहीं करता, ऐसा ('ध्यायतीव' आदि श्रुतिवाक्यों से) कहा जाता है । क्योंकि वह समान रहकर क्रमशः

---

१. आत्मा । २. बुद्ध्याद्यनात्मभ्यः । ३. हेतोः । ४. आत्मज्योतिश्चानात्मनामरूपयोरिति चार्थः । ५. अतः—आविद्यकभ्रान्तिवशात् । ६. प्राप्तप्राप्तव्यौ । ७ क्रमसंचरणमेव प्रपञ्चयति—उपात्तेत्यादिना । शतेषु संनिपाताः पतनानि तैः । ८. आभासद्वारा धीतादात्म्यमेव । ९. स्वतःसंचरणं प्रतीष इति शेषः । १० संचरणे । ११. संचरणम् । १२. उच्यत इति—ध्यायतीवेत्यादिवाक्येनेति शेषः । १३. सति । १४. उभयाध्यासात् । १५. सदेहमिति यावत् । १६. उक्तमोहम् ।

---

*तत्र नामरूपोपाधिसादृश्यमित्यादि न तु परमार्थतश्चलनधर्मक तदात्मज्योतिरित्यत्र भाष्ये वार्तिकाचार्याश्चाहि —"असंभवः स्वतो यस्मात्तदवोधाच्च संभवः । क्रियाकारकरूपस्य तस्माच्छ्रुत्याऽभिधीयते ॥ क्रियाकारकरूपस्य

[1]यस्मात्स समानः सन्नुभौ लोकावनुक्रमेण संचरति [2]तदेतत्प्रत्यक्षमित्ये[3]तद्दर्शयति—यतो ध्यायतीव ध्यानव्यापारं करोतीव चिन्तयतीव ध्यानव्यापारवतीं बुद्धिं स [4]तत्स्थेन चित्स्वभावज्योतीरूपेणावभासयंस्तत्सदृशस्तत्समानः सन्ध्यायतीवाऽऽलोकवदेव । [5]अतो

समन्वयः । यतःशब्दो वक्ष्यमाणातःशब्देन संबध्यते । अक्षरोत्थमर्थमुक्त्वा वाक्यार्थमाह—ध्यानेति । ध्यानवतीं बुद्धिं व्याप्तश्चिदात्मा ध्यायतीवेत्यत्र दृष्टान्तमाह—आलोकवदिति । यथा खल्वालोको नीलं पीतं वा विषयं व्यश्नुवानस्तदाकारो दृश्यते तथाऽयमपि ध्यानवतीं बुद्धिं भासयन्ध्यानवानिव भवतीत्यर्थः । यथोक्तबुद्ध्यवभासकत्वमुक्तं हेतुमनूद्य फलितमाह—अत इति । इवशब्दार्थं कथयति—

दोनों लोकों में संचरण करता है, यह अस्वाभाविक संचरण प्रत्यक्ष ही है, उसी को श्रुतिवाक्य द्वारा दिखाया जाता है—क्योंकि "ध्यायतीव" अर्थात् मानो ध्यान व्यापार करता है,यानी चिन्तन करता हुआ सा है। वह आलोक के समान ही अपने चित्स्वभाव ज्योतिरूप से अवभासित करता हुआ उसीके सदृश वह समान होकर बुद्धि को ध्यानव्यापारवती करके उससे व्याप्त होकर मानो ध्यान करता है। इसी

१ अनेनैतदुच्यत इति कुतस्तत्राऽऽह—यस्मादिति । यस्मादेनद्दर्शयतीत्यन्वयः । २ तत्—समानवाक्योक्तम् । एतद्—अस्वाभाविकं संचरणम् । ३ वाक्यम् । ४ तद्व्याप्त्येन । ५ यथोक्तबुद्ध्यवभासकत्वात् ।

मिथ्यात्वं प्रत्यगात्मनि । ध्यायतीत्यादिवाक्येन प्रत्यक्कौटस्थ्यवित्तये ।। ध्यायतीव स कौटस्थ्यात्तथा लेलायतीव च । ध्यानादिकारिसाक्षित्वात्साऽऽत्मा ध्यानादिकार्यवान् ।। निःशेषबुद्धिवृत्तीनां ध्यानं स्यादुपलक्षणम् । लेलायनं क्रियाणां च सर्वासामुपलक्षणम् ।। ध्याता ध्यानं तथा ध्येयं त्रयं स्वात्मैकसाक्षिकम् । करणं कर्म कर्ता च नातो ध्यात्रादिसाक्षिणि । बोद्धुः कर्तुश्च संबन्धो ज्ञानेन क्रियया यथा । कूटस्थसाक्षिसंबन्धो बोद्धृकर्त्रोस्तथैव च ।। सर्वस्य प्रत्यगात्मत्वात्कूटस्थैकचिदात्मनः । अतोऽस्यानभिसंबन्धः सर्वप्रत्ययहेतुतः ।। एकनीडत्वहेतुत्था साक्षिणा साध्यसंगतिः । न तु मोहोत्थचिद्बिम्बहेतुत्वसव्यपेक्षया ।। कूटस्थात्मैकहेतूत्थचिद्बिम्बो मोहगस्तु यः । स्वोपादानानुरोधित्वात्तेनचित्साध्यस्य संगतिः ।। चिदाभासाश्रयाज्ञानात्कार्यसंगतिहेतुतः । स्वाभासान्तः परोऽप्यात्मा ध्यायतीवेति वीक्ष्यते ।। प्रत्यङ्मोहैकमात्रोत्थं ध्यानलेलायनादिकम् । तन्मिथ्याप्रतिपत्त्यर्थमिवेति व्यपदिश्यते ।। अध्यात्मं यथाऽज्ञानात्कृत्स्नभूतव्यवस्थितिः । क्रियाकारकवद्बुद्धिं तथा तत्साक्षिणीक्षते ।। धर्मधर्म्यभिसंबन्धान्यथा मोहैकसंश्रयात् । अस्पृष्टमपि नीलं खमिति संभावयेत्तथा ।। आत्मप्रत्ययगम्येऽयं निष्क्रियेऽकारकेऽफले । क्रियाकारकवद्वस्तु संभावयति तज्जडः ।। तस्मात्संभावनामात्रः संसारः प्रत्यगात्मनि । अनेनैवं संशयश्चेत्स्यात्प्रत्यग्दृष्ट्या समीक्ष्यताम् ।। आत्ममात्रावसायित्वात्प्रज्ञानात्मार्थसंस्पृगीक्ष्यते । आत्मधीरात्मसंबन्धो नातोऽनात्मन ईक्ष्यते" ।। ४०७-४२२ ।। ध्यायतीवेत्यादिवाक्यमादत्ते—असमत्व इति ।। तन्मिथ्यात्वोक्तेरुपयोगमाह—प्रत्यगिति ।। अवतारितवाक्यस्याक्षराणि व्याचष्टे—ध्यायतीवेति । साक्षादेवास्य ध्यानादिमत्त्वं किं न स्यात्तत्राऽऽह—कौटस्थ्यादिति । तत्रैव हेत्वन्तरमाह—ध्यानादीति ।। अस्तु ध्यानमात्मन्यौपाधिकं तथाऽपि दर्शनादि स्वाभाविकं पञ्चमे दृष्ट्यादिस्वाभाव्यस्योपदिष्टत्वादत आह—निःशेषेति । चैतन्यमात्रस्यैव स्वाभाव्यं तत्रोक्तमिति भावः ।। चलनस्यौपाधिकत्वेऽपि वचनादीनामनौपाधिकत्वं वदन्वागित्यादिश्रुतेरित्याशङ्क्याऽऽह—लेलायनमिति । न हि तत्र तत्तत्क्रियास्वाभाव्यमभिमतं तत्तत्साक्षित्वेन वागादित्वोपचारादिति भावः ।। तथाऽपि ध्यातृत्वादि वस्तुतोऽस्तीत्याशङ्क्याऽऽह—ध्यातेति । चकारेण स्वात्मैकसाक्षिकमित्यनुकृष्यते । तत्साक्षित्वेन ताटस्थ्यमतःशब्दार्थः ।। ध्यात्रादेर्न साक्षिवेद्यत्वं तदसंबन्धात्तदसत्त्वसिद्धेरित्याशङ्क्याऽऽह—बोद्धुरिति । अद्वयीत्वयोः

भवति चिन्तयतीति भ्रान्तिर्लोकस्य । न तु परमार्थतो [1]ध्यायति । तथा लेलायतीवात्यर्थं चलतीव । तेष्वेव करणेषु बुद्ध्यादिषु वायुषु च चलत्सु तदवभासकत्वात्तत्सदृशं [2]तदिति [3]लेलायतीव । न तु परमार्थतश्चलनधर्मकं तदात्मज्योतिः ।

कथं पुनरेतदवगम्यते [4]तत्समानत्वभ्रान्तिरेवोभयलोकसंचरणादिहेतुर्न स्वत

न त्विति । बुद्धिधर्माणामात्मन्यौपाधिकत्वेन मिथ्यात्वमुक्त्वा प्राणधर्माणामपि तत्र तथात्वं कथयति—तथेति । आत्मनि चलनस्योपाधिकत्वं साधयति—तेष्विति । इवशब्दसामर्थ्यसिद्धमर्थमाह—न त्विति । स होत्याद्यनन्तरवाक्यमाकाङ्क्षाद्वारोत्थापयति—कथमित्यादिना । तच्छब्दो बुद्धिविषय. ।

से (बुद्धि के अवभासक होने के कारण)लोकव्यवहार मे ऐसी भ्रान्ति होती है कि वह चिन्तन करता है। तत्वत वह नि शेषधीवृत्ति से अधिक ध्यान नही करता । इसी तरह "लेलायतीव" अर्थात् अधिक चलता हुआ सा है, उन बुद्धि आदि इन्द्रियो के और वायु आदि के चलने पर उनका प्रकाशक होने के कारण वह आत्मज्योति के समान जान पडता है, इसी से अधिक चलता है । तत्वत वह आत्मज्योति चलनरूप धर्म वाली नही है ।

किन्तु ऐसा कैसे जाना जाता है कि धीतादात्म्य अध्यास ही आत्मा के दोनो लोको मे सचरण

१ ध्यायतीति । ध्यानमत्र नि शेषधीवृत्तीनामुपलक्षणम् । तन्न ध्यानाद्यपि न तत्र तत्त्वत इति बोध्यम् । २ आत्मज्योति । ३ लेलायतीवेति—लेलायन च सर्वासां क्रियाणामुपलक्षण तेन चलनाद्यपि तत्रौपचारिकमेवेति ध्येयम् ४ धीतादात्म्याध्यास एव ।

साक्षिणा कल्पितसबन्धात्तद्व्याप्तेरित्यर्थ. ॥ व्याप्त्यादे साक्षिणा सबन्धे तस्यापि स तत्र स्यात्स च तस्य कल्पितत्वे हेतुरित्याशङ्क्याऽऽह—सर्वस्येति । यद्यपि कूटस्थोऽद्वयश्चिदात्मा सर्वप्रत्यगात्मा तथाऽपि किमित्यस्य न सबन्धस्तत्राऽऽह—सर्वेति । सबन्धस्य द्विष्ठत्वादेकस्याद्योगादिति भाव ॥ वास्तवसबन्धाभावे कथं साक्षित्व तत्राऽऽह—एकेति । एकस्मिन्कूटस्थचैतन्ये स्थितत्वमज्ञानादितादात्म्याऽऽभासस्य चास्ति तदन्तरेव साक्षी तस्मादेकाश्रयत्वा-त्सगतमुक्ता साक्षित्वत्यर्थ । विधान्तरेण सबन्ध धुनीत—न त्विति । अज्ञानकृतचिदाभासत्वस्य हेतुश्चैतन्य तत्स्वरूपापेक्षया न साक्षित्व नित्यविज्ञानज्योतिश्चैतन्याभासानुवृत्त्येत्यर्थः ॥ क्रियाऽऽभासस्यापि वस्तुनो न केनचिद्योग किमु चैतन्यस्यातोऽविद्योत्थसगतेरेव साक्षितेत्याह—कूटस्थेति । स्वोपादान कूटस्थमसङ्गमात्मवस्तु तदनुरोधित्वादिति यावत् ॥ व्याप्त्यादे. साक्षिणि वस्तुतोऽसत्त्वमुक्त्वा ध्यायतीत्यादिवाक्यार्थमनुवदति—चिदाभासेति । तदाश्रयादज्ञानात्कार्यप्रपञ्चेन साक्षेप सबन्धात्परोऽप्यात्मा स्वाभासविशिष्टो ध्यायतीव लेलायतीवेति प्रतीतो भवतीत्यर्थ ॥ इवशब्दार्थमाह—प्रत्यगिति । इवशब्दद्योतित तन्मिथ्यात्व दृष्टान्तेन स्पष्टयति—अभ्रेति । अज्ञानादिति च्छेद ॥ चन्द्रमस स्वतोऽपि गतिः सभवति प्रतीचो नैवमिति मन्वानो दृष्टान्तान्तरमाह—धर्मेति । दार्ष्टान्तिकमाह—तथेति ॥ इवशब्दार्थमुपसहरति—तस्मादिति । वस्तुतः ससारसस्पर्शासभवस्तच्छब्दार्थः । तत्र विद्वदनुभव प्रमाणयति—उक्त इति ॥ ननु प्रत्यग्दृष्टिरपि ससार प्रतीचि गोचरयति सुख्यहं दु ख्यहमिति प्रतीतेस्तत्कुतोऽस्य साक्षित्व तत्राऽऽह—आत्मेति । ननु साऽऽत्ममात्रमवगाहमानाऽपि तन्निष्ठ सुखादि नास्ति गोच-रत्वेनावगाहते घटदृष्टिरिव तद्विशिष्ट रूपं तत्राऽऽह—आत्मसबन्ध इति । न हि केवलमात्मान स्पृशन्ती धीर्वस्त्वन्तर स्प्रष्टुमीष्टे तद्धीत्वव्याघातात् चाऽऽत्मनि दु खादियोगे कैवल्य घटदृष्टिस्तु विशिष्टमेव विषयी करोतीति वैषम्यमिति भाव ॥

'इत्यस्यार्थस्य प्रदर्शनाय हेतुरुपदिश्यते—'स आत्मा हि यस्मात्स्वप्नो भूत्वा । स यया धिया 'समानः सा धीर्यद्यद्भवति तत्तदसावपि भवतीव तस्माद्यदाऽसौ स्वप्नो भवति स्वापवृत्तिं प्रतिपद्यते धीस्तदा सोऽपि स्वप्नवृत्तिं प्रतिपद्यते । यदा धीर्जिजागरिषति तदाऽसावप्यत आह—स्वप्नो भूत्वा स्वप्नवृत्तिमवभासयन्धियः स्वापवृत्त्याकारो भूत्वेमं लोकं जागरितव्यवहारलक्षणं कार्यकरणसंघातात्मकं लौकिकशास्त्रीयव्यवहारास्पदमतिक्राम-त्यतीत्य 'क्रामति 'विविक्तेन स्वेनाऽऽत्मज्योतिषा स्वप्नात्मिकां धीवृत्तिम'वभासयन्नव-तिष्ठते 'यस्मात्तस्मात्स्वयंज्योतिःस्वभाव एवासौ विशुद्धः सन्कर्तृक्रियाकारकफलशून्यः परमार्थतो 'धीसादृश्येनैव तूभयलोकसंचारादिसंव्यवहारभ्रान्तिहेतुः । मृत्यो रूपाणि

संचरणादीत्यादिशब्दो ध्याना'दिव्यापारसंग्रहार्थं । स्वप्नो भूत्वा लोकमतिक्रामतीति संबन्धः । कथमात्मा स्वप्नो भवति तत्राऽऽह—स यथेति । उक्तेऽर्थे वाक्यमवतार्य व्याकरोति—अत आहेति । उक्तं हेतुमनूद्य फलितमाह—यस्मादित्यादिना । कार्यकरणातीतत्वात्प्रत्यगात्मनो न स्वतः संसारित्व-

का हेतु है, तत्कार्यसाक्षी होने से वह स्वतः नहीं करता । इस अर्थ के प्रतिपादन के लिये कारण बतलाया जाता है । जिसको अनुमानों के द्वारा स्वयंज्योति देखा गया है, वह आत्मा ही स्वप्न होकर, जिस बुद्धि से तादात्म्य को प्राप्त है, वह बुद्धि जिस-जिस रूप वाली होती है, वह मानो वही-वही हो जाता है । इसलिये जिस समय वह बुद्धि स्वप्नमय होती है यानी स्वप्नवृत्ति को प्राप्त करती है, तो वह भी स्वप्न-वृत्ति को प्राप्त करता है । जब बुद्धि जागने की इच्छा करती है, तो वह भी जागने की इच्छा करता है । इसलिये श्रुति कहती है—"स्वप्नो भूत्वा" यानी बुद्धि की स्वप्नवृत्ति को प्रकाशित करता हुआ स्वापवृत्त्याकार होकर "इमं लोकं" यानी जाग्रत्व्यवहारलक्षण कार्यकरणसंघातात्मक लौकिक-शास्त्रीय व्यवहार के स्थान को 'अतिक्रामति' यानी पार करके चला जाता है (उस अभिमान को छोड़ देता है) । क्योंकि उस समय वह अपने संघातव्यतिरिक्त आत्मज्योति से स्वप्नात्मिका बुद्धिवृत्ति को साक्षी करके अवस्थित रहता है, इसलिये वह स्वयंज्योतिस्स्वभाव वाला ही है । वह विशुद्ध होकर कर्तृ, क्रिया, कारक एवं फल से रहित है । तत्त्वतः उसके दोनों लोकों में संचरणादि व्यवहाररूप भ्रान्ति की हेतु बुद्धिसादृश्य ही है । 'मृत्यो रूपाणि' यहाँ मृत्यु से काम, कर्म और अविद्यादि समझना चाहिये । इसके सिवा उसका स्वतः कोई रूप नहीं है । कार्य और करण ही इसके रूप हैं । इसलिये कर्म और फल के आश्रयभूत उन मृत्यु के रूपों को वह पार कर जाता है ।

१ तत्कार्यसाक्षित्वात् । २ योऽनुमानैः स्वयंज्योतिर्दृष्टः । ३ तादात्म्यमापन्न । ४ यद्यद्भवतीति—यद्यद्रूपं बिभर्तीत्यर्थः । तदुक्तं—"बुद्धिजागरणे [illegible]जागर्तीत्यभिमन्यते । बुद्धिस्वापेऽपि तत्साक्षात्स्वप्नो भूत्वेति मोहधीरिति" ॥ वा० ४४८ ॥ साक्ष्य—भासितत्वम् । मोहादात्मनि स्वप्नधीरिति फलितमाह—स्वप्न इति । ५ तदभिमानं त्यजति । ६ संघातव्यतिरिक्तेन । ७. अयमेव बोधो यत्साक्षित्वमिति नाशुद्धिः । ८. यस्मादिति—"जाग्रल्लोकं यतो हित्वा स्वप्नलोकं प्रपद्यते । तस्मादसङ्गोऽकर्ता च स्वयंज्योतिरितीष्यताम्" ॥ ४५१ ॥ इति वार्तिके । ९. धीसादृश्यमेवेति । स्वतः संसारित्वे कायत्र नातिक्रामेत् । स्वभावस्य त्यागा-योगात् तत्त्वतोऽसंसारीति भावः । १०. आदिना दर्शनादिग्रहणम् ।

* मृत्युः कामकर्माविद्यादिनं तस्मान्यद्रूपं स्वतः कार्यकरणान्येवास्य रूपाणि । अतस्तानि मृत्यो रूपाण्यतिक्रामति क्रियाफलाश्रयाणि ।

ननु नास्त्येव धिया समानमन्यद्धियोऽवभासकमात्मज्योतिः । धीव्यतिरेकेण

मित्याह—मृत्योरिति । रूपाण्यतिक्रामतीति पूर्वेण संबन्धः । क्रियास्तत्फलानि चाऽऽश्रयो येषां, यानि वा क्रियाणां तत्फलानां चाऽऽश्रयस्तानीति यावत् ।

बुद्ध्यवभासकं ज्योतिरात्मेत्युक्तं श्रुत्वा 'शाक्यः शङ्कते—नन्विति । प्रमाणावतिरिक्तात्मोपल-

---

(इस पर पूर्ववादी शङ्का करता है—) किन्तु बुद्धि के समान बुद्धिप्रकाशिका तो कोई अन्य ज्योति है नहीं क्योंकि प्रत्यक्ष और अनुमान से भी बुद्धि से भिन्न उसकी प्राप्ति नहीं होती । जिस प्रकार

---

१ न तस्येति । "न हि प्रमाणतो मृत्युः शक्यो दर्शयितुं ततः । रूपाणि मृत्योस्तेन स्युः कार्याणि करणानि च" ॥ वा० ४२८ ॥ इति । प्रमाणनिरस्यत्वं तत्.शब्दार्थः । मृत्योर्मानगम्यत्वाभावे तद्रूपमकत्वेन रूपोपन्यास इति फलितमाह—रूपाणीति । २. यतो बाणरात्स्वप्नादेदेहं तान्यतिक्रामति—अतः (तस्मात्) कूटस्थो निर्मलश्च भवत्यात्मेति भावः । ३. आत्मा कूटस्थात्मविरूपः सिद्धश्चेत् किमुत्तरग्रन्थेनेत्याशङ्क्य समाहितं वार्तिके—"अस्ति शुद्धो ध्रुवश्चाऽऽत्मा स चैक इति गरिष्यतम् । अस्यैवार्थस्य दार्ढ्यार्थं पूर्वपक्ष उदीर्यते' ॥ ४६० ॥ इति पूर्वपक्षं कृत्वा तन्निरासे यथोक्तोऽर्थो दृढो भवति तदुत्तरो ग्रन्थोऽर्थवानित्यर्थः । पूर्वपक्षमुद्भावयति—नन्विति । ४. बौद्धः ।

---

*मृत्युः कामेत्यादि क्रियाफलाश्रयाणीत्यन्तभाष्ये वार्तिककारीयास्त्वाहि—"आत्माविद्यैव मृत्युः स्यात्क्रियस्यापि मृतेस्तत । मृत्युर्वै तम इत्याह श्रुतिरप्यात्मनिह्नवात् ॥ स्वतोमृतस्य मरणं नाविद्यातो यतोऽन्यत. । अविद्या-मात्मनो मृत्युं तस्मादाहुर्विपश्चितः ॥ प्राणोत्क्रान्तिनिषेधोक्तिर्मत आत्मावबोधतः । सम्यग्ज्ञानस्य माध्यो-र्ध्वंसतस्मान्मृत्युरितीर्यते ॥ रूप्यते यैरसौ मृत्युः कार्याणि करणानि च । तानि रूपाणि अत्यन्ते मृत्योस्तस्य परात्मनः ॥ विषमर्त्य यतः सर्वं प्राक्व्यापत्तिकारणम् । तुषाग्रमात्रमपि हि मृत्यु, सर्वमिदं ततः ॥ मौढ्यं ज्ञाडयमविद्या स्यान्नित्यबुद्धात्मवस्तुनः । अनात्मनि च तद्दृष्टं तेन मृत्युरिदं जगत् ॥ न हि प्रमाणतो मृत्युः शक्यो दर्शयितुं तत. । रूपाणि मृत्योस्तेन स्युः कार्याणि करणानि च ॥ अतिक्रामति तान्यात्मा आत्मस्थानाजन्म-त्वतः । क्रियाफलाश्रयाण्येव तस्माच्छुद्धो ध्रुवश्च सः" ॥ ४२३-४२६ ॥ इति । मृत्यो रूपाणीत्यत्र मृत्युशब्दा-र्थमाह—आत्मेति । तत्र हेतुमाह—नित्यस्येति । मृतेस्तदभिमानादिति भावः । अविद्याया मृत्युशब्दत्वे श्रुतिमाह—मृत्युरिति । श्रोतेऽर्थे युक्तिमुक्तौ स्मारयति—आत्मेति । तम.शब्दिताऽविद्या नित्यसिद्धमप्यात्मानं निह्नुते प्रमाणं वस्तवगादत्य परमात्मेव तिष्ठतीति न्यायादतोऽसौ मृत्युरित्यर्थः ॥ आत्मो मृतिहेतो मृत्युशब्देऽपि तमःशब्दो गुणविशेषवाचीत्याशङ्क्याऽऽह—स्वत इति । तत्रैव विद्वत्प्रसिद्धिमाह—अविद्यामिति । आत्माविद्यैव मृत्युरित्यत्र हेत्वन्तरमाह—प्राणेति । न तस्य प्राणा उत्क्रामन्तीति विदुषो मरणं निषिध्यते । न च सम्यग्ज्ञानमज्ञानादन्य-न्निवर्तयत्यतस्तन्निवर्त्यो मृत्युरज्ञानमेवेत्यर्थः ॥ रूपशब्दार्थमाह—रूप्यत इति । परात्मनस्तदुपाधेः साक्षात्स्या-ज्ञानस्येति यावत् ॥ आत्माविद्या मृत्युस्तस्य रूपाणि कार्यकरणानीत्युक्त्वा सर्वमनात्मजातं मृत्युरिति प्रकारान्तर-माह—विषमर्त्यमिति । रूपादिनिष्ठदोषं मत्यस्य विषत्वमस्तुप्रसङ्गत्यामेदसोऽप्यल्पात्तादेम् तिहेतुत्वमनुभव-सिद्धमिति हिशब्दार्थः ॥ तत्र हेत्वन्तरमाह—मौढ्यमिति । अज्ञानं हि मौढ्यापरपर्यायं मृत्युरित्युक्तं मौढ्यं चानात्मन्यपि स्वरूपतया दृश्यते तेन सोऽपि मृत्युरित्यर्थः ॥ किमित्येवं रूपस्य मृत्यो रूपाणि कार्यकरणान्युच्यन्ते

प्रत्यक्षेण वाऽनुमानेन वाऽनुपलम्भात् । यथाऽन्या तत्काल एव द्वितीया धीः । यस्त्ववभास्यावभासकयोरन्यत्वेऽपि विवेकानुपलम्भात्सादृश्यमिति घटाद्यालोकयोः । तत्र भवत्वन्यत्वेनाऽऽलोकस्योपलम्भाद् घटादेः संश्लिष्टयोः सादृश्यं भिन्नयोरेव न च तथेह घटादेरिव धियोऽवभासकं ज्योतिरन्तरं प्रत्यक्षेण वाऽनुमानेन वोपलभामहे । धीरेव हि चित्स्वरूपावभासकत्वेन स्वाकारा विषयाकारा च । तस्मान्नानुमानतो नापि प्रत्यक्षतो धियोऽवभासकं ज्योतिः शक्यते प्रतिपादयितुं व्यतिरिक्तम् ।

यदपि दृष्टान्तरूपमभिहितमवभास्यावभासकयोर्भिन्नयोरेव घटाद्यालोकयोः

भिन्नरित्याशङ्क्य प्रत्यक्षमनुमानं चेति प्रमाणद्वैविध्यनियममभिप्रेत्य ताभ्यामतिरिक्तास्मानुपलम्भान्नासावस्तीत्याह—धीव्यतिरेकेणेति । तत्र दृष्टान्तमाह—यथेति । घटादिरालोकश्चेत्युभयोर्मिथः संसृष्टयोर्विवेकेनानुपलम्भवदवभास्यावभासकयोर्बुद्ध्यात्मनोर्भेदेऽपि पृथगनुपलम्भादैक्यमवभासते वस्तुतस्तु तयोरन्यत्वमेवेति शङ्कामनुवदति—यस्त्विति । वैधर्म्यप्रदर्शनेनोत्तरमाह—तत्रेति । दृष्टान्तः सप्तम्यर्थः । घटादेरन्यत्वेनेति संबन्धः । ज्योतिरन्तरं नास्ति चेत्कुतो ग्राह्यग्राहकसंवित्तिरित्याशङ्क्याऽऽह—धीरेवेति । बाह्यार्थवादिनोः सौत्रान्तिकवैभाषिकयोरभिप्रायमुपसंहरति—तस्मान्नेति ।

इदानीं विज्ञानवादी बाह्यार्थवादिभ्यामभ्युपगतं दृष्टान्तमनुवदति—यदपीति । बाह्यार्थवाद-

---

की अन्या बुद्धि है, उसी काल में दूसरी बुद्धि की प्राप्ति नहीं होती। और जो प्रकाश्य घटादि और प्रकाशक आलोक का भेद होने पर भी संघातव्यतिरिक्त न हो सकने के कारण तादात्म्य है, सो वहाँ आलोक का भिन्नरूप से प्रत्यक्ष होने के कारण उन दोनों के भिन्न होने पर भी घटादि के साथ मिलने पर तादात्म्य हो जाता है, किन्तु यहाँ दार्ष्टान्तिक घट के समान प्रत्यक्ष या अनुमान प्रमाण से भी बुद्धि की प्रकाशक कोई ज्योति हमें अनुभव नहीं होती, बुद्धि ही अपने चिदात्मकरूप से प्रकाशक होने से ग्राहकाकार और और प्रकाश्यरूप स ग्राह्याकार हो जाती है। इसलिये बुद्धि की प्रकाशक उससे भिन्न कोई दूसरी ज्योति न ही अनुमान और न ही प्रत्यक्ष से प्रतिपादित की जा सकती है।

---

१. यथेत्यादि—यथैकस्मिन् संताने पूर्वज्ञानातिरेकेण ज्ञानान्तरं तत्तुल्यकालं न प्रत्यक्षं तथाऽस्माऽपि धीव्यतिरिक्तो न प्रत्यक्ष इत्यर्थः । २ मिथो भिन्नत्वेऽपीत्यर्थः । ३ भिन्नत्वेनापरिज्ञानादैक्यभ्रान्तिहेतोः । ४. तादात्म्यम् । ५ इतीति—अनुमानमिति शेषः । तथा बुद्ध्यात्मानौ मिथो भिन्नौ भास्यभासकत्वाद्घटाऽऽलोकाविवेति । ६. उक्तानुमानावयवे दृष्टान्ते । ७ प्रत्यक्षात् । ८. पञ्चमीयम् । ९ तादात्म्यम् । १०. दार्ष्टान्तिके । ११ चित्स्वरूपा धीरेवावभासकत्वेन स्वीकारेत्यन्वयः । १२ चिदात्मक यस्स्वस्य रूपं तदवभासकत्वेनेति यावत् । १३ ग्राहकाकारा । १४. अवभास्यत्वेन विषयाकारा ग्राह्याकारा च भवत इति शेषः । इद च अनुमेयबाह्यार्थवादाभिप्रायेण नेयम् । १५. तस्मात् - बुद्धेरेव द्विधाभानात् । १६. तत्र—प्रत्यक्षानुमानयोर्मध्ये धीव्यतिरिक्ततत्साक्षिसाधकस्य प्रत्यक्षस्याभावे अनुमानाभावे चेत्यपि न मन्दम् । १७. बुद्ध्यात्मनोर्भास्यभासकयोर्ज्ञानमित्यर्थः । १८. सिद्धान्तिनोक्तम् ।

तत्राऽऽह—न हीति । प्रमाणनिरस्तं तत्राऽस्त्यर्थः । मृत्योर्मानिगम्यत्वाद्योरे तदगमकत्वेन रूपोपन्यास इति फलितमाह—रूपाणीति ॥ प्रकृतं वाक्यार्थमुपसंहरति—अतिक्रामतीति । अतःशब्दो यस्मादर्थः । जागरितस्वप्नावेदे यस्मात्तान्यतिक्रामति तस्मात्कूटस्थो निर्मलश्च प्रत्यगात्मेत्यर्थः ॥

संयुक्तयोः [1]सादृश्यमिति। तत्राभ्युपगममात्रमस्माभिरुक्तं न तु तत्र घटा[2]द्यवभास्यावभासको भिन्नौ। परमार्थतस्तु घटादिरेवावभासात्मकः [3]सालोकः। [4]अन्योऽन्यो हि घटादिरुत्पद्यते। विज्ञानमात्रमेव सालोकघटादिविषयाकारमवभासते। यद्येवं[5] तदा न बाह्यो दृष्टान्तोऽस्ति [6]विज्ञानलक्षणमात्रत्वात्सर्वस्य। [7]एवं [8]तस्यैव विज्ञानस्य ग्राह्यग्राहकाकारतामलं परिकल्प्य [9]तस्यैव पुनः[10]विशुद्धिं परिकल्पयन्ति। [11]तद्ग्राह्यग्राहकविनिर्मुक्तं विज्ञानं स्वच्छीभूतं [12]क्षणिकं ह्यवतिष्ठत इति [13]केचित्। [14]तस्यापि [15]शान्तिं केचिदिच्छन्ति। तदपि विज्ञानं [16]सांवृतं ग्राह्य-

प्रक्रिया न सुगताभिप्रेतेति दूषयति—तत्रेति। [17]उभयत्र दृष्टान्तस्वरूपं सम्यगर्थः। ननु घटादेरवभास्यादालोकोऽवभासको भिन्नो लक्ष्यते नेत्याह—परमार्थतस्त्विति। [18]तस्य स्थायित्वं व्यावर्तयति—अन्योऽन्य इति। प्रतीतं [19]विषयप्राधान्यं व्यावर्तयन्नु[20]क्तमेव व्यनक्ति—विज्ञानमात्रमिति। विज्ञानवादे यथोक्तदृष्टान्तराहित्यं फलतीत्याह— यदेति। शिष्यबुद्ध्यनुसारेण त्रिविधं बुद्धाभिप्रायमुपसंहरति—एवमित्यादिना। परिकल्प्येत्यन्तेन बाह्यार्थवादमुपसंहृत्य तस्यैवेत्यादिना विज्ञानवादमुपसंजहार। [21]तत्र विज्ञानवादोपसंहारं विवृणोति—तद्ग्राह्येति। शून्यवादिमतमाह—तस्यापीति। [22]तदेव स्फुटयति—तदपीति।

इसके अतिरिक्त व्यतिरिक्त और परस्पर संयुक्त प्रकाश्य घटादि और प्रकाशक आलोक का जो दृष्टान्तरूप से तात्पर्य प्रतिपादन किया है, उसे भी हमने स्वीकार मात्र करना कहा है। किन्तु वहाँ घट-आलोक का प्रकाश्य और प्रकाशक भिन्न नहीं है। तत्त्वतः तो आलोक के सहित घटादि ही अवभासकरूप हैं क्योंकि प्रतिक्षण अन्य-अन्य घट उत्पन्न होता रहता है। केवल विज्ञानमात्र ही आलोकसहित घटादिरूप विषयाकार में भासित होता रहता है। जब सब कुछ विज्ञानमात्र ही है, तो वस्तुतः बाह्य दृष्टान्त नहीं है क्योंकि सब कुछ विज्ञानमात्र स्वरूप वाला है। (इस पर सिद्धान्ती कहता है—) सबके विज्ञानमात्र होने पर सर्वाधिष्ठान उस विज्ञान की ही ग्राह्य-ग्राहकाकारता मल की कल्पना करके सर्वाभिन्न उसीकी पुनः विशुद्धि की कल्पना करते हैं। कुछ विज्ञानवादी ऐसा कहते हैं कि विज्ञानग्राह्य-

१. सादृश्यम्—तादात्म्यम्। २. आदिनाऽऽलोकग्रहः। ३ सालोक इति—नन्वालोकसमृष्टस्यापि घटस्य कथमवभासात्मकत्वमिति चेच्छृणु यतः सालोको घटः क्षणमात्रमेवावतिष्ठतेऽतस्तयोर्भेदस्य दुर्ग्रहत्वादभेद एवेति ४. प्रतिक्षणम्। ननु सालोको घटः क्षणमात्रवृत्तिश्चेत्तर्हि कथं स्थायित्वधीरिति तत्राऽऽह—अन्योऽन्यो हीति। अतः स्थायित्वधीर्भ्रान्तिरूपा तथा च दृष्टान्ते साध्यविकलतेति शेषः। ५. एवं—विज्ञानमात्रमेव तत्त्वम्। ६. विज्ञानमात्रस्वरूपत्वात्। ७. एवं—सर्वस्य विज्ञानमात्रत्वे सति। ८. तस्यैव—सर्वाधिष्ठानस्यैव। ९. सर्वाभिन्नस्य। १०. विशुद्धिमिति कल्पितस्य ग्राह्यग्राहकलक्षणमलस्य विज्ञानमात्रत्वमिति यावत्। अत्र बौद्धवाक्यमेव वार्तिकोक्तं तथाहि—"अविभक्तोऽपि हि बुद्ध्यात्मा विपर्यासितबुद्धिभिः। ग्राह्यग्राहकसंवित्तिभेदवानिव लक्ष्यत इति"॥ ४७६॥ इति। तस्मान्न वस्तुतो ग्राह्यग्राहकभेदोऽस्तीति शेषः। ११ विज्ञानमिति सम्बन्धः। १२ सिद्धान्ताद्विशेषमाह—क्षणिकमिति। १३. विज्ञानैकवादिनः। १४. शुद्धस्यापि विज्ञानैकवादिनः। १५ अभावम्। १६. संवृतिरविद्या तत्कार्यं सांवृतमाविद्यम्। १७. तत्रेति शब्दद्वये। १८ सालोकस्य घटादेः। १९. सालोक इत्युक्त्वा प्रतीयमानमालोकविशेषणकघटादिप्राधान्यमित्यर्थः। २०. परमार्थतस्त्वित्यादिना भङ्ग्यन्तरेण पारमार्थिकं वस्तुविज्ञानमात्रमेवेत्युक्तमेवेत्यर्थः। २१. तत्र—बाह्यार्थविज्ञानवादोपसंहारयोर्मध्ये। २२. शून्यवादिमतम्।

ग्राहकांशविनिर्मुक्तं शून्यमेव घटादिबाह्यवस्तुवदित्यपरे[1] माध्यमिका आचक्षते।

सर्वा एताः कल्पना बुद्धिविज्ञानावभासकस्य[2] व्यतिरिक्तस्याऽऽत्मज्योतिषोऽपह्नवादस्य श्रेयोमार्गस्य प्रतिपक्षभूता [3]वैदिकस्य। [4]तत्र येषां बाह्योऽर्थोऽस्ति तान्प्रत्युच्यते तावत्। न [5]स्वात्मानवभासकत्वाद्[6]घटादेः। तमस्यवस्थितो घटादिस्तावन्न कदाचिदपि स्वात्मनाऽवभास्यते। प्रदीपाद्यालोकसंयोगेन तु नियमेनैवावभास्यमानो दृष्टः सालोको घट इति। संश्लिष्टयोरपि घटालोकयोरन्यत्वमेव पुनः पुनः [7]संश्लेषे [8]विश्लेषे च [9]विशेषदर्शनाद्रज्जुघटयोरिव। अन्यत्वे च व्यतिरिक्तावभासकत्वं[10] न स्वमात्मनैव स्वमात्मानमवभासयति।

पक्षत्रयेऽपि दोषं संभावयति—सर्वा इति। कथममूषां कल्पनानां दूषणमित्याशङ्क्य प्रथमं बाह्यार्थवादिनं प्रत्याह—तत्रेति। निर्धारणे सप्तमी। यत्तु धीरेव यभासकत्वेन स्वाकारेति तत्राऽऽह—नेति। यदवभास्यं [11]तत्स्वातिरिक्तावभास्यमवभास्यत्वाद्यथा घटादि। अवभास्या चेयं बुद्धिरित्यनुमानाद्बुद्धिव्यतिरिक्त साक्षी सिध्यतीत्यर्थः। दृष्टान्तं साधयति—तमसीति। [12]तस्यावभासकापेक्षां दर्शयितुं विशेषणम्—सालोको घट इति। [13]संश्लेषावगमान्नास्ति घटस्य व्यतिरिक्तावभास्यत्वमित्याशङ्क्याऽऽह—संश्लिष्टयोरपीति। भवत्वन्यत्वं किं तावतेत्याशङ्क्याऽऽह—अन्यत्वे चेति। व्यतिरिक्तावभासकत्वं ताद्दशावभासक[14]साहित्यमिति यावत्। अवभासयति घटादिरिति शेषः।

ग्राहकविनिर्मुक्त विज्ञान स्वच्छीभूत और क्षणिक रहता है। शुद्ध विज्ञान का भी कुछ (शून्यवादी) अभाव चाहते हैं। दूसरे माध्यमिक बौद्ध कहते हैं—वह विज्ञान भी अविद्या का कार्य है, घटादि बाह्य वस्तुओं के समान ग्राह्य और ग्राहकांश से वर्जित शून्य ही है।

ये सभी कल्पनाएँ बुद्धिरूप विज्ञान के प्रकाशक सघातव्यतिरिक्त आत्मज्योति का परित्याग करने वाली होने से इस वेदप्रतिपादित मोक्षमार्ग की विघ्नरूपा हैं। उन (सौत्रान्तिक, वैभाषिक, योगाचार और माध्यमिकों) के मध्य जो घटादि बाह्यपदार्थों की सत्ता को मानते हैं, उनके प्रति कहा जाता है। घटादि स्वय ही अपने प्रकाशक तो हो नहीं सकते। अन्धकार में रखे हुए घटादि कभी भी अपने आप प्रकाशित नहीं होते, प्रदीपादि के प्रकाश के सयोग होने पर 'यह घट प्रकाशयुक्त है' इस प्रकार उनका नियम से प्रकाशित होना देखा जाता है। सयोग को प्राप्त घट और प्रकाश भी एक दूसरे से भिन्न ही हैं क्योंकि रस्सी और घट के समान पुनः-पुन सयोग और वियोग होने पर उनमें भानाभानात्मक भेद देखा जाता है। अन्यत्व होने पर भिन्नप्रकाशकत्व सिद्ध है। वे स्वय ही अपने आप को

१ अर्थाभावे कथं ज्ञानं ज्ञायतेऽर्थोऽनेनेति व्युत्पत्तेरिति वदन्तः। २. सघातव्यतिरिक्तस्येति यावत्। ३. वैदिकस्य—वेदप्रोक्तस्य श्रेयोमार्गस्य मोक्षमार्गस्येत्यन्वयः। ४ तत्र—सौत्रान्तिकवैभाषिकयोगाचारमाध्यमिकानां मध्ये ये बाह्यार्थवादिनस्तान् प्रति दोषोक्तिस्तावत् क्रियत इति योजना। ५. धीरेव चित्स्वरूपेयं स्वयं ग्राहकात्मनेति यदुक्तं तन्नेति प्रतिज्ञायां हेतुमाह—स्वात्मेति। ६. सालोकस्य घटादेरालोकव्याप्तस्येत्यर्थः। ७ सयोगे। ८ वियोगे। ९ विशेषो भानाभानात्मक इत्याद्युः वस्तुनो भेदोऽत्र विशेषार्थः। १० सिद्धमिति शेषः। ११ स्वातिरिक्तावभास्यमिति। अत्र सर्वं वाक्यं सावधारणमिति न्यायात्। स्वातिरिक्तेनैवावभास्यत्वं साध्यं बोध्यं एतच्चानुपदमेव स्फुटीभविष्यति। १२ घटस्य। १३ सालोको घट इति सश्लेषदर्शनात् सश्लेषस्तादात्म्यम्। १४ साहित्यमिति—न सारूप्यमिति हृदयम्।

ननु प्रदीपः स्वात्मानमेवावभासयन्दृष्ट इति। न हि घटादिवत्प्रदीपदर्शनाय प्रकाशान्तरमुपाददते लौकिकाः।[1] तस्मात्प्रदीपः स्वात्मानं प्रकाशयति। न। अवभास्यत्वाविशेषात्। यद्यपि प्रदीपोऽन्यस्यावभासकः स्वयमवभासात्मकत्वात्तथाऽपि व्यतिरिक्तचैतन्यावभास्यत्वं न व्यभिचरति[2] घटादिवदेव। यदा[3] चैवं तदा व्यतिरिक्तावभास्यत्वं तावदवश्यंभावि। ननु यथा घटश्चैतन्यावभास्यत्वेऽपि व्यतिरिक्तमालोकान्तरमपेक्षते नत्वेवं प्रदीपोऽन्यमालोकान्तरमपेक्षते।[4] तस्मात्प्रदीपो[5]ऽन्यावभास्योऽपि सन्नात्मानं घटं चावभासयति।

न, [6]स्वतः[7] परतो वा विशेषाभावात्।[8]यथा चैतन्यावभास्यत्वं घटस्य तथा

दृष्टान्तस्य साध्यविकलत्वे परिहृते व्यभिचारमाशङ्कते—नन्विति। [1]तदेव व्यतिरेकमुखेना-(णा)ऽऽह—न हीति। अनैकान्तिकत्वं [2]निगमयति—तस्मादिति। प्रदीपस्य पक्षतुल्यत्वान्न व्यभिचारोऽस्तीति परिहरति—नावभास्यत्वेति। अथान्यावभासकत्वा[3]त्तस्य नान्यावभास्यत्वमिति चेत्तत्राऽऽह—यद्यपीति। अवभास्यत्वहेतोरव्यभिचारे फलितमाह—यदा चेति। व्यतिरिक्तावभास्यत्व बुद्धेरिति शेषः। अवभास्यत्वे सत्यपि प्रदीपे स्वातिरिक्तेनैवावभास्यत्वमिति नियमासिद्धेर्व्यभिचारतादवस्थ्यमिति शङ्कते—नन्विति।

यदि प्रदीपस्य स्वावभासनात्पूर्वमस[4]न्विशेषः [5]समनन्तरकाले स्यात्तदा स्वात्मानं भासयतीति वक्तुं युक्तं न च [6]सोऽस्तीति दूषयति—नेत्यादिना। [7]तदेव विवृणोति—यथेति। [8]अवभास्यत्वाविशेषा-

प्रकाशित नहीं करते।

(इस पर पूर्वपक्षी कहता है —) किन्तु प्रदीप तो स्वयं ही अपने आप को प्रकाशित करता हुआ देखा जाता है। लोकव्यवहार में भी घटादि के समान दीपक को देखने के लिये किसी अन्य दीपक की आवश्यकता नहीं है। इसलिये (प्रकाश के तुल्य होने से) दीपक स्वयं ही अपने को प्रकाशित

१. समत्वात् प्रकाशस्य प्रकाशान्तरानपेक्षत्वात्। २. घटादिवदेवेति—यो भास्यः स स्वेतरभास्यो यथा घटादिः भास्यश्च प्रदीप इति व्याप्तिसिद्धावुक्तानुमानं युक्तमिति भावः। ३. एवम्—उक्तहेतोरव्यभिचरितत्वम्। ४. समत्वेन प्रकाशस्य प्रकाशान्तरानपेक्षत्वात्। ५. चैतन्यावभास्योऽपि। ६. स्वपरप्रयुक्तः। ७. स्वतः परतो वा विशेषाभावादिति। स्वापेक्षया परापेक्षया वा वैलक्षण्याभावादित्यर्थः। यथाऽवभासनकाले घटत्वादिना घटान्तरतुल्योऽपि पूर्वं तमोवृतस्वरूपोऽधुना त्वनावृतरूप इति भवति स्वतो वैलक्षण्यमापटः। यथा वा प्रकाशेऽवस्थितयोर्घटयोरेकस्य हस्तादिच्छायाऽऽवृतत्वे सत्यपरस्य स्वतोऽविशेषेऽपि भवति च्छायावृतात्परतो विशेषस्तो च विशेषो प्रदीपादिकृताविति प्रदीपादि भास्यो भवति घटः नैवमवभासनकाले प्रदीपस्य स्वपरवैलक्षण्यमित्यर्थः। ८. यथा चैतन्यावभास्यत्वमित्यादि। प्रदीपो यद्यवभासनात्प्रागस्ति स तर्हि चैतन्यावभास्य एवाऽन्यथाऽस्तीत्येव न स्यादूर्ध्वमपि स तथैवेति स्वतो विशेषाभावः। यदि नास्ति तदा क्व विशेषोऽसत्य ऊर्ध्वं स्यात्। नापि परतो घटादितो वैशिष्ट्यं चैतन्यावभास्यत्वतौल्यादित्यर्थः। ९. स्वात्मावभासकत्वमेव। १०. उपसंहरति। ११. दीपस्य। १२. अविद्यमानस्तमोध्वंसादिरूपः। १३. स्वावभासनोत्तरसमये। १४. सः—स्वतः परतो वा स्वावभास्यत्वोपयोगी विशेषः। १५. विशेषासत्त्वमेव। १६. अविशिष्टत्वे हेतुं पूरयति—अवभास्येति।

प्रदीपस्यापि चैतन्यावभास्यत्वमविशिष्टम्'। यत्तूच्यते प्रदीप आत्मानं घटं चावभासयतीति तदसत्। कस्मात्। 'यदाऽऽत्मानं नावभासयति तदा 'कीदृशः स्यात्। न हि 'तदा प्रदीपस्य स्वतो वा परतो वा 'विशेषः कश्चिदुपलभ्यते। स ह्यवभास्यो भवति यस्यावभासकसंनिधावसंनिधौ च विशेष उपलभ्यते। न हि प्रदीपस्य स्वात्मसंनिधिरसंनिधिर्वा शक्यः

दित्यर्थः। 'प्रदीपे परोक्तं 'विशेषमनुभाष्य दूषयति—यत्त्वित्यादिना। यदा दीपो न स्वात्मानं भासयति तदाऽनवभासमानः स्यादित्याशङ्क्याऽऽह—न हीति। विशेषाभावेऽपि दीपस्य स्वेनैवावभास्यत्वं किं न स्यादिति चेत्तत्राऽऽह—स हीति। दीपस्य विशेषान्तराभावेऽपि स्वात्मसंनिध्यसंनिधी विशेषा-

---

करता है। (सिद्धान्ती इस शङ्का का परिहार करता है—) ऐसा कहना ठीक नहीं है—क्योंकि प्रकाश्यत्व में दीपक घटादि से समानता है। यद्यपि प्रदीप स्वयप्रकाश होने के कारण दूसरों का प्रकाशक है तथापि घटादि के समान ही वह अपने से व्यतिरिक्त चैतन्य द्वारा प्रकाशित होने की योग्यता का त्याग नही करता। यदि ऐसा है, तो दीपक का अपने से भिन्न से प्रकाशित होना आवश्यक है। (इस पर पुनः पूर्ववादी कहता है—) किन्तु जैसे चैतन्य से प्रकाश्य घट को अपने से पृथक् आलोक की आवश्यकता होती है, उसी प्रकार दीपक को तो किसी अन्य प्रकाश की अपेक्षा नही होती। इसलिये प्रदीप अन्य चैतन्य से प्रकाश्य होने पर भी अपने और घट को प्रकाशित करता है।

(इस पर सिद्धान्ती कहता है—) उसमें स्वप्रयुक्त और परप्रयुक्त ऐसी कोई विशेषता नहीं। जिस प्रकार घट चैतन्य से प्रकाशित होता है, उसी प्रकार प्रदीप भी चैतन्य से प्रकाशित होता है, इसलिये स्वप्रकाश्यतारूप विशिष्टता प्रदीप में नही है। एव यह जो कहा जाता है कि प्रदीप अपने और घट को प्रकाशित करता है, यह भी मिथ्या है। ऐसा क्यो कहते हो? जब प्रदीप अपने को प्रकाशित नही करता, तो वह (भासमान या अभासमान) कैसा है? अपने को प्रकाशित न करने की दशा मे तो दीपक का अपने या अन्य से (तमो अविनष्टिरूप) कोई विशेष अन्तर नही देखा जाता; वही प्रकाश्य होता है, जिसमे प्रकाशक का संयोग और वियोग होने पर कोई विशिष्टता देखी जाय। प्रदीप की तो अपने से सयुक्त और वियुक्त होने की कल्पना नही की जा सकती। इसलिये कभी-कभी होने वाले (घट

---

१ तस्मान्न स्वप्रकाश्यता प्रदीपस्येति शेष। २ यदात्मानमित्यादि कश्चिदुपलभ्यत इत्यन्तम्। उक्तो विशेषो यदि भासनात्प्राङ्नासीत्प्रामूर्त्ताह (स्वरूपत्यागेन स्वरूपिणाऽवस्थातुमशक्यत्वादिति भाव) दीप इति क्वासौ विशेषोऽवस्थितिष्ट। यद्भूत्पुरस्ताद् कुतस्तर्हि तस्यावभासनकालीनत्वमेव। अथ विशेषाभावेऽपि दीपोऽस्ति भासनात्प्राक् तर्हि चैतन्यावभास्यत्वमेव सर्वसममित्यर्थः (अवभासनानवभासनावस्थे स्वस्मिन् परस्मिंश्च घटादौ तुल्यमित्यर्थ.)। वस्तुतस्तूक्तविशेषाभावे दीपसत्तैव न सम्भवति। ननु विशेषाभावेऽपि दीपोऽस्तीति पक्षेऽनवभासनेऽसम्भवभासने च सन् विशेष. प्रदीप. स्वात्मानं घटं च भासयतीति प्रतीतिनियामकः स्यादेवेत्यत्राऽऽह—वस्तुतस्त्विति। तथा च न विशेषोऽसंनिहित्युक्त एव दोष इति भावः। ३. भासमानोऽभासमानो वा। ४. स्वात्मान्यवभासकस्वरूपम्। ५. तमोऽध्वंसादिरूप। ६ यथा दीपासंनिधावसन् कुम्भस्य तत्संनिधौ च सन् विशेषस्तमोध्वंसो न तथा प्रदीपे विशेषो मानाभावादित्यर्थ.। ७ प्रदीपे परोक्त विशेषमिति—स्वपरभासकस्वरूपमवभासनकाले स्वपरविशेषमित्यर्थं। ८. विशेषम्—घटापेक्षया वैलक्षण्यम्।

[1]कल्पयितुम् । असति च कादाचित्के [2]विशेषम् आत्मानं प्रदीपः प्रकाशयतीति मृषैवोच्यते ।

चैतन्यग्राह्यत्वं तु घटादिभिरविशिष्टं प्रदीपस्य । [3]तस्माद्विज्ञानस्य[4]ऽऽत्मग्राह्यग्राहकत्वे न प्रदीपो दृष्टान्तः । [5]चैतन्यग्राह्यत्वं च विज्ञानस्य [6]बाह्यविषयैरविशिष्टम् । चैतन्यग्राह्यत्वे च[7] विज्ञानस्य किं ग्राह्यविज्ञानग्राह्यतैव किं वा ग्राहकविज्ञानग्राह्यतेति तत्र संदिह्यमाने वस्तुनि यो[8]ऽन्यत्र दृष्टो [9]न्यायः स कल्पयितुं युक्तो न तु दृष्टविपरीतः । [10]तथा च सति यथा व्यतिरिक्तेनैव ग्राहकेण बाह्यानां प्रदीपानां ग्राह्यत्वं दृष्टं तथा विज्ञानस्यापि चैतन्यग्राह्यत्वात्प्रकाशत्वे सत्यपि प्रदीपवद्व्यतिरिक्तचैतन्यग्राह्यत्वं युक्तं कल्पयितुं न [11]त्वनन्यग्राह्यत्वम् । यश्चान्यो विज्ञानस्य ग्रहीता [12]स आत्मा ज्योतिरन्तरं

विरस्यशङ्कायामाऽऽह—न हीति । दीपस्य स्वेनात्मना वा व्यतिरिक्तेन वा व्यक्तिविशेषाभावे फलितमाह—असतीति ।

व्यभिचारनिरासपूर्वकं भास्यत्वानुमानमुपपाद्यानुमानान्तरमाह—चैतन्येति । यद्व्यञ्जकं तत्स्वविजातीयव्यङ्ग्यं यथा सूर्यादि व्यञ्जकं च [13]विज्ञानं तस्माद्विज्ञानव्यतिरिक्तश्चिदात्मा सिध्यतीत्यर्थः । प्रदीपस्य न स्वावभास्यत्वं किं तु विजातीयचैतन्यावभास्यत्वमिति स्थिते फलितमाह—तस्मादिति । यद्ग्राह्यं तद्ग्राहकान्तरग्राह्यं यथा दीपो ग्राह्यं चेदं विज्ञानमि[14]त्यनुमानान्तरमाह—चैतन्येति । [15]तथाऽपि कथं स्वातिरिक्तग्राहकसिद्धिरित्याशङ्क्य विमृशति—चैतन्यग्राह्यत्वे चेति । कथं [16]तर्हि निर्णयस्तत्राऽऽह—इति तत्र संदिह्यमान इति । अस्तु लोकानुसारी निश्चयो लोकस्तु कथमित्याशङ्क्याऽऽह—तथा चेति । [17]तथाऽपि कुतो विवक्षितात्मज्योति[18]स्तत्राऽऽह—यश्चेति ।

की अपेक्षा से) वैलक्षण्य न होने पर "प्रदीप अपने को प्रकाशित करता है" ऐसा मिथ्या ही कहा जाता है ।

प्रदीप का चैतन्यग्राह्य होना घटादि के सदृश ही है, अतः (प्रदीप के स्वयंप्रकाशक न होने से) विज्ञान के स्वयंग्राह्य और ग्राहक होने में प्रदीप का दृष्टान्त नहीं बनता । विज्ञान का ज्ञानग्राह्य होना तो प्रदीपादि बाह्य विषयों के समान ही है । विज्ञान के ज्ञानग्राह्य सिद्ध होने पर क्या ग्राह्यविज्ञान की ग्राह्यता है अथवा ग्राहकविज्ञान की इस पर वस्तु में संदेह होने पर जो निश्चय लोकव्यवहार में देखा जाता है । उसकी यहाँ भी कल्पना करनी चाहिये । दृष्टनिश्चय से अन्य कल्पना करना उचित नहीं है । ऐसा होने पर जिस प्रकार व्यतिरिक्त ग्राहक द्वारा बाह्य प्रदीप की ग्राह्यता देखी जाती है, उसी प्रकार

---

१. कल्पयितुमिति—सनिष्प्रपञ्चनिष्प्रोभंदमटितत्वादिति भावः । २. विशेषम्—घटापेक्षया वैलक्षण्यम् । ३. प्रदीपस्य स्वभास्यत्वाभावात् । ४. स्वयमेव ग्राह्यं ग्राहकं च तस्य । [illegible] ज्ञानग्राह्यत्वम् । ६. प्रदीपादिभिः । ७. अवधृते सति । ८. लोके । ९. निश्चयः । १०. तथा च सति निश्चयस्य लोकानुसारित्वे सतीत्यर्थः । ११. स्वग्राह्यत्वम् । १२. स आत्मेति वार्तिके यथा—"ग्राहकग्रहणग्राह्यभावाभावविभागवित् । ग्रहणादेश्च यो भिन्नः [illegible] आत्मेत्यवगम्यताम्" ॥ ११८ ॥ १३. विज्ञानमिति वार्तिके—"विज्ञानमपि तद्भिन्नजातिविद्ग्राह्यमिष्यताम् । व्यञ्जकत्वाविशेषत्वाद्रविचन्द्रप्रदीपवदिति" ॥ ११९ ॥ १४. अनुमानान्तरमिति । न च १०२२पृष्ठोक्तयदवभास्यमित्यादि भास्यत्वानुमानेन पुनरुक्तिः ज्ञानप्रकाश्यत्वस्यात्र हेतुत्वात् प्रकाश्यत्वमात्रं तु भास्यतेति भावः । १५. विज्ञानस्य ग्राह्यत्वेऽपि । १६. तर्हि—वस्तुनि संदेहे सति । १७. विज्ञानस्य स्वान्यचैतन्यग्राह्यत्वेऽपि । १८. सिध्यति ।

विज्ञानात् ।

'तदाऽनवस्थेति चेत् । न । ग्राह्यत्वमात्रं हि तद्ग्राहकस्य 'वस्त्वन्तरत्वे लिङ्गमुक्तं न्यायतः । न त्वेकान्ततो ग्राहकत्वे तद्ग्राहकान्तरास्तित्वे वा कदाचिदपि 'लिङ्गं सम्भवति । 'तस्मान्न तदनवस्थाप्रसङ्गः ।

'विज्ञानस्य व्यतिरिक्तग्राह्यत्वे करणान्तरापेक्षायामनवस्थेति चेत् । न ।

विज्ञानस्य ग्राहकान्तरग्राह्यत्वे तस्यापि ग्राहकान्तरापेक्षायामनवस्थाप्रसक्तिरिति शङ्कते—तदाऽनवस्थेति चेदिति । कूटस्थबोधस्य विज्ञानसाक्षिणो"ऽविषयत्वान्नानवस्थेति परिहरति—नेति । यद्ग्राह्यं तत्स्वातिरिक्तग्राह्यं यथा घटादिरिति" ग्राह्यत्वमात्रं बुद्धिग्राहकस्य "ततो वस्त्वन्तरत्वे प्रदीपस्य "स्वानवभास्यत्वन्यायेन "लिङ्गमुक्तं न च बुद्धिसाक्षिणो ग्राह्यत्वमस्ति कूटस्थदृष्टिस्वाभाव्यात्तत्कुतो-ऽनवस्थेत्युपपादयति—ग्राह्यत्वमात्रं हीति । साक्षी स्वातिरिक्तग्राह्यो ग्राहकत्वाद्बुद्धिवदित्याशङ्क्याऽऽह—न त्विति । ग्राहकत्वं हि ग्रहणकर्तृत्वं वा "तत्साक्षित्वं वा । आद्ये बुद्धिसाक्षिणो "मुख्यवृत्त्या ग्रहणकर्तृत्वे न किंचि"ल्लिङ्गं सम्भवति । द्वितीये "तस्य ग्राहकान्तरास्तित्वे न कदाचिदपि प्रमाणमस्ति तत्कुतोऽनवस्थेत्यर्थः ।

"ग्राहकानवस्थां परिहृत्य "करणानवस्थामाशङ्कते—विज्ञानस्येति । "तस्य हि ग्राह्यत्वे चक्षुरादिस्थानीयेन करणेन भवितव्यं "तस्यापि ग्राह्यत्वेऽन्यत्करणमित्यनवस्थां दूषयति—न नियमाभा-

---

विज्ञान की भी चैतन्यग्राह्यता होने के कारण प्रकाशक होने पर भी दीपक के समान अपने से भिन्न चैतन्य द्वारा ही ग्राह्यता कल्पना करनी चाहिये । उसकी स्वग्राह्यता मानना उचित नहीं है । इस प्रकार जो विज्ञान का ग्रहीता है, वह आत्मा विज्ञान से भिन्न ज्योति है ।

यदि कहो—उस (विज्ञान के ग्राहकान्तर ग्राह्यत्व) दशा में अनवस्था दोष आ जाएगा—तो ऐसा कहना ठीक नहीं है । ग्राह्यत्वमात्र में बुद्धिविज्ञान साक्षी के बुद्धिविज्ञान भिन्न होने में न्यायतः लिङ्ग (ज्ञापक) कहा गया है, किन्तु उस अव्यभिचरित लिङ्ग के साक्षी होने पर अथवा किसी अन्य साक्षी

---

१ विज्ञानस्य ग्राहकान्तरग्राह्यत्वदशायाम् । २ बुद्धिविज्ञानसाक्षिणः । ३. बुद्धिविज्ञानभिन्नत्वे । ४. एकान्ततो लिङ्गमित्यत्र—अव्यभिचरितं लिङ्गमित्यर्थः । ५ ग्राहकत्वे साक्षिण इति शेषः । ६. प्रमाणम् । ७ तस्मात्—स्वप्रकाशस्य साक्षिणो ग्राहकान्तरानपेक्षत्वात् । ८. ग्राहकत्वप्रयुक्तानवस्था । ९. बुद्धेः । १० अग्राह्यत्वात् । ११ व्याप्त्या । १२ ग्राह्यबुद्धितः । १३ स्वेत्यादि । स्वानवभास्यत्व-साधकयुक्तिरूपेण यदाऽऽत्मानमित्यादि न प्रदीपो दृष्टान्त इत्यन्तभाष्यप्रदर्शितेनोक्तमित्यन्वयः । १४. लिङ्गमुक्तमिति—तच्च बुद्धिविज्ञानं स्वातिरिक्तग्राह्यं ग्राह्यत्वाद्घटादिवदिति । १५. ग्रहणसाक्षित्वम् । १६ परमार्थत इति यावत् । १७ प्रमाणम् । १८ बुद्धिसाक्षिणः । १९ ग्राहकद्वारा । २०. करणद्वारका-नवस्थाम् । २१. चक्षुरादिकरणक ज्ञानमन्येन ज्ञेयं चेत् तस्य ज्ञानविषयकज्ञानस्य करणान्तरं वाच्यं विषयविषयिणोभिन्नकरणकत्वस्यैव दृष्टत्वात् । तस्यापि ज्ञानस्यान्यज्ञेयत्वेऽन्यत् करणं वक्तव्यं ग्राह्यग्राहकाभ्या-मर्थान्तरस्य करणस्यावश्यकत्वात् । न च विदाभासः (द्वितीयज्ञानरूप) करणानपेक्षस्तस्याऽस्वरूपत्वेन (अनिरूप्यत्वेन) तदपेक्षा ध्रौव्यादित्यनवस्था करणद्वारिका दुस्त्येत्यभिप्रेत्याह—तस्येति । चक्षुरादिकरणकविज्ञान-रूपेत्यर्थः । २२ तस्यापि—ज्ञानविषयकज्ञानस्यापि ।

[1]नियमाभावात् । न हि [2]सर्वत्राय नियमो भवति । [3]यत्र वस्त्वन्तरेण गृह्यते वस्त्वन्तर तत्र ग्राह्यग्राहकव्यतिरिक्तं करणान्तरं स्यादिति [4]नैकान्तेन नियन्तुं शक्यते । [5]वैचित्र्य-[6]दर्शनात् । कथम् । घटस्तावत्स्वात्म[7]व्यतिरिक्तेना[8]ऽऽत्मना ग्राहकेण गृह्यते [9]तत्र [10]प्रदीपादिरालोको [11]ग्राह्यग्राहकव्यतिरिक्त करणम् । न हि प्रदीपाद्यालोको घटांशश्चक्षुरंशो वा । घटवच्चक्षुर्ग्राह्यत्वेऽपि प्रदीपस्य [12]चक्षुः, प्रदीपव्यतिरेकेण न [13]बाह्यमालोकस्थानीयं किंचि[14]त्करणान्तरमपेक्षते । [15]तस्मान्नैव नियन्तुं शक्यते यत्र यत्र व्यतिरिक्तग्राह्यत्व तत्र तत्र करणान्तरं स्यादेवेति । [16]तस्माद्विज्ञानस्य व्यतिरिक्तग्राहकग्राह्यत्वे न करणद्वाराऽनवस्था नापि ग्राहकत्वद्वारा कदाचिदप्युपपादयितुं शक्यते । [17]तस्मात्सिद्ध विज्ञानव्यति-

---

वादिति । नियमाभाव साधयति—न हीत्यादिना । वैचित्र्यदर्शनमाकाङ्क्षापूर्वकं स्फुटयति—कथमित्यादिना । [18]उभयव्यतिरेक विशदयति—न हीति । [19]तथाऽपि कथ वैचित्र्यं तत्राऽऽह—घटवदिति । नियमाभावमुपसहरति—तस्मादिति । [20]अनवस्थाद्वयनिराकरणं निगमयति—तस्माद्विज्ञानस्येति । बाह्यार्थवादिमतनिराकरणमुपसंहरति—तस्मात्सिद्धमिति ।

के अस्तित्व मे कभी कोई प्रमाण होना सभव नही है । इसलिये (स्वप्रकाश साक्षी की ग्राहकान्तर से अपेक्षा न होने से) अनवस्था प्रसङ्ग नही होगा ।

यदि कहो कि विज्ञान बुद्धि को किसी अन्य से ग्राह्य मानने पर करणान्तर की अपेक्षा होने के कारण अनवस्था दोष बना रहेगा, तो ऐसा कहना ठीक नही क्योंकि (ग्राह्य ग्राहक के सम्बन्ध के लिये अतिरिक्त करण कल्पना करना) कोई नियम नही है । ग्रहण स्थल मे सर्वत्र यह नियम नही होता । जहाँ किसी वस्तु से अन्य वस्तु ग्रहण की जाती है वहाँ ग्राह्य और ग्राहक से भिन्न कोई दूसरी इन्द्रिय होनी चाहिये । ऐसा अव्यभिचरितरूप स कहना सभव नही है, क्योकि पदार्थों मे वैचित्र्य देखा जाता है । किस प्रकार ? घट का अपने से भिन्न आत्मीय नेत्र द्वारा ग्रहण होता है घटग्रहण म प्रदीपादिरूप आलोक घट चक्षु स भिन्न करण है क्योकि प्रदीपादि का प्रकाश न घट का अश है और न नेत्र का अश है, किन्तु दीपक घट के समान नेत्र से ग्राह्य होने पर भी नेत्र और दीपक से व्यतिरिक्त ग्राह्य-ग्राहकभिन्न बाह्य प्रकाशस्थानीय किसी करणान्तर की अपेक्षा नही करता । इस प्रकार (व्यभिचार) से ऐसा नियम सभव नही है कि जहाँ जहाँ अपने से व्यतिरिक्त वस्तु द्वारा ग्राह्यता होती है, वहाँ-वहाँ कोई करणान्तर होना ही चाहिये । इसलिये विज्ञान की व्यतिरिक्त ग्राहक ग्राह्यता होने पर भी न तो कभी किसी करण क

---

१ नियमाभावादिति । ग्राह्यग्राहकाभिसम्बन्धव्यतिरिक्तकरणस्य नियमाभावादानवस्थत्यर्थ । २ ग्रहणस्थल । ३ अव्यभिचरितं व्यनक्ति—यत्रेति । ४ अव्यभिचारेण वक्तुम् । ५ पदार्थानाम् । ६ घटस्तिनेत्र । ७ आत्मीयचक्षुषा । ८ घटग्रहणे । ९ प्रदीपादिरूपालोकः । १० घटचक्षुर्भ्यां भिन्नम् । ११ ग्राह्यग्राहकाभ्यां दीपचक्षुर्भ्यां भिन्नत्वन । १२ ग्राह्यग्राहकभिन्नम् । १३ चक्षुः कर्तृकमपेक्षते । १४ व्यभिचारदर्शनात् । १५ नियमाभावात् । १६ विज्ञानस्य व्यतिरिक्तग्राह्यत्वेऽनवस्थाऽभावात् । १७ तथापि—घटग्रहणे ग्राह्यादिव्यतिरिक्तप्रदीपाद्यालोकस्य करणत्वेऽपि । प्रदीपाद्यालोके ग्राह्यग्राहकभेदः । १८ ग्राहकद्वारकरणद्वारकानवस्थाद्वयेत्यर्थ ।

रिक्तमात्मज्योतिरन्तरमिति ।

ननु नास्त्येव बाह्योऽर्थो घटादिः प्रदीपो वा विज्ञान[1]व्यतिरिक्तः । [2]यद्धि यद्व्यतिरेकेण नोपलभ्यते तत्तावन्मात्रं वस्तु दृष्टम् । यथा स्वप्नविज्ञानग्राह्यं घटपटादिवस्तु [3]स्वप्नविज्ञानव्यतिरेकेणानुपलम्भात्स्वप्नघटप्रदीपादेः स्वप्नविज्ञानमात्रताऽवगम्यते, [4]तथा जागरितेऽपि घटप्रदीपादेर्जाग्रद्विज्ञानव्यतिरेकेणानुपलम्भाज्जाग्रद्विज्ञानमात्रतैव युक्ता भवितुम् । [5]तस्मान्नास्ति बाह्योऽर्थो घटप्रदीपादिर्विज्ञानमात्रमेव तु सर्वम् । तत्र [6]यदुक्तं [7]विज्ञानस्य व्यतिरिक्तावभास्यत्वाद्विज्ञानव्यतिरिक्तमस्ति ज्योतिरन्तरं घटादेरिवेति तन्मिथ्या । सर्वस्य विज्ञानमात्रत्वे [8] [9]दृष्टान्ताभावात् ।

❀ [10]न । [11]यावत्तावदभ्युपगमात् । न तु बाह्योऽर्थो भवतैकान्तेनैव [12]नाभ्युपगम्यते ।

बाह्यार्थवादिनि ध्वस्ते विज्ञानवादी चोदयति—नन्विति । बाह्यार्थो विज्ञानातिरिक्तो नास्तीत्यत्र [13]प्रमाणमाह—यद्धीति । नोपलभ्यते च जाग्रद्वस्तु जाग्रद्विज्ञानव्यतिरेकेणेति शेषः । दृष्टान्तं समर्थयते—स्वप्नेति । दार्ष्टान्तिकं विवृणोति—तथेति । उक्तमनुमानमुपसंहरति—तस्मादिति । सर्वं विज्ञानमात्रमिति स्थिते फलितमाह—तत्रेति । किमिति [14]तस्य मिथ्यात्वं तत्राऽऽह—सर्वस्येति ।

[15]बाह्यार्थापलापवादिनं दूषयति—नेत्यादिना । हेतुं विशदयति—नन्विति । विज्ञानमात्रवादित्वादेकान्तेन

द्वारा और न ही ग्राहकत्व द्वारा ही अनवस्था दोष का प्रतिपादन संभव है। इससे सिद्ध होता है कि विज्ञान से पृथक् आत्मज्योति अन्य ही है।

(इस पर विज्ञानवादी कहता है—) परन्तु घटादि अथवा प्रदीपादि कोई बाह्य पदार्थ (मानाभाव से) विज्ञान से व्यतिरिक्त तो है नहीं। (अभिन्नता में भी तो कोई प्रमाण नहीं है, इस पर कहते हैं) जो वस्तु जिससे व्यतिरिक्त अनुभव नहीं होती, वह वस्तु तत्स्वरूप ही देखी गई है। जिस प्रकार स्वप्नविज्ञान से गृहीत होने वाली घट पटादि वस्तु स्वप्नविज्ञान से व्यतिरिक्त अनुभव न होने से स्वप्नदृष्ट घट-प्रदीपादि की स्वप्नविज्ञानमात्रता मानी जाती है, इसी प्रकार जागरित अवस्था में घट और प्रदीपादि की जाग्रद्विज्ञान से भिन्न अनुभव न होने से जाग्रत्विज्ञानमात्रता ही होनी उचित है।

१. व्यतिरिक्त इति—मानाभावादिति हेतुरूह्यः । २. नन्वव्यतिरेकेऽपि न मानमित्याशङ्क्याऽऽह—यद्धीति । ३. दृष्टान्ते साध्यवैकल्यमाशङ्क्याऽऽह—स्वप्नेति । ४. अनुमानं निगमयति—तथेति । ५. तस्मात्—जाग्रद्विज्ञानव्यतिरेकेणानुपलम्भात् उक्तानुमानाद्वा । ६. यदुक्तमिति—विज्ञानं स्वव्यतिरिक्तावभास्यमवभास्यत्वाद्घटादिवदिति यदुक्तमित्यर्थः । ७. क्षणिकस्य । ८. सति । ९. दृष्टान्ताभावादिति । अत्र वार्तिकं यथा—"बाह्येऽर्थेऽपहृते चैव प्रदीपादेरसम्भवात् । दृष्टान्तो भवतः कः स्यात्कामितार्थसिद्धये" ॥१६७॥ कामितोऽर्थो विज्ञानातिरिक्त प्रत्यगात्मा तद्दृष्टये । १०. सर्वस्य विज्ञानमात्रत्वं नेत्यर्थः । ११. यावत्तावदिति—विज्ञानव्यतिरिक्तं वस्तु यत्किञ्चित् त्वयाप्यभ्युपगम्यत इत्यर्थः १२. नाभ्युपगम्यत इति—सर्वव्यवहारलोपप्रसक्तिभयादिति शेषः । १३. जाग्रद्वस्तु जाग्रद्विज्ञानमात्र[illegible]व्यतिरेकेणानुपलम्भात् स्वप्नवस्तुवदित्येवम्—अनुमानात्मकम् । १४. तस्य—मदुक्तानुमानवचनस्य । १५. विज्ञानवादिनम् ।

❀ न यावत्तावदभ्युपगमादिति । अत्र वार्तिकाचार्यास्तथाहि—"वस्त्वन्तराभ्युपगमात्त्वत्तो नास्वदया ।

ननु मया नाभ्युपगम्यत एव[1]। न। विज्ञानं घटः प्रदीप इति च [2]शब्दार्थं[3]पृथक्त्वाद्यावत्ता-

बाह्यार्थानभ्युपगतिरिति शङ्कते—नन्विति। बाह्यार्थं [4]हठादङ्गीकारयति—नेत्यादिना। अन्वयमुखेनोक्त-

अतः घट एवं प्रदीपादि बाह्य पदार्थों की सत्ता ही नही है, विज्ञानमात्र ही सब कुछ है। एवं जो यह कहा गया कि घटादि के समान क्षणिक विज्ञान भी अपने से व्यतिरिक्त साक्षी द्वारा प्रकाश्य है, उससे भिन्न कोई अन्य ज्योति है, सो यह कहना मिथ्या है क्योंकि सभी कुछ विज्ञानमात्र होने पर (प्रदीपादि के असम्भव होने से) दृष्टान्त का ही अभाव हो जाता है।

(इस पर सिद्धान्ती कहता है—) (विज्ञानवादी का) उक्त कथन ठीक नही है क्योंकि विज्ञान से व्यतिरिक्त जो कुछ भी वस्तु है, उसको तुमने स्वीकारा है। तुम बाह्यार्थ को सर्वथा ही नही मानते हो — ऐसी बात तो नही है। (इस पर विज्ञानवादी कहता है—) मैं तो प्रमाणाभाव होने से ऐसा स्वीकार नही करता। (सिद्धान्ती कहता है—) ऐसा कथन ठीक नही है। क्योंकि विज्ञान, घट

१. मानाभावादिति भावः। २. इति च शब्देत्यादि। इत्येवमादिशब्दानामर्थस्य भिन्नत्वात् शब्दानामर्थानां च मिथो भिन्नत्वादिति वार्थः। ३. पृथक्त्वादिति—अन्यथा घटमानयेत्युक्ते पटमप्यानयेत् वह्निरित्युक्ते च मुख दह्येतेति भावः। ४. बलात्।

दृष्टान्तोऽस्त्येव नो भूयात् येन भवतोऽप्यसौ ॥ धीमात्राज्ज्ञानमेवेदमभ्युपेत्य ततोऽपरम्। जाग्रदादिकं वस्तु तन्मिथ्येति निषिध्यते ॥ भावो वा यदि वाऽभावो ज्ञानवन्मानविषयः। नास्तीति ब्रुवतो लज्जा धाष्टर्यादेव न जायते ॥ यदि ज्ञानातिरेकेण बाह्योऽर्थोऽभ्युपगम्यते। दीपकुम्भादिको युद्धं व्यवहारप्रसिद्धये ॥ एवं स्य ज्ञानमात्रत्वात्तु नाभ्युपगम्यते। मया ज्ञानातिरेकेण तन्मानासम्भवादिह ॥ ज्ञानं घटो दीप इति शब्दार्थप्रविभक्तये ॥ अवश्यमभ्युपेयोऽत्र भेदो मानप्रमेययोः ॥ प्रमाणं भवता वाच्यं भेदाभेदत्वसिद्धये। नाऽऽवयोर्निष्प्रमाणोक्तं यतः सगच्छते सुधी. ॥ मानमेयसतिस्फूर्तिनस्त्वभ्युपगमस्त्वया। कार्यं ऐक्ये यतोऽमीषां व्यवहारो न सिध्यति ॥ उपादिस्सन्ति मानानि ह्यज्ञातार्थोपलब्धये। अतोऽभ्युपेयोऽज्ञातोऽर्थः प्रमाणत्वप्रसिद्धये ॥ न च प्रमाणतः सिद्धिरज्ञातस्यस्य युज्यते। अन्योन्याश्रयतादोषः सत्येवं प्रसजेत्ततः ॥ प्रमाणाच्च न तत्सिद्धिस्तस्य मानविरोधतः। मानैक्ये चेदविरोधः स्यात्कुतोऽज्ञातत्वनिह्नुतिः ॥ न स्वरूपेऽथवा स्वांशे मानमेयत्वसम्भवः। सर्वदाऽतिशयाभावाद्बोधाच्चाव्यतिरेकतः ॥ प्रमाणं यदि विज्ञानं मेया नीलादिरूपता। भिन्नत्वयोरपेक्षा का यत उक्तं प्रसिध्यति ॥ आकारतद्वतोर्भेदो यदि नाभ्युपेयते। अस्तु कामं प्रमामेयसंगतिर्गम्यते कुतः ॥ कार्यकार्य-मिसम्बन्धान्मानमेयत्वसङ्गतिः। अन्यैव तु विभिन्नात्मा वस्तुनोर्मानमेययोः ॥ मानांशो यस्य मेयः स्यान्मेयांशो वा भवेत्प्रमा। सम्बन्धाभावतस्त्वस्य मानमेयो न सिध्यतः ॥ मानमेयत्वयो रूपं यस्मान्नैवेह मन्यते। मानमेयत्व-सत्सिद्धिर्नातस्तत्रोपपद्यते" ॥ ११८-१२४ ॥ इति। तावदुद्भाव्यमेव सिद्धान्तयति—वस्त्वन्तरेति। यथा त्वया बाह्यार्थरहितं ज्ञानमिष्टं तथा ज्ञानातिरिक्तस्य घटदीपादेरप्यभ्युपगमादस्माकमतिरिक्तात्मसाधने दृष्टान्तः सुलभोऽस्त्येव ज्ञानादन्योऽर्थस्त्वया नेष्यते चेज्ज्ञानमात्रं सर्वं स्वप्नवदिति भवतोऽपि न सिध्यति दृष्टान्ताभावा-दित्यर्थः ॥ कथं विज्ञानवादिना वस्त्वन्तरमिष्टं तत्राऽऽह—धीमात्रादिति। ततो ज्ञानादन्यद्भासमानं जागरादिकं वस्तु यथाभानमुपेत्य धीरूपान्मानाज्ज्ञानमेवेदं वस्त्विति प्रसाध्य बहिर्भासमानं मिथ्येति भवता बाह्यं वस्तु निषिध्यते। उक्तं हि—'यस्याः सद्रूपमाभाति बाह्यमेकमिवान्यतः। व्यावृत्तमिव निस्तत्त्वं परोक्षानङ्गभावतः' इति। न हि ज्ञानस्यैव तन्मात्रत्वं मिथ्यात्वं वा साध्यते सिद्धसाध्यत्वाद्बाधाच्च तदस्य मिथ्यात्वं तदस्त्यतिरिक्त-मित्यर्थः ॥ बाह्यार्थस्य मिथ्यात्वमसत्त्वमतो न तदस्तीत्याशङ्क्याऽऽह—भावो वेति। ज्ञानवज्ज्ञानविषयतया उद्भासमानो घटदीपादिर्भावोऽभावो वाऽस्तु स त्वयको नास्तीति ब्रुवाणस्य निर्लज्जत्वं प्रकटयति ज्ञानस्यापि

वदपि बाह्यमर्थान्तरमवश्यमभ्युपगन्तव्यम् । विज्ञानादर्थान्तरं वस्तु न चेदभ्युपगम्यते

मर्थं व्यतिरेकमुखेन(ण) विशदयति—विज्ञानादिति । ज्ञानज्ञेययोरैक्ये दोषान्तरमाह—तथेति । अनर्थकं

प्रदीप इत्यादि शब्द और इनके अर्थ पृथक् होने से जब तक ऐसा है, तब तक विज्ञान से व्यतिरिक्त बाह्य अर्थान्तर अवश्य मानना पड़ेगा । यदि विज्ञान से भिन्न कोई अन्य पदार्थ नही मानते हो; तो विज्ञान, घट-पटादि शब्दो का एक विज्ञानमात्र अर्थ मानने पर इनका पर्याय शब्द प्राप्त हो जायेगा । इस

१ विज्ञानव्यतिरिक्तम् ।

नास्तित्वप्रसङ्गात् । यथाऽऽह—'धर्मधर्मिव्यवस्थाने भेदोऽभेदश्च यादृशः । असमीक्षिततत्त्वार्थो यथा लोके प्रतीयते' इति । तत्र बाह्यार्थापलाप इत्यर्थः ॥ इतश्च न तदपलाप इत्याह—अपीति । बुद्धेरपीति सबन्धः ॥ अभ्युपगममाक्षिपति—सर्वस्येति । इहेति मानभूमिरुक्ता । उक्तं हि—'ज्ञानादव्यतिरिक्तं च कथमर्थान्तरं व्रजेत् । तस्मान्मिथ्याविकल्पोऽयमर्थेष्वेकात्मताग्रहः' इति ॥ दूषयति—ज्ञानमिति । अर्थेति व्यवहारदशोक्तिः । अन्यथा शब्दार्थभेदाभावान्मिथोव्यवहारसंकरप्रसक्तौ दहनादिपदोदाहरणे देहदाहादि स्यादिति भावः ॥ इतश्च भेदस्तयोरिति वक्तु भूमिकामाह—प्रमाणमिति । ज्ञानार्थयोर्भेदं वदता सिद्धान्तिना तत्र मानं वाच्यं भवताऽपि तदभेदवादिना तत्र तदेवेत्यर्थः । तत्र हेतुः—नाऽनयोरिति ॥ अभेदे मानाभावं मत्वाऽतो भेदे तदाह—मामेयेति । मानमेययोस्त्रिविधविषयित्वकृतफलस्य मातुश्च मिथो भेदस्त्वयैष्टव्यस्तेषामैक्ये सर्वसङ्कीर्णं व्यवहारासिद्धेरतस्तदनुपपत्तिस्तद्भेदे मानम् । यथाऽऽह—'तत्रैव समाश्रित्य साध्यसाधनसंस्थितिः । परमार्थावताराय विद्वद्भिरवकल्प्यते' इति । तदुपेयो भेदस्त्वयेत्यर्थः ॥ तत्र हेत्वन्तरं वक्तुं समतमर्थमाह—उपादित्सतीति । तदेतद्वहुधो दर्शितमिति हिशब्दार्थः । समतमुक्त्वा विमतं दृष्टान्तमुपनयति—अत इति । अज्ञातेऽर्थे मानप्रवृत्तिरतःशब्दार्थः । अज्ञात इति च्छेदः ॥ तस्य मेयत्वमाशङ्क्याऽऽह—न चेति । अज्ञातत्वस्य मेयत्वे सति मानफलत्वेनाज्ञातत्वमाद्यो ज्ञानस्य तज्ज्ञानं च मानादिति दुरुत्तरमितरेतराश्रयत्वमित्याह—अन्योन्येति ॥ तस्यामेयत्वे हेत्वन्तरमाह—प्रमाणादिति । मानविरोधं व्यतिरेकद्वारा साधयति—मानेति ॥ मानमेयभेदं साधयता कूटस्थोऽनुभवो ज्ञातृत्वादिसाधकोऽभ्युपेय इत्युक्तं तत्र न मानमेयभेद एकस्मिन्नेव ज्ञाने तदधो वा मानमेयत्वयोगादिति बाह्यार्थापलापवादी मन्यते तं प्रत्याह—नेत्यादिना । आद्यप्रतिज्ञायां हेतुमाह—सर्वदेति । द्वितीयस्यां युक्तिमाह—बोधात्वेति । प्रकाशोऽन्नादभेदो भेदो वा नाऽऽद्यो मानमेयव्यवस्थासिद्धेर्नं द्वितीयस्तद्भेदापत्तेरित्यर्थः ॥ मानमेयव्यवस्थाभावाशङ्कते—प्रमाणमिति । तर्हि तयोरन्योन्यमभेदाकाङ्क्षाभावादभेदाकाङ्क्षायाश्च सत्त्वात्प्रदुक्तमेव न सिध्यतीत्याह—भिन्न इति । व्यवहारावस्थायां नीलाद्याकारस्याऽऽकारिज्ञानस्य च भेदोपगतिमाशङ्कते—आकारेति । वयमपि तत्र तद्भेदमिच्छामो न परमार्थावस्थायां तदा तयोरभावादतोऽनुपपत्तिरित्यनुजानाति—अस्त्विति । व्यावहारिके भेदे स्वीकृते पर्यामिष्टार्थसिद्धिरित्याऽऽह—अमेति । नीलतद्धियोर्मानमेयत्वसंगतिरपि न भा स्वबेद्या ज्ञानमात्रस्याभावात्सापि स्वात्मज्ञानसिद्धा तस्य स्वमात्रविषयत्वात्सापि ज्ञानान्तरासिद्धा ज्ञानस्यापि विशेषणत्वेन तद्विषयत्वे स्वसंवेदनस्यहानात्क्षणिकचित्तचैत्तानामात्मा संवेदनं स्वसंवेदनमित्युपगमात्तस्मात्स्वाश्रयकूटस्थबोधोपपत्तिरिति भावः ॥ नीलतद्धियोराकाराकारित्वं कार्यकारणत्वप्रयोजकत्वं वा मानमेयत्वसंगतिर्नाम सा च ज्ञानाभेदेन सेत्स्यति इव तत्साधकेन साक्षिणेत्याशङ्क्याऽऽह—कार्येति । मृद्घटयोस्तन्तुपटयोर्दीपतदर्थयोश्च मानमेयत्वाद्दृष्टस्तामवतेरर्थान्तरत्वात्तत्साधकसाक्षिणा भाव्यमित्यर्थः । किञ्च मानमेयत्वसंगतेस्तदन्यतमत्वेऽपि तत्साधकेन भाव्यं न हि मानाभेदेन तत्सिद्धिस्तस्यास्तन्मात्रत्वाभावादित्याह—विभिन्नेति । संगतिरन्ययेति सबन्ध ॥ मानमेयसर्गसाधक साक्षिणं साधयता ज्ञानातिरिक्तो ग्राहको ग्राह्यश्चेत्युक्तम् । इदानीं मानमेयभेदे

विज्ञानं घटः पट इत्येवमादीनां शब्दानामेकार्थत्वे पर्यायशब्दत्वं ¹प्राप्नोति। तथा साधनानां फलस्य ²चैकत्वे साध्यसाधन³भेदोपदेशशास्त्रानर्थक्यप्रसङ्गः। तत्कर्तुरज्ञानप्रसङ्गो वा।

किंचान्यत्। विज्ञानव्यतिरेकेण वादिप्रतिवादिवाददोषाभ्युपगमात्। ⁴न ह्यात्मविज्ञान-

शास्त्रमुपदिशतो बुद्धस्य सर्वज्ञत्वं न स्यादित्याह—तत्कर्तुरिति। वाशब्दश्चार्थः।

इतश्च सर्वस्य नास्ति विज्ञानमात्रत्वमित्याह—किंचान्यदिति। न केवलं पूर्वोक्तोपपत्तिवशादेव बाह्यार्थोऽभ्युपेयः किन्तु ⁶तत्रैवान्यदपि कारणमुच्यत इति यावत्। ⁶तदेव स्फुटयति—विज्ञानेति।

साधन और फल की एकता होने से साध्य-साधनरूप भेद का उपदेश करने वाली श्रुतियाँ व्यर्थ हो प्रकार जाएँगी तथा उनके रचयिता मन्त्रद्रष्टाओं पर भी अज्ञान का प्रसङ्ग आ जायगा।

इसके अतिरिक्त एक और बात यह भी है कि वादी-प्रतिवादी के वाद और दोष, ये विज्ञान से

१. प्राप्नोतीति—तथा च घटशब्दस्थाने पटशब्देऽपि प्रयुज्येत। २. एकत्व इति—तदभिन्नाभिन्नस्य तदभिन्नत्वनियमादिति भावः। ३. भेदोपदेशेति—इदमस्य साधनमेतदस्य फलमित्येवम्। आनर्थक्यम्—निर्विषयत्वम्। तथा च योगिप्रत्यक्ष प्रकरण एतच्च सर्वं भवति निर्मूलमूलं सर्वमर्थविरुद्धमंशासाक्षात्कारित्वा-दित्यादि यदुक्तं तदप्रमाणमेतम् स्यादित्यर्थः। ४. क्षणिकविज्ञानरूपात्मभावम्। ५ बाह्यार्थाभ्युपगम एव। ६. कारणान्तरमेव।

हेत्वन्तरमाह—मानेति। तयोरभेदे मानान्येव मेयो मेयान्येव मानमित्युक्तं स्यात्तदा मानमेयत्वाविधिरेकत्वा-संभवाद्धर्मिणोरैक्यात्तस्माद्भेदस्तयोरित्यर्थः॥ यस्य तदभेदस्तस्य कथ भेद एकत्व तद्ग्राह्यग्राहकभावानुपपत्तेरित्या-शङ्कयोक्तं स्पष्टयति—मानमेयत्वयोरिति। उभयोर्भ्यां ज्ञानं गृह्यते॥

¹न। यावत्तावदित्य²त्रत्यवार्तिकपद्यस्यबौद्धकारिकाः। "तस्यां यद्रूपमाभाति बाह्यमेकमिवान्यतः। व्यावृत्तमिव निस्तत्वं परीक्षानङ्गभावत." ॥ १॥ इति। तस्यां धियि यद्बाह्यं रूपं जागरादिवस्तु अन्यत इव विज्ञाना-द्भिन्नमिव अथ च व्यावृत्तमिव मिथो भिन्नमिवाऽऽभाति तन्निस्तत्वं मिथ्याविज्ञानमेव ह्येक तत्त्वम्। कुतः परीक्षानङ्गभावतः, विचारे क्रियमाणे जागरादेनि स्वरूपानवनिश्चयादिति यावत्। प्रमाणाविषयत्वादिति वा॥ "धर्मधर्मिव्यवस्थान भेदोऽभेदश्च यादृशः। असमीक्षिततत्त्वार्थो यथालोके प्रतीयते" ॥ २॥ असमीक्षित तत्त्वं यस्य सोऽर्थो घटदीपादिभिदात इति भेदा भावरूपोऽभेदोऽभावरूपो वा यादृशोऽभ्युपगम्यते लोके धर्मधर्मिव्यवस्थानं विषयविषयिभावादिव्यवस्था च सोऽस्तु परमथा प्रतीयते यथा प्रतीयते न तथा प्रत्यक्षो नास्तीत्यर्थः। अथवा प्रतीयते यथा यादृशश्चाभ्युपगम्यतेऽस्तु परमसमीक्षितस्तत्त्वतोऽर्थः स्वरूपं यस्य स तथाऽप्रत्यक्ष इति यावत्॥ "ज्ञानादव्यतिरिक्त च कथमर्थान्तरं व्रजेत्। तस्मान्मिथ्याविकल्पोऽयमर्थेष्वेकात्मताग्रहः" ॥ ३॥ चकारस्त-द्व्यतिरेकेणानुपलम्भयुक्तिं द्योतयन्न व्यतिरेकमवधारयति। अर्थान्तरं व्यतिरिक्तत्वम्। भावप्रधानो वा प्रयोगः। एकात्मता या अग्रह इति च्छेदम्। केवलार्थात्मकत्वग्रहो वार्थः। ज्ञानस्याज्ञानत्वासंभवस्तच्छब्दार्थः। तथाच ज्ञानव्यतिरेकेणानुपलम्भाज्ज्ञानैकरूपस्य घटादेस्ततो भेत्तुमशक्तेरतत्र येयमर्थमात्रस्यमतिः सा भ्रान्तिरिति समुदितार्थः॥ "तत्तथैव समाश्रित्य साध्यसाधनसंस्थितिः। परमार्थावताराय विद्वद्भिरवकल्प्यते" ॥ ४॥ मानमेयादि यथा प्रतीतिभिन्नत्वेनाभ्युपगम्यानेनानुमानादिमानेनैतच्छून्यादि तत्त्वात्मकमेयगोचरा प्रमा प्रमातरि त्वयि जनिष्यत इत्येवं हेतुफलभावव्यवस्था शून्यादितत्त्वे शिष्याणां मतिमवगाहयितुं विद्वद्भिः प्रकल्प्योपदिश्यत इत्यर्थः।

मात्रमेव वा विप्रतिवादिवादस्तद्दोषो वाऽभ्युपगम्यते निराकर्तव्यत्वात्प्रतिवाद्यादीनाम् । न ह्यात्मीयं विज्ञानं निराकर्तव्यमभ्युपगम्यते स्वयं वाऽऽत्मा कस्यचित् । तथा च सति सर्वसंव्यवहारलोपप्रसङ्गः । न च प्रतिवाद्यादयः स्वात्मनैव गृह्यन्त इत्यभ्युपगमः । व्यतिरिक्तग्राह्या हि तेऽभ्युपगम्यन्ते । तस्मात्तद्वत्सर्वमेव व्यतिरिक्तग्राह्यं वस्तु जाग्रद्विषयत्वाज्जाग्रद्वस्तु प्रतिवाद्यादिवदिति सुलभो दृष्टान्तः । संतत्यन्तरवद्विज्ञानान्तर-

'वद्ग्राह्यं तत्स्वव्यतिरिक्तग्राह्यं यथा प्रतिवाद्यादि जाग्रद्वस्तु चेदं ग्राह्यमित्यनुमानाद्बाह्यार्थोपला- पसिद्धिरित्यर्थः । दृष्टान्ते विप्रतिपत्तिं प्रत्याह—न हीति । निराकर्तव्यत्वेऽपि तेषां ज्ञानमात्रत्वं किं न स्यादित्याशङ्क्याऽऽत्मीयज्ञानत्वमात्मज्ञानत्वं वा तेषामिति विकल्प्य क्रमेण दूषयति—न हीत्यादिना । स्वकीयनिषेधे स्वनिषेधे चानिष्टापत्तिमाचष्टे—तथा चेति । त्वदङ्गीकारालोचनायामपि प्रतिवाद्या- दीनां विज्ञानातिरेकः सेत्स्यतीत्याह—न चेति । अन्यथा विवादाभावापातादिति भावः । कथं तर्हि तेषामङ्गीकारस्तत्राऽऽह—व्यतिरिक्तेति । सिद्धे दृष्टान्ते फलितमनुमानं निगमयति—तस्मादिति । किंच चैत्रसंतानेन मैत्रसंतानो व्यवहारादनुमीयते सर्वज्ञज्ञानेन चासर्वज्ञज्ञानानि ज्ञायन्ते तत्र भेदस्य तेऽपि सिद्धेस्तद्दृष्टान्तान्नीलादेस्तद्धियश्च भेदः शक्यो ऽनुमातुमित्याह—संतत्यन्तरवदिति ।

व्यतिरिक्त ही स्वीकार किये जाते हैं; वादी और प्रतिवादी के वाद और दोष क्षणिक विज्ञानरूप आत्म- मात्र ही नहीं स्वीकार किये जाते; क्योंकि प्रतिवादी आदि के लिये इनका निराकरण करना आवश्यक हुआ करता है। किसी सुमूढ के लिये भी अपना विज्ञान अथवा स्वयं आत्मा ही निराकरण के योग्य नहीं होता; यदि ऐसा हो तो सभी सव्यवहारों का लोप हो जाय। 'प्रतिवादी आदि स्वयंप्रकाशरूप अपनी आत्मा से ग्रहण किये जाते हैं'—ऐसा विज्ञानवादी को भी स्वीकार नहीं है। वे अपने से व्यतिरिक्त वादी आदि के द्वारा ग्रहण किये जाते हैं—ऐसा उन्हें अभिमत है। अतः उन्हीं के समान सब वस्तुएँ अपने से व्यतिरिक्त ग्राहक द्वारा ग्राह्य हैं। क्योंकि वे जाग्रत् के विषय हैं, जाग्रत्काल की वस्तु

१. भवद्भिरस्माभिश्च । २ सुमूढस्यापि । ३. स्वयंप्रकाशतया स्वेनैवेत्यर्थः । ४. तस्मात् —प्रतिवाद्यादीनां स्वव्यतिरिक्तग्राह्यत्वात् । ५. तद्वत्—प्रतिवाद्यादिवत् । ६. तद्वदित्यस्य व्याख्या । ७. सतत्यन्तरवदिति । नीलपीतादिकं विज्ञानव्यतिरिक्तं विज्ञानविषयत्वाच्चैत्रसंतानवत् । ८. विज्ञानान्तरवदिति । नीलादिकं विज्ञानव्यतिरिक्तं विज्ञानविषयत्वात् । यथा सर्वज्ञज्ञानविषयमसर्वज्ञज्ञानं सर्वज्ञज्ञानाद्व्यतिरिक्तं तद्वत् । ९. ज्ञानार्थयोर्भेदं वदता सिद्धान्तिना तत्र मानमवश्यं वाच्यं भवतापि तदभेदवादिना तत्र तदवश्यं वाच्यमित्यभिप्रेत्य अभेदे मानाभावं मन्वानो भेदे मानमाह—यद्ग्राह्यमिति । १०. वाद्यादीनाम् । ११. तेषां स्वग्राह्यत्वे । १२. अन्यथा विवादाभावापातादिति । किमात्मकास्त इति तत्स्वरूपे स्वग्राह्या स्वेतरग्राह्या चेति तद्धर्मिको वा यो विवादस्तदभावप्रसङ्गादित्यर्थं इत्याहुः यद्वा स्वस्वसिद्धान्तोपपादकयुक्तिप्रयुक्तव्यूहन- विशिष्टानां वाद्यादीनां स्वयं ग्राह्यत्वेऽन्यवदनव्यापारेणेति मौनभूषितैव स्याद्बौद्धसभेत्यर्थः । स्वग्राह्यत्वे वा सर्वं स्वयमेव विज्ञानमेव तत्त्वमिति विज्ञातुमिति कृतं विवादेनेति । १३. स्वग्राह्यत्वानभ्युपगमे । १४. उपक्रान्तमिति यावत् । १५. चैत्रेत्यादि—चैत्रसंतानेनेति कर्तृपदम् । संतानः क्षणिकविज्ञानधारा । अनुमीयत इति मैत्रः संतानवान्मिथो वदनादिव्यवहारान्मद्वदिति । १६. तत्र—अनुमात्रनुमेयसंतानादौ । १७. चैत्रमैत्र- संतानरूपदृष्टान्तात् । १८. अनुमातुमिति—नीलादितद्धियो मिथो भिन्ने विषयविषयित्वाच्चैत्रमैत्रसंतान- वदिति ।

वच्चेति । [1]तस्माद्विज्ञानवादिनाऽपि न शक्यं विज्ञानव्यतिरिक्तं ज्योतिरन्तरं निराकर्तुम् ।

स्वप्ने विज्ञानव्यतिरेकाभावादयुक्तमिति चेत् । न । अभावादपि भावस्य वस्त्वन्तरत्वोपपत्तेः । भवतैव तावत्स्वप्ने घटादिविज्ञानस्य [2]भावभूतत्वमभ्युपगतम् । [3]तदभ्युपगम्य [4]तद्व्यतिरेकेण घटाद्यभाव उच्यते । स विज्ञानविषयो घटादिर्यद्यभावो यदि वा भावः स्यादुभयथाऽपि घटादिविज्ञानस्य भावभूतत्वमभ्युपगतमेव । न तु [4]तन्निवर्तयितुं शक्यते । तन्निवर्तक[5]न्यायाभावात् । एतेन सर्वस्य शून्यता प्रत्युक्ता ।

इति न बाह्यार्थापलापसिद्धिरिति शेषः । तदपलापासंभवे फलितमाह—तस्मादिति ।

[6]विज्ञानादयं भेदोक्त्या प्रत्यगात्मा विज्ञानातिरिक्त उक्तः । संप्रति [7]विमतं ज्ञानभिन्नं ग्राह्यत्वा[8]त्स्वप्नग्राह्यवदित्युक्तमनुवदति—स्वप्न इति । अयुक्तं विज्ञानातिरिक्तत्वमर्थस्येति शेषः । दृष्टान्तस्य साध्यविकलतामभिप्रेत्य परिहरति—नाभावादपीति । संग्रहवाक्यं विवृणोति—भवतैवेति । बाह्यार्थवादिभ्यो विशेषमाह—तदभ्युपगम्येति । [9]तथाऽपि कथं दृष्टान्तस्य साध्यविकलतेत्याशङ्क्याऽऽह—स इति । घटादिविज्ञानस्य भावभूतस्याभ्युपगतस्य घटादेर्भावाद्भावाद्वा विषयादर्थान्तरत्वाद्वस्य [10]कस्यचिद्बाह्यार्थस्योपगमाद्दृष्टान्तस्य *साध्यविकलता सुप्रसिद्धेत्यर्थः । माध्यमिकमतम[11]तिदेशेन निराकरोति—एतेनेति । ज्ञानज्ञेययोर्निराकर्तुमशक्यत्ववचनेनेति यावत् । आत्मनो ग्राह्यस्याहमिति प्रत्य-

प्रतिवादी आदि के समान यह दृष्टान्त सुलभ है; तथा अन्यसन्तति तथा अन्यविज्ञान के सदृश भी वे वस्तुएँ अपने से भिन्नग्राहक द्वारा ग्रहण करने योग्य हैं । इसलिए (ज्ञानार्थभेद के प्रामाणिक होने से बाह्यार्थ अपलाप असंभव होने के कारण) विज्ञान से व्यतिरिक्त अन्यज्योति का निराकरण करना विज्ञानवादी द्वारा भी संभव नहीं है ।

यदि कहो स्वप्न में तो विज्ञान के सिवा दूसरी वस्तु का अभाव है, तो ऐसा कथन ठीक नहीं क्योंकि अभाव से भी भाव का वस्त्वन्तर होना सिद्ध है । घटादिविज्ञान का भावरूपत्व स्वप्न में होता है —ऐसा तो आप भी स्वीकार करते हो । ऐसा स्वीकार कर उससे भिन्न घटाभाव कहा जाता है । घटादि का अभाव उस विज्ञान का विषय हो अथवा भाव, दोनों तरह से घटादिविज्ञान की भावरूपता तो स्वीकार कर ली गयी, घटादिविज्ञानभाव का निराकरण करना संभव नहीं है क्योंकि उसका निराकरण होने में युक्ति का अभाव है । इससे सबकी शून्यता का निरास हो गया । तथा आत्मा

१ तस्मात्—ज्ञानार्थभेदस्य प्रामाणिकत्वेन बाह्यार्थापलापासंभवात् । २ तत्—तत्र तस्य भावभूतत्वम् । ३. घटादिविज्ञानव्यतिरेकेण । ४ घटविज्ञानभावम् । ५ युक्त्यभावात् । ६. भावान्मेयभेदोक्त्या । ७ जाग्रद्वस्तु । ८. स्वप्नेति । न हि स्वार्थवादिनोऽपि जाग्रद्वस्तुवत् (स्थायि) स्वप्नवस्त्वस्ति । तथा च तत्र तस्य ज्ञानमात्रत्वात्तद्दृष्टान्ताज्जाग्रद्वस्त्वपि नातिरेक्यस्तीति न दृष्टान्तासमतिरिति भावः । ९ तथापि—स्वप्ने घटादिविज्ञानस्य भावरूपत्वमभ्युपगम्य तद्व्यतिरेकेण घटाद्यभावे स्वीकृतेऽपि । १०. भावस्याभावस्य वा । ११. अतिदेशेनेति—निष्पन्नहेतुस्मारणेनेत्यर्थः ।

*साध्यविकलतेति । अत्रार्थवार्तिककारणोक्तास्तथाहि—"विज्ञानं लभते ज्ञानाज्ज्ञानवत्स्वप्नवस्तु चेत् । स्वमहिम्नैव तत्सिद्धे कथं नास्तीति भण्यते ॥ ज्ञानस्यैवाथरूपं तद्बोधश्चेत्प्रकल्प्यते । परमार्थसतोऽसत्त्व किमानमिति भण्यताम् ॥ विज्ञानव्यतिरेकेण नीलादिविषयो यदि । भावो वा स्यादभावो वा सोऽस्त्येवेति विनिश्चितिः ॥ स्व-

प्रत्यगात्मग्राह्यता चाऽऽत्मनोऽहमिति मीमांसकपक्षः [1]प्रत्युक्तः ।

[2]यत्तूक्तं सालोकोऽन्यश्चान्यश्च घटो जायत इति तदसत् । क्षणान्तरेऽपि स एवायं घट इति प्रत्यभिज्ञानात् । [3]सादृश्यात्प्रत्यभिज्ञानं कृत्तोत्थितकेशनखादिष्विवेति चेत् ।

गात्मनैव ग्राह्यतेति मीमांसकमतमपि प्रत्युक्तमेकस्यैव ग्राह्यग्राहकताया निरस्तत्वादित्याह—प्रत्यगात्मेति ।

क्षणभङ्गवादिनोक्तमनूद्य प्रत्यभिज्ञाविरोधेन निराकरोति—यत्तूक्तमित्यादिना । स्वपक्षेऽपि प्रत्यभिज्ञोपपत्तिं शाक्यः शङ्कते— सादृश्यादिति । दृष्टान्तं विघटयन्नुत्तरमाह— न तत्रापीति । तथाऽपि

'अहं' प्रत्यगात्माग्राह्य है—ऐसा मीमांसकों के मत का भी निरास हो गया ।

और जो यह कहा गया था कि 'आलोकसहित अन्य-अन्य घट उत्पन्न होता है'—ऐसा कहना भी संभव नहीं है । क्योंकि क्षणान्तर में भी यह वही घट है—ऐसी प्रत्यभिज्ञा होती है । यदि कहो कि काटने पर पुनः बढ़े हुए केश और नखादि के समान उन घटों में समानता होने के कारण घटसादृश्य

---

१ प्रत्युक्त इति—ननु न दृष्टा हि द्रव्यबोधस्वप्रकाशत्वमिच्छतो द्रव्यांशस्य ग्राह्यत्वं बोधांशस्य ग्राहकत्वमिति व्यवस्थोपपत्तेः तदेकस्मिन्नात्मनि ग्राह्यग्राहकत्वोपपत्तिरिति चेन्न तावदात्मन्यंशाविव निरंशत्वश्रुतेस्तद्भावेऽपि नैकत्र ग्राह्यग्राहकत्वं तस्य द्वयोर्व्यवस्थितत्वात् द्वयोरात्माभेदादेकस्मिन्नेव तद्भाव एकत्र ग्राह्यग्राहकत्वपक्षोक्तदोषः स्यादतो न तन्मतं साधु ॥ तथा च वार्तिकम्—'यथाशिष्टेऽपि नैव स्यात्पूर्वोक्तादेव कारणादिति" ॥ ६६१ ॥ २ १०२१पृष्ठमध्ये । ३ सादृश्यादित्यादि । सोऽयं घट इति प्रत्यभिज्ञा सादृश्यनिबन्धना प्रत्यभिज्ञात्वात् कृत्तोत्थितकेशनखादिप्रत्यभिज्ञावदिति प्रयोगोऽत्र सूच्यते । ४ क्षिप्रावलोकमन्यायेन । ५ साध्यवैकल्येन दूषयन् । ६ तथाऽपि क्षणिकत्वस्यासिद्धत्वेऽपि ।

ध्यादौ भवतैवाय जाग्रदनुभूयते । घटादिज्ञानविषयः स कथं नेष्यते त्वया ॥ यद्वस्त्वनुभवप्राप्तं तच्चेन्नास्तीति मण्यते । ज्ञानेऽपि स्यादनाश्वासस्तस्यानुभवसिद्धितः ॥ ज्ञानादतिशयो यद्वन्नास्तीतीह तथैव सन् । घटोऽप्यनुभूते समानतोति कथमुच्यते ॥ तदन्यकालासदृष्टेरिति चेदसदुच्यते । क्षणान्तरे क्षणादृष्टेरसत्त्वं च प्रसज्यते ॥ हृस्वेऽनुपमत्वादीर्घत्वधर्मादिनिह्नुतिः । प्रतिज्ञातुमशक्या स्यात्तया शून्यत्वमापतत् ॥ देशकालादिना वस्तुभेदेनैवाखिलं मनः । वस्तु सिद्धं कथमस्मिंस्तदपह्नूयते कथम् ॥ विज्ञानव्यतिरेकेण घटो नास्तीति भवतः । नास्त्ययोऽपि कथं वोवेदस्त्यर्थविरुद्धादिह ॥ अस्त्यर्थवस्त्वमात्रेण नाभावोऽस्ति विना सता । यथाऽस्ति तव विज्ञानमेव कुम्भादयोऽप्यताम् ॥ अस्त्यर्थव्यतिरेके हि न किञ्चिदपि सिध्यति ॥ अस्त्यर्थव्यतिरेकेण विज्ञानादि यदीष्यते । ग्राह्यग्रहणादिवसत्स्यादपदेवेति निश्चितिः" ॥ २६४-२७६ ॥ इति । स्वप्नवस्तु ज्ञानाद्भेदेन दृश्यते न वेति विकल्प्याऽऽद्यमनाद्य दूषयति—विमार्गमिति । ज्ञेयाज्ज्ञानभेदश्च ज्ञानाज्ज्ञेयभेदः स्वप्ने दृश्यते चेत्स्वदृष्टस्य स्वाप्नस्य ज्ञानातिरेकिणः सिद्धेस्तदपलापायोगाद्दृष्टान्तस्य साध्यविकलत्वमित्यर्थः ॥ द्वितीयमनूद्य दूषयति—ज्ञानस्येति । स्वाप्नं वस्तु ज्ञानाद्भेदेन न दृश्यते किन्तु तन्मात्रमेवेत्यत्र [illegible] तदपलापस्तस्य ज्ञानाभिन्नत्वाज्ज्ञानवत्तो जाग्रद्वस्तुनोऽपि स्वरूपापह्नवो नास्तीत्यर्थः ॥ न स्वप्नजाग्रद्वस्तुनोः स्वरूपमेवापलपामस्तयोस्तु ज्ञानातिरेकवत्त्वादसद्भावम्भोऽयमित्याशङ्क्याऽऽह—विज्ञानेति । अवस्थाद्वयेऽपि यथाप्रतीति बाह्यार्थो ग्राह्योऽन्यथा प्रयाप्रत्योपादित्यर्थः ॥ जाग्रति ज्ञानार्थभेदेऽपि न स्वप्ने तद्भेदस्तद्ग्राहकचक्षुराद्यभावादित्याशङ्क्याऽऽह—स्वप्नादाविति । आदिपदेन स्मृतिसमाधानादुक्तिः । तत्र चक्षुराद्यभावेऽपि मनोऽस्ति तच्च समनन्तरप्रत्ययोऽन्यद्वेति

न। 'तत्रापि क्षणिकत्वस्या'सिद्धत्वात्। जात्येकत्वाच्च। कृत्तेषु पुनरुत्थितेषु च केशनखादिषु केशनखत्वजातेरेकत्वात्केशनखत्वप्रत्ययस्तन्निमित्तोऽभ्रान्त एव। 'न हि दृश्यमानलूनोत्थितकेशनखादिषु व्यक्तिनिमित्तः स एवेति प्रत्ययो भवति। 'कस्यचिद्दीर्घ-

---

कथं 'तत्र प्रत्यभिज्ञेत्याशङ्क्याऽऽह—जातीति। तन्निमित्ता तेषु प्रत्यभिज्ञेति शेषः। 'तदेव प्रपञ्चयति—कृत्तेष्विति। अभ्रान्त इति च्छेदः। किमिति जातिनिमित्तैवा चोक्ता व्यक्तिनिमित्ता किं न स्यादत आह—न हीति। ननु सादृश्यवशाद्व्यक्तिमेव विषयीकृत्य प्रत्यभिज्ञानं केशादिषु किं न स्यात्तत्राऽऽह—

के कारण ऐसी प्रत्यभिज्ञा होती है, तो ऐसा कहना ठीक नहीं है क्योंकि वहाँ भी उनका क्षणिकत्व सिद्ध नहीं किया जा सकता। समानजातीय होने से भी ऐसा नहीं हो सकता। काटे हुए और बढ़े हुए केश और नखादि को केशत्व और नखत्वरूप से समानजाति होने से तन्निमित्तक केशत्व और नखत्व की प्रतीति भ्रान्तिमूलक ही है। साक्षात् कटे और बढ़े हुए केश और नखादि में—'यह वही है''—ऐसी प्रतीति व्यक्तिनिमित्तक नहीं होती। किसी-किसी को दीर्घकाल के पश्चात् देखे हुए तुल्यपरिमाण

---

१ तत्रापि—कृत्तोत्थितकेशादिष्वपि। २ असिद्धत्वादिति—तथा च सादृश्यान्न च केशादौ स एवायमितीअन्यमिति भावः। ३ न हीत्यादि। केशादिव्यक्तीनामनेकत्वस्य प्रामाणिकत्वात्तद्विरोधान्न तत्र व्यक्तिकृता प्रत्यभिज्ञेत्यर्थः। ४. किं च भ्रान्तस्य सादृश्यादप्रत्यभिज्ञानमभ्रान्तस्य वेति विकल्पाद्यङ्गीकृत्य द्वितीयं निराकरोति—कस्यचिदिति। ५ तत्र—केशादौ। ६ तदेव—जातिनिमित्तकप्रत्यभिज्ञात्वम्।

विज्ञानान्तरमिति भावः॥ द्वयोरवस्थयोरनुभवाद्बाह्यार्थसत्त्वमुक्त्वा विपक्षे दोषमाह—यदीत्यादि॥ ज्ञानार्थभेदे युक्त्यन्तरमाह—ज्ञानादिति। यथा व्यवहारदशायां ज्ञानादन्यो नास्त्यर्थस्तथैवास्त्यर्थोऽनुभूयमानत्वात्ततोऽन्यथा-ऽन्यो नास्तीति दुर्वचनमित्यर्थः। अतिशयशब्दोऽन्यविषयः॥ असत्त्वस्य घटादेर्ज्ञानकाल एवोपलम्भात्कालान्तरे चानुपलम्भादन्यत्वासिद्धिरिति शङ्कते—तदन्येति। अतिप्रसङ्गेन दूषयति—क्षणान्तर इति। अतिरिक्तास्त्यर्थासत्त्व कालान्तरे स्वकाले वा माऽऽस्थोऽभ्युपगमान्नेतरः स्वक्षणे सत्त्वेन दृष्टस्य कालान्तरेऽनुपलम्भात्स्वक्षणेऽप्यसत्त्वे देशेऽपि क्षणवर्तिविज्ञानस्य ज्ञानान्तरक्षणेऽदृष्टेः स्वक्षणेऽप्यसत्त्वापत्तेः सर्वशून्यता स्यादित्यर्थः॥ स्वकाले सतोऽन्यदाऽनुपलम्भात्तत्राप्यसत्त्वमिति प्रतिज्ञा न निर्वहतीत्यत्र हेत्वन्तरमाह—हेमन्त इति। ग्रीष्मे सत्त्वेन दृष्टानामोष्ण्यादीनां हेमन्तेऽदृष्टेर्ग्रीष्मेऽप्यपह्नुतिः स्याच्च प्रतिज्ञातमसत्त्वं दृष्टिविरोधात्तथा सति स्वकाले सर्वस्य यथाप्रतीति सत्त्वमेवेत्यर्थः। अशून्यत्वमिति च्छेदः। अथवा दृष्टिमनादृत्यासत्त्वप्रतिज्ञायां सर्वशून्यता स्यादिति विपक्षे दोषमाह—तथेति। इतश्च बाह्यार्थाशून्यतेत्याह—देशेति। विपक्षे विभागधीर्विरुध्येतेत्यर्थः॥ बाह्यार्थापलापिनो व्याघातापत्तेश्च तदपलापासिद्धिरित्याह—विज्ञानेति। भावाभावव्यवहारभूमिरिहेत्युक्ता॥ कुतो व्याहृतिर्यथाऽस्त्यर्थो नास्त्यर्थानपेक्षस्ते सिध्यति तथा सोऽप्यस्त्यर्थानपेक्षः सेत्स्यतीत्याशङ्क्याऽऽह—अस्त्यर्थवदिति। व्याघातफलमाह—यथेति। अस्त्यर्थानङ्गीकारे निष्प्रतियोगिको नास्त्यर्थो न सिध्येत्तदङ्गीकारे चैवं बाह्यार्थापलापसिद्धिस्तज्ज्ञानवज्ज्ञेयस्यापि सत्त्वमित्यर्थः॥ अस्त्यर्थं नास्त्यर्थं वा नेच्छामो विज्ञानमेव तु स्वरसभङ्गुरमविरलोदयमाद्रियामहे तत्र किंचिदनुपपन्नमित्याशङ्क्याऽऽह—अस्त्यर्थेति॥ कथं तदभावे सर्वासिद्धिर्ज्ञानवत्क्षणिकादेस्त्वर्थादन्यत्वेन सिद्धेरित्याशङ्क्याऽऽह—अस्त्यर्थव्यतिरेकेणेति। न हि ब्राह्मणादेरन्यस्य ब्राह्मणादिभावस्तथा सतोऽन्यस्य न सत्तेत्यर्थः॥

कालव्यवहितदृष्टेषु च तुल्यपरिमाणेषु तत्कालीनबालादितुल्या इमे केशनखाद्या इति प्रत्ययो भवति [1]न तु स एवेति । घटादिषु पुनर्भवति स एवेति प्रत्ययः । [2]तस्मान्न समो दृष्टान्तः ।

प्रत्यक्षेण हि प्रत्यभिज्ञायमाने वस्तुनि तदेवेदमिति न ह्यन्यत्वमनुमातुं युक्तं [3]प्रत्यक्षविरोधे लिङ्गस्याऽऽभासत्वोपपत्तेः । सादृश्यप्रत्ययानुपपत्तेश्च । [4]ज्ञानस्य क्षणिकत्वात् । एकस्य हि वस्तुदर्शिनो वस्त्वन्तरदर्शने सादृश्यप्रत्ययः स्यात् । न तु वस्तुदर्शिनो वस्त्वन्तरदर्शनाय क्षणान्तरमवतिष्ठते । विज्ञानस्य क्षणिकत्वात्सकृद्वस्तुदर्शनेनैव क्षयोपपत्तेः । तेनेदं सदृशमिति हि सादृश्यप्रत्ययो भवति । तेनेति दृष्टस्मरणमिदमिति

कस्यचिदिति । अभ्रान्तस्येति यावत् । दार्ष्टान्तिके वैधर्म्यमाह—घटादिष्विति । वैधर्म्यमुपसंहरति—तस्मादिति ।

यत्सत्तत्क्षणिकं यथा प्रदीपादि सन्तश्चामी भावा इत्यनुमानविरोधाद्भ्रान्तं प्रत्यभिज्ञानमित्याशङ्क्याऽऽह—प्रत्यक्षेणेति । अनुष्णतानुमानवत्प्रत्यक्षविरोधे क्षणिकत्वानुमानं नोदेत्यबाधितविषयत्वस्याप्यनुमित्यङ्गत्वादिति भावः । इतश्च प्रत्यभिज्ञानं सादृश्यनिबन्धनो भ्रमो न भवतीत्याह—सादृश्येति । तदनुपपत्तौ हेतुमाह—ज्ञानस्येति । तस्य क्षणिकत्वेऽपि किमिति सादृश्यप्रत्ययो न सिध्यतीत्याशङ्क्याऽऽह—एकस्येति । अस्तु तर्हि वस्तुद्वयदर्शित्वमेकस्येति चेन्नेत्याह—न त्विति । उक्तमेवार्थं प्रपञ्चयति—तेनेत्यादिना । भवतु किं तावतात्राऽऽह—तेनेति दृष्टमिति । प्रवर्तितेन

वाले केश नखादि मे तो ये केश और नखादि उस समय के केशनखादि के समान है—ऐसा प्रत्यय होता है, परन्तु यह वही है—ऐसा प्रत्यय नही होता । किन्तु घटादि मे तो 'यह वही है' ऐसा प्रत्यय होता है । इसलिये यह दृष्टान्त विषम है ।

जिस वस्तु मे प्रत्यक्ष प्रत्यभिज्ञा होती है कि 'यह वही है', तो उसका अन्यत्व अनुमान करना ठीक नही है क्योकि प्रत्यक्षबाध होने पर लिङ्ग का आभासत्व सिद्ध होगा और ज्ञान के क्षणिक होने से उसमे सादृश्यभान होना भी सम्भव नही है । एक ही वस्तुदर्शक को वस्त्वन्तरदर्शन मे सादृश्यभान हो सकता है । तथा एक वस्तुदर्शक दूसरी वस्तु को देखने के लिये अगले क्षण मे रहता नही है क्योकि विज्ञान के क्षणिक होने से उसका एक बार वस्तुदर्शन से ही क्षय होना सिद्ध है । 'यह उसके सदृश है" ऐसा सादृश्यभान हुआ करता है । तेन' (उसके) यह पद दृष्ट का स्मारक है, 'इदं' (यह) इस पद से वर्तमान की प्रतीति होती है । यदि 'तेन" इस पद से पूर्वदृष्ट को स्मरण करके देखने वाला 'इदं' इस

१. न तु स एवेतीति—केशादिष्वभ्रान्तस्य प्रत्यभिज्ञा दृश्यमाना स्वैकजातिनिमित्ता नास्तीत्युक्तमिति न विस्मर्तव्यम् । "अभ्रान्तस्य केशादौ यदा सादृश्यधीस्तदा । पूर्ववालैरिमे बाला सदृशा इति जायते" । वा ६६८॥
२ तस्मात्—इत्येतेष्विति केशादिषु प्रत्यभिज्ञानाभावात् घटादिषु च तस्य प्रत्यक्षसिद्धत्वादित्यर्थः ।
३. प्रत्यक्षेत्यादि—वह्न्यनुष्णत्वानुमाने तथा दृष्टत्वाबाधानुमाने न प्रत्यक्षबाध इति भाव । ४. ज्ञानस्येति—प्रत्यभिज्ञाश्रयस्यात्मभूतज्ञानस्येत्यर्थः । ५. अबाधितसाध्यकत्वस्यानुमितौ प्रमात्वप्रयोजकत्वादित्यर्थः ।

वर्तमानप्रत्ययः। तेनेति दृष्टं स्मृत्वा यावदिदमिति वर्तमानक्षणकालमवतिष्ठेत। ततः क्षणिकवादहानिः।

अथ तेनेत्येवोपक्षीणः [1]स्मार्तः प्रत्यय इदमिति चान्य एव [2]वार्तमानिकः प्रत्ययः क्षीयते [3]ततः सादृश्यप्रत्ययानुपपत्तिस्तेनेदं सदृशमिति। अनेकदर्शिन एकस्याभावात्। व्यपदेशानुपपत्तिश्च [4]द्रष्टव्यदर्शनेनैवोपक्षया[5][6]द्विज्ञानस्येदं पश्याम्यदोऽद्राक्षमितिव्यपदेशानुपपत्ति[7]र्दृष्टवतो व्यपदेशक्षणानवस्थानात्। [8]अथावतिष्ठेत क्षणिकवादहानिः। अथादृष्टवतो व्यपदेशः सादृश्यप्रत्ययश्च [9]तदानीं [10]जात्यन्धस्येव रूपविशेषव्यपदेश[11]स्ततसादृश्यप्रत्ययश्च सर्वमन्धपरम्परेति [12]प्रसज्येत सर्वज्ञशास्त्रप्रणयनादि न चैतदिष्यते। अकृताभ्यागमकृत-

---

यदीति शेषः।

क्षणिकत्वहानिपरिहारं शङ्कित्वा परिहरति—अथेत्यादिना। [13]तत्र हेतुमाह—अनेकेति। परपक्षे दोषान्तरमाह—व्यपदेशेति तदेव विवृणोति—इदमिति। व्यपदेशक्षणेऽनवस्थानासिद्धि शङ्कित्वा दूषयति—अथेत्यादिना। अन्यो द्रष्टाऽन्यश्च व्यपदेष्टेत्याशङ्क्य परिहरति—अथेत्यादिना। शास्त्रप्रणयनादीत्यादिशब्देन शास्त्रीयं साध्यसाधनादि गृह्यते। क्षणिकत्वपक्षे दूषणान्तरमाह—

ज्ञप्तिपर्यन्त वर्तमान क्षण (काल) तक रहेगा, तो क्षणिकवाद सिद्धान्त की असंगति हो जायगी।

यदि 'तेन'' इतना कहने से स्मृतिज्ञान क्षीण हो गया और इदम्'' यह अन्य ही वार्तमानिक ज्ञान क्षीण होता है, तो ऐसी अवस्था में 'यह उसके समान है'—यह सादृश्यज्ञान होना सम्भव नहीं है क्योंकि अनेक वस्तुओं को देखने वाला कोई एक नहीं हो सकता। उपदेश की भी सिद्धि नहीं होगी क्योंकि द्रष्टा का विज्ञान तो द्रष्टव्य वस्तु को प्रथम बार देखकर ही क्षीण हो जाता है। "यह देखता हूँ, यह देखा'' ऐसा कथन सम्भव नहीं है क्योंकि विज्ञान का कथनक्षण में रहना सम्भव नहीं है। यदि विज्ञान रहता है—ऐसा मानें तो क्षणिकवाद का लोप हो जायगा। यदि कहो, वह कथन अद्रष्टा का है और उसी को सादृश्यप्रत्यय होता है, तो उस अवस्था में वह जन्मान्ध के समान रूपविशेष कथन और उसी पूर्वदृष्ट का 'यह उसी के सदृश है' ऐसा सादृश्यभान होगा; तब तो प्रमाणाभाव होने से सर्वज्ञ, शास्त्र-प्रणयनादि सर्वत्र अन्धपरम्परा की प्रसक्ति होगी। किन्तु यह इष्ट नहीं है। इस क्षणिकवाद में "विना

---

१. स्मार्त इति—दृष्टवस्तुविषयकस्मृत्यधिकरणीभूतः तन्मात्रावगाही बोध इति यावत्। उपक्षीण इत्यन्तं यथोक्तस्मृत्याधारः सन्नेव नष्ट इत्यर्थः। २. वार्तमानिक.—वर्तमानकालिकेदन्तावगाही बोधश्चेद तामवगाहमान एव नश्यतीत्यर्थः। तथा च न क्षणिकवादक्षतिरिति। ३ तेनेत्येवोपक्षीण स्मार्तज्ञानमिदमित्येवोपक्षीण च वार्तमानिक ज्ञानमतस्तेनेदं सादृश्यमित्येकं ज्ञानं नास्ति चेत्तदा सादृश्यक्षणिकत्वयोरसिद्धिरित्यभिप्रेत्याह—तत इति। सादृश्येत्यादि क्षणिकत्वस्याप्युपलक्षण तथा च वार्तिकम्—"स्वरूपमात्रसंबोधि नाऽऽत्मनोऽपि क्षयोदयौ। ज्ञानं प्रत्यभिजानाति स्वक्षित्वाद्यापि चापरम्॥ सादृश्यक्षणिकत्वे द्वे त्वदिष्टे न प्रसिध्यतः"॥ ६७२-६७३॥ इति॥ अपर सादृश्यम्। ४ प्रथमदर्शनेन। ५. द्रष्टुः। ६. विज्ञानस्य। ७. पूर्वार्थदर्शिविज्ञानं भविष्यदर्थदर्शनावसानम्। ८. तर्हि। ९. तदानीमिति—द्रष्टुरेव व्यपदेष्टृत्वादीति नियमाभावे। १०. जात्यन्धस्येति। अत्र वार्तिके—"जात्यन्धवच्च चादृष्ट्वा कश्चिद्व्यपदिशेदिह। सादृश्यधिषणां चेह न कश्चित्कर्तुमर्हति"॥ ६८५॥ इह—व्यवहारदशायाम्। कश्चित्—प्राचीनदर्शनशून्यः। ११. पूर्वदृष्टेन सदृशमिदमिति। १२. प्रमाणाभावादिति भावः। १३. सादृश्यानुपपत्तौ।

विप्रणाशदोषौ तु प्रसिद्धतरौ क्षणवादे ।

दृष्टव्यपदेशहेतुः पूर्वोत्तरसहित एक एव हि शृङ्खलावत्प्रत्ययो जायत इति चेत् । तेनेदं सदृशमिति च । न । वर्तमानातीतयोर्भिन्नकालत्वात् । तत्र वर्तमानप्रत्यय एकः शृङ्खलावयवस्थानीयोऽतीतश्चापरस्तौ प्रत्ययौ भिन्नकालौ तदुभयप्रत्ययविषयस्पृक्चेच्छृङ्खलाप्रत्ययस्ततः क्षणद्वयव्यापित्वादेकस्य विज्ञानस्य पुनः क्षणवादहानिः । ममतवतादिविशेषानुपपत्तेश्च सर्वसंव्यवहारलोपप्रसङ्गः । सर्वस्य च स्वसंवेद्यविज्ञानमात्रत्वे विज्ञानस्य च स्वच्छावबोधावभासमात्रस्वाभाव्याभ्युपगमात्तद्दर्शिनश्चान्यस्याभावेऽनित्यदुःखशून्यानात्मत्वाद्यनेककल्पनानुपपत्तिः ।

प्रकृतेति ।

व्यपदेशानुपपत्तिमुक्तां समादधानः शङ्कते—दृष्टेति । सादृश्यप्रत्ययश्च शृङ्खलास्थानीयेन प्रत्ययेनैव सेत्स्यतीत्याह—तेनेदमिति । अप्रसिद्धार्थप्रसञ्जनया प्रत्याचष्टे—नेत्यादिना । तावेवोभौ यौ प्रत्ययौ विषयौ तदवगाही चेन्मध्यवर्ती शृङ्खलावयवस्थानीयः प्रत्यय इति यावत् । "क्षणानां मिथः संबन्धस्तर्हि मा भूदिति चेत्तत्राऽऽह—ममेति । व्यपदेशसादृश्यप्रत्ययानुपपत्तिस्तु स्थितैवेति चकारार्थः । यत्तु विज्ञानस्य "दुःखाद्युपप्लुतत्वं तद्दूषयति—सर्वस्य चेति । "शुद्धस्यान्तरससर्गद्रष्टृभावाच्च न ज्ञानस्य दुःखादिसंप्लव" "स्वसंवेद्यत्वाङ्गीकारादित्यर्थः ।

किये हुए फल की प्राप्ति और किए हुए का फलनाश" ये दो दोष तो प्रसिद्ध ही हैं ।

दृष्ट कथन का हेतु पूर्व और उत्तर भावों से सबद्ध शृङ्खला के समान एक ही भान होता है, तथा 'यह उसके समान है' ऐसा भी भान होता है—ऐसा कहना ठीक नहीं क्योंकि वर्तमान और अतीत प्रत्यय भिन्न-भिन्न काल में हुआ करते हैं । उनमें से वर्तमानप्रत्यय उभयसबद्ध शृंखला का एक अवयवस्थानी है; अतीतप्रत्यय दूसरा है; यह दोनों प्रत्यय भिन्नकालिक हैं । यदि शृङ्खला के समान प्रत्यय उन दोनों प्रत्ययों के विषय को स्पर्श करता है तो एक ही विज्ञान के क्षणद्वयव्यापी होने से पुनः क्षणिकवाद की हानि होती है । तथा 'मेरा तेरा' भेद संभव न होने से सम्पूर्ण व्यवहार का ही लोप हो जायगा । सर्व जगत् के स्वसंवेद्य विज्ञानमात्र होने पर और विज्ञान को स्वच्छ ज्ञान प्रकाश

---

१ प्रसिद्धतराविति—क्षणवादे कर्तुरेव भोक्तृत्वस्य असंभवात्कृतहानाकृताभ्यागमयोः प्रसक्तिरिति भाव. । तस्मादस्मादृष्टः स्यात्, तस्माऽऽस्यैवास्यं च नश्कुताभ्यागमादिनं वा व्यपदेशसादृश्याभिज्ञाद्यनुपपत्तिरिति सर्वं निर्मलम् । २. पूर्वोत्तरप्रत्ययाभ्यां सम्बद्ध । ३ शृङ्खलावदिति । यथा शृङ्खलावयवभूतानां कटकानां मिथो भिन्नत्वेऽपि परस्परं संबन्ध शृङ्खलात्वे नैकत्वं च तथा मध्यवर्तिज्ञानस्य पूर्वोत्तराभ्यां सम्बद्धतयैकत्वात्स व्यपदेशसादृश्यप्रत्यभिज्ञाद्यसिद्धि. । नाप्यकृताभ्यागमादिदोषद्वयमिति भाव. । ४ प्रत्ययोः । ५. संगृहीतं विवृणोति—तत्रेति । तयोः प्रत्यययोर्मध्ये इत्यर्थः । ६ उभयनान्वयीदम् । ७ ममेत्यादि—ममतवव्यवहारस्य संबन्धार्थकत्वादिति भाव. । ८ जगतः । ९ विज्ञाने दुःखादिसंदर्शिन । १० क्षणिकानां प्रत्ययानामित्यर्थः । ११. दुःखादिधर्मित्वमिति यावत् । १२ दुःखादिसंदर्शिनि भावः । १३. संबन्ध । १४. तत्संसर्गद्रष्टृभावे हेतुमाह—स्वसंवेद्यत्वाङ्गीकारादिति । तथा च ज्ञानस्य स्वमात्रभासकत्वं न तु स्वाश्रितभासकत्वमिति ।

न च दाडिमादेरिव विरुद्धानेकांशवत्त्वं विज्ञानस्य । स्वच्छावभासस्वाभाव्यात् । अनित्यदुःखादीनां विज्ञानांशत्वे च सत्यनुभूयमानत्वाद्व्यतिरिक्तविषयत्वप्रसङ्गः । अथानित्यदुःखाद्यात्मकत्वमेव विज्ञानस्य तदा तद्वियोगाद्विशुद्धिकल्पनानुपपत्तिः । संयोगिमलवियोगाद्धि विशुद्धिर्भवति । यथाऽऽदर्शप्रभृतीनाम् । न तु स्वाभाविकेन धर्मेण कस्यचिद्वियोगो दृष्टः । न ह्यग्नेः स्वाभाविकेन प्रकाशेनौष्ण्येन वा वियोगो दृष्टः । यदपि पुष्पगुणानां रक्तत्वादीनां द्रव्यान्तरयोगेन(ण) वियोजनं दृश्यते तत्रापि संयोगपूर्वत्वमनु-

ज्ञानस्य शुद्धबोधैकस्वाभाव्यमसिद्धं दाडिमादिवज्ज्ञानाविधदुःखाद्यंशवत्त्वाभ्युपगमादित्याशङ्क्याऽऽह—न चेति । तत्रैव हेत्वन्तरमाह—अनित्येति । तेषां तद्धर्मत्वे सत्यनुभूयमानत्वात्ततोऽतिरिक्तत्वं स्याद्धर्माणां धर्मिमात्रस्वाभाव्यान्मेयानां च मानाद्यर्थान्तरत्वादतो यन्मेयं न तज्ज्ञानांशो यथा घटादि मेयं च दुःखादीत्यर्थः । ज्ञानस्य दुःखादि धर्मो न भवति किंतु स्वरूपमेवेति शङ्कामनुभाष्य दोषमाह—अथेत्यादिना । अनुपपत्तिमेव प्रकटयति—संयोगीत्यादिना । स्वाभाविकस्यापि वियोगोऽस्ति पुष्परक्तत्वादीनां तथोपलम्भादित्याशङ्क्याऽऽह—यदपीति । ॐद्रव्यान्तरशब्देन पुष्पसंबन्धिनोऽवयवास्तद्गत रक्तत्वाद्यारम्भका विवक्षिताः । विमतं संयोगपूर्वकं विभागवत्त्वा-न्मेषादिवदित्यनुमानास्

स्वरूपमात्र मानने पर विज्ञान में किसी अन्य दुःखादिससर्गद्रष्टा की उपस्थिति स्वीकार नहीं की जायगी, तो उसमें अनित्यत्व दुःखत्व, शून्यत्व और अनात्मत्वादि अनेक कल्पनाएं उत्पन्न हो जाएंगी।

अनार आदि फल के समान विज्ञान अनेक विरुद्धांशों से युक्त हो, ऐसी बात भी नहीं है क्योंकि विज्ञान का स्वच्छ और प्रकाशक स्वभाव तो तुम भी मानते हो। यदि अनित्य और दुःखात्मक को विज्ञान का अंश माना जाय तो अनुभूयमान होने के कारण उन्हें किसी दूसरे का विषय मानने का प्रसङ्ग आ जायगा और यदि विज्ञान को अनित्य और दुःखादिरूप माना जाय तो दुःखादि की वियुक्ति द्वारा विज्ञान की विशुद्धि की कल्पना करनी संभव नहीं है। लगे हुए मल को हटा देने से विशुद्धि होती है, जिस प्रकार दर्पणादि के मल को दूर किया जाता है। किन्तु अपने सहज धर्म से किसी का वियोग होते

१. स्वयैवतथाऽभ्युपगमात् । २. दुःखादिविशेषात् । ३. विज्ञानस्य । ४. शुक्लत्वादीनामित्यर्थः । ५. विभागः । ६. तस्य विरुद्धानेकांशवत्त्वासंभवे एव । ७. अनित्यदुःखादीनाम् । ८. विज्ञानधर्मत्वे । ९. विज्ञानतः । १०. पुष्पस्य स्वाभाविकोऽपि शौक्ल्यादिरलक्तकादिरसावसिक्ते पुष्पबीजेऽपगच्छन् रागादि-(रक्तादि) र्थोत्पद्यते तथा विज्ञानस्यापि चतुर्विधभावनाप्रभावाद् दुःखादिस्वाभाविकमेव विमुच्यते शुद्धिर्बोधोत्पद्यते इत्यभिप्रेत्यावतारयति—स्वाभाविकस्यापीति । ११. रक्तत्वादिवियोजनाय पुष्पेण संबन्धं लम्भिताः अवयवा द्रव्यान्तरस्यैव । १२. द्रव्यान्तरगतरक्तत्वेति योजना । १३. विमतम्—वियुक्तं रक्तत्वादि । १४. मेषादिवदिति—वियुज्य वियुज्य युध्यमान हुडवादिवदित्यर्थः ।

ॐद्रव्यान्तरशब्देन पुष्पसंबन्धिनोऽवयवास्तद्गतरक्तत्वाद्यारम्भका विवक्षिता इति । द्रव्यान्तरशब्देन तद्गत-रक्तत्वाद्यारम्भका द्रव्यान्तरे रक्तत्वादिजनका. पुष्पसंबन्धिनः पुष्पीयरक्तत्वादिवियोजनाय पुष्पेण [illegible] संबन्धं लम्भिता अवयवा अर्थाद्द्रव्यान्तरस्यैव विवक्षिता इत्यर्थः । यद्वा पुष्पसंबन्धिन इति षष्ठी । तथा च पुष्पस्य रक्तत्वा-दिवियोजनाय पुष्पेण संबन्धवतो द्रव्यान्तरस्य येऽवयवा द्रव्यान्तरे जनिष्यमाणरक्तत्वाद्यारम्भकास्ते द्रव्यान्तरशब्देन विवक्षिता इति । ननु द्राविडप्राणायामोऽयम् । न । वियोजनं दृश्यत इति भाष्यस्य तथोपलम्भादिति स्वोक्तस्य

मीयते । 'बीजभावनया पुष्पफलादीनां गुणान्तरोत्पत्तिदर्शनात् । 'अतो विज्ञानस्य विशुद्धिकल्पनानुपपत्तिः ।

'विषयविषय्याभासत्वं च यन्मलं परिकल्प्यते विज्ञानस्य तदप्य'न्यसंसर्गाभावाद-नुपपन्नम् । 'न ह्यविद्यमानेन' विद्यमानस्य' संसर्गः स्यात् ।' असति चान्यसंसर्गे यो धर्मो यस्य दृष्टः स तत्स्वभावत्वान्न तेन वियोगमर्हति । यथाऽग्नेरौष्ण्यं सवितुर्वा प्रभा ।

'स्वाभाविकस्य सति वस्तुनि नाशोऽस्तीत्यर्थः । अनुमानानुगुणं प्रत्यक्षं दर्शयति—बीजेति । कार्पासादि-बीजे 'द्रव्यविशेषसंपर्काद्र''क्तादिवासनया ''तत्पुष्पादीनां रक्तादिगुणोदयोपलम्भा''त्तत्संयोगिद्रव्यापग-मादेव ''तत्पुष्पादिषु रक्तत्वाद्यपगतिरित्यर्थः । विशुद्ध्यनुपपत्तिमुपसंहरति—अत इति ।

कल्पनान्तरमनूद्य दूषयति—विषयविषयीति । कथं पुनर्ज्ञानस्यान्येन संसर्गाभावस्तस्य विषयेण संसर्गादित्याशङ्क्याऽऽह— न हीति । अथान्यसंसर्गमन्तरेणापि ज्ञानस्य विषयविषय्याभासत्वमसं

नहीं देखा जाता । अग्नि अपने स्वाभाविक धर्म प्रकाश और उष्णता का परित्याग करते कभी नहीं देखी जाती । जो पुष्प के लालिमादि गुणों का अन्य द्रव्य के संयोग से वियोग होते देखा जाता है, वहाँ भी उनकी संयोगपूर्वता का अनुमान किया जाता है । क्योंकि बीज की भावना के द्वारा पुष्प और फलादि में अन्य गुणों की उत्पत्ति होते देखी जाती है । इसलिए (स्वाभाविक वियोग के न होने से) विज्ञान के विशुद्ध होने की कल्पना अयुक्त है ।

विज्ञान के ग्राह्य और ग्राहकरूप से आभासित जिस मल की कल्पना की जाती है, अन्य विज्ञान से संसर्ग न होने से उसकी भी सिद्धि नहीं होती । अविद्यमान विज्ञानातिरिक्त पदार्थ का विद्यमान विज्ञान से संसर्ग नहीं हो सकता । अन्य संसर्ग न होने से जिसका जो धर्म देखा गया है, वह उसी

---

१. वासनया । २ स्वभाववियोगाभावात् । ३ ग्राह्यग्राहकरूपत्वम् । ४. अन्यस्य विज्ञानेन संसर्गाभावात् । ५. न हीत्यादि । अयमाशयः—अन्यसंपर्कादागतस्य मलस्य प्रसिद्धेरसत्त्वं च ज्ञानादन्यस्यानिष्टेस्तदप्रयुक्ततया तत्र तद्योगादिति । ६. विज्ञानातिरिक्तेन । ७ विज्ञानस्य । ८ स्वाभाविकस्येति—ननु वा पुष्पस्य स्वाभाविकः शुक्लत्वादिगुणस्तथापि नाशो स्वाभाविकवियोगे दृष्टान्त इत्याहुर्वार्तिककाराः—''द्रव्यान्तराच्छादनाद्वा सहजस्याप्यनीक्षणम् । तद्द्रव्यसत्त्वे यस्मात् पूर्ववत्सहजेक्षणमिति'' ॥ ७०६ ॥ पुष्पशुक्लत्वस्य स्वाभाविकस्यापि द्रव्यान्तरेण च्छन्नत्वाददृष्टिर्नाशस्त्वादित्यत्र हेतुमाह—तद्द्रव्येति । दृश्यते हि वस्त्रादौ हरिद्रादिरागापगमे यथापूर्वं शुक्लत्वमिति भाव. ॥ ९ अलक्तादिद्रव्यमिति भावः । १० रक्तादिवासनयेति—रक्तत्वाद्याश्रयीभूतसूक्ष्मावयवसंपर्केणेति यावत् । ११ कार्पासम् । १२. तत्संयोगीति—बीजादिपरम्परया पुष्पादिसंयोगिद्रव्य रक्तत्वाद्याश्रयीभूतसूक्ष्मावयवास्य द्रव्यान्तरसंयोगेन तदपगमादेवेत्यर्थः । १४ यथोक्तकार्पासादिषु ।

योद्घाटनार्थत्वात् । वियोजनं हि विभागस्तस्य तेन वा दर्शनमेकतो वियुज्यापरत्र दृष्टो स्यादन्यथा नासौ विभागः किन्तु विनाश इति स्यादतस्तदनुगुणत्वादेतस्येति । यथाश्रुते तु द्रव्यान्तरयोगेनेतिभाष्ये द्रव्यान्तरस्य रक्तत्वादिवियोजकद्रव्यविशेषेण योगेनेत्यर्थसमवऽपि नात्र द्रव्यान्तरपदं सङ्गच्छतेति । यत्र रक्तत्वारम्भकं पुष्पसवन्धिभिरवयवैर्योगेन पुष्परक्तत्ववियोजनं प्रतीयमानमनुपपन्नमिव प्रतिभाति । अरक्तत्वादीति पाठे तु नानुपपत्तिमवगच्छामः । तदपतरक्तत्वाद्यारम्भका द्रव्यत्र रक्तत्वमादि यस्य शुक्लत्वादेरित्यतद्गुणसंविज्ञानो बहुव्रीहिर्वाऽस्येव इत्येके । द्रव्यान्तरशब्देनास्य तद्घटकद्रव्यशब्देनेत्यर्थं इत्यन्ये वरम्तो वगदुः ।

[1]तस्मादन्यसंसर्गेण मलिनत्वं तद्विशुद्धिश्च विज्ञानस्येतीयं कल्पनाऽन्धपरम्परैव प्रमाणशून्ये-त्यवगम्यते।

[2]यदपि तस्य विज्ञानस्य निर्वाणं पुरुषार्थं कल्पयन्ति [3]तत्रापि [4]फलाश्रयानुपपत्तिः। [5]कण्टकविद्धस्य हि [6]कण्टकवेधजनितदुःखनिवृत्तिः फलं न तु कण्टकविद्धस्य मरणे [7]तद्दुःखनिवृत्तिफलस्याऽऽश्रय उपपद्यते। [8]तद्वत्सर्वनिर्वाणेऽसति च फलाश्रये पुरुषार्थ-कल्पना व्यर्थैव। यस्य हि [9]पुरुषशब्दवाच्यस्य [10]सत्त्वस्याऽऽत्मनो विज्ञानस्य [11]चार्थः परिकल्प्यते तस्य पुनः पुरुषस्य [12]निर्वाणे [13]कस्यार्थः पुरुषार्थ इति स्यात्। यस्य पुनरस्य-[14]नेकार्थदर्शी विज्ञानव्यतिरिक्त आत्मा तस्य दृष्टस्मरणदुःखसंयोगवियोगादि सर्वमेवोप-

स्यादिति चेत्तत्राऽऽह—असति चेति। कल्पनाद्वयमप्रमाणिकमनादेयमित्युसंहरति—तस्मादिति।
कल्पनान्तरमुत्थापयति—यदपीति। [15]उपशान्तिर्निर्वाणशब्दार्थः। दूषयति—तत्रापीति। फल्य-भावेऽपि फलं स्यादिति चेन्नेत्याह—कण्टकेति। दार्ष्टान्तिकं विवृणोति—यस्य हीति। ननु स्वग्मनेऽपि [16]वस्तुनोऽद्वयत्वात्तस्यासङ्गस्य केनचिदपि संयोगवियोगयोरयोगात्फलित्वासंभवे मोक्षासंभवादि तुल्य-मित्याशङ्क्याऽऽह—यस्य पुनरिति। यद्यपि पूर्णं [17]वस्तु वस्तुतोऽसङ्गमङ्गी क्रियते तथाऽपि क्रियाकारक-फलभेदस्याविद्यामात्रकृतत्वादस्मन्मते सर्वव्यवहारसंभवान्न साम्यमिति भाव.। ननु बाह्यार्थवादो

और सूर्य की प्रभा उससे पृथक नही हो सकती। इसीलिए "अनित्य वस्तुओ के ससर्ग से विज्ञान की मलिनता और फिर शुद्धि होती है" ऐसी कल्पना करना अन्धपरम्परा है तथा अप्रामाणिक है; यह सिद्ध होता है।

जो 'उस विज्ञान का निर्वाण ही पुरुषार्थ है'—ऐसी कल्पना करते है, उक्त कल्पना मे फलाश्रय की सिद्धि नही होती। जो कांटे से बिधा हुआ है, उसी को कण्टकवेधजनित दु खनिवृत्ति का फल मिलना सम्भव है, यदि कण्टकविद्ध प्राणशून्य हो जाय, तो कण्टकवेधजनित दु खनिवृत्तिरूप फल को कैसे जानेगा। उसी प्रकार सबसे निवृत्त हो जाने पर फलाश्रय के न होने पर पुरुषार्थकल्पना ही व्यर्थ सिद्ध हो जायगी क्योकि जिस 'पुरुष'शब्दवाच्य वस्तु का आत्मा और विज्ञान ऐसा अर्थ किया जाता है, उसी पुरुष के नाश हो जाने पर पुरुषार्थ किसके लिए होगा। जिनके मत मे अनेकार्थदर्शी विज्ञान से व्यतिरिक्त आत्मा है उसके अनुसार देखे हुए का स्मरण, दु ख के सयोग-वियोगादि, अन्य सयोगनिमित्तक मलिनता और उसके वियोग से होने वाली शुद्धि—इन सबकी सिद्धि

१ मलकल्पनाया अनुपपन्नत्वात्। २ बन्धनकल्पना निराकृत्य निःश्रेयसकल्पना निराकरोति—यदपीति। ३ उक्तकल्पनायामपि। ४ फलाश्रयस्य विज्ञानस्याभाव। ५ कण्टकविशुद्धस्येति पाठान्तरम्। ६ कण्टकवेधजनितेत्यर्थ। ७ दार्ष्टान्तिकमाह—तद्वदिति। सर्वनिर्वाणे सर्वस्य निवृत्तौ। ८ पुरुषशब्देति—पुरुषार्थशब्दघटकपुरुषशब्देत्यर्थ। [illegible] वस्तुन। १० अर्थं फल चस्त्वर्थो वार्थ इति पाठान्तरम्। ११ नाशे। १२ निर्वाणे इति। तथा च वार्तिके—'न सयोगो वियोगो वा यस्य केनचिदिष्यते। विनाशत स्वतस्तस्य कीदृशी फलसगतिरिति" ॥ ७१३ ॥ १३ अनेकेति—भूतभविष्य-दाद्यर्थेत्यर्थ। १४ निवृत्ति। १५ आत्मन। १६ आत्मा।

[1]स वा अयं पुरुषो जायमानः शरीरमभिसंपद्यमानः पाप्मभिः [2]सꣳसृज्यते स उत्क्रामन्म्रियमाणः[3] पाप्मनो[4] [5]विजहाति ॥८॥

वह यह प्रकृत आत्मा जन्म धारण करते समय शरीर मे आत्मभाव करता हुआ देहेन्द्रियादिरूप पापो से युक्त हो जाता है और मरते समय उन पापो को त्याग देता है ॥८॥

पञ्चमन्यसंयोगनिमित्तं कालुष्यं तद्वियोगनिमित्ता च विशुद्धिरिति । शून्यवादिपक्षस्तु सर्वप्रमाणविप्रतिषिद्ध इति तन्निराकरणाय नाऽऽदरः क्रियते ॥ ७ ॥

यथैवै[1]हैकस्मिन्देहे [2]स्वप्नो भूत्वा [3]मृत्यो रूपाणि [4]कार्यकरणा[5]न्यतिक्रम्य [6]स्वप्ने

विज्ञानवादस्य निराकृतो शून्यवादो निराकर्तव्योऽपि कस्मान्न निराक्रियते तत्राऽऽह—शून्यवादीति । समस्तस्य वस्तुनः सत्त्वेन भानाभानानां च सर्वेषां तद्विषयत्वाच्छून्यस्य [12]चाविषयतया [13]प्राप्त्यभावेन निराकरणानर्हत्वा[14]त्तद्विषयत्वे च शून्यवादिनैव [15]विषयनिराकरणोक्त्या शून्यस्यापह्नवात्तस्य च [16]स्फुरणास्फुरणयो सर्वशून्यत्वायोगात्तद्वादिनश्च सत्त्वासत्त्वयो[17]स्तदनुपपत्तेः संवृतेश्चा[18]ऽऽश्रयाभावादसं-भवा[19]त्तदाश्रयत्वे च शून्यस्य [20]स्वरूपहानान्निराश्रयत्वे वा[21]संवृतित्वाद्यास्माभिस्तद्वादनिरासायाऽऽदरः क्रियते [22]तत्सिद्ध बुद्ध्याद्यतिरिक्त नित्यसिद्धमत्यन्तशुद्धं कूटस्थमद्वयमात्मज्योतिरिति भावः ॥७॥

प्रसङ्गागतं [23]परपक्ष [24]निराकृत्य श्रुतिव्याख्यानमेवानुवर्तयन्नुत्तरवाक्यतात्पर्यमाह—यथेति ।

हो सकती है । किन्तु शून्यवादी का मत तो सभी प्रमाणो के विरुद्ध है । इसलिए उसके खण्डन के के लिए अधिक आदर नही किया जाता ॥७॥

जिस प्रकार यहाँ एक देह मे स्वप्नरूप से स्थित होकर आत्मा अज्ञान के ज्ञापक मृत्युरूप देह

---

१ सोऽयं प्रकृत पुरुष । जायमानो न घटादिवदुत्पद्यते स्वरूपत किन्तु शरीरमभिसम्पद्यमानस्तत्रात्मभावं गच्छन्नेव सन् पाप्मभिर्लक्षणया धर्माधर्माश्रयै कार्यकारणैः । २ संयुज्यते । स एव पुनर्देहारम्भककर्मक्षये सति व्याख्या शरीरान्तरं प्रति ह उच्यत इति । ३ व्याख्येयम् । ४ कार्यकरणरूपान् । ५ अभिमानत्याग-रूपेण । ६ स्थितं सत्येव । ७ स्वप्न स्वप्नाकारपरिणतस्वोपाधिधीवृत्त्यवभासकत्वेन तदाकार । ८ अज्ञानस्य ज्ञापकानि । ९ अभिमानतो गृहीतानि । १० वस्तुत आसङ्गाभावात् । ११ आत्मा । १२ प्रमाणाविषयतया । १३ उपस्थित्यभावेन । १४ तद्विषयत्वे चेति—शून्यस्य प्रमाणविषयत्वे स्वीकृते सतीत्यर्थ । १५ विषयनिराकरणोक्त्येति—यत् प्रमाणविषयस्तच्छून्यमित्युक्त्वा शून्यस्य प्रमाण-विषयत्व शून्यस्यापि शून्यत्वलाभात्तन्निराकरणमिति भाव । १६ स्फुरणेत्यादिभाने भानमेव शून्याति-रिक्तमभाने च तद्वदिति न सर्वशून्यतेत्यर्थ । १७ सर्वशून्यानुपपत्ते । १८ अविद्याया । १९ शून्यस्या विद्याश्रयत्वे । २० स्वरूपहानादिति—आश्रयत्वधर्मवत्तरतस्य निर्विशेषत्वरूपस्वरूपहानापत्तेरित्यर्थ । २१ अविद्याया । २२ असत्वृत्तित्वादिति—अविद्याया साश्रयत्वेनैव सर्वानुभवसिद्धत्वादहं न जानामीत्यादि-रीत्यैव तस्या अनुभूयमानत्वादिति भाव । २३ तत्—तस्मात् विगतो व्यवहारोऽसहतज्योतिर्निमित्तो व्यवहारत्वादादित्यादिकृतव्यवहारवदित्यनुमानादिति यावत् । २४ बौद्धवादान्तम् । २५ प्रत्याख्याय ।

स्व आत्मज्योतिष्यास्त एवं स वै प्रकृतः पुरुषोऽयं जायमानः । 'कथं जायमान इत्युच्यते—शरीरं देहेन्द्रियसंघातमभिसंपद्यमानः शरीर आत्मभावमापद्यमान' इत्यर्थः । पाप्मभिः 'पाप्मसमवायिभि'र्धर्माधर्माश्रयैः कार्यकरणैरित्यर्थः संसृज्यते । 'संयुज्यते ※स एवोत्क्रामञ्छरीरान्तर'मूर्ध्वं क्रामन्गच्छन्म्रियमाण इत्येतस्य व्याख्यानमुत्क्रामन्निति । तानेव संश्लिष्टान्पाप्मरूपान्कार्यकरणलक्षणान्विजहाति तैर्वियुज्यते तान्परित्यजति ।

एवमात्मा देहभेदेऽपि वर्तमानं 'जन्म त्यजञ्जन्मान्तरं चोपाददानः कार्यकरणान्यतिक्रामतीति शेषः । अतः स्वप्नजागरितसंचाराद्देहाद्यतिरेकवदिहलोकपरलोकसंचारोऽस्याऽपि तदतिरेक'स्तस्योच्यतेऽनन्तरवाक्येने(सो) त्यर्थः । संप्रत्युत्तरं वाक्यं गृहीत्वा व्याकरोति—स वा इत्यादिना । ※पाप्मशब्दस्य लक्षणया "तत्कार्यविषयत्वं दर्शयति—पाप्मसमवायिभिरिति । पाप्मशब्दस्य "पापवाचित्वेऽपि "कार्यसाम्याद्धर्मेऽपि वृत्तिं सूचयति—धर्माधर्मेति । "उक्तमर्थं दृष्टान्तत्वेनानुवदति—यथेति । अवस्थाद्वय-

और इन्द्रियो को (आसक्ति अभाव से) अतिक्रमण करके स्वप्न मे अपने आत्मज्योतिरूप मे स्थित रहता है—इसी प्रकार "स वा अय पुरुषो जायमान".. यह जायमान पुरुष है इत्यादि । किस प्रकार जायमान है ? इस पर श्रुति कहती है—"शरीरम्" यानी देहेन्द्रियसघातरूप शरीर को "अभिसपद्यमान" अर्थात आत्मभाव से प्राप्त होता हुआ "पाप्मभिः" अर्थात पापहेतुक समवायी कारण धर्म और अधर्म के आश्रय देह और इन्द्रियो से "ससृज्यते" यानी सयुक्त हो जाता है (उन्ही को आत्मरूप से मानता है) । तथा वही फिर 'उत्क्रामन् म्रियमाण' शरीरान्तरप्राप्ति के लिए ऊपर जाता हुआ, श्रुति मे व्याख्येय म्रियमाण' पद की व्याख्या उत्क्रामन्' पद से की गयी है । उन सश्लिष्ट देहेन्द्रिय

१ सोऽय प्रकृत जायमान एव पाप्मभिरिति सबन्ध । २ घटादिवदात्मन स्वरूपतो जन्म देहसपत्त्या वेति पृच्छति— कथमिति । उत्तरकल्पमादायोत्तरमाह—उच्यत इति । ३ एव । ४ पाप्महेतुकं । ५ तत्कार्यै । ६ सयुज्यते—तान्येवात्मत्वेनाभिमन्यते । ७ प्रति । ८ परित्यजतीति—यदा देहारम्भक कर्म भोगेन क्षीयते वर्तमानदेहपातश्च तदा पाप्मशब्देन लक्षितलक्षणया गृहीतानि कार्यकरणानि सर्वविक्रियाशून्य सन्नात्मा परित्यज्याभिमानत्यागमात्रेणेत्यर्थ । ९ शरीरम् । १० आत्मन । ११ सघातवोधित्वम् । १२ अधर्मवाचकत्वेऽपि । १३ द्वयोरपि कार्य देह एवेति तत्साम्यम् । १४ उक्तमर्थमिति—स वा इत्यादिप्रकृतकण्डिका व्याख्यानोपक्रमे यथैवेहेत्यादिना आस्त इत्यन्तेन भाष्येणोक्तम् ।

※स एवेत्यादि परित्यजतीत्यन्तभाष्ये वार्तिकद्वयम्—' देहकर्मक्षये देहपातश्चास्य यदा तदा । पाप्मन कर्मशार्याणि विजहात्यमृतोऽव्यय ॥ जहाति मृत्यो रूपाणि मृतिस्वप्नादिभूमिषु । न तु मृत्युमृते ज्ञानाज्जहात्यात्मा निज तम " ॥ ८१९ ८२० ॥ इति । स उत्क्रामन्नित्यादेरर्थमाह—देहेति । यदा देहारम्भक कर्म भोगेन क्षीयते वर्तमानदेहपातश्च तदा पाप्मशब्देन लक्षितलक्षणया गृहीतानि कार्यकरणानि सर्वविक्रियाशून्य सन्नात्मा त्यजतीत्यर्थ ॥ ननु मृत्युकार्यं देहादि ज्ञान विना त्यजति चेन्मृत्युमपि तथा त्यक्ष्यति तथाच ज्ञानवैयर्थ्याच्छास्त्रारम्भो वृथा स्यादित्याशङ्क्याऽऽह—जहातीति । नैसर्गिकमज्ञान मृत्युस्तस्य ज्ञान विना न त्यागो विरोध्यन्तराभावादित्यर्थ ॥

※पाप्मशब्दस्येति । अत्राहुर्वार्तिकाचार्यास्तथाहि—' पाप्मेति देहसबन्धहेतुमात्रमिहोच्यते । आ विरिञ्चात्तथा-

यथाऽयं स्वप्नजाग्रद्दृत्योर्वर्तमान एवैकस्मिन्देहे पाप्मरूपकार्यकरणोपादानपरित्यागाभ्यामनवरतं संचरति धिया समानः सन्, तथा सोऽयं पुरुष उभाविहलोकपरलोकौ जन्ममरणाभ्यां कार्यकरणोपादानपरित्यागावनवरतं प्रतिपद्यमान श्रा संसारमोक्षात्संचरति । 'तस्मात्सिद्धमस्याऽऽत्मज्योतिषोऽन्यत्वं कार्यकरणरूपेभ्यः संयोगवियोगाभ्याम् । न हि तद्धर्मत्वे सति तैरेव संयोगो वियोगो वा युक्तः ॥ ८ ॥

'संचारस्य लोकद्वयसंचारं दार्ष्टान्तिकमाह्—तथेति । इहलोकपरलोकावनवरतं संचरतीति संबन्धः । संचरणप्रकारं प्रकटयति—जन्मेति । जन्मना कार्यकरणयोरुपादानं मरणेन च तयोस्त्यागमविच्छेदेन लभमानो मोक्षादर्वागनवरतं संचरन्नु सो भवतीत्यर्थः । स वा इत्यादिवाक्यतात्पर्यमुपसंहरति—तस्मादिति । तच्छब्दार्थमेव स्फुटयति—संयोगेति । कथमे'तावता तेभ्योऽन्यत्वं तत्राऽऽह—न हीति । स्वा-

लक्षणात्मक पापरूपो को "विजहाति" अर्थात् छोड़ देता है, उनका अभिमान परित्याग कर देता है। जिस प्रकार यह जीव एक वर्तमान शरीर मे ही बुद्धि की सदृशता को प्राप्त होकर स्वप्न और जाग्रत् वृत्तियो मे पापरूप देहेन्द्रिय का ग्रहण और त्याग करता हुआ निरन्तर सचरण करता रहता है, उसी प्रकार यह पुरुष जन्म-मरण द्वारा देहेन्द्रिय का निरन्तर ग्रहण और परित्याग करता हुआ, इस लोक और परलोक मे तब तक सचार करता रहता है, जब तक ससार से मोक्ष प्राप्त नही कर लेता। इसलिए इन सयोग और वियोग के कारण इस आत्म-ज्योति का देहेन्द्रियरूप पापों से अन्यत्व सिद्ध होता है। स्वाभाविक धर्म होने पर उनका धर्मी से सयोग-वियोग होना सिद्ध नहीं होता ॥८॥

१ तस्मात्सिद्धमिति—देहादिर्नात्मस्वभावस्तद्धर्मो वा तत्संयोगित्वाद्वियोगित्वाच्च स्रगादिवदिति भाव । ननु स्थूलदेहादेरात्मत्वाद्यभावेऽपि सूक्ष्मस्याव्यभिचारित्वात्तत्स्यादिति चेन्न यथा वैत्ररिछत्त्वा त्यक्तेन हस्तादिना तद्वानस्मीति नात्मानमभिमन्यते तथाऽवशिष्टेनापि नात्मन भवन्यस्त्यक्तवदत्यक्तस्यापि देहस्य विशेषणत्वाविशेषादत सूक्ष्मोऽपि देहो नात्मा तदीयो वा तद्वाधित्वात्स्थूलवदिति । २ दृष्टान्तभूतस्य । ३ एतावता—ताभ्या सयोगवियोगमात्रेण ।

ऽस्थाणो सर्वं कर्मात उच्यते ॥ ब्रह्मादीना शरीराणि अमूत्रशरीरवत् । यतो जिहासितान्येव तस्माद्धर्मोऽपि पाप्मगी ॥ दु खाभाव सदेहस्य नैवास्तीति श्रुतेर्वच । तस्माद्देहोऽप्यनर्थ स्याद्देहो नाशाच्च सर्वदा ॥ कर्म नाऽऽरभने यावद्दु खादिफलमात्मन । असत्सम भवेत्तावत्तदपूर्वाख्या स्थितम् ॥ शरीर पाप्मना कार्यं धर्माधर्मात्मनामिदम् । तस्मिन्नात्माभिमानो य सा सपत्तिरविद्यया' ॥८१४-८१८ ॥ इति । पाप्मप्रातिपदिकार्थमाह—पाप्मेतीति । आ विरिञ्चादा च स्थाणोर्देहसबन्धे हेतुर्धर्मादिस्तन्मात्रमत्र वाक्ये पाप्मप्रातिपादिकार्थं । तल्लक्षणा कर्ममात्र पाप्मशब्दितमित्यर्थं ॥ उत्कृष्टहेतोर्धर्मस्य पाप्मशब्देन ग्रहो धर्मकार्याणा ब्रह्मादिदेहाना सर्वस्पृहणीयत्वादित्याशङ्क्याऽऽह—ब्रह्मादीनामिति ॥ धर्मफलस्यापि देहस्य जिहासित्वे हेतुमाह—दु खेति । न ह वै सशरीरस्येत्यादिश्रुतेर्ब्रह्मादिदेहस्यापि दु खायतनत्वेन दृष्टेर्जिहासितत्वमित्यर्थं । तत्रैव हेत्वन्तरमाह—नाशाच्चेति । सर्वदेत्यनर्थपदेन सबध्यते ॥ पाप्मशब्दस्य कर्ममात्रविषयत्वेऽपि कथ देहसबन्धहेतुविषयत्व कर्मणस्तद्धेतुत्वासिद्धेर्भोगवासनायास्तथात्वादित्याशङ्क्याऽऽह—कर्मेति । कर्तृभोगार्थं कर्म तदनारम्भे मानाभावादतिसूक्ष्मस्य तस्यासत्त्वप्रसङ्गान्न च देह विना भोगस्तस्माद्देहस्य देहसबन्धहेतुरविद्य सवासन कर्मेत्यर्थं ॥ पाप्मभिरित्यत्र प्रातिपदिकार्थमुक्त्वा विभक्त्यर्थं सघातकर्तृत्वाख्य कथयति—शरीरमिति । ससर्गशब्दार्थमाह—तस्मिन्निति ॥

ॐ ननु न स्तोऽस्योभौ लोकौ यौ जन्ममरणाभ्यामनुक्रमेण संचरति स्वप्नजागरिते इव। स्वप्नजागरिते तु प्रत्यक्षमवगम्येते न [1]त्विहलोकपरलोकौ केनचित्प्रमाणेन। [2]तस्मादेते एव स्वप्नजागरिते इहलोकपरलोकाविति। उच्यते—

भाविकस्य हि धर्मस्य सति [1]स्वभावे कुतः संयोगवियोगौ वह्न्यौष्ण्यादिष्वदर्शनात्कार्यकरणयोश्च संयोगविभागवशादस्वाभाविकत्वे सिद्धमात्मनस्तदन्यत्वमित्यर्थः ॥८॥

तस्येत्यादिवाक्यस्य व्यावर्त्यां शङ्कामाह—नन्विति [2]अवस्थाद्वयवल्लोकद्वयसिद्धिरित्याशङ्क्याऽऽह—स्वप्नेति। कथं [3]तर्हि लोकद्वयप्रसिद्धिरत आह—तस्मादिति। [4]तत्रोत्तरत्वेनोत्तरं वाक्य

किन्तु स्वप्न और जाग्रत् के समान यह पुरुष जन्म और मरण के द्वारा क्रमश जिनमे संचरण करता है, वे दोनो लोक तो नही हैं। स्वप्न और जाग्रत् तो प्रत्यक्ष जाने जाते हैं, इहलोक और परलोक तो किसी भी प्रमाण से नही जाने जाते। इसलिए ये स्वप्न और जागरित ही इहलोक

१ यद्यपीह लोक प्रत्यक्षेणावगम्यत एव तथापि तस्य जागरित एवान्तर्भावान्न तद्व्यतिरेकेण परलोकसमकक्षेहलोकेऽपि मानमिति भाव। २ तयोरप्रमाणकत्वात्। ३ धर्मिणि। ४ जाग्रत्स्वप्नावस्थाद्वयेति भाव। ५ तर्हि—इहलोकपरलोकयोरप्रमाणकत्वे। ६ उक्तशङ्कायाम्

ॐ नन्वित्यादि उच्यत इत्यत प्राक्तन भाष्य तत्र सप्त वार्तिकानि—"प्रात्यक्ष्यादस्य लोकस्य नास्त्याशङ्काऽस्तिता प्रति। परलोकेऽपि नाऽऽशङ्का तत्सिद्धेरागमात्सदा॥ प्रत्यक्षवित्प्रमाणत्व परलोकेहलोकयो। स्वप्नवन्नान्यमानत्वमित्यस्तित्व विवक्षितम्॥ इत्याशङ्क्योत्तरो ग्रन्थस्तस्य वा इति भण्यते। इत्येष तावत्सबन्धस्तथाऽन्योऽप्यभिधीयते॥ आत्मा ज्योतिरिति श्लोक समान इति चापर। पाप्मनो विजहातीति पदार्था सूत्रितास्त्रय॥ स्वप्नेन निर्णयो वाच्य एतेषामित्यतोऽधुना। तस्येति वर्ण्यतेऽथेद विधिना येन तच्छृणु॥ अथ चाप्यभिसबन्धस्तथा चान्योऽपि वर्ण्यते। स्वयज्योतिर्य आत्मोक्तस्तस्यात्विद्याक्रियोद्भवा॥ कर्मोपभोगसिद्ध्यर्थं वर्ण्यन्ते भूमयोऽधुना। इद जन्म पर चैव स्वप्नस्तन्मध्यगस्तथा" ॥ ८२८-८३४॥ इति॥ भाष्योक्तामाशङ्कामनूद्याऽऽक्षिपति—प्रात्यक्ष्यादिति। इहलोकस्य प्रत्यक्षत्वादस्तिता निश्चिता परलोकस्य स्वर्गकामादिवाक्यसिद्धत्वान्न तत्रापि नास्तित्वाशङ्का तेन तन्निरासार्थं नोत्तरग्रन्थारम्भ इत्यर्थ॥ शङ्कासमर्थनपूर्वक समाधत्ते—प्रत्यगिति। प्रतीच सवित्स्वानुभवात्य प्रत्यक्ष तत्प्रमाणकत्व यथा स्वप्नजागरितयोस्तथेहलोकयोरपि प्रत्यक्षप्रमाणकमस्तित्व वाच्य नाऽऽगमादिमानान्तरगम्य तदस्तित्वमिति विवक्षित न च परलोकास्तित्व प्रत्यक्ष तस्मात्परलोको नास्तीत्याशङ्क्य प्रत्यक्षेणैव तत्समर्थनार्थमुत्तरो ग्रन्थ इत्यर्थं॥ भाष्योक्त सबन्ध निगमयति—इत्येष इति। भर्तृप्रपञ्चोक्त सबन्धमुत्थापयति—तथेति॥ त वक्तु वृत्त कीर्तयति—आत्मेति। यथाऽऽहुस्तान्येतानि त्रीणि वस्तून्युपन्यस्तानीति। तथोदाहृततदीयभाष्यावद्योती हिशब्द॥ तस्येत्यादेरिष्ट सबन्धमाह—स्वप्नेनेति। आत्मज्योतिरादीना त्रयाणा स्वप्नदृष्टान्तेन निर्णयो वाच्य इत्यतो हेतोस्तस्येति वाक्य प्रवृत्तमित्यर्थ। कथमत्र त्रयाणा निर्णयस्तत्राऽऽह—वर्ण्यत इति। उक्तचोद्यावद्योतनार्थोऽथशब्द। इद त्रय येन विधिना तस्यतिवाक्ये वर्ण्यते तद्विधानमुच्यमान शृण्विति योजना। वाक्यव्याख्याने त्रयाणा निर्णयो व्यक्तो भवतीति भाव॥ उक्त सबन्धमनुजानाति—अथ चेति। भाष्योक्त सबन्ध दृष्टान्तयितुमपिशब्द। स्वाभीष्ट सबन्धान्तरमाह—तथाचेति। तदेव स्फुटयति—स्वयमिति॥ इद चेत्यादिवाक्यमादाय भोगभूमीरेव दर्शयति—इदमिति। नकारसूचितमर्थमाह—स्वप्न इति॥

[1]तस्य [2]वा [3]एतस्य पुरुषस्य द्वे [4]एव स्थाने भवत [5]इदं च [6]परलोकस्थान च [7]सन्ध्यं तृतीय[8] स्वप्नस्थानं तस्मिन्संध्ये स्थाने [9]तिष्ठन्नेते [10]उभे स्थाने पश्यतीदं च परलोकस्थानं च। [11]अथ [12]यथाक्रमोऽयं परलोकस्थाने भवति तमाक्रममाक्रम्योभयान्पाप्मन आनन्दा-

उस इस आत्मपुरुष के यह लोक और परलोकसम्बन्धी दो ही स्थान हैं, तीसरा स्वप्नस्थान तो सन्ध्यस्थान है। उस सन्ध्यस्थान में रहता हुआ यह पुरुष इस लोकरूप स्थान और परलोकरूप स्थान इन दोनों को देखता है। यह पुरुष परलोकस्थान के लिये जैसे साधनों से युक्त होता है, वैसे साधनों का आश्रय लेकर यह पाप के फलरूप दुःख और पुण्य कर्म के फलरूप सुख दोनों ही को देखता है। जिस

तस्यैतस्य पुरुषस्य वै द्वे एव स्थाने भवतो न तृतीयं चतुर्थं वा। के ते। इदं च यत्प्रतिपन्नं वर्तमानं जन्म शरीरेन्द्रियविषयवेदनाविशिष्टं स्थानं प्रत्यक्षतोऽनुभूयमानम्। परलोक एव स्थानं परलोकस्थानम्। तच्च शरीरादिवियोगोत्तरकाला[?]नुभाव्यम्। ननु

मुत्थाप्य व्याकरोति—उच्यत इति। स्थानद्वयप्रसिद्धिद्योतनार्थो वैशब्दः। अवधारणं विवृणोति—नेति। वेदना सुखदुःखादिलक्षणा। [13]आगमस्य परलोकसाधकत्वमभिप्रेत्याऽऽह—तच्चेति। [14]अवधारणमा-

और परलोक है। इसी को श्रुति कहती है—

उस इस पुरुष के दो ही स्थान हैं, तीसरा या चौथा नहीं है। वे कौन से दो स्थान हैं? "इदं च" अर्थात् शरीर, इन्द्रिय, विषय और वेदनाविशिष्ट यह जो प्राप्त वर्तमान जन्म प्रत्यक्ष अनुभूयमान है, (दूसरा) "परलोकस्थानम्" यानी परलोक ही जो स्थान है, वह शरीर आदि के

१ एवमागमतः परलोकाऽस्तित्वे सिद्धेऽपि तत्र प्रत्यक्ष वाच्यमतस्तद्वक्तु यद्वाऽऽत्मज्योति। समान सन् पाप्मनो विजहाति। इत्येतान् सूचितांस्त्रीन्पदार्थान् स्वप्नावष्टम्भेन निर्णेतुमाह— तस्येति। २ प्रसिद्धस्य। ३ प्रकृतस्य। ४ न न्यूने नात्यधिके। ५ इदं—प्रत्यक्षतोऽनुभूयमान वर्तमान जन्मैकम्। द्वितीयमाह—परेति। ६ भाविजन्म। ७ उक्तोभयो सन्धौ भवम्। ८ वर्तमान। ९ वर्तमानभाविजन्मनी। १० लोकद्वयस्य ग्राह्यत्वाऽविशेषे कस्मादिहलोक त्यक्त्वा परलोको व्युत्पाद्यत इत्याशङ्क्य अथेत्यादेस्तात्पर्यमाह वार्तिके—"सुखेन दर्शनं तावदैहिकस्येह जन्मनः। यथा तु परलोकस्य तथाऽथेत्यभिधीयते" ॥ ८४५॥ इति। ११ आक्रम इत्यादि—आक्रामत्यनेनेत्याक्रम आश्रय विद्याकर्मपूर्वप्रज्ञालक्षणोऽवष्टम्भः स यादृशोऽस्य सोऽयं यथाऽऽक्रम पुरुष परलोकस्थाने प्रतिपत्तव्ये निमित्ते तत्प्राप्त्यर्थमिति यावत्। यादृशेनाक्रमेण युक्तो भवति तमाक्रम बीजभूतमाक्रम्यावष्टभ्य उभयान् पाप्मन आनन्दांश्च पापफलानि दुःखानि धर्मफलभूतान्सुखविशेषांश्च पश्यति एवमनेन प्रकारेण धर्माद्देवताप्रसादाद्वा अन्ते वयसि यदिहाऽनुभाव्यमान स्वप्ने पश्यति तत्पारलौकिकमेवेत्यर्थः। १२ अनुभवनीय भोक्तव्यमिति यावत्। १३ प्रत्यक्षस्यैतल्लोकसाधकत्ववत्। १४ सन्ध्यमित्यादिना व्यावर्त्यां शङ्कामादर्शयन्।

ऽश्च पश्यति [1]स यत्र प्रस्वपित्यस्य लोकस्य सर्वावतो मात्रामपादाय स्वयं विहत्य स्वयं निर्माय स्वेन भासा स्वेन ज्योतिषा प्रस्वपित्यत्रायं पुरुषः स्वयं ज्योतिर्भवति ।९॥

समय यह सो जाता है उस समय इस सम्पूर्ण लोको की मात्रा अर्थात् एक देश को लेकर अपने आप ही इस स्थूल शरीर को चेतनाशून्य करके तथा स्वय अपने ही वासनामय स्वाप्न शरीर को रचकर अपने आत्मज्योतिरूप प्रकाश से शयन करता है। अत इस अवस्था मे यह पुरुष स्वयज्योतिस्वरूप होता है॥९॥

स्वप्नोऽपि परलोकस्तथा च सति द्वे एवेत्यवधारणमयुक्तम्। न। कथ तर्हि । सध्य [2]तत्। [3]इहलोकपरलोकयोर्यः संधिस्तस्मिन्भव संध्यं यत्तृतीयं तत्स्वप्नस्थानम्। [4]तेन स्थानद्वित्वावधारणम्। [5]न हि ग्रामयोः सधिस्तावेव ग्रामावपेक्ष्य तृतीयत्वपरिगण-

---

क्षिपति—नन्विति। [6]तस्य स्थानान्तरत्वं [7]दूषयति—नेति। स्वप्नस्य लोकद्वयातिरिक्तस्थानत्वाभावे कथं तृतीयत्वप्रसिद्धिरित्याह—कथमिति। [8]तस्य सध्यत्वान्न स्थानान्तरत्वमित्युत्तरमाह—सध्य तदिति। संध्यत्वं व्युत्पादयति—इहेति। यत्स्वप्नस्थानं तृतीय मन्यसे तदिहलोकपरलोकयोः संध्यमिति संबन्ध। अस्य सध्यत्वे फलितमाह—न हीति। पूरणप्रत्ययश्रुत्या स्थानान्तरत्वमेव स्वप्नस्य कि न स्यादित्याशङ्कय प्रथमश्रुतसंध्यशब्द[9]विरोधा[10]न्मैवमित्याह—न हीति। परलोकास्तित्वे [11]प्रमाणान्तरजिज्ञासया-

---

प्राणशून्य हो जाने पर भोगने योग्य है। (इस पर शङ्का होती है—) किन्तु स्वप्न भी तो परलोक है ऐसा होने पर 'दो ही' यह निश्चयपूर्वक कहना ठीक नही है। (इस पर सिद्धान्ती कहता है—) ऐसी बात नही है। तो फिर क्या बात है? स्वप्नस्थान सन्ध्य है। ऐहिक और आमुष्मिक देह की जो सन्धि है, उसमे होने से जो 'सन्ध्य' है, वह तीसरा स्वप्नस्थान है। उसके सन्ध्य होने से दो ही स्थानो का निर्णय किया गया है। दो ग्रामों की सधि को उन्ही दो ग्रामों की अपेक्षा से किया जाता है, तृतीय ग्राम की गणना नही की जाती। किन्तु उस परलोकस्थान का अस्तित्व कैसे जाना जाता है,

---

१ स खल्वात्मा बाह्यैर्ज्योतिर्भिरसस्पृष्ट स्वयमेव यथा ज्योतिर्भवति तथेद स्वय ज्योतिरद्य साक्षात्स्वरूपावष्टम्भेनाह – स इति। स प्रकृत आत्मा यत्र काले प्रकर्षेण स्वप्नमनुभवति तदा किमाश्रय केन प्रकारेण स्वप्न प्रतिपद्यत इत्याकाङ्क्षायामाह—अस्येति। २ स्वप्नस्थानम्। ३ ऐहिकामुष्मिकदेहयो। ४ तस्य सध्यत्वेन। ५ न हीति—अत्र भाष्याद्विरुद्धार्थो वार्तिके— सध्य तृतीयमित्युक्ति पूरणप्रत्ययश्रुत। न स्थानान्तरनिह्नुत्यै यत्तूक्तमवधारणम् ॥ तदयागव्यवच्छित्त्यै नान्ययोगव्यपेक्षया। तस्मिन्सध्य इतीद च तथा मति समञ्जसमिति'॥८३७-८३८॥ ६ स्वप्नस्य। ७ दूषयति—देहद्वयातिरिक्तस्वप्नदेहोऽपि पुसोऽस्तीति अवधारणानुपपत्तिरिति चोद्य निरस्यतीत्यर्थ। ८ स्वप्नस्य। ९ विरोधादिति—एवकारविरोधादित्यप्यवधयम्। १० मैवमिति—तथा च पूरणप्रत्ययश्रुतिर्हेयेति भाव। ११ आगमान्यप्रमाणेति बोध्यम्।

नमर्हति । कथं पुनस्तस्य परलोकस्थानस्या[1]स्तित्वमवगम्यते यदपेक्ष्य स्वप्नस्थानं संध्यं भवेत् । यतस्तस्मिन्संध्ये स्वप्नस्थाने तिष्ठन्भवन्वर्तमान[2] एते उभे स्थाने पश्यति । के ते उभे । इदं च परलोकस्थानं च । [3]तस्मात्स्तः स्वप्नजागरितव्यतिरेकेणोभौ लोकौ यौ [4]धिया समानः सन्ननुसंचरति जन्ममरण[5]संतानप्रबन्धेन ।

कथं पुनः स्वप्ने स्थितः सन्नुभौ लोकौ पश्यति । किमाश्रयः केन [6]विधिनेति । उच्यते—अथ कथं पश्यतीति । शृणु । यथाक्रम आक्रामत्यनेनेत्याक्रम आश्रयोऽवष्टम्भ इत्यर्थः । [7]यादृश आक्रमोऽस्य सोऽयं यथाक्रमः । अयं पुरुषः परलोकस्थाने [8]प्रतिपत्तव्ये [9]निमित्ते यथाक्रमो भवति यादृशेन परलोकप्रतिपत्तिसाधनेन विद्याकर्मपूर्वप्रज्ञालक्षणेन युक्तो भवतीत्यर्थः । तमाक्रमं परलोकस्थानायोन्मुखीभूतं प्राप्ताङ्कुरीभावमिव बीजं

पृच्छति—कथमिति । [10]प्रत्यक्षं प्रमाणयन्नुत्तरमाह—यत इत्यादिना ।

स्वप्नप्रत्यक्षं परलोकास्तित्वे प्रमाणमित्युक्तं तदेवोत्तरवाक्येन (ण) स्फुटयितुं पृच्छति—कथमिति । कथंशब्दार्थमेव प्रकटयति—किमित्यादिना । उत्तरवाक्यमुत्तरत्वेनोत्थापयति—उच्यत इति । [11]तत्राथशब्दमुक्तप्रश्नार्थतया व्याकरोति—अथेति । उत्तरभागमुत्तरत्वेन व्याचष्टे—शृण्विति । यदुक्तं किमाश्रय इति तत्राऽऽह—यथाक्रम इति । यदुक्तं केन विधिनेति तत्राऽऽह—तमाक्रममिति ।

जिसकी अपेक्षा से स्वप्नस्थान सन्ध्यस्थान होता है क्योंकि उस सन्ध्य स्वप्नस्थान में "तिष्ठन्" यानी विद्यमान रहते हुए विद्या-कर्म-वासना से संस्कृत आत्मा इन दोनों स्थानों को देखता है । वे दोनों स्थान कौन से हैं ? यह और परलोक स्थान हैं । इसलिए स्वप्न और जागरित से व्यतिरिक्त दोनों लोक हैं, जिनमें बुद्धि से तादात्म्यभाव को प्राप्त पुरुष जन्म-मरण पङ्क्तिपरम्परा के द्वारा निरन्तर संचरण करता रहता है ।

किन्तु वह स्वप्न में स्थित हुआ दोनों लोकों को किस प्रकार देखता है, किस आश्रय और कौन सी विधि द्वारा देखता है ? 'वह कैसे देखता है" यह कहा जाता है । सुनो । "यथाक्रम." अर्थात् जिससे जीव आक्रमण करता है, वह 'आक्रम' यानी आश्रय या आधार है । इस जन्म में परलोक के निमित्त अर्जित ज्ञानादिसाधनकलाप आक्रम जैसा रहता है, उसे 'यथाक्रम' कहा जाता है । यह पुरुष लब्धव्य परलोकस्थानरूप उद्देश्य में जैसे आक्रम वाला होता है अर्थात् विद्या, कर्म और पूर्व-प्रज्ञारूप जिस प्रकार के परलोकप्राप्ति के साधन से युक्त होता है । "तमाक्रमम्" यानी अङ्कुरभाव को

---

१ अस्तित्वमिति । तथा च वार्तिके—'स्वप्नेहलोकयोस्तावत्तत्त्व प्रत्यक्षगोचरम् । परलोकस्य सद्भावे किं प्रमाणमितीर्यता' मिति ॥ ८३९ ॥ २ विद्याकर्मवासनासंस्कृत आत्मा । ३ परलोकसद्भावे स्वप्नप्रत्यक्षस्य मानत्वात् । ४ धीसदृश — तत्तादात्म्यापन्न । ५ पङ्क्तिपरम्परया । ६ प्रकारेण । ७ यादृश आक्रम इति इह जन्मनि परलोकार्थमार्जितज्ञानादिसाधनकलाप आक्रमशब्दार्थ । ८ प्रतिपत्तव्ये लब्धव्ये भाविदेहे । ९ उद्देश्ये सति । १० स्वप्नप्रत्यक्षं परलोकसद्भावे प्रमाणयन् । ११ वाक्यघटकम् ।

तमाक्रममाक्रम्यावष्टभ्याऽऽश्रित्योभयान्पश्यति बहुवचनं धर्माधर्मफलानेकत्वादुभयानुभयप्रकारानित्यर्थः । कांस्तान्पाप्मनः पापफलानि । न तु पुनः साक्षादेव पाप्मनां दर्शनं संभवति[1] तस्मात्पापफलानि दुःखानीत्यर्थः । आनन्दांश्च धर्मफलानि सुखानीत्येतत् । तानुभयान्पाप्मन आनन्दांश्च पश्यति [2]जन्मान्तरदृष्टवासनामयान् । यानि च [3]प्रतिपत्तव्यजन्मविषयाणि क्षुद्रधर्माधर्मफलानि धर्माधर्मप्रयुक्तो देवतानुग्रहाद्वा पश्यति ।

पाप्मशब्दस्य यथाश्रुतार्थत्वे संभवति किमिति फलविषयत्वं तत्राऽऽह—न त्विति । साक्षादागमादृते प्रत्यक्षेणेति यावत् । पाप्मनामेव साक्षाद्दर्शनासंभवस्तच्छब्दार्थः । कथं पुनराद्ये[4] वयसि पाप्मनामानन्दानां च स्वप्ने दर्शनं तत्राऽऽह—जन्मान्तरेति । यद्यपि मध्यमे वयसि करणपाटवादैहिकवासनया स्वप्नो दृश्यते तथाऽपि कथमन्तिमे वयसि स्वप्नदर्शनं तदाह—[5]यानि चेति । फलानां क्षुद्रत्वमत्र[6] लेशतो भुक्तत्वम् । यानीत्युपक्रमात्तानीत्युपसंख्यातव्यम्[7] ।

प्राप्त हुए बीज के समान परलोकस्थान के प्रति उन्मुख हुए उस आक्रम को "आक्रम्य" यानी आक्रान्त कर अथवा उसका आश्रय लेकर दोनो लोको को देखता है । 'उभयान्' इस पद में बहुवचन धर्माधर्म के फलो की अनेकता के कारण है अर्थात् दोनो प्रकार के लोको को देखता है । उन्हे किनको देखता है ? 'पाप्मन', अर्थात् पाप के फलो को । पापफलो के अतीन्द्रिय होने के कारण उनका साक्षात् दर्शन सभव नही है, इसलिए पापफल दुःखरूप है, "आनन्दाश्च" अर्थात् धर्म के फल जो सुखरूप हैं, इन जन्मान्तर दृष्ट वासनाओ के कार्य दुःख और सुख दोनो को देखता है। इसके अतिरिक्त जो भावी

---

१ तेषामतीन्द्रियत्वात् । २ कथ स्वप्नप्रत्यक्ष परलोक गोचरयतीत्याशङ्क्य बाल्ययौवनवार्धकभेदे मयातस्य तिरोऽवस्थास्तत्र बाल्यावस्थाया परलोकविषय स्वप्न सभवतीत्याह—जन्मान्तरदृष्टेति । तथा च वार्तिके—"भूतजन्मनि यद्भुक्त कर्म तद्भावनाञ्जित । पौवदैहिकमेवातो वयस्याद्येऽभिवीक्षते ॥ मध्ये वयसि कार्कश्यात्कारणानामिहार्ऽर्जिता । प्रायेण वीक्षते स्वप्ने वासना कर्मणो वशात् ॥ यियासु परलोक तु कर्माविद्यादिसवृत । भाविनो जन्मनो रूप स्वप्ने प्रायेण पश्यति" ॥ ८४१-८४३ ॥ इति । न हि तस्यामवस्थायामैहिकपुत्रादिविषय स्वप्नस्तस्याद्याप्यनिवृत्तेर्न च तस्य स्वप्नो नास्त्येव निद्राणस्य तस्य क्रन्दनादिदृष्टलिङ्गानुमितस्वप्नस्याप्रत्यारयेयत्वात्तस्मादस्ति पारलौकिकस्वप्नो बालस्येति भाव ॥ तर्हि यूनोऽपि परलोकविषय स्वप्नोऽस्तु नेत्याह—मध्य इति । कार्कश्य स्थूलार्थग्रहणसामर्थ्यम् । इहेति वर्तमानजन्मनि । कर्मणोवशादार्जिता वासना इति सबन्ध । इहासभावितमपि स्वप्ने कदाचिददृष्टवशात्पश्यति प्रायेणेत्युक्तम् ॥ अन्तिमे वयसि स्वप्नदर्शनस्य परलोकविषयत्वमाह—यियासुरिति । दृष्टेरनियमार्थं प्रायेणत्युक्तम् । अस्मिञ्जन्मन्यसभावितार्थस्य स्वप्ने दर्शन परलोकसत्त्वे मानमिति समुदायार्थं । अस्तु स्वप्नप्रत्यक्ष तत्र मान तथाऽपि कथ स्वप्नस्य सध्यत्व प्रत्यक्षेण वर्तमानदेहग्रहेऽपि द्वितीयापेक्षाया भूतो भावी वा देहो ग्राह्यस्तस्य सध्यत्वार्थमित्याकाङ्क्षायामाह—"भुक्तत्वादविवक्षेह व्यतिक्रान्तस्य जन्मन । परलोकेहलोकौ तु गृह्येते मध्यसिद्धये" ॥ ८४४ ॥ इह—स्वप्नस्य सध्यत्वसिद्धौ । ३ भाविजन्माधिकरणकानि तत्र भोक्ष्यमाणानीति यावत् । ४ बाल्ये । ५ यानि चेतीति । तथा च धर्माधर्मादिकृत तत्र तद्दर्शनमिति भाव । तथा च स्वप्नस्य सस्काराधीनत्वाद्भाविनश्चार्थस्य सस्काराभावात् कथ भाविगोचरत्व स्वप्नस्येत्यपास्त धर्मादेरेव तत्र हेतुत्वात् । ६ लोके जन्मनि वा । अत्र लेशतो भुक्तत्वमिति—ईदृशमपि भवति कर्म यदत्र मनाग्भोग प्रदाय जन्मान्तरेऽपि शेष फलतीति कर्मवैचित्र्यसूचनार्थमिति बोध्यमित्याहु । ७ फलानीत्यस्याग्रे ।

'तत्कथमवगम्यते परलोकस्थानसंबन्धिपाप्मानन्ददर्शनं स्वप्न इति । उच्यते— यस्मादिह जन्मन्य'ननुभाव्यमपि पश्यति बहु । न च स्वप्नो नामापूर्वं दर्शनम् । पूर्वदृष्टस्मृतिर्हि स्वप्नः प्रायेण । 'तेन स्वप्नजागरितस्थानव्यतिरेकेण स्त उभौ लोकौ ।

यदादित्यादिबाह्यज्योतिषामभावेऽयं कार्यकरणसंघातः पुरुषो येन व्यतिरिक्तेना-

---

ऐहिकवासनावशादैहिकानामेव पाप्मनामानन्दानां च स्वप्ने दर्शनसंभवान्न स्वप्नप्रत्यक्षं परलोकसाधकमिति शङ्कते—तत्कथमिति । परिहरति—उच्यत इति । यद्यपि स्वप्ने मनुष्याणामिन्द्रादि'भावोऽननुभूतोऽपि भाति तथाऽपि 'तदपूर्वमेव दर्शनमित्याशङ्क्याऽऽह—न चेति । स्वप्नधिया 'भाविजन्मभाविनोऽपि स्वप्ने दर्शनात्प्रायेणेत्युक्तम् । 'न च 'तदपूर्वदर्शनमपि सम्यग्ज्ञानमुत्थानप्रत्ययबाधात् । 'न चैवं स्वप्नधिया भाविजन्मासिद्धि''र्यथाज्ञानमर्थाङ्गीकारादिति भावः । प्रमाणफलमुपसंहरति—तेनेति ।

स यत्रेत्यादिवाक्यस्य *''व्यवहितेन संबन्धं वक्तुं वृत्तमनूद्याऽऽक्षिपति—यदित्यादिना । बाह्यज्योतिरभावे सत्ययं पुरुषः कार्यकरणसंघातो येन तद्व्यतिरिक्तेनाऽऽत्मज्योतिषा गमनागमनादि

जन्म के अधिकरण धर्म और अधर्मों के क्षुद्र फल हैं, उन्हें भी धर्माधर्म से प्रेरित होकर अथवा देवता के अनुग्रह से देखता है।

"स्वप्न में जो दुःख और सुख का दर्शन है, वह परलोकस्थानसंबन्धी है"—ऐसा किस प्रकार जाना जाता है। इस पर कहा जाता है क्योंकि इस जन्म में अननुभूत भी बहुत सी बातों को देखता है। स्वप्न अपूर्वदर्शन को कहते हों—ऐसी बात नहीं है। प्रायः पूर्वदृष्ट स्मृति का नाम स्वप्न है। अतः दोनों लोक स्वप्न और जाग्रत स्थानों से भिन्न हैं।

जिन आदित्यादि बाह्य ज्योतियों के अभाव में यह देहेन्द्रियसंघातरूप पुरुष जिन अपने से

---

१ तत्कथमिति स्वप्ने यत्पाप्मानन्ददर्शनं तत्परलोकस्थानसंबन्धीति कथमवगम्यत इति योजना । २ अननुभूतमिति यावत् । ३ तेन—परलोकसद्भावे स्वप्नप्रत्यक्षस्य मानत्वेन । ४ भाव पदार्थ इत्यप्याहुः । ५ तदपूर्वमेवेति—न भूतगोचरं नापि भाविगोचरं तथा च न भूतं भावि वा जन्मस्वप्नदर्शनेन सेद्धुमर्हतीति भाव । ६ भाविजन्मनि भविष्यतो वस्तुनः । ७ ननु स्वप्नस्य स्मृतिरूपत्वे तत्तत्यार्थाना प्रत्यक्षोपलब्धिर्न स्यादित्यत आह—न च तदपूर्वेति । तथा च शुक्तिरूप्यादिज्ञानवदपूर्वत्वेऽपि संस्कारजन्यत्वानुगमात्स्मृतितुल्यत्वाभिप्रायेण स्मृतित्वाभिधानमिति भाव । ८ तदपूर्वदर्शनमपीति—अस्तु वा स्वप्नदर्शनमपूर्वं तथापि न तत्प्रमा तत्र हेतु —उत्थानेत्यादि । भ्रान्तेश्च संस्कारजन्यत्वनियमात् सिद्धं भूतजन्मेति भाव । ९ स्वप्नदर्शनस्य मिथ्यात्वे । १० यथाज्ञानमर्थाङ्गीकारादिति । तथा च स्वप्ने ज्ञानवदर्थस्य मिथ्यात्वेऽपि तत्सूचितस्य सम्यक्त्वेन सिध्यत्येव भावि जन्मेति भाव । उक्तं हि—"सूचकश्च हि श्रुतेराचक्षते च तद्विदः"। ३ २ ४ इति । ११ ब्र सू ४ ३ ५ भाष्येण 'आत्मनैवायं ज्योतिषाऽऽस्ते" इत्यादिना सह—आत्मोपसंगतिं वक्तुमित्यर्थः ।

---

* व्यवहितेन संबन्धं वक्तुमित्यादि । अत्राहुर्वार्तिककारपादास्तथाहि—'यदुक्तं विरहेऽशेषसूर्यादिज्योतिषामयम् । पुमान्व्यवहरत्यात्मज्योतिषैवेति लिङ्गतः ॥ मान्यादिसर्वज्योतिर्भ्यो विविक्तोऽयं पुमानिति । क्व सिद्धं इति वक्तव्यं यथोक्तार्थप्रसिद्धये ॥ स्वयंज्योतिः प्रसिद्धिर्वा पूर्वमुक्तानुमानतः । साक्षादव्यवधानेन तत्प्रसिद्धिरथोच्यते ॥ स स्वयंज्योतिरात्मैव बाह्यज्योतिर्विवर्जितः । यथा भवति साक्षाच्च तथेदमभिधीयते" ॥ ८५५-

ऽऽत्मना ज्योतिषा व्यवहरती'त्युक्तम् । 'तदेव नास्ति । यदादित्यादिज्योतिषामभावगमनं यत्रेदं विविक्तं स्वयंज्योतिरुपलभ्येत । येन सर्वदैवायं कार्यकरणसंघातः संसृष्ट एवोपलभ्यते । 'तस्मादसत्समोऽसन्नेव वा स्वेन विविक्तस्वभावेन ज्योतीरूपेणाऽऽत्मेति ।

अथ 'क्वचिद्विविक्तः स्वेन ज्योतीरूपेणोपलभ्येत 'बाह्याध्यात्मिकभूतभौतिकसंसर्गशून्यस्ततो' यथोक्तं सर्वं भविष्यतीत्येतदर्थमाह—स यः प्रकृत आत्मा यत्र यस्मिन्काले प्रस्वपिति प्रकर्षेण 'स्वापमनुभवति तदा 'किमुपादानः केन विधिना स्वपिति संघ्यं स्थानं

'निर्वर्तयति तदात्मज्योतिरस्तीति यदुक्तमित्यनुवादार्थः । 'विशिष्टस्थानाभावं वक्तुं "विशेषणाभावं तावद्दर्शयति—तदेवेति । आदित्यादिज्योतिरभावविशिष्टस्थानं यत्रेत्युक्तं तदेव स्थानं "नास्ति विशेषणाभावादिति शेषः । यथोक्तस्थानाभावे "हेतुमाह—येनेति । संसृष्टो बाह्यज्योतिर्भिरिति शेषः । व्यवहारभूमौ बाह्यज्योतिरभावाभावे फलितमाह—तस्मादिति ।

उत्तरग्रन्थमु"त्तरत्वेनावतारयति—अथेत्यादिना । यथोक्तं सर्वव्यतिरिक्तत्वं स्वयंज्योतिष्ट्वमि

व्यतिरिक्त आत्मज्योति के द्वारा व्यवहार करता है—ऐसा कहा गया है। जो उन आदित्यादि ज्योतियों के अभाव की प्राप्ति होनी है, जहाँ कि इस विशुद्ध स्वयज्योति आत्मा की अनुभूति होती है—वह स्थान ही नहीं है। क्योंकि वह कार्यकारणसघात सदैव ससृष्ट ही अनुभूत होता है, अतः अपने विशुद्ध स्वभाव ज्योतिरूप से यह आत्मा असत् के समान है अर्थात् असत ही है।

यदि यह किसी स्थान मे बाह्य भूत तथा आध्यात्मिक भौतिक पदार्थों के ससर्ग से शून्य अपने विशुद्ध ज्योतिरूप से उपलब्ध होता तो (बाह्यादि से असंसृष्ट होने मे) उपरोक्त सब कुछ हो सकता था, इसलिए श्रुति कहती है- "स" अर्थात् वह यह प्रकरणस्थ आत्मा "यत्र" यानी जिस समय मे "प्रस्वपिति" अर्थात प्रवर्षरूप से स्वप्नावस्था का अनुभव करता है, तब वह किस उपादान वाला

१ बृ उ ४ ३ ६ । २ तदेवेति -तत्रेत्यादि । ३ अवतरणोक्तार्थकम् । ४ कुत्रचित्स्थाने । ५ विविक्त इत्युक्त विवृणोति—बाह्येति । बाह्याध्यात्मिके भूतभौतिवविशेषणे । ६ तत —बाह्यादिभिरसंसृष्टत्वात् । ७ स्वापमनुभवतीति । जाग्रदवस्थास्थूलदेहाभिमान त्यजतीत्यर्थ । तदभिमानशून्यतया स्वप्रधानो भवति तत्पारतन्त्र्यरहितो भवतीति यावत् । तदुक्त वार्तिके—"जाग्रत्कर्मक्षयादात्मा बाह्यदेहाभिमानत । व्युत्थाय स्वप्रधान सत्स्वप्रमाया समीक्षते' ॥ ८६० ॥ इति । ८ किमुपादान इति उपादीयत इत्युपादान साधनकलाप किसामग्रीक सन्नित्यर्थ । ९ बाह्यज्योतिरभावविशिष्टस्वप्नस्थानमिति भाव । १० बाह्यज्योतिरभावात्मकविशेषणमित्यर्थ । ११ नास्तीत्यन्तस्यात्राप्यनुषङ्गेणान्तर्गतमेव वेदम् । १२ विशेषणाभावात्मकमेवोक्त हेतुमुपपादयतीत्यर्थ । १३ यथोक्ताक्षेपसमाधानत्वेन ।

८५८ ॥ इति । स यत्रेत्याद्यवतारयितु व्यवहित वृत्त कीर्तयति—यदुक्तमिति । लिङ्गत इत्यादित्यादिज्योतिरभावेऽपि स्पष्टस्वप्नादिगतवासनादिव्यवहारवशादित्यर्थ । तत्र चोद्यमुत्थमतीति शेष ॥ अनन्तरवाक्यार्थमाकाङ्क्षापूर्वक सक्षिप्याऽऽह भान्वादीति । आदित्यादिज्योतिरसंसृष्टश्चिदात्मा कुत्र सिद्ध इति पृष्टे जिज्ञासित स्थान यस्माद्वाच्य तस्माद्बाह्यज्योतीरहितस्य स्थानस्य यथोक्तार्थस्य प्रदर्शनार्थं स यत्रेत्यादिवाक्यमिति योजना ॥ सबन्धान्तरमाह—स्वयमिति । आत्मैवास्येत्यादौ व्यवहारलिङ्गानुमानत स्वप्रकाशश्चिदात्मोक्त । अथापरोक्षानुभवात्प्रत्यग्भावेन तत्सिद्धिर्वाच्येत्युत्तर वाक्यमित्यर्थ । उक्त

प्रतिपद्यत इत्युच्यते । अस्य [1]दृष्टस्य [2]लोकस्य [3]जागरितलक्षणस्य सर्वावतः [4]सर्वमवतीति सर्वावानय लोकः कार्यकरणसंघातो [5]विषयवेदनासंयुक्तः । सर्वावत्त्वमस्य व्याख्यातमन्नत्रयप्रकरणेऽयो[6] अयं वा आत्मेत्यादिना । सर्वा वा भूतभौतिकमात्रा [7]अस्य संसर्गकारणभूता विद्यन्त इति [8]सर्ववान्सर्ववानेव [9][10]सर्वावांस्तस्य सर्वावतो मात्रामे[11]कदेशमवयवमपादायापच्छिद्याऽऽदाय गृहीत्वा ❀[12]दृष्टजन्मवासनावासितः सन्नित्यर्थः । [13]स्वय-

स्यादि । आह स्वप्नं प्रस्तोतीति यावत् । उपादानशब्दः परिग्रहविषयः । कथ"मस्य सर्वावत्त्वं तदाह—सर्वावत्त्वमिति । संसर्गकारणभूताः सहाध्यात्मादिविभागेनेति शेषः । किमुपादान इत्यस्योत्तरमुक्त्वा

होकर किस विधि से सोता है यानी सध्य स्थान को प्राप्त करता है। इस जाग्रद्देहलक्षण प्रत्यक्ष लोक की "सर्वावत" अर्थात् सबका पालक यह लोक विषय से उत्पन्न सुखदु खानुभवयुक्त देहेन्द्रियसंघात है। इसका "सर्वावत्त्व" "यही वह आत्मा है"—इत्यादि श्रुतिवाक्य द्वारा अन्नत्रय के प्रकरण में कह दिया गया है। अथवा सम्पूर्ण भूत भौतिक संस्कार इस पुरुष के संसर्ग के कारणभूत हैं—इसलिए सर्ववान् है। सर्ववान् को ही सर्वावान् कहा गया है, उस सर्वावान् के संस्कार एकदेश जाग्रद्वासना का

१ प्रत्यक्षस्य । २ लोकस्येति—"प्रवृत्त फलदानाय यदिदं जन्म वर्तते । अस्येतिलोकशब्देन तदेतदभिधीयते" ॥ वा ८६२ ॥ इति । ३ जाग्रद्देहस्य । ४ सर्वमवतीति । तथा च वार्तिके—"जुहोत्यादिक्रियाद्वारा यस्मात्सर्वमवत्ययम् । सर्वावानिति तेनायमात्मा देहान्त उच्यते" ॥ ८६२ ॥ इति । अयं बुद्ध्यादिर्देहान्त सर्वो संघात पुरुषो यागादिद्वारा सर्वं देवादि यतो रक्षति तेनाय लोकमान सर्वावानित्युच्यत इत्यर्थः । अत्र यद्यपि भाष्यवार्तिकटीकासु सर्वावानित्यथ पाठ सर्वपुस्तकेषु लभ्यते तथापि सर्वमवतीति व्युत्पत्त्यनुसारेण सर्वावन्निति-दान्तपदपाठ एव समीचीनो भाति सर्वावन्निति तु सुप्सुपा समास । ५ विषयोत्थसुखदु खानुभवयुक्त । ६ बृ उ १ ४ १६ । ७ संस्कारा । ८ पुंस । ९ सर्ववानिति—सर्वनाम्नो वृत्तिमात्रे पुंवद्भाव । १० सर्वावानिति छान्दस दैर्घ्यम् । ११ जाग्रद्वासनामित्यर्थ । १२ जाग्रद्वासनायुक्त । १३ स्वयमिति—आत्मनो देहपाते कर्तृत्व देवतानामिति शङ्कानिरासार्थमत्र स्वयमिति विशेषण बोध्यम् । १४ मयातस्य ।

सबन्धद्वयमेकीकृत्य सुखप्रतिपत्त्यर्थं संगृह्णाति—स इति । स खल्वात्मा बाह्यैर्ज्योतिर्भिरस्पृष्ट स्वयमेव यथा ज्योतिर्भवति तथेद स्वयंज्योतिष्ट्व साक्षादनुभवयोग्य स्वप्नदृष्टान्तेनोच्यते । उक्त हि—स्वयज्योतिरित्युपन्यस्तमात्मज्योतिरियननाभिधानान्तरेण तन्निर्णयार्थं स्वप्नदृष्टान्त उपादीयत इति । सर्वथाऽपि स्वप्रकाशात्मनिर्णयार्थमुत्तर वाक्यमित्यर्थ ॥

❀दृष्टजन्मवासनावासित सन्नित्यर्थ । तथा च वार्तिके—' सर्वावतोऽस्य देहस्य स्वप्नभोगप्रसिद्धये । आदाय वासनामात्रा स्वप्नमाया तनोत्ययम् ॥ अध्यात्मादिविभागेन मात्रा जागरिते यथा । भोगेनेहापचीयन्ते प्रचीयन्ते च कर्मभि ॥ स्वप्नभूमावपि तथा कर्मणोत्थापिता इमा । क्षयवृद्धिप्रबन्धेन मात्रा स्युर्वासनात्मिका ॥ धिया धियेति च तथा प्रागेतदुपपादितम् । ह्रासवृद्धिप्रबन्धेन यथेद वर्तते जगत्" । ८६५-८६८ ॥ इति । मात्रामित्यादिव्याचष्टे—सर्वावत इति । अस्य देहस्य सर्वावत्त्वेनोक्तस्य वासनारूपा मात्रामादाय स्वप्नाख्या माया तद्भोगार्थमय पुरुषस्तनोतीति सबन्ध ॥ वासनाना स्वप्नभोगेन क्षयादन्तवत्त्वोपपत्तेः सुप्तस्य मुक्ति स्यादित्याशङ्क्य दृष्टान्तमाह—अध्यात्मादीति ॥ दार्ष्टान्तिकमाह—स्वप्नेति ॥ उक्तार्थोपोद्बलकत्वेन सप्तान्नब्राह्मणोक्त स्मारयति—धियेति ॥

मात्मनैव विहत्य [2]देहं पातयित्वा [3]निःसंबोधमापाद्य । जागरिते ह्यादित्यादीनां चक्षुरादिष्व नुग्रहो [3]देहव्यवहारार्थः । देहव्यवहारश्चाऽऽत्मनो धर्माधर्मफलोपभोगप्रयुक्तस्तद्धर्माधर्मफलोपभोगोपरमणमस्मिन्देह [5]आत्मकर्मोपरमकृत मित्यात्माऽस्य विहन्तेत्युच्यते । [6]स्वयं निर्माय निर्माण कृत्वा * वासनामयं स्वप्नदेहं मायामयमिव । निर्माणमपि तत्क-

केन विधिनेत्यपेक्षोत्तरमाह—स्वयमित्यादिना । आपाद्य प्रस्वपितीत्युत्तरत्र संबन्धः । कथं पुनरात्मनो देहविहन्तृत्व जाग्रद्धेतुकर्मफलोपभोगोपरमणाद्धि स [9]विहन्यते तत्राऽऽह—जागरिते हीत्यादिना । निर्माणविषयं वर्णयति—वासनामयमिति । यथा मायावी मायामयं देह निर्मिमीते तद्वदित्याह—मायामयमिवेति । कथं पुनरात्मनो [10]यथोक्तदेहनिर्माणकर्तृत्वं [11]कर्मकृतत्वात्तन्निर्माणस्येत्याशङ्क्याऽऽह—निर्माण-

"आदाय" अपच्छेदन कर, आदान या ग्रहण करके अर्थात् इष्ट जन्मरूप जाग्रद्वासना से युक्त होकर, "स्वयं विहत्य" यानी अपने आप ही देह को चेतनाशून्य कर, जागरित अवस्था में ही देहचेष्टाफलक के लिए चक्षु आदि इन्द्रियों में आदित्यादि का उपकार होता है और देहचेष्टा आत्मा के धर्माधर्म के फलोपभोग का कारण होती है तथा इस देह में उस भोग के धर्माधर्म फलोपभोग की उपरति आत्मकर्म की उपरति के कारण है, इस प्रकार परम्परा से आत्मा इसका हननकर्ता कहा जाता है। "स्वयं निर्माय" अर्थात् मायामय सदृश वासनामय स्वप्न देह को स्वयं निर्माण करके (शयन करता है)।

१ जाग्रद्देहम् । २ निश्चेष्ट कृत्वा । ३ देहचेष्टाफलक । ४ तस्य भोगस्य । ५ आत्मकर्मोपरमकृतमिति । अत्र वार्तिके—"स्वात्मापसर्पणाद्देह निःसबोध करोति य । सुषुप्सु कर्मणा ध्वस्तौ विहत्येत्युच्यते तत " ॥ ८७० ॥ इति । ६ एव परम्परया । ७ इदमपि विशेषण पूर्ववत् । ८ भोगोपशान्ते । ९ विहृति प्राप्नोति । १० स्वप्नदेहेत्यर्थ । ११ कर्मकार्यत्वात् ।

* अनुग्रह इति । अनुग्रहप्रयुक्त आत्मनो रूपादिबोध इति यावत्तथा च वार्तिकम्—"भान्वाद्यनुग्रहाद्बोधमात्मनश्चक्षुरादिषु । देहस्य व्यवहारार्थं देहव्यवहृतिस्तथा" ॥ ८७१ ॥ आत्मनो हि करणेषु देवतानुग्रहाद्देहचेष्टार्थं रूपादिबोधो जागरिते जायते तथा सति देहचेष्टा स्यादित्यर्थ ॥ देहव्यवहारोऽपि केन प्रयुज्यते किमर्थो वेत्याशङ्क्याऽऽह—"आत्मकर्म प्रयुक्तैव धर्मादिफलभुक्तये । कर्मणः फलभोगान्ते देहो यस्मात्पतत्ययम्" ॥८७२॥ तथाऽपि कथमात्मनस्तद्विहतिकर्तृत्वं तेत्याशङ्क्याऽऽह—कर्मण इति । तस्मात्परम्परया देहपाते हेतुरात्मेति शेष ॥ * वासनामयमिति । अस्य विशेषणस्य तात्पर्यमाहुर्वार्तिकाचार्यास्तथाहि—'अपास्ताशेषकरणदैवतस्यापि चाऽऽत्मन । क्रियाकारकसिद्ध्यर्थं भावनैवास्य कारणम् ॥ निर्मातव्योऽथ भोक्तव्यो यो लोकोऽभूदिहाऽऽत्मन । तेन तेन स्वरूपेण भावना व्यवतिष्ठते ॥ अपेतकारकत्वोऽपि कर्मोत्थापितभावन । भावनाकारकेक्षित्वादात्मैक कारकायते ॥ तर्हि क्रियाकारकमात्रसिद्ध्यर्था भावनाऽस्तु न सा सर्वस्वप्ननिर्माणे हेतुर्नेत्याह—निर्मातव्य इति । अथशब्दस्तथाशब्दपर्याय । इहेति जागरोक्ति ॥ विहत्य निर्मायेति च कर्तृत्वमात्मनो न युक्त न हि कूटस्थाद्भवस्य कर्तृत्वेत्याशङ्क्याऽऽह—अपेतेति । एकविशेषणादुपरिष्टादप्यपिर्द्रष्टव्य ॥ किमर्थं भास स्वेनेति विशेषणमित्याशङ्क्य समादधुर्वार्तिके—"बुद्ध्यादिकरणोत्थाया व्यावृत्त्यर्थं विशेषणम् । स्वेनेति भास प्रत्यक्चिदभिव्यक्तिकृतोऽभिधा ॥ स्वशब्दाविह विज्ञेयावात्मीयात्मार्थवाचिनौ । भाज्योतिरनुराधेन सामर्थ्यादेव कारणात् ॥ परार्था भावना यस्मात्स्वार्थं ज्योतिश्चिदात्मन । उक्तार्थवाचिनौ तस्मात्स्वशब्दौ समुदाहृतौ ॥ स्वयज्योतिरिति प्रोक्तो निष्क्रियोऽकारकोऽफल । य स एव स्वयज्योतिर्ज्योति शब्देन भण्यते ॥ निःशेषलोकधी-

[1]मपेक्षत्वात्स्वयंकर्तृकमुच्यते। स्वेनाऽऽत्मीयेन भासा मात्रोपादानलक्षणेन भासा दीप्त्या प्रकाशेन [2]सर्ववासनात्मकेनान्तःकरण[3]वृत्तिप्रकाशेनेत्यर्थः। [4]सा हि तत्र विषयभूता सर्ववासनामयी प्रकाशते। सा [5]तत्र स्वयं भा उच्यते। तेन स्वेन भासा विषयभूतेन स्वेन च ज्योतिषा [6]तद्विषयिणा [7]विविक्तरूपेणालुप्तदृक्स्वभावेन [8]तद्भारूपं वासनात्मकं [9]विषयीकुर्वन्प्रस्वपिति। [10]यदेवं वर्तनं तत्प्रस्वपितीत्युच्यते। अत्रैतस्यामवस्थायामेतस्मिन्काले ऽयं पुरुष आत्मा स्वयमेव विविक्तज्योतिर्भवति *[11]बाह्याध्यात्मिकभूतभौतिक-

मपीति। स्वेन भासेत्यत्रेत्थंभावे [12]तृतीया। करणे तृतीयां व्यावर्तयति—सा हीति। तत्रेति स्वप्नोक्तिः। यथोक्तान्तःकरणवृत्तेर्विषयत्वेन प्रकाशमानत्वेऽपि [13]स्वभासो भवतु करणत्वमित्याशङ्क्याऽऽह—[14]सा तत्रेति। स्वेन ज्योतिषेति कर्तरि तृतीया। स्वशब्दोऽत्राऽऽत्मविषयः। कोऽयं प्रस्वापो नाम तत्राऽऽह—यदेवमिति। विविक्तविशेषणं विवृणोति—बाह्येति।

निर्माण भी आत्मकर्मापेक्ष होने से वह आत्मकर्तृक कहा गया है। "स्वेन भासा" अर्थात् आत्मीय मात्रोपादानरूप दीप्ति या प्रकाश से; अर्थात् सर्वदेहसंबन्धी वासनात्मक अन्तःकरणवृत्तिरूप प्रकाशन से (शयन करता है) क्योंकि सर्ववासनामयी अन्तःकरणवृत्ति ही वहाँ विषयभूता होकर प्रकाशित होती है। उस स्वप्नावस्था में वह स्वयप्रकाश कही जाती है। उस अपने विषयभूत प्रकाश से यथोक्तवृत्ति साक्षी संघात से विविक्त अलुप्त दृक् स्वभावात्मिका आत्मज्योति से उस अपने वासनात्मक अन्तःकरणवृत्तिरूप को विषय करता हुआ तत्साक्षीरूप से अवस्थित रहता है। यथोक्त साक्षिस्वरूप से रहना ही "प्रस्वपिति" ऐसा कहा जाता है। यहाँ इस अवस्था में इस काल में यह पुरुष यानी आत्मा स्वयं विशुद्ध ज्योतिस्वरूप होता है, 'बाह्य' आध्यात्मिक भूत एवं भौतिक

१ आत्मकर्म। २ अतीतवर्तमानसर्वदेहसंबन्धिवासनात्मकेन। ३ वृत्तिरूपप्रकाशेन। ४ अन्तःकरणवृत्ति। ५ स्वप्ने। ६ यथोक्तवृत्तिसाक्षिणा। ७ संघाताद्विविक्तरूपेण। ८ आत्मीययथोक्तान्तःकरणवृत्तिस्वरूपम्। ९ तत्साक्षित्वेनावतिष्ठते। १० यथोक्तसाक्षित्वेन। ११— बाह्यमादित्यादि आध्यात्मिकं चक्षुरादि। १२ तथा च तदुपलक्षित इत्यर्थः। तदात्मनेत्येके। १३ यद्यपि स्वेन भासेत्यत्रस्वशब्द एवात्मीयपरतया यथोक्तान्तःकरणवृत्तित्वेन व्याख्यातस्तथापि तस्य तत्राप्रसिद्धया तद्बुद्ध्यैव शङ्कते— स्वभासो भवतु करणत्वमिति। १४ सा तत्रेतीति—यथोक्तान्तःकरणवृत्तिपर एव स्वशब्द इति भाव इति शेष।

वृत्तिसाक्षिणेऽविकारिणे। प्रतीच ईदृशी वृत्तिः स्वपितीत्यभिधीयते" ॥ ८७८-८८२ ॥ इति। स्वेनेत्यभिधाय विशेषणं प्रत्यक्चैतन्याभिव्यक्तिहेतोर्भासः स्वप्नावस्थागताया बुद्ध्यादिद्वारा प्रवृत्ताया कूटस्थबोधाज्ज्योतिष्ट्वेन प्रस्तुताद्व्यावृत्त्यर्थं भवति हि भावनामयी भा स्वप्नस्था प्रत्यगभिव्यक्तिकरी तत्साक्षित्वेन तत्स्वयंज्योतिष्ट्वसाधनादित्यर्थः ॥ कथं स्वशब्देन कूटस्थज्योतिषो भासो व्यावृत्तिः स्वेन ज्योतिषेति ज्योतिषोऽपि विशेषणादित्याशङ्क्य स्वशब्दयोर्विशेष्यवशादर्थभेदाद्भाविशेषणेनाऽऽत्मज्योतिषस्तद्व्यावर्तनं युक्तमित्याह—स्वशब्दाविति। इहेति प्रकृतवाक्योक्तिः। कथं तदनुरोधेऽपि स्वशब्दयोरित्थमर्थव्यवस्थेत्याशङ्क्याऽऽह—सामर्थ्यादिति॥ कथं तयोः सामर्थ्यं तत्राऽऽह—परार्थेति॥ स्वेन ज्योतिषेत्यत्र ज्योतिःशब्दार्थमाह—स्वयमिति॥ प्रस्वपितीत्यस्यार्थमाह—निक्षेपेति॥

* बाह्याध्यात्मिकभूतभौतिकसंसर्गरहितं ज्योतिर्भवतीति। अत्र वार्तिके—"भान्वादिबाह्यज्योतिर्भिः सर्वैर्णं

संसर्गरहितं ज्योतिर्भवति ।

नन्वस्य लोकस्य मात्रोपादानं कृतं कथं [१]तस्मिन्सत्यत्रायं पुरुषः स्वयंज्योतिर्भवतीत्युच्यते । नैष दोषः । विषयभूतमेव हि [३]तत् । तेनैव चात्रायं पुरुषः स्वयं ज्योतिर्दर्शयितुं शक्यः । न [४]स्वन्यथाऽसति विषये कस्मिंश्चित्सुषुप्तकाल इव । [५]यदा पुनः सा भा वासनात्मिका विषयभूतोपलभ्यमाना भवति तदाऽसिः कोशादिव निष्कृष्टः सर्वसंसर्गरहितं

स्वप्ने स्वयं ज्योतिरात्मेत्युक्तमाक्षिपति—नन्वस्येति । [६]वासनापरिग्रहस्य मनोवृत्तिरूपस्य विषयतया विषयित्वाभावादविरुद्धमात्मनः स्वप्ने स्वयंज्योतिष्ट्वमिति समाधत्ते—नैष दोष इति । कुतो वासनोपादानस्य विषयत्वमित्याशङ्क्य [७]स्वयंज्योतिष्ट्वश्रुतिसामर्थ्यादित्याह—तेनेति । मात्रादानस्य विषयत्वेनेति यावत् । [८]तदेव व्यतिरेकमुखेनाऽऽ(खाऽऽ)ह—न त्विति । यथा सुषुप्तिकाले व्यक्तस्य विषयस्याभावे स्वयं ज्योतिरात्मा दर्शयितुं न शक्यते तथा स्वप्नेऽपि [९]तस्मात्तत्र स्वयंज्योतिष्ट्वश्रुत्या मात्रादानस्य विषयत्वं प्रकाशितमित्यर्थः । भवतु स्वप्ने वासनादानस्य विषयत्वं तथाऽपि कथं स्वयं ज्योतिरात्मा शक्यते विविच्य दर्शयितुमित्याशङ्क्याऽऽह—यदा पुनरिति । अवभासयद्भासयं

ससर्ग से रहित ज्योति होता है ।

(इस पर शङ्का होती है—) किन्तु इसने तो इस लोक के सस्कार को ग्रहण किया है; फिर वासनात्मक मात्रा शब्दित वस्तु के रहते हुए पुरुष स्वय ज्योति किस प्रकार होता है । (सिद्धान्ती उत्तर देता है—) इसमे कोई दोष नही है । क्योंकि वासना उपादान तो विषयभूत ही होना है । इसलिए उस पुरुष को यहाँ स्वयज्योतिरूप से दिखाना सभव है । नही तो सुषुप्ति अवस्था के समान विषयशून्य होने पर इस स्वयज्योति को दिखाया नही जा सकता । स्वप्नकाल में जब कि वासनात्मिका ज्योति विषयभूत होकर अनुभव की जाती है, उस समय म्यान से निकाली गई तलवार के समान सर्व-

१ वासनात्मके मात्राशब्दिते वस्तुनि । २ उच्यत इति—जाग्रद्वासनावशादेवात्मसिद्धयुपपत्तेर्न तस्य स्वयज्योतिष्ट्वसिद्धिरिति भाव । ३ वासनोपादानम् । ४ न त्वन्यथेति—न हि स्थूलोपाधिसत्त्वे जागरितवत् प्रदीपोपाध्यसत्त्वे च सुषुप्तवदात्मा स्वयज्योति शक्यो दर्शयितु तथा च स्वप्ने कृत मिथ्याभूत-वासनाऽऽदानमात्मस्वयज्योतिष्ट्वसाधनोपयुक्तमित्यर्थ । ५ स्वप्नकाले । ६ वासनारूपपरिग्रहस्य । ७ स्वयज्योतिष्ट्वश्रुतिसामर्थ्यादिति—स्वयज्योतिष्ट्वश्रुत्यन्यथाऽनुपपत्तेरित्यर्थ । मात्राऽऽदानस्य विषयित्वाटिप्रवेशे विषयाभावात्स्वयज्योतिष्ट्वश्रुतिरुपरुध्येतेति भाव. । ८ वासनाऽऽदानस्य विषयत्वमेव । ९ तस्मात्—वासनाऽऽदानस्य विषयत्वमन्तरेण स्वयज्योतिष्ट्वास्य दर्शयितुमशक्यत्वात् ।

प्रागभूदयम् । अन्यस्य ज्योतिषोऽभावात्स्वयज्योति पुमानयम् ॥ नान्यत्र कारणाद्वृत्ति कार्याणा जागरेऽपि हि । कारणं च तमस्थात्मा नात स्वप्ने मनस्थिति" ॥ ८९५ ८९६ ॥ इति । प्राग्जाग्रति सप्रति स्वप्नावस्थायामिति शेष ॥ ज्योतिरन्तराभाव स्वप्ने नास्ति मनसो ज्योतिषस्तत्र सत्त्वादन्यथा सुषुप्तादविशेषप्रसङ्गादतो न तत्र स्वयज्योतिष्ट्वमित्याशङ्क्य समतमर्थमाह—नान्यत्रेति । अवस्थान्तरेऽपीत्यपेरर्थ । कार्याणा स्वातन्त्र्येण दुर्निरूपितत्वादितिहेत्वर्थो हिशब्द । अस्त्वेव प्रस्तुते किं जात तदाह—कारण चेति । अज्ञातो हि प्रत्यगात्मा जगद्धेतुस्तथाच कार्यस्य मनस स्वकारणाधीनत्वान्न स्वप्ने स्वतन्त्रतया स्थिति स चाऽऽत्मा तत्साधको नाऽऽत्म-साधक तद्युक्त पराधीनत्वेन सपवज्जडत्वादित्यर्थ ॥

चक्षुरादिकार्यकरणव्यावृत्तस्वरूपमलुप्तदृगात्मज्योतिः स्वेन रूपेणावभासयद्गृह्यते । तेना-त्राय पुरुषः स्वयं ज्योतिर्भवतीति सिद्धम् ॥ ६ ॥

नन्वत्र[१] कथं पुरुषः स्वयं ज्योतिर्येन जागरित इव ग्राह्यग्राहकादिलक्षणः सर्वो व्यवहारो दृश्यते । चक्षुराद्यनुग्राहकाश्चाऽऽदित्याद्या लोकास्तथैव दृश्यन्ते यथा जागरिते । [२]तत्र कथं विशेषावधारणं क्रियतेऽत्रायं पुरुषः स्वयं ज्योतिर्भवतीति । उच्यते—[४]वैल-क्षण्यात्स्वप्नदर्शनस्य । जागरिते हीन्द्रियबुद्धिमनआलोकादिव्यापारसंकीर्णमात्मज्योतिः । इह तु स्वप्न इन्द्रियाभावात्तदनुग्राहकादित्याद्यालोकाभावाच्च विविक्तं केवलं भवति । [५]तस्माद्विलक्षणम् । ननु तथैव विषया उपलभ्यन्ते स्वप्नेऽपि यथा जागरिते [६]तत्र कथमि-न्द्रियाभावाद्वैलक्षण्यमुच्यत इति । शृणु—

वासनात्मकमन्तःकरणमिति ज्ञेयः । स्वप्नावस्थायामात्मनोऽवभासकान्तराभावे फलितमाह—तेनेति ।।६।।

यदुक्तं स्वप्ने स्वयं ज्योतिरात्मेति तत्प्रकारान्तरेणाऽऽक्षिपति—नन्विति । अवस्थाद्वये विशेषा-भावकृतं चोद्यं दूषयति—उच्यत इति । वैलक्षण्यं स्फुटयति—जागरिते इति । मनस्तु स्वप्ने सदपि विषयत्वान्न स्वयंज्योतिष्ट्वविघातीति भावः । उक्तं वैलक्षण्यं प्रतीतिमाश्रित्याऽऽक्षिपति—नन्विति । न तत्रत्याविवाक्यं व्याकुर्वन्नुत्तरमाह—शृण्विति । [८]प्रतीतिं घटयति—अथेति ।

ससर्गरहित, चक्षु आदि कार्यकरण से व्यावृत्त स्वरूप, अलुप्तदृक्स्वभाव वह आत्मज्योति अपने स्वरूप से प्रकाशित करती हुई स्वयं गृहीत होती है। अत. वह सिद्ध हुआ कि यहाँ यह पुरुष स्वयंज्योति स्वरूप होता है ॥६॥

(इस पर शङ्का होती है—) किन्तु स्वप्नावस्था मे पुरुष स्वयंज्योति कैसे हो सकता है क्योकि जागरित के समान ग्राह्य-ग्राहकादिलक्षण सर्वव्यवहार देखा जाता है। चक्षु आदि इन्द्रियो के अनुग्राहक आदित्यादि लोक भी उसी तरह देखे जाते हैं, जैसे जाग्रदवस्था मे थे। दोनो अवस्थाओ मे कोई भेद न होने से यह विशेष निर्णय किस लिए किया जाता है कि यहाँ यह पुरुष स्वयंज्योति होता है ? (इस पर सिद्धान्ती कहता है—)इसे बतलाया जाता है। क्योकि स्वप्नदर्शन की जागरित से विशेषता है। जागरित अवस्था आत्मज्योति इन्द्रिय, बुद्धि, मन और आलोकादि व्यापार से व्याप्त रहती है, किन्तु यहाँ स्वप्न मे तो इन्द्रियों के अभाव तथा उनके अनुग्राहक आदित्यादि के प्रकाश के अभाव के कारण वह विशुद्ध केवल रहती है; इसलिए विलक्षण है। (पुन शङ्का होती है—) किन्तु जिस प्रकार जाग्रदवस्था मे विषयानुभूति होती है, उसी प्रकार स्वप्न मे भी विषयो की उपलब्धि होती है, फिर इन्द्रिय के अभाव के कारण ही उन प्रतीयमानो की विलक्षणता क्यो कही जाती है। (समाधान में कहते हैं—) सुनो।

---

१ अवतरणोक्तार्थकम् । २ स्वप्ने । ३ अवस्थाद्वये सत्यविशेषे । ४ वैलक्षण्यादिति—देहादे स्वप्नवृत्तावसम्भवेन स्वप्नस्य जागरितवैलक्षण्यादित्यर्थः । ५ तस्माद्विलक्षणमिति—एकत्रेन्द्रियादीना भावादन्यत्र चाऽभावाज्जागरितज्ञानात्स्वप्नदर्शनं विलक्षणमित्यर्थः । ६ प्रतीयमानेषु तेषु । ७ पञ्च-मीमम् । ८ स्वप्ने रथादीना जायमाना प्रतीतिमुपपादयतीत्यर्थः ।

***न तत्र रथा न रथयोगा न पन्थानो**

उस स्वप्नावस्था मे न रथादि विषय हैं, न रथ मे जोते गये अश्वादि हैं और न मार्ग ही है।

न तत्र विषयाः स्वप्ने रथादिलक्षणाः[1] । तथा रथयोगा रथेषु युज्यन्त इति रथयोगा अश्वादयस्तत्र न विद्यन्ते । न च पन्थानो रथमार्गा भवन्ति । अथ रथान्रथयोगान्पथश्च सृजते सृजति स्वयम् ।

कथं पुनः सृजते रथादिसाधनानां वृक्षादीनामभावे । उच्यते—[2]नन्वुक्तमस्य लोकस्य सर्वावतो मात्रामपादाय स्वयं विहत्य स्वयं [3]निर्मायेत्य[4]न्तःकरणवृत्तिरस्य

रथादिसृष्टिमाक्षिपति—कथं पुनरिति । वासनामयी सृष्टिः [5]श्लिष्टेत्युत्तरमाह—उच्यत इति । तदुपलब्धिनिमित्तेनेत्यत्र तच्छब्देन वासनात्मिका मनोवृत्तिरेवोक्ता । [6]उक्तमेव प्रपञ्चयति—नन्वित्या-

वहाँ उस स्वप्नावस्था में (काष्ठादि के अभाव के कारण) रथादिलक्षण विषय नहीं हैं। "न रथयोगा" अर्थात् रथो मे जुडने वाले अश्वादि भी वहाँ नही है। "न पन्थानो भवन्ति" अर्थात् न ही वहाँ रथमार्ग हैं। परन्तु वह स्वय रथ, रथ मे जोते जाने वाले अश्वादि और रथ के मार्गों की रचना कर लेता है।

(यहाँ शङ्का होती है—) किन्तु रथादि के साधन वृक्षादि का अभाव होने पर भी वह उनकी

१ दार्वाद्यभावादिति शेष । २ ननुरवधारणे । ३ निर्मायेत्युक्त नन्विति पूर्वेणान्वय । ४ अस्य लोकस्य मात्रामित्यस्यार्थमाह—अन्तःकरणेति अन्तःकरणनिष्ठाया अस्य लोकस्य वासना संस्काराख्या तामपादाय स्वपितीति सबन्ध । ५ उपपन्ना । ६ समाधानम् ।

* न तत्र रथा न रथयोगा इत्यत्रत्यतात्पर्यमाहुर्वार्तिककाचार्यास्तथाहि— आविश्चिकीर्षु साक्षादिममर्थं च श्रुतिः परा । न तत्रेति प्रवृत्तैषा प्रत्यगात्मविशुद्धये ॥ कर्मकृद्धिषणान्तो य कामविद्यासमन्वित । स्वापबोधाविमौ तस्य न तु तत्साक्षिणो दृशे ॥ कूटस्थज्योतिषैवाऽऽस्ते स्वप्नस्थानेऽक्रियोऽद्वय । चिदाभया वासनया तत्साक्षित्व प्रकल्पते ॥ तत्प्रयोक्तृक्रियाभावाद्बुद्ध्यादिज्योतिषामिह । न व्यापृतिरत प्रत्यङ्ज्योतिषा स्वेन वर्तते ॥ जाग्रद्वस्तूनि सर्वाणि भावनामात्ररूपताम् । जाग्रत्कर्मक्षये यान्ति स्वप्नकर्मोद्भवे सति' ॥ ९०४-९०८ ॥ इति । प्रत्यगर्थविशुद्ध्यर्थं स्वप्नस्य जाग्रतो वैलक्षण्यलक्षणमर्थं साक्षादाविष्कर्तुमिच्छन्ती न तत्रेत्याद्या श्रुतिः प्रवृत्तेति योजना ॥ तद्विशुद्धिरसिद्धा बुद्ध्यादिवदवस्थावत्त्वादित्याशङ्क्याऽऽह—कर्मेति । विशिष्टस्य लक्षितस्य वाऽशुद्धिर्वा ऽऽद्य सिद्धत्वादिष्यते हि बुद्धिविशिष्टस्याविद्यास्मितादिदोषवतो धर्माधर्मकर्तुं रवस्थावत्त्वेनाशुद्धत्व नेतरो हेत्वसिद्धेरित्यर्थं । साक्षिणो दृष्टिकर्तृत्वमाशङ्क्याऽऽह—दृशेरिति ॥ तस्यावस्थावत्त्वाभावे हेतुमाह—कूटस्थेति । स्वप्नादौ सर्वक्रियारहितो द्वैताभावोपलक्षितो निर्विकारचैतन्यमात्रत्वेनाऽऽत्माऽवतिष्ठते तत्कुतोऽस्यावस्थावत्त्वमित्यर्थ । कूटस्थाद्वयस्य कुत साक्षित्व सक्रियस्य सद्वयस्यैव च लोके तद्दृष्टेरित्याशङ्क्याऽऽह— चिदाभयेति । कूटस्थाद्वयस्यैव चैतन्याभासव्याप्तजाग्रद्वासनानुसारेण स्वप्ने प्रतीच साक्षित्व तथाऽवस्थान्तरेऽपि काल्पनिक स्वयज्योतिषस्तदविरुद्धमित्यर्थं ॥ अवस्थासाक्षितयाऽऽत्मन शुद्धत्वमुक्त्वा प्रकृतश्रुतेस्तात्पर्यं निगमयति—तदिति । बुद्ध्यादीना तत्प्रेरककर्मणा च स्वप्ने वासनानतिरेकात्तन्मयाना तेषामात्मप्रकाश्यत्वात्तस्मिन्प्रकाशकत्वेन न प्रवृत्तिरत स्वयमेव ज्योतिस्तत्राऽऽत्मेत्यर्थं ॥ स्वप्ने बुद्ध्यादीना वासनातिरेकेणाभावमुक्तं व्यनक्ति—जाग्रदिति ॥

भवन्त्यथ* रथान्रथयोगान्पथः सृजते

वहाँ तो वह रथ, रथ में जोते गये घोड़े और रथ के मार्गों की सृष्टि स्वयं ही वासना द्वारा पुरुष कर

[1]लोकस्य वासना मात्रा तामपादाय [2]रथादिवासनारूपान्तःकरणवृत्ति[3]स्तदुपलब्धिनिमि-

दिना। तदुपलब्धि[4]र्वासनोपलब्धिस्तत्र यत्कर्म निमित्तं तेन चोदिता योद्भूताऽन्तःकरणवृत्ति[5]र्ग्राहका-

रचना किस प्रकार करता है। (सिद्धान्ती कहता है—) इस पर बतलाया जाता है—"इस सर्वावान् लोक की मात्रा को लेकर अपने को चैतन्यशून्य कर तथा स्वयं अपने को रचकर" ऐसा पहले श्रुति निर्णय कर चुकी है। सो अन्तःकरण की वृत्ति ही इस जाग्रद्देह (लोक) की वासना की मात्रा है उसे लेकर

१. जाग्रद्देहस्य। २. निर्माणपदार्थमाह—रथादीति। रथादीनां संस्काररूपा याऽन्तःकरणस्य वृत्तिः परिणतिः मात्रात्वेन व्यवतिष्ठते इति संबन्धः। ३. कीदृशी सेत्याकाङ्क्षायामाह—तदिति॥ तस्या वृत्तेर्या रथादिरूपेणोपलब्धिस्तन्निमित्तेन कर्मणा बाध्यमाना रथादिपरिणामोन्मुखीक्रियमाणा दृश्यत्वेन रथाद्यात्मना व्यवतिष्ठते पुरः स्थिता भवति विषयी भवतीति यावत्। तद्—उक्तरूपेणावस्थानं स्वयं निर्माय स्वेतद्घटक-निर्मातिनोच्यत इत्यर्थः। ४. वासनोपलब्धि—रथाद्यात्मना वासनाया उपलब्धिः। ५. मननोद्भूतेति पदं व्याख्यातम्।

* अथ रथा न रथयोगान्पथः सृजत इत्यादिश्रुतितात्पर्यं वार्तिके यथा—'तां भावनामुपादाय प्रत्यङ् स्वप्ने रिरंसया। करोत्येष रथाद्यर्थं स्वप्नभोगप्रसिद्धये॥ करणं कर्म कर्ता च कर्मतत्कारकात्मकम्। प्रत्यङ्मोहैकनिष्ठं सच्चिदाभत्वात्तदात्मनि॥ कार्यकरणरूपेण कर्मतत्प्रथते जगत्। आत्मन्येतत्समध्यस्तमात्माविद्यैकहेतुतः॥ सर्वस्य कर्मणोऽप्यस्तमात्माऽकर्ता विलक्षणः। तत्संहतं स्वयं स्वात्माऽसंहता निर्गुणः शुचिः॥ अविद्यया स्वमात्मानमशुद्धं मन्यते यदा। जाग्रत्स्वप्नसुषुप्तानि तदैतानि प्रपद्यते॥ रथा दार्वादिसद्भावान्न सन्ति स्वप्नदर्शने। न सन्त्यश्वादयस्त-द्रथयोगा अवस्तुकाः॥ रथादीन्सृजतेऽथात्र जाग्रत्कर्मादिहेतुकान्। अविद्याकामकर्माणि सृष्टिबीजमिदं त्रये॥ कर्मणो गमनस्येह साधनाभावहेतुना। स्वप्ने मृषात्वमाहैव गमनादेः श्रुतिः स्वयम्" ॥९०९-९१६॥ इति। अथ रथानित्यादेस्तात्पर्यमाह—तामिति। आत्मा स्वप्ने रथादि करोति चेद्बुद्ध्याद्यपि करिष्यति तथाच स्वकृतबुद्ध्यादिप्रकाश्यतया न स्वयंज्योतिष्ट्वमित्याशङ्क्याऽऽह—स्वप्नेति। करणादिकारकरूपं वासनात्मकं सर्वं प्रतीचः स्वप्नभोगार्थं कर्मत्वेन प्रथते तेन न तत्प्रत्यक्प्रकाशकमित्यर्थः कथं तर्हि बुद्ध्यादेरात्मविषयत्वप्रतीति-स्तत्राऽऽह—प्रत्यगिति। तद्धि बुद्ध्यादि साभासाज्ञाने कल्पितं चिदाभासवत्त्वादज्ञानेन सहाऽऽत्मनि कल्प्यते तेन तद्विषयत्वधीरित्यर्थः॥ करणं कर्मेत्यत्रोक्तमनूद्य प्रत्यङ्मोहेत्यादिनोक्तमर्थं साधयति—कार्येति। कर्मविषयभूत-मत्यन्तं विलक्षणं इति संबन्धः। अकर्तेति च्छेदः। अविद्यानञ्जनं चाऽऽत्मनश्च सगुणत्वाद्व्याप्तिमाशङ्क्या-ऽऽह—तदिति॥ आत्मा शुद्धश्चेत्कथं तस्यावस्थावत्त्वप्रथेत्यत आह—अविद्ययेति॥ न तत्रेत्यादेः स हि कर्तेत्य-न्तस्य तात्पर्यमुक्त्वा नेत्यादेरक्षरार्थमाह—रथा इति। अश्वेति स्वप्नाप्तिः। दार्वादिहेत्वभावे कथं रथादिसृष्टि-रित्याह—अथेति॥ तत्रान्तरम्—जाग्रदिति। कर्मादि रथादिसृष्टिहेतुत्वं कथमात्मा स्रष्टोच्यते तत्राऽऽह—अविद्येति॥ रथादि सृज्यते चेत्कथं स्वप्ने तदभावोक्तिरित्याशङ्क्याऽऽह—कर्मण इति। गमनाख्यकर्महेतुरथादि-निरासेन स्वप्ने गमनादेर्न यात्रं स्वयमेव श्रुतिदर्शयत्येव सर्वस्यापि स्वप्नस्य मिथ्यात्वमत्र विवक्षितं मायामात्र

*न तत्राऽऽनन्दा मुदः प्रमुदो भवन्त्यथाऽऽनन्दान्मुदः

लेता है। उस समय वह आनन्द, मोद और प्रमोदरूप वृत्ति भी नहीं है किन्तु वह स्वप्नद्रष्टा आनन्द,

---

तेन कर्मणा चोद्यमाना दृश्यत्वेन व्यवतिष्ठते तदुच्यते स्वयं निर्मायेति । 'तदेवाऽऽह

वस्था तदाश्रयं तदात्मकं तद्वासनारूपं दृश्यत इति योजना । 'तथाऽपि कथमात्मज्योतिः स्वप्ने केवलं

रथादि की वासनारूपा जो अन्तःकरण की वृत्ति है, वह उसकी उपलब्धि के निमित्त भूत कर्म से प्रेरित होकर दृश्यरूप से स्थित रहती है। उसी को "स्वयं निर्माय" यानी स्वयं रचकर कहा जाता है—

---

१ स्वयं निर्माणमेव विशेषणेनाह । २ रथादीनां तत्र वासनामात्रत्वेऽपि ।

स्विति न्यायादिरयर्थः ॥

स्वप्नमधिकृत्य बृहदारण्यके श्रूयते न तत्र रथा इत्यादि । तत्र किं स्वप्नसृष्टिर्घटादिवद्व्यावहारिकी आहोस्विच्छुक्तिरजतादिवन्मायामयीति संदेहे पूर्वपक्षी ब्रूते—'मध्ये सृष्टिराह हि' (ब्र सू ३ २ १) इति । जागरितसुषुप्त्योः सन्धौभवे स्वप्ने सृष्टिर्व्यावहारिकी हि यतः । अथ रथान् रथयोगानिति श्रुतिरेवमाह—'निर्मातारं चैके पुत्रादयश्च' (ब्र सू ३ २ २) । इदमपि पूर्वपक्षसूत्रम् । एके शाखिनः स्वप्ने कामानां निर्मातारं जीवमिव परमेश्वरमामनन्ति य एष सुप्तेषु जागर्ति कामं कामं पुरुषो निर्मिमाण इति । ननु श्रुतौ कामानां बुद्धिवृत्तिविशेषाणां निर्माता परमेश्वर इति श्रूयते नार्थनिर्मातेत्याशङ्क्याऽऽह—पुत्रादयश्चेति काम्यन्त इति व्युत्पत्त्या पुत्रादय एव कामा इति परमेश्वरस्यैवार्थनिर्मातृत्वमेव च स्वप्नसृष्टिर्व्यावहारिकसत्यया परमेश्वरकर्तृकत्वात्क्ष्मादिवदित्यनेन सूत्रेण सूचितमतः श्रुत्यनुमानाभ्यां स्वप्नसृष्टिर्व्यावहारिकसत्येति पूर्वपक्षे प्राप्ते राद्धान्तः—मायामात्रं तु पूर्वपक्षनिरासीतु शुक्तिरजतवत्स्वप्नसृष्टिर्मायामात्रं कुतः कार्त्स्न्येन उचितदेशकालादिसंपत्त्याबाधाभावेन चानभिव्यक्तस्वरूपत्वात् न हि रथानानुचितो देशः स्वप्ने संभवति । देहान्तर्नाडीप्रविष्टमनोऽवच्छिन्नसाक्षिनिष्ठत्वात्स्वप्नोचितः कालोऽस्ति घटिकामात्रवर्तिनि स्वप्ने प्रचुरवत्सरसाध्यससरणस्य दृष्टेस्ततो देशादिसंपत्त्यबाधरूपवस्तुधर्मेणानभिव्यक्तस्वरूपत्वात् प्रातिभासिक एव स्वप्नप्रपञ्चः यदुक्तमथ रथानिति श्रुतिरेवेश्वरकर्तृकां सृष्टिमाहेति सृष्टेः सत्यत्वमिति तच्छ्रुत्यैव न तत्र रथा इत्यादिकया स्वाने रथाद्यभावबोधिन्या परिहृतम् । अनुमाने चोचितदेशादिजन्यत्वमुपाधिर्हेत्वसिद्धिश्च सृजते स हि कर्तेति स्वयं निर्मायेत्यादिश्रुत्यन्तरे च स्वप्नसृष्टेर्जीवकर्तृकत्वश्रवणात्तथा च कामं काममिति श्रुतावपि जीव एव निर्माता विज्ञेयोऽतः स्वप्नसृष्टिर्मिथ्येति सिद्धम् । स्वयं निहत्य पूर्वदेहं निश्चेष्टं कृत्वा, स्वयं निर्माय—अपूर्वं स्वाप्नं देहं संपाद्य स्वेन भासा स्वीयान्तःकरणवृत्त्या स्वेन ज्योतिषा स्वरूपचैतन्येन च प्रस्वपिति बुद्धिस्थवासनासाक्षित्वेनावतिष्ठत इति श्रुत्यर्थः ॥

*न तत्राऽऽनन्दा इत्यादि स हि कर्तेत्यन्तम् । अत्र वार्तिके — न कर्मफलमप्यत्र स्वप्ने तद्धेत्वसंभवात् । नाऽऽनन्दा अपि तत्रेति ह्यत श्रुतिरभाषत ॥ आह्लादाः स्युरिहाऽऽनन्दा हर्षाश्चाथ मुदस्तथा । प्रकर्षगुणसंबन्धात् प्रमुदो मुद एव तु ॥ पल्वलास्त्विह वेशान्ताः प्रसिद्धार्थं तथोत्तरम् । इत्येवमसतामेव स्रष्टाऽऽत्मा स्वात्ममायया ॥ चिदाभकारकोद्भूतवासनाकर्महेतुकः । स्वयं निर्माय सृजत इत्यकर्मापि भण्यते ॥ अविचारितसंसिद्धक्रियाकारकलक्षणम् । जाग्रद्भूमावपि मतं विभु स्वप्नैकनीडगम् ॥ रथादिवासनानीडचित्तवृत्तिसमुद्भव-कर्महेतुत्वतः कर्ताऽकर्ताऽप्यात्माभिधीयते ॥ अकर्तुरपि कर्तृत्वं स्वात्माज्ञानैकहेतुतः । तदन्यस्येह कार्यत्वात्कर्ताऽऽत्मैव तमोवधि ॥ स्वप्नवृत्तावुपादानं साधनं वा न विद्यते । रथादेरसतस्तस्माद्द्रष्टैवाऽऽत्मा न कारक ॥ अस्ति यत्राप्युपादान

प्रमुदः सृजते न तत्र वेशान्ताः पुष्करिण्यः स्रवन्त्यो भवन्त्यथ वेशान्तान्पुष्करिणीः स्रवन्तीः सृजते स हि कर्ता ॥१०॥

मोद एव प्रमोद को भी सृष्टि कर लेता है। उस समय छोटे-छोटे जलाशय, तालाव और नदियाँ भी नहीं हैं। उन जलाशयो, तालाबो और नदियो की सृष्टि भी वह पुरुष कर लेता है। अतः उनका कर्ता स्वय स्वप्नद्रष्टा पुरुष ही माना जाता है ॥१०॥

रथादीन्सृजत इति। ननु तत्र करणं वा करणानुग्राहकाणि वाऽऽदित्यादिज्योतींषि तदवभास्या वा रथादयो विषया विद्यन्ते। तद्वासनामात्रं तु केवल तदुपलब्धिकर्म-निमित्तचोदितोद्भूतान्तःकरणवृत्त्याश्रयं दृश्यते। तद्यस्य ज्योतिषो दृश्यतेऽलुप्तदृशस्त-दात्मज्योतिरत्र केवलमसिरिव कोशाद्विविक्तम्।

सिध्यति तत्राऽऽह—तद्यस्येति। यथा कोशादसिर्विविक्तो भवति तथा दृश्याया बुद्धेर्विविक्तमात्मज्योतिरिति कैवल्यं साधयति—असिरिवेति।

स्वय निर्माण का विशिष्ट रूप कहा जाता है कि रथादि की रचना करता है। उस अवस्था मे इन्द्रिय, इन्द्रियो के अनुग्राहक आदित्यादि प्रकाश अथवा उनमे प्रकाश्य रथादि विषय भी नहीं हैं। उनकी अनुभूति हेतुभूत जो कर्म हैं; उन कर्मरूप निमित्त मे प्रेरित अन्तःकरण की उद्भूतवृत्ति के आश्रित केवल उनकी वासनामात्र देखी जाती है। वह जिस अलुप्त दृक स्वभाव ज्योति को दिखाई देती है; वह आत्मज्योति इस अवस्था में म्यान मे निकाली हुई तलवार की तरह शुद्ध होती है।

---

१ उद्भूतत्व कार्यजननक्षमत्व स्वप्रदर्शनानुकूलत्वम्। २ दृश्य भवति।

साधन वाऽस्य जागरे। तत्राप्यात्मचिदाभासमनोबुद्ध्यादिकारके ॥ रथादिवासनानीडधीवृत्त्युद्भवकारणम्। कर्म निर्वर्त्यते तेन स हि कर्तेति भण्यते ॥ भान्वादेरिव कर्तृत्व कर्त्रायविषयविभासनात्। बुद्ध्यादिकर्तृसाक्षित्वात्कर्तृत्वा-द्यात्मनो भवेत् ॥ क्रियाकर्तृत्वमेवास्य हेतुर्बुद्ध्यादिसमतौ। यथावस्त्वपरिज्ञानाद्धीति हेतावत पदम्' ॥ ६१७-६२८ ॥ इति। न तत्राऽऽनन्दा इत्यादेस्तात्पर्यमाह—न कर्मेति। स्वप्ने कर्माभावात्तत्फलाभाव इत्यत्र श्रुतिमवतारयति—नेति। हेत्वभावे फलाभाव हिशब्दोपात्तमन शब्देनानुवदति ॥ आनन्दादिपदानामपुनरुक्तमर्थ-माह—आह्लादा स्युरिति। इहेत्यत्रेति च प्रकृतवाक्योक्ति। आनन्दा सुखसामान्यानि। मुद पुत्रादिनिमित्ता हर्षा प्रमुदस्तु हर्षा एव प्रकर्षविशिष्टा इति भेद ॥ पल्वला क्षुद्राणि सरासि। उत्तर स हीत्यस्मात्प्राक्तन वाक्यम्। न तत्रेत्यादिवाक्यार्थमुपसंहरति—इत्येवमिति ॥ आत्मनो मायया स्रष्टृत्वे युक्तिमाह—चिदाभेति। चैतन्या-भासव्याप्तबुद्ध्यादिकारकाकारेणाभिव्यक्तवासनाप्रयोजकस्वप्नभोगहेतुकर्मस्वविषया हेतुत्वाद्वस्तुतो निर्व्यापारो-ऽप्यात्मा तत्र कर्तोच्यते। तत्र कूटस्थस्य मायिकमेव स्रष्टृत्वमित्यर्थ ॥ स्वप्नसृष्टेर्मायामयत्वे कैमुतिकन्यायमाह—अविचारितेति ॥ स हि कर्तेत्यस्यार्थमाह—रथादीति। जाग्रद्दृष्टरथाद्याकारवासनाश्रयचित्तस्थप्रकाशरूप-परिणामव्यञ्जककर्महेतुत्वाद्वस्तुतोऽकर्ताऽप्यात्मा कर्तेत्युच्यते न तस्य स्रष्टृत्वादिरित्यर्थ ॥ अकर्ता चेदात्मा न कर्महेतुविरोधादित्याशङ्क्याऽऽह—अकर्तुरिति। आत्मन कर्तृत्वमज्ञानकृत चेदन्यो वस्तुतोऽस्तु कर्तेत्याशङ्क्या-

'तथा न तत्राऽऽनन्दाः सुखविशेषाः मुदो हर्षाः पुत्रादिलाभनिमित्ताः 'प्रमुदस्त एव प्रकर्षोपेताः । 'अथ चाऽऽनन्दादीन्सृजते । तथा न तत्र वेशान्ताः पल्वलाः पुष्करिण्यस्तडागाः स्रवन्त्यो नद्यो भवन्ति । 'अथ वेशान्तादीन्सृजते वासनामात्ररूपान् । यस्मात्स हि कर्ता । तद्वासनाश्रयचित्तवृत्त्युद्भवनिमित्तकर्महेतुत्वेनेत्यवोचाम' तस्य कर्तृत्वं न तु साक्षादेव तत्र क्रिया संभवति साधनाभावात् । न हि कारकमन्तरेण क्रिया संभवति । न च तत्र हस्तपादादीनि क्रियाकारकाणि संभवन्ति । यत्र तु तानि विद्यन्ते जागरिते

तथा रथाद्यभावववदिति यावत् । सुखान्येव 'विशिष्यन्त इति विशेषाः सुखसामान्यानीत्यर्थः । तथेत्यानन्दाद्यभावो दृष्टान्तितः । अल्पीयांसि सरांसि पल्वलशब्देनोच्यन्ते । स हि कर्तेत्यत्र हिशब्दार्थो यस्मादित्युक्त'स्तस्मात्सृजतीति शेषः । कुतोऽस्य कर्तृत्वं 'सहकार्यभावादित्याशङ्क्याऽऽह—तद्वासनेति । तच्छब्देन "वेशान्तादिग्रहणम् । तदीयवासनाधारश्चित्तपरिणामस्तेनो"द्भवति यत्कर्म तस्य सृज्यमान"निदानत्वेनेति यावत् । मुख्यं कर्तृत्वं वारयति—नन्विति । तत्रेति स्वप्नोक्तिः । साधनाभावेऽपि स्वप्ने क्रिया किं न स्यादित्याशङ्क्याऽऽह—न हीति । तर्हि स्वप्ने कारकाण्यपि भविष्यन्ति नेत्याह—न चेति । "तर्हि "पूर्वोक्तमपि कर्तृत्वं कथमिति चेत्तत्राऽऽह—यत्र त्विति । "उक्तेऽर्थे वाक्योपक्रम-

(स्वप्नावस्था में कर्माभाव होने से फलाभाव होता है—) इस प्रकार वहाँ "आनन्दाः" यानी सुखविशेष "मुदः" अर्थात् पुत्रादिलाभनिमित्तक हर्ष; "प्रमुदः" यानी प्रकर्ष को प्राप्त हुए वे हर्ष भी नहीं है। किन्तु यह आनन्दादि का स्रष्टा है। इसी प्रकार वहाँ न "वेशान्ताः" यानी छोटे तालाब हैं, 'पुष्करिण्यः" यानी न तालाब हैं और न ही 'स्रवन्तीः" अर्थात् नदियाँ है। किन्तु यह उन वासनामात्रात्मक छोटे तालाब आदि को रच लेता है क्योंकि वह कर्ता है। उन विषयों की वासनाश्रय चित्तवृत्ति के परिणामी जो कर्म हैं, उनके कारण ही उसका कर्तृत्व बतलाया जा चुका है; साधन के अभाव से साक्षात् उसमें कोई क्रिया होना सभव नहीं है क्योंकि कारक के बिना क्रिया नहीं हुआ करती और वहाँ क्रिया के धारक हाथ, पाँव आदि भी सभव नहीं है। एवं जहाँ जाग्रदवस्था में

१ स्वप्ने कर्माभावात्फलाभाव इत्यत्र श्रुतिमवतारयति—तथेति । २ हर्षा एव । ३ कथं तर्हि तत्र तेषां प्रतीतिरित्याशङ्क्य प्रतीतिमुपपादयति—अथेति । ४ तत्प्रतीतिमुपपादयति—अथेति । ५ पृ १०५७ भाष्ये । ६ अतिरिच्यन्ते सर्वाभिलापविषयतया दुःखादिभ्य उत्कृष्यन्ते इत्यर्थः । ७ आत्मनः कर्तृत्वात् । ८ दारादि । ९ आहेति—कर्मैव सहकार्यहित्यर्थः । १० जागरितदृष्टादिग्रहणम् । ११. कार्योन्मुखीभवति । तेनोद्भवति—तदात्मना फलोन्मुखो भवतीति यावत् । १२ सहकारितया । १३ कारकाभावे । १४ स हि कर्तेति । १५ आत्मनिष्ठौपचारिककर्तृत्वरूपे ।

ऽऽह—तदन्यस्येति । शास्त्रीयो व्यवहार समस्यर्थः ॥ आत्मनोऽपि कथमाविद्य रथादिकर्तृत्व स्वप्ने तदुपादानस्य दारादेस्तदुपकरणस्य परश्वादेश्चासत्त्वादित्याशङ्क्याऽऽह स्वप्नेति ॥ स्वप्ने रथादेरात्मा साक्षी चेत्कथ कर्तृत्वोक्तिरित्याशङ्क्याज्ञानत स्वप्नहेतुकर्मनिर्वर्तकत्वादित्याह—अस्तीति ॥ अस्येति रथादिनिर्देश ॥ एवमात्मा कर्ता चेद्द्रष्टैव न कारक इति कथमुक्त तत्राऽऽह—भान्वादेरिति । कर्ताद्यवभासात्मत्वादादित्यादेरवभासकर्तृत्व यथोपचर्यते तथाऽऽत्मनोऽपि बुद्ध्यादिकारकसाक्षित्वात्कर्तृत्वाद्युपचरितमित्यर्थ ॥ स हीत्यत्र हिशब्दार्थमाह—क्रियेति । प्रत्यगज्ञानाद्बुद्ध्यादिसबन्धाधीन यदात्मनो धर्मादिकर्तृत्व जाग्रति जात तदेवास्य स्वप्ने रथादिनिर्माणहेतुरिति हेतौ हीति पद तस्माद्युक्तमात्मनो मायिक स्वप्ने स्रष्टृत्वमित्यर्थ ॥

तदेते श्लोका भवन्ति । स्वप्नेन शारीरमभिप्रहत्या-
सुप्तः सुप्तानभिचाकशीति । शुक्रमादाय पुनरैति

इस विषय में ये मन्त्र हैं। यह आत्मा स्वप्न के द्वारा देह को चेष्टारहित कर स्वयं न सोता हुआ सोये हुए समस्त पदार्थों को सभी ओर से प्रकाशित करता है। वह शुद्ध इन्द्रिय मात्रारूप को लेकर पुन

तत्राऽऽत्मज्योतिरवभासितैः कार्यकरणै रथादिवासनाश्रयान्तःकरणवृत्त्युद्भवनिमित्तं कर्म निर्वर्त्यते तेनोच्यते स हि कर्तेति । तदुक्तमात्मनैवायं ज्योतिषाऽऽस्ते पल्ययते कर्म कुरुत इति । तत्रापि न परमार्थतः स्वतः कर्तृत्वं चैतन्यज्योतिषाऽवभासकत्वव्यतिरेकेण । यच्चैतन्यात्मज्योतिषाऽन्तःकरणद्वारेणावभासयति कार्यकरणानि यदवभासितानि कर्मसु व्याप्रियन्ते कार्यकरणानि तत्र कर्तृत्वमुपचर्यत आत्मनः । यदुक्तं ध्यायतीव लेलायतीवेति तदेवानूद्यते स हि कर्तेतीह हेत्वर्थम् ॥ १० ॥

तदेत एतस्मिन्नुक्तेऽर्थ एते श्लोका मन्त्रा भवन्ति स्वप्नेन स्वप्नभावेन शारीरं

मनुकूलयति—तदुक्तमिति । उपक्रमे मुख्यं कर्तृत्वमिह त्वौपचारिकमिति विशेषमाशङ्क्याऽऽह—तत्रापीति । परमार्थतश्चैतन्यज्योतिषो व्यापारवदुपाध्यवभासकत्वव्यतिरेकेण स्वतो न कर्तृत्वं वाक्योपक्रमेऽपि विवक्षितमित्यर्थः । आत्मनो वाक्योपक्रमे कर्तृत्वमौपचारिकमित्युपसंहरति—यदिति । स हि कर्तेत्यौपचारिकं कर्तृत्वमित्युच्यते चेत्तस्य ध्यायतीवेत्यादिनोक्तत्वात्पुनरुक्तिरित्याशङ्क्याऽऽह—यदुक्तमिति । अनुवादे प्रयोजनमाह—हेत्वर्थमिति । स्वप्ने रथादिसृष्टाविति शेषः ॥ १० ॥

तदेते श्लोका भवन्तीत्येतत्प्रतीकं गृहीत्वा व्याचष्टे—तदेत इति । उक्तोऽर्थः स्वयंज्योति-

वे रहते हैं, वहाँ आत्मज्योति से प्रकाशित कार्य और करण द्वारा रथादिवासना की आश्रयभूता अन्त करण की वृत्ति से उत्थित होने वाला कर्म निष्पन्न हो सकता है, इसी से कहा जाता है कि वह कर्ता है। अत श्रुति कहती है कि 'वह आत्मज्योति से ही बैठता है, इधर-उधर जाता है और कर्म करता है, फिर वापिस आ जाता है'। वहाँ भी प्रकाशक होने के अतिरिक्त इस चैतन्यज्योति का तत्वत कोई कर्तृत्व नही है। क्योकि आत्मा अन्त करण द्वारा *चैतन्यात्मज्योति* से देह और इन्द्रियो को अवभासित करता है और उससे अवभासित हुई देह और इन्द्रियाँ कर्म में प्रवृत्त होती हैं, इसी से देह इन्द्रिय व्यापार मे आत्मा के कर्तृत्व का उपचार किया जाता है। और जो यह कहा गया है "मानो ध्यान करता है, प्राणवृत्ति के अनुसार मानो चेष्टा करता हुआ सा जान पडता है", उसी का कर्तृत्व मे हेतु दिखाने के लिये यहाँ 'वही कर्ता है" इस प्रकार अनुवाद किया गया है ॥१०॥

"तदते" अर्थात् उक्त अथ मे "श्लोका." यानी मन्त्र है। आत्मा "स्वप्नेन" अर्थात् वासनामात्र

१ अत्र 'शुक्रमादायाभिचाकशीती'त्यपि योजयन्ति । २ स्वप्नरथादिप्रयोजककर्मनिर्वर्तकत्वेन । ३ उपक्रमेऽपि । ४ कार्यकरणव्यापारे । ५ हेत्वर्थमिति—स्वाज्ञानाद्बुद्ध्यादिसबन्धाधीनं यदात्मनो धर्मादिकर्तृत्व जाग्रति जात तदेवास्य स्वप्ने रथादिनिर्माणहेतुरित्येतदनुवादप्रयोजन ज्ञापनम् । तस्मादुक्तमात्मनो मायिक स्वप्ने स्रष्टृत्वमिति । ६ वासनामात्रोपग्रहेण । ७ वासनादिव्यापारविशिष्टसंघातेत्यर्थः ।

स्थानꣳ हिरण्मयः पुरुष एकहꣳसः ॥ ११ ॥

प्राणेन रक्षन्नवरं [1]कुलायं बहिष्कुलायादमृत-
श्चरित्वा । स ईयतेऽमृतो यत्र [2]कामꣳ हिरण्मयः पुरुष

जाग्रदवस्था मे आता है। अत. वह स्वयज्योतिस्वरूप दोनो अवस्थाओ मे तथा इहलोक और परलोकादि मे अकेला ही जाने वाला है ॥११॥

इस निकृष्ट देह की रक्षा प्राण द्वारा करता है (अन्यथा निद्राकाल मे मृत्यु की भ्रान्ति हो सकती है)। वह अविनाशी आत्मा शरीर से बाहर विचरता है। वह अकेला घूमने वाला हिरण्मय

शरीरमभिप्रहृत्य [3]निश्चेष्टमापाद्यासुप्तः स्वयमलुप्तदृगादिशक्तिस्वाभाव्यात्सुप्तान्वासनाकारोद्भूतानन्तःकरणवृत्त्याश्रयान्बाह्याध्यात्मिकान्सर्वानिव [4]भावान्स्वेन [5]रूपेण प्रत्यस्तमितान्सुप्तानभिचाकशीत्य[6]लुप्तयाऽऽत्मदृष्ट्या पश्यत्यवभासयतीत्यर्थः । शुक्रं शुद्ध [7]ज्योतिष्मदिन्द्रियमात्रारूपमादाय गृहीत्वा पुनः कर्मणे जागरितस्थानमेत्यागच्छति हिरण्मयो हिरण्मय इव चैतन्यज्योतिःस्वभावः पुरुष एकहंस एक एव हन्तीत्येकहंसः । एको जाग्रत्स्वप्नेहलोकपरलोकादीन्गच्छतीत्येकहंसः ॥ ११ ॥

[8]तथा प्राणेन पञ्चवृत्तिना रक्षन्परिपालयन्न[9]न्यथा मृतभ्रान्तिः स्यादवरं निकृष्ट-

---

ष्टत्वादि[10]। शारीरमिति स्वार्थे वृद्धि. । स्वयमसुप्तत्वे हेतुमाह—अलुप्तेति । व्याख्येय पदमादाय व्याचष्टे—सुप्तानित्यादिना । उक्तमनूद्य पदान्तरम[11]वतार्य व्याकरोति—सुप्तानभिचाकशीतीति ॥ ११ ॥

तथाशब्दः स्वप्नगतविशेषसमुच्चयार्थः । किमिति स्वप्ने प्राणेन शरीरमात्मा पालयति

स्वप्नभाव से "शरीरमभिप्रहृत्य" अर्थात् शरीर को निश्चेष्ट बनाकर "असुप्त सुप्तानभिचाकशीति" अर्थात् स्वय अलुप्तदृगादिशक्तिस्वरूप होने से असुप्त रहकर वासनारूप से उद्भूत अन्त करण वृत्ति के आश्रित बाह्य और आध्यात्मिक सभी पदार्थों को जो अपने व्यावहारिक रूप से सोये रहते है, उन्हे प्रकाशित करता है अर्थात उन्हे अपने अलुप्त आत्मज्योति से देखता है यानी प्रकाशित करता है। वह "शुक्रम्" अर्थात् दीप्तिमान् इन्द्रिय मात्रा के शुद्धरूप को "आदाय" यानी ग्रहणकर "पुन" अर्थात् फिर जागरितस्थानरूप कर्म मे 'एति' अर्थात् चला जाता है। "हिरण्मय" अर्थात् हिरण्मय के समान चैतन्य ज्योतिस्वभाव वाला पुरुष "एकहस" अर्थात् अकेला ही विचरण करता है। वह एकाकी ही जाग्रत्, स्वप्न तथा इहलोक-परलोकादि मे जाता है, इसलिये वह एकहस है ॥११॥

इसी प्रकार "प्राणेन" अर्थात् प्राणापानादि पाँच वृत्त्यात्मक प्राणो से "रक्षन्" अर्थात् परि-

---

१ कौ पृथिव्या लीयते शरीरम्। २ काम्यते इति व्युत्पत्त्या शरीरादि। ३ जाग्रत्कर्मक्षयात्स्वप्नकर्मोद्भवा च। ४ पदार्थान्। ५ व्यावहारिकेण। ६ कूटस्थया। ७ दीप्तिमत्त्वात्। ८. कार्यकरणादि सर्वं पूरयति-पूर्णोऽपरिच्छिन्नश्च स्वयम्। ९ तथेति—यथा स्वप्नेन शारीरमित्यादि पूर्वमन्त्रपूर्वार्द्धे स्वप्नगतो विशेष प्रदर्शितस्तथा प्राणेनेत्यादिमन्त्रद्वये पुनरपि स्वप्नगतो विशेष एव प्रदर्श्यत इत्यर्थ। १० यदि पर स्वप्ने प्राणेन देह न रक्षेत्तदा। ११ आदिना बुद्धयाद्यतिरिक्तत्वम्। १२ आदाय।

एकहꣳसः ॥ १२ ॥
स्वप्नान्त उच्चावचमीयमानो रूपाणि देवः कुरुते बहूनि । उतेव स्त्रीभिः सह मोदमानो जक्षदुतेवापि भयानि पश्यन् ॥ १३ ॥

अमर पुरुष वहाँ चला जाता है; जहाँ की वासना उसे होती है ॥१२॥

इसके अतिरिक्त स्वप्नावस्था में वह आत्मदेव ऊँच-नीच भावों को प्राप्त होता हुआ अनेक वासनामय रूप बना लेता है। वैसे ही वह स्त्रियों के साथ प्रसन्न होता हुआ, मित्रों के साथ हँसता हुआ और कभी व्याघ्रादि भयकर जन्तुओं से भय का अनुभव करता हुआ-सा विचरता रहता है ॥१३॥

मनेकाशुचिसंघातत्वादत्यन्तबीभत्सं कुलायं नीडं शरीरं स्वयं तु बहिस्तस्मात्कुलायाच्चरित्वा। यद्यपि शरीरस्थ एव स्वप्नं पश्यति तथाऽपि तत्संबन्धाभावात्तत्स्थ इवाऽऽकाशो बहिश्चरित्वेत्युच्यते। अमृतः स्वयममरणधर्मेयते गच्छति यत्र कामं यत्र यत्र कामो विषयेषूद्भूतवृत्तिर्भवति तं तं कामं वासनारूपेणोद्भूतं गच्छति ॥ १२ ॥

किंच स्वप्नान्ते स्वप्नस्थान उच्चावचमुच्चं देवादिभावमवचं तिर्यगादिभावं

तत्राऽऽह—अन्यथेति। बहिश्चरित्वेत्ययुक्तं शरीरस्थस्य स्वप्नोपलम्भादित्याशङ्क्याऽऽह—यद्यपीति। तत्संबन्धाभावाद्बहिश्चरित्वेत्युच्यत इति संबन्धः। देहस्थस्यैव तदसंबन्धे दृष्टान्तमाह—तत्स्थ इति ॥ १२ ॥

स्वप्नस्थं विशेषान्तरमाह—किंचेति। उच्चावचं विषयीकृत्य तेन तेनाऽऽत्मना स्वेनैव

पालन करता हुआ (यदि आत्मा स्वप्न मे प्राण से देह की रक्षा न करे) अन्यथा मृतभ्रान्ति हो जायगी। "अवरम्" अर्थात् अनेक अपवित्र वस्तुओं का संघात होने से निकृष्ट अत्यन्त बीभत्स 'कुलायम्' अर्थात् नीड या शरीर की रक्षा करता हुआ, स्वयं उस शरीर से बाहर विचर कर; यद्यपि यह शरीर मे रहकर स्वप्न देखता है तो भी शरीर से मिथ्याभिमान आत्मसबन्धाभाव होने से देहस्थ आकाश के समान मानो बाहर विचर कर ऐसा कहा जाता है। "अमृतः" अर्थात् स्वयं अमरणधर्मा होता हुआ भी "ईयते" अर्थात् वहाँ जाता है। "यत्र कामम्" अर्थात् जहाँ-जहाँ कामनाओं मे उद्भूतवृत्ति रहती है, वासनारूप से उद्भूत उन-उन काम्यमान शरीरादि कामनाविषय को प्राप्त करता है ॥ १२ ॥

इसके अतिरिक्त "स्वप्नान्ते" अर्थात् स्वप्नस्थान मे "उच्चावचमीयमानः" अर्थात् देवादि

---

१. घृणास्पदम्। २ शरीरेण सह मिथ्याभिमानात्मसबन्धाभावादिति भावः। ३. देहस्थः। ४ बहिश्चरित्वेत्येतदुपपादितं वार्तिके—"नाडीस्त्यक्त्वा यत स्वप्ने जाग्रद्भोगप्रदाः पुमान्। स्वप्नभोगप्रदा याति बहिर्नीडादतस्तदा" ॥ ६४० ॥ इति। ५ हंसश्चेत्तर्हि गमनागमनवत्त्वान्नाशापक्षयभागी स्यादित्याशङ्क्याऽऽह—अमृत इति। ६ काम्यमान शरीरादि। ७ प्राप्नोति। ८ आत्मन्यध्यस्य प्रकाशयन्। ९. तत्तद्रूपेण।

[1]आराममस्य पश्यन्ति न तं पश्यति कश्चनेति । तं नाऽऽयतं बोधयेदित्याहुः । दुर्भिषज्यꣳ हास्मै भवति यमेष न प्रतिपद्यते । [2]अथो[3] खल्वाहुर्जागरितदेश

सभी लोग उस आत्मा की क्रीडासामग्री को तो देखते हैं, उस आत्मा को कोई देखता नही। उस सुषुप्त पुरुष को सहसा कोई न जगावे, ऐसा (वैद्य लोग) कहते है। जिस इन्द्रियप्रदेश मे यह सोता रहता है, सहसा जगाने पर उस प्रदेश मे प्राप्त न होने के कारण उसका शरीर दुश्चिकित्स्य हो जाता है। इसीलिए नि सन्देह कोई-कोई ऐसा कहते हैं, यह स्वप्नस्थान इस पुरुष का जाग्रत् देश ही

निकृष्टं तदुच्चावचमीयमानो गम्यमानः प्राप्नुवन्रूपाणि देवो [4]द्योतनावान्कुरुते निर्वर्तयति [5]वासनारूपाणि बहून्यसंख्येयानि । उतापि स्त्रीभिः सह [6]मोदमान इव जक्षदिव हसन्निव वयस्यैः । उतेवापि भयानि बिभेत्येभ्य इति भयानि [7]सिंहव्याघ्रादीनि [8]पश्यन्निव [9] ॥ १३ ॥

आराममारमणमा[10]क्रीडामनेन[11] निर्मितां [12]वासनारूपामस्याऽऽत्मनः पश्यन्ति सर्वे जनाः । ग्रामं नगरं स्त्रियम[13]न्नाद्यमित्याविद्यावासनानिर्मितमाक्रीडनरूपम् । न तं पश्यति [14]तं न पश्यति कश्चन । कष्टं भो वर्ततेऽत्यन्त[15]विविक्तं [16]दृष्टिगोचरापन्नमप्यहो भाग्य-

---

स्वयं [17]गम्यमान इति यावत् ॥ १३ ॥

आरामं विवृणोति—ग्राममित्यादिना । न तमित्यादेस्तात्पर्यमाह—कष्टमिति । दृष्टिगोचरापन्न-

---

उत्कृष्ट भाव और तिर्यगादि निकृष्टभाव इस प्रकार ऊँच-नीच भावो को प्राप्त होता हुआ वह द्योतनवान् देव बहुत से वासनात्मक शरीरो को बना देता है। वह स्त्रियो के साथ क्रीडा करता हुआ सा, "जक्षदिव" अर्थात् अपने मित्रो के साथ हँसता हुआ सा और भय के स्थान सिंह व्याघ्रादि को देखता हुआ सा रहता है॥ १३ ॥

सभी लोग इस आत्मा के "आरामम्" अर्थात् स्वप्ननिर्माणलक्षणा क्रीडा को यानी मायावी आत्मा द्वारा निर्मित वासनामय मायिकरूप को देखते है। वे ग्राम, नगर, स्त्री, भक्षण करने योग्य अन्न इत्यादि वासनानिर्मित क्रीडा के रूपो को देखते हैं। "न त पश्यति कश्चन" अर्थात् उस विशुद्ध

---

१ प्रदर्शित स्वप्नप्रयोजन स्वयज्योतिष्ट्वमित्यभिप्रेत्याह—आराममिति। २ अपि—अन्ये। ३ स्वय-ज्योतिष्ट्वविघातकमन्यदीय मत दुष्टमिति बोधयितुमुपन्यस्यति—अथो इत्यादि नेतीत्यन्तेन। अन्ये आहु किम्। एष प्रसिद्धो जागरितदेश एव अस्य स्वप्नस्य विषयो न तु स्वप्नोऽतिरिक्त इति। ४ प्रकाशमान। ५ वासनात्मकानि शरीराणि। ६ क्रीडन्निव। ७ सिंहव्याघ्रादीनीति— आविद्यकानीति ध्येयम्। ननु स्वप्ने व्याघ्रादिकृत भय कथमाविद्यमिति चेच्छृणु— अविद्यया भय चेह स्वप्ने तद्धेत्वसभवादि' ति॥ वा ६४३॥ अविद्येतरव्याघ्राद्यभावात्तत्कृतमेव तत्र भयमिति तदथ। ८ पश्यन्निवेतीवशब्देन तस्य निष्क्रियत्व द्योत्यते। ९ भवति। १० स्वप्ननिर्माणलक्षणाम्। ११ आत्मना मायाविना। १२ मायिकाम्। १३ अदनार्हं सिद्धमित्यर्थ। १४ विविक्तद्रूपमपि प्रत्यञ्चम्। १५ अध्यात्मादि-पदार्थेभ्य। १६ दर्शनयोग्यतापन्नम्। १७ प्रतीयमान।

एवास्यैष इति [1]यानि ह्येव जाग्रत्पश्यति तानि सुप्त इत्यत्रायं पुरुषः स्वयं ज्योतिर्भवति [2]सोऽहं [3]भगवते [4]सहस्रं ददाम्यत ऊर्ध्वं विमोक्षाय ब्रूहीति ॥१४॥

है अर्थात् जिन पदार्थों को यह जागने पर देखता है, सोकर भी उन्हीं को देखता है। (—किन्तु ऐसा कहना ठीक नहीं—) क्योंकि इस अवस्था में यह पुरुष स्वयंज्योति होता है। राजा जनक ने पूछा—वह मैं जनक आप आचार्यश्री को एक सहस्र गौएँ देता हूँ। अतः अब इसके आगे मोक्ष के लिये यथार्थ उपदेश करें ॥१४॥

हीनता लोकस्य [5]यच्छक्यदर्शनमप्यात्मानं न पश्यतीति लोकं [6]प्रत्यनुक्रोशं दर्शयति श्रुतिः। अत्यन्तविविक्तः स्वयं ज्योतिरात्मा स्वप्ने भवतीत्यभिप्रायः।

तं नाऽऽयतं बोधयेदित्याहुः। [7]प्रसिद्धिरपि लोके विद्यते स्वप्न आत्मज्योतिषो [8]व्यतिरिक्तत्वे। काऽसौ। तमात्मानं सुप्तमायतं सहसा भृशं न बोधयेदित्याहुरेव कथयन्ति

मपि न पश्यतीति संबन्धः। कष्टमित्यादिनोक्तं प्रपञ्चयति—अहो इति। श्लोकानां तात्पर्यमुपसंहरति—अत्यन्तेति।

वाक्यान्तरमादाय तात्पर्यमुक्त्वाऽऽकाङ्क्षापूर्वकमक्षराणि व्याकरोति—त नेत्यादिना।

स्वरूप प्रत्यगात्मा को कोई नहीं देखता। यह बड़े दुःख की बात है, जो अध्यात्मादि पदार्थ से अत्यन्त विशुद्ध दर्शनयोग्यता को प्राप्त भी, स्वात्मादेह में स्थित दर्शन के लिए शक्य होने पर भी इस आत्मा को कोई नहीं देखता। अहो! संसारी जीवों का कैसा दुर्भाग्य है। इस प्रकार श्रुति करुणापूर्ण संवेदना प्रकट करती है। भाव यह है कि स्वप्नावस्था में यह स्वयंज्योति आत्मा अत्यन्त संसर्गशून्य हो जाता है ॥ १४ ॥

'उस सोए हुए आत्मा को सहसा न जगावे'। ऐसा लोग कहते हैं। स्वप्न में आत्मज्योति के संघात से व्यतिरिक्त होने की लोकव्यवहार में प्रसिद्धि भी है। वह प्रसिद्धि क्या है? उस सोए हुए आत्मा को 'आयत' यानी सहसा-एकदम न जगावे—ऐसा चिकित्सकादि लोकव्यवहार में कहा

---

१ एतदुपपादयन्ति—यानीत्यादि नेतीत्यन्तेन। हि यस्माद्यानि हस्त्यादीनि वस्तूनि जागरितदेशे पश्यति तान्येव स्वप्नेऽपि पश्यति इति। तथा च जाग्रद्वत्स्वप्नेऽपि न स्वयंज्योतिष्ट्वम्। तदेतदसार (बृ उ ४-३-८) स वा अयमित्यादिना। स्वप्नस्य जागरितभिन्नत्वेनोक्तत्वादित्यभिप्रायेण श्रुतिः स्वप्ने निरूपित स्वयंज्योतिष्ट्वमुपसहरति—अत्रायं पुरुष इति। तथा चायं पूर्वपक्षस्तस्मात्सिद्धान्तग्रन्थात्प्रागेव बोध्यः। २ स्वप्नेऽयं पुरुषः स्वयंज्योतिर्भवतीति मुनिकृतोपसंहारं श्रुत्वा राजाऽऽह—सोऽहमिति। देहेन्द्रियादिविलक्षणं स्वरूपं यद्यप्युक्तं तथापि भयादिहेतुकामकर्माद्यतीतं तु तथोक्तमत पृच्छति—अत इति। स्वयंज्योतिष्ट्वरूपो मुक्त्येकदेश एव निर्णीतोऽतः कारणात् (स्वयंज्योतिष्ट्वाद्) ऊर्ध्वमनन्तरं विशेषेण मोक्षो भवत्यनेनेति विमोक्षो सम्यग्ज्ञानं तदर्थं ब्रूहि—यथा मोहत्रासादिजनकं कर्मादिभ्यो मृत्युरात्मनः स्वभावो न भवति तथोपदिशेत्यर्थः। ३ तुभ्यम्। ४ गवाम्। ५ स्वात्मनि (देहे) स्थितत्वात्। ६ अनुक्रोशं दर्शयतीति। मदय शिरस्ताडमाक्रन्दतीत्यर्थः। ७ बुद्ध्यादिव्यतिरिक्तत्वं स्वयंज्योतिष्ट्वमागमादात्मनः प्रतिपाद्याथ लोकतोऽपि विभाव्यते—प्रसिद्धिरिति। ८ संघातात्।

चिकित्सकादयो जना लोके। नूनं ते पश्यन्ति जाग्रद्देहादिन्द्रियद्वारतोऽपसृत्य केवलो बहिर्वर्तत इति यत आहुस्तं नाऽऽयतं बोधयेदिति। तत्र च दोषं पश्यन्ति भृशं ह्यसौ बोध्यमानस्तानीन्द्रियद्वाराणि सहसा प्रतिबोध्यमानो न प्रतिपद्येत इति। तदेतदाह—दुर्भिषज्यं हास्मै भवति यमेष न प्रतिपद्यते यमिन्द्रियद्वारदेशं यस्माद्देशाच्छुक्रमादायापसृतस्तमिन्द्रियदेशमेव आत्मा पुनर्न प्रतिपद्यते। कदाचिद् व्यत्यासेनेन्द्रियमात्राः प्रवेशयति। तत आन्ध्यबाधिर्यादिदोषप्राप्तौ दुर्भिषज्यं दुःखभिषक्कर्मता हास्मै देहाय भवति दुःखेन चिकित्सनीयोऽसौ देहो भवतीत्यर्थः। तस्मात्प्रसिद्ध्याऽपि स्वप्ने स्वयंज्योतिष्ट्वं देहाद्व्यतिरिक्तत्वमस्य गम्यते।

तेषामभिप्रायमाह—नूनमिति। इन्द्रियाण्येव द्वाराण्यस्येतीन्द्रियद्वारो जाग्रद्देहस्तस्मादिति यावत्। तथाऽपि सहसाऽसौ बोध्यतां का हानिरित्याशङ्क्याऽऽह—तत्रेति। सहसा बोध्यमानत्वं सम्बन्धः। किमत्र प्रमाणमित्याशङ्क्यानन्तरवाक्यमवतार्य व्याचष्टे—तदेतदाहेत्यादिना। पुनरप्रतिपत्तौ दोषप्रसङ्गं दर्शयति—कदाचिदिति। व्यत्यासप्रवेशस्य कार्यं दर्शयन्दुर्भिषज्यमित्यादि व्याचष्टे—तत इति। उक्तां प्रसिद्धिमुपसंहरति—तस्मादिति।

करते हैं। इसमें कोई सन्देह नहीं कि वे देखते हैं कि आत्मा जाग्रद्देह से उसके इन्द्रियरूप द्वार से निकलकर अकेली बाहर रह जाती है, इसलिए उसे सहसा न जगावे—ऐसा कहते हैं। इसमें वे यह भी दोष देखते हैं कि झटिति जगाये जाने पर वह एकाएक जगाया हुआ उन इन्द्रियगोलकों को प्राप्त नहीं हो सकता। उक्त दूषण को उत्तरवाक्य में स्पष्ट करते हैं—'जिस इन्द्रिय प्रदेश में यह सोता रहता है—सहसा जगाने पर उस प्रदेश में प्राप्त न होने के कारण उसका शरीर चिकित्सा करने योग्य नहीं रहता"। "यम्" अर्थात् जिस इन्द्रियद्वाररूप प्रदेश से अर्थग्रहण सामर्थ्याख्य इन्द्रिय मात्रारूप शुक्र लेकर हट गया है, उसी इन्द्रिय देश को (सहसा जगाने पर) फिर प्राप्त नहीं करता। तथा यदि कभी विपरीतरूप से इन्द्रियमात्रा को प्रविष्ट करा देता है तो अन्धत्व-बधिरत्व आदि दोष की प्राप्ति होने पर "दुर्भिषज्य" यानी इसकी चिकित्सा होनी कठिन हो जाती है। अर्थात् स्पष्टतया इसका शरीर दुःख से चिकित्स्य हो जाता है। अतः प्रसिद्धि से भी स्वप्न में इसका स्वयंज्योतिस्वरूप जाना जाता है।

---

१ अपसृत्येति। तदुक्तं वार्तिके—"प्रबोधनाडीस्त्यक्त्वाऽऽत्मा स्वप्ननाडीरयं गतः। इति लोकप्रसिद्धत्वादस्मिँल्लोकोऽनुशास्ति तत्" ॥ ९४७ ॥ इति। तस्मिन्—सुप्ते पुंसि। तस्मादिति पाठान्तरम्। तन् तमायतं बोधयेदित्येतत्। २ एकल आत्मा। ३ झटिति। ४ प्रसिद्धानि। ५ गोलकानि। ६ उक्त दूषणम्। उत्तर वाक्य स्फुट यते। ७ इन्द्रियद्वारप्रदेशात्। ८ अर्थग्रहणसामर्थ्याख्यमिन्द्रियमात्रारूपम्। ९ सहसा प्रतिबोध्यमान। १० वैपरीत्येन। ११ व्यत्यासगते। १२ स्फुटम्। १३ सहसा प्रतिबोधप्रतिषेधात् अपि ना मत्यग्राहणग्रह। १४ प्रवेष्टा हि प्रवेश्यादतिरिक्तो दृष्टः। १५ चिकित्सकादीनाम्। १६ नाड्यन्तरप्रवेशप्रसिद्धावपि। १७ यथास्थानमप्रतिपत्तौ।

स्वप्नो भूत्वाऽतिक्रान्तो मृत्यो रूपाणीति[1] तस्मात्स्वप्ने स्वयं ज्योतिरात्मा। ❀अथो अपि खल्वन्य आहुर्जागरितदेश एवास्यैष यः स्वप्नः। न संध्यं स्थानान्तरमिहलोकपरलोकाभ्यां व्यतिरिक्तं किं तर्हीहलोक एव जागरितदेशः[2]। यद्येवं, किं चातः, शृण्वतो यद्भवति, यदा जागरितदेश एवायं स्वप्नस्तदाऽयमात्मा कार्यकरणेभ्यो न व्यावृ-

वृत्तमनूद्य मतान्तरमुत्थापयति—स्वप्नो भूत्वेत्यादिना। इतिशब्दो यस्मादर्थे। तदेव मतान्तरं स्फोरयति—नेत्यादिना। उक्तमङ्गीकृत्य फलं पृच्छति—यद्येवमिति। स्वप्नो जागरितदेश इत्येवं यदीष्टमतश्च किं स्यादिति प्रश्नार्थः। फलं प्रतिज्ञाय प्रकटयति—शृण्विति।

"यह स्वप्न होकर मृत्यु आदि रूपों को पार कर जाता है" इसी से स्वप्न में आत्मा स्वयंज्योति है। इस पर कुछ विचारक ऐसा भी कहते हैं—जो यह स्वप्न है; यह आत्मा का जागरित देश है। इहलोक और परलोक से पृथक् कोई सन्ध्यस्थान नहीं है। ऐसा मानने से क्या निष्कर्ष निकला?

१ बृ उ ४ ३ ७। २ स्वप्न।

❀अथो अपीत्यादि भवत्यवेत्यन्ते वार्तिककारपादास्तथाहि—"स्वयंज्योतिष्ट्वमारभ्य यच्च प्रोक्तमिहात्मनि। उच्यते पूर्वपक्षोऽयं तस्य सिद्धान्तरूपिणः॥ स यत्रेति ह्यत पूर्वं पूर्वपक्षस्य हेतुतः। अथो खल्वाहुरित्यादि ग्रन्थं पश्येत्तथा क्रमात्॥ स्वप्नस्य जाग्रत्स्थानत्वमथो खल्वितिवाक्यतः॥ यानि ह्येवेति हेतूक्तिः प्रतिज्ञार्थसिद्धये॥ जाग्रत्समीक्षणं यासु पुंसो नाडीषु तास्विदम्। स्वप्नेक्षणं विजानीयान्नान्यत्रेति विनिश्चयः। स्वप्ने तमेव चाऽऽत्मानं सुप्तोऽयमभिमन्यते। यमनस्तप्रवासस्य न ततोऽन्यं कदाचन॥ जाग्रद्दृग्घपुरामपथश्वारामादिलक्षणान्। स्वप्ने प्रत्यभिजानाति तानेव न ततोऽपरान्॥ अपूर्वमेव संपश्येत्स्वप्नदृग्जाग्रतो यदि। उत्तत्स्वप्नो भवेदन्यो यथा पूर्वगतस्तथा॥ इत्येवमाहुः केचित्तु न तु तद्युक्तिमद्वचः। अयुक्तिमद्यथा चैतत्तत्पूर्वं प्रतिपादितम्॥ अत्रायमित्यनेनात्र पूर्वपक्षनिराक्रिया। न्यायेनोक्तेन पूर्वेण वक्ष्यमाणेन च ध्रुवम्॥ न जाग्रद्देशग स्वप्नो जाग्रत्सामग्र्यभावतः अध्यात्माद्यर्थविरहे यतः स्वप्नान्प्रपश्यति" ॥ ६५४-६६२ ॥ अथो खल्वित्यादिवाक्यस्य पूर्वेणासंगतिमाशङ्क्याऽऽह—स्वयंज्योतिष्ट्वमिति। ॥ यत्र प्रस्वपितीत्याद्या श्रुतिः॥ उक्त स्वयंज्योतिष्ट्व प्रत्यस्य पूर्वपक्षत्वे कथमत्र प्राप्तिरित्याशङ्क्याऽऽह—स यत्रेति। पूर्वपक्षत्वेऽपि कथमयं क्रमस्तत्र हिशब्दसूचितमर्थमाह—तथेति। पूर्वपक्षानन्तरभावी सिद्धान्त इति क्रमस्योचितत्वादर्थक्रमेण पाठक्रमस्याग्निहोत्रयवागूपाकवद्भङ्गादित्यर्थः॥ क्रमं दर्शयित्वा पूर्वपक्षं विभजते—स्वप्नस्येति। वाक्यस्य प्रतिज्ञायत इति शेषः॥ हेतूक्तिं व्याचष्टे—जाग्रदिति॥ जाग्रत्स्वप्नयोरेकस्थानत्वमुक्त्वा द्रष्ट्रैक्ये हेतुमाह—स्वप्न इति॥ तयोर्विपर्ययमाह—जाग्रदिति॥ अधिकरणद्रष्टृविपर्ययात्तयोरैक्यमुक्तं व्यतिरेकद्वारा व्यनक्ति—अपूर्वमिति। यथा देशाद्देशान्तरं गतोऽपूर्वं करभादि पश्यति तथा यदि स्वप्नदृग्जागरितादपूर्वं पश्येत्तदा स्वप्नस्ततोऽन्यो युज्येत न चैवं पश्यत्यतो जाग्रदेव स्वप्न इत्यर्थः। समुपसर्गो भवेदित्यनेन संबध्यते॥ पूर्वपक्षमुपसंहरति—इत्येवमिति। यदा जाग्रदेव स्वप्नस्तदा तत्र स्वयंज्योतिष्ट्वं दुर्वचं चेत्तुल्यं स्वप्नेऽपि दुर्वचत्वमिति तेषामाशयः। तदसदिति प्रतिजानीते—न त्विति। तदेव प्रकटयति अयुक्तिमदिति। न तत्र रथा इत्यादावित्यर्थः॥ श्रुतेर्बहिरेव परिहृत्यात्रेत्यादिवाक्यमवतार्य तात्पर्यमाह—अत्रेति। समनन्तरश्रुतौ प्राप्तस्य पूर्वपक्षस्यानेन वाक्येनोक्तवक्ष्यमाणन्यायानुसारिणा ध्रुवं निराक्रियेति योजना॥ उक्तवक्ष्यमाणन्याय संक्षिप्य स्मारयति—नेत्यादिना। तत्र हेतुं साधयति—अध्यात्मादीति॥

त्वस्तैर्मिश्रीभूतः। अतो न स्वयं ज्योतिरात्मेत्यतः स्वयंज्योतिष्ट्वबाधनायान्य आहु-र्जागरितदेश एवास्यैष इति। 'तत्र च हेतुमाचक्षते' जागरितदेशत्वे यानि हि यस्माद्ध-स्त्यादीनि पदार्थजातानि जाग्रज्जागरितदेशे पश्यति लौकिकस्तान्येव सुप्तोऽपि पश्यतीति। तदसत्। इन्द्रियोपरमात्। उपरतेषु हीन्द्रियेषु स्वप्नान्पश्यति। 'तस्मान्नान्यस्य ज्योति-षस्तत्र संभवोऽस्ति। तदुक्तं न तत्र रथा न रथयोगा इत्यादि। 'तस्मादत्रायं पुरुषः स्वयं ज्योतिर्भवत्येव।

※स्वयं ज्योतिरात्माऽस्तीति स्वप्नानिदर्शनेन प्रदर्शितम्। अतिक्रामति मृत्यो

मतान्तरोपन्यासस्य स्वमतविरोधित्वमाह—इत्यत इति। स्वप्नस्य जाग्रद्देशत्वं दूषयति—तदसदिति। 'तस्य जाग्रद्देशत्वाभावे फलितमाह—तस्मादिति। स्वप्ने बाह्यज्योतिष संभवो नास्तीत्यत्र प्रमाणमाह—तदुक्तमिति। बाह्यज्योतिरभावेऽपि स्वप्ने व्यवहारदर्शनात्तत्र स्वयंज्योतिष्ट्वमाक्षेप्तुम-शक्यमित्युपसंहरति—तस्मादिति।

कथं पुनर्विद्यायामनुक्तायां सहस्रदानवचनमित्याशङ्क्य वृत्तं कीर्तयति—स्वयं ज्योतिरिति। मृत्यो रूपाण्यतिक्रामतीत्यत्र च कार्यकरणव्यतिरिक्तत्वमात्मनो दर्शितमित्याह—अतिक्रामतीति।

इससे जो होता है, वह सुनो। यदि यह स्वप्न (आत्मा का) जागरित देश ही है, उस समय यह आत्मा देह और इन्द्रियों से पृथक् नहीं होता उनसे मिला ही रहता है। अतः आत्मा स्वयंज्योति नहीं है, इसी कारण उसके स्वयंज्योतिष्ट्व को बाध करने के लिए कोई कोई विचारक कहते हैं कि यह इसका जागरित देश है। स्वप्न के जागरितदेशत्व में वे हेतु बतलाते हैं—"यानि" अर्थात् जिन हस्ती आदि पदार्थों को लौकिक पुरुष 'जाग्रत्' अर्थात् जागरित दशा में देखता है, उन्हीं को स्वप्ना-वस्था में भी देखता है। यह कहना मिथ्या है क्योंकि वहाँ तो इन्द्रियाँ उपराम हो जाती हैं। इन्द्रियों की उपरामावस्था में ही पुरुष स्वप्न देखता है। इसलिए उस अवस्था में किसी अन्य ज्योति का होना सभव नहीं है। इसी से कहा है—"न वहाँ रथ है, न रथ योग (अश्वादि) है" इत्यादि। इसलिए यहाँ वह पुरुष स्वयंज्योतिस्वरूप होता ही है।

आत्मा स्वयंज्योति है—यह बात स्वप्नदृष्टान्त से प्रदर्शित कर दी गयी। मृत्यु रूपों का

---

१ बाधनायेति—जागरस्वप्नयोरैक्याज्जागरे च ज्योतिरन्तरसङ्करादिति। २ तत्र जागरितदेशत्व इति समानाधिकरणे सप्तम्यौ। ३ स्वप्नस्य। ४ पश्यतीति—न खलु जागरे तदुपरमोऽभ्युपगन्तुं शक्यो-ऽभ्युपगम्यते वेति भाव। ५ अवतरणोक्तार्थम्। ६ अवतरणोक्तम्। ७ स्वप्नस्य। ८ प्रति-पद्भम्।

※ स्वयंज्योतिरात्माऽस्तीत्यादि तद्दिदर्शयिषया प्रवृत्ते इत्यन्तभाष्ये वार्तिकाचार्यास्त्वयाहि— स्वयंज्योतिरु-मस्योक्तं स्वप्ने चाकारकात्मता। मृत्युरूपात्ययश्चैव प्रतीचः पूर्ववाक्यत ॥ कामादयः स्वभावोऽस्य मृत्यवोऽथ न वा भवेत्। इत्याशङ्क्य नृपो दोषं याज्ञवल्क्यमपृच्छत ॥ पृष्टं वस्तु मुनिर्णीतं मयेतिप्रकृतोक्तितः। निर्विवृत्सुर्नृपो विप्रं भूयोऽपृच्छद्विमुक्तये ॥ स्वयंज्योतिष्ट्वमुदितं मुक्तेरङ्गममन्यत ॥ न चाङ्गनिर्णयोक्त्यैव निर्णयं मन्यतेऽङ्गिनः। यतोऽतो मोक्षमुद्दिश्य याज्ञवल्क्यमपृच्छत ॥ असङ्गप्रविवेकार्थं स वा इत्यादि

रूपाणीति च[1] । क्रमेण संचरन्निहलोकपरलोकादीनिहलोकपरलोकादिव्यतिरिक्तः[2] । तथा जाग्रत्स्वप्नकुलायाभ्यां व्यतिरिक्तः[3] । तत्र च क्रमसंचारान्नित्यश्चेत्येतत्प्रतिपादितं याज्ञवल्क्येन । अतो विद्यानिष्क्रयार्थं सहस्रं ददामीत्याह जनकः । सोऽहमेवं बोधितस्त्वया

लोकद्वयसंचारवशादुक्तमर्थमनुद्रवति—क्रमेणेति । आदिशब्दस्तत्तद्देहादिविषयः । स्थानद्वयसंचारवशादुक्तमनुभाषते—तथेति । इहलोकपरलोकाभ्यामिवेति यावत् । लोकद्वये स्थानद्वये च क्रमसंचारप्रयुक्तमर्थान्तरमाह—तत्र चेति । आत्मनः स्वयंज्योतिषो देहादिव्यतिरिक्तस्य नित्यस्य ज्ञापितत्वाद्वि-

अतिक्रमण करती है—इस प्रकार कार्यकरणपृथक्त्व आत्मस्वरूप दिखाया गया । आत्मा क्रम से इस लोक और परलोक मे सचरण करता हुआ भी इहलोक और परलोक से व्यतिरिक्त है, तथा जाग्रत् और स्वप्नशरीरो से पृथक् है । स्थानद्वय और लोकद्वय मे क्रम से सचरण करने के कारण नित्य भी है—ऐसा याज्ञवल्क्य ने प्रतिपादन किया । इसलिए जनक बोले—मैं तुमको विद्यादान के

१ इति च कार्यकरणव्यतिरिक्तत्वमात्मनो दर्शितमिति शेष । २ आत्मेति च दर्शितम् । ३ आत्मेत्यदर्शि । ४ स्थानद्वये लोकद्वये च ।

भण्यते । कामादिप्रविवेके हि मोक्षयोग्यत्वमात्मन ॥ कामाद्यात्मगुणश्चेत्स्यादनिर्मोक्षः प्रसज्यते । न हि गुण्यविनाशेन तद्गुणस्य निराकृति ॥ रूपाण्येवायमात्माऽत्र मृत्यो स्वप्नेऽतिवर्तते । न तु मृत्यु यत स्वप्ने मोदत्रासादि दृश्यते । मोदत्रासादिको मृत्यु स्वभावो न यथाऽऽत्मन । तथाऽत ऊर्ध्वं प्रब्रूहि भगवन्मे विमुक्तये ॥ सहस्रदान तूक्तस्य स्वयंज्योतिष्ट्ववस्तुन । निर्णयाघाटविज्ञप्त्यै नाशेषप्रश्ननिर्णयात्" ॥ ९६४-९७३ ॥ इति । अत ऊर्ध्वमित्याद्यवतारयितु वृत्त कीर्तयति—स्वमिति । अत्राय पुरुष स्वयंज्योतिर्न तत्र रथा अतिक्रामति मृत्यो रूपाणीत्यादिवाक्यादित्यर्थ ॥ उत्तरवाक्यमादत्ते—कामादय इति । मृत्यो रूपाण्यतिक्रामतीत्युक्तत्वात्कामकर्मादिमृत्युरात्मन स्वभावो न वेत्याशङ्कायाऽऽद्ये मोक्षायोग मन्वानो राजाऽद्वितीयनिश्चयार्थमत इत्यादिना मुनिमपृच्छदित्यर्थ । कतम आत्मेति प्रष्टार राजान प्रति निर्णेतु प्रवृत्तो मुनिर्न ॥ विना निवर्तते तत्कथ राज्ञा सभामध्ये नियुज्यते तत्राऽऽह—पृष्टमिति । यदि राज्ञा पृष्टमात्मवस्तु तद्यथावदेव योऽयमित्यादिवचनवशान्निर्धारितमिति बुद्ध्या प्रत्युक्तितो निवृत्त्युन्मुख मुनिमुपलभ्य पुनरपि मोक्षार्थं राजा पृष्टवानित्यर्थ । बुद्ध्याद्यतिरिक्तस्याऽऽत्मन स्वयंज्योतिष्ट्वोक्तेरेव मुक्तिसिद्धेस्तदर्थो न प्रश्नो युक्तिमानित्याशङ्क्याऽऽह—स्वयमिति । तर्हि मोक्षाङ्गस्वयंज्योतिष्ट्वनिर्णयादेवाङ्गिमोक्षनिर्णयसिद्धेरल तदर्थप्रश्नेनेत्याशङ्क्याऽऽह—न चेति । अङ्गानि हि दर्शादौ निर्णीते प्राहव प्रहणसामर्थ्यादिदमर्थ्येनाङ्गानि निर्णीयन्ते श्रुत्यादीनि तु द्वारार्पकाणि न त्वङ्गनिर्णयादेवाङ्गिनिर्णयो न्यायाभावादिति भाव ॥ प्रश्नतात्पर्यमुक्त्वा प्रत्युक्तितात्पर्यमाह—प्रासङ्गेति । किमिति तत्प्रविवेको मोक्ष एवापेक्षितो व्याख्यायतामित्याशङ्क्याऽऽह—कामादीति । अतस्तत्प्रविवेको युक्त इति शेष ॥ उक्तमर्थं व्यतिरेकद्वारा स्फुटयति—कामेति । कथमेतावता मोक्षासिद्धिरात्मगुणस्यापि तस्य निरासेन तत्सिद्धेरित्याशङ्क्याऽऽह—न हीति । सत्यात्मनि तदीयवास्तवगुणस्य सर्वात्मना ध्वंसानुपपत्ते सहाऽऽत्मना ध्वसे च फल्यभावादमुक्तिरित्यर्थ ॥ कामादेरात्मस्वभावत्वाभावेऽपि तत्प्रविवेकार्थं नोत्तर वाक्यमतिक्रामति मृत्यो रूपाणीत्यर्थस्यैव सिद्धत्वादित्याशङ्क्याऽऽह—रूपाणीति ॥ प्रश्नप्रतिवचनयोस्तात्पर्यमुक्त्वा प्रश्न योजयति—मोदेति । अत स्वयंज्योतिष्ट्वनिर्णयादिति यावत् ॥ प्रश्नशेषोऽवशिष्टश्चेत्कथ सहस्रदान तत्राऽऽह—सहस्रेति । निर्णयाघाटो निर्दिष्टेऽर्थे स्वीयनिर्णयस्य दृढता तज्ज्ञापनायेति यावत् । प्रश्नशेषाभावादेव सहस्रदान किं न स्यादित्याशङ्क्य पुन प्रश्नदर्शनान्नैवमित्याह—नाशेषेति ॥

भगवते तुभ्यं सहस्रं ददामि । [1]विमोक्षश्च कामप्रश्नो मयाऽभिप्रेतः । [2]तदुपयोग्ययं [3]ताद-र्थ्यात्तदेकदेश एव । अतस्त्वां [4]नियोक्ष्यामि समस्तकामप्रश्ननिर्णय[5]श्रवणेन [6]विमोक्षायात ऊर्ध्वं ब्रूहीति । येन संसाराद्विप्रमुच्येयम्, त्वत्प्रसादात् । विमोक्षपदार्थै[8]कदेशनिर्णयहेतोः सहस्रदानम् ॥ १४ ॥

यत्प्रस्तुतमात्मनैवायं ज्योतिषाऽऽस्त इति तत्प्रत्यक्षतः प्रतिपादितमत्रायं पुरुषः स्वयं ज्योतिर्भवतीति[9] स्वप्ने । यतुक्तं स्वप्नो भूत्वेमं लोकमतिक्रामति [10]मृत्यो [11]रूपाणीति

स्यतःशब्दार्थः । "कामप्रश्नस्य निर्णीतत्वान्निराकाङ्क्षत्वमिति शङ्कां वारयति—विमोक्षश्चेति । सम्यग्बोध"स्तद्धेतुरिति यावत् । ननु "स एव प्रागुक्तो नासौ वक्तव्योऽस्ति तत्राऽऽह—तदुपयोगीति । अयमित्युक्तात्मप्रत्ययोक्तिः । तादर्थ्यात्पदार्थज्ञानस्य वाक्यार्थज्ञानशेषत्वादिति यावत् । पदार्थस्य वाक्यार्थबहिर्भावं "दूषयति—तदेकदेश एवेति । कामप्रश्नो नाद्यापि निर्णीत इत्यत्रोत्तरवाक्य" गमकमित्याह—अत इति । कामप्रश्नस्यानिर्णीतत्वादिति यावत् । "तेनापेक्षितेन हेतुनेत्यर्थः । विमोक्षशब्दस्य सम्यग्ज्ञानविषयत्व सूचयति—येनेति । सम्यग्ज्ञानप्राप्तौ गुरु"प्रसादस्य प्राधान्यं दर्शयति—त्वत्प्रसादादिति । ननु विमोक्ष"पदार्थो निर्णीतोऽन्यथा सहस्रदानस्या"ऽऽकस्मिकत्वप्रसङ्गादत आह—विमोक्षेति ॥१४॥

उत्तरकण्डिकामवतारयितुं वृत्तं कीर्तयति—यत्प्रस्तुतमिति । आत्मनैवेत्यादिना यदात्मनः स्वयंज्योतिष्ट्वं ब्राह्मणादौ प्रस्तुत तदत्रायमित्यादिना प्रत्यक्षतः स्वप्ने प्रतिपादितमिति सबन्धः । वृत्तमर्थान्तरमनूद्य चोद्यमुत्थापयति—यत्तूक्तमिति । मृत्युं नातिक्रामतीत्यत्र हेतुमाह—प्रत्यक्ष हीति ।

बदले एक सहस्र गोएं देता हूँ यानी इस प्रकार ज्ञान प्राप्त कर आप आदरणीय के लिए मैं एक सहस्र गोएँ देता हूँ । अब मुझे अपने मनोनुकूल अभीष्ट सम्यग्बोध मोक्षरूप प्रश्न पूछना है । यह आत्मज्ञान वाक्यार्थबोध हेतु होने व वाक्यार्थ बोधशेषत्व होने से वाक्यार्थबोध का एकदेश ही है । इसलिए मैं सम्पूर्ण अभीप्सित प्रश्ननिर्णय को श्रवण करने की इच्छा से आपसे प्रार्थना करता हूँ । अब आगे मुझे सम्यग् बोधरूप मोक्ष का उपदेश कीजिये, जिससे आपकी कृपा से संसार से छूट जाऊँ । यह सहस्र गोदान तो मोक्षपदार्थ के ज्योतिष्ट्वस्वरूप एकदेश का जो निर्णय किया है, उसके लिये है ॥१४॥

"यह पुरुष अपनी आत्मज्योति से प्रकाशित होता है" इस प्रकार जिसे प्रस्तुत किया था, उसका स्वप्न मे 'यहाँ वह पुरुष स्वयज्योति होता है" इस श्रुतिवाक्य से प्रत्यक्ष प्रतिपादन किया । किन्तु जो यह कहा गया कि "स्वप्न होकर इस लोक को अतिक्रमण कर जाता है । कर्माख्य मृत्यु के

---

१ सम्यग्बोधश्च । २ तदुपयोग्ययमिति—अयं पूर्वोक्तपदार्थबोध वाक्यार्थबोधहेतु । ३ तादर्थ्यात्—वाक्यार्थबोधशेषत्वात् वाक्यार्थबोधैकदेश एवेत्यर्थः । ४ प्रार्थयामि । ५ श्रवणेच्छया । ६ विशेषेण मोक्षो भवति अनेनेति विमोक्ष सम्यग्ज्ञानम् । ७ अत ऊर्ध्वम्—आत्मन स्वयज्योतिष्ट्वदेहाद्यतिरिक्त-नित्यत्वनिर्णयानन्तरम् । ८ एकदेश—स्वयज्योतिष्ट्वादि । ९ वाक्येन । १० कर्माख्यस्य । ११ रूपाणि कार्यकरणानि । १२ यथेच्छ प्रश्नस्य । १३ तच्छब्दो मुक्तिपर । १४ सम्यग्बोध एव । १५ निषेधति । १६ अत ऊर्ध्वमित्यादि पुन प्रश्नात्मकम् । १७ श्रवणात्मकेन । १८ कृपाया । १९ सम्यग्ज्ञानम् । २० निर्निमित्तकत्वप्रसङ्गात् ।

[1]स वा एष एतस्मि[2]न्संप्रसादे रत्वा चरित्वा दृष्ट्वैव पुण्यं च पापं च। पुनः प्रतिन्यायं प्रतियोन्याद्रवति

वह यह स्वयंज्योति आत्मा इस सुषुप्ति काल में रमण और विहार कर पुण्य तथा पाप को देख कर ही पुन. स्वप्नस्थान को वहाँ ही वापस आ जाता है, जहाँ से आया था और जैसे आया था।

तत्रैतदाशङ्क्यते मृत्यो रूपाण्येवातिक्रामति न मृत्युम्। प्रत्यक्षं [3]ह्येतत्स्वप्ने कार्यकरणव्यावृत्तस्यापि मोदत्रासादिदर्शनम्। तस्मान्नूनं नैवायं मृत्युमतिक्रामति। कर्मणो हि मृत्योः कार्यं मोदत्रासादि दृश्यते। [4]यदि च मृत्युना बद्ध एवायं स्वभावतस्ततो विमोक्षो नोपपद्यते। न हि स्वभावात्कश्चिद्विमुच्यते। [5]अथ [6]स्वभावो न भवति मृत्युस्ततस्तस्मान्मोक्ष उपपत्स्यते। यथाऽसौ मृत्युरात्मीयो [7]धर्मो न भवति तथा [8]प्रदर्शनायात ऊर्ध्वं

इच्छाद्वेषादिरादिशब्दार्थः। 'तथाऽपि कुतो मृत्युं नातिक्रामति तत्राऽऽह—तस्मादिति। कार्यस्य कारणादन्यत्र [9]प्रवृत्त्ययोगादिति यावत्। उक्तमुपसंहरति—कर्मणो हीति। अतः स्वप्नं गतो मृत्युं कर्माख्य नातिक्रामतीति शेष। मा तर्हि मृत्योरतिक्रमो भूत्को दोषस्तत्राऽऽह—यदि चेति। स्वाभावादपि मृत्योर्विमुक्तिमाशङ्क्याऽऽह—न हीति। उक्तं हि—

[10]"न हि स्वभावो भावानां व्यावर्तेतौष्ण्यवद्रवेः" इति॥

कथं [11]तर्हि मोक्षोपपत्तिरित्याशङ्क्याऽऽह—अथेति। एवं च शङ्का [12]"प्रागेव राजा कृतेति

कार्यकरणात्मक रूपों को पार कर जाता है"। यहाँ यह शङ्का होती है कि मृत्यु के रूपों को पार करता है, मृत्यु को तो पार करता नहीं। यह बात भी प्रत्यक्ष ही है कि स्वप्न में देह और इन्द्रियों से व्यावृत्त हुए पुरुष को भी आनन्द और भय का दर्शन होता है। इससे सिद्ध होता है कि पुरुष मृत्यु का अतिक्रमण नहीं करता। आनन्द और भयादि कर्मरूप मृत्यु के ही कार्य देखे जाते हैं, यदि यह जीव स्वभावतः ही मृत्यु से बद्ध है तो इसका मोक्ष असंभव है क्योंकि स्वभाव से कोई भी छूट नहीं सकता। यदि आत्मा का स्वभाव मृत्युरूप नहीं होता है, तभी उससे मोक्ष होना सिद्ध होगा। जिस प्रकार यह मृत्यु आत्मा का स्वभाव नहीं है, यह प्रदर्शन करने के लिए अब आगे मोक्ष का उपदेश दीजिए' इस प्रकार

१ यथा मोहश्रमादिजनकं कर्माख्यो मृत्युरात्मनः स्वभावो न भवति तथोपदिशेत्येव राज्ञा नियुक्तो मुनिरवस्थात्रयेऽपि तथोपदेष्टुमवस्थात्रयं कण्डिकात्रयेणाह—स वा इति। केन क्रमेण सम्प्रसीदतीत्याकाङ्क्षायामाह—रत्वेति। स्वप्ने एव रमणादि कृत्वेत्यर्थः। यद्वा सम्प्रसादे एव रमणादि कृत्वा तत्र रमणं स्वरूपानन्दानुभव। आनन्दभुगिति श्रुतेः। चरणमीश्वरात्मसम्पत्तिः सता सौम्येति श्रुतेः। पुण्यदर्शनमानन्दानुभवः तस्य तत्फलत्वात् सुखमस्वाप्समित्यनुभवात्। पापदर्शनमज्ञानानुभवः तस्य तत्फलत्वान्नावेदिषमित्यनुसंधानात्। २ सुषुप्त्यवस्थायाम्। ३ अवश्यम्। ४ यदि। ५ आत्मन। ६ स्वभाव। ७ प्रदर्शनात्मकाय विमोक्षायेत्यन्वय। ८ तत्र मोदत्रासादिदर्शने प्रत्यक्षे सत्यपि। ९ उत्पत्तिरिति भाव। १० "आत्मा कर्त्रादिरूपश्चेन्मा काङ्क्षीस्तर्हि मुक्तताम्"इति पूर्वदलम्। ११ मृत्योरात्मस्वरूपत्वे मोक्षो नोपपद्यते चेत्तर्हि। १२ प्रागेव—समनन्तरकण्डिकावसानेऽत ऊर्ध्वं विमोक्षाय ब्रूहीत्यस्मिन्नेव वाक्ये।

स्वप्नायैव स यत्तत्र किंचित्पश्यत्यनन्वागतस्तेन भवत्यसङ्गो ह्ययं पुरुष इत्येवमेवैतद्याज्ञवल्क्य सोऽहं भगवते सहस्रं ददाम्यत ऊर्ध्वं विमोक्षायैव ब्रूहीति ॥ १५ ॥

वहाँ यह जो कुछ देखता है, उससे बंधता नही क्योकि यह पुरुष असग है । जनक ने कहा—हे याज्ञवल्क्य ! यह बात ऐसी ही है । मै श्रीमान् को सहस्र गौएँ देता हूँ । अत. इसके आगे मोक्ष के लिए ही यथार्थतत्त्व का उपदेश करें ॥१५॥

विमोक्षाय ब्रूहीत्येवं जनकेन पर्यनुयुक्तो याज्ञवल्क्यस्तद्दिदर्शयिषया प्रववृते—

स वै प्रकृतः स्वयं ज्योतिः पुरुषः । एष यः स्वप्ने प्रदर्शित एतस्मिन्संप्रसादे सम्यक्प्रसीदत्यस्मिन्निति संप्रसादः । जागरिते देहेन्द्रियव्यापारशतसंनिपातजं हित्वा कालुष्यं तेभ्यो विप्रमुक्तः ईषत्प्रसीदति स्वप्ने । इह तु सुषुप्ते सम्यक्प्रसीदतीत्यतः सुषुप्तं संप्रसाद उच्यते । "तीर्णो हि "तदा सर्वाञ्शोकान्सलिल" एको द्रष्टेति हि "वक्ष्यति

दर्शयन्नुत्तरमुत्थापयति—यथेत्यादिना । तद्दिदर्शयिषयेत्यत्र तच्छब्देन मृत्योरतिक्रमणं गृह्यते ।

वैशब्दस्य "प्रसिद्धार्थत्वमुपेत्य सशब्दार्थमाह—प्रकृत इति । एषशब्दमनूद्य व्याकरोति—एष इति । संप्रसादे स्थित्वा मृत्युमतिक्रामतीति शेषः । सुषुप्तस्य संप्रसादत्वं साधयति—जागरित इत्यादिना । "तत्र वाक्यशेषमनुकूलयति—तीर्णो हीति । अस्तु संप्रसादः सुषुप्तं स्थानं तथाऽपि

जनक द्वारा प्रार्थना किये जाने पर याज्ञवल्क्य जी उन्हे दिखाने की इच्छा से कहने लगे ।

वह यह स्वप्न मे रहने वाला आत्मा स्वयज्योति है । जिसे पहले स्वप्नावस्था मे बतलाया जा चुका है । "एतस्मिन्सम्प्रसादे" अर्थात् जिसमे भली प्रकार स्वच्छ होता है; उसे सम्प्रसाद कहते हैं, जागरित अवस्था मे जो देहेन्द्रिय सैंकडो व्यापारो के ससर्ग से क्लेश था, उसे छोडकर उन देह और इन्द्रियो से मुक्त होने के कारण सस्कार शेष हो स्वप्न मे थोडा प्रसन्न होता है । यहाँ सुषुप्ति मे अतिशय प्रसन्न होता है, इसलिए सुषुप्ति अवस्था को सम्प्रसाद कहते है । श्रुतियाँ भी सुषुप्तस्य आत्मा के सबन्ध मे कहती हैं—"सुषुप्ति काल मे वह सम्पूर्ण शोको से पार हो जाता है", "सलिल के समान

---

१ स आत्मा तत्र स्वप्ने यत्किमपि पुण्यपापफल पश्यति तेन स्पृष्टेनानन्वागतोऽसबद्धो भवति हि यस्मादय पुरुषोऽसङ्ग तस्मादसबद्ध इत्युक्तमङ्गीकरोति राजा एवमेवैतद्याज्ञवल्क्येति । वार्तिके तु "असङ्गोऽय पुरुष" इति प्रतिज्ञा हि यतोऽनन्वागतस्तेन भवतीति हेतूक्तिरितिप्रकारान्तरमप्युक्तमिति तत्रैव करणे हृत्य निरीक्ष्यमित्यलम् । २ पृष्ट प्रार्थितो वा । ३ प्रसिद्ध । ४ स्वप्नावस्थ । ५ आत्मा । ६ स्वच्छो भवति । ७ सप्रसाद इति सुषुप्त स्थानमिति शेष । ८ सप्रसादशब्दे उपसर्गाभिप्रायमाह—जागरित इत्यादिना । ९ ससर्ग । १० संस्कारशेष प्रसीदति । ११ बृ उ ४ ३ २२ । १२ सुषुप्तिकाले । १३ सलिलवत्स्वच्छो विजातीयभेदरहित एक सजातीयो भेदशून्य कूटस्थज्योति । १४ बृ उ ४ ३ २२, ४ ३ ३२ । १५ कर्माख्यस्य । १६ सिद्धवत्कृत्य । १७ सुषुप्तस्य सप्रसादत्व ।

सुषुप्तस्थमात्मानम्। '✻स वा एष एतस्मिन्संप्रसादे' क्रमेण संप्रसन्नः सन्सुषुप्ते स्थित्वा। 'कथं संप्रसन्नः। स्वप्नात्सुषुप्तं प्रविविक्षुः स्वप्नावस्थ एव 'रत्वा रतिमनुभूय मित्रबन्धुजनदर्शनादिना चरित्वा 'विहृत्यानेकधा चरणफलं श्रममुपलभ्येत्यर्थः। दृष्ट्वैव न 'कृत्वेत्यर्थः। 'पुण्यं च पुण्यफलं पापं च पापफलम्। न तु पुण्यपापयोः साक्षाद्दर्शनमस्ती-

किमायातमित्यत आह—स वा इति। 'पूर्वोपगतेन क्रमेण संप्रसादे सुषुप्ते स्थित्वा संप्रसन्नः सम्भूत्युमति-क्रामतीत्यर्थः। उक्तमर्थमुपपादयितुमाकाङ्क्षामाह—कथमिति। रत्वेत्यादि स्वापूर्वं परिहरति—स्वप्नादिति। पुण्यपापशब्दयोर्यथाश्रुतार्थत्वमाशङ्क्याऽऽह—न त्विति। प्रबोधाभोगयोरन्यान्यमन

वह स्वच्छ, विजातीयभेदरहित, सर्वभेदशून्य, कूटस्थज्योति, द्रष्टा है"। वह स्वयंज्योतिःस्वरूप आत्मा इस सम्प्रसाद में क्रम से सम्यक् प्रसन्न हुआ सुषुप्तावस्था में स्थित रहकर किस प्रकार प्रसन्न हुआ? स्वप्न से सुषुप्तावस्था में प्रवेश करने की इच्छा वाला, स्वप्नावस्था में "रत्वा" यानी स्त्री-पुत्रादि-सापेक्ष मन, वाणी और शरीर की चेष्टा करके, 'चरित्वा" अर्थात् मित्र-बन्धुजन के दर्शनादि के लिए इधर-उधर जाकर तथा संचरण में श्रमरूप फल की प्राप्ति कर "दृष्ट्वैव" अर्थात् यथाश्रुत को देखकर "पुण्य च पाप च" पुण्य और पापफल को, पुण्यपापफल का साक्षात दर्शन नहीं होता—ऐसा हम पहले

१ य स्वयं ज्योतिष्ट्वेन प्रतिपादित आत्मा। २ स्वप्न रमणादिक्रमेण। ३ केन क्रमेणेति यावत्। ४ स्त्री पुत्रादिसापेक्षां मनोवाक्कायचेष्टां कृत्वा। ५ इतस्ततो गमनं कृत्वा। ६ यथाश्रुताभिप्रायेणेदम्। ७ गोभिः श्रीणीत मत्सरमितिवदुपचारात्। ८ स्वप्नावस्थ सप्रसादे इति। ९ आकाङ्क्षाम्।

✻ स वा एष एतस्मिन्संप्रसाद इत्यादि। अत्र वार्तिके—"सुषुप्त नन्वमवाधात्वादि कथमुच्यते। न किंचापि तथा वाक्य न बाह्य चेति वक्ष्यति॥ स्वप्ने रत्वादि यत नैवमप्युपपद्यते। अनन्वागततां सुप्यत्स्वप्नेऽस्त्वेव तत्कृतम्॥ यथा जाग्रत्कृत कर्म कर्तारमनुगच्छति। जाग्रत्स्थ स्वप्नकर्मैव स्वप्ने समधिगच्छति॥ इत्येव चोदिते केचित्परिहार प्रचक्षते। पदच्छेदेन सुहृला अस्त्वित्येवमादिना॥ स यत्तत्रेत्यमङ्गोऽनेनैदमप्युत्तर भवत्। दृष्ट्वा तत्रापि चोद्यस्य परिहार प्रचक्षते॥ अस्ति भोग सुषुप्तेऽपि तथा चाऽऽनन्दभुङ्मत। ईश्वरो वाऽत्र भोगोऽस्ति सर्वस्थानाभिमानत॥ कार्यभूमिगतो ह्यात्मा सुषुप्त प्रथमोदयतं। कार्यस्य कारणव्याप्तेर्न सुषुप्तपरीक्षता॥ यद्वि वा स्वप्न एवास्तु रत्वादि यदुदीरितम्। स्वप्नयोरभिन्न प्राज्ञादनन्वागततोच्यत॥ निधा त्रिधा वा क्लृप्त स्यादेवस्येत्यदोषता। जाग्रत्स्वप्नसुषुप्ताना जाग्रत्स्वप्नसुषुप्तत॥ कार्याकार्यादि यत्साक्षात्प्रमाणात्प्रसमीक्षते। जाग्रज्जागरित तादृक्स्वप्नो वस्तूपेक्षणम्॥ कामादिविषयासक्तेन किंचिद्विधिनक्ति यत्। जाग्रत्सुषुप्त तादृक्स्यान्निर्विवेकस्वभावत॥ शुभोऽपि कर्म कुरुते नर स्वप्ने प्रबोधवत्। स्वप्न जाग्रत्तथाऽप्य स्वप्न स्वप्नात्मकोऽत्र य॥ दृष्ट्वाऽपि यत्समाप्यात् प्रबुद्धा नैव शक्नुयात्। तादृक्स्वप्नसुषुप्ती स्यात्सुषुप्त च त्रिधोच्यते॥ सुषुप्तजाग्रन्मूढ स्यान्भ्रान्तोऽसौ स्वप्न उच्यते। ऐकात्म्यतत्त्वासंबोध सुषुप्त प्राज्ञ उच्यते॥ त्रिविधत्वात्सुषुप्तस्य सर्वं रत्वादि युज्यते। हृन्त गप्रमादो वा स्वप्नजाग्रदवस्थयो॥ यथा रत्वाद्यसभाव्य सप्रसादे तथैव च। इतरत्रापि विज्ञेय तत्र वस्त्वसमीक्षणात्॥ अत एवमत कर्मकामदोषविवर्जित। पुरुषोऽय स्वत सिद्धो यथोक्तेनैव वर्त्मना"॥ १०४६ १०६२॥ इति। सप्रसादे रत्वेत्यादि यथाश्रुतमाश्रित्य शङ्कते—सुषुप्त इति। असबोधात्सुषुप्तादिद्वितीयवस्त्वदृष्टेरिति यावत्। कथ तत्र द्वितीयादृष्टिस्तत्राऽऽह—नेति। न तु तद्द्वितीयमस्ति न बाह्य किंचन वेदेति वक्ष्यत्यत्र तत्र द्वितीया दृष्टि सिद्धेत्यर्थ॥ स्वप्नात्सुषुप्त प्रविविक्षु स्वप्नावस्थ एव रत्वाद्यनुभूय सप्रसादे प्रसीदतीत्युपगमाभानुपपत्तिरिति शङ्कते—स्वप्न इति। पूर्ववाद्याह—

त्यवोचाम । ³तस्मान्न पुण्यपापाभ्याम⁴नुबद्धः । यो हि करोति पुण्यपापे स ताभ्यामनुबध्यते । न हि दर्शनमात्रेण तदनुबद्धः स्यात् । ⁵तस्मात्स्वप्नो भूत्वा ⁶मृत्युमतिक्रामत्येव न ⁷मृत्युरूपाण्येव केवलम् ।

आनन्दाश्च "पश्यतीत्यत्रेति शेषः । पुण्यपापयोर्दर्शनमेव न करणमित्यत्र फलितमाह—तस्मादिति । ⁸तद्द्रष्टुरपि तदनुबन्धः स्यादित्याशङ्क्यातिप्रसङ्गान्मैवमित्याह—यो हीत्यादिना । पुण्यपापाभ्यामात्मनोऽसंस्पर्शे फलितमाह—तस्मादिति ।

ही कह चुके हैं । इसलिए वह अकर्ता होने से पुण्य पाप से साक्षात् सबद्ध नहीं है । जो पुरुष पुण्य-पाप करता है, वही उनसे सबद्ध होता है । दर्शनमात्र से ही वह सबद्ध नहीं होता । इसलिए (सबन्धाभाव होने से) स्वप्न होकर कर्माख्य मृत्यु को पार कर जाता है, कार्यंकरणरूप केवल मृत्युरूपों को ही पार नहीं करता ।

१ पृ १०४१ भाष्ये । २ तदकर्तृत्वात् । ३ सबद्धः । ४ तत्सबद्धाभावात् । ५ कर्माख्य मृत्युमपि । ६ कार्यंकरणानि । ७ बृ उ ४ ३ ९ । ८ पुण्यपापयोः ।

नैवमिति । स्वप्ने रत्यादि दृष्ट्वैव चेत्स यत्तत्रेत्यादि विरुध्येत तत्र कृतस्य तदद्रष्टृगामित्वादित्यर्थः ।। यथा स्वप्नकृतमवस्थान्तरस्य नानुगच्छत्येव स्वप्नस्थमपि द्रष्टारं नानुगच्छेदित्याशङ्क्याऽऽह—यथेति ।। उक्तं चोद्यमनूद्य स्वयूथ्यसमाधिमुत्थापयति—इत्येवमिति । सम्प्रसादेऽरत्वाऽचरित्वाऽदृष्ट्वेति नञन्वयपदच्छेदेन वाक्ये व्याख्यायमाने नावद्यमित्यर्थः ।। वाक्यशेषानुपपत्त्या दूषयति—स यदिति । न च स्वप्नायैवेतिप्रस्तुतस्वप्नस्य तत्रेति परामर्शाविरोधः शेषस्येति वाच्यं तच्छब्दस्य प्रकृतविप्रकृष्टपरामर्शित्वादन्यथोत्तरत्र स्वप्नेऽन्यासवैयर्थ्याच्च जाग्रत्यसङ्गत्वप्रतिपादनार्थस्तदुपन्यासस्तथा सति बुद्धान्तोपन्यासानर्थक्यात्तु च तच्छब्देन सम्प्रसादपरामर्शस्तत्र पश्यतेरयोगात्तत्परिशेषाद्वाक्यशेषान्निरोध इति भावः । अन्येऽपि स्वप्ने तु तेऽपि दृष्ट्वाद्यारोप्य नञन्वयं विनैव पदं छिन्दन्तः स यत्तत्रेति सुषुप्तिपरामर्शाद्वाक्यशेषं चोपपन्नं मन्वाना परिहरन्तीत्याह—दृष्ट्वैमिति ।। स्वापे रत्याद्यारोपे तत्फलोपलब्धिर्निमित्तमित्याह—अस्तीति । तत्र भोगास्तित्वे मानमाह—तथा चेति । आनन्दभुक्तथा प्राज्ञ इति वृद्धैरिष्टत्वादस्ति सुखी सुखभोग इत्यर्थः । तत्र रत्याद्यारोपे निमित्तान्तरमाह—ऐश्वरो वेति । अस्ति हि तत्र कारणरूपेश्वरात्मना स्थितस्य जीवस्य तदीयो भोग एतस्यैवाऽऽनन्दस्येत्यादिश्रुतेरतो रत्याद्यारोप इत्यर्थः । उक्तमुपपादयति सर्वेति । सर्वकारणत्वादीश्वराऽवस्थात्रयमात्मीयं मन्यते तेन स्वापे तदात्मना स्थितो जीवस्तद्भोगभागीत्यर्थः ।। तत्र दृष्ट्याद्यारोपे तस्यावस्थान्तरादविशेषप्रसक्तिरित्याशङ्क्य परिहारान्तरमाह—कार्येति । सुषुप्तात्कारणादुत्थितः स्वप्ने जागरे वा कार्यभूमौ स्थितः पुमान्कार्यस्य कारणेन व्याप्तेस्तत्र च स्वप्नादौ रत्यादिदृष्टेस्तल्लिङ्गेन कारणे सुषुप्ते तद्युक्तमेवानुमीयते तेन तत्र रत्यादिवाचोयुक्तिरित्यर्थः । अनुमानात्सुषुप्तिसिद्धौ परोक्षत्वेन तत्सिद्धेः स यत्तत्र किंचित्पश्यतीतिशेषानुपपत्तिरित्याशङ्क्याऽऽह—नेति । सुषुप्तं नामाऽऽत्मानान बुद्धेः कारणात्मनाऽवस्थानं तदिति स्थितेस्तत्र न किंचिद्वेदिषमिति व्युत्थितस्य परामर्शादपरोक्षं तत्र शेषानुपपत्तिरित्यर्थः ।। सुषुप्ते रत्यादिविशिष्टेऽनुमानादिष्टेऽपि तस्यावस्थान्तरादविशेषापत्तिस्तदवस्थेत्याशङ्क्य सिद्धान्तमाह—यदि वेति । स्वप्ने रत्याद्युच्यते चेत्तत्र कृतशुभादीनां तत्त्वस्यानुगतेरनन्वागतवाक्यविरोधः स्यादित्युक्तं तत्राऽऽह—स्वप्नायेति । प्राज्ञः सुषुप्तिस्थानं तस्मात्पूर्वमूर्ध्वं च यो स्वप्नो तयोरनन्वागतता सिध्यति स्वप्नात्सुषुप्तं गतस्ततः स्वप्नं गच्छति न च सुषुप्तात्प्राग्भाविस्वप्नस्थकर्मणा पश्चाद्भाविस्वप्नं गतोऽनु-

[1]अतो न मृत्योरात्मस्वभावत्वाशङ्का । [2]मृत्युश्चेत्स्वभावोऽस्य स्वप्नेऽपि [3]कुर्यात् । न तु [4]करोति । स्वभावश्चेत्क्रिया स्यादनिर्मोक्षतैव स्यात् । न तु स्वभावः स्वप्नेऽभावात् । [5]अतो विमोक्षोऽस्योपपद्यते मृत्योः[6] पुण्यपापाभ्याम् । ननु जागरितेऽस्य स्वभाव एव । न । बुद्ध्याद्युपाधिकृतं हि [7]तत् । [8]तच्च प्रतिपादितं [9]साहश्याद्ध्यायतीव लेलायतीवेति[10] ।

मृत्योरतिक्रमणे किं स्यादित्याशङ्क्याऽऽह—अतो नेति । मृत्योरस्वभावत्वमुपपादयति—मृत्युश्चेदिति । इष्टापत्तिमाशङ्क्याऽऽह—न त्विति । अनन्वागतवाक्यादसङ्गवाक्याच्चेत्यर्थः । मोक्षशास्त्रप्रामाण्यादपि मृत्योरस्वभावत्वमित्याह—स्वभावश्चेदिति । इतश्च मृत्युः स्वभावो न भवतीत्याह—न त्विति । अभावादिति च्छेदः । तस्याऽस्वभावत्वे लब्धमर्थं कथयति—अत इति । मृत्युमेव व्याचष्टे—पुण्यपापाभ्यामिति । स्वप्ने मृत्योः स्वभावत्वाभावेऽपि जाग्रदवस्थायां कर्तृत्वमात्मनः स्वभावस्तथा च नियमेन तस्य मृत्योरतिक्रमो न सिध्यतीति शङ्कते—नन्विति । औपाधिकत्वात्कर्तृत्वस्य स्वाभाविकत्वाभावादात्मनो मृत्योरतिक्रमः संभवतीति परिहरति—नेति । कथमौपाधिकत्वं कर्तृत्वस्य सिद्धवदुच्यते तत्राऽऽह—तच्चेति । ध्यायतीवेत्यादौ साहश्यवाचकादिव-

इसलिए 'मृत्यु' आत्मा का स्वभाव है—ऐसी शङ्का करना सभय नही है । यदि कर्माख्य मृत्यु इसका स्वभाव होता, तो यह स्वप्न मे भी कर्म करता । किन्तु यह नही करता । यदि स्वभाव होता तो उसमे क्रिया भी होती और फिर इससे विमुक्ति ही नही हो सकती । किन्तु स्वप्न मे क्रिया का अभाव होने के कारण वह इसका स्वभाव नही है । इसलिये इसका पापपुण्यरूप मृत्यु से मोक्ष पाना सभव ही है । (इस पर शङ्का होती है—) किन्तु जागरित मे तो यह इसका स्वभाव ही है । (इस पर सिद्धान्ती कहता है—) ऐसा कहना ठीक नही है । यह तो बुद्धि आदि उपाधि के कारण ही

१ अवतरणात् । २ कर्मेति यावत् । ३ कर्म कुर्यादिति भाव । ४ इन्द्रियादिसाधनाभावादिति भाव । ५ अवतरणात् । ६ सकाशात् । ७ कर्तृत्वम् । ८ कर्तृत्वस्यौपाधिकत्वम् । ९ धीतादात्म्यात् । १० बृ उ ४ ३ ७ ।

गम्यते न च पाश्चात्यस्वप्नस्थकर्मणा प्राचीनस्वप्नस्थो लिप्यते तथा स्वप्नस्थेन शुभादिना सुषुप्तजागरयोरनन्वागतत्वमतोऽविद्ययाऽनुगमावगमेऽपि वस्तुनोऽवस्थात्रयेऽपि तदभावादनन्वागतवाक्यमविरुद्धमित्यर्थः ॥ सम्प्रसादे रत्वादि कथमित्यत्र समाध्यन्तरमाह—त्रिधेति । जाग्रदादीनां मध्ये प्रत्येकं जाग्रदादिभेदेन त्रैविध्यकल्पनात्सुषुप्तस्य जाग्रत्स्वप्नावपेक्ष्य सुप्तावेव रत्वादेरदोषतेति स्यादित्यर्थः ॥ कथं प्रत्येकं त्रैविध्यं तत्र जागरस्य तद्दर्शयति—कार्येति । आदिशब्देन श्रेयाश्रेयभक्ष्याभक्ष्यादि गृह्यते । तच्छब्देन जाग्रदुच्यते ॥ तस्य सुषुप्तत्वे प्रसिद्धसुषुप्तिसाधर्म्यं हेतुमाह—निर्विवेकेति ॥ स्वप्नं त्रेधा विभजते—सुमोऽपीति । अत्र स्वप्ने य स्वप्नात्मकोऽनुभव स स्वप्नस्य स्वप्न इत्यर्थः ॥ सुषुप्तं त्रैविध्येन योजयति—सुषुप्तं चेति ॥ तत्त्रैविध्यस्य प्रकृतोपयोगमाह—त्रिविधत्वादिति । सुषुप्तस्योक्तरीत्या त्रैविध्यात्तद्गतस्वप्नाद्यपेक्षया तत्र रत्वाद्युपपत्तिरित्यर्थः । कार्यकरणनिर्मुक्तस्वप्रकाशात्मन कर्मादिविवकार्थं सुप्तिरुक्ता सम्प्रति तदुक्तेस्तात्पर्यान्तरमाह—दृष्टान्त इति ॥ दृष्टान्तदार्ष्टान्तिकत्वं स्पष्टयति—यथेति । कथं तर्हि स्वप्नादौ रत्वादिदृष्टिस्तत्राऽऽह—तत्रेति । तत्त्वपाठे तु तदेव वस्तु तस्यासमीक्षणादवस्थाद्वये रत्वादीति योज्यम् ॥ प्रकरणार्थमुपसंहरति—यत इति । एवंशब्दार्थं दर्शयति—यथोक्तेनेति । काम कर्मगुणस्तच्च प्रयाणद्वारा कारकाश्रितमित्याद्युक्तमार्गेणेति यावत् । यतोऽयं सर्वदोषरहितोऽत स्वतोऽकर्ता सिद्ध इति योजना ॥

'तस्मादेकान्तेनैव' स्वप्ने स्वरूपातिक्रमणान्न स्वाभाविकत्वाशङ्काऽनिर्मोक्षता वा । ततः संप्रसादानुभवोत्तरकालं पुनः 'प्रतिन्यायं यथान्यायं यथागतं निश्चित आयो न्यायः । अयनमायो निर्गमनं पुनः पूर्वगमनवैपरीत्येन यदागमनं स प्रतिन्यायः । यथागतं पुनरागच्छतीत्यर्थः । प्रतियोनि यथास्थानं स्वप्नस्थानाद्धि सुषुप्तं प्रतिपन्नः 'सन्यथास्थानमेव पुनरागच्छति । प्रतियोन्याद्रवति स्वप्नायैव 'स्वप्नस्थानायैव ।

ननु स्वप्ने न करोति पुण्यपापे तयोः फलमेव पश्यतीति कथमवगम्यते यथा जागरिते तथा करोत्येव स्वप्नेऽपि 'तुल्यत्वाद्दर्शनस्येति, अत आह स आत्मा यत्किंचित्तत्र

शब्दादौपाधिकत्वं कर्तृत्वस्य प्रागेव दर्शितमित्यर्थः । जागरितेऽपि कर्तृत्वस्य स्वाभाविकत्वाभावे फलितमाह—तस्मादिति । मृत्योः स्वाभाविकत्वाशङ्काभावकृतं फलमाह—अनिर्मोक्षता वेति । वाशब्दो नञनुकर्षणार्थः । पुण्यं च पापं चेत्येतदन्तं वाक्यं व्याख्याय पुनरित्यादि व्याचष्टे—तत इति । स्वप्नाद्व्युत्थाय सुषुप्तिमनुभूयोत्तरकालमिति यावत् । स्थानात्स्थानान्तरप्राप्तावभ्यास वक्तु पुन शब्द । प्रतिन्यायमित्यस्यावयवार्थमुक्त्वा विवक्षितमर्थमाह—पुनरिति । सम्प्रसादात्पूर्वमिति यावत् । जागरितात्स्वप्न ततः सुषुप्त गच्छतीति पूर्वगमन ततो वपरीत्येन सुषुप्तात्स्वप्न जागरित च गच्छतीति यदागमन स प्रतिन्याय । 'तमेव संक्षिपति—यथेति । यथास्थानमाद्रवतीत्येतद्विवृणोति—स्वप्नस्थानादिति । उक्तेऽर्थे वाक्य पातयति—प्रतियोनीति । किमर्थं यथास्थानमागमन तदाह—स्वप्नायेति ।

स यत्तित्यादिवाक्यस्य व्यावर्त्यामाशङ्कामाह—नन्विति । 'तत्र वाक्यमुत्तरत्वेनावतार्य व्याकरोति—अत आहेति । अननुबद्ध इत्यस्यार्थं स्फुटयति—नैवेति । स यत्तित्यादिवाक्यस्याक्षरार्थं-

---

कर्तृत्व है । "ध्यान करता हुआ सा, चेष्टा करता हुआ सा" इस श्रुतिवाक्य मे धीतादात्म्य से कर्तृत्व का औपाधिकत्व प्रतिपादन किया गया । इसलिये स्वप्नावस्था मे मृत्यु के रूपो का नियमत अतिक्रमण करने के कारण उसके स्वाभाविकत्व अर्थात् आत्मा के अनिर्मोक्ष की शङ्का नही हो सकती । फिर सम्प्रसाद के अनुभव के पश्चात् फिर "प्रतिन्यायं" यानी यथान्याय अथवा यथागत निश्चित आय को न्याय कहते है । 'अयन' आय का नाम है, निर्गमन—पुन पहले जाने के विपरीत जो आगमन हो, वह प्रतिन्याय कहा जाता है । अर्थात जिस प्रकार गया था, उसी प्रकार पुन वापिस आ जाता है । "प्रतियोनि" अर्थात यथास्थान, स्वप्नस्थान से सुषुप्तस्थान को प्राप्त कर पुन स्वप्नस्थान को लौट आता है । वह यथास्थान यानी स्वप्नस्थान के लिए (स्वप्नानुभव के लिए) लौट आता है ।

किन्तु यह कैसे जानते हो कि वह स्वप्न मे पाप पुण्य नही करता, केवल उनके फल को देखता है ? जिस प्रकार जागरित मे करता है, उसी प्रकार स्वप्न मे भी कर्म करता है क्योकि आत्मकर्तृत्वदर्शन दोनो अवस्थाओ मे समान है । इस पर श्रुति कहती है—वह आत्मा जो कुछ भी स्वप्न मे पुण्य-पाप का फल

---

१ अत । २ नियमत । ३ प्रातिलोम्येन वैपरीत्यन न्याय निर्गमनं यथा स्यात्तथा । ४ स्वप्नस्थानम् । ५ स्वप्नानुभवायैव । ६ आत्मन कर्तृत्वदर्शनस्य । ७ अभ्यासमिति—अभिद्रावमित्यर्थ । प्रतिदिन ह्यसौ स्थानात्स्थानान्तर प्राप्नोतीत्यर्थ । ८ उक्तमेवार्थम् । ९ शङ्कायाम् ।

स्वप्ने पश्यति पुण्यपापफलमनन्वागतोऽननुबद्धस्तेन [1]दृष्टेन भवति नैवा[2]नुबद्धो भवति। यदि हि स्वप्ने कृतमेव तेन स्यात्तेनानुबध्येत । स्वप्नादुत्थितोऽपि समन्वागतः स्यात्। न च तल्लोके स्वप्नकृतकर्मणाऽन्वागतत्वप्रसिद्धिः। न हि स्वप्नकृतेना[3]ऽऽगसाऽऽगस्कारिणमात्मानं मन्यते कश्चित्। न च स्वप्नदृश[4] आगः श्रुत्वा लोकस्तं गर्हति [5]परिहरति वा। [6]अतोऽनन्वागत एव [7]तेन भवति। [8]तस्मात्स्वप्ने [9]कुर्वन्निवोपलभ्यते न तु क्रियाऽस्ति परमार्थतः। उतेव स्त्रीभिः सह मोदमान इति श्लोक [10]उक्तः। आख्यातारश्च [11]स्वप्नस्य सहेवशब्देनाऽऽचक्षते हस्तिनोऽद्य [12]घटीकृता धावन्तीव मया दृष्टा इति। [13]अतो न [14]तस्य कर्तृत्वमिति।

मुक्त्वा तात्पर्यमाह— यदि हीति। तेनाऽऽत्मनेति यावत्। स्वप्ने कृतं कर्म [15]पुन[16]स्तेनेत्युक्तम्। अनुबन्धे दोषमाह— स्वप्नादिति। इष्टापत्तिमाशङ्क्याऽऽह— न चेति। स्वप्नकृतेन कर्मणा जाग्रदवस्थस्य पुरुषस्यान्वागतत्वप्रसिद्धिरिति यदुच्यते तत्र व्यवहारभूमौ सप्रतिपन्नमित्यर्थः। स्वप्नदृष्टेन जाग्रद्गतस्य न सगतिरित्यत्र स्वानुभवं दर्शयति— न हीति। यथोक्तेऽनुभवे लोकस्यापि संमतिं दर्शयति— न चेति। [17]तत्र फलितमाह— अत इति। कथं [18]तर्हि स्वप्ने कर्तृत्वप्रतीतिस्तत्राऽऽह— तस्मादिति। स्वप्नस्या[19]ऽऽभासत्वात्तु न तत्र वस्तुतोऽस्ति क्रियेत्याह— उतेवेति। तदाभासत्वे लोकप्रसिद्धिमनुकूलयति— आख्यातारश्चेति। स्वप्नस्याऽऽभासत्वे फलितमाह— अत इति।

देखता है, उस देखे हुए से वह 'अनन्वागत' अर्थात् बिना बँधा हुआ सा रहता है अर्थात् उससे सम्बद्ध नही होता है। उसने यदि स्वप्न मे वैसा किया होता तो उससे वह बँध जाता और स्वप्न से उठने पर भी उससे सम्बद्ध ही रहता किन्तु लोकव्यवहार मे स्वप्नकृत कर्म से सम्बद्धता की प्रसिद्धि नही है। स्वप्न म किये हुए पाप से कोई पुरुष अपने को पापी नही मानता, स्वप्नद्रष्टा मनुष्य के पाप सुनकर समाज उसकी निन्दा या बहिष्कार नही करता। इसलिये वह स्वप्नदृष्ट कर्म से असम्बद्ध ही रहता है। इसलिए (वहाँ वास्तविक कर्तृत्व का अभाव होने से) स्वप्न मे मनुष्य केवल करता हुआ सा दिखाई देता है, वस्तुत उस समय वहाँ कोई क्रिया नही होती। इसी से 'स्त्रीसमुदाय से क्रीडा करता हुआ सा दीखता है' ऐसा श्रुति कहती है। स्वप्न की बात कहने वाले भी उस 'इव' शब्द के साथ

१ पुण्यपापफलेन। २ सबद्ध। ३ अपराधेन पापेन वा। ४ पुस। ५ बहिष्करोति। ६ अन्वागतत्वाप्रसिद्धे। ७ स्वप्नदृष्टकर्मणा। ८ तत्र तस्य वास्तवकर्तृत्वाभावात्। ९ कुर्वन्निवेति। अत्र वार्तिके— कृत स्वप्नेऽथ सबद्ध क्षुत्परीत प्रबुध्यते॥ यस्मादनृतमवेद यत्किञ्चिदेह वीक्ष्यते। अन्यदृङ्कारकस्तस्माल्लिप्यते न क्रियाफलै॥ स्वप्नस्वप्ननिमित्त तु प्रायश्चित्त यदुच्यते। सत्येन्द्रियविकारत्वा तच्चापि न निराश्रयम्। स्वप्नस्वन्न यथा स्वप्न तथा बोधेऽपि वीक्ष्यते। आत्मचैतन्यवत्तस्मात्प्रायश्चित्त तदुद्भवम्॥ १०१०-१०१३॥ इति। तथ प्रायश्चित्तमुक्त स्मृतिकारैर्यथा— "स्वप्न चेन्द्रियदौर्बल्यात्स्त्रिय दृष्ट्वा क्षरेद्यदि। प्रायश्चित्त तस्योक्त प्राणायामास्तु षोडश" इति। १०. बृ उ ४ ३ १३। ११ कर्मणि षष्ठीयम्। १२ सघीकृता वृन्दीकृता। १३ स्वप्नस्य मिथ्यात्वात्। १४ आत्मन। १५ द्वितीयेन। १६ तेनेति शब्देनत्यथ। १७ लोकगर्हाद्यभाव। १८ स्वप्ने यदात्मा न करोति। १९ मिथ्यात्वात्।

कथं पुनरस्याकर्तृत्वमिति । कार्यकरणैर्मूर्तैः संश्लेषो मूर्तस्य स तु क्रियाहेतुर्दृष्टः । न ह्यमूर्तः कश्चित्क्रियावान्दृश्यतेऽमूर्तश्चाऽऽत्माऽतोऽसङ्गः । यस्माच्चासङ्गोऽयं पुरुषस्तस्मादनन्वागतस्तेन स्वप्नदृष्टेन । अत एव न क्रियाकर्तृत्वमस्य कथंचिदुपपद्यते । कार्यकरणसंश्लेषेण हि कर्तृत्वं स्यान्स च संश्लेषः सङ्गोऽस्य नास्ति यतोऽसङ्गो ह्ययं पुरुषः । तस्मादमृतः । एवमेवं तद्याज्ञवल्क्य । सोऽहं भगवते सहस्रं ददाम्यत ऊर्ध्वं विमोक्षायैव ब्रूहि । मोक्षपदार्थैकदेशस्य कर्मप्रविवेकस्य सम्यग्दर्शितत्वात् । अत ऊर्ध्वं विमोक्षायैव ब्रूहीति ॥१५॥

अनन्वागतवाक्यं प्रतिज्ञारूपं व्याख्यायासङ्गवाक्यं हेतुरूपमवतारयितुमाकाङ्क्षामाह—कथमिति । मूर्तस्य मूर्तान्तरेण संयोगे क्रियोपलम्भादमूर्तस्य तदभावादात्मनश्चामूर्तत्वेनासंयोगात्क्रियाऽयोगादकर्तृत्वसिद्धिरित्युत्तरं हेतुवाक्यार्थकथनपूर्वकं कथयति—कार्यकरणैरित्यादिना । आत्मनोऽसङ्गत्वेनाकर्तृत्वमुक्तं समर्थयते—अत एवेति । अत शब्दार्थं विशदयति—कार्येति । क्रियावत्त्वाभावे जन्ममरणादिराहित्यं कौटस्थ्यं फलतीत्याह—तस्मादिति । कर्मप्रविवेकमुक्तमङ्गी करोति—एवमिति । तत्प्रविविक्तात्मज्ञाने दार्ढ्यं सूचयति— सोऽहमिति । नैराकाङ्क्ष्यं व्यावर्तयति—अत इति । कथं तर्हि सहस्रदानमित्याशङ्क्याऽऽह—मोक्षेति । कामप्रविवेकविषय नियोगमभिप्रेत्य पुनरनुक्रामति—अत ऊर्ध्वमिति ॥१५॥

वर्णन करते है । जैसे "आज मैंने हाथियो को एकत्रित हुए दौडते हुए से देखा" । इसलिए स्वप्नद्रष्टा आत्मा मे कर्तृत्व नही है ।

अच्छा तो इसमे अकर्तृत्व किस प्रकार है ? मूर्त पदार्थो का जो मूर्त देह और इन्द्रिय आदि से सम्बद्ध है, वही क्रिया का हेतु जाना गया है । कोई अमूर्त पदार्थ क्रियावान् नही देखा जाता और आत्मा अमूर्त है । इसलिए असङ्ग है । क्योकि वह आत्मा असङ्ग है इसलिए उस स्वप्नदृष्ट पुण्य-पाप से असम्पृक्त है । (असङ्ग होने से) इसलिए इसमे क्रिया का कर्तृत्व भी सभव नही है । देह और इन्द्रिय के ससर्ग से ही कर्तृत्व होता है और इस आत्मा को वह ससर्ग नही है क्योकि यह पुरुष असङ्ग है । अत. यह अमृत है । (जनक बोले—)हे याज्ञवल्क्य ! यह बात ऐसी है तो दृढनिश्चयवाला मैं आप श्रीमान् को सहस्र गौएँ देता हूँ, इसके पश्चात् मुझे मोक्ष का उपदेश कीजिए । क्योकि ऊपर अभी तक मोक्ष पदार्थ के एकदेश कर्मप्रविवेक का अच्छी तरह उपदेश कर दिया । इसलिए अब आप आगे मुझे मोक्ष का ही उपदेश कीजिए ॥१५॥

---

१ भवति । २ असङ्गत्वादेव । ३ अवतरणोक्तत्वात् । ४ स्वप्नादौ कर्मासंबद्धत्वम् । ५ तत्र दृढनिश्चय । ६ कर्मप्रविविक्तात्मस्वरूपप्रदर्शनानन्तरम् । ७ कामादिमसगविधुरविमोक्षार्थम् । ८ वार्तिके तु अनन्वागतवाक्य हेतुरूपम् असङ्गवाक्यं च प्रतिज्ञारूपमिति प्रकारान्तरमप्युक्तमिति द्रष्टव्यम् । ९ सावयवस्य । १० संयोगाभावात् । ११ आत्मन कर्माकर्तृत्वम् । १२ कर्म । १३ शेषे जनकस्य । १४ नैराकाङ्क्ष्याभावे । १५ प्रार्थनाम् । १६ नियुङ्क्ते ।

***[1]स वा एष एतस्मिन्स्वप्ने रत्वा चरित्वा दृष्ट्वैव पुण्यं च पापं च पुनः [2]प्रतिन्यायं प्रतियोन्याद्रवति बुद्धान्तायैव स यत्तत्र किंचित्पश्यत्यनन्वागतस्तेन**

वह यह आत्मा इस स्वप्नकाल मे रमण और विहार कर एवं पुण्य तथा पाप को देखकर ही पुन उस जाग्रत्स्थान को ही लौट आता है, जहाँ से वह आया था और जैसे आया था । वह वहाँ जो

तत्रासङ्गो ह्ययं पुरुष इत्यसङ्गताऽकर्तृत्वे हेतुरुक्तः । उक्तं च पूर्वं कर्मवशात्स ईयते यत्र काममिति । कामश्च सङ्गोऽतोऽसिद्धो हेतुरुक्तोऽसङ्गो ह्ययं पुरुष इति । न

---

[1]उत्तरकण्डिकाव्यावर्त्यां शङ्कामाह—तत्रेति । [2]पूर्वकण्डिका सप्तम्यर्थः । भवत्वकर्तृत्वहेतुरसङ्गत्वं किं तावतेत्याशङ्क्याऽऽह—उक्त चेति । पूर्वं इलोकोपन्यासवशायामिति यावत् । कर्मवशात्स्वप्नहेतुकर्मसामर्थ्यादित्यर्थः । आत्मन स्वप्ने कामकर्मसंबन्धेऽपि किमिति नासङ्गत्वं तत्राऽऽह—कामश्चेति । हेत्वसिद्धिं परिहरति—न त्विति । न चेद्धेतोरसिद्धत्व तर्हि कथं [8]तत्सिद्धिरिति

(यहाँ शङ्का होती है—) पूर्वमन्त्र मे 'यह आत्मा असङ्ग है" इस श्रुतिवाक्य से असङ्गता ही अन्वागतत्व मे हेतु बतलायी है । इससे पूर्व प्रतिपादन किया गया था कि जहाँ इसकी इच्छा होती है, वहाँ यह कर्मवश चला जाता है । काम ही सङ्ग है । इसलिए 'क्योंकि यह पुरुष असङ्ग है' यह तो अप्रसिद्ध हेतु ही कहा गया है । (इसका समाधान करते हैं—) यह हेतु असिद्ध नही है । तो यह असङ्ग

---

१ एव स्वप्नवज्जागरेऽपि स्वतो वस्तुन (आत्मन) कर्मासबद्धत्वमेवेति दर्शयितुमाह—स वा एष इति । स सप्रसादात्प्रत्यागत प्रकृतो वै प्रसिद्ध एष स्वयंज्योति पुरुष एतस्मिन् स्वप्ने रत्वा स्त्रीपुत्रादिभि । शेष पूर्ववत् । प्रतियोनि जागरितस्थान प्रति आद्रवत्या गच्छति । बुद्धान्ताय जागरणानुभवाय । २ गमनवैपरीत्येन । ३ अनन्वागतत्वे । ४ बृ उ ४ ३ १६ । ५ बृ उ ४ ३ १५। ६ बृ उ ४ ३ १२। ७ इत्यथ इति—तथा च स्वप्न प्रतीच कामकर्मससर्गाविगमादसगत्वायोगन दूरनिरस्तमकर्तृत्वमिति मम लब्धमिति भाव इति शेष । ८ हेतुसिद्धिरिति यावत् ।

---

* स वा एष एतस्मिन्स्वप्ने इत्यादि । अत्र वार्तिककाचार्यास्तथाहि—'असङ्गत्वादकर्तेति नन्वसिद्धोऽयमुच्यते । स्वप्न कामस्य दृष्टत्वाद्यत्र काममिति श्रुते ॥ इत्यस्य परिहारार्थं स वा इत्यादिक वच । पुन स्वप्नसमारम्भो गतत्वात्त्विमितीर्यते । बुद्धान्तादेर्यथा तद्भ्रात स्यात्पुनरुक्तता ॥ निशाया सप्रवृत्ताया सहृताक्षस्य निद्रया । अवस्था तैजसी भुक्त्वा स्वापो भवति देहिन ॥ स आनन्द परो ज्ञेय सुखदु खविवर्जित । सतत सर्वभूताना तिष्ठत्येष पुरीतति ॥ तत्र रत्वा यथाकाम कचित्काल यदृच्छया । तामवस्था तिरस्कृत्य आयियासुस्ततोऽपराम् ॥ भावनाविग्रहो भूत्वा तत्र स्वप्नरिरसया । उच्चावचानि वस्तूनि भावनात करोति स ॥ अतो प्राणवियोग स्याद्यथाकालस्य चेक्षणम् । तदसभाव्यदेशादौ दर्शनात्तु मृषात्मता ॥ यावत्स्वप्नेऽस्ति वस्त्वत्र प्राक्तदुक्तमशेषत । तस्माद्याऽऽत्मङ्गगन्धोऽपि स्वप्ने पुसोऽस्य विद्यते ' ॥ १०६३ १०७० ॥ इति । असङ्गो हीत्यसङ्गत्वमनन्वागतत्वे कारणमुक्त तदसिद्धि चोदयति—असङ्गत्वादिति । अयमिति हेतुनिर्देश । तत्र हेतु—स्वप्न इति । स ईयते मृतो यत्र

भवत्यसङ्गो ह्ययं पुरुष इत्येवमेवैतद्याज्ञवल्क्य सोऽहं भगवते सहस्रं ददाम्यत ऊर्ध्वं विमोक्षायैव ब्रूहीति ॥१६॥

कुछ देखता है, वहाँ उससे बंधता नही क्योकि यह पुरुष असङ्ग है। जनक ने कहा—हे याज्ञवल्क्य ! आप की ये बात यथार्थ ही है। इसके बदले मे मैं आपको एक सहस्र गोएँ भेंट करता हूँ। अत. इसके आगे भी आप मोक्ष के विषय मे उपदेश करें ॥ १६ ॥

---

[1]त्वेतदस्ति। कथं तर्हि। असङ्ग एवेत्येतदुच्यते—स वा एष एतस्मिन्स्वप्ने स वा एष

पृच्छति—कथमिति। हेतुसमर्थनार्थमुत्तरग्रन्थमुत्थापयति—असङ्ग इति। प्रतियोग्याग्रयतीत्ये-

---

किस प्रकार है, इसे बतलाया जाता है। 'स वा एष एतस्मिन् स्वप्ने' अर्थात् वह यह पुरुष इस स्वप्ना-

---

१ हेतोरसिद्धत्वम्। २ अवतरणोक्तत्वात्।

काममिति श्रुते स्वप्ने कामस्य दृष्टत्वात्कामासङ्गयोश्च पर्यायत्वाच्चासङ्गतेत्यर्थं। स वा एष एतस्मिन्स्वप्ने रत्वेत्याद्युत्तरत्वेनाऽऽदत्ते—इत्यस्येति। स हि स्वप्नो भूत्वेत्यादिनाऽस्य स्वप्नोपन्यासस्य पौनरुक्त्य शङ्कते—पुनरिति। अर्थभेद वदन्परिहरति—बुद्धान्तादेरिति। यथा जाग्रत्सुषुप्त्यादेरर्थभेदात्पुन पुनरुक्तिस्तथा स्वप्नस्याप्य-सकृदुक्तिरविरुद्धा न हि स्वप्नो भूत्वेत्यत्र कार्यंकरणातिरेकार्थमात्मन स्वप्न उक्त स यत्तत्र प्रस्वपितीत्यत्र स्वय-ज्योतिष्ट्वार्थं सम्प्रसाद रत्वेत्यत्र कर्मविवेकार्थमत्र कामविवेकायेत्यर्थभेदान्न पौनरुक्त्यमित्यर्थं.॥ स्वप्नात्सुषुप्ति-प्राप्तिमुक्तामधिकोक्त्यर्थमनुद्रवति—निद्रायामिति। तैजसीमवस्था स्वप्नाख्यामिति यावत्। अक्षाणि सर्वाणी-न्द्रियाणि। भुक्त्वा स्थितस्येति शेष। स्वाप सुषुप्तिरित्येतत्॥ सा च परानन्द इत्यधिकमभिधित्सितमाह—स इति। तस्य परत्व स्फोरयति—सुखेति। तस्यावस्थाविशेषयोगादागन्तुकत्वमाशङ्क्य विशिनष्टि—सततमिति। तस्य सर्वप्राणिसबन्धितया व्यापित्वमाह—सर्वेति। प्रत्यक्त्वनात्यन्तमनिहितत्वमाह—एष इति। पुरीतद्द्वारा ब्रह्मरूपेण स्थितिमाह—पुरीततीति॥ यथोक्त स्वापमारूढस्तर्हि मुक्तवन्नावस्थान्तर गच्छेदित्याशङ्क्याऽऽह—तत्रेति। रत्वा पूर्वोक्त परमानन्द निर्विकल्पेनानुभूयति यावत्। कचित्कालमवस्थान्तरहेतुकर्मानभिव्यक्तपव-स्थायामित्यर्थं। यद्यपि यदृच्छाशब्दो विना नियामक यदाकदाचित्कार्योदयार्थस्तथाऽप्यत्र स्वप्नहेतुभूतमुद्भूत कर्म यदृच्छेति द्रष्टव्यम्। तामवस्थामिति सुषुप्तिरुक्ता। अपरामिति स्वप्नोक्ति॥ स्वप्न गत्वा कि करोतीत्यपेक्षा-यामाह—भावनेति। स्वप्ने जाग्रद्वासनानिर्मित देह गृहीत्वा तत्र रतीच्छया हस्त्यादिपदार्थान्भावनायनान्निर्वर्त-यतीत्यर्थः स मिथ्येत्यर्थं॥ तन्मिथ्यात्वे युक्त्यन्तरमाह—गताविति। स्वप्ने हि द्रष्टा विप्रकृष्टं पश्यति यदि चेतो देहाद्गत्वाऽवगच्छेत्तदाऽत्र प्राणवियोगान्मृति स्यात्तमुत्क्रामन्तं प्राणोऽनूत्क्रामतीति श्रुतेर्न चात्रापि सत्त्वाद्दोषो विशिष्टस्यातथात्वात्तस्मादन्तरेण गतिमतिविप्रकृष्टदृष्टे स्वप्ना मिथ्येत्यर्थं। तत्रैव हेत्वन्तरमाह—यथेति। योग्यकालवतोऽर्थस्य स्वप्ने दृष्टिरस्ति न च तत्र संयोगो विद्यते न हि क्षणमात्रेण सुप्तोत्थितस्यानेकाहोरात्रनिर्वर्त्या-भिदृष्टौ योग्यकालसंभावनाऽस्त्यत. स्वप्नो मिथ्येत्यर्थं आर्द्रमरीचादिर्यत्र देशे काले वा न संभाव्यते तत्र तस्य स्वप्ने दृष्टेश्च तन्मिथ्यात्वमित्याह—तदसंभाव्येति॥ किंच तन्मिथ्यात्वं स्वप्नप्रपञ्च सर्वोऽपि वासनामात्रमेव त्वित्याद्युक्तमित्याह—यावदिति। स्वप्नमिथ्यात्वे फलितमाह—तस्मादिति। वासनात्मकोऽपि कामो न स्वप्नेऽस्तीति यत्तु गन्यपदम्॥

[1]स वा एष एतस्मिन्[2]बुद्धान्ते रत्वा चरित्वा दृष्ट्वैव पुण्यं च पापं च पुनः प्रतिन्यायं प्रतियोन्याद्रवति

वह यह पुरुष जाग्रतकाल में रमण और विहार करके तथा पुण्य और पापों को केवल देखकर फिर स्वप्न में उसी मार्ग से लौट जाता है, जिस मार्ग से वह आया था। वह वहाँ जो कुछ देखता है, वहाँ

पुरुषः संप्रसादात्प्रत्यागतः स्वप्ने रत्वा चरित्वा यथाकामं दृष्ट्वैव पुण्यं च पापं चेति सर्वं पूर्ववत्। बुद्धान्तायैव [3]जागरितस्थानाय। तस्मादसङ्ग एवायं पुरुषः। यदि स्वप्ने सङ्गवान्स्यात्कामी ततस्तत्सङ्गजैर्दोषैर्बुद्धान्ताय प्रत्यागतो लिप्येत ॥१६॥

यथाऽसौ स्वप्नेऽसङ्गत्वा[4]त्स्वप्नसङ्गजैर्दोषैर्जागरिते प्रत्यागतो न लिप्यत एवं जागरितसङ्गजैरपि दोषैर्न लिप्यत एव बुद्धान्ते जागरिते। [5]तदेतदुच्यते—

स वा एष एतस्मिन्बुद्धान्ते जागरिते रत्वा चरित्वेत्यादि पूर्ववत्। स यत्तत्र

तदन्त सर्वमित्युक्तम्। स्वप्ने [6]कर्तृत्वाभावस्तच्छब्दार्थः। उक्तमसङ्गत्वं व्यतिरेकमुखेन (ण) विशदयति—यदीति। सङ्गवानित्यस्य व्याख्यानं—कामीति। ततसङ्गजैस्तत्र स्वप्ने विषयविशेषेषु कामाख्यसङ्गवशादुत्पन्नैरपराधैरिति यावत्। न तु लिप्यते [7]प्रायश्चित्तविधानस्यापि स्वप्नसूचिताशुभाशङ्कानिबर्हणार्थत्वा[8]द्वस्तुवृत्तानुसारित्वाभावादिति शेषः ॥१६॥

[9]उक्तमर्थं दृष्टान्तीकृत्य जागरितेऽपि निर्लेपत्वमात्मनो दर्शयति—यथेत्यादिना। [10]तत्र

वस्था में सुषुप्ति से लौटकर स्वप्न में क्रीडा और विहार कर इच्छानुसार पुण्य और पाप को देखकर (जागरितस्थान को लौट जाता है) इत्यादि अर्थ पूर्ववत् समझना चाहिए। "बुद्धान्तायैव" अर्थात् जागरितस्थान के अनुभव के लिए (लौट आता है)। इसलिए यह पुरुष असङ्ग है। यदि यह कामनायुक्त होने के कारण स्वप्न में सङ्गवान् होता तो जागरित अवस्था में लौटने पर उन आसक्तिजन्य दोषों से लिप्त हो जाता ॥१६॥

जिस प्रकार यह स्वप्नावस्था में असङ्ग रहकर स्वप्न में विषयों में कामाख्यसंगवशात् उत्पन्न अपराधों से जागरित में लौट आने पर लिप्त नहीं होता, उसी प्रकार जागरित अवस्था में भी जागरितसङ्गजन्य दोषों से लिप्त नहीं होता। यही (जागरित में इसका निर्लेपत्व) बात कही जाती है—

"स वा एष एतस्मिन् बुद्धान्ते" वह यह पुरुष इस जागरितस्थान में क्रीडा और विहार कर

१ स्वप्नात्प्रत्यागत पुरुष। २ जागर। ३ तदनुभवाय। ४ स्वप्ने विषयेषु कामाख्यसङ्गवशादुत्पन्नैरपराधैरित्यर्थः। ५ तत्—तत्र जागरित। एतद्—निर्लेपत्वमित्याह। ६ दृष्ट्वैवेत्युक्तमकर्तृत्वमुक्त तच्छब्देन परामर्शार्हम्। ७ स्वप्नक्रियाऽलिप्तश्चेदात्मा कुतस्तर्हि 'स्वप्ने चेन्द्रियदौर्बल्यात्त्रिय ष्ट्वा क्षरेद्यदि। प्रायश्चित्त तु तस्यावर्तं प्राणायामास्तु षोडशे ति प्रायश्चित्तविधानमित्याशङ्क्याऽऽह—प्रायश्चित्तेति। तादृशस्वप्नेन सूचित यद्भाव्यशुभ तदाशङ्कानिवृत्त्यर्थं तदित्यर्थः। ८ वस्तुवृत्तेति वस्तुन पापस्य वृत्त सबन्ध। यद्वा वस्तुन स्वप्नदृशो वृत्तं पापसबन्धित्व तदप्रयुक्तत्वाभावादित्यर्थः। ९ स्वप्ने निर्लेपत्वे। १० जागरे निर्लेपत्वे।

'स्वप्नान्तायैव स यत्तत्र किंचित्पश्यत्यनन्वागतस्तेन भवत्यसङ्गो ह्ययं पुरुष इत्येवमेवैतद्याज्ञवल्क्य सोऽहं भगवते सहस्रं दद्म्यत ऊर्ध्वं विमोक्षायैव ब्रूहीति ॥१७॥

उससे बँधता नहीं क्योंकि यह पुरुष असंग है । जनक ने कहा—हे याज्ञवल्क्य ! आप की ये बात यथार्थ ही है । इसके बदले में मैं आपको एक सहस्र गौएँ भेंट करता हूँ । अतः इसके आगे भी आप मोक्ष के विषय में उपदेश करें ॥ १७ ॥

बुद्धान्ते किंचित्पश्यत्यनन्वागतस्तेन भवत्यसङ्गो ह्ययं पुरुष इति । ननु दृष्ट्वैवेति कथमवधार्यते करोति च 'तत्र पुण्यपापे तत्फलं च 'पश्यति । न । 'कारकावभासकत्वेन कर्तृत्वोपपत्तेः । आत्मनैवायं ज्योतिषाऽऽस्त इत्यादिनाऽऽत्मज्योतिषाऽवभासितः कार्यकरणसंघातो व्यवहरति तेनास्य कर्तृत्वमुपचर्यते न स्वतः कर्तृत्वम् । तथा चोक्तं ध्यायतीव लेलायतीवेति । बुद्ध्याद्युपाधिकृतमेव न स्वतः । इह तु परमार्थापेक्षयोपाधिनिरपेक्ष उच्यते दृष्ट्वैव पुण्यं च पापं च न कृत्वेति तेन न पूर्वापरव्याघाताशङ्का ।

प्रमाणमाह—तदेतदिति । जाग्रदवस्थायामुक्तमकर्तृत्वमाक्षिपति—नन्विति । तत्र कल्पितं कर्तृत्वमित्युत्तरमाह—नेत्यादिना । 'तदेव विवृणोति—आत्मनैवेति । स्वतोऽकर्तृत्वे वाक्योपक्रमं संवादयति—तथा चेति । 'वाक्यार्थं "संगृह्णाति—बुद्ध्यादीति । कर्तृत्वमिति शेषः । नन्वौपाधिकं कर्तृत्वं "पूर्वमुक्तमिदानीं तन्निराकरणे पूर्वापरविरोधः स्यादित्यत्राऽऽह—इह त्विति । उपाधिनिरपेक्षः कर्तृ-

---

इत्यादि अर्थ पूर्ववत् समझना चाहिए । वह उस जागरित अवस्था में जो कुछ देखता है, उससे असम्पृक्त रहता है, क्योंकि वह पुरुष असङ्ग है । (इस पर शङ्का होती है—) किन्तु यह कैसे निर्णय किया जाता है कि वह उन्हें देखकर ही लौट आता है । जागरित अवस्था में तो पुण्य-पापों को करता भी है और उसके फल को भी अनुभव करता है । (सिद्धान्ती कहता है—) ऐसा कहना ठीक नहीं क्योंकि बुद्धयादि कर्तृ-कारकों के साक्षित्वेन ही इसमें कर्तृत्व है । 'यह पुरुष आत्मज्योति के द्वारा ही रहता है' इत्यादि श्रुतिवाक्य के अनुसार आत्मज्योति से प्रकाशित देहेन्द्रियसंघात का व्यवहार करता है । उस अवभासकरूप से आत्मा के कर्तृत्व को आरोप किया जाता है, इसमें स्वतःकर्तृत्व नहीं है । श्रुति भी कहती है 'ध्यान करता हुआ सा, चेष्टा करता हुआ सा" इत्यादि । इसकी कर्तृत्वबुद्धि आदि उपाधि के कारण है; स्वतः नहीं है । इस मन्त्र में उपाधि की अपेक्षा न रखकर परमार्थतः ऐसा कहा जाता है कि "वह पुण्य पाप को देखकर ही लौट जाता है; करके नहीं' । इसलिए यहाँ पूर्वापर के

---

१ स्वप्नस्यान्तो लयो यस्मिन्निति सुषुप्तिस्तदनुभवाय । स्वप्नानुभवार्थमित्यर्थो वा स्वप्नान्त च बुद्धान्त चेति वक्ष्यमाणत्वात् । २ जागरे । ३ अनुभवति । ४ बुद्ध्यादीनां कर्त्रादिकारकाणां साक्षित्वेन । ५ तदवभासकत्वेन । ६. आत्मन । ७ बृ उ ४ ३. १७ । ८ संगृहीतं जागरे कल्पितं कर्तृत्वमेव । ९ ध्यायतीवेतिवाक्यार्थम् । १०. संक्षिपति । ११. ध्यायतीवेत्यादौ ।

यस्मान्निरुपाधिकः परमार्थतो न करोति न लिप्यते क्रियाफलेन । तथा च भगवतोक्तम्—

"अनादित्वान्निर्गुणत्वात्[1] परमात्माऽयमव्ययः[2] ।
शरीरस्थोऽपि कौन्तेय न करोति न लिप्यते" इति ।

तथा सहस्रदानं तु कामप्रविवेकस्य दर्शितत्वात् । तथा स वा एष एतस्मिन्स्वप्ने स वा एष एतस्मिन्बुद्धान्त इत्येताभ्यां कण्डिकाभ्याम[3]सङ्गतैव प्रतिपादिता । यस्माद्बुद्धान्ते [4]कृतेन [5]स्वप्नान्त गतः संप्रसन्नोऽसंबद्धो भवति [6]स्तैन्यादिकार्यादर्शनात्तस्मात्त्रिष्वपि स्थानेषु स्वतोऽसङ्ग एवायम् । [7]अतोऽमृतः स्थानत्रयधर्मविलक्षणः प्रतियोन्याद्रवति स्वप्नान्तायैव [8]संप्रसादायेत्यर्थः । दर्शनवृत्तेः स्वप्नस्य स्वप्नशब्देनाभिधानदर्शनादन्तशब्देन

स्वाभाव इति शेष.। तेनेत्युक्तं हेतु स्फुटयति—यस्मादिति। आत्मनो लेपाभावे भगवद्वाक्यमपि प्रमाणमित्याह—तथा चेति ।

अवस्थात्रयेऽप्यसङ्गत्वमनन्वागतत्वं चाऽऽत्मनः सिद्धं चेद्विमोक्षपदार्थस्य निर्णीतत्वाज्जनकस्य नैराकाङ्क्ष्यमित्याशङ्क्याऽऽह—तथेति । यथा मोक्षैकदेशस्य कर्मविवेकस्य दर्शितत्वात्पूर्वत्र' सहस्रदानमुक्त तथा"ऽत्रापि तदेकदेशस्य कामविवेकस्य दर्शितत्वात्तद्दानं न तु "कामप्रश्नस्य निर्णीतत्वादित्यर्थः । "द्वितीयतृतीयकण्डिकयोस्तात्पर्यं संगृह्णाति—तथेत्यादिना । यथा "प्रथमकण्डिकया कर्मविवेकः प्रतिपादितस्तथेति यावत् । कण्डिकात्रितयार्थं संक्षिप्योपसंहरति—यस्मादिति । अवस्थात्रयेऽप्यसङ्गत्वे किं सिध्यति तदाह—अत इति । प्रतीकमादाय स्वप्नान्तशब्दार्थमाह—प्रतियोनीति । कथं पुनस्तस्य" सुषुप्तविषयत्वमत आह—दर्शनवृत्तेरिति । दर्शनं "वासनामयं" तस्य वृत्तिर्यस्मिन्निति व्युत्पत्त्या

व्याकाप की आशङ्का नहीं है क्योंकि निरुपाधिक होकर वह नहीं करता, न ही क्रियाफल से लिपायमान होता है। भगवान् ने भी कहा है—'हे कुन्तीपुत्र अर्जुन ! गुण से व्ययाभाव वाला (स्वमर्थ) परमात्मा अनादि और स्वरूपत निर्गुण होने से शरीर मे रहते हुए भी न करता है, न लिपायमान होता है' इत्यादि ।

तथा सहस्र गौओं का दान तो कामप्रविवेक प्रदर्शित किये जाने के लिए है । इस प्रकार "वह यह पुरुष स्वप्नावस्था में", 'वह यह पुरुष जागरित अवस्था में", इन दोनों मन्त्रों द्वारा कामप्रविवेक आत्मा असङ्ग है—ऐसा प्रतिपादन किया गया क्योंकि स्वप्नावस्था मे जाकर पूर्ण प्रसन्न हुआ यह पुरुष जागरितस्थान मे किये गये कर्म से सम्पृक्त नहीं होता । क्योंकि इस समय इसके चौर्यादि कार्य नहीं दखे जाते, इसलिये तीनों स्थानों मे यह स्वय असङ्ग ही है । इसलिये यह अमृत और तीनों स्थानों के धर्मों से विलक्षण है । यह उसी मार्ग से यथास्थान यानी स्वप्नस्थान अर्थात् सुषुप्ति के लिए लौट

---

१ स्वमथ । २ अनादित्वात्स्वरूपतो निर्गुणत्वाच्च गुणतो व्ययाभावात् । ३ कामप्रविवेक । ४ कर्मणा । ५ स्वप्नस्थानम् । ६ स्तैन्य चौर्यं तद्रूप कार्यं तस्य वा कार्यं फल तदननुभवादित्यर्थं । ७ अवतरणात् । ८ सुषुप्तय । ९ बृ उ ४ ३ १५ । १० बृ उ ४ ३ १६-१७ । ११ यथेस्वप्नप्रश्नस्य । १२ बृ उ ४ ३ १६-१७ । १३ बृ उ ४ ३ १५ । १४ स्वप्नान्तशब्दस्य । १५ तद्धि दृश्यत एव न सत् । १६ वस्तु ।

च विशेषणोपपत्तेः । एतस्मा अन्ताय धावतीति च सुषुप्तं 'दर्शयिष्यति । यदि पुनरेव-मुच्यते 'स्वप्नान्ते रत्वा चरित्वैतावुभावन्तावनुसंचरति स्वप्नान्तं च बुद्धान्तं चेति दर्शनात्स्वप्नान्तायैवेत्यत्रापि दर्शनवृत्तिरेव स्वप्न उच्यत इति तथाऽपि न किंचिद्दुष्यत्यस-ङ्गता हि सिषाधयिषिता सिध्यत्येव । यस्माज्जागरिते दृष्ट्वैव पुण्यं च पापं च रत्वा चरित्वा च स्वप्नान्तमागतो न जागरितदोषेणानुगतो भवति ॥१७॥

एवमयं पुरुष आत्मा स्वयं ज्योतिः कार्यकरणविलक्षण'स्तत्प्रयोजकाभ्यां कामकर्मभ्यां विलक्षणो यस्मादसङ्गो ह्ययं पुरुषोऽसङ्गत्वादित्ययमर्थः स वा एष एतस्मिन्संप्रसाद इत्यद्याभिस्तिसृभिः कण्डिकाभिः प्रतिपादितः । तत्रासङ्गत्वमात्मनः कुतो

स्वप्नो दर्शनवृत्तिस्तस्य स्वप्नशब्देनैव सिद्धत्वादन्तशब्दवैयर्थ्यात्तस्यान्तो लयो यस्मिन्निति व्युत्पत्त्या स्वप्नान्तशब्देन सुषुप्तग्रहे सत्यन्तशब्देन स्वप्नस्य व्यावृत्त्युपपत्तेरत्र' सुषुप्तस्थानमेव स्वप्नान्तशब्दित-मित्यर्थः । 'तत्रैव वाक्यशेषानुगुण्यमाह—एतस्मा इति । स्वप्नान्तशब्दस्य स्वप्ने प्रयोगदर्शना-दिहापि तस्यैव तेन ग्रहणमिति पक्षान्तरमुत्थाप्याङ्गी करोति—यदीत्यादिना । सिषाधयिषितार्थसिद्धौ हेतुमाह—यस्मादिति ॥१७॥

'कण्डिकात्रयेण सिद्धमर्थमनुवदति—एवमिति । आत्मन स्थानत्रयसंचाराद्सिद्धोऽसङ्गत्व-हेतुरिति 'शङ्कते—तत्रेति । 'प्रतिज्ञाहेत्वोर्हेतुनिर्धारणे सप्तम्यर्थः । 'सप्रयोजकाद् द्वयाद्वैलक्षण्यं तु दूरनिरस्तमित्येवशब्दार्थः । एवं चोदिते हेतुसमर्थनार्थं महामत्स्यवाक्यमिति ''संगतिमभिप्रेत्य

जाता है। दर्शनवृत्ति स्वप्न का 'स्वप्न' शब्द से अर्थावबोध देखे जाने से एवं 'अन्त' शब्द से उसके विशेषण की सिद्धि होती है। इसी को "यह पुरुष इस सुषुप्तस्थान की ओर दौड़ता है" श्रुति कहती है। यहाँ 'अन्ताय' पद से श्रुति सुषुप्ति का ही प्रतिपादन करेगी। और यदि ऐसा कहा जाता है कि "स्वप्नान्त में रमण और विहार कर······", "उसी प्रकार यह पुरुष स्वप्नस्थान और जागरितस्थान इन दोनों ही स्थानों में क्रमशः संचार करता है··" इन श्रुतिवाक्यों में ऐसा देखा जाने से "स्वप्नान्तायैव" इस प्रयोग में भी दर्शनवृत्ति को ही स्वप्न कहा जाता है, तो भी किसी प्रकार का दोष नहीं आता। क्योंकि असङ्गता के की सिद्धि करना हमें इष्ट है और वह सिद्ध हो ही जाती है क्योंकि जागरित अवस्था में पुण्य और पाप को देखकर ही तथा क्रीडा और रमण कर वह स्वप्नान्त में आता है किन्तु जागरित के दोष से सम्पृक्त नहीं होता।·

इस प्रकार यह पुरुष आत्मा स्वयंज्योति है, कार्य और करण से विलक्षण है, और कार्य करण के प्रयोजक काम और कर्म से भी विलक्षण है क्योंकि यह पुरुष असङ्ग ही है। असङ्ग होने के कारण ही "वह यह आत्मा सुषुप्ति में (रमण-विहार कर लौट आता है)" इत्यादि तीन मन्त्रों से इसी अर्थ का प्रतिपादन किया गया। इससे आत्मा की असङ्गता ही सिद्ध

---

१ बृ उ ४. ३ १९ । २ बृ उ ४ ३ ३४ । ३ कार्यकरणप्रयोजकाभ्याम् । ४ वाक्य । ५ स्वप्नान्तशब्दस्य सुषुप्तिपरत्वे । ६ बृ उ ४ ३ १५-१७ । ७ स्थानसंचाराभ्यामेव संसर्गं मन्यमान । ८ विलक्षणत्वासङ्गत्वरूपयो । ९ कामकर्मसहितात् । १० प्रागेव कार्यार्थं वा ।

तद्यथा महामत्स्य उभे कूले अनुसंचरति पूर्वं चापरं चैवमेवायं पुरुष एतावुभावन्तावनुसंचरति स्वप्नान्तं च बुद्धान्तं च ॥१८॥

जैसे कोई बड़ा मत्स्य नदी के पर और अपर दोनो तटो पर क्रमशः संचरण करता है अर्थात् जलप्रवाह के वेग से वह विवश नहीं होता, वैसे ही यह पुरुष स्वप्नस्थान और जाग्रत्स्थान इन दोनों ही स्थानों मे (प्रारब्धकर्म से प्रेरित हुआ) क्रमशः विचरता रहता रहता है ॥१८॥

[1]यस्माज्जागरितात्स्वप्नं स्वप्नाच्च संप्रसादं संप्रसादाच्च पुनः स्वप्नं क्रमेण बुद्धान्तं जागरितं बुद्धान्ताच्च पुनः स्वप्नान्तमित्येवमनुक्रमसंचारेण स्थानत्रयस्य व्यतिरेकः साधितः । पूर्वमप्युपन्यस्तोऽ[2]यमर्थः स्वप्नो भूत्वेमं लोकमतिक्रामति मृत्यो रूपाणीति तं विस्तरेण प्रतिपाद्य केवलं दृष्टान्तमात्रमवशिष्टं तद्वक्ष्यामीत्या[3]रभ्यते—

तत्रैतस्मिन्यथाप्रदर्शितेऽर्थे [4]दृष्टान्तोऽयमुपादीयते यथा लोके महामत्स्यो महांश्चासौ मत्स्यश्च [5]नादेयेन स्रोतसाऽहार्य इत्यर्थः । स्रोतश्च [6]विष्टम्भयति स्वच्छन्दचारी उभे कूले नद्याः पूर्वं चापरं चानुक्रमेण संचरति । संचरन्नपि कूलद्वयं तन्मध्यवर्तिनोदकस्रोतोवेगेन

[1]संगत्यन्तरमाह—पूर्वमपीति । यथाप्रदर्शितोऽर्थोऽसङ्गत्वं कार्यकरणविनिर्मुक्तत्वं च । अहार्यत्वम-प्रकम्प्यत्वम् । स्वच्छन्दचारित्वं प्रकटयति—सचरन्नपीति । किं पुनर्दृष्टान्तेन दार्ष्टान्तिके लभ्यते

होती है । वह कैसे ? क्योकि वह जागरित से स्वप्न को, स्वप्न से सुषुप्ति को, सुषुप्ति से पुनः स्वप्न को तथा क्रमश 'बुद्धान्त' यानी जागरित को, जागरित से पुन. स्वप्न को इस तरह क्रमिक संचरण से तीनो स्थानो का व्यतिरेक सिद्ध किया गया है । "स्वप्न और मृत्युरूप इस लोक का अतिक्रमण किया" इस श्रुतिवाक्य द्वारा पहले भी इस (असङ्गत्व कार्यकरण विमुक्तत्वादिरूप) अर्थ का प्रतिपादन किया है । उस का विस्तार से प्रतिपादन कर अब जो दृष्टान्त मात्र शेष रह गया है, उसी को कहेंगे । इसी से अग्रिम दृष्टान्त मन्त्र प्रारम्भ किया जाता है ।

"तत्" अर्थात् यहाँ यथाप्रदर्शित (असङ्ग कार्यकरणविनिर्मुक्त) अर्थ मे इस दृष्टान्त का उपपादन किया जाता है । जिस प्रकार लोकव्यवहार मे "महामत्स्य." अर्थात् महान् मत्स्य जो नदी के वेग से अप्रकम्प्य हो और जो नदी के वेग को रोक देता हो, वह स्वच्छन्दचारी महामत्स्य "उभे कूले अनुसचरति' अर्थात् जसे नदी के पूर्व और अपर दोनो किनारो पर क्रमश. सचरण

१ तत्रासङ्गतेत्यादिभाष्ये यस्मादित्यादि वाक्यं समाधानपरतया निनीषवस्त्विवत्थमवतारयन्ति । तथाहि समाधत्ते—यस्मादिति । परं तथा सति टीकाकृताम्वतरणे इति शङ्कत इत्यन्याय्यमापद्येत इत्याशङ्क्य समाधत्ते—इत्यस्यैवौचित्यात् । तस्माट्टीकाकृता सर्वाप्येषा पङ्क्तिशङ्कापरत्वाभिमतेति प्रतिभाति । तथा च सति व्यतिरेक साधित इत्यस्य स्थाने व्यतिकर साधित इत्येव पाठ साधीयान् । पूर्वमपीत्यादि भाष्यमेव समाधानपरमिति विवेक्तव्यमित्यलम् । २ असङ्गत्वकार्यकरणविमुक्तत्वादिरूप । ३ दृष्टान्त कण्डिका या कर्म । ४. प्रतीचो निरासङ्गत्वसिद्धयर्थम् । ५ महत्त्व स्फोरयति—नादेयेनेति । ६ निरुणद्धि । ७ दृष्टान्त-रूपम् ।

न परवशो क्रियते। एवमेवायं पुरुष एतावुभा[1]वन्ता अनुसंचरति। कौ तौ। स्वप्नान्तं च बुद्धान्तं च। दृष्टान्तप्रदर्शनफलं तु मृत्युरूपः कार्यकरणसंघातः सह तत्प्रयोजकाभ्यां कामकर्मभ्याम[2]नात्मधर्मोऽयं चाऽऽत्मेतस्माद्विलक्षण इति विस्तरतो व्याख्यातम् ॥१८॥

अत्र च स्थानत्रयानुसंचारेण स्वयंज्योतिष आत्मनः कार्यकरणसंघातव्यतिरिक्तस्य कामकर्मभ्यां विविक्ततोक्ता। स्वतो नाय संसारधर्मवानुपाधिनिमित्तमेव त्वस्य संसारित्व-[3]मविद्याध्यारोपितमित्येष समुदायार्थ उक्तः। [4]तत्र च जाग्रत्स्वप्नसुषुप्तस्थानानां त्रयाणां विप्रकीर्णरूप उक्तो न पुञ्जीकृत्यैकत्र दर्शितः। यस्माज्जागरिते ससङ्गः समृत्युः सकार्यकरणसंघात [5]उपलक्ष्यतेऽविद्यया। स्वप्ने तु कामसंयुक्तो मृत्युरूपविनिर्मुक्त उपलभ्यते। सुषुप्ते पुनर्बुद्धान्त[6]मागतो बुद्धान्ताच्च सुषुप्ते संप्रसन्नोऽसङ्गो भवतीत्यसङ्ग-

---

तवाह—दृष्टान्तेति ॥ १८ ॥

[7]वाक्यमवतारयितुं वृत्तं कीर्तयति—अत्र चेति। [8]पूर्वसंदर्भः समभ्यर्थः। देहद्वयेन सप्रयोजकेन वस्तुतोऽसंबन्धे फलितमाह—स्वत इति। कथं तर्हि तत्र संसारित्वधीरित्याशङ्क्याऽऽह—उपाधीति। औपाधिकस्यापि वस्तुत्वमाशङ्क्याऽऽह—अविद्येति। वृत्तमनूद्योत्तरग्रन्थमवतारय[8]न्भूमिकामाह—तत्रेति। स्थानत्रयसंबन्धित्वेन विप्रकीर्णं विश्लिष्टं रूपमस्येत्यात्मा तथा। पुञ्जीकृत्य विवक्षितं सर्वं [9]विशेषणमादायेति यावत्। एकत्रेति वाक्योक्तिः। [10]तत्र हेतुं वदञ्जाग्रद्वाक्येन विवक्षितात्मोक्ति-रित्याह—यस्मादिति। ससङ्गस्यावेह[2]दृश्यमानरूपस्य मिथ्यात्वं सूचयति—अविद्ययेति। स्वप्नवाक्ये विवक्षितात्मसिद्धिमाशङ्क्याऽऽह—स्वप्ने त्विति। [11]तर्हि सुषुप्तवाक्ये तत्सिद्धिर्नेत्याह—सुषुप्ते पुनरिति।

करता है। तथा सचार करता हुआ भी उन दोनो तीरो के मध्यवर्ती जलप्रवाह के वेग से अनियन्त्रित नही होता। इसी तरह यह पुरुष भी इन दोनो स्थानो मे सचरण करता है। वे दोनो स्थान कौन से है? स्वप्नस्थान और जागरितस्थान। दृष्टान्तप्रदर्शन का फल है कि अपने प्रयोजक काम और कर्म-सहित मृत्युरूप देहेन्द्रियसघात आत्मधर्मी नही है, यह आत्मा इससे विलक्षण है। इस प्रकार विस्तार से इसका व्याख्यान कर दिया गया ॥१८॥

यहाँ स्थानत्रय के क्रमश सचरण से देहेन्द्रियसघात से भिन्न स्वयप्रकाश आत्मा की काम और कर्मो से पृथकता बतला दी गयी। यह स्वय ससारधर्मी नही है, इसका ससारित्व अविद्या से आरोपित उपाधि के कारण ही है। इस प्रकार यह समुदायार्थ कहा गया। परन्तु पूर्व सन्दर्भ मे जाग्रत, स्वप्न और सुषुप्त तीनो स्थानो का पृथक्-पृथक् रूप कहा गया है। सबको एकत्रित करके नही दिखलाया गया क्योकि जागरित अवस्था मे वह अविद्या द्वारा आसक्तियुक्त, मृत्युयुक्त और कार्यकरण-सघात से युक्त प्रतीत होता है। स्वप्नावस्था मे कामसयुक्त, मृत्युरूप विनिर्मुक्त प्रतीत होता है। सुषुप्तावस्था मे पुन स्वप्न से जागरित मे आता हुआ और जागरित मे सुषुप्ति मे अतीव प्रसन्न और

---

१ स्थाने। २ आत्मधर्मो न भवतीत्यर्थं। ३ अविद्योच्छेदे मुक्तिरित्यवस्तुत्वफल द्रष्टव्यम्। ४ पूर्वसदर्भे। ५ प्रतीयते। ६ स्वप्नात्। ७ बृ उ ४ ३ १५-१७। ८ उत्तरग्रन्थोत्थानप्रयोजनोक्तिम्। ९ अविद्याकामकर्मासङ्गित्वम्पम्। १० एकत्र पुञ्जानुक्तौ। ११ स्वप्नवाक्ये ना चेत्।

तद्यथाऽस्मिन्नाकाशे श्येनो वा सुपर्णो वा विपरिपत्य श्रान्तः सꣳहत्य पक्षौ संलयायैव ध्रियत एवमेवायं

जैसे इस भौतिक आकाश मे बाज या श्येन पक्षी सभी ओर उड़कर थक जाने पर पंखों को अच्छी प्रकार फैलाकर अपने घोंसले की ओर ही दौड़ने लगता है। ठीक ऐसे ही जीवात्मा (जाग्रत्

साऽपि दृश्यते । एकवाक्यतया तूपसंह्रियमाणं फलं नित्यमुक्तबुद्धशुद्धस्वभावताऽस्य नैकत्र पुञ्जीकृत्य प्रदर्शितेति तत्प्रदर्शनाय कण्डिकाऽऽरभ्यते । सुषुप्ते ह्येवंरूपताऽस्य वक्ष्यमाणा तद्वा 'अस्यैतद'तिच्छन्दा 'अपहतपाप्माऽभयं 'रूपमिति । 'यस्मादेवंरूपं विलक्षणं "सुषुप्तं प्रविविक्षति । "तत्कथमित्याह"—दृष्टान्तेनास्यार्थस्य प्रकटीभावो भवतीति तत्र दृष्टान्त "उपादीयते ।

"तत्राप्यविद्यानिर्मोको न प्रतिभातीति भावः । एवं पातनिकां कृत्वा श्येनवाक्यमादत्ते—एकवाक्यतयेति । पूर्ववाक्याना(णा)मिति शेषः । कुत्र "तर्हि यथोक्तमात्मरूपं पुञ्जीकृत्य प्रदर्श्यते तत्राऽऽह—सुषुप्ते· हीति । "तत्राभयमित्यविद्याराहित्यमुच्यते । "सा च सुषुप्ते स्वरूपेण सत्यपि "नाभिव्यक्ता भातीति द्रष्टव्यम् । यस्मात्सुषुप्ते यथोक्तमात्मरूपं वक्ष्यते "तस्मादिति यावत् । एवंरूपमित्येतदेव प्रकटयति—विलक्षणमिति । कार्यकरणविनिर्मुक्तं कामकर्मविद्यारहितमित्यर्थः । स्थानद्वयं हित्वा "कथं सुषुप्तं प्रवेष्टुमिच्छतीति" पृच्छति—तत्कथमिति । स्वप्नादौ दुःखानुभवात्तत्त्यागेन सुषुप्तं प्राप्नोतीत्याह—आहेति । अथोत्तरा श्रुतिः स्थानान्तरप्राप्तिमभिधत्तां तथाऽपि किं दृष्टान्तवचनेनेत्याशङ्क्याऽऽह—दृष्टान्तेनेति । अस्यार्थस्य सुषुप्तिप्राप्तिरूपस्येत्येतत् । न एवार्थस्तत्रेतिसम्बन्धः ।

प्रसङ्ग होता है। इस प्रकार उसकी असङ्गता देखी जाती है। इसलिए एकवाक्यतारूप जो उपसंह्रियमाण विचार है, वह इसका नित्य-शुद्ध-बुद्ध-मुक्तस्वभाव एक स्थान पर संग्रह करके नहीं दिखलाया गया। अतः अब उसे बतलाने के लिए यह मन्त्र प्रारम्भ किया जाता है । इसका ऐसा रूप 'वह इसका कामरहित, पापरहित और अभयरूप है" इस श्रुतिवाक्य द्वारा बतलाया जाने वाला है क्योकि ऐसे (कामवर्जित' आदि) विलक्षणरूप वाले सुषुप्तस्थान मे प्रवेश करने की इच्छा करता है। वह किस तरह ? इसे श्रुति कहती है। दृष्टान्त से इसके अर्थ का प्रकाशन होता है, इसके लिए दृष्टान्त का उपपादन किया जाता है।

१ विचारस्य । २ मुक्तप्रतिपत्त्यर्थत्वात्तत्प्रदर्शनस्येति भाव । ३ नित्यशुद्धस्वभावता । ४ आत्मन । ५ एतद्रूपमिति संह्रियमाणम् । ६ कामवर्जितम् । ७ धर्मादिशून्यम् । ८ बृ उ ४ ३ २१ । ९ अतिच्छन्दावाक्योक्तम् । १० आत्मस्वरूपं सुषुप्तस्थानं प्रवेष्टुमिच्छति । ११. किमर्थम् । १२. उत्तरा श्रुति । १३ उपादीयत इति । अत्र सम्बन्धान्तरमाहुर्वार्तिके—"स्वप्नबुद्धान्तयोर्वेह दृष्टान्त सम्प्रदर्शित । सम्प्रसादस्य दृष्टान्त श्येनेनाथ धुनोच्यते" ॥ ११५६ ॥ इति । पूर्वो दृष्टान्तो महामत्स्याख्य. । १४ सुषुप्ते । १५ तदर्थम् । कण्डिकारम्भेऽपि । १६ वाक्ये विशेषणेषु वा । १७ अविद्या । १८. कार्याकारो हि व्यक्ति । १९ यथोक्तात्मस्वरूपप्रदर्शनाय कण्डिकाऽऽरभ्यत इति पूर्वत्रान्वय । २०. किमर्थम् । २१ आत्मा ।

पुरुष एतस्मा अन्ताय धावति यत्र सुप्तो न कञ्चन
कामं कामयते न कञ्चन स्वप्नं पश्यति ॥१९॥

तथा स्वप्न मे प्रारब्धानुसार कर्म फल को भोग कर थक जाने पर) इस सुषुप्तिस्थान की ओर दौडता है। जहां सोने पर यह किसी भोग की आकांक्षा नही करता और न किसी स्वप्न को ही देखता है ॥१९॥

¹तद्यथाऽस्मिन्²नाकाशे भौतिके श्येनो वा सुपर्णो वा। सुपर्णशब्देन क्षिप्रः श्येन उच्यते। यथाऽऽकाशेऽस्मिन्²विहृत्य विपरिपत्य श्रान्तो नानापरिपतनलक्षणेन कर्मणा परिखिन्नः संहृत्य पक्षौ ³संगमय्य संप्रसार्य पक्षौ सम्यग्लीयतेऽस्मिन्निति संलयो नीडो ⁴नीडायैव ध्रियते ⁵स्वात्मनैव धार्यते स्वयमेव। यथाऽयं दृष्टान्त एवमेवाय ⁶पुरुष एतस्मा ⁷एतस्मै ⁸अन्ताय ⁹धावति। *¹⁰अन्तशब्दवाच्यस्य ¹¹विशेषणं यत्र ¹²तस्मिन्नन्ते ¹³सुप्तो न कंचन

परमात्माकाशं व्यावर्तयितुं भौतिकविशेषणम्। महाकायो मन्दवेगः श्येनः सुपर्णस्तु वेगवानल्पविग्रह इति भेदः। धारणे सौकर्यं वक्तुं ¹⁴स्वयमेवेत्युक्तम्। स्वप्नजागरितयोरवसानमन्तमज्ञातं

जिस प्रकार इस प्रसिद्ध भौतिक आकाश मे श्येन अथवा सुपर्ण हो; सुपर्ण तेज उडने वाले बाज का नाम है। जिस प्रकार इस आकाश मे भक्ष्यार्थ विहार कर चारो ओर उडकर "श्रान्त" अर्थात् बार-बार उड्डयनरूप कर्म से खिन्न होकर "संहृत्य पक्षौ" यानी पङ्खो को सम्यक् फैलाकर "सलयायैव ध्रियत" घोसले के प्रति अपने को धारण करता है। जिसमे सम्यक् प्रकार से लीन होता है, उस घोसले का नाम 'सलय' है। जैसे यह दृष्टान्त है उसी प्रकार यह पुरुष भी जागरित आदि से खिन्न होकर "एतस्मा" अर्थात अपने नीड के प्रति अज्ञात ब्रह्मप्राप्ति के अर्थ श्रमनिवृत्ति के लिए भागता है। अन्तशब्दवाच्य अज्ञातब्रह्म के विशेषणद्वय 'यत्र" अर्थात जिस अज्ञातब्रह्म मे सम्पन्न एकीभूत न 'कञ्चन'

१ तत् प्रसिद्ध निदर्शनं यथा। अस्मिन् प्रसिद्धे। २ भक्ष्यार्थम्। ३ स्वनीडागमनाभिमुख्य पक्षयोरापाद्य। ४ नीडप्रवेशार्थम्। ५ स्वात्मनैवेत्यादि—शरीरस्य जडत्वाच्चेतनेनैव ध्रियमाणत्वे न तु स्वतस्तथापि नीडप्रवेशसमये शरीरधारणे सौकर्यं द्योतयितुं मूले ध्रियत इति कर्मकर्तरि प्रयोगस्तदेतत्सूचयितुं भाष्ये स्वयमेव स्वात्मना धार्यत इत्युक्तमिति ज्ञेयम्। ६ जागरादौ खिन्न। ७ स्वनीडाय। ८ तच्छब्दार्थानय। १० अज्ञातब्रह्मणे। ११ विशेषणद्वयम्। १२ अज्ञातब्रह्मप्राप्त्यर्थम्। ९ सम्पन्न एकीभूत। १४ शरीरस्य जडत्वेन चेतनेनैव ध्रियमाणत्वेऽपि सौकर्यं अज्ञातब्रह्मणि। १३ द्योतयितुं स्वयमित्युक्तं स्थाली पचतीतिवत्। कर्मणस्तु कर्तृत्वेन विवक्षितत्वात्कर्मवद्भावेन यागादिक पच्यन् ओदन इतिवत्।

* अन्तशब्दवाच्यस्य विशेषणमिति। अत्र वार्तिके—"अन्ताय धावतीत्युक्तं तस्यान्तस्य विशेषणम्। यत्र सुप्तो न कंचनेति जाग्रत्स्वप्ननिषेधकृत् ॥ सुप्तस्तिसृष्ववस्थासु सामान्येन यतस्ततः। विभिनत्त्यात्मनः स्वाप यत्र सुप्तगिरा स्फुटम् ॥ न कंचनेति कामो य स्वप्नजाग्रदवस्थयोः। निषिध्यते सुषुप्तेऽसौ तथा स्वप्नोऽपि यस्तया ॥ सर्वत्रस्यामवस्थायां स्वप्ने वा कामविरहाद्यथोक्तेनैव वर्त्मना। जाग्रत्कामनिरोधोऽतस्तत्र कामादिसंभवात् ॥ त्रय आवसथा इति तथा च श्रुतिशासनम्। जाग्रत्स्वप्नसुषुप्तिभि। यदि वा विद्यते भेद कंचनेति च निह्नुत ॥ न स्वप्नेनेति वाक्येन जाग्रत्स्वप्नसुषुप्तानां त्रैविध्यप्रतिपादकम् ॥ तत्र त्रयाणां स्थानानां जाग्रत्स्वप्ननिषेधनम्।

न कंचिदपि [1]कामं [2]कामयते । तथा न कंचन स्वप्नं पश्यति । 'न कंचन काममिति' स्वप्नबुद्धान्तयोरविशेषेण सर्वः कामः प्रतिषिध्यते [3]कंचनेत्यविशेषिताभिधानात् । तथा न कंचन स्वप्नमिति[4] । जागरितेऽपि यद्दर्शनं तदपि स्वप्नं मन्यते श्रुतिरत आह न कंचन स्वप्नं पश्यतीति । [5]तथा च श्रुत्यन्तरम् "[6]तस्य त्रय आवसथास्त्रयः [7]स्वप्नाः" इति ।

ब्रह्म । तथा न कंचन स्वप्नमिति "स्वप्नजागरितयोरविशेषेण सर्वं "दर्शनं निषिध्यत इति शेषः । "स्वप्नविशेषणात्स्वप्नदर्शननिषेधेऽपि कुतो जाग्रद्दर्शनं निषिध्यते तत्राऽऽह—जागरितेऽपीति । कथम-यमभिप्रायः श्रुतेरवगत इत्याशङ्क्य "विशेषणसामर्थ्यादित्याह—अत आहेति । जागरितस्यापि स्वप्नत्वे

अर्थात् किसी भी काम्य वस्तु की इच्छा नही करता । इसी प्रकार न कोई स्वप्न देखता है । "न कञ्चन कामम्" इस विशेषण के द्वारा स्वप्न और जागरित के सभी भोगो का निषेध हो जाता है, क्योंकि 'कचन' यह उक्ति कामत्वावच्छिन्न की है। इसी प्रकार "न कचन स्वप्नम्" इस प्रकार द्वितीय विशेषण के द्वारा भी समझ लेना चाहिये । जागरित मे जो कुछ देखा जाता है; उसे श्रुति स्वप्न ही मानती है, इसी से श्रुति कहती है कि कोई स्वप्न नही देखता । ऐसी ही एक अन्य श्रुति भी है—"उसके तीन वासस्थान है और तीन ही स्वप्न हैं (जागरित मे यही नेत्रस्थान वाला है, स्वप्न मे यह कण्ठस्थान

---

१ काम्य विषयम् । २ इच्छति । ३ विशेषणयो इत्यमाह—नेति । ४ विशेषणेन । ५ कचनेति—कामत्वावच्छिन्नस्योक्तेरित्यर्थ । ६ द्वितीयविशेषणेन । ७. तथैव । ८ शरीरस्थात्मन त्रीणि स्थानानि । ९ स्वप्नतुल्यानि । १० अविशेषिताभिधानादिति शेष । ११ काम्यमानार्थ-ज्ञानम् । १२ दर्शने स्वप्नस्य विशेषणतयाऽन्वितत्वात् । १३ स्वप्ने कचनति विशेषणा यथाऽनुपपत्ते ।

तयोरेव ग्रह श्रुत ॥ स्वाप न कचनत्युक्त्या सर्वस्वप्ननिषेधनम् । इति प्रबोधस्वप्नाभ्या विविक्त स्थानमुच्यते ॥ जाग्रत्स्वप्नात्मको पक्षी विततयाऽऽत्ममोहवान् । भुक्त्वा भोगानथ श्रान्त पक्षौ सहृत्य चाऽऽत्मनि ॥ अविद्याया-मवस्थान तदुद्भूतस्य वस्तुन । सहृत्यपक्षोपमया श्रुत्यह प्रतिपाद्यते ॥ सलयायेति यच्छुद्ध रूप स्यात्प्रत्यगात्मन । प्रत्यकचिदाभ आगत्य घ्रियते प्रत्यगात्मने ॥ बुद्ध्यादिकार्यसहारे प्रत्यक्चैतन्यरूपिण । चिद्विम्बस्यापि सहारो जलार्कप्रविलापवत्" ॥ ११६३-११७४ ॥ इति ॥ कथमन्तशब्देन ब्रह्मग्रहणमित्याशङ्क्योक्तानुवादपूर्वक विशेषण द्वयमादत्ते—अन्तायति । तस्य कृत्य दर्शयति—जाग्रदिति ॥ सुप्तविशेषणेनैव जाग्रन्निवृत्तेर्न कचन काममित्याद्य-नर्थकमित्याशङ्क्याऽऽह—सुप्त इति । प्रत्यममवस्थाना त्रैविध्योक्त सामान्यनाऽऽत्माऽवस्थात्रयेऽपि सुप्तो वर्तते तस्माद्यत्र सुप्त इत्युक्तमात्मन स्वाप न कचनेत्यादिगिरा स्पष्टीकृत्य विशिनष्टीति योजना ॥ अस्त्वात्मस्वापस्येद विशेषण तथाऽपि तेन कामस्यैव निषेधाज्जाग्रत्स्वप्ननिषेधकृदित्ययुक्तमत आह—नेत्यादिना । अवस्थाद्वयस्थकाम-मात्रस्य स्वापे निषेधादवस्थाद्वयमपि तत्र निषिध्यते चेद्विशेषणान्तरानर्थक्यमित्याशङ्क्याऽऽह —तथेति । स्वप्न जागरयो स्वप्न सुषुप्त द्वितीयन विशेषणेन निषिध्यते तेन तदप्याद्यविशेषणवदर्थवदेव पूर्वत्र कामप्राधान्येनाव-स्थाद्वयनिषेध उत्तरत्र स्वप्नप्राधान्येनेति भाव ॥ आद्यविशेषणस्यार्थान्तरमाह—स्वप्न वेति । यथोक्तेनासङ्गो हीत्युक्तमार्गेणेति यावत् । असङ्गत्वन्यायेन जाग्रत्यपि रागादिराहित्य तुल्यमित्याशङ्क्याऽऽह —तत्रेति । सति मातरि बाधविधुरो जाग्रति कामादि स्वप्ने तु नैवमित्यर्थ ॥ द्वितीयविशेषणस्यार्थान्तरमाह—एकैव स्यामिति । तत्र हेतुमाह—कचनेतीति । न कचन स्वप्न पश्यतीत्यत्र कंचनेतिभेदद्योतिविशेषणादुक्तभेदसिद्धिरित्यर्थ ॥ अवस्थाना प्रत्येक त्रैविध्यसाधक वाक्यान्तर चास्तीत्याह—त्रय इति ॥ सिद्धे त्रैविध्ये किं प्रकृते सिध्यति

यथा 'दृष्टान्ते पक्षिणः परिपतनजश्रमापनुत्तये स्वनीडोपसर्पणमेवं जाग्रत्स्वप्नयोः 'कार्यकरणसंयोगजक्रियाफलैः संयुज्यमानस्य पक्षिणः परिपतनज इव श्रमो भवति तच्छ्रमापनुत्तये स्वात्मनो नीडमायतनं सर्वसंसारधर्मविलक्षणं सर्वक्रियाकारकफलायासशून्यं स्वमात्मानं प्रविशति' ॥ १९ ॥

[9]यद्यस्यायं स्वभावः सर्वसंसारधर्मशून्यता परोपाधिनिमित्तं चास्य संसार-

श्रुत्यन्तरं संवादयति—तथा चेति । दृष्टान्तदार्ष्टान्तिकयोर्विवक्षितमंशं दर्शयति—यथेत्यादिना । संयुज्यमानस्य 'क्षेत्रज्ञस्येति शेषः । सर्वसंसारधर्मविलक्षणमिति विशेषणं व्याचष्टे—सर्वेति ॥ १९ ॥

श्येनवाक्येनाऽऽत्मनः सोपुप्तं 'रूपमुदतमिदानीं 'नाडीखण्डस्य 'संबन्धं वक्तुं चोदयति—यद्यस्येति ।

वाला है और सुषुप्ति मे हृदयस्थान वाला है)" । जिस प्रकार श्येनदृष्टान्त मे उड़ने से उत्पन्न श्रम की निवृत्ति के लिए पक्षियो की स्वनीडप्राप्ति दिखायी है; इसी प्रकार जाग्रत और स्वप्न मे देहेन्द्रिय के संयोग से होने वाले क्रियाफलो से सयुक्त जीव को, पक्षी के उड़ने से होने वाले श्रम के समान ही श्रम होता है । इसलिए श्रम से निवृत्त होने के लिए वह अपने नीड या निवासस्थान अर्थात् सम्पूर्ण संसारधर्मों से विलक्षण तथा सब प्रकार के क्रिया, कारक और फल के श्रम से रहित अपने आत्मा में क्षेत्रज्ञ जीव प्रवेश करता है ॥ १९ ॥

यदि इस आत्मा का स्वभाव सर्वसंसारधर्म से विलक्षण है तो इसका संसारधर्मी होना अन्य

१. श्येनदृष्टान्ते । २ स्थूलेति भाव । ३ सूक्ष्मेति यावत् । ४ क्षेत्रज्ञो जीव । ५ आत्मन । ६ जीवात्मन । ७ अप्रपञ्च सच्चिदानन्दैकतान स्वाभाविक रूपम् । ८ नाडीघटितवाक्यस्य ता वा इत्यादे । ९ पूर्वग्रन्थेन सबन्धम् ।

तदाह तत्रेति । स्थानाना त्रयाणा प्रत्येक त्रैविध्ये सिद्धे त्रिविधस्य जागरस्याऽऽद्येन त्रिविधस्य च स्वप्नस्य द्वितीयेन विशेषणेन निषेध सिध्यतीत्यर्थ । तत्र हेतु.—तयोरिति । कामस्वप्नशब्दाभ्या तयोरेव जाग्रत्स्वप्नयो श्रुत्या ग्रहात्तयो सर्वप्रकारयोर्निषेधोऽत्र विवक्षित इत्यर्थ ॥ विशेषणद्वयार्थमनुवदति—स्वप्नमिति । काम न कचनेत्युक्त्या सर्वजाग्रन्निषेधनमित्यपि द्रष्टव्यम् । तथाऽपि प्रकृते किं सिध्यति तदाह—इति प्रयोगेति ॥ विशेषणार्थमुक्त्वाऽन्ताय धावतीत्यस्यार्थमुपसहरति—जाग्रदिति । अन्तशब्दवाच्यब्रह्मणोऽर्थं गच्छतीति शेष. । अन्तस्याऽऽश्रयगमनापेक्षाद्योतनार्थोऽथशब्द ॥ सहत्यपक्षदृष्टान्तेन दार्ष्टान्तिके विवक्षितमंशमाह—अविद्यायामिति । पक्षी सहत्य स्वात्मन्येव सकुचितावयवावाधाद्य स्वाश्रये श्रमध्वसार्थं श्येनस्तिष्ठतीति दृष्टान्तश्रुत्या साभासायामविद्याया जगतोऽवस्थान विवक्षितमित्यर्थं । इहाविद्यायामिति सबन्ध ॥ संसयदृष्टान्तेन दार्ष्टान्तिके विवक्षितमाह—समिति । श्येनो हि सम्यङ्निलयनार्थं स्वनीडायाऽऽत्मानं धारयतीति दृष्टान्तश्रुत्या शुद्धबुद्धादि यत्प्रतीचो रूपं तद्विवक्षितं स्यात्तस्मै प्रत्यगात्मने प्रत्यक्चिदिव भासमान ससारी प्रत्यगज्ञाने साभासे स्वोपाधिबुद्धयाद्युपसंहारे सत्युपहितो हिरण्यवस्थातुमशक्नुवन्बिम्बस्थानीयायाऽऽत्मनाऽऽत्मान बिभर्तीत्यर्थं. ॥ उक्तमर्थं दृष्टान्तेन स्पष्टयति—बुद्धयादीति । चिद्बिम्बस्य चित्प्रतिबिम्बस्येति यावत् । जीवस्योपसंहारे भावत्वे सति नाशित्वाज्जन्मापि स्यात्तथा च नाऽऽत्माऽश्रुतेरित्यधिकरणविरोध इत्याशङ्क्याऽऽह—जलेति । उपाधिलये सत्युपहितस्यानुपहितमात्रत्वेनावस्थानाल्लयोक्तिर्न वस्तुत इत्यर्थ. ॥

[9] यद्यस्यायं स्वभाव इत्यादि पराचण्डिकाऽऽरभ्यत इत्यन्ने वार्तिककाराः—"एतदस्य स्वतो रूपं यदत्रोपप्रदर्शितम् । अविद्याकामकर्मादिविविक्तं यत्सुषुप्तगम् ॥ इतोऽन्यथा तु यद्रूपं जाग्रत्स्वप्नस्वलक्षणम् । तदस्य

धर्मित्वम् । यन्निमित्तं चास्य परोपाधिकृतं संसारधर्मित्वं सा चाविद्या । तस्या अविद्यायाः किं [1]स्वाभाविकत्वमाहोस्वित्कामकर्मा[2]दिवदागन्तुकत्वम् । यदि चाऽऽगन्तुकत्वं ततो विमोक्ष

परः सन्नुपाधियुद्ध्यादिः । प्रसङ्गत्वतः स्वतो बुद्ध्यादिसंबन्धासंभवमुपेत्याऽऽह—यन्निमित्तं चेति । [3]सिद्धान्ताभिप्राय[4]मनूद्य पूर्ववादी विकल्पयति—तस्या इति । आगन्तुकत्वम[5]स्वाभाविकत्वम् । आद्ये मोक्षानुपपत्तिं विवक्षित्वाऽऽह—यदि चेति । अस्तु [6]तर्हि द्वितीयो मोक्षोपपत्तेरित्याशङ्क्याऽऽह—

उपाधि के कारण है। जिस कारण से इसका अन्य उपाधि द्वारा कृत ससारधर्मित्व है, वह अविद्या है। वह अविद्या क्या (चैतन्य के समान) स्वाभाविकत्व है अथवा कामकर्मादि के समान आगन्तुकत्व है। यदि आगन्तुक है, तब तो उससे मोक्ष होना संभव है किन्तु उसके (अस्वरूपत्व) आगन्तुकत्व होने में

---

१. चैतन्यवत् । २. आदिना वर्म धार्य शरीरादिवत् । ३ सिद्धान्तयभीरपि सम्यक् । ४. यदीरया-द्यविद्येत्यन्तेन । ५ स्वभावभिन्नत्वम् । ६ आद्ये मोक्षानुपपत्तिश्चेत् ।

परतो ज्ञेयमात्माज्ञानैकहेतुकम् ॥ यद्धेतुकमिदं रूपं साऽविद्याऽनर्थकारिणी । सा स्वतः परतो वाऽस्येत्येतदत्राधुनोच्यते ॥ न स्यागन्तुरविद्येयमनिर्मोक्षप्रसङ्गतः । आत्मस्वभावोऽविद्येयं न चेत्येतद्विचार्यते ॥ अविद्याकामकर्मादिप्रविविक्तमिहात्मनः । रूपं पूर्वमुपन्यस्तं तस्य साक्षाद्विवीर्पया ॥ अविद्यायाश्च सत्कार्यं तच्च वाच्यमशेषतः । इत्याविष्कृतिसिद्ध्यर्थं परो ग्रन्थोऽवतार्यते ॥ नाड्यायत्ता यतोऽविद्याकार्यस्थितिरतः परम् । नाडीनां स्यादुपन्यासस्ता वा अस्येतिवाक्यतः ॥ यद्वा मृषात्वसिद्ध्यर्थं नाड्युपन्यास इष्यते । अत्यन्ततनुतो ह्यन्तर्विन्ध्यादेरीक्षणं कुतः ॥ अविद्याकार्यमेतच्चेदविद्यावन्मृषेष्यते । अतो मृषात्वसिद्ध्यर्थं तनुनाडीपरिग्रहः" ॥ १२०५-१२१३ ॥ श्येनवाक्यनाऽऽत्मनः सौषुप्तं रूपमुक्तमिदानीं नाडीखण्डस्य संबन्धार्थं वृत्तं कीर्तयति—एतदिति । किं तदात्मनः स्वतो विद्यमानं रूपं तदाह—यदिति । किं पुनः श्येनवाक्ये अस्यवत्त्वेनोक्तं रूपं तदाह—अविद्येति । आदिपदं तत्कार्यसंग्रहार्थम् । एतदेवाऽऽत्मनः स्वाभाविकं रूपं यदप्रपञ्चं सच्चिदानन्दैकतानमित्यर्थः ॥ रूपान्तरमपि स्वप्नादिगतं कर्तृत्वादिलक्षणमस्य भाति तत्कथमवधारणमित्याशङ्क्याऽऽह—इतोऽन्यथेति । तृतीयपादार्थं स्फुटयति—आत्मेति ॥ उत्तरवाक्यमवतारयन्विचारविषयमाह—यद्धेतुकमिति । कर्तृत्वादि यद्रूपं तस्यानर्थहेतुरविद्या प्रस्तुतेत्यर्थः । विचारस्वरूपमाह—सेति । अविद्या खल्वात्मनः स्वभावश्चैतन्यवदस्वभावो वा कर्मादिवदिति विचार्यास्वभावत्वमनन्तरग्रन्थेन कथ्यत इत्याह—एतदिति ॥ अविद्याऽऽत्मनः स्वभावोऽस्वभावोऽवेति नात्र चिन्त्यते किंतु सा सादिरनादिर्वेत्येतन्निरूप्यते कामकर्मादिवदागन्तुकत्वमिति भाष्ये कोटचन्तरोक्तेरित्याशङ्क्याऽऽह—न त्विति । अविद्या चेदागन्तुकी तदा तस्या हेत्वभावे मोक्षेऽपि पुनरुन्मज्जनसंभवादनिर्मोक्ष सहेतुत्वेऽप्यात्मातिरिक्तहेत्वभावात्तद्धेतुत्वेन ततो मोक्षेऽप्यविद्योदयसंभवात्स एव दोषस्तस्मादागन्तुकत्वाद्ययोगादविद्याया सादिरनादिर्वेति विचारो न विवक्षित इत्यर्थः । नन्वविद्यायाः स्वभावत्वेऽपि तन्निवृत्त्याऽऽत्मनो मुक्तेरसंभवस्य तुल्यत्वान्न त्वदभिमतोऽपि विचारो युज्येतेत्याशङ्क्याऽऽत्मनोऽजडत्वमिच्छता मुक्तेरविद्यानिवृत्तेरतिरिक्तत्वान्नैवमित्यभिप्रेत्य विवक्षितं विचारं निगमयति—आत्मेति । भाष्येऽप्येवंविधो विचारोऽभिप्रेतः स्वाभाविकत्वपक्षमादाय तत्प्रतिपक्षत्वेनाऽऽगन्तुकत्वं वदता तच्छब्देनास्वभावत्वस्येष्टत्वादन्यथा तत्र मोक्षप्रतिपादनमुक्तन्यायेनानवकाशमिति भावः ॥ नन्वविद्यायाः सादित्वपक्षेऽपि मोक्षस्याविद्याद्यादर्थान्तरत्वात्तदा तदुद्भवेऽपि नानिर्मोक्षप्रसक्तिरित्यस्मदिष्टविचारसिद्धिरित्याशङ्क्याविद्यायाः सादित्वे तद्धेतोरन्वेष्यत्वात्कूटस्थस्याऽऽत्मनो विनाऽविद्यामतद्धेतुत्वात्पूर्वाविद्यायाश्चोत्तराविद्यानुपादानत्वादनाद्यविद्यात्मनस्तदुपादानत्वात्तदुक्तविचारायोगात्प्राचीनविचारसि-

[1]ता [2]वा अस्यैता [3]हिता नाम नाड्यो यथा केशः सहस्रधा भिन्नस्तावताऽणिम्ना तिष्ठन्ति शुक्लस्य नीलस्य पिङ्गलस्य हरितस्य लोहितस्य पूर्णा *अथ [4]यत्रैनं[5] घ्न-

इस (हस्त-पादादि अवयव वाले पुरुष) [1]की वे ये हितानाम की नाडियाँ है। जिस प्रकार सहस्र भागो मे केश विभक्त होता है, वैसे ही ये नाडियाँ अत्यन्त सूक्ष्म है। वे सफेद, नीले, पीले, हरे और लाल रङ्ग के रस से भरी हुई है। जहाँ पर इस पुरुष को स्वप्नावस्था मे प्रतीत होता

उपपद्यते। तस्याश्चाऽऽगन्तुकत्वे कोपपत्तिः कथं वा नाऽऽत्मधर्मोऽविद्येति। सर्वानर्थबीजभूताया अविद्यायाः [1]सतत्त्वावधारणार्थं परा कण्डिकाऽऽरभ्यते—

[1]ता वा अस्य शिरःपाण्यादि[11]लक्षणस्य [12]पुरुषस्यैता[13] हिता नाम नाड्यो यथा

तस्याश्चेति। मा भूदविद्याऽऽत्मस्वभावस्तद्धर्मस्तु स्याद्धर्म्यन्तराभावादित्याह—कथ वेति। [1]तत्रोत्तरत्वेनोत्तरग्रन्थमुत्थापयति—सर्वानर्थेति। तासां परमसूक्ष्मत्व दृष्टान्तेन दर्शयति—यथेति। कथमक्षरसस्य

क्या प्रमाण है तथा अविद्या आत्मधर्मी क्यो नही है? इसलिए सम्पूर्ण अनर्थों की बीजभूता अविद्या का स्वरूप निर्धारण करने के लिए अग्रिम मन्त्र प्रारम्भ किया जाता है।

जो इस शिर एव हाथ आदि लक्षणरूप तादात्म्यापन्न आत्मा पुरुष की ये हिता नाम की

---

१ शरीरद्वयावस्थाद्वयतद्धर्मादि नानात्मन स्वाभाविक सबन्धस्तेषा स्वकरणे सुषुप्तेऽव्याकृताख्येऽविद्यामात्रव्यवहिते (अज्ञाते ब्रह्मणि) लीनत्वादित्युक्त सम्प्रत्यविद्यासबन्धोऽपि न स्वाभाविक इति दर्शयितु तस्यास्तावत्स्वकार्यद्वारा प्रत्यक्षत्वमुपोद्घातपूर्वकमाह—ता वा इति। २ प्रसिद्धा। ३ हितफलप्राप्तिनिमित्तत्वाद्धिता। ४ काले। ५ स्वप्नदृशम्। ६ शत्र्वादय। ७ अस्वरूपत्वे। ८ स्वरूपावधारणार्थम्। ९ बृ उ २ १ १९। १० तत्तादात्म्यापन्नस्यात्मन इति यावत्। ११ कर्मादिकर्तुरात्मन उक्तसघाताभिमानिन संबन्धिन्य। १२ बृ उ ४ २ ३। १३ यथोक्तबोधे सति।

द्धिरिति मत्वा विचारप्रयोजकमाह—अविद्येति। आत्मनो रूपमविद्यादिहीनं सुषुप्ते पूर्वमुक्तं तस्य प्रत्यक्षेण प्रतिपादनेच्छया विचारद्वाराऽनन्तरग्रन्थारम्भ इत्यर्थ॥ नाडीवाक्यस्याभिप्रायान्तरमाह—अविद्यायाश्चेति। यदविद्याकार्यं तदप्यशेषतो वाच्यमेव विवेकोपयोगादिति कृत्वा तदाविष्करणार्थमुत्तरो ग्रन्थ इत्यर्थ॥ अविद्याकार्यं चेद्दिदर्शयिषितं तदेवोच्यता कृत नाड्युपन्यासेनेत्याशङ्क्याऽऽह—नाडीति। अविद्योत्थकर्तृत्वादिधीर्नाडीकृता तदभावे स्वापादाविव तदनुपपत्तेरतस्तद्दृष्ट्युपयोगिनाड्युपन्यासस्तद्दृष्टिश्च व्यवहारार्थेत्यर्थ॥ तदुपन्यासस्य फलान्तरमाह—मद्धेति। सुतोऽवस्थाद्वयस्य मिथ्यात्वार्थं नाड्युपन्यासस्तत्राऽऽह—अत्यन्तेति। नाडीनामतिसौक्ष्म्यात्तासु महापरिमाणस्य विन्ध्यादेरीक्षण स्वाप्नं मिथ्यैवोचितदेशाभावात्तद्दृष्टान्ताज्जाग्रतोऽपि मिथ्यातेत्यर्थ॥ पुष्टं मत्वा शङ्कते—अविद्येति। अघटमान घटयत्यविद्येति न्यायादत्र सूक्ष्मनाडीष्वतिमहता विन्ध्यादेर्दृष्टिरविद्योत्थेति शङ्कार्थं। तर्हि मत्पक्षसिद्धिरित्याह—अविद्यावदिति। अवस्थयोर्मिथ्यात्वार्थं नाड्युक्तिरिति निगमयति—अत इति। कारणस्य मिथ्यात्वे कार्येऽपि तद्भावनियमादिति यावत्॥

* अथेत्यादेर्विषया मन्यत इत्यन्ते वार्तिके—"अथैतस्मिन्नपरमपरिणामे यथोदितं। प्रागङ्मोहस्य यत्कार्यमधुना तत्प्रपञ्च्यते॥ जगदात्मनि निर्माय साधिभूताधिदैवतम्। शुक्लाद्याकृतिनाडीस्थमात्मा पश्यत्यविद्यया॥

न्तीव जिनन्तीव हस्तीवं विच्छाययति गर्तमिव पतति यदेव जाग्रद्भयं पश्यति तदत्राविद्यया मन्यतेऽथ यत्र देव इव राजेवाहमेवेदꣳ सर्वोऽस्मीति मन्यते सोऽस्य परमो लोकः ॥२०॥

है कि कोई इसे मानो मारता है, कोई मानो इसे वश मे करता है और कोई इसके चारों ओर मानो हाथी दौडा रहा है, या मानो स्वय यह गर्त में गिर रहा है। इस प्रकार जो कुछ भी जाग्रदवस्था के भय को देखता है, उन्ही को स्वप्नावस्था मे अविद्या के कारण सत्य मानने लगता है और जहां पर यह देवता के समान या राजा के समान या मैं ही सब हूँ, ऐसा अपने को मानता है, यह इसका श्रेष्ठ लोक है ।२०॥

केशः सहस्रधा भिन्नस्तावता तावत्परिमाणेनाणिम्नाऽणुत्वेन तिष्ठन्ति । ताश्च शुक्लस्य

वर्णविशेषप्राप्तिरित्याशङ्कयाऽऽह—वातेति । भुक्तस्यान्नस्य परिणामविशेषो वातबाहुल्ये नीलो भवति

नाडियाँ है, जिस प्रकार सहस्र भागो मे विभक्त केश है, "तावता" अर्थात् उतने ही परिमाण 'अणिम्ना"

१ एव भयादिकार्यद्वाराऽधर्मसहकृतामविद्यामविद्यामात्मनोऽस्वभावभूता प्रदर्श्याथ धर्मसहकृता ता तथा दर्शयति—अथेति । विद्यायामुत्कृष्यमाणायां सत्या यत्र स्वप्ने जाग्रत्कालीनदेवाद्युपासनजनिततत्तद्वासनावशा-देव इव राजेवेति देवमिव राजानमिव चात्मान मन्यते पश्यति । मोक्षावस्थायामस्या विनाशादपि नेय स्वाभा-विकीत्यभिप्रेत्यात्मस्वभावभूत मोक्षस्वरूपमपि प्रत्यक्षमित्याह—अहमिति । तादृग्जाग्रद्वासनावासित स्वप्नेऽपि इद सर्वमहमेव चिन्मात्रं न तु मदतिरेकेण किञ्चिदस्त्यतोऽह सर्वं पूर्णोऽस्मीति मन्यते जानाति स सर्वात्मभावो-ऽस्यात्मन पूर्वोक्तांल्लोकानपेक्ष्य परम पूर्णो लोको विद्यया सपादित स्वाभाविक पूर्ववदिवशब्दप्रयोगाभावा-दित्यर्थ । २ सूक्ष्मत्वेन । ३ नाडीस्थो रस । ४ श्लेष्मपित्तयोश्चारपत्व इ यायम् ।

अविद्याया परा काष्ठाऽथेदानीमुच्यते स्फुटम् । तत्कार्यतारतम्येन साऽविद्या भिद्यत यत ॥ लिङ्गादिकार्यभेदेन माऽविद्या भिद्यते सदा । स्वतस्त्वविद्याभेदोऽत्र मनागपि न विद्यते ॥ तल्लिङ्ग वासनानीड सूक्ष्मं स्वच्छस्वभाव-कम् । नाडीगतरसोपाधिसंसर्गात्स्फटिकादिवत् ॥ धर्मादिप्रेरकोद्भूतरथस्त्रीहस्तिलक्षण-नानाकृतिरसाधारम् ह्यात्मनोऽलुप्तचक्षुष । अथन पुरतोऽविद्यामात्रतस्त्र विनश्वरम् ॥ एव, तावदविद्यैव नीडानामुदितो विधि । भावनाना विनिष्पत्तौ बोधे स्वप्नेऽथ भण्यत ॥ १२४१-१२४७ ॥ इति । अथेत्यादिवाक्यतात्पर्यमाह—अथेति । निमित्ते सप्तमी ॥ स्वप्ने नाविद्याकार्यमस्ति 'न तत्र रथा' इत्यादिश्रुतेस्तत्कथ तत्प्रपञ्चयितु वाक्यमित्याशङ्कया-ऽऽह—जगदिति । अविद्यया नानाविध वासनामय जगन्निर्मायाऽऽत्मा पूर्वोक्तनाडीगतत्वादेव पश्यतीति सबन्ध ॥ अथ योऽन्यामित्यारभ्याविद्याकार्यं प्रपञ्चित तत्किमुत्तरवाक्येनेति तत्राऽऽह—अविद्याया इति । जाग्रद्धेत्वविद्या-विभूतिरतत्रोक्ताऽत्र स्वप्नहेतोस्तस्या वर्ण्यते कार्यमिति विशेष । एकैवाविद्येत्युपगच्छता कथ तद्भेदोऽप्युपगम्यते तत्राऽऽह—तत्कार्येति । अतस्तद्भेदापगतिरविरुद्धेति दोष ॥ स्वयूथ्यास्तु स्वाभाविकमविद्याभेदमाहुस्तान्प्रत्याह—लिङ्गादीति । अत्रेत्यात्मोच्यत । न हि स्वतोऽविद्याभेदो मानाभावात्स च प्रत्यात्म तद्भेदोऽनुभूयते तद्भेदस्यैवा-सिद्धेर्न च मायाभिरिति बहूक्त्या तत्सिद्धिः कार्यभेदलब्धतद्भेदानुवादित्वादन्यथा माया तु प्रकृतिमित्येकवचन-विरोधान्न च व्यवस्थैव न भवति जात्यैक्य तदर्थं । एतेन यावन्ति ज्ञानानीत्यादि व्याख्यातमिति भाव ॥ अविद्यो-

रसस्य[1] नीलस्य पिङ्गलस्य हरितस्य लोहितस्य पूर्णा ※ [2]एतैः शुक्लादिभी रसविशेषैः पूर्णा इत्यर्थः। [3]एते च [4]रसाना वर्णविशेषा वातपित्तश्लेष्मणामितमेतरसंयोग-

[5]पित्ताधिक्ये पिङ्गलो जायते [6]श्लेष्मातिशये शुक्लो भवति [7]पित्तात्पत्वे हरित [8]साम्ये च [9]धातूनां [10]लोहित [11]इति [12]तेषा मिथ [13]सयोगवैषम्यात[14]साम्याच्च विचित्रा बहवश्चा[15]न्नरसा भवन्ति तद्व्याप्तानां नाडीनामपि तादृशो वर्णो जायते।

यानी सूक्ष्मरूप से वे रहती है। वह इन शुक्ल, नील, पीत, हरित और लाल अन्न रस से पूर्ण है अर्थात इन शुक्लत्वादिविशिष्ट रसो से पूर्ण है, और ये शुक्लादि अन्नरसो के वर्णविशेष है, जो (अन्नरस) वात, पित्त और कफो के पारस्परिक सयोग की विशेष विषमता के कारण विभिन्न और बहुत प्रकार

१ शुक्लस्यान्नरसस्येत्येवमुत्तरत्रापि बोध्यम्। २ षष्ठी सर्वाऽत्र तृतीयार्था इत्यभिप्रेत्याह—एतैरिति। ३ शुक्लादय। ४ अन्नरसानाम्। ५ श्लेष्मवातयोश्चोपसर्जनत्वे। ६ वातपित्तयोश्च मान्द्ये। ७ वात-श्लेष्माधिक्ये च सति। ८ समप्रधानत्वे। ९ त्रयाणा वातपित्तकफरूपाणाम्। १० रक्त। ११ उक्तरीत्या। १२ वातादीनाम्। १३ गुणप्रधानभावेन सबन्धात्। १४ प्रयोगसाम्यात्। १५ नाडीस्था।

स्थूलिङ्गस्य जागद्रूपेणावस्थितिं वदनादौ नानाकार्योपलम्भोपयोगित्वेन तस्य भूयो भावनाश्रयत्वमाह—तदिति। तस्य घटादिवदग्रहे हेतुमाह—सूक्ष्ममिति। वासनाधारत्वे निमित्तमाह—स्वच्छेति। ननु नाडीनामेव नानारस पूर्णाना तत्र नीलपीतादिवासनाधारत्वमुचित न तु लिङ्गस्येत्याशङ्क्याऽऽह—नाडीगतेति। स्वाच्छ्ये दृष्टान्त स्फटिकादिवदिति। तस्यानेकवर्णभाक्त्वे वा हेतुमाह—नाडीति॥ उक्तरूप लिङ्गमनूद्य तत्र साक्षिप्रत्यक्ष प्रमा णयति—धर्मादीति। जाग्रद्भोगदादृष्टादिज यत्स्थादिनानाकारोपेतमशितादिपाकोत्थरससहकृत कामाधारमव लिङ्ग मात्मनो विषयत्वेन भातीत्यथ। तस्य जडत्वादस्ति साक्ष्यपेक्षेति वक्तु हिशब्द। तस्य प्रकाशान्तरापेक्षा वारयति—अलुप्तेति। लिङ्गस्य वस्तुत्व परिहरति—अविद्यति। तत्र हेतु—विनश्वरमिति॥ अथेत्यादेस्तात्प र्यार्थं प्रतिज्ञाय लिङ्गस्य जाग्रद्रूपेणावस्थानमविद्याकार्यमुक्त्वा तदनूद्य स्वप्ने तत्प्रपञ्चयितु वाक्यमित्युक्त तात्पर्यं निगमयति—एवमिति॥

※ एतै शुक्लादिभी रसविशेषै पूर्णा इति। अत्र वार्तिके— तास्वन्नरसपूर्णासु स आत्माऽविद्ययाऽऽत्मन। रक्त पीतादिरूपत्व मन्यते स्वप्नमध्यग॥ रसवर्णानुरोधेन रक्तपीतादिरूपताम्। प्रतीचो भोगसिद्ध्यर्थं देशतीति मृषा त्मिकाम्॥ बौद्धविज्ञानविक्षेपसहारकथनाय तु। चतुर्थे नाड्युपन्यासो विज्ञानात्मविशुद्धये॥ देवतान्नरसात्मत्व ज्ञानाय च पुनर्ग्रह। षष्ठादौ सूक्ष्मनाडीना तद्द्वाराऽऽत्मावबुद्धये॥ भोक्तु स्वरूपविज्ञप्त्या इह नाडीपरिग्रह। क्रियते कामकर्मादिविवेकस्य विवक्षया॥ १२१६ १२२०॥ इति। नाडीना शुक्लनीलादिरूपान्नरसपूर्णत्वेऽपि कि मात्मना जात तदाह—तास्विति। स स्वप्नमध्ये द्रष्टृत्वेन स्थितो नाडीष्वन्नरसपूर्णास्वात्मा तदुपाधि स्वस्यापि रक्तादिरूपतामविद्यया कल्पयतीत्यर्थं॥ अथाऽऽत्मनो रसगतरक्तादिरूपभजन केन द्वारेण सपद्यत इत्यर्थं चेति तत्राऽऽह—रसेति। भुक्तस्यान्नस्य रसो नाडीषु प्रसृतो धातुसबन्धान्नानावर्णो भवति तदनुसारेण नाडीस्था देवता लिङ्गादिशब्दा मिथ्याभूता रक्तादिरूपता गच्छति तदुपाधिरात्माऽपि स्वभोगार्थमुक्तरूपभाग्भवतीत्यर्थं॥ ननु नेय व्यवस्था चतुर्थे षष्ठादौ च नाडीनामुक्तत्वादत्र पुनरुक्त्या तदुक्तरेवायोगादित्याशङ्क्य चातुर्थिकनाड्युपयोग-फलमाह—बौद्धेति। ज्ञानस्य धीपरिणामस्य जागरादौ विकास सुषुप्ते सकोचस्तयोरन्यथ चतुर्थे नाड्यु-

वैषम्यविशेषाद्विविधा बहवश्च भवन्ति ।

तास्वेवंविधासु नाडीषु सूक्ष्मासु वालाग्रसहस्रभेदपरिमाणासु शुक्लादिरसपूर्णासु सकलदेहव्यापिनीषु सप्तदशकं लिङ्गं वर्तते । तदाश्रिताः सर्वा वासना उच्चावचसंसारधर्मानुभवजनिताः । तल्लिङ्गं वासनाश्रयं सूक्ष्मत्वात्स्वच्छं स्फटिकमणिकल्पं नाडीगत-

'* अरुणाः शिरा वातवहा नीलाः पित्तवहाः शिराः ।
असृग्वहास्तु रोहिण्यो गौर्यः श्लेष्मवहाः शिराः' ॥

इति सौश्रुते दर्शनादित्यर्थः ।

नाडीस्वरूपं निरूप्य तत्र जागरिते लिङ्गशरीरस्य वृत्तिं दर्शयति—तास्विति । एवंविधास्वित्यस्यैव विवरणं सूक्ष्मास्वित्यादि । पञ्च भूतानि दशेन्द्रियाणि प्राणोऽन्तःकरणमिति सप्तदशकम् । जागरिते लिङ्गशरीरस्य स्थितिमुक्त्वा स्वप्ने तत्स्थितिमाह—तल्लिङ्गमिति । विवक्षितां स्वप्नस्थिति-

के होते है ।

इस प्रकार शुक्लादि रसो से पूर्ण सम्पूर्ण देह मे व्याप्त वालाग्र के सहस्राश परिमाण वाली इन सूक्ष्म नाडियो मे सत्रह तत्त्वो वाला लिङ्गशरीर रहता है । लिङ्गाश्रित ससार के उत्कृष्ट-निकृष्ट धनात्मधर्मों के अनुभव से जन्य सभी वासनाएं है । वासनाओ का आश्रयभूत वह लिङ्गशरीर सूक्ष्म होने

१ अन्नरसा । २ लिङ्गाश्रिता । ३ उत्कृष्टनिकृष्टानात्मधर्मानुभवजनिता । ४ अतएव च घटादिवदप्रत्यक्षम् । ५ अतएव वासनाश्रय । ६ ईषद्रक्तानीलबहुला. । ७ ईषच्छीता पीतबहुला । ८ सुश्रुताचार्यप्रणीते ग्रन्थविशेष । ९ उक्तरूपासु नाडीषु ।

पन्यासो धीवृत्तिरूपज्ञानसकोचविकासौ हि द्वारभूता नाडीराकाङ्क्षेते न च तद्विकासादिवचनमकिंचित्कर स्वमर्यंशुद्धधर्मत्वातत्कथनेन हि तत्साक्षितयाऽऽत्मा शुद्ध स्यादित्यर्थ ॥ कूर्चब्राह्मणेन नाड्युक्तिफलमाह—देवतेति । षष्ठावौ सूक्ष्मनाडीग्रहो देवताया लिङ्गस्य स्थितिकराचरसस्यातिसूक्ष्मत्वज्ञापनार्थं न च तदफल प्रविविक्ताहारतरतैजसशब्दितदेवताद्वारा स्वमर्यं द्रष्टृपर्यन्तत्वान्न हि विश्वादिज्ञानादृते स्वमर्थो वाक्यान्वयी शक्यो ज्ञातु न च विना नाडीस्तैजसस्य सूक्ष्मान्नरससबन्धस्य सिद्धिस्तद्युक्तमादौ नाडीवचनमित्यर्थं । अन नाड्युपन्यासस्य कृत्यमाह—भातुरिति । स्वमर्यज्ञापनार्थं कामादिविवक्षाविवक्षयाऽत्र नाडीग्रहस्तद्गतो लिङ्गात्मा कामादिभिर्नी सत्सदुपाधावात्मन्यारोप्यते-तस्तत्र तत्र द्वारभेदेन नाड्युपन्यासस्त्वमर्यशुद्धधर्थं इत्यर्थभेद इत्यर्थं ॥

* अरुणा शिरा वातवहा इत्यादि । यद्यपि अद्यत्वे लभ्यमानसुश्रुतग्रन्थे पद्यमिदमन्यथैव पठ्यते । तद्यथा—"तत्रारुणा वातवहा पूर्यन्ते वायुना शिरा । पित्तादुष्णाश्च नीलाश्च शीता गौर्य. स्थिरा कफात् ॥ असृग्वहास्तु रोहिण्य शिरा नात्युष्णशीतला" ॥ इति । शारीरस्थाने ७-२० ॥ तथापि प्रकृतश्रुतौ शुक्लस्य नीलस्यत्येव रूपमात्रस्य नाडीषु प्रदर्शितत्वेन सुश्रुतोक्तशैत्यस्थैर्यादीना प्रकृतानुपयोगादुपयोग्यश एव सुश्रुतपद्यादुद्धृत्य टीकाकृद्भिरव पद्यात्मना परिणमय्यात्र न्यस्त इति प्रतिभाति । सौश्रुतपद्यार्थस्त्वित्थम् । तत्र शिराणा मध्य वातवहा शिरा अरुणा ईषच्छ्यामत्व सति रक्ता पूर्यन्ते च वायुना वायुपूरणादुच्छूनाश्च तिष्ठन्तीति । पित्तवहाश्च ता उष्णा नीलाश्च भवन्ति । कफवहास्तु शीतलस्पर्शा श्वेतरूपा दृढाश्च भवन्ति । रुधिरवाहिन्यस्तु रक्तवर्णा अनुष्णाशीतस्पर्शाश्चेति ।

रसोपाधिसंसर्गवशाद्धर्माधर्मप्रेरितोद्भूतवृत्तिविशेषं स्त्रीरथहस्त्याद्याकारविशेषैर्वासनाभिः प्रत्यवभासते । अथैवं सति यत्र यस्मिन्काले केचन शत्रवोऽन्ये वा तस्करा मामागत्य घ्नन्तीति मृषैव वासनानिमित्तः प्रत्ययोऽविद्याख्यो जायते तदेतदुच्यत एनं स्वप्नदृशं घ्नन्तीवेति । तथा जिनन्तीव वशी कुर्वन्तीव । न केचन घ्नन्ति नापि वशी कुर्वन्ति केवलं त्वविद्यावासनोद्भवनिमित्तं भ्रान्तिमात्रम् । तथा हस्तीवैनं विच्छाययति विच्छादयति विद्रावयति धावयतीवेत्यर्थः । गर्तमिव पतति गर्तं जीर्णकूपादिकमिव पतन्तमात्मानमुपलक्षयति । तादृशी ह्यस्य मृषा वासनोद्भवत्यत्यन्तनिकृष्टाऽधर्मोद्भासितान्तःकरणवृत्त्याश्रया दुःखरूपत्वात् ।

मुक्त्वा श्रुत्यक्षराणि योजयति—अथेत्यादिना । स्वप्ने धर्मादिनिमित्तवशान्मिथ्यैव लिङ्गं नानाकारमवभासते तन्मिथ्याज्ञानं लिङ्गानुगतमूलाविद्याकार्यत्वादविद्येति स्थिते सतीत्यथशब्दार्थमाह—एवं सतीति । तस्मिन्काले स्वप्नदर्शनं विशेयमिति शेषः । "इवशब्दार्थ"माह—नेत्यादिना । उक्तोदाहरणेन समुच्चित्योदाहरणान्तरमाह— तथेति । गर्तादिपतनप्रतीतौ हेतुमाह—तादृशी हीति । तादृशत्वं विशदयति—अत्यन्तेति । यथोक्तवासनाप्रभवत्वं कथं गर्तपतनादेरवगतमित्याशङ्क्याऽऽह—दुःखेति ।

के कारण (घटादि के समान प्रत्यक्ष न होने से) स्वच्छ और स्फटिकमणि के समान है, वह नाडीगत रस की (नाना वर्ण वाली) उपाधियों के सम्पर्क से धर्माधर्मजनित अभिव्यक्तवृत्तिविशेष वाला तथा स्त्री, रथ, हाथी आदि आकार वाली विशेष प्रयोजकीभूत वासनाओं से युक्त भासित होता है। "अथ" अर्थात् ऐसा होने पर "यत्र" यानी जिस काल मे "घ्नन्तीव" अर्थात् वासना के कारण "कोई शत्रु अथवा अन्य चोर आदि आकर मुझे मारते है"—ऐसा वृथा ही अविद्याख्य प्रत्यय हो जाता है। उक्त अभिप्राय से श्रुति कहती है—इस स्वप्नद्रष्टा को मानो मारते हैं; तथा "जिनन्तीव" अर्थात् मानो वश में करते है। उस समय वस्तुतः न कोई मारते है और न ही कोई वश मे करते हैं; केवल अविद्याप्रयुक्त सस्कार के उद्‌बोधनिमित्तक भ्रान्तिमात्र ही है। उसी प्रकार हाथी के समान कोई इसे 'विच्छाययति' अर्थात् विच्छादित करता है अथवा विद्रावित या पीछा करता है। "गर्तमिव पतति" अर्थात् जीर्णादिक कुएं में अपने को गिरते हुआ सा देखता है। इस प्रकार इस स्वप्नद्रष्टा को मिथ्या वासना उत्पन्न हो जाती है, जो दुःखरूपा होने के कारण अत्यन्त निकृष्ट तथा अन्तःकरण की अधर्मजनित वृत्ति के आश्रित है।

---

१. अतएव नानावर्णाभिम् । २ जनितेति यावत् । ३ अभिव्यक्तवृत्तिविशेषम् । ४. एतदात्मना । ५. प्रयोजकीभूताभि । ६ प्रत्यवभासत इति—अनेन तत्र साक्षिप्रत्यक्षं प्रमाणितम् । उक्त लिङ्गमात्मनो विषयत्वेन भातीत्यर्थं । तस्य जडत्वेनास्ति सादयपेक्षेति वक्तु प्रतिशब्द इत्याहुः । ७ उक्तमर्थमभिप्रेत्य श्रुत्योच्यते । ८ अविद्याप्रयुक्तसंस्कारोद्बोधनिमित्तम् । ९ स्वप्नदृश । १०. वासनोद्भवतीति—जाग्रद्भोगद यद्दार्जितं कर्म तस्य यत्फल तत्र भुक्तं तस्य लेशो वासना सा च स्वप्ने व्यज्यत इत्यर्थः । ११. जनितेति यावत् । १२. इवशब्दार्थमिति—ननु स्वप्नेऽपि जाग्रदवस्थायामिव हन्त्रादि भाति तत्कुतो हननादिधीर्मृषेत्याशङ्क्येत्यादि । १३ उक्तज्ञानस्याभासत्वरूपम् ।

किं बहुना यदेव जाग्रद्[1]भयं पश्यति हस्त्यादिलक्षणं तदेव [2]भयरूपमत्रास्मिन्स्वप्ने विनैव हस्त्यादिरूपं भयम*[3]विद्यावासनया [4]मृषैवो[5]द्भूतया [6]मन्यते। *[7]अथ पुन[8]र्यत्रा-

यदेवेत्यादिश्रुतेरर्थमाह—किं बहुनेति। भयमित्यस्य भयरूपमिति व्याख्यानम्। भयं [1]रूप्यते येन[2] तत्कारणं [3]तथा। हस्त्यादि नास्ति चेत्कथं स्वप्ने भातीत्याशङ्क्याऽऽह—अविद्येति। अथ यत्र देव इवेत्यादेस्तात्पर्यमाह—अथेति। [4]तत्र [5]तस्याः फलमुच्यत इति शेषः। तात्पर्योक्त्याऽथशब्दार्थ-

अधिक क्या कहा जाय—जागरित अवस्था में जो यह भय के कारण हस्त्यादि रूप को देखता है, इस स्वप्नावस्था में भयहेतुक हस्त्यादि रूप के बिना उद्बुद्ध हुई अविद्याजनित वासना से उस भय रूप को, जो मिथ्या ही है, (आकाश में नीलेपन की तरह) सत्य मानने लगता है।

१ बिभेत्यस्मादिति भयम्। जागरिते यद्भयकारणं हस्त्यादिरूपं पश्यति। २ अविद्याजनितवासनया। ३ उद्बुद्धया। ४ नभसि नैल्यवत्। [5] अथेति—उत्कृष्यमाणाया अविद्यायाः कार्यप्रदर्शनानन्तरमित्यर्थ इत्याह। ६ काले। ७ उत्पद्यते। ८ इति। ६ भयरूपम्। १० काले। ११ उत्कृष्यमाण-विद्यायाः।

* अविद्यावासनया मृषैवोद्भूतया मन्यते इति। अत्र वार्तिकाचार्यास्तथाहि—"जाग्रद्विषय एवायं यदैक्षिष्ट पुराऽप्यसत्। तदत्र स्वप्नेऽसंभाव्यं मन्यतेऽविद्ययैव स। नाविद्या नापि तत्कार्यं यस्मादात्मसमीक्षणे॥ भय स्वेकान्ततोऽविद्याकार्यमाहुर्विपश्चित। यतो विज्ञाततत्त्वाना भीतिर्नास्ति कुतश्चन॥ एतदुक्तं भवत्यत्र पूर्वोपात्तस्य कर्मणः। फलं प्रबोधे यद्भुक्तं तच्छेषो भावनोच्यते॥ यदि नामावसितार्था फलं दत्त्वेह भावना। पुभोगसमये कर्म प्रयुङ्क्ते सा पुनर्नवम्॥ उत्पत्तिभोगयोरेव भावना कर्मणः सदा। प्रयोक्त्री भावनैवाऽऽत्मकर्तृभोक्तृत्वयोर्मृषा"॥ १२५२-१२५६॥ इति। यद्धस्त्यादि जाग्रदवस्थायां पुरुषो दृष्टवांस्तत्रापि मिथ्यैव वस्तुनोऽद्वयत्वात्तदेव वासनामयं स्वप्नेऽसंभावितमपि स्वविद्यया संभावितं मन्यते तदाविद्यत्वात्स्वप्नो मिथ्येत्यर्थः। जागरे स्वप्ने च हस्त्यादेरविद्यां विनाऽसंभावितत्वमुक्तं संभावयति—नाविद्येति। आत्मनः सम्यगीक्षणे वाक्यीय सकार्यज्ञानस्यात्यन्तध्वस्तेस्तदसंभवनत्यर्थः॥ अवस्थयोराविद्यं भयमित्युक्तेऽर्थे विद्वत्प्रसिद्धिमाह—भयं त्विति। तत्रैवान्वयव्यतिरेकावाह—यत इति। आत्मानमजानतामेव भीतिर्न तु जानतां हेत्वभावादतोऽसावविद्याकृतेत्यर्थः॥ यदेव जाग्रद्भयमिति विशेषणाद्भयस्याऽऽविद्यत्वेऽपि स्वप्ने कर्तृत्वादेर्न तथात्वमित्याशङ्क्य वाक्यस्य विवक्षितमाह—एतदिति। जाग्रद्भोगदं यदर्जितं कर्म तस्य यत्फलं तत्र भुक्तं तस्य लेशो वासना सा च स्वप्ने व्यज्यत इत्याह—पूर्वेति॥ जाग्रद्भोगदस्य कर्मणस्तदा भुक्तत्वात्तद्वासनानां च स्वप्नभोगेनावसन्नत्वादुत्थानमुत्थितस्यानुष्ठानं च न स्यादेवमभावादित्याशङ्क्याऽऽह—यदीति। यद्यपि स्वप्ने पुंसो भोगकाले जाग्रद्वासना व्यक्ता फलं दत्त्वा समाप्तस्वभावा तथाऽपि पुनर्जागरेऽपरा वासना नूतनं कर्म कारयति न हि सत्यामविद्यायामुत्थानानुपपत्तिर्वासनानां च कासांचित्स्वाप्नभोगदत्वमन्यासां जाग्रत्कर्महेतुतेत्युत्थानमुत्थितस्यानुष्ठानसिद्धिरित्यर्थः॥ जागरे स्वप्ने च कर्मोत्पत्तौ तत्फलभोगे च मनोवासना प्रयोजिकेत्युक्तं निगमयति—उत्पत्तीति। आत्मस्थकर्तृत्वादेरपि कर्मादिद्वारा सैव प्रयोजिकेत्याह—भावनेति। प्रयोक्त्रीति संबन्धः। सा चेत्तत्र प्रयोक्त्री प्रयोजिकाऽविद्याभ्युपगमभङ्गस्तत्राऽऽह—मृषेति॥

* अथ पुनरित्यादि यत्त्वित्यतोऽर्वाक्तनभाष्ये वार्तिकाचार्यास्तथाहि—"कार्यमेतदविद्याया प्रोद्भूताया प्रदर्शितम्। अथापकृष्यमाणाया कार्यं तत्कार्यमुच्यते। देवादिविषयोद्भूतवासनाऽस्य यदा तदा। जाग्रद्भूमावथ स्वप्ने जायते सैव भावना। देवो राजेव चास्मीति स्वप्नकर्मवशाद्विभो॥ ध्वस्तात्ममोहतत्कार्यं स्यात्प्रबोधे यदा तदा।

'विद्याऽपकृष्यमाणा 'विद्या चोत्कृष्यमाणा किंविषया किंलक्षणा चेत्युच्यते—अथ पुनर्यत्र यस्मिन्काले देव इव स्वयं भवति । देवताविषया विद्या यदोद्भूता जागरितकाले तदोद्भूतया वासनया देवमिवाऽऽत्मानं 'मन्यते स्वप्नेऽपि 'तदुच्यते'—देव इव राजेव राज्यस्थोऽभिषिक्तः स्वप्नेऽपि राजाऽहमिति मन्यते राजवासनावासितः । एवमत्यन्तप्रक्षीय-

---

'मुक्त्वा विद्याया विषयस्वरूपे प्रश्नपूर्वकं यदन्यत्रेत्यादेरर्थमाह—किंविषयेति । ''इवशब्दप्रयोगात्स्वप्न एवोक्त इति शङ्कां वारयति—देवतेति । विद्येत्युपासितरुक्ता । अभिषिक्तो राज्यस्थो जाग्रदवस्थायामिति शेषः । अहमेवेदमित्याद्यवतारयति—एवमिति । यथाऽविद्यायामपकृष्यमाणायां ''कार्यमुक्तं

पुन जिस काल में अविद्या कार्यतः प्रक्षीणा और (उपासनारूप) विद्या उत्कर्ष को प्राप्त होती है, तो वह किंविषया और किंलक्षणा है? उसे श्रुति कहती है—फिर "यत्र" अर्थात् जिस समय वह स्वय देवता के समान हो जाता है, जब जागरित अवस्था मे इस द्रष्टा मे देवताविषयिणी विद्या उत्पन्न हो जाती है, तब उस उत्पन्न हुई वासना से अपने को देवता के समान मानता है। ऐसा ही स्वप्न मे भी कहा जाता है—वह देवता के समान और राजा के समान

---

१ प्रक्षीणा कार्यत इति शेष । २ उपासना । ३ उत्कर्षं गता । ४ अस्य द्रष्टुरुत्पन्ना । ५ सा च मतिर्मिथ्येव शब्दप्रयोगात् । ६ पूर्वोक्तम् । ७ श्रुत्या । ८ निःशेषप्रक्षीयमाणा । ९ तथा चाविद्याविद्ययोरुत्कर्षापकर्षयो सतोरित्येवाथशब्दार्थ इति बोध्यम् । १० देव इव स्वयं भवतीति भाष्ये । ११. उत्कृष्यमाणाया उपासनाया फल राजादिभावोऽस्वाभाविकत्वात्कार्यम् आत्मभावस्त्वकार्यं. स्वाभाविकत्वादिति भाव ।

सर्वमस्म्यहमेवेदमिति स्वप्नेऽभिमन्यते ॥ अहमेवेति चिन्मात्रमात्मनोऽत्रावधार्यते । इदशब्देन चाविद्याकार्यमत्र विवक्षितम् ॥ अविद्याया समुच्छित्तावलमेवमिद वच । सर्वं कृत्स्नोऽहमस्मीति तदेतदुपपद्यते ॥ एषोऽस्य परम पूर्णः कृत्स्नो लोकस्तु विद्यया । इतोऽपरे तु ये लोकास्तेऽस्याविद्याप्रकल्पिता ॥ देवो राजेव यस्स्वप्ने दर्शन प्रत्यगात्मन । विद्याफल न तन्न्याय्यमिवशब्दन भगते ॥ भ्रान्तीवाविद्यया यद्वन्मन्यते स्वप्नभूमिग । देवो राजेव चास्मीति मोहादेव क्रियाफलम् ॥ अहमेवेति न स्वप्न साक्षादनाऽऽत्मवस्तुन । बोधेऽविद्यासहायत्वमिह त्वात्मैव लिङ्गंय" ॥ १२७०-१२७८ ॥ इति । अथ यत्र देव इवेत्यादेर्तात्पर्यमाह—कार्यमिति । कार्यतोऽपकृष्यमाणाया इति सवन्ध ॥ तात्पर्योक्त्याऽथशब्दार्थमुक्त्वा यत्रेत्यादेरर्थमाह - देवादिति । यदा जागरे देवादिविषया विद्याऽस्य द्रष्टुर्जाता तदा तदनुसारिणी वासना जायते तत स्वप्नभोगहेतुकर्मवशादस्य सैव पूर्वोत्पन्ना वासना देवोऽस्मीत्यादिदृष्टिरूपा स्वप्ने सपद्यते सा चेवशब्दान्मिथ्येत्यर्थ । जाग्रद्धेतुकर्मक्षयानन्तर्यमथशब्दार्थ । विभुत्व करणस्वामित्वेन भोक्तृत्वम् ॥ अहमेवेदमित्यादेरर्थमाह—ध्वस्तेति ॥ सगृहीत विवरितु पदत्रयार्थमाह—अहमिति । समस्या प्रकृतवाक्यशक्ति ॥ वाक्यार्थं फलोक्तिपूर्वकमाह—अविद्याया इति । उक्तरीत्या पदानामर्थे गृहीते समानाधिकृतपदत्रयात्मक वाक्य चिन्मात्र बोधयदविद्या सकार्यामुच्छेत्तु शक्त स्यादित्यर्थ । तत्र वाक्यशेषानुग्रहमाह—सर्व इति । उक्तवाक्यार्थोपगमे सर्वोऽस्मीति पूर्णत्वमुच्यमानमात्मनो युज्यते परिच्छेदकाभावादित्यर्थ ॥ सोऽस्येत्यादेरर्थमाह—एषोऽस्येति । परमशब्दार्थमाह—पूर्ण इति । तस्य सापेक्षत्व व्यावर्तयति—कृत्स्न इति । विद्यया सम्पत इति शेष । स्वर्गादिलोकाना सत्त्वे कुतोऽस्य पूर्णतेत्याशङ्क्याऽऽह—इत इति ॥ देवत्वादिज्ञानस्य पुमर्थतया विद्याफलत्वान्न तस्य पूर्णतेति चेत्तत्राऽऽह—देव इति ॥

माणाऽविद्यो[1]द्भूता च विद्या सर्वात्मविषया यदा तदा स्वप्नेऽपि [2]तद्भावभावितोऽहमेवेदं सर्वोऽस्मीति मन्यते । स यः सर्वात्मभावः सोऽस्याऽऽत्मनः परमो लोकः परम आत्मभावः [3]स्वाभाविकः । यत्तु सर्वात्मभावाद[4]र्वाग्बालाग्रमात्रमप्य[5]न्यत्वेन दृश्यते नाहमस्मीति । तदवस्थाऽविद्या तयाऽविद्यया ये [6]प्रत्युपस्थापिता [7]अनात्मभावा [8]लोकास्तेऽपरमाः स्थावरान्तास्ता[9]न्संव्यवहारविषयाँल्लोकानपेक्ष्यायं सर्वात्मभावः समस्तोऽनन्तरोऽबाह्यः सोऽस्य परमो लोकः ।

तद्भावित्यर्थं । यदेति जागरितोक्ति । "इदं "चैतन्यमहमेव "चिन्मात्रं न तु मदतिरेकेणास्ति "तस्मादहं सर्वः पूर्णोऽस्मीति मनातीत्यर्थः । सर्वात्मभावस्य परमत्वमुपपादयति—यत्त्वित्यादिना । "तत्र "सैवाऽऽकारेणाविद्याऽवस्थितेत्याह—तदवस्थेति । तस्या कार्यमाह—तयेति । समस्तत्वं पूर्णत्वम् । अनन्तरत्वमेकरसत्वम् । अबाह्यत्वं प्रत्यक्त्वम् । योऽयं यथोक्तो लोकः सोऽस्याऽऽत्मनो लोकान्पूर्वोक्तानपेक्ष्य परम इति संबन्धः ।

होता है, राज्य मे अभिषेकपूर्वक स्थित हुआ पुरुष स्वप्न मे भी उस राजवासना से वासित होने से "मैं राजा हूँ" ऐसा मानता है । इसी प्रकार जब अविद्या नि शेष क्षीण हो जाती है तब सर्वात्मविषया विद्या प्रकर्ष को प्राप्त होती है । तब उस अविद्या सस्कार से सस्कृत वह स्वप्न मे भी "मैं ही सर्वरूप हूँ", ऐसा मानता है । यह जो सर्वात्मभाव है, वह इस आत्मा का "परमो लोक." अर्थात् (विद्यातिरिक्त-साधन से अनपेक्ष) स्वाभाविक परम आत्मभाव है । और जो सर्वात्मभाव से प्राक् अपने को बालाग्रमात्र भी ' मैं यह नही हूँ" इस प्रकार प्रत्यगात्मा से अतिरिक्त अन्यत्वेन देखता है, वह अविद्या की अवस्था है । उस अविद्या द्वारा प्रदर्शित (प्रकल्पित) किए हुए अनात्मरूप स्वर्गादिलोक हैं, वे स्थावर पर्यन्त अपरम हैं । उन सव्यवह्रियमाण लोकों की अपेक्षा यह सर्वात्मभाव सम्पूर्ण, तथा अन्तर-बाह्य-शून्य है वह इसका परम लोक है ।

---

१ उत्पन्ना प्रकर्षं गता वा । २ यथोक्तविद्यासम्स्कारसस्कृत । ३ विद्यातिरिक्तसाधनानपेक्ष्य । ४ प्राक् । ५ नाहमस्मीत्येव मन्यत्वेन प्रत्यगात्मातिरेकेण दृश्यत इत्यन्वय । ६ प्रदर्शिता प्रकल्पिता इति यावद् । ७ अनात्मरूपा । ८ स्वर्गादय । ९ सव्यवह्रियमाणान् । १० जगत् । ११ चित्स्वरूपमदभिन्नमव । १२ तदेव स्फुटयति—चिदिति । १३ मदतिरेकेणान्यस्याभावाद् । १४ सर्वात्मभावप्रागवस्थायाम् । १५ तद्रस्वाकारेण ।

सर्वस्य चिन्मात्रत्व पूर्णमेव विद्याफलमिति स्थिते स्वप्ने दृश्यमानदेवत्वादेर्गतिमाह—घ्नन्तीवेति । यथा स्वप्नद्रष्टा हननादिकर्मफलमविद्ययाऽनुभवत्येव देवत्वाद्यपि तत्फल मोहादेव पश्यत्यतो न तस्य विद्याफलतेत्यर्थ ॥ तर्हि सर्वस्य चिन्मात्रत्वमपि न तत्फ्न स्वप्नदृष्टत्वात्तद्दृष्टहननादिवदित्याशङ्क्याऽऽह—अहमिति । यत्सर्वस्य चिन्मात्रत्वमत्र स्वप्ने भाति न तदितरस्वप्नवन्मिथ्येवशब्द विना साक्षादेव सर्वभावश्रवणात्तस्य चाऽऽत्मत्वेन वस्तुत्वादित्यर्थ । जाग्रति दृष्टदेहात्म त्ववदत्रापि दृष्ट सर्वात्मत्व मिथ्येति चेन्नेत्याह—बोध इति । जागरे हेतुभूता विद्यासाहित्य देहात्मत्वस्यास्ति स्वप्ने केवलमात्मैव विद्याफलभूतो वर्तते वासनारूपाविद्याभानेऽपि स्थूलाविद्याया जाग्रद्वदभानादतो नात्र मिथ्याशङ्केत्यर्थ । यद्वा जाग्रति बाधकबोधसाहित्यं देहात्मत्वादेरस्ति स्वप्ने त्वात्मैव केवलो बाधकविधुरस्तिष्ठत्यत स्वाप्न सर्वभावो न मिथ्येत्यर्थ ॥

'तस्माद'पकृष्यमाणायाम'विद्यायां विद्यायां च 'काष्ठां गतायां सर्वात्मभावो मोक्षः। यथा स्वयंज्योतिष्ट्वं स्वप्ने प्रत्यक्षत उपलभ्यते तद्वद्विद्याफलमुपलभ्यत इत्यर्थः। तथाऽविद्यायामप्यु'त्कृष्यमाणायां तिरोधीयमानायां च विद्यायामविद्यायाः फलं प्रत्यक्षत एवोपलभ्यतेऽथ यत्रैनं घ्नन्तीव जिनन्तीवेति। ते एते विद्याविद्याकार्ये सर्वात्मभावः परिच्छिन्नात्मभावश्च। विद्यया शुद्धया सर्वात्मा भवति। अविद्यया चासर्वो भवति। 'अन्यतः कुतश्चि'त्प्रविभक्तो भवति। यतः प्रविभक्तो भवति तेन विरुध्यते। विरुद्धत्वाद्धन्यते 'जीयते 'विच्छाद्यते च। असर्वविषयत्वे च भिन्नत्वादेतद्भवति। "समस्तस्तु सन्कुतो भिद्यते येन विरुध्येत विरोधाभावे केन हन्यते "जीयते विच्छाद्यते च। अत इदमविद्यायाः

वाक्यार्थमुपसंहरति—तस्मादिति। मोक्षो विद्याफलमित्युत्तरत्र संबन्धः। "तस्य प्रत्यक्षत्वं दृष्टान्तेन स्पष्टयति—यथेति। विद्याफलवदविद्याफलमपि स्वप्ने प्रत्यक्षमित्युक्तमनुवदति—तथेति। विद्याफलमविद्याफलं "चेत्युक्तमुपसंहरति—ते एते इति। उक्तं फलद्वयं विभजते—विद्ययेति। असर्वो भवतीत्येतत्प्रकटयति—अन्यत इति। प्रविभागफलमाह—यत इति। विरोधफलं कथयति—विरुद्धत्वादिति। अविद्याकार्यं निगमयति—असर्वेति। अविद्यायाश्चेत्परिच्छिन्नफलत्वं तदा "तस्य भिन्नत्वादेव यथोक्तं विरोधादि दुर्वारमित्यर्थः। विद्याफलं निगमयति—समस्तस्त्विति। नन्वविद्यायाः "स्तत्त्वं निरूपयितुमा"रब्धं न च तदद्यापि दर्शितं "तथा च किं "कृतं स्यादत आह—अत इति।

इसलिए (पर-अपर लोकों के विद्या अविद्या के अधीन होने के कारण) अविद्या का तिरोधान और विद्या की उत्कर्ष सीमा प्राप्त हो जाने पर सर्वात्मभाव ही मोक्ष है। अर्थात् जिस प्रकार स्वप्न में आत्मा का स्वयंप्रकाशत्व प्रत्यक्ष अनुभव होता है, उसी प्रकार विद्या के फल मोक्ष की प्रत्यक्ष उपलब्धि होती है। इसी प्रकार अविद्या का उत्कर्ष और विद्या का तिरोभाव होने पर भी "जिस समय मानो इसे मारते हैं; मानो इसे वश में करते हैं" इत्यादि अविद्या का फल प्रत्यक्ष ही अनुभव होता है। वे ये सर्वात्मभाव और परिच्छिन्नात्मभाव क्रमशः विद्या और अविद्या के कार्य हैं। शुद्ध विद्या से सर्वात्मा हो जाता है। अविद्या से असम्पूर्ण हो जाता है। अपने से अन्य किसी के द्वारा पृथग्भूत हो जाता है। जिससे पृथग्भूत रहता है, उससे विरुद्ध रहता है। विरुद्ध रहने के कारण मारा जाता है, वशीकृत होता है तथा विद्रावित होता है। असम्पूर्ण का विषय रहने पर ही पृथक् होने के कारण यह होता है। यदि पूर्ण रूप रहता तो किससे भिन्न होता, जिससे कि उसका विरोध हो सकता था और विरोध न होने पर वह किसके द्वारा मारा जाता, वश में किया जाता और विद्रावित होता। अतः इस अविद्या का स्वरूप बतलाया जाता है—पुरुष सर्वात्मा होते हुए अपने को असर्वात्मा ग्रहण करता है। आत्मा से

---

१ पराऽपरलोकयोर्विद्याऽविद्याधीनत्वात्। २ अपक्षीयमाणायाम्। ३ तिरोधीनायाम्। ४ उत्कर्षसीमानम्। ५ कार्यत उत्कर्षं गतायाम्। ६ स्वान्यत। ७ पृथग्भूत। ८ परिभूयते। ९ विद्राव्यते। १० पूर्णस्तु। ११ वशी क्रियते। १२ विद्याफलमोक्षस्य। १३ प्रत्यक्षम्। १४ फलस्य अविद्यावतो वा। १५ स्वरूपम्। १६ ता वा इत्यादिकम्। १७ निरूपयितुमारब्धस्यानिरूपणे। १८ किमेतावता भवद्भिः कृतम्।

सतत्त्वमुक्तं भवति। सर्वात्मानं सन्तमसर्वात्मत्वेन ग्राहयति । आत्मनोऽन्यद्वस्त्वन्तरमविद्यमानं [1]प्रत्युपस्थापयति । आत्मानमसर्वमापादयति । [2]ततस्तद्विषयः कामो भवति यतो भिद्यते । कामतः [3]क्रियामुपादत्ते । [4]ततः फलम् । तदेतदुक्तम्[5]। वक्ष्यमाणं च [6]यत्र हि द्वैतमिव भवति तदितर इतरं पश्यतीत्यादि । इदमविद्यायाः [7]सतत्त्वं सह [8]कार्येण प्रदर्शितम् । विद्यायाश्च कार्यं सर्वात्मभावः प्रदर्शितोऽविद्याया [9]विपर्ययेण । सा चाविद्या नाऽऽत्मनः स्वाभाविको धर्मो यस्माद्विद्यायामु[10]त्कृष्यमाणायां स्वयमेवाप[11]चीयमाना सती काष्ठां [12]गतायां विद्यायां [13]परिनिष्ठिते सर्वात्मभावे [14]सर्वात्मना निवर्तते रज्ज्वामिव सर्पज्ञानं रज्जुनिश्चये । [15]तच्चोक्तं यत्र [16]त्वस्य सर्वमात्मैवाभूत्त[17]त्केन कं पश्येदित्यादि ।

[18]कार्यवशादिति यावत् । इदंशब्दार्थमेव स्फुटयति—सर्वात्मानमिति । ग्राहकत्वमेव व्यनक्ति—आत्मन इति । वस्त्वन्तरोपस्थितिफलमाह—तत इति । कामस्य कार्यमाह—कामत इति । क्रियातः फलं लभते तद्भोगकाले च रागादिना [19]क्रियामादधातीत्यविच्छिन्न संसार[20]स्तद्धावस्स सम्यग्ज्ञानं तावन्मिथ्या-[21]ज्ञाननिदानमविद्या दुरवेत्याह—तत इति । भेददर्शननिदानमविद्येत्य[22]विद्यासूत्रे वृत्तमित्याह—तदेतदिति । [23]तत्रैव वाक्यशेषमनुकूलयति—वक्ष्यमाण चेति । अविद्याऽऽत्मन. स्वभावो न वेति विचारे किं निर्णीतं भवतीत्याशङ्क्य वृत्त कीर्तयति—इदमिति । अविद्यायाः परिच्छिन्नफलत्वमहित [24]ततो वैपरीत्येन विद्याया. कार्यमुक्तं स च सर्वात्मभावो दर्शित इति योजना । संप्रति निर्णीतमर्थं दर्शयति—सा चेति । ज्ञाने सत्यविद्यानिवृत्तिरित्यत्र [25]वाक्यशेषं प्रमाणयति—तच्चेति । अविद्या

पृथक् कोई अन्य वस्तु न होने पर भी उसे प्रदर्शित करता है और आत्मा को असम्पूर्ण प्रतिपादित करता है। फिर जिससे भेद होता है, उसके विषय में कामना होती है, कामना से कर्मानुष्ठान होता है। क्रिया से फलप्राप्ति होगी, यह कहा जा चुका है। आगे भी कहा जायगा कि "जहाँ द्वैत सा होता है, वहीं अन्य, अन्य को देखता है" इत्यादि । अविद्या का यह (अन्यथाग्राहकत्वाख्य) स्वरूप (भ्रम-कामादि) कार्यसहित प्रदर्शित किया गया । विद्या का सर्वात्मभाव कार्य भी जो अविद्या के विपरीत है, प्रदर्शित किया गया । वह अविद्या आत्मा का स्वाभाविक धर्म नहीं है, क्योंकि विद्या का उत्कर्ष होने पर (रागादि कार्य उत्पन्न करने में असमर्थ होने पर) वह स्वयं क्षीण होने लगती है। एवं जिस समय विद्या का सर्वात्मभाव स्वरूप और कार्य से सुस्थिर पूर्ण प्रतिष्ठा को प्राप्त होता है, उस समय रज्जु का निश्चय होने पर रज्जु में सर्पज्ञान के समान उसकी अशेषत निवृत्ति

१ प्रदर्शयति । २ वस्त्वन्तरदर्शनानन्तरम् । ३ कर्मानुतिष्ठति । ४ क्रियातः । ५ बृ उ १ ४ १० । ६ बृ उ ४ ५ १५ । ७ अयथाग्राहकत्वाख्यस्वरूपम् । ८ भ्रमकामादिकार्येण । ९ वैपरीत्येन । १० अप्रामाण्यज्ञानानास्कन्दितायाम् । ११ रागादिकार्यजननाऽसमर्थेति यावत् । १२ असंभावनादिविधुरायाम् । १३ सुस्थिरे । १४ स्वरूपेण कार्येण च । १५ अज्ञाननिवृत्तिरूप ज्ञानफल च । १६ बृ उ २ ४ १४ । १७ बृ उ ४ ५ १५ । १८ अविद्याकार्यप्रदर्शनद्वारेति यावत् । १९ मतं्ध्दन हृदि स्थापयति । २० तस्मात् । २१ भ्रान्तिकारणम् । २२ 'योऽन्या देवतामुपास्ते" बृ उ १ ४ १० इत्यविद्यासूत्रम् अविद्याया सक्षेपत प्रतिपादकवाक्य तस्मिन् । २३ भेददर्शननिदानमविद्येत्युक्तेऽर्थे । २४ अविद्याफलात् । २५ प्रकृतवाक्यस्य तात्पर्यनिर्णायकम् ।

[1]तद्वा अस्यैतदतिच्छन्दा अपहतपाप्माऽभयꣳ रूपम् । [2]तद्यथा प्रियया स्त्रिया संपरिष्वक्तो न बाह्यं किञ्चन वेद नाऽऽन्तरमेवमेवायं पुरुषः [3]प्राज्ञेनाऽऽत्मना

वह इस पुरुष का रूप नि सन्देह कामनाशून्य, पापरहित और अभय स्वरूप है। जैसे व्यवहार में अपनी प्यारी पत्नी का आलिङ्गन करके पुरुष न कुछ बाह्य वस्तु को और न आभ्यन्तर वस्तु को ही जानता है, ऐसे ही यह पुरुष प्रज्ञात्मा से आलिङ्गित हुआ परमार्थदर्शन काल में न कुछ बाह्य विषय

---

[1]तस्मान्नाऽऽत्मधर्मोऽविद्या । न हि स्वाभाविकस्योच्छित्तिः कदाचिदप्युपपद्यते सवितुरिवौष्ण्यप्रकाशयोः । [2]तस्मात्तस्या [3]मोक्ष उपपद्यते ॥ २० ॥

इदानीं योऽसौ सर्वात्मभावो मोक्षो विद्याफलं क्रियाकारकफलशून्यं स प्रत्यक्षतो निर्दिश्यते [4]यत्राविद्याकामकर्माणि न सन्ति । तदेतत्प्रस्तुतं यत्र सुप्तो न कंचन कामं

नाऽऽत्मनः [1]स्वभावो निवर्त्यत्वाद्रज्जुसर्पवदित्याह—तस्मादिति । निवर्त्यत्वेऽप्यात्मस्वभावत्वे का हानिरित्या[2]शङ्क्याऽऽह—न हीति[3] । अविद्याया[4] स्वाभाविकत्वाभावे फलितमाह—तस्मादिति ॥ २० ॥

तद्वा अस्यैतदित्यनन्तरवाक्यतात्पर्यमाह—इदानीमिति । [5]विद्याविद्ययो[6]स्तत्फलयोश्च प्रदर्शनानन्तरमिति यावत् । मोक्षमेव विशिनष्टि—यत्रेति । [7]पदद्वयस्यान्वयं दर्शयन्विवक्षितमर्थमाह—तदेतदिति ।

हो जाती है। इसीसे श्रुति में कहा है—"जहाँ इसके लिए सब कुछ आत्मस्वरूप ही हो जाता है—तब किससे किसको देखे" इत्यादि। इसलिए अविद्या आत्मधर्मी नहीं है क्योंकि उष्णता और प्रकाश के समान सूर्य के स्वाभाविक धर्मों का कभी विच्छेद नहीं हो सकता इसलिए उसके प्रकाश से मोक्ष होना सभव है ॥२०॥

अब जो विद्या का फल क्रिया-कारक-फलशून्य सर्वात्मभाव मोक्ष है, जिसमें अविद्याजनित काम और कर्मों का अभाव है, उसका प्रत्यक्ष निर्देश किया जाता है। प्रकरणस्थ मोक्षाख्य ब्रह्म को

---

१ सर्वोऽस्मीत्यादिना सगृहीतमेवात्मलोक व्यक्ताऽविद्याहीना सुषुप्त्यवस्थामवलम्ब्य कण्डिकाद्वयेन प्रकटीकरोति—तद्वा इत्यादिना। वै प्रसिद्धम्। अस्य सर्वात्मभावापन्नस्य विदुषस्तदेतद्रूपमित्यन्वय। अतिच्छन्दा इत्यादि, रूपस्य विशेषणत्रयम्। २ नन्वविद्याकामकर्मादीनामिवोक्तस्वयज्योतिष्ट्वस्यापि सुषुप्तावदर्शनात्तदपि नात्मन स्वाभाविकमित्याशङ्काया तत्र तददर्शने विशेषज्ञानाभाव एव हेतुरिति दृष्टान्तपूर्वकमाह—तद्यथेति। सुषुप्तावेकत्वे सति विशेषज्ञानाभावेऽस्य दृष्टान्त इत्यर्थ। ३ अविद्यासाक्षिणा स्वाभाविकेनात्मना। ४ आत्मज्ञाननिरूपणात्। ५ अवतरणोक्तात्। ६ सकाशात्। ७ मार्गे। ८ प्रकृत मोक्षाख्य ब्रह्मेत्यर्थ। ९ आत्मज्ञाननिवर्त्यत्वात्। १० व्यभिचारमाशङ्क्येत्यर्थ। ११ तथा च हत्वसिद्ध्यापातोऽनुकूलस्तर्क इति भाव इति शेष। १२ ज्ञानाज्ञानयो। १३ मोक्षबन्धयो। १४ तदेतदितिपदद्वयस्य।

संपरिष्वक्तो न बाह्यं किञ्चन वेद नाऽऽन्तरं *तद्वा अस्यैतदाप्तकाममात्मकाममकाम७ रूप७ शोकान्तरम् ।२१॥

को जानता है और न आभ्यन्तर को ही। यह इसका आप्तकाम, आत्मकाम, अकाम और शोकरहित स्वरूप है ॥२१॥

कामयते न कंचन स्वप्नं [1]पश्यतीति । तदेतद्वा [2]अस्य [3]रूपं यः सर्वात्मभावः सोऽस्य परमो लोक [4]इत्युक्तः[5]स्तदतिच्छन्दा [6]अतिच्छन्दमित्यर्थः । [7]रूपपरत्वात् । छन्दः कामोऽति-

---

[8]यत्रेत्यन्तशब्दितं ब्रह्मोच्यते । व्याख्यातं पदद्वयमनूद्य यंशब्दस्य प्रसिद्धार्थत्वं मन्वानो रूपशब्देन [9]षष्ठ्या संबन्धं दर्शयति—तदिति । अतिच्छन्दमिति प्रयोगे हेतुमाह—रूपपरत्वादिति । कथमति-च्छन्दमित्यात्मरूपं विवक्ष्यते तत्राऽऽह—छन्द इति । छन्दशब्दस्य गायत्र्यादिच्छन्दोविषयाय कथं

इस प्रकार "जहाँ सोया हुआ पुरुष कुछ कामना नहीं करता, कोई स्वप्न नहीं देखता" इत्यादि श्रुति-वाक्य से प्रस्तुत कर दिया गया । इस प्रसिद्ध आत्मा का यह रूप जो सर्वात्मभाव है तथा 'यह इसका परम लोक है" इस प्रकार कहा गया, वह आत्मरूप "अतिच्छन्दा" अर्थात् कामरहित है क्योंकि रूप

---

१ प्रासङ्गिकमुक्त्वा प्रकृतमतिच्छन्दवाक्योक्तमेव रूपं स्पष्टयति—तद्वा इति । अस्य सुषुप्तौ सर्वात्मत्वमापन्नस्या-त्मनस्तदेव प्रकृतं रूपमाप्तकामत्वादिविशेषणकमित्यर्थः । २ इत्यत्र वाक्ये प्रस्तुतमित्यन्वयः । ३ प्रसिद्धम् । ४ आत्मनः । ५ इति वाक्येन । ६ तदात्मरूपम् । ७ रूपविशेषणत्वात् । ८ यत्रेति पदेन एव-मेवायं पुरुष एतस्मा अन्ताय धावतीतिवाक्यस्थान्तशब्देनोक्तं ब्रह्म भण्यत इत्यर्थः । ९ अस्येत्यस्याः ।

---

* तद्वा अस्यै तदाप्तकाममात्मकाममकामं रूपं शोकान्तरम् । अत्र वार्तिके—'निरविद्यं तु यद्रूपमनन्यापेक्ष-सिद्धिकम् । तद्वा अस्यैतदिति तच्छ्रुत्या निर्वर्ण्यतेऽधुना ॥ सर्वकार्त्स्न्यमिदं यस्मादात्मनो रूपमीदृशम् । तदावि-ष्क्रियते तस्मात्करविन्यस्तबिल्ववत् ॥ आत्मनो यदविद्योत्थं रूपं संसारभूमिगम् । अनाप्तकामं तत्सर्वमपेक्ष्यद-मिहोच्यते ॥ आप्तकामादिकं सर्वं वस्तुवृत्त्यपेक्षया । आप्ताप्तव्यादिहीनत्वादानन्दैकात्म्यवस्तुनः ॥ पुमर्थं कामशब्दार्थो नान्योऽस्य काम्यते यतः । आप्ताशेषपुमर्थोऽयं सर्वसाधननिस्पृहः ॥ सत्यकामादिशब्देन यदप्यन्यत्र भाषितम् । एतद्वाक्यानुरोधेन व्याख्येयं तदपि स्फुटम् ॥ आत्ममात्रं समुत्सृज्य सत्यस्य नान्यतो यतः । तत्रैव निरधार्येतद्यत्र नान्यदिति श्रुतः ॥ सुखमविद्धि काम्योऽर्थो बाह्यसाधनसाधनः । संविदेव सुखं यस्मादात्म-काममिदं ततः ॥ कामकामिप्रभेदेन प्रतीचो[1]स्याऽऽप्तकामता । हिरण्यगर्भवत्क्विवा निर्भेदस्येह भण्यते ॥ आत्मैव कामा निःशेषा नाऽऽत्मरूपप्रभेदतः । आत्मैवेदं सर्वमिति प्रत्यङ्मात्रावशेषतः ॥ समस्तव्यस्ततां शङ्कामुच्छेत्तु चोत्तरं वचः । अकाममित्यतो ध्वस्तसमस्तव्यस्तरूपकम् ॥ आप्तकामात्मकामत्ववचसैव निराकृता । कामा सर्वेऽकाममिति तथाऽपि पुनरुच्यते ॥ आत्माश्रयत्वं कामानां केचिद्व्याचक्षतेऽबुधाः । अतस्तत्प्रतिषेधार्थं भूयो-ऽकाममितीरणम् ॥ कामादिहेतुकः शोकः कामाद्यज्ञानहेतुकम् । तदभावादथैकात्म्यं शोकान्तरमितीर्यते ॥ यदि वा शोकवद्वस्तु शोकशब्देन भण्यते । गुणत्वाच्छोकशब्दस्य मतुपो लुप्तता भवेत् ॥ शोकाहंवत्पदार्थेभ्यो जात्यन्त-रमिदं यतः । अहेतुफलरूपत्वाच्छोकान्तरमतो मतम् । शोकस्य प्रत्यगात्मा वा शोकान्तरगिरोच्यते । शोकहेतोरपि प्रत्यङ्ङात्मा स्याच्छोकवान्कथम् ॥ अशोकान्तरमिति वा श्रुत्यन्तरसमाश्रयात् । अशोकादपरोऽशोकोऽशोकान्तर-

गतश्छन्दो यस्माद्रूपात्तदतिच्छन्दं रूपम् । अन्योऽसौ सान्तश्छन्दःशब्दो गायत्र्यादिच्छन्दोवाची । अयं तु कामवचनोऽतः स्वरान्त एव । तथाऽप्यतिच्छन्दा इति पाठः स्वाध्यायधर्मो द्रष्टव्यः । अस्ति च लोके कामवचनप्रयुक्तश्छन्दः(न्द)शब्दः स्वच्छन्दः परच्छन्द इत्यादौ । अतोऽतिच्छन्दमित्येवमुपनेयं कामवर्जितमेतद्रूपमित्यस्मिन्नर्थे ।

कामविषयत्वमित्याशङ्क्याऽऽह—अन्योऽसाविति । गायत्र्यादिविषयत्वं त्यक्त्वा छन्दः(न्द)शब्दस्य कामविषयत्वमतःशब्दार्थः । प्रकृतमन्यत् कामवर्जितमित्येतदत्र विवक्षितं किमिति तर्हि दैर्घ्यं प्रयुज्यते तत्राऽऽह—तथाऽपीति । स्वाध्यायधर्मत्वं छान्दसत्वम् ॥ वृद्धव्यवहारमन्तरेण कामवाचित्वं छन्दः(न्द)शब्दस्य कथमित्याशङ्क्याऽऽह—अस्ति चेति । तस्य कामवचनत्वे सति सिद्धं पदरूपमनूद्य तस्यार्थमुपसंहरति—अत इति ।

विशेष है । 'छन्द' काम का नाम है । अतः जिस रूप से काम की निवृत्ति हो गयी है । उसे अतिच्छन्द रूप कहते हैं । एक छन्दस्' शब्द सान्त भी है, जो गायत्री आदि छन्दों का ज्ञापक है । यहाँ 'छन्द' शब्द तो कामवाची है, स्वरान्त ही है । स्वरान्त होने पर भी "अतिछन्दा" यहाँ दीर्घान्त पाठ छान्दस है । लोकव्यवहार मे "स्वच्छन्द-परच्छन्द" इत्यादि शब्दो मे छन्द' शब्द का कामरूप अर्थकथन में प्रयोग है । इसलिए कामवर्जित इस अर्थ मे इस रूप का "अतिच्छन्दम्' इस प्रकार प्रयोग कर लेना चाहिए ।

---

१ प्रकृतवाक्यपठित । २ तस्य स्वरान्तत्वेऽपि । ३ कामरूपार्थकथनायोच्चरित । ४ स्वस्य च्छन्द काम इच्छा । ५ कामार्थस्याजन्तत्वात् । ६ प्रयोक्तव्यम् । ७ कौपुगं सुष्ठु । ८ अतिच्छन्दा इति पदे ।

मितीर्यते ॥ शोकायोग्य शुचा हीनोऽशोकशब्देन भण्यते । यद्वाऽन्तरयते शोकमानन्दैकस्वभावत । शीत्य हुताशवत्तस्माच्छोकान्तरमिद भवेत् ॥ शोकादेर्जनक यद्वा तच्छोकान्त भवेत्तम । तस्यार छिद्रमेतत्स्याच्छान्दसी वर्णनिह्नुति ॥ अविद्याकामकर्माणि नि सङ्गत्वस्वभावत । अतियर्तत आत्माऽयं वस्तुवृत्तानुरोधत ॥ स्वतो शुद्ध यतो वस्तु स्वतः शुद्धमतोऽप्ययम् । स्वतो मुक्तमत मिदमविद्यातज्जहानत "॥ १३३३-१३५४ । इति । अतिच्छन्दवाक्योक्त रूपमागन्तुक चैतन्यमिति शङ्का स्त्रीवाक्येन निरस्यातिच्छन्दवाक्यार्थमवोपस्वर्तुमाप्तकामादिवाक्यमादत्ते—तद्वा अस्येति । अतिच्छन्दवाक्यार्थस्य किमित्याप्तकामवाक्यन स्पष्टीकरणमित्याशङ्क्याऽऽह —सर्वेति । यस्मादिदमात्मरूप सर्वस्य कार्यकरणद्वैतस्य कल्पितस्यानुपचरित स्वरूप परमानन्दतया परमपुरुषार्थात्मक च तस्मादाप्तकामश्रुत्या प्रत्यक्षयोग्यतया तत्प्रतिपादितमित्यर्थ । ईदृशमिति पुरुषार्थोक्ति ॥ आप्तकामवाक्यस्य विशेषणान्यवतारयति—आत्मन इति । रूप कार्यकारणात्मकमव्याकृतमूलादिलक्षणमित्यर्थ । श्रुति मतम्यर्थ । तेषा तात्पर्यमाह— वस्त्विति । आनन्दैकरूपस्य वस्तुनो वास्तवस्वरूपापेक्षया सर्वभेदहीनत्वायुक्तमाप्तकामत्वादीत्यर्थ ॥ कामशब्दार्थं सहेतुमाह—पुमर्थ इति । कामशब्दस्योक्तार्थत्वे साऽऽत्मनाऽत्र इति व्युत्पत्त्याऽन्यस्यैव तथात्व स्यादित्याशङ्क्याऽऽह—आप्नेति । आत्मत्वेन नित्याप्तेरात्मा पुमर्थतयाऽऽप्यत्वाच्च सर्वानपेक्ष मन्नाप्तकामश्चेत्याप्तकाम इत्यर्थ ॥ सत्यकाम सत्यसङ्कल्प इत्यादौ छान्दोग्ये कामशब्दस्याऽऽत्मगवल्पितार्थत्वेनेनं तच्छब्दस्योक्तार्थतेत्याशङ्क्याऽऽह—सत्येति । इह तावत्स्वरूपगुण निर्मुक्तनिमित्तदुग्ध कामशब्दार्थ आप्तकामादिविशेषणात्तथाचैतदनुसाराच्छान्दोग्योक्तमपि नेतव्य परविषयत्वन वाक्ययोरेक वाक्यतायुक्तात्र कामशब्दस्योक्तार्थतेत्यर्थ । एतद्वाक्यानुसारेण छान्दोग्यव्याख्यानमुचितमेकविषयत्वेनैकवाक्यस्य स्फुटत्वादिति हेतुमाह—स्फुटमिति ॥

तथाऽपहतपाप्म । पाप्मशब्देन धर्माधर्मावुच्येते । 'पाप्मभिः संसृज्यते पाप्मनो विजहातीत्युक्तत्वात् । अपहतपाप्म 'धर्माधर्मवर्जितमित्येतत् । किंच, 'अभयम् । भयं हि नामाविद्याकार्यम् । अविद्याया भयं मन्यत इति ह्युक्तम् । 'तत्कार्यद्वारेण कारणप्रतिषेधोऽयम् । अभयं रूपमित्यविद्यावर्जितमित्येतत् । 'यदेतद्विद्याफलं सर्वात्मभावस्तदेतदति-

- तथा कामवर्जितत्ववदित्येतत् । नन्व°धर्मवर्जितत्वमेव प्रतीयते न धर्मवर्जितत्वं पाप्मशब्दस्याधर्ममात्रवचनत्वादत आह—पाप्मशब्देनेति । 'उपक्रमानुसारेण पाप्मशब्दस्योभयविषयत्वे विशेषणमनूद्य विवक्षितमर्थं कथयति—अपहतेति । 'तर्हि कार्यमेवाविद्याया निषिध्यते नेत्याह—तत्कार्येति । तस्मादयं तदुद्वन्द्वः । "वाक्यार्थमुपसंहरति—यदेतदिति । पूर्वब्राह्मणान्तेऽपीदं रूपमुक्त-

इसी प्रकार वह पापरहित है । 'पाप' शब्द से धर्माधर्म कहे जाते हैं । जैसा कि "पापों से (देह और इन्द्रियों से) संश्लिष्ट हो जाता है", "(उत्क्रमण करते समय) पापों को त्याग देता है" इन श्रुतिवाक्यों में कहा गया है । अत."अपहतपाप्मा" का अर्थ है, धर्माधर्म से वर्जित । इसके अतिरिक्त आत्मरूप अभय है । भय तो अविद्या का कार्य है । "अविद्या से भय मानता है" ऐसा पहले कहा जा चुका है । भय अविद्या का कार्य होने से अविद्याकार्य द्वारा कारण का प्रतिषेध किया जाता है । 'अभयरूपम्" अर्थात् जो अविद्या से विवर्जित है, यह मोक्षाख्य अपरोक्ष ब्रह्म जो विद्या का फल

१ बृ उ ४ ३ ८ । २ धर्माधर्मेति—ननु पापोऽहं पापकर्मेत्यादि भण्यते लोके । न । अन्यत्र धर्मादन्यत्राधर्मादित्यादिश्रुतेरतस्याविद्यत्वादिति ध्येयम् । ३ सदात्मरूपम् । ४ बृ उ ४ ३ २० । ५ भयस्याविद्याकार्यत्वात् । ६ मोक्षाख्यमपरोक्षं ब्रह्म । ७ विशेषणे । ८ यथोक्तोपक्रमवाक्यानुरोधेन । ९ अविद्याकार्यस्य भयस्य निषेधविषयत्वे । १० अतिच्छन्दवाक्यार्थम् ।

सत्यकामवाक्ये कामशब्दो यथोक्तसुखवाचीत्यत्र हेत्वन्तरमाह आत्मपाचमिति । अतो निरतिशयसुखमात्मतत्त्वं सत्यकामपदवेदनीयमिति शेष । तदेव कुत सिद्धमित्याशङ्क्य भूमवाक्यादित्याह—तत्रैवेति । छान्दोग्यश्रुतावेव यत्र नान्यत्पश्यतीत्यादिश्रुत्या दर्शनादिनिषेधे भूमलक्षणमाचक्षाणया प्रत्यगात्मनो भूम्न सत्यस्य सुखत्वं चेदयेत निर्धारितमित्यर्थ ॥ श्रुत्यन्तरविरोधशङ्कामुन्मूल्याऽऽसकामत्वमुपसंहरन्नादौ लोकप्रसिद्धिमाह—सुखेति । बाह्यानि स्रगादीनि साधनानि यस्योत्पादकानि स काम्योऽयं सुखसाक्षात्कार प्रसिद्ध इत्यर्थ । तथाऽप्यात्मनि किमायात तदाह—सविदेवेति । विज्ञानमानन्दमिति श्रुतेरात्मातिरिक्तसुखतत्संविदोरभावादात्मरूप कर्मधारयादाप्तकाममित्यर्थ ॥ आप्तकामपदमाकाङ्क्षापूर्वकमादाय व्याकरोति—कामेति । इहेति श्रुतिरुक्ता ॥ आत्मनो भेदेन कामा न सन्तीत्यत्र हेतुमाह—आत्मेति । नाऽऽत्मनो हिरण्यगर्भवदाप्तकामत्वमन्वयादिपरिहाण्या सर्वस्याऽऽत्ममात्रता धूर्तस्तस्मात्तस्य निर्भेदस्यैवाऽऽप्तकामतेत्यर्थ ॥ अकाममित्यस्यार्थमाह—समस्तेति । वक्ष्यमाणपक्षेण समुच्चयार्थश्चकार । विशेषणफलमाह—अत इति । कामादिसर्वभेदरहितमात्मरूप तस्मिन्सत्यपि स्वापादौ तदभावान्न च व्यस्ताभावे तदपेक्षसमस्तमप्यवोऽतोऽकामत्वात्तदेकरसमिति भाव ॥ पुनरुक्ति शङ्कते—आप्तेति । तदनर्थकं पौनरुक्त्यादिति शेष । न च समस्तव्यस्तत्वशङ्का समुच्चेनुमिति वाच्यमाप्तकामादिवचर्मैव तत्सिद्धेरिति भाव ॥ पुनरुक्तिमङ्गीकृत्य तस्या सार्थकमाह—आत्मेति । कामकामिविभागे प्रत्युक्ते कथं कामाश्रयत्वमात्मन शक्यशङ्कमित्याशङ्क्याऽऽह—अबुधा इति । मन्दमतीना मतनिरासार्थं विशेषणमर्थवदिति फलितमाह—अत इति ॥ शोकान्तरमित्यस्यार्थमाह—कामादीति । तदभावात्सुषुप्तौ व्यक्ताज्ञानाभावादित्येतत् ॥ कुतोऽशोकत्वं तदाश्रय-

च्छन्दा अपहतपाप्माभयं रूपं सर्वसंसारधर्मवर्जितमतोऽभयं रूपमेतत् । इदं च पूर्वमेवोपन्यस्त-मतीतानन्तरब्राह्मणसमाप्तावभयं वै जनक प्राप्तोऽसीत्यागमतः । इह तु तर्कतः प्रपञ्चितं दर्शितागमार्थप्रत्ययदार्ढ्याय ।

अयमात्मा स्वयं चैतन्यज्योतिःस्वभावः सर्वं स्वेन चैतन्यज्योतिषाऽवभासयति । स यत्तत्र किंचित्पश्यति रमते चरति जानाति चेत्युक्तम् । स्थितं चैतन्यायतो नित्यं

मित्याह—इदं चेति । आगमवशात्तत्रोक्तं चेत्किमित्यत्र पुनरुच्यते तत्राऽऽह—इह त्विति । 'सविशेषत्वं चेदात्मत्वानुपपत्तिरित्यादिस्तर्कः । आगमसिद्धे किं तर्कोपन्यासेनेत्याशङ्क्याऽऽह—दर्शितेति ।

'श्रौतवाक्यस्य संगतिं वक्तुं वृत्तमनुद्रवति—अयमिति । अनन्वागतश्रवये चाऽऽत्मनश्चोक्तमसङ्ग-मुक्तमित्याह—स यदिति । आत्मनः सदा चैतन्यज्योतिष्ट्वं स्वरूपं न केवलमुक्तादागमादेव सिद्धं

सर्वात्मभाव है वह कामरहित, पुण्य-पापरहित एवं अभयरूप है, यह समस्त सांसारिक धर्मों से अतीत है, इसलिए अभयरूप है। पूर्ववर्ती ब्राह्मण की समाप्ति के अवसर पर 'हे जनक ! तुम अभयरूप को प्राप्त हो गए हो' इस श्रुतिवाक्य द्वारा वर्णन कर दिया है। यहाँ तो पूर्वप्रदर्शित श्रुतिवाक्यार्थ में दृढ प्रत्यय करने के लिए तर्क द्वारा समझाया जाता है।

स्वयं चैतन्य ज्योति स्वरूप यह आत्मा अपनी चैतन्य ज्योति से सबको प्रकाशित करता रहता है। "वह जो कुछ उस अवस्था में देखता है, क्रीडा करता है, विचरता है जानता है (उससे असङ्ग है)" यह कहा गया। यह चैतन्य ज्योतिष्ट्व आत्मा का नित्य स्वरूप है—ऐसा युक्ति से सिद्ध होता है।

१ बृ उ ४ २ ४ । २. इत्युक्तमित्यन्वय । ३ उक्तात्मस्वरूपस्य । ४ यद्यादिवद् । ५ तद्यथेत्यादि-श्रुत्योपदिष्टवाक्यस्य ।

संबन्धादित्याशङ्कामथशब्देनानूद्यार्थान्तरं ब्रुवाण शोकशब्दार्थमाह—यदि वेति । अन्तःकरण शोकशब्दित-मित्यत्र हेतुमाह—गुणत्वादिति । तद्वाचित्वादिति यावत् । किमिति तर्हि शोकवदिति नोच्यते तत्राऽऽह—मतुप इति । लुप्तता छान्दसीति शेष ॥ तथाऽपि किं शोकान्तरं तदाह—शोकार्हेति । आत्मरूपं हेतुफलविलक्षणतया शोकयोग्यबुद्ध्यादिभ्योऽर्थान्तरत्वात्प्रामाणिकं शोकान्तरमधिगतमित्यर्थं ॥ द्वैतप्रसक्तिशङ्कयार्थान्तरमाह—शोकस्येति । कथं तर्हि तस्य शोकराहित्यं न हि तदात्मा तद्रहितस्तत्राऽऽह—शोकेति । अपि शोकसमुच्चयार्थं । न हि सर्पस्य रज्जु विना सत्त्वाभावे तस्यास्तद्वत्त्व वस्तुतोऽस्तीति भाव ॥ अशोकान्तरमितिमाध्यन्दिनपाठमु-त्थापयति—अशोकेति । तं व्युत्पादयति—अशोकादिति ॥ अशोकशब्दार्थमाह—शोकेति । ईश्वरो मायाविशिष्ट सर्वनियन्ता शोकायोग्यत्वादशोक केवलश्चिद्धातुरविद्यातज्जरूपया शुचा हीनत्वाद्विशिष्टादर्थान्तरत्वनाशोकान्तर-मित्यर्थं । यत्तु काण्वपाठे शोकस्य प्रत्यक्तया शोकान्तरमिति तत्र प्रतीचस्तद्वत्त्वाभावेऽपि तत्त्वापत्तेरित्याशङ्क्या-र्थान्तरमाह—यद्वेति । आत्मरूपं शोकं तिरयतीत्यत्र हेतु—आनन्देति । तस्य तत्तिरस्कर्तृत्वे दृष्टान्त—शैत्यमिति । दार्ष्टान्तिकं निगमयति—तस्मादिति ॥ आत्मन शोकहेतुयोगे सुखत्वेऽपि न सर्वथा तत्तिरस्कर्तृतेत्याशङ्क्या-र्थान्तरमाह—शोकादेरिति । तर्हि शोकान्तरमिति स्यान्नेत्याह—छान्दसीति ॥ कथमात्मन शोकहेतुराहित्यम विद्यादिमत्त्वप्रतीतेरित्याशङ्क्याऽऽह—अविद्येति । प्रतीतिविरोध परिहर्तुं द्वितीयपदार्थं स्फुटयति—वस्त्विति ॥ वस्तुवृत्तमेव दर्शयन्नाप्तकामवाक्यार्थमुपसंहरति—स्वत इति ॥

स्वरूपं चैतन्यज्योतिष्ट्वमात्मनः। 'स यद्यात्माऽत्राविनष्टः स्वेनैव रूपेण वर्तते' कस्मादयमहमस्मीत्यात्मानं वा बहिर्वेमानि भूतानीति जाग्रत्स्वप्नयोरिव न 'जानातीत्यत्रोच्यते। शृण्वत्राज्ञानहेतुम्। 'एकत्वमेवाज्ञानहेतुः। तत्कथमिति। उच्यते। दृष्टान्तेन हि प्रत्यक्षो भवति 'विवक्षितोऽर्थं इत्याह—तत्तत्र यथा लोके प्रिययेष्टया स्त्रिया संपरिष्वक्तः सम्य-

किन्तु 'पूर्वोक्तादनुमानात्तु स्थितमित्याह- स्थितं चेति'। वृत्तमनूद्य संबन्धं वक्तुकामश्चोदयति—स यदीति। अत्रेति सुषुप्तिरुक्ता। ※चैतन्यस्वभावस्यैव सुषुप्ते विशेषज्ञानाभावं साधयति—उच्यत इति। सुषुप्तिः सप्तम्यर्थः। अज्ञानं विशेषज्ञानाभावः। कोऽस्याज्ञानहेतुस्तमाह—एकत्वमिति। जीवस्य परेणाऽऽत्मना यदेकत्वं तत्कथं सुषुप्ते विशेषज्ञानाभावे कारणं तस्मिन्सत्यपि चैतन्यस्वभावानिवृत्तेरिति शङ्कते—तत्कथमिति। तत्र स्त्रीवाक्यमुत्तरत्वेनोत्थापयति—उच्यत इति। तत्र दृष्टान्तभागमाचष्टे—दृष्टान्तेनेति। एकत्वकृतो विशेषज्ञानाभावो विवक्षितोऽर्थः।

इस सुषुप्तावस्था में यदि यह आत्मा अविनष्ट हो अपने स्वरूप में स्थित रहता है तो जाग्रत् और स्वप्न के समान 'मैं यह हूँ' इस प्रकार अपने को और अपने से बाहर इन भूतों को क्यों नहीं जानता। इस पर श्रुति कहती है—उसके अज्ञान का जो हेतु है; उसे सुनिए। जीव की परब्रह्म से एकता है, विशेषज्ञानाभाव में हेतु है। ऐसा कैसे कहते हो? इस पर बतलाया जाता है। दृष्टान्त से अभिमत अर्थ का प्रत्यक्ष होता है, इसलिए कहा जाता है। लोकव्यवहार में जिस प्रकार अपने को चाहने वाली "प्रियया" अर्थात् इष्ट स्त्री से कामुक होकर "सम्परिष्वक्तः" अर्थात् सम्यक् परिष्वजित होता हुआ पुरुष "बाह्य"

१. उक्तविशेषणः। २ तर्हि। ३ तथा चोक्तं चैतन्यस्वयंज्योतिष्ट्वं कामादिवदागन्तुकमिति भावः। ४ जीवस्य परेण ब्रह्मणा। ५ अभिमत। ६ बृ उ ४ ३, २। ७ आत्मनः स्वयं चैतन्यज्योतिष्ट्वेऽपीत्यर्थः। ८ एकत्वे। ९ उक्तचोद्ये। १० स्त्रीघटितवाक्ये।

※ चैतन्यस्वभावस्यैव सुषुप्ते विशेषज्ञानाभावमिति। तथा चोक्तम्—"नैतदेव यतो भेदज्ञानं मोहोत्थकारकसंश्रयादेव न पुनर्मोहाभावे तदिष्यते॥ यत्र वा अन्यदिवेत्येव भेदज्ञानमभाषत। सत्येव प्रत्यगज्ञाने तस्याज्ञानसमन्वयात्॥ यत्र त्वस्येति विध्वस्त आत्माज्ञान प्रबोधतः। तत्केन कमिति श्रुत्या भेददृष्टिर्निषिध्यते"॥ वा १३०७-१३०९॥ इति। 'स्वयंज्योतिष्ट्वमुक्तं यदात्मनः प्रागप्रयत्नतः। तदप्यात्मन आगामि शङ्क्यते कामकर्मवत्॥ यस्मात्सुषुप्त आत्माऽयं नाऽऽत्मानं नाप्यनात्मनः। जानात्वेति तेनास्य चैतन्यं कामकर्मवत्" ॥ वा १३०५-१३०६॥ इति यथास्थानमुक्तं चोद्यं परिहरति—नैतदिति। चैतन्यस्याऽऽगन्तुकत्वं वदता सुप्तावसत्त्वमिष्टं तत्र हि किं स्वरूपज्ञानं निषिध्यते किंवा विशेषज्ञानं नाऽऽद्यो यं सुप्तः सोऽहमित्युत्थितस्य प्रतिसन्धानविरोधात्पश्यन्वै तन्न पश्यतीति च श्रुतेर्नेतरस्तस्यान्वयव्यतिरेकाभ्यां मोहोत्थकारकजन्यत्वात्सुषुप्ते चाज्ञोऽहमितिव्यक्ताज्ञानाभावात्कारकग्रामस्य च दूरोत्सारितत्वात्तत्र तन्निषेधस्येष्टत्वादित्यर्थः॥ यत्राज्ञानं तत्र विशेषज्ञानमित्यन्वये मानमाह—यत्रेति। तत्र तस्य भेदज्ञानस्येति यावत्॥ यत्र नाज्ञानं तत्र न विशेषज्ञानमिति व्यतिरेके मानमाह—यत्र त्विति। यत्र त्वस्येत्युपक्रम्य तत्केन कमिति श्रुत्येति सम्बन्धः॥ सुषुप्ते विशेषज्ञानाभावे हेत्वन्तरमाह 'एकत्वमेव तेनात्र भेदादर्शनकारणम्"। तेन परेण जीवस्यैकत्वं सुप्तौ विशेषज्ञानाभावे हेतुरिति यावत्। तत्र स्त्रीवाक्यमवतारयति—'स्त्रीपुंदृष्टान्तवचसा तदेतत्प्रतिपाद्यते"॥ वा १३१०॥ तदेतदेकत्वं विशेषादर्शने कारणमित्यर्थः॥

वपरिष्वक्तः कामयन्त्या कामुकः सन्न बाह्यमात्मनः किंचन किंचिदपि वेद मत्तोऽन्य-द्वस्त्विति न चाऽऽन्तरमयमहमस्मि सुखी दुःखी वेति । अपरिष्वक्तस्तु तया प्रविभक्तो जानाति सर्वमेव बाह्यमाभ्यन्तरं च । परिष्वङ्गोत्तरकालं त्वेकत्वापत्तेर्न जानाति ।

एवमेव यथा दृष्टान्तोऽयं पुरुषः क्षेत्रज्ञो भूतमात्रासंसर्गतः सैन्धवखिल्यवत्प्रवि-भक्तो जलादौ चन्द्रादिप्रतिबिम्बवत्कार्यकरणे इह प्रविष्टः सोऽयं पुरुषः प्राज्ञेन परमार्थेन स्वाभाविकेन स्वेनाऽऽत्मना परेण ज्योतिषा संपरिष्वक्तः सम्यक्परिष्वक्त एकीभूतो निरन्तरः सर्वात्मा न बाह्यं किंचन वस्त्वन्तरं नाप्यान्तरमात्मन्ययमहमस्मि सुखी

परिष्वङ्गप्रयुक्तसुखाभिनिवेशादज्ञानं किमिति कल्प्यते स्वाभाविकमेव तत्किं न स्यादित्याशङ्क्याऽऽह —अपरिष्वक्तस्त्विति । तर्हि परिष्वङ्गवतोऽपि स्वभावविपरिलोपासंभवाद्विशेषविज्ञानं स्यादिति चेन्नेत्याह—परिष्वङ्गेति । स्त्रीपुंसलक्षणयोर्मिथुनत्वं परिष्वङ्गस्तदुत्तरकालं संभोगफलप्राप्ति-रेकत्वापत्तिस्तद्वशाद्विशेषाज्ञानमित्यर्थः ।

दार्ष्टान्तिकं व्याकरोति—एवमेवेति । भूतमात्राः शरीरेन्द्रियलक्षणास्ताभिश्चिदात्मनस्तादा-त्म्याध्यासात्तत्प्रतिबिम्बो जातस्ततो विभक्तपङ्गुनीत्यत्र दृष्टान्तमाह—सैन्धवेति । तस्य देहादौ प्रवेशं दृष्टान्तेन दर्शयति—जलादाविति । उपमर्गंश्लत्वधमर्थं कथयति—एकीभूत इति । तादात्म्यं व्यावर्तयितुं निरन्तर इत्युक्तम् । परमात्माभेदप्रयुक्तमनवच्छिन्नत्वमाह—सर्वात्मेति । एवं स्त्रीवाक्याक्षराणि

यानी अपने से बाहर "किंचन" अर्थात् किसी भी वस्तु को नहीं जानता; "मुझ से अन्य वस्तु है" ऐसा नहीं जानता; न ही वह भीतर ही 'मैं सुखी हूँ, मैं दुःखी हूँ' ऐसा जानता है। उससे अपरिष्वजित तो उससे भिन्न रहकर बाहर और अन्दर की सब बातों को जानता है। परिष्वंजन के पश्चात् एकत्वभाव होने से वह सब कुछ नहीं जानता।

जिस प्रकार यह दृष्टान्त है कि क्षेत्रज्ञ पुरुष भूतमात्रा के संसर्ग से लवणखण्ड के समान विभक्त होकर, जलादि में चन्द्रादि के प्रतिबिम्ब के समान इस देहेन्द्रिय में प्रविष्ट हो रहा है, उसी प्रकार यह पुरुष "प्राज्ञेनात्मना" अर्थात् अविद्या साक्षी स्वाभाविक आत्मा से यानी अनागन्तुक पारमार्थिक आत्मा स्वरूप से, कार्यकरण से अस्पृष्ट ज्योति से "संपरिष्वक्तः" अर्थात् सम्यक् परिष्वजित या एकीभूत हुआ अव्यवहित सर्वात्मा बाह्य किसी अन्य वस्तु को नहीं जानता; न आत्मा में ही 'मैं सुखी हूँ,

१. पञ्चमी । २. न जानातीति—तथा चान्वयव्यतिरेकाभ्यां परिष्वङ्ग एव विशेषज्ञानाभावहेतुरिति भाव ३ सैन्धवेति—लवणखण्डो यथा समुद्रात् प्रविभक्त । ४ अनागन्तुकेन । ५ स्वरूपेण । ६ कार्य-करणास्पृष्टेन । ७. अव्यवहित. । ८. आत्मनि न वेदेत्यन्वय इत्याहुः । ९ विशेषज्ञानाभाव. । १०. निर्निमित्तम् । ११. अपरिष्वक्तस्य विशेषज्ञानस्वीकारे । १२. अगमेद्वयो । १३. सुखसाक्षात्कार फलम् । १४. अत्र च विशेषज्ञानाभावस्योभयसाधारणत्वेऽपि प्राधान्यात्पुरुषनिष्ठतोक्तिरिति ध्येयम् । १५. तासु प्रतिबिम्बो यस्य तथाभूत. । १६. प्रतिबिम्बवनात् । १७. चिदात्मन. । १८. सम्परीति यावत् । १९. भेदेन सहाभेदं सधातेन यथा । २०. अपरिच्छिन्नत्वम् ।

दुःखी वेति वेद । तत्र चैतन्यज्योतिःस्वभावत्वे कस्मादिह न जानातीति [1]यदप्राक्षीस्तत्र [2]यं हेतुमवोचं एकत्वं यथा स्त्रीपुंसयोः संपरिष्वक्तयोः । [3]तत्रार्थान्नानात्वं विशेषविज्ञानहेतुरित्युक्तं भवति । नानात्वे च कारणमात्मनो वस्त्वन्तरस्य [4]प्रत्युपस्थापिकाऽविद्येत्युक्तम् । तत्र चाविद्याया यदा प्रविविक्तो भवति तदा सर्वेणैकत्वमेवास्य भवति । [5]ततश्च ज्ञानज्ञेयादिकारकविभागेऽसति कुतो विशेषविज्ञानप्रादुर्भावः कामो वा संभवति [6]स्वाभाविके स्वरूपस्य आत्मज्योतिषि ।

यस्मादेवं सर्वैकत्वमेवास्य रूपमतस्तद्वा अस्याऽऽत्मनः स्वयंज्योतिः स्वभावस्यैतद्रूपमाप्तकामं यस्मात्समस्तमेतत्तस्मादाप्ताः कामा अस्मिन्रूपे तदिदमाप्तकामम् । [10]यस्य

व्याख्याय चोद्यपरिहार प्रकटयति—तत्रेति । प्रत्यगात्मनोति यावत् । इहेति सुषुप्तिरुच्यते । यथा परिष्वक्तयोः स्त्रीपुंसयोरेकत्वं पुंसो विशेषविज्ञानाभावे कारणं तथा परेणाऽऽत्मना सुषुप्ते जीवस्यैकत्वं विशेषविज्ञानाभावे [1]तस्य [2]तत्र कारणमुक्तमित्यर्थः । स्त्रीवाक्ये [3]श्रौतमर्थमभिधाया[4]ऽऽर्थिकमर्थमाह—तत्रेति । किं पुनर्नानात्वे कारणमिति तदाह—नानात्वे चेति । उक्तमथ[5] योऽन्यामित्यादावित्यर्थः । [6]किमेतावता सुषुप्ते विशेषविज्ञानाभावस्याऽऽयातं तत्राऽऽह—तत्रेति । विशेषविज्ञाने नानात्वं तत्र चाविद्या कारणमिति स्थिते सतीति यावत् । यदा सदेति सुषुप्तिर्विवक्षिता । प्रविविक्तत्वं कार्यकारणाविद्याविरहितत्वम् । सर्वेण परमात्मना सहेत्यर्थः । विज्ञानात्मा षष्ठ्योच्यते । एकत्वफलमाह—ततश्चेति ।

उक्तमुपजीव्याऽऽप्तकामवाक्यमवतार्य व्याचष्टे—यस्मादिति । आप्तकामत्वं समर्थयते—यस्मात्समस्तमिति । [7]तदेव व्यतिरेकमुखेन(ण) विशदयति—यस्य हीत्यादिना । [8]विशेषणान्तरमाकाङ्क्षा-

मैं दुःखी हूँ" ऐसा मानता है । इस प्रकार तुमने जो पूछा था कि चैतन्यात्म ज्योतिस्वरूप होने पर भी वह इस अवस्था में क्यों नहीं जानता उसके विशेषज्ञान के अभाव में मैंने एकत्व हेतु बतलाया, जिस प्रकार परस्पर परिष्वजित स्त्री पुरुष का ऐक्य होता है । इससे "नानात्व विशेषविज्ञान में हेतु है" ऐसा स्वतः सिद्ध हो जाता है । नानात्व का कारण आत्मा से वस्त्वन्तर की प्रत्यायिका अविद्या है—ऐसा कहा जा चुका है । जिस समय अविद्या से पृथक् हो जाता है, उस समय इसकी सबके साथ एकता ही हो जाती है । एकत्व होने से आत्मज्योति के अपने अनागन्तुक स्वरूप में स्थित हो जाने पर ज्ञानज्ञेयादि कारक विभाग के न रहने पर विशेषविज्ञान का प्रादुर्भाव तथा कामना कैसे संभव है ?

क्योंकि इस प्रकार सबके साथ एकता ही इसका स्वरूप है, इसलिये इस स्वयं ज्योतिस्वरूप आत्मा का यह रूप आप्तकाम है । क्योंकि यह इसका सर्वात्मक रूप है, इसलिए इस रूप में सुखादि सभी काम प्राप्त रहते हैं, इसीसे यह रूप आप्तकाम है । जिसका विषय अपने से अन्य रूप में विभक्त

१ विशेषज्ञानाभावे । २ तत्रेति—स्त्रीवाक्ये एकत्वस्य विशेषज्ञानाऽभावहेतुत्वे सतीति वाऽर्थ । ३ पञ्चमाऽयम् । ४ प्रत्यायिका । ५ एकत्वाच्च । ६ अनागन्तुके । ७ सर्वात्मकम् । ८ आत्मरूपम् । ९ सुखादय । १० देवदत्तादे । ११ प्रतीच । १२ विशेषज्ञानाभावे । १३ शाब्दम् । १४ फलितम् । १५ बृ उ १ ४ १० । १६ विशेषविज्ञाने नानात्वं तत्र चाविद्याकारणमित्युक्तिमात्रेण । १७ आप्तकामत्वमेव । १८ आत्मकामविशेषणान्तरम् ।

ह्यन्यत्वेन प्रविभक्तः कामस्तदनाप्तकामं भवति। यथा जागरितावस्थायां देवदत्तादिरूपं न त्विदं तथा कुतश्चित्प्रविभज्यतेऽतस्तदाप्तकामं भवति। किमन्यस्माद्वस्त्वन्तरात्प्र प्रविभज्यत आहोस्विदात्मैव तद्वस्त्वन्तरमत आह—नान्यदस्त्यात्मनः। कथम्। यत आत्मकाममात्मैव कामा यस्मिन्रूपेऽन्यत्र प्रविभक्ता इवान्यत्वेन काम्यमाना यथा जाग्रत्स्वप्नयोस्तस्याऽऽत्मैवान्यत्वप्रत्युपस्थापकहेतोरविद्याया अभावादात्मकाममत एवाकाममेतद्रूपं "काम्यविषयाभावाच्छोकान्तरं शोकच्छिद्रं शोकशून्यमित्येतच्छोकमध्यमिति वा सर्वथाऽप्यशोकमेतद्रूपं शोकवर्जितमित्यर्थः। २१॥

पूर्वकमादाय व्याचष्टे—किमन्यस्मादित्यादिना। सुषुप्तेरन्यत्राऽऽत्मनः सकाशादन्यत्वेन प्रविभक्ता इव काम्यमानाः सुषुप्तावात्मैव कामास्तस्मादात्मकाममात्मरूपमित्येतद्दृष्टान्तेनाऽऽह—यथेति। अवस्थाद्वये खल्वात्मनः सकाशादन्यत्वेन प्रविभक्ता इव कामा काम्यन्त इति कामाः। न चैव सुषुप्त्यवस्थायामात्मनस्ते भिद्यन्ते किंतु सुषुप्तस्याऽऽत्मैव कामा इत्यात्मकाममेतद्रूपमित्यर्थः। "तस्याऽऽत्मैवेत्यत्र" हेतुमाह—अन्यत्वेति। यद्यपि सुषुप्तेऽविद्या विद्यते तथाऽपि न "साऽभिव्यक्ताऽस्तीत्यनर्थपरिहारोपपत्तिरित्यर्थः। "कामानामात्माश्रयत्वपक्षं प्रतिक्षेप्तुं तृतीयं विशेषणम्। शोकमध्यं शोकस्यान्तरं "प्रत्यग्भूतमिति यावत्। "तर्हि शोकवत्त्वं "प्राप्तं नेत्याह—सर्वथेति। पक्षद्वयेऽपि शोकशून्यमात्म-

रहता है, वह अनात्मकाम होता है, जिस प्रकार जागरित अवस्था मे देवदत्तादिरूप। किन्तु यह आत्मतत्त्व उनकी तरह किसी से विभक्त नही होता इसलिए आप्तकाम होता है। क्या आत्मा का वस्त्वन्तर से अभेद है अथवा वस्त्वन्तर का आत्मा से अभेद है। इस पर कहते हैं—वस्त्वन्तर आत्मा नही है। क्यो नही है? क्योकि यह रूप आत्मकाम है। जिस प्रकार जाग्रत और स्वप्नावस्था मे आत्मा से अन्यत्र विभक्त के समान और अन्य रूप से कामना किये जाने वाले काम होते हैं उसी प्रकार सुषुप्ति मे भेदप्रत्यायक (व्यक्त) अविद्यारूप हेतु का अभाव होने के कारण आत्मा ही उसके काम हैं इसलिए वह आत्मकाम है। इसीसे सुषुप्तावस्था मे काम्यमान विषयो का अभाव होने के कारण सौषुप्त रूप अकाम है, "शोकान्तरम्" अर्थात शोकच्छिद्र यानी शोकशून्य है अथवा यह शोकमध्य है। भावार्थ यह है कि यह रूप सर्वथा ही अशोक है यानी शोकवर्जित है ॥२१॥

१ स्वस्मात्। २ विषय। ३ आत्मरूपम्। ४ आत्मनो वस्त्वन्तरेणाभेद। ५ वस्त्वन्तरस्यात्मनाऽभेद वस्त्वन्तरमात्मरूपमात्मा वा वस्त्वन्तररूप इति द्वयोरर्थ। ६ भेदप्रत्यायक। ७ व्यक्ताया। ८ आत्मकामम्। ९ सौषुप्तम्। १० सुषुप्ते काम्यमानविषयाभावात्। ११ जाग्रत्स्वप्नयो। १२ तस्मादात्मरूपमात्मकाममित्यन्वय। १३ स्वरूपमेव। १४ सुषुप्तपुंस। १५ आत्मैव कामा इत्युक्तेऽर्थे। १६ अज्ञाऽहमिति प्रतीयमाना कार्योन्मुखीति यावत्। १७ कामानामित्यादि। यद्यपि आप्तकाममात्मकाममिति विशेषणद्वयस्य यथा भाष्योक्तार्थकत्वेनात्मनि कामा प्रसज्जन्ते तथापि 'यदा सर्वे प्रमुच्यन्ते कामा येऽस्य हृदि स्थिता (श्रिता)' इति श्रुत्यन्तरे। हृदीति विशेषणादात्माश्रया अपि केचित्कामा प्रतीयन्ते कामाना हृदयमात्राश्रितत्वे हृदीति विशेषण व्यर्थं स्यादिति तदनुसारेणात्राप्युक्तविशेषणद्वय निनोदता मन्दधिया मत निरसितुमकामिति विशेषणमित्यर्थ। १८ शोकस्याप्यधिष्ठानत्वात्। १९ आत्मन शोकस्यापि प्रत्यक्त्वे। २० प्राप्तमिति—न हि तदात्मा तद्रहितो भवतीति भाव।

१ ॐअत्र पिताऽपिता भवति माताऽमाता लोका अलोका देवा अदेवा वेदा अवेदाः । अत्र स्तेनोऽ-

इस सुषुप्तावस्था में पिता अपिता हो जाता है, माता अमाता हो जाती है अर्थात् वहाँ जन्य-जनकभाव सम्बन्ध नहीं रह जाता । लोक अलोक हो जाते हैं, देव अदेव और वेद अवेद हो जाते हैं अर्थात् सभी साध्य साधन का अभाव हो जाता है । वहाँ पर चोर अचोर हो जाता है । भ्रूणहत्यारा

प्रकृत स्वयंज्योतिरात्माऽविद्याकामकर्मविनिर्मुक्त इत्युक्तम् । असङ्गत्वादात्मन आगन्तुकत्वाच्च तेषाम् । तत्र कामकर्मादिवत्स्वयंज्योतिष्ट्वमप्यस्याऽऽत्मनो न स्वभाव ।

रूपम् । न हि शोको येनाऽऽत्मवांस्तस्य शोकत्वं शोकस्याऽऽत्माधीनसत्तास्फूर्तेरात्मातिरेकेणाभावा दित्यर्थः ॥२१॥

अत्र पितेत्यादिवाक्यमवतारयितुं वृत्तमनुवदति—प्रकृत इति । अविद्यादिनिर्मोके हेतुद्वयमाह—असङ्गत्वादिति । यद्यपि नाऽऽगन्तुकत्वमविद्याया युक्तं तथाऽप्यभिव्यक्ता साऽनपहेतुरागन्तुकीति द्रष्टव्यम् । स्त्रीवाक्यं निरस्यां शङ्कामनुवदति—तत्रेति । कामादिविमोके दर्शिते सतीति यावत् ।

प्रकरणस्थ वह स्वयंज्योति आत्मा अविद्या काम और कर्म से रहित है—ऐसा कहा गया । क्योंकि आत्मा का असङ्गत्व रूप है और अविद्यादि का आगन्तुकत्वरूप है । यहाँ काम-कर्मादि के समान, स्वयंज्योतिष्ट्व भी इस आत्मा का स्वभाव नहीं है क्योंकि सुषुप्तावस्था में स्वयंज्योतिष्ट्व

---

१ असङ्गत्वादित्यादि । अत्रोच्यते— निःसङ्गस्य ससङ्गेन कूटस्थस्य निरात्मना । आत्मनोऽनात्मना योगो वास्तवो नोपपद्यते ॥ वा ११७९ । इति । २ अविद्यादीनाम् । ३ न हि शोक इत्यादि—न हि सर्पस्य रज्जुं विना सत्त्वाभावे तस्यास्तद्वत्त्वं वस्तुतोऽस्तीति भाव । ४ आत्मना । ५ आत्मरूपस्य । ६ युक्तमिति—तस्या अनादित्वाभ्युपगमविरोधादिति भाव । ७ अज्ञोऽहमित्यवमभिव्यक्ता । ८ निरस्तामिति यावत् ।

ॐ अत्र पिताऽपिता भवतीत्यादि । अत्र वार्तिके 'यत एवमिदं वस्तु प्रतिच्छन्दादिलक्षणम् । निःशेषध्वान्तसम्बन्धव्यतिक्रान्तमिदं ततः ॥ जन्मकारणसम्बन्धात्कामकारणसङ्गतः । जन्यहेत्वतिवृत्तत्वात्पिताऽप्यत्रापिता ततः ॥ अविद्यैव यतो हेतुः कर्तृत्वस्य न वस्तुतः । कर्तृत्वे सति कर्माणि नान्यथाऽकर्तुरात्मनः ॥ अविद्यायामतोऽसत्यां नाऽऽत्मनः कर्तृकर्मणी । पितृपुत्रादिसम्बन्धो नातोऽस्तीह सुषुप्तगः ॥ असङ्गोऽयं स्वतो यस्मान्नात केनचिदात्मनः । सर्वावस्थासु सम्बन्धः सम्बन्धोऽतोऽस्य नाहतः ॥ १३५५-१३५६ ॥ इति । अत्रेत्यादेस्तात्पर्यमाह—यत इति ॥ प्रतिपदं व्याकुर्वन्नत्र पिताऽपितेत्यस्यार्थमाह—जन्येति । पुत्रस्य कारणं धर्मादि तेन सम्बन्धात्पितापुत्रयोः कामकारणत्वोपगमात्सुप्तौ च तत्सम्बन्धाभावात्तन्निबन्धनवाच्यकारणत्वव्यावृत्तेर्जागरादौ पिताऽपि सुषुप्ते भवत्यपिता पुत्रोऽपि तत्पर्मतदित्यर्थः ॥ आत्मनः सुषुप्ते धर्मादिसम्बन्धाभावाय कर्तृत्वाद्यभावमाह—अविद्येति । व्यक्ताविद्या कर्तृत्वस्य हेतुर्न स्वतस्तदस्ति मोक्षाभावप्रसङ्गान्न च सुप्तौ तादृगविद्या तद्बुद्ध्यत्तश्च तदा कर्तृतेत्यर्थः । तदभावेऽपि कर्मसम्बन्धः स्यादिति चेन्नेत्याह—कर्तृत्व इति । अकर्तुरिति च्छेदः । विपक्षे त्वनिर्मुक्तिरिति भावः ॥ सुषुप्तौ व्यक्ताविद्याभावे फलितमाह—अविद्यायामिति । कर्तृत्वस्यावास्तवत्वमकर्तुः कर्माभावश्चातः शब्दार्थः । कर्मासम्बन्धे फलितमाह—पित्रिति ॥ सुषुप्तगविशेषणात्पितापुत्रादिसम्बन्धस्तत्रैव न सदेत्याशङ्क्याऽऽह—असङ्गोऽयमिति । सम्बन्धबुद्धिगतिमाह—सम्बन्ध इति । वास्तवसम्बन्धायोगोऽतः शब्दार्थः ॥

स्तेनो भवति भ्रूणहाऽभ्रूणहा चाण्डालोऽचाण्डालः पौल्कसोऽपौल्कसः श्रमणोऽश्रमणस्तापसोऽतापसो-*ऽनन्वागतं पुण्येनानन्वागतं पापेन तीर्णो हि तदा सर्वाञ्छोकान्हृदयस्य भवति ॥ २२ ॥

अभ्रूणहा हो जाता है। चाण्डाल चाण्डाल नही रह जाता है। पौल्कस अपौल्कस हो जाता है (शूद्र से ब्राह्मणी मे उत्पन्न संतान को चाण्डाल कहते हैं, शूद्रा मे ब्राह्मण से उत्पन्न संतान को निषाद कहते कहते हैं एवं निषाद से क्षत्रिया मे उत्पन्न संतान को पुल्कस कहते हैं)। परिव्राजक अपरिव्राजक और वानप्रस्थी अतापस हो जाता है अर्थात् किसी वर्णाश्रम धर्म की या पुण्य-पाप की प्रतीति नही होती। उस समय यह पुरुष पुण्य से असंबद्ध तथा पाप से भी सम्बन्धरहित हो जाता है। किंबहुना उस अवस्था मे हृदयस्थ समस्त शोको को पार कर जाता है ॥२२॥

यस्मात्संप्रसादे नोपलभ्यत' इत्येवमाशङ्कायां प्राप्तायां तन्निराकरणाय स्त्रीपुंसयोर्दृष्टान्तोपादानेन विद्यमानस्यैव स्वयंज्योतिष्ट्वस्य सुषुप्तेऽग्रहणमेकीभावाद्धेतोर्न तु कामकर्मादिवदागन्तुकम्' । इत्येतत्प्रासङ्गिकमभिधाय यत्प्रकृतं तदेवानुवर्तयति । अत्र चैतत्प्रकृत-

---

स्वभावस्यापायो न संभवतीत्यभिप्रेत्य हेतुमाह–यस्मादिति । शङ्कोत्तरत्वेन स्त्रीवाक्यमवतार्य तत्तात्पर्यं पूर्वोक्तमनुकीर्तयति–एवमिति । वृत्तमनूद्योत्तरग्रन्थमुत्थापयति–इत्येतदिति । स्वयंज्योतिष्ट्वस्य स्वाभाविकत्वमेतच्छब्दार्थः । प्रासङ्गिकं कामादेरागन्तुकत्वोक्तिप्रसङ्गादागतमिति यावत् । प्रकृतमेव दर्शयति–अत्र चेति । 'प्रतिच्छन्दादिवाक्यं सप्तम्यर्थः । प्रत्यक्षतः स्वरूपचैतन्यवशा'द्यथोक्तात्मरूपस्य सुषुप्ते

की उपलब्धि नही होती, इस प्रकार आशङ्का होने पर उसका निराकरण करने के लिए "स्त्री-पुरुष" दृष्टान्त के उपपादन से एकीभावरूप हेतु के कारण सुषुप्तावस्था मे विद्यमान स्वयंज्योतिष्ट्व का ही ग्रहण नही होता क्योकि स्वयंज्योतिष्ट्व कामकर्मादि की तरह आगन्तुक नही है। इस प्रकार इस प्रासङ्गिक ज्योतिष्ट्व का प्रतिपादन करके जो प्रकरणस्थ है, उसी का श्रुति अनुगमन करती है।

---

१ स्वयंज्योतिष्ट्वम् । २ स्वयंज्योतिष्ट्वमित्यतस्तदग्रहणम् । ३ आदिनाऽसकामादिवाक्यम् । ४ अविद्याकामकर्मादिविनिर्मुक्तात्मस्वरूपस्य ।

---

* अनन्वागत पुण्येनानन्वागतं पापेनेत्यादि । अत्र वार्तिके—'पुण्यापुण्ये हि निःशेषसंबन्धस्येह कारणम् । प्राज्ञोऽनन्वागतस्ताभ्यां कर्महेत्वसमन्वयात् ॥ परं रूपं समापन्नः कर्मविद्यानिमित्तकम् । पितृमात्रादिसंबन्धं सुषुप्ते सोऽतिवर्तते ॥ जीवो यश्च शरीरेऽस्मिंस्तस्य एव कथं पुनः । सर्वसङ्गव्यतीतोऽयं भवतीत्यभिधीयते ॥ यतोऽनन्वागत एष सुषुप्तस्याऽऽत्मनः स्वतः । उभाभ्यां पुण्यपापाभ्यां कुतस्तदपि चेन्मतम् ॥ हृदयातिक्रमाद्यस्मात्तद्धर्मानतिवर्तते । कर्मप्रयोजकान्कामास्तस्मात्पुंस्यं यथोदितम् ॥ हृदयस्यैव धर्मास्ते शोककामादयो यतः । तीर्णबुद्धिर्हि तद्धर्मांस्तस्मादेषोऽतिवर्तते ॥ पुण्यपापाभिसंबन्धः स्वप्ने हृदयसंगतेः । वासनामात्ररूपा त्वत्र साऽपि प्राज्ञे निवर्तते ॥ करणत्वं विहायेह केवलाज्ञानमात्रकम् । स्वप्न आस्ते मनोऽप्य वासनामयविग्रहम् ॥ वासनामय

अविद्याकामकर्मविनिर्मुक्तमेव तद्रूपं यत्सुषुप्त आत्मनो [1]गृह्यते [2]प्रत्यक्षत इति । तदेतद्[3]यथाभूतमेवाभिहितं सर्वसंबन्धातीतमेतद्रूपमिति । यस्मादत्रैतस्मिन्सुषुप्तस्थानेऽति-च्छन्दा[4]पहतपाप्मा[5]भयम[6]तद्रूपं तस्मादत्रास्मिन्सुषुप्तेऽपि पिता जनकः । [8]तस्य च जनयितृत्वा-द्यत्पितृत्वं पुत्रं प्रति [9]तत्कर्मनिमित्तं तेन च कर्मणा[10]ऽयमसंबद्धो[11]ऽस्मिन्काले तस्मात्पितापुत्र-

---

गृह्यमाणस्यानुस्थितस्य "परामर्शविषयेयम् । "कामादिसंबन्धवदात्मन"स्तद्रहितमपि रूपं कल्पितमेवेत्या-शङ्क्याऽऽह—तदेतदिति । प्रकृतमयं पुनरुक्तोत्तरवाक्यस्य"सप्तम्यर्थमाह—एतस्मिन्निति । जनकोऽप्यत्रा-पिता भवतीति संबन्धः । पिताऽप्यत्रापिता भवतीत्युपपादयति—तस्य चेत्यादिना । यथाऽस्मिन्काले पिता

यहाँ प्रकरण यह चल रहा है कि सुषुप्ति में आत्मा जिस स्वप्रकाश रूप से अनुभव की जाती है, वह अविद्या, काम और कर्म से रहित ही है । इसलिए यह तथ्य ही कहा गया है कि यह रूप सभी सम्बन्धों से अतीत है, क्योंकि यहाँ इस सुषुप्तस्थान में यह अपरोक्ष रूप कामरहित, धर्माधर्मादिशून्य, निरविद्यक है इसलिए यहाँ सुषुप्तावस्था में भी 'पिता' अर्थात् जनक अपिता हो जाता है । जन्म देने

---

१ अनुभूयते । २ स्वप्रकाशतया । ३ तथ्यमेव । ४ कामरहितम् । ५ धर्माधर्मादिशून्यम् । ६ निरविद्यम् । ७ अपरोक्षम् । ८ जनकस्य । ९ पुत्रीयधर्मादिप्रयुक्तम् । १० पुत्र पितेत्येवं । ११ पुत्रीयसुषुप्तिकाले । १२ सुखमस्वाप्सम् । १३ कामादीनां संबन्धवत् । १४ बहुव्रीहिणा कामादिसंबन्ध-विशिष्टाविद्यकात्मरूपवदिति भावः । तद्रहितं कामादिरहितम् १५ अत्र पितेत्यादिवाक्यस्यात्र पदार्थम् ।

एकाकी भुङ्क्ते स्वप्ने क्रियाफलम् । न हि स्वप्नस्थो योग स्वप्नेऽप्यनास्ति येनचित् ॥ स्वाभासवर्मनेवाऽऽस्ते जाग्रत्स्वप्नसुषुप्तिषु । अविद्याकामकर्मादि बिभर्तीव न तु स्वतः" ॥ १३६८-१३७१ ॥ इति । अनन्वागतमित्यादे-रर्थमाह—पुण्येति । इहेत्यात्मोक्ति । अन्वागतमित्युक्तमेतदिति हिशब्दार्थः । स्वापे पुण्यपापाभ्यां पुंसोऽसंस्पृष्टत्वे हेतुमाह—कर्मेति । अज्ञानोत्थं कारकं तद्धेतुस्तस्य स्वापेऽनन्वयादिति यावत् ॥ तत्र हेतुमाह—परमिति । कर्मादिनिबन्धनं ब्रह्म यतः स्वापे प्रतिपद्यते 'सता सोम्य तदा सम्पन्नः' इति श्रुतेरतस्तद्गतः पित्रादिसंबन्धहीनः पुरुषो भवतीत्याह—पित्रिति ॥ अस्यानमनन्वागतवाक्यं शङ्कोत्तरत्वेन व्याख्यातुं शङ्कयति—जीवस्यैवेति । एतदुत्तरत्वेन वाक्यमवतारयति—अभिधीयत इति ॥ व्याचष्टे—यत इति । अतः सर्वसङ्गव्यतीत इति शेषः । कर्मासंबद्धत्वमप्यसिद्धमिति शङ्कते—कुत इति ॥ तीर्णो हीत्याद्युत्तरत्वेनाऽऽदत्ते हृदयेनेति । यथोदितं सुषौ कर्माभावान्धादशोकसंबन्धराहित्यमिति यावत् ॥ हृदयस्य शोकानतिक्रामतीत्ययुक्तं शोकशब्दितकामादीनामात्म-धर्मत्वादिति केचित्तान्प्रत्याह हृदयस्येति । शोकान्हृदयस्येति संबन्धस्य हृदि श्रिता इति हृदयाश्रितत्वस्यैतत्सर्वं मन इति तादात्म्यस्य च श्रवणान्न तेषामात्मधर्मता किंतु मनोधर्मत्वमतः सुप्तस्तदतिक्रमात्तद्धर्मान्कामादीनति-क्रामतीत्यर्थः । धर्मिसंबन्धाभावे तद्धर्मसंबन्धाभावः सुतरामिति हिशब्दार्थः ॥ स्वप्नवत्सुप्तौ कामाद्ययोगेऽपि कर्मयोगः किं न स्यात्तत्राऽऽह—पुण्येति ॥ स्वप्ने मनसः सत्त्वात्कथं वासनामात्रया कर्मयोगस्तत्राऽऽह—करण-स्वमिति ॥ स्वप्ने स्वरूपेण मनो न तिष्ठति चेत्कथं भोगस्तत्राऽऽह—वासनेति । वासनामयत्वं तत्प्रधानत्वं वासनाविग्रहस्य मनसोऽवशेषादित्यत नन्दार्थः । जाग्रद्वत्स्वप्नेऽपि स्थूलो भोगः किं न स्यात्तत्राऽऽह—न हीति । स्वप्नसुषुप्त्योर्वस्तुतोऽन्वयाभावेऽपि जाग्रति सोऽस्तीत्याशङ्क्याऽऽह—स्वाभासेति । बुद्ध्यादिस्थचित्प्रतिबिम्बद्वारैवा-ऽऽत्मा सदाऽविद्यादिना युज्यते न स्वतोऽसङ्गत्वश्रुतेरित्यर्थः । आदिशब्देन वासना गृह्यते ।

संवन्धनिमित्तात्कर्मणो विनिर्मुक्तत्वा[1]त्पिताऽप्यपिता भवति । तथा पुत्रोऽपि पितुरपुत्रो भवतीति [2]सामर्थ्याद्गम्यते । [3]उभयोर्हि [4]संबन्धनिमित्तं कर्म [5]तदयमतिक्रान्तो वर्तते । अपहतपाप्मेति ह्युक्तम् ।

तथा [6]माताऽमाता लोकाः कर्मणा [7]जेतव्या [8]जिताश्च [9]तत्कर्मसंबन्धाभावाल्लोका अलोकाः । तथा देवाः [10]कर्माङ्गभूतास्तत्कर्मसंबन्धात्ययाद्देवा अदेवाः । तथा वेदाः साध्य-साधनसंबन्धाभिधायका [11]मन्त्रलक्षणाश्चाभिधायकत्वेन कर्माङ्गभूता अधीता अध्येतव्याश्च कर्मनिमित्तमेव [12]संबध्यन्ते पुरुषेण, [13]तत्कर्मातिक्रमणादेतस्मिन्काले वेदा अप्यवेदाः संपद्यन्ते ।

पुत्रस्यापिता भवति तद्वदित्याह—तथेति । नास्यार्थस्य[14] प्रतिपादकः[15] शब्दोऽस्तीत्याशङ्क्याऽऽह—सामर्थ्यादिति । तदेव सामर्थ्यं दर्शयति—उभयोरिति । सुषुप्ते कर्मातिक्रमे प्रमाणमाह—अपहतेति । पुनर्लोकदेवशब्दावनुवादार्थौ ।

वाक्यान्तरमादाय व्याचष्टे—तथेत्यादिना । साध्यसाधनसंबन्धाभिधायका [16]ब्राह्मणलक्षणा इति शेषः । अभिधायकत्वेन [17]प्रमाणत्वेन प्रमेयत्वेन चेत्यर्थः ।

के कारण जनक का पुत्र के प्रति पिताभाव होता है, वह (पुत्रीयधर्मादिप्रयुक्त) कर्म रूप निमित्त से है, उस कर्म से यह पिता सुषुप्तावस्था में असम्बद्ध रहता है । इसलिए पिता-पुत्र सबन्ध प्रयुक्त कर्म से रहित रहने के कारण पिता भी अपिता हो जाता है । इसी प्रकार पिता का पुत्र भी अपुत्र हो जाता है—ऐसा (सुषुप्ति में कर्मातिक्रमण बलरूप) सामर्थ्य से जाना जाता है क्योंकि पिता-पुत्र को जन्य-जनक-भाव संबन्ध प्रयुक्त कर्म का यह अतिक्रमण कर जाता है, तथा इसे धर्माधर्मादिशून्य कहा गया है ।

उसी प्रकार माता अमाता हो जाती है । लोक अलोक हो जाते है क्योंकि लोक कर्म से सम्पाद्य तथा सम्पादित है, उस कर्म का संबन्ध न रहने से अलोक हो जाते है । इसी प्रकार "देवाः" यानी कर्माङ्गीभूत कर्मों के करते समय आत्मा में सवन्धाभाव होने के कारण देवता अदेवता हो जाते हैं । इसी प्रकार "वेदाः" यानी साध्य-साधन संबन्ध के प्रत्यायक, अभिधायकरूप से कर्माङ्गभूत मन्त्रलक्षणात्मक वेद; अधीत या अध्येतव्य वे कर्म निमित्त ही अध्येय-अध्येतृभाव से पुरुष संबन्धवान् होते है । उक्त सबन्ध निबन्धनकर्म के अतिक्रमण होने से इस सुषुप्ति अवस्था मे वेद भी अवेद हो जाते हैं ।

---

१. पुत्रस्य पितुरित्येके । २. सुषुप्ते कर्मातिक्रमणवलात् । ३. पितृपुत्रयो. । ४. जन्यजनकभावसबन्ध-निमित्तम् । ५. अयं पिता पुत्र इत्येके । ६. मातापुत्रयोर्लोकलोकिनोश्च य. संबन्धस्तत्प्रयोजककर्मणः सुषुप्तावात्मन्यसबन्धात् । ७ सपाद्याः । ८ सपादिताश्च । ९. तत्कर्मेति—अस्यैवार्थो मातेत्यादि पङ्क्त्युपरि न्यस्तो भ्रमाद् । १० अङ्गीभूतकर्मणस्तत्काले आत्मनि संबन्धाभावात् । ११. कर्मसमवेतार्थाभिधायकाः । १२. अध्येयाध्येतृभावसबन्धवन्तो भवन्ति । १३. निरुक्तसबन्धनिबन्धनकर्म । १४ "पुत्रोऽप्यपुत्रो भवती"त्यस्य । १५. श्रुतौ । १६. स्वर्गकामो यजेतेति ब्राह्मणे यागः स्वर्गसाधनमिति साध्यसाधनयोः सबन्धमभिधत्ते । १७. प्रमाणत्वेन प्रमेयत्वेनेति—वेदकर्मणो. प्रमाणप्रमेयभावसबन्धेनाङ्गाङ्गीभाव इति भाव ।

न केवलं शुभकर्मसंबन्धातीतः किं तर्ह्यशुभैरप्यत्यन्तघोरैः कर्मभिरसंबद्ध एवायं वर्तत इत्येतमर्थमाह—अत्र स्तेनो ब्राह्मणसुवर्णहर्ता भ्रूणघ्ना सह पाठादवगम्यते । स तेन घोरेण कर्मणैतस्मिन्काले विनिर्मुक्तो भवति । येनायं कर्मणा महापातकी स्तेन उच्यते । तथा भ्रूणहाऽभ्रूणहा तथा चाण्डालो न केवलं प्रत्युत्पन्नेनैव कर्मणा विनिर्मुक्तः किं तर्हि सहजेनाप्यत्यन्तनिकृष्टजातिप्रापकेणापि विनिर्मुक्त एवायम् । चाण्डालो नाम शूद्रेण ब्राह्मण्यामुत्पन्नश्चण्डाल एव चाण्डालः । स जातिनिमित्तेन कर्मणाऽसंबद्धत्वादचाण्डालो भवति । पौल्कसः पुल्कस एव पौल्कसः शूद्रेणैव क्षत्रियायामुत्पन्न-

---

अत्र स्तेनोऽस्तेनो भवतीत्यादेस्तात्पर्यमाह—न केवलमिति । स्तेनशब्दोऽत्र चोरमात्रे भाति कथं विशेषणमित्याशङ्क्याऽऽह—भ्रूणघ्नेति । भ्रूणहा च वरिष्ठब्रह्महन्तोच्यते । तदेव घोरं कर्म विशिनष्टि—येनेति । महत्पातकमस्येति व्युत्पत्त्या महापातकी स्तेनः । स्तेनादिवाक्येन चाण्डालादिवाक्यस्य गतार्थत्वमाशङ्क्याऽऽह—नेत्यादिना । प्रत्युत्पन्नमागन्तुकम् ।

"ब्राह्मण्यां क्षत्रियात्सूतो वैश्याद्वैदेहकस्तथा ।
शूद्राज्जातस्तु चाण्डालः सर्वधर्मबहिष्कृतः" ।

इति स्मृतिमाश्रित्याऽऽह—चाण्डालो नामेति ।

'जातो निषादाच्छूद्रायां जात्या भवति पुल्कसः' ।

इति स्मृतेः "शूद्रायां ब्राह्मणाज्जातो निषादः स च जात्या शूद्रस्तस्मात्क्षत्रियायां जातः पुल्कसो भवतीति व्याख्यानमुपेत्याऽऽह—शूद्रेणैवेति । तथा चाण्डालवदिति यावत् । श्रमणादिवाक्यस्य

वह केवल शुभ कर्मों से ही अतीत नहीं होता तो फिर क्या होता है ? वह अशुभ, अत्यन्त घोर कर्मों से भी असम्पृक्त रहता है । इसी अर्थ को श्रुति कहती है । यहाँ 'भ्रूणहन्ता' के साथ पाठ होने से 'स्तेन' का अर्थ ब्राह्मण के सुवर्ण का हर्ता है । वह आत्मा उस समय उस (विप्रसुवर्ण के हरणरूप) घोर कर्म से मुक्त हो जाता है, जिस कर्म से उसे महापापी चोर कहा जाता है । उसी प्रकार भ्रूणहत्यारा अभ्रूणहन्ता हो जाता है । इसी प्रकार चाण्डाल भी केवल आगन्तुक कर्म से विनिर्मुक्त नहीं होता । तो फिर किस घोर कर्म से मुक्त होता है ? वह अत्यन्त निकृष्ट जाति की प्राप्ति कराने वाले अपने प्रारब्धात्मक कर्म से भी विनिर्मुक्त हो जाता है । शूद्र पुरुष से ब्राह्मण कन्या में उत्पन्न सन्तान को चाण्डाल कहते हैं । चण्डाल ही चाण्डाल है । वह जातिप्रयोजक कर्म से असम्पृक्त रहने के कारण अचाण्डाल हो जाता है । शूद्र पुरुष से क्षत्रिय कन्या में उत्पन्न पुल्कस ही पौल्कस कहा जाता है; वह

---

१ सौषुप्त आत्मा । २ श्रुतिः । ३ प्रकृतस्वरूप आत्मा । ४ विप्रेण । ५. हाटकहरणादिरूपेणातिभयावहेन । ६ प्रारब्धात्मकेनापीति यावत् । ७ जातेः प्रयोजकेन । ८ ब्राह्मणसुवर्णेति विशेषणम् । ९ ननु भ्रूणघ्ना सह पठितोऽपि स्तेनो ब्राह्मणसुवर्णहर्तेति कुतो नियम्यते तत्राह—भ्रूणहा चेति । १० शूद्रायां ब्राह्मणाज्जातो निषाद इति । "विप्रान्मूर्धावसिक्तो हि क्षत्रियायां विशः स्त्रियाम् । अम्बष्ठः शूद्र्यां निषादो जातः पारशवोऽपि वे"ति स्मृतेः । मूर्धावसिक्तः क्षत्रियः । इति स्मृतेरिति व्याख्यानमुपेत्येत्यन्वयः । तथा चोक्तभाष्यानुरोधात् स्मृतौ शूद्राशब्दः क्षत्रियायामेव शूद्रसंबन्धादौपचारिको बोध्य इति भावः ।

स्तथा सोऽप्यपुल्कसो भवति। [5]तथाऽऽश्रमलक्षणैश्च कर्मभिरसबद्धो भवतीत्युच्यते। श्रमणः [2]परिव्राड्यत्कर्मनिमित्तो भवति [3]स तेन विनिर्मुक्तत्वादश्रमणः। तथा तापसो वानप्रस्थो-ऽतापसः सर्वेषा वर्णाश्रमादीनामुपलक्षणार्थमुभयोर्ग्रहणम्।

[4]किं बहुना [5]ऽनन्वागत नान्वागतमनन्वागतमसबद्धमित्येतत्पुण्येन शास्त्रविहितेन कर्मणा तथा पापेन [6]विहिताकरणप्रतिपिद्धक्रियालक्षणेन। [7]रूपपरत्वान्नपुंसकलिङ्गम्। [8]अभयं रूपमिति ह्यनुवर्तते। किं [9]पुनरसबद्धत्वे कारणमिति [10]तद्धेतुरुच्यते—तीर्णोऽति-क्रान्तो हि यस्मादेवरूपस्तदा [11]तस्मिन्काले सर्वाञ्छोकाञ्शोकाः कामाः। इष्टविषय-[12]प्रार्थना हि [13]तद्विषयवियोगे शोकत्वमापद्यते। इष्ट हि विषयमप्राप्त वियुक्तं चोद्दिश्य

तात्पर्यमाह—तथेति। परिव्राट्तापसयोरेव ग्रहणात्तत्कर्मायोगेऽपि सौषुप्तस्य वर्णाश्रमान्तरकर्मयोग शङ्कित्वाऽऽह—सर्वेषामिति। आदिशब्देन [14]वयोवस्थादि गृह्यते।

सौषुप्ते पुरुषे प्रकृते कथमनन्वागतमिति नपुंसकप्रयोगस्तत्राऽऽह—रूपपरत्वादिति। [15]तत्परत्वे हेतुमनुषङ्ग दर्शयति—अभयमिति। [16]हेतुवाक्यमाकाङ्क्षापूर्वकमुत्थाप्य व्याचष्टे—किं पुनरित्यादिना। यस्माद[17]तिच्छन्दादिवाक्योक्तस्वभावोऽयमात्मा सुषुप्तिकाले हृदयनिष्ठान्सर्वाञ्छोकानतिक्रामति तस्मादेतदात्मरूप पुण्यपापाभ्यामनन्वागत युक्तमित्यर्थः। शोकशब्दस्य कामविषयत्व साधयति—इष्टेति। कथ [18]तस्याः शोकत्वापत्तिरित्याशङ्क्याऽऽह—इष्ट हीति। तेषा पर्यायत्वेऽपि [19]प्रकृते किमायातं

भी अपौल्कस हो जाता है। इसी प्रकार श्रमप्रापक आश्रमलक्षण कर्मों से भी असम्पृक्त हो जाता है—ऐसा कहा जाता है। "श्रमण" यानी सर्वस्व त्यागरूप कर्म प्रयोजक जो सन्यासी है, वह उससे विनिर्मुक्त होने के कारण अश्रमण हो जाता है। इसी प्रकार "तापस" यानी वानप्रस्थ अतापस हो जाता है। श्रमण और तापस इन दोनो का ग्रहण सम्पूर्ण वर्णाश्रमो के उपलक्षण के लिए है।

अधिक क्या कहे, वह आत्मरूप "पुण्येन" यानी शास्त्रविहित कर्म से "अनन्वागतम्" अर्थात् अन्वागत नही है यानी असबद्ध है तथा "पापेन" यानी विहित कर्म के न करने एव निषिद्ध के करने रूप पाप से भी असबद्ध है। पुरुष रूपपरक होने से "अनन्वागतम्" मे नपुसक लिङ्ग का प्रयोग है क्योंकि "अभय रूपम्" की यहाँ अनुवृत्ति की जाती है। किन्तु पुण्य पाप के असबद्धत्व मे कारण क्या है? इसका हेतु कहा जाता है। "तीर्णो हि तदा शोकान्" क्योंकि उस सुषुप्तावस्था मे यह पुरुष सभी शोको यानी

१ आश्रमलक्षणैराश्रमप्रापकैरिति वा। २ श्रमणशब्दस्य क्षपणके रूढिमाशङ्क्याऽऽह—परिव्राडिति। तदुक्त वार्तिके—'परिव्राट्श्रमणो ज्ञेयस्तापसाश्रमसंनिधेरिति ॥ १३६८ ॥ तापसो वानप्रस्थ। ३ श्रमण। ४ सर्वधर्मकाना कर्मणामानन्त्याद्विधोपसाहृत्य तदर्थतत्त्वमाह—कि बहुनेति। ५ असबद्धम् आत्मरूप मित्यनुवर्तते। ६ विहितेत्यादि—द्वे अपि ते सुषुप्ते पुमि निवर्तेते तद्धेतुव्यक्ताऽविद्याभावादिति भाव। ७ रूपेति—तथा च पुरुषस्य रूपमत्र विशेष्यमनुवर्तत इति भाव। ८ तदेव स्फुटयति—अभयमित्यादिना। ९ पुण्यपापासबन्धत्वे। १० पुण्यपापास्पर्शहेतुरुच्यत। ११ सुषुप्तौ। १२ कामना। १३ तस्या विषयवियोग। १४ वयोऽवस्थादीति—वय शतत्रपादिरूपमायु। अवस्था बाल्यादिरिति विवेक। पुरुषस्त्र्यादि चादिशब्दग्राह्यम्। १५ प्रकृतवाक्यस्य रूपपरत्व रूपानुवृत्त्यात्मक ह्यम्। १६ स्वापे पुंस पुण्यपापा-स्पर्शे हेतुबोधकवाक्यम्। १७ अतरूप इत्यस्यार्थमथ। १८ प्रार्थनाया। १९ आत्मन पुण्याद्यस्पृष्टत्व।

चिन्तयानस्तद्गुणान्संतप्यते पुरुषो ऽतः शोको रतिः काम इति पर्यायाः । यस्मात्सर्वकामातीतो ह्यत्रायं भवति । न कंचन कामं 'कामयतेऽतिच्छन्दा' इति ह्युक्तं तत्प्रक्रियापतितोऽयं शोकशब्दः कामवचन एव भवितुमर्हति । कामश्च कर्महेतुः । वक्ष्यति हि "स यथाकामो भवति तत्क्रतुर्भवति यत्क्रतुर्भवति तत्कर्म कुरुते" इति । अतः सर्वकामातितीर्णत्वाद्युक्तमनन्वागतं पुण्येनेत्यादि ।

हृदयस्य हृदयमिति पुण्डरीकाकारो मांसपिण्डस्तत्स्थमन्तःकरणं बुद्धिर्हृदयमित्युच्यते । तात्स्थ्यान्मञ्चक्रोशनवत् । हृदयस्य बुद्धेर्ये शोकाः कामाः । बुद्धिसंश्रया हि ते ।

तत्राह—यस्मादिति । अत्रेति सुषुप्तिरुच्यते । अतः सर्वकामातितीर्णत्वादित्युत्तरत्र संबन्धः । न केवलं शोकशब्दस्य कामविषयत्वमुपपन्नमेव किंतु संनिधेरपि सिद्धमित्याह—न कंचनेति । शोकशब्दस्य कामविषयत्वेऽपि 'सर्वस्यमात्रात्कथं "कर्मात्ययः स्यादित्याशङ्क्याऽऽह—कामश्चेति । "तत्र वाक्यशेषं प्रमाणयति—वक्ष्यति हीति । कामस्य कर्महेतुत्वे सिद्धे फलितमाह—अत इति ।

हृदयस्य शोकानतिक्रान्तोऽस्यत्र हृदयशब्दार्थमाह—हृदयमितीति । मांसपिण्डविशेषविषयं हृदयपदं कथं बुद्धिमाहेत्याशङ्क्याऽऽह—तात्स्थ्यादिति । यथा मञ्चाः क्रोशन्तीति मञ्चक्रोशनमुच्यमानं मञ्चस्थान्पुरुषाननु"पचारादाह तथा हृदयस्थत्वाद्बुद्धेरुपचाराद्बुद्धिं हृदयशब्दो दर्शयतीत्यर्थः । हृदयशब्दार्थमुक्त्वा "तस्य संबन्धं दर्शयति—हृदयस्येति । तानतिक्रान्तो भवतीति शेषः । आत्माश्रयास्ते न बुद्धिमाश्रयन्तीत्याशङ्क्याऽऽह—बुद्धीति । कथं "तर्हि 'केषिदात्माश्रयत्वं "तेषां वदन्ती-

---

कामनाओं को पार कर जाता है । क्योंकि मनोवाञ्छित विषय की कामना ही उस विषय का वियोग होने के कारण शोकरूप हो जाती है । अप्राप्त और वियुक्त हुए इष्ट विषय के निमित्त से उसके गुणों का चिन्तन करता हुआ पुरुष सन्तप्त होता है । इसलिए शोक, रति और काम ये पर्यायवाची शब्द हैं क्योंकि उस अवस्था में पुरुष समस्त कामनाओं को पार कर जाता है । "वह किसी की कामना नहीं करता", "वह कामरहित है" ऐसा श्रुति कह चुकी है । इसलिये उस प्रकरण में पठित यह "शोक" शब्द कामवाची ही हो सकता है । काम कर्म में हेतु है । इसी को आगे कहा जायगा "वह जैसे काम वाला होता है, वैसा संकल्प करता है, जैसे संकल्प करता है, वैसा कर्म करता है" । इसलिए (काम के कर्महेतुक होने से) सुषुप्ति में सर्वकर्म से अतीत होने के कारण "वह पुण्य से असम्पृक्त है" यह श्रुतिवचन सुसंगत ही है ।

"हृदयस्य भवति" यहाँ हृदय कमल के आकार वाले मांसपिण्ड को कहते हैं । उसमें स्थित अन्तःकरण या बुद्धि भी हृदय ही है । "मञ्च चिल्लाते हैं" इस वाक्य में मञ्चस्थ पुरुष का बोध

---

१ अत—निरुक्तप्रार्थनाया एवोक्तविधया शोकात्मना परिणतत्वात् । २ बृ उ ४ ३ १९ । ३ बृ उ ४ ३ २१ । ४ कामप्रकरणपठित । ५ बृ उ ४ ४ ५ । ६ क्रतुरध्यवसाय संकल्प क्रियाहेतु । ७ कामकर्महेतुत्वात् । ८ सुषुप्तौ । ९ कामातिक्रममात्रेण । १० पुण्यपापास्पर्श । ११ कामस्य कर्महेतुत्वे । १२ जहल्लक्षणयेति यावत् । १३ तस्य संबन्धमिति हृदयशब्दार्थस्य बुद्धेः शोकशब्दार्थेन कामादिना सह संबन्धमाश्रयाश्रयित्वरूपमित्यर्थः । १४ कामानां हृदयाश्रितत्वं । १५ तार्किकादय । १६ कामानाम् ।

'कामः संकल्पो विचिकित्सेत्यादि सर्वं मन एवेत्युक्तत्वात् । वक्ष्यति च' "कामा येऽस्य हृदि श्रिताः" इति, 'आत्मसंश्रयभ्रान्त्यपनोदाय होदं वचनं, हृदि श्रिता 'हृदयस्य शोका इति च । 'हृदयकरणसंबन्धातीतश्चायमस्मिन्कालेऽतिक्रामति 'मृत्यो रूपाणीति ह्युक्तम् । हृदयकरणसंबन्धातीतत्वा'त्तत्संश्रयकामसंबन्धातीतो भवतीति 'युक्ततरं वचनम् ।

ये तु वादिनो हृदि श्रिताः कामा वासनाश्च हृदयसंबन्धिनमात्मानमुपसृप्योपश्लिष्यन्ति 'हृदयवियोगेऽपि चाऽऽत्मन्यवतिष्ठन्ते पुटतैलस्थ इव पुष्पादिगन्ध इत्याचक्षते । तेषां 'कामः संकल्पो, 'हृदये ह्येव रूपाणि हृदयस्य शोका इत्यादीनां वचनानामानर्थक्यमेव । हृदयकरणोत्पाद्यत्वादिति चेत् । न । हृदि श्रिता इति विशेषणात् । न हि हृदयस्य

त्याशङ्क्य भ्रान्तिवशादित्याह—आत्मेति । भवति कामानां "हृदयाश्रितत्व तथाऽपि "तत्सबन्धद्वारा "तदाश्रयत्वसंभवात्कथमात्मा सुषुप्ते कामानतिवर्तेत तत्राऽऽह—हृदयेति । "तत्संबन्धातीतत्वे श्रुतिसिद्धे फलितमाह— हृदयकरणेति ।

भर्तृप्रपञ्च"प्रस्थानमुत्थापयति—ये त्विति । सत्येव हृदये तन्निष्ठानां कामादीनामात्मन्युपश्लेषो न "तन्निवृत्तावित्याशङ्क्याऽऽह—हृदयवियोगेऽपीति । तन्मते श्रुतिविरोधमाह—तेषामिति । हृदयेन करणेनो'त्पाद्यत्वादात्मविकाराणामपि कामादीनां हृदयसंबन्धसभवान्नाऽऽनर्थक्यं श्रुतीनामिति शङ्कते—हृदयेति । न "कामादिसंबन्धमात्रं हृदयस्य श्रुत्यर्थः किंत्वाश्रयाश्रयित्व तच्च करणत्वे न स्यात् । न हि चक्षुराद्याश्रयं रूपादिविज्ञानं दृष्टमिति परिहरति—न हृदीति । चकाराद्वचनं न समञ्ज-

होता है । उसी प्रकार हृदयस्थ बुद्धि को भी समझना चाहिये । "हृदयस्य" यानी बुद्धि के जो शोक हैं, वे बुद्धि के ही आश्रित होते है क्योंकि "काम, सकल्प और विचिकित्सा, यह सब मन मे ही है" ऐसा कहा गया है । तथा "जो काम इसके हृदय मे आश्रित है" ऐसा श्रुति आगे कहेगी । कामनाओ के आत्मसश्रयरूप भ्रान्ति के अपनोदन के लिए "हृदि श्रिता." "हृदयस्य शोका." ये श्रुतिवचन हैं । इस सुषुप्तावस्था मे यह पुरुष हृदयाख्य करण के सबन्ध से अतीत हो जाता है । जसा कि "वह मृत्यु के रूपो को पार कर जाता है" ऐसा श्रुति प्रतिपादन कर चुकी है । इसलिए हृदयाख्य करण के सबन्ध से अतीत होने के कारण हृदय से आश्रित काम सबन्ध से अतीत हो जाता है, यह कहना अधिक सगत जान पडता है ।

किन्तु जो भर्तृप्रपञ्चादि विचारक ऐसा कहते हैं कि हृदय मे स्थित काम और वासनाएं हृदयसबन्धी आत्मा के पास जाकर उसका परिष्वजन करती हैं तथा सुषुप्तावस्था मे हृदय का वियोग होने पर भी पुटतैल मे स्थित पुष्पादि की गन्ध के समान, वे आत्मा मे विद्यमान रहती हैं, उनके लिए "काम और सकल्प सब मन ही है", "रूपो के हृदयग्राही होने के कारण ये सब रूप हृदय

१ बृ उ १ ५ ३। २ बृ उ ४ ४ ७। ३ कामानाम्। ४ हृदयस्य शोकानिति तु प्रकृतवाक्य पाठ । ५ हृदयाख्यकरणेति यावत् । ६ बृ उ ४ ३ ७ । ७ हृदयेति भाव । ८ धर्मिसबन्धाभावे तद्धर्मसबन्धाभाव सुतरामिति तत्प्रकरणम् । ९ भप्रसादादौ हृदयापगमेऽपि । १० बृ उ १. ५ ३। ११ बृ उ ३ ९ २० । १२ बुद्धिस्थत्वम् । १३ ब्रह्म । १४ आत्मेति योज्यम् । १५ हृदयसबन्धातीतत्वे। १६ मतम्। १७ हृदयनिवृत्तौ। १८ आत्मनि। १९ जन्यजनकत्वसबन्धमात्रम् ।

करणमात्रत्वे हृदि श्रिता इति वचनं [1]समञ्जसं हृदये ह्येव रूपाणि प्रतिष्ठितानीति च । [2]आत्मविशुद्धेश्च [3]विवक्षितत्वाद्धृदयाश्रयणवचनं [4]यथार्थमेव युक्तम् । ध्यायतीव लेलायतीवेति च श्रुतेरन्यार्थासंभवात् ।

कामा येऽस्य हृदि श्रिता इति विशेषणादात्माश्रया अपि सन्तीति चेत् । न । [5]अनाश्रितापेक्षत्वात् । [6]नाश्रयान्तरमपेक्ष्य ये हृदीति विशेषणं किं तर्हि ये हृद्यनाश्रिताः कामा[7]स्तानपेक्ष्य विशेषणम् । ये त्वप्ररूढा [8]भविष्यन्तो भूताश्च प्रतिपक्षतो निवृत्तास्ते नैव [9]हृदि श्रिताः संभाव्यन्ते च ते । [10]अतो युक्तं तानपेक्ष्य विशेषणम् । [11]ये प्ररूढा

समिति संबध्यते । प्रदीपायत्तं घटज्ञानमिति [12]यदन्त.करणायत्तमात्माश्रितं [13]कामादिति तस्य [14]तदाश्रयत्ववचनमौ[15]पचारिकमित्याशङ्क्याऽऽह—आत्मविशुद्धेश्चेति । इतश्चेदं यथार्थमेवेत्याह—ध्यायतीवेति । अन्यार्थासंभवाद्बुद्ध्याश्रयणवचनस्येति शेष' ।

दक्षिणेनाक्ष्णा पश्यतोऽपुष्से वामेन न पश्यसीतिवत्प्ररूढा उच्यन्ते हृदि श्रिता इति विशेषणमाश्रित्याऽऽशङ्कते—कामा य इति । प्रकारान्तरेण विशेषणस्यार्थवत्त्वं दर्शयति—नेत्यादिना । अन्नेति प्रकृतश्रुत्युक्तिः । आश्रयान्तरं बुद्ध्यतिरिक्तमात्मारव्यम् । बुद्ध्यनाश्रिता' कामा एव न सन्ति यदपेक्षया हृदयाश्रयत्वविशेषणमित्याशङ्क्याऽऽह—ये त्विति । प्रतिपक्षतो विपर्ययबोधदर्शनादिति यावत् । कामानां वर्तमानत्वनियमाभावाद्भूतभविष्यतामपि संभवे फलितमाह—अत इति ।

मे ही प्रतिष्ठित हैं' तथा "हृदय के शोष (निवृत्त हो जाते हैं)" इत्यादि वचनो की व्यर्थता ही है। यदि कहो कि कामादि हृदयाख्य करण से उत्पाद्य होने के कारण हृदय से सम्बद्ध है; तो ऐसा कहना ठीक नही है क्योकि "जो काम इसके हृदय मे स्थित हैं", यहाँ "श्रिता" विशेषण है। हृदय के करण-मात्र होने मे "हृदि श्रिता" यह श्रुतिवाक्य असगत हो जायगा। इसी प्रकार "हृदय मे ही सब रूप प्रतिष्ठित हैं" यह श्रुतिवाक्य भी अनर्थक हो जायगा। किन्तु यहाँ (त्वपदार्थ शोधन में) आत्मा की विशुद्धि विवक्षित होने के कारण इस प्रकरण मे "हृदय का आश्रयण" यह वचन मुख्य है और उचित भी है क्योकि "वह मानो ध्यान करता हुआ सा, चेष्टा करता हुआ सा" इस श्रुति का कोई दूसरा अर्थ असभव है।

यदि कहो "जो काम इसके हृदय मे स्थित है" इस श्रुति मे ऐसा विशेषण देने से सिद्ध होता है कि कुछ काम आत्मा के आश्रित भी हैं, तो ऐसा कहना ठीक नही क्योकि ऐसा हृदय मे अनाश्रित कामो की अपेक्षा से है। यहाँ "जो काम इसके हृदय मे" ऐसा विशेषण कामो के किसी दूसरे आश्रय की अपेक्षा से नही है। तो किस लिये है? जो काम हृदय के अनाश्रित हैं, उनकी अपेक्षा से यह विशेषण है। और भविष्य मे होने वाले जो काम हृदय मे अप्ररूढ है तथा जो भूतकाल मे होकर विरोध के कारण

१ सगतम्। २ त्वंपदार्थशोधनस्य। ३ अत्र प्रकरणे। ४ मुख्यमेव। ५ हृदयानाश्रितकाम-व्यावृत्तये इति यावत्। ६ सग्रहवाक्यं विवृणोति—नेति। ७ तद्व्यावृत्त्यर्थमिति यावत्। ८ अप्ररूढ-विवरणमिदम्। ९ अवतरणोक्तत्वात्। १० एव सति वाक्यार्थमाह—ये प्ररूढा इति। ११ अन्त-करणेति च्छेद। १२ अन्त करणाधीनत्वात्। १३ हृदयाश्रितवचनम्। १४ गौणम्। १५ बाध-भिमतप्रकारात्।

वर्तमाना विषये ते सर्वे प्रमुच्यन्त इति ।

तथाऽपि विशेषणानर्थक्यमिति चेत् । न । तेषु यत्नाधिक्याधेयार्थत्वात् । इतरथाऽश्रुतमनिष्टं च कल्पितं स्यादात्माश्रयत्वं कामानाम् । न कंचन कामं कामयत इति प्राप्तप्रतिषेधादात्माश्रयत्वं कामानां श्रुतमेवेति चेत् । न । सधीः स्वप्नो भूत्वेति परनिमित्तत्वात्कामाश्रयत्वप्राप्तेरसङ्गवचनाच्च । न हि कामाश्रयत्वेऽसङ्गवचनमुपपद्यते । सङ्गश्च काम इत्यवोचाम । आत्मकाम इति श्रुतेरात्मविषयोऽस्य कामो भवतीति चेत् । न । व्यतिरिक्त-

हृदयानाश्रितमूलभविष्यत्कामसंभवेऽपि सर्वकामनिवृत्तेर्विवक्षितत्वाद्वर्तमानविशेषणमनर्थकमिति शङ्कते—तथाऽपीति । अतीतानागतकामाभावः संभवति स्वतः सिद्धो न तन्निवृत्तौ यत्नोऽपेक्ष्यते शुद्धात्मदिदृक्षुणा तु मुमुक्षुणा वर्तमानकामनिरासाय यत्नाधिक्यमाधेयमिति ज्ञापयितुं वर्तमानग्रहणमिति परिहरति—न तेष्विति । यदि यथोक्तं व्याख्यानमनादृत्याऽऽत्माश्रयत्वमेव कामानामाश्रीयते तदाऽश्रुतं मोक्षासंभवेनानिष्टं च कल्पितं स्यादित्याह—इतरथेति । अश्रुतत्वमसिद्धमिति शङ्कते—न कंचनेति । अर्थादात्माश्रयत्वं श्रुतमेव कामानामित्येतद्दूषयति—नेत्यादिना । निषेधो हि प्राप्तिमपेक्षते न वास्तवं कामानामात्मधर्मत्वं प्राप्तिस्तु भ्रान्त्याऽपि संभवति । तस्मादात्मनो वस्तुतो न कामाद्याश्रयत्वमित्यर्थः । इतश्चाऽऽत्मनो न कामाद्याश्रयत्वमित्याह—असङ्गेति । नन्वसङ्गवचनमात्मनः सङ्गाभावं साधयत्तस्य कामित्वे न विरुध्यते तत्राऽऽह—सङ्गश्चेति । कामश्च सङ्गस्ततोऽसिद्धो हेतुरत्रेति शेषः । वाक्यान्तरमाश्रित्याऽऽत्मनि कामाश्रयत्वं शङ्कित्वा दूषयति—आत्मेत्यादिना ।

निवृत्त हो गये है, वे हृदय मे स्थित नही है । उनकी संभावना हो सकती थी । इसलिये उनकी अपेक्षा से ऐसा विशेषण देना उचित है कि "जो प्ररूढ विषय मे वर्तमान है, वे सब ही मुक्त हो जाते हैं" ।

यदि कहो कि ऐसा मानने पर भी विशेषण का आनर्थक्य ज्यों का त्यो बना रहता है; तो ऐसा कहना ठीक नही क्योकि वर्तमान कामादिको की निवृत्ति के लिए यत्नाधिक्य की अपेक्षा होने से हृदयारूढ काम हेय हैं । नही तो 'कामनाएँ आत्मा के आश्रित है' ऐसी अश्रुत और अनिष्ट कल्पना हो जाती । यदि कहो कि "वह किसी काम की कामना नही करता" इस श्रुतिवाक्य से प्राप्त वस्तु के प्रतिषेधरूप नियम से कामो का आत्माश्रय तो श्रुतिसम्मत है । तो ऐसा कहना ठीक नही क्योकि "वह बुद्धिसहित स्वप्न होकर" इस श्रुतिवाक्य के अनुसार आत्मा का कामाश्रयत्व की प्राप्ति अन्य (बुद्धि) के कारण ही है । "यह पुरुष असङ्ग है" इस श्रुतिवचन से भी यही सिद्ध होता है । कामा-

१. प्ररूढविवरणं विषय वर्तमाना इति । २ अवतरणोक्तत्वात् । ३ वर्तमानकामादिषु तन्निवृत्त्यर्थं यत्नाधिक्यज्ञापनार्थत्वाद्विशेषणस्य (वर्तमानग्रहणस्य) इत्यर्थः । ४ कामस्य हृदयाश्रयत्वानभ्युपगम्य आत्माश्रयत्वाभ्युपगमनम् । ५ वचनात् । ६. धीउपसर्गनिमित्तत्वात् । ७. "असङ्गो ह्ययं पुरुष" इति । ८. बृ. उ ४ ३. १६ । ९. बृ उ ४. ४. ६ । १०. आत्मातिरिक्तेत्यर्थः । ११. अनुष्ठेयम् । १२. मोक्षवादिनो हि तव मोक्षासंभवोऽनिष्ट इति भाव । १३ अप्राप्तप्रतिषेधानुपपत्तेः । १४. बोधयत् । १५. आत्मनः । १६. न हि काम सङ्गो नामेति पूर्ववाक्याभिप्राय. । १७ अवोचामेति सूचितं स्थलं दर्शयति—कामश्चेत्यादिना । तथा चात्र कामश्च सङ्गोऽतोऽसिद्धो हेतुरित्यत्रेत्येव युक्तः पाठः । १८. कामस्यैव सङ्गत्वात् । १९. श्रुतत्वम् । २०. कामित्वे ।

कामाभावार्थत्वात्तस्याः[1]।

[2]वैशेषिकादितन्त्रन्यायोपपन्नमात्मनः कामाद्याश्रयत्वमिति चेत्। न हृदि श्रिता इत्यादिविशेषणश्रुतिविरोधाद्[3]नपेक्ष्यास्ता वैशेषिकादितन्त्रोपपत्तयः। श्रुतिविरोधे न्याया-[4]भासत्वोपगमात्। स्वयंज्योतिष्ट्वबाधनाच्च। कामादीनां च स्वप्ने [5]केवलदृशिमात्र-विषयत्वात्स्वयंज्योतिष्ट्वं स्थितं बाध्येत। [6]आत्मसमवायित्वे तद्दृश्यत्वानुपपत्तेश्चक्षुर्गत-

इच्छादयः क्वचिदाश्रिता गुणत्वाद्रूपादिवदि[7]त्यनुमाना[8]त्परिशेषात्कामाद्याश्रयत्वमात्मनः सेत्स्यतीति शङ्कते—वैशेषिकादीति। [9]श्रुत्यवष्टम्भेन निराचष्टे—नेत्यादिना। स्वयंज्योतिष्ट्वबाधनाच्च नाऽऽत्माश्रयत्वं कामादीनामिति शेषः। [10]तदेव विवृणोति—कामादीनामिति। स्थितं [11]चानुमानादिति शेषः। यद्यत्र समवेतं तत्तेन न दृश्यते। यथा चक्षुर्गतं कार्ष्ण्यं तेनैव चक्षुषा न दृश्यते तथा कामादीना-मात्मसमवायित्वे तद्दृश्यत्वं न स्यात्तद्दृश्यत्वबलेनैव स्वयंज्योतिष्ट्वं साधितं [12]तथा च [13]तद्बाधे [14]पूर्वोक्त-

श्रयत्व होने पर प्रसङ्ग श्रुति निरर्थक हो जायगी और "सङ्ग ही काम है" यह श्रुतिवचन कहा जा चुका है। यदि कहो "आत्मकाम" ऐसी श्रुति होने के कारण इसे आत्मविषयक काम होता ही है, तो ऐसा कहना ठीक नहीं है क्योंकि यह श्रुति आत्मातिरिक्त काम का अभाव बतलाती है।

यदि कहो कि वैशेषिकादि सिद्धान्तों में जो न्याय है, उनकी उपपत्तियों द्वारा आत्मा का कामाश्रयत्व सिद्ध हो जाता है, तो ऐसा कहना ठीक नहीं क्योंकि "हृदय में जो काम स्थित हैं" इत्यादि विशेष श्रुति से विरोध होने के कारण वैशेषिकादि शास्त्रों की वे उपपत्तियाँ अनादरणीय हैं, तथा श्रुतिविरोध होने से उनको न्यायभ्रान्तत्व माना गया है और इसको स्वीकार कर लेना आत्मा का स्वयंज्योतिष्ट्व भी बाधित हो जाता है। स्वप्न में केवल साक्षी मात्र भास्य होने से कामादि के सिद्ध और प्रतिष्ठित स्वयंज्योतिष्ट्व का बाध हो जायगा क्योंकि कामों के आत्मसमवायी होने पर, नेत्रगत विशेष की तरह वे आत्मा के दृश्य नहीं हो सकेंगे। द्रष्टा से दृश्य भिन्न पदार्थ

१ श्रुतेः। २ आदिना गौतमादयो गृह्यन्ते तदीयतन्त्रेषु ये न्याया उपपत्तयस्तैस्सिद्धम्। ३ नादरणीयाः। ४ भ्रान्तत्वमिति यावत्। ५ केवलेत्यादि—केवलसाक्षिमात्रभास्यत्वादित्यर्थः। केवलेति चक्षुराद्यनपेक्षत्वं मात्रेति मनोनपेक्षत्वं विवक्षितम्। ६ बाध्यत्वे हेतुमाह—आत्मेति। कामानामिति शेषः। तत्र दृष्टान्तमाह—चक्षुरिति। ७ इत्यनुमानादिति—इति सामान्यानुमानेनेच्छादीनां साश्रयत्वसिद्धाविति यावत्। ८ परिशेषादिति—इच्छादयः पृथिव्याद्यनाश्रिताश्चेतनत्वसामानाधिकरण्येन प्रतीयमानत्वाद्यन्नैवं तन्नैवं यथा रूपादीति परिशेषानुमानादित्यर्थः। तथा चेच्छादय आत्माश्रिताः साश्रयत्वे सति पृथिव्याद्यनाश्रितत्वाद् व्यतिरेके रूपादिवदित्यनुमानं फलितमित्यभिप्रेत्याह—कामादीति। ९ श्रुत्यवष्टम्भेन निराचष्ट इति—यद्यपि चेतनत्व-सामानाधिकरण्येन प्रतीयमानत्वं प्रतीतिसामान्यघटितत्वे व्यभिचार्येव पृथिव्याद्याश्रितस्यापि रूपस्य गौरोऽहम्-मिति तत्त्वेन प्रतीतेरिति न तन्निराकरणाय श्रुत्यवष्टम्भ आवश्यकस्तथापि तस्य प्रमाघटितत्वाभिमाने तु हेतोरसिद्धिसिद्ध्यर्थमिच्छादीनां तथाप्रतीतेर्भ्रमत्वापादनायान्ततः श्रुतिरेव कामः संकल्पो विचिकित्सेत्यादि शरणं तदुक्तमादावेव तदवष्टम्भ इति भावः। १० बाधनमेव। ११ आत्मा स्वयंज्योतिर्भासकत्वादादित्या-दिवदित्यनुमानम्। १२ तथा चेति—तेषां तत्समवेतत्वे। १३ स्वयंज्योतिष्ट्वबाधकतद्दृश्यत्वाभावे न च स्वयंज्योतिष्ट्वमित्यर्थः। १४ पूर्वोक्तानुमानमिति—स्वयंज्योतिष्ट्वस्थापकानुमानम्। तच्च बृ० उ० ४। ३। २ टीकायां द्रष्टव्यम्।

विशेषवत् । 'द्रष्टुर्हि दृश्यमर्थान्तरभूतमिति' द्रष्टुः स्वयंज्योतिष्ट्वं सिद्धम् । 'तद्बाधितं स्याद्यदि कामाद्याश्रयत्वं परिकल्प्येत ।

सर्वशास्त्रार्थविप्रतिषेधाच्च । परस्यैकदेशकल्पनायां कामाद्याश्रयत्वे च सर्वशास्त्रार्थजातं कुप्येत । एतच्च विस्तरेण 'चतुर्थेऽवोचाम । महता हि 'प्रयत्नेन कामाद्याश्रयत्वकल्पनाः प्रतिषेद्धव्या आत्मनः परेणैकत्व'शास्त्रार्थसिद्धये । तत्कल्पनायां पुनः क्रियमाणायां शास्त्रार्थ एव बाधितः स्यात् । यथेच्छादीनामात्मधर्मत्वं कल्पयन्तो वैशेषिका नैयायिकाश्चो'पनिषच्छास्त्रार्थेन न संगच्छन्ते, 'तथेयमपि कल्पनोपनिषच्छास्त्रार्थबाधनात्त्वाऽऽदरणीया ॥ २२ ॥

मनुमानमपि बाध्येतेत्यर्थः । कथं कामादीनामात्मदृश्यत्वमाश्रित्य स्वप्ने स्वयंज्योतिष्ट्वस्योपदिष्टत्वं तत्राऽऽह—द्रष्टुरिति । 'तथाऽपि तेषामात्माश्रयत्वे काऽनुपपत्तिस्तत्राऽऽह—तद्बाधितमिति ।

यत्तु परमात्मैकदेशं जीवमाश्रित्य तदाश्रितं कामादीति" तत्राऽऽह—सर्वशास्त्रेति । "तदेव स्फुटयति—परस्येति । शास्त्रार्थजात निरवयवत्वप्रत्यगेकत्वादि तस्य कथं कोप. स्यादित्याशङ्क्याऽऽह—एतच्चेति । चतुर्थे चेद्भर्तृप्रपञ्चमत निरस्तं तर्हि पुनर्निराकरणमकिंचित्करमित्याशङ्क्याऽऽह—महतेति । "परेण सह प्रत्यगात्मनो यदेकत्वं तस्य शास्त्रार्थस्य सिद्ध्यर्थमिति यावत् । अंशत्वादिकल्पनायामपि शास्त्रार्थसिद्धिमाशङ्क्याऽऽह—तत्कल्पनायामिति । भर्तृप्रपञ्चकल्पनाया हेयत्वमुपसंहरति—यथेत्यादिना ॥२२॥

होता है" इस कारण से द्रष्टा (आत्मा) का स्वयज्योतिष्ट्व होना सिद्ध हो जाता है। इसलिये यदि आत्मा में कामादि के आश्रयत्व की कल्पना की जायगी, तो वह बाधित हो जायगा।

सम्पूर्ण शास्त्रों के तात्पर्यार्थ से भी विरोध होने के कारण उक्त कल्पना अमान्य है। निरवयव परमात्मा की एकदेश कल्पना तथा आत्मा कामादि का आश्रय है-ऐसा मानने से तो सम्पूर्ण शास्त्र का अर्थ ही विप्रतिषिद्ध हो जायगा। यह बात हमने "चतुर्थे" यानी उपनिषत् के द्वितीय अध्याय में (अजातशत्रु ब्राह्मण में) विस्तारपूर्वक कही है। आत्मा-परमात्मा का एकत्व यही शास्त्रप्रमेय सिद्ध करने के लिए "आत्मा कामादि का आश्रय है" इस कल्पना का बार-बार महान् प्रयत्न करके प्रतिषेध करना चाहिये। पुन इस कल्पना के करने पर तो शास्त्र का तात्पर्यार्थ ही बाधित हो जायगा। जिस प्रकार इच्छादि को आत्मधर्मी मानने वाले वैशेषिकों और नैयायिकों की उपनिषत् सम्मत शास्त्रतात्पर्य से सगति नहीं बैठती, उसी प्रकार (भर्तृप्रपञ्च की) यह कल्पना उपनिषत् शास्त्र के तात्पर्यार्थ की बाधिका होने के कारण हेय है ॥२२॥

---

१ सकाशात् । २ हेतो । ३ तद् उक्तरीत्या सिद्ध स्थित च स्वयज्योतिष्ट्वम् । ४ द्वितीयऽध्याये अजातशत्रुब्राह्मणे पृ ४६३भाष्ये 'यत्र केचिदि"त्यारभ्याऽऽब्राह्मणसमाप्तिपर्यन्तम् । ५ भूयो भूय इति यावत् । ६ शास्त्रप्रमेयेति भाव । ७ उपनिषच्छास्त्रार्थेन—कामादीना मनाधर्मत्वाभ्येन । न सगच्छन्ते संवादिनो न भवन्तीत्यर्थ । ८ भर्तृप्रपञ्चीयापि । ९ उक्तरीत्या स्वयज्योतिष्ट्वे सिद्धेऽपि । १० मतम् केषाचित् भर्तृप्रपञ्चादीनाम् । ११ विप्रतिषिद्धत्वमव । १२ परमात्मना ।

*स्त्रीपुंसयोरिवैकत्वान्न पश्यतीत्युक्तं स्वयं ज्योतिरिति च। स्वयंज्योतिष्ट्वं नाम चैतन्यात्मस्वभावता। यदि ह्यग्न्युष्णत्वादिवच्चैतन्यात्मस्वभाव आत्मा स कथमेकत्वेऽपि स्वभावं जह्यान्न जानीयात्। अथ न जहाति कथमिह सुषुप्ते न पश्यति। विप्रतिषिद्धमेत-

यद्वै तन्न पश्यतीत्यादेः संबन्ध वक्तुं वृत्तं कीर्तयति—स्त्रीपुंसयोरिति। चकारादुक्तं स्वयंज्योतिष्ट्वमिति संबध्यते। किमिदं स्वयंज्योतिष्ट्वमिति तदाह—स्वयंज्योतिष्ट्व नामेति। एवं वृत्तमनूद्योत्तरवाक्यव्यावर्त्यां शङ्कामाह—यदीत्यादिना। स्वभावत्यागमेवाभिनयति—न जानीयादिति। तत्त्यागाभावे सुषुप्ते विशेषविज्ञानराहित्यमयुक्तमित्याह—अथेत्यादिना। आत्मा चिद्रूपोऽपि सुषुप्ते विशेषं न जानाति चेत्कि दुष्यतीत्याशङ्क्याऽऽह—विप्रतिषिद्धमिति। परिहरति—नेति। उभयं चैतन्य-

(यहाँ शङ्का होती है—) सुषुप्ति में स्त्री और पुरुष के समान परमात्मा के साथ जीव की एकता होने के कारण 'वह नहीं देखता है' तथा वह स्वयं ज्योति है' ऐसा कहा गया। चैतन्य आत्मस्वभाव जिसका हो, उसे स्वयंज्योतिष्ट्व कहते हैं। यदि अग्नि के उष्णत्वादि के समान आत्मा चैतन्य-रूप है, तो परमात्मा के साथ एकत्व होने पर वह अपने स्वभाव का कैसे छोड़ देता है अर्थात् कैसे नहीं जानता है? यदि वह स्वभाव को नहीं छोड़ता तो यहाँ सुषुप्तावस्था में क्यों नहीं देखता है? वह चैतन्य आत्मस्वभाव वाला है और आत्मा नहीं जानता—यह वचन तो परस्पर विरुद्ध है। इस पर

१ परेण सह जीवस्य। २ चैतन्यमात्मस्वभावो यस्य सत्ता। ३ यदीति—आत्मा चिद्रूपश्चेत्कामादिवच्चैतन्य न त्यजेत् स्वभावस्य त्यागायोगादतश्चैतन्य नास्य स्वाभाविको धर्मः सत्यप्यात्मनि स्वापे तदभावात् मयोगाग्निव-दागन्तुकत्वेऽपि नासावात्मन स्वतो धर्मः तद्धर्मत्वेऽपि तथैव (चैतन्यवदेव) सुषुप्तौ तन्नाश (आत्मनाशः धर्मनाशे धर्मिनाशात्) स्यादात्मा जड एवेति भाव। ४ स्वभाव जह्यादित्यस्यैव विवरणमिदम्। ५ विप्रतिषिद्धमिति—आदित्योऽप्रकाश इतिवत्स्वयंज्योतिर्न पश्यतीति व्याहतमित्यर्थः। ६ पूर्ववाक्येन सह। ७ स्वभावत्यागाभावे।

* स्त्रीपुंसयोरित्यादि न जानाति चेदीत्यन्त वार्तिकं यथा—"चैतन्यमपि नैव स्यादात्मन कामकर्मवत्। धर्मान्वयत प्राज्ञ इत्यवमभिवादित॥ स्त्रीपदृष्टान्तवाक्येन परिहारश्च दर्शित। विभागस्त्वसद्भावाज्जाग्रद्वन्नोपलभ्यते॥ अविभागात्मता यात न पुन कामकर्मवत्। साधित च प्रयत्नेन स्वयंज्योतिष्ट्वमात्मन॥ यद्यात्माऽयं स्वयंज्योति कामकर्मादिवत्कथम्। सुषुप्तेऽस्य स्वभावत्वाज्जह्याच्चैतन्यमिष्यत॥ नास्य धर्मो भवेदेतत्सुषुप्ते तददर्शनात्। नाऽऽत्मधर्मो विनष्टत्वात्तस्माच्चैतन्यमत्र सत्॥ अपि विप्रतिषिद्ध च यत्स्वयंज्योतिरात्मकम्। अयं वस्तु न वेत्तीति भवताऽभिधीयते॥ स्वयादनुपलब्धिश्चेदनैकान्तिकता तथा। यतोऽभावेऽप्यसंवित्तिश्चैतन्यस्येह दृश्यते॥ इत्यस्य परिहारार्थं परो ग्रन्थोऽवतार्यते। यद्वै तदित्युपक्रम्य प्रत्यग्वस्तुविशुद्धये"॥ १३७८-१३८५॥ इति। यद्वै तन्न पश्यतीत्याद्यग्रन्थार्थं वृत्तं कीर्तयति—चैतन्यमिति। यथा कामादिस्तद्वच्चैतन्यस्यापि सुप्तौ हेत्वभावेन सत्त्वायोगादिति हेत्वर्थः॥ उक्तमत्र परिहारमनुद्रवति—विभागेति। बाह्यो घटादिरान्तरश्च सुखादिर्विभागस्तस्य हेतुर्व्यक्तमनस्तदभावादिति यावत्। चैतन्यमिति शेष॥ हेत्वन्तरमाह—अविभागेति। अद्वयब्रह्मणैकीभूतमिति यावत्। नासत्त्वमनुपलब्धिहेतुरित्याह—न पुनरिति। तदेव तत्रार्थप्रकारेण कि न स्यात्तत्राऽऽह—साधितं चेति। आत्मनः स्वयंज्योतिष्ट्वं कामादिवदौपचारिकमित्याशङ्क्य तस्यान्यानवभास्यत्वेन तस्य सर्वावभासकत्वान्मैवमित्याह—प्रयत्नेनेति॥ तत्र चोदयति—यदीति। आत्मा चिद्रूपश्चेत्कामादिवच्चैतन्यं न त्यजेत्स्वभावस्य त्यागायोगादतश्चैतन्य नास्य स्वाभाविको धर्मः सत्यप्यात्मनि स्वापे तदभावात्संयोगादि

[१]यद्वै तन्न पश्यति पश्यन्वै तन्न पश्यति*न हि द्रष्टुर्द्[२]ष्टेर्विपरिलोपो विद्यतेऽविनाशित्वात् । न तु तद्[३]द्वितीयमस्ति ततोऽन्यद्विभक्तं यत्पश्येत् ॥ २३ ॥

वह जो सुषुप्ति में नहीं देखता है, नि.सन्देह उस अवस्था मे देखता हुआ ही नही देखता है, क्योकि द्रष्टा की दृष्टि का कभी लोप नही होता । वह तो अविनाशी है । उस अवस्था मे उससे भिन्न कोई अन्य वस्तु नही रह जाती, जिसे कि वह देखे ॥२३॥

चचैतन्यमात्मस्वभावो न जानाति चेति । न विप्रतिषिद्धमुभयमप्येतदुपपद्यत एव । कथम्–

स्वभावत्वं विशेषविज्ञानराहित्यं चेत्यर्थः । उभयस्वीकारे शङ्कितं विप्रतिषेधमाकाङ्क्षापूर्वकं श्रुत्या निराकरोति—कथमित्यादिना । यद्वै तदित्यादिवाक्यं 'चोदितार्थानुवादस्तत्परिहारस्तु पश्यन्नित्यादि-

---

सिद्धान्ती कहता है—ये परस्पर विरुद्ध कथन नही है, दोनो बाते कहना सुसंगत ही है । किस प्रकार ? (इस पर श्रुति कहती है—)

---

१ स्त्रीपुंसपरिष्वङ्गदृष्टान्तेनैकत्वापत्तिवशाद्विशेषज्ञानाभावो न स्वयंज्योतिष्ट्वाभावादित्युमेव चोद्यपूर्वकं स्पष्टयति—यद्वा इति । तत्तत्र सुषुप्तौ आत्मा न वै नैव पश्यतीति यज्जानीषे तत्र तथा यतस्तत्र स्वरूपचैतन्येन सर्वसाक्षित्वात्पश्यन्नेष सन् द्रष्टव्यमर्थजातं न पश्यतीत्यपि संभवतीति स्वरूपदर्शनं विशेषादर्शनं च प्रतिज्ञायत इत्यर्थः । तत्र प्रथमप्रतिज्ञाया हेतुमाह—न हीति । द्रष्टुः प्रमातुर्या सर्वसाक्षिभूता दृष्टिर्यद्वा द्रष्टुः कूटस्थचिन्मात्ररूपस्य स्वरूपभूता या दृष्टिस्तस्या हि यस्माद्विपरिलोपो विनाशो न विद्यतेऽन्युत्पन्नत्ववत् तत्रापि हेतुमाह—अविनाशित्वादिति । विनाशहेतुपरिणामहीनत्वादित्यर्थः । विशेषज्ञानाभावरूपद्वितीयप्रतिज्ञाया हेतुमाह—न त्विति । तत्तत्र सुषुप्तौ आत्मस्वरूपात् द्वितीयं प्रमातृरूपं साभासान्तःकरणाख्यम् । आत्मस्वरूपादन्यच्च चक्षुरादि करणं विभक्तं च रूपादिप्रमेयं न त्वस्ति यत् प्रमेयं प्रमाता प्रमाणेन पश्येदित्यर्थः । २ आत्मा । ३ यच्छब्दयोगात् ।

यदागन्तुकत्वेऽपि नासावात्मनः स्वतो धर्मस्तद्धर्मत्वेऽपि तथैव सुप्तौ तन्नाशान्तस्मादात्मा जड एवेत्यर्थः ॥ विचाऽऽदित्योऽप्रकाश इतिवत्स्वयंज्योतिर्न पश्यतीति व्याहतमित्याह—अपीति । इहेति स्वापोक्तिः ॥ श्रीवाक्योक्तं समाधिं शङ्कते—एवमादिति । ब्रह्मार्णस्य विद्यमानस्यैव चैतन्यस्यानुपलब्ध्या न नियतमिति दूषयति—अनैकान्तिकतेति । तथेत्यैस्यादनुपलम्भस्वीकारे सतीत्यर्थः । अनैकान्तिकत्वे हेतुमाह—यत इति । लोके पाषाणादौ चैतन्यस्याभावेऽप्यनुपलब्धेरैवयस्य तत्प्रयोजकत्वे व्यभिचारीत्यर्थः ॥ उत्तरमादत्ते—इत्यस्येति । स्वप्रकाश तत्र जडमिति तद्विशुद्धिस्तदर्थं चोद्यं समाधेयं तदर्थं न यद्वै तदित्यादिप्रवृत्तिरित्यर्थः ॥

* न हि द्रष्टुर्दृष्टेरित्यादौ वार्तिके—"न हीतिहेतुवचनं प्रतिज्ञातार्थसिद्धिकृत् । द्विप्रकारो विनाशश्च द्विहेतूक्त्या निषिध्यते ॥ निरन्वयो विनाशोऽस्य न हीत्युक्त्या निषिध्यते । अविनाशीति चाप्यत्र विकारापह्नुतेर्वच ॥ अविनाशीति मैत्रेय्या द्विधानाशनिषेधकृत् । वचनं प्रागुपन्यस्तं तदेवात्रापि हेतवे ॥ सर्वोच्छित्त्यात्मसाक्षित्वादुच्छित्तेश्चाप्यसंभवात् । तथा सर्वविकाराणां प्रत्यङ्मात्रैकसाक्षिता ॥ पश्यन्नेवायमत्राऽऽस्ते सान्वयानन्वयो ध्रुवः । नाशो यस्मादतः सिद्ध आत्मा कूटस्थदर्शनः ॥ पश्यन्न पश्यतीत्येतत्स्वतन्त्रं चाऽऽगमं वच । न हीति तु प्रतिज्ञोक्ति-

यद्वै सुषुप्ते तत्र पश्यति पश्यन्वै तत्तत्र[1] पश्यन्नेव न पश्यति। यत्तत्र सुषुप्ते न पश्यतीति जानीषे तत्र तथा गृह्णीयाः। कस्मात्। पश्यन्वै भवति तत्र।

वाक्यमिति विभजते—यत्तत्रेति।

जो यह सुषुप्ति में नहीं देखता, सो उस सुषुप्तावस्था में वह देखते हुए भी नहीं देखता। तुम जो ऐसा जानते हो कि वह वहाँ सुषुप्ति में नहीं देखता, उसे वैसा मत मान लो। क्यों? क्योंकि वह वहाँ

---

१ सुषुप्तौ।

रनुमास्यनुसारिणी ॥ हेतूक्तिरविनाशित्वादित्युक्तार्थप्रसिद्धये। विनाशशक्त्यभावोऽस्तेनं प्रतिज्ञैव देशता ॥ प्रतिज्ञावचसी द्वे वा पश्यन्नित्यादिनोदिते। न हीति हेतुवचसी द्वे स्यातामुत्तरे तयो ॥ पश्यन्नेवाऽऽस्त इत्यस्या प्रतिज्ञोक्तेः प्रसिद्धये। हेतुर्न हीतिवचनमुत्तरस्यापि चोत्तरम् ॥ निरन्वयविनाशस्य निषेधोऽत्र विवक्ष्यते। प्रथमे हेतुवचसि परिणामस्तथोत्तरे ॥ द्वौ वा हेतू यथोक्तार्थौ द्वयोरपि प्रतिज्ञयो। ताभ्यां संभूय सिद्धोऽर्थं एव सति भवेदत" ॥ १४९९-१५०६ ॥ इति। प्रतिज्ञावाक्य पादद्वयेऽपि व्याख्याय हेतुवाक्यमनूद्य तस्यार्थमाह—न हीति। आत्मा कूटस्थदृष्टिरिति प्रतिज्ञातोऽर्थस्तत्साधकत्वेन न हीत्यादिवाक्यमित्यर्थः। एकेनैव हेतुना प्रतिज्ञार्थसिद्धेर्व्यर्थं हेत्वन्तरमित्याशङ्क्याऽऽह—द्विप्रकार इति ॥ कौ तौ नाशस्य द्वौ प्रकारौ तयोर्वा कस्य केन निषेध इत्याशङ्क्योक्तं विभजते—निरन्वय इति। विपरीतुपसर्गद्वयवशादित्यर्थः। अविनाशित्वादित्यस्य तात्पर्यमाह—अविनाशीति चेति। विकारस्यापह्नुति कारणसंसर्ग सावशेषो नाशस्तत्संबन्धविनाशित्वादिति वचोऽस्मिन्वाक्ये प्रयुक्तमतो निरवशेषनाशवत्सावशेषनाशस्याप्ययोगात्कूटस्थदृष्टिरात्मेत्यर्थः ॥ चतुर्थे च नाशद्वय निरस्तमित्याह—अविनाशीति। अविनाशी वा अरेऽयमात्माऽनुच्छित्तिधर्मेत्यत्र नाशद्वय निषिद्ध चेत्किमितीह निषिध्यते तत्राऽऽह—सदेवेति। आत्मा कूटस्थदृष्टिरिति प्रतिज्ञातेऽर्थे नाशद्वयाभावरूपहेतुसिद्धयर्थं चातुर्थिकमेव वाक्यमत्राऽऽकृष्टमित्यर्थः ॥ आत्मनो निरन्वयनाशाभावे हेतुमाह—सर्वेति। सर्वात्मनोच्छित्तिर्निरन्वयो नाशस्तत्राऽऽत्मन साक्षित्वान्न प्रसक्तिरित्यर्थः। आत्मन सावशेषनाशाभावे हेतुमाह—उच्छित्तेश्चेति। उच्छित्ति सावशेषा नाशो हेतुसंसर्गो नाऽऽत्मनो युज्यते हेत्वभावात्तत्रापि साक्षित्वाच्च तदसौ नित्यदृष्टिरेवेत्यर्थः। सावशेषनाशाभावे हेत्वन्तरमाह—तथेति। सर्वेषु विकारेषु प्रत्यङ्मात्रस्य साक्षित्वात्तस्याविकारित्वाच्च कारणसंसर्गो नाश इत्यर्थः ॥ आत्मनो द्विधानाशाभावं फलितमाह—पश्यन्निति। विधान्तरेण वाक्य विभजते—पश्यन्नित्यादिना। आगमस्य हि वचो न हेतुमानाङ्क्षत निरपेक्षप्रमाणत्वादित्यर्थः। न हीत्यादावशिष्ट विभागमाह—नेति। यथा वह्निमानिति प्रतिज्ञाय तत्सिद्धये धूमवत्त्वादिति हेतुरुच्यते तथैव दृष्टेर्नित्यत्व प्रतिज्ञाय तस्यैव प्रतिज्ञातस्य सिद्धयर्थमनुमानानुसारिणी हेतुक्तिरविनाशित्वादिति प्रयुज्यते तथाचानुमानवत्साधकत्वमित्यर्थः। आत्मदृष्टेर्नाशाभाव प्रतिज्ञायाविनाशित्वादिति हेतु वदन्माध्यन्दिनश्रुतेर्व्याशङ्क्याऽऽह—विनाशेति। न विनश्यतीति प्रतिज्ञा विनष्टुमयोग्यत्व हेतुस्तत्रानयारकार्थनेत्यर्थः ॥ प्रकारान्तरेण विभागमाह—प्रतिज्ञेति ॥ तमेव विभाग प्रकटयति—पश्यन्नेवेति। उत्तरस्य न पश्यतीत्यस्येति यावत्। उत्तरमविनाशित्वादिति वाक्यमित्यर्थः ॥ हेत्वोरैकार्थ्यमाशङ्क्याऽऽह—निरन्वयेति। परिणामो निषिध्यत इति शेष ॥ प्रतिज्ञाद्वय हेतुद्वय योज्यमिति विधान्तरमाह—द्वौ वेति। यथोक्तार्थौ सावशेषो निरवशेषश्चेत्युक्तावित्यर्थः। द्वयोरिति पश्यन्न पश्यतीत्यनयोरित्यर्थः। अस्मिन्पक्षे लाभमाह—ताभ्यामिति। ताभ्यां हेतुभ्यां संभूय स्थिताभ्यामात्मनो दृष्टित्वमनाशश्च विवक्षितोऽर्थो यत सिध्यत्यतो हेतुद्वय प्रतिज्ञाद्वयेऽपि योज्यमत्र वाक्यद्वय स्थिते कूटस्थदृष्टित्वमात्मन स्थितमित्यर्थः ॥

नन्वेवं न पश्यतीति सुषुप्ते जानीमो यतो न चक्षुर्वा मनो वा दर्शने करणं व्यापृतमस्ति । व्यापृतेषु हि दर्शनश्रवणादिषु पश्यतीति व्यवहारो भवति शृणोतीति वा । न च व्यापृतानि करणानि पश्यामः । तस्मान्न पश्यत्येवायम् । न हि । किं तर्हि पश्यन्नेव भवति । कथम् । न हि यस्माद्द्रष्टुर्दृष्टिकर्तुर्या दृष्टिस्तस्या दृष्टेर्विप-

न हीत्यादिवाक्यनिरस्यामाशङ्कामाह—नन्विति । चक्षुरादिव्यापाराभावेऽपि सुषुप्ते दर्शनादि किं न स्यादित्याशङ्क्याऽऽह—व्यापृतेष्विति । अस्तु तर्हि तत्रापि करणव्यापारो नेत्याह—न चेति । अयमिति सुषुप्तपुरुषोक्तिः । न पश्यत्येवेति नियमं निषेधति—न हीति । तत्र हेतुं वक्तुं प्रश्नपूर्वकं प्रतिज्ञां प्रस्तौति—किं तर्हीति । तत्राऽऽकाङ्क्षापूर्वकं हेतुवाक्यमुत्थाप्य व्याचष्टे—कथमित्यादिना ।

देखता ही रहता है ।

(पुनः शङ्का होती है—) किन्तु हम जानते है कि सुषुप्तावस्था में वह इस प्रकार नही देखता क्योकि वहाँ चक्षु या मन कोई भी इन्द्रिय दर्शनरूप व्यापार करने वाली नही होती । चक्षु और श्रोत्रादि के दर्शन-श्रवणादि व्यापार मे लगे रहने पर देखता है अथवा सुनता है—ऐसा व्यवहार होता है । और वहाँ हम इन्द्रियो को व्यापार में लगी हुई अनुभव नही करते । इसलिये यह नही ही देखता है । (इस पर सिद्धान्ती कहता है—) ऐसा कहना ठीक नही है । फिर क्या है ? यह देखता ही रहता रहता है । किस प्रकार ? क्योकि "द्रष्टुः" यानी दृष्टि के कर्ता प्रमाता की जो साक्षीरूपा दृष्टि है, उस

१ इत्येव जानीम इत्यन्वयः । २ चक्षुःश्रोत्रादिषु । ३ जात्यन्धादौ तथाव्यवहारादर्शनात् । ४. अनुभवाम । ५ व्यापृतकरणाभावात् । ६ किम् कोऽस्य नियम इत्यर्थः । ७ तर्हि—न पश्यतीति नियमाभावे । ८ प्रमातुः । ९ साक्षिरूपा । १० तर्हि—व्यापृतेषु करणेषु पश्यतीत्यादि व्यवहारे सति । ११ सुषुप्तौ । १२ उक्तनियमनिषेधे । १३ स्थापयति । १४. पश्यन्नेवेति प्रतिज्ञानेऽर्थे ।

ॐ नन्वेवमित्यारभ्य यावद्द्रष्टृभाविनी हि सेत्यन्तभाष्ये वार्तिककाचार्यास्तथाहि—"न पश्यत्येव नन्वत्र चक्षुरादेरसम्भवात् । कारणान्यन्तरेणेह जात्यन्धादिर्न वीक्षते ॥ नैतदत्र यतो द्रष्टुः कारकस्य समीक्षणे । करणानि व्यपेक्ष्यन्ते न त्वकारकवीक्षणे ॥ स्वप्नेऽपि चक्षुरादीनामपीति श्रूयते श्रुतौ । कुतः सुषुप्तौ तानि स्युर्यत्र तद्वासनाऽपि न ॥ न पश्यतीति वचनं कारकादेरसम्भवात् । वाऽस्तत्र वृत्तमापेक्ष्य पश्यन्वै तदितीर्यते ॥ पश्यन्नेवायमत्राऽऽस्त इत्येतच्चेत्कुतो भवेत् । इत्यस्य हेतुसिद्ध्यर्थं न हि द्रष्टुरितीरणम् ॥ मेयमानप्रमातृणां व्यभिचारेऽपि चाऽऽत्मनः । अनन्यानुभवादेव सिद्धिस्तद्ध्वंससाक्षिता ॥ प्रमात्राद्यनभिव्याप्तं वस्तु पूर्वं समीक्ष्य हि । नाद्राक्षमिति संधत्ते दृष्ट्यत्वविदात्मना ॥ यस्माद्द्रष्टुर्हि या दृष्टिर्यया द्रष्टा प्रसिध्यति । तस्या विपरिलोपोऽस्य हेत्वभावान्न युज्यते ॥ नाशोत्पत्त्यादयो धर्मा हेतुमद्वस्तुना यतः । निर्हेतुसाक्षिणो न स्युरागमापायसाक्षिणः ॥ नाशादि न स्वयं सिध्यद्विना नाशादिसाक्षिणा । नातो विपरिलोपः स्याद्द्रष्टुर्दृष्टेः कदाचन ॥ द्रष्टुरात्मैव या दृष्टिः प्रत्यग्दृष्ट्या समीक्ष्यते । तस्या विपरिलोपोऽत्र न कथचन युज्यते ॥ आत्मैवाऽऽत्मीयभूतस्य या दृष्टिरविनश्वरी । द्रष्टुर्विनाशिनस्तस्या नोच्छित्तिरुपपद्यते ॥ आगमापायिनो द्रष्टुर्दृष्टिस्तत्साक्षिणी तु या । द्रष्ट्रादिलोपसाक्षित्वात्तस्या लोपो न युज्यते ॥ सत्येव साक्षिणि यतो भावाभावौ प्रसिध्यतः । जगतोऽतो न नाशः स्यादात्मदृष्टेः कुतश्चन" ॥ १४१४-१४२७ ॥ इति । पश्यन्नेवेत्युक्तमाक्षिपति—नेति । चक्षुराद्यभावेऽपि स्यात् दर्शनं किं न स्यात्तत्राऽऽह—करणानीति । तथा सुषुप्तोऽपीत्यर्थः ॥ द्रष्टुरागन्तुकज्ञानस्य करणापेक्षा साक्षिणस्तु नैव नित्य··

रिलोपे विनाशः स न विद्यते । यथाऽग्नेरौष्ण्यं यावदग्निभावि तथाऽयं चाऽऽत्मा द्रष्टाऽविनाश्यतोऽविनाशित्वादात्मनो दृष्टिरप्यविनाशिनी यावद्द्रष्टृभाविनी हि सा ।

ननु विप्रतिषिद्धमिदमभिधीयते द्रष्टुः सा दृष्टिर्न विपरिलुप्यत इति च । दृष्टिश्च द्रष्ट्रा [1]क्रियते । दृष्टिकर्तृत्वाद्धि द्रष्टेत्युच्यते । [2]क्रियमाणा च द्रष्ट्रा दृष्टिर्न विपरिलुप्यत

अविनाशित्वादित्येतद्व्याकुर्वन्दृष्टेर्विनाशाभावं स्पष्टयति—यथेत्यादिना ।

द्रष्टुर्दृष्टिर्न नश्यतीत्यत्र विरोधं चोदयति—नन्विति । विप्रतिषेधमेव साधयति— दृष्टिश्चेति ।

दृष्टि का "विपरिलोप" यानी विनाश नहीं होता । जिस प्रकार अग्नि की उष्णता अग्नि की सत्ता तक रहने वाली है, उसी प्रकार यह द्रष्टा आत्मा तो अविनाशी है । अतः आत्मा के अविनाशी होने के कारण आत्मा की दृष्टि भी अविनाशी है अर्थात् द्रष्टा की सत्ता तक ही वह रहने वाली है ।

(इस पर शङ्का होती है—) किन्तु वह द्रष्टा की दृष्टि है और उसका लोप नहीं होता, यह दोनों बातें तो परस्पर विरुद्ध हैं । द्रष्टा द्वारा किये जाने से दृष्टि कार्य है । दृष्टि का कर्ता होने से द्रष्टा कहा जाता है । द्रष्टा की कार्यभूता दृष्टि है और उसका लोप नहीं होता । (कार्यनाश के अवश्यंभावी होने से) ऐसा कहना असंभव ही है । यदि कहो कि 'लोप नहीं होता' इस श्रुतिवचन के अनुसार

१ तथा च कार्यमेव सेति भावः । २ द्रष्टुः कार्यभूता ।

ज्ञानत्वादित्याह—नैतदिति ॥ किंच प्रमातुरपि न चक्षुराद्यपेक्षानियमः स्वप्ने दृष्ट्यादिव्यापारेऽपि करणोपसंहारश्रुतेरित्याह—स्वप्नेऽपीति । अमुतः सुप्तानित्याद्या श्रुतिः । सोऽपुप्तस्य साक्षिणश्चक्षुराद्यपेक्षायोगेऽपि ना सूचित कैमुतिकन्यायमाह—कुत इति । तच्छब्दश्चक्षुरादिविषयः ॥ अविरोधमुपसंहरति—नेत्यादिना । न हीत्यादिवाक्यमाकाङ्क्षापूर्वकमादत्ते—पश्यन्निति । पश्यन्नेवाऽऽस्ते सुप्तावात्मेत्यस्यापेक्षितो हेतुः स्वरूपज्ञानाविनाशस्तत्स्तत्प्रतिपत्त्यर्थं न हीत्यादिवाक्यमित्यर्थः ॥ कुतो मानाद्यतिरेकेण स्वरूपज्ञानादेवाऽऽत्मनः सिद्धिस्तत्राऽऽह—मेयेति । मात्राद्यभावसाक्षित्वादात्मा तदभावेऽपि स्वरूपज्ञानादेव सिध्यतीत्यर्थः ॥ तत्रैव हेत्वन्तरमाह—प्रमात्रादीति । पूर्वं प्रमाणादिप्रवृत्तेः प्रागवस्थायामित्यर्थः । प्राचीनानुभवपुरःसरमनुसंधानमिति यत्र प्रसिद्धिद्योतको हिशब्दः । प्रमाणतो दृष्टस्य पुनरनुसंधानवर्तनाद्दृष्टस्यापि स्वरूपचित्प्रतिपन्नस्यानुसंधानदर्शनात्तदविनाशितेत्यर्थः ॥ तात्पर्यमुक्त्वा न हीत्याद्यक्षराणि व्याचष्टे—यस्मादिति । दृष्टिं विशिनष्टि—यथेति । मनोवृत्तिव्युदासो विशेषणार्थः । तस्मादात्मा पश्यन्नेव सुप्तौ तिष्ठतीति शेषः । श्रौतो हिशब्दो हिशब्देनानूदितः । तूष्णींमित्यर्थः । आत्मा चाय दृष्टिरूपः स्फुरति सा तस्य स्वरूपत्वान्नाशकाभावाद्यतो न लुप्यतेऽतः सुप्तावात्मा पश्यन्नेवेति योजना । स्वभाव प्रपञ्चयन्नविनाशित्वादित्यस्यार्थमाह—नाशेति । अतो हेतुहीनसाक्षिणो नाशादयो नेत्यत्र हेत्वन्तरमाह—आगमेति । तस्य साक्षिगम्यत्वासिद्धिमाशङ्क्याऽऽह—नाशादीति । अन्यथा जडताहानिरिति भावः । आत्मनस्तत्साधकत्वे फलितमाह—नात इति ॥ प्रमात्रा तत्सिद्धेरलं साक्षिणेत्याशङ्क्य तद्भावाभावयोस्तदसिद्धेर्मैवमिति मत्वाऽऽह—द्रष्टुरिति । तत्रानुभवं प्रमाणयति—प्रत्यगिति । आत्मदृष्टेः सर्वसाधकत्वे किमायात तदाह—तस्या इति । स्वापः सप्तम्यर्थः । कथंचन स्वतो वा परतो वेत्यर्थः ॥ साऽपि दृष्टित्वादन्यानुदृष्टिवदुच्छिद्येतेत्याशङ्क्याऽऽह—आत्मेति । नाशयोग्यत्वमुपाधिरिति भावः ॥ साधनव्याप्तिमाशङ्क्याऽऽह—आगमेति ॥ आत्मदृष्टेर्नित्यत्वे हेत्वन्तरमाह—सत्येनेति । जगतो भावाभावयोर्जडत्वेनाऽऽत्मसाक्षिकत्वादात्मस्वरूपभूता साक्षिदृष्टिरविनाशिनीत्यर्थः । इहेति हेतुवाक्योक्तिः ॥

इति [1]चाशक्यं वक्तुम्। ननु न विपरिलुप्यत इति वचनादविनाशिनी स्यात्। न। वचनस्य ज्ञापकत्वात्। न हि [2]न्यायप्राप्तो विनाशः [3]कृतकस्य वचनशतेनापि वारयितुं शक्यते। [4]वचनस्य यथाप्राप्तार्थज्ञापकत्वात्।

[5]*नैष दोषः। आदित्यादिप्रकाशकत्ववद्दर्शनोपपत्तेः। यथाऽऽदित्यादयो नित्यप्रकाशस्वभावा एव सन्तः स्वाभाविकेन नित्येनैव प्रकाशेन [6]प्रकाशयन्ति। न ह्यप्रकाशा-

---

कार्यस्यापि वचनादविनाशः स्यादिति शङ्कते—नन्विति। [7]तस्याकारकत्वान्नैवमिति परिहरति—न वचनस्येति। [8]तदेव स्फुटयति—न हीति। यत्कृतकं तदनित्यमित्यव्याप्त्यनुगृहीतानुमानविरोधाद्वचो न कार्यनित्यत्वबोधकमित्यर्थः।

कूटस्थदृष्टिरेवात्र द्रष्टृशब्दार्थो न दृष्टिकर्ता तत्र विप्रतिषेधोऽस्तीति सिद्धान्तयति—नैष दोष इति। आदित्यादिप्रकाशकत्ववदित्युक्तं दृष्टान्तं व्याचष्टे—यथेति। दृष्टान्तेऽपि विप्रतिपन्नं प्रत्याह—न

वह अविनाशी होनी चाहिये। तो ऐसा कहना ठीक नहीं क्योंकि वचन तो ज्ञापक है। कार्य का नाश अनुमानप्राप्त है। अतः उसको सैकडों श्रुतिवाक्यों से भी रोका नहीं जा सकता क्योंकि वचन तो यथाप्राप्त अर्थ को ज्ञापित करता है।

(इस शङ्का का समाधान किया जाता है)—यह कहना दोष नहीं है क्योंकि आदित्यादि के प्रकाशकत्व के समान दर्शन सिद्ध ही है। जिस प्रकार आदित्यादि नित्यप्रकाशक स्वभाव होते हुए ही अपने नित्य स्वाभाविक प्रकाश से प्रकाशित करते हैं, वे स्वयं अप्रकाशस्वरूप होकर अपने से

---

१ कार्यस्य नाशावश्यभावात्। २ न्यायोऽनुमानम्। ३ कार्यस्य। ४ यद्यपि मानान्तरविरुद्धमर्थं वचो न बोधयति तथापि तं करोतीत्याशङ्क्याऽऽह—वचनस्येति। तदुक्तं वार्तिके—"सिद्धस्य व्यञ्जकं मानं न तु तत्कारकं यतः। उक्तेर्नातोऽविनाशित्वं द्रष्टुर्दृष्टेरिहेष्यते" ॥ १४३१॥ इति। इहशब्दः पूर्वार्धगामी मानभूमिविषयश्च। उक्तेर्वचनादित्यर्थः। ५ नैष दोष इति—वार्तिके तु द्रष्टुर्दृष्टेरिति समानाधिकरणे षष्ठ्यौ दृष्टेरिति च द्रष्टुरित्यस्य विशेषणं तथा च दृष्टिरूपस्य द्रष्टुरित्येवमर्थोऽत्र वर्णितः। ६ प्रकाशयन्तीत्येवं प्रकाशकर्तृत्वेनोच्यन्त इत्यर्थः। ७ वचनस्य। ८ अकारकत्वमेव।

---

*नैष दोष इत्यादि न विप्रतिषेधगन्धोऽप्यस्तीत्यन्तभाष्यं वार्तिकाचार्यास्तथाहि—'नैष दोषो यतो द्रष्टुः श्रुतिराह विशेषणम्। द्रष्टुर्दृष्टेरिति ततो द्रष्टा नैवेह कारकम्॥ देहान्तो दृष्टिकारी यो द्रष्टा धर्मादिहेतुमान्। दृष्टेर्द्रष्टुश्च लोपोऽत्र प्रत्यग्दृष्ट्यैवसाक्षिकः॥ प्राक्प्रभावादिभूतेर्या तु दृष्टिकर्तृका। द्रष्ट्रादिनाशसाक्षित्वात्सा दृष्टिरविनश्वरी॥ दृष्टिरेव तु सा द्रष्टा न तु कारकलक्षणः। द्रष्टुर्विशेषणत्वेन दृष्टेरिति परिग्रहात्॥ परिलोपो हि कार्याणां लोके सिद्धः स्वकारणे। नातः कारणरूपस्य नाप्यकारकवस्तुनः॥ अभावस्य च भावत्वाद्भावसिद्धेश्च दृष्टितः। दृष्टौ नाभावशङ्कात्र सर्वसिद्धेस्तदन्वयात्॥ न सुषुप्तप्रसिद्धिः स्याद्दृष्टेर्लोपो भवेद्यदि। जन्मनाशादिहानेयमतो दृष्टिः परात्मनः" ॥ १४३२-१४३८॥ इति। कूटस्थदृष्टिरेवात्र द्रष्टृशब्देनाच्यते न दृष्टिकर्ता तत्र विप्रतिषेधाऽस्तीत्याह—नेति। न हि द्रष्टुरिति श्रुतिर्दृष्टेरिति विशेषणं द्रष्टुराचष्टे षष्ठ्योः सामानाधिकरण्यादतो द्रष्टा साक्षी न कर्तृत्वविरोध इत्यर्थः॥ षष्ठ्योः सामानाधिकरण्यमुपेत्य कूटस्थदृष्टिरात्मेत्यादिष्टमथ तयोर्वैयधिकरण्येऽपि तथेत्याह—देहान्त इति। यो धर्मादिमान्बुद्ध्यादिर्देहान्तो दृष्टिकारी द्रष्टा तस्य तद्गतायाश्च दृष्टेर्नाशः स्वापादौ प्रत्यग्दृष्टिमात्रात्प्रसिध्यत्यतो द्रष्टुर्या साक्षिभूता दृष्टिस्तस्याः प्रतिच्या न नाश इत्यर्थः॥

त्मानः सन्तः प्रकाशं कुर्वन्तः प्रकाशयन्तीत्युच्यन्ते । किं तर्हि स्वभावेनैव नित्येन प्रकाशेन । तथाऽयमप्यात्माऽविपरिलुप्तस्वभावया दृष्ट्या नित्यया द्रष्टेत्युच्यते । गौणं तर्हि द्रष्टृत्वम् । नैवमेव मुख्यत्वोपपत्तेः । यदि ह्यन्यथाऽप्यात्मनो द्रष्टृत्वं दृष्टं तदाऽस्य द्रष्टृत्वस्य गौणत्वं न त्वात्मनोऽन्यो दर्शनप्रकारोऽस्ति । तदेवमेव मुख्यं द्रष्टृत्वमुपपद्यते

ह्योति । दर्शनोपपत्तेरित्युक्तं दार्ष्टान्तिकं विभजते—तथेति । आत्मनो नित्यदृष्टित्वे दोषमाशङ्कते—गौणमिति । गौणस्य मुख्यापेक्षत्वान्मुख्यस्य चान्यस्य द्रष्टृत्वस्याभावान्नैवमित्युत्तरमाह—नेत्यादिना । तामेवोपपत्तिमुपदर्शयति—यदि हीत्यादिना । अन्यथा कूटस्थदृष्टित्वमन्तरेणेति यावत् । दर्शनप्रकारस्यान्यत्वं क्रियात्मकत्वम् । तस्य निष्क्रियत्वश्रुतिस्मृतिविरोधादिति शेषः । द्रष्टृत्वान्तरानुपपत्तौ

भिन्न प्रकाश उत्पन्न करके प्रकाशित करते हैं—ऐसा उनके लिए नहीं कहते । तो फिर क्या है ? वे अपने स्वभावरूप नित्य प्रकाश से प्रकाशकर्तृत्व कहे जाते हैं। इसी प्रकार यह आत्मा भी अलुप्तस्वभावा नित्यदृष्टि होने के कारण 'द्रष्टा' कहा जाता है। (यहाँ शङ्का होती है—) तब तो (विना विकार के प्रकाशकत्व होने से) इसका द्रष्टृत्व गौण है। (इसका समाधान देते हैं—) नहीं। इसी प्रकार नित्य दृष्टित्व से ही इसका मुख्यत्व सिद्ध हो सकता है। यदि आत्मा का द्रष्टृत्व किसी दूसरी तरह से देखा गया होता तो इसके (कूटस्थ दृष्टिरूप) द्रष्टृत्व की गौणता हो सकती थी, किन्तु आत्मदर्शन का कोई दूसरा प्रकार तो है ही नहीं, इसलिए इसी प्रकार आत्मा का मुख्य द्रष्टृत्व सम्भव हो

१ तर्हीति – नित्यदृष्टित्वे नैवाऽत्मनो द्रष्टृत्वे । गौणम् विना विकारं प्रकाशकत्वम् । अग्निर्माणवक इतिवद्गौणमेव स्यान्न मुख्यमित्याशयः । २ नित्यदृष्टित्वेनैव । ३ भवत् । ४ कूटस्थदृष्टिरूपस्य । ५ स्यात् । ६ मुख्यस्य चान्यस्येति विकाररूपस्येत्यर्थः । ७ द्रष्टृत्वस्याभावादिति—लब्धस्यैव प्रमातरि दर्शनक्रियाकर्तृत्वं विकाररूपं मुख्यं द्रष्टृत्वमिति चेन्न दर्शनस्य नित्यचिद्रूपतया क्रियात्वाभावेन तत्कर्तृत्वस्य कुत्राप्यसम्भवात् दर्शनोत्पादकैर्वृत्तेरेव चक्षुरादिजन्यतया प्रमातरि तथा प्रतीतिरौपाधिकी । वस्तुतस्तु वृत्तेरपि वस्तुप्रमाणसम्बन्धमात्राधीनजन्मतया न प्रमातृकृतिसाध्यत्वं कुतस्तरां चिद्दर्शनस्य प्रमां प्रति कर्तृत्वव्यवहारस्तु प्रमोत्पत्त्यनुकूलविषयेन्द्रियसम्बन्धानुकूलकृतिमत्त्वात्प्रमातर्यौपचारिक एव । किं च चेतनश्चेतनानामित्यादि श्रुतेरात्मद्रष्टृत्वाधीनमेव प्रमातुर्द्रष्टृत्वम् । एवं च सत्यात्मद्रष्टृत्वं गौणं प्रमातुश्च तन्मुख्यं वदन् ग्रीवास्थमुखगौरत्वं गौणं दर्पणस्थमुखगौरत्वं च मुख्यं ब्रुवता तुल्यः स नानुप्रेक्षणीय एव परीक्षकाणामपयेतत्यलम् । ८ क्रियात्मकदर्शनस्यात्मनो वा ।

आत्मा कूटस्थदृष्टिरित्युक्तमुपपादयति—प्राणिति । स्वापादौ तादृशी दृष्टिरसिद्धेत्याशङ्क्याह—द्रष्टादीति ॥ वैयधिकरण्यपक्षं हित्वा पक्षान्तरमाश्रित्याऽऽह—दृष्टिरिति । सा दृष्टिरेव द्रष्टा न तत्कर्तेत्यत्रोक्तं हेतुं स्मारयति—द्रष्टुरिति । आत्मदृष्टेरनाशे हेत्वन्तरं वक्तुं सामान्यन्यायमाह—परिलोपो हीति । आत्मदृष्टेस्तु कार्यवैरूप्यात्तन्नाशसिद्धिरित्याह—नात इति । परिलोपोऽस्तीति शेषः । अज्ञानवदात्यन्तिकनाशमाशङ्क्य कारणवैलक्षण्यान्नैवमित्याह—नापीति ॥ तदपरिलोपे युक्त्यन्तरमाह—अभावस्येति । न हि स भावाद्भिद्यते भेदस्य भावत्वे तत्प्रतियोगिनोऽप्यसत्त्वेऽपि स एव दोषस्तथा च तस्य भावातिरेकिणोऽभावात्तत्सिद्धेश्च दृष्ट्यधीनत्वात्तस्मान्न नाशशङ्क्येत्यर्थः । भावादभावस्यान्यत्वेऽपि सर्वदृष्टेर्दृष्ट्यधीनत्वादात्मा कूटस्थदृष्टिरेवेत्याह—अत इति ॥ इतश्चाऽऽत्म-

[1]नान्यथा। यथाऽऽदित्यादीनां प्रकाशयितृत्वं नित्येनैव स्वाभाविकेनाक्रियमाणेन प्रकाशेन तदेव च प्रकाशयितृत्वं मुख्यं प्रकाशयितृत्वान्तरानुपपत्तेः। [2]तस्मान्न द्रष्टुर्दृष्टेर्विपरिलुप्यत इति' न विप्रतिषेधगन्धोऽप्यस्ति।

नन्वनित्यक्रियाकर्तृविषय एव तृच्प्रत्ययान्तस्य शब्दस्य प्रयोगो दृष्टो यथा छेत्ता भेत्ता गन्तेति तथा द्रष्टे[3]त्यत्रापीति चेत्। न। [4]प्रकाशयितेति दृष्टत्वात्। भवतु प्रकाश-

फलितमाह—तदेवमेवेति। नित्यदृष्टित्वेनैवेत्यर्थः। उक्तेऽर्थे दृष्टान्तमाह—यथेत्यादिना। तथाऽऽत्मनोऽपि द्रष्टृत्वं नित्येनैव स्वाभाविकेन चैतन्यज्योतिषा सिध्यति तदेव च द्रष्टृत्वं मुख्यं द्रष्टृत्वान्तरानुपपत्तेरिति शेषः। आत्मनो नित्यदृष्टिस्वभावत्वे फलितमाह—तस्मादिति।

तृजन्तं द्रष्टृशब्दमाश्रित्य शङ्कते—नन्विति। अत्राप्यनित्यक्रियाकर्तृविषयस्तृजन्तशब्दप्रयोग इति शेषः। तृजन्तशब्दप्रयोगस्यानित्यक्रियाकर्तृविषयत्वं व्यभिचारयन्नुत्तरमाह—नेति। वैषम्यमाशङ्कते—भवत्विति। आदित्यादिषु [5]स्वाभाविकप्रकाशेन प्रकाशयितृत्वमस्तु कादाचित्कप्रकाशेन

सकता है; किसी दूसरी तरह से नहीं। जिस प्रकार आदित्यादि का प्रकाशकत्व नित्य, स्वाभाविक और अक्रियमाण प्रकाश के कारण है और वही मुख्य प्रकाशकत्व भी है क्योंकि उसका कोई अन्य प्रकाशक सिद्ध नहीं होता। इसलिए "द्रष्टा की दृष्टि का विपरिलोप नहीं होता" इस श्रुतिवाक्य में परस्पर विरोध की गन्ध भी नहीं है।

(इस पर शङ्का होती है—) किन्तु 'तृच्'प्रत्ययान्त शब्द का प्रयोग तो अनित्य क्रिया के कर्ता के विषय में भी देखा गया है, जिस प्रकार छेत्ता, भेत्ता और गन्ता इत्यादि हैं; इसी तरह 'द्रष्टा' पद समझना चाहिये। *(इसका समाधान दिया जाता है—) ऐसा कहना ठीक नहीं।* क्योंकि (कादाचित्क क्रिया के बिना भी सूर्य के विषय में) प्रकाशयिता ऐसा प्रयोग देखा जाता है। (प्रतिवादी पुनः शङ्का करता है—)

१ नान्यथेति—प्रतीचोऽक्रियबोधस्य सन्निधिमात्रेण सर्वजगत्प्रतीतिरेव तद्भासकत्वं न तु तद्विकारद्वारा तथाविधभासकत्वे मानाभावात् तदिदमेव मुख्यमिति भाव। २ अवतरणोक्तत्वात्। ३ इत्यत्र। ४ प्रकाशयितेति—कादाचित्कक्रिया विनापि सविता प्रकाशयिता व्याप्तृ वियदिति तृच प्रयोगदर्शनाद्दृष्टिस्वरूपोऽप्यात्मा द्रष्टेत्यविरुद्धमित्यर्थः। ५ स्वरूपभूतप्रकाशेन।

दृष्टिरनाशिनीत्याह—नत्यादिना। न चानुमानादेव तत्सिद्धेरलं कूटस्थदृष्ट्येति युक्तं तद्भासलिङ्गाभावे तदनुत्थानान्न चाहं स्वप्नजागरान्तराले दुःखाद्यनुभवशून्यस्तत्कालीनतदीयस्मरणविरहित्वात्पाषाणवदिति वाच्यं तदीयस्मृत्यभावस्यापेक्षणीयतृणादावनुभवाभावासाधकत्वेन व्यभिचारित्वादतो दृष्टिरेव कूटस्था तत्साधिकेति भाव। कूटस्थदृष्टिरात्मेत्युक्तमुपसंहरति—जन्मेति॥

९३ नन्वित्यादि दृष्टत्वादित्यन्तभाष्यं वार्तिककाचार्यास्तथाहि—"शतृतृजन्तश्रवणाद्दृष्टिरन्वेत्स्यात्सकर्तृका। पश्यन्द्रष्टुरिति ह्येवं नैव कर्त्राद्यसंभवात्॥ नहि बुद्ध्यादिसद्भावस्तदाऽपीति श्रुतेर्भवेत्। सुषुप्तेऽतो न धात्वर्थं प्रत्ययार्थश्च नेष्यते॥ कर्त्रादिकारकं नो चेत्सुषुप्ते विद्यते कथम्। पश्यन्द्रष्टुरिति वचः कूटस्थ उपपद्यते॥ यथाऽवकाशदात्रिति भण्यते निष्क्रियं वियत्। शतृतृजन्तवचसा तथाऽऽत्मा भण्यते ध्रुव" ॥१४३६-१४४२॥ इति। पश्यन्निति *शत्रन्तस्य द्रष्टुरिति तृजन्तस्य च श्रवणाद्धात्वर्थरूपा सकर्तृका दृष्टिर्न कूटस्थेति शङ्कते*—दात्रिति। प्रयोगद्वयस्य क्रियापेक्षत्वं प्रसिद्धमिति हिशब्दार्थः। धातुप्रत्ययार्थयो सुषावयोगाद्दृष्टिर्कौटस्थ्य-

केष्वन्यथाऽसंभवान्न त्वात्मनीति चेत् । न । दृष्टयविपरिलोपश्रुतेः । 'पश्यामि न पश्यामीत्यनुभवदर्शनान्नेति चेत् । न । करणव्यापारविशेषापेक्षत्वात् । 'उद्धृतचक्षुषां च स्वप्न आत्मदृष्टेरविपरिलोपदर्शनात् । 'तस्मादविपरिलुप्तस्वभावैवाऽऽत्मनो दृष्टिः । 'अतस्तयाऽविपरिलुप्तया दृष्ट्या स्वयंज्योतिःस्वभावया 'पश्यन्नेव भवति सुषुप्ते ।

प्रकाशयितृत्वस्य तेष्वसंभवान्न त्वात्मनि नित्या दृष्टिरस्ति 'तन्मानाभावात् । 'तथा च कादाचित्कदृष्ट्यैव तस्य दृष्टृतेत्यर्थः । प्रतीचश्चिद्रूपत्वस्य श्रौतत्वात्कर्तृत्वं विना प्रकाशयितृत्वमविशिष्टमित्युत्तरमाह—न दृष्टेति । कूटस्थदृष्टिरात्मेत्युक्ते प्रत्यक्षविरोधं शङ्कते—पश्यामीति । द्विविधोऽनुभवस्तस्य कूटस्थदृष्टित्वम् "नुगृह्णाति चक्षुरादिव्यापारभावाभावापेक्षया पश्यामि न पश्यामीति वियोरात्मसाक्षिकत्वादित्युत्तरमाह—न करणेति । आत्मदृष्टेर्नित्यत्वे हेत्वन्तरमाह—"उद्धृतेति । आत्मदृष्टेर्नित्यत्वमुपसंहरति—तस्मादिति । तन्नित्यत्वोक्तिफलमाह—अत इति ।

प्रकाशकों में अन्यथा असम्भव होने से भले ही ऐसा प्रयोग होता हो किन्तु आत्मा के विषय में तो ऐसा नहीं कहा जा सकता। (इस पर वादी कहता है—) ऐसा समझना ठीक नहीं, क्योंकि यहाँ आत्मदृष्टि के लोप न होने की प्रतिपादिका श्रुति है। (प्रतिवादी कहता है—) "मैं देखता हूँ—मैं नहीं देखता' ऐसा अनुभवसिद्ध होने से आत्मदृष्टि नित्य नहीं हो सकती। (वादी उक्त मत का दूषण प्रस्तुत करता है-) ऐसा कहना भी ठीक नहीं क्योंकि यह अनुभव तो चक्षु इन्द्रिय के विशेष व्यापार की अपेक्षा से है। अन्धों को भी स्वप्न दृष्टि अनुभव होती है, इसलिए आत्मदृष्टि नित्य है। अत. उस अविनाशिनी दृष्टि से सुषुप्ति में देखता ही रहता है।

---

१ श्रुतेरिति—"स्वयज्योतिष्ट्वात्त्राद्य प्रत्यगात्मा प्रकाशक । ज्योतिषामपि तज्ज्योतिस्त्वमेवेति च शाश्वत" ॥ वा १४६५-६६ ॥ इति । चकारो दृष्ट्रादे (प्रमात्रादे) आऽधान्न स्वता भानमिति युक्तिसमुच्चयार्थः। २ पश्यामीत्यादि—एवं कादाचित्कदर्शनकत्वप्रतीतेर्न कूटस्थदृष्टिरात्मेति भाव । ३ उद्धृतेति—अन्धानामपि स्वप्ने दृष्टिरनुभूयतेऽतो नित्या आत्मदृष्टि । स्वप्ने वासनामय्यव सा सत्य जात्यन्धे तु वासनापि नो तत्र जन्मान्तरीयेति चज्जन्मान्तरसाधककूटस्थदृष्टिध्रौव्यान्नित्या दृष्टिरेष्टव्येत्यर्थ । ४ तस्मात्—आत्मदृष्टेर्नित्यत्वे बाधकाभावात् साधकस्य च सत्त्वात् । आगमापायिन सर्वस्य प्रत्यग्दृष्ट्यैकसाक्षित्वाच्चेत्यर्थं । ५ अवतरणोक्तत्वात् । ६ पश्यन्नेव भवतीति । तथा च वार्तिके— 'पश्यामीति यथाऽद्राक्षीरात्मदृष्ट्यैव जागरे । न पश्यामीत्यपि तथा नित्यदृष्ट्यैव वीक्षसे" ॥ १४७४ ॥ इति ॥ ७ असम्भवादिति—तेषा प्रकाशैकरूपत्वादिति भाव । ८ तन्मानाभावादिति—तथा च विकारेण भाव्यमिति अवीति। ९ तथा चेति —आत्मनो नित्यदृष्टित्व मानाभावे सतीत्यर्थं । १० साधयति। ११ उद्धृतेतीति। नित्या चेदात्मदृष्टिस्तर्हि सर्वं सर्वदा किमिति नानुभूयत इत्याशङ्क्य समाहित वार्तिके तथाहि—"ज्योतिषामपि तज्ज्योतिरस्मद्दोषपरिमोषणात् । तमोरूपमिवाऽऽभाति भानुर्नक्तदृशामिवे' ति शेष ॥ १४७१ ॥ नक्तदृश उलूकादय ।

मित्याह—नैवमिति ॥ हेतु साधयति—नेति । प्राण तर्हि वागप्येतीत्याद्या श्रुति । कारकाभावे फलितमाह—सुषुप्त इति ॥ कादाचित्की दृष्टिस्तत्कर्ता च स्वापे नास्ति कारकाभावादित्यत्र शङ्कते—कर्त्रादीति । सदृष्टान्तं समाधत्ते—यथेति ॥

कथं [1]तर्हि न पश्यतीति । उच्यते । न तु तदस्ति । किं तत् । द्वितीयं विषयभूतम् । किंविशिष्टम् । ततो द्रष्टुरन्यदन्यत्वेन विभक्तं यत्पश्येद्यदुपलभेत । यद्धि तद्विशेषदर्शनकारणमन्तःकरणं चक्षू रूपं च तदविद्याऽन्यत्वेन [3]प्रत्युपस्थापितमासीत् । तदेतस्मिन्काल एकीभूतम् । [4]आत्मनः [5]परेण [6]परिष्वङ्गात् । [7]द्रष्टुर्हि [8]परिच्छिन्नस्य विशेषदर्शनाय करणान्य[9]न्यत्वेन व्यवतिष्ठन्ते । अयं तु [10]सर्वात्मना [11]संपरिष्वक्तः स्वेन परेण प्राज्ञेनाऽऽत्मना प्रिययेव पुरुषः । [12]तेन न पृथक्त्वेन व्यवस्थितानि करणानि विषयाश्च । [13]तदभावाद्विशेषदर्शनं नास्ति । करणादिकृतं हि [14]तन्नाऽऽत्मकृतम् । आत्मकृतमिव प्रत्यव-

---

वाक्यान्तरमाकाङ्क्षापूर्वकमुत्थाप्य व्याचष्टे—कथमित्यादिना । द्वितीया[15]दिपदानां पौनरुक्त्यमाशङ्क्याथं भेदं दर्शयति—यद्धीत्यादिना । साभासमन्तःकरणं यत्पश्येदिति[16] विशेषदर्शनकारणं [17]प्रमातृ [18]द्वितीयं तस्माद[19]न्यच्चक्षुरादि प्रमाणं रूपादि च प्रमेयं [20]विभक्तं तत्सर्वं जाग्रत्स्वप्नयोरविद्या[21]प्रतिपन्नं सुषुप्तिकाले कारणमात्रतां गतमभिव्यक्तं नास्तीत्यर्थः । सुषुप्ते [22]द्वितीयं प्रमातृरूपं नास्तीत्येतदुपपादयति—आत्मन इति । प्रमातृरूपं पृथङ्नास्तीति शेषः । [23]तथाऽपि करणव्यापारकृतं विषयदर्शनमात्मनः स्यादित्याशङ्क्याऽऽह—द्रष्टुरिति । सुषुप्तस्यापि परिच्छिन्नत्वमाशङ्क्याऽऽह—अयमिति । [24]तस्य परेणैकीभावफलमाह—तेनेति । विषयेन्द्रियाभावकृतं फलमाह—तदभावादिति । किमिति विषयाद्यभावाद्विशेषदर्शनं निषिध्यते सत्त्वमेव [25]तस्याऽऽत्मसत्त्वाधीनं किं न स्यादित्याशङ्क्याऽऽह—करणादीति । [26]नन्ववस्थाद्वये विशेषदर्शनमात्मकृतं प्रतिभाति [27]तस्य [28]प्रधानत्वादत

(इस पर प्रतिवादी कहता है—) 'वह नही देखता है—' ऐसा क्यों कहा जाता है ? (वादी समाधान देता है—) इसे बतलाया जाता है । यहाँ तो वह वस्तु ही नही है । वह क्या है ? द्वितीय विषयभूत वस्तु । किस विशिष्टता वाली है ? उस द्रष्टा से 'अन्यत्' अर्थात् अन्य रूप से विभक्त, जिसे कि वह देखे, अनुभव करे । क्योंकि जो उस विशेष दर्शन का कारण चक्षुरूप अन्तःकरण था; वह अविद्या से आत्मभिन्न प्रत्यायित था । वह इस समय प्रमाता आत्मा का परमात्मा के साथ एकीभाव होने से वह एकरूप हो गया है । (जाग्रत् स्वप्नावस्था वाले) प्रमाता द्रष्टा के विशेष दर्शन के लिए ही इन्द्रियाँ आत्मभिन्न रूप से प्रतिष्ठित रहती है । किन्तु इस समय जैसे पुरुष अपनी प्रिया से परिष्वजित होता है, उसी प्रकार वह अपरिच्छिन्न रूप से अपने पर स्वरूप प्राज्ञात्मा से एकीभूत रहता है । इसलिये उस अवस्था मे इन्द्रिय और विषय पृथक् रूप से प्रतिष्ठित नही रहते और पृथग्विषयादि का अभाव होने के कारण विशेष दर्शन भी नही होता । क्योंकि वह तो इन्द्रियादि

---

१ पश्यन्नेवायमनास्त उक्ते सति । २ आत्मभिन्नत्वेन । ३ प्रत्यायितम् । ४ प्रमातुः । ५ परमात्मना । ६ एकीभावात् । ७ जाग्रत्स्वप्नावस्थस्य । ८ प्रमातुः । ९ आत्मभिन्नत्वेन । १०. अपरिच्छिन्नेन । ११. एकीभूतः । १२ अवतरणोत्तरत्वात् । १३ पृथग्विषयाद्यभावात् । १४ विशेषदर्शनम् । १५ आदिना अन्यद्विभक्तमिति पदद्वयं ग्राह्यम् । १६ इत्येतत्पदवाच्यम् । १७ अथ द्वितीयपदार्थं । १८ प्रमातुः । १९ अन्यशब्दार्थं । २०. विभक्तपदार्थः । २१ प्रतीयमानम् । २२ द्वितीयपदाभिधेयम् । २३. अभेदेन पृथक्प्रमात्रभावेऽपि । २४ सुषुप्तस्य । २५ विशेषदर्शनस्य । २६. जाग्रत्स्वप्नावस्थाद्वये । २७ आत्मनः । २८ करणाद्यपेक्षया ।

यद्वै तन्न जिघ्रति जिघ्रन्वै तन्न जिघ्रति न हि घ्रातुर्घ्रातेर्विपरिलोपो विद्यतेऽविनाशित्वान्न तु तद्द्वितीयमस्ति ततोऽन्यद्विभक्तं यज्जिघ्रेत् ॥ २४ ॥
यद्वै तन्न रसयते रसयन्वै तन्न रसयते न हि रसयितू रसयतेर्विपरिलोपो विद्यतेऽविनाशित्वान्न तु तद्द्वितीयमस्ति ततोऽन्यद्विभक्तं यद्रसयेत् ॥ २५ ॥

वह जो उस अवस्था मे सूंघता नही (इसका यह अर्थ नही है कि उसकी गन्धग्रहण करने वाली शक्ति का सर्वथा लोप हो गया है) वह तो सूंघता हुआ भी नही सूंघता, सूंघने वाले की सूंघने की शक्ति का सर्वथा लोप होता ही नही क्योकि वह नाशरहित है। हां यह बात सत्य है कि उस समय उससे भिन्न कोई वस्तु नही रहती, जिसे कि वह सूंघे ॥ २४ ॥

वहां पर वह जो रस नही लेता नि सन्देह वह रस लेता हुआ ही रस नही लेता है। रसग्रहण करने वाले को रसग्रहणशक्ति का सर्वथा लोप नही होता क्योकि वह अविनाशी है। किन्तु उस अवस्था मे उससे भिन्न कोई वस्तु रहती ही नही जिसका कि वह रस लेवे ॥ २५ ॥

भासते । तस्मात्तत्कृतेय भ्रान्तिरात्मनो दृष्टिः परिलुप्यत इति ॥ २३ ॥

समानमन्यत् । यद्वै तन्न जिघ्रति । यद्वै तन्न रसयते । यद्वै तन्न वदति । यद्वै तन्न शृणोति । यद्वै तन्न मनुते । यद्वै तन्न स्पृशति । यद्वै तन्न विजानातीति । 'मनन-

---

आह— आत्मकृतमिवेति । नतिवस्यादेस्तात्पर्यमुपसहरति—तस्मादिति । प्रमातृकरणविषयकृतत्वाद्विशेषदृष्टेस्तेषां च सुषुप्तावभावात्तत्कार्याया विशेषदृष्टेरपि यावत् । तत्कृता जागरादावात्मकृतत्वेन भ्रान्तिप्रतिपन्नविशेषदर्शनाभावप्रयुक्तेत्यर्थः ॥ २३ ॥

यद्वै तन्न पश्यतीत्यादावुक्तन्यायमुत्तरवाक्येष्वतिदिशति— समानमन्यदिति । मनोबुद्धयो-[1] 'साधारणकरणत्वात्पृथग्व्यापाराभावे कथ [2]पृथङ्निर्देश स्यादित्याशङ्क्याऽऽह—मननेति ।

द्वारा किया हुआ है, आत्मा द्वारा किया हुआ नही है। आत्मा का किया हुआ सा है—ऐसा केवल लगता है। अत उसी के कारण ऐसी भ्रान्ति होती है कि आत्मदृष्टि का लोप होता है ॥२३॥

जो यह सुषुप्तावस्था मे नही सूंघता, वह सूंघते हुए भी नही सूंघता है'। 'जो यह सुषुप्तावस्था मे रस का आस्वादन नही करता, वह रस का स्वाद लेते हुए भी रसास्वादन नही करता'। 'जो यह सुषुप्तावस्था मे बोलता नही, वह बोलते हुए भी नही बोलता है'। 'जो यह सुषुप्तावस्था मे नही सुनता, वह सुनते हुए भी नही सुनता है'। 'जो यह सुषुप्तावस्था मे मनन नही करता, वह मनन करते

---

१ मनोबुद्धिजययो । २ चक्षुरादीन्प्रति साधारणत्वात्तज्जन्यवृत्त्यतिरिक्तवृत्त्यभावे । ३ यद्वै तन्न मनुते यद्वै तन्न विजानातीति चक्षुरादिभ्य पृथङ्निर्देशः ।

यद्वै तन्न वदति वदन्वै तन्न वदति न हि वक्तुर्वक्तेर्विपरिलोपो विद्यतेऽविनाशित्वान्न तु तद्द्वितीयमस्ति ततोऽन्यद्विभक्तं यद्वदेत् ॥ २६ ॥
यद्वै तन्न शृणोति शृण्वन्वै तन्न शृणोति न हि श्रोतुः श्रुतेर्विपरिलोपो विद्यतेऽविनाशित्वान्न तु तद्द्वितीयमस्ति ततोऽन्यद्विभक्तं यच्छृणुयात् ॥ २७ ॥

जो वह बोलता नही, नि सन्देह वह बोलता हुआ ही नही बोलता, वक्ता की वदनशक्ति का सर्वथा लोप नही होता क्योकि वह नाशरहित है। सत्य बात यह है कि उस अवस्था मे उससे भिन्न कोई वस्तु नही, जिसके विषय मे वह बोले ॥ २६ ॥

वहाँ जो नही सुनता है, वह नि सन्देह सुनता हुआ ही नही सुनता है। श्रोता की श्रवणशक्ति का सर्वथा लोप नही होता क्योकि वह नाशरहित है। सत्य यह है कि उस अवस्था मे उससे भिन्न कोई वस्तु नही रह जाती, जिसे कि वह सुने ॥ २७ ॥

विज्ञानयो[1]र्दृष्ट्या[2]दिसहकारित्वेऽपि सति [3]चक्षुरादिनिरपेक्षो भूतभविष्यद्वर्तमान[3]विषयव्यापारो विद्यत इति पृथग्ग्रहणम् ।

किं पुनर्दृष्ट्या[4]दीनामग्नेरौ[5]ष्ण्यप्रकाशनज्वलनादिवद्धर्मभेद आहोस्विद[6]भिन्नस्यैव

वाक्यानि व्याख्याय स्वसिद्धान्तस्फुटीकरणार्थं विचारयति—किं पुनरिति । धर्मभेदो धर्माणां सता मिथो धर्मिणश्च भेदोऽस्तीति यावत् । धर्मस्य दृष्ट्यादिपदार्थस्येत्यर्थः । परोपाधिनिमित्त चक्षु-

---

हुए भी नही करता है'। 'जो यह सुषुप्तावस्था मे स्पर्श करता है, वह स्पर्श करते हुए भी नही करता'। 'जो यह सुषुप्तावस्था मे नही जानता है, वह जानते हुए भी नही जानता'। इस प्रकार इन सभी मन्त्रो के अर्थ पूर्व मन्त्र के समान हैं। मनन और विज्ञान का इसलिये पृथक ग्रहण है क्योकि इनके मन और बुद्धि होने से दृष्टि आदि मे अन्तर्भाव होने पर भी इनका चक्षु आदि इन्द्रियो से स्वतन्त्र रहकर भूत, भविष्यत और वर्तमान विषयसबन्धी व्यापार (और रागादि वृत्ति) की विद्यमानता सिद्ध है।

किन्तु क्या (विज्ञान और मनन मे) अग्नि के धर्म औष्ण्य, प्रकाश और ज्वलनादि के समान दृष्टि आदि धर्मों की भिन्नता है अथवा आत्मा से अभिन्न दृष्ट्यादि पदार्थ धर्म का ही चक्षुरादि उपाधि के कारण धर्मत्व और धर्मी मे परस्पर अन्यत्व है। यहाँ कुछ विचारक इस प्रकार कहते हैं।

---

१ दृष्ट्यादावन्तर्भावेऽपि । २ स्वातन्त्र्येण । ३ रागादिवृत्तिश्चेत्यपि बोध्यम् । ४ घ्रात्यादयो ग्राह्या । ५ यथौष्ण्यादयः धर्मा अग्नेर्भिन्नाभिन्ना मिथश्च भिन्नास्तद्वत् । ६ भिन्नस्य ।

यद्वै तन्न मनुते मन्वानो वै तन्न मनुते न हि मन्तु-
र्मतेर्विपरिलोपो विद्यतेऽविनाशित्वान्न तु तद्द्वि-
तीयमस्ति ततोऽन्यद्विभक्तं यन्मन्वीत ॥ २८ ॥

यद्वै तन्न स्पृशति स्पृशन्वै तन्न स्पृशति न हि
स्प्रष्टुः स्पृष्टेर्विपरिलोपो विद्यतेऽविनाशित्वान्न
तु तद्द्वितीयमस्ति ततोऽन्यद्विभक्तं यत्स्पृशेत् ॥२९॥

जो वह वहाँ पर मनन नही करता, सो मनन करता हुआ ही मनन नही करता है। मनन करने वाले की मननशक्ति का सर्वथा लोप नही होता क्योंकि वह नाशरहित है। सच्ची बात यह है कि उस अवस्था मे उससे भिन्न कोई वस्तु नही रह जाती, जिसे कि वह मनन करे ॥ २८ ॥

वह जो उस समय स्पर्श नही करता, वह वस्तु का स्पर्श करता हुआ ही स्पर्श नही करता। स्पर्श करने वाले की स्पर्शनशक्ति का सर्वथा लोप नही होता क्योंकि वह अविनाशी है। हाँ उस अवस्था मे उससे भिन्न कोई वस्तु नही रह जाती, जिसे वह स्पर्श करे ॥ २९ ॥

धर्मस्य परोपाधिनिमित्तं धर्मान्यत्वमिति । अत्र केचिद्व्याचक्षते । आत्मवस्तुनः [1]स्वत एवैकत्वं नानात्वं च यथा गोर्गोद्रव्यतयैकत्वं [2]सास्नादीनां धर्माणां परस्परतो भेदः । यथा स्थूलेष्वेकत्वं नानात्वं च तथा निरवयवेष्व[3]मूर्तवस्तुष्वेकत्वं नानात्वं चानुमेयम् । [4]सर्वत्रा-

---

द्युपाधिकृतमित्येतत् । धर्मान्यत्वं धर्मत्वं धर्मिणो मिथोऽन्यत्वं चेत्यर्थः । भर्तृप्रपञ्चमतेन पूर्वपक्षं गृह्णाति—अत्रेति । गवादीनां सावयवत्वाद्रूपभेदसम्भवादेकेन रूपेणाभिन्नत्वं रूपान्तरेण भिन्नत्वमित्युभयथात्वेऽपि निरवयवेष्वात्मादिषु[5] कथमनेकरसत्वसिद्धिरित्याशङ्क्याऽऽह—यथा स्थूलेष्विति । एकरूपत्वे वस्तुनो दृष्टान्तादृष्टेर्नानारूपत्वे गवादिदृष्टान्तदर्शनात्[6]तदेवानुमेयम् । [7]विमतं भिन्नाभिन्नं वस्तुत्वाद्गवादिवदित्यर्थः । यद्यपि गगनादिषु भिन्नाभिन्नत्वमनुमीयते तथाऽपि कथमात्मनि तदनुमानमित्याशङ्क्य वस्तुत्वस्य नानारूपत्वेनाव्यभिचारादात्मन्यपि यथोक्तमनुमानं [8]निरङ्कुशप्रसरमित्याह—सर्वत्रेति । यथोक्तानुमानानुग्रहार्थं तदित्यादौ भिन्नाभिन्ने वस्तुनि तात्पर्यमिति भावः ।

आत्म वस्तु का स्वाभाविक ही भेद और अभेद है जिस प्रकार गो का गोद्रव्यत्वरूप से अभेद है और तत्तत् सास्नादिमद् व्यक्ति से भेदधर्मों का परस्पर भेद है। जिस प्रकार (सावयव) स्थूल पदार्थों मे अभेद और भेद है; उसी प्रकार निरवयव (सूक्ष्म) आकाशादि अमूर्त पदार्थों मे अभेद और भेद का

---

१ स्वाभाविकावेव भेदाभेदावित्यर्थ । २ तत्तत्सास्नादिमद्व्यक्त्या भेद । ३ वियदादिषु । ४ स्थूलसूक्ष्माव्यभिचारेति भाव । ५ आदिना गगनादिग्रह । ६ नानात्वमेव । ७ गगनादि । ८ अप्रतिबद्धप्रचारम् ।

यद्वै तन्न विजानाति विजानन्वै तन्न विजानाति न हि विज्ञातुर्विज्ञातेर्विपरिलोपो विद्यतेऽविनाशित्वान्न तु तद्द्वितीयमस्ति ततोऽन्यद्विभक्तं यद्विजानीयात् ॥ ३० ॥

उस सुषुप्तावस्था मे वह जो जानता है, वह वस्तुतः जानता हुआ ही नही जानता है। विज्ञाता की विज्ञानशक्ति का सर्वथा लोप नही होता क्योकि वह तो नित्य है। हाँ उस समय उससे भिन्न कोई वस्तु नही रह जाती, जिसे कि वह विशेष रूप से जाने ॥ ३० ॥

व्यभिचारदर्शनादात्मनोऽपि [1]तद्वदेव दृष्ट्यादीनां परस्परं [2]नानात्वमा[3]त्मना चैकत्वमिति ।

नान्यपरत्वात् । न हि दृष्ट्यादिधर्मभेदप्रदर्शनपरमिदं वाक्यं यद्वै तदित्यादि । किं तर्हि यदि [4]चैतन्यात्मज्योतिः कथं न जानाति सुषुप्ते नूनमतो[5] न चैतन्यात्मज्योतिरित्येवमाशङ्काप्राप्तौ तन्निराकरणायैतदारब्धं यद्वै तदित्यादि । यदस्य[6] जाग्रत्स्वप्नयोश्चक्षुराद्यनेकोपाधिद्वारं चैतन्यात्मज्योतिःस्वाभाव्यमु[7]पलक्षितं [8]दृष्ट्याद्यभिधेयव्यवहारा-

---

भ[9]तं प्रपञ्चोक्त वाक्यतात्पर्यं निराकरोति—नेत्यादिना । चैतन्याविनाशे वाक्यतात्पर्यं चेत्कथं तर्हि दृष्ट्यादिभेदवचनमित्याशङ्क्याऽऽह—यदस्येति । [10]तद्धि सुषुप्त्यवस्थायामुपाधेरन्तःकरणस्य चक्षुरादिभेदाधीन[11]परिणामव्यापारनिवृत्तौ सत्यामुपाधिभेदस्यानुद्भास्यमानत्वात्तेन[12] भिन्नमिवानुपलक्ष्यमाणस्वभावं यद्यपि तथाऽपि चक्षुर्द्वारेण जायमानायां बुद्धिवृत्तौ व्यक्त चैतन्यं दृष्टिर्घ्राणद्वारेण जातायां तस्यां व्यक्तं घ्रातिरित्युपाधिभेदात्प्राप्तभेदानुवादेन चैतन्यस्याविनाशित्वे वाक्यतात्पर्यं-

---

अनुमान करना चाहिए। (स्थूल और सूक्ष्म) सर्वत्र व्यभिचार दर्शन से वियदादि के समान आत्मा की भी दृष्टि आदि का तो परस्पर भेद है किन्तु आत्मस्वरूप से अभेद है।

किन्तु यह विचार अनुचित है क्योकि इन वाक्यो का तात्पर्य (इसमे न होकर) अन्य ही है। "जो इस सुषुप्तावस्था मे—" इत्यादि श्रुतिवाक्य दृष्ट्यादि धर्मो का भेद प्रदर्शित करने के लिए नही है। तो फिर किसलिए हैं ? यदि आत्मा चैतन्यात्मज्योति है, तो वह सुषुप्तावस्था मे क्यो नही जानता ? इसलिए (सुषुप्ति मे विशेष ज्ञान का अभाव होने से) आत्मा निश्चय ही चैतन्यात्मज्योति नही है। इस प्रकार शङ्का होने पर, उसका निराकरण करने लिए "यद्वै तत" इत्यादि मन्त्रो का प्रतिपादन किया गया है। जाग्रत् और स्वप्नावस्था मे जो इस आत्मा का चैतन्यात्मज्योतिस्वभाव चक्षु आदि अनेको उपाधियो के द्वारा दृष्ट्यादिशब्दवाच्य व्यवहारयुक्त उपलब्ध हुआ है, सुषुप्तावस्था मे

---

१ वियदादिवदेव । २ भिन्नत्वम् । ३ आत्मत्वेन । ४ आत्मा । ५ सुषुप्ते विशेषज्ञानाभावात् । ६ आत्मन । ७ उपलब्धम् । ८ दृष्ट्यादिशब्दवाच्यव्यवहारयुक्तम् । ९ व्यवहारापन्नमित्यस्यस्याग्रे तत्पदमध्याहर्तं । १०. वृत्तिव्यापारेति भाव । ११ उपाधिभेदेन ।

पन्नं सुषुप्त उपाधिभेदव्यापारनिवृत्तावनुद्भास्यमानत्वादनुपलक्ष्यमाणस्वभावमप्युपाधिभेदेन भिन्नमिव यथाप्राप्तानुवादेनैव विद्यमानत्वमुच्यते । [1]तत्र दृष्ट्याद्विधर्मभेदकल्पना विवक्षि-[2]तार्थाऽनभिज्ञतया [3]। सैन्धवघनवत्प्रज्ञानैकरस[3]घनश्रुतिविरोधाच्च । 'विज्ञानमानन्दम्' 'सत्यं ज्ञानम्' 'प्रज्ञानं ब्रह्म' इत्यादिश्रुतिभ्यश्च । *शब्दप्रवृत्तेश्च । लौकिकी च[4] शब्द-प्रवृत्तिश्चक्षुषा रूपं विजानाति श्रोत्रेण शब्दं विजानाति रसनेनान्नस्य रसं विजानातीति [5]च [6]सर्वत्रैव च [7]दृष्ट्यादिशब्दाभिधेयानां विज्ञानशब्दवाच्यतामेव दर्शयति । शब्द-प्रवृत्तिश्च प्रमाणम् ।

मित्यर्थः । उक्ते वाक्यतात्पर्ये स्थिते फलितमाह—तत्रेति । [8]इतश्च दृष्ट्यादिभेदकल्पना न श्लिष्टेत्याह—सैन्धवेति । [9]तदेव स्पष्टयति—विज्ञानमिति । न दृष्ट्यादिभेदकल्पनेति शेषः । यथा घटाकाशो मठाकाश [10]इत्येकशब्दविषयत्वादुपाधिभेदेऽप्याकाशस्यैकत्वमिष्टं तथैक[11]शब्दप्रवृत्तेरेकात्म[12]वृत्तोऽपि स्वीकार्य इत्य [13]तत्कुतो दृष्ट्यादिभेदसिद्धिरित्याह—शब्दप्रवृत्तश्चेति । [14]तामेव विवृणोति—लौकिकी चेति ।

उपाधिभेदरूप व्यापार की निवृत्ति हो जाने पर वह अनुद्भास्य और अनुपलब्ध रहता है। तो भी यथाप्राप्त भेद का अनुवाद करते हुए उपाधिभेद से भिन्न के समान विद्यमानता कही जाती है। अतः दृष्ट्यादि धर्मभेद कल्पना यथोक्तश्रुति के तात्पर्य की अनभिज्ञता से है। (ऐसी कल्पना करने से) आत्मा सैन्धवखण्ड के समान प्रज्ञान एकरसस्वरूप है—इस श्रुति से विरोध आ जाएगा। और श्रुतियों में विरोध हो जाता है। जैसे 'वह विज्ञान और आनन्दरूप है (विषय विज्ञान के समान दुःखानुविद्ध नहीं है क्योंकि लौकिकसुख विलक्षण है), 'वह सत्य ज्ञानस्वरूप (अनन्त, ब्रह्म) है' तथा 'प्रज्ञान ब्रह्म है' इत्यादि । शब्द की प्रवृत्ति से भी भेदकल्पना असंगत है। चक्षु से रूप का ज्ञान करता है श्रोत्र से शब्दज्ञान करता है और रसना से अन्न रस का ज्ञान करता है, इस प्रकार शब्द की लौकिकी और वैदिकी प्रवृत्ति भी (लोक और वेद में) सर्वत्र ही दृष्टि आदि शब्दों के वाच्यों को विज्ञानशब्दवाच्यता दिखलाती है। तथा शब्द की प्रवृत्ति भी प्रमाण है।

१ अवतरणोक्तत्वात् । २ यथोक्तश्रुतितात्पर्यानभिज्ञतया । ३ स्वरूप इत्यर्थः । ४ चाद्वैदिकी । ५ चास्त्वप्रमाणम् । ६ लोके वेदे च । ७ दृष्टिश्रुत्यादीनाम् । ८ वक्ष्यमाणकारणात् । ९ कारणमेव । १० उभयत्रानुगताकाशशब्दविषयत्वात् । ११ विज्ञानशब्दप्रवृत्तेरिति भावः । १२ चित एकत्वात् । १३ शब्दप्रवृत्तिमेव ।

* शब्दप्रवृत्तश्चेत्यादि शब्दप्रवृत्तिश्च प्रमाणमित्यन्तभाष्ये वार्तिककाराचार्यास्तथाहि— दृष्ट्यादिवचसा लोके प्रवृत्ते ज्ञान एव च । दर्शनाज्ज्ञप्तिमात्रं स्यादर्थस्तथा प्रसिद्धितः ॥ पञ्च श्रोत्रादिभिः साक्षाज्जानामीति समीक्ष्यते । शब्दादीनिह लोकेऽतो दृष्ट्यादेर्ज्ञानवाच्यता ॥ येन रूपं रसं गन्धं शब्दान्स्पर्शांश्च मैथुनान् । एतेनैव विजानातीत्यपि च श्रुतिशासनम् ॥ पावकः पाचको वेति कारकस्य मतो यतः । अभेदोऽत्र क्रियाभिः स्यात्तातोऽप्कारक-तान्वितः ॥ गच्छन्पठन्वा भास्वानकर्मकृतो रविः । यथा प्रकाशयत्येकरूप एव तथा धियः ॥ दृष्ट्यादि भिन्नचेष्टास्ता भिन्नदेशादिलक्षणाः । एकरूप परं ज्योतिरेव सद्दीपन धियः ॥ किंज्योतिरित्युपक्रम्य यत्नन

. दृष्टान्तोपपत्तेश्च। यथा हि लोके स्वच्छस्वाभाव्ययुक्तः स्फटिकस्तन्निमित्तमेव केवलं हरितनीललोहिताद्युपाधिभेदसंयोगात्तदाकारत्वं भजते। न च स्वच्छस्वाभाव्यव्यतिरेकेण हरितनीललोहितादिलक्षणा धर्मभेदाः स्फटिकस्य कल्पयितुं शक्यन्ते। तथा चक्षुराद्युपाधिभेदसंयोगात्प्रज्ञानघनस्वभावस्यैवाऽऽत्मज्योतिषो दृष्ट्यादिशक्तिभेद

यत्तु सिद्धान्ते दृष्टान्तो नास्तीति[1] तत्राऽऽह—दृष्टान्तेति। किमेकरूपत्वे [2]वस्तुनो दृष्टान्तो नास्ति किं वा मिथ्यात्वे [3]तन्नानारूपत्वस्येति वक्तव्यम्। नाऽऽद्यः। [4]नानारूपवस्तुवादिभिरप्येकरूपस्या[5]नवस्थापरिहारार्थम[6]नानारूपत्वाङ्गीकारादस्माकं [7]दृष्टान्तसिद्धेर्वस्तुत्वहेतोश्च [8]तत्रैवानैकान्तिकत्वा[9]त्तस्मादेकरूपमेव [10]वस्तु स्वीकर्तव्यमिति भावः। द्वितीयं दूषयति—यथा हीति। तन्निमित्तमेवेत्यत्र तच्छब्देन स्वच्छस्वाभाव्यं परामृश्यते। स्फटिके हरितादिधर्माणां स्वाभाविकत्वं किं न स्यादित्याशङ्क्याऽऽह—न चेति। [11]तस्य हि[12] स्वच्छस्वाभाव्य तद्द्वेन हरिताद्यु[13]पाधिभेदसंबन्धव्यतिरेकेणेति यावत्। एकस्य नानारूपत्वं मिथ्येत्यत्र दृष्टान्तमुक्त्वा दार्ष्टान्तिकमाह—तथेति। आत्मा [14]मिथ्यानाना-

---

इसमें दृष्टान्त भी सम्भव है। जिस प्रकार लोकव्यवहार में स्वच्छ धर्म वाली स्फटिक मणि हरित, नील तथा लोहितादि उपाधि भेद के संसर्ग से केवल उन्हीं उपाधियों के निमित्त से तदाकार हो जाती है। स्वाभाविक स्वच्छ स्फटिक मणि में शुद्धत्व से व्यतिरिक्त हरित, नील एवं लोहितादि धर्मभेदों की कल्पना असम्भव है। तथा चक्षु आदि उपाधिभेद के संयोग से ही प्रज्ञानघनस्वरूप आत्मज्योति के दृष्टि

---

१ रूपभेद। २ उक्त ११३६पृष्ठटीकायाम्। ३ आत्मवस्तुन। ४ आत्मनो नानारूपत्वस्येति। ५ नानारूपवस्तुवादिभिरिति—भिन्नत्वाभिन्नत्वादिना वस्तुमात्रमनेकरूपमिति वादिभिरित्यर्थः। ६ अनवस्थेति—यथैकैकरूपस्यावयविनो घटादेरवयवात्मनाऽनेकत्वम् (घटत्वेनावयवित्वेन चैकरूपस्य सत) तथा तदवयवानामपि कपालादीनां स्वावयवात्मनाऽनेकत्व तथा तदवयवानामपि स्वावयवात्मनाऽनेकत्वमित्यनवस्था। न च परमाणोर्निरवयवत्वात्तत्र विश्रान्तिस्तस्यापि वस्तुत्वेनानेकत्वानुमानात्। न च तस्यापि गुणाद्यात्मनाऽनेकत्वस्य दृष्टत्वान्नानुमानविरोध गुणादीनामपि वस्तुत्वेन प्रत्येकमनेकत्वानपहारादनवस्था तदवस्थैवेति भाव। ७ ऐकरूप्यस्यावश्यमङ्गीकरणीयत्वादित्यर्थ। ८ दृष्टान्तसिद्धेरिति—तथा च आत्मा एकरूपो वस्तुत्वाद् घटादिवदिति सुप्रयोजकमिति भाव। ९ तत्र च नानारूपत्वसाधकत्वाभिमतो वस्तुत्वहेतुर्व्यभिचारीत्याह—वस्तुत्वहेतोश्चेति। १० तत्रैव—अनवस्थापहारायाभ्युपगमनीये एकरूपे वस्तुनि। ११ तस्मात्—मम दृष्टान्तसिद्धेस्तव च वस्तुत्वहेतोरनैकान्तिकत्वादित्यर्थं। १२ आत्मवस्तु। १३ स्फटिकस्य। १४ यत्। १५ उपाधिच्छायेति यावत्। १६ मिथ्याऽनेकप्रतीत्याश्रय।

महताऽऽदरात्। अर्थोऽयमेव निर्णीतस्तद्विरुद्ध विमुच्यते॥ माहात्म्याद्धिमवत्त्वादभिन्नोऽपि स्वतो रविः। द्रष्टा श्रोतेति नानात्वं याति यद्वदलक्तकम्॥ रक्तादिभेदतो भेदं प्रज्ञानस्य प्रकाशवत। यथैवमात्मनो भेदो ज्योतिःशब्दास्यभेदत"॥ १७६६-१७७७॥ इति। दृष्ट्यादीनां भिन्नाभिन्नत्वे भिन्नत्वे वा मर्द्ध तदित्यादेर्न तात्पर्यमिति ब्रुवता स्वपक्षे दृष्टान्त परपक्षे तदभावश्चोक्तः। इदानीं तेषां भिन्नत्वाभावे हेत्वन्तरमाह—दृष्ट्यादीति उक्त हेतुं संक्षिप्याऽऽह—अभिहित इति॥ दृष्ट्यादिशब्दानां ज्ञानमात्रवाचित्वं प्रसिद्धमित्येतत् प्रकटयति।

'उपलक्ष्यते । प्रज्ञानघनस्य स्वच्छस्वाभाव्यात्स्फटिकस्वच्छस्वाभाव्यवत्स्वयंज्योतिष्ट्वाच्च । यथा चाऽऽदित्यज्योति'रवभास्यभेदैः संयुज्यमानं हरितनीलपीतलोहितादिभेदै'रविभाग्यं 'तदाकारामासं भवति, 'तथा च कृत्स्नं जगदवभासयच्चक्षुरादीनि च 'तदाकारं भवति', तथा चोक्तमात्मनैवायं ज्योतिषाऽऽस्त इत्यादि ।

निर्भास उपहितत्वात्स्फटिकवदित्यर्थः । किंचाऽऽत्मा मिथ्यानानात्वाधारः स्वच्छत्वात्संप्रतिपन्नव-दित्याह—प्रज्ञानेति । किंचाऽऽत्मा कल्पितनानात्वाधारो ज्योतिष्ट्वादादित्यादिज्योतिर्वदित्याह—स्वयमिति । आदित्यादावकल्पितोऽपि भेदोऽस्तीत्याशङ्क्य विवक्षितं साम्यमाह—यथा चेत्यादिना । अविभाग्य 'वस्तुतो विभागायोग्यमिति यावत् । चक्षुरादीनि चावभासयदिति संबन्धः । आत्मनः सर्वावभासकत्वे वाक्योपक्रमं प्रमाणयति—तथा चेति ।

आदि रूपभेद प्रतीत होते हैं । प्रज्ञानघन स्वाभाविक स्वच्छ स्फटिक मणि के समान स्वच्छ स्वभाव है । और यह स्वयज्योतिष्ट्व भी है । जिस प्रकार आदित्य ज्योति हरितादि प्रकाश्यविशेषों से संपृक्त होने पर हरित नील, पीत और लोहितादि भेदों से अभिन्न और हरितादि के आकार का प्रतीत होता है, उसी प्रकार समस्त जगत् और चक्षु आदि को प्रकाशित करने वाली चैतन्यात्मज्योति कल्पित नाना आकार वाली हो जाती है । इसीसे श्रुति कहती है—"सुषुप्तावस्था मे (देहावयवसंघात से व्यतिरिक्त) यह प्राकृत पुरुष आत्मज्योति से ही बैठता है" ।

१ प्रतीयते । २ हरितादिप्रकाश्यविशेषैः । ३ हरिताद्याकारेण प्रतीतं भवति । ४ दार्ष्टान्तिके योजयति—तथा चेति । ५ कल्पितनानाकारम् । ६ आत्मज्योतिः । ७ स्फटिकादिवत् । ८ सजातीयादिप्रतियोगिक । ९ वस्तुत इति—हरितादिभास्यसंनिधानेन प्रतीयमानहरितादिविभागानर्हमेव वस्तुत इत्यर्थः ।

पञ्चति । दृष्ट्यादेस्तत्पदस्यति यावत् । ज्ञानमेव वाच्य यस्य तस्य भावस्तत्तेति विग्रह ॥ दृष्ट्यादीना ज्ञान-मात्रत्व काठकश्रुति प्रमाणयति— येनेति । येनैतेन साक्षिचैतन्येन लोको रूपादीञ्जानाति तस्मिञ्ज्ञाते नाव-शिष्यते तज्ज्ञेयमिति तद्वाक्य दृष्ट्यादीना ज्ञानमात्रत्व श्रावयति जानातेः सर्वत्र प्रयोगादित्यर्थः ॥ चक्षुरादि-करणाधीनो दर्शनादिक्रियाभेदोऽपि लोकसिद्धत्वान्न निरासमर्हतीत्याशङ्क्य दृष्ट्यादिवाच्यार्थस्य साभासबुद्धि-निष्ठस्य भेदेऽपि लक्ष्यार्थस्याऽऽत्ममात्रतया न भेदोऽस्तीत्यभिप्रेत्याऽऽह—लावक इति ॥ दृष्ट्यादेरीक्षितृत्वा-दात्मनोऽवारकत्वमसिद्धमित्याशङ्क्याऽऽह—गच्छत इति । धियो वीक्षत इति संबन्ध ॥ दार्ष्टान्तिक प्रपञ्च-यति—दृष्ट्यादीति । देवशब्देन चक्षुराद्युक्ति । आदिशब्दस्तु कालविषय । लक्षणशब्दो निमित्तपर ॥ किंच कूटस्थमेकरस ज्योतिरात्मेति प्रतिपाद्य तस्य दृष्ट्यादिक्रियावत्त्वोक्तौ पूर्वापरविरोध स्यादित्याह—किमिति । परपक्षनिरासद्वारा स्वपक्षसाधन यत्नस्तस्य महत्त्वं साधनदूषणयोर्विवृतत्वमादरो दृष्टान्तोक्ति ॥ आत्मा कूटस्थदृष्टिश्चेत्कथं तस्य द्रष्टा श्रोतेत्यादिनानात्वदृष्टिरित्याशङ्क्याऽऽह—मोहेति । यथा स्वच्छस्वभाव स्फटिक-मणिरलक्तकमुपाध्यन्तर वा संनिहितमपेक्ष्य लोहिताद्यनेकरूपतामेति तथेत्याह—यद्वदिति ॥ स्फटिकादेर-प्रकाशस्याधितोऽन्यथा प्रथनेऽपि कथ प्रकाशात्मनोऽन्याधीनतयाऽन्यथा प्रथेत्याशङ्क्याऽऽह—रक्तादीति । यथा प्रदीपादिप्रकाशस्य प्रकाश्यरक्तादिभेदवशात्तद्भेदो भाति तथाऽऽत्मनो ज्योतिष्ट्वाविशेषाद्भास्यद्रष्टव्यादिभेदवशा-द्द्रष्ट्रेत्यादिनानात्व सिद्धमित्यर्थः ॥

*न च [1]निरवयवेष्वनेकात्मता शक्यते कल्पयितुम् । दृष्टान्ताभावात् । यदप्याकाशस्य सर्वगतत्वादिधर्मभेदः परिकल्प्यते परमाण्वादीनां च गन्धरसाद्यनेकगुणवत्त्वं तदपि [2]निरूप्यमाणं परोपाधिनिमित्तमेव भवति । आकाशस्य तावत्सर्वगतत्वं नाम न [3]स्वतो धर्मोऽस्ति । [4]सर्वोपाधिसंश्रयाद्धि [5]सर्वत्र स्वेन[6] रूपेण [7]सत्त्वमपेक्ष्य सर्वगतत्वव्यवहारो न त्वाकाशः क्वचिद्गतो वाऽऽगतो वा स्वतः । गमनं ह्रो नाम देशान्तरस्थस्य देशान्तरेण संयोगकारणम् । सा च क्रिया नैवा[8]विशेषे संभवति । [9]एवं धर्मभेदा नैव सन्त्याकाशे ।

यत्तु निरवयवेष्वपि नानात्वमनुमेयमिति" तत्राऽऽह—न चेति । आकाशादीनां दृष्टान्तत्वमाशङ्क्य निराचष्टे—यदपीत्यादिना । कथमाकाशस्यानेकधर्मवत्त्वमौपाधिकमित्याशङ्क्य तस्य सर्वगतत्वं तावदौपाधिकमिति साधयति—आकाशस्येति । कथं "तर्हि तत्र सर्वगतत्वव्यवहारस्तत्राऽऽह—सर्वोपाधीति । नन्वाकाशस्य सर्वत्र गमनमपेक्ष्य सर्वगतत्व किमिति न व्यवह्रियते तत्राऽऽह—न त्विति । आकाशे गमनायोगं वक्तुं "तत्स्वरूपमाह—गमन हीति । ननु "कुतश्चिद्विभागे" संयोगे च केनचिद्देशेन "तत्कारणीभूता क्रियाऽपि श्येनादाविवाऽऽकाशे भविष्यति नेत्याह—सा चेति । सावयवे हि श्येनादौ क्रिया दृश्यत आकाशं त्वविशेषं निरवयवं कुतस्तत्र क्रियेत्यर्थः । "तथाऽपि धर्मान्तराण्याकाशे भविष्यन्तीत्याशङ्क्य तेषामपि क्रियापूर्वकाणामुक्तन्यायकवलीकृतत्वमाह—एवमिति । भेदाभेदाभ्यां "दुर्वचत्वाच्च तत्र धर्मधर्मिभावो न सभवतीति भावः ।

निरवयव आत्मादि मे नानात्वकल्पना सभव नहीं है क्योंकि इसमे दृष्टान्त का अभाव है । आकाश की जो सर्वगतत्वादि धर्म भेद और परमाणु आदि की गन्ध-रसादि अनेकगुणरूपता की कल्पना की जाती है, वह भी विचार्यमाण अन्य उपाधि निमित्त ही है । सर्वगतत्व आकाश का स्वाभाविक धर्म नही है । समस्त उपाधियो के अनुगत होने के कारण सर्व उपाधियो मे आकाशस्वरूप से उसकी विद्यमानता है । इसीसे आकाश मे सर्वगतत्व व्यवहार होता है; स्वाभाविकरूप से आकाश मे गमन-आगमन नही है । किसी देशान्तर मे स्थित वस्तु के किसी अन्य देश से सयोग होने के

१ आत्मादिषु । २ विचार्यमाणम् । ३ स्वाभाविक । ४ सर्वोपाध्यनुगतत्वात् । ५ उपाधिषु । ६ आकाशत्वेन । ७ विद्यमानत्वम् । ८ निरवयवे । ९ एवमिति—उक्तेनैव न्यायेनेत्यर्थ । सर्वगतत्वधर्मवदिति वा । १० उक्त ११३३ पृष्ठभाष्य । ११ तर्हि सर्वगतत्वस्य स्वतो धर्मत्वानभ्युपगमे । १२ गमनस्वरूपम् । १३ देशात् । १४ आकाशस्य । १५ संयोगविभागकारणीभूता । १६ सर्वगतत्वस्य स्वतोऽभावेऽपि । १७ दुर्वचत्वादिति—आकाशधर्मत्वनाभिमतानामाकाशभिन्नत्वे हिमवद्विन्ध्ययोरपि धर्मधर्मिभावापत्ति अभिन्नत्वे स्वमपि स्वस्य धम स्यादिति भाव ।

*न च निरवयवेष्वनेकात्मता शक्यत कल्पयितुमिति । अत्र वार्तिकाचार्यास्त्वाहुः—' निरंशेषु न चाप्येव सभागेष्विव वस्तुषु । भिन्नाभिन्नात्मता शक्या वक्तु साक्षादपीश्वरै ॥ न चापीह निरंशेषु भिन्नाभिन्नत्वकल्पने । दृष्टान्तः कश्चिदप्यस्ति जगत्यस्मिंश्चराचरे" ॥ १७७८-१७७९ ॥ दृष्ट्यादीना द्रष्टुर्भिन्नाभिन्नत्व मिथश्च भिन्नत्वमित्यस्तमधुना स्थूलेषु यद्वदित्यादिनाक्त निरस्यति—निरंशेष्विति ॥ तत्र दृष्टान्ताभाव हेतुमाह - न चेति । गोवादे साध्यतुल्यत्वमप्यर्थ. ॥

तथा परमाण्वादावपि । परमाणुर्नाम पृथिव्या गन्धघनायाः परमसूक्ष्मोऽवयवो गन्धात्मक एव न तस्य पुनर्गन्धवत्त्वं नाम शक्यते कल्पयितुम् । अथ तस्यैव रसादिमत्त्वं स्यादिति चेन्न । तत्राप्यबादिसंसर्गनिमित्तत्वात् । तस्मान्न निरवयवस्यानेकधर्मवत्त्वे दृष्टान्तोऽस्ति । *एतेन दृगादिशक्तिभेदानां पृथक्चक्षूरूपादिभेदेन परिणामभेदकल्पना परमात्मनि प्रत्युक्ता ॥ २४ ॥ २५ ॥ २६ ॥ २७ ॥ २८ ॥ २९ ॥ ३० ॥

आकाशे वर्णितन्यायमन्यत्रापि संचारयति—तथेति । पार्थिवत्वं परमाणोरेकं रूपं गन्धवत्त्वं चापरमित्यनेकरूपत्वमित्याशङ्क्याऽऽह—परमाणुर्नामेति । न हि पार्थिवत्वातिरेकि गन्धवत्त्वं प्रामाणिकमिति भावः । वैशेषिकपरिभाषामाश्रित्य शङ्कयति—अथेति । पार्थिवे परमाणौ रसादिमत्त्वमनौपाधिकं न भवति जलादिसंसर्गकृतत्वात्तथा च निरुपाधिकभेदे नेदमुदाहरणमिति परिहरति—न तत्रापीति । उक्तन्यायस्य विगाशावपि समत्वं मत्वोपसंहरति —तस्मादिति । सन्ति परस्मिन्नात्मनि दृगादिशक्तिभेदास्तेषां मध्ये दृक्शक्तिश्चक्षुरात्मना रूपात्मना च पृथगेव परिणमते घ्राणशक्तिश्च घ्राणात्मना गन्धात्मना चेत्यनेन क्रमेण परस्मिन्परिणामकल्पना भर्तृप्रपञ्चैर्या कृता साऽपि "परस्यैकरूपत्वोपपादनेन निरस्तेत्याह—एतेनेति ॥ २४ ॥ २५ ॥ २६ ॥ २७ ॥ २८ ॥ २९ ॥ ३० ॥

कारण को गमन कहते हैं । वह गमनक्रिया किसी निरवयव वस्तु में होनी संभव नहीं है । इस प्रकार (सर्वगतत्व धर्म के समान) आकाश में धर्मभेद नहीं रहते हैं ।

इसी प्रकार परमाणु आदि में भी धर्मभेद नहीं हैं । गन्धैकमूर्ति पृथिवी का जो अत्यन्त सूक्ष्म गन्धात्मक अवयव है, उसे परमाणु कहते हैं, उसके गन्धवत्त्व होने की कल्पना नहीं की जा सकती । यदि कहो कि उस गन्धात्मक परमाणु का रसादिमत्त्व होना संभव है तो ऐसा कहना ठीक नहीं क्योंकि पार्थिव परमाणु के रसादिमत्त्व होने में जलादि संसर्ग निमित्त होता है । इसलिये (आकाशादि दृष्टान्त के निरास से) निरवयव आत्मा के (स्वतः) अनेक धर्म होने में कोई दृष्टान्त नहीं है । इसीसे परमात्मा में दृष्ट्यादि रूप भेदों से पृथक् चक्षुरूपादिभेद से परिणामभेदों की कल्पना की गई है, उसका भी यहाँ निराकरण हो गया ॥ २४-३० ॥

---

१ नैव सन्ति धर्मभेदा इति पूर्वेण सम्बन्धः । २ गन्धैकमूर्तेः । ३ गन्धात्मकपरमाणोरेव । ४ पार्थिवपरमाणोरसादिमत्त्वेऽपि । ५ आकाशादेर्दृष्टान्तत्वनिरासात् । ६ आत्मनः । ७ स्वतोऽनेकधर्मवत्त्वं । ८ अवतरणोक्तत्वात् । ९ तत्र रसादेर्जलादिसंसर्गप्रयुक्तत्वं च । १० आत्मनः ।

---

* एतेन दृगादिशक्तिभेदानामित्यादि प्रत्युक्तेत्यन्तभाष्ये वार्तिककाराचार्योक्तिर्वाहि —'दृगादिशक्तिभेदाना चक्षुरूपादिभेदतः । विकारकल्पनेनेन व्यापनाऽऽत्मन्यपाकृता ॥ कार्यलिङ्गाद्धि शक्तीनामस्तित्वं कारणत्वतः । यतोऽवगम्यते नातोऽकारके शक्तिरात्मनि ॥ शक्तिशक्तिमतारैक्यं तयोर्भेदान्न युज्यते । प्रतिपत्तृ क्वचिच्छक्त्य प्रवृत्तिप्रत्यर्थयो ॥ प्रकृत्यर्थेऽथवाऽन्य स्यान्मतुब्वा ततोऽन्यतः । पक्षासिद्धिर्हि पूर्वस्मिन्भेदान्नैवं तथोत्तरे ॥ आत्माविदैव न शक्तिः सर्वस्यास्य सर्जने । नातोऽन्यथा शक्तिवादः प्रमाणेनावसीयते ॥ अशक्त शक्तिमच्छक्त्या शक्तिं शक्तिमता तथा । अशक्तेति कथं योगमन्योन्य हेत्वसम्भवात् ॥ शक्तय सन्ति भूयस्यस्तयोरपि मत यदि । तथापि तुल्यचोद्यत्वादनवस्था प्रसज्यते ॥ तस्मादज्ञान आत्मैव शक्तिरित्यभिधीयते । आकाशादेस्ततो जन्म यस्माच्छ्रुत्याऽभिधीयते" ॥ १७८०-१७८७ ॥ इति । आत्मनि दृष्ट्यादीनां भिन्नाभिन्नत्वनिरासिन्यायनैव

[1]यत्र वा अन्यदिव स्यात्तत्रान्योऽन्यत्पश्येदन्योऽन्य-
ज्जिघ्रेदन्योऽन्यद्रसयेदन्योऽन्यद्वदेदन्योऽन्यच्छृणुयादन्यो-

जिस जाग्रत् या स्वप्न में आत्मा से भिन्न अन्य सी-वस्तु होती है, वहां ही अन्य अन्य को देखता है, अन्य अन्य को सूंघता है, अन्य अन्य को चखता है, अन्य अन्य को बोलता है, अन्य अन्य

जाग्रत्स्वप्नयोरिव यद्विजानीयात्तद्[3]द्वितीयं प्रविभक्तमन्यत्वेन नास्तीत्युक्तमतः सुषुप्ते न विजानाति विशेषम्। ननु [4]यद्यस्या[5]यमेव[6]स्वभावः किंनिमित्तमस्य [7]विशेषविज्ञानं स्वभावपरित्यागेन। अथ विशेषविज्ञानमेवास्य स्वभावः कस्मादेष विशेषं न [8]विजानातीति

औपाधिको दृष्ट्यादिभेदो न वास्तवोऽस्तीत्युपपाद्य वृत्तमनुद्रवति—जाग्रदिति। यत्रेत्याद्युत्तरवाक्यव्यावर्त्यामाशङ्कां दर्शयति—नन्विति। किमस्य विशेषविज्ञानराहित्यं स्वरूपं किं वा विशेष-

---

जाग्रत् और स्वप्न के समान सुषुप्तावस्था में जिसे पुरुष जाने, ऐसी उससे अन्य रूप से विभक्त अपने से भिन्न वस्तु नहीं है—यह बात पहले कही जा चुकी है। इसलिए सुषुप्तावस्था में उसे कोई विशिष्टज्ञान नहीं होता। (इस पर शङ्का होती है—) यदि इस आत्मा का निर्विशेष दृष्टि ही स्वभाव है तो फिर अपना स्वभाव त्यागकर इसे जाग्रत्-स्वप्न का विशिष्ट ज्ञान किंनिमित्तक

---

१ एवं सुषुप्तावविशेषत्वद्वैताभावाद्विशेषज्ञानाभाव इति व्यतिरेकमुक्त्वा जाग्रदादौ तु तस्मिन्सति तदित्यन्वयमाह—यत्रेति। यस्मिञ्जागरिते स्वप्ने वा अन्यदिवेत्यादिभाष्ये स्पष्टम्। २ सुषुप्ते। ३ द्वितीयं स्वस्माद्भिन्नम्। प्रविभक्तं ज्ञेयजातम् स्वभिन्नत्वेन नास्ति। अतः सुषुप्ते विशेषं न विजानातीत्युक्तमिति सम्बन्धः। ४ आत्मनः। ५ निर्विशेषदृष्टिरेव। ६ जागरस्वप्नयोः। ७ सुषुप्तौ। ८ आत्मनः।

रूपादिशक्तिश्चक्षुरादिना रूपादिना च परिणमत इति कल्पनाऽपि निरस्तेत्याह—रूपादीति॥ किंचाऽऽत्मनि शक्तिरेव नास्ति मानाभावादित्याह— कार्येति। कार्यमेव लिङ्गं तद्बलम्यं तासामस्तित्वमित्यत्र हेतुमाह—कारणत्वत इति। शक्तिमत्कारणं तच्च कार्यलिङ्गं तथा च विशेषणत्वेन शक्तिमत्त्वमपि तल्लिङ्गमित्यर्थः॥ आत्मन्यकारकत्वादेव शक्तिर्नास्ति चेत्प्रधानादेव जगज्जन्मादिशक्तिरस्तु तत्कारकत्वादित्याशङ्क्य प्रकृतिप्रत्ययार्थयोः शक्तिशक्तिमतोरभेदो भेदो वेति विकल्प्याऽऽद्ये दोषमाह—शक्तीति। न च तयोर्भेदप्रतीतौ न एवास्तु हिमवद्विन्ध्ययोरिव शक्तितद्वद्भावायोगादिति द्रष्टव्यम्॥ उक्तमर्थं स्फोरयितुं शक्तिमानित्यत्र मतुबर्थं विकल्पयति—प्रकृतीति। प्रकृत्यर्थं शक्तिरेव मत्वर्थश्चेच्छक्तिमत्कारणमितिपक्षासिद्धिरित्याद्यं दूषयति—पक्षेति। शक्तेरेव कारणत्वप्रसङ्गात्तस्याश्चाऽऽश्रयविपर्ययव्यतिरेकेणायोगादिति हिशब्दार्थः। प्रकृत्यर्थाच्छक्तेरर्थान्तरं मतुबर्थं शक्तितद्वतोर्भेदात्तयोरैक्यं विवक्षितं न सिध्यन्न च तयोर्भिन्नतैव शक्तितद्वद्भावायोगादिति कल्पान्तरं निरस्यति—भेदादिति॥ ननु भेदाभेदविकल्पाभ्यां शक्तिवादो नापवादमर्हति त्वयाऽपि शक्त्याश्रितत्वादित्याशङ्क्याऽऽह—आत्मेति॥ आत्माविद्यातिरिक्तशक्तिवादो न प्रमाणवानित्यतत्कथमिति तत्र किं शक्तिशक्तिमतामिव सम्बन्धे प्रत्येकं शक्तिरस्ति न वा द्वितीयं दूषयति—अशक्तमिति। आद्यमनूद्य प्रत्याह—शक्त्य इति। तत्रापि तत्तच्छक्तिमद्वतोरपीत्यर्थः। तुल्यस्य चाद्यस्य सत्त्वं नाम तत्र तत्र शक्तिमत्त्वस्याऽऽवश्यकत्वम्॥ परपक्षं निराकृत्य स्वपक्षमुपसंहरति—तस्मादिति। तत्र मानमाह—आकाशादेरिति। कारणं हि शक्तिमदिष्टमन्यथाऽतिप्रसङ्गादज्ञातश्चाऽऽत्मा विश्वस्य कारणं श्रूयते तस्मादात्माज्ञानमेव शक्तिरित्यर्थः॥

ऽन्यन्मन्वीतान्योऽन्यत्स्पृशेदन्योऽन्यद्विजानीयात् ॥ ३१ ॥

❀ ¹सलिल एको द्रष्टाऽद्वैतो भवत्येष ब्रह्मलोकः

का मनन करता है, अन्य अन्य का स्पर्श करता है और अन्य अन्य को जानता है, अर्थात् अविद्या की विक्षेपशक्ति से उत्पन्न हुई वस्तु को देखता हुआ-सा प्रतीत होता है ॥३१॥

जैसे जल विशुद्ध और एक है, वैसे ही सुषुप्ति में अद्वैत आत्मा द्रष्टा एक है। हे राजन्! यही

उच्यते शृणु। यत्र यस्मिञ्जागरिते स्वप्ने वा अन्यदिवाऽऽत्मनो वस्त्वन्तरमिवाविद्यया प्रत्युपस्थापितं भवति ²तत्र ³तस्मादविद्याप्रत्युपस्थापितादन्योऽन्यमिवाऽऽत्मान मन्यमानोऽसत्यात्मनः प्रविभक्ते वस्त्वन्तरेऽसति चाऽऽत्मनि ⁴ततः प्रविभक्ते⁵ऽन्यो⁶ऽन्यत्पश्येदुपलभेत।

विज्ञानवत्त्वम्। आद्ये ⁷जाग्रत्स्वप्नयोर⁸नुपपत्तिः। द्वितीये सुषुप्तेर⁹सिद्धिरिति भावः। प्रतीचश्चिन्मात्रज्योतिषो विशेषविज्ञानराहित्यमेव स्वरूपं तथाऽपि स्वाविद्याकल्पितविशेषविज्ञानवत्त्वमाश्रित्यावस्थाद्वयं

होता है? यदि जाग्रत्-स्वप्न का विशिष्ट ज्ञान ही इसका स्वभाव है तो यह सुषुप्तावस्था में जाग्रत्-स्वप्न विशेष को क्यों नहीं जानता? (इसका समाधान करते हैं—)इसे बतलाया जाता है—सुनो। "यत्र" अर्थात् जिस जागरित अथवा स्वप्नावस्था में "अन्यदिव" अर्थात् अविद्या द्वारा प्रत्युपस्थापित की हुई आत्मा से भिन्न कोई-कोई वस्तु होती है, वहाँ आत्मा से भिन्न वस्तु न होने पर

---

१ प्राज्ञेनात्मना सम्परिष्वक्तस्य यद्वै तन्न पश्यतीत्यादिना विस्तरेणोक्तं स्वरूपमुपसंहरति—सलिल इति। यस्मादेवमन्वयव्यतिरेकाभ्यामाविद्यक एवान्तःकरणादिसम्बन्धस्तस्मात्सलिल सलिलवत्स्वच्छ विजातीयभेदशून्य एक सजातीयभेदशून्य अतएवाद्रष्टा। यद्वा जडत्वशङ्काव्यावृत्तये द्रष्टेति पदच्छेद। कूटस्थज्योति अद्वैत एकरस स्वगतभेदशून्य इति यावत्। अत ऊर्ध्वमित्यादि पुन पुन पृष्टस्योत्तर मुनिरुक्तवानिति श्रुतिराह—एष इति। एष सनिहित सुषुप्त्यवस्थामापन्न प्रत्यगात्मा। अस्य बुद्ध्याद्युपाधिकस्य। एषा प्रतिच्छन्दवाक्योक्ता। अस्य विज्ञानम् यस्य परमा उत्कृष्टा सम्पद् विभूति अकृतकत्वात्। अस्य विज्ञानमयस्य एष यथोक्त सुषुप्तौ परमात्मैकलक्षण परमो मोक्षरूपो लोक। अस्य सुषुप्तस्य एष स्वरूपानुभवलक्षण आनन्द परम. साधनासाध्यो निरतिशय इति यावत्। २ तस्मिन्नवस्थाविशेष। ३ वस्तुना भ्रमाद्वा। ४ प्रमेयात्। ५ अन्यपदार्थमिदम्। ६ स्वस्मान्निरूपम्। ७ पदुपन्तम्। ८ अनुपपत्तिरिति—तयोर्विशेषविज्ञानवत्त्वस्वाभाव्यात्। तत्र विज्ञान (जागरे) व्यावहारिक (स्वप्ने) प्रातीतिक वस्त्वन्यदेतदिति भाव। ९ तस्या निखिलविशेषविज्ञानविलयस्वाभाव्यादिति भाव।

❀ सलिल एको द्रष्टाऽद्वैतो भवत्येष ब्रह्मलोक इति। अत्र वार्तिककाराचार्या आहुस्तथाहि—'यद्वै तदित्युपक्रम्य व्याख्यातं वस्तु विस्तरात्। सलिलादिगिरा तस्य क्रियतेऽत्रोपसंहृति ॥ अविद्यैव यतो हेतु कार्यकारणता प्रति। सम्यग्ज्ञानादतस्तस्या ध्वस्तायामात्ममात्रता ॥ नाविद्यामनुपादाय प्रतीचोऽनात्मसंगति। यतो विध्वंसने तस्या नाऽऽत्मनोऽन्योऽवशिष्यते ॥ स्वतोऽवबोधमात्रत्वात्कुतोऽविद्यादिसम्प्लुति ॥ तस्मात्सलिलवच्छुद्ध कार्यकारणहानत ॥ अन्तरेणापि सम्बन्ध कार्यकारणवस्तुन। स्वतोऽनेकात्मकं तत्स्यादित्याशङ्कापि च उच्यते ॥ न कपित्थादिवत्तत्त्व स्वतोऽनेकस्वभावकम्। उक्त्वा सलिलवत्तस्मादेक इत्यब्रवीच्छ्रुति ॥ सजातीयनिषेधो वा ह्येकशब्देन

सम्राडिति हैनमनुशशास याज्ञवल्क्य एषाऽस्य परमा

ब्रह्मलोक है। ऐसा याज्ञवल्क्य ने जनक को उपदेश दिया। यही इस पुरुष की परम गति है। यह इसकी

तत्र दर्शितं स्वप्ने प्रत्यक्षतो घ्नन्तीव जिनन्तीवेति । तथाऽन्योऽन्यजिघ्रेद्रसयेद्वदेच्छृणुयान्मन्वीत स्पृशेद्विजानीयादिति ॥ ३१ ॥

यत्र पुनः साऽविद्या सुषुप्ते [1]वस्त्वन्तरप्रत्युपस्थापिका शान्ता तेनान्यत्वेनाविद्या·

सिध्यतीत्युत्तरवाक्यमवलम्ब्योत्तरमाह—उच्यत इत्यादिना । तच्चेत्याविद्यं दर्शनमित्यर्थः ॥ ३१ ॥

[2]पूर्वोक्तवस्तूपसंहारार्थं सलिलवाक्यमुत्थापयति—यत्रेत्यादिना । तेनाविद्यायाः शान्तत्वेनेति

उस अविद्या द्वारा वस्तु के भ्रम से प्रत्युपस्थापित वस्तु से अपने को अन्य के समान मानता हुआ; अन्य अन्य को देखता यानी उपलब्ध करता है। उसी को "स्वप्न मे मानो मारते हैं, मानो वश मे करते है" इस अनुभव द्वारा दिखाया गया है। इसी प्रकार अन्य अन्य को सूँघ सकता है, रस ग्रहण कर सकता है, बोल सकता है, सुन सकता है, मनन कर सकता है, स्पर्श कर सकता है, जान सकता है ॥ ३१ ॥

---

१ आत्मभिन्नवस्तुप्रत्यायिका। २ पूर्वोक्तेत्यादि। तथा च वार्तिके—"यद्वै तदित्युपक्रम्य व्याख्यात वस्तु विस्तरात्। सलिलादिगिरा तस्य क्रियतेऽत्रोपसहृति" ॥ १७६५ ॥ इति ॥ तस्य प्रत्यगभिन्नवस्तुन । वस्तूपसहारश्च वस्तुनि वक्तव्योपसहार ।

भण्यते। सलिलोक्त्या विजातीयसबन्धो हि निवारित ॥ एकशब्दो न सख्यार्थं सत्येयासभवादिह । अद्वितीयार्थतैवाता द्वितीयार्थनिषेधत ॥ सदेवेत्यादिना चास्य तथा सत्यविरुद्धता ॥ प्रत्यङ्मात्रावसायित्वं प्रत्यग्दृष्टेर्यतस्तत । अकारकस्वभावत्वादद्रष्टेत्यभिधीयते ॥ यत्र हि द्वैतमित्युक्तेयत्र त्वस्येति चेरणात्। स्वत पूर्णात्मकं ज्योतिरद्रष्टेत्यभिधीयते ॥ यस्मादेवमतोऽद्वैतोऽविद्यातत्कार्यलङ्घनात्। न ह्यविद्यादिविरह द्वैतधीरुपपद्यते ॥ द्विधेत द्वीतमित्याहुस्तद्भावो द्वैतमुच्यते । तन्निषेधेन चाद्वैत प्रत्यग्वस्त्वभिधीयते ॥ द्विधा त्रिधा वा बहुधा कारण सद्भवेदिह। तस्याऽऽत्मनि निषिद्धत्वादात्माऽद्वैतो भवेत्तत ॥ भेदससर्गहानार्थमेवमेतामपि श्रुतिम्। अनादृत्यान्यथा प्राहुरहो विद्या महीयसी ॥ मिथो विभागससिद्धिर्धर्माणा नाऽऽत्मसश्रयात्। धर्मधर्म्यभिसबन्धी दृश्यत्वाद्द्रष्ट्रपेक्षया ॥ द्रष्टा सलिलवच्छुद्धो नि सङ्ग्रकाद्वयस्तथा। श्रुत्युक्तोऽसा विरुद्धोऽर्थो निर्ह्रीकैरिह वर्ण्यते ॥ समाशत्व यथा भानो सतश्चाप्यसदशता। वियतो मूर्ततैवं स्याद्भिन्नाभिन्नत्वमात्मन ॥ अत ऊर्ध्वं विमोक्षायेत्युक्त प्राग्यत्पुन पुन। तद्विमुक्ते समाप्तत्वादेष इत्यभ्यधान्मुनि ॥ प्रत्यक्त्वादव्यवहित प्रात्यक्ष्यादात्मवस्तुन । एष इत्यात्मनिर्देशो यत्साक्षादिति च श्रुति ॥ अव्यावृत्ताननुगत नि सामान्यविशेषत । ब्रह्मेति मुख्यवृत्त्येह वस्तु श्रुत्याऽभिधीयते ॥ यथा लोकयतेर्धातोर्दर्शनार्थत्वहेतुत । प्रकृतत्वात्तथा दृष्टेर्लोकोऽत्र लोक उच्यत ॥ कर्मधारय एवात समासोऽत्रोपपद्यते। न तु षष्ठीसमासोऽत्र विभागस्याप्रसिद्धित ॥ श्रुत चैव विभक्तित्व युक्त नाश्रुतकल्पना। कल्पनाहेत्वसद्भावे निराकाङ्क्षे तथा श्रुत ॥ षष्ठ्यादिकल्पनाऽन्याय्या तस्मादेवेति भण्यत। सामानाधिकरण्य च विशेषणविशेष्यता ॥ लक्ष्यलक्षणसबन्धो ब्रह्मलोकाभिधानयो । ब्रह्मेति चाऽऽत्मयाथात्म्यं लक्ष्यत नाभिधीयते ॥ तथा लोकगिरा ब्रह्मतत्त्वमात्मोपलक्ष्यते । मुख्यमैकार्थ्यमेव स्याद्ब्रह्मलोकपदार्थयो ॥ न हि लोकातिरेकेण

गतिरेषाऽस्य परमा संपदेषोऽस्य परमो लोक

परमसंपत्ति है, यह इसका परमलोक है, यह इसका परमानन्द है। इसी आनन्द की (अविद्या द्वारा

प्रविभक्तस्य 'वस्तुनोऽभावात्तत्केन कं पश्येज्जिघ्रेद्विजानीयाद्वा। 'अतः स्वेनैव हि

यावत्। वस्तुनोऽभावात्तत्रेति शेषः। सुषुप्ते विशेषविज्ञानाभावप्रयुक्तं फलमाह—अत इति। 'पूर्वमेवा-

किन्तु जहाँ सुषुप्तावस्था में आत्मभिन्न वस्तु की प्रत्यायिका वह अविद्या शान्त हो जाती है, वहाँ उससे भिन्न रूप से अविद्या द्वारा विभक्त दृश्यादि वस्तु का अभाव होने के कारण उस आत्मवस्तु

१ दृश्यादे। २. आत्मवस्तु। ३. अवतरणोक्तत्वात्। ४. स्त्रीवाक्ये बृ. उ ४. ३. २१।

ब्रह्मत्वमुपपद्यते। ब्रह्मणो व्यतिरेकेण प्रत्यक्ता नान्यतस्तथा॥ अनयोरैक्यसंमोहात्संसारोऽस्त्यद्वयवस्तुनि। संसारोऽयमतो मोहसमुच्छित्तौ विमुक्तता॥ अतोऽशेषमहानर्थहेतोर्मोहस्य हानये। एष इत्यादिवाक्योक्तिः सम्यग्दर्शनजन्मने"॥ १७६५-१८२४॥ इति। सलिलादिवाक्यं तात्पर्योक्तिपूर्वकमादत्ते—यदेति॥ सलिलपदार्थोक्त्यर्थं पातनिकां करोति—अविद्येति॥ सर्वस्याऽऽत्ममात्रत्वं प्रपञ्चयति—नेत्यादिना॥ आत्मनः स्वाविद्यां विनाऽनात्मासंबन्धे हेतुमाह—स्वत इति। सर्वस्याऽविद्यस्य विद्यया ध्वस्तावात्ममात्रत्वपरिशेषे फलितं सलिलपदार्थमाह—तस्मादिति॥ एकशब्दमाशङ्कोत्तरत्वेनोत्थापयति—अन्तरेणेति॥ तात्पर्यार्थमाह—नेत्यादिना। सलिलपदादात्मानं शुद्धमुक्त्वा पुनरेकपदं प्रयुञ्जाना श्रुतिरेकस्य तस्य विवक्षत्यन्यथा विशेषणवैयर्थ्यादित्यर्थः॥ एकशब्दस्यार्थान्तरमाह—सजातीयेति। तत्रापि तच्छब्दस्य सामर्थ्यमस्तीति द्योतनार्थो हिशब्दः। एकपदे सर्वभेदनिवारके संभवति किं सजातीयविशेषणेनेत्याशङ्क्य सलिलशब्दस्यार्थान्तरमाश्रित्याऽऽह—सलिलेति। सर्वं सलिलाद्यात्ममात्रमिति निर्देशादनात्मभेदस्य निषिद्धत्वादेकपदमात्मभेदनिरासार्थमित्यर्थः॥ एकशब्दस्य संख्यावाचिनो गुणगुणिसंबन्धपरत्वान्न विवक्षितार्थतेत्याशङ्क्याऽऽह एवेति। इहेत्यात्मोक्तिः। न हि तस्मिन्नेकत्वं गुणो निर्गुणत्वश्रुतेरित्यर्थः। संख्यावाचित्वासंभवे सिद्धमाह—अद्वितीयेति॥ एकशब्दस्य वृद्धव्यवहारे संख्यावाचित्वप्रसिद्धेर्नाद्वितीयार्थतेत्याशङ्क्य अर्थान्तरविरोधान्नैवमित्याह—सदिति। तथा सत्येकपदस्याद्वयार्थत्वे सतीति यावत्॥ अकारकत्वे हेतूक्तिपूर्वकमद्रष्टेत्यस्यार्थमाह—प्रत्यगिति॥ द्रष्टेति पदच्छेदमाशङ्क्य दूषयति—यत्नेति॥ सजातीयविजातीयभेदविरही कूटस्थो यस्मादात्मा तस्मादसौ स्वगतभेदशून्य इत्यद्वैतपदार्थमाह—यस्मादिति। अविद्यातज्जाभावेऽपि स्वगतभेदभानं किं न स्यादित्याशङ्क्याऽऽह—न हीति। हेत्वभावे फलाभावस्य प्रसिद्धत्वादिति भावः॥ ननु नञर्थं त्रैविध्यादन्यतमनिर्धारणाशक्तेः कथमद्वैतं निर्धार्यतेत्याशङ्क्याद्वैतशब्दसमासघटकनञर्थमाह—द्वितीयेति। अभावावसानत्वमद्वैतस्य व्यावर्तयति—प्रत्यगिति॥ कथं द्वैतनिषेधवत्त्वसिद्धिस्तत्राऽऽह—द्वितीयेत्यादिना। इह चेदात्मनि द्वैतकारणमनिषिद्धं तदा तस्मिन्बहुप्रकारद्वैतं स्यात्तस्य च कारणस्यात्यन्ताद्वैतपदेन निषिद्धत्वादात्यन्तिकद्वैतनिषेधसंभवादद्वैतो भवेदात्मेति योजना॥ सलिलादिवाक्यादेवं रस्यमात्मनो निर्धार्य भिन्नाभिन्नत्ववादिना तद्वाक्यविरोधमाह—भेदेति। श्रुतिमवधीर्यात्मनां भिन्नाभिन्नत्ववादिना विद्या महतीत्युपहसता तेषामज्ञत्वं प्रतिज्ञातमिदानीं तत्साधकन्यायमाह—मिथ इति। दृष्ट्यादिधर्माणामात्माश्रयत्वे ततो भेदस्य दुर्वचत्वान्मिथोऽपि तेषां भेदासिद्धिस्तन्नाऽऽत्मधर्मतेत्यर्थः। दृष्ट्यादीनामात्मनो न भिन्नत्वं नाप्यभिन्नत्वं धर्मधर्मित्वायोगात्किंतु भिन्नाभिन्नत्वं तत्सिद्धेरित्याशङ्क्याऽऽह—धर्मेति। द्रष्टपेक्षया दृश्यत्वादेव रूपघटादिषु धर्मधर्मिसंबन्धो दृष्टो न चाऽऽत्मधर्माणां तद्दृश्यत्वमात्मनोऽपि तत्प्रसङ्गान्न च स्वेनैव स्वस्य दृश्यत्वं न च द्रष्ट्रन्तरमतो दृष्ट्यादीनां नाऽऽत्मधर्मतेति

***एषोऽस्य परम आनन्द- [1]एतस्यैवाऽऽनन्दस्यान्यानि भूतानि- [2]मात्रामुपजीवन्ति[3] ॥ ३२ ॥**

उपस्थित विषय और इन्द्रियों के सबन्ध से होने वाली) कला के आश्रित दूसरे जीव जीते रहते है ॥३२॥

---

[1]प्राज्ञेनाऽऽत्मना स्वयंज्योतिःस्वभावेन [2]संपरिष्वक्तः [3]समस्तः [4]संप्रसन्न [5]आप्तकाम

स्यार्थस्योक्त-व द्योतयितुं हिशब्द । सपरिष्वङ्गफलं समस्तत्वमपरिच्छिन्नत्वं तत्फलं सप्रसन्नत्वम् । [1]असंप्रसादो हि परिच्छेदाभिमानकृत- । सप्रसन्नत्वे हेत्वन्तरमाह—आप्तकाम इति । तदेव संप्र-

---

को किस इन्द्रिय से देखे, सूंघे अथवा जाने ? इसलिये अपने ही स्वयज्योतिष्ट्व पारमार्थिक स्वरूप

---

१ ब्रह्मस्वरूपस्य । २ विषयेन्द्रियसबन्धकाले विभाव्यमानाम् । ३ तदन्यस्यानन्दस्याभावादिति भाव । ४ पारमार्थिकेन स्वरूपेण । ५ एकीभूत । ६ अपरिच्छिन्न । ७ अत्यन्तस्वच्छ । ८ आप्ता मुखादयो यस्मिन् । ९ कर्तृत्वादिमालिन्यम् ।

भाव ॥ सलिलादिवाक्यार्थमनुवदन्भेदाभेदवादिना तद्विरोधमुपसहरति—द्रष्टेति । अर्थशब्दो भिन्नाभिन्नत्व-विषय । इहेत्यारमोष्यति ॥ आत्मनो भिन्नाभिन्नत्वस्य श्रुतियायविरोधमुक्त्वा तदसभव दृष्टान्तैर्निगमयति—तम इति ॥ एष ब्रह्मलोक इत्यादिवाक्यस्थमेषशब्दमादत्ते—मत इति । उक्त पृष्ठगिति यावत् । आत्मा सनिहि-तत्वादेषशब्दवाच्य ॥ न च तस्यानिदमाकारस्य शास्त्रैकगम्यस्यैतच्छब्दार्हतेत्याशङ्क्याऽऽह—प्रत्यगिति । तदव्यवहितत्व तदात्मत्व ततश्च प्रत्यक्षत्वादेषशब्दार्हत्वमात्मनोऽस्तीत्यर्थ । आत्मन प्रत्यक्षत्वे मानमाह—यदिति ॥ ब्रह्मशब्दार्थमाह—अव्यावृत्तेति । तत्र हेतु —नि सामान्येति । अस्ति कमलासनादिविशेषवदपि ब्रह्मेति चेत्तत्राऽऽह—मुख्येति । इहेति ब्रह्मलोकशब्दनिर्देश । अव्यावृत्तानुगत वस्तु ब्रह्मेति मुत्याऽभिधीयत इति सबन्ध ॥ लोकशब्दस्य भोगभूमिविषयत्व प्रकरणादिना व्यावर्तयन्विवक्षितमाह—तथेति ॥ अवयवार्थमुक्त्वा ब्रह्मलोकशब्दस्य समासमाह—कर्मेति । ब्रह्मशब्देन तत्पदार्थस्य लोकशब्देन त्वपदार्थस्य चोक्तरीत्याऽभिधान-मत शब्दाय । ननु निपादस्थपत्यधिकरणपूर्वपक्षन्यायेन समासान्तर सभाविते कथ कर्मधारयो नियम्यते तत्राऽऽह—न त्विति । तत्र हि भेदमादाय समासान्तर शङ्कित न चात्र तयोरर्थयोर्भेदे मानमस्ति तथाच तदीय-सिद्धान्तन्यायेन कर्मधारय इत्यर्थ ॥ तत्रैव युक्त्यन्तरमाह—श्रुत चेति । अस्यार्थ । लोकशब्दस्य तावत्प्रथमा-न्तत्वं श्रुत तेन समभिव्याहृता ब्रह्मशब्द समासान्तर्वर्ती लुप्तविभक्तिको विभक्तिमपेक्षते तथा च सनिहितलोक-शब्दवशादस्यापि प्रथमान्तत्व युक्त कल्पकसद्भावाल्लाघवाच्च न त्वस्य षष्ठ्यन्तता कल्प्या तद्धेत्वभावाद्गौरवाद् श्रुतषष्ठीकल्पनाया प्रकरणविरोधाच्च तत्र हेतोरसत्वे ब्रह्मलोकशब्दे च श्रुते प्रथमयैव निराकाङ्क्षे सति न सा कल्प्येति षष्ठीकल्पनावच्चतुर्थ्यादिकल्पनाऽपि न युक्तेति ॥ समासान्तरत्यागेन कर्मधारयस्यैव स्वीकार्यत्वमुप-सहरति—षष्ठ्यादीति । अत्र ब्रह्मलोकपदे षष्ठीचतुर्थ्यादिकल्पना न साध्वीति कृत्वा कर्मधारयो भण्यत इति योजना ॥ समास व्यवस्थाप्य वाक्यवृत्ति व्याचष्ट—सामानाधिकरण्य चेति । ब्रह्मलोकपदयो सामानाधिकरण्यं तदर्थयोर्वाच्ययोर्विशेषणविशेष्यत्व तयोरेव लक्ष्यवाच्ययोर्लक्ष्यलक्षणसबन्धस्तत्त्वमसीतिवदित्यर्थ ॥ ब्रह्मशब्देना-नात्मनो लोकशब्देन चाब्रह्मणो लक्ष्यत्वात्तावण्डार्थत्वमन्यथा पदान्तरवैयर्थ्यादित्याशङ्क्याऽऽह—ब्रह्मेति । न च पदान्तरवैयर्थ्यं व्यावर्त्यभेदादिति भाव । पदाभ्या ब्रह्मात्मनोर्वाच्यत्वमेव किं न स्यादित्याशङ्क्याऽऽह—नाभि-धीयत इति ॥ शब्दप्रवृत्तिनिमित्तस्य षष्ठ्यादेरभावादित्यर्थ । उक्तनीत्या लक्ष्यलक्षणभावोपगम फलितमाह—मुख्यमिति ॥ मुख्यैक्ये युक्तिमाह—न हीति ॥ ब्रह्मात्मनोरैक्यमस्ति चेत्कथ ससारप्रतीतिस्तत्प्रतीतौ वा कथ ब्रह्मणो नित्यमुक्ततेति तत्राऽऽह—अनयोरिति ॥ वाक्यतात्पर्यमुपसहरति—अत इति । मोहध्वस्तौ मुक्तिरत-शब्दार्थ ।

* एषोऽस्य परम आनन्द एतस्यैवानन्दस्येत्यादौ वार्तिके—'आनन्द परमोऽस्यैष सुखात्मत्वं समाश्रित । सर्वा-

[1]आत्मकामः सलिलवत्स्वच्छीभूतः [2]सलिल इव सलिल एको [3]द्वितीयस्याभावात् । अविद्यया हि द्वितीयः प्रविभज्यते । सा च शान्ताऽत्र[4] एको [5]द्रष्टा दृष्टेरविपरिलुप्तत्वादात्मज्योतिःस्वभावाया अद्वैतो द्रष्टव्यस्य द्वितीयस्याभावात् । [6]एतदमृतम[7]भयमेष[8] ब्रह्मलोको [9]ब्रह्मैव [10]लोको [11]ब्रह्मलोकः पर एवा[12]यमस्मिन्काले व्यावृत्तकार्यकरणोपाधिभेदः

समत्वं दृष्टान्तेन स्पष्टयति—सलिलवदिति । उक्तेऽर्थे वाक्याक्षराणि योजयति—सलिल इवेति । द्वितीयस्याभावं सुषुप्ते व्यक्तो करोति—अविद्ययेति । अद्रष्टा द्रष्टेति या छेदः । एकोऽद्वैत इत्यभ्यासस्स्तात्पर्यलिङ्गं तस्य परमपुरुषार्थत्वं दर्शयन्कूटस्थत्वमाह—एतदिति । किमिति षष्ठीसमासमुपेक्ष्य

प्राज्ञात्मा से एकीभूत, अपरिच्छिन्न, अत्यन्त स्वच्छ, आप्तकाम, आत्मकाम, सलिल के समान स्वच्छीभूत "सलिल एक" अर्थात् सलिल के समान एक है क्योंकि निरवयव होने के कारण उसमें द्वितीयत्व का अभाव है। द्वितीय विभाजन तो अविद्यावस्था में होता है। वह यहाँ सुषुप्तावस्था में शान्त हो गई है। इसलिये स्वरूप द्रष्टा एक है, आत्मज्योतिस्वभाव दृष्टि का लोप न होने के कारण वह द्रष्टा है तथा अन्य द्रष्टव्य का अभाव होने के कारण अद्वैत है। यह आत्मतत्त्व (षड्भावविकारशून्य) अमृत, भय-

---

१ आत्मैव काम सुखमात्माकारो यस्मिन्निति न हिरण्यगर्भतुल्य । २ सलिल इव सलिल इति—सर्वस्याविद्यस्य (विद्यया) ध्वस्तावात्ममात्रत्वपरिशेषे कार्यकारणभावेन तत्सम्बन्धाभावात्सलिलवच्छुद्ध इत्यर्थः । ३ एक इति—सलिलपदादात्मानं शुद्धमुक्त्वा पुनरेकपदं प्रयुञ्जाना श्रुतिस्तस्यैकरस्यम् (निरवयवत्व) विवक्षत्यन्यथाविशेषणवैयर्थ्यादिति वार्तिकानुसारी पन्था । ४ सुषुप्तौ । ५ स्वरूप. । ६ यथोक्तमात्मतत्त्वम् षड्भावविकारशून्यम् । ७ भयहेत्वविद्याशून्यम् । ८ प्रत्यक् । ९ तत्पदार्थः । १० त्वंपदार्थः । ११ कर्मधारयात्तयोरैक्यम् । १२ आत्मा । १३ श्रुतेर्निर्विशेषवस्तुनि तात्पर्यग्राहक इत्यर्थः । १४ यथोक्तात्मन ।

नन्दातिशायित्वात्तथाचैव प्रवक्ष्यते ॥ विषयस्पर्शजानन्दा साधनानुविधानत । आद्यन्तवत्स्वभाव्याद्दु सहेतव एव ते । कूटस्थात्मस्वभावत्वात्मवंसाधननिस्पृह । सर्वानन्दातिवर्तित्वादानन्द परमो मत ॥ आनन्द परमोऽस्यैष इत्युक्तार्थप्रसिद्धये । एतस्यैवेति वचसा समर्थो हेतुरुच्यते ॥ एतस्यैव यथोक्तस्य सर्वानन्दातिवर्तिन । उपजीवन्ति भूतानि ब्रह्मानन्दस्य विप्लुषम् । एष एवंविधो यस्मादानन्द परमस्तत । आनन्दानतिशेतेऽन्यान्सर्वानस्यैव कृत्स्नत ॥ कृत्स्नोऽपि चैष आनन्दस्तदविवेकहेतुज । बुद्ध्याद्युपाध्यवच्छेदान्मात्रेति व्यपदिश्यते" ॥ १८३६-१८४२ ॥ इति । एषोऽस्य परम आनन्द इत्यस्यार्थमाह—आनन्द इति । आत्मानन्दस्य परमत्वे हेतु—सर्वेति । आनन्दातिशयस्याऽऽत्मनि कथं समाप्तिस्तत्राऽऽह—सर्वेति । तदेव कथं मदाह—तथाचेति । यथाऽऽनन्दोत्कर्षस्याऽऽत्मनि समाप्तिस्तथा सर्वानन्दातिशायित्वमात्मनि स यो मनुष्याणामित्यादिप्रकारेण वक्ष्यत इति यावत् ॥ विषयानन्दानामपि हिरण्यगर्भादीनां परमत्वात्कथं तेनाऽऽत्मानन्दो विशेष्यते तत्राऽऽह—विषयेति ॥ तर्हि सद्वदात्मसुखस्यापि सुखत्वाविशेषान्न परमतेत्याशङ्क्याऽऽह—कूटस्थेति ॥ आत्मसुखमेवोत्कृष्टं सुखमितरत्कृत्रिममित्यत्राबाधितहेतुरस्त्यर्थमुत्तरं वाक्यमित्याह—आनन्द इति ॥ वाक्यं योजयति—एतस्यैवेति । यथोक्तस्येत्यस्य व्याख्यानम्—सर्वानन्देत्यादि ॥ हेत्वर्थमनूद्य साध्यार्थं नियमयति—एष इति । परमत्वं व्याकरोति—आनन्दानतीति । तत्र हेतु—अस्येति ॥ आत्मानन्दस्य कृत्स्नत्वे कथं मात्रेति व्यपदेशस्तत्राऽऽह—कृत्स्नोऽपीति । पूर्णस्याऽऽनन्दस्याविद्योत्थबुद्ध्यादिसम्बन्धान्मात्रेतिव्यपदेशार्हतेत्यर्थः ॥

स्व आत्मज्योतिषि शान्तसर्वसंबन्धे वर्तते । हे सम्राडिति हैवं हैनं 'जनकम'नुशशासानु-शिष्टवान्याज्ञवल्क्य इति श्रुतिवचनमेतत् ।

'कथं वाऽनुशशास । 'एषाऽस्य विज्ञानमयस्य 'परमा गतिः । यास्त्वन्या देहग्रहण-लक्षणा ब्रह्मादिस्तम्बपर्यन्ता अविद्याकल्पितास्ता गतयोऽतोऽपरमा अविद्याविषयत्वात् । इयं तु देवत्वादिगतीनां कर्मविद्यासाध्यानां परमोत्तमा यः "समस्तात्मभावो यत्र नान्यत्पश्यति नान्यच्छृणोति नान्यद्विजानातीत्येषैव च परमा 'संपत्सर्वासां संपदां विभू-तीनाभियं परमा स्वाभाविकत्वादस्याः कृतका" ह्यन्याः संपदः । तथैषोऽस्य परमो लोकः । येऽन्ये कर्मफलाश्रया लोकास्तेऽस्माद"परमाः । ❋"अथ तु न केनचन कर्मणा मीयते स्वाभा-

कर्मधारयो गृह्यते तत्राऽऽह—पर एवेति । अस्मिन्काले सुषुप्त्यवस्थायामित्येतत् ।

परमत्वं साधयति—यास्त्विति । प्रस्तुतं समस्तात्मभावं विशेषविज्ञानराहित्येन विशिनष्टि—यत्रेति । सर्वात्मभावाख्यस्य लोकस्य परमत्वमुपपादयति—येऽन्य इति । मीयते परिच्छिद्यते साध्यत

हेतुक अविद्या से शून्य है । "एष ब्रह्मलोक" अर्थात् त्वंपदार्थं लोक तत्पदार्थ ब्रह्म ही है । इसलिये उनके ऐक्य होने से ब्रह्मलोक है । हे सम्राट् ! इस समय अपनी देहेन्द्रियरूप उपाधि से छूटकर सब सबन्धो से मुक्त हो परमात्मा ही अपनी आत्मज्योति मे वर्तमान रहता है । इस प्रकार याज्ञवल्क्य ने इस जनक को "अनुशशास" यानी उपदेश किया, यह श्रुतिवाक्य है ।

किस प्रकार से उपदेश किया ? यह इस विज्ञानमय की नैष्ठिकी अवस्था है । इससे भिन्न जो ब्रह्मा से लेकर स्तम्बपर्यन्त देहग्रहणलक्षणा अवस्थाएं है; वे सब अविद्याकल्पित है, अत अविद्या की विषय होने के कारण वे क्षय होने वाली है । किन्तु यह जो अपरिच्छिन्न आत्मभाव है वह कर्म और उपासना द्वारा साध्य देवत्वादि गतियो मे "परमा" यानी उत्तम गति है, जहाँ कि पुरुष अन्य कुछ नही देखता, अन्य कुछ नही सुनता, अन्य कुछ नही जानता । "एषाऽस्य परमा सपत" अर्थात् सम्पूर्ण सपदाओ या विभूतियो मे यह अतिशय उत्कर्ष वाली सपत् है, क्योकि यह स्वाभाविक है और दूसरी तरह की सपदाएं जन्या है । इसी प्रकार यही इसका परम लोक है । जो अन्य कर्मफलाश्रय लोक हैं, वे

१ मुमुक्षुम् । २ अविद्यापनोदनाय । ३ केन वाऽन्येन प्रकारेणेत्यर्थ । ४ प्रतिच्छन्दवाक्यात्का । ५ नैष्ठिकी । ६ अवस्था । ७ सकाशात् । ८ क्षयिष्ण । ९ मध्ये । १० अपरिच्छिन्न । ११ उत्कर्षातिशय । १२ जन्या । १३ कृतकत्वात् । १४ आत्मलोकस्तु ।

❋ मोक्षस्यापि तुल्यं कर्मज्ञानरूपक्षयिष्णुसाधनसाध्यत्वेन क्षयित्वमत आह—अथ त्विति । प्रतिबन्धध्वस्तौ ज्ञानस्योपयोगेऽपि कर्म साक्षान्मोक्षे नोपकरोतीति भाव । तथा चोक्त वार्तिके—"ब्रह्मैव सत्त्वतो यस्माद्ब्रह्मा-ध्येत्यवबोधत । तदविद्यानिरासेन मुक्तिर्नातोऽन्यसाधनात् ॥ लोकशब्दस्य मुख्योऽर्थ आत्मैवह यतस्तत । कर्मादिहेतुसाध्येषु गोणी लोकार्थता भवेत् ॥ न कर्मणा कनीयस्ता वृद्धिर्वा नान्तरात्मन । इति बाहुर्गिरोद्घुष्य वेदान्तैर्घोषणा कृता" ॥ १८३३-३५ ॥ इति । ब्रह्मलोकशब्दितस्य लोकत्वात्वयं न कर्मफलत्व स्वर्गवदित्या-शङ्क्याऽऽह—लोकेति । रूढिव्युत्पत्तिभ्यामात्मैव लोकशब्दार्थस्तत्कर्मफलेषु स्वर्गादिषु कथं तच्छब्द इत्याशङ्क्या-न्यास्य चानेकार्थत्वमिति न्यायेनाऽऽह—कर्मादीति । एकस्य शब्दस्य मुख्यया वृत्त्याऽनेकार्थवाचकत्वमनुचित-

विकृत्वादेषोऽस्य परमो लोकः । तथैषोऽस्य परम आनन्दः । यान्यन्यानि विषयेन्द्रिय-संबन्धजनितान्यानन्दजातानि तान्यपेक्ष्यैषोऽस्य परम आनन्दो नित्यत्वात् । "यो वै भूमा तत्सुखम्" इति श्रुत्यन्तरात् ।

यत्रान्यत्पश्यत्यन्यद्विजानाति तदल्पं मर्त्यममुख्यं सुखमिदं तु तद्विपरीतम् । अत एवैषोऽस्य परम आनन्दः । एतस्यैवाऽऽनन्दस्य मात्रां कलाम् विद्याप्रत्युपस्थापितां विषयेन्द्रियसंबन्धकालविभाव्याम् अन्यानि भूतान्युपजीवन्ति । कानि तानि "तत एवाऽऽनन्दादविद्यया प्रविभज्यमानस्वरूपाण्यन्यत्वेन तानि ब्रह्मणः परिकल्प्यमानान्यन्यानि

इति यावत् । सौषुप्तस्य सर्वात्मभावस्य परमानन्दत्वं विशदयति—यानीति । आत्मनोऽनवच्छिन्नानन्दत्वे छान्दोग्यश्रुतिं संवादयति—यो वै भूमेति ।

ननु वैषयिकमेकं सुखमात्मरूपं चापरमिति सुखभेदाङ्गीकारादपसिद्धान्तः स्यादित्याशङ्क्य मुख्यामुख्यभेदेन तदुपपत्तेर्मैवमित्याह—यत्रेत्यादिना । किंच वस्तुतो नास्त्येवाऽऽत्मसुखातिरिक्तं वैषयिकं सुखमित्याह—एतस्येति । ब्रह्मातिरिक्तचेतनाभावे कान्युपजीवकानि स्युरित्याशङ्क्य परिहरति—

(कृतक होने के कारण) क्षयिष्णु हैं । आत्मलोक तो किसी कर्म से मापा नहीं जा सकता क्योंकि यह स्वाभाविक है, इसलिए यह इसका परम लोक है, तथा यह इसका परम आनन्द है क्योंकि अन्य जो विषय और इन्द्रियों के सबन्ध से होने वाले आनन्द हैं, उनकी अपेक्षा यह सुषुप्त का आनन्द नित्य होने से साधनासाध्यत्व से निरतिशय है । अन्य श्रुति मे कहा गया है कि "जो भूमा है, निश्चय ही वह सुख है" ।

जहाँ अन्य कुछ देखता है, अन्य कुछ जानता है वह अल्प, मर्त्य, अमुख्य सुख है, किन्तु यह उससे विपरीत मुख्य है, इसीसे यह सुषुप्त का कृत्स्न आनन्द है । ब्रह्मात्मक आनन्द की अविद्या प्रत्यायित तथा विषयेन्द्रिय के सबन्ध के समय प्रतीत होने वाली मात्रा कला के आश्रित ब्रह्मातिरिक्त सभी जीव उपभोग करते हैं । वे जीव कौन है ? जो उस ब्रह्मस्वरूप के आनन्द से ही अविद्यावश विभक्त

१ सुषुप्तस्य । २ साधनासाध्यत्वेन निरतिशय । ३ मुख्यम् । ४ सुषुप्तस्य । ५ कृत्स्न इति यावत् । ६ ब्रह्मात्मकस्य । ७ नन्वात्मानन्दस्य पूर्णत्वे कथं मात्रेति व्यपदेशस्तत्राऽऽह—अविद्येति । कृत्स्नस्यापि तस्याविद्यात्थबुद्ध्यादिसबन्धान्मात्रेति व्यपदेशार्हता तदुक्तं वार्तिके—'कृत्स्नोऽपि चैष आनन्द-स्तदविद्यैकहेतुकः । बुद्ध्याद्युपाध्यवच्छेदान्मात्रेति व्यपदिश्यते" ॥ १८४२ ॥ इति ॥ ८ प्रतीयमानाम् । ९ अन्यानि—ब्रह्मातिरिक्तत्वेन प्रतीयमानानि ब्रह्मादिपिपीलिकान्तानि । १० उपभुञ्जते । ११ ब्रह्म-स्वरूपादेव । १२ निरतिशया ।

मिति न्यायार्थः । न्यायश्चायम् "अन्यायश्चानेकशब्दत्वमिति" (१ ३ २६) ॥ न्याय्य प्रणयता परमर्षिणा जैमिनिना कटाक्षित इति बोध्यम् । युक्तेस्तुल्यत्वात् । सा च गौरव तच्च यथैकस्यार्थस्यानेकेषु शब्देषु कल्प्यमानाया शक्तौ तथैवानेकेष्वर्थेष्वेकस्य शब्दस्येति । यद्वा तस्यैवेदमर्थान्तरम् । तस्य हि वाचका अनेके शब्दा यस्येति व्युत्पत्त्या नानाशब्दवाच्यत्वमेकस्यार्थस्यान्याय्यमित्यर्थः । अनेकमर्थं शब्दयतीति व्युत्पत्त्याऽनेकेषामर्थाना शब्दो वाचक इत्यनया वा यथोपरिष्टान्निर्दिष्ट इति ॥ ननु लोकस्य कर्मसाध्यत्वप्रसिद्धेरात्मैव लोकश्चेत्कर्मसाध्य सोऽपि भविष्यति नेत्याह—नेति ॥

स यो मनुष्याणाꣳ राद्धः समृद्धो भवत्यन्येषामधिपतिः सर्वैर्मानुष्यकैर्भोगैः संपन्नतमः स मनुष्याणां परम आनन्दो॰ऽथ ये शतं मनुष्याणामानन्दाः स एकः पितृणां जितलोकानामानन्दोऽथ ये शतं पितृणां जितलोकानामानन्दाः स एको गन्धर्वलोक आनन्दोऽथ ये शतं गन्धर्वलोक आनन्दाः स एकः कर्मदेवा-

मनुष्यो मे वह जो भी कोई सम्पूर्ण अगो से युक्त, भोगसामग्री से सम्पन्न, दूसरो का स्वतन्त्र अधिपति और मनुष्यसंबन्धी सम्पूर्ण भोगसामग्री के कारण सबसे बढा-चढा हो, वह मनुष्यो का परम आनन्द है—अर्थात् मनुष्यलोक मे ऐसे व्यक्ति का आनन्द सर्वश्रेष्ठ माना गया है। ऐसे मनुष्यों के जो सौ गुणे आनन्द हैं, वह पितृलोक को जीतने वाले पितृगणो का एक आनन्द माना जाता है और जो पितृलोक को जीतने वाले पितृगणो के सौ आनन्द है, वह गन्धर्वलोक का एक आनन्द माना जाता

सन्त्युपजीवन्ति भूतानि विषयेन्द्रियसंपर्कद्वारेण विभाव्यमानाम् ॥३२॥

यस्य परमानन्दस्य मात्रा अवयवा ब्रह्मादिभिर्मनुष्यपर्यन्तैर्भूतैरुपजीव्यन्ते तदानन्दमात्राद्वारेण मात्रिणं परमानन्दमधिजिगमयिषन्नाह सैन्धवलवणशकलैरिव लवण-

---

कानीत्यादिना। विभाव्यमानामानन्दस्य मात्रामिति पूर्वेण संबन्धः ॥ ३२ ॥

स यो मनुष्याणामित्यादिवाक्यतात्पर्यमाह—यस्येति। यथा सैन्धवावयवैः सैन्धवाचलं लोको बोधयति तथा तस्याऽऽनन्दस्य मात्रा नामावयवास्तत्प्रदर्शनद्वारेणावयविनं परमानन्दमधिगमयितु-

---

स्वरूप तथा ब्रह्म से पृथक्रूप से परिकल्पित अन्य जीव है, वे विषय और इन्द्रियों के सम्पर्क द्वारा उस आनन्द की प्रतीयमान मात्रा का उपयोग करते है ॥३२॥

ब्रह्मा से लेकर मनुष्यपर्यन्त सभी जीव जिस ब्रह्मस्वरूप परमानन्द की मात्रा अवयव को अनुभव करते हैं, उस ब्रह्मानन्द की मात्रा के द्वारा सैन्धव नमक के टुकडे से सैन्धव पर्वत का ज्ञान कराने

---

१ एतमेव परमानन्द सातिशयानन्दप्रतिपादनद्वारा बोधयति—स य इत्यादिना। २ ब्रह्मस्वरूपस्य। ३ भुज्यन्तेऽनुभूयन्त। ४ ब्रह्मानन्देति भाव। ५ अनुमिमापयिषन्।

॰ अथ य शत मनुष्याणामानन्दा स एक पितृणामिति। अत्राहुर्वार्तिककाचार्यास्तथाहि—"शतकृत्वो मनुष्याणामानन्दा गुणितस्तु य। पितृणामेक आनन्दस्तेन तुल्यप्रमाणत ॥ यत्सुख साधनाधीन दु खमेव तदुच्यते। अनन्यसाधन तस्मात्स्वात्मस्य परम सुखम् ॥ तस्मादात्मपरिज्ञानात्कार्यं श्रेयसमाश्रित। निरस्तातिशयानन्दो भवतीत्यस्य निर्णय ॥ तारतम्यादुपायाना शुद्धिस्तरतमा धिय। शुद्धेस्तरतमत्वाच्च सुख तरतम भवेत् ॥ यावद्यावन्मनो ऽस्ति बुद्धेर्धर्मादिसञ्चयात्। तावत्तावद्धिय स्वास्थ्य तावत्तावत्सुखोन्नति ॥ यावद्यावदघनीभावो बटे पापादिसंगत। तावत्तावद्धियोऽस्वास्थ्य दुःखोद्भूतिस्तथा तथा ॥ पितृलोको जितो यै

नामानन्दो ये कर्मणा देवत्वमभिसंपद्यन्तेऽथ ये शतं
कर्मदेवानामानन्दाः स एक आजानदेवानामानन्दो
यश्च श्रोत्रियोऽवृजिनोऽकामहतोऽथ ये शतमाजान-

है। तथा जो गन्धर्वलोक के सौ आनन्द हैं, वह अग्निहोत्रादि श्रौतकर्म के द्वारा देवत्व को प्राप्त हुए कर्म देवों का एक आनन्द है। इसी प्रकार कर्म देवों के जो सौ आनन्द हैं, वह आजान (जन्म-

---

शैलम्[1]। स यः कश्चिन्मनुष्याणां मध्ये राद्धः संसिद्धोऽविकलः[2]समग्रावयव इत्यर्थः। समृद्ध[3]उपभोगोपकरणसंपन्नो भवति। किंचान्येषां समानजातीयानामधिपतिः स्वतन्त्रः

सिद्धश्चानन्तरो ग्रन्थः प्रवृत्त इत्यर्थः। तात्पर्यमुक्त्वाऽक्षराणि व्याचष्टे—स य. कश्चिदित्यादिना। राद्धत्वमविकलत्वं चेत्समृद्धत्वेन पुनरुक्तिरित्याशङ्क्याऽऽह—समग्रेति। [4]तदेव समृद्धत्वमपीत्याशङ्क्य व्याकरोति—उपभोगेति। [5]अन्तर्बहिः संपत्तिभेदादपुनरुक्तिरिति भावः। न केवलमुक्तमेव तस्य विशेषणं किंतु विशेषणान्तरं चास्तीत्याह—किंचेति। विशेषणतात्पर्यमाह—दिव्येति। तदनियतत्वे [6]रक्षस्य

के समान मानी परमानन्द का ज्ञान कराने की इच्छा से श्रुति कहती है—"स यो मनुष्याणां राद्धः" अर्थात् वह जो मनुष्यों में सब तरह से सिद्ध अविकल यानी सम्पूर्ण अवयवों से युक्त, समृद्ध अर्थात् उपभोग सामग्री से सम्पन्न रहता है, "एषामधिपतिः" इसके अतिरिक्त अन्य सजातीय पुरुषों का स्वतन्त्र

---

१ सैन्धवमिति। "सैन्धवोऽस्त्री शीतशिवं माणिमन्थं च सिन्धुजे" इत्यमरः। सिन्धौ देशविशेषे भवं कच्छादिभ्यश्चेत्यण्। चत्वारि सिन्धुजे लवणे। २ भोगक्षमाऽशेषावयव। ३ स्रक्चन्दनवनितादिनिखिलबाह्यभोगसामग्रीव। ४ समग्रावयवत्वमेव। ५ अन्तरित्यादि। संपत्ति साधनम्। अत्र वार्तिकम्—"बाह्यैराध्यात्मिकैरेव साधनैरन्वितः पुमानिति" ॥ १८४६ ॥ इति ॥ ६ पुंस।

कर्मभिः। जितलोकास्त उच्यन्ते पितरो दिव्यभोगिनः ॥ य एष दक्षिणः पन्था पितृलोकः स उच्यते। मनुष्यानन्दतः सोऽयं गुणितः स्याच्छताधिकः ॥ उत्तरेष्वपि वाक्येषु यथोक्तमुपपादयेत्। शताधिकोऽयमानन्दः पूर्वस्मादुत्तरः क्रमात् ॥ नक्षत्रलोकशब्देन ये पूर्वं प्रतिपादिताः। देवलोकगिरा तेऽत्र भण्यन्ते सूक्ष्ममूर्तयः." ॥ १८५०-१८५६ ॥ इति। अथेत्यादेरर्थमाह—शतेति। प्रमाणं परिमाणम् ॥ परंपरयोच्यमानो ब्रह्मानन्दो न परमो हिरण्यगर्भाद्यानन्दस्यानुभूतसजातीयस्य परमत्वसंभवादित्याशङ्क्याऽऽह—यदिति ॥ वैषयिकसुखस्य विषमवद्दुग्धवद्दुःखात्मत्वादात्मसुखस्यैव परमत्वात्तन्निर्धारणार्थं परम्परेति फलितमाह—तस्मादिति ॥ ननु सर्वं सुखमात्मेष्यते तत्कथं तारतम्यवत्स्यादात्मनोऽनतिशयत्वात्तत्राऽऽह—तारतम्यादिति। व्यञ्जकबुद्धिशुद्धिवैषम्यात्तस्मिन्वैषम्यधीरित्यर्थः। कथं तेषामुपायतारतम्याच्छुद्धितारतम्यं तत्राऽऽह—यावदिति। बुद्धिशुद्धितारतम्यादानन्दे तारतम्यधीरित्येतन्निगमयति—तावदिति। उपायतारतम्याधीनशुद्धितारतम्यकृतं सुखतारतम्यमित्येतद्व्यतिरेकमुखेनाऽऽह—यावदिति। मनुष्यानन्दादारभ्य हिरण्यगर्भानन्दान्तानामानन्दानां तारतम्ये हेतुं वदता स एकः पितृणामित्यन्तं व्याख्यातम्। इदानीं जितलोकानामित्यस्यार्थमाह—पितृलोक इति ॥ कोऽयं पितृलोकस्तत्राऽऽह—य इति। गतेर्गन्तव्यैक्यमौपचारिकम्। तस्य स एक आनन्द इत्यनेन संगतिमाह—मनुष्येति ॥ अथ ये शतमित्यादिवाक्येषूक्तन्यायमतिदिशति—उत्तरेष्विति। सर्वपर्यायेषु सिद्धमर्थं संकलयति—शताधिक इति ॥ काण्वपाठेन सर्वपर्यायतात्पर्यमुक्त्वाऽथ ये शतं गन्धर्वलोक आनन्दाः स एको देवलोक आनन्द इति माध्यंदिनपाठे देवलोकशब्दार्थमाह—नक्षत्रेति। पूर्वमिति गार्ग्यब्राह्मणोक्तिः ॥

देवानामानन्दाः स एकः प्रजापतिलोक आनन्दो यश्च श्रोत्रियोऽवृजिनोऽकामहतोऽथ ये शतं प्रजापतिलोक आनन्दाः स एको ब्रह्मलोक आनन्दो यश्च श्रोत्रियोऽवृजिनोऽकामहतो*ऽथैष एव परम आनन्द एष ब्रह्मलोकः सम्राडिति होवाच याज्ञवल्क्यः

सिद्ध) देवों का एक आनन्द है। तथा आजानदेवों के जो सौ आनन्द हैं, वह प्रजापति का एक आनन्द है एवं जो पाप तथा कामनारहित श्रोत्रिय विद्वान् है, उसका भी वह आनन्द माना जाता है और जो प्रजापतिलोक के सौ आनन्द है, वह हिरण्यगर्भ ब्रह्मा का एक आनन्द है। एवं जो प्राप्त तथा कामना से शून्य श्रोत्रिय विद्वान का आनन्द है, वह भी वही है। यही परम उत्कृष्ट आनन्द है। हे राजन् ! यही ब्रह्मलोक है, ऐसा याज्ञवल्क्य ने कहा। इस पर राजा जनक ने कहा—

पतिर्न 'माण्डलिकः सर्वैः समस्तैर्मानुष्यकैरिति' । दिव्यभोगोपकरणनिवृत्त्यर्थं मनुष्याणामेव यानि भोगोपकरणानि तैः संपन्नानामप्यतिशयेन संपन्नतमः 'स मनुष्याणां परम आनन्दः ।

वक्ष्यमाणगन्धर्वादिष्वन्तर्भावः स्यादिति भावः । अतिशयेन संपन्न इति' शेषः ।

शासक है किसी सीमित प्रदेश के प्रशासक होने से माण्डलिक नहीं है, "मानुष्यकैः" अर्थात् सम्पूर्ण मनुष्यसम्बन्धी भोगों द्वारा सम्पन्नतम है। दिव्यभोगों से निवृत्ति के लिए "मानुष्यकैः" यह विशेषण दिया गया है अर्थात् मनुष्यों की जितनी भोग वस्तुएँ हैं; उनसे जो लोग सम्पन्न है, उनमें भी सम्पन्नतम होता है; वह पुरुष मनुष्यों का परम आनन्द है।

---

१ माण्डलिक इति—"चक्रवर्ती सार्वभौमो नृपोऽन्यो मण्डलेश्वर" इत्यमरोक्त्या सार्वभौमादन्य इत्यर्थं ॥
२ विशेषणम् । ३ पुमान् । ४ एतच्छेषानुरोधाद्भाष्ये सपञ्चपद प्रक्षिप्त वेद्यम् ।

---

* अथैष एव परम आनन्द इति । अत्राहुर्वार्तिकाचार्यास्तथाहि—"यत परमनन्तत्वादगणित विनिवर्तते । यत एवमत प्राहाथैष एवेति न श्रुति ॥ अनेनातिशयवता ह्यस्मद्गोचरवर्तिना । अपास्तातिशयानन्द सुखेनेहानुमीयते ॥ ध्वस्तातिशयनिष्ठत्वाल्लोके साक्षियात्मन. । यतोऽतोऽतिशयता गम्यतेऽनतिशय सुखम् ॥ यथैतानि समस्तानि निष्ठा यान्ति परात्मनि । परमोऽस्माविहाऽऽनन्द' सर्वानन्दातिलङ्घनात् ॥ एषोऽस्यति प्रतिज्ञात आनन्दः सोऽनुमानत । निष्ठा प्रतीचि गमित उत्तरोत्तरवृद्धित ॥ अविज्ञातपरानन्दान्प्रत्येषाऽनुमितिर्मता । साक्षाज्ज्ञातात्मतत्त्वाना प्रत्यक्षतममेव तत् ॥ अकामहतधीगम्य आनन्द. प्रत्यगात्मनि । य स एव यतोऽन्येभ्य. परमः स्यादनन्तत ॥ तथाच भगवान्व्यास सर्ववेदार्थतत्त्ववित् । स्वय प्राहेममेवार्थं कामानर्थजिहासया ॥ यच्च कामसुख लोके यच्च दिव्य महत्सुखम् । तृष्णाक्षयसुखस्यैते नार्हत: षोडशी कलाम् ॥ यतो यतो निवर्तते ततस्ततो

सोऽहं[1] भगवते सहस्रं ददाम्यत ऊर्ध्वं विमोक्षायैव ब्रूहीत्यत्र[2] ह याज्ञवल्क्यो [3]विभयांचकार मेधावी राजा सर्वेभ्यो मा[4]ऽन्तेभ्य [5]उदरौत्सीदिति ॥ ३३ ॥

मैं इसके बदले श्रीमान् को एक सहस्र गौएं देता हूँ। अत. इसके आगे भी आप बन्धन से मुक्त करने के लिये ही उपदेश करें। इस बात को सुनकर महर्षि याज्ञवल्क्य भयभीत हो गये कि इस बुद्धिमान् राजा ने तो मुझे मोक्ष के साधन रूप से सम्पूर्ण प्रश्नों के सम्यक्निर्णय देने के लिये बाँध लिया है (कामप्रश्न के बहाने से यह मेरा सारा विज्ञान ले लेना चाहता है) ॥ ३३ ॥

तत्राऽऽनन्दानन्दिनोरभेदनिर्देशान्नार्थान्तरभूतत्वमित्येतत् । परमानन्दस्यैवेयं विषयविषय्याकारेण मात्रा प्रसृतेति ह्युक्तं [6]'यत्र वा अन्यदिव स्यात्' इत्यादिवाक्येन । [7]तस्माद्युक्तोऽयं स परम आनन्द इत्यभेदनिर्देशः । युधिष्ठिरादितुल्यो राजाऽत्रोदाहरणम् ।

अभेदनिर्देशस्याभिप्रायमाह—तत्रेति । प्रकृतं वाक्यं सप्तम्यर्थः । आत्मनः सकाशादानन्दस्येति शेषः । औपचारिकत्वमभेदनिर्देशस्य भविष्यतीत्याशङ्क्याऽऽह—परमानन्दस्येति । [8]तस्यैव विषयस्य विषयित्वमिति स्थिते फलितमाह—तस्मादिति । यथोक्तो मनुष्यो न दृष्टिपथमवतरतीत्याशङ्क्याऽऽह

यहाँ आनन्द और आनन्दवान के अभेद दर्शन से आत्मा से आनन्द कोई भिन्न पदार्थ नहीं है। विषय और विषयी रूप से यह परमानन्द की मात्रा ही सर्वत्र फैली हुई है। यह बात "जहाँ (जागरित या स्वप्नावस्था में) आत्मा से भिन्न अन्य सा होता है" इस श्रुतिवाक्य से कही गयी है। इसलिये "यह मनुष्यों का परम आनन्द है" यह अभेदोक्ति सुसंगत ही है। इसमें युधिष्ठर आदि के समान राजा

---

१ सोऽहमित्यादेर्ब्रूहीत्यन्तस्यायमर्थः। जनकराजस्य मुक्तिफलकसम्यग्ज्ञानाय प्रश्न प्रवृत्तस्तस्मार्थे सम्यग्ज्ञाने यथाक्रमेत्या निर्धारितेऽपि तन्निर्धारणात्प्रागिव राजा मुनिं यन्मुक्तये परं साधनं तदस्मादूर्ध्वं मह्यं ब्रूहीति विधानिश्चयणपूर्वकं पप्रच्छेति । २ अत्र—विमोक्षायैव ब्रूहीत्येतस्मिन् वाक्ये श्रुते सतीत्यर्थ । ३ भीतवान् । ४ अन्तेभ्य प्रश्ननिर्णयावसानेभ्य । ५ उदरौत्सीत्—आवृणोत् पुन पुनरवरोधं कृतवान् मदीयं सर्वस्वं कामप्रश्नव्याजेन ग्रहीतुमित्यर्थ । ६ बृ उ ४ ३ ३१ । ७ आनन्दाऽऽनन्दिनोरभेदस्योपपन्नत्वात् । ८ आत्मन ।

विमुच्यते । निवतनादि भवता न वेत्ति दुःखमण्वपि ॥ सलिलादिगिरा योऽर्थं प्रत्यज्ञायि पुराऽखिल । अत्रा-लाभाल्लवाक्यन तस्य स्यादुरमहृति" ॥ १८१६ १८८६ ॥ इति । यथैव इत्यादिवाक्यनादत्ते—अत परमिति । आत्मसुखे गणनायोगात्तदेवानतिशयमित्यर्थः ॥ कथमिदं प्रमीयते तत्राज्ञान्प्रति प्रमाणमाह—अनेनेति । अनेन गुणेनेति सम्बन्ध । सातिशयस्य निरतिशयेन व्याप्ति वक्तुं हिशब्द । आत्मतत्त्वमिति शेष । इहेत्यनुमानभूमिरुक्ता ॥ कथमनुमानं तत्र व्याप्तिमाह—ध्वस्तेति । व्याप्तिसिद्धिरिति शेष । तामनूद्यानुमानमाह—यत इति । सुखोत्कर्षतारतम्यं क्वचिद्विश्रान्त तरतमभावत्वात्परिमाणतारतम्यवदिति भाव ॥ हिरण्यगर्भानन्दे ततारतम्यविश्रान्तेरर्थान्तरत्वमाशङ्क्याऽऽह—यत्रेति । एतानीति लौकिकसुखोक्ति । इहेति प्रकृतानन्दभेदा गृह्यन्ते ।

[1]दृष्टं मनुष्यानन्दमादिं[2] कृत्वा शतगुणोत्तरोत्तरक्रमेणो[3]न्नीय परमानन्दं [4]यत्र भेदो निवर्तते तमधिगमयति । [5]अत्रायमा[6]नन्दः शतगुणोत्तरोत्तरक्रमेण वर्धमानो [7]यत्र वृद्धि[8]काष्ठामनुभवति । यत्र [9]गणितभेदो निवर्ततेऽन्यदर्शनश्रवणमननाभावात्तं परमानन्दं विवक्षन्नाह अथ ये मनुष्याणामेवंप्रकाराः शतमानन्दभेदाः स एकः पितृणाम् । तेषां विशेषणं जितलोकामिति । श्राद्धादिकर्मभिः पितॄंस्तोषयित्वा तेन कर्मणा जितो लोको येषां ते जितलोकाः पितरस्तेषां पितृणां जितलोकानां मनुष्यानन्दशतगुणीकृतपरिमाण एक आनन्दो

युधिष्ठिरादीति । अथ ये शतं मनुष्याणामित्यादेस्तात्पर्यमाह—दृष्टमिति । शतगुणोत्तरोत्तरत्वाऽऽनन्दस्योत्कर्षप्रदर्शनक्रमेण परमानन्दमुन्नीय तमधिगमयत्युत्तरेण ग्रन्थेनेति संबन्धः । परमानन्दमेव विशिनष्टि—यत्रेति । भेदः संख्याव्यवहारः । उक्तमेव प्रपञ्चयति—अत्रेत्यादिना । परमानन्दे विवृद्धिकाष्ठायां हेतुमाह—अन्येति । यद्यपि "यस्येत्यादिनोक्तमे"तत्तथाऽपीहाक्षरव्याख्यानावसरे "तदेव विवृतमित्यविरोधः" । तत्तदानन्दप्रदर्शनानन्तर्यं तत्र तत्राथशब्दार्थः । तत्तद्वाक्योपक्रमो वा । एवंप्रकारत्वं समृद्धत्वादि । पितृणामानन्द इति संबन्धः । श्राद्धादिकर्मभिरित्यादिशब्देन पिण्ड"पितृयज्ञादि गृह्यते ।

उदाहरण है। श्रुति अनुभूत मनुष्यों के आनन्द से आरम्भ करके उसका क्रमशः उत्तरोत्तर सौ-सौ गुणा उत्कर्ष दिखाते हुए जिस परमानन्द में भेद की निवृत्ति हो जाती है, उस परमानन्द को बतलाती है। आनन्दमीमांसा प्रकरण में यह मनुष्यानन्द क्रमशः उत्तरोत्तर सौगुणा बढ़ता हुआ जहाँ (निरतिशय आनन्द में) वर्धन की विश्रान्ति अनुभव करता है, जहाँ अन्य दर्शन, श्रवण और मनन का अभाव हो जाने के कारण गणना विशेष भेद की निवृत्ति हो जाती है। उस परमानन्द का वर्णन करने की इच्छा से श्रुति कहती है। इस प्रकार मनुष्यों के आनन्द के जो सौ आनन्द हैं, वह (एकत्र हुआ) पितृगण का एक आनन्द है। 'जितलोकानाम्' उन्हीं पितरों का विशेषण है। जिन्होंने श्राद्धादि कर्मों से पितरों को (स्वधाकार से) तृप्त कर उस कर्म से पितृलोक जीत लिया है, वे जितलोक पितृगण ही हैं। मनुष्या-

---

१ अनुभूतम् । २ आरभ्येति द्वयोरर्थः । ३ उन्नीयेति—जन्यानन्द क्वचित्काष्ठां गतः सातिशयात् परिमाणवदित्येव जन्यानन्दतारतम्यावधित्वेन निरतिशयस्वाभाविकब्रह्मानन्दमनुमीयेत्यर्थः । ४ परमानन्दे । ५ आनन्दमीमांसाप्रकरणे । ६ मनुष्यानन्द । ७ निरतिशयानन्दे । ८ वर्धनविश्रान्तिम् । ९. गणनाविशेष । १० ११५१ पृष्ठभाष्य । ११ यथोक्तं वाक्यतात्पर्यम् । १२ उक्तमेव तात्पर्यम् । १३ अपौनरुक्त्यम् । १४ पितृयज्ञस्तु तर्पणम् ।

अथानुमानात्परानन्दे परमात्मनि सिध्यत्यपि प्रत्यगात्मा कथं परानन्दी भवितुमुत्सहते तत्राऽऽह—एषोऽस्येति । अज्ञान्प्रत्यनुमानमुक्त्वाऽऽत्मज्ञान्प्रत्याह—यविज्ञातेति । उक्तं हि स एष परमानन्दो वितृष्णश्रोत्रियप्रत्यक्षोऽधिगत इति ॥ आत्मानन्दस्य परमत्वं साधयति—अकामेति ॥ तस्य परमत्वे प्रमाणमवतारयति—तथाचेति । अकामहतत्वकृतमुत्तमं सुखमिति वदतोऽभिप्रायमाह—कामेति ॥ तदेवोदाहरति—यच्चेति ॥ तदीयमेव वाक्यान्तरं पठति—यत इति ॥ एष इत्यादिवाक्यस्य तात्पर्यमाह—सलिलादीति । ब्रह्मलोकान्तवाक्येन ब्रह्मलोकपदमन्ते मध्ये यस्यास्ति तेनेति यावत् । सलिल एको द्रष्टेत्युपक्रम्य मात्रामुपजीवन्तीत्यन्तेन सर्वकरणनिर्मुक्तोऽनतिशयानन्दो य प्रत्यगात्मा परिपूर्णः प्रतिज्ञातः स पुनः स यो मनुष्याणामित्यारभ्यार्थैष एवेत्यन्तेन प्रतिपादितस्तस्येदानीमेष इत्यादिवाक्येनोपसंहारः कृत इत्यर्थः ॥

भवति । 'सोऽपि शतगुणीकृतो गन्धर्वलोक एक आनन्दो भवति । स च शतगुणीकृतः कर्मदेवानामेक आनन्दो भवति ।

'अग्निहोत्रादिश्रौतकर्मणा ये देवत्वं प्राप्नुवन्ति ते कर्मदेवाः । तथैवाऽऽजानदेवानामेक आनन्दः । आजानत एवोत्पत्तित एवं ये देवास्त 'आजानदेवाः । यश्च श्रोत्रियो'ऽधीतवेदोऽवृजिनो वृजिनं पापं तद्रहितो 'यथोक्तकारीत्यर्थः । अकामहतो वीततृष्ण आजान-

के ते कर्मदेवा नाम तत्राऽऽह—अग्निहोत्रादीति । यथा गन्धर्वानन्दः शतगुणीकृतः कर्मदेवानामेक आनन्दस्तथा कर्मदेवानन्दः शतगुणीकृतः सन्नाजानदेवानामेक आनन्दो भवतीत्याह—तथैवेति । कुत्र वीततृष्णत्वं 'तदाऽऽह—आजानदेवेभ्य इति । श्रोत्रियादिवाक्यस्य प्रकृता'संगतिमाशङ्क्याऽऽह—

नन्द का शतगुणीकृत परिमाण उन जितलोक पितृगण का एक आनन्द होता है। वह भी शतगुण किये जाने पर गन्धर्वलोक का एक आनन्द होता है। वह शतगुण करने पर कर्मदेवों का एक आनन्द है।

अग्निहोत्रादि श्रौत कर्म द्वारा जो देवत्व प्राप्त करते हैं, उन्हे कर्मदेव कहा जाता है। उसी प्रकार वह शतगुण करने पर आजानदेवो का एक आनन्द है। 'आजानत.' अर्थात् उत्पत्ति से ही जो देव होते है; वे निसर्गसिद्ध आजानदेव हैं। एव जो 'श्रोत्रिय.' अर्थात् वेदों की एक शाखा का अर्थसहित अध्ययन करने वाला "अवृजिन:" अर्थात् पापरहित यानी शास्त्रप्रतिपादित अशेष कर्मों का अनुष्ठान

१ पित्रानन्दोऽपि । २ अग्निहोत्रादीत्यादिना तप सत्यं वेदाना चानुपालनम् आतिथ्य वैश्वदेवं च गृह्यते । ३ आजानदेवा इति—निसर्गसिद्धा सृष्ट्यादिभूता यष्टव्या इति यावत् । अमी च कर्मदेवापेक्षया सूक्ष्ममूर्तय: शरीराणि चामीषा व्यापीनीत्येवमादिहेतुकस्तेषामानन्द शतगुणाधिक इति स्पष्ट वार्तिके । ४. सार्थैक-शाखाऽध्ययनवान् । ५ अशेषचोदितानुष्ठायीति यावत् । ६ असङ्गतिरनन्वितत्वम् ।

& यश्चेत्यादि वदान्दादित्यन्तभाष्ये वार्तिकाचार्यास्तथाहि—"श्रोत्रियोऽधीतवेद स्याज्ज्ञातवेदार्थ एव च । कृत्स्नचोदितकारित्वात्सर्वपापविवर्जित ॥ आजानदेवावधिककामानुपहताशय । तत परेषु भोगेषु आततृष्णश्च य पुमान् ॥ आजानदेवानन्देन सम तस्य च यत्सुखम् । अस्याकामहतत्वेन सुखोत्कृष्टिरिहोच्यते ॥ श्रोत्रियावृजिनत्वे द्वे तुल्ये एवाऽविरिञ्चित । अकामहतताहेतोर्वृद्धौ ह्लादो विवर्धते ॥ पूर्वपूर्वोपभोगेभ्यो यावद्यावन्निवर्तते । कामो विवर्धते पुंसस्तावत्तावत्सुखं हृदि ॥ कामैकक्षयतश्चैव यस्मात्पुंस सुखोन्नति । अकामहततैवात पूर्वाभ्या साधनं परम् ॥ साधनत्व समान स्यात्त्रयाणामिह यद्यपि । कामक्षयप्रकर्षोऽत्र ह्युत्कृष्टाह्लादसाधनम् । समुच्चयविवक्षाऽत्र न मनागपि युज्यते । कर्तृत्वादिसमुच्छेदिज्ञानस्येहाऽश्रितत्वत ॥ समुच्चयनिवृत्त्यर्थं न्यायश्चापि पुरोदित । नात. समुच्चयाशेह कर्तव्या सूक्ष्मदर्शिभि ॥ साधनत्व यतस्तुल्यं श्रोत्रियावृजिनत्वयो । अवरेष्वपि भोगेषु न चोत्तमसुख तत ॥ अकामहततैवात्र तारतम्यात्मकत्वत । भेदादुत्तमसौख्यस्य साधन चोत्तमा भवेत् ॥ युवा साधुयुवेत्येव तैत्तिरीयश्रुतीरणात् । अधरेष्वपि वाक्येषु श्रोत्रियादि विवक्षितम् ' ॥ १८६२-१८७४ ॥ इति । यश्चेत्यादौ श्रोत्रियशब्द व्याचष्टे श्रोत्रिय इति अर्थज्ञानान्तमध्ययनमेकशाखाविषय यस्यास्ति स श्रोत्रियो विवक्षित इति यावत् । अवृजिनशब्दार्थमाह कृत्स्नेति ॥ अकामहतपदार्थमाह —आजानेति । तदानन्दादर्वाचीनानन्देषु वीतरागोऽत्राकामहत इत्यर्थं । वैराग्यस्य निरङ्कुशत्वमित्याशङ्क्याऽऽह—तत इति । आजानदेवानन्दमारभ्योत्तरानन्देषु अवृत्ततृष्णश्च यो भवति सोऽकामहत इत्यर्थं ॥

देवेभ्योऽर्वाग्यावन्तो विषयास्तेषु[1] । तस्य चैवंभूतस्याऽऽजानदेवैः समान आनन्द इत्येतदन्वाकृष्यते चशब्दा[2]त्तच्छतगुणीकृतपरिमाणः प्रजापतिलोक एक आनन्दो विराट्शरीरे । तथा 'तद्विज्ञानवान्[3]श्रोत्रियोऽधीतवेदश्चावृजिन इत्यादि पूर्ववत्[4] । तच्छतगुणीकृतपरिमाण एक आनन्दो ब्रह्मलोके हिरण्यगर्भात्मनि ।

'तस्य चेति । एवंभूतस्य विशेषणत्रयविशिष्टस्येति यावत् । प्रजापतिलोकशब्दस्य ब्रह्मलोकशब्दादर्थभेदमाह—विराडिति । यथा विराडात्मन्याजानदेवानन्दः शतगुणीकृतः सन्नेक आनन्दो भवति तथा विराडात्मोपासिता श्रोत्रियत्वादिविशेषणो 'विराजा तुल्यानन्दः स्यादित्याह—तथेति । तच्छतगुणीकृतेति तच्छब्दो विराडानन्दविषयः[5] ।

करने वाला; "अकामहत." अर्थात् तृष्णारहित है यानी आजानदेवताओं से नीचे के जितने विषय हैं, उनकी तृष्णा नहीं करता । "च" शब्द का यह अर्थ निकाला जा सकता है कि इस प्रकार के पुरुष का आनन्द आजानदेवताओं के समान होता है । आजानदेवानन्द का शतगुणीकृत परिमाण वाला आनन्द "प्रजापतिलोके" यानी विराट् शरीर में एक आनन्द है । तथा विराट् के उपासक श्रोत्रिय, अधीतवेद निष्पाप को भी समान आनन्द है—ऐसा अर्थ पूर्वमन्त्र के समान समझ लेना चाहिये । उसका शतगुणीकृत परिमाण वाला आनन्द "ब्रह्मलोके" अर्थात् हिरण्यगर्भात्मा का एक आनन्द है ।

१ तदितरेषु तु सतृष्ण इति भावः । २ आजानदेवानन्देति यावत् । ३ विराडुपासकः । ४ मनुष्यदेहे वर्तमानस्यैव । ५ विराडानन्देनेति यावत् ।

चशब्दार्थमाह—आजानदेवेति । उक्तविशेषणवतो मनुष्यदेहे वर्तमानस्यैव यत्सुखं तदाजानदेवानन्देन तुल्यं भवतीति यावत् । श्रोत्रियत्वादीनां तुल्यमानन्दोत्कर्षं हेतुत्वमविशेषश्रुतेरित्याशङ्क्याऽऽह—अस्येति । मनुष्यदेहस्थस्याधिकृतस्येति यावत् । इहेति निर्धारणे सप्तमी ॥ तत्र हेतु—श्रोत्रियेति । ते हि मनुष्यानन्दादारभ्य शतानन्दान्तेषु तुल्ये इष्टे तदकामहततावोत्कर्षाद्रुत्कर्षं सुखस्येत्यर्थः । तस्यापि सर्वत्र वद्वदेकरूप्यात्तथ तत्तुल्यपर्यादानन्दोत्कर्षस्तत्राऽऽह—अकामेति ॥ तत्रानुभवं प्रमाणयति—पूर्वेति ॥ अकामहतत्वस्येतराभ्यामुत्कृष्टत्वं फलितमाचष्टे—कामेति ॥ कथं साधारणश्रुतेरेव विभागस्तत्राऽऽह—साधनत्वमिति । इहेत्यानन्दासिरुक्ता । अत्रेत्यधिकृतपुरुषोक्तिः । अबाधितस्वानुभवप्राप्तो विभागो न साधारणश्रुत्या शक्यो भेत्तुमित्यर्थः । उक्तेऽर्थे स्वानुभवमनुकूलयितु हिशब्दः ॥ अथाकामहतशब्देन ब्रह्मज्ञानं विवक्ष्यते श्रोत्रियावृजिनशब्दाभ्यां कर्म तयाच विशेषणत्रयवतोऽनतिशयानन्दाप्तिं वदन्ती श्रुतिर्ज्ञानकर्मसमुच्चयं विवक्षति नेत्याह—समुच्चयेति । अत्रेति वाक्यं ज्ञानकर्मणी मुक्तिर्वोक्ता । अयुक्तत्वे हेतु—कर्तृत्वादीति । इह खल्वन्तिमे पर्याये यथोक्तज्ञानस्याकामहतशब्देनेष्टत्वाद्य मोक्षे समुच्चयो विवक्षित इत्यर्थः ॥ केन पुनर्न्यायेन समुच्चयो निरस्यते तत्राऽऽह—समुच्चयति । पुरा सवन्धग्रन्थादावित्यर्थः । फलितमाह—नेति । मानयुक्तिविरोधोऽत्र शब्दार्थः । ग्रहेति मुक्तरुक्तिः ॥ किंचाकामहतशब्दितज्ञानस्य परमसुखोपायत्वादितरयोस्तदभावाश्च समुच्चय इत्याह—साधनत्वमिति ॥ अर्वाचीनसुखसाधनत्वाविशेषादकामहतत्वस्यापि श्रोत्रियत्वादिवन्न मुक्तिहेतुतेत्याशङ्क्याऽऽह—अकामेति । अहतसाधनत्वकरमहतत्वस्योत्कर्षपर्यवसानभवादपकृष्टं तस्मादाचित्वार्वाचीनसुखहेतुरुत्कृष्टं ज्ञानाव्यतिरिक्तमोक्षोपायस्तन्न समुच्चयन्मुक्तिरित्यर्थः ॥ नाऽऽजानदेवेभ्योऽर्वाक्तनभोगहेतुत्वं श्रोत्रियत्वादेरकामहतत्ववदस्ति श्रवणाश्रवणयोः साम्यादित्याशङ्क्य तस्य तद्धेतुत्वं विवक्षितमित्येतन्मानता दर्शयति—युवेति । साधुयुवेत्यवृजिनत्वमध्यायक इति श्रोत्रियत्वमित्युभयं पूर्वभूमिष्वपि युवा स्यात्साधुयुवाऽध्यायक इत्यत्रोक्तमतो येषु पर्यायेषु तन्न श्रुतं तत्रापि द्रष्टव्यमित्यर्थः ॥

यश्चेत्यादि पूर्ववदेव । [1]अतः परं गणितनिवृत्तिः । [2]एष परम आनन्द इत्युक्तः । यस्य च [3]परमानन्दस्य ब्रह्मलोकाद्यानन्दा मात्रा उदधेरिव विप्रुषः । एवं शतगुणोत्तरोत्तरवृद्धच्युपेता आनन्दा यत्रैकतां यान्ति यश्च [4]श्रोत्रियप्रत्यक्षोऽर्थंष एव संप्रसादलक्षणः परम आनन्दस्तत्र [5]हि नान्यत्पश्यति नानन्यच्छृणोति । [6]अतो [7]भूमा भूमत्वादमृतः [8] । [9]इतरे [10]तद्विपरीताः । [11]अत्र च श्रोत्रियत्वावृजिनत्वे [12]तुल्ये । [13]अकामहतत्वकृतो [14]विशेष आनन्दशतगुणवृद्धिहेतुः । अत्रैतानि साधनानि श्रोत्रिय-

श्रोत्रियत्वादिविशेषणवानपि हिरण्यगर्भोपासकस्तेन[15] तुल्यानन्दो भवतीत्याह—यश्चेति । हिरण्यगर्भानन्दादुपरिष्टादपि ब्रह्मानन्दे गणितभेदे प्राकरणिके प्राप्ते अत्याह—अत. परमिति । एषो-ऽस्य परम आनन्द इत्युपक्रम्य[16] किमिम्या[17]नन्दान्तरमु[18]पदर्शितमित्याशङ्क्याऽऽह—एष इति । [19]तथाऽपि सौषुप्तं सर्वात्मत्वमु[20]पेक्षितमिति चेन्नेत्याह—यस्य चेति । प्रकृतस्य ब्रह्मानन्दस्यापरिच्छिन्नत्वमाह —तत्र हीति । अनवच्छिन्नत्वफलमाह—भूमत्वादिति । ब्रह्मानन्दादितरे परिच्छिन्ना [21]मर्त्या-श्चेत्याह—इतर इति । [22]अथ यत्रान्यत्पश्यतीत्यादिश्रुतेरिति भाव. । श्रोत्रियादिपदानि व्याख्याय तात्पर्यं दर्शयति—अत्र चेति । मध्ये विशेषणेषु त्रिष्विति यावत् । तुल्ये सर्वपर्यायेष्विति शेषः । विशेषणान्तरे विशेषमाह—अकामहतत्वेति । यथोक्तं [23]विभागमुपपादयित् [24]सिद्धमर्थमाह—

"यश्च" इत्यादि श्रुतिवाक्य का अर्थ पूर्ववत् समझ लेना चाहिये। हिरण्यगर्भानन्द के बाद गणनाविशेष की निवृत्ति हो जाती है। (इसी से सलिलवाक्य में) यही परम आनन्द है—ऐसा कहा गया है। जिस सुषुप्तावस्था के परमानन्द के यह सब हिरण्यगर्भात्मा के आनन्द समुद्र की बूँद के समान केवल अंशमात्र है। इस प्रकार उत्तरोत्तर शतगुण वृद्धि को प्राप्त हुए आनन्द जहाँ जाकर एकीभूत हो जाते हैं और जो विद्वदनुभवसिद्ध है, वही सम्प्रसादलक्षण परम आनन्द है। वहाँ (प्रकृत ब्रह्मा-नन्द में) न कोई अन्य कुछ देखता है और न ही अन्य कुछ सुनता है। इसलिए वह अपरिच्छिन्न है और अपरिच्छिन्न होने के कारण अनश्वर है। अन्य आनन्द उससे विपरीत (अमुख्य) हैं। यहाँ

१ अत परमिति—हिरण्यगर्भानन्दादुपरिष्टादित्यर्थ । तदुक्त वार्तिके—'अत परमनन्तत्वादगणितं विनि-वर्तते । यत एवमत प्राहाऽर्थंष एवेति न श्रुति" ॥ १८७६ ॥ इति । आत्मसुखे गणनाऽयोगात्तदेवाऽनतिशय-मित्यर्थ । सुखोत्कर्षतारतम्य क्वचिद्विश्रान्त तरतमभावत्वात् परिमाणतारतम्यवदित्यनुमानादिति भाव । २ एष इति—उपदर्शितसातिशयानन्दविश्रामभूमि परमात्मरूप एव सलिलवाक्य परम आनन्द इत्युक्त इत्यर्थं । यद्वा एष इति मौलिक पद व्याख्यर्थं सलिलवाक्य परम आनन्द इति य उक्त इति तद्व्याख्या । ३ सौषुप्तानन्दस्य । ४ विद्वदनुभवसिद्ध । ५ प्रकृतेब्रह्मानन्दे । ६ मातृमानादरभावात् । ७ अपरि-च्छिन्न । ८ अनश्वर । ९ आनन्दा । १० टीकायाम् । ११ विशेषणत्रयमध्ये । १२ तारतम्य-रहिते । १३ अकामहतत्वनिष्ठ इति यावत् । १४ उत्कर्ष । १५ हिरण्यगर्भीयानन्देनति यावत् । १६ सलिलवाक्ये बृ उ ४ ३ ३२ । १७ आनन्दान्तरमिति—सलिलवाक्योक्तादनतिशयानन्दात् पूर्णात्प्रत्य-गात्मन सकाशादित्यर्थं । १८ अत्रोपसंहृतमिति यावत् । १९ आनन्दस्योपक्रान्तस्यैवोपसंहृतत्वेऽपि । २० नोपसंहृतमिति यावत् । २१. विनश्वरा । २२ छा उ ७ २४ १ । २३ विशेषणगतम् । २४ सर्वसम्मतम् ।

त्वावृजिनत्वाकामहतत्वानि तस्य तस्याऽऽनन्दस्य प्राप्ताव[1]र्थादभिहितानि । यथा कर्माण्यग्निहोत्रादीनि देवानां देवानन्दप्राप्तौ ।

तत्र च श्रोत्रियत्वावृजिनत्वलक्षणे कर्मणी [2]अधर[3]भूमिष्वपि समाने इति नोत्तरा[4]नन्दप्राप्तिसाधने अभ्युपेयेते । [5]अकामहतत्वं तु वैराग्यतारतम्योपपत्तेरुत्तरोत्तरभूम्यानन्दप्राप्तिसाधनमित्यवगम्यते । स एष परम आनन्दो वितृष्णश्रोत्रियप्रत्यक्षोऽधिगतः । तथा च वेदव्यासः—

अत्रैतानीति । यश्चेत्यादिवाक्यं सप्तम्यर्थः । तस्य तस्याऽऽनन्दस्येति दैवप्राजापत्यादिनिर्देशः । अर्थादभिहितत्वे दृष्टान्तमाह—यथेति । ये कर्मणा देवत्वमित्यादिश्रुतिसामर्थ्याद्देवानन्दाप्तौ यथा कर्माणि साधनान्युक्तानि तथा यश्चेत्यादिश्रुतिसामर्थ्यादेतान्यपि श्रोत्रियत्वादीनि तत्तदानन्दप्राप्तौ साधनानि विवक्षितानीत्यर्थः ।

ननु त्रयाणामविशेषश्रुतौ कथं श्रोत्रियत्वावृजिनत्वयोः सर्वत्र तुल्यत्वं न हि ते [6]पूर्वभूमिषु श्रुते [7]तथा चाकामहतत्ववदानन्दोत्कर्षे तयोरपि हेतुतेति तत्राऽऽह—तत्र चेति । निर्धारणार्था सप्तमी । न हि श्रोत्रियत्वादिशून्यः सार्वभौमादिसुखमनुभवितुम[8]र्हति । [9]तथा च [10]सर्वत्र श्रोत्रियत्वादेस्तुल्यत्वान्न [11]तदानन्दातिरेकप्राप्तवसाधारणं साधनमित्यर्थः । यदुक्तमानन्दशतगुणवृद्धिहेतुरकामहतत्वकृतो विशेष इति तदुपपादयति—अकामहतत्वं त्विति । पूर्वपूर्वभूमिषु वैराग्यमुत्तरोत्तरभूम्यानन्दप्राप्तिसाधनं वैराग्यस्य तरतमभावेन परम[11]काष्ठोपपत्तेर्निरतिशयस्य [12]तस्य परमानन्दप्राप्तिसाधनत्वसम्भवादित्यर्थः । यश्चेत्यादिवाक्ययोरेवं तात्पर्यमुक्त्वा प्रकृते परमानन्दे विद्वदनुभवं प्रमाणयति—स एष इति । निरतिशयमकामहतत्वं परमानन्दप्राप्तिहेतुरित्यत्र प्रमाणमाह—तथा चेति ।

विशेषणत्रय मे श्रोत्रियत्व और निष्पाप तो तारतम्यरहित विशेषण है, किन्तु अकामहतत्वनिष्ठ जो उत्कर्ष है, वह आनन्द की शतगुणीकृत वृद्धि का हेतु है । जिस प्रकार अग्निहोत्रादि कर्म देवताओ के देवानन्द प्राप्ति के कारण हैं; उसी प्रकार यहाँ ये श्रोत्रियत्व, अवृजिनत्व और अकामहतत्व भी उस-उस आनन्द की प्राप्ति मे साधन हैं, यह बात अर्थापत्ति से कह दी गयी ।

यहाँ श्रोत्रियत्व और अवृजिनत्वरूप कर्म तो आजानदेव के पहले की भूमियो के समान है, इसलिए आनन्दोत्कर्ष प्राप्ति के साधन नही स्वीकार किये जाते । किन्तु अकामहतत्व तो वैराग्य का तारतम्य होने से आगे-आगे की भूमियो के आनन्द की प्राप्ति का साधन है—ऐसा जाना जाता है । यही तृष्णारहित श्रोत्रिय को प्रत्यक्ष होने वाला परम आनन्द है । इसी को भगवान् व्यास कहते हैं —

१ सामर्थ्यात्—अर्थापत्ते । २ अधरेति—यद्यप्यधरभूमिषु त्रयमव वर्तते तैत्तिरीयेणास्यैक वाक्यत्वात्तथा च वार्तिके—'युवा साधुयुवत्येव तैत्तिरीयश्रुतीरणात् । अधरेष्वपि वाक्येषु श्रोत्रियादिविवक्षितम्" ॥ १८७४ ॥ इति । साधुयुवेत्यवृजिनत्वमध्यायक इति श्रोत्रियत्व तत्र विवक्षितम् । तथापि श्रोत्रियत्वावृजिनत्वे सर्वत्र समान उत्कर्षापकर्षशून्ये इत्यर्थः । ३ आजानात्प्राच्यासु । ४ आनन्दोत्कर्षेति यावत् । ५ आजानपर्यायात्पूर्वपर्यायेषु । ६ अकामहतत्ववत्तयो पूर्वत्राश्रवणादिति यावत् । ७ पारयति । ८ अनुमहन च । ९ पर्यायेषु । १० श्रोत्रियत्वमवृजिनत्व च । ११ निःसीमता निरतिशयता । १२ वैराग्यस्य ।

"यच्च [1]कामसुखं लोके यच्च [2]दिव्यं महत्सुखम् ।
तृष्णाक्षयसुखस्यैते नार्हतः षोडशीं कलाम्" इति ।

[3]'एष ब्रह्मलोको हे सम्राडिति होवाच याज्ञवल्क्यः सोऽहमेवमनुशिष्टो भगवते तुभ्यं सहस्रं ददामि गवाम् । अत ऊर्ध्वं विमोक्षायैव ब्रूहीति व्याख्यातमेतत् । अत्र ह विमोक्षायेत्यस्मिन्वाक्ये' याज्ञवल्क्यो बिभयांचकार भीतवान् । याज्ञवल्क्यस्य भय-कारणमाह [4]श्रुतिः । ❀न याज्ञवल्क्यो वक्तृत्वसामर्थ्याभावाद्भीतवान[5]ज्ञानाद्वा किं

प्रकृत प्रत्यग्भूत परमानन्दमेव इति परामृशति । श्रुतिर्मेधावीत्याद्या तां व्याचष्टे—नेत्यादिना ।

"लोक मे जो स्वच्छन्द चक्रवर्ती सम्राट् का सुख है और जो इन्द्र का दिव्य महान् सुख है; वे सुख तृष्णाक्षय से प्राप्त होने वाले सुख की सोलहवी कला भी नही हो सकते" ।

जनक को 'हे सम्राट्' इस प्रकार से संबोधन कर याज्ञवल्क्य बोले—"यह ब्रह्मलोक है" । (जनक ने कहा)—क्योंकि आपने मुझे शिक्षा प्रदान की है; इसलिए मैं आदरणीय आपको एक सहस्र गौएँ देता हूँ । अब इसके बाद मोक्षविषयक उपदेश ही दीजिए । इस प्रकार इसकी व्याख्या पहले ही की जा चुकी है । यहाँ "विमोक्षाय" इस वाक्य को सुनने पर याज्ञवल्क्य "बिभयाञ्चकार" अर्थात् भयभीत हो गये । श्रुति ही याज्ञवल्क्य के भयभीत होने मे हेतु बतलाती है । बोलने की सामर्थ्य न होने अथवा उत्तर न देते बनने से भयभीत नही हुए, तो फिर किसलिए हुए; इसलिए कि इस

१ स्वच्छन्द चक्रवर्तिन सुखम् । २. ऐन्द्रम् । ३ एष ब्रह्मलोक इति—सलिल एको द्रष्टेत्युपक्रम्य मात्रा-मुपजीवन्तीत्यन्तेन कार्यकरणनिर्मुक्तोऽनतिशयानन्दो य· प्रत्यगात्मा परिपूर्ण. प्रतिभात । स पुन: स यो मनुष्या-णामित्यारभ्य एष एवेत्यन्तेन प्रतिपादितस्तस्येदानीमेष इत्यादिवाक्ये नोपसहार कृत इति ध्येयम् । ४ श्रुते-र्मति । ५ उत्तराज्ञानात् । तस्य सर्वज्ञत्वादिति भाव ।

❀ न याज्ञवल्क्यो वक्तृत्वसामर्थ्याभावाद्भीतवानिति । अत्राहुर्वार्तिकाचार्यास्तथाहि—"याज्ञवल्क्योऽपि राज्ञैव पृष्ट सन्पूर्वंवत्तदा । अबिभेदन्यतो हेतोर्न स्वसामर्थ्यकारणात् ॥ सर्वज्ञत्वान्मुनेर्नाभूत्प्रभार्थाज्ञानतो भयम् । कारणं त्वन्यदेवातो यत श्रुतिरभाषत ॥ अविवक्षुमय राजा कामप्रश्नबलाश्रयात् । किंज्योतिरित्येवमादिम-प्राक्षीन्मा पुन पुन. ॥ अप्रत्याख्येयो ह्यर्थश्च सत्यस्यावश्यरक्षणात् । स्वयंज्योतिष्ट्वनिर्णीति कृतात्तोऽन्वबोधत. ॥ निर्णीतिऽप्यथ मा राजा पुन पुनरपृच्छत । अत ऊर्ध्वमिति गिरा निरुणद्धयेव मा नृप ॥ कामप्रभाङ्कुशेनैव मा वशीकृत्य मद्गतम् । समादित्सति नि शेष ज्ञान राजाऽतिपण्डित ॥ इत्येष भयहेतु स्याद्याज्ञवल्क्यस्य नान्यत । भयहेतोरविद्याया सर्वज्ञत्वादसंभवात् ॥ असकृन्निर्णयोऽकारि पृष्टे वस्तुन्यतोऽत्र । अरौत्सीन्मा तथाऽप्येष सर्वस्वादित्सया नृप ॥ मेधावी पण्डितोऽतोऽय महास्वादानकारणात् । न बिभेति यतस्तस्माद्भेतव्य अनवादभृशम्" ॥ १८८८-१८९६ ॥ अत्र हेत्वादेरथमाह—याज्ञवल्क्योऽपीति । वक्तृत्वासामर्थ्यादुत्तराज्ञानाद्वा मुनेर्भयमित्येतन्निरस्यति—अन्यत इति ॥ असामर्थ्यमज्ञान वा न तस्य भयहेतुरित्यत्र हेतुमाह—सर्वज्ञत्वादिति । ब्रह्मीभूतश्च याज्ञवल्क्य सर्वज्ञ सर्वशक्तिश्च न तस्य प्रश्नोत्तरीभूतार्थाज्ञानात्तदुक्त्यसामर्थ्याद्वा भयं संभवतीत्यर्थः । किं तर्हि तस्य तत्कारणमित्यपेक्षायामन्यतो हेतोरित्युक्तं व्यक्तीकर्तुं मेधावीत्याद्युत्थापयति—कारणं त्विति ॥ तद्व्याकर्तुं भूमिका करोति—अविवक्षुमिति ॥ ननु दुराग्रहग्रस्तो राजा पृच्छतु त्वया तु प्रत्युत्तर न देयं न हि पथि वृतं मौनव्रतमतस्मादेव हातव्य तत्राऽऽह—अप्रत्याख्येयो हीति । हिशब्दार्थमेव विशदयति—सत्यस्येति ।

[1]स वा एष एतस्मिन्स्वप्नान्ते रत्वा चरित्वा दृष्ट्वैव

(जाग्रत् से स्वप्नान्त द्वारा सुषुप्ति में गया हुआ) वह यह पुरुष इस स्वप्नान्त में रमण और

तर्हि मेधावी राजा सर्वेभ्यो मा मामन्तेभ्यः प्रश्ननिर्णयावसानेभ्य उदरौत्सीदावृणोदवरोधं कृतवानित्यर्थः । यद्यन्मया निर्णीतं प्रश्नरूपं [2]विमोक्षार्थं तत्तदेकदेशत्वेनैव कामप्रश्नस्य गृहीत्वा पुनः पुनर्मां [3]पर्यनुयुङ्क्त एव मेधावित्वादित्येतद्भयकारणं सर्वं मदीयं विज्ञानं कामप्रश्नव्याजेनोपादित्सतीति ॥ ३३ ॥

अत्र [4]विज्ञानमयः स्वयं ज्योतिरात्मा स्वप्ने प्रदर्शितः । स्वप्नान्तबुद्धान्तसंचारेण

---

[5]तथाऽपि किं तद्भयकारणं तदाह—यद्यदिति । मेधावित्वात्प्रज्ञातिशयशालित्वादिति यावत् । तदेव भयकारणं प्रकटयति—सर्वमिति ॥ ३३ ॥

स वा एष एतस्मिन्नित्याद्युत्तरग्रन्थस्य संबन्धं वक्तुं वृत्तं कीर्तयति—अत्रेति । अत्रायं पुरुषः स्वयं ज्योतिर्भवतीति वाक्य सप्तम्यर्थः । वृत्तमर्थान्तरमनुद्रवति—स्वप्नान्तेति । कार्यकरणव्यति-

---

प्रज्ञाशाली राजा ने "सर्वेभ्यो माऽन्तेभ्य." अर्थात् सभी प्रश्नों के निर्णय के लिए 'उदरौत्सीत्' अर्थात् आवृत कर लिया या रोक लिया। मैंने ज्ञान के लिए जिन-जिन प्रश्नों का निर्णय किया है, उसे यह प्रज्ञाशाली होने के कारण कामप्रश्न के एकदेश रूप से ग्रहण करके पुन. पुन. मुझे प्रेरित करता है। उनके भय का हेतु यही है कि कामप्रश्न के बहाने ही (यह गुह्य वस्तु का) उपदेश कराना चाहता है ॥३३॥

---

१ वार्तिके तु स्वप्नान्तपद स्वप्नस्यान्तो लयो यत्र ते व्युत्पत्त्या सुषुप्तिपरतयाऽपि व्याख्यातम् । तत्र च रमण नाम स्वरूपानन्दानुभव । आनन्दभुगिति श्रुते । चरणं तु तत्रेश्वरात्मसपत्ति सता सोम्येति श्रुते । पुण्यदर्शन त्वानन्दानुभवस्तस्य तत्फलत्वात् सुखमस्वाप्समित्यनुसंधानाच्च पापदर्शन स्वज्ञानानुभवस्तस्य तत्फलत्वान्न किंचिदवेदिषमित्यनुसंधानादिति च । २ प्रज्ञाशाली । ३ ज्ञानार्थम् । ४ प्रेरयत्येव । ५ सर्वस्वापहारप्रसङ्गो भयहेतुरित्युपसंहरति—एवदिति । ६ उपादित्सतीति—यद्यपि राजा योग्यो योग्यपात्रे च विद्याप्रदान नानुचित तथापि गुह्य वस्तु सहसा नोपदेष्टव्यमिति भाव । ७ विज्ञानोपाधि । ८ राज्ञो मेधावित्वे नाववोधकत्वेऽपि ।

तर्हि पृष्ट बुभुत्सित निःशेषं विशदी क्रियतामत आह—स्वयमिति । प्रागुक्तहेतुपरामर्शार्थोऽस्ति शब्द ॥ तर्हि कृतनिर्णयस्य ते कुतो भयमुपस्थित तत्राऽऽह—निर्णीतऽपीति । अथशब्दोऽत्र शब्दपर्यायो निरस्तदीर्घस्मान्पूर्वं सबध्यते ॥ ननु राजा गुरु निरन्धश्रविवेकी न विद्यापात्र नेत्याह—कामति ॥ सर्वस्वापहारप्रसङ्गो भयहेतुरित्युपसंहरति—इत्येष इति । नान्यतो भयहेतुरित्यत्र हेतुमाह—भयेति ॥ विद्यायोग्यो हि राजा मुनिगत ज्ञानमादित्सते तथा च तस्मै तद्दातु किमिति गुर्विभेति न हि परस्मै दत्त तदात्मनि हसतीत्याशङ्क्याऽऽह—अगस्त्ये दिति ॥ तस्य श्रुत्युक्त मेधावित्वं साधयति—मेधावीति । अत शब्दार्थमेव स्फुटयति—अहोसि । अह्मणो ब्राह्मणस्य स्व ज्ञानं तस्याऽऽदानादित्यर्थ । मोक्षरत्नं ज्ञानं पालयितुमिच्छता जनकाद्भय कर्तव्यमिति फलितमाह—तस्मादिति । योग्येऽपि पात्रे मुक्तिफल ज्ञान सहसा नोपदेष्टव्यमिति वाक्यार्थ ॥

* स वा एष एतस्मिन्स्वप्नान्ते रत्वा चरित्वेत्यादि । अत्र वार्तिके—'ननु प्रश्ना यथोक्तान्चेन्निर्णीतार्था.

पुण्यं च पापं च पुनः [1]प्रतिन्यायं [2]प्रतियोन्याद्रवति बुद्धान्तायैव ॥ ३४ ॥

विहार कर, पुण्य तथा पाप को केवल देखकर ही पुनः जाने के मार्ग से ही अपने नियत स्थान जाग्रत् अवस्था में ही लौट आता है ॥ ३४ ॥

कार्यंकरणव्यतिरिक्तत्वम् । कामकर्मप्रविवेकश्चासङ्गतया महामत्स्यदृष्टान्तेन प्रदर्शितः । पुनश्चाविद्याकार्यं स्वप्न एवेनं घ्नन्तीवेत्यादिना प्रदर्शितम् । [3]अर्थादविद्यायाः [4]सतत्त्वं निर्धारितम[5]तद्धर्माध्यारोपणरूपत्वमनात्मधर्मत्वं च । [6]तथा विद्यायाश्च कार्यं

रिक्तत्व प्रदर्शितमिति संबन्धः । उक्तमर्थान्तरमाह—कामेति । अथ यत्रैनं घ्नन्तीवेत्याद्युक्तमनुभाषते—पुनश्चेति । किं तत्कार्यप्रदर्शनसामर्थ्यान्निर्धारितमविद्यायाः सतत्त्व तदाह—अतद्धर्मेति । अनात्मधर्मत्वमात्मनि चैतन्यवदस्वाभाविकत्वम् । अविद्याकार्यवद्विद्याकार्यं च स्वप्ने सर्वात्मभाव-

---

यहाँ विज्ञानोपाधि आत्मा को स्वप्न मे स्वय ज्योति दिखलाया गया है । स्वप्नस्थान और जागरितस्थान मे सचरण के द्वारा उसकी देह और इन्द्रिय से भिन्नता दिखलाई गई । तथा महामत्स्य के दृष्टान्त से असङ्गता से उसका काम और कर्मों से विविक्तता भी दिखलायी गयी । फिर "इसे मारते हुए से" इत्यादि श्रुतिवाक्य से यह प्रदर्शित किया गया कि अविद्या का कार्य स्वप्न ही है । इस (अविद्या कार्य प्रदर्शन सामर्थ्य) से अनात्मधर्मों का आत्मा मे आरोपण करना तथा अनात्मधर्मी होना अविद्या का स्वरूप निर्धारित किया गया । तथा "मैं सर्वात्मा हूँ, ऐसा मानता है, वह इसका परमलोक है" इस श्रुतिवाक्य द्वारा प्रत्यक्ष रूप से स्वप्न मे ही सर्वात्मभाव विद्या का कार्य दिखलाया गया । यहाँ

---

१ पूर्वगमनवैपरीत्येन । २ यथास्थानम् । ३ अर्थात्—अविद्याकार्यप्रदर्शनसामर्थ्यात् । ४ स्वरूपम् । ५ अनात्मधर्माणामात्मन्यारोपणरूपत्वम् । ६ अवतरणोक्तत्वात् ।

पुरोक्तिभि । अनिर्णीत विमुद्दिश्य नृपोऽप्राक्षीन्मुनि पुन. ॥ स्वप्नबुद्धान्तसचार आत्मनो अ. पुरोदित. । दृष्टान्तत्वेन राज्ञाऽसौ सर्वोऽपीह विवक्षित ॥ तस्य दार्ष्टान्तिको योऽर्थो यावत्साक्षान्न कथ्यते । मुमुक्षति न तावत् राजा प्रश्नायशेषत ॥ दृष्टान्तस्य सुषुप्तेश्च नार्थं दार्ष्टान्तिक जगौ । ब्रह्मास्मीत्यागमाद्बोध सुषुप्तोदाहृतेर्मत । दार्ष्टान्तिकोऽर्थं प्राज्ञस्य दृष्टान्तस्यावशेषत ॥ उक्त दार्ष्टान्तिकेऽर्थेऽस्मिन्प्रश्नार्थस्य समाप्तित । सर्वं मुक्त भवेदस्मादत साऽर्थोऽधुनोच्यत ॥ असङ्गा मत्स्यवत्प्रत्यङ्कामकर्मादिभि प्रमात् । समति स्वप्नबुद्धान्तौ यथाऽस्य स्ववशस्तथा ॥ सहेतुरस्य ससार परलोकेहलोकयो । सविस्तर स वक्तव्य इत्यर्थेय परा श्रुति ॥ बन्धो बन्धनहेतुश्च मोक्षस्तद्धेतुरेव च । सविस्तर प्रवक्तव्यस्तदुक्त्यर्था परा श्रुति ॥ जाग्रत्स्थानात्तत पूर्वं स्वप्नमात्मा प्रवर्तित । जाग्रद्भूमि स नतव्यो दार्ष्टान्तिकविवक्षया ॥ आनन्दनिर्णयान्त तु सप्रसादवचो यदा । तदा निगमनार्थं तत्प्रतिज्ञातार्थगोचरम् । अलुप्तदृष्टिरात्माऽयं यथोक्त स्वप्नबोधयो । प्राज्ञेऽपि च तथैवाय यद्वै तदिति-वाक्यत ॥ अतिकारकहेतुश्च यथाऽस्यात्मा सुषुप्तय । कूटस्थदृष्टिमात्रत्वात्तथा स्वप्नप्रबोधया । इत्येवं पूर्वसिद्धेऽर्थे निगमार्थं पुनर्वच । स वा इत्यादिक ज्ञेय न तु नाशादिशङ्कया" ॥ १८९७-१९०९ ॥ इति । स वा एष इत्याद्याक्षिपति—नन्विति । यथोक्ता प्रभा विज्योतिरमित्यादय आदित्यज्योतिरित्याद्यास्तु पुरोक्तयोऽत्र

प्रदर्शितं सर्वात्मभावः स्वप्न एव प्रत्यक्षतः सर्वोऽस्मीति मन्यते सोऽस्य परमो लोक इति'। 'तत्र च सर्वात्मभावः स्वभावोऽस्यैवमविद्याकामकर्मादिसर्वसंसारधर्मसंबन्धातीतं रूपमस्य साक्षात्सुषुप्ते 'गृह्यत इत्येतद्विज्ञापितं स्वयं ज्योतिरात्मैव परम आनन्दः। एष विद्याया विषयः। स एष परमः 'संप्रसादः सुखस्य च परा काष्ठेत्येतदेवमन्तेन ग्रन्थेन व्याख्यातम्। 'तच्चैतत्सर्वं विमोक्षपदार्थस्य दृष्टान्तभूतं बन्धनस्य च। ते चैते

लक्षण प्रत्यक्षत एव प्रदर्शितमित्याह—तथेति। सुषुप्तेऽपि स्वप्नवदेतद्दर्शितमित्याह—तत्र चेति। साक्षात्स्वरूपचैतन्यवशाद्वित्येतत्। 'अन्यथोत्थितस्य सुखपरामर्शो न स्यादिति भावः। उक्तं विद्याकार्यं निगमयति—एष इति। तमेव विद्याविषयं विशदयति—स एष इति। वृत्तानुवादमुपसंहरति—इत्येतदिति। एवमन्तेन ग्रन्थेन ब्रह्मलोकान्तवाक्येनेति यावत्। सोऽहमित्यादेस्तात्पर्यमनुवदति—तच्चेति। यतो राजेत्थं मन्यतेऽतस्तस्य सहस्रदाने युक्ता प्रवृत्तिरित्यर्थः। अत ऊर्ध्वमित्यादेरभिप्रायमनुद्रवति—ते चेति। यद्यपि 'यथोक्तलक्षणे मोक्षबन्धने प्रागेवोपदिष्टे तथाऽपि पूर्वोक्तं सर्वं दृष्टान्त-

(विद्या और अविद्या कार्यों मे) सर्वात्मभाव इसका स्वरूप है। इससे बतलाया गया है कि सुषुप्तावस्था मे इस आत्मा का अविद्या, काम और कर्मादि समस्त सासारिक धर्मों के सबन्ध से अतीत रूप प्रत्यक्ष अनुभव किया जाता है। आत्मा स्वय ज्योति स्वरूप है, यह परम आनन्दरूप है, यह विद्या का विषय है, वह यह आत्मा ही उत्कृष्ट, स्वच्छस्वभाव सुख की पराकाष्ठा है—यह सब यहाँ तक के ग्रन्थ से उपपादित कर दिया गया। तथा यह सब (विद्या-अविद्या का कार्य) मोक्षपदार्थ तथा बन्धन का दृष्टान्त रूप है। विद्या और अविद्या के कार्यभूत उन इन मोक्ष और बन्धन को कामकर्मादि हेतु सहित सविस्तर

१ इति वाक्येन। २ विद्याऽविद्याकार्ययोर्मध्ये। ३ अनुभूयते। ४ स्वच्छस्वभाव। ५ विद्याऽविद्ययो कार्यम्। ६ एतत्—विद्याकार्यं सर्वात्मभावलक्षणम्। ७ आत्मन आनन्दरूपत्वाभावे। ८ विद्याऽविद्याकार्यरूपे स्थानत्रयसचाराख्य।

ऊर्ध्वमितिप्रश्नायोगे प्रत्युक्तिरपि न युक्तेति भाव ॥ अनिर्णीत दर्शयन्प्रश्नप्रत्युक्ती समर्थयते—स्वप्नेति। इहेति लोकद्वयसचाराख्यससारोक्ति ॥ तथाऽपि कथ प्रश्नावकाशस्तत्राऽऽह—तस्येति। स यावदिति वक्तव्य योऽयं इत्युपक्रमात्तमित्याचार्यस्तच्छब्दार्थ। प्रश्नार्थस्य बन्धरूपस्य दार्ष्टान्तिकस्य वक्तव्यस्य शिष्टत्वादिति यावत्। प्रव-स्थाद्वयसचारो लोकद्वयसचाराख्यसंसारस्य दृष्टान्ततयोक्तोऽस्य तस्यैव दार्ष्टान्तिकस्याकर्यर्थमुत्तरो ग्रन्थ इत्यर्थ ॥ ससारप्रकरणस्यार्थवत्त्वमुक्त्वाऽथाकामयमान इत्यादेरर्थवत्त्वमाह—दृष्टान्तस्येति। अतोऽपि प्रश्नस्य सावकाश-त्वमिति शेष। कोऽसौ दार्ष्टान्तिकोऽर्थस्तमाह—मह्येति। यत स्वापदृष्टान्तस्य दार्ष्टान्तिकोऽर्थो वक्तव्यत्वेनाव-शेषितोऽतस्तादर्थ्येन मोक्षप्रकरणमागमिष्यतीत्याह—आगमिष्यतीति ॥ दार्ष्टान्तिकद्वय निर्दिष्टेऽपि वक्तव्यान्तरसंभवा-दाकाङ्क्षानिवृत्ते प्रश्नतादवस्थ्यमित्याशङ्क्याऽऽह—उक्त इति ॥ प्रकरणद्वयमवतार्याऽऽदौ ससारप्रकरणमुत्था-पयति—प्रसङ्ग इति। यथा महामत्स्यो नद्या [illegible] कूले क्रमात्क्रमते तथाऽयं कामादिभिर्वस्तुतोऽस्पृष्टोऽपि जाग्र-त्स्वप्नौ स्वतन्त्र सन्ननुसचरति तथाऽस्य लोकद्वये सचाराख्यो बन्धो हेतुमहितो विस्तरसहितश्च वाच्यो वैराग्या-र्थमिति संसारप्रकरण प्रवृत्तमित्यर्थ ॥ प्रकरणद्वयार्थं प्रतिपत्तिसौकर्यार्थं संक्षिपति—बन्ध इति। इतरन्मदर्भ-मवतार्य स वा एष इत्यादेस्तात्पर्यमाह—आत्मेति। बुद्धान्ते रत्वेत्यादिवाक्याज्जागरितादात्मा स्वप्नान्तायैवेति स्वप्न प्रवेशित स चेदानीं ततो जाग्रदवस्था ससारप्रकारप्रदर्शनार्थं प्रापयितव्यो न हि स्वप्नावस्थामात्रमेव

मोक्षबन्धने 'सहेतुके 'सप्रपञ्चे निर्दिष्टे विद्याविद्याकार्ये तत्सर्वं दृष्टान्तभूतमेवेति तद्दार्ष्टान्तिकस्थानीये मोक्षबन्धने सहेतुके कामप्रश्नार्थभूते त्वया वक्तव्ये इति पुनः पर्यनुयुङ्क्ते जनकोऽत ऊर्ध्वं विमोक्षायैव ब्रूहीति ।

'तत्र महामत्स्यवत्स्वप्नबुद्धान्तावसङ्गः संचरत्येक आत्मा स्वयं ज्योतिरित्युक्तम् । यथा चासौ कार्यकरणानि 'मृत्युरूपाणि परित्यजन्नुपाददानश्च महामत्स्यवत्स्वप्नबुद्धान्तावनुसंचरति, तथा जायमानो म्रियमाणश्च 'तैरेव मृत्युरूपैः संयुज्यते

भूतमेव 'तयोरिति यतो राजा 'आम्यत्यतो मोक्षबन्धने 'दार्ष्टान्तिकभूते वक्तव्ये याज्ञवल्क्येनेति मन्यमानस्तं प्रेरयतीत्यर्थः ।

बन्धमोक्षयोर्वक्तव्यत्वेन प्राप्तयोरपि प्रथमं बन्धो वर्ण्यत इति वक्तुं दृष्टान्तं स्मारयति—तत्रेति । 'दृष्टान्तमनूद्य दार्ष्टान्तिकस्य बन्धस्य सूत्रितत्वं दर्शयति—यथा चेत्यादिना । उभौ लोकावित्यत्र प्रथम-

निरूपित किया गया, यह सब तो दृष्टान्तरूप ही है । अतः कामप्रश्न के विषयभूत तथा उनके दार्ष्टान्तिक स्थानीय मोक्ष और बन्धन का आपको (कामकर्मादि) हेतु सहित व्याख्यान करना चाहिए; इसीसे जनक पुनः प्रेरित करता है कि अब आगे आप मोक्षविषयक उपदेश दीजिए ।

बन्ध और मोक्ष के मध्य महामत्स्य के समान स्वप्न और जागरित में एक ही स्वयंप्रकाश असङ्ग आत्मा संचरण करता है । जिस प्रकार यह (अविद्याकार्य) मृत्युरूप देह और इन्द्रियों को त्याग एवं ग्रहण करता हुआ महामत्स्य के समान क्रमशः स्वप्न और जागरित स्थानों में संचरण करता है,

१ कामकर्मादिहेतुके । २ सविस्तर । ३ बन्धमोक्षमध्ये । ४ अविद्याकार्याणि । ५ कार्यकरणैः । ६ मोक्षबन्धनयोः । ७ मन्यते । ८ तत्रावस्थाद्वयसंचारस्य लोकद्वयसंचारो दार्ष्टान्तिकः स्वापस्य मोक्ष इति बन्धमोक्षौ दार्ष्टान्तिकौ बन्धः संसारः । ९ दृष्टान्तभूतबन्धम् ।

दार्ष्टान्तिको बन्धः स्पष्टयितुं जक्ष्यतेऽतः स्वप्नाज्जाग्रदापत्तिकथनार्थमनन्तरवाक्यमित्यर्थः ॥ तस्यैवोक्तार्थाविरोधेनार्थान्तरमाह—आनन्देति । यदा स्वप्नान्तायेत्यत्र स्वप्नान्तः सुषुप्तं तथा महामत्स्यवाक्यमारभ्यार्थैव एव परम आनन्द इत्येतदन्तं वाक्यं तद्विषयं ततश्च प्रतिज्ञातार्थमधिकृत्य निगमनार्थमनन्तरवाक्यं तदाऽपि स्वापाज्जागरापत्तिरात्मनोऽत्र विवक्षिताऽन्यथा संसारप्रकारप्रदर्शनायोगादित्यर्थः ॥ कोऽसौ प्रतिज्ञातोऽर्थस्तमाह—अलुप्तेति । यथा स्थानद्वये प्रत्यगात्माऽपि नष्टदृष्टिस्तथा स्वापेऽपीत्येतद्दृष्टिपरीक्षायामुक्तमित्यर्थः ॥ प्रतिज्ञातमर्थान्तरमाह—असिकारवेति । यथाऽऽत्मा स्वापे मात्रादिद्वैतरहितस्तथा स्थानद्वयेऽपि कूटस्थदृष्टित्वाविशेषादिति च तत्रैवोक्तमित्यर्थः ॥ प्रतिज्ञातं स्मारयित्वा तन्निगमनार्थत्वमुत्तरस्योपन्यस्यति—इत्येवमिति । आत्मनो नित्यदृष्टित्वं मात्रादिद्वैतराहित्यं चेत्युभयमत्र स्वप्नान्तपदेन निगम्यते स्वप्नशब्देन हि विशेषदर्शनमुच्यते तस्यान्तः सुप्तमित्युक्ते मात्रादिहीनं तस्य सिध्यति तदानिभ्रं तत्कालं कूटस्थबोधाधीना साधकान्तराभावादतः स्वप्नान्तपदेनोभयनिगमयद्वाक्यं स्वप्नादात्मनो जागरापत्तिं दर्शयतीत्यर्थः । ननु सुप्तो मृतवन्नष्टो देशान्तरं गतो वेति शङ्क्यते तस्य व्याहितास्पर्शादिना मृतेन तुल्यत्वात्तथा च तन्निराचिकीर्षयाऽनन्तरवाक्यमिति नेत्याह—न त्विति । न खल्वात्मनो नाशः देशान्तरगमनं वा शङ्कितवा वाक्यमित्येतत्प्रवृत्तं नित्यसिद्धे निष्क्रिये प्रतीचि तदाशङ्कानवकाशात् च सुप्तो मृतेन तुल्यः प्रमाणरदनतादिविशेषादित्यर्थः ॥

वियुज्यते च । उभौ लोकावनुसंचरतीति संचरणं स्वप्नबुद्धान्तानुसंचारस्य दार्ष्टान्तिकत्वेन सूचितम् । तदिह विस्तरेण सनिमित्तं संचरणं वर्णयितव्यमिति तदर्थोऽयमारम्भः । तत्र च 'बुद्धान्ता'त्स्वप्नान्तमयमात्माऽनुप्रवेशितः । तस्मात्संप्रसादस्थानं मोक्षदृष्टान्तभूतम् । 'ततः प्रच्याव्य बुद्धान्ते संसारव्यवहारः प्रदर्शयितव्य इति तेनाऽस्य संबन्धः । स वै बुद्धान्तात्स्वप्नान्तक्रमेण संप्रसन्न एष एतस्मिन्संप्रसादे स्थित्वा 'ततः पुनरीषत्प्रच्युतः' स्वप्नान्ते रत्वा चरित्वेत्यादि पूर्ववद्"बुद्धान्तायैवाऽऽद्रवति ॥ ३४ ॥

मेवंशब्दो द्रष्टव्य. । वृत्तमनूद्यानन्तरप्रकरणमुत्थापयति—तदिहेति । अज्ञः संसारी सप्तम्यर्थः । सनिमित्तं कामादिना निमित्तेन सहितमित्येतत् । प्रकरणारम्भमुक्त्वा समनन्तरवाक्यस्य "व्यवहितेन संबन्धमाह—तत्र चेति । स वा एष एतस्मिन्बुद्धान्ते रत्वेत्युपक्रम्य स्वप्नान्तायैवेति "वाक्य सप्तम्या परामृश्यते । स्वप्नान्तशब्दस्य स्वप्नविषयव्यावृत्त्यर्थं विशिनष्टि—संप्रसादेति । कथं पुनः "संप्रसन्नस्य संसारो"पवर्णनमित्याशङ्क्याऽऽह—तत इति । प्रागुक्तः सप्तम्यर्थो व्यवहितो "प्रत्ययस्तेनेति परामृश्यते । "समनन्तरप्रत्ययः पञ्चोच्यते । वाक्यस्य व्यवहितेन संबन्धमुक्त्वा तदक्षराणि योजयति—स वै बुद्धान्तादिति । स्वप्नान्ते रत्वा चरित्वेत्यादि बुद्धान्तायैवाऽऽद्रवतीत्येतदन्तं पूर्ववदिति योजना ॥ ३४ ॥

उसी प्रकार जन्म और मरण को प्राप्त होता हुआ भी कार्यकरणात्मक मृत्युरूपो से संयुक्त और वियुक्त होता है । "दोनो लोको मे क्रम से सचरण करता है" इस श्रुतिवाक्य द्वारा सचार को स्वप्न-जागरित अनुसचार के दार्ष्टान्तिकरूप से सूचित किया गया है । निमित्तसहित उस सचरण का यहाँ विस्तार से वर्णन करना चाहिये—इससे आगे का ग्रन्थ प्रारम्भ किया जाता है । वहाँ इस आत्मा का जागरित से स्वप्नावस्था मे अनुप्रवेश कराया गया । सुषुप्ति मे अनुप्रवेशित हो जाने से सम्प्रसादस्थान मोक्ष का दृष्टान्तभूत है । सुषुप्ति से च्युत कर जागरित मे ससार का व्यवहार प्रदर्शित करना है । अत. उसी से इस अग्रिम वाक्य का सबन्ध है । जागरित से स्वप्नावस्था मे प्रविष्ट होने रूप क्रम द्वारा सम्प्रसाद (सुषुप्ति) को प्राप्त हुआ वह यह पुरुष सुषुप्ति में स्थित रहकर 'उससे थोडा च्युत हो स्वप्नावस्था मे रमण और विहार कर" इत्यादि श्रुत्यर्थ पूर्ववत् जागरित भोगो के अनुभव के लिए जागरित स्थान को लौट आता है ॥ ३४ ॥

तद्यथाऽनः सुसमाहितमुत्सर्जंद्यायादेवमेवायं शारीर आत्मा प्राज्ञेनाऽऽत्मनाऽन्वारूढ उत्सर्जन्याति यत्रैतदूर्ध्वोच्छ्वासी भवति ॥ ३५ ॥

लोक में जैसे बहुत बोझ से भरा हुआ छकडा चलते समय शब्द करता हुआ चलता है, वैसे ही यह शरीरी आत्मा स्वयंप्रकाश परमात्मा से प्रकाशित हो शब्द करता हुआ जाता है, जबकि यह ऊर्ध्व श्वास लेता हुआ लिङ्गोपाधिक मर्मस्थानों को छोडने लगता है ॥ ३५ ॥

इत आरभ्यास्य[1] संसारो वर्ण्यते । यथाऽयमात्मा स्वप्नान्ताद्बुद्धान्तमागत एवमयमस्माद्देहाद्देहान्तरं[4] प्रतिपत्स्यत इत्याहात्र दृष्टान्तम् । तत्तत्र यथा लोकेऽनः शकटं सुसमाहितं सुष्ठु भृशं वा समाहितं भाण्डोपस्करणेनोलूखलमुसलशूर्पपिठरादिनाऽन्नाद्येन सम्पन्नं समारेणाऽऽक्रान्तमित्यर्थः । 'तथा भाराक्रान्तं सदुत्सर्जच्छब्दं' कुर्वद्यथा यायाद्गच्छे‍च्छाकटिकेनाधिष्ठितं सत् । एवमेव यथोक्तो 'दृष्टान्तोऽयं शारीरः 'शरीरे भवः । कोऽसौ । आत्मा 'लिङ्गोपाधिः' । यः स्वप्नबुद्धान्ताविव

तद्यथेत्यादेरिति" नु कामयमान इत्यन्तस्य सदर्भस्य तात्पर्यं "तदिहेत्यत्रोक्तमनुवदति—इत आरभ्येति । तद्यथेत्यस्माद्वाक्यादित्येतत् । "दृष्टान्तवाक्यमु'त्थाप्य व्याकरोति—यथेत्यादिना । इत्यत्र दृष्टान्तमाहेति योजना । भाण्डोपस्करणेन भाण्डप्रमुखेन(ण) गृहोपकरणेनेति यावत् । तदेवोपकरणं विशिनष्टि—उलूखलेति । पिठर पाकार्थं "भाण्डम् । अन्वयं दर्शयितुं यथाशब्दोऽनूद्यते । लिङ्गविशिष्ट-

---

अब यहाँ से लेकर आत्मा का संसार वर्णन किया जाता है । जिस प्रकार यह आत्मा (क्रमश) स्वप्नस्थान मे जागरित स्थान मे आया है, उसी प्रकार यह इस देह से दूसरी देह प्राप्त करेगा—इसमे श्रुति दृष्टान्त प्रस्तुत करती है । "तद्यथा" अर्थात् जिस प्रकार लोकव्यवहार मे "सुसमाहितम्" अर्थात् सम्यक् या अतिशयसमाहित अर्थात् गृहसामग्री ऊखल, मूसल, सूप और पिठरादि से तथा खाद्यसामग्री से सम्पन्न "अन" यानी छकडा अर्थात् उपरोक्त बोझ से लदा हुआ छकडा गाडीवान से (गुरुभार से पीडित हो) "उत्सर्जत्" यानी शब्द करते हुए "यायाद्" ले जाया जाता है । "एवमेव" अर्थात् उक्त

---

१ आरभ्य । २ उपदर्शितभारेणाक्रान्तम् । ३ गुरुभारप्रपीडितत्वान्नानाविधं शब्दं कुर्वन् । ४ देहान्तरम् । ५ शाकटिकेनेति—शकटतद्गतार्थाभ्यां विलक्षणेन अनन्यपरेण शकटस्वामिनेत्यर्थः । ६ उक्तदृष्टान्तवत् । ७ स्थूले । ८ लिङ्गोपाधिरिति । अत्र वार्तिके—' भुक्तदेहादिदं लिङ्गमुत्क्रान्तं भोगसंक्षयात् । याति देहान्तरं तद्वत्कर्मविद्यादिसंभृतम् ॥ वियुक्तं देवताभिः सत्कर्मसंभारसंभृतम् । अनात्मलिङ्गमेत्यतत्प्रत्यगात्मार्थसिद्धये ॥ १६१४-१५ ॥ इति । अत्र तद्वत्प्रकृतशकटवत् । वियुक्तमित्यादि देवतानुग्रहरहितमित्यर्थः । प्रत्यगात्मार्थसिद्धिः जन्मान्तरे भोगसिद्धिः । तथा च लिङ्गमेवोत्क्रामति तदुपाधित्वादात्मन्युत्क्रमणोपचार इति ध्येयम् । ९ लिङ्गदेहोपहित । १० बृ उ ४ ४ ६ । ११ ११६५पृष्ठभाष्य । १२ तद्यथेत्यादि यायादित्यन्तम् । १३ अवतार्य । १४ स्थाली ।

जन्ममरणाभ्यां पाप्मसंसर्गवियोगलक्षणाभ्यामिहलोकपरलोकावनुसंचरति । यस्योत्क्रमणमनु प्राणाद्युत्क्रमणं स प्राज्ञेन परेणाऽऽत्मना स्वयंज्योतिःस्वभावेनान्वारूढोऽधिष्ठितोऽवभास्यमानः । तथा चोक्तमात्मनैवायं ज्योतिषाऽऽस्ते पल्ययत इति । उत्सर्जन्याति तत्र चैतन्यात्मज्योतिषा भाष्ये लिङ्गे प्राणप्रधाने गच्छति सति तदुपाधिरप्यात्मा गच्छतीव । तथाच श्रुत्यन्तरम्—"कस्मिन्न्वहम्" इत्यादि "ध्यायतीव" इति च । अत एवोक्तं प्राज्ञेनाऽऽत्मनाऽन्वारूढ इति । अन्यथा प्राज्ञेनैकीभूतः शकटवत्कथमुत्सर्जन्याति ।

मात्मानं विशिनष्टि—य स्वप्नेति । जन्ममरणे विशदयति—पाप्मेति । कार्यकरणानि पाप्मशब्देनोच्यन्ते । शारीरस्य प्राधान्यं द्योतयति—यस्येति । उत्सर्जन्यातीति चेत्तदाऽङ्गीकृतमात्मनो गमनमित्याशङ्क्याऽऽह—तत्रेति । "लिङ्गोपाधेरात्मनो गमनप्रतीतिरित्यत्राऽऽथर्वणश्रुतिं प्रमाणयति—तथा चेति । उत्सर्जन्यातीति श्रुतेर्मुख्यार्थत्वार्थमात्मनो वस्तुतो गमनं किं न स्यादित्याशङ्क्याऽऽह—ध्यायतीवेति चेति । औपाधिकमात्मनो गमनमित्यत्र "लिङ्गान्तरमाह—अत एवेति । "कथमेतावता निरुपाधेरात्मनो गमनं नेष्यते तत्राऽऽह—अन्यथेति ।

दृष्टान्त की तरह ही "शारीर" अर्थात् स्थूल शरीर में रहने वाला । वह कौन है ? वह लिङ्ग देह उपहित आत्मा है । जो स्वप्न और जागरित स्थानों के समान पाप के संयोग और वियोग रूप जन्म और मरण के द्वारा क्रमशः इस लोक और परलोक में अनुसंचरण करता है । और जिसके उत्क्रमण के साथ ही प्राणादि का उत्क्रमण हो जाता है, वह लिङ्गोपाधि 'प्राज्ञेनात्मना' अर्थात् स्वयंज्योतिस्वरूप परमात्मा से "अन्वारूढ" अर्थात् अधिष्ठित या अवभासित हुआ, कहा भी है—"यह आत्मज्योति से बैठता है, इधर उधर जाता है" । हिक्कादि शब्द करते हुए जाता है । उपाधि और उपहित के मध्य चैतन्यज्योति से अवभासित प्राणप्रधान लिङ्गदेह के जाने पर उस लिङ्गदेह उपाधि वाला आत्ता हुआ भी जाता हुआ सा प्रतीत होता है । अन्य श्रुति भी कहती है—"किसके उत्क्रान्त हो जाने पर मैं उत्क्रान्त हो जाऊँगा", "ध्यान करता हुआ सा" इत्यादि । इसी से कहा है—प्राज्ञ आत्मा द्वारा अधिष्ठित आत्मा से (शब्द करता हुआ जाता है); नहीं तो प्राज्ञ आत्मा से एकीभूत होने पर यह शकट के समान शब्द करते हुए कैसे जाता ।

---

१ लिङ्गोपाधि । २ मरणकाले अनेन वेदनार्ततया हिक्कादिशब्दं कुर्वन् । ३ उपाध्युपहितयोर्मध्य । ४ भाति । ५ प्र ३ ६ ३ । उत्क्रान्त उत्क्रान्तो भविष्यामि । ६ अत एव—आत्मगमनस्योपचारिकत्वादेव । ७ अन्यथेत्यादि । निरुपाधिकस्यात्मनो गमने हि उपाधिपरित्यागे प्राज्ञेन परमात्मनैकीभूत परमात्मस्वरूप एव स खलु शकटवत् कथमुत्सर्जन्यातुं शक्नोति । अपरिच्छिन्नत्वान्नैव शक्नोतीत्यभिप्रायेण श्रुत्या प्राज्ञेनात्मनाऽन्वारूढ इत्युक्तमित्यर्थ । निरुपाधिकस्यापि गमनसंभवे तु प्राज्ञेनेत्यादि न वक्तव्यमिति भाव । ८ प्राज्ञात्मा यातीत्येव वा वक्तव्यम् । ९ तथा पाप्मकार्यत्वात्—धर्माधर्मौ च पाप्मशब्दार्थं । १० लिङ्गरूपादुपाधित । ११ लिङ्गान्तरमिति—एतन पूर्वं अपि श्रुतौ लिङ्गत्वेनैवोपन्यस्त इति सूचयति । प्रकृतार्थस्य तज्ज्ञाप्यार्थकत्वादिति ध्ययम् । १२ प्राज्ञेनेत्याद्युक्तिमात्रेण ।

स यत्रायमणिमानं न्येति जरया वोपतपता वाऽणिमानं निगच्छति तद्यथाऽऽम्रं वोदुम्बरं वा पिप्पलं वा

वह यह हस्त-पादादि अवयव वाला देह वृद्धावस्थादि कतिपय कारणो से जब कृशता को प्राप्त होता है, तब जैसे आम, गूलर, पीपल के फल बन्धन से छूट जाते हैं, ठीक वैसे ही यह शरीर

तेन लिङ्गोपाधिरात्मोत्सर्जन्मर्मसु निकृत्यमानेषु दुःखवेदनयाऽऽर्तः शब्दं कुर्वन्याति गच्छति तत्कस्मिन्काल इति । उच्यते—यत्रैतद्भवति । एतदिति क्रियाविशेषणम् । ऊर्ध्वोच्छ्वासी यत्रोर्ध्वोच्छ्वासित्वमस्य भवतीत्यर्थः । दृश्यमानस्याप्यनुवदनं वैराग्यहेतोः । ईदृशः कष्टः खल्वयं संसारः । येनोत्क्रान्तिकाले मर्मसूत्कृत्यमानेषु स्मृतिलोपो दुःखवेदनार्तस्य पुरुषार्थसाधनप्रतिपत्तौ चासामर्थ्यं परवशीकृतचित्तस्य । तस्माद्यावदियमवस्था नाऽऽगमिष्यति तावदेव पुरुषार्थसाधनकर्तव्यतायामप्रमत्तो भवेदित्याह कारुण्याच्छ्रुतिः ॥ ३५ ॥

तव स्योर्ध्वोच्छ्वासित्वं कस्मिन्काले किंनिमित्तं कथं किमर्थं वा स्यादि-

प्रमाणफलं निगमयति—तेनेति । तत्कस्मिन्नित्यत्र तच्छब्देनाऽऽर्तस्य शब्दविशेषकरणपूर्वकं गमनं गृह्यते । एतदूर्ध्वोच्छ्वासित्वमस्य यथा स्यात्तथाऽवस्था यस्मिन्काले भवति तस्मिन्काले तद्गमनमित्युपपादयति—उच्यत इत्यादिना । किमिति प्रत्यक्षमर्थं श्रुतिरनुवदति तत्राऽऽह—दृश्यमानस्येति । कथं संसारस्वरूपानुवादमात्रेण वैराग्यसिद्धिस्तत्राऽऽह—ईदृश इति । ईदृशत्वमेव विशदयति—येनेत्यादिना । अनुवादश्रुतेरभिप्रायमुपसंहरति—तस्मादिति ॥ ३५ ॥

प्रश्नचतुष्टयमनूद्य तदुत्तरत्वेन यत्रेत्यादि वाक्यमादाय व्याकरोति—तदस्येत्यादिना । प्रश्न-

उक्त प्रमाण से लिङ्गोपाधिक आत्मा मर्मस्थानो के निकल जाने पर दुःखानुभूति से व्याकुल हुआ (हिक्कादिलक्षण) शब्द करता हुआ जाता है । यह किस समय होता है—इस पर कहा जाता है कि "यत्रैतद" यानी जब यह होता है । यहाँ "एतद्" क्रियाविशेषण है । "ऊर्ध्वोच्छ्वासी भवति" अर्थात् *जहाँ इसका ऊर्ध्वश्वास हो जाता है । प्रत्यक्षसिद्ध अर्थ का पुनः कथन वैराग्य के लिए है ।* यह संसार ऐसा दुःखात्मक है । जहाँ कि कष्ट से देहोत्सर्ग काल मे मर्मस्थानो से निकलने पर दुःखानुभूति से व्याकुल हुए पुरुष की स्मृति नष्ट हो जाती है, तथा उस परवशीकृत चित्त वाले पुरुष का मोक्षसाधन प्राप्ति मे कोई सामर्थ्य नही रह जाता । इसलिए (मरणकाल मे कुछ कर्तव्य संभव न होने से) जब तक यह अवस्था नही प्राप्त होती, तब तक ही पुरुष को मोक्ष के साधनो को करने मे सावधान रहना

१ युवा चेदिति ध्येयम् । २ उक्तप्रमाणेन । ३ दुःखानुभूत्या । ४ हिक्कादिलक्षणम् । ५ प्रत्यक्षसिद्धस्यापि अर्थस्य । ६ दुःखात्मकः । ७ यतः कष्टेनेति वा । ८ मोक्षसाधनप्राप्तौ । ९ मरणे कर्तव्यासामर्थ्यात् । १० सावधानः । ११ मुमूर्षोः । १२ स्वरूपप्रश्नः । १३. प्रयोजनप्रश्नः । १४ संसारस्वरूपे प्रत्यक्षे वैराग्यं नोत्पद्यते चेत् । १५ मनूद्येति—श्रुत्यभिप्रेतस्य भाष्योक्तेरनुवादत्वमिति भावः ।

बन्धनात्प्रमुच्यत एवमेवायं पुरुष एभ्योऽङ्गेभ्यः संप्रमुच्य पुनः [1]प्रतिन्यायं [2]प्रतियोन्या[3]द्रवति [4]प्राणायैव ॥ ३६ ॥

पुरुष भी इन अगो से छूटकर पुन जिस मार्ग से आया था, उसी मार्ग से (अपने कर्मानुसार यथासभव) प्रत्येक योनि मे प्राणादि की अभिव्यक्ति के लिये चला जाता है (क्योकि प्राणादि की विशेषाभिव्यक्ति के बिना कर्मफलभोग का होना सम्भव नही है) ॥ ३६ ॥

त्येतदुच्यते—सोऽयं प्राकृतः शिरःपाण्यादिमान्पिण्डो यत्र यस्मिन्कालेऽणिमानं मणोर्भावमणुत्वं कार्श्यमित्यर्थः । न्येति निगच्छति । किंनिमित्तं [5]जरया वा स्वयमेव कालपक्वफलवज्जीर्णः कार्श्यं गच्छति । उपतपतीत्युपतपञ्ज्वरादिरोगस्तेनो[6]पतपता वा । उपतप्यमानो हि रोगेण विषमाग्नितयाऽन्नं भुक्तं न [7]जरयति [8]ततोऽन्नरसेनानुपचीयमानः पिण्डः कार्श्यमापद्यते तदुच्यत उपतपता वेति । अणिमानं निगच्छति । यदाऽत्यन्तकार्श्यं प्रतिपन्नो जरादिनिमित्तैस्तदोर्ध्वोच्छ्वासी भवति । यदोर्ध्वोच्छ्वासी तदा भृशाहितसंभारशकटवदुत्सर्जन्याति । [9]जराभिभवो [10]रोगादिपीडनं

पूर्वकं कार्श्यनिमित्तं स्वाभाविकमागन्तुकं चेति दर्शयति—किंनिमित्तमित्यादिना । कथ ज्वरादिना कार्श्यप्राप्तिरित्याशङ्क्याऽऽह—उपतप्यमानो हीति । यथोक्तनिमित्तद्वयवशात्कार्श्यप्राप्तिं निगमयति—अणिमानमिति । कस्मिन्काले तदूर्ध्वोच्छ्वासित्वमस्येति प्रश्नस्योत्तरमुक्तया विधया सिद्धमित्याह—यदेति । अवशिष्टप्रश्नत्रयस्योत्तरमाह—यदोर्ध्वोच्छ्वासीति । [11]तत्र हि कार्श्यनिमित्तं सभृतशकटवदानाशब्दकरणं स्वरूपं शरीरविमोक्षणं च प्रयोजनमित्यर्थः । स यत्रेत्यादिवाक्यादर्थसिद्धमयमाह

चाहिए । इस प्रकार श्रुति करुणा के वशीभूत हो कहती है ॥३५॥

इसका ऊर्ध्वोच्छ्वास किस समय, किस कारण से, किस प्रकार और किसलिए होता है, इस पर श्रुति कहती है—"सोऽयम्" अर्थात यह शिर एवं हाथ-पांवादि अवयवों वाला प्राकृत पिण्ड 'यत्र' यानी जिस समय मे "अणिमानं न्येति" अणुभाव यानी कार्श्यरूप अणुत्व को, प्राप्त हो जाता है। किस कारण से होता है ? "जरया वा" अर्थात् (स्वाभाविक रूप)काल से पकाये फल के समान जीर्ण होकर कृशता को प्राप्त होता है। अथवा (यदि युवा हो तो) "उपतपता" अर्थात उपतपन करने वाले ज्वरादि रोगो से (कृश हो जाता है) क्योकि रोग से उपतप्त हुआ मनुष्य विषम अग्नि हो जाने के कारण खाये हुए अन्न को पचा नही सकता। फिर अन्न के रस से अपचय को प्राप्त हुआ पिण्ड कृशता को प्राप्त हो जाता है। इसी से कहा है "ज्वरादि रोगो से कृशता को प्राप्त होता है।

---

१ प्रतिगमन यथा तथा । २ योनिं योनिम्प्रति । ३ आगच्छति । ४ प्राणाना स्थानविशेषविन्यासेनावस्थानायेत्यर्थ । देहान्तरग्रहणायेति यावत् । ५ इद स्वाभाविकम् । ६ इदमागन्तुकम् । ७ पाचयति । ८ तत इत्यादि—अन्नपरिपाकाभावात्परिक्वाऽरसपूर्णरजगादिधातुप्रयुक्तोपचयमप्राप्यमाण इत्यर्थ । ९ नक्तमर्थजातमभिप्रेत्य श्रुत्योच्यत इत्यर्थ । १० जरन् हि स्वजनैरपि नाऽऽद्रियते । ११ रोगादिप्रयुक्त दुःखम् । १२ निमित्तस्वरूपप्रयोजनेषु ऊर्ध्वोच्छ्वासित्वे वा ।

कार्श्यापत्तिश्च शरीरवतोऽवश्यंभाविन एतेऽनर्था इति वैराग्यायेदमुच्यते ।

यदा[1]ऽसावुत्सर्जन्याति तदा कथं शरीरं विमुञ्चतीति दृष्टान्त उच्यते—तत्तत्र यथाऽऽम्रं[2] वा फलमुदुम्बरं वा फलं पिप्पलं वा फलम् । [3]विषमानेकदृष्टान्तोपादानं मरणस्यानियतनिमित्तत्वख्यापनार्थम् । अनियतानि हि मरणस्य निमित्तान्यसंख्यातानि च । [4]एतदपि वैराग्यार्थमेव । यस्माद[5]यमनेकमरणनिमित्तवांस्तस्मात्सर्वदा मृत्योरास्ये वर्तत इति । बन्धनात्प्रमुच्यते [6]येन वृन्तेन सह स बन्धनकारणो रसो यस्मिन्वा बध्यत इति वृन्तमेवोच्यते [7]बन्धनं तस्माद्र[8]साद्वृन्ताद्वा बन्धनात्प्र-

—जरेति ।

तद्यथेत्यादिवाक्यं प्रश्नपूर्वकमादाय व्याचष्टे—यदेत्यादिना । फलं बन्धनात्प्रमुच्यत इति संबन्धः । [9]किमिति विषमानेकदृष्टान्तोपादानमेकेनापि विवक्षितसिद्धेरित्याशङ्क्याऽऽह—विषमेति । कथं मरणस्यानियतान्यनेकानि निमित्तानि संभवन्तीत्याशङ्क्यानुभवमनुसृत्याऽऽह—अनियतानीति । अथ मरणस्यानेकानियतनिमित्तवत्त्वसंकीर्तनं कुत्रोपयुज्यते तत्राऽऽह—एतदपीति । तदर्थत्वमेव समर्थ्यते—यस्मादिति । इत्य[10]"प्रमत्तैर्भवितव्यमिति शेषः । वृन्तेन सह फलं [11]"येन रसेन संबध्यते स रसो बन्धनकारणभूतो बन्धनं वृन्तमेव वा बन्धनं यस्मिन्फलं बध्यते रसेनेति व्युत्पत्तेस्तस्माद्बन्धनाद[12]"मेकनिमित्तवशात्पूर्वोक्तस्य फलस्य भवति प्रमोक्षणमित्याह—बन्धनादित्यादिना । लिङ्गात्मोपाधिरस्येति

जिस समय जरादि निमित्तों से शरीर अत्यन्त कृश हो जाता है उस समय जीव ऊर्ध्वोच्छ्वासी हो जाता है। जब ऊर्ध्वोच्छ्वासी हो जाता है तो उस समय भारी बोझ से लदे हुए छकड़े के समान शब्द करता हुआ जाता है'। सभी प्राणियों के लिए जरा से अभिभव, रोगादि प्रयुक्त दुःख और कृशता की प्राप्ति, ये अनर्थ अवश्यभावी हैं। इसलिए इसे वैराग्य के लिए कहा जाता है।

जब यह लिङ्गात्मा शब्द करते हुए जाता है तो किस प्रकार शरीर छोड़ता है—इसे दृष्टान्त द्वारा कहा जाता है। वहाँ जिस प्रकार आम्रफल, गूलरफल अथवा पिप्पलफल (बन्धनों से छूट जाता है)। अनेक विषम दृष्टान्तों का उपपादन मृत्यु के अनियत निमित्तत्व बताने के लिए है। मरण के निमित्त अनियत और असंख्य हैं। यह भी वैराग्य के लिए कहा जा रहा है। क्योंकि यह लिङ्ग तादात्म्यवान् संसारी, अनेकमरणनिमित्तवान् है, इसलिए सदा ही मृत्यु के मुख में पड़ा रहता है। "बन्धनात् प्रमुच्यते" यानी बन्धन से छूट जाता है। जिस अपक्व रस वृन्त से बँधता है, वह बन्धन कारण है अथवा

१ लिङ्गात्मा । २ फलम् । ३ विषमेति—वैषम्यं त्वाम्रोपामाम्रत्वादुम्बरत्वादिधर्मेण । विच्छेदस्वरूपनिमित्तवैषम्येण च बोध्यम् । आम्रं तावत्पक्वं सदन्तरेणापि वातादिबाह्यनिमित्तं वृन्तरसक्लेदादेव निपतति पतच्च सद्वृन्तरहितमेव पतति । उदुम्बरं वृन्तेन सह वातादिना । पिप्पलं पक्वमपि शकुन्तादिभिरेव पात्यते न वातमात्रेणेति । ४ अवतरणोक्तार्थमपि । ५ लिङ्गतादात्म्यवान् संसारी । ६ अपक्वरसेन । ७ अपक्वेन रसेन । ८ रसादिति—रसा हि पाकावस्थायां क्लेदमापद्यमानाऽवस्थः सन् नोत्सहते फलमवष्टम्भितुमिति भावः । ९ विषमम् । १० मोक्षाय ज्ञानसाधनेषु । ११ अपक्वेन । १२ गुरुत्वरसपाकवातशकुन्तसंबन्धादिनिमित्तैरर्थः ।

मुच्यते [1]वाताद्यनेकनिमित्तमेवमेवायं पुरुषो लिङ्गात्मा लिङ्गोपाधिरेभ्योऽङ्गेभ्यश्चक्षुरादिदेहा[2]वयवेभ्यः संप्रमुच्य सम्यङ्[3]निर्लेपेन प्रमुच्य।

न सुषुप्तगमनकाल इव प्राणेन रक्षन्। किं तर्हि सह वायुनोपसंहृत्य। पुनः प्रतिन्यायं पुनःशब्दात्पूर्वमप्ययं देहाद्देहान्तरमसकृद्गतवानयथा स्वप्नबुद्धान्तौ पुनः पुनर्गच्छति तथा पुनः प्रतिन्यायं प्रतिगमनं यथागतमित्यर्थः। प्रतियोनि योनिं [5]योनिं प्रति कर्म[6]श्रुतादिवशादाद्रवति। किमर्थम्। प्राणायैव [7]प्राणव्यूहायैवेत्यर्थः। [8]सप्राण

[9]तद्विशिष्ट शारीरस्तथोच्यते। सम्प्रमुच्याऽऽद्रवतीति [10]संबन्धः।

[11]समित्युपसर्गस्य तात्पर्यमाह—नेत्यादिना। यदि [12]स्वप्नावस्थायामिव मरणावस्थाया प्राणेन देहं रक्षन्नाद्रवतीति नाऽऽद्रियते केन प्रकारेण तर्हि [13]तदा देहान्तरं प्रति गमनमित्याशङ्क्याऽऽह—किं तर्हीति। वायुना प्राणेन सह करणजातमुपसंहृत्याऽऽद्रवतीति पूर्वेणसंबन्धः। पुन प्रतिन्यायमिति प्रतीकमादाय पुन.शब्दस्य तात्पर्यमाह—पुनरित्यादिना। तथा पुनराद्रवतीति सबन्धः। यथा पूर्वमिमं देहं प्राप्तवान्पुनरपि तथैव देहान्तरं गच्छतीत्याह—प्रतिन्यायमिति। देहान्तरगमने कारणमाह—कर्मेति। आदिशब्देन [14]पूर्वप्रज्ञा गृह्यते। प्राणव्यूहाय प्राणाना [15]विशेषाभिव्यक्तिलाभायेति यावत्। प्राणायेति

रस या वृन्त बन्धन कहा जाता है। उस रस या वृन्तरूप बन्धन से वायु आदि अनेक कारणो से फल छूट जाता है। उसी प्रकार "अय पुरुष" अर्थात यह लिङ्गोपाधिक लिङ्गात्मा "एभ्योऽङ्गेभ्य" अर्थात सम्यक् नि शेषत मुक्त हो कर (पूर्वागत मार्ग से चला जाता है)।

जिस प्रकार सुषुप्तावस्था मे जाने के समय प्राण के द्वारा रक्षा करने के समान नही, तो किस प्रकार? प्राण वायु के सहित चक्षुरादि गोलको का उपसहार करके। "पुन प्रतिन्याय" यहाँ पुन शब्द कथन से यह प्रयोजन है कि जिस प्रकार जीव पुन पुन जागरित और स्वप्न अवस्था मे जाता है, उसी प्रकार पहले भी यह लिङ्गात्मा एक शरीर स दूसरे शरीर मे गया था। अत. पुन जिस

१ वाताद्यनेकनिमित्तादिति यावत्। निमित्तपर्यायप्रयोगे सर्वासा प्रायदर्शनम्। २ गोलकेभ्य। ३ सम्यक्त्व व्यनक्ति—निर्लेपेनेति नि शेषमिति यावत्। स्वप्नसुषुप्त्यादौ हि प्राणावशेषो लिङ्गोपसहारो मरणे तु प्राणेन सहैवेत्यर्थः। ४ लिङ्गात्मा। ५ शरीरम्। ६ श्रुतमुपासनम्। ७ प्राणव्यूहायैवेति—प्राणाना यथा गोलकमवस्थानायेत्यर्थं न तु प्राणग्रहणायेत्येवकारार्थः। सप्राणस्यैव गमनादित्यनुपदमेव स्फुटी भवति। ८ सप्राण एव हि गच्छतीति—तमुत्क्रामन्त प्राणोऽनूत्क्रामतीति श्रुतेरिति हृदयम्। ९ पर्यवसान तु विशेषणे एवेति ध्येयम्। १० सबन्ध इति—अत्रेदमवधेयम् लिङ्गस्य स्थूलेऽवस्थितिस्तु अन्नरसनिबन्धनाऽन्न दामेति श्रुते। रसश्चान्नस्याणिष्ठ परिणाम। स च यावत्सबलस्तावदेवात्रावतिष्ठते लिङ्गं स्थूले तस्य जरारोगादिना दुर्बलत्वे तु वृन्तरसपरिपाकाद्वृन्तात्फलमिव स्थूलाद्वियुज्यत एव लिङ्गात्मेति स्पष्ट चैतत्सविस्तर वार्तिकामृत इत्यधिकं तत एवावगन्तव्यमित्यलम्। ११ अक्षरार्थस्तु निर्लेपेनेत्युक्त। १२ भाष्ये सुषुप्ते गमनं यस्माद् (यद्द्वारा) इति विग्रहमभिप्रेत्याह—स्वप्नेति। इद च प्राणेन रक्षन्नवर कुलायमिति श्रुते स्वप्नपरत्वानुरोधेनेति ध्येयम्। १३ मरणकाले। १४ सस्कार। १५ चक्षुरिद श्रोत्रमिदमित्येवम्।

एव हि गच्छति 'ततः प्राणार्थेवेति 'विशेषणमनर्थकम् । प्राणव्यूहाय हि गमनं देहाद्देहान्तर प्रति । 'तेन ह्यस्य कर्मफलोपभोगार्थसिद्धिर्न प्राणसत्तामात्रेण । 'तस्मा-त्तादर्थ्यार्थं युक्तं विशेषण 'प्राणव्यूहायेति ॥ ३६ ॥

तत्रा'स्येद' शरीरं परित्यज्य गच्छतो नान्यस्य देहान्तरस्यो'पादाने सामर्थ्यमस्ति 'देहेन्द्रियवियोगात् । न चान्ये'ऽस्य मृत्यस्थानीया गृहमिव ''राज्ञे शरीरान्तरं कृत्वा प्रतीक्ष-

क्षति किमर्थमित्य व्याख्यायते'' तत्राऽऽह—सप्राण इति । ''एतच्च तदन्तरप्रतिपत्त्यधिकरणे निर्धारितम् । प्राणायेति ''विशेषणस्याऽऽनर्थक्याद्युक्त प्राणव्यूहायेति ''विशेषणमित्याह—प्राणेति । ''नन्वस्य प्राण सह वर्तते चेत्तावतैव भोगसिद्धेरेल प्राणव्यूहेनेत्याशङ्क्याऽऽह—तेन हीति । ''अन्यथा सुषुप्तिमूर्छयोरपि भोगप्रसक्तेरित्यर्थ । तादर्थ्यार्थं प्राणस्य ''भोगशेषत्वसिद्ध्यर्थमिति यावत् ॥ ३६ ॥

तद्यथा राजानमित्यादिवाक्यव्याख्यानमाशङ्क्याह—तत्रेति । मुमूर्षावस्था सप्तम्यर्थं । अथास्य स्वयमसामर्थ्येऽपि शरीरान्तरकर्तारोऽन्ये भविष्यन्ति यथा राज्ञो भृत्या गृहनिर्मातारस्तत्राऽऽह —न चेति । स्वयमसामर्थ्यमन्येषा चासत्त्वमिति स्थिते फलितमाह—अथेति । तद्यथेत्यादिवाक्यस्य

प्रकार आया था, वैसे ही दूसरे शरीर म चला जाता है। "प्रतियोन्याद्रवति" अर्थात् अपने कर्म और उपासना के अनुसार प्रत्येक शरीर मे जाता है । किसलिए जाता है ? "प्राणाय" अर्थात प्राणो की यथागोलक मे प्रतिष्ठा के लिए। प्राणसहित तो जाता ही है, अत "प्राणार्थ" यह विशेषण व्यर्थ होगा। यथागोलक अवस्थिति के लिए प्राणो का एक शरीर से दूसरे शरीर मे गमन होता है, उस व्यूहस्थ प्राण से इसके कर्म फलोपभोगार्थ की सिद्धि होती है, केवल प्राणो के अस्तित्व मात्र से नही होती। इसलिए प्राण का भोगोपयोगित्व सिद्ध करने के लिए 'प्राणव्यूहाय" यह विशेषण देना उचित ही है ॥३६॥

(इस पर शङ्का होती है—) मरणावस्था मे वर्तमान शरीर को छोड़कर जाने वाले भोक्ता म दूसरे शरीर का ग्रहण करने की सामर्थ्य नही है, क्योकि उसका देहविशिष्ट इन्द्रियो का परस्पर वियोग हो जाता है। एव जिस प्रकार राजा के लिए भृत्य गृहनिर्माण कर प्रतीक्षा करते हैं, उस

१ तत—सप्राणस्यैव गमनात् । २ विशेषणमिति—प्राणग्रहणायेत्यर्थक चेदिति शेष । ३ व्यूहावस्थेन प्राणेन । ४ तस्मात्—तत्तद्गोलकेषु करणस्थापनमन्तरा भोगाभावादित्यर्थ । ५ एतदर्थं प्राणायेतीत्यर्थ । ६ भोक्तु । ७ वातमानिकम् । ८ निर्माण इति यावत् । ९ देहविशिष्टेन्द्रियस्य वियोगात् देहेन्द्रि-याणा मिथो वियोगादिति वार्थ । १० भोक्तु । ११ षष्ठ्यन्त पाठान्तरम् राज्ञ इति । १२ न तु प्राणग्रहणायेतीति भाव । १३ एतच्चेति— प्राणैन सहैव जीवस्य देहान्तर प्रतिगमनमित्यर्थ । तदनन्तर प्रतिपत्तौ रंहति सम्परिष्वक्त प्रश्ननिरूपणाभ्याम् (ब्र सू ३ १ १) देहान्तरप्राप्तौ तदारम्भकं पञ्चीकृत भूतभागं प्राणाधारभूतैर्वेष्टितो जीवो रंहति गच्छति । कथ यथा पञ्चम्यामाहुतावाप पुरुषवचसो भवन्ति (छा उ ५ ३ ३) इति प्रश्नस्य तदुत्तरस्य चैतदर्थानुगुण्यादिति सूत्राक्षरार्थ । १४ प्राणग्रहणायेत्यर्थकस्य । १५ विशेषणव्याख्यानम् । १६ लिङ्गात्मना भोक्तु । १७ प्राणसत्तामात्रेण भोगोपगम । १८ भोगोपयोगित्वसिद्ध्यर्थम् ।

तद्यथा राजानमायान्तमुग्राः प्रत्येनसः सूतग्रामण्यो-

और जैसे अपने राष्ट्र में आते हुए राज्याभिषिक्त राजा की उग्रकर्मा एव (चौरादि को दण्ड

माणा विद्यन्ते। अथैवं सति कथमस्य शरीरान्तरोपादानमिति । उच्यते—'सर्वं ह्यस्य जगत्स्वकर्मफलोपभोगसाधनत्वायोपात्तं स्वकर्मफलोपभोगाय चायं प्रवृत्तो देहाद्देहान्तरं प्रतिपित्सुस्तस्मात्सर्वमेव जगत्स्वकर्मणा प्रयुक्तं तत्कर्मफलोपभोगयोग्यं साधनं कृत्वा प्रतीक्षत एव । "कृतं लोकं पुरुषोऽभिजायते" इति श्रुतेः । यथा स्वप्नाज्जागरितं प्रतिपित्सोः ।

'तत्कथमिति' लोकप्रसिद्धो दृष्टान्त उच्यते—

तात्पर्यं दर्शयन्नुत्तरमाह—उच्यत इति । भवत्वज्ञस्य स्वकर्मफलोपभोगे साधनत्वसिद्ध्यर्थं सर्वं जगदुपात्तं तथाऽपि देहाद्देहान्तरं प्रतिपित्समानस्य किमायातमित्याशङ्क्याऽऽह—स्वकर्मेति । स्वकर्मणेत्यत्र स्वशब्दस्तत्कर्मफलोपभोगयोग्यमित्यत्र तच्छब्दश्च प्रकृतभोक्तृविषयौ । 'तत्र प्रमाणमाह—कृतमिति । पुरुषो हि त्यक्तवर्तमानदेहो भूतपञ्चकादिना निर्मितमेव देहान्तरमभिव्याप्य व्यज्यत इति श्रुतेरर्थः । उक्तमेवार्थं दृष्टान्तेन स्पष्टयति—यथेति । स्वप्नस्थानाज्जागरितस्थानं प्रतिपत्तुमिच्छतः शरीरं पूर्वमेव कृतं नापूर्वं क्रियते तथा देहाद्देहान्तरं प्रतिपित्समानस्य पञ्चभूतादिना कृतमेव देहान्तरमित्यर्थः ।

प्रकार इस भोक्ता के लिए दूसरा शरीर बनाकर इन्द्रियादि प्रतीक्षा नहीं करती। ऐसा होने पर इसका दूसरा शरीर निर्माण कैसे सभव है ? (वादी समाधान करता है—) इस पर कहा जाता है। इस भोक्ता को यह सारा ससार अपने कर्मफल उपभोग के साधनरूप मे प्राप्त हुआ है और स्वकर्मफलोपभोग के लिए ही यह एक शरीर से दूसरे शरीर की प्राप्ति की इच्छा से प्रवृत्त होता है। इसलिए स्वकर्म से प्रेरित सम्पूर्ण संसार उसके कर्मफलोपभोग योग्य साधन होने से उसकी प्रतीक्षा करता ही है। श्रुति कहती है—'पुरुष देहान्तर को व्याप्त करके अभिव्यक्त होता है"। जैसे स्वप्नावस्था से जागरित स्थान को प्राप्त करने की इच्छा वाले पुरुष का शरीर पूर्व ही रचा रहता है।

यह कैसे कहते हो ? ऐसी जिज्ञासा होने पर लोक दृष्टान्त कहा जाता है—

---

१ अवतरणोक्तत्वात् । २ निर्माणम् । ३ सर्वं ह्यस्येति—अस्यति कर्तरि षष्ठी । हि यस्मादनेन भोक्त्रा पुंसा स्वकर्मफलोपभोगसाधनत्वार्थं सर्वमिन्द्रादिजगदुपात्तं स्वायत्तीकृतं तस्मात्सर्वमेवेन्द्रादिजगत् स्वामिभोगयोग्यं देहं कृत्वा भोक्तारं प्रतीक्षत एवेति योजना । तथा चोक्तं—"कर्मोपात्तानि भूतानि तत्प्रयुक्तानि देहिनं । कृत्वा देहं कृत्वा भोक्तारं प्रतीक्षत एवेति योजना । तथा चोक्तं—"कर्मोपात्तानि भूतानि तत्प्रयुक्तानि देहिनं । कृत्वा देहान्तरं योग्यं तस्थू राज्ञोऽग्रगा इव" ॥ १६५८ ॥ इति । भोक्त्रुपचितकर्मोपार्जितानीन्द्रादिभूतानि तत्प्रेरितानि तत्फलाभिमुखानि तिष्ठन्तीत्याह—कर्मेति । भूतानामात्मकर्मोपार्जितत्वे सिद्धमर्थमाह—देहिन इति । ४ कृत लोकमित्यादिश्रुतेर्देहान्तरनिर्माणन्तरमत्वे एव प्रमाणतयोपन्यासो बोध्यो देहारम्भकभूतं । म हैवात्मनो गमनस्य रंहत्यधिकरणे सिद्धान्तितत्वात् । ५ अवतरणोक्तम् । ६. वीक्षायाम् । ७ तत्रेति—अस्य स्वयमगामर्थेऽपि देहान्तरनिर्मातारोऽन्ये सन्तीत्यस्मिन्नर्थे इत्यर्थः । ८ आदिना कर्मदेवतादि ग्राह्यम् ।

ऽन्नैः पानैरावसथैः प्रतिकल्पन्तेऽयमायात्ययमागच्छ-
तीत्येवꣳ [1] हैवं [2] विदꣳ [3] सर्वाणि भूतानि प्रतिकल्पन्त
[4] इदं ब्रह्माऽऽयातीदमागच्छतीति ॥ ३७ ॥

देने के लिये) पापकर्म में नियुक्त सूत और गाँव के नेता लोग अन्नदान तथा निवासस्थान भोग्यवस्तु को तैयार रखकर "ये आये, ये आये" इस प्रकार कहते हुए प्रतीक्षा करते हैं, वैसे ही "यह ब्रह्म आता है, यह आता है" इस प्रकार कहते हुए इस कर्मफल के ज्ञाता की सभी भूत प्रतीक्षा करते हैं ॥३७॥

तत्र [5] [6] यथा राजानं राज्याभिषिक्तमायान्तं स्वराष्ट्रं [7] उग्रा जातिविशेषाः [8] क्रूर-कर्माणो वा [9] प्रत्येनसः प्रत्येनसि पापकर्मणि नियुक्ताः [11] प्रत्येनसस्तस्करादिदण्डनादौ नियुक्ताः [10] सूताश्च ग्रामण्यश्च सूतग्रामण्यः सूता वर्णसंकरजातिविशेषा ग्रामण्यो ग्रामनेतारस्ते पूर्वं-

---

सर्वेषां भूतानां देहान्तरं कृत्वा संसारिणि परलोकाय प्रस्थिते प्रतीक्षणं केन प्रकारेणेति प्रश्नपूर्वकं दृष्टान्तवाक्यमुत्थाप्य व्याचष्टे—तत्रेत्यादिना । [11] तत्र पापकर्मणि नियुक्तत्वमेव व्यनक्ति—तस्करादीति । आदिपदेनान्येऽपि [12] निग्राह्या गृह्यन्ते । दण्डनादावित्यादिशब्दो हिंसाप्रभेदसंग्रहार्थः । 'ब्राह्मण्यां क्षत्रियात्सूतः' इति स्मृतिमाश्रित्य सूतशब्दार्थमाह—वर्णसंकरेति । भोज्यभक्ष्यादिप्रकारं-

---

"तद्यथा" अर्थात् जिस प्रकार "राजानमायान्तम्" अर्थात् अपने राष्ट्र में आते हुए राज्याभिषिक्त राजा को उग्र जाति विशेष अथवा क्रूरकर्मा "प्रत्येनस." अर्थात् तस्करादि को दण्ड देने रूप पापकर्म मे नियुक्त, "सूतग्रामण्य" अर्थात् वर्णसंकर जातिविशेष सूत तथा ग्राम के नेता लोग

---

१ एवमेव । २ एवंविदमित्यनुवादो विधिर्वेति पक्षद्वयमपि वार्तिक उक्तम् । ३ सर्वाणि भूतानि शरीरारम्भकाणि चादित्यादीनि शरीरिणं भोक्तारं प्रति कल्पन्ते प्रतीक्षन्त उग्रादय इवायान्तं राजानम् । दृष्टान्तश्चायं शरीरारम्भकमात्मनो वियत इत्येतावत्यंशे एव विवक्षितो न तु पूर्वं भूतानि राजभृत्यवद् देहमारभ्य प्रतीक्षन्ते पश्चादात्मा राजवत्तत्र गच्छतीत्यंशेऽपि शरीरारम्भकभूतैः स हैवात्मनो गमनमिति दृष्टान्तादिति ध्येयम् । ४. इदं ब्रह्माऽऽयातीत्यादि । "मुमूर्षुणा भाविदेहबन्धश्च कर्मणार्जिता । एनं पुत्रादिभावाय प्रतीक्षन्तेऽखिला सदा ॥ [illegible] ॥ क्षीरं धातुमिव धेनुरिव दोलाऽस्य लालने । इति सपाद्य तद्भोग्यमामते राजभृत्यवत् ॥ मनो जीवेनेन्यादिप्रवेशस्य विवक्षया । ब्रह्मैव पुत्ररूपेण समायातीत्यभिज्ञगो" ॥ ४४२-४४५ ॥ इति वार्तिकसारे तु प्रतीक्षमाणानि भूतानि मातापित्रादि-रूपाणि वर्णितानीति ध्येयम् । ५ देहिनो देहान्तरग्रहे सहाया सन्तीत्यस्मिन्नर्थे । ६ यथा दृष्टान्तः । ७. उग्रा जातिविशेषा इति । यथाह मनु—"क्षत्रियाच्छूद्रकन्यायां क्रूराचारविहारवान् । क्षत्रशूद्रवपुर्जन्तुरुग्रो नाम प्रजायते" । इति । ८ क्रूरकर्माण इति—पापिजनानां शिरश्छेदादिक्रूरकर्मणि ये राज्ञा नियुक्तास्तेऽत्र तयो विवक्षिता । ९ प्रत्येनस इति—प्रतिपापं दण्डादौ नियुक्ता इत्यर्थः । उग्रास्तु उग्रपापप्रतिकारे यथोक्ते इत्यनयोर्भेदो वार्तिकेऽभिहितः । १० सूताश्च ग्रामण्यश्चेति । उभयत्र वार्तिके—"रथावाहाश्च सूताः स्यू रथवाहनकोविदा । ग्रामण्यो ग्रामनेतार सेनाधिपतयो मता" ॥ १९९३ ॥ इति । ११. प्रत्येन शब्दिते । १२. दण्डधा ।

तद्यथा राजानं प्रयियासन्तमुग्राः प्रत्येनसः सूतग्राम्-

जैसे जाने के लिये तैयार हुए राजा के सामने होकर उग्रकर्मा और पापकर्म मे नियुक्त सूत

मेव राज्ञ आगमनं बुद्ध्वाऽन्नैर्भोज्यभक्ष्यादिप्रकारैः पानैर्मदिरादिभिरावसथैश्च प्रासादादिभिः प्रतिकल्पन्ते निष्पन्नैरेव प्रतीक्षन्तेऽयं राजाऽऽयात्ययमागच्छतीत्येवं वदन्तः । यथाऽयं दृष्टान्त 'एवं हैवंविदं कर्मफलस्य वेदितारं संसारिणमित्यर्थः । 'कर्मफलं हि प्रस्तुतं तदेवं-शब्देन परामृश्यते । सर्वाणि 'भूतानि शरीरकर्तृणि करणानुग्राहीतृणि चाऽऽदित्यादीनि तत्कर्मप्रयुक्तानि 'कृतैरेव कर्मफलोपभोगसाधनैः प्रतीक्षन्ते । इद ब्रह्म भोक्तृ कर्तृ चास्माकमायाति तथेदमागच्छतीत्येवमेव कृत्वा प्रतीक्षन्त इत्यर्थः ॥ ३७ ॥

'तमेव जिगमिषु' के सह गच्छन्ति । ये वा गच्छन्ति ते किं तत्क्रियाप्रयुक्ता

रित्यादिशब्देन लेह्यचोष्ययो संग्रहः । मदिरादिभिरित्यादिपदेन क्षीरादि गृह्यते । प्रासादादिभिरित्यादिशब्दो 'गोपुरतोरणादिग्रहार्थः । विद्वन्मात्रे प्रतीयमाने किमिति कर्मफलस्य वेदितारमिति विशेषोपादानमित्याशङ्क्याऽऽह—कर्मफल हीति । तत्कर्मप्रयुक्तानीत्यत्र तच्छब्दः संसारिविषयः । संसारिणो वस्तुतो 'ब्रह्माभिन्नत्वात्तस्मिन्ब्रह्मशब्द. । अन्यासस्तु भयआऽऽदरार्थं ॥ ३७ ॥

तद्यथा राजानं प्रयियासन्तमित्यादिवाक्यव्यावर्त्यं चोद्यमुत्थापयति—तमेवमिति । वागादय-

---

पहले से ही राजा के आने का समाचार पाकर 'अन्नै" अर्थात भोज्यभक्ष्यादि प्रकार के अन्नो से, "पानै" अर्थात मदिरादि से तथा "आवसथै" यानी महलो आदि के द्वारा 'प्रतिकल्पन्ते" अर्थात् तैयार हुए "यह राजा आता है, यह राजा आता है" इस प्रकार कहते हुए प्रतीक्षा करते है । जिस प्रकार यह दृष्टान्त है, 'एव हैवंविद" अर्थात् इसी प्रकार ऐसा कर्मफल के जानने वाले जीव की (सम्पूर्ण भूत प्रतीक्षा करते हैं) । यहाँ उत्क्रान्त्यादिरूप कर्मफल का प्रसङ्ग है, उसीका 'एव' शब्द से ग्रहण होता है । (भोक्ता के द्वारा अपने कर्म से अर्जित) शरीर की रचना करने वाले समस्त भूत तथा इन्द्रियो के अनुग्राहक सूर्यादि देवता, उसके कर्मो से प्रेरित होकर निष्पन्न कर्मफलोपभोग साधनो सहित प्रतीक्षा करते रहते है । "इद ब्रह्म" यानी कर्ता भोक्ता जीव हमारे पास आ रहा है, तथा यह आ रहा है, इस प्रकार कहकर वे प्रतीक्षा करते रहते हैं, यह इसका भावार्थ है ॥३७॥

इस प्रकार जाने की इच्छा वाले किन के साथ जाते है और जो परलोक शरीर के रचयिता

---

१ एव ह—एवमेव । २ उत्क्रान्त्यादिरूपम् । ३ भोक्त्रा स्वकर्मणार्जितानि । ४ निष्पन्नैरेव । ५ तमेवमित्यादि—उक्तरीत्या देहान्तर जिगमिषु संसारिण केऽनुगच्छन्तीत्यर्थ । अन्वयं सह शब्दात्ता नात्र तृतीयाविभक्त्य शङ्कावसर । ६ पुरद्वार तु गोपुरम् । ७ ब्रह्माभिन्नत्वादिति—संसारित्वस्याविद्यकत्वादिति भाव । जीवस्यात्मस्वरूपे ब्रह्मास्मीति बुद्ध्युत्पादनाय जीव ब्रह्मानन्दप्रयाण इति श्रुतितात्पर्यमुक्त वार्तिके—'कथ नाम मतिस्तस्य ब्रह्मास्मीति भवेदिह । श्रुतिस्तत्त्वबोधार्थं ब्रह्मोवाह तता नरम्' ॥ १६६८ ॥ इति । इह आत्मनि । ८ संसारिणि जीव । ९ उभयत्र—दृष्टान्तदार्ष्टान्तिकयो ।

ण्योऽभिसमायन्त्येवमेवेममात्मानमन्तकाले सर्वे प्राणा अभिसमायन्ति यत्रैतदूर्ध्वोच्छ्वासी भवति ॥३८॥

इति बृहदारण्यकोपनिषदि चतुर्थाध्यायस्य तृतीयं ब्राह्मणम् ॥ ३ ॥

एवं गाँव के मुखिया लोग एकत्रित हो जाते हैं; वैसे ही जब यह ऊर्ध्व श्वास लेने लगता है, तो अन्त काल में सभी प्राण इस जीवात्मा के सम्मुख होकर इसके साथ जाते हैं, अर्थात् जीव के साथ-साथ चक्षुरादि प्राण भी जाते हैं ॥ ३८ ॥

॥ इति तृतीय ब्राह्मणम् ॥

आहोस्वित्तत्कर्मवशात्स्वयमेव गच्छन्ति परलोकशरीरकर्तॄणि च भूतानीति । 'अत्रोच्यते दृष्टान्तः—तद्यथा राजानं प्रयियासन्तं प्रकर्षेण यातुमिच्छन्तमुग्राः प्रत्येनसः सूतग्रामण्यस्तं यथाऽभिसमायन्त्याभिमुख्येन समायन्त्येकीभावेन तमभिमुखा आयन्त्यनाहूता एव राज्ञा केवलं तज्जिगमिषाभिज्ञाः, एवमेवेममात्मानं भोक्तारमन्तकाले मरणकाले सर्वे प्राणा वागादयोऽभिसमायन्ति । यत्रैतदूर्ध्वोच्छ्वासी भवतीति व्याख्यातम् ॥३८॥

इति बृहदारण्यकोपनिषद्भाष्ये चतुर्थाध्यायस्य तृतीयं ब्राह्मणम् ॥३॥

स्तमनुगच्छन्तीत्याशङ्क्याऽऽह'—ये वेति । तत्क्रियाप्रगुणास्तस्य गन्तुर्वागादिव्यापारेण प्रेरिताः समाहूता इति यावत् । यानि च भूतानि परलोकशब्दितं शरीरं कुर्वन्ति यानि वा करणानुग्रहीतृण्यादित्यादीनि तेष्वपि यथोक्तप्रश्नप्रवृत्तिं दर्शयति—परलोकेति । नाऽऽद्य परलोकार्थं प्रस्थितस्य वागादिव्यापाराभावादाह्वानानुपपत्तेः । न द्वितीयो भोक्तृकर्मणाऽपि वागादिष्वचेतनेषु स्वयं प्रवृत्तेरनुपपत्तेरिति चोदयितुरभिमान । उत्तरवाक्येनो(णो)त्तरमाह—अत्रेत्यादिना । मरणकालमेव विशिनष्टि—यत्रेति । अचेतनानामपि रथादीनां चेतनप्रेरितानां प्रवृत्तिदर्शनाद्वागादीनामपि भोक्तृकर्मवशात्तदाहूतस्व-

---

भादित्यादि भूत जाते हैं, क्या वे उसके वागादि व्यापार से समाहूत होकर जाते हैं, अथवा उसके कर्म वशात् अपने आप जाते हैं? इसमें दृष्टान्त कहा जाता है—जिस प्रकार 'प्रयियासन्त राजानम्' अर्थात् जाने की उत्कट इच्छा वाले राजा के अभिमुख होकर उसके क्रूरकर्मा, तस्करादि को दण्ड देने के लिए नियुक्त पापकर्मा, सूत और गाँव के नेता लोग "अभिसमायन्ति" अर्थात् सघीभूत होकर राजा के समक्ष आते हैं, बिना राजा की आज्ञा के केवल गमन की इच्छा जानकर ही उद्यत हो जाते हैं। उसी प्रकार मरणासन्न होने पर वागादि सम्पूर्ण प्राण (बिना किसी के बुलाए कर्म से प्रेरित होकर)

---

१ अत्रेति । आत्मकर्मप्रेरिता वागादयोऽनुगच्छन्तीत्येतस्मिन्नर्थं इत्यर्थः । एतेन तद्यथेत्यत्रत्यतत्पदार्थो व्याख्यातः । २ सघीभूयेति यावत् । ३ राजसमुखाः । ४ कर्मफलस्य भोक्तारम् । ५ अनाहूता एव तत्कर्मप्रणुन्नाः । ६ यत्रैतदित्यादि—वार्तिके त्वेवंविदमित्यत्र विधिपक्षस्याप्यङ्गीकारात् मरणसमये वागादय इतरान् क्लेशयन्तोऽपि यथाशास्त्रमुत्क्रान्तिवेदिनं सभृनावनास्थावन्त त्वक्लेशयन्त एवानुवर्तन्त इति वर्णितमित्यलम् । ७ इत्याशङ्क्य—इति मनस्येव समाधानं कृत्वा । ८ आह—चोद्यान्तरमित्यर्थः । ९ जीवस्य ।

(अथ चतुर्थाध्यायस्य चतुर्थं ब्राह्मणम्)

स यत्रायमात्मा। *संसारोपवर्णनं प्रस्तुतम्। तत्रायं पुरुष 'एभ्योऽङ्गेभ्यः संप्रमुच्येत्युक्तम्। तत्संप्रमोक्षणं कस्मिन्काले कथं वेति सविस्तरं संसरणं वर्णयितव्य-

तरेण प्रवृत्तिः सम्भवतीति भावः ॥ ३८ ॥

इति बृहदारण्यकोपनिषद्भाष्यटीकायां चतुर्थाध्यायस्य ज्योतिर्ब्राह्मणं तृतीयम् ॥३॥

ब्राह्मणान्तरमुत्थापयति—स यत्रेति। *तस्य संबन्धं वक्तुमुक्तं कीर्तयति—संसारेति। वक्ष्यमाणोपयोगित्वेनोक्तमर्थान्तरमनुद्रवति—तत्रेति। संसारप्रकरणं सप्तम्यर्थः। संप्रत्याकाङ्क्षापूर्वक-

भोक्ता आत्मा के समक्ष एकत्रित हो जाते हैं। 'जहाँ यह ऊर्ध्वोच्छ्वासी हो जाता है'—इसकी व्याख्या पहले की जा चुकी है ॥३८॥

इस प्रकार वृहदारण्यक उपनिषत् में चतुर्थ अध्याय तृतीय ब्राह्मण के
शाङ्करभाष्य का हिन्दी भाषानुवाद पूर्ण हुआ ॥३॥

"वह यह आत्मा जिस समय (दुर्बलता को प्राप्त हो)" यहाँ संसार के उपवर्णन का प्रसङ्ग है। वहाँ "यह लिङ्गात्मा चक्षुरादि स्थानों से पूर्णतया मुक्त होकर" ऐसा कहा गया है। आत्मा की वह पूर्णतया मुक्ति किस समय और कैसे होती है—इस प्रकार संसरण का विस्तारपूर्वक वर्णन करना है।

१ प्रस्तुत तद्यथाऽन सुसमाहितमित्यादिना। २ लिङ्गात्मा। ३ चक्षुरादिस्थानेभ्य। ४ समासव्यास-भावात्मक समानविषयत्वरूप वा।

*संसारोपवर्णनमित्यादीत्यारभ्यत इत्यन्तभाष्ये वार्तिकाचार्यास्त्वथाहि—"यत उत्क्रान्तिरत्रेय विशिष्टफलसङ्गते। सर्वेषामविशिष्टाऽत्र स यत्रेत्युच्यतेऽधुना॥ करणानां समुत्क्रान्तिर्गमनं च तयोः समम्। प्रागुक्तं तत्र यत्प्रोक्तं तदेवेहोच्यतेऽधुना॥ संसारस्याधिकारोऽयमा श्लोकोदाहृतेर्मतः। स यत्रेत्यत आरभ्य पुंसः संसारवर्णनम्॥ पुंसः संसरणं पूर्वं सूचितं यत्समासतः। विस्तरस्तस्य वक्तव्य इत्यर्था वा परा श्रुतिः॥ तत्संप्रमोक्षणं कस्मिन्पुंसः कालेऽभिजायते। कथं वेत्यादिकोऽप्यर्थो विस्तरेणोपवर्ण्यते" ॥१-५॥ इति। पूर्वस्मिन्ब्राह्मणे कार्यकरणसंघाता-तिरिक्तस्याऽऽत्मनः स्वयंज्योतिषोऽवस्थात्रयातीतस्याविद्याकामकर्मनिर्मुक्तस्यानतिशयानन्दस्यापि दुरवगाहत्वानाद्य-विद्यानिमित्तकामादिकृतमिहलोकपरलोकसंचरणमवस्थाद्वयसंचारदृष्टान्तस्य दार्ष्टान्तिकं मोक्षोदाहरणं च सुषुप्तं व्याख्यातम्। अधुना मोक्षस्यैव सुषुप्तिदार्ष्टान्तिकस्य विशिष्टत्वात्तस्मिन्वक्तव्ये पुनः संसारोक्तिरयुक्ता पुनरुक्तेरित्या-शङ्क्य ब्राह्मणान्तरमवतारयति—यत इति। वैशिष्ट्ये हेतुमाह—फलेति। एवंविदं सर्वाणि भूतानि प्रतिकल्पन्त इति श्रुतेरित्यर्थः॥ एवंविद्विधिपक्षे संबन्धमुक्त्वा तदनुवादपक्षे तमाह—करणानामिति। तयोर्जीवप्राणयोरिति यावत्। प्रागुक्तं तद्यथा राजानं प्रयियासन्तमित्यादावित्यर्थः। यत्प्रोक्तं तज्जोमायाद्यानादीत्यर्थः॥ सर्वस्यैव ब्राह्मण-स्य संसारविषयत्वं व्यावर्तयितुं संसारप्रकरणपरिमाणमाह—संसारस्येति। स यत्रायमित्यस्मादारभ्य तदेव सक्तः कर्मणेतिश्लोकसहितावर्तिनग्रन्थेन संसारप्रकरणं यतो निवृत्तमतोऽकामयमानवाक्यात्प्रागेव वैराग्यहेतोः संसार-वर्णनमित्यर्थः॥ भाष्याद्बहिरेव संबन्धद्वयोक्त्या पुनरुक्तिं समाधाय भाष्योक्तसंबन्धमनुसृत्य तां समाधत्ते—पुंस इति॥ विस्तरप्रकारमेवाऽऽह—तदिति। देहाङ्गानि च सर्वनाम्ना गृहीतानि तानि हि पुंसो देहान्मुच्यमानस्या-पादानभूतानि। आदिपदेन देहान्तरोपादानोपकरणारम्भादि गृह्यते। यत्रेति वक्ष्यमाणसंसारप्रकरणोक्तिः॥ *तस्य संबन्धं वक्तुमुक्तं कीर्तयतीति। संबन्धोऽत्र समासव्यासभावो विज्ञेयः। पूर्वं संक्षेपेणोक्तस्यैव संसरण-

'स यत्रायमात्माऽबल्यं न्येत्य संमोहमिव न्येत्य'थैन-
मेते प्राणा अभिसमायन्ति ॐस एतास्तेजोमात्राः

वह आत्मा जब दुर्बलता को प्राप्त हो मानो समूढ़ता (विवेकाभाव) को प्राप्त होता है, तब ये वागादि प्राण सामने एकत्रित हो जाते हैं, वह इन प्राणों की तेजोमात्रा को सम्यक् प्रकार से लेकर

मित्यारभ्यते—

सोऽयमात्मा 'प्रस्तुतो यत्र 'यस्मिन्कालेऽबल्यम'बलभावं नि एत्य गत्वा। यद्-देहस्य दौर्बल्यं तदात्मन एव दौर्बल्यमित्यु'पचर्यतेऽबल्यं न्येत्येति। न ह्यसौ 'स्वतो'ऽमूर्तत्वा-

---

मुत्तरब्राह्मणमाचष्टे—तत्संप्रमोक्षणमिति। एवं ब्राह्मणमवतार्य तदक्षराणि व्याकरोति—सोऽयमित्या-दिना। गत्वा संमोहमिव न्येतीत्युत्तरत्र संबन्धः। कथमात्मनो दौर्बल्यं तदाह—यद्देहस्येति। किमि-त्युपचारो मुख्यमेवाऽऽत्मनो दौर्बल्यं किं न स्यादित्याशङ्क्याऽऽह—न हीति। यथाऽयमबलभावं निग-च्छति तथा संमोहं समूढतामिव प्रतिपद्यते। विवेकाभावो हि संमोहः। 'तथा च समूढतामिव निग-

---

इसलिए आगे का ग्रन्थ प्रारम्भ किया जाता है।

वह यह प्रकरणस्थ आत्मा "यत्र" अर्थात् मरणासन्न होने पर "अबल्य" यानी जरा-रोगादि से दुर्बलता को 'न्येत्य' अर्थात् प्राप्त होकर। जो शरीर की दुर्बलता है, वही आत्मा का दौर्बल्य है। इस प्रकार तादात्म्याध्यास से उपचरित होता है—"आत्मा दुर्बलता को प्राप्त होकर"। अशरीर होने के कारण देह-तादात्म्य अध्यास के बिना स्वयं यह दुर्बलता को प्राप्त नहीं होता। उसी प्रकार "संमोह-

---

१ एभ्योऽङ्गेभ्य संप्रमुच्येत्यादिना वैराग्यार्थं सूचितं संप्रमोक्षणं कस्मिन् काले कथं वेति जिज्ञासायां सविस्तरं तद्वर्णयितुं शारीरकब्राह्मणं इति नु कामयमान इत्यन्तं प्रवर्तते। यद्वा—"तृतीयब्राह्मणे प्रोक्ता देहे स्वप्नादिसंसृतिः। देहान्तरे तु संसारो मुक्तिश्चात्र वर्ण्यते" ॥ वा सा ४ ४ १ ॥ इति स इत्यादिना। २ न्येतीत्यन्तेन मुमूर्षोर्बाह्यामवस्थामुक्त्वाऽऽन्तरी तामाह—अथैनमित्यादिना। ३ तद्यथाऽनः सुसमाहितमित्यादौ प्रकृतः। ४ मरणावसरे। ५ जरारोगादिभिर्दौर्बल्यं कार्श्यम्। ६ तादात्म्याध्यासात्। ७ देहतादात्म्याध्यासं विना। ८ अशरीरत्वात्। ९ तथा चेति—विवेकैकरूपस्य तदभावत्वानर्हत्वात्। तस्य तदभाववत्त्वमभवा-दिति चार्थः।

स्यात्र विस्तरेण वर्णयितव्यात्। आहुश्चात्र वार्तिककारपादाः—'पुंसः संसरणं पूर्वं सूत्रितं यत्समासतः। विस्तर-स्तस्य वक्तव्य इत्यर्थो वा परा श्रुतिः" ॥ ४ ॥ इति। समासव्यासौ च व्याख्येयव्याख्यानाभ्यां नात्यन्तमति-रिच्यते। समानविषयत्वमेव वा संबन्धः संसरणस्यैवोभयत्र प्रतिपाद्यमानत्वात्। न च सङ्गतेः षोढात्वेन नियत-त्वात्कथमिमौ संबन्धाविति रेकणीयम्। षोढात्वेन नियतस्य हि संबन्धत्वं ग्रन्थयोः पौर्वापर्यनियामकत्वप्रयुक्तमेव तन्नियामकत्वस्य चानयोरप्यविशिष्टत्वादिति।

ॐ स एतास्तेजोमात्राः समभ्याददान इति। अत्र वार्तिकानि—'अथ तमभिसयान्तीत्युक्ते श्रुत्याऽभिधीयते। आत्मानमभिसयान्ति वागादीनि यथा स्फुटम् ॥ स आत्मा प्रकृतस्त्वेताश्चक्षुः श्रोत्रादिलक्षणाः। तेजोमात्रा यथा-देशं समये मृतिकर्मणः। उद्भूताकूतविज्ञानो मृतिं प्रति यदा तदा। आकूतानुविधायीनि जायन्ते करणान्यथ ॥

समभ्याददानो हृदयमेवान्ववक्रामति ¹स यत्रैष चाक्षुषः पराङ्पर्यावर्ततेऽथारूपज्ञो भवति ॥ १ ॥

हृदय में ही अभिव्यक्त विज्ञान वाला होता है । जब यह चाक्षुप पुरुष सभी ओर से पृथक् हो जाता है, तब यह मरणासन्न पुरुष रूपादि ज्ञान से हीन हो जाता है ॥ १ ॥

द्ववलभावं गच्छति । तथा संमोहमिव संमूढता संमोहो विवेकाभावः ²संमूढतामिव न्येति निगच्छति । न चास्य स्वतः संमोहोऽसंमोहो वाऽस्ति ³नित्यचैतन्यज्योतिःस्वभावत्वात् । ⁴तेनेवशब्दः संमोहमिव न्येतीति । उत्क्रान्तिकाले हि ⁵करणोपसंहारनिमित्तो व्याकुलीभाव आत्मन इति लक्ष्यते ⁶लौकिकैः । तथा च वक्तारो भवन्ति संमूढः संमूढोऽयमिति ।

च्छतीति युक्तमित्याह—तथेति । इवशब्दार्थमाह—न चेति । कथं पुनरात्मनः ⁷समारोपितोऽपि समोहः स्यान्नित्यचैतन्यज्योतिष्ट्वाविस्याशङ्क्याऽऽह—उत्क्रान्तीति । व्याकुलीभावो लिङ्गस्येति शेषः । ⁸तत्र लौकिकीं ⁹वार्तामनुकूलयति—तथेति ।

मिव न्येति" यानी (मूर्च्छादि में) संमूढता या विवेक शून्य सा हो जाता है । नित्य चैतन्य ज्योतिस्वरूप होने से इसमें स्वय संमोह या असमोह नहीं है । इसी से "समोहमिव न्येति" इस वाक्य में 'इव' शब्द का प्रयोग है क्योंकि प्राणोत्क्रमण के समय इन्द्रियों के उपसहार के कारण होने वाली व्याकुलता अविवेकियों को आत्मा के समान ही जान पडती है और इसीसे लोगों से सुनने को मिलता है; "संमूढ." अर्थात् यह निश्चेष्ट हो गया है ।

---

१ स यत्रैष इत्यादि । यत्रैष चाक्षुष पुरुष पराङ्पर्यावर्तते । अथ—तदा । स—मुमूर्षुररूपज्ञो भवति रूप न जानातीत्यर्थ । २ मूर्च्छादाविवेत्यर्थ । ३ नित्यचैतन्येति । तथा चोक्त वार्तिके—"बोधमात्रैकयाथात्म्यात्राय समोहभाग्यत । संमूढबुद्धिसाक्षित्वात्समूढ इव भाव्यत" ॥ ६ ॥ इति । ४ तेनेति—उक्तस्वाभाव्यादात्मन स्वत समोहासमोहयोरभावन समोहमिव न्येतीतीवशब्द प्रयुक्त इति योजना । ५ करणेत्यादि—करणाना स्वस्थानाऽऽकर्ष हेतुक स्वगोचरेष्वशक्तिविशेष इत्यर्थ । ६ अविवेकिभि । ७ आरोपितोऽपि । ८ आत्मन समारोपितसमोहम् । ९ जनश्रुतिम् ।

स्याकूतानुविधायित्व यत्तदा करणात्मनाम् । अभ्याददान इति तत्त्वतृं स्व स्यादिहाऽऽत्मनः ॥ एतत्तत्त्वं स्वमपेक्ष्य श्रुत्यैवमभिधीयत । अभ्याददान इति तु तेजोमात्रा स्वदेहत ॥ नीयन्त विषया याभिर्मात्रास्ताश्चक्षुरादय । तेजोविकृतिहेतुत्वात्तेजोमात्राश्च ता स्मृता ॥ सत्त्व तेजोऽत्र विज्ञेय तदेव करणात्मना । प्रविभक्त हि तच्छब्दस्पर्शाद्यर्थाविभासनात् ॥ पित्ताख्य वा भवेत्तेजस्तद्वशाश्चक्षुरादय । इत्थयमायुर्वेदज्ञा करणानि प्रचक्षते ॥ यदा पञ्चावतिष्ठन्त ज्ञानानि मनसा सह । इति प्रकाशरूपत्व करणानां श्रुतिर्जगौ ॥ भौतिकम्तु प्रकाशोऽय भौतिकार्थप्रकाशनात् । प्रदीपवन्न भूतेभ्यो जात्यन्तरमतो भवत् ॥ स्पष्ट च वक्ष्यतऽयोर्ध्वमेनेभ्य इति हि श्रुति । अक्षाणि भौतिकान्यव नात सत्त्व आत्मन ॥ लिङ्गात्मकाना भूताना निर्देशोऽविद्यया सह । तन्नाशमनु नाश स्यादेता दुःखात्मनस्तत ॥ पिण्डनाशोऽपि नैवास्य नाम, ससारिणो यत । अविद्यादीनि भूतानि तत्रोत्पन्न तता ध्रुवम् ॥

अथवोभयत्रेवशब्दप्रयोगो योज्योऽबल्यमिव न्येत्य संमोहमिव न्येतीति । [1]उभयस्य [2]परोपाधिनिमित्ततयाविशेषात् । समानकर्तृकनिर्देशाच्च । [3]अथास्मिन्काल एते प्राणा

यथाश्रुतमिवशब्दं गृहीत्वा वाक्यं व्याख्याय पक्षान्तरमाह—अथवेति । इवशब्दप्रयोगस्योभयत्र योजनामेवाभिनयति—अबल्यमिति । उभयत्र तद्योजने हेतुमाह—उभयस्येति । ल्यप्प्रत्ययेनाबल्यसमोहयोरेककर्तृकत्वनिर्देशादप्युभयत्रेवकारो द्रष्टव्य इत्याह—समानेति । अथेत्यादि वाक्यमव-

अथवा 'इव' शब्द का प्रयोग दोनों जगह जोड़ लेना चाहिए । "दुर्बल सा हो जाता है, समूढ सा हो जाता है" क्योंकि कार्श्य और समोह दोनों का देह और बुद्धि आदि से उपाधिकृत होना समान है तथा दोनों का ही समान कर्ता उपपादित किया गया है । एवं इस समय ये वागादि प्राण, इन्द्रियों के

१ कार्श्यसमोहरूपस्य । २ देहबुद्ध्याद्युपाधिरिति भाव । ३ प्रारब्धकर्मावमानानन्तर्यमथशब्दार्थ इत्यभिप्रेत्याह—अस्मिन्निति । अत्र यस्मिन्निति पाठोऽपि नाद्याप्य ।

मात्रामसर्गं एवास्य तथावैव प्रचक्ष्यते । विज्ञानेनाथ विज्ञानमादायेत्यपि चावदत् ॥ अस्य लोकस्य चेत्युक्त गृह-मित्यादि चापरम् । सर्वेष्वेपु प्रदेशेपु भूतमात्राग्रह श्रुतौ । भूतेभ्यो नापर वस्तु यस्मादात्मन ईश्यते ॥ अतो विवेको भूताना य परोऽत्रीव शुद्धित । तेजोमात्रादिवचसा म एवात्राभिधीयते ॥ इन्द्रियाणीन्द्रियार्थाश्च न विकार परात्मन । अतो न जायत इति तद्विकारनिषेधत ॥ जन्मादिविक्रियाषट्क सम्यान्न परमात्मन । अपूर्वानपरायुक्तेर्नेति नेत्यादिवाक्यत ॥ न च वेदान्तसिद्धान्त परमात्मातिरेकत । इष्ट विकारवद्वस्तु यथा कापिलशासने ॥ स्वत कूटस्थतत्त्वस्य तदसयोगतस्तत । जन्मादिविक्रियाषट्कसगति स्यात्परात्मन ॥ आत्मकारणवादोऽयमेव सत्युपपद्यते । न तु विध्वस्तनिःशेषजन्मनाशादिकारणे ॥ तेजोऽतो भौतिक सर्वमन्यत्र परमात्मन । स्वयञ्ज्योति प्रसङ्गेन तदुक्त प्रागपि श्रुतौ ॥ आदित्यादीनि तेजासि तथाऽध्यात्माधिभूतयो । भौतिकान्येव तानीति प्रत्यङ् तेभ्यो विलक्षण" ॥ १६-४२ ॥ इति । स एता इत्याद्याकाङ्क्षापूर्वकमादत्ते—कथमिति ॥ यथाऽऽत्मान करणानि सामस्त्यनाऽभिमुख्येन गच्छति तथा स्फुटमुच्यते वाक्येनेति तात्पर्यमुक्त्वा तद्व्याचष्टे—स इति । अविद्वानात्मा ततद्देशात्करणान्यादाय मृतिकाले हृदि गच्छतीत्यर्थ ॥ समभ्याददान इत्यस्यार्थं वक्तु पातनिका करोति—उद्भूतेति । यथोक्ताकूतस्य तदनुविधायित्वस्य च हेतुहेतुमत्त्वद्योतनार्थोऽथशब्द ॥ सप्रति शानचोऽर्थमाह—स्वाकूतेति । अविद्वानात्मा मुमूर्षु स्वशब्दार्थ । यदेति मुमूर्षावस्थोच्यते । इहेति प्रकृतवाक्योक्ति ॥ करणानामात्माभिप्रायानुसारित्वमेव तस्य तदादानकर्तृतेति कस्मादुच्यते चैत्रादौ धनादिविषये प्रसिद्धमादानकर्तृत्वमत्रापि किं न स्यादित्याशङ्क्याऽऽह—एतदिति । ध्यायतीवेत्यादिविरोधात्करणान्तराभावाच्च तदादानकर्तृताऽऽत्मनोऽमुख्येत्यर्थ ॥ तेजोमात्रा इत्यस्यार्थमाह—मीयन्त इति । तेज एव विकृति साभासस्याज्ञानस्य ता हेतूकृत्य प्रवृत्तत्वात्तेजसो मात्रा करणानीत्यर्थ ॥ मात्राशब्दार्थं समास चोक्त्वा तेज शब्दार्थं साख्याभिप्रेतमाह—सत्त्वमिति । तत्र साख्यप्रसिद्धिद्योतको हिशब्द । कथ सत्त्वगुणश्चक्षुरादि करणरूपेण परिणत इति ज्ञायते तत्राऽऽह—तच्चक्षुर्देति । सत्त्वमहंकारावस्थित शब्दाद्यर्थावभासकत्वात्करणरूपेण परिणत सात्त्विक एकादशक प्रवर्तते वैकृतादहंकारादित्युक्तेरित्यर्थ ॥ पूर्वपक्षान्तरमाह—पित्ताख्य वेति । तत्र प्रमाणमाह—इत्येवमिति । उक्त हि—'अग्निरेव शरीरे पित्तान्तर्गत कुपिताकुपितानि शुभाशुभानि करोतीति । अन्योऽप्याह—आमाशयाश्रय पित्त रञ्जकं रसरञ्जनात् । बुद्धिमेधाभिमानाद्यैरभिप्रेतार्थसाधनात् ॥ साधक हृद्गत पित्त रूपालोचनत स्मृतम् । दृक्स्थमालोचकं त्वक्स्थ भ्राजक भ्राजनात्त्वच' ॥ इति ॥ सिद्धान्तयितु करणाना प्रकाशरूपत्व सप्रमाणमाह—यदेति ॥ तेषा प्रकाशरूपत्वेऽपि कथ ते सिद्धान्तसिद्धिरत आह—

वागादय 'एनमात्मानमभिस'मायन्ति तदाऽस्य 'शारीरस्याऽऽत्मनोऽङ्गे'भ्यः संप्रमोक्षणम्। कथं पुनः सप्रमोक्षणं केन वा प्रकारेणाऽऽत्मानमभिसमायन्तीति। उच्यते—'स आत्मैतास्तेजो-

तायं व्याकुर्वन्कस्मिन्काले 'तत्सप्रमोक्षणमित्यस्योत्तरमाह—अथेत्यादिना। कथं वेत्युक्त प्रश्नमनूद्य प्रश्नान्तरं 'प्रस्तौति—कथमिति। 'अत्रोत्तरत्वेनोत्तरं वाक्यमादाय व्याकरोति—उच्यत इत्यादिना।

स्वामी आत्मा के पास आते हैं, तब (प्रारब्ध समाप्ति काल मे) इस लिङ्गोपाधिक जीवात्मा का अङ्गों से सर्वथा मोक्ष हो जाता है। किन्तु वह मोक्ष किस प्रकार होता है अथवा किस प्रकार ये आत्मा के सम्मुख आते है? इसे श्रुति कहती है—वह अज्ञ जीव "तेजोमात्रा." अर्थात् तेज की मात्रा

१ एनम् करणस्वामिनमात्मानमुत्चिक्रमिषुम्। २ अभिसमायन्तीति। अत्र वार्तिके—'अभीति चाऽऽभिमुख्येऽर्थे स तु सामस्त्य इष्यते। अवध्यर्थे तथाऽऽङत्र यन्तीत्यस्य विशेषणम्'॥ १७॥ इति। तथाचात्मावधिक सामस्त्येन तेषामभिगमनमित्यर्थः। ३ प्रारब्धावसानावसरे। ४ लिङ्गोपाधे। ५ प्रकृतोऽज्ञो जीव। ६ तस्यात्मन तेभ्योऽङ्गेभ्य इति वा। ७ उत्थापयति। ८ अत्र—प्रश्नद्वयविषये, उत्तरत्वेन—समाधानत्वेन।

भौतिकस्त्विति। तेज शब्देन भूतपञ्चकमुच्यते तत्कार्यं करणजात भौतिकप्रकाशत्वादालोकवत्। तदाहुर्भर्तृ-प्रपञ्चा—'प्रकाश पुनरय भौतिको न जात्यन्तर भूतेभ्य इति। आयुर्वेदविदश्चाऽऽहु—'एकैकाधिकयुक्तानि खादीनामिन्द्रियाणि च' इति। 'खादीनि बुद्धिरव्यक्तमहकारस्तथाऽष्टम। भूतप्रकृतिरुद्दिष्टा विकारा षोडशैव तु॥ बुद्धीन्द्रियाणि पञ्चैव पञ्च कर्मेन्द्रियाणि च। समनस्काश्च पञ्चार्था विकारा इति सज्ञिता" इति च॥ करणाना भौतिकत्वे वाक्यशेषसवादमाह—स्पष्ट चेति। एतेभ्यो भूतेभ्य समुत्थायेत्यत्र भूतशब्देन कार्यकरणान्युच्यन्ते तथा च शारीरवदिन्द्रियाण्यपि भूतकार्याण्येवेति श्रुतिर्वक्ष्यति भाष्यकारादिभिश्चायमर्थो वक्ष्यते तस्माद्भौतिकत्वमिन्द्रियाणामविवादमित्यर्थ। आयुर्वेदे श्रुत्यन्तरे च यथा करणाना भौतिकत्वमुक्त तथा वाक्यशेषेऽपीत्यथशब्दार्थ। भौतिकत्वे तेषामात्मविकारत्वमपि स्वयूथ्याभीष्ट प्रत्यादिष्टमित्याह—नात इति॥ यथोक्ते वाक्ये करणाना भौतिकत्व न भाति तत्कथ तत्र वाक्यशेषस्य सवादितेत्याशङ्क्याऽऽह—लिङ्गेति। सावित्र सप्तदशकलिङ्गाकारपरिणत भूतपञ्चकमत्र भूतशब्दार्थ। तथाच भूतेषु करणानामन्तर्भावात्कार्यतैव परिशिष्यत इत्यर्थ। तत्र भूतशब्दस्योक्तार्थत्वे हेतुमाह—तन्नाशमिति। तान्येवानुविनश्यतीति जीवस्यापि भूतनाशेन नाशो यत श्रूयतेऽतो भूतशब्देनोक्तलिङ्गग्रह इत्यर्थ॥ स्थूलदेहनाशेऽपि शारीरनाशात्तद्विषयमेव भूत-पदमित्याशङ्क्याऽऽह—पिण्डेति। तथाऽपि सूक्ष्मदेहगृहीतस्य स्थितिसभवादित्यर्थ॥ सावित्र लिङ्गशरीर वाक्यशेषे भूतशब्दितमित्युक्त्वा करणाना भौतिकत्वे पूर्वोक्तवाक्यस्थमेव लिङ्गमुपन्यस्यति—मात्रेति। तेषां भौतिकत्वा-नुसारेण प्रकृतवाक्य एव मात्रासंसर्गस्त्वस्य भवतीति वक्ष्यते॥ तथाच भूतेभ्यो मात्राभ्यश्च समुत्थायेति पूर्वत्र विवक्षित न च भूताना मात्रास्तेजोमात्राभ्यो भिद्यन्ते तेन मात्रासंसर्गश्रुत्या भौतिकत्वमिन्द्रियाणामिष्टमिति भाव। तत्रैव हेत्वन्तरमाह—विज्ञानेनेति। विज्ञानेन विज्ञानमादायान्तर्हृदये शेत इति वदता विज्ञानमात्रत्वं करणानामुक्तं न च तन्मात्रास्तेजोमात्राभ्यो भिन्नास्तद्यथोक्तवाक्यादपीन्द्रियाणा भौतिकत्वमित्यर्थ। करणाना भौतिकत्ववदभौतिकत्वे न श्रुतिरस्तीतिद्योतनार्थोऽपिशब्द॥ किंचास्य लोकस्य सर्वावतो मात्रामपादाय प्रस्व-पितीतिब्राह्मणोक्तोऽर्थ शुक्रमादाय पुनरैति स्थानमित्यादिमन्त्रेणापि प्रकट्यते तेनापि स्वप्नप्रकरणे करणाना भौतिकत्व विवक्षितमित्याह—अस्येति। यथोदाहृतवाक्येषु करणानां भौतिकत्व न भातितत्राऽऽह—सर्वेष्विति। श्रुतिगतोक्तवाक्येषु भूतमात्राभ्योऽतिरिक्तग्रहण किं न स्यात्तत्राऽऽह—भूतेभ्य इति। आत्मनोऽतिरिक्त वस्तु

मात्रास्तेजसो- [१]मात्रास्तेजोमात्रास्तेजोऽवयवा रूपादिप्रकाशकत्वाच्चक्षुरादीनि करणानीत्यर्थः। [२]ता [३]एता समभ्याददानः सम्यङ्निर्लेपेनाभ्याददान आभिमुख्येनाऽऽददानः संहरमाणस्तत्स्वप्नापेक्षया विशेषणं समिति। न तु स्वप्ने निर्लेपेन सम्यगादानम्। अस्ति त्वादानमात्रम्। [४]गृहीता वाग्गृहीतं चक्षुरस्य[५] लोकस्य सर्वावतो मात्रामपादाय [६]शुक्रमादायेत्यादिवाक्येभ्यः[७]।

रूपादिप्रकाशनशक्तिमत्सत्त्वप्रधान[९]मूलकार्यत्वात्तेजोमात्राश्चक्षुरादिनीत्युक्तं संप्रति समभ्याददान इत्यस्यार्थमाह—ता एत इति। संहरमाणो हृदयमन्ववक्रामतीत्यन्वयः। तत्समिति विशेषणं स्वप्नापेक्षयेति संबन्धः। कथं स्वप्नापेक्षया विशेषणं तदाह—न त्विति। आदानमात्रमपि स्वप्ने नास्तीति कुतस्तद्व्यावृत्त्यर्थं विशेषणमित्याशङ्क्याऽऽह—अस्तीति।

यानी रूपादि की प्रकाशक होने के कारण चक्षु आदि इन्द्रियाँ ही तेज की अवयव हैं। इन तेजोमात्रा इन्द्रियों का "समभ्याददान" अर्थात् सम्यक् या निर्लेप भाव से अभ्यादान, अभिमुख होकर, आदान या उपसंहार कर (हृदय में ही अभिव्यक्त ज्ञानवान् होता है)। "समभ्याददान" में 'सम्' यह विशेषण स्वप्न की अपेक्षा से है क्योंकि स्वप्नावस्था में निर्लेप भाव से आदान नहीं होता; केवल आदान मात्र ही होता है। जैसा कि श्रुतियाँ इसमें प्रमाण हैं "वहाँ वाक् उपसंहृत हो जाती है, चक्षु उपसंहृत हो जाती है", "(जिस समय यह सोता है) उस समय सर्वावान लोक की मात्रा को

१ मीयन्त विषया याभिस्ता मात्राः। २ व्याख्याता। ३ तेजोमात्राः। ४ बृ उ २ १ १७। ५ उपसंहृतम्। ६ बृ उ ४ ३ ९। ७ शुक्रं शुद्धं ज्योतिष्मदिन्द्रियादिमात्रारूपम्। ८ बृ उ ४ ३ ११। ९ भूतानि खादीनि।

भूतभौतिकेभ्यो नापरं दृश्यते तस्माद्भूतात्मातिरिक्तविषयत्वे भौतिकविषयत्वस्याऽऽवश्यकत्वाद्युक्तमत्र सर्वत्र भूतमात्राग्रहणमित्यर्थः॥ उक्तवाक्यानां भूतमात्रार्थत्वात्तदनुसारेण प्रकृतवाक्येऽपि तद्ग्रहणमुचितमिति फलितमाह—अत इति। यो भूतानामुत्तमो विवेकापरपर्यायः परिणामोऽत्यन्तप्रकाशरूपः करणसमुदायः स एव तेजोमात्राः समभ्याददान इति वाक्ये तेजोमात्राशब्देनोच्यत इत्यर्थः॥ केचित्तु सविषयाणां करणानां न भौतिकत्वमात्मविकारत्वादित्याहुस्तान्प्रत्याह—इन्द्रियाणीति। उक्तं चैतन्मात्रं प्रकृतमात्मन इति। तत्र हेतुमाह—अत इति। अतोऽन्यदार्तं न जायते म्रियते वा विपश्चिदित्यादिनाऽऽत्मनः सर्वविकारनिषेधान्न तद्विकारत्वमिन्द्रियादेरित्यर्थः॥ तत्रैव हेत्वन्तरमाह—अन्मादीति। साक्षादित्यविद्या विनेत्यर्थः॥ तर्हि तदतिरिक्तमेव किंचित्परमात्मतो विकारि भविष्यति नेत्याह—न चेति॥ परस्य कूटस्थत्वं विकारिणश्चान्यस्यानुपगमे निष्कारणं विश्वं स्यादित्याशङ्क्याऽऽह—स्वत इति। मायां तु प्रकृतिमित्यादिश्रुतेरविद्या कारणत्वं तस्यैव परस्याऽऽस्थेयमित्यर्थः॥ आत्मनो यदि कारणत्वं तर्हि वस्तुतोऽस्तु किं तदबोधेनेत्याशङ्क्याऽऽह—आत्मेति। एवं सत्यविद्याकृते कारणत्वे स्वीकृते सतीति यावत्। निरविद्ये ह्यात्मन्यङ्गीकृते नैवमपूर्वादिश्रुतेरित्याह—न त्विति। अज्ञानहीनस्य कूटस्थस्य कारणत्वानुपपत्तेरात्माज्ञानजन्यभूतकार्यत्वमिन्द्रियादेरित्युपसंहरति—तेज इति। ब्रह्मैव तेज एवेत्यत्र व्यभिचारमाशङ्क्याऽऽह—अन्यत्रेति। किंच करणादेर्भौतिकत्वं ज्योतिर्ब्राह्मणादावपि साधितमित्याह—स्वयमिति। उक्तमेव स्मारयति—आदित्यादीनीति। इति यत्तदुक्तमिति संबन्धः। सर्वस्य भौतिकत्वोक्तिफलमाह—प्रत्यङ्ङिति॥

❀हृदयमेव पुण्डरीकाकारमन्ववक्रामत्यन्वागच्छति हृदयेऽभिव्यक्त[1]विज्ञानो भवतीत्यर्थः । बुद्ध्यादिविक्षेपोपसंहारे सति । न हि तस्य[2] स्वतश्चलनं विक्षेपोपसंहारादिविक्रिया वा । ध्यायतीव लेलायतीवेत्युक्तत्वात् । बुद्ध्याद्युपाधिद्वारैव हि सर्वविक्रिया-

---

¤ एतास्तेजोमात्राः समभ्याददान इत्येतद्व्याख्याय हृदयमेवेत्यादि व्याचष्टे—हृदयमित्यादिना । 'सविज्ञानो भवतीनि'[3] वाक्यशेषमाश्रित्य वाक्यार्थमाह—हृदय इति । कथमात्मनो निष्क्रियस्य तेजोमात्रादानकर्तृत्वमित्याशङ्क्याऽऽह—बुद्ध्यादीति । [5]तेषां तद्विक्षेपस्य चोपसहारे सत्यात्मन[6]स्तदादानकर्तृत्वमौ[7]पचारिकमित्यर्थः । [8]तर्हि [9]तद्विक्षेपोपसंहर्तृत्वव[10]त्तदादानकर्तृत्वमपि मुख्यमेव भविष्यतीत्याशङ्क्याऽऽह—न हीति । आदिशब्देन क्रियाविशेषः सर्वो गृह्यते । कथं [11]तर्हि प्रतीचि कर्तृत्वा-

---

लेकर ......(अपने प्रकाश से शयन करता है, इस अवस्था में यह पुरुष स्वयंज्योतिःस्वरूप है)", "वह शुद्ध-इन्द्रिय मात्रा रूप को लेकर (पुनः जागरित स्थान में आता है)"।

पुण्डरीकाकार हृदय में ही, "अन्ववक्रामति" अर्थात् अनुगमन करता है अर्थात् हृदय में अभिव्यक्त भावी देहविषयक विज्ञान से युक्त होता है। ऐसा बुद्ध्यादिविक्षेप के उपसंहार होने पर संभव है। आत्मा में चलन, विक्षेप और उपसंहार आदि विकार अपने आप नहीं हुआ करते। जैसा कि "ध्यान करता हुआ सा, चेष्टा करता हुआ सा" इस प्रकार श्रुति कह चुकी है। उसमें सब विकारों का अध्यारोप तो बुद्धि आदि उपाधि के द्वारा ही होता है। किन्तु उसकी तेजोमात्राओं का उपसंहार

---

१ विज्ञानं भाविदेहविषयम्। २ आत्मनः। ३ मुमूर्षुः पुमानुत्क्रान्तिकाले सविज्ञानो भाविदेहविषयेण कार्मोद्भासितसंस्कारजनितेन ज्ञानेन सह वर्तमानः स्वप्ने इव भवतीत्यर्थः। ४ बृ उ ४ ४ २। ५ बुद्ध्यादीनाम्। ६ तेजोमात्रादानकर्तृत्वम्। ७ अमुख्यम्। ८ तर्हि—आत्मनो बुद्ध्यादितद्विक्षेपोपसंहर्तृत्वेऽभ्युपगते सति। ९ बुद्ध्यादिविक्षेपेति यावत्। १० तेजोमात्रादानकर्तृत्वम्। ११ तर्हि—प्रतीचः सर्वथा निष्क्रियत्वे।

❀ हृदयमेवेत्यादि कदा पुनरित्यत्र प्राक्तनभाष्ये वार्तिकानि । 'अभ्याददान एवायमन्ववक्रामतीश्वरः । न त्वाक्रम्य समादत्ते कथं तदिति भण्यते ॥ विशेषज्ञानलाभोऽस्य लिङ्गात्मानुविधानतः । ततस्तदपकर्षेण विज्ञानात्मोपसंहृतिः ॥ तद्व्याप्ती चापि सव्याप्तिरापादतलमस्तकम् । स्वतस्तु व्याप्तिसंहाररहितत्वात्परात्मनः ॥ सैन्धवादिरसव्याप्ते पीयमाने यथोदके । पानं सलवणस्यैव लिङ्गात्मानुविधायिता ॥ योऽभ्याददानस्य कर्ताऽत्र लिङ्गं योऽस्मीति मन्यते । आक्रामद्धृदयं लिङ्गमन्वक्रामतीव सः ॥ तथा हृदयशब्देन तत्स्था धीरभिधीयते । एवंस्थधृतिश्चात्र स्वप्नप्राज्ञनिवृत्तये ॥ विशेषकार्यवाहिभ्यः स्रोतोभ्यः स्वप्नभूमिगः । विशेषाननुसृप्याऽन्मा यात्वा हृदयमाश्रयम् ॥ पुरीततप्रमुखं देहं वृत्त्या मामाऽयम्पया । तमनोहादिवद्व्याप्य शेते प्राणात्मतां गतः ॥ इह त्वेवेति निःशेषा लिङ्गस्यास्योपसंहृतिः । विशेषेभ्योऽविशेषेभ्यो युक्तं प्रत्यगर्पणम् ॥ अवदध्रेऽत एवेति मा भूत्स्वप्नादिवत्स्थितिः । सामान्यं वा विशेषो वा न यतोऽत्रावशिष्यते । कार्त्स्न्येन हृदय एव पिण्डीभावं व्रजत्यतः" ॥ ४४-५३ ॥ इति ॥ करणाभ्यादानस्य हृदयाक्रमणस्य च पौर्वापर्यमाशङ्क्य शानचा विवक्षितं यौगपद्यमाह—अभ्याददान इति । ईश्वरत्वं करणस्वामित्वं वस्तुतो वा परमात्मत्वम् । आत्मनः स्वात्मोपसंहारः करणादानं च युगपन्नोपपद्यते स्थितिगतिवद्व्यापारद्वययौगपद्यायोगादित्याशङ्क्याह—कथमिति । सवदनकलिङ्गोपाधिकत्वादात्मनो लिङ्गसंकोचविकासावेवाऽऽत्मनः संकोचविकासौ न स्वतोऽत्र व्यापारद्वयाभावान्न क्रमप्राप्तिरित्याह—भण्यत

ऽध्यारोप्यते तस्मिन् । कदा पुनस्तस्य तेजोमात्राभ्यादानमिति । [1]उच्यते—स [2]यत्रैष चक्षुषि भवश्चाक्षुषः पुरुष [3]आदित्यांशो [4]भोक्तुः कर्मणा प्रयुक्तो यावद्देहधारणं तावच्चक्षुषोऽनुग्रहं कुर्वन्वर्तते । मरणकाले त्वस्य चक्षुरनुग्रहं परित्यजति स्वमादित्यात्मानं प्रतिपद्यते ।

[5]तदेतदुक्तं [6]यत्रास्य पुरुषस्य [7]मृतस्याग्निं वागप्येति वातं प्राणश्चक्षुरादित्य-

दिप्रवेत्याशङ्क्याऽऽह—बुद्ध्यादीति । स यत्रेत्यादि वाक्यमाकाङ्क्षापूर्वकमवतार्य व्याकरोति—कदा पुनरित्यादिना । तस्य पुरुषशब्दाद्भोक्तृत्वे प्राप्ते विशिनष्टि—आदित्यांश इति । "तस्य चाक्षुषत्वं साधयति—भोक्तुरित्यादिना । यावद्देहधारणमिति कुतो विशेषणं तत्राऽऽह—मरणकाले त्विति । आदित्यांशस्य चक्षुरनुग्रहम्"कुर्वत. "स्वातन्त्र्यं वारयति—स्वमिति ।

मरणावस्थायां चक्षुराद्यनुग्राहकदेवतांशानामधिदैवतात्मनोपसंहारे श्रुत्यन्तरं संवादयति—

कब होता है ? इस प्रकार श्रुति कहती है—"स यत्रैष चाक्षुषः पुरुष' अर्थात् जिस समय यह चाक्षुष पुरुष (सब ओर से व्यावृत होता है) चक्षु में रहने वाला चक्षु का अनुग्राहक आदित्यांश है, जो भोक्ता के कर्म से प्रेरित होकर जब तक देह की स्थिति रहती है, तब तक नेत्रों पर कृपा करता हुआ विद्यमान रहता है । मरणकाल में भोक्ता के चक्षु पर अनुग्रह करना परित्याग कर देता है । वह अपने आदित्य

१ उच्यत इति—करणाऽऽदानप्रकारमुक्त्वा मुमूर्षोर्मृतिकाले शब्दाद्यज्ञानप्रकारं "उच्यत इति तत्त्वमित्याह" । २ यस्मिन्काले । ३ चक्षुरनुग्राहक । ४ भोक्तु । ५ अवतरणोक्तोपसंहरणम् । ६ काले । ७ प्रमातुर्भोक्तु । ८ मरणोन्मुखस्य । ९ चाक्षुषस्य । १० आदित्यांशस्य । ११ मरणकाले । १२ आदित्याऽनधीनत्वम् ।

इति ॥ तदेव वार्तिकाभ्यां प्रपञ्चयति—विशेषेत्यादिना । अस्य जीवस्य तदपकर्षेण लिङ्गस्य देहादवसर्पणेन तद्व्याप्तौ देहे लिङ्गस्य व्याप्तौ सत्यामित्यर्थः ॥ लिङ्गसंकोचविकासावेव तदुपाधेरात्मनस्तावित्यत्र हेतुमाह—स्वतस्त्विति ॥ एतद्दृष्टान्तेन साधयति—सैन्धवादीति । उपहितस्य लिङ्गानुविधायित्वेऽपि करणादानहृदयप्रवेशकर्तुस्ततो भेदाद्व्यथं तस्य लिङ्गानुविधायित्वमित्याशङ्क्याऽऽह—स इति । य सप्तदशकलिङ्गात्मन्यहमभिमानी सोऽस्मिन्वाक्ये करणादानस्य कर्ता स एव च बहिष्करणस्य लिङ्गमन्तःकरणं प्रविशदनुप्रविशति तदुपाधित्वान्न च तस्य वस्तुतः प्रवेशो निर्व्यापारत्वादित्यर्थः ॥ हृदयमेवेत्यत्र हृदयशब्दार्थमाह—तथेति । यथाऽस्यादददानोऽन्ववक्रामतीत्युभयत्रापि कर्तोपहितो विवक्षितस्तद्वदित्यर्थः । एवकारकृत्यमाह—एवेतीति ॥ कथमननावधारणधाचिना स्वप्नस्वापयोर्व्यवच्छित्तिरित्याशङ्क्य तयो स्वरूपं तावदाह—विशेषेत्यादिना । स्वप्नस्थो हि पुरुषो रूपादिवासनाश्रयनाडीविशेषवशाद्वासनामयान्विशेषाननुभवति स च स्वप्ननिवर्तककर्मक्षये सत्यन्तःकरणं प्राप्य प्राणशब्दितात्तत्ब्रह्मता गतस्तप्तलोहादौ वह्निरिव समस्तं देहं निर्विकल्पकचिदाभासेन व्याप्यावतिष्ठते तथा च साभासाया बुद्धे शरीरे सामान्यव्याप्तिर्द्वयोस्तुल्या वासनारूपेण द्रष्टेत्यादिविशेषव्याप्तिः स्वप्न एवेत्यर्थः ॥ द्वयोर्वृत्तमुक्त्वा मृतावेवकारः सर्वप्रकारव्याप्तिं निरस्यतीत्याह—इह त्विति । लिङ्गस्य निःशेषोपसंहारे तदुपाधेरात्मनोऽपि तथा सम्भवतीत्याह—विशेषेभ्य इति ॥ एवकारार्थं निगमयति—यवदत्र इति । स्वप्नसुप्त्योरिव मरणेऽपि स्थितिरात्मनो लिङ्गस्य च मा भूदिति यस्मान्मन्यते श्रुतिस्तस्मादेवेत्यवधृतवतीति यावत् । हृदयमित्यादरयमुपमहरति—सामान्य चेति ॥

'एको भवति ²न पश्यतीत्याहुरेको भवति न जिघ्रती-

नेत्रेन्द्रिय लिङ्गात्मा से जब एक रूप हो जाता है, तब लोग कहते हैं, अब यह देखता नहीं।

मित्यादि पुनर्देहग्रहणकाले संश्रयिष्यन्ति। तथा स्वप्स्यतः प्रबुध्यतश्च। तदे³तदाह— चाक्षुषः पुरुषो यत्र यस्मिन्काले ⁴पराङ्पर्यावर्तते परि समन्तात्पराङावर्तत इति। ⁵अथा-त्रास्मिन्कालेऽरूपज्ञो भवति मुमूर्षु ⁶रूपं न जानाति ⁷तदाऽयमात्मा चक्षुरादितेजोमात्राः समभ्याददानो भवति स्वप्नकाल इव॥१॥

एको भवति करणजातं स्वेन ⁸लिङ्गात्मना। तदैनं पार्श्वस्था आहुर्न पश्यतीति।

तदेतदिति। ⁹र्तार्हि देहान्तरे वागादिराहित्यं स्यादित्याशङ्क्याऽऽह–पुनरिति। संश्रयिष्यन्ति वागादयस्त-त्तद्देवताधिष्ठिता ¹⁰यथास्थानमिति शेषः। मुमूर्षोरिव स्वप्स्यतः सर्वाणि करणानि लिङ्गात्मनो-पसंह्रियन्ते प्रबुध्यमानस्य चोत्पित्सोरिव तानि ¹¹यथास्थानं प्रादुर्भवन्तीत्याह—तथेति¹²। उक्तेऽर्थे वाक्यं ¹³पातयति—तदेतदाहेति। पराङावर्तत इति ¹⁴रूपर्वमुख्यं चाक्षुषस्य विवक्षितमिति शेषः॥१॥

¹⁵र्तार्हि श्रोत्रोपसंहृतं चक्षुरत्यन्ताभावीभूतमित्याशङ्क्याऽऽह—एकीति। उक्तेऽर्थे लोकप्रसिद्धि

स्वरूप को प्राप्त कर लेता है।

इसीसे यह कहा है "जिस समय इस मरणोन्मुख प्रमाता की वाक् इन्द्रिय अग्नि में, प्राण वायु मे और नेत्र आदित्य में लीन हो जाते हैं" इत्यादि। ये देह ग्रहण के समय उन-उन का आश्रय ले लेंगे। ऐसा ही सोने और जागने वाले पुरुष के विषय मे होता है। इसी बात को श्रुति कहती है—यह चाक्षुष पुरुष जिस समय 'पराङ्पर्यावर्तते" अर्थात् विपरीत होकर सब ओर से लौट आता है। "अथ" उस समय "अरूपज्ञो भवति" अर्थात् अरूपज्ञ हो जाता है। (जब चक्षु का देवतांश अपने अंशी देवता को प्राप्त कर लेता है; तब चक्षु रूपग्राहकता मे अक्षम हो जाती है) मुमूर्षु को रूप का ज्ञान नहीं रहता। उस समय स्वप्नकाल के समान यह आत्मा चक्षु आदि तेजोमात्राओं को सब ओर से उपसंहृत कर

१. मुमूर्षति पुरुषे देवताकरणच्युतिरेवारूपज्ञत्वे हेतुरित्यत्र लोकप्रसिद्धिमनुकूलयति—एकी भवतीति। देवता-च्युतिरनुग्राहकनिवृत्ति करणच्युति स्थानभ्रंश देवतांशे स्वांशिदेवतास्वरूपेण सहैकीभूते सति यदा चक्षुर्लिङ्गा-त्मनैकीभवति तदा मुमूर्षुः पार्श्वस्थान्न पश्यतीत्याहुरित्यर्थं इत्येके एवमग्रेऽपि। २ न पश्यतीति—अत्र चक्षुराद्येकीभावे श्रुत्युक्तक्रमस्तु न विवक्षित कस्यचिद्वाचोऽप्यादौ निरोधदर्शनात् नापि यौगपद्यमेव करणनिरोधे नियतमनुभवविरोधादित्यनियत क्रम इति ध्येयम्। ३ सोपपत्तिक ससवादमुक्तमर्थजातं स्वमुखेन श्रुतिराह। ४. विपरीत. सन्। ५ यदा देवतांशस्य देवतैक्य भवति तदेति यावत्। ६ रूप न जानातीति—देवता-शश्चाक्षुषो यदा स्वांशिनं देवमापद्यते चक्षुरपि तदा करण स्वस्थानाद्व्यावृत्त लिङ्गमेवाऽऽगच्छतीति न तस्य कार्यक्षमतेति ध्येयम्। ७ यदा पुनरित्युपक्रान्त प्रश्नमुपसहरति—तदेति। ८ स्वांशिना सह। ९. र्तार्हि—मरणकाले तत्तद्देवताऽधिष्ठितवागादीनामुपसहारे सति। १०. स्वस्वगोलकम्। ११. यथागोलकम्। १२. तथा च कुतो देहान्तरे वागादिराहित्यमिति शेषः। १३ योजयति। १४. रूपर्वमुख्यमित्यादि। तथा च वार्तिकम्—"निरनुग्रहतैवास्य पर्यावर्तनमुच्यते" ॥ ५८॥ इति। १५. मृतिकाले लिङ्गस्य निःशेषोप-सहारे सति।

स्याहुरेको भवति न रसयत इत्याहुरेको भवति न वदतीत्याहुरेको भवति न शृणोतीत्याहुरेको भवति न मनुत इत्याहुरेको भवति न स्पृशतीत्याहुरेको भवति न विजानातीत्याहुस्तस्य हैतस्य हृदयस्याग्रं प्रद्योतते

घ्राणेन्द्रिय जब एक रूप हो जाती है, तब कहते हैं कि, यह सूंघता नहीं। जब रसनेन्द्रिय एक रूप हो जाती है, तब यह कहते हैं कि यह चखता नहीं। वागिन्द्रिय जब एक रूप हो जाती है, तब कहते हैं कि यह बोलता नहीं। श्रोत्रेन्द्रिय जब एक रूप हो जाती है, तब यह कहते हैं कि यह सुनता नहीं। जब मन एक रूप हो जाता है, तब कहते हैं कि यह मनन करता नहीं। जब त्वगिन्द्रिय एकरूप हो जाती है, तब

तथा घ्राणदेवतानिवृत्तौ घ्राणमेकी भवति लिङ्गात्मना[१]। तदा न जिघ्रतीत्याहुः। समानमन्यत्। जिह्वायां सोमो वरुणो वा देवता तन्निवृत्त्यपेक्षया न रसयत इत्याहुः। तथा न वदति न शृणोति न मनुते न स्पृशति न विजानातीत्याहुः। [२]तदोपलक्ष्यते देवतानिवृत्तिः करणानां च हृदय एकीभावः। तत्र हृदय [३]उपसंहृतेषु करणेषु योऽन्तर्व्यापारः स [४]कथ्यते

दर्शयति—तदेति। चक्षुषि दर्शितं न्यायं घ्राणेऽतिदिशति—तथेति। यथा चक्षुर्देवताया निवृत्तौ लिङ्गात्मना चक्षुरेकी भवति तथा घ्राणदेवताया घ्राणानुग्रहनिवृत्तिद्वारेणाधिदैवतप्रवेशे लिङ्गात्मना घ्राणमेकी भवतीत्यर्थः। तन्निवृत्त्यपेक्षया वरुणादिदेवताया जिह्वायामनुग्रहनिवृत्तौ जिह्वाया लिङ्गात्मनैकत्वापेक्षयेत्यर्थः। तत्तदनुग्राहकदेवताऽस्य [६]तत्र तत्रानुग्रहनिवृत्त्या तत्तदधिदेवताप्राप्तौ [७]तत्तत्करणस्य लिङ्गात्मनैकत्वं भवतीत्यभिप्रत्याऽऽह—तथेति। मरणदशायां रूपादिदर्शनराहित्यमर्थद्वयसाधकमित्याह—तदेति। तस्य हैतस्येत्यादि वाक्यमुपादत्ते—तत्रेति। मुमूर्ष्ववस्था सप्तम्यर्थः। [८]केनायं

लेता है॥ १॥

जब इन्द्रियसमुदाय स्वामी सहित अपने लिङ्गात्मा से एकीभूत हो जाता है; तब समीप बैठे हुए लोग कहते हैं — "यह नहीं देखता"। इसी प्रकार जब घ्राण देवता के निवृत्त हो जाने पर लिङ्गात्मा के साथ घ्राणेन्द्रिय एकीभूत हो जाती है; तब "यह नहीं सूँघता" ऐसा कहते है। अवशिष्ट श्रुति का अर्थ इसी तरह समझ लेना चाहिये। जिह्वा में सोम अथवा वरुण देवता है; उनके निवृत्त हो जाने पर "यह नहीं बोलता", "यह नहीं सुनता", "यह मनन नहीं करता", "यह स्पर्श नहीं करता", "यह नहीं जानता" ऐसा कहते हैं। मरणकाल में इन्द्रियाभिमानी देवताओं की निवृत्ति और इन्द्रियों का हृदय में एकीभाव, ऐसा उपलक्षित होता है। उस समय हृदय में इन्द्रियों का उपसंहार हो जाने पर

---

१ न मनुते न विजानातीति—न च मनोबुद्धिदेवतोत्क्रान्तौ नास्ति लिङ्ग रूपाज्ञानादिभिव चक्षुरादिदेवतोत्क्रान्ताविति शङ्क्यम्। मुमूर्षुर्हि कदाचिद्रूप पश्यन्नपि न विविनक्त्ययमसाविव्येतस्यैव लिङ्गत्वादिति। २ यदा। ३ मरणकाले। ४ उपसंहृताऽशेषकरणस्यात्मनो लिङ्गमरणसाधनीभूत। ५ तस्येत्यादिवाक्येन। ६ वागादौ। ७ वागादे। ८ करणानामुपसंहृतत्वात्करणमाशङ्कृत—केनायमिति। प्रद्योतो भाविदेहविषय ज्ञानम्।

तेन प्रद्योतेनैष आत्मा निष्क्रामति चक्षुष्टो वा मूर्ध्नो वाऽन्येभ्यो वा शरीरदेशेभ्यस्तमुत्क्रामन्तं प्राणोऽनूत्क्रामति प्राणमनूत्क्रामन्त७ सर्वे प्राणा अनूत्क्रामन्ति 'सविज्ञानो भवति सविज्ञानमेवान्ववक्रामति । तं विद्याकर्मणी समन्वारभेते पूर्वप्रज्ञा च ॥ २ ॥

कहते हैं कि यह स्पर्श करता नही। जब बुद्धि लिङ्गात्मा से एक रूप हो जाती है, तब कहते हैं, यह जानता नही। उस समय इस हृदय का बाहर जाने वाला मार्ग अत्यन्त प्रकाशित होने लगता है। उसी से यह आत्मा नेत्र द्वारा शिर द्वारा या शरीर के किसी अन्य भाग द्वारा बाहर निकल जाता है। उसके निकलते ही उसके साथ प्राण भी निकल जाता है और प्राण के निकलने पर सभी इन्द्रियां निकल जाती हैं। उस समय यह जीव विशेष विज्ञान वाला होता है और विज्ञानयुक्त प्रदेश को ही जाता है। उस समय इसके साथ साथ ज्ञान कम और पूर्वानुभवजन्य सस्कार जाता ह ॥२॥

—'तस्य हैतस्य' प्रकृतस्य' हृदयस्य हृदयच्छिद्रस्येत्येतत्। अग्र नाडीमुख निर्गमनद्वार 'प्रद्योतते स्वप्नकाल इव स्वेन भासा तेजोमात्रादानकृतेन स्वेनैव ज्योतिषाऽऽत्मनैव च। तेनाऽऽत्मज्योति प्रद्योतेन हृदयाग्रेणैव आत्मा विज्ञानमयो लिङ्गोपाधिर्निर्गच्छति

प्रद्योतो भवतीत्यपेक्षायामाह—स्वप्नेति। यथा स्वप्नकाले स्वेन 'भासा स्वेन ज्योतिषा 'प्रस्वपितीति व्याख्यात तथा"ऽत्रापि तेजोमात्राणा यदादान, "तत्कृतेन वासनारूपेण "प्राप्यफलविषयबुद्धिवृत्ति रूपेण स्वेन भासा स्वेन चाऽऽत्मना चैतन्यज्योतिषा हृदयाग्रप्रद्योतनमित्यर्थं । "तस्यार्थं"क्रिया दर्शयति

(आत्मा का निष्क्रमण साधनीभूत) जो अन्तर्व्यापार है उसे कहा जाता है— 'तस्य हैतस्य" अर्थात लिङ्गोपाधिक आत्मा मुमूर्षुसंबधी "हृदयस्य अग्रम अर्थात हृदयच्छिद्र का नाडीमुख यानी निर्गमनद्वार 'प्रद्योतते" अर्थात (भावीदेहविषयक) ज्ञानवान् हो जाता है अर्थात जिस प्रकार स्वप्नावस्था म आत्मज्योति से स्थित रहता है इस समय भी तेजोमात्राओ के ग्रहण करने के कारण आत्मज्योति तया

---

१ सविज्ञान इत्यादि—मुमूर्षु सविज्ञान श्रुतकर्मोद्भासितसस्कारजनितान विज्ञानन भाविदेहविषयकेण सह वर्तमान स्वप्ने इव विशेषविज्ञानो भवयुत्क्रान्तिसमय अत एवोत्क्रा यनन्तरमपि सविज्ञानमेव विशेषविज्ञानो द्भासितमेव ग न्तव्यम ववक्रामत्यनुगच्छतीत्यथ । २ लिङ्गोपाधिकस्य । ३ मरमन । ४ मुमूर्षो । ५ सबधिन । ६ मरणकाले भाविदेहविषयज्ञानवद्भवति कमवशात्। ७ द्वारभूतन। ८ बृ उ ४ ३ ६। ९ प्रस्वपितीति—स्वप्नमनुभवतीत्यथ । स्वप्नसाक्षित्वेनावतिष्ठत इति यावत्। व्याख्यातम् ज्योतिर्ब्राह्मण ४ ३ ६ इत्यत्र। १० मरणकालेऽपि। ११ मात्रादानस्य भाविविषयवृत्तिप्रयोजकत्व स्वप्न प्रतीव। १२ प्राप्यफलविषयबुद्धिवृत्तिरूपेणेति—भाविदेहविषयधीवृत्त्यत्यय । तया च स्वप्नव मरणे बुद्धिर्नोपमहृनति सैव करणमिति भाव । १३ प्रद्योतस्य। १४ कायम्।

निष्क्रामति । तथाऽऽथर्वणे "कस्मिन्न्वहमुत्क्रान्त उत्क्रान्तो भविष्यामि कस्मिन्वा प्रतिष्ठिते प्रतिष्ठास्यामीति[1] स प्राणमसृजत" इति ।

तत्र चाऽऽत्मचैतन्यज्योतिः सर्वदाऽभिव्यक्ततरम् । [2]तदुपाधिद्वारा[3] ह्यात्मनि जन्ममरणगमनागमनादिसर्वविक्रियालक्षणः संव्यवहारः । [4]तदात्मकं हि द्वादशविधं करणं [5]बुद्ध्यादि तत्सूत्रं तज्जीवनं सोऽन्तरात्मा [6]जगत[7]स्तस्थुषश्च । तेन प्रद्योतेन हृदयाग्रप्रकाशेन निष्क्रममाणः केन मार्गेण निष्क्रामतीति । उच्यते—[8]चक्षुष्टो वा । आदित्यलोकप्राप्तिनिमित्तं ज्ञानं कर्म वा यदि स्यात् । [9]मूर्ध्नो वा ब्रह्मलोकप्राप्तिनिमित्तं चेत् । अन्ये-

---

—तेनेति । किमिति [10]लिङ्गद्वाराऽऽत्मनो निर्गमन प्रतिज्ञायते तत्राऽऽह—[11]तथेति ।

यदि मरणकाले तेजोमात्राधान न तर्हि सदा लिङ्गोपाधिरात्मेत्याशङ्क्याऽऽह—तत्र चेति । सप्तम्या लिङ्गमुच्यते । सर्वदेति लिङ्गसत्तादशोक्ति । आत्मोपाधिभूते लिङ्गे किं प्रमाणमित्याशङ्क्याऽऽत्मनि कूटस्थे सव्यवहार[12]दर्शनमित्याह—तदुपाधीति । चक्षुरादिप्रसिद्धिरपि [13]प्रमाणमित्याह—तदात्मक हीति । एकादशविध करणमित्यभ्युपगमात्कुतो द्वादशविधत्वमित्याशङ्क्य विशिनष्टि—[14]बुद्ध्यादीति । 'वायुर्वै गौतम तत्सूत्रम्' इत्यादिश्रुतिरपि यथोक्ते लिङ्गे प्रमाणमित्याह—तत्सूत्रमिति । [15]जगतो जीवनमपि तत्र [16]मानमित्याह—तज्जीवनमिति । "'एष सर्वभूतान्तरात्मा' इति श्रुतिरपि यथोक्त लिङ्ग साधयतीत्याह—सोऽन्तरात्मेति । लिङ्गोपाधेरात्मनो यथोक्तप्रकाशेन मरणकाले हृदयान्निष्क्रमणे मार्गं प्रश्नपूर्वकमुत्तरवाक्येनो(णो)पदिशति—तेनेत्यादिना । चक्षुष्टो वेति विकल्पे निमित्त सूचयति—आदित्येति । मूर्ध्नो वेति विकल्पे हेतुमाह—ब्रह्मलोकेति । [18]तत्प्राप्तिनिमित्त चेज्ज्ञान कर्म वा स्यादिति पूर्वेण सबन्ध । देहावयवान्तरेभ्यो निष्क्रमणे नियामकमाह—यथेति । कथ पर-

---

स्वय से प्रकाशित हो जाता है । उस आत्मज्योति प्रकाश से यह लिङ्गोपाधिक विज्ञानमय आत्मा हृदय द्वार से "निगच्छति' अर्थात निकल जाता है । जिस प्रकार आथर्वण उपनिषत मे कहा है-' मैं किस के उत्क्रमण हो जाने पर उत्क्रा त हो जाऊँगा किसके प्रतिष्ठित हो जाने पर प्रतिष्ठा लाभ करूँगा, ऐसा विचार कर उसने प्राण सृष्टि की ' इत्यादि ।

उस लिङ्गात्मा मे आत्मचैतन्यज्योति सर्वदा अधिकतर अभिव्यक्त होता है । उस लिङ्गरूप उपाधि के द्वारा ही आत्मा मे जन्म मरण गमन आगमन आदि सर्व विकारात्मक व्यवहार होता है । बारह प्रकार की बुद्धयादि इन्द्रियाँ हैं वह लिङ्गात्मक है, वह सूत्रात्मा है, वह जीवन है तथा जङ्गम और स्थावर का अ तरात्मा है । उस प्रद्योतेन" यानी हृदयाग्र प्रकाश म निकलने वाला आत्मा किस मार्ग से

---

१ विचार्य । २ लिङ्गात्मनि । ३ लिङ्गरूपोपाधिद्वारा । ४ लिङ्गात्मकम् । ५ तल्लिङ्ग समष्टिरूप सूत्रात्मत्वेन श्रूयते । ६ जङ्गमस्य । ७ स्थावरस्य । ८ चक्षुर्द्वारा । ९ ब्रह्मरन्ध्रद्वारा । १० लिङ्गद्वारेत्यादि लिङ्गनिगमनाधीनमात्मनिगमन किमिति । स्वतन्त्रवेवात्मनिगमन किं न स्यादित्यार्थ । ११ उक्तश्रुतिवशादौपाधिक एवात्मनिगमो न स्वतो निष्क्रियस्य निरवयवस्य विभो स्वय निगमासभवादिति भाव इति शेष । १२ दर्शनान्यथाऽनुपपत्तिरिति यावत् । १३ प्रत्यक्षात्मकम् । १४ तथा च ज्ञानेन्द्रियपञ्चक कर्मेन्द्रियपञ्चक मनो बुद्धिश्चेति द्वादश । १५ स्थूलदेहस्य । १६ न हि लिङ्ग विना स्थूल जीवति । १७ लिङ्गदेह । १८ ब्रह्मलोकप्राप्तिनिमित्तम् ।

भ्यो वा शरीरदेशेभ्यः [1]शरीरावयवेभ्यो यथाकर्म यथाश्रुतम् । तं [2]विज्ञानात्मानमुत्क्रामन्तं परलोकाय प्रस्थितं परलोकायो[3]द्भूताकूतमित्यर्थः । प्राणः सर्वा[4]धिकारिस्थानीयो राज्ञ इवा[5]नूत्क्रामति । तं च प्राणमनूत्क्रान्तं [6]वागादयः सर्वे प्राणा अनूत्क्रामन्ति ।

यथाप्रधानान्वाचिख्यासेयं न तु क्रमेण सार्थवद्गमनमिह[7] विवक्षितम् । तदैव आत्मा सविज्ञानो भवति स्वप्न इव [8]विशेषविज्ञानवान्भवति कर्मवशान्न स्वतन्त्रः । स्वातन्त्र्येण हि सविज्ञानत्वे सर्वः [9]कृतकृत्यः स्यात् नैव तु [10]तल्लभ्यते । [11]अत एवाऽऽह

लोकाय [12]प्रस्थितमित्युच्यते प्राणगमनाधीनत्वाद्विज्ञानात्मगमनस्येत्याशङ्क्याऽऽह—परलोकायेति ।

[13]ननु जीवस्य प्राणादिभिस्तादात्म्ये सति कथमनुशब्देन क्रमो विवक्ष्यते तत्राऽऽह—यथाप्रधानेति । प्रधानमनतिक्रम्य ह्येयम[14]न्वाख्यानेच्छा । [15]तथा च जीवादेः [16]प्राधान्याभिप्रायेणानुशब्दप्रयोगो न क्रमाभिप्रायेण देशकाल[17]भेदाभावादित्यर्थः । सार्थे समूहे व्यक्तिषु क्रमेण गमनं दृश्यते न तथा प्राणादिष्विति [18]व्यतिरेकः । यदुक्तं हृदयाग्रप्रद्योतनं तत्सविज्ञानश्रुत्या प्रकटयति—तदेति । कर्मवशादिति विशेषणं साधयति—नेति । विपक्षे दोषमाह—स्वातन्त्र्येणेति । इष्टापत्तिमाशङ्क्याऽऽह—नैवेति । मुमूर्षो-

निकलता है । इस पर श्रुति कहती है—"चक्षुष्टो वा" अर्थात् चक्षुद्वार से निकलता है । यदि उसका ज्ञान और कर्म आदित्यलोक की प्राप्ति में हेतु होता है, यदि ब्रह्मलोक की प्राप्ति में हेतु होता है तो ब्रह्मरन्ध्र द्वार से निकलता है । इसी प्रकार अपने कर्म और उपासना के अनुसार वह शरीर के अन्यान्य देशों या अवयवों से निकल जाता है । उस विज्ञानात्मा के "उत्क्रामन्तम्" अर्थात् परलोक के लिये प्रस्थित अथवा परलोक के लिये प्रकटित अभिप्राय वाला होने पर राजा के मन्त्री के समान प्राण उसके साथ-साथ उत्क्रान्त होने पर (परिवारस्थानीय) वागादि सारे प्राण उसके साथ-साथ उत्क्रमण करते हैं ।

यहाँ जनसमूह की तरह क्रम से जाना अभीष्ट नहीं है, बल्कि उनके प्रधान के अनुसार उसका कथन करना इष्ट है । उस समय यह आत्मा विज्ञानसहित होता है, स्वप्न के समान कर्मवश भावी देहविषयक विशेष ज्ञानवान् होता है, स्वतन्त्रता से नहीं होता । यदि स्वतन्त्ररूप से विज्ञानवान् हो

१ श्रोत्रादिभ्य सकाशात् । २ राजस्थानीयम् । ३ प्रकटिताभिप्रायम् । ४ मन्त्रिस्थानीय । ५ अभिप्रायमनुसृत्य क्रामतीत्यर्थ । ६ परिवारस्थानीया । ७ आत्मादिषु । ८ विशेषविज्ञानवान्—भाविदेहविषयकज्ञानवान् । ९ कृतकृत्य स्यादिति—मरणसमये हि यस्य ज्ञान तदुत्तरत्र लभ्यते तत्र ज्ञाने स्वतन्त्रस्तु को नामापकृष्टं भावयेद्ब्रह्मैवात्मान भावयित्वा मुक्त स्यादिति भाव । १० कृतकृत्यत्वम् । ११ तस्यास्वातन्त्र्यादेव । १२ प्रस्थितं विज्ञानात्मानमनु प्राण उत्क्रामतीति कथमुच्यत इत्यर्थ । १३ नन्वित्यादि । अत्र वार्तिकम् —"नन्वात्मप्राणवागादेरन्योऽन्यव्यतिमिश्रणात् । देशकालाद्यसभेदात्क्रमेणोत्क्रमण कथम्" ॥ ८८ ॥ इति । मिथस्तादात्म्यवता सहैव गमन न्याय्यमिति भाव । १४ तत्तद्गमने पाश्चात्यत्वकथनेच्छा । १५ तथा च—अन्वाख्यानेच्छाया प्राधान्यानुरोधित्वे चेत्यर्थ । १६ प्राधान्येति—जीवस्य प्राधान्य प्राणस्य गुणत्व तस्य प्राधान्य वागादीना गुणत्वमित्यभिप्रायेणेत्यर्थ । १७ एकस्मादेव देशादेकस्मिन्नेव काले सर्वेषा निर्गमादिति यावत् । १८ व्यतिरेकी दृष्टान्त ।

व्यासः "सदा तद्भावभावितः" इति । कर्मणा तूद्भाव्यमानेनान्तःकरणवृत्तिविशेषाश्रित-वासनात्मकविशेषविज्ञानेन सर्वो लोक एतस्मिन्काले सविज्ञानो भवति । सविज्ञानमेव च गन्तव्यमन्ववक्रामत्यनुगच्छति विशेषविज्ञानोद्भासितमेवेत्यर्थः । तस्मात्तत्काले स्वातन्त्र्यार्थं योगधर्मानुसेवनं परिसंख्यानाभ्यासश्च विशिष्टपुण्योपचयश्च श्रद्दधानैः परलोकार्थिभिर-प्रमत्तैः कर्तव्य इति ।

सर्वशास्त्राणां यत्नतो विधेयोऽर्थो दुश्चरिताच्चोपरमणम् । न हि तत्काले शक्यते किंचित्संपादयितुम् । कर्मणा नीयमानस्य स्वातन्त्र्याभावात् । 'पुण्यो वै पुण्येन कर्मणा भवति पापः पापेन' इत्युक्तम् । एतस्य ह्यनर्थस्योपशमोपायविधानाय सर्वशास्त्रोपनिषदः

रस्वातन्त्र्ये मानमाह—अत एवेति । कर्मवशात्तुक्त सविज्ञानत्वमुपसंहरति—कर्मणेति । अन्तःकरणस्य वृत्तिविशेषो भाविदेहविषयस्तदाश्रितं तद्रूपं यद्वासनात्मकं विशेषविज्ञानं तेनेति यावत् । म्रियमाणस्य सविज्ञानत्वे सत्यर्थसिद्धमर्थमाह—सविज्ञानमेवेति । न तत्त्वस्य सविज्ञानत्वं विज्ञानाश्रयत्वमित्याशङ्क्य विशिनष्टि— विशेषेति । प्रागेवोत्क्रान्तेः सविज्ञानत्ववादिश्रुतेस्तात्पर्यमाह—तस्मादिति । पुरुषस्य कर्मा-नुसारित्व तत्तदर्थं । योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः । तस्य धर्मा यमनियमप्रभृतयः । तेषामनुसेवनं पुनः पुनरावर्तनम् । परिसंख्यानाभ्यासो योगानुष्ठानम् । कर्तव्य इति प्रकृतश्रुतेर्विधेयोऽर्थ इति शेषः ।

किंच पुण्योपचयकर्तव्यतासापेक्षेऽर्थे सर्वमेव विधिकाण्डं पर्यवसितमित्याह—सर्वशास्त्राणामिति । सर्वस्मादागामिदुश्चरितादुपरमणं कर्तव्यमित्यस्मिन्नर्थे निषेधशास्त्रमपि पर्यवसितमित्याह—दुश्चरि-ताच्चेति । ननु पूर्वं यथेष्टचेष्टां कृत्वा मरणकाले सर्वमेतत्संपादयिष्यते नेत्याह—न हीति । कर्मणा नीयमानत्वे मानमाह—पुण्य इति । तर्हि पुण्योपचयादेव यथोक्तानर्थनिवृत्तेर्व्यर्थं तत्त्वज्ञानमित्याश-ङ्क्याऽऽह—एतस्येति । उपशमोपायस्तत्त्वज्ञानं तस्य विधानं प्रकाशनं तदर्थमिति यावत् । देवताध्या-

जाता, तो मरणकाल में सभी कृतकृत्य हो जाते । किन्तु वह कृतकृत्यता तो सभी को प्राप्त नहीं है । इसी से भगवान् व्यास ने कहा है—'हृदय से सदा उस भाव में भावित रहने से (वह प्राप्त होता है)" । इसलिये इस समय सब लोग कर्म द्वारा उद्भूत अन्तःकरण की वृत्तिविशेष के आश्रित वासनात्मक विशेषविज्ञान से विज्ञानवान् होते हैं । इस प्रकार "सविज्ञानमेव" अर्थात् विशेषविज्ञान से उद्भासित होकर ही अपने गन्तव्य स्थान को "अन्ववक्रामति" अर्थात् अनुगमन करता है । इसलिये परलोक की इच्छा वाले श्रद्धावान मनुष्यों को मरण के समय स्वातन्त्र्यप्राप्ति के लिये सावधान होकर निरन्तर योगधर्मों का सेवन योगानुष्ठान और विशिष्ट पुण्य की सचय करना चाहिये ।

सम्पूर्ण शास्त्रों के विधेय अर्थ का अनुष्ठान करना चाहिये तथा दुष्कर्म से उपरति धारण करनी चाहिये । प्राणोत्क्रमण काल में कुछ भी साधन निष्पन्न नहीं किया जा सकता क्योंकि कर्म द्वारा ले जाये जाते हुए जीव में उस समय स्वतन्त्रता का अभाव रहता है । 'पुण्य कर्म से देवादि एवं

१ मृतिकाले । २ यत्नतः कर्तव्यमितीति शेषः । ३ देवादि । ४ स्थावरादि । ५ बृ उ ३ २ १३ । ६ अपरोक्षस्य जननादे । ७ मृतिकाले कर्मानुसारित्वम् । ८ अङ्गानि । ९ अभिप्रेत । १० तात्पर्यवत् । ११ जीवस्य सर्वथा कर्मानुसारित्वे । १२ जननादि ।

प्रवृत्ताः । न हि तद्विहितोपायानुसेवनं मुक्त्वाऽऽत्यन्तिकोऽस्यानर्थस्योपशमोपायोऽस्ति । तस्मादत्रैवोपनिषद्विहितोपाये यत्नपरैर्भवितव्यमित्येष प्रकरणार्थः ।

शकटवत्संभृतसंभार उत्सर्जन्यातीत्युक्तं, *किं पुनस्तस्य परलोकाय प्रवृत्तस्य पथ्यदनं शाकटिकसंभारस्थानीयं गत्वा वा परलोकं यद्भुङ्क्ते शरीराद्यारम्भकं च यत्तत्किमिति । उच्यते—तं परलोकाय गच्छन्तमात्मानं विद्याकर्मणी विद्या च कर्म च विद्याकर्मणी विद्या सर्वप्रकारा विहिता प्रतिषिद्धा चाविहिताऽप्रतिषिद्धा च । तथा कर्म विहितं प्रतिषिद्धं चाविहितमप्रतिषिद्धं च समन्वारभेते सम्यगन्वारभेते अन्वालभेते अनु-

---

नादनर्थो निवर्तिष्यते किं तत्त्वज्ञानेनेत्याशङ्क्याऽऽह—न हीति । तद्विहितेति तच्छब्देन प्रकृताः सर्वशाखोपनिषदो गृह्यन्ते । विद्यान्तरेणानर्थध्वंसासिद्धौ फलितमाह—तस्मादिति । ज्ञापितः सविज्ञानधायेनेति शेषः ।

वृत्तमनूद्य प्रश्नपूर्वकमुत्तरवाक्यमवतार्य व्याचष्टे—शकटवदित्यादिना । विहिता विद्या ध्यानात्मिका । प्रतिषिद्धा नग्नस्त्रीदर्शनादिरूपा । अविहिता घटादिविषया । अप्रतिषिद्धा पथि पतिततृणादिविषया । विहितं कर्म यागादि । प्रतिषिद्धं ब्रह्महननादि । अविहितं गमनादि । अप्रतिषिद्धं नेत्रपक्ष्मविक्षेपादि ।

पापकर्म से स्थावरादि योनियो की प्राप्ति होती है' ऐसा श्रुति कह चुकी है । प्रत्यक्ष जननादि रूप अनर्थ की शान्ति का उपाय बतलाने के लिये ही सभी शाखाओ की उपनिषदें प्रवृत्त हुई है । उन उपनिषदो द्वारा विधान किये हुए उपायो का निरन्तर सेवन किये बिना इस अनर्थ की आत्यन्तिक निवृत्ति का अन्य कोई उपाय नही है । इसलिए यही पर ही उपनिषत् प्रतिपादित उपाय के अनुष्ठान मे लगे रहना चाहिये— यही इस प्रकरण का अर्थ है ।

पिछले ब्राह्मण मे यह कहा गया है कि गाडी के समान जिसने (विद्या, कर्म एव पूर्वप्रज्ञारूप) भार धारण किया है, वह जीव शब्द करता हुआ जाता है किन्तु गाडीवान् (पथिक) के पाथेय के समान परलोक के लिए प्रस्थित इस जीवात्मा के मार्ग की भोजनसामग्री क्या है, जिसे परलोक मे जाकर खाता है तथा उसके शरीरादि का प्रारम्भक क्या है ? इसपर श्रुति कहती है —परलोक मे जाते हुए उस जीवात्मा के साथ 'विद्याकर्मणी' यानी विद्या और कर्म (साथ जाते है) । सब प्रकार की विहित और प्रतिषिद्ध तथा अविहित और अप्रतिषिद्ध विद्या ही यहाँ अभिप्रेत है । इसी प्रकार विहित और प्रतिषिद्ध तथा अविहित और अप्रतिषिद्ध कर्म ही कर्म हैं । ये विद्या और कर्म 'समन्वारभेते' अर्थात्

---

१ उपाय आत्यन्तिकत्वम् आत्यन्तिकोपशमजनकत्वादौपचारिकम् वेदितव्यम् । २ उपशमोपाय इति— उपशम अपाय इति वा छेद अपाय उपशमविवरणम् । ३ तस्मादिति—तत्त्वज्ञान विनोपायान्तरेणानर्थस्यात्यन्तिकनिवृत्त्यभावादित्यर्थं । ४ संभार—विद्याकर्मपूर्वप्रज्ञारूप । ५ बृ उ ४ ३ ३५ । ६ जीवात्मन । ७ प्रस्थितस्य । ८ विद्या सर्वप्रकारेति—विद्याऽत्र बन्धहेतुत्व ज्ञानमात्र ग्राह्य कर्मसाहचर्यात्तु सर्वप्रकारे युक्ता ब्रह्मज्ञानमपीति स्पष्ट वार्तिक । ९ तत्त्वज्ञान विना । १० उपासनरूपा ।

---

* किं पुनस्तस्येत्यादि विद्याकर्मपूर्वप्रज्ञाख्यमित्यन्तभाष्य वार्तिकानि— मात्रालक्षणमादाय इन्द्रा स्वप्नस्य

गच्छतः पूर्वप्रज्ञा च पूर्वानुभूतविषया प्रज्ञा पूर्वप्रज्ञाऽतीतकर्मफलानुभववासनेत्यर्थः[1]।

सा च वासनाऽपूर्वकर्मारम्भे कर्मविपाके[2] चाङ्ग[3] भवति। तेनासावप्यन्वारभते। न हि तया वासनया विना कर्म कर्तुं फलं चोपभोक्तुं शक्यते। न ह्यनभ्यस्ते विषये कौशलमिन्द्रियाणां भवति। पूर्वानुभववासनाप्रवृत्तानां त्विन्द्रियाणामिहाभ्यासमन्तरेण कौशलमुपपद्यते। दृश्यते च केषांचित्कासुचित्क्रियासु चित्रकर्मादिलक्षणासु विनैवेहाभ्यासेन जन्मत

विद्याकर्मणोरुपभोगसाधनत्वप्रसिद्धेरन्वारम्भेऽपि किमित्यन्वारभते 'वासनेत्याशङ्क्याऽऽह—सा चेति। अपूर्वकर्मारम्भादावङ्ग पूर्ववासनेत्यत्र हेतुमाह—न हीति। उक्तमेव हेतुमुपपादयति—न हीत्यादिना। इन्द्रियाणां विषयेषु कौशलमनुष्ठाने प्रयोजकं 'तच्च फलपभोगे हेतुः। न चान्तरेणाभ्यासमिन्द्रियाणां विषयेषु कौशलं संभवति। तस्मादनुष्ठानाद्यभ्यासाधीनमित्यर्थः। 'तथापि कथं पूर्ववासना कर्मानुष्ठानाद्यङ्गमित्याशङ्क्याऽऽह—पूर्वानुभवेति। 'तत्र लोकानुभवं प्रमाणयति—दृश्यते चेति। चित्रकर्मादीत्यादिशब्देन प्रासादनिर्माणादि गृह्यते। पूर्ववासनोद्भवकृत कार्यमुक्त्वा तदभाव-

सम्यक् अन्वालम्भन या अनुगमन करते हैं। इसी प्रकार "पूर्वप्रज्ञा" यानी पूर्वानुभूतविषयिणी प्रज्ञा अथवा पूर्वोत्पन्न विद्याकर्म अनुभव की वासना साथ जाती है।

वह वासना ही अपूर्व कर्मारम्भ एवं कर्मफल में प्रयोजिका हुआ करती है, अतः वह भी उसके साथ जाती है। उस वासना के बिना न ही कर्म किया जा सकता है, न ही उसका फलोपभोग किया जा सकता है। अनभ्यस्त विषय में इन्द्रियों की कुशलता नहीं होती। यहाँ पूर्वानुभव वासना से प्रवृत्त हुई इन्द्रियों के बिना अभ्यास के कुशलता होनी संभव है। लोक में देखा जाता है किन्हीं का किन्हीं चित्रकर्मादिलक्षण क्रियाओं में बिना अभ्यास के जन्मजात कौशल होता है, और किन्हीं-किन्हीं अत्यन्त

१ पूर्वोत्पन्नविद्याकर्मेत्यर्थ। २ कार्यकारणकोटयोर्द्वैराश्यमिदमर्थं समासतदकरणे। ३ फले। ४ प्रयोजकम्। ५ गच्छन्तमात्मानमनुगमनेऽपि। ६ फलोपभोगे तस्या अनुपयुक्तत्वादिति शङ्कितुराशय.। ७ अनुष्ठानम्। ८ अनुष्ठानादेरभ्यासाधीनत्वेऽपि। ९ इहाभ्यास विनापि कौशलोपपत्तौ।

सर्जनम्। यथेह न तथा किंचिदुपादानं समीक्ष्यते ॥ अथैव देवतात्यक्ते लिङ्गे देहाद्बहिर्गते। लोकान्तरगतौ हेतुर्लोकारम्भे च भण्यताम् ॥ आत्मन परलोकाय यत्स्याद्गमनकारणम्। भुङ्क्ते गत्वा च यत्तत्र देहारम्भे च कारणम् ॥ लिङ्गात्मन इतो देहाद्देहमन्यं निगच्छत। सभार कोऽस्य गत्यर्थो देहारम्भे च कथ्यताम् ॥ इतो जिगमिषु विद्याकर्मणी ये पुरार्जिते। त समन्वारभेते ते या चाभूत्पूर्ववासना ॥ विज्ञान सशयज्ञान मिथ्याज्ञानमथापि वा। प्रमाणतोऽप्रमाणाद्वा सर्वं विद्येति भण्यते ॥ संसारकारणध्वंसि यत्तु ज्ञान परात्मगम्। तदत्र न परिग्राह्य सर्वोपत्कारणापनुत् ॥ संसारकारणं तस्मादात्माज्ञानाविरोधि यत्। अज्ञातपरमार्थार्थं ज्ञानमात्र जिघृक्षितम् ॥ वाङ्मनकायसाध्य च शास्त्रतो यदि वाऽन्यत। दृष्टादृष्टार्थरूपं यत्तच्च कर्मेति गृह्यते ॥ अन्वारभेते गच्छन्त यथोक्ते ज्ञानकर्मणी। गच्छन्त पुरुष यस्मादन्वेते स्वस्वभावत। गच्छतोऽतोऽनुशब्दोऽत्र पश्चादर्थे प्रयुज्यते ॥ गमनादिविधौ पुम साधनत्व निगच्छत। कर्मणः क्रियामाणस्य संस्कारो यो हृदि स्थित.। तत्फलस्य च भुक्तस्य पूर्वप्रज्ञेति सोच्यते ॥ पूर्वोपचितसंस्कारहेतुम्य साऽभिजायते ॥ षण्मासशेषप्रोद्भूता वासना याऽस्य देहिन। मरिष्यतोऽन्यदेहार्थं पूर्वप्रज्ञेति तां विदु ॥ समर्था सैव ते यस्मादुद्बोद्धुं ज्ञानकर्मणी। तस्मात प्रधानत्वात्पृथक्तस्या ग्रह कृत ॥ समासेनैव निर्दिष्टे कारणत्वाविशेषत.। अन्योन्यकारणत्वाच्च

एव कौशलं कासुचिदत्यन्तसौकर्ययुक्तास्वप्यकौशलं केषांचित् । तथा विषयोपभोगेषु स्वभावत एव केषांचित्कौशलाकौशले दृश्येते । तच्चैतत्सर्वं पूर्वप्रज्ञोद्भवानुद्भवनिमित्तम् । तेन पूर्वप्रज्ञया विना कर्मणि वा फलोपभोगे वा न कस्यचित्प्रवृत्तिरुपपद्यते । तस्मादेतत्त्रयं शाकटिकसंभारस्थानीयं परलोकपथ्यदनं विद्याकर्मपूर्वप्रज्ञाख्यम् । यस्माद्विद्याकर्मणी पूर्व-

कृतं कार्यमाह—कासुचिदिति । रज्जुनिर्माणादिष्विति यावत् । तत्रैवोदाहरणसौलभ्यमाह—तथेति । तत्र हेत्वन्तरमाशङ्क्य परिहरति—तच्चेति । कर्मानुष्ठानादौ पूर्वप्रज्ञाया हेतुत्वमुपसंहरति—तेनेति । समन्वारम्भवचनार्थं निगमयति—तस्मादिति । तस्यैव तात्पर्यार्थमाह—यस्मादिति ॥ २ ॥

सुगम क्रियाओं में भी कुशलता नहीं होती । उसी प्रकार विषयोपभोग में भी किन्हीं-किन्हीं की स्वाभाविक कुशलता या अकुशलता देखी जाती है । कौशल और अकौशलादि पूर्वप्रज्ञा से ही उत्पन्न या अनुत्पन्न होते हैं । इसलिये पूर्वप्रज्ञा के विना कर्म या फलोपभोग में किसी की भी प्रवृत्ति होनी संभव नहीं है । इसलिये गाडीवान् के मार्गव्यय सामग्री के समान ये विद्या, कर्म और पूर्वप्रज्ञा नामक तीन परलोक के पाथेय हैं क्योंकि विद्या, कर्म और पूर्वप्रज्ञा—ये देहान्तर की प्राप्ति और उपभोग के

१ कौशलाकौशलादि । २ अवतरणोक्तेन । ३ तस्मादिति—परलोकनिर्माणे तद्भोगे च त्रयाणां कारणत्वात् । ४ कर्मानुष्ठानादौ पूर्वप्रज्ञाया कारणत्वे एव । ५ निरुक्तकौशलादौ । ६ समन्वारम्भवचनस्यैव ।

श्रुत्येह ज्ञानकर्मणी ॥ पूर्वप्रज्ञात उद्भूतिर्विद्याया कर्मणो यत । ताभ्यां च भावनोद्भूतिर्निर्देशोऽस्तो यथोदित ॥ कर्मणो भुज्यमानस्य परिशेषो हि भावना । मूल च जायमानस्य प्रधान तेन भण्यते ॥ परिच्छेत्री विनिर्मात्री विद्या लोकान्तरस्य हि । विकर्तृ कर्म बोद्धी च पूर्वप्रज्ञेह पूर्वयो" ॥ १०७-१२५ ॥ इति । सविज्ञान इत्यादि व्याख्याय त विद्येत्यादिवाक्यव्यावर्त्यमाह—मात्रेति । यथा स्वप्ननिर्माणं जाग्रद्वासनाकर्मभ्यामिष्ट तथा लोकान्तरनिर्माणकारण न किंचिददृष्टमित्यर्थः ॥ कार्यकरणतदभिमानपूर्वकताविशाद्देहान्तरगतिस्तदारम्भश्चेत्याशङ्क्याऽऽह—अथेति । अथाकृपणो भवतीत्यादावुक्तत्यायनाऽऽह—एवमिति ॥ आरभनस्तर्हि त्रिनैव कारण देहान्तरगमनादि स्यादत आह—आत्मन इति । कथ्यतामित्युत्तरेण सबन्ध । कारण विना कार्यायोगादिति भाव ॥ लिङ्गमेव तर्हि केवल गत्यादिहेतुरित्याशङ्क्य स्थूलदेहानपेक्षस्य तस्या किंचित्करत्वान्मैवमित्याह—लिङ्गेति । अस्य लिङ्गात्मन इति सबन्ध । लिङ्गमेवात्मा यस्य सोऽय लिङ्गात्मा तस्येति यावत् ॥ परलोकनिर्माणे तद्गतो भोगे च कारण वक्तु त विद्येत्यादिवाक्यमिति अन्वानस्तदादत्ते—इत इति ॥ विद्यां व्याचष्टे—विज्ञानमिति । ज्ञानमात्रमत्र विद्येत्यर्थः ॥ ब्रह्मज्ञानमपि तर्हि विद्याशब्देनात्र ग्राह्यमित्याशङ्क्याऽऽह—ससारेति । तस्याग्राह्यत्वे हेतु—सर्वेति । विद्येत्यत्र बन्धहेतुर्गृह्यते तद्धेतुकर्मादिसाहचर्यात् । ब्रह्मज्ञान तु तद्ध्वंसित्वान्नेह विद्याशब्दमर्हतीत्यर्थः ॥ तस्यात्राग्रहे फलितमाह—ससारकारणमिति । तदविरोधित्वे हेतुमाह—अप्राप्तेति ॥ कर्मशब्दार्थमाह—वागिति । व्यापारमात्रमत्र कर्मेत्यर्थः ॥ उक्तविद्याकर्मानुवादपूर्वकं समन्वारभेते इतिभागमादत्ते—अन्वारभेते इति । तात्पर्यार्थमाह—गच्छन्तमिति । स्वस्वभावतो ज्ञानकर्मणोराश्रयपारतन्त्र्यस्वाभाव्यादित्यर्थः ॥ यत्तु सभार कोऽस्येत्यादि तत्राऽऽह—गमनादीति । आदिपदेन देहेन देहान्तरारम्भो गृह्यते ॥ पूर्वप्रज्ञां व्याचष्टे—कर्मण इति ॥ अन्तःकरणाश्रिता कर्मतत्फलसस्कारसंज्ञिता पूर्वप्रज्ञा तदभिव्यक्तिकारणमाह—पूर्वेति । उपासकर्मापूर्वाख्यहेतुभ्या मृतिकाले पूर्वोक्ता पूर्वप्रज्ञा कार्याभिमुख्ये-

प्रज्ञा च देहान्तरप्रतिपत्त्युपभोगसाधनं तस्माद्विद्याकर्मादि शुभमेव समाचरेद्यथेष्टदेहसंभोगोपभोगौ स्यातामिति प्रकरणार्थः ॥ २ ॥

एवं विद्यादिसंभारसंभृतो देहान्तरं प्रतिपद्यमानो मुक्त्वा पूर्वं देहं पक्षीव वृक्षान्तरं प्रतिपद्यते । अथ वाऽऽतिवाहिकेन शरीरान्तरेण कर्मफलजन्मदेशं नीयते । किंचात्रस्यस्यैव सर्वगतानां करणानां वृत्तिलाभो भवत्याहोस्विच्छरीरस्थस्य संकुचितानि करणानि मृतस्य भिन्नघटप्रदीपप्रकाशवत्सर्वतो व्याप्य पुनर्देहान्तरारम्भे संकोचमुपगच्छन्ति । किंच मनोमात्रं वैशेषिकसमय इव देहान्तरारम्भदेशं प्रति गच्छति किंवा कल्पनान्तरमेव

तृणजलायुकावाक्यमवतारयितुं वृत्तमनूद्य वादिविवादान्दर्शयन्नादौ दिगम्बरमतमाह—एवमित्यादिना । देवतावादिमतमाह—अथ वेति । देवता येन शरीरेण विशिष्टं जीवं परलोकं नयति तदातिवाहिकं शरीरान्तरं तेनेति यावत् । सांख्यादिमतमाह—किंचेति । सिद्धान्तं सूचयति—आहोस्विदिति । वैशेषिकादिपक्षमाह—किंचेति । न्यूनत्वनिवृत्त्यर्थमाह—किंवा कल्पनान्तरमिति ।

साधन है । इसलिये ऐसी शुभ विद्या और कर्मादि का अनुष्ठान करे, जिससे कि इष्ट देह के संभोग और उपभोग प्राप्त हों—यही इस प्रकरण का तात्पर्यार्थ है ॥ २ ॥

इस प्रकार विद्यादि के भार से आक्रान्त देहान्तर को प्राप्त करने वाला जीव पूर्वदेह को छोड़कर एक वृक्ष से दूसरे वृक्ष को जाने वाले पक्षी की तरह देहान्तर की प्राप्ति करता है । अथवा आतिवाहिक शरीरान्तर से (जिस शरीर से देवता विशिष्ट जीव को परलोक ले जाता है) कर्मफल के उत्पत्तिस्थान देश को ले जाया जाता है । (इस पर शङ्का होती है—) क्या उसे यहाँ अपनी महिमा में प्रतिष्ठित हुए ही सर्वव्यापी इन्द्रियों की स्वरूपाभिव्यक्ति हो जाती है अथवा शरीरस्थ जीवित आत्मा की संकुचित इन्द्रियाँ, फूटे हुए घड़े के प्रकाश के समान मृतक में सर्वत्र व्याप्त होकर पुनः देहान्तर की सृष्टि होने पर संकोच को प्राप्त हो जाती है अथवा वैशेषिक सिद्धान्त के अनुसार मन ही देहान्तर के आरम्भक देश में जाता है, अथवा वेदान्त सिद्धान्त की यह कल्पान्तर ही है। (सिद्धान्ती समाधान देता है—) इस पर

---

१ येनेत्यर्थको यथाशब्दः । २ आक्रान्तः । ३ स्वमहिमप्रतिष्ठस्यैव । ४ वृत्तिलाभः स्वरूपलाभोऽभिव्यक्तिरिति यावत् । ५ जीवत एवात्मनः ।

नाऽऽविर्भवतीत्यर्थः ॥ पूर्वप्रज्ञाशब्दस्यार्थान्तरमाह—पण्मासेति ॥ तस्या विद्याकर्मभ्यां पृथक्कथने को हेतुस्तत्राऽऽह—समर्थेति । न हि मृतस्य विद्याकर्मणी स्वरूपेण स्थातुमर्हतः कर्तृत्वभेदाभावादतो वासनात्मनैव स्थिते स्तयोस्तत्प्राधान्यात्तस्या युक्ता पृथगुक्तिरित्यर्थः ॥ तर्हि पूर्वप्रज्ञावदसमासकरणं विद्याकर्मणोरपि स्यान्नेत्याह—समासेनेति । ज्ञानकर्मणां हि पूर्वप्रज्ञाया कारणत्वाविशेषात्तत्करणं श्रुत्या समासेनैवोक्ते एकस्मिन्कार्ये कारणस्यैनैकरूप्यात्तस्य युक्तत्वादित्यर्थः । किंच प्रज्ञाया विद्याकर्मणोश्चान्योन्यं कार्यकारणभावात्कार्यकारणकोटयोर्युक्तं द्वैराश्यमित्याह—अन्योन्येति । इह ज्ञानकर्मपूर्वप्रज्ञाख्यार्थेषु मिथोहेतुफलभावाज्ज्ञानकर्मणी श्रुत्या पृथक्कृते पूर्वप्रज्ञा च ताभ्यां पृथक्कृतेति योजना । तदेव स्फुटयते—पूर्वेति ॥ तस्यास्तयोश्च मिथो हेतुहेतुमत्त्वे त्रयाणामविशेषात्कथं पूर्वप्रज्ञाप्राधान्यमित्याशङ्क्याऽऽह—कर्मण इति । परिशेषो नाम फलवासना । हिशब्दापेक्षितं फलितमाह—प्रधानमिति ॥ त्रयाणां कार्यविशेषोक्तिपूर्वकं वाक्यार्थमुपसंहरति—परिच्छेत्त्रीति । परिच्छेत्तृत्वं विद्याया विकर्तृत्वं च कर्मणो लोकसिद्धमिति हिशब्दार्थः । सप्तमी निर्धारणे ॥

वेदान्तसमय इति । [1]उच्यते—"[2]स एते सर्व एव समाः सर्वेऽनन्ताः" [3]इति श्रुतेः सर्वात्मकानि तावत्करणानि । [4]सर्वात्मकप्राणसंश्रयाच्च । तेषामाध्यात्मिकाधिभौतिकपरिच्छेदः प्राणिकर्मज्ञानभावनानिमित्तः । [5]अतस्तद्वशात्स्वभावतः सर्वगतानामनन्तानामपि प्राणानां कर्मज्ञानवासनानुरूपेणैव देहान्तरारम्भवशात्प्राणानां [6]वृत्तिः संकुचति विकसति च । तथा चोक्तम्"[7]समः [8]प्लुषिणा समो मशकेन समो नागेन सम एभिस्त्रिभिर्लोकैः समोऽनेन सर्वेण" [9][10]इति । तथा चेदं वचनमनुकूलम्—"स यो हैतानन्तानुपास्ते" [11] इत्यादि "तं यथा यथो-

तत्र सिद्धान्तस्य प्रामाणिकत्वेनोपादेयत्वं वदन्कल्पनान्तराणामप्रामाणिकत्वेन त्याज्यत्वमभिप्रेत्याऽऽह—उच्यत इति । [2]तेषां सर्वात्मकत्वे हेत्वन्तरमाह—सर्वात्मकेति । कथं तर्हि करणानां परिच्छिन्नत्वधीरित्याशङ्क्याऽऽह—तेषामिति । आधिदैविकेन रूपेणापरिच्छिन्नानामपि करणानामाध्यात्मिकादिरूपेण परिच्छिन्नतेति स्थिते फलितमाह—अत इति । तद्वशादुदाहृतश्रुतिवशादित्येतत् । स्वभावतो देवतास्वरूपा[3]नुसारेणेति यावत् । कर्मज्ञानवासनानुरूपेणेत्यत्र भोक्तुरिति शेषः । [4]उभयत्र संबन्धार्थं प्राणानामिति द्विरुक्तम् । तेषां वृत्तिसंकोचादौ प्रमाणमाह—तथा चेति । परिच्छिन्नापरिच्छिन्नप्राणोपासने गुणदोषसंकीर्तनमपि प्राणसंकोचविकासयोः सूचकमित्याह—तथा चेदमिति ।

कहा जाता है । "वे जो पहले अध्यात्म, अधिभूत और अधिदैव मे कहे गये है, वे ये वाक्, मन और प्राण सभी तुल्य है और कार्यकरणात्मक ससार को व्याप्त करके स्थित होने से अनन्त है" इस श्रुति से सर्वात्मक प्राण के आश्रय मे रहने से इन्द्रियाँ भी सर्वात्मक है । उनका आध्यात्मिक और आधिभौतिक रूप विभाग तो प्राणियों के कर्म, ज्ञान और भावना के कारण है । इसलिये उनके वशीभूत होने से नि सर्गत सर्वगत और अनन्त होने पर भी प्राणो के कर्म, ज्ञान और वासना के अनुरूप ही दूसरी देह के आरम्भवशात् प्राणो के स्वरूप का सकोच या विकास होता है । श्रुति में कहा भी है—"यह प्राण चीटी के शरीर के समान है, मच्छर के शरीर के समान है, हाथी के शरीर के समान है, त्रैलोक्यात्मक विराट शरीर के समान है, इस समस्त जगद्रूप हिरण्यगर्भ से चीटी आदि शरीरो मे सर्वविधवावच्छेद रूप से व्याप्त है" । इमीसे ये श्रुतिवाक्य भी इसी का समर्थन करते हैं —"वह जो कोई भी प्रजापति के आत्मभूत इन परिच्छिन्न अनन्तवान् प्राणो की अध्यात्म या अधिभूत रूप से उपासना करता है (वह उस उपासना के फलस्वरूप अन्तपरिणामी लोको पर विजय प्राप्त कर लेता है" एव "उसकी जो

१ उच्यत इत्यादि—सर्वगतत्वपक्षमाश्रित्य श्रुतिप्रवृत्तेस्तद्विरुद्धानि पक्षान्तराणि त्याज्यानीति भाव । २ स एत इत्यादि—वागादय आधिदैविकरूपेणाशेषजगद्व्याप्तिमन्तो यावत्ससारभाविनश्चेत्यर्थ । ३ बृ उ १ ५ १३ । ४ सर्वात्मकेति—प्राणसवादे हि ज्यायस्त्वपरीक्षाया पराभूतं करणं प्राणाश्रयत्व प्राणात्मत्वमात्मनोऽङ्गीकृतमिति । ५ अत—आधिदैविकरूपेणापरिच्छिन्नानामपि तेषामाध्यात्मिकादिरूपेण परिच्छेदस्यापि सभवादित्यर्थ । ६ स्वरूपम् । ७ बृ उ १ ३ २२ । ८ प्लुषिणा—प्लुषिशरीरेण । एवमग्रेऽपि । त्रिभिर्लोकै—त्रैलोक्यात्मकविराट्छरीरेण । सर्वेण—हिरण्यगर्भजगद्रूपेण सम प्राण । ९ बृ उ १ ३ २२ । १० इतीति—उक्तश्रुतिवाक्यात्प्राणाना सर्वप्राणिषु ज्ञानकर्मानुरोधेन स्थितिगतिपरिच्छेदसकोचविकासा निश्चिता इत्यर्थ । ११ बृ उ १ ५ १३ । १२ करणानाम् । १३ आधिदैविकस्वरूपेण । १४ वृत्तिपरिच्छेदयो ।

तद्यथा तृणजलायुका तृणस्यान्तं गत्वाऽन्यमाक्रममाक्रम्याऽऽत्मानमुपसꣳहरत्येवमेवायमात्मेदꣳ शरीरं निहत्याविद्यां गमयित्वाऽन्यमाक्रममाक्रम्याऽऽत्मानमुपसꣳहरति ॥ ३ ॥

जैसे घास पर चलने वाले तृणजलोका नामक कीड़ा एक तृण के अन्तिम भाग पर पहुँच कर दूसरे तृण रूप आश्रय को पकड़कर अपने शरीर को सिकोड़ लेता है, वैसे ही यह जीवात्मा इस वर्तमान देह को मारकर अचेतनावस्था को प्राप्त कराकर दूसरे शरीर रूप आश्रय का आधार ले अपना उपसंहार कर लेता है अर्थात् उसी देह में आत्मभाव करने लगता है। यही देहान्तर के आरम्भ की विधि है ॥३॥

पासते" इति च।

तत्र वासना पूर्वप्रज्ञाख्या विद्याकर्मतन्त्रा जलूकावत्सततैव स्वप्नकाल इव कर्मकृतं देहान्तरमुपस्पृशति हृदयस्थैव पुनर्देहान्तरं पूर्वाश्रयं विमुञ्चतीत्येतस्मिन्नर्थे दृष्टान्त उपादीयते—

तत्तत्र देहान्तरसञ्चार इदं निदर्शनम्। यथा येन प्रकारेण तृणजलायुका तृणस्यान्तमवसानं गत्वा प्राप्यान्यं तृणान्तरमाक्रममाक्रम्यत इत्याक्रमस्तमाक्रममाक्रम्याऽऽश्रित्या-

---

याविदं विवेकेन रूपेण सर्वगतानामपि करणानामाध्यात्मिकाधिभौतिकरूपेण परिच्छिन्नत्वात्तत्परिवृतस्य गमनं सिध्यतीति सिद्धान्तो दर्शितः। इदानीं तृणजलायुकादृष्टान्ताद्देहान्तरं गृहीत्वा पूर्वदेहं मुञ्चत्यात्मेति स्थूलदेहविशिष्टस्यैव परलोकगमनमिति पौराणिकप्रक्रिया प्रत्याख्यातुं दृष्टान्तवाक्यस्य तात्पर्यमाह—तत्रेत्यादिना। देहनिर्गमनात्प्रागवस्थां समन्वयं। तदेवं यथोक्ता वासना हृदयस्था विद्याकर्मनिमित्तं भाविदेहं स्पृशति जीवोऽपि तत्राभिमानं करोति पुनश्च पूर्वदेहं त्यजति यथा स्वप्ने देवोऽहमित्यभिमन्यमानो देहान्तरस्थ एव भवति तयोरुत्क्रान्तावपि" "तस्माच्च पूर्वदेह-

---

जिस प्रकार उपासना करता है' इत्यादि।

वहाँ विद्या कर्म के या पूर्वप्रज्ञा नामक वासना जोंक के समान विस्तृत रहते हुए ही हृदयस्थ हो स्वप्न के समान विद्या-कर्मप्रयुक्त देहान्तर का उपस्पर्श करती है, फिर पूर्वाश्रित देहान्तर का परित्याग कर देती है —इस सम्बन्ध में दृष्टान्त का उपपादन किया जाता है।

तत' शब्द वहाँ देहान्तर सञ्चरण में निर्देश करने के लिए है। 'यथा' यानी जिस प्रकार 'तृणजलायुका' अर्थात् तृण की जोंक तृण के "अन्त' यानी किनारे "गत्वा' अर्थात् पहुँचकर "अन्यम्' अर्थात् दूसरे तृणरूपी 'आक्रमम् जहाँ आश्रित हुआ जाय, वह आक्रम है उस आधार का 'आक्रम्य"

---

१ जया। २ विस्तृतैव। ३ कर्मकृतम्—विद्याकर्मप्रयुक्तम्। ४ वेष्टितस्य जीवस्य। ५ स्थूलेति—पूर्वदेहाभिमानविशिष्टस्यैवेत्यर्थ इत्याह। ६ देहनिर्गमात्प्राक्। ७ विद्याकर्मोत्पन्नफलभोगजनितसंस्काररूपा पूर्वप्रज्ञाख्या। ८ गोचरयति। ९ अभिमानान्तरम्। १० देहान्तरस्थ सुप्तदेहादयो देवादिदेहस्तत्स्थ देवादिदेहश्च स्वाप्निको बाध्य। ११ देहान्तरस्थ। १२ उत्क्रान्तिकाले देहान्तरस्थत्वात्।

ऽऽत्मानमात्मनः पूर्वावयवमुपसंहरत्यन्त्यावयवस्थाने । एवमेवायमात्मा यः प्रकृतः संसारीदं शरीरं पूर्वोपात्तं निहत्य स्वप्नं प्रतिपित्सुरिव पातयित्वाऽविद्यां गमयित्वाऽचेतनं कृत्वा स्वात्मोपसंहारेणान्यमाक्रमं तृणान्तरमिव तृणजलूका शरीरान्तरं गृहीत्वा प्रसारितया वासनयाऽऽत्मानमुपसंहरति । तत्राऽऽत्मभावमारभते यथा स्वप्ने देहान्तरमारभते स्वप्नदेहान्तरस्थ इव शरीरारम्भदेश आरभ्यमाणे देहे जङ्गमे स्थावरे वा ।

तत्र च कर्मवशात्करणानि लब्धवृत्तीनि संहन्यन्ते । बाह्यं च कुशमृत्तिकास्थानीयं शरीरमारभ्यते । तत्र च करणव्यूहमपेक्ष्य वागाद्यनुग्रहायाग्न्यादिदेवताः संश्रयन्ते । एष देहान्तरारम्भविधिः ।

तत्र देहान्तरारम्भे नित्योपात्तमेवोपादानमुपमृद्योपमृद्य देहान्तरमारभत आहोस्वि-

---

विशिष्टस्यैव परलोकगमनमित्यर्थः । स्वात्मोपसंहारो देहे पूर्वस्मिन्नात्माभिमानत्यागः । प्रसारितया वासनया शरीरान्तरं गृहीत्वेति संबन्धः । उपसंहारस्य स्वरूपमाह—तत्रेति । सप्तम्यर्थं विवृणोति—आरभ्यमाण इति ।

आरब्धे देहान्तरे सूक्ष्मदेहस्याभिव्यक्तिमाह—तत्र चेति । कर्मग्रहणं विद्यापूर्वप्रज्ञयोरुपलक्षणम् । ननु लिङ्गदेहबलादेवार्थक्रियासिद्धौ कृतं स्थूलशरीरेणेत्याशङ्क्य तद्व्यतिरेकेणेतरस्यार्थक्रियाकारित्वं नास्तीति मत्वाऽऽह—बाह्यं चेति । आरब्धे देहद्वये करणेषु देवतानामनुग्राहकत्वेनावस्थानं दर्शयति—तत्रेति । स्थूलो देहः सप्तम्यर्थः । करणव्यूहस्तेषामभिव्यक्तिः ॥ ३ ॥

पेशस्कारिवाक्यव्यावर्त्यामाशङ्कामाह—तत्रेति । संसारिणो हि प्रकृते देहान्तरारम्भे किमु-

---

अर्थात् आश्रय लेकर 'आत्मानमुपसंहरति" अर्थात अपने पूर्वार्द्ध अवयवों को पश्चार्ध अवयव स्थान में स्थापन कर देता है । इसी प्रकार यह प्रकरणस्थ संसारी आत्मा अपने इस पूर्वप्राप्त देह के कर्मों के क्षय से स्वप्नप्राप्ति के इच्छुक के समान निश्चेष्ट कर अपनी आत्मा के उपसंहार द्वारा "अविद्या गमयित्वा" अर्थात् जड करके एक तृण से दूसरे तृण मे जाने वाले तृण-जोंक के समान प्रसारित वासना द्वारा आरभ्यमाण अन्य शरीरान्तर आधार को ग्रहण करके अपना उपसंहार कर लेता है ।

वहां कर्मवश इन्द्रियाँ भी अभिव्यक्ति को प्राप्त हुई संबद्ध होती है तथा तृण-मृत्तिका निर्मित गृहस्थानीय बाह्य शरीर का भी आरम्भ हो जाता है । फिर वहाँ इन्द्रियव्यूह की अभिव्यक्ति को देख कर वागादि इन्द्रियों का उपकार करने के लिए अग्नि आदि देवता इन्द्रियों का आश्रय लेते हैं । इसी प्रकार देहान्तर की प्राप्ति होती है ॥३॥

वहां देहान्तर की प्राप्ति में नित्यप्राप्त भूतपञ्चक पूर्व-पूर्व देह को विनष्ट कर करके देहान्तर

---

१ पूर्वावयवमिति—अनेन तस्याः पश्चार्धगामित्वं सूच्यते । २ स्थापयति । ३ कर्मणः क्षयात् । ४ निश्चेष्टमापाद्य । ५ जाड्यम् । ६ आरभ्यमाणम् । ७ अहमित्यात्मभावं प्रतिपद्यते । ८ स्वप्नदेहान्तरस्थ इति स्वप्नाश्रयस्थूलदेहमध्यस्थ इत्यर्थः । ९ लब्धाभिव्यक्तीनि । १० संबध्यन्ते । ११ कुशेत्यादि—तृणमृत्तिकानिर्मितगृहस्थानीयमित्यर्थः । १२ समीक्ष्य । १३ करणानीति शेषः । १४ देहान्तरप्राप्तिप्रकारः । १५ भूतपञ्चकम् । १६ पूर्वं पूर्वं देहम् । १७ उत्पादयति ।

तद्यथा पेशस्कारी पेशसो मात्रामपादायान्यन्नवतरं कल्याणतरꣳ रूपं तनुत एवमेवायमात्मेदꣳ शरीरं निहत्याविद्यां गमयित्वाऽन्यन्नवतरं कल्याणतरꣳ रूपं

जैसे सोनार सोने की मात्रा को लेकर उससे नूतन और अत्यन्त सुन्दर रूप की रचना करता है, वैसे ही यह जीवात्मा इस वर्तमान देह को नष्ट कर केवल अचेतनावस्था को प्राप्त कराकर दूसरे

दपूर्वमेव पुनः पुनरा'दत्त इति । 'अत्रोच्यते दृष्टान्तः—

तत्र'तस्मिन्नर्थे । यथा पेशस्कारी पेशः सुवर्णं तत्करोतीति पेशस्कारी सुवर्णकारः पेशसः सुवर्णस्य मात्रापादायापच्छिद्य गृहीत्वाऽन्यत्पूर्वस्माद्रचनाविशेषान्नवान्नवतरमभिनवतरं कल्याणात्कल्याणतरं रूपं तनुते निर्मिनोति । एवमेवायमात्मेत्यादि पूर्ववत् ।

'नित्योपात्तान्येव पृथिव्यादीन्याकाशान्तानि पञ्च भूतानि यानि द्वे वाव ब्रह्मणो

पादानमस्ति किं वा नास्ति नास्ति चेन्न 'भावरूपं कार्यं सिध्येत् । अस्ति चेत्किं भूतपञ्चकमुतान्यत् । आद्येऽपि तन्नित्योपात्तमेव पूर्वपूर्वदेहोपमर्देनान्यमन्यं देहमारभते किंवाऽन्यदन्यद्भूतपञ्चकमन्यमन्यं देहं जनयति । नाऽऽद्यः । भूतपञ्चकस्य तत्तद्देहोपादानत्वे मायायाः सर्वकारणत्वस्वीकारविरोधात् । न द्वितीयो भूतपञ्चकोत्पत्तावपि कारणान्तरस्य मृग्यत्वात्तस्यैव देहान्तरकारणत्वसंभवान्नेतरो देहस्य पाञ्चभौतिकत्वप्रसिद्धिविरोधादिति भावः । उत्तरं वाक्यमुत्तरत्वेनाऽऽदत्ते—अत्रेति । 'तच्छब्दार्थमपेक्षित पूरयन्नाह—दृष्टान्त इति । अवशिष्टं भागमादाय व्याचष्टे—यथेत्यादिना ।

किं पुनरुपादान'मेतावता देहान्तरारम्भेऽभ्युपगतं भवति तत्राऽऽह—नित्योपात्तानीति । 'शरीरद्वयारम्भकाणीति शेष । तेषामु'"भयारम्भकत्वेन मूर्तामूर्तब्राह्मणे प्रस्तुतत्वं दर्शयति—यानीति ।

की सृष्टि करता है अथवा पहली वाली देह को पुन उत्पन्न करता है। इसका समाधान श्रुति दृष्टान्त से बतलाती है—

'तत्' अर्थात् इस सबन्ध मे जिस प्रकार 'पेशस्कारी" अर्थात् सुवर्ण का काम करने वाला स्वर्णकार 'पेशस" अर्थात सुवर्ण की मात्रा को "अपादाय" यानी अपच्छेदन अथवा ग्रहण कर पहले की रचनाविशेष से भिन्न नवीन से नवीनतर और कल्याण से भी कल्याणतर रूप 'तनुते" अर्थात् बनाता

---

१ उत्पादयति । २ यथोक्तशङ्काया सत्या समाधानमुच्यत इत्यथ । ३ एतस्मिन्नर्थे—नित्योपात्तमेव भूतपञ्चक देहान्तरारम्भवमित्यत्रार्थं । ४ नित्योपात्तान्येवेति—'देहारम्भकभूतानि यानि पूर्वाणि वेष्टित । तैर्लिङ्गोपाधिको यातीत्येव सूत्रकृदब्रवीत् ॥ पञ्चीकृतास्तु भूताशा स्थूलदेहस्य हेतव । अल्पत्वेनाऽपि सूक्ष्मास्तैर्लिङ्ग तिष्ठति वष्टितम् ॥ निर्मितस्तैरय देह पोषित पितृवीर्यत । मृतौ कञ्चुकवत्याज्यो बाह्याशो वीर्यनिर्मित ॥ सारस्त्वान्तरभूताशो लिङ्गेन सह गच्छति । निष्पाद्यन्ते भाविदेहास्तेनाऽशेन पुन पुन" ॥ ५८-६१ ॥ इति वार्तिकसारे । ५ बृ उ २ ३ १ । ६ अभावस्त्वन्तरेणाप्युपादान सिध्यतीत्यत आह भावरूपमिति । ७ अपेक्षित पूरयस्तच्छब्दार्थमाहेत्यन्वय । ८ अन्येन । ९ स्थूलसूक्ष्मशरीरद्वयेति भाव । १० स्थूलसूक्ष्मशरीरारम्भकत्वेन ।

कुरुते पित्र्यं वा गान्धर्वं वा दैवं वा प्राजापत्यं वा ब्राह्मं वाऽन्येषां वा भूतानाम् ॥ ४ ॥

पितर, गन्धर्व, देव, प्रजापति, ब्रह्मा या अन्य प्राणियों के नूतन तथा अत्यन्त सुन्दर रूप की रचना कर लेता है ॥ ४ ॥

रूपे इति [1]चतुर्थे व्याख्यातानि पेशस्थानीयानि तान्येवोपमृद्योपमृद्यान्यदन्यच्च देहान्तरं [3]नवतरं कल्याणतरं रूपं संस्थानविशेषं देहान्तरमित्यर्थः । कुरुते [4]पित्र्यं वा पितृभ्यो हितं पितृलोकोपभोगयोग्यमित्यर्थः । गान्धर्वं गन्धर्वाणामुपभोगयोग्यं तथा देवानां दैवं प्रजापतेः [5]प्राजापत्यं ब्रह्मण इदं [6]ब्राह्मं वा । [7]यथाकर्म यथाश्रुतमन्येषां वा [8]भूतानां संबन्धि शरीरान्तरं कुरुत इत्यभिसंबध्यते ॥ ४ ॥

* [9]येऽस्य बन्धनसंज्ञका उपाधिभूता [10]यैः संयुक्तस्तन्मयोऽयमिति [12]विभाव्यते ते पदार्थाः

देहविकल्पे नियामकमाह—यथाकर्मेति ॥ ४ ॥

शरीरारम्भे मायात्मकभूतपञ्चकमुपादानमिति [13]भवता भूतावयवानामपि सहैव गमनमित्युक्तम् । इदानीं स वा अयमात्मेत्यादेस्तात्पर्यमाह— येऽस्येति । तानेवोपाधिभूतान्पदार्थान्विशिनष्टि

है । इसी प्रकार इस आत्मा के सबन्ध मे समझ लेना चाहिये —इत्यादि अर्थ पूर्ववत् ही है ।

जो नित्यप्राप्त पृथिवी से लेकर आकाशपर्यन्त पञ्च महाभूत सुवर्णस्थानीय है, "ये (भूतत्रयात्मक और भूतद्वयात्मक) दो ही ब्रह्म के मूर्त और अमूर्त रूप है" । इस प्रकार बृहदारण्यक उपनिषत् के दूसरे अध्याय मे उनका व्याख्यान किया गया है । उन्ही को बार-बार विनष्ट करके, अन्यान्य देह को बनाता है । अर्थात पूर्वदेह से नवीनतर और कल्याणतर रूप सस्थान विशेष देहान्तर को बनाता है । (किस प्रकार के शरीर बनाता है —) "पित्र्यम्" अर्थात् पितृगण के हितकारक अर्थात् पितृलोक मे उपयोग के योग्य, "गान्धर्वम्" अर्थात गन्धर्वो क उपयोग के योग्य । इसी प्रकार "दैव" यानी देवताओ के, "प्राजापत्यम्" यानी विराट् प्रजापति के, "ब्राह्म" यानी हिरण्यगर्भ ब्रह्मा के उपभोग योग्य शरीरान्तर की उनके कर्म और उपासना के अनुसार अथवा प्रेततिर्यगादि शरीरो से

---

१ चतुर्थे व्याख्यातानीति । तत्र "यश्चक्षुर्य एष तपतीति' च स्थूलो देहो लक्षितो "योऽय दक्षिणेऽक्षन्पुरुषो य एष एतस्मिन्मण्डले पुरुष इति" च । सूक्ष्मो देहो गृहीतस्तत्र "सतो ह्येष रसस्त्यस्य ह्येष रस" इति च तयोर्भूतपञ्चकारब्धत्वमुक्तमतो (उक्तब्राह्मणे नित्योपात्तभूतपञ्चकस्यैव स्थूलसूक्ष्मदेहारम्भकत्वोक्ते)ऽत्रापि नित्योपात्तमेव तदारम्भकमिष्टं न च मायावादविरोध प्रत्यक्चैतन्याश्रितमायाविवर्तभूतपञ्चकपरिणामो जगदिति स्थितेरिति भाव । २ द्वितीयान्तम् । ३ नवतरमिति—पूर्वदेहस्य नवत्वविवक्षयाऽस्य नवतरत्व विवक्ष्यत इति ध्येयम् । ४ किं तद्देहान्तरं यत्कुरुते तत्राऽऽह—पित्र्यमिति । ५ वैराजम् । ६ हैरण्यगर्भम् । ७ अस्तु यथोक्त देहाद्युपादानं तन्निमित्तं तु वाच्यमित्याशङ्कयाऽऽह—यथाकर्मेति । ८ प्रेततिर्यगादीनाम् । ९ पदार्था । १० आत्मन । ११ पदार्थे । १२ प्रतीयते । १३ भाष्ये ।

---

* यऽस्येत्यादि याऽश्नायाद्यतीत इत्यन्तभाष्ये वार्तिकानि । तथाहि—' न ,तु चैतन्यवत्साक्षात्समारोऽस्य स्वतो

पुञ्जीकृत्येहैकत्र[1] प्रतिनिर्दिश्यन्ते—

—यैरिति । ननु पूर्वमप्येते पदार्था दर्शिताः किं पुनस्तत्प्रदर्शनेनेत्याशङ्क्याऽऽह—पुञ्जीकृत्येति ।

सम्बन्धी शरीरान्तरों की रचना करता है—यह इसका तात्पर्य है ॥४॥

जो पदार्थ आत्मा के बन्धनसंज्ञक उपाधिभूत हैं, जिन पदार्थों से संयुक्त "यह तन्मय है" ऐसा प्रतीत होता है—उन सभी पदार्थों को एकत्रित कर इस एक ही मन्त्र में प्रदर्शित किया जाता है।

१ एकस्यां कण्डिकायाम् ।

मतः । इत्ययंमाजगामोत्तरं वचः ॥ यच्चास्य वास्तवं रूपं यच्चाविद्योत्थमात्मनः । स वा इत्यादिना तस्य निर्णयं क्रियतेऽधुना । तन्निर्णयादशेषोऽर्थोऽनिर्णीतः स्यात्कथं चिति ॥ संसारी यो यथोक्तेन ग्रन्थेन प्रतिपादितः । तद्गृहीत्यै सशब्दोऽयं तत्स्मृत्यर्थं तथा च वै ॥ अनारम्भूत एतस्मिन्कार्यकारणलक्षणे । संसारे प्रथते योऽयं आत्मनाऽनन्यमानगः ॥ यत्साक्षिको यथोक्तस्य भावाभावौ प्रसिध्यतः । संसारवस्तुनः सोऽयमात्मेत्यत्राभिधीयते ॥ व्यभिचारो न यस्यास्ति सर्वेषु व्यभिचारिषु । तदवष्टम्भतः सिद्धेर्व्यभिचारस्य सर्वदा । प्रत्यक्तयाऽस्य साक्षात्त्वाद्क्रियाकारकत्वतः । अनन्यबोधमानत्वादयमित्युच्यते ततः ॥ निःशेषानात्मतद्धेतुनिराकरणकर्मणा । आत्मत्वमान्मनः सिध्येन्नान्यशेषमनात्मवत् ॥ असाधारणसिद्ध्यैव सिद्धिः स्यादात्मवस्तुनः । यतोऽतः आत्मवस्त्वेव कार्यकारणवज्जगत् ॥ न हीदमात्मनः स्थानं ततोऽन्यत्रापि वाऽश्नुते । आत्मनोऽव्यतिरेकेण यतोऽनात्मा प्रसिध्यति ॥ आत्मा त्वनात्मप्रत्ययत्वाद्व्यतिरेकं न सोऽर्हति । अजीव सर्पदण्डादे स्रगविद्योत्थवस्तुनः । स्रक्तत्त्वव्यतिरेकेण सिद्धिर्नान्यत्र कुत्रचित् ॥ न चाभावावसाय्येतदभावस्यापि भाववत् । प्रत्यङ्मात्रैक्यायाथात्म्यादश्रुतत्वाच्च कार्यतः ॥ अनूद्य निखिलं विश्वं तत्तत्त्वप्रतिपत्तये । आत्मैवेति श्रुतं यस्मान्नातोऽन्यत्किंचिदिष्यते ॥ प्रत्याख्याय न चाऽऽत्मानमनात्मा व्यतिरिच्यते । व्यतिरेकस्वभावत्वान्नापि चाऽऽत्मनि सिध्यति ॥ अस्याचष्टे श्रुतिरनं सर्वं नेतीति चाऽऽत्मनि । सर्वमात्मेति च तथा व्यतिरेकं निषेधति ॥ अपूर्वानपरानन्तराबाह्यं ब्रह्मलक्षणम् । उक्तात्मवस्तुस्वाभाव्यादात्मा ब्रह्मेत्यतो वचः ॥ प्रत्यक्त्वं ब्रह्मणस्तत्त्वं ब्रह्मत्वं चाऽऽत्मनस्तथा । परोक्षद्वयहानेन ह्यात्मा ब्रह्मेति बोध्यते ॥ अध्याहृताननुगतो ब्रह्मशब्दार्थं इष्यते । नाऽऽत्मनोऽन्यत्र लभ्योऽसौ नाप्यात्मा ब्रह्मणोऽन्यतः ॥ आत्मनोऽपि परोक्षत्वं ब्रह्मणोऽविद्यया यथा । आत्मनः सद्वितीयत्वं ब्रह्मणोऽपि तथा मम ॥ अतोऽविद्याममुच्छित्त्यै यथावस्त्ववबोधतः । आत्मा ब्रह्मैव सन्नेव ब्रह्माप्येति स्वतोऽद्वयम् ॥ यथोक्तबोधविरहादस्यानर्थपरंपरा । विज्ञानाद्यभिसम्बन्धो यथा तदधुनोच्यते ॥ आत्मा ब्रह्मैव सन्नपि धर्मैर्धीवद्भिरन्वितः । अज्ञानात्संसरत्यत्र वर्ण्यते तत्समासतः ॥ ततोऽविद्यान्वयऽशेषसंसारानर्थसंगतिः । तद्ध्वस्तावात्मनस्तस्मात्पुरुषार्थं समाप्यते ॥ अविद्यामात्रहेतुत्वा ह्यात्मनोऽनर्थसंगतिः । इत्यस्य प्रतिपत्त्यर्थं परो ग्रन्थोऽवतार्यते ॥ यद्यविद्यैकहेतुः स्यात्संसारित्वं सदाऽऽत्मनः । विद्यार्थोऽस्य समारम्भो युज्यते नान्यथा सति" ॥ १४७-१७१ ॥ इति । यथोक्तं संसारश्चैतन्यवदात्मनः स्वाभाविकः स्यादित्याशङ्क्य स वा अयमित्याद्यवतारयति—न त्विति । तस्य तात्पर्यमाह—यच्चेति । आत्मनो वास्तवावास्तवरूपद्वयनिर्णये वेदार्थः सर्वोऽपि निर्णीतः स्यादिति फलितमाह—तदिति ॥ सर्वशब्दयोरर्थमाह—संसारीति ॥ अयशब्दार्थमाह—अनात्मेति । अविद्यातत्कार्यनिर्मुक्तस्वप्रकाशोऽयोऽनात्मायमित्युच्यत इत्यर्थः ॥ आत्मशब्दार्थमाह—यदिति । कूटस्थसाक्षी चिद्धातुरत्राऽऽत्मेत्यर्थः ॥ कूटस्थत्वं साधयति—व्यभिचार इति । सोऽयमाऽऽत्मेति पूर्वेण संबन्धः । तस्याव्यभिचारे हेतुमाह—तदिति ॥ भावाभावविभागविधुरस्य सर्वसाधकस्याऽऽत्मनः संप्रयुक्तपुरोवर्तित्वाभावादयमिति कथं व्यपदेशस्तत्राऽऽह—प्रत्यक्तयेति । संनिहितत्वादपरोक्षत्वाच्चाऽऽत्मनोऽयंशब्दवाच्यतेत्यर्थः । साक्षात्त्वं साधयति—

'स वा अयमात्मा ब्रह्म विज्ञानमयो मनोमयः

वह यह आत्मा ही ब्रह्म है। वह विज्ञानमय, मनोमय, प्राणमय, चक्षुर्मय, श्रोत्रमय, पृथिवीमय,

---

'स वा 'अयं य एवं संसरत्यात्मा' 'ब्रह्मैव' पर एव योऽशनायाद्यतीतो विज्ञानमयो, 'विज्ञानं

स वा अयमात्मा ब्रह्मेति भागं व्याकुर्वन्नात्मनो ब्रह्मैक्यं वास्तवं 'वृत्तं दर्शयति—स वा इति । 'तस्यैवावास्तवं रूपमुपन्यस्यति—विज्ञानमय इत्यादिना । ज्योतिर्ब्राह्मणेऽपि व्याख्यातं विज्ञानमयत्व-

---

"स वा अयम्" अर्थात् जो इस प्रकार संसरण करता है, वह (स्वप्रकाश, अपरोक्ष, संनिहित, कूटस्थ साक्षी) आत्मा (अपूर्व अपरादिलक्षण) परब्रह्म ही है, जो भूख-प्यासादि से रहित है।

---

१. योऽयमात्मनः संसारः स वास्तवो न भवति किं त्वौपाधिक एवेति निरुपाधिकस्वरूपं प्रदर्शयंस्तानुपाधीन् पुञ्जीकृत्य प्रदर्शयति—स वा अयमिति । यद्वा यथोक्तः संसारश्चैतन्यवदात्मनः स्वाभाविकः स्यादिति तत्राह—स वा इति । २ प्रकृत । ३ स्वप्रकाशोऽपरोक्ष संनिहित । ४ कूटस्थसाक्षी । ५ स । ६ अपूर्वानपरादिलक्षणम् । ७ अवधारण सामानाधिकरण्यलभ्यम् । ८ योऽशनायाद्यतीत ॥ पर एव सन् विज्ञानमयो बुद्धिप्रायस्तदेवमाध्यासादित्याह—विज्ञानमिति । विज्ञानमयमनोमयौ क्रमेण चित्तमयाहंकारमययो-रुपलक्षणाविति द्रष्टव्यम् । ९ रूपम् । १० आत्मन ।

मनन्येति । तदेव कथमिति तदाह—प्रक्रियेति ॥ घटादिवदयशब्दवाच्यत्वादात्मा परिच्छिन्नः स्यादिति चेन्नेत्याह—नि शेषेति ॥ प्रथमनात्मतद्धेतुनिरासद्वाराऽऽत्मसिद्धिः स्वगतातिरिक्तस्य कार्यकारणवस्तुनः सत्त्वादित्याशङ्क्याऽऽह प्रसाधारणेति । अद्वितीयस्वप्रकाशात्मनि जगतोऽध्यासात्तत्पूर्णता युक्तेत्यर्थः ॥ आत्मनि जगतोऽध्यस्तत्वं समर्थयते न हीति । इदमा प्रकृतं जगन्निर्दिश्यते । उभयत्र हेतुमाह—आत्मन इति । न हि व्यतिरेकाव्यतिरेका-भ्यामनात्मसिद्धिर्व्यतिरेके निःस्वरूपत्वादव्यतिरेकस्य जडाजडयोरयोगादतोऽनात्माऽध्यस्त इत्यर्थः । इहापि पूर्वार्धगं नञ्पदमनुकृष्यते ॥ आत्मनोऽनात्मव्यतिरेकवदनात्मनोऽपि ततोऽतिरिक्तत्वमिति चेन्नेत्याह—आत्मा त्विति । आत्मनो भेदाभेदाभ्यामनात्मा न सिध्यतीत्यत्र दृष्टान्त—स्रजीति । न हि स्रजि भासतस्तदविद्याकल्पितस्य सर्पादेस्तदतिरेकेणान्यत्र सिद्धिर्नापि तदात्मनैव तत्सिद्धिस्तथाऽऽत्मनो व्यतिरेकाव्यतिरेकाभ्यां नानात्मसिद्धि-रित्यर्थः ॥ अन्वयव्यतिरेकाभ्यां जगतोऽसिद्धिश्चेदभावमभाव्यतेति नेत्याह—न चेति । किंच जगतोऽभाव-निष्ठत्वं श्रुत्या कल्प्यते तदर्थापत्त्या वा नाऽऽद्य इत्याह—अश्रुतत्वादिति । नेति नेतीत्यादिश्रुतिर्जगतो भावम-नूद्यन्ती तस्याभावनिष्ठत्वमर्थादाहेति द्वितीयमाशङ्क्याऽऽह—न चेति ॥ बलीयस्या श्रुत्या दुर्बलायास्तदर्थापत्ते-र्बाध्यत्वं हेतुमाह—अनूद्येति । जगतः शून्यत्वमन्यदित्युच्यते ॥ अभावनिष्ठत्वं जगतो निरस्यान्वयादिनिरासमनु-वदति—प्रत्याख्यायेति । आत्मानं विहायानात्मा न स्वातन्त्र्येण सिध्यति निःस्वरूपत्वापत्तेरुक्तत्वात्तस्य भिन्नतया-ऽऽत्मनि तत्सिद्धिर्जडत्वेनाजडाद्व्यतिरिक्तत्वादित्यर्थः ॥ जगतोऽन्वयाभावे मानमाह—प्रत्याचष्ट इति । व्यतिरेका-भावे मानमाह—सर्वमिति । स वा अयमात्मेत्येतद्व्याख्याय ब्रह्मशब्दार्थमाह—अपूर्वेति । सामानाधिकरण्य-तात्पर्यमाह—उक्तेति सामान्यविशेषादिहीनं ब्रह्म तत्र तत्रोक्तं तस्याऽऽत्मस्वरूपत्वादात्मा ब्रह्मैवेत्यात्मनो ब्रह्मत्वं सामानाधिकरण्यश्रुत्योच्यते तेन तयोरैक्यमित्यर्थः ॥ कथं तयोरैक्यं पारोक्ष्यसद्वयत्वाभ्यां विरोधादत आह—प्रत्यक्त्वमिति । विरुद्धभागत्यागादैक्यं सोऽयमित्यत्र प्रसिद्धमिति हिशब्दार्थः ॥ ब्रह्मणस्तत्त्वं प्रत्यक्त्वमित्येत-द्ब्रह्मशब्दार्थमनूद्य प्रकटयति—अव्यावृत्तेति । आत्मनो ब्रह्मत्वं तत्त्वमित्येतद्वचनस्य—नापीति ॥ तथाऽपि कथं पारोक्ष्यसद्वयहानमित्याशङ्क्य तद्वत्तु पारोक्ष्यादेराविद्यत्वमाह—आत्मनोऽपीति ॥ तस्याऽऽविद्यत्वे फलित-माह—अत इति । एष खल्वात्मा स्वतो ब्रह्मैव सन्नज्ञानादब्रह्मत्वप्रतिपन्नः सम्यग्ज्ञानादज्ञानध्वंसे ब्रह्मैवा-

प्राणमयश्चक्षुर्मयः श्रोत्रमयः पृथिवीमय आपोमयो वायुमय आकाशमयस्तेजोमयोऽतेजोमयः काममयो-

जलमय, वायुमय, आकाशमय, तेजोम, अतेजोमय, काममय, अकाममय, क्रोधमय, अक्रोधमय, धर्ममय, अधर्ममय और सर्वमय है (अर्थात् बुद्धि, मन, प्राण, नेत्रादि, पृथिव्यादि एवं अन्तःकरण के कामादि जो

बुद्धिस्तेनोपलक्ष्यमाणस्तन्मयः । 'कतम आत्मेति योऽयं विज्ञानमयः प्राणेष्विति ह्युक्तम् । *'विज्ञानमयो विज्ञानप्रायो यस्मा'त्तद्धर्मत्वमस्य विभाव्यते 'ध्यायतीव लेला-

---

मित्याह—कतम इति । कस्मिन्नर्थे मयट् प्रयुज्यते तत्राऽऽह—विज्ञानेति । उक्ते मयडर्थे हेतुमाह—यस्मादिति । बुद्धध'र्माध्यासा'त्तद्धर्मस्य कर्तृत्वादेरात्मनि प्रतीतिरित्यत्र मानमाह—ध्यायती-

---

"विज्ञानमयः" अर्थात् (भूख-प्यासादि धर्मों से परे होते हुए भी) बुद्धि में उपलक्षित होने के कारण विज्ञानमय अथवा बुद्धिप्राय है। "(देह, इन्द्रिय और प्राणों में) आत्मा कौन सी है, यह बुद्धिरूप विज्ञान की उपाधि के सम्पर्क के अविवेक से विज्ञानमय है; प्राणों से व्यतिरिक्त है" ऐसे पहले ही श्रुति प्रतिपादित कर चुकी है। विज्ञानमय का अर्थ विज्ञानप्राय यानी बुद्धि सदृश बुद्धय् पहित है क्योंकि "ध्यान करता हुआ सा, चेष्टा करता हुआ सा" इस श्रुति में आत्मा का विज्ञानधर्मत्व प्रतीत होता है। इसी

---

१ बृ उ ४ ३ ७। २ विज्ञानाधिष्ठानमपि सत्तादात्म्याध्यासात्तन्मयो स्रगिव सर्पमयी । ३. विज्ञानधर्मत्वमात्मन प्रतीयते। ४ बृ उ ४ ३ ७। ५ बुद्धिधर्मस्य ।

ऽप्यद्यत इत्यर्थ.॥ आत्मनो वास्तव वृत्तमुक्त्वा विज्ञानमय इत्यादेस्तात्पर्यमाह—यथोक्तेति । तामेव स्फुटयति—विज्ञानादीति ॥ उक्तेऽर्थे यस्येत्यादि भाष्य योजयति—आत्मेति । विज्ञानमयादिवाक्यमत्रेति परामृश्यते ॥ अज्ञानादेव विज्ञानादियोगद्वारा ससरतु किं तावता ते लभ्यते तदाह—यत इति ॥ अविद्यावशादात्मनो बन्धश्चेदुक्त सिध्येन्न चासावविद्यो मानाभावादित्याशङ्क्याऽऽह—अविद्येति । अत्रान्वयव्यतिरेकौ हेतूकर्तु हिशब्द ॥ तत्रैव श्रुति सवादयति—इत्यस्येति ॥ बन्धस्याऽऽविद्यत्वे युक्तिमाह—यदीति । शास्त्रारम्भस्य विद्यार्थत्वात्तस्या समूलानर्थध्वंसार्थत्वाद्विद्याविद्ययोरेव विरोधप्रसिद्धेराविद्यो बन्धो युक्तोऽन्यथा शास्त्रारम्भासंभवादित्यर्थः ।

* विज्ञानमय इत्यादि तत्तन्मयो भवतीत्यन्तभाष्ये वार्तिकानि । तथाहि—"प्राणात्मत्वाभिमानी सन्यत. प्राण. प्रसूयते । प्राणप्राणोऽपि सम्मोहात्प्राणनादि प्रपद्यते ॥ ततो बुद्धिसमुपस्तो विज्ञानोऽस्मीतिभावत. । विज्ञानमयतामेति स्रक्सर्पमयतामिव ॥ मनसो ग्रहण चात्र बुद्धिवृत्त्युपलक्षणम् । समुद्धौ यतो हेतु सर्वेषामिन्द्रियात्मनाम् । कर्मेन्द्रियाणा सार्थाना प्राण कारणमुच्यते । स एव बुद्धयतिशय श्रोत्रादेरपि कारणम् ॥ स्वाम्यस्तभावनातोऽस्य श्रुतकर्मानुरोधत । प्राणो बुद्धिर्मनश्चक्षु श्रोत्राद्यशस्य जायते ॥ प्रायार्थे च मयट्ज्ञेयो विकारादेर्निषेधनात् । अविज्ञातात्मतत्त्वस्य विकारो वाऽस्त्वदोषत ॥ सर्पादयो यथा रज्ज्वा विकार स्युरबोधत. । अज्ञानादात्मनस्तद्वत्तेजोबन्नादिविक्रिया ॥ न हि वेदान्तसिद्धान्ते ह्यज्ञातात्मातिरेकत । सांख्यानामिव सिद्धान्ते लभ्यते कारणान्तरम् ॥ प्राणादिमयता यात्वा तद्वृत्तीनामबोधत । आत्माऽकर्ताऽपि कर्तृत्वमेति तासां समुद्भवे ॥ चक्षुरचक्षुरप्येव यथा चक्षुर्मयस्तथा । श्रोत्रादिमयताऽप्यस्य व्याख्येया प्रत्यगात्मन. । स विज्ञानमन.प्राणचक्षु श्रोत्रादि मोहजम् । मन्वानोऽविद्यया।ऽऽत्मेति तन्मयत्व न तु स्वत." ॥ १७२-१८२ ॥ इति । उत्तरग्रन्थतात्पर्यमुक्त्वा पाठक्रममविवक्षित्वा प्राणमय इत्यस्यार्थमाह—प्राणेति । यस्मात्प्रतीच सकाशात्प्राणो जायत

ऽकाममयः क्रोधमयोऽक्रोधमयो धर्ममयोऽधर्ममयः सर्वमय'स्तद्यदेतदिदंमयोऽदोमय इति ।यथाकारी यथाचारी तथा भवति साधुकारी साधुर्भवति पाप-

विकार हैं, इनमें से जिनके साथ वह तन्मय होता है, उस समय वह तद्रूप ही प्रतीत होने लगता है)। किंबहुना—जो कुछ इदमय प्रत्यक्ष वस्तु और अदोमय परोक्ष वस्तु है, सब वह ब्रह्म ही है। वह जैसा करने वाला तथा जैसा आचरण वाला होता है, उसके साथ तादात्म्य हुआ वैसा ही प्रतीत होने लगता है। पुरुष शुभ कर्म करते समय उसमें तन्मयता के कारण शुभ होता है और पापकर्मा पुरुष पापी हो

यतीवेति। तथा 'मनोमय 'मनःसंनिकर्षान्मनोमयः। तथा प्राणमयः प्राणः पञ्चवृत्तिस्त-न्मयो येन चेतनश्चलतीव लक्ष्यते। तथा चक्षुर्मयो रूपदर्शनकाले। एवं श्रोत्रमयः शब्द-श्रवणकाले। 'एवं 'तस्य 'तस्येन्द्रियस्य व्यापारोद्भवे 'तत्तन्मयो भवति।

वेति। मन.संनिकर्षा'त्तेन द्रष्टव्यतया संबन्धादिति यावत्। चक्षुर्मयत्वादेरुपलक्षणत्वमङ्गीकृत्याऽऽह—एवमिति।

प्रकार "मनोमय."अर्थात् मन के तादात्म्य होने से मनोमय है। इसी प्रकार "प्राणमय." अर्थात् पञ्च-वृत्त्यात्मक प्राण वाला है क्योंकि वह चलता हुआ सा देखा जाता है। इसी प्रकार रूपदर्शन करने के समय वह चक्षुर्मय है। इसी प्रकार शब्द श्रवण काल में वह श्रोत्रमय है। चक्षुर्मयत्वादि के समान उस अनुक्त ज्ञानेन्द्रिय और कर्मेन्द्रिय के व्यापार का उद्भव होने से वह त्वगादिमय और वागादिमय होता है।

---

१ व्यक्ताव्यक्तस्य जगतो धर्माधर्मकार्यत्वाद्धर्माधर्ममयो भूत्वा सर्वमयो भवतीत्युक्त तत्राऽव्यक्तमयत्व कथमवगन्तु शक्यते इत्यपेक्षाया दृश्यमानचेष्टादिलक्षणेन इदमयत्वलिङ्गेन तत्कारणीभूत परोक्षमपि भावनात्मकमदोमयत्व-मनुमेयमित्यभिप्रेत्याह—तदिति। तदेतत् सर्वमयत्व सिद्ध यद् यस्माद् इदमयस्तेन चादोमय इति। असङ्गा-द्वितीयस्यात्मन' प्राणादिमयत्वे हेतुमाह—यथाकारीत्यादिना। यथेत्यादि व्याकरोति—साध्विति। २ मन-स्तादात्म्यात्। ३ चक्षुर्मयत्वादिवत्। ४ अनुक्तस्य। ५ ज्ञानेन्द्रियस्य कर्मेन्द्रियस्य च। ६ त्वगादिमयो वागादिमयश्च। ७ तेनेति—मनसैवेदमाप्तव्यमित्यादिश्रुतेर्मनो द्रष्टव्यत्वमात्मनो मन सबन्ध इत्याह।

एतस्माज्जायते प्राण स प्राणमसृजतेत्यादिश्रुते स प्राणस्य प्राणमिति श्रवणात्प्राणप्राणोऽपि मोहात्प्राणोऽस्मीति-तादात्म्याभिमानी भूत्वा प्राणनादिक्रिया प्राप्नोतीत्यर्थ ॥ चलन विना विज्ञानादिमयत्वायोगादादौ प्राणमयत्व प्रदर्श्य विज्ञानमयत्व व्याचष्टे—तत इति। मनोमय इत्यस्यार्थमाह—बुद्धीति ॥ बुद्धिर्मनस्तच्च बुद्धिवृत्ती-नामनुक्तज्ञानेन्द्रियाणा प्राणवृत्तीना च कर्मेन्द्रियाणामुपलक्षणमतस्त्वगादिमयत्वं वागादिमयत्व चाऽऽत्मनो द्रष्टव्य-मित्याह—मनस इति। कथमिन्द्रियाणा बुद्धिप्राणवृत्तिमत्त्वमात्मवृत्तित्वोपगमादित्यत आह—प्रसुवुद्धी इति। अतस्तेषा तत्कार्यत्वेन तद्वृत्तित्वात्राऽऽत्मधर्मतेति शेष ॥ ननु मन' सर्वेन्द्रियाणि चेत्यात्मकार्यत्वेन तद्धर्मत्व-मिन्द्रियाणा श्रूयते तत्कथ प्राणादिकार्यत्वेन तद्वृत्तितेत्याशङ्क्य कारणत्व तेषु प्राणबुद्धयोर्विविच्य दर्शयति——कर्मेति। प्राण एव बुद्धिलक्षणविलक्षणाकारो भूत्वा श्रोत्रादे सविपयस्य हेतुर्मन स्पन्दनमेव द्वैतमिति स्थितेरित्याह

कारी पापो भवति [1]पुण्यः पुण्येन कर्मणा भवति पापः पापेन । [2]अथो खल्वाहुः काममय एवायं पुरुष इति स यथाकामो भवति [3]तत्क्रतुर्भवति यत्क्रतुर्भवति [4]तत्कर्म कुरुते यत्कर्म कुरुते [5]तदभिसंपद्यते ॥ ५ ॥

जाता है। (ब्रह्म स्वरूप को भूल कर कर्म तथा उनके साधनों में तन्मयता के कारण ही) पुरुष पुण्य कर्म से पुण्यात्मा होता है और पाप कर्म से पापी होता है। फिर भी कुछ लोग कहते हैं—यह पुरुष काममय है। वह जैसी कामना वाला होता है, वैसा ही सकल्प करता है। जैसे सकल्प वाला होता है, वैसे ही शरीरादि साधनों से आचरण करता है (अत ब्रह्म के सर्वमयत्व और ससारित्व में कामना ही कारण है) ॥ ५ ॥

एवं बुद्धिप्राणद्वारेण चक्षुरादिकरणमयः सन्[6]शरीरारम्भकपृथिव्यादिभूतमयो भवति । [7]तत्र पार्थिवशरीरारम्भे पृथिवीमयो भवति । तथा वरुणादिलोकेष्वाप्यशरीरारम्भ आपोमयो

उक्तमनूद्य [8]सामान्येन भूतमयत्वमाह—एव बुद्धीति । भूतमयत्वे सत्यवान्तरविशेषमाह—तत्रेत्यादिना । न चाऽऽकाशपरमाण्वभावादाकाशस्य शरीरानारम्भकत्व श्रुतिविरुद्धारम्भप्रक्रियान-

---

इस प्रकार बुद्धि और प्राण के द्वारा वह चक्षुरादि इन्द्रियो स सूक्ष्म शरीर विशिष्ट होकर शरीरारम्भक पृथिव्यादि भूतमय यानी स्थूलदेहविशिष्ट हो जाता है। सामान्यत भूतमय होने पर पार्थिवशरीर के आरम्भ मे पृथिवीमय हो जाता है। इसी प्रकार वरुणादि लोको मे जलीय शरीर

---

१ सकृदनुष्ठानादपि फलति कर्म पौन पुन्य तु फलेऽतिशयप्रयोजकमित्यभिप्रायेण ताच्छील्यप्रत्यय विहाय उपदिष्टमेवार्थं स्पष्टयति—पुण्य इत्यादिना । २ पुण्यापुण्ययोरेव ससारासाधारणकारणत्वमित्युक्त पूर्वपक्षीकृत्याऽविद्यामूलक काम एव ससारासाधारणकारणमिति सिद्धान्तमाह—अथो इति । उक्तपूर्वपक्षान्तरम् । कामो विषयादीच्छा तन्मय एव धर्मादीनामपि काममूलकत्वात् । ३ तादृक्क्रतु । ४ तादृक । ५ तदीयफलम् । ६ सूक्ष्मशरीरविशिष्ट सन् स्थूलदेहविशिष्टो भवतीति यावत् । ७ सामान्यतो भूतमयत्वे सति । ८ भूतत्वजात्याक्रान्तत्वेनेत्यर्थ ।

—स एवेति । आत्मा हि भूतानि सृष्ट्वा तदात्मना प्राणो भूत्वा शक्तिद्वयावष्टम्भेन सर्वमिन्द्रियवर्गं सृजतीत्याथर्वणश्रुत्यर्थं पाठक्रमस्याविवक्षितत्वात्तदुक्त प्राणबुद्धिकार्यत्वेन तद्वृत्तित्वमिन्द्रियाणामिति भाव ॥ ननु प्राणादीनाममन्नोदासीनात्मकार्यत्वे किं कारणमित्याशङ्क्य निमित्तकारणमाह—स्वाम्यस्तेति । उपादानकारणमाह—भ्रशस्येति ॥ अस्मिन्प्रकरणे श्रूयमाणस्य मयटोऽर्थमाह—प्रायार्थ इति । तत्र हेतु—विकारादेरिति । प्राणादिविकारत्वतत्स्वरूपत्वतदधीनत्वादेरात्मन्यप्राणो ह्यमना शुभ्रो न जायते म्रियते वेत्यादिश्रुत्या निषेधादित्यर्थ । मयटो विकारार्थत्वमुपेत्यापि स्वमते दोषराहित्यमाह—अविक्षातेति । विकारो वा मयडर्थोऽस्त्ववशात्स्याऽऽत्मन

भवति । तथा वायव्यशरीरारम्भे वायुमयो भवति । तथाऽऽकाशशरीरारम्भ आकाशमयो भवति । [1]एवमेतानि [2]तैजसानि देवशरीराणि । तेष्वारभ्यमाणेषु तन्मयस्तेजोमयो भवति । [3]अतो व्यतिरिक्तानि पश्वादिशरीराणि नरकप्रेतादिशरीराणि [4]चातेजोमयानि तान्यपेक्ष्या-ऽऽहातेजोमय इति । [5]एवं कार्यकरणसंघातमयः सन्नात्मा प्राप्तव्यं वस्त्वन्तरं पश्यन्निदं मया प्राप्तमदो मया प्राप्तव्यमित्येवं विपरीतप्रत्ययस्तदभिलाषः [6]काममयो भवति ।

भ्युपगमादित्यभिप्रेत्याऽऽह—तथाऽऽकाशेति । कथं पुनर्धर्मादिमयत्वे कामादिमयत्वमुपयुज्यते तत्राऽऽह

आरम्भ मे आपोमय हो जाता है । इसी तरह वायव्य शरीर के आरम्भ मे वायुमय हो जाता है । तथा आकाश शरीरारम्भ में आकाशमय हो जाता है । इस प्रकार यह पूर्वोक्त पुण्य के प्रभाव से उत्पन्न तैजस दिव्य शरीर है । उनके आरम्भ होने पर तेजोमय हो जाता है । तैजस शरीरो से भिन्न पाप से उत्पन्न पश्वादि शरीर नारकीय एवं प्रेतादि के शरीर हैं, उन्हे देखकर श्रुति मे "अतेजोमय" कहा जाता है । इस प्रकार यह आत्मा देहेन्द्रियसघातमय होकर प्राप्त करने योग्य दूसरी वस्तु को देखता हुआ 'यह मुझे प्राप्त है, यह प्राप्त करनी शेष है" इस प्रकार विपरीत प्रत्ययुक्त होकर उसकी अभिलाषा म

---

१. एवमेतानीति—एतानि पूर्वोक्तानि । तैजसानि—पुण्यप्रभवानीति यावत् । देवेति—दिव्यानि स्तुत्यानि प्रशस्तानि शरीराणीति यावत् । पूर्वोक्तशरीराणां तैजसत्वस्थापनाय मूले तेजोमयस्यान्ते ग्रहणं कृतमन्यथा आपोमयाऽनन्तरमेव पठ्येत अपां तेजःकार्यत्वादिति विभावनीयम् । स्वगतदीप्तिविशेषशालित्वाद्वा तानि तैजसानि । २. एवमेतानि तैजसानि देवशरीराणीति—वाक्प्रधानत्वात्तानि तैजसानि "तेजोमयी वाग्" इति श्रुतेः । शक्यते हि मनुष्यादिभिरृगादिरूपा वाग्यथेष्टमुच्चारयितुं पश्वादिभिस्तु नैवमिति तेषामतैजसानि शरीराणि तैजसत्वादेव च तानि देवशरीराणि दिव्यानीत्यर्थः । स्तुत्यानि प्रशस्तानीति यावत् । यद्वा तैजसानि पुण्यप्रभवानि । पुण्यं हि तेजः सत्त्वप्रभवत्वात् सत्त्वं च प्रकाश इति । स्वगतदीप्तिविशेषशालित्वाद्वा तैजसानि । ३. यथोक्ततैजसशरीरेभ्यः । ४. पापप्रभवानीति यावत् । ५. विज्ञानमय इत्यारभ्य पृथिवीमय इत्यतः प्राक्तन-वाक्येन सूक्ष्मो लिङ्गदेहो व्यापित्वात् प्रधानो व्याख्यातः । पृथिवीमय इत्यारभ्य काममय इत्यतोऽर्वाक्तनवाक्येन स्थूलो देहो व्याप्यतया गुणो दर्शितस्तौ च पाञ्चभौतिकौ मिथश्च कार्यकारणभूतौ पूर्वोक्तशरीरयोपदिष्टौ तत्सिद्ध-मात्मनो देहद्वयमयत्वमित्यभिप्रेत्याह —एवमिति । ६. तत्तादात्म्यापन्न ।

कारणत्ववत्प्राणादिविकारत्वे दोषाभावादित्यर्थः ॥ परस्याज्ञानात्कारणत्वं दृष्टान्तेनाऽऽह—सर्पादय इति । किमित्यात्मनोऽज्ञस्य कारणत्वं प्रधानादिकारणान्तरसंभवादत आह—न हीति । स्वसिद्धान्तस्य श्रुतिस्मृतिन्याया-नुसारित्वं हिशब्दार्थः ॥ परस्याज्ञानात्कारणत्वे श्रुतिसिद्धेऽपि प्रकृते किमायातं तदाह—प्राणादीति । परो हि प्राणाद्युत्पाद्य तद्रूपेण स्थित्वा तद्विकाराणामिन्द्रियाणां च वस्तुतोऽकर्ताऽप्यबोधतस्तदुद्भवे कर्ता भवतीत्यर्थः । उक्तं हि—"कारणं पुरुषस्तस्मात्कारणज्ञैरुदाहृतः । न चेत्कारणमात्मा स्यात्सुखादयः स्युरहेतुकाः" इति ॥ चक्षुर्मय इत्यादेरर्थमाह—चक्षुष इति । प्राणादेः प्राणादिरपि यथा प्राणादिमयस्तथा चक्षुषश्चक्षुरपि यथाऽऽत्मा चक्षुर्मयस्तथाऽस्य श्रोत्रादिमयताऽप्यज्ञानाधीना द्रष्टव्येति योजना ॥ प्राणादिमयत्वमस्य वास्तवमस्तु किमज्ञाने-नेत्याशङ्क्याऽऽह—स विज्ञानतीति । आत्मा विज्ञानाद्यज्ञानजन्यमहंत्वेनाभिमन्यमानस्तन्मयत्वं भ्रान्त्या निगच्छति वस्तुतस्तु कूटस्थासङ्गाद्वितीयो न तन्मयो भवतीत्यर्थः । उक्तं हि—'अव्यक्तमात्मा क्षेत्रज्ञः शाश्वतो विभुरव्ययः' इति ॥

तस्मिन्कामे दोषं पश्यतस्तद्विषयाभिलाषप्रशमे चित्तं प्रसन्नमकलुषं शान्तं भवति तन्मयोऽकाममयः । एवं तस्मिन्विहते कामे केनचित्स कामः क्रोधत्वेन परिणमते तेन तन्मयो भवन्क्रोधमयः । स क्रोधः केनचिदुपायेन निवर्तितो यदा भवति तदा प्रसन्नमनाकुलं चित्तं सदक्रोध उच्यते तेन तन्मयः । एवं कामक्रोधाभ्यामकामक्रोधाभ्यां च तन्मयो भूत्वा धर्ममयोऽधर्ममयश्च भवति । न हि कामक्रोधादिभिर्विना धर्मादिप्रवृत्तिरुपपद्यते ।

"यद्यद्धि कुरुते कर्म तत्तत्कामस्य चेष्टितम्"

—न हीति । कथं धर्मादिमयत्वं सर्वमयत्वे कारणमित्याशङ्क्याऽऽह—समस्तमिति ।

तादात्म्यापन्न हो जाता है । उस इच्छा में दोष देखने पर तद्विषयक अभिलाषा से उपरत हो जाने पर चित्त प्रसन्न, कामकालुष्यरहित, विक्षेपवर्जित हो जाता है, उस प्रकार का चित्त अकाममय होता है । काममय और अकाममय के समान ही किसी के द्वारा काम में विघ्न प्रस्तुत करने पर काम क्रोध में बदल जाता है, तादात्म्यापन्न होकर क्रोधमय हो जाता है । वह क्रोध जब (विचारादि) किसी उपाय से निवृत्त हो जाता है, तब चित्त स्वच्छ, आकुलतारहित हुआ अक्रोध कहा जाता है, उस चित्त से तादात्म्यवान् अक्रोधमय कहाता है । इस प्रकार कामक्रोधमय और अकाम-अक्रोधमय होकर धर्ममय और अधर्ममय होता है क्योंकि काम-क्रोधादि के बिना धर्मादि में प्रवृत्ति संभव नहीं है । इसीका स्मृति समर्थन करती है । 'जो-जो कुछ भी जीव कर्म करता है, वह सब काम की चेष्टा करता है" । धर्ममय

१ अकलुषम्—कामकालुष्यरहितमत एव प्रसन्नं स्वच्छं शान्तं विक्षेपवर्जितम् तन्मय तादृशचित्ततादात्म्यापन्न इत्यर्थ । २ एवम्—कामाकाममयत्ववत् । ३ तादात्म्यापन्नः । ४ विचारादिना । ५ स्वच्छम् । ६ व्याकुलत्वरहितम् । ७ तादृशचित्तेन सह तादात्म्यवान् । ८ एवं कामक्रोधाभ्यामकामक्रोधाभ्यां च तन्मयो भूत्वा धर्ममयोऽधर्ममयश्च भवतीति । नात्र यथासंख्यमन्वय अपितु कामे न धर्ममयोऽधर्ममयश्च भवतीत्येव प्रत्येक धर्माधर्ममयत्वान्वय । सत्कामनया हि धर्मे प्रवर्तमानो धर्ममयो भवति कामेन असत्कामनया चाधर्ममय कामेन, एव क्रोधेनापि प्रवर्तमानो धर्मे युद्धादौ क्षत्रियादिर्धर्ममय क्रोधेन चाधर्मे प्रवर्तमानोऽधर्ममयः एवमसत्काम जिह्मालन्धर्ममयोऽकामेन विहितेष्वप्यकामतोऽप्रवर्तमान प्रत्यवायादधर्ममयोऽकामेन एवमक्रोधादहिंसन् धर्ममयोऽक्रोधेन दण्डानप्यक्रोधेनादण्डयन्नधर्ममयो भवत्यक्रोधेन राजेति । यथासङ्ख्यमन्वये त्वित्थं कथंचिद्योज्य तथाहि—अकामक्रोधाभ्यामित्यस्य कामक्रोधाभावरूपाभ्यामित्यर्थ. । धर्ममयोऽधर्ममयश्चेत्यत्र धर्माधर्मशब्दौ विहितप्रवृत्तिमय कामक्रोधाभावरूपाभ्यामक्रोधाभ्यां च तन्मयो भूत्वा विहितप्रवृत्त्यभावमयश्च भवतीति तदर्थं । धर्मादिप्रवृत्तिरित्यस्य धर्मादिरूपा प्रवृत्तिरित्यर्थं । तथा च कामक्रोधावन्तरेण विहितप्रवृत्त्यभिन्ना प्रवृत्तिर्यथोक्ताकामक्रोधावृते विहितप्रवृत्त्यभावाभिन्ना प्रवृत्तिश्च नैव सम्भवतीति तदर्थ. । व्याहृतमित्यस्य बन्धमोक्षाख्यमुच्चावचयोन्यात्मक वेत्यर्थं । तथा च धर्मशब्दितविहितप्रवृत्ते फल बन्धोऽधर्मशब्दितस्य विहितप्रवृत्त्यभावस्य विवेकादिपुरःसरत्वे मोक्ष फल विवेकादिपूर्वकत्वाभावे तु तस्य तिर्यगाद्यवचयोनिः फल यथोक्तधर्मफल तु बन्धाख्यदेवाद्युच्चयोनिरूपमेवेति तदर्थ इत्यप्याहु. ।

१. प्रवृत्ति प्रकृष्टा अचला वृत्ति. स्थितिरौदासीन्यस्थितिरिति यावत् । २ बन्धो देवाद्युच्चयोन्याख्य ।

इति स्मरणात् । धर्ममयोऽधर्ममयश्च भूत्वा सर्वमयो भवति । समस्तं धर्माधर्मयोः कार्यं यावत्किञ्चि[1]द्व्याकृतं तत्सर्वं धर्माधर्मयोः फलं तत्प्रतिपद्यमानस्तन्मयो भवति ।

किं बहुना [2]तदेतत्सिद्धं[3]मस्य[4] [5]यदयमिदंमयो [6]गृह्यमाणविषयादिमयस्तस्मादयम[7]दोमयः । अद इति [8]परोक्षं कार्येण [9]गृह्यमाणेन [10]निर्दिश्यते । अनन्ता ह्यन्तःकरणे [11]भावनाविशेषाः । नैव ते विशेषतो निर्देष्टुं शक्यन्ते । तस्मिंस्तस्मिन्क्षणे कार्यतोऽवगम्यन्त इदमस्य हृदि वर्ततेऽदोऽस्येति । तेन गृह्यमाणकार्येणेदंमयतया[12] निर्दिश्यते परोक्षोऽन्तःस्थो व्यवहारोऽयमिदानीमदोमय इति । संक्षेपतस्तु यथा कर्तुं यथा वा चरितुं शीलमस्य सोऽयं

तद्धेतवित्यादेरर्थमाह—किं बहुनेति । विषयः शब्दादिस्ततो[13]ऽन्यदपि प्रत्यक्षतो गृह्यमाणमादिशब्दार्थः । इदमयत्वमदोमयत्वे गमकमित्याह—तस्मादिति । विशेषत[14]स्तन्मयत्वोक्तिं विना किमिति सामान्योक्तिरित्याशङ्क्याऽऽह—अनन्ता हीति । तदस्तित्वे मानमाह—तस्मिन्निति । अवगतिप्रकारमभिनयति—इदमस्येति । इदमयत्वमदोमयत्वं चोपसंहरति—तेनेत्यादिना । परोक्षार्थं व्याकरोति—अन्तःस्थ इति । [15]व्यवहितविषयव्यवहारवानिति यावत् । इदानीमित्यस्मादुपरिष्टादपि तेनेति सबध्यते । [16]परोक्षत्वावस्थैवानीमित्युक्ता । [17]तृतीयया [18]च प्रकृतो व्यवहारो निर्दिश्यते । इतिशब्दः सर्वमयत्वोप-

---

और अधममय होकर सर्वमय हो जाता है । जितना कुछ नामरूप से अभिव्यक्त होता है, वह सभी कुछ धर्म और अधर्म का कार्य है, वह सब धर्म और अधर्म का फल है । उन्हे प्राप्त करने वाला धर्ममय-अधर्ममय हो जाता है ।

अधिक क्या कहा जाय । इस आत्मा का सर्वमयत्व सिद्ध है क्योकि यह "इदंमय" यानी प्रत्यक्ष गृह्यमाण विषयादिमय है, इसी से यह अदोमय (परोक्षविषयादिमय) है । प्रत्यक्ष कार्य से गृह्यमाण परोक्ष वस्तु समूह का "अद" इस शब्द मे निर्देश किया जाता है । क्योकि अन्त करण मे रागादिरूप अनन्त भावनाविशेष है । उन सभी का अलग-अलग निर्देश करना सभव नही है । उस-उस क्षण मे उनके कार्य से ही जाना जाता है कि इसके हृदय मे यह है और उसके हृदय मे वह है । उस गृह्यमाण कार्य इदमयत्व निर्देश किया जाता है और जो अन्त करण मे स्थित परोक्ष व्यवहार है, वह इस समय अदोमय है । सक्षेपत जिसका जैसा करने का स्वभाव है, वह यथाकारी है, तथा जिसका जैसा आचरण करने के स्वभाव है, वह यथाचारी है । इस प्रकार वह यथाकारा और यथाचारी हो जाना है । 'करण' नाम मानाधीन

---

१ नामरूपाभ्यामभिव्यक्तम् । २ सर्वमयत्वम् । ३ आत्मन । ४ कुत । ५ यस्मात् । ■ प्रत्यक्षत । ७ परोक्षविषयादिमय । ८ वस्तुजातम् । ६ प्रत्यक्षेण । १० निर्दिश्यत इति—यत्किमपि कर्म शुभाशुभचेष्टारूप साक्षादालक्ष्य ते तदिदमित्येवोच्यते तेन प्रत्यक्षेण लिङ्गेन भावनारूप परोक्षमद शब्दित तद्धेतुत्वेनानुमीयते तेन चेदमयत्वेन लिङ्गेनादोमयत्वमात्मनोऽनुमेयमिदमयत्वादोमयत्वयोर्धूमाग्न्योरिव सवन्धस्यात्मनि दृष्टत्वायुक्त हि कार्येण कारणनुमानमिति भाव । ११ रागादिरूपा । १२. मयत्वेन । १३ घटादि । १४ अदोमयत्वोक्तिम् । १५ अदोमय शब्दार्थमाह—व्यवहितेति । १६ विषयस्य । १७ तेनेत्यनया । १८ तथाचेदमयत्वे नेति यावत् ।

यथाकारी यथाचारी स तथा भवति। करणं नाम 'नियता क्रिया विधिप्रतिषेधाविगम्या चरणं 'नामानियतमिति विशेषः। साधुकारी साधुर्भवतीति यथाकारीत्यस्य "विशेषणं पापकारी पापो भवतीति च यथाचारीत्यस्य।

ताच्छील्यप्रत्ययोपादानादत्यन्ततात्पर्यतयैव तन्मयत्वं न तु तत्कर्ममात्रेणेत्याशङ्क्याऽऽह 'पुण्यः 'पुण्येन कर्मणा भवति 'पापः पापेनेति। पुण्यपापकर्म'मात्रेणैव 'तन्मयता स्यान्न तु ताच्छील्यमपेक्षते"। "ताच्छील्ये तु "तन्मयत्वातिशय इत्ययं विशेषः। "तत्र" कामक्रोधादिपूर्वकपुण्यापुण्यकारिता सर्वमयत्वे हेतुः संसारस्य कारणं "देहाद्देहान्तरसंचारस्य च। "एतत्प्रयुक्तो "ह्यन्यदन्यद्देहान्तरमुपादत्ते। "तस्मात्पुण्यापुण्ये संसारस्य कारणम्।

सहारार्थं। विज्ञानमयादिवाक्यार्थं सक्षिपति—सक्षेपतस्त्विति। करणचरणयोरैक्येन पौनरुक्त्यमाशङ्क्याऽऽह—करण नामेति। आदिशब्द. शिष्टाचारसग्रहार्थः।

वाक्यान्तर शङ्कोत्तरत्वेनोत्थाप्य व्याचष्टे—ताच्छील्येत्यादिना। कुत्र "तर्हि ताच्छील्यमुपयुज्यते तत्राऽऽह—ताच्छील्य त्विति। "पूर्वपक्षमुपसहरति—तत्रेत्यादिना"। कर्मण' ससारकारणत्वमुपसहरति— एतत्प्रयुक्तो हीति। ससारप्रयोजके कर्मणि प्रमाणमाह—एतद्विषयो हीति। कथ यथोक्त-

क्रिया का है, जो विधि और प्रतिषेध शास्त्र से नियन्त्रित होती हो, 'चरण' नाम मान से निरपेक्ष का नाम है, यही इसमें विशेषता है। 'यथाकारी' इसीका विवरण है कि साधुकारी साधु हो जाता है; 'यथाचारी' का विवरण है कि पापचारण करने वाला पापी हो जाता है।

"यथाकारी और यथाचारी मे" ताच्छील्यार्थक 'णिनि' प्रत्यय होने से कर्म में अत्यन्त तत्परता का शील होना ही तन्मयता है। सकृद् अनुष्ठित कर्म से ही तन्मयता नही आती। इसी आशङ्का से श्रुति कहती है—पवित्र शास्त्रीय कर्म से उत्कृष्ट देवादि की प्राप्ति एव शास्त्रप्रतिषिद्ध पाप कर्म से तिर्यगादि पाप योनियो की प्राप्ति होती है अर्थात् पुण्यपापमय कर्ममात्र से तत्फलभाक्ता आती है, उसके लिये ताच्छील्य की कोई अपेक्षा नही। (अभ्यासरूप) ताच्छील्य होने पर फलातिशय होगा; यही यहाँ विशेषता है। इस प्रकार कामक्रोधादि पूर्वक पुण्य और अपुण्य का अनुष्ठान करना जीव के सर्वमयत्व

१ मानाधीनेति यावत्। २ मानाधीनम्। ३ विवरणम्। ४ पुण्यपापयोर्भूयोऽभ्यासेनैव तत्फलभावत्व वर्तु स्यान्न तु सकृदनुष्ठितेन कर्मणेत्यर्थं। ५ उत्कृष्टो देवादि। ६ पवित्रेण शास्त्रीयेण। ७ कामक्रोधादिभूयिष्ठस्तिर्यगादि। ८ सकृदनुष्ठानमात्रत इति यावत्। ९ तत्फलभाक्ता। १० अन्यथातदनुष्ठानवैफल्यादिति भाव। ११ अभ्यासे सति। १२ फलातिशय इति यावत्। १३ तत्रेति—पुण्यादे फलप्रदानेऽभ्यासानपेक्षत्वे सतीत्यर्थं। १४ देहाद्देहान्तरेत्यादि—ससारस्येत्यस्यैवेद विशेषणम्। धर्माधर्मात्मक कर्म ससारानर्थकारणमिति यावत्। १५ कर्मप्रयुक्त। १६ यस्मात्। १७ तस्मात्—देहान्तरोपादानस्योक्तकर्मप्रयुक्तत्वात्। १८ सकृदनुष्ठानादेव फलसिद्धौ। १९ पूर्वपक्षमिति—"पुण्य पुण्येन कर्मणा भवती"ति वाक्येन पुण्यपापयोरेव ससारासाधारणकारणत्वमित्युक्त पूर्वपक्षमित्यर्थ। अत्र यद्वा यथाकारीत्यारभ्य यथो खल्वाहुरित्यतः प्राक्तनवाक्यस्य [illegible]
२० साफल्यमितीत्यन्तेन।

तिषेधौ'। 'अत्र शास्त्रस्य साफल्यमिति ।

'अथो अप्यन्ये बन्धमोक्षकुशलाः 'खल्वाहु'—सत्यं 'कामादिपूर्वके पुण्यापुण्ये शरीरग्रहणकारण तथाऽपि कामप्रयुक्तो 'हि पुरुषः पुण्यापुण्ये कर्मणी 'उपचिनोति कामप्रहाणे

कर्मविषयत्व विधिनिषेधयोरित्याशङ्क्याऽऽह—अत्रेति। इतिशब्दः पूर्वपक्षसमाप्त्यर्थः ।

सिद्धान्तमवतारयति—अथो इति। 'संसारकारणस्याज्ञानस्य प्राधान्येन 'कामः सहकारीति स्वसिद्धान्त समर्थयते—सत्यमित्यादिना। कामाभावेऽपि कर्मण. "सत्त्वं दृष्टमित्याशङ्क्याऽऽह—काम-

मे हेतु, उसके ससार का कारण तथा देह से देहान्तर सचरण में हेतु है क्योकि इन कर्मों से प्रयुक्त जीव अन्य-अन्य देहान्तर को प्राप्त करता है । इसलिये पुण्य और पाप ससार के कारण हैं। विधि और प्रतिषेध ससार प्रयोजक और प्रतिपादक हैं। यही कर्मकाण्डरूप शास्त्र की सफलता है ।

यहाँ बन्ध मोक्ष प्रतिपादन करने मे प्रवीण अन्य विचारक जोर से कहते हैं। यह ठीक नही है

१ एतद्विषयो संसारप्रयोजककर्मप्रतिपादको । २ अत्रेति—यथोक्तकर्मप्रतिपादकत्वे सति । शास्त्रस्य कर्मकाण्डस्य। तथा च कर्मण एव शुभाशुभफलहेतुषु प्रधानत्वाच्छुभमेव कर्मानुष्ठेयमभ्युदयमभीप्सुभिरित्यत्रैव कर्मकाण्डपर्यवसानमित्यवधेयम् । ३ अथो इति—पूर्वपक्षानन्तर सिद्धान्तप्राप्तेर्योग्यताद्योतकोऽथोशब्द । ४ खलुशब्दश्चात्र उच्चैरित्यर्थक। ५ कामादिपूर्वके पुण्यापुण्ये शरीरग्रहणकारणमिति—अत्र शरीरग्रहणकारणभिन्नमेव पुण्यापुण्ये इत्येव कारणान्तपदोत्तरविभक्त्यर्थैकत्वस्य पुण्यापुण्यपदार्थेऽन्वयबोधस्य पुण्यापुण्यपदार्थस्य द्वित्वावरुद्धत्वेन बाधाच्छरीरग्रहणकारणतावच्छेदकैककर्मत्ववती पुण्यापुण्ये इत्येव कर्मत्वविशिष्टपुण्यापुण्यपदार्थैकदेशे कर्मत्व एव निरुक्तैकत्वान्वयबोधो बोध्य । यथा वेदा प्रमाणमित्यत्र वेदपदार्थस्य चतुष्ट्वसंख्याऽवरुद्धतया प्रमाणपदोत्तरविभक्त्यर्थैकत्वस्यान्वयायोग्यत्वेन प्रमाणाभिन्न एको वेदा इत्यन्वयबोधस्य बाधात्प्रमाणत्वविशिष्टवेदपदार्थैकदेशे प्रमाणत्व एवोक्तैकत्वान्वयेन प्रमितिजनकतावच्छेदकैकप्रमाणत्ववन्तो वेदा इति शाब्दबोधस्तद्वत् । न च शक्त पदमित्यभ्युपगमाद्विभक्त्यर्थैकत्वस्य पदार्थतया पदार्थेनान्वयो न्याय्यो न तु पदार्थैकदेशे कर्मत्वादौ पदार्थ पदार्थेनान्वेति न तु पदार्थैकदेशेनेति नियमादिति साम्प्रतम् । निरुक्तनियमस्यौत्सर्गिकतया ऽसति बाधके एव न्याय्यत्वात् कथमन्यथोत्पन्नो घटो नष्टो घट इत्यादौ घटत्वविशिष्टघटपदार्थैकदेशस्य व्यक्तेरेवोत्पत्तिविनाशपदार्थयोरन्वय सर्वाभिमत । अत्र यथा जातेर्नित्यत्व विशिष्टान्वयबोधबाधक तथा प्रकृतेऽपि पदार्थस्य द्वित्वादिविरुद्धसंख्यावरुद्धत्वमिति । एव पुण्यपापे ससारस्य कारणमित्यादौ सर्वत्रायमेव पन्था । ६ वाङ्मन कायसाध्याया प्रवृत्ते काममूलतेत्यत्रान्वयव्यतिरेकयोरानुकूल्य वक्तु हिशब्द । ७ समनुतिष्ठति सम्पादयति । ८ ननु कामस्य ससारप्रयोजककार्यस्थानभूमित्वाभ्युपगमे प्रत्यगज्ञान तन्मूलमिति सिद्धान्तहानिरित्याशङ्क्याऽऽह—ससारकारणस्येति । तदुक्त वार्तिके—'प्रयोजकत्व कर्मादे कामप्राधान्यमीरितम् । प्रयोजकाना निष्ठात्वे न तु कामो विवक्षित ॥ यथा वस्त्वपरिज्ञान कामस्यापि प्रयोजकम्'॥ २१३-१४ ॥ इति । यद्यपि प्रकृतवाक्ये कामहेतुरज्ञानं न श्रुत तथाप्यज्ञाते प्रमाणप्रवृत्तिनियमादात्मनि श्रुतिप्रामाण्येऽज्ञानमश्रुतमपि तत्र तत्प्रवृत्तिहेतुतयेष्ट तथाच प्रतीचि दृश्यमान कामादि कारणान्तराभावादज्ञानमेव तत्त्वेन स्वीकरोतीति भाव । वार्तिके यथा—"प्रयोजकत्वेऽविद्येय यदि नामेह न श्रुता । मितिप्रवृत्तिहेतुत्वात्तथाप्यत्राऽऽश्रितैव सा" ॥ २१८ ॥ इति । ९ न तु कर्मेति भाव । १० सत्त्वमिति 'नेह कश्चित्क्षणमपी' ति स्मृते ।

तु कर्म विद्यमानमपि [1]पुण्यापुण्योपचयकरं न भवति। उपचिते अपि पुण्यापुण्ये कर्मणी कामशून्ये [2]फलारम्भके न भवतः। [3]तस्मात्काम एव संसारस्य मूलम्। तथाचोक्तमा[4]थर्वणे "कामान्यः कामयते मन्यमानः स कामभिर्जायते तत्र तत्र" इति। [5]तस्मा[6]त्काममय एवायं पुरुषो यदन्यमयत्वं तद[7]कारणं विद्यमानमपीत्यतोऽवधारयति काममय एवेति।

यस्मात्[8]स च [9]काममयः सन्याहशेन[10] कामेन यथाकामो भवति [11]तत्क्रतुर्भवति [12]स काम [13]ईषदभिलाषमात्रेणाभिव्यक्तो यस्मिन्विषये भवति [14]सो[15]ऽविहन्यमानः [16]स्फुटीभवन्क्रतुत्वमापद्यते। क्रतुर्नामाध्यवसायो निश्चयो यदनन्तरा क्रिया प्रवर्तते। यत्क्रतुर्भवति यादृक्काम-

प्रहाणे स्थिति। ननु कामाभावेऽपि नित्याद्यनुष्ठाना[त्]पुण्यापुण्ये संचीयेते तत्राऽऽह—उपचिते इति। यो हि पशुपुत्रस्वर्गादीननतिशयपुरुषार्थान्मन्यमानस्तानेव कामयते स तत्तद्भोगभूमौ तत्तत्कामसंयुक्तो भवतीत्याथर्वणश्रुतेरर्थः। श्रुतियुक्तिसिद्धमर्थं निगमयति—तस्मादिति। धर्मादिमयत्वस्यापि सत्त्वादव-धारणानुपपत्तिमाशङ्क्याऽऽह—यदिति।

स यथाकामो भवतीत्यादि व्याचष्टे—यस्मादित्यादिना। यस्मादित्यस्य तस्मादिति व्यवहितेन

कि कामादिपूर्वक पुण्य और पाप ही शरीरग्रहण मे कारण हैं, तथापि काम से प्रेरित पुरुष ही पुण्य-अपुण्य कर्मों को सपादित करता हैं। काम के न रहने पर तो वर्तमान कर्म भी पुण्यापुण्य का उत्पादक (अदृष्ट उत्पत्ति का प्रयोजक) नही होता। तथा कामनारहित होने पर (अपूर्वरूप मे) सचित पुण्य-पापकर्म फलारम्भ मे समर्थ नही होते। इसलिये काम ही ससार का मूल है। इसी को मुण्डकोपनिषत् मे बतलाया गया है, 'जो कामनाओ का ही सब कुछ मानता हुआ उनकी इच्छा करता है, वह उन कामनाओ से उस-उस पद को प्राप्त होता है"। इसलिए वह पुरुष काममय ही है, इसका जो अन्य-मयत्व है वह विद्यमान रहते हुए भी कारण नही है। इसी से श्रुति निर्धारित करती है—'यह सब काममय ही है'।

क्योकि वह आत्मा सामान्यत काममय होने से "यथाकाम" अर्थात जिस प्रकार के कर्मविशेष से युक्त रहता है, 'तत्क्रतु' अर्थात वैसे निश्चय वाला हो जाता है। जरा सी अभिलाषा लेकर भी की हुई कामना जिस विषय के प्रति होती है उस कामनाविषयक गुणस्मरण के अभ्यास से अप्रतिबद्ध प्रतिक्षण बढते हुए निश्चय को धारण करती है। "क्रतु" नाम अध्यवसाय या निश्चय का है, क्रिया

१ अदृष्टोत्पत्तिप्रयोजकम्। २ फलारम्भके न भवत इति—राग विना प्रमादोरनतऽपि दुरिते पुरुषस्य दोषाल्पत्व धर्मशास्त्रेप्युक्तम्—"चण्डालान्न प्रमादेन यदि भुञ्जीत यो द्विज। ततश्चान्द्रायण कुर्यान्मासमक व्रत चरेदि ति॥ तस्मादकामपूर्वक कर्माफलमिति भाव। ३ तस्मात्—काम पूर्विकाया कायिकादि त्रिविधप्रवृत्ते सफलत्वात्। ४ आथर्वण इति—इहापि प्रागुक्त 'आत्मैवेदमग्र आसीदेक एव सोऽकामयतेति'। 'यद्यद्धि कुरुते जन्तुरिति' स्मृतश्चेत्यपि वाच्यम्। ५ तस्मात् सर्वप्रवृत्तौ प्राधान्येन कामस्यैव प्रयोजकत्वात्। ६ काममय इति—'कामो गर्धोऽभिलाषश्च तृष्णेत्येकार्थवाचका"। ७ अकारणम्—काम विना फलाजनकम्। ८ आत्मा। ९ सामान्यत काममयत्यर्थं। १० काम-विशेषण युक्त। ११ तादृगध्यवसाय। १२ कामस्यैव क्रतुत्व वक्तु पातनिकामाह—सकाम इत्यादि भवन्नित्यन्तेन। १३ काम। १४ अविहन्यमान तद्विषयगुणस्मरणाभ्यासात्-अप्रतिबद्ध। १५ प्रति क्षण वर्धमान। १६ अपूर्वरूपे। १७ उत्पद्येत।

तदेष श्लोको भवति । तदेव सक्तः सह कर्मणैति लिङ्गं मनो यत्र निषक्तमस्य । प्राप्यान्तं कर्मणस्तस्य यत्किंचेह करोत्ययम् । तस्माल्लोकात्पुनरैत्यस्मै

उस विषय में यह मन्त्र भी है। इसका मन प्रधान लिङ्गदेह जिसमें अत्यन्त आसक्त होता है; उसमें ही अभिलाषा प्रकट कर कर्म के सहित उसी फल को वह प्राप्त करता है। इस संसार में यह जीव जो कुछ भी करता है; उस कर्म का फल प्राप्त करके उस लोक से कर्म करने के लिए पुनः

कार्येण क्रतुना' यथारूपः क्रतुरस्य सोऽयं यत्क्रतुर्भवति यत्कर्म कुरुते 'यद्विषयः क्रतुस्तत्फलनिर्वृत्तये यद्योग्यं कर्म, तत्कुरुते निर्वर्तयति । यत्कर्म कुरुते तदभिसंपद्यते, तदीयं फलमभिसंपद्यते । तस्मात्सर्वकामयत्वेऽस्य संसारित्वे च काम एव हेतुरिति ॥ ५ ॥

'तत्तस्मिन्नर्थ एष श्लोको मन्त्रोऽपि भवति' । तदेवेति तदेव गच्छति सक्त आसक्तस्तत्रोद्भूताभिलाषः सन्नित्यर्थः । कथमेति । सह कर्मणा यत्कर्म, फलासक्तः सन्नकरोत्तेन कर्मणा सहैव तदेति तत्फलमेति। किं तल्लिङ्गं मनः। मनःप्रधानत्वा'ल्लिङ्गस्य मनो लिङ्गमित्युच्यते ।

संबन्धः। इतिशब्दो ब्राह्मणसमाप्त्यर्थः ॥५॥

तत्रेति गन्तव्य'फलपरामर्शः । तदेव गन्तव्यं फलं विशेषतो ज्ञातुं पृच्छति—किं तदिति । प्रतीकमादाय व्याचष्टे—लिङ्गमिति । "योऽवगच्छति स प्रमात्रादिसाक्षी येन साक्ष्येण मनसाऽवगम्यते

उसके अनन्तर प्रवृत्त होती है। "यत्क्रतुर्भवति" अर्थात् जिस प्रकार के काम कार्यरूप निश्चय से युक्त यानी यथारूप क्रतु वाला होता है; "तत्कर्म कुरुते" अर्थात् जिस फलविषयक निश्चय होता है, उस फल की सिद्धि के लिए जो कर्म उपयुक्त है, उसे निष्पन्न करता है। जो कर्म करता है, "तदभिसंपद्यते" अर्थात् उसीका फल प्राप्त करता है । इसलिए इस आत्मा के सर्वमयत्व और संसारित्व में काम ही हेतु है ॥५॥

"तदेष श्लोको भवति" अर्थात् उस ब्राह्मणोक्त अर्थ में यह पूर्वार्ध मन्त्र है— "तदेवैति" यानी स्वर्गादिफल को जाता है, "सक्तः" अर्थात् आसक्त हो अथवा उसमें अपनी जागृत इच्छा रखते हुए। किस प्रकार जाता है ? "सह कर्मणा" अर्थात् जिस कर्म को फलासक्त होकर किया, उस कर्म साथ वह (स्वर्गादि) फल को प्राप्त होता है। उसका लिङ्ग क्या है ? मन ही है। सत्तरह लिङ्गों में मन ही प्रधान होने से मन ही 'लिङ्ग'-शब्द से विशिष्ट है। अथवा जिससे प्रतीत होता है, जाना जाता

---

१. तद् तत्र ब्राह्मणोक्तेऽर्थे एष श्लोकः मन्त्र सार्धः। २ ससारिणा। ३. युक्त। ४ यत्फलविषय। ५. पुमान् काममय एव कर्मादि स्यात्प्रयोजक इत्यनन्तरपूर्वसन्दर्भोक्तेऽर्थे। ६. सार्ध.। ७. स्वर्गादिफलमेव। ८. सप्तदशकस्य । लिङ्गम्, मन इति विशेष्यत इत्यर्थः। ९. ब्राह्मणवाक्यस्य मन्त्रस्य । अग्रे तु मन्त्र. प्रवर्त्स्यतीति भावः। १०. स्वर्गादिफलम्। ११ प्रमात्रादि भासयति।

लोकाय कर्मण इति नु कामयमानोऽथाकामयमानो योऽकामो निष्काम आप्तकाम आत्मकामो न तस्य प्राणा उत्क्रामन्ति ब्रह्मैव सन्ब्रह्माप्येति ॥ ६ ॥

इस मनुष्यलोक मे आ जाता है (क्योंकि यह मनुष्यलोक ही कर्म प्रधान है, पर फलासक्ति के कारण पुन परलोक मे जाता है, नि सन्देह कामना वाला पुरुष ही कर्मानुसार ऐसी शुभाशुभ गति को प्राप्त होता रहता है)। अब जो अकाम पुरुष हैं, उसके विषय मे कहते हैं। जो अकाम, निष्काम, आप्तकाम और आत्मकाम होता है, उस तत्त्वज्ञानी के लिङ्गदेह रूप प्राणों का उत्क्रमण शरीरान्तर के लिए नही होता। वह तत्ववेत्ता पुरुष ब्रह्मस्वरूप होता हुआ ही ब्रह्म को प्राप्त करता है ॥ ६ ॥

अथ वा लिङ्ग्यतेऽवगम्यतेऽवगच्छति येन तल्लिङ्गं तन्मनो यत्र यस्मिन्निषक्त निश्चयेन सक्तमुद्भूताभिलाषमस्य संसारिण । तदभिलाषो हि तत्कर्म कृतवान् । तस्मात्तन्मनोऽभिषङ्गवशादेवास्य तेन कर्मणा तत्फलप्राप्तिः । तेनैतत्सिद्धं भवति कामो मूलं संसारस्येति । अत उच्छिन्नकामस्य विद्यमानान्यपि कर्माणि ब्रह्मविदो वन्ध्यप्रसवानि भवन्ति । "पर्याप्तकामस्य कृतात्मनस्त्विहैव सर्वे प्रविलीयन्ति कामाः" इति श्रुतेः ।

तन्मनो लिङ्गमिति पक्षान्तरमाह—अथवेति । यस्मिन्निश्चयेन संसारिणो मन सक्त तत्फलप्राप्तिस्तस्येति संबन्ध । तदेवोपपादयति—तदभिलाषो हीति । पूर्वार्धार्थमुपसंहरति—तेनेति । कामस्य संसारमूलत्वे सत्यर्थसिद्धमर्थमाह—अत इति । वन्ध्यप्रसवत्व निष्फलत्वम् । पर्याप्तकामस्य प्राप्तपरमपुरुषार्थस्येति यावत् । कृतात्मन शुद्धबुद्धेर्विदितस्तत्त्वस्येत्यर्थं । इहेति जीवदवस्थोक्ति ।

है प्रमाता भासता है वह लिङ्ग है। लिङ्गात्मक मन 'यत्र" अर्थात् जिस (स्वर्गादिफल) मे यह जीव "निषक्त" दृढतापूर्वक आसक्त है अर्थात उत्पन्न अभिलाषा वाला होता है क्योकि उस फलाभिलाषा से युक्त होकर इसने कर्म किया था। इसलिए उस फल में मन के लगे रहने से इसे उस कार्य से उस फल की प्राप्ति हो जाती है। इस पूर्वार्ध मन्त्र मे यह सिद्ध होता है कि काम ही संसार का मूल है। इसलिये आप्तकाम उस ब्रह्मवेत्ता के विद्यमान कर्म भी वन्ध्या स्त्री के पुत्र के समान हैं। इसी को श्रुति कहती है—'परम पुरुषार्थ को प्राप्त हुए कृतात्मा पुरुष की सारी कामनाएं यहीं प्रविलीन हो जाती है"।

१ अकामयमानत्व नाम कामनयाऽप्रवर्तमानत्व कामनाप्रयुक्तप्रयत्नशून्यत्वमिति यावत्। तत्र हेतुरकाम इति—शब्दादिविषयकस्थूलकामनारहित इत्यर्थ । अकामत्वे हेतुर्निष्कामत्वम् । तच्च (प्रतिपद्गाब्दित) कामवासनाराहित्यम् । एवमग्रेऽपि उत्तर पूर्वहेतु । २ आत्मातिरिक्ते कामाभाववान् । ३ न तस्येति—यतस्तस्य विदुष प्राणा वागादयो नोत्क्रामन्ति कामाभावेन कर्माभावे सति गमनकारणाभावादत स जीवन्नेव ब्रह्मैव सन् ब्रह्माप्येति प्राप्नोति देहाद्यावरणविच्छेदापेक्षयाऽप्यतीवेत्युपचर्यते नित्यप्राप्तत्वादेवेत्यर्थ । ४ योऽवगच्छति प्रमात्रादि भासयति स येन लिङ्ग्यते । ५ तन्मन लिङ्गमिति विशेष्यत इत्यर्थ । ६ स्वर्गादिफले । ७ आसीत् । ८ फलाभिलाषवान् । ९ फलानुकूलं कर्म । १० तत्र फले । ११ मन्त्रपूर्वार्धेन । १२ अवतरणोक्तार्थत्वात् । १३ फलकामनैव तत्फलप्राप्तिमूलमित्येतदेव । १४ स्वरूपस्य ।

किच प्राप्यान्तं कर्मणः प्राप्य भुक्त्वाऽन्तमवसानं यावत्कर्मणः फलपरिसमाप्ति कृत्वेत्यर्थः । कस्य कर्मणोऽन्तं प्राप्येत्युच्यते—तस्य यत्किंच कर्मेहास्मिँल्लोके करोति निर्वर्तयत्ययं तस्य कर्मणः फलं भुक्त्वाऽन्तं प्राप्य तस्माल्लोकात्पुनरैत्यागच्छत्यस्मै लोकाय कर्मणेऽयं हि लोकः कर्मप्रधानस्तेनाऽऽह कर्मण इति पुनः कर्मकरणाय पुनः कर्म कृत्वा फलासङ्गवशात्पुनरमुं लोकं यातीत्येवम् । इति न्वेवं नु कामयमानः संसरति । ॐयस्मात्कामयमान एवं संसरत्यथ तस्मादकामयमानो न क्वचित्संसरति ।

कामप्रधानः ससरति चेत्कर्मफलभोगानन्तरं कामाभावान्मुक्तिः, स्यादित्याशङ्क्याऽऽह—किंचेति । इतश्च ससारस्य कामप्रधानत्वमास्थेयमित्यर्थः । यावदवसान तावद्भुक्त्वेति सबन्धः । उक्तमेव सक्षिपति—कर्मण इति । इत्येव पारम्पर्येण ससरणादृते ज्ञानान्न मुक्तिरिति शेषः । ससारप्रकरणमुपसंहरति—इति न्विति । 'अवस्थाद्वयस्य दार्ष्टान्तिक 'बन्ध 'प्रबन्धेन दर्शयित्वा "सुषुप्तस्य दार्ष्टान्तिक मोक्ष वक्तुमपेत्यादि वाक्य तत्रापशब्दार्थमाह—यस्मादिति ।

तथा 'प्राप्यान्त कर्मणः" अर्थात् जहाँ तक कर्मों का अवसान है, वहाँ तक उसे भोगकर अर्थात् उसकी फलसमाप्ति करके । "किस कर्म का पर्यवसान करके" इसपर श्रुति कहती है "तस्य यत्किंचेह करोत्ययम्" अर्थात् वह जो कुछ भी कर्म इस लोक मे करता है, वह उस कर्म का फल भोगकर यानी अन्त पाकर भुक्त भोग लोक से पुन कर्म करने के लिए इस देह मे आ जाता है क्योंकि यह लोक कर्मप्रधान है । इसी से कहा है—"कर्मण इति" अर्थात् पुन कर्म करने के लिए । पुन. कर्म करके फलासक्ति वशात् पुन परलोक जाता है । "इति नु" अर्थात् इस प्रकार ही, कामनायुक्त हो ससरण करता रहता है । क्योंकि वह कामनायुक्त होकर ससरण करता है, अकामयुक्त (इस लोक परलोक मे) कही भी ससरण नही करता ।

१ भुक्तभोगात् । २ देहाय । ३ कर्मकरणार्थम् । ४ वार्तिके नु इति नु इत्यनयोर्निपातयो र्वेदाऽनुकम्पे अर्थावुक्तौ । ५ खलु । ६ इहामुत्र कत्यर्थ । ७ अवस्थाद्वयस्येत्यादि—चतुर्थाध्यायतृतीयब्राह्मणे अष्टादशादिकण्डिकोक्तस्य जागराद्यवस्थाद्वयसचारस्यार्थः । यथा जागरात्स्वप्नमेति स्वप्नाच्च जागर तथाऽस्माल्लोकादमु लोकममुष्मात्पुनरिममेतीत्यर्थः । ८ लोकाल्लोकान्तरससरणाख्यम् । ९ एतावता ग्रन्थेन । १० सुषुप्तस्येति—यथा योषिदालिङ्गने पुसो रूप दृष्टीवाक्येन श्रुतिरवदत् तथा सौषुप्तस्थान प्राप्तस्य कामादिहीन रूपमतिच्छन्दावाक्येन मोक्षदृष्टान्तभूतमुक्त तस्य दृष्टान्तस्य दार्ष्टान्तिक मोक्षमित्यर्थः ।

ॐ यस्मादित्यादि मुच्यत एवत्यन्तभाष्ये अन्तर्निहितार्थाविष्कारपराणीमानि वार्तिकानि । तथाहि—'अथशब्दोऽत्र हेत्वर्थ उक्तस्य तदपेक्षत । काम्यय हि यतोऽजस्र ससरत्यविचक्षण ॥ तद्भावभाविहेतुत्वादतोऽकामो विमुच्यते । नरोऽकामयमान स्यात्कामहेतोर्निराकृते ॥ स्वत एवाखिलसुखप्राप्ततत्त्वे स्व आत्मनि । निरस्ताशेषदु खे च मोहात्तत्र विपर्यय ॥ अप्राप्त ,दु खवन्माहान्मन्वान सुखमुत्तमम् । सुख मे स्यादिति सदा नर कामयतेऽबुध ॥ तथा परिहृताशेषदु खहेतु स्वतोऽपि सन् । मा भूद्दुःख ममेत्येव आढ्यात्कामयतेऽनिशम् ॥ कृत्स्नानन्दस्य चानाखिलाखिलसुखस्य च । नाऽऽत्मवस्त्वनुरोधेन तदबोधात्तदश्नुते ॥ वस्तुतन्त्रा भवेद्विद्या कर्तृतन्त्रैव च क्रिया । अत कामयमानत्व कर्तृतन्त्रमबोधत ॥ कारकाण्युपमृद्नाति विद्याबीजमिवापरम् ।

फलासक्तस्य [1]हि गतिरुक्ता। अकामस्य [2]हि क्रियानुपपत्तेरकामयमानो मुच्यत एव। कथं पुनरकामयमानो भवति। योऽकामो भवत्यसावकामयमानः। कथमकामतेत्यु-च्यते—यो निष्कामो यस्मान्निर्गताः कामाः सोऽयं निष्कामः। कथं कामा निर्गच्छन्ति। य आप्तकामो भवत्याप्ताः कामा येन स [3]आप्तकामः। कथमाप्यन्ते कामा आत्मकाम-त्वेन यस्याऽऽत्मैव नान्यः कामयितव्यो वस्त्वन्तरभूतः पदार्थो भवति। आत्मैवानन्तरो-ऽबाह्यः कृत्स्नः प्रज्ञानघन एकरसो नोर्ध्वं न तिर्यङ्नाध आत्मनोऽन्यत्कामयितव्यं वस्त्व-

कामरहितस्य संसाराभावं साधयति—फलासक्तस्येति। विदुषो निष्कामस्य क्रियाराहित्ये [4]नैष्कर्म्यमयत्नसिद्धमिति भावः। अकामयमानत्वे प्रश्नपूर्वकं [5]हेतुमाह—कथमित्यादिना। बाह्येषु शब्दादिषु विषयेष्वा[6]सङ्गराहित्यादकामयमानतेत्यर्थः। अकामत्वे हेतुमाकाङ्क्षापूर्वकमाह—कथ-मिति। वासनारूपकामाभावादकामतेत्यर्थः। निष्कामत्वे प्रश्नपूर्वकं हेतुमुत्थाप्य व्याचष्टे—कथ-मिति। प्राप्तपरमानन्दत्वान्निष्कामतेत्यर्थः। आप्तकामत्वे हेतुमाकाङ्क्षापूर्वकमाह—कथमित्यादिना। हेतुमेव साधयति—यस्येति। [7]तस्य युक्तमाप्तकामत्वमिति शेषः। उक्तमर्थं प्रमाणप्रदर्शनार्थं प्रपञ्चयति

फलासक्त की गति बतला दी गई। पर्याप्तकाम में क्रिया संभव न होने के कारण अकाम-युक्त मुक्त हो जाता है। किन्तु यह अकामयमान किस प्रकार होता है? जो कामशून्य हो, वही अकाम-यमान होता है। कामशून्य कैसे होता है, इस पर श्रुति कहती है। 'निष्काम' अर्थात् जिसकी कामनाएँ निर्गत हो गयी हैं वह निष्काम है। कामनाएँ निर्गमन कैसे करती हैं? जो आप्तकाम हो जाता है अर्थात् (परमानन्द में स्वर्गादि सभी कामनाओं का अन्तर्भाव हो जाने से) जिसने सभी कामनाओं को प्राप्त कर लिया है। कामनाओं की प्राप्ति कैसे होती है? आत्मकाम होने से; जिसकी कामना का विषय आत्मा से भिन्न और कुछ पदार्थ नहीं होता। आत्मा अनन्तर, अबाह्य, पूर्ण, प्रज्ञान-घन और एकरस है, आत्मा से भिन्न कामना करने योग्य वस्तु न ऊपर है, न इधर-उधर है; न नीचे

१ कामस्यानर्थमूलत्वमनुभवानुसारीति हिशब्दार्थः। २ पर्याप्तकामस्य कृतात्मनस्तु 'अकामस्य क्रिया काचिदि'ति श्रुतिस्मृतिप्रसिद्धिद्योतको द्वितीयो हिशब्दः। ३ प्राप्तपरमानन्दः परमानन्दे च स्वर्गादिसर्व-कामान्तर्भावान्निर्वासनः। ४ कैवल्यम्। ५ हेतुम्—अकामत्वाख्यम्। ६. कामराहित्यात्। ७ काम-प्रयुक्तप्रयत्नशून्यता। ८ आप्तकामस्य विदुषः।

तत्कारणोपमर्दित्वाज्जन्मनैव न कारकम्। यत एवमतो विद्वान्कामहेतूपमर्दनात्। स्यादकामयमानोऽत्र न स्वविद्वान्कथंचन॥ २५५ २६३॥ इति। यस्मादित्यादिभाष्येणाथशब्दार्थमाह—अथशब्द इति॥ तत्र हेतु—उत्तरयति। उक्तो बन्धस्तस्य कामापेक्षत्वाद्यस्मात्कामी संसरति तस्मादकामो मुच्यत इत्यत्र विवक्षितमित्यर्थः। संसारस्य कामापेक्षां साधयति—काम्यवेति। कामस्यानर्थमूलत्वमनुभवानुसारीति हिशब्दार्थः। यत शब्दस्योत्त-रेणात शब्देन संबन्धः। कामित्वे हेतु—अविचक्षण इति॥ काम्यव संसारीत्यत्र हेतुमाह—तद्भावेति। तस्य कामस्य भावे बन्धस्य भावाद्विपर्यये चाभावात्तस्य तं प्रति हेतुत्वसिद्धेरित्यर्थः। कामी संसारीति सिद्धे फलितमाह—अत इति। सत्यमकामो मुच्यते कथं त्वकामत्वं तदाह—नर इति। यद्वा नाकामो मुच्यते सुप्तस्या-कामस्यापि पुनरुत्थानादित्याशङ्क्याऽऽह—नर इति॥ कस्तर्हि कामहेतुस्तत्राऽऽह—स्वत इति॥ निरतिशयसुखे प्रतीचि मोहकृतं विपर्ययमभिनयति—अप्राप्तमिति॥ निरस्तसमस्तदुःखे तस्मिन्नविद्यातो विपर्ययमुदाहरति—

न्तरम्। यस्य सर्वमात्मैवाभूत्तत्केन कं पश्येच्छृणुयान्मन्वीत विजानीयाद्वेवं विजानन्कं कामयेत। ज्ञायमानो ह्यन्यत्वेन पदार्थः कामयितव्यो भवति। न चासावन्यो ब्रह्मविदं आप्तकामस्यास्ति। य एवाऽऽत्मकामतयाऽऽप्तकामः स निष्कामोऽकामोऽकामयमानश्चेति मुच्यते। न हि यस्याऽऽत्मैव सर्वं भवति तस्यानात्मा कामयितव्योऽस्ति। अनात्मा चान्यः कामयितव्यः सर्वं चाऽऽत्मैवाभूदिति विप्रतिषिद्धम्। सर्वात्मदर्शिनः कामयितव्याभावात्कर्मानुपपत्तिः।

ये तु प्रत्यवायपरिहारार्थं कर्म कल्पयन्ति ब्रह्मविदोऽपि तेषां नाऽऽत्मैव सर्वं

—आत्मैवेति। कामयितव्याभावं ब्रह्मविदः श्रुत्यवष्टम्भेन स्पष्टयति—यस्येति। इति विद्यावस्था यस्य विदुषोऽस्ति सोऽयमविजानन्न कंचिदपि कामयेतेति योजना। पदार्थोऽन्यत्वेनाविज्ञातोऽपि कामयितव्यः स्यादिति चेन्नेत्याह—ज्ञायमानो हीति। अनुभूते स्मरणविपरिवर्तिनि कामनियमादित्यर्थः। अन्यत्वेन ज्ञायमानस्तर्हि पदार्थो विदुषोऽपि कामयितव्यः स्यादित्याशङ्क्याऽऽह—न चेति। आप्तकामस्य ब्रह्मविदो वर्णितरीत्या कामयितव्याभावे मुक्तिं सिद्धेत्युपसंहरति—य एवेति। कथं कामयितव्याभावोऽनात्मनस्तथात्वादित्याशङ्क्याऽऽह—न हीति। सर्वात्मत्वमनात्मकामयितृत्वं च स्यादित्याशङ्क्याऽऽह—अनात्मा चेति। अथेत्यादिवाक्ये श्रौतमर्थमुक्त्वाऽर्थसिद्धमर्थं कथयति—सर्वात्मदर्शिन इति।

कर्मजडानां मतमुत्थाप्य श्रुतिविरोधेन प्रत्याचष्टे—ये त्विति। ब्रह्मविदि प्रत्यवायप्राप्ति-

है। "जिस ब्रह्मात्मवेत्ता के लिए सब कुछ आत्मस्वरूप हो गया है, वह किसके द्वारा किसे देखे, किसे सुने, किसे मनन करे, किसे जाने"। इस प्रकार जानने वाला किसकी कामना करे। अन्यत्व रूप से जानने योग्य पदार्थ ही कामना का विषय होता है और आप्तकाम ब्रह्मवेत्ता की दृष्टि में कुछ अन्य पदार्थ है ही नहीं। जो भी इस प्रकार आत्मकाम होने से आप्तकाम होता है, वह (हेतुहेतुमद्भाव से) निष्काम, अकाम और अकामयमान है, इसीसे मुक्त हो जाता है। जिसके लिए आत्मा ही सब कुछ है, उसके लिए आत्मभिन्न वस्तु कामयितव्य नहीं हो सकती। अन्य अनात्म पदार्थ कामयितव्य रहे, "सब कुछ आत्मा ही हो गया" इस श्रुतिवाक्य से ब्रह्मात्मैक्य अनुभूति भी रहे—दोनों परस्पर विरुद्ध बातें हैं। सर्वात्मदर्शी के लिए अन्य कामयितव्य पदार्थ का अभाव होने से कर्म होना संभव ही नहीं है।

जो लोग प्रत्यवाय के परिहार के लिए ब्रह्मवेत्ता के लिए भी कर्म का विधान करते हैं,

१. विज्ञातु। २ तस्मात्। ३ अथेत्यादि वाक्यस्यार्थं हेतुहेतुमद्भावेनोक्तमुपसंहरति—य एवेत्यादिना। ४ स्मरणविषयी भवति वस्तुनीत्यर्थः। ५ ज्ञायमानस्यैव कामविषयत्वनियमे। ६ कामयितव्यात्। ७ अक्षरोत्थं शाब्दम्। ८ सर्वस्यात्मत्वप्रतिपादकश्रुतिविरोधेन।

तथेति॥ मुखस्याप्राप्तिर्दुःखस्य प्राप्तिश्चेत्युभयमाविद्य तत्प्रपञ्चयति— कृत्स्नेति॥ कामस्य स्वाविद्या हेतुरित्युक्तं तथैव हेत्वन्तरं वक्तुं सामान्यन्यायमाह—वस्त्विति। अस्तु प्रस्तुते किं जातं तदाह—अत इति। कामस्य क्रियावद्विद्याऽपि कर्तृतन्त्रेत्या-शङ्क्याऽऽह—कारकाणीति। कथं कारकापमर्दित्वं विद्याया सिद्धं तत्राऽऽह—तदिति। विद्या जन्ममात्रेणैव कारकं न सिध्यति तस्या स्वोदयमात्रेण तत्कारणाविद्योपमर्दित्वादित्यर्थः॥ स्वाविद्या कामहेतुरिति स्थिते फलितमाह—अत इति। अत्रेत्यधिकारिनिर्धारणे सप्तमी॥

भवति' । प्रत्यवायस्य जिहासितव्यस्याऽऽत्मनोऽन्यस्याभिप्रेतत्वात् । येन चाशनायाद्यतीतो नित्यं प्रत्यवायासंबद्धो विदित आत्मा तं वयं ब्रह्मविदं ब्रूमः । नित्यमेवाशनायाद्यतीतमात्मानं पश्यति । यस्माच्च जिहासितव्यमन्यमुपादेयं वा यो न पश्यति तस्य कर्म न शक्यत एव संबद्धु(न्धु)म् । यस्त्वब्रह्मवित्तस्य भवत्येव प्रत्यवायपरिहारार्थं कर्मेति न विरोधः । अतः कामाभावादकामयमानो न जायते ॐमुच्यत एव ।

मङ्गीकृत्योक्तमिदानीं तत्प्राप्तिरेव तस्मिन्नास्तीत्याह—येन चेति । यथोक्तस्यापि ब्रह्मविदो विहितत्वादेव नित्याद्यनुष्ठानं स्यादिति चेन्नेत्याह—नित्यमेवेति । यो हि सर्वदाऽसंसारिणमात्मानमनुभवति न च हेयमादेयं वाऽऽत्मनोऽन्यत्पश्यति । यस्मादेवं तस्मात्तस्य कर्म संस्प्रष्टुमयोग्यम् । यथोक्तब्रह्मविद्यया कर्माधिकारहेतूनामुपमृदितत्वादित्यर्थः । कर्मसंबन्धस्तर्हि कस्येत्याशङ्क्याऽऽह—यस्त्विति । न विरोधो विधिकाण्डस्येति शेषः । श्रुत्यर्थाभ्यां सिद्धमर्थमुपसंहरति—अत इति । विद्यावशादित्येतत् । कामाभावात्कर्माभावाच्चेति द्रष्टव्यम् । अकामयमानोऽकुर्वाणश्चेति शेषः ।

उनके लिए आत्मा ही सब कुछ नही है (इससे श्रुति विरोध होता है) क्योंकि प्रत्यवाय तो त्यागने योग्य होना अभीष्ट है, जो आत्मा से भिन्न ही है। जिसने आत्मा को अशनायादि षडूर्मिरहित, नित्य प्रत्यवाय से असंबद्ध जान लिया, उसे ही हम ब्रह्मवेत्ता कहते हैं। वह हमेशा क्षुधा पिपासातीत आत्मा को ही देखता है। क्योंकि वह त्याग या ग्रहण करने योग्य अन्य कुछ भी नही देखता, इसलिये उसे कर्म बांधने में समर्थ नही हो सकते। एवं जो अब्रह्मवित् है, उसी के लिए प्रत्यवाय परिहारार्थ कर्म का विधान है। इसमें कोई श्रुतिविरोध नही आता। इसलिये कामना के अभाव के कारण अकामयमान उत्पन्न नही होता, मुक्त हो जाता है।

१ तथा च श्रुतिविरोधः । २ षडूर्मिरहितः । ३ वर्णित्वाद्यभिमानादीदाम् । ४ यथोक्तब्रह्मविदः कर्मसंसर्गायोग्यत्वे । ५ कर्मकाण्डस्य । ६ अक्षरतात्पर्याभ्याम् । ७ कर्माभावादिति—तत्राधिकाराभावादिति यावत् ।

ॐ मुच्यत एवेत्यादि देहादित्यन्तभाष्ये वार्तिककाचार्यास्तथाहि— “संसारानर्थबीजस्य प्रध्वंसादात्मबोधतः । तस्मादात्मनि विज्ञाते कामहेतोरसंभवात् ॥ कामकर्माद्यसद्भावात्पूर्णं आत्माऽवतिष्ठते । न तस्येत्युत्तरोक्त्याऽस्य यथोक्तोऽर्थः समर्थ्यते ॥ अपास्तानर्थहेतुत्वं मदुक्तं प्रत्यगात्मनः । योऽकाम इत्यादिगिरा यो वदाऽस्मानमागमात् ॥ जिघृक्षत्यायसं तप्तं शास्त्राचार्यात्मनिश्चयात् । तस्योत्क्रामन्ति न प्राणा आसते नापि तत्र ते ॥ स्थित्युत्क्रान्त्योर्हि यो हेतुरात्माविद्यादिलक्षणः । ध्वस्तत्वात्तस्य सर्वस्य प्रत्यग्याथात्म्यदर्शनात् ॥ यत एवमतः प्राणाः सम्यग्ज्ञानस्य जन्मनि । नोत्क्रामन्ति न तिष्ठन्ति न च नश्यन्त्यहेतुतः ॥ रज्जुसर्पो यथालोकेऽज्ञातरज्जुसतत्त्वकः । नोत्क्रामति न चाप्यास्ते न च नश्यति रज्जुतः । स्थित्युत्क्रान्तिविनाशाना रज्जुस्तत्त्व यतस्ततः । रज्जुज्ञानसमुत्पत्तौ रज्ज्वा नान्योऽवशिष्यत ॥ अविद्यातज्जनिर्मुक्तः यस्त्वत्रैवति भण्यत । समित्यैकात्म्यमात्रेण प्राणानां स्थितिरुच्यते ॥ अवनीयन्त इत्युक्त्या नाशादिभ्योऽन्यतो गतिः । प्रत्यङ्मात्रैकनिष्ठत्वाच्च भावाभावयोः स्थितिः ॥ तादात्म्यमेव सर्वस्य कार्यकारणवस्तुनः । उत्क्रान्त्यादेश्च कृत्स्नस्य सवमात्मतिशास्त्रतः” ॥ २८३-२९३ ॥ केयं मुक्तिर्न हि सा निर्धारिता वादिविप्रतिपत्तेरित्याशङ्क्याऽऽह—संसारेति । ज्ञानादज्ञानतज्जध्वंसादपूर्णताहेत्वभावात्पूर्णरूपेणावस्थानं मुक्तिरित्यर्थः ॥ तत्र विप्रतिपत्तिनिरासार्थं न तस्येत्यादिवाक्यद्वयमवतारयति—नेति ॥ यथोक्तमर्थमेव व्यनक्ति—अपास्तेति । अखण्डब्रह्मात्मरूपेणावस्थानलक्षणं मोक्षं पूर्ववाक्योक्तमनन्तर-

तस्यैवमकामयमानस्य कर्माभावे गमनकारणाभावात्प्राणा वागादयो नोत्क्रामन्ति नोर्ध्वं क्रामन्ति देहात् । स च विद्वानाप्तकाम 'आप्तकामतयेहैव' ब्रह्मभूतः' । सर्वात्मनो हि ब्रह्मणो दृष्टान्तत्वेन प्रदर्शितमेतद्रूपं 'तद्वा अस्यैतदाप्तकाममात्मकाममकामं रूपमिति' । तस्य हि दार्ष्टान्तिकभूतोऽयमर्थ उपसंह्रियतेऽथाकामयमान इत्यादिना । स कथमे-

देशान्तरप्राप्त्यायत्ता मुक्तिरित्येतन्निराकर्तुं न तस्येत्यादि व्याचष्टे—तस्येत्यादिना । ब्रह्मैव सन्नित्येतदवतारयति—स चेति । कथं वर्तमाने देहे तिष्ठन्नेव ब्रह्मभूतो भवति तत्राऽऽह—सर्वात्मनो हीति । दृष्टान्तालोचनया दार्ष्टान्तिकेऽपि सदा ब्रह्मैव भातीति भावः । सदा ब्रह्मीभूतस्य मुक्तिर्नाम नास्तीति शङ्कित्वा परिहरति—स कथमिति । परिहारमेव स्फोरयितुं न तस्येत्यादिवाक्यार्थं-

इस प्रकार "तस्य" यानी अकामयमान उस पुरुष के कर्म का अभाव हो जाने से, गमनकारण का अभाव होने से "प्राणाः" अर्थात् वागादि प्राण "नोत्क्रामन्ति" अर्थात् देह से ऊपर को नहीं जाते। प्राप्त परमानन्द आत्मकाम होने से वह आप्तकाम विद्वान् यहीं वर्तमान देह में स्थित रहता हुआ ही ब्रह्मीभूत हो जाता है। 'निश्चय ही वह यह इसका आप्तकाम, आत्मकाम और अकामरूप है" इस

१. प्राप्तपरमानन्द । २ आत्मकामतयाऽऽप्तकाम इत्यन्वयः । ३ वर्तमानदेहे तिष्ठन्नेव । ४ ब्रह्माप्येतीति सबन्धः । ५ सौषुप्तं रूपम् । ६ तद्वा अस्यैति—अस्य सुषुप्तौ सर्वात्मभावापन्नस्याऽऽत्मनः तदेतद्रूपम् । तस्य विशेषणानि आप्तकाममित्यादीनि । अकाममित्यस्यानन्तरं शोकान्तरमिति विशेषणान्तरम् शोकशून्यमिति तदर्थः । ७ आप्ता कामा सुखमिति यावत् यत्र तत् । आत्मैव काम सुखसाक्षात्कारलक्षणो यत्र । अतएव काम्याभावादकाम तद्रूपमिति । ८ बृ उ ४ ३ २१ । ९ उक्तात्मन । १० बद्धो हि मुच्यते । ११ न हीरयत प्राक्तनग्रन्थेन । १२ कथयितुम् ।

वाक्यद्वय समर्थयते तत्र श्रौतेऽर्थे विवादो वैदिकानामितरे तु प्रत्युदस्ता इत्यथ । वाक्याक्षराणि व्याकरोति—यो वेदेति ॥ प्राणानामनुत्क्रमणे वाङ्मात्रब्रह्मविदो नात्रोच्यते किन्तु मनुष्योऽहमितिवदहं ब्रह्मेतिदृढप्रत्ययवत सत्याभिसंधस्य तप्तपरशुग्रहणादिदृष्टान्तसमर्थ्यमित्यर्थ ॥ किमिति प्राणा ब्रह्मविदो नोत्क्रामन्ति दृश्यते हि तस्यापीतरवदुत्क्रमणमत आह—स्थितीति । उत्क्रमणादिहेतुत्वमविद्यादेरन्वयव्यतिरेकलभ्यमिति हिशब्दार्थः । तत्कार्यस्यास्थितिरिति शेषः ॥ उत्क्रान्तिस्थितिहेत्वभावे वाक्यार्थमुपसंहरति—यत इति ॥ आत्मयाथात्म्यज्ञानादज्ञानादिध्वस्तौ प्राणानामुत्क्रान्तिस्थितिनाशा न सिध्यन्तीत्यत्र दृष्टान्तमाह—रज्ज्विति । अज्ञातेति च्छेद ॥ रज्जुरेव तत्र कल्पितसर्पस्य तत्त्वमित्युक्त हेतु प्रपञ्चयति—स्थितेति । एवमात्मज्ञानोत्पत्तावन्यानवशेषाच्च प्राणोत्क्रान्त्यादि सिध्यतीति शेष ॥ अत्रैव समवनीयन्त इति माध्यंदिनश्रुतावत्रैवेत्यस्यार्थमाह—अविद्येति । उपसर्गार्थमाह—समितीति ॥ क्रियापदार्थमाह—अवनीयन्त इतीति । अन्वयव्यतिरेकाभावपरिहारेण प्राणानामात्ममात्रतया स्थितिरवनयनमित्येतदुपपादयति—अत्यर्थमिति ॥ ननु मत्र्याऽऽत्ममात्रत्वे साधकाभावादात्मासिद्धिर्न च शास्त्रात्तत्सिद्धिस्तस्याज्ञाते प्रवृत्तेर्न च सर्वस्याऽऽत्मत्वं ततोऽन्यदज्ञानमस्ति न चाज्ञानादि निवर्तते निवृत्तं चेति व्यवहारस्ते सभवत्यत आह—"इति वस्तु स्वतो बुद्धमज्ञानं चानुभूतितः ॥ प्रत्यग्याथात्म्यमात्रत्वात्तन्मोहाद्यप्यनोपत । निवर्तते निवृत्तं चेत्येतदप्यनुभूतितः" ॥ २१४-२१५ ॥ इति । न तावदात्मन साधकापेक्षा स्वप्रकाशत्वात्प्रापि तत्र शास्त्राप्रामाण्यमज्ञानस्य तत्रानुभवसिद्धत्वात्प्रत्यगितररूपाभावादविद्यादेस्त्रैकाल्यनिवृत्तिश्च विद्वदनुभवसिद्धा न विरुद्धेत्यर्थ ॥

'थंभूतो मुच्यत इत्युच्यते—यो हि सुषुप्तावस्थमिव निर्विशेषमद्वैतमलुप्तचिद्रूपज्योतिः-स्वभावमात्मानं 'पश्यति तस्यैवाकामयमानस्य कर्माभावो गमनकारणाभावात्प्राणा वागादयो नोत्क्रामन्ति। किंतु विद्वान्स 'इहैव ब्रह्म यद्यपि देहवानिव लक्ष्यते, स ब्रह्मैव सन्ब्रह्माप्येति।

यस्मान्न हि तस्याब्रह्मत्व'परिच्छेदहेतवः कामाः सन्ति तस्मादिहैव ब्रह्मैव सन्ब्रह्माप्येति न शरीरपातोत्तरकालम्। न हि विदुषो मृतस्य 'भावान्तरापत्ति'र्जीवतोऽन्यो भावो देहान्तर'प्रतिसंधानाभावमात्रेणैव तु ब्रह्माप्येती'त्युच्यते। 'भावान्तरापत्तौ हि

मनुद्रवति—तस्यैवेति। ब्रह्मैव सन्नित्यस्यार्थमनुवदति—किंत्विति। विद्वानिहैव ब्रह्म चेत्कथं तस्य ब्रह्मप्राप्तिरित्याशङ्क्याऽऽह—ब्रह्मैवेति।

यदुक्तं ब्रह्मैव सन्नित्यादि तदुपपादयति—यस्मादिति। प्रागपि ब्रह्मभूतस्यैव पुनर्देहपाते "ब्रह्मप्राप्तिरित्ययुक्तं विदुषो मृतस्य "भावान्तरापत्तिस्वीकारादित्याशङ्क्याऽऽह—न हीति। कथं "तर्हि ब्रह्माप्येतीत्युच्यते तत्राऽऽह—देहान्तरेति। विदुषो भावान्तरापत्तिर्मुक्तिरिति पक्षेऽपि किं दूषणमिति चेत्तदाह—भावान्तरापत्तौ हीति। "तथा चोपनिषदामप्रामाण्यं विना हेतुना स्यादिति भावः। भावा-

श्रुति द्वारा दृष्टान्त रूप से ब्रह्म का वह सुषुप्तावस्था वाला स्वरूप प्रदर्शित किया गया है। प्रस्तुत मन्त्र में "अथ अकामयमान" इस वाक्य में उस दार्ष्टान्तिकभूत अर्थ का उपसंहार किया गया है। इस प्रकार साधनसम्पन्न वह किस प्रकार मुक्त हो जाता है, इस पर कहा जाता है। जो सुषुप्तावस्था में स्थित की भाँति आत्मा को निर्विशेष अद्वैत, अलुप्त, चिद्रूप, ज्योति स्वभाव देखता है उस अकामयमान पुरुष के कर्मों का अभाव होने से उसके वागादि प्राण उत्क्रमण नहीं करते। किन्तु वह विद्वान् देह में स्थित होते हुए ही ब्रह्म हो जाता है, यद्यपि वह प्राणधारी सा दिखायी देता है, वह ब्रह्म रहकर ब्रह्म को प्राप्त होता है।

क्योंकि उसके ब्रह्माभिन्नत्व रूप उपाय के परिच्छेद की हेतुभूता कामनाएँ नहीं रहती, इसलिए वह यहीं ब्रह्म ही रहकर ब्रह्म को प्राप्त हो जाता है, शरीर विनष्ट होने के बाद नहीं। मरकर विद्वान् को भावान्तर की प्राप्ति नहीं होती, जीवात्मा से भिन्न भाव ब्रह्माख्य भाव नहीं होता क्योंकि देहान्तर प्राप्ति के अभाव मात्र से ही—'यह ब्रह्म को प्राप्त होता है' ऐसा उपचरित होता है। भावान्तरापत्ति

१ अवतरणोक्तभूत। २ पश्यतीति—एतावान् शङ्काग्रन्थ इत्यप्याहुः। ३ देहे तिष्ठन्नेव। ४ ब्रह्माभिन्नस्वरूपो य परिच्छेदस्तद्धेतव। ५ भावान्तरेति – भावान्तरापत्तिवादिनो हि परस्मादन्यो जीवोऽतिशयज्ञानकर्मभ्यां ब्रह्माप्येतीति वेदयन्त इति वेदनीयम्। ६ भावान्तपदं स्वयमेव व्याचष्टे—जीवत इति। जीवात्मनः सकाशादन्यो भिन्नो भावो ब्रह्माख्यपदार्थः। ७ प्राप्तिरिति यावत्। ८ उपचर्यते। ९ भावान्तरापत्तिरूपत्वे। १० अप्येतिनोक्ता। ११ भावान्तरेति—स्वस्माद्भिन्नस्य ब्रह्मपदार्थस्य प्राप्तिस्वीकारात्। १२ तर्हि—प्रागपि ब्रह्मरूपस्य विदुषो मुक्तेर्भावान्तरापत्तिरूपत्वानभ्युपगमे। यद्वा जीवदवस्थायामितरत्र च विशेषाभावे इत्यर्थः। १३ तद्विवक्षितार्थबाधे।

मोक्षस्य सर्वोपनिषद्विवक्षितोऽर्थ आत्मैकत्वाख्यः स बाधितो भवेत् । कर्महेतुकश्च मोक्षः प्राप्नोति न ज्ञाननिमित्त इति । स चानिष्टोऽनित्यत्वं च मोक्षस्य प्राप्नोति । न हि क्रियानिर्वृत्तोऽर्थो नित्यो दृष्टः । नित्यश्च मोक्षोऽभ्युपगम्यते । "एष नित्यो महिमा" इति मन्त्रवर्णात् ।

न च स्वाभाविकात्स्वभावादन्यन्नित्यं कल्पयितुं शक्यम् । स्वाभाविकश्चेदग्न्युष्णवदात्मनः स्वभावः स न शक्यते पुरुषव्यापारानुभावीति वक्तुम् । न ह्यग्नेरौष्ण्यं प्रकाशो वाऽग्निव्यापारानुभावी । अग्निव्यापारानुभावी स्वाभाविकश्चेति विप्रति-

---

न्तरापत्तिमुक्तिरित्यत्र दोषान्तरमाह—कर्मेति । इतिपदादुपरिष्टा"त्क्रियापदस्य संबन्धः । अस्तु कर्म-निमित्तो मोक्षो ज्ञाननिमित्तस्तु मा भूत्तत्राऽऽह—स चेति । 'प्रसङ्गः सर्वनाम्ना परामृश्यते । 'प्रति-षेधशास्त्रविरोधाविति भावः । मोक्षस्य कर्मसाध्यत्वे "दोषान्तरमाह—अनित्यत्वं चेति । "तत्रोपयुक्तां व्याप्तिमाह—न हीति । अस्तु "तर्हि प्रासादादिवत्क्रियासाध्यस्य मोक्षस्याप्यनित्यत्वं नेत्याह—नित्यश्चेति ।

कृतकोऽपि ब्रह्मभावो ध्वंसवन्नित्यः स्यादित्याशङ्क्याऽऽह—न चेति । कृत्रिमस्वभावव्यावृत्त्यर्थं स्वाभाविकपदम् । "'अतोऽन्यदार्तम्' इति हि श्रुतिः । ध्वंसस्य तु विकल्पमात्रत्वान्नित्यत्वमसंमतमिति" भावः । मोक्षोऽकृत्रिमस्वभावोऽपि कर्मोत्थः स्यादित्याशङ्क्याऽऽह—स्वाभाविकश्चेदिति । अग्ने-रौष्ण्यवदात्मनो मोक्षश्च स्वाभाविकस्वभावश्चेन्न स क्रियासाध्यो व्याघातादित्यर्थः । दृष्टान्तं समर्थयते —न हीति । अरागतस्याग्नेरौष्ण्यप्रकाशौ नोपलभ्येते सति च "ज्वलने दृश्येते "तेन स्वाभाविकावपि

रूप मोक्ष के स्वीकार कर लेने पर तो सम्पूर्ण उपनिषदों का विवक्षित आत्मैक्यरूप अर्थ बाधित हो जायगा । ऐसे तो मोक्ष कर्मनिमित्तक हो जायगा ज्ञाननिमित्तक नहीं रह जायगा । इस प्रकार मोक्ष में अनिष्टत्व और अनित्यत्व प्रसङ्ग आ जायगा । 'क्रिया से सम्पादित होने वाला पदार्थ नित्य नहीं देखा जाता' और मोक्ष नित्य है, ऐसे स्वीकार किया जाता है । "यह त्यक्त सर्वेषणा ब्रह्मवेत्ता की 'नेति नेति' लक्षण विलक्षण स्वाभाविक महिमा है" ऐसा श्रुति उपपादित करती है ।

इसके अतिरिक्त अकृत्रिम स्वरूप से भिन्न कोई पदार्थ नित्य है—ऐसी कल्पना करनी सम्भव नहीं है । यदि अग्नि के उष्णत्व के समान मोक्ष आत्मा का स्वाभाविक रूप है, उसके लिए यह नहीं कहा जा सकता कि वह पुरुषव्यापार साध्य है । अग्नि का उष्णत्व अथवा प्रकाश भी अग्नि-व्यापार साध्य है । अग्निव्यापार साध्य भी हो और स्वाभाविक भी हो, ऐसे कहने में परस्पर विरोध

---

१ बृ उ ४ ४ २३ । २ अकृत्रिमात् । ३ स्वरूपात् । ४ मोक्ष । ५ तर्हि । ६ साध्य । ७ प्रसज्यत इत्यर्थकस्य प्राप्नोतीत्यस्य । ८ प्रसङ्ग—मोक्षे कर्महेतुकत्वप्रसङ्गो ज्ञाननिमित्तत्वाभावप्रसङ्गश्च । ९ प्रतिषेधेति—"न कर्मणा न प्रजया", "न ह्यध्रुवैः प्राप्यते हि ध्रुवं तत्", "नास्त्यकृतः कृतेन" "मोक्षस्य तु नाशास्ति वित्तेने"त्यादिप्रतिषेधशास्त्रम् । १० प्रतिषेधशास्त्रविरोधरूपदोषापेक्षया । ११ तस्या-नित्यत्वे । १२ तर्हि—क्रियासाध्यस्य नित्यत्वादृष्टेः । १३ आत्मनोऽन्यद्विनाशि । १४ इति युक्तो दृष्टान्तेति भाव इति पाठान्तरम् । १५ तदाख्यव्यापारे । १६. तेन—अन्वयव्यतिरेकाभ्यां तयोर्ज्वलन-व्यापारफलत्वेन ।

पिद्धम् । ज्वलनव्यापारानुभावित्वमौष्ण्यप्रकाशयोरिति चेत् । न । [1]अन्योपलब्धिव्यवधानापगमाभिव्यक्त्यपेक्षत्वात् । ज्वलनादिपूर्वकमग्निरौष्ण्यप्रकाशगुणाभ्यामभिव्यज्यते तन्नाग्न्यपेक्षया किं [2]तर्ह्यन्यदृष्टेरग्नेरौष्ण्यप्रकाशौ धर्मौ व्यवहितौ कस्यचिद्दृष्ट्या त्वसंबध्यमानौ ज्वलनापेक्षया व्यवधानापगमे दृष्टेरभिव्यज्येते । तदपेक्षया भ्रान्तिरुपजायते ज्वलनपूर्वकावेतावौष्ण्यप्रकाशौ धर्मौ जाताविति ।

यद्यौष्ण्यप्रकाशयोरपि स्वाभाविकत्वं न स्यात् । [3]यः स्वाभाविकोऽग्नेर्धर्मस्तमुदाहरिष्यामः । न च स्वाभाविको धर्म एव नास्ति पदार्थानामिति शक्यं वक्तुम् । न च [4]निगड-

तावा[5]गन्तुकौ कादाचित्कोपलब्धिमत्त्वादिति शङ्कते—ज्वलनेति । न हि [6]सतोऽग्नेरौष्ण्यादि कादाचित्कं युक्तं [7]तद्दृष्टेर्व्यवधानस्य दार्वादिध्वंसे [8]मथनज्वलनादिना वह्न्यभिव्यक्तिमपेक्ष्य [9]तत्स्वभावस्यौष्ण्यादेर्व्यक्त्यभ्युपगमादिति परिहरति—नान्येति । [10]तदेव प्रपञ्चयति—ज्वलनादीति । मथनादिव्यापारवशा[11]त्प्रकाशादिना व्यज्यतेऽग्निरिति यदुच्यते[12] तदग्नौ सत्येव तद्गतव्यापारापेक्षया तदौष्ण्याद्यभिव्यक्तिवशान्न भवति किंतु [13]देवदत्तदृष्टेरग्निधर्मौ [14]व्यवहितौ न [illegible]तौ कस्यचिद्दृष्ट्या संबध्येते ज्वलनादिव्यापारात्तु दृष्टेर्व्यवधानभङ्गे तयोरभिव्यक्तिरित्यर्थः । कथं [15]तर्हि ज्वलनादिव्यापारादग्नेरौष्ण्यप्रकाशौ जाताविति बुद्धिस्तत्राऽऽह—तदपेक्षयेति । ज्वलनादिव्यापाराद्दृष्टिव्यवधानभङ्गे वह्नेरौष्ण्यप्रकाशाभिव्यक्त्यपेक्षयेति यावत् ।

यथा वह्नेरौष्ण्यादिस्वाभाविकं न क्रियासाध्यं तथाऽऽत्मनो मुक्तिः स्वाभाविकी न क्रियासाध्येत्युक्तमिदानीमग्नेरौष्ण्यादि न स्वाभाविकमित्याशङ्क्याऽऽह—यदीति । उदाहरिष्यामो मोक्षस्याऽऽत्मस्वभावस्याकर्मसाध्यत्वायेति शेषः । अथाग्नेः स्वाभाविको न कश्चिद्धर्मोऽस्ति यो मोक्षस्य दृष्टान्तः स्यादत आह—न चेति । [16]लब्धात्मकं हि वस्तु वस्त्वन्तरेण संबध्यते । अस्ति च निम्बादौ तिक्तत्वादिधीरित्यर्थः[17] । भावान्तरापत्तिपक्षं प्रतिक्षिप्य पक्षान्तरं प्रत्याह—न चेति । न हि बन्धस्य [18]तथाभूतस्य

हो जायगा । यदि कहो कि अग्नि का उष्णत्व और प्रकाश ज्वलन व्यापार साध्य है; तो ऐसा कहना ठीक नहीं है क्योंकि वह अन्य उपलब्धि के व्यवधान निवृत्ति की अभिव्यक्ति की अपेक्षा से है। ज्वलनादि पूर्वक जो अग्नि उष्णता और प्रकाश रूप गुणों से अनुभव होता है; वह अग्नि की अपेक्षा से नहीं होता । तो कैसे होता है । अग्नि के उष्णत्व प्रकाशरूप धर्म अन्य की अपेक्षा व्यवहित हैं, अर्थात् किसी की दृष्टि से असबद्ध है, ज्वलन की अपेक्षा से दृष्टि के व्यवधान हट जाने पर वे अभि०यक्त हो जाते है । उस (अग्नि के औष्ण्य प्रकाश अभिव्यक्ति) की अपेक्षा से भ्रान्ति हो जाती है कि उष्णत्व और प्रकाश रूप धर्म ज्वलन व्यापार पूर्वक उत्पन्न हुए हैं।

१ देवदत्तादिदृष्टिरिति यावत् । २ अन्यापेक्षयेति यावत् । ३ तर्हि । ४ ब्रह्मभावो मोक्षो न कर्मसाध्य इत्युक्तमन्य तु समभ्युपगच्छमाना बन्धध्वंस मोक्षमाचक्षाणास्तस्य कर्मसाध्यतामाहुस्तान्प्रत्याह—निगडेति । शृङ्खलाध्वंसवदित्यर्थः । ५ आगन्तुकौ—प्राग्भयज्वलनादिव्यापारसाध्यौ । ६ विद्यमानस्य । ७ देवदत्तादिदृष्टेरग्निदृष्टेरिति वा । ८ मथनज्वलनादिना ध्वंसे इत्यन्वयः । ९ अग्निस्वरूपस्य । १० संगृहीतम् । ११ प्रकाशाद्यात्मना । १२ त्वया । १३ देवदत्तापेक्षया । १४ दार्वादिना । १५ उक्तरीत्या तयोरभिव्यक्तिस्वीकारे । १६ न चेति प्रतिज्ञाया हेतुमाह—लब्धात्मकं हीति । १७ पारमार्थिकस्य स्वाभाविकस्येति यावत् ।

भङ्ग इवाभावभूतो मोक्षो बन्धननिवृत्तिरुपपद्यते । [1]परमात्मैकत्वा[2]भ्युपगमात् "एकमेवाद्वितीयम्" इति श्रुतेः । न चान्यो बद्धोऽस्ति यस्य निगडनिवृत्तिवद्बन्धननिवृत्तिर्मोक्षः स्यात् । परमात्मव्यतिरेकेणान्यस्याभावं विस्तरेणावादिष्म[3] । तस्मादविद्यानिवृत्तिमात्रे मोक्षव्यवहार इति [4]चावोचाम यथा रज्ज्वादौ सर्पाद्यज्ञाननिवृत्तौ [5]सर्पादिनिवृत्तिः ।

निवृत्ति[6]विरोधाच्चाप्यन्यथा[7]भूतस्यान[8]वस्थानात् । न च [9]प्रसिद्धिविरोधो [10]दुर्निरूपध्वस्तिविषयत्वादिति भावः । किंच परस्मादन्यस्य बन्धनिवृत्ति[11]स्तस्यैव वा नाऽऽद्य इत्याह—न चेति । तत्र हेतुत्वेन परमात्मैकत्वाभ्युपगमादित्याविभाज्यं व्याख्येयम् । न द्वितीयस्तस्य नित्यमुक्तस्य क्वचिदपि बद्धत्वानभ्युपगमादिति द्रष्टव्यम् । कथं परस्मादन्यो बद्धो नास्तीत्याशङ्क्य [12]प्रवेशविचारादावुक्तं स्मारयति —परमात्मेति । न चेदन्यो बद्धोऽस्ति कथं मोक्षव्यवहारः स्यादित्याशङ्क्याऽऽह—तस्मादिति । अन्यस्य बद्धस्याभावात्परस्य च नित्यमुक्तत्वादिति यावत् । यथा रज्ज्वाद्यावधिष्ठाने सर्पादिहेतौ रज्ज्वज्ञानस्य निवृत्तौ सत्यां सर्पादेरपि निवृत्तिस्तथाऽविद्याया बन्धहेतोर्निवृत्तिमात्रेण तत्कार्यस्य बन्धस्यापि निवृत्तिव्यवहारो भवतीति चावोचामेति [13]योजना ।

यदि उष्णत्व और प्रकाश अग्नि के स्वाभाविक धर्म नहीं हैं, तो जो भी अग्नि का धर्म हो, उसी को हम प्रस्तुत करेंगे । पदार्थों का कोई स्वाभाविक धर्म ही नहीं है—ऐसा कथन तो सिद्ध नहीं होता । शृङ्खलाध्वस के समान मोक्ष भी बन्ध-निवृत्ति रूप अभावभूत धर्म है, ऐसा कहना भी नहीं बनता क्योंकि (परमात्मा के भावरूप होने से तथा) मोक्ष को परमात्मैक्य स्वीकार किया गया है । इसमें श्रुति का भी समर्थन प्राप्त है—"वह निरुपाधिक ब्रह्म एक ही अद्वितीय है" परमात्मतत्त्व में भिन्न दूसरा कोई बद्ध नहीं, जिसकी बन्धननिवृत्ति शृङ्खलाध्वंस के समान कर मोक्ष दिला दिया जाय । परमात्मा से व्यतिरिक्त अन्य वस्तु का सर्वथा अभाव है—यह हम (प्रथम अध्याय चतुर्थ ब्राह्मण में) विस्तार से प्रतिपादित कर चुके हैं । इसलिये अविद्या निवृत्ति मात्र से ही मोक्ष व्यवहार होता है—ऐसा कहा जा चुका है । जिस प्रकार रज्जु आदि में सर्पादि अज्ञान की निवृत्ति मात्र से सर्पादि की निवृत्ति हो जाती है ।

---

१ मोक्षस्य । २ परमात्मनश्च भावत्वात् । ३ बृ ३ १ ४ ७ । ४ तत्रैव । ५ सर्पादिनिवृत्तिरिति—किं च नात्मातिरिक्ता तन्निवृत्तिः आविद्यकस्य बन्धस्यास्वातन्त्र्यात् न हि रज्ज्वविद्याकल्पितसर्पभावाभावौ रज्ज्वतिरेकेण भवतः । तथा च स्वरूपस्थितिरेव मुक्तिरिति भावः । ६ विरोधात्—निवर्त्यत्वस्वाभाविकत्वयोरेकत्र विरुद्धत्वात् । ७ अन्यथाभूतस्य—औपाधिकस्य अपारमार्थिकस्येति यावत् । ८ अनवस्थानात्—निवृत्तेरपि बन्धतया तस्या अपि निवृत्तिः स्वीकार्येति अविश्रान्तनिवृत्तिधारापत्तेरित्यर्थ इत्याह । ९ प्रसिद्धीति—वामदेवादीनां बन्धनिवृत्तिर्जातेति प्रसिद्धिविरोधः । १० दुर्निरूपेत्यादि—अनिर्वचनीयबन्धनिवृत्तेरुक्तप्रसिद्धिविषयत्वादित्यर्थः । यद्वा बन्धनिवृत्तिर्न सती द्वैतत्वापत्तेर्नाप्यसती ज्ञानसाध्यत्वायोगात् नाप्युभयरूपाविरोधात् नाप्यनिर्वचनीयाऽनिर्वाच्यस्य सादेरज्ञानोपादानत्वनियमेन मुक्तावपि तदुपादानाज्ञानानुवृत्त्यापत्तेरनिर्वाच्यत्वायत्तेश्चात उक्तप्रकारचतुष्टयातीर्णपञ्चमप्रकाराबन्धध्वस्तिरिति । ११ परस्यैव । १२ बृ ३ १ ४ ७ । १३ योजनेति—अत्र रज्जौ स्वाज्ञानतत्कार्यसर्पादिध्वंसे रज्जुभाववत् आत्मनोऽपि स्वाविद्यातत्कार्यबन्धध्वंसं ब्रह्मत्वमुपचर्यत इति शेषः ।

येऽप्याचक्षते मोक्षे विज्ञानान्तरमानन्दान्तरं चाभिव्यज्यत इति तैर्वक्तव्योऽभिव्यक्तिशब्दार्थः । यदि तावल्लौकिक्येवोपलब्धिर्विषयव्याप्तिरभिव्यक्तिशब्दार्थः । ततो वक्तव्यं किं ※विद्यमानमभिव्यज्यतेऽविद्यमानमिति वा । विद्यमानं चेद्यस्य मुक्तस्य

मतान्तरमुद्भावयति—येऽप्याचक्षत इति । वैषयिकज्ञानानन्दापेक्षयाऽन्तरशब्दः । केयमभिव्यक्तिरुत्पत्तिर्वा प्रकाशो वा । नाऽऽद्यो मोक्षे सुखाद्युत्पत्तौ तदनित्यत्वापत्तेरित्यभिप्रेत्याऽऽह—तैरिति । द्वितीयमालम्बते—यदीति । तत्र दोषं वक्तुं विकल्पयति—तत इति । द्वितीये स्वविषयावयवपरोक्षाभिव्यक्तिर्न स्यादित्यभिप्रेत्याऽऽद्यमनुभाष्य दूषयति—विद्यमानं चेदिति । उपलब्धिस्वभावस्या-

जो विचारक ऐसा मानते हैं कि मोक्ष मे किसी विज्ञानान्तर या आनन्दान्तर की अभिव्यक्ति होती है, उन्हें 'अभिव्यक्ति' शब्द का वास्तविक अर्थ बतलाना चाहिये। यदि (घटज्ञान की तरह) लौकिक उपलब्धि या विषय व्याप्ति ही अभिव्यक्ति शब्द का अर्थ है तो फिर बतलाना चाहिये कि विद्यमान सुख की अभिव्यक्ति होती है अथवा अविद्यमान की ? यदि कहा जाय विद्यमान सुख की अभिव्यक्ति होती है, तो जिस मुक्त के प्रति उस विद्यमान सुख की अभिव्यक्ति होती है, उसका वह

१ लौकिक्येवेति—लोकप्रसिद्धैव घटादेरिव ज्ञानविषयस्य सुखादेरभिव्यक्तिरित्यर्थः । २ तादृशाभिव्यक्तिस्वीकारे इति यावत् । ३ सुखादि । ४ आत्मनो ब्रह्मत्वं मुक्तिरित्युक्तमथ वैषयिकसुखज्ञानातिरिक्ते सुखज्ञाने मोक्षे व्यज्येते ते च मिथो विषयविषयिभूते न ब्रह्मभावमात्रं मुक्तिरिति मतमवतारयति—मतान्तरमिति ।

※ विद्यमानमित्यादि संभवतीत्यन्तभाष्यं वार्तिकाचार्यास्तथाहि—"विज्ञानालम्बनप्राप्तिः किं सतोऽथवाऽसतः । अभिव्यक्तिः सतश्चेत्स्याद्यस्य मुक्तस्य तत्सुखम् ॥ स्वरूपमेव तस्येति विशेषणमनर्थकम् । मुक्तौ तदुपपद्यते ज्ञानं सुखं चेति यदीरितम् ॥ स्वात्मभूतं हि यद्यस्य नैव तद्व्यपधीयते । आत्मनस्तत्स्वभावत्वात्सर्वदेति विनिश्चयः ॥ अमुक्तावथवा मुक्तौ विशेषोऽस्ति न कश्चन । प्रत्यगात्मस्वभावत्वात्सुखविज्ञानयोरतः ॥ मुक्तौ तदुपपद्यत इति विशेषवचनं मृषा । स्वसिद्धान्तविरोधोऽपि तदभिव्यक्तिवादिनः ॥ सत्कार्यवादिनो यस्मादभिव्यक्तिः प्रशस्यते । व्यज्यते यथैवेदं सत्त्वात्सर्वस्य वस्तुनः ॥ आरम्भवादे त्विच्छादेः कार्यत्वादसदात्मता । असतश्चाप्यभिव्यक्तिर्न युक्ता खरशृङ्गवत् ॥ व्यङ्ग्यव्यञ्जकसंबन्धः प्रदीपघटयोरिव । उभयोः सिद्धयोर्योगान्नष्टा कारणकार्यता ॥ सुखविज्ञानयोश्चापि किमभेदोऽथवा भिदा । नैक्येऽभिव्यक्तिशब्दार्थः कदाचिदपि लभ्यते ॥ अथ भेदस्तयोर्मध्ये व्यवधानं प्रसज्यते । तद्भेदाभेदतासिद्धौ न च मानमिहास्ति च ॥ भेदग्राहि न नो मानमितोऽन्यत्रापि विद्यते । मेयमात्रावभासित्वात्सर्वमानस्य सर्वदा ॥ स्वमेयव्यतिरेकेण मेयान्तरसमाश्रयः । न व्यावृत्त्यनुवृत्त्यादिव्यापारोऽस्ति मिते क्वचित् ॥ अभिव्यक्तिः सुखस्यास्तु कामं ज्ञानेन मानतः । ज्ञानव्यक्तौ तु किं मानं यतोऽभिव्यक्तिवागियम् ॥ प्रमाणानां प्रमाणत्वं न स्वरूपप्रमेयता । न च मानान्तरादिष्टं तयोस्तुल्यस्वभावतः ॥ अभिव्यक्तिर्मताऽथापि कादाचित्की न सर्वदा । तदन्तरायसद्भावादव्यक्तिः स्यात्सदा ध्रुवम् ॥ अन्तरायनिवृत्तौ च व्यपेक्षा च प्रसज्यते । साधनान्तरविषया तज्ज्ञानव्यतिरेकतः ॥ उपलब्ध्येकनीडत्वे व्यवधानस्य कल्पना । न चोपपद्यते मानात्तयोरेकात्मकत्वतः ॥ एवं च सत्यभिव्यक्तिः सर्वदा सुखबोधयोः । अभिव्यक्तिर्न चेदेव नाभिव्यक्तिः सदा तदा ॥ इतोऽन्यथा कल्पनाया न प्रमाणं समीक्ष्यते ॥ नाप्येकाश्रमिणा लोके धर्माणां क्वचिदीक्ष्यते । मानमेयत्वसंबन्धो मिथोयोग्यत्वतस्तथा" ॥ ३२६-३४५ ॥

तदभिव्यज्यते तस्याऽऽत्मभूतमेव 'तदित्युपलब्धिव्यवधानानुपपत्तेर्नित्याभिव्यक्तत्वान्मुक्तस्याभिव्यज्यत इति विशेषणवचनमनर्थकम् । अथ 'कदाचिदेवाभिव्यज्यत 'उपलब्धिव्यवधानादनात्मभूतं 'तदित्य'न्यतोऽभिव्यक्तिप्रसङ्गः । 'तथा चाभिव्यक्तिसाधनापेक्षता । उपलब्धिसमानाश्रयत्वे 'तु व्यवधानकल्पनानुपपत्तेः 'सर्वदाऽभिव्यक्तिरनभिव्यक्तिर्वा । न त्व'न्तरालकल्पनायां प्रमाणमस्ति ।

यदात्मा तस्य विद्यमानं सुखादि व्यज्यते चेज्ज्ञानानन्दयोर्देशाविव्यवधानाभावादानन्दः सदैव व्यज्यत इति मुक्तिविशेषणमनर्थकमित्यर्थः । यद्घटगोर्विषयविषयित्वप्रतिबन्धककुड्यादिवद्धर्मादिप्रतिबन्धादानन्दो ज्ञानं च संसारदशायां न व्यज्यते मोक्षे तु व्यज्यते तदभावादिति शङ्कते—अथेति । "उपलब्धिदेशाद्धि प्रदेशस्यैव घटादे"रुपलब्धिप्रतिबन्धदर्शनादनात्मभूतं सुखं न स्वभावभूतयोपलब्ध्या प्रकाशेत किंतु विषयेन्द्रियसंपर्कादिरित्युत्तरमाह—उपलब्धीति । अन्यतोऽभिव्यक्तौ किं स्यादिति चेत्तदाह—तथा चेति । तत्साधनानि चेन्मुक्तौ स्युः संसारादविशेषः स्यादिति भावः । उपलब्धिव्यवधानमानन्दस्याङ्गीकृत्यो'क्तमिदानीं तदेव नास्तीत्याह—उपलब्धीति । कदाचिदभिव्यक्तिरनभिव्यक्तिश्च कदाचिदित्येवं कालभेदेनोभयं किं न स्यादित्याशङ्क्याऽऽह—न त्विति ।

आत्मस्वरूप ही है, इसलिये नित्य अभिव्यक्त होने से उसकी उपलब्धि में व्यवधान सिद्ध न होने से वह मुक्त को अभिव्यक्त होता है, यह विशेषण वचन अनर्थक है । तथा यदि वह मोक्ष में ही कभी कभी अभिव्यक्त होता है, वह सुख उपलब्धि स्वरूप होने से आत्मा का व्यवधान होने से अनात्मभूत है, तब तो उसका इन्द्रियादि से अभिव्यक्त होने का प्रसङ्ग आ जायगा । इससे तो अभिव्यक्ति के साधन की भी अपेक्षा होती है । यदि आनन्द को उपलब्धि-समान-आश्रयत्व माना जाय तो व्यवधान कल्पना असिद्ध हो जाने से या तो उसकी सर्वदा अभिव्यक्ति होगी अथवा सर्वदा अनभिव्यक्ति होगी, इन दोनों कल्पनाओं को छोड़कर कोई तीसरी कल्पना मानने में कोई प्रमाण नहीं है ।

१. तद्—सुखादि स्यादिति शेषः । ततो भेदेनावस्थाने मानाभावादिति भावः । २ मोक्षे एव । ३ उपलब्धिस्वरूपादात्मनो व्यवहितत्वात् । ४ सुखम् । ५ इन्द्रियादितः । ६ अवतरणोक्तार्थत्वात् । ७ आनन्दस्य । ८ सर्वदेत्यादि—उपलब्ध्यव्यवहितं व्यज्यत एवेत्यभ्युपगमे प्रथमा गतिस्तथाऽनभ्युपगमे तु द्वितीयेति भावः । ९ अन्तरालेति—व्यवधानाव्यवधानकल्पनयोर्मध्ये व्यवधानाव्यवधानमिति तृतीयकल्पनायामिति यावत् । १० आनन्दस्योपलब्धिव्यवधानमभ्युपेत्योत्तरमवतारयति—उपलब्धिदेशादिति । ११ उपलब्धौ कुड्यादिप्रतिबन्धेति यावत् । १२ उक्तमिति—मुक्तौ संसारादविशेषाख्यं दूषणमुक्तमित्यर्थः ।

इति । सुखादि विद्यमानमविद्यमानं वाऽऽत्मनो व्यज्यत इति विकल्पयति—विज्ञानेति । आद्यमनुभाष्य दूषयति—अभिव्यक्तिरिति । आत्मनो विद्यमानं सुखादि मुक्तौ व्यज्यते चेत्तर्हि स्वरूपमेव मुक्तस्य स्यात्ततो भेदेनावस्थाने मानाभावादतो नित्यव्यक्ते सुखादेर्मुक्तौ व्यक्तिरिति । आत्मनो विद्यमानं सुखादि मुक्तौ व्यज्यते चेत्तर्हि स्वरूपमेव मुक्तस्य स्यात्ततो भेदेनावस्थाने मानाभावादतो नित्यव्यक्ते सुखादेर्मुक्तौ व्यक्तिरिति विशेषोक्तिरनर्थिकेत्यर्थः ॥ संसारेऽनभिव्यक्तमपीत्यप्यर्थे चकार ॥ स्वरूपत्वेन सदा सदपि तत्राऽऽमुक्तेर्व्यवहितत्वादव्यक्तमित्याशङ्क्याऽऽह—स्वात्मेति । स्वरूपसुखादेर्न वास्तवं व्यवधानं स्वरूपत्वविरोधान्मानाभावाच्चावास्तवे तु तस्मिन्मतभेदासिद्धिरित्यर्थः । यद्यस्य स्वरूपं न तत्तस्य व्यवहितं यथा प्रकाशो दीपस्येति व्याप्त्यर्थो हिशब्दः ॥

[1]न च समानाश्रयाणा[2]मेकस्याऽऽत्मभूतानां धर्माणामितरेतरविषयविषयित्वं संभवति । विज्ञानसुखयोश्च प्रागभिव्यक्तेः संसारित्वमभिव्यक्त्युत्तरकालं च मुक्तत्वं यस्य सोऽन्यः परस्मान्नित्याभिव्यक्तज्ञानसुखस्वरूपादत्यन्तवैलक्षण्याच्छैत्यमिवौष्ण्यात् । परमा-

---

आनन्दज्ञानयोर्विषयविषयित्वमभ्युपेत्य कादाचित्की तावदभिव्यक्तिर्निरस्ता, संप्रति तदपि न संभवतीत्याह—न चेति । आत्मभूतत्वं स्वाभाविकत्वम् । [3]विमतं न समानाश्रय[4]विषयं धर्मत्वा[5]त्प्रदीपप्रकाशवदिति भावः । मुक्तावानन्दज्ञानाभिव्यक्तिपक्षे दोषान्तरं वक्तुं भूमिकां करोति—विज्ञानसुखयोश्चेति । [6]तद्भेदापादनमिष्टमेवेत्याशङ्क्य विवक्षितं दोषमाह—परमात्मेति । परमते

समान आश्रय वाली एक ही वस्तु के आत्मभूत धर्मों का परस्पर विषय-विषयीभाव सम्भव नहीं है। (इस पर पूर्ववादी कहता है—) विज्ञान और सुख की अभिव्यक्ति के पूर्व संसारित्व और अभिव्यक्ति के उत्तर काल में जिसका मुक्तत्व प्रतिपादित किया जाता है, वह अत्यन्त विलक्षण स्वभाव होने के कारण, नित्य अभिव्यक्त ज्ञान स्वरूप होने के कारण परमात्मा उसी प्रकार भिन्न है, जैसे उष्णता से शीतलता भिन्न है। (इस पर सिद्धान्ती कहता है—) परमात्मा से भेद की कल्पना करने

---

१ न चेति—विमतौ नान्योऽन्यगोचरावेकाश्रयत्वात् तथाविधरूपरसादिवत् तथा च मुक्तौ ज्ञानाद्यभिव्यक्तिरयुक्तेति भावः । २ वस्तुनः । ३ सुखम् । ४ ज्ञानविषयम् । ५ प्रदीपेति—यथा प्रदीपप्रकाशः स्वसमानाश्रयौष्ण्यविषयो न भवति तथा सुखमपि स्वसमानाश्रयज्ञानविषयो न भवति धर्मत्वादित्यर्थः । ६ परापरभेदेति यावत् ।

बन्धमोक्षयोः सुखादेरतिशयाभावे मुक्तौ तदभिव्यक्तिरिति विशेषोक्तिरनर्थिकेत्युक्तं निगमयति—अमुक्ताविति ॥ किं चासत्कार्यवादिना सत्कार्यवादिना वा मतमेतदिति विकल्प्याऽऽद्यं प्रत्याह—सर्वसिद्धान्तेति ॥ तत्पक्षे वा कथं तत्प्रसक्तिरित्याशङ्क्य तन्मतमनुवदति—व्यज्यत इति ॥ असत्कार्यवादेऽपि कस्मादभिव्यक्तिरेव न भवति तत्राऽऽह—आरभ्यतेति । नापि द्वितीयस्तत्र विशेषणवैयर्थ्यस्योक्तत्वादिति तुशब्दार्थः । विद्यमानसुखादेरभिव्यक्तिपक्षं निराकृत्य पक्षान्तरं निराकरोति—यमनस्यति ॥ तस्यापि तच्छब्दादुत्पत्तिमाशङ्क्य तद्विशेषो नास्तीत्याह—व्यङ्ग्येति । किं च व्यक्तिः सत्यसती वोभयथाऽपि कारणेन तस्य न कार्यता सतोऽसतश्च साध्यत्वादृष्टेरित्याह—नेष्टेति ॥ व्यक्तिपक्षे दोषान्तरं वक्तुं विकल्पयति—सुखेति । आद्ये ज्ञानालम्बनत्वाख्या व्यक्तिर्न सिध्यत्येकत्र विषयविषयित्वायोगादित्याह—नेति ॥ कल्पान्तरमनूद्य निरस्यति—अथेति । सुखज्ञानयोर्भेदे दशादिव्यवधिप्रसङ्गाद्घटादिवन्नित्यज्ञानाज्ज्ञानान्तरं सुखग्राहि स्यात्तथा च मुक्तावपि कार्यकारणप्रसक्तेः संसारादविशेष इत्यर्थः । ज्ञानानन्दयोर्न केवलो भेदो नाप्यभेदः किंतु भेदाभेदावित्याशङ्क्याऽऽह तदिति । इत्यात्मा मुक्तिर्वोक्ता ॥ तयोर्भेदाभेदे मानाभावार्थं भेदस्याप्रामाणिकत्वं साधयति—भेदेति । घटादावपि न भेदग्राहि मानमस्तीत्यत्र हेतुमाह—मेयेति ॥ स्वार्थं व्यञ्जयदेव मानमन्यस्माद्व्यावृत्तिमनुवृत्तिं च तस्य व्यनक्तीत्याशङ्क्याऽऽह—स्वमेयेति । स्वार्थावसितव्यापाराणि मानानि न तस्यान्यतो भेदमभेदमुभयं वाऽवगाहन्ते स्वार्थपूरणात्तेषामन्यत्रौदासीन्यादित्यर्थः ॥ अस्तु वा यथाकथंचिज्ज्ञानेन संगत्या सुखव्यक्तिस्तद्व्यक्तिस्तु न सिध्यति तदुक्तौ द्वयोर्मुक्तौ व्यक्तिरित्याह—अभिव्यक्तिरिति । ज्ञानं स्वयमेव मानमन्यद्वेति प्रश्नार्थः ॥ तत्राऽऽद्यं दूषयति—प्रमाणानामिति । मानमेययोर्भेदप्रसिद्धेरित्यर्थः । द्वितीयं निराह—न चेति । इष्टं मानस्य मेयत्वमिति दोषः ॥ किंच ज्ञानेन सुखव्यक्तिरनित्या नित्या वेति विकल्प्याऽऽद्यमादत्ते—अभिव्यक्तिरिति । अनित्या चेदानन्दाभिव्यक्ति-

दभेदकल्पनायां च 'वैदिकः कृतान्तः परित्यक्तः स्यात्। मोक्षस्ये'दानीमिव' निर्विशेषत्वे तदर्थाधिकयत्नानुपपत्तिः शास्त्रवैयर्थ्यं च प्राप्नोतीति चेन्न। 'अविद्याभ्रमापोहार्थत्वात्। न हि वस्तुतो मुक्तामुक्तत्व'विशेषोऽस्ति। आत्मनो नित्यैकरूपत्वात्। किंतु 'तद्विषया-ऽविद्याऽपोह्यते शास्त्रोपदेशजनितविज्ञानेन। प्राक्तदुपदेशप्राप्तेस्तदर्थश्च प्रयत्न उपप-द्यत एव।

निराकृते सिद्धान्तेऽपि दोषद्वयमाशङ्कते—मोक्षस्येति। मोक्षार्थोऽधिको यत्नः शमदमादिः। शास्त्रं मोक्षविषयम्। मोक्षस्य निर्विशेषत्वेऽपि प्रत्यगविद्यातद्ध्वानर्थक्यं सिद्धेनोभयमर्थवदिति परिहरति—नाविद्येति। तत्र मुख्यं विवृणोति—न हीति। कथं तर्हि शास्त्राद्यर्थवत्त्वमित्याह—किंत्विति। तत्र शास्त्रस्यार्थवत्त्वं समर्थयति—तद्विषयेति। प्रस्तुतात्मविषयस्तच्छब्दः। संप्रति प्रयत्नस्यार्थवत्त्वं प्रकटयति—प्रागिति। प्रथमस्तच्छब्दः शास्त्रविषयः। द्वितीयो मोक्षविषयः।

में तो वैदिक सिद्धान्त का ही लोप हो जायगा। (इस पर पूर्ववादी कहता है—) संसार दशा में (इदानी-मिव) इस समय की तरह मुक्ति में यदि कोई विशेषता न मानी जाय तो उसके लिए अधिक यत्न की असिद्धि एवं शास्त्रवैयर्थ्यरूप दोष भी प्राप्त होता है। (इस पर सिद्धान्ती कहता है—)ऐसा कहना ठीक नहीं है। क्योंकि उन (यत्नाधिक्य और शास्त्रारम्भ) की अविद्यारूप भ्रम की निवृत्ति होने के कारण उनकी उपयोगिता सिद्ध है। परमार्थतः मुक्तत्व और अमुक्तत्व रूप विशेष नहीं है क्योंकि आत्मा नित्य एक रूप ही है। किन्तु शास्त्रोपदेशजनित विज्ञान से आत्मविषयक अविद्या का नाश होता है और उस शास्त्रोपदेशजन्य विज्ञान होने से पूर्व उसके लिए प्रयत्न करना उचित ही है।

---

१. वैदिक इति—"एको देवः सर्वभूतेषु", "एकमेवाद्वितीय"मित्यादिर्वैदिकः सिद्धान्त इत्यर्थः। २. इदानी-मिति। अत्र वार्तिके—"नन्विदानीं यथा तद्वन्मुक्तौ चेदविशेषतेति" ॥ १४६ ॥ ३ संसारदशायामिव। ४. प्रविधेयादि—यत्नाधिक्यशास्त्रारम्भयोरिति शेषः। ५ रूप। ६ आत्मविषया। ७ उक्ता युक्ति-मनूद्यमाना। ८. लौकिकयत्नापेक्षया शास्त्रीयोऽधिकः। ९. मोक्षे प्रवर्तकमिति यावत्। १०. प्रतिज्ञा-हेत्वोर्मध्ये। ११. वस्तुन्युक्तविशेषाभावे सति। १२ शास्त्रयत्नयोः।

स्तदा तस्य व्यवधेरव्यक्तिरेव मुक्तौ स्यात्तत्काले तद्धेत्वभावादित्याह— तदन्तरायेति। संसारदशायामानन्दा-व्यक्तेरिष्टत्वमवष्टभ्य सदेत्युक्तम् ॥ मुक्तिदशायां व्यवधिभङ्गेन तद्व्यक्तिरित्याशङ्क्याऽऽह अन्तरायेति। व्यवधेर्वस्तुत्वे ज्ञानस्यातद्ध्वंसित्वात्तदर्थं हेत्वन्तरमुपास्य तदभावान्मुक्तौ व्यवधानाध्वस्तेरव्यक्तिरेव सुखस्ये-त्यर्थः ॥ व्यवधेरवस्तुत्वे तस्याज्ञानाख्यस्य ध्वस्तिर्नित्यादागन्तुकाद्वा ज्ञानादिति विकल्प्याऽऽद्यं दूषयति—उपलब्धीति। यत्र ज्ञानं तत्रैव सुखमपीत्येकाश्रयत्वे तयोर्व्यवधानमप्रामाणिकमेकस्मिन्नात्मनि तयोः सदा सत्त्वाद्व्यवधानाज्ञानस्य नित्यज्ञानेन नित्यप्रतिहतेरित्यर्थः ॥ व्यवधानायोगे फलितमाह—एवं चेति। विपक्षे दण्डमाह—अभिव्यक्तिरिति ॥ यदि मुक्तावागन्तुकं ज्ञानमज्ञानाख्यं व्यवधिं धुनीते तत्राऽऽह—इतोऽन्यथेति। नित्यज्ञानं विना मुक्तावागन्तुकज्ञानकल्पनायां तत्र मात्रादि कल्प्यं तच्चायुक्तं बन्धादविशेषापत्तेर्मानाभावा-च्चेत्यर्थः ॥ इतश्च मुक्तौ ज्ञानादिव्यक्तिरयुक्तेत्याह—नापीति। विमतौ नान्योन्यगोचरावेकाश्रयत्वात्तथाविध-रूपरसवदित्यर्थः ॥

अविद्यावतोऽविद्यानिवृत्त्यनिवृत्तिकृतो विशेष आत्मनः स्यादिति चेत् । न । [1]अविद्याकल्पनाविषयत्वाभ्युपगमाद्रज्जूषरशुक्तिकागगनानां सर्पोदकरजतमलिनत्वादिवद-दोष इत्यवोचाम । [2]तिमिरातिमिरदृष्टिवद[3]विद्याकर्तृत्वाकर्तृत्वकृत आत्मनो विशेषः स्यादिति चेत् । न । ध्यायतीव लेलायतीवेति [4]स्वतोऽविद्याकर्तृत्वस्य [5]प्रतिषिद्धत्वात् । अनेकव्यापार[6]संनिपातजनितत्वाच्चाविद्याभ्रमस्य । विषयत्वोपपत्तेश्च ।

[7]आत्मनः सर्वैकरूपत्वं प्रागुक्तमाक्षिपति—अविद्येति । आविद्यः सोऽपीति समाधत्ते—नेति । यथा रज्ज्वाद्यविद्योत्थसर्पादेस्तद्विद्यया ध्वंसाध्वंसयो रज्ज्वादेर्न वास्तवो विशेषस्तथाऽऽत्मनोऽपि स्वाविद्यामात्रोत्थविशेषवत्त्वेऽपि तद्ध्वंसाध्वंसयोर्न वास्तवो विशेषोऽस्तीत्यर्थः । अदोषः सविशेषत्व-दोषराहित्यम् । प्रकारान्तरेण सविशेषत्वं शङ्कते—तिमिरेति । किमिदमविद्याकर्तृत्वं किं तज्जनकत्वं किं वा तदाश्रयत्वमिति विकल्प्याऽऽद्यं दूषयति—न ध्यायतीवेति । आत्मनः स्वतोऽविद्याकर्तृत्वाभावे हेत्व-न्तरमाह—अनेकेति । [8]विषयविषय्याकारोऽन्तःकरणस्य तत्र चिदाभासो[9]दयश्चाऽऽत्मनो [10]व्यापारस्तथा चानेकव्यापारसंनिपाते सत्यहं संसारीत्यविद्यात्मको भ्रमो जायते [11]तस्मान्न तस्याऽऽत्मकार्यतेत्यर्थः । कल्पान्तरं प्रत्याह—विषयत्वेति । अविद्यादेरात्मदृश्यत्वान्न [12]तदाश्रयत्वं न हि [13]तद्गतस्य तद्ग्राह्यत्व-मंशतः [14]स्वग्रहापत्तेरित्यर्थः ।

(इस पर पूर्ववादी आक्षेप करता है—) अविद्यावान् आत्मा का अविद्या की निवृत्ति एवं अनिवृत्ति वाला भेद तो रहेगा । (इस पर सिद्धान्ती समाधान करता है—) ऐसा कहना ठीक नहीं है। आत्मा के अविद्याकल्पित भेद विषयत्व स्वीकार करने से जिस प्रकार रज्जु, ऊसर, शुक्ति और आकाश मे भासने वाले सर्प, जल, रजत और मलिनता से उनमे कोई दोष नही आता; उसी प्रकार आत्मा मे अविद्या कल्पना से कोई दोष नही आता, ऐसा हम पहले ही बतला चुके है'। (पुनः पूर्ववादी आक्षेप करता है—) दृष्टि के तिमिरकृत और अतिमिरकृत विशेष के समान अविद्यात्मक भ्रम से कर्ता और अकर्ता होने से आत्मा मे भी भेद हो जायगा । (इस पर सिद्धान्ती समाधान करता है—) ऐसा कहना ठीक नहीं । क्योंकि "ध्यान करता हुआ सा, चेष्टा करता हुआ सा" इस श्रुति मे स्वतः अविद्याकर्तृत्व का निषेध किया गया है । इसके अतिरिक्त अविद्या भ्रम तो अनेक व्यापारो के पुञ्ज से उत्पन्न होता है तथा उसका विषयत्व होना भी सिद्ध है।

१ आत्मनोऽविद्याकल्पितविशेषविषयत्वस्वीकारादित्यर्थः । २. तिमिरातिमिरेति—दृष्टेस्तिमिरातिमिरकृत-विशेषवदित्यर्थः । ३ अविद्येति—अविद्याशब्देनात्र तदात्मको भ्रमो गृह्यते । ४ स्वत इति—बुद्ध्याद्युपाधि-प्रयुक्तत्वं वारयति । ५ प्रतिषिद्धत्वादिति—"अजो न जायते नेति ध्यायतीवेति चाऽऽगमैः । निषेधः क्रियते-ऽशेषविकारादेरिहाऽऽत्मनि" ॥ वा० ३५६ ॥ विकारादेरित्यादिशब्देन विकारिग्रहणम् । इहेति मोक्षशास्त्रोक्तिः । ६ पुञ्जेत्यर्थः । ७ आत्मनो निर्विशेषत्वासिद्धिं चोदयति—अविद्येतीति पाठान्तरम् । ८ विषयविषयीति —विषयविषयकोऽन्तःकरणस्याकारो वृत्तिरूपः दृष्टिसृष्टिपक्षे त्वन्तःकरणस्यैवोभयाकारत्वम् । ९ अभिव्यक्तिः । १० कार्यविशेषः । ११ तस्मात्—उक्तभ्रमस्याविद्योपादानकत्वे सत्युक्तानेकव्यापारसंनिपातनिमित्तकत्वात् । १२ आत्मधर्मत्वमिति यावत् । १३ आत्मधर्मस्यात्मग्राह्यत्वम् । १४ धर्मिग्रहपूर्वको हि धर्मग्रह इति धर्मधर्मिणोस्तादात्म्याद्वा स्वग्रहापत्तिः ।

'यस्य चाविद्याभ्रमो घटादिव'द्विविक्तो गृह्यते स 'नाविद्याभ्रमवान्। 'अहं न जाने मुग्धोऽस्मीति प्रत्ययदर्शनादविद्याभ्रमवत्त्वमेवेति चेन्न। 'तस्यापि 'विवेकग्रहणात्। 'न हि यो यस्य विवेकेन ग्रहीता स तस्मिन्भ्रान्त इत्युच्यते। तस्य 'च विवेकग्रहणं तस्मिन्नेव च भ्रम इति विप्रतिषिद्धम्। न जाने मुग्धोऽस्मीति दृश्यत इति ब्रवीषि तद्दर्शिनश्चाज्ञानं मुग्धरूपता दृश्यत इति च 'तद्दर्शनस्य विषयो भवति कर्मतामापद्यत इति तत्कथं कर्मभूतं सत्कर्तृ''स्वरूपदृशिविशेषणज्ञानमुग्धते स्याताम्। अथ दृशिविशेषणत्वं

''तदेव स्फोरयति—यस्य चेति। ''अनुभवमनुसृत्य शङ्कते—अह नेत्यादिना। साक्षिसाक्ष्यभावेन भेदाभ्युपगमान्नाऽऽत्मनोऽविद्याश्रयत्वमित्युत्तरमाह—न तस्यापीति। ''तदेव स्पष्टयति—न हीति। अविद्यादेर्विवेकेन ''ग्रहीतयपि तद्विषये भ्रान्तत्वे का हानिरित्याशङ्क्याऽऽह—तस्य चेति। अज्ञानं मुग्धत्व चाऽऽत्मनो न विशेषणमिति विधान्तरेण दर्शयितु चोद्यवाक्यमनुवदति—न जान इति। तद्व्याचष्टे—तद्दर्शिनश्चेति। अज्ञानादिस्तच्छब्दार्थं। दृश्यमानत्वमेव विशदयति—कर्मतामिति। इति ब्रवीषीति सम्बन्ध। एव परकीयं वाक्यं व्याख्याय फलितमाह—तत्कथमिति। 'तत्र चोद्यवाक्यार्थे दर्शितरीत्या स्थिते सति कर्तृविशेषण नाज्ञानमुग्धते स्याता तयो प्रत्येक कर्मभूतत्वादित्यर्थं। ''विपक्षे दोषमाह—अथेति। कथं कर्म स्यातामित्येतदेव व्याचष्टे—दृशिनेति। ''तथापि कथशब्द सबध्यते।

जिस आत्मा के द्वारा अविद्याभ्रम घटादि के समान अपने से भिन्न ग्रहण किया जाता है, वह अविद्याभ्रमवान नही है (अपितु साक्षी ही है)। (इस पर पूर्ववादी शङ्का करता है—) 'मैं आप द्वारा कही हुई बात को नही जानता, मैं मूढ हूँ'' ऐसा (लौकिक) अनुभव देखे जाने से आत्मा अविद्याभ्रमवान ही सिद्ध होता है। (सिद्धान्ती स्पष्टीकरण करता है—) ऐसी बात नही है क्योंकि अविद्यादि का भी भेद से ग्रहण होता है। किसी वस्तु को भेदबुद्धि से ग्रहण करने वाला उस विषय मे भ्रान्त नहीं कहा जा सकता। उसी का ही भेद ग्रहण हो और उसी मे ही भ्रम हो, ऐसी दोनो बातें परस्पर विरुद्ध हैं। ''मैं आपकी बात नही जानता, मूढ हूँ' ऐसा अनुभव होता है, यह जो तुम कहते हो और उसे देखने वाले की अज्ञान और मुग्धरूपता देखे जाने की बात कहते हो—ऐसा स्वीकार करने से तो अज्ञान

१ पुस आत्मन। २ स्वस्माद्भिन्न। ३ नाविद्यति—अपितु साक्ष्येव स इति शेष। ४ भवदुक्तम्।
५ अविद्यादेरपि। ६ भेदेन ग्रहणात्। ७ न हीत्यादि—अय भाव न जाने मुग्धोऽस्मीत्यनया प्रतीत्या
ऽऽत्म यज्ञानमुग्धते आपाद्यते ते तु किंविषये इति वक्तव्य न तावदात्मविषय ज्ञात्वैव त्वात्मानमहमिति प्रयोगात्।
आत्मातिरिक्तस्य तु सर्वस्याप्यज्ञानकार्यदिरज्ञानरूपत्वान्न तद्विषय ते सभवतस्तयोस्तु विवेकेन ग्रहणादिति।
तथा चाज्ञानादे साक्षिणा आत्मातिरिक्तस्याज्ञानरूपत्वेऽपि तद्विषय कुतो नाज्ञानादीत्यत आह—तमोस्त्वित्यादि।
८ एव। ९ द्रष्टुर्दर्शनस्य अज्ञान ग्रहणादेव नाज्ञानादि रूपस्यात्मातिरिक्तस्याप्यज्ञान सभवतीति भाव।
११. अविद्यादेरा मदस्यत्वमेव। १२ प्रतीचो युक्तितो-मुग्धता च। १० स्वरूपे दृशीति पाठान्तर।
१३ सगृहीत-ज्ञानाद्याश्रयत्व प्रत्युक्तं सा चानुभवबाधितेति मन्वान शङ्काम् यमवतारयति—अनुभवमिति।
मेव। १४ साक्षिणि। १५ तत्। १६ तयो कर्तृविशेषणत्वे। १७ विवरणवाक्येऽपि।

तयोः कथं कर्म स्यातां दृशिना व्याप्येते। कर्म हि कर्तृक्रियया व्याप्यमानं भवति। अन्यच्च व्याप्यमन्यद्व्यापकं न तेनैव तद्व्याप्यते। वद कथमेवं सत्यज्ञानमुग्धते दृशिविशेषणे स्याताम्। न चाज्ञानविवेकदर्श्यज्ञानमात्मनः धर्मभूतमुपलभमान उपलब्धृधर्मत्वेन गृह्णाति शरीरे काश्यरूपादिवत्तया।

सुखदुःखेच्छाप्रयत्नादीन्सर्वो लोको गृह्णातीति चेत्। तथाऽपि ग्रहीतुर्लोकस्य विविक्ततैवाभ्युपगता स्यात्। न जानेऽहं त्वदुक्तं मुग्ध एवेति चेत्। भवत्वमज्ञो मुग्धो यस्त्वेवदर्शी तं असमुग्धं प्रतिजानीमहे वयम्। तथा व्यासेनोक्तम्—'इच्छादि कृत्स्नं क्षेत्रं

'एतदेव स्फुटयति—कर्म होति। एवं सति व्याप्यव्यापकभावस्य भेदनिष्ठत्वे सतीत्येतत्। किञ्चाज्ञानमुपलब्धृधर्मो न भवत्युपलभ्यमानत्वाद्देहगतकार्श्यादिवदित्याह—न चेति। अज्ञानवत्तत्कार्यमपि नाऽऽत्मधर्मं स्यादित्यतिदिशति—तथेति।

अज्ञानोत्थस्येच्छादेरात्मधर्मत्वनिराकरणे प्रतीतिविरोधः स्यादिति शङ्कते—सुखेति। तेषां ग्राह्यत्वमङ्गीकृत्य परिहरति—तथाऽपीति। "आत्मनिष्ठत्वे सुखादीनां चैतन्यवदात्म"ग्राह्यत्वायोगात्"स्वग्राह्याणां तेषां न "तद्धर्मतेति भावः। प्रकारान्तरेण निराकर्तुं निराकृतमेव चोद्यमनुद्रवति—न जानेति। किं प्रमातुरज्ञानाद्यध्यक्षत्वमनुभवादभिदधासि 'साक्षिणो वा। तत्राऽऽद्य प्रत्याह—भवत्विति। कल्पान्तरं निराकरोति—यस्त्विति। न हि यो यत्र साक्षी स तत्राज्ञो मूढो वेति। तथा च सर्वसाक्षी नाज्ञानादिमान्भवतीत्यर्थः। आत्मनो मोहादिराहित्ये भगवद्वाक्यं प्रमाणयति— तथेति। "तस्य सर्व-

---

और मुग्धता द्रष्टा के दर्शन के विषय हो जाते हैं और कर्मरूपता को प्राप्त हो जाते हैं। तब कर्मभूत होकर वे अज्ञान और मुग्धता कर्तृस्वरूप में साक्षी विशेषण कैसे हो सकते हैं। और यदि वे साक्षी के विशेषण हैं तो उन दोनों के कर्म कैसे हो सकेंगे यानी साक्षी से किस प्रकार व्याप्त होंगे। कर्म का स्वभाव है कि वह कर्ता की क्रिया से व्याप्त होता है। व्याप्य और व्यापक दोनों भिन्न भिन्न हुआ करते हैं, अपने से अपने को व्याप्त नहीं किया जा सकता। बतलाइये! इस प्रकार अज्ञान और मुग्धता साक्षी के विशेषण कैसे हो सकते हैं। अज्ञान को अपने से भिन्न देखने वाला यानी अज्ञान को अपना कर्मभूत मानने वाला शरीरस्थ कृशता व रूपादि की तरह उसे स्वधर्मत्वेन ग्रहण नहीं करता।

(इस पर पूर्ववादी शङ्का करता है—) यदि कहो सुख, दुःख, इच्छा, प्रयत्न आदि (आत्म-

---

१ स्वनैव। २ स्वम्। ३ अज्ञानस्य स्वतो भेददर्शी। ४ स्वधर्मत्वेन। ५ तथा ग्राह्यत्वेऽपि। ६ स्व प्रमाता। ७ यस्त्वेवदर्शीति— मूढाज्ञयोस्तु यः साक्षी नाऽसौ मुग्धोऽज्ञ एव वा॥ लोकेऽपि यस्य यः साक्षी सम्यग्दर्श्येव तस्य सः। यथा लोके तथेहापि साक्षी सम्यक्प्रपश्यती'ति वार्तिकामृतम्॥ ३६३-३६४॥ ८ इच्छादीति— महाभूतान्यहंकारो बुद्धिरव्यक्तमेव च। इन्द्रियाणि दशैकं च पञ्च चेन्द्रियगोचराः॥ इच्छा द्वेषः सुखं दुःखं संघातश्चेतना धृतिः। एतत्क्षेत्रं समासेन सविकारमुदाहृतम्' ॥ गी० १३ ५-६ ॥ इत्यज्ञानोत्थस्य महाभूतादेः साक्षिणः सकाशात्क्षेत्रत्वेन पृथक्करणात्तत्कारणीभूतस्याज्ञानस्यापि तदसम्बद्धसिद्धिरित्यर्थः। ९ क्रियाऽव्याप्यत्वमेव क्रियाव्याप्यत्वासंभवनमेव। १० भ्रम। ११ आत्मधर्मत्वे। १२ ग्राह्यत्वायोगादिति तन्निष्ठस्य तद्ग्राह्यत्वे चाशत स्वग्रहापत्तिरित्युक्तमिति भावः। १३ आत्मग्राह्याणाम्। १४ आत्मधर्मता। १५ प्रमातुः। १६ आत्मनः।

क्षेत्री प्रकाशयतीति ।

"समं सर्वेषु भूतेषु तिष्ठन्तं परमेश्वरम् ।
विनश्यत्स्वविनश्यन्तम्"

इत्यादि शतश उक्तम्। तस्मान्नाऽऽत्मनः स्वतो बद्धमुक्तज्ञानाज्ञानकृतो विशेषोऽस्ति । सर्वदा समैकरसस्वाभाव्याभ्युपगमात् ।

ये स्वतोऽन्यथाऽऽत्मवस्तु परिकल्प्य बन्धमोक्षादिशास्त्रं चार्थवादमापादयन्ति त उत्सहन्ते खेऽपि शाकुनं पदं द्रष्टुं खं वा मुष्टिनाऽऽक्रष्टुं चर्मवद्वेष्टितुम् । वयं तु

विशेषशून्यत्वे वाक्यान्तरमुदाहरति—सममिति । आदिपदेन समं पश्यन्हि सर्वत्र । ज्योतिषामपि तज्ज्योति'रित्यादि गृह्यते । आत्मनो निर्विशेषत्वे प्रामाणिके स्वमतमुपसंहरति—तस्मान्नेति ।

पक्षान्तरमनुभाषते—ये त्विति । अतो निर्विशेषस्वाभाव्यादिति यावत् । अज्ञानाद्बन्धो ज्ञानान्मुक्तिरिति शास्त्रमर्थवादः । आदिशब्देन 'सोऽरोदीदि'त्याद्यर्थवादं दृष्टान्तं सूचयति । सोपहासं दूषयति—त उत्सहन्त इति । न हि सविशेषत्वं शक्यमात्मनः प्रतिपत्तुं निर्विशेषत्वप्रत्यायकागमविरोधादिति भावः । "कथं "तर्हि भवद्भिरात्मतत्त्वमभ्युपगम्यते तत्राऽऽह—वयं त्विति । प्रमाणविरुद्धार्थदर्शनं तच्छब्देन

धर्मों) को मनुष्यमात्र ग्रहण करता है। (सिद्धान्ती समाधान करता है—) उनके ग्राह्यत्व स्वीकार करने पर भी ग्रहीता की भिन्नता लोक में अङ्गीकृत है ही। और जो तुम ने कहा—"मैं नहीं जानता, मैं मूढ ही हूँ" ऐसे कहकर भले ही तुम अज्ञ या मूढ बने रहो, किन्तु जो मूढ और अज्ञ का साक्षी है; उसे हम ज्ञानी और अमुग्ध होने का वचन करते हैं। इसे व्यास जी ने भी कहा है—"इच्छादि सम्पूर्ण क्षेत्रों को क्षेत्री आत्मा प्रकाशित करता है"।

"जो परमात्मा को सब भूतों में सर्वत्र एक रूप से स्थित, विनश्वर पदार्थों के नाश होने पर भी, नाश न होने वाला देखता है, वही परमार्थतः देखता है" इस प्रकार सैकड़ों शास्त्र वचन हैं। इसलिए स्वयं आत्मा की बद्ध-मुक्त ज्ञान-अज्ञान होने से कोई विशिष्टता नहीं होती क्योंकि उसका सर्वदा सम, एकरस स्वरूप स्वीकृत किया गया है।

किन्तु जो विचारक आत्मतत्त्व की सविशेष कल्पना कर बन्धमोक्षादि शास्त्र को अर्थवाद

---

१. सममित्यादि—विषमेषु भूतेषु समं चलत्सु तिष्ठन्तमित्यर्थः । २. तस्मादिति—"यत एवमतो नास्ति विशेषोऽत्र मनागपि । बन्धमोक्षादिरूपोऽयमात्मनीति विनिश्चयः" ॥ वा० ३६८ ॥ ३. भवत्तरणोक्तत्वात् । ४. सविशेषम् । ५. "यदा ह्येवैष एतस्मिन्नदृश्येऽनात्म्येऽनिरुक्तेऽनिलयनेऽभयं प्रतिष्ठां विन्दतेऽथ सोऽभयं गतो भवति यदा ह्येवैष एतस्मिन्नुदरमन्तरं कुरुतेऽथ तस्य भयं भवती"त्यादावज्ञानाद्बन्धो ज्ञानान्मुक्तिरिति शास्त्रे सति अयमात्मनो वस्तुतः सविशेषतेत्याशङ्क्याऽऽह—बन्धमोक्षेति । ६. अर्थवादेति—तथा चात्मनो बन्धमोक्षादिविभागो वास्तवोऽस्तीति तद्भावः । ७. त इति—"एवं परिहृतेऽप्याहुर्यथेच्छं दूषणं परे । विद्वद्भिस्त उपेक्ष्याः स्युर्बालोन्मत्तसमा जनाः" ॥ वा० ३७१ ॥ इति तात्पर्यम् । ८. इत्यादीत्यादिना—"यथा प्रकाशयत्येकः कृत्स्नं लोकमिमं रविः । क्षेत्रं क्षेत्री तथा कृत्स्नं प्रकाशयति भारत" "न तत्र सूर्यो भाति" "नान्योऽतोऽस्ति द्रष्टा" "अत्रायं पुरुषः स्वयंज्योतिरित्या"दिवाक्यानि गृह्यन्ते । ९. "सोऽरोदीदि"त्यादि । १०. कीदृक । ११. तर्हि—आत्मनः सविशेषत्व प्रतिपत्तेरशक्यत्वे ।

तत्कर्ममशक्ताः सर्वदा सममेकरसमद्वैतमविक्रियमजमजरममरममृतमभयमात्मतत्त्वं ब्रह्मैव इत्येष सर्ववेदान्तनिश्चितोऽर्थ इत्येवं प्रतिपद्यामहे । तस्माद्ब्रह्माप्येतीत्युपचारमात्रमेत-द्विपरीतग्रहवद्देहसंततेर्विच्छेदमात्रं विज्ञानफलमपेक्ष्य ॥ ६ ॥

स्वप्नबुद्धान्तगमनदृष्टान्तस्य दार्ष्टान्तिकः संसारो वर्णितः । संसारहेतुश्च विद्या-कर्मपूर्वप्रज्ञा वर्णिताः । यैश्चोपाधिभूतैः कार्यकरणलक्षणैर्भूतैः परिवेष्टितः संसारित्वमनु-भवति तानि चोक्तानि । तेषां साक्षात्प्रयोजको धर्माधर्माविति पूर्वपक्षं कृत्वा काम एवेत्यवधारितम् । यथा च ब्राह्मणेनायमर्थोऽवधारित एवं मन्त्रेणापीति बन्धं बन्धकारणं चोक्त्वोपसंहृतं प्रकरणमिति नु कामयमान इति । अथाकामयमान इत्यारभ्य

परामृश्यते । 'सत्त्वादीनामिव साम्यं द्रूषयति—सर्वदेति । भेदाभेदमपवदति—एकरसमिति । तत्र हेतुमाह—अद्वैतमिति । द्वैताभावोपलक्षितत्वादित्यर्थः । ऐकरस्ये कौटस्थ्यं हेत्वन्तरमाह—अविक्रिय-मिति । तदुपपादयति—अजमित्यादिना । अमरं मरणायोग्यम् । तत्र सर्वत्राविद्यासंबन्धराहित्यं हेतुमाह—अभयमिति । ननु ब्रह्म त्रिविधं न स्वात्मतत्त्वमित्याशङ्क्याऽऽह—ब्रह्मैवेति । यथोक्तं प्रत्यग्भूतं ब्रह्मेत्यत्र प्रमाणमाह—इत्येष इति । तत्रैव विद्वदनुभवं प्रमाणयति—इत्येवमिति । परपक्षनिरासेन प्रकृतं वाक्यार्थमुपसंहरति—तस्मादिति । उपचारनिमित्तमाह—विपरीतेति । आत्मा तत्त्वतः संसारीति विपरीतग्रहवती या देहसततिस्तस्या विच्छेदमात्रं ज्ञानफलमपेक्ष्योपचारमात्रमित्यर्थः ॥६॥

ब्राह्मणोक्तेऽर्थे मन्त्रमवतारयितुं ब्राह्मणार्थमनुवदति—स्वप्नेत्यादिना । अयमर्थः संसार-

प्रतिपादित करते हैं, ऐसे (उन्मत्त और अतत्त्वविद्) आकाश में भी पक्षी के पदचिह्न देखना चाहते हैं, आकाश को मुट्ठी से खींचना और चमड़े के समान लपेटना चाहते हैं। हम ऐसी कल्पना करने का साहस नहीं कर सकते। हम मानते हैं कि सर्वदा सम, एकरस, अद्वितीय, अविकारी, अजन्मा, अजर, अमर, अमृत, अभयरूप आत्मतत्त्व ब्रह्म ही है—यही सर्व वेदान्तों का निष्कर्ष है। इसलिये विपरीत ग्रह से होने वाली भावी देह सतति के विच्छेद मात्र विज्ञान के फल की अपेक्षा से-"ब्रह्म ही होकर ब्रह्म को प्राप्त होता है" यह श्रुतिवचन उपचार मात्र ही है ॥ ६ ॥

स्वप्न और जागरितावस्था में गमनसंबन्धी दृष्टान्त का दार्ष्टान्तिक रूप जन्ममरणात्मक संसार का वर्णन कर दिया गया। संसार की प्राप्ति में हेतु विद्या, कर्म और पूर्वप्रज्ञा का भी प्रतिपादन कर दिया गया और जिन उपाधिभूत देह-इन्द्रिय लक्षण भूतों के द्वारा परिवेष्टित हो संसारित्व अनुभव करता है, उनका भी निरूपण कर दिया गया। उन भूतों के साक्षात् प्रेरक धर्म और अधर्म हैं—इस प्रकार पूर्वपक्ष उपस्थापित कर "काम ही उनका प्रेरक है" ऐसा सिद्धान्त निर्धारित किया गया। जिस प्रकार ब्राह्मणभाग में अर्थ किया गया था; उसी अर्थ का मन्त्रभाग में निर्धारण किया गया। बन्ध और बन्ध के कारण को बतलाकर "इति नु कामयमान." इस श्रुतिवाक्य से प्रकरण का

१ प्रतीच सदा ब्रह्मत्वात्। २ भाविन्या देहसंततेरित्यर्थः। ३. जन्ममरणात्मक। ४. भूतानाम्। ५. वाक्येन। ६ सत्त्वादिगुणानां यथा कदाचित्साम्यावस्था तद्वत्कादाचित्कं साम्यमित्यर्थः। ७. प्रत्यग्भूते ब्रह्मण्येव। ८ भाविनीदेहसततिरिति यावत्।

'तदेष श्लोको भवति। यदा सर्वे प्रमुच्यन्ते कामा येऽस्य हृदि श्रिताः। अथ मर्त्योऽमृतो भवत्यत्र ब्रह्म

उसी विषय में यह मन्त्र भी है। जब इसके हृदय में स्थित समस्त कामनाएं मूल से नष्ट हो जाती हैं; तब यह मरणशील पुरुष अमर हो जाता है और इस वर्तमान शरीर में ही वह ब्रह्म को

सुषुप्तदृष्टान्तस्य दार्ष्टान्तिकभूतः सर्वात्मभावो मोक्ष उक्तः। मोक्षकारणं चाऽऽत्मकामतया यदाप्तकामत्वमुक्तम्। 'तच्च सामर्थ्यान्नाऽऽत्मज्ञानमन्तरेणाऽऽत्मकामतयाऽऽप्तकामत्वमिति सामर्थ्याद्ब्रह्मविद्यैव मोक्षकारणमित्युक्तम्। अतो यद्यपि कामो मूलमित्युक्तं तथाऽपि मोक्षकारणविपर्ययेण बन्धकारणमविद्येत्येतदप्युक्तमेव भवति। अत्रापि मोक्षो मोक्षसाधनं च ब्राह्मणेनोक्तम्। 'तस्यैव दृढीकरणाय मन्त्र उदाह्रियते श्लोकशब्दवाच्यः—

'तत्तस्मिन्नेवार्थ एष श्लोको मन्त्रो भवति। यदा यस्मिन्काले सर्वे 'समस्ताः

स्तद्धेतुश्च मन्त्रस्तदेव सक्तः सह कर्मणेत्यादिः। आत्मज्ञानस्य 'तर्हि मोक्षकारणत्वमुपेक्षितमित्याशङ्क्याऽऽह—तच्चेति। अतो ब्रह्मज्ञानं मोक्षकारणमित्युक्तत्वादिति यावत्। मूलं बन्धस्येति शेषः। अत्रेति मोक्षप्रकरणोक्तिः। बन्धप्रकरणं दृष्टान्तयितुमविशददः। "उक्तेऽर्थे तदेष इत्याद्यक्षराणि व्याचष्टे—तत्तस्मिन्नेवेति। यस्मिन्काले विद्यापरिपाकावस्थायामित्यर्थः। "सुषुप्तिदृष्टार्थ्यर्थं सर्वविशेषण-

---

उपसंहार कर दिया गया। पुनः "अथाकामयमान." इस श्रुतिवाक्य से प्रारम्भ कर सुषुप्त दृष्टान्त का दार्ष्टान्तिकभूत सर्वात्मभाव मोक्ष कहा गया। यहाँ जो मोक्ष का कारण "आत्मकाम होने से जब आप्तकाम होता है" ऐसा कहा गया, वह प्रकरण सामर्थ्य से "आत्मकाम होने से आप्तकामत्व" बिना आत्मज्ञान के नहीं हो सकता; इसलिए सामर्थ्य से ब्रह्मविद्या ही मोक्ष में कारण है—ऐसा बतला दिया गया। यद्यपि "मूल में सभी काम ही है" ऐसा बतलाया था, तथापि मोक्ष कारण की विपर्ययात्मिका अविद्या ही बन्धन का कारण है, यह बात स्वतः ही उक्त हो जाती है। यहाँ भी मोक्ष और मोक्ष का

---

१. तद् तस्मिन् ब्राह्मणोक्ते मोक्षतत्साधनेऽर्थे एष श्लोको मन्त्रो भवति। अस्यात्मकामस्य विदुषो यदा यस्मिन् विद्यापाककाले हृदि श्रिता ये प्रसिद्धा. सर्वे इहामुत्रार्था इन्द्रियप्रवृत्तिभूवाः कामा वासनात्मका मुच्यन्ते मूलतो विशीर्यन्ते। अथातो हेतोस्तदा मर्त्यो मरणधर्मोऽपि सन् अमृतो भवति किं तदमृतत्वं क्व वेत्यत आह—अत्र अस्मिन्नेव शरीरे स्थित सन् ब्रह्म समश्नुते ब्रह्मभूतो भवतीत्यर्थं। २. तच्चेति—मोक्षकारणत्वेन श्रुतमात्मकामत्वप्रयुक्तमाप्तकामत्व च सामर्थ्यात्—श्रुतार्थानुपपत्त्या यागोऽपूर्वमिव स्वद्वार कल्पयतीति शेष। ३. आप्तकामत्वमित्यनन्तर साक्षान्मोक्षसंपादक स्वरूपभूतमोक्षकल्पनास्वरूपमेवाभिनयति—नेत्यादिना। ४. इति सामर्थ्यात्—इत्याकारकश्रुतार्थानुपपत्त्येत्यर्थः। ५. ब्राह्मणोक्तार्थं—व्यवध्यज्ञानानिवर्तकत्वादिति शेषः। ६. श्रोतृप्रवृत्तिदार्ढ्याय। ७. ब्राह्मणोक्ते मोक्षतत्साधनरूपेऽर्थे। ८. समस्ता इति—विद्यायैव। ९. तर्हि—आत्मकामत्वेऽविद्याध्वस्तौ कारणनाशात् कामा संस्कारात्मनापि नावशिष्यन्त इति भावः। १०. अनूदिते ब्राह्मणार्थे। ११. सुषुप्तीति—सुषुप्तौ हि प्रयुक्तस्याप्तकामत्वस्य मोक्षकारणत्वाभ्युपगमे। अज्ञानरूपकारणावशेषात् कामा अपि संस्कारात्मनाऽवतिष्ठन्त इति न समस्तनाशस्तेषामिति भावः।

समश्नुत इति । तद्यथाऽहिनिर्ल्वयनी वल्मीके मृता प्रत्यस्ता शयीतैवमेवेद[1]शरीरशेतेऽथायम[2]शरीरो-[3]ऽमृतः [4]प्राणो [5]ब्रह्मैव [6]तेज एव सोऽहं भगवते सहस्रं ददामीति होवाच जनको वैदेहः ॥ ७ ॥

प्राप्त कर लेता है। इसमें दृष्टान्त यह है कि जैसे सर्प की केंचुली सर्प के निवासस्थान बिल के ऊपर मृत एवं सर्प द्वारा त्यागी हुई पड़ी रहती है, वैसे ही सर्पस्थानीय मुक्त पुरुष द्वारा यह अनात्म देह परित्यक्त हो मरे हुए के समान पड़ा रहता है और यह शरीररहित, अमर, प्राणपदवाच्य चेतन आत्मा तो ब्रह्म ही है, तेज ही है (अर्थात् देहाध्यास के कारण से प्रतीत होने वाला ममार उस तत्त्ववेत्ता को संतप्त नहीं करता)। इस पर विदेहराज जनक ने कहा—भगवन्! वह मैं जनक आपको एक सहस्र गौएँ देता हूँ ॥ ७ ॥

कामास्तृष्णाप्रभेदाः प्रमुच्यन्ते। आत्मकामस्य ब्रह्मविदः [7]समूलतो विशीर्यन्ते। ये प्रसिद्धा लोके [8]इहामुत्रार्थाः पुत्रवित्तलोकैषणा लक्षणा अस्य प्रसिद्धस्य पुरुषस्य * हृदि बुद्धौ श्रिता

मिति मत्वाऽह— समस्ता इति। कामशब्दस्या[9]र्थान्तरविषयत्वं व्यावर्तयति—तृष्णेति। क्रियापदं सोपसर्गं व्याकरोति—आत्मकामस्येति। [10]तानेव विशिनष्टि—ये प्रसिद्धा इति। कामानामा[11]स्माश्रय वं

साधन ब्राह्मणभाग द्वारा कहा गया है। उसी ब्राह्मणभागोक्त अर्थ की पुष्टि करने के लिए श्लोकशब्द-वाच्य मन्त्र प्रस्तुत किया जाता है।

"तदेष श्लोको भवति" अर्थात् उसी अर्थ में इस मन्त्र के पूर्वार्द्ध में मन्त्रात्मक श्लोक है। "यदा" अर्थात् जिस समय "सर्वे कामा" अर्थात् (विद्या से अविद्याध्वंस होने पर कारणनाश से संस्कारात्मक रूप से भी काम अवशिष्ट न रहने से) समस्त तृष्णा प्रभेद काम पूर्णतया छूट जाते हैं; आत्मकाम ब्रह्मवेत्ता के काम अज्ञानसहित समूल नष्ट हो जाते हैं। "ये" यानी जो लोक में प्रसिद्ध उभयलोक फल विषयक पुत्र-वित्त-लोकैषणासंज्ञक काम "अस्य" अर्थात् इस प्रसिद्ध पुरुष के "हृदि

---

१ शरीर—स्थूलं सूक्ष्मं च जीवन्मुक्ते नानात्मभावेन त्यक्तम्। २ तत्र निर्ममाहङ्कृतिकत्वात्। ३ मरणस्य देहधर्मत्वात्। ४ साक्षी। ५ ब्रह्मरूप। ६ किं तद्ब्रह्म तत्राह—तेज इति। विज्ञानज्योतिरेव। ७ मूलमज्ञानम्। ८ उभयलोकफलविषयका। ९ अर्थान्तरेति—मदनादीत्यर्थः। तथा च मेदिनी—"कामः स्मरेच्छयोः पुमान् रेतस्यपि निकामे च काम्येऽपि स्यान्नपुंसकम्" इति। १० कामानेव। ११ सार्विकसम्मतम्।

---

* हृदि बुद्धौ श्रिता इति। अत्र वार्तिकानि—'हृदि श्रिता इति वचः कामधर्म्यं ब्रवीन्मनः। कामः सङ्कल्प इत्येवं तथा च प्राक्श्रुतीरणम् ॥ इदं च हेतुवचनं प्रतिज्ञातस्य वस्तुनः। हृदि श्रिता यतः कामा प्रमुच्यन्तेऽखिलास्ततः ॥ अविद्याया यतः कार्यमध्यात्मादिविशेषणम्। अथ वा हृदमित्युक्तं वाङ्मनःप्राणभेदवत् ॥ अतोऽविद्यासमुच्छित्तौ सहेतुनामशेषतः। कामानामपि नाशः स्याद्ब्रह्मात्मब्रह्मरूपिणाम् ॥ निःशेषजनिमद्धेतुः कामः एवावधारितः। श्रिता अतिग्रहाः कामा इन्द्रियाणां प्रवर्तकाः। हृदि श्रिता इति वचस्तेषामवरुद्धया ॥ वेदव्यासोऽपि च

श्रिताः। अथ तदा मर्त्यो मरणधर्मा सन्कामवियोगात्समूलतोऽमृतो भवति। अर्थादनात्मविषयाः कामा अविद्यालक्षणा मृत्यव इत्येतदुक्तं भवति। अतो मृत्युवियोगे विद्वाञ्जीवन्नेवामृतो भवति। अत्रास्मिन्नेव शरीरे वर्तमानो ब्रह्म समश्नुते ब्रह्मभावं मोक्षं प्रतिपद्यत इत्यर्थः। अतो मोक्षो न देशान्तरगमनाद्यपेक्षते। तस्माद्विदुषो नोत्क्रामन्ति

निराकरोति—हृदीति। समूलतः कामवियोगादिति संबन्धः। कामवियोगादमृतो भवतीतिनिर्देशसामर्थ्यसिद्धमर्थमाह—अर्थादिति। तेषां मृत्युत्वे किं स्यात्तदाह—अत इति। अत्रेत्यादिना विवक्षितमर्थमाह—अतो मोक्ष इति। आदिपदमुत्क्रान्त्यादिसंग्रहार्थम्। मुक्तेस्तदपेक्षाभावो फलितमाह—तस्मा-,

---

श्रिताः" अर्थात् बुद्धि के आश्रित है। "अथ" अर्थात् तब "मर्त्यः" अर्थात् मरणधर्मा होने पर भी कामनाओं के समूल नष्ट हो जाने से अमृत हो जाता है। अर्थात् अनात्मविषयक काम ही अविद्या उपादानक मृत्यु हैं; यह बात कह दी गयी है। इसलिये (काम रूप) मृत्यु के वियोग हो जाने पर यह विद्वान् पुरुष जीते हुए ही मुक्त हो जाता है। "अत्र" अर्थात् इस शरीर मे वर्तमान रहते हुए ही 'ब्रह्म समश्नुते" अर्थात् ब्रह्मभाव मोक्ष को प्राप्त कर लेता है। इसलिए मोक्ष में देशान्तरादिगमन की

---

१. अविद्योपादानका। २ अवतरणोक्तत्वात्। ३ अतः—ज्ञानसमकालमेव ब्रह्मभावप्रतिपत्तेर्मन्त्रोक्तत्वात्।
४. अवतरणप्रोक्तत्वात्।

मुनिर्जगादेम यथोदितम्। श्रुत्यर्थमुररीकृत्य लोकानुग्रहकाम्यया॥ विषया विनिवर्तन्ते निराहारस्य देहिनः। रसवर्जं रसोऽप्यस्य परं दृष्ट्वा निवर्तते॥ एवं बुद्धेः परं बुद्ध्वा संस्तभ्यात्मानमात्मना। जहि शत्रुं महाबाहो कामरूपं दुरासदम्" ॥ ३८०-३८७॥ इति। अस्य पुंसो ये कामा लोकद्वयविषयास्ते सर्वे ज्ञानान्नश्यन्तीत्युक्तं सम्प्रति हृदीत्यादेस्तात्पर्यमाह—हृदीति। तत्र स्वप्नाधिकारं संवादयति—काम इति॥ तर्हि तेनैव गतार्थत्वादपार्थमेतदित्याशङ्क्याऽऽह—इद चेति। कामा प्रमुच्यन्त इति प्रतिज्ञात वस्तुनो हृदि श्रिता इति हेतुवाक्यमित्यमुमेव विभागं प्रकटयति—हृदीति। ननु ब्रह्मविदो विद्यया कामध्वस्तौ तेषां हार्दस्य कथं हेतुत्वं हि मुक्तिविद्यया तदविद्याध्वस्तौ पुरुषनिष्ठत्वं तस्या हेतुः क्रियते तत्राऽऽह—अविद्याया इति। त्रिविधं रागादिकं जगदाविद्यमिति अथ वा इदमित्यत्र यस्मादुक्तं तस्मादविद्याध्वस्तौ तज्जान्तःकरणध्वस्तेस्तदाश्रितानामपि कामानां सार्थानां सर्वथा ध्वस्तिरिति विदुषो विद्यया कामध्वस्तौ हृदिश्रितत्वोक्तिर्भवति हेतुरित्यर्थः। नन्वविद्याध्वस्तौ तत्कार्यध्वस्तेस्तदाश्रितकामध्वंसेऽपि कार्यान्तरं स्थास्यति तत्कुतो मुक्तिस्तत्राऽऽह—निःशेषेति। काममय एवायं पुरुषः कामबन्धनमेवेदमित्यादाविति शेषः। कामहेतुकत्वाद्धर्मादिविद्यया ध्वस्तौ कर्म विध्वंसते तथाच मुक्तिप्रतिबन्धाभावात्तत्सिद्धिरित्यर्थः। कामशब्दस्यानेकार्थत्वात्कस्य जनिमद्धेतुत्वं तत्राऽऽह—श्रिता इति। बुद्धिस्था रागादिवासनाख्याः कामा द्विविधेन्द्रियप्रवर्तकाः सन्तो नानाक्रियामुत्पादयन्तो जगज्जनयन्ति धिया धिया जनयते कर्मभिरिति श्रुतेरित्यर्थः। रागादिवासनामत्र कामत्वे गमकमाह—हृदीति। रागादीनामत्र कामशब्देन संग्रहार्थमेनाद्विशेषणं न हि मनोगतत्वं रागादिभ्योऽन्यत्र मुख्यमित्यर्थः॥ ब्रह्मविदो ज्ञानादशेषकामध्वस्तिरिति प्रतिज्ञाहेतुभ्यामुक्तं तत्र स्मृतिं प्रमाणयति—वेदव्यासोऽपीति॥ तदीयं वाक्यं पठति—विषया इति। तत्प्राबल्यराहित्यं निराहारत्वं रसो रागः॥ तदीयं वाक्यान्तरमाह—एवमिति॥ ब्रह्मविदः कामा निवर्तन्त इति प्रतिज्ञायामज्ञानोत्थबुद्धिस्थत्वात्तेषां तद्ध्वस्तौ ध्वस्तेरितिहेत्वर्थतया विशेषणं व्याख्यायार्थान्तरमाह—"अनाश्रितविभागार्थमथवा तद्विशेषणम्। तेषु मतविधेयत्वादफलं स्याद्विशेषणम्॥ नाऽऽश्रयानेक्षर्यतत्स्याद्धृदीतीह

प्राणा यथावस्थिता एव स्वकारणे पुरुषे समवनीयन्ते । नाममात्रं ह्यवशिष्यत 'इत्युक्तम् ।

कथ पुनः 'समवनीतेषु प्राणेषु देहे च 'स्वकारणे 'प्रलीने विद्वान्मुक्तोऽत्रैव सर्वात्मा सन्वर्तमानः पुनः पूर्ववद्देहित्व संसारित्वलक्षणं न प्रतिपद्यत इति । अत्रोच्यते—'तत्त-त्रायं दृष्टान्तो यथा लोकेऽहिः सर्पस्तस्य निल्वंयनी 'निर्मोकः साऽहिनिल्वंयनी' वल्मीके सर्पाश्रये वल्मीकादावित्यर्थः । 'मृता प्रत्यस्ता प्रक्षिप्ताऽनात्मभावेन सर्पेण परित्यक्ता

दिति । तर्हि मरणासिद्धिरित्याशङ्क्याऽऽह—यथेति । उत्क्रान्तिगत्यागतिराहित्यं यथावस्थितत्वम् । एतच्च पञ्चमे प्रतिपादितमित्याह—नाममात्रमिति ।

न्यायेत्यादिवाक्यनिरस्यां शङ्कामाह—कथ पुनरिति । विदुषो विद्ययाऽऽत्ममात्रत्वेन प्राणादिषु बाधितेष्वपि देहे चेदसौ वर्तते ततोऽस्य पूर्ववद्देहित्वाद्विद्यावैयर्थ्यमित्यर्थः । दृष्टान्तेन परिहरति —अत्रेत्यादिना । देहे वर्तमानस्यापि विदुषस्तत्राभिमानराहित्य तत्रेत्युच्यते । यस्मा त्वचि

अपेक्षा नही है । इसलिए विद्वान क प्राण उत्क्रमण नहीं करते हैं, वे ज्यो के त्यो ही अपने कारण पुरुष मे प्रविलीन हो जाते हैं । कवल नाममात्र ही शेप रह जाता है—ऐसा श्रुति मे पहले (पाँचवें मन्त्र मे) प्रतिपादित किया जा चुका है ।

प्राणो के बाधित हो जाने पर और देह के अपने कारण मे बाधित हो जाने पर विद्वान् मुक्त होकर ज्ञानाधिकरण देह मे ही सर्वात्मा होकर वर्तमान रहते हुए पुन पूर्ववत् ससारित्वलक्षण दहभाव को क्यो प्राप्त नही होता ? इस सवन्ध म यह कहा जाता है वहाँ (जीवन्मुक्त देह और जीवन्मुक्त मे) यह दृष्टान्त है । जिस प्रकार लोकव्यवहार म "अहिनिल्वंयनी" यानी सर्प की केंचुली "वल्मीके"

१ बृ उ ३ २ १२ । २ बाधितेषु । ३ भूतपञ्चके परम्पराऽधिष्ठाने आत्मनीति यावत् । ४ बाधिते । ५ ज्ञानाधिकरणे देहे एव । ६ तत्रेति—जीवन्मुक्तदेहे जीवन्मुक्ते चेत्यर्थ । ७ निर्मोक इति— समौ कञ्चुकनिर्मोकाविति अमर । ८ मृता—अहिदेहविनिर्मुक्ता । तथा च वार्तिके—'अहिदेह-वियोगोऽत्र मृतशब्देन भण्यते । वल्मीकाश्रयता तस्या प्रत्यस्तेत्यभिधीयते' ॥ ५०७ ॥ इति । ९ अनात्म-भावेनेति—आत्मात्मीयत्वाभिमानराहित्येनेत्यर्थ ।

विशेषणम् ॥ न हि हृद्व्यतिरेकेण कामानामाश्रयान्तरम् । श्रुतौ स्मृतौ वा न्यायाद्वा दृश्यतेऽपि प्रमान्तराद् ॥ प्रवृत्ति कामशब्दस्य भूय स्वर्थेषु दृश्यते । कर्मादिषु अगत्यस्मिन्स्तानपेक्ष्यात उच्यते । हृदि श्रिता इति वचो माऽन्यथा तद्वीक्ष्यता' ॥ ४३७ ४४० ॥ इति । लब्धसत्ताका कामास्तावद्बुद्धिमाश्रयन्ते नालब्धसत्तावास्ता-न्व्यावर्तयितु हृदिश्रितविशेषणमिति यावत् । कामा प्रमुच्यन्त इत्येतावतैवेष्टसिद्धेल लब्धसत्ताका इत्यनर्थकमन्ये-षामप्रस्तावात्तथा 'च विशेषणवैयर्थ्यमित्याशङ्क्याऽऽह—तेष्विति । आसन्नामेषु विषयदोषदर्शनादिना ध्वस्तौ यत्नातिशयस्य कार्यत्वात्तद्बोधनाय विशेषणमर्थवन्नित्यर्थ ॥ आश्रयान्तरस्थकामापोहार्थमेव तत्कि न स्यान्नेत्याह —नाऽन्यथेति ॥ तत्र हेतु —न हीति ॥ वर्तमानकामेषु यत्नाधिक्यविधानार्थमनाश्रितकामेभ्यो विभाग वक्तु विशेषणमित्युक्त्वार्थान्तरमाह— प्रवृत्तिरिति । काम्यत इति वा काम्यतेऽनेनेति वा कामनमिति वा कामशब्द-स्यानेकार्थत्व दृश्यते तत्र भावव्युत्पत्त्या लब्धतृष्णाविशेषा हृदि श्रिता नेतरे करणादयस्तानपेक्ष्य तद्विशेषण माऽऽत्मीयकामापेक्षया तदभावस्यात्तत्त्वादत भवविषयेच्छावत्तो मुक्तिर्नान्यथेति वक्तु विशेषणमित्यर्थ । माऽन्यथान्तरवीक्षयेत्यात्मन कामाश्रयत्वाभाव उक्त ॥

शयीत वर्तेत[1] । एवमेव यथाऽयं दृष्टान्त इदं शरीरं सर्पस्थानीयेन मुक्तेनानात्मभावेन परित्यक्तं मृतमिव[2] शेते ।

अथेतरः सर्पस्थानीयो मुक्तः सर्वात्मभूतः सर्पवत्तत्रैव[3] वर्तमानोऽप्यशरीर[4] एव न पूर्ववत्[5] पुनः[6] सशरीरो भवति । *कामकर्मप्रयुक्तशरीरात्मभावेन हि पूर्वं सशरीरो मर्त्यश्च[7] । तद्वियोगादथेदानीमशरीरोऽत[8] एव चामृतः[9] । प्राणः प्राणितीति प्राणः ।

सर्पो नितरां लीयते सा निल्वयनी सर्पत्वगुच्यते । [10]सर्पनिर्मोकदृष्टान्तस्य दार्ष्टान्तिकमाह—एवमेवेति ।

सर्पदृष्टान्तस्य दार्ष्टान्तिकं दर्शयति—अथेति । अज्ञानेन सह देहाय नष्टत्वमशरीरत्वाथो हेतुरथशब्दार्थः । अथशब्दावद्योतितहेत्ववष्टम्भेनाशरीरत्वं विशदयति—कामेति । पूर्वमित्यविद्यावस्थोक्तिः । इदानीमिति विद्यावस्थोच्यते । व्युत्पत्त्यनुसारिणं रूढं च [11]मुख्यं प्राणं व्यावर्तयति

अर्थात् सर्प के आश्रित बांबी आदि पर "मृता प्रत्यस्ता" अर्थात् सर्प की देह से विनिर्मुक्त एवं सर्प द्वारा आत्माभिमानरहित भाव से परित्यक्त पड़ी रहती है । जिस प्रकार यह दृष्टान्त है, उसी प्रकार ही सर्पस्थानीय मुक्त पुरुष के द्वारा आत्मभाव से रहित होने से परित्यक्त यह शरीर विद्वान् से वियुक्त की तरह पड़ा रहता है ।

एवं उससे परे जो सर्पस्थानीय सर्वात्मस्वरूप मुक्त पुरुष है, वह सर्प के समान वहीं रहता हुआ भी अशरीर यानी निर्मम निरह रहता है, पूर्ववत् अविद्यावस्था के समान पुनः विद्यादशा में सशरीर नहीं होता । कामकर्म से प्रेरित शरीरात्मभाव से पहले सशरीर और मर्त्य था, कामादि के वियोग से अब वह अशरीर है । (शरीर के ही मरणधर्मी होने से) इसलिए वह अमृत है । "प्राणः"

१. वर्तेतेति—सर्पश्च तत्र निर्ममाहङ्कृतिक इति शेषः । २. विद्वद्वियुक्तमिव तिष्ठति । ३. सर्पवत्तत्रैव वर्तमानोऽपीति—बिलेऽहिरिव देहादावित्यर्थः । वस्तुतस्तु तत्रैव वर्तमानत्वं दृष्टान्तेनैव विवक्षितम् अपितु निर्मोके आत्माऽऽत्मीयत्वाभिमानशून्यत्वमात्रं विवक्षितं तत्रैव वर्तमानत्वं तु दार्ष्टान्तिक एवेति ध्येयम् । ४. तत्र निर्ममाहङ्कृतिकत्वात् । ५. पूर्ववत्—अविद्यादशायामिव । ६. पुनः—विद्यादशायाम् । ७. अभूत् । ८. कामादि । ९. शरीरस्यैव मरणधर्मित्वात् । १०. सर्पनिर्मोकेत्यादि—सर्पस्त्वनिर्मोकमिवेति दृष्टान्तद्वयमत्रेष्टं तत्र सर्पनिर्मोको विद्वद्देहस्य दृष्टान्तस्तद्दार्ष्टान्तिकमाहेत्यर्थः । ११. पञ्चवृत्त्यात्मकम् ।

* कामकर्मेत्यादि चामृत इत्यन्तभाष्ये वार्तिककारपादास्तथाहि—"प्रत्यग्ज्ञानशिखिध्वस्ते मिथ्याज्ञाने सहेतुके । नेति नेतिस्वरूपत्वादशरीरो भवेत्ततः ॥ स्वतोऽदिग्देशकालादेः प्रत्यक्चिन्मात्रवस्तुनः । देशादिमच्छरीरेण न सम्बन्धस्तमो विना ॥ कल्पितेनाभिसम्बन्धो न ह्यकल्पितवस्तुनः । अज्ञानकालेऽप्यस्तीह किमुताज्ञाननिह्नुतौ ॥ अनस्थिकगिरा स्थूलदेहस्येह निवारणम् । तथाऽशरीरशब्देन सूक्ष्मो देहो निषिध्यते ॥ सूक्ष्मदेहनिषेधोक्त्या स्थूलस्यापि निषेधतः । तन्निषेधाय यत्नोऽत्र कार्यबुद्ध्या न भण्यते ॥ यद्वाऽशरीरशब्देन सन्नुतो लिङ्गनिह्नुतिः । स्थूलस्यामृत इत्युक्त्या निषिद्धत्वात्र निह्नुतिः" ॥ ५१७-५२२ ॥ इति । अथशब्दार्थमनूद्याशरीरविशेषणमादत्ते—प्रत्यगिति ॥ तस्यार्थमाह—स्वत इति । अदिग्देशकालादेरिति च्छेदः । देहयोगवियोगावयं विशिनष्टि—तमो विनेति ॥ विदुषो देहयोगो नेत्युक्तं कैमुतिकन्यायेन साधयति—कल्पितेनेति ॥ अथायमनस्थिको-

प्राणस्य प्राणमिति हि वक्ष्यमाणे श्लोके। "प्राणबन्धनं हि सोम्य मन." इति च श्रुत्यन्तरे। प्रकरणवाक्यसामर्थ्याच्च पर एवाऽऽत्माऽत्र प्राणशब्दवाच्यः। ब्रह्मैव परमात्मैव। किं पुनस्तत्तेज एव विज्ञानज्योतिर्येनाऽऽत्मज्योतिषा जगदवभास्यमानं प्रज्ञानेत्रं विज्ञानज्योतिष्मत्सद्विश्वं वर्तते।

—प्राणस्येति। श्लोके पर एवाऽऽत्मा यथा प्राणशब्दस्तथाऽत्रापीत्यर्थः। यथा च श्रुत्यन्तरे प्राणशब्दः पर एवाऽऽत्मा तथाऽत्रापीत्याह—प्राणेति। किंच परविषयमिदं प्रकरणमथाकामयमान इति मोक्षस्य प्रक्रान्तत्वादथायमित्यादि वाक्यं च तद्विषयमन्यथा ब्रह्मादिशब्दानुपपत्तेः। 'तस्मादुभयसामर्थ्यादिह पर एवाऽऽत्मा प्राणशब्दित इत्याह—प्रकरणेति। *विशेष्यं दर्शयित्वा विशेषणं दर्शयति— ब्रह्मैवेति। ब्रह्मशब्दस्य कमलासनादिविषयत्वं वारयति—किं पुनरिति। तेजःशब्दस्य "कार्यज्योतिर्विषयत्वमाशङ्क्याऽऽह—विज्ञानेति। "तत्र प्रमाणमाह—येनेति। प्रज्ञा प्रकृष्टा ज्ञप्तिः स्वरूपचैतन्यं नेत्रमिव नेत्रं प्रकाशकमस्येति तथोक्तम्।

अर्थात् प्राणन क्रिया करने से प्राण है। "वह प्राण का भी प्राण है" इसे श्रुति आगे प्रतिपादित करेगी। "हे सोम्य! साक्षी का बन्धन ही जीव है" ऐसा छान्दोग्य श्रुति कहती है। प्रकरण और वाक्य के सामर्थ्य से यह परमात्मा ही प्राण शब्द का वाच्य है। "ब्रह्मैव" अर्थात् परमात्म रूप ही है, और वह क्या है, 'तेज एव' अर्थात् विज्ञान ज्योति ही है, जिस आत्मज्योति से अवभासित होता हुआ जगत् प्रज्ञा नेत्र और विज्ञान ज्योतिमान् होकर सुस्थिर विद्यमान रहता है।

१ बृ उ ४ ४ १८। २ साक्षिबन्धनम्। ३ जीव। ४ ब्रह्म। ५ अवभास्यमानत्वमेव विशदयति—प्रज्ञेति। ६ सुस्थिरम्। ७ परविषयम्। ८ प्रकरणाद्ब्रह्मादिशब्दाच्च। ९ विशेष्यमिति—प्राणशब्देन विशेष्य साक्षिणं दर्शयित्वा ब्रह्मशब्देन तद्विशेषणं दर्शयतीत्यर्थं। एवं च सामानाधिकरण्याज्जीवपरैक्यं प्रतिपादितम् भवतीति भाव। १० आदित्यादि। ११ विज्ञानस्य तेजःशब्दत्वे।

अशरीर इति माध्यन्दिनपाठस्तत्रानस्थिकशब्दार्थमाह—अनस्थिकेति। अशरीरशब्दस्य तर्हि पुनरुक्ततेत्याशङ्क्याऽऽह—तथेति॥ तर्हि काण्वपाठे स्थूलदेहनिवारकाभावस्तत्राऽऽह— सूक्ष्मेति॥ यथार्थदर्शी न स चोदनार्थं इति न्यायेन काण्वश्रुतौ स्थूलदेहनिषेधस्याविवक्षितत्वमाशङ्क्याऽऽह—यद्वेति। माध्यंदिनश्रुतौ विशेषणद्वयार्थोऽमृतश्रुतौ पिण्डीकृत्योच्यते॥

* विशेष्यं दर्शयित्वा विशेषणं दर्शयतीति। तदुक्तं—'साक्षिण प्राणशब्देन विशेष्यस्याभिधेष्यते। ब्रह्मैवेति तु शब्देन तद्विशेषणमुच्यते॥ साक्षिणः सद्वितीयत्वं ब्रह्मणश्च परोक्षताम्। तद्धेतुप्रतिषेधेन वाक्यमेतन्निषेधति॥ नामोपक्रमभाशान्तं प्राणकारणसंश्रयम्। प्राणो ब्रह्मेति वचसा तदात्मनि निषिध्यते॥ ब्रह्मात्मनोश्च संसर्गो मा प्रापत्कृष्णसर्पवत्। इत्ययं तेज एवेति श्रुतिः संसर्गवारिणी। व्यावर्त्यभेदादाभाति भेदो ब्रह्मात्मशब्दयोः। यस्ततस्त्वेक एवाऽऽत्माऽऽत्मानि वादिर्यथा तथा॥ ब्रह्मैव तेज एवेति ह्युभयत्रावधारणम्। संसर्गप्रतिषेधार्थं मा भून्नीलोत्पलादिवत्॥ सर्वानर्थैकबीजस्य प्रत्यगज्ञानरूपिणः। कार्योऽत्र वचसा बाधः केवलो नान्य इष्यते॥ यस्मादेतत्स्वतो बुद्धमतः शुद्धमसङ्गतः। मुक्तं चातः स्वतो वस्तु किमन्यत्कार्यमिष्यते। इतः चिकीर्षितं सर्वं बुद्धं यच्च बुभुत्सितम्। आप्तं योषात्तथाऽऽसव्यं वर्जनीयं च वर्जितम्' ॥ वा ५२३-५३१॥ इति। यथोक्तस्य विदुषो

यः कामप्रश्नो विमोक्षार्थो याज्ञवल्क्येन वरो दत्तो जनकाय सहेतुको बन्धमोक्षार्थलक्षणो दृष्टान्तदार्ष्टान्तिकभूतः स एष निर्णीतः सविस्तरो जनकयाज्ञवल्क्याख्यायिकारूपधारिण्या श्रुत्या । संसारविमोक्षोपाय उक्तः प्राणिभ्यः । इदानीं श्रुतिः स्वयमेवाऽऽह विद्यानिष्क्रयार्थं जनकेनैवमुक्तमिति । कथं सोऽहमेव विमोक्षितस्त्वया भगवते तुभ्यं विद्यानिष्क्रयार्थं सहस्रं ददामीति हैवं किलोवाचोक्तवाञ्जनको वैदेहः । अत्र कस्माद्विमोक्ष-

सोऽहमित्यादेस्तात्पर्यं वक्तुं वृत्तं कीर्तयति—य कामप्रश्न इति । निर्णयप्रकारं संक्षिपति—ससारेति । सोऽहमित्याद्यवाक्यान्तरमुत्थापयति—इदानीमिति । आकाङ्क्षापूर्वकं वाक्यमादाय विभजते—कथमिति । सहस्रदानमाक्षिपति—अत्रेति ।

याज्ञवल्क्य ने विमोक्ष क लिए राजा जनक को स्वच्छन्द प्रश्न रूप वर का आश्वासन दिया था, उस दृष्टान्त दार्ष्टान्तिकभूत बन्ध-मोक्षार्थ लक्षण प्रश्न का जनक याज्ञवल्क्य आख्यायिका वाली श्रुति ने सहेतुक (बन्ध के हेतु अविद्या काम कर्मादि एव मोक्ष मे हेतु संन्याससहित बोध का) विस्तार सहित निर्णय कर दिया । प्राणियो के लिए ससारप्राप्ति एव विमोक्ष प्राप्ति के हेतु बतलाये गये; अब श्रुति स्वय कहती है कि इस (गुह्य) विद्या का ऋण चुकाने के लिए जनक ने इस प्रकार कहा, आपके द्वारा इस प्रकार बन्धनमुक्त कराया हुआ मैं इस विद्यादान से किस प्रकार उऋण होऊँ, इसलिए आप भगवान् श्री को एक सहस्र गौएँ देता हूँ—ऐसा विदेहराज जनक ने याज्ञवल्क्य से कहा । यहाँ मोक्ष पदार्थ का निर्णय हो जाने पर राजा जनक विदेह देशो का राज्य और अपने को याज्ञवल्क्य के

१ स्वच्छन्दप्रश्न । २ स एष सहेतुकादि विशेषणको निर्णीत इत्यन्वय । ३ सहेतुक इति—बन्धार्थलक्षणस्य हेतुरविद्याकामकर्मादि । मोक्षार्थलक्षणस्य हेतु ससन्यासो बोध इति विवेक । ४ उभयोरुपायो हेतु । ५ उत्तरत्रस्यात्रशब्दवदस्यार्थ ।

मुक्तस्यापनीतप्राणत्वान्न प्राणशब्दता युक्तेत्याशङ्क्याऽऽह—साक्षिण इति । ब्रह्मशब्दार्थमाह—ब्रह्मेति ॥ तद्धेतु सद्वितीयत्वादिहेतुरात्माज्ञानम् ॥ न केवल सद्वयत्वादेरेव समानाधिकृतपदद्वयतात्पर्यमाह—साक्षिण इति । नामेति ॥ प्राणो ब्रह्मेति-प्राणो ब्रह्मेतिवाक्ययोरयथानाम्निषेध नित्वन्यदपि सर्वं सकारण निषिध्यते तेनेत्याह—नामेति ॥ प्राणो ब्रह्मे-वेत्युक्त्वा तेज एवेत्ययुक्त तेज शब्दस्याऽऽदित्यादौ रूढस्य साक्षिणी ब्रह्मण्ययोगादित्याशङ्क्याऽऽह—ब्रह्मेति । प्राण साक्षी तेज एवेति श्रुतिर्ब्रह्मात्मनो ससगवारिणीति सबन्ध । तयो ससर्गप्रसङ्ग दृष्टान्तेन दर्शयती धारणप्रकारमितरभागेनाभिनयति न च तेजशब्दस्य तस्मिन्नयोगस्तस्य भासेत्यादिश्रुते सर्वावभासकस्य तच्छब्दार्थत्वादिति भाव ॥ ब्रह्मात्मनोरभेदे कथ तद्भेदमानमत आह—व्यावर्त्येति । तच्छब्दयोस्तद्वतोरर्थयो-रित्यर्थं ॥ कथ ब्रह्मैवेत्युक्त्वा तेज एवेत्युक्ते ब्रह्मात्मनो ससर्गनिषेधस्तत्राऽऽह—ब्रह्मैवेति । एवकारद्वयसामर्थ्या-दसंसर्गवारणमित्यर्थ । श्रुते सामर्थ्यादर्थसाधकत्वम यत्रापि प्रसिद्धमिति हिशब्दार्थ । तत्प्रतिषेधप्रकारमभिनयति —मा भूदिति ॥ मयेत्यादि पदयो व्याख्याय तत्तात्पर्यमुपसहरति—सर्वानर्थेति । इहेति प्रत्यगात्मोक्ति ॥ यावदीयज्ञानादनर्थहेत्वज्ञानहान केवल कर्तव्य न तु सति ज्ञाने कार्यान्तरमस्तीत्यत्र हेतुमाह—यस्मादिति ॥ चिकीर्षा बुभुत्सा प्रेप्सा परिजिहीर्षा चेज्ज्ञानिनोऽपि दृश्यते तत्कथ तस्य कार्यान्तराभावस्तत्राऽऽह—कृतमिति । सर्वानर्थहेत्वज्ञानहानादेवोक्तार्थसिद्धेर्ज्ञानिनो न कार्यान्तर तद्धीश्चाऽऽभासो दग्धपटवदित्यर्थ ॥

पदार्थे निर्णीते विदेहराज्यमात्मानमेव च न निवेदयत्येकदेशोक्ताविव सहस्रमेव ददाति तत्र कोऽभिप्राय इति।

अत्र केचिद्वर्णयन्ति—अध्यात्मविद्यारसिको जनकः श्रुतमप्यर्थं पुनर्मन्त्रैः शुश्रूषति। अतो न सर्वमेव निवेदयति। श्रुत्वाऽभिप्रेतं याज्ञवल्क्यात्पुनरन्ते निवेदयिष्यामीति हि मन्यते। यदि चात्रैव सर्वं निवेदयामि निवृत्ताभिलाषोऽयं श्रवणादिति मत्वा श्लोकान्न वक्ष्यतीति च भयात्सहस्रदानं शुश्रूषालिङ्गज्ञापनायेति। सर्वमप्येतदसत्पुरुषस्येव प्रमाणभूतायाः श्रुतेर्व्याजानुपपत्तेः। अर्थशेषोपपत्तेश्च। विमोक्षपदार्थं उक्तेऽप्यात्मज्ञानसाधन आत्मज्ञानशेषभूतः सर्वैषणापरित्यागः संन्यासाख्यो वक्तव्योऽर्थशेषो विद्यते।

सर्वस्वदानप्राप्तावपि सहस्रदाने हेतुमेकदेशीयं दर्शयति—अत्रेत्यादिना। कदा तर्हि गुरवे सर्वस्वं राजा निवेदयिष्यति तत्राऽऽह—श्रुत्वेति। ननु पुनः शुश्रूषुरपि राजा किमिति सप्रत्येव सर्वस्वं गुरवे न प्रयच्छति प्रभूता हि दक्षिणा गुरुं प्रीणयन्ती श्लोकीयां शुश्रूषां फलयति तत्राऽऽह—यदि चेति। अनाप्तोक्तौ हृदयेऽन्यन्निधाय वाचाऽन्यनिष्पादनात्मकं व्याजोत्तरं युक्तं श्रुतौ स्वपौरुषेय्यामपास्ताशेषदोषशङ्कायां न व्याजोक्तिर्युक्ता तदीयस्वारसिकप्रामाण्यभङ्गप्रसङ्गादिति दूषयति—सर्वमपीति। एकदेशीयपरिहारासंभवे हेत्वन्तरमाह—अर्थेति। तदुपपत्तिमेवोपपादयति—विमोक्षेति। तस्यापि

प्रति पूर्ण समर्पित क्यों नहीं कर देता। एकदेश का उपदेश करने के समान बार-बार एक सहस्र गौएँ देने का संकल्प करता है, इसका क्या अभिप्राय है।

यहाँ कुछ विचारक कहते हैं कि अध्यात्म विद्या के रस से आकृष्ट हुआ राजा जनक (ब्राह्मण-भाग के वाक्यों द्वारा) सुने हुए अर्थ को पुनः पुनः मन्त्रों द्वारा सुनने की इच्छा करता है। इसलिए सर्वस्व अर्पण नहीं करता। वह सोचता है कि अभीष्ट आत्मतत्त्व को याज्ञवल्क्य से सुनकर पुनः अन्त में सर्वस्व निवेदन करूँगा। यदि अभी सब कुछ दे दूँगा तो जनक को भय है कि याज्ञवल्क्य जो "यह अब श्रवण से निवृत्त होना चाहता है" ऐसा जानकर श्रुति मन्त्रों को नहीं कहेंगे। अतः यह सहस्र गोदान स्वात्मक सुनने की इच्छाभिव्यक्ति को ज्ञापन करने के लिए है। किन्तु यह सब मिथ्या है क्योंकि पुरुष के समान प्रमाणभूत श्रुति के लिए किसी बहाने की कल्पना करना संभव नहीं है। इसके अतिरिक्त, वक्तव्य अर्थ का अवशेष संभव होने से ऐसा हो सकता है। मोक्षपदार्थ के निरूपण हो जाने पर भी आत्मज्ञान का साधन और आत्मज्ञान का शेषभूत सब एषणाओं के परित्याग रूप संन्यास के विषय में निरूपण तो अभी शेष रह ही जाता है। अतः मन्त्र श्रवण मात्र की इच्छा की कल्पना

१. विदेहानां देशविशेषाणां राज्यम्। २. मोक्षपदार्थैकदेशोक्ताविवत्यर्थः। ३ अवतरणोक्तत्वात्। ४. रसाकृष्टः। ५ ब्राह्मणवाक्यैः। ६ बृ उ ४.४.२३। ७ श्लोकात्प्राक्। ८. स्वात्मकशुश्रूषेति यावत्। ९. अर्थविशेषेति—वक्तव्यार्थविशेषसंभवाच्चेत्यर्थः। १०. बृ. उ. ४.४.२३। ११. श्लोकोपन्यासात्प्रागेव। १२. शिष्यस्य। १३. मिथ्यावाग्युक्तौ। १४ छलेनोत्तरम्। १५ स्वाभाविकप्रामाण्यम्—स्वतःप्रामाण्यमिति यावत्। १६. संन्यासस्यापि।

[1]तस्माच्छ्लोकमात्रशुश्रूषाकल्पना[2]ऽनृज्वी । अगतिका हि गतिः पुनरुक्तार्थकल्पना । [3]सा चायुक्ता [4]सत्यां गतौ ।

न च [5]तत्स्तुतिमात्रमित्यवोचाम । नन्वेवं[6] सत्यत ऊर्ध्वं [7]विमोक्षायैवेति वक्तव्यम् । नैष [8]दोषः । आत्मज्ञानवदप्रयोजकः संन्यासः पक्षे प्रतिपत्तिकर्मवदिति हि मन्यते ।

पूर्वंमसकृदुक्तेस्तदीयशुश्रूषाधीनं सहस्रदानमनुचितमित्याशङ्क्य शमादेर्ज्ञानसाधनत्वेन प्रागनुक्तेस्तेन सह भूयोऽपि संन्यासस्य वक्तव्यत्वयोगात्तदपेक्षया युक्तं सहस्रदानमित्याह—अगतिका हीति ।

ननु संन्यासादि विद्यास्तुत्यर्थमुच्यते महाभागा हीय — यत्तदर्थी दुष्करमपि करोत्यतो नायशेषसिद्धिस्तत्राऽऽह—न चेति । न तावत्संन्यासो विद्यास्तुतिर्विविदिषा व्युत्थायेति समानकर्तृत्वनिर्देशाविति पञ्चमे स्थित नापि शमादिविद्यास्तुतिस्तत्रापि विधेर्वक्ष्यमाणत्वादित्यर्थः । अथशेषशुश्रूषया सहस्रदानमित्यत्र जनकस्याकौशलं चोदयति—नन्विति । राज्ञ शङ्कितमकौशलं दूषयति—नैष इति । तत्र हेतुमाह— आत्मज्ञानवदिति । यथाऽऽत्मज्ञान मोक्ष प्रयोजक न तथा संन्यासो न चास्मिन्पक्षे तस्याकर्तव्यत्व प्रतिपत्तिकर्मवदनुष्ठानसम्भवादिति राजा यतो मन्यते ततः संन्यासस्य न ज्ञानतुल्यत्वमतो नात ऊर्ध्वं विमोक्षायैव ब्रूहीति पृच्छतीत्यर्थः । संन्यासस्य प्रतिपत्तिकर्मवत्कर्त-

---

करना क्लिष्ट है । एक बार कहे हुए को पुन कहना तो अगतिका गति है । उक्त न्याय से अपुनरुक्तार्थ सभव होने पर वह मानना उचित नही है ।

यह सन्यासादि स्तुति मात्र नही है—ऐसा हम पहले ही कह चुके हैं । (यहाँ शङ्का होती है—) किन्तु यदि ऐसा होता तो "इसके पश्चात मोक्ष के लिए ही कहिये" ऐसा जनक को कहना चाहिये था । (इसका समाधान दिया जाता है—) ऐसा प्रश्न न करने मे कोई दोष नही है क्योकि आत्मज्ञान के समान सन्यास, मोक्ष का साक्षात साधन नही है (सन्यास तो ज्ञान द्वारा प्रयोजक होने से) प्रतिपत्तिकर्म के समान (जातोपयोग का विधान से परित्याग करना प्रतिपत्ति कर्म है) उसका पाक्षिक अनुष्ठान किया जा सकता है । स्मृति भी कहती है—"सन्यास के द्वारा शरीर का त्याग करे" । (विविदिषा-

---

१ उक्तार्थशेषस्य सम्भवात् । २ क्लिष्टेति भावः । ३ सा चेति—विद्या श्रुतामेव श्लोके यातु सहस्रदानमित्येषा पुनरुक्तार्थकल्पनेत्यर्थ । ४ सत्यां गताविति—उक्तन्यायेनापुनरुक्तार्थसंभवे सतीत्यर्थ । ५ संन्यासादिस्तुतिरिति भावः । ६ अवतरणस्योक्तत्वात् । ७ ननु यद्ययं दोषोऽस्ति कस्माद्ब्रूते न पूर्ववत् 'विमोक्षायैव मे ब्रूहीति इति । ८ अत ऊर्ध्वमित्यादिप्रश्नाकरणरूप । ९ बृ उ ४ ४ २३ । १० विशिष्टसन्यासशुश्रूषया । ११ न त्वदुक्तनिमित्तात् । १२ महामहिमशालिनी । १३ महाभागा हीयमित्यादि—महाभागा महाप्रत्ययरूपा भागधेय मत भाग्ये भागप्रत्ययो पुमानिति कोष भाग्य कर्मशुभाशुभमिति च "अशभागौ तु वण्टके" विभागे इति च । प्रत्यये महत्त्व च महद्वस्तुविषयत्वम् । १४ विद्यार्थी । १५ वैराग्यशमादि । १६ सन्यासादेरर्थवादत्वात् । १७ बृ उ ३ ५ १ । १८ बृ उ ४ ४ २२ । १९ इत्यस्मिन्नभ्युपगते । २० दोषाभावाख्ये प्रतिज्ञानार्थे । २१ आत्मज्ञानं हि साक्षात्प्रयोजकम् । २२ सन्यासस्तु ज्ञानद्वारा । २३ प्रतिपत्तीति—जातोपयोगस्य विधिना परित्यजन प्रतिपत्तिकर्म यथाजातोपयोगाना कृष्णविषाणादीनां चात्वाले निक्षेपस्तथा कृतोपयोगानामग्निहोत्रादीनां विधिना परित्यागस्यानुष्ठानसम्भवादित्यर्थ । २४ अतुल्यत्वात् ।

'तदेते श्लोका भवन्ति । अणुः पन्था विततः पुराणो मा॑ँ स्पृष्टोऽनुवित्तो मयैव । तेन धीरा अपियन्ति ब्रह्मविदः स्वर्गं लोकमित ऊर्ध्वं विमुक्ताः ॥ ८ ॥

उक्त विषय मे ये मन्त्र हैं । यह ज्ञानमार्ग दुर्विज्ञेय होने के कारण सूक्ष्म है, विस्तीर्ण और वेदोक्त होने से पुरातन है । वह ब्रह्मविद्या रूप मोक्षमार्ग प्राप्त होने के कारण मुझे स्पर्श किया हुआ है तथा उसका फलसाधक आत्मज्ञान मैंने प्राप्त किया है । इसी मार्ग से अन्य ब्रह्मवेत्ता पुरुष भी इस लोक मे जीतेजी मुक्त हुए प्रारब्ध क्षय के बाद इस देह का त्याग कर मोक्ष को प्राप्त करते हैं ॥८॥

"संन्यासेन तनुं त्यजेत्" इति स्मृतेः । 'साधनत्वपक्षेऽपि नात ऊर्ध्वं विमोक्षायैवेति प्रश्नमर्हति मोक्षसाधनभूतात्मज्ञानपरिपाकार्थत्वात् ॥ ७ ॥

आत्मकामस्य ब्रह्मविदो मोक्ष इत्येतस्मिन्नर्थे 'मन्त्रब्राह्मणोक्ते 'विस्तरप्रतिपादका

स्यत्वे प्रमाणमाह—सन्यासेनेति । ननु विविदिषासन्यासमङ्गीकुर्वता न तस्य प्रतिपत्तिकर्मवदनुष्ठेयत्व-मिष्यते तत्राऽऽह—साधनत्वेति । 'त्यजतैव हि तज्ज्ञेय त्यक्तुः प्रत्यक्परं पदम्' इत्युक्तत्वा-दित्यर्थः ॥ ७ ॥

राज्ञोऽकौशल परिहृत्य मन्त्रानवतारयति—आत्मकामस्येति । यदेत्याद्यतीतश्लोकेनाऽऽगामि-

सन्यास ज्ञानफलरूप होने से) यदि उसे साधनपक्ष मे माना जाय, तो भी उसके सबन्ध में "अब इसके पश्चात् मोक्षविषयक उपदेश कीजिए' ऐसा प्रश्न करना उचित नही ठहरता है क्योकि सन्यास मोक्ष के साधनभूत आत्मज्ञान के दाढर्य के लिए है ॥ ७ ॥

आत्मकाम (आप्तकाम हुए) ब्रह्मवेत्ता का मोक्ष होता है, मन्त्र और ब्राह्मण द्वारा कहे इस अर्थ मे मोक्ष का विस्तार से प्रतिपादन करने वाले ये मन्त्र हैं । यह ज्ञानमार्ग (स्थूलादि निखिल-

१ अथाकाममयमान इत्यादिना ज्ञानसाध्यैव मुक्तिरिति सक्षिप्तार्थस्यैव विवरणभूताञ्श्लोकानुदाहरति—तदेत इति । तद्—तत्र आत्मकामस्य ब्रह्मविदो मुक्तिरित्युक्तेऽर्थे । श्लोकमन्त्रा —अणुः स्थूलादिनिखिलविशेषातीत-त्वात् दुर्विज्ञेय सूक्ष्म । विततो विस्तीर्णोऽनन्तात्मावगाहित्वात् । पुराणश्चिरन्तन नित्यश्रुतिप्रकाशितत्वात् । एवभूत पन्था ऐकात्म्यज्ञानलक्षणो मार्गो मा स्पृष्ट शास्त्रादे सकाशान्मामनुप्राप्तो मया लब्ध इति यावत् । किं च मयैवानुवित्तोऽपि । विद्यापरिपाकापेक्षया फलावसानलक्षणा निष्ठां नीत । एवकारो नान्ययोगव्यवच्छेदार्थो भवतीत्यभिप्रेत्याह—तेनेति । अन्येऽपि ये ब्रह्मविद प्रज्ञावन्तो धीरा निर्द्वन्द्वा जीवन्त एव विमुक्ता सन्त इतो-ऽस्माच्छरीरपातादूर्ध्वमनन्तरमेव तेन ब्रह्मविद्यामार्गेण स्वर्गं परमानन्दलक्षण प्रकरणाल्लोक स्वप्रकाश यन्ति गच्छन्तीत्यर्थ । २ साधनत्वेति—विद्वत्सन्यासो हि ज्ञानफलरूपो विविदिषासन्यासस्तु तत्साधनभूत इति ध्येयम् । ३ दार्ढ्यार्थत्वात् । ४ मन्त्रेति । 'यदा सर्वे प्रमुच्यन्त' इत्यादिमन्त्रेण 'अथाकाममयमान" इत्यादिब्राह्मणेन चोक्ते । ५ विस्तरेति—मन्त्रब्राह्मणाभ्या ज्ञानादेव मुक्तिरिति सक्षिप्तोऽर्थो विव्रियते श्लोकैरिति यावत् । ६ सन्यासिनैव ।

एते श्लोका भवन्ति। अणुः सूक्ष्मः पन्था दुर्विज्ञेयत्वाद्विततो विस्तीर्णो विस्पष्टतरणहेतुत्वाद्वा वितर इति पाठान्तरान्मोक्षसाधनो ज्ञानमार्गः पुराणश्चिरंतनो नित्यश्रुतिप्रकाशितत्वान्न तार्किकबुद्धिप्रभवकुदृष्टिमार्गवदर्वाक्कालिको मा स्पृष्टो मया लब्ध इत्यर्थः। यो हि येन लभ्यते स तं स्पृशतीव संबध्यते तेनायं ब्रह्मविद्यालक्षणो मोक्षमार्गो मया लब्धत्वान्मा स्पृष्ट इत्युच्यते। न केवलं मया लब्धः। किंत्वनुवित्तो मयैव। अनुवेदनं नाम विद्यायाः परिपाकापेक्षया फलावसानता निष्ठा प्राप्तिः। भुजेरिव तृप्त्यवसानता। पूर्वं तु ज्ञानप्राप्तिसंबन्धमात्रमेवेति विशेषः।

किमसावेव मन्त्रदृगेको ब्रह्मविद्याफलं प्राप्तो नान्य प्राप्तवान्येनानुवित्तो मयैवे

श्लोकानामर्थापौनरुक्त्यं सूचयति—विस्तरेति। ज्ञानमार्गस्य सूक्ष्मत्वे हेतुमाह—दुर्विज्ञेयत्वादिति। विस्तीर्णत्वं पूर्णवस्तुविषयत्वादवधेयम्। माध्यंदिनश्रुतिमाश्रित्याऽऽह—विस्पष्टेति। प्रयत्नसाध्यत्वं तस्य पञ्चम्या विवक्ष्यते। कथं पुनरधुनातनो वैदिको ज्ञानमार्गश्चिरंतनो विवक्ष्यते तत्राऽऽह—नित्येति। विशेषणप्रकाशितमर्थमुक्त्वा तस्य व्यवच्छेद्यमाह—न तार्किकेति। मन्त्रदृशा लब्धत्वेऽपि कुतो ज्ञानमार्गस्य तत्स्पर्शित्वमित्याशङ्क्याऽऽह—यो हीति। अनुवेदनलाभयोर्विशेषाभावात्पौनरुक्त्यमाशङ्क्याऽऽह—अनुवेदनमिति। पूर्वशब्देन पाठक्रमानुसारेण लाभो गृह्यते।

एवकारमाश्रित्य शङ्कते—किमसाविति। तथा च तद्यो यो देवानामित्याद्या विशेषश्रुतिविरु

विशेषों से अतीत होने से) दुर्विज्ञेय होने के कारण 'अणु' यानी सूक्ष्म है 'वितत' अर्थात विस्तीर्ण है, 'वितर' यह पाठान्तर होने से मोक्ष साधन ज्ञानमार्ग संसारानर्थ सागर को तरने के लिए विस्पष्ट हेतु है। 'पुराण' अर्थात श्रुति द्वारा नित्य प्रकाशित होने के कारण पुरातन है, नैयायिकों की बुद्धि से उत्पन्न भेदविषयकज्ञानमार्ग के समान अर्थात् "मुझे स्पर्श किए हुए हैं, मुझे प्राप्त है" इस प्रतीति की तरह वाक्‌कालिक है। जो जिसके द्वारा प्राप्त किया जाता है वह उसे स्पर्श सा करता है यानी उससे संबद्ध रहता है। इसी से ब्रह्मविद्या लक्षण मोक्षमार्ग मुझे प्राप्त होने से मुझे स्पर्श किए हुए है" ऐसा कहा जाता है। मेरे द्वारा केवल प्राप्त किया हुआ ही नहीं अपितु अनुवेदित किया हुआ भी है। विद्या के परिपाक की अपेक्षा से जो उसकी फलावसानता रूप परिपक्वता की प्राप्ति है, उसका नाम अनुवेदन है, जैसे भोजन करने का अवसान तृप्ति में होता है। (लाभ के अवसर पर) पूर्व वाक्य में केवल ज्ञानप्राप्ति का संबन्ध मात्र बतलाया गया है। यही उससे इसमें विशेषता है।

(इस पर शङ्का होती है—) क्या इस मन्त्रद्रष्टा ऋषि ने अकेले ही ब्रह्मविद्या का फल प्राप्त

---

१ ज्ञानमार्ग। २ दुर्विज्ञेयत्वादिति—तत्त्व च स्थूलाद्यशेषविशेषातीतत्वादिति बोध्यम्। ३ विस्पष्टेति। अत्र वार्तिके—'तरत्यनेन विस्पष्टं संसारानर्थसागरम्। यतोऽसौ वितरः पन्था प्रयत्नबोधाभिधीयते ॥ ५४८ ॥ इति। ४ भेदविषयकज्ञानमार्गवत्। ५ परिपक्वतेति यावत्। ६ लाभावसरे तु। ७ प्रयत्नेति—यतो विस्पष्टतरणहेतुरतोऽसौ प्रयत्नेन मुमुक्षुभिः साधनीयः सम्पादनीय इत्यर्थः। ८ मन्त्रदृश एव विद्याफलमित्यभ्युपगमे। ९ साधारणश्रुति।

ऽयवधारयति । नैष दोषः । 'अस्याः फलमात्मसाक्षिकमनुत्तममिति ब्रह्मविद्यायाः स्तुतिपरत्वात्' । एवं हि कृतार्थतमाभिमानकरमात्मप्रत्ययसाक्षिकमात्मज्ञानं किमतः परमन्यस्यादिति ब्रह्मविद्यां स्तौति । न तु पुनरन्यो ब्रह्मवित्तत्फलं न प्राप्नोतीति । "तद्यो यो देवानाम्" इति सर्वार्थं श्रुतेः । 'तदेवाऽऽह—*तेन ब्रह्मविद्यामार्गेण धीराः प्रज्ञावन्तोऽन्येऽपि

ध्येतेति शेषः । अवधारणश्रुतेरन्यपरत्वेनान्ययोगव्यवच्छेदकाभावमभिप्रेत्य परिहरति—नैष दोष इति । स्तुतिपरत्वमेव प्रकटयति—एव हीति । कृतार्थोऽस्मीत्यात्मन्यभिमानकरं स्वानुभवसिद्धमात्मज्ञानं नास्मादन्यदुत्कृष्टं किंचिदित्येव विद्यामवधारणश्रुतिः स्तौतीत्यर्थः । यथाश्रुतार्थत्वे को दोषः स्यादिति चेत्तत्राऽऽह—न त्विति । इत्यवधारणश्रुत्या विवक्षितमिति शेषः । तत्र हेतुः—तद्यो य इति । सर्वार्थश्च तेर्ब्रह्मविद्या सर्वार्था सर्वसाधारणीति श्रवणादिति यावत् । ब्रह्मविद्यायाः सर्वार्थत्वे वाक्यशेषं प्रमाणत्वेनावतार्य व्याचष्टे—तदेवेति । ननु मोक्षे स्वर्गशब्दो न दृश्यते तस्यार्थान्तरे

किया है, किसी अन्य ऋषि ने नही प्राप्त किया, जो कि यह निश्चय करता है कि मेरे द्वारा ही अनुवित्त है । (इसका समाधान किया जाता है—) इस कथन मे कोई दोष नही है । क्योंकि यह श्रुतिवाक्य "ब्रह्मविद्या का अनुत्तम फल आत्मसाक्षिक है" इस प्रकार ब्रह्मविद्या स्तुतिपरक है । इस प्रकार आत्मा मे कृतार्थता का अभिमान करने वाला और स्वानुभवसिद्ध आत्मज्ञान से उत्कृष्ट कोई पदार्थ नही हो सकता—इस प्रकार श्रुति ब्रह्मज्ञान की स्तुति करती है । 'अन्य कोई ब्रह्मज्ञानी मन्त्रद्रष्टा इसको नही जानता'—ऐसी बात नही है क्योंकि "देवताओ मे से जिस जिसने उसे जाना" ऐसा श्रुतिवाक्य सबकी कृतार्थता को बतलाता है । उसे ही कहा जाता है "तेन" अर्थात् उस ब्रह्म-

---

१ ब्रह्मविद्यायाः । २ अवतरणश्रुतिरिति यावत् । ३ अवतरणोक्तत्वात् । ४ स्तुतिपरत्वेन । ५ व्यवच्छेदकत्वेरयुक्तितम् ।

---

*तेनेत्यादि विमुक्ता सन्त इत्यन्तभाष्ये वार्तिकानि—'तेनानेन पथा धीराः प्रत्यग्ध्वान्तच्छिदा सदा । ब्रह्मापियन्ति निर्द्वन्द्वा आप्तमेव तमोहृते ॥ आत्मैव ब्रह्म चाऽऽत्माऽपि ब्रह्मैव स्यादतः स्वतः । तद्याथात्म्यापरिज्ञानात्तद्विपर्ययधीरियम् ॥ नि दोषमिथ्याविज्ञानहेत्वविद्याविनाशकृत् । नान्योऽस्ति ब्रह्मसबोधात्कु तिस्तेनेत्यतोऽवदत् ॥ स्वर्गोऽप्ययमेव प्रागुक्तः स्वर्गकामवचस्यपि । कर्मभिस्तदसिद्धेर्हि वेदान्तज्ञानसिद्धितः ॥ परमानन्द एवातः स्वर्गशब्देन भण्यते । मोक्षप्रकरणाश्रित्य क्रियोत्थोऽतो न गृह्यते ॥ इत उत्कात्मसबोधमोहोच्छित्तेरनन्तरम् । स्वत एव यतो मुक्ता मुच्यन्तेऽस्तमोहृते ॥ देहपातव्यपेक्षा स्यादत्र कारणसंगतेः । सर्वकारणविध्वस्तौ नान्यद्बोधादपेक्ष्यते ॥ मुक्तौ तमातिरेकेण नान्तरायोऽन्य इष्यते । यतोऽस्तोऽज्ञानविध्वस्तौ मुक्तः सन्ना विमुच्यते ॥ ब्रह्मैव सन्निति तथा प्रागपीदं श्रुतीरितम् । देहपातव्यपेक्षाऽतो न स्यादूर्ध्वंश्रुतेरिह" ॥ ५५२ ५६० ॥ इति ॥ तेनेत्यादेरर्थमाह—तेनेति । धीरा इत्यस्य विवक्षितोक्तिर्निर्द्वन्द्वा इति प्रज्ञावन्तः सदा द्वन्द्वातीता इत्यर्थः । ब्रह्माप्तेरागन्तुकत्वं परिहरति—आप्तमेवेति । तस्य कथमाप्तिस्तत्राऽऽह—तम इति ॥ आप्तस्यैवाज्ञानध्वस्त्या न प्राप्तिर्ब्रह्मात्मनोर्भेददृष्टेरित्याशङ्क्याऽऽह—आत्मैवेति ॥ ब्रह्मणोऽविद्यातज्जध्वसात्प्राप्तस्यैव प्राप्तावपि तद्धवसि ज्ञानमेवेत्यत्र किं गमकमित्याशङ्क्याऽऽह—नि दोषेति ॥ स्वर्गलोकमित्यत्र स्वर्गशब्दार्थमाह—स्वर्ग इति । अयमेवात्र स्वर्गो विवक्षित एषोऽस्य परम आनन्द इत्यादौ यः परमानन्दोऽभिहित इति योजना । स्वर्गकामो यजेतेत्यत्र भोगभूमिविशेषः स्वर्गो गृहीतः स एवात्रापि ग्राह्यो लोकशब्दादित्याशङ्क्याऽऽह—स्वर्गेति । तत्राप्यु-

'तस्मिञ्छुक्लमुत नीलमाहुः पिङ्गलꣳ हरितं लोहितं

उस मोक्ष साधन रूप ज्ञानमार्ग मे मुमुक्षुओं का वैमत्य है। कोई उसमे शुक्ल और कोई नील

ब्रह्मविद इत्यर्थः। अपियन्त्यपिगच्छन्ति ब्रह्मविद्याफल मोक्ष स्वर्गं लोकम्। स्वर्गलोक-शब्दस्त्रिविष्टपवाच्यपि सन्निह प्रकरणान्मोक्षाभिधायकः। इतोऽस्माच्छरीरपातादूर्ध्वं जीवन्त एव विमुक्ताः सन्तः॥ ८॥

'तस्मिन्मोक्षसाधनमार्गे विप्रतिपत्तिर्मुमुक्षूणाम्। कथम्। तस्मिञ्शुक्ल शुद्धं 'विमल-

रूढत्वावत आह—स्वर्गेति। यथा ज्योतिष्टोमप्रकरणे श्रुतो ज्योति शब्दो ज्योतिष्टोमविषयस्तथा मोक्षप्रकरणे श्रुतः स्वर्गशब्दो मोक्षमधिकरोति। रूढ्यङ्गीकारे ब्रह्मविद्याया निकर्षप्रसङ्गादिति भावः। जीवन्त एव मुक्ताः सन्तः शरीरपातादूर्ध्वं मोक्षमपियन्तीति सम्बन्धः॥ ८॥

तस्मिन्नित्यादि पूर्वपक्षमुत्थापयति—तस्मिन्निति। 'विप्रतिपत्तिमेव प्रश्नपूर्वकं विशदयति

विद्या का मार्ग से "धीराः" अर्थात अन्य भी प्रज्ञावान् ब्रह्मज्ञानी ब्रह्मविद्या के फल "स्वर्गं लोकं" यानी मोक्ष पद को "अपियन्ति" अर्थात् प्राप्त करते हैं। स्वर्गलोक' शब्द 'देवलोक' का वाची होने पर भी यहाँ प्रकरणानुसार मोक्ष का अभिधायक है। "इत ऊर्ध्वं विमुक्ताः" इस शरीर का नाश होने के पश्चात् जीवित रहते हुए ही विमुक्त होकर मोक्ष प्राप्त करते हैं॥ ८॥

पूर्व मन्त्र प्रतिपादित मोक्षसाधनरूप ज्ञानमार्ग में मुमुक्षुओ का विचारसाम्य नही है। यह

१. अस्मिन् ज्ञानमार्गो दुर्विज्ञेयत्वं द्योतयितुमुपासकानां विप्रतिपत्तिं दर्शयति—तस्मिन्निति। ब्रह्मज्ञानलक्षणे मोक्षमार्गे शुक्लं ब्रह्मेत्याद्याहुः। नील शरदाकाशवत्। हरित वैडूर्यमणिवत्। सिद्धान्तमाह—एष इति। ज्ञान-मार्गः। ब्रह्मणा त्यक्तैषणेन ब्राह्मणेन, अनुवित्त गुरुशास्त्रोपदेशानन्तर निष्ठा गमित तेन धीरा इत्युक्त निगमयति—तेनेति मार्गेणान्योऽपि ब्रह्मविन्मोक्षमेति। ब्रह्मवित्त्वे हेतुमाह—तैजस इति। तेजसि शुद्धसत्त्वे भवस्तैजसः विशुद्धान्तःकरणः। तत्रापि हेतु—पुण्यकृदिति। पुण्य स्वाश्रमोक्तं कर्म। २. पूर्वमन्त्रप्रदर्शिते। ३. रूपम्। ४. विप्रतिपत्तीरेव इति पाठान्तरम्।

पाध्यवच्छिन्नः परमानन्द एव स्वर्गशब्देनोच्यते तथासौ दृष्टान्तो दार्ष्टान्तिकादविशेषादित्यर्थं। तर्हि तत्र स्वर्गस्य कर्मसाध्यत्वान्मोक्षस्यापि तच्छब्दस्य तदापत्तिरित्याशङ्क्याऽऽह—कर्मभिरिति। सोपाधिकस्वर्गस्य कर्मसाध्यत्वेऽपि निरुपाधिकस्य ज्ञानैकलभ्यत्वात्तदसाध्यत्वात्तेनेति श्रुतिरविरुद्धेत्यर्थं॥ अयमपि सोपाधिकस्वर्गो लोकत्वादितर-वदित्याशङ्क्याऽऽह—परमानन्द इति। तत्र लोकशब्दमनवाप्तिक्रियाफलस्यात्राग्रहात्प्रकरणविरोधादनुमानमनवका-शमित्यर्थः॥ इत इत्यादेरर्थमाह—इत इति॥ न मुक्ता मुच्यन्ते देहपातोत्तरभावित्वान्मुक्तेरिति चेन्नेत्याह—देहेति। यत्र सूत्रादिभावे चोच्यमाने कारणेनाज्ञानेन सम्बन्धो नापगतस्तत्र देहपातोऽपेक्ष्यत इह त्वज्ञानध्वस्ते मोक्षे ज्ञानादन्यदपेक्ष्यमस्ति ज्ञानाज्ञानयोरेव विरोधप्रसिद्धेरित्यर्थं॥ ब्रह्मभावे मोक्षे व्यवधिभूततमोध्वस्तौ ज्ञानादर्थान्तरस्यानपेक्षत्वेऽपि व्यवधानान्तरध्वस्तौ देहपातापेक्षेत्याशङ्क्याऽऽह—मुक्ताविति॥ ऊर्ध्वश्रुति-वशात्तदपेक्षा मोक्षस्येत्याशङ्क्याऽऽह—ब्रह्मेति। प्रकृतमन्त्रवदिति तथाशब्दार्थं। मुक्तस्यैव मुक्तत्वमिदमा परा-मृष्टम्। प्राचीनश्रुतिवशादित्यत शब्दार्थः। अनन्यथासिद्धवाक्यान्तरविरोधेऽन्यथा सिद्धा श्रुतिरनादेयेत्यर्थं। इहेति मोक्षोक्तिः॥

च । एष पन्था ब्रह्मणा हानुवित्तस्तेनैति ब्रह्मवित्पुण्य-कृत्तैजसश्च ॥ ९ ॥

वर्ण कहते हैं, तथा अपनी दृष्टि के अनुसार अन्य कोई मुमुक्षु उसमें पिङ्गल वर्ण, हरित और लोहित भी कहते हैं (वस्तुतः श्लेष्मादि रस से पूर्ण होने के कारण सुषुम्नादि नाड़ियों में साधक को उक्त भ्रान्ति हो जाती है) यह मार्ग साक्षात् ब्रह्म द्वारा अनुभूत है। उस मार्ग से पुण्य कर्म करने वाला ब्रह्मवेत्ता पुरुष परमात्म तेज को प्राप्त करता है ॥ ९ ॥

माहुः केचिन्मुमुक्षवो नीलमन्ये पिङ्गलमन्ये हरितं लोहितं च यथादर्शनम् । नाड्यस्त्वेताः सुषुम्नाद्याः श्लेष्मादिरससंपूर्णाः शुक्लस्य नीलस्य पिङ्गलस्येत्याद्युक्तत्वात् । आदित्यं वा मोक्षमार्गमेवंविधं मन्यन्ते । "एष शुक्ल एष नीलः" इत्यादिश्रुत्यन्तरात् । दर्शनमार्गस्य च शुक्लादिवर्णासंभवात् । सर्वथाऽपि तु प्रकृताद्ब्रह्मविद्यामार्गादन्य एते शुक्लादयः । ननु शुक्लः शुद्धोऽद्वैतमार्गः । न । नीलपीतादिशब्दैर्वर्णवाचकैः सहानुद्रवणात् ।

—कथमित्यादिना । पिङ्गलं वह्निज्वालातुल्यम् । लोहितं जपाकुसुमसन्निभम् । सप्रपञ्चं शब्दस्पर्शरूपरसादिमद्ब्रह्म तदुपासनमनुसृत्य तत्प्राप्तिमार्गं विवादो मुमुक्षूणामित्याह—यथादर्शनमिति । तथाऽपि कथं ब्रह्मप्राप्तिमार्गे शुक्लादिरूपसिद्धिः । न हि ज्ञानस्य रूपादिमत्त्वमित्याशङ्क्याऽऽह—नाड्यस्त्विति । तासामपि कथं यथोक्तरूपवत्त्वमित्याशङ्क्याऽऽह—श्लेष्मादीति । तथाऽपि कथं शुक्लादिरूपवत्त्वमित्याशङ्क्य नाडीखण्डोक्तं स्मारयति—शुक्लस्येति । नाडीपरिग्रहे नियामकाभावमाशङ्क्य पक्षान्तरमाह—आदित्यं वेति । एवंविधं शुक्लादिनानावर्णमित्यर्थः । तत्र तथात्वे प्रमाणमाह—एष इति । प्रकृते ज्ञानमार्गे किमिति मार्गान्तरं कल्प्यते तत्राऽऽह—दर्शनेति । तर्हि नाडीपक्षो वाऽऽदित्यपक्षो वा कतरो विवक्षितस्तत्राऽऽह—सर्वथाऽपीति ।

शुक्लमार्गस्य ज्ञानमार्गादन्यत्वमाक्षिपति—नन्विति । शुक्लशब्दस्य नाद्वैतमार्गविषयत्वं नीलादिशब्दसमभिव्याहारविरोधादिति परिहरति—न नीलेति । सैद्धान्तिकं मन्त्रभागं व्याख्यातुं

कैसे कहते हो ? कोई मुमुक्षु उसमें 'शुक्लम्' यानी शुद्ध विमल रूप कहते हैं, कुछ मुमुक्षु नील रूप, दूसरे पीला, अन्य हरित या रक्त, जैसा जिसके विचार में आता है। किन्तु ये श्लेष्मादि रस से परिपूर्ण सुषुम्नादि नाड़ियाँ ही हैं, क्योंकि उन्हीं के विषय में शुक्ल, नील और पिङ्गल पूर्व श्रुतिवाक्य में कहा जा चुका है। अथवा वे आदित्य रूप मोक्षमार्ग को ऐसा मानते हैं जैसा कि श्रुति कहती है—"यह शुक्ल है यह नील है'। प्रकरणस्थ ज्ञानमार्ग के शुक्लादिवर्ण होने असम्भव है क्योंकि प्रस्तुत ब्रह्मविद्यामार्ग से यह शुक्लादि रूप सर्वथा ही भिन्न है।

(इस पर पूर्ववादी शङ्का करता है—) किन्तु शुक्ल अथवा शुद्ध तो अद्वैत (मोक्ष) मार्ग ही हो

---

१ बृ उ ४ ३ २०। २ छा. उ. ८ ६-१। ३. प्रकृतज्ञानमार्गस्य। ४. श्रुतिभाष्यस्थचकारार्थमाह—सप्रपञ्चमिति। सगुणमित्यर्थः। ५ उक्तविवादेऽपि। ६ नाडीनाम्। ७ श्लेष्मपूर्णत्वेऽपि। ८ मोक्षमार्गत्वेन। ९ प्रकृतज्ञानमार्गस्य शुक्लादिवर्णासंभवे। १० उत्तरार्धम्।

याञ्छुक्लादीन्योगिनो मोक्षपथानाहुर्न ते मोक्षमार्गाः संसारविषया एव हि ते। 'चक्षुष्टो वा मूर्ध्नो वाऽन्येभ्यो वा शरीरदेशेभ्य इति शरीरदेशान्निःसरणसंबन्धात्। ब्रह्मादिलोकप्रापका हि ते। 'तस्मादयमेव मोक्षमार्गो य आत्मकामत्वेनाऽऽप्तकामतया सर्वकामक्षये गमनानुपपत्तौ प्रदीपनिर्वाणवच्चक्षुरादीनां कार्यकरणानामत्रैव समवनय इत्येष ज्ञानमार्गः पन्था ॐब्रह्मणा 'परमात्मस्वरूपेणैव ब्राह्मणेन त्यक्तसर्वैषणेनानुवित्तः। तेन ब्रह्मविद्या-

---

पूर्वपक्षं दूषयति—याञ्छुक्लादीनिति। न केवलं देहदेशनिःसरणसंबन्धादेव नाडीभेदानां संसारविषयत्वं किंतु ब्रह्मलोकादिसंबन्धादपीत्याह—ब्रह्मादीति। आदित्योऽपि देवयानमध्यपाती ब्रह्मलोकप्रापकः संसारहेतुरेवेति मन्वानो मोक्षमार्गमुपसंहरति—तस्मादिति। आप्तकामतया ज्ञानमार्ग इति संबन्धः। एवं भूमिकां कृत्वैष इत्यस्यार्थमाह—सर्वकामेति। यथा तैलादिविलये प्रदीपस्य ज्वलनानुपपत्तौ 'तेजोमात्रे निर्वाणमिष्यते तथा स्थूलस्य च सर्वस्यैव कामस्य ज्ञानात्क्षये सति गत्यनुपपत्तावत्रैव प्रत्यगात्मनि कार्यकरणानामेकीभावेनावसानमित्ययमेषशब्दार्थ इत्यर्थः। पन्था इत्येतद्व्याचष्टे —ज्ञानमार्ग इति। 'इत्थंभावे 'तृतीयामाश्रित्याऽऽह—परमात्मेति। अनुवेदनकर्तृब्राह्मणस्य संन्यासित्वं दर्शयति—त्यक्तेति। विप्रतिपत्तिं निराकृत्य मोक्षमार्गं निर्धार्य तेन धीरा अपियन्तीत्यत्रोक्तं

सकता है। (इस पर सिद्धान्ती समाधान देता है) नहीं, क्योंकि इसका वर्णवाचक नील-पीतादि शब्दों के लिए प्रयोग किया जाता है। योगी लोग जिन शुक्लादि मोक्षमार्गों के विषय में कहते हैं वे सब मोक्षमार्ग नहीं है क्योंकि वे सब संसारविषयक हैं। "(आदित्यलोक प्राप्ति निमित्तक ज्ञान और कर्म होने से) चक्षु द्वारा, (ब्रह्मलोक की प्राप्तिनिमित्त ज्ञान और कर्म होने से) ब्रह्मरन्ध्र द्वारा (अन्य लोकों के निमित्तक होने से), श्रोत्रादि अन्य शरीरावयवों द्वारा विज्ञानात्मा का उत्क्रमण कर (परलोक को जाता है)" इस श्रुति के अनुसार उनका शरीर के भागों से निकलने का सम्बन्ध होने से वे ब्रह्मलोक की प्राप्ति कराने वाले है। इसलिए यही मोक्ष मार्ग है जहाँ आत्मकाम से आप्तकाम होता है, इसमें सर्वकामक्षय होता है, जिससे गमन की सम्भावना नष्ट हो जाती है, जहाँ दीपक बुझने के समान चक्षुरादि कार्यकरणात्मक जगत् का विलय हो जाता है। 'एष पन्था" अर्थात यही मार्ग ज्ञानमार्ग है। जो 'ब्रह्मणा" अर्थात् त्यक्त सब एषणा वाले परमात्म स्वरूप ब्रह्मवेत्ता के द्वारा ही प्राप्त किया जाता है। "तेन" अर्थात् उस ब्रह्मविद्यामार्ग से ब्रह्मवित् एवं (उसके सङ्ग से) अन्य भी प्राप्त

---

१ बृ उ ४ ४ २। २ तस्मात्—शुक्लादिमार्गाणां संसारविषयत्वेन मोक्षमार्गत्वाभावात्। ३ माध्यंदिनपाठमाश्रित्याह—अत्रैव समवनय इति। ४ परमात्मस्वरूपत्वेनेति यावत्। ५ लब्ध। ६ तेजोमात्रे —तेज सामान्य। निर्वाणमिति—अस्तगमनमित्यर्थ। निर्वाणमस्तगमने निवृत्तौ गजमज्जने संगमेऽप्यपवर्गे च विधाने इति विश्वहेममेदिन्य निर्वाणोऽवाते, इति निपातनत्वम्। ७ ब्रह्माभेदेन। ८ अथ ब्रह्मशब्दस्य ब्राह्मणपरत्वमित्याशङ्क्याऽऽह—इत्थंभावे तृतीयेति। तथा च ब्रह्मीभूते नेत्यर्थ। ब्रह्मभावस्य च योग्यताबलाद्ब्राह्मणो धर्मी लभ्यत इति भाव। ९ प्रतीचि कर्तृत्वादेर्वस्तुतोऽयोगादिति भाव.।

ॐब्रह्मणा परमात्मस्वरूपेणैव ब्राह्मणेनेति। अत्र वार्तिकाचार्या आहुस्तथाहि—"यस्तु वेदोदितोपायक्षपिताशेषकल्मषः। ब्रह्मणैवानुवित्तोऽयं तेन पन्था गुरूक्तितः॥ अध्यावृत्ताननुगतब्रह्मरूपातिरेकतः। न रूपमात्मनोऽस्त्यन्यच्छ्रुतिन्यायानुभूतितः। यतोऽतो ब्रह्मणैवाय पन्था ज्ञात प्रमाणतः॥ ब्रह्मणैवेति च ज्ञेया

"नैतादृशं ब्राह्मणस्यास्ति वित्तं यथैकता समता सत्यता च ।
शीलं स्थितिर्दण्डनिधानमार्जवं ततस्ततश्चोपरमः क्रियाभ्यः" ॥

इत्यादिस्मृतिभ्यश्च ।

उपदेक्ष्यति चेहा"ष्येष नित्यो महिमा ब्राह्मणस्य न वर्धते कर्मणा नो कनीयान्" इति कर्मप्रयोजनाभावे हेतुमुक्त्वा तस्मादेवंविच्छान्तो दान्त इत्यादिना सर्वक्रियोपरमम् । तस्माद्यथाव्याख्यातमेव पुण्यकृत्त्वम् । अथवा यो ब्रह्मवित्तेनेति स पुण्यकृत्तैजसश्चेति

एकता निरपेक्षता सर्वोदासीनतेति यावत् । समता मित्रोदासीनशत्रुबुद्धिव्यतिरेकेण "सर्वत्र स्वस्मिन्निव दृष्टिः । दण्डनिधानम हिंसापरत्वम् ।

""अर्थस्य मूलं निकृतिः क्षमा च कामस्य वित्तं च वपुर्वयश्च ।
धर्मस्य यागादि दया दमश्च मोक्षस्य सर्वोपरमः क्रियाभ्यः" ॥

इत्यादि चतुर्विधे पुरुषार्थे साधनभेदोपदेशि वाक्यमादिशब्दार्थः । इत्यादिस्मृतिभ्यश्च न पुण्यादिसमुच्चयकारिणो ग्रहणमिति" सबन्ध ।

"तथाऽपि प्रकृते मन्त्रे समुच्चयो भातीत्याशङ्क्याऽऽह—उपदेक्ष्यतीति । वाक्यशेषादिपर्यालोचनासिद्धमर्थमुपसंहरति—तस्मादिति । पूर्वं पुण्यकृद्भूत्वा पुनस्त्यक्तपुत्राद्येषणो ब्रह्मवित्तेनेतीति क्रमो

पारलौकिक प्रयोजन वाली) विभिन्न क्रियाओं से उदासीन हो जाना" ।

यहाँ भी आगे श्रुति में इसी बात का व्याख्यान किया जायगा । "यह ब्रह्मवेत्ता की (स्वरूपभूत) नित्य महिमा है, जो शुभ कर्म से न तो कभी बढ़ती है और न ही कभी घटती है" । इस प्रकार कर्मप्रयोजनाभाव में हेतु बतलाकर "आत्मा सर्वकर्मादि ससंग न शून्य है" ऐसा जानता हुआ बाह्येन्द्रिय व्यापार से उपशान्त अन्तःकरण, तृष्णा से निवृत्त, सर्वैषणविनिर्मुक्त (स्वकार्यकरणसंघात आत्मा में ही प्रत्यक् चेतयिता आत्मा को देखता है) इत्यादि वाक्य से सब क्रियाओं से उपरामता बतलायी है । इसलिए (अन्य प्रकार से समुच्चय संभव न होने के कारण) 'पुण्यकृत्' का उपरोक्त प्रकारक निर्वचन ही उचित है । अथवा जो ब्रह्मवेत्ता उस ब्रह्मविद्यामार्ग से जाता है, वह (अपुण्यकृत् होने पर भी) पुण्यकृत् और

---

१ नैतादृशमिति—शान्तिपर्वमोक्षधर्मे १७५-३७ महाभारते । एकता—एकाकितेत्यप्याहुः । सत्यता यथार्थभाषिता शील शुभाचरणम् श्लाघनीय वृत्त वा । स्थितिर्मर्यादानतिक्रमोऽक्षोभता वा । शीलस्थितिरित्येकपदपाठे शीले निष्ठेत्यर्थः । आर्जवमकौटिल्यम् क्वचिदर्थविशेषे व्यवहारविशेषे वाप्यनाग्रह इति यावत् । ततस्तत—इत्यादि ऐहिकामुष्मिकप्रयोजनाभ्य क्रियाभ्य उपरम औदासीन्यम् । एकतादीना फलमेतदित्याहुः । २ ब्रह्मविद । ३ बृ उ ४ ४ २३ । ४ महिमास्वस्वरूपभूत । ५ ब्रह्मविद । ६ शुभेन कर्मणा । ७ अशुभेन । ८ तस्मात्—वाक्यशेषादिपर्यालोचनया समुच्चयाऽसंभवात् । ९ अपुण्यकृदपि । १० विषमेष्वपि प्राणिषु । ११ सर्वभूताभयदान सन्यास इति यावत् । १२ अर्थस्येत्यादि—निकृति वाणिज्यादिलक्षणा क्रिया । शाठ्यं वा शाठ्यं कपटश्छलमिति यावत् । सत्यानृतमिथुनीकरणात्माव्यवहार इति स्थिते । सर्वोपरम — सर्वथोपरम इत्यर्थः । १३ पूर्वत्र । १४ उक्तरीत्या समुच्चयासंभवेऽपि ।

अन्धं तमः प्रविशन्ति येऽविद्यामुपासते। ततो भूय इव
ते तमो य उ विद्यायाꣳ रताः ॥ १० ॥

जो अविद्या (कर्म) की उपासना करते हैं वे अन्धेरे मे प्रवेश करते हैं और जो कर्मकाण्डात्मक त्रयी विद्या मे अनुरक्त रहते हैं; वे उससे भी अधिक अंधेरे मे प्रवेश करते हैं अर्थात् उपनिषदर्थ को उपेक्षा करने वाले दोनो ही अन्धकूप मे गिरते हैं ॥ १० ॥

ब्रह्मवित्स्तुतिरेषा। पुण्यकृति तैजसे च योगिनि 'महाभाग्यं प्रसिद्धं' लोके ताभ्यामतो ब्रह्मवि'त्स्तूयते 'प्रख्यातमहाभाग्यत्वाल्लोके ॥ ९ ॥

अन्धम'दर्शनात्मकं तमः संसारनियामकं प्रविशन्ति प्रतिपद्यन्ते। के येऽविद्यां विद्यातोऽन्यां साध्यसाधनलक्षणामुपासते 'कर्मानुवर्तन्त इत्यर्थः। ततस्तस्मादपि भूय इव

न युज्यतेऽश्व तत्वादित्याशङ्क्याऽऽह—अथ वेति। स्तुतिमेवोपपादयति—पुण्यकृतीति। तेजांसि करणान्युपसहृत्य स्थितस्तैजसो दहराद्युपासीनो योगी तस्मिन्नणिमाद्यैश्वर्यान्महानुभावत्वप्रसिद्धि। ताभ्या पुण्यकृत्तैजसाभ्यामित्यर्थः। अत.शब्दपरामृष्टं स्पष्टयति—प्रख्यातेति। पुण्यकृत्तैजसयो-रिति शेषः ॥ ९ ॥

'प्रस्तुत'ज्ञानमार्गस्तुत्यर्थं मार्गान्तर 'निन्दति—अन्धमित्यादिना। विद्यायामिति प्रतीक-

---

तैजस है—यह ब्रह्मवेत्ता की स्तुति है। पुण्यकृत एव तैजस होने से योगियो मे महानुभावत्व लोक मे प्रसिद्ध ही है। लोक मे प्रसिद्ध महिमा वाले होने से इन दोनो विशेषणो से ब्रह्मवेत्ता की स्तुति की गयी है ॥९॥

"अन्ध तम" अर्थात् समारनियामक अदर्शनात्मक तम को "प्रविशन्ति" अर्थात् प्राप्त करते हैं। कौन "येऽविद्यामुपासते" अर्थात् विद्या से भिन्न साध्यसाधनरूप कर्म का ही अनुष्ठान करते हैं।

---

१ महानुभावत्वम्। २ स्तूयत इति—सा च स्तुति मुमुक्षूणा ब्रह्मविद्योद्देशेन श्रवणादिप्रवृत्तावुपकरोतीति भाव। ३ प्रसिद्धमहिमत्वात्। ४ अदर्शनात्मक तम इति—तमो हि बहुधा भिद्यत इति। इतरव्यावृत्तये विशेषणम्—अदर्शनात्मकमिति। तथा चोक्त पुराणे—"तमो मोहो महामोहस्तामिस्रो ह्यन्धसंज्ञित। अविद्या पञ्चपर्वैषा प्रादुर्भूता महात्मन" इति। अविद्याऽस्मितारागद्वेषाभिनिवेशा पञ्चक्लेशा इत्युक्तानि पञ्चपर्वाणि। तत्र बुद्धिपुरुषयोरभेदाभिमानोऽस्मिता। साधनरहितस्यापि सर्वसुखजातीय मे भूयादिति विपर्यय विशेषो राग। दुखसाधने विद्यमानेऽपि किमपि दुख मे मा भूदिति विपर्ययविशेषो द्वेष.। आयुर-भावेऽपि शरीरेन्द्रियादिभिरनित्यैरपि वियोगो मे मा भूदिति या विद्वदज्ञनावात स्वाभाविक सर्वप्राणिसाधारणो मरणत्रासरूपो विपर्ययविशेषोऽभिनिवश सोऽयमभिनिवेशोऽन्धतामिस्रास्य प्रकृतेऽन्ध तम इति विवक्षित इति भाव। महात्मन प्रजापते.। ५ कर्मानुवर्तन्त इति—उपनिषद्भागमपीश्वरे प्रमाणतयाऽभ्युपगच्छन्तो मीमांसक-व्यावृत्ता. कर्मैवानुतिष्ठन्तीत्यर्थ.। ६ उपक्रान्तेति भाव.। ७ मोक्षहेतु। ८. निन्दतीति—एकात्म्यदर्शनादुक्ता-दन्यद्दर्शनान्तरम्। "अन्ध तम" इति श्रुत्या "तद्विहायोऽवतेऽखिनम्" इत्युक्ते। इह मुक्तो।

अनन्दा नाम ते लोका अन्धेन तमसाऽऽवृताः ।
ताꣳस्ते प्रेत्याभिगच्छन्त्यविद्वाꣳसोऽबुधो जनाः ॥११॥

वे लोक सुखरहित तथा घोर अन्धकार से आवृत हैं, उन्हीं लोकों को वे अज्ञानी अविद्वान् लोग प्राप्त करते हैं अर्थात् आत्मज्ञान ही एकमात्र मोक्ष का साधन है ॥ ११ ॥

---

[1]बहुतरमिव तमः प्रविशन्ति । के । य उ [2]विद्यायामविद्यावस्तुप्रतिपादिकायां कर्मार्थायां त्रय्यामेव विद्यायां रता [3]अभिरताः । विधिप्रतिषेधपर एव वेदो नान्योऽस्तीत्युपनिषदर्था-नपेक्षिण इत्यर्थः ॥ १० ॥

यदि तेऽदर्शनलक्षणं तमः प्रविशन्ति को [4]दोष इत्युच्यते—[5]अनन्दा अनानन्दा असुखा नाम ते लोकास्तेनान्धेनादर्शनलक्षणेन तमसाऽऽवृता व्याप्तास्ते तस्याज्ञानतमसो गोचरास्तांस्ते प्रेत्य मृत्वाऽभिगच्छन्त्य[6]भियान्ति । के । येऽविद्वांसः । [7]किं [8]सामान्येनाविद्-

---

भावाय व्याकरोति—अविद्येति । कथं पुनस्त्रय्यामभिरतानामधःपतनमित्याशङ्क्याऽऽह—विधीति[9] ॥ १० ॥

मन्त्रान्तरमाकाङ्क्षाद्वारोत्थाप्य व्याचष्टे—यदीत्यादिना । अबुध इत्यस्य निष्पत्तिं सूचयन्वि-

---

"तत" यानी उससे भी "भूय इव" यानी अधिकतर तम में प्रवेश करते हैं । कौन ? "य उ विद्यायाम" अर्थात् जो अविद्यारूप वस्तु का प्रतिपादिका कर्मार्थ त्रयीविद्या मे ही "रता" अर्थात् आसक्त हैं अर्थात् जो विधि-प्रतिषेधपरक वेदों मे भिन्न कुछ तात्पर्यार्थ न समझकर उपनिषदर्थ की उपेक्षा करने वाले हैं, वे अधिकतर अन्धकार को प्राप्त करते हैं ॥ १० ॥

यदि वे अदर्शनलक्षण तम को प्राप्त करते हैं तो इसमें क्या अनिष्ट है ? (दोष को श्रुति बताती है—) "अनन्दा" अर्थात् जिनमें आनन्द नहीं है, सुख नहीं है, ऐसे नाम वाले लोक जो अदर्शनात्मक तम से "आवृता" यानी व्याप्त हैं, "ताꣳस्ते प्रेत्याभिगच्छन्ति" वे (अविद्या और त्रयी की उपासना करने वाले) मर कर अज्ञान तम के विषय लोकों को ग्रहण करते हैं । कौन ग्रहण करते हैं ? जो अविद्वान् होते हैं । क्या अवान्तर विशेषशून्य अविद्वत्ता मात्र से ही प्राप्त हो जाते हैं ? नहीं । इस पर श्रुति कहती है— "अबुध" अर्थात् आत्मतत्त्व के ज्ञान से शून्य लोग ही उन्हें ग्रहण करते हैं । अवग-

---

१ बहुतरमिति—मिथ्याज्ञानादिजन्यादविवेकबाहुल्यमित्यर्थः । कर्मजडा हि मीमांसका ईश्वरमपि नाङ्गीकुर्वन्ति उपनिषदामपि विधिशेषत्वेनाक्रियार्थत्वादप्रामाण्यमातिष्ठन्त इति तेषामविवेकबाहुल्यम् । २ विद्यायामिति—नात्र विद्याशब्देन परविद्या विवक्षिता तत्स्तुतेः मार्गान्तरं निषिद्धं मन्त्रप्रवृत्ते सतो भेददृष्टिरेवात्र विद्याऽभिमता । ३ आसक्ताः । ४ संसारतमःप्रवेशोऽपि तेषां किमनिष्टमित्यर्थः । ५ दोषमेव विशदयति—अनन्दा इति । ६ अभियान्तीति—दुःखबहुलमात्मज्ञानप्रतिकूलं देहजातं गृह्णन्तीति निष्कर्षः । ७ आकाङ्क्षापूर्वकमबुध इति विशेषणतात्पर्यमाह—किमिति । ८ सामान्येन—अवान्तरविशेषशून्येन । ९ अतो युक्तं तेषामधःपतनमिति ।

'आत्मानं चेद्विजानीयादयमस्मीति पूरुषः । 'किमि-
च्छ'न्कस्य 'कामाय 'शरीरमनुसंज्वरेत् ॥ १२ ॥

मैं यह नित्य, शुद्ध, बुद्ध, मुक्तस्वभाव ब्रह्म हूँ। इस प्रकार विशेष रूप से आत्मा को साधक पुरुष यदि जान लेवे, तो भला किस चीज को चाहता हुआ, किस भोग के लिये शरीर के पीछे सन्तप्त होने लगे अर्थात् आत्मबोध के बाद सर्वात्मदर्शी को जन्म जरादि दुःख नहीं सताते ॥ १२ ॥

त्रामात्रेण । नेत्युच्यते—अबुधः । बुधेरवगमनार्थस्य धातोः क्विप्प्रत्ययान्तस्य रूपम् । आत्मावगमवर्जिता इत्यर्थः । जनाः 'प्रकृता एव 'जननधर्मिणो वेत्येतत् ॥ ११ ॥

आत्मानं स्वं 'सर्वप्राणिमनीषितज्ञं' हृत्स्थमशनायादिधर्मातीतं चेद्यदि विजानीयात्सहस्रेषु कश्चित् । चेदित्यात्मविद्याया दुर्लभत्वं दर्शयति । कथमयं परं आत्मा सर्वप्राणिप्रत्ययसाक्षी यो नेति नेतीत्याद्युक्तो यस्मान्नान्योऽस्ति द्रष्टा श्रोता मन्ता विज्ञाता' समः सर्वभूतस्थो नित्यशुद्धबुद्धमुक्तस्वभावोऽस्मि भवामीति पूरुषः पुरुषः । स किमिच्छ-

---

चक्षितमर्थमाह—बुधेरिति ।

'उक्तात्मज्ञानस्तुत्यर्थमेव "तन्निष्ठाय कायक्लेशराहित्यं दर्शयति—आत्मानमित्यादिना । 'साटस्थ्य व्यावर्तयति—हृत्स्थमिति । बुद्धिसम्बन्धविज्ञानात्मनो वैलक्षण्यार्थं विशिनष्टि—सर्वेति । "प्रश्नपूर्वकं ज्ञानप्रकारं प्रकटयति—कथमित्यादिना । प्राप्तं संसारित्वं वारयति—अशनायादीति । प्रयोजनाय सर्वभूतसम्बन्धप्रयुक्तं दोषं वारयितुं विशिनष्टि—नित्येति । इति विजानीयादिति सम्बन्धः ।

मार्थक 'बुध' धातु से क्विप् प्रत्यय सर्वापहारलोप होकर 'बुध' रूप बनता है। यहाँ "जना" शब्द से प्रकरणस्थ दशम मन्त्र में प्रतिपादित पुरुषों का ग्रहण है अथवा जन्ममरणशील वालों को 'जनाः' कहा गया है ॥ ११ ॥

"आत्मानं चेद्विजानीयात्" अर्थात् यदि सहस्रों में से कोई सर्वजनाभीष्ट विज्ञाता, हृदयस्थ और क्षुधापिपासादि धर्मों से अतीत अपनी आत्मा को विशेष रूप से जान जाय, 'चेद्' इस अव्यय से आत्मविद्या की दुर्लभता दिखायी गयी है। किस प्रकार जाना जाय ? यह पर आत्मा सम्पूर्ण प्राणियों के अनुभवों का साक्षी जो 'नेति-नेति' इत्यादि वाक्यों द्वारा प्रतिपाद्य है, जिससे भिन्न द्रष्टा, श्रोता, मन्ता और विज्ञाता कोई नहीं है, विषयों में सम है, सम्पूर्ण भूतों में स्थित है नित्य-शुद्ध-बुद्ध मुक्त स्वभाव है, वह मैं हूँ—ऐसे जो पुरुष जान जाय, "किमिच्छन्कस्य कामाय' वह अपनी प्रचण्ड स्वरूप

---

१ एव मन्त्रद्वये नात्मज्ञानाभावे दोषमुक्त्वेदानीं प्रकृतमार्गस्यैव स्तुत्यर्थं तन्निष्ठस्य क्लेशहानिमाह—आत्मानमिति । अथ परमात्माख्यः पुरुषोऽहमेवास्मीत्यात्मानं चेत्कश्चित्सत्त्वशुद्धितो विजानीयादित्यन्वयः । शेषं स्पष्टं भाष्ये । २ आत्मातिरिक्तं फलभूतं वस्तु । ३ पुत्रादेः । ४ प्रयोजनाय । ५ शरीरमनुसंचरेदिति माध्यंदिनपाठः । तत्र शरीरान्तरं गच्छेदित्यर्थः । ६. प्रकृता इति—अन्यं तमो मन्त्रे प्रकृता इत्यर्थः । ७ जननमरणादिमात्रशालित्वेन ब्रह्मात्मबोधविधुरतामेव स्फोरयति—जननेति । ८. सर्वजनाभीष्टविज्ञातारम् । ९ इत्यादिवाक्यप्रतिपाद्यः । १०. विषमेषु । ११. आत्मज्ञाननिष्ठस्य । १२. इयभिप्रायम् ।

'यस्यानुवित्तः प्रतिबुद्ध आत्माऽस्मिन्संदेह्ये गहने

इन अनेक अनर्थों से परिपूर्ण और विवेक विज्ञान के दाग्नु विषम स्थान शरीर में प्रविष्ट हुआ

तत्स्वरूपव्यतिरिक्तमन्यद्वस्तु फलभूत किमिच्छन्कस्य चाऽन्यस्याऽऽत्मनो व्यतिरिक्तस्य' कामाय प्रयोजनाय। न हि तस्याऽऽत्मन एष्टव्यं फलम्। न चाप्यात्मनोऽन्योऽस्ति यस्य 'कामायेच्छति सर्वस्याऽऽत्मभूतत्वात्। 'अतः किमिच्छन्कस्य कामाय शरीरमनुसंज्वरेद्- भ्रंशेत्। शरीरोपाधिकृतदुःखमनु दुःखी स्यात्। शरीरतापमनुतप्येत। अनात्मदर्शिनो हि 'तद्व्यतिरिक्तवस्त्वन्तरेप्सोः। ममेदं स्यात्पुत्रस्येदं भार्याया इदमित्येवमीहमानः पुनः पुनर्जननमरण'प्रबन्धारूढः शरीररोगमनु रुज्यते। सर्वात्मदर्शिनस्तु "तदसंभव इत्येतदाह ॥ १२ ॥

किंच "यस्य ब्राह्मणस्यानुवित्तो"ऽनुलब्धः प्रतिबुद्धः साक्षात्कृतः कथमहमस्मि परं ब्रह्म-

---

शरीरमनुसंज्वरेदिति संबन्धः। किमिच्छन्नित्याक्षेप समर्थयते—न हीति। कस्य वा कामायेत्याक्षेपमु- पपादयति—न चेति। आक्षेपद्वयं निगमयति—अत इति। "तदेव स्पष्टयति—शरीरेति। विदुषस्तापा- भाव व्यतिरेकमुखेन(ण) विशदयति—अनात्मेति। वस्त्वन्तरेप्सोस्तापसंभव इति शेष.। स चेत्य- ध्याहृत्य ममेदमित्यादि योज्यम्। इत्येतदाह किमिच्छन्नित्याद्या श्रुतिरिति शेषः॥ १२॥

न केवलमात्म"विद्यारसिकस्य कायक्लेशराहित्य किंतु कृतकृत्यता चास्तीत्याह—किंचेति।

से व्यतिरिक्त दूसरी किस फलयुक्त 'वस्तु को इच्छा करता हुआ, आत्मव्यतिरिक्त पुत्रादिरूप किस प्रयोजन के लिए करे क्योंकि उस आत्मा के लिए कोई चाहने योग्य फल है ही नहीं और न ही आत्मा से व्यतिरिक्त कोई पुत्रादि पदार्थ है, जिसके फल की वह इच्छा करे क्योंकि वह तो सब का आत्मस्वरूप ही हो जाता है। अतः वह किस की इच्छा करता हुआ किसकी कामना के लिये शरीर के "अनुसज्वरेत्", यानी पीछे भ्रष्ट हो। शरीररूप उपाधि के दुःख के पीछे दुःखी हो; शरीर के ताप से अनुतापित हो। जिसे आत्मदर्शन नही होता, उसे ही आत्मव्यतिरिक्त वस्त्वन्तर की इच्छा होती है। "मुझे यह प्राप्त हो जाय, मेरे पुत्र को यह प्राप्त हो जाय, मेरी भार्या को यह मिल जाय" इस प्रकार अभिलाषा करता हुआ पुनः पुनः जन्म-मृत्यु के प्रवाह मे पतित हुआ शरीर के रोग से रोगी हो जाता है। सर्वात्मदर्शी को तो यह ताप होना असभव है—इसे श्रुति यहां बतलाती है ॥ १२ ॥

इसके अतिरिक्त "यस्य" अर्थात् (समस्त कल्मष क्षीण कर ब्रह्मसाक्षात्कार के इच्छुक) जिस ब्राह्मण को आत्मा 'अनुवित्त." अर्थात् शास्त्र और आचार्य के प्रसाद से उपलब्ध है "प्रतिबुद्धः" अर्थात् साक्षात्कृत है; किस प्रकार? "मैं परब्रह्म हूँ" इस प्रकार प्रत्यगात्मस्वरूप से साक्षात्कृत है; "अस्मिन्

---

१. येनेत्यर्थः। २ स्वीयाद्यपरस्वस्येति भाव.। ३. पुत्रादे। ४. आत्मार्थम्। ५. पुत्रादि- पदार्थः। ६ फलाय। ७. स्वातिरेकेणान्यस्याभावात्। ८. आत्मव्यतिरिक्ते यावत्। ९. अभिलषन्। १०. प्रवाहपतित.। ११. तापासभव.। १२ क्षपिताशेषकल्मषस्य ब्रह्मसाक्षात्काराथिन। १३. शास्त्रा- चार्यप्रसादादनु। १४. अनुभ्रंशनमेव। १५ तदेकनिष्ठस्य।

प्रविष्टः। स विश्वकृत्स हि सर्वस्य कर्ता तस्य लोकः स उ लोक एव ॥ १३ ॥

आत्मा जिस ब्रह्मवेत्ता पुरुष को प्राप्त तथा अवगत हो गया है; वह कृतकृत्य हो गया, वह सभी कर्मों का कर्ता है। उसी का सारा लोक है और स्वयं भी वह लोक स्वरूप आत्मा ही है ॥ १३ ॥

त्येवं प्रत्यगात्मत्वेनावगत आत्माऽस्मिन्संदेह्ये संदेहेऽनेकानर्थसंकटोपचये गहने विषमेऽनेकशतसहस्रविवेकविज्ञानप्रतिपक्षे विषमे प्रविष्टो जलसूर्यकादिवदिति स यस्य ब्राह्मणस्यानुवित्तः प्रतिबोधेनेत्यर्थः। स विश्वकृद्विश्वस्य कर्ता। कथं विश्वकृत्त्वं तस्य किं विश्वकृदिति नामेत्याशङ्क्याऽऽह—स हि यस्मात्सर्वस्य कर्ता न नाममात्रं न केवलं विश्वकृत्परप्रयुक्तः सन्। किं तर्हि तस्य लोकः सर्वः। किमन्यो लोकोऽन्योऽसावित्युच्यते—स उ लोक एव। लोकशब्देनाऽऽत्मोच्यते तस्य सर्व आत्मा स च सर्वस्याऽऽत्मे-

---

संदेहे पृथिव्यादिभिर्भूतैरुपचिते शरीरे। सदेहत्वं साधयति—अनेके ति। विषमत्वं विशदयति—अनेकशतेति। न नाममात्रमित्यत्र पुरस्तात्सजस्तस्मादिति पठितव्यं यस्मादित्युपक्रमाद्विश्वकृत्त्वमिति शेषः। परशब्दो विद्याविषयः। विश्वकृत्कृतकृत्य इत्येतत्। लोकलोकिविभागेन भेदं शङ्कित्वा दूषयति—किमित्यादिना। यस्येत्यादिमन्त्रस्य तात्पर्यार्थं संगृह्णाति—य एष इति। "अस्त्वेवं किं तावतेत्या-

---

संदेह्ये" अर्थात् जहाँ नानाविध अप्रार्थनीय दुःखों का पुञ्ज होने से सन्देह और 'गहने" अर्थात् जहाँ अनेक शत-सहस्र आध्यात्मिक विवेक प्रतिपक्ष हैं; ऐसे विषम स्थान में जलसूर्यकादि के समान प्रविष्ट हुआ जो आत्मा है, वह जिस ब्राह्मण को सघात से विविक्त हुआ ज्ञात है, एवं प्रत्येक बुद्धिवृत्ति के साक्षी रूप से साक्षात्कृत है। "स विश्वकृत्" अर्थात् विश्व का कर्ता ईश्वर है। उसे विश्वकर्तृत्व कैसे कहते हो तथा क्या विश्वकृत् उस का नाम है? ऐसी आशङ्का होने पर श्रुति कहती है—(ज्ञान के फल में सब कुछ आ जाता है, इसलिए ज्ञानी सर्वकृत् या कृतकृत्य है) इसीलिए वह सब का कर्ता है। यह उस विद्वान् का केवल नाम ही नहीं है। वह किसी अन्य से प्रयुक्त होकर विश्वकृत् नहीं है। तो फिर कैसे है? उसी विद्वान् का सारा प्रपञ्च लोक अर्थात् आत्मा है। क्या यह लोक भिन्न है और वह भिन्न है? इस पर श्रुति कहती है—वही विद्वान् सर्वप्रपञ्च की आत्मा है। यहाँ 'लोक'

---

१. अनेकेत्यादि—नानाविधानामप्रार्थनीयानां दुःखानामुपचयो यत्रेति विग्रहः। २ अनेकशतेत्यादि—अनेकशतसहस्राणि विवेकप्रतिपक्षा आध्यात्मिकादयो यत्र। ३ बहुव्रीहिः। ४. निरुक्त आत्मा। ५. सघाताद्विविच्य विज्ञात.। ६. प्रत्येकबुद्धिवृत्तिसाक्षित्वेन। ७. ईश्वरः। ८. कथमिति—न ब्रह्मविदो विश्वकर्तृत्वं विश्वाभावात्तथा च तस्य विश्वकृदिति नाममात्रमित्याशयः। ९. स हीति—ज्ञानफले सर्वस्यान्तर्भावाज्ज्ञानिना सर्वं कृतमिति भावः। कृतकृत्योऽसाविति यावत्। १०. विद्वान्। ११. विदुष.। १२. आत्मा। १३. प्रपञ्च.। १४. सोऽपि विद्वान् सर्वस्य प्रपञ्चस्याऽऽत्मैव। १५. सर्वशब्दो ब्रह्मपर इत्यप्याहुः। १६. संदिह्यत इति व्युत्पत्ते दिह उपचये। १७. अस्त्वेवमित्यादि—उक्तरीत्या प्रतीचः परत्वमस्तु तस्य परत्वेऽपि प्रकृते किमायातमित्यर्थः।

'यस्यानुवित्तः प्रतिबुद्ध आत्माऽस्मिन्संदेह्ये गहने
इन अनेक अनर्थों से परिपूर्ण और विवेक विज्ञान के शत्रु विषम स्थान शरीर में प्रविष्ट हुआ

'स्तत्स्वरूपव्यतिरिक्तमन्यद्वस्तु फलभूत किमिच्छन्कस्य वाऽन्यस्याऽऽत्मनो व्यतिरिक्तस्य कामाय प्रयोजनाय । न हि तस्याऽऽत्मन एष्टव्यं फलम् । न चाप्यात्मनोऽन्योऽस्ति यस्य 'कामायेच्छति सर्वस्याऽऽत्मभूतत्वात् । 'अतः किमिच्छन्कस्य कामाय शरीरमनुसंज्वरेद्-भ्रंशेत् । शरीरोपाधिकृतदुःखमनु दुःखी स्यात् । शरीरतापमनुतप्येत । अनात्मदर्शिनो हि 'तद्व्यतिरिक्तवस्त्वन्तरेप्सोः । ममेद स्यात्पुत्रस्येदं भार्याया इदमित्येवमीहमानः पुनः पुनर्जननमरण प्रबन्धारूढः शरीररोगमनु रुज्यते । सर्वात्मदर्शिनस्तु "तदसंभव इत्येतदाह ॥ १२ ॥

किंच "यस्य ब्राह्मणस्यानुवित्तो"ऽनुलब्धः प्रतिबुद्धः साक्षात्कृतः कथमहमस्मि परं ब्रह्म-

शरीरमनुसंज्वरेदिति संबन्धः । किमिच्छन्नित्याक्षेपं समर्थयते—न हीति । कस्य वा कामायेत्याक्षेपमुपपादयति—न चेति । आक्षेपद्वयं निगमयति—अत इति । "तदेव स्पष्टयति—शरीरेति । विदुषस्तापाभाव व्यतिरेकमुखेन(ण) विशदयति—अनात्मेति । वस्त्वन्तरेप्सोस्तापसंभव इति शेष. । स चेत्यव्याहृत्य ममेदमित्यादि योज्यम् । इत्येतदाह किमिच्छन्नित्याद्या श्रुतिरिति शेषः ॥ १२ ॥

न केवलमात्म"विद्यारसिकस्य कायक्लेशराहित्य किंतु कृतकृत्यता चास्तीत्याह—किंचेति ।

से व्यतिरिक्त दूसरी किस फलयुक्त 'वस्तु की इच्छा करता हुआ, आत्मव्यतिरिक्त पुत्रादिरूप किस प्रयोजन के लिए करे क्योंकि उस आत्मा के लिए कोई चाहने योग्य फल है ही नहीं और न ही आत्मा से व्यतिरिक्त कोई पुत्रादि पदार्थ है, जिसके फल की वह इच्छा करे क्योंकि वह तो सब का आत्मस्वरूप ही हो जाता है । अतः वह किस की इच्छा करता हुआ किसकी कामना के लिये शरीर के "अनुसज्वरेत्", यानी पीछे भ्रष्ट हो । शरीररूप उपाधि के दुःख के पीछे दुःखी हो ; शरीर के ताप से अनुतापित हो । जिसे आत्मदर्शन नही होता, उसे ही आत्मव्यतिरिक्त वस्त्वन्तर की इच्छा होती है । "मुझे यह प्राप्त हो जाय, मेरे पुत्र को यह प्राप्त हो जाय, मेरी भार्या को यह मिल जाय" इस प्रकार अभिलाषा करता हुआ पुन. पुनः जन्म-मृत्यु के प्रवाह मे पतित हुआ शरीर के रोग से रोगी हो जाता है । सर्वात्मदर्शी को तो यह ताप होना असभव है—इसे श्रुति यहाँ बतलाती है ॥ १२ ॥

इसके अतिरिक्त "यस्य" अर्थात् (समस्त कल्मष क्षीण कर ब्रह्मसाक्षात्कार के-इच्छुक) जिस ब्राह्मण को आत्मा 'अनुवित्त." अर्थात् शास्त्र और आचार्य के प्रसाद से उपलब्ध है "प्रतिबुद्धः" अर्थात् साक्षात्कृत है; किस प्रकार ? "मैं परब्रह्म हूँ" इस प्रकार प्रत्यगात्मस्वरूप से साक्षात्कृत है; "अस्मिन्

१. येनेत्यर्थः । २ स्वीयाखण्डस्वरूपेति भाव । ३. पुत्रादे । ४. आत्मार्थम् । ५. पुत्रादि-पदार्थः । ६. फलाय । ७ स्वातिरेकेणान्यस्याभावात् । ८ आत्मव्यतिरिक्ते यावत् । ९. अभिलपन् । १०. प्रवाहपतित । ११. तापासभव. । १२. क्षपितानेपकल्मषस्य ब्रह्मसाक्षात्कारार्थिन । १३. शास्त्रा-चार्यप्रसादादनु । १४ अनुभ्रंशनमेव । १५ तदेकनिष्ठस्य ।

प्रविष्टः। स विश्वकृत्स हि सर्वस्य कर्ता तस्य लोकः स उ लोक एव ॥ १३ ॥

आत्मा जिस ब्रह्मवेत्ता पुरुष को प्राप्त तथा अवगत हो गया है; वह कृतकृत्य हो गया, वह सभी कर्मों का कर्ता है। उसी का सारा लोक है और स्वयं भी वह लोक स्वरूप आत्मा ही है ॥ १३ ॥

स्येवं प्रत्यगात्मत्वेनावगत आत्माऽस्मिन्संदेह्ये संदेहेऽनेकानर्थसंकटोपचये गहने विषमेऽनेकशतसहस्रविवेकविज्ञानप्रतिपक्षे विषमे प्रविष्टो जलसूर्यकादिवदिति स यस्य ब्राह्मणस्यानुवित्तः प्रतिबोधेनेत्यर्थः। स विश्वकृद्विश्वस्य कर्ता। कथं विश्वकृत्त्वं तस्य किं विश्वकृदिति नामेत्याशङ्क्याऽऽह—स हि यस्मात्सर्वस्य कर्ता न नाममात्रं न केवलं विश्वकृत्परप्रयुक्तः सन्। किं तर्हि तस्य लोकः सर्वः। किमन्यो लोकोऽन्योऽसावित्युच्यते—स उ लोक एव। लोकशब्देनाऽऽत्मोच्यते तस्य सर्वं आत्मा स च सर्वस्याऽऽत्मे-

---

संदेहे पृथिव्यादिभिर्भूतैरुपचिते शरीरे। संदेहत्वं साधयति—अनेकेति। विषमत्वं विशदयति—अनेकशतेति। न नाममात्रमित्यत्र पुरस्तान्नञस्तस्मादिति पठितव्यं यस्मादित्युपक्रमाद्विश्वकृत्त्वमिति शेषः। परशब्दो विद्याविषय.। विश्वकृत्कृतकृत्य इत्येतत्। लोकलोकिविभागेन भेदं शङ्कित्वा दूषयति—किमित्यादिना। यस्येत्यादिमन्त्रस्य तात्पर्यार्थं संगृह्णाति—य एष इति। अस्त्वेवं किं तावतेत्या-

---

संदेह्ये" अर्थात् जहाँ नानाविध अप्रार्थनीय दुःखों का पुञ्ज होने से सन्देह और 'गहने" अर्थात् जहाँ अनेक शत-सहस्र आध्यात्मिक विवेक प्रतिपक्ष हैं, ऐसे विषम स्थान में जलसूर्यकादि के समान प्रविष्ट हुआ जो आत्मा है, वह जिस ब्राह्मण को संघात से विविक्त हुआ ज्ञात है, एवं प्रत्येक बुद्धिवृत्ति के साक्षी रूप से साक्षात्कृत है। "स विश्वकृत्" अर्थात् विश्व का कर्ता ईश्वर है। उसे विश्वकर्तृत्व कैसे कहते हो तथा क्या विश्वकृत् उस का नाम है? ऐसी आशङ्का होने पर श्रुति कहती है—(ज्ञान के फल में सब कुछ आ जाता है, इसलिए ज्ञानी सर्वकृत् या कृतकृत्य है) इसीलिए वह सब का कर्ता है। यह उस विद्वान् का केवल नाम ही नहीं है। वह किसी अन्य से प्रयुक्त होकर विश्वकृत् नहीं है। तो फिर कैसे है? उसी विद्वान् का सारा प्रपञ्च लोक अर्थात् आत्मा है। क्या यह लोक भिन्न है और वह भिन्न है? इस पर श्रुति कहती है—वही विद्वान् सर्वप्रपञ्च की आत्मा है। यहाँ 'लोक'

---

१ अनेकेत्यादि—नानाविधानामप्रार्थनीयानां दुःखानामुपचयो यत्रेति विग्रहः। २ अनेकशतेत्यादि—अनेकशतसहस्राणि विवेकप्रतिपक्षा आध्यात्मिकादयो यत्र। ३ बहुव्रीहिः। ४ निरुक्त आत्मा। ५ संघाताद्विविच्य विज्ञातः। ६ प्रत्येकबुद्धिवृत्तिसाक्षित्वेन। ७ ईश्वरः। ८ कथमिति—न ब्रह्मविदो विश्वकर्तृत्वं विश्वाभावात्तथा च तस्य विश्वकृदिति नाममात्रमित्याशयः। ९ स हीति—ज्ञानफले सर्वस्यान्तर्भावाज्ज्ञानिना सर्वं कृतमिति भावः। कृतकृत्योऽसाविति यावत्। १०. विद्वान्। ११. विदुषः। १२ आत्मा। १३ प्रपञ्चः। १४ सोऽपि विद्वान् सर्वस्य प्रपञ्चस्याऽऽत्मैव। १५ सर्वशब्दो ब्रह्मपर इत्यप्याहुः। १६ संदिह्यत इति व्युत्पत्त्या देह उपचयः। १७ अस्त्वेवमित्यादि—उक्तरीत्या प्रतीचः परत्वमस्तु तस्य परत्वेऽपि प्रकृते किमायातमित्यर्थः।

'इहैव सन्तोऽथ विद्मस्तद्वयं न चेदवेदिर्महती विनष्टिः । 'ये तद्विदुरमृतास्ते भवन्त्यथेतरे दुःखमेवापियन्ति ॥१४॥

हम इस अनर्थ पूर्ण शरीर मे रहते हुए ही यदि उस आत्मतत्त्व को जान लेते हैं तो कृतकृत्य हो जाते हैं और यदि उसे नही जानते तो बडी भारी क्षति होती है (जिसकी पूर्ति अन्यत्र दुःशक्य है)। अत जो साधक उसे जानकर उस तत्त्व को आत्मभावेन साक्षात् कर लेते हैं; वे अमर हो जाते हैं। इनसे भिन्न लोग जन्म मरणादि रूप दुःख को ही प्राप्त होते हैं ॥ १४ ॥

इत्यर्थः । य 'एव ब्राह्मणेन प्रत्यगात्मा प्रतिबुद्धतयाऽनुवित्त आत्माऽनर्थसंकटे' गहने प्रविष्टः स न संसारी किंतु पर एव । यस्माद्विश्वस्य कर्ता सर्वस्याऽऽत्मा तस्य च सर्वं आत्मा । एक एवाद्वितीयः पर एवास्मीत्यनुसंधातव्य इति श्लोकार्थः ॥ १३ ॥

किंचेहैवानेकानर्थसंकुले' सन्तो भवन्तोऽज्ञानदीर्घनिद्रामोहिताः सन्तः कथंचिदिव' ब्रह्मतत्त्वमात्मत्वेनाथ विद्मो विजानीमः । तदेतद्ब्रह्म' प्रकृतमहो वयं कृतार्था इत्यभिप्रायः । यदेतद्ब्रह्म विजानीमस्तन्न चेद्विदितवन्तो वयं वेदनं वेदो वेदोऽस्यास्तीति वेदी

शङ्कयाऽऽह—एक एवेति । यो हि परः 'सर्वप्रकारभेदराहित्यात्पूर्णतया वर्तते स एवास्मीत्यात्माऽनुसंधातव्य इति योजना ॥ १३ ॥

ब्रह्मविदो विद्यया कृतकृत्यत्वे श्रुतिसंप्रतिपत्तिरेव केवलं न भवति किंतु 'स्वानुभवसंप्रतिपत्तिरस्तीत्याह—किंचेति । अथेत्यस्य कथंचिदिवेति व्याख्यानम् । तदित्यस्य ब्रह्मतत्त्वमि'त्युक्तमर्थं स्फुटयति—तदेतदिति । ब्रह्मज्ञाने कृतार्थत्वं श्रुत्यनुभवाभ्यामुक्त्वा तदभावे दोषमाह—यदेतदिति । "तर्हि

शब्द से आत्मा का ग्रहण करना चाहिये । उसका ब्रह्म आत्मा है, यह ब्रह्म का आत्मा है । आत्मा अनर्थसंकट घोर विषम शरीर मे प्रविष्ट है—इस प्रकार अपरोक्ष प्रत्यगात्मा का जिस ब्रह्मवेत्ता ने शास्त्र व गुरु की कृपा से साक्षात्कार प्राप्त कर लिया, वह संसारी नही है; किन्तु परब्रह्म ही है क्योंकि वह विश्व का कर्ता है, ब्रह्म का आत्मा है । उसका ब्रह्म आत्मा है । "मैं एक ही अद्वितीय परब्रह्म हूँ" ऐसा अनुसन्धान करना चाहिये—यही इस श्लोक का अर्थ है ॥ १३ ॥

इसके अतिरिक्त "इहैव" यानी अनेक अनर्थबहुल शरीर मे "सन्त" रहते हुए यानी अज्ञानरूपी दीर्घनिद्रा से मोहित हुए किसी तरह से भी (पापक्षय होने से) ब्रह्मतत्त्व को आत्मस्वरूप से "अथ विद्म" यदि जान लें, तब तो हम धन्य होकर कृतार्थ हो गये, यह अभिप्राय है । हम जिस ब्रह्म को

---

१ विदुषो न केवलं श्रौतं कृतकृत्यत्वं किंत्वानुभविकमपीत्याह—इहैवेति । एतस्मिन्नेव देहे । २ ये तद्विदुरिति मन्त्रार्थमुपसंहरति स्म वार्तिके—"इहैव सन्तो विज्ञानात्प्रागतो ब्रह्मबोधत । भवामो ब्रह्म नाऽनाप्तं दशमो दशमं यथा" ॥ ६२६ ॥ इति । ३ अपरोक्ष । ४ शरीरे । ५ शरीर एव । ६ पापक्षयात् । ७ ब्रह्म वयमिति संबन्धः । ८ सजातीयादिभेदराहित्यात् । ९ विद्वदनुभवसंप्रतिपत्तिरिति यावत् । १० इति व्याख्यानमिति संबन्धः । ११ परस्पराऽऽपते दोषेऽन्वयं विवक्षित्वाऽऽह—तर्हीत्यादि ।

'यदैतमनुपश्यत्यात्मानं देवमञ्जसा । ईशानं भूत-

जिस समय भूत और भविष्य के शासक इस प्रकाशमय या कर्मफल दाता आत्मा को आचार्य

वेद्येव वेदिनं वेदिरवेदिः । ततोऽहमवेदिः स्याम् । यद्यवेदिः स्यां को दोषः स्यान्महत्यनन्तपरिणामा जन्ममरणादिलक्षणा विनष्टि विनशनम्' । अहो वयमस्मान्महतो विनशनान्निर्मुक्ता यदद्वय ब्रह्म विदितवन्त इत्यर्थः । यथा च वयं विदित्वाऽस्माद्विनशनाद्विप्रमुक्ता एवं तद्विदुरमृतास्ते भवन्ति ये पुनर्नैवं ब्रह्म विदुस्त इतरे ब्रह्मविद्भ्योऽन्येऽब्रह्मविद इत्यर्थः । दुःखमेव जन्ममरणादिलक्षणमेवापियन्ति प्रतिपद्यन्ते न कदाचिदप्यविदुषां ततो विनिवृत्तिरित्यर्थः । 'दुःखमेव हि त आत्मत्वेनोपगच्छन्ति ॥ १४ ॥

यदा पुनरेतमात्मानं कथंचित्परमकारुणिकं कंचिदाचार्यं प्राप्य ततो लब्धप्रसादः

महती विनष्टिरिति संबन्धः । बहुत्वं 'न विवक्षितं ज्ञानान्मोक्षोऽत्र विवक्षित इत्यभिप्रेत्य वेदिरित्यस्यार्थमाह—वेदनमित्यादिना । 'न चेद्ब्रह्म विदितवन्तो वयं ततोऽहमवेदिः स्यामिति योजना । विद्याभावे दोषमुक्त्वा विद्वदनुभवसिद्धमर्थं नियमयति—अहो वयमिति । इहैवेत्यादिना पूर्वार्धेनोक्तमेवार्थमुत्तरार्धेन 'प्रपञ्चयति—यथा चेत्यादिना । दुःखादविदुषां विनिर्मोकाभावे हेतुमाह—दुःखमेवेति ॥ १४ ॥

किंच विदुषो विहिताकरणादिप्रयुक्तं भयं नास्तीति विद्यां स्तोतुमेव मन्त्रान्तरमादाय

जानते हैं यदि उसको उस रूप मे हमने न जाना होता, "वेदि" वेदन को कहते हैं, जिसे ज्ञान है, वह वेदी होता है, वेदी ही 'वेदि' समझना चाहिये, जो 'वेदि' नही है, वह अवेदि है। इस प्रकार मैं अवेदि होता। यदि न जाना होता, तो क्या दोष होता। "महती विनष्टिः" अर्थात् जन्म-मरणलक्षण अनन्त परिमाणरूप मरणात्मक विनाश हो जाता। अरे! हम इस महान् विनाश से मुक्त हो गये हैं, जो हमने ब्रह्म को जान लिया है, यह इसका अर्थ है। जिस प्रकार हम इस ब्रह्म को जान कर इस मरणात्मक विनाश से सम्यक् मुक्त हो गये हैं, इसी प्रकार जो इस ब्रह्म को जान लेते हैं, वह अमृतत्व लाभ कर लेते हैं। "इतरे" यानी ब्रह्मविद् से अन्य अब्रह्मविद्, जो इसे नहीं जानते हैं, "दुःखमेवापियन्ति" यानी वे जन्म-मरणादि लक्षण दुःख को ही प्राप्त होते हैं। अब्रह्मविद् की कभी भी उस दुःख से निवृत्ति नही हो सकती—यह इस का अर्थ है। वे दुःखालय यानी कार्यकरणात्मसंघात को ही आत्मरूप से ग्रहण करते हैं ॥ १४ ॥

"यदा" अर्थात् फिर जब 'एतमात्मानम्' अर्थात् इस हृदयस्थ आत्मा को किसी प्रकार परम

---

१ एतम् हृदयस्थम् । २ विनाशनमिति—तन्मात्रं न ध्वंसः प्रभावे महत्त्वासंभवादपि त्वद्वितीय तद् ग्रा च मरणादिरूपतया मरणादिजनकतया विनष्टिरित्यभिलप्यत इति स्पष्टं वार्तिके । ३ स्यात् । ४. य । ५ दुःखालयं संघातमिति यावत् । ६ न विवक्षितमिति—बहुवचनेनोपक्रम्य पुनरेकवचनेनोपसंहारादिति भावः । ७ साध्याहारेऽप्यन्वयार्थं योजनान्तरं दर्शयति—न चेदित्यादिना । ८ प्रपञ्चयतीति—स्पष्टप्रतिपत्तय इति भावः । तत्रापि प्रथमपादार्थं तृतीयपादेन द्वितीयार्थं चतुर्थेनेति विभागः ।

भव्यस्य न ततो विजुगुप्सते ॥ १५ ॥

'यस्मादर्वाक्संवत्सरोऽहोभिः परिवर्तते । तद्देवा ज्यो-

द्वारा शास्त्र श्रवण के बाद मनुष्य अपरोक्ष रूप से जान लेता है; उस समय अपने को सुरक्षित रखने की इच्छा नहीं करता अर्थात् ब्रह्मवेत्ता को भय के अभाव में सुरक्षा की इच्छा भी नहीं होती ॥ १५ ॥
जिसके नीचे संवत्सर अहोरात्रादि अपने अवयवों के साथ चक्कर काटता रहता है, उस आदित्यादि

सन्नन्नु 'पश्चात्पश्यति साक्षात्करोति स्वमात्मानं देवं 'द्योतनवन्तं दातारं वा सर्वप्राणि-कर्मफलानां यथाकर्मानुरूपमञ्जसा 'साक्षादीशानं स्वामिनं भूतभव्यस्य कालत्रयस्येत्येतत् । न ततस्तस्मादीशानाद्देवादात्मानं विशेषेण जुगुप्सते 'गोपायितुमिच्छति । सर्वो हि लोक ईश्वराद्गुप्तिमिच्छति भेददर्शी । अयं त्वेकत्वदर्शी 'न बिभेति कुतश्चन । अतो न तदा विजुगुप्सते । यदेशान देवमञ्जसाऽऽत्मत्वेन पश्यति न तदा निन्दन्ति वा 'कंचित् । सर्वमात्मानं हि पश्यति य एवं पश्यन्कमसौ निन्देत् ॥ १५ ॥
किंच यस्मादीशानादर्वाग्यस्माद'न्यविषय एवेत्यर्थः । संवत्सरः कालात्मा सर्वस्य

व्याचष्टे—यदा पुनरित्यादिना । उक्तमर्थं व्यतिरेकमुखेन(ण) विशदयति—सर्वो हीति । जुगुप्साया निन्दा वेन प्रसिद्धत्वात्कथमभयार्थमादाय व्याख्यायते रूढिर्योगमपहरतीति न्यायादित्याशङ्क्याऽऽह—यदेति । तदेवोपपादयति—सर्वमिति ॥ १५ ॥
अथेश्वरस्यापि कालान्यत्वे' सति वस्तुत्वाद्घटवत्कालावच्छिन्नत्वात्र कालत्रयं प्रति युक्तमी-"श्वरत्वमत आह—किंचेति । यस्मादीशानाद"र्वाक्संवत्सरो वर्तते तमुपासते देवा इति संबन्धः । ननु

कृपालु किसी आचार्य को पाकर उनकी कृपा से शास्त्राचार्य उपदेशानुसार साक्षात्कार कर लेता है अर्थात् स्वयप्रकाश या अपने अपने कर्मों के अनुसार सभी प्राणियों को कर्म फल देने वाला देव, "ईशानं भूतभव्यस्य" अर्थात् कालत्रय का स्वामी इस अपनी आत्मा को साक्षात् जान लेता है । "न ततो विजुगुप्सते" अर्थात् स्वात्मभूत उस स्वामी और देव से अपने आप को विशेष रूप से सुरक्षित होने की इच्छा नहीं करता । भेदवादी सभी लोग ईश्वर से अपनी रक्षा के लिए प्रार्थना करते हैं । यह ब्रह्मात्मैक्यदर्शी कहीं भी नहीं डरता । इसलिए यह अपनी सुरक्षा की इच्छा नहीं करता । जब यह ईशान व देव को साक्षात् आत्मत्वेन देखता है, तब अपने या दूसरे की निन्दा नहीं करता । वह सब जगह आत्मा ही देखता है, जो इस प्रकार देखने वाला है, वह किसकी निन्दा करे ॥ १५ ॥
इसी प्रकार 'यस्माद्' अर्थात् जिस ईशान से "अर्वाक्" अर्थात् अन्य ही विषय वाला संवत्सर

---

१ संवत्सराख्य कालोऽपि न परिच्छिनत्तीत्यर्थः । २ शास्त्राचार्योपदेशानुसारेण । ३. स्वयप्रकाशम् । ४ आत्मत्वेन । ५ स्वात्मभूतात् । ६ गोपायितुमिच्छतीति—ज्ञानबलादीशस्य प्रत्यक्त्वेन प्रतिपन्नतया स्वनिष्ठेप्सितव्यत्वव्यावृत्तेरिति भावः । ७ विदुषो भयाभावे मानमाह—न बिभेतीति । ८ कंचिदिति—आत्मानं परं वा न गर्हतीत्यर्थः । ९ संवत्सरः । १० काले व्यभिचारवारणाय सत्यन्तम् । ११. ईश्वरत्व - १ । अत्रापि घटवदित्यनुवर्तते । १२ प्रथमस्तात् ।

तिषां ज्योतिरायुर्होपासतेऽमृतम् ॥ १६ ॥
'यस्मिन्पञ्च पञ्चजना आकाशश्च प्रतिष्ठितः ।
तमेव मन्य आत्मानं विद्वान्ब्रह्मामृतोऽमृतम् ॥ १७ ॥

ज्योतियों के भी ज्योति स्वरूप अमरधर्मा परमेश्वर को देवता लोग "आयु" इस रूप से उपासना करते हैं अर्थात् आयुकाम पुरुष ब्रह्म की आयुरूप गुण के द्वारा उपासना करे ॥ १६ ॥

जिस ब्रह्म में (गन्धर्व, पितर, देव, असुर और राक्षस या ब्राह्मणादि) पाँच पंचजन तथा अव्याकृत नामक आकाश भी प्रतिष्ठित हैं; उस आत्मा को ही मैं अविनाशी ब्रह्म मानता हूँ (उससे भिन्न आत्मा को मैं नहीं जानता)। अतः मैं इसे जानने वाला ब्रह्मवेत्ता अमृत ही हूँ ॥ १७ ॥

जनिमतः परिच्छेत्ता यमपरिच्छिन्दन्नर्वागेव वर्ततेऽहोभिः स्वावयवैरहोरात्रैरित्यर्थः । तज्ज्योतिषां ज्योतिरादित्यादिज्योतिषामप्यवभासकत्वादायुरित्युपासते देवा अमृतं ज्योतिरतोऽन्यन्म्रियते न हि ज्योतिः । सर्वस्य ह्येतज्ज्योतिरायुः । आयुर्गुणेन' यस्माद्देवास्तज्ज्योतिरुपासते तस्मादायुष्मन्तस्ते' । 'तस्मादायुष्कामेनाऽऽ(णाऽऽ)युर्गुणेनोपास्यं ब्रह्मेत्यर्थः ॥ १६ ॥

किंच यस्मिन्यत्र ब्रह्मणि पञ्च 'पञ्चजना गन्धर्वादयः पञ्चैव संख्याता गन्धर्वाः

कथं संवत्सरोऽर्वागित्युच्यते कालस्य 'कालान्तराभावेन पूर्वकालसंबन्धाभावादत आह—यस्मादिति । अन्वयस्तु पूर्ववत् । आत्मज्योतिषो गुणमायुष्ट्वलक्षणं स्पष्टयन्नुपासकस्य फलमाह—सर्वस्येति । यथोक्तोपासने देवानामेवाधिकारो विशेषवचनादित्याशङ्क्याऽऽह—तस्मादिति ॥ १६ ॥

ज्योतिषां 'ज्योतिरमृतमित्युक्तं तस्यामृतत्वं सर्वाधिष्ठानत्वेन साधयति—किंचेति । एवका-

---

है; संवत्सर कालात्मा है जो सभी उत्पन्न होने वाले पदार्थों का परिच्छेत्ता है, "अहोभिः परिवर्तते" वह उसका परिच्छेद न करता हुआ अहोरात्र रूप अपने अवयवों के द्वारा उससे नीचे ही रहता है। आदित्यादि ज्योतियों के भी प्रकाशक होने से उन ज्योतियों की ज्योति को देवगण 'आयु' इस प्रकार उपासना करते हैं। वह ज्योति अमृत है; इससे भिन्न जो मरणभाव को प्राप्त होती है; वह ज्योति नहीं है। यह ज्योति सबकी आयु है क्योंकि देवता लोग इस ज्योति की आयुरूप गुण के कारण उपासना करते हैं, इसी से वे आयुष्मान् प्रसिद्ध हैं। इसलिए आयुष्काम को 'आयु' गुण वाले इस ब्रह्म की उपासना करनी चाहिये ॥ १६ ॥

तथा "यस्मिन्" अर्थात् जिस ब्रह्म में पाँच पञ्चजनसञ्ज्ञक हैं, गन्धर्वादि पाँच गिनाये गये

---

१. यस्मिन् ब्रह्मणि पूर्ववाक्योक्तपञ्चपञ्चज्योतिषा सह प्राणश्चक्षुः श्रोत्रं मनश्चेति पञ्च पञ्च सङ्ख्याकाः पञ्चजनाः पञ्चजनसञ्ज्ञकाः प्रतिष्ठिताः आकाशश्चाव्याकृताख्यः सूत्राधारभूतः प्रतिष्ठितः तमेवात्मानं ब्रह्मामृतं विद्वानहममृत इति मन्ये इत्यर्थः । २. आयुरित्येवमनुसन्दधते । ३. विशिष्टम् । ४. प्रसिद्धाः । ५. तस्मात्—आयुष्ट्वगुणकब्रह्मोपासनायाः आयुष्मत्त्वफलस्य देवप्रसिद्धत्वात् । ६. एतत्सञ्ज्ञका । ७. पूर्वकालेत्यादिनाऽन्वयः । ८ ब्रह्म ।

❀ प्राणस्य प्राणमुत चक्षुषश्चक्षुरुत श्रोत्रस्य श्रोत्रं मनसो ये मनो विदुः । ते निचिक्युर्ब्रह्म पुराणमग्र्यम् ॥ १८ ॥

(ब्रह्म की शक्ति से अधिष्ठित नेत्रादि में दर्शन सामर्थ्य होने से) जो उस ब्रह्म को प्राण का प्राण, चक्षु का चक्षु, श्रोत्र का श्रोत्र, मन का मन जानते हैं; वे ही उस पुरातन तथा आगे रहने वाले ब्रह्म को जानते हैं ॥ १८ ॥

पितरो देवा असुरा रक्षांसि निषादपञ्चमा वा वर्णा आकाशश्चाव्याकृताख्यो यस्मिन्सूत्रमोतं च प्रोतं च । 'यस्मिन्प्रतिष्ठित 'एतस्मिन्नु खल्वक्षरे गार्ग्याकाश 'इत्युक्तं तमेवाऽऽत्मानममृतं ब्रह्म मन्येऽहं न चाहमात्मानं ततोऽन्यत्वेन जाने । 'किं तर्ह्यमृतोऽहं ब्रह्म विद्वान्सन्नज्ञानमात्रेण तु मर्त्योऽहमासं 'तदपगमाद्विद्वानहममृत एव ॥ १७ ॥

किंच तेन हि चैतन्यात्मज्योतिषाऽवभास्यमानः 'प्राण आत्मभूतेन 'प्राणिति 'तेन प्राणस्यापि प्राणः 'स तं प्राणस्य प्राणम् । तथा चक्षुषोऽपि चक्षुरुत श्रोत्रस्यापि श्रोत्रम् ।

रार्थमाह न चेति । यद्यात्मानं ब्रह्म जानासि "तर्हि किं ते तद्विद्याफलमिति प्रश्नपूर्वकमाह—किं तर्हीति । कथं "तर्हि ते मर्त्यत्वप्रतीतिस्तत्राऽऽह—अज्ञानमात्रेणेति ॥ १७ ॥

प्रकृताः पञ्चजनाः पञ्च "ज्योतिषा सह प्राणादयो वा स्युरित्यभिप्रेत्याऽऽह—किंचेति ।

हैं, गन्धर्व, पितर, देव, असुर और राक्षस अथवा ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र और निषाद; ये पाँच हैं तथा अव्याकृतसञ्ज्ञक आकाश जिसमें सूत्र ओत-प्रोत है, यानी जिसमें यह सब प्रतिष्ठित हैं । श्रुति भी कह चुकी है—"हे गार्गी ! इस अक्षर में ही आकाश ओत-प्रोत है, उसी आत्मा को मैं अमृत ब्रह्म मानता हूँ," अर्थात् मैं आत्मा को उससे भिन्न नहीं जानता । उसका फल तुम्हें क्या मिला ? उस ब्रह्म को जानने से मैं अमृत हो गया हूँ, मैं अज्ञान मात्र से ही अपने को मरणधर्मा मान बैठा था, अज्ञान के मिट जाने पर मैं विद्वान् अमृत ही हूँ ॥ १७ ॥

तथा उस आत्मभूत चैतन्यात्मज्योति से सत्ता-स्फूर्ति प्राप्त करता हुआ प्राण (जड होता हुआ भी) प्राणन क्रिया करता है प्राण के अवभासक होने से वह प्राण का भी प्राण है । उस प्रत्यगात्मा को

१ प्राणितीति—प्राणनक्रिया करोतीत्यर्थ । २ कल्पितमिति यावत् । ३ स । ४ तत्र प्रमाणमाह—एतस्मिन्निति । ५ बृ उ ३ ८ ११ । ६ किं तर्हीति—आत्मनि ब्रह्मत्वेन निश्चिते सति किं ते फल जातमिति प्रश्नार्थं । ७ अज्ञानापगमात् । ८. सत्तास्फूर्ती प्राप्यमाण । ९. जडोऽपि सन् । १०. प्राणितीति—प्राणनक्रिया करोतीत्यर्थं । ११ प्राणावभासकत्वेन । १२ प्रत्यगात्मा । १३. ब्रह्मज्ञाने सति । १४ अमृतत्वे सति । १५ बृ उ ४ ४ १३ इति मन्त्रोक्तपञ्चपञ्चजनज्योतिषा सहेत्यर्थ. ।

❀ प्राणस्य प्राणमिति । अत्राहुर्वार्तिकाचार्यास्तथाहि—"यत प्राणादिभावोऽस्य प्राणादीनां तमेव ये । निचिक्युस्ते विदु साक्षादग्र्य ब्रह्म सनातनम् ॥ निरपेक्षात्मनैवेह सर्वस्याऽऽत्मवतो यत प्राणादेरात्मवत्ता स्यात्प्राणस्य प्राणमित्यत ॥ अनात्मा हि स्वतोऽसिध्यन्स्वत सिद्धमपेक्षते । आत्मनस्तु स्वत सिद्धेनपेक्षाऽन्यात्मसंश्रयात् ॥ अन्यत संगति सेयमव्यभिचारितसिद्धिका । अविद्योत्सङ्गसंस्थैव तत्त्वज्ञानाद्विनश्यति ॥ अनार्याविारणात्मैव कार्यकारण-

मनसैवानुद्रष्टव्यं नेह नानाऽस्ति किंचन । मृत्योः
स मृत्युमाप्नोति य इह नानेव पश्यति ॥ १९ ॥

(परमार्थ ज्ञान से शुद्ध) मन के द्वारा ही आचार्य उपदेशपूर्वक ब्रह्म को देखना चाहिए। उस ब्रह्म में नाना कुछ भी नहीं है, फिर भी जो उसमे नाना के समान दखता है, वह मरण से मरण को प्राप्त करता है अर्थात् अज्ञान के कारण ही उसे बार-बार मरना पड़ता है ॥ १९ ॥

ब्रह्मशक्त्यधिष्ठितानां हि चक्षुरादीनां दर्शनादिसामर्थ्यं न स्वतः काष्ठलोष्टसमानि हि तानि चैतन्यात्मज्योतिः[1]शून्यानि । मनसोऽपि मन इति ये विदुश्चक्षुरादिव्यापारानुमितास्तित्वं प्रत्यगात्मानं न विषयभूतं ये विदुस्ते निचिक्युर्निश्चयेन ज्ञातवन्तो ब्रह्म पुराणं चिरंतनमग्र्यमग्रे भवम् । "तद्यदात्मविदो विदुः"[2] इति ह्याथर्वणे ॥ १८ ॥

कथं चक्षुरादित्वं ब्रह्मण. सिध्यति तत्राऽऽह—ब्रह्मशक्तीति । 'विमतानि केनचिदधिष्ठितानि प्रवर्तन्ते करणत्वाद्वास्यादिवदिति चक्षुरादिव्यापारेणानुमितास्तित्वं प्रत्यगात्मानं ये विदुरिति योजना विदिक्रियाविषयत्वं व्यावर्तयति—नेति । प्रत्यगात्मविदां कथं ब्रह्मविदत्वमित्याशङ्क्याऽऽह—तदिति ॥ १८ ॥

जो प्राण का भी प्राण तथा चक्षु का भी चक्षु और श्रोत्र का भी श्रोत्र जानते हैं क्योकि ब्रह्म की शक्ति से अधिष्ठित चक्षुरादिको मे दर्शनादि का सामर्थ्य है, स्वत. नही। चैतन्यात्मज्योति से अनधिष्ठित वे काष्ठ या लोष्ठ के समान हैं। वह प्रत्यगात्मा मन का भी मन है, ऐसा जो जानते हैं अर्थात् चक्षु आदि के व्यापार से जिसकी सत्ता की अनुमिति होती है, उस प्रत्यगात्मा को जो "वह इन्द्रियो का विषय नही है" ऐसा जानते हैं—वे उस "पुराणम्" अर्थात् चिरन्तन तथा "अग्र्यम्" यानी आगे होने वाले ब्रह्म को "निचिक्युः" अर्थात् निश्चयपूर्वक जानते हैं। इसी को आथर्वण मुण्डक श्रुति बतलाती है—"जिसे वह ब्रह्मात्मवित्वविद् जानते हैं" इत्यादि ॥ १८ ॥

---

१ तदनधिष्ठितानि । २ मु० उ । ३ प्राणादीनि ।

वस्तुन । तत्त्वमुक्त पृथिव्यादेर्नभोऽन्तस्याक्षर परम्" ॥ ६४३-६४७ ॥ इति । पूर्वमन्त्रे विद्वान्ब्रह्मेत्युक्त सा विद्या कथ स्यादित्यपेक्षाया यथा त्वपदार्थविदा वाक्यार्थधीरूपा सोदेतीत्येतमर्थं प्राणस्येत्यादिर्मन्त्रो दर्शयतीत्यर्थ ॥ प्राणादीना प्राणादित्व किमित्यात्मकृत स्वाभाविकमेव चैतन्यवत्किं न स्यात्तत्राऽऽह—निरपेक्षेति । आत्मानात्मनोर्मध्ये प्राणादेरनात्मन सर्वस्याऽऽत्मवत स्वार्थेनाऽऽत्मनैव यस्मादात्मवत्ता तस्मात्प्राणस्य प्राणमित्यादिवाक्यं युक्तमिति योजना ॥ चिचानात्मा जाड्यान्न स्वत स्फुरत्यनात्मत्वाच्च न स्वतोऽस्त्यत सन्त स्फुरन्त चाऽऽत्मानमपेक्ष्यासौ सिध्यतीति प्राणादीना प्राणादित्व तत्कृत युक्तमित्याह—अनात्मेति । उक्तहेतुद्वयसिद्धयर्थो हिशब्द । आत्मनोऽपि तुल्य सापेक्षत्व स हि विषयसविदाश्रयत्वेन सिध्यति तत्कथमात्मना प्राणादेरात्मवत्त्वमत आह—अन्यत इति । आत्मानात्मसबन्धस्य कल्पितत्वपक्षमाह—सत्त्वेनि ॥ ततश्चेत्तत्पगतिर्नश्यति तौ तर्हि विश्लिष्टौ स्वतन्त्रौ स्यातामित्याशङ्क्य पार्श्वमिदं स्मारयति—प्रकार्येति ॥

[1]तद्ब्रह्मदर्शने साधनमुच्यते [2]मनसैव परमार्थज्ञानसंस्कृतेनाऽऽचार्योपदेशपूर्वकं

मनसो ब्रह्मदर्शनसाधनत्वे कथं ब्रह्मणो वाङ्मनसातीतत्वश्रुतिरित्याशङ्क्याऽऽह—परमार्थेति । केवलं मनो ब्रह्माविषयीकुर्वदपि श्रवणादिसंस्कृतं तदाकारं जायते [3]तेन द्रष्टव्यं [4]तदुच्यतेऽत एव वृत्तिव्याप्यं ब्रह्मेत्युपगच्छन्तीति भावः । अनुशब्दार्थमाह—आचार्येति । अद्रष्टृद्रष्टव्यादि-

---

उस ब्रह्मदर्शन का साधन निरूपित किया जाता है। (अन्य साधनों को छोड़) परमार्थज्ञान से संस्कृत मन से ही आचार्योपदेशपूर्वक उसका दर्शन करना चाहिये। उस दर्शनविषयक ब्रह्म में नाना

---

१. ते निश्चिकुर्व्यूह्येयुक्तस्य ब्रह्मणो दर्शनोपायः क इत्यपेक्षायामाह—तद्ब्रह्मेति । २. मनसैवेत्येवकारः व्यासेधयति । तदुक्तम्—"अवदध्ने यतश्चेयं मनसैवेति च श्रुतिः । मनोऽतिरिक्तेऽपेक्षा नैवातः साधनान्तरे" ॥ इति । "मनसैवेदमाप्तव्यमिति" श्रुत्यन्तरसमुच्चयार्थश्चकारः । साधनान्तरानुपलम्भं समुच्चेतु द्वितीयः । ३. तदाकारेण मनसा । ४. ब्रह्म ।

॥ मनसैव परमार्थज्ञानसंस्कृतेनेति । मनसो ब्रह्मदर्शनसाधनत्वे विवदमानं प्रत्याहुर्वार्तिककाचार्यास्तथाहि—"आत्मानात्मपदार्थेषु विज्ञानोत्पत्तिसाधनम् । मनः साधारणं दृष्टं सर्वज्ञानैकहेतुतः ॥ प्रत्यक्चिदाकृतिस्तत्र सर्वदा धर्मधर्मिणोः । हेत्वन्तरानपेक्षत्वादात्मत्वात्तन्निधेः सदा ॥ आत्माकृतिरतो नित्या तद्धेतोः सम्भवात्सदा । अज्ञानादेश्च चिद्रूपं तथात्म्यान्न वार्यते ॥ धर्माधर्माद्यपेक्षत्वादन्यत्वाच्चान्यवस्तुनः । शब्दाद्याकारता तस्मात्कादाचित्की धियो भवेत् ॥ यद्यपीमौ जगत्यस्मिन्नात्मज्ञानपुरःसरौ । शब्दाद्यनात्मविज्ञानभावाभावौ स्वभावतः ॥ तथाऽप्यननुभवादेव प्रत्यक्तत्त्वानभिज्ञता । अनात्मबोधवत्सिद्धाऽविद्याऽतः प्रत्यगात्मनि ॥ तस्यान्नस्यापि चोत्पत्तिः कूपाकाशादिवत्ततः । प्रत्यग्याथात्म्यबोधस्य व्युत्पत्तेर्गुरुशास्त्रतः" ॥ ६५०-६५६ ॥ इति । आत्मज्ञाने मनसः साधनत्वं नास्मत्साध्यं तस्य सर्वज्ञानसाधारणकरणत्वस्य सर्वेष्टत्वादित्याह—आत्मेति । मनसः साधारणकरणत्वस्येष्टत्वे हेतुमाह—सर्वेति । सर्वत्र ज्ञानहेतूनां मध्ये मनसोऽन्यतमत्वेन हेतुत्वादिति यावत् ॥ मनश्चेदनात्मज्ञानवदात्मज्ञानेऽपि साधनं तर्हि तद्गम्यत्वादात्मनोऽपि जाड्यापत्तिरित्याशङ्क्याऽऽह—प्रत्यगिति । धर्मिणो बुद्ध्यादेस्तद्धर्मस्य च ज्ञानादेः सदा चिदाभासव्याप्तिरस्ति तस्य स्वरूपलाभातिरेकेण चिद्भासो हेत्वन्तरानपेक्षत्वात्तथा च तस्मिन्बुद्ध्यादौ साधकत्वान्नाऽऽत्मनो जाड्यमित्यर्थः । उक्तं हेतुं साधयति—आत्मत्वादिति । बुद्ध्यादेः स्वरूपत्वेन सदा चिदात्मनस्तत्र सन्निधानादित्यर्थः ॥ न केवलं बुद्धितद्धर्मयोरेव सदातनश्चिदाभासः किंतु सर्वस्येत्याह—आत्मेति । अतः सम्भवादिति सम्बन्धः । सर्वस्याऽऽत्माकारो नित्यस्तत्र हेतोरात्मसन्निधेः सर्वत्र नित्यभावादस्य सर्वस्य प्रत्यक्त्वादित्यर्थः । कथं सर्वस्याऽऽत्माकृतिर्नित्या सदायादेस्तदभावादित्याशङ्क्याऽऽह—अज्ञानादेश्चेति । तथात्म्यात्तस्यैव चिद्धातोरज्ञानादिस्वरूपत्वादतिरिक्तत्वाभावादिति यावत् । आत्मप्रसादादेव सर्वस्य सत्ता स्फूर्तिश्चेन्नात्मनो न जाड्यं तद्दर्शने मनसः साधनत्वोक्तिस्तु सदा तदाकारस्य तस्य श्रवणादिसंस्कारापेक्षया कादाचित्कतद्रूपपरिणामधारित्वादिति वार्तिकयोस्तात्पर्यार्थः ॥ सर्वधीसाधारणस्य मनसः किमित्यात्माकृतिर्नित्येति विशेष्यते तस्याऽनात्माकृतिरपि तथेत्याशङ्क्याऽऽह—धर्मेति । मनसः शब्दाद्याकारता न नित्याऽदृष्टाद्यपेक्षत्वात्तदाकारताया शब्दादेरप्रत्यक्त्या मनसि सदासान्निध्याभावाच्च तस्मादनात्माकृतिर्न नित्येत्यर्थः ॥ मनसः शब्दाद्याकृतेरनित्यत्वेऽपि सर्वस्याऽऽत्माकारो नित्यश्चेदात्मस्फूर्तिपूर्वकत्वात्तच्छब्दादिज्ञानभावाभावयोर्नात्माज्ञानं कदाचिदपि भवेदात्मस्फूर्तिव्याप्तमनोवृत्त्या तन्निवृत्तेरित्याशङ्क्याऽऽह—यद्यपीति । अनात्माकारधीवृत्तिभावाभावयोरात्मचैतन्यव्याप्तत्वेऽपि तत्त्वमादिवाक्योत्थबुद्धिवृत्तिरेवाद्वयप्रत्यङ्मात्राकारा तदविद्यामपनुदति वृत्त्यन्तरं चिदाकारमप्याकारान्तरोद्ग्राहित्वान्न तामपनेतुमर्हति तस्मात्प्रतीच्यज्ञानमनुभवसिद्ध

चानुद्रष्टव्यम् । तत्र च दर्शनविषये ब्रह्मणि ॐनेह नानाऽस्ति किंचन किंचिदपि । असति नानात्वे नानात्वमध्यारोपयत्यविद्यया । स मृत्योर्मरणान्मृत्युं मरणमाप्नोति । कोऽसौ ।

भावेन भेदमाशङ्क्याऽऽह—तत्र चेति । 'एवकारार्थमाह—नेहेति । कथमात्मनि वस्तुतो भेदरहितेऽपि भेदो भातीत्याशङ्क्याऽऽह—असतीति । नेहेत्यादेः संपिण्डितमर्थं कथयति

"किंचन" अर्थात् कुछ भी नहीं है । नानात्व के न रहने पर भी अविद्या से उसमें नानात्व का जो अध्यारोप करता है ; वह "मृत्योः मृत्युमाप्नोति" अर्थात् मरण से मरण को प्राप्त होता है । वह कौन

---

१. एवकारार्थमाहेति—एवकारस्य योऽर्थोऽवधारणरूपस्तमाहेत्यर्थः । उत्तरवाक्ये अपिशब्दयोजनया द्रष्टृद्रष्टव्यादिभेदाभावमवधारयतीति यावदिति गुरुपादाः । यद्वा एवकारार्थमिति—मनसैवेत्येवकारसूचित द्रष्टृद्रष्टव्यादिभेदाभावमित्यर्थः । मनसैवेत्येवकारेण हि द्रष्टृद्रष्टव्यभावो मनःप्रयुक्त एवात्मन्यौपाधिको न वस्तुत इति सूच्यत इत्यलम् । एवकारस्यैवकारार्थत्वम् "एवा न इन्द्रोऽतिथिभिः" ऋ० ४ । ३३ । ७ इत्यादि वेदे दृश्यते तदाश्रित्याह—एवकारार्थमिति । यद्वा ननु मनसैवानुद्रष्टव्यमित्युक्त कथ द्रष्टव्यमिति दर्शनप्रकारस्तु नोक्त इत्यपेक्षायां मनसैवेत्येवकारो यमेवकारार्थो नियमश्च विरूपनेत्यनन्तरानुपङ्गीत्यभिप्रेत्य तदर्थपरम् (एवकारार्थपर) भाष्यमवतारयति—एवकारार्थमाहेति । एवकारस्यैवकारार्थत्वमाह स्म वाचस्पति । 'एवमित्यर्थे चेति उदाजहार चात्र वैदिक वाक्यम् "एवा न इन्द्रो ति(थि)भिरिति" ऋ. ४ ३३. ७ । एवा एवम् । भा०—अत्र [illegible] एवानुद्रष्टव्यं प्रतनु इत्यादिवद्दीर्घं इति च । न चात्रैव दर्शनप्रकारस्य प्रदर्शितत्वे सत्येकधैवानुद्रष्टव्यमित्युक्तत्र तत्प्रदर्शनवैयर्थ्यमिति वाच्यम् एकधैवेतिविधिमुखेन प्रकारप्रदर्शनमिदं तु निषेधमुखेनेति विशेषात् । यद्वा एवकारार्थमिति मनसैवत्येवकारसूचित द्रष्टृद्रष्टव्यभेदाभावमित्यर्थः । मनसैवत्येवकारेण हि द्रष्टृद्रष्टव्यभावो मनःप्रयुक्त एवात्मनि प्रतिभाति न वस्तुत इति सूच्यत इत्यलम् ।
('एवकारार्थमिति—मनसाऽनुद्रष्टव्यमिति पदत्रय व्याख्यायावशिष्टमित्यादि) ।

दुरपह्नवमित्यर्थः ॥ अनुभयप्राप्तमर्थं निगमयति—अनात्मति । असच्छब्दोऽनुभवार्थः ॥ भवतु प्रतीच्यज्ञान तथाऽपि तन्निवर्तते न वा न चाद्यनिर्मोक्षो निवर्तते चेन्निवर्तकमस्ति न वा न चेत्सदा निवृत्तिरस्ति चेत्कि कर्म ज्ञान वा नाऽऽद्योऽनभ्युपगमाद्द्वितीयेऽपि स्वरूपज्ञान ज्ञानान्तर वा नाऽऽद्य सदा निवृत्त्यनिवृत्त्योरन्यतरापत्तेः श्रवणादिवैयर्थ्यप्रसङ्गाज्ज्ञानान्तरमपि जडमजड वाऽऽद्ये भाज्ञान निवर्तयेदविरोधाद्द्वितीये तदात्मनोऽर्थान्तरं चेदपराद्धान्त इत्याशङ्क्याऽऽह—उत्पन्नस्येति । यथा नित्यचारमैव चेतस्यापि कादाचित्कत्वप्रमिति स्वरूपज्ञानपक्षोक्तदोषश्चेत्याशङ्क्याऽऽह—उत्पन्नस्येति । यथा नित्यस्यापि सिद्धस्यैवाऽऽकाशस्य घटाद्यवच्छिन्नस्योत्पत्तिस्तथा प्रत्यग्याथात्म्यरूपबोधस्य सदातन्धात्मकस्यापि शास्त्राचार्यबलादहमस्मि ब्रह्मेतिधीवृत्त्युत्पत्तेरनन्तर तदुपहितस्यैवोत्पत्तिरिष्टा ततश्च स्वरूपज्ञानस्यैव वाक्योत्थधीवृत्त्युपहितस्याविद्याध्वंसित्वोपगमान्नावद्यमित्यर्थः ॥

ॐनेह नानास्ति किंचन किंचिदपीति । अत्राहुर्वार्तिककारपादास्तथाहि—"इत्थं चेन्मनसैवैतद्द्रष्टृत्वादिप्रभेदत । पुन. प्रसक्त नानात्व भेव यस्मान्निषिध्यते ॥ नेह प्रमाणतो मेय यस्मान्नानाऽस्ति किंचन । अज्ञात यदि वा ज्ञात वस्तु नानात्वमाह्न हि ॥ नानात्वबुद्धये नालमज्ञातोऽर्थो यतस्तत । अज्ञात संशयज्ञातो मिथ्याज्ञातो न भित्तये ॥ सम्यग्ज्ञातोऽपि नैवार्थो द्वैतबोधकृदिष्यते । द्वैतकारणबाधेन सम्यग्ज्ञातत्वसिद्धित ॥ मेयव्याप्तिश्च मानाना नान्यव्यावृत्तिधर्मना । व्यावर्त्यष्वपि तत्सत्तेनं चापि लभतेऽवधिम् ॥ मेयेनैव समाप्तत्वात्ततोऽन्या व्यापृतिर्न च । नातो वस्त्वन्तरव्याप्ति व्यावृत्तिश्चाऽऽनुति प्रमा । व्यावृत्तेश्चाप्यवस्तुत्वान्न सद्वस्तूपलम्भनैः । प्रमाणैरपि सर्वत्र प्रत्यक्ष-

य इह [1]नानेव पश्यति । [2]अविद्याध्यारोपणव्यतिरेकेण नास्ति परमार्थतो द्वैतमित्यर्थः ॥ १९ ॥

—अविद्येति ॥ १९ ॥

है ? जो यहाँ मिथ्याभूत नाना वस्तु को सत्यस्वरूप से देखता है । अविद्याजनित अध्यारोप से भिन्न

---

१ मिथ्याभूत नानावस्तु सत्यत्वेन पश्यतीत्यर्थः । २ अविद्येति—"अज्ञानप्रभवा लोका यादृशाज्ञानसंभवा । विदितात्मसतत्त्वस्य नेह नानाऽस्ति किंचनेति" स्मृते ॥

अमुखं क्वचित् ॥ अभावमात्रबोधित्वात्सामान्यादपि भेदधी । भावाभावस्वभावेन प्रत्यक्षेणेव नेक्षते ॥ योऽपि प्रत्यक्षतोऽभाव वादी कश्चित्समीक्षते । तावन्मात्रावसायित्वाद्द्वैतं नासावपीक्षते ॥ प्रत्यक्षस्यानुवृत्ति च व्यावृत्ति तद्भिदा च स । प्रत्यक्षेणैव सं पश्येत्कथमित्यभिधीयताम् ॥ यतो मानं न हीहास्ति नानात्वप्रतिपत्तये । लकाण्यंवदतस्तत्स्यादविचारितसिद्धिकम् ॥ अज्ञातवस्तुहेत्वेव यस्मान्नाना ततोऽवदत् । मृत्यो स मृत्युमाप्नोति योऽत्र नानेव पश्यति' ॥ ६५८-६६६ ॥ इति । नेहेत्यादिव्यावर्त्यां शङ्कामाह—इदं चेदिति । न ब्रह्मात्मनि नानात्वं तस्य निषिध्यमानत्वादित्याह—मैवमिति ॥ निषेधमेव दर्शयन्वाक्यं योजयति—नेहेति । तस्मान्न द्वैतप्रसक्तिरिति शेषः । प्रतिषेधं प्रपञ्चयति—अज्ञातमिति ॥ अज्ञातं वस्तु वस्तुनः सकाशाद्वस्तुतो न नानात्वभागित्येतत्साधयति—नानात्वेति । मानेनागृहीतस्य भेदो न प्रामाणिक इत्यर्थः ॥ ज्ञातं वस्तु वस्तुतो न नानात्वभागित्युक्तं व्यनक्ति—सम्यगिति । प्रत्यगर्थो हि शास्त्राचार्यवशाद्यथावदधिगतो न भेदज्ञानं करोति नानात्वहेत्वज्ञाननिरासेन तस्य सम्यग्ज्ञातत्वादित्यर्थः ॥ ज्ञातमज्ञातं वा वस्तु न नानात्वभाक्चेत्तर्हि प्रत्यक्षादीनि नानात्वमुल्लिखन्तीत्याशङ्क्य विधिमुखेन निषेधमुखेन वा तानि नानात्वं गोचरयन्तीति विकल्प्य द्वितीयं प्रत्याह—मेयेति । घटः पटो नेत्यन्यनिवृत्तिद्वारा मानानां न मेयव्याप्तिः पटादिषु व्यावर्त्येष्वप्यन्यव्यावृत्तिप्रसक्तेर्न सा क्वचिद्विश्राम्येदतो न निषेधद्वारा मानप्रवृत्तिरित्यर्थः ॥ कल्पान्तरं निरस्यति—मेयेति । ततो वस्तुबोधनादिति यावत् । वस्तुमात्रबोधनेनैव मानानामुपक्षीणत्वान्न भेदाभेदगोचरतेत्यर्थः ॥ व्यापारान्तराभावोऽत्र शब्दार्थः ॥ किंचान्यव्यावृत्तिरेव भेदोऽर्थान्तरं वा प्रथमे भेदस्य प्रत्यक्षादिग्राह्यत्वानुपपत्तिरित्याह—व्यावृत्तेरेवेति । व्यावृत्तिवत्तदन्तर्भूतभेदस्यावस्तुत्वमपेरर्थः । क्वचिदिति देशकालविषयोक्तिः ॥ प्रत्यक्षादिपञ्चकस्य व्यावृत्त्यबोधित्वेऽपि षष्ठं मानं तां बोधयिष्यत्यतो भेदस्यापि प्रामाणिकतेत्याशङ्क्याऽऽह—अभावेति । योग्यानुपलब्धेरभावमात्रबोधित्वान्न ततो भावरूपभेदधीर्न हि भेदोऽन्यव्यावृत्तिरेव तथा सति तदवस्तुत्वेनाद्वैतापातादेतेन कल्पान्तरमपि प्रत्युक्तं व्यावृत्त्यतिरिक्तभेदे मानाभावादिति भावः । अभावस्याभावमानमेयत्वमङ्गीकृत्य भेदस्याप्रामाणिकत्वमुक्तं सम्प्रत्यङ्गीकारं त्यजति—भावेति । अभावश्चेदभावेन गृह्यते भावोऽपि तेन ग्रहीतव्यस्तयोर्धर्मधर्मित्वान्न हि धर्मिणमगृह्णन्मानं तद्धर्मं गृह्णाति न च शब्दादेराकाशाद्यग्रहेऽपि श्रोत्रादिग्राह्यता दृष्टेति वाच्यं तत्रापि विप्रतिपत्तेस्तुल्यत्वाद्दृष्टिमात्रानुसारे च यौक्तिकत्वव्याघातान्न चाभावेन मानेन भावाभावौ कश्चिदपि निश्चिनोति यथा प्रत्यक्षेण भावे गृह्यमाणेऽपि नाभावो गृह्यते तथाऽभावेनापि नोभयग्रहः स्वयमतो ग्राहकत्वायोगात्तस्मादभावस्य न तद्ग्राह्यताऽपीत्यर्थः ॥ प्रत्यक्षाभाववादिपक्षे दृष्टान्तासिद्धिमाशङ्क्याऽऽह—योऽपीति । तन्मतेऽपि प्रत्यक्षस्यान्यव्यावृत्तिरूपाभावमात्रविषयत्वान्न भेदविषयतेत्याह—तावन्मात्रेति ॥ अभावस्य धर्मिप्रतियोगिघटितत्वात्तद्ग्राहि प्रत्यक्षं कथं न भेदं गृह्णातीत्याशङ्क्याऽऽह—प्रत्यक्षस्येति । भेदवादी सर्वनाम्ना परामृश्यते । समुपसमस्तु क्रियापदेन योजनीयः । तस्य विषयेष्वनुवृत्तिस्तेभ्यो व्यावृत्तिरवान्तरभेदश्चेत्ये-

एकधैवानुद्रष्टव्यमेतदप्रमयं ध्रुवम् । विरजः पर
आकाशादज आत्मा महान्ध्रुवः ॥ २० ॥

आचार्योपदेश के बाद उस ब्रह्म को (आकाश के समान अन्तर बाह्य शून्य एक मात्र विज्ञानघनरूप से ही) देखना चाहिए। यह ब्रह्म किसी प्रमाण का विषय नहीं, ध्रुव, निर्मल, आकाश से भी सूक्ष्म, अजन्मा, आत्मा, महान् और अविनाशी है ॥ २० ॥

यस्मादेवं तस्मादेकधैवैकेनैव प्रकारेण विज्ञानघनैकरसप्रकारेणाऽऽकाशवन्निरन्तरेणानुद्रष्टव्यम् । यस्मादेतद्ब्रह्माप्रमयमप्रमेयम् । सर्वैकत्वात् । अन्येन ह्यन्यत्प्रमीयत इदं त्वेकमेवातोऽप्रमेयम् ध्रुवं नित्यं कूटस्थमविचालीत्यर्थः । ननु विरुद्धमिदमुच्यतेऽप्रमेयं

द्वैताभावे कथमनुद्रष्टव्यमित्याशङ्क्याऽऽह—यस्मादिति । तमेवैकं प्रकारं प्रकटयति—विज्ञानेति । परिच्छिन्नत्वं व्यवच्छिनत्ति—आकाशवदिति । एकरसत्वं हेतूकृत्याप्रमेयत्वं प्रतिजानीते—यस्मादिति । एतद्ब्रह्म यस्मादेकरसं तस्मादप्रमेयमिति योजना । हेत्वर्थं स्फुटयति—सर्वैकत्वादिति । तथाऽपि कथमप्रमेयत्वं तदाह—अन्येनेति । मिथो विरोधमाशङ्कते—नन्विति । विरोधमेव स्फोर-

परमार्थतः द्वैत नहीं है—यह इसका भाव है ॥ १८ ॥

क्योंकि ऐसा (प्रत्यगभिन्न ब्रह्म में परमार्थतः द्वैत का अभाव) है, इसलिए "एकधैव" अर्थात् एक ही प्रकार से यानी आकाश के सदृश निरन्तर उस ब्रह्म को विज्ञानघन, अद्वितीय, रस रूप से देखना चाहिये क्योंकि यह ब्रह्म "अप्रमयम्" यानी सर्वाभिन्न अद्वितीय होने से अप्रमेय है। अन्य से

१ यस्मादिति—यस्मात्प्रत्यगभिन्ने ब्रह्मणि परमार्थतो द्वैताभावस्तस्मादित्यर्थः । २ एकेनैवेति—इत्थंभावे तृतीया । तथा चोक्तं वार्तिके—"एकेनैव प्रकारेण भास्वच्चिन्मात्ररूपिणा । शास्त्रैकमानतो ब्रह्म द्रष्टव्यं प्रत्यगात्मना" ॥ ६७४ ॥ इति । ३ सर्वैकत्वात्—सर्वाभिन्नत्वात् सर्वात्मकत्वादद्वैतत्वादिति यावत् । ४ अद्वितीयमिति यावत् । ५ सर्वैकत्वेऽपि । ६ मिथ इति—द्रष्टव्यमप्रमेयमिति पदयोरित्यादि ।

तत्राध्यक्षगोचरोऽतस्तद्ग्रहणपरेणैव च तद्ग्राहि मानान्तरमनवस्थानादतो नाध्यक्षं विषयभेदमपि साधयेत्स्मादगृहीतभेदत्वात्तद्वदित्यर्थः ॥ न किंचिदपि प्रत्यक्षतो नानात्वभावीत्युक्त्वा मानान्तरं मानात्वावेदकमित्याशङ्क्याऽऽह—यत इति । इहेति वस्तूक्तिः ॥ नेहेत्यादि व्याख्याय श्रुत्योरित्याद्युक्तमुपजीव्याऽऽदत्ते—अज्ञातेति । सप्तमी पूर्ववत् ॥ अनन्तरं वार्तिकचतुष्टयमपि द्रष्टव्यं तथाहि—'समस्तव्यस्ततातीतेरेकधैवेतिवाक्यतः । मिथ्येति गम्यते श्रौतान्मृत्योरिति च निन्दनात् ॥ एतदप्रमयं ब्रह्म मृत्युहेतोर्निषेधनात् । मृत्युर्वै तम इत्युक्तं तच्च बोधान्निराकृतम् ॥ एकधैव यतस्तत्त्वं सर्वस्य जगतस्ततः । क्रियाकारकसंभेदधीर्मृषेत्यवधार्यताम् ॥ यत्र हि द्वैतमित्येव यत्र त्वस्येति च श्रुतिः । नानात्वस्यैर्मिथ्यात्वं स्वयमेवावदत्पुरा" ॥ ६७५ ६७८ ॥ इति । वाक्यस्य श्रौतार्थमुक्त्वाऽऽधिकार्थमाह—समस्तेति । तत्रैव भेददृष्ट्यपवादस्यानुग्राहकत्वमाह—श्रौतादिति ॥ एतदित्यादेस्तात्पर्यमाह —एतदिति । जन्ममृत्युप्रमुखसर्वबन्धहेत्वज्ञानस्य वाक्योत्थज्ञानेन निषेधात्तस्य वस्तुबोधित्वाभावाद्वस्तुनो युक्तममेयत्वमित्यर्थः । मृत्युरेव हिरण्यगर्भाख्यो हेतुस्तस्य निषेधेऽपि कथं ब्रह्मणोऽप्रमेयत्वमिति प्रतिभासं व्यावर्तयति—मृत्युरिति । सर्वप्रत्ययवेद्यं ब्रह्मेति स्थिते कथमप्रमेयमित्याशङ्क्याऽऽह—एकधैवेति । भेदबुद्धेर्मिथ्यात्वात्तद्ग्राह्यत्वमपि तादृगेव न च केवलस्य सर्वप्रत्ययवेद्यत्वमौपनिषदत्वादित्यर्थः ॥ भेदधीमिथ्यात्वे वाक्यान्तरमन्वयव्यतिरेकानुवादि दर्शयति—यत्र हीति ॥

[1]ज्ञायत इति च । ज्ञायत इति प्रमाणैर्मीयत इत्यर्थोऽप्रमेयमिति च [2]तत्प्रतिषेधः । *नैष दोषः । [3]अन्यवस्तुवदागमातिरिक्तप्रमाणप्रमेयत्वप्रतिषेधार्थत्वात् । यथाऽन्यानि [4]वस्तून्यागमनिरपेक्षैः [5]प्रमाणैर्विषयी क्रियन्ते न तथैतदात्मतत्त्वं प्रमाणान्तरेण विषयीकर्तुं शक्यते । [6]सर्वस्याऽऽत्मत्वे केन कं पश्येद्विजानीयादिति प्रमातृप्रमाणादिव्यापारप्रतिषेधेनैवाऽऽगमोऽपि

यति—ज्ञायत इतीति । चोदितं विरोधं निराकरोति—नैष दोष इति । सगृहीतं समाधानं विशदयति—यथेत्यादिना । [7]तस्य मानान्तरंविषयीकर्तुमशक्यत्वे हेतुमाह—सर्वस्येति । इति सर्वद्वैतशान्तिश्रुतेरिति शेषः । आगमोऽपि तर्हि कथमात्मानमावेदयेदित्याशङ्क्याऽऽह—प्रमात्रिति । आत्मनः

अन्य की प्रमा होती है, यह ब्रह्म तो अद्वितीय है, इसलिए अप्रमेय है "ध्रुवम्" अर्थात् नित्य कूटस्थ अर्थात् स्वरूप में स्थित रहने वाला है ।(इस पर शङ्का होती है—) किन्तु ब्रह्म अप्रमेय भी है और दर्शन करना चाहिये, इन दोनो बातो में परस्पर विरोध है । "जाना जाता है" इसमे तो उसका प्रमाणमान सिद्ध हुआ और "वह अप्रमेय है" इससे उसका निषेध हो जाता है । (इस पर सिद्धान्ती कहता है—) इसमे कोई दोष नही है क्योकि 'अप्रमेय" यह कथन अनात्मवस्तु के समान उसके आगमातिरिक्त प्रमाण से प्रमेयत्व का प्रतिषेध करने के लिए है । जिस प्रकार अनात्मभूत अन्य वस्तुएं आगम प्रमाण की अपेक्षा न रखते हुए प्रत्यक्षादि प्रमाणो का विषय होती हैं, उसी प्रकार यह आत्मतत्त्व प्रमाणान्तरो से विषय नही किया जा सकता । सभी दृश्यों के आत्मा होने पर "किस के द्वारा किसे देखे

१ द्रष्टव्यमित्यस्यार्थोऽयम् । २ प्रमेयत्वप्रतिषेध । ३ अनात्मवस्तुवत् । ४ अनात्मभूतानि । ५ प्रत्यक्षादिभि । ६ दृश्यस्य । ७ आत्मतत्त्वस्य ।

* नैष दोष इत्यारभ्योभयमप्यविरुद्धमेवेत्यवसानभाष्यान्तर्निहितार्थोद्घाटक वार्तिकवृन्दमुपन्यस्यते—'मेयस्य मानमबन्ध प्रमेय इति गीरियम् । प्रमाफल स्वप्रमयं यतो नातो विरुद्धता ॥ अज्ञानवस्तुना योगो मानस्येह यतस्तत । ज्ञातस्य चाप्रमेयत्वादपेक्षा मानसगतौ ॥ फलात्मनैव तन्मान न तु मात्रादिरूपत । अभिव्यनक्ति नो ज्ञात मातोऽस्य स्यात्प्रमेयता ॥ तदावेव च्छिदा यद्वद्द्वैधीभावे तु नेष्यते । प्रमेयत्व तथाऽज्ञाते न तु ज्ञाते फलात्मता ॥ आगमोऽपीममात्मान तत्त्वमस्यस्तिवर्त्मना । अवबोधयतीत्येव भण्यते दृशितत्त्ववत् ॥ स्वत सिद्धावतः सिद्धिरज्ञातावपि चाऽऽत्मन । सिद्धयसिद्धयो प्रमात्रादेस्तत्सिद्धौ किमपेक्षते ॥ ज्ञानव्याप्तिर्हि शब्दादौ स्यादेकप्रकृतित्वत । अकार्यकारणे व्याप्ति कथ स्यात्प्रत्यगात्मनि ॥ शब्दप्रवृत्तिहेतूना प्रत्यगात्मन्यसभवात् । नाभिधानाभिधयत्वसगत्याऽत्र प्रबोध्यते ॥ प्रत्यगज्ञानहेतूत्थो यत्रानात्मा प्रसिध्यति । ज्ञातृज्ञेयप्रभेद स्यात्तत्र प्रत्यगनात्मनो ॥ यत्र त्वात्मैव मेय स्यात्तत्र मेयातिरेकत । क प्रमाता प्रमाण वा यमेवाह तथा श्रुति ॥ मानापेक्षय यो भाव स एवामानतो न सन् । मानानपेक्षसिद्धिस्तु कस्मान्मानमपेक्षते ॥ मातृमानप्रमेयाणा प्रत्यक्त्वादात्मवस्तुन । नात प्रमयता तस्य स्वतश्चावगमात्मन । प्रमातत्फलयोर्भित्तेर्नेह चोद्यस्य संभव । क्रिययोर्हि प्रभेदे तत्किं पूर्वमिति चोद्यते ॥ अपीतकरणग्राम पुमान्यद्वत्सुषुप्तग । शब्दान्निद्रामपास्याथ यथावस्त्ववबोध्यते ॥ अगृहीत्वैव सबन्धमभिधानाभिधेययो । हित्वा निद्रां प्रबुध्यन्ते यथेहापि तथाऽऽत्मनि ॥ शब्दशक्तेरचिन्त्यत्वादात्मत्वाद्बोधरूपिण । तत्साक्ष्यत्वाच्च निद्राया विघ्नन्त मोहहानत" ॥ ६८३-६९८ ॥ इति । यत्तु द्रष्टव्यमप्रमेयमिति विरोधवचन तस्यापि पूर्वोक्त परिहार स्मारयन्सामान्यन्यायमाह —मेयस्येति ॥ एवमपि प्रकृत किमायात तदाह—यत इति । प्रमाणभूमि सत्सम्यर्थ । चकारोऽवधारणार्थ सन्यञ्चम्यनन्तर सबध्यते ॥

विज्ञापयति 'न त्वभिधानाभिधेयलक्षणवाक्यधर्माङ्गीकरणेन । 'तस्माच्छास्त्रमागमेनापि स्वर्ग-मेर्वादिव'त्तत्प्रतिपाद्यते । प्रतिपादयित्रात्मभूतं हि तत् । प्रतिपादयितुः' प्रतिपादनस्य प्रतिपाद्यविषयत्वात् । भेदे हि सति तद्भवति ।

स्वर्गादि'वद्विपयस्येमाऽऽगमप्रतिपाद्यत्वाभावे हेतुमाह—प्रतिपादयित्रिति । तथाऽपि किमिति विषयत्वे-नाप्रतिपाद्यत्व मत्राऽऽह—प्रतिपादयितुरिति । तदिति प्रतिपाद्यत्वमुक्तम् ।

अथवा जाने" इस प्रकार श्रुति भी प्रमाता-प्रमाणादि व्यवहार के प्रतिषेध द्वारा ही उसका बोध कराती है ; शक्तिमान् पदों द्वारा वाक्यार्थों का लक्षण परस्पर संसृष्टतया बोधनात्मक वाक्यधर्म अङ्गीकार करके नहीं । इसलिए (उस निःसामान्य विशेष रूप से सर्वथा अविषय होने के कारण) शास्त्र भी उस ब्रह्म का स्वर्ग या मेरु आदि के समान प्रतिपादन नहीं करता, क्योंकि प्रतिपादन करने वाले का प्रतिपादन तो प्रतिपाद्यविषयक होता है और यह प्रतिपाद्य भेद होने पर ही सम्भव है ।

तर्हि कथमागम प्रत्यञ्चं विज्ञापयेदित्यत आह—न त्वभिधानाभिधेयेत्यादि ।

१ ननु स्वजन्यज्ञानविषयत्वेन (शक्त्या) एवागम' प्रत्यञ्चं विज्ञापयेदित्यत आह—न त्वभिधानाभिधेयेत्यादि । अभिधानाभिधेययोर्लक्षण' संबन्ध । वाक्यधर्म-शब्दप्रवृत्तिहेतूना जात्यादीना प्रत्यगात्मन्यसंभवादिति क्षेप । अभिधानाभिधेययोर्लक्षण' सबन्ध । वाक्यधर्म-आसत्तियोग्यताऽऽकाङ्क्षातात्पर्यज्ञानानि तयो स्वीकारेण न तु विज्ञापयति इत्यर्थ । शब्दशक्तेरचिन्त्यत्वाद्य-योक्तवाक्यधर्माद्यनपेक्ष्यैव स्वनामोद्घोषे निद्रितो यद्वदर्थमवबुध्योत्तिष्ठति तद्वदिति स्पष्ट वार्तिके । यद्वा अभिधानै' शक्तिमद्भि पदैरभिधेयाना लक्षण परस्पर समृष्टतया बोधन तदात्मकवाक्यधर्माङ्गीकारेणेत्यर्थं इत्याहुः । २ तस्य निःसामान्यविशेषत्वेन सर्वथाऽविषयत्वात् । ३ ब्रह्म । ४ कर्तरि षष्ठी । ५ शक्तिद्वारेणेति यावत् ।

कथममेयत्वे द्रष्टृत्वस्याधीना मेयतेत्याशङ्क्याऽऽह—फलात्मनेति । तद्धि स्वप्रकाशे प्रतीचि प्रवृत्त प्रमाणविषय-संविद्रूपतयैव स नोऽस्माक साक्षाद्बोधयति न तु मात्राद्यपेक्षया विषयी करोत्यतो वृत्तिव्याप्यत्व कल्पित फला-व्याप्यत्व तु वास्तवमित्यविरोध इत्यर्थ ॥ फलाव्याप्यत्वेऽपि वृत्तिव्याप्यत्व वास्तव किं न स्यादित्याशङ्क्याऽऽह —तत्राविति ॥ आत्मनि फलव्याप्यत्वमपीतरवत्कल्प्यमौपनिषदत्वात्तस्येत्याशङ्क्याऽऽह—आगमोऽपीति । न हि वृत्तिव्याप्यत्वादृते प्रतीच संविद्व्याप्यत्वं कल्प्य तदात्मत्वादित्यर्थ ॥ इतश्चाऽऽत्मनो न तद्व्याप्यतेत्याह—स्वत-सिद्धादिति । मात्रादिभावाभावयोर्यत्प्रसादात्सिद्धिस्तस्य स्वप्रकाशस्यात्मतस्य मानजन्यवृत्तिव्याप्यतया सिद्धत्व-व्यवहारे नान्यसंविदपेक्षेत्यर्थं ॥ किंच वृत्तिव्याप्यत्वमपि तस्य दुर्वचनमित्याह—ज्ञानेति । तत्रोभयसप्रतिपत्त्यर्थो हिशब्द । शब्दादौ ज्ञानव्याप्तिरित्यत्र हेतुमाह—एकेति । शब्दादेर्बुद्धिवृत्तेश्चाविद्योपादानत्वादित्यर्थ. । आत्मनि तु न ज्ञानव्याप्तिरित्याह—अकार्येति । एकभूतप्रकृतित्वे सति रूपचक्षुषोर्ग्राह्यत्व दृष्ट न चाऽऽत्मना ज्ञानेनैक-प्रकृतित्वमकार्यकारणत्वात्तथ तत्र वृत्तिरूपस्यापि ज्ञानस्य व्याप्तिरित्यर्थ ॥ आत्मन शब्दज्ञानाविषयत्वे हेत्वन्तरमाह—शब्देति । अतोऽसंभवादिति सबन्ध । प्रतीच संविदव्याप्यत्वे हेत्वन्तर वक्तु भूमिका करोति—प्रत्यगिति । यस्या खल्वविद्यावस्थायामात्माज्ञानजोऽनात्मा ज्ञायते तत्र प्रतीचोऽनात्मनश्च ज्ञातृज्ञेयभावन भेदप्रति-भासो भवेद्यत्र हीत्यादिश्रुतेरतस्तत्राऽऽत्मनि न ज्ञानव्याप्तिरित्यर्थ ॥ विद्यावस्थायामुपन्यस्यति—यत्र त्विति । यस्या विद्यावस्थायामात्मैवाद्वयो वाक्योत्थबुद्धिवृत्त्या व्याप्यत तत्राऽऽत्मातिरिक्ता मात्रादेरभावाच्च अविद्व्याप्यता यत्र त्वस्य सर्वमात्मैवेत्यादिश्रुतेरित्यर्थं । मात्राद्यभावे श्रुत्यन्तर मवादयति—यमेवेति । यमेवैष वृणुते तेन

ज्ञानं च तस्मिन्परात्मभावनिवृत्तिरेव । न [1]तस्मिन्[2]साक्षादात्मभावः कर्तव्यो विद्यमानत्वादात्मभावस्य । [3]नित्यो ह्यात्मभावः सर्वस्यातद्विषय इव [4]प्रत्यवभासते । [5]तस्मादतद्विषयाभासनिवृत्तिव्यतिरेकेण न तस्मिन्नात्मभावो विधीयते । [6]अन्यात्मभावनिवृत्तावात्मभावः [7]स्वात्मनि स्वाभाविको यः स [8]केवलो भवतीत्यात्मा ज्ञायत इत्यु-

कथं तर्हि [9]तस्मिन्नागमिकं ज्ञानं तत्राऽऽह—ज्ञानं चेति । परस्मिन्देहादावात्मभावस्याऽऽरोपितस्य निवृत्तिरेव वाक्येन क्रियते [10]तयाचाऽऽत्मनि परिशिष्टे स्वाभाविकमेव स्फुरणं प्रतिबन्धविगमात्प्रकटी भवतीति भावः । ननु ब्रह्मण्यात्मभावः श्रुत्या कर्तव्यो विवक्ष्यते न तु देहादावात्मत्वव्यावृत्तिरत आह—न तस्मिन्निति । ब्रह्मणश्चेवात्मभावः सदा मन्यते कथमन्यथा प्रथेत्याशङ्क्याऽऽह—नित्यो हीति । सर्वस्य पूर्णस्य ब्रह्मण इत्येतत् । अतद्विषयो [11]ब्रह्मव्यतिरिक्तविषय इत्यर्थः । ब्रह्मण्यात्मभावस्य सदा विद्यमानत्वे फलितमाह—तस्मादिति । अतद्विषयाभासो देहादावात्मत्वप्रतिभासः । तस्मिन्ब्रह्मणीत्यर्थः । अन्यस्मिन्नात्मभावनिवृत्तिरेवाऽऽगमेन क्रियते चेत्तर्हि कथमात्मा तेन गम्यत इत्युच्यते तत्राऽऽह—अन्येति । यद्यागमिकवृत्तिव्याप्यत्वेनाऽऽत्मनो [12]मेयत्वमिष्यते कथं तर्हि

अनात्मवस्तुओं में अध्यारोपित आत्मभाव की निवृत्ति होने का नाम ज्ञान है । उस ब्रह्म में (परात्मभाव निवृत्तिव्यतिरेक से) साक्षात् आत्मभाव नहीं करना है क्योंकि आत्मभाव उसमें विद्यमान रहता है । ब्रह्म से आत्मभाव नित्य सिद्ध है, ब्रह्मातिरिक्त देहादिविषयक के समान वह भासता है । इसलिए देहादि में आत्मभाव प्रतिभास की निवृत्ति के बिना ब्रह्म में आत्मभाव का विधान नहीं किया जा सकता । देहादि में आत्मभाव की निवृत्ति होने पर स्वात्मभूत ब्रह्म में जो स्वाभाविक आत्मभाव है, वह अप्रतिबद्ध हो जाता है । इसीसे "आत्माज्ञान होता है" ऐसा कहा जाता है । किन्तु स्वयं वह अप्रमेय है, स्वरूपा-

१ ब्रह्मणि । २ परात्मभावनिवृत्तिव्यतिरेकेण । ३ सदातन । ४ अवतरणोक्तत्वात् । ५ देहादिषु आत्मभावनिवृत्तौ । ६ स्वात्मभूते ब्रह्मणि । ७ असंकीर्णोऽप्रतिबद्ध । ८ तर्हि—आत्मनो विषयत्वेन प्रतिपाद्यत्वाभावे । ९ तस्मिन् आत्मनि । १० तया च—अध्यारोपितस्य देहात्मभावस्य निवृत्ती च । ११ अतद्विति—ब्रह्मातिरिक्तो देहादिर्विषयो यस्येति विग्रह । १२ मेयत्वमिति—अप्रमेयमितिपदेन सूचितमित्यर्थं । ज्ञायत इत्युक्त च ।

लभ्य इति श्रुतमात्रादिविभागाभाव । एष हि परो यमेव साधक मामय प्रत्यक्त्वेन प्रतिपद्यतामित्यनुगृह्णाति स तेन तथा शक्यो ज्ञातुमिति श्रुत्यर्थ । तत्कुतो मात्रादिभेदसिद्धिरित्यर्थ ॥ मानातिरिक्तं मेयमादिष्यते चेन्मेयस्याऽऽत्मनोऽसत्त्व मानविरुद्धस्यैव सत्त्वादित्याशङ्क्याऽऽह—मानेति । आत्मनाऽपि वस्तुत्वादस्ति मानापेक्षेति चेन्नेत्याह—मानानपेक्षेति ॥ स्वप्रकाशस्य न मानापेक्षेत्यर्थ ॥ इतश्चाऽऽत्मनो न ज्ञानव्याप्यतेत्याह—मात्रिति । मात्, प्रत्यक्त्वादिति सबन्ध । तत्रैव हेत्वन्तरमाह—स्वतश्चेति । स्वरसत स्फुरत्स्वरूपत्वादात्मनो न मानव्याप्यता वेदान्तास्तु तदाकारां वृत्तिमुत्पादय तस्तदज्ञाननिवर्तकतया तत्र प्रमाणमिति भाव ॥ ज्ञानाज्ञानध्वस्त्योरनिश्चितपौर्वापर्ये कथं तद्ध्वस्तिर्मानफलमित्याशङ्क्याऽऽह—प्रमेति । न हि फलान्तर मानस्याऽऽत्मनि संभाव्यते तत्प्रमापारतरकस्य चाज्ञानध्वस्तेर्हेतुफलभावेन पौर्वापर्यस्य व्यवस्थितत्वादनयोर्मध्ये किं पूर्वमिति न चोद्यमित्यर्थ । तर्हि कुत्र मावकाशमिति तत्राऽऽह—क्रिययोरिति । तत्रास्यानिर्धारितत्व हिशब्दार्थ. । पौर्वापर्य

तमेव धीरो विज्ञाय प्रज्ञां कुर्वीत ब्राह्मणः ।

बुद्धिमान ब्राह्मण को उस ब्रह्म को ही जानकर उसी में बुद्धि लगानी चाहिये । बहुत शब्दों

च्यते । स्वतश्चाप्रमेयः प्रमाणान्तरेण न विषयी क्रियत इत्युभयमप्यविरुद्धमेव । विरजो विगतरजो रजो नाम धर्माधर्मादिमलं तद्रहित इत्येतत् । परः परो व्यतिरिक्तः सूक्ष्मो व्यापी वाऽऽकाशादप्यव्याकृताख्यात् । अजो न जायते जन्मप्रतिषेधादुत्तरेऽपि भाव-विकाराः प्रतिषिद्धाः । सर्वेषां जन्मादित्वात् । आत्मा महान्परिमाणतो महत्तरः सर्व-स्मात् । ध्रुवोऽविनाशी ॥ २० ॥

तस्याप्रमेयत्ववाचो युक्तिरित्याशङ्क्याऽऽह—स्वतश्चेति । वृत्तिव्याप्यत्वेन मेयत्वं स्फुरणाव्याप्यत्वेन चामेयत्वमित्युपसंहरति— इत्युभयमिति । यदुक्तं प्रकृतं तदुपस्कारपूर्वकमुपपादयति—विरज इत्यादिना । कथं जन्मनिषेधादितरे विकारा निषिध्यन्ते तत्राऽऽह—सर्वेषामिति ॥ २० ॥

तिरिक्त अन्य प्रमाण का विषय नहीं होता । इसलिए अप्रमेय और ज्ञान दोनों उस ब्रह्म में रहने पर भी कोई विरोध नहीं आता । "विरज." पद में "रज' नाम धर्माधर्मादि मल का है । उससे जो रहित हो; उसे विरज अथवा विगतरज कहते हैं । "परः आकाशात्" अर्थात् अव्याकृत संज्ञक आकाश से भी व्यतिरिक्त सूक्ष्म अथवा व्यापक है । "अजः" अर्थात् जो जन्मता नहीं, जन्मप्रतिषेध करने से पाँच अन्य भाव विकार भी ब्रह्म में प्रतिषिद्ध है क्योंकि सबका आरम्भ जन्म रूप विकार से होता है । आत्मा आकाशादि सभी से "महान्" अर्थात् महत्तर परिणाम वाला है, 'ध्रुव' अर्थात् अविनाशी है ॥ २० ॥

१. तमेवेति—विरजस्त्वादिविशेषणकमात्मानं विज्ञाय । तत्त्वपदार्थयोः शुद्धि संशोध्येति यावत् । प्रज्ञां वाक्यार्थ-भूताम् । स्वरूपाभिव्यक्तिरूपां मोक्षत्वादिकाम् । कुर्वीत—तत्त्वमस्यादिवाक्यवशादेव सम्पादयेत् । २ स्वरूपा-तिरिक्तप्रमाणेति यावत् । ३. विरजो विगतरज इति । रजश्च सत्त्ववन्तोऽपि भवतीति तथा प्रयुक्तः । तथा च अजय "रजोऽयं रजसा सार्धं स्त्रीपुष्पगुणधूलिष्विति" कोशकृदाह । ४ विरजस्त्वादेव । ५ अजविशेषणस्यार्थिकमर्थमाह—जन्मेति । ६ महान्—विशेषणत्रयविशिष्टत्वादेव । ७ सर्वस्मात्—यथोक्ता-काशादेः सकाशात् । ८ महत्त्वादेव च ध्रुवः । ९ वृत्तिव्याप्यत्वेनेत्यत्र—"चक्षुः सन्निहितं कुम्भं यथा सूर्योऽवभासयेत् । चित्तवृत्त्या तथा व्याप्तं चिदात्मैव प्रकाशयेत् ॥ स्वयं प्रकाशं चिदात्मानं वृत्तिरात्मान्तरं विना । भासयेद्भास्करमिव चक्षुः सूर्यान्तरं विना ॥ वृत्तिव्याप्तिमपेक्ष्यैव मेयत्वं प्राहुरागमाः । चिदन्तरानपेक्षत्वादमेयत्वं तथाऽऽगमाः." ॥ इति हि स्मरन्ति । १०. हेतुपूर्वकमिति यावत् ।

क्षदित्युच्यते ॥ मन्वात्मनि शाब्दी प्रमैव नोत्पद्यते आत्यादिहीने तस्मिन्नगृहीतसंगते शब्दस्याबोधकत्वात्तद्दूराऽपेत प्रमातत्फलयोः पौर्वापर्यं तत्राज्ञातसंगतेरपि शब्दस्य बोधकत्वे दृष्टान्तमाह —यथेति । तदनुभवस्याऽनुभविकत्व-द्योतकोऽथशब्दः ॥ दृष्टान्ते विवक्षितमंशमनूद्य दार्ष्टान्तिकमाह—अगृहीतेति ॥ दार्ष्टान्तिकं स्फुटयति—शब्देति । तस्य हि महिमा न प्राकृतोऽप्रमेयस्तस्यातीतानागतवर्तमानादिषु तुल्यत्वात् । उक्तं हि चोदना हि भूतं भवन्त-मित्यादि । तदज्ञातशक्तिको न बोधयत्ययमित्यनाश्रय निश्चेतुमित्यर्थः । किंच बोधस्य स्फुरद्रूपत्वाद्बोधका-पेक्षैव नास्तीत्याह—आत्मत्वादिति । अज्ञातमात्मवस्तु वेदान्तैर्ज्ञाप्यमित्यङ्गीकारस्तर्हि कथं तत्राऽऽह—तत्साक्ष्य-त्वादिति ॥

नानुध्यायाद्बहूञ्छब्दान्वाचो विग्लापनं हि तदिति ॥ २१ ॥

का चिन्तन न करे क्योंकि वह तो वाणी का परिश्रम मात्र ही है ॥ २१ ॥

तमीदृशमात्मानमेव धीरो धीमान्विज्ञायोपदेशतः शास्त्रतश्च प्रज्ञां शास्त्राचार्योपदिष्टविषयां [1]जिज्ञासापरिसमाप्तिकरीं कुर्वीत ब्राह्मणः। एवं प्रज्ञाकरणसाधनानि संन्यासशमदमोपरमतितिक्षासमाधानानि कुर्यादित्यर्थः। नानुध्यायान्नानुचिन्तयेद्[2]बहून्प्रभूताञ्छब्दान्। तत्र बहुत्वप्रतिषेधा[3]त्केवलात्मैकत्वप्रतिपादकाः स्वल्पाः शब्दा अनुज्ञायन्ते। [4]"ओमित्येवं ध्यायथ आत्मानम्"[5] "अन्या वाचो विमुञ्चथ"[6] इति चाऽऽथर्वणे। वाचो विग्लापनं विशेषेण ग्लानिकरं [7]श्रमकरं हि यस्मात्तद्बहुशब्दाभिध्यानमिति ॥ २१ ॥

यथोक्ते वस्तुनि दर्शनं निगमयति—तमीदृशमिति। [8]नित्यशुद्धत्वादिलक्षणमिति यावत्। उक्तरीत्या प्रज्ञाकरणे कानि साधनानीति चेत्तानि दर्शयति—एवमिति। काम्यनिषिद्धत्यागः संन्यास उपरमो नित्यनैमित्तिकत्याग इति भेदः। बहूनिति विशेषणस्य तात्पर्यमर्थं दर्शयति—तत्रेति। [9]चिन्तनीयेषु शब्देष्विति यावत्। तत्र श्रुत्यन्तरं संवादयति—ओमित्येवमिति। नानुध्यायादित्यत्र हेतुमाह—वाच इति। तस्माद्बहूञ्छब्दान्नानुचिन्तयेदिति पूर्वेण संबन्धः। इतिशब्दः श्लोकव्याख्यानसमाप्त्यर्थः ॥ २१ ॥

"धीरः" अर्थात् बुद्धिमान् ब्रह्मवेत्ता "तमेव" अर्थात् उस आत्मा को ही "विज्ञाय" अर्थात् आचार्योपदेश और शास्त्र से जानकर 'प्रज्ञा कुर्वीत' शास्त्र-आचार्योपदिष्ट विषयक एवं सभी शोक और आकांक्षाओं को शमन करने वाली प्रज्ञा करे। इस प्रकार संन्यास, शम दम उपरति तितिक्षा और समाधान इन प्रज्ञाकारक साधनों का अनुष्ठान करे। "बहून्" अर्थात् बहुत शब्दों का "नानुध्यायात्" अर्थात् चिन्तन न करे। यहाँ बहुत्व का प्रतिषेध कर केवल आत्मैकत्व प्रतिपादक थोड़े शब्दों के चिन्तन की आज्ञा दी जाती है। आथर्वण मुण्डक श्रुति में भी कहा है— 'उस आत्मा का 'ॐ' इस प्रकार से ध्यान करें", "अनात्मप्रतिपादिका अपरविद्या रूप वाणी का बोलना त्याग करे' इत्यादि। "वाचो विग्लापन हि तत्" यानी बहुत शब्दों का अनुचिन्तन तो वाणी को विशेष रूप से ग्लानि अथवा श्रम उत्पन्न करने वाला है ॥ २१ ॥

१. अशेषशोकाकाङ्क्षादिशमनकरीम्। २ बहूञ्छब्दानिति—अनात्मबोधिन इति शेषः। शमादीनामुक्तप्रज्ञासाधनत्वेन विधास्यमानत्वादनात्मवाचिशब्दानुसंधानस्य च तद्विरोधित्वादिति भावः। बहुशब्दोपादानं स्वरूपानुवादार्थमनात्मवाचिशब्देषु बहुत्वस्य प्रसिद्धत्वादिति द्रष्टव्यम्। ३ केवलत्यनात्मवाचिशब्दो व्यावर्त्यते। ४ मुमुक्षुणाऽनात्मवाचिकर्मकाण्डास्थशब्दानुसंधानं न कार्यमित्यत्र श्रुत्यन्तरं प्रमाणयति—ओमिति। प्रणवावलम्बेनेत्यर्थः। ५ मु उ। ६ अनात्मप्रतिपादिका अपरविद्यारूपा। ७ नानात्मशब्दानुध्यानस्य श्रमातिरिक्तं फलमिति भावः। ८ ईदृशं विरजस्त्वादिविशेषणवन्तमित्यर्थं इत्यभिप्रेत्याह—नित्यति। ९. तत्रेति—ब्रह्मात्मैकत्वप्रतिपादकस्वल्पशब्दानुज्ञायाम्। अनात्मवाचिशब्दानुसंधानप्रतिषेधे चेत्यर्थः।

'स वा एष महानज आत्मा योऽयं विज्ञानमयः

यह वह महान अजन्मा आत्मा है, जो कि यह प्राणो मे विज्ञानमय स्वय ज्योति स्वरूप है ।

'सहेतुकौ बन्धमोक्षावभिहितौ मन्त्रब्राह्मणाभ्यां श्लोकैश्च पुनर्मोक्षस्वरूपं विस्त-

---

कण्डिकान्तरमवतारयितुं वृत्तं कीर्तयति—सहेतुकाविति । उत्तरकण्डिकातात्पर्यमाह

मन्त्र और ब्राह्मण दोनो के द्वारा बन्ध और मोक्ष का सहेतुक प्रतिपादन किया गया । फिर (श्लोकात्मक) मन्त्रो के द्वारा मोक्ष के स्वरूप का विस्तार से निरूपण किया गया । इस प्रकार इस

---

१. अथ विविदिषावाक्येन ब्रह्मात्मनि सर्वस्य वेदस्य विनियोगकथनार्थं तावदस्मिन्नध्याये उक्त सफलमात्मज्ञान स वा एष इत्याद्यसभेदार्थेत्यन्तेनानुवदति—स वा इति । स ज्योतिर्ब्राह्मणोक्तो जीव, एषोऽत्राव्यवहितोक्त. परमात्मा । एवमुक्तमैक्य प्रकटीकर्तुमपशब्देन विरज इत्याद्युक्त परमात्माऽभिहित इति द्योतयितु तस्य विशेषण-विशेषणद्वयमाह—महानज आत्मेति । सशब्देन ज्योतिर्ब्राह्मणोक्तो जीवोऽभिहित इति द्योतयितु तस्य विशेषण-द्वयमाह—योऽय विज्ञानमय प्राणेष्विति । उभयोरैक्यलक्षणो वाक्यार्थ सामानाधिकरण्येनाभिहित इति द्योत-यितुमत्रैवोक्तमाह —य इति । सम्प्रसादसमये य एषोऽन्तर्हृदये आकाश परमात्माख्य बुद्ध्याद्याश्रयो वा तस्मिन् क्रमेण विज्ञानमय शेते एकीभूतो वर्तते बुद्ध्यादिसाक्षिरूपेण वा वर्तत इत्यर्थ । २ सहेतुकाविति—तदेव सक्त सह कर्मणैतीत्यादि मन्त्रेण स यत्रायमात्माऽबल्यं न्यत्येत्यादि ब्राह्मणेन च कामादिहेतुसहितो बन्धो मुमुक्षुणा हेयत्वेनाभिहितो "यदा सर्वे प्रमुच्यन्त" इत्यादिमन्त्रेण 'अथाकामयमान" इत्यादिब्राह्मणेन च तेषा-मवापेक्ष्यत्वेन सम्यग्धीहेतुको मोक्षोऽभिहित । पुनश्च तत्स्वरूप श्लोकैर्विप्रपञ्चितमित्यर्थं ॥

वार्तिककृन्दमुपन्यस्यते ।

❀ स वा एष महानित्याद्यसभेदार्थेत्यन्तोपनिषद्वाक्यतद्भाष्यान्तर्निहितार्थोद्घाटकं वार्तिककृन्दमुपन्यस्यते । तथाह—"नानुध्यायाद्बहूञ्शब्दानिति कस्मादिहोच्यते । बलीयसा वा न त्याग कस्मादित्यभिधीयताम् । यदि वा भिन्नवाक्य-शब्दस्याल्पीयसोऽत्यागे तत्र नावदिहोच्यते । हेतुरन्यस्त्यास्तु मत्यागे समेत मेति वक्ष्यते ॥ हेतुना प्रतिपद्यन्ते कर्माण्यपि विमुक्तये । स्वात्कर्मविज्ञानकाण्डयो । वदान्तै कर्मकाण्डस्य परस्परविरोधत ॥ पूर्वो भाग समस्तोऽपि वेदान्तार्थविबुद्धये । यथा भवति वेदस्य तथाऽय बुद्धे सस्कारकत्वेन यथा तदभिधीयत ॥ स वा इत्यादिनोक्तार्थं प्रवक्तुमुपचक्रमे ॥ परामर्शं प्रतिपाद्यते ॥ वेदान्तार्थं यथायातमनूद्य श्रुतिरादरात् । ध्रुवान्तमन्त्राम्नायोक्त एष सशब्देन पूर्वोक्तस्य प्रसिद्धित । वैशब्द स्मृतये तस्य मृतिजन्मादिधर्मिण ॥ अन्वयव्यतिरेकार्था योऽयमित्यादिका श्रुति । विशेषण-इत्यभिधीयते । महानज इति वचस्तद्विशेषणसिद्धये ॥ यदत्र किंचिद्वक्तव्य तस्य प्रागेव चोदित । सामानाधिकरण्यादेर्नेह तत्पुन-विशेष्यार्थं सर्वस्येति तथा वच ॥ एष सर्वेश्वरोक्त्या च यथोक्तस्यैव सस्तुति ॥ एतदुक्त रुच्यते ॥ भूयान्स साधुना नेति ज्ञानस्य फलमुच्यते । एष ईश्वर साक्षादिति श्रुत्या भवत्यत्र योऽयमित्यादिनोदित । विविक्त कामकर्मादि स्वयज्योतिश्च शब्दित । विशेषणविरोधित्वा-प्रदर्शित । विशेषणविशेष्यत्वमीशितव्येशयोरिह ॥ यमपेक्ष्येश्वरत्व स्यात्तत्तावत्प्रतिषेधति । ईशित्वमपि नि शेष प्रतीचो विनिवर्तते ॥ न्महत्त्व कुम्भग यथा ॥ ईशितव्यापनुत्तौ च तदपेक्षैकसश्रयात् । आकाशमात्रताशेषो यथैवेह तथाऽऽत्मनि ॥ विरुद्धयोरससर्गो घटाकाशो महाकाश इत्युक्त कुम्भसहृतौ । ऐदपर्यमिद तावत्पदार्थोऽयाधुनोच्यते । स वा यथैवमविरुद्धयो । तदबोधसमुच्छित्तावावाक्यार्थोऽवशिष्यते ॥ आवाशवचसा चोक्त इतिवचोर्यस्य व्याख्यातत्वान्न यत्यत । तद्व्याख्यानाय भूयोऽपि तस्य चेहानुवादत ॥

प्राणेषु य एषोऽन्तर्हृदय आकाशस्तस्मिञ्छेते सर्वस्य वशी सर्वस्येशानः सर्वस्याधिपतिः स

जो यह हृदय मे आकाश है उसमें यह पुरुष रहता है। यह सबको अपने वश में करने वाला शासक और

रेण प्रतिपादितमेवमेतस्मि¹न्नात्मविषये सर्वो वेदो यथो²पयुक्तो भवति ³तत्तथा वक्तव्य-

---

—एवमिति। विरजः परः इत्यादिनोक्तक्रमेणावस्थिते ब्रह्मणीति यावत्। तदिदमुपयुक्तोक्तिः।

आत्मा के विषय मे जिस प्रकार सारा वेद विनियुक्त होता है, उसे उस प्रकार बतलाना चाहिये। इस-

---

१ आत्मेति—आत्मशब्दगोचरे प्रत्यगभिन्ने ब्रह्मणीत्यर्थः। २ उपयुक्तः विनियुक्तः। ३ उपयुक्तत्वम्।

परोऽज्ञातो जगद्गुरुः। जगज्जनिस्थितिध्वंसहेतुरात्मविशेषणम् ॥ क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोरेष स्वभावः प्रागसमीरितः। अप्रबुद्धात्मतत्त्वः सन्कारणात्मतया स्थितः ॥ सर्वमस्य वशे यस्माद्वशी सर्वस्य तेन सः। उदासीनस्य तस्य स्याद्वशित्वमिति चेन्मतम् ॥ वशित्वशक्तिसंबन्धान्नैव यस्मात्पुनर्वच। सर्वस्येशान एवेति सर्वस्येष्टे सदैव सः ॥ कुमारनृपवत्तस्यादीशानत्वं परात्मनः। इति चेन्नैतदेव स्यात्ततोऽप्यपतिरुच्यते ॥ अधिष्ठायात्मकार्यं स्यादुत्पत्तिस्थितिहानिषु। त्रिविधेनाऽधिपत्येन स जगत्पाति सर्वदा ॥ धर्माधर्मसमायोगो लोकवच्छासनात्प्रभो। प्राप्नोति चेन्न तत्प्राप्तिः स नेति वचसः श्रुतेः ॥ स्वकर्तृफलदायित्वं स्वभावः कर्मणां मतः। अकर्तृस्वामित्वविरहान्नेशस्य फलसंगतिः ॥ कौटस्थ्यादस्य कर्तृत्वमकार्याकारणत्वतः। कार्यकारणभेदेन तदविद्यैव संस्थिता ॥ अस्थूलं नेति नतीति न जायत इति श्रुतिः। अपूर्वानपरेत्याद्या तथा च सति युज्यते ॥ स्वस्वामित्वादिसंबन्ध-स्तथा नास्त्याद्वितीयतः। यत्र हि द्वैतमित्येव तथा च श्रुतिशासनम् ॥ जन्मादयो विकारा ये संबन्धाश्चापि ये मताः। अविद्याप्लुतस्यैव ते सर्वे स्युर्न तु स्वतः ॥ यत एवमतो नेशो भूयान्स्यात्साधुकर्मणा। कनीयान्नापि पापेन तदकर्तृत्वहेतुतः ॥ क्षेत्रज्ञस्य ततो यद्वत्पुण्यपापाभिसंगतिः कर्तृत्वाद्यभिमानित्वान्नेशस्य तदसंभवात् ॥ निर्हेतुत्वात्प्रतीचोऽस्य समस्थित्वस्य सर्वदा। हानिवृद्धी न तस्यातो धर्माधर्मैरसंगतेः ॥ न कार्यकारणं वाऽस्य यत्कर्तृत्वादिकारणम्। स्वतोऽसङ्गस्वभावत्वान्निरंशत्वतस्तथा। स्वत एवस्वभावोऽपि तदविद्यासमाश्रयात्। एष सर्वेश्वरो देव ईशितव्यव्यपेक्षया ॥ एष सर्वेश्वर इति पुनरुक्तं किमुच्यते। वक्ष्यमाणयुभुत्साया विषयत्वप्रसिद्धये ॥ अज्ञात एष एवाऽऽत्मा तावन्मात्रसतत्त्वतः। ईशादेर्विषयान्तस्य कल्पितत्वमतो भवेत् ॥ साम्बा-घनभिसंबन्धे यदि वा हेतुरुच्यते। एष इत्यादिवचसा सर्वेशस्याऽऽत्मनः स्फुटः। धर्माधर्मादितन्त्रोऽयंस्तत्फलेनेह लिप्यते। विज्ञानात्मा न तु तथा सर्वेशत्वात्परो भवेत्। सर्वस्य कर्मणोऽप्येष कारकस्य च तत्कृतः। स्वतन्त्र ईश्वरो यस्मात्तातो धर्मादितन्त्रता ॥ भूतानि जनिमन्त्येव यतः पालयतीश्वरः ॥ भूतपालस्ततो देवः कार्याणां कारणत्वतः ॥ कारणेन हि पाल्यन्ते कार्याणीह यतस्ततः। तत्कार्यत्वाच्च भूतानां भूतपालत्वमात्मनः ॥ भूताधिपतिशब्देन ब्रह्मा वाऽत्राभिधीयते। इन्द्रो लोकेश्वरश्चात्र वरुणाद्यात्मना तथा ॥ लोकपालोऽपि चाप्येष तथाकार्यस्य दर्शनात्। प्रशासिताऽपि चाप्येष तदेतदभिधीयते ॥ लोकानां रचना येषा क्षित्यादीनां व्यवस्थिता। सिद्धाऽसंकीर्यमाणेह साऽप्यस्यैवानुशासनात् ॥ वर्णाश्रमादिहेतूना व्यवस्थानामसंकरः। नैव सिध्येद्विना हेतुं सेतुरेष इतीक्ष्यताम् ॥ यथोदकप्रवाहस्य सेतुर्विधरणस्तथा। सर्वलोकव्यवस्थानां सेतुः स परमेश्वरः ॥ किमर्थं सेतुरित्येवमाकाङ्क्षाया परं वचः। असंभेदाय लोकानामेषामित्यभिधीयते ॥ असंभिन्नव्यवस्थाः स्युः कथं नाम यथोदिताः। तस्मै तस्मै फलायाल सेतुरीशो भवत्यतः" ॥९९९-१०१७॥ इति। स वा एष महानित्याद्युपसंहारमिदं

न साधुना कर्मणा भूयान्नो एवासाधुना कनी-
यानेष सर्वेश्वर एष भूताधिपतिरेष भूतपाल

सबका अधिपति है। वह न तो शुभ कर्म से बढता है और न अशुभ कर्म से घटता ही है। यह सर्वेश्वर है, यह समस्त भूतों का अधिपति और पालक है। इन भूरादि लोकों की मर्यादा नष्ट न हो, इसीलिये

मिति तदर्थेयं कण्डिकाऽऽरभ्यते। तत्र यथाऽस्मिन्प्रपाठकेऽभिहितं सप्रयोजनमनूद्या[1]ऽत्रैवो-

तदर्थां ब्रह्मात्मनि सर्वस्य वेदस्य विनियोगप्रदर्शनार्थेति यावत्। [2]ननु विविदिषावाक्येन(ण) ब्रह्मात्मनि सर्वस्य वेदस्य विनियोगो दृश्यते तथा च तस्मात्प्राक्तनं वाक्य किमर्थमित्याशङ्क्याऽऽह—तच्चेति। यथाऽस्मिन्नध्याये सफलमात्मज्ञानमुक्त तथैव तदनूद्येति योजना। कथं यथोक्ते ज्ञाने

लिए इस मन्त्र का प्रारम्भ किया जाता है। इस प्रपाठक में सप्रयोजन आत्मज्ञान को जिस प्रकार कहा

१. अत्रैव—यथोक्ते ज्ञाने एव। २ नन्विति—यद्वा स वा इत्यादिना कर्मकाण्डस्य ज्ञानकाण्डशेषत्व नोच्यते। तथा च तदर्थेय कण्डिकेत्युक्तिरयुक्तेत्याशङ्क्याऽऽह—तच्चेति।

चोदयति—नेत्यादिना। मुमुक्षुरधिकारी सतम्यर्थं ॥ बहूनितिविशेषणादल्पीयसां तत्त्वमादिशब्दानामत्यागो दर्शित-स्तत्र बुभुत्सितो हेतुस्तमेतमित्यता प्राक्तनवाक्येनोच्यत इत्याह—अब्दस्येति। तत्र त्यागात्यागयोरिति यावत्। स वा एष इत्यादावात्मयाथात्म्यमनूद्यते तेन तद्विषयोपनिषद्भागेन भवितव्य तस्यापि त्यागे तत्त्वज्ञानासिद्धे-रित्येतत्तमेतमित्यस्मात्प्रागभिप्रेतमित्यर्थः। बहूञ्छब्दाननुध्यायेदिति कर्मकाण्डत्याग उक्तस्तत्र हेतूक्त्यर्थं तमित्यादि-वाक्यमित्याह—अध्यास्त्विति। प्रभूतायास्तस्या कर्मकाण्डरूपायास्त्यागे तमित्यादिना हेतुर्वक्ष्यते तेन हि विविदिषायां कर्माणि विनियुज्यन्ते तथाचोत्पन्नविविदिषस्याफलत्वात्कर्मत्यागे तत्काण्डस्यापि त्याग सत्सिध्य-तीत्यर्थः ॥ विविदिषावाक्यस्य तात्पर्यान्तर प्रतिजानीते—यदि वेति। तदेव वस्तु शङ्कयति—भिन्नेति। सिद्धसाध्यार्थतया काण्डयोर्भिन्नवाक्यत्वान्मिथो विरोधाच्च न शेषशेषितेति शङ्कार्थः। कर्मकाण्डस्य वेदान्तैः सह विरोधवत्तेषामपि तेन विरोधात्परस्परविरोध इत्युत्तरार्थयोजना ॥ यथा कर्मवाक्याना बुद्धिशुद्धिद्वारा ज्ञानवदित्यपेरर्थः ॥ एवमेतस्मिन्नित्यादिभाष्य-ज्ञानवाक्यशेषता तथा वक्तुमुत्तरमित्युत्तरमाह—हेतुतामिति। मुक्तेऽर्थे योजयति—पूर्वं इति। स वा इत्यादिना कर्मकाण्डस्योक्तरीत्या ज्ञानकाण्डशेषत्व नोच्यते तथा च भाष्ये कण्डिकोक्तिरयुक्तेत्याशङ्क्य तच्चेत्यादिभाष्यतात्पर्यमाह—वेदान्तेति। स वा इत्यादिना वेदान्तार्थ-मनूद्येति सबन्ध। अनुवादे हेतुमाह—यथेति। आगमप्रधानेन मधुकाण्डेनोपपत्तिप्रधानेन मुनिकाण्डेन वेदान्ता-न्तरैश्च प्राप्त रूपमनतिक्रम्येति यावत्। श्रुतिस्तमेतमित्याद्या उक्तार्थं कर्मणां धीशुद्धिद्वारा ज्ञानोत्पत्ति-हेतुत्वम् ॥ कण्डिकातात्पर्यमुक्त्वा विविदिषावाक्यात्प्राक्तनग्रन्थस्यावयवशस्तात्पर्यं दर्शयन्पदयोरर्थमाह—परामर्श इति। वैशब्दस्तस्यैव स्मृत्यर्थमित्यत्र हेतु—प्रसिद्धित इति। त्वंपदलक्ष्यस्यापि प्रागुक्तत्वात्तस्य सशब्देन परामर्शमाशङ्क्याऽऽह—श्रुतीति ॥ एषशब्देनापि तस्यैवोक्ति व्यावर्तयति—ध्रुवेति। विरजः पर आकाशादज आत्मा ध्रुव इत्युक्तस्त्वंपदलक्ष्योऽर्थोऽत्रैव इत्युपदिष्ट इत्यर्थः। त्वमर्थस्य शोधनार्थमजशब्द। शुद्धस्य तस्य ब्रह्म-लक्षणविशेषणसिद्ध्यर्थं महानिति पदमित्याह—महानिति ॥ योऽयमित्यादेस्तात्पर्यमाह—अन्वयेति। अन्वय-

एष सेतुर्विधरण एषां लोकानामसंभेदाय [1]तमेतं
वेदानुवचनेन ब्राह्मणा विविदिषन्ति यज्ञेन दानेन

वह इन्हें धारण करने वाले सेतु के समान सेतु है । उस इस आत्मा को ब्रह्मजिज्ञासु या जाति से

प्रयोगः कृत्स्नस्य वेदस्य काम्यराशिवर्जितस्येत्येवमर्थ उक्तार्थानुवादः स वा एष [2]इत्यादिः ।

सर्वो वेदो विनियोक्तुं शक्यते स्वर्गकामादिवाक्यस्य स्वर्गादावेव पर्यवसानादित्याशङ्क्य [3]संयोगपृथक्त्वन्यायमनादृत्य विशिनष्टि - काम्यराशीति । उक्तस्य सफलस्याऽऽत्मज्ञानस्यानुवाद इति

गया है, उसी का अनुवाद करके वेद की काम्यकर्म विनियोग करने वाली राशि को छोड़कर शेष सम्पूर्ण वेद का इसी मे उपयोग है—यही प्रदर्शित करने के लिए "स वा एषः" इस मन्त्र मे आत्मज्ञान

---

१ एवमनुवादप्रयोजनीभूत वेदविनियोगमाह—तमेतमिति । मन्त्रोक्तविशेषणकमौपनिषद पुरुष, वेदानुवचनेन नित्यस्वाध्यायलक्षणेन । अन्त करणशुद्धिद्वारा विविदिषन्ति न तु विदन्त्येवेति भाव । एव यज्ञेनेत्यादि ज्ञेयम् ।
२ इत्यादिरिति असंभेदायेत्यवसान इति शेष । ३ सयोगपृथक्त्वेति—"एकस्य तूभयत्वे सयोगपृथक्त्वमि"ति जै. सू ४. ३ ५ । सयोगो वाक्य तस्य पृथक्त्व भेद एकस्योभयार्थत्वे नियामक इति तदर्थ । यथा दध्ना जुहुयादिति फलासयुक्तवाक्येन क्रत्वर्थत्वेन विहितस्यापि दध्नो दध्नेन्द्रियकामस्य जुहुयादित्यनेन फलाय विधानात् पुरुषार्थत्वमपि भवति तथा ज्योतिष्टोमादीना स्वर्गार्थत्वेन विहितानामपि यज्ञेनेत्यादि विविदिषावाक्येन विविदिषासाधनत्वमपि स्यादेवेति भाव ।

व्यतिरेकाभ्या त्वंपदार्थपरिशोधनार्थेति यावत् । सर्वस्य वशीत्यादेस्तात्पर्यमाह—विशेषणेति । ब्रह्मणः प्रतीचो विशेषणत्वेन यथा तस्य विशेष्यत्व तथा ब्रह्मणोऽपि सर्वस्य वशीत्यादिविशेषणैर्विशेष्यत्वार्थं वाक्यमित्यर्थ ॥ ब्रह्मणो विशेषणत्व प्रतीचश्च विशेष्यत्व चेतर्हि पदयोः सामानाधिकरण्य तदर्थयोर्विशेषणविशेष्यत्व स्वरूपमात्रस्य लक्ष्यत्वमित्येतदपि वाच्य न चात्र सामानाधिकरण्यादि स्वीकर्तुं शक्य ब्रह्मप्रतीचोर्मिथो विरोधादित्याशङ्क्य ब्रह्मकण्डिकामाभुवत स्मारयति—यदत्रेति । इहेत्यत्र च प्रकृतकण्डिकोक्ति ॥ स न साधुनेत्यादेस्तात्पर्यमाह—भूयानिति । एष सर्वेश्वर इत्यादेस्तात्पर्यमाह—एष इति । यथोक्तस्येति प्रत्यगुक्तिः ॥ त्वं ब्रह्म त्व विष्णुरित्यादिवदविद्यमानस्तुतिरेषेत्याशङ्क्य स्तुतिप्रकारमभिनयति—एतदिति । अत्रेति ज्योतिर्ब्राह्मणोक्ति । तत्त्वमादिवाक्यादैक्यसिद्धेरेषा यथार्थस्तुतिरेवेति भाव. ॥ तत्र विशेषणविशेष्यत्वविभाग दर्शयति —विशेषणेति । इहेति श्रुतिरुक्ता ॥ ईश्वरेण विशेषणेन जीवस्य विशेष्यत्वे फलमाह—यमिति । सर्वेश्वरत्वादिविशेषणसामर्थ्याद्विशेष्यजीवस्थमीशितव्यत्वाद्यपगच्छतीत्यर्थ । निषेधकर्ता विशेषणविशेष्यभावस्तस्य निषेधकत्वे हेतुमाह—विशेषणेति । ईश्वरत्वेन विशेषितत्वात्तेन विशेषितजीवगतेशितव्यत्वस्य निवृत्तिरित्यर्थ । घटाकाशो महाकाश इत्युक्ते घटाकाशस्थपरिच्छिन्नत्वनिवृत्तिवदेव सर्वेश्वर इत्युक्ते जीवगतशितव्यत्वनिवृत्तिरित्याह—महदिति ॥ ईशितव्यत्वनिवृत्तौ फलितमाह—ईशितव्येति । ततश्च निर्विशेष प्रत्यङ्मात्र तिष्ठतीति भाव ॥ महदित्यादिनोक्त दृष्टान्त प्रपञ्चयति—घटेति । दार्ष्टान्तिकमाह—इहेति ॥ तदेव स्पष्टयति—विरुद्धयोरिति । पदार्थद्वयस्यासद्वयत्वपरोक्षत्वयोर्न ब्रह्मात्मनोर्या समर्गो मिथोविरुद्धत्वादेवं प्रत्यक्त्वाद्वयत्वयोरपि नान्योन्यमन्वयस्तयोरैक्यवाक्यता ब्रह्मात्मानाश्रयस्तावेकरस वस्तु स्यादित्यर्थ ॥ उक्तवक्ष्यमाणयो पौनरुक्त्य परिहरन्नुक्तमनूद्य वक्ष्यमाण प्रतिजानीते—एतदर्थमिति । पदार्थानामपि प्रागेवार्थादुक्तत्वात्तदवस्था पुनरुक्ति-

तपसाऽनाशकेनै तमेव विदित्वा मुनिर्भवति।
एतमेव प्रव्राजिनो लोकमिच्छन्तः [2]प्रव्रजन्ति । [3]एतद्ध

ब्राह्मण लोग वेदों के स्वाध्याय से यज्ञ, दान तथा निष्काम तप से जानना चाहते हैं । इसी को जानकर मुनि हो जाते हैं। इस आत्मलोक को चाहता हुआ त्यागी पुरुष सभी का परित्याग कर संन्यासी हो

स इत्युक्तपरामर्शार्थः । कोऽसावुक्तः परामृश्यते तं प्रति निर्दिशति य एव विज्ञानमय

यावत् । सक्तानां भूयस्ये विशेषं ज्ञातुं पृच्छति—कोऽसाविति । [illegible] मर्दस्यमाशङ्क्य परिहरति

का अनुवाद किया गया है—मन्त्र में 'स वै' पद पूर्वोक्त परामर्श के स्मरण कराने के लिए है। पूर्वोक्त किस का परामर्श किया जा रहा है? उसके प्रति श्रुति द्वारा विशेष रूप से निर्देश किया जा रहा

---

१. ननु वेदेनेच्छा कि स्यादत आह—एतमित्यादि । २. प्रव्रजन्तीति—पञ्चमलकारेण संन्यासो विधीयते । आग्नेयोऽष्टाकपालो भवतीतिवत् । ३. प्रव्रजन्तीति सन्यासविधिरित्येतत्कथं निश्चेतुं शक्यत इत्याशङ्क्य तन्निर्णायकं तदर्थवादमाह—एतद्धेति । तदेतत्पारिव्राज्ये स्पष्टं कारणं किल वै स्मर्यते । शेषं भाष्यतोऽवगन्तव्यम् । ४. स्वतेति—तेन परामृष्टस्यैव स्मारको वैशब्दो द्रष्टव्यः । ५. स प्रतीति—पूर्वोक्तं परामर्शं योग्यं विशेषरूपेण प्रदर्शयति श्रुतिरिति शेषः । ६. य एष इति—एषशब्दोऽयं योऽयमित्ययमशब्दस्थाने तत्पर्यायतयाऽऽपतित इति बोध्यम् । ७ विज्ञानमय इति—ज्योतिर्ब्राह्मणोक्तस्त्वपदार्थ इत्यर्थः । ८. व्यावर्त्याभावादिति भावः ।

रित्याशङ्क्याऽऽह—स वा इतीति । तथाऽपि कतम आत्मेत्यारभ्य यदुक्तं तेन पौनरुक्त्यमित्याशङ्क्य तस्यैव चाणोपनिषद्भागात्यागेन हेतुत्वयर्थत्वेनानुवादान्न पुनरुक्तिरित्याह—यस्येति ॥ आकाशशब्दार्थं स्मारयति—आवाशेति । जगद्गुरुस्य स्फोरमति—जगदिति । तस्य ताटस्थ्यं व्यावर्तयति—आत्मेति ॥ जगत्कारणत्वफल सर्वात्मत्वमिदं सर्वमित्यादावुक्तमिति स्मारयति—क्षेत्रेति ॥ सर्वस्य वशी यस्यार्थमाह—सर्वमिति । सर्वस्येशान इत्येतदाकाङ्क्षापूर्वकमादाय व्याकरोति—उदासीनस्येति ॥ सर्वस्याधिपतिरिति विशेषणमाकाङ्क्षापुरःसरमव-तार्य व्याकरोति—कुमारेति ॥ उत्पत्तिस्थितिहानिप्रयोजकं त्रिविधमाधिपत्यं स खलु तिसृष्ववस्थासु जगदुक्तेनाऽऽधिपत्येनाधिष्ठाय सदा पालयति स्वकार्यत्वाज्जगतस्तस्मिन्नधिष्ठानपालनसिद्धेरिति द्वितीयवार्तिक-योजना ॥ स न साधुनेत्यादि शङ्काद्वारोत्थापयति—धर्मेति । तदपेक्षितामुपपत्तिं शास्त्रफलं प्रयोक्तरि तल्लक्षणत्वादिति न्यायेनाऽऽह—स्वकर्त्रिति ॥ ईशस्य सर्वकर्तृत्वोपगमात्कर्तृत्वराहित्यमसिद्धमित्या-शङ्क्याऽऽह—कौटस्थ्यादिति । तदुपपादयति—अकार्येति । अथ तर्हि तस्य कारणत्वं सदाह—कार्येति । कर्तृत्वाभावमीशस्योक्त्वा-प्रतीचः स्वतो न कर्तृत्वं कित्वविद्ययेत्यत्र श्रुतीनामानुकूल्यमाह—अस्थूलमिति ॥ तथा कार्य-स्वामित्वाभावमाह—स्वस्वामित्वादीति । आदिशब्देन सम्बन्धान्तराणामपि कल्पितत्वं सूचयति । कर्तृत्वाद्यात्मनो कारणत्ववदित्यर्थः । आत्मनः सम्बन्धः सर्वोऽपि कल्पित इत्यत्र श्रुतिमाह—यत्र हीति ॥ आत्मनः स्वतः वस्तुतो नेत्युक्तमुपसंहरति—जन्यादय इति । जनिर्जन्म तदादयो विकारा विपरिणामादयः । अतःशब्दार्थं स्फुटयति—स्वामित्वाद्यभावमुक्तमुपजीव्य कर्मफलासम्बन्धं वदन्नन्वयं योजयति—यत इति । विशिष्टस्य कर्मतत्फलसम्बन्धः तदकर्तृत्वहेतुरत इति ॥ ईश्वरस्य कर्मतत्फलासम्बन्धे हेत्वन्तरमाह—क्षेत्रज्ञस्येति । इतश्च नैतस्य कर्मादिसम्बन्धितेत्याह—कर्ताऽहमित्याद्यभिमानित्वात्तु तयोरनक्षितस्य तस्य तदभावादित्यर्थः ॥

स्म वै तत्पूर्वे विद्वाꣳसः प्रजां न कामयन्ते किं प्रजया करिष्यामो येषां नोऽयमात्माऽयं[1] लोक इति

जाते हैं। इस सन्यास में कारण यह है कि पहले विद्वान् संतान आदि की इच्छा नहीं करते थे, उनका निश्चय था कि हमें प्रजा से क्या लेना है। जिन हम मोक्षाभिलाषियों को यह आत्मलोक प्राप्त करना ही

इति। अतीतानन्तरवाक्योक्तसंप्रत्ययो मा भूदिति। य 'एषः कतम एष इत्युच्यते विज्ञान-

---

—अतीतेति। स्वहि विरज पर इत्यादि तेनोक्तो यो महत्त्वादिविशेषण परमात्मा तत्र सशब्दात्प्र-तीतिर्मा भूदिति कृत्वा 'तेन ज्योतिर्ब्राह्मणस्य जीवं परामृश्य तमेव यंशब्देन स्मारयित्वा तस्य 'संनिहितेन परेणाऽऽत्मनैक्यमेवशब्देन निर्दिशतीत्यर्थः। विशेषणवाक्यस्यमेषशब्द प्रश्नपूर्वक व्याचष्टे—कतम इति। कथ जीवो विज्ञानमयः कथं वा प्राणेष्विति सप्तमी प्रयुज्यते तत्रा-

---

है—"वह यह विज्ञानमय है"। उक्त अतीत और अनन्तर वाक्यों में सम्भ्रम न हो जाए, इसलिए "य एष." कहा गया। यह कौन सा? इस पर श्रुति कहती है—"जो प्राणों में विज्ञानमय है"। यहाँ ज्योति-

---

१ य पुत्रादिसाध्य उच्यते। २ य एष इत्यनेन शब्दार्थक इत्यर्थः। ३ सशब्देन। ४ विरज-वाक्योक्तेन।

निर्हेतुत्वादिति। अस्य प्रतीचस्तमस्वित्व नामाज्ञानकृतमीशत्व तस्याज्ञानोपाधिकस्याऽऽगन्तुकहेत्वनपेक्षत्वेन सदाभावाच्च धर्मादिभि सगतिरतो न कर्मप्रयुक्तहानिवृद्धी परस्येत्यर्थः॥ ईशत्वाद्यात्मन स्वीकृत्य तस्य धर्माद्य-सगतिमुक्त्वा तदेव तस्य नास्तीत्याह—नेत्यादिना। कर्तृत्वाविकारणस्य कार्यकारणस्य चाऽभावे हेतुमाह—स्वत इति। यथाभेदेन कर्तृत्वमसङ्गत्व च स्यादित्याशङ्क्याऽऽह—निरवेति। क्षेत्रज्ञस्य कर्तृत्व परस्यासङ्गत्व-मित्याशङ्क्याऽऽह—एकत्वत इति॥ यथोक्तलक्षणत्वादात्मनो नेशत्वादीत्यर्थ॥ तर्हि कथमेष सर्वेश्वर इत्यादि-वाक्यमत आह—स्वत इति। एवस्वभावोऽसङ्गत्वानशत्वादिरूपोऽपीति यावत्। तदविद्यासमाश्रयादीशित-व्यव्यपेक्षयेति सबन्ध॥ सर्वस्येशान इत्यनेन पुनरुक्ति चोदयति—एष इति। तस्यास्तात्पर्यं दर्शयन्परिहरति—वक्ष्यमाणेति। प्रत्यगात्मैवाज्ञातो विविदिषाविषय इति वक्तु पुनरुक्तिरेष इति हि प्रतीचो निर्देशस्तस्याज्ञातत्व सर्वेश्वरशब्देन द्योत्यते स च बुभुत्साविषयो विवक्षित इत्यर्थवती पुनरुक्तिरित्यर्थ॥ अज्ञातत्वेन तद्विषयत्व हरिहरादेरपि सभवति तत्कथ प्रत्यगात्मैव तथा प्रतिज्ञायते तत्राऽऽह—अज्ञात इति। नियमे हेतु—ताव-न्मात्रेति। प्रत्यङ्मात्र कथ सर्वस्य सतत्त्वमीश्वरादेरपि लोके वस्तुत्वप्रसिद्धेरित्याशङ्क्याऽऽह—ईशादेरिति। अकरत्वपरिच्छिन्नत्वादिरत शब्दार्थ॥ पालनादिकर्तुरनुग्रहादिना कृतेन धर्मादिना योगो दुर्वारो लोके तथा-दृष्टत्वात्तत्कथ स नेत्यादिवाक्यमित्याशङ्क्य पुनरुक्तेरर्थान्तरमाह—साध्वादीति॥ कोऽसाववाधितोऽसदिग्धो हेतुस्तमाह—धर्मेति। कामकर्माविद्यातन्त्रो जीवस्तत्फलेन सबध्यते परस्तु तद्वश धर्मादितन्त्र सर्वेश्वरत्वा-त्तस्मिन्नपि नियन्तृत्वादतो न तत्फलमबन्धो स्यादित्यर्थ। इहशब्दो जीवेशयोर्निर्धारणार्थ॥ कथ सर्वेश्वरत्वेऽपि कर्मतत्फलासबन्धित्व तत्राऽऽह—सर्वेति॥ पशुपतिर्वा श्रीपतिर्वा सर्वेश्वरो न प्रत्यगात्मेत्याशङ्क्यैष भूताधि-पतिरिति विशेषणमित्यभिप्रेत्यैष भूतपाल इत्यस्यार्थमाह—भूतानीति। तत्र हेतु—कार्याणामिति॥ यद्यपि सर्वकार्याणां जन्मादिसूत्रमारभ्य तत्र तत्रोक्तन्यायेन कारणमीश्वरस्तथाऽपि कथ तस्य भूतपालत्वमत आह—कारणेनेति। तेनोपेक्षितस्य कार्यस्य सत्त्वमेव नेति वक्तु हिशब्द। व्यवहारभूमिरिहेत्युक्ता। यतस्तत्र सर्वं-भेत्यर्थ। सामान्यन्याय प्रकृते योजयति—सत्कार्यत्वादिति॥ भूताधिपतिशब्दस्यार्थान्तरमाह—भूतेति। यो

'ते ँह स्म पुत्रैषणायाश्च वित्तैषणायाश्च लोकैषणा-याश्च व्युत्थायाथ भिक्षाचर्यं ँचरन्ति या ह्येव पुत्रैषणा

अभीष्ट है। अतः वे मुमुक्षु पुत्रैषणा, वित्तैषणा तथा लोकैषणा से ऊपर उठकर फिर भिक्षाचर्या किया करते थे। जो भी पुत्रैषणा है; वह फलतः वित्तैषणा ही है, और जो वित्तैषणा है, वही लोकैषणा है।

मयः प्राणेष्विति . 'उक्तवाक्योल्लिङ्गनं संशयनिवृत्त्यर्थम् । उक्तं हि पूर्वं जनकप्रश्नारम्भे 'कतम आत्मेति योऽयं विज्ञानमयः प्राणेष्वित्यादि ।

ऽऽह—'उक्तेति । तदनुवादस्य 'सशब्दार्थे सन्देहापोहं फलमाह—सशयेति । उक्तवाक्योल्लिङ्गनमित्युक्तं विवृणोति—उक्त हीति ।

ब्राह्मणोक्त वाक्य का अनुवाद संशयनिवृत्ति के लिए है। जनक ने प्रश्न आरम्भ मे पहले यही जिज्ञासा व्यक्त की थी—"वह आत्मा कौन सा है, जो प्राणो मे विज्ञानमय है" इत्यादि।

---

१ पूर्वं ब्राह्मणम् । २ तर्हि ते किं कृतवन्त इत्यत आह—ते ह स्मेत्यादि । तथा चोक्तार्थवाद एव प्रव्रजन्तीत्यस्य सन्यासविधित्वनिश्चायको विधिमन्तरेण तस्यानन्वयादिति भाव । ३ ज्योतिर्ब्राह्मणोक्तानुवदनम् । ४ बृ उ ४ ३ ७ । ५ उक्तेतीति—तथा चास्योक्तानुवादत्वात्पूर्ववादत एव तदवगन्तव्यं तत्रैवैतस्य समाहितत्वादिति भाव. । ६ सशब्देति—सशब्दार्थं किमव्यवहितविरजवाक्योक्त परमात्मा भवेद्व्यवहितोक्तो विज्ञानमयो वेति सशब्दार्थे सदेहस्तदपोहमित्यर्थं ।

ब्रह्मा श्रुतिस्मृतीतिहासपुराणेषु सूत्रादिसज्ञया विज्ञात सोऽस्मिन्वाक्ये भूताधिपतिशब्देनोच्यते 'हिरण्यगर्भ समवर्तताग्रे भूतस्य जात पतिरेक आसीदिति' श्रुति स नात्र परमात्मैव तत्प्रकरणत्वादित्यर्थं । 'एष लोकेश्वर एष लोकपाल' इति माध्यंदिनास्तत्र लोकेश्वरशब्दं व्याकरोति—इन्द्र इति । लोकपालशब्दार्थमाह—वरुणादीति ॥ यथा परमात्मैवेन्द्रात्मना लोकेश्वरस्तथा स एव वरुणादिरूपेण लोकपालोऽपीत्यत्र हेतु—तथेति । जगन्नियमनपालनादिकार्यस्येन्द्रादौ दर्शनादनीश्वरस्य तदयोगात्तत्तद्रूपेण स्थित्वा स एव तत्तत्कार्यं करोतीत्यर्थं । एष सेतुरित्याद्यवतारयति—प्रशासितेति । मर्यादाधारमित्येति यावत् । द्वितीयोऽपिरवधारणे ॥ परस्मादन्योऽपि कश्चित्प्रशासिताऽस्तु तद्भेदप्रसिद्धेरिति चेन्नेत्याह—लोकानामिति । प्रशासितृत्वस्यमनोऽन्यदार्तमित्यादिना प्रत्युक्तमित्यर्थं ॥ परस्यैव प्रशासितृत्वेऽपि कथं सेतुशब्दस्तत्र प्रयुक्तस्तत्राऽऽह—वर्णेति ॥ परस्य सेतुत्व दृष्टान्तेन साधयितु विधरणविशेषणं व्याचष्टे—यथेति ॥ एषामित्याद्यादत्ते—किमर्थमिति ॥ किं तत्परं वचस्तदसंभेदायेति तद्व्याकरोति—असंभिन्नेति । यथोदिता वर्णाश्चाऽऽश्रमाश्च पृथिव्यादयश्च लोका इति यावत् । तत्तत्फलमसंकीर्णं तत्तदधीन कार्यम् ॥

॥ ते ह स्म पुत्रैषणायाश्चेत्यादि । अत्र वार्तिककार—"पुत्रोत्पत्ति समुद्दिश्य ह्येषणा दारसंग्रह । पुत्रैषणेति सहोक्ता यदि वाऽस्तोऽयमेषणा ॥ मनुष्यलोकसंप्राप्ति समुद्दिश्यास्य चैषणा । पुत्रोत्पत्त्येह तत्प्राप्तौ साऽत्र पुत्रैषणोच्यते ॥ दैवं च मानुषं वित्त कर्मणो यत्प्रयोजकम् । देवतादिपरिज्ञानं दैवं पश्वादि मानुषम् ॥ संसारकारणध्वंसि यत्तु ज्ञानं विमुक्तिदम् । वित्ततुल्या न तद्ग्राह्यं तस्य कर्मविरोधत ॥ यस्य साधनभाव स्यात्प्रवृत्तौ सर्वकर्मणाम् । गवादेरिव वित्तत्व तस्य ज्ञानस्य कर्मसु ॥ कर्महेतुविरुद्धं तु न वित्तं ज्ञानमिष्यते ॥ कर्मप्रकरणाकाङ्क्षि ज्ञान कर्मगुणो भवेत् । यदि प्रकरणे यस्य तत्तदङ्गं प्रचक्षते ॥ स्वरूपलाभमात्रेण यत्त्वविद्या

सा वित्तैषणा या वित्तैषणा सा लोकैषणोभे ह्येते एषणे एव भवतः । स एष नेति नेत्यात्माऽगृह्यो न हि गृह्यतेऽशीर्यो न हि शीर्यतेऽसङ्गो न हि सज्यते-

ये दोनो साध्य-साधन एषणा ही हैं। 'नेति नेति' इत्यादि वाक्य से बतलाया गया वह यह आत्मा अगृह्य है, इसलिये वह ग्रहण नहीं किया जाता। वह अशीर्य है, अत उसका नाश नहीं होता। वह असग है, अतएव वह कहीं ससक्त नहीं होता। वह कहीं बँधा हुआ नहीं है, इसीलिये वह दु खी नहीं होता एव

एतदुक्तं भवति योऽयं विज्ञानमयः प्राणेष्वित्यादिना वाक्येन प्रतिपादितः स्वयंज्योतिरात्मा स एष कामकर्माविद्यानामनात्मधर्मत्वप्रतिपादनद्वारेण मोक्षितः परमात्मभावमापादित परं एवायं नान्य इत्येष स साक्षान्महानज आत्मेत्युक्त । योऽयं विज्ञानमयः प्राणेष्विति यथाव्याख्यातार्थ एव । य एषोऽन्तर्हृदये हृदयपुण्डरीकमध्ये य एष

योऽय विज्ञानमय प्राणेषु प्रागुक्त स एव महानज आत्मेति जीवानुवादेन परमात्मभावो विहित इति वाक्यार्थमाह—एतदिति । परमात्मभावापादानप्रकारमनुवदति—साक्षादिति । विशेषणवाक्यस्य व्याख्येयत्वप्राप्तावुक्तवाक्ययोरिलङ्गमभिमत्यस्येष्ट स्मारयति—योऽयमिति । वाक्यान्तरमवतार्य व्याचष्टे—य एष इति । कथ पुनराकाशशब्दस्य परमात्मविषयत्वमुपेत्य द्वितीयं

कहने का तात्पर्य यह कि 'जो यह प्राणो मे विज्ञानमय है" इत्यादि श्रुतिवाक्य से जिस स्वयज्योति आत्मा का प्रतिपादन किया गया है, उस इस आत्मा के "काम, कर्म और अविद्या ये अनात्मधर्म हैं" ऐसा कहकर उन धर्मों से शोधित कर दिया है। "यह परब्रह्म ही है, अन्य (ससारी) नही है" ऐसा कह कर परमात्मभाव प्राप्त करा दिया है। इस प्रकार वही यह साक्षात् महान् अजन्मा, आत्मा है—ऐसा कहा गया है। 'जो यह प्राणो म विज्ञानमय है " इस श्रुति की व्याख्या पूर्व मन्त्र (बृ उ ४-३ ७) मे की व्याख्या के समान समझ लेनी चाहिये। "य एषोऽन्तर्हृदय आकाशस्तस्मिञ्छेते"

---

१ स एष इत्यादि न रिष्यतीत्यन्त शाकल्यब्राह्मणोक्तार्थकम् । य सूत्रायमन्तर्यामित्वकल्पनाधिष्ठानभूत स परमात्मा एष प्रत्यगात्मैव मूर्तामूर्तब्राह्मण नेति नेतीत्येव सकलोपाधिनिषेधेन निर्दिष्ट । २ शोधित । ३ प्राय । ४ एवम् । ५ इत्यस्य । ६ बोधित ।

निर्हृति न । न तदङ्ग प्रधान वा ज्ञान स्यात्कर्मण क्वचित् ॥ एतद्बलन सन्यास एषणाभ्योऽवसीयते । देवनाकप्न ज्ञानमप्यर्षैवेति गम्यते ॥ लोकैषणाप्रहेतीव वित्ता सर्वाविसिद्धित । फलोद्देशेन या चेष्टा सैव लोकैषणा मता ॥ मत्तु चोदितमित्येव क्रियते कर्म निष्फलम् । वित्तैषणेति ता ब्रूमः जामित्वविनिवृत्तया ॥ लोकोद्देशेन या चेष्टा वाङ्मनःकायसाधना । लोकैषणेति तामाहुरेषणार्थविदो जना ॥ क्रियाकारकरूपाभ्य एषणाभ्य प्रबोधत । प्रातिलोम्येन यत्स्थान व्युत्थानमिति तद्विदु ॥ इत्येवमादि व्याख्येय व्याख्यात पूर्वमेव त । बृहोन्ब्राह्मणे नातस्तद्व्याख्यानाय यत्यत ॥ १११९-११३२ ॥ इति । एतन्नित्यादि व्याख्याय ते इत्यादी पुत्रैषणाद्याह—पुत्रेति । य प्रसिद्ध पुत्रोत्पत्तिमुद्दिश्य दारसग्रह सा खल्वेषणा पुत्रैषणेत्यस्यार्थ श्रुतानुक्तेति सबन्ध । उत्तैषणानां विधान्तरेण प्रवृत्ता कदाचिदेषणा पुत्रैषणेति पक्षान्तरमाह—यदि वति ॥

असितो न व्यथते न रिष्यत्येतमु हैवैते न तरत इत्यतः पापमकरवमित्यतः कल्याणमकरवमित्युभे उ हैवैष एते तरति नैनं कृताकृते तपतः ॥ २२ ॥

उसका नाश भी नहीं होता। केवल इस आत्मज्ञानी को ही ये दोनों (धर्माधर्म संबन्धी) हर्ष-शोक नहीं सताते। इसीलिये मैंने पाप किया है, ऐसा पश्चाताप; या मैंने पुण्य किया है, ऐसा हर्ष उसे नहीं होता, किन्तु इन दोनों को वह पारकर जाता है। इस तत्ववेत्ता का किया हुआ और न किया हुआ नित्य नैमित्तिकादि कर्म (फल प्रदान और प्रत्यवाय के द्वारा) ताप नहीं पहुँचाते ॥ २२ ॥

आकाशो बुद्धिविज्ञानसंश्रयस्तस्मिन्नाकाशे बुद्धिविज्ञानसहिते शेते तिष्ठति। अथवा संप्रसादकालेऽन्तर्हृदये य एष आकाशः पर एवाऽऽत्मा निरुपाधिको विज्ञानमयस्य स्वस्वभावस्तस्मिन्स्वस्वभावे परमात्मन्याकाशाख्ये शेते। चतुर्थ एतद्व्याख्यातं क्वैष तदाऽभूदित्यस्य प्रतिवचनत्वेन। स च सर्वस्य ब्रह्मेन्द्रादेर्वशी। सर्वो ह्यस्य वशे वर्तते।

व्याख्यानं तस्यार्थान्तरे एवकारादिरथाशङ्कयाऽऽह—चतुर्थ इति। इत्यमुक्तं ज्ञानमनूद्य तत्फलमनुवदति—स चेत्यादिना। कथं पुनर्निरुपाधिकस्येश्वरस्य वशित्वं कथं च "तदभावे तदात्मनो विदुषस्त-

---

अर्थात् हृदयकमल के मध्य जो बुद्धयाख्य विज्ञानावच्छिन्न आकाश है, उसमें बुद्धि विज्ञानसहित बुद्धयादि के साक्षी रूप से स्थित रहता है। अथवा सुषुप्ति अवस्था में हृदयकमल में जो आकाश है यानी विज्ञानमय का अपना स्वरूप निरुपाधिक परमात्मा ही है, उस अपने अपने स्वरूप आकाशाख्य परमात्मा में (एकीभूत होकर) स्थित रहता है। चतुर्थाध्याय (बृहदारण्यक के द्वितीय अध्याय) में "वह उस समय कहाँ था" इसके उत्तर रूप में इसकी व्याख्या की जा चुकी है। वह ब्रह्मीभूत विज्ञानमय ब्रह्मा-इन्द्रादि सबका वशी है क्योंकि सभी इसके वश में रहते हैं। इसी को श्रुति कहती है—'हे गार्गी! इसी अक्षर

---

१. एतद्रूपस्य सर्वैषणाविनिर्वृत्तस्य किं स्यादित्यत आह—एवमिति। उक्तरूपं परमात्मभूतमात्मविदमित्यर्थः। २. बुद्धयाख्यविज्ञानावच्छिन्नः। ३. अवच्छिन्ने। ४. तिष्ठतीति—बुद्धयादिसाक्षिरूपेण वर्तत इत्यर्थः। ५. शेत इति—अज्ञानस्यानुपरमादनेकोऽप्यन्तःकरणादिविशेषाभावादेकीभूतो वर्तत इत्यर्थः। ६. बृ. उ. २. १. १७। ७. स चेति—ब्रह्मीभूतो विज्ञानमय इत्यर्थः। यथा ब्रह्मणो विशेषणत्वं प्रतीचश्च विशेष्यत्वं तथा ब्रह्मणोऽपि सर्वस्य वशीत्यादिविशेषणविशेष्यत्वार्थं वाक्यम्। तदुक्तं वार्तिके—"विशेषणविशेष्यार्थं सर्वस्येति तथा वच." ॥ १७७ ॥ इति। ८. सर्वस्य वशीत्यस्यार्थान्तरमाह। तद्यथा—"अयं वा सकलैर्जीवैर्हृदि स्वस्य वशीकृत। अपर्यन्तैर्जनैर्बद्धस्वेषु स्निग्धा वशीकृतेति" ॥ ९. अद्वैतज्ञानम्। १०. ईश्वरस्य वशित्वाभावे।

विधान्तरं प्रकटयति—मनुष्येति। पुत्रोत्पत्त्या हेतुभूतया मनुष्यलोकाभाविह पुत्रेणैवायं लोको जय्य इति शास्त्रसिद्धा या तामुद्दिश्याऽऽशंसैषणा साऽस्मिन्वाक्ये पुत्रैषणेति योजना ॥ वित्तैषणाशब्दार्थमाह—दैव चेति। तस्य विनियोगमाह—कर्मण इति। वित्तद्वयं विभजते—देवतादीति ॥ ब्रह्मज्ञानस्यापि दैववित्तान्तर्भावाद्वित्तशब्दतेति केचित्तान्प्रत्याह—संसारेति। वित्तं हि कर्मप्रयोजकं तत्र विनियुक्तमिदं तु तद्विरोधित्वान्न

उक्तं चैतस्य वा अक्षरस्य प्रशासन इति। न केवलं वशी सर्वस्येशान ईशिता च ब्रह्मेन्द्रप्रभृतीनामीशितृत्वं च कदाचिज्जातिकृतं यथा राजकुमारस्य बलवत्तरानपि भृत्यान्प्रति तद्वन्मा भूदित्याह सर्वस्याधिपतिरधिष्ठाय पालयिता स्वतन्त्र इत्यर्थः। न राजपुत्रवदमात्यादिभृत्यतन्त्रः। त्रयमप्येतद्वशित्वादिहेतुहेतुमद्रूपम्।

यस्मात्सर्वस्याधिपतिस्ततोऽसौ सर्वस्येशानः। यो हि यमधिष्ठाय पालयति स तं

द्युपपद्यते तत्राऽऽह—उक्तं चेति।

विशेषणत्रयस्य हेतुहेतुमद्रूपत्वमेव विशदयति—यस्मादित्यादिना। 'तत्र प्रसिद्धिं प्रमाणयति—यो हीति। न केवलमुक्तमेव विद्याफलं किंत्वन्यच्चास्तीत्याह—किंचेति। एवंभूतस्य 'ज्ञातपर-

---

की आज्ञा मे सूर्य और चन्द्रमा नियमित रूप से चलते हैं' इत्यादि। केवल वशी ही नहीं, बल्कि "सर्वस्येशान" अर्थात् ब्रह्मा इन्द्रादि पर शासन करने वाला है। प्रशासन कभी-कभी जन्म से भी होता है। जैसे राजकुमार का बलशाली नौकरो पर भी शासन हुआ करता है, उसके समान यहाँ न हो।' इसलिये श्रुति कहती है—'सर्वस्याधिपति" अर्थात् उत्पत्ति, स्थिति और लय करने मे स्वतन्त्र है। राजपुत्र के समान मन्त्री और भृत्यो के अधीन नही है। (परमात्मा के लिए प्रयुक्त) ये वशित्वादि तीनो विशेषण हेतुहेतुमद्रूप हैं।

क्योकि यह सब का अधिपति है, इसलिए सब का ईशान है। जो जिसका अधिष्ठाता होकर

---

१ बृ उ ३ ८ ९। २ उत्पत्तिस्थितिलयेषु। ३ सर्वाधिपते सर्वेशानत्वे। ४ ज्ञातो य परमात्मा तदभिन्नत्वम्।

तच्छब्दाद्ग्राह्यमित्यर्थः॥ देवतादिज्ञानस्यापि तर्हि ब्रह्मज्ञानवत्त्व तच्छब्दस्तेत्याशङ्क्य विशेषमाह—यस्येति। गर्तादेरिवेत्याहवनीयरूपादि रुगन्यते। यद्वा गर्तकण्टकादेर्व्यावहारिकस्य कर्महेतुत्वाभ्य वित्तस्य नैवं प्रकृतस्य ज्ञानस्येति व्यतिरेको गवादेरिवेति पाठान्तरम्॥ ब्रह्मज्ञानं वित्तश्रुत्या न ग्राह्यं कर्मविरोधित्वादित्युक्तमनुभाषते—कर्मेति॥ ब्रह्मज्ञानस्य कर्मतदङ्गविरुद्धत्वमसिद्धं कर्माङ्गत्वादाज्यावेक्षणवदित्याशङ्क्याऽऽह—कर्मेति। तत्र हेतु—यद्धीति। विनियोजकप्रमाणाभावान्नेदं कर्माङ्गमित्यर्थः॥ अङ्गत्वाभावेऽपि प्राधान्येन ज्ञानस्य कर्मणि संबन्धः स्यादिति चेन्नेत्याह—स्वरूपेति। क्वचिदिति स्वरूपे फले वेत्यर्थः॥ ब्रह्मज्ञानस्य कर्मविरोधित्वाभ्र वित्तत्वमित्युक्त्वा तत्रैव हेत्वन्तरमाह—एतदिति। अतो नास्य वित्तत्वेन त्यागोऽस्तीति शेषः। ब्रह्मधीवदुपास्तिमपि हित्वा ज्ञानान्तरं वित्तश्रुत्या ग्राह्यमित्याशङ्क्याऽऽह—देवलोकेति। यस्य साधनभावः स्यादित्यत्र कर्मप्रयोजकं ज्ञानं वित्तमेवेत्युक्तमिह भूपास्तिरपीति विशेषो न हि यथोक्तरूपं ज्ञानमेपणातोऽर्थान्तरं पितृलोकादिफलस्य कर्मादेरपि तथात्वापत्तेरिति भावः॥ लोकैषणाशब्देन वित्तैषणाशब्दस्य पौनरुक्त्यं शङ्कते—लोकेति। तेनैव वित्तैषणा गृहीता लोकसाधनत्वेन वित्तस्य लोकैषणायामन्तर्भावसिद्धेरिति योजना। अन्तर्भावं साधयति—फलेति। अतो लोकैषणाशब्देनैव लोकसाधनसर्वप्रकारकर्मग्रहाद्वित्तशब्देनापि तद्ग्रहे पुनरुक्तिरित्यर्थः॥ अर्थभेदं दर्शयन्परिहरति—यस्त्विति। निष्फलं विष्युद्देशस्यफलविकलमिति यावद्। वित्तशब्देन नित्यं कर्म तत्साधनं च पुनरुक्तिपरिहारार्थं ग्राह्यमित्यर्थः॥ लोकैषणाशब्दार्थमाह—लोकेति। काम्यं कर्म तत्साधनं चात्र विवक्षितमिति न पौनरुक्त्यमित्यर्थः॥ व्युत्थायेत्यत्र पञ्चम्यर्थमाह—क्रियेति॥ अथेत्यादिवाक्यं प्रत्याह—इत्थंवमादीति। व्याख्याप्रकारं पृच्छन्तं प्रत्याह—व्याख्यातमिति॥

प्रतीष्ट एवेति प्रसिद्धम् । यस्माच्च सर्वस्येशानस्तस्मात्सर्वस्य वशीति । किञ्चान्यत्स एवंभूतो हृद्यन्तर्ज्योतिः पुरुषो विज्ञानमयो न साधुना शास्त्रविहितेन कर्मणा भूयान्भवति न वर्धते पूर्वावस्थातः केनचिद्धर्मेण । नो एव शास्त्रप्रतिषिद्धेनासाधुना कर्मणा कनीयानल्पतरो भवति पूर्वावस्थातो न हीयत इत्यर्थः । सर्वो ह्यधिष्ठानपालनादि कुर्वन्परानुग्रहपीडाकृतेन धर्माधर्माख्येन युज्यतेऽस्यैव तु कथं तदभाव इति । उच्यते—यस्मादेष सर्वेश्वरः सत्कर्मणोऽपीशितुं भवत्येव शीलमस्य तस्मान्न कर्मणा संबध्यते । किंचैष भूताधिपतिर्ब्रह्मादिस्तम्बपर्यन्तानां भूतानामधिपतिरित्युक्तार्थं पदम् ।

एष भूतानां तेषामेव पालयिता रक्षिता । एष सेतुः । किंविशिष्ट इत्याह विधरणो वर्णाश्रमादिव्यवस्थाया विधारयिता । तदाहैषां भूरादीनां ब्रह्मलोकान्तानां लोकानामसंभेदायासंभिन्नमर्यादायै । परमेश्वरेण सेतुवदविधार्यमाणा लोकाः संभिन्नमर्यादाः स्युः ।

मात्माभिन्नत्वम् । परिशुद्धत्वमर्थमनुवदति— हृदीति । ब्रह्मीभूतस्य विदुषः स्वातन्त्र्याविद्धर्माधर्मास्पर्शित्वमपि फलमित्यर्थः । अधिष्ठानादिफलं स्याद्विदुषोऽपि लौकिकवद्धर्मादिसम्बन्धित्वं स्यादिति शङ्कते—सर्वो हीति । परतन्त्रत्वमुपाधिरिति परिहरति—उच्यत इति । सर्वाधिपत्यराहित्यं चोपाधिरित्याह—किंचेति ।

सर्वपालकत्वराहित्यं चोपाधिरित्याह—एष इति । सर्वविधारत्वं चोपाधिरित्याह—एष इति । कथं विधारयितृत्वमित्याशङ्क्याऽऽह—तदाहेति । तदेव साधयति—परमेश्वरेणेति ।

पालन करता है, वह उन पर शासन करता ही है । क्योकि सब पर शासन करता है, इसलिए सबका वशी है । तथा पुनः वह इस प्रकार हृदयस्थित ज्योति स्वरूप विज्ञानमय पुरुष "साधुना" अर्थात् शास्त्र विहित कर्म से "न भूयान्" अर्थात् अपनी पूर्वावस्था की अपेक्षा किसी धर्म से बढ़ नही जाता; न ही "असाधुना" अर्थात् शास्त्रप्रतिषिद्ध कर्म से "कनीयान्" अर्थात् अल्पतर होता है । पूर्वावस्था से विकारभाव को प्राप्त नही होता । अधिष्ठान और पालनादि करने वाले सभी लोग दूसरो पर अनुग्रह से धर्म एवं पीड़ा पहुँचाने से अधर्माख्य फल से युक्त होते हैं, इस आत्मा को वे फल क्यो प्राप्त नही होते । इसे ही श्रुति कहती है—क्योकि वह सर्वेश्वर है, अत इसका स्वभाव कर्म का शासन करने वाला भी है । इसलिये कर्म से इसका संबन्ध नही होता । तथा यह प्रत्यगात्मा "भूताधिपतिः" अर्थात् ब्रह्मा से लेकर स्तम्बपर्यंन्त समस्त भूतो का अधिपति है—इस प्रकार इस पद का अर्थ पहले आ चुका है ।

यह ब्रह्मा से लेकर स्तम्बपर्यन्त सभी भूतों का (सत्ता-स्फूर्ति प्रदान करने से) रक्षिता है । यह सर्वलोक व्यवस्था के लिये सेतु के समान है । वह किन विशेषणों से विशिष्ट सेतु है ?—"विधरणः" अर्थात् वर्णाश्रमादि व्यवस्था का विधारक है । इसे श्रुति कहती है— "एषा लोकानाम्" अर्थात् इन

---

१. वर्तते तस्मात् । २. प्रत्यगात्मा । ३ ब्रह्मादिस्तम्बपर्यन्तानाम् । ४ सत्तास्फूर्तिप्रदानेन । ५ सेतुरिति—सेतुरिव सेतुः । तदुक्त वार्तिके—"यथोदकप्रवाहस्य सेतुर्विधरणस्तथा । सर्वलोकव्यवस्थाना सेतु ॥ परमेश्वर" ॥ १०१५ ॥ इति । ६ आदिना भूरादिलोकग्रह । ७ मर्यादायाः । ८. असंभेदायेति—तथा चासंभेदकत्वेन विधारयितृत्वमिति भावः । ९. मर्यादासंकरायेति यावत् । १०. उक्तानुमाने ।

[1]अतो लोकानामसंभेदाय सेतुभूतोऽयं परमेश्वरो यः स्वयं ज्योतिरात्मैव । [2]एवंविद्वशी सर्वस्य वशीत्यादि ब्रह्मविद्यायाः फलमेतन्निर्दिष्टम् । [3]कि ज्योतिरयं पुरुष' इत्येवमादिषष्ठप्रपाठकविहितायामेतस्यां ब्रह्मविद्यायामेवंफलायां [4]काम्यैकदेशवर्जितं कृत्स्नं कर्मकाण्डं तादर्थ्येन

सर्वस्य वशीत्यादिनोक्तमुपसंहरति—एवंविदिति । सफलं ज्ञानमनूद्य विविदिषावाक्यसंदर्भतात्पर्यमाह—किंज्योतिरिति । एवंफलायां सर्वस्य वशीत्यादिनोक्तफलोपेतायां मति यावत् । तादर्थ्येन

भूरादि लोकों से ब्रह्मलोक पर्यन्त लोकों के "असंभेदाय" यानी मर्यादा असंकर के लिये । यदि परमात्मा सेतु के समान लोकों का विधारण न करें तो उनकी मर्यादा भंग हो जाय । इसलिये लोकों की मर्यादा अक्षुण्ण बनाये रखने के लिए सेतुभूत यह परमात्मा है, जो स्वयंज्योति आत्मा ही है । "इस प्रकार जानने वाला सबका वशी है" यह श्रुति ब्रह्मविद्या के फल का निर्देश करती है । "यह पुरुष किस ज्योति वाला है" इस प्रकार षष्ठ प्रपाठक (उपनिषत् के चतुर्थ अध्याय) में विहित इस प्रकार फल वाली ब्रह्मविद्या में काम्यकर्मरूप एक देश को छोड़कर शेष सारा कर्मकाण्ड (धीशुद्धि द्वारा

१. अत—अतोऽन्यदार्तमित्यादिना विधारयितृत्वस्य प्रयुक्तत्वादित्यर्थः । २. एवंविदिति—स वा एष महानज इत्यादि श्रुत्याऽनूदितमेतदध्यायोक्तं ब्रह्मात्मैक्य वस्त्वेवशब्दार्थः । ३. बृ. उ. ४. ३. २ । ४. काम्यैकदेशेत्यादिविशेषण संयोगपृथक्त्वन्यायमवधीर्येति पूर्वं टीकोक्तं न प्रस्मर्तव्यम् ।

[*] कि ज्योतिरमित्यादि विनियुज्यते इत्यन्तभाष्यमभाहुर्वार्तिककारास्तथाहि—"एवं तावत्समासेन षष्ठाध्यायोक्तमादरात् । श्रुत्याऽनूद्याखिलं वस्तु तस्याथ प्रतिपत्तये ॥ उपायतो यथा सर्वो वेदोऽस्य प्रतिपद्यते । तमेतमितिवाक्येन तदेतदभिधीयते ॥ एतं विविदिषन्त्युक्त्वा वेदानुवचनादिभिः । उपायैरीश्वरं साक्षादपेताशेषकल्पनम् ॥ स्वातन्त्र्येणेशविषया बुभुत्साऽप्यतिदुर्लभा । गम्यते तदुपायानां विधानाद्यत्नतः श्रुतौ ॥ विनियोगप्रयत्नाच्च कर्मविज्ञानकाण्डयोः । गम्यते भिन्नवाक्यत्वं नैकत्र विनियोगगीः ॥ यद्बुभुत्साऽपि दुष्प्रापा क्व तत्तत्त्वबोधनम् । ततोऽपि दुर्लभतरमुपायाल्लभ्यते कुतः ॥ बुभुत्सामात्र एवामी वेदानुवचनादयः । विनियुक्ता यतस्तस्मान्नैते तज्ज्ञानसिद्धये । अत एव श्रुतिर्यत्नाच्छमादीनेव वक्ष्यति । उपायानात्मयाथात्म्यविज्ञानाय यमादिकान् ॥ बुभुत्सासाधनेष्वेषु वेदानुवचनादिषु । अधिकारोऽविशेषेण ह्याश्रमाणां यथाश्रुति ॥ यथायोग यथाप्रज्ञं तद्बुभुत्साप्रसिद्धये । सर्वाश्रमैरमी कार्या वेदानुवचनादयः" ॥ १०१८-१०२७ ॥ इति । वृत्तमनूद्य विविदिषावाक्यतात्पर्यमाह—एवं तावदिति । वस्तु ब्रह्मात्मैक्यमिति यावत् । श्रुत्या स वा एष महानित्यादिकयेत्यर्थः । अखिलं पूर्णमित्येतत् । तस्येत्यैक्योक्तिः । तत्प्रतिपत्तेरुपायापेक्षाद्योतकोऽथशब्दः ॥ वेदशब्दः कर्मकाण्डार्थः ॥ विविदिषावाक्यतात्पर्यमुक्त्वा तदक्षराणि योजयति—एतमिति । साक्षाद्विविदिषन्तीति संबन्धः । उक्तं विरजः पर आकाशादित्यादावित्यर्थः । ईश्वरमित्यज्ञातस्य प्रतीचो विविदिषाविषयत्वं सूचयति । तस्यैव निरुपाधिकं नित्यमुक्तं रूपमाह—अपेतेति ॥ प्रतीचि ज्ञानेच्छाया लौकिकेच्छातो विशेषमाह—स्वातन्त्र्येणेति । लौकिकी तावदिच्छा शोभनार्थधीकृता सुलभा प्रत्यग्विषया तु पुरुषस्य स्वातन्त्र्येण बुभुत्साऽपि न लभ्यते तज्ज्ञानं तु सुतरामित्यर्थः ॥ विविदिषादौर्लभ्यस्य गमकमाह—तदुपायानामिति । बहूपायोपन्यासो यत्नः ॥ विविदिषावाक्यालोचनया सिद्धमर्थमाह—विनियोगेति । यत्तु काण्डयोरेकवाक्यत्वं कैश्चिदुक्तं तदयुक्तं तयोर्भिन्नवाक्यत्वमेव हि गम्यते कर्मणां विविदिषायां विनियोगे वाक्यतात्पर्यदर्शनाच्च काण्डयोर्वाक्यैक्येऽपि तेषां तत्र विनियोगोक्तिर्युक्ता तद्विनियोगे लब्धविविदिषस्य कर्मत्यागप्रसङ्गादेकवाक्यत्वानवकाशादित्यर्थः ॥ ईश-

विनियुज्यते । 'तत्कथमित्युच्यते—तमेतमेवंभूतमौपनिषदं पुरुषं वेदानुवचनेन मन्त्र-ब्राह्मणाध्ययनेन नित्यस्वाध्यायलक्षणेन विविदिषन्ति वेदितुमिच्छन्ति । के । ब्राह्मणाः । ब्राह्मणग्रहणमुपलक्षणार्थम् । अविशिष्टो ह्यधिकारस्त्रयाणां वर्णानाम् । 'अथवा कर्म-काण्डेन मन्त्रब्राह्मणेन वेदानुवचनेन विविदिषन्ति । कथं विविदिषन्तीत्युच्यते यज्ञेने-त्यादि ।

ये पुनर्मन्त्रब्राह्मणलक्षणेन वेदानुवचनेन प्रकाश्यमानं विविदिषन्तीति व्याचक्षते

'परम्परया ज्ञानोत्पत्तिशेषत्वेनेत्यर्थः । विनियोजक वाक्यमाकाङ्क्षापूर्वकमादाय व्याचष्टे—तत्कथ-मित्यादिना । एवंभूतं श्लोकोक्तविशेषणमित्यर्थः । ब्राह्मणशब्दस्य क्षत्रियाद्युपलक्षणत्वे हेतुमाह—अविशिष्टो हीति । सभावितं पक्षान्तरमाह—अथवेति । 'तेन विविदिषाप्रकार प्रश्नपूर्वक विवृणोति—कथमित्यादिना ।

भर्तृप्रपञ्चप्रस्थानमुत्थाप्य प्रत्याचष्टे—ये पुनरित्यादिना । तत्र हेतुमाह—न हीति ।

परम्परया ज्ञानोत्पत्ति के लिए विनियुक्त होता है । वह किस प्रकार ? इसे बतलाया जाता है—"तमेतम्" अर्थात् इस औपनिषद पुरुष को "वेदानुवचनेन" अर्थात्—नित्य स्वाध्याय लक्षण मन्त्र-ब्राह्मण ग्रन्थो के अध्ययन से "विविदिषन्ति" अर्थात् जानने की इच्छा करते हैं । कौन करते हैं ? ब्राह्मण । यहाँ ब्राह्मण ग्रहण क्षत्रिय और वैश्य का भी उपलक्षण कराने के लिए है क्योंकि ब्रह्मात्मावबोधन मे ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य इन तीनो वर्णों का समान रूप से अधिकार है अथवा मन्त्रब्राह्मणात्मक कर्मकाण्डरूप वेदानुवचन से उस ब्रह्म को जानने की इच्छा करते है । कैसे जानने की इच्छा करते है ? इस पर "यज्ञेन" इत्यादि मन्त्र से कहा जाता है ।

किन्तु जो (भर्तृप्रपञ्चादि विचारक) इस प्रकार व्याख्या करते हैं कि मन्त्र ब्राह्मणरूप वेदानुवचन के द्वारा प्रकाश्यमान आत्मा को जानने की इच्छा करते हैं । उनके अनुसार उपनिषद्मात्र

---

१ तत्कथमिति—निरुक्त कर्मकाण्ड निरुक्तविद्याया कथ विनियुज्यत इति प्रश्नार्थ । २ क्षत्रियवैश्ययो । ३ ब्रह्मात्मावबोधने । ४ वेदानुवचनशब्दस्यार्थान्तरमाह—अथवेति । मन्त्रब्राह्मणात्मक यत्कर्मकाण्ड तद्रूपवेदानुवचनेत्यर्थ । ५ यथोक्तकर्मकाण्डद्वारा यज्ञाद्यनुष्ठानेनेत्यर्थ । ६ आत्मानमिति शेष । ७ धीशुद्धिद्वारेत्यर्थ । ८ यथोक्तकर्मकाण्डेन ।

विषया बुभुत्साऽपीत्यत्रापिना सूचितमर्थमाह—यदिति ॥ कर्मणा विविदिषाया विनियोगोक्तिमनुसृत्य काण्ड-योरेकवाक्यत्वाभावमुक्त्वा विनियोगोक्तिवशादेव लब्धमर्थान्तरमाह—बुभुत्सेति ॥ विविदिषासाधनान्येव कर्माणि न ज्ञानसाधनानीत्यत्र वाक्यशेषस्यानुग्राहकत्वमाह—अत इति । 'अहिंसासत्यास्तेयब्रह्मचर्यापरिग्रहा यमाः' इति योगसूत्रानुसारेण शमादीन्विशिनष्टि—यमात्मकानिति ॥ अस्तु बुभुत्सासाधनान्येव कर्माणि केषा पुनस्तेष्वधिकारस्तत्राऽऽह—बुभुत्सेति । अविशेषेणेति च्छेद । तेषा तत्र स्वामित्वेन योग्यत्व हिशब्दार्थ । वर्णाश्रमकर्मव्यवस्था तर्हि दुःस्था स्यादित्याशङ्क्याऽऽह—यथाश्रुतीति । येन वर्णेनाऽऽश्रमेण वा यत्कर्म शास्त्रवशाद्युज्यते ता श्रुतिमनतिक्रम्य तस्य तस्मिन्नधिकृतिरित्यर्थ. ॥ त प्रपञ्चयति—यथायोगमिति । तद्-बुभुत्सा प्रत्यग्विविदिषा ॥

तेषामारण्यकमात्रमेव वेदानुवचनं स्यात् । न हि कर्मकाण्डेन पर आत्मा प्रकाश्यते । तं त्वौपनिषदमिति विशेषश्रुतेः । वेदानुवचनेनेति चाविशेषितत्वात्समस्तग्राहीदं वचनम् । न च तदेकदेशोत्सर्गो युक्तः । ननु त्वत्पक्षेऽप्युपनिषद्वर्जमित्येकदेशत्वं स्यात् । नाऽऽद्यव्याख्यानेऽविरोधादस्मत्पक्षे नैव दोषो भवति । यदा वेदानुवचनशब्देन नित्यः स्वाध्यायो विधीयते तदोपनिषदपि परिगृहीतैवेति वेदानुवचनशब्दार्थैकदेशो न परित्यक्तो भवति । यज्ञादिसहपाठाच्च ।

यज्ञादीनि कर्माण्येवानुक्रमिष्यन्वेदानुवचनशब्दं प्रयुङ्क्ते । तस्मात्कर्मैव वेदानु-

---

भवतूपनिषन्मात्रग्रहणमित्याशङ्क्य "वेदो वाऽनूच्यते गुरूच्चारणानन्तरं पठ्यत इति व्युत्पत्तेर्वेदानुवचनशब्देन सर्ववेदग्रहे संभवति तदेकदेशत्यागो न युक्त इत्याह—वेदेति । दोषसाम्यमाशङ्कते —नन्विति । सिद्धान्तेऽप्युपनिषदं वर्जयित्वा वेदानुवचनशब्दे कर्मकाण्डं गृहीतमिति कृत्वा तस्य वेदैकदेशविषयत्वं स्यात्तत्र—

"यत्रोभयोः समो दोषः परिहारोऽपि वा समः ।
नैकः पर्यनुयोक्तव्यस्तादृगर्थविचारणे" ॥

इति न्यायविरोध इत्यर्थः । नित्यस्वाध्यायो वेदानुवचनमिति पक्षमादाय परिहरति—नेत्यादिना । वेदैकदेशपरिग्रहपरित्यागात्मकविरोधाभावं साधयति—यदेति । "तर्हि व्याख्यानान्तरमुपेक्षितमित्याशङ्क्य तदपि वाक्यशेषवशादपेक्षितमेवेत्याह—यज्ञादीति ।

संग्रहवाक्यं विवृणोति—यज्ञादीनि कर्माणीति । तर्हि प्रथमव्याख्याने कथं वाक्यशेषोपपत्ति-

---

ही वेदानुवचन है क्योंकि कर्मकाण्ड से परमात्मा (परोक्ष या अपरोक्ष रूप से) प्रकाशित नहीं होता। जैसा कि "मैं उस उपनिषत् प्रतिपादित पुरुष के विषय में पूछता हूँ" यह श्रुति है। किन्तु "वेदानुवचनेन" यह पद विशेषणयुक्त न होने से समस्त वेदों का ही ग्रहण करने वाला है; उसके एक (कर्मकाण्ड) भाग को छोड़ देना उचित नहीं है। (दोषसाम्य की शङ्का की जाती है—) किन्तु तुम्हारे मत में भी उपनिषत् को न ग्रहण कर एकदेशत्व हो ही जाता है। (सिद्धान्ती कहता है—) ऐसी बात नहीं है। पहले व्याख्यान में कोई विरोध न होने के कारण हमारे पक्ष में कोई दोष नहीं होता है। जब 'वेदानुवचन' शब्द से नित्यस्वाध्याय का अभिधान किया जाता है तो उसमें उपनिषत् का समावेश हो जाता है, इससे वेदानुवचन शब्द के अर्थ का एकदेश नहीं छूटता। यज्ञादि के साथ पाठ होने से भी इस प्रकार की अन्य व्याख्या करने की आवश्यकता नहीं है।

यज्ञादि कर्मों को अनुक्रम से ही दिखाते हुए श्रुति 'वेदानुवचन' शब्द का प्रयोग करती है।

---

१ उपनिषन्मात्रम्। २ स्यादिति—तथा च सर्ववेदवाचिवेदानुवचनशब्देऽप्रामाणिक एव सङ्कोच कृतः स्यादिति भाव.। ३ परोक्षत्वेनापरोक्षत्वेन वा। ४ अथवेत्यादिना त्वदुक्तद्वितीयपक्षे। ५. अभिधीयत इति पाठान्तरम्। ६. व्याख्यानान्तरमप्यपेक्षितमवेति शेष। ७ अनुक्रमेण वदिष्यन्वेद। ८ यज्ञादिसाहचर्यात्। ९. कर्मकाण्डमेव। १० वेदो वेति—वेदस्यानुवचनमिति व्युत्पत्तिमपेक्ष्यास्याव्युत्पत्त्यन्तरत्वाद्गशब्द इति ध्येयम्। ११ अर्थे। १२ प्रष्टव्य। १३ तर्हि—निर्दोषत्वेन प्रथमव्याख्यानेऽङ्गीकृते।

वचनशब्देनोच्यत इति [1]गम्यते । [2]कर्म हि नित्यस्वाध्यायः । कथं पुनर्नित्यस्वाध्यायादिभिः कर्मभिरात्मानं विविदिषन्ति । [3]नैव हि तान्यात्मानं प्रकाशयन्ति यथोपनिषदः । नैष दोषः—कर्मणां विशुद्धिहेतुत्वात् । कर्मभिः संस्कृता हि विशुद्धात्मानः शक्नुवन्त्यात्मानमुपनिषत्प्रकाशितमप्रतिबन्धेन वेदितुम् । तथा ह्याथर्वणे—"विशुद्धसत्त्वस्ततस्तु तं पश्यते निष्कलं ध्यायमानः" इति । स्मृतिश्च "ज्ञानमुत्पद्यते पुंसां क्षयात्पापस्य कर्मणः"

रित्याशङ्क्याऽऽह—कर्म हीति । वेदानुवचनादीनामात्मविविदिषासाधनत्वमाक्षिपति—कथमिति । उपनिषद्भिरिवाऽऽत्मा तैरपि ज्ञायतामित्याशङ्क्याऽऽह—नैवेति । कर्मणामप्रमाणत्वेऽपि परम्परया ज्ञानहेतुत्वाद्विविदिषार्थतैरविरुद्धेति समाधत्ते—नैष दोष इति । तदेव स्फुटयति—कर्मभिरिति । [4]तत्र श्रुत्यन्तरं प्रमाणयति—तथा हीति । ततो *नित्याद्यनुष्ठानाद्विशुद्धधीरात्मानं सदा चिन्तयन्नुपनि-

यज्ञादिसाहचर्य होने से कर्मकाण्ड ही 'वेदानुवचन' शब्द से कहा जाता है, इस प्रकार जाना जाता है क्योंकि नित्यस्वाध्याय भी वाचिक कर्म है। (यहाँ शङ्का होती है—) किन्तु नित्यस्वाध्यायादि कर्मों से आत्मा को जानने की इच्छा किस प्रकार करते हैं। (प्रमाण प्रमेय का प्रकाशक हुआ करता है—) क्योंकि वे तो उपनिषदों के समान आत्मा को प्रकाशित नहीं करते। (इसका समाधान किया जाता है—) ऐसा कहने में कोई दोष नहीं है क्योंकि कर्म चित्तशुद्धि के हेतु हैं। कर्मों से संस्कृत हुए विशुद्धात्मा पुरुष ही उपनिषदों में प्रकाशित आत्मा को बिना किसी प्रतिबन्ध के देख सकते हैं। आथर्वण मुण्डकोपनिषत् में कहा है—"जब विशुद्धान्तःकरण वाला पुरुष ध्यानावस्थित हो उस निष्कल ब्रह्म को देखता है"। स्मृति कहती है—"पापकर्मों के क्षय हो जाने से मनुष्यों को ज्ञान उत्पन्न होता है" इत्यादि।

१ मकोविज्ञमन्मते गमकमिदमिति भावः। २ कर्म हीति—नित्यस्वाध्यायोऽपि वाचिकं कर्मैवेति न साहचर्यानुपपत्तिरिति भावः। ३ नैव हीति—प्रमाणं हि प्रमेयप्रकाशकं भवति कर्मणां चाप्रमाणत्वान्नैव तत्प्रकाशकत्वमिति भावः। ४ यथाऽऽदर्शतले प्रख्ये पश्यत्यात्मानमात्मनीति स्मृतिशेषः। ५ तत्र कर्मभिः शुद्धबुद्धेर्विविदिषोत्पत्तिमित्यत्रेत्यर्थः।

* नित्याद्यनुष्ठानादिति—आदिना काम्यं कर्म गृह्यते। तथा च वार्तिके—"संसारानर्थहेतुत्वख्यापनायैव च कर्मणाम्। काम्यानामिह निर्देशस्तज्जिहासाप्रसिद्धये॥ यद्वा विविदिषार्थत्वं काम्यानामपि कर्मणाम्। समेतमिति वाक्येन संयोगस्य पृथक्त्वतः"॥ १०५१-१०५२॥ इति। शुद्धिद्वारा मुक्तिफलोपायत्वान्नित्यकर्मणामुत्तमपुमर्थान्वयमुक्त्वा काम्यकर्मणां तदन्वयप्रकारमाह—समारेति। यदा वेदे काम्यानि कर्माण्युक्तानि गर्भवासाद्यनर्थहेतवो ज्ञायन्ते तदा तेषु जिहासोपवर्तते ततश्च नित्याद्यनुष्ठानात्परिशुद्धिबुद्धेर्विविदिषादिद्वारा मुक्तिरिति युक्ता तेषामपि प्रकृष्टफलान्वयितेत्यर्थः॥ तेषां विधान्तरेण मोक्षान्वयित्वं सवल्यग्रन्थोक्तं स्मारयति—यद्वेति। कथं तानि फलान्तरोद्देशेन विहितानि विविदिषायामुपयुज्यन्ते तत्राऽऽह—संयोगस्येति॥ 'एकस्य तूभयत्वे संयोगपृथक्त्वम्' (जै. सू ४. ३. ५) इति जैमिनीयसिद्धान्तसूत्रम्। संयोगो वाक्यं तस्य पृथक्त्वं भेद एकस्योभयार्थत्वे नियामक इति तदर्थः। यथा दध्ना जुहुयादितिफलासंयुक्तवाक्येन क्रत्वर्थत्वेन विहितस्यापि दध्नो दध्नेन्द्रियकामस्य जुहुयादित्यनेन फलाय विधानात्पुरुषार्थत्वमपि भवति। तथा ज्योतिष्टोमादीनां स्वर्गाद्यर्थत्वेन विहितानामपि यज्ञेनेत्यादिविविदिषावाक्येन विविदिषासाधनत्वमपि स्यादेवेति॥

इत्यादिः ।

कथं पुनर्नित्यानि कर्माणि संस्कारार्थानीत्यवगम्यते "स ह वा आत्मयाजी यो वेदेदं मेऽनेनाङ्गं संस्क्रियत इदं मेऽनेनाङ्गमुपधीयते" इत्यादिश्रुतेः । सर्वेषु च स्मृतिशास्त्रेषु कर्माणि संस्कारार्थान्येवाऽऽचक्षते ऽष्टाचत्वारिंशत्संस्कारा इत्यादिषु । गीतासु च—

"यज्ञो दानं तपश्चैव पावनानि मनीषिणाम् ।
सर्वेऽप्येते यज्ञविदो यज्ञक्षपितकल्मषाः" ॥

इति । यज्ञेनेति द्रव्ययज्ञा ज्ञानयज्ञाश्च संस्कारार्थाः । संस्कृतस्य च विशुद्ध-

---

बुद्धेरात्मदर्शनं भवतीत्यर्थः । आदिशब्देन 'कषायपक्तिरित्यादिस्मृतिसंग्रहः ।

नित्यकर्मणां संस्कारार्थत्वे प्रमाणं पृच्छति—कथमिति । यद्यपि श्रुतिस्मृतिभ्यां कर्मभिः संस्कृतस्योपनिषद्भिरात्मा ज्ञातुं शक्यते तथाऽपि तेषां संस्कारार्थत्वे किं प्रमाणमिति प्रश्ने श्रुतिस्मृती प्रमाणयति—स ह वा इत्यादिना । किं पुनः स्मृतिशास्त्रं तदाह—अष्टाचत्वारिंशदिति । अष्टावनायासादयो गुणाश्चत्वारिंशद्गर्भाधानादयः संस्कारा इति विभागः । बहुवचनोपात्तं स्मृत्यन्तरमाह—गीतासु चेति । पदान्तरमादाय व्याचष्टे—यज्ञेनेतीति । तेषां संस्कारार्थत्वेऽपि कथं ज्ञानसाधनत्वमित्याशङ्क्याऽऽह—संस्कृतस्येति । ज्ञानेन विविदिषन्तीति पूर्वेण संबन्धः । कथं पुनः

किन्तु नित्य कर्म चित्तशुद्धि के लिए है, यह कैसे जाना जाता है ? (इसका समाधान देते हैं—) वही आत्मयाजी है, जो इस प्रकार जानता है कि "इस कर्म से मेरे अन्तःकरण का संस्कार होता है, तथा इस कर्म से मेरे पुण्य की वृद्धि होती है" इत्यादि श्रुति इसके जानने के प्रकार में प्रमाण है । सभी स्मृतिशास्त्रों में कर्मों को चित्तशुद्धि के लिए ही बतलाया गया है । संस्कार अड़तालीस हैं । गीता में भी कहा गया है—

"यज्ञ, दान और तप मनुष्यों को पवित्र करने वाले हैं, "यज्ञों के द्वारा जिसके पाप नष्ट हो

---

१ स ह वा इति—अनेन कर्मणा मेऽङ्गम् अन्तःकरणं संस्क्रियते उपधीयते पुण्येनोपचीयत इति विदित्वा यः कर्म चरति स आत्मशुद्ध्यर्थं यजनादात्मयाजी स च देवयाजिनः काम्यकर्तुः श्रेयानिति श्रुत्यर्थः । २ अष्टाचत्वारिंशदिति—तत्र अनायासः, अनसूया, दया, शौचम्, माङ्गल्यम्, अकार्पण्यम्, अस्पृहा, क्षान्तिः, इत्यष्टावात्मगुणा अनायासादयः । हुतम्, प्रहुतम्, आहुतम्, शूलगवः, बलिहरणम्, प्रत्यवरोहणम्, अष्टकाहोमः, इति सप्तपाकयज्ञाः । अग्न्याधानम्, अग्निहोत्रम्, दर्शपूर्णमासौ, चातुर्मास्यानि, आग्रयणेष्टिः, निरूढपशुबन्धः, सौत्रामणिः, इति सप्तहविर्यज्ञाः । अग्निष्टोमः, वाजपेयः, उक्थः, षोडशी, अतिरात्रः, अप्तोर्यामः, इति सप्तसोमयज्ञसंस्थाः । अग्निष्टोमानन्तरमत्यग्निष्टोमो द्रष्टव्यः । गर्भाधानम्, पुंसवनम्, सीमन्तः, विष्णुबलिः, जातकर्म, नामकरणम्, उपनिष्क्रमणम्, अन्नप्राशनम्, कर्णवेधः, चौलम्, अक्षरस्वीकरणम्, उपनयनम्, व्रतम्, समावर्तनम्, विवाहः, उपाकर्म, उत्सर्जनम्, वानप्रस्थम्, संन्यासः इत्येकोनविंशतिरितरे । ३ द्रव्ययज्ञः—यथाशास्त्रं द्रव्यपरित्यागः इष्टापूर्तदत्ताख्यं कर्मेति यावत् । ४ न्यायेन वेदान्तार्थनिश्चयो ज्ञानयज्ञः । ५ "कषायपक्तिः कर्माणि ज्ञानं तु परमा गतिः । कषाये कर्मभिः पक्वे ततो ज्ञानं प्रवर्तते" ॥ इति समग्रम् । ६ श्रुतिस्मृतिभ्यामित्यत्र विहितैरिति शेषयन्ति गुरुपादाः । वयं तु ज्ञायत इत्यनन्तरमित्यवगतमिति शेषमभ्यूहं मन्महे ।

सत्त्वस्य ज्ञानोत्पत्तिरप्रतिबन्धेन भविष्यत्यतो यज्ञेन विविदिषन्ति दानेन । दानमपि पापक्षयहेतुत्वाद्धर्मवृद्धि¹हेतुत्वाच्च । तपसा तप इत्यविशेषेण कृच्छ्रचान्द्रायणादिप्राप्तौ विशेषणमनाशकेनेति । कामानशनमनाशक ²न तु भोजननिवृत्तिः । भोजननिवृत्तौ म्रियत एव नाऽऽत्मवेदनम् ।

'स्वतन्त्र दानं विविदिषाकारणमत आह—दानमपीति । विविदिषाहेतुरिति शेषः । तपसेत्यत्रापि पूर्ववदन्वयः । कामानशनं रागद्वेषरहितैरिन्द्रियैर्विषयसेवन यदृच्छालाभसंतुष्टत्वमिति यावत् । 'यथाश्रुतार्थत्वे का हानिरित्याशङ्क्याऽऽह—न त्विति ।

गये हैं, वे सभी लोग यज्ञ का स्वरूप जानने वाले हैं" इत्यादि ।

'यज्ञ' इस पद से द्रव्ययज्ञ (इष्टापूर्त दत्ताख्य कर्म) तथा (वेदान्तार्थनिश्चयरूप) ज्ञानयज्ञ का ग्रहण करना चाहिये; ये संस्कार के प्रयोजक हैं । संस्कारयुक्त विशुद्ध अन्तःकरण वाले पुरुष को बिना किसी प्रतिबन्ध के ज्ञान की प्राप्ति होगी, इसलिए यज्ञ और दान द्वारा उसे जानने की इच्छा करते हैं । दान भी पापक्षय एवं धर्मवृद्धि द्वारा ज्ञान का हेतु है । "तपसा" अर्थात् तप से सामान्यतः कृच्छ्रचान्द्रायणादि का ग्रहण हो जाता है । इसी से 'अनाशकेन' यह विशेषण दिया गया है । राग-द्वेष रहित होकर इन्द्रियों द्वारा विषयों का सेवन करना कामानशन है; भोजन की निवृत्ति करना नहीं । भोजन छोड़ देने से तो मनुष्य मर ही जाता है, इससे कोई आत्मज्ञान नहीं होता ।

१ पापक्षयादिद्वारेति यावत् ।　२ द्वार किंचिदनपेक्ष्य ।　३ संकल्पपूर्वकमामरणमशनवर्जनार्थत्वे ।

❀ न तु भोजननिवृत्तिरिति । अत्राहुर्वार्तिककारपादास्तथाहि—"नियमाद्द्वन्द्वसंपातसहनं तप उच्यते । तस्यापि बुद्धिसंशुद्धिहेतुत्वं शास्त्रतो मतम् ॥ विजिज्ञासस्व तद्ब्रह्म तपसैवेति च श्रुतिः । तपसा कल्मषं हन्तीत्यपि च स्मृतिशासनम् ॥ यद्दुस्तरं यद्दुरापं यद्दुर्गं यच्च दुष्करम् । सर्वं तत्तपसा साध्यं तपो हि दुरतिक्रमम् ॥ अनाशकं चानशनं कामानशनलक्षणम् । रागद्वेषवियुक्तैस्तु विषयानिति चाऽऽह हि ॥ कामानशनबोधार्थं वेदाभ्यासोऽपि यत्नतः । मृत्यन्तं वा सनियमं तदप्यत्यन्तशुद्धिकृत् ॥ प्रत्यग्विविदिषामात्रहेतुत्वान्न मृतेर्भयम् । अनेकजन्मसंसिद्धस्ततो यातीति च स्मृतेः । भावितैः करणैश्चाय बहुसंसारयोनिषु । आसादयति शुद्धात्मा मोक्षं वै प्रथमाश्रमे ॥ पृथूदकादितीर्थेषु तथा च मरणं स्मृतौ । श्रूयते मुक्तये साक्षान्न भयं स्यादतो मृतेः ॥ साक्षात्तु वस्तुविज्ञाने श्रुत्या यत्र नियुज्यते । विद्वान्परिहरेत्तत्र मृतिहेतुं प्रयत्नतः ॥ चतुर्णामाश्रमाणां वा वेदानुवचनादिना । श्रुत्येह ग्रहणं ज्ञेयं तद्बुभुत्साप्रसिद्धये ॥ ब्रह्मचर्यान्तवाक्येन ब्रह्मचारिपरिग्रहः । तपसा तापसस्यैव यज्ञेन गृहिणस्तथा ॥ अद्धानाशकवाक्यं तु सर्वार्थमिति गम्यते । एतमेव विदित्वेति पारिव्राज्यं च वक्ष्यति ॥ सर्वेऽपि क्रमशस्त्वेते सेव्यमाना यथाविधि । यथोक्तकारिणं विप्रं नयन्ति परमां गतिम् ॥ चतुर्भिराश्रमैरेभिर्यथाशास्त्रमनुष्ठितैः । अत्यन्तं क्षेममाप्नोतीत्यापस्तम्बोऽप्यभाषत" ॥ १०५४-१०६७ ॥ इति । तपःशब्दार्थमाह—नियमादिति । रागादिनिमित्तक्लेशसहिष्णुत्वव्यवच्छेदार्थं नियमादित्युक्तम् । शास्त्रीयपारलौकिकजपोपवासादिविधिवशादिति यावत् । तेन कथं विविदिषासिद्धिस्तत्राऽऽह—तस्यापीति ॥ तदेवोदाहरति—विजिज्ञासस्वेति अन्वयव्यतिरेकरूपं तपोऽत्र विवक्षितमित्याशङ्क्य चशब्दसूचितां स्मृतिमवतारयति—तपसेति ॥ तत्रैव स्मृत्यन्तरमाह—यदिति । दुस्तरं दुष्परिहरं कुम्भीपाकादिदुःखम् । दुरापमाप्तुमशक्यं स्वर्गादिसुखम् । दुर्गमवगन्तुमशक्य-

वेदानुवचनयज्ञदानतपःशब्देन सर्वमेव नित्यं कर्मोपलक्ष्यते । 'एवं काम्यवर्जितं नित्यं कर्मजातं सर्वमात्मज्ञानोत्पत्तिद्वारेण मोक्षसाधनत्वं प्रतिपद्यते । 'एवं कर्मकाण्डेना'स्यै-

भवंतुपासना'वेदानुवचनादीनामित्यप्राप्ते ज्ञाने विनियोगस्तथाऽपि कथं सर्वं नित्यं कर्म तत्र विनियुक्तमित्याशङ्क्याऽऽह—वेदानुवचनेति । उपलक्षणफलमाह—एवमिति । 'प्रणाड्या कर्मणो मुक्तिहेतुत्वे काण्डद्वयस्यैकवाक्यत्वमपि सिध्यतीत्याह—एव कर्मेति । वाक्यान्तरमवतार्य व्याकरोति —एवमिति । 'तस्यैवार्थमाह—यथोक्तेनेति । यज्ञाद्यनुष्ठानाद्धिशुद्धिद्वारा विविदिषोत्पत्तौ गुरुपादोप-

वेदानुवचन, यज्ञ, दान और तप इन शब्दों से सम्पूर्ण नित्यकर्म उपलक्षित होता है । (उपात्त के उपलक्षक होने पर) इस प्रकार काम्यवर्जित सम्पूर्ण नित्यकर्म आत्मज्ञानोत्पत्ति के द्वारा मोक्ष के साधन होते हैं । इस प्रकार कर्मकाण्ड से इस ज्ञानकाण्ड की एकवाक्यता हो जाती है । इस प्रकार यथा-

१ उपात्तस्योपलक्षकत्वे सति । २ अवतरणोक्तत्वात् । ३. ज्ञानकाण्डस्य । ४ श्रुत्या । ५ परम्परया । ६ एवशब्दस्य ।

सत्त्यादि । दुष्कर कर्तुमशक्यमश्वमेधादि । तपसा सर्वस्य साध्यत्वे हेतुमाह—तपो हीति । तपसा हि कुम्भसम्भवेनाम्भोनिधिः सहसा चुलुकीकृतस्तत्र तस्य माहात्म्यं सुवचमिति भावः ॥ अनाशकशब्दार्थमाह—अनाशनं चेति । रागद्वेषाभिनिवेशातिरेकेण परिमितशास्त्रीयविषयनिषेवणमनाशकमित्यत्र मानमाह—रागेति ॥ इन्द्रियमनोनिग्रहस्य प्रसादादिफलवचनं यत्न । अनाशकशब्दस्य प्रसिद्धिमनुरुन्धानोऽर्थान्तरमाह—भृत्यन्तमिति । नियमेन सकलेन सहित मरणान्तमशनवर्जनमनाशकमित्यर्थः । किं तेनेति तदाह—तदपीति ॥ शुद्धिद्वारा विविदिषाहेतुत्वं तस्य न सिध्यति जीवतो हि शुद्धयादिसिद्धिरित्याशङ्क्याऽऽह—अत्यमिति । अनाशकस्याऽऽत्मविविदिषामात्रहेतुत्वान्न त्वैहिकविविदिषा तन्नियमोऽतो मृतिप्रयुक्तमनाशकस्याफलत्वं माऽऽशङ्कनीयं जन्मान्तरे तस्य तद्धेतुत्वादित्यर्थः । ऐहिकमपि साधनं जन्मान्तरविविदिषाद्वारा मुक्तिहेतुरित्यत्र मानमाह—अनेकेति ॥ सर्वांनाश्रमाननुष्ठितवतो जन्मान्तरेऽपि मुक्तिरिति नियमं निराकुर्वन्वाक्यान्तरमाह—भाविनैरिति ॥ यद्यपि वार्तमानिकं यज्ञादि जन्मान्तरे शुद्धयादिद्वारोपयुक्तं तथाऽपि कथं विशिष्टं मरणं तथेत्याशङ्क्याऽऽह—पृथूदकादीति । आदिपदेन प्रयागादिग्रहः । स्मृतौ 'ब्रह्मज्ञानेन मुच्यन्ते प्रयागमरणेन वै'त्याद्यामिति । तथा च मृतिकृतमनाशकस्याफलत्वविषयं भयं नास्तीति फलितमाह—नेति ॥ सर्वैरपि तर्हि मुमुक्षुभिरनशनं मरणान्तमनुष्ठेयं तत्कुतस्तेषां श्रवणादिविधिरित्याशङ्क्याऽऽह—साक्षादिति । यत्र ज्ञानमुद्दिश्य श्रवणादौ श्रोतव्यादिश्रुत्या पुरुषो नियुज्यते तत्र समर्थः साधनचतुष्टयसंपन्नो मरणकारणमनशनं दूरादेव त्यजेदनशनान्तरं चाऽऽद्रियेत मृतिहेतुमिति विशेषणाच्छ्रवणादिसमर्थस्तु मरणान्तमनशनमाचरन्प्रत्यनेयात्त्वपदार्थविवेकायेत्यादिस्मृतेरित्यर्थः ॥ वेदानुवचनादिशब्दानां कर्मपरत्वमुक्त्वाऽऽश्रमविषयत्वमाह—चतुर्णामिति ॥ वेदानुवचनादिरूपया श्रुत्या किमित्यस्मिन्वाक्ये ग्रहणमाश्रमाणामित्याशङ्क्याऽऽह—तदिति । सर्वेषामप्याश्रमाणां व्यवधानाव्यवधानाभ्यां प्रत्यग्विविदिषायामधिकारार्थं तेषां ग्रहणमित्यर्थः ॥ केन शब्देन कस्याऽऽश्रमस्य ग्रहणमित्यपेक्षायां माध्यंदिनपाठमनुसृत्य विभागमाह—ब्रह्मचर्यादेति । 'तमेतं वेदानुवचनेन ब्रह्मचर्येण ब्राह्मणा विविदिषन्ति यज्ञेन दानेन तपसाऽनाशकेनेति" हि ते पठन्ति । तथाऽपि त्रयाणामेवाऽऽश्रमाणामिह ग्रहश्चतुर्थाश्रमद्योतिशब्दाभावादित्याशङ्क्याऽऽह—एतमेवेति ॥ वेदानुवचनादिशब्दानामाश्रमविषयत्वं वदता विविदिषाद्वारा मोक्षोपायत्वमाश्रमाणामुक्तं तत्र प्रमाणमाह—सर्वेऽपीति ॥ क्षेमशब्देन मोक्ष ग्रहीतुमत्यन्तविशेषणम् ॥

कथास्यतावगतिः। एवं यथोक्तेन न्यायेनैतमेवाऽऽत्मानं विदित्वा यथाप्रकाशितं मुनिर्भवति मननान्मुनिर्योगी भवतीत्यर्थः। एतमेव विदित्वा मुनिर्भवति नान्यम्। ॐ नन्वन्यवेदनेऽपि मुनित्वं स्यात्कथमवधार्यत एतमेवेति। बाढमन्यवेदनेऽपि मुनिर्भवेत्। किंत्वन्यवेदने न मुनिरेव स्यात्किं तर्हि कर्म्यपि भवेत्सः। एतं त्वौपनिषदं पुरुषं विदित्वा

सर्पणं श्रवणादि चेत्यनेन क्रमेणेत्यर्थः। यथाप्रकाशितं मोक्षप्रकरणे मन्त्रब्राह्मणाभ्यामुक्तलक्षणमित्यर्थः। योगिशब्दो जीवन्मुक्तविषयः। एवकारं व्याकरोति—एतमेवेति। अवधारणमाक्षिप्य समाधत्ते—नन्वित्यादिना। एवकारस्तर्हि त्यज्यतामित्याशङ्क्याऽऽह—किंत्विति। आत्मवेदनेऽपि कर्मित्वं स्यादिति चेन्नेत्याह—एतं त्विति। कथमात्मविदोऽपि मुनित्वमसाधारणं तदाह—एतस्मिन्निति। इत-

---

विधि से इस आत्मा को जान कर मोक्ष प्रकरण मे प्रकाशित लक्षणानुसार मुनि हो जाता है। मनन करने से मुनि या योगी होता है, यह इसका अर्थ है। इसे जानकर ही मुनि होता है; कर्मादि अनात्म-पदार्थों को जानकर नही। (इस पर शङ्का होती है—) किन्तु मुनि तो अन्य वस्तु के ज्ञान से भी हो सकता है, फिर यह क्यो कहते हो कि इतना मात्र जानने से मुनि होता है। (समाधान देते हैं—) ठीक है। दूसरे को जानने से भी मुनि हो सकता है किन्तु अन्य को जानने से केवल मुनि ही नही होगा, कर्मी भी होगा। इस औपनिषद पुरुष को जानकर तो केवल मुनि ही होगा; कर्मी नही। इसलिये

---

१ कर्मादिकमनात्मवर्गम्। २ सत्यम्। ३ अथाकामयमान इत्यादौ।

ॐ नन्वन्यवेदनेऽपीत्यादि कुत पुन इत्यत प्राक्तनभाष्ये वार्तिकान्युपन्यस्यन्ते—"य सं विविदिषन्त्युक्त्वैवं यद्योक्तं साधन परम्। एतमेव विदित्वाऽथ मुनि स्यात्प्राग्यथोदित ॥ पाण्डित्यबाल्ययोर्निष्ठा मुनित्व प्रागवादिषम्। सर्वधर्ममुचा यस्माच्च तत्साधारण तत ॥ योगस्य च समस्तस्य प्रत्यग्विज्ञानजन्मने। उपयोगो यतस्तस्मात्प्रा-ऽऽत्मज्ञानोदयात्पर ॥ शमादीन्येव विद्याया साधनानि यतस्तत। मुतोऽशन्यासिनस्तस्यान्मुनित्व निष्क्रमाण-कम् ॥ मननात्मकमेवास्य यम नान्यथतस्तत। मुनित्व न्यासिनो युक्त मौनाच्चाप्यस्य सर्वदा ॥ प्रत्यग्याथात्म्य-विज्ञाननिष्ठता मुनिता यत। तज्ज्ञानजन्मनो नोर्ध्वं मुनिता तत्फलत्वत ॥ एतमेवेत्यवधृतेरस्यैवैकस्य वस्तुन। तदज्ञानैकहेतुत्वात्सर्वस्यानात्मवस्तुन ॥ सामर्थ्याच्च ततोऽस्यैव प्रत्यग्याथात्म्यवेदिन। मुनित्व प्रत्यगज्ञानहेतु-कर्मापवर्जनात् ॥ किंचैतमेवमात्मान सर्वानर्थैकवारणम्। मोहमात्रव्यवहितमाप्तुमिच्छन्त आदरात् ॥ आत्म-याथात्म्यविज्ञानसर्वाविद्योपमर्दिना। सम्यग्ज्ञानप्रदीपेन प्रत्यक्प्रवणबुद्धय ॥ विरक्ता सर्वससारात्प्रजाद्वुद्धि-शुद्धित। उत्पन्ननिखिलानर्थेतित्यक्षा दोषदर्शनात् ॥ वाङ्मन कायकर्मभ्योऽत्र प्रव्रजन्तीशीलिन ॥ एतमेवेत्यव-धृतेर्न लोकत्रयकामिनाम्। पारिव्राज्यऽधिकारोऽस्तीत्ययमर्थोऽवगम्यते ॥ असाधारणसाध्यानि पुत्रादीनि यथा तथा। पुत्रादिकामत्यागोऽपि स्यादसाधारणोऽर्थवान् ॥ परस्परविरोधाच्च परात्प्रत्यक्फलात्मनाम्। पुत्रादि-साधनाना च तत्त्यागस्य च वर्त्मन ॥ पूर्वं समुद्रं य पन्था न स गच्छति पश्चिमम्। एक पन्था हि मोक्षस्येत्यपि व्यासोऽपि भावदत् ॥ प्रव्राजिनोऽत्र गृह्यन्ते प्रसिद्धेर्यदि वा परे। त्रिदण्डिन गमाख्यायास्तेष्वेवातिप्रसिद्धित ॥ पराञ्चि खानीत्यादीनि गीतानि च वचासि न। तानि वा इति निन्दित्वा न्यासो ब्रह्मेति शासनात् ॥ उपायो न्यास एवात प्रत्यग्ज्ञानस्य जन्मने। प्रत्यग्ज्ञानविरुद्धत्वान्मनोवाक्कायकर्मणाम् ॥ शब्दादिप्रवृत्तीन्येव कार्याणि करणानि च। प्रत्यग्ज्ञानाय नैवालमतस्तानि विरोधत ॥ आत्मलोकपरीप्साया तस्मात्साधनमुत्तमम्। त्याग एव हि विज्ञेय मनोवाक्कायकर्मणाम् ॥ प्रतिसाध्य सुतादीनि यथा लोकत्रयार्थिनाम्। नियतानि तथैवेह

मुनिरेव स्यान्न तु कर्मी । 'अतोऽसाधारणं मुनित्वं विवक्षितम्'स्येत्येवधारयत्येतमेवेति । 'एतस्मिन्हि विदिते केन कं पश्येदित्येव क्रियासंभवान्मननमेव स्यात् । किंचैतमेवाऽऽत्मानं स्वं लोकमिच्छन्तः 'प्रार्थयन्तः प्रव्राजिनः 'प्रव्रजनशीलाः प्रव्रजन्ति प्रकर्षेण व्रजन्ति सर्वाणि कर्माणि संन्यस्यन्तीत्यर्थः ।

आऽऽत्मविदो न कर्मित्वमित्याह—किंचेति । आत्मलोकमिच्छता मुमुक्षूणामपि कर्मत्यागश्रवणादात्मविदो न कर्मितेति किं वक्तव्यमित्यर्थः । ताच्छील्यं वैराग्यातिशयशालित्वम् ।

(आत्मवेत्ता में कर्मित्व का अभाव होने से) यहाँ (प्रत्यग् याथात्म्य ज्ञाता) असाधारण मुनि विवक्षित है । इसी से निर्णय किया जाता है—'उस आत्मा को जानकर (मुनि होता है)" इत्यादि । "इसके जान लेने पर कौन किसे देखे" इस श्रुति के अनुसार वहाँ क्रिया होनी असम्भव होने पर केवल मनन ही होगा । तथा "एतमेव" अर्थात् इसी अपनी आत्मा के लिए लोक को "इच्छन्त" अर्थात् जानने की इच्छा वाले "प्रव्राजिन" अर्थात अखिल संसार से विरक्त होकर "प्रव्रजन्ति" अर्थात् पूर्ण रूप से सन्यासी हो जाते हैं, अर्थात् सभी कर्मों का सन्यास कर देते है ।

---

१ आत्मविद कर्मित्वाभावात् । २ न तु सर्वाश्रमसाधारणम् । ३ प्रत्यग्याथात्म्यविद । ४ औपनिषदपुरुषे । ५ विविदिषन्त । ६ प्रव्रजनशीला आब्रह्मलोकमखिलसंसाराद्विरक्ता प्रत्यक्प्रवणबुद्धय इति यावत् ।

प्रत्यग्लोकाप्तिमिच्छताम् ॥ सर्वकर्मपरित्याग साधनं परमं मतम् । असंभवे हि कर्माणि विधीयन्तेऽस्य सर्वतः ॥ रागाद्याकृष्टचेतस्त्वान्न चेच्छक्नोत्यशेषत । कर्माणि मानवस्त्यक्तु स करोतु यथाविधि । कर्माणि कर्मसंत्यागसामर्थ्यार्थं दिवानिशम् । न कर्मणामनारम्भात्तथा च स्मृतिशासनम् ॥ आरुरुक्षोर्मुनेर्योगं कर्म कारणमुच्यते । योगारूढस्य तस्यैव शम कारणमुच्यते" ॥ १०६८ १०६३ ॥ इति । एतमेव विदित्वत्यादेरर्थमाह—अमिति । आत्मवेदनमुनिभावयोरव्यवधानार्थमयेत्युक्तम् । अणिति विविदिषावाक्योक्ति । यथोदित प्रत्यग्विविदिषावानित्यर्थ । तात्पर्यवदवभुच्चैरित्युच्यते ॥ प्रत्यञ्च विविदिषुस्तमेव विदित्वा ज्ञानी भवतीत्युक्तम् । इदानीमात्मवेदनान्मुनित्वं सर्वाश्रमसाधारण विविदिषा हि श्रवणादिद्वारा ज्ञानहेतु सा च सर्वाश्रमसाधारणी दर्शितेत्याशङ्क्य पञ्चमोक्त स्मारयति—पाण्डित्यति ॥ किंच कर्मणा विविदिषाद्वारा दूरोपकारित्वाज्ज्ञानादूर्ध्वमयोगात्कर्मत्यागिनामेव ज्ञानितेत्याह—योगस्यति । कर्मण इति यावत् । परो योग इति शेष ॥ यदि कर्मणा ज्ञानोत्पत्त्युपायत्वमिष्ट तर्हि कर्मिणोऽपि मुनित्व तत्राऽऽह—शमादीनीति । अन्तरङ्गसाधन विद्यायाः शमादिर्बहिरङ्गसाधन कर्मात संन्यासिनामेव ज्ञानितेत्यर्थ । तेषामपि न ज्ञानित्व स्वाश्रमकर्माक्षिप्तचित्तत्वादित्याशङ्क्याऽऽह—मननेति । सन्यासिनो हि कर्म वेदान्तानामैक्यविषयमैदपर्यं निश्चित्य तस्यैव तात्पर्यविषयस्य श्रौतयुक्त्यवष्टम्भेनानवरतमनुसंधानमेव न तद्विरोधि कर्मान्तरं शौचादीना बाधितानुवृत्तिमात्रत्वादतस्तस्य युक्ता मुनितेत्यर्थ । सततमतिनियतवागादिव्यापारत्वाच्च तस्य मुनित्व युक्तमित्याह—मौनाच्चेति ॥ अन्ये तु शब्दोत्थब्रह्मज्ञानमात्रात्र मुनित्व तस्य समुत्पन्नपरोक्षत्वात्तदभ्यासोत्थसाक्षात्कारापेक्ष तदिति मन्यन्ते तान्प्रत्याह—प्रत्यगिति । आत्मस्वरूपविषय शाब्दज्ञान साक्षात्कारफलकमेवोत्पद्यते तथाविधज्ञानलाभो मुनित्व तस्य फलरूपत्वादत शाब्दज्ञानोत्तरकालमभ्यासकृतसाक्षात्कारमपेक्ष्य मुनित्व न शङ्क्यमित्यर्थ ॥ इतश्च सन्यासिनामेव मुनितेति वक्तुमेवकार व्याकरोति—एतमिति । अवधारणे हेतु—तदज्ञानेति ॥ अस्त्वेव अस्तु ते किं जात तदाह—

एतमेव लोकमिच्छन्त इत्यवधारणान्न बाह्यलोकत्रयेप्सूनां[1] पारिव्राज्येऽधिकार इति गम्यते। न हि गङ्गाद्वारं[2] प्रतिपित्सुः काशीदेशनिवासी[3] पूर्वाभिमुखः प्रैति। तस्माद्बाह्यलोकत्रयार्थिनां पुत्रकर्मापरब्रह्मविद्याः साधनम्। "पुत्रेणायं लोको जय्यो नान्येन कर्मणा"[4] इत्यादिश्रुतेः। अतस्तदर्थिभिः पुत्रादिसाधनं प्रत्याख्याय न पारिव्राज्यं प्रतिपत्तुं युक्तम्। अतत्साधनत्वात्पारिव्राज्यस्य। तस्मादेतमेव लोकमिच्छन्तः प्रव्रजन्तीति युक्तमव-

अवधारणसामर्थ्यसिद्धमर्थमाह—एतमेवेति। पारिव्राज्ये लोकत्रयार्थिनामनधिकारे दृष्टान्तमाह—न हीति। लोकत्रयार्थिनश्चेत्पारिव्राज्ये नाधिक्रियन्ते कुत्र तर्हि तेषामधिकारस्तत्राऽऽह—तस्मादिति। स्वर्गकामस्य स्वर्गसाधने यागेऽधिकारवल्लोकत्रयार्थिनामपि तत्साधने पुत्रादावधिकार इत्यर्थः। पुत्रादीनां बाह्यलोकसाधनत्वे प्रमाणमाह—पुत्रेणेति। पुत्रादीनां लोकत्रयसाधनत्वे सिद्धे, फलितमाह—अत इति। अतत्साधनत्वं लोकत्रयं प्रत्यनुपायत्वम्। अवधारणार्थमुपसंहरति—तस्मादिति। लोक-

"इसी लोक के जानने की इच्छा करने वाले" ऐसा निश्चय करने से जाना जाता है कि अनात्मभूत बाह्य तीनो लोको के इच्छुक के लिए परिव्रजन (संन्यास) मे अधिकार नही है। काशीवासी गङ्गाद्वार यानी हरद्वार पहुँचने के लिए पूर्वदिशा की ओर नही चलता। अत. बाह्य लोकत्रय के इच्छुक के लिए पुत्र, कर्म और अपर ब्रह्मविद्या साधन है। "यह लोक पुत्र से ही जीता जा सकता है, अन्य कर्म से नही" इत्यादि श्रुति इसमे प्रमाण है। इसलिए उसके चाहने वालो के लिए पुत्रादि-साधन को छोडकर परिव्रजन करना उचित नही है क्योंकि परिव्रजन उनका साधन नही है। अतः इसी लोक की इच्छा करने वाले सर्व कर्मों को छोड़ देते है—यह निर्णय करना ही ठीक है। अविद्या-

१ अनात्मभूतलोकेति यावत्। २. गङ्गाद्वारमिति—अद्यत्वे हरिद्वारं हरद्वारमिति वा प्रथमानम्। ३. प्रवतरणोक्तत्वात्। ४ बृ उ १.५ १६।

सामर्थ्याच्चेति। आत्मैव वस्तवनात्मा तदविद्याजन्यस्ततो वस्तुस्वरूपाभिज्ञस्यैव ज्ञानसामर्थ्यादज्ञानकृतकर्मत्यागसिद्धेस्तस्यैव मुनितेत्यर्थः॥ तत्रैव हेत्वन्तरत्वेनोत्तर वाक्यमादत्ते—किंचेति। प्रकृतमात्मानं शुद्धयादिद्वाराऽऽप्तुमादरादिच्छन्त प्रव्रजन्तीति सबन्ध.। आत्मन सदाऽऽप्तत्वात्कथमाप्तीच्छेत्याशङ्क्याऽऽह—सर्वेति॥ तदाप्त्युपायमाह—आत्मेति। आत्मनो याथात्म्यमेव विज्ञानं तेन सर्वप्रकारविज्ञानविपर्यासभ्रान्तरनात्मस्वरूप-पमर्दिसम्यग्ज्ञानसंज्ञो दीपस्तेनाऽऽत्मानमाप्तुमिच्छन्तीति योजना। प्रव्राजिन इत्यस्य तात्पर्यमाह—प्रत्यगिति॥ कथ स्वभावतो विषयाभिमुखानां प्रत्यक्प्रावण्य पराञ्चि खानीति हि श्रुतेस्तत्राऽऽह—विरक्ता इति। नित्यकर्मानुष्ठानसिद्धशुद्धिलब्धवैराग्यस्य विषयदोषधीसहकृतस्य फलमाह—उत्पन्नेति॥ प्राप्तसर्वंमसारत्यागेच्छानामिच्छाकार्यमाह—वागिति। यस्मादीदृक्षा मुमुक्षवोऽतः प्रत्यक्प्रवणबुद्धय प्रव्रजन्तीति सबन्ध.। एवकारार्थं दर्शयन्नेतमेव लोकमित्यादिभाष्यार्थमाह—एतमिति॥ विरक्तस्य पारिव्राज्यमुक्त्वा तस्यैव पारिव्राज्य ज्ञानद्वारा मुक्तिहेतुरित्येतद्दृष्टान्तेनाऽऽह—असाधारणेति॥ पुत्रादिसाधनसमुच्चितस्य पारिव्राज्यस्य कुतो न मोक्षहेतुतेत्याशङ्क्याऽऽह—परस्परेति। मिथो विरोधे दृष्टान्तमाह—पूर्वं इति। पारिव्राज्यस्यैव केवलस्य कैवल्यहेतुतेत्यत्र वृद्धसमतिमाह—एक इति। श्रौतार्थे स्मृतिसमुच्चयार्थमपि चेत्युक्तम्। अपिशब्दस्त्याग एव हि सर्वेषा मोक्षसाधनमुत्तममित्यादिवाक्यसमुच्चयार्थं॥ प्रव्राजिन प्रव्रजनशीला मुमुक्षव इत्येवपरत्वेन व्याख्यातमिदानी तस्यैवार्थान्तरमाह—प्रव्राजिनोऽत्रेति। प्रसिद्धेरिति हेतुं स्फुटयति—समाख्याया इति। मुमुक्षवस्त्रिदण्डिन पारमहंसीं

धारणम्। आत्मलोकप्राप्तिर्ह्यविद्यानिवृत्तौ स्वात्मन्यवस्थानमेव। तस्मादात्मानं चेल्लोकमिच्छति यस्तस्य सर्वक्रियोपरम एवाऽऽत्मलोकसाधनं मुख्यमन्तरङ्गम्। यथा पुत्रादिरेव बाह्यलोकत्रयस्य। पुत्रादिकर्मणः आत्मलोकं प्रत्यसाधनत्वात्। असंभवेन च विरुद्धत्वमवोचाम। 'तस्मादात्मानं लोकमिच्छन्तः प्रव्रजन्त्येव सर्वक्रियाभ्यो निवर्तेरन्नेवेत्यर्थः।

अर्थार्थिनां पारिव्राज्येऽनधिकारादिति यावत्। आत्मलोकस्य स्वरूपत्वेन सदाप्तत्वात्कथं तत्रेच्छेत्याशङ्क्याऽऽह—आत्मेति। तस्याऽऽत्मत्वेन नित्यप्राप्तत्वेऽप्यविद्यया व्यवहितत्वात्प्रेप्सा संभवतीति भावः। भवत्वात्मलोकप्रेप्सा तथाऽपि किं तत्प्राप्तिसाधनं तदाह—तस्मादिति। अविद्यावशात्तदीप्सासंभवादित्यर्थः। तदिच्छाया दौर्लभ्यं द्योतयितुं चेच्छब्दः। 'मुख्यत्वं अव्यवहितप्रतिपत्तित्वम्। अन्तरङ्गत्वं यज्ञादिकासाधनेभ्यो वेदानुवचनादिभ्यो विशेषमाह—अन्तरङ्गमिति। पारिव्राज्यमेवाऽऽत्मलोकस्यान्तरङ्गसाधनमिति' दृष्टान्तमाह—यथेति। तथा पारिव्राज्यमेवाऽऽत्मलोकस्य साधनमिति शेषः। पारिव्राज्यमेवेति नियमे हेतुमाह—पुत्रादीति। तस्यान्यत्र विनियुक्तत्वादिति शेषः। यद्यपि केवल पुत्रादिकं नाऽऽत्मलोकप्रापकं तथाऽपि पारिव्राज्यसमुच्चितं तथा स्यादित्याशङ्क्याऽऽह—असंभवेनेति। न हि परिव्राजकस्य पुत्रादि तद्वतो वा पारिव्राज्यं संभवति। उक्तं च समुच्चयं निराकुर्वद्भिः 'सपरिकरस्य ज्ञानस्य कर्माविना विरुद्धत्वं तेन' कुतः समुच्चितं पुत्राद्यात्मलोकप्रापकमित्यर्थः। साधनान्तरासंभवे फलितमुप-

---

निवृत्तिपूर्वक स्वात्मा मे स्थिति ही आत्मलोक की प्राप्ति है। इसलिये आत्मलोक की ही इच्छा है, उसके लिए सर्वविध कर्मानुष्ठान से उपरत होना ही आत्मलोक का मुख्य और अन्तरङ्ग साधन है। जिस प्रकार अनात्मभूत बाह्य तीन लोकों के साधन पुत्रादि ही हैं क्योंकि पुत्रादि कर्म आत्मलोक के लिए साधन नहीं हैं। दोनों का एक साथ होना असम्भव है—इसलिये इन्हें परस्पर विरुद्ध बतलाते

---

१ तस्मात्—आत्मलोकप्राप्तौ पारिव्राज्यव्यतिरेकेण साधनान्तराऽभावात् (असंभवात्)। २. "शान्तो दान्त" इत्यादिरपि श्रुतिः। ३ मत्र। ४ ससाधनस्य। ५ विरुद्धेन।

वृत्तिं गृह्णन्तीति भाव ॥ कर्मिणामेव तेषां विवक्षितज्ञानलाभार्थ किं पारमहंस्येनेत्याशङ्क्य बहिर्मुखानां कर्मिणां न ज्ञानमित्यत्र मानमाह—पराञ्चीति। पारमहंस्यमेव सम्यग्धीहेतुरित्यत्र श्रौतं लिङ्गमाह—तानीति। न्यास इति ब्रह्मा ब्रह्मा हि परः परो हि ब्रह्मेत्युक्त्वा तानि वा एतान्यवराणि तपांसीति प्रकृतानि सत्यादीनि निन्दित्वा न्यास एवात्यरेचयदिति परमहंससंन्यासस्यातिशयित्वोपदेशात्तस्य तत्त्वज्ञानं प्रत्यन्तरङ्गत्वं निश्चितमित्यर्थः। वाङ्मनःकायकर्मणां संन्यास एवेति संबन्धः ॥ अवधारणे हेतु—प्रत्यगिति ॥ विरोधं साधयति—शब्दादीति। देहेन्द्रियाणि भौतिकत्वात्प्रत्यग्विरोधीनि न सज्ज्ञानमुत्पादयितुमुत्सहन्ते तत्कार्यत्वात्कर्माण्यपि तथैवेत्यर्थः ॥ कर्मत्यागो ज्ञानहेतुरित्युक्तमुपसंहरति—आत्मेति। तस्य ज्ञानसाधनत्वं श्रुतिस्मृतिप्रसिद्धमिति हिशब्दार्थः ॥ तदेव दृष्टान्तेन स्पष्टयति—प्रतिसाध्यमिति। इहेति प्रतीचो लोकस्याऽऽसिरुक्ता ॥ कर्मत्यागो ज्ञानसाधनं चेत्तर्हि पङ्कप्रक्षालनन्यायात्कर्मविधिवैयर्थ्यमित्याशङ्क्याऽऽह—असंभवे हीति। अविरक्तस्य संन्यासासंभवे सति सर्वतो वैराग्योत्पत्त्यर्थं शुद्धिफलानि कर्माणि विधीयन्ते तस्मान्न पङ्कप्रक्षालनन्याय इत्यर्थः ॥ तदेव प्रपञ्चयति—रागादीति। कर्मणां सत्यागे सामर्थ्यं बुद्धिशुद्धिद्वारा वैराग्यं तदर्थमिति यावत् ॥ अज्ञस्याविरक्तस्य कर्मानुष्ठानमित्यत्र मानमाह—नेति ॥ तर्हि कर्मिणामेव साक्षान्नैष्कर्म्यसाधनत्वं भगवतो मतमिति शान्तिकर्मणि वेतालोदयस्तत्राऽऽह—आरुरुक्षोरिति। योगशब्देन चित्तशुद्धिज्ञानोदयो वोच्यते ॥

यथा च बाह्यलोकत्रयार्थिनः प्रतिनियतानि पुत्रादीनि साधनानि विहितान्येवमात्मलोकार्थिनः सर्वैषणानिवृत्तिः पारिव्राज्यं ब्रह्मविदो विधीयत एव।

'कुतः पुनरत्त आत्मलोकार्थिनः प्रव्रजन्त्येवेत्युच्यते। तत्रार्थवादवाक्यरूपेण हेतुं दर्शयति'। एतद्ध स्म वै तत्। तदेतत्पारिव्राज्ये कारणमुच्यते—ह स्म वै किल पूर्वेऽतिक्रान्तकालीना विद्वांस आत्मज्ञाः प्रजां कर्मापरब्रह्मविद्यां च। प्रजोपलक्षितं हि त्रयमेतद्बाह्यलोकत्रयसाधनं निर्दिश्यते प्रजामिति। 'प्रजां किं न' कामयन्ते पुत्रादिलोकत्रयसाधनं नानुतिष्ठन्तीत्यर्थः। नन्वपरब्रह्मदर्शनमनुतिष्ठन्त्येव। तद्बलाद्धि व्युत्थानम्। 'नापवादात्। ब्रह्म तं परादाद्योऽन्यत्राऽऽत्मनो ब्रह्म वेद सर्वं तं परादादित्यपरब्रह्मदर्शनमप्यपवदत्येव।

संहरति—तस्मादात्मानमिति। प्रव्रजन्तीति वर्तमानापदेशान्नात्र विधिरस्तीत्याशङ्क्याग्निहोत्रं जुहोतीतिवद्विधिमाश्रित्याऽऽह—यथा चेति।

पारिव्राज्यविधिमुक्त्वा तदपेक्षितमर्थवादमाकाङ्क्षापूर्वकमुत्थापयति—कुतः पुनरिति। उत्थापितस्यार्थवादस्य तात्पर्यमाह—तत्रेति। आत्मलोकार्थिनां पारिव्राज्यनियमः सम्भ्यर्थः। अर्थवादस्याक्षराणि व्याचष्टे—तदेतदिति। 'क्रियापदेन स्मेति सबध्यते। निपातद्वयस्यार्थमाह—किलेति। प्रजां न कामयन्त इत्युत्तरत्र संबन्धः। प्रजामात्रे श्रुते कथं कर्मादि गृह्यते तत्राऽऽह—प्रजेति। आकाङ्क्षापूर्वकमन्वयमन्वाचष्टे—प्रजां किमिति। अकामयमानत्वस्य पर्यवसानं दर्शयति—पुत्रादीति। पूर्वे विद्वांसः साधनत्रयं नानुतिष्ठन्तीत्युक्तमाक्षिपति—नन्विति। एषणाभ्यो व्युत्थितास्तां किं तदनुष्ठानेनेत्याशङ्क्याऽऽह—तद्बलाद्धीति। आत्मविद्यामपरविद्यानुष्ठानं दूषयति—नापवादादिति। 'प्रथात्र

हैं। अतः आत्मलोक की इच्छा रखने वाले प्रव्रजन ग्रहण कर लेते हैं। अर्थात् ये सब कर्मों से निवृत्त हो जायें। जिस प्रकार बाह्य लोकत्रय चाहने वाले के लिए पुत्रादि नियत साधनों का विधान किया गया है, इसी प्रकार आत्मलोक जानने की इच्छा वाले ब्रह्मवेत्ता के लिए सर्वैषणा-निवृत्तिरूप परिव्रजन का विधान किया गया है।

फिर वे आत्मलोक के चाहने वाले प्रव्रजन (सन्यास) ग्रहण करते ही हैं—ऐसा क्यों कहा जाता है? इसमें श्रुति अर्थवाद वाक्यरूप हेतु दिखाती है। "एतद्ध स्म वै तत्" यानी इस प्रव्रजन में कारण कहा जाता है—"पूर्वे" अर्थात् प्राचीन काल में होने वाले "विद्वांसः" अर्थात् आत्मतत्त्ववेत्ता प्रजा, कर्म और अपरब्रह्मविद्या की कामना नहीं करते थे। यहाँ 'प्रजा' पद से बाह्य तीनों लोकों के तीनों साधनों का प्रजा में उपलक्षित होना निर्देश किया जाता है। प्रजा का क्या करेंगे? अर्थात् पुत्रादिलोकत्रय साधनों का "न कामयन्ते" अर्थात् अनुष्ठान नहीं करते हैं। (इस पर शङ्का होती है—) किन्तु अपरब्रह्म के दर्शन के लिए अनुष्ठान तो करते हैं क्योंकि उसी के बल से एषणा की निवृत्ति होती है। (इस पर सिद्धान्ती कहता है—) ऐसा कहना ठीक नहीं है क्योंकि उसकी तो निन्दा की गई है। "ब्राह्मण जाति उसे परास्त कर देती है, जो ब्राह्मण जाति को अनात्मरूप से देखता है;

---

१ कुत इति—शिखायज्ञोपवीतादिभिः साधनैः सह तेऽखिलं कर्म त्यजन्त्येवेत्यत्र किं कारणमित्यर्थः। २. श्रुतिः। ३. अनात्मभूतलोकत्रयसाधनम्। ४. इयमाकाङ्क्षा। ५ इदमन्वयान्वाख्यानम्। ६ निन्दनात्। ७ कामयन्त इत्यनेन। ८. श्रुतौ।

अपरब्रह्मणोऽपि 'सर्वमध्यान्तर्भावात्। यत्र नान्यत्पश्यतीति च। पूर्वापरबाह्यान्तरदर्शनप्रतिषेधाच्चा 'पूर्वमनपरमनन्तरमबाह्यमिति'। तत्केन कं पश्येद्विजानीयादिति च। 'तस्मान्नाऽऽत्मदर्शनव्यतिरेकेणान्यद्व्युत्थानकारणमपेक्ष्यते।

*कः पुन स्तेषामभिप्राय इत्युच्यते 'किं प्रयोजनं फलं साध्यं करिष्यामः प्रजया

सर्वस्यानात्मनो दर्शनमेवापोद्यते न त्वपरस्य ब्रह्मणो दर्शनमत आह—अपरब्रह्मणोऽपीति। तदपवादे श्रुत्यन्तरमाह—यत्रेति। यस्मिन्भूम्नि स्थितश्चक्षुरादिभिरन्यन्न पश्यति न शृणोतीत्यादिना च दर्शनादिव्यवहारस्य वारितत्वादात्मविदो न युक्तमपरब्रह्मदर्शनमित्यर्थः। तत्रैव हेत्वन्तरमाह—पूर्वेति। प्रतिषेधप्रकारमभिनयति—अपूर्वमिति। इतश्चाऽऽत्मविदा नापरब्रह्मदर्शनमित्याह—तत्केनेति। अपरब्रह्मदर्शनासंभवे किं तेषामेषणाभ्यो व्युत्थाने कारणमित्याशङ्क्याऽऽह—तस्मादिति।

साधनत्रयमननुतिष्ठतामभिप्रायं प्रश्नपूर्वकमाह—क पुनरित्यादिना। कैवल्यमेव तत्साध्यं

(क्योंकि परमात्मा ही सब की आत्मा है)', "सभी उसे परास्त कर देते हैं, जो सबको आत्मा से भिन्न देखता है" इस प्रकार श्रुति अपरब्रह्मदर्शन की निन्दा करती है क्योंकि अपरब्रह्म का (अनात्मअन्त पाती होने से) सब के मध्य ही अन्तर्भाव है। "जहाँ अन्य को नहीं देखता" यह भी श्रुति है। तथा "ब्रह्म अकार्यरूप अकारणरूप, नि सामान्य और निर्विशेष है" इस प्रकार ब्रह्म में कार्य, कारण, सामान्य और विशेष दृष्टियों का निषेध किया है। "उस समय किसके द्वारा किसे देखे . ...किसके द्वारा किसे जाने" ऐसा भी श्रुति कहती है। अत एषणात्रय से विमुक्ति के लिए आत्मदर्शन के बिना किसी अन्य कारण की अपेक्षा नहीं की जाती है।

तो फिर उन (निखिल कर्मों का त्याग करने वाले आत्मलोक के इच्छुकों) का क्या अभिप्राय

---

१ अनात्मान्त पातित्वात्। २ तदेतद्ब्रह्म। ३ बृ उ २ ५ १९। ४ तस्मात् अपरब्रह्मदर्शनस्य व्युत्थाने कारणत्वासंभवादात्मविदस्तद्दर्शनासंभवाच्च। ५ शिखायज्ञोपवीतादिसाधनं सहाखिलं कर्म त्यजतामात्मलोकार्थिनाम्। ६ आक्षेपार्थ किंशब्द।

---

* क पुन तेषामभिप्राय इत्यादि न कर्माऽऽरभ्नित्यन्तभाष्ये वार्तिकानि —'कोऽभिप्रायोऽखिलं कर्म त्यजतां साधनैः सह। आत्मलोकार्थिनां पुंसामिति पृष्टेऽथ उच्यते॥ एतद्ध स्मेति वचसा पारिव्राज्योऽभिधीयते। अर्थवादस्वरूपेण हेतु श्रुत्या प्रदर्श्यते॥ तदेतत्कारणं स्पष्टं पारिव्राज्येऽभिधीयते। ऐतिह्यार्थं च स्मेति वैशब्द स्मरणाय च॥ पूर्वेऽतिक्रान्तकालीना विद्वांसो ज्ञाततत्त्वका। तिसृणामेषणानां स्यात्प्रजामित्युपलक्षणम्॥ न कामयन्ते नेच्छन्ति पुत्रोत्पत्त्यादिलक्षणा। एषणा सकला एता कस्मादित्यभिधीयते॥ एषणास्त्यजतां तेषामभिप्रायमिमं शृणु। एषणा तत्रयस्यापि किमित्याक्षेप उच्यते॥ प्रजया किं करिष्याम कनीय फलया वयम्। स्वत सिद्धफलो ह्यात्मा यथा लोको ध्रुवोऽक्षय॥ आत्मत्वादेव चावाप्त सर्वसाधननिस्पृह। वस्तूत्पत्त्यादिमद्यस्मात्साधनानि व्यपेक्षते॥ यच्चोत्पत्त्यादिमद्वस्तु तत्तुच्छं स्वप्नवस्तुवत्। आत्मज्ञानं तु निःशेषफलान्तर्भावकारणात्॥ नाऽऽत्मलाभात्परो लाभ कृत्स्नेऽपि जगतीष्यते। सर्वप्राप्त्यार्थसंप्राप्ते सर्वहेयनिराकृते॥ इति चेतसि संधाय ह्याक्षिपति प्रजादिकम्। नृलोकादिफलं सर्वमेषणात्रयमादरात्॥ उत्पाद्यमाप्यं संस्कार्यं विकार्यं चैषणाफलम्। तस्मिन्नेव विधे क स्यात्संतोषो विदुषामपि॥ आत्मब्रह्मानुलोम्येन ह्येषणात्याग इष्यते। साधनं ब्रह्मविद्येव ब्रह्मज्ञानस्य जन्मने॥ आत्मावबोधपुमर्थस्य प्रत्यग्याथात्म्यबोधिन। [illegible]

साधनेन । प्रजा हि [1]बाह्यलोकसाधनं निर्ज्ञाता । स च बाह्यलोको नास्त्यस्माकमा-त्मव्यतिरिक्तः । सर्वं ह्यस्माकमात्मभूतमेव सर्वस्य च वयमात्मभूताः । [2]आत्मा च न [3]आत्मत्वादेव न केनचित्साधनेनोत्पाद्य आप्यो विकार्यः संस्कार्यो वा । यदप्यात्मयाजिनः संस्कारार्थं [4]कर्मेति तदपि [5]कार्यकरणात्मदर्शनविषयमेव । इदं मेऽनेनाङ्गं संस्क्रियत इत्यङ्गाङ्गित्वा[6]दिश्रवणात् । न हि विज्ञानघनैकरसनैरन्तर्यदर्शिनोऽङ्गाङ्गिसंस्कारो-

फलमित्याशङ्क्याऽऽह—प्रजा हीति । निर्ज्ञाता [7]सोऽयमित्यादिश्रुताविति शेषः । [8]स एव तर्हि प्रजया साध्यतामिति चेन्नेत्याह—स चेति । आत्मव्यतिरिक्तो नास्तीत्युक्तमुपपादयति—सर्वं हीति । आत्म-व्यतिरिक्तस्यैव लोकस्य[9] प्रजादिसाध्यत्वमिष्यतामिति चेन्नेत्याह—आत्मा चेति । आत्मयाजिनः संस्कारार्थं कर्मेत्यङ्गीकारादात्मनोऽस्ति संस्कार्यत्वमित्याशङ्क्याऽऽह—यदपीति । अथाङ्गाङ्गित्वं संस्कार्यत्वं च मुख्यात्मदर्शनविषयमेव किं नेष्यते तत्राऽऽह—न हीति । आत्मविदां "प्रजादिसाध्याभाव-

होता है; उसे कहा जाता है। हम प्रजारूप साधन से किस प्रयोजन या फल को सिद्ध करेंगे, *प्रजा तो बाह्य लोकों में साधन जानी गयी है और वह बाह्य लोक आत्मा से व्यतिरिक्त नहीं है।* हमारे लिए सब कुछ आत्मा ही है और हम भी सबके आत्मा ही हैं और हमारा आत्मा नित्यप्राप्त होने के कारण किसी साधन से उत्पाद्य, आप्य, विकार्य या संस्कार्य नहीं है। एवं जो आत्मयाजी के संस्कार के लिए कर्म हैं, वह कार्यकरण संघातात्मदर्शी विषयक ही है—ऐसा स्वीकृत किया गया है। इसके द्वारा मेरे इस अङ्ग का संस्कार होता है—इससे उसमें अङ्गाङ्गीभाव का श्रवण होता है। जो निरन्तर, एक, विज्ञानघनरस स्वरूप आत्मा को ही देखता है, उसके लिए अङ्गाङ्गी संस्कारों का गुणारोप

१ अनात्मलोकसाधनम् । २ अस्माकम् । ३ आत्मत्वादेवेति—नित्यप्राप्त इति शेषः । न केन-चिदित्यादि—सदा विद्यमानत्वादनुत्पाद्योऽनाप्यश्च कौटस्थ्यादविकार्यः । क्रियाऽनङ्गत्वान्निर्गुणत्वाच्चासंस्कार्यः क्रियाङ्गं हि व्रीह्यादि संस्कार्यो भवतीति । ४ कर्मेतीति—अङ्गीकृतमिति शेषः । उक्तं हि—कर्मभिः संस्कृता हीत्यादि १२८३ पृष्ठभाष्ये । ५ संघातात्मदर्शिविषयकमेव । ६ आदिना संस्कार्यत्वग्रहः । ७ सोऽयं मनुष्यलोकः पुत्रेणैव जय्यो नान्येन कर्मणा । ८ स्वर्गादिर्बाह्यलोकः । ९ प्रजासाधनैः साध्याभावम् ।

सर्वभूतात्मभूतस्य सर्वैकात्म्यं प्रपश्यतः । आप्ताशेषपुमर्थस्य त्यक्ताशेषासुखस्य च । प्राप्तस्य परमं स्वास्थ्यं वद किं स्यात्प्रजादिभिः । इति निश्चित्य ते सन्तः प्रव्रजन्त्येव सर्वतः ॥ धावतोऽविदुषो दृष्ट्वा मृगतृष्णोद-काथिनः । अस्तोमतस्यविल्कश्चिन्न हि धावति मूढवत् ॥ यथैव श्रुतितोऽशेषवाङ्मनः कायसाधनः प्रवृत्तिविषयप्रत्य-ग्याथात्म्यज्ञानिनामिह ॥ अविद्यापटमवीतधिषणान्कामिनो नरान् । पुत्रोत्पत्त्यादिसाध्येषु प्रवृत्तान्वीक्ष्य यत्नतः । अस्माकं न प्रवृत्तिः स्यात्कृतार्थत्वाच्च कारणात् ॥ यदज्ञानात्प्रवृत्तिर्या तज्ज्ञानात्सा कुतो भवेत् । तस्मात्सर्वप्रवृ-त्तीनां हानिः स्यादात्मबोधतः ॥ सदात्पत्तेरनुत्पाद्योऽनाप्यश्चापि तथाऽऽत्मनः ॥ असंस्कार्योऽक्रियाङ्गत्वान्निर्गुणत्वा-त्तथाऽऽत्मनः । कौटस्थ्यादविकार्योऽयं वद स्यात्कर्मणा हि किम् ॥ नोत्पत्त्यादि स्वतो यस्य स्वत एवास्ति यस्य तत् । न तस्य कर्मापेक्षास्ति कर्मापेक्षा ततोऽन्यतः ॥ उत्पत्त्यादौ समर्थं यद्धेतुमात्रमपेक्षते । फलवत्कर्म तत्रैव ततोऽन्यत्रा-फलं भवेत् ॥ उक्तहेतुबलात्तस्माद्विदित्वाऽऽत्मानमात्मना । प्रव्रजेयुः समस्तेभ्य एषणाभ्यो द्रुतं बुधाः" ॥ १०९४-१११८ ॥ इति । इदानीमेतद्ध स्मेत्यादि प्रश्नपूर्वकमादत्ते—कोऽभिप्राय इति । साधनैः शिखायज्ञो-पवीतादिभिरिति यावत् ॥ अभिप्रेतमर्थमुच्यमानत्वेन प्रतिज्ञातं प्रकटयति—एतदिति । अर्थवादस्वरूपेणैतदित्यादि-

¹प्रधानदर्शनं संभवति । ²तस्मान्न ³किंचित्प्रजादिसाधनैः करिष्यामः । अविदुषां हि तत्प्रजादिसाधनैः कर्तव्यं फलम् । न हि मृगतृष्णिकायामुदकपानाय ⁴तदुदकदर्शी प्रवृत्त इति तत्रोपरमात्रमुदकाभावं पश्यतोऽपि प्रवृत्तिर्युक्ता । एवमस्माकमपि परमार्थात्मलोकदर्शिनां प्रजाविसाधनसाध्ये मृगतृष्णिकादिसमे ⁵ऽविद्वद्दर्शनविषये न ⁶प्रवृत्तिर्युक्तेत्यभिप्रायः ।

⁷तदेतदुच्यते—येषामस्माकं परमार्थदर्शिनां नोऽयमात्माऽशनायादिविनिर्मुक्तः

मुपसंहरति—तस्मादिति । केषां तर्हि प्रजादिभिः साध्यं फलं तदाह—अविदुषां हीति । ⁸केषांचित्पुत्रादिषु प्रवृत्तिश्चेत्तेनैव न्यायेन विदुषामपि तेषु प्रवृत्तिः स्यादित्याशङ्क्याऽऽह—न हीति । तत्र प्रवृत्तिरिति सबन्धः । अविद्वद्दर्शनविषय इति च्छेदः ।

उक्तेऽर्थे वाक्यप्रवृत्तार्थं व्याचष्टे—तदेतदिति । ⁹आत्मा वै तदभिप्रेतं फलं तर्हि ¹⁰तत्र

देखना सम्भव नहीं है। इसलिए प्रजादि साधनों से हम कोई प्रयोजन सिद्ध नहीं करेंगे। अविद्वानों को ही उन प्रजादि-साधनों से फल प्राप्त करना होता है। मृगतृष्णा में जल देखने वाला जलपान के लिए लिए प्रवृत्त होता है। इसलिए उसमें उसकी भी प्रवृत्ति होनी चाहिये, जो उसे ऊसर मात्र तथा वहाँ जल का अभाव देखता है, किन्तु ऐसी बात नहीं होती। इसलिये जो अविद्वानों की भ्रान्ति का विषय है और मृगतृष्णिका के समान है, उस प्रजादि साधन से साध्य फल में हम परमार्थात्म-लोकदर्शियों की भी प्रवृत्ति होनी उचित नहीं है—ऐसा इसका तात्पर्य है।

इसी अर्थ को श्रुति कहती है—जिन हम परमात्मदर्शियों के लिए यह क्षुधा-तृषादि षडूर्मियों से

---

१ उपधान गुणारोप । २ अवतरणोक्तत्वात् । ३. फलम् । ४ तस्या मृगतृष्णिकायामुदकदर्शी । ५ भ्रान्तज्ञानविषये । ६ मदज्ञानात्प्रवृत्तिर्या तज्ज्ञानात्सा कुतो भवेदिति वा । ७ उक्तमर्थजात श्रुत्योच्यते ८ अविदुषाम् । ९ तेषां परमार्थात्मलोकदर्शिनाम् । १०. आत्माख्ये फले ।

वचसा तात्पर्येण श्रुत्या पारिव्राज्ये हेतुरुच्यत इति योजना ॥ तात्पर्यमुक्त्वा पदानि व्याकुर्वाणस्तदेतच्छब्दयो सबन्ध दर्शयन्नपेक्षित पूरयति—तदेतदिति । निपातत्रय व्याकरोति—ऐतिह्येति ॥ पदद्वय व्याचष्टे—पूर्वं इति । प्रजा न कामयन्त इति सबन्ध । प्रजामित्येतच्छ्रूयते कर्मापरब्रह्मविद्या चेति क्व भाष्यमित्याशङ्क्याऽऽह—तिसृणामिति ॥ नेत्यादेरर्थमाह—नेत्यादिना । वाक्यमुक्त्वा विवक्षितमाह—पुत्रेति । नेच्छन्तीति पूर्वेण संबन्ध । पुत्रादिलोकसाधन मानुतिष्ठन्तीतिभाष्यव्याख्याने हेतु पृच्छति—कस्मादिति । किमित्यादि हेतुत्वेनावतारयति—अभिधीयत इति ॥ तस्य तात्पर्यमाह—एषणा इति । तेषामभिप्राय दर्शयितुमेतद्वाक्यमित्यर्थ । किंशब्दस्य प्रश्नवितर्कनुत्सार्थत्व व्यावर्तयति—एषणेति ॥ आक्षेप प्रकटयद्वाक्य योजयति—प्रजयेति । येषामस्माकं कूटस्थश्चिदात्मैव पुमर्थस्ते वय प्रजादिना लोकत्रयहेतुना साध्य नैव पश्याम इत्यर्थ । आक्षेपे हेतुरुत्तरार्धेनोक्त ॥ आत्माख्योऽपि पुमर्थ साधनसाध्य स्वर्गादिवत्तत्कथमाक्षेपस्तत्राऽऽह—आत्मत्वादिति । आत्मनः साधननिरपेक्षत्वे हेत्वन्तरमाह—वस्त्विति । तस्मादुत्पत्त्यादिरहितमात्मवस्त्वनपेक्षमिति दोष ॥ अथोत्पत्त्यादिमद्वस्त्वात्मनोऽन्यदनन्यद्वा प्रथमे वस्त्वन्तरस्वीकारादपसिद्धान्तो द्वितीये साधनानपेक्षत्व नाऽऽत्मनः सिध्यति तत्राऽऽह—यच्चेति । ¹तस्य तुच्छत्वे स्वर्गादिलाभो न पुमर्थं स्यात्ततोऽन्यस्य तत्त्वे चाऽऽत्मलाभादप्यर्थान्तरस्य तथात्वभित्यनवस्थे याशङ्क्याऽऽह—आत्मज्ञाने त्विति । तस्य पुमर्थता दुर्वारेति दोष ॥ तत्रैव हेत्वन्तरमाह—नत्यादिना । आत्मज्ञान निःशेषफलान्तर्भाव हेतुमाह—सर्वेति । एषणात्यागिनामभिप्रायं निगमयति—इति

'साध्यसाधुभ्यामविकार्योऽयं 'लोकः फलमभिप्रेतम् । न चास्याऽऽत्मनः साध्यसाधनादिसर्वसंसारधर्मविनिर्मुक्तस्य साधनं किंचिदेषितव्यम् । साध्यस्य हि साधनान्वेषणा क्रियते । असाध्यस्य साधनान्वेषणायां हि जलबुद्ध्या 'स्थल इव 'तरणं कृतं स्यात् । खे वा शाकुनपदान्वेषणम् । तस्मादेतमात्मानं विदित्वा प्रव्रजेयुरेव 'ब्राह्मणा न कर्माऽऽरभेरन्नित्यर्थः । यस्मात्पूर्वे ब्राह्मणा एवं विद्वांसः प्रजामकामयमानः ।

साधनेन भवितव्यमित्याशङ्क्याऽऽह—न चेति । क्व तर्हि साधनमेष्टव्यमित्याशङ्क्याऽऽह—साध्यस्येति । विपक्षे दोषमाह—असाध्यस्येति । येषामित्यादिवाक्यार्थमुपसंहरति—तस्मादिति । ब्राह्मणानां ब्रह्मविदां प्रजादिभिः साध्याभावाद्भिति यावत् ।

रहित, विहित प्रतिषिद्ध कर्म से अविकार्य, अपरोक्ष, स्वयंप्रकाश आत्मलोक रूप फल अभीष्ट है; साध्य-साधनादि सम्पूर्ण संसारी धर्मों से रहित इस आत्मा को, किसी भी साधन की इच्छा नहीं है क्योंकि साध्य के साधन की ही खोज की जाती है । असाध्य का साधन खोजने में तो जलबुद्धि से स्थल में तैरने के समान हो जायगा, आकाश में पक्षियों के पदचिह्न ढूंढने के समान हो जायगा । इसलिये इस आत्मा को जान कर ही ब्राह्मण प्रव्रज्या धारण करें अर्थात् किसी कर्म को प्रारम्भ न करें क्योंकि इस प्रकार जानने वाले पूर्वकालीन ब्राह्मण भी प्रजा की इच्छा नहीं करते थे ।

---

१. विहितप्रतिषिद्धकर्मभ्याम् । २. अपरोक्ष । ३. स्वयप्रकाशः । ४. तरणमिवेत्यन्वयः एवेति वा पाठ । ५. अद्यतनाः ।

चेतसीति । आत्मज्ञाने सति प्राप्यस्य सर्वस्य प्राप्तेर्निराकर्तव्यस्य सर्वस्य निराकृतेस्तस्मिन्सर्वफलान्तर्भावादात्मलाभात्परो लाभो नेति मत्वा प्रजादिक विद्वासः समाक्षिपन्तीत्यर्थः । आक्षेपके सत्याक्षेपस्योपपत्त्यर्थो हिशब्द ॥ आक्षेपे हेत्वन्तरमाह—उत्पाद्यमिति । एवंविधे सातिशये जन्मविनाशवतीत्यर्थ ॥ विदुषामपीत्युक्तत्वादज्ञस्यापि विरक्तस्य पुत्राद्येषणात्यागो धीहेतुत्वेन सूचितः । इदानी तत्त्यागस्य तद्धेतुत्व दृष्टान्तेन साधयति—आत्मेति । यथा ब्रह्मविद्या प्रत्यग्भूतब्रह्मानुरूपत्वात्तत्प्राप्तिहेतुरेवमेषणात्यागोऽपि कर्मविरोधित्वेन नैष्कर्म्यब्रह्मज्ञानानुरूपत्वात्तज्जन्मने साधनमिष्यते तस्मादज्ञस्यापि विरक्तस्य संन्यासो भवति फलवानित्यर्थः ॥ अविद्वत्संन्यासफलमुक्त्वा विद्वत्संन्याससौलभ्यमाह—आप्तेति ॥ विदुषामेषणापेक्षा नास्तीत्येतत्प्रतिपादयति—सर्वभूतेति । ज्ञेयरूपमनूद्य ज्ञानरूपमनुवदति—सर्वेति । तद्दृष्टफलमाह—आप्तेति ॥ स प्रति प्रजादीनामकिंचित्करत्वमाह—वदेति । उक्तरीत्या ज्ञानवतामेषणात्यागस्यानायासत्वमाह—इति निश्चित्येति ॥ तेषामेषणात्याग दृष्टान्तेन स्पष्टयति—धावत इति । अविदुष इति च्छेद ॥ दृष्टान्तानुसारेण दार्ष्टान्तिकमाह—यथेति । त्रिविधप्रवृत्तीनामालम्बन देहादिस्तस्याप्यात्मा प्रत्यक्त्वेन स्थितस्तत्स्वरूपज्ञानिनस्तत्त्वमादिश्रुतिवशादेव ये तेषामस्मत्कज्ञानाच्छुद्धबुद्धित्वाद्रागादिपराधीनान्पुत्रोत्पत्त्यादिषु विधिवशादेव यतमानान्मनुष्याभिमानिनो दृष्ट्वा न पुत्रोत्पत्त्यादौ प्रवृत्तिस्तत्त्वज्ञानविरोधादित्यर्थः ॥ न केवलमस्माक ज्ञानमेव तत्फल चास्त्यतोऽपि न प्रवृत्तिरित्याह—कृतार्थत्वादिति ॥ इतश्च विदुषो न प्रवृत्तिरित्याह—यदज्ञानादिति । उक्त सामान्यन्याय प्रकृते योजयति—तस्मादिति ॥ आत्मन. कर्मानपेक्षत्वाच्च तद्रूपेण स्थितस्य विदुषो न प्रवृत्तिरित्याह—सदेत्यादिना । सर्वदाविद्यमानत्वादित्यर्थः ॥ किंच सतोऽसतो वा कर्मानपेक्षत्वादात्मनश्च सत्त्वात्तदनपेक्षतेत्याह—नेत्यादिना । कस्य तर्हि कर्मापेक्षा तत्राऽऽह—कर्मेति ॥

त एवं साध्यसाधनसंव्यवहारं निन्दतोऽविद्वद्विषयोऽयमिति कृत्वा किं कृतवन्त इत्युच्यते—ते ह स्म किल पुत्रैषणायाश्च वित्तैषणायाश्च लोकैषणायाश्च व्युत्थायाथ भिक्षाचर्यं चरन्तीत्यादि व्याख्यातम्[1]। *तस्मादात्मानं लोकमिच्छन्तः प्रव्रजन्ति प्रव्रजेयु-

वाक्यान्तरं प्रश्नद्वारेणावतार्य पाश्चमिकं व्याख्यानं तस्य स्मारयति—त एवमित्यादिना। यदर्थोऽयमर्थवादस्तं विधिं निगमयति—तस्मादिति। [3]महानुभावोऽयमात्मलोको यत्तदर्थिनो दुष्कर-

इस प्रकार वे साध्य साधनरूप व्यवहार की निन्दा करते हुए 'यह सब अविद्वानों का विषय है' ऐसा समझ कर क्या करते थे। इस पर श्रुति कहती है। वे पुत्रैषणा वित्तैषणा, लोकैषणा से मुक्त होकर भिक्षाटन करते थे। इस श्रुति की व्याख्या (बृ० उ० ३-५ १ में) की जा चुकी है। इसलिये आत्म-लोक कर्म से असाध्य होने के कारण) आत्मलोक की इच्छा वाले 'प्रव्रजन्ति' अर्थात् प्रव्रजन ग्रहण

१ कहोलब्राह्मणे बृ० उ० ३ ५ १। २ आत्मलोकस्य कर्मासाध्यत्वात्। ३ महामहिमा।

तत्प्रपञ्चयति—उत्पत्त्यादाविति। सदसद्विलक्षणस्यानिर्वाच्यस्य कर्मापेक्षेत्यर्थः। निर्वाच्ये तु निरवद्यरूपे प्रतीचि कर्मानर्थकमित्याह—सत इति॥ आत्मस्वरूपस्यैवंरूपत्वेऽपि प्रकृते पारिव्राज्ये किमायातं तदाह—उक्तेति। आत्मानं नित्यमुक्तत्वादिरूपेण ज्ञात्वा तस्य चतुर्विधक्रियाफलविलक्षणत्वलक्षणोक्तहेतुसामर्थ्यादेषणाभ्यो बुधा इत प्रव्रजेयुस्तस्मादविद्वत्संन्यासो ज्ञानाङ्गत्वेन विद्वत्संन्यासस्तत्फलत्वेन सिद्ध इत्यर्थः॥

* तस्मादात्मानं लोकमिच्छन्तः प्रव्रजन्ति प्रव्रजेयुरित्येष विधिरर्थवादेन सगच्छते इति भाष्यमत्राहुर्वार्तिककाचार्याः— ननु चाऽऽत्मप्रबोधेन विधिगोचरलङ्घिनः। कृतकृत्यस्य मुक्तस्य विधिरेष क्व भवेत्॥ परिहारोऽस्य चोद्यस्य कहोलब्राह्मणेऽखिलः। यतोऽभाणि मया पूर्वं नेहातः पुनरुच्यते॥ ब्रह्मचर्यं समाप्येतिप्रत्यक्षश्रुतिमूलतः। चतुर्णामाश्रमाणां स्यान्नोपेक्षाऽतोऽनुमानतः॥ न च वैदिकमूलत्वविरहात्स्यादप्रमाणता। आचारस्य स्मृतेर्वाऽपि बौद्धाद्याचारवद्ध्रुवम्॥ धर्मस्य वेदमूलत्वादवेदस्य न धर्मता। इत्येवं न्यायवद्वाक्यमाहुर्वेदप्रमाणकाः॥ वेद-शास्त्रानपेक्षस्य स्मृतिशास्त्रस्य चेन्मतम्। निर्ग्रन्थिशास्त्रतुल्यत्वं स्मृतीनां च प्रसज्यते॥ नापि स्मृत्यपेक्षाऽस्ति श्रुतेः स्वातन्त्र्यकारणात्। स्मृत्यर्थस्यानुवादोऽयं पारतन्त्र्येऽसति श्रुतेः॥ स्वतन्त्रयोर्मिथोऽपेक्षा नापि स्यात्पर-तन्त्रयोः। पारतन्त्र्यान्न चापेक्षा स्वतन्त्रस्य स्वतः क्वचित्॥ स्मृत्यर्थं न श्रुतिस्तस्मादनुवक्तीह कुत्रचित्। स्मृति-स्त्वनुवदत्येव श्रुत्यर्थं परतन्त्रतः"॥ ११४६-११५४॥ इति॥ अन्यारम्भविरोधत्वमुक्तं परिहरति—न खिवि। न तावदविदुषो विहितः संन्यासो विद्वत्प्रकरणविरोधान्नापि विदुषस्तस्य प्राप्तविद्याफलस्य विध्ययोग्यत्वाद्वैधसंन्यासा-योगादित्यर्थः॥ पञ्चमोक्तं स्मारयन्परिहरति—परिहारोऽस्येति। साक्षात्कारवतो वा वैधसंन्यासो निरस्यत आपातज्ञानवतो वा नाऽऽद्यस्तस्य विद्याफलभूतसन्यासस्याऽऽर्थिकत्वेन वैधत्वानुपपत्तेः। द्वितीयस्तस्य साक्षात्कारो-द्देशेन संन्यासस्यानुष्ठेयतया विध्यपेक्षत्वादित्यर्थः॥ ननु विदुषोऽविदुषो वा न संन्यास ऐकाश्रम्यस्मृतेर्गार्हस्थ्या-तिरेकेणाऽऽश्रमान्तराभावोपपत्तेराऽऽह गौतमः ऐकाश्रम्यं त्वाचार्याः प्रत्यक्षविधानाद्गार्हस्थ्यस्येति तत्राऽऽह—ब्रह्मचर्य-मिति। श्रुतिबलाच्चातुराश्रम्यसंभवादनुमानवद्भिरैकाश्रम्यविषयस्मृतिबलान्नाऽऽश्रमान्तरोपेक्षेत्यर्थः॥ तर्हि श्रुते-श्चातुराश्रम्यं स्मृतेरैकाश्रम्यं चेति संशयः स्याद्द्वयोरपि प्रामाण्याविशेषादत आह—न चेति। तुल्यन्यायत्वादा-चारग्रहणम्। अयं भावः। वेदमूलाः स्मृतयः प्रमाणं तन्मूलागमतो मानत्वान्न चैकाश्रम्यस्मृतेर्मूलं वेदोऽस्ति कुटुम्बे शुचौ देशे स्वाध्यायमधीयान इत्यादि तु नाऽऽश्रमान्तरमपवदति किन्त्वज्ञस्याविरक्तस्य गार्हस्थ्यमनुमोदते न चास्यां स्मृतावाश्रमान्तरासत्त्वं विवक्षितं ब्रह्मचर्यस्याप्यपलापप्रसङ्गात्तस्याऽऽश्रमविकल्पमेके ब्रुवत इत्युपक्रम-

रित्येव विधि[1]रर्थवादेन संगच्छते । न हि सार्थवादस्यास्य[2] [3]लोकस्तुत्याभिमुख्यमुपपद्यते । प्रव्रजन्तीत्यस्यार्थवादरूपो ह्येतद्ध स्मेत्यादिरुत्तरो ग्रन्थः । [4]अर्थवादश्चेन्नार्थवादान्तरमपेक्षेत । अपेक्षते त्वेतद्ध स्मेत्याद्यर्थवादं प्रव्रजन्तीत्येतत् ।

मपि पारिव्राज्यं कुर्वन्नीति स्तुतिरत्र विवक्षिता न विधिरित्याशङ्क्याऽऽह—न हीति । [5]तदेव प्रपञ्चयति—प्रव्रजन्तीत्यस्येति । तथाऽपि प्रव्रजन्तीतिवाक्यस्यार्थवादत्वं किं न स्यादित्याशङ्क्याऽऽह—अर्थवादश्चेदिति ।

कर ले, इस विधि की अर्थवाद से सगति बैठ जाती है। इस अर्थवाद सहित 'प्रव्रजन्ति' इस विधि-वाक्य का आत्मलोक की स्तुतिपरक होना सभव नही है। 'प्रव्रजन्ति' इस विधिवाक्य का अर्थवाद रूप 'एतद्ध स्म' इत्यादि आगे का श्रुतिवाक्य है। यदि यह अर्थवाद ही होता, तो इसे दूसरे अर्थवाद की अपेक्षा नही हो सकती थी किन्तु 'प्रव्रजन्ति' इस वाक्य को 'एतद्ध स्म' इस श्रुतिवाक्य के अर्थवाद की अपेक्षा है ही।

---

१ अर्थवादेनेति—प्रयोजनस्य तृतीयार्थ । अर्थवादप्रयुक्त एव विधि सगच्छत इत्यर्थं इत्याह । २ प्रव्रजन्तीतिवाक्यस्य । ३ आत्मलोकस्तुतिपरत्वम् । ४ अर्थवादश्चेदित्यादि—सोऽरोदीदित्यादेरर्थवादस्य बर्हिषि रजतं न देयमित्यादिविधिनैकवाक्यत्वदर्शनादर्थवादस्यार्थवादान्तरापेक्षा न युक्तेति स्थितमर्थवादाधिकरणे । ५ उक्ताभिमुख्यमेव ।

विरोधाच्च न चासावेकीयपक्षोपन्यासो न स्वमतमिति वाच्य नियामकाभावाच्चातुराश्रम्यविषयबहुश्रुतिस्मृतिविरोधाच्च तस्मादैकाश्रम्यस्मृतेर्मूलाभावादमानत्वान्न तद्वशादत्र सशयोऽवतरेदिति ॥ वेदमूला स्मृतिर्मानमित्यत्र स्मृत्यधिकरण प्रमाणयति—धर्मस्येति । अवेदस्य वेदाप्रमाणत्वस्य चैत्यवन्दनादेरिति यावत् । वेदप्रमाणका शबरस्वामिप्रभृतय । उक्त हि शब्दमूलो हि धर्म इत्युक्तमिति ये त्वदृष्टार्थास्तेषु वैदिकशब्दानुमानमिति च (जै सू १ ३ १, १ ३ २) ॥ श्रुतिमूला स्मृतिर्मानमित्युक्त्वा विपक्षे दोषमाह—वेदेति । निर्ग्रन्थयो दिगम्बरादय । यथाऽऽहु—युक्तं श्रुतिविरोधात्स्मृतिरप्रमाणमितीति (जै सू १ ३ ३) ॥ श्रुतिनिरपेक्षत्वे स्मृतिनाम प्रामाण्यप्रसङ्गादप्रमाण स्मृतिस्तत्सापेक्षेति नियम्यते चेदितराऽपि स्मृतिसापेक्षा किं न स्यात्साऽपि पौरुषेयी मूलानपेक्षा न मानमित्याशङ्क्याऽऽह—नापीति । तत्र हेतु —स्वातन्त्र्येति । अपौरुषेयतया निरस्तसमस्तदोषाशङ्काया श्रुते स्वार्थे स्वतन्त्रप्रमाणत्वमनपेक्षत्वादित्यौत्पत्तिकसूत्रे (जै १ १ ५) स्थितम् । उक्त हि—अतश्च प्रमाणमनपेक्षत्वादिति । शब्दार्थसबन्धापौरुषेयत्वमत शब्दार्थ । ननु स्मृत्यर्थमनुवदन्ती श्रुति स्मृति कथ नापेक्षते पादोऽस्य विश्वा भूतानीत्याद्या हि श्रुतिर्ममैवांशो जीवलोक इत्यादिस्मृत्यर्थमनुवदति नेत्याह—स्मृत्यर्थस्येति । श्रुतेरसति पारतन्त्र्ये नास्ति स्मृत्यर्थानुवादित्वमिति पूर्वेणान्वयेन योजना ॥ श्रुते स्मृत्यनपेक्षत्व दृष्टान्तेनाऽऽह—स्वतन्त्रयोरिति । आत्माकाशयोर्वा घटपटस्वरूपरसयोर्वा मिथोपेक्षाभावावद्वेदस्यापि स्वतन्त्रस्य स्मृतिशास्त्रात्परतन्त्रात्क्वचिदप्यर्थे स्वतोऽपेक्षा न युक्ता स्वतन्त्रस्य परतन्त्राधीनापेक्षावत्त्वव्याघातादित्यर्थं ॥ श्रुते स्मृत्यनपेक्षत्वे फलितमाह—स्मृत्यर्थमिति । इहेति वैदिकव्यवहारभूमिरुक्ता । यत्तु पादोऽस्येत्यादिश्रुतिर्ममैवेत्यादिस्मृत्यर्थमनुवदतीति तत्र वैपरीत्यमाह—स्मृतिस्त्विति । उक्त हि प्रमाणमेषा स्मृतिविज्ञात शक्तिमित्यन्यथा भवतीति ॥

यस्मात्पूर्वे विद्वांसः प्रजादिकर्मभ्यो निवृत्ताः प्रव्रजितवन्त एव तस्मादधुनातना[1] अपि प्रव्रजन्ति प्रव्रजेयुरित्येव संबध्यमानं न लोकस्तुत्यभिमुखं भवितुमर्हति। विज्ञानसमानकर्तृकत्वोपदेशादित्यादिनाऽवोचाम। वेदानुवचनादिसहपाठाच्च। यथाऽऽत्मवेदनसाधनत्वेन विहितानां वेदानुवचनादीनां यथार्थत्वमेवं नार्थवादत्वं तथा तैरेव सह पठितस्य पारिव्राज्यस्याऽऽत्मलोकप्राप्तिसाधनत्वेनार्थवादत्वमयुक्तम्। फलविभागोपदेशाच्च। एतमेवाऽऽत्मानं लोकं विदित्वेत्यन्यस्माद्बाह्याल्लोकादात्मानं फलान्तरत्वेन प्रविभजति। यथा पुत्रेणैवायं लोको जय्यो नान्येन कर्मणा कर्मणा पितृलोक इति। न च प्रव्रजन्ती-

अपेक्षाप्रकारमेव प्रकटयन्नस्य स्तुत्यभिमुखत्वाभावाद्विधित्वमेवेत्याह—यस्मादिति। किंच विदित्वा व्युत्थाय भिक्षाचर्यं चरन्तीत्यत्र विज्ञानेन समानकर्तृकत्वं व्युत्थानादेरुपदिश्यते विज्ञानं च सर्वासूपनिषत्सु विधीयतेऽतो व्युत्थानमपि विधिमर्हतीत्युक्तं तथा चात्रापि व्युत्थानापरपर्यायं पारिव्राज्यं विधेयमित्याह—विज्ञानेति। इतश्च पारिव्राज्यवाक्यमर्थवादो न भवतीत्याह—वेदेति। तदेव साधयति—यथेत्यादिना। पारिव्राज्यस्य विधेयत्वे हेत्वन्तरमाह—फलेति। पुत्रादिफलापेक्षया पारिव्राज्यफलं विभागेनोपदिश्यते तथा च फलवत्त्वात्पुत्रादिवत्पारिव्राज्यस्य विधेयत्वमसिद्धिरित्यर्थः। तदेव विवृणोति—एतमेवेति। प्रकृतमात्मानं स्वं लोकमापाततो विदित्वा तमेव साक्षात्कर्तुमिच्छन्तः प्रव्रजन्तीति वचनात्पुत्रादिसाध्यान्मनुष्यादिलोकादात्माख्यं लोकं पारिव्राज्यस्य फलान्तरत्वेन यतः श्रुतिर्विभज्याभिदधाति। अतस्तस्य विधेयत्वमप्रत्यूहमित्यर्थः। फलविभागोपदेशे दृष्टान्तमाह—यथेति। तथा पारिव्राज्येऽपि फलविभागोक्तेर्विधेयतेति दार्ष्टान्तिकमितिशब्दार्थः। पारिव्राज्यस्य स्तुतिपरत्वाभावे हेत्वन्तरमाह—न चेति। यथा वायुर्वै क्षेपिष्ठेत्यादिरर्थवादः प्रामाणान्तरप्राप्तार्थो देवतादिस्तुत्यर्थः स्थितो न

क्योंकि प्रजादि कर्मों से निवृत्त हुए पूर्वकालीन विद्वान् प्रव्रजन ग्रहण करते ही थे इसलिए आजकल के विद्वान् ब्राह्मण भी प्रव्रजन ग्रहण कर लें, इस प्रकार अर्थवाद से संबन्ध वाला 'प्रव्रजन्ति' यह वाक्य आत्मलोक की स्तुति के लिए होना सम्भव नहीं है। क्योंकि प्रव्रजन और विज्ञान का एक ही कर्ता है, ऐसा श्रुति का उपदेश है, यह हम कह चुके हैं। (इसके अतिरिक्त) वेदानुवचनादि के साथ इसका पाठ होने से यह केवल स्तुत्यर्थक नहीं है। जिस प्रकार आत्मज्ञान के साधन रूप से विहित वेदानुवचनादि तात्पर्य विषयत्व हैं, स्तुत्यर्थत्व नहीं हैं, उसी प्रकार उनके साथ पठित होने से पारिव्राज्य का भी आत्मलोक प्राप्ति का साधन होने से उसे स्तुत्यर्थक कहना अनुचित है। तथा फलविभाग के उपदेश दिये जाने से भी इसका स्तुत्यर्थक होना सिद्ध नहीं होता। 'इस आत्मलोक को जान कर' इस वाक्य से श्रुति अन्य बाह्य लोकों से आत्मा का फलान्तर रूप से विभाग करती है। इसी को श्रुति कहती है—'पुत्र रूप साधन से यह आत्मलोक जीता जाने योग्य है, किसी अन्य कर्म से नहीं' तथा 'कर्म से ही पितृलोक जीता जाने योग्य है' इत्यादि। इसके अतिरिक्त प्रमाणान्तर से प्राप्त वायु आदि के

१ ब्राह्मणाः। २ अर्थवादेन सह संबध्यमानं प्रव्रजन्तीतिवाक्यम्। ३ तात्पर्यविषयत्वम्। ४. स्तुत्यर्थत्वम्। ५ बृ उ ४ ४ २२। ६ बृ उ १ ५ १६। ७ बृ उ ३ ५ १। ८. विधेयसमानकर्तृकत्वोपदेशात्। ९ आत्मलोकाख्यम्। १० संबध्यमानवाक्यम्। ११. आगमेतरप्रमाणप्राप्तार्थः

त्येतत्प्राप्तवल्लोकस्तुतिपरम् । प्रधानवच्चार्थवादापेक्षम् । सकृच्छ्रुतं स्यात् । तस्माद्भ्रान्तिरेवैषा लोकस्तुतिपरमिति ।

न चानुष्ठेयेन पारिव्राज्येन स्तुतिरुपपद्यते । यदि पारिव्राज्यमनुष्ठेयमपि सदन्यस्तुत्यर्थं स्याद्दर्शपूर्णमासादीनामप्यनुष्ठेयानां स्तुत्यर्थता स्यात् । न चान्यत्र कर्तव्यते तस्माद्विद्याप्रकरणान्निर्ज्ञाता यत इह स्तुत्यर्थो भवेत् यदि पुनः क्वचिद्विधिः परिकल्प्येत पारिव्राज्यस्य स इहैव मुख्यो नान्यत्र संभवति । यदप्यनधिकृतविषये पारिव्राज्यं परिकल्प्यते तत्र

तदेवं स्तुतिपरं तदवद्योतिशब्दाभावादित्यर्थः । किञ्च प्रधानस्य दर्शपूर्णमासादेरर्थवादापेक्षावत्पारिव्राज्यमपि तदपेक्षमुपलभ्यते तेन तस्य दर्शादिवद्विधेयत्वं दुर्वारमित्याह—प्रधानवच्चेति । किञ्च पारिव्राज्यं सकृदेव श्रुतं चेदविवक्षितमन्यस्तुतिपरं स्यान्न चेद सकृदेव श्रूयते प्रव्रजन्तीत्युपक्रम्य प्रजां न कामयन्ते व्युत्थायाथ भिक्षाचर्यं चरन्तीत्यन्यत्रासादतोऽपि न स्तुतिमात्रमेतदित्याह—सकृदिति । न चेत्यत्रापि संबध्यते, कथं तर्हि पारिव्राज्यस्य स्तुतिपरत्वप्रतीतिस्तत्राऽऽह—तस्मादिति ।

अस्तु तर्हि विधेयमपि पारिव्राज्यं स्तावकमपीति चेन्नेत्याह—न चेति । विपक्षे दोषमाह—यदीति । अथ पारिव्राज्यं यज्ञादिवदन्यत्र विधीयतामिह तु स्तुतिरेवेत्याशङ्क्याऽऽह—न चान्यत्रेति । आत्मज्ञानाधिकारादन्यत्र पारिव्राज्यविध्यनुपलम्भादित्यर्थः । अन्यत्र विध्यनुपलम्भं समर्थयते—यदीत्यादिना । अन्यत्र कर्मप्रक्रियायामिति यावत् । कर्माधिकारे तत्त्यागविधेर्विरुद्धत्वादिति भावः । भवत्विह पारिव्राज्ये विधिस्तथाऽपि सर्वकर्मानधिकृतविषयः स्यादित्याशङ्क्याऽऽह—यदपीति । तत्र कर्मानधिकृते पुंसीत्येतत् । तत्र हेतुमाह—कर्तव्यत्वेनेति । कर्मानधिकृतेन कर्तव्यतया

समान भी 'प्रव्रजन्ति' यह वाक्य स्तुत्यर्थक नहीं हो सकता । तथा अन्य प्रधान कर्मों के समान यह अर्थवाद सापेक्ष है । यदि श्रुति में इसका भी श्रवण होता तो ऐसा कह सकते थे । इसलिये यह श्रुति आत्मलोक की स्तुतिपरक है—यह विचार भ्रान्तिपूर्ण ही है ।

विधेय पारिव्राज्य से (आत्मा या उसके ज्ञान) किसी की स्तुति नहीं हो सकती । यदि विधान करने योग्य होकर भी पारिव्राज्य अन्य की स्तुतिपरक हो सकता है तो इसे दर्शपूर्णमासादि विधेय कर्म भी स्तुति के लिए सिद्ध होंगे । इस विद्या प्रकरण को छोड़कर और कहीं भी (कर्म प्रकरण में) इसकी कर्तव्यता ज्ञात नहीं हुई, जिसके कारण यहाँ स्तुतिपरक हो । यदि कहीं पारिव्राज्य विधि की कल्पना की जाय तो वह यहीं मुख्य विधि होगी, अन्यत्र तो होगी नहीं । यदि अनधिकृत के विषय में पारिव्राज्य की कल्पना की जाय तो वृक्षादि में आरोहणादि की भी पारिव्राज्य के समान कल्पना हो जायगी ।

१ प्रस्तावकत्वेन विधित्वनिश्चयात् । २ विधेयेन । ३ आत्मनस्तज्ज्ञानस्य वेति शेषः । ४ कर्मप्रकरणे । ५. प्रकृतात् । ६. प्रकरणात् विद्याप्रकरणादिति यावत् । ७. तर्हि । ८ सुवर्णाय लोकायेत्याद्यर्थवादापेक्षावदित्यर्थः । ९. एतद्व स्मेत्याद्यर्थवादम् । १० अर्थवादापेक्षत्वेन । ११ स्तावकमात्रत्वाभावे । १२ एकत्रोभयार्थत्वे वाक्यभेदोऽपीति मनसि निधायाऽऽह—अथेति । १३. कर्मप्रकरणे । १४. विद्याप्रकरणे । १५ प्रकरणात् । १६ विधिप्रकरणे । १७ पारिव्राज्यविधेयत्वेऽपि । १८ अपपङ्ग्वादिविषयः । १९ उक्तकल्पनायाम् ।

वृक्षा'द्यारोहणाद्यपि पारिव्राज्यवत्कल्प्येत। कर्तव्यत्वेनानिर्ज्ञातत्वाविशेषात्। 'तस्मात्स्तुति-त्वगन्धोऽप्यत्र' न शक्यः कल्पयितुम्।

यद्ययमात्मा लोक इष्यते किमर्थं तत्प्राप्तिसाधनत्वेन कर्माण्येव नाऽऽरभेरन्किं पारिव्राज्येनेति। अत्रोच्यते—अस्याऽऽत्मलोकस्य कर्मभिरसंबन्धात्। यमात्मानमिच्छन्तः प्रव्रजेयुः' स आत्मा साधनत्वेन फलत्वेन चोत्पाद्यत्वा'दिप्रकाराणाम'न्यतमत्वेनापि कर्मभिर्न संबध्यते। 'तस्मात्स एष नेति नेत्यात्माऽगृह्यो न हि गृह्यत इत्यादिलक्षणः। यस्मादेवंलक्षण आत्मा कर्मफलसाधनासंबन्धी सर्वसंसारधर्मविलक्षणोऽशनायाद्यतीतोऽस्थूलादि-धर्मवानजोऽजरो'ऽमरोऽमृतो'ऽभयः सैन्धवघनवद्विज्ञानैकरसस्वभावः स्वयंज्योतिरेक एवा-द्वयोऽपूर्वोऽनपरोऽनन्तरोऽबाह्य इत्येतदागमतस्तर्कतश्च स्थापितं विशेषतश्चेह जनक-

ज्ञातत्वं वृक्षारोहणादाविव पारिव्राज्येऽपि नास्ति "तथा चानधिकृतविषये पारिव्राज्यं कल्प्यते चेत्तस्मिन्विषये वृक्षारोहणाद्यपि कल्प्येताविशेषादित्यर्थः। पारिव्राज्यस्याधिकृतविषयत्वे विधेयत्वे च सिद्धे फलितमाह—तस्मादिति।

सार्थवाद पारिव्राज्यं व्याख्याय स एष इत्यादि व्याकर्तुं शङ्कयति—यदीति। परिहरति—अत्रेति। सर्वापनो नाऽऽरभन्ते कर्माणीति शेषः। कर्मभिरसबन्धमात्मलोकस्य साधयति—यमात्मानमिति। तस्य कर्मासबन्धे निष्प्रपञ्चत्व फलतीत्याह—तस्मादिति। आत्मनो निष्प्रपञ्चत्वेऽपि कथं तदर्थिनां पारिव्राज्यसिद्धिरित्याशङ्क्याऽऽह—यस्मादिति। निर्विशेषस्तत्र तत्र वाक्ये दर्शितस्वरूपोऽप-

क्योकि कर्तव्य रूप से ज्ञात न होने मे दोनो समान हैं। इसलिए 'प्रव्रजन्ति' इस वाक्य मे स्तुतिपरक होने की लेशमात्र भी कल्पना नही की जा सकती।

(इस पर शङ्का होती है—) यदि आत्मलोक की इच्छा की जाती है तो उसकी प्राप्ति के रूप से कर्मों का आरम्भ ही न करो, प्रव्रजन ग्रहण से क्या प्रयोजन है? इस पर (सिद्धान्ती द्वारा परिहार करते हुए) कहा जाता है—इस आत्मलोक का कर्म से कोई संबन्ध नही है। जिस आत्मा की इच्छा करते हुए मुमुक्षु प्रव्रजन ग्रहण करें, उस आत्मा का साधन, फल, उत्पाद्य, आप्यादि प्रकारो मे से किसी एक रूप से भी कर्मों का सबन्ध नही होता। इसलिए वह 'नेति नेति' इस प्रकार लक्षण वाला आत्मा "अगृह्य" अर्थात ग्रहण नही किया जा सकता क्योकि इस प्रकार के लक्षण वाला आत्मा कर्म के फल या साधन से असम्बद्ध, सम्पूर्ण सासारिक धर्मों से विलक्षण, क्षुधादि से अतीत, अस्थूलादि धर्मवान्, अजन्मा, अजर, अपक्षयरहित अमृत और निरविद्य सैन्धवखण्ड के समान एकमात्र विज्ञानरस-स्वभाव, स्वयज्योति, एव, अद्वितीय, अकार्य, अकारण, नि सामान्य एव निर्विशेष है—ऐसा आगम और तर्क द्वारा निर्णय किया गया है, यहाँ जनक-याज्ञवल्क्य सवाद मे इसका प्रतिपादन किया गया है।

१ आदिभ्यामग्निप्रवेशादि ग्राह्यम्। २ अर्थवादान्वयादिलिङ्गात् अवतरणोत्वात्। ३ प्रव्रजन्तीतिवाक्ये। ४ मुमुक्षव। ५ आदिनाऽऽप्यत्वादिग्रह। ६ अन्यतमेनेति न्याय्यम्। ७ अवतरणोक्तत्वात्। ८. अपक्षयरहित। ९ निरविद्य। १० तथा च—उभयत्र कर्तव्यत्वे न ज्ञातत्वाभावस्य तुल्यत्वे च।

त्येतत्प्राप्तवल्लोकस्तुतिपरम् । प्रधानवच्चार्थवादापेक्षम् । सकृच्छ्रुतं स्यात् । तस्माद्भ्रान्तिरेवैषा लोकस्तुतिपरमिति ।

न चानुष्ठेयेन पारिव्राज्येन स्तुतिरुपपद्यते । यदि पारिव्राज्यमनुष्ठेयमपि सदन्यस्तुत्यर्थं स्याद्दर्शपूर्णमासादीनामप्यनुष्ठेयानां स्तुत्यर्थता स्यात् । न चान्यत्र कर्तव्यतं तस्माद्विषयान्निर्ज्ञाता यत इह स्तुत्यर्थो भवेत् यदि पुनः क्वचिद्विधिः परिकल्प्येत पारिव्राज्यस्य स इहैव मुख्यो नान्यत्र संभवति । यदप्यनधिकृतविषये पारिव्राज्यं परिकल्प्यते तत्र

तवेदं स्तुतिपरं तदद्योतिशब्दाभावादित्यर्थः । किंच प्रधानस्य दर्शपूर्णमासादेरर्थवादापेक्षावत्पारिव्राज्यमपि तदपेक्षमुपलभ्यते तेन तस्य दर्शादिवद्विधेयत्वं दुर्वारमित्याह—प्रधानवच्चेति । किंच पारिव्राज्यं सकृदेव श्रुतं चेदविवक्षितमन्यस्तुतिपरं स्यान्न चेद सकृदेव श्रूयते प्रव्रजन्तीत्युपक्रम्य प्रजां न कामयन्ते व्युत्थायाथ भिक्षाचर्यं चरन्तीत्यभ्यासादतोऽपि न स्तुतिमात्रमेतदित्याह—सकृदिति । न चेत्यत्रापि संबध्यते, कथं तर्हि पारिव्राज्यस्य स्तुतिपरत्वप्रतीतिस्तत्राऽऽह—तस्मादिति ।

अस्तु तर्हि विधेयमपि पारिव्राज्यं स्तावकमपीति चेन्नेत्याह—न चेति । विपक्षे दोषमाह—यदीति । "अथ पारिव्राज्यं यज्ञादिवद"न्यत्र विधीयतामिह" तु स्तुतिरेवेत्याशङ्क्याऽऽह—न चान्यत्रेति । आत्मज्ञाना"धिकाराद्न्यत्र पारिव्राज्यविध्यनुपलम्भादित्यर्थः । अन्यत्र विध्यनुपलम्भं समर्थयते—यदीत्यादिना । अन्यत्र कर्मप्रक्रियायामिति यावत् । कर्माधिकारे तत्त्यागविधेर्विरुद्धत्वादिति भावः । भवत्विह" पारिव्राज्ये विधि"स्तथाऽपि सर्वकर्म"नधिकृतविषयः स्यादित्याशङ्क्याऽऽह—यदपीति । तत्र कर्मानधिकृते पुंसीत्येतत् । "तत्र हेतुमाह—कर्तव्यत्वेनेति । कर्मानधिकृतेन कर्तव्यतया

समान भी 'प्रव्रजन्ति' यह वाक्य स्तुत्यर्थक नहीं हो सकता । तथा अन्य प्रधान कर्मों के समान यह अर्थवाद सापेक्ष है । यदि श्रुति में इसका भी श्रवण होता तो ऐसा कह सकते थे । इसलिये यह श्रुति आत्मलोक की स्तुतिपरक है—यह विचार भ्रान्तिपूर्ण ही है ।

विधेय पारिव्राज्य से (आत्मा या उसके ज्ञान) किसी की स्तुति नहीं हो सकती । यदि विधान करने योग्य होकर भी पारिव्राज्य अन्य की स्तुतिपरक हो सकता है तो इसे दर्शपूर्णमासादि विधेय कर्म भी स्तुति के लिए सिद्ध होंगे । इस विद्या प्रकरण को छोड़कर और कहीं भी (कर्म प्रकरण में) इसकी कर्तव्यता ज्ञात नहीं हुई, जिसके कारण यहाँ स्तुतिपरक हो । यदि कहीं पारिव्राज्य विधि की कल्पना की जाय तो वह यहीं मुख्य विधि होगी, अन्यत्र तो होगी नहीं । यदि अनधिकृत के विषय में पारिव्राज्य की कल्पना की जाय तो वृक्षादि में आरोहणादि की भी पारिव्राज्य के समान कल्पना हो जायगी ।

---

१. प्रस्तावकत्वेन विधित्वनिश्चयात् । २ विधेयेन । ३ आत्मनस्तज्ज्ञानस्य चेति शेषः । ४ कर्मप्रकरणे । ५. प्रकृतात् । ६. प्रकरणात् विद्याप्रकरणादिति यावत् । ७. तर्हि । ८ सुवर्णाय लोकायेत्याद्यर्थवादापेक्षावदित्यर्थः । ९. एतद्ध स्मेत्याद्यर्थवादम् । १०. अर्थवादसापेक्षत्वेन । ११ स्तावकमात्रत्वाभावे । १२. एकत्रोभयार्थत्वे वाक्यभेदोऽपीति मनसि निधायाऽऽह—अथेति । १३. कर्मप्रकरणे । १४. विद्याप्रकरणे । १५ प्रकरणात् । १६ विधिप्रकरणे । १७ पारिव्राज्यविधेयत्वेऽपि । १८ अन्धपङ्ग्वादिविषयः । १९. उक्तकल्पनायाम् ।

वृक्षा[१]द्यारोहणाद्यपि पारिव्राज्यवत्कल्प्येत । कर्तव्यत्वेनानिर्ज्ञातत्वाविशेषात् । [२]तस्मात्स्तुति-स्वगन्धोऽप्यत्र[३] न शक्यः कल्पयितुम् ।

यद्ययमात्मा लोक इष्यते किमर्थं तत्प्राप्तिसाधनत्वेन कर्माण्येव नाऽऽरभेरन्‌किं पारिव्राज्येनेति । अत्रोच्यते—अस्याऽऽत्मलोकस्य कर्मभिरसंबन्धात् । यमात्मानमिच्छन्तः प्रव्रजेयु[४]: स आत्मा साधनत्वेन फलत्वेन चोत्पाद्यत्वा[५]दिप्रकाराणाम[६]न्यतमत्वेनापि कर्मभिर्न संबध्यते । [७]तस्मात्स एष नेति नेत्यात्माऽगृह्यो न हि गृह्यत इत्यादिलक्षणः । यस्मादेवंलक्षण आत्मा कर्मफलसाधनासंबन्धी सर्वसंसारधर्मविलक्षणोऽशनायाद्यतीतोऽस्थूलादिधर्मवानजोऽजरो[८]ऽमरोऽमृतो[९]ऽभयः सैन्धवघनवद्विज्ञानैकरसस्वभावः स्वयंज्योतिरेक एवाद्वयोऽपूर्वोऽनपरोऽनन्तरोऽबाह्य इत्येतदागमतस्तर्कतश्च स्थापितं विशेषतश्चेह जनक-

---

ज्ञातत्वं वृक्षारोहणादाविव पारिव्राज्येऽपि नास्ति "तथा चानधिकृतविषये पारिव्राज्यं कल्प्यते चेत्तस्मिन्विषये वृक्षारोहणाद्यपि कल्प्येताविशेषादित्यर्थः । पारिव्राज्यस्याधिकृतविषयत्वे विधेयत्वे च सिद्धे फलितमाह—तस्मादिति ।

सार्थवादं पारिव्राज्यं व्याख्याय स एष इत्यादि व्याकर्तुं शङ्कयति—यदीति । परिहरति—अत्रेति । तदर्थिनो नाऽऽरभन्ते कर्माणीति शेषः । कर्मभिरसंबन्धमात्मलोकस्य साधयति—यमात्मानमिति । तस्य कर्मासंबन्धे निष्प्रपञ्चत्वं फलितमाह—तस्मादिति । आत्मनो निष्प्रपञ्चत्वेऽपि कथं तदर्थिनां पारिव्राज्यसिद्धिरित्याशङ्क्याऽऽह—यस्मादिति । निर्विशेषस्तत्र तत्र वाक्ये दर्शितस्वरूपोऽय-

---

क्योंकि कर्तव्य रूप से ज्ञात न होने में दोनों समान हैं। इसलिए 'प्रव्रजन्ति' इस वाक्य में स्तुतिपरक होने की लेशमात्र भी कल्पना नहीं की जा सकती।

(इस पर शङ्का होती है—) यदि आत्मलोक की इच्छा की जाती है तो उसकी प्राप्ति के रूप से कर्मों का आरम्भ ही न करो, प्रव्रजन ग्रहण से क्या प्रयोजन है? इस पर (सिद्धान्ती द्वारा परिहार करते हुए) कहा जाता है—इस आत्मलोक का कर्म से कोई संबन्ध नहीं है। जिस आत्मा की इच्छा करते हुए मुमुक्षु प्रव्रजन ग्रहण करें, उस आत्मा का साधन, फल, उत्पाद्य, आप्यादि प्रकारों में से किसी एक रूप से भी कर्मों का सबन्ध नहीं होता। इसलिए वह 'नेति नेति' इस प्रकार लक्षण वाला आत्मा "अगृह्य" अर्थात् ग्रहण नहीं किया जा सकता क्योंकि इस प्रकार के लक्षण वाला आत्मा कर्म के फल या साधन से असम्बद्ध, सम्पूर्ण सासारिक धर्मों से विलक्षण, क्षुधादि से अतीत, अस्थूलादि धर्मवान्, अजन्मा अजर, अपक्षयरहित अमृत और निरविघ सैन्धवखण्ड के समान एकमात्र विज्ञानरस-स्वभाव, स्वयंज्योति, एव, अद्वितीय, अकार्य, अकारण, नि सामान्य एव निर्विशेष है—ऐसा आगम और तर्क द्वारा निर्णय किया गया है, यहाँ जनक-याज्ञवल्क्य सवाद में इसका प्रतिपादन किया गया है।

---

१ आदिम्यामग्निप्रवेशादि ग्राह्यम् । २ अर्थवादान्वयादिलिङ्गात् अवतरणोत्वात् । ३ प्रव्रजन्तीतिवाक्ये । ४ मुमुक्षव । ५ आदिनाऽऽप्यत्वादिग्रह । ६ अन्यतमेनेति न्याय्यम् । ७ अवतरणोक्तत्वात् । ८ अपक्षयरहित । ९ निरविघ । १० तथा च—उभयत्र कर्तव्यत्वे न ज्ञातत्वाभावस्य तुल्यत्वे च ।

याज्ञवल्क्यसंवादेऽस्मिंस्तस्मादेवंलक्षण आत्मनि विदित आत्मत्वेन, नैव कर्मारम्भ उपपद्यते । 'तस्मादात्मा निर्विशेषः । न हि चक्षुष्मान्पथि प्रवृत्तोऽहनि कूपे कण्टके वा पतति । कृत्स्नस्य च कर्मफलस्य विद्याफलेऽन्तर्भावात् । न 'चायत्नप्राप्ये वस्तुनि विद्वान्यत्नमातिष्ठति ।

"अक्के चेन्मधु विन्देत किमर्थं पर्वतं व्रजेत् ।
इष्टस्यार्थस्य संप्राप्तौ को विद्वान्यत्नमाचरेत्" ॥
"सर्वं कर्माखिलं पार्थ ज्ञाने परिसमाप्यते" ।

इति गीतासु । इहापि चैतस्यैव' परमानन्दस्य ब्रह्मविरप्राप्यस्यान्यानि भूतानि मात्रामुपजीवन्तीत्युक्तम् । 'अतो ब्रह्मविदां न कर्मारम्भः ।

यस्मात्सर्वैषणाविनिवृत्तः 'स एष नेति नेत्यात्मानमात्मत्वेनोपगम्य तद्रूपेणैव

मात्मेत्येतदागमोपपत्तिभ्यां यथा पूर्वत्र स्थापितं तथैवात्रापि ब्राह्मणद्वये' विशेषतो यस्मान्निर्धारितं तस्मादस्मिन्नात्मन्यापाततो ज्ञाते कर्मानुष्ठानप्रयत्नासिद्धिरिति योजना । उक्तात्मविषयविवेकविज्ञानवतो न कर्मानुष्ठानमित्यत्र दृष्टान्तमाह—न हीति । ब्रह्मज्ञानफले सर्वकर्मफलान्तर्भावाच्च तद्विनो मुमुक्षोर्न कर्तव्यं कर्मेत्याह—कृत्स्नस्येति । 'तथाऽपि विचित्रफलानि कर्माणीति विवेकी कुतूहलवशादनुष्ठास्यतीत्याशङ्क्याऽऽह—न चेति । तत्र लौकिकं न्यायं दर्शयति—अक्के चेदिति । पुरोदेशे मधु लभेत चेदिति यावत् । ज्ञानफले कर्मफलान्तर्भावे मानमाह—सर्वमिति । अखिलं समग्राङ्गोपेतमित्यर्थः । तत्रैव श्रुतिं संवादयति—इहापीति । निषेधवाक्यतात्पर्यमुपसंहरति—अत इति ।

एतमित्यादि वाक्यं योजयति—यस्मादिति । उ हेति निपाताभ्यां सूचितोऽर्थो यस्मादित्यनु-

---

इसलिए इस प्रकार लक्षण वाले आत्मा को आत्मस्वरूप से जान कर कर्म का आरम्भ होना असम्भव है । इसलिये (कर्म से आत्मलोक के अत्यन्त असम्बद्ध होने के कारण) आत्मा निर्विशेष है । कोई भी नेत्र-ज्योतिसम्पन्न व्यक्ति दिन में मार्ग मे चलता हुआ कूप या काँटों मे नही गिरता और समग्र वस्तु बिना प्रयत्न के प्राप्य है क्योंकि कर्मफल का, विद्या के फल मे अन्तर्भाव हो जाता है । अन्तर्भाव मुद्रा में ही प्राप्त होने पर उस वस्तु के लिए विद्वान् यत्न का अनुष्ठान नही करता ।

"यदि अपने पास ही मधु प्राप्त हो जाय तो मधु प्राप्ति के लिए पर्वत के पास क्यों जाय । इष्ट अर्थ की प्राप्ति हो जाने पर, विद्वान् यत्न का आश्रय क्यो ले" ।

"हे पृथापुत्र अर्जुन ! कर्म जितने भी हैं, सभी ज्ञान में जाकर परिसमाप्त हो जाते हैं" ऐसा गीता का वचन है । इस वृहदारण्यक श्रुति में भी कहा है कि "ब्रह्मस्वरूप इस परमानन्द की विषयेन्द्रिय संबन्ध के समय प्रतीयमान एक कला के आश्रित दूसरे जीव रहते हैं" । इसलिए(कर्मानुष्ठान में कारण और फल के अभाव होने से) ब्रह्मवेत्ताओं के लिए कर्म का विधान नही है ।

---

१. निरुक्तात्मलोकस्यकर्मभिरत्यन्तमसम्बन्धात् । २. अन्तर्भावमुद्रया लभ्ये इति यावत् । ३. बृ उ. ४. ३. ३२ । ४. कर्मानुष्ठाने कारणफलयोरभावात् । ५. एषणाभ्यो विनिवृत्तौ हेतुमाह—स एष इति । ६. ज्योतिर्ब्राह्मणशारीरकब्राह्मणे । ७. तत्र तदन्तर्भावेऽपि ।

वर्तते तस्मादेतमेवंविदं नेति नेत्यात्मभूतमु हैवैते वक्ष्यमाणे न तरतो न प्राप्नुत इति युक्तमेवेति वाक्यशेषः। के ते इत्युच्यते—अतोऽस्मान्निमित्ताच्छरीरधारणादिहेतोः पापमपुण्य कर्माकरवं कृतवानस्मि कष्टं खलु मम वृत्तमनेन पापेन कर्मणाऽहं नरकं प्रतिपत्स्य इति योऽयं पश्चात्तापं कर्म कृतवतः परितापः स एनं नेति नेत्यात्मभूतं न तरति। ॐतथाऽतः कल्याणं फलविषयकामान्निमित्ताद्यज्ञदानादिलक्षणं पुण्यं शोभनं कर्म कृतवानस्मि। 'अतोऽहमस्य फलं सुखमुपभोक्ष्ये देहान्तर इत्येषोऽपि हर्षस्तं न तरति''। उभे उ हैवैष ब्रह्मविदेते कर्मणी ''तरति पुण्यपापलक्षणे।

भावितः। इतिशब्दस्यापेक्षितं पूरयति—युक्तमिति। आकाङ्क्षापूर्वकमुत्तरवाक्यमवतार्य व्याकरोति—के ते इत्यादिना। यथोक्तात्मविदस्तापहर्षासंस्पर्शे हेतुमाह—उभे इति।

सर्व एषणाओं से निर्मुक्त होकर "वह ऐसा नहीं है, ऐसा नहीं है" इस प्रकार आत्मा को आत्मत्वेन जानकर तद्रूप हो जाता है। इसलिए यथोक्त आत्मविद इस 'नेति नेति' आत्मभूत हुए पुरुष को ये वक्ष्यमाण दोनों प्राप्त नहीं होते; यह ठीक ही है, यह वाक्य का पर्यवसित अर्थ है। वे क्या हैं? इसे श्रुति बतला रही है—'अत' अर्थात् इस शरीर-धारणादि निमित्त से 'पापमकरवम्' यानी मैंने अपुण्य कर्म किये हैं यह महान् कष्टजनक है कि अपने द्वारा आचरित इन अपुण्य कर्मों से मैं नरक में जाऊँगा, इस प्रकार पापकर्म करने वाले का जो मरणावस्था में पश्चात्ताप है, उसे 'नेति-नेति'' इस प्रकार आत्मस्वरूप को जानने वाला नहीं प्राप्त होता। इसी प्रकार "अतः कल्याणमकरवम्" अर्थात् मैंने फलविषयक कामना के निमित्त से मैंने यज्ञदानादि रूप पुण्य यानी शुभ कर्म किए हैं, इसलिए शुभानुष्ठायी होने से मैं इसका दूसरी देह में फलात्मक सुख भोगूँगा, इस प्रकार का हर्ष विद्वान् को स्पर्श नहीं करता। इस प्रकार वह ब्रह्मवेत्ता इन दोनों पुण्य-पापलक्षण कर्मों का अतिक्रमण कर जाता है।

१. एवंविदम्—यथोक्तात्मविदम्। २ न प्राप्नुत इति—तयोरज्ञानकार्यत्वाद्विदुषश्च निष्प्रपञ्चात्मनि स्थितत्वादिति भावः। ३ धारणादीत्यादिनाऽविवेकप्रयुक्तरागादेर्ग्रहणम्। ४ महाकष्टजनकम्। ५ आचरणं चरितं वा। ६ मरणाद्यवस्थायाम्। ७ प्राप्नोति। ८ शुभानुष्ठायित्वात्। ९ विद्वांसम्। १०. स्पृशति। ११ अतिक्रामति, कर्महेतोरविद्याया विद्यया बाधात्।

ॐ तथाऽत कल्याणमित्यादौ ब्रह्मविदकर्मसम्बन्धीत्यवसानभाष्ये वार्तिकानि—क्षयिष्णु पुण्यं चेत्तस्मादेतावकरवं पुरा। इत्यते विचिकित्से द्वे सर्वस्य भवतो मृतौ॥ एते न तरतोऽज्ञोत्थे तद्धत्वज्ञानधस्मरम्। अज्ञानाद्यतिक्रान्तं ब्रह्मास्मीत्यात्मवेदिनम्। कथं ते व्याप्नुतोऽविद्याहेतुत्वे ब्रह्मवेदिनम्॥ तापाय पुण्यमप्याहुः परिणामादिसंगते। क्षयातिशययोगित्वात्तथा व्यामोऽप्यमापत। तस्य स्थानविशिष्टस्य सर्वं निरयसंज्ञिता॥ न व्याप्नुतस्ते तं कस्मात्कर्मणी साध्वसाधुनी। इतिहेतूपदेशार्थमुभे इति परं वचः॥ उभे एते तरत्येष विद्वांस्तद्धेतुबाधनात्। उभे न तरतोऽज्ञस्तमुभे न तपतश्च तम्॥ कृत फलप्रदानेन प्रत्यवायेन चाकृतम्। न तापयति कर्मैतन्नेति नेत्यात्मदर्शिनम्॥ पुण्यं वा यदि वा पापं न कर्मैहास्ति तादृशम्। लोकोऽस्य मीयते येन ब्रह्मविद्याप्रकाशितः॥ न तस्य प्रतिमा अस्ति यस्य नाम महद्यशः। इति मन्त्रोऽपि चाऽनन्यमैकात्म्यस्याब्रवत्स्वयम्'॥ ११७१-११७८॥ इति। अत कल्याणमित्यादेरर्थमाह—क्षयिष्ण्विति। एतस्माद्रागादेरेवेत्यर्थः। तत्फलं च मरणान्तरं भोक्तव्यमिति

एवं ब्रह्मविदः संन्यासिन [1]उभे अपि कर्मणी [2]क्षीयेते पूर्वजन्मनि कृते ये ते [3]इह जन्मनि कृते ये ते चापूर्वे[4] च नाऽऽरभ्येते । किंच नैनं कृताकृते कृतं नित्यानुष्ठानमकृतं तस्यैवाक्रिया ते अपि कृताकृते एनं न [5]तपतः । अनात्मज्ञं हि कृतं फलदानेनाकृतं प्रत्यवायोत्पादनेन तपतः । अयं तु ब्रह्मविदात्मविद्याग्निना सर्वाणि कर्माणि भस्मी करोति ।

पुण्यपापे तरतीत्युक्ते [6]पृथगवस्थानं तयोः [7]शङ्कृते तन्निरस्यति—एवमिति । [8]निषेधवाक्योक्तक्रमेणेति यावत् । [9]इतश्चाऽऽत्मविदो धर्मादिसंबन्धो नास्तीत्याह—किंचेति । [10]तदेवानन्तरवाक्यव्याख्यानेन स्फोरयति—नैनमिति । [11]तयोस्तर्हि कुत्र तापकत्वं तदाह—अनात्मज्ञं हीति । पुण्यत्वाद्ब्रह्मविदुषवदि कृताकृतयोस्तापकत्वं स्यादित्याशङ्कयाऽऽह—अयं त्विति[12] । अत्र भगवद्वाक्यं प्रमाणयति

इस प्रकार ब्रह्मवेत्ता सन्यासी के जो पूर्वजन्म के कर्म हैं और (विद्योत्पत्ति से पूर्व) इस जन्म के कर्म हैं; वे दोनों अनारब्धफलक पुण्य और पाप कर्म पृथक् नहीं रहते और ज्ञानोत्तर काल में नए कर्मों का आरम्भ नहीं होता । तथा "नैनं कृताकृते तपत" अर्थात् नित्य अनुष्ठान करने योग्य और नित्य अनुष्ठान न करने योग्य, ये दोनों (फल प्रदान प्रत्यवाय द्वारा) इसे स्पर्श नहीं करते ।

१ उभे पुण्यपापे अनारब्धफले । २ न पृथगवतिष्ठते । ३ विद्योत्पत्तेः प्राक् । ४ ज्ञानोत्तरकालम् । ५ फलप्रदानप्रत्यवायद्वारा । ६ तथा च द्वैतममशिष्येतेति भाव । ७ शङ्कयत इति पाठान्तरम् । ८ निषेधेति—नेति नेतीतिनिषेधवाक्य तत्रोक्त क्रम १३०० पृष्ठभाष्ये 'अत्रोच्यत' इत्यादिना प्रदर्शितो भाष्ये तेनेत्यर्थः । ९ टीकावसाने निर्गलिप्यमाणात् कारणात् । १० कारणम् । ११ विदुष्यतापकत्वे । १२ अय त्वितीति—उक्तानुमानेऽविद्यावत्त्वमुपाधिरिति शेष ।

सकल्पयतीति शेष । सकल्पद्वये कोऽधिकारीत्यपेक्षायामाह—इत्येते इति । तत्र समुच्चयानुष्ठायी यथोक्तचिकित्सावान्मृतेरूर्ध्वं सूक्ष्मदेहवेष्टितो देवयानेन पथा ब्रह्मलोकमासाद्य निर्वृणोति केवलेष्टादिकारित्वविशेषण पितृयाणेन चन्द्रमसमासीदति । अनिष्टादिकारी पुनरुक्तविशेषणो भूतसूक्ष्मपरिवृत. यममने यामीयतिना भूयो भूयोऽनुभूय ततोऽवरुह्य तृतीयस्थानभाग्भवतीति भाव ॥ तर्हि ब्रह्मविदोऽपि स्यातामेते विचिकित्से तत्कारणे च सुकृतदुष्कृते नेत्याह—एत इति । धर्माधर्मयोर्ब्रह्मविदस्पर्शे हेतुमाह—कथमिति । न हि त स्पृष्टाऽस्पष्ट तपति तस्याविद्याकार्यत्वात्तद्रहितेऽस्मिन्नयोगादित्यर्थं ॥ पापस्य तापकत्वेऽपि पुण्यस्य तस्य तदभावात्तत्र तपतीत्यप्रसक्तनिषेधोऽयमित्याशङ्कयाऽऽह—तापायेति । आहु सूत्रकारभाष्यकारप्रभृतय श्रुतयश्चेति शेष. । तस्य पापवत्तापकत्वे हेतुमाह—परिणामादीति । पुण्यस्य हि फले परिणामवृद्ध्यादिसवन्धात्सयसातिशयेन च युक्तत्वाद्युक्त तस्यापि तापकत्वमित्यर्थं । तत्र स्मृतिं प्रमाणयति—तथेति । व्यासवाक्यमेव लेशतो दर्शयति—तस्यति । ब्रह्मलोकाख्यस्थानस्य मोक्षस्थानस्य वाऽधस्ताद्भाविन सर्वे लोका दुःखबहुलत्वान्नरकशब्दिता इति वदन्पुण्यमपि तापक सूचयति स्मेत्यर्थं ॥ पुण्यापुण्ये ब्रह्मविद न स्पृशतो न तपतश्चेत्यत्र श्रुतिमुखेन हेतु वक्तु प्रश्नपूर्वकमुत्तरवाक्यमादत्ते—नेत्यादिना ॥ तद्व्याकरोति—उभे इति । तत्र हेतु—तद्धेत्विति । कर्महेतोरविद्याया विद्यया बाधादिति यावत् । विदुषो धर्माद्यतिक्रमफलमभिलपन्नैनमित्यादेरर्थमाह—उभे नति ॥ उभे न तपतस्तमित्यत्रैतत्प्रपञ्चयति—कृतमिति । तस्यातापकत्वे हेतुमाह—नेतीति ॥ यद्यपि कर्म विद्वांस न तापयति तथाऽपि विद्यया सह तत्फल परिच्छिन्नत्वीन्मस्ति विदुषोऽपि कर्माधीनतेत्याशङ्कयाऽऽह—पुण्य नेति । यद्गीयसमीप्यां विद्वानुच्यते ॥ विद्याप्रकाशितात्मलोकस्यापरिच्छिन्नत्वे मानमाह—न तस्येति । तस्य तात्पर्यमाह—इति मन्त्रोऽपीति ॥

[1]तदेतदृचाऽभ्युक्तम्। एष नित्यो महिमा ब्राह्मणस्य न वर्धते कर्मणा नो कनीयान्। तस्यैव स्यात्पदवित्तं विदित्वा न लिप्यते कर्मणा पापकेनेति। [2]तस्मादेवंविच्छान्तो दान्त उपरतस्तितिक्षुः *समाहितो भूत्वा-

ब्राह्मण के द्वारा कही गयी यह बात मन्त्र द्वारा भी प्रकाशित की गयी है। 'नेति नेति' इत्यादि श्रुति द्वारा लक्षित यह ब्रह्मदर्शी की नित्य महिमा है। (दूसरी महिमा यह है कि) जो कर्म से न तो घटती है और न बढ़ती ही है। अतः उस महिमा के स्वरूप को जानने वाला होना चाहिए। उसे जानकर पुरुष धर्माधर्म रूप कर्म से लिप्त नहीं होता। अत. ऐसा जानने वाला बाह्य इन्द्रिय व्यापार

"यथैधांसि समिद्धोऽग्निः" इत्यादिस्मृतेः। शरीरारम्भकयोस्तूपभोगेनैव क्षयः। अतो ब्रह्मविदः कर्मसंबन्धो। २२॥

तदेतद्वस्तु ब्राह्मणेनोक्तमृचा मन्त्रेणाभ्युक्तं प्रकाशितम्। [3]एष नेति नेत्यादिलक्षणो

—यथेति। यद्यपि पूर्वोत्तरयोर्धर्माधर्मयोरनारब्धयोरात्मविद्यावशाद्विनाशाश्लेषौ तथाऽपि प्रारब्धयोरस्ति तयो[4]स्तापकत्वमित्याशङ्क्याऽऽह—शरीरेति। प्रकृतं विद्याफलमुपसंहरति—अत इति। कर्मकार्यासंबन्धाविति यावत्॥ २२॥

उक्ते विद्याफले मन्त्रं संवादयति—तदेतदिति। एष नित्यो महिमेत्यत्र नित्यत्वमुपपादयति

अनात्मज्ञ को ही फलप्रदान के द्वारा कृत कर्म और प्रत्यवाय द्वारा अकृत कर्म स्पर्श करते हैं। यह ब्रह्मवेत्ता तो आत्मज्ञानरूप अग्नि से सारे कर्मों को भस्म कर देता है। 'जिस प्रकार प्रज्वलित अग्नि लकड़ी को भस्म कर देता है, (उसी प्रकार ज्ञानाग्नि सर्व कर्मों को भस्ममात् कर देता है) इत्यादि स्मृति इसमें प्रमाण है। (प्रारब्ध से) शरीरारम्भक पुण्य पाप कर्मों का विनाश तो उपभोग से ही होता है। इसलिए ब्रह्मवेत्ता कर्म से कोई सम्बन्ध नहीं रखता॥ २२॥

ब्राह्मण द्वारा कही हुई यह बात "ऋचा" अर्थात मन्त्र के द्वारा 'अभ्युक्तम्' अर्थात् प्रकाशित

---

१ तत् सर्वकर्मातिगम्। एतत् संनिहितब्राह्मणेनोक्त प्रत्यङ्मात्रमखण्ड ब्रह्म वस्त्वित्यर्थः। २ एतद्वेदन कथं स्यादित्यत आह—तस्मादिति। यस्मादुक्तलक्षणो महिमा तस्मादेववित् सर्वकर्मादिससर्गशून्य आत्मेत्यापाततो जानन्नित्यर्थः। ३ नेतीत्यादिना प्रकृत इत्यर्थ.। ४ जन्मान्तरीयभयप्रदत्वम्।

---

* समाहितो भूत्वेति। अत्राहुर्वार्तिकाचार्यास्तथाहि—"साध्यस्य कर्मणस्त्यागात्सामर्थ्यादेव सिद्धत.। तत्साधनस्य सत्यागे श्रद्धावित्तमिराऽत्र किम्॥ मैव दृष्टार्थविषये यत्कर्मास्यावबोधितम्। तत्साधनेष्वममताविधानार्थं वचो मत॥ श्रद्धैव वित्तमस्येति नान्यदस्य यतस्ततः। श्रद्धावित्तोऽयमित्युक्त सन्यासी सर्वकर्मणाम्॥ भूत्वेत्यस्याभिसबन्ध सर्वैः शान्तादिभि पदैः। विधिनाऽस्यापि चाऽऽक्षेपाद्विधिमन्त्रत्वमिष्यते॥ पाण्डित्यादि पुरोक्तं यत्तस्येयमुपसहृतिः। प्राक्तदात्मनमेवावेदिति यच्च समीरितम्। सेतिकर्तव्यता कोऽत्र विधिस्तस्यायमुच्यते॥ अन्वयव्यतिरेकाभ्यां यथोक्तैः साधनैर्युतः॥ आत्मन्येव तमात्मानं निष्कृष्यानात्मराशित। पश्येदित्यभिसबन्ध. पश्यतीत्यथवा

ऽऽत्मन्येवाऽऽत्मानं पश्यति सर्वमात्मानं पश्यति नैनं पाप्मा तरति सर्वं पाप्मानं तरति नैनं पाप्मा तपति सर्वं पाप्मानं तपति विपापो विरजोऽविचिकित्सो

से शान्त अन्तःकरण की तृष्णा से रहित होने के कारण दान्त, सम्पूर्ण एषणाओं से उपरत, द्वन्द्व को सहन करने वाला तितिक्षु और समाहित चित्त हो आत्मा में ही आत्मा को देखता है। सभी को आत्मा देखता है। उसे धर्माधर्म रूप पाप का स्पर्श नहीं होता। यह सम्पूर्ण पापों को पार कर जाता है। इसे पाप और ताप दुःखी नहीं करते, बल्कि यही सम्पूर्ण पापों को संतप्त करता रहता है। यह पापरहित,

---

नित्यो महिमा। अन्ये तु [1]महिमानः कर्मकृता इत्यनित्याः। अयं तु तद्विलक्षणो महिमा स्वाभाविकत्वान्नित्यो ब्रह्मविदो ब्राह्मणस्य [2]त्यक्तसर्वैषणस्य। कुतोऽस्य नित्यत्वमिति

—अन्ये त्विति। तद्विलक्षणत्वमकर्मकृतत्वम्। अकर्मकृतो महिमा स्वाभाविकत्वान्नित्य इत्यत्राकर्मकृतत्वेन स्वाभाविकत्वमसिद्धमित्याशङ्क्याऽऽह—कुतोऽस्येति। वृद्धिरपक्षयश्चेति विक्रियाद्वयाभावेऽपि

की गई है। 'एषः' अर्थात् 'नेति-नेति' इत्याद्यात्मक नित्य महिमा है। अन्य ब्रह्मलोकादिपर्यन्त जितने भी ऐश्वर्य विशेष हैं, वे सभी कर्मकृत होने से अनित्य हैं। यह उस सर्व एषणा त्यागी ब्रह्मवेत्ता की उससे विलक्षण महिमा है, जो स्वाभाविक होने के कारण नित्य है। इसकी नित्यता क्यों है?

---

१ ब्रह्मलोकादिपर्यन्ता ऐश्वर्यविशेषाः। २ ब्राह्मणशब्दस्य जातिपरत्वं व्यवच्छिनत्ति—त्यक्तेति।

भवेत्॥ विध्यर्थस्य पुरा प्राप्तेः काण्वानामनुवादतः। द्रष्टृश्चायुक्तितस्तस्मात्पश्यतीत्यभिधीयते॥ आत्माऽनात्मप्रधानत्वाद्ब्रह्मरूपेण नेक्ष्यते॥ विशेषणस्य स्वार्थोऽपि सत्कार्ये कारणे गतः। स्वात्माविद्यासमुत्थेऽस्मिन्नात्माविद्यासमाश्रयात्॥ देहेन्द्रियमनोधीभ्यो ह्यन्वयव्यतिरेकतः। मुञ्जेषीकावदुद्धृत्य पश्येदात्मानमात्मनि॥ आत्मन्येव यदाऽऽत्मानं विभज्यानात्मनोऽखिलात्। अपश्यति तदाऽऽत्मा न पृथग्व्यवतिष्ठते"॥ १२६७-१२७८॥ इति। तस्मादित्यादि समाहित इत्यन्तं व्याख्याय श्रद्धावित्तो भूत्वेति माध्यंदिनश्रुतिं व्याख्यातुं चोदयति—साध्यस्येति। श्रद्धैव वित्तमस्येति व्युत्पत्त्या वित्तान्तरत्यागो विवक्ष्यते स च कर्मत्यागेनैव गतस्तथा चोपरतादिश्रुत्या श्रद्धावित्तश्रुतेः पौनरुक्त्यात्प्रमादपाठोऽयमित्यर्थः॥ परिहरति—नैवमिति। देहस्थितिदृष्टार्थं तद्विषये यत्कर्म भिक्षाटनादि पूर्वविशेषणैरनिषिद्धं मन्यासिनोऽवशेषितं तत्साधनेषु भिक्षापात्रादिष्वपि ममता न कार्येत्येतदर्थं श्रद्धावित्तपदमुक्तम्। उक्तं हि—'न कुट्यां नोदके सङ्गो न चैले न त्रिपुष्करे। नागारे नाऽऽसने नान्ने यस्य वै मोक्षवित्तु सः' इति। तस्मादपुनरुक्तेर्युक्ता माध्यंदिनश्रुतिरित्यर्थः॥ उक्तेऽर्थे तां व्याचष्टे—श्रद्धेति। यत शब्दात्पूर्वमितिशब्दस्य सम्बन्धः॥ पाठद्वयेऽपि भूत्वेतिपदस्याव्यवहितेनैव सम्बन्धो न व्यवहितेन शान्त्यादिनेति शङ्कां निरस्यति—भूत्वेत्यस्येति। न हि सन्निधिरेव सम्बन्धहेतुः किन्तु योग्यत्वादिरपीति भावः। शान्तः स्यादित्यादिर्विधिरत्रास्ति चेत्तर्हि शमादीनां स्वतन्त्रविधिविषयत्वात्र ज्ञानशेषतेत्याशङ्क्य पश्येदितिविधिसन्निधानान्नैवमित्याह—विधिनेति। उभयत्र विधिपदं पश्येदितिविधिविषयम्॥ कहोलब्राह्मणादौ यथोक्तशमादेर्विहितत्वात्किमत्र तद्विधिनेत्याशङ्क्याऽऽह—पाण्डित्यादीति। आत्मन्येवेत्यादेस्तात्पर्यमाह—प्रागिति। तृतीयेऽध्याये तदात्मानमेवावेदित्यत्र वाक्यार्थज्ञानमुक्तं तस्योपाये श्रवणज्ञाने शमादीतिकर्तव्यतासहितो

ब्राह्मणो भवत्येष ब्रह्मलोकः सम्राडेनं प्रापितोऽसीति होवाच याज्ञवल्क्यः सोऽहं भगवते विदेहान्ददामि मां चापि सह दास्यायेति ॥ २३ ॥

कामनारहित एव संशयरहित ब्रह्मवेत्ता हो जाता है। हे राजन्! यही ब्रह्मलोक है, इस लोक में तुम पहुंचा दिये गये हो—ऐसा याज्ञवल्क्य ने जनक से कहा। तब जनक ने कहा—यह मैं आप श्रीमान् को विदेह देश देता हूं, साथ ही अपने आपको भी दास कर्म के लिये समर्पित करता हूं ॥ २३ ॥

हेतुमाह—कर्मणा न वर्धते शुभलक्षणेन कृतेन वृद्धिलक्षणां विक्रियां न प्राप्नोति। अशुभेन कर्मणा नो कनीयानप्यपक्षयलक्षणां विक्रियां प्राप्नोति। उपचयापचयहेतुभूता एव हि सर्वा विक्रिया इत्येताभ्यां [1]प्रतिषिध्यन्ते। [2]अतोऽविक्रियत्वान्नित्य एष महिमा। *तस्मात्तस्यैव [3]महिम्नः स्यादुवेत्पदवित्पदस्य वेत्ता पद्यते गम्यते ज्ञायत इति महिम्नः

विक्रियान्तराणि भविष्यन्तीत्याशङ्क्याऽऽह—उपचयेति। एताभ्यां निषेधाभ्यामिति यावत्। आत्मनः सर्वविक्रियाराहित्ये फलितमाह—अत इति। तस्य नित्यत्वेऽपि किं तदाह—तस्मादिति। अधर्मलक्षणे-

---

इसमें श्रुति हेतु बतलाती है—"न वर्धते कर्मणा नो कनीयान्" अर्थात् किए हुए शुभ कर्मों से यह वृद्धि रूप विकार को प्राप्त नहीं होती, न ही अशुभ कर्मों से अपक्षयरूप विकार को प्राप्त होती है। जितने भी विकार हैं, सब वृद्धि और अपक्षय के हेतुभूत हैं, इसलिए ये प्रतिषिद्ध किये जाते हैं। इसलिए विक्रियारहित होने के कारण यह इस ब्राह्मण की नित्य महिमा है। इसलिये "तस्यैव स्यात्पदवित्"

---

१ कार्याभावे हि कारणाभावोऽवगम्यते। २ कर्मासाध्यत्वात्। ३. त्वपदार्थभूतस्य।

विधिरात्मन्येवेत्यादिनोच्यते शमादिसम्पन्नो हि त्वमर्थज्ञानी भूत्वा वाक्यार्थज्ञानवान्मुच्यत इत्यर्थः। वाक्यार्थज्ञानस्य मुक्तिहेतुत्वेनाऽऽवश्यकत्वद्योतनायाथेत्युक्तम् ॥ नायं वाक्यार्थज्ञाने विधिरिति स्फोरयितुं पदार्थज्ञाने विधिमनुवदन्नाऽऽत्मनीत्यादि व्याकरोति—अन्वयेति ॥ शमादिभिर्युक्तोऽधिकारी चतुर्धाऽन्वयव्यतिरेकाभ्यामात्मानमनात्मराशेर्निष्कृष्य तमात्मन्येव पश्येदिति योजना। सप्तम्या संघातोक्तिः। द्वितीयया तत्साक्षिनिर्देशः। पश्येदिति माध्यन्दिनपाठेनोक्तम् ॥ पश्यतीति वर्तमानापदेशात्काण्वपाठे पदार्थज्ञाने कुतो विधिरित्याशङ्क्याऽऽह—विधीति। यद्यपि द्रष्टव्यादिवाक्यात्पदार्थज्ञानं काण्वमाध्यन्दिनयोः सिद्धं तथाऽपि विशिष्टं तदप्राप्तमिति माध्यन्दिनानां तद्विधिरिष्ट. काण्वानां तु पदार्थज्ञानमनूद्य विशेषणविषयो विधिरिति वर्तमानापदेशात्कल्पितोऽर्थतो नोभयेषां विशेष इत्यर्थः। ननु शमादिविशेषणमात्रविषयो विधिरात्मज्ञानस्य विधिमन्तरेणाहमिति सदा प्राप्तेरत आह—आत्मेति। यद्यप्यहमात्मेष्यते तथाऽपि परमार्थस्वरूपेण नाय लभ्यते देहादावात्माभिमानभावत्वादतस्त्वमर्थशुद्धिर्विधेयेत्यर्थः। कथमजडस्य चिद्धातो. स्वतन्त्रस्यानात्मप्राधान्य तत्राऽऽह—विशेषणत्वमिति। तस्मादित्यादिवाक्यार्थमुपसंहरति—देहेति। अन्वयव्यतिरेकयोर्विवेकहेत्वोः प्रसिद्धत्वार्थो हिशब्दः ॥ अन्वयादिना देहद्वयाद्विभज्य स्वमहिमस्थात्मनो ज्ञाने रज्जुसर्पवत्कल्पितत्वादनात्मनोऽनवशेषात्पूर्णत्वं प्रतीचः सिध्यतीति फलितमाह—आत्मन्येवेति ॥

* तस्मात्तस्यैव महिम्न इत्याद्युभयमपि पापकमेव विदुष इत्यन्तभाष्ये वार्तिकाचार्यास्तथाहि—"महिमैवविधो

स्वरूपमेव 'पदं तस्य पदस्य वेदिता । किं तत्पदवेदनेन स्यादित्युच्यते—तं विदित्वा महिमानं न लिप्यते न संबध्यते कर्मणा पापकेन धर्माधर्मलक्षणेनोभयमपि पापकमेव

नेति वक्तव्ये किमिदं धर्माधर्मलक्षणेनेत्युक्तमत आह—उभयमपीति। संसारहेतुत्वाविशेषादित्यर्थः।

अर्थात् उसी (त्वपदार्थभूत) की महिमा से यह तत्पदार्थभूत ब्रह्म[1] हो जाता है। पद का वेत्ता 'पदवित्' है अथवा "जो जाता है, प्राप्त होता है, ज्ञात होता है" इस प्रकार व्युत्पत्ति से महिमा के स्वरूप को पद कहते हैं, उसका जानने वाला 'पदवित्' है। उस पद के जानने से क्या होता है? इस पर श्रुति कहती है—'तं विदित्वा' अर्थात् उसकी महिमा जानकर 'कर्मणा पापकेन' अर्थात् धर्माधर्मलक्षण दोनों प्रकार

१ तत्पदार्थभूत ब्रह्म।

यस्माद्ब्राह्मणस्यात्र मादरात् । पदवित्स्यान्महिम्नोऽस्य महत्तज्ज्ञानतः फलम् ॥ तत्त्ववित्स्यान्महिम्नोऽस्येत्येष मन्त्रो विविक्षित । फलवादोऽर्थवाद स्यादस्यैव तु विधे परः ॥ महिम्नोऽस्यैव वा साक्षाद्वाक्यार्थप्रतिबुद्धये । अन्वयव्यतिरेकाभ्यां स्यात्पदार्थविवेचने ॥ यतः पदार्थसंबोधन्नेति नेत्यादिलक्षणम् । महिमानं श्रुतर्वेत्ति फलं चेत्स्यात्ततोऽपि किम् ॥ तं विदित्वेत्यत आह फलं वाक्यार्थबोधतः । यस्मादेव फलं ज्ञानमेवविद्यस्ततस्तत ॥ शमादिसाधनो भूत्वा महिम्नः पदविद्भवेत् । इति मन्त्रोक्त एवार्थो ब्राह्मणेनापि वर्ण्यते ॥ धर्माधर्मसमायोगो यस्मात्प्रत्यग्धियः फलम् । एवंविदादरात्तस्मात्प्रत्यक्प्रवणधीर्नरः ॥ उत्पन्नात्मबुभुत्सुः सन्वेदानुवचनादिभिः । विरक्तः आब्रह्मलोकाम्मोक्षादर्वाक्षु भूमिषु ॥ लघुबुधिषणोऽप्यर्थं वैदिकैरेव साधनैः । पराङ्मुखीकृत बुद्ध्या तैस्तैः सांसारिकैः फलैः ॥ दुःखात्मकत्वात्सर्वेषां शिखिविन्यस्तहस्तवत् ॥ इत्यवध्वस्तनिःशेषकल्मष पूर्वसाधनैः । उत्पन्नात्मबुभुत्सुः सन्त्यक्तसर्वपरिग्रहः ॥ रजस्तमोजरागादिदोषानाक्षिप्तशेमुषिः । मुमुक्ष्ववस्था संप्राप्त एव पूर्वोक्तसाधनैः ॥ मन्त्रब्राह्मणरूपिण्याऽधेदानीं विनियुज्यते । श्रुत्याऽशेषतमोघातिसम्यग्ज्ञानस्य जन्मने ॥ एवं पूर्वोक्तमन्त्रार्थज्ञानतत्फलविन्मुधी । शमादिसाधनो विद्यादन्वयव्यतिरेकतः । व्युत्थाप्यानात्मनः पश्यत्प्रदिश्याऽऽत्मानमात्मना ॥ वाक्यादेव ततोऽसङ्गं सर्वमात्मेति वीक्षते । इत्येतद्ब्राह्मणेनेह प्रयत्नेन विधीयते ॥ दान्तो भूत्वा ततः शान्तस्ततश्चोपरतो भवेत् । अर्थक्रमो बलीयान्स्यादत्र पाठक्रमादिह ॥ क्रियानिवृत्तिविषयः प्रयोगो जगतीक्ष्यते । अभिधानस्य शान्तादेः प्रत्यक्षेणेह सर्वतः ॥ बहिष्करणचेष्टाया निवृत्तो दान्त उच्यते । दान्ताऽश्वो गौर्गजो वाऽपि प्रयोगस्तत्र वीक्ष्यते ॥ अन्तःकरणचेष्टाया निवृत्तो शान्त उच्यते । शान्तो भिक्षुस्तपस्वीति तत्प्रयोगसमीक्षणात् ॥ न चाप्राप्तो विधिर्युक्तः प्राप्तास्त्वेते शमादयः । कुतस्तत्प्राप्तिरिति चेद्यथा प्राप्तिस्तथोच्यते ॥ प्रतिषिद्धं तथा काम्यं चापलं नित्यमेव च । इयदेव जगत्यस्मिन्पुंसां कर्म समीक्ष्यते ॥ निषिद्धस्य निषिद्धत्वात्कर्मकाण्डेऽपि कर्मणः । कुतो वेदान्तविद्याया तस्य प्राप्तिर्मनागपि ॥ मुक्तेरर्वाक्षु कामेषु मुमुक्षुत्वाद्विरक्तितः । काम्यकर्माणि नैवेह मुमुक्षोः संभवन्त्यतः ॥ रजस्तमोतिवर्तित्वात्सत्त्वसंशुद्धिहेतुनः । चापलान्यपि कर्माणि नात्र सन्त्यस्य कानिचित् ॥ न पाणिपादचपल इत्युक्तेर्वा निषेधतः ॥ नातः संभाव्यते कर्म मुमुक्षोश्चापलं क्वचित् ॥ नित्यस्याकरणाद्वा स्यादनर्थः करणादपि । नित्यस्यावाप्यतेऽस्मो चेद्दृढं किं नित्यकर्मणा । एवं नित्यानि कर्माणि कुर्वतः शुद्धचेतसः । नित्यक्ता जायते पुंसो निर्वेदश्च कर्मसु ॥ संसारमोक्षणायाऽन्यु नित्यं कर्म न चेत्फलम् । कोऽयस्तेनेह पुंसः स्यादकृतेन कृतेन वा ॥ इति संजातवैराग्यो नित्यकर्म स । स्वतस्त्याग करोत्येव प्राप्तास्तेन शमादयः ॥ यमान्सेवेत सततं न नित्यं नियमान्बुधः । यमान्पतत्यकुर्वाणो नियमान्केवलान्भजन् ॥ सत्यमेव शमादीनां प्राप्तत्वान्नेष्यते विधिः । प्राप्तानामेव तेषां तु साधनत्वं विधीयते । प्रत्यग्याथात्म्यविज्ञानजन्मने श्रुतिवाक्यतः ॥ यथोक्तविषयं तेषां साधनत्वं न मानतः । यत आत्मनः श्रुत्या साधनत्वं विधीयते ॥ निवृत्तिमात्रं

विदुषः ।

यस्मादेवमकर्मसंबन्ध्येष ब्राह्मणस्य महिमा नेति नेत्यादिलक्षणस्तस्मादेवं-

---

तस्मादित्यादिवाक्यं व्याचष्टे—यस्मादिति । एवंविदात्मा कर्मतत्फलसंबन्धशून्य इत्यापाततो

के पापकर्म से विद्वान् 'न लिप्यते" अर्थात् सम्बद्ध नहीं होता ।

क्योंकि इस प्रकार "नेति-नेति" इत्यादि स्वरूप वाली उस सर्व एषणा त्यागी ब्राह्मण की "

प्राप्त वा भवेदुक्तेन कर्मणा । कर्तव्यता निवृत्तेस्तु न प्राप्तेति विधीयते" ॥ ११८८-१२२० ॥ इति । तस्यै-वेत्यादेरर्थमाह—महिमेति । एवंविधो वृद्धिहानिहीन इति यावत् । महिम्नस्तत्पदार्थस्य पद ब्रह्म तज्ज्ञानी स्यान्मुमुक्षुरित्यर्थः । ॥ विदित्वेत्यादेस्तात्पर्यमाह—महदिति ॥ उक्तमेव विभजते—सर्वविदिति । ॥ विदित्वेत्या-दिविधे एव फलवादोऽर्थवाद स्यादिति योजना ॥ यद्येष सार्थवादो विधिस्तर्हि वाक्यार्थज्ञाने विधीष्टेरपरावान्त इत्याशङ्क्य तस्यैवेत्यादेरर्थान्तरमाह—महिम्न इति । महिम्नः पद स्वमर्थरूपं तज्ज्ञानमत्र विधीयते तस्यैव पदमित्यादिविति । किमर्थं तद्विधान तत्राऽऽह—भाक्षादिति । पदार्थज्ञानविधिमेवाभिनयति—मन्त्रेति ॥ वाक्यार्थज्ञानार्थं पदार्थज्ञान न विधेय वाक्यादेव तदर्थज्ञानसिद्धेरित्याशङ्क्याऽऽह—यत इति । अज्ञातपदार्थस्य वाक्यार्थज्ञानायोगात्तादर्थ्येन पदार्थज्ञानमर्थितमित्यर्थः । वाक्यार्थज्ञानफल पृच्छति—फल चेदिति ॥ मन्त्रमार्गे-णोत्तरमाह—तमिति । तस्मादित्यादेस्तात्पर्यमाह—यस्मादिति । एवफलमकर्मसंबन्धिस्वरूपावस्थानफलकमिति यावत् । एवंविदिति ज्ञानापयोक्तफलस्व विद्वानित्यर्थः । शमादेरायाससाध्यता दर्शयितु यत्नत इत्युक्तम् ॥ 'एष नित्यो महिमे'त्यादिमन्त्रेणास्य पुनरुक्तिमाशङ्क्याऽऽह—इति मन्त्रेति । मन्त्रब्राह्मणाभ्यामुक्तोऽर्थो भूयो ब्राह्मणेनोपस्क्रियमाणो दृढिमानमनुभवतीति भाव ॥ वाक्यतात्पर्यमुक्त्वा तत्पदार्थमाह—धर्मेति । तस्मादेव-विस्मत्यज्ञानजन्मने विनियुज्यत इति संबन्ध । एवविदित्यस्यार्थमाह—आदरादिति । आत्मज्ञानफल कर्म-तत्फलसबन्धस्तिरित्येव ज्ञानप्रारम्भी श्रद्धालुतया सदा प्रत्यक्प्रवणचित्त स्यादित्यर्थः ॥ प्रत्यक्प्रावण्ये कारणमाह—उत्पन्नेति । तस्य पूर्वेण संबन्ध । बुभुत्सोत्पत्तौ वेदानुवचनाद्यधीनधीशुद्धि हेतु सूचयति—वेदेति । ननु तदनुष्ठानेऽपि न सोऽप्रावर्तते सर्वेषा स्वभावतो विषयप्रावण्यादुक्त हि स्वभावतो विषयविषयाणीन्द्रियाणीति तत्राऽऽह—विरक्त इति । वैराग्ये हेतुमाह—शुद्धेति । शुद्धिफल कथयति—पराङिति ॥ युक्त सासारिकेषु फलेषु पराङ्मुखत्वमित्याह—दुःखेति ॥ नित्यादि कर्मभि शुद्धबुद्धेर्विवेककृतं वैराग्य सिध्यतीत्युक्तमिदानीं विरक्तस्य पारिव्राज्यं विशेषणान्तरमाह—इत्येवमिति ॥ सर्वकर्मसंन्यासिनः शमादिसंपत्तिमाह—रज इति । उक्त साधनत्रयमदेहस्य मुमुक्षुत्व लक्षयति—मुमुक्ष्वस्थामिति ॥ साधनचतुष्टयविशिष्टमधिकारिणमुक्त्वा तस्य विधिसबन्धमाह—मन्त्रेति । तस्यैव स्यात्पदविदात्मन्येवाऽऽत्मान पश्येदिति श्रुत्या त्वपदार्थविवेकादिसाधनेयुक्तो-ऽधिकारी नियुज्यते वाक्यार्थज्ञानार्थमित्यर्थः । तस्य यथोक्तसाधनातिरेकेणायोगोऽयदाब्दार्थ । इदानीमिति वाक्यार्थज्ञानाकाङ्क्षादशोक्तिः ॥ कथमधिकारिणो यथोक्तसाधनेषु मन्त्रब्राह्मणाभ्या विनियुज्यमानत्व-मित्यपेक्षायां विनियोगप्रकारमाह—एवमिति । कर्मानुष्ठानशुद्ध्यादिक्रमेणैव नित्यो महिमेत्यादिमन्त्रार्थज्ञान-मन्पलवेत्ता भूत्वा बुद्धिपूर्वकारी देहादेरन्वयव्यतिरेकाभ्यामात्मान निष्कृष्य स्वेन पूर्णात्मना तमेव प्रविश्य तदद्वयमासाद्य पश्येदिति यदुच्यते तदय विवेकशमादिसाधन सन्निधानादित्येव विवक्षितमित्यर्थः ॥ पदार्थज्ञानम-धिकृत्य मन्त्रेण विनियोगे फलितमाह—वाक्यादिति । पदार्थज्ञानानन्तर देहाद्यभिनिवेशशून्योऽधिकारी तत्त्वमादि-वाक्यादखण्डैकरसमात्मानमनुभवत्येवेत्यर्थः । ब्राह्मणेन तर्हि किमित्येष नियुज्यते तत्राऽऽह—इत्येतदिति । इति-

विच्छान्तो बाह्येन्द्रियव्यापारत उपशान्तस्तथा दान्तोऽन्तःकरणतृष्णातो निवृत्त

जानन्नित्यर्थं । विशेषणाभ्यामुत्सर्गतो विहितस्योभयविधकरणव्यापारोपरमस्य यावज्जीवादिश्रुतिविहितं कर्मापवादस्तस्माद्विरक्तस्यापि न नित्यादित्याग । 'उत्सर्गस्यापवादेन बाध कस्य न सम्मत'

महिमा कर्म का सवन्ध रखने वाली नहीं है, इसलिए इस प्रकार जानने वाला "शान्त" अर्थात् बाह्य इन्द्रिय के व्यापार से उपशान्त, "दान्त" अर्थात् अन्त करण की तृष्णा से निवृत्त "उपरत" अर्थात्

१ शान्त इत्यादि—अत्र व्याख्यानमेव चरणं वार्तिके स्वयक्रमस्य बलीयस्त्वेन पाठक्रममनादृत्य दान्तपदमेव बाह्येन्द्रियोपरमपरत्वे पूर्वं न व्याख्यातं तत शान्तपदमन्त करणोपरमत्वेनेति ध्येयम् ।　　१

शब्देन शमाद्युच्यते तच्चेद ब्राह्मणेन वाक्यार्थबुद्धावुद्देश्याना तात्पर्येण विधीयते न च तन्मन्त्रेण विहित न च तद्विना वाक्यार्थधीरतस्तज्ज्ञानमुद्दिश्य शमादि विधातु ब्राह्मणमित्यर्थ ॥ पदद्वय व्याख्याय पदान्तराणि व्याचिख्यासुरादौ पाठक्रम भङ्क्त्वा क्रमान्तरमाह—दान्त इति । पाठक्रमभङ्गे हेतु—अर्थेति । इहेति श्रौत पन्थान निर्दिशति ॥ कोऽसावर्थक्रमो यस्य बलीयस्त्वमित्याशङ्क्य पदपञ्चकस्य साधारणमर्थमाह—क्रियेति । इह जगतीति सबन्ध । सर्वत सर्वत्र व्युत्पत्तिभूमावित्यर्थं । प्रत्यक्षेण व्युत्पत्तिजनितस्वानुभवेनेत्यर्थं ॥ इदानीमर्थक्रमेण दान्तपद व्याचष्टे—बहिरिति । तत्र वृद्धप्रयोग प्रमाणयति—दान्त इति । बाह्यकरणचेष्टादिनिवृत्ति सतम्यर्थं ॥ शान्तशब्द व्याकरोति—अन्त करणेति । तत्प्रयोगसमीक्षणात्तस्मिन्नन्त करणचेष्टानिवृत्तिविशिष्टे पुसि शान्तपदस्य प्रयोगदृष्टेरित्यर्थ । अय भाव । बाह्यकरणाना विषयाभिनिवेशनिवृत्तिमन्तरेणान्त करणस्य विषयासङ्गो न व्यावर्तते न हि विषयविमुखा धीर्बाह्यानि करणानि तदभिनिवेशभाञ्जीति युज्यते तदव्यावृत्तावपि तदुपरम सभवति 'कर्मेन्द्रियाणि सयम्य य आस्ते मनसा स्मरन्निति' स्मृतेस्तद्ययोक्तमर्थक्रममाश्रित्य पाठक्रमातिक्रमो यदि तु शान्तदान्तशब्दयोर्भाष्योक्तोऽर्थो वृद्धप्रयोगमनादृत्योपेयते तदा पाठक्रमोऽपि स्यादिति ॥ शमादीना विधेयत्वमाक्षिपति—नन्विति । शमादीनामपि तुल्यमप्राप्तत्वमित्याशङ्क्याऽऽह—प्राप्तास्त्विति । प्रापकाभावाद्विधि विना तेषा न प्राप्तिरित्याह—कुत इति । प्रापकोक्त्या प्राप्तिस्तेषा प्रदर्श्यत इत्याह—यथेति ॥ तदर्थमादौ कर्मणश्चातुर्विध्यमाह—प्रतिषिद्धमिति । चापल ग्रामादिक प्रायश्चित्तार्हं कर्म । कर्मान्तरसत्त्व निरस्यति—इयदेवेति ॥ सप्रत्युपपत्त्या शमादि प्रापयन्निषिद्धध्वस्तेर्विधि विना प्राप्तिमाह—निषिद्धस्येति । वेदान्तविद्यायामिति ज्ञानकाण्डोक्ति ॥ कर्मकाण्डाभिव्याहारात्काम्यकर्मणामपि ध्वस्तेर्विना विधि प्राप्तिमाह—मुक्तेरिति । मुक्त्यतिरिक्तकाम्येषु पुत्रादिपदेषु विरक्तत्वे हेतुमाह—मुमुक्षुत्वादिति । वैराग्यफलमाह—काम्येति । इहेति वेदान्तविद्योक्ति ॥ अत शब्दो विरक्तत्व इत्यनेन सबध्यते ॥ चापलनिवृत्तेर्विधिमनपेक्ष्य प्राप्ति दर्शयति—रज इति । मुमुक्षोर्गुणद्वयातिवर्तित्वे हेतुमाह—सत्त्वेति । अत शब्दोऽप्यत्रैव स्पृश्यते ॥ 'न पाणिपादचपलो न नेत्रचपलो भवेत् । न स्याद्वाक्चपलश्चैव न परद्रोहकर्मधी' ॥ इतिस्मार्तनिषेधानुरोधादपि विधि विना चापलध्वस्तिरित्याह—न पाणीति । वाशब्दश्चार्थे ॥ नित्यकर्मणामपि ध्वस्तिर्विध्यनपेक्षा सिध्यतीति वक्तु तत्करणाकरणयोरतर्थं क्यत्वमाह—नित्यस्येति । असावित्यनर्थो गर्भवासादिरुच्यते ॥ तर्हि तेषामस्य तमेवानादरो नेत्याह—एवमिति । यावज्जीवश्रुतिवशेनेति दर्शयितुमेवमित्युक्तम् । कर्मान्तराणि दृष्टान्तयितुमपि चेत्युच्यते ॥ त्यागेच्छाप्रकारमभिनयति—ससारेति । भान्तु झटिति साक्षादिति यावत् । इहेति मोक्षोक्ति ॥ तित्यक्षाफलमाह—इति सजातेति । शमादीना विधि विनोपपत्त्या प्राप्तिमुक्तामुपसहरति—प्राप्ता इति ॥ न केवलमुपपत्तितस्तत्प्राप्ति किन्तु स्मार्तविधितोऽपीत्याह—यमानिति । देशकालावस्थाभिरनियता बुद्धिशुद्धिहेतवो ब्रह्मचर्यादयो यमा । उक्त हि—'अहिंसासत्यास्तेयब्रह्मचर्यापरिग्रहा यमा' इति । देशकालावस्थापेक्षिण शुद्धिहेतव

*उपरतः सर्वैषणाविनिर्मुक्तः संन्यासी तितिक्षुर्द्वंद्वसहिष्णुः समाहित इन्द्रियान्तःकरणचलनरूपाद्व्यावृत्त्यैकाग्र्यरूपेण समाहितो भूत्वा। तदेतदुक्तं पुरस्ताद्बाल्यं च पाण्डित्यं निर्विद्येति। आत्मन्येव स्वे कार्यकरणसंघात आत्मानं प्रत्यक्चेतयितारं पश्यति। तत्र किं तावन्मात्रं परिच्छिन्नं नेत्युच्यते—सर्वं समस्तमात्मानमेव पश्यति नान्यदात्मव्यतिरिक्तं

इत्याविन्ध्यायाविरयाशङ्क्याऽऽह—उपरत इति। जीवनविच्छेदव्यतिरिक्तशीतादिसहिष्णुत्वं तितिक्षुत्वम्। 'यत्र कर्तुः स्वातन्त्र्यं तेषां कर्मणां निवृत्तिः शमादिपदरुक्ता। यत्र तु सम्यग्धीविरोधिनि निद्रालस्यादौ पुंसो न स्वातन्त्र्यं तन्निवृत्तिः समाधानम्। समाहितो भूत्वा पश्यतीति सबन्धः। 'पश्यतीति वर्तमानापदेशात्कथं विशेषणेषु संक्रामितो विधिरित्याशङ्क्याऽऽह—'तदेतदिति। यथोक्तैः

सर्व एषणाओं से निवृत्त सन्यासी, 'तितिक्षु' अर्थात् द्वन्द्व-सहिष्णु "समाहितः" अर्थात् इन्द्रिय और अन्त करण के चलन रूप से व्यावृत्त होकर एकाग्रता पूर्वक समाहित होकर, इसी को पहले श्रुति मे कहा जा चुका है, 'बाल्य और पाण्डित्य को नि शेष करके (मनन से मुनि निदिध्यासनशील हो जाता है)"। "आत्मनि एव" अर्थात् कार्यकरणसघात अपने मे ही "आत्मानम्" अर्थात् प्रत्यक् चेतयिता आत्मा को देखता है। क्या वह तावन्मात्र परिमाण से अवच्छिन्न आत्मा को देखता है। नही। इसी को श्रुति कहती है—"सर्वमात्मान पश्यति" अर्थात् सभी कुछ आत्मा ही देखता है, आत्मा से व्यतिरिक्त वालाग्र-

---

१ उपरत इति—शमादिविधेरौत्सर्गिकस्यापवादतया प्रवृत्तयावज्जीवादिविधेरपवादार्थमुपरतश्रुतिरिति भाव.। न च शमादिश्रुतेर्यावज्जीवादिश्रुतश्च विपरीतमुत्सर्गापवादत्व हिंसाऽहिंसा श्रुत्योरपि तथा प्रसङ्गात्, सामान्यविशेषविषयत्वेन तयोरुत्सर्गापवादत्व तु प्रकृतेऽपि तुल्यम्। शमादिविधरन्तर्बहिश्चेष्टामात्रनिवृत्तिविषयस्य सामान्यविषयत्वेनोत्सर्गत्वाद् यावज्जीवश्रुतेरग्निहोत्रादिविषयत्वेनापवादत्वात् तदपवादार्थमुपरतश्रुतिरिति युक्तमिति। २ बृ उ ३ ५ १ (८२० पृष्ठभाष्य)। ३ आदिना दुर्वादताडनादि गृह्यत। ४ काम्यकर्मसु। ५ इच्छामात्रेण कर्तुमकर्तुं वा शक्तत्वम्। ६ शान्तादिपदे आदिना दमोपरमतितिक्षा गृह्यत। ७ आदिना मनोरथादि गृह्यते। ८ पश्यतीति वर्तमानेति—सति हि ज्ञाने विधौ तत्साधनेषु सक्रामद्विधिरिति भाव। ९ तदेतदितीति—बाल्यपस्यादिग्रन्थे ज्ञानविधरुक्तत्वान्नाय वर्तमानापदेश किन्तु पञ्चमो लकार इत्यभिप्राय।

क्रियाविशेषा देवताप्रणिधानादयो नियमा। उक्त च—'शौचसतोषतप स्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि नियमा' इति। उक्तस्य विधेरर्थवाद दर्शयति—यमानिति॥ *आमरहतुना शमादीना स्वरूपे वा किमिति त्यजे तत्त्वज्ञानहेतुत्वे* वति विकल्प्याऽऽद्यमङ्गी करोति—सत्यमिति। द्वितीय प्रत्याह—प्राप्तानामिति॥ ज्ञानसाधनत्वमपि प्राप्तत्वान्न विधेयमित्याशङ्क्याऽऽह—यथोक्तेति। प्रत्यग्याथात्म्यज्ञानजन्मनीति यावत्। श्रुत्या शमादिवाक्येनेत्यर्थ.॥ इतश्च तेषा विधेयतेत्याह—निवृत्तीति। उक्त वर्त्म निषिद्धस्य निषिद्धत्वादित्यादि। वाशब्दो विधान्तरद्योतनार्थं। यद्वा शमादीना विनेयत्वमुपसहरति—निवृत्तीति। वाशब्दोऽवधारणार्थं॥

* उपरत सर्वैषणाविनिमुक्त संन्यासीति। अत्राहुर्वार्तिकाचार्यास्तथाहि—'ननु दान्तशमोक्त्यैव सर्वस्यैवेह वमण। धारितत्वादुपरतश्रुत्याऽर्थात्क विधीयते॥ बहिरन्त क्रियातोऽन्या न क्रिया विद्यते यत। नोत्सर्गविधिना यस्मादपवादस्य बाधनम्॥ भूताहिंसाविधिर्यस्मादग्नीषोमीयमारभेत्। ऊर्ध्वं प्राणा उत्क्रामन्ति यून स्थविर आयति॥ प्रत्युत्थानाभिवादाभ्या पुनस्तान्प्रतिपद्यते। इत्यौत्सर्गिकमाचारं यथा बह्वा प्रबाधते॥ आगच्छति गुरौ तूष्णीमासीनस्तद्वत्त च। औत्सर्गिकत्यागविधि नित्यकर्मविधिर्वनात्। तस्य जीवन्मात्रैक-

बालाग्रमात्रमप्यस्तीत्येवं पश्यति । एवं पश्यन्तं ब्राह्मणं नैनं पाप्मा पुण्यपापलक्षण-स्तरति न प्राप्नोति । अयं तु ब्रह्मवित्सर्वं पाप्मानं तरत्यात्मभावेनैव व्याप्नोत्यतिक्रामति ।

साधनैरुदितायां विद्यायां किं स्यादित्याशङ्क्याऽऽह—एवमिति । तस्य पुण्यपापासंस्पर्शे हेतुमाह—अयं त्विति । इतश्च विदुषो न कर्मसंबन्धोऽस्तीत्याह—नैनमिति । किमिति पाप्मा ब्रह्मविदं न

मात्र भी नहीं है" ऐसा देखता है । इस प्रकार देखते हुए ब्राह्मण को "नैनं पाप्मा तरति" अर्थात् पुण्य-पाप-लक्षण पाप नहीं प्राप्त होता । यह ब्रह्मवेत्ता सकारण[1] "सर्वं पाप्मानं तरति" अर्थात् सभी पापों को

---

1. सकारणम् ।

हेतुत्वाद्बाध्यते ध्रुवम् ॥ नित्यकर्मविधेयैरमान्क्षमादिविधिना इति. । न तत्प्राप्तेःऽसौ यत्नात्प्रारब्धोपरतश्रुतिः ॥ इह चोपरतश्रुत्या तितिक्ष्वादिवदुच्यते । कर्माकर्मैव पुंसोऽस्य ह्यनुष्ठेयतयाऽऽमृते ॥ अनुष्ठेयतया श्रुत्या निवृत्तिः सर्वकर्मणाम् । यस्माद्विधीयते तस्मात्तत्त्यागी पतितो भवेत् ॥ इत्यत्र चोदयित्वैके परिहारं प्रचक्षते । नित्यानां कर्मणां कस्मात्परित्यागो विधीयते ॥ काम्यादिकर्मवत्तेषां मनोव्याक्षेपहेतुतः । त्यागोऽत्रोच्यते श्रुत्या नित्यानामपि कर्मणाम् ॥ भूत्वा समाहित इति समाधानं विधास्यते । चोद्यस्यासंभवोऽस्यात्र श्रुत्यैव विहितत्वतः ॥ साधनत्वेन शान्त्यादे सम्यग्ज्ञानस्य जन्मने । नातश्चोद्यावकाशोऽत्र शमादेर्विहितत्वतः ॥ साध्यसाधनसंबन्ध-विधाने सत्यसंभवः । स्वर्गादाविव यागादेर्विधानादेव कारणात् ॥ दोषान्तरप्रसङ्गार्थं परिहारः कृतस्ततः । चोद्यपूर्वक एतस्मिन्नन्यचोद्यस्य संभवात् ॥ यदि व्याक्षेपकारित्वाश्रित्य कर्म निषिध्यते । बहु भिक्षाटनाद्यस्ति तत्कस्मान्न निषिध्यते ॥ वेदान्तश्रवणाद्यस्ति बहु व्याक्षेपकारि च । तन्नित्यकर्मवत्कस्माच्छ्रुत्येह न निषिध्यते ॥ नैष दोषः प्रधानार्थसमाप्तेरेव कारणात् । भिक्षाटनाद्यनुष्ठानं तादर्थ्यान्न निषिध्यते ॥ प्रत्यगात्मात्म्यविज्ञान-समाप्त्याऽपेक्षितत्वतः । वेदान्तश्रवणादीनां न त्यागोऽत्र भण्यते ॥ समाप्तिं न समायाति प्रधानं यदसंभवे । निषिद्धमपि तत्कार्यं तत्समाप्तिप्रयुक्तितः ॥ प्रधानचोदनैवास्य चोदनातोऽवगम्यते । भिक्षाटनादिना नर्ते प्रधानं हि समाप्यते ॥ दोषमतो न कुर्वन्ति प्रधानार्थानुरोधतः । साक्षाद्विहितमप्येव तादर्थ्यात्कर्म नो मतम् ॥ याः काश्चिज्जीवता शक्यास्त्यक्तुं नित्यकृता क्रिया । ताः सर्वाः संपरित्यज्य निमेषादौ व्यवस्थितः ॥ उक्तविध्यर्थ-विषयाद्याः क्रिया विषयान्तरे । निषिध्यन्तेऽत्र ताः सर्वा व्याघातायैव ता यतः" ॥ १२३१-१२४१ ॥ इति । शमादीनां विधेयत्वमाद्योपरतश्रुतिस्थानस्थाः शङ्कामाह—नन्विति ॥ शान्तिदान्तिभ्यामानियारितक्रियानिवारणार्थ-मुपरतश्रुतिरित्याशङ्क्याऽऽह—बहिरिति । अतस्तयोर्वारितत्वादुपरतश्रुतिरनर्थिकेति दोषः । दूषयति—नेति । उपरतश्रुतेरपुनरुक्त विषयं वक्तुं सामान्यन्यायमाह—उत्सर्गेति । एकस्य निषेधविधेः स्वविषयस्य क्रत्वर्थत्वेन पुरुषार्थत्वेन च विनियोगे विरोधात्सामान्यविषयत्वे च पुरुषार्थहिंसासु चावकाशस्य न क्रत्वर्थहिंसाविषयत्वं तदाऽधिकारान्तरानुप्रवेशित्वेन सापेक्षत्वप्रसङ्गादतो नोत्सर्गेणापवादस्य बाधोऽस्तीत्यर्थः ॥ तत्र श्रौतदृष्टान्त-माह—भूतेति । न हिंस्यात्सर्वभूतानीति निषेधस्य निषेध्याधीननिष्पन्नत्वात्तस्य च रागप्राप्तत्वेन पुरुषार्थत्वात्त-न्निषेधस्यापि तादर्थ्याद्रागप्राप्तहिंसानुवादेन नञर्थे विध्युपसङ्क्रान्तेर्यत्पुरुषार्थभूतहिंसनं तन्न कुर्यादिति वाक्यार्थ-वसानात्पुरुषार्थनिषेधो न क्रत्वर्थमप्यास्कन्दत्यन्यथा वाक्यभेदाच्च हि न हिंस्यादिति क्रतुप्रकरणे सो न पशो करोतीतिवदाम्नातं तस्माद्भिन्नगोचरचारित्वान्न भूतहिंसाविधिरग्नीषोमीयहिंसाबाधक इति भावः । तत्रैव स्मार्तदृष्टान्तमाह—ऊर्ध्वमिति ॥ तर्हि स्थविरदर्शी युवा कथं पुनर्जीवति तत्राऽऽह—प्रत्युत्थानेति । ऋत्विग्विशेषो ब्रह्मन्प्रवर्धनैत्यादौ संबोध्यमानो ब्रह्मेत्युच्यते ॥ स कथमौत्सर्गिकमाचारं बाधते तत्राऽऽह—प्रागच्छतीति । तस्य यागादिविसर्गं कर्म प्राधान्यादित्यर्थः । दार्ष्टान्तिकमाह—तद्वदिति । यत्नेति शमादिवाक्योक्तिः । त्यागविधि.

नैनं पाप्मा कृताकृतलक्षणस्तपतीष्टफलप्रत्यवायोत्पादनाभ्याम् । सर्वं पाप्मानमयं तपति ब्रह्मवित्सर्वात्मदर्शनवह्निना भस्मी करोति । ॥ एष एवंविद्विपापो विगतधर्माधर्मो विरजो विगतरजो रजः कामो विगतकामोऽविचिकित्सश्छिन्नसंशयोऽहमस्मि सर्वात्मा परं ब्रह्मेति निश्चितमतिर्ब्राह्मणो भवति ।

तपतीत्याशङ्क्याऽऽह— सर्वमिति ।

आत्मभाव से व्याप्त अथवा अतिक्रमण करता है, इसे इष्टफलप्रदान से कृत पाप और प्रत्यवायोत्पादन से अकृत रूप पाप स्पर्श नहीं करता। यह ब्रह्मवेत्ता सभी पापों को सर्वात्मदर्शन रूप वह्नि से भस्मसात् कर देता है। वह इस प्रकार जानने वाला "विपापः" अर्थात् धर्माधर्मशून्य 'विरजः' अर्थात् विगतकाम "विचिकित्स" अर्थात् संशयरहित और 'ब्राह्मणः' अर्थात् 'मैं सर्वात्मा परब्रह्म हूँ' इस प्रकार निश्चितमति वाला हो जाता है।

शान्तो भवेदित्यादि । कथ यावज्जीवादिविधिस्तस्य बाधको द्वयोर्वैदिकविधित्वाविशेषात्तत्राऽऽह—तस्येति ॥ शमादिविधिरौत्सर्गिकस्यापवादतया प्रवृत्तयावज्जीवादिविधेरपवादार्थमुपरतश्रुतिरिति फलितमाह—नित्येति । उत्सर्गापवादयोरपवादस्य बलवत्त्वमत शब्दार्थः । न च शमादिश्रुतेर्यावज्जीवश्रुतेश्च विपरीतमुत्सर्गापवादत्व हिंसाहिंसाश्रुत्योरपि तथा प्रसङ्गात्सामान्यविशेषविषयत्वेन तयोरुत्सर्गापवादत्व प्रकृतेऽपि तुल्यं शमादिविधेरन्त-र्बहिश्चेष्टामात्रनिवृत्तिविषयस्य सामान्यविषयत्वेनोत्सर्गत्वाद्यावज्जीवश्रुतेरग्निहोत्रादिविषयत्वेनापवादत्वादतस्तद-पवादार्थमुपरतश्रुतिरिति भाव । अतो यत्नाद्युक्त्याऽऽयादवतार्यत्वसभवादिति यावत् ॥ उपरतिर्विधीयते चेद्यागादिवत्कर्म स्याद्विधेर्भावार्थविषयत्वनियमात्तथाच तद्वदेव त्याज्यताऽन्यथा यागादेरप्युपादेयतेत्याशङ्क्याऽऽह —इह चेति । यथा तिष्ठति स्वपितीत्यादिना क्रियानिवृत्तिरेवोच्यते तथोपरतश्रुत्या नित्यकर्मनिवृत्तिरूपमकर्मैव यावन्मरणमनुष्ठेयमस्मिन्वाक्ये विवक्ष्यतेऽतो यागादिसदृशकर्मविध्यभावान्निषेधेष्विव विध्यवसानान्नोक्तानुपपत्ति-रित्यर्थः ॥ अथोपरतश्रुतेरभिप्राय दर्शयति—अनुष्ठेयतयेति । स्वीकृतपारमहंस्यो जीवन्नेव तत्त्यजन्नस्पृश्यः स नित्याहं स्याद्बहिस्तूभयथाऽपीति न्यायादित्यर्थः ॥ उपरतश्रुतिर्नित्यकर्मनिवृत्त्यर्थेत्युक्तेऽर्थे चोद्यसमाधी परकीयावुद्भावयति—इत्यत्रेति । कौ तावित्याकाङ्क्षाया चोद्य तावद्दर्शयति—नित्यानामिति । यावज्जीव-श्रुतिचोदितानामकस्मात्त्यागायोगो न चोपरतश्रुतिस्तत्त्यागे हेतुस्तस्या काम्यकर्ममात्रत्यागार्थत्वात्काम्यानां कर्मणा न्यास सन्यास कवयो विदुरिति स्मृते शमदमश्रुतिभ्यामेव तत्सिद्धेस्तद्वैयर्थ्यं सिद्ध न समीहितमिति भाव ॥ तत्र परकीय समाधिमाह—काम्यादीति । मत शब्दस्य पूर्वेणान्वयम्या सबन्ध ॥ नित्यकर्मणा चित्त-विक्षेपकत्वेऽपि तत्त्यागस्ते मुमुक्षूणामपेक्षितज्ञानस्य काम्यादित्यागादेव सिद्धेस्तत्त्यागचोदना वृथेत्याशङ्क्याऽऽह —भूत्वेति । ज्ञानार्थिनश्चित्तसमाधिविधेस्तद्विक्षेपस्य तद्विरोधित्वान्मुमुक्षुणा तद्धेतुधियमिच्छता चित्तविक्षेपकरं नित्यमपि कर्म त्याज्यमेवेत्यर्थः । परेषां चोद्यमाक्षिपति—चोद्यस्येति । आत्मनि धीहेतुत्वेन सन्यासादेः श्रुत्यैव विहितत्वान्नित्यत्यागायोगचोद्यमनवकाशं न च काम्यादिमात्रत्यागार्थोपरतश्रुतिः शमादिश्रुत्या पुनरुक्तेनं चोपरत-वचन प्रमत्तगीत नोन्मर्गं विधिनेत्यादिन्यायेन सति गत्यन्तरे वैदिकोक्तित्यागायोगात्तुल्य हि साम्प्रदायिकमिति भाव ॥ तदेव दृष्टान्तेन स्पष्टयितुमनुभाषते—नात इति । अत्राऽऽत्मनि ज्ञानमुद्दिश्य शमादेर्विहितत्वान्न चोद्य सावकाशमित्यर्थः ॥ सत्यपि शमादिविधौ किमिति चोद्य नोल्लसेदित्याशङ्क्याऽऽह—साध्येति । यथा स्वर्गादौ साध्ये यागादेः साधनत्वं ज्योतिष्टोमादिवाक्येन विधीयते तथा सम्यग्ज्ञानोदयस्य कर्मत्यागस्य च

अयं त्वे'वंभूत 'एतस्यामवस्थायां मुख्यो ब्राह्मणः प्रागेतस्माद्ब्रह्मस्वरूपावस्थाना'द्गौणमस्य ब्राह्मण्यम् । एष ब्रह्मलोको ब्रह्मै'व लोको ब्रह्मलोको मुख्यो निरुपचरितः सर्वात्मभावलक्षणो हे सम्राट् । एनं ब्रह्मलोकं परिप्रापितोऽस्यभय' नेति नेत्यादिलक्षणमिति होवाच याज्ञवल्क्यः ।

कथं ब्राह्मणो भवतीत्यपूर्ववदुच्यते प्रागपि ब्राह्मण्यस्य सत्त्वादित्याशङ्क्याऽऽह—अय त्विति । मुख्यत्वमबाधितत्वम । सफलां विद्यां मन्त्रब्राह्मणाभ्यामुपदिश्योपसंहरति—एष इति । तत्र कर्मधारयसमासं सूचयति—ब्रह्मै'वेति । तथाविधसमासपारग्रहे प्रकरणमनुग्राहकमभिप्रेत्याऽऽह—मुख्य इति । 'तथाऽपि किं मम सिद्धमिति तदाह—एनमिति ।

इस प्रकार ब्रह्मीभूत हुआ इस विद्यावस्था में यह ब्रह्मवेत्ता ही अबाधित ब्राह्मण है, इस ब्रह्मस्वरूप में स्थिति होने से पूर्व गौण भावी वृत्ति से ही इसका ब्राह्मणत्व है । "एष ब्रह्मलोकः" अर्थात् यह ब्रह्म ही लोक है । अतः मुख्य निरुपचरित सर्वात्मभाव रूप ब्रह्मलोक है । 'हे सम्राट् ! तू इस अभय, नेति-नेति आदि लक्षण वाले ब्रह्मलोक को प्राप्त हो गया है' ऐसा याज्ञवल्क्य ने कहा ।

---

१. ब्रह्मीभूतः । २. विद्यावस्थायाम् । ३. भाविवृत्त्येत्याह । ४. पूर्वब्राह्मणेऽभयं वै जनकेत्यादिना यदभयं विद्याफलमुक्तं तदेव ब्रह्मलोकत्वेनेहोच्यते नातो विद्याफले भेद इत्यभिप्रायेणाह—अभयमिति । ५. तस्य ब्रह्मलोकत्वेऽपि ।

साध्यसाधनत्वेन सम्बन्धिनो श्रौते विधिरेव कर्मत्यागस्य भवादकस्य नित्यत्यागायोगयोर्बोधोल्लासोऽस्ति हि मुमुक्षोश्चरत स्यादिति विधिस्तथाच ततो नित्यत्यागे बोधायोगान्न समाधिरपि साध्योऽयमित्यर्थः ॥ सिद्धान्ती समाधत्ते—दोषान्तरेति । अस्यार्थः—यावज्जीवश्रुतिविहितनित्यकर्मत्यागो न युक्तिमानिति बोधपूर्वकमनोविक्षेपकत्वात्काम्यादिवत्त्यागो नित्यानामिति समाधौ बोधान्तरस्य सम्भवादसम्बोधमादायुद्धाम्य समाधिस्तस्य विहितत्वात् दोषान्तरमापाद्य समाधेयमिति परेषामिष्टमिति ॥ किं तत्त्वबोधान्तरं यद्दोषान्तरप्रसञ्जकत्वं परिजिहीर्ष्यते तदाह—यदीति । नित्यकर्मणश्चित्तविक्षेपकत्वादुपरतश्रुत्या निषेधे विक्षेपकत्वाविशेषाद्भिक्षाटनाद्याश्रमधर्मस्यापि निषेधः स्यात्तथाच तद्धीनः सन्यासी भ्रष्टो न पुरुषार्थाय स्यात् । 'आरूढो नैष्ठिकं धर्मं यस्तु प्रच्यवते पुनः । प्रायश्चित्तं न पश्यामि येन शुध्येत्स आत्महा' इति भ्रष्टस्यासमाधेयपतनस्मृतेरित्यर्थः ॥ भिक्षाटनादेः श्रवणाद्यर्थत्वान्न निषेधोऽस्तीत्याशङ्क्य तस्यापि विक्षेपकत्वान्मुमुक्षुविषये निषेधप्राप्तमेवमित्याह—वेदान्तेति । नित्यकर्मवद्भिक्षाटनादेः श्रवणादेश्चोपरतश्रुत्या त्यागो न प्राप्नोतीत्याह—नैष इति । तत्र हेतु—प्रधानेति । भिक्षाटनादेः श्रवणादेश्चोभयविधाद्धेतोर्ज्ञानार्थत्वात्तस्य प्रधानस्य सम्यगाप्तेनं प्रधानार्थिनः सन्यासिनस्तत्त्यागसिद्धिः प्रधानविघातादित्यर्थः । यत्तावद्भिक्षाटनाद्युपरतश्रुत्या निषेध्यमिति तद्दूषयति—भिक्षेति । ज्ञानार्थत्वान्मुमुक्षुणा तदनुष्ठेयमन्यथा जीवनाभावात्प्रधानासिद्धेस्तन्नोपरतश्रुत्या तन्निषेध्यमित्यर्थः ॥ यत्तु वेदान्तश्रवणाद्यस्तीत्यादि तत्राऽऽह—श्रवणेति । अत एवोपेदितत्वात इत्यनेन युज्यते । अनेति प्रकृतवाक्योक्तिः । श्रवणादित्यागे ज्ञानासिद्धेर्जिज्ञासोस्तत्त्यागायोगात्तद्विषयाध्ययनाद्यादनकाले विक्षेपो भवत्यपि भुञ्जानस्य मवतप्रधानाविरोधीति भाव ॥ उपरतश्रुत्या प्रधानार्थत्वादनिषेधः श्रवणादेरित्युक्त्वा निरोधस्ततोऽत्रापि मुमुक्षुणा तस्य कार्यत्वमाह—समाधिमिति ॥ तत्समाधिप्रयुक्तिस्त दर्शयत्यत्र्यभ्यति—प्रधानेति । ज्ञानोपदेश एव श्रवणादेः प्रापको भावीत्यतातःशब्दोक्त हेतुं व्यनक्ति—भिक्षेति । न हि संन्यासिनो विना भिक्षादिना देहधारणं न च तद्विना

एवं ब्रह्मभूतो जनको याज्ञवल्क्येन ब्रह्मभावमापादितः प्रत्याह—'सोऽहं त्वया ब्रह्मभावमापादितः सन्भगवते तुभ्यं विदेहान्देशान्मम राज्यं समस्तं ददामि मां च सह विदेहैर्दास्याय दासकर्मणे ददामीति चशब्दात्सबध्यते। 'परिसमापिता ब्रह्मविद्या सह सन्यासेन साङ्गा सेतिकर्तव्यताका। 'परिसमाप्तः परमपुरुषार्थः। 'एतावत्पुरुषेण कर्तव्य-

आत्मीय विद्यालाभं द्योतयितुं राज्ञो वचनमित्याह—एवमिति। सति वक्तव्यशेषे कथमित्थं राज्ञो वचनमित्याशङ्क्याऽऽह—'परिसमापितेति। तथाऽपि परमपुरुषार्थस्य वक्तव्यत्वमित्याशङ्क्याऽऽह—परिसमाप्त इति। कर्तव्यान्तरं वक्तव्यमस्तीत्याशङ्क्याऽऽह—एतावदिति। 'तथाऽपि यत्र निष्ठा

इस तरह याज्ञवल्क्य द्वारा ब्रह्मभाव की प्राप्ति कराये जाने पर ब्रह्मीभूत जनक ने उत्तर दिया। "सोऽहम्" अर्थात् तुम्हारे द्वारा ब्रह्मभाव को प्राप्त कराया गया मैं आप भगवान्‌श्री को देश-विदेश का अपना समस्त राज्य देता हूँ एवं अपने आप को इनके साथ "दास्याय" दासरूप कर्म के लिए समर्पित करता हूँ। 'च' अव्यय का 'ददामि' क्रिया से संबन्ध है। सन्यास, अङ्ग और इतिकर्तव्यता के सहित ब्रह्मविद्या का व्याख्यान हो गया। ब्रह्मबोध से परम पुरुषार्थ होना भी कहा जा चुका। पुरुषको यही

१ सोऽहमिति—दक्षिणात्वेन राजा राज्यमात्मानं च गुरवे समर्पितवानिति वाक्यार्थः। २ परीत्यादि—ब्रह्मविद्यावाक्यार्थज्ञानं तदुपायश्चाऽऽत्मार्थज्ञानं तदङ्गं शमादय इतिकर्तव्यता सन्यासश्चोपाङ्गं त्वमर्थज्ञानोपायत्वात् त्वपदार्थविवेकाय सन्यासः सर्वकर्मणामिति स्मृतेरिति ध्येयम्। ३ ब्रह्मबोधादिति भावः। ४ ब्रह्मज्ञानम्। ५ निरतिशयानन्दस्य। ६. कर्तव्यान्तरसमाप्तावपि।

तस्य ज्ञानमागन्तुकं युक्तं 'शरीरं मे विचर्षणमि'त्यादिश्रुतेर्नापि श्रवणाद्यभाव एव तत्त्वबोधो युक्तो द्रष्टव्यादिश्रुतेस्तन्निषिद्धमपि प्रधानानुरोधि कार्यं तद्विधिनाऽऽक्षिप्ततया निषेधस्याकिंचित्करत्वादित्यर्थः॥ प्रधानार्थिना निषिद्धमपि प्रधानानुरोधादुपादानप्रमाणात्कर्तव्यमित्युक्तम्। इदानीं विहितमपि प्रधानविरोधि त्याज्यमिति शास्त्रीयोदाहरणेन दर्शयति—शेषेति। अस्यार्थः—यदि राजन्यं वैश्यं वा याजयेत्स यदि सोमं बिभक्षयिषेन्न्यग्रोधस्तिभीराहृत्य ताः संपिष्य दधन्युन्मृज्य तमस्मै भक्षं प्रयच्छेदिति श्रुतेर्भक्षे स सोमं विकरोतीति पूर्वपक्षे श्रुत्या भक्षान्वयेऽपि यागशेषद्रव्यसंस्कारार्थतया तस्यावगतत्वात्फलचमसस्य यागसाधनत्वं विना तद्योगाद्यथाऽन्यशेषभक्षस्तथा कुर्यादित्यनया भङ्ग्या यागसंबन्धस्यैव विधानाद्भक्षणमपि सोमकार्यापत्त्याऽर्थप्राप्तमनूद्यत इति राद्धान्तितमिज्याविकारो वा संस्कारस्य तदर्थत्वादित्यत्र तत्र यथा तमस्मै भक्षं प्रयच्छेदिति साक्षाद्विहितमपि शेषभक्षं प्रधानसोमयागविरोधाद्राजन्यादयो न कुर्वन्ति किन्तु तदनुरोधेनैव तमाचरन्ति न सोममिति च श्रूयते तथेहापि प्रधानवशाद्विहितस्यापि विरोधिनस्त्यागो नाविरुद्धस्येति। अथवाऽध्वरलक्षणे स्थितं निर्देशाच्छेषभक्षोऽन्यप्रधानत्वाद्दर्शपूर्णमासयोर्ये शेषभक्षास्ते किमृत्विग्भ्योऽन्यैरेव कर्तव्याः किंवा तैरेवेति संशये सर्वभक्षेषु कर्मकरत्वेन प्राप्तानामृत्विजां यजमानपञ्चमा इडां भक्षयन्तीति पुनर्विधाया. श्रवणाद्भक्षान्तरपरिसंख्यानादिडामेवैते भक्षयन्तीति नियमादन्येष्वन्यभक्षेष्वितर इति प्राप्ते यजमानस्याकर्मकरत्वेनाप्राप्तस्य प्रापकं यजमानपञ्चमा इत्यादिवचनमित्यङ्गीकाराद्भक्षान्तराणामपरिसंख्यातत्वात्तेष्वपि प्रकृतानामेव प्रधानकर्मानुरोधेन कर्तृत्वामान्येषामिति राद्धान्तितं तत्र यथा साक्षाद्विहितमपि शेषभक्षं प्रधानपूर्णमासानुरोधादृत्विग्भ्योऽन्ये न कुर्वन्त्यृत्विजामेव दर्शपूर्णमासकर्तृतया तदीयशेषभक्षेऽपि कर्तृत्वनिश्चयात्तथा प्रकृते निषिद्धमपि प्रधानाविरुद्धमेष्टव्यं तद्विरुद्धं [illegible] विहितमपि त्याज्यमिति। अथवाऽभिपुत्य हुत्वा भक्षयन्तीति समानकर्तृकत्वश्रुतेरभिषवादिपदेन

[1]स वा एष महानज आत्माऽन्नादो वसुदानो विन्दते वसु य एवं [2]वेद ॥२४॥

वह यह महान् अजन्मा ही समस्त अन्नों को भोक्ता एवं सम्पूर्ण भूतों का कर्म फल दाता है। जो कोई इस रूप से ब्रह्म की उपासना करता है, उसे सम्पूर्ण कर्मों का फल प्राप्त होता है ॥२४॥

---

[3]मैषा [4]निष्ठैषा परा गतिरेतन्निःश्रेयसमेतत्प्राप्य कृतकृत्यो ब्राह्मणो भवत्येतत्सर्ववेदानुशासनमिति [5] ॥ २३ ॥

योऽयं जनकयाज्ञवल्क्याख्यायिकायां व्याख्यात आत्मा स वा एष महानज आत्मा-

---

कर्तव्या तद्वाच्यमित्याशङ्क्याऽऽह—एषेति। तथाऽपि परमा निष्ठाऽन्याऽस्तीति चेन्नेत्याह—एषेति। निश्चितं श्रेयोऽन्यदस्तीत्याशङ्क्याऽऽह—एतदिति। तथाऽपि कृतकृत्यतया मुख्यब्राह्मण्यसिद्ध्यर्थं वक्तव्यान्तरमस्तीत्याशङ्क्याऽऽह—एतत्प्राप्येति। किमस्या प्रतिज्ञापरम्पराया नियामकमित्याशङ्क्याऽऽह—एतदिति। निरुपाधिकब्रह्मज्ञानात्कैवल्यमिति गमयितुमितिशब्द ॥ २३ ॥

संप्रति सोपाधिकब्रह्मध्यानादभ्युदयं दर्शयति—योऽयमित्यादिना। ईश्वरश्चेत्प्राणिभ्यः कर्मफलं

ब्रह्मज्ञान कर्तव्य है, यह ब्रह्मविद्या ही निष्ठा है, यही परा गति है, यही निःश्रेयस है। इसे प्राप्त कर ब्राह्मण कृतकृत्य हो जाता है, यही वेद की आज्ञा है ॥ २३ ॥

इस जनक-याज्ञवल्क्य आख्यायिका में जिस आत्मा का स्वरूप बतलाया गया है, वह यह महान्

---

१ अथ सोपाधिकब्रह्मध्यानं सफलं प्रतिपत्तिसौकर्यार्थं श्रुतिरेवाह स वै यो राजमुन्याख्यायिकयोक्तः। अयं रानेर्दातुरित्यस्य प्रपञ्चो द्रष्टव्य। २ महत्त्वेनोपास्ते। ३ ब्रह्मविद्या। ४ निष्ठा तत्साधनत्वादेवमग्रेऽपि। ५ बृ उ २ ५ १९। ६ ऐश्वर्यम्।

तत्साक्षाद्विहितमपि शेषभक्ष न प्रधानीभूतप्रयोजनानुरोधादनुतिष्ठन्ति न हि शेषभक्षप्रतिबद्ध किमपि फलमभिलष्यते किन्तु प्रतिपत्तिकर्मतया समाचरन्ति तथा प्रतिपत्तिकर्मभूतसर्वकर्मत्याग विरक्ता मुमुक्षवोऽनुतिष्ठन्तोऽपि प्रधानीभूतसम्यग्ज्ञानानुरोधादेव भिक्षाटनादि न त्यजन्तीति। अथवा होमादिवत्तुल्यकर्तृकत्वभुत्या मुख्तो विहितमपि शेषभक्षणं न रौद्रस्येडामवद्यतीति रौद्रे गावीधुके चरौ प्रतिषेधाच्च कुर्वन्ति प्रकृते तु प्रधानभूतसम्यग्ज्ञानानुरोधादनिषेधाच्च भिक्षाचर्याऽविरुद्धमिति विरोधिनस्त्याग इति प्रधानार्थिना विहितमपि विरोधि त्याज्यं निषिद्धत्वादविरोध्यनुसर्तव्यमित्युक्तिद्वारा श्रवणादेर्ज्ञानोपायत्वादनुष्ठानावस्थायामर्थप्राप्तो विशेषो न ज्ञानोत्पत्तिविरोधीत्युक्तमिदानीं कर्मणोऽपि तादर्थ्यात्तदनुष्ठानकालिकमनोविक्षेपस्य तदविरोधित्वान्मुमुक्षुणा तदत्याज्यमित्याशङ्क्याऽऽह—एवमिति। यथा श्रवणादि ज्ञानसाधनं दर्शनमनूद्य तदुपायत्वेन विधानाच्च तथा कर्म साक्षात्तत्साधनं विविदिषन्तीति व्यवधानभूतस्तस्य चित्तशुद्ध्यर्थत्वादत शुद्धबुद्धेर्मुमुक्षोस्त्याज्यमेव कर्म फलभावादित्यर्थः ॥ मुमुक्षो श्रवणाद्यतिरिक्ताशेषकर्मत्यागे स्मृतिं प्रमाणयति—या. कश्चिदिति। यया भिक्षाटनादिव्यतिरिक्ता जीवतेति विशेषणात्सिद्धता त्वननुतिष्ठता विरक्तेनेति यावत्। नियमादौ काले स्थितो भटिति ता मर्यादास्त्यक्त्वा ज्ञानार्थी श्रवणादिपर स्यादिति शेषः ॥ तस्यास्तात्पर्यमाह—उक्तेति। उक्तो विधिरूपोऽयं शान्तस्मादित्यादितस्य विषयस्तत्त्वज्ञानमुद्दिश्य तस्मादुद्देश्यान्तरे स्वर्गादौ या यागादिक्रियाः समाप्यन्ते ता मर्याः सम्यग्ज्ञानस्य व्याघातायैव यतो भवन्त्यतोऽस्यां स्मृतौ निषिध्यन्ते श्रवणादयस्तु तद्धेतुत्वान्न निषेधमर्हन्तीत्यर्थः ॥

[१]स वा एष महानज आत्माऽजरोऽमरोऽमृतोऽभयो

वही यह अजन्मा आत्मा, महान्, अजर, अमर, अमृत एवं अभय ब्रह्मरूप है। अभय ही ब्रह्म है।

ऽन्नादः सर्वभूतस्थः सर्वान्नानामत्ता वसुदानो वसु धनं सर्वप्राणिकर्मफलं तस्य दाता प्राणिनां यथाकर्म फलेन योजयितेत्यर्थः। तमेतमजमन्नादं वसुदानमात्मानमन्नादवसुदानगुणाभ्यां युक्तं यो वेद स सर्वभूतेष्वात्मभूतोऽन्नमत्ति विन्दते च वसु सर्वं कर्मफलजातं लभते सर्वात्मत्वादेव य एवं यथोक्तं वेद। अथवा दृष्टफलार्थिभिरप्येवंगुण उपास्यः। [२]तेनान्नादो वसोश्च लब्धा दृष्टेनैव फलेनान्नात्त्वेन गोऽश्वादिना चास्य योगो भवतीत्यर्थः ॥२४॥

इदानीं समस्तस्यैवाऽऽरण्यकस्य [३]योऽर्थ उक्तः स [४]समुच्चित्यास्यां कण्डिकाया

ददाति तर्हि तस्य वैषम्यनैर्घृण्ये स्यातामित्याशङ्क्याऽऽह—प्राणिनामिति। उपास्यस्वरूपं दर्शयित्वा तदुपासनं सफलं दर्शयति—तमेतमिति। सर्वात्मत्वफलमुपासनमुक्त्वा पक्षान्तरमाह— अथवेति। दृष्टं फलमन्नात्त्वं धनलाभश्च। उक्तगुणकमीश्वरं ध्यायत फलमाह—तेनेति। तदेव फलं स्पष्टयति—दृष्टेनेति। अन्नात्त्वं दीप्ताग्नित्वम् ॥ २४ ॥

निरुपाधिकब्रह्मज्ञानान्मुक्तिरुक्ता[५] सोपाधिकब्रह्मध्यानाच्चाभ्युदय उक्तस्तयो[६] च किमुत्तर-

---

अजन्मा आत्मा 'अन्नाद' अर्थात् सर्वभूतस्थ होकर समस्त अन्नों का भोक्ता, 'वसुदान' अर्थात् धन या सम्पूर्ण प्राणियों के कर्मफल को देने वाला है अर्थात् प्राणियों को उनके कर्म के अनुसार फल से युक्त करता है। इस प्रकार अज, अन्नाद, वसुदान आत्मा को जो अन्नाद, वसुदान गुणों से युक्त जानता है, वह सर्वभूतों में आत्मभूत होकर अन्न भक्षण करता है, "विन्दते वसु" अर्थात् सर्वात्मक स्वरूप होने से ही सम्पूर्ण कर्मों के फलसमूह को प्राप्त करता है, जो 'एवम्' अर्थात् यथोक्तरूप से जानता है। अथवा दृष्ट फल के इच्छुक पुरुषों को भी ऐसे गुणों वाले ब्रह्म की उपासना करनी चाहिये। उस उपासना से वह अन्नाद और धनलाभ करता है अर्थात् दृष्ट अन्नाद और गो अश्वादि फल के द्वारा वह युक्त होता है ॥ २४ ॥

इस सारे आरण्यक में जो ब्रह्मात्मैक्य रूप अर्थ कहा गया है, उसी का अब (सुविधा के लिये)

---

१ अथ तिष्ठमानस्यत्याद्युक्त निर्गुणब्रह्मज्ञान सफलमाह—स वा एष इति। २ उपासनेन। ३ ब्रह्मात्मैक्यरूप। ४ सशिष्योपसंह्रियते सौकर्याय। ५ बृ उ ३ ६ २८। ६ सफलयोर्ज्ञानध्यानयोरुक्तत्वे।

---

* अज आत्माऽजरोऽमृतोऽभयो ब्रह्म यादि। अत्राहुर्वार्तिकाचार्यास्तथाहि— 'रज्जु सर्पादिवत्‌वाऽऽत्मा विनाऽविद्या न जायते। कार्या मता यतस्तस्मादात्माऽज इति भण्यते॥ सर्वभावविकाराणां जन्म मूलं यतस्ततः। सर्वेषां प्रतिषेधः स्यान्निषेधादात्मजन्मनः॥ तथाऽपि तान्श्रुतिर्यत्नाज्जरादीन्प्रतिषेधति। स्वाभाविकत्वाशङ्काया प्रतिषेधस्य सिद्धये॥ कालात्मना ह्यवच्छेदाभाव कालजरत्वतः। देहादिवज्जरामेति तस्मादात्माऽजरः स्मृतः॥ सर्वस्य परिणामस्य हानोपादानमात्रतः। जराधर्मनिषेधेन सर्वोऽतोऽत्र निषिध्यते॥ परिणामोऽस्य यतोऽस्य

ब्रह्माभयं वै ब्रह्माभयꣳहि वै ब्रह्म भवति य एवं वेद ॥२५॥

इति बृहदारण्यकोपनिषदि चतुर्थाध्यायस्य चतुर्थं ब्राह्मणम् ॥४॥

जो को उक्त आत्मा कोई अभय ब्रह्म समझता है, वह अभय ब्रह्मस्वरूप ही हो जाता है, इसमें किसी प्रकार का सन्देह नहीं ॥२५॥

॥ इति चतुर्थं ब्राह्मणम् ॥

निर्दिश्यत एतावान्समस्तारण्यकार्थ इति । 'स वा एष महानज आत्माऽजरो न जीर्यत इति न 'विपरिणमत इत्यर्थः । अमरो यस्माच्चाजरस्तस्मादमरो न म्रियत 'इत्यमरः । यो हि जायते 'जीर्यते च स विनश्यति म्रियते च । अयं त्वजत्वादजरत्वाच्चाविनाशी यतोऽत एवामृतः । यस्माज्जनिप्रभृतिभिस्त्रिभिर्भावविकारैर्वर्जितस्तस्मादितरैरपि भाव-

---

कण्डिकयेत्याशङ्क्याऽऽह—इदानीमीति । अजत्वाच्च'विनाशीति वक्तु' चशब्द' । कथ जन्मजराभाव-योरमरत्वाविनाशित्वसाधकत्व तदाह—यो हीति । अत्र त्वजत्वादविनाश्यजरत्वाच्चामरोऽमरत्वाच्चा-विनाशीति योजना । 'मरणायोग्यत्वमुपजीव्य 'मरणकार्याभाव दर्शयति—अत एवेति । जन्मापक्षय-विनाशानामेव भावविकाराणामिह मुखतो निषेधाद्विवृद्ध्यादीनि विकारान्तराण्यात्मनि भविष्यन्ति विशेषनिषेधस्य शेषाभ्यनुज्ञापरत्वादित्याशङ्क्याऽऽह—यस्मादिति । इतरे सत्त्वविवृद्धिविपरिणामा. ।

सक्षिप्त अर्थ इस मन्त्र मे कहा जाता है कि इतना ही सारे आरण्यक का अर्थ है। वह यह महान् अजन्मा आत्मा "अजरः" अर्थात् जीर्णता या विपरिणाम का प्राप्त नही होता। "अमर" अर्थात अजर होने के कारण सान्वयनाश के लिए योग्य नही होने से अमर है। जो जन्म लेता है, वह जीर्ण होता है और विनाश या मरणभाव को भी प्राप्त होता है। यह तो अजन्मा और अजर होने के कारण क्योंकि अविनाशी है, इसीलिए अमृत है। क्योकि यह जन्मादि तीन भाव विकारो से वर्जित है, इसलिये दूसरे

---

१ स वा एष महानिति—स प्रकृतब्राह्मणोपक्रमे स अयमात्माऽल्यमित्यादिनोक्तस्त्वपदवाच्यार्थं संमार्यात्मा वै इमारभ्यार्थ एष ब्रह्मलोकवाक्ये लोकशब्देन प्रकाशितस्त्वपदलक्ष्य । इत्थ त्वपदलक्ष्यमुद्दिश्य तस्य ब्रह्मत्व विदधाति महानिति सत्यज्ञानादिलक्षण ब्रह्मेत्यर्थ । २ विपरिणमते—कालावच्छिन्नदेहादिवप्रापगीयत इत्यर्थ । ३ सान्वयनाशानर्हं । ४ जीर्यतीति न्याय्यम् । ५ निरन्वयनाशानर्हं । ६ सान्वयादि नाश-द्वयानर्हत्वम् । ७ मरणरूपकार्याभावम् ।

मृत्येह प्रतिषिध्यते ॥ देहस्थितेरवसितिमृ'तिशब्देन भण्यते । तन्निषेधोऽमरोक्त्याऽत्र नित्यस्याऽऽत्मन उच्यते ॥ नाजस्यापरिणामस्य मरण जगतीक्ष्यते । अजोऽजरश्च तेनोक्तोऽमरश्चैष तत स्मृत ॥ परिणामात्मको मृत्युर-मरोक्त्या निवारित । अमृतोक्त्याऽथ नाशोऽस्य वार्यते यो निरन्वय ॥ अविनाशीत्यपि तथा विनाशद्वयमात्मन । श्रुत्या निषिध्यते साक्षात्प्रत्यक्कौटस्थ्यसिद्धये ॥ कामकर्मतमोभावादमरोऽमृत एव च । तत एवाभय. प्रत्यङ्भय हि तदभावत. । कारणस्य निषेधोऽत्रा भयकार्यनिषेधत ॥ मुक्तोऽभयत्वससिद्धि प्रतीप इति शङ्क्यते । ब्रह्मेत्याहा-

विकारैस्त्रिभिस्तत्कृतैश्च कामकर्ममोहादिभिर्मृत्युरूपैर्वर्जित इत्येतत् । अभयोऽत एव । यस्माच्चैवं पूर्वोक्तविशेषणस्तस्माद्भयवर्जितः । भयं [1]चाविद्याकार्यं तत्कार्यप्रतिषेधेन भावविकारप्रतिषेधेन चाविद्यायाः प्रतिषेधः सिद्धो वेदितव्यः । अभय आत्मैवंगुणविशिष्टः [2]किमसौ ब्रह्म परिवृढं निरतिशयं महदित्यर्थः । अभयं वै ब्रह्म । प्रसिद्धमेतल्लोकेऽभयं ब्रह्मेति । [3]तस्माद्युक्तमेवंगुणविशिष्ट आत्मा ब्रह्मेति ।

अत एवाभय इत्युक्तं विवृणोति—यस्माच्चेति । किं तद्भयं तदाह—भयं चेति । अविद्यानिषेधे विशेषणाभावादात्मानं सा सदा स्पृशतीत्याशङ्क्याऽऽह—तत्कार्येति । विशेषणान्तरं प्रश्नपूर्वकमुत्थाप्य व्याकरोति—अभय इति । कथं पुनरभयगुणविशिष्टस्याऽऽत्मनो ब्रह्मत्वं तदाह—अभयमिति । वैशब्दार्थमाह—प्रसिद्धिमिति । लोकशब्दः शास्त्रस्याप्युपलक्षणम् ।

भी तीन भाव विकारो से तथा उनसे उत्पन्न होने वाले मृत्यु रूप काम-कर्म-मोहादि से भी रहित है—यह इसका अर्थ है। इसलिए अभय है (क्योंकि यह इस प्रकार पूर्वोक्त विशेषण वाला है, इसलिए भय रहित है)। 'भय' नाम अविद्या के कार्य कामादि का है। उस अविद्या के कार्य के प्रतिषेध और भाव विकारो के प्रतिषेध से अविद्या का प्रतिषेध भी सिद्ध हो जाता है—ऐसा जानना चाहिए। इस प्रकार के गुणो से विशिष्ट अभय आत्मा का क्या स्वरूप है। "ब्रह्म" अर्थात् सब ओर परिव्याप्त अर्थात् निरतिशय महान है। अभय ही ब्रह्म है। लोक मे प्रसिद्ध है कि ब्रह्म अभयस्वरूप है। इसीलिए इस प्रकार के गुणो मे विशिष्ट आत्मा ही ब्रह्म है—ऐसा कहना उचित ही है।

---

१ कामादिकार्यम्। २ किंस्वरूप। ३ आत्मनो ब्रह्मलक्षणलक्षितत्वात् अभयत्वादिति यावत्।

ऽऽत्मनस्तत्त्वं ब्रह्म त्वमयमेव हि ॥ अहं ब्रह्मेत्यतः साक्षाद्यथोक्तेनैव वर्त्मना। भयहेतोर्निरासेन स ब्रह्माभयमश्नुते" ॥ ११२५-११३७ ॥ इति। अभयशब्दं व्याचष्टे - रज्जुरिति ॥ अजरादिविशेषणान्याक्षिपति —सर्वेति ॥ जन्मनिषेधादितरविकारनिषेधमङ्गीकृत्य समाधत्ते—तथाऽपीति। आर्थिकनिषेधस्याशाब्दिकत्वाज्जरादीनां पारमार्थिकत्वाशङ्कायां तन्निरासार्थं मुखतो निषेध इत्यर्थः ॥ अजरपदं व्याकरोति—कालात्मनेति। यथा देहादि कालावच्छिन्नत्वाज्जीर्यते न तथाऽऽत्मा जरामेति कालजरत्वादेव तदनवच्छिन्नत्वात्प्रतीचश्च कालजरत्वमुक्तं तस्मादयमजरः स्मृतो विद्वद्भिरित्यर्थः। कालजरत्वस्याऽऽत्मनि प्रागुक्तत्वावद्योती हिशब्दः ॥ जरादीनां स्वाभाविकनिषेधमजरादिविशेषणं चेत्तर्हि वृद्ध्यादेस्तथात्वाशङ्का तदवस्था तन्निषेधकविशेषणाभावादित्याशङ्क्याऽऽह—सर्वस्येति। अत्रेत्यात्मोक्तिः। हानोपादानमात्रतो जराजन्मान्तर्वर्तित्वादिति यावत्। अत शब्दस्य पञ्चम्या संबन्धः ॥ उक्तेऽर्थे गमकमाह—परिणाम इति। इह वाक्ये जन्मजरानिषेधानन्तरमात्मनो नाशाख्यो न्यो विकारोऽमृतश्रुत्या येन हेतुना निषिध्यते तेन मध्यवर्तिवृद्ध्यादिसर्वविकारनिषेधो विवक्षित इत्यर्थः ॥ अमरपदं तर्हि किमर्थमित्याशङ्क्य प्राणत्यागरूपमरणनिषेधार्थमाह—देहेति। तन्निषेधे हेतुमाह—नित्यस्येति ॥ अज वाद्युपजीव्यामरत्वं साधयति—नाजरमेति। यतोऽजस्तेनाजरो यतश्चाजरस्ततोऽमर इति योजना ॥ अमरपदेनैवान्यविकारनिराससिद्धेर्व्यर्थममृतपदं न च घटादिवन्नाशं निरसितुं तदिति युक्तमजरपदेन गतत्वादित्याशङ्क्याऽऽह—परिणामेति। अमरोक्त्या प्राणत्यागस्याजरोक्त्या च कारणमर्यस्य मृत्योर्निवारितत्वान्निरन्वयनाशं निरसितुममृतपदमित्यर्थः। अमृतपदस्यागतार्थत्व

य एवं यथोक्तमात्मानमभयं ब्रह्म वेद सोऽभयं हि वै ब्रह्म भवति । 'एष सर्वस्या उपनिषदः संक्षिप्तोऽर्थ उक्तः । एतस्यैवार्थस्य सम्यक्प्रबोधायोत्पत्तिस्थितिप्रलयादिकल्पना क्रियाकारकफलाध्यारोपणा चाऽऽत्मनि कृता तदपोहेन च नेति नेतीत्यध्यारोपितविशेषापनयद्वारेण पुनस्तत्त्वमावेदितम् । यथैकप्रभृत्यापरार्धसंख्यास्वरूपपरिज्ञानाय रेखाध्यारोपणं कृत्वैकेयं रेखा दशेयं शतेयं सहस्रेयमिति ग्राहयत्यवगमयति संख्यास्वरूपं केवलं न तु संख्याया रेखात्मत्वमेव यथा चाकारादीन्यक्षराणि विजिग्राहयिषुः पत्रमषीरेखादिसंयोगोपायमास्थाय वर्णानां सतत्त्वमावेदयति न पत्रमष्याद्यात्मतामक्षराणां

'वेद्यस्वरूपमुक्त्वा विद्याफलं कथयति—य एवमिति । कण्डिकार्थमुपसंहरति—एष इति । सृष्ट्यादेरपि 'तदर्थत्वात्किमित्यसाविह नोपसंह्रियते तत्राऽऽह—एतस्येति । सृष्ट्यादेरारोपितत्वे गमकमाह—तदपोहेनेति । तच्छब्दः सृष्ट्यादिप्रपञ्चविषयः । तदपोहेनेति यदुक्तं तदेव स्फुटयति—नेतीति । अध्यारोपापवादन्यायेन तत्त्वस्याऽऽवेदितत्वादारोपितं भवत्येव सृष्ट्यादिद्वैतमित्यर्थः । अध्यारोपापवादन्यायस्य पङ्कप्रक्षालनन्यायविरुद्धत्वात्तस्य विवक्षितं चेत्तत्रैवोच्यतां कृतं सृष्ट्यादिद्वैताध्यारोपेणेत्याशङ्क्याऽऽह—यथेति । उदाहरणान्तरमाह—यथा चेति । दृष्टान्तद्वयमनूद्य दार्ष्टान्तिकमाचष्टे—

जो इस प्रकार पूर्वोक्त आत्मा अभय ब्रह्म को जानता है, वह निश्चय ही अभय ब्रह्म हो जाता है । यह कूटस्थ, अद्वय, प्रत्यगभिन्न परमात्मा ही समस्त उपनिषदों का संक्षिप्त अर्थ है—ऐसा कहा गया । इसी अर्थ के सम्यक् प्रबोध के लिये आत्मा में उत्पत्ति, स्थिति, प्रलयादि की कल्पना तथा क्रिया, कारक और फल का अध्यारोप किया गया है; उसे हटा कर अर्थात् "नेति-नेति" इस रूप से अध्यारोपित विशेष की निवृत्ति द्वारा पुन. तत्त्व का ज्ञान कराया है । जिस प्रकार एक से लेकर परार्ध पर्यन्त संख्या का स्वरूप ज्ञान कराने के लिए रेखाओं की कल्पना करके यह रेखा एक की द्योतिका है, यह दश की द्योतिका है, यह सौ की द्योतिका है, यह सहस्र की द्योतिका है, इस प्रकार ग्रहण कराया जाता है; इस प्रकार इन रेखाओं से केवल संख्या का स्वरूप बतलाया जाता है, संख्या का रेखा मात्र ही स्वरूप नहीं है । जिस प्रकार अकारादि अक्षरों को समझाने की इच्छा वाला पुरुष, कागज, स्याही और रेखादि के संयोग का सहारा लेकर वर्णों का स्वरूप ज्ञान करा देता है; कागज, स्याही आदि ही अक्षर के स्वरूप हैं । ऐसा नहीं बतलाता, इसी प्रकार यहाँ उत्पत्ति आदि अनेक उपायों का आश्रय

---

१. कूटस्थोऽद्वयः प्रत्यगभिन्नः परमात्मा । २. सर्वं प्रपञ्चम् । ३. ब्रह्मात्मैक्यम् । ४. उपनिषदर्थत्वात् ।

द्योतनार्थोऽथशब्दः ॥ मैत्रेयीब्राह्मणेऽप्यविनाशी वा अरेऽयमात्माऽनुच्छित्तिधर्मेति श्रुत्या नाशद्वयमात्मनो निषिद्धमित्याह—अविनाशीत्यपीति । प्रकृतश्रुत्यैवेति वक्तुं तथाशब्दः । तन्निषेधफलमाह—अमृतमिति ॥ अमरत्वादपुनर्जीव्याभयत्वमवतारयति—अभयेति । तद्विभजते—भयं हीति । अनुभवानुसारार्थो हिशब्दः ॥ आकाङ्क्षापूर्वकं विशेषणान्तरमादत्ते—कुत इति । तथाऽपि कथमभयत्वमित्याशङ्क्याभयं वै ब्रह्मेत्यस्यार्थमाह—ब्रह्म स्विति । यो नौ प्रसिद्धमनुरोद्धुं हिशब्दः ॥ अभयं हीत्यादि व्याकरोति—एवमिति । इतिशब्दो ज्ञानपरामर्शार्थः । तस्य निमित्तत्वमतःशब्दार्थः । अपरोक्षज्ञानस्यैव सनिदानापरोक्षभ्रमध्वंसितेति दर्शयितुं साक्षादित्युक्तम् । ऐक्यज्ञानोदयोपायं सूचयति—यथोक्तेनेति । अन्वयादिना पदार्थशोधनपूर्वकं श्रुतेन वाक्येनेत्यर्थः ॥

ग्राहयति तथा चेहोत्पत्त्याद्यनेकोपायमास्थायैकं ब्रह्मतत्त्वमावेदितम्। पुनस्तत्कल्पितोपायजनितविशेषपरिशोधनार्थं नेति नेतीति तत्त्वोपसंहारः कृतः। तदुपसंहृतं पुनः परिशुद्धं केवलमेव, सफलं ज्ञानमभिहितमन्तेऽस्यां कण्डिकायामिति' ॥ २५ ॥

इति श्रीमद्बृहदारण्यकोपनिषद्भाष्ये चतुर्थाध्यायस्य चतुर्थं ब्राह्मणम् ॥ ४ ॥

(अथ चतुर्थाध्यायस्य पञ्चमं ब्राह्मणम्)

आगमप्रधानेन मधुकाण्डेन ब्रह्मतत्त्वं निर्धारितम्। पुनस्तस्यैवोपपत्तिप्रधानेन याज्ञवल्कीयेन काण्डेन पक्षप्रतिपक्षपरिग्रहं कृत्वा विगृह्यवादेन विचारितम्। शिष्याचार्य-

---

तथा चेति। इहेति मोक्षशास्त्रोक्तिः। तथाऽपि कल्पितप्रपञ्चसंबन्धप्रयुक्तं सविशेषत्वं ब्रह्मणः स्यादित्याशङ्क्याऽऽह—पुनरिति। तस्मिन्नात्मनि कल्पितः सृष्ट्यादिरुपायस्तेन जनितो विशेषस्तस्मिन्कारणत्वादिस्तस्य निरासार्थमिति यावत्। तर्हि द्वैताभावविशिष्टं तत्त्वमिति चेन्नेत्याह—तदुपसंहृतमिति। परिशुद्धं भाववदभावेनापि न संस्पृष्टमित्यर्थः। केवलमित्यद्वितीयोक्तिः। सृष्ट्यादिवचनस्य गतिमुक्त्वा प्रकृतमुपसंहरति—सफलमिति। इतिशब्दः संग्रहसमाप्त्यर्थो ब्राह्मणसमाप्त्यर्थो वा ॥२५॥

इति बृहदारण्यकोपनिषद्भाष्यटीकायां चतुर्थाध्यायस्य चतुर्थं शारीरकब्राह्मणम् ॥ ४ ॥

समाप्ते शारीरकब्राह्मणे वक्तव्यब्राह्मणं व्याख्यातव्यं कृत्स्नमतार्थेन मैत्रेयीब्राह्मणेनेत्याशङ्क्य मधुकाण्डार्थमनुद्रवति—आगमेति। याज्ञवल्किकमर्थमनुभाषते—पुनरिति। तस्यैव ब्रह्मणस्तत्त्वमिति शेषः। विगृह्यवादो जयपराजयप्रधानो जल्पन्यायः। षष्ठे प्रतिष्ठापितमनुवदति—शिष्येति। प्रश्न-

---

लेकर एक ब्रह्मतत्त्व का बोध कराया गया है। फिर उस आत्मा में कल्पित सृष्टयादि उपाय से जनित विशेष का निरास करने के लिए 'नेति-नेति' ऐसा कहकर तत्त्व का उपसंहार किया है। फिर इस मन्त्र के अन्त में उस उपसंहृत (अभाव से असंपृक्त भाववान्) परिशुद्ध, अद्वितीय ब्रह्म को ही, एवं फल सहित ज्ञान को कहा गया है ॥ २५ ॥

इस प्रकार बृहदारण्यक उपनिषद् के चतुर्थाध्याय चतुर्थ ब्राह्मणस्थ शाङ्करभाष्य का हिन्दी भाषानुवाद सम्पन्न हुआ ॥ ४ ॥

प्रथम और द्वितीय अध्यायस्थ आगमप्रधान मधुकाण्ड द्वारा ब्रह्मतत्त्व का निर्णय किया गया। फिर तीसरे में इसी का युक्तिप्रधान याज्ञवल्कीय काण्ड द्वारा पक्ष-प्रतिपक्ष का परिग्रह करके जल्प द्वारा

---

१ तथैव। २ तथा चोक्तम्—"असत्ये वर्त्मनि स्थित्वा ततः सत्यं समीहते। उपायं शिक्षमाणानां बालानामुपलालनैरिति" ॥ ३ इति संग्रह इत्यर्थः। ४ उपनिषत्क्रमेण प्रथमद्वितीयाध्यायाभ्याम्। ५ आगमशेषत्वं युक्तेस्तदानन्तर्यं युक्तम्। ६ आत्मनि। ७ कारणत्वादि द्वैतनिषेधे। ८ पूर्वग्रन्थेन गतार्थत्वम्। ९ उपनिषदि तार्तीयीकम्। १०. उपनिषदि चतुर्थे।

संबन्धेन च षष्ठे प्रश्नप्रतिवचनन्यायेन सविस्तरं विचार्योपसंहृतम् । [1]अथेदानीं निगमनस्थानीयं मैत्रेयीब्राह्मणमारभ्यते । अयं च [2]न्यायो वाक्यकोविदैः परिगृहीतो हेत्वपदेशात्प्रतिज्ञायाः पुनर्वचनं निगमनमिति[3] । अथवाऽऽगमप्रधानेन मधुकाण्डेन यदमृतत्वसाधनं ससंन्यासमात्मज्ञानमभिहितं तदेव तर्केणाप्यमृतत्वसाधनं ससंन्यासमात्मज्ञानमधिगम्यते । तर्कप्रधानं हि याज्ञवल्कीयं काण्डम् । तस्माच्छास्त्रतर्काभ्यां निश्चितमेतद्यदेतदात्मज्ञानं ससंन्यासम[4]मृतत्वसाधनमिति । [5]तस्माच्छास्त्रश्रद्धावद्भिरमृतत्वप्रतिपित्सुभिरेतत्प्रतिपत्तव्यमिति । आगमोपपत्तिभ्यां हि निश्चितोऽर्थः श्रद्धेयो भवत्य[6]व्यभिचारादिति । प्रश्न-

---

प्रतिवचनन्यायस्तत्त्वनिर्णयप्रधानो वादः । उपसंहृतं तदेव तत्त्वमिति शेषः । संप्रत्युत्तरब्राह्मणस्या[7]गतार्थत्वमाह—अथेति । आगमोपपत्तिभ्यां निश्चिते तत्त्वे निगमनमकिंचित्करमित्याशङ्क्याऽऽह—अयं चेति । प्रकारान्तरेण [8]संगतिमाह—अथवेति । कथमिह[9] तर्केणाधिगतिस्तत्राऽऽह—तर्केति । मुनिकाण्डस्य तर्कप्रधानत्वे किं स्यात्तदाह—तस्मादिति । इति फलतीति शेषः । शास्त्रादिना यथोक्तस्य ज्ञानस्य निश्चितत्वेऽपि किं सिध्यति तदाह—तस्माच्छास्त्रश्रद्धावद्भिरिति । एतच्छब्दो यथोक्तज्ञानपरामर्शार्थः । इति सिध्यतीति शेषः । [10]तत्र हेतुमाह—आगमेति । अव्यभिचारान्मानयुक्तिगम्यस्यार्थस्य तथैव सत्त्वादिति यावत् । इतिशब्दो ब्राह्मणसंगतिसमाप्त्यर्थः । तात्पर्यार्थं व्याख्याते सत्यक्षर-

---

विचार किया गया, इसके पश्चात् इस षष्ठ प्रपाठक (उपनिषत् क्रम से चौथे अध्याय) में शिष्याचार्यसबन्ध से प्रश्नोत्तर न्याय से विस्तृत विचार कर उपसहार किया गया । इस (आगम उपपत्ति द्वारा तत्त्वनिश्चय करने) के बाद अब निगमनस्थानीय मैत्रेयी ब्राह्मण का आरम्भ किया जाता है । इस निगमनरूप न्याय को पञ्चावयव-वाक्य विचक्षणो के द्वारा भी परिगृहीत किया जाता है । (व्याप्तिविशिष्ट पक्ष धर्म रूप) हेतु का कथन कर (साध्यविशिष्ट पक्ष रूप) प्रतिज्ञातार्थ का पुन प्रदर्शन करना निगमन है । अथवा आगमप्रधान मधुकाण्ड मे जिस सन्यासयुक्त आत्मज्ञान को अमृतत्व का साधन बतलाया है; वही ससन्यास आत्मज्ञान तर्क से भी अमृतत्व का साधन जाना जाता है । याज्ञवल्कीय काण्ड क्योकि तर्क प्रधान है; इसलिए यह जो अमृतत्व का साधन सन्यासपूर्वक आत्मज्ञान है, वह शास्त्र और युक्ति दोनो के द्वारा निश्चित है । इसलिए शास्त्रो मे श्रद्धा रखने वाले एव अमृतत्व लाभ

---

१ आगमोपपत्तिभ्यां तत्त्वनिश्चयानन्तरम् । २ न्याय इति—न्यायस्य पञ्चावयवकस्यानुमानस्यान्त्यावयवो निगमनाख्यः । वाक्ये पञ्चावयवके कोविदैर्विचक्षणैर्हेत्विति हेतोर्व्याप्तिविशिष्टपक्षधर्मस्य अपदेशात्कथनात्प्रतिज्ञाया प्रतिज्ञातार्थस्य साध्यविशिष्टपक्षस्य पुनर्वचनं प्रदर्शनं निगमनं तथा च व्याप्तिविशिष्टपक्षधर्महेतुवचनपूर्वकसाध्यविशिष्टपक्षप्रदर्शको न्यायावयवो निगमनमित्यर्थः । ३ न्या सू १ १ ३९ । ४ अमृतत्वेति—मधुकाण्डे या मैत्रेयीब्राह्मणेनागमबलादुक्ता मुक्तिसाधनीभूता सन्याससहिताऽऽत्मविद्या सैवाधुना न्यायप्रधाने मुनिकाण्डेऽपि मुक्तौ हेतुत्वेन न्यायतो मन्तव्येत्येतद्ब्राह्मणं प्रवृत्तमित्यर्थः । ५ अवतरणोक्तत्वात् । ६ हिशब्दसूचितोऽयं हेतु । ७ सगतिमिति पाठान्तरम् । [illegible] च सगतिरवसरात्मा । न चानन्तरवक्तव्यत्व भवति हि पूर्वावयवेभ्योऽनन्तरवक्तव्य निगमनमिति । ८. सगतिमिति – एकविषयत्वरूपा शेषशेषित्वरूपा वेत्यर्थः । तर्कस्यागमशेषत्वादिति ध्येयम् । ९ पञ्चमब्राह्मणे । १०. यथोक्तज्ञानस्य प्रतिपत्तव्यत्वे ।

'अथ ह याज्ञवल्क्यस्य द्वे भार्ये बभूवतुर्मैत्रेयी च कात्यायनी च तयोर्ह मैत्रेयी ब्रह्मवादिनी बभूव स्त्रीप्रज्ञैव तर्हि कात्यायन्यथ ह याज्ञवल्क्योऽन्यद्वृत्तमुपाकरिष्यन् ॥ १ ॥

यह बात प्रसिद्ध है कि याज्ञवल्क्य महर्षि की मैत्रेयी तथा कात्यायनी नाम वाली ये दो स्त्रियाँ थीं। उनमें मैत्रेयी ब्रह्मचर्चा करने वाली थी और कात्यायनी स्त्रियों की-सी (गृहसम्बन्धी प्रयोजन) बुद्धिवाली थी। ऐसी स्थिति में याज्ञवल्क्य गार्हस्थ्य जीवन से भिन्न सन्यासचर्या को प्रारम्भ करना चाहते थे ॥ १ ॥

राणां तु 'चतुर्थे यथा व्याख्यातोऽर्थस्तथा प्रतिपत्तव्योऽत्रापि। यान्यक्षराण्यव्याख्यातानि तानि व्याख्यास्यामः।

अथेति' हेतुपदेशानन्तर्यप्रदर्शनार्थः। 'हेतुप्रधानानि हि वाक्यान्यतीतानि। तदनन्तरमागमप्रधानेन 'प्रतिज्ञातोऽर्थो निगम्यते मैत्रेयीब्राह्मणेन। हशब्दो वृत्तावद्योतकः।

व्याख्यानप्रसक्तावाह—अक्षराणां त्विति। तर्हि ब्राह्मणेऽस्मिन्वक्तव्याभावात्परिसमाप्तिरेवेत्याशङ्क्याऽऽह—यानीति।

ननु वाक्यानि पूर्वत्र व्याख्यातानि न हेतुरुपदिष्टस्तत्कथं तदुपदेशानन्तर्यं ससंन्यासस्यामृतत्वहेतोरात्मज्ञानस्याथशब्देन द्योत्यते तत्राऽऽह—हेतुप्रधानानीति। तदेव वृत्तं व्यनक्ति—याज्ञवल्क्यस्येति।

के इच्छुक पुरुषों को इसे प्राप्त करना चाहिये क्योंकि शास्त्र और युक्ति द्वारा अवधारित अर्थ ही अव्यभिचरित होने से श्रद्धा का विषय होता है। इन अक्षरों के अर्थ का व्याख्यान जिस प्रकार चतुर्थ प्रपाठक (उपनिषद् के द्वितीय अध्याय) में किया गया है, उसी प्रकार यहाँ भी समझना चाहिए। जो अक्षर वहाँ अव्याख्यात रह गये हैं, उनकी व्याख्या यहाँ की जायगी।

"अथ" यह (ससन्यास आत्मज्ञान के) हेतु, (वैराग्यादि) उपदेश व आनन्तर्य प्रदर्शन के लिए है। इससे पूर्व हेतुप्रधान (शमादिप्रतिपादक) वाक्यों का निरूपण हो चुका है। तदनन्तर आगमप्रधान मधुकाण्डस्थ मैत्रेयी ब्राह्मण से (यथोक्त आत्मबोध रूप) प्रतिज्ञात अर्थ निगमन किया जाता है। 'ह' यह शब्द पूर्व सन्दर्भ का द्योतक है। याज्ञवल्क्य ऋषि की "द्वे भार्ये बभूवतु" अर्थात् दो पत्नियाँ

---

१ अथेति—"मधुकाण्डे याज्ञवल्क्यकाण्डे विज्ञानमीरितम्। तत्सर्वमुपसंहर्तुं मैत्रेयीब्राह्मणं भवेत् ॥ वक्तव्यश्च विशेषोऽत्र पूर्वोक्तादधिको न हि। इति सूचयितुं शेषस्तत्पाठं पुनरुच्यते" ॥ इति वा० सा ४ ५ १-२। २ द्वितीये। ३ शब्द। ४ यथोक्तात्मज्ञानहेतुशमादिप्रतिपादकानि। ५ मधुकाण्डस्थ। ६ यथोक्तात्मबोध। ७ भाष्यस्य।

मैत्रेयीति होवाच याज्ञवल्क्यः प्रव्रजिष्यन्वा अरे-ऽहमस्मात्स्थानादस्मि हन्त तेऽनया कात्यायन्याऽन्तं करवाणीति ॥ २ ॥

हे मैत्रेयि ! इस प्रकार याज्ञवल्क्य ने (बडी पत्नी को लक्ष्य करके) कहा—मैं इस गार्हस्थ्य जीवन से अन्यत्र सब कुछ त्याग कर जाना चाहता हूँ यानी सन्यास लेना चाहता हूँ। अतः तुम्हारी अनुमति लेना चाहता हूँ, तुम चाहो तो इस कात्यायनी के साथ तुम्हारा बँटवारा कर दूँ ॥ २ ॥

याज्ञवल्क्यस्यर्षेः किल द्वे भार्ये पत्न्यौ बभूवतुरास्तां मैत्रेयी च नामत एकाऽपरा कात्यायनी नामतः। तयोर्भार्ययोर्मैत्रेयी ह किल ब्रह्मवादिनी ब्रह्मवदनशीला बभूवाऽऽसीत्। स्त्रीप्रज्ञा स्त्रियां योचिता सा स्त्रीप्रज्ञा सैव यस्याः प्रज्ञा गृहप्रयोजनान्वेषणालक्षणा सा स्त्रीप्रज्ञैव तर्हि तस्मिन्काल आसीत्कात्यायनी। अथैवं सति ह किल याज्ञवल्क्योऽन्यत्पूर्वस्माद्गार्हस्थ्यलक्षणाद्[1]वृत्तात्पारिव्राज्यलक्षणं वृत्तमुपाकरिष्यन्नुपाचिकीर्षुः सन् ॥ १ ॥

हे मैत्रेयीति ज्येष्ठां भार्यामामन्त्रयामास। आमन्त्र्य चोवाच ह प्रव्रजिष्यन्पारिव्राज्यं करिष्यन्वा अरे मैत्रेय्यस्मात्स्थानाद्गार्हस्थ्यादहमस्मि भवामि। मैत्रेय्य[2]नुजानीहि मां हन्तेच्छसि यदि तेऽनया कात्यायन्या[3]ऽन्तं करवाणीत्यादि व्याख्यातम् ॥ २ ॥

अथेत्यस्यार्थमाह—एवं सतीति। भार्याद्वये दर्शितरीत्या स्थिते स्वस्य च वैराग्यातिरेके सतीति यावत् ॥ १ ॥

तस्या ब्रह्मवादित्वं तदामन्त्रणद्वारेण तां प्रत्येव संवादे हेतूकर्तव्यम्। '[4]तस्या ब्रह्मवादित्वं द्योतयितुमिच्छसि यदीत्युक्तम् ॥ २ ॥

थी; मैत्रेयी और कात्यायनी। "तयो" अर्थात् उन पत्नियों में मैत्रेयी "ब्रह्मवादिनी" अर्थात् ब्रह्मवदनशीला थी और कात्यायनी में "तर्हि" यानी उस समय "स्त्रीप्रज्ञा" अर्थात् स्त्री को जो उचित है, वैसी बुद्धि थी अथवा गृह-प्रयोजन की ही खोज में रहने वाली बुद्धि थी। "अथ" अर्थात् ऐसा होने पर याज्ञवल्क्य ने "अन्यद्वृत्तमुपाकरिष्यन्" अर्थात् गृहस्थ आश्रम से भिन्न चरित सन्यास रूप चरित को वर्णन करने का इच्छुक हो कहा ॥ १ ॥

हे मैत्रेयी ! इस प्रकार कहकर (ब्रह्मवादिनी) ज्येष्ठ पत्नी को ही बुलाया। बुलाकर के कहा—हे मैत्रेयी ! "अस्मात् स्थानात्" यानी मैं इस गृहस्थ आश्रम से "प्रव्रजिष्यन्" अर्थात् सन्यास ग्रहण करने वाला हूँ। हे मैत्रेयी ! मैं तुम्हारी अनुमति की प्रार्थना करता हूँ। यदि तुम चाहती हो तो इस कात्यायनी से तेरा द्रव्यविभागादि कर दूँ, इसकी व्याख्या की जा चुकी है ॥ २ ॥

---

१ चरिताद् आश्रमादिति यावत्। २ अनुजानीहि मामिति तवानुमतिं प्रार्थयामीत्यर्थः। ३ अन्तमित्यादि विच्छेदम्। द्रव्यविभागेन विभक्तां कृत्वा गमिष्यामीत्यर्थः। ४. ब्रह्मवादित्वादेव संवादविस्रम्भोऽत्रापीति भाव।

सा होवाच मैत्रेयी यन्नु[1] म इयं भगोः सर्वा पृथिवी वित्तेन पूर्णा स्यात्स्यां न्वहं तेनामृताऽऽहो[2] नेति नेति होवाच याज्ञवल्क्यो यथैवोपकरणवतां जीवितं तथैव ते जीवितᳪ स्यादमृतत्वस्य तु नाऽऽशाऽस्ति वित्तेनेति ॥३॥

सा होवाच मैत्रेयी येनाहं नामृता स्यां किमहं तेन कुर्यां यदेव भगवान्वेद तदेव मे ब्रूहीति ॥४॥

स होवाच याज्ञवल्क्यः प्रिया वै खलु नो भवती सती प्रियमवृधद्धन्त तर्हि भवत्येतद्व्याख्यास्यामि ते व्याचक्षाणस्य तु मे निदिध्यासस्वेति ॥ ५ ॥

उस मैत्रेयी ने कहा—भगवन्! यदि धन से सपन्न सारी पृथिवी मुझे मिल जाय तो उससे मैं अमर हो सकती हूँ? याज्ञवल्क्य ने कहा—नहीं, भोगसामग्री से युक्त मनुष्यों का जैसा जीवन होता है, वैसा ही तेरा भी जीवन हो जायगा। धन से अमर होने की आशा है ही नहीं ॥ ३ ॥

तब उस मैत्रेयी ने कहा—जिससे मैं अमर नहीं हो सकती, उसे मैं लेकर क्या करूँगी। आप जो कुछ भी अमरत्व का साधन जानते हो, उसी को मेरे लिए कहें ॥ ४ ॥

उन याज्ञवल्क्य महर्षि ने कहा—निःसन्देह तू पहले भी मेरी प्रिया रही है और अब भी तूने हमारी प्रसन्नता को बढाया है। अतः मैत्रेयी! मैं अत्यन्त सतुष्ट हो तुमसे उस अमरत्व के साधन की व्याख्या करूँगा, तू मेरे द्वारा बतलाये गये विषय का भली प्रकार चिन्तन करना ॥ ५ ॥

सैवमुक्तोवाच मैत्रेयी सर्वेयं पृथिवी वित्तेन पूर्णा 'स्यान्नु किं स्यां किमहं वित्त-साध्येन कर्मणाऽमृताऽऽहो न स्यामिति। नेति होवाच याज्ञवल्क्य इत्यादि समान-मन्यत् ॥ ३ ॥ ४ ॥

स होवाच प्रियैव पूर्वं खलु नोऽस्मभ्य भवती भवन्ती सती[3] प्रियमेवावृधद्वर्धित-

---

मैत्रेयी स्वमुमुत्तमात्रार्थिमात्मनो दर्शयति—सैवमिति ॥ ३ ॥ ४ ॥

गुरुप्रसादाधीना विद्यावाप्तिरिति द्योतनार्थमाह—स होवाचेति। ज्ञानेच्छादुर्लभताद्योतनाय

इस प्रकार कहे जाने पर मैत्रेयी ने कहा—यदि धन से पूर्ण यह सम्पूर्ण पृथिवी मेरी हो जाय तो क्या मैं उस वित्तसाध्य कर्म से अमृत हो जाऊँगी अथवा नहीं। याज्ञवल्क्य ने कहा—'इससे अमर नहीं हो सकोगी' इत्यादि अन्य श्रुतिवाक्य की व्याख्या पूर्ववत् है ॥ ३-४ ॥

याज्ञवल्क्य जी ने कहा—(हे मैत्रेयी!) तू पहले भी हमारी प्रिया रही है, अब भी तूने हमारे

---

१ नु वितर्के। २ मम भवेदित्यर्थः। ३ इदानीमपीति शेषः।

स होवाच न वा अरे पत्यु[1] कामाय पतिः प्रियो भवत्यात्मनस्तु कामाय पतिः प्रियो भवति । न वा अरे जायायै कामाय जाया प्रिया भवत्यात्मनस्तु कामाय जाया प्रिया भवति । न वा अरे पुत्राणां कामाय पुत्राः प्रिया भवन्त्यात्मनस्तु कामाय पुत्राः प्रिया भवन्ति । न वा अरे वित्तस्य कामाय वित्तं प्रियं भवत्यात्मनस्तु कामाय वित्तं प्रियं भवति । न वा अरे पशूनां कामाय पशवः प्रिया भवन्त्यात्मनस्तु कामाय पशवः प्रिया भवन्ति । न वा अरे ब्रह्मणः कामाय ब्रह्म प्रियं भवत्यात्मनस्तु कामाय ब्रह्म प्रियं भवति । न वा अरे क्षत्त्रस्य कामाय क्षत्त्रं प्रियं

हे मैत्रेयि ! ऐसा याज्ञवल्क्य ने कहा । इसमें सन्देह नही है कि पति के प्रयोजन के लिए पति प्यारा नही होता, अपने ही प्रयोजन के लिये पति प्यारा होता है । स्त्री के प्रयोजन के लिये स्त्री प्यारी नही होती, अपने ही प्रयोजन के लिये स्त्री प्यारी होती है । पुत्रों के सुख के लिये पुत्र प्यारे नही होते, किन्तु अपने ही सुख के लिये पुत्र प्यारे होते है । धन के प्रयोजन के लिये धन प्यारा नही होता, किन्तु अपने ही प्रयोजन के लिये धन प्यारा होता है । पशुओं के प्रयोजन के लिये पशु प्यारा नही होता, किन्तु अपने ही प्रयोजन के लिये पशु प्यारे होते है । ब्राह्मण के प्रयोजन के लिये ब्राह्मण प्रिय नही होते, किन्तु अपने ही प्रयोजन के लिये ब्राह्मण प्रिय होते है । क्षत्रिय के सुख के लिये क्षत्रिय

वत्यसि । अतस्तुष्टोऽहं हन्तेच्छसि चेदमृतत्वसाधनं ज्ञातुं हे भवति ते तुभ्यं तदमृतत्वसाधनं व्याख्यास्यामि ॥५॥

आत्मनि खल्वरे मैत्रेयि दृष्टे । कथं दृष्ट आत्मनीति, उच्यते—पूर्वमाचार्याग-

---

चेदित्युक्तम् ॥ ६ ॥

व्याख्यानप्रकारमेवाऽऽह—आत्मनीति । दृष्टे सर्वमिदं विदितं भवतीत्युत्तरत्र सम्बन्धः । केनोपायेनाऽऽत्मनि दृष्टे सर्वं दृष्टं भवतीत्युपायं पृच्छति—कथमिति । आत्मदर्शनोपायं श्रवणादिकं दर्श-

---

प्रेम को "अवृधत्" यानी बढाया है, इसलिए मैं प्रसन्न हूँ । अब यदि तुम अमृतत्व का साधन जानने की इच्छा करती हो तो हे प्रिये ! मैं तुझे उस अमृतत्व के साधन की व्याख्या करूंगा ॥ ५ ॥

हे मैत्रेयी ! निश्चय ही आत्मदर्शन हो जाने पर सर्वज्ञान होता है । किस प्रकार आत्मा का

---

१. प्रयोजनाय सुखायेति यावत् ।

भवत्यात्मनस्तु कामाय क्षत्त्रं प्रियं भवति। न वा अरे लोकानां कामाय लोकाः प्रिया भवन्त्यात्मनस्तु कामाय लोकाः प्रिया भवन्ति। न वा अरे देवानां कामाय देवाः प्रिया भवन्त्यात्मनस्तु कामाय देवाः प्रिया भवन्ति। न वा अरे वेदानां कामाय वेदाः प्रिया भवन्त्यात्मनस्तु कामाय वेदाः प्रिया भवन्ति। न वा अरे भूतानां कामाय भूतानि प्रियाणि भवन्त्यात्मनस्तु कामाय भूतानि प्रियाणि भवन्ति। न वा अरे सर्वस्य कामाय सर्वं प्रियं भवत्यात्मनस्तु कामाय सर्वं प्रियं भवति। आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यो मैत्रेय्यात्मनि खल्वरे दृष्टे श्रुते मते विज्ञात इदꣳ सर्वं विदितम् ॥ ६ ॥

प्यारा नही होता, किन्तु अपने ही सुख के लिये क्षत्रिय प्यारा होता है। लोको के सुख के लिये लोक प्यारे नही होते, किन्तु अपने ही प्रयोजन के लिये लोक प्यारे होते हैं। देवो के प्रयोजन के लिए देव प्यारे नही होते है, किन्तु अपने ही प्रयोजन के लिए देव प्यारे होते हैं। वेदो के प्रयोजन के लिये वेद प्यारे नही होते, किन्तु अपने ही प्रयोजन के लिये वेद प्यारे होते हैं। भूतो के प्रयोजन के लिये भूत प्यारे नही होते, किन्तु अपने ही प्रयोजन के लिये भूत प्रिय होते हैं। (विशेष क्या कहे बस इतना ही समझो) सब के प्रयोजन के लिये सब प्रिय नही होते, किन्तु अपने ही प्रयोजन के लिये सब प्रिय होते है। अत हे मैत्रेयि ! आत्मा ही दर्शनीय, श्रवण के योग्य, मनन के योग्य और ध्यान करने योग्य है। हे मैत्रेयि ! नि सन्देह आत्मा का दर्शन, श्रवण, मनन तथा विज्ञान हो जाने पर ये सभी विज्ञान हो जाते हैं (क्योंकि अधिष्ठान आत्मा से भिन्न यह अध्यस्त वस्तु कुछ भी नही है) ॥ ६ ॥

भाभ्यां श्रुते पुनस्तर्केणोपपत्त्या मते विचारिते। श्रवणं त्वागम[1]मात्रेण मत उपपत्त्या

न्युत्तरमाह—उच्यत इति। उक्तोपायफलं प्रश्नपूर्वकमाह—किमित्यादिना। इदं सर्वमित्यनूद्य तस्यार्थं-

दर्शन होने पर—इस पर कहा जाता है। पहले आचार्य और शास्त्र द्वारा श्रवण कर पुन तर्क या युक्ति से उस पर मनन और विचार करने पर (आत्मा का दर्शन होता है)। केवल शास्त्र से श्रवण, युक्ति

१ मात्रशब्दस्तर्कं व्यावर्तयितु न पुनराचार्यम्।

ब्रह्म तं परादाद्योऽन्यत्राऽऽत्मनो ब्रह्म वेद क्षत्त्रं तं परादाद्योऽन्यत्राऽऽत्मनः क्षत्त्रं वेद लोकास्तं परादुर्योऽन्यत्राऽऽत्मनो लोकान्वेद देवास्तं परादुर्योऽन्यत्राऽऽत्मनो देवान्वेद वेदास्तं परादुर्योऽन्यत्राऽऽत्मनो वेदान्वेद भूतानि तं परादुर्योऽन्यत्राऽऽत्मनो भूतानि वेद सर्वं तं परादाद्योऽन्यत्राऽऽत्मनः सर्वं वेदेदं ब्रह्मेदं क्षत्त्रमिमे लोका इमे देवा इमे वेदा इमानि भूतानीदꣳ सर्वं यदयमात्मा ॥ ७॥

स यथा दुन्दुभेर्हन्यमानस्य बाह्याञ्छब्दाञ्छक्नुयाद्ग्रहणाय दुन्दुभेस्तु ग्रहणेन दुन्दुभ्याघातस्य वा शब्दो गृहीतः ॥ ८ ॥

ब्राह्मण जाति उसे परास्त कर देती है, जो ब्राह्मण जाति को आत्मा से भिन्न समझता है। क्षत्रिय जाति उसे परास्त कर देती है, जो क्षत्रिय जाति को आत्मा से भिन्न समझता है। लोक उसे परास्त कर देते हैं, जो लोकों को आत्मा से भिन्न समझता है। देव उसे परास्त कर देते हैं, जो देवों को आत्मा से भिन्न समझता है। वेद उसे परास्त कर देते है, जो वेदो को आत्मा से भिन्न समझता है। भूत उसे परास्त कर देते है, जो भूतो को आत्मा से भिन्न जानता है। सभी उसे परास्त कर देते हैं, जो सबको भिन्न समझता है क्योकि यह ब्राह्मण जाति, यह क्षत्रिय जाति, ये लोक, ये देव, ये वेद, ये भूत तथा ये सब जो कुछ भी है, यह सब आत्मा ही है ॥ ७ ॥

वहाँ पर दृष्टान्त यह है कि जैसे काष्ठादि के द्वारा आघात किये हुए नक्कारे के बाह्य शब्दो को ग्रहण करने मे कोई समर्थ नही होता, किन्तु नक्कारे या नक्कारे के आघात को ग्रहण कर लेने से उसका शब्द भी गृहीत हो जाता है ॥ ८ ॥

पश्चाद्विज्ञात एवमेतन्नान्यथेति निर्धारिते । किं भवतीत्युच्यत इदं विदितं भवति । इदं सर्वमिति यदात्मनोऽन्यत् । आत्मव्यतिरेकेणाभावात् ॥ ६ ॥

आह—यदात्मनोऽन्यदिति । तदात्मनि दृष्टे दृष्टं स्यादिति शेषः । कथमन्यस्मिन्दृष्टे भवति तत्राऽऽह—आत्मव्यतिरेकेणेति ॥ ६ ॥

से मनन और उसके बाद विशेष रूप से जान लेने पर "वह इस स्वरूप वाला है, दूसरो प्रकार का नही है" इस प्रकार निर्धारित कर लेने पर फिर क्या होता है—इस पर कहा जाता है। "इदम्" अर्थात् यह सब जो कुछ है, आत्मा से अन्य भी है, ज्ञात हो जाता है क्योकि आत्मा से व्यतिरिक्त कुछ भी नही है ॥ ६ ॥

स यथा शङ्खस्य ध्मायमानस्य न बाह्याञ्छब्दाञ्छ-
क्नुयाद्ग्रहणाय शङ्खस्य तु ग्रहणेन शङ्खध्मस्य वा
शब्दो गृहीतः ॥९॥

स यथा वीणायै वाद्यमानायै न बाह्याञ्छब्दाञ्छक्नु-
याद्ग्रहणाय वीणायै तु ग्रहणेन वीणावादस्य वा
शब्दो गृहीतः ॥ १० ॥

[1]स यथाऽऽर्द्रैधाग्नेरभ्याहितस्य पृथग्धूमा विनिश्च-
रन्त्येवं वा अरेऽस्य महतो भूतस्य निश्वसितमेतद्य-
दृग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदोऽथर्वाङ्गिरस इतिहासः पुराणं

वह दूसरा दृष्टान्त यह है कि जैसे बजाये गये शख के बाह्य शब्दो को कोई पकडने में समर्थ नही होता, किन्तु शख या शख के बजाने को पकड लेने से उसका शब्द भी गृहीत हो जाता है ॥ ९ ॥

वह तीसरा दृष्टान्त है कि जैसे बजायी गयी वीणा के बाह्य शब्दो को ग्रहण करने में कोई समर्थ नही होता, किन्तु वीणा या वीणा के बजाने को ग्रहण करने पर उसका शब्द गृहीत हो जाता है ॥ १० ॥

वह चौथा दृष्टान्त यह है कि जैसे जिसका ईंधन गीला है, ऐसे आदान किये गये अग्नि से नाना रग के धुएँ निकलते हैं। हे मैत्रेयि ! वे ही ये ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद, अथर्ववेद, इतिहास,

---

तमयथार्थदर्शिनं परादात्पराकुर्यात्कैवल्यासबन्धिनं कुर्यादयमनात्मस्वरूपेण मां पश्यतीत्यपराधादिति भावः ॥ ७ । ८ ॥ ९ ॥ १० ॥

[2]चतुर्थे शब्दनिश्वासेनैव लोकाद्यर्थनिश्वासः सामर्थ्यादुक्तो भवतीति पृथङ्नोक्तः ।

स यथाऽऽर्द्रैधाग्नेरित्याद्यवादिष्ट इतमित्याद्याधिकं दृष्ट तस्यार्थमाह—चतुर्थ इति । सामर्थ्या-

---

"तम्" अर्थात् उस अनात्मतत्त्वदर्शी को "यह मुझे अनात्मस्वरूप से देखता है"—इस अपराध से "परादात्" अर्थात् परास्त कर देते हैं यानी कैवल्य से उसका सबन्धच्युत कर देते हैं ॥ ७ ॥ ८ ॥ ९ ॥ १० ॥

चतुर्थ प्रपाठक (द्वितीय अध्याय के अन्त मे मैत्रेयी ब्राह्मण) मे शब्दनिश्वास के द्वारा सामर्थ्य से लोकादि अर्थनिश्वास भी कह दिये गये, उसका पृथक् प्रतिपादन नही किया। यहाँ तो सारे

---

१ स यथेत्यादिसृष्टिश्रुतेरित्थ विभाग तथाहि—ऋग्वेद इत्यारभ्य व्याख्यानानीत्यन्तेन नामसृष्टिरुक्ता परमात्मजमेतद्विति दृष्ट पापित्वमिति कमसृष्टि । अथ चेत्यादिना रूपसृष्टिरिति । २ द्वितीयाध्यायावसानगतमैत्रेयीब्राह्मणे ।

विद्या उपनिषदः श्लोकाः सूत्राण्यनुव्याख्यानानि व्याख्यानानीष्टꣳ हुतमाशितं पायितमयं च लोकः परश्च लोकः सर्वाणि च भूतान्यस्यैवैतानि सर्वाणि निश्वसितानि ॥ ११ ॥

स यथा सर्वासामपाꣳ समुद्र एकायनमेवꣳ सर्वेषाꣳ स्पर्शानां त्वगेकायनमेवꣳ सर्वेषां गन्धानां नासिके एकायनमेवꣳ सर्वेषाꣳ रसानां जिह्वैकायनमेवꣳ सर्वेषाꣳ रूपाणां चक्षुरेकायनमेवꣳ सर्वेषाꣳ शब्दानाꣳ श्रोत्रमेकायनमेवꣳ सर्वेषाꣳ सकल्पानां मन एकायनमेवꣳ सर्वासां विद्यानाꣳ हृदयमेकायनमेवꣳ सर्वेषां कर्मणाꣳ हस्तावेकायनमेवꣳ सर्वेषामानन्दानामुपस्थ एकायनमेवꣳ सर्वेषां विसर्गाणां पायुरेकायनमेवꣳ सर्वेषामध्वनां पादावेकायनमेवꣳ सर्वेषां वेदानां वागेकायनम् ॥ १२ ॥

पुराण, विद्या, उपनिषद्, ब्राह्मण, वैदिक वस्तु सग्रह वाक्यरूप सूत्र, सूत्रो की व्याख्या, मन्त्रो की व्याख्या, इष्ट (यज्ञ), हवन किया हुआ, खिलाया हुआ, पिलाया हुआ, यह लोक, परलोक तथा सपूर्ण भूत हैं। ये सब इस परमात्मा के ही नि श्वास है ॥ ११ ॥

वह पाँचवाँ दृष्टान्त यह है कि जैसे समस्त जलो का समुद्र ही एकमात्र प्रलयस्थान है, वैसे ही समस्त स्पर्शों का त्वचा एक प्रलयस्थान है। ऐसे ही सपूर्ण गन्धो का दोनो नासिकाएँ एक अयन हैं। ऐसे ही सपूर्ण रसो का जिह्वा एक अयन है। ऐसे ही समस्त रूपो का चक्षु एक अयन है। ऐसे ही समस्त शब्दो का श्रोत्र एक अयन है। ऐसे ही समस्त सकल्पो का मन एक अयन है। ऐसे ही समस्त विद्याओ का हृदय एक अयन है। ऐसे ही समस्त कर्मों का दोनो हाथ एक अयन है। ऐसे ही समस्त आनन्दो का उपस्थ एक अयन है। ऐसे ही समस्त विसर्गों का गुदा एक अयन है। ऐसे ही समस्त मार्गों का दोनो पाद एक अयन है। तथा ऐसे ही समस्त वेदो का वाक् एक अयन है ॥१२॥

इह तु सर्वशास्त्रार्थोपसहार इति कृत्वाऽर्थप्राप्तोऽप्यर्थः स्पष्टोकर्तव्य इति पृथगुच्यते ॥११॥

दयशू यस्य शब्दस्य नुपपत्तेरित्यथ । नन्वत्रापि सामर्थ्यावशादापृथगुक्तिरयुक्तत्यादाशङ्क्याह—इह

शास्त्रो ने उपसहारात्मक ग्रथ को बतलाया जा रहा है। इसलिये अर्थत प्राप्त ग्रथ का स्पष्टीकरण

---

१ इष्ट यागनिमित्त धर्मजात हुत होमनिमित्त आशितमन्नदाननिमित्त पायित पयदाननिमित्तम्। अय लोक इद जन्म परो लोक प्रतिपत्तव्य जन्म। इद पराचार्ये ४ १ २ ब्राह्मणे स्पष्टम्।

स यथा सैन्धवघनोऽनन्तरोऽबाह्यः कृत्स्नो रसघन एवैवं वा अरेऽयमात्माऽनन्तरोऽबाह्यः कृत्स्नः प्रज्ञानघन एवैतेभ्यो भूतेभ्यः समुत्थाय तान्येवानुविनश्यति न प्रेत्य संज्ञाऽस्तीत्यरे ब्रवीमीति होवाच याज्ञवल्क्यः ॥ १३ ॥

इस विषय में छठा दृष्टान्त यह है—जैसे नमक का डला बाहर और भीतर सभी से परिपूर्ण रसघन ही है। हे मैत्रेयि! ऐसे ही यह आत्मा भी बाह्यान्तर भेद से रहित परिपूर्ण प्रज्ञानघन ही है। वह इन भूतों से अच्छी प्रकार उठकर उन्हीं के साथ नष्ट हो जाता है। इसलिये मर जाने पर इसकी संज्ञा नहीं रह जाती। हे मैत्रेयि! इस प्रकार मैं कहता हूँ, ऐसा याज्ञवल्क्य ने मैत्रेयी से कहा ॥ १३ ॥

॥ १२ ॥

सर्वकार्यप्रलये विद्यानिमित्ते सैन्धवघनवदनन्तरोऽबाह्यः कृत्स्नः प्रज्ञानघन एक आत्माऽवतिष्ठते पूर्वं तु भूतमात्रासंसर्गविशेषाल्लब्धविशेषविज्ञानः सन्। तस्मिन्प्रविलापिते विद्यया विशेषविज्ञाने तन्निमित्ते च भूतसंसर्गे न प्रेत्य संज्ञाऽस्तीत्येवं याज्ञवल्क्येनोक्ता ॥ १३ ॥

रिवति ॥ ११ ॥ १२ ॥

स यथा सैन्धवघन इत्यादिवाक्यतात्पर्यमाह—सर्वकार्येति। एतेभ्यो भूतेभ्य इत्यादेरर्थमाह—पूर्वं त्विति। ज्ञानोदयात्प्रागवस्थायामित्यर्थः। लब्धविशेषविज्ञानः सन्व्यवहरतीति शेषः। प्रविलापिते सत्येतदव्याहार ॥ १३ ॥

करना चाहिये। इसलिये उसका यहाँ पृथक् निरूपण किया जाता है ॥ ११ ॥ १२ ॥

विद्यानिमित्त होने पर सर्वकार्य के बाध हो जाने पर सैन्धवघन की तरह अन्दर बाहर से रसघन, निःसामान्य, निर्विशेष, कृत्स्न, प्रज्ञानघन एक ही आत्मा स्थित रह जाता है। पहले वह आकाशादि भूतमात्रों के (अविद्यक) तादात्म्य से विशेष विज्ञान को प्राप्त होता है। फिर विद्या के द्वारा उस विशेष विज्ञान और तन्निमित्तक भूततादात्म्य को सर्वथा विलीन कर दिये जाने पर मरणावस्था के बाद उसकी संज्ञा नहीं रहती। इस प्रकार याज्ञवल्क्य ने मैत्रेयी से कहा ॥ १३ ॥

---

१ अस्यां च कैवल्यावस्थायां विशेषज्ञानं नास्तीत्याह—नेति। प्रेत्य देहादेर्द्वयस्या बाधानन्तरम्। संज्ञा विशेषविज्ञानमयममुष्य पुत्र इदं क्षेत्रमित्यादि। २. बाधे। ३. सैन्धवेति। तथा च वार्तिके—"अन्तर्बहीरसघनः सैन्धवस्य घनो यथा। विज्ञानघन एवायं विज्ञानात्मा तथैव च" ॥ ११ ॥ इति। ४ भूतेति—भूतानामाकाशादीनां मात्राः शरीरकरणविषयाकारपरिणामास्तैः संसर्गविशेष आविद्य तादात्म्य तस्मादित्यर्थः। ५ य पूर्वं व्यवहरतीत्युक्तस्तस्य व्यवहर्तुरित्यर्थः।

सा होवाच मैत्रेय्यत्रैव मा भगवान्मोहान्तमापीपिपन्न वा अहमिमं विजानामीति स होवाच न वा अरेऽहं मोहं ब्रवीम्यविनाशी वा अरेऽयमात्माऽनुच्छित्ति-धर्मा ॥ १४ ॥

उस मैत्रेयी ने कहा—(मरने पर इसको संज्ञा नहीं रहती है ऐसा कहकर) इस प्रज्ञानघन के विषय में ही श्रीमान् ने मुझे मोह में डाल दिया है। अतः उसे मैं विशेष रूप से नहीं समझ पा रही हूँ। याज्ञवल्क्य ने कहा—अरी मैत्रेयि ! मैं मोह की बात नहीं करता हूँ, अरी ! यह आत्मा निःसन्देह अविनाशी है, और उच्छेद धर्म से सर्वथा शून्य है अर्थात् इसमें विनाश या उच्छेद रूप विकार नहीं होता ॥ १४ ॥

सा होवाचात्रैव मा भगवानेतस्मिन्नेव वस्तुनि प्रज्ञानघन एव न प्रेत्य संज्ञाऽस्तीति[1] मोहान्तं मोहमध्यमापीपिपदापीपददवगमितवानसि संमोहितवानसीत्यर्थः। [2]अतो न वा अहमिममात्मानमुक्तलक्षणं विजानामि विवेकत इति। स होवाच नाहं [3]मोहं ब्रवीम्य-विनाशी वा अरेऽयमात्मा। यतो विन(नं)ष्टुं शीलमस्येति विनाशी न विनाश्यविनाशी विनाशशब्देन विक्रियाऽविनाशीत्य[4]विक्रिय आत्मेत्यर्थः। अरे मैत्रेय्ययमात्मा प्रकृतोऽनुच्छि-त्तिधर्मा। उच्छित्तिरुच्छेदः उच्छेदोऽन्तो विनाश उच्छित्तिर्धर्मोऽस्येत्युच्छित्तिधर्मा नोच्छित्ति-

---

पूर्वोत्तरविरोधं शङ्कित्वा परिहरति—सा होवाचेत्यादिना। अविनाशित्वं [5]पूर्वत्र हेतुरित्याह—यत इति ॥ १४ ॥

वह मैत्रेयी बोली—"अत्रैव" अर्थात् उसी प्रज्ञानघन वस्तु के विषय में "मरणकाल होने पर इसकी यह संज्ञा नहीं रहती" इस वाक्य से आप भगवान्श्री ने मुझे "मोहान्तमापीपिपत्" यानी मोहावस्था को प्राप्त करा दिया है अर्थात् मैं संमोहित हो गयी हूँ। इसलिए मोहाविष्ट होने से मैं "इमम्" अर्थात् पूर्वोक्त लक्षण वाले आत्मा को "न विजानामि" अर्थात् विवेकपूर्वक नहीं जानती हूँ। वह याज्ञवल्क्य बोले—अरी मैत्रेयी ! मैं मोहजनक वचनों को नहीं बोल रहा हूँ, यह आत्मा अविनाशी है। जिसका स्वभाव विनष्ट होने वाला है, उसे विनाशी कहते हैं, और जो विनाशी नहीं हो, वह अविनाशी है अर्थात् विनाश विक्रिया का नाम है और अविनाशी अविकारी आत्मा है। अरी मैत्रेयी ! यह आत्मा अन्तरहित है। उच्छेद ही उच्छित्ति है। अन्त या विनाश उच्छेद का नाम है। जिसका उच्छित्ति धर्म हो वह उच्छित्तिधर्मा, और इससे भिन्न अनुच्छित्ति धर्मा है। भाव यह है

---

१. इतोऽनन्तर मात्रासंसर्गस्त्वस्य भवतीत्यधिको माध्यंदिनशाखायां पाठः। २. वाक्येन। ३. मोहा-विष्टत्वात्। ४. मोहक वचः। ५. अविक्रिय इति। अत्र वार्तिके—"परिणामनिषेधः स्यादविनाशि-गिराऽऽत्मनः। अनुच्छित्तिगिरा नाशो वार्यते यो निरन्वयः" ॥ १३ ॥ इति। कारणमार्गः परिणामः। ६ नाहं मोहं ब्रवीमीत्यत्र।

यत्र हि द्वैतमिव भवति तदितर इतरं पश्यति तदितर इतरं जिघ्रति तदितर इतरꣳ रसयते तदितर इतरमभिवदति तदितर इतरꣳ शृणोति तदितर इतरं मनुते तदितर इतरꣳ स्पृशति तदितर इतरं विजानाति यत्र

हे मैत्रेयि ! जिस अविद्यावस्था मे द्वैत-सा प्रतीत होता है वहाँ पर ही अन्य अन्य को देखता है, अन्य अन्य को सूँघता है, अन्य अन्य का रस लेता है, अन्य अन्य को कहता है, अन्य अन्य को सुनता है, अन्य अन्य का मनन करता है, अन्य अन्य को छूता है, अन्य अन्य को विशेष रूप से जानता है।

धर्माऽनुच्छित्तिधर्मा नापि [1]विक्रियालक्षणो [2]नाप्युच्छेदलक्षणो विनाशोऽस्य विद्यत इत्यर्थः ॥१४॥

चतुर्ष्वपि प्रपाठकेष्वेक आत्मा तुल्यो निर्धारितः परं ब्रह्म । [3]उपाय[4]विशेषस्तु तस्याधिगमेऽन्यश्चान्यश्च । उपेयस्तु स एवाऽऽत्मा यश्चतुर्थेऽस्यात्[5]मादेशो नेति नेतीति [6]निर्दिष्टः । स एव पञ्चमे प्राणपणोपन्यासेन [7]शाकल्ययाज्ञवल्क्यसंवादे निर्धारितः । पुनः

'प्रत्यध्यायमन्यथाऽन्यथा प्रतिपादनादात्मन सविशेषत्वमाशङ्क्य स एव इत्यादेस्तात्पर्यमाह—चतुर्ष्वपीति । केन प्रकारेण तस्य तुल्यत्वमित्याशङ्क्याऽऽह—पर ब्रह्मेति । अध्यायभेदस्तर्हि कथमित्याशङ्क्याऽऽह—उपायेति । उपायभेदवदुपेयभेदोऽपि स्यादित्याशङ्क्याऽऽह—उपेयस्त्विति । चातुर्थिकादर्थात्पाञ्चमिकस्यार्थस्य भेद व्यावर्तयति—स एवेति । प्राणपणोपन्यासेन मूर्धा ते विपतिष्यतीति मूर्धपातोपन्यासात्प्राणा [9]पणत्वेन गृहीता इति गम्यते । तेन शाकल्यब्राह्मणेन निर्विशेष प्रत्यगात्मा निर्धारित इत्यर्थ । विज्ञानमानन्द ब्रह्मेत्यादावुक्त स्मारयति—पुनरिति । पञ्चमसमाप्तौ [10]पुनर्विज्ञान-

---

कि न ही इसका कारणससर्गरूप सान्वयनाश होता है और न ही निरन्वयनाश होता है ॥ १४ ॥

चारो अध्यायो मे एक समान ही निश्चय किया गया है, एक आत्मा है, वही परब्रह्म है। किन्तु उसक जानने के लिए (आगम-जल्प-वादात्मक न्याय रूप) उपाय विशेष भिन्न-भिन्न है। जिसके लिए उपाय किया जाता है, वह उपेय आत्मा ही है जिसका द्वितीय अध्याय मे "यही उपदेश है कि (सर्वोपाधि विशेष के निरास से) वह आत्मा नेति नेति है इस प्रकार निर्विकल्प निश्चित किया गया है। वही तीसरे अध्याय मे शाकल्य-याज्ञवल्क्य सवाद मे ('तुम्हारा शिर पात हो जाएगा') हार्यत्व प्राण क उपन्यास से निर्धारित किया गया है। पुन (विज्ञान, आनन्द ब्रह्म का स्वरूप है,

---

१ कारणससर्गरूप सान्वयनाश । २ निरन्वय । ३ आगमो जल्पवादात्मको न्यायश्चोपायविशेष । ४ विशेष इति—प्रथमद्वितीययोरध्याययोरागम तृतीये जल्पश्चतुर्थे वाद इति । ५ बृ उ २ ३ ६ । ६ निर्दिष्ट—निर्विकल्पत्वेनावधारित । ७ बृ उ ३ ९ २६ । ८ ब्रह्मप्राप्त्युपायाना प्रत्यध्याय भेदेन प्रतिपादनादनेकरसमात्मतत्त्वमित्यर्थ । ९ पणत्वेनेति—हार्यत्वेनेत्यर्थ । द्यूतादौ हार्यं वस्तु पण इति भण्यते । १० बृ उ ३ ९ २८ ।

त्वस्य सर्वमात्मैवाभूत्तत्केन कं जिघ्रेत्तत्केन कꣳ रसयेत्तत्केन कमभिवदेत्तत्केन कꣳ शृणुयात्तत्केन कं मन्वीत तत्केन कꣳ स्पृशेत्तत्केन कं विजानीयाद्येनेदꣳ सर्वं विजानाति तं केन विजानीयात्स एष नेति

इसके विपरीत जहाँ पर इस विद्वान् की दृष्टि मे सब आत्मा ही हो गया, वहाँ पर किससे किसको देखे, किससे किसको चखे, किससे किसको कहे, किससे किसको सुने, किससे किसको मनन करे, किससे किसको छूवे और किससे किसको जाने। पुरुष जिससे इस सबको जानता है; भला उसे किसके द्वारा

---

[1]पञ्चमसमाप्तौ। पुनर्जनकयाज्ञवल्क्यसंवादे[2]। पुनरिहोपनिषत्समाप्तौ। चतुर्णामपि प्रपाठकानामेतदात्मनिष्ठता[3] नान्योऽन्तराले कश्चिदपि विवक्षितोऽर्थ इत्येतत्प्रदर्शनायान्त उपसंहारः स एष नेति नेत्यादिः।

यस्मात्प्रकारशतेनापि निरूप्यमाणे तत्त्वे नेति नेत्यात्मैव [4]निष्ठां नान्योपलभ्यते तर्केण वाऽऽगमेन वा तस्मादेतदेवामृतत्वसाधनं यदेतन्नेति नेत्याऽऽत्मपरिज्ञानं ससंन्यासमित्येतमर्थमुपसंजिहीर्षन्नाह—एतावदेतावन्मात्रं यदेतन्नेति नेत्यद्वैतात्मदर्शनमिदं चान्यसहकारिकारणनिरपेक्षमेवारे मैत्रेय्यमृतत्वसाधनम्। यत्पृष्टवत्यसि यदेव भगवान्वेद तदेव

मित्यादिना स एव निर्धारित इति योजना। 'कूर्चब्राह्मणे'ऽवापि स एवोक्त इत्याह—पुनर्जनकेति। अस्मिन्नपि ब्राह्मणे स एवोक्त इत्याह—पुनरिहेति। किमिति पूर्वत्र तत्र तत्रोक्तस्य निर्विशेषस्याऽऽत्मनोऽवसाने वचनमित्याशङ्क्याऽऽह—चतुर्णामपीति।

पौर्वापर्यपर्यालोचनायामुपनिषदर्थो निर्विशेषमात्मतत्त्वमित्युपपाद्य वाक्यान्तरमवतार्य व्याकरोति—यस्मादित्यादिना। इति होक्त्वेत्यादिवाक्यमाकाङ्क्षापूर्वकमादाय व्याचष्टे—यत्पृष्टवत्य-

---

इस प्रकार) तृतीय अध्याय की समाप्ति पर कहा गया है। फिर जनक-याज्ञवल्क्य संवाद मे और अब चतुर्थ अध्याय समाप्ति पर मैत्रेयी ब्राह्मण मे कहा गया है। चारो प्रपाठको का विवक्षित अर्थ निर्विशेष आत्मनिष्ठ है। इसके अतिरिक्त और कोई विवक्षित अर्थ नही है, इसी को समझाने के लिए श्रुति अन्त मे "वह यह नेति-नेति है" इस प्रकार उपसहार करती है।

क्योंकि सैकडो मार्गो से निरूपित किये जाने पर भी तत्त्व की "नेति - नेति" इस प्रकार आत्मा मे ही निष्ठा है, युक्ति या शास्त्र से अन्यत्र (उसका पर्यवसान) नही देखा जाता। इसलिए "नेति-नेति" इस वाक्य से आत्मा का सन्याससहित जो निर्विशेष ज्ञान है, वही अमृतत्व का साधन है। इसी अर्थ को उपसहार करने की इच्छा से याज्ञवल्क्य जो कहते हैं—हे मैत्रेयी ! बस वह इतना ही है जो कि "नेति-नेति" इस प्रकार अद्वितीय आत्मा का दर्शन करना है, यह अमृतत्वसाधन अन्य

---

१. बृ. ३ ३ ९ २८। २ मैत्रेयीब्राह्मणे। ३. निर्विशेषात्मनि। ४. मुक्तिः। ५. निर्विशेषात्मपरिज्ञानम्। ६. बृ. ४. ४. ३. ४। ७. आदिना शारीरकब्राह्मणोक्तिः बृ. उ. ४. ४. २२।

नेत्यात्माऽगृह्यो न हि गृह्यतेऽशीर्यो न हि शीर्यतेऽसङ्गो
न हि सज्यतेऽसितो न व्यथते न रिष्यति विज्ञातारमरे
केन विजानीयादित्युक्तानुशासनाऽसि मैत्रेय्येतावदरे

जाने ? वह यह 'नेति नेति' इस प्रकार बतलाया गया आत्मा अगृह्य है, उसका ग्रहण नही होता। अशीर्य है, उसका विनाश नही होता। असग है, वह कही पर ससक्त नही होता। अबद्ध है, अत. वह पीडित और क्षीण नही होता। हे मैत्रेयि ! विज्ञाता को किससे जाने ? इस प्रकार हमने तुझे उपदेश कर

मे ब्रूह्यमृतत्वसाधनमिति 'तदेतावदेवेति विज्ञेयं त्वयेति हैवं किलामृतत्वसाधनमात्मज्ञानं प्रियायै भार्याया उक्त्वा याज्ञवल्क्यः किं कृतवान्यत्पूर्वं प्रतिज्ञातं प्रव्रजिष्यन्नस्मीति तच्चकार विजहार प्रव्रजितवानित्यर्थः। परिसमाप्ता ब्रह्मविद्या संन्यासपर्यवसाना। 'एतावानुपदेश 'एतद्वेदानुशासनमेषा' परमनिष्ठव' पुरुषार्थकर्तव्यतान्त इति।

इदानीं विचार्यते शास्त्रार्थविवेकप्रतिपत्तये। यत 'आकुलानि हि वाक्यानि

सीत्यादिना। ब्राह्मणार्थमुपसंहरति— परिसमाप्तेति। तथाऽप्युपदेशान्तरं कर्तव्यमस्तीत्याशङ्क्याऽऽह—एतावानिति। किमत्र प्रमाणमिति तदाह—एतदिति। 'तथाऽपि परमा निष्ठा संन्यासिनो वक्तव्येति चेन्नेत्याह—एषेति। आत्मज्ञाने ससंन्यासे सत्यपि पुरुषार्थान्तरं कर्तव्यमस्तीत्याशङ्क्याऽऽह—एष इति। इतिशब्दो ब्राह्मणसमाप्त्यर्थः।

ससंन्यासमात्मज्ञानममृतत्वसाधनमित्युपपाद्य संन्यासमधिकृत्य विचारमवतारयति—इदानीमिति। 'तत्र तत्र प्रागेव 'विचारितत्वात्कि पुनर्विचारेणेत्याशङ्क्याऽऽह- शास्त्रार्थेति। विरक्तस्य संन्यासो ज्ञानस्यान्तरङ्गसाधनं ज्ञानं तु केवलममृतत्वस्येति शास्त्रार्थे विवेकरूपा "प्रतिपत्तिरपि प्रागेव सिद्धेति किं तदर्थेन विचारारम्भेणेत्याशङ्क्याऽऽह—यत इति। अतो विचारः कर्तव्यो नान्यथा

महकारी कारणो मे निरपेक्ष है। 'हे भगवान् श्री ! जो कुछ भी आप अमृतत्व के साधन के विषय मे जानते हैं, मुझे उपदेश कीजिए' इस प्रकार जो तुमने पूछा था, "वह सन्याससहित निर्विशेषात्मज्ञान केवल इतना मात्र है' ऐसा तुझे समझना चाहिये। अपनी प्रिय भार्या को इस प्रकार अमृतत्व-साधन रूप आत्मज्ञान का उपदेश देकर याज्ञवल्क्य जी ने क्या किया ? जिस प्रकार उन्होंने प्रतिज्ञा की थी कि "परिव्रज्या ग्रहण करूँगा" उसी प्रकार किया अर्थात् सब कुछ त्याग दिया यानी सन्यासी हो गये। सन्यास मे पर्यवसित होने वाली इस ब्रह्मविद्या का प्रकरण सम्पन्न हुआ। सन्यासपूर्वक बोध की अवधि तक ही उपदेश है सन्यासपूर्वक ज्ञान करना ही वेद की आज्ञा है, सन्याससहित विद्या ही परम निष्ठा है, उक्त बोध मे ही पुरुषार्थ कर्तव्यता का पर्यवसान है।

---

१ ससंन्यास निर्विशेषात्मज्ञानमेव। २ ससंन्यासबोधावधि। ३ ससंन्यासज्ञानम्। ४ ससंन्यासा-विद्या। ५ उक्तो बोध। ६ मिथो विरुद्धानि। ७ यथोक्तविद्योपदेशसमाप्त्यपि। ८ बृ ३ ३ ५ १ इति कहोलब्राह्मणे। ९ सन्यासादे। १० असंकीर्णबोध।

खल्वमृतत्वमिति होक्त्वा याज्ञवल्क्यो विजहार ॥१५॥

इति बृहदारण्यकोपनिषदि चतुर्थाध्यायस्य पञ्चमं ब्राह्मणम् ॥ ५ ॥

दिया। अरी मैत्रेयि ! बस, तू निश्चय जान ! इतना ही अमृतत्व है। ऐसा कहकर याज्ञवल्क्य सन्यासी हो गये ॥१५॥

॥ इति पञ्चमं ब्राह्मणम् ॥

दृश्यन्ते "यावज्जीवमग्निहोत्रं जुहुयात्" "यावज्जीवं दर्शपूर्णमासाभ्यां यजेत" "कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतं समाः" "एतद्वै जरामर्यं सत्रं यदग्निहोत्रम्" इत्यादीन्येकाश्रम्यज्ञापकान्यन्यानि चाऽऽश्रमान्तरप्रतिपादकानि वाक्यानि "विदित्वा व्युत्थाय प्रव्रजन्ति" "ब्रह्मचर्यं समाप्य गृही भवेद्गृहाद्वनी भूत्वा प्रव्रजेत्" "यदि वेतरथा ब्रह्मचर्यादेव प्रव्रजेद्गृहाद्वा वनाद्वा" इति "द्वावेव पन्थानावनुनिष्क्रान्ततरौ भवतः क्रियापथश्चैव

शास्त्रार्थविवेकः स्यादित्युपसंहारार्थो हिशब्दः । वाक्यानामाकुलत्वमेव दर्शयति—यावदिति । यदग्निहोत्रमित्यादीनीत्यादिशब्दादेकाश्रम्यं त्वाचार्याः प्रत्यक्षविधानाद्गार्हस्थ्यस्येति स्मृतिवाक्यं गृह्यते । कथमेतावता वाक्यानि व्याकुलानीत्याशङ्क्याऽऽह—अन्यानि चेति । विदित्वा व्युत्थाय भिक्षाचर्यं चरन्तीति वाक्यं पाठक्रमेण विद्वत्संन्यासपरमर्थक्रमेण तु विविदिषासंन्यासपरमात्मानमेव लोकमिच्छन्तः प्रव्रजन्तीति तु विविदिषासंन्यासपरमेवेति विभागः । क्रमसंन्यासपरां श्रुतिमुदाहरति—ब्रह्मचर्यमिति । अक्रमसंन्यासविषयं वाक्यं पठति—यदि वेति । कर्मसंन्यासयोः सन्यासस्याऽऽधिक्यप्रदर्शनपरां श्रुतिं दर्शयति—द्वावेवेति । अनुनिष्क्रान्ततरौ शास्त्रक्रमेणाभ्युदयनिःश्रेयसोपायत्वेन पुनः

(सन्यासपूर्वक आत्मज्ञान ही अमृतत्व का साधन है) अब (सन्यासविषयक) शास्त्र के अर्थ का विवेक समझने के लिये विचार किया जाता है क्योंकि (शास्त्रों में) परस्पर विरुद्ध वाक्य देखे जाते हैं। "जब तक जीए, अग्निहोत्र करे", "जीवनपर्यन्त दर्श और पूर्णमास याग करे", "यहाँ कर्म करते हुए ही सौ वर्ष तक जीने की इच्छा करे", "यह अग्निहोत्र जरा-मरण पर्यन्त अनुष्ठेय है" इत्यादि शास्त्रवाक्य एकाश्रमी यानी जीवनभर गृहस्थाश्रमी रहने को बतलाते हैं। अन्य शास्त्रवाक्य आश्रमान्तर अर्थात् सन्यासाश्रम का विधान करने वाले भी हैं। जैसे "उसे जानकर एषणात्रय से ऊपर उठकर सन्यास ग्रहण करे", "यदि वैराग्य प्रबल हो तो ब्रह्मचर्याश्रम से सीधे ही सन्यास ग्रहण करे अथवा गृहस्थाश्रम मे या वानप्रस्थ मे सन्यास ग्रहण करे", "शास्त्र दो ही मार्गों को बार-बार प्रतिपादन करता है—कर्ममार्ग और संन्यासमार्ग; उनमे सन्यासमार्ग को ही उत्कृष्ट कहा

---

१. जरामर्यं—जरामरणपर्यंतमनुष्ठेयम्। सत्र—यज्ञ। २. बृ उ ३.५.१। ३. बृ उ ४.४.२२। ४. जाबाले चतुर्थखण्डे। ५. सति वैराग्ये सन्यासे विशेषमाह—यदि वेति। ६. गौतमस्मृतितृतीयाध्यायावसाने। ७. ऐकाश्रम्यवाक्यप्रदर्शनमात्रेण। ८. बृ उ ४.४.२२। ९. उत्कर्षप्रदर्शनपराम्।

पुरस्तात्संन्यासश्च तयोः संन्यास एवा'तिरेचयति" इति "न कर्मणा न प्रजया धनेन त्यागेनैकेऽमृतत्वमानशुः" इत्यादीनि। तथा स्मृतयश्च "ब्रह्मचर्यवान्प्रव्रजति" "अविशीर्णब्रह्मचर्यो यमिच्छेत्तमावसेत्" "'तस्याऽऽश्रमविकल्पमेके ब्रुवते" तथा—

"वेदानधीत्य ब्रह्मचर्येण पुत्रपौत्रानिच्छेत्पावनार्थं पितृणाम्।
अग्नीनाधाय विधिवच्चेष्टयज्ञो वनं प्रविश्याथ मुनिर्बुभूषेत्"।
"'प्राजापत्यां निरुप्येष्टिं सर्ववेदसदक्षिणाम्।
आत्मन्यग्नीन्समारोप्य ब्राह्मणः प्रव्रजेद्गृहात्" इत्याद्याः॥

एवं व्युत्थानविकल्पक्रमयथेष्टाश्रमप्रतिपत्तिप्रतिपादकानि हि श्रुतिस्मृतिवाक्यानि शतश उपलभ्यन्तइतरेतरविरुद्धानि। आचारश्च तद्विदाम्। विप्रतिपत्तिश्च शास्त्रार्थ-

---

पुनरुक्ताविरयर्थं। ज्ञानद्वारा सन्यासस्य मोक्षोपायत्वे श्रुत्यन्तरमाह—न कर्मणेति। "तानि वा एतान्यवराणि तपांसि न्यास एवात्यरेचयत्' इत्यादिवाक्यमादिशब्दार्थः। यथा श्रुतयस्तथा स्मृतयोऽप्याकुला इत्यन्त इत्याह—तथेति। तत्राक्रमसन्यासे स्मृतिमाद्यामुदाहरति—ब्रह्मचर्यवानिति। यथेष्टाश्रमप्रतिपत्तौ प्रमाणभूतां स्मृतिं दर्शयति—अविशीर्णेति। आश्रमविकल्पविषयां स्मृतिं पठति—तस्येति। ब्रह्मचारी षष्ठयर्थं। क्रमसन्यासे प्रमाणमाह—तथेति। तत्रैव वाक्यान्तरं पठति—प्राजापत्यामिति। सर्ववेदस सर्वस्व दक्षिणा यस्या तां निर्वर्त्येत्यर्थः। आदिपदेन 'मुण्डा 'निस्तन्तवश्चेत्यादिवाक्यं गृह्यते। इत्याद्याः स्मृतयश्चेति पूर्वेण सबन्धः।

व्याकुलानि वाक्यानि दर्शितान्युपसंहरति—एवमिति। इतश्च कर्तव्यो विचार इत्याह—आचारश्चेति। श्रुतिस्मृतिविदामाचारश्च विरुद्धो लक्ष्यते। केचिद्ब्रह्मचर्यादेव प्रव्रजन्ति। अपरे तु तत्परिसमाप्य गार्हस्थ्यमेवाऽऽवर्तन्ति। अन्ये तु चतुरोऽप्याश्रमान्क्रमेणाऽऽश्रयन्ते तथाच विना विचारं निर्णयासिद्धिरित्यर्थः। इतश्चास्ति विचारस्य कार्यतेत्याह—विप्रतिपत्तिश्चेति। यद्यपि बहुविद-

---

जाता है' "कर्म, प्रजा या धन से अमृतत्वप्राप्ति की है, केवल त्याग से ही की है"। इसी प्रकार स्मृतियाँ भी कहती हैं—"ब्रह्मचर्य से युक्त सन्यासी होता है", "अक्षीणवीर्य ब्रह्मचारी जहाँ चाहे, उसी आश्रम में रहे", "कोई-कोई उसके लिए आश्रम का विकल्प कहा करते हैं" तथा "ब्रह्मचर्य व्रत से वेदों का अध्ययन कर, पितृगण को पवित्र करने के लिए फिर पुत्र पौत्रों की इच्छा करे और विधिपूर्वक अग्नि का आधान कर यज्ञानुष्ठान कर वानप्रस्थी होकर फिर सन्यासी होने की इच्छा करे" "सर्वस्व दक्षिणा में दिए जाने वाले प्राजापत्य यज्ञ को करके अग्नियों को आत्मा में आरोपण करके ब्रह्मवेत्ता को गृहस्थाश्रम छोड़ कर सन्यासी हो जाना चाहिये" इत्यादि।

इस प्रकार सन्यास के विकल्प क्रम और यथेष्ट आश्रमों को ग्रहण करने का प्रतिपादन करने वाले परस्पर विरुद्ध सैकड़ों श्रुति-स्मृति वाक्य उपलब्ध होते हैं। उनके जानने वालों के आचार भी

---

१ उत्कृष्यते। २ गौ स्मृ तृ प्र उपक्रमे। ३ प्राजापत्यामिति—यजुर्वेदीयोपाख्यानग्रन्थोक्ता सर्वस्वदक्षिणा प्रजापतिदेवताका तदुक्तविधिनैव श्रौतानग्नीन् भस्मपानादिनाऽऽत्मनि समारोप्य गृहादित्यभिधानाद्वानप्रस्थ श्रममनुष्ठायैव चतुर्थाश्रममनुतिष्ठेदित्यर्थं। ४ तानि वेति—चान्द्रायणादीनीत्यर्थं। नारायणोपनिषदि ७ ८ खण्डे। अवराणि निकृष्टानि। ५ निशिखाः। ६ निसूत्राश्च।

प्रतिपत्तृणां बहुविदामपि। अतो न शक्यते शास्त्रार्थो मन्दबुद्धिभिर्विवेकेन प्रतिपत्तुम्। [1]परिनिष्ठितशास्त्रन्यायबुद्धिभिरेव [2]ह्येषां वाक्यानां विषयविभागः शक्यतेऽवधारयितुम्। तस्मादेषां विषयविभागज्ञापनाय यथाबुद्धिसामर्थ्यं विचारयिष्यामः। यावज्जीवश्रुत्यादिवाक्यानामन्यार्थासम्भवा[3]त्क्रियावसान एव वेदार्थः। तं यज्ञपात्रैर्दहन्तीत्यन्त्यकर्मश्रवणाज्जरामर्यंश्रवणाच्च लिङ्गाच्च भस्मान्तं शरीरमिति। न हि पारिव्राज्यपक्षे भस्मान्तता शरीरस्य स्यात्। स्मृतेश्च—

"निषेकादिश्मशानान्तो मन्त्रैर्यस्योदितो [5]विधिः।
तस्य [6]शास्त्रेऽधिकारोऽस्मिञ्ज्ञेयो नान्यस्य कस्यचित्" इति॥

शास्त्रार्थप्रतिपत्तारो जैमिनिप्रभृतयस्तथाऽपि तेषां विप्रतिपत्तिरुपलभ्यते केचिदूर्ध्वरेतस आश्रमाः सन्तीत्याहुर्न सन्तीत्यपरे तत्कुतो विचाराहृते निश्चयसिद्धिरित्यर्थः। अथ केषांचिदन्तरेणापि विचारं शास्त्रार्थो विवेकेन प्रतिभास्यति तत्राऽऽह—अत इति। श्रुतिस्मृत्याचारविप्रतिपत्तेरिति यावत्। कैस्तर्हि शास्त्रार्थो विवेकेन ज्ञातुं शक्यते तत्राऽऽह—परिनिष्ठितेति। नानाश्रुतिदर्शनादिवशादुपपादितं विचारारम्भमुपसंहरति—तस्मादिति। विचारकर्तव्यतामुक्त्वा पूर्वपक्षं गृह्णाति—यावदित्यादिना। श्रुत्यादीत्यादिशब्देन कुर्वन्नित्यादिमन्त्रवादो गृह्यते ऐकाश्रम्ये हेत्वन्तरमाह—तमिति। एतद्वै जरामर्यं सत्रं यदग्निहोत्रमिति श्रुतेश्च पारिव्राज्यासिद्धिरित्याह—जरेति। [7]तत्रैव हेत्वन्तरमाह—लिङ्गाच्चेति। पारिव्राज्यपक्षेऽपि तदुपपत्तिमाशङ्क्याऽऽह—न हीति। इतश्च नास्ति पारिव्राज्यमित्याह—स्मृतेश्चेति। तस्या-

---

भिन्न-भिन्न है। उन शास्त्र के तात्पर्य जानने वालों के बहुज्ञ होने पर भी उनमें परस्पर मतभेद है। इसलिए मन्दबुद्धि पुरुषों के द्वारा शास्त्र के तात्पर्य को ठीक प्रकार समझना सम्भव नहीं है। जिनकी बुद्धि शास्त्र और तर्क में निष्णात है वही इन परस्पर विरुद्ध श्रुति-स्मृति वाक्यों का विषयविभागपूर्वक निर्णय कर सकते हैं। इसलिये इनके विषय को बतलाने के लिये हम अपनी बुद्धि-सामर्थ्य के अनुसार विचार करेंगे। (इस पर पूर्ववादी शङ्का करता है—) 'जीवनपर्यन्त अग्निहोत्रादि कर्म करे' इत्यादि श्रुतिवाक्यों का कोई दूसरा अर्थ न हो सकने से वेद का तात्पर्यार्थ कर्म में ही पर्यवसित होता है। "उस अग्निहोत्री को यज्ञपात्रों सहित दाहसंस्कार करते हैं" इस प्रकार अग्निहोत्री का कर्म श्रवण होने से "जरामरणपर्यन्त अग्निहोत्र का अनुष्ठान करना चाहिये" इस प्रकार श्रवण होने से शरीरभस्मान्त है इस प्रकार ज्ञापक लिङ्ग होने से भी यही बात ज्ञात होती है। संन्यास पक्ष में तो शरीर की भस्मान्तता स्वीकार ही नहीं की जाती। स्मृति में इसी का समर्थन किया गया है—

"गर्भाधान से अन्त्येष्टि क्रिया पर्यन्त जिसके सभी (अड़तालीस) संस्कारों का विधान मन्त्रों द्वारा बतलाया गया है, इसी का इस वेद में अधिकार जानना चाहिए, अन्य किसी का नहीं' इत्यादि।

---

१ निष्णात। २ तस्मात्— विचार विना यथोक्तवाक्यानां विषयविभागस्यावधारयितुमशक्यत्वादित्यर्थः। ३ क्रियावसान एव—क्रियानतिरिक्त एव क्रियानुष्ठानमवति यावत्। न तु तस्याग इत्येवकारार्थः। यद्वा क्रियायां क्रिययैव वाऽवसानं यस्येति व्युत्पत्त्या गार्हस्थ्यमवर्त्यम्। ४ पुंसः। ५ विधि—विधीयत इति व्युत्पत्त्या अष्टाचत्वारिंशत् संस्काराः। ससंस्कारं कर्मेति यावत्। ६ वेदे। ७ पारिव्राज्यमांगिहाय।

समन्त्रकं हि 'यत्कर्म वेदेनेह' विधीयते 'तस्य श्मशानान्ततां दर्शयति स्मृतिः। 'अधिकाराभावप्रदर्शनाच्चात्यन्तमेव श्रुत्यधिकाराभावोऽकर्मिणो गम्यते। 'अग्न्युद्वासनापवादाच्च "वीरहा वा एष देवानां योऽग्निमुद्वासयते" इति।

ननु व्युत्थानादिविधानाद्वैकल्पिकं क्रियावसानत्वं वेदार्थस्य। न, 'अन्यार्थत्वाद्व्युत्थानादिश्रुतीनाम्। "यावज्जीवमग्निहोत्रं जुहोति" "यावज्जीवं दर्शपूर्णमासाभ्यां यजेत्" इत्येवमादीनां श्रुतीनां जीवनमात्रनिमित्तत्वाद्यदा न शक्यतेऽन्यार्थता कल्पयितुं तदा व्युत्थानादिवाक्यानां कर्मानधिकृतविषयत्वसंभवात्। "कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतं समाः" इति मन्त्रवर्णात्तथैतद्वै जरामर्यं सूत्रं यदग्निहोत्रं जरया वा ह्येवास्मा-

---

स्तात्पर्यमाह—समन्त्रक हीति। नान्यस्य कस्यचिदित्यत्र सूचितमर्थं कथयति—अधिकारेति। गृहस्थस्य पारिव्राज्याभावे हेत्वन्तरमाह—अग्नीति।

पूर्वपक्षमाक्षिपति—नन्विति। उभयविधिदर्शने षोडशीग्रहणाग्रहणवदधिकारिभेदेन विकल्पो युक्तो न तु क्रियावसान एव वेदार्थ इति पक्षपाते निबन्धनमस्तीत्यर्थः। तुल्यविधिद्वयदर्शने हि विकल्पो भवत्यत्र तु सावकाशानवकाशत्वेनातुल्यत्वान्नैवमित्याह—नान्यार्थत्वादिति। तदेव स्फुटयति— यावज्जीवमित्यादिना। कर्मानधिकृतविषयत्वाच्च वैकल्पिकमिति सम्बन्धः। क्रियावसानत्वं वेदार्थस्येति शेषः। "तत्रैव हेत्वन्तराण्याह—कुर्वन्नित्यादिना। न वैकल्पिकमित्यत्र "पूर्ववदन्वयः। व्युत्थानादि-

---

यहाँ वेद ने जिसके लिये मन्त्रसहित कर्म का विधान किया है, उस अधिकारी का कर्म श्मशान पर्यन्त होता है—ऐसा श्रुति बतला रही है। अधिकार का अभाव प्रदर्शित करने से अकर्मी का श्रुति में अधिकार नहीं है—ऐसा जाना जाता है। "जो अग्नि का उच्छेद करता है; वह वह देवताओं के द्वारा हनन किया जाता है, इस प्रकार अग्नि-परित्याग के निषेध करने पर भी यही सिद्ध होता है।

(सिद्धान्ती कहता है—) किन्तु हमारे मत में तो सन्यासादि का विधान वैकल्पिक होने के कारण वेदार्थ का क्रिया में पर्यवसान होना वैकल्पिक है। (इस पर पूर्ववादी कहता है—) ऐसा कहना ठीक नहीं है क्योंकि सन्यासादि श्रुतियों का तात्पर्य कर्माधिकार-विषयत्व नहीं है। क्योंकि "जीवनपर्यन्त अग्निहोत्र कर्म करे", 'जीवनपर्यन्त दर्श और पूर्णमास से याग करे" इत्यादि श्रुतियाँ जीवनमात्र कर्मनिमित्तक होने से, जब अन्यथता की कल्पना ही नहीं की जा सकती, तब सन्यासादिवाक्यों का कर्म के अनधिकारियों के विषय में विकल्प सम्भव है। "यहाँ कर्म करता हुआ ही सौ वर्ष जीने की इच्छा करे" इस श्रुति से तथा "यह अग्निहोत्र सत्र जरा-मरणपर्यन्त अनुष्ठेय है; इस कर्म

---

१ यद्वा—यस्य कर्म यत्कर्मेति समस्तं तथा च तस्येत्यस्य कर्मिण इत्यर्थः। इहशब्दशून्यश्च पाठो ग्राह्यः। २ इह—अधिकारिणि। ३ तस्य कर्मण इत्याद्य। ४ अधिकाराभावेत्यादि—कर्महीनस्य श्रुत्यधिकाराभावेन श्रौतज्ञानेऽधिकाराभावाद्दूरनिरस्तं कर्मत्यजो ज्ञानार्थं पारिव्राज्यमिति भाव। ५ अग्निपरित्यागनिषेधात्। ६ इन्द्रहन्ता स हि देवानां मध्ये वीर। ७ कर्मानधिकृतविषयत्वादिति यावत्। ८ कर्मण सकाशात्। ९ उत्तरत्र। १० अवैकल्पिकत्व एव। ११ पूर्ववदन्वय इति—क्रियावसानत्वं वेदार्थस्येति शेषेणान्वय इत्यर्थः।

न्मुच्यते मृत्युना वेति च जरामृत्युभ्यामन्यत्र कर्मवियोग[1]च्छिद्रासंभवात्कर्मिणां श्मशानान्तत्वं न वैकल्पिकम्[2]। काणकुब्जादयोऽपि कर्मण्यनधिकृता अनुग्राह्या एव श्रुत्येति[3] व्युत्थानाद्याश्रमान्तरविधानं नानुपपन्नम् ।

पारिव्राज्यक्रमविधानस्यानवकाशत्वमिति चेत् । न । विश्वजित्सर्वमेधयोर्याव-ज्जीवविध्यपवादत्वात् । यावज्जीवाग्निहोत्रादिविधेर्विश्वजित्सर्वमेधयोरेवापवादस्तत्र[4] च क्रमप्रतिपत्तिसंभवो ब्रह्मचर्यं समाप्य गृही भवेद्गृहाद्वनी भूत्वा प्रव्रजेदिति । विरोधानुपपत्तेः । न ह्येवविषयत्वे पारिव्राज्यक्रमविधानवाक्यस्य कश्चिद्विरोधः क्रमप्रतिपत्तेः । अन्यविषयत्वपरिकल्पनायां तु यावज्जीवविधानश्रुतिः स्वविषयात्संकोचिता स्यात् ।

वाक्यानां कथमनधिकृतविषयत्वमित्याशङ्क्याऽऽह—काणेति ।

अनधिकृतविषयत्व तेषामशक्य यस्तु ब्रह्मचर्यं समाप्येत्यादावधिकृतविषये क्रमदर्शनादिति शङ्कते—पारिव्राज्येति । गत्यन्तर दर्शयन्नुत्तरमाह—न विश्वजिदिति । यावज्जीवमग्निहोत्र जुहोतीत्युत्सर्गस्तस्या'पवादो विश्वजित्सर्वमेधौ तदनुष्ठाने सर्वस्वदानादेव साधनसपद्विरहात्पारिव्राज्यस्यावश्यभावित्वाद'तस्तद्विषय क्रमविधानमित्यर्थः । तदेव स्फुटयति—यावज्जीवेति । कथ क्रमविधे'रेवविषयत्वं कल्पकाभावादित्याशङ्क्याऽऽह—विरोधानुपपत्तेरिति । गृहस्थस्यापि विरक्तस्य पारिव्राज्यमिति किमिति क्रमविषयो नेष्यते तत्राऽऽह—अन्यविषयेति । क्रमविधेरपि स्वपक्षे 'सकोच. स्यादि-

से जरा से मुक्त हो जाता है, मरण से मुक्त हो जाता है" इस प्रकार जरा और मरण के सिवा अन्यत्र कर्म का वियोग और अवसर सभव नही होने से कर्मियो के जीवनपर्यन्त होना वैकल्पिक नही है। कर्म के लिए अनधिकृत अन्धे और कुबडे लोगो पर अनुग्रह करने के लिए श्रुति तद्विपयत्व रूप से सन्यासादि आश्रमान्तर का विधान करती है, यह कहना असगत नही है।

(इस पर सिद्धान्ती कहता है—) इससे तो सन्यास तक के आश्रमो के क्रमविधान का भी अवकाश नही होगा। (इस पर पूर्ववादी कहता है—) ऐसी बात भी नही है क्योकि विश्वजित् और सर्वमेध यज्ञो मे 'जीवनपर्यन्त अनुष्ठान करने का' अपवाद है। जीवनपर्यन्त अग्निहोत्रानुष्ठान की जो विधि है, उसका सर्वमेध और विश्वजित् याग के अनुष्ठाता मे ही अपवाद है इसलिए वहाँ "ब्रह्मचर्यव्रत पूर्ण कर गृहस्थ धर्म स्वीकार करे, उसके बाद वानप्रस्थी होकर सन्यास ग्रहण कर ले" आश्रमो की क्रमश प्राप्ति सभव है। इस प्रकार उन वाक्यो मे कोई विरोध सिद्ध नही हो सकता। सन्यास क्रमविधानवाक्य का ऐसा विपय स्वीकार करने पर क्रमश आश्रम प्राप्ति मे कोई विरोध नही आता।

१ अवसरासभवात् । २ श्मशानान्तत्वमिति—इतीति शेष इति हेतोरित्यर्थं । न वैकल्पिकमित्यत्र हेतुरयम् । एतद्द्वारा छिद्रासंभवोऽपि पूर्वोक्तस्तत्र हेतु तद्द्वारा च पूर्वोक्तवाक्यद्वयामक हेतुद्वयमपि तत्रैवेत्येव मति तत्रैव हेत्वन्तराण्याहेति बहुवचनमवतरण सगच्छत कश्चित्त्वेकवचनघटितमवावतरणमपरोक्ष्यत । तत्र स्वार्जवमेवेति विभवनीयम् । ३ तद्विपयत्वेन । ४ विषये । ५ विश्वजिदाद्यनुष्ठातरि । ६ अपवादो विश्वजित्सर्वमेधाविति—अत्रैकत्वमपवादत्वान्वयि तथा चैकापवादत्वन्तौ विश्वजित्सर्वमेधाविति बोध । ७ विश्वजित्सर्वमेधानुष्ठातृविषयम् । ८ विश्वजिदनुष्ठातृविषयत्वम् । ९ विश्वजिदादिकर्तृमात्रविषयत्वेन सकोच ।

क्रमप्रतिपत्तेस्तु विश्वजित्सर्वमेधविषयत्वान्न कश्चिद्विरोधः । नाऽऽत्मज्ञानस्यामृतत्व-हेतुत्वाभ्युपगमात् ।

यत्तावदात्मेत्येवोपासीतेत्यारभ्य 'स एष नेति नेत्येतदन्तेन ग्रन्थेन यदुपसंहृत-मात्मज्ञानं तदमृतत्वसाधनमित्यभ्युपगतं भवता । 'तत्रैतावदेवामृतत्वसाधनमन्यनिरपेक्ष-मित्येतन्न मृष्यते । तत्र भवन्तं पृच्छामि किमर्थमात्मज्ञानं मर्षयसि भवानिति । शृणु तत्र कारणं यथा स्वर्गकामस्य स्वर्गप्राप्त्युपायमजानतोऽग्निहोत्रादि स्वर्गप्राप्तिसाधनं ज्ञापयति

त्याशङ्क्याऽऽह—क्रमप्रतिपत्तेस्त्विति । सति ज्ञाने कर्मत्यागो निषिध्यते सर्वा वा जिज्ञासायामिति विकल्प्याऽऽद्यं दूषयति सिद्धान्ती—नाऽऽत्मज्ञानस्येति ।

विद्वत्संन्यासस्यावश्यंभावित्वान्न कर्मावसान एव वेदार्थ इति संगृहीतं वस्तु विवृणोति—यत्ता-वदिति । विद्यासूत्रादारभ्य निषेधवाक्यान्तेन ग्रन्थेन यदात्मज्ञानमुपसंहृतं तत्तात्मुक्तिसाधनमिति भवताऽपि यस्मादभ्युपगतं 'पराङ्' चाऽऽत्मविज्ञानादन्यत्रेत्यवधारणाविति न्यायात्तस्माज्ज्ञाने सति कर्मानुष्ठानं निरवकाशमित्यर्थः । अथाऽऽत्मज्ञानं कर्मसहितममृतत्वसाधनमिष्यते न केवलं तथाच ज्ञानोत्तरकालमपि न कर्मत्यागसिद्धिरिति शङ्कते—तत्रेति । आत्मज्ञानस्यामृतत्वसाधनत्वे मत्यपीति यावत् । कर्मनिरपेक्षत्वं चेदात्मज्ञानस्य भवान्न सहते किमिति तर्हि ज्ञानमेवोपगतमिति सिद्धान्ती पृच्छति—तत्रेति । तस्य कर्मानपेक्षत्वानङ्गीकारे सतीत्यर्थः । तत्र पूर्ववादी शास्त्रीयत्वादात्मज्ञान-ममृतत्वसाधनमभ्युपगतमिति शङ्कते—शृण्विति । ज्ञापयति वेद इति शेषः । शास्त्रानुसारेणाऽऽत्मज्ञाना-

उसको अन्यविषयत्व कल्पना करने पर जीवनपर्यन्त कर्मानुष्ठान का विधान करने वाली श्रुति का स्वकर्तृत्व मात्र विषय में सकोच कर देना पडेगा। क्रम-प्रतिपत्ति का विषय तो विश्वजित् और सर्वमेध ही है, इसलिए उसका कोई बाध नही होता। (इस पर सिद्धान्ती कहता है—) ऐसा कहना ठीक नही है क्योकि आत्मज्ञान को अमृतत्व का हेतु स्वीकृत किया गया है।

"आत्मा की ही उपासना करे' इस श्रुति से लेकर "वह आत्मा नेति-नेति' इस प्रकार निर्विकल्प है इस श्रुति पर्यन्त अमृतत्व साधन जिस आत्मज्ञान का उपसहार किया गया है, वह आपको स्वीकृत है। (इस पर पूर्ववादी कहता है—) किन्तु यहाँ "अन्य कर्मनिरपेक्ष केवल आत्मज्ञान ही अमृतत्व का साधन है' ऐसा कथन हमे इष्ट नहीं है। (इस पर सिद्धान्ती कहता है—) किन्तु मैं आप से पूछता हूँ कि आप आत्मज्ञान को ही किस लिए स्वीकार कर लेते हैं। (इस पर पूर्ववादी

१ तत्कर्तृमात्रविषयत्वात्—एतावानेवास्य विषयोऽभ्युपगम्यत इति भावः । २ बृ उ १ ४ ७ । ३ बृ उ ४ ५ १५ । ४ केवलमात्मज्ञानम् । ५ मन्यत्ति—कर्मेत्यर्थः । पूर्वोक्तस्यैवैतद् व्यावर्त्यमिति ध्येयम् । ६ पराङ्मित्यादे—'सर्वत्रैव हि विज्ञानं संस्कारत्वेन गम्यते" इति पूर्वार्धम् । इद प जै सू १ ३ २५ । इति व्याकरणाधिकरणापरपर्याये शब्दसाधुत्वाधिकरणे तन्त्रवार्तिके स्थितं तथा च सूत्रं 'नाकृत्स्नविषयत्वादि'ति । शब्दसाधुत्वज्ञानस्य संस्कारत्वं पारार्थ्यं चोपपादयितुमाह—सर्वत्रैव हीति । यस्मात्सर्वत्रैवाज्याविक्षणादौ वाक्ये विज्ञानमाज्यावेक्षणादिरूप संस्कारत्वेन पराङ्गत्वेन च गम्यतेऽवगम्यते तस्माच्छब्दज्ञानमपि तथेत्यर्थः । पुरुषार्थस्यात्मज्ञानस्य पराङ्गत्वाभावादाह—आत्मविज्ञानादन्यत्रेति । इत्यवधारणात्—संस्कारत्वपरार्थत्वनिर्णयादिति वार्तिकार्थः । ७ एवं पृष्टे सति ।

तथेहाप्यमृतत्वप्रतिपित्सोरमृतत्वप्राप्त्युपायमजानतो यदेव भगवान्वेद तदेव मे ब्रूहीत्येवमाकाङ्क्षितममृतत्वसाधनमेतावदर इत्येवमादौ वेदेन ज्ञाप्यत इति। एवं तर्हि यथा ज्ञापितमग्निहोत्रादि स्वर्गसाधनमभ्युपगम्यते तथेहाप्यात्मज्ञानम्। यथा ज्ञाप्यते तथाभूतमेवामृतत्वसाधनमात्मज्ञानमभ्युपगन्तुं युक्तम्। तुल्यप्रामाण्यादुभयत्र।

यद्येवं किं स्यात्। सर्वकर्महेतूपमर्दकत्वादात्मज्ञानस्य विद्योद्भवे कर्मनिवृत्तिः स्यात्। दाराग्निसंबद्धाना तावदग्निहोत्रादिकर्मणा भेदबुद्धिविषयसंप्रदानकारकसाध्यत्वम्। [1]अन्यबुद्धिपरिच्छेद्या ह्यग्न्यादिदेवता संप्रदानकारकभूतामन्तरेण न हि [1]तत्कर्म निर्वर्त्यते। यया हि संप्रदानकारकबुद्ध्या संप्रदानकारकं कर्मसाधनत्वेनोपदिश्यते सेह विद्यया निवर्त्यते

ङ्गीकारे कर्मनिरपेक्षमेवाऽऽत्मज्ञानं मोक्षसाधनं सेत्स्यतीति परिहरति—एवं तर्हीति। उभयत्र ज्ञाने कर्मणि चेत्यर्थः। यद्वा ज्ञानस्यामृतत्वसाधनत्वे तस्य कर्मनिरपेक्षत्वे चेत्यर्थः। तुल्यप्रामाण्यात्प्रामाण्यस्य तुल्यत्वाद्वेदस्येति शेषः।

। यथाशास्त्रं ज्ञानाभ्युपगमेऽपि कथं 'तत्केवलं' कैवल्यकारणमिति पृच्छति—यद्येवमिति। शास्त्रानुसारेण ज्ञानमभ्युपगच्छन्तं प्रत्याह—सर्वकर्मेति। आत्मज्ञानस्य तदुपमर्दकत्वं दर्शयितुं कर्महेतुं तावद्दर्शयति—दाराग्नीति। अग्निहोत्रादीनां संप्रदानकारकसाध्यत्वं व्यतिरेकद्वारा साधयति—अन्येति। [1]तथाऽपि कथमात्मज्ञानस्य कर्महेतूपमर्दकत्वमित्याशङ्क्याऽऽह—यया हीति। इहेति

कहता है—) इसका कारण सुनें। जिस प्रकार स्वर्गप्राप्ति के उपाय को न जानने वाले स्वर्गकामी पुरुष को श्रुति बतलाती है कि अग्निहोत्रादिकर्म स्वर्गप्राप्ति के साधन हैं, उसी प्रकार यहाँ अमृतत्व-प्राप्ति का साधन न जानने वाले, अमृतत्वप्राप्ति के इच्छुक को श्रुति के द्वारा "अरी मैत्रेयी! इतना मात्र ही अमृतत्व का साधन है", "हे भगवान्‌श्री! अमृतत्व साधन के विषय में जो कुछ आप जानते हैं, वह मेरे प्रति कहिये" इत्यादि प्रकार से आकाङ्क्षित अमृतत्व के साधन का ज्ञान कराया जाता है। (इस पर सिद्धान्ती कहता है—) ऐसे मानने पर तो, जैसे श्रुति द्वारा उपदिष्ट अग्निहोत्रादि स्वर्ग के साधन माने जाते हैं, उसी प्रकार यहाँ आत्मज्ञान को भी स्वीकार करो, जिस तरह ज्ञान कराया जाता है, उसी प्रकार ही आत्मज्ञान को अमृतत्व का साधन मानना ठीक है क्योंकि श्रुति का प्रामाण्य दोनों तरह के वाक्यों के लिए समान है।

(पूर्ववादी कहता है—) ऐसा मानने से क्या हो जायगा। (इस पर सिद्धान्ती कहता है—) आत्मज्ञान सभी कर्मों के (सम्प्रदानादि कारकभेद) हेतुओं का निवर्तक है, इसलिए ज्ञान के उत्पन्न होने पर कर्म की निवृत्ति हो जायगी। भार्या और अग्नि से सबद्ध जो अग्निहोत्रादि कर्म हैं, वे भेदबुद्धि के विषय एवं सम्प्रदान कारक द्वारा साध्य हैं। भेदबुद्धिविषयभूत एवं सम्प्रदानकारकभूत अग्नि आदि देवता के बिना वह अग्निहोत्रादि कर्म सपन्न नहीं हो सकता। एवं जिस सम्प्रदानकारक-बुद्धि से सम्प्रदान कारक कर्मसाधन रूप से उपदेश किया जाता है, वह इस विद्या दशा में विद्या से निवृत्त

---

१ प्रकृतेऽपि। २ संप्रदानादिकारकभेदं। ३ भेदबुद्धिविषयभूताम्। ४ अग्निहोत्रादिकर्मेति यावत्।
५ ज्ञानम्। ६ कर्मनिरपेक्षम्। ७ कर्मणः कारकसाध्यत्वेऽपि।

"[1]अन्योऽसावन्योऽहमस्मीति न स वेद" "[2]देवास्तं परादुर्योऽन्यत्राऽऽत्मनो देवान्वेद" "[3]मृत्योः स मृत्युमाप्नोति य इह नानेव पश्यति" "[4]एकधैवानुद्रष्टव्यं" "[5]सर्वमात्मानं पश्यति" इत्यादिश्रुतिभ्यः। न च देशकालनिमित्ताद्यपेक्षत्वं [7]व्यवस्थितात्मवस्तुविषयत्वादात्मज्ञानस्य। क्रियायास्तु पुरुषतन्त्रत्वात्स्याद्देशकालनिमित्ताद्यपेक्षत्वम्। ज्ञानं तु वस्तुतन्त्रत्वान्न देशकालनिमित्ताद्यपेक्षते। यथाऽग्निरुष्ण आकाशोऽमूर्त इति तथाऽऽत्मविज्ञानमपि।

नन्वेवं सति प्रमाणभूतस्य कर्मविधेर्[8]निरोधः स्यात्। न च तुल्यप्रमाणयोरितरेतर·

विद्याबलोक्तिः। विद्यायाः श्रुतिजन्यत्वेन बलवत्त्वं दर्शयति—अन्योऽसावित्यादिना। ननु शुचौ देशे दिवसादौ काले शास्त्राचार्योदिवशादुत्पन्नं ज्ञानं पुमर्थसाधनम् 'शुचौ देशे प्रतिष्ठाप्य' इत्यादिस्मृते·[9]रतयाच [10]कथं तस्य भेदबुद्ध्युपमर्दकत्वमत आह—न चेति। [11]यत्रैकाग्रता तत्राविशेषादिति न्यायादज्ञानसाधनस्य समाधेरपि न देशाद्यपेक्षा दूरतस्तु कूटस्थवस्तुतन्त्रस्य ज्ञानस्येति भावः। [12]विमतं देशाद्यपेक्षं शास्त्रार्थत्वाद्धर्मवदित्याशङ्क्य पुरुषतन्त्रत्वमुपाधिरित्याह—क्रियायास्त्विति। [13]साधनव्याप्तिं दूषयति—ज्ञानं त्विति। विमतं न देशाद्यपेक्षं प्रमाणत्वादुष्णाग्निज्ञानवदिति [14]अप्यनुमानमाह—यथेति।

आत्मज्ञानस्य सर्वकर्महेतूपमर्दकत्वे दोषमाशङ्कते—नन्विति। इष्टापत्तिमाशङ्क्याऽऽह—न चेति। कर्मकाण्डेन [15]काण्डान्तरस्यापि निरोधसंभवादित्यर्थः। साक्षादात्मज्ञानं कर्मविधिनिरोध्य·

हो जाता है, "जो ऐसा मानता है—'वह अन्य है, मैं अन्य हूँ' वह नहीं जानता" "उस अयथार्थदर्शी को देवता 'यह मुझे अनात्मस्वरूप से देखता है' इस अपराध से कैवल्य पद से असबद्ध कर देते हैं", "जो यहाँ मिथ्याभूत नानावस्तु सत्यात्मक भाव से देखता है, वह मरण से मरण को प्राप्त होता है", उस आत्मा को एक ही विज्ञानघन, एकरस प्रकार से देखना चाहिये", "आत्मा से व्यतिरिक्त बालाग्र मात्र भी नहीं है, इसलिए सब कुछ आत्मा ही देखता है" इत्यादि श्रुतियाँ इसमें प्रमाण हैं। आत्मज्ञान का विषय इतरनिरपेक्ष, कूटस्थ, आत्म वस्तु है, इसलिये उसे देश, काल और निमित्तादि की अपेक्षा नहीं है। क्रिया के पुरुषाधीन होने के कारण उसकी देश, काल व निमित्तादि की अपेक्षा है, किन्तु ज्ञान के वस्तुतन्त्र होने से देश, काल और निमित्त आदि की अपेक्षा नहीं रखता। जिस प्रकार "अग्नि उष्ण है और आकाश अमूर्त है" इसके ज्ञान को देश-कालादि की अपेक्षा नहीं है, उसी प्रकार आत्मज्ञान भी निरपेक्ष है।

(इस पर पूर्ववादी शङ्का करता है—) किन्तु ऐसा होने पर तो प्रमाणभूत कर्मविधि का बाध हो जायगा। श्रुति समर्थित समान प्रमाणों में भी एक दूसरे का बाध करना उचित नहीं है। (इस पर

१. बृ उ १.४.१०। २ बृ. उ २.४.६। ३ बृ उ ४.४.७। ४. बृ. उ. ४. ४. १९। ५. बृ उ. ४.४.२०। ६ बृ उ ४ ४ २३। ७ इतरनिरपेक्षकूटस्थात्मवस्तुविषयत्वादिति। ८. बाधः। ९ तथा च—ज्ञानस्य देशादिभेदमापेक्षत्वे च। १०. कथमित्यादि—उपजीव्यविरोधादिति भावः। ११ यत्रैकाग्रतेत्यादि–ब्र सू ४ १ ११। यत्र दिशि देशे काले वा चित्तस्यैकाग्रता प्रत्ययप्रवाहोन्मुख्यं तत्रैवोपासीत दिगादिविशेषाश्रवणात्। यद्वा—उपासने (तदर्थं) इष्टाया एकाग्रतायाः सर्वत्राविशेषादित्यर्थः। १२. आत्मज्ञानम्। १३ उपाधे. साधनव्यापकत्वम्। १४. सत्प्रतिपक्षताम्। १५ ज्ञानकाण्डस्य।

निरोधो युक्तः । न । स्वाभाविकभेदबुद्धिमात्रनिरोधकत्वात् । न हि विध्यन्तरनिरोधकमात्मज्ञानं स्वाभाविकभेदबुद्धिमात्रं निरुणद्धि । तथाऽपि हेत्वपहारात्कर्मानुपपत्तेर्विधिनिरोध एव स्यादिति चेत् । न । कामप्रतिषेधात्काम्यप्रवृत्तिनिरोधवददोषात् । यथा स्वर्गकामो यजेतेति स्वर्गसाधने यागे प्रवृत्तस्य कामप्रतिषेधविधेः कामे विहते काम्ययागानुष्ठानप्रवृत्तिर्निरुध्यते । न चैतावता काम्यविधिर्निरुद्धो भवति ।

कामप्रतिषेधविधिना काम्यविधेरनर्थकत्वज्ञानात्प्रवृत्त्यनुपपत्तेर्निरुद्ध एव स्यादिति चेत् । भवत्वेवं कर्मविधिनिरोधोऽपि । यथा कामप्रतिषेधे काम्यविधेरेवम् । अननुष्ठेयत्वे-

---

यद्विति विकल्प्याऽऽद्यं दूषयति—नेत्यादिना । तदेव स्फुटयति—न हि विध्यन्तरेति । द्वितीयं शङ्कते—तथाऽपीति । यथा न कामी स्यादिति निषेधात्कस्यचित्कामप्रवृत्तिर्न भवतीत्येतावता न सर्वान्प्रति काम्यविधिर्निरुध्यते तथा कस्यचिदात्मज्ञानात्कर्मविधिनिरोधेऽपि न सर्वान्प्रत्यसौ निरुद्धो भविष्यतीति परिहरति—न कामेति । दृष्टान्तमेव स्पष्टयति—यथेत्यादिना । प्रतिषेधशास्त्रार्थाभिज्ञं प्रति तदुपपत्तेरिति भावः ।

अभिप्रायमविद्वानाशङ्कते—कामप्रतिषेधविधिनेति । अनर्थकत्वज्ञानात्कामस्येति शेषः । प्रवृत्त्यनुपपत्तेः काम्येषु कर्मस्विति द्रष्टव्यम् । निरुद्धः स्यात्काम्यविधिरित्यध्याहर्तव्यम् । गूढाभिसंधिः सिद्धान्ती ब्रूते—भवत्विति । पुनरभिप्रायमप्रतिपद्यमानश्चोदयति—एवमिति । ज्ञानेन कर्मविधिनिरोधे सतीति यावत् । तत्प्रामाण्यानुपपत्तिरिति शेषः । तदेव चोद्यं विशदयति—अननुष्ठेयत्व इति । तेषामनुष्ठेयानामग्निहोत्रादीनां कर्मणां ये विधयस्तेषामिति यावत् । सिद्धान्ती स्वाभिसंधिमुद्घाटय-

---

सिद्धान्ती कहता है—) ऐसा कहना ठीक नहीं है क्योंकि आत्मज्ञान आविद्यक भेदबुद्धि मात्र का बाध करता है । वह अन्य विधि का बाध नही करता, वह केवल आविद्यक द्वैतबुद्धि का बाध करता है । (इस पर पूर्ववादी कहता है—) ऐसे (साक्षात् विध्यन्तर के अबाधक) होने पर भी तो (फलेच्छा क्रिया कारकादिभेदबुद्धि) हेतु की निवृत्ति से कर्मो का होना सभव न होने के कारण विधि का बाध हुआ । (इस पर सिद्धान्ती कहता है —) नही, काम प्रतिषेध से काम्य प्रवृत्ति के बाध के समान इसमें भी कोई दोष नही है । जिस प्रकार "स्वर्गकामो याग करे" इस श्रुतिवाक्य में जो पुरुष स्वर्ग-प्राप्ति के साधनरूप यज्ञ में प्रवृत्त है, उसकी कामना का कामप्रतिषेध विधि से बाध हो जाने पर काम्यकर्म यागानुष्ठान मे प्रवृत्ति अवरुद्ध हो जाती है । किन्तु इतने ही से तो काम्यकर्मो के विधान का बाध नही हो जाता ।

(इस पर पूर्ववादी कहता है—) कामप्रतिषेधविधि द्वारा काम्यकर्मविधान से अनर्थकता का ज्ञान हो जाने से प्रवृत्ति का होना सभव न होने से उसका बाध हो जायगा । (इस पर सिद्धान्ती कहता है —) इस प्रकार कर्मविधि का बाध भले ही हो जाय । (इस पर पूर्ववादी कहता है —) जिस प्रकार कामना का प्रतिषेध होने पर काम्य विधि का निषेध हो जाता है; उसी प्रकार ज्ञान द्वारा कर्मविधि का

---

१. आविद्यकभेदेति यावत् । २. साक्षाद्विध्यन्तराबाधकत्वेऽपि । ३. फलेच्छाक्रियाकारकादिभेदधीश्च हेतुः । ४. वाक्येन । ५. पञ्चमीयम् । ६. काम्यविध्यनुपपत्तेः । ७. अनर्थकत्वज्ञानात् । ८. कर्मविधेः । ९. अनुष्ठानविषय. ।

ऽनुष्ठातुरभावात्तदनुष्ठानविध्यानर्थक्यादप्रामाण्यमेव कर्मविधीनामिति चेत् । न, प्रागात्मज्ञानात्प्रवृत्त्युपपत्तेः । 'स्वाभाविकस्य क्रियाकारकफलभेदविज्ञानस्य प्रागात्मज्ञानात्कर्महेतुत्वमुपपद्यत एव । यथा 'कामविषये दोषविज्ञानोत्पत्तेः प्राक्काम्यकर्मप्रवृत्तिहेतुत्वं स्यादेव स्वर्गादीच्छाया स्वाभाविक्यास्तद्वत् ।

तथा 'सत्यनर्थार्थो वेद इति चेत् । न । अर्थानर्थयोरभिप्रायतन्त्रत्वात् । मोक्षमेकं वर्जयित्वाऽन्यस्याविद्याविषयत्वात् । पुरुषाभिप्रायतन्त्रौ ह्यर्थानर्थौ । मरणादिकाम्येष्टिदर्शनात् । 'तस्माद्यावदात्मज्ञानविधेरभिमुख्य तावदेव कर्मविधयः । 'तस्मान्नाऽऽत्मज्ञानसहभावित्वं कर्मणामित्यतः सिद्धमात्मज्ञानमेवामृतत्वसाधनमेतावदरे खल्वमृत-

प्र तरमाह—नेत्यादिना । उपपत्तिमेवोपदर्शयति—स्वाभाविकस्येति । 'तदेव दृष्टान्तेन स्पष्टयति—यथेति ।

अज्ञानावस्थायामेव कर्मविधिप्रवृत्तिरित्यत्रानिष्टमाशङ्कते—तथा सतीति । कर्मविधेरपि पुरुषाभिप्रायवशात्पुरुषार्थोपयोगित्वसिद्धेर्नानिष्टापत्तिरित्युत्तरमाह—नार्थेति । अर्थस्य पुरुषाभिप्रायतन्त्रत्वे मोक्षस्यापि वास्तव पुरुषार्थत्वं न स्यादित्याशङ्क्याऽऽह—मोक्षमिति । अर्थानर्थयोरभिप्रायतन्त्रत्वं साधयति—पुरुषेति । मरणं महाप्रस्थानमित्यादि काम्यं कृत्वा जीवदवस्थायामेव महाभारतादाविष्टिविधानं दृष्टमतोऽर्थानर्थावभिप्रायतन्त्रकावेवेत्यर्थः । कर्मविधीनामात्मज्ञानात्प्राचीनत्वं प्रतिपादितमुपसंहरति—तस्मादिति । 'तथाऽपि प्रकृते किमायातं तदाह—तस्मान्नेति । तत्र प्रमाण-

बाध होने पर निषेध हो जाता है । कर्मों के अननुष्ठेय सिद्ध होने पर अनुष्ठाता का अभाव हो जाने उस अनुष्ठानविधि का आनर्थक्य होने से कर्मविधि अप्रामाण्य ही होगी । (इस पर सिद्धान्ती कहता है—) यह कहना उचित नहीं क्योंकि आत्मज्ञान से पूर्व कर्म में प्रवृत्ति संभव है । आविद्यक क्रिया, कारक और फलरूप भेदज्ञान का आत्मज्ञान से पूर्व कर्म में हेतु होना संभव है । जिस प्रकार स्वर्गादि-कामना के विषय में दोषभावना उत्पन्न होने से पूर्व स्वर्गादि की स्वाभाविक इच्छा ही काम्यकर्म में प्रवृत्ति का हेतु है, इसी प्रकार यहाँ समझना चाहिए ।

(इस पर पूर्ववादी कहता है—) ऐसा होने पर वेद अनर्थफलक हो जायगा । (सिद्धान्ती कहता है—) ऐसा कहना ठीक नहीं है क्योंकि अर्थ और अनर्थ अभिप्राय के अधीन हैं । केवल एक मोक्ष को छोड़कर बाकी सब अविद्या के विषय हैं । इसीलिए अर्थ और अनर्थ तो पुरुष के अभिप्राय के अधीन हैं । क्योंकि मरणादि की इच्छा से भी याग का विधान शास्त्र में देखा जाता है, इसलिए जब तक आत्मज्ञान विधि का अधिकारी नहीं हो जाता, तभी तक कर्म की विधियाँ हैं । इसलिए (कर्मविधियों से पूर्वभावी होने से) कर्मों का आत्मज्ञान के साथ सहभाव नहीं हो सकता । इसलिए 'हे मैत्रेयी !

१ आविद्यस्य । २ स्वर्गादौ । ३ अनर्थफलक अज्ञानावस्थायामनर्थरूपानात्मफलबोधकत्वात् । ४ तस्मादिति—आत्मज्ञानस्य सर्वकर्महेतुपमर्दकत्वेन तत्समये तदुत्तरसमये च कर्मविधीनां निरवकाशतया ततः प्रागेव सावकाशत्वस्योपपादितत्वादित्यर्थः । ५ अधिकारिणः । ६ कर्मविधीनामात्मज्ञानात्प्राग्भावित्वात् । ७ ज्ञानस्य कर्मापेक्षाऽभावात् । ८ यथोक्तहेतुत्वमेव । ९ कामविषयमापाद्य । १० कर्मविधीनामात्मज्ञानात्प्राच्यत्वेऽपि ।

त्वमिति। कर्मनिरपेक्षत्वाज्ज्ञानस्य। अतो 'विदुषस्तावत्पारिव्राज्यं सिद्धं 'संप्रदानादिकर्मकारकजात्यादिशून्याविक्रियब्रह्मात्मदृढप्रतिपत्तिमात्रेण वचनमन्तरेणाप्युक्तन्यायतः।

'तथा च व्याख्यातमेतदेषां नोऽयमात्माऽयं लोक इति हेतुवचनेन पूर्वे विद्वांसः प्रजामकामयमाना व्युत्तिष्ठन्तीति पारिव्राज्यं विदुषामात्मलोकावबोधादेव। 'तथा च

माह—इत्यत इति। अत.शब्दार्थं स्फुटयति—कर्मेति। ज्ञानस्य कर्मविरोधित्वे तन्निरपेक्षत्वे च सिद्धे 'फलितमाह—अत इति। 'आत्मज्ञानस्यामृतत्वहेतुत्वाभ्युपगमादित्यादेरुक्तन्यायादात्मसाक्षात्कारस्य केवलस्य कैवल्यकारणत्वसिद्धेः सति तस्मिञ्जीवन्मुक्तस्य कर्मानुष्ठानानवकाशा'त्तदुद्देशेन प्रवृत्तस्याधीतवेदस्य विदितपदपदार्थस्य परोक्षज्ञानवतस्तन्मात्रेण प्रमाणापेक्षामन्तरेण सिद्धं सर्वकर्मत्यागलक्षणं पारिव्राज्यमेष एव विद्वत्संन्यासो न त्वपरोक्षज्ञानवतः प्रारब्धफलप्राप्तिमन्तरेणानुष्ठेयं किंचिदस्तीति भावः। विध्यविषयत्वाज्जातसाक्षात्कारस्य कथं पारिव्राज्यं तत्राऽऽह—वचनमिति। उक्तन्यायः दान्तादिवाक्यसूचितः। विधिं विनाऽपि फलभूतं पारिव्राज्यमित्यर्थः।

' सत्यां जिज्ञासायां कर्मत्यागो न शक्यते निषेद्धुमिति वचनविविदिषासंन्यासं साधयति—तथा चेत्यादिना। एतत्पारिव्राज्यमिति संबन्धः। विदुषामात्मसाक्षात्कारार्थिनां तत्परोक्षनिश्चयवतामिति यावत्। आत्मलोकस्यावबोधोऽपि व्युत्थानहेतुः परोक्षनिश्चय एव। 'सतोत्तरस्मिन्फलावस्थस्य 'व्युत्थानाद्यनुष्ठानायोगा''त्तदन्तरेण ''तत्प्राप्त्यभावाच्च। ''उक्तं हि शमादिवदुपरतेरपि तत्त्वसाक्षात्कारे नियतं साधनत्वं तदाह—तथा चेति। विविदिषुर्नाम्नाधीतवेदो विचारप्रयोजका''पातिकज्ञानवा-

---

इतना ही अमृतत्व का साधन है' इस श्रुति से आत्मज्ञान ही अमृतत्व का साधन सिद्ध हुआ क्योंकि ज्ञान कर्मनिरपेक्ष है। इसलिए प्रामाणिक वचन के बिना उक्त न्याय से सम्प्रदानादि कर्मों के कारक जातिशून्य अविकारी, ब्रह्म में ही सुदृढ आत्मज्ञान से ही विद्वान् के लिये सन्यास ग्रहण करना सिद्ध हो जाता है।

इसी प्रकार 'हमलोग जिन्हे यह आत्मलोक इष्ट है' इस हेतु वचन से भी साधन-भूत सन्यास की व्याख्या की जा चुकी है कि पूर्वकालीन विद्वान् प्रजा की कामना न करके सन्यास ग्रहण कर लेते थे; इसलिए आत्मलोक के बोध मात्र से विद्वानों के लिए सन्यास ग्रहण करना सिद्ध हो जाता है। 'इसलिए

---

१ विविदिषोरपि पारिव्राज्यमनुपद साधयिष्यते इति सूचयति—तावदिति। आदावित्यर्थं। २ सम्प्रदानादिरूप यदग्निहोत्रादिकर्मण कारकमथ च जात्यादि तच्छून्येत्यर्थः। ३ तथा च—तथैव फलभूतपारिव्राज्यवत्साधनभूत च पारिव्राज्यं व्याख्यातमिति यावत्। ४ साक्षात्कार प्रति उपरतेर्नियतत्वे सति। ५ विद्वत्सन्यासम्। ६ १३४० पृष्ठभाष्ये। ७ तदुद्देशेन—आत्मसाक्षात्कारोद्देशेन प्रवृत्तस्य अधीतवेदस्य विदितपदपदार्थस्यात. पूर्वं परोक्षज्ञानवतः सतः तस्मिन्नात्मसाक्षात्कारे सति जीवन्मुक्तस्य कर्मानुष्ठानानवकाशात तन्मात्रेण अपरोक्षज्ञानमात्रेण प्रमाणेत्यादीत्येवं योज्यम्। ८. अपरोक्षात्मनिश्चये सति। ९ विधिनाऽनुष्ठेयव्युत्थानादीत्यर्थ.। १० व्युत्थानादि विना। ११. आत्मसाक्षात्कारासम्भवात्। १२ शान्तो दान्त इत्यादिवाक्ये। १३. अप्रामाण्यशङ्कास्कन्दितज्ञानवान्।

विविदिषोरपि सिद्धं पारिव्राज्यम् । "एतमेवाऽऽत्मानं लोकमिच्छन्तः प्रव्रजन्ति" इति वचनात् । कर्मणां चाविद्वद्विषयत्वमवोचाम । 'अविद्याविषये चोत्पत्त्याप्तिविकारसंस्कारार्थानि कर्माणीत्यतः । 'आत्मसंस्काराद्वारेणाऽऽत्मज्ञानसाधनत्वमपि कर्मणामवोचाम यज्ञादिभिर्विविदिषन्तीति' ।

'अथैवं सत्यविद्वद्विषयाणामाश्रमकर्मणां बलाबलविचारणायामात्मज्ञानोत्पादनं प्रति यमप्रधानानाममानित्वादीनां मानसानां च ध्यानज्ञानवैराग्यादीनां संनि-

---

न्मुमुक्षुर्मोक्षसाधनं तत्त्वसाक्षात्कारमपेक्षमाणस्तस्मिन्परोक्षनिश्चयेनापि 'शून्यो विवक्षिततस्य कथं पारिव्राज्यमत आह—एतमेवाऽऽत्मानमिति । इतश्च विविदिषासंन्यासोऽस्तीत्याह—कर्मणा चेति । "तथा चाविद्याविरुद्धां विद्यामिच्छन्नशेषाणि कर्माणि शरीरधारणमात्रकारणेतराणि त्यजेदिति शेषः । विविदिषासंन्यासे हेत्वन्तरमाह—अविद्याविषये चेति । चतुर्विधफलानि कर्माण्यविद्याविषये "परं संभवन्ति न त्वसाध्ये वस्तुनीत्यतो वस्तुजिज्ञासायां त्याज्यानि तानीत्यर्थः । कथं "तर्हि कर्मणामुत्तम"फलान्वयस्तत्राऽऽह—आत्मेति । बुद्धिशुद्धिद्वारा ज्ञानहेतुत्वात्कर्मणामस्ति "प्रणाड्या परमपुरुषार्थान्वय इत्यर्थः ।

'संन्यासः कर्मयोगश्च निःश्रेयसकरावुभौ'

इति स्मृतेर्विविदिषूणां मुमुक्षूणां कथं पारिव्राज्यस्यैव कर्तव्यत्वमित्याशङ्क्याऽऽह—अथेति । "यथा विद्वत्संन्यासस्तथा विविदिषासंन्यासेऽपि यथोक्तनीत्या संभाविते सतीति यावत् । आत्मज्ञानोत्पादनं प्रत्याश्रमधर्माणां बलाबलविचारणा नामान्तरङ्गत्वबहिरङ्गत्वचिन्ता तस्यां सत्यामित्यर्थः । "अहिंसास्तेयब्रह्मचर्यादयो यमाः । वैराग्यादीनामित्यादिशब्देन शमादयो गृह्यन्ते । इतरे "नियमप्रधाना आश्रमधर्मा बहुना विनष्टेन पापेन कर्मणा सकीर्णा हिंसादिप्राचुर्यात् ।

आत्मलोक की इच्छा करने वाले सब क्रियाओ से निवृत्त हो सन्यास ग्रहण कर लेते हैं' इस श्रुति वचन से जिज्ञासु के लिए भी सन्यास ग्रहण करना सिद्ध हो जाता है । कर्मों का अविद्वानो को विषय करना स्वभाव होता है—ऐसा हम पहले ही कह चुके है । अविद्या के विषय अनात्म-पदार्थों मे ही उत्पत्ति, प्राप्ति, विकार और सस्कार के लिए कर्म होते हैं । इसलिए 'हम यज्ञादि के द्वारा उस आत्मा को जानने की इच्छा करते हैं' ऐसे कहकर अन्त करण शुद्धि द्वारा कर्मों का आत्मज्ञान साधनत्व होना भी बताया गया है ।}

ऐसा होने पर अविद्वानो के विषय आश्रमकर्मों के अन्तरङ्गत्व और बहिरङ्गत्व चिन्ता करने पर निष्कर्ष यह निकलता है कि अमानित्वादि यमप्रधान तथा ध्यान-विवेक-वैराग्यादि मानस

---

१ बृ उ ४ ४ २२ । २ १३४० पृष्ठभाष्ये । ३ अनात्मनीति यावत् । ४ अन्तःकरणशुद्धिद्वारेण । ५ बृ उ ४ ४ २२ । ६ अथानन्द यच्छायाम् । ७ विवेकवैराग्यादीनाम् । ८ आत्मतत्त्वे । ९. इदमभ्युपगमवादेन । १० कर्मणामविद्वद्विषयत्वे च । ११ केवलम् । १२ विद्वद्विविदिषूभयाननुष्ठेयत्वे । १३ मोक्षफलान्वय । १४ परम्परया । १५ एव यतीत्यस्यार्थमाह—यथेति । १६. अहिंसामन्तरम् ब्रह्मचर्यानन्तर परिग्रहा इति चादिशब्दग्राह्यम् । १७ नियमेति—शौचसंतोषतप स्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि नियमा इति नियमसूत्रम् ।

पत्योपकारकत्वम् । हिंसारागद्वेषादिबाहुल्याद्बहुक्लिष्टकर्मविमिश्रिता इतर, 'इत्यतः पारिव्राज्यं मुमुक्षूणां प्रशंसन्ति—

"त्याग एव हि सर्वेषामुक्तानामपि कर्मणाम् ।
वैराग्यं पुनरेतस्य मोक्षस्य परमोऽवधिः" ॥
"किं ते धनेन किमु बन्धुभिस्ते किं ते दारैर्ब्राह्मण यो मरिष्यसि ।
आत्मानमन्विच्छ गुहां प्रविष्टं पितामहास्ते क्व गताः पिता च" ।

"यमान्पतत्यकुर्वाणो नियमान्केवलान्भजन्'

इति स्मृतेस्तस्मात्पूर्वेषामन्तरङ्गत्वमुत्तरेषां बहिरङ्गत्वमित्याशयेनाऽऽह—हिंसेति[1] । कर्मयोगापेक्षया तत्त्यागस्याधिकारिविशेषं प्रति प्रशस्तत्वमुपसंहरति—इत्यत इति । तत्प्रशंसाप्रकारमेवाभिनयति—त्याग एवेति । उक्तानामाश्रमैरनुष्ठेयत्वेनेति शेषः । तत्त्यागे हेतुमाह—वैराग्यमिति । मोक्षस्य कर्मपरित्यागस्येत्यर्थः । उत्तमपुरुषार्थिनः संन्यासद्वारा श्रवणादि कर्तव्यमित्यत्र वाक्यान्तरमुदाहरति—किं ते धनेनेति । अथ पित्रादिभिर्गतं पन्थानमन्वेषयामि नाऽऽत्मानमित्याशङ्क्याऽऽह—पितामहा इति । विविदिषासंन्यासे सांख्यादिसंमतिमाह—एवमिति । यथाऽऽहुः सांख्याः —

कर्म आत्मज्ञान के उत्पादन मे साक्षात् उपकारक है। एव दूसरे कर्म हिंसा एव राग द्वेषादि की बहुलता के कारण बहुत से क्लिष्ट कर्मों से मिले हुए हैं, इसलिये मुमुक्षु के लिए सन्यास की ही प्रशंसा करते है।

'इसलिए उक्त सभी कर्मों का त्याग करना ही श्रेष्ठ कहा जाता है क्योंकि इस मोक्ष का परम कारण वैराग्य है'।

'तुझे धन से क्या प्रयोजन है, बन्धुओ से क्या लेना है, हे ब्राह्मण! भार्या से तेरा क्या स्वार्थ है। तुम्हारा मरण अवश्यम्भावी है। (इसलिए मरने से पूर्व ही) हृदयान्तर मे (नित्य) प्रविष्ट उस आत्मा को खोजो। तुम्हारे पिता और पितामह आदि कहाँ चले गये'?

उपरोक्त-श्रुति-स्मृति वचनो के समान साख्य-योग शास्त्रो मे भी आत्मज्ञान के प्रति सन्यास को साक्षात् उपकारक कहा जाता है क्योंकि सन्यासियो की भोगो मे प्रवृत्ति कामना पुर सर नही हुआ करती। क्योंकि काम प्रवृत्ति का ज्ञान विरोधी होना सभी शास्त्रो मे प्रसिद्ध है, इसलिए वैराग्ययुक्त मोक्षाभिलाषी ज्ञान के बिना भी ब्रह्मचर्य से सन्यास ग्रहण कर ले—यह कहना सुसगत है।

१ इत्यत नियमप्रधानाश्रमधर्मापेक्षया यमप्रधानाश्रमधर्माणा सन्निपत्योपकारकत्वादित्यर्थ । २ प्रशस्यत इत्यध्याहार । ३ भवविरत्र कारणम्। ४ मेधाविनामा ब्राह्मणपुत्र स्वपितर प्रत्याह—किमिति। महा० शा० मोक्षधर्म १७५-३८। यस्त्व मरिष्यसि तस्य त" इति योज्यम्। जीवतो हि तत्सुखाय स्यात्तस्मान्मरणात्प्रागेव धनादिमर्वं परित्यज्य बुद्धिगुहा प्रविष्ट यथावदनभिव्यक्तमात्मानमन्विच्छ तत्स्वरूपान्वेषणमेव कुरु तत एव तेऽक्षयसुखप्राप्तिरित्यर्थ । मरणमवश्यभावीत्यत्रमानमाह—पितामहा इति। ५ यमेति—"यमान्सेवेत सतत न नित्य नियमान्बुध" इति पूर्वो भागोऽस्या स्मृते । ६ अधिकारिविशेषम्—शमादिसपन्नं मुमुक्षुमित्यर्थ । ७ अनुष्ठित व्यवहारम्।

'एवं सांख्ययोगशास्त्रेषु च संन्यासो ज्ञानं प्रति 'प्रत्यासन्न उच्यते । 'कामप्रवृत्त्य'-

'ज्ञानेन चापवर्गो 'विपर्ययादिष्यते बन्ध.' इति ।

'विवेकख्यातिपर्यन्तमज्ञानाच्चित्तचेष्टितम्' इति च ।

'अविपर्ययाद्विशुद्धं केवलमुत्पद्यते ज्ञानम्'' इति च ।

योगशास्त्रविदश्चाऽऽहु: ''अभ्यासवैराग्याभ्यां तन्निरोध.' इति । तत्र वैराग्येण विषयस्रोतः खिली क्रियते । विवेकदर्शनाभ्यासेन कल्याणस्रोत 'उत्पाद्यत इति च । 'दृष्टानुश्रविकविषयवितृष्णस्य वशीकारसंज्ञा वैराग्यम्' इति च । इतश्च संन्यासो ज्ञानं प्रति प्रत्यासन्न इत्याह—कामेति । संन्यासिनः

(इस पर पूर्ववादी शङ्का करता है—) 'जीवन पर्यन्त अग्निहोत्र करे' इस श्रुति से बाध होने

१ एवमिति—यथोक्तश्रुतिस्मृत्युपपत्तिवदित्यर्थं । २ सन्निपत्योपकारक । ३ संन्यासिन कामनापुर-सरं (भोगेषु) प्रवृत्त्यभावाच्च संन्यासो ज्ञान प्रति प्रत्यासन्न इति सबन्ध । ४ कामप्रवृत्त्यभावाच्चेत्यादि—प्रतिबन्धकाभावस्य कारणत्व सर्वसंमतम् । कामप्रवृत्तिश्च ज्ञानप्रतिबन्धिका तथा च कामप्रवृत्त्यभावोपलक्षित संन्यासो ज्ञान प्रति प्रत्यासन्नो भवत्येवेति भाव । ५ विपर्ययादतत्त्वज्ञानात् । ६ '''ज्ञानेन चापवर्गो विपर्ययादिष्यते बन्ध' । विवेकख्यातिपर्यन्तमज्ञाना''च्चित्तचेष्टितम् ॥ ''अविपर्ययाद्विशुद्ध केवलमुत्पद्यते ज्ञान-मि''त्येतद्वाक्यत्रयमपि मुमुक्षुमुद्दिश्य ज्ञानसाधनविधानाभिप्राय मन्तव्यमन्यथाऽनुवादमात्रत्वेनाप्रामाण्यापत्ते । ज्ञानसाधन च श्रवणादि । तदुक्त दृष्टवदानुश्रविक ''इत्यादि द्वितीयकारिकाव्याख्योपान्त मिश्रै ''एतदुक्त भवति श्रुतिस्मृतीतिहासपुराणेभ्यो व्यक्तादीन् विवेकेन ''श्रुत्वा शास्त्रयुक्त्या च ''व्यवस्थाप्य दीर्घकाल''नैरन्तर्यादर-सेविताद्भावनामया''द्विज्ञानादितीति'' न च श्रवणादि कर्मत्यागमन्तरेण संभवति मुमुक्षुणा तत्त्यागस्यास्य ' ''तद्विपरीत श्रेयानिति'' सूचितत्वात् ''तथाच स्फुट ''निर्गलिता विविदिषासंन्यासे साख्यसमतिरिति । ७ अभ्यासवैराग्याभ्या तन्निरोध इति – न खल्वसन्यस्तकर्मणा विवेकदर्शनाभ्यास शक्य कर्तुम् । न च सजात-वैराग्य कर्मणि व्याप्रियते निरुद्धवृत्तिकत्वेनेति संन्यास एव समापतति ॥ विषयस्रोत खिलीक्रियत इति कर्म पराङ्मुखत्व सूच्यते विषयस्रोतो हि ''भोगसाधनपरम्परा ''ततो वैमुख्यमेव तत्खिलीकरणमिति । कल्याणस्रोत उत्पाद्यत (उद्घाटयत इति योगभाष्यपाठ) इत्यत्र कल्याणस्रोत ''कल्याणसाधनपरम्परा संन्यासप्रमुखेति संन्यास समतो भवति । वशीकारसंज्ञकवैराग्यवाश्च संन्यस्यत्येव दृष्टानुश्रविकविषयेषु वैतृष्ण्यादिति स्फुटमथ । ८ उद्घाटयत ।

११ ज्ञानेनेत्यादि—धर्मेण गमनमूर्ध्वं गमनमधस्ताद्भवत्यधर्मेणे''त्यार्यापूर्वार्धम् का १ ४४। १२ अज्ञाना-च्चित्तचेष्टितमित्यस्य स्थाने ज्ञेय प्रकृतिचेष्टितमिति पाठान्तरम् प्रामाणिकमाहु । १३ अविपर्ययादित्यादि—'एव तत्त्वाभ्यासान्नास्मि न मे नाहमित्यपरिशेषम्' इत्यार्यापूर्वभाग ॥ का २ ६४। १४ स ह्यविशुद्धि-क्षयातिशययुक्त । तद्विपरीत श्रेयान् व्यक्ताव्यक्तज्ञविज्ञानादि' त्यार्याशेष आदिपदग्राह । १५ इद श्रवणम् । १६ इद मननम् । १७ इद निदिध्यासनम् । १८ विज्ञानादिति—तत्त्वसाक्षात्कारो जायत इति शेष । १९ तस्मादानुश्रविकाद्दु खापघातकादुपायात् । सोमपानादेरविशुद्धादनित्यसातिशयफलाद् विपरीतो विशुद्धो हिंसा-दिसकराभावाद् असकृदपुनरावृत्तिश्रुतेर्नित्यनिरतिशयफल सत्त्वपुरुषान्यताप्रत्यय साक्षात्कारो दु खापघातको हेतु श्रेयानित्यथ । २० उक्तवाक्याना ज्ञानसाधनश्रवणादि विधानाभिप्रायत्वे तद्विपरीत इत्यादिना कर्म-त्यागस्य सूचितत्वे चेत्यर्थं । २१ निष्कपलक्ष्येत्यर्थं । २२ भोगसाधनपरम्परेति भोगसाधनपरम्परायां चेत प्रावण्यमिति यावत् । २३ ततो वैमुख्यम् तत्र प्रावण्याभाव । २४ तत्र चेत प्रावण्यमिति यावत् ।

भावाच्च । कामप्रवृत्तेर्हि ज्ञानप्रतिकूलता सर्वशास्त्रेषु प्रसिद्धा । तस्माद्विरक्तस्य मुमुक्षोर्विनाऽपि ज्ञानेन ब्रह्मचर्यादेव प्रव्रजेदित्याद्युपपन्नम् ।

ननु सावकाशत्वादनधिकृतविषयमेतदित्युक्तं यावज्जीवश्रुत्युपरोधात् । नैष दोषः । नितरां सावकाशत्वाद्यावज्जीवश्रुतीनाम् । अविद्वत्कामिकर्तव्यतां ह्यवोचाम[1] सर्वकर्मणाम् । न तु [2]निरपेक्षमेव जीवननिमित्तं कर्तव्यं कर्म । प्रायेण हि पुरुषाः कामबहुलाः । कामश्चानेकविषयोऽनेककर्मसाधनसाध्यश्च । [3]अनेकफलसाधनानि च वैदिकानि कर्माणि

कामप्रवृत्त्यभावेऽपि कथं संन्यासस्य ज्ञानं प्रति प्रत्यासन्नत्वमित्याशङ्क्याऽऽह—कामप्रवृत्तेरिति । "[4]इति नु कामयमानः[5]" ।

"काम एष क्रोध एष रजोगुणसमुद्भवः ।
महाशनो महापाप्मा विद्ध्येनमिह[6] वैरिणम्[7]"

इत्यादीनि शास्त्राणि । विधिविधासन्यासमुपसंहरति—तस्मादिति । यथोक्तस्याधिकारिणो दर्शितया विधया ज्ञानेन विनाऽपि सन्यासस्य प्राप्तत्वाद्ब्रह्मचर्यादेवेत्यादि विधिवाक्यमुपपन्नमिति योजना ।

अथ पारिव्राज्यविधानम[8]नधिकृतविषयमुचितं तथा सति सावकाशत्वान्न त्वधिकृतविषयं यावज्जीवश्रुतिविरोधात्तस्या निरवकाशत्वात्सावकाशनिरवकाशयोश्च निरवकाशस्यैव बलवत्त्वादित्युक्तं शङ्कते—नन्विति । यावज्जीवश्रुतेर्निरवकाशत्वं दूषयति—नैष दोष इति । कथमतिशयेन सावकाशत्वं तत्राऽऽह—अविद्वदिति । जीवनमात्रं निमित्तीकृत्य चोदितं कर्म कथं कामिना कर्तव्यं तत्राऽऽह—न त्विति । प्रत्यवायपरिहारादेरिष्टत्वादित्यर्थः । अनुष्ठातृस्वरूपनिरूपणायामपि न जीवनमात्रं निमित्तीकृत्य कर्म कर्तव्यमित्याह—प्रायेणेति । तथाऽपि नित्येषु कर्मसु न कामनिमित्ता प्रवृत्तिस्तत्र काम्यमानफलाभावादित्याशङ्क्याऽऽह—कामश्चेति । प्रत्यवायपरिहारादेरपि कामितत्वं युक्तमिति भावः । तथाऽपि नित्ये कर्मणि काम्यमानं फलं [9]विध्युद्देशे किंचिन्न श्रुतमित्याशङ्क्याऽऽह

पर ('ब्रह्मचर्य से सन्यास ग्रहण करे' इस) अन्य श्रुति को अवकाश मिल जाता है, ऐसा कहा गया। (सावकाश और निरवकाश के प्रसङ्ग आने पर निरवकाश ही बलवान् होता है—इस न्याय से) अत. यही मानना उचित है कि सन्यास कर्म के अनधिकारी के लिए है। (इस पर सिद्धान्ती कहता है—) ऐसा कहने मे कोई दोष नही है क्योकि यावज्जीवन अग्निहोत्र का विधान करने वाली श्रुतियो को सदा ही अवकाश है एव सभी कर्म कामनायुक्त अविद्वान् के लिए ही है यह हम पहले ही कह आये हैं। प्रत्यवायपरिहारादि निरपेक्ष केवल जीवन के निमित्त कर्म की कर्तव्यता नही हुआ करती। प्राय मनुष्यो के भीतर कामबाहुल्य होता है। काम अनेक विषयो का है एव अनेक कर्मो और साधनो से

१ १३४० पृष्ठभाष्ये न प्राणित्यादिना । २ प्रत्यवायपरिहारादिनिरपेक्षमेव । ३ अनेकफलसाधनानीति—विध्युद्देशोक्तमात्रफलकान्येव नेति यावत् । ४ कामासाधारणकारणं संसारमुपसंहरति—इतीति । एव मन्त्रब्राह्मणाभ्यां प्रदर्शितरीत्या नु खलु कामयमान संसरतीत्यर्थं । ५ बृ उ ४.४.६ । ६ इह संसारे अधिकारिषु वा । ७ वैरिण—विवेकिनामिति शेष । ८ अन्यपदव्याख्येयम् । ९. विधायकवाक्ये ।

'दाराग्निसंबन्धपुरुषकर्तव्यानि' पुनः पुनश्चानुष्ठीयमानानि बहुफलानि कृष्यादिवद्वर्ष-शतसमाप्तीनि च गार्हस्थ्ये वाऽरण्ये वा'ऽतस्तदपेक्षया यावज्जीवश्रुतयः। "कुर्वन्नेवेह कर्माणि" इति च मन्त्रवर्णः।

'तस्मिंश्च पक्षे विश्वजित्सर्वमेधयोः' कर्मपरित्यागः'। 'यस्मिंश्च पक्षे यावज्जीवा-नुष्ठानं तदा श्मशानान्तत्वं' भस्मान्तता च शरीरस्य। 'इतरवर्णापेक्षया वा यावज्जीव-

—अनेकेति। कर्मभिरनेकैः साधनैर्यद्दुरितनिबर्हणादि साध्य तदेवास्याश्रुतमपि विध्युद्देशे साध्यं भवति।

'यद्यद्धि कुरुते जन्तुस्तत्तत्कामस्य चेष्टितम्'

इति स्मृते"स्तद्व्यतिरेकेण प्रवृत्त्यनुपपत्तेरसौ" नित्येऽपि कामित फलमस्तीत्यर्थः। ननु वैदि-काना कर्मणा "नियतफलत्वात्कामोऽपि नियतफलो युक्तस्तथाच नित्येषु "तदभावान्न "कामित फलं सेत्स्यति तत्राऽऽह—अनेकफलेति। अथ तानि पुरुषमात्रकर्तव्यानीति कुतो विवक्षितसन्याससिद्धिस्त-त्राऽऽह—दारेति। नन्वविरक्तेनापि गृहिणा सकृदेव तान्यनुष्ठेयानि तावता विधेश्चरितार्थत्वा"त्तथाच कथ फलबाहुल्यमित्याशङ्क्याऽऽह—पुन पुनश्चेति। यावज्जीवोपबन्धादावृत्तिसिद्धिरिति भाव.। "तर्हि यावज्जीवश्रुतिवशादशेषाश्रमानुष्ठेयान्यनवरतमग्निहोत्रादीनीति कुतो यथोक्तसन्यासोपपत्तिरित्या-शङ्क्याऽऽह—वर्षशतेति। अविरक्तगृहिविषयत्व श्रुतिमन्त्रयोरित्युपसंहरति—अत इति।

"यत्तु यावज्जीवश्रुतेरपवादो विश्वजित्सर्वमेधयोरिति तदपि कामगृहिविषयत्वान्न ब्रह्मचर्यादेव प्रव्रजेदितिविध्यपवादकमित्याह—तस्मिंश्चेति। परोक्त लिङ्गमपि तद्विषयत्वान्न सर्वस्य वेदस्य कर्माव-सानत्व द्योतयतीत्याह—यस्मिंश्चेति। यावज्जीवश्रुते"र्गत्यन्तरमाह—इतरेति। कथं "सा क्षत्रियवैश्य-

साध्य है। वैदिक कर्म भी अनेक फल के साधन है जो कि विवाहित और अग्निहोत्री पुरुष के लिए कर्तव्य है वारम्बार अनुष्ठान किए जाने वाले वे कृषि आदि के समान वहुत से फल देने वाले हैं तथा गृहस्थ अथवा वानप्रस्थ आश्रमों में सौ वर्षों में पूर्ण होने वाले है। इसलिए (कर्मविधि अविरक्त गृहस्थी का विषय होने से) अविरक्त गृहस्थ की अपेक्षा से 'यावज्जीवन अग्निहोत्र करे' तथा 'यहाँ कर्म करते हुए सौ वर्ष जीने की इच्छा करे' इस प्रकार श्रुतियाँ तथा मन्त्रवर्ण है।

उसी पक्ष में विश्वजित् और सर्वमेध यागो मे कर्म परित्याग यानी सन्यास है और जिस पक्ष

१ पितृलोकप्रत्यवायपरिहारसत्त्वशुद्ध्यादिसाधनानि। २ न तु वीतरागपुरुषकर्तव्यानि। ३ अत — कर्मविधेरविरक्तगृहस्थविषयत्वात्। ४ तदपेक्षया—अविरक्तगृहस्थापेक्षया। ५ कर्मविधीना कामिगृहि-विषयत्वपक्षे। ६ सतो। ७ पारिव्राज्यम्। ८ कामित्वे सत्यशक्त्यादिना विश्वजिदाद्यनुष्ठानपक्षे। ९ कर्मणाम्। १० ब्राह्मणतरवर्णापेक्षया। ११ कामव्यतिरेकेण। १२ नित्येषु प्रवृत्तिदर्शनात्। १३ यावर्थैश्चोदितमेव फल वैदिकाना कर्मणा भवति न त्वचोदितकल्पनोपनीतमित्येतदेव तथा नियतफलत्व-मिति ध्येयम्। १४ नित्यफलाभावात्। १५ कामित कल्पनोपनीत प्रत्यवायपरिहारादि-रूपमित्यर्थ। १६ सकृदनुष्ठाने च। १७ तेषामसकृदनुष्ठीयमानत्व। १८ यत्त्वित्यादि—कामिना हि सति विश्वजिदादौ भवतु पारिव्राज्यविषयत्वमकामिविषय तु निरङ्कुशप्रसरत्व ब्रह्मचर्यादेवेत्यादिविधेरिति भाव। १९ अविरक्तापेक्षया गत्यन्तरम्। २० यावज्जीवश्रुति।

(अथ चतुर्थाध्यायस्य षष्ठं ब्राह्मणम्)

अथ वꣳशः पौतिमाष्यो गौपवनाद्गौपवनः पौतिमाष्या-त्पौतिमाष्यो गौपवनाद्गौपवनः कौशिकात्कौशिकः

गौपवन से पौतिमाष्य ने, पौतिमाष्य से गौपवन ने, गौपवन से पौतिमाष्य ने, कौशिक से गौपवन ने, कौण्डिन्य से कौशिक ने, शाण्डिल्य से कौण्डिन्य ने, कौशिक तथा गौतम से शाण्डिल्य

श्रुतिः। न हि क्षत्रियवैश्ययोः पारिव्राज्यप्रतिपत्तिरस्ति। तथा [1]मन्त्रैर्यस्योदितो विधिः। ऐकाश्रम्यं त्वाचार्या इत्येवमादीनां क्षत्रियवैश्यापेक्षत्वम्। तस्मात्पुरुषसामर्थ्यज्ञानवैराग्यकामाद्यपेक्षया व्युत्थानविकल्पक्रमपारिव्राज्यप्रतिपत्तिप्रकारा न विरुध्यन्ते। अनधिकृतानां च पृथग्विधानात्पारिव्राज्यस्य [2]स्नातको वाऽस्नातको वोत्सन्नाग्निरनग्निको वेत्या[3]दिना। तस्मात्सिद्धान्याश्रमान्तराण्यधिकृतानामेव ॥ १५ ॥

इति श्रीमद्बृहदारण्यकोपनिषद्भाष्ये चतुर्थाध्यायस्य पञ्चमं ब्राह्मणम् ॥ ५ ॥

विषयत्वेन प्रवृत्ता त्रैवर्णिकानामपि पारिव्राज्यपरिग्रहादित्याशङ्क्याऽऽह—न हीति। यावज्जीवश्रुतिवदैकाश्रम्यप्रतिपादकस्मृतीनामपि क्षत्रियादिविषयत्वमाह—तथेति। श्रुतिस्मृतीनां कर्मतत्संन्यासार्थानां भिन्नविषयत्वे फलितमुपसंहरति—तस्मादिति। यत्तु काणकुब्जादयोऽपि कर्मण्यनधिकृता अनुग्राह्या एव श्रुत्येति तत्राऽऽह—अनधिकृताना चेति। सत्यामेव भार्यायां त्यक्ताग्निरुत्सन्नाग्निस्तस्यामसत्यां परित्यक्ताग्निरनग्निक इति भेदः। [4]आश्रमान्तरविषयश्रुतिस्मृतीनामनधिकृतविषयत्वाभावे सिद्धमर्थं निगमयति—तस्मादिति ॥ १५ ॥

इति बृहदारण्यकोपनिषद्भाष्यटीकायां चतुर्थाध्यायस्य पञ्चमं ब्राह्मणम् ॥ ५ ॥

मे यावज्जीवन कर्म के अनुष्ठान का विधान है, वही कर्मों की श्मशानान्तता तथा शरीर की भस्मान्तता प्रत्यक्ष है। अथवा ब्राह्मणेतर वर्णों के लिए यावज्जीवन कर्म करने का विधान है। क्षत्रिय और वैश्यों को संन्यास की प्राप्ति नहीं होती। इसमें व्यास स्मृति प्रमाण है 'गर्भाधान से अन्त्येष्टि क्रिया पर्यन्त जिसके सभी संस्कारों का विधान मन्त्रों द्वारा बतलाया गया है, उसी का वेद में अधिकार समझना चाहिए; किसी अन्य का नहीं', 'आचार्यों ने इन्हें एकाश्रमी बतलाया है' इत्यादि वाक्य क्षत्रियों और वैश्यों की अपेक्षा से हैं। इसलिए पुरुष के सामर्थ्य, ज्ञान, वैराग्य और कामनादि की अपेक्षा से संन्यास विकल्प तथा क्रम से संन्यास ग्रहण प्रकारों का विरोध नहीं है। 'व्रती हो अथवा अव्रती, उत्सन्नाग्नि हो अथवा अनग्नि' इत्यादि वाक्य द्वारा अनधिकारियों के लिए संन्यास का अलग विधान है। इसलिए यह सिद्ध हुआ कि गार्हस्थ्य इतर आश्रम अधिकारियों के लिए ही है ॥ १५ ॥

इस प्रकार बृहदारण्यक उपनिषत् के चतुर्थ अध्यायस्य पञ्चम ब्राह्मण के शाङ्करभाष्य का हिन्दी भाषानुवाद सम्पन्न हुआ ॥ ५ ॥

---

१. १३४० पृष्ठभाष्ये द्रष्टव्या स्मृतिः। २. स्नातक इत्यादि.—अथ पुनरव्रती वा व्रती वेत्यादिः। अव्रती—अगृहीताध्ययनाङ्गव्रतः कृतविद्याव्रतान्तस्नानः स्नातकः। ३. आदिना "यदहरेव विरजेत्तदहरेव प्रव्रजेदिति" श्रुतिशेषो ग्राह्यः। ४. गार्हस्थ्येतराश्रमेत्यर्थः।

कौण्डिन्यात्कौण्डिन्यः शाण्डिल्याच्छाण्डिल्यः कौशिकाच्च गौतमाच्च गौतमः ॥ १ ॥

आग्निवेश्यादाग्निवेश्यो गार्ग्याद्गार्ग्यो गार्ग्याद्गार्ग्यो गौतमाद्गौतमः सैतवात्सैतवः पाराशर्यायणात्पाराशर्यायणो गार्ग्यायणाद्गार्ग्यायण उद्दालकायनादुद्दालकायनो जाबालायनाज्जाबालायनो माध्यंदिनायनान्माध्यंदिनायनः सौकरायणात्सौकरायणः काषायणात्काषायणः सायकायनात्सायकायनः कौशिकायनेः कौशिकायनिः ॥ २ ॥

घृतकौशिकाद्घृतकौशिकः पाराशर्यायणात्पाराशर्यायणः पाराशर्यात्पाराशर्यो जातूकर्ण्याज्जातूकर्ण्य आसुरायणाच्च यास्काच्चाऽऽसुरायणस्त्रैवणेस्त्रैवणिरौपजन्धनेरौपजन्धनिरासुरेरासुरिर्भारद्वाजाद्भारद्वाज आ-

ने और गौतम ने ॥ १ ॥

आग्निवेश्य से, आग्निवेश्य ने गार्ग्य से, गार्ग्य ने गार्ग्य से, गार्ग्य ने गौतम से, गौतम ने सैतव से, सैतव ने पाराशर्यायण से, पाराशर्यायण ने गार्ग्यायण से, गार्ग्यायण ने उद्दालकायन से, उद्दालकायन ने जाबालायन से, जाबालायन ने माध्यन्दिनायन से, माध्यन्दिनायन ने सौकरायण से, सौकरायण ने काषायण से, काषायण ने सायकायन से, सायकायन ने कौशिकायनि से, कौशिकायनि ने ॥ २ ॥

घृतकौशिक से, घृतकौशिक ने पाराशर्यायण से, पाराशर्यायण ने पाराशर्य से, पाराशर्य ने जातूकर्ण्य से, जातूकर्ण्य ने आसुरायण और यास्क से, आसुरायण ने त्रैवणि से, त्रैवणि ने औपजन्धनि से, औपजन्धनि ने आसुरि से, आसुरि ने भारद्वाज से, भारद्वाज ने आत्रेय से, आत्रेय ने माण्टि से, माण्टि

अथान्तरं याज्ञवल्कीयस्य काण्डस्य वंश आरभ्यते यथा मधुकाण्डस्य वंशः । व्या-

---

तदेव विचारद्वारा श्रुतिस्मृतीनामापातनो विरुद्धानामविरोधं प्रतिपाद्याथ वंश इत्यस्यार्थमाह—अथेति । साङ्गोपाङ्गस्य सफलस्या[1]ऽऽत्मविज्ञानस्य प्रवचनानन्तर्यमथशब्दार्थमाह—अनन्तरमिति । यथा प्रथमान्तः शिष्यो गुरुस्तु पञ्चम्यन्त इति चतुर्थान्ते व्याख्यातं तथाऽत्रापीत्याह—व्याख्यानं

अब आगे याज्ञवल्कीय काण्ड का वंश आरम्भ किया जाता है, जिस प्रकार मधुकाण्ड का वंश

---

१. आत्मविज्ञानस्य—वाक्यार्थज्ञानस्येत्यर्थः । तदुपायत्वात्त्वमर्थज्ञानं तदङ्गम् । उपाङ्गशब्देन सन्यासोऽभिधीयते तस्य च वाक्यार्थज्ञानाङ्गत्वं त्वमर्थज्ञानोपायत्वात् "त्वपदार्थविवेकाय सन्यासः सर्वकर्मणामिति" स्मृतेः । फलशब्देनामृतत्वमुच्यते ।

त्रेयादात्रेयो माण्टेर्माण्टिर्गौतमाद्गौतमो गौतमाद्गौतमो वात्स्याद्वात्स्यः शाण्डिल्याच्छाण्डिल्यः कैशोर्यात्काप्यात्कैशोर्यः काप्यः, कुमारहारितात्कुमारहारितो गालवाद्गालवो विदर्भीकौण्डिन्याद्विदर्भीकौण्डिन्यो-वत्सनपातो बाभ्रवाद्वत्सनपाद्बाभ्रवः पथः सौभरात्पन्थाः सौभरोऽयास्यादाङ्गिरसादयास्य आङ्गिरस आभूतेस्त्वाष्ट्रादाभूतिस्त्वाष्ट्रो विश्वरूपात्त्वाष्ट्राद्विश्वरूपस्त्वाष्ट्रोऽश्विभ्यामश्विनौ दधीच आथर्वणाद्दध्यङ्ङाथर्वणोऽथर्वणो दैवादथर्वा दैवो मृत्योः प्राध्वꣳसनान्मृत्युः प्राध्वꣳसनः प्रध्वꣳसनात्प्रध्वꣳसन एकर्षेरेकर्षिर्विप्रचित्तेर्विप्रचित्तिर्व्यष्टेर्व्यष्टिः सनारोः सनारुः सनातनात्सनातनः सनगात्सनगः परमेष्ठिनः

ने गौतम से, गौतम ने गौतम से, गौतम ने वात्स्य से, वात्स्य ने शाण्डिल्य से, शाण्डिल्य ने कैशोर्यकाप्य से, कैशोर्यकाप्य ने कुमारहारित से, कुमारहारित ने गालव से, गालव ने विदर्भीकौण्डिन्य से, विदर्भीकौण्डिन्य ने वत्सनपाद् बाभ्रव से, वत्सनपाद् बाभ्रव ने पन्था सौरभ से, पन्था सौरभ ने अयास्य आङ्गिरस से, अयास्य आङ्गिरस ने आभूतित्वाष्ट्र से, आभूतित्वाष्ट्र ने विश्वरूपत्वाष्ट्र से, विश्वरूपत्वाष्ट्र ने अश्विनीकुमारों से, अश्विनीकुमारों ने दध्यङ्ङाथर्वण से, दध्यङ्ङाथर्वण ने अथर्वा-दैव से, अथर्वा-दैव ने मृत्यु-प्राध्वसन से, मृत्यु-प्राध्वसन ने प्रध्वसन से, प्रध्वसन ने एकर्षि से, एकर्षि ने विप्रचित्ति से, विप्रचित्ति ने व्यष्टि से, व्यष्टि ने सनारु से, सनारु ने सनातन से, सनातन ने सनग से, सनग ने परमेष्ठी से एव परमेष्ठी ने ब्रह्मा से (यह विद्या प्राप्त की है) ब्रह्म स्वयंभु है, ब्रह्म को

ख्यानं तु पूर्ववत् । ब्रह्म स्वयंभु ब्रह्मणे नम ॐमिति ॥ १ ॥ २ ॥ ३ ॥

त्विति । 'इत्यमागमोपपत्तिभ्यां ससन्न्यासं सेतिकर्तव्यताकमात्मज्ञानममृतत्वसाधन सिद्धिमित्युपसंहर्तुमितिशब्दः । परिसमाप्तौ मङ्गलमाचरति—ब्रह्मे ति ॥ १ ॥ २ ॥ ३ ॥

निरूपण किया गया था । इसका व्याख्यान पूर्व मधुकाण्ड की व्याख्या की तरह समझना चाहिये । ब्रह्म स्वयंभु है (उससे आगे आचार्य परम्परा नहीं है) इसलिए उस ब्रह्म को नमस्कार है ॥ ६ ॥

---

१. अयंक्रममाश्रित्य मङ्गलात्प्रागेवेतिशब्द व्याचष्टे—इत्यमागमेत्यादिना ।

[1]परमेष्ठी ब्रह्मणो ब्रह्म स्वयंभु ब्रह्मणे नमः ॥३॥

इति बृहदारण्यकोपनिषदि चतुर्थाध्याये

षष्ठं ब्राह्मणम् ॥ ६ ॥

इति श्रीबृहदारण्यकोपनिषदि चतुर्थोऽध्यायः ॥ ४ ॥

बृहदारण्यकक्रमेण षष्ठोऽध्यायः ॥ ६ ॥

नमस्कार है ॥ ३ ॥

॥ इति चतुर्थाध्याय, षष्ठ ब्राह्मणम् ॥

इति श्रीबृहदारण्यकोपनिषद्भाष्ये चतुर्थाध्यायस्य षष्ठ

वंशब्राह्मणम् ॥ ६ ॥

इति श्रीमद्गोविन्दभगवत्पूज्यपादशिष्यस्य परमहंसपरिव्राजका-

चार्यस्य श्रीशङ्करभगवतः कृतौ बृहदारण्यकोपनिषद्भाष्ये

चतुर्थोऽध्यायः ॥ ४ ॥

इति बृहदारण्यकोपनिषद्भाष्यटीकायां चतुर्थाध्यायस्य

षष्ठं वंशब्राह्मणम् ॥ ६ ॥

इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यश्रीमच्छुद्धानन्दभगवत्पूज्यपादशिष्यश्री-

मद्भगवदानन्दज्ञानविरचितायां श्रीमद्बृहदारण्यकोपनिषद्भाष्य-

टीकायां चतुर्थोऽध्यायः ॥ ४ ॥

इस प्रकार डॉ उमेशानन्द शास्त्री कृत बृहदारण्यकोपनिषत् के चतुर्थाध्यायस्थ

शाङ्करभाष्य की 'कुमुदतोषिणी' टीका सम्पन्न हुई ॥ ४ ॥

---

[1] परमेष्ठी विराड् ब्रह्मणो हिरण्यगर्भादिभ्यो प्राप्त । ब्रह्मणश्च स्वयंप्रतिभातवेदत्वात्तत आचार्यपरम्परा नास्ति । यत्पुनर्ब्रह्म वेदाख्यं तत्स्वयंभु नित्यं परस्यैव वेदरूपेणावस्थानादित्यर्थः ।



अथ पञ्चमोऽध्यायः ।

ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात्पूर्णमुदच्यते ॥ पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते ॥ ॐ खं ब्रह्म खं पुराणं

आकाश ब्रह्म ओंकार रूप है (यहाँ ख शब्द से भौतिक आकाश नही समझना चाहिए)। अत आकाश परमात्मस्वरूप है। जिसमे वायु रहता है, वह ही ख है, ऐसा कौरव्यायणी पुत्र ने कहा है

---

*पूर्णमद इत्यादि खिलकाण्डमारभ्यते । अध्यायचतुष्टयेन यदेव साक्षादपरोक्षाद्ब्रह्म य आत्मा सर्वान्तरो निरुपाधिकोऽशनायाद्यतीतो नेति नेतीति व्यपदेश्यो निर्धारितो यद्विज्ञानं केवलममृतत्वसाधनमधुना तस्यैवाऽऽत्मनः सोपाधिकस्य शब्दार्थ-

---

पूर्वस्मिन्नध्याये 'ब्रह्मात्मज्ञानं 'सफल साङ्गोपाङ्ग' 'वादन्यायेनोक्तमिदानीं 'काण्डान्तरमवतारयति—पूर्णमिति । पूर्वाध्यायेष्वेव सर्वस्य वक्तव्यस्य समाप्तत्वा'दलं खिलकाण्डारम्भेणेत्याशङ्क्य पूर्वत्रानुक्तं परिशिष्टं वस्तु खिलशब्दवाच्यमस्तीत्याह—अध्यायचतुष्टयेनेति । सर्वान्तर इत्युक्त इति शेषः । अमृतत्वसाधनं निर्धारितमिति पूर्वेण सवन्धः । शब्दार्थादीत्यादिशब्देन मानमेयादिग्रह. । दर्षा शिक्षे-

---

अब 'पूर्णमद' इत्यादि श्रुति मन्त्रो से खिलकाण्ड का आरम्भ किया जाता है। पूर्व के चार अध्यायो मे जिस साक्षात्, अपरोक्ष ब्रह्म तथा जिस आत्मा का, सर्वान्तर, निरुपाधिक, क्षुधादि-धर्मातीत, नेति-नेति द्वारा व्यपदेश्य होना बतलाया गया और जिसका ज्ञान होना ही केवल अमृतत्व का साधन है (ऐसा निर्धारित किया गया है), अब शब्दार्थादि व्यवहार-विषयता को प्राप्त उसी (वस्तुत.

---

१ "गोत्ववदनुवृत्त यत्र व्यावृत्त च खण्डवत् । अनन्यमानमानन्द पूर्णं तदभिधीयते" ॥ वा १२ ॥ २ अथ ब्रह्मण ओङ्कारावलम्बनत्वेन ध्यानमाह—ओह्व ब्रह्मेति । मन्त्र । ओङ्कार ख ब्रह्मेति ध्येय शालग्रामो विष्णुरितिवत् । मन्त्र व्याचष्टे खमित्यादि ब्राह्मणम् । पुराणं चिरन्तन ब्रह्म अथवा वायुर वायुमदाकाशम् भूतात्मकम् तदवच्छिन्न ब्रह्मोङ्कारावलम्बनम् । एव प्रतीकपक्षमुक्त्वा यथोक्तब्रह्मण ओङ्कारवाच्यमिति पक्षान्तरमाह—वेद इति । ३. वस्तुतो निरुपाधिकस्य । ४ अविद्यया । ५ वाक्यार्थज्ञानम् । ६. अमृतत्वफलसहितम् । ७ वादेति—तत्त्वबुभुत्स्वोर्वीतजयपराजयेच्छयो सब्रह्मचारिणोर्गुरुशिष्ययोर्वा प्रमाणेन तर्केण च साधनदूषणात्मा पक्षप्रतिपक्षग्रहस्तत्त्वनिर्णयावसानो वादन्यायस्तेनेत्यर्थ । ८ खिलकाण्डम् । ९. अल खिलकाण्डारम्भेणेति पूर्वत्रानुक्तस्य वक्तव्यत्वेनावशिष्टस्य खिलशब्दवाच्यत्वादिति भाव ।

---

* पूर्णमद इत्यादि । अत्राहुर्वार्तिककारपादास्तथाहि—"कार्यकारणसबन्धव्याजमाश्रित्य तत्परम् । व्याख्यात यत्नत पूर्वमात्मज्ञानप्रसिद्धये ॥ चरितार्थत्वतस्तस्य कार्यकारणवस्तुन. । निषेधायेयमुक्ति स्यात्पूर्णमित्येवमादिना ॥ न व्यावृत्तमिद सर्वं परावप्रत्ययमानगम् । नानुवृत्त तथैवैतदप्यभावैकनिष्ठितम् ॥ अव्यावृत्ताननु-

वायुरं खमिति ह स्माऽऽह कौरव्यायणीपुत्रो वेदोऽयं ब्राह्मणा विदुर्वेदैनेन यद्वेदितव्यम् ॥

इति बृहदारण्यकोपनिषदि पञ्चमाध्यायस्य प्रथमं ब्राह्मणम् ॥ १ ॥

अर्थात् ख शब्द का मुख्य अर्थ भूताकाश ही होता है। ब्रह्माकाश तो गौण अर्थ है। यह ओंकार, वेद, यानी नाम है, इसी से वेदितव्य वस्तु ब्रह्म का प्रकाश होता है। ऐसा ब्राह्मण जानते हैं, क्योंकि जो वस्तु वेदितव्य है, उसका इसी ओंकार से बोध होता है ॥ १ ॥

॥ इति प्रथम ब्राह्मणम् ॥

विध्यवहार[1]विषयापन्नस्य पुरस्तादनुक्तान्युपासनानि [2]कर्मभिरविरुद्धानि प्रकृष्टाभ्युदय-साधनानि [3]क्रममुक्तिभाञ्जि च यानि तानि वक्तव्यानीति परः संदर्भः [4]सर्वोपासनशेषत्वे-[5]नोंकारो दम दान दयामित्येतानि च विधित्सितानि। पूर्णमदः पूर्णं न कुतश्चिद्व्यावृत्तं व्यापीत्येतद्। [6]निष्ठा च कर्तरि द्रष्टव्या। अद इति [7]परोक्षाभिधायि सर्वनाम तत्परं

विरयुक्तानीति शेष। ॐकारादि यत्र साधनत्वेन विधित्सित तत्पूर्वोक्तमंत्रव्याख्यानमनुवदति—पूर्णमिति।

निरुपाधिक किन्तु अविद्या द्वारा) सोपाधिक आत्मा की उन (त्रिविध) उपासनाओं का जो पहले वर्णन नहीं की गई है, जो कर्म की समृद्धि के लिए है, प्रकृष्ट अभ्युदय की साधन तथा क्रममुक्ति की प्रापिका है उनको वर्णन किया जाना है, इसलिए आगे का सन्दर्भ है। अथवा सर्वोपासना का शेषत्व ओङ्कार, दम, दान, और दया इनका विधान करना इष्ट है। 'पूर्णमदः' इस वाक्य में 'पूर्णम्' पद का अर्थ व्यापक है अर्थात् जो कहीं से व्यावृत न हो। यहाँ 'निष्ठा' प्रत्यय कर्ता अर्थ में समझना चाहिए।

---

१ ओङ्कार। २ विषयतामापन्नस्य। ३ उपासनानि त्रेधा विभजते—कर्मभिरित्यादिना। कर्म-समृद्ध्यर्थानीति यावत्। ४ क्रममुक्तिकराणि। ५ ओङ्कारादीना विधित्सितत्वे हेतुमाह—सर्वोपासनेति। ६ वक्तव्यमर्थान्तरमाह—ओङ्कार इति। ७ निष्ठा चेति—'रदाभ्यां निष्ठातो नः पूर्वस्य च दः' इति सूत्रे 'पूरी' आप्यायने इति दैवादिकस्य चौरादिकस्य च धातोरिड्भावेन पूर्णेति निष्ठान्त निपात्यते णिच तस्य आप्यायन च वृद्धिरिति तदर्थे स्वार्थणिजन्तत्वेनाकर्मकस्य चौरादिकस्यात्र रूपं ग्राह्य गत्यर्थाकर्मकेति सूत्रानुसारेण तत्र कर्तरि निष्ठाऽविरोधात्। दैवादिकात्तु प्रेरणाणिचि सकर्मकत्वेन तदसम्भवात् न तद्ग्रह पृधातोस्तु निष्ठया पूर्तं इत्येव भवति 'न ध्याख्यापृमूर्छिमदामिति निष्ठानत्वनिषेधात्। तथा च पूरयति निरतिशय वर्धत इति पूर्णमिति व्युत्पत्ति। कर्मणि निष्ठायां त्वन्येन वर्धितमित्यनिष्ट प्रसज्यत इति कर्तरि निष्ठाऽऽस्तेति ध्येयम्। ८ कार्यानुमेयमिति यावत्।

गतमात्मप्रत्ययमीरितम्। यस्मात्पूर्णमिद साक्षात्तादात्म्य तेन वर्ण्यते ॥ अज्ञातमिथ्याविज्ञाततत्त्वमात्रैकनिष्ठितम्। सम्यग्ज्ञान यतस्तस्मात्पूर्ण तज्ज्ञेयमुच्यते" ॥ ७-११ ॥ इति। काण्डारम्भमुक्त्वा पूर्णवाक्यस्य वृत्तमनूद्य तात्पर्यमाह—कार्येति। मिथ्याभूत कार्यकारणसम्बन्धमाश्रित्य तात्पर्येण ब्रह्मव्याख्यानस्य फलमाह—आत्मेति ॥ सत्यात्मज्ञाने कार्यादिस्तादर्थ्येन कल्पितस्य कृतफलतया पुनरनुपयोगात्तन्निषेधार्थं पूर्णवाक्यमित्याह—चरितार्थत्वत

ब्रह्मेत्यर्थः । 'तत्संपूर्णमाकाशवद्व्यापि निरन्तरं निरुपाधिकं च । 'तदेवेदं सोपाधिकं 'नामरूपस्थं 'व्यवहारापन्नं पूर्णं 'स्वेन रूपेण परमात्मना व्याप्येव नोपाधिपरिच्छिन्नेन विशेषात्मना । तदिदं विशेषापन्नं 'कार्यात्मकं ब्रह्म पूर्णात्कारणात्मन उदच्यत उद्रिच्यत 'उद्गच्छतीत्येतत् । यद्यपि कार्यात्मनोद्रिच्यते तथाऽपि यत्स्वरूपं पूर्णत्वं 'परमात्मभावं तन्न' जहाति पूर्णमेवोद्रिच्यते । पूर्णस्य कार्यात्मनो ब्रह्मणः पूर्णं पूर्णत्वमादाय

अवयवार्थमुक्त्वा समुदायार्थमाह— तत्सपूर्णमिति । अदः पूर्णमित्यनेन लक्ष्य तत्पदार्थं दर्शयित्वा त्वंपदार्थं दर्शयति—तदेवेति । कथं सोपाधिकस्य पूर्णत्वमित्याशङ्क्याऽऽह—स्वेनेति । "व्यावर्त्यमाह—नोपाधीति । "न वयमुपहितेन "विशिष्टेन रूपेण पूर्णतां वर्णयामः किंतु केवलेन स्वरूपेणेत्यर्थः । लक्ष्यौ तत्त्वंपदार्थावुक्त्वा तावेव वाच्यौ कथयति—तदिदमिति । कथं कार्यात्मनोद्रिच्यमानस्य पूर्णत्वमित्याशङ्क्याऽऽह—यद्यपीति । लक्ष्यपदार्थैक्यज्ञानफलमुपन्यस्यति— पूर्णस्येति ।

"अद" यह कार्यानुमेय सर्वनाम है । इसका अर्थ वह परब्रह्म है । ब्रह्म सम्पूर्ण है अर्थात् आकाश के समान व्यापक, निरन्तर और निरुपाधिक है । "इदम्" अर्थात् (उक्त तत्पदलक्ष्य) वही यह नामरूपादि उपाधि-विशिष्ट शब्द-प्रत्ययगोचर "पूर्णम्" अर्थात् सोपाधिक पूर्ण है, अपने निरुपाधिक परमात्म स्वरूप से व्यापक है, उपाधि परिच्छिन्न विशेष रूप से व्यापक नहीं है । वही यह विशेषता को आपन्न (त्वंपद-वाच्य) कार्यात्मक ब्रह्म "पूर्णात्" अर्थात् (तत्पदवाच्य) कारण ब्रह्म से "उदच्यते" अर्थात् उद्भव होता है यानी उत्पन्न होता है । यद्यपि यह कार्यरूप से उत्पन्न होता है; तथापि जो भी इसका परमात्म-

१ ब्रह्म । २. उक्त तत्पदलक्ष्यम् । ३ सोपाधिकत्वमेव विशदयति—नामेति । नामाद्युपाधिविशिष्टमित्यर्थः । ४. शब्दप्रत्ययगोचर । ५. निरुपाधिकेन । ६ त्वंपदवाच्यम् । ७. तत्पदवाच्यात् । ८. उद्गच्छति—उत्पद्यते घटाकाशो महाकाशादिवेत्यर्थः । ९ परमात्मभावं तन्न जहातीति—परमात्मभावात्मकं तत्पूर्णत्वं न जहातीत्यर्थः । १० (पूर्ण)स्वभावत्यागायोगात् । ११. स्वेनेत्यादिविशेषणव्यावर्त्यम् । १२ नोपाधिपरिच्छिन्नेनेति भाष्यार्थमाह—न वयमुपहितेनेति । १३ विशेषात्मनेत्येतद्व्याचष्टे—विशिष्टेनेति । विलक्षणेनेत्यर्थः ।

इति ।। ननु कार्यादि ब्रह्मणि निषिद्धमिह निषिद्धघटवदन्यत्रास्तीति चेद्ब्रह्मणो न पूर्णता तस्य ब्रह्ममात्रत्वेऽपि स एव दोषः परिच्छिन्नाभिन्नस्य पूर्णत्वायोगात्तच्चेत्तुच्छमध्यक्षादिविरोध स्यादित्याशङ्क्याऽन्यत्रास्तित्वकृत दोष तावन्निरस्यति—नेत्यादिना । न हीदं ब्रह्मणोऽन्यत्रास्ति भेदस्य दुर्निरूपत्वान्न च ततोऽर्थान्तरं स्वतः परतश्च सिध्यति जडत्वाच्चिदसंबन्धाच्चेत्यर्थं । अभेदप्रयुक्तदोषं प्रत्याह—परागिति । न हीदं प्रत्यगभिन्नं पराक्त्वेन भानादित्यर्थं । जडाजडयोर्भेदायोगाच्च न ब्रह्माभिन्नं तदित्याह—नेति । यथैतन्न व्यावृत्तं तथैवानुवृत्तमपि न भवतीत्यर्थं । तुच्छत्वनिमित्तदोषं निराह—नापीति । अपरोक्षप्रतीतेरर्थक्रियादृष्टेश्चेत्यर्थं ।। अन्वयव्यतिरेकाभावैर्जगतो दुर्निरूपत्वे फलितमाह—अव्यावृत्तेति । यस्मादिदं जगदन्वयादित्यागेनाद्वयं स्वप्रकाशं ब्रह्मैव तस्मात्पूर्णस्येत्यादिवाक्येन यदैक्यं स्फुटमुच्यते तद्युक्तमित्यर्थः ।। ननु प्रत्यग्ब्रह्म ज्ञायते न वा न चेन्न पूर्णतानिश्चयो ज्ञायते चेज्ज्ञानस्य पृथग्भावान्न पूर्णत्वं तत्राऽऽह—अज्ञातेति । सर्वकल्पनाधिष्ठानतया तत्स्वरूपं ब्रह्म सम्यग्ज्ञानस्य विषयस्तस्य च वाक्यीयधीवृत्तिरूपस्य कार्यान्तर्भावाद्ब्रह्मैव यतो रूपमतोऽस्य युक्ता पूर्णतेत्यर्थः ।।

गृहीत्वाऽऽत्मस्वरूपैकरसत्वमापाद्य विद्ययाऽविद्याकृतं [1]भूतमात्रोपाधिसंसर्गजम[2]न्यत्वावभासं तिरस्कृत्य पूर्णमेवानन्तरमबाह्यं प्रज्ञानघनैकरसस्वभावं केवलं ब्रह्मावशिष्यते ।

यदुक्तं [3]'ब्रह्म वा इदमग्र आसीत्तदात्मानमेवावेदहं ब्रह्मास्मीति तस्मात्तत्सर्वमभवदिति[4]' [5]एषोऽस्य मन्त्रस्यार्थः । [6]तत्र ब्रह्मेत्यस्यार्थः पूर्णमद इति । इदं पूर्णमिति ब्रह्म वा इदमग्र आसीदित्यस्यार्थः । तथा च श्रुत्यन्तरम्—[7]"यदेवेह तदमुत्र यदमुत्र तदन्विह" इति । [8]अतोऽदःशब्दवाच्यं पूर्णं ब्रह्म तदेवेदं पूर्णं कार्यस्थं नामरूपोपाधिसंयुक्तमविद्ययोद्रिक्तम् । तस्मादेव परमार्थस्वरूपादन्यदिव प्रत्यवभासमानम् । [9]तद्यदात्मानमेव परं पूर्णं ब्रह्म

उपक्रमोपसंहारयोरैकरूप्यमैक्ये श्रुतितात्पर्यलिङ्गं सनिरुते—यदुक्तमिति । कथं पूर्णकण्डिकाया ब्रह्मकण्डिकया सहैकार्थत्वेनैकवाक्यत्वमित्याशङ्क्य तद्व्युत्पादयति—तत्रेत्यादिना । उपक्रमोपसंहारसिद्धे ब्रह्मात्मैक्ये कठश्रुतिं संवादयति—तथा चेति । ब्रह्मात्मनोरैक्यमुक्तमुपजीव्य वाक्यार्थमाह—अत इति । पूर्णं यद्ब्रह्मेति यच्छब्दो द्रष्टव्यः । उक्तमेव व्यनक्ति—तस्मादेवेति । संसारावस्थां दर्शयित्वा मोक्षावस्थां दर्शयति—तद्यदात्मानमिति । उक्ते विद्याफले वाक्योपक्रममनुकूलयति—तथा

भावात्मक तत्पूर्णत्व है, उसे नहीं छोड़ता अर्थात् पूर्ण ही उत्पन्न होता है। "पूर्णस्य" अर्थात् कार्यात्मक ब्रह्म की "पूर्णम्" अर्थात् पूर्णता को ग्रहण कर, आत्मस्वरूप एकरसता को प्राप्त कर, विद्या के द्वारा अविद्याकृत कार्यकारण-संघात उपाधि के संसर्ग से होने वाले भेद प्रत्यय को तिरस्कृत कर "पूर्णमेव" अर्थात् अन्तरबाह्य-रहित, प्रज्ञानघन, एकरसस्वभाव केवल ब्रह्म ही शेष रह जाता है।

जो पहले श्रुति में यह कहा गया है—'(परब्रह्म की सर्वभावापत्ति विद्या सापेक्ष न होने से) सृष्टि के पूर्व में हिरण्यगर्भ ही था, उसने केवल आत्मा को ही जाना, उससे उसे सर्वभाव की प्राप्ति हो गयी है' यही (पदार्थज्ञान-पुरःसर लक्ष्यार्थ की ऐक्यापत्ति रूप) इस मन्त्र का अर्थ है। वहाँ (ब्रह्मकण्डिका में) 'ब्रह्म' इस पद का अर्थ है "पूर्णमदः" और "इदं पूर्णम्" यह (ब्रह्म वा इदमग्र आसीत्) 'सृष्टि के प्रारम्भ केवल हिरण्यगर्भात्मक ब्रह्म था' इस श्रुति वाक्य का अर्थ है। ऐसी ही एक दूसरी श्रुति भी है 'जो चैतन्य वस्तु जीव उपाधि में सर्वबुद्धि की साक्षी रूप से रहती है, वही यहाँ ईश की उपाधि अज्ञान में रहती है और जो यहाँ रहती है, वही वहाँ रहती है'। इसलिए (ब्रह्मात्मैक्य उक्त होने से) जो 'अदः' शब्द वाच्य पूर्ण ब्रह्म है, वही "इदं पूर्णम्" अर्थात् कार्यरूप में स्थित नामरूपादि उपाधि विशिष्ट अविद्या में उत्पन्न है। इसलिए परमात्म स्वरूप से अन्य के समान प्रत्यवभासित

---

१ भूतमात्रा—कार्यकरणसंघात । २ भेदप्रत्ययम् । ३ अग्रे प्रबोधात्प्रागपि इदं शरीरस्थं प्रमात्रादिसाक्षिभूतं त्वंपदलक्ष्यं ब्रह्मैवासीत् । ४ बृ उ १ ४ १० । ५ एष इति । तदुक्तं वार्तिके—"ब्रह्म वा इदमित्यादि मधुकाण्डे यदीरितम् । तदेव पूर्णमित्यादिवाक्येनेहोपसंहृतमिति" ॥ १७ ॥ एष इति—ब्रह्मकण्डिकोक्तः पदार्थज्ञानपुरःसरं मदर्थयोरैक्यापत्तिरूप इत्यर्थः । ६ तत्र ब्रह्मेत्यादि—तत्र ब्रह्मकण्डिकायां ब्रह्मेति पूर्णमद इत्यस्यार्थ इत्यवयोजयन्ति । वस्तुतस्तूभयोरेकवाक्यत्वेन यथाश्रुतेऽपि नानुपपत्तिरिति ध्येयम् । ७ यदेवेहेति—यच्चैतन्यवस्तु जीवोपाधौ सर्वबुद्धिसाक्षितया वर्तते तदेवामुत्रेशोपाधावज्ञान इत्यर्थः । ८. ब्रह्मकण्डिकायां ब्रह्मात्मनोरैक्यस्योक्तत्वात् । ९. तदात्मानमिति पाठः । १०. तृतीयाध्याये ।

विदित्वाऽहमदः पूर्णं ब्रह्मास्मीत्येवं पूर्णमादाय तिरस्कृत्यापूर्णस्वरूपतामविद्याकृतां [1]नाम-रूपोपाधिसंपर्कजामेतया ब्रह्मविद्यया *पूर्णमेव केवलमवशिष्यते। तथा चोक्तम् "तस्मात्तत्सर्वमभवत्" इति।

यः सर्वोपनिषदर्थो [2]ब्रह्म स एवोऽनेन मन्त्रेणानूद्यत उत्तरसंबन्धार्थम्। ब्रह्मविद्या-

---

चोक्तमिति।

न केवलं ब्रह्मकण्डिकयैवास्य मन्त्रस्यैकवाक्यत्वं किंतु सर्वाभिरुपनिषद्भिरित्याह—य सर्वोपनिषदर्थ इति। अनुवादफलमाह—उत्तरेति। तदेव स्फुटयति—ब्रह्मविद्येति। तस्माद्युक्तो ब्रह्मणो-

---

होता है। तब अपने को पूर्ण परब्रह्म जानकर 'मैं ही वह पूर्ण ब्रह्म हूँ' इस प्रकार पूर्णत्व को ग्रहण कर अविद्या उपादान नाम-रूपादि निमित्त अपूर्ण स्वरूपत्व को तिरस्कृत कर ब्रह्मविद्या के द्वारा केवल पूर्ण ही अवशिष्ट रह जाता है। कहा भी है—'इससे वह सर्वभावापन्न हो गया'।

जो सभी उपनिषदो का ब्रह्मात्मैक्य रूप अर्थ है, उसका इस मन्त्र मे उत्तर ग्रन्थ से सबन्ध दिखाने के लिये अनुवाद किया जाता है। तथा जो खिलप्रकरण पठित होने से सामानाधिकरण्य से,

---

१ अविद्योपादानिका नामादिनिमित्तिकाम्। २ ब्रह्मात्मैक्यमित्यर्थं। ब्रह्मशब्दरहितोऽपि क्वचित्पाठ।

---

* पूर्णमेव केवलमवशिष्यत इति। अत्राहुर्वार्तिककाचार्यास्तथाहि—"क्षेत्रज्ञेश्वरभेदेन ह्यभिन्न वस्त्वविद्यया। भिन्न बोधात्तमोध्वस्तौ नेतीत्यस्मादवशिष्यते॥ न भेदो न च ससर्गो नाप्यभावोऽवसीयते। तन्मूलाज्ञानविध्वस्तेर्यथोक्तागममानत॥ जगज्ञानमनादाय तद्भुत्यै सगति स्रज। नैव सभाव्यते यद्वत्तथेहाऽऽत्मनि बीक्ष्यताम्॥ कार्यकारणयोर्ध्वस्तावपूर्वाद्युतिबोधत। आत्मप्रत्ययमागम्य स्वार्थं आत्माऽवशिष्यते॥ यावदस्य हृये रूपमात्मनैवावगम्यते। तावदेव हृताध्यस्य तदन्यानवशेषत॥ यदेवेहेति च तथा मन्त्रोऽप्युच्चैर्जगाद न। अन्यदेवेति च श्रुति कार्येतरनिषेधिनी॥ आत्मेतिदृष्टेर्मैयस्व स्वार्थाश्रगलितोऽपरम्। नान्यदुन्महते बोद्धुमिति पूर्वमवादिषम्"॥ २१ २७॥ इति। कथ तयोरैक्यधीर्भेदधीविरोधादित्याशङ्क्याऽऽह—क्षेत्रज्ञेति। वस्तुत श्रुतिस्मृतियुक्तिप्रसिद्धेरभिन्नमपि वस्तु जीवेश्वरजगद्भेदेनाविद्यया भिन्न प्रतिभाति ततश्च विद्ययाऽविद्याविध्वसे निर्विशेषमेकमेवाऽऽत्मरूप सिध्यतीत्यर्थं॥ निर्विशेषमात्मतत्त्वमवशिष्टमित्यश्लिष्ट भेदो वा ससर्गो वाऽन्यापोहो वा वाक्यार्थं इति स्थितरित्याशङ्क्याऽऽह—नेत्यादिना। तत्र हेतु—तन्मूलेति॥ वाक्योत्थज्ञानाद्भेदादिमूलाज्ञानाध्वसेऽपि तु सगतिरात्मनि स्वाभाविकी किं न स्यादित्याशङ्क्याऽऽह—स्रगिति। बोद्धव्यतामज्ञानोत्थैर्भेदादिभि संगतिरज्ञानकृतैवेति शेष॥ अज्ञानादात्मनि भेदादिसबन्धेऽपि कथ तस्यैकरस्यमित्याशङ्क्याऽऽह—कार्येति। सकार्याविद्याध्वस्तावात्मा स्वरूपेणैव शिष्यते चेत्पूर्वकमन्यादृशतया सविशेषतेत्याशङ्क्याऽऽह—यावदिति। देहादौ साक्षित्वलक्षण यद्रूपमविद्यादशायामस्य स्वरूपेणानुभूत तदेव विद्यावस्थायां ध्वस्ताविद्यस्याऽऽत्मनो रूप तद्ध्वस्तावन्यस्यानवशेषादतो युक्तमैकरस्यमित्यर्थः॥ तत्र श्रुति प्रमाणयति—यदेवेति। तदमुत्र यदमुत्र तदन्विहेति शेषसग्रहश्चार्थं। तथेत्यैक्योक्ति। अकार्यकारण तत्त्वमित्यत्रापि श्रुतिमाह—अन्यदिति॥ आत्मनि ज्ञाते सर्वं ज्ञात भवतीत्यात्मज्ञानेन सर्वस्य ज्ञेयत्वोपगमात्तन्निषेधश्रुति श्रुत्यन्तरविरुद्धेत्याशङ्क्याऽऽह—आत्मेति। तद्दृष्टिस्तावज्ञानात्मान गोचरयत्यात्मदृष्टित्वव्याघाताच्च यानात्मा यद्विषयस्तस्य विरोधादात्मज्ञानेन सर्वज्ञानश्रुतिस्तु तदितरसर्वाभावात्तस्मात्कार्येतरनिषधसिद्धिरित्यर्थं॥

साधनत्वेन हि वक्ष्यमाणानि साधनान्योंकारदमदानदयाख्यानि विधित्सितानि 'खिल-प्रकरणसंबन्धात्सर्वोपासनाङ्गभूतानि च।

※अत्रैके वर्णयन्ति—पूर्णात्कारणात्पूर्णं कार्यमुद्रिच्यते। उद्रिक्तं कार्यं वर्तमान-कालेऽपि पूर्णमेव परमार्थवस्तुभूतं द्वैतरूपेण। पुनः प्रलयकाले पूर्णस्य कार्यस्य पूर्ण-

---

ऽनुवाद इति शेषः। कथं 'तर्हि सर्वोपासनशेषत्वेन विधित्सितत्वमोंकारादीनाम्'त्यत आह—खिलेति।

अद्वितीयं ब्रह्मेत्युत्सर्गप्रवृत्तं शास्त्रं प्रलयावस्थब्रह्मविषयं सृष्टिशास्त्रं तु विशेषप्रवृत्तं तस्या-पवादस्ततो द्वैताद्वैतरूपं ब्रह्म सर्वोपनिषदर्थस्तदेव ब्रह्मानेन मन्त्रेण संक्षिप्यत इति मतं प्रपञ्चपक्षमुत्था-पयति—अत्रेत्यादिना। कार्यकारणयोरुत्पत्तिकाले पूर्णत्वमुक्त्वा स्थितिकालेऽपि तदाह—उद्रिक्त-मिति। प्रलयकालेऽपि तयोः पूर्णत्वं दर्शयति—पुनरिति। कालभेदेन कार्यकारणयोरुक्ता पूर्णता निग-

---

समस्त उपासनाओं के अङ्गभूत हैं, उन वक्ष्यमाण ओंकार, दम, दान, दयासंज्ञक साधनों का ब्रह्मविद्या के साधन रूप से विधान करना अभीष्ट है।

यहाँ (द्वैताद्वैत मत वाले भर्तृप्रपञ्चादि) कुछ विचारक ऐसा कहते हैं कि पूर्ण कारण से पूर्ण कार्य होता है। उत्पन्न हुआ कार्य वर्तमान काल में परमार्थ-वस्तुभूत द्वैतरूप से पूर्ण ही है। पुनः प्रलय-काल में पूर्ण कार्य की पूर्णता को लेकर अर्थात् आत्मा में धारण कर कारणरूप पूर्ण ही रह

---

१ एकप्रकरणपठितत्वेन सामानाधिकरण्यात् साहचर्यादिति यावत्। २. तर्हि—ओङ्कारादीनां ब्रह्मविद्या-साधनत्वेन विधित्सितत्वाभ्युपगमे। ३. ११२६पृष्ठभाष्ये द्रष्टव्यम्।

※अत्रैके वर्णयन्तीत्यारभ्य तदसदित्यन्तं प्राक्तनपूर्वपक्षभाष्यतात्पर्याविष्करणपराणि वार्तिकान्युपन्यस्यन्ते—"एवं यथोदिते त्वर्थे प्रमाणार्थेऽव्यवस्थिते। अन्यथेदं वचः केचिद्व्याचख्युरतिनैपुणात्॥ पूर्णमित्यादिवाक्यस्य पश्चात्स्यवचसा सह। वक्तुकामो हि सम्बन्धमेवं यत्नाद्वचीकृपत्॥ द्वैताद्वैतात्मकं ब्रह्म मैत्रेय्यै वर्णितं किल। यत्र हि द्वैतमित्युक्त्या यत्र त्वस्येति चाऽऽदरात्॥ यद्यद्वैतं परं ब्रह्म तत्र स्यात्परमार्थतः। कल्पितं प्रसजेद्द्वैतं तोयबुद्धिरिवोषरे॥ मृषात्वाद्भेदजातस्य सर्गस्थित्याद्यसंभवात्। सर्गस्थितिलयानां स्यादन्वाख्यानं मृषैव तु॥ श्रवणप्रतिपत्ती च व्यर्थे स्यातां तथाऽद्वये। अथ स्वेनैव रूपेण द्वैतमस्तीति मन्यते॥ अन्वाख्यानं सतामेव सर्गादीनां तथा भवेत्। तथाऽप्यद्वैतसंसृष्टेर्मृषात्वं स्याद्विरोधतः॥ परिकल्पिततादोष एवमत्र प्रसज्यते। तद्दोषापनुनुत्सार्थं पूर्णमित्यादिका श्रुतिः॥ न कश्चिदपि दोषोऽत्र यथा तदभिधीयते। स्वानुभूत्यनुसारेण सर्वं सृष्टं भवेदतः॥ अदः परोक्षमत्यन्तं कारणं पूर्णमुच्यते। व्योमवद्व्यापि सद्ब्रह्म सर्वतोऽनवखण्डितम्॥ ब्रह्मणो मा-इयावस्था सैव तावदिहोदिता। एवं चेदद्वयं ब्रह्म द्वैतावस्था न सिध्यति॥ इतिदोषनिषेधार्थमिदं पूर्णमितीर्यते। यथोक्तावस्थयोर्मा भून्मृषात्वं ब्रह्मणः सदा॥ पूर्णब्रह्मपरिज्ञानाव्यतिरेकत्वहेतुतः। अदोवत्कार्यमप्येतत्पूर्णमेवावसीयताम्॥ पूर्णेनाभेदतः कार्यं पूर्णं स्यान्न मृषा श्रुतेः॥ यद्यतो नातिरेकेण तत्तदेवेति निश्चितिः॥ एवं तर्ह्येकरूपेऽस्मिंस्तत्त्वे सत्ये समर्थिते। तत्र सर्गाद्यभावः स्यादेकरूपतया स्थिते॥ नैवं यतः श्रुतिः प्राह पूर्णात्पूर्णमुदच्यते। पूर्णात्कारणतः पूर्णं द्वैतमेतदुच्यते॥ यस्मादुद्रिच्यमानं हि द्वैतं नैवातिरिच्यते। तदेवोद्रेचनं चेत्स्याद्द्वैतस्येति मतं यदि॥ नैतदेव कुतो यस्माद्दृष्टहानं प्रसज्यते। प्रत्यक्षतो हि दृष्टोऽयं द्वैताख्यो विषयः स्फुटः॥ तथा दर्शनतः सिद्धो विधितश्चावसीयते। प्रामाण्योच्छेद एव स्याच्छ्रुतेरेव समर्थने॥ पारमार्थ्यं क्वचिच्छास्त्रं क्वचिच्चाप्यनृतात्मताम्। विदधन्मानतां जह्यात्परस्परविरोधतः॥ पूर्णत्वेनाजहद्वृत्त्या

तामादायाऽऽत्मनि धित्वा पूर्णमेवावशिष्यते कारणरूपम्। एवमुत्पत्तिस्थितिप्रलयेषु त्रिष्वपि कालेषु कार्यकारणयोः पूर्णतैव। सा चैकैव पूर्णता कार्यकारणयोर्भेदेन व्यप-

मयति—एवमिति। कार्यकारणे द्वे पूर्णे चेत्तर्हि कथमद्वैतसिद्धिरित्याशङ्क्याऽऽह—सा चेति। कथं तर्हि द्वयोरुक्तं पूर्णत्वं तदाह—कार्यकारणयोरिति। एका पूर्णता व्यपदिश्यते च द्वयोरिति स्थिते लब्ध-

जाता है। इस प्रकार उत्पत्ति-स्थिति-प्रलय रूप तीनों कालों में कार्य और कारण की पूर्णता ही है। (विभागसाधकाभाव होने से) वह एक पूर्णता ही कार्य-कारण भेद से उपपादित की जाती है। इस

१ विभागसाधकाभावात्तस्याः। २ कार्यकारणभेदतो भेदेन व्यपदेशार्हा।

त्रिष्वप्यध्वसु वर्तते। द्वैताद्वैतात्मकं ब्रह्म पूर्णत्वेनाविभागतः॥ कुतोऽविभागो मानाच्चद्वयोरप्यस्य यो। पूर्णादित्यादिवचनान्महाप्रलय आत्मनि॥ इदं च द्वैतमस्त्येव तथाऽद्वैतमेव च। पूर्णत्वादप्यजहद्वृत्त्या समुद्रोर्मिवदीक्ष्यताम्॥ अग्रे चलत्वमूर्मीणां मध्ये ईषच्चलात्मता। निष्कम्पत्वं तथा मूले समुद्रः सर्वरूपभृत्॥ यथैता यौगपद्येन वृत्तीरूर्मिभिरात्मनः। अनुभूयन्त एकत्र देवदत्तादिके तथा॥ निष्कम्पा देवदत्तस्य वृत्तिः स्यात्परमात्मना। ईषत्प्रचलिता प्राणभावेनेत्यवगम्यते॥ विराड्भावेनातितरां चण्डप्रचलितोर्मिवत्। ऊर्म्य-प्रवृत्तिस्थभावे नामरूपक्रियात्मना॥ जनिस्थितिलयेष्वेव त्रिषु कालेषु पूर्णता। कार्यकारणयोर्भेदा द्वैताद्वैतस्वभावयोः॥ सा चैकैवाविभागत्वात्कार्यकारणभेदतः। भेदेन व्यपदेशार्हा सर्वमेव समञ्जसम्॥ आविर्भाव-तिरोभावे कार्यकारणरूपिणि। समुद्रवन्नृत्यति च प्रत्ययस्य विभुः स्थितः॥ एवं द्वैतस्य सत्यत्वे कर्म-काण्डस्य मानता। अनन्तपुरुषार्थासिरिष्यते कर्मकाण्डतः॥ यदा तु कल्पितं द्वैतमद्वैतं परमार्थतः। तच्चिदन्न कर्मकाण्डस्य प्रामाण्यं विपद्यते। एकदेशस्य चामात्वे वेदस्याप्यप्रमाणता। सर्वनाशो भवेदेव सर्वाप्रामाण्यहेतुतः॥ अतो विरोधानुत्यर्थं सत्यत्वप्रतिपत्तये। कार्यकारणयोः शास्त्रं पूर्णमित्यादिनाऽवदत्॥ प्रत्यक्षादीनि मानानि भेदग्राहीणि सर्वदा। तेषां चाप्यप्रमाणत्वं प्रापदद्वैतवादिनः" ॥ २८-६२॥ इति। पूर्णवाक्यमखण्डा-द्वयप्रत्यग्ब्रह्मपरं व्याख्यातमिदानीं भर्तृप्रपञ्चव्याख्यानमुत्थापयति—एवमिति। प्रमाणं पूर्णवाक्यम्॥ कथमन्यथा व्याख्यानमित्याशङ्क्य तदर्थं परोक्तमवन्यमनूद्यति— पूर्णमित्यादीति। पूर्णवाक्यस्य यत्र हीत्यादि वाक्येन संबन्धं वक्तुमिच्छन्तोऽस्तदर्थं वक्ष्यमाणप्रकारेण विचार्य कल्पितवन्त इत्यर्थः। चतुर्थाध्यायावसानिक वाक्यप्रतीकवाक्यग्रहार्थो हिशब्दः॥ कल्पितं वाक्यार्थं दर्शयति—द्वैतेति। विलक्षणसमतिरुक्ता। मैत्रेयीब्राह्मणे भिन्नाभिन्नं ब्रह्मेति वाक्यं नास्ति चेत्तत्राऽऽह—यत्र हीति। यत्र हि द्वैतमिति द्वैतात्मकं ब्रह्मोक्त्वा यत्र त्वस्येत्यद्वैतात्मकं तदुक्तं तथा च वाक्याभ्यां भिन्नाभिन्नब्रह्मसिद्धिरित्यर्थः॥ सत्यं च वक्तुकामैस्तत्रचादिष्ट कल्पितस्तर्हि कोऽसौ संबन्ध इत्याशङ्क्य तं वक्तुमाक्षिपति—यद्यीति। तत्रेति मैत्रेयीब्राह्मणोक्तिः। यद्वैत द्वैतं वा वास्तवमिति विकल्प्याऽऽद्ये द्वैतस्य मृषात्वप्रसक्तिरित्युक्तं तत्र हेतुगर्भं दृष्टान्तमाह—तोयेति। ऊषरे तोयधीवद्द्वैतधियो भ्रमत्वादित्यर्थः॥ इष्टमेव तस्य कल्पितत्वमित्याशङ्क्य निर्विषयतया शुक्त्यादिश्रुतेर प्रामाण्यप्रसक्तिदोषमाह—मृषात्वादिति॥ तत्रैव दोषान्तरमाह—श्रवणेति। अद्वय वास्तवे सति मननादि सहितं श्रवणं तत्पूर्णतावधिरनाधेयानिशयात्मन्यफले स्याता तथा चोक्तनियमप्रामाण्यमित्यर्थः॥ द्वितीयमुत्थापयति अथेति॥ द्वैतस्य स्वरूपेण सत्त्वे फलितमाह—अन्वाख्यानमिति। सर्गादिश्रुतेर्मानत्वमङ्गीकृत्य दूषयति—तथाऽपीति। अद्वैतदृष्टेरपि द्वैतदृष्टिवत्प्रमात्वमाशङ्क्याऽऽह—विरोधत इति। नैकत्र तद्दृष्टिप्रमाणे तम प्रकाशदृष्टिवदित्यर्थः॥ पक्षद्वये दर्शितं दोषं निगमयति—परिकल्पिततेति। अत्रेति कल्पद्वयोक्तिः। मार्गेण

दिश्यते । एवं च द्वैताद्वैतात्मकमेकं ब्रह्म । यथा किल समुद्रो जलतरङ्गफेनबुद्बुदाद्यात्मक एव । यथा च जलं सत्यं तदुद्भवाश्च तरङ्गफेनबुद्बुदादयः समुद्रात्मभूता एवाऽऽविर्भावतिरोभावधर्मिणः परमार्थसत्याः । एवं सर्वमिदं द्वैतं परमार्थसत्यमेव जलतरङ्गादि-

---

मर्थमाह—एवं चेति । एकं ह्यनेकात्मकमिति विप्रतिषेधमाशङ्क्य दृष्टान्तेन निराचष्टे—यथा किलेति । एवमेकं ब्रह्मानेकात्मकमिति शेषः । ब्रह्मणो द्वैताद्वैतात्मकत्वेऽपि सत्यमद्वैतमसत्यमितरदित्याशङ्क्या-

---

प्रकार द्वैत-अद्वैतात्मक रूप एक ही ब्रह्म है । जिस प्रकार समुद्र जल, तरङ्ग, फेन, बुद्बुद इत्यादि रूप ही है । जिस प्रकार उसमें जल सत्य है, वैसे ही जल में उत्पन्न होने वाले आविर्भाव-तिरोभावधर्मी तरङ्ग, फेन, बुद्बुद आदि भी समुद्ररूप और परमार्थतः सत्य हैं । इस प्रकार यह जलतरङ्गादिस्थानीय और समुद्रजलस्थानीय सारा द्वैत परमार्थतः सत्य ही है । इस प्रकार द्वैत के सत्य हो जाने पर कर्मकाण्ड

सत्त्वेन मन्त्रमवतारयति—तद्दोषेति । शङ्कितदोषस्येष्यमाणापनोदार्थं पूर्णवाक्यमित्यर्थः ॥ कथमत्र तन्निरसनमित्याशङ्क्याऽऽह—नेति । द्वैताद्वैतयोरन्यतरस्य मृषात्वप्रयुक्तो दोषो यथा न भवति तथा द्वयोरवस्थयोर्वस्तुत्वमस्मिन्मन्त्रे कथ्यतेऽत्र स्वानुभवाद्द्वैतस्याद्वैतस्य च श्रुतिवशादिष्टत्वात्कर्मकाण्डप्रामाण्यादि सम्भवतीत्यर्थः ॥ तात्पर्यमुक्त्वा पूर्णमद इत्यस्यार्थमाह—अद इति ॥ वाक्यमुपसहरति—ब्रह्मण इति । पूर्णमिदमिति वाक्यं शङ्कापूर्वकमादत्ते—एव चेदिति ॥ द्वयोरवस्थयोर्वास्तवत्वं मन्त्रप्रकाश्यमित्युक्तं कथं निर्वहेदित्याशङ्क्याऽऽह—यथेति । तत्र हेतुः—सदेति । तयोरवस्थयोः सदा सत्त्वादित्यर्थः ॥ अद्वैतावस्था यद्यपि सदा सती वास्तवी तथाऽपि न द्वैतावस्था तथेत्याशङ्क्याऽऽह—पूर्णेति । ब्रह्मैव पूर्णं परितो व्याप्तिरूप तस्मादव्यतिरेकात्कारणवत्कार्यमपि पूर्णमेवेत्यर्थः ॥ तथाऽपि कथं वास्तवमित्याशङ्क्याऽऽह—पूर्णेनेति । तस्य पूर्णाभेदे मानमाह—श्रुतेरिति । पूर्णमिदमितिश्रवणादित्यर्थः । पूर्णात्कार्यस्याव्यतिरेकेऽपि कथं वस्तुत्वं तत्राऽऽह—यद्यत इति । अत्र घटशरावाद्युदाहरणम् ॥ पूर्णादित्यादिवाक्यस्य व्यावर्त्यां शङ्कामाह—एव तर्हीति । अवस्थाद्वयस्य सत्यत्वे कार्यकारणत्वव्यवस्थानुपपत्तिरित्यर्थः । एकरूपत्वमत्र द्वैताद्वैतात्मना द्रष्टव्यम् ॥ तदुत्तरत्वेन वाक्यमवतारयति —नैवमिति । तां व्याकरोति—पूर्णादिति ॥ अद्वैतकार्यत्वे द्वैतस्योक्ते सिद्धान्त्याशङ्कते—यस्मादिति । द्वैतस्याद्वैताद्वुद्गमनमिष्टं चेत्तर्हि तस्मादद्वैतादुद्गच्छन्न ततोऽतिरिच्यते किन्तु तत्र कल्पितं तदेव स्यान्न हि रज्जोरुद्गच्छन्नुरगस्तस्माद्भिद्यते तथा च विवर्तवादः स्यादित्यर्थः । दृष्टान्तद्योतको हिशब्दः । द्वैतस्य मिथ्यात्वानुपपत्तेर्मैवमित्येकदेशी दूषयति—नैतदिति । मिथ्यात्वासम्भवे हेतुं पृच्छति—कुत इति । एकदेशी हेतुमाह—यस्मादिति । प्रसङ्गं प्रकटयितुं स्पष्टं व्याचष्टे—प्रत्यक्षतो हीति । उत्कृष्टौ सम्प्रतिपत्त्यर्थो हिशब्दः । दृष्टत्वमिव श्रुतत्वमपि तस्यास्तीत्याह—तथेति । तथा दर्शनतः सिद्धस्तथा विधितश्चेति योजना । द्वैतस्य रज्जुसर्पवन्मिथ्यात्वोक्तौ न दृष्टत्वहानिरेव किन्तु कर्मश्रुतेर्विषयाभावादप्रामाण्यं च स्यादिति फलितमाह—प्रामाण्येति ॥ तदप्रामाण्येऽपि का हानिर्ब्रह्मात्मवादिनामित्याशङ्क्य ज्ञानकाण्डस्यापि तत्प्रसक्तेर्मैवमित्याह—पारमार्थ्यमिति । अद्वैतविषय प्रश्नः क्वचिच्छन्द ॥ श्रुतावष्टम्भेनाद्वैतवद्द्वैतमपि पारमार्थिकमिति समर्थितमिदानीं तत्रैव हेत्वन्तरमाह—पूर्णत्वेनेति । ब्रह्म द्वैताद्वैतात्मकमुत्पत्तिस्थितिलयकालेषु त्रिष्वपि वर्तते पूर्णत्वेनावस्थाद्वयमपरित्यज्यैव सदावस्थानादन्यतरावस्थानत्यागे पूर्णत्वायोगात्तस्मात्तेन वस्तुरूपेणावस्थयोरविभागात्तयोरस्ति वास्तवत्वमित्यर्थः ॥ अवस्थाद्वयस्य वस्तुरूपेणाविभागे मानं पृच्छति—कुत इति । परिहरति—पूर्णादित्यादीति । पूर्णात्पूर्णमुदच्यत इति द्वैताद्वैतयोः कार्यकारणत्वमुक्त्वा पूर्णस्येत्यादिना प्रलयावस्थायामात्मन्यवस्था-

स्थानीयं समुद्रजलस्थानीयं तु परं ब्रह्म । एवं च किल द्वैतस्य सत्यत्वे कर्मकाण्डस्य प्रामाण्यं [1]यदा पुनर्द्वैतं द्वैतमिवाविद्याकृतं मृगतृष्णिकावदनृतमद्वैतमेव परमार्थतस्तदा किल कर्मकाण्डं विषयाभावादप्रमाणं भवति । तथा च विरोध एव स्यात् । वेदैकदेशभूतोपनिषत्प्रमाणं परमार्थाद्वैतवस्तुप्रतिपादकत्वात्प्रमाण कर्मकाण्डमसद्द्वैतविषयत्वात् । तद्विरोध-

ऽऽह—यथा चेत्यादिना । द्वैतस्य परमार्थसत्यत्वे कर्मकाण्डश्रुतिमनुकूलयति—एव चेति । विपक्षे दोषमाह—यदा पुनरिति । अस्तु कर्मकाण्डाप्रामाण्यं नेत्याह—तथा चेति । विरोधोऽध्ययन[2]विधेरिति शेषः । तमेव विरोध साधयति—वेदेति । कथं [3]तर्हि विरोधसमाधिस्तत्राऽऽह—तद्विरोधेति ।

की प्रामाणिकता सिद्ध हो जाती है । जब द्वैत केवल द्वैत सा तथा अविद्याकृत और मृगतृष्णा के समान मिथ्या है, परमार्थत अद्वैत ही सत्य है तो विषय के अभाव होने से कर्मकाण्ड अप्रामाणिक हो जाता है । ऐसा होना पर परस्पर विरोध होने लग जायगा क्योकि परमार्थ अद्वैत वस्तु का प्रतिपादन करने वाली वेद की एकदेश-भूत उपनिषदे प्रामाणिक है, किन्तु असत् द्वैतविषयक होने से कर्मकाण्ड अप्रामाणिक है । अत उस विरोध का परिहार करने की इच्छा से ही 'पूर्णमद ' इस श्रुति मन्त्र द्वारा समुद्र के

१ यदा पुनर्द्वैतमित्यादि—द्वैत परमार्थतोऽद्वैतमेव सदविद्याकृत द्वैतमिव अविद्यया द्वैतमिव भवतीत्यर्थः । परमार्थतोऽन्यात्मकस्याविद्ययाऽन्यथाभाने दृष्टान्तमाचष्टे—मृगतृष्णिकावदिति । यथा परमार्थतो मरीचिकैव सत्यविद्यया तोयवद्भाति तथैवेत्यर्थ । तदश्चानृतमिति योजना । २ प्रमाणाप्रमाणयोरध्ययनविधानात् । ३. तर्हीति—द्वैतस्य मिथ्यात्वे यथोक्तविरोधश्चेत्तर्हीत्यर्थ ।

द्वयस्याविभागेनावस्थान दर्शयता द्वैताद्द्वैतात्मकमेवाऽऽत्मवस्तु परिशिष्टमित्यर्थ. ॥ प्रलयावस्थायामद्वैतावस्थैवास्ति नेतरा लीनत्वादित्याशङ्क्याऽऽह—इद चेति । भेदेनासदपि द्वैत ब्रह्मरूपेणास्तीत्यत्र हेतुदृष्टान्तावाह—पूर्णत्वेति । यदा समुद्रात्मन्यूर्म्यादिविभागस्य जलात्मत्वेनैकरूपत्वस्य च सदा सत्त्व तथा पूर्णत्वाख्यवस्तुनोऽवस्थाद्वयमजहत सदाऽवस्थानात्तत्रावस्थाद्वय प्रलयेऽप्यासीदित्यर्थ ॥ दृष्टान्त प्रपञ्चयति—यथ इति ॥ तमनूद्य दार्ष्टान्तिकमाह—यथेति । आत्मन· समुद्रस्योर्मिद्वारा यौगपद्येनैताश्चलाचलत्वादिवृत्तयो यथाऽनुभूयन्ते तथैकत्र मैत्रादिशेमुषी युगपदेता वृत्तीरालोचयेदित्यर्थ ॥ दार्ष्टान्तिक स्पष्टयति—निष्कम्पेति । प्राणशब्द सूत्रार्थ ॥ पिण्डभावश्चतुर्विधभूतग्रामत्वम् । अत्यन्तप्रचलितादपि प्रचलितस्य व्याष्टिदेहग्रहे केनाऽऽकारेणेत्यपेक्षायामाह—नामेति ॥ अवस्थाद्वयस्य वस्तुत्वमुपसहरति—जनीति ॥ द्वैतावस्थायामन्या पूर्णताऽन्या चाद्वैतावस्थायामित्याशङ्क्याऽऽह—सा चेति । अविभागत्वाद्वस्तुत पूर्णता विभागसाधकाभावादित्यर्थः । कारण पूर्ण कार्यं पूर्णमिति भेदोक्तिस्तर्हि कथमित्याशङ्क्याऽऽह—कार्येति । द्वैतमद्वैतं च वास्तवमित्युक्त तन्निगमयति—सर्वमिति ॥ अद्वैतावस्था कारण कार्यं द्वैतावस्थयोरेव तद्भावो ब्रह्म तूभयतो बहिरेकरूपमित्याशङ्क्याऽऽह—माविर्भावेति । न हि स्वातन्त्र्यमवस्थयोरास्थातु शक्यमिति भाव ॥ द्वैतस्य सत्यत्व फलितमाह—एवमिति । किं कर्मकाण्डस्य मानत्वेनेति तदाह—अनन्त्वेति ॥ द्वैतस्य सत्यत्वे लाभमुक्त्वा तन्मिथ्यात्वे दोषमाह—यदेति ॥ तदप्रामाण्योपगमे परस्मात्ं कश्चिदित्याशिनोक्त दूषणमवतारेदित्यभिप्रेत्याऽऽह—एकदेशेति । उपनिषद्भागो वेद । सर्वनाश स्वर्गापवर्गयोरयोग ॥ उक्तदोषनिरासस्तर्हि कथमित्याशङ्क्याऽऽह—अत इति । द्वैतसत्यत्वानङ्गीकारे पूर्वोक्तदोषोऽस्त शब्दार्थ । अवदपूर्णत्वमिति शेष ॥ न केवल श्रुतरेव द्वैतस्य च विश्वस्यपादरपीत्याह—प्रत्यक्षादीनीति ॥

परिजिहीर्षया श्रुत्यैतदुक्तं ❀कार्यकारणयोः[1] सत्यत्वं समुद्रवत्पूर्णमद इत्यादिनेति ।

तदसत् । विशिष्टविषयापवादविकल्पयोरसंभवात् । न हीयं [2]सुविवक्षिता [3]कल्पना । कस्मात् । यथा क्रियाविषय [4]उत्सर्गप्राप्तस्यैकदेशेऽपवादः क्रियते । यथा [5]ऽहिंसन्सर्वभूतान्यन्यत्र

प्राप्तं भर्तृप्रपञ्चप्रस्थानं प्रत्याचष्टे—तदसदिति । विशिष्टम्[6]द्वितीयं ब्रह्म तद्विषयोत्सर्गापवादयोर्विकल्पसमुच्चययोश्चासंभव यदुक्तं प्रतिज्ञाभागं विभजते—न हीति । [7]तत्र प्रश्नपूर्वकं हेतुं विवृणोति—कस्मादित्यादिना । यथेत्यादिग्रन्थस्य न च तथेत्यादिना संबन्धः । क्रियायामुत्सर्गापवादसभावनामुदाहरति—यथेत्यादिना । तथाऽन्यत्रापि क्रियायामुत्सर्गापवादौ द्रष्टव्याविति शेषः । वैधर्म्यदृष्टान्तस्य दार्ष्टा-

समान इस कार्यकारण की सत्यता बतलायी गई है ।

(इस पर सिद्धान्ती कहता है—) यह कहना मिथ्या है, क्योंकि निर्विकल्प ब्रह्म मे विशिष्ट के विषय अपवाद और विकल्प संभव नही हैं । द्वैताद्वैतात्मक ब्रह्म की यह कल्पना कोई सुशोभना कल्पना नही है । ऐसा क्यो कहते हो ? जिस प्रकार क्रिया के विषय मे उत्सर्ग से प्राप्त (हिंसानिषेधादि) किसी

१ सत्यत्वमिति । न केवल श्रुतेरेव द्वैतसत्यत्व किंत्वध्यक्षादेरपीत्युक्त वार्तिके—"प्रत्यक्षादीनि मानानि भेदग्राहीणि सर्वदा । तेषा चाप्रमाणत्व प्रापदद्वैतवादिन" ॥ ९२ ॥ इति । २. सुशोभना । ३. द्वैताद्वैतात्मक ब्रह्मेति कल्पना । ४ हिंसानिषेधादे । ५ छा उ ८ १५ १ । ६ विशिष्टशब्दार्थमाह—अद्वितीयमिति । ७ न हीति प्रतिज्ञायाम् ।

❀ कार्यकारणयो सत्यत्वमिति फक्किकाटिप्पणे प्रत्यक्षादीनि मानानि भेदग्राहीणीत्युक्त तत्राहुर्वार्तिककृच्चरणाः—'भेदग्राहि न नो मान लौकिक वैदिक च यत् । अविचारितसंसिद्धिस्तस्माद्भेदोऽवसीयताम् ॥ नः स्वतः परतो वाऽस्य भेदो वस्तुन ईक्ष्यते । सर्वस्यैव स्वतोऽभित्तेस्तदन्यस्याप्यभेदत ॥ वस्तु वस्त्वन्तर भिन्द्याद्योगाद्वा विभागत । योगे नातिशयैकत्वात्तयोश्चाप्येकरूपत ॥ विभागेऽपि न भेद स्यात्तयोरेकात्मना स्थिते । अन्यदीयोऽपि नान्यस्य भेद स्यात्कल्पना विना ॥ मेययाथात्म्यसलेहि मान मानत्वमश्नुते । भेदं न लभते मेये मेयादन्यत्र न प्रमा ॥ सतो न व्यतिरेकेण भेदो नापि सदन्वयात् । यथैव नासतोऽप्येव भेदो नैवावसीयते ॥ सर्वं सदेव यस्येष्टमथवाऽसदिद जगत् । भेद किमाश्रयस्तस्य विरोधान्न द्वयाश्रय ॥ अन्यापेक्ष पृथक्त्वं चेत्स्वत एवापृथग्घट । बलीयानन्तरङ्गत्वाद्बहिरङ्गं प्रबाधते ॥ द्रव्याद्भिन्न पृथक्त्व चेदनवस्थैति तत्त्वरा । द्रव्यमेव पृथक्त्व चेदपृथक्त्वादिद जगत ॥ स्वतश्चेद्वस्तुनो भेदो वस्तु शून्य प्रसज्यते । आपेक्षिकोऽपि कल्पितत्वान्न भेदो रज्जुसर्पवत् ॥ इत्येवमादि बहुशो भिन्नाभिन्नत्वदूषणम् । प्रागप्युक्त तदत्रापि सधेयं वस्तुसिद्धये" ॥ ८४-९४ ॥ इति । यत्तु प्रत्यक्षादीनि भेदग्राहीणि तत्राऽऽह—भेदेति । अन्योन्याश्रयत्वादित्यर्थः । तद्वियो गतिमाह—अविचारितेति । प्रामाणिकत्वाभावस्तच्छब्दार्थं ॥ किंच स्वस्मादेव भेदोऽन्यस्माद्वा नोभयथाऽपीत्याह—नेति । वस्तुनः स्वस्माद्भेदो न प्रामाणिकोऽस्तीत्यत्र हेतुमाह—सर्वस्येति । सर्वं वस्तु स्वस्मादभिन्नमन्यथा वस्त्वभावप्रसङ्गादतो नाऽऽद्यो युक्त इत्यर्थः । परतो भेदोऽपि न प्रामाणिकोऽस्तीत्यत्र हेतुमाह—तदन्यस्येति । वस्तुनोऽन्यत्वेनेष्टस्यापि न सत्त्व भेदस्याश्चाप्यसिद्धेरतश्च द्वितीयोऽपीत्यर्थः ॥ किंच घट संबन्धद्वारा पट भिन्द्यात्स्वरूपेण स्थितो वेति विकल्पयति—वस्त्विति । नाऽऽद्य इत्याह—योग इति । घटस्य पटेन संबन्धो नासौ पट भेत्तुमर्हत्यतिशयशब्दितसंबन्धस्यैकत्वाद्घटपटयोश्च प्रत्येकमन्वयाद्भेदकान्तरस्य चाभावादित्यर्थः । अनतिशयैकत्वादिति पाठे भेदोऽतिशयस्तस्मादन्यस्तत्प्रयोजकसंबन्धोऽनतिशयस्तस्यैक्यान्न भेद. स्यादित्यर्थ. ॥ पक्षान्तर

तीर्थेभ्य इति हिंसा सर्वभूतविषयोत्सर्गेण निवारिता तीर्थे विशिष्टविषये ज्योतिष्टोमादावनुज्ञायते । न च तथा वस्तुविषय इहाद्वैतं ब्रह्मोत्सर्गेण प्रतिपाद्य पुनस्तदेकदेशेऽपवदितुं शक्यते । ब्रह्मणोऽद्वैतत्वादेवैकदेशानुपपत्तेः । तथा 'विकल्पानुपपत्तेश्च । यथाऽतिरात्रे षोडशिनं गृह्णाति नातिरात्रे षोडशिनं गृह्णातीति ग्रहणाग्रहणयोः पुरुषाधीनत्वाद्विकल्पो

न्तिकमाह—न चेति । 'विषयभेदे सत्युत्सर्गापवादौ दृष्टौ न तावदद्वितीये ब्रह्मणि संभवतः । 'न हि ब्रह्माद्वयमेव जायते लीयते चेति संभावनास्पदमिति भाव. । उत्सर्गापवादानुपपत्तिवद्ब्रह्मणि विकल्पानुपपत्तेश्च तदेकरसमेषितव्यमित्याह—तथेति । विकल्पानुपपत्तिमुपपादयति—यथेत्यादिना । सप्रति

क्रिया का किसी एक देश मे अपवाद कर दिया जाता है । जैसे 'तीर्थों को छोडकर अन्यत्र सभी प्राणियो की अहिंसा करता हुआ' इस श्रुतिवाक्य मे सामान्यत सब प्राणियो की हिंसा का जहाँ निषेध किया जाता है, वही उसकी तीर्थ यानी ज्योतिष्टोम आदि यज्ञ रूप विषय मे उसकी आज्ञा दी जाती है । इस प्रकार उस वस्तु के विषय मे यहाँ सामान्यत अद्वैत ब्रह्म का प्रतिपादन कर फिर उसके किसी एकदेश मे ब्रह्म का निषेध नही किया जा सकता । क्योकि अद्वैत ब्रह्म मे एकदेश का अभ्युपगम सभव नही है । इसके अतिरिक्त द्वैताद्वैत ब्रह्म की कल्पना करना अनुचित है । जिस प्रकार (कर्मकाण्ड मे) 'अतिरात्र याग मे षोडशी का ग्रहण करे', 'अतिरात्र याग म षोडशी का ग्रहण न करे' इस प्रकार

---

१ विकल्पेति—द्वैताद्वैतात्मक ब्रह्मेति कल्पना न युक्तेति शेष । २ विषयभेदे—अवान्तरभेदवति विषये इत्यर्थं । ३ नन्वद्वितीयेऽपि ब्रह्मण्युत्पत्त्यवच्छिन्नत्वप्रलयावच्छिन्नत्वाभ्या भविष्यत्येवावान्तरभेदो नेत्याह —न हीत्यादिना ।

प्रत्याह—विभागेऽपीति । घटपटयोरसबन्धेऽपि मिथो न भेद प्रत्यक तयोरेकत्वप्रसक्तिरित्यर्थं । पटासबन्धोऽपि घट स्वस्मिन्पटाद्भेदमावेदयतीत्याशङ्क्य स एव पटस्य भेदोऽन्यो वेति विकल्प्याऽऽद्य दूषयति—अन्यदीयोऽपीति । पटासबन्धो घटो न स्वात्मनि ततो भेदावेदक सबन्धाभाव धर्मिप्रतियोगित्यायोगादित्य रुचिरपेरर्थं ॥ द्वितीये ॥ स्वभावो धर्मो वा नाऽऽद्यो वस्त्वभावप्रसङ्गादित्यभिप्रेत्य द्वितीय निरस्यन्सामान्य न्यायमाह—मेयति । तथाऽपि प्रस्तुते कि जात तदाह—भेदमिति । मान मय विषयीकुर्वच्च तत्र भेद गोचरयति तस्य तद्धर्मत्वेन ततोऽन्यत्वान्न च मेयादन्यस्मिन्नपि भेदे प्रमाण प्रसरति मयैकविषयत्वादतो धर्मभेदोऽपि न प्रामाणिक इत्यर्थं ॥ किंच भेद सतो भिन्नोऽभिन्नो वा नाऽऽद्योऽनवस्थानात्सतो भिन्नस्यासत्त्वेन सदद्वैतापत्तेश्च द्वितीयोऽपि सदद्वैतमित्यभिप्रेत्याह—सत इति । भदस्य सतो भेदाभेदाभ्या दुर्निरूपत्ववदसतोऽपि तस्य तौ दुर्वचावित्यतिदिशति—यथेति । उक्त न्याय निगमयति—एवमिति ॥ किंच सांख्यबौद्धक्षपणकपक्षेषु भेदो न सिध्यतीत्याह—सर्वमिति । पक्षद्वयेऽपि धर्मिप्रतियोगिविशेषाभावाद्भेदकाराभावात्तृतीय च विरोधान्न भेदसिद्धिरित्यर्थं ॥ तार्किकपक्षेऽपि भेदासिद्धिरित्याह—अन्यापेक्षमिति ॥ किंच पृथक्त्व द्रव्याद्भिन्नमभिन्न वेति विकल्प्य क्रमेण दूषयति—द्रव्यादिति । अनवस्थाया मूलक्षयकरीत्व दोषत्व सूचयति—सत्वरेति ॥ स्वत परतो वा भेदो नास्तीत्युक्तमुपसहरति—स्वतस्त्वदिति ॥ अदम्यासकृन्निरस्तत्वादिह तन्निरासे पुनरुक्तिरित्याशङ्क्याऽऽह—इत्येवमादीति । आदिशब्देन गुरुशिष्यादिव्यवस्थानुपपत्तिर्गृह्यते भेदाद्व्यवस्थायामभेदात्तदभावात् । प्रागिति सबन्धग्रन्थादावित्यर्थं । इहापि भर्तृप्रपञ्चव्याख्यान पूर्वोक्तन्यायस्यानुसधानार्थमनुवादश्चेत्तदेव किमथ मिति तत्राऽऽह—वक्ष्यतीति । ब्रह्मात्मैकत्वस्य स्फुटीकरणार्थं परमतप्रत्याख्यानमित्यर्थं ॥

भवति । न त्विह तथा वस्तुविषये द्वैतं वा स्यादद्वैतं वेति विकल्पः संभवत्यपुरुषतन्त्रत्वा-दात्मवस्तुनः । विरोधाच्च द्वैताद्वैतत्वयोरेकस्य । तस्मान्न सुविचक्षितेयं कल्पना ।

श्रुतिन्यायविरोधाच्च । सैन्धवघनवत्प्रज्ञानैकरसघनं निरन्तरं पूर्वापरबाह्याभ्यन्तर-भेदविवर्जितं सबाह्याभ्यन्तरमजं नेति नेत्यस्थूलमनण्वह्रस्वमजरमभयममृतमित्येवमाद्याः श्रुतयो निश्चितार्थाः संशयविपर्यासाशङ्कारहिताः सर्वाः समुद्रे प्रक्षिप्ताः स्युरकिंचित्कर-त्वात् । तथा न्यायविरोधोऽपि सावयवस्यानेकात्मकस्य क्रियावतो नित्यत्वानुपपत्तेः । नित्यत्वं चाऽऽत्मनः स्मृत्यादिदर्शनादनुमीयते । तद्विरोधश्च प्राप्नोत्यनित्यत्वे । भवत्कल्प-

'समुच्चयासंभवमभिदधाति—विरोधाच्चेति । उत्सर्गापवादविकल्पसमुच्चयानामसंभवान्न युक्ता ब्रह्मणो नानात्मत्वकल्पनेति फलितमाह—तस्मादिति ।

परकीयकल्पनानुपपत्तौ हेत्वन्तरं प्रतिज्ञाय श्रुतिविरोधं प्रकटीकृत्य न्यायविरोधं प्रकटयति —तथेति । ब्रह्मणोऽनेकरसत्वे स्यादिति शेषः । नित्यत्वानुपपत्तेरात्मनो नित्यत्वाङ्गीकारविरोधः स्या-दित्यध्याहारः । ननु तस्य नित्यत्वं नाङ्गी क्रियते मानाभावादिति प्रासङ्गिकीमाशङ्कां प्रत्याह—नित्यत्वं चेति । स्मृत्यादिदर्शनादित्यादिशब्देन 'स एव तु कर्मानुस्मृतिशब्दविधिभ्य' इत्यधिकरणोक्ता हेतवो गृह्यन्ते । 'अनुमीयते कल्प्यते स्वी क्रियत इति यावत् । तद्विरोधश्च स्मृत्यादिदर्शनकृतात्मनित्यत्वानुमा-नविरोधश्चेत्यर्थः । आत्मनोऽनित्यत्वे दोषान्तरमाह—भवदिति । कर्मकाण्डस्य 'सत्यार्थत्व परेण

ग्रहण करना और न करना पुरुष के अधीन होने के कारण विकल्प हुआ करता है । उस प्रकार यहाँ वस्तु के विषय में 'वह द्वैत हो अथवा कभी अद्वैत हो' ऐसा विकल्प नहीं हो सकता, क्योंकि आत्मवस्तु पुरुष के अधीन नहीं है । तथा एक ही वस्तु का द्वैत और अद्वैत होना परस्पर विरुद्ध है । इसलिए यह कल्पना सुसगत नहीं है ।

इसमें श्रुति और न्याय का भी विरोध हो जाता है । 'सैन्धवघन के समान प्रज्ञानैकरसघन-स्वरूप, अकार्य, अकारण, नि सामान्य, निर्विशेष है', 'बाह्य-आभ्यन्तर युक्त और अजन्मा है', 'नेति नेति' स्वरूप है', 'अस्थूल, अनणु, अह्रस्व, अजर, अभय और अमृत है' इत्यादि श्रुतियाँ (उपासनापरक न होने से) निश्चितार्थ और सशयविपर्यास और आशङ्का से रहित हैं । उनसे कुछ कार्य न होने से उन सभी को समुद्र में फेंक देना पड़ेगा । तथा सावयव अनेक आत्माओं तथा क्रियावान् का नित्यत्व होना असभव है; इसमें न्याय में विरोध आता है । एव स्मृत्यादि के दर्शन से भी आत्मा की नित्यता का

१ कदाचित् । २ न चैतासामुपासनादि परत्वमित्याह—सशयेति । ३ आत्मन. । ४ युगपद्द्वैता-द्वैतात्मकत्वासंभवम् । ५ स एव त्विति—ब्र सू ३ २ ९ । य सुप्तो जीव. स एवोत्तिष्ठति नान्य इत्यत्र हेतव कर्मेत्यादय —दिनद्वयसाध्यकर्मणोऽर्धं कृत्वा पुनरुत्थायावशिष्टमर्धं कर्म करोति । अनुशब्देन प्रत्यभिज्ञा गृह्यते । स्मृतिशब्देन स्मरणम् । पुन प्रतिन्याय प्रतियोन्या द्रवतीत्यादिशब्द । कर्मविद्याविधयो विधि शब्दिता । ६ अनुमीयत इत्यादि– वेदान्तनये तार्किकाभिमतव्यतिरेक्यनुमानस्थलेऽर्थापत्त्यभ्युपगमादनु-मीयत इति पदं कल्प्यत इति विवृतम् । ननु त्वया कल्प्यमानमपि मया नाभ्युपगन्तव्यमिति चेत्तत्राह—स्वी क्रियत इति । प्रमाणातिक्रमे निमर्यादतापातात्त्वयाप्यभ्युपेतव्यमिति भाव । एवं च तद्विरोधश्चेत्यादावनुमान-पदमर्थापत्तिपरं तथा स्वीकारपर वा व्याख्येयमिति ध्येयम् । ७ अर्थो द्वैतम् ।

नानर्थक्यं च। स्फुटमेव [1]चास्मिन्पक्षे [2]कर्मकाण्डानर्थक्यम्। अकृताभ्यागमकृतविप्रणाश-प्रसङ्गात्।

ननु ब्रह्मणो द्वैताद्वैतात्मकत्वे समुद्रादिदृष्टान्ता विद्यन्ते कथमुच्यते भवतैकस्य द्वैताद्वैतत्वं विरुद्धमिति। न। अन्यविषयत्वात्। नित्यनिरवयववस्तुविषयं हि विरुद्धत्वमवोचाम द्वैताद्वैतत्वस्य न [3]कार्यविषये सावयवे। तस्माच्छ्रुतिस्मृतिन्यायविरोधादनुपपन्नेय कल्पना। अस्याः कल्पनाया वरमुपनिषत्परित्याग एव।

अध्येयत्वाच्च न [4]शास्त्रार्थेयं कल्पना। न हि जननमरणाद्यनर्थशतसहस्रभेदसमाकुलं

कल्पते तदानर्थक्यमात्मानित्यत्वे स्पष्टमापतेदित्युक्तमेव स्फुटयति—स्फुटमेवेति।

ब्रह्मणो [5]नानारसत्वे [6]विरोधमुक्तमसहमानः [7]स्वोक्तं स्मारयति—नन्विति। समुद्रादीनां कार्यत्वसावयवत्वाभ्यामनेकात्मकत्वमविरुद्धं ब्रह्मणस्तु नित्यत्वान्निरवयवत्वाच्च नानेकात्मकत्वं युक्तमिति वैधर्म्यमादर्शयन्नुत्तरमाह—नेत्यादिना। ब्रह्मणो नानारसत्वकल्पनानुपपत्तिमुपसंहरति—तस्मादिति। 'अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणः' इत्याद्याः स्मृतयः। ननु प्रत्यक्षाद्यविरोधेनोपनिषदां विषयसिद्ध्यर्थमेषा कल्पना क्रियते तथा च कथं साऽनुपपन्नेत्याशङ्क्याऽऽह—अस्या इति। [8]विरुद्धार्थत्वे कल्पितेऽपि तत्प्रामाण्यानुपपत्तेरविशेषादिति भावः।

किं च ब्रह्मणो नानारसत्वं [9]लौकिकं वैदिकं वा। नाऽऽद्यः। तस्यालौकिकत्वात्तन्नानारसत्वे [10]लोकस्य तदस्पर्शात्। न द्वितीयः। तन्नानारसत्वस्य ध्येयत्वेन ज्ञेयत्वेन वा शास्त्रेणानुपदेशादित्याह—अध्येयत्वाच्चेति। तदेव स्फुटयति—न हीति। इतश्च नानारसं ब्रह्म [11]नोभयथाशास्त्रप्रकाश्य-

---

अनुमान होता है। उसका अनित्यत्व मानने पर उस युक्तिसिद्ध नित्यत्व से विरोध आता है। आपकी कल्पना व्यर्थ ही हो जाती है। हमारे आत्मा के नित्यत्व पक्ष में (परलोकसम्बन्धी आत्मा का अभाव होने पर अनुष्ठान की असिद्धि होने से) कर्मकाण्ड की अनर्थकता स्पष्ट ही है क्योंकि आत्मा को अनित्य मानने पर अकृत की फलप्राप्ति और कृत के फलनाश का प्रसङ्ग आ जायगा।

(इस पर पूर्ववादी कहता है—) किन्तु ब्रह्म के द्वैताद्वैतात्मक होने में समुद्रादि दृष्टान्त विद्यमान हैं, फिर आप ऐसा क्यों कहते हो। एक का वस्तु ही द्वैत-अद्वैत होना विरुद्ध है। (सिद्धान्ती कहता है—) ऐसा कहना ठीक नहीं है क्योंकि उसका विषय दूसरा है। हमने द्वैताद्वैतत्व का नित्य, निरवयव वस्तु (ब्रह्म) के विषय में ही विरोध आ जाना बताया है, सावयव कार्य विषय में विरोध आने की बात नहीं कही। इसलिए श्रुति, स्मृति और न्याय विरोध आ जाने से यह कल्पना असंगत है। इस कल्पना के मानने की अपेक्षा उपनिषत् परित्याग ही श्रेयस्कर है।

इसके अतिरिक्त ध्येय रूप न होने से भी यह कल्पना शास्त्र प्रतिपाद्य नहीं है। श्रुति ऐसे ब्रह्म के विषय में ध्यान या ज्ञान संपादन के लिए नहीं कहती, जो जन्ममरणादि सैकड़ों-हजारों अनर्थ रूप

---

१. आत्मानित्यत्वपक्षे। २. परलोकसंबन्ध्यात्माभावेऽनुष्ठानासिद्धेः। ३. हिरण्यगर्भादावस्तु नाम तर्हीति भावः। ४. शास्त्रप्रतिपाद्या। ५. द्वैताद्वैतात्मकत्वं। ६. श्रुतिन्यायविरोधम्। ७. दृष्टान्तम्। ८. विरुद्धार्थत्व इति—न्यायादिभिरनुपपद्यमानार्थकत्वं इत्यर्थः। उपनिषदामिति शेषः। ९. प्रत्यक्षाद्यधिगतम्। १०. प्रत्यक्षादिप्रमाणस्य। ११. उभयथा—ध्येयत्वज्ञेयत्वाभ्यामित्यर्थः।

समुद्रवनादिवत्सावयवमनेकरसं ब्रह्म ध्येयत्वेन विज्ञेयत्वेन वा श्रुत्योपदिश्यते । प्रज्ञानघनतां चोपदिशति । एकधैवानुद्रष्टव्यमिति च । अनेकधादर्शनापवादाच्च "मृत्योः स मृत्युमाप्नोति य इह नानेव पश्यति" इति । यच्च श्रुत्या निन्दितं तन्न कर्तव्यम् । यच्च न क्रियते न स शास्त्रार्थः । ब्रह्मणोऽनेकरसत्वमनेकधात्वं च द्वैतरूपं निन्दितत्वान्न द्रष्टव्यम् । अतो न शास्त्रार्थः । यत्त्वेकरसत्वं ब्रह्मणस्तद्द्रष्टव्यत्वात्प्रशस्तं प्रशस्तत्वाच्च शास्त्रार्थो भवितुमर्हति ।

यत्तूक्तं वेदैकदेशस्याप्रामाण्यं कर्मविषये द्वैताभावादद्वैते च प्रामाण्यमिति । तन्न । यथाप्राप्तोपदेशार्थत्वात् । न हि द्वैतमद्वैतं वा वस्तु जातमात्रमेव पुरुषं ज्ञापयित्वा पश्चा-

मित्याह—प्रज्ञानेति । चकारादुपदिशतीत्याकृष्यते । अनेकधादर्शनापवादाच्च नानारसं ब्रह्म शास्त्रार्थो न भवतीति शेषः । भेददर्शनस्य निन्दितत्वे लब्धमर्थमाह—यच्चेति । अकर्तव्यत्वे प्राप्तमर्थं कथयति—यच्च नेति । सामान्यन्याय प्रकृते योजयति—ब्रह्मण इति । कस्तर्हि शास्त्रार्थस्तत्राऽऽह—यत्त्विति ।

ब्रह्मैकरस्ये प्रागुक्तं दोषमनुभाषते—यत्तूक्तमिति । कर्मकाण्डस्य कर्मविषये न प्रामाण्यमसद्द्वैतविषयत्वाद्ब्रह्मकाण्डस्य त्वद्वैते प्रामाण्यं परमार्थाद्वैतवस्तुप्रतिपादकत्वात्तथा न विरोधोऽध्ययनविधेरित्यनुवादार्थः । कर्मकाण्डाप्रामाण्यं प्रत्याचष्टे—तन्नेति । अविद्धं भेदमादाय सर्वत्र विधिनिषेधोपदेशस्य प्रवृत्तिनिवृत्तिद्वाराऽर्थवत्त्वान्न कर्मकाण्डानर्थक्यमित्यर्थः । ननु शास्त्रमेवाऽऽदौ भेदं बोधयित्वा पश्चादभ्युदयसाधनं कर्मोपदिशति तथा च नास्ति भेदस्यान्यतः प्राप्तिरत आह—न हीति । यथा हि शास्त्रं जातमात्रं पुरुषं प्रत्यद्वैतं वस्तु ज्ञापयित्वा पश्चाद्ब्रह्मविद्यामुपदिशतीति नेष्यते तथा प्रथममेव पुरुषं प्रति द्वैतं बोधयित्वा कर्म पुनर्बोधयतीत्यपि नाभ्युपेयं प्रथमतो भेदवेदनावस्थायामस्य 'शास्त्रान-'

भेद से सपन्न और समुद्र-वनादि की तरह सावयव और अनेक रस हो। उसके विषय मे तो श्रुति प्रज्ञानघनत्व कहती है । 'भास्वत् चिन्मात्रमात्ररूप (शास्त्रैकप्रमाण) ब्रह्म को एक प्रकार से ही प्रत्यगात्मा द्वारा देखा जाना चाहिए', 'जो मिथ्याभूत नाना वस्तु को सत्यत्व भाव से देखता है, वह मरण मे मरण को प्राप्त होता है'–इस प्रकार श्रुति उसे अनेक रूप देखने को निषेध करती है । जिसकी श्रुति निन्दा करती हो, उसे नही करना चाहिए । एव जिसकी उपादेयता नही बताई जाती, वह शास्त्र का तात्पर्य अर्थ नही है । ब्रह्म का (अणु-स्थूलत्वादि) अनेकरसत्व एव (द्वैताद्वैतरूप) अनेक प्रकारत्व द्वैत रूप निन्दा का विषय होने से उसे ब्रह्म मे नही देखना चाहिए । अतएव वह शास्त्र का तात्पर्य अर्थ नही है । और जो ब्रह्म का एकरसत्व कहा गया है, उसी को देखना श्रेयस्कर है । इसके श्रेयस्कर होने से वही शास्त्र का तात्पर्य अर्थ हो सकता है ।

एव जो यह कहा गया कि द्वैत का अभाव होने के कारण वेद के एकभाग कर्मकाण्ड की अप्रामाणिकता हो जायगी और अद्वैत मे प्रामाणिकता होगी, ऐसा कहना ठीक नही है क्योकि यथाप्राप्त वस्तु का उपदेश करना शास्त्र का प्रयोजन है । शास्त्र ऐसा नही करता कि पैदा होते ही पुरुष

१ अणुस्थूलत्वादिरूप द्वैताद्वैतत्वम् । २ यथोक्ते भेदे । ३ शास्त्रार्थस्य भेदस्याबाधितत्वादेवेति भाव ।

तत्कर्म वा ब्रह्मविद्यां वोपदिशति शास्त्रम् । न चोपदेशार्हं द्वैतं जातमात्रप्राणिबुद्धिगम्यत्वात् ।

न च द्वैतस्यानृतत्वबुद्धिः प्रथममेव कस्यचित्स्यात् । येन द्वैतस्य सत्यत्वमुपदिश्य पश्चादात्मनः प्रामाण्यं प्रतिपादयेच्छास्त्रम् । नापि पाषण्डिभिरपि प्रस्थापिताः शास्त्रस्य प्रामाण्यं न गृह्णीयुः ।

तस्माद्यथाप्राप्तमेव द्वैतमविद्याकृतं स्वाभाविकमुपादाय स्वाभाविक्यैवाविद्यया युक्ताय रागद्वेषादिदोषवते यथाभिमतपुरुषार्थसाधनं कर्मोपदिशत्यग्रे पश्चात्प्रसिद्धक्रिया-

---

धिकारित्वादित्यर्थः । द्वैतस्योपदेशार्हत्वमङ्गीकृत्योक्तं तदेव नास्तीत्याह—न चेति ।

ननु द्वैतस्य सत्यबुद्ध्यभावे श्रुत्युक्तानुष्ठानाय पुंसा प्रवृत्त्यनुपपत्तेः स्वप्रामाण्यसिद्ध्यर्थमेव द्वैतसत्यत्वं श्रुतिर्बोधयिष्यति नेत्याह—न च द्वैतस्येति । द्वैतानृतत्ववादिषु 'कर्मजडानां प्रद्वेषप्रतीतेर्न प्रथमतो द्वैतानृतत्वबुद्धिर्न च द्वैतसत्यत्वं श्रुत्यर्थस्तत्परिचयहीनानामपि द्वैतसत्यत्वाभिनिवेशादित्यर्थः । किंच न द्वैतवैतथ्यं शास्त्रप्रामाण्यविघातकं यतो बौद्धादिभिः श्रेयसे 'प्रस्थापिताः शिष्या द्वैतमिथ्यात्वावगमेऽपि स्वर्गकामश्चैत्यं वन्देतेत्यादिशास्त्रस्य प्रामाण्यं गृह्णन्ति । तथाऽग्निहोत्रादिशास्त्रस्यापि प्रामाण्यं भविष्यति 'साधनत्वस्यानपहारादित्याह—नापीति ।

*काण्डद्वयस्य प्रामाण्योपपत्तिमुपसंहरति—तस्मादित्यादिना । प्रसिद्धो योऽयं क्रियाविषये

को द्वैत या अद्वैत वस्तु का ज्ञान करा कर उसके बाद कर्मकाण्ड अथवा ब्रह्मविद्या का उपदेश करे। क्योंकि द्वैत को तो स्वभावतः प्राणी की बुद्धि समझ जाती है, इसलिये वह उपदेश देने के लिए उपयुक्त नहीं है।

इसके अतिरिक्त प्राणी की द्वैत में प्रारम्भ से ही मिथ्यात्व बुद्धि नहीं होती; जिससे शास्त्र द्वैत के सत्यत्व का उपदेश कर, बाद में आत्मा की प्रामाणिकता का प्रतिपादन करे। तथा (बौद्धादि) पाखण्डमतानुयायियों द्वारा कल्याणमार्ग में लगाये हुए शिष्य भी शास्त्र का प्रामाण्य स्वीकार करते हैं।

इसलिये अविद्याकृत लोकप्रसिद्ध स्वाभाविक द्वैत को ग्रहण कर जो स्वाभाविक अविद्या में युक्त और रागद्वेषादि दोषवान् है, ऐसे पुरुष को शास्त्र पहले यथाभिमत कर्मकाण्ड रूप साधन का उपदेश

---

१. कर्मकाण्डस्य प्रामाण्ये भेदसत्यत्वापेक्षाभावात् । २. यथाप्राप्त—लोकसिद्धम् । ३. कर्माभिनिविष्टचेतसाम् । ४. स्वप्रस्थानेन प्रबोधिता प्रवर्तिता प्रेरिता इति यावत् । ५. बुद्धप्रतिमाम् । ६. अग्निहोत्रादेः स्वर्गादिसाधनत्वेति यावत् ।

---

* काण्डद्वयस्य प्रामाण्योपपत्तिमिति । एतेन "एवं द्वैतस्य सत्यत्वे कर्मकाण्डस्य मानता । अनन्तपुरुषार्थासिरिष्यते कर्मकाण्डतः ॥ यदा तु कल्पितं द्वैतमद्वैतं परमार्थतः । उच्छिन्नं कर्मकाण्डस्य प्रामाण्यं विपर्ययात् ॥ एकदेशस्य बाधत्वे वेदस्याप्यप्रमाणता । सर्वनाशो भवेदेव सर्वाप्रामाण्यहेतुतः । अतो विरोधनुत्त्यर्थं न्यायत्वप्रतिपत्तये । कार्यकारणयोः शास्त्र पूर्णमित्यादिनावदत्" ॥ ५८-६१ ॥ इति । तदुक्तमपास्तम् । किंचैकस्य बाधत्वे वेदस्याप्यप्रमाणतेति यदुक्तम् तत्राधिकार्यभावात्फलाभावाद्विषयाभावाद्वा ज्ञानकाण्डाप्रामाण्यमिति विकल्प्याद्यं प्रत्याहुर्वार्तिककारचरणाः—"सर्वतस्तु विरक्तो यः कर्मभिः शुद्धधीर्नरः । काम्यान् पूर्णफलमुत्पत्त्यादिविनिर्दाहणम् ॥ तमोमात्रान्तरायत्वात्प्रतीचः पूर्णरूपिणः । स्वतःसिद्धत्वतस्तस्य व्यञ्जकाभाव्यदीष्यते ॥ स्वतः प्राप्तस्य सम्प्राप्तो वाक्यान्मोहप्रहाणतः । मानापेक्षा न भूयः स्यात्प्राप्तेस्तत्त्वतार्थतः ॥ साध्ये हि साधनापेक्षा सिद्धेऽस्मो विनि-

कारकफलस्वरूपदोषदर्शनवते तद्विपरीतौदासीन्यस्वरूपावस्थानफलार्थिने तदुपायभूतात्मा-त्मैकत्वदर्शनात्मिकां ब्रह्मविद्यामुपदिशति। अयंवं सति तदौदासीन्यस्वरूपावस्थाने फले प्राप्ते शास्त्रस्य प्रामाण्यं प्रत्यर्थित्वं निवर्तते। तदभावाच्छास्त्रस्यापि शास्त्रत्वं तं प्रति निवर्तत एव।

तथा प्रतिपुरुषं परिसमाप्तं शास्त्रमिति न शास्त्रविरोधगन्धोऽप्यस्ति। अद्वैत-

---

द्वैते दोषं सातिशयत्वादिरूपदर्शनं विवेकस्तद्वते तस्माद्द्वैताद्विपरीतमौदासीन्योपलक्षितं स्वरूपं तस्मिन्नवस्थानं कैवल्यं तदर्थिने मुमुक्षवे साधनचतुष्टयसम्पन्नायेत्यर्थः। किंच तत्त्वज्ञानात्पूर्वं पूर्वं वा काण्डयोर्विरोधः शङ्क्यते। नाऽऽद्य इत्याह—अथेति। अवस्थाभेदादेकस्मिन्नपि पुरुषे काण्डद्वयस्य प्रामाण्यविरुद्धमित्येव स्थिते सत्युपनिषद्भ्यस्तत्त्वज्ञानोत्पत्त्यनन्तरं नान्तरीयकत्वेन प्राप्ते कैवल्ये पुरुषस्य नैराकाङ्क्ष्यं जायते न च निराकाङ्क्षं पुरुषं प्रति शास्त्रस्य शास्त्रत्वमस्ति।

"प्रवृत्तिर्वा निवृत्तिर्वा नित्येन कृतकेन वा।
पुंसा येनोपदिश्येत तच्छास्त्रमभिधीयते"॥

इति न्यायात्कृतकृत्यं प्रति प्रवर्तकत्वाद्विरहिणः शास्त्रत्वायोगादतो ज्ञानादूर्ध्वं "धर्मभावाद्विरोधासिद्धिरित्यर्थः।

"एकस्मिन्पुरुषे दर्शितन्यायं सर्वत्रातिदिशति—तथेति। ज्ञानादूर्ध्वं विरोधाभावमुपसंहरति—इति नेति। कल्पान्तरं प्रत्याह—अद्वैतेति। तत्त्वज्ञानात्पूर्वं भेदस्यावस्थितत्वात्तमाविद्यमादाय"धिका-

---

करता है, उसके पश्चात् जो प्रसिद्ध इस क्रिया-कारक फलस्वरूप द्वैत मे दोष बुद्धि वाले, उस द्वैत से विपरीत औदासीन्य स्वरूप कैवल्य स्थिति के इच्छुक (साधनचतुष्टय सपन्न) मुमुक्षु के लिए ही उसकी उपायभूता आत्मैकत्वदर्शनात्मिका ब्रह्मविद्या का श्रुति उपदेश करती है। ऐसा होने पर उस औदासीन्य स्वरूप मे स्थिति रूप फल प्राप्त हो जाने पर विद्वान् की शास्त्र के प्रामाण्य के प्रति आकाक्षा

---

१ अर्थित्वमाकाङ्क्षा। विदुष इति शेषः। २ विद विदम्प्रतीत्यर्थः। ३ निवृत्तशास्त्रत्वम्। ४ इति ज्ञानिनं प्रतिशास्त्रस्य शास्त्रत्वाभावात्। ५ विवेकाविवेकावस्थे। ६ ज्ञानसमनियतत्वेन। ७ नित्येन—श्रुतिरूपेण। ८ अथ कृतकेन—स्मृतिरूपेण। ९ यथोक्तज्ञानानन्तरं कृतार्थस्य विदुषः शास्त्रानपेक्षणात्। १० विरोधधर्मिणो शास्त्रयोरभावात्। ११ विदुषि। १२ एकस्मिन्नधिकारिणि विवेकाविवेकावस्था भेदात्।

यतते। किम्वसाध्ये समस्तस्य पूर्णत्वेन समाप्तिः"॥ १०१-१०४॥ कामयान कामयमान इति यावत्। स साधनचतुष्टयसपन्नोऽधिकारीति शेषः॥ द्वितीयं निराह—तमोमात्रेति। सविलासाविद्याध्वस्तिरत्र फलमिति भावः। तृतीयं प्रत्याह—प्रतीच इति। अज्ञातस्य तस्य विषयत्वान्न तद्वाहि यमित्यर्थः। अज्ञानध्वस्तावपि फले कर्मापेक्षां केचिदाहुस्तान्प्रत्याह—स्वत इति॥ प्रतीचः स्वतः स्फुरणात्तदाच्छादकाज्ञानध्वसार्थं मानमेव मुमुक्षुरपेक्षते न कर्मेत्यत्र हेतुमाह—स्वत इति। उत्पन्नमपि मानमभ्यस्यमानमज्ञानध्वसीत्यपरे तान्निराकरोति—मानेति। सकृदुत्पन्नादेव मानादज्ञानध्वस्तेस्तावतैव पुरुषस्य कृतकृत्यत्वान्न मानावृत्त्यपेक्षेत्यर्थः॥ अन्ये तु ब्रह्मप्राप्तावभ्यासापेक्षां मन्यन्ते तान्निरस्यति—साध्ये हीति। स्वर्गादौ तदपेक्षायां साध्यं सिद्धे च तदभावस्य दृष्टत्व हिशब्दार्थः॥

ज्ञानावसानत्वाच्छास्त्रशिष्यशासनादिद्वैतभेदस्य। [1]अन्यतमावस्थाने हि विरोधः स्याद-वस्थितस्येतरेतरापेक्षत्वात्तु शास्त्रशिष्यशासनानां नान्यतमोऽप्यवतिष्ठते। [2]सर्वसमाप्तौ तु कस्य विरोध आशङ्क्येताद्वैते केवले शिवे सिद्धे। नाप्यविरोधताऽत एव।

[3]अथाप्यभ्युपगम्य ब्रूमः—द्वैताद्वैतात्मकत्वेऽपि शास्त्रविरोधस्य तुल्यत्वात्। यदाऽपि समुद्रादिवद्द्वैताद्वैतात्मकमेकं ब्रह्माभ्युपगच्छामो नान्यद्वस्त्वन्तरं तदाऽपि भवदुक्ता-

---

रिभेवादवस्थाभेदाद्वा काण्डयोरविरोधसिद्धिरित्यर्थः। उक्तमेवोपपादयति—अन्यतमेति। शिष्यादीना-मन्यतमस्यैवावस्थानं चेदवस्थितस्येतरस्मिश्च सापेक्षत्वान्न सोऽप्यवतिष्ठेत। न च ज्ञानात्प्रागन्यतम-स्यैवावस्थानं सर्वेषामेव तेषां यथाप्रतिभासमवस्थानादतो न पूर्वं विरोधशङ्केत्यर्थः। [4]ऊर्ध्वं विरोध-शङ्काभावमधिकविवक्षयाऽनुवदति—सर्वेति। कथं कैवल्यं विरोधाभावस्य सत्त्वादित्याशङ्क्याऽऽह—नापीति। अद्वैतत्वादेवाभावस्यापि तत्त्वनिमज्जनादित्याह—अत एवेति।

अद्वितीयमेव ब्रह्म न द्वैताद्वैतात्मकमित्युपपादितमिदानीं ब्रह्मणो द्वैताद्वैतात्मकत्वाभ्युपगमेऽपि विरोधो न शक्यते परिहर्तुमित्याह—अथापीति। तुल्यत्वात्तदभ्युपगमो वृथेति शेषः। उक्तमेवोपपाद-यति—यदाऽपीति। द्वैत द्वैतात्मकं ब्रह्मेति पक्षे कथं विरोधो न समाधीयते द्वैताद्वैतं चाधिकृत्य काण्ड-द्वयप्रामाण्यसंभवादित्याक्षिपति—कथमिति। किं [5]ब्रह्मविषयः शास्त्रोपदेशः किं वा[6]ऽब्रह्मविषयः। प्रथमे

मिट जाती है। उसका अभाव हो जाने पर तो विद्वान् के लिए शास्त्र का शास्त्रत्व भी मिट जाता है।

इस प्रकार प्रत्येक विद्वान् पुरुष के प्रति शास्त्र का शास्त्रत्व निवृत्त हो जाता है, इसलिए शास्त्र-विरोध की तो गन्धमात्र भी नही है। क्योंकि शास्त्र शिष्य और शासनादि द्वैतजनित भेद अद्वैतज्ञान होने पर पर्यवसित हो जाते है। अपेक्षित किसी एक के भी रहने पर उस अपेक्षित का कर्मकाण्ड या ज्ञानकाण्ड से विरोध होता किन्तु शास्त्र, शिष्य और शासन के परस्पर अन्योन्याश्रित होने पर आत्मज्ञान होने पर इसमे से कोई भी स्थित नही रहता। इस प्रकार शास्त्रादि का सर्वविध द्वैत समाप्त होने पर तो एकमात्र शिव अद्वैत तत्त्व सिद्ध होने पर किसके विरोध की आशङ्का की जाय। इसलिए ही उसका किसी से विरोधाभाव भी नही है।

अब हम ब्रह्म का उभयात्मकस्वरूप मानकर बतलाते है। उसके द्वैताद्वैतात्मक होने पर भी शास्त्र का विरोध समान ही है। जब हम समुद्रादि के समान द्वैताद्वैतरूप एक ही ब्रह्म मान लेते हैं, उससे व्यतिरिक्त कोई वस्तु नही मानते तो उस समय भी हम आप द्वारा कथित शास्त्र विरोध से मुक्त

---

१ अन्यतमावस्थाने अपेक्षितस्यान्यतमस्यानवस्थाने अपेक्षितस्य यावतोऽसत्त्व इति यावत्। विरोध काण्डयो-रिति शेषः। तथाहि शास्त्रद्वयमवतिष्ठते शिष्यद्वयं च न चेत्तदेकमेव शिष्यं प्रति मिथो विरुद्धमुपदिशतोः स्यादेव विरोधः काण्डयोरिति। अपेक्षितमन्यतममनादायान्यतमस्यावस्थानं परं न घटत इत्याह - अवस्थितस्येत्यादिना। नान्यतमोऽप्यवतिष्ठत इति—सर्वमेवापेक्षितमवतिष्ठत इति यावत्। २ शास्त्रादि द्वैतसमाप्तौ। ३ यद्यपि—ब्रह्माद्वितीयमेव नोभयात्मकमित्युपपादनानन्तरं तस्योभयात्मकत्वं स्वीकृत्यापि वदाम। ४ तत्त्वज्ञाना-नन्तरम्। ५ ब्रह्म प्रति। ६ ब्रह्माभिन्नं जीवं प्रति।

च्छास्त्रविरोधान्न मुच्यामहे । कथम् । *एकं हि परं ब्रह्म द्वैताद्वैतात्मकं तच्छोकमोहाद्य-तीतत्वादुपदेशं न काङ्क्षति । न चोपदेष्टाऽन्यो ब्रह्मणो द्वैताद्वैतरूपस्य ब्रह्मण एकस्यै-वाभ्युपगमात् ।

अथ '[1]द्वैतविषयस्यानेकत्वादन्योन्यो[2]पदेशो न ब्रह्मविषय उपदेश इति चेत् । तदा द्वैताद्वैतात्मकमेकमेव ब्रह्म नान्यदस्तीति विरुध्यते । [3]यस्मिन्द्वैतविषयेऽन्योन्योपदेशः [4]सोऽन्य[5]ऽद्वैत चान्यदेवेति समुद्रदृष्टान्तो विरुद्धः । न च समुद्रोदकैकत्ववद्विज्ञानैकत्वे

द्वैताद्वैतरूपस्यैकस्यैव ब्रह्मणोऽभ्युपगमात्तस्य च नित्यमुक्तत्वान्नोपदेशः संभवतीत्याह—एकं हीति । तस्योपदेशाभावे हेत्वन्तरमाह—न चेति । उपदेष्टा हि ब्रह्मणोऽन्योऽनन्यो वा । नाऽऽद्योऽभ्युपगमविरो-धात् । न द्वितीयो भेदमन्तरेणोपदेश्योपदेशकभावासंभवादिति भावः ।

कल्पान्तरमुत्थापयति—अथेति । प्रतिज्ञाविरोधेन निराकरोति—तदेति । किंच सर्वस्य ब्रह्म-रूपत्वे यः समुद्रदृष्टान्तः स न स्यात्परस्परोपदेशस्याब्रह्मविषयत्वादित्याह—यस्मिन्निति । अथ यथा फेनादिविकाराणां भिन्नत्वेऽपि समुद्रोदकात्मकत्वं तथा जीवादीनां भिन्नत्वेऽपि ब्रह्मस्वभावविज्ञानैक्या-द्ब्रह्म सर्वमिति न विरुध्यते तत्राऽऽह—न चेति । सर्वस्य ब्रह्मत्वमङ्गीकृतं चेद्ब्रह्मविषय एवोपदेशः

नहीं होते । यह कैसे कहते हो ? पर ब्रह्म द्वैताद्वैतात्मक एक ही है, वह क्षुधातृषादिधर्मों से अतीत होकर मोक्ष की आकाङ्क्षा नहीं रखता । तथा उपदेश से द्वैताद्वैतरूप ब्रह्म अन्य नहीं हो सकता क्योंकि द्वैताद्वैतरूप एक ही ब्रह्म स्वीकार किया गया है ।

यदि कहो कि भेदधर्मी जीव अनेक हैं, यह उपदेश परस्पर जीवों के लिए है, यह ब्रह्म-विषयक उपदेश नहीं है, तब तो 'द्वैताद्वैतात्मक एक ही ब्रह्म है, इससे भिन्न कोई नहीं है' इस कथन से विरोध होगा । जिस जीव के विषय में परस्पर उपदेश होता है, वह जीव अन्य है और अद्वैत अन्य

१. भेदधर्मिणो जीवात्मन । २ परस्पर जीवानामुपदेश । ३ जीवे । ४. जीव । ५. ब्रह्मभिन्नजीवविषयत्वात् ।

* एक हि पर ब्रह्म द्वैताद्वैतात्मकमित्यादि । अद्वैते श्रुतिविरोधं निराकृत्य द्वैताद्वैतवादे तद्विरोधं प्रकारान्तरेणो-पपादयन्ति स्म वार्तिककारपादा —'द्वैताद्वैतात्मक ब्रह्म यदाऽभ्युपगम्यते । तदाऽपि न विरोधोऽस्य केनचि-द्विनिवार्यते ॥ समस्तध्वस्तभूतस्य ब्रह्मण्यवसितात्मन । ब्रूत कर्मणि को हेतु सर्वानन्यत्वदर्शिन ॥ सर्वजात्या-दिमत्त्वे च परस्परविरोधत । व्याघातान्न प्रवृत्ति स्यान्निषेधेऽस्य विधौ तथा ॥ न चावच्छेदमानित्व विदुषो-ऽस्त्यासुरत्वत । विदुषोऽप्यासुरत्वे स्यान्निष्फल ब्रह्मदर्शनम्" ॥ १०५-१०८ ॥ इति । कथ द्वैताद्वैतपक्षे श्रुति-विरोधो द्वैतापेक्षया कर्मकाण्डस्याद्वैतापेक्षया च काण्डान्तरस्य प्रामाण्यसंभवादित्याशङ्क्याऽऽह—समस्तेति ॥ विशिष्टजात्यादिमत्त्वमेव हेतुरित्याशङ्क्याऽऽह—सर्वेति । द्वैताद्वैतात्मके ब्रह्मणि स्थितस्य विदुष सर्वजात्या-श्रमादियुक्तत्वे सति विशेषणभूतजात्यादीनां मिथो विरोधाद्ब्राह्मणत्वाद्बृहस्पतिसवे प्रवृत्ति. क्षत्रियत्वान्नि-वृत्तिरित्येवमन्योन्यव्याघाद्विधिनिषेधयोर्न प्रवृत्तिनिवृत्ती स्याता तथाच विभ्रमप्रवृत्तिकमिति कर्मश्रुत्यप्रामाण्या-द्दुर्निषदामपि तत्स्यादिति भाव । किच सर्वजात्यादिमत्त्वेऽपि विदुषस्तदनभिमानान्न प्रवृत्तिनिवृत्तिर्वेत्याह —न चेति । विपक्षे दोषमाह—विदुषोऽपीति । परिच्छेदाभिमानस्याऽऽसुरत्वमसुराणा ह्येषोपनिषदिति श्रुते-र्द्रष्टव्यम् ॥

ब्रह्मणोऽन्यत्रोपदेशग्रहणादिकल्पना संभवति । न हि हस्तादिद्वैताद्वैतात्मके देवदत्ते वाक्कर्णयोर्देवदत्तैकदेशभूतयोर्वागुपदेष्ट्री कर्णः केवल उपदेशस्य ग्रहीता, देवदत्तस्तु नोपदेष्टा नाप्युपदेशस्य ग्रहीतेति कल्पयितुं शक्यते । समुद्रैकोदकात्मत्ववदेकविज्ञानवत्त्वाद्देवदत्तस्य । [1]तस्माच्छ्रुतिन्यायविरोधश्चाभिप्रेतार्थासिद्धिश्चैवं कल्पनायां स्यात् । [2]तस्माद्यथाव्याख्यात एवास्माभिः पूर्णमद इत्यस्य मन्त्रस्यार्थः ।

ॐ खं ब्रह्मेति मन्त्रोऽयं चान्यत्राविनियुक्त इह ब्राह्मणेन ध्यानकर्मणि [3]विनियुज्यते ।

स्याद्भेदस्याविचारितरमणीयत्वादित्यर्थः । ननु नानारूपवस्तुसमुदायो ब्रह्म तत्प्रदेशभेदादुपदेश्योपदेशकभावो ब्रह्म तु नोपदेश्यमुपदेशकं चेति तत्राऽऽह—न हीति । तत्र हेतुमाह—समुद्रेति । यथा समुद्रस्योदकात्मना फेनादिष्वेकत्वं तथा देवदत्तस्याङ्गस्य वागाद्यवयवेष्वेकत्वेन विज्ञानवत्त्वाच्च व्यवस्थासंभवस्तथा ब्रह्मण्यपि द्रष्टव्यमित्यर्थः । मतान्तरनिराकरणमुपसंहरति—तस्मादिति । [4]आत्मैकत्वप्रतिपादिका श्रुतिर्न्यायश्च सावयवस्यानेकात्मकस्येत्यादावुक्तः । अभिप्रेतार्थासिद्धिर्भवत्कल्पनानर्थक्यं चेत्यादिना दर्शिता । एवंकल्पनायामेकानेकात्मकं ब्रह्मेत्यभ्युपगतादित्यर्थः । परकीयव्याख्यानासंभवे फलितमाह—तस्मादिति ।

ध्यानशेषत्वेनोपनिषदर्थं [5]ब्रह्मानूद्य [6]तद्विधानार्थं [7]तस्मिन्विनियुक्तं मन्त्रमुत्थापयति—ॐ खमिति । [8]इषे त्वेत्यादिवदस्य कर्मान्तरे विनियुक्तत्वमाशङ्क्याऽऽह—अयं चेति । विनियोजकाभावादिति भावः । तर्हि ध्यानेऽपि नायं विनियुक्तो विनियोजकाभावाविशेषादित्याशङ्क्याऽऽह—इहेति । खं पुराणमित्यादि ब्राह्मणं तस्य च विनियोजकस्य ध्याने समवेतार्थप्रकाशनसामर्थ्यात् । यद्यपि मन्त्रनिष्ठं सामर्थ्यं विनियोजकं[11] तथाऽपि मन्त्रब्राह्मणयोरेकार्थत्वाद्ब्राह्मणस्य सामर्थ्यद्वारा विनियोजकत्वमविर-

---

होगा, इस प्रकार समुद्र दृष्टान्त की भी संगति नहीं बैठती । यदि समुद्र के जल की एकता के समान विज्ञान की भी एकता है, तो ब्रह्म से व्यतिरिक्त उपदेश ग्रहणादि कल्पना संभव नहीं होती । हस्तादिरूप द्वैताद्वैतात्मक देवदत्त में वाणी और कान देवदत्त के एक देश में उत्पन्न हैं, केवल वाणी ही उपदेश करने वाली है और अकेला कान उपदेश को ग्रहण करने वाला है, देवदत्त न तो उपदेष्टा है और न ही उपदेश का ग्रहीता है—ऐसी कल्पना करनी संभव है क्योंकि जिस प्रकार समुद्र जल-रूप है, उसी प्रकार देवदत्त भी विज्ञानवान् है । अतः उक्त कल्पना करने से श्रुति और युक्ति में विरोध तथा अभीष्ट अर्थ की अप्राप्ति होगी । इसलिए अन्य व्याख्या के असंगत होने से 'पूर्णमदः' इस मन्त्र का अर्थ जिस प्रकार हमने व्याख्या की है, उसी प्रकार है ।

'आकाश ब्रह्म ओङ्कार है' इस श्रुति का अन्यत्र कहीं विनियोग न होकर यहाँ ब्राह्मण द्वारा ध्यानकर्म में क्रममुक्ति प्राप्ति के लिए विनियोग किया जाता है । यहाँ इस मन्त्र में 'ब्रह्म' यह विशेष्य है

---

१ तस्मात्—द्वैताद्वैतात्मकस्य निरूपयितुमशक्यत्वेन ब्रह्मणोऽद्वितीयत्वनिर्धारणात् । २ व्याख्यान्तरस्यायुक्तत्वात् । ३ क्रममुक्तिफलाय । ४. १३६७ पृष्ठभाष्ये । ५ पूर्णमन्त्रेण । ६ ध्यानविधानार्थम् । ७ ध्याने । ८ यथा यथापलाशशाखाछेदने । ९. मन्त्रस्य । १०. ध्येयार्थेति भाव. । ११. भवति ।

अत्र च ब्रह्मेति विशेष्याभिधानं खमिति विशेषणम्। विशेषणविशेष्ययोश्च सामानाधिकरण्येन निर्देशो नीलोत्पलवत्खं ब्रह्मेति। ब्रह्मशब्दो बृहद्वस्तुमात्रास्पदोऽविशेषितोऽतो विशेष्यते खं ब्रह्मेति। यत्तत्खं ब्रह्म तदोंशब्दवाच्यमोंशब्दस्वरूपमेव वोभयथाऽपि सामानाधिकरण्यमविरुद्धम्।

इह च ब्रह्मोपासनसाधनत्वार्थमोंशब्दः प्रयुक्तः। तथा च श्रुत्यन्तरात् "एतदालम्बनं श्रेष्ठमेतदालम्बनं परम्" "ओमित्यात्मानं युञ्जीत" "ओमित्येनेनैवाक्षरेण परं पुरुषमभिध्यायीत" "ओमित्येव ध्यायथ आत्मानम्" इत्यादेः। अन्यार्थासंभवाच्चोपदेशस्य। यथाऽन्यत्रोमिति शंसत्योमित्युद्गायतीत्येवमादौ स्वाध्यायारम्भापवर्गयोश्चोंकारप्रयोगो विनियोगादवगम्यते न च तथाऽर्थान्तरमिहावगम्यते। तस्माद्ध्यानसाधनत्वेनैवेहोंकार-

---

द्धमिति भावः। अत्रेति मन्त्रोक्तिः। विशेषणविशेष्यत्वे यथोक्तसामानाधिकरण्यं हेतू करोति—विशेषणेति। ब्रह्मेत्युक्ते "सत्यकाङ्क्षाभावात्किं विशेषणेनेत्याशङ्क्याऽऽह—ब्रह्मशब्द इति। निरुपाधिकस्य सोपाधिकस्य वा ब्रह्मणो "विशेषणत्वेऽपि कथं तस्मिन्नोंशब्दप्रवृत्तिरित्याशङ्क्याऽऽह—यत्तदिति।

किमिति यथोक्ते ब्रह्मण्योंशब्दो मन्त्रे प्रयुज्यते तत्राऽऽह—इह चेति। ॐशब्दो ब्रह्मोपासने साधनमित्यत्र मानमाह—तथा चेति। सापेक्षं श्रेष्ठत्वं वारयति—परमिति। आदिशब्देन प्रणवो धनुरित्यादि गृह्यते। ॐ ब्रह्मेति सामानाधिकरण्योपदेशस्य ब्रह्मोपासने साधनत्वमोंकारस्येत्यस्मादर्थान्तरासंभवाच्च तस्य तत्साधनत्वमेष्टव्यमित्याह—अन्यार्थेति। एतदेव प्रपञ्चयति—यथेत्यादिना। अन्यत्रेति तैत्तिरीयश्रुतिग्रहणम्। अपवर्गः स्वाध्यायावसानम्। अर्थान्तरावगतेरभावे फलितमाह—तस्मादिति।

और "ख" यह विशेषण है। नीलकमल की तरह यहाँ विशेषण और विशेष्य का समानाधिकरण रूप से निर्देश किया है कि 'आकाश ब्रह्म (ओङ्कार) है'। ब्रह्म शब्द विशेषण के बिना बृहत् वस्तु मात्र का गोचर है, इसलिए इसे 'ख ब्रह्म" इस प्रकार विशेषित किया जाता है। जो वह 'ख ब्रह्म" है, वह ओङ्कार शब्द वाच्य है, अथवा ओङ्कार शब्द स्वरूप ही है, दोनों ही प्रकार से मानने मे सामानाधिकरण्य मे कोई विरोध नही आता।

यहाँ ब्रह्मोपासना मे साधन रूप से ॐ शब्द का प्रयोग हुआ है। ऐसा ही दूसरी श्रुतियो में कहा गया है—'यह (ओङ्कार ही) श्रेष्ठ आलम्बन है, तथा यही उत्कृष्ट आलम्बन है', 'ॐ—इस प्रकार उच्चारण कर आत्मा को सयत करे', 'ओङ्कार अक्षर द्वारा ही उस परम पुरुष का ध्यान करे', 'ॐ—इस प्रकार आत्मा का ध्यान करे' इत्यादि। सामानाधिकरण्य उपदेश से ब्रह्मोपासना से भिन्न अर्थ यहाँ सभव नही है। जिस प्रकार 'ॐ' ऐसा कहकर श्रुति का पाठ करता है, 'ॐ' इस प्रकार कहकर उद्गान करता है—इत्यादि श्रुतिवाक्यो मे स्वाध्याय के आरम्भ और समाप्ति मे विनियोग से ओङ्कार का

---

१ गोचरः। २ विशेषण विना। ३ क उ। ४ नारा ७१ अ। ५ अ उ। ६ मु उ।
७ सामानाधिकरण्योपदेशस्य। ८ ध्यानसाधनत्वात् मन्त्रे ओङ्कारस्य। ९ मन्त्रोक्तसामानाधिकरण्यम्।
१० विशेषणाकाङ्क्षाभावात्। ११ विशेषितत्व विशेष्यत्व इति यावत्।

शब्दस्योपदेशः।

यद्यपि ब्रह्मात्मादिशब्दा ब्रह्मणो वाचकास्तथाऽपि श्रुतिप्रामाण्याद्ब्रह्मणो नेदिष्ठमभिधानमोंकारः। अत एव ब्रह्मप्रतिपत्ताविद परं साधनम्। तच्च द्विप्रकारेण प्रतीकत्वेनाभिधानत्वेन च। प्रतीकत्वेन। यथा विष्ण्वादिप्रतिमाऽभेदेनैवमोंकारो ब्रह्मेति प्रतिपत्तव्यः। तथा ह्योंकारालम्बनस्य ब्रह्म प्रसीदति,

"एतदालम्बनं श्रेष्ठमेतदालम्बनं परम्।
एतदालम्बनं ज्ञात्वा ब्रह्मलोके महीयते" इति श्रुतेः।

तत्र खमिति भौतिके खे प्रतीतिर्मा भूदित्याह—खं पुराणं चिरंतनं खं परमात्माकाशमित्यर्थः। यत्तत्परमात्माकाश पुराण खं तच्चक्षुराद्यविषयत्वान्निरालम्बनमशक्यं ग्रहीतुमिति श्रद्धाभक्तिभ्यां भावविशेषेण चोंकार आवेशयति। यथा विष्ण्वङ्गाङ्कितायां

नन्वु शब्दान्तरेष्वपि ब्रह्मवाचकेषु सत्सु किमित्योंशब्दः एव ध्यानसाधनत्वेनोपदिश्यते तत्राऽऽह—यद्यपीति। नेदिष्ठं निकटतम प्रियतममित्यर्थः। प्रियतमत्वप्रयुक्तं फलमाह—अत एवेति। साधनत्वेऽवान्तरविशेषं दर्शयति—तच्चेति। प्रतीकत्वेन कथं साधनत्वमिति पृच्छति—प्रतीकत्वेनेति। कथमित्यध्याहारः। परिहरति—यथेति। ॐकारो ब्रह्मेति प्रतिपत्तौ किं स्यात्तदाह—तथा हीति।

मन्त्रमेवं व्याख्याय ब्राह्मणमवतार्य व्याचष्टे—तत्रेत्यादिना। मन्त्रः सप्तम्यर्थः। ननु यथोक्तं तत्त्वं स्वेनैव रूपेण प्रतिपत्तुं शक्यते किं प्रतीकोपदेशेनेत्याशङ्क्याऽऽह—यत्तदिति। भावविशेषो बुद्धेविषयपारवश्यं परिहृत्य प्रत्यग्ब्रह्मज्ञानाभिमुख्यम्। ओंकारे ब्रह्मावेशनमुदाहरणेन द्रढयति—यथेति।

प्रयोग करना ज्ञात होता है' उसी प्रकार ध्यानसाधनत्व होने मे यहाँ अर्थान्तर ज्ञात नही होता। इसलिए यहाँ ध्यान के साधनत्व रूप से ही ओङ्कार शब्द का प्रयोग हुआ है।

यद्यपि ब्रह्म और आत्मादि शब्द ब्रह्म के वाचक है; तथापि श्रुतिप्रामाण्य से ब्रह्म का प्रियतम नाम ओङ्कार है। इसलिए ब्रह्म प्रतिपत्ति मे यह परम साधन है। प्रतीक रूप एव नाम रूप से प्रतीक ब्रह्मप्राप्ति के दो साधन हैं। प्रतीक का यह स्वरूप है-जैसे विष्णु आदि मूर्तियों मे विष्णु से अभेद चिन्तन, इसी प्रकार 'ओङ्कार ब्रह्म है' इस प्रकार उपासना करनी चाहिए। तथा जो पुरुष ओङ्कार का अवलम्बन करता है; उससे ब्रह्म प्रसन्न होता है। श्रुति कहती है –

"यही श्रेष्ठ आलम्बन है, यही उत्कृष्ट आलम्बन है, इस आलम्बन की उपासना कर साधक ब्रह्मलोक मे प्रतिष्ठित होता है"।

यहाँ "खम्" इस पद से भौतिक आकाश के अर्थ की प्रतीति न हो—इस पर श्रुति कहती है। "खं पुराणम्" अर्थात् चिरन्तन आकाश या परमात्माकाश। जो वह चिरन्तन आकाश या परमात्माकाश है, वह चक्षु आदि इन्द्रियो का विषय न होने से निरालम्बन है, उसे ग्रहण करना कठिन

१. ब्रह्मप्रतिपत्तिसाधनत्वं च। २. ब्रह्मदृष्ट्यालम्बनत्वेन तद्दृष्ट्यधिकरणत्वेनेति यावत्। ३. पुंसः। ४. झगिति फलति। ५. अत्र मानमाह—एतदिति। ६. उपास्य। ७ निरधिकरणम्। ८ आरोपयति।
९. अनाद्यनन्तपरमात्माकाशम्।

शिलादिप्रतिमायां विष्णुः लोके एवम्। वायुरं खं 'वायुरस्मिन्विद्यत इति वायुरं खं पवनमात्रं खमित्युच्यते न पुराणं खमित्येवमाह स्म। कोऽसौ। कौरव्यायणीपुत्रः। वायुरे हि खे मुख्यः खशब्दव्यवहारस्तस्मान्मुख्ये सम्प्रत्ययो युक्त इति मन्यते। तत्र यदि पुराणं खं ब्रह्म निरुपाधिस्वरूपं यदि वा वायुरं खं सोपाधिकं ब्रह्म 'सर्वथाप्योंकारः प्रतीकत्वेनैव 'प्रतिमावत्साधनत्वं प्रतिपद्यते। "एतद्वै सत्यकाम परं चापरं च ब्रह्म यदोंकारः" इति श्रुत्यन्तरात्। केवलं खशब्दार्थे विप्रतिपत्तिः।

वेदोऽयमोंकारो वेद विजानात्यनेन 'यद्वेदितव्यम्। 'तस्माद्वेद ओंकारो वाचकोऽभिधानम्'। तेनाभिधानेन यद्वेदितव्यं ब्रह्म प्रकाश्यमानमभिधीयमानं वेद साधको

'कल्पान्तरमाह—वायुरमित्यादिना। किमिति सूत्राधिकरणमव्याकृताकाशमत्र गृह्यते तत्राऽऽह—'वायुरे हीति। 'तदेव भूताकाशात्मना विपरिणतमिति भावः। "तर्हि पक्षद्वये सत्यमाने कः सिद्धान्तः स्यादिति स्याशङ्क्याधिकारिभेदमाश्रित्याऽऽह—तत्रेति। श्रुत्यन्तरस्या"न्यथासिद्धिसंभवादोंकारस्य प्रतीकत्वेऽपि विप्रतिपत्तिमाशङ्क्याऽऽह—केवलमिति। "इतरत्र विप्रतिपत्तिद्योतकाभावादिति भाव.।

प्रतीकपक्षमुपपाद्याभिधानपक्षमुपपादयति—वेदोऽयमिति। "तदेव प्रपञ्चयति—तेनेति। वेदेत्य-

है। इसलिये श्रुति श्रद्धा-भक्तिपूर्वक भाव विशेष द्वारा उसका ओङ्कार में आरोप करती है, जिस प्रकार लोकव्यवहार में विष्णु के अङ्गों से अङ्कित शिलादि की प्रतिमा में विष्णु का आरोप हुआ करता है। "वायुर खम्" यानी जिसमें वायु विद्यमान हो, वह वायुर आकाश। यहाँ "खम्" पद से आकाश मात्र ही कहा जाता है, उस चिरन्तन आकाश को नहीं, ऐसा कहा है। वह किसने कहा है—कौरव्यायणी पुत्र ने। 'ख' शब्द का मुख्य व्यवहार वायुर आकाश में है। इसलिये इसका मुख्य अर्थ जानना ही उचित है—ऐसा वह मानता है। वहाँ यदि 'खम्' इस पद का अर्थ चिरन्तन आकाश रूप निरुपाधिक ब्रह्म से हो अथवा यदि वायुर आकाश सोपाधिक ब्रह्म से हो, दोनों ही प्रकार से उभयविध ब्रह्मोपासना में प्रतिमा के समान प्रतीक रूप से ओङ्कार की साधनता सिद्ध होती है। अन्य श्रुति इसी को कहती है—हे सोम्य! यह निरुपाधिक परब्रह्म और सोपाधिक अपरब्रह्म ही ओङ्कार है। यहाँ केवल ख शब्दार्थ में सन्देह है।

'वेद' अर्थात् यह ओङ्कार ही वेद है क्योंकि जो वेदितव्य ब्रह्म है, वह इससे जाना जाता है। (जिससे ब्रह्मवेदन साधनत्व है) इसलिये वेद ओङ्कार वाचक, आत्मा का नाम है। उस नाम से

१ वायुरस्मिन्निति—वायुरत्र सूत्र वायुर चाव्याकृतमीश्वर इति स्फुटियिष्यते टीकातोऽग्रे। २ यथोक्तोभयप्रकारेणापि। ३ उभयविधब्रह्मप्रतिपत्तौ। ४ ब्रह्म। ५ ब्रह्मवेदनसाधनत्वात्। ६ आत्मनः। ७ खशब्दस्यार्थान्तरम्। ८ अव्याकृताकाशे। ९ ननु खशब्दस्य भूताकाशे प्रसिद्धतरत्वात्तदेव किमित्यत्र न गृह्यते-त आह—तदेवेति। अव्याकृताकाशमेवेत्यर्थः। तथा च परिणामपरिणामिनोरभेदाद्भूताकाशमव वायुरशब्देन विवक्षितमिति भाव। १० तर्हि—वायुरशब्देन भूताकाशस्य विवक्षितत्व। ओङ्काराख्ये प्रतीके कारणब्रह्मदृष्टिस्तस्मिन्नेव भूताकाशावच्छिन्नब्रह्मदृष्टिरिति पक्षद्वये प्राप्नुवति सतीत्यर्थः। ११. अन्यथासिद्धिसंभवादिति। ओङ्कारस्यप्रतीकत्वानभ्युपगमेऽपि तदभिधानत्वेनापि सार्थक्यसंभवादित्यर्थः। १२ ओङ्कारस्य प्रतीकत्वे। १३ तस्याभिधानत्वमेव।

विज्ञानात्युपलभते। 'तस्माद्वेदोऽयमिति ब्राह्मणा विदुः। 'तस्माद्ब्राह्मणानामभिधानत्वेन 'साधनत्वमभिप्रेतमोंकारस्य। अथवा वेदोऽयमित्याद्यर्थवादः। कथमोंकारो ब्रह्मणः प्रतीकत्वेन विहितः। ॐ खं ब्रह्मेति सामानाधिकरण्यात्तस्य' स्तुतिरिदानीं वेदत्वेन'। सर्वो ह्ययं वेद ॐकार एव। 'एतत्प्रभव एतदात्मकः सर्वं ऋग्यजुःसामादिभेदभिन्न' एष ओंकारः "तद्यथा शङ्कुना सर्वाणि पर्णानि" इत्यादिश्रुत्यन्तरात्। इतश्चायं वेद ॐकारो यद्वेदितव्यं तत्सर्वं वेदितव्यमोंकारेणैव वेदेनेनातोऽयमोंकारो वेदः। इतरस्यापि "वेदस्य वेदत्वमत एव। "तस्मा"द्विशिष्टोऽयमोंकारः साधनत्वेन "प्रतिपत्तव्य इति। अथवा वेदः सः। कोऽसौ। यं ब्राह्मणा विदुरोंकारम्। ब्राह्मणानां ह्यसौ प्रणवोद्गीथा"दिविकल्पै-

---

ग्राऽऽवो तच्छब्दो द्रष्टव्यः। ब्राह्मणा विदुरिति विशेषनिर्देशस्य तात्पर्यमाह—तस्मादिति। प्रतीकपक्षेऽपि वेदोऽयमित्यादिग्रन्थो "निर्वहतीत्याह—अथवेति। विध्यभावे कथमर्थवाद. संभवतीत्याशङ्क्य परिहरति—कथमित्यादिना। वेदत्वेन स्तुतिमोंकारस्य संग्रहविवरणाभ्यां दर्शयति—सर्वो हीति। ॐकारे सर्वस्य नामजातस्यान्तर्भावे प्रमाणमाह—तद्यथेति। "तत्रैव हेत्वन्तरमवतार्य व्याकरोति—इतश्चेति। वेदितव्यं परमपरं वा ब्रह्म। 'द्वे ब्रह्मणी वेदितव्ये' इति श्रुत्यन्तरात्। "तद्वेदनसाधनत्वेऽपि कथमोंकारस्य वेदत्वमित्याशङ्क्याऽऽह—इतरस्यापीति। अत एव वेदितव्यवेदनहेतुत्वादेवेत्यर्थः। प्रतीकपक्षे वाक्ययोजनां निगमयति—तस्मादिति। अभिधानपक्षे प्रतीकपक्षे चैकं वाक्यमेकैकत्र योजयित्वा पक्षद्वयेऽपि साधारण्येन योजयति—अथवेति। तस्य पूर्वोक्तनीत्या वेदत्वे लाभं दर्शयति—तस्मिन्निति।

"यद्वेदितव्यम्" अर्थात् जो प्रकाश्यमान या अभिधीयमान ब्रह्म है, उसे साधक 'वेद' अर्थात् जानता या प्राप्त करता है। इसलिये ब्रह्म वेदन साधन होने से यह वेद है—ऐसा ब्राह्मण जानते हैं। इसलिए (विशेषनिर्देश होने से) ब्राह्मणो को यह स्वीकृत है कि ब्रह्म उपासना मे ओङ्कार अभिधान रूप से साधन है। अथवा 'यह वेद है' यह वाक्य स्तुतिपरक है। किस प्रकार ओङ्कार ब्रह्म के प्रतीक रूप से विहित है। क्योकि वह परमात्मा आकाश है, इस प्रकार उनका सामानाधिकरण्य है। अब उसकी स्तुति वेदरूप से की जाती है। यह सारा वेद ओङ्कार ही है। इससे उत्पन्न एव इसका स्वरूप ऋग्यजु-सामादिभेदो मे विभक्त वेद भी यह ओङ्कार ही है। अन्य श्रुति में भी कहा है 'जिस प्रकार शङ्कु से सपूर्ण पत्ते और तृण व्याप्त रहते हैं'। यह वेद इसलिए भी ओङ्कार है क्योकि जो वेदितव्य ब्रह्म है, वह सब इस ओङ्कार रूप वेद से जाना जाता है, इसलिए यह ओङ्कार वेद है, इससे भिन्न ऋगादि वेद का भी वेदत्व इसी से है। इसलिए गायत्री आदि आलम्बनो से प्रशसित इस ओङ्कार मे साधन रूप से ब्रह्मदृष्टि करनी चाहिये। अथवा वह वेद है। कौन वेद है? जिसे ब्राह्मण ओङ्कार जानते है क्योकि यह ओङ्कार ब्राह्मणो द्वारा प्रणव-उद्गीथ आदि विकल्पो से ग्राह्य है और उसके साधन रूप मे प्रयोग करने

---

१ ब्रह्मवेदनसाधनत्वात्। २ विशेषनिर्देशात्। ३ ब्रह्मप्रतिपत्तौ। ४ स्तुति। ५ विधेरभावे वा। ६ क्रियते। ७ सग्रहवाक्य विवृणोति—एतदिति। ८ वेद। ९ सतृण्णान्येवमोङ्कारेण सर्वा वाक् सतृण्णोङ्कार एव। छा ० २ २३ ३। १०. ऋगादे। ११ यथोक्तनीत्या वेदत्वात्। १२. गायत्र्याद्यालम्बनेभ्य प्रशस्तः। १३. तत्र ब्रह्मदृष्टिः कार्या। १४ आदिना प्रस्तावप्रतिहारौ ग्राह्यौ। १५ उपयुज्यते। १६ वेदत्वेनोङ्कारस्तुतौ। १७ ब्रह्म।

अथ पञ्चमाध्यायस्य द्वितीयं ब्राह्मणम् ।

'त्रयाः प्राजापत्याः प्रजापतौ पितरि ब्रह्मचर्यमूषुर्देवा मनुष्या असुरा उषित्वा ब्रह्मचर्यं देवा ऊचुर्ब्रवीतु नो भवानिति तेभ्यो हैतदक्षरमुवाच द इति व्यज्ञासिष्टा

देव, नर और असुर, ये तीनों प्रजापति के पुत्र थे । उन्होंने *पिता प्रजापति के पास शिष्यभाव* से ब्रह्मचर्यपूर्वक निवास किया। ब्रह्मचर्यपूर्वक वास के बाद देवों ने प्रजापति से कहा—आप हमें उपदेश करें। प्रजापति ने उन देवों से 'द' यह अक्षर कहा और पूछा—क्या आप लोग समझ गये ? इस पर देवताओं

विज्ञेयः । तस्मिन्हि प्रयुज्यमाने साधनत्वेन सर्वो वेदः प्रयुक्तो भवतीति ।। १ ।।

इति श्रीबृहदारण्यकोपनिषद्भाष्ये पञ्चमाध्यायस्य प्रथमं ब्राह्मणम् ।। १ ।।

अधुना दमादिसाधनत्रयविधानार्थोऽयमारम्भः—त्रयास्त्रिसंख्याकाः प्राजापत्याः प्रजापतेरपत्यानि प्राजापत्यास्ते किं प्रजापतौ पितरि ब्रह्मचर्यं शिष्यत्ववृत्तेर्ब्रह्मचर्यस्य प्राधान्याच्छिष्याः सन्तो ब्रह्मचर्यमूषुरुषितवन्त इत्यर्थः । के ते विशेषतो, देवा मनुष्या

ॐकारस्य ब्रह्मोपास्तिसाधनत्वमित्थं सिद्धमित्युपसंहर्तुमितिशब्द ।।

इति बृहदारण्यकोपनिषद्भाष्यटीकायां पञ्चमाध्यायस्य प्रथमं ब्राह्मणम् ।। १ ।।

ब्राह्मणान्तरस्य तात्पर्यमाह—अधुनेति । तद्विधानं सर्वोपास्तिशेषत्वेनेति द्रष्टव्यम् । आख्यायिकाप्रवृत्तिरारम्भः । पितरि ब्रह्मचर्यमूषुरिति सम्बन्धः । प्रजापतिसमीपे ब्रह्मचर्यवासमात्रेण किमित्यसौ देवादिभ्यो हितं ब्रूयादित्याशङ्क्याऽऽह—शिष्यत्वेति । शिष्यभावेन वृत्तेः सम्बन्धिनो ये धर्मास्तेषां

पर सभी वेद प्रयुक्त हो जाता है ।। १ ।।

इस प्रकार बृहदारण्यक उपनिषत् में पञ्चमाध्यायस्य प्रथम ब्राह्मण के शाङ्करभाष्य का हिन्दीभाषानुवाद सपन्न हुआ ।। १ ।।

(आभ्यन्तर सर्वोपास्ति साधन ओङ्कार को कह कर) अब दमादि (बाह्य) साधनत्रय के लिए यह आख्यायिका रूप अर्थवाद प्रारम्भ किया जाता है—'त्रया' अर्थात् तीन संख्या वाले 'प्राजापत्या' यानी प्रजापति के पुत्र थे । उन्होंने क्या किया ? 'प्रजापतौ पितरि ब्रह्मचर्यमूषु' अर्थात् पिता प्रजापति के पास 'शिष्यत्ववृत्ति से रहना ही ब्रह्मचर्य की प्रधानता है', इसलिए शिष्य होकर ब्रह्मचर्यपूर्वक वास किया । वे कौन थे ? विशेषत देव, मनुष्य और असुर । उन्होंने ब्रह्मचर्य-

---

१ त्रया इत्यादिरर्थवादोऽयम् । तदेतत्त्रयं शिक्षेदिति दमादिविधिशेषत्वात् । दमादयश्च सर्वोपास्तिसाधनम् । यदाहु — 'दान्तो दाता दयालुश्च सबाह्याभ्यन्तरः शुचिः । एवंविधोऽधिकारी स्यात्सर्वासूपास्तिभूमिषु' ।। वा २ ।। इति । अतिसूक्ष्मे परात्मनि नान्यस्य ध्यानं सिध्यतीति भावः । २ अधुनेति—आभ्यन्तरं सर्वोपास्तिसाधनमोङ्कारमुक्त्वा । ३ बाह्यसाधनत्रयं । ४ आख्यायिकारूपोऽर्थवादः । ५ वक्ष्यमाणसर्वोपास्तीत्यर्थः । ६ वर्तनस्य व्यवहरणस्य ।

३ इति व्यज्ञासिष्मेति होचुर्दाम्यतेति न आत्थेत्योमिति होवाच व्यज्ञासिष्टेति ॥१॥
अथ हैनं मनुष्या ऊचुर्ब्रवीतु नो भवानिति तेभ्यो हैतदेवाक्षरमुवाच द इति व्यज्ञासिष्टा ३ इति व्यज्ञा-

ने कहा–हाँ, हम लोग समझ गये। आपने 'इन्द्रिय दमन करो' ऐसा हमें उपदेश दिया है, (क्योंकि देवता स्वभाव से अजितेन्द्रिय होते हैं; अतः उन्हें इन्द्रिय दमन की आवश्यकता होती है) तब प्रजापति ने कहा—ठीक है, आप लोग समझ गये हो ॥ १ ॥

उसके बाद प्रजापति से मनुष्यों ने कहा —हमें आप उपदेश करें। प्रजापति ने उन्हें भी 'द' यह अक्षर ही बतलाया और पूछा —समझ गये ? मनुष्यों ने कहा—हाँ, हम सब समझ गये। आपने

असुराश्च। ते चोषित्वा ब्रह्मचर्यं किमकुर्वन्नित्युच्यते—तेषां देवा ऊचुः पितरं प्रजापतिम्। किमिति। ब्रवीतु कथयतु नोऽस्मभ्यं यदनुशासनं भवानिति। तेभ्य एवमर्थिभ्यो हैतदक्षरं वर्णमात्रमुवाच द इति। उक्त्वा च तान्पप्रच्छ पिता किं व्यज्ञासिष्टा इति। मयोपदेशार्थमभिहितस्याक्षरस्यार्थं विज्ञातवन्त आहोस्विन्नेति। देवा ऊचुर्व्यज्ञासिष्मेति विज्ञातवन्तो वयम्। यद्येवमुच्यतां किं मयोक्तमिति। देवा ऊचुर्दाम्यतादान्ता यूय स्वभावतोऽतो दान्ता भवतेति नोऽस्मानात्थ कथयसि। इतर आहोमिति सम्यग्व्यज्ञासिष्टेति ।१।
समानमन्यत्। स्वभावतो लुब्धा यूयमतो यथाशक्ति संविभजत दत्तेति नोऽस्मा-

मध्ये ब्रह्मचर्यस्येत्याधि योज्यम्। तेषामिति निर्धारणे षष्ठी। ऊहापोहशक्तानामेव शिष्यत्वमिति द्योतनार्थो हशब्दः। विचारार्था प्लुतिरित्यङ्गीकृत्य प्रश्नमेव व्याचष्टे—मयेति। ओमित्यनुज्ञामेव विभजते—सम्यगिति।
समानत्वेनोत्तरस्य सर्वस्यार्थवावस्याव्याख्येयत्वे प्राप्ते दत्तेत्यत्र तात्पर्यमाह—स्वभावत इति।

पूर्वक रहकर क्या किया ? इस पर श्रुति कहती है—उन (तीनों पुत्रों) में से देवता अपने पिता प्रजापति से बोले। क्या बोले ? "ब्रवीतु नो भवानिति" अर्थात् जो आपकी शिक्षा हो, वह हमारे प्रति कहिये। "तेभ्य" अर्थात् उपदेश सुनने के इच्छुक उन देवों के प्रति "हैतदक्षरम्" अर्थात् इस 'द' वर्णमात्र का उच्चारण किया। इतना कहकर पिता ने उन देवताओं से पूछा—क्या समझ गये हो अर्थात् मेरे द्वारा उपदेशार्थ बताये गये 'द' इस अक्षर का तात्पर्य समझ गये हो अथवा नहीं। देवता बोले - "व्यज्ञासिष्मेति" अर्थात् हम समझ गये हैं। यदि ऐसा है, तो बताओ मेरे 'द' कहने का तात्पर्य क्या था ? देवता बोले—"दाम्यताम्" अर्थात् तुम लोग स्वभाव में अदान्त हो, इसलिए अब जितेन्द्रिय हो जाओ। ऐसा "न आत्थ" आप हमसे कह रहे हो। तब प्रजापति ने कहा—ठीक है ! आप अच्छी प्रकार समझ गये हो ॥ १ ॥

इस मन्त्र का अन्य अर्थ उपरोक्त मन्त्र के समान है। आप लोग स्वभाव से लोभी हो, इसलिए

१. शिक्षणम्। २ मर्यादिरमिति शेषः। ३ अङ्गीकारम्। ४. स्पष्टयति।

सिष्मेति होचुर्दत्तेति न आत्थेत्योमिति होवाच व्यज्ञा-
सिष्टेति ॥ २ ॥

अथ हैनमसुरा ऊचुर्ब्रवीतु नो भवानिति तेभ्यो हैतदे-
वाक्षरमुवाच द इति व्यज्ञासिष्टा ३ इति व्यज्ञा-
सिष्मेति होचुर्दयध्वमिति न आत्थेत्योमिति होवाच

हमे 'दान करो' ऐसा उपदेश किया है (क्योंकि मनुष्य स्वभाव से ही लोभी होता है) तब प्रजापति ने कहा—हाँ, ठीक है, आप लोग समझ गये ॥ २ ॥

फिर प्रजापति से दैत्यों ने कहा—आप हमें उपदेश करें। प्रजापति ने दैत्यों से भी 'द' यह अक्षर ही कहा और पूछा—क्या आप लोग समझ गये ? दैत्यों ने कहा—हाँ, हम सब समझ गये। आपने हमें 'दया करो' ऐसा कहा। तब प्रजापति ने कहा—हाँ ठीक है, आप लोग समझ गये। उस प्रजापति

नात्थ [1]किमन्यद्ब्रूयातो हितमिति मनुष्याः ॥ २ ॥

तथाऽसुरा दयध्वमिति। क्रूरा यूयं हिंसादिपरा अतो दयध्वं प्राणिषु दया कुरुतेति। तदेतत्प्रजापतेरनुशासनमद्याप्यनुवर्तत एव। यः पूर्वं प्रजापतिर्देवादीननुशशास सोऽद्या-प्यनुशास्त्येव दैव्या स्तनयित्नुलक्षणया वाचा। कथमेषा श्रूयते दैवी वाक्काऽसौ स्तनयि-

---

दानमेव लोभत्यागरूपमुपदिष्टमिति कुतो निश्चितमन्यदेव हितं किंचिदादिष्टं किं न स्यादित्याशङ्क्याऽऽह—किमन्यदिति।

यथा देवा मनुष्याश्च स्वाभिप्रायानुसारेण दकारश्रवणे सत्यर्थं जगृहुस्तथेति यावत्। दयध्वमित्यत्र तात्पर्यमीरयति—क्रूरा इति। हिंसादीत्यादिशब्देन परस्वापहारादि गृह्यते। प्रजापतेरनुशासनं प्रागासीदित्यत्र लिङ्गमाह—तदेतदिति। अनुशासनस्यानुवृत्तिमेव व्याकरोति—य पूर्वमिति। 'द इति

यथाशक्ति अन्नादि का सविभाजन किया करो, दान किया करो—ऐसा आपने हमसे कहा है। (दान करना ही सर्वोत्तम हित की बात होने से) इससे अधिक हित की बात क्या कहोगे—ऐसा मनुष्य बोले ॥ २ ॥

इसी प्रकार असुरों ने 'दया करो' ऐसा 'दकार' वर्ण का अभिप्राय समझा। क्योंकि तुम स्वभावतः क्रूर हो, हिंसादिपरायण हो, इसलिए "दयध्वम्" अर्थात् प्राणियों में दया करो। प्रजापति का यह अनुशासन आज भी उसी प्रकार चल रहा है। जिस प्रजापति ने पहले देवादिकों को शिक्षा दी थी, वह आज भी मेघ देवता की दिव्य वाणी से शिक्षण कार्य करता है। यह दैवी वाणी किस

---

१ किमन्यदिति—सर्वोत्तमहितत्वाद्दानस्येति भावः। २ स्वभावतः। ३ द इति विसन्धिकरणमिति—द इतीत्यत्र गुणात्मकस्य व्यकरणमित्यर्थः। सर्वत्रेत्यादि—सर्वत्र समानवर्णत्वबोधनार्थमिति यावत्। सन्धिकरणे हि तृतीयस्थाने दाकारोऽपि सभाव्येतेति भावः। दकारास्त्रयोऽपि निर्विभक्तिका प्रातिपदिकमात्रमिति ध्येयम्।

वयज्ञासिष्टेति तदेतदेवैषा दैवी वागनुवदति [१]स्तन-
यित्नुर्द द द इति दाम्यत दत्त दयध्वमिति [२]तदेतत्त्रयꣳ
शिक्षेद्दमं दानं दयामिति ॥ ३ ॥

इति बृहदारण्यकोपनिषदि पञ्चमाध्यायस्य
द्वितीयं ब्राह्मणम् ॥ २ ॥

के अनुशासन का मेघगर्जनरूपी दैवी वाणी 'द द द' इस प्रकार आज भी अनुवाद कर रही है अर्थात् दमन करो, दान करो और दया करो। अतः दमन, दान और दया इन तीनों को अपने अधिकारानुरूप सभी ने सीख लिया ॥ ३ ॥

॥ इति द्वितीयं ब्राह्मणम् ॥

त्नुर्द द द इति दाम्यत दत्त दयध्वमित्येषां वाक्याना[३]मुपलक्षणाय त्रिर्दकार उच्चार्यते-ऽनुकृतिर्न तु स्तनयित्नुशब्दस्त्रिरेव, संख्यानियमस्य लोकेऽप्रसिद्धत्वात् । यस्मादद्यापि प्रजापतिर्दाम्यत दत्त दयध्वमित्यनुशास्त्येव तस्मात्कारणादेतत्त्रयम् । किं तत्त्रयमित्युच्यते दमं दानं दयामिति शिक्षेदुपाददीतप्रजापतेरनुशासनमस्माभिः कर्तव्यमित्येवं मतिं कुर्यात् । तथा च स्मृतिः—

विसंधिकरणं सर्वत्र वर्णान्तरभ्रमापोहार्थम् । यथा दकारत्रयमत्र[४] विवक्षितं तथा स्तनयित्नुशब्देऽपि त्रित्वं विवक्षितं चेत्प्रसिद्धिविरोधः स्यादित्याशङ्क्याऽऽह—अनुकृतिरिति । दशब्दानुकारमात्रमत्र[४] विवक्षितं न तु स्तनयित्नुशब्दे त्रित्वं प्रमाणाभावादित्यर्थः । प्रकृतस्यार्थवादस्य विधि[६]पर्यवसायित्वं फलित-माह—यस्मादिति । उपादानप्रकारमेवाभिनयति—प्रजापतेरिति । श्रुतिसिद्धविध्यनुसारेण भगवदाऽस्य-प्रवृत्तिं दर्शयति—तथा चेति ।

प्रकार सुनी जाती है—'द द द' इस प्रकार मेघ देवता की वाणी 'दमन करो, दान करो, दया करो,— इन वाक्यों के बोध के लिए तीन बार दकार अनुवृत्ति का उच्चारण करती है, मेघ देवता का शब्द तीन बार ही होता है—ऐसी तीन बार आवृत्ति वाली संख्या का नियम लोक में प्रसिद्ध नहीं है। जिस कारण आज भी प्रजापति 'दमन करो, दान करो, दया करो' इस प्रकार अनुशासन करता है, इसलिये इन तीनों की शिक्षा दी। किन तीनों की ? इस पर श्रुति कहती है—दम, दान और दया। इन तीनों को "शिक्षेत्" ग्रहण करे अर्थात् हमें प्रजापति के अनुशासन को करना चाहिये, इस प्रकार बुद्धि करे। इसी को स्मृति भी कहती है—

---

१. मेघो देवः । २. य स्तोतुमर्थवादः प्रवृत्तस्तं विधेयमाह—तदेतदिति । विशेषादपुनिकोऽपि मनुष्य इति भावः । ३. उपलक्षणायेति—नामैकदेशग्रहणन्यायेन बोधनार्थेरयर्थः । ४. प्रजापतिवाक्ये । ५. स्तनयि-त्नुशब्दे । ६. दोषत्वम् ।

" त्रिविधं नरकस्येदं द्वारं नाशनमात्मनः ।

कामः क्रोधस्तथा लोभस्तस्मादेतत्त्रयं त्यजेत् " इति ॥

अस्य हि विधेः शेषः [1]पूर्वः । तथाऽपि [2]देवादीनुद्दिश्य किमर्थं [3]दकारत्रयमुच्चारितवान्प्रजापतिः [4]पृथगनुशासनार्थिभ्यः । [5]ते वा कथं विवेकेन प्रतिपन्नाः प्रजापतेर्मनोगतं समानेनैव दकारवर्णमात्रेणोक्ति पराभिप्रायज्ञा विकल्पयन्ति ।

अत्रैके आहुरदान्तत्वादानत्वादयालुत्वैरपराधित्वमात्मनो मन्यमानाः शङ्किता एव [7]प्रजापतावूषुः किं नो वक्ष्यतीति । तेषां च [8]दकारश्रवणमात्रादेवाऽऽत्माशङ्कावशेन तदर्थ-

---

तदेतत्त्रयं शिक्षेदित्येव विधिश्चेत्कृतं त्रयाः प्राजापत्या इत्यादिना ग्रन्थेनेत्याशङ्क्य "यस्मादित्यादिना सूचितमाह—अस्येति । सर्वैरेव त्रयमनुष्ठेयं चेत्तर्हि देवादीनुद्दिश्य दकारत्रयोच्चारणमनुपपन्नमिति शङ्कते—तथेति । दमादित्रयस्य सर्वैरनुष्ठेयत्वे सतीति यावत् । किंच पृथक्पृथगनुशासनार्थिनो देवादयस्तेभ्यो दकारमात्रोच्चारणे नापेक्षितमनुशासनं सिध्यतीत्याह—पृथगिति । किमर्थमित्यादिना पूर्वेण सबन्धः । दकारमात्रमुच्चारयतोऽपि प्रजापतेर्विभागेनानुशासनमभिसहितमित्याशङ्क्याऽऽह—ते वेति । त्रयं सर्वैरनुष्ठेयमिति परस्य सिद्धान्तिनोऽभिप्रायस्तदभिज्ञाः सन्तो यथोक्तनीत्या विकल्पयन्तीति योजना । पराभिप्रायज्ञा इत्युपहासो वा परस्य प्रजापतेर्मनुष्यादीनां चाभिप्रायज्ञा इति । [11]नमुल्लेखी वा पाठः ।

एकीयं परिहारमुत्थापयति—अत्रेति । अस्तु तेषामेषा शङ्का तथाऽपि दकारमात्रा[12]त्कीदृशी प्रतिपत्तिरित्याशङ्क्याऽऽह—तेषां चेति । तदर्थो दकारार्थो दमादिस्तस्य प्रतिपत्तिस्तद्द्वारेणावान्तरत्वादि-

---

"काम, क्रोध और लोभ ये तीनों नरक के द्वार हैं, जो आत्मा को पतन की ओर ले जाने वाले हैं, इसलिए बुद्धिमान् को इन तीनों का त्याग कर देना चाहिये" ।

इस विधि का ही यह पूर्ववर्णित 'प्रजापति के तीन पुत्रों वाली आख्यायिका' शेष है । तो भी पृथक्-पृथक् उपदेश सुनने के इच्छुक (सबको निमित्त कर उच्चारण करने योग्य होते हुए भी) देवताओं को उद्देश्य करके प्रजापति ने तीन दकारों का उच्चारण क्यों किया और उन देवताओं ने भी एक दकार मात्र वर्ण से प्रजापति के मनोगत (विभागपूर्वक) उपदेश को कैसे जान लिया ? इस प्रकार दूसरों के अभिप्राय के जानने वाले वादी लोग विकल्प करते हैं ।

यहाँ किसी एक पूर्ववादी का मत है कि अजितेन्द्रिय, लोभी और निर्दयी होने के कारण अपने-अपने को अपराधी मानते हुए शङ्कित भाव से उन्होंने प्रजापति के यहाँ ब्रह्मचर्य वास किया कि देखें

---

१ त्रयाः प्राजापत्या इत्यादिकोऽर्थवादः । २ देवादीनुद्दिश्येति—सर्वानुद्दिश्योच्चारयितव्ये इति भावः । ३ दकारत्रयमिति—दाम्यतेत्यादिपदत्रये वक्तव्ये इति भावः । ४ इदमेव विशदयति—पृथगित्यादिना । ५ देवादयः । ६ विभागेनानुशासनम् । ७ प्रजापतावूषुरिति—तथा च "नापृष्टः कस्यचिद्ब्रूयादिति" न्यायेन देवादीनेवोद्दिश्य दकारोच्चारणं न्याय्यमिति भावः । ८ दकारमात्रश्रवणात् । ९ आत्मदोषानुरूपेण । १० १३८१ पृष्ठमाध्ये । ११ नमुल्लेखीति—पराभिप्रायानभिज्ञा इत्येयम् । १२ कीदृशीति—कथं तादृशीति यावत् ।

प्रतिपत्तिरभूत् । लोकेऽपि हि प्रसिद्धं पुत्राः शिष्याश्चानुशास्याः सन्तो दोषान्निवर्तयितव्या इति । 'अतो युक्तं प्रजापतेर्दकारमात्रोच्चारणम् । दमादित्रये च दकारान्वयादात्मनो दोषानुरूप्येण देवादीनां विवेकेन प्रतिपत्तुं चेति । 'फलं त्वेतदात्मदोषज्ञाने सति 'दोषान्निवर्तयितुं शक्यन्तेऽल्पेनाप्युपदेशेन यथा देवादयो दकारमात्रेणेति ।

नन्वेतत्त्रयाणां देवादीनामनुशासनं देवादिभिरप्येकैकमेवोपादेयमद्यत्वेऽपि न तु त्रयं मनुष्यैः शिक्षितव्यमिति । अत्रोच्यते—पूर्वैर्देवादिभिर्विशिष्टैरनुष्ठितमेतत्त्रयं तस्मान्मनुष्यैरेव 'शिक्षितव्यमिति । 'तत्र दयालुत्वस्याननुष्ठेयत्वं स्यात्कथमसुरैरप्रशस्तैरनुष्ठित-

---

निवृत्तिरासीदित्यर्थः । किमिति प्रजापति'र्दोषज्ञापनद्वारेण ततो देवादीननुशास्या'न्दोषान्निवर्तयिष्यति तत्राऽऽह—लोकेऽपीति । दकारोच्चारणस्य प्रयोजने सिद्धे फलितमाह—अत इति । यत्तूक्तं ते वा कथमित्यादि तत्राऽऽह—दमादीति । प्रतिपत्तुं च युक्त दमादीति शेष. । इतिशब्दः स्वयूथ्यमतसमाप्त्यर्थः । परोक्तं परिहारमङ्गीकृत्याऽऽख्यायिकातात्पर्यं सिद्धान्ती ब्रूते—फल त्विति । निर्ज्ञातदोषा देवादयो यथा दकारमात्रेण ततो निवर्त्यन्त इति शेषः । इतिशब्दो दार्ष्टान्तिकप्रदर्शनार्थः ।

दकारमात्रेण ततो निवर्त्यन्त इति शेषः । इतिशब्दो दार्ष्टान्तिकप्रदर्शनार्थः । विशिष्टान्प्रत्यनुशासनस्य प्रवृत्तत्वादस्माक 'तदभावादनुपादेय दमादीति शङ्कते—नन्विति । किंच देवादिभिरपि प्रातिस्विकानुशासनवशादेकैकमेव दमाद्यनुष्ठेयं न तत्त्रयमित्याह—देवादिभिरिति । यथा पूर्वस्मिन्काले देवादिभिरेकैकमेवोपादेयमित्युक्तं तथा वर्तमानेऽपि काले मनुष्यैरेकैकमेव कर्तव्यं पूर्वाचारानुसारात्न तु त्रयं शिक्षितव्यं तथा च "कस्यायं त्रिविधिरित्याह—अद्यत्वेऽपीति । आचारप्रामाण्यमाश्रित्य परिहरति—अत्रेति इत्येकैकमेव नोपादेयमिति शेषः । दयालुत्वस्यानुष्ठेयत्वमाक्षिपति—तत्रेति । मध्ये दमादीनामिति यावत् । असुरैरनुष्ठितत्वेऽपि दयालुत्वमनुष्ठेयं हितसाधनत्वाद्

कि यह हमे क्या शिक्षा देते है । अपने दोष के अनुरूप जब उन्होने दकारमात्र का श्रवण किया तो उन्हे उसकी प्रतीति हुई । लोक मे यह प्रसिद्ध है, पुत्रो व शिष्यो को अनुशासित करते हुए उनके दोषो का निवारण करना चाहिये । इसलिये प्रजापति द्वारा (अपने पुत्रो के कल्याण के लिए) दकार मात्र का उच्चारण करना ठीक ही है । तथा दमादि तीनो मे दकार का अन्वय होने से अपने दोष के अनुरूप देवादिको उन्हे अलग-अलग जान लेना भी उचित ही है । तात्पर्य यह है कि अपने दोष का ज्ञान होने पर अल्प उपदेश से ही दोष से निवृत्त कराया जा सकता है । जिस प्रकार देवादि 'दकार' मात्र उपदेश से ही दोष निवृत्त हो गये ।

(पूर्ववादी शङ्का करता है—) किन्तु यह देवता आदि तीनो को उपदेश किया गया, देवता-

---

१ अत —दकारोच्चारणस्य यथोक्तरीत्या सफलत्वात् । २ फलम्—आख्यायिकोल्लेखस्य तात्पर्यमित्यर्थ । ३ पञ्चमीयम् । ४ ननु पूर्वैर्देवादिभिर्यद्येकैकमनुष्ठितं किमिति तर्हि मनुष्यैस्त्रयमनुष्ठेयमित्याशङ्का निर्गमितु मनुष्यैरेवेत्येवकार पूर्वं समुच्चित्यानुष्ठितमप्याधुनिकैस्तथैवानुष्ठेयम् । आधुनिकान्प्रति पूर्वेषां त्रयाणामपि ज्येष्ठत्वाविशेषात् ज्येष्ठमात्राचारस्य च कनिष्ठान्प्रति प्रामाण्यादिति भाव । ५ उपादेयम् । ६ न तावज्ज्येष्ठमात्राचारस्य प्रामाण्यं कि तर्हि । प्रशस्तज्येष्ठाचारस्यैवेत्यभिप्रायवानाशङ्कते—तत्रेत्यादिना । ७ अप्रशस्तैरिति—शिष्टाचारस्यैव प्रामाण्यादिति भाव । ८ प्रदान्तत्वादि । ९ पञ्चमी । १०. विशिष्टत्वाभावात् । ११ कस्याय विधिरिति—कस्य दमाद्यन्यतमस्येत्यर्थ ।

त्वादिति चेत्¹। न तुल्यत्वात्त्रयाणामतोऽन्यो²ऽत्राभिप्रायः ³प्रजापतेः पुत्रा देवादयस्त्रयः पुत्रेभ्यश्च हितमेव पित्रोपदेष्टव्यम्। प्रजापतिश्च हितज्ञो नान्यथोपदिशति। तस्मात्पुत्रानुशासनं प्रजापतेः परममेतद्धितम्। अतो ⁴मनुष्यैरेवैतत्त्रयं शिक्षितव्यमिति।

अथवा न देवा असुरा वाऽन्ये केचन विद्यन्ते मनुष्येभ्यः। मनुष्याणामेवादान्ता येऽन्यैरुत्तमैर्गुणैः संपन्नास्ते देवा लोभप्रधाना मनुष्यास्तथा हिंसापराः क्रूरा असुरास्त एव मनुष्या ⁵अदान्तत्वादिदोषत्रयमपेक्ष्य देवादिशब्दभाजो भवन्ती⁶तरांश्च गुणान्सत्त्वरज-

---

नादिवदिति परिहरति—नेत्यादिना। देवादिषु प्रजापतेरविशेषात्तेभ्यस्तदुपदिष्टमदयात्वेऽपि सर्वमनुष्ठेयमित्यर्थः। हितस्यैवोपदेष्टव्यत्वेऽपि ⁷तदज्ञानात्प्रजापति⁸रन्यथोपदिशतीत्याशङ्क्याऽऽह—प्रजापतिश्चेति। हितज्ञस्य पितुरहितोपदेशित्वाभावस्तस्मादित्युक्तः। विशिष्टैरनुष्ठितस्यास्मदादिभिरनुष्ठेयत्वे फलितमाह—अत इति। प्राजापत्या देवादयो विग्रहवन्तः सन्तीत्यर्थवादस्य यथाश्रुतेऽर्थे प्रामाण्यमभ्युपगम्य दकारत्रयस्य ⁹तात्पर्यं सिद्धमिति वक्तुमितिशब्दः।

संप्रति कर्ममीमांसकमतमनुसृत्याऽऽह—अथवेति। कथं मनुष्येष्वेव देवासुरत्वं तत्राऽऽह—मनुष्याणामिति। अन्ये गुणा ज्ञानादयः। किं पुनर्मनुष्येषु देवादिशब्दप्रवृत्तौ निमित्तं तदाह—अदान्तत्वादीति। ¹⁰देवादिशब्दप्रवृत्तौ निमित्तान्तरमाह—इतरांश्चेति। मनुष्येष्वेव देवादिशब्दप्रवृत्तौ फलितमाह

दिकों ने भी उन तीनों में से एक-एक की उपादेयता को स्वीकार किया। इसलिए आजकल भी मनुष्यों को उन तीनों की शिक्षा नहीं देनी चाहिये। (इस पर सिद्धान्ती कहता है—) यहाँ तात्पर्य अर्थ यह कहा जाता है कि जिस प्रकार पूर्व समय में देवतादिविशिष्ट प्रजापति के पुत्रों ने इन तीनों का अनुष्ठान किया, इसलिए मनुष्यों को इनका अनुष्ठान करना चाहिये। (फिर पूर्ववादी कहता है—) किन्तु उन तीनों में दयालुता का अनुष्ठान तो करने योग्य नहीं है क्योंकि इसका अशिष्ट राक्षसों द्वारा अनुष्ठान किया गया था। (सिद्धान्ती उक्त आक्षेप का परिहार करता है—) ऐसा कहना ठीक नहीं है क्योंकि तीनों उपदेश तुल्य ही हैं। अतः यहाँ दकारत्रय का दूसरा ही अभिप्राय है। देवतादि तीनों प्रजापति के पुत्र हैं और पिता द्वारा अपने पुत्रों को हितकारी बात की ही शिक्षा दी जानी चाहिये। प्रजापति उनके हितैषी हैं, इसलिये उन्हें अहित का उपदेश नहीं करते। इसलिए प्रजापति द्वारा पुत्रों को दी हुई यह शिक्षा उनका परम हित है। इसलिये मनुष्यों को इन तीनों की शिक्षा देनी चाहिये।

अथवा देवता या असुर, मनुष्यों से अन्य नहीं हैं। मनुष्यों में ही जो, और तो सभी उत्तम गुणों से सम्पन्न हैं किन्तु अदान्त हैं, वे देवता हैं, लोभप्रधान व्यक्ति मनुष्य कहे गये हैं और हिंसा-

---

१ अतोऽन्य इति अप्रशस्तासुरानुष्ठितत्वेनानुष्ठेयं दयालुत्वमिति त्वदुक्ताभिप्रायादन्य इत्यर्थः। २ अत्र प्रकृताख्यायिकायां दकारत्रये वा। ३ अभिप्रायमेव प्रकटयति—प्रजापतेरित्यादिना शिक्षितव्यमितीत्यन्तेन। यद्वा तुल्यत्वात्त्रयाणामित्युक्तं विवृण्वन्नभिप्रायमेव प्रकटयति—प्रजापतेरित्यादिना। ४ मनुष्यैरेवेति—देवादिषु प्रत्येकं व्यावृत्तत्रितयसमुच्चयावद्योतयेवकारः। ५ अदान्तत्वमदातृत्वमदयालुत्वमिति दोषत्रयम्। ६ इतरांश्च गुणान्सत्त्वेत्यादि—सत्त्वप्रधाना देवा इत्येवमादि बोध्यम्। ७ हिताज्ञानात्। ८ अहितम्। ९ तात्पर्यम्—विशिष्टानुष्ठितत्वात्त्रयमप्यस्माभिरनुष्ठेयमित्येतत्। १० मनुष्येषु।

स्तमांस्यपेक्ष्य । अतो मनुष्यैरेव शिक्षितव्यमेतत्त्रयमिति । तदपेक्षयैव प्रजापतिनोपदिष्टत्वात् । तथा हि मनुष्या अदान्ता लुब्धाः क्रूराश्च दृश्यन्ते । तथाचस्मृतिः—"कामः क्रोधस्तथा लोभस्तस्मादेतत्त्रयं त्यजेत्" इति ॥ ३ ॥

इति बृहदारण्कोपनिषद्भाष्ये पञ्चमाध्यायस्य द्वितीयं ब्राह्मणम् ॥ २ ॥

(अथ पञ्चमाध्यायस्य तृतीयं ब्राह्मणम्)

दमादिसाधनत्रयं सर्वोपासनशेषं विहितम् । दान्तोऽलुब्धो दयालुः सन्सर्वोपासनेऽधिक्रियते । तत्र निरुपाधिकस्य ब्रह्मणो दर्शनं मतिक्रान्तमथाधुना सोपाधिकस्य तस्यं वाभ्युदयफलानि वक्तव्यानीत्येवमर्थोऽयमारम्भः—

—प्रत इति । इतिशब्दो विध्युपपत्तिप्रदर्शनार्थः । मनुष्यैरेव त्रयं शिक्षितव्यमित्यत्र हेतुमाह—तदपेक्षयेति । मनुष्याणामेव देवादिभावे प्रमाणमाह—तथा हीति । त्रयं शिक्षितव्यमित्यत्र स्मृतिमुदाहरति —तथा चेति । इतिशब्दो ब्राह्मणसमाप्त्यर्थः ॥ ३ ॥

इति बृहदारण्यकोपनिषद्भाष्यटीकायां पञ्चमाध्यायस्य द्वितीयं ब्राह्मणम् ॥ २ ॥

सार्थवादेन विधिना सिद्धमर्थमनुवदति—दमादीति । कथं तस्य सर्वोपासनशेषत्वं तदाह —"दान्त इति । अलुब्ध इति च्छेदः । संप्रत्युत्तरसंदर्भस्य तात्पर्यं वक्तुं भूमिकां करोति—तत्रेति । "काण्डद्वयं सप्तम्यर्थः । अनन्तरसंदर्भस्य तात्पर्यमाह—अथेति । "वाक्यार्थाविरभ्युदयस्तत्फलान्युपासना-

---

परायण क्रूर लोग असुर कहे गये हैं। वही मनुष्य अदान्तत्व (अदातृत्व-अदयालुत्व) रूप दोषत्रय की अपेक्षा से तथा सत्व, रज और तमोगुण की अपेक्षा से देवतादि नाम धारण करते है। इसलिये यह तीनो साधन मनुष्य द्वारा सीखने चाहिये क्योकि मनुष्यों की अपेक्षा से ही प्रजापति ने इन तीनों का उपदेश किया है। तथा मनुष्य भी अजितेन्द्रिय, लोभी और क्रूर स्वभाव वाले देखे जाते हैं। इसीलिए स्मृति कहती है—"काम, क्रोध और लोभ—इन तीनो का तो परित्याग कर देना चाहिये" ॥ ३ ॥

इस प्रकार बृहदारण्यकोपनिषत् मे पञ्चमाध्यायस्य द्वितीय ब्राह्मण के

शाङ्करभाष्य का हिंदीभाषानुवाद सपन्न हुआ ॥ २ ॥

वक्ष्यमाण सर्वोपासना के शेषभूत दमादि साधनत्रय का विधान किया गया। दान्त, निर्लोभी और दयालु होने पर साधक का सब उपासनाओ मे अधिकार होता है। वहाँ (मधुकाण्ड और याज्ञवल्क्यकाण्ड मे) निरुपाधिक ब्रह्म के सम्यक् ज्ञान का प्रतिपादन किया गया। अब सोपाधिक ब्रह्म की अभ्युदयफलक उपासनाएँ बतलानी हैं। इसलिए इस मन्त्र का वर्णन किया जाता है।

---

१. मनुष्यापेक्षया । २. वक्ष्यमाणम् । ३ विहितमिति अनन्तरब्राह्मणे इति शेषः । ततः पूर्वस्मिन्ब्राह्मणे मोङ्कारश्चोपास्याङ्गतया विहित इति द्रष्टव्यम् । ४. सम्यग् ज्ञानम् । ५ उक्तम् । ६. ब्रह्मणः । ७. मयमारम्भ इति—निरुपाधिकब्रह्मोक्त्यनन्तर मत्प्रतिपत्त्यनधिकारि(णे)णा माराधिकब्रह्मोक्तिरित्येति द्रष्टव्यम् । ८. प्रत्यक्षात्मकम् । ९. कथमित्यादि—दम दिहीनस्यापि सर्वोपासनासमर्पकत्वादिति भाव माक्षेप्तुः । १०. दान्त इतीति—यतिसूक्ष्मे वस्तुनि (परस्मिन्) नान्यस्य ध्यान सिध्यतीति भाव इति शेषः । ११. मधुकाण्ड मुनिकाण्ड च । १२. पुण्योदय प्रादिशब्दार्थ. ।

एष प्रजापतिर्यद्धृदयमेतद्ब्रह्मैतत्सर्वं तदेतत्त्र्यक्षरꣳ हृदयमिति हृ इत्येकमक्षरमभिहरन्त्यस्मै स्वाश्चान्ये च य एवं वेद द इत्येकमक्षरं ददत्यस्मै स्वाश्चान्ये च य

जो "हृदय" है, वह प्रजापति है। वह ब्रह्म है क्योंकि वह सब का आत्मा है। अतएव यह सर्व भी है। यह 'हृदय' ऐसा तीन अक्षर नाम वाला है। "हृ" यह एक अक्षर है। जो ऐसा जानता है, उसके प्रति स्व (इन्द्रियाँ) और अन्य शब्दादि विषय बलि समर्पण करते हैं। "द" यह एक अक्षर है,

---

एष प्रजापतिर्यद्धृदयं प्रजापतिरनुशास्तीत्यनन्तरमेवाभिहितम्। कः पुनरसावनुशास्ता प्रजापतिरिति। उच्यते[1]—एष प्रजापतिः। कोऽसौ यद्धृदयं हृदयमिति हृदयस्था[2] बुद्धिरुच्यते। यस्मिञ्शाकल्यब्राह्मणान्ते नामरूपकर्मणामुपसंहार उक्तो दिग्विभागद्वारेण तदेतत्सर्वभूतप्रतिष्ठं सर्वभूतात्मभूतं हृदयं प्रजापतिः प्रजानां स्रष्टा। एतद्ब्रह्म बृहत्त्वात्सर्वात्मत्वाच्च ब्रह्म। एतत्सर्वम्। उक्तं पञ्चमाध्याये हृदयस्य सर्वत्वम्। तत्सर्वं यस्मात्तस्मादुपास्यं हृदयं ब्रह्म। तत्र हृदयनामाक्षरविषयमेव तावदुपासनमुच्यते। तदेतद्धृदयमिति नाम त्र्यक्षरं त्रीण्यक्षराण्यस्येति त्र्यक्षरम्। कानि पुनस्तानि त्रीण्यक्षराण्युच्यन्ते।

मीति शेष। अनन्तरब्राह्मणमादाय तस्य संगतिमाह—एष इत्यादिना। उक्तस्य हृदयशब्दार्थस्य प्राश्निकत्वं दर्शयन्प्रजापतित्वं साधयति—यस्मिन्निति। कथं हृदयस्य सर्वत्वं तदाह—उक्तमिति। सर्वत्वसंकीर्तनफलमाह—तत्सर्वमिति। तत्र हृदयस्योपास्यत्वे सिद्धे सतीत्येतत्। फलोक्तिमुत्थाप्य

यह जो हृदय है, वह प्रजापति है। प्रजापति अनुशासन करता है, यह पिछले ब्राह्मण में कहा जा चुका है। किन्तु यह अनुशासन करने वाला प्रजापति कौन है—इस पर श्रुति कहती है। "यह प्रजापति है"। कौन सा है? जो हृदय हृदय से (लक्षणा द्वारा) बुद्धि का ग्रहण होता है। शाकल्य ब्राह्मण के अन्त में जिसमें दिग्विभागपूर्वक नाम रूप और कर्मों का उपसंहार बतलाया है, वही यह समस्त प्राणियों में प्रतिष्ठित तथा सभी प्राणियों का आत्मभूत हृदय प्रजापति यानी प्रजा का उत्पत्तिकर्ता है। "एतद्ब्रह्म" यानी बृहत्परिमाण और सर्वात्म होने से यह ब्रह्म है। यह सर्व है। पञ्चम अध्याय (उपनिषत् के तृतीय अध्यायस्थ शाकल्य ब्राह्मण) में हृदय का सर्वस्व वर्णन किया जा चुका है। क्योंकि यह सर्व है, इसलिये हृदयस्थ ब्रह्म उपास्य है। अब 'हृदय' इस नाम की अक्षरविषयिणी उपासना को (उपास्य हृदय की स्तुति के लिए) कहा जाता है। वह यह 'हृदय' ऐसा 'त्र्यक्षरम्' यानी तीन अक्षरों वाला है। वे तीन अक्षर कौन से हैं? वे बतलाये जाते हैं। 'हृ' यह एक अक्षर

---

१ उच्यत इति—दक्षादिव्यावृत्तये एष इत्यादिवाक्यमिति भाव। २ हृदयं मांसखण्डविशेष। ३. लक्षणया। ४ बृ उ ३ ९ २०। ५ व्याख्येयमिदं पदम्। ६ तृतीये शाकल्ये ब्राह्मणे। ७ उच्यत इति—उपास्यहृदयस्तुत्यर्थमिति बोध्यम्। ८ पाञ्चमिकत्वं पञ्चमे (तृतीये)ऽध्याये प्रस्तुतत्वम्।

एवं वेद यमित्येकमक्षरमेति स्वर्गं लोकं य एवं वेद ॥ १ ॥

इति बृहदारण्यकोपनिषदि पञ्चमाध्यायस्य तृतीयं ब्राह्मणम् ॥ ३ ॥

इस प्रकार जो उपासना करता है, उसे स्वजातीय और असवद्ध पुरुष भी बलि समर्पण करते हैं। "यम्" यह एक अक्षर है। इसे जो जानता है, वह स्वर्ग लोक को प्राप्त करता है (जब नाम के अक्षर की उपासना करने वाले को भी विशिष्ट फल मिलता है, तो 'हृदय" ब्रह्म की उपासना से प्राप्त होने वाले फल के विषय मे कहना ही क्या है) ॥१॥

॥ इति तृतीय ब्राह्मणम् ॥

हृ इत्येकमक्षरम्। अभिहरन्ति हरतेराहृतिकर्मणो हृ इत्येतद्रूपमिति यो वेद यस्मा[1]द्धृदयाय ब्रह्मणे स्वाश्चेन्द्रियाण्यन्ये च विषयाः शब्दादयः स्वं स्व कार्यमभिहरन्ति[2]हृदयं च[3]भोक्त्र-र्थम[4]भिहरति। अतो[5]हृदयनाम्नो हृ इत्येतदक्षरमिति यो वेदास्मै विदुषेऽभिहरन्ति स्वाश्च ज्ञातयोऽन्ये चासंबद्धाः। बलिमिति वाक्यशेषः। विज्ञानानुरूप्येणैतत्फलम्।

तथा द इत्येतदप्येकमक्षरमेतदपि दानार्थस्य ददातेर्द इत्येतद्रूप हृदयनामाक्षरत्वेन निबद्धम्। अत्रापि—हृदयाय ब्रह्मणेस्वाश्च करणान्यन्ये च विषयाः[6]स्व स्वं वीर्यं ददति

यस्माद्धृदयायेत्यादिना। [7]स्वं कार्यं रूपदर्शनादि। [8]हृदयस्य तु कार्यं सुखादि। असवद्धा ज्ञातिव्यतिरिक्ता। व्याकरोति—अभिहरन्तीति। यो वेदास्मै विदुषेऽभिहरन्तीति संबन्धः। वेदनमेव विशदयति—यस्मा-

औचित्यमुक्ते फले कथयति—विज्ञानेति।

हृदया-त्रापीति दकाराक्षरोपासनेऽपि फलमुच्यत इति शेष.। तामेव फलोक्ति व्यनक्ति—

है। 'अभिहरन्ति' यह हरण-आहृति अर्थ के द्योतक 'हृ' धातु का रूप है जो ऐसा जानता है क्योंकि हृदय के प्रतीक ब्रह्म को "स्वा" अर्थात् इन्द्रियाँ और 'अन्ये' अर्थात् शब्दादिविषय अपने-अपने कार्यों के प्रति ले जाते है और ब्रह्मदृष्टिप्रतीक बुद्धि उपास्य चैतन्य के प्रति ले जाती है इसलिए 'हृदय' नाम का हृ' यह एक अक्षर जो जानता है, उस विद्वान को अपने बन्धु और अन्य असवद्ध पुरुष बलि देते हैं। बलि यह वाक्यशेष से अर्थ है। यह फल उपासना के अनुरूप ही है।

तथा 'द' यह भी एक अक्षर है। यह भी दानार्थक दा धातु का द यह रूप हृदय' के मध्यवर्ती दकार मे सवद्ध है। यहाँ भी हृदय ब्रह्म को अपनी इन्द्रियाँ और अन्य विषय अपने-अपने

---

१ हृदयाय ब्रह्मणे इति—हृदयप्रतीकाय (हृदुपास्याय) ब्रह्मणे इत्यर्थ। २ हृदयं चेति ब्रह्मदृष्टिप्रतीको बुद्धिमात्रमित्यर्थं। ३ भोक्त्रर्थमिति—उपास्यचैतन्यार्थमित्यर्थ। ४ अभिहरतीति—स्व कार्यमित्य-नुषङ्ग। ५ हृदयनाम्नो हृद इत्येतदिति—हरतेराहृतिकर्मण इत्युक्तमत्रानुसन्धेयम्। ६ स्व स्व वीर्यमिति—स्वस्वकार्योत्पादनसामर्थ्यमित्यर्थ.। ७ स्व कार्यमिति—इन्द्रियकार्यं विषयकार्यं चेत्यर्थ। तद् भयोरपि एकस्मिन्दर्शनादि कार्ये करणविषयविधया निमित्तत्वादिति बोध्यम्। ८ हृदयकार्यं सुखादीति हृदयवृत्त्यात्मकसुखादेर्हृदयोपादानकत्वात्।

अथ पञ्चमाध्यायस्य चतुर्थं ब्राह्मणम् ।

तद्वै तदेतदेव तदास सत्यमेव स यो हैतं महद्यक्षं प्रथमजं वेद सत्यं ब्रह्मेति जयतीमाँल्लोकाञ्जित इन्न्वसावसद्य एवमेतन्महद्यक्षं प्रथमजं वेद सत्यं ब्रह्मेति

वही यह हृदय ब्रह्म ही वह है, जोकि सत्य ही है। जो कोई भी इस महत्पूज्य प्रथम उत्पन्न हुए को 'यह सत्य ब्रह्म है' इस प्रकार से उपासना करता है; वह इन लोकों को जीत लेता है, वह इसके वश में हो जाता है और वह असत् स्वरूप हो जाता है। जो इस प्रकार इस महत्पूज्यनीय प्रथम

हृदयं च भोक्त्रे ददाति स्वं वीर्यमतो दकार इत्येव यो वेदास्मै ददति स्वाश्चान्ये च। तथा यमित्येतदप्येकमक्षरम्। इणो गत्यर्थस्य यमित्येतद्रूपमस्मिन्नाम्नि निबद्धमिति यो वेद स स्वर्गं लोकमेति। एवं नामाक्षरादपीदृशं विशिष्टं फलं प्राप्नोति किमु वक्तव्यं हृदयस्वरूपोपासनादिति हृदयस्तुतये नामाक्षरोपन्यासः ॥ १ ॥

इति बृहदारण्यकोपनिषद्भाष्ये पञ्चमाध्यायस्य तृतीयं ब्राह्मणम् ॥ ३ ॥

तस्यैव हृदयाख्यस्य ब्रह्मणः सत्यमित्युपासनं विधित्सन्नाह—तत्तदिति हृदयं ब्रह्म

येति। अस्मै विदुषे स्वा अन्ये च ददति। 'बलिमिति शेषः। नामाक्षरोपासनानि त्रीणि हृदयस्वरूपोपासनमेकमिति चत्वार्युपासनान्यत्र विवक्षितानीत्याशङ्क्याऽऽह—एवमिति।

इति बृहदारण्यकोपनिषद्भाष्यटीकायां पञ्चमाध्यायस्य तृतीयं ब्राह्मणम् ॥ ३ ॥

ब्राह्मणान्तरमुत्थाप्याक्षराणि व्याचष्टे—तस्येत्यादिना। सत्यशब्दार्थं 'सत्यज्ञानादिवाक्यो-

---

कार्य उत्पादन का सामर्थ्य देते हैं। बुद्धि उपास्य चैतन्य को अपना उत्पादन सामर्थ्य देती है; इसलिए जो 'दकार' इस प्रकार से उसे जानता है, उसे स्वजन और अन्यजन भी बलि देते हैं। इसी तरह 'यम्' यह भी एक अक्षर है। गत्यर्थक 'इण्' धातु का 'यम्' यह रूप हृदय इस नाम में निबद्ध है, ऐसा जो जानता है उसे स्वर्ग लोक प्राप्त होता है। इस प्रकार जब नाम व अक्षर मात्र द्वारा की गई उपासना से ऐसा विशिष्ट फल प्राप्त कर लेता है, तो हृदय स्वरूप ब्रह्म की उपासना से जो फल मिलेगा, उसके विषय में तो कहना ही क्या है! इस प्रकार उपास्य हृदय की स्तुति के लिए 'हृदय' नाम के अक्षरों का उपन्यास किया गया है ॥ ३ ॥

इस प्रकार बृहदारण्यकोपनिषत् में पञ्चम अध्यायस्थ तृतीय ब्राह्मण के शाङ्करभाष्य का हिन्दीभाषानुवाद सम्पन्न हुआ ॥ ३ ॥

उसी हृदयसंज्ञक ब्रह्म को 'सत्यम्' इस स्वरूप से उपासना करने की विधित्सा से श्रुति कहती है—"तत्" अर्थात् 'तत्' पद से हृदयात्मक ब्रह्म का निर्देश किया है। 'वा' यह अव्यय

---

१. एतस्यैव हृदयब्रह्मण सत्यात्मनोपासनमाह—सद्वा इत्यादिना। २. तदुपासनात्। ३. बलिमिति—दृष्टान्तानुरोधेनात्र दार्ष्टान्तिकेऽपि धनादिसामर्थ्यरूप बलिमित्यर्थः। ४. "सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्मेति' वा तै उ।

सत्यꣳ ह्येव ब्रह्म ॥ १ ॥

इति बृहदारण्यकोपनिषदि पञ्चमाध्यायस्य
चतुर्थं ब्राह्मणम् ॥ ४ ॥ -

उत्पन्न हुए को 'सत्य ब्रह्म' इस प्रकार से उपासना करता है, उसे अवश्य पूर्वोक्त फल प्राप्त होता है क्योंकि सत्य ही ब्रह्म है। (अतः उपासना के अनुरूप फल मिलना उचित ही है) ॥१॥

॥ इति चतुर्थं ब्राह्मणम् ॥

परामृष्टम्। वा इति स्मरणार्थम्। तद्धृदयं ब्रह्म स्मर्यत इत्येकस्तच्छब्दः। 'तदेतदुच्यते प्रकारान्तरेणेति द्वितीयस्तच्छब्दः। किं पुनस्तत्प्रकारान्तरम्। 'एतदेव तदित्ये'तच्छब्देन संबध्यते तृतीयस्तच्छब्दः। 'एतदिति वक्ष्यमाणं बुद्धौ संनिधीकृत्याऽऽह। आस बभूव। 'किं पुनरेतदेवाऽऽस यदुक्तं हृदयं ब्रह्मेति तदिति तृतीयस्तच्छब्दो 'विनियुक्तः। 'किं तदिति विशेषतो निर्दिशति 'सत्यमेव सच्च त्यच्च मूर्तं चामूर्तं च सत्यं ब्रह्म पञ्चभूतात्मकमाधिदैविकं तत्त्वं हिरण्यगर्भात्मकमित्येतत्। स यः कश्चित्सत्यात्मानमेतं 'महन्महत्त्वा-

---

पात्तं व्यावर्तयति—सच्चेति। सत्यस्य "चतुर्थे प्रस्तुतत्वं सूचयति—मूर्तं चेति। वेदन"मनूद्य फलोक्तिमवतारयति—स य इति। प्रथमजत्वं प्रकटयति—सर्वस्मादिति। स यः कश्चिद्वेदेति संबन्धः। कैमु-

---

स्मरणार्थक है। "तत्" अर्थात् मन्त्र मे प्रथम 'तत्' शब्द हृदयात्मक ब्रह्म के लिए है, जिसका स्मरण किया जा रहा है। स्मर्यमाण हृदयाख्य ब्रह्म को प्रकारान्तर से द्वितीय 'तत्' शब्द से कहा जाता है। यह प्रकारान्तर क्या है? वह प्रकारान्तर वाला यही है। इस प्रकार मूल मन्त्र मे "एतत्" इस के साथ तृतीय 'तत्' को जोड़ दिया जाता है। "एतत्" इस शब्द से श्रुति उस वक्ष्यमाण रूप को बुद्धि मे धारण करते हुए कह रही है। 'आस' अर्थात् वह था। किन्तु वह कौन था? यही जिसका हृदयात्मक ब्रह्म कह कर निरूपण किया गया है। इसीलिए तृतीय 'तत्' शब्द 'एतत्' शब्द से सबद्ध है। वह क्या है? इस पर श्रुति उसका विशेषरूप से निरूपण करती है। वह (हृदयाख्य ब्रह्म) सत्य ही है। सत् और त्यत्, मूर्त और अमूर्त सत्यात्मक ब्रह्म ही है, यही पञ्चभूतात्मक, आधिदैविक, हिरण्यगर्भात्मक तत्त्व है। वह जो कोई भी "एतम्" अर्थात् इस सत्यात्मा 'महत्' अर्थात् अपरिच्छेद्य 'यक्षम्' अर्थात् पूज्य 'प्रथमजम्' अर्थात् सब ससारी लोगो से सर्वप्रथम उत्पन्न

---

१. तदेतदिति—स्मर्यमाण हृदयाख्य ब्रह्मेति तदेतदोरर्थः। २. एतदेव त दिति—तत्प्रकारान्तरमेतदेव वक्ष्यमाणमेवेत्यर्थः। ३. एतच्छब्देनेति— मूलस्थेनैवेत्यर्थं। ४ ननु वक्ष्यमाणस्य समीपतरवर्तित्वाभावे कथमेतच्छब्दत्वमित्याशङ्क्याऽऽह—एतदिति। वक्ष्यमाणमपि बुद्धौ सनिधाय एतच्छब्देनाह वेदो भगवानित्यर्थः। ५. किं पुनरित्यादिनोक्तमेवार्थं प्रश्नोत्तराभ्या विशदयति—किं पुनरिति। ६. विनियुक्त इति—एतच्छब्देन सबद्ध इत्यर्थ.। ७. किं तदिति—तद्वक्ष्यमाणम्। एतत्पदोक्त विशेषण किमिति बीक्षायामित्यर्थः। ८ सत्यमेवेति—यद्ब्रह्म हृदयाख्यमुक्तं तत्सत्यमेवासेति वाक्यार्थ। ९. परिमाणतः अपरिच्छेद्यमिति यावत्। १०. बृ उ २. ३. १। ११. अनुवदतीत्यर्थः।

(अथ पञ्चमाध्यायस्य पञ्चमं ब्राह्मणम् ।)

[1]आप एवेदमग्र आसुस्ता आपः सत्यमसृजन्त सत्यं

यह नामरूपात्मक जगत् पहले जल ही था, उसी ने सर्वप्रथम सत्य की रचना की। अतः

दाक्षं पूज्यं प्रथमजं प्रथमजातं सर्वस्मात्संसारिण एतदेवाग्रे जातं ब्रह्मातः प्रथमजं वेद विजानाति सत्यं ब्रह्मेति । तस्येदं फलमुच्यते—यथा सत्येन ब्रह्मणेमे लोका आत्मसात्कृता जिता एवं [3]सत्यात्मानं ब्रह्म महद्यक्षं प्रथमजं वेद स जयतीमांल्लोकान् । किंच जितो वशीकृत इन्वित्यर्थं यथा ब्रह्मणाऽसौ शत्रुरिति वाक्यशेषः । असत्त्वाज्जितैवासौ शत्रुर्जितो भवेदित्यर्थः । कस्यैतत्फलमिति पुन[4]र्निगमयति—य एवमेतन्महद्यक्षं प्रथमजं वेद सत्यं ब्रह्मेति । [5]अतो विद्यानुरूपं फलं युक्तम् । सत्यं ह्येव यस्माद्ब्रह्म ॥ १ ॥

इति श्रीमद्बृहदारण्यकोपनिषद्भाष्ये पञ्चमाध्यायस्य चतुर्थं ब्राह्मणम् ॥ ४ ॥

लिकसिद्ध फलान्तरमाह—किंचेति । वशीकृतस्य शत्रो. स्वरूपेण सत्त्वं वारयति—असत्त्वेति । स यो हैतमित्यादिना य एवमेतदित्यादेरेकार्थत्वात्पुनरुक्तिरित्याशङ्क्याऽऽह—कस्यैतदिति । कथमस्य विज्ञानस्यैव फलमित्याशङ्क्याऽऽह—अत इति । [6]पञ्चमोपरामृष्ट स्पष्टयति—सत्य,हीति ॥ १ ॥

इति बृहदारण्यकोपनिषद्भाष्यटीकायां पञ्चमाध्यायस्य चतुर्थं ब्राह्मणम् ॥ ४ ॥

अथवा क्योंकि यह ब्रह्म ही सबसे आगे उत्पन्न हुआ था, इसलिए प्रथम है, 'वेद' अर्थात् जो सम्यक् प्रकार से जानता है, कि ब्रह्म सत्यात्मक है, उसका फल बतलाते हैं—जिस प्रकार सत्यात्मक ब्रह्म के द्वारा ये लोक आत्मसात् किये हुए हैं यानी जीते हुए हैं, इसी प्रकार जो सत्य स्वरूप, अपरिच्छेद, पूज्य और प्रथमजात ब्रह्म को जानता है वह इन लोकों को जीत लेता है । उसके द्वारा यह शत्रु "जित" अर्थात् वशीकृत हो जाता है । जिस प्रकार सत्याख्य ब्रह्म द्वारा यह अनृताख्य शत्रु वश मे हो जाता है, उसी प्रकार उपासक द्वारा भी वश मे हो जाता है, यह वाक्य शेष है अर्थात् उस शत्रु के पराजित होने से उसके अस्तित्व का ही अभाव हो जाता है । यह किसका फल है—इसे श्रुति उपसंहारव्याज से पुन कहती है । जो इस प्रकार इस अपरिच्छेद्य, पूज्य, प्रथमजात, सत्यस्वरूप ब्रह्म को जानता है, (वह लोकजित् और शत्रुजित् होता है) । इस प्रकार उपासक के लिए यह विद्यानुरूप फल होना उचित ही है क्योंकि ब्रह्म भी सत्य ही है ॥ १ ॥

इस प्रकार वृहदारण्यकोपनिषत् मे पञ्चमाध्यायस्य चतुर्थ ब्राह्मण के शाङ्करभाष्य का हिन्दी-भाषानुवाद पूर्ण हुआ ॥ ४ ॥

१ आप. पय सोमाद्यात्मिका हूयमाना सूक्ष्मभूता भूतान्तरसहिता जगद्बीजभूता अव्याकृतात्मनाऽवस्थिता एव । इदं सर्वं विकारजातं जगदग्रे सृष्टे पूर्वमासुर्नान्यत् किंचित् । २ सत्यमसावात्मा त सत्यस्वरूपमित्यर्थं । ३ इत्यमित्युक्तमेव विवृणोति— यथा ब्रह्मणेति । यथा सत्याख्यब्रह्मणा असौ शत्रुरनृताख्यो वशीकृतस्तथोपासकेनापि वशीकृतो भवतीत्यर्थ. । ४ उपसंहरति—उपसंहारव्याजेन पुन कथयतीत्यर्थं । ५ अत इति— यस्मात्सत्यमेव ब्रह्मोक्तरीत्या लोकजिच्छत्रुजिच्च तस्मादुपासकस्यापि विद्यानुरूपमुक्तं फलं युक्तमेवेत्यर्थं । ६ अत इति पञ्चमी ।

ब्रह्म प्रजापतिं प्रजापतिर्देवाꣳस्ते देवाः सत्यमे-
वोपासते तदेतत्त्र्यक्षरꣳ सत्यमिति स इत्येकमक्षरं
तीत्येकमक्षरं यमित्येकमक्षरं प्रथमोत्तमे अक्षरे सत्यं

सत्य ब्रह्म है, ब्रह्म ने विराट् को और विराट् ने देवताओ को उत्पन्न किया। वे देवगण भी सत्य की ही उपासना करते है। वह यह सत्य तीन अक्षर वाला है। 'स' यह एक अक्षर है। ईकारानुबन्ध-सहित 'ती' यह एक अक्षर वाला है और 'यम्' यह भी एक अक्षर वाला है। इनमे प्रथम और

[1]सत्यस्य ब्रह्मणः [2]स्तुत्यर्थमिदमाह। महद्यक्षं प्रथमजमित्युक्तं तत्कथं प्रथमजत्व-मिति। उच्यते—आप एवेदमग्र आसुः। आप इति कर्म[3]समवायिन्योऽग्निहोत्राद्याहुतयः। अग्निहोत्राद्याहुते[4]र्द्रवात्मकत्वादप्त्वम्। ताश्चाऽऽपोऽग्निहोत्रादिकर्मापवर्गोत्तरकालं केन-चिद[5]दृष्टेन सूक्ष्मेणाऽऽत्मना कर्मसमवायित्वमपरित्यजन्त्य इतरभूतसहिता एव न केवलाः। कर्मसमवायित्वात्तु [6]प्राधान्यमपामिति। सर्वाण्येव भूतानि प्रागुत्पत्ते[7]रव्याकृतावस्थानि [8]कर्तृसहितानि निविश्यन्त आप इति। ता आपो बीजभूता जगतोऽव्याकृतात्मनाऽव-

इदमा ब्राह्मणं गृह्यते। [1]तस्यावान्तरसंगतिमाह—महदिति। आहुतिनामेव कर्मसमवायित्वं न त्वपामित्याशङ्क्याऽऽह—अग्निहोत्रादीति। यद्यप्यापः सोमाद्या हूयमानाः कर्मसमवायिन्यस्तथाऽप्युत्तर-काले कथं तासां [2]तथात्वं कर्मणोऽस्थायित्वादित्याशङ्क्याऽऽह—ताश्चेति। कर्मसमवायित्वमपरित्यजन्त्य-स्तत्संबन्धित्वेनाऽऽपः प्रथमं प्रवृत्तास्तत्राशोत्तरकालं सूक्ष्मेणादृष्टेनाऽऽत्मनाऽतीन्द्रियेणाऽऽत्मना तिष्ठ-न्तीति योजना। आप इति विशेषणं भूतान्तरव्यासेधार्थमिति भ्रान्तिं वारयति—इतरेति। कथं तर्हि तासामेव भूताद्युपादान तदाह—कर्मेति। इति तासामेवात्र ग्रहणमिति शेषः। विवक्षितपदार्थं निगम-यति—सर्वाण्येवेति। [3]पदार्थमुक्तमनूद्य वाक्यार्थमाह—ता इति। या यथोक्ता आपस्ता एवेति मन्त्रव्या-

सत्यस्वरूप ब्रह्म की स्तुति के लिए श्रुति यह कहती है। अपरिच्छेद्य, पूज्य और प्रथमजात यह पिछले ब्राह्मण मे कहा गया, वह सत्यात्मक ब्रह्म प्रथमजात किस प्रकार है—इसे श्रुति बतलाती है। (सृष्टि से) पूर्व मे यह जल ही था। "आप" इस शब्द से कर्मसमृष्ट अग्निहोत्रादि की आहुतियां कही गयी हैं। अग्निहोत्रादि की आहुतियां (पय सोमाद्यात्मक) द्रवात्मक होने से जल है। अग्नि-होत्रादि कर्म की पूर्णाहुति के पश्चात् वह जल किसी प्रत्यक्ष अगोचर सूक्ष्म रूप से अपनी कर्मसमृष्टि को न छोडते हुए इतर भूतो के साथ रहते हैं, अकेले नहीं। क्योंकि कर्मसमृष्टि होने से जल की प्रधानता है। उत्पत्ति से पूर्व अव्यक्त रूप मे स्थित ईश्वरसहित (मूल कारण के रूप से) जल था

१. तथा च पूर्वोत्तरयो स्तुत्यस्तावकभाव विशेषिभावो वा महत्सङ्गतिरिति बोध्यम्। २ संसृष्टा। ३. पय,सोमाद्यात्मकत्वात्। ४. प्रत्यक्षागोचरेण। ५ प्राधान्यमिति—आहुतिमयी नाम पूर्वोभूतानामपा सर्वजगत्परिणामकारणत्वस्याग्निहोत्रप्रकरणे श्रुतत्वादपि प्राधान्य बोध्यम्। ६. ईश्वर-सहितानि—तथा च मूलकारणमेवाप्शब्देन विवक्षितमिति भावः। ७ अनभिव्यक्तनामरूपात्मना। ८. साध्यसाधनभावरूपागुरुपाप्योत्पादकभावरूपाविति वा। ९ कर्मसमाप्त्यनन्तरम्। १० कर्मसमृष्टत्वम्। ११. अप्पदार्थम्।

मध्यतोऽनृतं तदेतदनृतमुभयतः सत्येन परिगृहीतꣳ सत्यभूयमेव भवति नैवं विद्वाꣳसमनृतꣳ हिनस्ति ॥१॥ इति बृहदारण्यकोपनिषदि पञ्चमाध्यायस्य पञ्चमं ब्राह्मणम् ॥ ५ ॥

अन्तिम अक्षर सत्य रूप है क्योंकि उनकी मृत्यु का अभाव है और बीच में तकार अनृत है, फिर भी वह यह अनृत तकार दोनों ओर सत्य से व्याप्त है। इसलिये यह सत्य बहुल ही है। इस प्रकार जानने वाले को मृत्यु रूप अनृत नहीं सताता अर्थात् ऐसे उपासक को कभी प्रमाद से कहा हुआ असत्य मारता नहीं ॥ १ ॥

॥ इति पञ्चमं ब्राह्मणम् ॥

स्थितास्ता एवेदं सर्वं नामरूपविकृतं [1]जगदग्र आसुर्नान्यत्किंचिद्विकारजातमासीत्। ताः पुनरापः [2]सत्यमसृजन्त। तस्मात्सत्यं ब्रह्म प्रथमजम्। तदेतद्धिरण्यगर्भस्य सूत्रात्मनो जन्म यदव्याकृतस्य जगतो व्याकरणम्। तत्सत्यं ब्रह्म कुतः। महत्त्वात्। कथं महत्त्वमित्याह। यस्मात्सर्वस्य स्रष्टृ। कथम्। यत्सत्यं ब्रह्म तत्प्रजापतिं प्रजानां पतिं विराजं सूर्यादिकारणमसृजतेत्यनुषङ्गः। प्रजापतिर्देवान्स विराट्प्रजापतिर्देवानसृजत। यस्मात्सर्वमेवं क्रमेण सत्याद्ब्रह्मणो जातं तस्मान्महत्सत्यं ब्रह्म। कथं पुनर्महत्त्वमिति। उच्यते—त एवं सृष्टा देवाः पितरमपि विराजमतीत्य तदेव सत्यं ब्रह्मोपासते। अत एतत्प्रथमजं महद्यक्षम्।

पुबन्धेन योजना। सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्मेति श्रुतं सत्यं कथं भूतान्तरसहिताभ्योऽद्भ्यो जायते तत्राऽऽह—तदेतदिति। तस्य ब्रह्मत्वं प्रश्नपूर्वकं विशदयति—तत्सत्यमिति। सत्यस्य ब्रह्मणो महत्त्वं प्रश्नद्वारा साधयति—कथमित्यादिना। तस्य सर्वस्रष्टृत्वं प्रश्नद्वारेण स्फुटयति—कथमिति। महत्त्वमुपसंहरति

निर्देश किया जाता है। जगत् का बीज कारणभूत वह जल अनभिव्यक्त-नामरूपात्मक था; वही पुनः नामरूप विकार भाव को प्राप्त हुआ। सूत्रोत्पत्ति के पूर्व में वही था, उससे भिन्न और कोई विकार-समुदाय नहीं था। उन जलों के सूत्रात्मा सत्य की सृष्टि की। इसलिये सत्यस्वरूप ब्रह्म ही प्रथमजात है। वही इस सूत्रात्मा हिरण्यगर्भ का जन्म है जो कि अनभिव्यक्त जगत् का व्यक्त होना है। वह सत्यात्मक ब्रह्म है। किस प्रकार? महत् परिमाण वाला अथवा अपरिच्छेद्य होने के कारण। महत् किस प्रकार है– उसे श्रुति कहती है। क्योंकि वह सब का स्रष्टा है। किस प्रकार? जो सत्य ब्रह्म था। उसने "प्रजापतिम्" अर्थात् सूर्यादि इन्द्रियों वाले प्रजा के पति विराट् को उत्पन्न किया। "प्रजापतिर्देवान्" अर्थात् उस विराट् प्रजापति ने देवताओं की सृष्टि की। क्योंकि इस प्रकार का क्रम सब कुछ उस सत्यात्मक ब्रह्म से उत्पन्न हुआ, इसलिये सत्यात्मक ब्रह्म ही महानतम है। पुन. वह पूज्य किसलिए है? इस पर श्रुति कहती है। वे इस प्रकार उत्पन्न हुए देवतागण अपने पति विराट् को छोड़कर उसी सत्य ब्रह्म की उपासना करते हैं। इसलिए यह प्रथमजात, अपरिच्छेद्य और पूज्य

१ सूत्रोत्पत्तेः प्राक्। २ सूत्रात्मानम्।

तस्मात्सर्वात्मनोपास्यं तत्तस्यापि सत्यस्य ब्रह्मणो नाम सत्यमिति तदेतत्त्र्यक्षरम्। कानि तान्यक्षराणीत्यत आह—स इत्येकमक्षरम्। तीत्येकमक्षरम्। तीतीकारानुबन्धो 'निर्देशार्थः। यमित्येकमक्षरम्। 'तत्र 'तेषां प्रथमोत्तमे अक्षरे सकारयकारौ 'सत्यम्। 'मृत्युरूपाभावात्। मध्यतो मध्ये'ऽनृतम्। अनृतं हि मृत्युः। मृत्य्वनृतयो'स्तकारसामान्यात्। तदेतदनृतं तकाराक्षरं मृत्युरूप'मुभयतः सत्येन सकारयकारलक्षणेन परिगृहीतं व्याप्तमन्तर्भावितं सत्यरूपाभ्यामतो'ऽकिंचित्कर 'तत्सत्यभूयमेव सत्यबाहुल्यमेव भवति। "एवं सत्यबाहुल्यं "सर्वस्य मृत्योरनृतस्याकिंचित्करत्वं च यो विद्वांस्तमेवं विद्वांसमनृतं कदाचित्प्रमादोक्तं न "हिनस्ति॥

इति बृहदारण्यकोपनिषद्भाष्ये पञ्चमाध्यायस्य पञ्चमं ब्राह्मणम्॥५॥

—यस्मादिति। विशेषणत्रये सिद्धे फलितमाह—तस्मादिति। तस्यापीत्यपिशब्दो हृदयब्रह्म"दृष्टान्तार्थः। बुद्धिपूर्वकमनृतं "विदुषोऽपि बाधकमित्यभिप्रेत्य विशिनष्टि—प्रमादोक्तमिति॥ १॥

इति बृहदारण्यकोपनिषद्भाष्यटीकायां पञ्चमं ब्राह्मणम्॥ ५॥

है। इसलिए वही सर्वविध उपासना करने योग्य है, उस सत्यस्वरूप ब्रह्म का नाम 'सत्य' है जिसमे तीन अक्षर हैं। वह कौन से तीन अक्षर है, इस पर श्रुति कहती है। 'स' यह प्रथम अक्षर है 'ती' यह दूसरा अक्षर है। "त्" होने से ईकारानुबन्ध उच्चारणार्थ के लिए है। "यम्" यह तीसरा है। "सत्यम्" इस पद मे तीनो अक्षरो के मध्य प्रथम और अन्तिम अक्षर सकार और यकार अमृत है। क्योकि उनमे मृत्यु का अभाव है। "मध्यत" अर्थात् बीच का तकाराक्षर अनृत है क्योंकि अनृत ही मृत्यु है। क्योकि मृत्यु और अनृत मे (तकारघटित होने से) तकार की समानता है, वह यह मृत्युरूप अनृतपरक 'तकार' अक्षर पहले और अन्तिम दोनो ओर मे 'सकार-यकार' रूप अमृत से "परिगृहीतम्" अर्थात् व्याप्त या सत्यरूप अक्षरो से अन्तर्भावित है। तकाराक्षर अमारक है, "सत्यभूयमेव" अर्थात् सत्यप्राय ही है। इस प्रकार जो 'सत्-यम् इस समुदाय अक्षर के सत्यप्राय और मृत्युरूप अनृत के अमारकत्व को जानता है, उस इस जानने वाले को कभी प्रमाद मे बोला हुआ अनृत भी स्वप्नदान में बाधक नही हुआ करता॥ १॥

इस प्रकार बृहदारण्यकोपनिषत् मे पञ्चमाध्यायस्य पञ्चम ब्राह्मण के शाङ्कर-भाष्य का हिन्दी-भाषानुवाद सम्पन्न हुआ॥ ५॥

---

१. निर्देशार्थं इति—उच्चारणार्थं इत्यर्थः। अत्र हल्मात्रतकारप्रदर्शनार्थं इति यावत्। २ मध्यपदे। ३ त्रयाणामक्षराणां मध्ये। ४. अमृतम्। ५ मस्वरत्वादिति यावदित्याहु। ६ तकाराक्षरम्। अनृतत्व मृत्युत्व सत्त्व नि स्वरत्वात्तकारस्येत्यपि वदन्ति। ७ उभयोस्तकारघटितत्वात्। ८ पूर्वोत्तरत। ९ अमारकम्। १० तकाराक्षरम्। ११ उक्तविभागस्योपासनस्य फलमाह—तमिति। १२ सर्वस्येति—सत्यमिति समुदायस्येत्यर्थः। यद्वा सर्वस्य मृत्योरिति। १३ न हिनस्तीति—स्वप्न-दानेन बाधक न भवतीत्येतत्। १४ दृष्टान्तप्राय नामसत्यभावस्य बोध्य.। १५ दयामित।

(अथ पञ्चमाध्यायस्य षष्ठ ब्राह्मणम् ।)

तद्यत्तत्सत्यमसौ स आदित्यो य एष एतस्मि-न्मण्डले पुरुषो यश्चायं दक्षिणे क्षन्पुरुषस्ता-वेतावन्योन्यस्मिन्प्रतिष्ठितौ रश्मिभिरेषोऽस्मि-

वह जो सत्य है, वह यह आदित्य है। जो इस आदित्य मण्डल में पुरुष है और जो भी यह दाएँ नेत्र में पुरुष है, वे दोनों एक दूसरे में प्रतिविम्बित हैं। रश्मियों द्वारा अनुग्रह करता हुआ यह आदित्य पुरुष चाक्षुष पुरुष में प्रतिष्ठित है और चाक्षुष पुरुष प्राणों के द्वारा उपकार करता हुआ

'अस्याधुना सत्यस्य ब्रह्मणः 'संस्थानविशेष उपासनमुच्यते—तद्यद् । किं तत्सत्यं ब्रह्म प्रथमजं किमसौ सः । कोऽसावादित्यः कः पुनरसावादित्यो य एष य एतस्मिन्नादित्य-मण्डले पुरुषोऽभिमानी सोऽसौ सत्यं ब्रह्म । यश्चायमध्यात्म योऽयं दक्षिणोऽक्षन्नक्षणि पुरुष । चशब्दात्स च सत्य ब्रह्मेति संबन्धः । तावेतावादित्याक्षिस्थौ पुरुषावेकस्य सत्यस्य ब्रह्मणः 'संस्थानविशेषौ यस्मात्तस्मादन्योन्यस्मिन्नितरेतरस्मिन्नादित्यश्चाक्षुषे चाक्षुषश्चाऽऽदित्ये प्रतिष्ठितौ । अध्यात्माधिदैवतयोरन्योन्योपकार्योपकारकत्वात् । कथं

ब्राह्मणान्तरमवतार्य व्याकरोति—अस्येत्यादिना । 'तत्राऽऽधिदैविकं स्थानविशेषमुपन्यस्यति —तदित्यादिना । सम्प्रत्याध्यात्मिकं स्थानविशेषं दर्शयति—यश्चेति । 'प्रदेशभेदवर्तिनो स्थानभेदेन 'भेद 'शङ्कित्वा परिहरति'—'तावेताविति । अन्योन्यमुपकार्योपकारकत्वेनान्योन्यस्मिन्प्रतिष्ठितत्वं प्रश्न-

---

अब उस सत्यात्मक की रूप भेद मे उपासना बतायी जाती है। वह जो, कौन वह ? वह जो प्रथमजात, सत्यात्मक ब्रह्म है, वह क्या है ? वह यह है। वह कौन है ? वह आदित्य है। किन्तु वह आदित्य कौन है ? जो यह है। वह कौन है ? जो इस आदित्य मण्डल में इसका अभिमानी पुरुष है, वह यह सत्य स्वरूप ब्रह्म है। एव जो यह अध्यात्म है दक्षिण "अक्षन्" अर्थात् नेत्र मे जो यह पुरुष है, वह भी ब्रह्म है। 'यश्चायम्' यहाँ 'च' शब्द से सत्यस्वरूप ब्रह्म यह अर्थ लगाना चाहिये। क्योंकि वे (अधिदैव और अध्यात्म) आदित्यस्थ और नेत्रस्थ पुरुष एक सत्यात्मक ब्रह्म के आकृति विशेष हैं, इसलिए "अन्योन्यस्मिन् प्रतिष्ठितौ" अर्थात् एक दूसरे म यानी आदित्य पुरुष चाक्षुष म और चाक्षुष पुरुष आदित्य म प्रतिष्ठित है क्योंकि अध्यात्म और अधिदैव पुरुष एक दूसरे के उपकार्य-उपकारक

---

१ प्रथमजत्वादिविशिष्टसत्योपासनोक्त्यनन्तरम् । २ संस्थानविशेष—रूपभेदे अध्यात्माधिदैवयोरक्ष्यादित्य-स्थानयो सत्यस्यैव ब्रह्मणो रूपविशेष कल्पयित्वा तदुपास्त्युक्त्यर्थमुत्तर ब्राह्मणमित्यर्थ । ३ आकृतिविशेषौ । ४ अध्यात्माधिदैवयोर्मध्ये । ५ प्रदेशे यादि—प्रदेश स्थान चाक्ष्यादित्यमण्डलरूपे बोध्ये । ६ भेदमिति उपास्ययोरित्यादि । ७ शङ्कित्वेति—उपास्यभेदादुपासनमपि भिद्येतेति शङ्कितुराशय । ८. आदित्याक्षि-स्थानभेदाद्देवताभेदे ध्यान भिद्येतेत्याशङ्क्याऽऽह—तावेताविताीति पाठान्तरम् । ९ तावेताविति—तथा च वस्तुन एकस्यैव सूत्रात्मन स्थानद्वयेऽवस्थानात्तावभिन्नावेवेत्यर्थ । स्थानमात्रभेदात् भेद औपाधिक इति भाव इति बोध्य ।

न्प्रतिष्ठितः प्राणैरयममुष्मिन्स यदोत्क्रमिष्य-
न्भवति शुद्धमेवैतन्मण्डलं पश्यति नैनमेते रश्मयः
प्रत्यायन्ति ॥१॥

उस आदित्य पुरुष में प्रतिष्ठित है। जिस समय यह आध्यात्मिक चाक्षुष पुरुष शरीर मे उत्क्रमण करने लगता है, उस समय यह विज्ञानमय इस आदित्य मण्डल को चन्द्रमण्डल के समान रश्मिरहित शुद्ध ही दीखता है। फिर ये रश्मियाँ इसके पास आती नही (इस प्रकार परस्पर उपकार्य-उपकारक भाव के कारण ये दोनो एक सत्यात्मा के ही अश हैं) ॥१॥

प्रतिष्ठितावित्युच्यते—रश्मिभिः प्रकाशेनानुग्रहं कुर्वन्नेष आदित्योऽस्मिश्चाक्षुषेऽध्यात्मे प्रतिष्ठितः। अयं च चाक्षुषः प्राणैरादित्यमनुगृह्णन्नमुष्मिन्नादित्येऽधिदैवे प्रतिष्ठितः। सोऽस्मिञ्छरीरे विज्ञानमयो यो भोक्ता यदा यस्मिन्काल उत्क्रमिष्यन्भवति तदाऽसौ आदित्यपुरुषो रश्मीनुपसंहृत्य केवलेनौदासीन्येन रूपेण व्यवतिष्ठते। तदाऽस्य विज्ञानमयः पश्यति शुद्धमेव केवलं विरश्म्येतन्मण्डलं चन्द्रमण्डलमिव। तदेतदरिष्टदर्शनं प्रासङ्गिकं प्रदर्श्यते। कथं नाम पुरुषः करणीये यत्नवान्स्यादिति। नैनं चाक्षुषं पुरुषमुररीकृत्य तं

पूर्वकं प्रकटयति—कथमित्यादिना। प्राणैश्चक्षुरादिभिरिन्द्रियैरिति यावत्। अनुगृह्णन्नादित्यमण्डलात्मानं प्रकाशयन्नित्यर्थः। प्रासङ्गिकमुपासनाप्रसङ्गागतमित्यर्थः। तत्प्रदर्शनस्य किं फलमित्याशङ्क्याऽऽह—कथमिति। पुरुषद्वयस्यान्योन्यमुपकार्योपकारकत्वमुक्तं निगमयति—नेत्यादिना। पुन शब्देन मृते·

होते हैं। किस प्रकार प्रतिष्ठित हैं? इस पर श्रुति कहती है—"रश्मिभि" अर्थात् प्रकाश के द्वारा, अनुग्रह करता हुआ यह आदित्य पुरुष इस अध्यात्म चाक्षुष मे प्रतिष्ठित है। "अयम" अर्थात् यह चाक्षुष पुरुष प्राणो के द्वारा आदित्य का अनुग्रह करता हुआ इस अधिदैव आदित्य पुरुष मे प्रतिष्ठित है। "स" अर्थात् इस शरीर मे विज्ञानमय जो भोक्ता है वह 'यदा' यानी जिस समय उत्क्रमण करने लगता है, तब वह आदित्य पुरुष प्रकाश का उपसंहार करके केवल तटस्थ भाव से बैठ जाता है। तब यह विज्ञानमय रविमण्डल को चन्द्रमण्डल के समान "शुद्धम्" अर्थात् केवल रश्मिविहीन देखता है। यह (मरणसूचक) अरिष्ट दर्शन चाक्षुषादित्य पुरुष के प्रसङ्ग मे आया हुआ प्रदर्शित किया जाता

१ रविमण्डलम्। २ स यदेत्यादेस्तात्पर्यमाह—तदेतदिति। अरिष्टमशुभं मरणचिह्नमिति यावत्। ३ चाक्षुषादित्यपुरुषप्रसङ्गादागतमित्यर्थः। ४. उपासितप्रस्तावे कथं तदुच्यते तत्राऽऽह—प्रासङ्गिकमिति। ५ स्वहितं। ६ प्रकाशयन्नित्यर्थ इति कथमिति—ज्ञातारिष्टः कथं नाम कुर्यादात्महितं पुमानिति वा। तथा च —यदा चक्षुरादीनीन्द्रियाणि करणस्वामिनं भोक्तारमुपनयन्ति स चादृष्टद्वाराऽऽदित्यमुत्पादयति। तथा च चाक्षुषस्य तत्रावस्थानोक्तिरिति शेषः। इन्द्रियाणि करणस्वामिनमात्मानं भोक्तारमुपनयन्ति जनयन्ति स्व-सांनिध्येन भोक्तृत्वं प्रापयन्तीत्यर्थः। स च भोगानभिलष्यन्नैरेवेन्द्रियैर्यागादिद्वारा दृष्टं निष्पादयति तेन च सूर्योत्पादः। भोक्तृवर्गनिर्वर्तितादृष्टकार्यत्वात् सूर्यादिसृष्टेः। एवं कारणत्वेन चाक्षुषस्यादित्येऽवस्थानोक्तिरिति तदर्थः।

(अथ पञ्चमाध्यायस्य सप्तमं ब्राह्मणम् ।)

[1]य एष एतस्मिन्मण्डले पुरुषस्तस्य भूरिति
शिर एकꣳ शिर एकमेतदक्षरं भुव इति बाहू
द्वौ बाहू द्वे एते अक्षरे स्वरिति प्रतिष्ठा द्वे
प्रतिष्ठे द्वे एते अक्षरे तस्योपनिषदहरिति हन्ति
पाप्मानं जहाति च य एवं वेद ॥१॥

इस मण्डल में जो यह सत्यनामा पुरुष है, उसका 'भूः' यह शिर है क्योंकि शिर एक है और यह अक्षर भी एक है। 'भुवः' यह भुजाएँ दो हैं और अक्षर भी दो हैं। 'स्वः' यह चरण हैं क्योंकि पाद दो हैं और यह अक्षर भी दो हैं। 'अहः' यह उसका गोपनीय नाम है। जो ऐसा जानता है (जो अहर्नामा ब्रह्म की उपासना करता है) वह पापों को मारता है और उसे त्याग देता है ॥१॥

प्रत्यनुग्रहार्थेते रश्मयः [2]स्वामिकर्तव्यवशात्पूर्वमागच्छन्तोऽपि पुनस्तत्कर्मक्षयमनुरुध्यमाना इव नोपयन्ति न प्रत्यागच्छन्त्येनम्। अतोऽवगम्यते परस्परोपकार्योपकारकभावात्सत्यस्यैवैकस्याऽऽत्मनोंऽशावेतावि[3]ति ॥ १ ॥

इति बृहदारण्यकोपनिषद्भाष्ये पञ्चमाध्यायस्य षष्ठं ब्राह्मणम् ॥६॥

तत्र [4]योऽसौ को य एष एतस्मिन्मण्डले पुरुषः सत्यनामा तस्य व्याहृतयोऽवयवाः।

उत्तरकालो गृह्यते। रश्मीनामचेतनत्वादिवशब्दः। पुनर्नकारोच्चारणमन्वयप्रदर्शनार्थम्।

इति बृहदारण्यकोपनिषद्भाष्यटीकायां पञ्चमाध्यायस्य षष्ठं ब्राह्मणम् ॥ ६ ॥

तत्र स्थानद्वयसंबन्धिनः सत्यस्य ब्रह्मणो ध्याने प्रस्तुते सतीत्यर्थः। तत्रेति प्रथमव्याहृतौ शिरो-

---

है क्योंकि (अरिष्ट को जानकर) आत्महितैषी पुरुष स्वहित के लिए कैसे इस में प्रयत्न करेगा? चाक्षुप पुरुष को स्वीकार करके उसके अनुग्रह के लिए ये रश्मियाँ जो भोक्ता जीव के कर्तव्य वश *जीवित अवस्था में आया करती थीं, अब उसके कर्मक्षय से अवरोधित होकर "प्रत्यायन्ति"* अर्थात् इसके पास नहीं आती। इससे सिद्ध होता है कि परस्पर उपकार्य-उपकारक भाव के कारण ये दोनों एक सत्य स्वरूप आत्मा के ही अंश हैं ॥१॥

इस प्रकार बृहदारण्यकोपनिषत् में पञ्चमाध्यायस्थ षष्ठ ब्राह्मण के शाङ्करभाष्य का
हिन्दी-भाषानुवाद सम्पन्न हुआ ॥ ६ ॥

---

१. अथैवमुक्तमदयब्रह्मण एव व्याहृत्यवयवकत्वेन ध्यानमाह—य एष इत्यादिना। तथा च वार्तिकम्—"शरीरं व्याहृतिमय कल्प्यतेऽक्षरविस्ययोः। तस्यैव सत्यनाम्नोऽस्य तदुपासाप्रसिद्धये" ॥ १ ॥ इति। ब्राह्मणान्तरस्य तात्पर्यमाह—शरीरमिति। अथशब्दो ब्राह्मणान्तरारम्भार्थः। २. भोक्ता जीव स्वामी। ३. जीवदवस्थायाम्। ४. योऽसाविति—सत्यत्वमहत्त्वप्रथमज-त्वविशेषणकत्वेन प्रसिद्धो विप्रकृष्ट तस्येति सबन्धः।

योऽयं दक्षिणेऽक्षन्पुरुषस्तस्य भूरिति शिर एकं

जो यह दक्षिण नेत्र में पुरुष है उसका 'भू.' यह शिर है क्योंकि शिर एक है और यह अक्षर

कथम् । भूरिति येयं 'व्याहृतिः सा तस्य शिरः । प्राथम्यात् । तत्र सामान्यं स्वयमेवाऽऽह
श्रुतिः—एकमेकसंख्यायुक्तं शिरस्तथैतदक्षरमेकं भूरिति । भुव इति बाहू द्वित्वसामान्याद्द्वौ
बाहू द्वे एते अक्षरे । तथा स्वरिति प्रतिष्ठा द्वे प्रतिष्ठे द्वे एते अक्षरे । प्रतिष्ठे पादौ प्रतितिष्ठ-
त्याभ्यामिति' । तस्यास्य' व्याहृत्यवयवस्य सत्यस्य ब्रह्मण उपनिषद्रहस्यमभिधानम् ।
'येनाभिधानेनाभिधीयमानं तद्ब्रह्मा'भिमुखी भवति लोकवत् । 'काऽसावित्याह---अहरिति ।
अहरिति चैतद्रूप 'हन्तेर्जहातेश्चेति यो वेद स हन्ति जहाति च पाप्मानं य एवं वेद ॥१॥
एवं योऽयं दक्षिणेऽक्षन्पुरुषस्तस्य भूरिति शिर इत्यादि सर्वं समानम् । तस्यो-

---

हङ्ग्यारोपे विवक्षिते । तस्योपनिषदित्यादि व्याचष्टे—तस्येत्यादिना । यथा लोके गवादिः स्वैमाभिधाने-
नाभिधीयमानः संमुखी भवति तद्वदित्याह—लोकवदिति । 'नामोपासितफलमाह— अहरिति चेति ॥१ ।
यथा मण्डलपुरुषस्य व्याहृत्यवयवस्य सोपनिषत्कस्याधिदैवतमुपासनमुक्तं तथाऽध्यात्मं चाक्षुष-
पुरुषस्योक्तविशेषणस्योपासनमुच्यत इत्याह— एवमिति । चाक्षुषस्य पुरुषस्य कथमहमित्युपनिषदित्यते

वहाँ (सत्यत्व-महत्त्व-प्रथमजत्व विशेषणक) जो यह है, वह कौन है ? जो इस
मण्डल में सत्यनामा पुरुष है, उसके अवयव व्याहृतियाँ हैं । वह कैसे ? "भू" यह जो
पहली व्याहृति है, वह उसका शिर है क्योंकि उसका स्थान प्रथम है । उनकी समानता
श्रुति स्वयं बतलाती है । शिर भी एक है और "भू" यह भी एक अक्षर है । 'बाहु'
"भुवः" (दूसरी व्याहृति) उसकी भुजाएँ है क्योंकि उनमें द्वित्व संख्या की समानता है । 'बाहु'
और 'भुजा' इन दोनों शब्दों में दो-दो अक्षर है । तथा "स्व" यह (तीसरी व्याहृति)
प्रतिष्ठा है । दो प्रतिष्ठाएँ हैं, दो ही अक्षर हैं । "इनसे पुरुष प्रतिष्ठित होता है" इस व्युत्पत्ति से
प्रतिष्ठा पाद का नाम है । "तस्य" अर्थात् इस रविमण्डल में स्थित व्याहृति रूप अवयवों वाले
सत्यात्मक ब्रह्म का गुह्य नाम उपनिषत् है । जिस नाम में पुकारा जाता हुआ लोकव्यवहार के समान
साक्षात् प्रसन्न होता है । वह उपनिषत् क्या है ? इस पर श्रुति कहती है "अहरिति" अर्थात् यह
'अहर्' है । 'आङ्' पूर्व 'हन्' धातु अथवा औणादिक प्रत्यययुक्त 'हा' धातु से 'अहर्' यह निष्पन्न होता
है । जो इस प्रकार जानता है, वह पापों को मार देता है और छोड़ देता है (यह नामोपासना का
फल है) ॥ १ ॥

इसी प्रकार जो दक्षिण नेत्र में पुरुष है उसकी 'भू.' यह प्रथमा व्याहृति है, वह उसका शिर

---

१. प्रथमा । २ व्युत्पत्ते. । ३ रविमण्डले स्थितस्य । ४. गुह्यं नाम । ५. नामकरणे फलमाह—
येनेति । ६. अभिमुखी भवति—साक्षात्प्रसीदति । ७ उपनिषत् । ८. हन्तेर्जहातेश्चेति—आङ्पूर्वस्य
हन्तेर्जहातेर्वा औणादिके डसि कृते ह्रस्वत्वे चोपसर्गस्य टिलोपे चाहरिति पद निष्पन्न भवतीति वार्तिक-
टीकायामुक्तम् । ९. नामेति—अहर्नामविशिष्टसत्योपासकस्य फलमाहेत्यर्थः ।

शिर एकमेतदक्षरं भुव इति बाहू द्वौ बाहू द्वे एते अक्षरे स्वरिति प्रतिष्ठा द्वे प्रतिष्ठे द्वे एते अक्षरे तस्योपनिषदहमिति हन्ति पाप्मानं जहाति च य एवं वेद ॥२॥

इति बृहदारण्यकोपनिषदि पञ्चमाध्यायस्य सप्तमं ब्राह्मणम् ॥ ७ ॥

भी एक है। 'भुव.' यह भुजाएँ हैं क्योंकि भुजाएँ दो हैं और यह अक्षर भी दो हैं। 'स्व:' यह प्रतिष्ठा है क्योंकि पाद दो हैं और अक्षर भी दो हैं। 'अह' यह उसका गूढ नाम है क्योंकि यह प्रत्यगात्म-स्वरूप है। जो ऐसा जानता है, वह पाप को मारता है और त्याग देता है ॥ २ ॥

॥ इति सप्तम ब्राह्मणम् ॥

पनिषदहमिति । प्रत्यगात्मभूतत्वात् । पूर्वंवद्धन्तेर्जहातेश्चेति ॥२॥

इति बृहदारण्यकोपनिषद्भाष्ये पञ्चमाध्यायस्य सप्तमं ब्राह्मणम् ॥७॥

'उपाधीनामनेकत्वादनेकविशेषणत्वाच्च तस्यैव प्रकृतस्य' ब्रह्मणो मनउपाधि-विशिष्टस्योपासनं विधित्सन्नाह—

तत्राऽऽह—प्रत्यगिति । हन्तेर्जहातेश्चाहमित्येतद्रूपमिति यो वेद स हन्ति पाप्मानं जहाति चेति पूर्ववत्फल-वाक्यं योज्यमित्याह—पूर्ववदिति ॥ २ ॥

इति बृहदारण्यकोपनिषद्भाष्यटीकायां पञ्चमाध्यायस्य सप्तमं ब्राह्मणम् ॥ ७ ॥

ब्राह्मणान्तरमुत्थापयति—उपाधीनामिति । अनेकविशेषणत्वाच्च प्रत्येकं तेषामिति शेषः ।

है—इत्यादि अर्थ पूर्व मन्त्र की तरह है। प्रत्यगात्मभूत होने से उसका 'अहम्' यह उपनिषत् है। पापो का मारना और छोडना रूप व्याख्या पूर्व मन्त्र के समान समझ लेनी चाहिये ॥ २ ॥

इस प्रकार बृहदारण्यकोपनिषत् मे पञ्चमाध्यायस्थ सप्तम ब्राह्मण के शाङ्करभाष्य का हिन्दी-भाषानुवाद पूर्ण हुआ ॥ ७ ॥

उपाधियो के बहुत होने एव उनके बहुत विशेषण होने से प्रकरणस्थ उसी सत्यस्वरूप ब्रह्म की मनरूप उपाधि विशिष्ट उपासना का विधान करने की इच्छा से श्रुति कहती है—

---

१. हन्तेरिति—अत्र 'टम्' प्रत्यय: अन्यत्पूर्ववत् । २ ननु किमिति मन उपाधिकमुपासनान्तरमुच्यते तत्राह—उपाधीनामित्यादि । उपाधयस्तावदनेके सन्ति प्रत्युपाधिविशेषणान्यपि बहूनि ब्रह्मणस्तथा च येन येनोपाधिना येश्च विशेषणैरुपासितुं शक्य तेषामुपेक्षितुमनर्हत्वान्मनो विशिष्टस्याप्युपासन विधीयत इत्यर्थ. । 'केनचिदुपाध्यादिनोपासितुमशक्नुवन्नपि कश्चिदधिकारी 'केनचित्कदाचित्कस्मुयादित्युपाध्यादीनामुपेक्षानर्हत्व-मिति बोध्यम् । ३. सत्यस्य ।

(१. उच्यत इति बहुविधोपासनस्य पूर्वमुक्तत्वादिति भाव. । २ केनचिदिति एकेनेत्यर्थ. । ३ केनचिदिति—अपरेणेत्यर्थ. ।)

(अथ पञ्चमाध्यायस्याष्टम ब्राह्मणम् ।)

मनोमयोऽयं पुरुषो भाःसत्यस्तस्मिन्नन्तर्हृदये यथा व्रीहिर्वा यवो वा स एष सर्वस्येशानः सर्वस्याधिपतिः सर्वमिदं प्रशास्ति यदिदं किंच ॥1॥

इति बृहदारण्यकोपनिषदि पञ्चमाध्यायस्याष्टमं ब्राह्मणम् ॥८॥

प्रकाश ही जिसका स्वरूप है, ऐसा भास्वर यह पुरुष मनोमय है। जैसे—धान या जौ सूक्ष्म होता है, वैसे ही सूक्ष्म परिणाम वाला उस अन्तर्हृदय में वह पुरुष रहता है। वही यह सबका स्वामी और सबका अधिपति है और जो कुछ भी यह जगत् है, सबका विशेष रूप से शासन करने वाला वही है (उसकी जो उपासना करता है, वह सबका शासक हो जाता है) ॥ १ ॥

॥ इत्यष्टम ब्राह्मणम् ॥

मनोमयो मनःप्रायो मनस्युपलभ्यमानत्वात् । मनसा चोपलभ्यत इति मनोमयोऽयं पुरुषो भाःसत्यो 'भा एव सत्य सद्भावः स्वरूप यस्य सोऽयं 'भाःसत्यो भास्वर इत्येतत् । मनसः सर्वार्थावभासकत्वान्मनोमयत्वाच्चास्य भास्वरत्वम् । तस्मिन्नन्तर्हृदये हृदयस्यान्तस्तस्मिन्नित्येतत् । यथा 'व्रीहिर्वा यवो वा परिमाणत एवंपरिमाणस्तस्मि-

---

तत्प्रायत्वे हेतुमाह—मनसीति । प्रकारान्तरेण तत्प्रायत्वमाह—मनसा चेति । 'तस्य भास्वरूपत्व 'साधयति—'मनस इति । तस्य ध्यानार्थं स्थानं दर्शयति—तस्मिन्निति । 'औपाधिकमिद परिमाणं स्वाभा-

---

"मनोमय" अर्थात् मन से अनुभूत होने के कारण यह मनोप्राय है। अथवा वह मन से प्राप्त किया जाता है, इसलिए यह पुरुष मनोमय है। "भा सत्य" अर्थात् अजड प्रकाशसंज्ञक ज्योति ही सत्य है, वही उसका स्वरूप होने वह "भासत्य" यानी भास्वर है। मन की उपाधि का भी सर्वार्थभासकत्व होने से तथा मनोमय होने से इसकी भास्वरता सिद्ध है। वह "तस्मिन्नन्तर्हृदये" अर्थात् हृदय के मध्य भाग में, जिस प्रकार व्रीहि अथवा यव का परिणाम है, उतने परिमाण वाला अर्थात् उस हृदय के मध्य योगियो द्वारा देखा जाता है। वह यह "सर्वस्येशान" अर्थात् समस्त भेदजान

---

१. अजडप्रकाशाख्य ज्योति । २ मनस इत्यादेरपराऽर्थं । अस्य मनोमयत्वात् मनसः सर्वार्थावभासकत्वादस्य भास्वरत्वमित्यन्वय । स्वयप्रकाशस्य ब्रह्मणो मनसि प्रतिफलितत्वेनैव मनसो भासकता न स्वतो जडत्वादिति मनसो भासकत्वान्यथाऽनुपपत्त्या तत्तादात्म्यापन्नस्य ब्रह्मणो भासुरत्व निश्चतव्यमिति । ३ मध्यम् ।
४. तस्य भास्वरूपत्वमिति—ननु स्वतो भास्वरमपि कथमुपाधिविशिष्टमपि तथा नहि स्वत शुद्धमपि गाङ्गमम्भश्चण्डालघटिकागत पानमर्हतीत्याशङ्क्य पेत्याटि । ५. अर्थान्तरे साधयतीत्यस्य अर्थापत्त्या प्रमापयतीत्यर्थं । ६ मनस इतीति । मनन उपाधेरपि भासुरत्वात्स्वतो भास्वरत्व न ध्वंसतीति भाव । इति टेप । न ध्वंसतीत्यर्थ । ७. औपाधिकमिति—बुद्ध्युपाधिस्यदन्तर प्रत्युत हिगुण्यारकावापवरकगतदीपशिखावदित्यधिक बोध्यम् ।
च्छेदाद्व्रीह्यादिपरिमाणतेति वार्तिककारैरिति भावः ।

(अथ पञ्चमाध्यायस्य नवमं ब्राह्मणम् ।)

'विद्युद्ब्रह्मेत्याहुर्विदानाद्विद्युद्विद्यत्येनं पाप्मनो य एवं वेद विद्युद्ब्रह्मेति विद्युद्ध्येव ब्रह्म ॥ १ ॥

इति बृहदारण्यकोपनिषदि पञ्चमाध्यायस्य नवमं ब्राह्मणम् ॥ ९ ॥

विद्युत् ब्रह्म है—ऐसा कहते हैं। अन्धकार का खण्डन या विनाश करने के कारण विद्युत् है, ऐसे गुण वाले विद्युत् ब्रह्म की जो उपासना करता है; वह अपने प्रतिकूल सभी पापों का नाश कर देता है (क्योंकि यह फल उपास्य के अनुरूप ही है) अतः विद्युत् ही ब्रह्म है ॥ १ ॥

अन्तर्हृदये योगिभिर्दृश्यत इत्यर्थः। स एष सर्वस्येशानः सर्वस्य भेदजातस्येशानः स्वामी। स्वामित्वेऽपि सति 'कश्चिदमात्यादितन्त्रोऽस्य तु न तथा किं तर्ह्यधिपतिरधिष्ठाय पालयिता। सर्वमिदं प्रशास्ति यदिदं किंच यत्किंचित्सर्वं जगत्तत्सर्वं प्रशास्ति। 'एवं मनोमयस्योपासनात्तथारूपापत्तिरेव फलम्'। तं यथा यथोपासते तदेव भवतीति ब्राह्मणम् ॥१॥

इति बृहदारण्यकोपनिषद्भाष्ये पञ्चमाध्यायस्याष्टमं ब्राह्मणम् ॥८॥

'सत्यस्यैवोपासनान्तरं सत्यस्य ब्रह्मणो 'विशिष्टफलमारभ्यते—विद्युद्ब्रह्मेत्याहुः।

किं स्वातन्त्र्यमित्यभिप्रेत्याऽऽह—स एष इति। यदुक्तं सर्वस्येशान इति 'तन्निगमयति—सर्वमिति। 'यथाऽन्यत्र तथाऽत्राफलश्रुतेरफलमिदमुपासनमकार्यमिति चेन्नेत्याह—एवमिति ॥ १ ॥

इति बृहदारण्यकोपनिषद्भाष्यटीकायां पञ्चमाध्यायस्याष्टमं ब्राह्मणम् ॥ ८ ॥

ब्राह्मणान्तरमुद्भाव्य विभजते—सत्यैवेत्यादिना। तमसो विदानाद्विद्युदिति संबन्धः। "तदेव

वस्तुओं का स्वामी है। स्वामी होने पर भी जिस प्रकार कोई राजपुत्रादि मन्त्री आदि के अधीन रह कर शासन करते हैं, वैसा यह नहीं है, तो कैसा है? 'अधिपति" अर्थात् अधिष्ठापक होकर पालन करने वाला है। "सर्वमिदं प्रशास्ति यदिदं किंच" अर्थात् इस जगत् में जो कुछ भी है; उस सब पर प्रशासन करता है। इस प्रकार मनोमय ब्रह्म की उपासना से वैसे ही रूप की प्राप्ति होती है, यही फल समझना चाहिये। "उसकी जो जिस-जिस प्रकार उपासना करता है, वही हो जाता है" —ऐसा ब्राह्मण वाक्य में कहा गया है ॥ १ ॥

इस प्रकार बृहदारण्यकोपनिषत् में पञ्चमाध्यायस्य अष्टम ब्राह्मण के शाङ्कर-भाष्य का हिन्दी-भाषानुवाद पूर्ण हुआ ॥ ८ ॥

मन-उपाधि विशिष्ट ब्रह्म की उपासना के समान ही सत्यस्वरूप ब्रह्म की (अशेष-दुरित-निवृत्ति-

---

१ सत्यस्यैव ब्रह्मणोऽशेषपापध्वंसफलवदुपासनान्तरमाह—विद्युदित्यादिना। २ इति शेषः। ३ राजपुत्रादि। ४ एवमिति—यथोपासनान्तरेषु फलमुक्तमेवमित्यर्थः। ५ ऊह्यम्। ६ मनउपाधिविशिष्टस्योपासनवदेव। ७ अशेषदुरितनिवृत्तिफलकम्। ८ उपसंहरति। ९ यथेत्यादि—उपासनान्तरेषु यथाफलमुक्तं तथाऽत्र फलोक्त्यभावादित्यर्थः। १० निर्वचनमेव।

(अथ पञ्चमाध्यायस्य दशम ब्राह्मणम्।)

'वाचं धेनुमुपासीत तस्याश्चत्वारः स्तनाः स्वाहाकारो वषट्कारो हन्तकारः स्वधाकारस्तस्यै द्वौ स्तनौ देवा उपजीवन्ति स्वाहाकारं च वषट्कारं च हन्तकारं

वाग् (ऋग्, यजु और सामवेद) रूप धेनु की उपासना करे। उस वाग्रूप धेनु के स्वाहाकार, वषट्कार, हन्त और स्वधाकार ये चार स्तन हैं। इनमे से स्वाहाकार और वषट्कार द्वारा देवताओ को हवि दी जाती है। 'हन्त' ऐसा कह कर मनुष्यो को अन्न देते हैं और स्वधाकार के द्वारा पितृगणो को श्राद्ध के योग्य वस्तु देते हैं। (इन्ही चारो स्तनो के द्वारा वाग् गौ के समान बछडे स्थानीय देव-

---

विद्युतो ब्रह्मणो निर्वचनमुच्यते—विदानादवखण्डनात्तमसो मेघान्धकार विदार्य ह्यवभासतेऽतो विद्युत्। 'एवंगुण विद्युद्ब्रह्मेति यो वेदासौ विद्यत्यवखण्डयति विनाशयति पाप्मन 'एनमात्मानं प्रति प्रतिकूलभूताः पाप्मानो ये तान्सर्वान्पाप्मनोऽवखण्डयतीत्यर्थः। य एवं वेद विद्युद्ब्रह्मेति तस्यानुरूप फलम्। विद्युद्धि यस्माद्ब्रह्म ॥१॥

इति बृहदारण्यकोपनिषद्भाष्ये पञ्चमाध्यायस्य नवमं ब्राह्मणम् ॥९॥

पुनरुपासनान्तरं तस्यैव ब्रह्मणो 'वाग्वै ब्रह्मेति' वागिति शब्द'स्त्रयी तां वाचं

स्फुटयति—मेघेति। उक्तमेव फल प्रकटयति—एनमिति ॥ १ ॥

इति बृहदारण्यकोपनिषद्भाष्यटीकाया पञ्चमाध्यायस्य नवम ब्राह्मणम् ॥९॥

ब्राह्मणान्तरमवतारयति—पुनरिति। तां धेनुमुपासीतेति संबन्ध.। वाचो धेन्वाश्च साहश्यं

'विद्युत् ब्रह्म है'—ऐसा कहते हैं। (विद्युत्रूप) विशिष्ट फल वाली दूसरी उपासना आरम्भ की जाती है। विद्युत् ब्रह्म की व्युत्पत्ति बतलायी जाती है। तम को विदीर्ण या अवखण्डन करने मे यह विद्युत् नाम पडा क्योकि यह मेघ जन्य अन्धकार को मिटा कर प्रकाशित होती है। इस प्रकार तमो विदारण गुण विशिष्ट विद्युत् ब्रह्म को जो कोई जानता है, वह पाप को "विद्यति" अर्थात् टुकडे-टुकडे कर देता है अथवा विनष्ट कर देता है। भाव यह है कि इस उपासक आत्मा के जितने प्रतिकूल भूत पाप होते हैं उन सभी (देवत्वप्राप्ति के प्रतिबन्धकस्वरूप) पापो का नाश कर देता है। जो 'विद्युत् ब्रह्म है' ऐसा जानता है, यह उसका अनुरूप फल है क्योकि विद्युत् ही ब्रह्म है ॥ १ ॥

इस प्रकार बृहदारण्यकोपनिषत् मे पञ्चमाध्यायस्य नवम ब्राह्मण के शाङ्कर-भाष्य का हिन्दी-भाषानुवाद पूर्ण हुआ ॥ ९ ॥

पुन उस सत्यात्मक ब्रह्म की 'वाक् ही ब्रह्म है' ऐसी श्रुति समर्थित दूसरी उपासना का

---

१ अथ पुनस्तस्यैव वाङ्मयधेनुसबन्धेनोपासनमाह—वाचमिति। वाग् वेदत्रयीलक्षणा। २ तमोविदारणगुणम्। ३ उपासकात्मानम्। ४ पाप्मन इत्यादि—देवत्वाप्तिप्रतिबन्धकान् पाप्मन उपास्य ब्रह्म नाशयतीत्यर्थ.। ५ उच्यत। ६ बृ उ ४ १ २। ७ श्रुतेः। ८ त्रयीति—"वागित्यत्र त्रयी ग्राह्या न स्थानकरणादय। स्वाहाकारादि नान्यत्र त्रय्या सभाव्यते यतविदिति वार्तिके ॥ २ ॥

मनुष्याः स्वधाकारं पितरस्तस्याः प्राण ऋषभो मनो वत्सः ॥ १ ॥

इति बृहदारण्यकोपनिषदि पञ्चमाध्यायस्य
दशमं ब्राह्मणम् ॥ १० ॥

गणादिकों की कामना की सिद्धि करती है)। उस धेनु का वृषभ प्राण है क्योंकि प्राण के द्वारा ही वाक् प्रसव करती है, मन उसका बछड़ा है (क्योंकि मन से ही आलोचना किये हुए विषय में वाणी की प्रवृत्ति होती है)।

॥ इति दशम ब्राह्मणम् ॥

धेनुं धेनुरिव धेनुर्यथा धेनुश्चतुर्भिः स्तनैः स्तन्यं पयः क्षरति वत्साय एवं वाग्धेनुर्वक्ष्यमाणैः स्तनैः पय इवान्नं क्षरति देवादिभ्यः। के पुनस्ते स्तनाः के वा ते येभ्यः क्षरति। तस्या एतस्या वाचो धेन्वा द्वौ स्तनौ देवा उपजीवन्ति वत्सस्थानीयाः। कौ तौ। स्वाहाकारं च वषट्कारं च। आभ्यां हि हविर्दीयते देवेभ्यः। हन्तकारं मनुष्याः। हन्तेति मनुष्येभ्योऽन्नं प्रयच्छन्ति। स्वधाकारं पितरः। स्वधाकारेण हि पितृभ्यः स्वधां प्रयच्छन्ति। तस्या धेन्वा वाचः प्राण ऋषभः[1]। प्राणेन हि वाक्प्रसूयते। मनो वत्सः। मनसा हि प्रस्राव्यते। मनसा ह्यालोचिते विषये वाक्प्रवर्तते। [2]तस्मान्मनो वत्सस्थानीयम्। एवं वाग्धेनूपासक-

---

विशदयति—यथेत्यादिना। स्तनचतुष्टयं भोक्तृत्रयं च प्रश्नपूर्वकं प्रकटयति—के पुनरित्यादिना। कथं देवा यथोक्तौ स्तनावुपजीवन्ति तत्राऽऽह—आभ्यां हीति। हन्त यद्यपेक्षितमित्यर्थः। स्वधामन्नम्। प्रस्राव्यते प्रस्नुता क्षरणोद्यता क्रियते। मनसा हीत्यादिनोक्तं विवृणोति—मनसेति। फलाश्रवणादेतदुपासन-

---

निरूपण किया जाता है। 'वाक्' यह शब्द (स्वाहाकारादि) त्रयी है। उस वाणी को "धेनुमुपासीत" अर्थात् धेनु के समान उपासना करे। जिस प्रकार गाय अपने चारों स्तनों से बछड़े के लिए दूध बहाती है, उसी प्रकार वाग्धेनु वक्ष्यमाण स्तनों से देवादि के लिए दूध के समान अन्न देती है। वे स्तन कौन से हैं तथा जिनसे वह दूध बहाती है, वे कौन-कौन से हैं। उस इस वाक्रूपी धेनु के दो स्तनों के वत्सस्थानीय देवतागण उपजीवी हैं। वे कौन से दो हैं ? स्वाहाकार और वषट्कार। इन्हीं दोनों से देवताओं के लिए हवि दी जाती है। हन्तकार के उपजीवी मनुष्य हैं। 'हन्त' इस प्रकार कहकर मनुष्य को अन्न दिया जाता है। स्वधाकार के उपजीवी पितृगण हैं क्योंकि स्वधाकार के द्वारा पितरों को अन्न देते हैं। उस धेनुस्वरूपा वाणी का प्राण ऋषभ के समान उत्पादक है क्योंकि प्राण के द्वारा वाक् उत्पन्न होती है। मन उसका बछड़ा है क्योंकि मन के द्वारा वाणी क्षरण के लिए तैयार होती है, मन से चिन्तित विषय में ही वाक् प्रवृत्त होती है, इसलिए मन वत्सस्थानीय है। इस प्रकार वाक्

---

१. ऋषभ इवर्षभ उत्पादक इत्यर्थः। २ मनसो वाक्प्रस्रवणहेतुत्वात्।

(अथ पञ्चमाध्यायस्यैकादशं ब्राह्मणम् ।)

[1]अयमग्निर्वैश्वानरो योऽयमन्तः पुरुषे येनेदमन्नं पच्यते यदिदमद्यते तस्यैष घोषो भवति यमेतत्कर्णावपिधाय शृणोति स यदोत्क्रमिष्यन्भवति नैनं घोषꣳ शृणोति ॥ १ ॥

इति बृहदारण्यकोपनिषदि पञ्चमाध्यायस्यैकादशं ब्राह्मणम् ॥ ११ ॥

जो यह पुरुष के भीतर है, यह अग्नि वैश्वानर है। जिससे यह अन्न पकाया जाता है और भक्षण किया जाता है, उसी जठराग्नि का यह घोष हुआ करता है, जिसे पुरुष अंगुलियों से दोनों कानों को बन्द करके सुनता है। जब यह जीव उत्क्रमण करने वाला होता है, उस समय इस घोष को नहीं सुनता है (अतः उस प्रजापति रूप वैश्वानराग्नि की उपासना करे) ॥१॥

॥ इत्येकादशं ब्राह्मणम् ॥

स्ताद्ब्रह्मैव प्रतिपद्यते ॥ १ ॥

इति बृहदारण्यकोपनिषद्भाष्ये पञ्चमाध्यायस्य दशमं ब्राह्मणम् ॥ १० ॥

अयमग्निर्वैश्वानरः पूर्ववदुपासनान्तरमयमग्निर्वैश्वानरः । कोऽयमग्निरित्याह—योऽयमन्तः [2]पुरुषे । किं शरीरारम्भको नेत्युच्यते—येनाग्निना वैश्वानराख्येनेदमन्नं पच्यते । किं तदन्नम् । यदिदमद्यते भुज्यतेऽन्नं प्रजाभिर्जाठरोऽग्निरित्यर्थः । तस्य [3]साक्षा-

---

[1]मांकिंचित्करमित्याशङ्क्याऽऽह—एवमिति । तादृभाव्यं यथोक्तवागुपाधिकब्रह्मरूपत्वमित्यर्थः ॥ १ ॥

इति बृहदारण्यकोपनिषद्भाष्यटीकायां पञ्चमाध्यायस्य दशमं ब्राह्मणम् ॥ १० ॥

ब्राह्मणान्तरमवतार्य तस्य तात्पर्यमाह—अयमिति । अन्नपानस्य पक्ता । तत्सद्भावे मानमाह

स्वरूपा धेनु का उपासक वागुपाधि ब्रह्मरूपता को प्राप्त करता है ॥ १ ॥

इस प्रकार बृहदारण्यकोपनिषत् में पञ्चमाध्यायस्थ दशम ब्राह्मण के शाङ्कर-भाष्य का हिन्दी-भाषानुवाद पूर्ण हुआ ॥ १० ॥

"अयम् अग्निर्वैश्वानरः" इत्यादि ग्रन्थ से यानी यह अग्नि वैश्वानर है, इस श्रुति द्वारा पूर्ववत् अन्य उपासना कही जाती है। यह अग्नि कौन सा है? श्रुति कहती है जो शरीर के भीतर है। क्या शरीरारम्भक अग्नि कहते हो? नहीं—जिस वैश्वानर अग्नि से यह अन्न पचाया जाता है वह अन्न क्या है? "यदिदमद्यते" अर्थात् जो यह अन्न खाया जाता है अर्थात् उस अन्न को पचाने वाला

---

१. प्रकृतस्यैव सत्यब्रह्मणो जाठराग्नित्वे नापरोक्षत्व प्रदर्शयितुं तत्रैवोपासनमाह—अयमन्तरोऽग्निरित्यादिना । २. उच्यत इति शेषः । ३ शरीरे । ४ घोषरूपेण प्रत्यक्षज्ञानार्थम् । ५ अप्रयोजकम् ।

(अथ पञ्चमाध्यायस्य द्वादश ब्राह्मणम् ।)

'यदा वै पुरुषोऽस्माल्लोकात्प्रैति स वायुमागच्छति तस्मै स तत्र विजिहीते यथा रथचक्रस्य खं तेन स ऊर्ध्व आक्रमते स आदित्यमागच्छति तस्मै स तत्र

जब यह पुरुष इस लोक से प्रस्थान करता है, तब वह वायु को प्राप्त करता है। आकाश में घनीभूत वह वायु उसके लिए छिद्रयुक्त हो जाता है और मार्ग दे देता है। वह छेद रथ के पहिये के छेद के समान होता है। उस छेद के द्वारा वह उपासक ऊर्ध्व होकर जाता है, फिर वह सूर्य लोक में

द्रुपलक्षणार्थमिदमाह—तस्याग्नेरन्नं पचतो जाठरस्यैव घोषो भवति। कोऽसौ। यं घोषमेतदिति क्रियाविशेषणं कर्णावपिधायाङ्गुलीभ्यामपिधानं कृत्वा शृणोति तं प्रजापतिमुपासीत वैश्वानरमग्निम्। अत्रापि तद्भाव्य फलम्। तत्र 'प्रासङ्गिकमिदम'रिष्टलक्षणमुच्यते—सोऽत्र शरीरे भोक्ता यदोत्क्रमिष्यन्भवति नैनं घोषं शृणोति॥ १॥

इति बृहदारण्यकोपनिषद्भाष्ये पञ्चमाध्यायस्यैकादशं ब्राह्मणम्॥११॥

सर्वेषामस्मिन्प्रकरण उपासनानां 'गतिरियं फलं चोच्यते—यदा वै पुरुषो विद्वान्-

---

—तस्येति। क्रियाया श्रवणस्यैतदिति विशेषणं तद्यथा भवति तथेत्यर्थः। 'कौक्षेया'ग्न्युपाधिकस्य परस्योपासने प्रस्तुते सतीत्याह—तत्रेति॥ १॥

इति बृहदारण्यकोपनिषद्भाष्यटीकायां पञ्चमाध्यायस्यैकादशं ब्राह्मणम्॥ ११॥

ब्राह्मणान्तरस्य तात्पर्यमाह—सर्वेषामिति। फलं चाश्रुत'फलानामिति ज्ञेयं। किमिति विद्वा-

---

जाठराग्नि ही अग्नि है। उसके साक्षात् ज्ञान के लिए श्रुति कहती है—उस अन्न पचाने वाले जाठराग्नि की यह ध्वनि होती है। कौन सी ध्वनि? "य घोषमेतत्" अर्थात् जिस ध्वनि-क्रिया के विशेषण का श्रवण यह "कर्णावपिधाय" अर्थात् कानों को अँगुली से दबा कर सुनता है। उस वैश्वानर अग्नि प्रजापति की उपासना करे। इसका तद्भावापत्ति रूप फल है। यहाँ घोष प्रकरण से प्राप्त मरणचिह्न रूप अरिष्ट लक्षण कहा जाता है, जिस समय शरीर में भोक्ता यहाँ उत्क्रमण करने वाला होता है, उस समय घोष को नहीं सुनता॥ १॥

इस प्रकार बृहदारण्यकोपनिषत् में पञ्चमाध्यायस्य एकादश ब्राह्मण के शाङ्कर-भाष्य का हिन्दी-भाषानुवाद पूर्ण हुआ॥ ११॥

इस प्रकरण में सभी उपासनाओं का मार्ग और इन (अश्रुत फल उपासनाओं) का यह फल

---

१ अथास्मिन्प्रकरणे उक्तोपासनानां गतिमनुक्तफलं चाह—यदेत्यादिना। २ प्रासङ्गिकमिति—घोषप्रसङ्गादागतमरिष्टमशुभं मरणचिह्नमिति यावत्। ३ ज्ञातारिष्टः कथं नाम कुर्यादात्महितं पुमानित्यरिष्टोक्तिफलम्। ४ मार्गं। ५ तदिति श्रवणमुच्यत इत्यूचु। ६ कौक्षेयेति—'दृतिकुक्षिकलशिवस्त्यस्त्यहेर्ढञ्' (पा सू ४ ३ ५६) इत्यनेन ढञ् भवार्थे। ७ उदर्याग्नीत्यर्थः। ८ उपासनानाम्।

विजिहीते यथा लम्बरस्य ख तेन स ऊर्ध्व आक्रमते
स चन्द्रमस मागच्छति तस्मै स तत्र विजिहीते यथा
दुन्दुभेः खं तेन स ऊर्ध्व आक्रमते सलोकमागच्छत्य-
शोकमहिमं तस्मिन्वसति शाश्वतीः समाः ॥ १ ॥

इति बृहदारण्यकोपनिषदि पञ्चमाध्यायस्य
द्वादश ब्राह्मणम् ॥ १२ ॥

पहुँच जाता है। वहाँ पर सूर्य भी उसके लिये वैसा ही छिद्रयुक्त हो मार्ग दे देता है। वह छेद डवर नामक बाजे के छेद के समान होता है। उसमे प्रविष्ट हो वह उपासक ऊपर की ओर जाता है और वह चन्द्रलोक मे पहुँच जाता है। वहाँ चन्द्रमा भी छिद्र युक्त हो उसे मार्ग दे देता है। वह छिद्र दुंदुभि के छिद्र के समान होता है। उस छिद्र के द्वारा ही वह उपासक ऊपर की ओर चढता है। वहाँ पर वह मानसिक दुःख से हिमवर्जित अर्थात् शारीरिक ताप से रहित प्रजापति लोक मे पहुँच जाता है और उसमे अनन्त वर्षों तक अर्थात् ब्रह्मा के अनेक कल्पो तक निवास करता है ॥१॥

॥ इति द्वादश ब्राह्मणम् ॥

स्माल्लोकात्प्रैति शरीर परित्यजति [1]स तदा वायुमागच्छत्यन्तरिक्षे [2]तिर्यग्भूतो वायुः स्तिमितोऽभेद्यस्तिष्ठति। स वायुस्तत्र स्वात्मनि तस्मै [4]संप्राप्ताय विजिहीते स्वात्माव-यवान्विगमयति च्छिद्री करोत्यात्मानमित्यर्थः। किंपरिमाणं छिद्रमिति। उच्यते—यथा रथचक्रस्य खं [5]छिद्र प्रसिद्धपरिमाणम्। तेन च्छिद्रेण स विद्वानूर्ध्वं आक्रमत ऊर्ध्वं. सन्ग-च्छति स आदित्यमागच्छति। आदित्यो ब्रह्मलोक जिगमिषोर्मार्गनिरोध कृत्वा स्थितः

स्वायुमागच्छति तदुपेक्ष्यैव ब्रह्मलोक कुतो न गच्छतीत्याशङ्क्याऽऽह—अन्तरिक्ष इति। आदित्यं प्रत्या-

---

श्रुति कहती है—जब कोई विद्वान् पुरुष इस लोक से प्रैति" अर्थात् शरीर छोड़ता है, उस समय वह उपासक वायु को प्राप्त होता है। आकाश मे वह वायु वक्रगति से निश्चल और अभेद्य होकर स्थित है। वह वायु 'तत्र" अर्थात् स्वात्मा मे 'तस्मै' यानी लोक भोग के लिए "विजिहीते" अर्थात् अपने अवयवो को मिटा देता है अथवा अपने को छिद्र-युक्त कर देता है। कितने परिमाण वाला छिद्रयुक्त करता है? इस पर श्रुति कहती है—जिस प्रकार रथ के चक्र का "ख" यानी छिद्र होता है, वैसे प्रसिद्ध परिमाण वाला छिद्र कर देता है। उस छिद्र से वह विद्वान् 'ऊर्ध्वं आक्रमते" अर्थात् ऊपर की ओर होकर जाता है, वह आदित्यलोक प्राप्त करता है। आदित्य ब्रह्मलोक जाने के

---

१ उपासक। २ वक्रगति। ३ स्तिमितो निविडतया स्थिर इति यावत्। स्तिमितो निश्चलार्द्रयो' इति मेदिनीकोश। ४ लोकभोगार्थम्। ५ नाभिबिलम्।

(अथ पञ्चमाध्यायस्य त्रयोदशं ब्राह्मणम् ।)

[1]एतद्वै परमं तपो यद्व्याहितस्तप्यते परमꣳ हैव लोकं जयति य एवं वेदैतद्वै परमं तपो यं प्रेतमरण्यꣳ

ज्वरादि से ग्रस्त पुरुष को जो ताप होता है, यह नि सन्देह परम तप है (क्योंकि ताप और तप दोनो मे समान क्लेश होता है । इस प्रकार चिन्तन करने वाले तथा रोगादि की निन्दा न करने वाले

सोऽप्येवंविद उपासकाय द्वारं प्रयच्छति । तस्मै स तत्र विजिहीते । यथा [2]लम्बरस्य खं वादित्रविशेषस्य छिद्रपरिमाणं तेन स ऊर्ध्वं आक्रमते स चन्द्रमसमागच्छति । सोऽपि तस्मै तत्र विजिहीते । यथा दुन्दुभेः खं प्रसिद्धं तेन स ऊर्ध्वं आक्रमते स लोकं प्रजापति-लोकमागच्छति । किंविशिष्टम् । अशोकं मानसेन दुःखेन विवर्जितमित्येतत् । अहिमं हिमवर्जित शारीरदुःखवर्जितमित्यर्थः । तं प्राप्य तस्मिन्वसति शाश्वतीर्नित्याः समाः संवत्सरानित्यर्थः । ब्रह्मणो बहून्कल्पान्वसतीत्येतत् ॥ १ ॥

इति बृहदारण्यकोपनिषद्भाष्ये पञ्चमाध्यायस्य द्वादशं ब्राह्मणम् ॥ १२ ॥

एतद्वै परमं तपः । किं तत् । यद्व्याहितो [1]व्याधितो ज्वरादिपरिगृहीतः सन्य-

गमने हेतुमाह—आदित्य इति । उक्तेऽर्थे वाक्यं पातयति—तस्मा इति । बहून्कल्पानित्यवान्तर-कल्पोक्तिः ॥ १ ॥

इति बृहदारण्यकोपनिषद्भाष्यटीकायां पञ्चमाध्यायस्य द्वादशं ब्राह्मणम् ॥ १२ ॥

ब्रह्मोपासनप्रसङ्गेन फलवद्ब्रह्मोपासनमुपन्यस्यति—एतदिति । यद्व्याहित इति प्रतीकमादाय

इच्छुको का मार्ग रोककर स्थित है, वह भी इस प्रकार जानने वाले उपासक के लिए मार्ग दे देता है । उसके लिए वह अपने को छिद्रयुक्त करता है । जैसे डमरु अभेद 'लम्बर' नामक वाद्य विशेष के छिद्र का परिमाण होता है । उसके द्वारा वह ऊपर को ओर जाता है, वह चन्द्रलोक को प्राप्त करता है । वह चन्द्रमा भी उसके लिए अपने को छिद्रयुक्त कर देता है । जिस प्रकार दुन्दुभि का छिद्र प्रसिद्ध है, उस छिद्र के बीच से वह ऊपर की ओर चढता है । फिर वह प्रजापति लोक को प्राप्त करता है । उसकी विशिष्टता कैसी है ? "अशोकम्" अर्थात् यह मानस दु ख से शून्य है; "अहिमम्" अर्थात् हिम यानी शरीर के दु ख से शून्य है । उसे प्राप्तकर वह "शाश्वती" अर्थात् नित्य या अनन्त वर्षो तक वहीं रहता है अर्थात् ब्रह्मा के बहुत कल्पो तक वहीं रहता है ॥ १ ॥

इस प्रकार बृहदारण्यकोपनिषत् मे पञ्चमाध्यायस्थ द्वादश ब्राह्मण के शाङ्करभाष्य का हिन्दीभाषानुवाद पूर्ण हुआ॥१२॥

यही परम तप है । वह क्या है ? "यद्व्याहित" अर्थात् ज्वरादि से पीडित व्यक्ति जो दु ख

१ अथा मार्गेच्छुकज्वरादिहेतुकमनात्मोपासनत्रय सफलमाह—एतद्वा इत्यादिना । २ डमरुकप्रभेदस्येत्याहुः ।

१ व्याधितो भय पाठ क्वचित्र ।

हरन्ति परमꣳहैव लोकं जयति य एवं वेदैतद्वै परमं
तपो यं प्रेतमग्नावभ्यादधति परमꣳहैव लोकं जयति
य एवं वेद ॥ १ ॥

इति बृहदारण्यकोपनिषदि पञ्चमाध्यायस्य
त्रयोदशं ब्राह्मणम् ॥ १३ ॥

पुरुष को) जो लोक प्राप्त होता है, वह परम लोक ही है, उसी लोक को वह जीतता है। मृत पुरुष
को जो ऋत्विक् लोक अन्त्येष्टि कर्म के लिए ग्राम से बाहर वन में ले जाते हैं, निश्चय ही यह परम
तप है (क्योंकि मृत पुरुष और तपस्वी दोनों को वन में जाना समान ही है)। जो मरणासन्न पुरुष
ऐसा जानता है, वह परम लोक पर विजय कर लेता है। अन्त्येष्टि संस्कार के समय मृत पुरुष को
जो सब ओर से अग्नि में रखते हैं, नि सन्देह यह उसका परम तप है। जो ऐसा जानता है, वह
निश्चय ही परम लोक को जीत लेता है ॥१॥

॥ इति त्रयोदशं ब्राह्मणम् ॥

---

[1]तप्यते तदेतत्परमं तप इत्येवं [2]चिन्तयेत् । दुःखसामान्यात् । तस्यैवं चिन्तयतो विदुषः
कर्मक्षयहेतुस्तदेव तपो भवत्यनिन्दतोऽविषीदतः । स एव च तेन विज्ञानतपसा दग्ध-
किल्बिषः परमं हैव लोकं जयति य एवं वेद । तथा मुमूर्षुरादावेव कल्पयति किमेतद्वै परमं
तपो यं प्रेतं मां ग्रामादरण्यं हरन्ति ऋत्विजो[3]ऽन्त्यकर्मणे तद्ग्रामादरण्यगमनसामान्या-
त्परमं मम तत्तपो भविष्यति । ग्रामादरण्यगमनं परमं तप इति हि प्रसिद्धम् । परमं हैव

व्याचष्टे—ज्वरादीति । कर्मक्षयहेतुरित्यत्र कर्मशब्देन पापमुच्यते । परमं हैव लोकमित्यत्र तपसोऽनुकूलं
फलं लोकशब्दार्थः । अस्तु ग्रामादरण्यगमनं तथाऽपि कथं [4]तपस्त्वमित्याशङ्क्याऽऽह—ग्रामादिति ॥१॥
इति बृहदारण्यकोपनिषद्भाष्यटीकायां पञ्चमाध्यायस्य त्रयोदशं ब्राह्मणम् ॥ १३ ॥

अनुभव करता है, वही परम तप है, इस प्रकार (परमफल की इच्छा वाला) भावना करे क्योंकि तप
और इस ताप दोनों में दुःख की समानता है। जो आग ज्वरादि दुःख की निन्दा नहीं करता तथा
उससे दुःखी नहीं होता, उस इस विद्वान् का यही कर्म क्षय में हेतुक तप हो जाता है। जो इस प्रकार
जानता है, वह उस विज्ञान रूप तप के द्वारा पापों को जलाकर के परम लोक पर विजय प्राप्त कर
लेता है। इसी प्रकार मरणावस्था को प्राप्त व्यक्ति आरम्भ में ही सोचने लग जाता है। यथा कल्पना
करने लगता है कि मर जाने पर मुझे ऋत्विज लोग अन्त्येष्टिकर्म अथवा सम्बन्धी लोग दाह संस्कार
के लिये ग्राम से वन में ले जाएँगे, यह निश्चय ही परम तप है। इस प्रकार ग्राम से वनगमन में
समानता होने से यह मेरा परम तप हो जायगा। ग्राम से जाकर अरण्य में वास करना परम तप है;
यह लोक में प्रसिद्ध है। जो इस प्रकार जानता है, वह निश्चित ही परम लोक को प्राप्त कर लेता है।

---

१. दुःखमनुभवति । २. परमफलेप्सुः । ३. ज्ञातयो वा दाहाय । ४. तस्य ।

(अथ पञ्चमाध्यायस्य चतुर्दशं ब्राह्मणम् ।)

'अन्नं ब्रह्मेत्येक आहुस्तन्न तथा पूयति वा अन्नमृते प्राणात्प्राणो ब्रह्मेत्येक आहुस्तन्न तथा शुष्यति वै प्राण ऋतेऽन्नादेते ह त्वेव देवते एकधाभूयं भूत्वा परमतां गच्छतस्तद्ध स्माऽऽह प्रातृदः पितरं किꣳ स्विदेवैवं विदुषे साधु कुर्यां किमेवास्मा असाधु कुर्यामिति स ह स्माऽऽह पाणिना मा

कुछ लोग कहते हैं कि अन्न ब्रह्म है, किन्तु ऐसा कहना ठीक नहीं क्योंकि प्राण के बिना अन्न सड़ जाता है और वह दुर्गन्ध को प्राप्त हो जाता है। ऐसे ही कुछ आचार्यों ने कहा है कि प्राण ब्रह्म है पर यह बात भी ठीक नहीं क्योंकि अन्न के बिना प्राण सूख जाता है। अतः (इनमें से एक-एक का ब्रह्मत्व सम्भव न होने के कारण) ये दोनों देव एकरूपता को प्राप्त होकर परम भाव अर्थात् ब्रह्मत्व को प्राप्त हो जाता है, ऐसा निश्चय कर प्रातृद नाम वाले ऋषि ने अपने पिता से कहा था। इस प्रकार जानने वाले का मैं क्या शुभ करूँ या क्या अशुभ करूँ? (क्योंकि उस कृत-कृत्य हुए पुरुष को शुभाशुभ कर्म से कुछ लाभ और हानि नहीं होती)। उसके पिता ने हाथ से रोकते हुए कहा—हे

लोकं जयति य एवं वेद । तथैतद्‌ परमं तपो यं प्रेतमग्नावभ्याघधति । अग्निप्रवेश-सामान्यात् । परमं हैव लोकं जयति य एवं वेद ॥ १ ॥

इति बृहदारण्यकोपनिषद्भाष्ये पञ्चमाध्यायस्य त्रयोदशं ब्राह्मणम् ॥ १३ ॥

अन्नं ब्रह्मेति । तथैतदुपासनान्तरं विधित्सन्नाह—अन्नं ब्रह्माऽन्नमद्यते यत्तद्ब्रह्म-

---

ब्राह्मणान्तरं गृहीत्वा तात्पर्यमाह—अन्नमिति । यथा पूर्वस्मिन्ब्राह्मणे 'फलवद्ब्रह्मोपासन-मुक्तं तद्वदित्याह—तथेति । एतदिति ब्रह्मविषयोक्तिः । उपास्यं ब्रह्म निर्धारयितुं विचारयति—अन्नमि-

---

जिस प्रकार मृतक को सब ओर से अग्नि में रखते हैं, यह भी परम तप है क्योंकि अग्नि प्रवेश से इसकी समानता है। जो इस प्रकार जानता है, वह परम लोक पर विजय प्राप्त कर लेता है ॥ १ ॥

इस प्रकार वृहदारण्यकोपनिषत् में पञ्चमाध्यायस्थ तेरहवें ब्राह्मण के शाङ्करभाष्य का हिन्दीभाषानुवाद पूर्ण हुआ ॥ १३ ॥

'अन्न ब्रह्म है' इस प्रकार (सोपाधिक ब्रह्म की) उपासनान्तर विधान करने की इच्छा से श्रुति कहती है—"अन्न ब्रह्म इत्येक आहु" अर्थात् जो खाया जाता है, वह अन्न ब्रह्म है—ऐसा कुछ आचार्य कहते हैं, किन्तु इसका रूप में ग्रहण नहीं करना चाहिये। अन्य आचार्य कहते हैं, प्राण ही

---

१. अथ पुनरन्नप्राणोपाधिकं वीरगुणकं ब्रह्मोपासनमेव विधातुं तावदुक्तो आह—अन्नं ब्रह्मेत्यादिना । २. एतद्वा इत्यादिकण्डिकात्रयेणेत्यादि. ।

मा प्रातृद कस्त्वेनयोरेकधाभूयं भूत्वा परमतां गच्छतीति तस्मा उ हैतदुवाच वीत्यन्नं वै वयन्ने हीमानि सर्वाणि भूतानि विष्टानि रमिति प्राणो वै रं प्राणे हीमानि सर्वाणि भूतानि रमन्ते सर्वाणि ह वा, अस्मिन्भूतानि विशन्ति सर्वाणि भूतानि रमन्ते य एवं वेद ॥ १ ॥

इति बृहदारण्यकोपनिषदि पञ्चमाध्यायस्य चतुर्दशं ब्राह्मणम् ।१४।

प्रातृद ! ऐसा न कहो, इन दोनो की एकता को प्राप्त कर किसने ब्रह्मभाव को प्राप्त किया है। इस प्रकार उक्त साधन का निषेध कर प्रातृद ऋषि से उसके पिता ने 'वि' ऐसा कहा। 'वि' यही समस्त भूतो का आश्रय होने से अन्न है क्योकि 'वि' रूप अन्न मे ही सभी प्राणी प्रविष्ट हैं। "रम्" यह प्राण है क्योकि इस रम् मे ही ये सभी भूत रमण करते हैं। इस प्रकार समस्त भूतो के आश्रयरूप अन्न को और समस्त भूतो के रमणरूप प्राण को जो जानता है, उसमें समस्त प्राणी प्रवेश करते हैं और सभी भूत रमण करते हैं (क्योकि उपास्य के गुणानुरूप ही उपासक को फल प्राप्त होता है) ॥ १ ॥

॥ इति चतुर्दशं ब्राह्मणम् ॥

त्येक आचार्या आहुस्तन्न तथा ग्रहीतव्यमन्नं ब्रह्मेति। अन्ये चाऽऽहुः प्राणो ब्रह्मेति तच्च तथा न ग्रहीतव्यम्। किमर्थं पुनरन्नं ब्रह्मेति न ग्राह्यम्। यस्मात्पूयति विलद्यते पूति-भावमापद्यत ऋते प्राणात्तत्कथं ब्रह्म भवितुमर्हति। ब्रह्म हि नाम तद्यदविनाशि। अस्तु तर्हि प्राणो ब्रह्म। नैवम्। यस्माच्छुष्यति वै प्राणः शोषमुपैति ऋतेऽन्नात्। अत्ता हि प्राणः। अतोऽन्नेनाऽऽद्येन विना न शक्नोत्यात्मानं धारयितुम्। तस्माच्छुष्यति वै प्राण

स्यादिना। अन्नस्य विनाशित्वेऽपि ब्रह्मत्वं किं न स्यादत आह—ब्रह्म हीति। कथमन्नं विना प्राणस्य

ब्रह्म है, उसका भी उस रूप मे ग्रहण नही करना चाहिये। किन्तु 'अन्न ब्रह्म है' ऐसा ग्रहण क्यो नही करना चाहिये क्योकि "पूयति" अर्थात् विकृत हो जाता है यानी जो प्राणो के बिना विनाश-भाव को प्राप्त होता है, ब्रह्म कैसे हो सकता है? ब्रह्म अविनाशी वस्तु का नाम है। (अन्न के ब्रह्मत्व संभव न होने से) प्राण ही ब्रह्म है, ऐसा मान लो। ऐसा भी कहते नही बनता क्योकि "शुष्यति वै प्राणः" अर्थात् अन्न के बिना प्राण का नाश हो जाता है, प्राण ही भोजन करने वाला है। इसलिए भक्ष्यार्ह भोजन के बिना प्राण को धारण नही किया जा सकता। इसीलिए बिना अन्न के प्राण नष्ट हो जाना

---

१. विनश्यतीति यावत्। २. "अविनाशीनि" "अक्नेद्योऽयमि"त्यादि स्मृत.। ३ अन्नस्य ब्रह्मत्वासंभवे।
४. नश्यति।

ऋतेऽन्नात् । अत एकैकस्य ब्रह्मता नोपपद्यते यस्मात्तस्मादेते ह त्वेवान्नप्राणदेवते एकधा-
भूयमेकधाभावं भूत्वा 'गत्वा परमतां परमत्वं गच्छतो ब्रह्मत्वं प्राप्नुतः ।

'तदेनदेवम'ध्यवस्य ह स्माऽऽह स्म प्रातृदो नाम' पितरमात्मनः किंस्वित्स्विदिति वितर्के । यथा मया ब्रह्म परिकल्पितमेवं विदुषे किंस्वित्साधु कुर्यां साधु शोभनं पूजां, कां त्वस्मै पूजां कुर्यामित्यभिप्रायः । किमेवास्मै विदुषेऽसाधु कुर्यां कृतकृत्योऽसावित्यभिप्रायः । अन्नप्राणौ 'सहभूतौ ब्रह्मे'ति विद्वान्नासावसाधुकरणेन 'खण्डितो भवति । नापि साधुकरणेन 'महीकृतः । तमेववादिनं स पिता ह स्माऽऽह पाणिना हस्तेन निवारयन्मा प्रातृद मैवं वोचः । कस्त्वेनयोरन्नप्राणयोरेकधाभूयं भूत्वा परमतां कस्तु गच्छति न कश्चिदपि विद्वाननेन ब्रह्मदर्शनेन 'परमतां गच्छति । तस्मान्नैवं वक्तुमर्हसि कृतकृत्योऽसाविति यद्येवं ब्रवीतु भवान्कथं परमतां गच्छतीति । तस्मा उ हैतद्वक्ष्यमाणं वच उवाच । किं

शोषप्राप्तिस्तत्राऽऽह—ऋता हीति । प्रत्येकं नाशित्वमत शब्दार्थः ।

किंस्विदित्यादिवाक्यस्यार्थं विवृणोति—अन्नप्राणाविति । कस्त्विति प्रतीकमादाय व्याकरोति—एनयोरिति । यद्येवमुक्तरीत्या परमाथ यदि नास्तीत्यर्थ । उक्तमसंकीर्णं गुणद्वयं संक्षिप्याऽऽह—सर्व-

है । इसलिये इनमे से पृथक पृथक का ब्रह्मत्व सम्भव नही है, ये अन्न और प्राण दोनो "एकधाभूयम्" अर्थात् एकीभाव से ' भूत्वा ' अर्थात् मिलकर ' परमता गच्छत " अर्थात् परम पद यानी ब्रह्मभाव को प्राप्त हो जाते हैं ।

उसका (अन्नप्राणोपाधिक ब्रह्म उपास्य है) इस तरह निश्चय करके प्रातृद नामक किसी ऋषि के पुत्र ने अपने पिता से कहा । किंस्वित् अर्थात् कौन सा—यह वितर्क के लिए है । अर्थात् मैंने जिस प्रकार ब्रह्म की कल्पना की है उस प्रकार जानने वाले विद्वान् का क्या तो मैं साधु कुर्याम्" अर्थात् शोभन कार्य या पूजन करूं "किमेवास्मा असाधु कुर्याम्' और क्या मै ऐसे विद्वान् का अशोभन कार्य या अपूजन करूं । भावाशय यह है कि वह विद्वान् तो कृतकृत्य है । "अन्न और प्राण" ये मिलकर ब्रह्म हैं । इस प्रकार जो विद्वान् जानता है, वह अशोभनीय कर्म करने से तिरस्कृत नही होता, न ही शोभनीय कर्म करने से सम्माननीय होता है । इस प्रकार प्रातृद को बोलते हुए "स " अर्थात् उस के पिता "पाणिना" अर्थात् हाथ से मना करते हुए बोले—प्रातृद ! ऐसा मत कहो । इन अन्न और प्राण को एकीभूत मिलकर कौन ब्रह्मत्व को प्राप्त हुआ है । कोई भी विद्वान् इस (सोपाधिक) ब्रह्म के दर्शन से ब्रह्मत्व को नहीं प्राप्त हुआ । इसलिये इस प्रकार आप आग्रह नही कर सकते हो कि वह कृतकृत्य हो जाता है । यदि

१ मिलित्वेति यावत् । २ तदेतदेवमध्यवस्यति—अन्नप्राणोपाधिक ब्रह्मोपास्यमित्यव निश्चित्येदित्यर्थ । ३ अध्यवस्यति—अन्त्यकर्मार्थकस्योधातोर्थेऽर्थे कविधानमिति भावकान्तात्करोत्यर्थे णिचि ल्यपि च प्रयोग । यद्वा 'ओत' श्यनी'त्यत्र ओत इति योगो विभक्तव्य । यद्वा रोपार्थकासुधानाल्ल्यप् 'शकन्ध्वादिषु पररूप वाच्य मिति समाधेयम् । ४ कश्चनर्षिपुत्र । ५ अशोभनमपूजाम् । ६ सहभूतौ—समुदितौ मिलितौ । ७ स खण्डितः तिरस्कृतः । ८ आदृत । महीकृत इति महीङ्पूजायामिति कण्ड्वादिप्रकृतिकमुबन्ताच्च्वौ प्रयोग । ९ ब्रह्मत्वम् ।

तत् ः वीति । किं तद्वीति । उच्यते—अन्नं वै वि । अन्ने हि यस्मादिमानि सर्वाणि
भूतानि विष्टान्याश्रितान्यतोऽन्नं वीत्युच्यते । [1]किंच रमिति । रमिति चोक्तवान्पिता ।
किं पुनस्तद्रम् । प्राणो वै रम् । कुत इत्याह । प्राणे हि यस्माद्बलाश्रये सति सर्वाणि
भूतानि [2]रमन्तेऽतो रं प्राणः । सर्वभूताश्रयगुणमन्नं सर्वभूतरतिगुणश्च प्राणः । न हि
कश्चिदनायतनो निराश्रयो रमते । नापि सत्यप्यायतनेऽप्राणो दुर्बलो रमते । यदा त्वाय-
तनवान्प्राणी बलवांश्च तदा कृतार्थमात्मानं मन्यमानो रमते लोकः । "युवा स्यात्साधु-
युवाऽध्यायकः" इत्यादिश्रुतेः । इदानीमेवंविदः फलमाह—सर्वाणि ह वा अस्मि-
न्भूतानि विशन्त्यन्नगुणज्ञानात्सर्वाणि भूतानि रमन्ते प्राणगुणज्ञानाद्य एवं वेद ॥ १ ॥

इति बृहदारण्यकोपनिषद्भाष्ये पञ्चमाध्यायस्य चतुर्दशं ब्राह्मणम् ॥ १४ ॥

भूतेति । अन्नगुणं विना प्राणगुणादेतद्ध्यानं सिध्यतीत्याशङ्क्याऽऽह—न हीति । प्राणगुणस्याप्यन्न-
गुणत्वसंभवादलं प्राणेनेत्याशङ्क्याऽऽह—नापीति । गुणद्वयस्य परस्परापेक्षामनुभवानुसारेण स्फोर-
यति—यदा त्विति । आयतनवतो बलवतश्च कृतार्थतेत्यत्र तैत्तिरीयश्रुतिं संवादयति—युवा स्यादिति ।
[a]आशिष्ठो द्रढिष्ठो बलिष्ठस्तस्येयं पृथिवी सर्वा [b]वित्तस्य पूर्णा 'स्यादि'त्येतदादिशब्देन गृह्यते ॥ १ ॥

इति बृहदारण्यकोपनिषद्भाष्यटीकायां पञ्चमाध्यायस्य चतुर्दशं ब्राह्मणम् ॥ १४ ॥

ऐसा है तो आप बतलाइये-किस प्रकार वह ब्रह्मत्व को प्राप्त करता है? उसके इस प्रकार पूछने पर पिता
ने वक्ष्यमाण वचन कहा । क्या कहा ? 'वि' इस प्रकार कहा । वह 'वि' क्या है । इस पर कहा जाता
है—अन्न ही 'वि' है क्योंकि सभी भूत प्राणी अन्न के ही "विष्टानि" अर्थात् आश्रित होते हैं । इसलिए
अन्न को 'वि' कहा जाता है । (अन्न का दूसरा गुण कहते हैं । तथा "रम्" यह भी पिता ने कहा ।
वह 'रम्' क्या है । प्राण ही 'रम्' है । वह कैसे ? इस पर श्रुति कहती है । क्योंकि प्राण के बल के
आश्रय से ही सभी भूतप्राणी रुचि के अनुसार विहार करते हैं, इसलिये 'रम्' प्राण है । इस प्रकार
अन्न समस्त भूतों के आश्रयरूप गुणवाला है और प्राण समस्त भूतों के रतिरूप गुण वाला है ।
संसार में कोई भी प्राणी बिना आयतन या आश्रय के यथेष्ट विहार नहीं कर सकता
और आश्रय के होने पर भी अप्राण या दुर्बल भी यथेष्ट विहार नहीं कर सकता । जब
प्राणी आश्रय युक्त और बलवान् होता है, तभी अपने को कृतार्थ मानता हुआ लोक में
यथेष्ट विहार करता है । जैसा श्रुति में कहा है—युवा और यथोक्तकारी युवा तथा अधीतवेद-वेदाङ्ग
वाला हो' । अब इस प्रकार यथोक्त ब्रह्मोपासक का श्रुति फल बतलाती है—उसमें अन्नगुण का ज्ञान होने
से सभी भूत उसमें प्रवेश करते हैं तथा प्राण गुण का ज्ञान होने से सम्पूर्ण प्राणी यथेष्ट विहार करते
हैं, जो इस प्रकार जानता है ॥ १ ॥

इस प्रकार बृहदारण्यकोपनिषत् में पञ्चमाध्यायस्थ चौदहवें ब्राह्मण के शाङ्करभाष्य
का हिन्दीभाषानुवाद पूर्ण हुआ ॥ १४ ॥

---

१. द्वितीय गुणमाह—किंचेति । २ यथेष्ट विहरन्ति । ३ साधुयथोक्तकारी वामो युवा । ४ अधीत-
वेदवेदाङ्ग । ५. यथोक्तब्रह्मोपासकस्य । ६ आशास्तृतम आशुतमो वा । ७ स्थिरतर । ८ वशी
भवेत । ९. स्यादित्यनन्तर स एको मानुष आनन्द इति श्रुतिशेष । स तस्य चित्तप्रसाद ।

(अथ पञ्चमाध्यायस्य पञ्चदशं ब्राह्मणम् ।)

'उक्थं प्राणो वा उक्थं प्राणो हीदꣳ सर्वमुत्थापय-
त्युद्धास्मादुक्थविद्वीरस्तिष्ठत्युक्थस्य सायुज्यꣳ
सलोकतां जयति य एवं वेद ॥ १ ॥

"उक्थ" इस प्रकार प्राण की उपासना करे। इन्द्रियों में प्रधान होने से प्राण ही उक्थ है क्योंकि प्राण ही इन सबको उठाता है। प्राणहीन कोई भी उठ नहीं सकता। इस उपासक में प्राणवित् वीर पुत्र उत्पन्न होते हैं। जो ऐसी उपासना करता है; वह प्राण के सायुज्य और सालोक्य को जीत लेता है ॥ १ ॥

उक्थं तथोपासनान्तरमुक्थं 'शस्त्रम् । तद्धि प्रधानं महाव्रते क्रतौ । किं पुनस्तदुक्थम् । प्राणो वा उक्थम् । प्राणश्च प्रधान इन्द्रियाणामुक्थं च शस्त्राणामत उक्थमित्यु'पासीत । 'कथं प्राण उक्थमित्याह—'प्राणो हि यस्मादिदं 'सर्वमुत्थापयति । उत्थापनादुक्थं प्राणः । न ह्यप्राणः कश्चिदुत्तिष्ठति । 'तदुपासनफलमाह—उद्धास्मादेवंविद उक्थवित्प्राणवि-

---

अन्नप्राणयोर्गुणद्वयविशिष्टयोर्मिलितयोरुपासनमुक्तमिदानीं ब्राह्मणान्तरमादाय तात्पर्यमाह—उक्थमिति । सत्सु शस्त्रान्तरेषु किमित्युक्थमुपास्यत्वेनोपन्यस्यते तत्राऽऽह—तद्धीति । कस्मिन्निमारोप्य कस्योपास्यत्वमिति प्रश्नद्वारा विवृणोति—किं पुनरिति । तस्मिन्नुक्थदृष्टौ हेतुमाह—प्राणश्चेति । तस्मिन्नुक्थशब्दस्य 'समवेतार्थत्वं प्रश्नपूर्वकमाह—कथमित्यादिना । उत्थानस्य 'स्वतोऽपि संभवान्न प्राणकृतत्वमित्याशङ्क्याऽऽह—न हीति । उक्थस्य प्राणस्यैत"द्विज्ञानतारतम्यमपेक्ष्य सायुज्यं सालोक्यं

इसी ब्रह्म की पुन उक्थादिगुण-विशिष्टता कही जाती है। प्रगीत मन्त्र के साध्य गुणी निष्ठ गुणाभिधान स्तोत्र उक्थ है। वही महाव्रत क्रतु में प्रधान होता है। वह उक्थ क्या है ? प्राण ही उक्थ है। प्राण इन्द्रियों में प्रधान है, और उक्थ स्तोत्रों में प्रधान है। इसलिए प्राण उक्थ है। इस प्रकार प्राण की उपासना करे। वह प्राण उक्थ किस प्रकार है—इस पर कहा जाता है क्योंकि प्राण होने पर इस सम्पूर्ण जगत् को कर्म द्वारा उत्पन्न करता है। उत्पादन करने में उक्थ प्राण है। कोई भी बिना प्राण के उठ नहीं सकता। उस उक्थ गुण-विशिष्ट प्राण ब्रह्म की उपासना का फल

---

१ अस्यैव ब्रह्मण' पुनरुक्थादिगुणविशिष्टत्वेनोपासनमुच्यते—उक्थमित्यादिना । २. शस्त्रमिति—प्रगीतमन्त्रसाध्यगुणिनिष्ठगुणाभिधानं स्तोत्रम् । अप्रगीतमन्त्रसाध्यगुणिनिष्ठगुणाभिधानं शस्त्रमिति याज्ञिकानां व्यवहार इति ध्येयम् । ३ उपासीतेत्यनन्तरं प्राणमिति शेष । ४ कथमिति—उक्थं शस्त्रं तस्य प्राणत्वमप्रसिद्धमित्यभिप्राय । ५ प्राणो हीति—प्राणे सति जीव इति यावत् । ६. जगत् उत्पादयति कर्मभिः । ७. तदित्यादि—तस्य उक्थगुणविशिष्टप्राणब्रह्मण उपासनस्य फलं दृष्टादृष्टरूपम् । ८ अन्वर्थत्वम् । ९. प्राणं विनापि । १० विज्ञानतारतम्येति—विज्ञाने तारतम्यं त्वादरनैरन्तर्यादि साद्गुण्यवैगुण्याभ्यां प्रयत्नदार्ढ्यशैथिल्याभ्यां वेति ध्येयम् ।

'यजुः प्राणो वै यजुः प्राणे हीमानि सर्वाणि भूतानि युज्यन्ते युज्यन्ते हास्मै सर्वाणि भूतानि श्रैष्ठ्याय यजुषः सायुज्यꣳ सलोकतां जयति य एवं वेद ॥ २ ॥

"यजुः" इस प्रकार प्राण की उपासना करे। प्राण के रहने पर ही किसी से योग हो सकता है। अतः प्राण ही यजु है क्योंकि प्राण में ही इन सब भूतों का योग होता है। सभी भूत इसकी श्रेष्ठता के कारण श्रेष्ठ भाव से युक्त होते हैं। जो इस प्रकार उपासना करता है, वह यजु रूप प्राण के सायुज्य एव सालोक्य को जीत लेता है ॥ २ ॥

वीरः पुत्र उत्तिष्ठति ह दृष्टमेतत्फलमदृष्टं तूक्थस्य सायुज्यं सलोकतां जयति य एवं वेद ॥ १ ॥

यजुरिति चोपासीत प्राणम्। प्राणो वै यजुः। कथं यजुः प्राणः। प्राणे हि यस्मात्सर्वाणि भूतानि युज्यन्ते। न ह्यसति प्राणे केनचित्कस्यचिद्योगसामर्थ्यम्। अतो युनक्तीति प्राणो यजुः। एवंविदः फलमाह—युज्यन्त उद्यच्छन्त इत्यर्थः। हास्मा एवंविदे सर्वाणि भूतानि श्रैष्ठ्यं श्रेष्ठभावस्तस्मै श्रैष्ठ्याय श्रेष्ठभावायायं नः श्रेष्ठो भवेदिति। यजुषः प्राणस्य सायुज्यमित्यादि सर्वं समानम् ॥ २ ॥

च व्याख्येयम् ॥ १ ॥

यजु शब्दस्यान्यत्र रूढत्वादयुक्तं प्राणविषयत्वमिति शङ्कित्वा परिहरति—कथमित्यादिना। यजु शब्दस्य असत्यपि प्राणे योगः संभवतीत्याशङ्क्याऽऽह—न हीति। प्रकरणानुगृहीतप्राणशब्दश्रुत्या यजु शब्दस्य रूढि त्यक्त्वा योगोऽङ्गीक्रियत इत्याह—अत इति ॥ २ ॥

बतलाया जाता है—"य एव वेद" यानी इस प्रकार के ज्ञाता को "उक्थवित्" अर्थात् प्राणवित् 'वीरः' अर्थात् वीर पुत्र उत्पन्न होता है, यह दृष्ट फल है और अदृष्ट फल यह है कि वह उक्थ प्राण की सायुक्ति और सलोकता को प्राप्त कर लेता है ॥ १ ॥

यजुःरूप से प्राण की उपासना करे। प्राण ही यजु है। प्राण यजु किस प्रकार है ? क्योंकि प्राण के रहने पर ही समस्त भूत प्राणी एक दूसरे से सयुक्त रहते हैं। प्राण के न रहने पर किसी का किसी से संयुक्त रहने का सामर्थ्य नही रहता। (यजु का रूढि अर्थ परित्याग करके) युक्त करता है, इसलिए प्राण यजु है। इस प्रकार जानने वाले का फल कहा जाता है। इस प्रकार के ज्ञाता या उपासक से सभी भूतप्राणी "श्रैष्ठ्याय" अर्थात् श्रेष्ठभाव के लिए अर्थात् यह हम मे श्रेष्ठ हो, इस निमित्त से "युज्यन्ते" अर्थात् परस्पर सहत होते रहते हैं। तथा वह यजु रूप प्राण का सायुज्य लाभ करता है।

---

१. अथ यजुष्ट्वगुणविशिष्ट प्राणब्रह्मोपासन विधत्ते—यजुरित्यादिना। २ श्रुति। ३ मिथ. सहन्यन्ते। ४. अतः श्रुतिप्रकरणाभ्यां यजु शब्दे रूढमर्थपरित्यागात्। ५ एवंविद यजुर्गुणविशिष्ट प्राण ब्रह्मत्वेनोपासीनस्य। ६. वेदभेदे। ७ उपासितप्रकरणेति यावत्।

साम प्राणो वै साम प्राणे हीमानि सर्वाणि भूतानि सम्यञ्चि सम्यञ्चि हास्मै सर्वाणि भूतानि श्रैष्ठ्याय कल्पन्ते साम्नः सायुज्यꣳ सलोकतां जयति य एवं वेद ॥ ३ ॥

क्षत्त्रं प्राणो वै क्षत्त्रं प्राणो हि वै क्षत्त्रं त्रायते हैनं प्राणः क्षणितोः 'प्र क्षत्त्रमत्रमाप्नोति क्षत्त्रस्य सायुज्यꣳ सलोकतां जयति य एवं वेद ॥ ४ ॥

इति बृहदारण्यकोपनिषदि पञ्चमाध्यायस्य पञ्चदशं ब्राह्मणम् ॥ १५ ॥

'साम' इस प्रकार प्राण की उपासना करे। प्राण ही साम है क्योंकि प्राण में ही सम्पूर्ण भूत सुसङ्गत होते हैं। समस्त प्राणी उसके लिये सङ्गत होते हैं और उसकी श्रेष्ठता के लिए समर्थ होते हैं। जो इस प्रकार प्राण की उपासना करते हैं, वे साम के सायुज्य और सालोक्य को प्राप्त होते हैं॥ ३ ॥

प्राण ही 'क्षत्र' है। इस प्रकार प्राण की उपासना करे। प्राण ही क्षत्र है, यह प्रसिद्ध है क्योंकि इस शरीर की शस्त्रादि-जनित पीडा से रक्षा प्राण ही करता है। अन्य किसी से त्राण न पाने वाले क्षत्र को प्राप्त करते हैं। जो इस प्रकार जानता है, वह क्षत्र के सायुज्य और सालोक्य को जीत लेता है॥ ४ ॥

॥ इति पञ्चदश ब्राह्मणम् ॥

सामेति चोपासीत प्राणम्[1]। प्राणो वै साम। कथं प्राणः साम। प्राणे हि यस्मात्सर्वाणि भूतानि सम्यञ्चि संगच्छन्ते संगमनात्साम्यापत्तिहेतुत्वात्साम प्राणः। सम्यञ्चि संगच्छन्ते हास्मै सर्वाणि भूतानि। न केवलं संगच्छन्त एव श्रैष्ठभावाय चास्मै कल्पन्ते [3]समर्प्यन्ते। साम्नः सायुज्यमित्यादि पूर्ववत्॥ ३ ॥

तं प्राणं क्षत्त्रमित्युपासीत। [4]प्राणो वै क्षत्त्रं प्रसिद्धमेतत्प्राणो हि वै क्षत्त्रम्।

संगमनादित्येतदेव व्याचष्टे—साम्येति ॥ ३ ॥

शेष व्याख्या पूर्वमन्त्र के समान है॥ २॥

क्योंकि प्राण ही साम है, इसलिये प्राण को 'साम' इस रूप से उपासना करे। प्राण के होने पर ही सभी भूतप्राणी "सम्यञ्चि" अर्थात् सङ्ग जाते हैं। सङ्गमन अथवा साम्यप्राप्ति हेतु होने से साम ही प्राण है। इसके होने पर ही सभी प्राणी "सम्यञ्चि" से अर्थात् साम्य प्राप्त करते हैं। केवल

---

१. प्रोपसर्गे आप्नोतिक्रियान्वयी बोद्धव्यः। २ यत प्राण एव सामातः प्राण सामेत्युपासीतेत्यर्थ। ३ समर्प्यन्त इति करोत्यर्थकणिजन्तात् कर्मकर्तरि प्रत्ययः। ४ यत।

(अथ पञ्चमाध्यायस्य षोडशं ब्राह्मणम् ।)

भूमिरन्तरिक्षं द्यौरित्यष्टावक्षराण्यष्टाक्षरꣳ ह वा एकं
गायत्र्यै पदमेतदु हैवास्या एतत्स यावदेषु त्रिषु

भूमि, अन्तरिक्ष और द्यौः, इस प्रकार ये आठ अक्षर हैं। गायत्री का पहला पाद भी आठ
अक्षर वाला ही प्रसिद्ध है ("द्यौः" के यकार से ही आठ संख्या की पूर्ति होती है)। यह भूमि
आदि ही इस गायत्री का प्रथम पाद है। जो त्रैलोक्यात्मक रूप है, इस प्रकार इस गायत्री के

कथं प्रसिद्धतेत्याह—त्रायते पालयत्येनं पिण्डं देहं प्राणः क्षणितोः शस्त्रादिहिंसितात्पुन-
र्मांसेनाऽऽपूरयति यस्मात्तस्मात्क्षतत्राणात्प्रसिद्धं क्षत्रत्वं प्राणस्य। विद्वत्फलमाह—प्र
क्षत्रमत्रं न त्रायतेऽन्येन केनचिदित्यत्रं क्षत्रं प्राणस्तमत्रं क्षत्रं प्राणं प्राप्नोतीत्यर्थः।
शाखान्तरे वा पाठात्क्षत्रमात्रं प्राप्नोति प्राणो भवतीत्यर्थः। क्षत्रस्य सायुज्यं सलोकतां
जयति य एवं वेद ॥ ४ ॥

इति श्रीमद्बृहदारण्यकोपनिषद्भाष्ये पञ्चमाध्यायस्य पञ्चदशं ब्राह्मणम् ॥ १५ ॥

ब्रह्मणो [1]हृदयाद्यनेकोपाधिविशिष्टस्योपासनमुक्तमथेदानीं गायत्र्युपाधिविशिष्ट-

---

शाखान्तरशब्देन माध्यंदिनशाखोच्यते ॥ ४ ॥

इति बृहदारण्यकोपनिषद्भाष्यटीकायां पञ्चमाध्यायस्य पञ्चदशं ब्राह्मणम् ॥ १५ ॥

वृत्तमनूद्य गायत्रीब्राह्मणस्य तात्पर्यमाह—ब्रह्मण इत्यादिना। छन्दोन्तरेष्वपि विद्यमानेषु

सामर्थ्य प्राप्ति ही नहीं करते; बल्कि इसमें श्रेष्ठ भाव के लिए "कल्पन्ते" अर्थात् समर्थ होते हैं। साम
साम्य प्राप्ति ही नहीं करते; बल्कि इसमें श्रेष्ठ भाव के लिए "कल्पन्ते" अर्थात् समर्थ होते है। साम्य प्राप्ति की पूर्ववत् व्याख्या समझनी चाहिये ॥ ३ ॥

क्योंकि 'प्राणो वै क्षत्रम्' अर्थात् यह प्राण ही प्रसिद्ध क्षत्र है; इसलिए उसकी "क्षत्र"
के सायुज्य को प्राप्त होता है—ऐसा इसके फल की पूर्ववत् व्याख्या समझनी चाहिये
इस रूप से उपासना करनी चाहिये। यह प्रसिद्धि क्यों है? इसे श्रुति बतलाती है—"एनम्" अर्थात्
इस पिण्ड देह को प्राण, "क्षणितः त्रायते" अर्थात् शस्त्रादि की हिंसा से रक्षा करता है, पुनः उसे मांस
से भर देता है, इसलिये चोट से बचाने के कारण प्राण का क्षत्रत्व लोकप्रसिद्ध है। इस प्रकार
उपासना करने वाले का फल श्रुति कहती है। "प्र क्षत्रमत्रमाप्नोति" अर्थात् इससे रक्षा न होने वाले
उस अत्र-क्षत्र रूप प्राण को प्राप्त कर लेता है। पाठान्तरशाखा उपलब्ध होने से क्षत्र मात्र को प्राप्त होता
है अर्थात् प्राण हो जाता है। जो इस प्रकार उपासना करता है, वह क्षत्र के सायुज्य और सालोक्य
को प्राप्त कर लेता है ॥ ४ ॥

इस प्रकार बृहदारण्यकोपनिषत् में पञ्चमाध्यायस्थ पंद्रहवें ब्राह्मण के शाङ्करभाष्य का
हिन्दी-भाषानुवाद पूर्ण हुआ ॥ १५ ॥

हृदय आदि अनेक उपाधियों से विशिष्ट सोपाधिक ब्रह्म की उपासना बतलायी गयी। अब

---

1. हृदयादीत्यादिना सत्यमनोविद्युद्वाग्धेनुकौशेयाग्निविराडिति गुणद्वयविशिष्टात्रप्राणोपयादिगुणपूगविशिष्ट-
प्राणा ग … ।

लोकेषु तावद्ध जयति योऽस्या एतदेवं पदं वेद ॥ १ ॥

इस त्रैलोक्य रूप पाद को जानता है; वह उस सभी को जीत लेता है, जो इस त्रिलोक में जितना भी है ॥ १ ॥

स्योपासनं वक्तव्यमित्यारभ्यते[1]। सर्वच्छन्दसां हि गायत्रीछन्दः प्रधानभूतम्। तत्प्रयोक्तृ-[2]'गयत्राणाद्गायत्रीति हि वक्ष्यति[3]। न चान्येषां छन्दसां तत्प्रयोक्तृप्राणत्राणसामर्थ्यम्। [4]'प्राणात्मभूता च सा सर्वच्छन्दसां चाऽऽत्मा प्राणः। प्राणश्च क्षतत्राणात्क्षत्रमित्युक्तम्। प्राणश्च गायत्री। तस्मा[5]त्तदुपासनमेव विधित्स्यते। द्विजोत्तमजन्महेतुत्वाच्च। गायत्र्या ब्राह्मणमसृजत त्रिष्टुभा राजन्यं जगत्या वैश्यमिति[6] द्विजोत्तमस्य द्वितीयं जन्म गायत्रीनिमित्तम्। [7]'तस्मात्प्रधाना गायत्री। [8]'ब्राह्मणा व्युत्थाय, [9]'ब्राह्मणा अभिवदन्ति, [10]'स ब्राह्मणो, [11]"विपापो विरजोऽविचिकित्सो ब्राह्मणो भवतीत्युत्तमपुरुषार्थसंबन्धं ब्राह्मणस्य

किमिति गायत्र्युपाधिकमेव ब्रह्मोपास्यमिष्यते तत्राऽऽह—सर्वच्छन्दसामिति। तत्प्राधान्ये हेतुमाह—तत्प्रयोक्त्रिति। तुल्यं प्रयोक्तृप्राणत्राणसामर्थ्यं छन्दोन्तराणामपीति चेन्नेत्याह—न चेति। [12]"प्रमाणाभावादिति भावः। किञ्च [13]"प्राणात्मभावो गायत्र्या विवक्ष्यते प्राणश्च सर्वेषां छन्दसां निवर्तकत्वादात्मा [14]"तथा च सर्वच्छन्दोव्यापकगायत्र्युपाधिकब्रह्मोपासनमेवात्र विवक्षितमित्याह—प्राणात्मेति। सदात्मभूता गायत्रीत्युक्तं व्यक्तीकरोति—प्राणश्चेति। तत्प्रयोक्तृगयत्राणादि गायत्री। प्राणश्च वागादीनां त्राता। [15]"ततश्चैकलक्षणत्वात्तयोस्तादात्म्यमित्यर्थः। प्राणगायत्र्योस्तादात्म्ये फलितमाह—तस्मादिति। गायत्रीप्राधान्ये हेत्वन्तरमाह—द्विजोत्तमेति। [16]"तदेव स्फुटयति—गायत्र्येति। तत्प्राधान्ये हेत्वन्तरमाह

आगे गायत्री आदि उपाधिविशिष्ट ब्रह्म की उपासना बतलानी है, इसलिए इस ब्राह्मण का प्रारम्भ किया जाता है—सब छन्दों में प्रधानभूत छन्द गायत्री ही है। प्रयोक्ताओं के प्राणों की रक्षा करने के कारण वह गायत्री है—यह निर्वचन आगे किया जायगा। अन्य छन्दों में उसके प्रयोक्ता के प्राणों की रक्षा करने की सामर्थ्य नहीं है। वह प्राण से तादात्म्यापन्न है और प्राण सब छन्दों की आत्मा है। तथा चोट से रक्षा करने के कारण क्षत्र प्राण है, ऐसा कहा जा चुका है। प्राण ही गायत्री है। इसलिए गायत्र्युपाधिक ब्रह्मोपासना का विधान करना इष्ट है। तथा विप्रजन्म के हेतु होने से भी उसका विधान करना इष्ट है। 'गायत्री से ब्राह्मण, त्रिष्टुप् से क्षत्रिय और जगती से वैश्य की रचना की' ऐसी श्रुति है। इससे विप्र का द्वितीय जन्म गायत्री के कारणहै। विप्र के जन्म में हेतु होने से गायत्री प्रधान है।

१. ब्राह्मणम्। २ गया प्राणाः प्रयोक्तारः। ३. बृ उ ५. १६ ४। ४. प्राणतादात्म्यापन्ना। ५. सर्वच्छन्दोव्यापकगायत्र्युपाधिकब्रह्मोपासनमित्यर्थः। ६ श्रुतेः। ७ विप्रजन्महेतुत्वात्। ८. बृ. उ. ३. ५. १। ९. बृ. उ ३. ८. ८। १० बृ उ. २ ५ १। ११. बृ उ ४. ४. २३। १२. प्रमाणाभावादिति—गायत्र्यास्तु गयत्राणसामर्थ्यं श्रुतिरेव वक्ष्यतीति भाव.। १३. प्राणतादात्म्यम्। १४. प्राणतादात्म्येन गायत्र्या सर्वच्छन्दसामात्मत्वे च। १५. ततश्च—उक्तरीत्योभयोस्त्रातृत्वात्। १६ तद्धेतुत्वमेव।

दर्शयति । तच्च ब्राह्मणत्वं गायत्रीजन्ममूलमतो वक्तव्यं गायत्र्याः सत्त्वम् । गायत्र्या हि यः सृष्टो द्विजोत्तमो निरङ्कुश एवोत्तमपुरुषार्थसाधनेऽधिक्रियतेऽतस्तन्मूलः परम-पुरुषार्थसम्बन्धः । तस्मात्तदुपासनविधानायाऽऽह—भूमिरन्तरिक्षं द्यौरित्येतान्यष्टावक्ष-राणि । अष्टाक्षरमष्टावक्षराणि यस्य तदिदमष्टाक्षरम् । ह वै प्रसिद्धावद्योतकौ । एकं प्रथमं गायत्र्यै गायत्र्याः पदम् । यकारेणैवाष्टत्वपूरणम् । एतदु हैवं तदेवास्या गायत्र्याः

—ब्राह्मणा इति । कथमेतावता गायत्रीप्राधान्यं तत्राऽऽह—तच्चेति । अतो वक्तव्यमित्यत्रात शब्दार्थ-माह—गायत्र्या हीति । अधिकारित्वकृतं कार्यमाह—अत इति । तच्छब्दो गायत्रीविषयः । गायत्री-वैशिष्ट्यं परामृश्य फलितमुपसंहरति—तस्मादिति । गायत्रीप्रथमपादस्य सप्ताक्षरत्वं प्रतीयते न त्वष्टा-क्षरत्वमित्याशङ्क्याऽऽह—यकारेणेति । गायत्रीप्रथमपादस्य त्रैलोक्यनाम्नश्च सत्यासामान्यप्रयुक्तं कार्यमाह—एतदिति । गायत्रीप्रथमपादे त्रैलोक्यदृष्ट्यारोपस्य प्रयोजनं दर्शयति—एवमिति । प्रथमपाद-

'ब्राह्मण (पुत्र, वित्त और लोकैषणा से) पारिव्राज्य को प्राप्त कर (श्रवणादिशेष-काल देहस्थिति के लिए भिक्षाटन करते है)', 'उस ब्रह्मवेत्ता को ब्राह्मण अभिवादन करते हैं', 'वह ब्राह्मण कृतकृत्य हो जाता है', 'इस प्रकार जानने वाला धर्म और अधर्म से अतीत, कामरहित, निःसंशय, मैं ही सर्वात्मा पर-ब्रह्म हूँ—इस प्रकार निश्चितमति वाला ब्राह्मण हो जाता है' इस प्रकार उपरोक्त सभी श्रुतियाँ ब्राह्मण का उत्तम पुरुषार्थ से सबन्ध दिखाती हैं। इसलिये गायत्री का विशिष्ट स्वरूप बतलाना चाहिये। गायत्री के द्वारा जिस विप्र को बनाया गया है, वह अप्रतिबद्ध है। उसका उत्तम पुरुषार्थ साधन मे अधिकार है। इसलिए परम पुरुषार्थ का सबन्ध गायत्री से ही है। इसलिए गायत्री-उपाधि-विशिष्ट ब्रह्म की उपासना के लिए श्रुति कहती है—भूमि, अन्तरिक्ष और द्युलोक इनम वर्ण विश्लेष से आठ अक्षर हैं। "अष्टाक्षरम्" यानी जिसके आठ अक्षर हो, उसे अष्टाक्षर कहा जाता है। 'ह' और 'वै' प्रसिद्धिद्योतक अव्यय हैं। 'एकम्' अर्थात् प्रथम पाद 'गायत्र्यै' अर्थात् गायत्री के आठ अक्षर हैं। "यो" इसके यकार को ग्रहण करने से आठ अक्षरो की सख्या पूरी होती है। यही इस गायत्री का

१. श्रुति । २. उत्तमपुरुषार्थसबन्धि । ३ गायत्र्याम्मतु सकाशाद्द्वितीयं जन्म तन्मूलकम् । ४ द्विजोत्तम-जन्महेतुत्वात् । ५ विशिष्ट स्वरूपम् । ६ स । ७ अप्रतिबद्ध । ८ गायत्र्युपाधिकब्रह्मोपासन विधानाय । ९ अष्टावक्षराणीति—त्रैलोक्यनामाक्षराणि सप्त द्यौरित्यत्र वर्णविश्लेषेणाष्टत्वमित्याहुः । विसर्गस्याक्षरत्वे तेनैव वाऽष्टत्वमिति ध्येयम् । १० पाद. । ११ यकारेणैवेति—यथा च 'इयादिपूरण' (पिङ्ग. सू ३।२६) इति । इद च सस्काररत्नमालाव्याख्यान हलायुधेनोद्धृतम् । तथाहि—'चतुर्विंशत्यक्षरा तु गायत्री प्रजपन् हृदि । सर्वान् वर्णानभिध्यायेद्देवतामर्चयन् च" ॥ इति श्लोके । अक्षरशब्द स्वरेषु वर्तते । तत्र यद्यपि स्वरास्त्रयोविंशतिरेव गायत्रीमन्त्रे वर्तन्ते तथापि व्यामित्यत्र भावनया णियमिति स्वरद्वय ज्ञेयम् । उक्त च पिङ्गलेन—'इयादिपूरण' इति पाद इत्यनुवर्तते इयादि पूरणो यस्य स इयादिपूरण. पादिवर्णो पादस्य यदाक्षरसख्या न पूर्यते तत्रेयादिभि वा पूरयितव्या । यथा "तत्सवितुर्वरेणियम्" 'दिव गच्छ सुव पतेति' "समादय इति । १२ उत्तमपुरुषार्थसबन्धप्रदर्शन मात्रेण । १३ प्रयुक्तम् । १४. अंशुमम् ।

ऋचो यजूꣳषि सामानीत्यष्टावक्षराण्यष्टाक्षरꣳ ह वा एकं गायत्र्यै पदमेतदु हैवास्या एतत्स यावतीयं त्रयी विद्या तावद्ध जयति योऽस्या एतदेवं पदं वेद ॥ २ ॥

ऋच, यजूंषि और सामानि ये त्रयीविद्या के आठ अक्षर हैं। आठ अक्षर वाली ही गायत्री का दूसरा पाद प्रसिद्ध है। सख्या की समानता होने के कारण यह ऋगादि ही इस गायत्री का दूसरा पाद है। इस प्रकार इस गायत्री के इस त्रयीविद्या रूप द्वितीय पाद को जो जानता है, वह उन सभी को जीत लेता है, जितनी यह त्रयीविद्या है अर्थात् त्रयीविद्या से जितना फल प्राप्त किया जा सकता है ॥ २ ॥

पद पादः प्रथमो भूम्यादिलक्षण त्रैलोक्यात्मा। अष्टाक्षरत्वसामान्यात्। एवमेतत्त्रैलोक्यात्मकं गायत्र्याः प्रथम पद यो वेद तस्यैतत्फलम्—स विद्वान्यावत्किंचिदेषु त्रिषु लोकेषु जेतव्य तावत्सर्वं ह जयति योऽस्या एतदेव पद वेद ॥ १ ॥

तथर्चो यजूंषि सामानीति त्रयीविद्यानामाक्षराण्येतान्यप्यष्टावेव तथैवाष्टाक्षरं ह वा एक गायत्र्यै पद द्वितीयमे[३]तदु हैवास्या [४]एतदृग्यजुःसामलक्षणमष्टाक्षरत्वसामान्यादेव। स यावतीय त्रयी विद्या त्रय्या विद्यया यावत्फलजातमाप्यते तावद्ध जयति योऽस्या

ज्ञाने विराडात्मकत्व [५]फलतीत्यर्थं ॥ १ ॥

प्रथमे पादे त्रैलोक्यदृष्टिवद्द्वितीये पादे कर्तव्या त्रैविद्यदृष्टिरित्याह—तथेति। दृष्टिविध्युपयोगित्वेन सख्यासामान्य कथयति—ऋच इति। सख्यासामान्यफलमाह—एतदिति। [६]विद्याफल दर्शयति—स यावतीति ॥ २ ॥

भूमि आदि लक्षण विराडात्मा त्रैलोक्य प्रथम पाद है क्योंकि आठ अक्षर होने से इसकी सरूपता है। इस प्रकार गायत्री के त्रैलोक्यात्मक स्वरूप प्रथम पाद को जो जानता है उसका यह फल है। जो इस प्रकार इसके इस पाद की उपासना करता है, इस त्रिलोकी मे जितना जेतव्य (भोगसाधन) है, उस सब को प्राप्त कर लेता है ॥ १ ॥

"ऋच, यजूंषि, सामानि" ये त्रयी विद्या के अक्षर हैं, ये भी (वर्णविश्लेष से) आठ अक्षर हैं। जिस प्रकार गायत्री का प्रथम पाद अष्टाक्षर है, इसी प्रकार यह दूसरा पाद है। अष्टाक्षर सरूपता होने से इस ऋग्यजु सामलक्षण द्वितीय पाद की त्रैविद्य की दृष्टि से उपासना करे। जो इस गायत्री के

---

१ त्रैलोक्यात्मेति—गायत्र्या प्रथम पाद विराडात्मकत्रैलोक्यदृष्ट्योपासीतेति भाव। २ भोगसाधनम्। ३ द्वितीय पदमेव। ४ त्रैविद्यदृष्ट्योपासीतेति यावत्। ५ विराडात्मभावप्राप्ति फल प्रथमपादोपासनस्येति यावत्। अत्र च भूम्याद्युक्त्याऽऽरोपेण रूपराशिर्गायत्रीप्रथमपादात्मनोपसहृत इति विवक्षितोऽर्थः। ६ विद्याफलमिति—गायत्रीद्वितीयपादस्य त्रय्यात्मनोपासनस्य फलमित्यर्थः।

¹प्राणोऽपानो व्यान इत्यष्टावक्षराण्यष्टाक्षरꣳ ह वा एकं गायत्र्यै पदमेतदु हैवास्या एतत्स यावदिदं प्राणि तावद्ध जयति योऽस्या एतदेव पदं वेदाथास्या एतदेव तुरीय दर्शतं पद परोरजा य एष तपति यद्वै

प्राण, अपान और व्यान, ये आठ अक्षर हैं। गायत्री का तृतीय पाद भी आठ अक्षर वाला है। यह प्राण आदि ही सख्या मे समानता होने के कारण इस गायत्री का तृतीय पाद है। इस प्रकार गायत्री के इस तृतीय पाद को जो जानता है, वह उस सभी को प्राप्त कर लेता है, जितना यह प्राणी समूह है और जो यह प्रकाशित होता है, वही इसका (आगे बतलाया जाने वाला) तुरीय दर्शत एव परोरजा पद है। जो चतुर्थ होता है, उसी को तुरीय कहते हैं। "दर्शत पदम्" इसका अर्थ यह है कि

एतद्गायत्र्यास्त्रैविद्यलक्षणं पदं ²वेद ॥ २ ॥

तथा प्राणोऽपानो व्यान एतान्यपि प्राणाद्यभिधानाक्षराण्यष्टौ । तच्च गायत्र्या-स्तृतीयं पदं यावदिद प्राणिजातं तावद्ध जयति योऽस्या एतदेव गायत्र्यास्तृतीय पदं वेद । ³अथानन्तरं गायत्र्यास्त्रिपदायाः शब्दात्मिकायास्तुरीयं पदमुच्यतेऽभिधेयभूतमस्याः प्रकृताया गायत्र्या एतदेव वक्ष्यमाण तुरीयं दर्शतं पद परोरजा य एष तपति । तुरीय-मित्यादिवाक्यपदार्थं स्वयमेव व्याचष्टे श्रुतिः—यद्वै चतुर्थं प्रसिद्ध लोके तदिह तुरीय-

प्रथमद्वितीयपादयोस्त्रैलोक्यत्रैविद्यदृष्टिवत्तृतीये पादे प्राणादिदृष्टि कर्तव्येत्याह—तथेति । ननु त्रिपदा गायत्री व्याख्याता चेत्किमुत्तरग्रन्थेनेत्याशङ्क्याऽऽह—अथेति । शब्दात्मकगायत्रीप्रकरण विच्छेदार्थोऽथशब्द । यद्वै चतुर्थमित्यादिग्रन्थस्य पूर्वेण पौनरुक्त्यमाशङ्क्याऽऽह—तुरीयमिति । इहेति प्रकृतवाक्योक्ति । योगिभिर्दृश्यत इवेति लक्ष्यते न तु मुख्यमीश्वरस्य दृश्यत्वमतीन्द्रियत्वादित्याह

त्रैविद्यलक्षण पाद को जानता है, "स यावतीय त्रयी विद्या" अर्थात् वह जितना त्रयी विद्या द्वारा फलसमूह प्राप्त किया जा सकता है, उसे प्राप्त कर लेता है ॥ २ ॥

तथा प्राण, अपान और व्यान—ये प्राणादि के नाम भी आठ अक्षर वाले हैं। यह गायत्री का तृतीय पाद है। जो इस प्रकार के, गायत्री के तृतीय पाद को जानता है, वह यह जितना भी जगत् है, सभी को प्राप्त कर लेता है। (शब्दात्मक गायत्री कथन के अनन्तर) अब इसके पश्चात् शब्दात्मक त्रिपदा गायत्री का अभिधेयभूत चतुर्थ पाद कहा जाता है। प्रमङ्गप्राप्त उसी इस गायत्री का, जो तपता है, वक्ष्यमाण तुरीय पाद 'दर्शत परोरजा' है। 'तुरीय' इस वाक्य के पदार्थ का श्रुति स्वय व्याख्यान करती है। जो लोकव्यवहार मे चतुर्थ शब्द से प्रसिद्ध है, उसी का यहाँ तुरीय कहा जाता

१. तृतीयपादस्योक्तरूपनामात्मकोभयविधजगद्धिधारकप्राणाद्यात्मत्वमाह—प्राण इत्यादिना । २ अत्रापि ऋगाद्युक्त्याऽशेषेण नामराशिर्गायत्र्या द्वितीयपादरूपेणोपसहृत इति विवक्षितोऽर्थं । ३ यष्टाविति—अत्रापि प्राणाद्युक्त्याऽशेषकर्मराशिर्गायत्र्या तृतीयपादात्मनोपसहृत इति विवक्षितोऽर्थ । ४ अथेति—शब्दात्मकगायत्री-कथनानन्तरमित्यर्थं ।

चतुर्थं तत्तुरीयं दर्शतं पदमिति ददृश इव ह्येष परोरजा इति सर्वमु ह्येवैष रज उपर्युपरि तपत्येवꣳ हैव श्रिया यशसा तपति योऽस्या एतदेवं पदं वेद ॥ ३ ॥

मानो यह आदित्य मण्डलान्तर्गत पुरुष दीखता है। इसीलिये इसे दर्शत पद कहते हैं। 'परोरजा' इस पद का अर्थ यह है, यह सभी रज (लोकों) के ऊपर-ऊपर आधिपत्य स्थापित कर प्रकाशित होता है (सभी लोक पर आधिपत्य दिखलाने के लिये ही इस मन्त्र में "उपरि उपरि" ऐसा दो बार कहा हुआ है)। जो गायत्री के इस चतुर्थ पद को इस प्रकार जानता है, वह उसी प्रकार शोभा और कीर्ति से प्रकाशित होता है जैसा कि यह आदित्य सर्वाधिपत्य रूप शोभा और कीर्ति से तप रहा है ॥ ३ ॥

शब्देनाभिधीयते। दर्शतं पदमित्यस्य कोऽर्थ इत्युच्यते—ददृश इव दृश्यत इव ह्येष मण्डलान्तर्गतः पुरुषोऽतो दर्शतं पदमित्युच्यते। परोरजा इत्यस्य पदस्य कोऽर्थ इत्युच्यते—सर्वं समस्तमु ह्येवैष मण्डलस्थः पुरुषो रजो रजोजातं समस्तं लोकमित्यर्थः। उपर्युपर्याधिपत्यभावेन सर्वं लोकं रजोजातं तपति। उपर्युपरीति वीप्सा सर्वलोकाधिपत्यख्यापनार्था। ननु सर्वशब्देनैव सिद्धत्वाद्वीप्साऽनर्थिका। नैष दोषः। येषामुपरिष्टादवितो दृश्यते तद्विषय एव सर्वशब्दः स्यादित्याशङ्कानिवृत्त्यर्था वीप्सा। "ये चामुष्मात्प-

---

—दृश्यत इवेति। 'लोका रजांस्युच्यन्ते' इति श्रुत्यन्तरमाश्रित्याऽऽह—समस्तमिति। आधिपत्यभावेनेति कथं व्याख्यानमित्याशङ्क्याऽऽह—उपर्युपरीति। वीप्सामाक्षिपति—नन्विति। सर्वं समस्तपतीत्येतावतैव सर्वाधिपत्यस्य सिद्धत्वाद्व्यर्था वीप्सेति चोद्यं दूषयति—नैष दोष इति। येषां लोकानामिति यावत्। मण्डलपुरुषस्य निरङ्कुशमाधिपत्यमित्यत्र च्छान्दोग्यश्रुतिमनुकूलयति—ये चेति।

है। 'दर्शतम्' इस पद का क्या अर्थ है, इस पर श्रुति कहती है। "स ह्येष" अर्थात् वह मण्डल के अन्तर्गत पुरुष "ददृश इव" यानी दीखता हुआ सा है, इसलिए "दर्शत पदम्" ऐसा कहा जाता है। "परोरजा" इस पद का क्या अर्थ है, इस पर श्रुति कहती है—"एषः" अर्थात् यह मण्डलान्तर्गत पुरुष "सर्वमु ह्येव रजः" अर्थात् समस्त रजोजात लोक को ऊपर-ऊपर आधिपत्य रूप से, समस्त रजोसमूह लोक को प्रकाशित करता है। 'उपरि उपरि' पदों में द्वित्व सर्वलोकों में आधिपत्य ज्ञापन करने के लिए है। (इस पर शङ्का होती है—) किन्तु अभिलषित सर्वाधिपत्य तो सर्वशब्द से ही सिद्ध हो जाता है। इसलिए 'उपरि उपरि' यह द्वित्व प्रयोग अनर्थक है। (इस पर सिद्धान्ती कहता है—) ऐसा कहने में कोई दोष नहीं है। जिनके ऊपर आदित्य दीखता है, सर्वशब्द उन्हीं के अर्थ में होगा, इस आशङ्का की निवृत्ति के लिए द्विरुक्ति की गयी है। इसीका अन्य श्रुति प्रतिपादन

---

१. तापयति प्रकाशयति च। २. अभिलषितसर्वाधिपत्यस्य। ३. बृ. उ १.६.८। ४. उच्यन्त इति—"स इमाँल्लोकान् विष्टभ्य मेऽयो देवानयो बाधमिति" श्रुतिशेषः। ५. सर्वपदसामर्थ्यादेव।

' सैषा गायत्र्येतस्मिꣳस्तुरीये दर्शते पदे परोरजसि प्रतिष्ठिता यद्वै तत्सत्ये प्रतिष्ठितंच क्षुर्वै सत्यं चक्षुर्हि वै सत्यं तस्माद्यदिदानीं द्वौ विवदमानावेयातामहमदर्श-

पूर्वोक्त तीन पदो वाली वह यह गायत्री इस चतुर्थ दर्शत परोरजा पद मे प्रतिष्ठित है । वह तुरीय पद सत्य मे प्रतिष्ठित है । नेत्र ही सत्य है, नेत्र ही सत्य है (क्योकि विवाद करने वाले की सत्यता नेत्र से देखने पर ही सिद्ध होती है) यह प्रसिद्ध है । इसीलिये यदि दो पुरुष ' मैंने देखा है, मैंने सुना है" इस प्रकार विवाद करते हुए आवे तो उनमे से ' मैंने देखा है" ऐसा जो कहता है, उसी के प्रति हम

राङ्चो लोकास्तेषा चेष्टे देवकामाना च" इति श्रुत्यन्तरात् । 'तस्मा'त्सर्वावरोधार्था वीप्सा । यथाऽसौ सविता सर्वाधिपत्यलक्षणया श्रिया यशसा च ख्यात्या तपत्येव हैव 'श्रिया यशसा च 'तपति योऽस्या एतदेव तुरीयं दर्शतं पदं 'वेद ॥ ३ ॥

सैषा त्रिपदोक्ता या त्रैलोक्यत्रैविद्यप्राणादिलक्षणा गायत्र्ये'तस्मिꣳश्चतुर्थे तुरीये दर्शते पदे परोरजसि प्रतिष्ठिता । मूर्तामूर्तरसत्वादादित्यस्य । रसापाये हि वस्तु नीरसम-

---

वीप्सार्थवत्त्वमुपसंहरति—तस्मादिति । चतुर्थपादज्ञानस्य फलवत्त्वं कथयति—यथेति ॥ ३ ॥ 'अभिधानाभिधेयात्मिका गायत्री व्याख्यायाभिधानस्याभिधेयतन्त्रत्वमाह—सैषेति । मूर्तेति । भवतु मूर्तामूर्तं ब्राह्मणानुसारेणा-ऽऽदित्यस्य तत्सारत्व तथाऽपि कथ गायत्र्यास्तत्प्रतिष्ठत्व पृथगेव सा मूर्ताद्यात्मिका इत्याशङ्क्याऽऽह—आदित्ये प्रतिष्ठिता मूर्तामूर्तात्मिका गायत्रीत्यत्र हेतुमाह—

करती है—"जो कि इससे ऊपर के लोक हैं, यह मण्डल पुरुष उन देवताओ के अभीष्ट कामो का भी निरकुश अधिपति है" । इसलिये सभी लोको का अवरोध करने के लिए यह श्रुति है । जो पुरुष गायत्री के इस चतुर्थ पाद को ('सूत्रात्मक आदित्यान्तर्गत मैं हूँ) इस प्रकार जानता है, वह उसी प्रकार वसुलक्षणा श्री और कीर्ति से प्रकाशित होता है, जिस प्रकार यह आदित्य सर्वाधिपत्यलक्षणा श्री एव ख्यातिलक्षणा कीर्ति से प्रकाशित होता है ॥ ३ ॥

पूर्वसदर्भित त्रैलोक्य, त्रैविद्य और प्राणादिरूपा त्रिपदा गायत्री इस चतुर्थ तुरीय दर्शत परोरजा पाद मे प्रतिष्ठित है । आदित्य मूर्तामूर्त रसस्वरूप होने से (यह गायत्री आदित्य मे प्रतिष्ठित है) । रस के नष्ट हो जाने पर वस्तु उसी तरह नीरस और अप्रतिष्ठित हो जाती है, जिस प्रकार काष्ठादि

---

१ तस्मादिति—वीप्साया सर्वशब्दार्थं सकोचशङ्कानिवृत्त्यर्थत्वात् । २ सर्वलोकावरोधार्था । ३ वसु-लक्षणया च । ४. अरीन् । ५ गायत्र्याश्चतुर्थं पाद सूत्रात्मक आदित्या सर्वतोऽहमस्मीत्येवम् । ६ एतस्मिन्—उक्तलक्षणे तुरीयादिपदवाच्ये मूर्तामूर्तरसे भानौ । ७ अभिधानेत्यादि—प्रथमपदमभिधान तदभिधेय त्रैलोक्य द्वितीयपदात्मकाभिधानस्याभिधेय त्रयी विद्या तृतीयपदाभिधानाभिधेयं सर्वप्राणादिरूप माद्यपदस्य त्रैलोक्यात्मत्व द्वितीयस्य त्रय्यात्मत्व तृतीयस्य सर्वप्राणात्मत्वमिति व्याख्यातमित्यभिधानाभिधेया-त्मिका गायत्रीत्यर्थः ।

महमश्रौषमिति य एवं ब्रूयादहमदर्शमिति तस्मा एव श्रद्दध्याम तद्वै तत्सत्यं बले प्रतिष्ठितं प्राणो वै बलं तत्प्राणे प्रतिष्ठितं तस्मादाहुर्बलꣳ सत्यादोगीय

विश्वास करते हैं। निःसन्देह यह तुरीय पद का आश्रय सत्य, बल से प्रतिष्ठित है। अतएव कहते हैं कि सत्य की अपेक्षा अधिक ओजस्वी बल है। इस प्रकार यह गायत्री अध्यात्म प्राण में स्थित है। इस गायत्री ने वागादि प्राण रूप गयों का त्राण किया था अर्थात् वागादि प्राण ही गय हैं। उनका इसने

प्रतिष्ठितं भवति। यथा काष्ठादि दग्धसारं तद्वत्। तथा मूर्तामूर्तात्मकं जगत्त्रिपदा गायत्र्यादित्ये प्रतिष्ठिता तद्रसत्वात्सह त्रिभिः पादैः। तद्वै तुरीयं पदं सत्ये प्रतिष्ठितम्। किं पुनस्तत्सत्यमित्युच्यते—चक्षुर्वै सत्यम्। कथं चक्षुः सत्यमित्याह—प्रसिद्धमेतच्चक्षुर्हि वै सत्यम्। कथं प्रसिद्धतेत्याह—तस्माद्यद्यदिदानीमेव द्वौ विवदमानौ विरुद्धं वदमानावेयातामागच्छेयातामहमदर्शं दृष्टवानस्मीत्यन्य आहाहमश्रौषं परेण यथा दृष्टं न तथा तद्वस्त्विति तयोर्य एव ब्रूयादहमद्राक्षमिति तस्मा एव श्रद्दध्याम न पुनर्यो ब्रूयादहमश्रौषमिति। श्रोतुर्मृषा श्रवणमपि संभवति न तु चक्षुषो मृषा दर्शनम्। तस्मा-

---

शङ्कयाऽऽह—रसेति। तद्वादित्यसम्बन्धाभावे मूर्ताद्यात्मिका गायत्री स्यादप्रतिष्ठितेति शेषः। साराहते स्वातन्त्र्येण मूर्तादिनं स्थितिरिति स्थिते फलितमाह—तथेति। आदित्यस्य स्वातन्त्र्यं वारयति—तद्वा इति। सत्यशब्दस्यानृतविपरीतवाग्विषयत्वं शङ्काद्वारा वारयति—किं पुनरित्यादिना। चक्षुष सत्यत्वे प्रमाणाभावं शङ्कित्वा दूषयति—कथमित्यादिना। श्रोतरि श्रद्धाभावे हेतुमाह—श्रोतुरिति। द्रष्टुरपि मृषादर्शनं संभवतीत्याशङ्कयाऽऽह—न त्विति। क्वचित्कथंचित्तत्संभवेऽपि श्रोत्रपेक्षया द्रष्टरि

भस्मीभूत हो जाते हैं। ऐसा होने पर मूर्तामूर्तात्मक जगत्स्वरूपा त्रिपदा (अभिधेयात्मिका) गायत्री (अभिधानभूत) तीनों पादों सहित आदित्य में प्रतिष्ठित है, क्योंकि आदित्य मूर्तादिरसस्वरूप है। वह तुरीय पाद सत्य में प्रतिष्ठित है वह सत्य क्या है इस पर श्रुति कहती है—चक्षु ही सत्य है। चक्षु ही सत्य क्यों है? इसे बतलाया जाता है क्योंकि लोकव्यवहार में प्रसिद्ध है कि चक्षु सत्य है। ऐसी प्रसिद्धि क्यों है। इस पर श्रुति कहती है, इसलिये यदि इसी समय दो 'विवदमानौ' अर्थात् परस्पर विरुद्ध कहने वाले 'इयाताम्'

---

१ भस्मीभूतमित्यर्थः। २ तथा सति अभिधानभूतम्। ३ अभिधेयात्मिका। ४ तद्रसत्वात्—आदित्यस्य मूर्तादिरसत्वात्। ५ अभिधानभूतैः। ६ आगच्छेयातामित्यात्मनेपदं मृग्यम्। ७ एकः। ८ गजादिकं वस्तु। ९ न त्विति—यद्यपि रजतादिदृष्टिरपि मृषा दृष्टा तथापि निर्दुष्टा दृष्टिर्न मृषा यद्यपि निर्दुष्टा श्रुतिरपि न मृषा तथापि श्रुतेर्दृष्टिर्बलीयसी श्रुतवादिनो (सकाशात्) दृष्टवादिनि लोकस्य सप्रत्ययदर्शनादिति भावः। १० तस्मात्—श्रुत्यपेक्षया दृष्टे प्रबलत्वात्। ११ मृषादर्शनं—शुक्तिरूप्यादिविषयम्। १२ क्वचित्—रजतादौ। १३ कथंचित्—भ्रान्त्यादिदोषेण। १४ रजतादिदर्शनस्य मृषात्वसंभवेऽपीत्यर्थः।

इत्येवम्वेषा गायत्र्यध्यात्मं प्रतिष्ठिता सा हैषा
गयाᳲस्तत्रे प्राणा वै गया स्तत्प्राणाᳲस्तत्रे तद्यद्गयाᳲ
स्तत्रे तस्माद्गायत्री नाम स यामेवामूᳲ सावित्रीमन्वा-
हैषैव सा स यस्मा अन्वाह तस्य प्राणाᳲस्त्रायते ॥ ४ ॥

त्राण किया था, इसने गयो का त्राण किया था । इसीलिये तो इसका नाम गायत्री प्रसिद्ध हुआ है । उस आचार्य ने आठ वर्ष के बटु का उपनयन कर उसे जिस सविता देव सवन्धी गायत्री का उपदेश किया था, वह यही है । वह आचार्य जिस बटु को इस गायत्री का उपदेश करता है, यह गायत्री उस बटु के वागादि प्राण रूप गय की नरकादि मे गिरने से रक्षा करती है ॥ ४ ॥

श्राश्रौषमित्युक्तवते श्रद्दध्याम । तस्मात्सत्यप्रतिपत्तिहेतुत्वात्सत्यं चक्षुस्तस्मिन्सत्ये चक्षुषि सह त्रिभिरितरैः पादैस्तुरीयं पदं प्रतिष्ठितमित्यर्थं । उक्तं च स आदित्यः कस्मिन्प्रतिष्ठित इति चक्षुषीति ।

तद्वै तुरीयपदाश्रयं सत्यं बले प्रतिष्ठितम् । किं पुनस्तद्बलमित्याह—प्राणो वै बलं तस्मिन्प्राणे बले प्रतिष्ठितं सत्यम् । तथा चोक्तं सूत्रे तदोतं च प्रोतं चेति । यस्माद्बले

विश्वासो दृष्टो लोकस्येत्याह—तस्मान्नेति । विश्वासातिशयफलमाह—तस्मादिति । आदित्यस्य चक्षुषि प्रतिष्ठितत्वं पञ्चमेऽपि प्रतिपादितमित्याह—उक्तं चेति ।

सत्यस्य स्वातन्त्र्यं प्रत्याह—तद्वा इति । सत्यस्य प्राणप्रतिष्ठितत्वं च पाञ्चमिकमित्याह—तथा चेति । सूत्रं प्राणो वायु । तच्छब्देन सत्यशब्दितसर्वभूतग्रहणम् । सत्यं बले प्रतिष्ठितमित्यत्र लोक

अर्थात् आयें, उनमे से एक कहता हो 'मैंने देखा है', दूसरा कहता हो, जो तुमने देखा है, उसे मैंने सुना है, वह वस्तु वैसी नही है । उनमे से जो यह बोले कि मैंने यह वस्तु देखी है, उसी मे लोग श्रद्धा करते हैं, किन्तु जो इस प्रकार कहता है, मैंने सुना है, उस पर श्रद्धा नही करते । कानो द्वारा मिथ्या कथन का श्रवण हो सकता है किन्तु चक्षु के द्वारा मिथ्या दर्शन सभव नही । इसलिए मैंने सुना है' इस प्रकार कहने वाले पर श्रद्धा नही करते । इसलिये (श्रुति की अपेक्षा दृष्टि के प्रबल होने से)सत्यज्ञान का हेतु होने के कारण चक्षु सत्य है, अर्थात् उस (प्रकाशकस्वभाव) सत्यस्वरूप चक्षु मे अन्य तीनो पादो के सहित चौथा पाद प्रतिष्ठित है । श्रुति म कहा भी है—वह आदित्य किसमे प्रतिष्ठित है ? चक्षु मे प्रतिष्ठित है ।

वह चतुर्थ पाद का आश्रयभूत सत्य बल म प्रतिष्ठित है । वह बल क्या है ? इस पर श्रुति

---

१ ते च ते प्राणास्तान् । २ तस्मात्—श्रोत्रपेक्षया द्रष्टरि विश्वासाभिनयात् । ३ प्रकाशकस्वभाव ।
४ प्रतिष्ठितमिति—एकस्वभावत्वादाधाराधेयत्व चक्षुरादित्ययोर्युक्तमिति भाव । ५ बृ उ ३ ९ २० ।
६ "यदिद सर्वमप्स्वोत च प्रोत च कस्मिन्नु खल्वाप ओताश्च प्रोताश्चेति वायौ गार्गीतीत्येतदेव" तृतीयाध्यायषष्ठब्राह्मणस्थवाक्य शब्दान्तरेण स्मारयति—सूत्रे तदित्यादिना । ७ बृ उ ३ ६ ६ ।

सत्यं प्रतिष्ठितं तस्मादाहुर्बलं सत्यादोगीय ओजीय ओजस्तरमित्यर्थः। लोकेऽपि यस्मिन्हि यदाश्रितं भवति तस्मादाश्रितादाश्रयस्य बलवत्तरत्वं प्रसिद्धम्। न हि दुर्बलं बलवतः क्वचिदाश्रयभूतं दृष्टम्। एवमुक्तन्यायेन उ [1]एषा गायत्र्यध्यात्ममध्यात्मे [2]प्राणे प्रतिष्ठिता। सैषा गायत्री प्राणः। [4]अतो गायत्र्यां जगत्प्रतिष्ठितम्। यस्मिन्प्राणे सर्वे देवा एकं भवन्ति। सर्वे वेदाः कर्माणि फलं च सैवं गायत्री प्राणरूपा सती जगत आत्मा। सा हैषा गयांस्तत्रे त्रातवती। के पुनर्गयाः। प्राणा वागादयो वै गयाः। [5]शब्द[6]करणात्। तांस्तत्रे सैषा गायत्री। तत्तत्र[7] यद्यस्माद्गयांस्तत्रे तस्माद्गायत्री नाम। गयत्राणाद्गायत्रीति प्रथिता। स आचार्य उपनीय [8]माणवकमष्टवर्षं यामेवामूं सावित्रीं सवितृदेवता-

---

प्रसिद्धि प्रमाणयति—तस्मादिति। तदेवोपपादयति—लोकेऽपीति। इदेव व्यतिरेकमुखेनाऽऽ(णाऽऽ)ह—न हीति। [9]एतेन गायत्र्याः सूत्रात्मत्वं सिद्धमित्याह—एवमिति। [10]तस्मिन्नर्थे वाक्यं योजयति—सैषेति। गायत्र्याः प्राणत्वे किं सिध्यति तदाह—अत इति। तदेव स्पष्टयति—यस्मिन्नित्यादिना। गायत्री-नामनिर्वचनेन तस्या जगज्जीवनहेतुत्वमाह—सा हैषेति। प्रयोक्तृशरीरं सप्तम्यर्थः। गायन्तीति गया वागुपलक्षिताश्चक्षुरादयः। ब्राह्मण्यमूलत्वेन स्तुत्यर्थं गायत्र्या एव सावित्रीत्वमाह—स आचार्य इति।

कहती है—प्राण ही बल है, उस "प्राणे" अर्थात् बल में प्रतिष्ठित है। कहा भी है—यह सब किसमें ओत-प्रोत भाव से युक्त है। सूत्रात्मा में। जिससे बल में सत्य प्रतिष्ठित है, इसी से कहा है, बल सत्य से "ओगीय." अर्थात् ओजयुक्त अथवा ओजस्तर होता है। लोकव्यवहार में भी जिसका जो आश्रित होता है, उस आश्रित से आश्रयदाता का बलवत्तर होना प्रसिद्ध ही है। कहीं भी दुर्बल बलवान् को आश्रय देते हुए नहीं दिखायी देता। "एवम्" अर्थात् इस प्रकार उक्त न्याय से यह (त्रयात्मिका) गायत्री "अध्यात्मम्" अर्थात् शरीरस्थ प्राण में प्रतिष्ठित है, वही यह गायत्री प्राण है, इसलिये गायत्री में जगत् प्रतिष्ठित है। जिस प्राण में सभी देवता एक हो जाते हैं। सभी वेद, कर्म और फल भी एकीभूत हैं; वही गायत्री प्राणस्वरूपा होकर जगत् की आत्मा है। वह यह गायत्री "गयांस्तत्रे" अर्थात् प्राणों की रक्षा करने वाली है। वे प्राण क्या हैं? वागादि ही "गयाः" मानी प्राण हैं क्योंकि "गै शब्दे" इस प्रकार उसकी निष्पत्ति होने से) वे शब्द करते हैं। उनकी रक्षा करती है, इसलिए वह यह गायत्री है। गायत्री प्रयोक्ता के शरीर में इसने प्राणों की रक्षा की थी, इसलिये इसका नाम गायत्री है। प्राणों का त्राण करने से वह गायत्री इस नाम से प्रसिद्ध हुई। उस आचार्य ने आठ वर्ष के बालक को यज्ञोपवीत देकर उसे

---

१. उक्तन्यायेन सैषा गायत्री यावदुक्तमार्गेणेत्यर्थः। २. एषा त्रैलोक्यत्रैविद्यप्राणादित्रयात्मिकेत्यर्थः। ३. प्राणे—सर्वदेवात्मके सूत्रात्मनि। ४. अतः—गायत्र्याः सूत्रप्रतिष्ठितत्वेन सूत्रात्मत्वात्। ५. गै शब्दे। ६. शब्दनिष्पत्तिहेतुत्वात्। ७ तत्र गायत्रीप्रयोक्तु शरीरे। ८. माणवकमिति—मनोरपत्यं मानवः "ब्राह्मणमाणववाडवाद्यत्" पा ४.२.४२ इति सूत्रे निपातनाण्णत्वम् ततोऽल्पार्थे कन् माणवको बालकः तम्। ९. एतेन—त्रिपदा गायत्र्यधिदैवमादित्ये प्रतिष्ठिता स चाऽऽदित्योऽध्यात्मं चक्षुर्द्वारा प्राणे प्रतिष्ठित इत्युक्तप्रकारेणेत्यर्थः। १०. गायत्र्याः सूत्रात्मत्वेऽर्थो सा हैषेत्यत्रत्य सैषेते पदद्वयात्मकं वाक्यम्।

ताᳪ हैतामेके सावित्रीमनुष्टुभमन्वाहुर्वागनुष्टुबेतद्वाच-
मनुब्रूम इति न तथा कुर्याद्गायत्रीमेव सावित्री-
मनुब्रूयाद्यदि ह वा अप्येवंविद्बह्विव प्रतिगृह्णाति
न हैव तद्गायत्र्या एकंचन पदं प्रति ॥ ५ ॥

कुछ शाखा वाले इस ("तत्सवितुर्वृणीमहे वय देवस्य भोजन, श्रेष्ठ सर्वधातमम् । तुर भगस्य धीमहि") ऐसे अनुष्टुप् छन्द वाली सावित्री का उपदेश करते हैं । वाक् अनुष्टुप् है उस सरस्वती का उपदेश करते हैं । ऐसा न करे, (तत्सवितुर्वरेण्य भर्गो देवस्य धीमहि, धियो यो न प्रचोदयात्) इस सावित्री का ही उपदेश करे । यदि ऐसा जानने वाला अधिक प्रतिग्रह भी करे तो भी गायत्री के एक-पाद के बराबर भी वह प्रतिग्रह समुदाय नही हो सकना ॥५॥

कामन्वाह पच्छोऽर्धर्चशः समस्ता च [2]एषैव सा [3]साक्षात्प्राणो जगत आत्मा माणवकाय समर्पितेहेदानीं व्याख्याता नान्या स [4]आचार्यो यस्मै माणवकायान्वाहानुवक्ति तस्य माणवकस्य गयान्प्राणांस्त्रायते नरकादिपतनात् ॥ ४ ॥

[5]तामेतां सावित्रीं हैके शाखिनोऽनुष्टुभमनुष्टुप्छन्दस्कामन्वाहुरुपनीताय । तदभि-

---

पच्छ पादशः । 'सावित्र्या गायत्रीत्व साधयति—स इति । अत "सावित्री गायत्रीति शेष ॥ ४ ॥

मतान्तरमुद्भावयति—तामेतामिति । 'तत्सवितुर्वृणीमहे वय देवस्य भोजनम् । श्रेष्ठ (ष्ठं) सर्वधातम तुर भगस्य धीमहि' इत्यनुष्टुभ सावित्रीमाहुः । सवितृदेवताकत्वादित्यर्थः । उपनीतस्य माण-

---

जिस 'गायत्रीम्" अर्थात् सवितृदेवतासबन्धी सावित्री का पहले पदश फिर आधी ऋचा करके, फिर सम्पूर्ण ऋचा का उपदेश किया था, वही यह गायत्री जो प्राण जगत् की आत्मा है, उस बटु को को समर्पण की गयी थी । उसी की यहाँ व्याख्या की गई है, दूसरी की नही । गायत्र्युपासक, वह आचार्य जिस बालक के लिए "अन्वाह' अर्थात् उपदेश करता है, गायत्री उस बालक के "गयान्" अर्थात् प्राणो को नरकादि पतन से बचाती है ॥ ४ ॥

कुछ शाखा वाले यज्ञोपवीतधारी बटु को 'अनुष्टुभम्' अर्थात् अनुष्टुप-प्रभव या अनुष्टुप्

---

१ मन्तान्तरमनूद्य दूषयति—तामित्यादिना । २ सा सावित्री एषैव गायत्र्येव । ३ एषैवेत्येतद्विवृणोति —साक्षादित्यादिना । ४ आचार्यो गायत्र्युपासक । ५ अत्र वार्तिकम्—'माणवकस्योपनयनसमये वेदवादिनाम् । छद प्रति विवादोऽय तन्निर्णीतो परा श्रुति' ॥ ४२ ॥ इति । उपनीताय माणवकायोपदेश्यामृचि यच्छन्दस्तत्प्रतीति यावत् । ६ सावित्रीशब्दवाच्या गायत्रीत्वम् गायत्र्येव सावित्रीशब्दवाच्येति भाव । ७ सावित्रीशब्दार्थो गायत्र्येव नान्येति यावत् ।

❀ यदि ह वा अप्येवंविदित्यादि । अत्राहुर्वार्तिककाचार्यास्तथाहि—'विज्ञानपुरुषस्येद स्वभावादेव सर्वदा । आत्मैव हि जगत्कृत्स्न साधारणविशेषवत् ॥ साधारणानि वस्तूनि तथाऽसाधारणान्यपि । नानुपादाय कृत्स्नानि जन्तौ काचित्क्रियेष्यते ॥ अभिव्यक्तेः पुराऽप्येतद्रूपमासीत्स्वभावत । अभिव्यक्तौ तु तत्साक्षात्समष्टिव्यष्टि-

प्रायमाह—'वागनुष्टुप्। वाक्च शरीरे सरस्वती तामेव हि वाचं सरस्वतीं माणवकाया-नुब्रूम इत्येतद्वदन्तः। न तथा कुर्यान्न तथा विद्याद्यत्त' आहुर्मृषैव तत्। किं तर्हि गायत्री-मेव सावित्रीमनुब्रूयात्। कस्मात्। यस्मात्प्राणो गायत्रीत्युक्तम्। प्राण 'उपते वाक्च सरस्वती चान्ये च 'प्राणाः 'सर्वं माणवकाय समर्पितं भवति। किंचेदं प्रासङ्गिकमुक्त्वा

बकस्य प्रथमतः सरस्वत्यां वर्णात्मिकायां सापेक्षत्वं द्योतयितुं हिशब्दः। दूषयति—नेत्यादिना। नाप-पेक्षितवागात्मकसरस्वतीसमर्पणं विना गायत्रीसमर्पणमयुक्तमिति शङ्कित्वा परिहरति—कस्मादित्या-दिना। यदि हेत्यादेरुत्तरस्य ग्रन्थस्याऽव्यवहितपूर्वग्रन्थासंगतिमाशङ्क्याऽऽह—किंचेदमिति। 'सावित्र्या

छन्द वाली उस सावित्री का उपदेश करते हैं। उसी अभिप्राय को श्रुति बतलाती है। वाक् अनुष्टुप् है। वाक् ही शरीर मे सरस्वती है, उसी वाक्स्वरूपा सरस्वती का हम ब्रह्मचारी के लिए उपदेश करते हैं—इस प्रकार कहते हुए उपदेश करते हैं। 'न तथा कुर्यात्' अर्थात् किन्तु ऐसा नही समझना चाहिये। ऐसे एकशाखीय जो कहते हैं, वह मिथ्या ही है। तो फिर क्या करना चाहिये? गायत्री छन्द वाली सावित्री का ही उपदेश करे। क्यो? क्योकि प्राण गायत्री है—ऐसा कहा जा चुका है। प्राण अर्पित कर देने पर वाक् सरस्वती और अन्य चक्षु आदि सभी प्राण बटुक को समर्पित हो जाते

---

१ वागनुष्टुबिति—वाग् वा अनुष्टुबिति श्रुतेरिति भाव। २ एके शाखिनः। ३ अर्पिते। ४. चक्षुरादय। ५ सर्वमिति—अनुष्टुभो निर्देशे सरस्वतीमात्रं प्राप्यते गायत्रीकथने तु सर्वमपि लभ्यते तेन सैव वक्तव्येत्यर्थ। वार्तिके यथा—"यथोक्तायां हि गायत्र्यां कृत्स्नं जगदुपाहितम्। तदुक्तौ सर्वमुक्तं स्यात्पुमर्थाय साधनम्" ॥ ४७ ॥ सर्वस्य जगतो गायत्र्यामुपहितस्य प्रागुक्तमित्यर्थ.। ६. सावित्रीशब्द-वाच्यस्य गायत्रीत्वम्।

लक्षणम् ॥ एवं सिद्धे महिम्न्यस्मिन्यथोक्तेनैव वर्त्मना। कनीयस्ता विवृद्धिर्वा नैव संभाव्यते मिते.॥ ऊरीकृ-त्येममेवार्थं स य इत्यादिनोच्यते। महाप्रतिग्रहेणापि नैवविद्दोषमृच्छति॥ दर्शनस्य स्तुतिरियं स य इत्यादि-नोच्यते। तात्त्वप्रतिग्रहस्येह न क्वचित्संभवो मत ॥ प्रतिग्रहस्य निन्दा या विद्वन्मानात्प्रसक्तित। निषेध-पुष्पमोपित्वान्निषेधार्थाय कुत्स्यते" ॥ ४८ ५४ ॥ इति। भूमिरित्यादिना गायत्र्युपाधिकब्रह्मोपासितमुक्त्वा यदि हेत्यादिपदोक्तितात्पर्यं वक्तुं भूमिकां करोति—विशालेति। तत्र श्रुतिप्रसिद्ध्यर्थो हिशब्द ॥ कथं स्वभावतः सर्वस्य जीवस्य समष्टिव्यष्ट्यात्मकत्वं तदाह—साधारणानीति। मधुब्राह्मणे प्रपञ्चितमेतदिति भाव ॥ तथाऽपि ते-ष्वर्वं समष्टिव्यष्टिरूपता जीवस्य न प्राप्नोति चेत्तत्राऽऽह—अभिव्यक्तेरिति ॥ किमर्थं तर्हि ध्यानमत आह—अभिव्यक्ताविति। प्रागेव ध्यानाधीनवस्तुव्यक्तेर्ध्यातु स्वत. समष्टिव्यष्ट्यात्मत्वेऽपि तत्कृताया तद्व्यक्तौ ध्येय-मात्मरूपमुभयात्मकमपरोक्ष भवत्यतो ध्यानमर्थवदित्यर्थं ॥ अथ फलोक्तितात्पर्यमाह—एवमिति। स्वभावतः सर्वस्य चेतनस्य समष्टिव्यष्ट्यात्मत्वमित्युक्तन्यायेनाऽऽत्मरूपे सिद्धे तस्य पूर्वोक्तनीत्या गायत्र्युपासकस्य प्रामाणिक-वृद्धिहान्योरयोगाद्बहुतरप्रतिग्रहेऽप्यदोष इत्यर्थं ॥ सामान्येन गायत्रीविद फलं विधाय विशेषतो विधातु वाक्यमवतारयति—ऊरीकृत्येति। यास्मन स्वतो वृद्ध्यादि नेत्युक्तं स्वीकृत्यानन्तरवाक्य प्रतिग्रहकृतदोषाभावो विदुषो विवक्ष्यत इत्यर्थं ॥ नन्वेवमसत्प्रतिग्रहस्यापि विद्वद्विषये निर्दोषत्वप्रसक्ते शूद्राद्युपादानकप्रतिग्रह-निषेधकशास्त्रविरोध स्यादत आह—दर्शनस्येति। तत्र हेतुमाह—तादृगिति ॥ तात्पर्यान्तरमाह—प्रतिग्रह स्येति। विद्वानहं मम तद्बलाद्दोष सर्वो भस्मी भवतीत्यभिमानादसत्प्रतिग्रहस्यापि प्राप्तिर्विद्वानयमिति बहुमा-

स य इमाꣳस्त्रीँल्लोकान्पूर्णान्प्रतिगृह्णीयात्सोऽस्या एतत्प्रथमं पदमाप्नुयादथ यावतीयं त्रयी विद्या यस्तावत्प्रतिगृह्णीयात्सोऽस्या एतद् द्वितीयं पदमाप्नुयादथ यावदिदं प्राणि यस्ताव-

जो गायत्री उपासक गौ, अश्वादि धन से पूर्ण इन भूरादि तीन लोकों का दान स्वीकार करता है, उसका वह दान गायत्री के इस प्रथम पाद को व्याप्त करता है, अर्थात् वह प्रतिग्रह इससे अधिक दोष उत्पन्न नहीं कर सकता और जितना यह त्रयीविद्या है, जो उतना दान स्वीकार करता हो तो वह दान इस गायत्री के उस द्वितीय पाद को व्याप्त कर लेता है, तथा ये जितने प्राणी हैं, इनका दान गायत्री उपासक स्वीकार करता है, वह दान इस गायत्री के इस तृतीय पाद को व्याप्त करता है (अर्थात् पूर्वोक्त दान पादत्रय विज्ञान के फल मात्र के नाशक हो सकते हैं, अधिक दोष उत्पन्न नहीं

गायत्रीविदं स्तौति—यदि ह वा अप्येवंविदेवं विद्वान्बह्विव न हि तस्य [1]सर्वात्मनो बहु नामास्ति किंचित्सर्वात्मकत्वाद्विदुषः प्रतिगृह्णाति न हैव तत्प्रतिग्रहजातं गायत्र्या एक-मनेकमपि पदं प्रति पर्याप्तम् ॥ ५ ॥

स य इमांस्त्रींस्त्रीन् यो गायत्रीविदिमान्भूरादींस्त्रीन्गोअश्वादिधनपूर्णांल्लोकान्प्रतिगृह्णी-यात्स प्रतिग्रहोऽस्या गायत्र्या एतत्प्रथमं पदं [2]यद्व्याख्यातमाप्नुयात्प्रथमपदविज्ञानफलं [3]तेन

गायत्रीत्यमिति यावत् । इवशब्दार्थं दर्शयति—न हीति । यद्यपि बहु प्रतिगृह्णाति विद्वानिति पूर्वेण संबन्धः । तथाऽपि न [4]तेन प्रतिग्रहजातेनैकस्यापि गायत्रीपदस्य [5]विज्ञानफलं भुक्तं स्यात् । दूरतस्तु दोषोत्पादकत्वं [6]तस्येत्यर्थः ॥ ५ ॥

गायत्रीविदः प्रतिगृह्णतो दोषाभावं [7]सामान्येनोक्त्वा विशेषतस्तदभावमाह—स य इति ।

है। इसके अतिरिक्त इस प्रासङ्गिक चर्चा को कर अब श्रुति गायत्र्युपासक की स्तुति करती है। यदि "एवंविद्" अर्थात् इस प्रकार जानने वाला विद्वान् "बह्विव" अर्थात् प्रतिग्रह भी ले ले, क्योंकि उस उस विद्वान् के सर्वात्मक होने के कारण उस उपासक के लिए अधिक कुछ नहीं है, तो भी वह प्रतिग्रहसमूह गायत्री के एक पाद के लिए भी पर्याप्त नहीं है ॥ ५ ॥

"स य इमाꣳस्त्रीँल्लोकान्" अर्थात् जो गायत्र्युपासक गौ-अश्वादि धन से पूर्ण इन भूर्लोकादि तीन लोकों का प्रतिग्रह लेता है, वह प्रतिग्रह इस गायत्री के प्रथम पाद को व्याप्त करता

---

१ उपासकस्य । २ एतत्पदं व्याख्याति—यदिति । ३ प्रतिग्रहेण । ४ बहुना । ५ उपासन-फलम् । ६ प्रतिग्रहस्य । ७ यदि ह वा अप्येवंविदित्यादिवाक्येन ।

नाद्य तस्मै बहुदानं प्राप्तं न च वद्यासाक्षात्कारादिन सर्वदानिर्गर्हि विविदस्यताऽनन व्याजेन प्रतिग्रहो निन्द्यते त्रैलोक्यादिपरिमितद्रव्यप्रतिग्रहकृतो भोगो न गायत्रीपदमात्रफलेनापि तुल्यस्तस्य प्रतिग्रहः श्रेयानिति भाव । किमर्थमिति स निन्द्यते तत्राऽऽह—नि नेवेति ॥

त्प्रतिगृह्णीयात्सोऽस्या एतत्तृतीयं पदमाप्नुया-
'दथास्या एतदेव तुरीयं दर्शतं पदं परोरजा य
एष तपति नैव केनचनाऽऽप्यं कुत उ एताव-
त्प्रतिगृह्णीयात् ॥ ६ ॥

कर सकते। ऐसी कल्पना गायत्री उपासना की स्तुति के लिए की गई है)। एवं यही इसका तुरीय दर्शत परोरजा पद है। जो यह अन्तरिक्ष में तपता है, वह किसी से प्राप्त करने के योग्य नहीं है क्योंकि इतना दान कोई कहाँ से कर सकता है (दान के अभाव में प्रतिग्रह का तो प्रसङ्ग ही नहीं होता, तात्पर्य यह है कि इस त्रिपद गायत्री की ही उपासना करना चाहिये) ॥ ६ ॥

भुक्तं स्यान्न त्वधिकदोषोत्पादकः स प्रतिग्रहः। अथ पुनर्यावतीयं त्रयी विद्या प्रसिद्धा तावत्तदवच्छिन्नं वस्तु यस्तावत्प्रतिगृह्णीयात्सोऽस्या एतद्द्वितीयं पदमाप्नुयात्। द्वितीयपदविज्ञानफलं तेन भुक्तं स्यात्। तथा यावदिदं प्राणि यस्तावत्प्रतिगृह्णीयात्सोऽस्या एत-

---

यथा त्रैलोक्यावच्छिन्नस्य 'त्रैविद्यावच्छिन्नस्य चार्थस्य प्रतिग्रहेण पादद्वयविज्ञानफलमेव भुक्तं नाधिकं दूषणं स्यादिति यावत्। प्रतिग्रहीता दाता वा नैवंविधः संभाव्यते किंतु स्तुत्यर्थं गुरुतरकल्पितमित्याह—

है, जिसकी व्याख्या की जा चुकी है। अर्थात् उस प्रतिग्रह के द्वारा केवल प्रथम पाद के विज्ञान का फल भोगा जाता है, वह प्रतिग्रह उससे अधिक दोष का उत्पादक नहीं है। "अथ" अर्थात् तथा जितनी यह प्रसिद्ध त्रयीविद्या है, जो उतना प्रतिग्रह लेता है, वह इस गायत्री के उस प्रतिग्रह द्वारा द्वितीय पाद को व्याप्त करता है। उस प्रतिग्रह के द्वारा केवल द्वितीय पाद के विज्ञान का फल भोगा

---

१ तुरीयपादविज्ञानफलस्य समष्टिरूपस्य प्राणस्य क्षयस्तु समाविष्टमपि न शक्यत अनन्तत्वादित्याह—अथेत्यादिना। २ घटकस्य। ३ त्रैविद्यप्रतिपाद्यस्य।

---

* अथास्या एतदेवेत्यादि। अत्राहुर्वार्तिककारपादास्तथाहि— अन्तरङ्गविभक्तस्य यथोक्तं स्यात्प्रतिग्रहे। क्षयो नानन्तरूपस्य स्यात्समष्टिवपुर्भृतः॥ परिच्छिन्नेन सर्वत्र प्रतिमानं जगत्यपि। अन्तवद्विषयं दृष्टं न त्वनन्तस्य कुत्रचित्॥ अथ त्वानन्त्यमात्मानमक्षिसूर्येष्ववस्थितम्। अगादुपासनात्प्राणमात्मत्वेन दिवानिशम्॥ संभाव्यते क्षयस्तस्य न कुतश्चिदनन्ततः। अनन्तवान्क्षीयते लोके न त्वनन्तं कुतश्चन॥ आवृत्ति क्षयशब्देन दुःखप्रायासु भूमिषु। कैवल्यावसितेनासौ स्यात्समष्टिवपुर्भृतः' ॥ ६२ ६६ ॥ अन्तःस्थान्तर्गिम्य तरण्डोऽस्त एव विभक्त परिच्छिन्न पाठान्तरे शरीरस्थैः पाणिपादादिभिरङ्गैर्विभक्तः परिच्छिन्नोऽनुपासकस्तस्येत्यर्थः। चतुर्थपादज्ञानफलभूतस्योपासकस्यानन्त्यात्तत्क्षयो न संभवतीति यावत्॥ इतश्च तत्क्षयो नास्तीत्याह—परिच्छिन्नेनेति। सर्वत्रापि जगति घटादिवस्तूनि स्वर्गादीनि परिच्छिन्नानान्तवद्विषयमुपासनमुपलब्धं न च चतुर्थपादश्रीफलस्यानन्तस्य क्षये दृष्टान्तोऽस्तीत्यर्थः॥ तदानन्त्यमसिद्धं ब्रह्मज्ञानफलातिरिक्तत्वात्स्वर्गादिवदित्याशङ्क्याऽऽह—अथ नेति। दिवानिशमात्मत्वेनोपासनादयमुपासकोऽनन्तं प्राणमात्मानमगादिति संबन्धः॥ उपासितफलानन्त्ये सिद्धं निगमयति—संभाव्यत इति। तदुपपादयति—अन्तवानिति॥ क्षयशब्दार्थोक्तिपूर्वकं फलावस्थोपासितुरसदभावे हेत्वन्तरमाह—आवृत्तिरिति॥

तृतीयं पदमाप्नुयात् तेन तृतीयपदविज्ञानफलं भुक्तं स्यात्[1] । कल्पयित्वेदमुच्यते । पादत्रयसममपि यदि कश्चित्प्रतिगृह्णीयात्[2] तत्पादत्रयविज्ञानफलस्यैव क्षयकारणं न त्वन्यस्य दोषस्य कर्तृत्वे[3] क्षमम् । न चैवं दाता प्रतिग्रहीता वा [4]गायत्रीविज्ञानस्तुतये कल्प्यते । दाता प्रतिग्रहीता च यद्यप्येवं[5] संभाव्यते नासौ प्रतिग्रहोऽपराधक्षमः । कस्माद्यतोऽभ्यधिकमपि पुरुषार्थविज्ञानमवशिष्टमेव चतुर्थपादविषयं गायत्र्यास्तद्दर्शयति । अथास्या एतदेव तुरीयं दर्शतं परोरजा य एष तपति । [6]तच्चैतन्नैव केनचन केनचिदपि प्रतिग्रहेणाऽऽप्यं नैव प्राप्यमित्यर्थः । यथा पूर्वोक्तानि त्रीणि पदानि । [7]एतान्यपि नैवाऽऽप्यानि केनचित्कल्पयित्वैवमुक्तं परमार्थतः कुत उ एतावत्प्रतिगृह्णीयात्त्रैलोक्यादिसमम्[8] । [9]तस्माद्गायत्र्येवं-

---

कल्पयित्वेति । [10]उक्तमेव सङ्गृह्णाति–पादत्रयेति । कल्पयित्वेदमुच्यत इति किमिति कल्प्यते मुख्यमेवै[11]तत्किं न स्यादित्याशङ्क्याऽऽह–न चेति । कल्पनाऽपि [12]तर्हि किमर्थेत्याशङ्क्याऽऽह–गायत्रीति । [13]अङ्गीकृत्योत्तरवाक्यमुत्थापयति–दातेति । [14]तदेवाऽऽकाङ्क्षापूर्वकमाह–कस्मादिति । [15]वागात्मकपदत्रयविज्ञानफलभोगोत्पत्त्यानन्तर्यमथशब्दार्थः । नैव प्राप्य प्रतिग्रहेण केनचिदपि नैव भुक्तं स्यादित्यर्थः । [16]तत्रैव वैधर्म्यदृष्टान्तमाह–यथेति । [17]तानि प्रतिग्रहेण यथा[18]ऽऽप्यानि न तथैतदाप्यमित्यर्थः । कुत इत्यादिवाक्यस्य तात्पर्यमाह–एतान्यपीति । गायत्रीविदः स्तुतिरुक्ता तत्फलमाह–तस्मादिति ।

जाता है । तथा इतना प्रतिग्रह लेता है, जितने यहाँ प्राणी हैं, वह इस गायत्री के तृतीय पाद को व्याप्त करता है । उस प्रतिग्रह के द्वारा केवल तृतीय पाद के विज्ञान का फल भोगा जाता है, (वह इससे अधिक दोषोत्पादक नहीं है) । यह बात कल्पना करके कही गयी है । यदि कोई गायत्री के पादत्रय के समान भी प्रतिग्रह करे तो उसका वह प्रतिग्रहण पादत्रयविज्ञान के फल मात्र का क्षय करने का का कारण हो सकता है किन्तु और कोई दोष उत्पन्न करने में समर्थ नहीं हो सकता । न ही केवल गायत्रीविज्ञान की स्तुति के लिए दाता या प्रतिग्रहीता की कल्पना की गयी है । यद्यपि उक्तविध दाता और प्रतिग्रहीता संभव हो सकता है, किन्तु यह प्रतिग्रह दोषकारक नहीं है । ऐसा क्यों है ? क्योंकि गायत्री के चतुर्थ पाद का विषयभूत पुरुषार्थ विज्ञान है, जो इससे भी अधिक है, उसका व्याख्यान अभी बाकी हो है, उसे श्रुति प्रदर्शित करती है । और यह जो तपता है वही इस गायत्री का तुरीय दर्शत परोरजा पाद है । (चतुर्थपादविज्ञान का फल यह है कि) यह केनचन" अर्थात् किसी भी प्रतिग्रह से "आप्य नैव" अर्थात् प्राप्य नहीं है, जो पहले तीनों पाद बतलाये गये हैं । यह तीन पाद भी किसी से प्राप्य नहीं हैं, कल्पना मात्र हैं, यह कहा गया है । वास्तव में त्रैलोक्यादि के

---

१ नत्वधिकदोषोत्पादक इत्यनुवर्तते । २ प्रतिग्रहणम् । ३ जनने । ४ गायत्रीति—उक्तपादत्रयविज्ञानं नैवालमपवाधितुम् । गायत्रीविदो न तावति भूयान्प्रतिग्रह इति । ५ उक्तविधे । ६ चतुर्थपादविज्ञानफलं च । ७ त्रीण्यपि पदानि । ८ प्रतिग्राह्यं वस्तु । ९ तस्मात्—गायत्रीविज्ञानस्य यथोक्तफलत्वात् । १० न य इमानित्यादिनोक्तमथ जातम् । ११ पदम् । १२ तर्हि—तादृग्दातृप्रतिग्रहीत्रोरभावे सति । १३ अङ्गीकृत्य—एतादृग्दातृप्रतिग्रहीतारावभ्युपेत्य । १४ अपराधादात्मत्वमेव । १५ अभिधानात्मकेत्यर्थः । १६. चतुर्थपादविज्ञानस्यात्यन्त एव । १७ पदानि । १८ भुक्तानि ।

तस्या उपस्थानं गायत्र्यस्येकपदी द्विपदी त्रिपदी चतुष्पद्यपदसि न हि पद्यसे। नमस्ते तुरीयाय दर्शताय पदाय परोरजसेऽसावदो

उस गायत्री का इस मन्त्र से उपस्थान किया जाता है। हे गायत्री ! तू त्रैलोक्य रूप प्रथम पाद से एकपदी है, त्रयीविद्या रूप द्वितीय पाद से द्विपदी है और प्राणादि रूप तृतीय पाद से त्रिपदी है तथा तुरीय पाद से चतुष्पदी है। वस्तुतः निरुपाधिक होने से तू अपद है अर्थात् तेरा कोई पद नहीं है, जिससे तू जानी जा सकती है। अतः व्यवहार से अतीत संपूर्ण लोकों से ऊपर विद्यमान तेरे दर्शन के योग्य तुरीय पद को नमस्कार है। यह पापरूपी शत्रु इस विघ्न बाधा रूप कार्य में सफलता प्राप्त

प्रकारोपास्येत्यर्थः ॥ ६ ॥

तस्या उपस्थानं तस्या गायत्र्या उपस्थानमुपेत्य स्थानं नमस्करणमनेन [1]मन्त्रेण। कोऽसौ मन्त्र इत्याह—हे गायत्र्यसि त्वं भवसि [2]त्रैलोक्यपादेनैकपदी। त्रयीविद्यारूपेण द्वितीयेन द्विपदी। [3]प्राणादिना तृतीयेन त्रिपद्यसि। [4]चतुर्थेन तुरीयेण चतुष्पद्यसि। एवं चतुर्भिः पादैरुपासकैः पद्यसे ज्ञायसेऽतः परं परेण निरुपाधिकेन स्वेनाऽऽत्मनाऽपदसि।

एवंप्रकारा पादचतुष्टयरूपा सर्वात्मिकेत्यर्थः ॥ ६ ॥

[5]प्रकृतमुपासनमेव मन्त्रेण संगृह्णाति—तस्या इत्यादिना। ध्येयं रूपमुक्त्वा ज्ञेयं गायत्र्या रूपमुपन्यस्यति—अत परमिति। चतुर्थस्य पादस्य पादत्रयापेक्षया [6]प्राधान्यमभिप्रेत्याऽऽह—अत इति।

समान प्रतिग्राह्य वस्तु को कोई कहाँ से प्रतिग्रहण करेगा। इसलिये (गायत्री विज्ञान के यथोक्त फल से) गायत्री की इस प्रकार उपासना करनी चाहिये ॥ ६ ॥

गायत्री उपासक के द्वारा उस गायत्री का "उपस्थानम्" अर्थात् उपासना या नमस्कार इस मन्त्र से करना चाहिये। वह मन्त्र कौन सा है ? उसे श्रुति बतलाती है—हे गायत्री ! तुम त्रैलोक्यात्मक रूप प्रथम पाद से एकपदी हो, त्रयीविद्यारूप द्वितीय पाद से द्विपदी हो, प्राणाद्यात्मक तृतीय पादसे त्रिपदी हो, मण्डलान्तर्गत पुरुष रूपसे चतुर्थ पाद द्वारा तुम चतुष्पदी हो, इस प्रकार चार पदों से तुम उपासकों के द्वारा "पद्यसे" अर्थात् जानी जाती हो। इससे परे तुम अपने सर्वोत्तम निरुपाधिक स्वरूप से अपद हो। तुम्हारा

---

१. मन्त्रेणेति—कर्तव्य गायत्र्युपासकेनेति शेष। अत्र वार्तिके—"उपस्थान यथोक्ताया गायत्र्याः श्रद्धयाऽन्वितः। गायत्र्यसीतिमन्त्रेण कुर्याद्दुष्कार्यविस्मृदा" ॥ ६७ ॥ इति। गायत्र्युपस्थाने तदुपासकस्याधिकारं सूचयति—उक्तेति। तदुपस्थाने यावच्छिद्रत्वं वारयति—सदेति। २ त्रैलोक्यात्मकेन प्रथमेन पादेन। ३. प्राणाद्यात्मकेन। ४ चतुर्थेनेति—मण्डलान्तर्गतपुरुषरूपेणेत्यर्थः। ५ उक्तविज्ञानसंग्राहकोऽयं मन्त्र ऐहिकादिफलोपायकथनार्थ इत्यभिप्रेत्य तद्व्याख्यामवतारयति—प्रकृतमिति। ६. नमस्तेऽस्तु तुरीयायेत्युक्तधा तुर्यप्रधानतो गुणभाव यथोक्तस्य विज्ञात्पादत्रयस्य तु।

मा प्रापदिति यं द्विष्यादसावस्मै कामो मा समृद्धीति वा न हैवास्मै स कामः समृध्यते यस्मा एवमुपतिष्ठतेऽहमदः प्रापमिति वा ॥ ७ ॥

न करें। एवं यह उपासक जिससे द्वेष करता हो, उसकी कामना पूर्ण न हो। इस प्रकार मन्त्र पढ़ कर गायत्री का उपस्थान करे। इस प्रकार जिसके लिये उपस्थान किया जाता है, उसका अभीष्ट कभी पूर्ण नहीं होता। अथवा मैं इसे प्राप्त करूँ, ऐसी कामना से गायत्री का उपस्थान करे (वहाँ पर उक्त मन्त्र पदों का उपासक को इच्छानुरूप विकल्प हो सकता है) ॥ ७ ॥

अविद्यमानं पदं यस्यास्तव [1]मेव पद्यसे सा त्वमपदसि [2]यस्मान्नहि पद्यसे नेति नेत्यात्मत्वात्। [3]अतो व्यवहारविषयाय नमस्ते तुरीयाय दर्शताय पदाय परोजसे। असौ शत्रुः पाप्मा [4]त्वत्प्राप्तिविघ्नकरोऽदस्तदात्मनः कार्यं यत्त्वत्प्राप्तिविघ्नकर्तृत्वं मा प्रापन्मैव प्राप्नोतु। इतिशब्दो [5]मन्त्रपरिसमाप्त्यर्थः। य द्विष्याद्यं प्रति द्वेषं कुर्यात्स्वयं विद्वांस्तं[6] प्रत्यनेनोपस्थानमसौ शत्रुरमुकनामेति नाम गृह्णीयादस्मै [7]यज्ञदत्तायाभिप्रेतः कामो मा

---

[8]यथोक्तनमस्कारस्य प्रयोजनमाह—असाविति। [9]द्विविधमुपस्थानमाभिचारिकमाभ्युदयिकं च तत्राऽऽद्यं द्वेधा व्युत्पादयति—य द्विष्यादिति। नाम गृह्णीयात्तदीयं नाम गृहीत्वा च [10]तदभिप्रेतं मा प्रापदिति पने-

---

ऐसा कोई पद नहीं है जिससे तुम्हारा ज्ञान हो, इसलिये तुम अपद हो क्योंकि नेति-नेति स्वरूप वाली (अनन्त) होने के कारण तुम्हारा ज्ञान नहीं हो सकता। इसलिये (तुरीय से परे जानना असम्भव होने एवं तुरीय का प्राधान्य होने के कारण) व्यवहार के विषय तुम्हारे तुरीय दर्शत परोरजा पद को नमस्कार है। यह शत्रु पाप तुम्हारी प्राप्ति में विघ्न करने वाला है। "अदः" अर्थात् यह तेरी प्राप्ति में विघ्नकारी पापकार्य को "मा प्रापत्" अर्थात् प्राप्त न हो। 'इति' शब्द पापक्षयफल के उपस्थान मन्त्र की समाप्ति के लिये है। "य द्विष्यात्" अर्थात् यह विद्वान् उपासक जिस के प्रति द्वेष करता हो, उस शत्रु को निमित्त करके उसके विघात के लिए उपस्थान है। "असौ" अर्थात् यह अमुकनामा शत्रु है—इस प्रकार उसका नाम ग्रहण करे। "अस्मै" अर्थात् शत्रु यज्ञदत्त के

---

१. पदमित्युक्तमेव पद व्युत्पादयति—येन पद्यसे इति पद्यसे ज्ञायसे। २. यस्मान्नहीत्यादि। अत्र वार्तिके—"अपदसीत्यपि गिरा तस्या आनन्त्यमुच्यते। अप्यदा चाप्यवाप्नोति न ह्यन्तोऽस्याधिगम्यते" ॥ ६६ ॥ इति। ३. अतः—तुरीयादूर्ध्वमनधिगमात्तुर्यस्य च प्राधान्यादित्यर्थः। ४. त्वस्य पाप्मनः। ५. मन्त्रेति—पापक्षयफलोपस्थानमन्त्रेत्यर्थः। ६. तं प्रतीति—तं शत्रुं निमित्तीकृत्येत्यर्थः। तदभिप्रेतविघातायेति यावत्। ७. अप्रत्यभिचारिकोपस्थानस्य द्वितीयव्युत्पादनं दर्शयति—अस्मा इत्यादिना। ८. शत्रवे। ९. पापक्षयफलप्रयोजनमुपस्थानसामान्यमुक्त्वा सम्प्रति विशेषत उपस्थानद्वयं विभजते अभिप्रेत्य यं द्विष्यादित्यादिभाष्यमवतारयति—द्विविधमित्यादिना। १०. तदभिप्रेतमिति—यद् अमुकमिच्छति। अनेनाभिप्रेतस्य वस्तुनो विघ्नातत्वं सूच्यतेऽहमदः प्रापमित्यत्र प्राप्तवस्तुनोऽर्थोपादानादिति भावः।

एतद्ध वै तज्जनको वैदेहो बुडिलमाश्वतराश्वि-मुवाच यन्नु हो तद्गायत्रीविदब्रूथा अथ कथꣳ हस्तीभूतो वहसीति मुखꣳ ह्यस्याः सम्राण्न विदांचकारेति होवाच तस्या अग्निरेव मुखं

उस गायत्री विज्ञान के विषय मे विदेहराज जनक ने अश्वतराश्व के पुत्र बुडिल से यही बात कही थी कि तूने जो अपने को गायत्रीतत्त्व का ज्ञाता बतलाया था तो फिर भला प्रतिग्रह दोष के कारण हाथी बनकर भार क्यो ढोता है। इस पर बुडिल ने कहा—हे राजन्! मैं इस गायत्री का मुख नही जानता था (अर्थात् एक अङ्ग को न जानने के कारण मेरा गायत्री विज्ञान निष्फल हो गया है)। तब जनक ने कहा—अग्नि ही इसका मुख है, यदि लौकिक पुरुष अग्नि मे बहुत-सा इंधन डाल देवें

समृद्धि समृद्धि मा प्राप्नोरिवति[1] वोपतिष्ठते। न हैवास्मै देवदत्ताय स कामः समृध्यते। कस्मै। एवमुपतिष्ठते। अहमदो देवदत्ताभिप्रेतं 'प्रापमिति योपतिष्ठते। 'असावदो मा प्रापवित्यादित्रयाणां मन्त्रपदानां यथाकामं विकल्पः ॥ ७ ॥

'गायत्र्या मुखविधानायार्थवाद उच्यते—एतद्ध किल वै स्मर्यते। तत्र गायत्री-विज्ञानविषये जनको वैदेहो बुडिलो नामतोऽश्वतराश्वस्यापत्यमाश्वतराश्विस्तं किलो-क्तवान्। यन्नु इति वितर्के हो 'अहो इत्येत'त्त्वयस्वं गायत्रीविदब्रूथा गायत्रीविदस्मीति

मोपस्थानमिति सबन्ध.। आभ्युदयिकमुपस्थानं दर्शयति—अहमिति। 'कीदृगुपस्थानमत्र' मन्त्रपदेन कर्तव्यमित्याशङ्क्य यथारुचि विकल्पं दर्शयति—असाविति ॥ ७ ॥

कि तद्गायत्रीविज्ञानप्रतिकूलमुपलभ्यते तदाह—अथेति। 'पूर्वापरविरोधायद्योतको-

---

लिए "कामो मा समृद्धि" अर्थात् अभिप्रेत कार्य समृद्धि को प्राप्त न हो, इस प्रकार मन्त्र से उपस्थान किया जाता है। ऐसा करने से इस देवदत्त की मनोकामना पूर्ण नही होती है। किसके लिए? जिसके उद्देश्य से इस प्रकार उपासना करता है—मैं यह देवदत्त की अभीष्ट प्राप्त कर लूं, इस प्रकार उपस्थान करता है। "जिसे यह द्वेष करता है", "मन इच्छित" और "प्राप्त हो" इन तीन मन्त्र पदो का उपासक की कामनानुसार विकल्प हो सकता है ॥ ७ ॥

गायत्री का मुखविधान के लिए अर्थवाद कहा जाता है—इस गायत्री के विषय मे इस प्रकार स्मरण किया जाता है। अश्वतराश्व के पुत्र आश्वतराश्वि बुडिल नाम के थे। विदेहराज जनक

---

१ मन्त्रेण। २ प्राप्नुयाम्। ३ असाविति—पूर्वमन्त्राद"दो मा प्रापदि"त्यस्यानुवर्त्य "यं द्विष्याद-साविति 'त्यसौशब्देनान्वयान्निष्पन्नो "याऽसावदो मा प्रापदिति' मन्त्रस्तदादित्रयाणामित्यर्थ.। ४ एतद्धेत्या-देस्तात्पर्यमाह—गायत्र्या इति। ५ आश्चर्यमित्यर्थ। ६ तद्यस्त्वमित्यादि—तत्प्रसिद्ध तदानीतन वा गायत्रीविदस्मीति यद्वचनमब्रूयास्तस्य वचसोऽननुरूप प्रतिकूलमिदमाचरण कि किमितीत्यर्थं। ७ कीदृक्—आभिचारिकमाभ्युदयिक वा। ८ अत्र—आभिचारिकाभ्युदयिकयोर्मध्ये। ९ पूर्वेति—पूर्वं गायत्रीवित्त्व-वचनमपर हस्तीभूत्वा वहन तयोर्विरोधावद्योतीत्यर्थं।

**यदि ह वा अपि बह्विवाग्नावभ्यादधति सर्व-
मेव तत्संदहत्येवꣳ हैवैवंविद्यद्यपि बह्विव पापं
कुरुते सर्वमेव तत्संप्साय शुद्धः पूतोऽजरो-
ऽमृतः सम्भवति ॥ ८ ॥**

**इति बृहदारण्यकोपनिषदि पञ्चमाध्यायस्य
षोडशं ब्राह्मणम् ॥ ८ ॥**

तो वह अग्नि सभी को भस्म कर देती है । इसी प्रकार जो ऐसा जानता है, वह प्रतिग्रहादि बहुत-सा पाप करता रहा हो तो भी वह उस सबको भक्षण करके शुद्ध, पवित्र, अजर और अमर हो जाता है अर्थात् उक्त विज्ञान वाला गायत्री उपासक अग्नि के समान प्रतिग्रह दोष से लिपायमान नही होता ॥ ८ ॥

॥ इति षोडश ब्राह्मणम् ॥

यदब्रूथाः किमिदं तस्य वचसोऽननुरूपम् । अथ कथं यदि गायत्रीवित्प्रतिग्रहदोषेण हस्ती-भूतो वहमीति । स प्रत्याह राजा स्मारितो मुखं गायत्र्या हि यस्मादस्या हे सम्राण्न विदांचकार न विज्ञातवानस्मीति होवाच । एकाङ्गविकलत्वाद्गायत्रीविज्ञानं ममाफलं जातम् । शृणु तर्हि तस्या गायत्र्या अग्निरेव मुखम् । यदि ह वा अपि बह्विवेन्धन-मग्नावभ्यादधति लौकिकाः सर्वमेव तत्संदहत्येवेन्धनमग्निरेवं हैवैवंविद्गायत्र्या अग्नि-

---

'ऽयशब्दः । 'तथाऽपि गायत्रीविज्ञानस्य फलवत्त्वे सति प्रतिकूलमिदं हस्तीभूतस्य तव मां प्रति वहन-मित्याशङ्क्याऽऽह—एकाङ्गेति । राजा ब्रूते—शृण्विति । मुखविज्ञानस्य दृष्टान्तावष्टम्भेन फलमा-चष्टे—यदीत्यादिना । इवशब्दोऽवधारणार्थः । पापसस्पर्शराहित्यं शुद्धिस्तत्फलासंस्पर्शस्तु पूततेति

ने गायत्रीविज्ञान के विषय मे बुडिल से कहा था । 'यत्" और 'नु' अव्यय वितर्क अर्थ मे हैं अर्थात् अहो बड़ा आश्चर्य है ! तुमने जो अपने को "गायत्रीविदब्रूथा " अर्थात् 'मैं गायत्री को जानने वाला हूँ' ऐसा कहा था, तो तुम्हारे वचन के अनुरूप क्यो नही है । यदि गायत्री के जानने वाले हो तो प्रतिग्रह दोष से क्यो हाथी होकर भार ढोते हो ? राजा के द्वारा स्मरण दिलाये जाने पर बुडिल ने उनसे कहा—हे सम्राट् ! क्योकि मैं इस गायत्री का मुख 'न विदाञ्चकार" अर्थात् नही जानता । एक यानी प्रधान अङ्ग से रहित हो जाने के कारण मेरा गायत्री विज्ञान विफल हो गया है । (तब राजा जनक ने कहा—) तो सुनो ! उस गायत्री का अग्नि ही मुख है । यदि लौकिक पुरुष अग्नि में बहुत सी लकड़ियाँ भी डालें, उन सब लकडियो को जिस प्रकार अग्नि भस्म कर देता है, इसी प्रकार 'एवंविद्" अर्थात् 'गायत्री का मुख अग्नि है' इस प्रकार जो जानता है, तथा स्वय अग्निमुख होकर

---

१. अग्निरिति—यथेति शेष । २ यदशब्द इति वर्हीत्यर्थक इति शेष । २ तथाऽपि—तदीयमुख-विज्ञानाभावेऽपीत्यर्थः ।

(अथ पञ्चमाध्यायस्य सप्तदशं ब्राह्मणम् ।)

हिरण्मयेन पात्रेण सत्यस्यापिहितं मुखम् । तत्त्वं पूषन्नपावृणु सत्यधर्माय दृष्टये । पूषन्नेकर्षे यम सूर्य प्राजापत्य व्यूह रश्मीन् । समूह तेजो यत्ते रूपं कल्याणतमं तत्ते पश्यामि । [1]योऽसावसौ पुरुषः सोऽहमस्मि । वायुरनिलममृतमथेदं भस्मान्तꣳ

आदित्य मण्डलस्थ सत्य ब्रह्म का द्वार (स्वर्ण के समान चमकीले व्यष्टि और समष्टि ग्रहङ्कार-रूप) ज्योतिर्मय पात्र से ढका हुआ है । अतः हे पूषन् ! मुझ सत्य धर्म जिज्ञासु को उस सत्यात्मा ब्रह्म का दर्शन कराने के लिए तू उस आवरण को हटा दे। हे जगत्पोषक ! हे एकर्षे ! हे सूर्य ! हे प्राजापत्य ! तू अपने किरणों को हटा ले और तेज को समेट ले । जिससे कि तेरा जो अतिशय कल्याणमय रूप है, उसे मैं देख सकूं । यह जो आदित्य मण्डलस्थ पुरुष है, वही मैं हूं । अब मेरा प्राण (आध्यात्मिक-वायु) आधिदैविक-वायु रूप सूत्रात्मा को प्राप्त हो और यह शरीर भस्मान्त

मुखमित्येवं वेत्तात्येवंविदत्मात्मवयं गायत्र्यात्माऽग्निमुखः सन् । यद्यपि प्राह्विव पापं कुरुते प्रतिग्रहादिदोषं तत्सर्वं पापजातं संप्साय भक्षयित्वा शुद्धोऽग्निवत्पूतश्च तस्मात्प्रतिग्रह-दोषाद्गायत्र्यात्माऽजरोऽमृतश्च संभवति ॥ ८ ॥

इति बृहदारण्यकोपनिषद्भाष्ये पञ्चमाध्यायस्य षोडशं ब्राह्मणम् ॥ १६ ॥

[2]यो ज्ञानकर्मसमुच्चयकारी सोऽन्तकाल आदित्यं प्रार्थयति । अस्ति च [3]प्रसङ्गो

भेदः । गायत्रीज्ञानस्य क्रममुक्तिफलत्वं दर्शयति—गायत्र्यात्मेति ॥ ८ ॥

इति बृहदारण्यकोपनिषद्भाष्यटीकायां पञ्चमाध्यायस्य षोडशं ब्राह्मणम् ॥१६॥

ब्राह्मणान्तरस्य तात्पर्यमाह—यो ज्ञानकर्मेति । आदित्यस्याप्रस्तुतत्वात्कथं तत्प्रार्थनेत्या-

---

गायत्रीमय हो गया है, वह यद्यपि प्रतिग्रहादि दोष वाले बहुत से पाप करता है, उस सब पापसमूह को 'सप्साय' अर्थात् भक्षण करके अग्नि के समान शुद्ध प्रतिग्रह दोष से पवित्र होकर वह गायत्रीमय उपासक अजर और अमर हो जाता है ॥ ८ ॥

इस प्रकार बृहदारण्यकोपनिषत् में पञ्चमाध्यायस्य सोलहवें ब्राह्मण के शाङ्करभाष्य का हिन्दीभाषानुवाद पूर्ण हुआ ॥ १६ ॥

जो ज्ञान और कर्म का समुच्चय करने वाला है, वह अन्त समय में आदित्य की प्रार्थना करता

---

१ योऽसावसाविति—अत्रत्यवार्तिकतट्टीकापर्यालोचनया तु योऽसावादित्ये पुरुष इति पाठ प्रतीयते । यथाश्रुतपाठे तु योऽसौ भूर्भुवःस्वरितिव्याहृत्यवयवकोऽसावादित्यस्थ इत्यर्थोऽवसेयः । २. गायत्र्युपासनं सदुपस्थानं च सफलमुक्त्वा समुच्चयकारिणः सावित्रमाग्नेयं चोपस्थानं वक्तुं ब्राह्मणान्तरमित्याह—य इति । ३. प्रसङ्ग आदित्यस्येति शेषः ।

शरीरम् । ॐ क्रतो स्मर कृतꣳ स्मर क्रतो स्मर कृतꣳ स्मर । अग्ने नय सुपथा राये अस्मान्विश्वानि देव वयुनानि विद्वान् । युयोध्यस्मज्जुहुराणमेनो भूयिष्ठां ते नमउक्तिं विधेम ॥1॥

इति बृहदारण्यकोपनिषदि पञ्चमाध्यायस्य सप्तदशं ब्राह्मणम् ॥17॥

इति बृहदारण्यकोपनिषदि पञ्चमोऽध्याय ॥5॥

बृहदारण्यकक्रमेण सप्तमोऽध्यायः ॥7॥

हो जावे । हे मेरे सङ्कल्प-विकल्पात्मक-मन ! अब तू मेरे स्मरण के योग्य शुभ कर्म का स्मरण कर । हे ओम् ! हे क्रतो ! मेरे किये हुए का स्मरण कर । अब तू स्मरण कर । अपने किये हुए का स्मरण कर (क्योंकि स्मरण का समय आ गया है) । हे अग्नि ! हमें अपने कर्म फल भोग के लिये शुभमार्ग से ले चलो । हे देव ! तू हमारे सम्पूर्ण ज्ञान एवं कर्म को जानने वाला है । अतः हमारे कुटिल कर्मों को हमसे पृथक् कर दो । इस समय हम मरणासन्न हैं, तेरी अन्य कोई सेवा नहीं कर सकते हैं । अतः हम तेरी अनेको नमस्कारमात्र से परिचर्या करते हैं ॥ १ ॥

॥ इति पञ्चमाध्याये,सप्तदश ब्राह्मणम् ॥

गायत्र्यास्तुरीयः [1]पादो हि सः । तदुपस्थानं प्रकृतम[2]तः स एव प्रार्थ्यते । हिरण्मयेन ज्योतिर्मयेन मण्डलेन पात्रेण [3]यथा पात्रेणेष्टं वस्त्वपिधीयत एवमिदं सत्याख्यं [4]ब्रह्म ज्योतिर्मयेन मण्डलेनापिहितमिवासमाहितचेतसामदृश्यत्वा[5]त्तदुच्यते । [6]सत्यस्यापिहितं

शङ्कयाऽऽह—अस्ति चेति । [7]तथाऽपि कथमादित्यस्य प्रसङ्गस्तत्राऽऽह—तदुपस्थानमिति । नमस्ते तुरीयायेति हि दर्शितमित्यर्थः । आदित्यस्य प्रसङ्गे सति फलितमाह—अत इति । समाहितचेतसां प्रयततां दृश्यत्वान्नापिहितमेव किंतु पिहितमिवेत्यत्र हेतुमाह—असमाहितेति । [8]जगतः पोषणाद्धर्म-

है । यहाँ आदित्य का प्रकरण तो है क्योंकि वह गायत्री का चतुर्थ पाद है । उसके उपस्थान का प्रसङ्ग है, इसलिए सूर्य की इस प्रकार प्रार्थना की जाती है । "हिरण्मयेन" अर्थात् ज्योतिर्मय मण्डलरूप पात्र से; जिस प्रकार पात्र से अभिलषित वस्तु ढकी जाती है, उसी प्रकार यह सत्यात्मक ब्रह्म सूर्य ज्योतिर्मय मण्डल से ढका हुआ है क्योंकि असमाहित चित्त वाले पुरुषों के लिए वह अदृश्य है । यही बात

१. पादो हीति— स आदित्यमावृत्त्यतीति ब्रह्मलोकमार्गद्वारत्वेनापि तस्य प्रस्तुतत्वमित्यपि द्रष्टव्यमित्याहु । २ अतः—यथोक्तरीत्याऽऽदित्यस्य प्रस्तुतत्वात् तदुपस्थानोक्तिर्गायत्र्युपासनावसाने युक्तैवेति भाव. । ३ पात्रवदाच्छादकेन दर्शनप्रतिबन्धकीभूतेनेत्यभिप्रेत्याह— यथेति । ४. रवि । ५ तदिति अपिहितमित्यर्थं इत्याहु । ध्यायं ब्रह्म । ६. सत्यस्य ब्रह्मणो रवेः । ७ तथाऽपि—गायत्र्यास्तुरीयपादत्वेऽपि । ८. "जगत्पुष्णाति वृष्ट्याद्यैः पूषाऽऽदित्यस्ततः स्मृतः" इति वार्तिके ॥ ४ ॥

'मुखं मुख्यं स्वरूपं तदपिधानं पात्रमपिधानमिव दर्शनप्रतिबन्धकारणं तत्त्वं हे पूषन्नु-गतः पोषणात्पूषा सवित्राऽपावृण्वपावृतं कुरु दर्शनप्रतिबन्धकारणमपनयेत्यर्थः । सत्य-धर्माय सत्यं धर्मोऽस्य मम सोऽहं सत्यधर्मा तस्मै त्वदात्मभूतायेत्यर्थः । दृष्टये दर्शनाय । पूषन्नित्यादीनि नामान्यामन्त्रणार्थानि सवितुः । एकर्षे एकश्चासावृषिश्चेकर्षिर्दर्शनादृषिः । स हि सर्वस्य जगत आत्मा चक्षुश्च सन्सर्वं पश्यत्येको वा गच्छतीत्येकर्षिः "सूर्य एकाकी चरति" इति मन्त्रवर्णात् । यम सर्वं हि जगतः संयमनं त्वत्कृतम् । सूर्य सुष्ठ्वीरयते तोयादीन्रसान्रश्मीन्प्राणान्धियो वा जगत इति व्युत्पत्तेः ।

'प्राजापत्य प्रजापतेरीश्वरस्यापत्यं हिरण्यगर्भस्य वा हे प्राजापत्य व्यूह "विगमय रश्मीन् । समूह "संक्षिपाऽऽत्मनस्तेजो येनाहं शक्नुया द्रष्टुम् । तेजसा ह्यपहतदृष्टिर्न शक्नुयां

हिमवृष्ट्यादिदानेनेति शेष.। अपावरणकरणमेव विवृणोति—दर्शनेति। सत्य परमार्थस्वरूप ब्रह्म धर्म स्वभाव इति यावत्। ननु दर्शनार्थं "तत्प्रतिबन्धकनिवृत्तौ पूषणि नियुक्ते किमित्यन्ये" सबोध्य" नियुज्यन्ते तत्राऽऽह—पूषन्नित्यादीनीति। दर्शनादृषिरित्युक्तं विशदयति—स हीति। 'सूर्य आत्मा "जगतस्तस्थुषश्च' इति मन्त्रवर्णमाश्रित्योक्तम्—जगत आत्मेति। 'चक्षुर्मित्रस्य वरुणस्याग्नेः' इत्येतदाश्रित्याऽऽह—चक्षुश्चेति।

स्वाभाविका रश्मयो न विगमयितु "शक्या इत्याशङ्क्याऽऽह—समूहेति। मदीयतेज.-

कही जाती है। "सत्यस्य मुखम्" अर्थात् सत्यब्रह्म रवि का मुख्य स्वरूप ढका हुआ है। उसके आवरक पात्र को, जो ढक्कन के समान है एव आदित्यमण्डल के दर्शन म प्रतिबन्ध का कारण है, 'पूषन्' अर्थात् जगत् के पोषण करने वाले हे पूषा सवितृ देव ! यथोक्त द्वार यानी दर्शन मे प्रतिबन्ध-कारण को "अपावृण" अर्थात् अनावृत कर दो अथवा हटा दो। 'सत्यधर्माय" अर्थात् अपने स्वरूप मुझ (दर्शनार्थी) सत्यधर्मा के लिए "दृष्टये" अर्थात् दर्शन के लिए उसे अनावृत कर दो। सविता के "पूषन्" इत्यादि नाम उसके सबोधन के लिए हैं। "एकर्षे" अर्थात् 'ऋषि दर्शनात्' इस निर्वचन से हे एकाकी मन्त्रद्रष्टा सूर्य ! क्योकि वह सारे जगत् की आत्मा और चक्षु होकर सब कुछ देखता है, एकाकी जाता है, इसलिए एकर्षि है। "सूर्य एकाकी चलता है" ऐसी श्रुति भी है। 'यम" अर्थात् सारे जगत का नियन्त्रण तुम्हारे द्वारा किया हुआ होने से यम है। 'सूर्य' सबोधन, जगत् के जलादि रस, रश्मि, प्राण और बुद्धि को सम्यकतया प्रेरित करता है, इस व्युत्पत्ति से है।

'प्राजापत्य" अर्थात् ईश्वर अर्थात् हिरण्यगर्भ के पत्र होने के कारण हे प्राजापत्य ! रश्मियो

१ मुख वा द्वारमाह । २ मण्डलमिति शेष । ३ यथोक्त मुखम् । ४ मण्डलम् । ५ सत्यधर्मायेति—सत्या अवितथा सत्यसङ्कल्पादिश्रुत्युक्ता धर्मा यस्य ममेत्यपि व्याचक्रुः । ६ तव दर्शनार्थिने । ७ समानतार्थानीत्यर्थः । ८ सुष्ठ्वित्यादि—'स्वीरणाज्ज्योतिस्तोयादे सूर्यस्तेनासि धर्मद' इति वार्तिके ॥ ८ ॥ ९ प्राजापत्येति । अत्र वार्तिके—"प्रजापति पर ब्रह्म कारण तदपत्यत । प्राजापत्योऽसि तेन त्व गीयसे विपुलश्रुते" ॥ ८ ॥ इति । १० विनाशयेति यावत् । ११ सकोचय । १२ दर्शनप्रतिबन्धकनिवृत्तौ । १३ अन्ये—एकर्षिप्रभृतय । १४ सबोध्य—आहूय । १५ जङ्गमस्य स्थावरस्य च । १६ स्वाभाविकस्य तस्याशोपायोऽस्तीति भाव ।

त्वत्स्वरूपमञ्जसा द्रष्टुम्। विद्योतन इव रूपाणामत उपसंहर तेजः। यत्ते तव रूपं सर्वकल्याणानामतिशयेन कल्याणं कल्याणतमं तत्ते पश्यामि। पश्यामो वयं वचनव्यत्ययेन। योऽसौ भूर्भुवःस्वर्व्याहृत्यवयवः पुरुषः पुरुषाकृतित्वात्पुरुषः सोऽहमस्मि भवामि। अहरहमिति चोपनिषद् उक्तत्वादादित्यचाक्षुषयोस्तदेवेदं परामृश्यते सोऽहमस्म्यमृतमिति संबन्धः। ममामृतस्य सत्यस्य शरीरपाते शरीरस्थो यः प्राणो वायुः सोऽनिलं बाह्यं वायुमेव प्रतिगच्छतु। तथाऽन्या देवताः स्वां स्वां प्रकृतिं गच्छन्तु। अथेदमपि भस्मान्तं सत्पृथिवीं यातु शरीरम्।

सक्षेपं विनाऽपि ते मत्स्वरूपदर्शनं स्यादित्याशङ्क्याऽऽह—तेजसा हीति। विद्योतनं विद्युत्प्रकाशस्तस्मिन्सति रूपाणां स्वरूपमञ्जसा चक्षुषा न शक्यं द्रष्टुं तस्य चक्षुर्मोषित्वात्तथेत्याह—विद्योतन इवेति। तेजःसक्षेपस्य प्रयोजनमाह—यदिति। किंच नाहं त्वा भृत्यवद्याचेऽभेदेन ध्यातत्वादित्याह—योऽसाविति। व्याहृतिशरीरे पुरुषे कथमहमिति प्रयोगोपपत्तिरित्याशङ्क्याऽऽह—अहरिति। तदेवेदमित्यहंरूपमुच्यते। ननु तव शरीरपातेऽपि नामृतत्वमाध्यात्मिकवाय्वादिप्रतिबन्धादत आह—ममेति। वायुग्रहणस्योपलक्षणत्वं विवक्षित्वाऽऽह—तथेति। देहस्य देवतानामप्रतिबन्धकत्वेऽपि देहस्यैव सूक्ष्मतां गतस्य प्रतिबन्धकत्वान्न तवामृतत्वमित्याशङ्क्याऽऽह—अथेति।

को 'व्यूह' अर्थात् विनष्ट कर दो। 'तेजो समूह' अर्थात् अपने तेज को सकुचित कर दो, जिससे मैं तुम्हे देख सकूँ। (तुम्हारे) तेज से अपहृत दृष्टि वाला होकर तुम्हारे स्वरूप को रूपो मे बिजली की चमक की तरह साक्षात् देखने मे असमर्थ हूँ, इसलिये तेज का उपसहार कर दो। "यत्ते रूप कल्याणतमम्" अर्थात् जो तुम्हारा रूप निखिल आनन्दो का आनन्द है, उसे मैं देखता हूँ। वचन व्यत्यय से 'हम देखते हैं' यह अर्थ है। जो यह 'भू, भुव और स्व.' इन व्याहृति रूप अवयवो वाला "पुरुष" अर्थात् पुरुषाकृतिक होने से पुरुष है, वह मैं ही हूँ। 'आदित्य और 'चाक्षुष' पुरुष के 'अहर्' और 'अहम्' ये रहस्य नाम कहे गये हैं—उसी का यहाँ विचार किया जाता है। वह मैं अमृतस्वरूप हूँ—ऐसा इसका सबन्ध है। शरीर छूटने पर मुझ अमृतरूप सत्य का जो "वायु" अर्थात् शरीरस्थ आध्यात्मिक वायु प्राण है, वह 'अनिलम्' अर्थात् आधिदैविक बाह्य वायु को प्राप्त हो। तथा अन्य

---

१ सम्यक्साक्षाद्वा। २ निखिलानन्दानाम्। ३ सत्यज्ञानादिलक्षणम्। ४ अनुभवामि। ५ अथे—अस्मानस्मद्विशेषेति बहुत्वोक्त्यनुरोधादत्रापि तैव भा भू पूर्वापरवैरूप्यमिति व्याप्यति मन्वान आह—पश्यामो वयमित्यादि। एवमस्मि भवामीत्यत्राप्यूह्यम्। ६ रहस्यनाम्न। बृ उ ५ ७ १ २। ७ आदित्य चाक्षुषयोरिति। मण्डलचक्षुर्गतयो उपास्योपासकत्वाभ्या भेदमाशङ्क्य समाहित वार्तिके—"स्थानमात्राद्य तौ भिन्नौ वस्तुतो नाऽनयोर्भिदा" ॥ ११ ॥ इति। ८ आध्यात्मिक। ९ आधिदैविकम्। १० चक्षुरादि-देवता। ११ भस्मान्तमिति—भस्मान्तलिङ्गात्कर्मिण एवैतदुपस्थानमिति गम्यते। तदुक्त वार्तिके—"भस्मान्तमिति लिङ्गाच्च कर्मिणः स्यादुपस्थिति। न तु सन्यासिनो न्याय्या दाहासभवहेतुत" ॥ १३ ॥ इति। १२ मर्त्यत्वाधिकरणम्। १३ मोषित्वात्—चक्षुस्तिरस्कर्तृत्वात्तन्निमीलनशीलत्वादिति यावत्। १४ सूक्ष्मतामिति—कृशतामित्यर्थः। स्वस्थदेवताप्रयुक्त सामर्थ्यरहितमिति यावत्। 'सूक्ष्म दभ्र कृशं तनु' इत्यमर इत्याह। शून्यतामिति पाठ सम्यक् प्रतिपद्ये।

अथेदानीमात्मनः [1]संकल्पभूतां मनसि व्यवस्थितामग्निदेवतां प्रार्थयते—ॐ क्रतो । [2]ॐमिति क्रतो इति च संबोधनार्थावेव । ॐकारप्रतीकत्वादोम् । [3]मनोमयत्वाच्च [4]क्रतुः । [5]हे ॐ हे क्रतो स्मर [6]स्मर्तव्यमन्तकाले हि [7]त्वत्स्मरणवशाद्धिष्टा गतिः प्राप्यतेऽतः प्रार्थ्यते यन्मया [8]कृतं तत्स्मर पुनरुक्तिरादरार्था । किञ्च हेऽग्ने नय प्रापय सुपथा शोभनेन [11]मार्गेण राये धनाय कर्मफलप्राप्तय इत्यर्थः । न दक्षिणेन कृष्णेन पुनरावृत्तियुक्तेन किं तर्हि शुक्लेनैव सुपथाऽस्मान्विश्वानि सर्वाणि हे देव वयुनानि प्रज्ञानानि सर्वप्राणिनां [13]विद्वान् । किञ्च युयोध्यपनय वियोजयास्मदस्मत्तो जुहुराणं [14]कुटिलमेनः पापं पापजातं सर्वम् । तेन

[15]मन्त्रान्तरमस्यार्थं व्याकरोति—अथेदानीमित्यादिना । अवतीत्योमीश्वरः सर्वस्य रक्षकस्तस्य जाठराग्निप्रतीकत्वेन ध्यातत्वादग्निशब्देन निर्देशः । एवमग्निदेवतां संबोध्य [16]नियुङ्क्ते—स्मरेति । इष्टां गतिं जिगमिषता किमिति स्मरणे देवता नियुज्यते तत्राऽऽह—त्वत्स्मरणेति । प्रार्थनान्तरं समुच्चिनोति—किञ्चेति । उक्तमेव व्यनक्ति—नेत्यादिना । अस्मान्नयेति पूर्वेण संबन्धः । प्रज्ञानग्रहणं [17]कर्मादीनामुपलक्षणम् । प्रार्थनान्तरं दर्शयति—किञ्चेति । पापवियोजनफलमाह—तेनेति । भवद्भिराराधितो

चक्षु आदि देवता अपनी-अपनी प्रकृति को प्राप्त हो, तथा यह शरीर भी भस्मीभूत होकर पृथिवी को प्राप्त हो जाय ।

अब यहाँ मन मे व्यवस्थित अपने ध्यानात्मक अग्नि देवता की स्तुति की जाती है—"ॐ क्रतो" यहाँ दोनो पद संबोधन के लिए हैं । ओङ्कार प्रतीक होने के कारण 'ॐ' है तथा मनोमय होने के कारण क्रतु (संकल्परूप) है । हे ॐ ! हे क्रतु ! 'स्मर' अर्थात् मत्कृत कर्मोपासना को स्मरण कर; अन्तकाल मे तुम्हारे स्मरण से ही अभीष्ट गति प्राप्त की जाती है, इसलिए प्रार्थना की जाती है कि मैंने जो कर्मोपासना की है, उसका स्मरण कर । द्विरुक्ति आदर के लिए है । तथा हे अग्नि ! हमें 'राये' अर्थात् धन अथवा कर्मफल की प्राप्ति के लिए "सुपथा" अर्थात् (पुनरावृत्ति रहित) सुन्दर मार्ग से 'नय' अर्थात् ले चलो । पुनरावृत्तियुक्त दक्षिण अथवा धूममार्ग से मत ले चलो, तो किस मार्ग से ले चलें ? शुक्ल मार्ग से ही हमें ले चलो । हे देव ! "अस्मान्" यानी अपने उपासकों के "विश्वानि वयुनानि" अर्थात् सभी प्राणियों के प्रज्ञानों को तुम जानते हो, हमारे "जुहुराणम्" अर्थात् कुटिल "एन" अर्थात् सभी पापसमूहों को हमसे 'युयोधि' दूर अथवा अलग कर दो । तुम्हारे प्रसाद

१ ध्यानात्मकसंकल्पाप्यत्वात् । २ ओमित्यादिवाक्यस्य तात्पर्यमुक्त्वा तदक्षराणि व्याचष्टे—ओमितीति । ३ मनोमयत्वात्—मनसा ध्यानेनैव लभ्यत्वान्मनोमयत्वम् । ४ बृ उ ५ । ८ । १ । ५ संकल्परूप. । ६ पदार्थमुक्त्वा वाक्यार्थमाह—हे ओमिति । ७ मत्कृतकर्मोपासनम् । ८ श्रुतौ प्रामादिकत्वच्छन्दोरहितपाठाभिप्रायेणेदमिति बोध्यम् । ९ अत—पुरुषानुष्ठितोपायस्य त्वत्स्मृतिविषयत्वे नैवोपेयप्राप्तिहेतुत्वादित्यर्थ. । १० कर्मोपासनं च । ११ मार्गेण—उत्तरेण पुनरावृत्तिरहितेनेत्यर्थ । १२ त्वदुपासकान् । १३ विद्वान्सन् विद्वत्त्वादिति हेतुरस्य गर्भ. । १४. कुटिलत्वं देवयानप्राप्तिप्रतिबन्धकत्वम् । १५ मन्त्रान्तरमिति । अत्र पाठान्तरम् एवमादित्योपस्थानमुक्त्वा तदात्मकस्य "अयमग्नि"रिति प्रकृतस्याग्नेरुपस्थानं प्रस्तौति—अथेदानीमित्यादिनेति । १६ नियुङ्क्ते इति—स्मर्तव्यस्मरण इति शेष । १७. कर्मादीनामिति—आदिना तदीयेति कर्तव्यतादयो ग्राह्या ।

पापेन वियुक्ता वयमेष्याम उत्तरेण पथा त्वत्प्रसादात्। [1]किंतु वय तुभ्यं परिचर्यां कर्तुं न शक्नुमो भूयिष्ठां बहुतमां ते तुभ्य नमउक्तिं नमस्कारवचन विधेम नमस्कारोक्त्या परिचरेमेत्यर्थः। अन्यत्कर्तुमशक्ताः सन्त इति ॥ १ ॥

इति बृहदारण्यकोपनिषद्भाष्ये पञ्चमाध्यायस्य
सप्तदश ब्राह्मणम् ॥७॥

इति श्रीमद्गोविन्दभगवत्पूज्यपादशिष्यस्य परमहंसपरिव्राजकाचार्यस्य श्रीशङ्करभगवतः कृतौ बृहदारण्यकोपनिषद्भाष्ये
पञ्चमोऽध्यायः ॥ ५ ॥

भवता यथोक्तं फल साधयिष्यामीत्याशङ्क्याऽऽह—किंत्विति। बहुतमत्व भक्तिश्रद्धातिरेकयुक्तत्वम्। यागादिनाऽपि परिचरण क्रियतामित्याशङ्क्याऽऽह—अन्यदिति। सततनमस्कारोक्त्या परिचरेमेति पूर्वेण सबन्ध। अशक्तिश्च मुमूर्षावशादिति द्रष्टव्यम्। इतिशब्दोऽध्यायसमाप्त्यर्थः ॥ १ ॥

इति बृहदारण्यकोपनिषद्भाष्यटीकायां पञ्चमाध्यायस्य
सप्तदश ब्राह्मणम् ॥ १७ ॥

इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यश्रीमच्छुद्धानन्दभगवत्पूज्यपादशिष्यश्रीमद्भगवदानन्दज्ञानविरचितायां श्रीमद्बृहदारण्यकोपनिषद्भाष्यटीकायां
पञ्चमोऽध्याय ॥ ५ ॥

से उन पापो से रहित होकर हम (पुनरावृत्तिरहित) उत्तरायण पथ मे जायेंगे। किन्तु हम तुम्हारी (प्रसादानुकूल) पूजा करने मे समर्थ नही हैं। 'भूयिष्ठाम' अर्थात् अनेक बार ते" अर्थात् तुम्हे 'नमउक्ति विधेम' अर्थात् नमस्कार वचन कहें यानी नमस्कार उक्ति से तुम्हारी पूजा करें। (मरणकाल आसन्न होने से) अन्य कुछ भी करने मे हम समर्थ नहीं है।

इस प्रकार बृहदारण्यकोपनिषत् मे पञ्चमाध्यायस्य शाङ्करभाष्य की डॉ० उमेशानन्द शास्त्री कृत कुमुदतोषिणी' टीका सपन्न हुई ॥ ५ ॥

---

१ किंतु वयमित्यादि। स्वास्थ्यावस्थायामेवास्माभिर्ज्ञानकर्मणोरनुष्ठितत्वादधुना च मुमूर्षादशायां इत्यन्तरे शक्त्यभावान्मनसा भक्तिश्रद्धाभ्यां नमोमात्र भवतेऽस्यत तच्च सर्वाधिकत्वेन त्वया आह्यमायुरवसाने चाव सन्नानां समाप्रसादो कर्तव्याविरवर्थ।

॥ ॐ ॥

अथ षष्ठोऽध्यायः

ॐ यो ह वै ज्येष्ठं च श्रेष्ठं च वेद ज्येष्ठश्च श्रेष्ठश्च स्वानां भवति प्राणो वै ज्येष्ठश्च श्रेष्ठश्च ज्येष्ठश्च श्रेष्ठश्च स्वानां भवत्यपि च येषां बुभूषति य एवं वेद ॥१॥

जो कोई ज्येष्ठ और श्रेष्ठ को जानता है, वह अपने सजातियों में ज्येष्ठ और श्रेष्ठ हो जाता है। प्राण ही ज्येष्ठ और श्रेष्ठ है। जो कोई इस प्रकार जानकर उपासना करता है, वह अपने सजातियों में तथा और भी जिन लोगों में ज्येष्ठ-श्रेष्ठ बनना चाहता है, उनमें भी वह ज्येष्ठ-श्रेष्ठ बन जाता है ॥ १ ॥

ॐ प्राणो गायत्रीत्युक्तम्[1]। कस्मात्पुनः कारणात्प्राणभावो गायत्र्या न पुनर्वागादिभाव इति[2]। यस्माज्ज्येष्ठश्च श्रेष्ठश्च प्राणो न वागादयो ज्येष्ठ्यश्रैष्ठ्यभाजः। कथं ज्येष्ठत्व

ॐकारो दमादित्रय ब्रह्माब्रह्मोपासनानि तत्फलं तदर्या गतिरादित्या[3]द्युपस्थानमित्येषोऽर्थः सप्तमे निर्वृत्तः। सम्प्रति प्राधान्येनाब्रह्मोपासनं सफलं श्रीमन्था[4]दिकर्म च वक्तव्यमित्यष्टममध्यायमारभमाणो ब्राह्मणं[5]सङ्गतिमाह—प्राण इति। तस्मात्प्राणो गायत्रीति युक्तमुक्तमिति शेषः। प्राणस्य ज्येष्ठत्वादि मात्रादि निर्धारितमिति शङ्कित्वा परिहरति—कथमित्यादिना। प्रकारान्तरेण पूर्वोत्तर-

---

प्राण गायत्री है—ऐसा पहले कहा जा चुका है। तो फिर गायत्री का प्राणभाव किस कारण से है, वागादिभाव क्यों नहीं है? क्योंकि प्राण ज्येष्ठ है, वागादि ज्येष्ठता और श्रेष्ठता के योग्य नहीं हो सकती। प्राण का ज्येष्ठत्व और श्रेष्ठत्व किसलिए है, इस आशङ्का को करके उसके निर्धारण

---

१ बृ० ५। १४। ४। २ इति जिज्ञासायामाह। ३ आदिना गायत्र्युपस्थानमात्रेयं चोपस्थानं ग्राह्यम्। ४ आदिना पुत्रमन्थ। ५ उत्थाप्योत्थापकत्वरूपाम्।

ॐ यो ह वै ज्येष्ठं च श्रेष्ठं च वेदेत्यादि। अत्राहुर्वार्तिकाचार्यास्तद्यथाहि—'समाप्तः सप्तमोऽध्याय प्राप्तावसर उच्यते। अष्टम खिलकाण्डेऽस्मिन्पूर्वकाण्डेष्वनुक्तितः॥ गायत्र्या प्राणभावोक्तिः कस्माद्धेतोः पुरोदिता। न तु वागादिभावोऽस्यास्तत्र हेतुरिहोच्यते॥ ज्येष्ठः श्रेष्ठो यतः प्राणो न तु वागादयस्ततः। प्राणात्मभाव एवोक्तः प्रानन्तर्यार्थमेव तु॥ उपास्त्यन्तरमवैकल्पनवत्तु विवक्षितम्। न तूक्तशेषतैतस्या भिन्नोपास्तित्वकारणात्॥ मन्थकर्मणि ये मन्त्रा यच्च ज्येष्ठादयः स्मृताः। प्राणात्मवेदिनस्तेषां प्रयोगोऽत्रोपवर्ण्यते॥ पृथग्वा फलनिर्देशाद्यो ह वा इति पञ्चधा। प्राणविद्या पृथक्त्वन्यान्मन्यस्तु महिमार्थिनः॥ फलेऽन्यस्मिन्ननिर्दिष्टे वाक्यशेषगतं फलम्। तस्मिन्सति हि सद्भावाद्वागादीनां न तं विना॥ शास्त्रेणोक्ता शरीरेऽस्मिन्वृत्तिः प्राणस्य जीवनम्। पूर्वमाविशति प्राणो देहं पश्चाच्च मुञ्चति॥ ज्येष्ठः श्रेष्ठश्च सर्वेषां प्राणानामाश्रयो हि सः। श्रेष्ठता वक्ष्यमाणेन ग्रन्थेनास्य

श्रेष्ठत्वं च प्राणस्येति' तन्निर्विधारयिषयेऽदमारभ्यते । अथवोक्थयजुःसामक्षत्रादिभावैः प्राणस्यैवोपासनमभिहितं सत्स्वप्यन्येषु चक्षुरादिषु । तत्र हेतुमात्रमिहाऽऽनन्तर्येण संबध्यते । न पुनः पूर्वशेषता । विवक्षितं तु ' खिलत्वादस्य 'काण्डस्य पूर्वत्र यदनुक्तं विशिष्टफलं प्राणविषयमुपासनं तद्वक्तव्यमिति ।

ग्रन्थसंगतिमाह—अथवेति । आदिशब्दादवैश्वर्वशिष्ट्यादिनिर्देशः । तत्रेति प्राणस्यैव विशिष्टगुणकस्योपास्यत्वोक्तिः । हेतुर्ज्यैष्ठत्वादिस्तन्मात्रमिहानन्तरग्रन्थे कथ्यत इति शेषः । तथैवं पूर्वग्रन्थस्य हेतुमत्त्वादुत्तरस्य च हेतुत्वादानन्तर्येण पौर्वापर्येण पूर्वग्रन्थेन सहोत्तरग्रन्थजातं संबध्यत इति फलितमाह—आनन्तर्येणेति । वक्ष्यमाणप्राणोपासनस्य पूर्वोक्तोक्थाद्युपास्तिशेषत्वमाशङ्क्य गुणभेदात्फलभेदाच्च नैवमित्यभिप्रेत्याऽऽह—न पुनरिति । किमिति प्राणोपासनमिह स्वतन्त्रमुपदिश्यते तत्राऽऽह—खिलत्वादिति । इतिशब्दो ब्राह्मणारम्भोपसंहारार्थः ।

करने की इच्छा से यह ग्रन्थ आरम्भ किया जाता है, अथवा चक्षु आदि अन्य इन्द्रियों के रहते हुए भी उक्थ, यजुः, साम और क्षत्रादि भावों से प्राण की उपासना बतलायी गयी है। विशिष्टगुणक प्राण के (ज्येष्ठत्वादि) हेतु मात्र को यहाँ अनन्तर ग्रन्थ से कहा जाता है। पूर्व ग्रन्थ का यह शेष नहीं है। इसका विवक्षित विषय विशिष्ट फलवती प्राणोपासना है। खिलकाण्ड होने के कारण जो उस अध्याय मे नहीं, उसे इस अध्याय में बतलाना है।

---

१ आशङ्क्य । २. षष्ठाद्यब्राह्मणम् । ३ पञ्चमाध्यायमारभ्य खिलकाण्डम् । ४ हेतुहेतुमद्भावरूपाम् । ५ अन्नवैशिष्ट्यादीति—अन्नवैशिष्ट्य च कीति गुणवत्त्वं सर्वभूताश्रयत्वमिति यावत् । अन्नत्यादिना प्राणवैशिष्ट्यं गृह्यते । तच्च रमिति गुणवत्त्व सर्वभूतव्यवहारप्रयोजकत्वमिति यावत् । स्पष्ट चेदं बृ. उ. ५।१४।१। इत्यत्र । ६ आदिना वायव्यादिग्राह्यम् ।

विभाव्यते" ॥ १-६ ॥ इति । पूर्वोत्तराध्यायसबन्धमाह—समाप्त इति । ओङ्कारो दमादित्रय ब्रह्माब्रह्मोपासनानि तत्फलानि तदर्था गतिरादित्याद्युपस्थानमित्येवमर्थं समस्तावदध्यायोऽस्मिन्खिलकाण्डेऽतिवृत्तः अप्रति प्राधान्येनाब्रह्मोपासनानि सफलानि श्रीमन्थादिकर्म चानुक्त वक्तव्यमित्यष्टमोऽध्याय आरभ्यत इत्यर्थः । सप्तमादष्टमस्याऽऽनन्तर्ये हेतुमाह—आत्मेति । ब्रह्मोपासनसबन्धे विचारे प्राधान्येन अतीते सत्यब्रह्मोपास्तिसबन्धविचार प्राधान्येन कर्तुमध्यायान्तर न हि प्रधानविचारादृतेऽप्रधानविचारः सभवतीति भावः । खिलकाण्डस्यैवानुपयुक्तत्वात्कथमित्थमित्याशङ्क्याऽऽह—पूर्वकाण्डेष्विति । कर्मकाण्डेन सह बहूक्ति । अपुनरुक्तार्थसद्भावादुपयुक्त तदित्यर्थ ॥ अध्यायसबन्धमुक्त्वाऽऽद्यब्राह्मणस्यावान्तरसबन्धं चोद्यपूर्वकमाह—गायत्र्या इति । तत्रेति वागादित्यागेन गायत्र्याः प्राणभावोक्ताविति यावत् इहेत्यनन्तरब्राह्मणोक्ति ॥ कोऽसौ हेतुरित्यपेक्षायामाह—ज्येष्ठ इति । यथोक्तप्राणोपासनस्यान्यशेषतेति चेत्तत्र किमुक्थाद्युपास्तिशेषता गायत्र्युपास्तिशेषता वा मन्थकर्मशेषता वेति विकल्प्याऽऽद्य प्रत्याह—आनन्तर्यार्थमिति । वागादिषु सत्स्वपि तत्त्यागेन प्राणस्यैवोक्थादिगुणस्योपास्तिरुक्ता तत्र हेतुत्वेन ज्येष्ठत्वाद्युच्यते न चेममुपास्तिमुक्थाद्युपास्तिशेषो ग्रन्थानन्तर्यघटनार्थमेव हि ज्येष्ठत्वादि तन्मात्रोपास्यत्वे हेतुत्वेन सबध्यते गुणभेदात्फलभेदाच्च नास्यास्तच्छेषतेति भाव. ॥ द्वितीय दूषयति—उपास्त्यन्तरमिति । ज्येष्ठत्वादिगुणकप्राणोपास्ति. स्वतन्त्रेत्यत्र हेतुमाह—फलवदिति । एवकारार्थमाह—न त्विति । उक्तशब्देन गायत्र्युपास्तिर्गृह्यते । अग्रे प्राणोपासनार्था । गुणभेदाच्च भिन्नत्वे सति नास्यान्य

यः कश्चिद्ध वा इत्यवधारणार्थौ । यो [1]ज्येष्ठश्रेष्ठगुणं वक्ष्यमाणं वेदासौ भवत्येव ज्येष्ठश्च [2]श्रेष्ठश्च । एवं फलेन प्रलोभितः सन्प्रश्नायाभिमुखीभूत[3]स्तस्मै चाऽऽह[4]—प्राणो वै ज्येष्ठश्च श्रेष्ठश्च । कथं पुनरवगम्यते प्राणो ज्येष्ठश्च श्रेष्ठश्चेति । यस्मान्निषेककाल एव शुक्रशोणित-संबन्धः [5]प्राणादिकलापस्याविशिष्टः । [6]तथाऽपि [7]नाप्राणं शुक्रं [8]विरोहतीति प्रथमो वृत्ति-लाभः प्राणस्य चक्षुरादिभ्यः । [9]अतो ज्येष्ठो वयसा प्राणः । निषेककालादारभ्य गर्भं

एव ब्राह्मणारम्भं प्रतिपाद्याक्षराणि व्याचष्टे—यः कश्चिदित्यादिना । यच्छब्दस्य पुनरु-पादानमन्वयार्थम् । निपातयोरर्थमवधारणमेव प्रागुक्तं प्रकटयति—भवत्येवेति । प्रश्नाय कोऽसौ ज्येष्ठश्च श्रेष्ठश्चेति प्रश्नस्तदर्थमिति यावत् । प्राणस्य ज्येष्ठत्वादिकमाक्षिपति—कथमिति । [10]तत्र हेतुमाह—यस्मादिति । तस्माज्ज्येष्ठत्वादिकं [11]तुल्यमेवेति शेषः । संबन्धाविशेषमङ्गीकृत्य ज्येष्ठत्वं प्राणस्य साधयति—तथाऽपीति । [12]उक्तमेव समर्थयते—निषेककालादिति । [13]तत्रापि विप्रतिपन्नं

"य." इस मन्त्र मे 'ह' और 'वा' यह दोनो अव्यय निर्धारण के लिए हैं । जो आगे बतलाये जाने वाले ज्येष्ठ-श्रेष्ठ गुण को जानता है, वह ज्येष्ठ और श्रेष्ठ ही हो जाता है । इस प्रकार के फल से प्रलोभित हुआ शिष्य जब प्रश्न के लिए अभिमुख होता है तो उससे (आचार्य मुख मे) श्रुति कहती है । प्राण ही ज्येष्ठ और श्रेष्ठ है । यह किस प्रकार जाना जाता है कि प्राण ही ज्येष्ठ और श्रेष्ठ है । बीजा-

१. ज्येष्ठश्रेष्ठगुणमिति—भावप्रधानो निर्देशो ज्येष्ठत्वश्रेष्ठत्वगुणमित्यर्थः । एवमग्रेऽपि बोध्यम् । २. श्रेष्ठश्चेति—स्वानामिति शेष । ज्ञातीनामिति तदर्थः । ३ शिष्य. । ४ आचार्य. । ५. न प्राणस्यैवेत्यन्वयः । ६ तथाऽपि—आनिषेक कलापस्य शुक्रसंबन्धाविशेषेऽपि । ७ अप्राणम्—अलब्धवृत्तिकप्राणसंबन्धशून्यम् । ८ न विरोहति—न कललबुद्बुदादिपरिणाम जनयतीत्यर्थं । ९ अत: प्रथम वृत्तिलाभात् । १०. तत्र आक्षेपे । ११ कलापस्य । १२ उक्तमेव—प्राणस्य ज्येष्ठत्वमेवेत्यर्थं । १३ तत्रापि—प्राणस्य गर्भ-पोषकत्वेऽपि ।

शोषतेति हेत्वन्तरमाह—भिन्नेति ॥ तृतीयं शङ्कते—मन्थेति । प्राणात्मवेदिनो यन्मन्थाख्य कर्म वक्ष्यते तत्र ज्येष्ठाय स्वाहेत्यादयो मन्त्रा श्रुतास्तेषामुपयोगोऽस्मिन्ब्राह्मणे वक्ष्यते तदर्थस्याश्योपास्त्यवोक्तेरतो मन्थकर्म-शेषता यथोक्तोपास्तेर्युक्तेत्यर्थ ॥ पञ्चेति च्छान्दोग्यश्रुत्यनुसारेणोक्तं दूषयति—पृथग्वेति । वाशब्दश्चोद्य-निरासार्थ. । न हि मन्थकर्मशेषता प्राणोपास्तेर्युक्ता यो ह वै ज्येष्ठं चेत्यादिना मन्थकर्मणः पृथगेव तस्या बहुधा फलाभिलापात्तदैश्वर्यार्थिनो वित्तसिद्धये विधीयते तस्मात्पृथगेव प्राणविद्येत्यर्थ ॥ प्राणविदो मन्थाधिकारा-त्प्राणविद्याऽपि महत्त्वफलेत्याशङ्क्याऽऽह—फल इति । प्राणोपास्ते. स्वावाक्यस्थफलेनैव नैराकाङ्क्ष्यान्न वाक्यशेषस्य महत्त्व फल न चाधिकृताधिकारादेकफलता दर्शाद्यधिकृतस्य गोदोहनाधिकारे तद्भेदादिति भाव: । ब्राह्मणस्य स्वतन्त्रप्राणोपास्तिविषयत्वमुक्त्वा प्राणस्य ज्येष्ठत्वं व्युत्पादयति—तस्मिन्निति । प्राणविषयस्त च्छब्द । न सत्त्वमिति शेष । अन्वयव्यतिरेकाभ्या प्राणज्येष्ठता सिद्धेत्यर्थ. । अयमेवार्थो हिशब्देन द्योत्यते ॥ तत्रैव शास्त्रसंवादमाह—शास्त्रेणेति । शरीरे प्राणस्य जीवन नाम वृत्तिर्वागादिवृत्तिस्तदपेक्षया शास्त्रेणोक्तेति योजना । तदेवोदाहरति—पूर्वमिति ॥ अन्वयादिना शास्त्राच्चोक्त निगमयति—ज्येष्ठ इति । श्रेष्ठत्व तस्य प्रतिजानीते—श्रेष्ठश्चेति । तत्र हेतु:—सर्वेषामिति । सर्वप्राणाश्रयता प्राणस्यासिद्धेत्याशङ्क्याऽऽह—श्रेष्ठेनेति । तं हेत्यादिनेत्यर्थं ॥

पुष्यति प्राणः। प्राणे हि लब्धवृत्तौ पश्चाच्चक्षुरादीनां वृत्तिलाभः। [1]अतो युक्तं प्राणस्य ज्येष्ठत्वं चक्षुरादिषु। भवति तु कश्चित्कुले ज्येष्ठो गुणहीनत्वात्तु न श्रेष्ठः। मध्यमः कनिष्ठो वा गुणाढ्यत्वाद्भवेच्छ्रेष्ठो न ज्येष्ठः। न तु तथेहेत्याह—प्राण एव तु ज्येष्ठश्च श्रेष्ठश्च। कथं पुनः श्रेष्ठ्यमवगम्यते प्राणस्य [2]तदिह संवादेन दर्शयिष्यामः। सर्वथाऽपि तु प्राणं ज्येष्ठ-श्रेष्ठगुणं यो वेदोपास्ते स स्वानां ज्ञातीनां ज्येष्ठश्च श्रेष्ठश्च भवति। [3]ज्येष्ठश्रेष्ठगुणोपासन-सामर्थ्यात्[4]स्वव्यतिरेकेणापि च येषां मध्ये ज्येष्ठश्च श्रेष्ठश्च भविष्यामीति बुभूषति भवितु-मिच्छति तेषामपि ज्येष्ठश्रेष्ठप्राणदर्शी ज्येष्ठश्च श्रेष्ठश्च भवति। ननु वयोनिमित्तं ज्येष्ठत्वं तदिच्छातः कथं भवतीत्युच्यते। नैष दोषः। प्राणवद्वृत्तिलाभस्यैव ज्येष्ठत्वस्य

प्रत्याह—प्राणे हीति। ज्येष्ठत्वेनैव श्रेष्ठत्वे सिद्धे किमिति पुनरुक्तिरित्याशङ्क्याऽऽह—भवति त्विति। ज्येष्ठत्वे सत्यपि श्रेष्ठत्वाभावमुक्त्वा तस्मिन्सत्यपि ज्येष्ठत्वाभावमाह—मध्यम इति। इहेति प्राणोक्तिः। प्राणश्रेष्ठत्वे प्रमाणाभावमाशङ्क्य प्रत्याह—कथमित्यादिना। [5]पूर्वोक्तमुपास्तिफलमुप-संहरति—सर्वथाऽपीति। [6]आरोपेणानारोपेण वेत्यर्थः। ज्येष्ठत्वस्य विद्याफलत्वमाक्षिपति—नन्विति। तस्य विद्याफलत्वं साधयति—उच्यत इति। इच्छातो ज्यैष्ठ्यं दुःसाध्यमिति दोषस्यासत्त्वमाह—नेति। तत्र हेतुमाह—प्राणवदिति। यथा प्राणकृताशनादिप्रयुक्तश्चक्षुरादीनां वृत्तिलाभस्तथा प्राणो-पासकाधीनं जीवनमन्येषां स्वानां च भवतीति प्राणदर्शिनो ज्येष्ठत्वं न वयोनिबन्धनमित्यर्थः॥ १॥

रोपण काल मे ही यद्यपि प्राणादिसमूह का शुक्र और शोणित से संबन्ध है, तो भी बिना प्राण के कलल-बुद्बुद आदि परिणाम को उत्पन्न नही करता। इस प्रकार चक्षुरादि इन्द्रियो की अपेक्षा प्राण को प्रथम वृत्तिलाभ होता है। इस प्रकार (प्राण के ही गर्भ वृद्धि मे हेतु होने के कारण) आयु मे प्राण ज्येष्ठ है। गर्भाधान के प्रारम्भ से ही प्राण गर्भ का पोषण करता है। प्राण के वृत्तिलाभ हो जाने के पश्चात् ही चक्षु आदि को वृत्तिलाभ होता है। अत चक्षुरादि इन्द्रियों मे प्राण का ज्येष्ठत्व होना उचित ही है। ऐसा भी होता है, किसी के परिवार कोई आयु मे ज्येष्ठ होता है किन्तु गुणहीन होने के कारण नही माना जाता। अथवा मध्यम या कनिष्ठ गुणयुक्त होने के कारण श्रेष्ठ तो हो सकते है किन्तु उन्हे आयु में ज्येष्ठ नही माना जाता। किन्तु यहाँ यह बात नही है। इसी को श्रुति कहती है। प्राण ही ज्येष्ठ और श्रेष्ठ है। प्राणों की श्रेष्ठता किस प्रकार जानी जाती है, उसे इस ब्राह्मण मे 'ते हेमे प्राणाः' इत्यादि संवाद से प्रदर्शित करेंगे। जो प्राण के ज्येष्ठ और श्रेष्ठ गुण की सदा 'वेद' अर्थात् उपासना करता है वह 'स्वानाम्' अथवा अपने स्वजनों मे ज्येष्ठ और श्रेष्ठ होता है। ज्येष्ठ-श्रेष्ठ गुणो-पासना के सामर्थ्य से अपने ज्ञातिजनों से भिन्न लोगो में भी ज्येष्ठ और श्रेष्ठ हो जाऊँ; इस प्रकार 'बुभूषति' अर्थात् होने की इच्छा करता है। उन में यह ज्येष्ठ श्रेष्ठ प्राणोपासक ज्येष्ठ और श्रेष्ठ हो जाता है। किन्तु ज्येष्ठत्व तो आयु से ही होता है, इच्छा मात्र से ही किस प्रकार हो सकता है? इस पर कहा

१ अतः—निषेककालमारभ्य चक्षुराद्यपेक्षया प्राणस्यैव गर्भवृद्धिहेतुत्वेन प्रथमं वृत्तिलाभात्। २ तत् श्रैष्ठ्यं। इह प्रकृतब्राह्मणे। संवादेन "ते हेमे प्राणाः" इत्यादिना। ३ उक्तफलोपसंहारानन्तरं फलान्तरमाह ज्येष्ठेति। ४. ज्ञातिव्यतिरेकेण। ५ उपक्रमोक्तम्। ६ प्राणे ज्येष्ठ्यश्रैष्ठ्ययोरसत्त्वे आरोपेण सत्त्वे चानारोपेणेत्यर्थः।

[1]यो ह वै वसिष्ठां वेद वसिष्ठः स्वानां भवति वाग्वै वसिष्ठा वसिष्ठः स्वानां भवत्यपि च येषां बुभूषति य एव वेद ॥२॥

जो वसिष्ठा को जानता है, वह अपने सजातियो मे वसिष्ठ हो जाता है। वाक् ही वसिष्ठा है (क्योंकि अच्छे वक्ता धनादि सपन्न होकर सुख पूर्वक बसते हैं और सभा म दूसरो परास्त कर देते है)। जो ऐसी उपासना करता है, वह स्वजनो मे तथा अन्य लोगो मे भी वसिष्ठ हो जाता है, जिनमे वह वसिष्ठ बनना चाहता है॥२॥

विवक्षितत्वात् ॥ १ ॥

यो ह वं वसिष्ठां वेद वसिष्ठः स्वानां भवति। [2]तद्दर्शनानुरूपेण फलम्। येषां च ज्ञातिव्यतिरेकेण वसिष्ठो भवितुमिच्छति तेषां च वसिष्ठो भवति। उच्यतां तर्हि काऽसौ वसिष्ठेति। [3]वाग्वै वसिष्ठा। वासयत्यतिशयेन वस्ते वेति वसिष्ठा। वाग्मिनो हि धनवन्तो वसन्त्यतिशयेन। आच्छादनार्थस्य वा वसेर्वसिष्ठा। अभिभवन्ति हि वाचा वाग्मिनोऽन्यान्। तेन वसिष्ठगुणवत्परिज्ञानाद्वसिष्ठगुणो भवतीति दर्शनानुरूपं

वसिष्ठत्वमपि प्राणस्यैवेति वक्तुमुत्तरवाक्यमुत्थाप्य व्याचष्टे—यो हेत्यादिना। फलेन प्रलोभितं शिष्यं प्रश्नाभिमुखं प्रत्याह—उच्यतामित्यादिना। वाचो वसिष्ठत्वं द्विधा प्रतिजानीते—वासयतीति। वासयत्यतिशयेनेत्युक्तं विशदयति—वाग्मिनो हीति। वासयन्ति वेति द्रष्टव्यम्। वस्ते वेत्युक्तं स्फुटयति—आच्छादनार्थस्य वेति। आच्छादनार्थत्वमनुभवेन साधयति—अभिभवन्तीति। उक्तमुपासितफलं निगमयति तेनेति॥ २॥

जाता है। ऐसा कहने मे कोई दोष नही है क्योकि प्राण के समान यहाँ भी वृत्तिलाभ ही ज्येष्ठत्व रूप से विवक्षित है॥ १॥

जो वसिष्ठा को जानता है, वह अपने निजजनो मे वसिष्ठ होता है। वागुपासना अनुरूप उसका फल भी है। अपने स्वजनो से व्यतिरिक्त लोगो मे वह वसिष्ठ होने की इच्छा करता है, इसलिए उनमे भी वसिष्ठ हो जाता है। तो फिर बतलाइये कि वह वसिष्ठा क्या है? वाक ही वसिष्ठा है। अतिशय रूप मे वास देती है अथवा करती है, इसलिये वसिष्ठा है क्योकि अच्छे व्याख्याता धनवान् होते हुए पूर्ण रूप मे वास करते हैं। 'वस' धातु आच्छादनार्थक है, उससे भी वसिष्ठा शब्द की निष्पत्ति होती है। व्याख्याता अपनी वाणी से दूसरो को तिरस्कृत कर देते हैं। इसलिये वसिष्ठगुण युक्त पदार्थ की उपासना करने से वसिष्ठगुण वाला हो जाता है यही इसकी उपासना

---

१ इदानीं प्राणस्यैव वसिष्ठत्वप्रतिष्ठात्वसम्पत्त्वायतनत्वप्रजातित्वलक्षणा पञ्च गुणा इति दर्शयितुं प्रथमं तेषामेकैकस्य क्रमेण वाक्चक्षुःश्रोत्रमनोरेतसां गुणत्वमाह—'यो ह वा' इत्यादिपञ्चकण्डिकाभिः। २ वागुपासनानुरूपेण। ३ इत्युक्त आह—वाग्वा इति।

यो ह वै प्रतिष्ठां वेद प्रतितिष्ठति समे प्रतितिष्ठति दुर्गे चक्षुर्वै प्रतिष्ठा चक्षुषा हि समे च दुर्गे च प्रतितिष्ठति प्रतितिष्ठति समे प्रतितिष्ठति दुर्गे य एवं वेद ॥३॥

जो कोई प्रतिष्ठा को जानता है, वह समान देश-काल में प्रतिष्ठित होता है और दुर्गम्य तथा दुर्भिक्षादि विषम काल में प्रतिष्ठित होता है । चक्षु ही प्रतिष्ठा है क्योंकि चक्षु से ही समान और दुर्गम देश-काल में प्रतिष्ठित होता है । अतः जो प्रतिष्ठा गुण वाले चक्षु की उपासना करता है, वह समान और दुर्गम देश में प्रतिष्ठित होता है ॥ ३ ॥

फलम् ॥ २ ॥

यो ह वै प्रतिष्ठां वेद प्रतितिष्ठत्यनयेति प्रतिष्ठा तां प्रतिष्ठागुणवतीं यो वेद तस्यैतत्फलं प्रतितिष्ठति 'समे देशे काले च । तथा दुर्गे विषमे च 'दुर्गमने च देशे दुर्भिक्षादौ वा काले विषमे । यद्येवमुच्यतां काऽसौ प्रतिष्ठा । चक्षुर्वै प्रतिष्ठा । कथं चक्षुषः प्रतिष्ठात्वमित्याह—चक्षुषा हि समे च दुर्गे च दृष्ट्वा प्रतितिष्ठति । अतोऽनुरूपं फलं प्रतितिष्ठति समे प्रतितिष्ठति दुर्गे य एवं वेदेति ॥ ३ ॥

गुणान्तरं वक्तुं वाक्यान्तरमादाय व्याचष्टे—यो ह वा इति । समे प्रतिष्ठा 'विद्यां विनाऽपि स्यादित्याशङ्क्याऽऽह—तथेति । विषमे च प्रतितिष्ठतीति सबन्धः । विषमशब्दस्यार्थमाह—दुर्गमने चेति । इदानीं प्रश्नपूर्वकं प्रतिष्ठां वर्णयति—यद्येवमिति । प्रतिष्ठात्वं चक्षुषो व्युत्पादयति—कथमित्यादिना । विद्याफलं निगमयति—अत इति ॥ ३ ॥

का अनुरूप फल है ॥ २ ॥

जो कोई प्रतिष्ठा को जानता है; जिससे प्रतिष्ठा को प्राप्त होता है, उसे प्रतिष्ठा कहते हैं (इस व्युत्पत्ति से) उस "प्रतिष्ठाम्" अर्थात् प्रतिष्ठागुणवती (चक्षु) को जो कोई जानता है, उसका यह फल है—वह (उच्च, नीच, गर्त कण्टकादिरहित) सम देश तथा (सुभिक्षादियुक्त) सम काल में प्रतिष्ठित होता है । तथा "दुर्गे" अर्थात् विषम और कण्टकादि से उपद्रुत देश मे तथा दुर्भिक्षादि से युक्त विषम काल में भी प्रतिष्ठित होता है । यदि ऐसी बात है तो कहिये वह प्रतिष्ठा क्या है ? चक्षु ही प्रतिष्ठा है । चक्षु का प्रतिष्ठात्व किस प्रकार है ? इस पर श्रुति कहती है—चक्षु से सम और विषम देश-काल को देखकर प्रतिष्ठित होता है । इसलिये इसकी उपासना के अनुरूप फल है—जो इस प्रकार उपासना करता है, वह सम में भी प्रतिष्ठित होता है और विषम में भी प्रतिष्ठित हो जाता है ॥ ३ ॥

---

१. समे देश इत्यादि—देशस्य समत्वमुच्चनीचगर्तकण्टकादिराहित्यम् । कालस्य सुभिक्षादियुक्तत्वमिति ध्येयम् ।

२ दुर्गमने—कण्टकाद्युपद्रुते । ३. उपास्तिम् ।

यो ह वै संपदं वेद सꣳ हास्मै पद्यते यं कामं कामयते श्रोत्रं वै संपच्छ्रोत्रे हीमे सर्वे वेदा अभिसपन्नाः सꣳ हास्मै पद्यते यं कामं कामयते य एवं वेद ॥ ४ ॥

यो ह वा आयतनं वेदाऽऽयतनꣳ स्वानां भवत्या-

जो सपद् को जानता है, वह जिस भोग को चाहता है, वही अच्छी प्रकार से उसे प्राप्त हो जाता है। श्रोत्र ही सपद् है क्योंकि श्रोत्र में ही ये सब वेद भली प्रकार निष्पन्न होते हैं (अर्थात् श्रोत्र वाला ही वेद का अध्ययन करता और वेदविहित कर्मों के अधीन ही सभी भोग हैं)। जो ऐसी उपासना करता है, वह जिस भोग को चाहता है, वही उसे सम्यक् प्रकार से मिल जाता है ॥ ४ ॥

यो ह वै संपदं वेद संपद्गुणयुक्तं यो वेद तस्यैतत्फलमस्मै विदुषे [1]संपद्यते ह। किम्। यं कामं कामयते स कामः। किं पुनः संपद्गुणकम्। श्रोत्रं वै संपत्। कथं पुनः श्रोत्रस्य संपद्गुणत्वमिति। उच्यते। श्रोत्रे सति हि यस्मात्सर्वे [2]वेदा [3]अभिसंपन्नाः श्रोत्रेन्द्रियवतोऽध्येयत्वात्। वेदविहितकर्मायत्ताश्च [4]कामास्तस्माच्छ्रोत्रं संपत्। अतो विज्ञानानुरूपं फलम्। सं हास्मै पद्यते यं कामं कामयते य एवं वेद ॥ ४ ॥

यो ह वा आयतनं वेद। आयतनमाश्रयस्तद्यो [5]वेदाऽऽयतनं स्वानां भवत्यायतनं

वाक्यान्तरमादाय विभजते—यो ह वै सपदमिति। प्रश्नपूर्वकं [6]संपद्गुणत्तिवाक्यमुपादत्ते—किं पुनरिति। श्रोत्रस्य संपद्गुणत्वं व्युत्पादयति—कथमिति। अध्येयत्वमध्ययनार्हत्वम्। [7]तथाऽपि कथं श्रोत्रं संपद्गुणकमित्याशङ्क्याऽऽह—वेदेति। पूर्वोक्तं फलमुपसंहरति—अत इति ॥ ४ ॥

वाक्यान्तरमादाय विभजते—यो ह वा आयतनमिति। सामान्येनोक्तमायतनं प्रश्नपूर्वकं

'यो ह वा सपद वेद' अर्थात् संपद्गुणयुक्त को जो भी उपासक जानता है, उस विद्वान् को इसका यह फल प्राप्त हो जाता है। क्या प्राप्त हो जाता है? जिस कामना को करता है, वह कामनापूर्ति हो जाती है। तो वह सपद्गुणयुक्तता क्या है? श्रोत्र ही सपत् है। श्रोत्र की सपद्गुणरूपता किस प्रकार है? इस पर श्रुति कहती है—श्रोत्रेन्द्रिय के रहने पर ही यह सारे वेद प्राप्त हो जाते हैं; क्योंकि वे श्रोत्रेन्द्रिय युक्त पुरुष द्वारा अध्ययन किये जाते हैं। काम सपत्तियाँ वेदविहित कर्म के अधीन हैं, इसलिए श्रोत्र ही सपत् है। इसलिए उपासना के अनुरूप ही फलप्राप्ति होती है। जो इस प्रकार उपासना करता है, वह जो भी कामना करता है, उसे प्राप्त हो जाती है ॥ ४ ॥

'यो ह वा आयतन वेद' अर्थात् आयतन नाम आश्रय का है, उस आश्रयरूप आयतन को जो

---

१. सपद्यते—प्राप्नोति। २. वेदा इमे प्रसिद्धाः। ३ आप्ता भवन्ति। ४. काम्यसपत्तयः। ५. सः। ६. संपत्स्वरूपमात्रबोधकं वाक्यम्। ७. तथाऽपि—वेदप्राप्तेः श्रोत्रनिमित्तकत्वेऽपि।

यतनं जनानां मनो वा आयतनमायतनꣳ स्वानां भव-
त्यायतनं जनानां य एवं वेद ॥ ५ ॥

यो ह वै प्रजातिं वेद प्रजायते ह प्रजया पशुभी रेतो
वै प्रजातिः प्रजायते ह प्रजया पशुभिर्य एवं वेद ॥ ६ ॥

जो आश्रय को जानता है, वह स्वजनो का आश्रय होता है तथा अन्यजनो का भी आश्रय हो जाता है। मन ही आयतन है (क्योंकि मन सकल्प के अधीन इन्द्रियाँ विषयो मे प्रवृत्त होती हैं और विषय मे निवृत्ति भी होती हैं) जो इस प्रकार उपासना करता है, वह स्वजनो का आयतन होता है तथा अन्यजनो का भी आयतन होता है ॥ ५ ॥

जो कोई भी प्रजापति को जानता है, वह प्रजा और पशुओ से सपन्न होता है। रेत ही प्रजापति है (क्योंकि रेत से ही प्रजा की उत्पत्ति होती है)। जो इस प्रकार उपासना करता है, वह प्रजा और पशुओ से सपन्न होता है ॥ ६ ॥

जनानामन्येषामपि। किं पुनस्तदायतनमिति। उच्यते—मनो वा आयतनमाश्रय इन्द्रियाणां विषयाणां च। मन[1]आश्रिता हि विषया आत्मनो भोग्यत्वं प्रतिपद्यन्ते। मनःसंकल्पवशानि चेन्द्रियाणि प्रवर्तन्ते च। [2]अतो मन आयतनमिन्द्रियाणाम्। अतो दर्शनानुरूप्येण फलमायतनं स्वानां भवत्यायतनं जनानां य एवं वेद ॥ ५ ॥

यो ह वै प्रजातिं [3]वेद प्रजायते ह प्रजया पशुभिश्च संपन्नो भवति। [4]रेतो वै प्रजातिः। रेतसा प्रजननेन्द्रियमु[5]पलक्ष्यते। [6]तद्विज्ञानानुरूपं फलं प्रजायते ह प्रजया

विशदयति—किं पुनरिति। मनसो विषयाश्रयत्वं विशदयति—मन इति। इन्द्रियाश्रयत्वं तस्य स्पष्टयति—मन सकल्पेति। पूर्ववत्फलं निगमयति—अत इति ॥ ५ ॥

गुणान्तरं वक्तुं वाक्यान्तरं गृहीत्वा तदक्षराणि व्याकरोति—यो हेत्यादिना। वागादीन्द्रियाणि तत्तद्गुणविशिष्टानि [7]शिष्ट्वा रेतो विशिष्टगुणमाचक्षाणस्य प्रकरणविरोध. स्यादित्याशङ्क्याऽऽह—रेतसेति। विद्याफलमुपसंहरति—तद्विज्ञानेति ॥ ६ ॥

कोई जानता है, वह निजजनो और अन्यजनो का भी आश्रय हो जाता है। वह आयतन क्या है? इस पर श्रुति कहती है—मन ही इन्द्रियो और विषयो का "आयतनम्" अर्थात् आश्रय है। मन से प्रकाशित विषय ही आत्मा को भोग्यत्व रूप से प्राप्त होते हैं। मन के सकल्प के वशीभूत होकर इन्द्रियाँ स्व-स्व विषयो मे प्रवृत्त और निवृत्त होती हैं। इसलिए (इन्द्रियप्रवृत्तिप्रयोजक होने से) मन ही इन्द्रियो का आश्रय है। इसलिये उपासना के अनुरूप ही फल प्राप्ति होती है। जो इस रूप में

---

१ प्रकाशिताश्च। २ अत—इन्द्रियप्रवृत्त्यादिप्रयोजकत्वात्। ३ स.। ४ कहि कोऽसावित्यत आह—रेतो वा इति। ५ उपलक्ष्यत इति—इन्द्रियप्रकरणात्। प्रजोत्पत्तिहेतुत्वाच्चेति भाव। ६ प्रजाद्युपास्त्यनुगुणम्। ७ उपदिश्य।

ते हेमे प्राणा अहꣳश्रेयसे विवदमाना ब्रह्म जग्मुस्तद्धोचुः को नो वसिष्ठ इति तद्धोवाच यस्मिन्व उत्क्रान्त इदꣳ शरीरं पापीयो मन्यते स वो वसिष्ठ इति ॥७॥

ये वागादि प्राण 'मैं श्रेष्ठ हूँ, मैं श्रेष्ठ हूँ' इस प्रकार विवाद करते हुए प्रजापति के पास गये। पूछे जाने पर ब्रह्मा से ये बोले—भगवन् ! हममे से कौन वसिष्ठ है। ब्रह्मा ने कहा—तुममें से जिसके शरीर से निकल जाने पर यह शरीर अत्यन्त पापी माना जाता हो, वही तुममें वसिष्ठ है (वसिष्ठ को जानते हुए भी दूसरे को अप्रिय न लगे, इसी अभिप्राय से प्रजापति ने वसिष्ठ को स्पष्ट शब्दों में नहीं कहा) ॥ ७ ॥

पशुभिर्य एव वेद ॥ ६ ॥

ते हेमे प्राणा वागादयोऽहंश्रेयसेऽहं श्रेयानित्येतस्मै प्रयोजनाय विवदमाना विरुद्धं वदमाना ब्रह्म जग्मुर्ब्रह्म गतवन्तो ब्रह्मशब्दवाच्यं प्रजापतिं गत्वा च तद्ब्रह्म होचुरुक्तवन्तः। को नोऽस्माकं मध्ये वसिष्ठः कोऽस्माकं मध्ये वसति च वासयति च। तद्ब्रह्म तैः पृष्टं सद्धोवाचोक्तवद्यस्मिन्वो युष्माकं मध्य उत्क्रान्ते निर्गते शरीरादिदं शरीरं पूर्वस्मादतिशयेन पापीयः पापतरं मन्यते लोकः। शरीरं हि नामानेकाशुचिसंघातत्वाज्जी-

---

उक्ता वसिष्ठत्वादिगुणा न वागादिगामिनः किंतु मुख्यप्राणगता एवेति दर्शयितुमाख्यायिकामधिकरोति—ते हेत्यादिना। ईयसुन्प्रयोगस्य तात्पर्यमाह—शरीरं हीति। किमिति शरीरस्य पापीय-

---

उपासना करता है, वह स्वजनों और अन्यजनों का आश्रय होता है ॥ ५ ॥

जो प्रजाति को जानता है, वह प्रजा और पशुओं से 'प्रजायते' अर्थात् संपन्न होता है। वीर्य ही प्रजाति है। (प्रजा की उत्पत्ति का हेतु होने से) रेतस् शब्द से जननेन्द्रिय का ग्रहण होता है। प्रजाति उपासना के अनुगुण फल है। जो इस प्रकार उपासना करता है, वह प्रजा और पशुओं से युक्त होता है ॥ ६ ॥

वे ये प्रकरणस्थ वागादि प्राण "अहꣳश्रेयसे" अर्थात् (वसिष्ठत्वादि स्व-स्वगुणों से) 'मैं श्रेष्ठ हूँ' इस प्रयोजन से 'विवदमाना' अर्थात् आपस में विरुद्ध बोलते हुए "ब्रह्म जग्मुः" अर्थात् ब्रह्म शब्द वाच्य विराट् के पास गये। उसके पास जाकर उस विराट् ब्रह्म को इस प्रकार "होचुः" यानी बोले कि हमारे मे से कौन वसिष्ठ है, हममे से कौन वास करता है और कौन वास करवाता है। उन वागादि प्राणों के इस प्रकार पूछे जाने पर वह विराट् ब्रह्म बोला—तुममे से जिसके 'उत्क्रान्ते' अर्थात् निकल जाने पर इस शरीर को लोग पहले की अपेक्षा "पापीयः" अर्थात् अधिक पापी मानते हैं। अनेक अपवित्र वस्तुओं का समूह होने से जीवित पुरुष का शरीर पापरूप होता है, उससे भी अधिक पापी तब हो

---

१ इमे—प्रकृता। २ वसिष्ठत्वादिभिः स्वस्वगुणैरिति शेषः। ३ विराजम्। ४. पूर्वावस्थात.। ५ मुख्येति—सर्वेन्द्रियव्यापाराणां प्राणाधीनत्वादिति भाव। तथा च षड्भिरपि गुणैर्मुख्यप्राणस्यैवोपास्यत्वम्। तद्ध्येयत्वेन त्वितरेषाम् मुख्यप्राणश्च जीवदव्यतिरिक्त इति ध्येयम्।

'वाग्घोच्चक्राम सा संवत्सरं प्रोष्याऽऽगत्योवाच कथमशकत मदृते जीवितुमिति ते होचुर्यथाऽकला अवदन्तो वाचा प्राणन्तः प्राणेन पश्यन्तश्चक्षुषा शृण्वन्तः श्रोत्रेण विद्वाꣳसो मनसा प्रजायमाना रेतसैवमजीविष्मेति प्रविवेश ह वाक् ॥ ८ ॥

पहले वाक् ने इस शरीर से उत्क्रमण किया। उसने एक वर्ष तक बाहर रहकर वापस आकर कहा—तुम लोग मेरे बिना कैसे जीवित रह सके ? इस पर वे बोले—जैसा गूंगा वाणी से न बोलते हुए, प्राण से प्राणन व्यापार करते हुए, नेत्र से देखते, कान से सुनते, मन से कर्तव्याकर्तव्य को जानते जननेन्द्रिय से प्रजा को उत्पन्न करते हुए जीते रहते हैं, वैसे ही हम लोग भी जीवित रहे। यह सुनकर वाक् अपने को वसिष्ठ न समझ कर शरीर में प्रवेश कर गया ॥ ८ ॥

ततोऽपि पापमेव ततोऽपि कष्टतरं यस्मिन्नुत्क्रान्ते भवति। वैराग्यार्थमिदमुच्यते—पापीय इति। स वो युष्माकं मध्ये वसिष्ठो भवति। जानन्नपि वसिष्ठं प्रजापतिर्नोवाचायं वसिष्ठ इतीतरेषामप्रियपरिहाराय ॥ ७ ॥

त एवमुक्ता ब्रह्मणा प्राणा आत्मनो वीर्यपरीक्षणाय क्रमेणोच्चक्रमुः। तत्र वागेव प्रथमं हास्माच्छरीरादुच्चक्रामोत्क्रान्तवती। सा चोत्क्रम्य[2] संवत्सरं प्रोष्य प्रोषिता[3] भूत्वा पुनरागत्योवाच—कथमशकत शक्तवन्तो यूयं मदृते मां विना[4] जीवितुमिति। त एवमुक्ता

स्तवमुच्यते तदाह—वैराग्यार्थमिति। शरीरे वैराग्योत्पादनद्वारा तस्मिन्नहंममाभिमानपरिहारार्थमित्यर्थः। वसिष्ठो भवतीत्युक्तवानिति संबन्धः। किमिति साक्षादेव मुख्यं प्राणं वसिष्ठत्वादिगुणं नोक्त-[5]वान्प्रजापतिः स हि सर्वज्ञ इत्याशङ्क्याऽऽह—जानन्नपीति ॥ ७ ॥

वाग्घोच्चक्रामेत्यादिवाक्यतात्पर्यमाह—त एवमिति। उक्तेऽर्थे श्रुत्यक्षराणि व्याचष्टे—तत्रेत्या-

---

जाता है, जब उत्क्रमण कर जाता है। 'अधिक पापी होता है' यह वैराग्य के लिए कहा जाता है। वही तुम में से वसिष्ठ है। विराट् प्रजापति ने वसिष्ठ जानते हुए भी, दूसरों के अप्रिय परिहार के लिए 'यह वसिष्ठ है' ऐसा नहीं कहा ॥ ७ ॥

विराट् ब्रह्म द्वारा इस प्रकार कहे जाने पर उन प्राणों ने अपने पराक्रम की परीक्षा के लिए क्रमशः एक-एक करके शरीर से उत्क्रमण करना प्रारम्भ किया। उनमें से पहले वाक् ने इस शरीर से "उच्चक्राम" अर्थात् उत्क्रमण किया। शरीर से निकल कर उसने एक वर्ष पर्यन्त शरीर से अन्यत्र "प्रोष्य" अर्थात् प्रवास करके पुनः आकर कहा—'कथमशकत मदृते जीवितुमिति' अर्थात् तुम लोग

---

१. ध्येयनिर्णयार्था वागित्यादि श्रुतिर्न तु वागादीनां स्वातन्त्र्येणोत्क्रमणे तात्पर्यमसम्भवादिति स्पष्ट वार्तिके।
२. शरीरान्निर्गत्य। ३. प्रोषिता भूत्वा—शरीरादन्यत्र प्रवास कृत्वा। ४ यस्मिञ्छरीरे। ५. उक्तवानित्यत्रोक्तवदिति न्याय्य भाति।

चक्षुर्होच्चक्राम तत्संवत्सरं प्रोष्याऽऽगत्योवाच कथम-
शकत मदृते जीवितुमिति ते होचुर्यथाऽन्धा अपश्यन्त-
श्चक्षुषा प्राणन्तः प्राणेन वदन्तो वाचा शृण्वन्तः श्रोत्रेण
विद्वाꣳसो मनसा प्रजायमाना रेतसैवमजीविष्मेति
प्रविवेश ह चक्षुः ॥ ९ ॥

श्रोत्रꣳहोच्चक्राम तत्संवत्सरं प्रोष्याऽऽगत्योवाच
कथमशकत मदृते जीवितुमिति ते होचुर्यथा बधिरा
अशृण्वन्तः श्रोत्रेण प्राणन्तः प्राणेन वदन्तो वाचा

चक्षु ने शरीर से उत्क्रमण किया। एक वर्ष तक प्रवास कर लौटकर अन्य प्राणों से उसने कहा—तुम लोग मेरे बिना कैसे जीवित रह सके ? अन्य इन्द्रियों ने कहा—जैसे अन्धे नेत्र से न देखते हुए भी प्राण से प्राणन करते वाक् से बोलते कान से सुनते, मन से जानते, शिश्न से सन्तान उत्पन्न करते हुए जीवित रहते हैं, वैसे ही हम भी जीवित रहे। यह सुनकर नेत्र शरीर में प्रवेश कर गया ॥९॥

श्रोत्र ने उत्क्रमण किया। एक वर्ष तक बाहर रहकर लौटकर उसने कहा—तुम मेरे बिना कैसे जीवित रहे ? अन्य प्राणों ने कहा जैसे बहरे कानों से न सुनते हुए भी, प्राण से प्राणन करते,

---

ऊचुर्यथा लोकेऽकलाः मूका अवदन्तो वाचा प्राणन्तः प्राणनव्यापारं कुर्वन्तः प्राणेन पश्यन्तो दर्शनव्यापारं चक्षुषा कुर्वन्तस्तथा शृण्वन्तः श्रोत्रेण विद्वांसो मनसा कार्याकार्यादिविषयं प्रजायमाना रेतसा पुत्रानुत्पादयन्त एवमजीविष्म वयमित्येवं प्राणैर्दत्तोत्तरा वागात्मनोऽस्मिन्नवसिष्ठत्वं बुद्ध्वा प्रविवेश ह वाक् ॥ ८ ॥

दिना। कार्याकार्यादिविषयमित्यादिना देवेत्येनोऽध्याहार। चक्षुरादिभिर्दत्तोत्तरा पुनर्वाक्किमकरोदिति

इस शरीर में मेरे बिना कैसे जीवित रहे। उससे इस प्रकार पूछे जाने पर वे बोले—जिस प्रकार लोग कला अर्थात् मूक पुरुष वाणी से न बोलते हुए भी 'प्राणन्त प्राणेन' अर्थात् प्राण से प्राणन व्यापार करते हैं, 'पश्यन्तश्चक्षुषा' चक्षु से दर्शन व्यापार करते हैं श्रोत्र से सुनते हैं, मन से कार्य और अकार्यादि के विषय में विचार करते हैं वीर्य से 'प्रजायमाना' यानी पुत्र उत्पादन करते हैं—इस प्रकार सब कुछ करते हुए जीवित रहते हैं—उसी प्रकार हम भी जीवित हैं। इसी प्रकार प्राणों से इस प्रकार उत्तर सुनकर वाक् ने अपने को वसिष्ठ न समझकर पुनः इस शरीर में प्रवेश कर लिया ॥ ८ ॥

---

१ कला इति पाठ।

पश्यन्तश्चक्षुषा विद्वाꣳसो मनसा प्रजायमाना रेतसैवमजीविष्मेति प्रविवेश ह श्रोत्रम् ॥ १० ॥

मनो होच्चक्राम तत्संवत्सरं प्रोष्याऽऽगत्योवाच कथमशकत मदृते जीवितुमिति ते होचुर्यथा मुग्धा अविद्वाꣳसो मनसा प्राणन्तः प्राणेन वदन्तो वाचा पश्यन्तश्चक्षुषा शृण्वन्तः श्रोत्रेण प्रजायमाना रेतसैवमजीविष्मेति प्रविवेश ह मनः ॥ ११ ॥

रेतो होच्चक्राम तत्संवत्सरं प्रोष्याऽऽगत्योवाच कथमशकत मदृते जीवितुमिति ते होचुर्यथा क्लीबा अप्रजायमाना रेतसा प्राणन्तः प्राणेन वदन्तो वाचा पश्यन्तश्चक्षुषा शृण्वन्तः श्रोत्रेण विद्वाꣳसो मनसैवमजीविष्मेति प्रविवेश ह रेतः ॥ १२ ॥

वाक् से बोलते, नेत्र से देखते, मन से मनन करते, शिश्न से प्रजा उत्पन्न करते हुए जीवित रहते हैं, वैसे ही हम सब जीवित रहे। उसके बाद श्रोत्र ने भी देह में प्रवेश किया ॥ १० ॥

मन ने उत्क्रमण किया। एक वर्ष तक बाहर रहकर लौटने पर उसने अन्य प्राणों से कहा—तुम मेरे बिना कैसे जीवित रह सके? उन्होंने कहा—जैसे मुग्ध पुरुष मन से न जानते हुए भी प्राण से प्राणन करते, वाक् से बोलते, नेत्र से देखते, कानों से सुनते, शिश्न से प्रजा उत्पन्न करते हुए जीवित रहते हैं वैसे ही हम लोग भी जीवित रहे। इसके बाद मन भी शरीर में प्रवेश कर गया ॥ ११ ॥

रेत ने उत्क्रमण किया। उसने भी एक वर्ष तक बाहर रहने के बाद लौट कर अन्य प्राणों से कहा—तुम मेरे बिना कैसे जीवित रह सके? उन्होंने कहा—जैसे नपुंसक शिश्न से प्रजा न उत्पन्न करते हुए भी प्राण से प्राणन करते, वाक् से बोलते, नेत्र से देखते कानों से सुनते और मन से जानते हुए जीवित रहते हैं, ऐसे ही हम लोग भी जीवित रहे। यह सुनकर वीर्य ने भी पुनः शरीर में प्रवेश किया ॥ १२ ॥

तथा चक्षुर्होच्चक्रामेत्यादि पूर्ववत्। श्रोत्र मनः प्रजातिरिति ॥ ९ ॥ १० ॥ ११ ॥ १२ ॥

तत्राऽऽह—प्रात्मन इति ॥ ८ ॥

'उसी प्रकार चक्षु ने भी इस शरीर से उत्क्रमण किया' इत्यादि पूर्ववत् व्याख्या समझनी चाहिये। इसी तरह श्रोत्र, मन और उपस्थेन्द्रिय ने उत्क्रमण किया ॥ ९-१२ ॥

---

१ उपस्थेन्द्रियम्।

'अथ ह प्राण उत्क्रमिष्यन्यथा महासुहयः सैन्धवः पड्वीशशङ्कून्संवृहेदेवꣳ हैवेमान्प्राणान्संववर्ह ते होचुर्मा भगव उत्क्रमीर्न वै शक्ष्यामस्त्वदृते जीवितुमिति तस्यो मे बलिं कुरुतेति तथेति ॥ १३ ॥

उसके बाद जब मुख्य प्राण उत्क्रमण करने लगा (उसी समय वागादि प्राण अपने स्थान से विचलित हो गये)। जैसे सिन्धुदेश में उत्पन्न अच्छी जाति का घोड़ा परीक्षा के समय पैर बाँधने के खूँटों को उखाड़ डालता है, वैसे ही मुख्य प्राण ने भी इन वागादि प्राणों को अपने स्थान से विचलित कर दिया। उन वागादि ने कहा—हे भगवन्! आप उत्क्रमण न करें क्योंकि आपके बिना हम जीवित नहीं रह सकते। प्राण ने कहा—(तुम्हें मेरी श्रेष्ठता का पता लग गया है, अत: अब तुम लोग) मुझे भेंट दिया करो। वागादि प्राणों ने 'बहुत अच्छा' ऐसा कहकर प्राण को भेंट देना स्वीकार किया ॥ १३ ॥

अथ ह प्राण उत्क्रमिष्यन्नुत्क्रमणं करिष्यंस्तदानीमेव स्वस्थानात्प्रचलिता वागादयः। किमिवेत्याह—यथा लोके महांश्चासौ सुहयश्च महासुहयः शोभनो हयो लक्षणोपेतो महान्परिमाणतः सिन्धुदेशे भवः सैन्धवोऽभिजनतः[2] 'पड्वीशशङ्कून्पादबन्धनशङ्कून्पड्वीशाश्च ते शङ्कवश्च तान्संवृहेदुद्यच्छेद्युगपदुत्खनेदश्वारोह आरूढे परीक्षणाय। एवं हैवेमान्वागादीन्प्राणान्संववर्होद्यतवान्स्वस्थानाद्भ्रंशितवान्। ते वागादयो होचुर्हे भगवो

वागादिप्रकरणविच्छेदार्थोऽथशब्दः। उत्क्रमणं करिष्य यदा भवतीति शेषः। उक्तमर्थं दृष्टान्तेन स्पष्टयन्नुत्तरवाक्यमवतारयति—किमिवेत्यादिना। प्राणस्य श्रेष्ठत्वं वागादिभिर्निर्धारितमित्याह—ते वागादय इति। 'तर्हि तत्फलेन भवितव्यमित्याह—यद्येवमिति। यथोक्तस्य प्राणसंवादस्य फलप-

---

इस के बाद प्राण के 'उत्क्रमिष्यन्'' अर्थात् उत्क्रमण करने पर उसी समय वागादि प्राण अपने स्थान से च्युत हो गये। किस के समान हो गये? इस पर श्रुति कहती है—जिस प्रकार लोक में 'महासुहय सैन्धव'' अर्थात् जन्मभूमि से सिन्धु देश में होने वाले महान् परिमाण वाले और सुन्दर लक्षणों से युक्त घोड़े 'पड्वीशशङ्कून्' अर्थात् पैर बाँधने के खूटों जो पड्वीश और शङ्कु हैं, उनको परीक्षण के लिए सवार द्वारा घोड़े पर चढ़ते ही "संवृहेत्' अर्थात् उखाड़ देता है। इसी प्रकार वागादि प्राणों ने "संववर्ह' अर्थात् उखाड़ दिया यानी अपने स्थान से विनष्ट कर दिया। वे वागादि प्राण बोले हे भगवो' अर्थात् 'हे भगवन्! आप इस शरीर से उत्क्रमण न करें क्योंकि

---

१ अथेति—वागादिपरीक्षणप्रकारप्रदर्शनानन्तरमित्यर्थः। २ अभिजन इति जन्मभूमित इत्यर्थः। "भवेदभिजन स्यातो जन्मभूम्यां कुलध्वजे। कुलेऽपि च पुमानिति" मेदिनी। ३ पड्वीशेति—पदनशाला पदपादास्तेषां सहति—पड्वी तस्या ईशानियामका पड्वीशा शङ्कवः तान्। ४ तर्हीत्यादि—यद्यहमेवात्र श्रेष्ठस्तर्हि मच्छ्रैष्ठ्यफलेन भाव्यमित्यर्थ।

सा ह वागुवाच यद्वा अहं वसिष्ठाऽस्मि त्वं तद्वसिष्ठोऽसीति यद्वा अहं प्रतिष्ठाऽस्मि त्वं तत्प्रतिष्ठो-

उस वागिन्द्रिय ने कहा—मैं जो वशिष्ठा हूँ, वह वस्तुतः उस वशिष्ठत्व गुण से युक्त तुम्ही हो। मैं जो प्रतिष्ठा हूँ, वह तुम्ही उस प्रतिष्ठा से युक्त हो ऐसा नेत्र ने कहा। श्रोत्र ने कहा—मैं जो

भगवन्मोत्क्रमीर्यस्मान्न वै शक्ष्यामस्त्वदृते त्वां विना जीवितुमिति। यद्येवं मम श्रेष्ठता विज्ञाता भवद्भिरहमत्र श्रेष्ठस्तस्य उ मे मम बलिं करं कुरुत करं प्रयच्छतेति। अयं च प्राणसंवादः कल्पितो विदुषः श्रेष्ठपरीक्षणप्रकारोपदेशः। अनेन हि प्रकारेण विद्वान्को नु खल्वत्र श्रेष्ठ इति परीक्षणं करोति। स एव परीक्षणप्रकारः संवादभूतः कथ्यते। न ह्यन्यथा संहत्यकारिणां सतामेषामञ्जसैव संवत्सरमात्रमेवैकैकस्य निर्गमनाद्युपपद्यते। तस्माद्विद्वानेवानेन प्रकारेण विचारयति वागादीनां प्रधानबुभुत्सुरुपासनाय बलिं प्रार्थिताः सन्तः प्राणास्तथेति प्रतिज्ञातवन्तः ॥ १३ ॥

सा ह वाक्प्रथमं बलिदानाय प्रवृत्ता ह किलोवाचोक्तवती यद्वा अहं वसिष्ठाऽस्मि

निकत्वं दर्शयति—अय चेति। कल्पनाफलं सूचयति—विदुष इति। तदेव स्पष्टयति—अनेन हीति। उपास्यपरीक्षणप्रकारो विवक्षितश्चेत्किं संवादेनेत्याशङ्क्याऽऽह—स एष इति। संवादस्य मुख्यार्थत्वाव-कल्पितत्वमाशङ्क्याऽऽह—न हीति। संवादस्य कल्पितत्वे फलितमाह—तस्मादिति। एवं प्राणसंवादस्य तात्पर्यमुक्त्वा प्रकृतमक्षरव्याख्यामेवानुवर्तयति—बलिमिति ॥ १३ ॥

सा ह वागिति प्रतीकमादाय व्याचष्टे—प्रथममिति। तेन वसिष्ठगुणेन त्वमेव वसिष्ठोऽसि तथा

तुम्हारे बिना हम जीवित रहने समर्थ नहीं हैं। (प्राण बोला—)यदि ऐसा ही है तो आप ने मेरी श्रेष्ठता जान ली, 'मैं ही श्रेष्ठ हूँ'। इसलिए मुझ श्रेष्ठ के लिए 'बलिं कुरुत' अर्थात् कर दीजिए। यह प्राण संवाद कल्पनामात्र है यह श्रेष्ठता परीक्षा की प्रक्रिया का विद्वान् को उपदेश है। 'वागादि मे कौन श्रेष्ठ है' इसकी विद्वान् इसी प्रकार परीक्षा करता है। वह यह परीक्षण प्रक्रिया संवाद रूप मे कही गयी है। *अन्यथा एकत्रित होकर ही क्रियाजनकत्व मे समर्थ इन इन्द्रियो का स्वतन्त्रता से एक-एक करके* एक वर्ष के लिए शरीर से निकल जाना संभव नहीं है। इसलिए वागादि प्राण मे प्रधान कौन है ? ऐसा जानने की इच्छा वाला विद्वान् उपासक ही उपासना के लिए इस प्रकार विचार करता है। प्राण द्वारा बलि माँगे जाने पर वागादिको ने "हमे कर देना स्वीकार है" इस प्रकार प्रतिज्ञा की ॥ १३ ॥

"स ह वाक्" अर्थात् प्रथम बलि देने के लिए प्रवृत्त उस वाक् ने "उवाच" अर्थात् कहा। "यद्वा

---

१. त्वम्। २ सर्वेषां मध्य श्रेष्ठस्य। ३ कर प्रयच्छतेति—पराजितैर्हि विजयिनेकरोदीयत इति प्रसिद्ध लोके इति भाव। ४. वागादिषु। ५ अन्यथा—संवादस्य काल्पनिकत्वानभ्युपगमे। ६ संहत्य कारिणाम्—मिलित्वा क्रियाजनकानाम्। ७ एषा—करणानाम्। ८ अञ्जसा—स्वातन्त्र्येण साक्षाद्वा। ९. तथास्त्वित्यङ्गीचक्रु। १० आश्रयति। ११ तथा चेति—त्वमेव वसिष्ठत्वगुणाश्रयत्वे सत्यहं वाक्त्व-द्वासिष्ठत्वयैव वसिष्ठेति भाव।

ऽसीति चक्षुर्यद्वा अहꣳ संपदस्मि त्वं तत्संपदसीति श्रोत्रं यद्वा अहमायतनमस्मि त्वं तदायतनमसीति मनो यद्वा अहं प्रजातिरस्मि त्वं तत्प्रजातिरसीति रेतस्तस्यो

सपद् हूँ, वह तुम्ही उस सपद् गुण से युक्त हो। मन ने कहा—जो मैं आयतन हूँ, वह वस्तुतः तुम्ही आयतन हो। रेत ने कहा—मैं जो प्रजापति हूँ, वह भी वस्तुत तुम्ही उस प्रजातित्व गुण से युक्त हो। (प्राण ने कहा—कोरी वस्तु से क्या लाभ है, अब बतलाओ कि) ऐसे गुणों से युक्त होने पर मेरा अन्न

यन्मम वसिष्ठत्वं तत्तवैव तेन वसिष्ठगुणेन त्वं तद्वसिष्ठोऽसीति। यद्वा अहं प्रतिष्ठाऽस्मि त्वं तत्प्रतिष्ठोऽसि या मम प्रतिष्ठा सा त्वमसीति। चक्षुरुवाचेति प्रत्येकं सर्वत्र संबध्यते। समानमन्यत्। संपदायतनप्रजातित्वगुणान्क्रमेण समर्पितवन्तः। यद्येवं साधु बलि दत्तवन्तो 'भवन्तो 'ब्रूत 'तस्य उ मे एवंगुणविशिष्टस्य' किमन्नं किं वास इति'। आहुरितरे'—यदिदं लोके किंच किंचिदन्नं नामाश्वभ्य आ कृमिभ्य आ कीटपतङ्गेभ्यः। यच्च श्वान्नं कृम्यन्नं कीटपतङ्गान्नं च तेन सह सर्वमेव यत्किंचित्प्राणिभिरद्यमानमन्नं 'तत्सर्वं तवान्नं सर्वं प्राणस्यान्नमिति दृष्टिरत्र विधीयते।

च तद्वसिष्ठत्वं तवैवेति योजना। बलिदानमङ्गीकृत्यान्नवाससी पृच्छति—यद्येवमित्यादिना। एवंगुणविशिष्टस्य ज्येष्ठत्वश्रेष्ठत्ववसिष्ठत्वादिसबद्धस्येत्यर्थः। यदिदमित्यादि वाक्य व्याचष्टे—यदिदमिति। प्रकृतेन शुनामन्नेन कीटादीना चान्नेन सह यत्किंचित्कृम्यन्नं दृश्यते तत्सर्वमेव तवान्नमिति योजना। तदेव स्फुटयति—यत्किंचिदिति। पदार्थमुक्त्वा वाक्यार्थं कथयति—सर्वमिति।

अह वसिष्ठास्मि" अर्थात् मेरा जो वसिष्ठत्व है, वह तुम्हारा ही है अर्थात् उस वसिष्ठ गुण से तुम्ही वसिष्ठ हो।' 'यद्वा अह प्रतिष्ठास्मि 'त्व तत्प्रतिष्ठोऽसि" अर्थात् जो मेरी प्रतिष्ठा है वह तुम ही हो। चक्षु बोला—इस प्रकार प्रत्येक के साथ सबन्ध समझना चाहिये। अन्य व्याख्या समान ही है। वागादि-प्राणो ने अपने सपद् आयतन और प्रजातित्व गुणो का क्रमश प्राणको अर्पित कर दिया। (प्राण बोला—)यदि यही ठीक है, तो बलि देते हुए आप मुझे बतलाइये कि मुझ (बुभुक्षु और नग्न) इस प्रकार गुणविशिष्ट का क्या अन्न है और क्या वस्त्र है। वागादि कहने लगे—लोक मे कुत्ते, कृमि और कीटपतङ्गादि से लेकर जितना भी अन्न है अर्थात् कुत्ते, कृमि अथवा कीटपतङ्गो का अन्न है, उसके सहित मनुष्यो द्वारा खाया जाने वाला जितना अन्न है, वह सभी तुम्हारा अन्न है। यहाँ 'यह सब प्राण का ही अन्न है' इस प्रकार की निष्ठा का सम्पादन किया जाता है।

१ भवन्त इति दान्तम्। २ ब्रूत यूयमित्यध्याहार। ३ बुभुक्षो। ४ नग्नस्येति शेषः। ५ इति प्राणवच श्रुत्वा। ६ इतरे वागादय। ७ तत्सर्वं तवान्नमिति—अत्र वार्तिके—"अन्न तद्भवत सर्वं वय त्वच्छेषभोगिन। जीव प्राणोऽन्नमत्तारी भोक्तेन्द्रियमन पर" ॥ ३१ ॥ इति। 'आत्मेन्द्रियमनोयुक्तं भोक्तेत्याहु'रिति श्रुति सूचयति—इन्द्रियमन पर इति।

मे किमन्नं किं वास इति यदिदं किंचाऽऽश्वभ्य आ
कृमिभ्य आ कीटपतङ्गेभ्यस्तत्तेऽन्नमापो वास इति न
ह वा अस्यानन्नं जग्धं भवति नानन्नं प्रतिगृहीतं य

क्या है, वस्त्र क्या है ? वागादि ने कहा—लोक मे कुत्ते, कृमि और कीट पतङ्गादि से लेकर यह जो कुछ भी है, वही सब तेरा अन्न है और जल ही तेरा वस्त्र है। इस प्रकार जो प्राण के अन्न को जानता है, उसके द्वारा अभक्ष्य का भक्षण नही होता और न अभक्ष्य का प्रतिग्रह ही होता है। ऐसा

केचित्तु सर्वभक्षणे दोषाभावं वदन्ति 'प्राणान्नविदः । तदसत् । शास्त्रान्तरेण प्रतिषिद्धत्वात् । तेनास्य विकल्प इति चेत् । न । अविधायकत्वात् । न ह वा 'अस्यानन्नं जग्धं भवतीति' सर्वं प्राणस्यान्नमित्येतस्य विज्ञानस्य विहितस्य स्तुत्यर्थमेतत् । तेनैक-

---

अस्मिन्नेव वाक्ये पक्षान्तरमुत्थापयति—केचित्त्विति । न ह वा अस्येत्यादिवाक्यदर्शनादित्यर्थः । तद्दूषयति—तदसदिति । शास्त्रान्तरेण क्रिमयो भवन्त्यभक्ष्यभक्षिण इत्यादिनेत्यर्थः । प्राणविदतिरिक्तविषयं शास्त्रान्तरं सर्वभक्षणं तु प्राणदर्शिनो विवक्षितमतो व्यवस्थितविषयत्वात्प्रतिषेधेन सर्वभक्षणस्योदितानुदितहोमवद्विकल्पः स्यादिति शङ्कते—तेनेति । किं तर्हि सर्वान्नभक्षणं विहितं न वा । न चेन्न तस्य निषिद्धस्यानुष्ठानं प्राणविदि तत्प्रापकाभावाद्विहितं चेत्किं यदिदमित्यादिना न हेत्यादिना वा विहितं नाऽऽद्य इत्याह—नाविधायकत्वादिति । यदिदमित्यादिना हि सर्वं प्राणस्यान्नमिति ज्ञानमेव विधीयते न तु प्राणान्नविद सर्वान्नभक्षणं तदवद्योतिपदाभावान्न विकल्पोपपत्तिरित्यर्थः । द्वितीयं दूषयति—न ह वा इति । अस्येति विद्वत्परामर्शान्निपातयोरर्थवादत्वावद्योतिनोर्दर्शनादेकवाक्यत्वसंभवे वाक्यभेदस्यान्याय्यत्वाच्चेति हेतुमाह—तेनेति । अर्थवादस्यापि स्वार्थे प्रामाण्यं "देवताधिकरण

'सभी प्राण का अन्न है' इस प्रकार जानने वाले के लिए सर्वभक्षण मे कोई दोष नही हैं—ऐसा कुछ विचारक कहते हैं। वह मिथ्या है। (मरकर अभक्ष्यभक्षी कृमि होते हैं) अन्य शास्त्र इसका निषेध करते है। प्रतिषेध के साथ सर्वभक्षण का विकल्प है, ऐसा मानना भी ठीक नही क्योंकि यह विधिवाक्य नही हैं। 'इस प्राणोपासक के द्वारा अभक्ष्यभक्षण नही किया जा सकता, यह अग्रिम ग्रन्थ

---

१ सर्वं प्राणस्यान्नमितिविद । २ तेनास्य—प्रतिषेधेन सह सर्वभक्षणस्येत्यर्थ । ३ न हेत्यादि—प्राणविदोऽभक्ष्य नैव भक्षित भवतीत्यर्थः । ४ इत्यतद्वाक्यमित्यर्थ । ५ तेन—सर्वमन्न प्राणस्येति विज्ञानविधायकेन यदिद किंचेत्यादिवाक्येन । ६ क्रिमय इति—क्रिमि शब्द कृमिपर्याय । तथा च मेदिनी 'क्रिमिर्नाक्रिमिवत्कीटे लाक्षायां कृमिलेस्वरे इति"। ७ तर्हि—विकल्पस्याभ्युपगमेऽपीत्यर्थ । ८ अनुष्ठान प्राणविदि न प्राप्नोतीत्यन्वय । ९ निपातयो—ह वा इत्यनयो । १०. देवतेति—संवादविसंवादाभावे सति यत्र मन्त्रादौ विग्रहादिरूपोऽर्थं सिध्यति स देवताधिकरणन्याय यथा "वज्रहस्त पुरंदर" इत्यत्र तात्पर्याविषयभूतमपि विग्रह वज्रहस्तत्वादिसिध्यति तात्पर्यविषयस्तु यज्ञप्राशस्त्यमेव तथा 'न ह वा" इति वाक्यतात्पर्यस्य सर्वमन्नं प्राणस्येति विहितविज्ञानप्राशस्त्यविषयत्वेऽपि तदविषयोऽपि सर्वान्नभक्षणम् प्राणविद. सिध्यतीति ।

एवमेतदनस्यान्नं वेद [1] तद्विद्वाꣳसः श्रोत्रिया अशिष्यन्त आचामन्त्यशित्वाऽऽचामन्त्येतमेव [2] तदनमनग्नं कुर्वन्तो मन्यन्ते ॥ १४ ॥

इति बृहदारण्यकोपनिषदि षष्ठाध्यायस्य प्रथमं ब्राह्मणम् ॥ १ ॥

जानने वाले श्रोत्रिय विद्वान् भोजन से पूर्व आचमन करते हैं और भोजन के पश्चात् भी। उसी को वे उस प्राण को अनग्न करना अर्थात् वस्त्र पहराना मानते हैं ॥ १४ ॥

॥ इति प्रथम ब्राह्मणम् ॥

वाक्यतापत्तेः [3]। न तु शास्त्रान्तरविहितस्य बाधने सामर्थ्यमन्यपरत्वादस्य [4]। प्राणमात्रस्य सर्वमन्नमित्येतद्दर्शनमिह [5] विधित्सितं न तु सर्वं भक्षयेदिति।

यत्तु सर्वभक्षणे दोषाभावज्ञानं तन्मिथ्यैव प्रमाणाभावात्। विदुषः प्राणत्वात्सर्वा- [7] न्नोपपत्तेः [8] सामर्थ्यादिदोष एवेति चेत्। न। अशेषान्नत्वानुपपत्तेः। सत्यं यद्यपि विद्वा-

---

न्प्रायेण भविष्यतीत्याशङ्क्य न कलञ्जं भक्षयेदित्यादिविहितस्य भक्षणाभावस्य बाधने न हेत्यादेर्न सामर्थ्यं दृष्टिपरत्वादस्य मानान्तरविरोधे स्वार्थे मानत्वायोगादित्याह—न त्विति। न हेत्यादेरन्यपरत्वं प्रपञ्चयति—प्राणमात्रस्येति।

"तत्र दोषाभावज्ञापना"स्तैव विधित्सितमित्याशङ्क्याऽऽह—यत्त्विति। अर्थवादस्य मानान्तरविरोधे स्वार्थे मानत्वायोगस्योक्तत्वादिति भावः। प्रमाणाभावस्यासिद्धिमाशङ्कते—विदुष इति। सामर्थ्यात्प्राणस्वरूप"बलादिति यावत्। अदोषः सर्वान्नभक्षणे तस्येति शेषः। अर्थापत्तिं दूषयति—नेत्यादिना। अनुपपत्तिमेव विवृणोति—सत्यमिति। येनेत्यस्मात्प्रावतयाऽपीति वक्तव्य यद्यपीत्युपक्रमात्। "प्राणस्वरूप-

---

'सब-प्राण का ही अन्न है' इस प्रकार विधान की गई उपासना की स्तुति के लिए है क्योंकि उसके इसकी एकवाक्यता की उपपत्ति है। उक्त श्रुतिवाक्य के अन्यपरक होने से शास्त्रान्तर द्वारा अर्थ का बाध करने की इसमें सामर्थ्य नहीं है। 'प्राण मात्र का यह सब अन्न है, इस दृष्टि का विधान करना यहाँ इष्ट है। यह बतलाना प्रयोजन नहीं है कि सर्वभक्षी हो जाय।

जो विचारक ऐसा कहते हैं कि सर्वभक्षी के दोषभाव का ज्ञान होता है; उनका विचार

---

१. तद्विद्वांस इति—यस्मात्प्राणस्यापो वासस्तत् तस्मादित्यर्थं। २. तदनमिति—तत् तेन उभयतोऽपां भक्षणेन। अन प्राणम्। अनग्नम् आच्छादितमित्यर्थः। ३. उपपत्ते.। ४ अस्य न ह वा इत्यादिवाक्यस्य। ५. इह—',न वा'' इति वाक्यस्य। ६. विधित्सितम्—एतद्दर्शनप्राशस्त्यं विवक्षितमित्यर्थ.। ७. सर्वेति—सर्वान्नत्वसमर्थादित्यर्थः। ८. एवमपि कथं सर्वभक्षणे दोषाभावाज्ञानस्य प्रमात्वमित्याशङ्क्योक्तरेव स्पष्टयति—सामर्थ्यादिति। ९ यथोक्तविहितविज्ञानप्राशस्त्येतात्पर्यात्। १०. सर्वभक्षणे। ११. सर्वभक्षणमेव। १२. विदुषः प्राणस्वरूपत्वान्यथाऽनुपपत्तेरित्यर्थ.। १३. विदुष।

प्राणो येन कार्यकरणसंघातेन विशिष्टस्य विद्वत्ता तेन कार्यकरणसंघातेन कृमिकीटदेवाद्यशेषान्नभक्षणं नोपपद्यते । तेन तत्राशेषान्नभक्षणे दोषाभावज्ञापनमनर्थकम् । अप्राप्तत्वादशेषान्नभक्षणदोषस्य । ननु प्राणः सन्भक्षयत्येव कृमिकीटाद्यन्नमपि । बाढम् । किन्तु न तद्विषयः प्रतिषेधोऽस्ति । तस्माद्देवरक्तं किंशुकं तत्र दोषाभावः । अतस्तद्रूपेणाशेषान्नभक्षणे दोषाभावज्ञापनमनर्थकम् । अप्राप्तत्वादशेषान्नभक्षणदोषस्य । येन तु कार्यकरणसङ्घातसंबन्धेन प्रतिषेधः क्रियते तत्संबन्धेन त्विह नैव प्रतिप्रसवोऽस्ति । तस्मा-

सामर्थ्यादनुपपत्तिरपि शाम्यतीति शङ्कते—नन्विति । किं फलात्मना विदुषः सर्वान्नभक्षणं साध्यते किं वा साधकस्वरूपेणेति विकल्प्याऽऽद्यमङ्गी करोति—बाढमिति । प्राणरूपेण सर्वभक्षणं तच्छब्दार्थः । तत्र प्रतिषेधाभावे सदृष्टान्तं फलितमाह—तस्मादिति । तथा स्वाभाविकं प्राणस्य सर्वभक्षणं तत्र चाप्रतिषेधाद्दोषराहित्यमिति शेषः । तद्राहित्ये किं स्यादिति चेत्तत्राह—अत इति । पक्षमर्थमेव स्फोरयति—अप्राप्तत्वादिति । प्राणविदः साधकस्याकारेण साध्यते सर्वान्नभक्षणमिति पक्षं प्रत्याह—येन त्विति । इहेति प्राणविदुच्यते । निमित्तान्तरावरुन्धप्राप्तविषयो विधिः प्रतिप्रसवो यथा ज्वरितस्याशनप्रतिषेधेऽप्यौषधं पिबेदिति तथा शास्त्राधिकारिणः सर्वाभक्ष्यभक्षणनिषेधेऽपि प्राणविदो विशेषविधिर्नोपलभ्यते तथा च तस्य भक्षणं न साध्यमित्यर्थः । प्रतिप्रसवाभावे लब्धं दर्शयति—तस्मा-

अप्रामाणिक होने से मिथ्या है । यदि कहो कि प्राणरूप होने से प्राणोपासक विद्वान् का सभी अन्न सम्भव है, ऐसी प्रमा के सामर्थ्य से सर्वभक्षण में कोई दोष नहीं होता—तो ऐसा कहना ठीक नहीं क्योंकि सब कुछ ही उसका अन्न हो जाना सिद्ध नहीं होता । यद्यपि यह मानना उचित है कि प्राणोपासक विद्वान् प्राण ही है, तो भी जिस देहेन्द्रियसंघात से विशिष्ट पुरुष की विद्वत्ता स्वीकार की जाती है, इस देहेन्द्रियसंघात द्वारा कृमि, कीट और देवादि (के लिए विभक्त) इन सभी के अन्नों को भक्षण करना उससे सम्भव नहीं है । इसलिए यथोक्त संघात में सर्वविध अन्न भक्षण करना कोई दोष नहीं है—ऐसा समझना मिथ्या है क्योंकि उसके प्रति सर्वान्नभक्षणरूप दोष तो प्राप्त ही नहीं होता । किन्तु प्राण रूप से वह विद्वान् कृमि-कीटादि के अन्न को भी भक्षण करता ही है । ठीक है किन्तु उस प्राण के विषय में तो ('अभक्ष्यभक्षी कृमि होते हैं'—इस प्रकार) निषेध नहीं है । इसलिये यदि पलाश-पुष्प स्वभाव से ही लाल है तो इसमें कोई दोष नहीं है । अतः प्राण रूप से दोषाभाव बतलाना निरर्थक है क्योंकि उसमें तो सर्वान्नभक्षण रूप दोष की प्राप्ति ही नहीं हो सकती । जिस देहेन्द्रिय के संघात से प्रतिषेध किया जाता है, उसका सम्बन्ध रहने के कारण यहाँ उस प्रतिषेध का प्रतिप्रसव हो ही नहीं सकता । इसलिए उस अभक्ष्यभक्षण का अतिक्रम करने में दोष ही होगा । क्योंकि 'न ह वा'

१ यथोक्तसङ्घाते । २ विद्वान् । ३ प्रतिषेध इति—कृमयो भवन्त्यभक्ष्यभक्षिण इत्ययं स्मार्तः प्रतिषेध इत्यर्थः । ४ तस्मात्—प्राणरूपेण सर्वभक्षणे प्रतिषेधाभावात् । ५ देवेति—यथा प्रकृत्यैव रक्तं यद् किंशुकं पलाशपुष्पम् । ६ तत्र रक्तत्वाख्यो दोषो न भवतीत्यर्थः । ७ प्राणरूपेण । ८ कृम्याद्यशेषान्न भक्षणानुपपत्ति । ९ प्राणरूपेण । १० स्वाभाविकम् । ११ प्राणकर्तृकसर्वभक्षणे । १२ प्रतादि निमित्तादन्यनिमित्तं निमित्तान्तरं ज्वरस्तस्मात् । १३ तथा च—प्रतिप्रसवानुपलब्धौ च । १४ तस्य —प्राणविदः सर्वभक्षणमित्यर्थः ।

[1]तत्प्रतिषेधातिक्रमे दोष एव स्यादन्यविषयत्वान्न ह वा इत्यादेः ।

न च ब्राह्मणादिशरीरस्य[2] सर्वान्नत्वदर्शनमिह विधीयते किंतु प्राणमात्रस्यैव । यथा च सामान्येन सर्वान्नस्य प्राणस्य[3] किंचिदन्नजातं [4]कस्यचिज्जीवनहेतुः । यथा विषं विषजस्य क्रिमेस्तदेवान्यस्य प्राणान्नमपि सद्दृष्टमेव दोषमुत्पादयति मरणादिलक्षणम् । तथा सर्वान्नस्यापि प्राणस्य प्रतिषिद्धान्नभक्षणे ब्राह्मणत्वादिदेहसंबन्धाद्दोष एव स्यात् । [5]तस्मान्मिथ्याज्ञानमेवाभक्ष्यभक्षणे दोषाभावज्ञानम् ।

आपो वास इत्यापो भक्ष्यमाणा [6]वासःस्थानीयास्तव । [7]अत्र च प्राणस्याऽऽपो वास

दिति । [8]अर्थवादस्य [9]तर्हि का गतिरित्याशङ्क्याऽऽह—अन्यविषयत्वादिति । तस्य स्तुतिमात्रार्थत्वान्न तद्बलान्निषेधातिक्रम इत्यर्थः ।

ननु "विशिष्टस्य प्राणस्य सर्वान्नत्वदर्शनमत्र" विधीयते तथा च विदुषोऽपि "तदात्मनः सर्वान्नभक्षणे न दोषो यथादर्शनं फलाभ्युपगमादत आह—न चेति । इतोऽपि सर्वं प्राणस्यान्नमित्येतद्वचनेन प्राणविद[1]: सर्वभक्षणं न विधेयमित्याह—यथा चेति । प्राणस्य यथोक्तस्य स्वीकारेऽपि कस्यचित्किंचिदन्नं जीवनहेतुरित्यत्र दृष्टान्तमाह—यथेति । तथा सर्वप्राणिषु व्यवस्थयाऽन्नसंबन्धे दार्ष्टान्तिकमाह—तथेति । प्राणविदोऽपि कार्यकरणवतो निषेधातिक्रमायोगे फलितमाह—तस्मादिति ।

वाक्यान्तरमादाय व्याकरोति—आप इति । "स्मार्तादाचमनादन्यदेव श्रौतमाचमनमन्यतोऽप्राप्तं विधेय तदर्थमिदं वाक्यमिति केचित्तान्प्रत्याह—अत्र चेति । वास कार्यं परिधानम् । तत्र साक्षा-

---

यह अग्रिम ग्रन्थ विषयान्तर के लिए है ।

इसके अतिरिक्त ब्राह्मणादि शरीर वाले विद्वान् को सर्वान्नत्वदृष्टि का विधान भी नही किया जाता किन्तु केवल प्राण की ही सर्वान्नत्व दृष्टि बतलायी गयी है । जिस प्रकार सामान्यत 'सर्वान्न प्राण का ही है' इस प्रकार स्वीकार करने पर भी कोई अन्न किसी प्राणी के जीवन का हेतु है । जिस प्रकार विष से उत्पन्न कीडे के लिए विष ही अन्न है किन्तु वही दूसरे के प्राणान्न होने पर भी उसकी तत्काल मृत्यु कर देता है । इसी प्रकार सर्वान्नभक्षी प्राण होने पर भी ब्राह्मणादि देह का सवन्ध होने के कारण अभक्ष्य अन्न भक्षण करने मे दोष ही होगा । इसलिए अभक्ष्यभक्षण मे दोषाभाव की प्रतीति होना मिथ्या प्रतीति ही है ।

'जल ही वस्त्र है' इस प्रकार भक्ष्यमाण जल मे प्राण की वस्त्र दृष्टि सम्पादित करनी चाहिये प्रकृत वाक्य मे प्राण का जल वस्त्र है—इस दृष्टि का विधान किया जाता है । वस्त्र के रूप मे जल

---

१ अभक्ष्यभक्षणेति यावत् । २ विदुष । ३. स्वीकारेऽपि । ४ प्राणिन । ५ अवतरणोक्तत्वात् । ६ भक्ष्यमाणास्वासु प्राणवासो दृष्टिर्विधेयेति भाव । ७ प्रकृतवाक्ये । ८ "न ह वा" इत्यादे । ९ प्रतिषेधोल्लङ्घने प्राणविदोऽपि दोषभावत्वे । का गतिरिति—वैयर्थ्यमिति भावः । १० वागाद्यपेक्षया श्रेष्ठस्य शरीरविशिष्टस्य । ११ यदिदमिति वाक्यस्य । १२ प्राणात्मन. । १३ "द्विजो नित्यमुपस्पृशेदि" त्यादिस्मृतिविहितात् ।

इत्येतद्दर्शनं विधीयते । न तु वास कार्यं आपो विनियोक्तुं शक्याः । तस्माद्यथाप्राप्तेऽभक्षणे दर्शनमात्रं कर्तव्यम् । न ह वा अस्य सर्वं प्राणस्यान्नमित्येवंविदोऽनन्नमनदनीयं जग्धं भुक्तं न भवति ह । यद्यप्यनेनानदनीयं भुक्तमदनीयमेव भुक्तं स्यान्न तु तत्कृतदोषेण लिप्यत इत्येतद्विद्यास्तुतिरित्यवोचाम । तथा नानन्नं प्रतिगृहीतं यद्यप्यप्रतिग्राह्यं हस्त्यादि प्रतिगृहीतं स्यात्तदप्यन्नमेव प्रतिग्राह्यं प्रतिगृहीतं स्यात्तत्राप्यप्रतिग्राह्यप्रतिग्रहदोषेण न लिप्यत इति स्तुत्यर्थमेव य एवमेतदनस्य प्राणस्यान्नं वेद । फलं तु प्राणात्मभाव एव न त्वेतत्फलभिप्रायेण किं तर्हि स्तुत्यभिप्रायेणेति । नन्वेतदेव फलं कस्मान्न भवति । न प्राणात्मदर्शिनः प्राणात्मभाव एव फलम् । तत्र च प्राणात्मभूतस्य सर्वात्मनोऽनदनीयमप्याद्यमेव । तथाऽप्रतिग्राह्यमपि प्रतिग्राह्यमेवेति यथाप्राप्तमेवोपादाय

वया विनियोगायोगे प्राप्तमर्थमाह—तस्मादिति । यदिदं किंचेत्यादावुक्तदृष्टिविधेरथवादमादाय व्याचष्टे—नेत्यादिना । पुनर्नञनुकर्षणमन्वयाय । पदार्थमुक्त्वा वाक्यार्थमाह—यद्यपीति । अभक्ष्यभक्षणं तर्हि स्वीकृतमिति चेन्नेत्याह—इत्येतदिति । यथा प्राणविदो नानन्नं भुक्तं भवति तथेत्येतत् । अनुमतस्तर्हि प्राणविदो दुष्प्रतिग्रहोऽपीत्याशङ्क्याऽऽह—तत्रापीति । असत्प्रतिग्रहे प्राप्तेऽपीत्यर्थः । किमित्ययं स्तुत्यर्थवादः फलवाद एव किं न स्यादित्याशङ्क्याऽऽह—फलं त्विति । इतिशब्दः सर्वं प्राणस्यान्नमितिदृष्टिविधेः सार्थवादस्योपसंहारार्थः । उक्तमेवार्थं चोद्यसमाधिभ्यां समर्थयते—नन्वित्यादिना । यथाप्राप्तं प्रकृतवाक्यवशात्प्रतीयमानं रूपमनतिक्रम्येति यावत् । वाक्यस्य विद्यास्तुतित्वे

का प्रयोग नहीं किया जा सकता । इसलिये यथाप्राप्त जल भक्षण में केवल दृष्टि मात्र की भावना करनी चाहिये । सब अन्न प्राण का ही है' इस प्रकार जानने वाले इस विद्वान् उपासक में अनन्नम्' अर्थात् अभक्षणीय अन्न 'जग्धम्' अर्थात् भक्षण नहीं किया जा सकता । और कदाचित् यदि यह कोई अभक्ष्य खा ले, तो भी यह भक्ष्य ही होगी उसमें होने वाले दोष से लिपायमान नहीं होता यह इस विद्या की स्तुति है— ऐसा हम पहले ही कह आये हैं । तथा इसके द्वारा अभक्ष्य अन्न का प्रतिग्रहण भी नहीं होता । यद्यपि यह हाथी आदि अप्रतिग्राह्य वस्तुओं को भी प्रतिग्रह में ले ले तो भी वह प्रतिग्राह्य अन्न का ही प्रतिग्रहण होगा वहाँ भी अप्रतिग्राह्य वस्तु को प्रतिग्रहण करने रूप दोष में यह लिप्त नहीं होता यह स्तुति के लिए ही है । जो इस प्रकार इस अनस्य अर्थात् प्राण को अन्न जानता है, उसे प्राणतादात्म्य भाव रूप फल ही मिलता है । यह कथन इस यथाश्रुत फलाभिप्राय से नहीं है । तो किसलिए है ? स्तुति के अभिप्राय से है । किन्तु यही इसका फल क्यों नहीं है ? नहीं क्योंकि प्राणात्मदर्शी का फल प्राणतादात्म्यभाव प्राप्ति ही है । ऐसा होने पर प्राणतादात्म्यभाव को प्राप्त हुए सर्वात्मा के लिए अभक्ष्य भी भक्ष्य ही है तथा अप्रतिग्राह्य भी प्रतिग्राह्य ही है—इस प्रकार यथा प्राप्त स्थिति को ग्रहण कर विद्या की स्तुति की जाती है । इसलिये वाक्य की फल विधि स्वरूपता

---

१ अवतरणोक्तत्वात् । २ कदाचिदभक्ष्यमपि । ३ एतदिति—यथाश्रुतफलाभिप्रायेण न न ह वा इत्यादिवाक्यमित्यर्थः । ४ तथा सति । ५ प्रतीयमानमर्थमिति यावत् ।

विद्या स्तूयते । अतो नैव फलविधिस्वरूपता वाक्यस्य ।

'यस्मादापो वासः प्राणस्य तस्माद्विद्वांसो ब्राह्मणाः श्रोत्रिया अधीतवेदा अशिष्यन्तो भोक्ष्यमाणा आचामन्त्यपोऽशित्वाऽऽचामन्ति भुक्त्वा चोत्तरकालमपो भक्षयन्ति । तत्र तेषामाचामतां कोऽभिप्राय इत्याह—एतमेवान प्राणमनग्नं कुर्वन्तो मन्यन्ते । अस्ति चैतद्यो यस्मै वासो ददाति स तमनग्नं करोमीति हि मन्यते । प्राणस्य चाऽऽपो वास इति ह्युक्तम् । यदपः पिबामि तत्प्राणस्य वासो ददामीति विज्ञानं कर्तव्यमित्येवमर्थमेतत् । ननु भोक्ष्यमाणो भुक्तवांश्च प्रयतो भविष्यामीत्याचामति । तत्र च प्राणस्यानग्नताकरणार्थत्वे च द्विकार्यताऽऽचमनस्य स्यात् । न च कार्यद्वयमाचमनस्यैकस्य युक्तम् । यदि

फलितमाह—अत इति ।

यदुक्तमापो वास इति तस्य शेषभूतमुत्तरग्रन्थमुत्थाप्य व्याचष्टे—यस्मादिति । तत्रेत्यशनात्प्रागूर्ध्वंकालोक्तिः । उक्तेऽभिप्राये लोकप्रसिद्धिमनुकूलयति—अस्ति चेति । तत्रैव वाक्योपक्रमस्याऽऽनुकूल्यं दर्शयति—प्राणस्येति । किमर्थमिदं सोपक्रमं वाक्यमित्यपेक्षायामत्र चेत्यादावुक्तं स्मारयति—यदप इति । इतिविधानमसहमान शङ्कते—नन्विति । अस्तु प्रायत्यार्थमाचमनं प्राणपरिधानार्थं चेत्याशङ्क्याऽऽह—तत्रेति । कुल्याप्रणयनन्यायेन द्विकार्यत्वाविरोधमाशङ्क्याऽऽह—न चेति । तत्र प्रत्यक्षत्वात्कार्यभेदस्याविरोधेऽपि प्रकृते प्रमाणाभावाद्द्विकार्यत्वानुपपत्तिरित्यभिप्रेत्योक्तमुपपादयति—यदीति । ननु स्मार्तमाचमनस्य प्रायत्यार्थत्वं तस्यैवानग्नतार्थत्वं प्रकृतवाक्यादवगतं तयाच कथं

नहीं है।

क्योंकि जल प्राण का वस्त्र है, इसलिए 'श्रोत्रियाः' अर्थात् वेदाध्ययन किये हुए, विद्वान् ब्राह्मण अशिष्यन्त अर्थात् भोजन करने से पूर्व आचामन्ति" अर्थात् जल का आचमन करते हैं, और 'अशित्वा आचामन्ति' अर्थात् भोजन करने के बाद भी जल से आचमन करते हैं। वहाँ जल से आचमन करने का उनका क्या अभिप्राय है ? इस पर श्रुति कहती है—इस प्रकार उभयविध जल का आचमन करते हुए एनम् अर्थात् प्राण को वस्त्र से आच्छादित करते हुए मानते हैं। ऐसा होता है कि जिसको वस्त्र देता है, वह उस में अनग्न करता हूँ ऐसा मानता है। जल प्राण का वस्त्र है—ऐसा कहा जा चुका है। जो जल पीता हूँ वह प्राण को वस्त्र देता हूँ- ऐसी दृष्टि रूप उपासना करनी चाहिये यही इसका तात्पर्य अर्थ है। इस पर शङ्का होती है कि भोजन करने वाला और कर चुकने वाला व्यक्ति केवल इसलिए आचमन करता है कि इससे मैं शुद्ध हो जाऊंगा। वहाँ यदि प्राण की नग्नता निवारण भी उद्देश्य रहे तो उस आचमन के दो कार्य होंगे। एक ही आचमन से दो कार्य

१ मूलस्थतत्पदं व्याचष्टे—यस्मादित्यादिना । २ प्रयतः शुद्ध इत्यर्थः । पवित्रः प्रयतः पूत इत्यमरः । ३ आचमनस्य प्रायत्यार्थत्वे निश्चिते सति । ४ स्यादिति—सा चाऽयुक्ताऽसति बाधके एकस्य कर्मणोऽनेकार्थत्वासिद्धेः एकस्य तस्य स्यादेकार्थत्वमित्युत्सर्गादिति भावः । ५ उक्ताभिप्राये एव । ६ १४५८पृष्ठभाष्ये । ७ कुल्येति—यथा कुल्याप्रणयनं सस्याभिषेकाय आचमनार्थाय च भवति तथाऽऽचमनमपि प्रायत्याय प्राणानग्नताय च भवतु को विरोध इत्यर्थः । ८ कुल्याप्रणयने । ९ एवमुभयार्थत्वे ।

प्रायत्यार्थं नानग्नतार्थमथानग्नतार्थं न प्रायत्यार्थम् । यस्मादेवं तस्माद्द्वितीयमाचमनान्तरं प्राणस्यानग्नताकरणाय भवतु । न, क्रियाद्वित्वोपपत्तेः । [1]द्वे ह्येते [2]क्रिये [3]भोक्ष्यमाणस्य भुक्तवतश्च यदाचमनं स्मृतिविहितं तत्प्रायत्यार्थं भवति क्रियामात्रमेव न तु [4]तत्र प्रायत्यं दर्शनाद्यपेक्षते । तत्र चाऽऽचमनाङ्गभूतास्वप्सु [5]वासोविज्ञानं [6]प्राणस्येतिकर्तव्यतया चोद्यते । न तु [7]तस्मिन्क्रियमाण आचमनस्य प्रायत्यार्थता बाध्यते [8]क्रियान्तरत्वादाचमनस्य । [9]तस्माद्भोक्ष्यमाणस्य भुक्तवतश्च यदाचमनं [10]तत्राऽऽपो वासः प्राणस्येति दर्शनमात्रं विधीयते ।

द्विकार्यत्वमप्रामाणिकमित्याशङ्क्य वाक्यस्य विषयान्तरं दर्शयति—यस्मादिति । द्विकार्यत्वदोषमुक्तं दूषयति—नेत्यादिना । तत्राऽऽचमनं दर्शननिरपेक्षमित्याह—क्रियामात्रमेवेति । नन्वाचमने[11] फलभूत प्रायत्यं दर्शनमापेक्षमिति चेन्नेत्याह—न त्विति । [12]क्रियाया एव तदाधानसामर्थ्यादित्यर्थः । तत्रेत्याचमने शुद्धयर्थे [13]क्रियान्तरे सतीत्यर्थः । प्राणविज्ञानप्रकरणे वासोविज्ञानं चोद्यते चेद्वाक्यभेदः स्यादित्याशङ्क्याऽऽह—प्राणस्येति । [14]सर्वान्नविज्ञानवदिति चकारार्थः । [15]आचमनीयास्वप्सु वासोविज्ञानं क्रियते चेत्कथमाचमनस्य प्रायत्यार्थत्वमित्याशङ्क्याऽऽह—न त्विति । [16]द्विकार्यत्वदोषाभावे फलितं दर्शनविधिमुपसंहरति—तस्मादिति । अप्राप्तत्वाद्वासोदृष्टेर्विधिव्यतिरेकेण प्राप्त्यभावाद्दृष्टेश्चात्र [17]प्रकृतत्वा[18]त्कार्या-

के निष्पन्न होने की सगति नही बैठनी । यदि आचमन का उद्देश्य शुद्धिकरण होगा तो अनग्नता नही होगा । यदि ऐसा है तो (स्मार्त आचमन से भिन्न) दूसरा आचमन प्राण की अनग्नता करने के लिए हो जायगा । (इस पर सिद्धान्ती कहता है—) ऐसा कहना ठीक नही है क्योंकि दो क्रियाओ का एक साथ होना सभव है । ये दोनो क्रियाएँ होती है, भोजन करने वाले एव भोजन कर चुकने वाले का जो यह स्मृतिविहित आचमन होता है, वह केवल शुद्धि के लिए होता है, वह क्रिया मात्र ही है क्योकि आचमन मे शुद्धि को किसी दृष्टि आदि की अपेक्षा नही है । वहां आचमन मे अङ्गभूत जल मे प्राणविज्ञान के वस्त्रविज्ञान का इतिकर्तव्यता रूप से विधान किया जाता है । उसकी भावना से आचमन की शुद्धपर्यता का बाध होता हो—ऐसी बात नही है क्योकि आचमन तो (दर्शन से) क्रियान्तर है । इसलिये भोजन करने वाले और कर चुकने वाले का जो आचमन है, उसमे 'जल प्राण का

[1] स्मार्ताचमनतो भिन्नम् । [2] सग्रहवाक्यं विवृणोति—द्वे हीति । [3] आचमनाख्या प्रथमा क्रिया आचमनाङ्गभूतास्वप्सु वासोदर्शनाख्या चापरा । एतदेवोपपादयति—भोक्ष्यमाणस्येत्यादिना । [4] आचमने । [5] द्वितीया क्रिया । [6] प्राणविज्ञानस्य । [7] आचमनाङ्गभूतवासोदर्शने । [8] क्रियेति—तथा च नोक्तोत्सर्गविरोध इति ध्येयम् । [9] दर्शनत । [10] अवतरणोक्तत्वात् । [11] आचमने अङ्गभूता । [12] आचमने दर्शनसापेक्षमिति सबन्ध । [13] आचमनक्रियाया एव प्रायत्याधानसामर्थ्यात् । [14] वासोविज्ञानक्रियास । [15] सर्वान्नेति—तद्वदेव स्वातन्त्र्येण चोदनाभावाच्च वाक्यभेद इति भाव । [16] शुद्धयर्थं विनियुक्तस्यैवाचमनस्य प्राणपरिधानार्थत्वे विनियुक्तविनियोगविरोध स्यादित्याशयेन शङ्कते—आचमनीयास्विति । [17] क्रियाद्वित्वम् । [18] अ सू ३ ३ १८ । [19] कार्येति—प्राणं प्रति वासस्त्वध्यानमेवापूर्वमप्राप्त प्राणविद्याङ्गत्वेन विधेयं यथा सर्वान्नध्यानं न त्वाचमनमत्र विधेयम् । कुत, आर्थस्थानाद् स्मृत्या सर्वानुष्ठानेषु शुद्धयर्थं कार्यस्याचमनस्य प्राणविद्यायामपि प्राप्तस्य वासस्त्वविधानार्थमनुवादादिति संक्षेपत सूत्रार्थः ।

प्रप्राप्तत्वादन्यतः ॥ १४ ॥

इति श्रीमद्बृहदारण्यकोपनिषद्भाष्ये षष्ठाध्यायस्य प्रथमं ब्राह्मणम् ॥ १ ॥

(अथ षष्ठाध्यायस्य द्वितीयं ब्राह्मणम् ।)

श्वेतकेतुर्ह वा आरुणेय इत्यस्य संबन्धः[1] । खिलाधिकारोऽयं तत्र यदनुक्तं तदुच्यते[2] । सप्तमाध्यायान्ते[3] ज्ञानकर्मसमुच्चयकारिणाऽग्नेर्मार्गयाचनं कृतम्[4] । अग्ने नय सुपथेति । तत्रानेकेषां पथां सद्भावो मन्त्रेण सामर्थ्यात्प्रदर्शितः । सुपथेति विशेषणात् । पन्थानश्च कृतविपाकप्रतिपत्तिमार्गाः[5] । वक्ष्यति[6] च यत्कृत्वेत्यादि । तत्र च कति कर्मविपाकप्रति-

---

पत्त्यानावपूर्वमिति च स्यादित्यर्थः ॥ १४ ॥

इति बृहदारण्यकोपनिषद्भाष्यटीकायां षष्ठाध्यायस्य प्रथमं ब्राह्मणम् ॥ १ ॥

ब्राह्मणान्तरमादाय तस्य पूर्वेण संबन्धं प्रतिजानीते— श्वेतकेतुरिति । कोऽसौ संबन्धस्तमाह— खिलेति । तत्र कर्मकाण्डे ज्ञानकाण्डे वा यद्वस्तु प्राधान्येन नोक्तं तदस्मिन्काण्डे वक्तव्यमस्य "खिलाधिकारत्वा"त्तथा च पूर्वमनुक्तं वस्तुमिदं ब्राह्मणमित्यर्थः । वक्तव्यशेषं दर्शयितुं वृत्तं कीर्तयति— सप्तमेति । समुच्चयकारिणो मुमूर्षोरग्निप्रार्थनेऽपि "किं स्यादित्याशङ्क्याऽऽह— तत्रेति । "अध्यायावसानं सप्तम्यर्थः । सामर्थ्यमेव दर्शयति— सुपथेतीति । विशेषणवशादुभयो मार्गा भान्तु किं पुनस्तेषां स्वरूपं तदाह— पन्थानश्चेति । "तत्र वाक्यशेषमनुकूलयति— वक्ष्यति चेति । संप्रश्नाकाङ्क्षाद्वारा समनन्तर-

---

वस्त्र है' इस दृष्टिमात्र का विधान किया जाता है क्योंकि अन्य किसी भी प्रमाण से इसकी प्राप्ति नहीं होती ॥ १४ ॥

इस प्रकार वृहदारण्यकोपनिषत् में षष्ठाध्यायस्थ प्रथम ब्राह्मण के शाङ्करभाष्य का हिन्दी-भाषानुवाद सम्पन्न हुआ ॥ १ ॥

अरुण का पुत्र आरुणेय श्वेतकेतु था । इस उपनिषद्वाक्य की पूर्वसन्दर्भ से व्याख्या कही जाती है । यह खिलकाण्ड है, इसमें जो पहले नहीं कहा गया—उसे अब कहा जाता है । सप्तम अध्याय (उपनिषत् के पञ्चम अध्याय) के अन्त में ज्ञानकर्म समुच्चयकारी मुमूर्षु द्वारा 'अग्ने नय सुपथा' इस मन्त्र से अग्नि से देवयान मार्ग की याचना की गई है । वहाँ मन्त्र के सामर्थ्य से अनेक मार्गों का

---

१ संबन्ध इति— 'सङ्गतिः शेषशेषिस्वरूपा वोत्थापकोदिता । बाध्या पूर्वेण सदर्भेणास्य वै खिलभावतः ॥ प्रकारास्तत्र भिद्यन्ते न तु सङ्गतिता भिदा । ते च चत्वार एते स्युर्निगद्यन्ते यथाक्रमम् ॥ मार्गसख्या भवेदाद्यः प्रकारोऽथ द्वितीयकः । देवयानादिभेदेन विवेको वर्त्मसङ्गतः ॥ ज्ञानमेवामृतत्वस्य हेतुरित्यत्र हेतुगः । तृतीयः स तुरीयोऽयं वक्तुं पञ्चसमागमः ॥ तद्द्वारकश्च विद्यायामधिकारिप्रवर्तनम्' । इति संक्षेपतो ज्ञेयं तत्प्रकार-प्रदर्शनम् । २ उच्यत इति शेषः । ३ पञ्चमाध्यायान्ते । ४ मुमूर्षुणा । ५ अनुष्ठितकर्मफलप्राप्तिसाधन-स्वरूपा इत्यर्थः । ६ दक्षिणोदगयो मार्गा । ७ बृ उ ६ २ २ । ८ तत्र चेति— सुपथेति विशेषण-वशात्पथामनेकत्वे यथोक्तस्वरूपत्वे च सति पथामित्यर्थः । ९ प्रवर्ग्याख्याध्यायद्वयरूपे । मधुमुनिकाण्डयो । १० खिलेति— खिलकाण्डत्वादित्यर्थः । अनुक्तार्थवत्त्वे नारब्धत्वादिति यावत् । खिल. शेष । ११ अस्य खिलकाण्डत्वे सति । १२ सङ्गतो किमायातम् । १३ पञ्चमाध्यायेति यावत् । १४ मार्गेषु ।

पत्तिमार्गा 'इति सर्वसंसारगत्युपसंहारार्थोऽयमारम्भः। एतावती हि संसारगतिः। 'एतावान्कर्मणो विपाकः 'स्वाभाविकस्य शास्त्रीयस्य च सविज्ञानस्येति। यद्यपि 'द्वया ह प्राजापत्या इत्यत्र 'स्वाभाविकः पाप्मा सूचितः। न च तस्येदं कार्यमिति विपाकः प्रदर्शितः। 'शास्त्रीयस्यैव तु विपाकः प्रदर्शितस्त्र्यन्नात्मप्रतिपत्त्यन्तेन'। ब्रह्मविद्यारम्भे 'तद्वैराग्यस्य

ब्राह्मणतात्पर्यमाह—तत्रेति। उपसंह्रियमाणां संसारगतिमेव 'परिच्छिनत्ति—एतावती हीति। दक्षिणोदगयोगत्यात्मिकेति यावत्। "कर्मविपाकस्तर्हि कुत्रोपसंह्रियते तत्राऽऽह—एतावानिति। इतिशब्दो यथोक्तसंसारगत्यतिरिक्तकर्मविपाकाभावात्तदुपसंहारार्थं एवायमारम्भ इत्युपसंहारार्थः। यथोद्गीथाधिकारे सर्वोऽपि कर्मविपाकोऽनर्थं एवेत्युक्त्वा "त्परिशिष्टसंसारगत्यभावात्कथं "खिलकाण्डे तन्निर्देशसिद्धिरत आह—यद्यपीति। कस्तर्हि विपाकस्तत्रोक्तस्तत्राऽऽह—शास्त्रीयस्येति। "तत्र सुकृतविपाकस्यैवोपन्यासे हेतुमाह—ब्रह्मविद्येति। अनिष्टविपाकात्तु वैराग्यं "सुकृताभिमुख्यादेव सिद्धमिति न "तत्र तद्विवक्षा। इह पुनः शास्त्रसमाप्तौ खिलाधिकारे "तद्विपाकोऽप्युपसंह्रियत इति भावः। प्रकारान्तरेण संगतिं वक्तुमुक्तं स्मारयति—तत्रापीति। शास्त्रीयविपाकविषयेऽपीत्यर्थः। उत्तरग्रन्थस्य

अस्तित्व प्रदर्शित किया गया है। क्योंकि 'सुपथा' यह विशेषण लगाया गया है। "पथ" अनुष्ठित-कर्मफल प्राप्ति साधन स्वरूप मार्गों के नाम है। "जिसको अनुष्ठान कर देवयान पथ को प्राप्त करते है"—इस प्रकार श्रुति आगे कहेगी। मार्गों के अनेक होने के कारण वहाँ अनुष्ठित कर्मफल प्राप्तिसाधन स्वरूप मार्ग कौन से हैं, ऐसी आकांक्षा होने पर सम्पूर्ण संसार के मार्ग का उपसंहार करने के लिए इस ग्रन्थ का आरम्भ किया जाता है। बस इतनी ही संसार की गति है और इतना ही शास्त्रानाधेय और विज्ञानयुक्त शास्त्रीय कर्म (दक्षिणादि गत्यात्मक) परिणाम है। यद्यपि 'प्रजा-

१ आकांक्षायाम्। २ दक्षिणादिगत्यात्मक एव। ३ शास्त्रानाधेयस्य। ४ बृ० उ १।३।१। ५ शास्त्रानाधेय। ६ कर्मण। ७ प्रबन्धेन। ८ सुकृतविपाकेति भाव। ९ तस्या परिमाणं कथयति। १० अस्य ब्राह्मणस्य संसारगत्युपसंहारार्थत्व। ११ कर्मविपाकातिरिक्तसंसारगत्यभावात्। १२ खिलस्यानुक्तोक्तिरूपत्वात्। १३ उद्गीथाधिकारे। १४ सुकृताभिमुख्यादिति—गुह्यादिरञ्जनीयानामधिकारिणां सुकृतैकपरत्वादित्यर्थ। १५ उद्गीथाधिकारे विपाकस्य वैशिष्ट्यात्। १६ अनिष्ट विपाक।

ॐ मार्गा इत्यादि। अत्राहुर्वार्तिकाचार्यास्तथाहि — दक्षिणोदगयोर्मार्गा विहितप्रतिषिद्धयोः। विपाका कर्मणो वाच्यास्तद्वैराग्यप्रसिद्धये॥ आविरक्तस्य नि शेषसांसारिकपुमर्थतः। प्रवृत्तिर्मुक्तये तस्मान्न स्यात् यत्नात्तदुच्यते। यावन्नु वर्तित न कर्माणि सर्वकामसमापनम्। निषेद्धुं वाऽखिलानर्थांस्तत्फलस्यातिफल्गुत॥ न कर्म कारणं मुक्तेर्नाग्निर्दाहज्वरापनुत्। कर्मभ्यो जन्म नियतं जन्म चेन्निर्वृति कुत॥ न कर्मणा कनीयस्ता महत्त्वं चात्रात्मन। इति बाहुमिवोद्धृत्य वदान्तैर्घोषणा कृता॥ न तत्र दक्षिणा यन्ति विद्ययैव तदाप्यते। इति श्रीयाज्ञवल्क्येन मुक्तकण्ठमुदाहृतम्। अतो मुक्ति परीप्सद्भिस्तत्परत्वादिविरोधिनीम्। त्यक्त्वा कर्माण्यपि कार्त्स्न्यज्ञानं सर्वात्मनाऽऽश्रयत्॥ तमोऽन्तरायतो मुक्तेर्नान्तरायोऽपरोऽस्ति हि। तमोहतिर्न कर्मभ्यो ज्ञानात्सा ध्वस्तवत्" ॥ ५-१२॥ इति। के ते मार्गा यथा निरूपणमिष्यतस्त आह—दक्षिणेति। तयोः स्वरूपमाह—विहितेति। तदुक्तिफलमाह—वाच्या इति। तच्छब्दः कर्मफलार्थः॥ वैराग्योक्तिरकिंचित्करेति चेन्नेत्याह—नत्यादिना। संसारगतिभेदेषु दुःखबहुलेषूक्तेषु विवेकिनो वैराग्यसिद्धिस्तच्च मुमुक्षुत्वहेतुरतः श्रुत्या कर्म-

विवक्षितत्वात् । तथापि केवलेन कर्मणा पितृलोको विद्यया विद्यासंयुक्तेन च कर्मणा देवलोक इत्युक्तम् । तत्र केन मार्गेण पितृलोकं प्रतिपद्यते केन वा देवलोकमिति नोक्तम् । तच्चेह खिलप्रकरणेऽशेषतो वक्तव्यमित्यत आरभ्यते । अन्ते च सर्वोपसंहारः शास्त्रस्येष्टः ।

अपि चैतावदमृतत्वमित्युक्तं न कर्मणोऽमृतत्वाशाऽस्तीति च तत्र हेतुर्नोक्तस्तदर्थं च्चायमारम्भः । यस्मादियं कर्मणो गतिर्न नित्येऽमृतत्वे व्यापारोऽस्ति तस्मादेतावदेवामृत-

---

विषयपरिशेषार्थं पातनिकामाह—तथेति । लोकद्वयं सम्बन्ध्यं । प्रागनुक्तमपि देवयानाद्यत्र वक्तव्यमिति कुतो नियमसिद्धिस्तत्राऽऽह—तच्चेति । वक्तव्यशेषस्य सत्त्वे फलितमाह—इत्यत इति । यर्हि प्रागनुक्तं तद्देवयानादि वक्तव्यं प्रागेवोक्तं तु ब्रह्मलोकादि कस्मादुच्यते तत्राऽऽह—अन्ते चेति । शास्त्रस्यान्ते चेति सम्बन्धः ।

इतश्चेदं ब्राह्मणमर्थवत्त्वादारभ्यमित्याह—अपि चेति । एतावदित्यात्मज्ञानोक्तिः । अमृतत्वसाधनमिति यावत् । चकाराद्युक्तमित्यनुषङ्गः । ज्ञानमेवामृतत्वे हेतुरित्युक्तोऽर्थस्तत्रेति सम्बन्धः । तदर्थो हेतुत्वप्रदेशार्थं । कथं पुनर्वक्ष्यमाणा कर्मगतिर्ज्ञानमेवामृतत्वसाधनमित्यत्र हेतुत्वं प्रतिपद्यते तत्राऽऽह—यस्मादिति । व्यापारोऽपि कर्मण इति शेषः । सामर्थ्याज्ज्ञानातिरिक्तस्योपायस्य संसारहेतु-

---

पति की देव और असुर द्विविध सृष्टि हुई''— इत्यादि पूर्व प्रतिपादित प्रसङ्ग मे शास्त्रानात्रेय पाप को सूचित किया गया है। किन्तु वहाँ यह 'यह उसका कार्य है' इस प्रकार (अनुष्ठित कर्म का) फल प्रदर्शित नही किया गया। 'व्यप्रात्मक प्राप्ति तक के' मन्त्र द्वारा केवल शास्त्रीय कर्म का ही फल दिखलाया गया है क्योकि ब्रह्मविद्या के प्रारम्भ मे उससे वैराग्य बतलाना अभीष्ट है। वहाँ भी केवल कर्म से पितृलोक और उपासना तथा उपासना सहित कर्म से देवलोक मिलता है—ऐसा कहा जा चुका है। पर किस मार्ग से पितृलोक की प्राप्ति होती है और किस मार्ग से देवलोक की प्राप्ति होती है, यह नही बतलाया गया। उस (पूर्व अनुक्त देवयानादि) को यहाँ खिलकाण्ड मे पूर्णतया बतलाना है, इसलिए ग्रन्थ का

---

१ प्रागनुक्तदेवयानादिवर्त्म । २ अवतरणोक्तत्वात् । ३ बृ उ ४ ५ १५ । ४ बृ उ ४ ५ ३ । ५ बृ उ २ ४ ३ । ६ वक्ष्यमाणं कर्मफलम् । ७ आत्मज्ञानादेव । ८ विभागार्थम् । ९ भाविप्राप्य पितृयाणम् । १० वक्तव्यशेषसत्त्वे । ११ अत्र । १२ अमृतत्वसाधनम् । १३ वचनार्थं । १४. कर्मफलम् ।

विवेकाद्वैराग्यं विवक्षितमित्यर्थः ॥ कर्मवशादेवानेकपुरुषार्थसम्भवाच्च तद्विषयं वैराग्यं युक्तमित्याशङ्क्याऽऽह—शक्नुवन्तीति ॥ तथा भुक्तिफलत्वाद्देवसिद्धिरित्याशङ्क्याऽऽह—नेति । तदेव साधयति—कर्मभ्य इति । आत्मरूपे मोक्षे कर्माफलमित्यत्र प्रमाणमाह—न कर्मणेति ॥ तत्रैव स्मृतिमुदाहरति—न तत्रेति ॥ मोक्षस्याकर्मायत्तत्वे फलितमाह—अत इति । त्याज्यानि कर्माणीति शेषः । तदनन्तरकार्यमर्थमाह—त्यक्त्वेति । अवधारणार्थद्योतकोऽपिशब्दः । सर्वात्मनेत्यन्तर्बहिर्व्यापारान्तराभावं द्योतयति । 'ब्रह्मसंस्थोऽमृतत्वमेती'ति हि श्रुतिः ॥ मोक्षे कर्मानुपयोगेऽपि तदवबोधकं तदुपयुक्तमित्याशङ्क्याऽऽह—तमोऽन्तरायत इति । अन्तरायान्तरस्याप्रमाणत्वद्योतको हिशब्दः । कर्मणामव्यञ्जकत्वात्तमस्तमोहतेरयोगाज्ज्ञानस्य व्यञ्जकत्वात्तस्मात्तत्सिद्धिर्व्यवधानान्तरं त्वप्रामाणिकमित्यर्थः । सुपथेति विशेषणप्राप्तब्रह्मार्थनिरूपणाय ब्राह्मणमित्यर्थः संबन्धः । ज्ञानस्यैव मुक्तिहेतुता कर्मणां न चफलत्वेन तज्ज्ञानान्वयादिति वक्तुं तदित्यपरः ॥

त्वसाधनमिति सामर्थ्याद्धेतुत्वं संपद्यते। अपि चोक्तमग्निहोत्रे न त्वेवैतयोस्त्वमुत्क्रान्ति न गतिं न प्रतिष्ठां न तृप्तिं न पुनरावृत्तिं न लोकं प्रत्युत्थायिनं वेत्थेति। तत्र प्रतिवचने ते वा एते आहुती हुते उत्क्रामत इत्यादिना आहुतेः कार्यमुक्तम्। तच्चैतत्कर्त्राहुतिलक्षणस्य कर्मणः फलम्। न हि कर्तारमनाश्रित्याऽऽहुतिलक्षणस्य कर्मणः स्वातन्त्र्येणो-

स्वनियमादित्यर्थः। प्रकारान्तरेण ब्राह्मणतात्पर्यं वक्तुमग्निहोत्रविषये जनकयाज्ञवल्क्यसंवादसिद्धमर्थमनुवदति—अपि चेत्यादिना। एतयोरग्निहोत्राहुत्योः सायं प्रातश्चानुष्ठितयोरिति यावत्। लोकं प्रत्युत्थायिनं यजमानं परिवेष्ट्य मं लोकं प्रत्यावृत्तयोस्तयोरनुष्ठानोपचितयोः परलोकं प्रति स्वाश्रयोत्थानहेतुं परिणाममित्येतदिति प्रश्नषट्कमग्निहोत्रविषये जनकेन याज्ञवल्क्यं प्रत्युक्तमिति संबन्धः। तत्रेत्याक्षेपगर्भप्रश्नषट्कोक्तिः। ननु फलवतोऽश्रवणात्कस्येदमाहुतिफलं न हि तत्स्वातन्त्र्यं संभवति तत्राऽऽह—तच्चेति। कर्तृवाचिपदाभावादाहुत्यपूर्वस्यैवोत्क्रान्त्यादिकार्यारम्भकत्वात्तत्र कर्तृगामिकं फलमुक्तमित्याशङ्क्याऽऽह—न हीति। किंच कारकाश्रयत्वात्कर्मणो युक्तं तत्फलस्य कर्तृगामित्व-

आरम्भ किया जाता है। शास्त्र के अन्त में ही सब का उपसंहार करना इष्ट है।

इसके अतिरिक्त 'हे मैत्रेयी! इतना ही अमृतत्व है' यह भी कहा गया है। तथा यह भी श्रुति कहती है—"कर्मों के अनुष्ठान करते रहने में अमृतत्व की आशा नहीं है"। वहाँ इसका हेतु प्रतिपादन नहीं किया गया था, इसलिये यह ग्रन्थ आरम्भ किया जाता है। क्योंकि वक्ष्यमाण कर्मफल कर्म की गति है, नित्य, अमृतत्व में कोई व्यापार नहीं है, इसलिए 'यही आत्मज्ञान ही अमृतत्व का साधन है'—इस वचन के सामर्थ्य से यह उसका हेतु हो जाता है। इसके अतिरिक्त अग्निहोत्र प्रकरण में कहा है—'तू सायं-प्रातः अनुष्ठित इन अग्निहोत्र आहुतियों की न उत्क्रान्ति को जानता है, न गति को, न प्रतिष्ठा को, न तृप्ति को, न पुनरावृत्ति को, न लोक के प्रत्युत्थान करने वाले यजमान को ही जानता है"। वह इसके उत्तर में कहा गया है—'वे ये दोनों आहुतियाँ हवन की जाने पर उत्क्रमण करती हैं' इत्यादि आहुति का कार्य कहा गया है। यह भी कर्ता के आहुति रूप कर्म का फल है क्योंकि कर्ता का बिना आश्रय लिये आहुति रूप कर्म (उससे होने वाले अपूर्व) का स्वतन्त्रता से उत्क्रान्ति आदि कार्य आरम्भ करना संभव नहीं है। कर्म का कार्यारम्भ कर्ता के लिये होता है और

१ इत्यत्र कर्मगतिर्हेतुत्वं प्राप्नोतीत्यर्थः। २ न त्वेवैतयोरित्यादि—मा० १० ५। ४। १ इत्यत्र माध्यन्दिनीयो स्पष्टमेतत्। ३ तत्रेति—राजपृष्टार्थानां ज्ञानाभावाद्याज्ञवल्क्येन पुनस्तेष्वेव प्रश्नेषु जिज्ञासूभूय मुक्ताक्षेप पृष्टेषु सत्स्वित्यर्थः। ४ प्रतिवचने—जनककर्तृके इति शेषः। स्पष्टमेतन्माध्यन्दिनीयशतपथब्रा० ११ काण्डे ५ आ ५८२ इति पृष्ठे। ५ नायम्—तज्जन्यापूर्वद्वारकं फलं षड्विधं जगदित्यर्थः। ६ तज्जन्यापूर्वस्य। ७ प्राप्येत्य। ८ भूलोकम्। ९ अनुष्ठानतापूर्वात्मकपरिणतियोग्यतां गमितयोः। १० स्वाश्रयेति—आहुत्याश्रययजमानस्य परलोकगमनाभिमुख्यहेतुभूतमपूर्वमित्यर्थः। ११ प्रश्नषट्कमित्यादि—अग्निहोत्रविषयं प्रष्टव्यषट्कं जनकेन साक्षेपं पुरस्ताद्याज्ञवल्क्यं प्रति पृष्टमित्यर्थः। १२ आक्षेपो यतो यस्मात्प्रश्नषट्कात्तस्याक्षेपरहितस्य प्रश्नषट्कस्योक्तिरित्यर्थः। १३ फलस्वामिनः। १४ फलम्। १५ निरपेक्षमित्यर्थः। १६ अग्निहोत्रप्रकरणे।

श्वेतकेतुर्ह वा आरुणेयः पञ्चालानां परिषदमाजगाम स आजगाम जैवलिं प्रवाहणं परिचारयमाणं तमुदी-

प्रसिद्ध आरुणि का पुत्र श्वेतकेतु एक बार पाञ्चालो की सभा में आया। वह जीवल के पुत्र प्रवाहण नामक पाञ्चालराज के पास पहुँचा। उस समय वह राजा सेवको से सेवा करा रहा था (राजा ने उसके विद्याभिमान और गर्व के विषय मे पहले से ही सुन रक्खा था। अत विनीत बनाने के लिये)

रक्वात्यादिवर्यारम्भ उपपद्यते। कर्त्रर्थत्वात्कर्मण' 'कार्यारम्भस्य। साधनाश्रयत्वाच्च कर्मण। तत्राग्निहोत्रस्तुत्यर्थत्वादग्निहोत्रस्यैव कार्यमित्युक्त षट्प्रकारमपि। 'इह तु तदेव कर्तु फलमित्युपदिश्यते षट्प्रकारमपि कर्मफलविज्ञानस्य 'विवक्षितत्वात्। 'तद्द्वारेण च पञ्चाग्निदर्शनमिहोत्तरमार्गप्रतिपत्तिसाधन विधित्सितम्। एवमशेषससारगत्युपसहारः। कर्मकाण्डस्यैषा' निष्ठेत्येतद्द्वय दिदर्शयिषुराख्यायिका प्रणयति।

मित्याह—साधनेति। 'स्वातन्त्र्यासभवादाहुत्यो सकर्तृकयोरेव गत्यादि विवक्षित चेत्तर्हि कथ 'तत्र केवलाहुत्योर्गत्यादि गम्यते तत्राऽऽह—तत्रेति। अग्निहोत्रप्रकरणे समन्वयः। अग्निहोत्रस्तु त्ययस्वाद्प्रश्नप्रतिवचनरूपस्य सदर्भस्येति शेष। भवत्वेवमग्निहोत्रप्रकरणस्थिति 'प्रकृते तु किमायात तत्राऽऽह—इह त्विति। किमिति विद्याप्रकरणे कर्मफलविज्ञान विवक्ष्यते तत्राऽऽह—तद्द्वारेणेति। ब्राह्मणारम्भमुपपादितमुपसहरति—एवमिति। ससार'गत्युपसहारेण कर्मविपाकस्य सर्वस्यैवोपसहार सिद्धो भवति तदतिरिक्तन्द्विपाकाभावादित्याह—कर्मकाण्डस्येति। "यथोक्त वस्तु दर्शयितु ब्राह्मणमारभ्यते चेत्तत्र" किमित्याख्यायिका प्रणीयते तत्राऽऽह—इत्येतदद्वयमिति। "सर्व-मेव पूर्वोक्त वस्तु दर्शयितुमिच्छ-वेद सुखावबोधार्थमाख्यायिकां करोतीत्यर्थ।

कर्म साधन के आश्रित रहते हैं। (पूर्व श्रुति मे) वहाँ अग्निहोत्र स्तुतिपरक होने के कारण यह छः प्रकार वाला अग्निहोत्र का कार्य बतलाया गया है। यहाँ विद्याप्रकरण मे कर्मफल विज्ञान बतलाना अभीष्ट होने से वह छः प्रकार वाला कर्ता का ही फल है– ऐसा उपपादित किया जाता है। उसी कर्म फल विज्ञान के द्वारा ही यहाँ उत्तर मार्ग की प्राप्ति की साधनभूता पञ्चाग्नि दर्शन का विधान करना अभीष्ट है। इस प्रकार यह सम्पूर्ण ससार गति का उपसहार है और यही कर्मकाण्ड का निष्ठा है - इन्हीं दोनों बातों को दिखलाने के लिए श्रुति आख्यायिका का उपपादन करती है।

---

१ विद्याप्रकरणे। २ विवक्षितत्वादिति—कर्तृ फलसबन्धाभावे यथोक्तविवक्षाया अकिंचित्करत्वादिति भाव। अन्यथाऽनुपपन्ना सती विवक्षा कर्तृ फलसबन्धापदेश हेतुरिति ध्येयम्। ३ कर्मफलविज्ञानद्वारेण। ४ एषा ससारगति कर्मकाण्डस्य फलम्। ५ एतदद्वयमिति—अग्निहोत्रप्रकरणोक्त षट्प्रकारमपि फल कर्तु रिति कर्त्रा फलविज्ञानद्वारा चोत्तरमार्गप्रतिपत्तिसाधनपञ्चाग्निदर्शनविधानमिति द्वयमित्यर्थ। ६ निस्वामिकत्वा सभवात्। ७ अग्निहोत्रप्रकरणे। ८ विद्याप्रकरणे। ९ गति प्राप्ति। १० यथोक्त वस्त्विति—अनन्तर ब्राह्मणारम्भप्रयोजकत्वेन सिनाधिकारोऽयमित्यादि भाष्येणोक्त कर्मविपाकप्रतिपत्तिमार्गसख्यादिकमित्यर्थ। ११ ब्राह्मण। १२ कर्तु कर्मफलसबन्ध पञ्चाग्निदर्शनविधान चेत्येतस्मिन्द्वये पूर्वोक्तस्य सर्वस्य मार्ग सख्यादिकस्यान्तर्भावमभिप्रेत्याह—सर्वमेवेति।

क्ष्याभ्युवाद कुमार इति स भो, ३ इति प्रतिशुश्रावानु-
शिष्टो न्वसि पित्रेत्योमिति होवाच ॥१॥

उसे आते देखते ही प्रवाहण ने कहा—भो कुमार ! उसने उत्तर दिया—भो ! (ब्राह्मण के लिये क्षत्रिय को 'भो' शब्द से सम्बोधित नही करना चाहिये, फिर भी क्रोधावेश मे उसने ऐसा किया) प्रवाहण ने कहा—क्या पिता ने तुझे शिक्षा दी है ? तब, श्वेतकेतु ने कहा—हां पिता ने मुझे शिक्षा दी है ॥१॥

श्वेतकेतुर्नामितोऽरुणस्यापत्यमारुणिस्तस्यापत्यमारुणेयः । हशब्द ऐतिह्यार्थः । वैशब्दो निश्चयार्थः । पित्राऽनुशिष्टः सन्नात्मनो यशःप्रथनाय पञ्चालानां परिषदमाजगाम । पञ्चालाः प्रसिद्धास्तेषां परिषदमागत्य जित्वा, राज्ञोऽपि परिषदं जेष्यामीति गर्वेण स आजगाम । जीवलस्यापत्यं जैवलिस्तं पञ्चालराजं प्रवाहणनामानं स्वभृत्यैः परिचारयमाणमात्मनः परिचरणं कारयन्तमित्येतत् । स राजा पूर्वमेव तस्य विद्याभिमानगर्वं श्रुत्वा विनेतव्योऽयमिति मत्वा तमुद्वीक्ष्योत्प्रेक्ष्याऽऽगतमात्रमेवाभ्युवादाभ्युक्तवान्कुमारा३ इति

यथा कदाचिदतिक्रान्ते काले वृत्तार्थद्योतित्वं निपातस्य दर्शयति—हशब्द इति । यशःप्रथन विद्वत्सु स्वकीयविद्यासामर्थ्यख्यापनं प्रसिद्धविद्वज्जनविशिष्टत्वेनेति शेष । क्वचिज्जयस्य प्राप्तत्वं गर्वे हेतु । किमिति राजा श्वेतकेतुमागतमात्रं तदीयाभिप्रायमप्रतिपद्य तिरस्कुर्वन्निव सम्बोधितवानित्या-शङ्क्याऽऽह—स राजेति । सम्बोध्य भर्त्सनं कृतवानिति शेषः । सम्बद्धोति पदमिह नास्तीत्या-

---

"आरुणेय श्वेतकेतु" अर्थात् अरुण का पुत्र आरुणि, उसका पुत्र आरुणेय श्वेतकेतु नाम वाला था । "ह" शब्द परम्परागत उपदेश को बतलाने के लिए है । 'वै" शब्द निश्चयार्थक है । पिता से ज्ञान प्राप्तकर अपना यश फैलाने के लिए पञ्चाल देश के ब्राह्मण-विद्वानो की सभा मे गया पञ्चाल जनपद के ब्राह्मण प्रसिद्ध हैं । 'उनकी सभा मे जाकर उन्हे जीतकर, फिर राजा की सभा को भी जीत लूंगा' इस अहंकार से वह वहां गया । वह 'जैवलिम्' अर्थात् जीवल के पुत्र जैवलि पञ्चालदेश के प्रवाहण नाम के राजा के पास पहुँचा, वह राजा 'परिचारयमाणम्' अर्थात् अपने नौकरो से अपनी सेवा-पूजा करवा रहा था । उसके आने से पूर्व ही राजा ने उसका गर्वाधिक्य सुनकर इसे विनम्र करना चाहिये' ऐसा सोचकर "तमुद्वीक्ष्य' अर्थात् उसे देखकर आते ही 'अभ्युवाद' अर्थात् अभिवादन किया—हे कुमार ! इस प्रकार बालक के समान सम्बोधन कर उसे 'अभ्युवाद" अर्थात् अभिवादन किया । यहां "कुमारा ३ शब्द मे प्लुत तिरस्कृत करने

---

१ ऐतिह्यार्थं इति—परम्परागतोपदेश ऐतिह्य तदर्थोऽयं हशब्दस्तथा चाचार्यपरम्परयसमागताधिका श्रूयत इत्यर्थ । 'पारम्पर्योपदेशे स्यादैतिह्यमिति ह्यव्यय मित्यमर । २ पञ्चालानाम्—देशविशेषाणामित्यर्थ । तद्गतब्राह्मणानामिति यावत् । ३ जनपद । ४ जित्वेति—परिषदमित्यनुवर्तत एव सम्यान् ब्राह्मणानिति तदर्थ । जित्वा—आजगामेत्युत्तरत्र सबन्ध । ५ तदागते प्राग् । ६ गर्वाधिक्यम् । ७ ब्राह्मण सशयमादिश्युचितमिति विनेतव्य इति मत्वा उत्पथगामी हि नृपेण प्रशासनीय इति भाव । ८ बाल-वत् । ९ ब्राह्मणससदि । १० भर्त्सनम् ।

वेत्थ यथेमाः प्रजाः प्रयत्यो विप्रतिपद्यन्ता३ इति नेति होवाच वेत्थो यथेमं लोकं पुनरापद्यन्ता३ इति नेति हैवोवाच वेत्थो यथाऽसौ लोक एव बहुभिः पुनः पुनः प्रयद्भिर्न सपूर्यता३ इति नेति हैवोवाच वेत्थो

जैसे मरने के बाद यह प्रजा विभिन्न मार्गों से जाती है, उसे क्या तू जानता है ? श्वेतकेतु ने कहा—नहीं। राजा ने पूछा—जैसे वह फिर इस लोक में लौट कर आती है, क्या तू उसे जानता है ? श्वेतकेतु ने कहा—नहीं। राजा ने पूछा—इस प्रकार बार-बार बहुतो के मर कर जाने पर भी जैसे वह

संबोध्य। भर्त्सनार्था प्लुतिः। एवमुक्तः स प्रतिशुश्राव भो३ इति। भो३ इत्यप्रतिरूपमपि क्षत्रियं प्रत्युक्तवान्क्रुद्धः सन्। अनुशिष्टोऽनुशासितोऽसि भवसि किं पित्रेत्युवाच राजा। प्रत्याहेतर ॐमिति बाढमनुशिष्टोऽस्मि पृच्छ यदि संशयस्ते ॥ १ ॥

यद्येव वेत्थ विजानासि किं यथा येन प्रकारेणेमाः प्रजाः प्रसिद्धाः प्रयत्यो म्रियमाणा विप्रतिपद्यन्ता३ इति विप्रतिपद्यन्त इति विचारणार्था प्लुतिः। समानेन मार्गेण गच्छन्तीनां मार्गद्वैविध्यं यत्र भवति तत्र काश्चित्प्रजा अन्येन मार्गेण गच्छन्ति काश्चिदन्येनेति

शाङ्कुचाऽऽह—भर्त्सनार्थेति। भो ३ इति प्रतिवचनमाचार्यं प्रत्युचितं न क्षत्रियं प्रति तस्य हीनत्वादित्याह—भो३ इतीति। अप्रतिरूपवचने क्रोधं हेतुं करोति—क्रुद्ध. सन्निति। पितुः सकाशात्तव लब्धानुशासनत्वे लिङ्गं नास्तीत्याशङ्क्याऽऽह—पृच्छेति ॥ १ ॥

पदार्थमुक्त्वा वाक्यार्थमाह—समानेनेति। नाडील्पेण साधारणेन मार्गेण ऊर्ध्वं गच्छतां यत्र मार्गविप्रतिपत्तिस्तत्किं जानासीति प्रश्नार्थः। विप्रतिपत्तिमेव विशदयति—तत्रेति। अविकृत-

---

के लिए है। ऐसा अभिवादन करने पर उसने 'भो' इस प्रकार उत्तर दिया। 'भो' यह सम्बोधन क्षत्रिय के लिए उचित नहीं है, किन्तु श्वेतकेतु ने क्रुद्ध होकर ऐसा कहा। "अनुशिष्टो न्वसि पित्रेति" अर्थात् क्या तुम्हारे पिता ने तुम्हें शिक्षा दी है—ऐसा राजा ने कहा। इस पर श्वेतकेतु ने कहा—'ॐ' अर्थात् हाँ, मैं पिता द्वारा शिक्षा दिया गया हूँ यदि तुम्हें सन्देह हो तो पूछ लो ॥ १ ॥

यदि ऐसा है तो 'यथा' अर्थात् जिस कर्म विशेषात्मक कारण से यह प्रसिद्ध प्रजा "प्रयत्य" अर्थात् मरने पर "विप्रतिपद्यन्ता ३" अर्थात् विप्रतिपन्न होती है, "वेत्थ' अर्थात् क्या तू वह जानता है। "विप्रतिपद्यन्ता ३" पद में प्लुत स्वर विचार के लिये है। समान मार्ग से जाती हुई प्रजा के जिस कारण से दो मार्ग हो जाते हैं, उन (अधिकारियों) में कुछ प्रजा अन्य मार्ग से जाती है, कुछ अन्य

---

१ पित्राऽयमनुशिष्टो न वेति सत्ययशरीरम्। २ पत्रस्यनुशिष्ट पित्रेत्यर्थः। ३. येन कर्मविशेषात्मककारणेनेति यावत्। ४ यस्मिन् कारणे सति। ५ तत्र—अधिकारिणां मध्ये। ६ पुण्यलोकभेदम्। ७. यस्मिन् कर्मविशेषे निमित्ते सति।

यतिथ्यामाहुत्याꣳ हुतायामापः पुरुषवाचो भूत्वा समुत्थाय वदन्ती३ इति नेति हैवोवाच वेत्थो देवयानस्य वा पथः प्रतिपदं पितृयाणस्य वा यत्कृत्वा देवयानं वा पन्थानं प्रतिपद्यन्ते पितृयाणं

लोक भरता नही,उसे क्या तू जानता है ? श्वेतकेतु ने कहा—नही । राजा ने पूछा—कितने बार की आहुति के हवन करने पर जल पुरुष सज्ञा को प्राप्त हो उठकर बोलने लगता है क्या तू जानता है ? श्वेतकेतु ने कहा—नही। राजा ने पूछा—देवयान मार्ग के कर्म रूप साधन या पितृयान मार्ग के कर्म रूप साधन को क्या तू जानता है, जिसे अनुष्ठान कर जीव देवयान या पितृयान को प्राप्त हो जाते है ?

विप्रतिपत्तिः। यथा ताः प्रजा विप्रतिपद्यन्ते तत्कि वेत्थेत्यर्थः। नेति होवाचेतरः। तर्हि वेत्थ उ यथेमं लोकं पुनरापद्यन्ता३ इति पुनरापद्यन्ते यथा पुनरागच्छन्तीमं लोकम्। नेति हैवोवाच श्वेतकेतुः। वेत्थो यथाऽसौ लोक एवं प्रसिद्धेन न्यायेन पुनः पुनरसकृत्प्र-यद्भिर्म्रियमाणैर्यथा येन प्रकारेण न संपूर्यता३ इति न संपूर्यतेऽसौ लोकस्तत्कि वेत्थ। नेति हैवोवाच। वेत्थो यतिथ्यां यत्संख्याकायामाहुत्यामाहुतौ हुतायामापः पुरुषवाचः पुरुषस्य या वाक्सैव यासां वाक्ताः पुरुषवाचो भूत्वा पुरुषशब्दवाच्या भूत्वा। यदा पुरुषा-

प्रजानिर्धारणार्था सप्तमी। प्रथमप्रश्नं निगमयति—यथेति। प्रश्नान्तरमादत्ते—तर्हीति। तदेव स्पष्टयति—यथेति। परलोकगता प्रजा पुनरिमं लोकं यथाऽऽगच्छन्ति तथा किं वेत्थेति योजना। प्रश्नान्तर-प्रतीकमुपादत्ते—वेत्थेति। तद्व्याकरोति—एवमिति। प्रसिद्धो न्यायो जराज्वरादिर्मरणहेतुः। प्रश्ना-न्तरमुत्थाप्य व्याचष्टे—वेत्थेत्यादिना। पुरुषशब्दवाच्या भूत्वा समुत्थाय वदन्तीति सबन्ध.। कथमशी

मार्ग से जाती है, यह सन्देह हो जाता है। जिस कारण से प्रजाएं विभिन्न मार्गों से जाती हैं; वह क्या कारण है, क्या तुम जानते हो ? श्वेतकेतु बोला—नही, मैं नही जानता। तो फिर प्रजा जिस प्रकार पुनः इस लोक मे 'आपद्यन्ता३" अर्थात् आती हैं—वह कारण क्या तुम जानते हो ? इस पर श्वेतकतु बोला—नही, मैं नही जानता। तो क्या तुम जानते हो कि (जरा-ज्वरादि मरण मे हेतु हैं) इस प्रसिद्ध न्याय से प्रजा के बहुत प्राणियो के पुनः-पुनः निरन्तर 'प्रयद्भिः" अर्थात् मरने पर भी यथा अर्थात् जिस निमित्त से "न सम्पूर्यता३" अर्थात् यह लोक नही भरता, सो क्या वह निमित्त तुझे मालूम है ? श्वेतकेतु बोला—नही, मुझे नही मालूम है। क्या तुम जानते हो कि 'यतिथ्याम्' यानी जितनी सख्या वाली "आहुत्या हुतायाम्" अर्थात् आहुतिया के हवन किये जाने पर जल 'पुरुषवाचो भूत्वा" अर्थात् पुरुष की वाक् वाला होकर यानी पुरुषशब्द वाच्य अथवा जिस समय

१ विप्रतिपत्ति—विभिन्नवर्त्मगतिरिति यावत्। २ येन कारणेन। ३ कारणम्। ४ बहुभिः प्राणिभिः। ५ निमित्तेनेति यावत्। ६ निमित्तम्। ७ हुता सत्य। ८ प्रश्नान्तरमेव। ९ मार्गेण हेतुना च यन। १० प्रश्नान्तरम्।

वाऽपि हि न ऋषेर्वचः श्रुतं द्वे सृती अशृणवं पितॄणामहं देवानामुत मर्त्यानां ताभ्यामिदं विश्वमेजत्समेति यदन्तरा पितरं मातरं चेति नाहमत एकंचन वेदेति होवाच ॥२॥

यह वचन सुन रक्खा है अर्थात् पितरों के और देवों के दो मार्ग हमने सुने हैं, जो ये दोनों ही मनुष्य से सबन्ध रखने वाले हैं। इन दोनों मार्गों से जाने वाले लोग भली प्रकार से जाते हैं और ये द्युलोक और पृथिवी के मध्य मे हैं, जिन्हे माता-पिता भी कहते हैं। इस पर श्वेतकेतु ने कहा—मैं इन प्रश्न समुदाय मे से एक को भी नही जानता, मुझे किसी का पता नही ॥२॥

कारपरिणतास्तदा पुरुषवाचो भवन्ति। समुत्थाय सम्यगुत्थायोद्भूताः सत्यो वदन्तीर इति। नेति हैवोवाच। 'यद्येवं वेत्थ उ देवयानस्य पथो मार्गस्य प्रतिपदं प्रतिपद्यते येन सा प्रतिपत्ता प्रतिपद पितृयाणस्य वा प्रतिपद प्रतिपच्छब्दवाच्यमर्थमाह[१]। यत्कर्म कृत्वा "यथाविशिष्टं कर्म कृत्वेत्यर्थः। देवयानं वा पन्थानं मार्गं प्रतिपद्यन्ते पितृयाणं वा यत्कर्म कृत्वा प्रतिपद्यन्ते तत्कर्म प्रतिपदुच्यते तां प्रतिपदं किं वेत्थ देवलोकपितृलोकप्रतिपत्तिसाधनं किं वेत्थेत्यर्थः।

पुरुषशब्दवाच्यत्व तदाह—यदेति। प्रश्नान्तरमवतारयति—यद्येव वेत्थेति। पितृयाणस्य वा प्रतिपद वेत्थेति सबन्ध। यत्कृत्वा प्रतिपद्यन्ते पन्थान तत्कर्म प्रतिपदिति योजना। वाक्यार्थमाह—देवयानमिति। उक्तमर्थं सक्षिप्याऽऽह—देवलोकेति।

यह पुरुषाकार म परिणत होनी है, उस समय पुरुषवान् होनी है, इस प्रकार होकर "समुत्थाय" अर्थात् सम्यक् उठकर या उद्बुद्ध होकर बोलता है ? श्वेतकेतु बोला–नही, मैं नही जानता। यदि ऐसा है तो क्या तुम देवयान 'पथ' यानी मार्ग के "प्रतिपदम्' अर्थात् प्राप्ति साधन को जानते हो तथा पितृयान मार्ग के प्राप्ति साधन को जानते हो ? "प्रतिपत्" शब्द का वाच्य अर्थ स्वयं श्रुति कहती है। 'यत्कृत्वा" जिस शास्त्रविहित को यावत्कर्तव्यता विशिष्ट करके देवयान अथवा पितृयान को प्राप्त होते है, वह कर्म 'प्रतिपत्' कहा जाता है। उस देवलोक पितृलोक प्राप्ति साधन को क्या तुम जानते हो, यह इसका अर्थ है।

१ यद्येवमिति–अस्यापि प्रश्नस्याज्ञाने प्रश्नचतुष्टयमपि न जानासि चेदिति यावत्। २. प्रतिपद प्राप्तिसाधनम् इष्टापूर्तदत्तोपासनाख्या क्रियामिति यावत्। ३ श्रुति स्वयमेव। ४ यथाविशिष्टमनतिक्रम्येत्यर्थं। विहितमिति यावदित्याहु। यद्वा यथाविशिष्टं यावत्कर्मेत्यर्थं। यावदिति कर्तव्यताकमिति यावत्।

अप्यस्यार्थस्य प्रकाशकमृषेर्मन्त्रस्य वचो वाक्यं नः श्रुतमस्ति। मन्त्रोऽप्यस्यार्थस्य प्रकाशको विद्यत इत्यर्थः। कोऽसौ मन्त्र इति। उच्यते—द्वे सृती, द्वौ मार्गावशृणवं श्रुतवानस्मि तयोरेका पितृणां प्रापिका पितृलोकसंबद्धा तया सृत्या पितृलोकं प्राप्नोतीत्यर्थः। अहमशृणवमिति व्यवहितेन संबन्धः। देवानामुतापि देवानां संबन्धिन्यन्या देवान्प्रापयति सा। के पुनरुभाभ्यां सृतिभ्यां पितॄन्देवांश्च गच्छन्तीति। उच्यते—उतापि मर्त्यानां मनुष्याणां संबन्धिन्यौ। मनुष्या एव हि सृतिभ्यां गच्छन्तीत्यर्थः। ताभ्यां सृतिभ्यामिदं विश्वं समस्तमेजद्गच्छत्समेति संगच्छते। ते च द्वे सृती यदन्तरा यथोरन्तरा यदन्तरा पितरं मातरं च मातापित्रोरन्तरा मध्य इत्यर्थः। कौ तौ मातापितरौ द्यावा-

---

मार्गद्वयमेव नास्ति त्वया उत्प्रेक्षामात्रेण पृच्छ्यते तत्राऽऽह—अपीति। मन्त्रेति कर्मविपाकप्रक्रियोक्तिः। अस्यार्थस्य मार्गद्वयस्येत्येतत्। तेषामेव मार्गद्वयेऽधिकृतत्वमिति यदुक्तं हीत्युक्तं तदेव स्फुटयति—ताभ्यामिति। विश्वं साध्यसाधनात्मकं संगच्छते गन्तव्यत्वेन गन्तृत्वेन चेति शेषः।

"अपि हि न ऋषेर्वचः श्रुतम्" अर्थात् हमने इस अर्थ के प्रकाशक मन्त्र का वाक्य भी सुना है अर्थात् मन्त्र भी इसी अर्थ का प्रकाशक है। वह मन्त्र कौन सा है? इस श्रुति कहती है—"द्वे सृती" अर्थात् दो मार्ग "अशृणवम्" मैंने सुने हैं। उनमें एक पितृलोक से सम्बद्ध पितृलोक की प्राप्ति कराने वाला है अर्थात् उस मार्ग से पितृलोक की प्राप्ति होती है, 'मैंने सुना है' इस प्रकार व्यवहित पदों का सबन्ध है। दूसरा मार्ग 'देवानाम्' अर्थात् देवताओं से सम्बद्ध है, जो देवताओं की प्राप्ति कराता है। किन्तु इन दोनों मार्गों से पितरों और देवताओं के समीप कौन जाते हैं। इस पर श्रुति कहती है—"उतापि मर्त्यानाम्" अर्थात् ये मनुष्यों से सबन्धित हैं। अर्थात् मनुष्य ही इन दोनों मार्गों से जाते हैं। "ताभ्याम्" अर्थात् उन मार्गों से यह सम्पूर्ण विश्व "एजत्" अर्थात् चल होकर "समेति" अर्थात् (गन्तव्यत्व और गन्तृत्व रूप से) सङ्गमन करता है। वे दोनो मार्ग "यदन्तरा पितरं मातरं च"

---

१ नः अस्माकम्–अस्माभिरिति यावत्। २ अधिकृतानां मार्गान्तरशङ्कां वारयति–ताभ्यामिति। ३. गच्छदिति–अनेन साध्यसाधनयोरुभयोरपि जगतोश्चलत्वमुच्यते। ननु साधनस्य गन्तृत्वप्रसिद्धावपि कथं साध्यस्य जगतश्चलत्वमिति चेदित्थं साध्यं हि नाम पित्रादिलोकीय देह एव तस्य च तद्देहेन भुक्तभोगस्य जीवस्य च कर्मक्षये पुनराभ्यां सृतिभ्यामिमं लोकं प्रत्यावर्तमानस्य कृतात्ययेऽनुशयवान् दृष्टस्मृतिभ्यां यथेतमनेवं च ब्र सू ३।१।८ इति न्यायसिद्धत्वादिति। ४ ते च सृती क्व वर्तेते इति वीक्षायामाह–ते चेति। ५ ययोरिति—मातापितृस्थानीययोर्द्यावापृथिव्योरिति यावत्। ६ नास्ति–अप्रामाणिकमित्यर्थः। ७ उत्प्रेक्षा कल्पना। ८ पृच्छ्यते—मद्व्यामोहार्थमिति शेषः। ९ मनुष्याणामेव। १० साध्येति–साध्यात्मकं जगद्गन्तव्यत्वेन साधनात्मकं च तद् गन्तृत्वेन ताभ्यां सृतिभ्यां संगच्छते संबध्यत इत्यर्थः। ११ यद्वा गच्छत्पदार्थमेव शेषच्छलेन समर्पयति–गन्तव्यत्वेनेत्यादिना। ननु गन्तृत्वस्य गच्छत्पदार्थत्वं न्याय्यं कुतस्तु गन्तव्यत्वस्य सत्त्वमिति चेद् गच्छत्पदस्य तन्त्रेण निर्देशादित्यवेहि तत्र चैकस्य कर्मकर्तरि साक्षात्त्वेन गन्तव्यार्थकत्वसंभवादिति ध्येयम्। यद्वा गच्छदिति गन्तृजगत एव विशेषणं न तु गन्तव्यजगतोऽप्यसंभवात्त एव टीकाकृद्भिस्तथ कटाक्षितमित्यपि वदन्ति।

अथैनं वसत्योपमन्त्रयाञ्चक्रेऽनादृत्य वसतिं कुमारः
प्रदुद्राव स आजगाम पितरं तꣳ होवाचेति वाव किल नो
भवान्पुराऽनुशिष्टानवोच इति कथꣳ सुमेध इति पञ्च

इसके बाद राजा ने श्वेतकेतु से विनयपूर्वक ठहरने के लिये प्रार्थना की, किन्तु वह कुमार उस निवास का अनादर कर अपने पिता के पास चला गया। वह अपने पिता के पास आया और अपने पिता से उसने समावर्तन संस्कार के समय की बात याद दिलायी। आपने समावर्तन के समय यही कहा

पृथिव्यावण्डकपाले। इयं वै माताऽसौ पितेति हि व्याख्यातं ब्राह्मणेन। अण्डकपालयो-र्मध्ये [1]संसारविषये एवैते सृती नाऽऽत्यन्तिकामृतत्वगमनाय। इतर आह—नाहमतो-ऽस्मात्प्रश्नसमुदायादेकचनैकमपि प्रश्नं न वेद माहं वेदेति होवाच श्वेतकेतुः॥ २॥

अथानन्तरमपनीय [2]विद्याभिमानगर्वमेनं प्रकृतं [3]श्वेतकेतुं वसत्या [4]वसतिप्रयो-जनेनोपमन्त्रयांचक्रे। इह वसन्तु भवन्तः [5]पाद्यमर्घ्यं चाऽऽनीयतामित्युपमन्त्रणं कृतवान्राजा। [6]अनादृत्य तां वसतिं कुमारः श्वेतकेतुः प्रदुद्राव प्रतिगतवान्पितरं प्रति। स चाऽऽज-

प्रकृतमन्त्रव्याख्यानपरयो ब्राह्मणशब्दार्थः। यदन्तरेत्यादौ विवक्षितमर्थमाह—अण्डकपालयो रिति॥ २॥

श्वेतकेतोरभिमाननिवृत्तिद्योतनार्थं [7]बहुवचनम्। राजन्यवसतवसत्यनादरे हेतुमाह—कुमार

अर्थात् माता एवं पितृस्थानीय द्यावा-पृथिवी के मध्यवर्ती हैं। वे माता एवं पिता कौन हैं? द्युलोक और पृथिवी रूप ब्रह्माण्ड कपाल ही पिता और माता है। "यह पृथिवी ही माता और द्युलोक पिता है" इस प्रकार ब्राह्मण ग्रन्थ में उपपादित हो चुका है। ब्रह्माण्ड कपालों के बीच में ये दोनों मार्ग केवल संसार रूप फल की प्राप्ति कराने वाले हैं आत्यन्तिक अमृतत्व मोक्ष प्राप्ति कराने के लिए हैं। इस पर श्वेतकेतु बोला—"अत" अर्थात् इस प्रश्नसमुदाय में से मैं "एकचन"—अर्थात् एक भी प्रश्न को "न वेद" अर्थात् नहीं जानता॥ २॥

इसके बाद श्वेतकेतु के विद्याप्रयुक्त दर्पोत्सेक को दूर कर (अब उसका अभिमान शान्त हुआ देखकर) उसमें 'वसत्या" अर्थात् निवास के लिए प्रार्थना की। आप यहाँ विराजिए, इस प्रकार श्वेत-केतु से निवेदन कर, नौकरों को पाद्य अर्घ्य लाने के लिए आज्ञा दी। उस निवास को (लज्जा और रोष से) अनङ्गीकार करके कुमार श्वेतकेतु 'प्रदुद्राव" अर्थात् पिता के पास चल दिया। वह पिता के पास आया और बोला। किस प्रकार बोला? "नो भवान्" अर्थात् आपने मुझे "पुराऽनुशिष्टानवोच"

१ संसारविषये इति—संसारैकफलिके न तु मोक्षसाधने इति यावत्। २ विद्याप्रयुक्तदर्पोत्सेकम्। ३ श्वेतकेतोरित्यादि। श्वेतकेतुमिति–शातदर्पं समीक्ष्येति शेषः। ४ निवासार्थम्। ५. पाद्यमित्या-दिक राज्ञा भृत्यान्प्रत्युक्ति। ६ अनादृत्येति—अनङ्गीकृत्येत्यर्थः। लज्जारोषाभ्यामिति शेषः। ७ भवन्त इतीदम्। ८ कुमारत्वं बाल्यम्।

मां प्रश्नान्राजन्यबन्धुरप्राक्षीत्ततो नैकञ्चन वेदेति
कतमे त इतीम इति ह प्रतीकान्युदाजहार ॥३॥
स होवाच तथा नस्त्वं तात जानीथा यथा यदहं किंच

था कि सभी विषयो की शिक्षा तुम्हे देदी गयी है। आरुणि ने पुत्र का उलाहना सुन कर कहा—हे सुन्दर धारणा वाले ! तुम्हे इस प्रकार दुःख कैसे हुआ। पुत्र ने कहा—मुझ से एक क्षत्रियबन्धु ने पाँच प्रश्न पूछे, पर मैं तो उनमे से एक को भी नही जानता। पिता ने कहा—वे प्रश्न कौन से हैं। उसने कहा—ये प्रश्न थे, ऐसा कह कर श्वेतकेतु ने राजा से पूछे गये प्रश्नो के सकेत बतलाए ।।३।।

(क्रुद्ध पुत्र को शान्त करने के लिये) उस पिता ने कहा—हे वत्स ! तू हमसे इतना निश्चित

गाम पितरमागत्य चोवाच तं कथमिति याव किलैवं[1] किल नोऽस्मान्भवान्पुरा समावर्तनकालेऽनुशिष्टान्सर्वाभिर्विद्याभिरवोचोऽवोचदिति । सोपालम्भं पुत्रस्य वचः श्रुत्वाऽऽह पिता । कथं केन प्रकारेण तव दुःखमुपजातं हे सुमेधः शोभना मेधा यस्येति सुमेधाः । शृणु मम यथा वृत्तं पञ्च पञ्चसंख्याकान्प्रश्नान्मा मां राजन्यबन्धू राजन्या बन्धवो यस्येति । [2]परिभववचनमेतद्राजन्यबन्धुरिति । अप्राक्षीत्पृष्टवां[3]स्ततस्तस्मान्नं कंचनैकमपि न वेद न विज्ञातवानस्ति । कतमे ते राज्ञा पृष्टाः [5]प्रश्ना इति पित्रोक्तः पुत्र इमे [4]त इति ह प्रतीकानि [6]मुखानि प्रश्नानामुदाजहारोदाहृतवान् ।। ३ ।।

स होवाच पिता पुत्रं क्रुद्धमुपशमयंस्तथा तेन प्रकारेण नोऽस्मांस्त्वं हे तात वत्स

इति । एवं किलेति राजपराभवलिङ्गकं पितृवचसो मृषात्वं द्योत्यते । अज्ञानाधीन दु ख तवासंभावितमिति सूचयति—सुमेध इति ॥ ३ ॥

अर्थात् पहले समावर्तन संस्कार के समय आपने यही कहा था कि तुम्हे सब विद्याओ की शिक्षा दी जा चुकी—वह सब झूठ था। उपालम्भपूर्ण पुत्र के वचनों को सुनकर पिता ने कहा—"कथ सुमेध इति" अर्थात् हे शोभन बुद्धि वाले पुत्र ! तुझे दुःख किस कारण से हुआ है। श्वेतकेतु बोला—जैसा मेरे साथ हुआ है, उसे सुनिये। मुझसे एक "राजन्यबन्धु" क्षत्रिय बन्धु राजा ने 'पञ्च" अर्थात् पाँच सख्या वाले प्रश्न "अप्राक्षीत्" यानी किये। "राजन्यबन्धु" यह विशेषण राजा के प्रति अनादरभाव का सूचक है। "ततः" अर्थात् उनमे से मैं "एकचन" अर्थात् एक भी "न वेद" यानी नही जानता हूँ। राजा ने कौन से ऐसे प्रश्न पूछे थे जिसका उत्तर तुम न दे सके। श्वेतकेतु बोला—'वे ये प्रश्न थे' इस प्रकार उन प्रश्नो को (विस्तार से न कहकर) सक्षेप से 'उदाजहार' अर्थात् बोला ।। ३ ।।

अपने क्रुद्ध पुत्र को शान्त कर वह पिता बोला—'तात' अर्थात् हे वत्स ! 'तथा' यानी इस

---

१. एव किलेति—इत्य मिथ्यैवेत्यर्थः । इत्थमिति—परेणास्मत्पराभवहेतुरित्यर्थं । २. अनादरवाक्यम् । ३. प्रश्नपञ्चकात् । ४. यान्त्वं न ज्ञातवानिति शेषः । ५. प्रश्नाः । ६. मुखानीति—आदिमैकदेशानित्यर्थं । समास१ प्रश्नानर्थादित्यर्थः ।

वेद सर्वमहं तत्तुभ्यमवोच प्रेहि तु तत्र प्रतीत्य ब्रह्मचर्यं वत्स्याव इति भवानेव गच्छत्विति स आजगाम गौतमो यत्र प्रवाहणस्य जैवलेरास तस्मा आसनमाहृत्योदकमाहारयांचकाराथ हास्मा अर्घं चकार तꣳ होवाच वरं भगवते गौतमाय दद्म इति ॥ ४ ॥

जान कि जो कुछ मैं जानता था वह सब तुझ से मैंने कह दिया था (राजा के इन प्रश्नों को तो मैं भी नहीं जानता अत) अब चल, हम दोनों वहीं चलें और ब्रह्मचर्यपूर्वक उसके यहाँ निवास करें। पुत्र ने कहा—आप ही जाएँ (मैं तो उसका मुख भी देखना नहीं चाहता) तब वह गौतम जैवलि, प्रवाहण की जहाँ बैठक थी, वहाँ आया। राजा ने उस आरुणि के लिए उचित आसन देकर सेवकों से जल मँगवाया और पुरोहित द्वारा मन्त्र पूर्वक उसे अर्घ्यदान किया। फिर राजा ने कहा—मैं भगवान् गौतम को वर देता हूँ ॥४॥

जानीथा गृह्णीथा 'यथा यदहं किंच विज्ञानजातं वेद सर्वं तत्तुभ्यमवोचमित्येव 'जानीथाः। कोऽन्यो मम प्रियतरोऽस्ति त्वत्तो यदर्थं रक्षिष्ये। 'अहमप्येतन्न जानामि यद्राज्ञा पृष्टम्। 'तस्मात्प्रेह्यागच्छ तत्र प्रतीत्य गत्वा 'राज्ञि ब्रह्मचर्यं वत्स्यावो विद्यार्थमिति'। स आह भवानेव गच्छत्विति नाहं तस्य मुखं निरीक्षितुमुत्सहे। 'स आजगाम गौतमो गोत्रतो

सत्य, किंचिदुक्तं किंचित् विज्ञानमन्यस्मै प्रियतमाय वातु रक्षितमित्याशङ्क्याऽऽह—कोऽन्य इति। राज्ञा यत्पृष्टं तन्मया न विज्ञातं तथा च तस्मिन्विषये त्वया वञ्चितोऽस्मीत्याशङ्क्याऽऽह—अहमपीति। 'तर्हि तज्ज्ञानं कथं साध्यतामित्याशङ्क्याऽऽह—तस्मादिति ॥ ४ ॥

प्रकार हमसे तू 'जानीथा' अर्थात् जान कि जितना जिस प्रकार मैं जानता था, उतना सब मैंने तुझे बता दिया। ऐसा ही तुम निश्चय जानो। तुम से प्रिय मेरे लिए और कौन है, जिसके लिये कुछ अब गोपनीय रखूँगा। राजा द्वारा पूछी गयी विद्या को तो मैं भी नहीं जानता। इसलिये "प्रेहि" अर्थात् आओ। प्रतीत्य अर्थात् राजा के समीप में जाकर विद्या के लिए ब्रह्मचर्यपूर्वक निवास करेंगे। श्वेतकेतु बोला—आप ही जाइये मैं तो उसका मुख देखना भी नहीं चाहता। 'गौतम" अर्थात् गोत्र

---

१ यत्किञ्चिद्यथाऽहं वेद तत्सर्वं तुभ्यं तथैवावोचमिति त्वं विजानीथा इत्यन्वयमाह। २ इत्येव जानीथा इति—ब्राह्मणज्ञानतोऽन्यत्र विद्या पप्रच्छ भूमिप। नहि ब्राह्मणविज्ञाने किञ्चिदस्ति त्वयाऽऽगतमित्यभिप्राय। ३ अहमपीति—राजपृष्टां तु विद्यामहमपि न जानामि तस्या राजवशमात्रस्थत्वादिति भाव। ४ तस्मात्—तद्विज्ञानस्य तन्मात्रस्थत्वात्। ५ राजसमीपम्। ६ इति पित्रोक्त इति शेष। ७ स पुत्रेणैवमुक्तः स इत्यथ। ८ महामिति शेष। ९ तर्हि—राजपृष्टविज्ञानस्य तद्वशमात्रस्थत्वे।

स होवाच प्रतिज्ञातो म एष वरो यां तु कुमारस्यान्ते वाचमभाषथास्तां मे ब्रूहीति ॥ ५ ॥

स होवाच दैवेषु वै गौतम तद्वरेषु मानुषाणां ब्रूहीति ॥ ६ ॥

उस गौतम ने कहा—आपने मुझे वर देने के लिये जो प्रतिज्ञा की है, उसके बदले में मैं यही चाहता हूँ कि मेरे पुत्र के समीप प्रश्न रूप में जो बात आपने कही थी, वही मुझ से कहिये ॥ ५ ॥

उस राजा ने कहा—हे गौतम ! वह वर तो देव संबन्धी वरों में से है, तुम मानुष वरों में से कोई वर मांगो ॥ ६ ॥

गौतम आरुणिर्यत्र प्रवाहणस्य जैवलेरासाऽऽसनमा[1]स्थायिका [2]षष्ठी वा प्रथमार्थे तस्मै गौतमायाऽऽगतायाऽऽसनमनुरूपमाहृत्योदक[3]भृत्यैराहारयाञ्चकार । अथ हास्मा अर्घं [4]पुरोधसा कृतवान्मन्त्रव[5]न्मधुपर्कं[6] च । कृत्वा चैवं पूजां तं होवाच वरं भगवते गौतमाय तुभ्यं दद्म इति गोऽश्वादिलक्षणम् ॥ ४ ॥

स होवाच गौतमः प्रतिज्ञातो मे ममैष वरस्त्वयाऽस्यां प्रतिज्ञायां दृढो कुर्वात्मानं यां तु वाचं कुमारस्य मम पुत्रस्यान्ते समीपे वाचमभाषथा. प्रश्नरूपां तामेव मे ब्रूहि स एव नो वर इति ॥ ५ ॥

विवक्षितविद्यागौरवं विवक्षित्वाऽऽह—अस्यामिति ॥ ५ ॥

से गौतम वह आरुणि, जहाँ राजा जैवलि प्रवाहण का "आस" अर्थात् दर्शन करने योग्य स्थान था, वहाँ आया । यहाँ प्रथमा के स्थान मे षष्ठी है । तब राजा ने आये हुए गौतम को अनुरूप आसन देकर अघ्यर्थिक जल नौकरो से मंगवाया और फिर पुरोहित द्वारा अर्घ्य एवं मन्त्रयुक्त मधुपर्क कराया । इस प्रकार पूजा करके प्रवहण ने गौतम से कहा—'मैं आप भगवान् गौतम को गो-अश्वादि रूप वर देता हूँ' ॥ ४ ॥

"स." अर्थात् उस गौतम ने कहा—आपने 'मे' अर्थात् मुझे वर देने की प्रतिज्ञा की है । अब "कुमारस्यान्ते" अर्थात् मेरे पुत्र के समीप 'या वाचम्' अर्थात् जिस प्रश्न रूपा वाणी को आपने बोला था, उसे ही मुझे कहिये, यही मेरा वर है । इस प्रतिज्ञा में अपने आपको सुदृढ कर लीजिए ॥ ५ ॥

---

१ आस्थायिका—दर्शनयोग्यस्थानस्थिति । २. षष्ठी वेति—आस इत्यस्य बभूवेत्येवार्थं । ३ मत्यो राजा । ४. अर्घार्थम् । ५ पुरोधसा साकमिति शेषयन्ति । ६ मधुपर्कमिति—मधुना योगो यत्रेति मधुयुक्त कांस्यपात्रस्थ कांस्यपात्रान्तरेणावृत दधि सर्पिर्जल क्षौद्र सिता चैतैश्च पञ्चभि प्रोच्यते मधुपर्कः ।

स होवाच विज्ञायते हास्ति हिरण्यस्यापात्तं गो-अश्वानां दासीनां प्रवाराणां परिधानस्य मा नो भवान्बहोरनन्तस्यापर्यन्तस्याभ्यवदान्यो भूदिति स वै

उस गौतम ने कहा—आप जानते ही हैं, वह मनुष्य संबन्धी स्वर्णादि वर तो मेरे पास भी है, मुझे सुवर्ण, गौ, अश्व, दासी, परिवार और वस्त्रादि परिधान भी प्राप्त हैं। आप अनन्त और निस्सीम धन के दाता होकर भी केवल मेरे लिए अदाता न हों। राजा ने कहा—हे गौतम! शास्त्रोक्त विधि से इस विद्या को प्राप्त करने की इच्छा करो। गौतम ने कहा—अच्छी बात, मैं आपके प्रति

स होवाच राजा [1]दैवेषु वरेषु तद्वै गौतम यत्त्वं प्रार्थयसे [2]मानुषाणामन्यतमं प्रार्थय वरम् ॥ ६ ॥

स होवाच च गौतमो भवताऽपि [3]विज्ञायते ह ममास्ति [4]सः। न तेन प्रार्थितेन कृत्यं मम यं त्वं दित्ससि मानुषं वरम्। यस्मान्ममाप्यस्ति हिरण्यस्य [5]प्रभूतस्यापात्तं प्राप्तं गो-अश्वाश्वानामपासमस्तीति सर्वत्रानुषङ्गो दासीनां प्रवाराणां परिवाराणां [6]परिधानस्य च। न च यन्मम विद्यमानं तत्त्वत्तः प्रार्थनीयं त्वया वा देयम्। प्रतिज्ञातश्च वरस्त्वया, त्वमेव जानीषे यदत्र युक्तं प्रतिज्ञा रक्षणीया तवेति। मम पुनरयमभिप्रायो मम भूत्वोऽस्मानन्यस्मानेव

तदिति [7]सामान्योक्त्या वरो निर्दिश्यते ॥ ६ ॥

ममास्ति स इति यदुक्तं तदुपपादयति—यस्मादित्यादिना। न च यन्ममेत्यत्र तस्मादिति पठितव्यम्। [8]किं तर्हि मया कर्तव्यमित्याशङ्क्याऽऽह—प्रतिज्ञातश्चेति। यत्तवाभिप्रेतं तदहं करोमीत्याशङ्क्याऽऽह—ममेति। मा भूदित्यन्वयं दर्शयन्प्रतीकमादाय व्याचष्टे—नोऽस्मानिति। वदान्यो दान-

---

उस राजा ने कहा—हे गौतम! जो वर तुम चाहते हो, वह तो देवप्रार्थनीय वरों में से है, (गवाश्वादिलक्षण) मनुष्य प्रार्थनीय वरों में से कोई वर माँगो ॥ ६ ॥

वह गौतम बोला—आप भी आप्तवाक्यादि से जानते हो कि गवाश्वादि मानुष वर तो मेरे पास है ही। आप जिस मानुष वर को मुझे देना चाहते हैं, उसे माँगने से मेरा कोई प्रयोजन सिद्ध नहीं होता क्योंकि मुझे बहुत सा सुवर्ण "अपात्तम्" अर्थात् प्राप्त है, तथा गो-अश्वादि भी प्राप्त हैं। इस प्रकार 'प्राप्त हैं' यह क्रिया पद सबसे सम्बद्ध है। अर्थात् दासी, परिवार और वस्त्र, ये सब मुझे प्राप्त हैं। जो वस्तु मेरे पास विद्यमान नहीं है, उसी की ही मुझे प्रार्थना करनी चाहिये, एवं तुम्हें भी उसे ही देना चाहिये। आपने वर देने का वचन तो दिया है, यहाँ अब क्या करना उचित है, तुम ही जान सकते हो, वचन निभाना ही चाहिये। मेरी तो हार्दिक अभिलाषा है कि आप सर्वत्र दाता होकर

---

१ दैवेष्विति—देवप्रार्थनीयेषु वरेषु (मध्ये) वर्तते इत्यर्थः—इत्याह। २ गवाश्वादिलक्षणानाम्। ३. आप्तवाक्यादितः। ४ गवाश्वादिर्मानुषो वरः। ५ भावेऽत्र निष्ठा। ६ क्षौमदुकूलादेः। ७ लिङ्गविशेषाविवक्षया। ८ राजोऽऽह—किं तर्हीति। कीदृशस्तर्हि वरस्तुभ्यं दातव्यो मयेत्यर्थः।

गौतम तीर्थेनेच्छासा इत्युपैम्यहं भवन्तमिति वाचा ह स्मैव पूर्व उपयन्ति स होपायनकीर्त्योवास ॥ ७ ॥

शिष्यभाव से उपसन्न होता हूँ। पहले भी ब्राह्मण लोग आपत्ति काल में विद्या प्राप्ति के लिए क्षत्रियादि के प्रति जाते रहे हैं, सेवा पूर्वक नहीं। इस प्रकार उपसत्ति का वाणीमात्र से कथन करके गौतम वहाँ रहने लगे ॥ ७ ॥

केवलान्प्रति भवान्सर्वत्र वदान्यो भूत्वाऽवदान्यो मा भूत्कदर्यो मा भूदित्यर्थः। बहोः प्रभूतरूपा नन्तस्यानन्तफलस्येत्येतत्। अपर्यन्तस्यापरिसमाप्तिकस्य पुत्रपौत्रादिगामिकस्येत्येतत्। ईदृशस्य वित्तस्य मां प्रत्येव केवलमदाता मा भूद्भवान्। न चान्यत्रादेयमस्ति भवतः। एवमुक्त आह—स त्वं वै हे गौतम तीर्थेन न्यायेन शास्त्रविहितेन विद्यां मत्त इच्छासा इच्छस्वाऽऽप्तुमित्युक्तो गौतम आह—उपैम्युपगच्छामि शिष्यत्वेनाहं भवन्तमिति।

शीलो विभवे सत्यदाता कदर्य इति भेदः। 'परिशिष्टं भागं व्याकुर्वन्वाक्यार्थमाह—बहोरित्यादिना। मां प्रत्येवेति नियमस्य कृत्यं दर्शयति—न चेति। कोऽसौ न्यायस्तत्राऽऽह—शास्त्रेति। "उपसदनवाक्यं श्राव्यमित्युच्यते। गौतमो राजानं प्रति शिष्यत्ववृत्तिं कुर्वाणः शास्त्रार्थविरोधमाचरतीत्या-

---

केवल हमारे प्रति "अवदान्यो मा भूत्" अर्थात् कृपण न हों। 'बहोः' अर्थात् बहुत सी, 'अनन्तस्य' अर्थात् अनन्त फल वाली 'अपर्यन्तस्य' अर्थात् समाप्त न होने वाली यानी पुत्र-पौत्रादिकों के लिए की जाने वाली, इस प्रकार की सम्पत्ति के दाता होकर भी मेरे लिये अदाता न हों। मुझे छोड़ किसी याचक के लिए आपको अदेय कुछ नहीं है। इस प्रकार कहे जाने पर राजा बोला—हे गौतम! तुम शास्त्रविहित शिष्य वृत्ति विधि से मुझसे विद्या प्राप्त करने की इच्छा करो। राजा के इस प्रकार

---

१. तीर्थेनेति—तीर्थमिह विद्यापात्रं ग्राह्यं तच्च षड्विधम्। यथाह स्वयमेव भगवती विद्या—"ब्रह्मचारी धनदायी मेधावी श्रोत्रियः प्रियः। विद्यया विद्यां य प्राह तानि तीर्थानि षण्मम" इति"॥ अत्र ब्रह्मचारी शिष्यः। श्रोत्रियो यथोक्तकारी। प्रियः पुत्र. इत्यर्थ.। २. भाग्यवान्—मदन्ययाचकेषु। ३. ननु प्रभूतमपि दैवं वित्तं दीयमानं क्रमादपगच्छति तत्कथं दातुं शक्यमित्याशङ्क्याऽऽह—अनन्तस्येति। अनन्तत्वादेवापर्यन्तमवसानहीनं तन्मानुषवित्तविलक्षणं दैवं वित्तं परस्मै दीयमानमधिकमापद्यतेऽदीयमानं च ह्रसति। तदुक्तम्—"अपूर्वः कोऽपि कोशोऽयं विद्यते तव भारति। व्ययतो वृद्धिमाप्नोति क्षयमायाति सञ्चयात्"॥ इति। ४. मदन्यस्मिन्। ५. राजा। ६. शिष्यवृत्त्येति यावत्। ७. इच्छस्वाऽऽप्तुमिति—वैदिकं लोण्मध्यमैकवचनान्तमिच्छासे इति रूपमित्येतदस्फोरयितुं न्याय्यमपि परस्मैपदमिषुधातोरपेक्ष्यात्मनेपदं प्रयुङ्क्तेत्यदोषः। ७. इत्युक्त इति—एवं राजा स्मारितशास्त्रार्थं इत्यर्थः। ८. परिशिष्टमिति—अत्र पाठान्तरम्। स वरो दातुमशक्यो लोभादिस्याशङ्क्याऽऽहेति। ९. नियमस्य कृत्यमिति—एवकारस्य व्यावर्त्यमिति यावत्। १०. उपसदनवाक्यमिति तद्विज्ञानार्थं स गुरुमेवाभिगच्छेत् "समित्पाणिरि"त्यादि तत्।

स होवाच तथा नस्त्वं गौतम माऽपराधास्तव च पितामहा यथेयं विद्येतः पूर्वं न कस्मिꣳश्चन ब्राह्मण उवास तां त्वहं तुभ्यं वक्ष्यामि को हि त्वैवं ब्रुवन्तमर्हति प्रत्याख्यातुमिति ॥ ८ ॥

उसे दुःखी समझकर उस राजा ने कहा—हे गौतम ! हमारे अपराध को आप वैसे ही न मानें, जैसे आपके पितामहादि पूर्वजों ने हमारे पितामहों का अपराध नहीं माना था। इससे पूर्व यह विद्या किसी ब्राह्मण के यहाँ नहीं रही (इसे आप जानते भी हो, यह विद्या सदा क्षत्रिय परम्परा से आई है)। अब उसे मैं तुमसे कहता हूँ, क्योंकि इस प्रकार विनयपूर्वक बोलने वाले तुम्हें निषेध करने मे कौन समर्थ हो सकता है अर्थात् योग्य अधिकारी के प्रति विद्या सम्प्रदान उचित ही है ॥ ८ ॥

वाचा ह [1]स्मैव किल पूर्वे ब्राह्मणाः क्षत्रियान्विद्यार्थिनः सन्तो वैश्यान्वा क्षत्रिया वा वैश्यानापद्यु[2]पयन्ति [3]शिष्यवृत्त्या ह्युपगच्छन्ति नोपायनशुश्रूषादिभिः। अतः स गौतमो ह्युपायनकीर्त्योपगमनकीर्तनमात्रेणैवोवासोषितवान्नोपायनं चकार ॥ ७ ॥

[4]एवं गौतमेनाऽऽपदन्तर उक्ते [5]स होवाच राजा पीडितं[6] मत्वा क्षामयंस्तथा नोऽस्मान्प्रति माऽपराधा अपराधं मा [7]कार्षीरस्मदीयोऽपराधो न ग्रहीतव्य इत्यर्थः। तव च पितामहा अस्मत्पितामहेषु यथाऽपराधं न जगृहुस्तथा पितामहानां [8]वृत्तम-

---

शङ्कापा'ऽऽह—वाचा हेति। आपदि समादधिकाद्वा विद्याप्राप्त्यसंभवायस्यामित्यर्थः। उपायनमुपगमनं पादोपसर्पणमिति यावत् ॥ ७ ॥

[9]विद्याराहित्यापेक्षया निहीनशिष्यभावोपगतिरापदन्तरम्। तथाशब्दार्थमेव विशदयति—तव चेति। सन्तु पितामहा यथा तथा किमस्माकमित्याशङ्क्याऽऽह—पितामहानामिति। किमिति

कहे जाने पर गौतम ने कहा—मैं शिष्य रूप से 'उपैमि' अर्थात् आपकी शरण में हूँ। विद्या की इच्छा वाले पूर्वकालीन ब्राह्मण क्षत्रिय या वैश्यों के प्रति अथवा क्षत्रिय, वैश्यों के प्रति 'उपयन्ति' अर्थात् वाणी द्वारा शिष्य वृत्ति से शरणापन्न होते थे, पादोपसर्पण अथवा शुश्रूषादि के द्वारा नहीं। इसलिये उस गौतम ने "उपायनकीर्त्या" अर्थात् उपसत्ति के कथन मात्र से वहाँ निवास किया, केवल पादोपसर्पणादि द्वारा वास नहीं किया ॥ ७ ॥

इस प्रकार 'मैं शिष्य भाव से आपकी शरण हूँ' यह गौतम के कहने पर उस ब्राह्मण को

---

१ स्मशब्दोऽप्युपयन्तीत्यनन्तरमन्वेति। २ उपयन्ति स्मेत्यन्वयः। ३ शिष्यवृत्त्या हीति—उद्दालकादीनामस्वपतौ प्रसिद्धमिदमुपगमनमिति हिशब्दार्थः। ४ एवमिति—उपैम्यहं भवन्तमित्युक्तरीत्येत्यर्थः। ५ ब्राह्मणम्। ६ त्व हे गौतम। ७ समाचरणम्। ८ आहेति—श्रुति स्वमुखेनास्मान्प्रत्याहेत्यर्थः। ९ विद्येति—विद्याराहित्यमेकाऽऽपद् निहीनेत्याद्युक्ताऽपरेत्यर्थः। समादधिकाद्वा विद्याप्राप्त्यसंभवावस्था प्रथमा निहीनेत्यादिरपरेत्यप्याहुः।

'असौ वै लोकोऽग्निर्गौतम तस्याऽऽदित्य एव समिद्र-श्मयो धूमोऽहरर्चिर्दिशोऽङ्गारा अवान्तरदिशो विस्फु-

हे गौतम ! यह द्युलोक ही अग्नि है (अग्नि न होने पर भी स्त्री और पुरुष के समान द्युलोक में अग्नि दृष्टि का विधान किया गया है)। आदित्य ही उसका ईंधन है, क्योंकि आदित्य से उसका

स्मास्वपि भवता रक्षणीयमित्यर्थः। 'यथेयं विद्या त्वया प्रार्थितेतस्त्वत्संप्रदानात्पूर्वं प्राङ्न कस्मिन्नपि ब्राह्मण उवासोषितवती तथा त्वमपि जानीषे सर्वदा क्षत्रिय-परम्परयेयं विद्याऽऽगता सा स्थितिर्मयाऽपि रक्षणीया यदि रक्षितुं शक्यत इत्यभिप्रायेणोक्तं दैवेषु गौतम तद्वरेषु मानुषाणां ब्रूहीति न पुनस्तवादेयो वर इतीतः परं न शक्यते रक्षितुम्। 'तामपि विद्यामहं तुभ्यं वक्ष्यामि। को ह्यन्योऽपि हि यस्मादेवं ब्रुवन्तं त्वामर्हति प्रत्याख्यातुं न वक्ष्यामीति। अहं पुनः कथं न वक्ष्ये तुभ्यमिति ॥ ८ ॥

'तर्हीयं विद्या झटिति मह्यं नोपदिश्यते तत्राऽऽह— न कस्मिंश्चिति। 'तर्हि भवता सा स्थिति रक्ष्यता-महं तु यथागतं गमिष्यामीत्याशङ्क्याऽऽह—इतः परमिति। तदाहं शिष्योऽस्मीत्येवं ब्रुवन्तं भवन्तं मत्तोऽन्योऽपि न वक्ष्यामीति यस्मान्न प्रत्याख्यातुमर्हति तस्मादहं पुनस्तुभ्यं कथं न वक्ष्ये किंतु वक्ष्या-म्येव विद्यामित्युक्तमुपपादयति—को हीत्यादिना ॥ ८ ॥

पीडित समझ कर उस राजा ने क्षमा कराते हुए कहा—हे गौतम ! आप 'नः' अर्थात् हमारे प्रति "माऽपराधा" अर्थात् अपराध न करें अर्थात् हमारे अपराध उसी प्रकार ग्रहण न करें; जिस प्रकार तुम्हारे पितामहों ने हमारे पितामहों के अपराध ग्रहण नहीं किये। अर्थात् आपको भी हमारे प्रति अपने पितामहों के समाचरण की रक्षा करनी चाहिये। जिस प्रकार तुम्हारे द्वारा अभिलषित यह विद्या "इतः पूर्वम्" तुम्हें देने से पहले किसी ब्राह्मण के पास नहीं "उवास" यानी रही; सो तुम्हें भी यह विद्या सर्वदा क्षत्रियपरम्परा से आयी है। यदि रक्षा करने में समर्थ होता तो मुझे भी उस स्थिति की रक्षा करनी चाहिये थी। इसी अभिप्राय से मैंने कहा था कि 'हे गौतम ! यह वर देव वरों में से है। तुम मानुषवरों में से कोई वर माँगो। अब तुम्हारे लिए यह अदेय वर हो, ऐसी बात नहीं है। अब इसके बाद इसको छिपाये रखना सभव नहीं है। (सर्वदा राजकुलस्था अति गोपनीया) उस विद्या को भी मैं तुम्हारे प्रति कहे देता हूँ क्योंकि तुम्हें इस प्रकार (शरणापन्न शिष्यभाव स्वीकार करना) कहते हुए को मेरे अतिरिक्त दूसरा कौन है, जो 'मैं नहीं कहूँगा' इस प्रकार निषेध करने में समर्थ हो सके। मैं तुम्हें यह विद्या क्यों न कहूँगा, अर्थात् अवश्य कहूँगा ॥ ८ ॥

---

१. असावितिति—हे गौतम वै प्रसिद्धोऽसौ द्युलोकोऽग्निराहवनीयास्य इति दृष्टिः कर्तव्येत्येवमग्रेऽपि दृष्टिरेव सर्वत्र विधेया। २. ननु ब्राह्मणप्रवरे गौतमे राजानमासाद्य विद्यामर्थयमाने तामप्रयच्छतस्तस्यापराधोऽवश्यं ग्रहीतव्य इत्याशङ्क्याऽऽह—यथेति। ३. तामपि—सर्वदा राजकुलस्थामतिगोप्यामपीत्यर्थः। ४ तर्हि तस्या ब्राह्मणेष्वभावे। ६ तर्हि—उक्तमर्यादाया अवश्य रक्षणीयत्वे सतीत्यर्थः।

लिङ्गास्तस्मिन्ने[1]तस्मिन्नग्नौ [2]देवाः [3]श्रद्धां जुह्वति

[4]तस्या आहुत्यै सोमो [5]राजा [6]संभवति ॥ ९ ॥

उद्दीपन होता है। किरणें धूप हैं, दिन ज्वाला है, उपशम मे समानता होने से दिशाएँ अङ्गारे हैं तथा विस्फुलिङ्गो के समान बिखरी हुई होने के कारण अवान्तर दिशाएँ चिनगारियाँ हैं। ऐसे गुणो मे युक्त इस द्युलोक रूप अग्नि मे इन्द्रादि देव श्रद्धा का हवन करते हैं। उस आहुति से पितरो और ब्राह्मणो का राजा सोम उत्पन्न होता है ॥ ९ ॥

असौ वै लोकोऽग्निर्गौतमेत्यादि[7]चतुर्थः प्रश्नः प्राथम्येन निर्णीयते। क्रमभङ्गस्त्वेत-न्निर्णयायत्तत्वादितरप्रश्ननिर्णयस्य। असौ द्यौर्लोकोऽग्निर्हे गौतम द्युलोकेऽग्निदृष्टिरनग्नौ विधीयते यथा योषित्पुरुषयोस्तस्य द्युलोकाग्नेरादित्य एव समित्तस्मिन्धनात्। आदित्येन हि समिध्यतेऽसौ [8]लोकः। रश्मयो धूमः समिध उत्थानसामान्यात्। आदित्याद्धि रश्मयो निर्गताः। समिधश्च धूमो लोक उत्तिष्ठति। अहर्[9]र्चिः प्रकाशसामान्यात्। दिशोऽङ्गारा [10]उपशमसामान्यात्। अवान्तरदिशो [11]विस्फुलिङ्गा विस्फुलिङ्गवद्विक्षेपात्[12]। [13]तस्मिन्नेतस्मि-

---

असावित्यादिना यतिष्यामित्यादिचतुर्थंप्रश्नस्य प्राथम्येन निर्णये क्रमभङ्गः स्यात्तत्र" च कारणं वाच्यमित्याशङ्क्याऽऽह—क्रमभङ्गस्त्विति। [14]मनुष्यजन्मस्थितिलयानां चतुर्थप्रश्ननिर्णया-धीनतया तस्य प्राधान्यात्प्राथम्ये सत्यर्थक्रममाश्रित्याविवक्षितस्य पाठक्रमस्य भङ्गः कृत इत्यर्थः। इन्द्रा-

---

'हे गौतम! यह द्युलोक ही अग्नि है' इस मन्त्र से चतुर्थ प्रश्न का उत्तर पहले दिया जाता है। क्योंकि इस प्रश्न के निर्णय के अधीन अन्य प्रश्नो का उत्तर निर्भर है, इसलिये क्रम भंग किया गया है। हे गौतम! यह द्युलोक अग्नि है। स्त्री और पुरुष मे अनग्नि के समान ही द्युलोक मे अग्नि दृष्टि की भावना का विधान किया गया है। 'तस्य" अर्थात् उस द्युलोक अग्नि का सम्यक् दीप्ति-कारक होने से आदित्य ही समिध् है क्योंकि आदित्य से ही यह लोक प्रकाशित होता है। रश्मि धूम है क्योंकि ईंधन से ऊपर उठना रूप समानता दोनो मे है। आदित्य मे ही रश्मियाँ निकली हैं और लोक व्यवहार मे समिध से धुआँ निकला है। प्रकाश साम्य होने से दिन ज्वाला है। ज्वालाद्यभाव होने से दिशाएं अङ्गारे है। विस्फुलिङ्ग के समान विक्षेप करने से विदिशाएँ विस्फुलिङ्ग हैं।

---

१ एवगुणविशिष्टे। २ इन्द्रादय। ३ द्रव्यस्थानीयाम्। ४ पञ्चम्यर्थे चतुर्थ्यौ। ५ अधिपति पितृणां ब्राह्मणानां च। ६ उत्पद्यते। ७ इत्यादीत्यन्तेन कण्डिका प्रतीकमुपादाय तस्यास्तात्पर्यमाह—चतुर्थ इत्यादिना। ८ लोक इति—यथा समिद्भिः प्रसिद्धोऽग्निरिति शेष। ९ दिनम्। १० ज्वालाद्य-भाव। ११ विदिश। १२ विश्लिष्टप्रत्ययवेद्यत्वसाम्यात्। १३ क्रमभङ्गे च। १४ उत्पत्ते स्तदधीनत्वाज्जन्मावत्ता स्थितिस्तथा स्थित्यपाय प्रयाणं च श्रुत्याऽभेदि क्रमस्तत इति वार्तिक विवृण्वन् भाष्य योजयति—मनुष्येत्यादिना। तदधीनत्वात् तुरीयप्रश्ननिर्णयायत्तत्वात्।

न्नेवंगुणविशिष्टे द्युलोकाग्नौ देवा इन्द्रादयः श्रद्धां जुह्वत्याहुतिद्रव्यस्थानीयां प्रक्षिपन्ति। तस्या आहुत्या आहुतेः सोमो राजा पितृणां ब्राह्मणानां च संभवति। तत्र के देवाः कथं जुह्वति किं वा श्रद्धाख्यं हविरित्यत उक्तमस्माभिः संबन्धे। नत्वेवैनयोस्त्वमुत्क्रान्तिमित्यादिपदार्थषट्कनिर्णयार्थमग्निहोत्र उक्तम्। ते वा एते अग्निहोत्राहुती हुते सत्यावुत्क्रामतः। ते अन्तरिक्षमाविशतः। ते अन्तरिक्षमाहवनीयं कुर्वाते वायुं समिधं मरीचीरेव शुक्रामाहुतिम्। ते अन्तरिक्षं तर्पयतः। ते तत उत्क्रामतः। ते दिवमाविशतः। ते दिवमाहवनीयं कुर्वाते आदित्यं समिधमित्येवमाद्युक्तम्।

दौनां कर्मानधिकारित्वाद्द्युलोकस्य चाऽऽहवनीयत्वाप्रसिद्धया होमाधारत्वायोगात् प्रत्ययस्य च श्रद्धाया होम्यत्वानुपपत्तेस्तस्मिन्नित्यादि वाक्यमयुक्तमिति शङ्कते—तत्रेति। होमकर्म सप्तम्यर्थः। अस्य ब्राह्मणस्य संबन्धग्रन्थे समाधानमस्य चोद्यस्यास्माभिरुक्तमित्याह—अत इति। तदेव दर्शयितुमग्निहोत्रप्रकरणे वृत्तं स्मारयति—नत्विति। किं तदुक्तमिति चेत्तदाह—ते वा इति। आहुत्योः स्वतन्त्रयोरुत्क्रान्त्यादि कथमित्याशङ्क्याऽऽह—तत्रेति।

"तस्मिन्नेतस्मिन्" अर्थात् ऐसे गुणो से युक्त उस इस द्युलोकरूप अग्नि मे इन्द्रादि देव आहुति द्रव्यस्थानीय श्रद्धा को "जुह्वति" अर्थात् हवन करते हैं। उस आहुति से पितरो और ब्राह्मणो का राजा सोम उत्पन्न होता है। वह देवता कौन है ? कैसे हवन करते है ? वह श्रद्धाख्य हवि क्या है ? इसीलिये इसके सबन्धभाष्य को हम कह चुके हैं कि 'तू इन साय-प्रात अग्निहोत्र की इन दोनो आहुतियो की उत्क्रान्ति को नही जानता है" इत्यादि। इसी प्रकार उत्क्रान्ति आदि षट्पदार्थ का निर्णय करने के लिए अग्निहोत्र प्रकरण मे कहा गया है— वे ये अग्निहोत्र की दोनो आहुतियाँ हुत होकर (यजमान के आश्रय से) ऊपर उत्क्रमण करती हैं, धूमादि के द्वारा अन्तरिक्ष मे प्रवेश करती हैं। वे अन्तरिक्ष को आहवनीय करती है वायु को समिध् करती है और किरणो को शुक्र आहुति करती है, वे अन्तरिक्ष को तृप्त करती हैं, वे इसमे भी ऊपर चली जाती है, वे द्युलोक मे प्रवेश करती हैं, वे द्युलोक को आहवनीय करती हैं और आदित्य को समिध् करती हैं इत्यादि (याज्ञवल्क्य जनक सवाद बृ उ ५ ४ १ मे) कहा जा चुका है।

---

१. अधिपति। २ उत्पद्यते। ३ हविरिति—कथं चोक्तहोमात्सोमोत्पत्तिरित्यपि द्रष्टव्यम्। ४ याज्ञवल्क्य प्रति जनक। ५ साय प्रातरनुष्ठितयोरग्निहोत्राहुत्यो। ६ आदिना गति प्रतिष्ठातृप्ति पुनरावृत्ति लोक प्रत्युत्थायी च गृह्यन्ते। ७ ते वा एते इत्यादि—अपूर्वरूपे सत्याहुतीयजमानमुत्क्रामन्तमाश्रित्य उत्क्रामत। धूमादिना यजमानोऽन्तरिक्षमाविशत इत्यादि बाध्यम्। ८ इत्येवमादीत्यादिना—त पूर्ववद्दिव तर्पयत ते तत आवर्तेते इमामाविश्य तर्पयित्वा पुरुषमाविशत तत. स्त्रियमाविश्य लोक प्रत्युत्थायी भवतीति गृह्यते। स्पष्ट चैतच्छा० भा० ६-४ १। ९ कर्मानधिकारित्वादिति—होतृत्वानुपपत्तेरिति भाव। १० अन्त करणवृत्तिविशेषस्य। ११ उक्तहोमाच्चन्द्रमस उत्पत्त्यसंभवादित्यपि द्रष्टव्यम्। १२ सार्वविभक्तिकस्तसिः अत्राऽत इत्यस्यार्थमाह—अस्य चोद्यस्येति। १३ उक्तमेव।

तत्राग्निहोत्राहुती ससाधने एवोत्क्रामतः । यथेह यैः साधनैर्विशिष्टे ये ज्ञायेते आहवनीयाग्निसमिद्धूमाङ्गारविस्फुलिङ्गाहुतिद्रव्यैस्ते 'तथैवोत्क्रामतोऽस्माल्लोकादमुं लोकम् । 'तत्राग्निरग्नित्वेन समित्समित्त्वेन धूमो धूमत्वेनाङ्गारा अङ्गारत्वेन विस्फुलिङ्गा विस्फुलिङ्गत्वेनाऽऽहुतिद्रव्यमपि पयआद्याहुतिद्रव्यत्वेनैव सर्गादाव व्याकृतावस्थायामपि परेण सूक्ष्मेणाऽऽत्मना व्यवतिष्ठते । तद्विद्यमानत्वमेव ससाधनमग्निहोत्रलक्षणं कर्मापूर्वेणाऽऽत्मना व्यवस्थितं सत्तत्पुनर्व्याकरणकाले 'तथैवान्तरिक्षादीनामाहवनीयाद्यग्न्यादिभावं कुर्वद्विपरिणमते । 'तथैवेदानीमप्यग्निहोत्राख्यं कर्म ।

यजमानस्य मृतिकालः सप्तम्यर्थः । ससाधनयोरेव तयोरुत्क्रान्तिर्न स्वतन्त्रयोरित्येतदुपपादयति—यथेत्यादिना । इहेति जीवदवस्थोच्यते । नष्टानामग्न्यादीनाम''व्याकृतभावापन्नत्वेना''विशेषप्रसङ्गान्न'' तैः'' सहाऽऽहुत्योरुत्क्रान्त्यादिसिद्धिरित्याशङ्क्याऽऽह—तत्राग्निरिति । नाशादूर्ध्वमपि ''प्रातिस्विकशक्तिरूपेणाग्न्यादिरवतिष्ठते तथा चाविशेषप्रसङ्गाभावादाहुत्योः ससाधनयोरेवोत्क्रान्त्यादिसिद्धिरित्यर्थः । ''यथोक्तयोराहुत्योरुत्क्रान्त्यादिसमर्थनेनाग्निहोत्राद्यपूर्वस्य जगदारम्भकत्वमुक्तं भवतीत्याह—तद्विद्यमानमिति । विद्यमानत्वमेव विशदयति—अपूर्वेणेति । अथ यथोदितया विधया ''कथमपि पूर्वकल्पीयं कर्म प्रलयदशायामव्याकृतात्मना स्थितं पुनर्जगदारभतां तथाऽपीदानींतनमग्निहोत्रादिकं कर्म कथं, जगदारम्भकं भविष्यतीत्याशङ्क्याऽऽह—तथैवेति । विमतमारम्भकं ''तच्छक्तिमत्त्वात्संप्रतिपन्नवदिति भावः ।

(यजमान के मरने के समय) अग्निहोत्र की दोनो आहुतियाँ साधन के सहित उत्क्रमण करती हैं। जिस प्रकार यहाँ ये दोनो आहुतियाँ जिन आहवनीय, अग्नि, समिध्, धूम, अङ्गार, विस्फुलिङ्ग और आहुतिद्रव्य रूप साधन से विशिष्ट जानी जाती है, उन्ही साधनो से विशिष्ट होकर वे इस लोक से उस लोक के प्रति उत्क्रमण करती हैं। वहाँ (नाशोत्तरकाल मे) सर्ग के प्रारम्भ मे अव्यक्त अवस्था (प्रलय) में भी अत्यन्त सूक्ष्म रूप से अग्नि अग्नित्व रूप से, समिध् समित्व से, धूम धूमत्व से, अङ्गार अङ्गारत्व से, विस्फुलिङ्ग विस्फुलिङ्गत्व से, आहुतिद्रव्य दुग्ध आदि भी आहुतिद्रव्यत्व से स्थित रहते हैं। साधन सहित वह अग्निहोत्र रूप कर्म अपूर्वात्मक व्यवस्थित होकर विद्यमान रहता हुआ ही जगत् के पुन व्याकृति के समय पूर्वकल्प के समान ही अन्तरिक्षादि का आहवनीयादि अग्न्यादिभाव करता हुआ विकार को प्राप्त हो जाता है। उसी पूर्वकल्पीय कर्म के समान ही आजकल अग्निहोत्र सज्ञक कर्म है।

---

१. आहुती । २ यथोक्तसाधनवैशिष्ट्येन । ३. नाशोत्तरकाले । ४. प्रलयेऽपि । ५. अत्यन्तम् । ६ पूर्वकल्पवदेव । ७ अन्तरिक्षादीनित्यादौ—प्रथमेनादिशब्देन द्युपृथ्वीपुरुषयोषितां ग्रहण द्वितीयेन गार्हपत्यदक्षिणाग्न्योः तृतीयेनादित्यसमिदादीनाम् । ८. तथैव—पूर्वकल्पीयकर्मवदेव । ९. इदानीमपि—इदानींतनमपीत्यर्थ । १०. अनभिव्यक्तनामरूपत्वेनेति भाव । ११. अविशेषप्रसङ्गात्—एकत्वापत्ते. । १२ न तैरिति—सहोत्क्रमणैर्भिन्नधर्मित्वादिति भावः । १३. साधने । १४. प्रातिस्विकशक्तिरूपेणेति—स्वीयस्वीयासाधारणसूक्ष्मरूपेणेत्यर्थं । १५ यथोक्तयोः । १६. कथमपीति—श्रुत्याद्यनिर्धारितप्रमाणविशेषेणेति यावद् । १७ आरम्भकशक्तिमत्त्वात् ।

एवमग्निहोत्राहुत्यपूर्वविपरिणामात्मकं जगत्सर्वमित्याहुत्योरेव स्तुत्यर्थत्वेनो-
त्क्रान्त्याद्या लोकं प्रत्युत्थायितान्ताः षट् पदार्थाः कर्मप्रकरणेऽधस्तान्निर्णीताः । इह तु
कर्तुः कर्मविपाकविवक्षायां द्युलोकाग्न्याद्यारभ्य पञ्चाग्निदर्शनमुत्तरमार्गप्रतिपत्तिसाधनं
विशिष्टकर्मफलोपभोगाय विधित्सितमिति द्युलोकाग्न्यादिदर्शनं प्रस्तूयते । तत्र य आध्या-
त्मिकाः प्राणा इहाग्निहोत्रस्य होतारस्त एवाऽऽधिदैविकत्वेन परिणताः सन्त इन्द्रादयो
भवन्ति त एव तत्र होतारो द्युलोकाग्नौ । ते चेहाग्निहोत्रस्य फलभोगायाग्निहोत्रं
हुतवन्तः । त एव फलपरिणामकालेऽपि तत्फलभोक्तृत्वात्तत्र तत्र होतृत्वं प्रतिपद्यन्ते
तथा तथा विपरिणममाना देवशब्दवाच्याः सन्तः । अत्र च यत्पयोद्रव्यमग्निहोत्रकर्माश्रय-

अग्निहोत्रप्रकरणस्यार्थं संगृहीतमुपसंहरति—एवमिति । उक्तमुपजीव्य प्रकृतब्राह्मणप्रवृत्ति-
प्रकारं दर्शयति—इह त्विति । उत्तरमार्गप्रतिपत्तिसाधनं विधित्सितमिति सबन्धः । किमित्युत्तरमार्ग-
प्रतिपत्तिस्तत्राऽऽह—विशिष्टेति । ब्राह्मणप्रवृत्तिमभिधायासौ वै लोकोऽग्निरित्यादिवाक्यप्रवृत्ति-
प्रकारमाह—इति द्युलोकेति । इत्थं ब्राह्मणे स्थिते सतीत्येतत् । भवत्वेवं तथाऽपि के देवा इति
प्रश्नस्य किमुत्तर तत्राऽऽह—तत्रेति । उक्तनीत्या पञ्चाग्निदर्शने प्रस्तुते सतीत्येतत् । इहेति व्यवहार-
भूमिग्रहः । कथं तेषां तत्र होतृत्वं तदाह—ते चेति । तथाऽपि कथं द्युलोकेऽग्नौ तेषां होतृत्व तदाह—
त एवेति । तत्फलभोक्तृत्वादित्यत्र तच्छब्दोऽग्निहोत्रादिकर्मविषयस्तद्भोक्तृत्वं च प्राणानां
जीवोपाधित्वादवधेयम् । तथा तथा द्युपर्जन्यादिसंबन्धयोग्याकारेणेति यावत् । के देवा इति प्रश्नो
निर्णीतः संप्रत्यवशिष्टं प्रश्नद्वयं निर्णेतुमाह—अत्र चेति । जीवदवस्थायामिति यावत् । सह कर्त्रेत्यत्र

इस प्रकार यह सारा जगत् अग्निहोत्र की आहुति से हुए अपूर्व का विकार रूप है, अन.
आगे कर्मप्रकरण मे उन आहुतियो की स्तुति के लिए उत्क्रमण से लेकर पुन प्रत्युत्थान होने तक छ
पदार्थों का निर्णय किया गया है । प्रकृत ब्राह्मण मे कर्ता के कर्मफल की विवक्षा होने पर द्युलोकाग्नि
आदि से लेकर, विशिष्टफल के उपभोग के लिये उत्तरमार्ग की प्राप्ति की साधनस्वरूपा पञ्चाग्नि
विद्या का विधान करना अभीष्ट है, इसलिये द्युलोकाग्न्यादिदर्शन प्रस्तुत किया जाता है । वहां जो
यजमान के शरीरवर्ती जो वागादि प्राण है, जाग्रत् अवस्था मे अग्निहोत्र के ऋत्विक् स्थानीय होते
हैं । वही आध्यात्मिक रूप मे परिणत होकर इन्द्रादि होते है, वे ही वहां द्युलोकाग्नि मे हवन करने
वाले हैं । उन्होने ही जाग्रदवस्था मे अग्निहोत्र का फल भोगने के लिए अग्निहोत्र किया था । फल के

१ इति स्तुत्यर्थत्वेनेति—आहुत्यपूर्वस्य निमित्तमात्रत्वेऽपि परिणामितया ध्यानाद्यर्थोपयोगादिय स्तुतिरिति
ध्येयम् । २ प्रकृतब्राह्मणे । ३ यजमानशरीरवासिन । ४ वागादय. । ५ जीवदवस्थायाम् ।
६ ऋत्विक्स्थानीयः । ७ फलपरिणामेति—अग्निहोत्रादिकर्मापूर्वस्य फलात्मना परिणामकालेऽपीत्यर्थ ।
८. द्युलोकाग्नौ । ९. क्रियाकर्माश्रयभूतम् । १० किमर्था । ११ भवत्वेवमिति—यथोक्तप्रकारेण
पञ्चाग्निदर्शनस्य प्रस्तुतत्व भवतु । तथापि—पूर्वोक्तरीत्या पञ्चाग्निदर्शने प्रस्तुतेऽपि । १२ इह तेषां होतृत्व-
ऽपि । १३. द्युपर्जन्यादी यादिना पृथिवीपुरुषयोषितो ग्राह्याः । १४. स्वरूपेण । १५ प्रश्नद्वयमिति—कथ
द्युलोकस्याहवनीयत्वं कथ वा श्रद्धाया होम्यत्वमित्येतद्द्वयम् ।

भूतमिहाऽऽहवनीये प्रक्षिप्तमग्निना भक्षितम[1]दृष्टेन सूक्ष्मेण रूपेण विपरिणतं सह कर्त्रा यजमानेनामुं लोकं धूमादिक्रमेणान्तरिक्षमन्तरिक्षाद्द्युलोकमाविशति । [2]ताः सूक्ष्मा आप आहुतिकार्यभूता अग्निहोत्रसमवायिन्यः कर्तृसहिताः [3]श्रद्धाशब्दवाच्याः सोमलोके कर्तुः शरीरारम्भाय द्युलोकं [4]प्रविशन्त्यो हूयन्त इत्युच्यन्ते । [5]तास्तत्र द्युलोकं प्रविश्य सोममण्डले कर्तुः शरीरमारभन्ते । [6]तदेतदुच्यते देवाः श्रद्धां जुह्वति तस्या आहुत्यै सोमो

[7]तच्छब्दो द्रष्टव्यः । अमुं लोकमाविशतीति सबन्धः । आवेशप्रकारमाह—धूमादीति । कथमे[8]तावता किं पुन. श्रद्धाख्यं हविरिति प्रश्नो निर्णीतस्तत्राऽऽह—ता सूक्ष्मा इति । [9]तथाऽपि कथं जुह्वतीति प्रश्नस्य [10]कथं निर्णयस्तत्राऽऽह—सोमलोक इति । [11]तथाऽपि [12]तस्या आहुतेः सोमो राजा संभवतीति कथमुच्यते तत्राऽऽह—तास्तत्रेति । निर्णीतेऽर्थे श्रुतिमवतारयति—तदेतदिति । कथं पुनरापः

परिणाम काल मे वे ही उस फल के भोक्ता होने से द्युलोकादि अग्नि मे वैसे-वैसे रूप से परिणत होकर देवशब्दवाच्य हुए होतृत्व को प्राप्त होते हैं । एव यहाँ अग्निहोत्र क्रिया का आश्रय भूत दुग्धरूप द्रव्य जो आहवनीय अग्नि मे डाला गया था, वह अग्नि द्वारा ग्रहण किया जाता हुआ अपूर्व सूक्ष्म रूप में परिणत हो कर्ता यजमान के सहित धूमादि क्रम से उस अन्तरिक्ष लोक मे और फिर अन्तरिक्ष लोक से द्युलोक में प्रवेश करता है । अपूर्वीभूत वह आहुति का कार्यभूत, श्रद्धा शब्द वाच्य अग्निहोत्र सबन्धी सूक्ष्म आप (जल) सोमलोक मे कर्ता के शरीर का आरम्भ करने के लिए कर्ता के सहित द्युलोक मे प्रवेश करते हुए "हवन किया जाता है" इस प्रकार कहा जाता है । वे वहाँ द्युलोक में प्रविष्ट होकर सोम मण्डल मे कर्ता का शरीर आरम्भ करते हैं । उक्त रीति से निर्णीत वस्तु को श्रुति

१ अपूर्वापरपर्यायेण । २ अपूर्वीभूता । ३ श्रद्धाशब्दवाच्या इति । अत्र वार्तिकम्—"आहुत्यो परिणामोऽप्यमूप्रसोऽपूर्वमित्यपि । तस्य श्रद्धैकहेतुत्वाच्छ्रद्धा नामेति कीर्त्यते" ॥८६॥ अग्निहोत्रादिकर्मापूर्वं श्रद्धाकार्यत्वादुपचारत श्रद्धाशब्दितमिति भाव । ४ प्रविशन्त्य इत्यादि—श्रद्धाशब्दितानां भूतान्तरसहितानां सोमाद्यात्मिकानामपूर्वात्मना परिणतानामपां कर्तुं शरीरारम्भाय द्युलोकप्रवेशनमेव होम इत्यर्थ । ५ सूक्ष्मा आप । ६ तदेतत्—उक्तरीत्या निर्णीतमेतद्वस्तु श्रुत्याख्यात इत्यर्थः । ७ तत् पयोद्रव्यम् । ८ एतावता—यथोक्तपयोद्रव्यस्य कर्तृसहितस्य धूमादिक्रमेण द्युलोकावेशकथनमात्रेण । ९ तथाऽपीति—किंवा श्रद्धाख्य हविरिति प्रश्ने निर्णीतेऽपीत्यर्थ । १० कथं निर्णय इति—अपूर्वस्यापि श्रद्धाख्यस्य न होम्यता सभवतीत्यभिप्राय । ११ तथाऽपीति—इत्थ श्रद्धाया होम्यत्वसिद्धावपीत्यर्थ १२ तस्या श्रद्धारूपाया आहुते सकाशात् ।

ᛜ शरीरमारभन्त इति । तथा च वार्तिकम्—"तस्याभिवृद्धि सभूतिर्न स्वभूतजनियंत" ॥ ८७ ॥ "आकृष्टं रश्मिभिस्तोयमादित्ये प्रतितिष्ठति । तस्मादादित्यग सोम क्षीण आप्यायते पुन ॥ परिणामो ह्यपां सोम शीतांशुस्तेन सोऽम्मय । श्रद्धाहुतहि सोमस्य सभव शास्त्र उच्यते ॥ अङ्गारश्चन्द्रमास्तस्मिन्हुतेऽग्नौ सोमसभव । सोमचन्द्रमसोरेव भेद शास्त्रेण दर्शित ॥ चन्द्रमा मण्डल स्वच्छ चन्द्रकेण मितो हि स । सोमस्तु मण्डले श्वेतो वर्धते ह्रसते च य. ॥ चन्द्रमा पर आदित्यादर्वाक्सोम श्रुतेर्मत । आदित्यश्चन्द्रमित्याह नैते सवत्सर तथा ॥ सोमचन्द्रमसोस्तस्माद्भेद समवगम्यते । दशाभेदादभिन्नो वा एष सोम इति श्रुते. ॥ भिन्नो च धर्म-

राजा संभवतीति । "श्रद्धा वा आपः" इति श्रुतेः ।

वेत्थ यतिथ्यामाहुत्यां हुतायामापः पुरुषवाचो भूत्वा समुत्थाय वदन्तीति प्रश्नस्तस्य च निर्णयविषयेऽसौ वै लोकोऽग्निरिति प्रस्तुतम् । तस्मादापः कर्मसमवायिन्यः कर्तुः शरीरारम्भिकाः श्रद्धाशब्दवाच्या इति निश्चीयते । भूयस्त्वादापः पुरुषवाच इति व्यपदेशो न त्वितराणि भूतानि न सन्तीति कर्मप्रयुक्तश्च शरीरारम्भः । कर्म चापसम-

श्रद्धाशब्दवाच्या न हि लोके श्रद्धाशब्दं तासु प्रयुञ्जते तत्राऽऽह—श्रद्धेति ।

उपक्रमवशादप्यापोऽत्र श्रद्धाशब्दवाच्या इत्याह—वेत्थेति । अपामेव पुरुषशब्दवाच्यानां शरीरारम्भकत्वान्न भूतान्तराणामिति कृत्वा तस्य पञ्चभूतारब्धत्वाभ्युपगमभङ्गः स्यादिति चेन्नेत्याह—भूयस्त्वादिति । अपां पुरुषशब्दवाच्यत्वे हेत्वन्तरमाह—कर्मेति । अथाकर्मप्रयुक्तमपि

कहती है—'देवगण श्रद्धा को होम देते हैं, उस आहुति से राजा सोम होता है" । तथा 'श्रद्धा ही जल-तत्त्व है' इस श्रुति से भी यही सिद्ध होता है ।

"क्या तुम जानते हो कि कितनी आहुतियों के हवन किये जाने पर 'आप' पुरुष शब्द वाच्य होकर उठकर बोलने लगता है" यह प्रश्न है, उसके निर्णय के लिए 'यह द्युलोक ही अग्नि है' इस प्रकार आरम्भ किया जाता है । इसलिये यह निश्चय होता है कि कर्ता के शरीर का आरम्भक कर्म-सबन्धी आप श्रद्धा शब्द वाच्य है । अन्य भूतों से जल की बहुलता होने से 'आप पुरुष शब्द वाच्य है' ऐसा व्यपदेश किया जाता है, इससे अन्य भूतों का अभाव सिद्ध नहीं हो जाता क्योंकि शरीरारम्भ

१ तस्मादिति—उपक्रमानुरोधादित्यर्थः । प्रश्ने ह्याप पुरुषवाचो भवन्तीत्युक्तमत्र चोत्तरे श्रद्धाहुतिस्तदर्थत्वे-नोच्यमानाऽपामेव श्रद्धाशब्दत्वं गमयति—अन्यथा प्रश्नोत्तरयोर्वैयधिकरण्यादिति भावः । २ कर्मसबन्धिन्यः । ३ शरीरारम्भकत्वम् । ४ शरीरस्य । ५ यद्वा देवादिपूज्यतमशरीराणामकर्मप्रयुक्तत्वं मत्वा शङ्कते—अथेति ।

भेदेन तस्मादुभयथा स्मृतिः ॥ ६१-६७ ॥ इति । तस्या आहुत्यै सोमो राजा संभवतीत्यत्र कीदृशी सोमस्य सम्भूतिस्तत्राऽऽह—तस्येति । तत्र हेतुमाह—न त्विति । सोमस्य प्रागेव सिद्धेरसतो जन्मायोगाद्वृद्धिरेव सम्भूतिः सा च सोमलोके कर्तृभोगाय देहान्तरारम्भकता 'तास्तत्र द्युलोकं प्रविश्य सोममण्डले कर्तुं शरीरमारभन्त' इति हि भाष्यमित्यर्थः ॥ श्रद्धाहुते सोमस्य सम्भूतिर्वृद्धिरित्युक्तं कथं निर्वहतीत्याशङ्क्याऽऽह—आकृष्टमिति । तच्छब्दस्तोयार्थः । कृष्णपक्षे क्षीयमाणः सोमोऽमावास्यायामादित्यान्तर्गतस्तद्गततोयेन शुक्लपक्षे क्रमेणाऽऽप्यायते सेयं वृद्धिः सोमस्य सम्भूतिः । 'विवस्वानंशुभिस्तीक्ष्णैरादाय जगतो जलम् । सोमे मुञ्चत्यथेन्दुश्च वायुनाडीमयैर्दिवि' ॥ इत्यादिस्मृतेरित्यर्थः ॥ ये तु सोमस्य तैजसत्वमाहुस्तथा तस्या आहुत्यै सोमो राजा संभवतीति विरोध इत्याह—परिणामो हीति । श्रुतिप्रसिद्धद्योतौ हिशब्दः । प्रत्यक्षं च तस्याऽऽप्यत्वमित्याह—शीतांशुरिति । किंच श्रद्धाख्यानामपां हुते सोमस्य संभवो यः शास्त्रे कथ्यते स सोमलोके कर्तृभोगार्थं देहान्तरारम्भ एव तथा च तस्य तैजसत्वेऽपि न क्षतिरिति विवक्षन्नाह—श्रद्धाहुतेरिति ॥ ननु द्युलोकाग्नौ श्रद्धाहुते सोमोत्पत्तिश्चेत्तत्कथं तस्य मनुष्यलोकाग्न्यावङ्गारत्वं चन्द्रमा अङ्गारा इति हि श्रुतिरित्याशङ्क्य सोमचन्द्रमसो-र्भेदं साधयति—अङ्गारा इति । तस्मिन्निति द्युलोकाग्नेरुक्तिः । कारकभूतश्चन्द्रमाः फलभूतः सोम इति भेद इत्यर्थः । तत्र प्रमाणं प्रकटयति—सोमेति । प्रागस्मिन्नत्र चन्द्रमा अङ्गारास्तस्या आहुत्यै सोमो राजेत्यादि ॥

भूतमिहाऽऽहवनीये प्रक्षिप्तमग्निना भक्षितमदृष्टेन सूक्ष्मेण रूपेण विपरिणतं सह कर्त्रा यजमानेनामुं लोकं धूमादिक्रमेणान्तरिक्षमन्तरिक्षाद्द्युलोकमाविशति। ताः सूक्ष्मा आप आहुतिकार्यभूता अग्निहोत्रसमवायिन्यः कर्तृसहिताः श्रद्धाशब्दवाच्याः सोमलोके कर्तुः शरीरारम्भाय द्युलोकं प्रविशन्त्यो हूयन्त इत्युच्यन्ते। तास्तत्र द्युलोकं प्रविश्य सोममण्डले कर्तुः शरीरमारभन्ते। तदेतदुच्यते देवाः श्रद्धां जुह्वति तस्या आहुत्यै सोमो

तच्छब्दो द्रष्टव्यः। अमुं लोकमाविशतीति संबन्धः। आवेशप्रकारमाह—धूमादीति। कथमेतावता किं पुनः श्रद्धाख्यं हविरिति प्रश्नो निर्णीतस्तत्राऽऽह—ताः सूक्ष्मा इति। तथाऽपि कथं जुह्वतीति प्रश्नस्य कथं निर्णयस्तत्राऽऽह—सोमलोक इति। तथाऽपि तस्या आहुतेः सोमो राजा संभवतीति कथमुच्यते तत्राऽऽह—तास्तत्रेति। निर्णीतेऽर्थे श्रुतिमवतारयति—तदेतदिति। कथं पुनराप:

परिणाम काल मे वे ही उस फल के भोक्ता होने से द्युलोकादि अग्नि में वैसे-वैसे रूप से परिणत होकर देवशब्दवाच्य हुए होतृत्व को प्राप्त होते हैं। एवं यहाँ अग्निहोत्र क्रिया का आश्रय भूत दुग्धरूप द्रव्य जो आहवनीय अग्नि मे डाला गया था, वह अग्नि द्वारा ग्रहण किया जाता हुआ अपूर्व सूक्ष्म रूप मे परिणत हो कर्ता यजमान के सहित धूमादि क्रम से उस अन्तरिक्ष लोक मे और फिर अन्तरिक्ष लोक से द्युलोक में प्रवेश करता है। अपूर्वीभूत वह आहुति का कार्यभूत, श्रद्धा शब्द वाच्य अग्निहोत्र सबन्धी सूक्ष्म आप (जल) सोमलोक मे कर्ता के शरीर का आरम्भ करने के लिए कर्ता के सहित द्युलोक मे प्रवेश करते हुए "हवन किया जाता है" इस प्रकार कहा जाता है। वे वहाँ द्युलोक में प्रविष्ट होकर सोम मण्डल मे कर्ता का शरीर आरम्भ करते हैं। उक्त रीति से निर्णीत वस्तु को श्रुति

१. अपूर्वापरपर्यायेण। २ अपूर्वीभूता.। ३ श्रद्धाशब्दवाच्या इति। अत्र वार्तिकम्—"आहुत्योः परिणामोऽस्मूर्ध्नसोऽपूर्वमित्यपि। तस्य श्रद्धैकहेतुत्वाच्छ्रद्धा नामेति कीर्त्यते" ॥८६॥ अग्निहोत्रादिकर्मापूर्वं श्रद्धाकार्यत्वादुपचारतः श्रद्धाशब्दितमिति भाव। ४ प्रविशन्त्य इत्यादि—श्रद्धाशब्दितानां भूतान्तरसहितानां सोमाद्यात्मिकानामपूर्वात्मना परिणतानामपां कर्तुः शरीरारम्भाय द्युलोकप्रवेशनमेव होम इत्यर्थः। ५. सूक्ष्मा आपः। ६ तदेतत्—उक्तरीत्या निर्णीतमेतद्वस्तु श्रुत्योच्यत इत्यर्थः। ७. तत् पयोद्रव्यम्। ८ एतावता—यथोक्तपयोद्रव्यस्य कर्तृसहितस्य धूमादिक्रमेण द्युलोकावेशकथनमात्रेण। ९ तथाऽपीति——किंवा श्रद्धाख्यं हविरिति प्रश्ने निर्णीतेऽपीत्यर्थः.। १०. कथं निर्णय इति—अपूर्वस्यापि श्रद्धाख्यस्य न होम्यता संभवतीत्यभिप्राय। ११ तथाऽपीति—इत्थं श्रद्धाया होम्यत्वसिद्धावपीत्यर्थः १२. तस्याः श्रद्धारूपाया आहुते सकाशात्।

* शरीरमारभन्त इति। तथा च वार्तिकम्—"तस्याभिवृद्धिः संभूतिर्न स्वभूतजनिर्यत." ॥ ८७ ॥ "आकृष्टं रश्मिभिस्तोयमादित्ये प्रतितिष्ठति। तस्मादादित्यगः सोमः क्षीणं आप्यायते पुनः॥ परिणामो ह्यपां सोम. शीतांशुस्तेन सोऽम्मयः। श्रद्धाहुतेर्हि सोमस्य संभवः शास्त्र उच्यते ॥ अङ्गाराश्चन्द्रमास्तस्मिन्हुतेऽग्नौ सोमसंभव। सोमचन्द्रमसोरेवं भेद शास्त्रेण दर्शित.॥ चन्द्रमा मण्डलं स्वच्छं चन्द्रकेण मितो हि सः। सोमस्तु मण्डले श्वेतो वर्धते ह्रसते च यः॥ चन्द्रमा परं आदित्यादर्वाक्सोमः श्रुतेर्मत.। आदित्यश्चन्द्रमित्याह नैते संवत्सर तथा॥ सोमचन्द्रमसोस्तस्माद्भेद. समवगम्यते। देशाभेदादभिन्नो तावेव सोम इति श्रुतेः॥ भिन्नो च धर्म-

राजा संभवतीति । "श्रद्धा वा आपः" इति श्रुतेः ।

वेत्थ यतिथ्यामाहुत्यां हुतायामापः पुरुषवाचो भूत्वा समुत्थाय वदन्तीति प्रश्नस्तस्य च निर्णयविषयेऽसौ वै लोकोऽग्निरिति प्रस्तुतम् । तस्मादापः कर्मसमवायिन्यः कर्तुः शरीरारम्भिकाः श्रद्धाशब्दवाच्या इति निश्चीयते । भूयस्त्वादापः पुरुषवाच इति व्यपदेशो न त्वितराणि भूतानि न सन्तीति कर्मप्रयुक्तश्च शरीरारम्भः । कर्म चाप्सम-

---

श्रद्धाशब्दवाच्या न हि लोके श्रद्धाशब्दं तासु प्रयुञ्जते तत्राऽऽह—श्रद्धेति ।

उपक्रमवशादव्यापोऽत्र श्रद्धाशब्दवाच्या इत्याह—वेत्थेति । अपामेव पुरुषशब्दवाच्यानां शरीरारम्भकत्वात्र 'भूतान्तराणामिति कृत्वा 'तस्य पञ्चभूतारब्धत्वाभ्युपगमभङ्गः स्यादिति चेन्नेत्याह—भूयस्त्वादिति । अपां पुरुषशब्दवाच्यत्वे हेत्वन्तरमाह—कर्मेति । 'अथाकर्मप्रयुक्तमपि

कहती है—"देवगण श्रद्धा को होम देते हैं, उस आहुति से राजा सोम होता है" । तथा 'श्रद्धा ही जलतत्त्व है' इस श्रुति से भी यही सिद्ध होता है ।

"क्या तुम जानते हो कि कितनी आहुतियों के हवन किये जाने पर 'आप' पुरुष शब्द वाच्य होकर उठकर बोलने लगता है" यह प्रश्न है, उसके निर्णय के लिए 'यह द्युलोक ही अग्नि है' इस प्रकार आरम्भ किया जाता है । इसलिये यह निश्चय होता है कि कर्ता के शरीर का आरम्भक कर्मसबन्धी आप श्रद्धा शब्द वाच्य है । अन्य भूतो से जल की बहुलता होने से 'आप पुरुष शब्द वाच्य है' ऐसा व्यपदेश किया जाता है, इससे अन्य भूतो का अभाव सिद्ध नही हो जाता क्योकि शरीरारम्भ

---

१. तस्मादिति—उपक्रमानुरोधादित्यर्थः । प्रश्ने ह्याप पुरुषवाचो भवन्तीत्युक्तमत्र चोत्तरे श्रद्धाहुतिस्तदर्थत्वेनोच्यमानाऽपामेव श्रद्धाशब्दत्व गमयति—अन्यथा प्रश्नोत्तरयोर्वैयधिकरण्यादिति भावः । २. कर्मसंबन्धिन्य । ३. शरीरारम्भकत्वम् । ४. शरीरस्य । ५ यद्वा देवादिपूज्यतमशरीराणामकर्मप्रयुक्तत्व मत्वा शङ्कते—अथेति ।

भेदेन तस्मादुभयथा श्रुति ॥ ६१-६७ ॥ इति । तस्या आहुत्यै सोमो राजा संभवतीत्यत्र कीदृशी सोमस्य सभूतिस्तत्राऽऽह—तस्येति । तत्र हेतुमाह—न त्विति । सोमस्य प्रागेव सिद्धेरसतो जन्मायोगाद्वृद्धिरेव सभूति. सा च सोमलोके कर्तृभोगाय देहान्तरारम्भकता 'तास्तत्र द्युलोक प्रविश्य सोममण्डले कर्तु शरीरमारभन्त' इति हि भाष्यमित्यर्थः ॥ श्रद्धाहुतेः सोमस्य सभूतिर्वृद्धिरित्युक्त कथ निर्वहतीत्याशङ्क्याऽऽह—आकृष्टमिति । तच्छब्दस्तोयार्थः । कृष्णपक्षे क्षीयमाण सोमोऽमावास्यायामादित्यान्तर्गतस्तद्गततोयेन शुक्लपक्षे क्रमेणाऽऽप्यायते सेय वृद्धिः सोमस्य सभूतिः । "विवस्वानशुभिस्तीक्ष्णैरादाय जगतो जलम् । सोमे मुञ्चत्यथेन्दुश्च वायुनाडीमयैर्द्विज" ॥ इत्यादिस्मृतेरित्यर्थः ॥ ये तु सोमस्य तैजसत्वमाहुस्तेषा तस्या आहुत्यै सोमो राजा संभवतीति विरोध इत्याह—परिणामो हीति । श्रुतिप्रसिद्धयर्थो हिशब्दः । प्रत्यक्ष च तस्याऽऽप्यत्वमित्याह—शीतांशुरिति । किंच श्रद्धाख्यानामपा हुतेः सोमस्य सभवो यः शास्त्रे कथ्यते स सोमलोके कर्तृभोगार्थं देहान्तरारम्भ एव तथा च तस्य तैजसत्वेऽपि न क्षतिरिति विवक्षयाऽऽह—श्रद्धाहुतेरिति ॥ ननु द्युलोकाग्नौ श्रद्धाहुते. सोमोत्पत्तिश्चेत्तत्कथं तस्य मनुष्यलोकाग्नावङ्गारत्व चन्द्रमा अङ्गारा इति हि श्रुतिरित्याशङ्क्य सोमचन्द्रमसोर्भेद साधयति—अङ्गारा इति । तस्मिन्निति द्युलोकाग्नेरुक्तिः । कारकभूतश्चन्द्रमा फलभूतः सोम इति भेद इत्यर्थः । तत्र प्रमाणं प्रकटयति—सोमेति । शास्त्रमत्र चन्द्रमा अङ्गारास्तस्या आहुत्यै सोमो राजेत्यादि ॥

चापि । ¹ततश्चापां प्राधान्यं शरीरकर्तृत्वे । ²तेन चाऽऽपः पुरुषवाच इति व्यपदेशः । कर्म³कृतो हि जन्मारम्भः सर्वत्र । तत्र यद्यप्यग्निहोत्राहुतिस्तुतिद्वारेणोत्क्रान्त्यादयः प्रस्तुताः षट्पदार्था अग्निहोत्रे तथाऽपि वैदिकानि सर्वाण्येव कर्माण्यग्निहोत्रप्रभृतीनि

प्रकृष्ट जन्मास्ति तत्कथमपां सर्वत्र पुरुषशब्दवाच्यत्वं तत्राऽऽह—कर्मकृतो हीति । 'अन्यथा' तत्र तत्र सुखदुःखप्रभेदोपभोगासंभवादिति भावः । यदि कर्मापूर्वशब्दवाच्यं 'भूतसूक्ष्मं सर्वत्र शरीरारम्भकं कर्म 'तर्हि पूर्वमग्निहोत्राहुत्योरेव व्यक्तं जगदारम्भकत्वमुक्तं तत्राऽऽह—तत्रेति । लक्ष्यन्तेऽग्निहोत्रा-

---

कर्मनिमित्तक है और कर्म आप सम्बन्धी है। इसलिए शरीर सृष्टि में जल की प्रधानता है। इसलिए भी आप पुरुषशब्दवाच्य है—ऐसा व्यपदेश किया जाता है। जन्म का आरम्भ सर्वत्र कर्म प्रयुक्त ही हुआ करता है। वहाँ अग्निहोत्र के प्रकरण में यद्यपि अग्निहोत्र की आहुतियों की स्तुति के द्वारा उत्क्रमण आदि छः पदार्थ वर्णित किये गये हैं तो भी उसमें अग्निहोत्रादि सभी वैदिक कर्म लक्षित होते हैं। स्त्री और अग्नि से सम्बद्ध पाङ्क्त कर्म प्रस्तुत करके श्रुति में कहा गया था—'कर्म से पितृलोक होता है'। तथा इसी को श्रुति आगे भी कहेगी—'जो यज्ञ, दान और तप से लोकों को जीतते

---

१ ततश्चेति—शरीरारम्भककर्मणोऽप्समवायित्वादेवेत्यर्थः । २ तेन चेति—अपां तत्कर्तृतायां प्राधान्येन हेतुनेत्यर्थः । ३ प्रयुक्त । ४ अन्यथेति—देवादिदेहानामकर्मप्रयुक्तत्वे । तत्र तत्र—देवादिदेहे । सुखेति—श्रूयते च तेषां तदुपभोगः पुराणादिष्व इति भाव । ५ ईश्वरत्वेन स्वीयकर्माप्रयुक्तमपि कृष्णाद्यवतारजन्म-साधुदुष्कृता कर्मप्रयुक्तमेव नेतरथा तत्तदवतारप्रयुक्तस्तेषां सुखदुःखोपभोग सम्भवतीत्यभिप्रायेणाह—अन्यथेति । अन्यथा—अवतारदेहानां कर्माप्रयुक्तत्वे । तत्र तत्र—तत्तदवतारविग्रहे सति । सुखेति—साधुदुष्कृतामित्यादि. । ६ भूतसूक्ष्ममित्यादि—अवतारदेहानाम् भौतिकत्वमेवेति मतेनेदम् । ७ अग्निहोत्रप्रकरणे । ८ न त्वेवैन-योरित्यादिना ।

पदार्थालोचनायामपि भेदसिद्धिरित्याह—चन्द्रमा इति । मण्डले चन्द्रम शब्दप्रवृत्तिनिमित्तमाह—चन्द्रेणेति । अभ्रकेण तुलित इत्यर्थः । सच्छब्दो मण्डलार्थः । मण्डलान्तर्वर्तिनि पुरुषे सोमशब्दप्रवृत्तिमाह—सोमस्त्विति । तत्र निमित्तमाह—वर्धत इति । तताद्रूपे वृद्धिह्रासदृष्टेरस्मिन्नपि पक्षभेदेन तद्भावात्तच्छब्दप्रवृत्ति । न च मण्डलस्यैव वृद्धिह्रासौ नियामकाभावादेवमेनास्तत्र भक्षयन्तीति च श्रुतेर्न च साऽपि मण्डलार्था तस्यानस्या-भोग्यत्वादित्यर्थः ॥ भेदकान्तरमाह—चन्द्रमा इति । आदित्यात्प्राग्पूर्वं च श्रुतयो सोमचन्द्रमसोर्भेद ओत-श्चेत्काऽसौ श्रुतिरित्याशङ्क्याऽऽह—आदित्यादिति । उत्तरमार्गगा संवत्सरद्वाराऽऽदित्यं गतास्तस्माच्चन्द्र गच्छन्तीति श्रुतिरादित्यात्पराञ्च चन्द्र ब्रूते । एते दक्षिणमार्गगा न संवत्सरमापद्यन्ते किंतु मासेभ्य पितृलोक पितृलोकाच्चन्द्रमेष सोमो राजेत्यादिश्रुतिरादित्यादर्वाञ्च सोममाह । न च चन्द्रस्याऽऽदित्यात्पराचीनत्वे तदन्त-र्वर्तिन सोमस्य तस्मादर्वाचीनत्वानुपपत्तिरैश्वर्यवशाद्देवतायास्तथात्वसम्भवादनेव प्रतिपत्ति-प्रायादित्यर्थः ॥ फलित भेद निगमयति—सोमेति । तयोरत्यन्तभेदश्चेत्कथमभेदोक्तिरित्याशङ्क्याऽऽह—देशेति । स्वरूपभेदे सत्येव देशाभेदेन पितृलोकाच्चन्द्रमेष सोमो राजेत्यभेदश्रुति सोमस्य मण्डलस्यन्वाद्देशान्तराभावादित्यर्थः ॥ कथं तर्हि भेदश्रुतिस्तत्राऽऽह—भिन्नौ चेति । धर्मभेदेन स्वरूपभेदेनेति यावत् । देशाभेदादभेदश्रुति स्वरूपभेदाद्-भेदश्रुतिरित्युपसंहरति—तस्मादिति ॥

पर्जन्यो वा अग्निर्गौतम तस्य संवत्सर एव समिद-भ्राणि धूमो विद्युदर्चिरशनिरङ्गारा ह्रादुनयो विस्फुलिङ्गास्तस्मिन्नेतस्मिन्नग्नौ देवाः सोमꣳ राजानं जुह्वति तस्या आहुत्यै वृष्टिः संभवति ॥१०॥

हे गौतम ! मेघ ही अग्नि है, सवत्सर ही उसका ईंधन है, क्योंकि संवत्सर के द्वारा ही मेघरूप अग्नि प्रदीप्त होता है। बादल धूम है, बिजली ज्वाला है, इन्द्र का वज्र अङ्गार है, मेघगर्जन चिनगारियाँ हैं। इस अग्नि में देवगण सोमराज को हवन करते हैं। उस सोम की आहुति से वर्षा होती है ॥१०॥

लक्ष्यन्ते । दाराग्निसंबद्धं हि 'पाङ्क्तं' कर्म 'प्रस्तुत्योक्तम्—'कर्मणा पितृलोक इति । 'वक्ष्यति च— अथ ये यज्ञेन दानेन तपसा लोकाञ्जयन्तीति ॥ ९ ॥

'पर्जन्यो वा अग्निर्गौतम द्वितीय आहुत्याधार 'आहुत्योरा'वृत्तिक्रमेण । पर्जन्यो नाम वृष्ट्युपकरणाभिमानी देवतात्मा । 'तस्य संवत्सर एव समित् । संवत्सरेण हि 'शरदादिभिर्ग्रीष्मान्तैः स्वावयवैर्विपरिवर्तमानेन पर्जन्योऽग्निर्दीप्यते । अभ्राणि धूमः । 'धूम-

---

हुत्वेति शेषः । लक्षणायां 'पूर्वोत्तरवाक्ययोर्गमकत्वमाह—दाराग्नीति ॥९॥

आद्यमाहुत्याधारमेवं निरूप्याऽऽहुत्याधारान्तराणि क्रमेण निरूपयति—पर्जन्यो वा अग्निरित्यादिना । कुतो'ऽस्य द्वितीयत्वमिति शङ्कित्वोक्तम्—आहुत्योरिति । अस्ति खल्वभ्राणां धूमप्रभवत्वे 'गाथा 'धूमज्योतिः सलिलमरुतां संनिपातः क्व मेघः' इति ॥१०॥

है (वे धूम को प्राप्त होते हैं)' इत्यादि ॥९॥

हे गौतम ! आहुतियों की आवृत्ति के क्रम द्वितीय आहुति का आधार मेघ ही अग्नि है । वृष्टि उपकरण के अभिमानी देवता का नाम पर्जन्य है । उसका सवत्सर समित् है । शरदादि से ग्रीष्मपर्यन्त अपने अवयवों द्वारा विभिन्न रूप से परिवर्तित हुए सवत्सर के द्वारा ही मेघ रूप अग्नि प्रदीप्त होता है । बादल धूम हैं, क्योंकि धूम से उत्पन्न होते हैं और धूम की तरह दिखायी देते हैं।

---

१. पाङ्क्तमिति—मनोवाक्प्राणचक्षुश्रोत्रैः पञ्चभिः साध्यम् आत्मजायाप्रजावित्तविद्याभिः साध्यं वा कर्म पाङ्क्तम् । २. बृ उ १. ४ १७ । ३. बृ उ १. ५ १६ । ४. बृ उ ६ २. १६ । ५. ससोमः पर्जन्याग्नौ हुतः सन् वृष्टिरूपेण परिणमत इत्याह—पर्जन्य इति । पर्जन्यो नाम वृष्ट्युपकरणाभिमानिदेवतात्मा-ऽग्निः । स च द्युलोकादावर्तनसमये द्वितीय आहुत्याधार इत्यर्थः । ६. आहुत्योरपूर्वात्मिकयोः । ७ आवृत्ति-क्रमेण—द्युलोकादेतं लोकं प्रत्यागमनक्रमेण । ८. पर्जन्याग्ने. । ९ शरदादीति—आदिना हेमन्तशिशिर-वसन्ता ग्राह्याः । १०. अभ्राणाम् । ११. पूर्वोत्तरेति—पञ्चाग्निप्रकरणापेक्षया पूर्वोत्तरत्वं वाक्यत्वारकर्म-सदर्शितत्वं तद्गताहुतिलक्षणागमकमिति ध्येयम् । १२. अस्य पर्जन्याग्निरूपस्याधारस्य । १३ कथा-काव्यम् ।

अयं वै लोकोऽग्निर्गौतम तस्य पृथिव्येव समिदग्नि-
र्धूमो रात्रिरर्चिश्चन्द्रमा अङ्गारा नक्षत्राणि विस्फु-

हे गौतम ! यह लोक ही अग्नि है, पृथिवी इसका ईंधन है, अग्नि धूम है, रात्रि ज्वाला है, चन्द्रमा अङ्गार है और नक्षत्र चिनगारियाँ हैं। इस अग्नि में देवगण वर्षा का हवन करते हैं। उस आहुति से अन्न उत्पन्न होता है। (समिधा के सबन्ध से ज्वाला और धूम उत्पन्न होता है)। अत.

प्रभवत्वाद्धूमवदुपलक्ष्यत्वाद्वा। विद्युदर्चिः। प्रकाशसामान्यात्। अशनिरङ्गाराः। उपशा-न्तत्वकाठिन्यसामान्याभ्याम्। ह्रादुनयो ह्रादुनयः स्तनयित्नुशब्दा विस्फुलिङ्गाः। विक्षेपानेकत्वसामान्यात्। तस्मिन्नेतस्मिन्नित्याहुत्यधिकरणनिर्देशः। देवा इति स एव होतारः सोमं राजानं जुह्वति। योऽसौ द्युलोकाग्नौ श्रद्धायां हुतायामभिनिर्वृत्तः सोमः स द्वितीये पर्जन्याग्नौ हूयते। तस्याश्च सोमाहुतेर्वृष्टिः संभवति ॥ १० ॥

अयं वै लोकोऽग्निर्गौतम। अयं लोक इति प्राणिजन्मोपभोगाश्रयः क्रियाकारक-फलविशिष्टः स तृतीयोऽग्निः। तस्याग्नेः पृथिव्येव समित्। पृथिव्या ह्ययं लोकोऽनेक-

---

एतल्लोकपृथिव्योर्देहदेहिभावेन भेदः। पृथिवीछाया हीति। एतानि हि चन्द्रं रात्रेस्तमसो

विद्युत् ज्वाला है क्योंकि प्रकाश से उसकी समानता है। वज्र अङ्गारे हैं क्योंकि इनमें उपशान्तत्व और काठिन्य की समानता है। "ह्रादुनय" अर्थात् स्तनयित्नु शब्द विस्फुलिङ्ग हैं क्योंकि विश्लिष्ट-प्रत्ययवेद्यत्व दोनों में समान है। उस इस पर्जन्य अग्नि में इस प्रकार कहकर आहुति के अधिकरण का निर्देश किया गया है। "देवा" अर्थात् यजमान वागादि प्राण ही आधिदैविक इन्द्रादिशब्दवाच्य होता राजा सोम को होमते हैं। जो यह द्युलोक में श्रद्धा का हवन करने पर निष्पन्न हुआ सोम था, उसे ही इस द्वितीय पर्जन्यरूप अग्नि में होमा जाता है। इस सोम की आहुति से वृष्टि होती है ॥१०॥

हे गौतम ! यह लोक ही अग्नि है। "अय लोक" अर्थात् प्राणियों के जन्म और उपभोग का

---

१ अशनि.—वज्रापरपर्याय प्रकाशाश्रय। २ विक्षेपो विश्लिष्टप्रत्ययवेद्यत्वम्। ३. पर्जन्याग्नौ। ४. स एवेति—प्रागुक्ता यजमानप्राणा वागादय एवाधिदैविकभूता इन्द्रादिशब्दवाच्या होतारस्तत्र भोक्तृत्वलक्षण होतृत्वमापद्यन्ते इत्यर्थः। ५ एवमुत्पन्नवृष्टिरस्मिँल्लोके हुता सत्यन्नरूपेण परिणमत इत्याह—अय वा इति। हे गौतम अय वै लोक पृथिव्यभिमानिदेवताया देहभूतस्तृतीयोऽग्नि तस्याग्ने पृथिव्येव पृथिव्यभिमानिदेवतैव सत् तया ह्यय लोक समिध्यते। ६ पृथिवीदेवतैव। ७ हीति—देहिना देहस्य प्रसिद्धा दीप्तिरिति हेतूकर्तुं हिशब्द। ८ नन्वय लोकोऽग्नि पृथिवी च तस्य समिदित्ययुक्तमेतल्लोकपृथिव्योरैक्यादेकस्मिन्नाग्निसमिद्भावा-योगादित्याशङ्क्याऽऽह—एतल्लोकेति। एतल्लोको दृश्यमाना पृथ्वीदेह पृथिवी च तदभिमानिदेवता देहीति भेद इत्यर्थ। ९ एतानीत्यादि—एतानि हि प्रसिद्धानि ज्योतींषि नक्षत्राणि। रात्रेस्तमसस्तमोभूताया रात्रेर्मृत्यो-र्मारकात् प्रकाशविरोधिन इति यावत् बिभ्यत को हि मत्क्षयपक्षे लोकमिममाह्लादयेदिति चिन्तया भीतप्राय चन्द्रमत्यपारयन् भवत्क्षयपक्षे वयमेव ममूय करिष्यामो भावत्क यथाशक्तिकार्यमित्याश्वासनेन समर्थमकुर्वन्निर्मुक्त-चिन्तमभावयन्निति यावत्।

लिङ्गास्तस्मिन्नेतस्मिन्नग्नौ देवा वृष्टिं जुह्वति तस्या आहुत्या अन्नꣳ संभवति ॥११॥

पार्थिव द्रव्यरूप ईंधन से अग्निरूप धूम की छायारूप रात्रि (अन्धकार) उत्पन्न होता है। अङ्गारे के समान होने से चन्द्रमा को अङ्गार कह दिया गया है। ११॥

संपन्नया समिध्यते । अग्निर्धूमः । [1]पृथिव्याश्रयोत्थानसामान्यात् । [2]पार्थिवं हीन्धनद्रव्यमाश्रित्याग्निरुत्तिष्ठति । यथा समिदाश्रयेण धूमः । रात्रिरर्चिः । समित्संबन्धप्रभवसामान्यात् । अग्नेः समित्संबन्धेन ह्यर्चिः संभवति । तथा पृथिवीसमित्संबन्धेन शर्वरी । पृथिवीछायां हि शार्वरं तम आचक्षते । चन्द्रमा अङ्गाराः । [3]तत्प्रभवत्वसामान्यात् । [4]अर्चिषो ह्यङ्गाराः प्रभवन्ति तथा रात्रौ उपशान्तत्वसामान्याद्वा । नक्षत्राणि विस्फुलिङ्गाः । विस्फुलिङ्ग-

---

मृत्योर्विभ्यतमत्यपारयन्' इति श्रुते रात्रेस्तमस्त्वावगमात्तस्य च '[5]मृत्युर्वै तमश्छाया मृत्युमेव तत्तमश्छायां तरतीति '[6]भूछायात्वं श्रुतम् । '[7]तमो राहुस्थानं तच्च भूछायेति हि प्रसिद्धम्—

"उद्धृत्य पृथिवीछायां निर्मितं मण्डलाकृति । स्वर्भानोस्तद्बृहत्स्थानं तृतीयं यत्तमोमयम्"

इति स्मृतेरित्यर्थः । '[8]सोमचन्द्रमसोराश्रयाश्रयिभावेन भेदः ॥११॥

आश्रयभूत एव क्रिया, कारक और फल से विशिष्ट यह लोक ही तृतीय अग्नि है। उस अग्नि का पृथिवी देवता ही समिध् है। पृथिव्यभिमानी देवता से ही जो प्राणियों के अनेक उपभोगसामग्रियो से सम्पन्न है, यह लोक दीप्त होता है। अग्नि देवता ही धूम है क्योंकि पृथिवी रूप आश्रय मे ऊपर उठने में इनकी समानता है। पार्थिव ईंधन द्रव्य को आश्रित करके अग्नि ऊपर उठता है, जिस प्रकार समिध् के आश्रय से धूम उठता है। रात्रि ज्वाला है क्योंकि समिध् के सबन्ध से उत्पन्न होना रूप समानता दोनो मे है। समिध् के सबन्ध से अग्नि मे ज्वाला उठती है, इस प्रकार पृथिवी रूप समिध् के सबन्ध से रात्रि होती है। पृथिवी की छाया को रात्रि का अन्धकार कहा जाता है। चन्द्रमा अङ्गार है क्योंकि रात्रि और अर्चि से उत्पन्न होने से दोनो मे समानता है। ज्वाला मे ही अङ्गारे उत्पन्न होते है इसी प्रकार रात्रि मे चन्द्रमा होता है अथवा उपशान्तत्व गुण दोनों में समान है। नक्षत्र विस्फुलिङ्ग हैं क्योंकि

---

१ पृथिव्याश्रयेति—उभयो पार्थिवद्रव्याश्रितत्वेनोत्थानसामान्यादिति यावत् । २ तदेव स्पष्टयति—पार्थिव हीति । ३ तत्प्रभवत्वेति चन्द्रमोऽङ्गारयो रात्र्यर्चिर्भ्यामुद्भवप्रकाशाश्रयत्वादिसामान्यादित्यर्थ. । ४. तदेव स्पष्टयति—अर्चिष इति । ५. मृत्युर्वै तमश्छाया प्रकाशविरोधिरात्रिरूप तमश्छायेत्यर्थः । तत्प्रकाशविरोधिच्छायाभूत तम कर्म । तेनैव ज्योतिषा नक्षत्रपरिवारेण चन्द्रमसैव तरति लोकोऽतिक्रामतीत्यर्थ.। ६. ननु च्छायामात्रत्व श्रुत न तु भूच्छायात्वमित्याशङ्कयाऽऽह—तमो राहुस्थानमिति भूछायात्व श्रुतमिति । ७ ननु च्छायामात्रत्व श्रुत न तु भूच्छायात्वमित्याशङ्कयाऽऽह—तमो राहुस्थानमिति रात्रिरूप तम एव हि राहो स्थित्यधिकरण तथोद्धृत्येत्यादिस्मृतिबलाद्भूच्छायेति सिद्धं रात्रिरूपस्य तमसो भूच्छायात्वमिति भावः । ८ ननु पूर्वं द्युलोकाग्नौ श्रद्धाहुते सोमोत्पत्तिरुक्ता तत्कथमिदानीं तस्यैव मनुष्यलोकाग्नावङ्गारत्वमुच्यत इत्याशङ्कयाऽऽह—सोमचन्द्रमसोरिति । सोम आश्रयी चन्द्रमा आश्रय इति स्पष्ट प्रकृतब्राह्मणवार्तिके (६२) इत्यादौ ।

पुरुषो वा अग्निर्गौतम तस्य व्यात्तमेव समित्प्राणो धूमो वागर्चिश्चक्षुरङ्गाराः श्रोत्रं विस्फुलिङ्गास्तस्मिन्नेतस्मिन्नग्नौ देवा अन्नं जुह्वति तस्या आहुत्यै रेतः संभवति ॥ १२ ॥

हे गौतम ! (हस्तपादादि अवयवों वाला) प्रसिद्ध पुरुष ही अग्नि है, उसका खुला हुआ मुख ही समिधा है, प्राण धूम है, वाणी ज्वाला है, (क्योंकि ज्वाला के समान वाणी से ही वस्तु का प्रकाश होता है) नेत्र अङ्गार है और श्रोत्र चिनगारियाँ हैं। इस पुरुषाग्नि में देवगण अन्न का हवन करते हैं। उस आहुति से अन्न का परिणाम वीर्य उत्पन्न होता है ॥ १२ ॥

वद्विक्षेपसामान्यात्। तस्मिन्नेतस्मिन्नित्यादि [1]पूर्ववत्। वृष्टिं जुह्वति तस्या आहुतेरन्नं संभवति वृष्टिप्रभवत्वस्य प्रसिद्धत्वाद्व्रीहियवादेरन्नस्य ॥ ११ ॥

[3]'पुरुषो वा अग्निर्गौतम प्रसिद्धः शिरःपाण्यादिमान्[4]पुरुषश्चतुर्थोऽग्निस्तस्य व्यात्तं विवृतं मुखं समित्। विवृतेन हि मुखेन दीप्यते पुरुषो वचनस्वाध्यायादौ। यथा समिधाऽग्निः। प्राणो धूमस्तदुत्थानसामान्यात्। मुखाद्धि प्राण उत्तिष्ठति। वाक्शब्दोऽर्चिर्व्यञ्जकत्वसामान्यात्। अर्चिश्च व्यञ्जकम्। तथा वाक्शब्दोऽभिधेयव्यञ्जकः। चक्षुरङ्गारा उपशमसामान्यात्प्रकाशाश्रयत्वाद्वा। श्रोत्रं विस्फुलिङ्गा विक्षेपसामान्यात्। [5]तस्मिन्नन्नं जुह्वति। ननु नैव देवा अन्नमिह जुह्वतो दृश्यन्ते। नैष दोषः। प्राणानां

योग्यानुपलब्धिविरोधमाशङ्कते—नन्विति। इहेति पुरुषाग्निनिर्देशः। शङ्कितं विरोधं

विस्फुलिङ्ग के समान विश्लिष्ट प्रत्यय वेद्य है। 'उस इस अग्नि में' इत्यादि व्याख्या पूर्वमन्त्र के समान समझ लेनी चाहिए। इसमें वृष्टि को होमते हैं, उस आहुति से भक्षण करने योग्य अन्न होता है क्योंकि व्रीहि-यवादि अन्न का वृष्टि से होना प्रसिद्ध ही है ॥ ११ ॥

हे गौतम ! पुरुष ही अग्नि है। हाथ पाँव आदि से युक्त प्रसिद्ध पुरुष शरीर ही चतुर्थ अग्नि है, उसका "व्यात्त" यानी खुला हुआ मुख ही समिध् है। बोलने व स्वाध्याय आदि में खुले मुख से पुरुष उसी प्रकार प्रकाशित होता है, जिस प्रकार समिध् से अग्नि। प्राण धूम है क्योंकि समिध् से ऊपर उठने के कारण दोनों में समानता है। मुख से प्राण ऊपर उठता है। व्यञ्जकत्व समानता से "वाक्" अर्थात् शब्द ज्वाला है। ज्वाला वस्तु की प्रकाशिका होती है। इसी प्रकार 'वाक्' यानी शब्द भी वाच्य अर्थ की प्रतीति कराने वाला होता है। उपशम अथवा प्रकाशाश्रय में समानता होने के

---

१. पूर्ववदिति—एतल्लोकाग्नौ देवा यजमानप्राणा वागादय एवाधिदैविकभूता इन्द्रादिदेवशब्दवाच्या वृष्टिमित्यादि। २. अन्नम्—अदनीयं व्रीहियवादि। ३. तदन्नं पुनः पुरुषाग्नौ हुतं सद्रेतो रूपेण परिणमत इत्याह—पुरुषो वा इति। ४. पुरुषदेह। ५. तस्मिन्निति—तस्मिन्नेतस्मिन्नेवगुणविशिष्टे पुरुषाग्नौ देवा आध्यात्मिका वागादयो यजमानप्राणा अन्नं जुह्वतीत्यर्थः।

योषा वा अग्निर्गौतम तस्या उपस्थ एव समिल्लोमानि धूमो योनिरर्चिर्यदन्तः करोति तेऽङ्गारा अभिनन्दा विस्फुलिङ्गास्तस्मिन्नेतस्मिन्नग्नौ देवा रेतो जुह्वति तस्या आहुत्यै पुरुषः सम्भवति स जीवति यावज्जीवत्यथ यदा म्रियते ॥ १३ ॥

हे गौतम ! स्त्री ही होमाधिकरण रूप अग्नि है। उपस्थ ही उसकी समिधा है, योनि ज्वाला है और जो मैथुन व्यापार करता है, वह अङ्गार है, आनन्दलेश चिनगारियाँ हैं। इस योषाग्नि मे देवगण वीर्य का हवन करते हैं। उस आहुति से पुरुष उत्पन्न होता है, वह पुरुष (तब तक) जीवित रहता है, जब तक उसके प्रारब्ध क्षीण नही होते। प्रारब्ध क्षीण होने पर वह मर जाता है ॥ १३ ॥

देवत्वोपपत्ते । अधिदैवमिन्द्रादयो देवास्त एवाध्यात्मं प्राणास्ते चान्नस्य पुरुषे प्रक्षेप्तारः । तस्या आहुते रेतः संभवति । अन्नपरिणामो हि रेतः ॥ १२ ॥

'योषा वा अग्निर्गौतम । योषेति स्त्री पञ्चमो होमाधिकरणोऽग्निस्तस्या 'उपस्थ एव समित् । तेन हि सा समिध्यते । लोमानि धूमस्तदुत्थानसामान्यात् । 'योनिरर्चिर्वर्ण-

निराकरोति—नैष दोष इति । उपपत्तिमेव दर्शयति—अधिदैवमिति ॥१२॥

कारण चक्षु अङ्गार है। विश्लिष्टप्रत्यय वेद्यत्व समानता होने से श्रोत्र विस्फुलिङ्ग है। इस प्रकार के गुणो से विशिष्ट पुरुषाग्नि मे आध्यात्मिक देवगण वागादि यजमान के प्राण अन्न को होमते हैं। (यहाँ शङ्का होती है—) किन्तु देवता लोग तो इस अग्नि मे हवन करते हुए दिखाई नही देते। (सिद्धान्ती परिहार करता है—) इसमे कोई दोष नही है क्योकि प्राणो को देव माना जाना सिद्ध है। इन्द्रादि अधिदेव ही अध्यात्म प्राण हैं, वे ही इस पुरुषाग्नि मे अन्न डालते है। उस अग्नि से रेतस् होता है क्योकि रेतस् होना अन्न का परिणाम है ॥ १२ ॥

(वही रेतस् पुन योषित् अग्नि मे डालने से पुरुषाकार परिणाम होता है—इससे) हे गौतम ! स्त्री ही अग्नि है। "योषा" अर्थात् स्त्री—यह पाँचवा होमाधिकरण अग्नि है। उपस्थेन्द्रिय ही उसका समिध् है। उसी से वह प्रदीप्त होती है। समिध् से उठने (एव वर्ण) की समानता होने के कारण लोम ही धूम है। वर्ण मे समानता होने के कारण (उपस्थेन्द्रियाश्रय प्रदेश) योनि ज्वाला है। जा

१ तस्मिन्नेतस्मिन् यथोक्तगुणविशिष्टे योषिदग्नौ देवा आध्यात्मिकवागादयो यजमानप्राणा रेतो जुह्वति तस्या आहुते पुरुष शिर पाण्यादिमान् सभवति इत्यव क्रमेण चतुर्थप्रश्ननिर्णय उक्त । एवमुत्पन्नस्य स्वाभाविक व्यापारमाह—स एव क्रमेण जात. पुरुषो जीवतीति । २ तदेव पुनर्योषाग्नौ हुत सत्पुरुषाकारेण परिणमत इत्याह—योषेति । ३ उपस्थ इतीन्द्रिय ग्राह्यम् । ४ तदुत्थानसामान्यादिति—वर्णसामान्यात्वेनेत्यपि द्रष्टव्यम् । ५ योनिरिति—उपस्थेन्द्रियाश्रयप्रदेश इत्यर्थः ।

सामान्यात् । यदन्तः करोति तेऽङ्गारा अन्तः करणं मैथुनव्यापारस्तेऽङ्गारा वीर्योपशमहेतुत्वसामान्यात् । [1]वीर्याद्युपशमकारणं मैथुनम् । तथाऽङ्गारभावोऽग्नेरुपशमकारणम् । अभिनन्दाः [2]सुखलवाः [3]क्षुद्रत्वसामान्याद्विस्फुलिङ्गाः । तस्मिन्रेतो जुह्वति । तस्या आहुतेः पुरुषः संभवति । एवं द्युपर्जन्यायंलोकपुरुषयोषाग्निषु क्रमेण हूयमानाः श्रद्धासोमवृष्ट्यन्नरेतोभावेन [4]स्थूलतारतम्यक्रममापद्यमानाः [5]श्रद्धाशब्दवाच्या आपः पुरुषशब्दवाच्यं शरीरमारभन्ते । यः प्रश्नश्चतुर्थो वेत्थ यतिथ्यामाहुत्यां हुतायामापः पुरुषवाचो भूत्वा समुत्थाय वदन्ती३ इति स एव निर्णीतः । पञ्चम्यामाहुतौ योषाग्नौ हुतायां रेतोभूता आपः पुरुषवाचो भवन्तीति । स पुरुष [6]एवं क्रमेण जातो जीवति । कियन्तं कालमिति । उच्यते—यावज्जीवति यावदस्मिञ्छरीरे स्थितिनिमित्तं कर्म विद्यते तावदित्यर्थः । अथ तत्क्षये

तस्या आहुत्यं पुरुषः संभवतीति व्याकरोति—एवमिति । पञ्चाग्निदर्शनस्य चतुर्थप्रश्ननिर्णायकत्वेन प्रकृतोपयोग दर्शयति—यः प्रश्न इति । निर्णयप्रकारमनुवदति—पञ्चम्यामिति । यथोक्तनीत्या जाते देहे [7]कथं पुरुषस्य जीवनकालो [8]नियम्यते तत्राऽऽह—स पुरुष इति । [9]पञ्चाग्निक्रमेण जातोऽग्निलयश्चाहं तेनाग्न्यात्मेति ध्यानसिद्धये चतुर्थाग्निमन्त्याहुत्यधिकरणं प्रस्तौति—अथेति । जीवननिमित्तकर्मविषयस्तच्छब्द ॥१३॥

भीतर करता है, वह अङ्गार है क्योंकि भीतर डालना रूप मैथुन व्यापार ही वे अङ्गार हैं क्योंकि वीर्य स्खलन होने मे उसकी समानता है । (वीर्य भी तेज: स्वभाव है) मैथुन वीर्यादि के स्खलन का हेतु है । उसी प्रकार अङ्गार भाव भी अग्नि के उपशम का कारण है । मैथुन जन्य "अभिनन्दाः" सुखलव ही विस्फुलिङ्ग है क्योंकि क्षणिकत्व की इनमे समानता है । इसलिये इस योषाग्नि में वीर्य का होम करते हैं । उस आहुति से पुरुष होता है । इस प्रकार द्युलोक, मेघ, इहलोक, पुरुष और योषाग्नियों मे क्रमश होमे गए श्रद्धा, सोम, वृष्टि, अन्न और वीर्य रूप से उत्तरोत्तर स्थूलता को प्राप्त करता हुआ श्रद्धाशब्द वाच्य भूतसूक्ष्म लक्षण 'आप' पुरुषशब्दवाच्य शरीर को आरम्भ करता है । 'क्या तुम जानते हो कि कितनी आहुतियो मे हवन किये जाने पर 'आप' पुरुषशब्दवाच्य होकर उठकर बोलने लगता है', इस पर चतुर्थ प्रश्न का निर्णय हो गया कि योषाग्नि म पाँचवी आहुति के होम किये जाने पर वीर्यभूत आप (जल) पुरुषशब्दवाच्य होता है । वह पुरुष इस क्रम से उत्पन्न हुआ जीवित रहता है । कितने समय तक जीता है ? इस पर श्रुति कहती है—'यावज्जीवति' अर्थात् जब तक जीवन धारण निमित्तक कर्म इस शरीर मे रहता है, तब तक जीवित रहता है । 'अथ' अर्थात् उनके क्षीण हो जाने पर 'यदा' यानी जिस समय मर जाता है ॥ १३ ॥

---

१. वीर्यमपि तेजःस्वभावम् । २ मैथुनजन्याः । ३. क्षणिकत्वसामान्यात् । ४ स्थूलतारतम्येत्यादि—उत्तरोत्तर स्थौल्य प्राप्नुवत्य इति यावत् । ५ भूतसूक्ष्मलक्षणा । ६ एवं क्रमेणेति—द्युपर्जन्यायंलोकपुरुषयोषाग्निष्वाहुतिक्रमेणेत्यर्थः । ७ कथंशब्द. प्रश्नार्थोऽयम् । ८ नियम्यते—नियतो ज्ञायत इति यावत् । ९. पञ्चाग्नीति—अत्र यदा पञ्चाग्निविदो गति विवक्षुर्वक्ष्यमाणगत्युपयोगिदेहप्रदर्शनार्थमन्त्येष्टिविषयं वाक्यं प्रस्तौतीत्यवतरणान्तरं द्रष्टव्यम् ।

अथैनमग्नये हरन्ति तस्याग्निरेवाग्निर्भवति समित्समिद्धूमो धूमोऽर्चिरर्चिरङ्गारा अङ्गारा विस्फुलिङ्गा विस्फुलिङ्गास्तस्मिन्नेतस्मिन्न[1]ग्नौ [2]देवाः पुरुषं जुह्वति तस्या आहुत्यै पुरुषो [3]भास्वरवर्णः संभवति ॥ १४ ॥

तब इस मृत पुरुष को अग्नि के लिए ऋत्विक्गण ले जाते हैं। उस पुरुष का प्रसिद्ध अग्नि ही होमाधिकरण अग्नि होता है, कोई कल्पित अग्नि नहीं। प्रसिद्ध समिधा ही समिधा होती है, धूम धूम होता है, ज्वाला ज्वाला होती है, अङ्गारे अङ्गारे होते हैं। प्रसिद्ध विस्फुलिङ्ग ही विस्फुलिङ्ग होते हैं। अर्थात् पूर्व के जैसे उक्त सभी कल्पित नहीं होते। उस इस अग्नि में देवगण पुरुषरूप अन्तिम आहुति का हवन करते हैं। आहुति से (गर्भाधान से लेकर अन्त्येष्टि तक के सभी संस्कार से सम्पन्न हो जाने के कारण) पुरुष अत्यन्त दीप्तिमान् हो जाता है ॥ १४ ॥

यदा यस्मिन्काले म्रियते ॥ १३ ॥

अथ तदैनं मृतमग्नयेऽन्त्यर्थमेवान्त्याहुत्यै हरन्ति ऋत्विजस्तस्याऽऽहुतिभूतस्य प्रसिद्धोऽग्निरेव होमाधिकरणं न परिकल्प्योऽग्निः। प्रसिद्धैव समित्समिद्धूमो धूमोऽर्चिरर्चिरङ्गारा अङ्गारा विस्फुलिङ्गा विस्फुलिङ्गा यथाप्रसिद्धमेव सर्वमित्यर्थः। तस्मिन्पुरुष[4]मन्त्याहुतिं जुह्वति तस्या आहुत्या आहुतेः पुरुषो भास्वरवर्णोऽतिशयदीप्तिमान्निषेकादिभिर[5]न्त्याहुत्यन्तैः कर्मभिः संस्कृतत्वात्संभवति निष्पद्यते ॥ १४ ॥

---

[6]वक्ष्यमाणकीटादिदेहव्यावृत्तये भास्वरवर्णविशेषणम्। दीप्त्यतिशयवत्त्वे हेतुमाह—निषेकादिभिरिति ॥ १४ ॥

"अथैनम्" अर्थात् तब इस मृत पुरुष को 'अग्नये' अर्थात् अन्तिम आहुति के प्रयोजन से अग्नि के लिए ही ऋत्विक् लोग ले जाते हैं। आहुतिभूत उस पुरुष का प्रसिद्ध अग्नि ही होमाधिकरण है; कोई कल्पित अग्नि नहीं। प्रसिद्ध समिध् ही समिध् है, धूम धूम है, अर्चि अर्चि है, अङ्गार अङ्गार होते हैं, विस्फुलिङ्ग विस्फुलिङ्ग होते हैं अर्थात् ये जिस प्रकार प्रसिद्ध है, उसी प्रकार होते हैं। उसमे पुरुष रूप अन्त्य सस्कार सिद्धि के लिए आहुति डालते हैं। उस आहुति से पुरुष गर्भाधान सस्कार से लेकर अन्त्येष्टि सस्कार पर्यन्त कर्मो से संस्कारयुक्त होने के कारण "भास्वरवर्णः सभवति" अर्थात् अतिशय दीप्ति युक्त हो जाता है ॥ १४ ॥

---

१. प्रसिद्धे। २. ऋत्विजः। ३. भास्वरवर्ण इति—सात्त्विकरूपवानित्यर्थः। तदुक्तं वार्तिके—"राजस तामस रूपमितो ह्यन्यत्र वक्ष्यते" ॥ ११६ ॥ इति। विद्वद्रूपात्सात्त्विकादिति इत्युक्तम्। अन्यत्र कर्मण्युभयभ्रष्टे वेत्यर्थः। ४. अन्त्याहुतिं जुह्वतीति—अन्त्यसंस्कारसिद्धयर्थं पितृमेधोक्तविधानतः प्रक्षिपन्तीत्यर्थः। ५. अन्त्याहुतिरन्त्येष्टिः। ६. बृ. उ. ६. २. १६।

[1]ते य एवमेतद्विदुर्ये चामी अरण्ये श्रद्धाᳬ सत्यमुपासते तेऽर्चिरभिसंभवन्त्यर्चिषोऽहरह्न आपूर्यमाणपक्षमापूर्यमाणपक्षाद्यान्षण्मासानुदङ्ङादित्य एति मासेभ्यो देव-

वे जो (गृहस्थ इस प्रकार पूर्वोक्त रीति से) इस पञ्चाग्नि विद्या को जानते हैं और जो सन्यासी या वानप्रस्थी श्रद्धायुक्त हो वन मे हिरण्यगर्भ की उपासना करते है, वे सभी ज्योति के अभिमानी देव को प्राप्त होते हैं। ज्योति के अभिमानी देव से दिन के अभिमानी देव को, दिन के अभिमानी देव से शुक्ल पक्ष के अभिमानी देव को, शुक्ल पक्ष के अभिमानी देव से उन उत्तरायण के छ महीनो के

इदानीं प्रथमप्रश्न[2]निराकरणार्थमाह—ते। के। [3]य एवं [4]यथोक्त पञ्चाग्निदर्शनमेत[5]द्विदुः। एवंशब्दादग्निसमिद्धूमार्चिरङ्गारविस्फुलिङ्गश्रद्धाविशिष्टाः पञ्चाग्नयो निर्दिष्टास्तानेवंतान्पञ्चाग्नीन्विदुरित्यर्थः। [6]नन्वग्निहोत्राहुतिदर्शनविषयमेवैतद्दर्शनम्। [7]तत्र

पञ्चाग्निविदो गतिं विवक्षुरुत्तरग्रन्थमवतारयति—इदानीमिति। ये विदुस्ते[8]ऽर्चिरभिसंभवन्तीति सम्बन्धः। एवंशब्दस्य प्रकृतपञ्चाग्निपरामर्शित्वं स्फुटीकर्तुं चोदयति—नन्विति। एवमेतद्विदुरिति श्रुतमेतद्दर्शनमित्युक्तम्। [9]तदेवेदमिति प्रत्यभिज्ञापकं दर्शयति—तत्र हीति। आदित्यदमादित्यं

अब प्रथम प्रश्न के समाधान के लिए कहा जाता है। "ते" इत्यादि। वे कौन? जो त्रैवर्णिक गृहस्थ तत्तत्समिदादियुक्त पञ्चाग्नि विद्या का अनुष्ठान करते हैं। 'एवं' शब्द अग्नि, समिध्, धूम, ज्वाला, अङ्गार, विस्फुलिङ्ग और श्रद्धादिविशिष्ट पाँचो अग्नियो का है, जो उनका इस प्रकार अनुष्ठान करते हैं। (इस पर शङ्का होती है—) किन्तु यह दर्शन तो अग्निहोत्र आहुतियो की उपासना के विषय में ही है। है। वहीं अग्निहोत्र प्रकरण मे उत्क्रान्ति आदि छ पदार्थों का निर्णय करते हुए—"द्युलोक को ही आहवनीय करते है"—इत्यादि कहा गया है। पञ्चाग्नि प्रकरण में भी 'इस लोक का अग्नित्व और

---

१ एव पञ्चाग्निविदो मृतस्य गतिं वक्तुं भागविप्रतिपत्ति (त्रिभिन्नमार्गगति) तत्साधनयो. प्रथमपञ्चमप्रश्नयोर्निर्णयार्थमाह—ते य एवमेतद्विदुरिति। ये गृहिणस्त्रैवर्णिका एवमुक्तसमिदादिविशिष्टान् पञ्चाग्नीन् विदुर्ये चामी वानप्रस्था श्रवणाद्यनधिकृता आश्रमधर्ममात्रनिरता सन्यासिनश्चारण्ये स्त्रीजनासंकीर्णे देशे श्रद्धापूर्वकं सत्यं हिरण्यगर्भस्य ब्रह्मोपासते ते पञ्चाग्निविद. सत्यब्रह्मविदश्च, अर्चिस्तदभिमानिनी देवतामातिवाहिकीं प्रतिपद्यन्त एवमग्रेऽपि योज्यम्। वैद्युतम् विद्युद्देवताम्। वैद्युतान् विद्युद्देवताप्राप्तान् उपासकान्। मानसो ब्रह्मणा मनसा सृष्टो ब्रह्मलोकनिवासी कश्चित्पुरुष। ते ब्रह्मलोक प्राप्ता उपासना परा उत्कृष्टाः सन्त। परावत—ब्राह्ममानमितान् संवत्सरान् शतसंख्याकान् वसन्ति। २ निराकरणमिह समाधान सामर्थ्यात्। ३ ये त्रैवर्णिका गृहस्था। ४ तत्तत्समिदादियुक्तम्। ५ अनुतिष्ठन्ति। ६ नन्वित्यादि—अग्निहोत्राहुत्युपासनविषयमेवैतदुपासनमिति शङ्कितुराशय। ७ अग्निहोत्रप्रकरणे। ८ अर्चिषमिति प्रमादपाठ अर्चिरभिसंभवन्तीत्यस्यैव न्याय्यत्वात्। ९ तदेवेदमिति—अग्निहोत्राहुतिदर्शनमेवेदं पञ्चाग्निदर्शनमित्यर्थः।

लोकं देवलोकादादित्यमादित्याद्वैद्युतं तान्वैद्युतान्पुरुषो मानस एत्य ब्रह्मलोकान्गमयति ते तेषु ब्रह्मलोकेषु पराः परावतो वसन्ति तेषां न पुनरावृत्तिः ॥ १५ ॥

अभिमानी देव को प्राप्त होते है, जिन छ महीनो मे सूर्य उत्तर की ओर होकर चलता है। पुन छ मास के अभिमानी देवो से देवलोक को, देवलोक से आदित्य को और आदित्य से विद्युत् के अभिमानी देवो के पास (ब्रह्मा के द्वारा मन से रचा हुआ ब्रह्मलोकवासी) एक मानस पुरुष आकर इन्हे ब्रह्मलोको मे ले जाता है। वे लोग उन ब्रह्मलोको मे अनेक वर्षों तक रहते हैं, उनका पुनरागमन नही होता है ॥ १५ ॥

ह्य, त्क्रमु[1]त्क्रान्त्यादिपदार्थषट्कनिर्णये दिवमेवाऽऽहवनीयं कुर्वति इत्यादि। [2]इहाप्यमुष्य लोकस्याग्निस्त्वमादित्यस्य च समित्त्वमित्यादि बहु साम्यम्। [3]तस्मात्तच्छेषमेवैतद्दर्शनमिति। न, यतिथ्यामितिप्रश्नप्रतिवचनपरिग्रहात्। यतिथ्यामित्यस्य प्रश्नस्य प्रतिवचनस्य च यावदेव परिग्रहस्तावदेवैवंशब्देन परामृष्टुं युक्तम्। अन्यथा प्रश्नानर्थक्यात्संख्यातत्वाच्च

समिधमि[4]त्यादि सगृहीतुम्। रश्मीनां धूमत्वमह्नोऽर्चिष्ट्वमित्यादि ग्रहीतुं द्वितीयमादिपदम्। प्रत्यभिज्ञाफलमाह—तस्मादिति। प्रश्नप्रतिवचनविषयस्यैव [5]प्रकृतस्यै[6]वशब्देन परामर्शात्र षट्प्रश्नीयं दर्शनमिह परामृष्टमिति परिहरति—नेत्यादिना। सगृहीत परिहारं विवृणोति—यतिथ्यामित्यस्येति। व्यधिकरणे षष्ठ्यौ। यावदेव वस्तुपरिग्रहो विषय इत्यर्थः। षट्प्रश्नीयमेव व्यवहितं दर्शनमत्र[7] परामृष्टं चेत्तदा यतिथ्यामिति प्रश्नो व्यर्थं स्यात्। षट्प्रश्नीनिर्णीतदर्शनशेषभूतदर्शनस्य प्रश्नाहते [8]प्रवचन-

---

आदित्य लोक का समित्त्व' इत्यादि उससे बहुत कुछ समानता है, इसलिये यह विद्या अग्निहोत्र आहुति दर्शन का ही शेष है। (इसका समाधान देते है—) ऐसा कहना ठीक नहीं है क्योकि इससे "यतिथ्याम्" इस प्रश्न के उत्तर का परिग्रह होता है। "यतिथ्याम्" इत्यादि प्रश्न और उसके उत्तर का जितना भी परिग्रह है, उतना ही 'एव' शब्द से विचार करना उचित है, अन्यथा प्रश्न की व्यर्थता सिद्ध हो जायगी। अग्निहोत्रसबन्धी पदार्थों की सख्या सम्यक् ज्ञात रहने से अग्नियो की सख्या ही प्रतिपादित करनी चाहिये। (इस पर शङ्का होती है—) अच्छी तरह से ज्ञात वस्तु का भी तो पुन कथन (अनुवाद) किया जाता है। (सिद्धान्ती इसका परिहार करता है—) अनुवाद तो यथाप्राप्त

---

१. उत्क्रान्त्यादीत्यादिना गतिप्रतिष्ठातृप्तिपुनरावृत्तिलोक प्रत्युत्थायिनो ग्राह्या। २ पञ्चाग्निप्रकरणेऽपि। ३ उक्तप्रत्यभिज्ञावशात्। ४. इत्यादीत्यादिना मरीचीरेव शुक्रामाहुतिमित्यादि ग्रह। ५ पञ्चाग्निदर्शनस्य। ६ विदु पदान्वितेनेति ध्येयम्। ७ प्रकृतवाक्ये। ८ प्रवचनसभवादिति—अन्यदाशेषिण एव पूर्व्ययोगादिति भाव। न हि दर्शपौर्णमासप्रयाजादिप्रवचनयोरन्तरेति प्रश्न इति द्रष्टव्यम्।

संख्याया अन्वय एव वक्तव्याः । अथ निर्ज्ञातमप्यनूद्यते । यथाप्राप्तस्यैवानुवदनं युक्तं न त्वसौ लोकोऽग्निरिति । अथोपलक्षणार्थः । तथाऽप्याद्येनान्त्येन चोपलक्षणं युक्तम् । श्रुत्यन्तराच्च । समाने हि प्रकरणे छान्दोग्यश्रुतौ पञ्चाग्नीन्वेदेति पञ्चसंख्याया एवोपादानादनग्निहोत्रशेषमेतत्पञ्चाग्निदर्शनम् । यत्त्वग्निसमिदादिसामान्यं तदग्निहोत्रस्तुत्यर्थमित्यवोचाम । तस्मादुत्क्रान्त्यादिपदार्थषट्कपरिज्ञानादर्चिरादिप्रतिपत्तिः ।

संभवादित्याह—अन्वयेति । किंच पूर्वस्मिन्ग्रन्थे प्रचयशिष्टतया पञ्चत्वसंख्याया निश्चितत्वात्तदवच्छिन्नाः सांपादिकाग्नय एवाग्रेवंशब्देन परामृष्टुमुचिता इत्याह—निर्ज्ञातत्वाच्चेति । अग्निहोत्रप्रकरणे निर्ज्ञातमेवाग्न्यादि पूर्वग्रन्थेऽप्यनूद्यते तथा चाग्निहोत्रदर्शनमव्यवहितमेवंशब्देन किं न परामृष्टमिति शङ्कते—अथेति । अग्निहोत्रदर्शनं पूर्वग्रन्थेऽनूद्यते चेत्तत्प्रकरणे प्राप्तरूपमनतिक्रम्यैवान्तरिक्षादेरग्न्यानुवदनं स्यान्न तु द्युलोकस्येनानुवदनं युक्तम् । अनुवादस्य पुरोवादमापेक्षत्वात् । न चात्रान्तरिक्षाद्यनूद्यते तस्मादेवंशब्दो नाग्निहोत्रपरामर्शीति परिहरति—यथाप्राप्तस्येति । द्युलोकादिवादस्यान्तरिक्षाद्युपलक्षणार्थत्वादपूर्वस्यानुवादत्वसंभवादेवंशब्दस्याग्निहोत्रविषयत्वसिद्धिरिति चोदयति—अथेति । प्रापकाभावादुपलक्षणपक्षायोगेऽप्यङ्गीकृत्य पञ्चाग्निनिर्देशवैयर्थ्येन दूषयति—तथाऽपीति । इतश्च स्वकल्पमेव पञ्चाग्निदर्शनमेवंशब्दपरामृष्टमित्याह—श्रुत्यन्तराच्चेति । समिदादिसाम्यदर्शनादग्निहोत्रदर्शनशेषमूनमेवैतद्दर्शनमित्युक्तमनूद्य दूषयति—यत्त्वित्यादिना । अवोचामाग्निहोत्रस्तुत्यर्थत्वादग्निहोत्रस्यैव कार्यमित्युक्तमित्यत्रेति शेषः । एवंशब्देनाग्निहोत्रपरामर्शासंभवे फलितमाह—तस्मादिति । तच्छ-

---

का करना उचित होता है, ऐसा अनुवदन सभव नही कि वह द्युलोक अग्नि है । (यहाँ शङ्का होती है—) यह द्युलोकादि का अनुवदन अन्तरिक्षादि के उपलक्षण के लिए हो सकता है । (सिद्धान्ती परिहार करता है—) तो भी उपलक्षण करना प्रारम्भ अथवा अन्त के पर्याय से सभव है । अन्य श्रुति से यही सिद्ध होता है । तुल्यविषयक प्रकरण मे छान्दोग्य श्रुति में "इन पाँच अग्नियों की जो

---

१ तुल्यविषयके । २ तत्र षडग्निसंख्यादिति भावः । ३ उपासनात् । ४ अग्नहोत्रवाक्यादनन्तरे । ५ पराम्रष्टुमुचिता इति– तेषामव्यवहितत्वादिति भावः । नन्वग्न्यव्यवहितत्वे न तेषां परामर्शस्तथापि तद्दर्शनस्याग्निहोत्रस्तुतित्वेन तच्छेषत्वे किं बाधकमित्यतस्तद्वत् सांपादिकाग्नीन् विशिनष्टि—तदवच्छिन्ना इति । पञ्चत्वसंख्याविशिष्टा इत्यर्थः । तथा च नैतेषां दर्शनमग्निहोत्रदर्शनशेषत्वमर्हं अस्य पञ्चभिरग्निभिरमुष्य च षड्भिः संबन्धेन वैरूप्यादिति भावः । नन्वत्राप्यग्नेर्भागत्रय इत्यत्रीति षट्श्रवणात्कथं पञ्चत्वमत आह – पञ्चत्वसंख्याया निश्चितत्वादिति । अत्र हेतुः— प्रचयशिष्टतयेति । प्रचयो नाम बहुत्वव्याप्यसंख्याविशेषपरिचायकशब्दो यथा अयश्चत्वारस्तृतीयश्चतुर्थ इत्यादि. । तेनोपदिष्टत्वादुपास्यानामग्नीनामित्यर्थः । अग्रे चोत्तरानुसारेण पञ्चमीत्याभिप्रायको यतिष्यामिति प्रश्नगत प्रचयः । षष्ठस्त्वग्निः प्रश्नबहिर्भावात्सांपादिकत्वाच्च दर्शनागोचर इति ध्येयम् । नन्वयुक्तमेतत् षष्ठोऽग्निदर्शनागोचर इति तस्याप्यग्निलयोऽहमिति दृष्टिभेदत्वेन ध्यायत्वाभ्युपगमादिति नाग्निहोत्रदर्शनेनास्य वैरूप्यमुभयत्र संख्यासामान्यादित्यभिप्रायेणपुनराशङ्कते—अग्नीत्यादिना । सांपादिका संपादनसिद्धा कल्पिता इति यावत् । ६ अस्या समिदाद्यादिप्राप्त्यम् । ७ अयथाप्राप्तस्यानुवदनात् । ८ प्रापक हि प्रमाणम् भवति । ९ अयोगेऽपीति—अन्यथाऽतिप्रसङ्गादिति भावः । १० अनन्यशेषमेव । ११. १४६६ पृष्ठभाष्ये ।

एवमिति प्रकृतोपादानेनार्चिरादिप्रतिपत्तिविधानात्।

के पुनस्ते य एवं विदुर्गृहस्था एव। ननु तेषां यज्ञादिसाधनेन धूमादिप्रतिपत्तिविधित्सिता। न, अनेवंविदामपि गृहस्थानां यज्ञादिसाधनोपपत्तेः। भिक्षुवानप्रस्थयोश्चारण्यसंबन्धेन ग्रहणात्। गृहस्थकर्मसंबद्धत्वाच्च पञ्चाग्निदर्शनस्य। अतो नापि ब्रह्मचारिण एवं विदुरिति गृह्यन्ते। तेषां तूत्तरे पथि प्रवेशः स्मृतिप्रामाण्यात्—

स्वार्थमेव स्फुटयति—एवमितीति। प्रकृतं पञ्चाग्निदर्शनं तच्च स्वतन्त्रमित्युक्तं तद्वतामर्चिरादिप्रतिपत्तिर्न केवलकर्मिणामित्यर्थः।

प्रश्नपूर्वकं वेदितृविशेषं निर्दिशति—के पुनरित्यादिना। गृहस्थानां यज्ञादिना पितृयाणप्रतिपत्ते वक्ष्यमाणत्वान्न देवयाने पथि प्रवेशोऽस्तीति शङ्कते—नन्विति। पञ्चाग्निविदां गृहस्थानां देवयाने पथ्यधिकारस्तद्रहितानां तु तेषामेव यज्ञादिना पितृयाणप्राप्तिरिति विभागोपपत्तेर्न वाक्यशेषविरोधोऽस्तीति समाधत्ते—नेत्यादिना। एवं विदुरिति सामान्यवचनात्पञ्चाग्निविदामन्येषामपि ग्रहणं स्यादिति चेन्नेत्याह—भिक्षुवानप्रस्थयोश्चेति। विधान्तरेण तयोरुत्तरमार्गे प्रवेशान्न पञ्चाग्निवित्त्वेन ग्रहणं पुनरुक्तेरित्यर्थः। गृहस्थानामेव पञ्चाग्निविदां तत्र ग्रहणमित्यत्र हेत्वन्तरमाह—गृहस्थेति। ब्रह्मचारिणां तर्हि ग्रहणं भविष्यति नेत्याह—अत इति। पञ्चाग्निदर्शनस्य गृहस्थकर्मसंबन्धादेवेत्येतत्। कथं तर्हि नैष्ठिकब्रह्मचारिणां देवयाने पथि प्रवेशस्तत्राऽऽह—तेषां त्विति। "अरण्य" संबन्धी य.

उपासना करता है"—इस प्रकार पाँच संख्या का ही ग्रहण करने के कारण यह पञ्चाग्निदर्शन (षडग्निसंबन्ध से) अग्निहोत्र का शेषत्व नहीं हो सकता तथा इसका जो अग्नि और समिधादि रूप साम्य है, वह तो अग्निहोत्र की स्तुति के लिये है—ऐसा हम पहले कह चुके हैं। अतः उत्क्रान्ति आदि पदार्थों की उपासना से ही अर्चि आदि मार्ग की प्राप्ति नहीं हो सकती, क्योंकि यहाँ 'एवम्' इस शब्द से प्रकृति के उपादान करने से अर्चि आदि मार्ग की प्राप्ति का विधान किया है।

किन्तु जो इस प्रकार जानते हैं, वे कौन हैं, त्रैवर्णिक गृहस्थ ही। (यहाँ शङ्का होती है—) किन्तु उन गृहस्थ त्रैवर्णिकों के लिए यज्ञादि साधन के द्वारा धूमादि मार्ग प्राप्ति का विधान करना इष्ट है। ऐसा कहना ठीक नहीं क्योंकि इस प्रकार न जानने वाले गृहस्थों के लिए यज्ञादि साधन हो सकते हैं। संन्यासी और वानप्रस्थी का अरण्य के संबन्ध से ग्रहण किया गया है। पञ्चाग्नि दर्शन गृहस्थ के नित्यादि रूप कर्म से संबद्ध है। इसलिये "एवं विदुः" में (ब्रह्मचर्याश्रमस्थ) ब्रह्मचारियों का भी ग्रहण नहीं किया जा सकता। उनका तो इस स्मृति के प्रमाण से उत्तर मार्ग में प्रवेश होता है—

१ त्रैवर्णिका। २ गृहस्थानाम्। ३ एवंविद्गृहस्थानार्योऽभिप्रायः। ४ गृहस्थकर्माणि नित्यादिरूप सदित्याह यदन्त. करोतीत्यादिकं तु प्रकाशितं। ५ नाप्यग्निहोत्राद्युपासितामित्यपि वाक्यम्। ६ बृ उ ६ २ १६। ७ सामान्यवचनादिति—सर्वनामयत्नश्रवणं कर्तृनिर्देशादिति यावत्। ८ विधान्तरेण—पञ्चाग्निविद्यापेक्षयाऽरण्यवासादिसाधनान्तरेणेति यावत्। ९ न एवं विदुरित्यत्र। १० भिक्षुवानप्रस्थयोर्ग्रहं। ११ ब्रह्मचारिणामग्रहे। १२ मूलस्य।

"अष्टाशीतिसहस्राणामृषीणामूर्ध्वरेतसाम् ।
उत्तरेणार्यम्णः पन्थास्तेऽमृतत्वं हि भेजिरे" इति ॥

'तस्माद्ये गृहस्था एवमग्निजोऽहमग्न्यपत्यमित्येवं क्रमेणाग्निभ्यो जातोऽग्निरूप इत्येवं ये विदुस्ते च ये चामी अरण्ये 'वानप्रस्थाः परिव्राजकाश्चारण्यनित्याः श्रद्धां श्रद्धायुक्ताः सन्तः सत्यं ब्रह्म हिरण्यगर्भात्मानमुपासते न पुनः श्रद्धां चोपासते ते सर्वेऽर्चिरभिसंभवन्ति ।

यावद्गृहस्थाः पञ्चाग्निविद्यां सत्यं वा ब्रह्म न विदुस्तावच्छ्रद्धाद्याहुतिक्रमेण पञ्चम्यामाहुतौ हुतायां ततो योषाग्नेर्जाताः पुनर्लोकं प्रत्युत्थायिनोऽग्निहोत्रादि-

---

पन्थास्तमासाद्य तेनोत्तरेण पथा ते यथोक्तसंख्या ऋषयः सापेक्षममृतत्वं प्राप्ता इति स्मृत्यर्थः । 'प्राथमान्तराणां पञ्चाग्निविद्येनाग्रग्रहणे फलितमाह—तस्मादिति । अग्निजत्वे फलितमाह—अग्न्यपत्यमिति । अग्निजत्वं साधयति—एवमिति । अग्न्यपत्यत्वे किं स्यात्तदाह—अग्नीति । इत्येवं ये गृहस्था विदुस्ते चेति योजना । अरण्यं स्त्रीजनासकीर्णो देशः । परिव्राजकाश्चेति त्रिदण्डिनो गृह्यन्तेऽन्येषामेषणाभ्यो व्युत्थितानां सम्यग्ज्ञाननिष्ठानां देवयाने 'पथ्यप्रवेशाद्वा'श्रममात्रनिष्ठा वा "तेऽपि गृह्येरन्निति द्रष्टव्यम् । श्रद्धाऽपि स्वयमुपास्या कर्मत्वश्रवणादित्याशङ्क्य "प्रत्ययमात्रस्य सापेक्षत्वादुपास्यत्वानुपपत्तेर्नैवमित्याह—न पुनरिति । सर्वे पञ्चाग्निविदः सत्यब्रह्मविदश्चेत्यर्थः ।

विनाऽपि विद्याबलमर्चिरभिसंपत्तिः स्यादिति चेन्नेत्याह—यावदिति । कर्म कृत्वा लोकं

"अट्ठासी हजार नैष्ठिक ब्रह्मचारी ऋषियो का मार्ग सूर्य से उत्तर की ओर है, वे सापेक्ष अमृतत्व को प्राप्त किए है" ।

इसलिये जो गृहस्थ 'मैं अग्नि से उत्पन्न, अग्नि की सन्तान हूँ' इस तरह क्रमशः अग्नि से उत्पन्न अग्निरूप अपने को जानते है, वे और "अमी अरण्ये" अर्थात् निरन्तर वन में रहने वाले वानप्रस्थ और सन्यासी "श्रद्धा" यानी श्रद्धायुक्त होकर "सत्यमुपासते" अर्थात् हिरण्यगर्भ ब्रह्म की उपासना करते हैं । श्रद्धा की उपासना करते हैं, ऐसा नही समझना चाहिये । वे सब अर्चि अभिमानी अतिवाहिकी देवता को प्राप्त कर लेते हैं ।

जब तक गृहस्थ लोग पञ्चाग्नि अथवा सत्यात्मक ब्रह्म को नही जानते; तब तक वे श्रद्धादि *(सोम, वृष्टि, अन्न, वीर्यरूप)* आहुतियो के क्रम मे पञ्चम आहुति के हवन किये जाने पर उससे योषाग्नि मे उत्पन्न होकर, पुन लोक मे उत्थान करने वाले होकर अग्निहोत्रादि कर्मों के अनुष्ठान

---

१. अवतरणोक्तत्वात् । २ वानप्रस्था इति—यद्यपि श्रद्धापूर्वक सत्योपासनस्य गृहस्थेष्वपि संभवस्तथापि ये चेत्यादौ वानप्रस्थानाममुख्ययतीना च ग्रहणमरण्यविशेषणस्य तेष्वेव समर्थादित्यवधेयम् । ३. अर्चिरभिसंभवन्तीति—अर्चिरभिमानिनीमातिवाहिकी देवता प्रतिपद्यन्त इत्यर्थ. । ४. श्रद्धादीत्यादिना सोमवृष्ट्यन्नरेतांसि गृह्यन्ते । ५ लोक प्रतीति—परलोक प्रति गमनशीला सन्तः । ६ भिक्षुवानप्रस्थब्रह्मचारिणाम् । ७ अन्येषाम्—परमहंसपरिव्राजकानामित्यर्थः । ८. पथ्यप्रवेशादिति—"न तस्य प्राणा उत्क्रामन्तीत्यादि" श्रुतेरिति भाव: । ९ धर्ममात्रनिष्ठा । १०. परमहंसपरिव्राजका अपि । ११. प्रत्ययसापेक्षवृत्तिर्हि विषयसापेक्षा न हि निर्विषया भवति वृत्तिरिति भाव. ।

कर्मानुष्ठातारो भवन्ति । तेन कर्मणा 'धूमादिक्रमेण पुनः पितृलोकं पुनः 'पर्जन्यादिक्रमेणे-'ममावर्तन्ते । ततः पुनर्योषाग्नेर्जाताः पुनः कर्म कृत्वेत्येवमेव घटीयन्त्रवद्गत्यागतिभ्यां पुनः पुनरावर्तन्ते । यदा त्वेवं विदुस्ततो घटीयन्त्रभ्रमणाद्विनिर्मुक्ताः सन्तोऽर्चिरभि-संभवन्ति । अर्चिरिति नाग्निज्वालामात्रं किं तर्ह्यर्चिरभिमानिन्यर्चिःशब्दवाच्या देवतोत्तरमार्गलक्षणा 'व्यवस्थितैव तामभिसंभवन्ति । न हि परिव्राजकानामग्न्यर्चिषैव साक्षात्संबधोऽस्ति । 'तेन देवतैव परिगृह्यतेऽर्चिःशब्दवाच्या । अतोऽहर्देवताम् । मरणकाल-नियमानुपपत्तेरहःशब्दोऽपि देवतैव । आयुषः क्षये हि मरणम् ।'' नह्येवं''विद्वाऽह्न्येव मर्तव्यमित्यहर्मरणकालो नियन्तुं शक्यते । न च रात्रौ प्रेताः सन्तोऽहः प्रतीक्षन्ते । ""स''

प्रत्युत्थायिन इति पूर्वेण सबन्धः । केवलकर्मिणां देवयानमार्गप्राप्तिर्नास्तीत्युक्तं निगमयति—इत्येव-मेवेति । विदुषामेव देवयानप्राप्तिमुपसंहरति—यदा त्विति । नन्वर्चिषो ज्वालात्मनोऽस्थैर्यात्तदभि-संपत्तिर्न फलाय कल्पते तत्राऽऽह—अर्चिरितीति । अर्चिःशब्देन यथोक्तदेवताग्रहे लिङ्गमाह—न हीति । अतोऽर्चिर्देवतायाः सकाशादिति यावत् । अहःशब्दस्य कालविषयत्वमु''क्तदोषाभावादिति चेन्नेत्याह—मरणेति । नियमाभावमेव व्यनक्ति—आयुष इति । विद्वद्विषये नियममाशङ्क्याऽऽह—न हीति । ननु रात्रौ मृतोऽपि विद्वानहरपेक्ष्य फलो संपत्स्यते नेत्याह—न चेति ।

करने वाले होते हैं। उस कर्म से वे दक्षिणायन और उत्तरायण क्रम से पुन. पितृलोक को प्राप्त करते हैं। पुन पर्जन्य, पृथिवी, अन्न, पुरुष और योषित् क्रम से इस लोक मे लौट आते हैं। फिर योषाग्नि मे उत्पन्न होकर पुन कर्म करते हुए, इस प्रकार घटीयन्त्र के समान उनका आवागमन बराबर लगा रहता है। जब यथोक्त समिधादि विशिष्ट पञ्चाग्नि विद्या को जानते है; तब घटीयन्त्र के के भ्रमण के छूट कर अर्चि को प्राप्त होते हैं। अग्नि की ज्वालामात्र ही अर्चि नही है। तो क्या है ? अर्चि का अभिमानी अर्चिशब्दवाच्य देवता है, वह उत्तरमार्गरूपा और स्थिरा ही अर्चि है, उसे प्राप्त होते है। सन्यासियो का अग्नि अर्चि से साक्षात् सवन्ध नही है। इसलिए अर्चिशब्दवाच्य देवता ही ग्रहण किये जाते है। यहाँ से "अहर्" देवता को प्राप्त होते हैं। मरने के समय मे कोई नियम न होने से 'अहर्' शब्द से "अहर्"शब्दवाच्य देवता का ग्रहण होता है। आयु के क्षीण होने पर मृत्यु होती है। यथोक्त पञ्चाग्नि उपासक को दिन मे ही मरना चाहिये, इस पर दिन मे ही मरणकाल को नियन्त्रण कर पाना सभव नही है। रात्रि मे मरे हुए उपासक (आगे जाने के लिए)

---

१ धूमादीत्यादि—शब्दानि रात्रिकृष्णपक्षदक्षिणायनानि । २ प्राप्नुवन्ति । ३. पर्जन्यादीत्यादिशब्द-प्राह्यत्व पृथिव्यन्नपुरुषयोषिताम् । ४ लोकम् । ५ एवंविदु—यथोक्तसमिदादिविशिष्टान् पञ्चाग्नीन् विदु । ६ सत यथोक्तवेदनात् । ७ स्थिरैव । ८. तेन—परिव्राजकानामग्न्यर्चिषा साक्षात्सबन्धाभावेन । ९ शब्द. शब्दवाच्या । १० यथोक्तपञ्चाग्निविद । ११. न ह्येवविशेऽह्न्येवेत्यादि । अत्रेदमवधेयम्—भीष्मकालप्रतीक्षास्मृतिस्तत्पितृस्तुतिपरैव महानुभावोऽस्य छन्दनुग्रहात्स्वच्छन्दमरणोऽभून्द्भीष्म इति । अदृष्टनिमि-त्तैव तु देहस्थितिरिति । १२. स यावदिति—स उत्क्रमिष्यन् विद्वान् यावता कालेन मनसः क्षेपः स्यात्तावता कालेनादित्य प्राप्नोतीत्यर्थं । क्षिप्रमिव गच्छतीति विवक्षित न तु तावतैव कालेनेति ध्येयम् । १३. छा. उ ८. ६. ५ । १४ उक्तदोषेति—न हि परिव्राजकानामित्याद्युक्तदोषेत्यर्थ. ।

यावद्विक्षिप्येन्मनस्तावदादित्यं गच्छति" इति श्रुत्यन्तरात् ।

अह्न आपूर्यमाणपक्षमहर्देवतयाऽतिवाहिता[1] आपूर्यमाणपक्षदेवतां प्रतिपद्यन्ते शुक्लपक्षदेवतामित्येतत् । आपूर्यमाणपक्षाद्यान्षण्मासानुदङ्ङुत्तरां दिशमादित्यः सवितेति तान्मासान्प्रतिपद्यन्ते शुक्लपक्षदेवतयाऽतिवाहिताः सन्तः । मासानिति बहुवचनात्संघचारिण्यः षडुत्तरायणदेवतास्तेभ्यो मासेभ्यः षण्मासदेवताभिरतिवाहिता देवलोकाभिमानिनीं देवतां प्रतिपद्यन्ते । देवलोकादादित्यमादित्याद्वैद्युतं विद्युदभिमानिनीं देवतां प्रतिपद्यन्ते । विद्युद्देवतां प्राप्तान्ब्रह्मलोकवासी पुरुषो ब्रह्मणा मनसा सृष्टो मानसः कश्चिदेत्याऽऽगत्य ब्रह्मलोकान्गमयति । ब्रह्मलोकानित्यधरोत्तरभूमिभेदेन भिन्ना इति गम्यन्ते बहुवचनप्रयोगात् । [2]उपासनतारतम्योपपत्तेश्च । [3]ते तेन पुरुषेण गमिताः सन्तस्तेषु ब्रह्मलोकेषु पराः प्रकृष्टाः सन्तः स्वयं परावतः प्रकृष्टाः समाः संवत्सराननेकान्वसन्ति ब्रह्मणोऽनेकान्कल्पान्[4]वसन्तीत्यर्थः । तेषां ब्रह्मलोकं गतानां नास्ति पुनरावृत्तिरस्मिन्संसारे न

एकस्मिन्नेव ब्रह्मलोके कथं बहुवचनमित्याशङ्क्याऽऽह—ब्रह्मेति । ब्रह्मलोकानिति बहुवचनप्रयोगादिति सम्बन्धः । [5]अत्र ब्रह्मलोका विशेष्यत्वेन गृह्यन्ते । बहुवचनोपपत्तौ हेत्वन्तरमाह—उपासनेति । कल्पशब्दोऽत्रा[6]वान्तरकल्पविषयः । तेषामिह न पुनरावृत्तिरिति [7]वशिष्ठपाठादस्मिन्नित्यादिव्याख्यान-

---

दिन की प्रतीक्षा करते हो—ऐसी बात नहीं है । उत्क्रमण करते हुए वह विद्वान् जितने समय में मन आदित्य के पास पहुँचता है, उतनी देर में आदित्य लोक पहुँच जाता है'' ऐसा अन्य श्रुति में भी कहा है ।

''अह्न आपूर्यमाणपक्षम्'' अर्थात् अहर् देवता से ऊपर गये उपासक आपूर्यमाणपक्षदेवता से यानी शुक्लपक्षदेवता को प्राप्त होते हैं आपूर्यमाणपक्षदेवता से जिन छः महीनों में ''आदित्य'' अर्थात् सूर्य उदङ् अर्थात् उत्तर दिशा की ओर चलता है, उन मासों को शुक्लपक्षदेवता द्वारा ऊपर जाने पर प्राप्त करते हैं । मन्त्र में ''मासान्'' इस बहुवचन प्रयोग से छः उत्तरायण देवता संगठित होकर चलते हैं उन ''मासेभ्य'' अर्थात् छः मास देवताओं से ऊपर ले जाये जाने पर वे देवलोकाभिमानी देवता को प्राप्त होते हैं। देवलोक से आदित्य, आदित्य से ''वैद्युतम्'' यानी विद्युत् के अभिमानी देवता को प्राप्त होते हैं। विद्युत् देवता को प्राप्त हुए इन उपासकों के ब्रह्मा के द्वारा 'मानस' अर्थात् कोई मन से रचा हुआ पुरुष 'एत्य' आकर इन्हें ब्रह्मलोकों को ले जाता है। मन्त्र में 'ब्रह्मलोकान्' इस प्रकार बहुवचन प्रयोग से नीचे ऊँची भूमि भेद से भेद होना सम्भव है ।

---

१ उपासकाः । २ उपासनत्यादे—साधनतारतम्यात्फलतारतम्यं गृहीत्वा बहूक्तिरिति भावः । ३ ते—पञ्चाग्निविदः सत्यब्रह्मविदश्च तेन मानसेन पुरुषेण गमिता ब्रह्मलोकं प्रापिताः । ४ भूतानां स्थितिं कल्पयन्तीति कल्पाः । अनेकान् कल्पानिति—ब्रह्मणोऽनेकानि दिनानीत्यर्थः । 'कल्पः शास्त्रे विधौ न्याये संवर्ते ब्रह्मणो दिने' इति मेदिनीकारः । संवर्तः प्रलयः । ५ कल्पे । ६ अत्रेति—प्रकृतवाक्ये । भिन्ना इत्यस्य विशेषणत्वे बोध्यम् । ७ अवान्तरकल्पविषय इति—अस्मदवान्तरप्रलयावधिकब्रह्मदिनपर इत्यर्थः । ८ माध्यन्दिनशाखायाम् ।

पुनरागमनमिहेति [1]शाखान्तरपाठात् । [2]इहेत्याकृतिमात्रग्रहणमिति चेच्छ्वोभूते पौर्णमासी-मिति यद्वत् । न, इहेतिविशेषणानर्थक्यात् । यदि हि नाऽऽवर्तन्त एवेहग्रहणमनर्थकमेव

मयुक्तमिति शङ्कते—इहेति । यथा 'श्वोभूते पौर्णमासीं यजेतेत्यत्रा'ऽऽकृति पौर्णमासीशब्दार्थः श्वोभूतत्व च न 'व्यावर्तक 'पौर्णमासी'पदलक्ष्येष्टे प्रतिपद्येव कर्तव्यता'नियमात्तथे'हाऽऽ'कृतेरिहशब्दा-र्थत्वा''च्चिरङ्कुशैवानावृत्तिरत्र सिध्यतीत्यर्थः । परिहरति—नेत्यादिना । परोक्त दृष्टान्तं ''विघटयति—

उपासना तारतम्य से फल का तारतम्य ग्रहण कर ऐसा प्रयोग सभव है । 'ते' अर्थात् उस पुरुष से लिवाये जाते हुए वे उपासक उन ब्रह्मलोको मे 'परा" अर्थात् स्वय प्रकृष्ट होकर "परावतो वसन्ति" अर्थात् अनेक सवत्सरो तक वहाँ रहते है अर्थात् ब्रह्म के अनेक कल्पो तक रहते हैं। 'तेषाम्' अर्थात् उन ब्रह्मलोक को प्राप्त करने वालो को 'नास्ति पुनरावृत्ति" अर्थात् इस कल्प मे पुन आगमन नही होता । "यहाँ पुनरागमन नही होता" ऐसा माध्यन्दिन शाखा का भी प्रमाण है । (इस पर पूर्ववादी कहता है —) परन्तु "इह" पद से तो आकृति मात्र का ग्रहण होता है । जैसे "प्रात काल होने पर पौर्णमास याग करे" यहाँ भी सभी प्रात काल का ग्रहण होता है । (इस पर सिद्धान्ती कहता है—) ऐसा कहना ठीक नही है क्योकि ऐसे मे "इह" इस विशेषण का होना व्यर्थ हो जायगा । यदि उनकी कभी पुनरावृत्ति होती ही नही तो "इह" ग्रहण व्यर्थ ही होगा । 'प्रात काल होते ही पौर्णमास याग करे' इस वाक्य मे "प्रात काल" यह विशेषण अनुक्त मे लगाया जाय तो उसका

---

१ माध्यन्दिनशाखान्तरपाठात् । २ इहेत्याकृतिमात्रग्रहणमिति—आकृतिर्जातिस्तथा चैतत्ससारव्यक्तिनिष्ठ यत्ससारत्व जातिस्तदवच्छिन्नससारजातोपस्थापक इहशब्दोऽयमित्यर्थः । एव च ससारत्वावच्छिन्नाधिकरणता-निरूपिताधेयतावदावृत्त्यभावाधिकरण विद्वान् आवृत्तित्वावच्छिन्नप्रतियोगिताकाभाववानिति यावदिति फलतीत्य भिप्राय । एतेन इहशब्दोऽप्यमावृत्तिव्यावर्तक इह नावर्तन्त इत्युक्त्यैतत्ससारावच्छिन्नावृत्त्यभावप्रतीतेरिति निरस्तम् । जातिशब्दस्य विशेष्यमात्रसमर्पकत्वेन व्यावर्तकत्वासभवाद यथाहु —जातितद्भिन्नप्रवृत्तिनिमित्तक-शब्दाना जातिप्रवृत्तिनिमित्तक एव विशेष्यवाचक इति नियम इति । जातिशब्दस्य गुणक्रियाशब्दसमभिव्याहारे विशेष्यसमर्पकत्वैवेति च । अन्यथा नीलोत्पलमितिवदुत्पन्ननीलमित्यपि स्यात् । पाचकब्राह्मण इत्येव न तु ब्राह्मणपाचक इत्यपीति प्रयोगव्यवस्थाया अभावप्रसङ्गादिति च तत्र गमकमाहु । खञ्जकुब्ज कुब्जखञ्ज इत्यत्र गुणशब्दयो क्रियाशब्दयोर्गुणक्रियाशब्दयोश्च पौर्वापर्यं प्रयोगानियम एवेत्यन्यदेतत् । ३ श्वोभूते इति—अनागताहोरूपावमर इत्यर्थ । ४ आकृतिरिति जातिरित्यर्थ पौर्णमासीत्वावच्छिन्नमिति यावत् । ननु तत्रा-कृतिवचनोऽप्यस्त्येव व्यावर्तक श्वोभूतशब्दस्तद्वदत्रेहशब्दो व्यावर्तक एवेत्याशङ्क्याऽऽह—श्वोभूतत्व च न व्यावर्तकमिति जातिशब्दवाच्यत्वादित्यभिप्राय । ननु तत्राकृतिवचनोऽपीति पराभिप्रायेणैवैतद् सिद्धान्ते श्वोभूतत्वस्य जातित्वानभ्युपगमादिति ध्येयम् । ५ विशेषणम् । ६ पौर्णमासीपद लक्षणया इष्टिविशेष-परमित्यभिप्रायेणाह—पौर्णमासीपदलक्ष्येष्टेरिति । ७ व्यावृत्तेर्निष्प्रयोजनत्व चेत्याह—पौर्णमासीपदेति । नियमादिति—अनुष्ठातृवर्गपरम्परयैव निश्चितत्वादिति यावत् । अनुष्ठातृवर्गपरम्परयैवेति—याज्ञिकपरिपाट्यै-वेति यावत् । ९ इह दार्ष्टान्तिकवाक्ये । १० आकृतेरिति जातेरित्यर्थः । ११ असङ्कुचितैव । १२ विघटयति—अपवदतीत्यर्थं । पूर्वपदयुक्तार्थापटिमाशादयतीति यावत् ।

[1]अथ ये यज्ञेन दानेन तपसा लोकाञ्जयन्ति ते धूमम-

पूर्वोक्त उपासकों से भिन्न जो केवल कर्मी यज्ञ, दान और तप के द्वारा लोकों को जीतते हैं,

---

स्यात् । श्वोभूते पौर्णमासीमित्यत्र पौर्णमास्याः श्वोभूतत्वमनुक्तं न ज्ञायत इति युक्तं विशेषयितुम् । न हि [2]तत्राऽऽकृतिःश्वःशब्दार्थो विद्यत इति श्वःशब्दो निरर्थक एव प्रयुज्यते । यत्र तु विशेषणशब्दे प्रयुक्ते[3]ऽन्विष्यमाणे विशेषणफलं चेन्न गम्यते तत्र युक्तो निरर्थकत्वेनोत्स्रष्टुं विशेषणशब्दो न तु सत्यां विशेषणफलावगतौ । [4]तस्मादस्मात्कल्पादूर्ध्वमावृत्तिर्गम्यते ॥ १५ ॥

श्वोभूत इति । [5]कृतसंभारदिवसापेक्ष हि श्वोभूतत्वं [6]पौर्णमासीदिने चातुर्मास्येष्टौ कृतायां कदा पौर्णमासीष्टिः कर्तव्येति विना वचनं न ज्ञायते [7]तत्र श्वोभूतत्व विशेषण भवत्यन्यव्यावर्तकं तद्वदिहेति विशेषणमपि व्यावर्तकमेवेति नाऽऽत्यन्तिकानावृत्तिसिद्धिरित्यर्थः । यत्तु पौर्णमासीशब्दवदिहशब्दस्याऽऽकृतिवाचित्वादव्यावर्तकत्वमिति तत्राऽऽह—न हीति । यद्यपि प्रकृते वाक्ये पौर्णमासीशब्दो भवत्याकृतिवचनस्तथाऽपि श्वःशब्दार्थोऽपि काचिदाकृतिरस्तीत्यङ्गीकृत्याव्यावर्तकः श्वोभूतशब्दो नैव प्रयुज्यते । तथा[8]ऽत्रापि विशेषणशब्दस्य व्यावर्तकत्वमावश्यकमित्यर्थः । [9]सुषिरमाकाशमित्यादौ व्यावर्त्याभावेऽपि विशेषणप्रयोगवदत्रापि विशेषण स्वरूपानुवादमात्रमित्याशङ्क्याऽऽह—यत्र त्विति । विशेषणफलमुपसहरति—[10]तस्मादिति ॥ १५ ॥

ज्ञान नही होता, इसलिए विशेषण पद उचित ही है । वहाँ दृष्टान्त वाक्य मे यदि आकृति "श्व" का शब्दार्थ विद्यमान न हो तो "श्व" शब्द का प्रयोग करना निरर्थक ही हो जायगा । जहाँ विशेषण शब्द के प्रयोग करने पर अन्वेषण करने मे उस विशेषण प्रयोग का कोई फल न दीखता हो, तो निरर्थक होने से उस विशेषण शब्द का प्रयोग हटा देना चाहिए । विशेषण के फलबोध हो जाने पर उस विशेषण पद को हटाना उचित नही है । इसलिए ('इह' शब्द का विशेषण होने से) इस कल्प के बाद उसकी पुनरावृत्ति हो सकती है—ऐसा जाना जाता है ॥ १५ ॥

---

१ अथेत्यादि । अत्र वार्तिकम्—"देवयान समासेन पन्था यत्नात्प्रपञ्चितः । व्याख्याऽथ पितृयाणस्य सम्यगारभ्यतेऽधुना" ॥ १४६ ॥ समासोऽल्पग्रन्थ । यत्नोऽचिरादिपर्वणां प्रत्येकमुपन्यास । अथशब्दो देवयानोक्त्यनन्तर पितृयाणोक्तेरवसरार्थं । २ दृष्टान्तवाक्ये । ३ अन्वेषणे क्रियमाणे । ४ तस्मादिति—इहशब्दस्य विशेषणत्वादित्यर्थः । ५ कृतसंभारेति—कृत अनुष्ठित संभार चातुर्मास्येष्ट्यादिरूप पौर्णमासीष्टेः साधनकलापो यत्र तद्दिवसापेक्षमित्यर्थं । ६ तदेतच्छ्वोभूतत्व न विनोक्तिमवगम्यत इत्याह—पौर्णमासीदिन इत्यादिना । ७ तत्रेत्यस्य दृष्टान्तवाक्य इत्यर्थमाहुस्तत्राव इत्यादि वस्तुतस्तूक्ति विना कालविशेषस्याज्ञायमानत्वे इति युक्त पदयाम । ८ अत्रापि विशेषणशब्दस्येति—दार्ष्टान्तिकवाक्येऽपीहशब्दस्येत्यर्थः । ९ छिद्रम् । १० इहशब्दस्य व्यावर्तकत्वादिति यावत् ।

भिसंभवन्ति धूमाद्रात्रिꣳ रात्रेरपक्षीयमाणपक्ष-
मपक्षीयमाणपक्षाद्यान्षण्मासान्दक्षिणाऽऽदित्य एति
मासेभ्यः पितृलोकं पितृलोकाच्चन्द्रं ते चन्द्रं प्राप्या-
[1]न्नं भवन्ति ताꣳस्तत्र देवा यथा[2] सोमꣳ राजान-
माप्यायस्वापक्षीयस्वेत्येवमेनाꣳस्तत्र [3]भक्षयन्ति

वे मरने पर धूमाभिमानी देव को प्राप्त होते हैं। धूम से रात्रि के अभिमानी देव को, रात्रि से कृष्ण पक्ष के अभिमानी देव को, कृष्ण पक्ष के अभिमानी देव से छः मास के अभिमानी देवों को प्राप्त होते हैं। जिन छः मास में सूर्य दक्षिण की ओर होकर चलता है। छः मास के अभिमानी देव से पितृलोक को, पितृलोक से चन्द्रमा को प्राप्त होते हैं। उस चन्द्रमा में पहुँच कर वे अन्न हो जाते हैं। वहाँ पर देवगण इन्हे ऐसे ही भक्षण कर जाते है, जैसे ऋत्विक् लोग 'आप्यायस्व अपक्षीयस्व'

अथ पुनर्ये नैवं[4] विदुरुत्क्रान्त्याद्यग्निहोत्रसंबन्धपदार्थषट्कस्यैव वेदितारः [5]केवल-कर्मिणो यज्ञेनाग्निहोत्रादिना [6]दानेन बहिर्वेदि [7]भिक्षमाणेषु [8]द्रव्यसंविभागलक्षणेन तपसा बहिर्वेद्येव [9]दीक्षादिव्यतिरिक्तेन [10]कृच्छ्रचान्द्रायणादिना [11]लोकाञ्जयन्ति। लोकानिति बहु-

---

देवयानं पन्थानमुक्त्वा [12]पथ्यन्तर वक्तुं वाक्यान्तरमादाय पदद्वयं व्याकरोति—अथेत्यादिना। नन्वमिति ... ... "गृहीते न कथं ते फलभागिनो भवन्तीत्याकाङ्क्षायामाह—यज्ञेनेति। ननु दानतपसी यज्ञग्रहणेनैव [13]गृहीते न पृथग्ग्रहीतव्ये तत्राऽऽह—बहिर्वेदीति। दीक्षादीत्यादिपदेन पयोव्रतादियज्ञाङ्गसंग्रह। तत्रेति पितृ-

---

एवं जो इस प्रकार नही जानते, उत्क्रान्ति आदि अग्निहोत्रसवन्धी छ पदार्थों को जानने वाले केवल कर्मी हैं तथा अग्निहोत्रादि यज्ञ, "दानेन" अर्थात् वेदी से वाहर यज्ञ के अनङ्गभूत याचकों को द्रव्य का बाँटना रूप दान, "तपसा" अर्थात् वेदी से वाहर ही दीक्षादि व्यतिरिक्त कृच्छ्-

---

१ अन्नं भवन्ति—भोग्यत्व प्रतिपद्यन्त इत्यर्थ । २ ऋत्विजः । ३ भक्षयन्ति—उपभुञ्जते सेवकमिव राजेत्यर्थं । ४ यथोक्तसमिदादिविशिष्टान् पञ्चाग्नीन्नविदु । ५ केवलकर्मिण इति—पञ्चाग्निसत्य-ब्रह्मविद्याव्यवच्छेदोऽह केवलशब्द । ६ दानेनेति—"दातव्यमिति यद्दानमि"त्यादिस्मृतेर्विशिष्टदेशकालपात्र-विशिष्टमेव दान लोकजयहेतुरिति द्रष्टव्यम। ७ भिक्षमाणेषु—यज्ञानङ्गभूतप्रदेशे ये याचकास्तेष्वित्यर्थं । न यज्ञानङ्गभूतेनेति यावत । ९ दीक्षादीति—दीक्षाशब्दार्थमाहुस्तान्त्रिका । तथाहि—"दीयते विमल ज्ञानं क्षीयते कर्मवासना। तेन दीक्षेति सा प्रोक्ता मुनिभिस्तन्त्रवेदिभिरिति"। तथा चाभीष्टदेवमन्त्रग्रहण दीक्षा-तदुपदेशोऽपि। उपनयनसस्कारेऽपि दीक्षाशब्द । प्रकृते तु यज्ञाङ्गभूतनियमभेदो मन्त्रजपाद्यनुकूलो दीक्षेति ज्ञेयम्। मन्त्रजपादीत्यादिना मन्त्रग्रहणादिग्रह । तदनुकूलो नियमश्च करणसयमादिरूपो बोध्यः। दीक्षाशब्दार्थेष्वेषु बृहच्छब्दाभिधान वाचस्पत्य मानम्। तत्र हि नियमोपनयनमन्त्रग्रहास्तदर्था उक्ता । १० कृच्छ्रेति—"तपसा कल्मष हन्तीति" स्मृतेर्निःशेषपापध्वंसिना यज्ञानङ्गभूतेन तपसेति यावत् । ११ पितृलोकान्। १२ पितृयाणम्। १३. गृहीते इति—तयोर्यज्ञाङ्गत्वेन यज्ञे सत्त्वादिति भाव ।

'तेषां यदा तत्पर्यवैत्यथेममेवाऽऽकाशमभिनिष्पद्यन्त आकाशाद्वायुं वायोर्वृष्टिं वृष्टेः पृथिवीं ते पृथिवीं प्राप्यान्नं भवन्ति ते पुनः पुरुषाग्नौ हूयन्ते ततो योषाग्नौ जायन्ते लोकान्प्रत्युत्थायिनस्त एवमेवानुपरिवर्तन्तेऽथ य एतौ पन्थानौ न विदुस्ते 'कीटाः पतङ्गा यदिदं दन्दशूकम् ॥ १६ ॥

इति बृहदारण्यकोपनिषदि षष्ठाध्यायस्य द्वितीयं ब्राह्मणम् ॥ २ ॥

ऐसा कहकर सोम राजा को भक्षण करते हैं और जब उनके कर्म क्षीण हो जाते हैं, तब वे इस प्रसिद्ध आकाश को ही प्राप्त हो जाते हैं। आकाश से वायु को, वायु से वृष्टि को और वृष्टि से पृथिवी को प्राप्त होते हैं। *पृथिवी को प्राप्त कर वे अन्न हो जाते हैं।* पुनः वे पुरुष रूप अग्नि में हवन किये किये जाते है, उससे वे लोक के प्रति उत्थान योग्य होकर स्त्री रूप अग्नि में उत्पन्न होते हैं। इसी प्रकार वे बार-बार आते-जाते रहते हैं। पूर्वोक्त दोनों से भिन्न जो इन मार्गों को नही जानते; वे कीट, पतङ्ग और डांस, मच्छर आदि योनियों को प्राप्त होते है (इस प्रकार पुनरावृत्ति रूप दूसरे प्रश्न और उस लोक का न भरना रूप तीसरे प्रश्न का उत्तर हो गया) ॥ १६ ॥

॥ इति द्वितीय ब्राह्मणम् ॥

वचनात्तत्रापि 'फलतारतम्यमभिप्रेतम्। ते 'धूममभिसंभवन्ति। उत्तरमार्ग इवेहापि देवता एव धूमादिशब्दवाच्या धूमदेवतां प्रतिपद्यन्त इत्यर्थः। 'आतिवाहिकत्वं च देव-

---

लोकोक्तिः। अपिशब्दो ब्रह्मलोकदृष्टान्तार्थः। धूमसप्तत्वेरपुरुषार्थत्वमाशङ्क्योक्तम्—उत्तरमार्ग इवेति। इहापीति पितृयाणमार्गेऽपीत्यर्थः। तद्देवेत्युत्तरमार्गगामिनीनां देवतानामिवेत्यर्थः।

चान्द्रायण व्रत आदि तप के द्वारा पितृलोक को जीतते हैं। मन्त्र में *"लोकान्"* पद में बहुवचन होने के कारण यहाँ भी फल का तारतम्य अभीष्ट है। वे धूमाभिमानी देवता को प्राप्त होते हैं। उत्तरमार्ग के समान यहाँ भी देवता ही धूमादिशब्द वाच्य हैं अर्थात् वे धूमाभिमानी देवता को

---

१ एवं ते य एवमेतद्विदुर्ये चामी, यज्ञेनेत्यादिना चोभयमार्गप्रतिपत्तिसाधनोक्त्या पञ्चमं प्रश्नं तेऽर्चिरभिसंभवन्ति ते धूममभिसंभवन्तीत्यादिना चोत्तरदक्षिणमार्गप्रदर्शनेन प्रथमं प्रश्नं च निर्णीयेदानीमतल्लोकप्राप्तिप्रकारप्रदर्शनेन द्वितीयतृतीयप्रश्नयोर्निर्णयमाह—तेषामिति। २ कीटा इत्यादि—एवं परलोकं गतानामाकाशादिद्वारा पुनरावृत्तिकथनेन द्वितीयतृतीयप्रश्नौ निर्णीताविति ध्येयम्। ३. फलतारतम्यमिति—यज्ञादिसाधनोत्कर्षापकर्षप्रयुक्तभोगोत्कर्षापकर्षानुकूलप्रदेशनानात्वमित्यर्थः। ४ तदभिमानिनी देवता प्रतिपद्यन्ते। ५ गर्भपितृत्वम्।

तानां तद्वदेव। धूमाद्रात्रिं रात्रिदेवतां [1]ततोऽपक्षीयमाणपक्षमपक्षीयमाणपक्षदेवतां ततो यान्षण्मासान्दक्षिणां दिशमादित्य एति तान्मासदेवताविशेषान्प्रतिपद्यन्ते।

मासेभ्यः [3]पितृलोकं पितृलोकाच्चन्द्रम्। [4]ते चन्द्रं प्राप्यान्नं[5] भवन्ति तांस्तत्राऽऽभूतान्यथा सोमं [6]राजानमिह यज्ञ ऋत्विज आप्यायस्वापक्षीयस्वेति भक्षयन्त्येवमेनांश्चन्द्रं प्राप्तान्कर्मिणो भृत्यानिव स्वामिनो भक्षयन्त्यु[7]पभुञ्जते देवाः। आप्यायस्वापक्षीयस्वेति न मन्त्रः किं तर्ह्याप्याय्याऽऽप्याय्य चमसस्थं भक्षणेनापक्षयं च कृत्वा [8]पुनः पुनर्भक्षयन्तीत्यर्थः। एवं देवा अपि सोमलोके लब्धशरीरान्कर्मिण उपकरणभूतान्पुनः पुनर्विश्रामयन्तः कर्मानुरूपं फलं प्रयच्छन्तः। तद्धि तेषामाप्यायनं सोमस्याऽऽप्यायनमिवोपभुञ्जत उपकरण-

---

तत्रेति [9]प्रकृतलोकोक्तिः। कर्मिणां तर्हि देवैर्भक्ष्यमाणानां चन्द्रलोकप्राप्तिरनर्थैवेत्याशङ्क्याऽऽह—उपभुञ्जत इति। [10]अन्यथाप्रतिभासं व्यावर्तयति—आप्यायस्वेति। एवं देवा अपीति संक्षिप्तं दार्ष्टान्तिकं विवृणोति—सोमलोक इति। कथं पौनःपुन्येन विश्रान्तिः [11]संपाद्यते तत्राऽऽह—कर्मानुरूपमिति। दृष्टान्तवद्दार्ष्टान्तिके किमित्याप्यायनं नोक्तं तत्राऽऽह—तद्धीति। पुनः पुनर्विश्रमा[12]ण्यनुज्ञानमिति

प्राप्त होते है। इन देवताओ की आतिवाहिकता भी उन्ही के समान है। धूम से "रात्रि" यानी रात्रि देवता को, रात्रि देवता से "अपक्षीयमाणपक्षम्" अर्थात् कृष्णपक्ष देवता को और वहाँ से जिन छः मासो मे सूर्य दक्षिण दिशा मे होकर चलता है, उन मासाभिमानी देवता विशेषो को प्राप्त होते हैं।

उन मासाभिमानी देवताओं से पितृलोक को, और पितृलोक से चन्द्रमा को जाते हैं। वे कर्मी चन्द्रलोक मे पहुँच कर (भोग्यता रूप) अन्न हो जाते हैं। "तास्तत्र" अर्थात् जिस प्रकार यहाँ यज्ञ मे ऋत्विज लोग "अरे जाओ, समाप्त कर दो" इस प्रकार कहते हुए चमसस्थ राजा सोम का भक्षण करते है, इसी प्रकार इस चन्द्रमा को प्राप्त हुए कर्मियो को, जिस प्रकार स्वामी भृत्यो से सेवा कराता है, उसी प्रकार देवता लोग "भक्षयन्ति" अर्थात् उपभोग करते हैं। "अरे जाओ, समाप्त कर दो" यह मन्त्र नही है, तो क्या है? सोम को चमस मे भर-भरकर उसे भक्षण के द्वारा समाप्त करके पुनः पुनः भक्षण करते हैं, यह इसका अर्थ है। इस प्रकार देवता भी चन्द्रलोकप्राप्त शरीर वाले अपने उपकरणभूत उन कर्मियो को पुनः पुनः विश्राम देते हुए, उन्हे अपने कर्मानुसार फल देते हुए उपभोग करते हैं। सोम को भरने के समान यही उनका भरना है, इस प्रकार आप्यायन करके उन

---

१. रात्रिदेवताया। २ कृष्णपक्षदेवताम्। ३ पितृलोकं पितरो यत्र शेरते तं न तु पितृलोकदेवताम्। ४ कर्मिणः। ५ भोग्यतामापद्यन्ते। ६. चमसस्थम्। ७ सेवकमिव राजेति भावः। ८. पुनः पुनरपक्षयं च कृत्वेति संबन्ध। एतेन क्रियासमभिहारेऽप्य लोडिति ध्वनयति। समुच्चयेऽन्यतरस्यामिति तु न्याय्यः प्रतिभाति लोट्। अन्यथा द्वित्वापत्तेः। सामान्यवचनानुप्रयोगाभावश्छान्दस इति ध्येयम्। ९. चन्द्रलोकेति यावत्। १०. अन्यथाप्रतिभासमिति—तिरस्कत्वेन मन्त्रत्वभ्रमम्। मन्त्रत्वे हि इति मन्त्रमुच्चार्य सोमं भक्षयन्तीत्यर्थः स्यात्। ११. देवैः। १२. विश्रम्यतां विश्रम्यतामित्येवम्।

भूतान्देवाः। तेषां कर्मिणां यदा यस्मिन्काले तद्यज्ञदानादिलक्षणं सोमलोकप्रापकं कर्म पर्यवैति परिगच्छति परिक्षीयत इत्यर्थः। [1]अथ तदेममेव प्रसिद्धमाकाशम[2]भिनिष्पद्यन्ते यास्ताः श्रद्धाशब्दवाच्या द्युलोकाग्नौ हुता आपः सोमाकारपरिणता [3]याभिः सोमलोके कर्मिणामुपभोगाय शरीरमारब्धमम्मयं ताः कर्मक्षयाद्धिमपिण्ड इवाऽऽतपसंपर्कात्प्रविलीयन्ते। प्रविलीनाः सूक्ष्मा [4]आकाशभूता इव भवन्ति [5]तदिदमुच्यत इममेवाऽऽकाशमभिनिष्पद्यन्त इति।

ते पुनरपि कर्मिण[6]स्तच्छरीराः सन्तः पुरोवातादिना इतश्चामुतश्च नीयन्तेऽन्तरिक्ष-

---

स्थवत्। [7]लोकद्वयप्रापकौ पन्थानावित्थं व्याख्याय पुनरेतल्लोकप्राप्तिप्रकारमाह—तेषामित्यादिना। कथं चन्द्रस्थलस्खलितानां कर्मिणामाकाशतादात्म्यमित्याशङ्क्याऽऽह—यास्ता इति। सोमाकारपरिणतत्वमेव स्फोरयति—याभिरिति। [8]तस्य झटिति द्रवीभवनयोग्यतां दर्शयति—अम्मयमिति। [9]साभाव्यापत्तिरुपपत्तेरिति न्यायेनाऽऽह—आकाशभूता इवेति।

आकाशाद्वायुप्राप्तिप्रकारमाह—ते पुनरिति। [10]अन्याधिष्ठिते पूर्ववदभिलापादिति न्यायेनाऽऽह—

अपने उपकरणभूत कर्मियों का उपभोग करते है। "तेषाम्" अर्थात् उन कर्मियो का "यदा" अर्थात् जिस समय "सत्" अर्थात् यज्ञदानादि लक्षण सोमलोक प्रापक कर्म "पर्यवैति" अर्थात् सब ओर मे चला जाता है यानी क्षीण हो जाता है, तब कर्मी इसी प्रसिद्ध आकाश को प्राप्त करत हैं। जो वह द्युलोकाग्नि में हवन किया हुआ श्रद्धाशब्दवाच्य आप सोम के आकार मे परिणत हुआ रहता है, जिस आप (जल) के द्वारा सोमलोक मे कर्मियों के उपभोग के लिए जलमय शरीर की रचना की जाती है, वह आप कर्मों के क्षय होने पर आतप से संयुक्त हिमखण्ड के समान विलीन हो जाता है। वह विलीन होकर सूक्ष्म आकाश रूप सा हो जाता है। इसी से कहा जाता है कि कर्मी इस प्रसिद्ध

---

१ अथ तदेति—'कृतात्ययेऽनुशयवान् दृष्टस्मृतिभ्यां यथेतमनेवं चे' ति ३।१।८ न्यायादनुशयस्यागतिहेतुत्वसूचकोऽथशब्दो निपातानामनेकार्थत्वादि द्रष्टव्यम्। २ प्राप्नुवन्ति कर्मिण। ३ अद्भि। ४ आकाशभूता इव भवन्तीति—ता आप आकाशसदृश्यो यदा भवन्ति तदा तदुपहिता जीवा अप्याकाशसमा भवन्तीति भाव। ५ उक्तेऽर्थे वाक्यं योजयति—तदिदमिति। प्रदर्शितमर्थवृन्दमभिप्रेत्य श्रुत्योच्यते। ६ तच्छरीरा इति—आकाशशरीरा इत्यर्थं। आकाशतादात्म्ये न तत्तुल्यतामापन्ना इति यावद्। एवमग्रेऽपि बोध्यम्। ७ ब्रह्मलोक (पितृ) चन्द्रलोकप्रापकौ। ८ शरीरस्य। ९ साभाव्येति—ब्र सू ३।१।२२ कि स्वर्गादवरोहन्तो जीवा आकाशादिस्वरूपता प्रतिपद्यन्त उत तत्साम्यमिति संशये (भवति) अभिनिष्पत्तिश्रुतेर्मुख्यत्वानुरोधादाकाशादिस्वरूपतापत्तिरेव जीवानामिति प्राप्ते ब्रूम—जीवानामाकाशादिभि साभाव्यापत्ति.। साम्यापत्तिरेव कुत। उपपत्ते। लोके हि क्षीरस्य दधिभावो युक्त क्षीरकाले दध्यभावादिह तु पूर्वं विद्यमानाकाशादिभावो जीवस्य दुरुपपाद कि च जीवस्याकाशतापत्तौ वाय्वादिक्रमेणावरोहाभाव प्रसङ्ग इत्यादियुक्तिवशाद् (भवति) अभिनिष्पत्तिश्रुतेर्गौणत्वमङ्गीकृत्यमित्याकाशादिसंबन्धमात्रमेव जीवानाम्। संबन्धश्च सादृश्यमेवेति सिद्धम्। १० अन्यति—अन्यैर्जीवैरधिष्ठिते व्रीह्यादौ संसर्गमात्रं कर्मिणां भवति। कुत। पूर्ववदभिलापात्। आकाशादिष्विव व्रीह्यादावपि कर्मव्यापारमन्तरेण संसर्गमात्रस्यैव श्रुत्योक्तत्वात्र ते तत्र सुखदुःखभाज इत्यर्थं। ब्र सू ३ १ २४।

गास्तदाह—आकाशाद्वायुमिति । वायोर्वृष्टिं प्रतिपद्यन्ते । तदुक्तम्—'पर्जन्याग्नौ सोमं राजानं जुह्वतीति । ततो वृष्टिभूता इमां पृथिवीं पतन्ति । ते पृथिवीं प्राप्य व्रीहियवा-'द्यन्नं भवन्ति । तदुक्तस्मिँल्लोकेऽग्नौ वृष्टिं 'जुह्वति तस्या आहुत्या अन्नं संभवतीति । ते पुनः पुरुषाग्नौ हूयन्तेऽन्नभूता रेतस्सिचि । ततो रेतोभूता योषाग्नौ हूयन्ते ततो जायन्ते लोकं प्रत्युत्थायिनस्ते लोकं प्रत्युत्तिष्ठन्तोऽग्निहोत्रादिकर्मानुतिष्ठन्ति । ततो धूमादिना पुनः पुनः सोमलोकं पुनरिमं लोकमिति । त एव कर्मिणोऽनुपरिवर्तन्ते घटी-यन्त्रवच्चक्रीभूता बंभ्रमतीत्यर्थः । उत्तरमार्गाय सद्योमुक्तये वा यावद्ब्रह्म न 'विदुः । 'इति नु कामयमानः संसरतीत्युक्तम् ।

ते पृथिवीमिति । 'रेतस्सिग्योगोऽथेति'' न्यायमाश्रित्याऽऽह—ते पुनरिति । "योनेः शरीरमिति" न्यायमनुसृत्याऽऽह—तत इति । उत्पन्नाना केषाचिविष्टाविकारित्वमाह—लोकमिति । कर्मानुष्ठानानन्तर तत्फलभागित्वमाह—ततो धूमादिनेति । सोमलोके फलभोगानन्तर पुनरेतल्लोक-प्राप्तिमाह—पुनरिति । पौन पुन्येन विपरिवर्तनस्यावधि सूचयति—उत्तरमार्गायेति । प्राज्ञानात्संसरणं षष्ठेऽपि व्याख्यातमित्याह—इति न्विति ।

आकाश को प्राप्त करते हैं ।

वे आकाशशरीर हुए अन्तरिक्ष मे जाने वाले कर्मी फिर भी पूर्व वायु आदि से इधर-उधर ले जाये जाते है । इसी से श्रुति कहती है—आकाश से वायु को प्राप्त होते हैं । वायु से वृष्टि को प्राप्त होते है । इसी से पीछे (इसी ब्राह्मण के दसवें मन्त्र मे) कहा गया है—'देवगण पर्जन्याग्नि मे राजा सोम को होम करते हैं' । इसके बाद वृष्टि से पृथिवी को प्राप्त होते हैं । पृथिवी पर पहुँच कर व्रीहि-यवादि अन्न ससर्गी होते हैं । इसी से एकादश मन्त्र मे कहा है—देवतालोग इस लोक रूप अग्नि मे वृष्टि को होमते है, उस आहुति से भक्ष्य व्रीहि-यवादि अन्न होता है । अन्न होकर वे वीर्य सिंचन करने वाले पुरुषाग्नि मे होम किये जाते हैं । फिर वीर्यरूप होकर योषाग्नि मे होम किये जाते हैं । इसके बाद वे परलोक जाने के लिए तैयार होकर जन्म लेते हैं । वे इस प्रकार परलोक जाने के लिए तैयार होकर अग्निहोत्रादि कर्म का अनुष्ठान करते हैं । तब धूमादिमार्ग, पुन सोमलोक को प्राप्त होते हैं और फिर इस लोक को प्राप्त होते रहते हैं । "ते एव" यानी वे कर्मी इस प्रकार "अनुपरिवर्तन्ते" अर्थात् घटीयन्त्र के समान चक्राकार होकर घूमते हैं, जब तक वे ब्रह्म को नही जानते, तब तक उत्तरमार्ग अथवा सद्योमुक्ति के लिए इस प्रकार भटकते रहते हैं । "इस प्रकार शब्दादिविषयकस्थूल कामना युक्त हुआ पुन पुन इस लोक में ससरण करता है" ऐसा श्रुति कह

१ बृ उ ६ २ १० । २ अन्नससर्गिणो भवन्ति । ३ बृ उ ६ २ ११ । ४ मार्गेण । ५ यन्ति । ६ ब्रह्म—सगुण निर्गुण च । ७ विदु —उपासते विदन्ति चेत्यर्थ । ८ बृ उ ४. ४ ६ । ९ रेत सिगिति—अथ व्रीह्यादिभावानन्तर तेषां कर्मिणां रेत सिग्योग पितृशरीरप्रवेश "यो रेत सिञ्चति तद्भूय एव भवतीति" छा उ ५ १० ६ श्रुतावाम्नायते । १० ब्र सू ३ १ २६ । ११ योनेरिति—योनौ रेतसि प्रविष्टे सति तत शरीरमनुशयिनामनुशयमात्यकर्मभोगाय जायत इत्याह शास्त्र तद्य इह रमणीयचरणा इत्यादि । १२ ब्र सू ३ १ २७ ।

अथ पुनर्य उत्तरं दक्षिणं चैतौ पन्थानौ न विदुरुत्तरस्य दक्षिणस्य वा पथः प्रतिपत्तये ज्ञानं कर्म वा नानुतिष्ठन्तीत्यर्थः। ते किं भवन्तीति। उच्यते—ते कीटाः पतङ्गा यदिदं यच्चेदं दन्दशूकं दंशमशकमित्येतद्भवन्ति। एवं हीयं संसारगतिः कष्टाऽस्यां निमग्नस्य पुनरुद्धार एव दुर्लभः। तथा च श्रुत्यन्तरम्—"तानीमानि क्षुद्राण्यसकृदावर्तीनि भूतानि भवन्ति जायस्व म्रियस्व" इति। तस्मात्सर्वोत्साहेन यथाशक्ति स्वाभाविककर्मज्ञानहानेन दक्षिणोत्तरमार्गप्रतिपत्तिसाधनं शास्त्रीयं कर्म ज्ञानं वाऽनुतिष्ठेदिति वाक्यार्थः। तथा चोक्तम् "अतो वै खलु दुर्निष्प्रपतरं तस्माज्जुगुप्सेत" इति श्रुत्यन्तरान्मोक्षाय प्रयतेतेत्यर्थः। अत्राप्युत्तरमार्गप्रतिपत्तिसाधन एव महान्यत्नः कर्तव्य इति गम्यते। एवमेवानुपरिवर्तन्त इत्युक्तत्वात्। एवं प्रश्नाः सर्वे निर्णीताः। असौ वै

"स्थानद्वयमावृत्तिसहितमुक्त्वा स्थानान्तरं दर्शयति—अथेत्यादिना। स्थानद्वयात् तृतीये स्थाने विशेषं कथयति—एवमिति। तृतीये स्थाने छान्दोग्यश्रुतिं संवादयति—तथा चेति। अमुष्या गतेरतिकष्टत्वे परिशिष्टं वाक्यार्थमाचष्टे—तस्मादिति। सर्वोत्साहो वाक्कायचेतसां प्रयत्नः। यदुक्तमस्यां निमग्नस्य पुनरुद्धारो दुर्लभो भवतीति तत्र श्रुत्यन्तरमनुकूलयति—तथा चेति। अतो व्रीह्यादिभावादित्यर्थः। तस्माद्विरयतिकष्टात्संसाराद्विरज्येत्यर्थः। दक्षिणोत्तरमार्गप्राप्तिसाधने यत्नसाम्यमाशङ्क्याऽऽह—अत्रापीति। पञ्च प्रश्नान्प्रस्तुत्य किमिति प्रत्येकं तेषां निर्णयो न कृत इत्याशङ्क्याऽऽह—एवमिति। निर्णीतिप्रकारमेव संगृह्णाति—असावित्यादिना। प्राधान्येन निर्णीत इति संबन्धः। देवयानस्येत्यादिः

चुकी है।

इस तरह जो इन उत्तर और दक्षिण मार्गों को नहीं जानते अर्थात् उत्तर या दक्षिण मार्ग प्राप्ति के लिए ज्ञान अथवा कर्म का अनुष्ठान नहीं करते। वे क्या होते हैं ? इसे कहा जाता है—वे कीट, पतङ्ग "यदिदं दन्दशूक" यानी जो ये डाँस और मच्छर होते हैं, इस प्रकार होते हैं। इस संसार की गति बड़ी कष्टमयी है, इसमें निमग्न हुए का पुनरुद्धार ही दुर्लभ है। इसी का अन्य श्रुति प्रतिपादन करती है—"वे ये क्षणिक और निरन्तर आते-जाते रहने वाले जीव होते हैं, जन्म लो और मर जाओ"। इसलिए पूर्ण प्रयत्न के साथ शास्त्रानाधेय कर्म और ज्ञान को छोड़कर यथाशक्ति दक्षिण और उत्तर मार्ग प्राप्ति के हेतु शास्त्रीय कर्म या ज्ञान का अनुष्ठान करना चाहिये, यह इस श्रुतिवाक्य का अर्थ है। "इन से छूटना बड़ा कठिन है", "इसलिए उस विषय में कुत्सितत्व बुद्धि करे, उनमें रमण न करे", इन अन्य श्रुतियों से भी यह अर्थ निकलता है कि मोक्ष के लिए प्रयत्न करे। प्रकृत वाक्य में भी उत्तरमार्ग की प्राप्ति के साधन में ही महान् प्रयास करना चाहिये—ऐसा जाना जाता है क्योंकि दक्षिणमार्ग को प्राप्त करने वाले निरन्तर आवागमन के चक्कर में पड़े

१. तृतीया। २ बृ उ ५ १० ८। ३ अवतरणोत्तरत्वात्। ४ शास्त्रानाधेयकर्मेति यावत्। ५. बृ उ ५ १० ६। ६ दुर्निष्क्रमणतरम्। ७ बृ उ ५. १० ८। ८ तस्माज्जुगुप्सेतेति—"जुगुप्साविरामप्रमादार्थानामुपसंख्यानमि"त्यपादानत्वम्। तद्विषये कुत्सितत्वबुद्ध्या न रमेतेत्यर्थः। ९ प्रकृतवाक्येऽपि। १० ब्रह्मलोकं चन्द्रलोकं च। ११. कर्मोपासनात्मके।

लोक इत्यारभ्य पुरुषः संभवतीति चतुर्थः प्रश्नो यतिथ्यामाहुत्यामित्यादिः प्राथम्येन । पञ्चमस्तु द्वितीयत्वेन देवयानस्य वा पथः प्रतिपदं पितृयाणस्य वेति दक्षिणोत्तरमार्गप्रतिपत्तिसाधनकथनेन । तेनैव च प्रथमोऽप्यग्नेरारभ्य केचिदर्चिः प्रतिपद्यन्ते केचिद्धूममिति विप्रतिपत्तिः । पुनरावृत्तिश्च द्वितीयः प्रश्न आकाशादिक्रमेणेमं लोकमागच्छन्तीति । तेनैवासौ लोको न संपूर्यते कीटपतङ्गादिप्रतिपत्तेश्च केषांचिदिति तृतीयोऽपि प्रश्नो निर्णीतः ॥ १६ ॥

इति श्रीमद्बृहदारण्यकोपनिषद्भाष्ये षष्ठाध्यायस्य
द्वितीयं ब्राह्मणम् ॥ २ ॥

पञ्चमः प्रश्नः । स तु द्वितीयत्वेन दक्षिणादिमार्गावत्तिसाधनोक्त्या निर्णीत इत्यर्थः । तेनैव मार्गद्वयप्राप्तिसाधनोपदेशेनैवेति यावत् । मृतानां प्रजानां 'विप्रतिपत्तिः प्रथमप्रश्नस्तस्य निर्णयप्रकारमाह—अग्नेरिति । द्वितीयप्रश्नस्वरूपमनूद्य तस्य निर्णीतस्वप्रकारं प्रकटयति—पुनरावृत्तिश्चेति । आगच्छन्तीति निर्णीत इत्युत्तरत्र संबन्धः । तेनैव पुनरावृत्तेः सत्त्वेनेत्यर्थः । अमुष्य लोकस्यासंपूर्तिर्हि तृतीय प्रश्न. । स च 'द्वाभ्यां हेतुभ्यां प्रागुक्ताभ्यां निर्धारितो भवतीति भावः ॥ १६ ॥

इति बृहदारण्यकोपनिषद्भाष्यटीकायां षष्ठाध्यायस्य
द्वितीयं ब्राह्मणम् ॥ २ ॥

इस प्रकार सब प्रश्नो का निर्णय हो चुका । "हे गौतम ! इस उस द्युलोक अग्नि मे आहवनीय दृष्टि करनी चाहिये" यहाँ से आरम्भ कर "पुरुष होता है" इस स्थल तक 'कितनी सख्या वाली आहुतियों के हवन किये जाने पर आप बोलने लगता है' इत्यादि चतुर्थ प्रश्न का पहले उत्तर दिया है । देवयान मार्ग एव पितृयाल मार्ग की प्राप्ति का साधन क्या है, इस पञ्चम प्रश्न को दक्षिण और उत्तर मार्ग की प्राप्ति का साधन बतलाकर द्वितीय उत्तर द्वारा कहा गया है । उसी से प्रथम प्रश्न का उत्तर हो जाता है । (फिर से अग्नि मे ले जाते हैं—इस श्रुति से) षष्ठाग्नि की प्राप्ति के बाद फिर वहा से कोई अर्चिरादि मार्ग को प्राप्त होते हैं और कोई धूमादिमार्ग को प्राप्त होते हैं, इस प्रकार पृथक्-पृथक् मार्गों की प्राप्ति होती है । पुनरागमन द्वितीय प्रश्न है, उसका समाधान दिया है कि आकाशादि क्रम से इस लोक मे आते हैं । इससे वह लोक भरता नही है तथा कुछ कीट पतङ्गादि की योनियो को प्राप्त करते हैं, इसलिए भी नही भरता । इस प्रकार तृतीय प्रश्न का भी उत्तर हो गया ॥ १६ ॥

इस प्रकार बृहदारण्यकोपनिषत् मे षष्ठाध्यायस्य द्वितीय ब्राह्मण के शाङ्करभाष्य का
हिन्दी-भाषानुवाद संपन्न हुआ ॥ २ ॥

---

१. अग्नेरारभ्येति—अग्नयेनमग्नये हरन्तीति षष्ठाग्न्याप्त्यनन्तरमित्यर्थः । २. विभिन्नमार्गगमनम् । ३ द्वाभ्यामिति । तथा वार्तिकम्—"कीटादीनामगमनाद्गतानां चाऽगतेस्तथेति" ॥ १६३ ॥

(अथ षष्ठाध्यायस्य तृतीयं ब्राह्मणम् ।)

स यः कामयेत महत्प्राप्नुयामित्युदगयन[1] आपूर्यमाणपक्षस्य पुण्याहे[2] द्वादशाहमुपसद्व्रती भूत्वौदुम्बरे कꣳसे चमसे वा सर्वौषधं फलानीति संभृत्य परिसमुह्य परिलिप्याग्निमुपसमाधाय परिस्तीर्या[3]ऽऽवृता[4]ऽऽज्यꣳ सꣳस्कृत्य[5] पुꣳसा नक्षत्रेण[6] मन्थꣳ[7] संनीय[8] जुहोति[9]

धन और कर्म का अधिकारी जो ऐसा चाहता है कि मैं महत्त्व को प्राप्त होऊँ तो वह उत्तरायण में शुक्लपक्ष की पुण्यतिथि पर बारह दिन तक पयोव्रती होकर गूलर की लकड़ी के कटोरे या चमस पात्र में सभी औषधियों को, फल तथा अन्य सामग्रियों को एकत्रित कर वेदी को कुशों से बुहार कर गोबर तथा जल से उसे लीपकर अग्नि का संस्थापन करे। पुन. अग्नि के चारो ओर कुश बिछाकर गृहसूत्र मे बतलायी गयी विधि से घृत का सस्कार करके पुंल्लिङ्ग नाम वाले (हस्तादिक)

स यः कामयेत । ज्ञानकर्मणो[10] गतिरुक्ता[11] । तत्र ज्ञानं स्वतन्त्रं [12]कर्म तु दैवमानुषवित्तद्वयायत्तं तेन कर्मार्थं वित्तमुपार्जनीयम् । तच्चाप्रत्यवायकारिणोपायेनेति तदर्थं मन्थाख्यं

ब्राह्मणान्तरमवतार्य [13]संगतिमाह—स य इति । तत्रेति निर्धारणे सप्तमी । कथं [14]तर्हि वित्तोपार्जनं संभवति तत्राऽऽह—तच्चेति । तदर्थं वित्तसिद्ध्यर्थमिति यावत् । ननु महत्त्वसिद्ध्यर्थमिदं

"वह यदि ऐसा चाहता हो" यह मन्त्र का आरम्भ है। इससे पूर्व उपासना और कर्म का फल कहा गया। इनमे उपासना तो स्वतन्त्र है और (दृष्ट-अदृष्टार्थ) कर्म, दैव और मानुष—इन दो

---

१. उदगयन इति—उदीच्यादित्यस्यायन गमन यस्मिन् काले तस्मिन्नित्यर्थ. । २. तत्रापि शुक्लपक्षस्य पुण्याहे पुण्यदिवसे कर्मसिद्धिकरे अनुकूलचन्द्रतारके इति यावत् । यस्मिन् कर्मचिकीर्षितं तत प्राक् पुण्याहमेवारभ्य द्वादशाह द्वादशदिवसपर्यन्तमुपसद्व्रती भूत्वेत्यादि स्पष्टं भाष्यादौ । ३ परिस्तीर्य—प्रागग्रानुदगग्रान्वा दर्भानास्तीर्याग्नि परित इत्यर्थ: । ४ आवृता—स्थालीपाकोक्तेतिकर्तव्यतया । ५. आज्य विलापनादिना सस्कृत्य । ६. पुसा पुनाम्ना हस्तादिना नक्षत्रेण युक्ते पुण्याहे । ७ मन्थं—वक्ष्यमाणसर्वौषध्यादीनां पिष्टम् । ८. सनीय—अग्ने. स्वस्य च मध्ये दक्षिणाश्रिते देशे सस्थाप्य सस्कृतमाज्य गृहीत्वा । ९. जुहोति जुहुयात् । १०. उपास्तिकर्मणो । ११. फलम् । १२. दृष्टादृष्टार्थम् । १३ कर्मति क्षेपरोपित्वरूपाम् उत्थाप्योत्थापकत्वरूपा वा । १४ कर्मणो वित्तायत्तत्वे ।

ॐ उदगयन इत्यादि वाक्य तत्तात्पर्यमाहुर्वार्तिकाचार्यास्तथाहि—"कालो विधीयते चास्य मन्थाख्यस्येह कर्मण: । सूर्योदगयनाद्युक्त्या कर्मसिद्ध्यै प्रयत्नत. ॥ प्रार्थनीय. पुरा कालो विशुद्धिश्चाऽऽत्मनस्तत: । द्रव्याण्योषधयश्चैव देशश्च तदनन्तरम् ॥ कालादीनां गुणानां च कर्मण्यस्मिन्समुच्चय. । न विकल्पः समृद्धि: स्यात्कर्मणोऽस्य

यावन्तो देवास्त्वयि जातवेदस्तिर्यञ्चो घ्नन्ति पुरुषस्य कामान्। तेभ्योऽहं भागधेयं जुहोमि ते मा तृप्ताः सर्वैः कामैस्तर्पयन्तु स्वाहा। या तिरश्ची निपद्यतेऽहं विधरणी इति तां त्वा घृतस्य धारया यजे संराधनीमहं स्वाहा ॥ १ ॥

नक्षत्र मे मन्थ को (अपने और अग्नि के) बीच में रखकर (निम्नाङ्कित मन्त्र से) हवन करता है। मन्त्रार्थ यह है—हे अग्निदेव! तेरे अधीन जितने देवता वक्र-बुद्धि होकर पुरुष की कामनाओं का विघात करते हैं, उनके उद्देश्य से इस आज्य भाग का मैं होम करता हूँ। वे देव तृप्त होकर मुझे सम्पूर्ण भोगों द्वारा तृप्त करें, स्वाहा (स्वाहा शब्द से आहुति दे देवे)। मैं सबकी मृत्यु को धारण करने वाला हूँ, ऐसा समझकर जो वक्र-बुद्धि देव तेरा आश्रय करके रहता है, सभी भोगों को देने वाले उस देव के लिये मैं घृत की धारा से यजन करता हूँ ('स्वाहा' ऐसा कहकर अग्नि मे घृत की आहुति दे डाले) ॥ १ ॥

कर्माऽऽरभ्यते[1] महत्त्वप्राप्तये। महत्त्वे च सत्यर्थसिद्धं[2] हि वित्तम्। तदुच्यते—स यः कामयेत स यो वित्तार्थी। कर्मण्यधिकृतो यः कामयेत। किम्। महत्महत्त्व प्राप्नुयां महा-

कर्माऽऽरभ्यते महत्प्राप्नुयामिति श्रुतेस्तत्कथमन्यथा प्रतिज्ञातमिति शङ्कते—महत्त्वेति। परिहरति—महत्त्वे चेति। उक्तेऽर्थे श्रुत्यक्षराणि योजयति—तदुच्यत इत्यादिना। स यो वित्तार्थी कामयेत 'तस्येदं कर्मे'ति शेषः। यस्य कस्यचिद्वित्तार्थिनस्तर्हीदं कर्म स्यादित्याशङ्क्याऽऽह—कर्मण्यधिकृत इति।

वित्तो के अधीन है। इसलिए कर्म के लिए वित्त का उपार्जन करना चाहिये। वह भी प्रत्यवायमुक्त उपाय से करना चाहिये। इसलिए (इस ब्राह्मण द्वारा) महत्त्वप्राप्ति के लिए मन्थाख्य कर्म का समारम्भ किया जाता है, महत्त्व के प्राप्त हो जाने पर वित्त तो स्वतः प्राप्त हो जाता है। इसी से श्रुति कहती है—"स य कामयेत" अर्थात् वह यदि वित्तार्थी और कर्म का अधिकारी गृहस्थी जीव

१ अनेन ब्राह्मणेन। २ प्राणविद्वाही। ३ तदनुष्ठेयम्।

समुच्चितौ ॥ कर्मणश्चास्य निष्पत्तौ विद्यसाऽपि समाश्रिता। यतोऽत्र श्रुतिरत्र नेद गूनकृद्भिर्यथादितम् ॥ यो ह वै ज्येष्ठमित्युक्त्या विद्यया या पुरोदिता। तस्या सत्यामिदं कर्म ज्यायस्त्वादिति लिङ्गत" ॥ ६ १० ॥ इति। उदगयन इत्यादिवाक्यतात्पर्यमाह—काल इति। इह गृहिणो वित्तार्थिनोऽपि यावत्। काले कर्म विधीयते नाकाल इति न्यायमाश्रित्य कर्मण इत्युक्तम्। तद्विधिरूपमाह—कर्मेति। प्रथमत इत्यस्यार्थं दर्शयति ॥ यस्मिन्कस्मिंश्चि-त्कालादौ कर्माऽऽरम्भानन्तरं विशिष्टकालाद्यनुसन्धानेन निवर्तनमाशङ्क्याऽऽह—प्रार्थनीय इति। पयोशृतादीनि द्रव्याणि। ओषधयो व्रीहियवाद्या ॥ देशादीनामन्यतमस्याप्यभावेऽपि कर्मारम्भसम्भवान्न सर्वं पूर्वं निरूप्यमित्या-शङ्क्याऽऽह—कालादीनामिति। शुद्धिश्रद्धाद्यो गुणा। विकल्पेऽपि का हानिरित्याशङ्क्य समुच्चयस्वीकार-फलमाह—समृद्धिरिति ॥ अग्निहोत्रादिवदिदं कर्म वैदिकं चेत्किमिति कल्पसूत्रकारैः सूचितमित्याशङ्क्याऽऽह—कर्मेणाख्येति। पूर्वोक्तकालवदित्यपेरर्थः ॥ कीदृशी विद्यया तत्रोपयुक्तेति तत्राऽऽह—यो हीति। प्रकृतकर्म-समवेतमन्त्रगणमध्यात्प्राणविदो यथोक्तं कर्माधिकृतमित्यर्थः ॥

न्स्यामितीत्यर्थः। तत्र मन्थकर्मणो विधित्सितस्य कालोऽभिधीयते—उदगयन आदित्यस्य तत्र सर्वत्र प्राप्तावापूर्यमाणपक्षस्य शुक्लपक्षस्य। तत्रापि सर्वत्र प्राप्तौ पुण्याहेऽनुकूल आत्मनः कर्मसिद्धिकर इत्यर्थः। द्वादशाहं यस्मिन्पुण्येऽनुकूलेऽहनि कर्म चिकीर्षति ततः प्राक्पुण्याहमेवाऽऽरभ्य द्वादशाहमुपसद्व्रती। उपसत्सु तमुपसद्व्रतमुपसदः प्रसिद्धा ज्योतिष्टोमे। तत्र च स्तनोपचयापचयद्वारेण पयोभक्षणं तद्व्रतम्। अत्र च तत्कर्मानुपसंहारात्केवलमितिकर्तव्यताशून्यं पयोभक्षणमात्रमुपादीयते। ननूपसद एव व्रतमिति यदा विग्रहस्तदा सर्वमितिकर्तव्यतारूपं ग्राह्यं भवति तत्कस्मान्न परिगृह्यत इति। उच्यते—स्मार्तत्वात्कर्मणः। स्मार्तं हीदं मन्थकर्म। ननु श्रुतिविहितं तत्कथं स्मार्तं भवितुमर्हति।

तत्र विस्तारविन्ति पुंसीति यावत्। उपसदो नामेष्टिविशेषाः। ज्योतिष्टोमे प्रवर्ग्याहःस्विति शेषः। किं पुनस्तासु व्रतमिति तदाह—तत्र चेति। यदुपसत्सु स्तनोपचयापचयाभ्यां पयोभक्षणं यजमानस्य प्रसिद्धं तदत्रोपसद्व्रतमित्यर्थः। प्रकृतेऽपि तर्हि स्तनोपचयापचयाभ्यां पयोभक्षणं स्यादिति चेन्नेत्याह—अत्र चेति। मन्थाख्यं कर्म सप्तम्यर्थः। तत्कर्मस्वुपसद्रूपकर्मोक्तिः। केवलमित्यस्यैवार्थमाह—इतिकर्तव्यताशून्यमिति। समासान्तरमाश्रित्य शङ्कते—नन्विति। कर्मधारयरूपं समासवाक्यं तत्रिस्युक्तम्। मन्थाख्यस्य कर्मणः स्मार्तत्वादत्र श्रुत्युक्तानामुपसदामुपसंग्रहाभावान्न कर्मधारयः सिध्यतीत्युत्तरमाह—उच्यत इति। मन्थकर्मणः स्मार्तत्वमाक्षिपति—नन्विति। परिसमूहनपरिलेपनाग्न्युपसमाधानादेः स्मार्तार्थस्यात्रोच्यमानत्वादियं श्रुतिः स्मृत्यनुवादिनी युक्ता तथा चैतत्कर्म भवत्येव स्मार्तमिति

इच्छा करे। क्या? "महत्प्राप्नुयाम्" अर्थात् महत्त्व या महानता को प्राप्त करूँ। उस गृही के लिए विधित्सित मन्थ कर्म का काल बतलाया जाता है—"उदगयने" अर्थात् आदित्य के उत्तरायण में आने पर, क्योंकि उस समय सब कुछ प्राप्ति होने पर (उसमें भी) "आपूर्यमाणपक्षस्य" अर्थात् शुक्ल पक्ष में, उसमें सर्वत्र प्राप्ति होने पर "पुण्याहे" अर्थात् चन्द्र-नक्षत्र के अनुकूल अपने कर्म के सिद्धिकारक शुभ दिन में, "द्वादशाहम्" अर्थात् जिस शुभ अनुकूल दिन में कर्म करना चाहे, उससे पूर्व शुभ दिन से ही बारह दिन पर्यन्त "उपसद्व्रती" अर्थात् उपसदों में व्रती होकर। उपसद् की ज्योतिष्टोम में प्रसिद्धि है। वहाँ स्तनोपचय और अपचय के द्वारा (वाणी संयम, भूमिशयन, ब्रह्मचर्य का उपलक्षण रूप) दुग्धभक्षण रूप व्रत है। यहाँ उस मन्थ कर्म में कर्म का उपसंहार न होने से केवल (अपचय-उपचय रूप) इतिकर्तव्यता से रहित दुग्धपान मात्र का उपपादन किया जाता है। (इस पर शङ्का होती है—) किन्तु "उपसदों का ही व्रत" इस प्रकार यदि विग्रह किया जाय तब तो सारा इतिकर्तव्यता रूप ग्रहण करना चाहिये, उसे क्यों नहीं ग्रहण करते हो? इसका समाधान कहा जाता है—क्योंकि कर्म स्मार्त है। यह मन्थ कर्म स्मृतिप्रतिपादित है। (इस पर पूर्ववादी कहता है—) किन्तु श्रुतिप्रतिपादित

---

१. अनुकूलचन्द्रतारके। २. पयोभक्षणमिति—वाग्यमभूशयनब्रह्मचर्याणामुपलक्षणम्। ३. स्तनोपचयापचयादिरितिकर्तव्यता। ४. प्राग्विदि र्हाणि। ५. प्रवर्ग्याहःस्विति—प्रवर्ग्याख्यकर्मानुष्ठानदिनेष्वित्यर्थः। ६. मन्थकर्मणि। ७ तर्हि—पयोभक्षणस्योपसद्व्रतत्वे। ८ स्मार्ते कर्मणि।

स्मृत्यनुवादिनी हि श्रुतिरियम् । श्रौतत्वे हि प्रकृतिविकारभाव[1]स्ततश्च प्राकृतधर्मग्राहित्वं
विकारकर्मणो न त्विह श्रौतत्वम् । [2]अत एव चाऽऽवसथ्याग्नावेतत्कर्म विधीयते । सर्वा
चाऽऽवृत्स्मार्तैवेति । उपसद्व्रतो भूत्वा पयोव्रती सन्नित्यर्थः ।

औदुम्बर उदुम्बरवृक्षमये[6] कंसे चमसे वा[7] तस्यैव विशेषणं कंसाकारे चमसाकारे
वौदुम्बर एव । [8]आकारे तु विकल्पो नौदुम्बरत्वे । अत्र सर्वौषधं सर्वासामोषधीनां समूहं
यथासंभवं यथाशक्ति च सर्वा ओषधीः समाहृत्य तत्र ग्राम्यास्तु दश नियमेन ग्राह्या

परिहरति—स्मृतीति । ननु श्रुतेनं स्मृत्यनुवादिनीत्व वैपरीत्यादतो[1] भवतीदं श्रौतमित्याशङ्क्याऽऽह—
श्रौतत्वे हीति । यदीदं कर्म श्रौतं तदा ज्योतिष्टोमेनास्य प्रकृतिविकृतिभावः स्यात् । समप्राङ्गसंयुक्ता
प्रकृतिर्विकलाङ्गसंयुक्ता च विकृतिः । प्रकृतिविकृतिभावे च विकृतिकर्मणः प्राकृतधर्मग्राहित्वादुपसद
एव व्रतमिति विगृह्य सर्वमितिकर्तव्यतारूपं शक्यं ग्रहीतुं न चात्र[2] श्रौतत्वमस्ति परिलेपनादिसंबन्धात् ।
न च पूर्वभाविन्या श्रुतेरुत्तरभाविस्मृत्यनुवादित्वासिद्धि[3]स्तस्यास्त्रैकाल्यविषयत्वाभ्युपगमादिति भावः ।
मन्थकर्मणः स्मार्तत्वे लिङ्गमाह—अत एवेति । तत्रैव हेत्वन्तरमाह—सर्वा चेति । मन्थगतेतिकर्तव्यता-
ऽत्राऽऽवृदित्युच्यते । उपसद एव व्रतमिति विग्रहासंभवादुपसत्सु व्रतमित्यस्मदुक्तं सिद्धमित्युपसंहर्तु-
मितिशब्दः । पयोव्रती सन्वक्ष्यमाणेन क्रमेण जुहोतीति संबन्धः ।

"ताम्रमौदुम्बरमिति शङ्कां वारयति—उदुम्बरवृक्षमय इति । तस्यैवेति प्रकृतपात्रपरामर्शः ।
औदुम्बरत्वे"ऽपि विकल्पमाशङ्क्याऽऽह—आकार इति । अत्रेति पात्रनिर्देशः । असंभवादशक्यत्वाच्च
सर्वौषधं समाहृत्येत्ययुक्तमित्याशङ्क्याऽऽह—यथासंभवमिति । ओषधिषु नियमं दर्शयति—तत्रेति ।

होकर भी यह स्मार्त कर्म कैसे हो सकता है? (इसका परिहार करते हैं—) क्योंकि यह श्रुति
स्मृति द्वारा उक्त अर्थ का अनुवाद करती है। यदि इसे श्रौत स्वीकार करें तो प्रकृतिविकार-
भाव हो जायगा, ऐसे मे विकारभूतकर्म मे प्राकृत धर्मो का ग्रहण करना अनिवार्य हो जायगा,
किन्तु यह श्रौत कर्म नही है। इसलिये इस कर्म का विधान आवसथ्याग्नि में है। तथा इसमे
समस्त मन्थगत इतिकर्तव्यतारूप आवृत स्मार्त ही है। "उपसद्व्रती भूत्वा" अर्थात् पयोव्रती होकर
(अग्नि स्थापित करता है)।

"औदुम्बरे" अर्थात् उदुम्बरवृक्षमय पात्र मे "कंसे चमसे वा" अर्थात् यह उसी के विशेषण हैं
अर्थात् कंसाकार अथवा चमसाकार उदुम्बरवृक्षमय पात्र मे ही। यहाँ विकल्प केवल आकार मे ही है,
औदुम्बर रूप मे नहीं। उसमे "सर्वौषध" यानी सब ओषधियो के समूह को अर्थात् यथासंभव सभी ओष-
धियो को लाकर उनमे ग्राम्य ओषधियो मे से वक्ष्यमाण व्रीहि-यवादि दश ओषधियाँ तो अवश्य लानी

१ स्यादिति शेषः । २ अत एव—मन्थकर्मणः स्मार्तत्वादेव । ३ आवसथ्येति—अग्निमुपसमाधायेति-
श्रुतेरेकाग्निसंबद्धमेतत्कर्म । उपसदस्तु ज्योतिष्टोमादौ प्रवर्ग्ये हि श्रूयमाणास्त्रेताग्निगामिन्यस्तथा च स्मार्तकाव-
सथ्याग्निसंबद्धत्वात् स्मार्तमेवेदं कर्मेति स्फुटी भविष्यति चैतदग्निमुपसमाधायेति श्रुतिव्याख्यानावसरे । ४
पात्रे । ५ इतीति शेषः । ६ आकारे त्विति—आकारे विकल्पः आकारेऽपि त्वौदुम्बरत्वे तु नियमः । ६ मन्थकर्म ।
७. ओषधीनाम्—वक्ष्यमाणव्रीह्यादिधान्यानाम् । ८ अत—श्रुतेः स्मृत्यनुवादकत्वाभावात् । १२ आकार-
१०. श्रुतेः । ११. "अथ ताम्रकं पुल्वं म्लेच्छमुखं द्व्यष्टवरिष्ठौदुम्बराणि" चेत्यमरः ।
वदित्यपिशब्दार्थः ।

व्रीहियवाद्या वक्ष्यमाणाः[1]। अधिकग्रहणे तु न दोषः ग्राम्याणां [2]फलानि च यथासंभवं यथाशक्ति च। इतिशब्दः [3]समस्तसंभारोपचयप्रदर्शनार्थः। [4]अन्यदपि यत्संभरणीयं तत्सर्वं संभृत्येत्यर्थः। क्रमस्तत्र गृह्योक्तो द्रष्टव्यः। परिसमूहनपरिलेपने [5]भूमिसंस्कारः। [6]अग्निमुपसमाधायेति वचनादावसथ्येऽग्नाविति गम्यते। एकवचनादुपसमाधानश्रवणाच्च। विद्यमानस्यैवोपसमाधानम्। [8]परिस्तीर्य दर्भाना[9]वृता स्मार्तत्वात्कर्मणः [10]स्थालीपाकावृत्परिगृह्यते तयाऽऽज्यं [11]संस्कृत्य पुंसा नक्षत्रेण [12]पुंनाम्ना[13] नक्षत्रेण [14]पुण्याहसंयुक्तेन मन्थं [15]सर्वौषधफलपिष्टं [16]तत्रौदुम्बरे चमसे [17]दधनि मधुनि घृते चोपसिच्य[18]कयोपमन्थन्योपसंमथ्य संनीय

---

[19]परिसंख्यां वारयति—अधिकेति। इति संभृत्येत्यत्रेतिशब्दस्य प्रदर्शनार्थत्वे फलितं वाक्यार्थं कथयति—अन्यदपीति। [20]ओषध्यादीनां संभरणानन्तरं परिसमूहनादिक्रमे किं प्रमाणमित्याशङ्क्याऽऽह—क्रम इति। तत्रेति [21]परिसमूहनाद्युक्तिः। होमाधारत्वेन [22]त्रेताग्निपरिग्रहं वारयति—अग्निमिति। आवसथ्येऽग्नौ होम इति शेषः। कथमेतावता[23] त्रेताग्निपरित्यागस्तत्राऽऽह—एकवचनादिति। कथमुपसमाधानश्रवणं त्रेताग्निनिवारकं तत्राऽऽह—विद्यमानस्येति। आहवनीयादेस्त्वा[24]ऽऽधेयत्वान्न प्रागेव सत्त्व-

---

चाहिएं, अधिक ग्रहण में कोई दोष नहीं। "फलानीति" अर्थात् यथासभव यथाशक्ति ग्राम्य फल लाने चाहिएं। 'इति' शब्द और भी ग्रहण करने योग्य अनुक्त और उपयुक्त वस्तुओं के प्रदर्शन के लिये है अर्थात् और भी जो सग्रह करने योग्य हो, उसका सग्रह करके; इसका क्रम गृह्यसूत्रों में देखना चाहिये। बुहारना और लीपना भूमि की शुद्धि के लिए है। इस प्रकार शुद्ध प्रदेश में अग्नि सस्थापित करके इस वाक्य से "प्राकृताग्नि में होम करे" यह जाना जाता है क्योंकि यहाँ अग्नि एकवचन है और उपसमाधान श्रुत है। विद्यमान अग्नि ही स्थापित की जा सकती है। दर्भों को बिछाकर, इतिकर्तव्यता प्रकार से; यह स्मार्त कर्म है। इसलिये यहाँ स्थालीपाक ग्रन्थोक्त आवृत् का परिग्रहण होता है। इससे आज्य का (विलापनादि के द्वारा) सस्कार कर, "पुंसा नक्षत्रेण" यानी पुंलिङ्ग नाम वाले (हस्त आदि) नक्षत्र से, ऐसे नक्षत्र से युक्त शुभ दिन में "मन्थम्" अर्थात् वक्ष्यमाण सर्वौषधि फल के पिष्ट को उस औदुम्बर चमसाकार पात्र में दही, मधु और घृत में डाल कर (वक्ष्यमाण मथानी-द्वय

---

१ बृ उ ६ ३ ७-१२। २ फलानीति—मादकामेध्यवर्जं ग्राह्याणीति ध्येयम्। ३. अनुक्तोपयुक्तसंभरणीयजातेति भावः। ४ अन्यदपीति —"तण्डुलान् फलपुष्पाणि पिष्ट्वा पात्रे निधापयेत्। दध्ना च मधुना, पिष्टं सम्यगालोड्य पात्रगम्। स्थापयेत्कृतरक्ष सञ्शुचौ देशे प्रयत्नतः" ॥ इति भावः। ५ भूमिसंस्कार इति—उल्लेखनोद्धरणाभ्युक्षणान्यप्यत्र द्रष्टव्यानि। ६ संस्कृतभूदेशे संस्थाप्य। ७ प्राकृताग्नौ। ८. परिस्तीर्येति —स्थापिताग्निं परितः प्रागग्रानुदगग्रान् वा दर्भानास्तीर्येत्यर्थः। ९ आवृदितिकर्तव्यता प्रकार इति यावत्। १०. स्थालीपाकग्रन्थोक्ता। ११. विलापनादिना। १२ हस्तादिना। १३. तादृशनक्षत्रवति पुण्याहे इति यावत्। १४ वक्ष्यमाणेति यावत्। १५. पूर्वोक्ते। १६. तैस्तमासिच्येति यावत्। १७ एकयेति—वक्ष्यमाणोपमन्थनीद्वयमध्ये एकयेत्यर्थः। १८. उक्तेतरनिषेधः परिसंख्या। १९. ओषध्यादीनामिति —ओषध्यादीनां संभरणानन्तरमेव परिसमूहनादिकर्तव्यमिति क्रमे किं मानमित्यर्थः। २० परिसमूहनम्—मार्जन्या भूमार्जनम्। २१. त्रेताग्नीति—आहवनीयाद्यग्नित्रयेत्यर्थः। २२ वचनेन। २३. आधेयत्वात्—आधानसंस्कारेण निष्पाद्यत्वादित्यर्थः।

'ज्येष्ठाय स्वाहा श्रेष्ठाय स्वाहेत्यग्नौ हुत्वा मन्थे संस्रवमवनयति प्राणाय स्वाहा वसिष्ठायै स्वाहेत्यग्नौ हुत्वा मन्थे संस्रवमवनयति वाचे स्वाहा प्रतिष्ठायै स्वाहेत्यग्नौ हुत्वा मन्थे संस्रवमवनयति चक्षुषे स्वाहा संपदे स्वाहेत्यग्नौ हुत्वा मन्थे संस्रवमवनयति श्रोत्राय स्वाहाऽऽयतनाय स्वाहेत्यग्नौ हुत्वा मन्थे

"ज्येष्ठाय स्वाहा, श्रेष्ठाय स्वाहा" इस मन्त्र से गृह अग्नि मे हवन करके स्रुवा मे बचे घृत को पिण्टपिण्ड रूप मन्थ मे डाल देता है। "प्राणाय स्वाहा, वसिष्ठाय स्वाहा" इस मन्त्र से अग्नि मे होम करके स्रुवा मे बचे हुए घृत को मन्थ मे डाल देता है। "वाचे स्वाहा, प्रतिष्ठायै स्वाहा" इस मन्त्र से अग्नि मे होम करें स्रुवा के बचे हुए घृत को मन्थ मे डाले। 'चक्षुषे स्वाहा, सपदे स्वाहा" इस मन्त्र से अग्नि मे होम करके शेष घृत को मन्थ मे डाल देता है। "श्रोत्राय स्वाहा, आयतनाय स्वाहा" इस मन्त्र से होम करके सश्रव को मन्थ में डाल देते है। "मनसे स्वाहा, प्रजात्यै स्वाहा"

मध्ये संस्थाप्यौदुम्बरेण स्रुवेणाऽऽवापस्थान 'आज्यस्य जुहोत्येतैर्मन्त्रैर्यावन्तो देवाः इत्याद्यैः ॥ १ ॥

ज्येष्ठाय स्वाहा श्रेष्ठाय स्वाहेत्यारभ्य द्वे द्वे आहुती हुत्वा मन्थे संस्रवमवनयति।

मिति भावः। मध्ये स्वस्याग्नेश्चेति शेषः। आवापस्थानमाहुतिविशेषप्रक्षेपप्रदेशः। 'भो जातवेदस्त्व-दधीना यावन्तो देवा वक्रमतयः सन्तो ममार्थान्प्रतिबध्नन्ति तेभ्योऽहमाज्यभाग स्वध्यर्पयामि ते च तेन तृप्ता भूत्वा सर्वैरपि पुरुषार्थैर्मां तर्पयन्तु। 'अहं च त्वदधीनोऽस्मि इत्याद्यमन्त्रस्यार्थः। जातं जातं वेत्सीति वा जाते जाते 'विद्यत इति वा जातवेदा'। या देवता कुटिलमतिर्भूत्वा सर्वस्यैवाहमेव धार-यिष्मीति मत्वा त्वामाश्रित्य वर्तते तां सर्वसाधनीं देवतामहं घृतस्य धारया यजे स्वाहेति पूर्ववदेव द्वितीय'मन्त्रार्थः ॥ १ ॥

मे से) एक मथानी से मथकर फिर "सनीय" अर्थात् अपने और अग्नि के मध्य स्थापित करे। फिर औदुम्बर स्रुवा से "यावन्तो देवा" इत्यादि मन्त्रो से आवापस्थान (आहुति विशेष प्रक्षेप प्रदेश) में घृत मे हवन करे ॥ १ ॥

"ज्येष्ठाय स्वाहा श्रेष्ठाय स्वाहा" इन मन्त्रो से आरम्भ कर दो-दो आहुतियाँ हवन करके

---

१ अथ षड्द्वन्द्वाहुतीः प्रतिद्वन्द्वं संस्रवावनयनयुक्ता समन्त्रा आह—ज्येष्ठायेत्यादिना रेतस इत्यत प्राक्तनेन ग्रन्थेन। २ आज्य जुहुयादिति यावत्। ३ यावन्तो देवा इत्यादि मन्त्रौ व्याचष्टे—भो इति। ४ स्वमात्मानमाह यस्यामिति योगमभिप्रेत्य स्वाहापद व्याचष्टे—अहं चेति। आत्मानमपि त्वदधीनत्वेन समर्पयामि त्वदधीन करोमीति यावत्। ५ प्राणिनि। ६. जाठरत्वेन। ७. मन्त्रार्थं इति—आहुतिद्वये संस्रवावनयन न कर्तव्यमश्रुतत्वादिति शेषः।

संꣳस्रवमवनयति मनसे स्वाहा प्रजात्यै स्वाहेत्यग्नौ
हुत्वा मन्थे स स्रवमवनयति 'रेतसे स्वाहेत्यग्नौ हुत्वा
मन्थे संꣳस्रवमवनयति ॥ २ ॥
अग्नये स्वाहेत्यग्नौ हुत्वा मन्थे संꣳस्रवमवनयति
सोमाय स्वाहेत्यग्नौ हुत्वा मन्थे संꣳस्रवमवनयति
भूः स्वाहेत्यग्नौ हुत्वा मन्थे स स्रवमवनयति
भुवः स्वाहेत्यग्नौ हुत्वा मन्थे संꣳस्रवमवनयति
स्वः स्वाहेत्यग्नौ हुत्वा मन्थे संꣳस्रवमवनयति
भूर्भुवः स्वः स्वाहेत्यग्नौ हुत्वा मन्थे संꣳस्रवमवनयति
ब्रह्मणे स्वाहेत्यग्नौ हुत्वा मन्थे संꣳस्रवमवनयति
क्षत्त्राय स्वाहेत्यग्नौ हुत्वा मन्थे संꣳस्रवमवनयति
भूताय स्वाहेत्यग्नौ हुत्वा मन्थे संꣳस्रवमवनयति

इस मन्त्र से होम करके स्रुवा से बचे हुए घृत को मन्थ पर डाल देता है। "रेतसे स्वाहा" इस मन्त्र से अग्नि मे होम करके सस्रव को मन्थ मे डाल देता है (ओषधियो के पीसे हुए पिण्ड को मन्थ कहते हैं, उसी मे अवशिष्ट घृत को डालने के लिए कहा गया है। अत उक्त मन्त्रो मे आई हुई क्रिया का 'डाले' ऐसा अर्थ भी किया जाता है) ॥ २ ॥

"अग्नये स्वाहा" इस मन्त्र से अग्नि मे होम करके सस्रव को मन्थ मे डाल देता है। "सोमाय स्वाहा" इस मन्त्र से अग्नि मे हवन करके सस्रव को मन्थ मे डाल देता है। "भू स्वाहा" इस मन्त्र से अग्नि मे होम करके सस्रव को मन्थ म डाल देता है। "भुव स्वाहा" इस मन्त्र से अग्नि मे हवन करके सस्रव को मन्थ पर डाल देता है। "स्व स्वाहा' इस मन्त्र से अग्नि मे हवन करके सस्रव को मन्थ पर डाल देता है। "भूर्भुव स्व स्वाहा" इस मन्त्र से अग्नि मे होम करके सस्रव को मन्थ में डाल देता है। 'ब्रह्मण स्वाहा' इस मन्त्र से अग्नि मे हवन करके सस्रव को मन्थ मे डाल देता है। "क्षत्त्राय स्वाहा' इस मन्त्र से अग्नि मे हवन करके सस्रव को मन्थ मे डाल देता है। "भूताय स्वाहा" इस मन्त्र से अग्नि मे हवन करके सस्रव को मन्थ मे डाल देता है। "भविष्यते स्वाहा" इस मन्त्र से

स्रुवावलेपनमाज्यं मन्थं सस्रावयति। एतस्मादेव ज्येष्ठाय श्रेष्ठायेत्यादिप्राणलिङ्गा-

---

ज्येष्ठायेत्यादिमन्त्रेषु ध्वनितमर्थमाह—एतस्मादेवेति। द्वे द्वे आहुती हुत्वेत्युक्तं 'तत्र सर्वत्र

सस्रव को मन्थ (द्रव्य) मे डाल देता है। अर्थात् स्रुवा से लगे हुए घृत को मन्थ मे डाल देता है। इस "ज्येष्ठाय श्रेष्ठाय" इत्यादि प्राण के ज्ञापन से यह सिद्ध होता है कि इस कर्म मे ज्येष्ठ-श्रेष्ठादिरूप

---

१. रेतस इत्यारभ्याऽतृतीयकण्डिकासमाप्तेश्चतुर्दशाहुती प्रत्येकं सस्रवावनयन युक्ता. समन्त्रा आह—रेतस इति। २ आहुतिमात्रे।

भविष्यते स्वाहेत्यग्नौ हुत्वा मन्थे सꣳस्रवमवनयति
विश्वाय स्वाहेत्यग्नौ हुत्वा मन्थे सꣳस्रवमवनयति
सर्वाय स्वाहेत्यग्नौ हुत्वा मन्थे सꣳस्रवमवनयति
प्रजापतये स्वाहेत्यग्नौ हुत्वा मन्थे सꣳस्रवमवनयति ॥३॥

'अथैनमभिमृशति भ्रमदसि ज्वलदसि पूर्णमसि प्रस्त-
ब्धमस्ये'कसभमसि हिंकृतमसि हिंक्रियमाणमस्युद्गीथ-

अग्नि मे होम करके सस्रव को मन्थ मे डाल देता है। "विश्वाय स्वाहा" इस मन्त्र से अग्नि मे होम करके सस्रव को मन्थ में डाल देता है। "सर्वाय स्वाहा" इस मन्त्र से अग्नि मे होम करके सस्रव को मन्थ पर डाल देता है। "प्रजापतये स्वाहा" इस मन्त्र से अग्नि मे हवन करके सस्रव को मन्थ पर डाल देता है (उक्त सभी मन्त्रो से आहुतियाँ डालकर स्रुवा मे लगे हुए घृत को मन्थ मे डालता जाता है और दूसरी उपमथानी से उसका मन्थन करता है ॥ ३ ॥

इसके बाद इस मन्थ को "भ्रमदसि" इत्यादि मन्त्र के द्वारा स्पर्श करता है (अपने अधिष्ठातृ देव प्राण रूप से एक होने के कारण वह मन्थ द्रव्य सर्वात्मक है। मन्त्रार्थ इस प्रकार है—) तुम प्राणरूप से सभी देहो मे घूमते हो। अग्नि रूप से सभी जगह प्रज्वलित होते हो। ब्रह्मरूप से परिपूर्ण हो, आकाश रूप से निष्कम्प हो। किसी के भी विरोधी न होने के कारण तुम यह विश्वरूप एक सभा के

ज्ज्येष्ठश्रेष्ठाविप्राणविद एवास्मिन्कर्मण्यधिकारः। रेतस इत्यारभ्यैकैकामाहुतिं हुत्वा मन्थे सस्रवमवनयत्य'परयोपमन्थन्या पुनर्मथ्नाति ॥ २ ॥ ३ ॥

अथैनमभिमृशति भ्रमदसीत्यनेन मन्त्रेण ॥४॥

द्वित्वप्रसङ्गं प्रत्याचष्टे—रेतस इत्यारभ्येति। सस्रवः स्रुवावलिप्तमाज्यम् ॥ २ ॥ ३ ॥

मन्थद्रव्यस्य प्राणदेवताकत्वात्प्राणेनैकीकृत्य सर्वात्मकत्वं तथाच सर्वदेहेषु प्राणरूपेण रव

प्राणोपासक का ही अधिकार है। "रेतसे स्वाहा" इस मन्त्र से प्रारम्भ कर एक-एक आहुति से हवन कर स्रुवा मे लगे घी को मन्थ मे डालता है, फिर दूसरी उपमथानी से उसका मथन करे ॥ २-३ ॥

फिर मन्थ द्रव्य को आलोडन करने के बाद मन्थ को "भ्रमदसि" इत्यादि मन्त्र द्वारा हाथ से स्पर्श करे ॥ ४ ॥

---

१ अथ मन्थद्रव्यालोडनानन्तरमेन मन्थं हस्तेनाभिमृशति मन्त्र पठन् तदर्थं च स्मरन् पाणिनाऽभिमर्शं कुर्या-दित्यर्थः। २ एकशफमसीति पाठान्तरम्। १. चतुर्दशाहुतीर्हुत्वा द्वितीययोपमन्थन्या तन्मन्थद्रव्य पुनर्मथ-

[illegible] विनियोगादर्शनादित्याशयेनाह—अपरयेति।

ऽधिपतिः स माᳮ राजेशानोऽधिपतिं करोत्विति ॥५॥

अथैनमाचामति तत्सवितुर्वरेण्यम्। मधु वाता ऋता-
यते मधु क्षरन्ति सिन्धवः। माध्वीर्नः सन्त्वोषधीः।
[1]भूः स्वाहा। भर्गो देवस्य धीमहि। मधु नक्तमुतोषसो
मधुमत्पार्थिवᳮ रजः। मधु द्यौरस्तु नः पिता। [2]भुवः

वह मुझे राजा ईशान और अधिपति बनावे, अर्थात् अपने समान गुणो से युक्त मुझ यजमान को भी बनावे ॥ ५ ॥

इसके बाद "तत्सवितुर्वरेण्यम्" इत्यादि मन्त्र से इस मन्थ का भक्षण करता है। सूर्य के उस वरण करने योग्य श्रेष्ठ पद का मैं ध्यान करता हूँ। हवा शीतल-मन्द सुगन्ध गति से वह रही है। नदियाँ शहद के समान मधुर रस से युक्त हो बह रही हैं। सभी ओषधियाँ हमारे लिए मधुर रसप्रद हो। भू: स्वाहा (उक्त अर्थवाले मन्त्रो का उच्चारण कर मन्थ का प्रथम ग्रास भक्षण करे) हम सविता

---

[3]अथैनमाचामति भक्षयति गायत्र्या. प्रथमपादेन मधुमत्यै[4]कया व्याहृत्या च

प्राणो [5]राजादिगुणः स च मां तथाभूतं करोत्वित्युद्यमनमन्त्रस्यार्थः ॥५॥

[6]तत्सवितुर्वरेण्यं वरणीयं श्रेष्ठं पदं धीमहीति सबन्ध । वाता वायुभेदा मधु सुखमृतायते [7]वहन्ति ।

उठाये हुए हाथ से ग्रहण करे ॥ ५ ॥

इस प्रकार उद्यमन के अनन्तर हाथ मे रखे इस मन्थ को "आचामति" अर्थात् भक्षण करे।

---

१. भू स्वाहेति—भूर्लोक स्वाहेति मन्त्रेण प्रथम ग्रास भक्षयित्वेति शेषम्। एवमग्रेऽपि बोध्यम्। २ भुवर्लोकः स्वाहेति द्वितीय ग्रास भक्षयित्वा। ३ अथ –उद्यमनानन्तरमेन हस्तधृत मन्थ भागशो भक्षये· दित्यर्थं। ४ प्रथमया। ५ राजादिगुण इति –आदिना ईशानाधिपत्योग्रह। ६ सवितु सर्वप्रसव· हेतो, सर्वसाधकस्येति यावत्। तद्भजनीय पद स्वरूप वयं ध्यायेमेत्यर्थं। ७ प्रत्यस्मान्।

पदार्थं वक्तुमादौ पदनिष्पत्तिप्रकारमाह—आमंसीतीति। मन ज्ञान इत्यस्य धातोराङ्पूर्वस्य लेटि शपो लुकि सत्येतद्रूप सिद्धं स्यादिति योजना। तत्र वैयाकरणप्रक्रिया प्रमाणयति—इत्यक्षरत्वादिति ॥ इदानीं पदार्थमाह—आसमन्तादिति। यावत्किंचित्सूक्ष्मादि ज्ञेयमस्मिञ्जगति स्थित तत्सर्वं सर्वतो यत सदा जानास्यतो जगदाम· सीति व्यवह्रियस इत्यर्थं ॥ मन्थस्य प्राणात्मतया सर्वज्ञत्वमुक्त्वाऽमहि त इत्यस्यार्थमाह—यथेति। वरीयांसमित्यस्य व्याख्या। गुणवद्भ्य इति ॥ महीत्यस्यार्थमाह—महीति। आमही यखण्ड पदमादायार्थमुक्त्वा पदद्वय गृहीत्वाऽऽमित्यस्यार्थमाह—आमोऽमीति। तथा महत्त्वज्ञानानुरूप्यणति यावत्। आमत्वमुपपादयति—न त्वमिति ॥ हिशब्दार्थमाह—आम इति। त्वयि व्यवस्थित महत्त्वमपि त्वामिवाऽऽमविनाशि विःप्रिभिनो सीत्यर्थं.। महत्त्वस्याविनाशित्वमुपजीव्य स हीत्यादरर्थमाह—यस्मादिति ॥

स्वाहा। धियो यो नः प्रचोदयात् । मधुमान्नो वनस्पति-
र्मधुमाꣳ अस्तु सूर्यः । माध्वीर्गावो भवन्तु नः । [1]स्वः
स्वाहेति[2] । सर्वां च सावित्रीमन्वाह सर्वाश्च मधुमती-
रहमेवेदꣳ सर्वं भूयासं भूर्भुवः स्वः स्वाहे[3]त्यन्तत

देव के तेज का ध्यान करते हैं। वे हमारे लिये दिन-रात सुखप्रद हों। पृथिवी के रजकण भी हमें उद्वेग-प्रद न हों। भुवः स्वाहा (उक्त अर्थ वाले मन्त्र से मन्थ का द्वितीय ग्रास भक्षण करे)। जो सविता देव हमारी बुद्धियों का प्रेरक है, वह हमारे लिये मधुर रसमय सोम होवे।, सूर्य हमारे लिए मधु वाला होवे। किरणें, दिशाएँ, गौएँ हमारे लिए सुखप्रद हों। स्वः स्वाहा (उक्त अर्थ वाले मन्त्रों से, तृतीय ग्रास खावे)। इसके बाद सम्पूर्ण गायत्री मन्त्र और उक्त समस्त ऋचा तथा "अहमेवेदं सर्वं भूयासम्"

प्रथमया प्रथमग्रासमाचामति। तथा गायत्रीद्वितीयपादेन मधुमत्या द्वितीयया द्वितीयया च व्याहृत्या द्वितीयं ग्रासम्। तथा तृतीयेन गायत्रीपादेन तृतीयया मधुमत्या तृतीयया च व्याहृत्या तृतीयं ग्रासम्। सर्वां सावित्रीं सर्वाश्च मधुमतीरहमेवेदं सर्वं भूयासमिति चान्ते भूर्भुवः स्वः स्वाहेति समस्तं भक्षयति। यथा चतुर्भिर्ग्रासैस्तद्द्रव्यं सर्वं परिसमा-

---

सिन्धवो नद्यो मधु क्षरन्ति मधुररसा[1]न्स्रवन्ति। ओषधीश्चास्मान्प्रति माध्वीर्मधुररसाः सन्तु। देवस्य सवितुर्भर्गस्तेजोऽन्नं वा [2]प्रस्तुत पदं चिन्तयामः। नक्तं रात्रिरुत[3]ोषसो दिवसाश्च मधु प्रीतिकराः[4] सन्तुः। [5]पार्थिवं रजो मधुमदनुद्वेगकरमस्तु। द्यौश्च पिता नोऽस्माकं मधु सुखकरोऽस्तु। यः सविता नोऽस्माकं धियो बुद्धीः प्रचोदयात्[6]प्रेरयेत्तस्य तद्वरेण्यमिति संबन्धः। वनस्पतिः [7]सोमोऽस्माक [8]मधुमानस्तु। गावो रश्मयो [9]दिशो वा माध्वीः सुखकराः सन्तु। अन्तशब्दादितिशब्दा-च्चोपरिष्टाद्ववयेरप्यनुषङ्गः। एवं ग्रासचतुष्टये निर्वृत्ते सत्यवशिष्टे द्रव्ये किं कर्तव्यं तत्राऽऽह—यथेति।

गायत्री के प्रथम पाद प्रथम मधुमती ऋचा द्वारा और प्रथम व्याहृति से प्रथम ग्रास भक्षण करे। तथा गायत्री के द्वितीय पाद द्वितीय मधुमती ऋचा और द्वितीय व्याहृति से दूसरा ग्रास भक्षण करे और गायत्री के तृतीय पाद, तृतीय मधुमती और तृतीय व्याहृति से अन्त में तीसरा ग्रास भक्षण करे। फिर समस्त गायत्री, सभी मधुमती ऋचा और 'मैं ही यह सब कुछ हो जाऊँ" इस प्रकार कह कर और फिर अन्त में "ॐ भूर्भुवः स्व. स्वाहा" इस प्रकार मन्त्र उच्चारण करते हुए समस्त मन्थ द्रव्य को

---

१ लोक। २. तृतीयं ग्रास भक्षयित्वा। ३ अन्तत इति—यथोक्तमन्थद्रव्यभक्षणान्ते इत्यर्थः। ४. स्रवन्तीति—तृमाभोदामहे येनेति तत् स्रवणफल द्रष्टव्यम्। ५ मन्थद्रव्यात्मक स्वरूपम्। ६. अपि। ७. अस्माकम्। ८. पार्थिव रज इति—"लोका रजांसीत्युच्यन्त" इति श्रुते.। मातृरूपः पृथिवीलोक आह्लादकश्चोऽस्तु सर्वदेत्यर्थ.। ९. प्रेरयेच्छुभे कर्मणीति शेष.। १० सोमपदेनात्र चन्द्रो विवक्षितो "वनस्पतीनां चन्द्रो देवता सोम ओषधीनामिति" श्रुते। ११ अनुद्वेगकृत्। १२. रश्मीनां सूर्यदेव सिद्धेराह—दिशो वेति।

आचम्य पाणी प्रक्षाल्य [1]जघनेनाग्निं प्राक्शिराः संविशति प्रातरादित्यमुपतिष्ठते दिशामेकपुण्डरीकमस्यहं मनुष्याणामेकपुण्डरीकं भूयासमिति यथेतमेत्य जघनेनाग्निमासीनो [2]वꣳशं जपति ॥ ६ ॥

(यह सब मैं ही हो जाऊँ) "भूर्भुव स्वः स्वाहा" इत्यादि मन्त्र का उच्चारण कर अन्त में अवशेप सम्पूर्ण मन्थ को खाकर दोनो हाथ धोकर अग्नि के पश्चिम भाग में पूर्वाभिमुख होकर बैठे। फिर प्रातःकाल "दिशामेकपुण्डरीकमस्यहम्" (तू दिशाओं मे एक पुण्डरीक है, मैं मनुष्यों मे एक अखण्ड श्रेष्ठ होऊँ) इत्यादि मन्त्र द्वारा आदित्य को नमस्कार करे, तत्पश्चात् जिस मार्ग से गया था, उसी मार्ग से लौटकर अग्नि के पश्चिम भाग मे बैठे और आगे कहे जाने वाले वंश का जप करे ॥ ६ ॥

ष्यते तथा पूर्वमेव 'निरूपयेत्'। यत्पात्राविलिप्तं तत्पात्रं सर्वं निर्णिज्य तूष्णीं पिबेत्। [4]पाणी प्रक्षाल्याप आचम्य जघनेनाग्निं पश्चादग्नेः प्राक्शिराः [5]संविशति। [6]प्रातःसन्ध्यामुपास्याऽऽदित्यमुपतिष्ठते दिशामेकपुण्डरीकमित्यनेन मन्त्रेण। यथेतं यथागतमेत्याऽऽगत्य जघनेनाग्निमासीनो वंशं जपति ॥ ६ ॥

पात्रावलिप्तस्य परित्याग वारयति—यदिति। निर्णिज्य प्रक्षाल्येति यावत्। [7]पाणिप्रक्षालनवचनसामर्थ्यात्प्राप्तं शुद्धयर्थं स्मार्तमाचमनमनुजानाति—अप आचम्येति। एकपुण्डरीकशब्दो[8]ऽखण्डश्रेष्ठवाची ॥६॥

भक्षण करे। जिसप्रकार यह मन्थ द्रव्य चार ग्रासों मे पूर्ण हो जाय, इसको पहले से ही विभाजन कर ले। जो पात्र मे लगा रह जाय, उस पात्र को धोकर उस सबको मौन होकर पी ले। फिर दोनो हाथो को धोकर जल से आचमन कर "जघनेनाग्निम्" अर्थात् अग्नि के पश्चिम देश मे पूर्व की ओर शिर करके शयन करे। (शयन से उठकर शौचादि से निवृत्त होकर) प्रातःकालिक सन्ध्योपासना कर "दिशामेकपुण्डरीकमसि—" इत्यादि मन्त्र से आदित्य का उपस्थान करे। फिर 'यथेतम्" यानी जिस मार्ग से गया था, उसी से 'एत्य" अर्थात् लौटकर अग्नि के पश्चिम भाग मे बैठकर आचार्यपरम्परा का जप करे ॥ ६ ॥

---

१ जघनेनाग्निमिति—अग्नेः पश्चिमदेशे इत्यर्थः। २ वंशमिति—एतद्विद्योपदेशकाचार्यपरम्परां मनसि गृणाति। जपेदिति यावत्। ३ विभजेत्। ४ प्रकृताचमनस्य स्मार्तत्वात् स्मार्ताचमनस्य च पाणिप्रक्षालनोत्तरत्वेन विहितत्वान्मूलक्रम भङ्क्त्वाऽऽह—पाणी प्रक्षाल्याप आचम्येति। ५ संविशति—शेते शयीतेति यावत्। ६ प्रातरिति—शयनादुत्थाय बहिर्गत्वा (शौचादि विधाय) सन्ध्यामुपास्य अतिश्रद्धाभ्युदयसमये सवितुरुपासनं कुर्यादित्यर्थः। ७ पाणिप्रक्षालनेति—स्मृतौ हि भोजनोत्तरहस्तप्रक्षालनानन्तरमाचमनं शुद्धयर्थं विधीयते। प्रकृते च भोजनोत्तरकालीनपाणिप्रक्षालनश्रवणात्तदविनाभूतत्वेनोपस्थितं शुद्धयर्थं स्मार्तमाचमनं पाणिप्रक्षालनोत्तरकालानुष्ठेयत्वेनाचष्ट इति यावत्। ८ अखण्डेति—अद्वितीयश्रेष्ठवाचीत्यर्थः। नास्य समोऽन्यः श्रेष्ठ इत्यर्थक इति यावत्। वस्तुतस्त्वखण्ड इति भिन्नं पदं तथा च रूढ एवायं शब्द इत्यर्थः।

तꣳहैतमुद्दालक आरुणिर्वाजसनेयाय याज्ञवल्क्यायान्तेवासिन उक्त्वोवाचापि य एनꣳ शुष्के स्थाणौ निषिञ्चेज्जायेरञ्छाखाः प्ररोहेयुः पलाशानीति ॥७॥ एतमु हैव वाजसनेयो याज्ञवल्क्यो मधुकाय पैङ्ग्यायान्तेवासिन उक्त्वोवाचापि य एनꣳ शुष्के स्थाणौ निषिञ्चेज्जायेरञ्छाखाः प्ररोहेयुः पलाशानीति ॥८॥ एतमु हैव मधुकः पैङ्ग्यश्चूलाय भागवित्तयेऽन्तेवासिन उक्त्वोवाचापि य एनꣳ शुष्के स्थाणौ निषिञ्चेज्जायेरञ्छाखाः प्ररोहेयुः पलाशानीति ॥९॥

उस इस मन्थ का उद्दालक आरुणि ने अपने शिष्य वाजसनेय याज्ञवल्क्य के प्रति उपदेश करके कहा था, यदि कोई इस मन्थद्रव्य को सूखे ठूँठ पर डाल देगा, तो उसमें शाखाएँ उत्पन्न हो जायँगी और पत्ते निकल आयेंगे ॥ ७ ॥

उस मन्थ का वाजसनेय याज्ञवल्क्य ने अपने शिष्य मधुक पैङ्ग्य को उपदेश करके कहा था, यदि कोई इस मन्थ को सूखे ठूँठ पर डाल देगा तो उसमें शाखाएँ उग आयेंगी और पत्ते निकल आयेंगे ॥ ८ ॥

उस इस मन्थ का मधुक पैङ्ग्य ने अपने शिष्य चूल भागवित्ति को उपदेश करके कहा था, यदि कोई इस मन्थ को सूखे ठूँठ पर डालेगा तो उसमे शाखाएँ फूट आयेंगी और पत्ते निकल आयेंगे ॥ ९ ॥

---

[1]तं हैतमुद्दालक इत्यादि सत्यकामो जाबालोऽन्तेवासिभ्य उक्त्वोवाचापि य एनं शुष्के स्थाणौ निषिञ्चेज्जायेरन्नेवास्मिञ्शाखाः प्ररोहेयुः पलाशानीत्येवमन्तमेन मन्थमुद्दालकात्प्रभृत्येकैकाचार्यक्रमागतं सत्यकाम आचार्यो बहुभ्योऽन्तेवासिभ्य उक्त्वोवाच । किम्[2]न्यदुवाचेत्युच्यते—अपि [3]य एनं शुष्के [4]स्थाणौ गतप्राणेऽप्येनं मन्थं मक्षणाय

"उस (इस मन्थ को) उद्दालक ने (याज्ञवल्क्य को उपदेश कर कहा था) इत्यादि श्रुतिवाक्य से आरम्भ होकर 'उसे ही सत्यकाम जाबाल ने अपने शिष्यो को उपदेश कर कहा था' इस श्रुतिवाक्य पर्यन्त उद्दालक से लेकर (जप्य) वंशपरम्परागत एक-एक आचार्य के क्रम से सत्यकाम जाबाल ने इस मन्थ का अपने बहुत से शिष्यों को उपदेश करके कहा—"जो भी कोई इस मन्थ को सूखे ठूंठ पर

---

१ जप्य वंशमाह—तमित्यादिना तमेतं यथोक्तं मन्थमित्यर्थः । २ उक्तकर्तव्यताकं मन्थम् । ३ तमित्यारभ्या तमित्यन्त प्रतीकोद्धरणं विज्ञेयम् । ४ मन्थादिति—मन्थापेक्षायामन्यदित्यर्थः । ५ प्राणोपासक । ६ स्थाणौ—छिन्नविटपस्य प्रकाण्डे ।

एतमु हैव चूलो भागवित्तिर्जानकय आयस्थूणायान्तेवासिन उक्त्वोवाचापि य एनꣳ शुष्के स्थाणौ निषिञ्चेज्जायेरञ्छाखाः प्ररोहेयुः पलाशानीति ॥१०॥

एतमु हैव जानकिरायस्थूणः सत्यकामाय जाबालायान्तेवासिन उक्त्वोवाचापि य एनꣳ शुष्के स्थाणौ निषिञ्चेज्जायेरञ्छाखाः प्ररोहेयुः पलाशानीति ॥११॥

एतमु हैव सत्यकामो जाबालोऽन्तेवासिभ्य उक्त्वोवाचापि य एनꣳ शुष्के स्थाणौ निषिञ्चेज्जायेरञ्छाखाः प्ररोहेयुः पलाशानीति तमेतं नापुत्राय वाऽनन्तेवासिने वा ब्रूयात् ॥१२॥

उस इस मन्थ का चूल भागवित्ति ने अपने शिष्य जानकि आयस्थूण को उपदेश करके कहा था कि यदि कोई इस मन्थद्रव्य को सूखे ठूंठ पर डाल देगा तो उसमे भी शाखाएँ फूट निकलेंगी और पत्ते निकल आयेंगे ॥ १० ॥

उस इस मन्थ का जानकि आयस्थूण ने अपने शिष्य सत्यकाम जाबाल के लिए उपदेश करके कहा था यदि कोई इस मन्थ को सूखे ठूंठ पर डाल देगा, तो उसमें शाखाएँ उग आयेंगी और पत्ते निकल आयेंगे ॥ ११ ॥

उस इस मन्थ का सत्यकाम जाबाल ने अपने शिष्यों को उपदेश करके कहा था, यदि कोई इस मन्थ को सूखे ठूंठ पर डाल दे, तो उसमें भी शाखाएँ फूट आयेंगी और पत्ते निकल आयेंगे। इस इस मन्थ का उपदेश उसे न करे जो पुत्र या शिष्य न हो (शिष्य, वेद पढने वाला श्रोत्रिय, मेधावी, धनदाता, प्रियपुत्र और एक विद्या सीखकर दूसरी विद्या सिखाने वाला ये छः विद्या के अधिकारी होते हैं। उनमे से इस प्राण दर्शन युक्त मन्थ विज्ञान को पुत्र और शिष्य दो ही को देने के लिये कहा गया है) ॥ १२ ॥

संस्कृत निषिञ्चेत्प्रक्षिपेज्जायेरन्नुत्पद्येरन्नेवास्मिन्स्थाणौ शाखा अवयवा वृक्षस्य प्ररोहेयुश्च पलाशानि पर्णानि यथा जीवतः स्थाणोः किमुतानेन कर्मणा कामः सिध्येदिति ।

डाल देगा तो उसमे शाखाएँ निकल आएँगी और पत्ते उग आएँगे। मन्थ मे भिन्न क्या कहा—इसे बतलाया जाता है। जो भी प्राणोपासक भक्षण के लिए संस्कृत किए हुए इस मन्थ को सूखे 'स्थाणौ' अर्थात् कटे वृक्ष के तने पर भी "निषिञ्चेत्" अर्थात् डाल दे तो इस स्थाणु में यानी "शाखाः" वृक्ष के अवयव "जायेरन्" अर्थात् उत्पन्न हो जायेंगे और "पलाशानि" यानी पत्ते उग आएँगे। जैसे हरे-भरे पत्ते जीवित स्थाणु मे रहते हैं, फिर इस मन्थकर्म से यदि इष्टकामना की पूर्ति हो जाय

'चतुरौ'दुम्बरो भवत्यौ'दुम्बरः स्रुव औदुम्बरश्चमस औदुम्बर इध्म औदुम्बर्या उपमन्थन्यौ 'दश ग्राम्याणि धान्यानि भवन्ति व्रीहियवास्तिलमाषा अणुप्रियंगवो गोधूमाश्च मसूराश्च खल्वाश्च खलकुलाश्च तान्पि-

यह मन्थकर्म चार औदुम्बर काष्ठ के पदार्थ से युक्त होता है। इसमें गूलर की लकड़ी का स्रुवा, गूलर की लकडी का चमस, गूलर की लकड़ी का इध्म और उसी काष्ठ की दो उपमन्थनी होती हैं (इसीलिये इस मन्थ कर्म को चतुरौदुम्बर कहते हैं)। इसमे धान्य, जौ, तिल, उड़द, सांवा, कांगनी, गेहूँ, मसूर, वाल और कुलथी ऐसे दस ग्रामीण अन्न होते हैं (इसके अतिरिक्त यज्ञसंबन्धी अन्य

ध्रुवफलमिदं कर्मेति कर्मस्तुत्यर्थमेतत्। विद्याधिगमे 'षट्तीर्थानि तेषामिह सप्राणदर्शनस्य मन्थविज्ञानस्याधिगमे द्वे एव तीर्थे अनुज्ञायेते पुत्रश्चान्तेवासी च ॥७॥८॥९॥ ॥१०॥११ ॥१२॥

चतुरौदुम्बरो भवतीति व्याख्यातम्'। दश ग्राम्याणि धान्यानि भवन्ति ग्राम्याणां तु धान्यानां दश नियमेन ग्राह्याणीत्यवोचाम। तान्येतानि निर्दिश्यन्ते—व्रीहियवास्तिल-

---

तमेत नापुत्रायेत्यादेरर्थमाह— विद्येति। शिष्यः श्रोत्रियो मेधावी धनदायी प्रियः 'पुत्रो विद्यया विद्यादातेति षट्तीर्थानि 'संप्रदानानि ॥ ७ ॥ ८ ॥ ९ ॥ १० ॥ ११ ॥ १२ ॥

तो इसमे कौन सी बडी बात है। यह कर्म निश्चित फलदायक है, इससे यह कर्म की स्तुति के लिए है। 'विद्या प्रदान के छ अधिकारी हैं, उनमे से प्राणदर्शन युक्त मन्थविद्या का प्रदान पुत्र और शिष्य इन दो ही अधिकारियों को करना चाहिये। ७ ॥ ८॥ ९ ॥ १० ॥ ११ ॥ १२ ॥

जिस मन्थ के चार औदुम्बर हैं, इसे ("औदुम्बरः स्रुवः" इत्यादि वाक्यों से श्रुति ने स्वयं) प्रतिपादन कर दिया है। (व्रीहि-यवादि) दश ग्राम्य धान्य होते हैं और दश ग्राम्य धान्यो को अवश्य ग्रहण करना चाहिये, ऐसा हम पहले कह चुके हैं। उन इन धान्यों को निरूपित किया जाता है—

---

१. चत्वार औदुम्बरा यस्य मन्थस्येति विग्रहः। २ सर्वौषधत्वेन सामान्यत उक्त सम्प्रति विशेषत सोपस्कार प्रकटयति—चतुरौदुम्बर इत्यादिना। उदुम्बरस्य विकार औदुम्बरः स चतुःसंख्याको भवतीत्यर्थः। ३. के ते चत्वार औदुम्बरा इत्याकाङ्क्षायामाह— औदुम्बर स्रुव इत्यादि। ४. मन्थोपादानद्रव्याण्याह दश ग्राम्याणीत्यादिना। अणु. मोदीयमिति विन्ध्याचलप्रदेशे प्रसिद्धम्। प्रियङ्गवः कङ्गुशब्दवाच्याः। खल्वा निष्पावा. वल्लशब्दवाच्या। खलकुला कुलत्था। ५ षट्तीर्थानि—षट्पात्राणि। अधिकारिण इति यावत्। यथाहु —"ब्रह्मचारी धनदायी मेधावी श्रोत्रियः प्रिय.। विद्यया विद्यां यः प्राह तानि तीर्थानि षण्मम" ॥ इति विद्याधिष्ठातृदेवतोक्तिरिति। अत्र ब्रह्मचारी शिष्यः। श्रोत्रियो पयोस्तकारी। प्रिय. पुत्रः। ६. औदुम्बरः स्रुव इत्यादिना श्रुत्यैव स्वयमित्यर्थं। ७ स्मृतिपठकप्रियपदार्थमाह—पुत्र इति। ८. संप्रदानानीति—विद्याप्रदानपात्राणीत्यर्थः। तदुक्त—"तीर्थं शास्त्राध्वरक्षेत्रपात्रोपाध्यायमन्त्रिषु। अवतारर्षिजुष्टाम्भ. स्त्रीरजःसु च विश्रुतमिति" ॥

ष्टान्दधनि मधुनि घृत उपसिञ्चत्याज्यस्य जुहोति ॥१३॥
इति बृहदारण्यकोपनिषदि षष्ठाध्यायस्य
तृतीयं ब्राह्मणम् ॥ ३ ॥

(अथ षष्ठाध्यायस्य चतुर्थं ब्राह्मणम्।)

'एषां वै भूतानां पृथिवी रसः पृथिव्या आपोऽपामो-
षधय ओषधीनां पुष्पाणि पुष्पाणां' फलानि फलानां
पुरुषः पुरुषस्य रेतः ॥ १ ॥

ओषधियाँ भी यथाशक्ति मिलाई जाती है) इन्हे पीस करके दही, मधु और घृत मे मिलाकर घृत से होम करता है ॥ १३ ॥

॥ इति तृतीय ब्राह्मणम् ॥

इन स्थावर जङ्गम सपूर्ण भूतो का सारतत्त्व पृथिवी है, पृथिवी का सार जल है, जल का सार ओषधियाँ है, ओषधियो का सार पुष्प है, पुष्प का सार फल है, फलो का सार पुरुष है तथा पुरुष का सार वीर्य है ॥ १ ॥

माषा अणुप्रियंगवोऽणवश्चाणुशब्दवाच्याः। क्वचिद्देशे प्रियगवः प्रसिद्धाः कङ्गुशब्देन। खल्वा निष्पावा वल्लशब्दवाच्या लोके खलकुलाः कुलत्थाः। एतद्व्यतिरेकेण यथाशक्ति सर्वौषधयो ग्राह्याः फलानि चेत्यवोचामा'याज्ञिकानि वर्जयित्वा ॥ १३ ॥

इति बृहदारण्यकोपनिषद्भाष्ये षष्ठाध्यायस्य तृतीय ब्राह्मणम् ॥ ३ ॥

'यादृग्जन्मा यथोत्पादितो यैर्वा गुणैर्विशिष्टः पुत्र 'आत्मनः पितुश्च 'लोक्यो

॥१३॥

इति बृहदारण्यकोपनिषद्भाष्यटीकाया षष्ठाध्यायस्य तृतीयं ब्राह्मणम् ॥३॥

प्राणोपासकस्य वित्तार्थिनो मन्थाख्य कर्मोक्त्वा ब्राह्मणान्तरमुत्थापयति—यादृगिति।

व्रीहि, यव, तिल, माष, अणु, प्रियङ्गु, अणु (चावल भेद) अणुशब्दवाच्य है। प्रियङ्गु को कही-कही कङ्गु शब्द से भी कहा जाता है। खल्व अथवा निष्पाव लोक मे "वल्ल" शब्द से भी कहे जाते है, खलकुल कुलत्थ का नाम है। इसके अतिरिक्त लशुनादि अमेध्य को त्यागकर यथाशक्ति सभी ओषधियो और फलो का ग्रहण करना चाहिए—ऐसा हम पहले ही कह चुके हैं ॥ १३ ॥

इस प्रकार बृहदारण्यकोपनिषत् मे षष्ठाध्यायस्य तृतीय ब्राह्मण के शाङ्करभाष्य का हिन्दीभाषानुवाद पूर्ण हुआ ॥ ३ ॥

---

१ तत्रादौ पुत्रोत्पत्तिहेतुरेतो बीज प्रथमकण्डिकया स्तौति—एषामित्यादिना। २ अयाज्ञिकानि—अमेध्यानि लशुनप्रभृतीनि। ३ शुभजन्मविशिष्ट इति यावत्। ४ स्वस्य। ५ लोकाय हित। ६ उक्तस्येयन-न्तर तस्यैव विशिष्टपुत्रार्थिन पुत्रमन्थाख्य कर्म वक्तुमिति शेष।

भवतीति तत्संपादनाय ब्राह्मणमारभ्यते । प्राणदर्शिनः श्रीमन्थं कर्म कृतवतः पुत्रमन्थेऽधिकारः । यदा पुत्रमन्थं चिकीर्षति तदा श्रीमन्थं कृत्वर्तुकालं पत्न्याः प्रतीक्षत इत्येतद्रेतस ओषध्यादिरसतमस्य स्तुत्याऽवगम्यते । एषां वै चराचराणां भूतानां पृथिवी रसः सारभूतः । सर्वभूतानां मध्वित्युक्तम् । पृथिव्या आपो रसः । अप्सु हि पृथिव्योता च प्रोता च । अपामोषधयो रसः । कार्यत्वाद्रसत्वमोषध्यादीनाम् । ओषधीनां पुष्पाणि पुष्पाणां फलानि । फलानां पुरुषः । पुरुषस्य रेतः । "सर्वेभ्योऽङ्गेभ्यस्तेजः संभूतम्" इति श्रुत्यन्तरात् ॥ १ ॥

उक्तगुणः स कथं स्यादित्यपेक्षायामिति शेषः । तच्छब्दो यथोक्तपुत्रविषयः । यदस्मिन्ब्राह्मणे पुत्रमन्थाख्यं कर्म वक्ष्यते तद्भवति सर्वाधिकारविषयमित्याशङ्क्याऽऽह—प्राणेति । पुत्रमन्थस्य कालनियमाभावमाशङ्क्याऽऽह—यदेति । किमत्र गमकमित्याशङ्क्य रेतःस्तुतिरित्याह—इत्येतदिति । पृथिव्याः सर्वभूतसारत्वे मधुब्राह्मणं प्रमाणयति—सर्वभूतानामिति । तत्र गार्गिब्राह्मणं प्रमाणमित्याह—अप्सु हीति । अपां पृथिव्याश्च रसत्वं कारणत्वाद्युक्तमोषध्यादीनां कथमित्याशङ्क्याऽऽह—कार्यत्वादिति । रेतोऽसृजतेति प्रस्तुत्य रेतसस्तत्र तेजःशब्दप्रयोगात्तस्य पुरुषे सारत्वमैतरेयके विवक्षितमित्याह—सर्वेभ्य इति ॥१॥

जिस प्रकार शुभजन्मविशिष्ट जिस शुभविधि से उत्पादित एवं जिन शुभ गुणों से विशिष्ट पुत्र अपने तथा पितृलोक के हित के लिए रहता है, उसे प्रतिपादित करने के लिए इस ब्राह्मण का आरम्भ किया जाता है । प्राण के उपासक श्रीमन्थ कर्म सम्पादन किये पुरुष का ही पुत्रमन्थ कर्म में अधिकार है । जब उपासक पुत्रमन्थ करना चाहे तो वह श्रीमन्थकर्म का अनुष्ठान कर चुकने पर पत्नी के ऋतुकाल की प्रतीक्षा करे इसे वीर्य को ओषधि आदि का रसतम बतलाने वाली "एषां वै रेत"—इस श्रुति से की गई स्तुति द्वारा जाना जाता है । इन चराचर भूतों का सारभूत रस पृथिवी है । 'सब प्राणियों का कार्य है' ऐसे पहले श्रुति कह चुकी है । पृथिवी का रस जल है । जल में पृथिवी ओत प्रोत है, जल का रस ओषधियाँ है । जलादि का कार्य होने के कारण ओषधियों को उसका रस बतलाया है । ओषधियों का रस पुष्प है । पुष्पों का रस फल है और फलों का रस पुरुष है । पुरुष का रस वीर्य है । अन्य श्रुति में भी कहा गया है—'यह वीर्य पुरुष के संपूर्ण अङ्गों से उत्पन्न हुआ तेज है ॥ १ ॥

---

१ प्राणोपासकस्य । २ स्तुत्या—एषामित्यादिना कृतया । ३ कार्यम् । ४ बृ उ २ ५ १ । ५ उक्तमिति—तदपत्तनवाक्योक्तकारणत्वं वाऽत्रानुसन्धेयम् । ६ अबादिकार्यत्वात् । ७ पुत्र । ८ सर्वाधिकारविषयमिति—सर्वेषामधिकारस्य विषयम् । सर्वानुष्ठेयमिति यावत् । ९ बृ उ ३ ६ १ । १० शिश्नं निरभिद्यत शिश्नाद्रेत इत्येतदुपक्रमस्य रेतःपदं सृष्टिप्रस्तावानुगुण्येनाह—रेतोऽसृजतेति । प्रस्तुत्येति—रेतस आप इत्येतन्मध्ये परामृष्टं रेतस इति पदमादत्ते रेतस इति । यदेतद्रेतस्तदेतत्सर्वेभ्योऽङ्गेभ्यस्तेजःसंभूतमिति द्वितीयाध्यायस्य वाक्यमाचष्टे—तत्र तेजःशब्दप्रयोगादिति । यत्—शिश्नाद्रेत इति प्रस्तुतम् । एतत्—रेतस आप इति मध्ये परामृष्टमित्यर्थः । ११ प्रस्तुत्य—रेतस्तत्रेत्येव साधीयान् पाठः ।

'स ह् प्रजापतिरीक्षांचक्रे हन्तास्मै प्रतिष्ठां कल्पयानीति स स्त्रियꣳ ससृजे ताꣳ सृ ऽध उपास्त तस्मात्स्त्रियमध उपासीत स एतं प्राञ्च ग्रावाणमात्मान एव समु्दपारयत्तेनैनामभ्यसृजत् ॥ २ ॥

उस प्रसिद्ध सृष्टिकर्ता प्रजापति ने विचार किया कि इस सारतत्त्व को स्थापना के लिए किसी योग्य आधार भूमि का निर्माण करना चाहिये । उन्होंने स्त्री की सृष्टि की, उसकी सृष्टि करके अधोभाग की उपासना की, अर्थात् मैथुन कर्म किया । अत उत्तम सन्तान उत्पत्ति मात्र के लिये स्त्री के अधोभाग का सेवन सद्गृहस्थ करें । (इस मैथुन कर्म में वाजपेय यज्ञ की समानता दिखलायी गयी है) प्रजापति ने इस उत्कृष्ट गतिशील (सोमरस निकालने के लिये) पत्थर के सदृश अपने जननेन्द्रिय को मैथुन काल में कठोर बना दिया और स्त्री की योनि की ओर प्रेरित किया, अर्थात् उससे उस स्त्री का संसर्ग किया (स्मरण रहे यह संतान उत्पत्ति विज्ञान प्रजा उत्पादन योग्य गृहस्थ आश्रम में तरुणो के लिये ही बतलाया गया है, अन्य के लिये नही । इस विज्ञान मे अश्लील शब्दो का आना अनिवार्य है । अत पाठक विश्व कल्याण की भावना से इस प्रसङ्ग को पढे) ॥ २ ॥

यत एव सर्वभूताना सारतममेतद्रेतोऽतः का नु खल्वस्य योग्या प्रतिष्ठेति स ह स्रष्टा प्रजापतिरीक्षाचक्रे । ईक्षा कृत्वा स स्त्रिय ससृजे । ता च सृष्ट्वाऽध उपास्त मैथुनाख्यं कर्माधउपासन नाम कृतवान् । तस्मात्स्त्रियमध उपासीत । श्रेष्ठानुश्रयणा हि प्रजाः । अत्र वाजपेयसामान्यक्लृप्तिमाह—स एतं प्राञ्च प्रकृष्टगतियुक्तमात्मनो ग्रावाण सोमा-

श्रेष्ठमनुश्रयन्तेऽनुसरन्तीति श्रेष्ठानुश्रयणा । पशुकर्मणि स्वारस्येन प्राणिमात्रस्य प्रवृत्तेर्वृथा विधिरित्याशङ्क्याऽऽह—अत्रेति । अवाच्य कम समन्यथ ॥२॥

यदि इस प्रकार यह वीर्य सपूर्ण भूतो का सारतम तत्त्व है, इसलिए (जिसमें प्रतिष्ठित होकर पुंस्त्व प्राप्त करे, वैसी) इसकी योग्य प्रतिष्ठा क्या है ? इसे श्रुति कहती है—'स ह' अर्थात् उस स्रष्टा प्रजापति ने विचार किया । विचार करके उसने स्त्री की सृष्टि की । उसकी सृष्टि करके 'अध उपास्त' अर्थात् मैथुनाख्य कर्म ही अधोभाग उपासना का नाम है उस कर्म को निष्पन्न किया । इसलिए (अब भी) स्त्री के अधोभाग की उपासना करें । प्रजा श्रेष्ठ लोगो का ही अनुसरण किया करती है । इस व्यवायकर्म मे वाजपेय यज्ञ के सादृश्य की कल्पना करते हैं । स" यानी उस प्रजापति

१ स ह प्रजापतिर्विराडात्मा । अस्मै सर्वसारभूताय रेतसे । प्रतिष्ठामधिकरणम् । स्त्रियमिति—तत पतिश्च पत्नी चाभवतामित्यत्र पत्नीशब्देनोक्ता शतरूपामित्यर्थं । २ योग्येति—यस्यां प्रतिष्ठित रेत पुंस्त्वमापद्यते । ३ उपासीतेति—अद्यतनोऽपि जन इति शेष । ४ वाजपेयेति—अवाच्यकर्मणि वाजपेयसादृशीत्यर्थ । ५ स प्रजापति । ६ प्रकृष्टगतिसपत्तिश्च 'स यावान् हेत्यादिवक्ष्यमाणपुरुषार्थसंपत्तय' इति ध्येयम् । ७ सोमकण्डनसाधनोपलस्थानीयम् । ८ स्वभावत । युक्तमिति—ऋजुतया दीर्घीकरणमत्र विवक्षितम् । ९ आहेति—पशुकर्मणि वाजपेयदृष्टिकरणार्थं तत्साधर्म्यकल्पनामाहेत्यर्थं ।

'तस्या वेदिरुपस्थो लोमानि बर्हि[1]श्चर्माधिषवणे समिद्धो मध्यतस्तौ मुष्कौ [3]स यावान्ह वै वाजपेयेन यजमानस्य लोको भवति तावानस्य लोको भवति

उस स्त्री की उपस्थ इन्द्रिय वेदी है, वहाँ के रोएँ कुशा हैं, योनि का मध्य भाग लाल वर्ण के कारण प्रज्वलित अग्नि है, योनि के पार्श्व भाग में दो कठोर मांस खण्ड मुष्क हैं, वे दोनों मुष्क ही चर्माधिषवण नाम से प्रसिद्ध चमड़े के बने सोमफलक हैं। वाजपेय यज्ञ अनुष्ठान से यजमान को जितना पुण्यलोक प्राप्त होता है, उतना ही इस मैथुन विज्ञान के जानने वाले उपासक को इस कर्म से

भिषवोपलस्थानीयं काठिन्यसामान्यात्प्रजननेन्द्रियमुदपारयदुत्पूरितवा'न्स्त्र्युपस्थं प्रति 'तेनैनां स्त्रियमभ्यसृजदभिसंसर्गं कृतवान् ॥ २ ॥

* तस्या वेदिरित्यादि सर्वं 'सामान्यं प्रसिद्धम् । 'समिद्धोऽग्निर्मध्यतः स्त्र्युपस्थस्य । तौ मुष्कावधिषवणफलके इति व्यवहितेन संबध्यते । वाजपेययाजिनो यावाँल्लोकः प्रसिद्ध-

---

मुष्कौ वृषणौ योनिपार्श्वयोः कठिनौ मांसखण्डौ तत्राधिषवणशब्दितसोमफलकदृष्टिः । यस्त्वाऽऽनडुहं चर्म सोमकण्डनार्थं तद्दृष्टी रहस्यदेशस्य चर्मणि कर्तव्येत्याह—ताविति । उपासितप्रकार-

---

ने "एतं प्राश्नम्" ऋजुरूप से दीर्घ किये हुए "ग्रावाणम्" अर्थात् सोम निकालने के साधक प्रस्तरखण्ड को, काठिन्य गुण की समानता वाले शिश्न को "उदपारयत्" अर्थात् स्त्री योनि के अभिमुख किया। उस पाषाण के समान कठिन शिश्न से इस स्त्री का "अभ्यसृजद्" अर्थात् चारों या सब ओर से वार-वार व्यवाय किया ॥ २ ॥

"स्त्री की योनि ही वेदी है—" इत्यादि मन्त्र में सब (दूर्वाधिकरणत्वादि रूप) साधर्म्य प्रसिद्ध है। स्त्री योनि के मध्य देश में प्रदीप्त अग्नि की भावना करे, योनि के वे दोनों मुष्क अधिषवण (सोम अभिषव के लिये आनडुह चर्म) हैं। इस प्रकार "चर्माधिषवणे" का "मुष्कौ" इस दूरस्थ पद से

---

१. तस्या इति—यस्यामुक्तो ग्रावोदपूरितस्या उपस्थे वेदिदृष्टिः कार्या । वेदिर्हि दूर्वादिभिरास्तीर्णा योनिश्च लोमभिरिति साधर्म्यं स्पष्टम् । २ चर्मेति—योनिस्थे चर्मणि आनडुहचर्मदृष्टिः कार्या सोमाभिषवार्थं हि कृतावानडुहं चर्म प्रसिद्धम् । ३. अमुकर्मणि वाजपेयदृष्टिफलमाह—स यावानित्यादिना । ४. इन्द्रीति—स्त्रीयोनिमभिमुखी कृतवानिति यावत् । ५ तेनैनामिति—पाषाणवत् कठिनेन शिश्नेन । अभ्यसृजद्—अभित सम ततो मुहुर्मुहु मसर्गं चोदना कृतवानित्यर्थं । ६ दूर्वाधिकरणत्वादिरूप साधर्म्यम् । ७. समिद्ध इति—योनिमध्यप्रदेशे दीप्ताग्निदृष्टिर्विधेयेत्यर्थ. ।

---

* तस्या वेदिरित्यादि सर्वं सामान्य प्रसिद्धमिति । यत्राहुर्वार्तिककाचार्यास्तथाहि—"अङ्गानि सम्भ्रियन्ते हि दश सप्त च भागश । वाजपेये कृतावश्वकामस्य स विधीयते ॥ रेतसोऽश्वरसस्यैव यत्राग्नाहुतिरीर्यते । वाजपेयाभिसपत्त्यान्मैथुनाख्यक्रतोरत । सामान्यादिति विज्ञेयं वाजपेयफलार्थिनाम्" ॥ १३ १४ ॥ पशुकर्माङ्गेषु वाजपेयाङ्गध्यासेऽपि कथ तत्र तदध्यास साम्याभावादित्याशङ्क्य अभ्यासं वाजपेयस्याभत्व साधयति—अङ्गानीति । सप्तदश प्राजापत्यान्पशूनालभत इति श्रुतेरसांकर्येण तत्तद्देवतोद्देशेन वाजपेयेऽङ्गानि संपाद्यन्ते स च सर्वाश्वकामस्य

य एवं विद्वानधोपहासं चरत्यासाᳪ स्त्रीणाᳪ सुकृतं
वृङ्क्तेऽथ य इदमविद्वानधोपहासं चरत्याऽस्य
स्त्रियः सुकृतं वृञ्जते ॥ ३ ॥

एतद्ध स्म वै तद्विद्वानुद्दालक आरुणिराहैतद्ध स्म वै

भी प्राप्त होता है। जो इस प्रकार जानने वाला पुण्य मैथुन का आचरण करता है। वह विद्वान् इन स्त्रियों के पुण्य को अवरुद्ध कर लेता है, इसके विपरीत जो इसे जानता नहीं और यदि वह मैथुन का सेवन करता है, तो उस अज्ञानी के पुण्य को स्त्रियाँ अवरुद्ध कर लेती हैं ॥ ३ ॥

निश्चय ही मैथुन कर्म को वाजसनेय सपत्ति जाता, अरुणनन्दन उद्दालक पूर्वोक्त रीति से

स्तावान्विदुषो मैथुनकर्मणो लोकः फलमिति स्तूयते। तस्माद्बीभत्सा नो कार्येति। य एवं विद्वान्धोपहासं चरत्यासां स्त्रीणां सुकृतं वृङ्क्त आवर्जयति। अथ पुनर्यो वाजपेयसपत्तिं न जानात्यविद्वान्रेतसो रसतमत्वं चाधोपहासं चरति। आऽस्य स्त्रियः सुकृतमावृञ्जतेऽविदुषः ॥३॥

मुख्य फलोक्तेस्तात्पर्यमाह—वाजपेयेति। स्तूयते मैथुनाख्यं कर्मेति शेषः। स्तुतिफलमाह—तस्मादिति। इतिशब्द स्तुतिफलदर्शनार्थः। उपाहृतेरधिकं फलमाह—य एवमिति। अविदुषो दुर्व्यापारनिरतस्य प्रत्यवायं दर्शयति—अथेति ॥३॥

सबन्ध है। वाजपेय याग करने वाले को जितने फल की प्राप्ति होती है उतना ही 'लोक' अर्थात् फल मैथुन कर्म करने का उपासक को होता है, इस प्रकार मैथुन कर्म की स्तुति की जाती है। इसलिए इससे घृणा नहीं करनी चाहिये। इस प्रकार जानने वाला जो मैथुन कर्म का आचरण करता है, वह इन स्त्रियों के पुण्य को वृङ्क्ते अर्थात् ग्रहण कर लेता है। एवं जो इस मैथुन में वाजपेय सपत्ति को नहीं जानता है अर्थात् वीर्य का रसतमत्व न जानकर मैथुनकर्म में प्रवृत्त होता है, उस अविद्वान् के पुण्य को स्त्रियाँ ही ग्रहण कर लेती हैं ॥ ३ ॥

---

१ आह स्मेत्यन्वय। एवमुत्तत्रापि। २ मैथुनम्। ३ आदत्त। ४ मैथुने। ५ स्तुतिफलेति—मैथुने घृणाकर्तव्यत्वाभावप्रदर्शनार्थं इति यावत्। ६ अधिकं वाजपेयापेक्षयाऽधिकमित्यर्थः। ७ मैथुननिरतस्य।

विधीयते स्वाराज्यभोज्यत्वेनाप्त्यतिरिक्तस्य तत्फलत्वात्तस्मादग्न्यात्मक स इत्यर्थ ॥ पशुकर्मणोऽपि तदात्मत्वमाह—रेतस इति। यत्र क्रतावन्नरसस्य रेतसोऽग्नरूपेवाऽऽहुतिरिष्यते तस्य मैथुनाख्यस्य योग्यत्वनान्तरत्वादस्मादेव सामान्यादस्मिन्कर्मणि वाजपेयसपत्तिः स्यादित्यर्थ। यद्वा यस्मिन्पुरुषेऽग्नाहुतिरिष्टा तस्मिन्नेतस्मिन्नग्नौ देवा अन्नं जुह्वतीति श्रुतेस्तस्य पुंसो रेतो भुक्तान्नरसस्तस्यैव यस्मिन्कर्मणि हूयमानत्वं तस्य पूर्ववदग्नित्वात्तस्मिन्वाजपेयदृष्टिरित्यर्थः। उपास्ते सर्वाधिकारित्वमाशङ्क्याऽऽह—इति विज्ञेयमिति। उक्तरीत्योपासनं वाजपेयानुष्ठानं विना तत्फलार्थिनामिति यावत् ॥

तद्विद्वान्नाको मौद्गल्य आहैतद्ध स्म वै तद्विद्वान्कुमार-हारित आह बहवो मर्या ब्राह्मणायना निरिन्द्रिया विसुकृतोऽस्माल्लोकात्प्रयन्ति य इदमविद्वांसोऽधोप-हासं चरन्तीति बहु वा इदं सुप्तस्य वा जाग्रतो वा रेतः स्कन्दति ॥ ४ ॥

कहते हैं। इसे उक्त रूप मे जानने वाले मुद्गल ने पुत्र नाक कहते हैं तथा इसे उक्त रूप से जानने वाले कुमारहारित भी कहते है कि बहुत से ऐसे मरणशील मनुष्य नाममात्र के ब्राह्मण है जो असयत इन्द्रिय पुण्यकर्म रहित अर्थात् मैथुन कर्म मे आसक्तिपूर्वक प्रवृत्त होते हैं। वे इस लोक से प्रस्थान करने पर परलोक से भी भ्रष्ट हो जाते है। (जो ब्रह्मचर्य पालन पूर्वक 'पत्नी के ऋतुकाल की प्रतीक्षा करता है') उस प्राण उपासक का यदि राग की प्रबलता के कारण ऋतुकाल प्राप्त होने से पूर्व अधिक या कम मात्रा मे सोते या जागते समय वीर्य गिर जाता है (तो वह निम्नाङ्कित प्रायश्चित करे—)॥ ४॥

एतद्ध स्म वै तद्विद्वानुद्दालक आरुणिराहाधोपहासाख्यं मैथुनकर्म वाजपेयसंपन्न विद्वानित्यर्थः। तथा नाको मौद्गल्यः कुमारहारितश्च। किं त आहुरित्युच्यते—बहवो मर्या मरणधर्मिणो मनुष्या ब्राह्मणा अयनं येषां ते ब्राह्मणायना [२]ब्रह्मबन्धवो [३]जाति-मात्रोपजीविन इत्येतत्। निरिन्द्रिया [४]विश्लिष्टेन्द्रिया विसुकृतो विगतसुकृतकर्मणो-ऽविद्वांसो मैथुनकर्मासक्ता इत्यर्थः। [५]ते किमस्माल्लोकात्प्रयन्ति परलोका[६]त्परिभ्रष्टा इति। मैथुनकर्मणोऽत्यन्तपापहेतुत्वं दर्शयति—य इदमविद्वांसोऽधोपहासं चरन्तीति। [७]अतोऽन्यं

अविदुषामनिर्गर्हितमिदं [८]कर्मेत्यत्राऽऽचार्यपरम्परासम्मतिमाह—एतद्धेति। पशुकर्मणो वाजपेय-सम्पन्नत्वमिदञ्च्वार्थ॰। अविदुषामवाच्ये कर्मणि प्रवृत्तानां दोषित्वमुपसंहर्तुमितिशब्द॰। विदुषो

अरुण के पुत्र उद्दालक "निश्चय ही अधोपहासाख्य मैथुनकर्म वाजपेय यज्ञ की सम्पत्ति से सम्पन्न है", ऐसा जान कर कहते हैं। उसी प्रकार मुद्गल के पुत्र नाक और कुमारहारित भी इसे उसी प्रकार जानकर कहते हैं। वे क्या कहते है—इस पर श्रुति कहती है। "बहवो मर्या ब्राह्मणायना" अर्थात् ऐसे बहुत से मरणधर्मा लोग हैं जो नाममात्र के ब्राह्मण या ब्राह्मणाभास है, ब्राह्मण जाति का नाम लेकर जीने वाले हैं। 'निरिन्द्रिया' अर्थात् अतिविषय सेवन से कामान्ध है, "विसुकृत" अर्थात् (केवल कामातिरेक से) मैथुन कर्म मे आसक्त है, पुण्य कर्म को विनष्ट करने वाले वे अविद्वान् हैं। वे क्या फल प्राप्त करते है? 'अस्माल्लोकात्प्रयन्ति" अर्थात् परलोक से परिभ्रष्ट होकर नरकगमन

---

१ विसुकृत इति—परलोकभ्रष्टाः सन्तो नरकं गच्छन्तीत्यर्थः। २ ब्राह्मणाभासाः। ३ जातीति—कामातिरेकात् स्त्रीभिरपहृतकल्याणतत्साधनब्रह्मचर्यादिमाना इति यावत्। ४ अतिविषयसेवातोऽन्धत्वाद्या-पन्ना। ५ ते किमिति—ते किं फलमश्नुवत इति शोभायामाह—अस्मादिति। ६ परिभ्रष्टाः सन्तो नरकं गच्छन्तीति शेषः। ७ मैथुनकर्मेति यावत्। ८ मैथुनकर्मणि।

[1]तदभिमृशेदनु वा मन्त्रयेत यन्मेऽद्य रेतः पृथिवी-
मस्कान्त्सीद्यदोषधीरप्यसरद्यदपः । इदमहं तद्रेत आददे
पुनर्मामैत्विन्द्रियं पुनस्तेजः पुनर्भगः । पुनर[2]ग्निर्धिष्ण्या
यथास्थानं कल्पन्तामित्यनामिकाङ्गुष्ठाभ्यामादाया-
न्तरेण स्तनौ वा भ्रुवौ वा [3]निमृज्यात् ॥ ५ ॥

उस वीर्य को हाथ से स्पर्श करे और स्पर्श करते समय इस प्रकार अभिमन्त्रित करे—आज जो मेरा वीर्य स्खलित होकर पृथिवी पर गिरा है, जो पहले कभी अन्न में भी गिरा और जल में पडा है, उस इस रेत को मैं ग्रहण करता हूँ; ऐसा कहकर अनामिका और अगुष्ठ से उस वीर्य को ग्रहण कर दोनों स्तनों और भौहों के बीच मे लगावे, उस समय यह मन्त्र पढे । वह इन्द्रिय पुनः मेरे पास लौट आवे, जो वीर्य स्खलित रूप में बाहर निकल गयी थी, मुझे पुनः तेज और सौभाग्य की प्राप्ति हो । जिनका स्थान अग्नि है, वे देवगण फिर से मेरे शरीर में उस रेत को यथास्थान स्थापित कर दें ॥ ५ ॥

कृत्वा पत्न्या ऋतुकालं [5]ब्रह्मचर्येण प्रतीक्षते यदीदं रेतः [6]स्कन्दति बहु वाऽल्पं वा सुप्तस्य वा जाग्रतो वा रागप्राबल्यात् ॥४॥

[1]तदभिमृशेदनुमन्त्रयेत वाऽनुजपेदित्यर्थः । यदाऽभिमृशति तदाऽनामिकाङ्गुष्ठाभ्यां मध्ये भ्रुवौ तद्रेत आदत्त आददे इत्येवमन्तेन मन्त्रेण पुनर्मामित्येतेन निमृज्यादन्तरेण

लाभमविदुष्श्च दोष दर्शयित्वा [7]क्रियाकालात्प्रागेव रेतस्स्खलने प्रायश्चित्तं दर्शयति—श्रीमन्थमिति । यः प्रतीक्षते तस्य रेतो यदि स्कन्दतीति योजना ॥४॥

ममाद्याप्राप्तकाले यद्रेतः पृथिवीं प्रत्यस्कान्त्सीद्गमनातिरेकेण स्वप्नमासीद्यदोषधीः प्रत्यप्य-सत्वगमद्यच्चाप स्वयोनिं प्रति गतमभूत्तदिद रेतः संप्रत्या[8]ददेऽहमित्यादानमन्त्रार्थः । केनाभिप्रायेण तदादानं तदाह—पुनरिति । तत्पुना रेतोरूपेण बहिर्निर्गतमिन्द्रियं मां प्रत्येतु समागच्छतु । तेजस्त्वगता

करते है । मैथुनकर्म अत्यन्तपाप का हेतु है, इसे श्रुति बताती है—जो इस रहस्य को न जानने वाला विद्वान् मैथुनकर्म मे प्रवृत्त होता है । (वित्तलाभ के लिए) श्रीमन्थ करके जो ब्रह्मचर्यपालन पूर्वक पत्नी से समागमयोग्य काल की प्रतीक्षा करता है । सोते या जागते समय राग की प्रवलता से यदि थोडा या बहुत उसका वीर्यस्खलन हो जाय (तो अग्रिम मन्त्र से प्रार्थना करे—) ॥ ४ ॥

स्खलित हुए वीर्य को हाथ से सस्पर्श करे और उसके पश्चात् इस मन्त्र का जाप करे । जब वीर्य का स्पर्श करे तो "यन्मेऽद्य रेतः आददे—" इस श्रुति मन्त्र से अनामिका और अङ्गुष्ठ अङ्गुली

---

१. तदिति—तद् स्कन्न रेतो हस्तेन सस्पृशेत्पश्चाच्च मन्त्रमुच्चारयेदित्यर्थः । २ अग्निर्धिष्ण्या इत्यत्र रेफ-श्छान्दसः । ३. निम्येदिति यावत् । ४. प्राणोपासितु श्रीमन्थ कृतवतो न यदा कदाचिद्भार्योपगतिरित्यभि-प्रेत्याह—ब्रह्मचर्येणेति । ५. निर्गच्छति । ६. स्कन्नं रेतः । ७ मैथुनक्रियाकालात् । ८. गृह्णामि ।

अथ यद्युदक आत्मानं पश्येत्तदभिमन्त्रयेत मयि तेज इन्द्रियं यशो द्रविणꣳ सुकृतमिति श्रीर्ह वा एषा स्त्रीणां यन्मलोद्वासास्तस्मान्मलोद्वाससं यशस्विनीमभिक्रम्योपमन्त्रयेत ॥ ६ ॥

यदि भूल से जल मे रेत स्खलित हो जाय तो वहाँ पर अपनी छाया को देख लेवे और "मयि तेज" इत्यादि मन्त्र से जल को अभिमन्त्रित करे। मन्त्रार्थं इस प्रकार है—हे देवगण! आप मुझमे तेज, वीर्य, यश, धन और सत्कर्म की प्रतिष्ठा करें। (उसके बाद जिसके गर्भ से पुत्र की उत्पत्ति करनी हो, उस पत्नी की स्तुति इस प्रकार करे—) यह पत्नी समस्त स्त्रियो मे लक्ष्मीस्वरूपा है, क्योंकि रजस्वला होने के कारण इसके वस्त्र मे रज के चिह्न स्पष्ट दीखते हैं। तत्पश्चात् रजस्वला तथा यशस्विनी पत्नी के तीन रात्रि के बाद स्नान कर चुकने पर उसके पास जाकर कहे। आज हम दोनो को वही करना है, जिससे पुत्र उत्पन्न होवे ॥ ६ ॥

भ्रुवोर्वा स्तनौ स्तनयोर्वा ॥ ५॥

अथ यदि कदाचिदुदक[1] आत्मानमात्मच्छायां पश्येत्तत्राप्यभिमन्त्रयेतानेन मन्त्रेण मयि तेज इति। [3]श्रीर्ह वा एषा पत्नी स्त्रीणां मध्ये यद्यस्मान्मलोद्वासा [4]उद्गतमलवद्वासा-

---

कान्तिः। भग· सौभाग्यं ज्ञानं वा। तदपि सर्वं रेतोनिर्गमात्तदात्मना बहिर्निर्गतं सन्मां प्रत्यागच्छतु। अग्निर्धिष्ण्यं स्थानं येषां ते देवास्तत्रैतो यथास्थानं [5]कल्पयन्त्विति [6]मार्जनमन्त्रार्थः ॥५॥

अयोनौ रेतस्खलने प्रायश्चित्तमुक्तं [7]रेतोयोनावुदके रेतःसिक्तच्छायादर्शने प्रायश्चित्तं दर्शयति—पश्येत्यादिना। [8]निमित्तान्तरे प्रायश्चित्तान्तरप्रदर्शनप्रक्रमार्थोऽथशब्दः। मयि तेजःप्रभृति देवाः कल्पयन्त्विति मन्त्रयोजना। [9]प्रकृतेन रेतःसिक्ता यस्यां पुत्रो जनयितव्यस्तां स्त्रियं स्तौति—श्रीरित्यादिना। कथं सा यशस्विनी न हि तस्याः ख्यातिरस्ति तत्राऽऽह— यदिति। रजस्वलाभिगमनादि प्रति-

---

द्वारा उसे हाथ मे ले ले, फिर "पुनर्माम्... ..." इस मन्त्र से उस वीर्य को "भ्रुवो" अर्थात् भौहो के मध्य, "स्तनौ" अर्थात् हृदय के बीच मे लगावे ॥ ५ ॥

तथा यदि कभी (प्रमाद से) जल मे वीर्य स्खलन हो जाय तो "आत्मानम्" अर्थात् अपनी छाया को देखे, तब "मयि तेज ..." इत्यादि मन्त्र से वीर्यसिक्त जल को अभिमन्त्रित करे। यह मेरी पत्नी सब स्त्रियो में श्रीमती है, "मलोद्वासा" अर्थात् जो रजोदर्शन मल से रहित शुद्ध है अथवा जो

---

१ तत्—सिक्तशुक्रमुदकम्। २ उदक इति प्रमादाद्रेतः सिक्त्वेति शेषः। ३ श्री.—श्रीमती यशस्विनीति यावत्। ४. उद्गतमलवद्वासा इति। अत्र वार्तिकम्—"उद्गत मलवद्वासश्चतुर्थेऽह्नि यत् स्त्रियाः। तां मलोद्वासस पत्नीमाहुस्सत्कर्मकारिण" ॥२८॥ इति॥ सत्कर्मेति—मैथुनकर्मकारिणो गृहस्था इति यावत्। ५ गमयन्तु। ६. लेपन मार्जनम्। ७. रेतोयोनौ—रेतस. कारणीभूते उदक इत्यर्थः। ८ निमित्तान्तर इति—अयोनौ रेतस्खलनरूपनिमित्तादन्यस्मिन् निमित्ते सति। ९. प्रकृतेनेति—प्राणोपासकत्वे सति श्रीमन्थपुत्रमन्थकर्मकर्तृत्व प्रकृतत्वम्।

सा चेदस्मै न दद्यात्काममेनामवक्रीणीयात्सा चेदस्मै नैव दद्यात्काममेनां यष्टया वा पाणिना वोपहत्यातिक्रामेदि`न्द्रियेण ते यशसा यश आदद इत्ययशा एव भवति ॥ ७ ॥

वह धर्म-पत्नी यदि इस पति को मैथुन न करने दे, तो पति उसे उसकी इच्छानुसार वस्त्रादि देकर उस पर अपना प्रेम प्रकट करे। इस पर भी यदि वह इसे मैथुन का अवसर न देवे, तो वह पति स्वेच्छानुसार डण्डे का भय दिखला कर उसके साथ बलपूर्वक समागम करे। यदि वह भी सभव न हो, तो "मैं तुझे शाप देकर वन्ध्या बना दूंगा" ऐसा कह कर उसके पास जावे और "मैं अपनी यश स्वरूप इन्द्रिय द्वारा तेरे यश को छीन लेता हूँ। इस मन्त्र का पाठ करे। उस अभिशाप से वह निश्चित वन्ध्या या दुर्भगा शब्द से कही जाने वाली अयशस्विनी हो ही जाती है ॥ ७ ॥

स्तस्मात्त्रा मलोद्वाससं यशस्विनीं श्रीमतीमभिक्रम्याभिगत्यो`पमन्त्रयेते`दमद्याऽऽवाभ्यां कार्यं यत्पुत्रोत्पादनमिति `त्रिरात्रान्त आप्लुताम् ॥ ६ ॥

`सा `चेदस्मै न दद्यान्मैथुनं कर्तुं `काममेनामवक्रीणीयादाभरणादिना ज्ञापयेत्। तथा-ऽपि सा नैव दद्यात्काममेनां `यष्ट्या वा `पाणिना `वोपहत्या`तिक्रामेन्मैथुनाय। शप्स्यामि

पिद्धमित्याशङ्क्य विशिनष्टि—त्रिरात्रेति ॥६॥ ज्ञापयेदात्मीय प्रेमातिरेकमिति शेष`। "बलादेव वशीकृतां भार्यां पशुकर्मार्थं कथमुपगच्छे-दित्याकाङ्क्षायामाह—"शप्स्यामीति ॥७॥

चतुर्थ दिन स्नान कर शुद्ध हो चुकी है, उस यशस्विनी और श्रीमती के पास "अभिगत्य" अर्थात् जाकर अपने को अभिमुख कर उससे बोलने लगे—आज हम को मैथुन कर्म करना है, जिससे पुत्र की उत्पत्ति हो ॥ ६ ॥

प्रेम से विश्वास दिलायी हुई भी यदि वह स्त्री मैथुन कर्म करने के लिए अवसर न दे तो इसे "अवक्रीणीयात्" अर्थात् आभरणादि प्रदान के द्वारा अपना प्रेमातिरेक प्रकट करे। तो भी यदि वह सम्प्रयोग करना स्वीकार न करे तो इसे दण्ड या हस्त से प्रताडित कर मैथुन कर्म करवाए।

१ इन्द्रियेणेत्यादि—अतस यशोहेतुनेन्द्रियेणोपस्थेन ते तव यशो यशोहेतुपुत्रोत्पत्तिकर रेतोऽहमाददे गृह्णामीति मन्त्रेण शपेच्छापमारभेतेति यावत्। २ उपमन्त्रयेतेति—आत्मनोऽभिमुखीभावे वाग्यत्नोऽत्रोपमन्त्रणम्। ३ उपमन्त्रणमेव व्यनक्ति—इदमिति। ४ चतुर्थेऽहनि स्नाताम्। ५ सा प्रेम्णोपमन्त्रितापि। ६ पत्न्ये। ७ अवसरम्। ८ दण्डेन। ९ हस्तेन। १० सताडय। ११ प्रतिक्रामेन्मैथुनायाऽऽक्रामेदित्यर्थं। १२ बलादेवेति—अत्र बलादप्यवशीकृतामिति बलाच्चेदवशी-कृतामिति वा पाठो लेखकप्रमादादन्यथाभूत इति प्रतिभाति। यथाश्रुते तु बलादेव वशीकृता कथमावतोऽपि ऋतुकालातिक्रमणायोगादित्याभिप्राय.। १३ शप्स्यामीतीति—यथोक्तशापभयाद्धावतोऽपि सा वश्या भवत्येवेति वशीकृत्योपगच्छेदिति व्याख्येयम्। भाव इति शेष।

सा चेदस्मै दद्यादिन्द्रियेण ते यशसा यश आदधामीति यशस्विनावेव भवतः ॥ ८ ॥

स यामिच्छेत्कामयेत मेति तस्यामर्थं निष्ठाय मुखेन मुखꣳ संधायोपस्थमस्या अभिमृश्य जपेदङ्गादङ्गात्संभवसि हृदयादधिजायसे। स त्वमङ्गकषायोऽसि दिग्धविद्धामिव मादयेमाममूं मयीति ॥ ९ ॥

यदि वह पत्नी उस पति को समागम का अवसर दे, तो पति उसे आशीर्वाद देते हुए कहे— मैं अपनी यश स्वरूप इन्द्रिय से तुझमे यश का आधान करता हूँ। इससे वे दोनों दम्पति यशस्वी यानी सन्तान वाले होते ही हैं ॥ ८ ॥

वह पुरुष अपनी जिस पत्नी के सबन्ध में ऐसा चाहे कि यह मेरे प्रति कामनायुक्त हो, मुझे मन से चाहने लगे, तो उसको योनि में अपने जननेन्द्रिय को स्थापित कर उसके मुख से अपना मुख मिला कर उसके उपस्थ भाग का स्पर्श करते हुए इस मन्त्र का जप करे। हे वीर्य ! तुम मेरे प्रत्येक अङ्ग से उत्पन्न होते हो, विशेष रूप से हृदयस्थ नाडी द्वारा तुम प्रकट होते हो, तुम मेरे अङ्ग के सार हो। अत जैसे विषाक्त वाण से घायल हुई मृगी मूर्छित हो जाती है, ऐसे ही तुम मेरी इस पत्नी को मेरे प्रति पागल बना दो, अर्थात् मेरे अधीन इसे कर डालो ॥ ९ ॥

त्वां दुर्भगां करिष्यामीति [1]प्रख्याप्य तामनेन मन्त्रेणोपगच्छेदिन्द्रियेण ते यशसा यश आदद इति। सा तस्मात्तदभिशापाद्वन्ध्या दुर्भगेति ख्याताऽयशा एव भवति ॥ ७ ॥

सा चेदस्मै दद्यादनुगुणैव स्यान्न्[2]भर्तुस्तदाऽनेन मन्त्रेणोपगच्छेदिन्द्रियेण ते यशसा यश आदधामीति [3]तदा यशस्विनावेवोभावपि भवतः ॥ ८ ॥

स या स्वभार्यामिच्छेदियं मां कामयेतेति [4]तस्यामर्थं प्रजननेन्द्रियं निष्ठाय निक्षिप्य

भर्तुर्भार्यावशीकरणप्रकारमुक्त्वा पुरुषद्वेषिण्यास्तस्या[5]स्तद्विषये प्रीतिसंपादनप्रक्रियां वर्णयति—

(यदि इतने पर भी असमर्थ रहे तो) "मैं तेरा अहित करूँगा तुझे अभागी बना दूँगा" इस प्रकार कहकर "मैं अपनी यशो स्वरूप (पुत्रोत्पत्तिकर) उपस्थ इन्द्रिय से तेरा यश ले लेता हूँ" इस मन्त्र से उसका अभिगमन करे। उस अभिशाप से वह वन्ध्या या दुर्भगा शब्द से कही जाने वाली अयशस्विनी ही होती है ॥ ७ ॥

वह भार्या यदि मैथुन के लिए आत्मसमर्पण कर दे यानी पति के अनुकूल ही रहे तो "मैं अपनी यशोहेतुक उपस्थ इन्द्रिय से तुझ मे यश संस्थापित करता हूँ" इस मन्त्र से उसका अभिगमन करे

---

१ इमां—मद्विद्वेषिणीमिति यावत्। २. उक्त्वा। ३. शाप निवर्तयेत्। ४ शापविमोके। ५. तदीययोनौ। ६. पुरुषविषये।

अथ यामिच्छेन्न गर्भं दधीतेति तस्यामर्थं निष्ठाय मुखेन मुखꣳ संधायाभिप्राण्यापान्यादिन्द्रियेण ते रेतसा रेत आदद इत्यरेता एव भवति ॥१०॥

पुरुष अपनी जिस पत्नी के विषय मे चाहे, यह गर्भवती न हो, तो उसकी योनि मे अपने जननेन्द्रिय को स्थापित करके उसके मुख मे मुख मिलाकर अभिप्राणन कर्म करके अपानन क्रिया इस मन्त्र के द्वारा करे—"इन्द्रिय स्वरूप वीर्य के द्वारा मैं तेरे रेत को ग्रहण करता हूँ" ऐसा करने पर वह गर्भिणी नही होती ॥ १० ॥

मुखेन मुखं संधायोपस्थमस्या अभिमृश्य जपेदिमं मन्त्रमङ्गादङ्गादिति ॥६॥

अथ यामिच्छेन्न[1] गर्भं दधीत न धारयेद्गर्भिणी मा भूदिति तस्यामर्थमिति पूर्ववत् । अभिप्राण्याभिप्राणनं प्रथमं कृत्वा पश्चादपान्यादिन्द्रियेण ते रेतसा रेत आदद इत्यनेन मन्त्रेणारेता एव भवति न गर्भिणी भवतीत्यर्थः ॥ १० ॥

स यामित्यादिना । हे रेतस्त्वं मदीयात्सर्वस्मादङ्गात्समुत्पद्यसे 'विशेषतश्च हृदयाद'[2]न्नरसद्वारेण[3] जायसे स त्वमङ्गानां कषायो रसः सन्विषलिप्तशरविद्धां मृगीमिवामूं मदीयां स्त्रियं मयि मादय मद्वशां कुर्वित्यर्थः ॥६॥

'तस्याः[4] स्वविषये प्रीतिमापाद्यावश्यकर्मानुष्ठानदशायाम'भिप्रायविशेषानुसारेणानुष्ठान-विशेषं दर्शयति—अथेत्यादिना । तत्र तत्रार्थशब्दस्तत्तदुपक्रमार्थो नेतव्य. । पत्नीकर्मकाले प्रथमं स्वकीय-'पुंस्त्वद्वारा तदीय'स्त्रीत्वे वायुं 'विसृज्य 'तेनैव द्वारेण "तत"स्तदादानाभिमानं कुर्यादित्याह—अभि-प्राण्येति ॥१०॥

(शाप की निवृत्ति कर दे), तब (शाप के छूट जाने से) वे दोनो यशस्वी होते हैं ॥ ८ ॥

यदि पुरुष चाहे कि मेरी भार्या मेरे विषय मे (अतिशय) कामयुक्त हो तो उसकी योनि मे "अर्थम्" अर्थात् लिङ्ग को "निष्ठाय" करके मुख से मुख सटाकर उसकी योनि का स्पर्श करते हुए "अङ्गादङ्गात् . " इत्यादि मन्त्र का जप करे ॥ ६ ॥

यदि पुरुष चाहे कि मेरी भार्या को "न गर्भं दधीत" अर्थात् गर्भ धारण न हो यानी वह गर्भिणी न हो तो उसकी योनि मे लिङ्ग का सवेशन कर इत्यादि व्याख्या पूर्ववत् ही है । "अभिप्राण्य" अर्थात् पहले अभिप्राणन करने के बाद "इन्द्रियेण ते रेतसा रेत आददे" इस मन्त्र से अपानन करे ।

---

१ न गर्भं दधीतेति—अत्र वार्तिकम्—"रूपभ्रंशो हि भवति यतो गर्भस्य धारणे । तथा यौवनहानिश्च तस्मादेव स कामयेदिति" ॥४१॥ २ अधिजायसे इत्यधिशब्दार्थमाह—विशेषतश्चेति । ३ अन्नरसद्वारेणेति—जग्धान्नपरिणामो रस प्रथमं शोणितं द्वितीयस्तृतीयो मासमित्यादिक्रमेणेत्यर्थं । ४ स्वपत्न्याः । ५ गर्भाधारणादीच्छाविशेषानुसारेणेत्यर्थं । ६ शिश्नद्वारा । ७ योनौ । ८ विसृज्य—विसर्गाभिमानं कृत्वा । ९ तेनैव द्वारेण—शिश्नद्वारा । १० तत —तदीयस्त्रीत्वात् । ११ तदादानं वाय्वादानमित्यर्थं. ।

अथ यामिच्छेद्दधीतेति तस्यामर्थं निष्ठाय मुखेन मुखꣳ संधायापान्याभिप्राण्यादिन्द्रियेण ते रेतसा रेत आदधामीति गर्भिण्येव भवति ॥ ११ ॥

¹अथ यस्य जायायै जारः स्यात्तं चेद्द्विष्यादा²मपात्रे-

पुरुष अपनी जिस पत्नी के विषय में चाहे कि वह गर्भवती हो, वह उसकी योनि में अपनी जननेन्द्रिय को स्थापित कर उसके मुख से अपना मुख मिला कर पहले अपानन क्रिया करे। तत्पश्चात् अभिप्राणन क्रिया करते समय इस मन्त्र का पाठ करे—"मैं इन्द्रिय रूप वीर्य के द्वारा तेरे रेत का आधान करता हूँ" ऐसा करने से वह गर्भवती निश्चय ही हो जाती है ॥ ११ ॥

जिस गृहस्थ विद्वान् की पत्नी का कोई जार पति हो, उस जार पति से द्वेष भाव रखकर वह उसे

अथ यामिच्छेद्दधीत गर्भमिति तस्यामर्थमित्यादि पूर्ववत्। पूर्वविपर्ययेणापान्याभिप्राण्यादिन्द्रियेण ते रेतसा रेत आदधामीति गर्भिण्येव भवति ॥ ११ ॥

अथ पुन³र्यस्य ⁴जायायै जार उपपतिः स्यात्तं चेद्द्विष्यादभिचरिष्याम्येनमिति

भर्तुरेवाभिप्रायान्तरानुसारिणं विधिमाह—अथ यामित्यादिना। स्वकीयप⁵श्चमेन्द्रियेण तदीय⁶पश्चमेन्द्रियाद्रेतः स्वीकृत्य तत्पुत्रोत्पत्तिसमर्थं कृतमिति ⁵मत्वा स्वकीयरेतसा सह ⁶तस्मिन्निक्षिपेत्तदिदमपाननं प्राणनं च तत्पूर्वकं ⁷रेतःसेचनम् ॥११॥

संप्रति ⁸प्रासङ्गिकमाभिचारिकं कर्म कथयति—अथ पुनरिति। द्वेषवतानुष्ठितमिदं कर्म-

---

इससे वह "अरेता एव भवति" अर्थात् गर्भिणी नही होती है ॥ १० ॥

यदि पुरुष चाहे कि मेरी भार्या गर्भ धारण करे तो "उसकी योनि में लिङ्ग प्रवेश कर" इत्यादि व्याख्या पूर्ववत् है। पूर्व प्रक्रिया से विपरीत यहाँ पहले अपानन क्रिया करके फिर "इन्द्रियेण ते रेतसा रेत आदधामि" इस मन्त्र से अभिप्राणन कर्म करे, इससे वह स्त्री गर्भ धारण कर लेती है ॥ ११ ॥

तथा यदि प्राणवेत्ता पति की भार्या का "जारः" अर्थात् उपपति हो; यदि वह पति उससे द्वेष

---

१ अभिचारकर्मारम्भार्थोऽथशब्दः। न च न हिंस्यादिति श्रुतिविरोधादिदमर्थो विधिरयुक्त इति वाच्यम्—साध्यसाधनसंबन्धबोधनमात्रे वेदस्य तात्पर्यादित्याहु.—"उपायत्वे न विज्ञप्त्यै श्येनवन्न विधीयते" इति। उपायविज्ञापनमात्रं वेदेन क्रियते न तु हिंसा विधीयत इति भाव। २ आमपात्रे—अपक्वमृन्मयभाजने परिसमूहनोपलेपनोल्लेखनोद्धरणाभ्युक्षणलक्षणभूसंस्कारपूर्वकमग्निमुपसमाधाय प्रस्थाप्य। प्रतिलोम दक्षिणाग्र पश्चिमाग्र वा यथा स्यात्तथा शरमयं बर्हि कुशस्तीर्त्वाऽस्तीर्य तस्मिन्नग्नावेता. अमिद्धा शरभृष्टी शरेषिका: प्रतिलोमा विपरीताग्रा सर्पिषाक्ता घृताक्ता जुहुयादित्यर्थ:। ३. प्राणवित्। ४ जायाया:। ५. संचिन्त्य। ६ तदीयपञ्चमेन्द्रिय। ७ तत्पूर्वकं रेतःसेचनमिति—अपाननप्राणनपूर्वकं रेतःसेचनं तावदिदमेव। तच्च इन्द्रियेण ते रेतसेत्यादि मन्त्रमुच्चार्य कार्यं मन्त्रोऽपि अपान्याभिप्राण्यादित्यारभ्य स्वकीयपञ्चमेत्यादिना व्याख्यातो वेदितव्य:। ८. प्रासङ्गिकेति—पशुकर्मप्रसङ्गादागतमुपपतिहिंसार्थिन साधनत्वेनाभिचारिकं कर्मान्तरवाक्येनोच्यते।

ऽग्निमुपसमाधाय प्रतिलोमꣳ शरबर्हिस्तीर्त्वा तस्मि-
न्नेताः शरभृष्टीः प्रतिलोमाः सर्पिषाऽक्ता जुहुयान्मम
समिद्धेऽहौषीः प्राणापानौ त आददेऽसाविति मम
समिद्धेऽहौषीः पुत्रपशूꣳस्त आददेऽसाविति मम

दण्ड देना चाहे, तो वह मिट्टी के कच्चे वर्तन मे (पंच भूसंस्कार पूर्वक) अग्नि की स्थापना करके
विपरीत क्रम से अर्थात् दक्षिणाग्र या पश्चिमाग्र रूप मे सरकण्डों का वर्हिष् बिछा कर उस पर बाणा-
कार उनकी सीकों को घी से गीला कर उनके अग्रभाग को विपरीत दिशा मे रखते हुए उस स्थापित
अग्नि में उनकी चार आहुतियां निम्नाङ्कित मन्त्रों से देवे। मन्त्रार्थ यह है कि अरे दुष्ट[1] यौवनादि से
प्रज्वलित मेरी पत्नी रूप अग्नि में तूने वीर्य रूप आहुति डाली है, अतः तुझ पापी के प्राण अपान को
मैं समाप्त कर देता हूँ। "मम समिद्धेऽहौषीः प्राणापानौ त आददे" इसका उच्चारण तथा फट् शब्द को
बोलकर पहली आहुति दे और 'असौ मम शत्रु' ऐसा कहकर शत्रु का नाम लेवे। इसी प्रकार चारों

मन्येत तस्येदं कर्म। आमपात्रेऽग्निमुपसमाधाय सर्वं प्रतिलोमं कुर्यात्तस्मिन्नग्नावेताः
शरभृष्टीः शरेषीकाः प्रतिलोमाः सर्पिषाऽक्ता घृताभ्यक्ता जुहुयान्मम समिद्धेऽहौषीरित्याद्या
आहुतीरन्त सर्वासामसाविति नामग्रहणं प्रत्येकम्। स एष एवंविद् ब्राह्मणः शपति स

फलवदिति यक्तुं द्विष्यादित्यधिकारिविशेषणम्। आमविशेषणं पात्रस्य 'प्रकृतकर्म'योग्यत्वख्यापनार्थम्।
अग्निमित्येकवचनाद्'पसमाधानवचनाच्चा'ऽवसथ्याग्निरत्र विवक्षितः। सर्वं परिस्तरणादि 'तस्य प्रति-
लोमत्वे कर्मणः 'प्रतिलोमत्वं हेतूकर्तव्यम्। मम स्वभूते योषाग्नौ यौवनादिना समिद्धे रेतो हुतवानसि
ततोऽपराधिनस्तव प्राणापानावाददे कडित्युक्त्वा होमो निर्वर्तयितव्यः। "तदन्ते चासावित्यात्मनः
शत्रोर्वा नाम गृह्णीयात्। इष्टं श्रौतं कर्म सुकृतं स्मार्तम्। आशा "प्रार्थना वाचा "यत्प्रतिज्ञातं कर्मणा
मोपपादितं प्रतीक्षा पराकाशः। यथोक्तहोमद्वारा शापदानस्य फलं दर्शयति—स एष इति। एवंविस्त्वं

करे तथा 'इस जार के अनिष्ट के लिए प्रयोग करूँगा' ऐसी धारणा करे तो उसके लिए यह कर्म है। कच्ची
मिट्टी बर्तन में अग्नि संस्थापित करके सारी क्रिया विलोम क्रम से करे। उस पात्र मे स्थापित अग्नि
मे 'शरभृष्टी' अर्थात् सरकण्डे की सींकें विपरीत ढंग से आगे करके रखते हुए "सर्पिषाऽक्ता" घी में
भिगोकर आहुति दे। "मम समिद्धेऽहौषी." अर्थात् मेरी अपनी योषाग्नि मे तुमने वीर्य का होम किया

---

१. आमपात्रस्थापिते। २. प्रसिद्धा। ३ विपरीताग्रा। ४ हिंसाकर्म। ५. योग्यत्वेति—ह्यनुहि
भिदुरत्वमापादनीयो भिदुर चामपात्रमिति। ६ विद्यमानस्य ह्युपसमाधि। ७. आवसथ्याग्निर्लौकिको-
ऽग्निर्विवक्षितो न तु त्रेताग्निरित्याशय.। ८ बर्हिपरिस्तरणादे। ९ हिंसार्थत्वम्। १० प्रत्येकाहुति
प्रक्षेपावसाने। ११. प्रार्थनेति—अनिर्ज्ञातप्राप्येष्टार्थविषयिणीति बोध्यम्। १२ वाचा यत्प्रतिज्ञातं सम्पाद-
यिष्यामीति न च कर्मणा साधित तादृशराज्यादिनिर्ज्ञातप्राप्येष्टार्थप्रतीक्षापराकाश इति यावत्।

मश्नीयातामीश्वरौ जनयितवै ॥१४॥

अथ य इच्छेत्पुत्रो मे [1]कपिलः[2]पिङ्गलो जायेत द्वौ वेदावनुब्रुवीत सर्वमायुरियादिति दध्योदनं पाचयित्वा सर्पिष्मन्तमश्नीयातामीश्वरौ जनयितवै ॥१५॥

अथ य इच्छेत्पुत्रो मे श्यामो लोहिताक्षो जायेत त्रीन्वेदाननुब्रुवीत सर्वमायुरियादित्यु[3]दौदनं पाचयित्वा सर्पिष्मन्तमश्नीयातामीश्वरौ जनयितवै ॥१६॥

खावें। इससे वे दोनों वैसे पुत्र को उत्पन्न करने में समर्थ हो जाते हैं ॥ १४ ॥

जो पुरुष चाहे कि मेरा पुत्र कपिल या पिङ्गल वर्ण का हो, दो वेदों का अध्ययन करे, पूर्ण आयु सौ वर्ष तक जीवित रहे, तो वे दोनों पति-पत्नी दधि के साथ भात पकाकर घी डालकर खावें। इससे वे उक्त योग्यता वाले पुत्र को उत्पन्न कर सकते हैं ॥ १५ ॥

जो पुरुष चाहे कि मेरा पुत्र श्याम वर्ण लाल नेत्र वाला हो, तीन वेदों का अध्ययन करे और पूर्ण आयु सौ वर्ष तक जीवित रहे तो वे दोनों पति पत्नी केवल जल में चावल पकाकर घी मिलाकर खावें। इससे वे उक्त योग्यता वाले पुत्र को उत्पन्न कर सकते हैं ॥ १६ ॥

क्षीरोदनं पाचयित्वा सर्पिष्मन्तमश्नीयातामीश्वरौ समर्थौ जनयितवै जनयितुम् ॥ १४ ॥

दध्योदनं दध्ना [4]चरुं पाचयित्वा द्विवेदं चेदिच्छति पुत्रं तद्वदेवमशननियमः ॥१५॥

[5]केवलमेव स्वाभाविकमोदनम्। उदग्रहणमन्यप्रसङ्गनिवृत्त्यर्थम् ॥ १६ ॥

शुक्लादिम् ॥१४॥

॥१५॥

स्वाभाविकमोदनं पाचयति चेत्किमर्थमुदग्रहणं तद्व्यतिरेकेणौदनपाकसम्भवादित्याशङ्क्याऽऽह—उदग्रहणमिति। [6]क्षीरादेरिति शेषः ॥१६॥

करे, पूरे सौ वर्ष की आयु जीए तो वे दोनों पति-पत्नी दूध की खीर पकाकर (और हवन कर) घी डाल कर खाएँ। इससे 'ईश्वरौ जनयितवै' अर्थात् उपरोक्त गुणयुक्त पुत्र उत्पन्न करने में वे समर्थ होते हैं ॥ १४ ॥

"दध्योदनम्' अर्थात् दही से चरु पकाकर (हवन कर) उसे ही भक्षण करने का विधान है,

---

१ वर्णतः। २ पिङ्गलाक्ष। ३ उदौदनम्—उदके ओदनं पाचयित्वेत्यर्थः। ४ चरुमिति—होमार्थं पाच्यमन्नं चरुः। यथाहुर्याज्ञिका —'अनवस्रावितान्तरूष्मपाक ओदनश्चरुरिति' इति वाचस्पत्याभिधाने। ५ केवलमेव स्वाभाविकमिति—क्षीरादिविशेषणवर्जितं लोकप्रसिद्धमेवौदनमित्यर्थः। ६ क्षीरदध्नोः काम्यभेदे विनियुक्तत्वेन प्रसक्त्यभावादन्यत्वप्रतियोगित्वाश्रयं दर्शयति—क्षीरादेरिति। शेषेण क्षीरदधिभ्यामन्यस्येक्षुरसादेः प्राप्तिनिरासार्थमिति तदर्थं।

अथ य इच्छेद्दुहिता मे पण्डिता जायत सर्वमायुरिया-
दिति तिलौदनं पाचयित्वा सर्पिष्मन्तमश्नीयातामी-
श्वरौ जनयितवै ॥१७॥
अथ य इच्छेत्पुत्रो मे पण्डितो विगीतः समितिंगमः
शुश्रूषितां वाचं भाषिता जायेत सर्वान्वेदाननुब्रुवीत
सर्वमायुरियादिति [1]माꣳसौदनं पाचयित्वा सर्पिष्मन्त-
मश्नीयातामीश्वरौ जनयितवा औक्षेण वाऽऽर्षभेण
वा ॥१८॥

जो पुरुष चाहे कि मेरी पुत्री (गृह शास्त्र मे निपुण हो) विदुषी हो जावे और पूर्ण आयु सौ
वर्ष तक जीवित रहे, तो वे पति-पत्नी तिल और चावल की खिचडी बनाकर खावें। इससे वे उक्त
योग्यता वाली कन्या को उत्पन्न कर सकते हैं ॥ १७ ॥
जो पुरुष चाहे कि मेरा पुत्र लोकविख्यात, पण्डित, विद्वानो की सभा मे निर्भीक होकर
जाने वाला तथा रमणीय संस्कृत सार्थक वाणी बोलने वाला हो, संपूर्ण वेदो का अध्ययन करे और पूर्ण
आयु सौ वर्ष तक जीवित रहे, तो वे दोनो पति-पत्नी हलके फल के गूदे से मिश्रित चावल को पकाकर
उसमे घी मिलाकर खावें। इससे वे उक्त योग्यता वाले पुत्र को उत्पन्न करने में समर्थ हो सकते हैं।
उक्षा या ऋषभ नामक औषधि के गूदे के साथ खाने का नियम किया गया है, न कि सांड या बैल के
मांस के साथ ॥ १८ ॥

दुहितुः पाण्डित्य गृहकृत्यविषयमेव वेदेऽनधिकारात्। तिलौदनं [2]कृशरम् ॥१७॥
समितिंगमः सभां गच्छतीति प्रगल्भ
विविधं गीतो विगीतः प्रख्यात इत्यर्थः।
शुश्रूषितां श्रोतुमिष्टां रमणीयां वाचं भाषिता
इत्यर्थः। पाण्डित्यस्य पृथग्ग्रहणात्।

वेदविषयमेव तत्पाण्डित्यं कि न स्यादत आह—वेद इति ॥१७॥
पाण्डित्यस्येति। सर्वशब्दो
वेदविषयमेव तत्पाण्डित्यं ... समितिविद्वत्सभा तां गच्छतीति विद्वानेवोच्यतामिति चेन्नेत्याह—पाण्डित्यस्येति

यदि दो वेदो को जानने वाले पुत्र प्राप्ति की इच्छा हो ॥ १५ ॥
दूध और दही से वियुक्त केवल लोक प्रसिद्ध भात (पकाकर) भक्षण करे। "उदौदनम्" पद
मे 'उद' ग्रहण अन्य प्रसङ्ग की निवृत्ति के लिए है ॥ १६ ॥
वेद मे अधिकार न होने से पुत्री का पाण्डित्य गृहकृत्य के विषय मे ही समझना चाहिये।
"तिलौदनम्" नाम तिल और चावल की बनी खिचडी का है ॥ १७ ॥
"विगीत" यानी विविध रूप जिसका गान हो अर्थात् प्रख्यात "समितिंगम." नाम सभा मे जाने

---

१. मांसोदनमिति—"तण्डुलान् मांससमिश्रान् पक्त्वा मांसोदनं विदु."। २. कृशरमिति—"ओदनस्तिल-
समिश्र. कृशर परिकीर्तित" इति स्मृते।

अथाभिप्रातरेव स्थालीपाकावृताऽऽज्यं चेष्टित्वा स्थालीपाकस्योपघातं जुहोत्यग्नये स्वाहाऽनुमतये स्वाहा देवाय सवित्रे सत्यप्रसवाय स्वाहेति हुत्वोद्धृत्य प्राश्नाति प्राश्येतरस्याः प्रयच्छति प्रक्षाल्य

तत्पश्चात् चौथे दिन नित्य क्रिया से निवृत्त हो प्रातः काल ही कूटने से तैयार हुए चावलों को लेकर स्थालीपाक की विधि से घृत का संस्कार करके स्थाली मे से थोडा-थोडा अन्न लेकर "अग्नये स्वाहा, अनुमतये स्वाहा, देवाय सवित्रे सत्यप्रसवाय स्वाहा" इत्यादि मन्त्रों से तीन प्रधान आहुतियाँ देवे। इस प्रकार आहुति देकर स्थाली पाक से बचे हुए चरु को एक पात्र में निकाल कर उसमें घी मिला

संस्कृतायाः अर्थवत्या वाचो भावितेत्यर्थः। मांसमिश्रमोदनं मांसौदनम्। [1]तन्मांसनियमार्थमाह—[2]औक्षेण वा मांसेन। उक्षा [3]सेचनसमर्थः पुंगवस्तदीयं मांसम्। ऋषभस्ततोऽप्यधिकवयास्तदीयमार्षभं मांसम्॥ १८॥

[4]अथाभिप्रातरेव काले[5]ऽवघातनिष्पन्नांस्तण्डुलानादाय स्थालीपाकावृता स्थालीपाकविधिनाऽऽज्यं चेष्टित्वा[6]ऽऽज्यसंस्कारं कृत्वा चरुं श्रपयित्वा [7]स्थालीपाकस्याऽऽहुतीर्जुहोत्यु

वेदचतुष्टयविषयः। औक्षेणेत्यादितृतीया [8]सहार्थे। देशविशेषापेक्षया कालविशेषापेक्षया वा [9]मांसनियमः। [10]अथशब्दस्तु पूर्ववाक्येषु यथारुचि विकल्पार्थः॥१८॥

कदा पुनरिदमोदनपाकादि कर्तव्यं इत्याह—अथेति। कोऽसौ स्थालीपाकविधिः कथं वा [11]तत्र

वाले प्रगल्भ पुरुष का है क्योंकि विद्वान् का पृथक् ग्रहण किया गया है। "शुश्रूषिता वाच भाषिता" अर्थात् सुनते रहने योग्य रमणीय सुशोभना और अर्थवती बोली हुई वाणी। "मांसौदनम्" नाम मांस मिश्रित कर पकाये हुए ओदन का है। ओदन विशेषण मांस मे नियम के लिए श्रुति कहती है—उक्षा के मांस के साथ। वीर्य का सेचन करने में समर्थ सांड ही उक्षा है। उसके मांस के साथ ओदन मिश्रित कर। ऋषभ उससे अधिक आयु वाले सांड का नाम है, उसके मांस के साथ मिश्रित ओदन को (खाकर ऐसा पुत्र उत्पन्न करे)॥ १८॥

चौथे दिन प्रात काल ही कूटने से तैयार हुए चावलो को लेकर "स्थालीपाकावृता" अर्थात्

---

१. ओदनविशेषणमांसनियमार्थम्। २ 'औदापत्ये' इति अणि टिलोपो निपात्यते। ३ रेतसः सेचनसमर्थः। ४. चतुर्थेऽहनि। ५. भार्याकण्डितान्। ६. विलापनादिसंस्कारम्। ७ स्थालीपाकस्य—स्थाल्या पक्वस्य चरोरिति कर्मणि षष्ठी उपघातमित्यत्रान्वयः। ८ सहार्थ इति—तथा सति औक्षेणार्षभेण वा मांसेन सहौदनं पाचयित्वेत्यर्थः। ९. मांसनियम इति—प्रशस्ते स्वार्थास्तन्मांस कृष्णमृगस्य छागस्य वाऽनुमन्वत इति स्पष्टं वार्तिके। १०. अथ य इच्छेदित्यादि बहुवारमथशब्दप्रयोगस्य तात्पर्यमाह—अथशब्दस्त्विति। ११ तत्र—मन्त्रकर्मणि।

पाणी उदपात्रं पूरयित्वा तेनैनां त्रिरभ्युक्षत्युत्तिष्ठातो विश्वावसोऽन्यामिच्छ प्रपूर्व्यां सं जायां पत्या सहेति ॥१९॥

'अथैनामभिपद्यतेऽमोऽहमस्मि सा त्वꣳसा त्वमस्य-मोऽहं सामाहमस्मि ऋक्त्वं द्यौरहं पृथिवी त्वं तावेहि

कर पति पहले स्वयं भोजन करे, शेष उच्छिष्ट अपनी पत्नी को देवे। इसके अनन्तर हाथ-पैर धोकर शुद्ध आचमन करके जलपात्र को भरकर उसी जल से अपनी पत्नी का "उत्तिष्ठात" इत्यादि मन्त्र से तीन बार अभिषेक करे, पर मन्त्र एक ही बार पढे ॥ १९ ॥

'इसके बाद पति अपनी कामना के अनुसार पत्नी को खीर आदि भोजन कराने के पश्चात् उसके साथ शयन करे। उस समय "अमोऽहमस्मि" इत्यादि मन्त्र का उच्चारण कर अपनी पत्नी का आलिङ्गन करे। मन्त्रार्थ यह है—हे देवि ! मैं प्राण हूँ, तुम वाक् हो, तुम वाक् हो, मैं प्राण हूँ। मैं साम

पघातमु'पहृत्योपहृत्याग्नये स्वाहेत्याद्याः। गाह्यः सर्वो विधिर्द्रष्टव्योऽत्र हुत्वोद्धृत्य चरुशेषं प्राश्नाति स्वयं प्राशयेतरस्याः पत्न्यै प्रयच्छत्युच्छिष्टम्। 'प्रक्षाल्य पाणी आचम्योदपात्रं पूरयित्वा तेनोदकेनैनां त्रिरभ्युक्षत्यनेन मन्त्रेणोत्तिष्ठात इति सकृन्मन्त्रोच्चारणम् ॥ १९ ॥

'अथैनाम'भिमन्त्र्य क्षीरौदनादि 'यथापत्यकामं भुक्त्वेति क्रमो द्रष्टव्यः। संवेशन-

---

होमस्तत्राऽऽह—गाह्यं इति। गृह्ये प्रसिद्धो गाह्यं। अत्रेति पुत्रमन्थकर्मोक्तिः। अतो मद्भार्यातः सकाशाद्धो विश्वावसो गन्धर्व त्वमुत्तिष्ठान्यां च जायां प्रपूर्व्यां तरुणीं पत्या सह संक्रीडमानामिच्छाहं पुनः स्वामिमां जायां समुपैमीति मन्त्रार्थः ॥१९॥

अभिपत्तिरालिङ्गनम्। कदा क्षीरोदनादिभोजनं तदाह—क्षीरेति। भुक्त्वाऽभिपद्यत इति

स्थालीपाक विधि से "आज्य चेष्टित्वा" अर्थात् विलापनादि के द्वारा घी का सस्कार करके चरु को पकाकर स्थालीपाक की आहुति दे। उसमे से थोडा-थोडा ग्रहण करके "अग्नये स्वाहा" इत्यादि तीन मन्त्रो से हवन करे। यह सब विधि गृह्यसूत्रो मे वर्णन की गई है। हवन करके अवशिष्ट चरु को एक पात्र में निकालकर पति "प्राश्नाति" अर्थात् स्वय भोजन करे, "प्राशयेतरस्या" अर्थात् खाकर पत्नी को उच्छिष्ट भाग को दे दे। फिर हायो को धोकर, शुद्ध जल से आचमन कर, जलपात्र को भरकर उसी जल से पत्नी का तीन वार "उत्तिष्ठात" इत्यादि मन्त्र के द्वारा अभिषेक करे। उक्त मन्त्र का एक बार ही पाठ करना चाहिये ॥ १९ ॥

इसके बाद इसे आलिङ्गन के लिए प्रार्थना करके अभीष्ट गर्भाधान के लिए क्षीरौदनादि

---

१. अथेति—एव गन्धर्वं प्रस्थाप्य यथाकामं क्षीरौदनादिभोजनान्तरम्। २ स्वल्प स्वल्प गृहीत्वेति यावत्। ३ प्रक्षाल्य पाणी इति—शुद्धाचमनं विधायेति यावत्। ४ अथेति—गन्धर्वप्रस्थापनानन्तरमालिङ्गने प्रतिबन्धाभावोऽथशब्दार्थं। ५ आलिङ्गनार्थं संप्राप्यं। ६. अभीष्टगर्भाधानार्थम्।

संरभावहै सह रेतो दधावहै पुंसे पुत्राय वित्तय इति ॥२०॥

'अथास्या ऊरू [2]विहापयति विजिहीथां द्यावापृथिवी इति तस्यामर्थं निष्ठाय मुखेन मुखंसधाय त्रिरेना-मनुलोमामनुमार्ष्टि विष्णुर्योनिं कल्पयतु त्वष्टा रूपाणि पिंशतु । आसिञ्चतु प्रजापतिर्धाता गर्भं दधातु ते ।

तुम ऋक् हो, मैं आकाश हूँ, तुम पृथिवी हो । अत आओ, हम दोनों दम्पति परस्पर आलिङ्गन करें । एक साथ रेत धारण करें जिससे कि हम लोगों को पुरुषत्वविशिष्ट पुत्र की प्राप्ति हो ॥ २० ॥

उसके बाद पत्नी के दोनों जघों को एक दूसरे से पृथक् करे । उस समय "विजिहीथां द्यावा-पृथिवी" इत्यादि मन्त्र का पाठ करे । अर्थात् हे जघारूप आकाश और पृथिवी ! तुम दोनों पृथक् हो जाओ । इसके बाद पत्नी की योनि में जननेन्द्रिय स्थापित कर उसके मुख से अपना मुख मिलाकर अनुलोम क्रम से (मस्तक से लेकर पैर तक के) पत्नी के अङ्गों का तीन बार मार्जन करे । उस समय "विष्णुर्योनिं कल्पयतु" इत्यादि मन्त्र का पाठ करे । अर्थात् हे प्रिय ! व्यापक परमात्मा पुत्र की उत्पत्ति के लिये तेरी जननेन्द्रिय को सार्थक बनावें । भगवान् सूर्य तेरे तथा जनने वाले बालक के अङ्गों को विभागपूर्वक पुष्ट एवं दर्शन के योग्य बनावें । विराट् प्रजापति तुझ में अभिन्न भाव से स्थित हो

कालेऽमोऽहमस्मीत्यादिमन्त्रेणा[3]भिपद्यते ॥ २० ॥

अथास्या ऊरू विहापयति विजिहीथां द्यावापृथिवी इत्यनेन[4] । तस्यामर्थमित्यादि

सवच । अहं पतिरमः प्राणोऽस्मि सा त्वं वागसि कथं तव प्राणत्वं मम वाक्त्वमित्याशङ्क्य वाचः प्राणाधीनत्ववत्तव मदधीनत्वादित्यभिप्रेत्य सा त्वमित्यादि पुनर्वचनम् । ऋगाधारं हि साम गीयते । अस्ति च मदाधारत्व [5]तव । [6]तथा च मम सामत्वमृक्त्व च तव । द्यौरहं पितृत्वात्पृथिवी त्वं मातृत्वात्तयोर्मातापितृत्वसिद्धेरित्यर्थः । तावावां संरभावहै संरम्भमुद्यमं करवावहै । एहि त्वमागच्छ । कोऽसौ संरम्भस्तमाह —सहेति । पुंस्त्वयुक्तपुत्रलाभाय रेतोधारणं कर्तव्यमित्यर्थः ॥२०॥

ऊर्वौ सबोधनं द्यावापृथिवी इति । विजिहीथां विश्लिष्टे भवेतं युवामित्यर्थः । विष्णुर्व्यापनशीलो भगवान्भवत्या योनिं कल्पयतु पुत्रोत्पत्तिसमर्थां करोतु । त्वष्टा सविता [7]तव रूपाणि पिंशतु विभागेन दर्शनयोग्यानि करोतु । प्रजापतिर्विराडात्मा मदात्मना स्थित्वा त्वयि रेतः समासिञ्चतु

का भोजन करके, इत्यादि क्रम समझना चाहिये । संवेशन काल में "अमोऽहमस्मि..." इत्यादि मन्त्र से आलिङ्गन करे ॥ २० ॥

इसके बाद "विजिहीथां द्यावापृथिवी" इस मन्त्र से पत्नी की दोनों जाँघों को एक दूसरी से

---

१ आलिङ्गनानन्तरम् । २ विश्लेषयेत् । ३. अभिपद्यते—आलिङ्गेदित्यर्थः । ४ मन्त्रेण । ५ तवेति—अबाध्यकर्मेति शेष । ६ तथा चेति—ऋक् पत्न्योर्गानाबाध्यकर्मसमये साम पुरुषयोराधारत्वसामान्ये सति । ७ त्वद्गर्भावयवानिति यावत् ।

गर्भं धेहि सिनीवालि गर्भं धेहि पृथुष्टुके । गर्भं ते अश्विनौ देवावाधत्तां पुष्करस्रजौ ॥२१॥

हिरण्मयी अरणी याभ्यां निर्मन्थतामश्विनौ । तं ते गर्भं हवामहे दशमे मासि सूतये । यथाऽग्निगर्भा पृथिवी यथा द्यौरिन्द्रेण गर्भिणी । वायुर्दिशां यथा गर्भ एवं गर्भं दधामि तेऽसाविति ॥२२॥

तुझ से गर्भ का आदान करे एव धाता तेरे गर्भ का धारण पोषण करे। जिसकी अत्यन्त स्तुति की जाती है, वह सिनीवाली (अमावस्या) तुम हो । अतः इस गर्भ को धारण करो । सूर्य तथा चन्द्रदेव अपनी रश्मि रूप कमलो की माला पहिन कर अभिन्न भाव से तुझमे स्थित हो, तुझमे गर्भ का आधान करें ॥ २१ ॥

प्राचीन काल मे अरणि तेजोमयी थी, जिनसे अश्विनीकुमारो ने मन्थन किया। उसी से प्रकट हुए उस अमृत रूप गर्भ को मैं तुझमे स्थापित करता हूँ । इसे तू दशवें मास मे उत्पन्न कर। जैसे पृथिवी का गर्भ अग्नि है, जैसे स्वर्ग-भूमि इन्द्र से गर्भवती है, जैसे वायु दिशाओं का गर्भ है, वैसे ही मैं तुझमे पुत्र रूप गर्भ का आधान करता हूँ । हे अमुकदेवि ! (अन्त मे पत्नी का नाम उच्चारण करे) ॥ २२ ॥

पूर्ववत् । त्रिरेनां शिरःप्रभृत्यनुलोमामनुमार्ष्टि विष्णुर्योनिमित्यादि प्रतिमन्त्रम् ॥ २१ ॥
अन्ते नाम गृह्णात्यसाविति तस्याः ॥ २२ ॥

प्रक्षिपतु । धाता पुनः सूत्रात्मा त्वदीयं गर्भं त्वदात्मना स्थित्वा दधातु धारयतु पुष्णातु च । सिनीवाली दर्शाहर्देवता त्वदात्मना वर्तते । पृथुष्टुका विस्तीर्णस्तुतिर्भिः सिनीवालि पृथुष्टुके गर्भमिमं धेहि धारय । अश्विनौ देवौ सूर्याचन्द्रमसौ स्वकीयरश्मिमालिनौ तव गर्भं [1]त्वदात्मना स्थित्वा समाधत्ताम् ॥ २१ ॥

ज्योतिर्मय्यावरणी आस्तामुर्याभ्यां [2]गर्भमश्विनौ निर्मथितवन्तौ तं तथाभूतं गर्भं ते जठरे दधावहे दशमे मासि प्रसवार्थम् । आधीयमानं गर्भं दृष्टान्तेन दर्शयति—यथेति । इन्द्रेण सूर्येणेति यावत् । असाविति पत्युर्वा निर्देशः । तस्या नाम गृह्णातीति पूर्वेण सबन्धः ॥ २२ ॥

वियुक्त करे । उसकी योनि मे अपना लिङ्ग प्रवेश करके—इत्यादि व्याख्या पूर्ववत् ही है । "विष्णु-र्योनिं कल्पयतु" इत्यादि मन्त्रो मे से प्रत्येक को पढकर पत्नी के शिर प्रभृति सभी अङ्गो का स्पर्श करे ॥ २१ ॥

मन्त्र मे "असौ" पद 'पत्नी को गर्भाधान कर अन्त मे उसके नाम का उच्चारण करे' इसलिए ग्रहण किया गया है ॥ २२ ॥

---

१ त्वदात्मेति पाठान्तरम् । २ अमृतरूपम् ।

सोष्यन्तीमद्भिरभ्युक्षति । यथा वायुः पुष्करिणीꣳ समिङ्गयति सर्वतः । एवा ते गर्भ एजतु सहावैतु जरायुणा । इन्द्रस्यायं व्रजः कृतः सार्गलः सपरिश्रयः । तमिन्द्र निर्जहि गर्भेण सावराꣳ सहेति ॥२३॥

जातेऽग्निमुपसमाधायाङ्क आधाय कꣳसे पृषदाज्यꣳ संनीय पृषदाज्यस्योपघातं जुहोत्यस्मिन्सहस्रं पुष्यासमेधमानः

प्रसव काल मे सुखपूर्वक प्रसव के लिए प्रसव करने वाली स्त्री के ऊपर "यथा वायुः" इत्यादि मन्त्र का उच्चारण कर जल सींचे । मन्त्रार्थ यह है—जैसे वायु तालाब के जल को सभी ओर से चञ्चल कर देता है, वैसे ही तेरा गर्भ अपने स्थान से चले एवं जेर से सहित बाहर आ जावे । प्रसूति वायु रूप इन्द्र के लिये यह योनि मार्ग बना है, जो गर्भ वेष्टन से युक्त है । हे इन्द्र ! उस मार्ग पर पहुँच जा और गर्भ एवं मांसपेशियों के साथ बाहर निकल आ ॥ २३ ॥

पुनर्जन्म होने पर पिता उसे अपनी गोद मे लेकर अग्नि की स्थापना कर काँसे के कटोरे में दधि मिला हुआ घी रखकर थोडा-थोडा अंश ले करके "अस्मिन् सहस्रम्" इत्यादि मन्त्र द्वारा अग्नि

---

[1]सोष्यन्तीमद्भिरभ्युक्षति प्रसवकाले सुखप्रसवनार्थमनेन मन्त्रेण । यथा वायुः [2]पुष्करिणीं समिङ्गयति सर्वतः । एवा ते गर्भ एजत्विति ॥ २३ ॥

[3]अथ जातकर्म । जातेऽग्निमुपसमाधायाङ्क आधाय पुत्रं कंसे पृषदाज्यं संनीय

समिङ्गयति स्वल्पोपघातमकृत्वैव चालयती-येतत् । एवा त एवमेव तव स्वरूपोपघातमकुर्वन्नेजत् गर्भश्चलतु । जरायुणा गर्भवेष्टनमांसखण्डेन सहावैतु निर्गच्छतु । इन्द्रस्य [4]प्राणस्यायं व्रजो मार्गः सर्गकाले गर्भाधानकाले वा कृतः । सार्गल इत्यस्य व्याख्या सपरिश्रय इति, परिवेष्टनेन जरायुणा सहित इत्यर्थः । [5]तं मार्गं प्राप्य त्वमिन्द्र गर्भेण सह निर्जहि निर्गच्छ । गर्भनिःसरणानन्तरं या मांसपेशी निर्गच्छति [6]सावरा तां [illegible] निर्गमयेत्यर्थः ॥ २३ ॥

घृतमिश्रं दधि पृषदाज्यमित्युच्यते । उपघातमित्याभीक्ष्ण्यं पौनःपुन्यं विवक्षितम् । पृषदाज्य-

---

प्रसवप्राप्त भार्या को प्रसवकाल मे सुखप्रसव के लिए "यथा वायु पुष्करिणीꣳसमिङ्गयति सर्वत । एवा ते गर्भ एजतु..." इत्यादि मन्त्र से जल छिडके ॥ २३ ॥

अब जातकर्म का निरूपण करते हैं । पुत्र के होने पर अग्नि को सस्थापित करके पुत्र को गोद मे लेकर कांस्य पात्र मे घृतमिश्रित दधि रखकर दही को घी मे मिलाकर पृषदाज्य को थोडा-थोडा

---

१. सोष्यन्तीम्—प्रसवं प्राप्नुवती भार्याम् । २ पुष्करिणीम्—तडागम् । ३. अथेति—जातकर्मणो जन्माव्यवधानार्थोऽथशब्दः । कुमारे जाते सति पिता तमुत्सङ्गे आरोप्य । आवसथ्याग्नि कांस्यपात्रे दधिमिश्रं घृतमवस्थाप्य । पृषदाज्यस्य उपघातं स्वल्पं स्वल्पं गृहीत्वा जुहोति । तन्मन्त्रानाह—अस्मिन्निति । ४. प्राणस्य—प्रसूतिवायो । ५. थय प्रसिद्धो योन्याख्य. । ६. सावरा‍इया या मांसपेशी मासपिण्डी निर्गच्छति तामित्यन्वयः ।

स्वे गृहे । अस्योपसन्द्यां मा च्छैत्सीत्प्रजया च पशुभिश्च स्वाहा । मयि प्राणाᳮस्त्वयि मनसा जुहोमि स्वाहा । यत्कर्मणाऽत्यरीरिचं यद्वा न्यूनमिहाकरम् । अग्निष्टत्स्विष्टकृद्विद्वान्स्विष्टᳮ सुहुतं करोतु नः स्वाहेति ॥२४॥

अथास्य दक्षिणं कर्णमभिनिधाय वाग्वागिति त्रिरथ दधि मधु घृतᳮ संनीयान्तर्हितेन जातरूपेण प्राशयति ।

में आहुति डाले । मन्त्रार्थ यह है—मैं अपने इस घर में पुत्र रूप से वृद्धि को प्राप्त हुआ सहस्रों मनुष्यों का भरण-पोषण करने वाला होऊँ । मेरी इस सतति मे पूजा और पशुओं के सहित सपत्ति का कभी भी विच्छेद न हो, स्वाहा । मुझमे जो प्राण है, उन्हे मैं तुझ पुत्र मे होमता हूँ—स्वाहा । मैंने अनुष्ठेय कर्म के साथ कुछ अधिक या न्यून कार्य किया होगा तो मेरे उस कर्म को जानने वाले अग्नि देव अभीष्ट साधक होकर न्यूनातिरिक्त दोष से रहित कर दे—स्वाहा ॥ २४ ॥

"स्विष्टकृत" होम के बाद पिता बालक के दाहिने कान को अपने मुख के पास ले जाकर वाक्-वाक् ऐसे तीन बार कहे (अर्थात् तेरी बुद्धि मे वेदत्रयी रूप वाणी पुष्ट हो जावे) । इसके अनन्तर

जुहोत्यस्मिन्सहस्रमित्याद्या[1]वापस्थाने ॥ २४ ॥

[2]अथास्य दक्षिणं कर्णमभिनिधाय स्वं मुखं वाग्वागिति त्रिजपेत् । अथ दधि मधु संयोज्य दधि घृते पृषदाज्यस्योपघातं

अस्मिन्स्वे गृहे पुत्ररूपेण वर्धमानो मनुष्याणां सहस्रं पुष्यासमनेकमनुष्यपोषको भूयासमस्य मत्पुत्रस्योपसन्द्यां संततौ प्रजया पशुभिश्च सह श्रीर्मा विच्छिन्ना भूयादित्याह—अस्मिन्निति । मयि पितरि ये प्राणाः सन्ति तान्पुत्रे त्वयि मनसा समर्पयामीत्याह—मयीति । अत्यरीरिचमित्यतिरिक्तं कृतवानस्मीह कर्मण्यकरमकरवं तत्सर्वं विद्वानग्निः स्विष्टं करोतीति स्विष्टकृद्भूत्वा स्विष्टमनधिकं सुहुतमन्यूनं चास्माकं करोत्वित्यर्थः ॥ २४ ॥ स्थालपमल्पमादाय पुनः पुनर्जुहोतीत्यर्थः । त्रयीलक्षणा वाक्त्वयि प्रविशत्विति जपतोऽभिप्रायः । एतैर्मन्त्रैरस्य जातस्य शिशोरित्यर्थः ।

"इत्यादि मन्त्र से अग्नि के आहुति विशेष प्रक्षेपस्थान मे आहुति दे ॥ २४ ॥

जातकर्म करने के अनन्तर इस उत्पन्न शिशु के दाहिने कान को अपने मुख के पास लेकर "वाग्वागिति" इस मन्त्र का तीन बार जाप करे । फिर दधि, मधु और घृत को इकट्ठे मिलाकर लेकर "अस्मिन् सहस्रम्......

---

१. आवापस्थाने—आहुतिविशेषप्रक्षेपप्रदेशे । २. अथेति—स्विष्टकृद्धोमानन्तर जातकर्मानन्तरमिति वार्थः ।

भूस्ते दधामि भुवस्ते दधामि स्वस्ते दधामि भूर्भुवः
स्वः सर्वं त्वयि दधामीति ॥२५॥
अथास्य नाम करोति वेदोऽसीति तदस्य तद्गुह्यमेव
नाम भवति ॥२६॥
'अथैनं मात्रे प्रदाय स्तनं प्रयच्छति यस्ते स्तनः शशयो

काँसे के कटोरे में दधि, मधु और घृत लेकर दूसरे धातु से न मिलने वाले विशुद्ध सोने की चम्मच से "भूस्ते" इत्यादि मन्त्र पढ कर बालक को चटावे। मन्त्रार्थ यह है—मैं तुझमें "भूर्लोक" की स्थापना करता हूँ, "भुवर्लोक" की स्थापना करता हूँ, "स्वर्लोक" की स्थापना करता हूँ, "भूर्भुव स्व." उन सभी लोकों की तुझमें स्थापना करता हूँ ॥ २५ ॥

इसके बाद शिशु का नामकरण करे। 'तुम वेद हो' अतः वेद यह उस बालक का गोपनीय नाम ही होना है ॥ २६ ॥

तत्पश्चात् इस बालक को माता के गोद में देकर "यस्ते स्तन" इत्यादि मन्त्र उच्चारण करते

घृतं संनीयानन्तर्हितेनाव्यवहितेन जातरूपेण हिरण्येन प्राशयत्येतैर्मन्त्रैः प्रत्येकम् ॥२५॥

'अथास्य नामधेयं करोति वेदोऽसीति। तदस्य तद्गुह्यं नाम भवति वेद इति ॥ २६ ॥

अथैनं मात्रे प्रदाय स्वाङ्कस्थं तनयं स्तनं प्रयच्छति यस्ते स्तन इत्यादिमन्त्रेण

भूस्ते दधामीत्यादिभिरिति शेष. ॥ २५ ॥

वेदनाम्ना व्यवहारो लोके नास्तीत्याशङ्क्याऽऽह—तदस्येति। यत्तद्वेद इति नाम तदस्य गुह्यं भवति। वेदनं वेदोऽनुभव सर्वस्य निज स्वरूपमित्यर्थः ॥ २६ ॥

'हे सरस्वति यस्ते स्तनः शशय. शय फलं तेन सह वर्तमानो यश्च सर्वप्राणिनां स्थितिहेतु-

---

"अनन्तर्हितेन" अर्थात् वस्त्रादि वस्त्वन्तर के व्यवधान रहित "जातरूपेण" अर्थात् सोने की चम्मच से 'भूस्ते दधामि...' इत्यादि मन्त्रों से प्रत्येक को जपकर चटावे ॥ २५ ॥

हिरण्यप्राशन के अनन्तर इस शिशु का नामकरण करे। तुम सब की प्रत्यगात्मा वेद हो। अत. वेद उस नवजात शिशु का गुह्य नाम है ॥ २६ ॥

नामकरण से बाद अपनी गोद में स्थित पुत्र को माता की गोद में देकर "यस्ते स्तन" इत्यादि

---

१ अथ—नामकरणानन्तरम्। एन स्वाङ्कस्थ सुतम्। तन्मातुरङ्के दत्वा मातु स्तन कुमारमुखे प्रयच्छति पिता। स्तनप्रदानमन्त्रमाह—यस्त इति। २ सनीय एकीकृत्य। ३ अव्यवहितेन—वस्त्रादिवस्त्वन्तरव्यवधान रहितेन। ४ अथ हिरण्यप्राशनानन्तरम्। अस्य शिशो.। ५ वेदोऽसि—सर्वस्य प्रत्यगात्मा त्व भवसीत्यर्थ। ६ हे सरस्वतीति। अत्रेद बोध्यम्—यावन्त: कृष्यादिविद्यास्ते सर्वे सरस्वत्या स्तनास्तेषा च शशयादित्व प्रसिद्धमेवेति। ७ शेतेऽस्मिन् कर्मात शय कर्मफलम्। ८ अयोभूरित्यस्यार्थमाह—सर्वप्राणिनामिति। मया ऽन्नम्।

यो मयोभूर्यो रत्नधा वसुविद्यः सुदत्रः । येन विश्वा पुष्यसि वार्याणि सरस्वति तमिह धातवे करिति ॥२७। अथास्य मातरमभिमन्त्रयते । इलाऽसि मैत्रावरुणी वीरे वीरमजीजनत् । सा त्व वीरवती भव याऽस्मा-

हुए बालक के मुख मे स्तन देवे । मन्त्रार्थ यह है—हे सरस्वति ! तेरा जो स्तन दुग्ध का अक्षय भण्डार तथा जीवन का आधार है, जो रत्नो की खानि के जैसे है एव सपूर्ण धन का जानने वाला उदार दाता है और जिससे तुम समस्त वरणीय वस्तुओ का पोषण करती हो । इस शिशु के जीवनार्थ उस स्तन को मेरी पत्नी के शरीर मे प्रविष्ट कर दो । बालक के मुख मे स्तन दे देवे ॥ २७ ॥

इसके बाद "इलाऽसि" इत्यादि मन्त्रो से इस बालक की माता को अभिमन्त्रित करे । मन्त्रार्थ यह है—हे देवि ! तू स्तुति के योग्य अरुन्धति है । हे वीरे ! तूने वीर पुत्र का जन्म दिया है । अत

॥ २७ ॥

'अथास्य मातरमभिन्त्रयत इलाऽसीत्यनेन' । तं वा 'एतमाहुरित्यनेन विधिना जातः पुत्रः पितरं पितामहं 'चातिशेत इति श्रिया यशसा ब्रह्मवर्चसेन परमां निष्ठां प्रापदित्येव

प्रभावेन जातो यश्च 'रत्नधा प्रशस्य पयसो वा धाता यश्च वसु कर्मफलं तद्विन्दतीति वसुवित् । यश्च सुष्ठु ददातीति 'सुदत्रो येन च स्तनेन विश्वा विश्वानि वार्याणि वरणीयानि देवादीनि भूतानि त्व पुष्यसि तं स्तनं मदीयपुत्रस्य धातवे पानाय मदीयभार्यास्तने प्रविष्ट कुर्वित्यर्थः ॥ २७ ॥

इला स्तुत्या भोग्याऽपि । मित्रावरुणाभ्यां सभूतो मैत्रावरुणो वसिष्ठस्तस्य भार्या मैत्रावरुणी सा चारुन्धती तद्वत्त्वं तिष्ठसीति भार्यां सबोधयति—मैत्रावरुणीति । वीरे पुरुषे मयि निमित्तभूते भवती वीरं पुत्रमजीजनद् । सा त्व वीरवती 'जीववहुपुत्रा भव । या भवती वीरवतः पुत्रसपन्नानस्मानकर-

---

मन्त्र से उस माता का स्तन बालक के मुख मे दे देवे ॥ २७ ॥

स्तन के अनन्तर "इलाऽसि..." इत्यादि मन्त्र से बालक की माता की प्रार्थना करे । "त वा एतमाहु" इस मन्त्र द्वारा उक्त विधि से उत्पन्न पुत्र पिता और पितामह को अतिक्रमण कर प्रतिष्ठित होता है । इस प्रकार तू लक्ष्मी, कीर्ति तथा ब्रह्मचर्य के द्वारा पराकाष्ठा को पहुँच गया, इस प्रकार

---

१ अथ—स्तनदानानन्तरम् । २ मन्त्रेण । ३ उक्तविधिनोत्पन्न पुत्रम् । ४ अतिक्रम्य वतत । ५ रत्नधेति—रत्नस्य रमणीयस्याति शेष । ६ कल्याणप्रद । ७ जीवद्बहुपुत्रेति पाठान्तरम् ।

न्वीरवतोऽकरदिति। तं वा एतमाहुरतिपिता बता-भूरतिपितामहो बताभूः परमां बत काष्ठां प्रापच्छ्रिया यशसा ब्रह्मवर्चसेन [1]य एवंविदो ब्राह्मणस्य पुत्रो जायत इति ॥२८॥

इति बृहदारण्यकोपनिषदि षष्ठाध्यायस्य चतुर्थं ब्राह्मणम् ॥ ४ ॥

वीरवती हो, ऐसे पुत्र से तूने मुझे भी वीरवान् बना दिया। इस पुत्र को देखकर दूसरे लोग कहें, तू तो अपने पिता से भी बढ़ गया निःसन्देह तू अपने पितामह से भी आगे निकल गया। तू लक्ष्मी, कीर्ति तथा ब्रह्मतेज के द्वारा उन्नति की चरम सीमा पर पहुँच गया है। ऐसा विशिष्ट ज्ञान से सपन्न पुत्र जिस ब्राह्मण को होता है, तो वह पिता उस पुत्र की भाँति स्तुति का पात्र हो जाता है ॥ २८ ॥

स्तुत्यो भवतीत्यर्थः। यस्य [2]चैवंविदो ब्राह्मणस्य पुत्रो जायते स चैवं स्तुत्यो भवतीत्यध्याहार्यम् ॥ २८ ॥

इति श्रीमद्बृहदारण्यकोपनिषद्भाष्ये षष्ठाध्यायस्य चतुर्थं ब्राह्मणम् ॥ ४ ॥

स्तुतवतीति मन्त्रार्थः। पितरमतीत्य वर्तत इत्यतिपिता। अहो महानेव विस्मयो यत्पितरं पितामहं च सर्वमेव वंशमतीत्य सर्वस्मादधिकस्त्वं जातोऽसीत्यर्थः। न केवलं पुत्रस्यैवेयं स्तुतिरपि तु यथोक्तपुत्रसंपन्नस्य पितुरपीत्याह—यस्येति ॥ २८ ॥

इति बृहदारण्यकोपनिषद्भाष्यटीकायां षष्ठाध्यायस्य चतुर्थं ब्राह्मणम् ॥ ४ ॥

लोग उसकी स्तुति करते हैं। मन्यकर्मानुष्ठाता प्राण का उपासक जिस ब्राह्मण को ऐसा ... है वह पिता भी इस पुत्र की भाँति स्तुति करने योग्य हो जाता है; ऐसा मध्याहार ... चाहिये ॥ २८ ॥

इस प्रकार बृहदारण्यकोपनिषत् में षष्ठाध्यायस्य चतुर्थं ब्राह्मण के ... हिन्दी भाषानुवाद पूर्ण हुआ ॥ ४ ॥

१ यस्यैवंविद इत्येव पाठो भाष्यादवगम्यते। २. एवंविद्—मन्यकर्मानुष्ठातृ—पिता। एव—पुत्रवत्।

(अथ षष्ठाध्यायस्य पञ्चमं ब्राह्मणम् ।)

अथ वꣳशः । पौतिमाषीपुत्रः कात्यायनीपुत्रात्कात्या-यनीपुत्रो गौतमीपुत्राद्गौतमीपुत्रो भारद्वाजीपुत्रा-

(अब समस्त प्रवचन वंश की आचार्य वंशपरम्परा का वर्णन किया जाता है—) पौतिमाषी पुत्र ने कात्यायनी पुत्र से, कात्यायनी पुत्र ने गौतमी पुत्र से, गौतमी पुत्र ने भारद्वाजी पुत्र से, भारद्वाजी

---

[1]अथेदानीं समस्तप्रवचनवंशः । [2]स्त्रीप्राधान्यात् । गुणवान्पुत्रो भवतीति प्रस्तुतम् ।

सांनिध्यात्खिलकाण्डस्य वंशोऽयमिति शङ्कां निवर्तयन्वंशब्राह्मणतात्पर्यमाह—अथेति । [3]विद्या-भेदादतीतस्य काण्डद्वयस्य प्रत्येकं वंशभाक्त्वेऽपि नास्य पृथग्वंशभागित्वं खिलत्वेन [4]तच्छेषत्वात् । [5]तथा च [6]समाप्तौ पठितो वंशः समस्तस्यैव प्रवचनस्य [7]भविष्यतीत्यर्थः । पूर्वौ वंशौ पुरुषविशेषितौ तृतीयस्तु [8]स्त्रीविशेषितस्तत्र किं कारणमित्याशङ्क्याऽऽह- स्त्रीप्राधान्यादिति । [9]तदेव स्फुटयति—गुण-

---

इसके बाद काण्डत्रयात्मक वेद की आचार्यपरम्परा का क्रम कहा जाता है । (पुत्रवैशिष्ट्य प्रयोजक) पूर्वोक्त स्त्रीवैशिष्ट्य प्रकाशनार्थक होने से इसका प्रतिपादन करना आवश्यक है । (पुत्रमन्थ

---

१. श्रौतायशब्दार्थमाह—इदानीमिति । कृत्स्नप्रवचनसमाप्त्यवसरे । समस्तप्रवचनेति—समस्तस्य प्रकृतस्य काण्ड-त्रयात्मकस्य वेदस्य । वंश आचार्यपरम्पराक्रम उच्यत इति शेषः । २ स्त्रीप्राधान्यादिति—पूर्वत्र गुणवत्पुत्रहेतु-त्वेन । प्राधान्यत स्त्रीणामेव प्रस्तुतत्वादित्यर्थः । पुत्रवैशिष्ट्यप्रयोजकपूर्वोक्तस्त्रीवैशिष्ट्यप्रकाशनार्थत्वात्प्राधान्यतो ऽस्य वंशस्येति यावत् । ३ विद्याभेदादतीतस्य काण्डद्वयस्येति । अत्रेदं बोध्यम्—अतीतं काण्डद्वयं मधुमुनिकाण्डं यद्यपि एकब्रह्मविद्याविषयकमेव न तु तयोर्ब्रह्मविद्या भिद्यते तथापि विद्याप्रयोजकभेदद्वारकविद्याभेदमादाय काण्ड-भेदमभ्युपेत्य प्रत्येकं वंशभाक्त्वमिति । तत्र मधुकाण्डे ह्यागमो विद्याप्रयोजकस्तस्यागमप्रधानत्वात् । मुनिकाण्डे चोपपत्तिर्विद्याप्रयोजिका तस्य तत्प्रधानत्वात् । यथाहुर्भाष्यकृत —मधुकाण्डं ह्यागमप्रधानं याज्ञवल्कीयं चोप-पत्तिप्रधानमिति । ४ तच्छेषत्वादिति—शेषस्य च शेषिवंशेनैव वंशवत्त्वादिति भावः । ५ तथा च—शेषस्य पृथग्वंशानपेक्षत्वेन अस्य वंशस्य खिलैकशेषत्वाभावे चेत्यर्थः । ६ समाप्तौ—समस्तस्य प्रवचनस्येति शेषः । ७ शेषः । ८ स्त्रीविशेषितपुत्रविशेषणकः । ९ स्त्रीप्राधान्यमेव ।

ॐ अथेदानीं समस्तप्रवचनवंश इति भाष्यमत्राहुर्वार्तिकाचार्यास्तथाहि—"समाप्तिं न यत्पूर्वं कृत्स्नेऽस्मि-न्ब्राह्मणेऽपि तत् । खिलकाण्डे तदखिलं पुत्रमन्थान्तमीरितम् ॥ पूर्वकाण्डैकदेशत्वात्खिलकाण्डं न वंशभाक् । पूर्वत्र विद्यासभेदाद्द्विशो वंशाविहोदितौ ॥ पूर्वैश्चतुर्भिरध्यायैस्त्वाष्ट्रं कक्ष्यं च यन्मधु । व्याख्यातं तदशेषेण वंशस्तत्र तदर्थभाक् ॥ मधुकाण्डागमार्थस्य यथावत्प्रतिपत्तये । काण्डं स्याद्याज्ञवल्कीयं वंशस्तद्विषयस्तथा ॥ अथ [illegible] वंशो विज्ञेयः कृत्स्नप्रवचनाश्रयः । समाप्तौ ब्राह्मणस्योक्तेरयमर्थोऽवसीयते ॥ उक्तवेदार्थविज्ञानसाकल्य-प्रतिपत्तये । जपो वंशस्य येनातः श्रुत्या वंश इहोदितः ॥ सर्वज्ञाना यतो वंशास्त्रयोऽप्येते यथोदिताः । अतस्त-त्स्मृतितः सम्यग्ज्ञानभानूदयो भवेत् ॥ पुत्रमन्थेन संस्कारः स्त्रीणामेवेह वर्णितः । यतोऽतः स्त्रीप्रधानोऽयं पुत्राणां वंश उच्यते ॥ अन्यतोऽन्यत एवायं संप्रदायो यथाऽभवत् । न तथा ब्रह्मणस्तस्मात्तत्स्वयंभ्विति शब्द्यते ॥ अन्येषां वेदतो ज्ञानं भूरिसाधनसंश्रयात् । स्वतो वेदात्मनस्तस्मात्सर्वज्ञानमयो हि सः ॥ सर्वस्यैव वंशोत्यादि

द्भारद्वाजीपुत्रः पाराशरीपुत्रात्पाराशरीपुत्र औप-
स्वस्तीपुत्रादौपस्वस्तीपुत्रः पाराशरीपुत्रात्पाराशरीपुत्रः
कात्यायनीपुत्रात्कात्यायनीपुत्रः कौशिकीपुत्रात्कौशिकी-
पुत्र आलम्बीपुत्राच्च वैयाघ्रपदीपुत्राच्च वैयाघ्र-
पदीपुत्रः काण्वीपुत्राच्च कापीपुत्राच्च कापीपुत्रः ॥१॥

पुत्र ने पाराशरी पुत्र से, पाराशरी पुत्र ने औपस्वस्ती पुत्र से, औपस्वस्ती पुत्र ने पाराशरी पुत्र से, पाराशरी पुत्र ने कात्यायनी पुत्र से, कात्यायनी पुत्र ने कौशिकी पुत्र से, कौशिकी पुत्र ने आलम्बी पुत्र से और वैयाघ्रपदी पुत्र से, वैयाघ्रपदी पुत्र ने काण्वी पुत्र से तथा कापी पुत्र से, कापी पुत्र ने ॥१॥

---

[1]अतः [2]स्त्रीविशेषणेनैव [3]पुत्रविशेषणादाचार्यपरम्परा कीर्त्यते। तानीमानि शुक्लानीत्य-

---

यानिति। कीर्त्यते ब्राह्मणेनेति संबन्धः। शुक्लानि यजूंषीत्यस्य व्याख्यानमव्यामिश्राणीति दोर्वर-

---

विद्या में स्त्रीप्राधान्य होने से ही) गुणवान् पुत्र होता है—ऐसा कहा जा चुका है। इसलिये स्त्रीवैशिष्ट्य-प्रयुक्त वैशिष्ट्य के समान पुत्रों की विशेषता को ग्रहण कर इस आचार्यपरम्परा का पाठ किया जाता

---

१ अत इत्येतत्स्त्रीप्राधान्यादित्यनेन समानार्थकम्। २ स्त्रीविशेषणेनैवेत्यादि—स्त्रीवैशिष्ट्यप्रयुक्तवैशिष्ट्य-वत्पुत्रानेव विशेषणत्वेनादायेयमाचार्यपरम्परा पठ्यत इत्यर्थः। ३. पुत्रविशेषणादित्येवा ल्यब्लोपे पञ्चमी मन्तव्या।

तथाऽपि प्रागवादियम्। परैव देवता वेदो यच्च किंचिच्चराचरम् ॥ प्रतिपाद्याऽऽत्मनाऽऽत्मन नामरूपादिसाधनः। एति पूर्णात्मता साक्षाद्धिया वाचामगोचरम् ॥ अयमेव ब्राह्मणो विद्वानात्मनैवाद्वय परम्। विदित्वा निर्वृतिं याति कार्यकारणयोः पराम् ॥ वेदोऽसीत्यत एवास्य नाम जातस्य कुर्वते वेदात्मना कथ नाम परं ब्रह्म प्रपत्स्यते ॥ वाजिशाखासु सर्वासु ह्यामुरायणपूर्वका। समाना वंशपर्योऽमी ह्या समाप्तेरितीष्यताम् ॥ आदित्येन हि प्रोक्तानि यजूंष्येतानि यानि तु। आदित्यानीत्यतस्तानि मभ्यगाचक्षते बुधाः ॥ वेदात्मनो रवेरेव संप्रदायोऽयमागतः। पर-मेष्ट्यादिवाक्सर्वान्पारपर्येण मानुषान् ॥ असंसृष्टं परं ब्रह्म सर्वदोषविवर्जितम्। एतदादित्यगं भाति तद्वेदानां परं पदम् ॥ उत्सन्नमपि यद्ब्रह्म मदादित्ये न नश्यति। तदायर्णव विन्दन्ति तपस्तप्त्वा महर्षयः ॥ वेदब्रह्मण आरभ्य सर्वेषामपि शाखिनाम्। सांजीवीसूनुपर्यन्तो वंश एको न भिद्यते ॥ साञ्जीवीपुत्रतस्त्वर्वाक्प्रतिशाखं पृथक्पृथक्। आचार्यभेदाद्भिद्यन्ते वंशा वाजसनेयिनाम्" ॥ १२१ ॥ इति। वंशब्राह्मणार्थकथनार्थं वृत्त-मकीर्तयति—समाप्तिमिति। यत्तत्पूर्वं काण्डद्वये सर्वत्रापि ब्राह्मणे वस्तु न समावनोपनीत वक्तव्यत्वेन शिष्ट तत्सर्वमस्मिन्काण्डे पुत्रमन्थावसानमुक्तमित्यर्थः ॥ प्रत्येक मधुमुनिकाण्डयोर्वंशभावत्ववदस्यैवाप वंशः सन्निधाना-सपाच कथ समस्तप्रवचनवंश इति भाष्यमित्याशङ्क्याऽऽह—पूर्वेति। तदेकदेशत्व तत्रानुक्तस्य वक्तव्यत्वेना-वशिष्टस्यात्रोक्तेरिति द्रष्टव्यम्। अथ पूर्वोक्तयोरपि प्रत्येक वंशभाक्त्वं तत्राऽऽह—पूर्वत्रेति। इहेति चतुर्थान्त षष्ठान्त चाऽऽह ॥ अथ काण्डद्वयस्य भिन्नविद्याविषयत्व न हि ब्रह्मविद्योभयत्र भिद्यते भेदकाभावादित्याशङ्क्य मधुकाण्डार्थं दर्शयन्वंशस्य तत्रार्थवत्तामाह—पूर्वैरिति। द्वितीयस्तच्छब्दस्तस्मादर्थे। मर्यभाक्चतुर्थान्ते वंशो

आत्रेयीपुत्रादात्रेयीपुत्रो गौतमीपुत्राद्गौतमीपुत्रो भारद्वाजीपुत्राद्भारद्वाजीपुत्रः पाराशरीपुत्रात्पाराशरीपुत्रो वात्सीपुत्राद्वात्सीपुत्रः पाराशरीपुत्रात्पाराशरीपुत्रो वार्कारुणीपुत्राद्वार्कारुणीपुत्रो वार्कारुणीपुत्राद्वार्कारुणीपुत्र आर्तभागीपुत्रादार्तभागीपुत्रः शौङ्गीपुत्राच्छौङ्गीपुत्रः सांकृतीपुत्रात्सांकृतीपुत्र आलम्बायनीपुत्रादालम्बायनीपुत्र आलम्बीपुत्रादालम्बीपुत्रो जायन्तीपुत्राज्जायन्तीपुत्रो माण्डूकायनीपुत्रान्माण्डू-

आत्रेयी पुत्र से, आत्रेयी पुत्र ने गौतमी पुत्र से, गौतमी पुत्र ने भारद्वाजी पुत्र से, भारद्वाजी पुत्र ने पाराशरी पुत्र से, पाराशरी पुत्र ने वात्सी पुत्र से, वात्सी पुत्र ने पाराशरी पुत्र से, पाराशरी पुत्र ने वार्कारुणी पुत्र से, वार्कारुणी पुत्र ने वार्कारुणी पुत्र से वार्कारुणी पुत्र ने आर्तभागी पुत्र से, आर्तभागी पुत्र ने शौङ्गी पुत्र से, शौङ्गी पुत्र ने साकृति पुत्र से, साकृति पुत्र ने आलम्बायनी पुत्र से, आलम्बायनी पुत्र ने आलम्बी पुत्र से, आलम्बी पुत्र ने जायन्ती पुत्र से, जायन्ती पुत्र ने माण्डूकायनी पुत्र से, माण्डूका-

---

ऽव्यामिश्राणि ब्राह्मणेन । अथवाऽयातयामानीतानि यजूंषि तानि शुक्लानि शुद्धानीत्येतत् ।

सङ्कीर्णानि [1]पौरुषेयत्वदोषद्वाराभावादित्यर्थः । अयातयामान्यदुष्टान्य[2]गतार्थानी यर्थः । पाठक्रमेण मनुष्यादि

है । वे ये बृहदारण्यक वाक्य और शुक्ल-यजु श्रुतियाँ ब्राह्मण याज्ञवल्क्य द्वारा प्राप्त की गई हैं—ये

---

१. पौरुषेयत्वेति—पौरुषेयत्वरूप यद्दोषाणां द्वार प्रयोजक तदभावादित्यर्थ । २ अगतार्थानीति—अन्यैर-ज्ञातानि आदित्याद्याज्ञवल्क्येतरैरलब्धानीति यावत् ।

निर्दिश्यमानो मधुद्वयस्याऽऽगमसंप्रदायप्रतिपादनार्थत्वात्फलवानित्यर्थं ॥ मुनिकाण्डप्रवृत्तिप्रदर्शनपूर्वकं वंशान्तर-स्यार्थवत्त्वमाह—मध्विति । यथावत्प्रतिपत्तिन्यायद्वयेन विप्रतिपत्तिनिरासेनावगतिस्तथा मति तद्विषयकस्य ज्ञानस्य तर्कसंप्रदायप्रतिपादको द्वितीयो वंशो भवत्यर्थवानित्यर्थं ॥ तृतीयोऽपि वंशस्तृतीयकाण्डस्यैव किं न स्यादित्याशङ्क्या पूर्वकाण्डैकदेशत्वादित्यत्रोक्तमुपजीव्याऽऽह—अथ वंशेति । तत्र गमकमाह—समासाविति । प्रवचनसमासावस्य वंशब्राह्मणस्योक्तेरयं वंश सर्वप्रवचनशेषो भातीत्यर्थं ॥ पूर्ववदस्य फलवन्वाभावादव्यक्त-व्यत्वमाशङ्क्याऽऽह—उक्तेति । इहेति प्रवचनसमासावित्यर्थं ॥ इतश्च वंशत्रयसंकीर्तनं कर्तव्यमित्याह—सर्व-ज्ञानामिति । 'यस्य देवे परा भक्ति'रित्यादिश्रुते । पूर्वौ वंशौ पुरुषविशेषितौ तृतीय स्त्रीविशेषितस्तत्र किं कारणमित्याशङ्क्य स्त्रीप्राधान्यादित्यादिभाष्यतात्पर्यमाह—पुत्रेति । इहेत्यनन्तरब्राह्मणोक्तिः ॥ ब्रह्म स्वयम्भ्विति ब्रह्मणि स्वयम्भुशब्दप्रयोगे निमित्तमाह—अन्यत इति । ब्रह्मशब्दार्थं व्याचक्षाणस्तस्याऽऽचार्यानपेक्षत्वं साधयति—अन्येषामिति । भूरिसाधन प्रभूत यवधादि । परमात्मा वेदोपाधिर्ब्रह्म न च तस्याऽऽचार्यापेक्षा सर्वज्ञानमयत्वा-

कायनीपुत्रो माण्डूकीपुत्रान्माण्डूकीपुत्रः शाण्डिलीपुत्रा-
च्छाण्डिलीपुत्रो राथीतरीपुत्राद्राथीतरीपुत्रो भालुकी-
पुत्राद्भालुकीपुत्रः क्रौञ्चिकीपुत्राभ्यां क्रौञ्चिकी-
पुत्रौ वैदभृतीपुत्राद्वैदभृतीपुत्रः कार्शकेयीपुत्रा-
त्कार्शकेयीपुत्रः प्राचीनयोगीपुत्रात्प्राचीनयोगीपुत्रः
सांजीवीपुत्रात्सांजीवीपुत्रः प्राश्नीपुत्रादासुरिवासिनः
प्राश्नीपुत्र आसुरायणादासुरायण आसुरेरासुरिः॥२॥

यनी पुत्र ने माण्डूकी पुत्र से, माण्डूकी पुत्र ने शाण्डिली पुत्र से, शाण्डिली पुत्र ने राथीतरी पुत्र से, राथीतरी पुत्र ने भालुकी पुत्र से, भालुकी पुत्र ने क्रौञ्चिकी के दो पुत्रों से, क्रौञ्चिकी के दोनों पुत्रों ने वैदभृती पुत्र से, वैदभृती पुत्र ने कार्शकेयी पुत्र से, कार्शकेयी पुत्र ने प्राचीनयोगी पुत्र से, प्राचीनयोगी पुत्र ने साञ्जीवी पुत्र से, साञ्जीवी पुत्र ने आसुरिवासी प्राश्नी पुत्र से, प्राश्नी पुत्र ने आसुरायण से, आसुरायण ने आसुरि से, आसुरि ने ॥ २ ॥

प्रजापतिमारभ्य यावत्पौतिमाषीपुत्रस्तावदधोमुखो नियताचार्यपर्वक्रमो वंशः समानमा

प्रजापतिपर्यन्तो वंशो व्याख्यातः । सम्प्रत्ययंक्रममाश्रित्याऽऽह—प्रजापतिमिति । 'अधोमुखस्य पाठक्रमा-पेक्षयोच्यते । 'तत्रापि प्रजापतिमारभ्य साञ्जीवीपुत्रपर्यन्त वाजसनेयिशाखासु 'सर्वास्वेको 'वंश इत्याह—

दोषों से रहित हैं। अथवा ये आदित्य और याज्ञवल्क्य को छोड़कर दूसरों से अप्राप्त होने से ये बृहदारण्यक और यजु श्रुतियाँ शुक्लानि" अर्थात् शुद्ध है। प्रजापति से लेकर पौतिमाषी पुत्र तक तो

---

१ मुखत्वमाद्यत्व तथा चाधोमुख यस्येति व्युत्पत्त्या पौतिमाषीपुत्रस्याद्यत्व लभ्यते तस्य तत्त्व च प्रजापति-मारभ्य न सम्भवतीत्यत आह—अधोमुखस्य पाठक्रमापेक्षयेति । पौतिमाषीपुत्रस्य मुखत्व तदपेक्षयेति यावत् । २ अर्थक्रमेऽपि । ३ सर्वास्विति—(प्रकृत) पञ्चदशस्वाकास्वित्यर्थः । ४ वंशस्तृतीयोऽयम् ।

दित्यर्थः ॥ परस्य तन्मयत्वे लिङ्गमाह—सर्वस्येति । न हि वशित्वादि सर्वज्ञानमयत्व विना सिध्यतीत्यर्थः । तस्य सर्वज्ञत्वं यः सर्वज्ञ सर्वविदित्यादिश्रुत्यन्तरेऽपि प्रसिद्धमित्यपेरर्थः. । परस्य वेदोपाधेब्रह्मशब्दत्व चेदुपाधि-तद्भावेन भेदादद्वैतहानिरित्याशङ्क्याऽऽह— परंवेति ॥ कथ तर्हि प्रतिपाद्यप्रतिपादकत्वमुपाधितद्वत्वं ■ वेदब्रह्मणो-रिष्ट तत्राऽऽह—प्रतिपाद्येति । कल्पितभेदेन तत्सम्भवान्न वास्तवाद्वैतहानिरिति भावः । निष्प्रपञ्चत्व साक्षादिति विवक्षितमत एव धियाग्न्यादि विशेषणम् ॥ वेदस्य कल्पितभेदस्याऽऽत्मप्रतिपादकत्वे प्रमाणान्तरस्यापि तत्सम्भवा-दन्ययोगव्यवच्छेदासिद्धिरित्याशङ्क्याऽऽह—त्रय्येति । न हि प्रत्यक्षादिना तद्धीस्तदयोग्यत्वादतो मुमुक्षुर्वेदेनैवा-ऽऽत्मतयोक्तेन स्वस्वरूप विदित्वैव निर्वृणोति तमेव विदित्वेत्यादि श्रुतेरित्यर्थः । अदृष्टत्व विशदयितु निवृत्ति विशिनष्टि—कार्येति । स्वरूपभूतवेदेन परस्य प्रतिपत्तिरित्यत्र युक्त्यन्तरमाह—वेदोऽसीति । आत्मभूतत्वेदस्य स्वरूपबोधकत्वमत शब्दार्थः । आतस्य जिज्ञोर्वेदोऽसीति नाम कुर्वतामभिप्रायमाह—वेदात्मनेति । ब्रह्म स्वय-

याज्ञवल्क्याद्याज्ञवल्क्य उद्दालकादुद्दालकोऽरुणादरुण उपवेशेरुपवेशिः कुश्रेः कुश्रिर्वाजश्रवसो वाजश्रवा जिह्वावतो बाध्योगाज्जिह्वावान्बाध्योगोऽसिताद्वार्षगणादसितो वार्षगणो हरितात्कश्यपाद्धरितः कश्यपः शिल्पात्कश्यपाच्छिल्पः कश्यपः कश्यपान्नैध्रुवेः

याज्ञवल्क्य से, याज्ञवल्क्य ने उद्दालक से, उद्दालक ने अरुण से, अरुण ने उपवेशि से, उपवेशि ने कुश्रि से, कुश्रि ने वाजश्रवा से, वाजश्रवा ने जिह्वावान् बाध्योग से, जिह्वावान् बाध्योग ने असित वार्षगण से, असित वार्षगण ने हरित कश्यप से, हरित कश्यप ने शिल्प कश्यप से, शिल्प कश्यप ने कश्यप नैध्रुवि से,

---

साञ्जीवीपुत्रात् । ब्रह्मणः प्रवचनाख्यस्य । तच्चैतद्ब्रह्म प्रजापतिप्रबन्धपरम्परयाऽऽगतया-

---

समानमिति । प्रवचनाख्यस्य वंशात्मनो ब्रह्मण सम्बन्धात्प्रजापतिर्विद्यां लब्धवानित्याह—ब्रह्मण इति । तस्याधिकारिभेदावधान्तरमेव दर्शयति—तच्चेति । प्रजापतिप्रमुखप्रबन्धः प्रवन्ध सैव परम्परा

यह अधोमुखवंश नियत आचार्य परम्परा क्रम से है । साञ्जीवीपुत्रपर्यन्त सब आचार्य (वाजसनेयिशाखा के होने से) एक ही वंश के हैं । प्रजापति ने प्रवचनाख्य ब्रह्म (वेद) के सबन्ध से विद्या प्राप्त की । यह

---

१ वाजसनेयस्यविशेषणात्ताद्गवक्ष्यमाणादन्योऽयं याज्ञवल्क्य । २ ब्रह्मण इति—वेदस्येत्यर्थः । प्रजापतेः स्वयं प्रतिभातवेदत्वादिति भावः । ३ वेदब्रह्मण ।

भिवत्यत्र ब्रह्मशब्दार्थमुक्त्वा पूर्ववंशद्वयस्यमवान्तरविशेषमाह—वाजिशाखास्विति । पञ्चदशसंख्याकासु सर्वास्वेव तासु वंशद्वयस्यपर्यंय पाठक्रमेणाऽऽसुरायणपुरःसरा वेदाध्यक्षापयन्तास्तुल्या आसुरायणात्पूर्वे तु प्रतिशाखमुभयत्र मनुष्यास्ते भिद्यन्ते तद्भेदश्रुतेरित्यर्थः । वंशयोस्तुल्यत्वमध्यापकप्रसिद्धमित्याद्यो हिशब्द । तत्सामान्यस्य पाठा- नुसारेणानुभवयोग्यत्वमिति द्वितीयो हिशब्द ॥ आदित्यानीमानीत्यत्र यजुषामादित्यत्व श्रुत तत्साधयति— आदित्येनेति । तेन वाजिशाखावच्छिन्न यजुषा प्रोक्तत्व याज्ञवल्क्येन प्राप्तत्व च पुराणेषु प्रसिद्धमिति हि शब्दार्थः ॥ इतश्च तेषामादित्यात्मत्वमित्याह—वेदेति । स हि वेदात्मा हिरण्यगर्भस्तत. परमेष्ठिनो विद्यासम्प्रदायो- ऽतस्तदादिकान्सर्वानेव प्रति पारम्पर्येणाऽऽगतोऽयं सम्प्रदायस्तस्मादेवाऽऽदित्यस्य यजुषामित्यर्थः । एवमिति वंश ब्राह्मणाधीतक्रमकथनम् ॥ न केवलं तेषामेवाऽऽदित्यत्व किंतु सर्वस्यैव वेदस्य तस्य त्रयीमयत्वप्रसिद्धेरित्याह— प्रससृष्टमिति । 'स यश्चाय पुरुषे यश्चासावादित्ये स एक' इत्यादि श्रुतेर्वेदरूपस्य परस्याऽऽदित्ये प्रतिष्ठितत्वात्तस्य सर्वस्याऽऽदित्यता युक्तेति भाव ॥ तत्रैव हेत्वन्तरमाह—उत्सन्नमिति । 'तस्माद्यज्ञात्सर्वहुत' इत्यादि श्रुते निःश्वासवत्परस्मात्प्रवृत्तमपि वेदाख्य ब्रह्माऽऽदित्यात्मनि तस्मिन्प्रलयावस्थायामस्तीत्यत्र प्रमाणमाह – तदार्षेणेति । 'युगान्तेऽन्तर्हितान्वेदान्सेतिहासान्महर्षय । लेभिरे तपसा पूर्वमनुज्ञाताः स्वयंभुवा' ॥ इत्यादिवाक्यमत्र मान- मित्यर्थः ॥ वंशद्वयस्थ विशेष यजुषामादित्यत्व चोक्त्वा समानमित्यादि व्याकरोति वदेति । सर्वेषां प्रकृत- पञ्चदशसंख्याकवाजिशाखाध्येतॄणामिति यावत् ॥ वंशस्तृतीय आ साञ्जीवीपुत्रादिति विशेषणमाक्ष्यलक्ष्यमर्थमाह —साञ्जीवीति । वाजसनेयिना प्रतिनियत साञ्जीवीपुत्रादुपक्रम्य मनुष्यपर्यन्तर्गतस्य वंशा पृथग्भिद्यन्त आचार्यभेदोपलम्भादिति योजना ॥

कश्यपो नैध्रुविर्वाचो वागम्भिण्या अम्भिण्यादित्यादा-[1]दित्यानी[2]मानि शुक्लानि [3]यजूꣳषि वाजसनेयेन याज्ञवल्क्येना[4]ऽऽख्यायन्ते ॥३॥

समानमा सांजीवीपुत्रात्सांजीवीपुत्रो माण्डूकायने-र्माण्डूकायनिर्माण्डव्यान्माण्डव्यः कौत्सात्कौत्सो माहित्थेर्माहित्थिर्वामकक्षायणाद्वामकक्षायणः शाण्डि-ल्याच्छाण्डिल्यो वात्स्याद्वात्स्यः कुश्रेः कुश्रिर्यज्ञवचसो राजस्तम्बायनाद्यज्ञवचा राजस्तम्बायनस्तुरात्काव-षेयात्तुरः कावषेयः प्रजापतेः प्रजापतिर्ब्रह्मणो ब्रह्म

कश्यप नैध्रुवि ने वाक् से, वाक् ने अम्भिनी से, अम्भिनी ने आदित्य से। अतएव आदित्य से प्राप्त हुई ये शुक्ल यजु श्रुतियाँ वाजसनेयी याज्ञवल्क्य द्वारा प्रसिद्ध की गयी हैं ॥ ३ ॥

साञ्जीवी पुत्र पर्यन्त यह एक ही वंश है। साञ्जीवी पुत्र ने माण्डूकायनी से, माण्डूकायनी ने माण्डव्य से, माण्डव्य ने कौत्स से, कौत्स ने माहित्थि से, माहित्थि ने वामकक्षायण से, वामकक्षायण ने शाण्डिल्य से, शाण्डिल्य ने वात्स्य से, वात्स्य ने कुश्रि से कुश्रि ने यज्ञवचा राजस्तम्बायन से, यज्ञवचा राजस्तम्बायन ने तुरकावषेय से, तुरकावषेय ने प्रजापति से और प्रजापति ने ब्रह्मा से यह

स्मास्यनेकधा विप्रसृतमनाद्यनन्तं स्वयंभु ब्रह्म [5]नित्यं तस्मै ब्रह्मणे नमः । नमस्तदनुवर्तिभ्यो

तयेति यावत् । [6]तस्य परमात्मरूपस्वयंभूत्वमभिदधाति—अनादीति । [7]तस्यापौरुषेयत्वेनासंभावित-दोषतया प्रामाण्यमभिप्रेत्य विशिनष्टि—नित्यमिति । आदिमध्यान्तेषु कृतमङ्गला ग्रन्थाः प्रचारिणो

यह वेदब्रह्म प्रजापतिप्रधान प्रपञ्च वाली परम्परा से आकर हम सबमें अनेक रूप से फैला हुआ है। वह अनादि, अनन्त, स्वयम्भु ब्रह्म नित्य है, उसको नमस्कार है, उसका अनुसरण करने वाले आचार्यों को

---

१. आदित्यानि—आदित्येन सूर्येण याज्ञवल्क्याय प्रोक्तानीत्यर्थः । २. इमानि—बार्हदारण्यकानि वाक्यानि । ३ यजूंषि—यजुर्वाणीत्यर्थः । ४. वाजसनेयिशाखाध्यायिना याज्ञवल्क्येन मुनिना प्रकाश्यन्त इत्यर्थः । ५. नित्यमिति—परस्यैव वेदरूपेणावस्थानादित्याशयः । ६. वेदस्य । ७ वेदस्य ।

स्वयंभु ब्रह्मणे नमः ॥४॥

इति बृहदारण्यकोपनिषदि षष्ठाध्यायस्य
पञ्चमं ब्राह्मणम् ॥५॥

इति वाजसनेयके बृहदारण्यकोपनिषदि षष्ठोऽध्यायः ॥६॥

इति वाजसनेयकबृहदारण्यकक्रमेणाष्टमोऽध्यायः ॥८॥

विद्या ग्रहण की है। ब्रह्मा स्वयंभु है, उस स्वयभु ब्रह्मा को अनेको वार नमस्कार है ॥ ४ ॥

॥ इति षष्ठोऽध्यायः ॥

श्रीमत्परमहंस परिव्राजकाचार्य श्रोत्रिय ब्रह्मनिष्ठ पदवाक्यप्रमाणपारावारीण श्रीकैलासपीठाधीश्वर आचार्य महामण्डलेश्वर अनन्त श्री स्वामी विद्यानन्द गिरि जी महाराज वेदान्त-सर्वदर्शनाचार्य रचित "विद्यानन्दी मिताक्षरा" टीका पूर्ण हुई ॥

गुरुभ्यः ॥ १ ॥ २ ॥ ३ ॥ ४ ॥

इति बृहदारण्यकोपनिषद्भाष्ये षष्ठाध्यायस्य पञ्चमं ब्राह्मणम् ॥ ५ ॥

इति श्रीगोविन्दभगवत्पूज्यपादशिष्यस्य परमहंसपरिव्राजकाचार्यस्य
श्रीशङ्करभगवतः कृतौ बृहदारण्यकोपनिषद्भाष्ये
षष्ठोऽध्यायः ॥ ६ ॥

भवन्तीति मन्वानः सन्नाह—तस्मै ब्रह्मणे नम इति ॥ १ ॥ २ ॥ ३ ॥ ४ ॥

इति बृहदारण्यकोपनिषद्भाष्यटीकायां षष्ठाध्यायस्य पञ्चमं वंशब्राह्मणम् ॥ ५ ॥

नमो [1]जन्मादिसंबन्धहेतुविध्वंसहेतवे ।
हरये परमानन्दपरिज्ञानवपुर्भृते ॥ १ ॥
नमस्त्रय्यन्तसंदोहसरसीरुहभानवे ।
गुरवे परपक्षौघध्वान्तध्वंसपटीयसे ॥ २ ॥

इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकशुद्धानन्दपूज्यपादशिष्यभगवदानन्दज्ञानकृतायां
बृहदारण्यकोपनिषद्भाष्यटीकायां षष्ठोऽध्यायः ॥ ६ ॥

भी नमस्कार है ॥ १ ॥ २ ॥ ३ ॥ ४ ॥

इस प्रकार बृहदारण्यकोपनिषत् मे षष्ठाध्यायस्थ शाङ्करभाष्य की वैयाकरणाचार्य विद्यावारिधि डॉ० उमेशानन्द शास्त्री कृत "कुमुदतोषिणी" टीका सपन्न हुई ॥ ६ ॥

---

१. जन्मादिसंबन्धहेतुरज्ञानम् ।

"अधीत्या स्याद्गुरोरेतामलेखि गुरुटिप्पनी । आनन्दविष्णुदेवाब्धगिरिकर्मन्दिनाऽऽश्रमे" ॥

एतामुपनिषदमाश्रमेऽस्मिन् कैलासाभिधे । संवत् १९९५ चैत्रकृष्णदशमीगुरुवासरेऽस्याः समाप्याऽध्ययनम् ।

समाप्तेयं सटिप्पणटीकाद्वयसंवलितशाङ्करभाष्यसमेता बृहदारण्यकोपनिषत् ।

॥ ॐ तत्सत् ॥



अथ शुकाष्टकम् ।

व्याख्यासहितम् ।

आनन्दसिन्धुमजमक्षरमद्वितीयमात्मानमच्युतशिवं स्वगुरुं प्रणम्य ।
कुर्वे समस्तजननिर्वृतिसौख्यसिद्धयै श्रीमच्छुकाष्टकसरोजविबोधभानुम् ॥

इह खल्वनेकजन्मसञ्चितानन्तसुकृतपरिपाकवशात्प्रक्षीणसर्वरागादिदोषविशुद्धान्तःकरणोऽनेकजन्मानुष्ठितनित्यनैमित्तिकादिसत्कर्मोपासनप्रमार्जितविवेकवैराग्यशमदमादिसाधनसम्पन्नो मुमुक्षुर्मोक्षसाधने 'तरति शोकमात्मवित्' इति श्रुतेर्बोधिते आत्मतत्त्वज्ञाने समुदिताभिलाषः प्राग्जन्मस्वभ्यस्तेष्वपि श्रवणमननिदिध्यासनेषु बलवत्तरप्रतिबन्धादनुत्पन्नतत्त्वसाक्षात्कारः सन्परेतः 'प्राप्य पुण्यकृतांल्लोकान्' इत्यादि भगवद्दर्शितदिशा शुचीनां श्रीमतां गेहेऽभिजातानां पौर्वदेहिकबुद्धिसंयोगप्राप्तानां तत्त्वनिष्ठापरायणानां ब्रह्मजिज्ञासूनां योगाच्चलितमानसानां सशुद्धबिल्विपानामात्मतत्त्वमुपदिशति—भेदाभेदावित्यादिना ।

> भेदाभेदौ सपदि गलितौ पुण्यपापे विशीर्णे
> मायामोहौ क्षयमधिगतौ नष्टसन्देहवृत्तेः ।
> शब्दातीतं त्रिगुणरहितं प्राप्य तत्त्वावबोधं
> निस्त्रैगुण्ये पथि विचरतः को विधिः को निषेधः ॥ १ ॥

त्रिभिः सत्त्वरजस्तमःसंज्ञैर्गुणै रहितम् । त्रिगुणात्मिकया सकार्यया विद्यया शक्त्या रहितमिति यावत् । अत एव शब्देभ्यो लौकिकेभ्यो वैदिकेभ्यश्चातीतमतिक्रान्तं तदविषयमित्यर्थः । पञ्चविधा हि शब्दाः, जातिवचना गुणवचनाः क्रियावचनाः संज्ञाभूताः सम्बन्धिशब्दाश्चेति । यथा गौः शुक्लो धावति, भद्रको भारवाह इति जात्यादयश्च त्रैगुण्यविषया एव प्रसिद्धा न निस्त्रैगुण्य इति शब्दप्रवृत्तिनिमित्ताभावाच्छब्दातीतम् । तथाविधं तत्त्वावबोधं तत्त्वमबाधितवस्तु तद्रूपम् । अवगतो बोधः अवबोधः । साक्षात्कारवृत्तौ द्धस्वप्रकाशपूर्णसच्चिदानन्दैकरसम्, भूमाख्यं ब्रह्म प्राप्य विस्मृतकण्ठचामीकरन्यायेन बोधमात्रेण लब्ध्वा । नष्टसन्देहवृत्तेः सर्वस देहबीजभूताज्ञाननाशादेव नष्टा इष्टानिष्टसाधनहेयोपादेयगोचरसन्देहवृत्तयो यस्य । अत एव निस्त्रैगुण्ये निर्गतास्त्रैगुण्यास्तामसा विदधिण राजसाः कर्मिणः सात्त्विका उपासकाश्च यस्मात्तथाविधे निर्विकल्पपरमसमाधिरूपे सप्तमयोगभूमिकालक्षणे पथि विचरतः स्वच्छन्दं विहरतो मम को विधिः पुनरग्निहोत्रादिकर्मसु प्रवर्तयेत् को वा निषेधो नैष्कर्म्यस्वरूपावस्थितेर्निवर्तयेत् न कश्चिदपि तत्समर्थ इत्यर्थः । ये हि त्रैगुण्यपथिका देहाद्यहंभावाः पुण्यफलरागिणः पापफलभीरवः साध्यसाधनेतिकर्तव्यताभेददर्शिनः कर्तृत्वभोक्तृत्वस्वभावमात्मानं मन्यमानाः पूर्णसच्चिदानन्दाद्वयब्रह्मात्मभावादर्शिनस्तान् हीष्टानिष्टफलकीर्तनेन रागभयोद्दीपनपुरस्सरं तत्साधनेषु प्रवृत्तये निवृत्तये वा विधिनिषेधौ वशी कुर्यातां न तु माम् । अतो मम तद्धेतुभेदाभेदौ भेदश्चाभेदश्च भेदाभेदौ, प्रतिदेहं मौढ्यकल्पितं आत्मभेदं भिन्नस्य तस्य देहादौ तादात्म्या-

व्यासलक्षणोऽभेदश्च । तौ हि रागद्वेषाभिमानादिद्वारा सर्वानर्थहेतू । तौ सपदि तत्त्वसाक्षात्कारसमकालमेव गलितौ । यावद्धि भेददर्शनं तावदेव भयार्तिरागद्वेषादयः । "द्वितीयाद्वै भयं भवति" "मृत्योः स मृत्युमाप्नोति य इह नानेव पश्यति" "यथोदकं दुर्गे वृष्टं पर्वतेषु विधावति । एवं धर्मान्पृथक् पश्यंस्तानेवानु विधावति" "स योऽन्या देवतामुपास्तेऽन्योऽसावन्योऽहमस्मीति न स वेद । यथा पशुरेव स देवानाम्", "स वै नैव रेमे स द्वितीयमैच्छन् । सोऽकामयत जाया मे स्यादथ प्रजायेयाथ वित्तं मे स्यादथ कर्म कुर्वीयेत्येतावान्वै काम" इत्यादिश्रुतिभ्यः । एवं देहाद्यभिन्नात्मदर्शनमप्यनर्थहेतुः । "अयं लोको नास्ति पर इति मानी पुनः पुनर्वशमापद्यते मे" इत्यादि मृत्युवचनात् । स्मृतिरपि—

"देहाभिमानाद्यत्पापं न तद्गोवधकोटिभिः" ।
"प्रायश्चित्ताद्भवेच्छुद्धिर्नृणां गोवधकारिणाम्" ।
देहाभिमानिनां पुंसां प्रायश्चित्तं न विद्यते" ॥ इति ।

अत एव हि पुण्यपापे पुण्यं —————— । तेऽपि विशीर्णशिलाप्रहतलोष्टपांसुरिव विध्वस्ते । ब्र. सू. ४-१-१३

सूत्रवचनात् । "तद्यथेषीकातूलमग्नौ प्रोतं प्रदूयेते"त्यादिश्रुतेश्च । तत्कुतः, यतो मायामोहौ क्षयमधिगतौ मोहोऽद्वितीयात्मनः पूर्णसच्चिदानन्दब्रह्मात्मस्वरूपतिरोधायकावरणशक्तिप्रधानाऽविद्या । माया तु आवृतस्य तस्यैवान्यथाप्रतिभासनिमित्तविक्षेपशक्तिप्रधाना । स एकस्या एवाविद्यायास्तमोगुणप्रधानांश आवरकत्वान्मोह इत्युच्यते । रजोगुणप्रधानस्तु विक्षेपहेतुत्वान्मायेति । तौ मायामोहौ सत्त्वोत्कर्षप्रयुक्तशमदमादिसंपत्तिपूर्वमेणात्मतत्त्वसाक्षात्कारेण क्षयं सह कार्येणात्यन्तिकबाधमधिगतौ प्राप्तौ । तथा च विधिनिषेधशास्त्रयोः सर्वप्रमाणप्रमेयव्यवहारस्याविद्यावद्विषयत्वात्; निरस्ताविद्यस्य पूर्णानन्दाद्वितीयब्रह्मभूतस्य मम न विधिनिषेधशास्त्रविषयत्वमित्येतत्सिद्धमिति भाव ॥ १ ॥

आत्मतत्त्वज्ञाने विधिनिषेधगोचरप्रवृत्तिनिवृत्तिविषयसाध्यसाधनेतिकर्तव्यतादिसर्वद्वैतोपमर्दाद्वा स्वस्य विधिनिषेधानाक्रमणीयमित्याह—यद्वेति ।

यद्वात्मानं सकलवपुषामेकमन्तर्बहिस्थं
दृष्ट्वा पूर्णं खमिव सततं सर्वभाण्डस्थमेकम् ।
नान्यत्कार्यं किमपि च ततः कारणाद्भिन्नरूपं
निस्त्रैगुण्ये पथि विचरतः को विधिः को निषेधः ॥ २ ॥

यद्वेति । प्रकारान्तरेणोक्तार्थोपपत्तिद्योतनार्थम् । ननु भेदाभेदयोर्बोधमात्रात्कथं निवृत्तिः, तत्त्वज्ञानस्य सत्यार्थनिवर्तनासामर्थ्यात् । न हि बोधमात्राद्वस्तुतो भिन्नोऽप्यभिन्नत्वमापद्यते । भेदश्च प्रतिशरीरमात्मना सुखदुःखव्यवहारव्यवस्थादर्शनाल्लोकतः शास्त्रतश्च सत्योऽवगम्यते । ऐकात्म्ये हि एकस्य सुखे दुःखे वा सर्वे सुखिनो दुःखिनो वा स्युः । तथा च भगवता गौतमेनाप्युक्तं "नानात्मानो व्यवस्थात" इति लौकिकवैदिकव्यवहारव्यवस्था नैकात्म्ये नोपपद्यते । न हि मित्रार्युदासीनमध्यस्थादिगोचरो रागद्वेषोपेक्षादिप्रयुक्तो लोकसम्मतो व्यवहारः । परदारपरद्रव्यपरद्रोहादिवर्जनविषय आचार्यपितृवृद्धाद्यनुगमनपूजादिविषयः श्रौतः स्मार्तश्च व्यवस्थित उपपद्यते, तस्मान्नानात्मतैवेत्याशङ्कामपाकुर्वन्नाह—सकलवपुषामेकमिति । सकलवपुषां जरायुजाण्डजस्वेदजोद्भिज्जाप्यतैजसवायव्यमानसप्रभेदा-

ष्टधाभिन्नानां शरीराणामन्तर्बहिस्थमेकमभिन्नमित्यर्थः । अयं भावः—न तावद्भेदादेः सत्यता प्रमाणावेद्यत्वे सति वेद्यत्वाच्छुक्तिरूप्यादिवत् । यथा च भेदस्य प्रमाणावेद्यत्वं तथोपपादितमस्माभिः स्वाराज्यसिद्धौ । एवमात्मनो देहेन्द्रियादितादात्म्यलक्षणोऽभेदो न प्रमाणवेद्यः स्वात्मनि नानात्वाननुभवात् । देहादीनाञ्च नानात्वात् । बालाद्यवस्था भेदेनान्व्यवाधिर्यादिना च देहेन्द्रियाद्यैर्व्यभिचारेऽप्यात्मन्यवाधितप्रत्यभिज्ञयैकत्वनिश्चयेन तैः सर्वैस्तस्याभेदायोगात् । एकैकतादात्म्ये विनिगमनाविरहादतिरिक्तत्वसिद्धेरिति । ननु कथं सकलवपुषामेक आत्मा, स हि "वालाग्रशतभागस्य शतधा कल्पितस्य च । भागो जीवः स विज्ञेय." "एषोऽणुरात्मा चेतसा वेदितव्य" इत्यादिश्रुतिभिरणुतरनाडीछिद्रोपसर्पणलिङ्गश्चाणुपरिमाणो विज्ञायते । यदि च सर्वाङ्गीणशैत्याद्युपलम्भात्"समः प्लुषिणा समो मशकेन समो नागेन" इत्यादिश्रुत्या च देहपरिमाणोऽभ्युपगम्येत तथापि देहद्वयान्तरालविच्छिन्नवृत्तिर्न सकलवपुषामेकः स इत्याशङ्क्याऽऽह —अन्तर्बहिस्थमिति । देहस्यान्तर्बहिश्च स्थितं विभुमित्यर्थः । "नित्य विभु सर्वगत सुसूक्ष्मम्" "आत्मैवाधस्तादात्मोपरिष्टात्" "ब्रह्मैवेदममृतं पुरस्ताद्ब्रह्म पश्चाद्ब्रह्म दक्षिणतश्चोत्तरेणे"त्यादिश्रुते. । "सर्वत्रगमचिन्त्यञ्च कूटस्थमचल ध्रुवमि"त्यादिस्मृतेरैकात्म्यश्रुतिलिङ्गाच्चात्मनोऽपरिच्छिन्नत्वसिद्धिरिति भाव । *अणुपरिमाणत्वाभिप्राया नाणुरात्मेतिश्रुतिः किन्तु* आकाशवत्सौक्ष्म्याद्दुर्लक्ष्यत्वाभिप्राया । बालाग्रेत्यादि श्रुतिरपि वाक्यशेषानुरोधाच्छ्रुत्यन्तरानुरोधाच्चौपाधिकपरिच्छेदानुवादिनीति "तद्गुणसारत्वात्तु तद्व्यपदेश प्राज्ञवदि"ति ब्र. सू. २-३-२९ सूत्रे बादरायणादिभिर्व्यवस्थापिता । औपाधिकविच्छेदादेव विच्छेदप्रत्ययोऽप्युपपन्न इति न वास्तवात्मैक्यस्य तेन बाधः । एतेन शास्त्रीयोऽप्यात्मभेदव्यवहारार्थं क्रियादिभेदोऽन्त करणाद्युपाधिभिरेवोपपादनीयः । यथैकस्यैवाकाशस्य सूचीपाशकुम्भकुसूलादि उपाधिभेदादेव सीवनबन्धनजलाहरणधान्यावपनाद्यर्थक्रियाणामसङ्करः, तत्तत्कार्याणाकुल्यवच्छेदाच्छेत्रनानात्वादिव्यवस्था च तद्वद्व्यवस्थोपपत्तेरित्याशयेन दृष्टान्तमाह—खमिवेति । एतेनैकस्य दुःखे सर्वेषां तत्प्रसङ्गोऽपि निरस्त इति "नानात्मानो व्यवस्थात" इति हेतुरप्रयोजकः । नन्वेव सति औपाधिकमेव भेदमालम्ब्य ज्ञानिनामपि श्रौतस्मार्तविधिनिषेधाधिकार. किं न स्यादिति चेत् । भवेदेव यदि तेषामज्ञानिनामिवोपाधितादात्म्यसंसर्गाद्यारोपौ न बाधितौ स्याताम् । नत्वेवम्, यतस्तेषां कारणाद्भिन्नरूपं भेदकोपाध्याद्यात्मनोऽन्यन्नास्ति । "अथात आदेशो नेति नेति" "वाचारम्भणं विकारो नामधेय"मित्यादिश्रुतिशतैः कारणाद्भिन्नस्य कार्यस्य प्रतिषिद्धत्वेन मिथ्यात्वात् । तत्त्वसाक्षात्कारेण समूलमुपमर्दितत्वादिति ॥ २ ॥

एवं जीवस्य तत्त्वतो विमर्दोऽज्ञानाद्यतीतापेतब्रह्मक्षत्रादिभेदनिरतिशयानन्दैकरसब्रह्ममात्रैकरससत्त्वादपि स्वस्य न कर्माधिकार इति दर्शयितुं तत्त्वमस्यादिवाक्यतात्पर्यरहस्यमुद्घाटयति—हेम्न इति ।

> हेम्नः कार्यं हुतवहगतं हैममेवेति यद्वत्
> क्षीरे क्षीरं समरसतया तोयमेवाम्बुमध्ये ।
> एवं सर्वं समरसतया त्वंपदं तत्पदार्थे
> निस्त्रैगुण्ये पथि विचरतः को विधिः को निषेधः ॥ ३ ॥

यथा हेम्नः सुवर्णस्य कार्यं कटककुण्डलग्रैवेयकाङ्गुलीयकादि, हुतवहे अग्नौ गतं ध्मायमानं द्रवीभूतं समरसतया एकीभूतं कटककुण्डलादि नामरूपभेदं जहत् न भूयः कटककुण्डलाद्यर्थक्रिया-

समर्थं किन्तु हैमं सर्वहेमसंबन्धिसामान्यस्वभावमेव यद्वद्भवति । यथा वा क्षीरे निक्षिप्तं क्षीरमविभवतं क्षीरसामान्यमेव भवति । यथा वा अम्बुमध्ये निषिक्त तोय जलं तोयसामान्यमेव समरसतया ऐकरस्येन भवति । एवं सर्वं वियदादिभुवनान्तं सर्वं तत्पदं तत्पदवाच्यार्थभूत जगत् "तदनन्यत्वमारम्भणशब्दादिभ्यः" इति सूत्रेणोपदर्शितसत्परम्परावधिपरमार्थसन्मात्रैकरूपपरिशेषात्समरसतया तदेकरसतया अपरिच्छिन्नसच्चिन्मात्रात्मना प्रविलापनेन यदा सम्पन्न तदा त्वंपद त्वपदवाच्यमपि जीवरूप तत्पदार्थे तत्पदलक्ष्ये प्रागुक्ते समरसतया पूर्णानन्दभूतात्मनैव सम्पन्नम् । तथाविधे प्रत्यक्चिन्मात्रात्मके निस्त्रैगुण्ये परमात्मस्वभावे पथि विचरतो मम विधिनिषेधफलप्रदेश्वरादेः पृथगपरिशेषादपि न विधिनिषेधशास्त्राधिकार इत्यर्थः ॥ ३ ॥

उक्तमेवार्थं पुनर्दृष्टान्तान्तरैरपि विशदयन् तादृशभूमानन्दस्वरूपप्रतिष्ठस्य स्वस्य न कर्माधिकारप्रसक्तिरित्याह—यस्मिन्निति ।

> यस्मिन्विश्वं सकलभुवनं सामरस्यैकभूत-
> मुर्वीह्यापोऽनलमनिलख जीवमेवं क्रमेण ।
> यत्क्षाराब्धौ समरसतया सैन्धवैकत्वभूतं
> निस्त्रैगुण्ये पथि विचरतः को विधिः को निषेधः ॥ ४ ॥

यस्मिन्पूर्णात्मनि सकलं समस्त कलाभिः स्वावयवप्रदेशभेदैः सहितं, भुवन भूर्भुवःस्वरिति सप्तधा चतुर्दशधा वा भिन्नं ब्रह्माण्डोदरकोष्ठप्रभेदरूप लोकजातम् । तथा उर्वी पृथिवी आप अनलमग्निश्छान्दस क्लीवत्वम् । अनिलो वायु समाकाशम्, तथा जीवयतीति जीवं स्थूलसूक्ष्मदेहद्वयमित्येवं क्रमेणाधिलोकमधिभूतमध्यात्मञ्चेति त्रिधा भिन्न विश्व कृत्स्न जगत्, यातीति यत् विलय प्राप्नुवत्सत् क्षाराब्धौ क्षिप्त सैन्धवमिव समरसतया ऐकरस्येनैकत्व भूत प्राप्तम् । तस्मिन्निस्त्रैगुण्ये पथीत्यादि पूर्ववत् । क्षाराब्धौ सैन्धवैकत्वभूतमिति सापेक्षत्वादसमर्थस्य सैन्धवपदस्य समासश्छान्दस ॥ ४ ॥

उपाधीना प्रविलयेन सामरस्ये उपहितस्य न पृथगवशेषोऽस्तीति जीवस्याखण्डब्रह्मात्मता अर्थात्सिद्धैवेति न तत्र प्राग्दृष्टान्तो दर्शित. । इदानीं तु तत्रापि "यथा नद्य स्यन्दमाना. समुद्रेऽस्तं गच्छन्ति नामरूपे विहाय । तथा विद्वान्नामरूपाद्विमुक्त परात्पर पुरुषमुपैति दिव्य"मिति श्रुतिसिद्ध दृष्टान्त दर्शयन्सर्वभेदप्रत्ययास्तमयेनाद्वितीयब्रह्मैकरस्याद्विधिनिषेधशास्त्राधिकारप्रसक्तिरेव स्वस्य नास्ति इत्याह—यद्वदिति ।

> यद्वन्नद्यौदधिसमरसौ सागरत्वं ह्यवाप्तौ
> तद्वज्जीवा लयपरिगतौ सामरस्यैकभूतम् ।
> भेदातीतं परिलयगतं सच्चिदानन्दरूपम्
> निस्त्रैगुण्ये पथि विचरतः को विधिः को निषेधः ॥ ५ ॥

नद्या नदीद्वारा आ उदधि समुद्रदेशपर्यन्तं कालभेदेन प्राप्तौ समौ रसौ जलप्रवाहौ परस्परमेलनेन सागरत्वमेवावाप्तौ । हीत्यवधारणे प्रसिद्धौ च । आदादि 'ओमाङोश्चे'ति पररूपविषये वृद्धिश्छान्दसी । अथवा उदधिना समरसस्याय औदधि समरसप्रवाह , नदी च औदधिसमरसश्च नद्यौदधिसमरसौ । यद्वा उदधिश्चासौ समश्च उदधिसम. उदधिसमस्यायमौदधिसम. नदी च औदधिसमश्च नद्यौ-

ष्टधाभिन्नानां शरीराणामन्तर्बहिस्थमेकमभिन्नमित्यर्थः । अयं भावः—न तावद्भेदादेः सत्यता प्रमाणावेद्यत्वे सति वेद्यत्वाच्छुक्तिरूप्यादिवत् । यथा च भेदस्य प्रमाणावेद्यत्वं तथोपपादितमस्माभिः स्वाराज्यसिद्धौ । एवमात्मनो देहेन्द्रियादितादात्म्यलक्षणोऽभेदो न प्रमाणवेद्यः स्वात्मनि नानात्वाननुभवात् । देहादीनाञ्च नानात्वात् । बालाद्यवस्था भेदेनान्यव्यवधिर्यादिना च देहेन्द्रियादैर्व्यभिचारेऽप्यात्मन्यबाधितप्रत्यभिज्ञयैकत्वनिश्चयेन तैः सर्वेस्तस्याभेदायोगात् । एकैकतादात्म्ये विनिगमनाविरहादतिरिक्तत्वसिद्धेरिति । ननु कथं सकलवपुषामेक आत्मा, स हि "वालाग्रशतभागस्य शतधा कल्पितस्य च । भागो जीवः स विज्ञेय." "एषोऽणुरात्मा चेतसा वेदितव्य" इत्यादिश्रुतिभिरणुतरनाडीछिद्रोपसर्पणलिङ्गैश्चाणुपरिमाणो विज्ञायते । यदि च सर्वाङ्गीणशैत्याद्युपलम्भात्"समः प्लुषिणा समो मशकेन समो नागेन" इत्यादिश्रुत्या च देहपरिमाणोऽप्युपगम्येत तथापि देहद्वयान्तरालविच्छिन्नवृत्तिर्न सकलवपुषामेकः स इत्याशङ्कयाऽऽह —अन्तर्बहिस्थमिति । देहस्यान्तर्बहिश्च स्थितं विभुमित्यर्थः । "नित्यं विभुं सर्वगतं सुसूक्ष्मम्" "आत्मैवाधस्तादात्मोपरिष्टात्" "ब्रह्मैवेदममृतं पुरस्ताद्ब्रह्म पश्चाद्ब्रह्म दक्षिणतश्चोत्तरेण" इत्यादिश्रुते. । "सर्वत्रगमचिन्त्यञ्च कूटस्थमचलं ध्रुवम्" इत्यादिस्मृतेश्चात्मश्रुतिलिङ्गाच्चात्मनोऽपरिच्छिन्नत्वसिद्धिरिति भाव । अणुपरिमाणत्वाभिप्राया नाणुरात्मेतिश्रुतिः किन्तु आकाशवत्सौक्ष्म्याद्दुर्लक्ष्यत्वाभिप्राया । बालाग्रेत्यादिश्रुतिरपि वाक्यशेषानुरोधाच्छ्रुत्यन्तरानुरोधाच्चौपाधिकपरिच्छेदानुवादिनीति "तद्गुणसारत्वात्तु तद्व्यपदेशः प्राज्ञवदि"ति ब्र. सू. २-३-२९ सूत्रे बादरायणादिभिर्व्यवस्थापिता । औपाधिकविच्छेदादेव विच्छेदप्रत्ययोऽप्युपपन्न इति न वास्तवाद्वैक्यस्य तेन बाधः । एतेन शास्त्रीयोऽप्यात्मभेदव्यवहारार्थं क्रियादिभेदोऽस्त करणाद्युपाधिभिरेवोपपादनीयः । यथैकस्यैवाकाशस्य सूचीपाशकुम्भकुसूलादिरूपाधिभेदादेव सीवनबन्धनजलाहरणधान्यावपनाद्यर्थं क्रियाणामसङ्करः, तत्तत्कर्णशष्कुल्यवच्छेदाच्छ्रोत्रनानात्वादिव्यवस्था च तद्वद्व्यवस्थोपपत्तेरित्याशयेन दृष्टान्तमाह—खमिवेति । एतेनैकस्य दुःखे सर्वेषां तत्प्रसङ्गोऽपि निरस्त इति "नानात्मानो व्यवस्थात" इति हेतुरप्रयोजकः । नन्वेवं सति औपाधिकमेव भेदमालम्ब्य ज्ञानिनामपि श्रौतस्मार्तविधिनिषेधाधिकारः किं न स्यादिति चेत् । भवेदेव यदि तेषामज्ञानिनामिवोपाधितादात्म्यसंसर्गाध्यारोपौ न बाधितौ स्याताम् । नत्वेवम्, यतस्तेषां कारणाद्भिन्नरूपं भेदकोपाध्याद्यात्मनोऽप्यन्यन्नास्ति । "अथात आदेशो नेति नेति" "वाचारम्भणं विकारो नामधेय"मित्यादिश्रुतिशतैः कारणाद्भिन्नस्य कार्यस्य प्रतिषिद्धत्वेन मिथ्यात्वात् । तत्त्वसाक्षात्कारेण समूलमुपमर्दितत्वादिति ॥ २ ॥

एव जीवस्य तत्त्वतो विमर्शेऽशनायाद्यतीतापेतब्रह्मक्षत्रादिभेदनिरतिशयानन्दैकरसब्रह्ममात्रैकरससत्त्वादपि स्वस्य न कर्माधिकार इति दर्शयितुं तत्त्वमस्यादिवाक्यतात्पर्यरहस्यमुद्घाटयति—हेम्न इति ।

> हेम्नः कार्यं हुतवहगतं हैममेवेति यद्वत्
> क्षीरे क्षीरं समरसतया तोयमेवाम्बुमध्ये ।
> एवं सर्वं समरसतया त्वंपदं तत्पदार्थे
> निस्त्रैगुण्ये पथि विचरतः को विधिः को निषेधः ॥ ३ ॥

यथा हेम्न. सुवर्णस्य कार्यं कटककुण्डलग्रैवेयकाङ्गुलीयकादि, हुतवहे अग्नौ गतं ध्मायमानं ...भूतं समरसतया एकीभूतं कटककुण्डलादि नामरूपभेदं जहत् न भूयः कटककुण्डलाद्यर्थक्रिया-

समर्थं किन्तु हैम सर्वहेमसबन्धिसामान्यस्वभावमेव यद्वद्भवति । यथा वा क्षीरे निक्षिप्त क्षीरमविभवत क्षीरसामान्यमेव भवति । यथा वा अम्बुमध्ये निषिक्त तोय जल तोयसामान्यमेव समरसतया ऐकरस्येन भवति । एव सर्वंवियदादिभुवनान्त सर्वं तत्पद तत्पदवाच्यार्थभूत जगत् "तदनन्यत्वमारम्भणशब्दादिभ्य" इति सूत्रेणोपदर्शितसत्परम्परावधिपरमार्थसन्मात्रैकरूपपरिशेषात्समरसतया तदेकरसतया अपरिच्छिन्नसच्चिन्मात्रात्मना प्रविलापनेन यदा सम्पन्न तदा त्वपद त्वपदवाच्यमपि जीवरूप तत्पदार्थे तत्पदलक्ष्ये प्रागुक्ते समरसतया पूर्णानन्दभूतात्मनैव सम्पन्नम् । तथाविधे प्रत्यक्चिन्मात्रात्मके निस्त्रैगुण्ये परमात्मस्वभावे पथि विचरतो मम विधिनिषेधफलप्रदेश्वरादे पृथगपरिशेषादपि न विधिनिषेधशास्त्राधिकार इत्यर्थ ॥ ३ ॥

उक्तमेवार्थं पुनर्दृष्टान्तान्तरैरपि विशदयन् तादृशभूमानन्दस्वरूपप्रतिष्ठस्य स्वस्य न कर्माधिकारप्रसक्तिरित्याह—यस्मिन्निति ।

> यस्मिन्विश्वं सकलभुवन सामरस्यैकभूत-
> मुर्व्यापोऽनलमनिलख जीवमेवं क्रमेण ।
> यत्क्षाराब्धौ समरसतया सैन्धवैकत्वभूत
> निस्त्रैगुण्ये पथि विचरतः को विधिः को निषेधः ॥ ४ ॥

यस्मिन्पूर्णात्मनि सकल समस्त कलाभि स्वावयवप्रदेशभेदै सहित, भुवन भूर्भुवस्वरिति सप्तधा चतुर्दशधा वा भिन्न ब्रह्माण्डोदरकोष्ठप्रभेदरूप लोकजातम् । तथा उर्वी पृथिवी आप अनलमग्निश्छान्दस क्लीवत्वम् । अनिलो वायु खमाकाशम्, तथा जीवयतीति जीव स्थूलसूक्ष्मदेहद्वयमित्येव क्रमेणाधिलोकमधिभूतमध्यात्मञ्चेति त्रिधा भिन्न विश्व कृत्स्न जगत्, यातीति यत् विलय प्राप्नुवत्सत् क्षाराब्धौ क्षिप्त सैन्धवमिव समरसतया ऐकरस्येनैकत्व भूत प्राप्तम् । तस्मिन्निस्त्रैगुण्ये पथीत्यादि पूर्ववत् । क्षाराब्धौ सैन्धवैकत्वभूतमिति सापेक्षत्वादसमर्थस्य सैन्धवपदस्य समासश्छान्दस ॥ ४ ॥

उपाधीना प्रविलयेन सामरस्ये उपहितस्य न पृथगवशेषोऽस्तीति जीवस्याखण्डब्रह्मात्मता अर्थात्सिद्धैवेति न तत्र प्राग्दृष्टान्तो दर्शित । इदानी तु तत्रापि "यथा नद्य स्यन्दमाना समुद्रेऽस्त गच्छन्ति नामरूपे विहाय । तथा विद्वान्नामरूपाद्विमुक्त परात्पर पुरुषमुपैति दिव्य"मिति श्रुतिसिद्ध दृष्टान्त दर्शयन्सर्वभेदप्रत्ययास्तमयेनाद्वितीयब्रह्मैकरस्याद्विधिनिषेधशास्त्राधिकारप्रसक्तिरेव स्वस्य नास्ति इत्याह—यद्वदिति ।

> यद्वन्नद्यौदधिसमरसौ सागरत्वं ह्यवाप्तौ
> तद्वज्जीवा लयपरिगतौ सामरस्यैकभूतम् ।
> भेदातीत परिलयगतं सच्चिदानन्दरूपम्
> निस्त्रैगुण्ये पथि विचरतः को विधि को निषेधः ॥ ५ ॥

नद्या नदीद्वारा आ उदधि समुद्रदेशपर्यन्त कालभेदेन प्राप्तौ समौ रसौ जलप्रवाहौ परस्परमेलनेन सागरत्वमेवावाप्तौ । हीत्यवधारणे प्रसिद्धौ च । आदाङि 'ओमाङोश्चे'ति पररूपविषये वृद्धिश्छान्दसी । अथवा उदधिना समरसस्याय औदधि समरसप्रवाह, नदी च औदधिसमरसश्च नद्यौदधिसमरसौ । यद्वा उदधिश्चासौ समश्च उदधिसम उदधिसमस्यायमौदधिसम नदी च औदधिसमश्च नद्यौ-

दधिसमौ नद्योदधिसमयो. रसौ जले मेलनेन सागरत्वमैकरस्यं यद्वदवाप्ताविरयर्थः । यथायं दृष्टान्तस्तद्वज्जीवश्च आलीयते अस्मिन्नुपाधिमात्रमित्यास्य ब्रह्म तयोः परिगतौ उपाधिविलयादैक्ये स हि सामरस्येन एकभूता अखण्डभावेन स्थिताः । अवच्छेदभेदवद्बिम्बप्रतिबिम्बभेदस्याप्युपाधिकृतत्वात्तत्परिलयेन गत स्वस्थान एव विस्मृतकण्ठचामीकरवदधिगत सत्सर्वभेदातीत सच्चिदानन्दैकरूप स्वात्मान प्राप्तस्य निस्त्रैगुण्ये इत्यादि प्राग्वत् । नद्योऽम्बुधिसमरसा इति पाठस्तु स्पष्टः ॥ ५ ॥

किञ्च त्वपदार्थस्य तत्पदलक्ष्यसन्मात्रतावधारणात्तत्पदार्थस्य च त्वपदलक्ष्यस्वप्रकाशप्रत्यङ्मात्रत्वावधारणादुभयैक्येन पूर्णानन्दमात्रपरिशेषात्र पुनर्विधिनिषेधवश्यताप्राप्तिरित्याह—दृष्ट्वेति ।

> दृष्ट्वा वेद्यं परमयपदं स्वात्मबोधस्वरूपं
> बुद्ध्वाऽऽत्मानं सकलवपुषामेकमन्तर्बहिःस्थम् ।
> भूत्वा नित्यं सदुदिततया स्वप्रकाशस्वरूपं
> निस्त्रैगुण्ये पथि विचरतः को विधिः को निषेधः ॥ ६ ॥

वेद्य सन्यासेन सर्वस्वमपि विहाय महाप्रयत्नेनावश्यवेदनीयं परब्रह्मस्वात्मबोधमात्रस्वरूपम् । बुद्ध्वाऽऽत्मान प्रत्यञ्चं सकलवपुषामन्तर्बहिःस्थमेकमद्वितीयसन्मात्र बुद्ध्वा सर्वैकरस्येन सदुदिततया स्वप्रकाशपूर्णानन्दस्वरूप भूत्वा निस्त्रैगुण्य इत्यादि प्राग्वत् ॥ ६ ॥

> कार्याकार्ये किमपि सततं नैव कर्तृत्वमस्ति
> जीवन्मुक्तस्थितिमवगतो दग्धवस्त्रावभासः ।
> एवं देहे प्रविलयगते तिष्ठमानो विमुक्तो
> निस्त्रैगुण्ये पथि विचरतः को विधिः को निषेधः ॥ ७ ॥

किञ्च सति कार्ये तद्रागात्तदर्थप्रवृत्तौ कर्ता स्यात् । स्वभावश्च विधिशास्त्रेऽधिक्रियेत । सत्यकार्ये पापे तत्फले द्वेषात्ततो निवर्तमानस्तत्कर्ता सन् निषेधशास्त्राधिकारी स्यात् । ननु कार्याकार्ये किमपि तुच्छे एव च सति सतत सदैव प्रागिदानीमग्रे च नैव कर्तृत्वमस्ति । यदि नास्ति तर्हि जीवनार्थे भिक्षाटनादौ तत्त्वोपदेशसमाध्यादौ च कथ व्यवहरतीति चेत्तत्राह—जीवन्मुक्तेति । अतोऽह दग्धवस्त्र संस्काराद्वस्त्राकारमिद पूर्वसंस्काराद्व्यवहरन्निवावभासे इति दग्धवस्त्रावभास. । वस्तुतस्तु जीवन्नेव मुक्तस्थिति. । एवमुक्तरीत्या ज्ञानाग्निदग्धत्वाद्देहे भस्मीभूतपटवत्प्रविलयगते तिष्ठमान. प्रकाशमानोऽप्यहं "प्रकाशनस्थेयाख्ययोश्च" इति आत्मनेपद विमुक्त एव अतो निस्त्रैगुण्ये इत्यादि प्राग्वत् ॥७॥

किञ्च यावन्न विमृश्यते तावदेव द्वैत सदिव भासते, विमर्शे तु नाभ्यन्तरस्य बाह्यस्य द्वैतस्य स्वरूप कदाचित्केनचिदपि निरूपयितु शक्यमिति दर्शयति—कस्मादिति ।

> कस्मात्कोऽहं किमपि च भवान्कोऽयमन्यः प्रपञ्चः
> स्वं स्वं वेद्यं गगनसदृशं पूर्णतत्त्वप्रकाशम् ।
> आनन्दाख्ये समरसघने बाह्यमन्तर्विहीने
> निस्त्रैगुण्ये पथि विचरतः को विधिः को निषेधः ॥ ८ ॥

अहमिति परिच्छिन्नमहङ्कारात्मक यदात्मस्वरूप भाति तत् कस्मात्कश्च कारणत स्वरूपतश्च दुर्निरूपमित्यर्थं । तथाहि—तच्चागन्तुक स्यान्नित्य वा आद्ये कस्मादुपादानात्तदागत न तावज्जडत चेतनात्मरूपत्वानुभव विरोधात्, जडस्य चेतनोपादानत्वायोगात् । नापि चित, चितेरपरिणामिस्वभावत्वात्परिणामायोगात् । यदि विवर्तता ब्रूपे तर्हि तस्य मृषात्वमेव स्यान्नित्यत्वे कामादिपरिणामविरोध । तथा कोऽह कोऽयमहकारात्मेत्यर्थं । न तावज्जड, आत्मत्वानुभवविरोधात् । नापि चित् परिच्छेदविपयत्वानुभवविरोधात् जडदेहापक्षपातविरोधाच्च । तस्मादहकारात्मा दुर्वाच्य एवेत्यर्थं । किञ्च भवान् त्वमपि किमनात्मवस्त्वात्मवस्तु वा आद्ये चेतनत्वविरोधो द्वितीये ममपरत्वानुभवविरोध । अत्रावयो प्रतीयमान प्रपञ्च क किं स्वत सिद्ध उत परत आद्ये जाड्यानुभवविरोध, आत्मवच्चिद्रूपत्वापत्तौ भेदकरूपान्तरापरिशेपादखण्डपूर्णचिन्मात्रैकरस्यप्रसङ्गश्च । द्वितीयेऽपि स पर केन सिद्ध किं परत स्वतो वा । आद्येऽनवस्थापत्ति, द्वितीये स्वप्रकाशस्य तस्य परसाधकता तत्सबन्धाद्वाच्या । स सवन्ध किं तादात्म्यमुत सयोग । नाद्य चिज्जडयोरैक्यघटिततादात्म्यायोगात् । नापि द्वितीय, अक्रियाया निरवयवायाश्च चिते सयोगायोगात् । समवायाभ्युपगमे चानवस्थाद्यापत्तेरयुतसिद्धयदर्शनाच्च । एवञ्च स्वम् आत्मस्वरूप स्व स्वात्मैकनिष्ठ न स्वासबद्ध पर साधयितु शक्नोतीति ।

वेद्य जगद्रूप गगनसदृश शून्यमेव । यदि तु गगनमपि न शून्यमप्रामाण्यप्रसङ्गात्तर्हि पूर्णं यत्तत्त्वमबाधितसन्मात्र स एव स्वात्मप्रकाशो यस्य तथाविधमपरिच्छिन्नस्वप्रकाशचिन्मात्रमित्यर्थं । तत्कुत यत इद वेद्यजातमत स्वातिरिक्तवस्तु विहीने अत एव समरसघने सैन्धवघनवज्ज्ञानैकरसघने भूमानन्दारये, प्रवाह्य बहिरनवस्थितिमतस्ताद्दश निस्त्रैगुण्ये नित्यमुक्तात्मैकस्वभावे ,पथि विचरतो ममान्यस्य वा सर्वथा विधिनिपेधघटितकर्माधिकारो न केनापि सपादयितु शक्य इति पूर्ववत् ॥ ८ ॥

इदानी सर्वोपकाराय स्वोपदिष्टाष्टकाभ्यासस्यापि महाफलताप्रदर्शनमुखेन तदर्थानुसन्धानस्य मोक्षफलता दर्शयति—सत्यमिति ।

सत्यं सत्यं परमममृतं सर्वकल्याणरूप
मायारण्ये दहति मलिने शान्तिनिर्वाणदीपम् ।
तेजोरूपं निगमसदन व्यासपुत्राष्टकं यः
प्रातःकाले पठति मनसा याति निर्वाणमार्गं ॥ ९ ॥

इति शुकाष्टकस्तोत्र सम्पूर्णम् ॥ ॐ ॥

इद व्यासपुत्रस्य वाक्यामृतरूपमष्टकमेव परमामृतसाधनत्वात्परममृत सर्वेषां प्राणिना कल्याणरूपमाध्यात्मिकादितापभयदहने सदा दह्यमानत्वेऽपि मोहध्वान्तपिहितत्वान्मलिने जगन्मायालक्षणेऽरण्ये मायाध्वान्तस्य तापत्रयानलानाञ्च शान्त्या प्रशमनेन निर्वाणस्य मोक्षसुखस्य प्रकाशकत्वाद्दीपभूत निगमा वेदान्ता सदन प्रकाशगृह यस्य तथाविध यत्तेज प्रभास्थानीयोऽर्थप्रकाशस्त रूपयतीति रूपम् । ईदृश व्यासपुत्राष्टकमिद य पुरुषोऽर्थानुसन्धानपरेण मनसा प्रात काले पठति स तस्यानुग्रहात्क्रमाज्ज्ञान प्राप्य निस्त्रैगुण्ये प्रागुक्तनिर्वाणमार्गेऽवश्य याति मुच्यत इत्यर्थ ॥ ९ ॥

श्रीमच्छुकाष्टकस्येय व्याख्या बुद्धिसरोरुहम् ।
भानुप्रभेव भुवन प्रबोधयति सन्मते ॥

इति श्रीमत्परमहसपरिव्राजकाचार्यश्रीमद्रामचन्द्रसरस्वतीपूज्यपादशिष्यगङ्गाधरेन्द्रसरस्वत्याख्यभिक्षुणा कृत शुकाष्टक सम्पूर्णम् ॥

अथ बृहदारण्यकोपनिषत्कण्डिकाद्यपदानां वर्णानुक्रमः ।

समाप्तोऽयं बृहदारण्यकोपनिषत्कण्डिकाद्य-
पदानां वर्णानुक्रमः ।

—